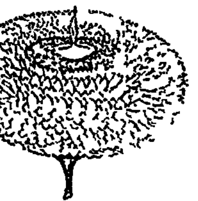
मुनि श्री हजारीमल स्मृति-ग्रन्थ



मुनि श्रीहजारीमल स्मृति-ग्रन्थ-प्रकाशनसमिति, ब्यावर

प्रकाशक .

मुनि श्रीहजारीमल स्मृति ग्रंथ
प्रकाशन समिति, ब्यावर [राज०]

वी० सं० २४६१, सन् १९६५
प्रथम संस्करण १००० प्रति

मूल्य : चालीस रुपये.

मुद्रक :

उद्योगशाला प्रेस
किंग्सवे, दिल्ली–९

प्रेरक : मधुकर मुनि

प्रधान-सम्पादक
शोभाचन्द्र भारिल्ल

शिल्प-संपादक
कुमार सत्यदर्शी

सम्पादक-परिवार

मधुकर मुनि	सुशील मुनि
मुनि कान्तिसागर	जैनेन्द्रकुमार
हरिभाऊ उपाध्याय	डॉ० नथमल टाटिया
डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री	पं० दलसुख मालवणिया
शान्तिलाल व० शेठ	डॉ० बूलचन्द

व्यवस्थापक
चिम्मनसिंह लोढा

प्रकाशन-समिति

श्री चिम्मनसिंह लोढा, ब्यावर
सेठ मोहनमलजी चोरडिया, मद्रास
सेठ खीवराजजी चोरडिया, मद्रास
श्री गुलाबचन्द्रजी जैन, दिल्ली
,, पुखराजजी शिशोदिया, ब्यावर
,, निहालचन्दजी मोदी, ब्यावर
,, खूबचन्द जी गादिया, ब्यावर
,, केसरीमलजी वैताला, कलकत्ता
,, भैरोदानजी सुराणा, दोवडी आसाम
,, गुलाबचन्दजी सुराणा, सिकन्दराबाद
,, मेघराजजी घोगड़, जोधपुर
,, हस्तीमलजी बालिया, ब्यावर

श्री मोहनलालजी बोथरा, तिवरी
,, लूणकरणजी लोढा, कुचेरा
,, जुगराजजी चोरडिया, नागौर
,, प्रेमराजजी श्रीश्रीमाल, दुर्ग
,, जसराजजी सचेती, दुर्ग
,, कुमानमलजी चोरडिया, नोखा
,, सागरमलजी पीचा, कुचेरा
,, हमीरमलजी कटारिया, आगरा
,, जौहरीमलजी ओस्तवाल, मेडता
,, जतनराजजी मेहता, मेडता
,, आनन्दराजजी सुराणा, दिल्ली
,, जौहरीमलजी, पारख, जोधपुर

निवेदन

सन्तो के सकीर्त्तन, स्तवन, गुणगान, उनकी आराधना एव उपासना से जीवन का मैल गलता-धुलता है. जीवन में उदात्त एव दिव्यभाव का आविर्भाव होता है राजस और तामस भाव सन्तो के सान्निध्य मे ही नही रह पाता इस तथ्य की अनुभूति उन्हे अवश्य हुई होगी जिन्होने दिवगत स्वामी श्रीहजारीमलजी म० के सत्सग मे अपने जीवन के कतिपय क्षण विताये होगे मैंने तो उनके सान्निध्य मे एक अपूर्व चेतना का साक्षात्कार किया है. ऐसे महान् सन्त की स्मृति को चिरस्थायी वनाना जगत् के कल्याण में एक प्रकार से योग देना है.

ग्रन्थप्रकाशन समिति ने व्यवस्थापक का जो उत्तरदायित्व मुझे सौपा, उसका निर्वाह तो मैं पूरी तरह नही कर सका, मगर उसकी पूर्त्ति मेरे सहयोगियो द्वारा हो गई है मै उनका आभारी हूँ.

प्रस्तुत ग्रथ को इस रूप मे उपस्थित करने मे जिन-जिन महानुभावो ने प्रत्यक्ष-परोक्ष सहयोग दिया है, वे सव साधुवाद के पात्र हैं

ग्रथ के मुद्रणसौंदर्य का श्रेय उद्योगशाला प्रेस देहली के व्यवस्थापक श्रीशान्तिलाल व० शेठ को है जिन्होने ग्रथमुद्रण में आत्मीयभाव से गहरी दिलचस्पी ली है प्रेस के अन्य कर्मचारी वर्ग का सौजन्य भी सराहनीय रहा है.

विशेपतः अर्थसहायको, समिति के सदस्यो और कोषाध्यक्ष श्रीखूबचदजी गादिया आदि को अनेकानेक धन्यवाद है जिनके सप्रेम सहयोग से यह सफलता प्राप्त हो सकी है ग्रथ के प्रधान सम्पादक पण्डित शोभाचन्द्रजी भारिल्ल और शिल्पसम्पादक कुमार सत्यदर्शी ने ग्रथ के लिए जो श्रम किया है, वह भुलाया नही जा सकता. इनके अतिरिक्त कुन्दन जैन सिद्धान्तशाला व्यावर के अध्यक्ष सेठ नौरतननलजी कोठारी ने समय-समय पर प० शोभाचन्द्रजी को दिल्ली जाने के लिए अवकाश देकर प्रशसनीय सहयोग दिया है, सेठ श्री पुखराजजी शीशोदिया तथा श्रीअमरचदजी मोदी, श्रीरतनचन्दजी मोदी आदि ने भी गहरी दिलचस्पी ली है, उसके लिए भी हम आभारी हैं.

सेठ पन्नालालजी पूनमचदजी काकरिया (व्यावर) ने काकरिया ट्रस्ट की ओर से उत्कृष्ट निवध पर ५००) रु० का पुरस्कार देने की उदारता प्रदर्शित की है यह पुरस्कार धर्म और दर्शन विषयक विद्वानो द्वारा निर्णीत निवध पर दिया जाना है इस उदारता के लिए काकरियाजी साधुवाद के पात्र है,

अन्तिम भाग वडी शीघ्रता मे मुद्रित हुआ है, अत कतिपय त्रुटियाँ रह जाना असभव नही. इस विवशता के लिए क्षमाप्रार्थना !

चिम्मनसिंह लोढ़ा,
व्यवस्थापक.

समर्पण

ज्येष्ठ गुरुभ्राता

श्रद्धेय स्वामी श्रीब्रजलालजी महाराज के

कर-कमलों में,

जिनके प्रोत्साहन का ही

यह सुफल है.

—मधुकर मुनि

ग्रन्थ का कलापक्ष

- अदृश्यसत्ता सत्य है तो कला प्रेरक व स्फूर्ती है । भारत का शिल्पविधान व्यापक स्थायी और प्राणवान् है ललित कला से लेकर सम्पादन-कला तक सर्वत्र ही मनुष्य, कला की प्रतिष्ठा चाहता है ।
- तो सम्पादन और मुद्रण दोनो ही कला है—प्रत्यक्षकला नही कहा जा सकता कि इसका कहा तक सम्यक् निर्वाह हो पाया है वैसे भारत की लगभग सभी ललित कलाओ के प्रति हमारी श्रद्धा है कला की प्रतिष्ठा और सवर्धन-भावुको के हृदय का आनन्द है
- प्रस्तुत स्मृति-ग्रथ के कलापक्ष के सम्वन्ध मे कुछ कहा जाय इसकी अपेक्षा यह अधिक उत्तम है कि पारखी आखे स्वय उसे परखे मात्र दिशा सकेत कर देना ही पर्याप्त है.
- भारत की कलाकृति की प्रतिष्ठा की दृष्टि से प्रस्तुत ग्रथ मे स्थान-स्थान पर चित्र-अकित किये है पाठक देखेगे कि प्रत्येक पृष्ठ पर नीचे की ओर एक पट्टी ब्लॉक-चित्र है इनमे से अधिकाश पट्टिकाये जैसलमेर के शास्त्र भण्डार, चित्तौड के शास्त्र-भण्डार एव मुनि कान्तिसागरजी के व्यक्तिगत शास्त्र सग्रह मे से ली गई है ।
- इन पट्टिकाओ मे ९वी शती से लेकर १६वी शती तक की पट्टिकाये है । मुद्रणकला के जन्म से पूर्व जैन मुनियो का लेखनकला और चित्रकला से अत्यन्त अनुराग रहा है ये पट्टिकायें इसका प्रमाण है जैन-मुनियो और यतियो के लिए कोई विषय अनछुआ नही रहा उन्होने सभी विषयो पर लिखा है. उस लेखन को उन्होने कला का अविभाज्य अग भी माना है. अपने लेखन को कलापूर्ण करना ललितकला के प्रति सम्मान का सूचक है
- प्रत्येक पट्टिका के सम्वन्ध मे अलग से लिखना और परिचय देना व्यापक विषय है
- प्रत्येक निवन्ध के प्रारम्भ मे तत्तत्-विषयक प्रतीक चित्र देने का सकल्प प्रारम्भ से था किन्तु वह अत्यन्त श्रम और कालापेक्षित था साथ ही व्ययप्रधान भी अत: कुछ प्रारम्भिक निबन्धो के पश्चात् ही उस सकल्प का परित्याग करना पडा
- निवधो के अन्त मे भी कुछ चित्र है इन मे भी भारतीय और विशेषतः जैन-पुरातत्त्व से सम्बन्धित है इस श्रेणी के चित्रो मे ७ वी शताब्दी तक के भी चित्र है । जिन चित्रो का पुरातत्त्व से सम्बन्ध न हो वैसे चित्र स्वल्प है
- उक्त चित्रो मे अधिकाश प्रो० श्री परमानन्दजी चोयल ने रेखाकित किये है । मुनिश्री का तेल चित्र मेरे मित्रवर्य श्री किशनजी वर्मा ने अत्यन्त स्नेहपूर्वक चित्रित किया है आवरण श्री सुखदेवजी दुग्गल की कलम का शिल्प है अपने स्नेहियो की कलाकृतियो का स्वागत है !
- उदयपुर स्थित मुनि श्रीकान्तिसागरजी ने उक्त चित्रो को जुटाने मे पूर्ण सहयोग दिया है एव समय-समय पर अपने सुझाव भेजे है एतदर्थ मुनि श्री के प्रति कृतज्ञ हूँ
- मनुष्य सर्वथा अप्रमत्त किसी विशिष्ट अवस्था मे भले होता हो पर वह अवस्था सहज नही है श्वासोच्छ्वास जीवन धारण प्रणाली की सूचक हो सकती है परन्तु इमे मैं क्रमश प्रमाद और अप्रमाद के क्षण मानता हू. पाठको से निवेदन है कि वे अप्रमाद के क्षणों मे जो उपलब्धि की है उस ओर दृष्टिपात करें. त्रुटियो का होना तो प्रमत्त व्यक्ति से सहज सभाव्य है
- पूज्य स्वामीजी के जीवन से मैंने जो पाया वह यह कि 'जो उत्तरदायित्व ओटा है उसे जी-जान लगाकर जीवन की साझ तक करते रहो ।' यही मेरे सस्मरण की रेखा है इसी पर श्रद्धा है ।

—कुमार सत्यदर्शी

१४ अप्रेल १९६५
महावीर जयन्ती
१२ लेडी हार्डिंग रोड, नई दिल्ली

मदीयम्

प्रस्तुत स्मृति ग्रथ अध्येताओ के कर-कमलो मे है ग्रथ कैसा है, इसका निर्णय तो स्वय अध्येता ही करेगे, परन्तु मुझे जो कहना है वह यह है—

वि० स० २०१८ की चैत्र-कृष्णा दशमी की रात्रि मे पूज्य गुरुदेव श्रीहजारीमलजी महाराज का स्वर्गवास नौखा (मारवाड़) मे हुआ था उस समय मेरे स्वान्त मे एक सकल्प आया कि स्वर्गीय गुरुदेव की स्मृति मे एक महत्त्वपूर्ण स्मृति-ग्रथ के निर्माण की योजना वनाई जाय

मैंने अपना सकल्प परम श्रद्धेय पूज्यवर श्रीव्रजलालजी महाराज की सेवा मे रक्खा उनकी ओर से इसके लिए पूरा प्रोत्साहन मिला. मेरा यह विचार गुरुदेव के परम श्रद्धालु धर्मप्रेमी सेठ खीवराजजी चोरडिया को भी रुचिकर लगा स्वय सेठजी स्वर्गीय गुरुदेव की स्मृति मे एक ट्रस्ट की स्थापना करना चाहते थे इस सम्बन्ध मे मत्रणा करने और योजना वनाने के लिए उन्होने अपने ग्राम नौखा मे एक सभा का आयोजन किया, उक्त सभा में ट्रस्ट सम्बन्धी विचारणा के साथ-साथ स्मृति-ग्रथ के निर्माण के विपय मे भी विचार-विनिमय किया गया. श्रीयुत चोरडियाजी की ओर से तथा सभा मे सम्मिलित सभी सज्जनो की ओर से स्मृति-ग्रन्थ के निर्माण के लिए पर्याप्त बल दिया गया.

उक्त सभा मे श्रीयुत पडित शोभाचन्द्रजी भारिल्ल भी आये हुए थे उनसे यह सादर अनुरोध किया गया कि आपके नेतृत्व मे स्मृति-ग्रथ का सम्पादन होना चाहिए और आप एक सम्पादक-परिवार का गठन कर इस कार्य मे जुट जाय पूज्य गुरुदेव का प्रथम स्मृति-दिवस व्यावर मे मनाया गया उस अवसर पर स्मृति-ग्रथ की योजना को कार्यान्वित करने के लिए एक स्मृति-ग्रथ प्रकाशन समिति का गठन किया गया व्यावर नगरपालिका के अध्यक्ष श्रीयुत् चिम्मनसिंह जी लोढा समिति के व्यवस्थापक चुने गए समिति का कार्यालय व्यावर मे रखा गया और कार्य प्रारम्भ किया.

समिति के निर्णय के अनुसार श्रीयुत भारिल्लजी प्रधान सम्पादक वने उन्होने एक सम्पादक परिवार भी वनाया अपने परिवार के सहयोग से पण्डित जी का यह सम्पादन पूर्ण सफलता के साथ सम्पन्न हुआ

श्रीभारिल्लजी जैन समाज के एक मान्य मनीषी विद्वान् है प्रस्तुत ग्रन्थ मे पण्डित जी की मनीपिता का अच्छा परिचय यत्र-तत्र सर्वत्र मिल रहा है

कुमार सत्यदर्शीजी एक उत्साही नवयुवक लेखक है लेखन मे उनकी नव्या भव्या प्रगति है इस ग्रथ मे जो उत्तम कला-कौशल व साज-सज्जा दृग्गत हो रही है, इसका श्रेय आपको ही है स्मृति-ग्रथ का कार्य श्रम-साध्य था, अत इसके पीछे पूरा श्रम किया 'श्रेय सफलता' इस बात का यह ग्रथ एक उज्ज्वल उदाहरण है

भारत के तथा अन्य देशो के अधिकारी लेखको का सहयोग इस ग्रथ को खूब मिला है उसी सहयोग का यह सुफल है है कि इस ग्रथ ने स्मृति-ग्रथो मे अपना एक विशिप्ट रूप प्राप्त किया है.

मैं तो अकिंचन हू फिर भी अगर मेरा किंचिदपि सहयोग इस ग्रथराज को मिला है तो मैं स्वय को सौभाग्यशाली समझता हू. प्राय जैनधर्म और जैनदर्शन एव सस्कृति से सम्मत निवन्धो का चयन ही अधिकृत रूप से इस ग्रथ मे किया गया है जैनदर्शन के प्राय सभी विपयो के निवन्धो के सकलन का प्रयास रहा है. फिर भी व्यापक दृष्टि का परित्याग नही किया गया है

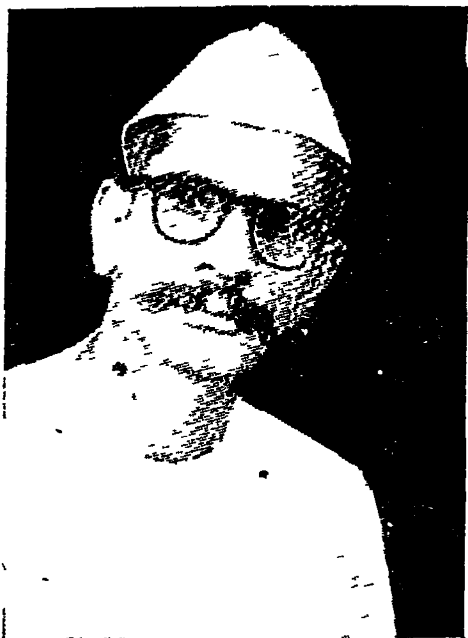
स्वर्गीय पूज्य गुरुदेव एक अजात-शत्रु मुनिपुगव थे जन-जन के हृदय में उनके प्रति अगाध श्रद्धा थी. इसी श्रद्धा के वल पर उनकी स्मृति मे निकलवाले इस ग्रथ के प्रति जन-जन के हृदय मे सत्कारसन्मान की भावना की उदारता ने प्रस्तुत ग्रथ के मुद्रण को आर्थिक असहयोग से पूर्णतः वचा लिया है किन्तु समाज में ईर्ष्या तथा असहयोग की भावना की न्यूनता नही है. अतएव मुझे काफी आलोचना का शिकार होना पडा है सम्भव है ऐसी थपकिया मुझे आगे भी मिलती रहेगी, परन्तु इस आलोचना को मैने अमृत समझा और उसका पान कर अपने को अमर बनाने का ही प्रयास किया है और आगे भी मेरा यही प्रयास वना रहेगा

वर्तमान मे विराजित मेरे ज्येष्ठ गुरुभ्राताजी श्रीव्रजलाल महाराज की बलवती प्रेरणा पर ही यह विराट् आयोजन सम्पन्न हो सका है. अत मैं स्वामीजी महाराज का पूर्ण आभारी हू

प्रधान सम्पादकजी, सम्पादक-परिवार, तथा कला सम्पादकजी के सतत, अविश्राम श्रम ने ही इस ग्रथ को अधिक-से-अधिक उपादेय वनाया है अत उनकी ओर तो मेरी कृतज्ञता सदा वनी ही रहेगी.

उन मुनिराजो और सतियो का भी आभारी हूँ जिन्होने कुछ भी इधर सहयोग दिया है. सती श्री उमरावकुवरजी, स्व० गुरुदेव की सुशिष्या हैं वे सुसस्कृता है, विदुषी है, समय-समय पर इस आयोजन मे उनकी सुविचारणा से पर्याप्त सहयोग मिला है. जैन-सस्कृति की सुरक्षा का पूरा ध्यान रखा गया है, फिर भी स्खलना होना असम्भव नही है इसके लिए क्षमापना है

—मधुकर मुनि



प्र०सं० शोभाचन्द्र भारिल्ल



शि० सं० कुमार सत्यदर्शी



मन्त्री चिम्मनसिह लोढ़ा

प्रधान सम्पादक का निवेदन

प्रथम वार आदरणीय श्रीमधुकर मुनि ने जव स्मृतिग्रथ को प्रकाशित करने और उसका दायित्व मुझे सौपने का विचार व्यक्त किया, तब उसे मैंने कुछ शर्तो के साथ स्वीकार कर लिया उस समय भी मैं अपने परिमित सामर्थ्य को जानता था, फिर भी मेरी स्वीकृति के पीछे अनेक हेतु थे मुनिजी के कथन से यह स्पष्ट था कि मेरी अस्वीकृति का अर्थ होगा—ग्रथ-प्रकाशन के विचार को सदा के लिए त्याग देना मेरे प्रति उनके इस विश्वास ने मुझे नतमस्तक कर दिया. इसके अतिरिक्त स्मृतिग्रथ के माध्यम से अगर मेरी साहित्यसाधना किंचित् अग्रसर होती है तो फिर और चाहिए ही क्या !

किन्तु सब से बडा आकर्षण था स्वर्गीय स्वामीजी के प्रति मेरे अन्तस्तल मे विद्यमान श्रद्धा और भक्ति दीर्घकाल पर्यन्त मै उनके पावन सम्पर्क मे रहा हूँ वे अपने युग के आदर्श सन्त थे सन्त-जीवन की समग्र विभूतियाँ जैसे उनमे केन्द्रित हो गई थी शिशु का सारल्य, माता का कारुण्य, योगी की असम्पृक्तता उनमे ओतप्रोत थी हृदय नवनीत-सा मृदु, वाणी मे सुधा की मधुरता और व्यवहार मे अनायास ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेने वाला जादू ! आत्मनिष्ठा के साथ अशेष-निष्ठा का निर्वाह करनेवाला वह योगी सचमुच अनेकान्त का मूर्तिमान् उदाहरण था उस महान् आत्मा के प्रति श्रद्धा-निवेदन के इस अवसर को चूक जाना मैं नही चाहता था

प्रारभ मे यह कल्पना नही थी कि ग्रथ इतना विराट् रूप धारण कर लेगा पाँच-छह सौ पृष्ठो तक का ही प्रकाशन उस समय सोचा गया था किन्तु जव कार्य प्रारभ हुआ और सुविज्ञ साहित्यकारो से सामग्री की माँग की गई तो उन्होने बडी उदारता के साथ सहयोग दिया फलस्वरूप ग्रथ का जो विस्तार हो गया है, वह आपके सामने है

प्रारभ से ही हमारी नीति मौलिक—अन्यत्र अप्रकाशित रचनाओ को ही इस ग्रथ मे स्थान देने की रही है तदनुसार जो रचनाएँ हमे प्राप्त हुईं और फिर अन्य पत्रो मे मुद्रित देखी गईं या जानकारी मे आईं, उन्हे कम कर दिया है अगर अनजान मे कोई ऐसी रचना छपी हो तो उसका उत्तरदायित्व उसके लेखक पर है जिनका प्रतिपाद्य अन्य रचनाओ मे गर्भित हो गया है, ऐसी भी कतिपय रचनाएँ कम कर देनी पडी हैं प्राप्त सब रचनाओ को स्थान दिया जाता तो ग्रथ के चार-पाँच सौ पृष्ठ और बढ जाते किन्तु अर्थराशि की परिमितता और ग्रथ के विस्तार को देखते हुए कमी करना अनिवार्य हो गया इन दोनो कारणो के अतिरिक्त तीसरा कारण समयाभाव भी था ग्रथ के मुद्रण मे समय वहुत लग गया और इससे अधिक समय लगाना समिति को सह्य नही था इस बीच लेखको और पाठको के अनेक तकाजे हमे सहन करने पडे है आशा है ग्रथ के प्रकाशित होते ही प्रेमी पाठक और लेखक सन्तोष अनुभव करेंगे जिन विद्वान् लेखको की रचनाएँ हम नही प्रकाशित कर पाये, उनके प्रति विनम्रभाव से क्षमाप्रार्थी है कुछ रचनाओ का सक्षिप्तीकरण भी करना पडा है यह भी हमारी विवशता ही समझिए

ग्रथ पाँच अध्यायो मे विभक्त है प्रथम अध्याय मे स्वामीजी का सक्षिप्त जीवन परिचय, उनसे सम्वन्ध रखने वाले सस्मरण और श्रद्धाजलियाँ है. अन्त मे स्थानकवासी जैन परम्परा एव लौकागच्छ के साहित्य और साहित्यकारो का परिचय आदि है दूसरे अध्याय मे धर्म और दर्शन सबधी रचनाएँ है तीसरे मे इतिहास, पुरातत्त्व, समाज और सस्कृति आदि विपयो सबधी और चौथे अध्याय मे साहित्य सबधी सामग्री निवद्ध की गई है पाँचवाँ अध्याय अगरेजी भाषा में लिखित प्राय जैनधर्म सबधी रचनाओ के लिए है

जैन मुनि की पावन स्मृति मे प्रस्तुत ग्रथ प्रकाशित किया जारहा है, अत स्वाभाविक ही है कि इसमें जैनदर्शन, जैनधर्म, जैन इतिहास-पुरातत्त्व की प्रधानता हो, किन्तु राजस्थान से प्रकाशित होने के कारण राजस्थानी साहित्य एव साहित्यकारो को विशेष रूप से स्थान दिया गया है. राजस्थान मे भी अजमेर-सभाग के प्रमुख नगर व्यावर से यह ग्रंथ प्रकाश में आरहा है, अतएव अजमेर के समीपवर्त्ती साहित्यकारो का परिचय देना भी उचित समझा गया है जैन साहित्यकारो ने भारतीय और विशेषत. राजस्थानी साहित्य की जो महत्त्वपूर्ण सेवा की और उसकी समृद्धि मे असाधारण योग दिया है, उसका सकलित विवरण आप इस ग्रथ मे पाएँगे जैनेतर विद्वानो को तो जैनदर्शन, धर्म, साहित्य आदि का विशिष्ट परिचय ग्रथ से मिलेगा ही, जैन विद्वानों को भी बहुत-सी नवीन बाते जानने को मिलेगी शोधक विद्वानो के लिए अगर कुछ अशो मे भी यह ग्रथ सहायक बन सका, जैसी कि आशा है, तो किया हुआ परिश्रम सफल समझा जाएगा,

प्रत्येक विषय में विद्वानो मे मतभेद रहे है और रहेगे, किन्तु जिसने अपने जीवन मे अनेकान्त को अपनाया है वह मतभेदो के प्रति असहिष्णु नही होता वह धैर्य के साथ विरोधी विचार को सुनता-समझता है और उचित रीति से उसका प्रतिविधान करता है प्रकृत विशाल ग्रथ में ऐसी अनेक बातें हो सकती है जिनसे हम सहमत न हो, फिर भी विचारणा एव गवेषणा की परिधि आगे बढे, इस दृष्टिकोण से उन्हे यहाँ स्थान दिया गया है. विचारशील विद्वान् भी उन्हें इसी रूप मे ग्रहण करेंगे, ऐसी आशा है.

हमारी सीमा ग्रथगत सामग्री-सचयन तक ही रही है ग्रथ को सुष्ठु और कलात्मक सौन्दर्य प्रदान करने का कार्य शिल्पसम्पादक के जिम्मे था. उन्होने अपनी विशिष्ट कलारुचि एव लगन के साथ ग्रथ को सज्जित करने का प्रयत्न किया है. सफलता का मापदण्ड पाठको के हाथ में है

विद्वत्तिलक मुनि श्रीकान्तिसागरजी—[उदयपुर] से हमें जो सहयोग और परामर्श मिला, उसी की बदौलत ग्रथ इस रूप मे पाठको के समक्ष आ सका है. उनका मूल्यवान् सहयोग सदैव स्मरणीय रहेगा.

अन्त मे विद्वान् लेखको एव सहयोगी सम्पादको का आभार मानना उचित है जिनके समन्वित सहकार से यह भगीरथ कार्य सम्पन्न हो सका है.

ग्रथ की मुद्रण प्रगति मे प्रेस के व्यवस्थापक एव कर्मचारियो ने भरसक प्रयत्न किया है विशेषत प्रदान मशीनमैन श्री भवानसिंह जी और श्रीबलदेव कृष्ण सूरी के कठिन परिश्रम को विस्मरण नही किया जा सकता.

—शोभाचन्द्र भारिल्ल

विषय-क्रमांकन

प्रथम अध्याय १—२५४

जीवन, संस्मरण, श्रद्धांजलि और परम्परा दर्शन

द्वितीय अध्याय २५५—५२८

दर्शन और धर्म

तृतीय अध्याय ५२९—७१२

संस्कृति, समाज, इतिहास और पुरातत्त्व

चतुर्थ अध्याय ७१३—९१६

भाषा और साहित्य

परिशिष्ट

पंचम अध्याय १-९४

अंग्रेजी विभाग

कतिपय संदेश

PRESIDENT'S SECRETARIAT
PRESIDENT'S CAMP,
INDIA

September 30, 1963.

The President is happy to know that the Muni Shri Hazarimal Ji Commemoration Volume Samiti is bringing out a souvenir in memory of Muni Shri Hazarimal Ji

The Muni's life and teachings serve to inspire many people and the president hopes that these teachings will not only be remembered but practised by the wide circle of his followers and admirers

S. Dutt.
Secretary to the President

VICE-PRESIDENT
INDIA
NEW DELHI

September 24, 1963.

I am glad to know that you will bring out the Muni Shri Hazari Malji Commemoration Volume soon. I wish the publication success.

Zakir Husain

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई है कि मुनि श्री हजारीमलजी को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने हेतु एक स्मृति-ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है। मुनिजी का जीवन त्याग और तपस्या का प्रतीक था। मुझे आशा है कि इस ग्रन्थ के प्रकाशन से श्रद्धालु जनों को प्रेरणा मिलेगी।

मोहनलाल सुखाड़िया
मुख्य मंत्री, राजस्थान

CHIEF MINISTER
FORT ST GEORGE
MADRAS

June 5, 1964.

I am glad to know that a commemoration volume in memory of Muni Hazarimalji Maharaj is to be published. This will enable people to know the simple and saintly life of Muniji. I am confident that his life will be a source of inspiration to others.

M. Bhaktavatsalam

MEMBER OE THE
LOK SABHA
7-Raisina Road,
NEW DELHI

I am glad to know that a Commemoration Volume is being brought out in the memory of Muni Shri Hazarimalji, the great Jain saint of Rajasthan. The Muni's message of love, sympathy and compassion can be of great value at the present juncture when the whole world is strife-torn. I hope the Volume will be a comprehensive one and contain information about all aspects of the Muni's life and his teaching.

Jagjivan Ram

MINISTER OF SUPPLY
INDIA
NEW DELHI
Sept 23, 1963

I am glad to know that you are publishing the Muni Shri Hazarimalji Commemoration Volume in memory of Muni Shri Hazarimal Ji India has produced great saints, sages, philosophers and yogis and they have kept the torch of Indian Culture and Spiritual knowledge burning through ages Muni Shri was one of such illustrious sons of India who studied the Jain canon and preached the truths of Jainism Those who came in contact with Muni Shri and heard him were inspired by his message of love, sympathy and compassion. It is but proper that the Samiti has decided to publish a volume in his memory This is the best form of tribute the generation could pay to such a saint I hope the volume will be a source of inspiration to the people

J.L Hathi

MEMBER OF PARLIAMENT
(LOK SABHA)
38-South Avenue, NEW DELHI
September 30, 1963

I am happy to learn that "Muni Shri Hazarimalji Commemoration Volume" is progressing satisfactorily towards publication I deem it a great privilege to associate myself in paying an humble homage to that great Saint and Savant of revered memory, whose undying spiritual message and profound personal impact now forms a part of the magnificent heritage of the great teachers and preceptors of mankind To remember and to recollect him is refreshing To ponder over his teachings is truly uplifting and ennobling I hope this volume dedicated to that great Saint would assuredly serve as a beacon light to kindle the sublime spark within each of us and to enrich our outlook.

The organizational efforts and the editorial labours of the Commemoration Volume Samiti are worthy of the highest approbation and I have great pleasure in sending my sincerest good wishes for the unbounded success of this venture

L.M. Singhvi

CHIEF MINISTER
MAHARASTRA

Sachivalaya, Bombay-32

September 27, 1963

I am glad to know that Muni Shri Hazarimalji Commemoration Volume Samiti is bringing out a Commemoration Volume to commemorate the memory of late Muni Shri Hazarimalji, a great savant of Rajasthan whose memories are cherished by many. I wish the Commemoration Volume all success.

M. S. Kannamwar

CHIEF MINISTER
WEST BENGAL
CALCUTTA

October 4, 1963.

We are living in a world of strange contradictions While we are discovering new ways of waging war, we are forgetting the Ideals of peaceful living; while we have mastered the means of destruction, we have yet to learn how to build goodwill among mankind. We know quitely a lot about atomic explosions and know so little about the philosophy of truth and non-violence

In a world tormented by lust and distrust, the advent of noble souls like Muni Shri Hazarimal Ji was like the sudden appearance of a streak of spiritual light in the midst of material gloom.

I should, therefore, congratulate the Committee on this publication of the Commemoration volume, and I am sure this will carry far and wide the message that the late Muni ji conveyed during his life time.

Profulla Chandra Sen

- मुनि श्री हजारीमल जी उन साधु-सन्तो की परम्परा में थे कि जिन्होंने भारतवर्ष को हमेशा सही रास्ता दिखाया है। भारतवर्ष की विशेप देन आध्यात्मिक सेवा से ही हो सकती है और इस बात को हमारे साधु-सन्त समय समय पर वताते रहते हैं।

मुझे प्रसन्नता है कि मुनि श्रीहजारीमल जी की स्मृति मे एक विशेष ग्रथ निकाला जा रहा है। मैं इसकी पूर्ण सफलता चाहता हूँ।

कालूलाल श्रीमाली
भूतपूर्व शिक्षामत्री

DEPUTY MINISTER
INFORMATION & BROADCASTING
INDIA
NEW DELHI

September 27, 1963.

I am glad that you are bringing out a commemorative volume in honour of Muni Shri Hazari-Malji

India has always honoured saint-scholars and it is heartening that the tradition continues

I wish the venture every success

Sham Nath

यह बडी प्रसन्नता की बात है कि एक विद्वान जैन सन्त श्री हजारीमल जी म० की स्मृति मे एक विशाल स्मृति-ग्रथ का प्रकाशन किया जा रहा है इस माध्यम से हम सन्त-जीवन के नजदीक पहुँचते हैं पवित्र जीवन-व्यवहार को हृदयगम करते हैं. एक महान् जीवन का स्मरण-चिन्तन करते हैं इस कार्य से अवश्य ही हमारी आत्मा मे उच्च और पवित्र भावनाओ की जागृति होगी मैं **मुनि हजारीमल स्मृतिग्रंथ** के प्रकाशन का स्वागत करता हूँ और पूर्ण सफलता की कामना करता हूँ

पी०एन० सेठ
डिप्टी सेक्रेटरी इडस्ट्रीज, राजस्थान

राजस्थान, वीरप्रसविनी भूमि है। वीरता के इतिहास मे राजस्थान का स्थान समग्र विश्व में अनुपम है। इस तथ्य को वहुत लोग जानते हैं। परन्तु सस्कृति और साहित्य के क्षेत्र में राजस्थान का जो गौरवपूर्ण स्थान है उसकी पूर्णता से कम लोग ही परिचित हैं।

प्रसन्नता का विषय है कि कुछ समय से इस क्षेत्र के साम्कृतिक और साहित्यिक गौरव को प्रकाश में लाने वाली अनेक योजनाए सामने आ रही हैं। मुनि श्रीहजारीमल जी म० का स्मृतिग्रंथ भी उन में से एक है। यह योजना भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

मुनिश्री राजस्थान के एक धर्मोपदेष्टा महापुरुष थे, । उनकी वाणी से सहस्रो मानवों ने अपने जीवन को उच्च और सात्विक बनाया है। उनकी स्मृति मे किया जाने वाला यह आयोजन प्रशंसनीय है।

मैं इसकी हृदय से सफलता चाहता हूँ।

गोविन्द नारायण

अध्यक्ष स्वायत्त शासन सस्था

भारतीय सस्कृति सन्तों की साधना से ही अकुरित, पल्लवित और पुष्पित हुई है सच पूछिये तो सन्त जनो की दिव्य चर्या और वाणी का इतिहास ही भारत की आध्यात्मिक सस्कृति का इतिहास है.

सौभाग्य की बात है कि भारतवर्ष में अज्ञात अतीत काल से लेकर आधुनिक युग तक सन्तो की अनवच्छिन्न परम्परा चालू है इन सन्तो ने जन जीवन के विविध अगो को परिमार्जन करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है.

श्री हजारीमलजी म० उसी परम्परा की एक कडी थे राजस्थान के सौम्य साधक थे उन्होने अपना समग्र जीवन स्वपर कल्याण के अर्थ ही उत्सर्ग कर दिया था आशा है उनकी स्मृति में प्रकाशित होनेवाला ग्रथ भी जन-जीवन को उन्नत बनाने में सहायक होगा ग्रथ प्रकाशन का प्रयास प्रशसनीय है मैं ग्रथ की हृदय से सफलता चाहता हूँ

हरगोविंद मेवाड़ा

चीफ टाउन प्लानर, राजस्थान

मानव जीवन मे सर्वोत्तम है और जिसकी बदौलत ससार मे आज भी प्रशस्त भावनाएँ प्रभाव हीन नही हुई हैं, वह उच्च तत्त्व प्राणी मात्र को अपने समान मान कर व्यवहार करने वाले महान् सन्तो की ही देन है सन्त का जीवन व्यवहार और उपदेश मानव जाति को अधकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाला होता है ससार ऐसे सन्तो का सदा ऋषि रहा है

राजस्थान की एक निर्मल विभूति मुनि हजारीमलजी म० ऐसे ही सन्तो मे से एक थे

मैं उनके प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ और उनकी स्मृति में प्रकाशित होनेवाले विराट् ग्रथ के आयोजन की सफलता चाहता हूँ

भँवरलाल मेहता
डायरेक्टर स्वायत्त शासन विभाग

पवित्रिता, सादगी और उच्चता भारतीय सरकृति का मूल हैं. हमारे सन्तो ने हमारी सस्कृति के उन मूल्यवान् तत्त्वो को को सदैव ही सुरक्षित रखा है और समय समय पर विकसित भी किया है उनके जीवन से प्रेरित हो कर हम लोग भी अपनी इस महान् सस्कृति की धारा के साथ चलते हैं और बढते रहे हैं

मुनिश्री हजारीमलजी म० का जीवन एक तपोनिष्ठ सन्त जीवन था स्मृति मे प्रकाशित किये जा रहे स्मृतिग्रथ का महत्त्व तथा मूल्य इसलिए निर्विवाद है

मै इस ग्रथ की पूणत सफलता चाहता हूँ

गुलाबसिंह लोढ़ा
डायरेक्टर समाज कल्याण राजस्थान

स्वामीजी महाराज के दर्शन पाने का सौभाग्य तो मुझे नही मिला, परन्तु उनके विषय मे जो कुछ सुना और पढा है, उससे मेरा हृदय उनके प्रति श्रद्धा से पूर्ण है ऐसे महानुभाव किसी भी सम्प्रदाय के क्यो न हो वे सब के आदरणीय होते हैं उनकी साधुता के प्रति मेरी हार्दिक श्रद्धाजलि अर्पित है

मेरी तुच्छ बुद्धि मे यही आता है—

पथ वहुत हैं, एक ही गन्तव्य, दिव्य की ही ओर उन्मुख भव्य ।

—मैथलीशरण

MINCHOSTER, MASS,
U S.A

October 11, 1963

However much I would like to contribute to the Commemoration Volume, I have not time to write a paper for this Volume. At my advanced age of 74, I am over burdened by the work I am carrying now I am sorry for this situation but it cannot be helped

Wishing the fullest measure of success to the Volume.

P.A. Sorokin

J K ORGANISATION
KAMLA TOWN, KANPUR

October 8, 1963

Mahamuni Shri Hazari Malji Maharaj was a great savant who had practised what he has preached Born in a business community of Rajasthan, he showed great asceticism and detachment from early boyhood and followed strict rules of jain order. He engaged himself in preaching the truth, enshrined in the order Very few saints of our age have attained such high standard of personal merit and sadhna as was done by him

On the occasion of publication of a Commemoration Volume for the savant of humanity, I pay my reverential homage to him.

Padampat Singhania

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि श्री हजारीमल जी म० की स्मृति में विशाल ग्रथ प्रकाशित किया जा रहा है। मुनि का जीवन जितना पावन होता है—स्मरण भी उससे कम पावन नही होता। अतीत के अगणित सन्त महात्माओं की जीवनी आज भी प्रेरणा का प्रवहमान प्रबल स्रोत है।
मैं आपके प्रयास की सफलता की कामना करता हूँ और चाहता हूँ कि स्मृतिग्रथ राजस्थान के साहित्य, सस्कृति, धर्म, नीति के क्षेत्र में किये गये अतीतकालीन महान् प्रयासो का एक उज्ज्वल प्रतिविम्व वन सके।

—बरकतुल्ला खां
स्वायत्तशासन मंत्री, राजस्थान

पूज्यपाद लोकोत्तर सन्त स्वामी श्री हजारीमल जी म० की स्मृति मे प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ की मैं पूर्ण सफलता चाहता हूँ। स्वामी जी म० का पवित्र जीवन जगत् के लिए पथप्रदर्शक है। इससे अनेक जिज्ञासुओं को प्रसन्नता होगी।

—अमरचंद मोदी

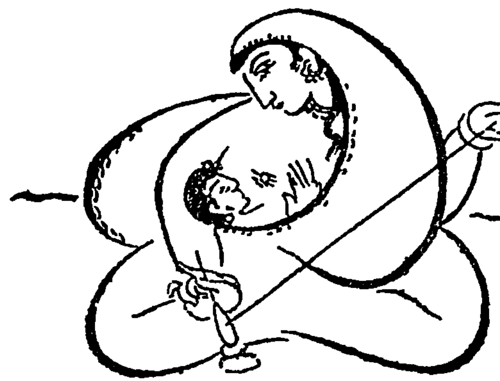
मुनि श्रीहजारीमल स्मृति-ग्रंथ

जीवनवृत्त, संस्मरण,
श्रद्धांजलि
और
परम्परा-दर्शन

प्रथम अध्याय

मुनि श्रीमिश्रीमलजी म०
'मधुकर'

मुनि श्रीहजारीमलजी : जीवनवृत्त



गृहीजीवन :

एक दिन अवनि पर आखें खुली,—यह जीवन का प्रारम्भ हुग्रा। एक दिन आँखो ने देखना बन्द कर दिया—यह जीवन का अन्त हुआ। जीवन किस तरह जीया गया—यह जीवन का मध्य है। कौन किस तरह जीवन जी गया—यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है इसी प्रश्न की चर्चाओ मे से जीवन चरितो का गठन, लेखन और परिगुफन होता है
मनुष्य-देह मे, जीवन धारण करने पर जिसका जीवन असाधारण गुणो की ओर अभिमुख होता है, उसके असाधारण व्यक्तित्व से मनुष्य प्रेरणा ग्रहण कर अपने जीवन को सुवास से परिव्याप्त करना चाहता है मनुष्य का विकल देवत्व सतत् काल से ऐसे ही जीवन की टोह मे रहा है

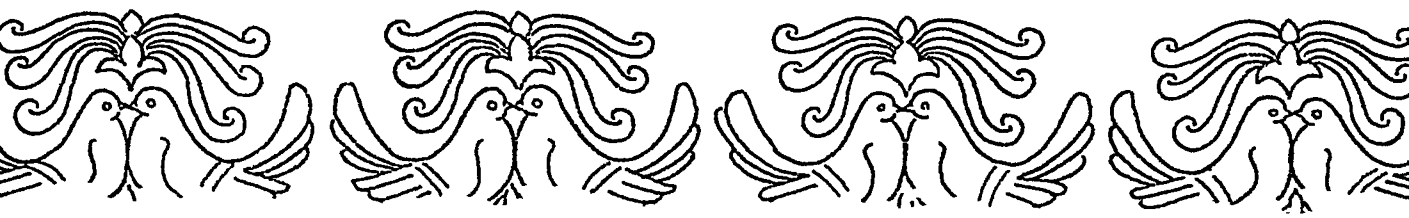
मानव दुर्बलताओ से अभिभूत रहता आया है मानवीय दुर्बलताओ मे जीते-जीते वह दुर्गुणो मे अत्यधिक आसक्त हो गया अत आसक्तियो पर विजय प्राप्त करने वाले जीवनो का अनुगमन करने मे ही आत्मा की समुपलब्धि सभाव्य है मेघ से सहस्रो बूदे, माँ धरती के प्रेमाक मे परित्राण प्राप्त करने के लिये–नि सृत होती है. एक स्थान से अवतरण करने वाली सभी बूदें मुक्ता नही वनती। सीपी के सम्पुट मे प्रविष्ट होनेवाली बूद ही अखड सौभाग्यवती है कालातर मे मनुष्य उसे मुक्ता की सज्ञा प्रदान करता है

मरुधरा के जनवद्य, महामना मुनि श्रीहजारीमलजी महाराज का जीवन, राजस्थान की सूखी मिट्टी में प्रकट हुआ था एक दिन इसी धरती के कणो मे उनकी काया समाहित हो गई भारतवर्ष की विमल सन्त-सस्कृति के प्रति, अर्पणभाव रखने वालो ने उनका पुण्यस्मरण कर-कर समर्पणभाव का तर्पण इन शब्दो मे किया "उनकी पवित्र काया माटी में नहीं समाई, वह सोना बन गई" वे देह धारे रहे--तब तक जनमानस उन्हे सन्त-रत्न कहता रहा

महामुनि श्रद्धेय श्रीहजारीमलजी महाराज के जीवन को हम अपनी लेखनी से कितना अकित कर पायेगे–नही कह सकते हम जो लिखेंगे जनता उसे नही सह सकती क्योकि हमारे कहने से भी अधिक उनका गरिमा-महिमा-युक्त जीवन और जीवन की घटनाओ का स्मरण चित्रालय–उनके पास है महापुरुषो का जीवन लेखनी से लिखे जाने का विषय नही होता सन्त का जीवन वैशिष्ट्यो का क्षीरसागर होता है मनुष्य किन-किन बिन्दुओ का कलम की नोकसे सदर्शन करा-येगा ? लिखते-लिखते अनेक जीवन भी एक जीवन का सम्पूर्ण अकन नही कर सकते उक्त अकित अश मे सैद्धान्तिक दृष्टि से बहुत बडा सत्य सन्निहित है एक व्यक्ति सन्त के जीवन का वयान करने का दावा भी नही कर सकता क्योकि वाणी से सन्त-जीवन को परिज्ञापित कराते-कराते वाणी बेचारी क्लात हो जाती है अकनकार थक कर शीतल छाँह की प्रत्याशा करने लगता है

जीवन का प्रारंभ :

पूज्य श्रीहजारीमलजी महाराज ने अपने जीवन को कैसे जीया ? उन्होने अपने जीवन मे किन-किन विशेषताओ को किस-किस प्रकार से समाहित किया–यह उतना महत्त्वपूरित नही है वह महा व्यक्तित्व जनमानस मे किस प्रकार जीवित



है, जनता उसको किस रूप-प्रारूप में याद करती है—यह महत्त्वमडित है इस निकष के आधार पर किसी भी व्यक्तित्व का अकन ही खरा अकन है इस महाकसौटी पर उत्तीर्ण होने वाले कनक की शुद्धि असदिग्ध है लिखने को तो किसी के वारे में कुछ भी लिखकर प्रचारित किया जा सकता है, परन्तु ऐसा लेखन जिज्ञासुओ के जीवन में परिवर्तन नही ला सकता.

वड़ा कौन ? :

वडा व्यक्ति कौन है ? जिस का नाम वडा हो वह बडा नही, जिसका काम बडा होता है वह महान् है. जीवनकाल में मनुष्य के वड़प्पन को नापने का तरीका—उसने काम क्या किया और कैसे किया—यह है उसके स्वर्गवासी हो जाने पर उसके गुरुपन की पहचान का तरीका—उसकी स्मृति में पीछे से क्या होगा, उसकी अपूर्ण भावना की परिपूर्ति किस प्रकार होगी—यह है ।

उनका जन्म :

पूज्य मुनि श्रीहजारीमलजी महाराज की माता नन्दूबाई धन्य-धन्य हो गई थी, जिस दिन पुत्र 'हजारी' ने जन्म लिया था. पिता का पारिवारिक परिस्थितिवश अतृप्त पितृत्व भी पुत्रजन्म से पुलक उठा था, जब छोटे-छोटे हाथ हिलाते, पैर पटकते,—मोतीलालजी मुणोत ने—वीरपुत्र हजारी को प्रथम बार देखा था.

वसन्त का मन-भावना मौसम ! शीत की बिदाई और नैसर्गिक सुषमा का आगमन ! कल्पना करते ही मन अलौकिक उल्लास से भर उठता है. ऐसी ही उस उल्लासमयी वसत पचमी[1] को नन्दूबाई, वात्सल्य में भीग गई थी अपनी कूख को सराहने लगी. दो-दो पुत्रोकी जुदाई भूल गई—मस्तिष्क में नाना कल्पनाओ के वाचारहित शब्दचित्र, बने, विगडे, उभरे और मिटे ।

माता-पिता अन्य जन :

पूज्य महामुनि के पिता दो भाई थे गाँव के शव्दोच्चारण के अनुसार मोतीजी और पिथाजी. इनका सुसस्कृत रूप मोतीलाल मुणोत और पृथ्वीचन्द्र मुणोत—होता है पृथ्वीचन्द्रजी बडे थे मोतीलालजी, हजारीमलजी सहित तीन पुत्र और एक पुत्री के पिता थे. हजारी के बडे भाई, मध्यप्रदेश के प्रवेशद्वार 'जावद' मे एक निकट के परिवार में दत्तक पुत्र के रूप मे रहने लगे थे. मँझले को भी क्या जँची कि वे भी बड़े के पास ही रहने लगे थे पिता का स्नेह किस पुत्र-पात्र में स्थान पाए ? उन्होने अपनी ममता को पुत्री किशनी वाई में केन्द्रित कर समत्व-साधना प्रारम्भ की समत्व-साधना के प्रतिफल में से एक दिन, जनक-जननी के ममत्वकेन्द्र चरित्राधार 'हजारी' अवतरित हुए. पिता और माता ने उन्हे मात्र अपना ही हजारी मानने का स्वर्णिम स्वप्न देखा था पर दोनो को ही पता नही था कि हजारी मात्र उन्ही की ममता का केन्द्र रहेगा या जन-जन का पूज्य और श्रद्धा का आधार बनेगा.

पिता की स्नेहधारा :

ससार में स्थायित्व के नाम पर क्या स्थिर है ? कुछ भी नही ! स्नेह और ममत्व भी बहकाए और बँटाए बँट जाते है. स्नेह का स्रोत एक दिशा मे वहते-वहते दूसरी दिशा में वहने लगता है पिता का सम्पूर्ण स्नेह, किशनी में केन्द्रित था. पुत्र के आते ही पिता का स्नेह पुत्र पर आधारित हो गया. पिता घर से वाहर प्रतिपल श्रम करने लगे. मस्तिष्क से पुत्र हजारी के सुखी व शिक्षित करने के स्वप्नचित्रो मे रग भरने लगे घर में नन्दू और किशनी हजारी की किल्लोल और

---

१. स० १६४३ टासरिया ग्राम (मेवाड़)

किलकारियो से हृदय मे उल्लसित होने लगी हँसते-खेलते, भागते-गिरते, रोते और मीठी नीद मे सोते हजारी को देख-देख कर वे उल्लास से भर-भर जाती

स्नेहाधार :

माता ने माना था—यह मेरी ममता का मेरु है भगिनी ने भाई को वल का आधार माना था पिता ने निश्चय किया था—'मेरा सारा कर्म और धर्म हजारी के लिए है यह मेरी कीर्ति का युगातरकारी ध्वज है!'

स्नेह बँट जाता है धन लुट जाता है समय सरक जाता है. समय की करवट से, सब उलट-पुलट हो जाता है! पिता न्यायनीति से धनोपार्जन के पक्षकार थे कृषि, गोपालन, वस्तु का आदान-प्रदान, विक्रय और विभाजन—ये उनके अर्थोपार्जन के स्रोत थे। वे इन पर आधारित थे स्वभाव के पूर्ण साधु समय ने अँगडाई ली—सब कुछ बिखर गया चल-सम्पत्ति विभाजित हो गई अचल के हिस्से मे भी सबलो की आँखे गड गई अदृष्ट अभाव, देह धारण कर सामने आ गया मोतीलालजी ने स्थिर मस्तिष्क और शान्त मन हो स्थिति पर विजय प्राप्त करनी चाही रोग का भयकर आक्रमण हुआ उन्होने धैर्यपूर्वक रोगाक्रमण से सघर्ष किया शारीरिक अस्वस्थता मे भी मानसिक स्वस्थता का अनुभव किया[1] तीन वर्ष तक रोग से जीर्ण काया के द्वारा घरका काम सँभाला गाँव के वडे-वूढे स्त्री-पुरुषो की आँखो का सुख हजारी पढने लगा पुत्र पाँच वर्ष का हुआ पिता काल की आँखो आ गए माता निराधार हो गई परिजनो के मुखमगल वचन, नन्दू की आवश्यकता और दु खी मन की मरहम न वन सके जैसे-तैसे माता ने दो वर्ष व्यतीत कर दिये माताने सोचा 'मेरा हजारी सात वर्ष का हो गया है किशनी साल दो साल मे अपने घर की हो जायगी तव तक यह भी समझने लगेगा जैसे-तैसे घर का काम चल जायगा 'उनकी' अतिम निशानी को देख-देखकर ही जीवन बिता दूँगी वृद्धावस्था का अब मेरा यही तो एक आधार है? घर-गृहस्थी की वाते समझने लगेगा तो क्या मेरे 'लाल' को गरीब घर की कन्या न मिलेगी ? जरूर मिलेगी

जननी पर विपत्ति :

माता जानती थी, स्वजन—वैसे तो सभी स्वार्थ मे डूबे हुए है सारा ससार ही स्वार्थ की आग मे जल रहा है निरर्थक परार्थचिन्तन किस को सूझता है ? वे दिन, वह समय अब नही है कि स्व और पर हित चिन्तन मनुष्य साथ-साथ किया करता था इसके पिता वार-वार कहा करते थे—"किशनी की माँ ! मेरी आँखे वन्द हो जाएगी तो हजारी का क्या होगा ?" मै उन्हे कहा करती थी—"आप ऐसी अशुभ कल्पना क्यो करते है ?" मेरा यह कहना, आज सोचती हूँ झूठी सात्वना थी झूठी हो या सच्ची, वे तो अनन्त पथ के पथिक हो गए अपनी राह चले गए न जाने कौन-सी अज्ञात शक्ति है जो अनजाने मे ही हमारे 'अपने' को अपने पास बुला लिया करती है शायद उनको न्याय-नीतिमय जीवन जीते हुए यह दीखने लगा था कि मै चला जाऊँगा और हजारी बेसहारा हो जाएगा मैं उनकी बात को टाल जाया करती थी जव-तव यह भी कहती—'वीरभूमि मेवाड का जाया जन्मा अपनी आन और शान पर मरता मिटता आया है विपन्नावस्था मे भी वह पराजय नही स्वीकार करता है श्रम के कण ही मेवाड के मोती है पिछला इतिहास वताता है, श्रुतिपरम्परा से, बड़े-बूढोके मुँह सुनती आई हूँ—मेवाड की मिट्टी के रज कणो मे लोट-लोटकर वडा होने वाला मेवाडी हृदय का भोला, वडो का आदर करने वाला एव अपनी आन-शानको प्राण-प्रण से निभाने वाला होता है वह किसी के सामने अपेक्षा और आकाक्षा के लिए हाथ पसार कर अपनी दीनता नही दिखाता आज इस सत्य की कसौटी का दिन आ गया है

---

१ सम्यग्दृष्टि आत्मा, असातावेदनीय का तीव्रतम उदय होने पर भी शारीरिक चिन्ताओं में निमग्न न रहने के कारण निर्जरा का अधिकारी बनता है, अब कि ठीक वैसी स्थिति में वही कर्मोदय मिथ्यादृष्टि आत्माओं के लिए बन्ध का कारण है। एक वस्तु हो कर भी दृष्टिभेद से भिन्न स्थिति की सृष्टि होती है जैसा कि आध्यात्मिक सन्त महात्मा गाधी के आध्यात्मिक मार्गदर्शक श्रीमद् रायचन्द्रजी ने निम्न पक्तियों में अभिव्यक्त किया है—'ज्ञानी के अज्ञानी जन सुख दु ख थी रहित न कोय, ज्ञानी वेदे धैर्य थी अज्ञानी वेदे रोय।'

हजारी के लिए मै उनके जीते जी सोचा करती थी, इसके हजार हाथ है पर आज सोचती हूँ—हजारी के हजार हाथ नही, ये दो ही हाथ है. इन दो आँखो की बाट हृदय मे बसा हजारी अब किसका आधार गहे ? 'अच्छा व्यवहार बुरे अवसर पर काम आता है' इसके पिता यह कहा करते थे. उनका अच्छा व्यवहार बेटी के हाथ पीले करने में सहयोगी न होगा ? आज इस बात की भी परीक्षा कर देखू. अगर किसी ने सहयोग किया तो ठीक, अन्यथा जगन्नियन्ता जैसे चाहेगा वैसे ही रहना है होनी सामने आएगी. होनी के हजार हाथ होते है. होनी के खेल अब तक जीवन में क्या-क्या नही देखे है. जो-जो देखा वह सब आज उभर-उभर कर याद आ रहा है. दु.ख की घड़ी तो मनुष्य की बिसात नापने आती है. दो-दो पुत्र है आज वे कमा खाने योग्य है. गोद तो एक ही गया है वे चाहे तो कौन ऐसा है जो अपने भाई की हमदर्दी करने से रोक-टोक सकता है ? पर नही, मेरा यह सोचना ही गलत है मेवाड का इतिहास बतलाता है—यहाँ खून के रिश्ते भी अतीत में टूटते रहे है. मेवाड की यह शान है कि यहाँ का वासिंदा जिसके यहाँ भी रहे उसका पूर्ण वफादार बनकर रहे.

आन और शान पर मरना मिटना तो यहाँ की पवित्र और पावनी परम्परा रही है शान और आन के लिए तो पन्ना धाय ने जिसे अपना मान लिया था उस अमरसिंह की रक्षा के लिये, अधिकार के लोभी उदयसिंह को खड्ग हाथ लिए देख अपने पुत्र की ओर निस्संकोच भाव से संकेत कर दिया था प्रसन्नता है मेरा पुत्र दत्तक पुत्र के रूप मे जिस माँ की सूनी गोद भरने गया है उसकी गोद अमर रहे. मेरा क्या है ढलते सूरज की-सी जिन्दगी रही है—बिता ही लूंगी और वह कहने लगी 'मेरी कूख से जाये जन्मे बेटे ! तू जहाँ गया है वही का होकर रहना. अपने देश की यह निर्मल परम्परा है भाई और माँ के मोह में आकर अपने कर्त्तव्य से जरा भी उपरत मत होना. तेरे पिता का और मेरा, मेरा और तेरे भाई हजारी का इसी में गौरव है.'

नन्दू का स्वाभिमान : श्रमनिष्ठा :

माता नन्दू ने कुछ समय बाद पुत्री किशनीबाई के हाथ पीले कर निश्चितता अनुभव कर ली थी.
मनुष्य की जब किसी भी कार्य या नियमपालन पर से निष्ठा समाप्त हो जाती है तब वह दूसरो की ओर देखता है ! अन्य की साधन-सुविधाओ पर निर्भर हो जाता है ! उसका सम्पूर्ण प्रयत्न इस पर आधारित हो जाता है कि सुविधाएँ किस प्रकार प्राप्त हो, फिर वह यह नही देखता कि अमुक कार्य मेरी आत्मा और संस्कृति के अनुकूल रहेगा या प्रतिकूल !

वह परम निष्ठावान थी. उस के हिए का हार हजारी नौ वर्ष का हो गया. उसे स्मरण आया :

'हजारी के लिए मोती की सम्पत्ति मे से कुछ बचा-खुचा था वह भी धीरे-धीरे लालची लोगो के कब्जे में हो गया.' भारत की असहाय नारी क्या करती ? मेरे तेरे से अपेक्षा ? पर यह कार्य मेवाड की स्वाभिमानिनी नन्दू को स्वीकार्य नही था, तात्कालिक ओसवाल-जाति के विधि-निषेधो के अनुसार घर से बाहर जाकर श्रम के नाम पर कुछ करना सम्भव न था. हाथ पसारने का विचार उसके रक्ताणुओ में भी प्रविष्ट न हुआ था.

एक दिन माता नन्दूबाई हजारी के जन्मस्थान (डासरिया, टाडगढ़के समीप, मेवाड़) से ४२ मील दूर, रसभूमि राजस्थान के ब्यावर नगर में काम की तलाश में चली आई. डासरिया में मोतीलालजी की खून पसीने की मेहनत का एक मकान और कुछ जमीन शेष थी ब्यावर में रहते-रहते काम किया आत्मा के अणु-अणु में विश्वास, पुरुषार्थ में पूर्ण निष्ठा और स्वाभिमान की ज्योति, ज्योतिमान हो गई कि 'मैं किसी पर आधारित नही. सब ओर से आत्मीय सम्बन्ध की डोर का सिरा टूट गया तो क्या हुआ ? मैंने कभी किसी के आगे हाथ तो नही पसारा !'

नन्दू को अपने मकान और जमीन, हजारी की किल्लोलस्थली—जन्मभूमि—का ममत्व विकल करने लगा. कुछ दिन के लिए डासरिया गई. परन्तु अधिक दिन वहां रहना उनके मन को कचोटने लगा. पुन. शीघ्र ही सब देखभाल कर, पुत्र सहित लौट आई काम करने लगी. किसी से प्रीत, न डाह. अतीत के सलोने अलोने सब स्वप्न बिसार, श्रम कर सुखपूर्वक

रहने लगी अपने छोटे-छोटे हाथो से पुत्र हजारी भी, माँ के काम में हाथ बँटाने लगा इस तरह माँ सुखी थी बेटा सुखी था दोनो का एक छोटा-सा ससार था माँ अपने बेटे को बता देना चाहती थी कि 'स्वार्थ से सराबोर इस ससार का बरताव देख ले बडा होकर किसी से भी आस मत करना अपना किया ही अपने काम आता है'

नारी का सुख :

एक वस्तु भी विभिन्न अनुभूतियो या उसके पृथक् माध्यम के कारण, अनेक रूपो मे परिवर्तित हो जाती है सत्य एक होकर भी वैयक्तिक भेद से अनेक है दु ख और सुख भी वैयक्तिक भेद से अनेक रूपात्मक है, शब्दातीत है

नारी का सुख पुरुष से भिन्न है वात्सल्य उसके सुख को बढाता है वात्सल्य के अभाव मे नारी नारायणी नही कहलाती है सुसस्कार और स्वाभिमान उसके वात्सल्य मे स्थायित्व लाते है उस समय वह वात्सल्य को जन-जन मे अर्पित कर देती है वही उसका सुख, सुख है वह अपने जीवन की प्रत्येक घडी मे दूसरो को सुखी देखकर, दूसरो को सुखी बनाकर—अपने आपको सुखी व प्रसन्न अनुभव करती है त्याग और सेवा उसकी आत्मा का सरगम है उसे इसमे अखण्ड आनन्द की उपलब्धि होती है इस आनन्द मे डूब कर वह अपना दु ख, अपना सुख—सब कुछ भुला देती है तब वह अपने मे सीमित न रह कर विराट् बन जाती है पूज्य स्वामीजी महाराज की माँ भी एक ऐसी ही माँ थी, उस माँ ने अपने वात्सल्य को विराट् बनाया था वात्सल्य के उस विराट् आलोक मे खडी होकर एक दिन अपनी ममता के केन्द्र हजारी को स्व-पर कल्याण में जुटे रहनेवाले परमादरणीय स्वामीजी श्रीजोरावरमलजी के चरणो मे सौप कर अपने आपको धन्य-धन्य समझा था इस अर्पण की पूर्व कथा निम्न प्रकार है--

वर्तमान वर्ते सदा सो ज्ञानी जग मांय :

माँ को एक दिन विचार आया—'हजारी को नौ महीने तक अपने पेट में रखा, और कूख से जाया—जन्म दिया आज दु ख की सुख की अच्छी बुरी घडियो को पार कर के यह नौ वर्ष का, इस धरती पर लोटते-पोटते, भागते-दौडते—हो गया है इस अवसर पर मैं महासतीजी श्रीचौथाजी के दर्शनो का शुभ लाभ पुत्र सहित क्यो न लूँ ?'

माँ नन्दूबाई ने जैनाचार्य श्रीजयमलजी महाराज की सम्प्रदाय की साध्वी श्रीचौथाजी के ब्यावर मे दर्शन किए साध्वीजी ने बालक हजारी मे अलौकिक व्यक्तित्व की झलक देखी माता नन्दू का शोकपूर्ण अतीत सुना नन्दू को सान्त्वना दी .

"बहिन, अतीत को याद कर-करके हृदय-घट को दु ख व शोक से क्यो भरती हो ? बीती को भुला दो विधि के अदृश्य हाथो ने जो लिखा था—वह हुआ दु ख के घट को अब बूँद-बूद ही सही—रीता कर दो दु खी जीवन से मन और तन दोनो प्रकारकी शान्ति भग होती है. इ स तरह तो तुम अपनी आत्मा को शोक-सागर मे बोर-बोर जैनसिद्धान्तानुसार गुरु बना रही हो"

साध्वी चौथाजी की बात नन्दूबाई के सरल हृदय मे बैठ गई अतीत पर सोचना छोडकर वह वर्तमान मे सोचने और चलने लगी और इस सत्य को साकार कर दिया—"वर्तमान वर्ते सदा सो ज्ञानी जग माय"

स्वामी जी के मन का झुकाव :

हजारी ने अपना नौ वर्ष तक का जीवन दो सुकोमल हाथो और हृदय के मधुर उपालम्भो व प्रभूत स्नेह तथा वात्सल्य में बिताया था. साध्वी चौथाजी का विचारपूर्ण जीवन-दिशा सकेत सूत्र एव सात्विक वात्सल्य पाकर बालक हजारी का मन, साधु-जीवन की ओर झुक गया एक दिन पुत्र हजारी ने माँ से कहा ·

"मुझे गुरुणी माता के दर्शन तो कराए, किसी दिन श्रद्धेय गुरुजी के दर्शन भी करा दो न माँ."

माता को वर्तमान पर सोचने की दिशा साध्वीजी से मिली थी. अत उसने अनुभव किया 'बीते अतीत को बिसारना ही



श्रेष्ठ है. भविष्य के कल्पित सुख मेरे हाथ के नही है. वे विधि के अधीन है उनके बारे में कुछ भी सोचना मरुमरीचिका का अनुसरण करना ही तो है !'

वर्तमान पर सोचना दर्शनजगत् का ठोस व स्थायी सत्य है वर्तमान में सोचने वाला अतीत के अन्धेरे में ठोकर खाते दिमाग को बचा सकता है भविष्य के अदृश्य गर्त मे गिरने से बच जाता है. माता नन्दू दोनो किनारो से पल्ला बचाकर जीवन-पथ पर अग्रपद होना सीख चुकी थी. माँ ने हजारी के कहे पर कान दिया. तत्कालीन सादा जीवन और उच्च विचारो के सपोषक, प्रचारक व प्रसारक स्वामीजी मुनि श्रीजोरावरमलजी महाराजके दर्शनार्थ माँ नन्दू और पुत्र हजारी गए ।[1] गुरुजी का उपदेश चल रहा था ग्रहणशील हजारी ने सुना. उनकी सस्कारी आत्मा में गुरु का व्यापक दृष्टिकोण समाविष्ट हो गया गुरु कह रहे थे "मानव जीवन की उच्च भूमिका 'भूमा' बनने से आती है समस्त विश्व मेरा है. सब मेरे है. मै सब का हूँ इस प्रकार व्यापक चिन्तन, मनुष्यको मोह, द्रोह, राग, द्वेष, क्रोध और अशान्ति से मुक्त कर शाश्वत सुख-शान्ति का अनुभव कराता है" गुरु के हृदय से नि सृत प्रभावोत्पादक धर्मदेशना सुनी हजारी का मन स्वामीजी महाराज की निर्वेद व वैराग्य-मूलक वाणी मे भीग गया. हजारी ने कहा "माँ, मै अब सबका बनना चाहता हूँ मै सबका हूँ सब मेरे है. इस तरह मुझे विश्व-प्रेम का अधिकारी बनने दो." माँ मौन हो गई

"माँ मौन क्यो हो ! तुम तो वर्त्तमान पर सोचने मे सत्य के दर्शन करती हो न, गुरुमाता (चौथाजी)ने कहा था 'अतीत और भविष्य के बारे मे सोचना छोडो, वर्तमान पर सोचना सत्य है अतीत और भविष्य के काल्पनिक जाल में मन को फसाने से आत्मा गुरु (कर्मवद्ध) होती है." पुत्र की पकड, प्रबल और तर्क-सगत थी. माता ने कहा . "गुरुणीजी का कहना ठीक था तेरा कहना भी ठीक है"

"मेरा कहना ठीक है, तो पूज्य गुरुजी के पास दीक्षा लेने की इजाजत दो' यो हजारी ने अपने मन की बात कही

माँ और बेटा गुरुजी के दर्शन करके घर लौट गए. गुरु-दर्शन कर लेने पर प्रस्तुत जीवनी के आधार स्वामी श्रीहजारीमलजी महाराज ने भागवती दीक्षा का हृदय-भूमि मे बीज वपन कर लिया था वह उनकी निरतर रट से अकुरित हुआ. पुत्र की विजय हुई माता प्रसन्न हुई

एक दिन स्नेहमयी माँ ने अपने प्यारे बेटे को मन की एक अनुभूति के क्षणो में कहा था 'मेरे हिये के हार ! तू मेरी ममता का केन्द्रबिन्दु है ! पर तेरा निश्चय भी पाषाण-सा अचल है, यह जानकर ही मैं तुझे जैन-भिक्षु जीवन स्वीकार करने की अनुमति दे रही हूँ. तेरा हिया मेरा हिया है. तुझे साधना मे सुख है, तो मैं बाधा नही बनूंगी! मुझे तेरे सुख से अलग कही सुख नही दीखता. वन्दनीय गुरुदेव की सेवा, तन-मन की एकता साधकर करना! सेवा बहुत कठिन कार्य है. यह सुयोग, नगर की कोलाहल भरी दुनिया से दूर रहकर एकात में योग साधना करने वाले योगी के लिये भी दुष्कर है. सेवा से बचे समय मे आत्म-मन्दिर मे भक्ति का स्नेह उडेलकर ज्ञान की ज्योति जगाना ।' और माँ नन्दूबाई की भोली-भाली आंखो मे ममता के दो श्वेत मोती छलक आये.

"माँ ! तुमने गुरुदेव के समक्ष कहा था—मेरी छाती का धन (हजारी) आपके चरणो मे सहर्ष अर्पित है, फिर आज ये विषाद के आंसू क्यो ढुलक आये है—तुम्हारी करुणामयी आँखो मे ?"

माँ ने बेटा अपने मन की कितनी बडी बात सहज बनती देख सहज भाव से कह गया.

'बेटा, ये आसू नहीं हैं, यह तो मातृत्व का लक्षण है, इनमे खारापन नही है, यह तो माँपन है. आसू माता होने का प्रमाण हैं. "तो माँ ! मेरे सयम (मुनि-दीक्षा) स्वीकार करने से तेरा हिरदा कष्ट पाता है ?" बेटे का विमल प्रश्न था. 'जब हिरदा दूर होता है, तो कष्ट तो होता ही है. हृदय-से-हृदय दूर होने पर पीडा जन्म ही जाती है. पर तुझे साधना में सुख है, तो मै अपनी पीड़ा भुला दूंगी. हजारी बेटा, मेरा सुख तुझे सुखी देखने से अलग नही है."

---

१. [illegible]

तात्त्विक दृष्टि से चिन्तन करने पर प्रतिफलित होता है कि यथार्थत मुक्ति का आधार वियोग है सयोग नही श्रमण-परपरा बहुत प्राचीनकाल से वियोग के प्रति ही निष्ठावान रही है आत्मा और कर्म का वियोग अपरिहार्य तथ्य है वही शाश्वत सुख का आधार है, सयोग बध का कारण है जीवन मे आगत विषमताओ का सतुलन चारित्रिक शक्ति द्वारा ही सभव है. स्पष्ट कहा जाय तो सयम ही कर्म और आत्माके वियोग का आधार है .

"माँ, मै भी तुझे सुखी देखना चाहता हूँ तू मेरे सुख में सुख देखती है, यही मातृ-हृदय का माहात्म्य है. मैं दीक्षा लेकर सुख का अनुभव करूँगा तो निश्चय ही इससे तुझे भी सुख मिलेगा मैं गुरुदेव के सुख मे सुख खोजूंगा और गुरु को सुख निर्मल साधना से मिलता है यह भी सत्य है न ?"

"हा बेटा, गुरुको सुख तो निर्मल साधना से ही मिलता है" माँ ने बेटे की ममता को गुरुभक्ति मे समोकर कहा

"तो माँ, मुझे भी स्वसुख, तेरे सुख और गुरु-सुख हित-साधना करनी है आज तू मुझे त्रिविध सुख के लिये अन्त करण से आशीर्वाद दे—जिससे मै कभी साधना से विरत न हो सकू मैं जीवन की अन्तिम घडी तक साधना से विरत न होऊगा यह प्रतिज्ञा आज मैं तेरा चरण-स्पर्श कर, करता हूँ ."

गृहजीवन में अध्ययन :

स्वामीजी महाराज ने गुरुचरणो मे पहुँचने से पहले महाजनी और हिन्दी भाषा का अध्ययन कर लिया था ग्राम्य जीवन और शिक्षण की पद्धति के मानदण्ड के अनुसार एव उस युग मे जो अध्ययन करने-कराने की सुविधा थी,—स्वामीजी की पढाई पूर्ण हो चुकी थी माता ने भी समझ लिया था कि पुत्र लिख पढ चुका है अब इसके लिये परी-सी बहू लाऊगी. मैं चाद-सी अपनी बहूरानी को एक निमिष भी अलग नही करूगी परन्तु विधि ने अपने अदृश्य हाथो से स्वामीजी म० के लिए तो पूर्व पुण्य के प्रतिफल स्वरूप योग-साधना का विधान कर दिया था. माता और पिता दोनो ही इस सत्य से अपरिचित थे

चरितनायक हजारीमलजी दीक्षा के उम्मीदवार होकर पूज्य गुरुदेव श्रीजोरावरमलजी महाराज की चरणसेवा मे रह रहे थे ज्ञान ध्यान मे मन निमज्जित था एक दिन माँ नन्दू के मस्तिष्क मे पुत्र की सस्मृति गहरी उभर आई भावना की उथल-पुथल मे पुत्र को पत्र लिखा

"प्रिय हजारी,

'आज बैठे-बैठे मन भर आया नही रहा जा रहा है. मन की दुखन आँखो की बाट फूट कर बाहर आती है तब अपना कोई होता है या जिसे अपना मान लिया जाता है— उसे मन की दो बात कह कर दुःख से उफनती छाती में सबर आता है आज तुझे भी कुछ कहने को मन कर आया है.

'बात भी ऐसी कुछ नही है पर बेसबर मन है इसमे सहनशक्ति नही रहती है तो यह अपने रास्ते चलता है मनुष्य सोचता है बस, अब कुछ हलकापन हो गया—मेरे मन की स्थिति भी ऐसी हो रही है

'तेरा बडा भाई गोद चला ही गया था मँझला था, वह भी उसके गोद जाते ही उसी के पास चला गया था बेटी थी, वह अपने घर की हो गई एक तू था, तू भी मुझसे अब दूर जा रहा है खैर बेटा छाती भर आई तो यह लिख दिया है . ...!

बेटा, पत्र जल्दी-जल्दी दे दिया कर,

—नन्दूबाई"



पुत्र का पत्र माँ के उत्तर मे :

"पूज्य माँ,

'तुम्हारी माॅ का पत्र आया है.' गुरुदेव ने कहा तो माँ, सुनते ही बड़ा हर्ष हुआ. उतावले हाथों गुरुजी से पत्र लिया तुम्हारा पत्र पढ़ने को मन अधीर हो उठा था अपलक, पत्र पढ़ गया आज उत्तर दे रहा हूँ !

'तुम कहती हो, 'मैं दूर जा रहा हूँ' पर माँ, सच पूछो, तो मैं तुम्हारे निरन्तर निकट रहने का प्रयत्न कर रहा हूँ.

'मैं दूर नही जा रहा हूँ, निकट आ रहा हूँ—तुमने कहा था—'इन आँसुओं में खारापन नही है–ये तो माँपन की पहचान है–और आज लिख रही हो–'दूर जा रहा है'

'तुम्हारी आंखों के उन दो आंसुओं के माँपन को मैं सदैव याद रखूँगा, उन दो आँसुओ को मैं कभी नही विसारूगा, हर नारीमें माँपन मानकर उसमें विश्व-माॅ के दर्शन किया करूगा, और फिर तुमने कहा था–गुरु को सुख पवित्र साधना में मिलता है, और 'आज दूर जा रहा है!'—यह कहकर गुरु के सुख में बाधा डालने का प्रयत्न नही कर रही हो ?

स्पष्टवादिता के लिए क्षमा करना'

विनयावनत,

—हजारी."

माँ का प्रतिपत्र :

"**चि० हजारी,**

'वेटा, तेरा पत्र पढ़ते-पढते आंखे बरस पड़ी थी. एक वात कहूँ ? गुरुजी के पास रहकर बातें तो खूब आ गई हैं तुझे. 'स्पष्टवादिता के लिए क्षमा करना' कैसे लिख दिया. क्या बचपन के वे दिन याद नही हैं ? कहने पर भी सच तो क्या झूठ-मूठ भी क्षमा याचना नही करता था. कोई वात हो जाती तो ? यह वात तो मैं यों ही कह गई. अब तू अपनी माँ के मन की वात भी सुन ले.

'वेटा, भूल जाती हूँ, पुत्र में अटकी-भटकी माँ की ममता अनचाहे ही भूल करा देती है, परन्तु गुरु को सुख तो, तू साधना में आगे बढ़ेगा, उसी से मिलेगा–यह सत्य है ! साधना करने पर तुझे जो आनन्दानुभव होगा, गुरु को उससे द्विगुणित आनन्द प्राप्त होगा—इसमें दो वात नही हो सकती.'

माँ के आशीर्वाद,

—नन्दूबाई"

पुत्र का प्रत्युत्तर :

"**पूज्य माँ,**

'पत्र मिल गया था. 'वेटा, भूल जाती हूँ. पुत्र में अटकी-भटकी माँ की ममता अनचाहे ही भूल करा देती है' क्यों ! ऐसी भूल कैसे हो जाती है ? कौन-सी शक्ति है जिसके वशवर्ती होने पर वह तुमसे भूल कराती रहती है ! जव तक तुम मुझ में ही पुत्र की कल्पना

करती रहोगी तब तक तुमसे यह भूल सभव है· तुम क्यों नही सोचती हो :

मै ही नहीं श्रौर भी तो है, बेटे तेरे धूल लपेटे ।
फिर क्यों घूम-घूम कर तेरी, ममता मुझसे ही श्रा भेंटे !

'माँ, जब तक तुम मुझको मेरी देह में देखती रहोगी, तब तक बटमारो की तरह, तुम्हारी श्रात्मा का धन लुटता रहेगा ममता के हाथो—इसलिए परभाव से विरत रहने में ही मेरा सुख, तुम्हारा हित श्रौर गुरुभक्ति की रक्षा-सुरक्षा है.

'इस पत्र से मुझे एक श्रलौकिक स्फूर्ति मिली है, विशेषतः तुम्हारे इस वाक्य से 'साधना करने पर तुझे जो श्रानन्दानुभव होगा उससे गुरुको द्विगुणित श्रानन्द प्राप्त होगा'

'माँ, तुम्हारे कहे पर मैं श्रमर विश्वास लाता हूँ ! श्रब मैं साधना करूँगा ! गुरु-सेवा करूँगा तुम्हारे कहे पर चित्त धरूँगा

गुरुसेवक
—हजारी"

"सबकी ममता के श्राधार प्रिय हजारी,

'बहुत दिनों बाद पत्र मिला. पत्र पढकर मन रंजा हजारी के हाथ का पत्र है जान, पत्र पढ़ा. पढ़ते-पढते बेटा मेरा विश्वास श्रागे बढ़ा ! श्रौर हृदय में उच्चस्तरीय भावना ने जन्म लिया. किस प्रकार की भावना ने, यह बता रही हूँ पहले तू श्रपने पत्रका जवाब पढ ले !

'तुझे श्रब क्या बताऊँ कि कौन-सी शक्ति के वशवर्ती हो जाती हूँ श्रौर तेरी छविदर्शन को विकल हो उठती हूँ ? तू तो श्रब सब का बनने जा रहा है पर मेरी ममता बेटे से श्रब तक मिटी नही थी मिटती भी कैसे ? पट्टी (स्लेट) के श्राक थोडे ही थे जो बचपन मे पढते हुए तू कक्का (क) माडता श्रौर हाथ फेर कर मिटा देता था ऐसे सहसा ही मिट जाती ?

'श्राज के तेरे पत्रसे मेरा माँपन दिशा बदल चुका है तेरी कवि-कडी मैंने हिरदे की पाटी पर लिख ली है श्राखिर पुत्र बुढापे की लाठी होता है यह पुरानी कहावत तूने सच्चे श्रर्थो में श्राज चरितार्थ कर दी है वह कवि कड़ी जिसने मेरा मन मोड़ा, विचार मोड़ा, श्रौर वाणी भी मोड़ी लिख रही हूँ मुझे ठीक से याद हुई है या नही, जाँच करना.

मै ही नहीं श्रौर भी तो है, बेटे तेरे धूल लपेटे,
फिर क्यों घूम-घूमकर तेरी, ममता मुझ से ही श्रा भेंटे !

'तूने ठीक ही तो श्रपना पुत्र धर्म निभाया है श्रौर मेरे श्रसहाय मन का संबल बना है ! तू विश्वास कर मैं श्रपने श्रात्म-धन को बटमारों के हाथो लुटने से बचाऊगी ! श्रब मैं धूल लिपटे हर बेटे में तेरा ही प्रतिबिम्ब देखूगी तू भी विश्वमाता के पथ पर बढ़ रहा है न ?

'श्रपने निश्चय को बेटा, उस समय तक स्थिर रखना जबतक तेरे मनमें एक भी साँस, रक्तमें एक भी रक्ताणु शेष रहे मैं भी विश्वपुत्र के दर्शन संसार के सभी पुत्रो मे करूँगी !'

'मैं इधर बहुत दिनों से यह सोच भी रही थी 'जिस घरमें तीन-तीन पुत्र जन्मे वह घर-आगन एक की किलकारी से भी नही गूँज रहा है. ऐसे घरमें रहकर मैं भी अब क्या करूँगी? क्यो न मैं भी जिन गुरुणीजी ने जीवन को जीना सिखाया, मेरा अतीतकालीन शोक मेटा—उनके चरणों में ही दीक्षा धारण कर अपने बेटे के पथ पर चलूं ?

'मेरे ऐसे सोचने में क्यों न.........? का द्वन्द्व था. आज उस विकल्प को तेरे द्वारा लिखी कवि-कडी ने मेट दिया है. बेटा, तू खुश है न ? आज से तेरी माॅ भी सबकी माँ बनने और सब में अपने हजारी के दर्शन करने की प्रतिज्ञा कर रही है.

और क्या, बस ! शेष सुख !

सबकी माँ बनने को उत्सुक,

नन्दू के आशीर्वाद"

"**मेरी पूज्य माँ,**

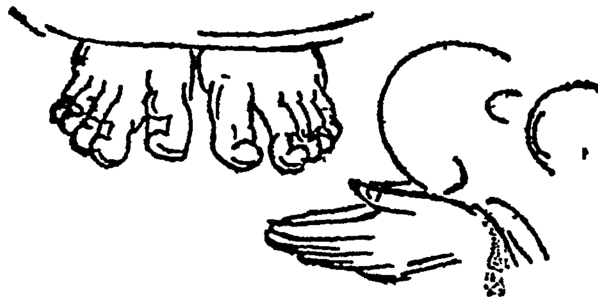
'आज का तुम्हारा पत्र पढ कर मेरी आत्मा का कण-कण पुलकित हो गया ! माँ मुझे तुम्हारा निश्चय पढकर असीम प्रसन्नता हुई है. तुम्हारा निश्चय अत्यन्त शुभ है. अब इससे तुम कभी भी पीछे की ओर मत मुड़ना! अवश्य ही गुरुणीजी के पास भागवती दीक्षा धारण कर आत्मा का अनन्त आह्लाद खोजना !

'मैं आज अन्तिम बार **तुम्हें मेरी पूज्य माँ** का सम्बोधन कर रहा हूँ. अब तुम सब की माता बनना चाहती हो तो मैं भी, 'मेरी माॅ' इस घेरे से बाहर निकलता हूँ ।

'माँ, मैं तुम्हारे पवित्र निश्चय से, प्रसन्न हूँ. परम प्रसन्न हूँ.'

विश्वमाता के निश्चयाधीन,

—हजारी,"



मुनि-जीवन

हजारी का दीक्षा-ग्रहण :



स्वामीजी महाराज ने एक दिन नागौर (मरुभूमि) मे अपने पूज्य प्रतापी गुरुवर श्रीजोरावरमलजी महाराज के दर्शन किए और वि० स० १९५४ ज्येष्ठ कृष्णा दशमी को उसी नागौर नगर मे नैतिकाचार के निष्ठावान् गुरु स्वामी श्रीजोरावरमलजी महाराज के कर-कमलो द्वारा भागवती दीक्षा ग्रहण की

दीक्षा धारण करने से पूर्व माता के चरण छुए पुत्र ने माता से कहा "माता, मैने 'मेरी माता' सम्बोधन उस पत्र मे अन्तिम बार किया था. आज तुम्हारे अन्तिम बार चरण-सस्पर्श कर रहा हूँ. आज के बाद मैं तुम्हारे चरण का स्पर्श भी नही करूँगा गुरुदेव का कहना है—'ससार के समस्त नारीवर्ग का दीक्षा के बाद पल्ला भी नही भेटना है जिनत्वभाव की पूर्णता का यह प्रथम सोपान है. नियम की इस दृढता के बल पर ही जिनत्व का अकुर प्रस्फुटित हो सकता है अत अब नेत्रो से चरण स्पर्श अनुभव किया करूँगा गुरु की आज्ञा मे जो विधि-निषेध होते है वे एक व्यक्ति को सलक्ष्य करके नही कहे जाते नेत्रो से नारी के चरण-स्पर्शन मे नारी का पल्ला भेटने की आवश्यकता नही पडती नेत्रो से नारी के चरण स्पर्श करने पर नारी मे पवित्रता और शुचिता का भाव अवतरण होता है"

माता ने पुत्र की ज्ञान-पूर्ण बात सुनी और कहा "बेटा, तूने गुरु के ज्ञान को ठीक ढग से हृदयाकित किया है तू स्वय ही गुरु चरणो मे रहते-सहते सुज्ञानवान हो गया है, तथापि एक माता पुत्र के लिए मगल और उन्नति की कामना रखती है तदनुसार आज मैं तुझे यही अन्तिम बार कहना चाहती हूँ कि मै तो जब मेरी भव-भ्रमण की स्थिति का काल परिपाक होगा तब दीक्षा धारण करूँगी ही, परन्तु बेटा, तू साधना की वह स्थायी उपलब्धि करना जिससे दोबारा तुझे किसी माता के उदर मे जन्म धारण न करना पडे और न फिर तुझे किसी माता की कूख दुखाने का अवसर प्राप्त करना पडे फिर कभी किसी माता के आँसू तेरे ममत्व मे न ढुलके !! बस मेरा यही आशीर्वाद तेरी वीतराग-पथ की विमल साधना के प्रति है !"

माता से पुत्र कुछ दूर हटा माता की आँखो से मातृ-स्नेहवश आँसू छलक पडे विश्वपुत्रो मे हजारी के दर्शन का सकल्प करने वाली माता की चोली गीली हो गई माँ ने कहा "देख बेटा, महावीर के मार्ग पर चलते हुए कही साधना की श्वेत चादर मे कलक का काला धब्बा न लगने पाए. इस सयम-ग्रहण को महावीर की विमल चादर मानना मेरी ओर से बस इतना ध्यान रख लेना कि माता के श्वेत दूध मे कायरता का काला दाग न लगने पाए"

बालमुनि की भीष्म प्रतिज्ञा और भाषण :

गुरु से दीक्षा-मत्र लेने से पूर्व चरितनायक दीक्षा-स्थल पर मुनिवेश धारण करके आए गुरु को विधिवत् वन्दन किया. कर-बद्ध खडे होकर गुरुदेव से नम्र निवेदन प्रस्तुत किया

"हे परमपूज्य गुरुदेव ! रागद्वेष का नाश करने के लिए, धन-जन का मोह विसारने के लिए, पाप-वृत्ति से निवृत्ति पाने के लिए—मैं आपका शिष्यत्व स्वीकार करना चाहता हूँ मुझे अपनी शरण मे लेकर कृतार्थ कीजिये आपकी कृपा का आश्रय लेकर मै इस ससार-सागर से, जिसमे जन्म-मरण के भवर है, सकटो की अथाह सलिलराशि है—ऐसे आधि-व्याधि रूप



वृहत् सागर से पार उतर जाऊँगा। आपके चरण ग्रहण कर लेने पर मुझे जन्म-मरण रूप ससार की लम्बाई को देखकर भी भय नही रहा. अन्त तक मुनिधर्म का पालन करूँगा. अत. जन्म-मरण से मुक्ति दिलाने वाले वीतराग जीवन की दीक्षा प्रदान करने का अनुग्रह करे."

गुरु ने सज्ञान विनयी, शिष्य की विनती सुनी. शिष्यत्व प्रदान करने की स्वीकृति दी.

मुनिश्री ने जनता को सम्बोधित करते हुए कहा :

"उपस्थित आत्मीयजनो !

'मैं अब तक गुरुदेव की सेवा में रहते-सहते ज्ञानार्जन करता रहा. इस अवधि में नाना प्रकार के प्रलोभन देकर बाधा की बाढ खडी करने वाले मुझे मिले. परन्तु मेरी आस्था में उससे किसी प्रकार का अन्तर नही आया. गुरु-चरणो में मेरा अचल अनुराग रहा फलस्वरूप बाट की बाधा मेरी निज की बाट में बाधक न बन सकी. और कुछ ऐसे भी मुझे मिले जिन्होने कहा 'हजारी, तुम इतनी छोटी उम्र में यह क्या साहस करने जा रहे हो ? ऐसी कोमल अवस्था में तुम से कठोर साधु-धर्म का पालन नही हो सकेगा. अपनी चचलता के कारण कोई गलती कर बैठो इस से अच्छा है फिर से विचार कर लो. समय आने पर फिर कभी साधु जीवन मे प्रवेश करना. पहले जीवन के उपलब्ध सुख-साधनो का उपयोग कर लो, ससार का सुख देख लो.'

'मैंने उन्हे, गुरु से जो ज्ञान सीखा है उसके बल पर उत्तर दिया · "भोग-उपभोग क्षणिक है. वे पहले मधुर और बाद में कटु सावित होते है. निर्वाण जैसा परम सुख वीतराग के मार्ग मे ही है. इसलिए जैसे भी हो मनुष्य को निर्वाण के मार्ग का ज्ञान प्राप्त कर इस ओर मुड जाना चाहिए क्योकि जीवन का असली उद्देश्य वीतरागता ही है. मृत्यु सिर पर आए उससे पहले ही कल्याण का मार्ग अपना लेना चाहिए.

'मुझे माता-पिता और भाई-बहिन व अन्य सम्बन्धी जन निर्वाण मार्ग में शृ खला की बेड़ियो की तरह लगते है. इन सब का साथ मुझे ऐसा लगता है जैसे प्रवास मे साथ चलते व्यक्ति के साथ ये चलते तो अवश्य है, पथ के कष्ट भी साथ-साथ उठा लेते है परन्तु वन में किसी प्रकार के भय का कारण उपस्थित हो जाता है तो सब अपनी-अपनी जान बचाकर भाग छूटते है—ऐसे ये भाग जाते हैं. इसी प्रकार ये सगे ससार-यात्रा में, स्नेहवश सुख-दुख भोगने, एक दूसरे की सहायता करने आ जाते है किन्तु मृत्यु आने पर अलग हो जाते है. इसलिए मेरी यह धारणा बन चुकी है कि ससार अनित्य है ससार का सुख वस्तुजन्य है. वस्तु स्वय अनित्य है. इस कारण वस्तुजन्य सुख भी अनित्य है जो स्वय अनित्य है वह मनुष्य की अनन्तकालीन भूखी आत्मा को भोजन देने में भी असमर्थ ही है. अत मैने गुरु की शरण ग्रहण करना योग्य माना है.

"इसी तरह मैंने उनको समाधान किया और मेरा अभिलषित दिवस आज आ गया. माता सहित आप सबसे अन्तिम बार इस चोले के द्वारा, मेरे से असुविधा पहुँची हो तो, मैं उसके लिये क्षमायाचना करता हूँ.
आज गुरुदेव मुझे वीतराग-पथपर चलने का गुरुमन्त्र प्रदान करेंगे."

गुरुप्रवर ने सघ-साक्षी से श्रीहजारीमलजी को विधिवत् भागवती दीक्षा प्रदान की और इस प्रकार हजारीमलजी, मुनि हजारीमलजी हो गए.

उपस्थित श्रद्धालुओ में से कतिपय प्रमुखो ने नवदीक्षित मुनि को विनीत आशीर्वचन कहे, जिनका भाव इस प्रकार है :
"नवदीक्षित मुनि प्रवर,

'आपने यह मुनिपद अगीकार कर लिया है तो हमारी आपके लिये अन्त करण से कामना है कि आत्मसंयम और तप के बलसे इस भवभ्रमण रूप ससारसे पार उतरिये. इस क्षण-भंगुर ससार-समुद्र में से जन्म-मरणकी लहरो से, एक कूख से दूसरी कूख मे जाने के कष्ट से, वियोग-विपद् से—अवश्य मुक्त हो."

"आदरणीय बाल मुनि,

'धन्य तो आप है आपने कठिन व्रत अगीकार किया है क्लेशरूपी गृहजीवन छोडकर, स्नेह-बन्धन की वेडियो को तोडकर, मुक्त होने जा रहे है. सुख-दुख मे समता और मोह-विमुक्त जो धर्मका स्वरूप है, उसे आपने धारण किया है आपकी भावना के अनुरूप ही हमारी आकाक्षा आपके साथ है"

"पूज्य गुरुदेव व वालमुनि,

'ससार-सुख से विरक्त होने वाली आत्मा ही इस ससार मे महान् है दीक्षित होने वाला मित्र हो, पुत्र हो, पति हो, पत्नी हो, परिचित हो या अपरिचित हो—उसे ससार की ओर अभिमुख करना वस्तुत उसका अहित ही सोचना कहलाता है हम सब की शुभकामना और भावना लघुमुनि के साथ है आपकी सयम-यात्रा निर्वाध हो यही हमारी विनयपूर्वक कामना है"

मुनि-मंच से लघुमुनि का भाषण :

मुनिश्री, साधु-समूह के मध्य मे काष्ठ पट्ट पर आसीन हुए आशीर्वादात्मक भाषणो के अनतर मुनिश्री ने कहा "आप सब लोगो की शुभकामना मेरा पथ आलोकित करे. यह दृढ विश्वास लाता हूँ और प्रतिज्ञा करता हूँ—"जीवन की अन्तिम घडियो तक मैं आत्म-साक्षीपूर्वक गृहीत वीतराग पथ पर प्रामाणिकतापूर्वक चलता रहूँगा एकदिन जीवन की साझ आ जाएगी पर साधना का अवसान नही आने दूंगा"

दीक्षा समारोह का सानन्द उल्लासमय वातावरण मे समापन हुआ गुरु, साधु-जीवनके परम काम्य की साधना मे निरत थे. शिष्य को उस रस की अनुभूति कराई साथ लिया और ग्रामानुग्राम विचरण करने लगे.

शिष्य की ज्ञान-त्वरा :

जैनागमो मे सुयोग्य शिष्य का लक्षण बताते हुए कहा है—गुरु का प्रिय शिष्य वह है जो विनयी, आराधक, जिज्ञासु और गुरु के सकेत-सूत्रो का चिन्तन कर अपने जीवन को उनकी व्याख्यामय बना लेता है मुनिश्री ने विनय को जीवन का मूल मत्र, गुरु-आज्ञा को धर्म की आधारशिला, जिज्ञासा को सयम की बाती और गुरु के सकेत सूत्रो मे अपना सारा चिन्तन केन्द्रित किया

उन्होने ज्यो-ज्यो गुरु की सेवा की त्यो-त्यो उनमे ज्ञान की ज्योति का प्रकाश विस्तार पाने लगा

अध्ययन-क्रम :

गुरुदेव के निर्देशन व पथ-प्रदर्शन मे मुनिश्री ने जैनागमो का अध्ययन प्रारभ किया प्राचीन शिक्षा पद्धति के अनुसार उस युग मे थोकडे सीखना मुनि के लिये अति आवश्यक माना जाता था. थोकडे एक प्रकार से गणित के गुरु के सदृश होते है गुरो का ज्ञान हो जाने पर जो गणिताकन, आज के गणितपाठी घटो पेलिस कागज लेकर भी नही कर पाते, वह कुछ ही पलो मे कर लिया जाता है लक्षण-ग्रथो को जिह्वाग्र करने वाले भी जिस ज्ञान की अतलता प्राप्त करने में चक्कर खाने लगते है, उस अतल गहराई मे थोकडो की ज्ञान-प्राप्त पद्धति सरलता से पहुँचा देती है

तो उन्होने बहुसख्यक थोकडे सीखे प्राकृतभाषा के जैनशास्त्र कठाग्र किए शुकपाठवत् रटे ही नही अपितु उन पर गभीर चिन्तन के साथ मथन भी किया। गुरु से शकाओ, समस्याओ और प्रश्नो का समाधान मागा। गुरु ने भी उनके प्राणवान प्रश्नो का खुशी-खुशी तर्क सगत समाधान दिया गुरु को योग्य शिष्य मिला शिष्य को ज्ञानी गुरु मिले शिष्य के तार्किक प्रश्न समाधिस्थ हुए गुरु को मोद मिला. इस तरह वे निरतर ज्ञान-प्राप्ति की दिशा मे आगे वढते रहे.

सिद्धान्त चन्द्रिका व्याकरण का विधिवत् अध्ययन कर शब्दो के उद्गम का पता लगाया एक दिन उन्होने गुरुदेव से निवेदन



किया 'मेरी आकाक्षा है कि प्राकृत व्याकरण का भी अध्ययन करूँ. हमारा समस्त जैन-आगम तथा विपुल व्याख्याग्रथ चूर्णियाँ आदि प्राकृत भाषा में अकित हैं. अत मुझे प्राकृत व्याकरण के अध्ययन की अनुमति का अनुग्रह प्रदान करे. गुरुदेव ने सरस्वतीपुत्र आचार्य हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के अध्ययन की व्यवस्था की. प्राकृत व्याकरण के अध्ययन की जिज्ञासा शिष्य की स्वय उत्पन्न जिज्ञासा थी अत: गुरु की सुव्यवस्था प्राप्त होते ही शिष्यने स्वल्प समय में प्राकृत व्याकरण पर सागोपाग अधिकार प्राप्त कर लिय। सस्कृत और प्राकृत का अध्ययन कर चुकने पर उनका मन प्रातीय भाषाओ की ओर स्वाभावत· ही ढला. प्रातीय भाषाओ—गुजराती, ब्रज और राजस्थानी का ज्ञान घूमते व पद-विहार करते हुए जन-साधारण से नैतिकता एव सदाचार सम्बन्धी वार्तालाप करते-करते किया था. इन भाषाओ का व्याकरण उन्होने नही पढा था अत प्रातीय भाषाओ के उनके ज्ञान को हम प्रातीय बोलियो का ज्ञान कह सकते है.

राजस्थानी भाषा तो उनकी अपनी मातृभाषा ही थी परन्तु राजस्थान की राजस्थानी भाषा भी मेवाडी, जयपुरी, अलवरी, मेवाती, ढूढारी, बीकानेरी, बाडमेरी व साचोर-जालोरी आदि के सीमागत टुकडो मे बँटी हुई है अत उन्होने राजस्थान की भिन्न टुकडियो की भाषा के शब्दोच्चारण एव लहजो (ट्यून) पर ध्यान देकर राजस्थानी भाषा का ज्ञान पुष्ट किया

'प्रातो, देशो और अन्य राष्ट्रो की भाषा का ज्ञान प्राप्त करना भी सरस्वती के ज्ञान-भडार का अश है, इस सत्य पर विश्वास लाकर आग्ल और बगाली भाषा का भी ज्ञान प्राप्त किया किन्तु बहुभाषाविज्ञ होने का दावा उन्होने नही किया—अपने जीवन मे, कभी[1].

गौरवशाली नागौर-नगर :

नगीना, नागपुर, नागसर, अहीपुर आदि विभिन्न नामो से नागौर को अतीत मे अभिहित किया जाता रहा है नागौर अनेक दृष्टिसे अपनी विशिष्टता रखता है जैनयतियो ने विपुल मात्रा में नागौर के सम्बन्धमे पद्य रचनाएँ की है. नागौर नारी-सौन्दर्यके कारण तो प्रसिद्ध रहा ही है परन्तु उसका राजस्थान की राजनीति और सास्कृतिक दृष्टि से अपना विशिष्ट मूल्य-महत्व है. इसी नागौर नगर के लिये यह कितना गौरव का विषय है कि स्वामीजी महाराज को प्रथम गुरु-दर्शन का लाभ, भागवती दीक्षा और दीक्षानन्तर प्रथम वर्षावास का सुसयोग भी नागौर मे ही हुआ

इस प्रकार नागौर नगर-निवासियो को तीन-तीन सुयोगो का सुमेल प्राप्त हुआ एक ही नगर मे तीन सयोग बने परन्तु इससे भी चमत्कारपूर्ण एक तथ्य और जुडनेवाला था. स० २०१८ का वर्षावास कुचेरा (राजस्थान) मे बिता कर मुनिश्री नेपुन पदयात्रा प्रारम्भ की तो नागौर (राजस्थान) का स्थानकवासी जैनश्रावक सघ बहुत अधिक उत्साह लेकर मुनिश्री की सेवा मे आया, इस भावना से कि स्वामीजी का इस बार का वर्षावास हमारे नगर में ही हो.

तपोधन मुनिराज श्रीहजारीमलजी महाराज ने कहा "काया ने साथ दिया तो (सुखे समाधे स० २०१९ का चौमासा नागौर करने के भाव हैं) इस बार का वर्षावास आपके नगर में करूँगा. काया ने अगर साथ दिया तो, उनके इस अनिश्चयात्मक वाक्य में शायद उनकी माटी की काया का अत होना गर्भित था वे नागौर न जा सके. (चादावतो का नोखा : राजस्थान) नामक लघुग्राम मे अपने दोनो गुरुभाइयो[2] के समक्ष ही चैत्रकृष्णा दशमी स० २०१८ की काली रात्रि में

---

१. जैनमुनि का जीवन: प्रबल संयम-साधना के साथ-साथ उसका अपना उपदेष्टा का भी रूप होता है. अपने जीवन के अनुभव, शास्त्रीयज्ञान के प्रकाश में उसे ऐसी जनता के समक्ष रखने पडते हैं जो सस्कृत और प्राकृत जैसी विद्वद्भोग्य भाषा से अभिज्ञ रहने के कारण देश्य, भाषाओं की बोधगम्य शैली में उपस्थित करने पडते हैं. जैन मुनियों की औपदेशिक पद्धति केवल पाडित्य-प्रदर्शन तक ही सीमित नही रहती, जनोपकार की दृष्टि से उनका काम्य होता है—दर्शन की महानतम गुत्थी सरलतम शब्दों में, तत्वज्ञान के सिद्धान्त सीधी-सादी भाषा में, जनता जाने समझे और सदाचार की ओर अधिक से अधिक प्रगतिवान हों.

२. स्वामी श्री ब्रजलालजी म० व मधुकर मुनि ।

पच महाव्रतो (पचयाम) मे ज्ञाताज्ञात भाव से लगे दोषो का शुद्धीकरण किया नवीन व्रतो का मूलारोहण कर ठीक १०-१० पर बूढी देह मे मुनि हजारीमलजी के नाम से विद्यमान आत्मा अदृश्य हो गई !

वे चले गए और अपने गुरुभाई युगल को सयम का, समता का, धर्मदृढता का और विश्ववात्सल्य का कभी नही छीना जानेवाला अमूर्त आत्मधन सौप गए

नागौर-नगर की गौरवशाली परम्परा :

चरित्र नायक के तीन महत्वपूर्ण योग नागौर मे बने इसे नागौर का गौरव कहना चाहिए इस गौरव-गरिमा-महिमा से पूर्व के सुसयोगो को देखकर कहना चाहिए नागौर में इस प्रकार के सयोगो की परम्परा-सी चलती आई है. यथा—

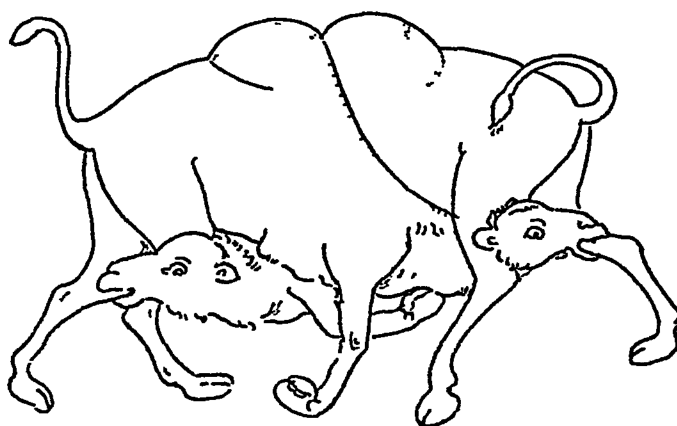
१ प्रत्येक धर्म व सम्प्रदाय मे आचार्य, सदाचार का गौरीशकर और प्रेरणा का स्रोत माना जाता है, उसका किसी भी नगर में पहुचना परम सौभाग्य का सूचक होता है। पूज्य मुनिश्री के दीक्षा प्रसग पर आचार्य श्रीजयमल्लजी महाराज की परम्परा के ज्येष्ठ आचार्य श्रीकस्तूरचदजी महाराज भी उस समय वहाँ पधारे थे

२ पूज्य प्रवर श्रीजोरावरमलजी महाराज के गुरुदेव श्री फकीरचन्दजी महाराज ने स्वामी श्रीबुद्धमलजी महाराज के कर-कमलो द्वारा इसी नागौर नगरमें दीक्षा ग्रहण की थी

३ कैसे विधिसयोग बनते जा रहे है श्री फकीरचन्दजी महाराज ने अपने शिष्य जोरावरमलजी को स० १९४४ की अक्षय तृतीया के ऐतिहासिक दिवस पर नागौर मे ही दीक्षा प्रदान की तो बात कितनी स्वाभाविक रीति से वन रही है स्वामीजी बुधमलजी ने श्रीफकीरचन्दजी महाराज को, और स्वामी फकीरचदजी ने जोरावरमलजी को, श्रीजोरावरमलजी ने मुनि श्रीहजारीमलजी को नागौर मे दीक्षा प्रदान की.

४. इससे भी अधिक महत्वमडित सत्य यह है कि आचार्य श्रीजयमल्लजी महाराज ने स्थिरवास के रूपमे रहना भी नागौर में स्वीकार किया और वे १३ वर्ष तक महास्थविर के सम्बोधनपूर्वक स्थिर रहे स० १८५३ की वैशाख शुक्ला चतुर्दशी की दूध-सी चाँदनी मे उनकी तपोनिष्ठ काया भी नागौर नगर की भूरी मिट्टी मे विलुप्त हुई !

स्वामीजी महाराज ने स्थानकवासी सम्प्रदाय की जिस शाखा मे सयमशील जीवन व्यतीत किया, उस सम्प्रदाय का नाम 'आचार्य श्रीजयमल्लजी म० का सम्प्रदाय' है. जिसके नाम से सम्प्रदाय का नामकरण है उसका आदि पुरुष नागौर मे स्वर्गस्थ हुआ इस तरह नागौर 'जय गच्छ' में प्रारम्भ से ही जुड़ा हुआ है कहना चाहिए नागौर जयगच्छ के शुभ योगो की परम्पराका जयस्तम्भ या यश स्तम्भ है ! नागौर नगर कितना गौरवशाली रहा है आज भी नागौर के स्थानकवासी जैनवन्धु आचार्य श्रीजयमल्लजी महाराजके गौरव-गरिमायुक्त जीवनका पावन स्मरण करते है और अपने को धन्य-धन्य अनुभव करते है.





जीवन-प्रसंग और अन्य पक्ष

जीवन की कला

कला, कला के लिए या कला जीवन के लिए ? इस पचड़े में वे कभी नही पडे. आदर्शोन्मुख कला उनके जीवन का बीज-मंत्र थी. जीवन किस प्रकार जीया जाय या जीवन को सुन्दर रीति से किस प्रकार व्यतीत किया जाय—इसकी कला क्या है ? इस गुत्थी पर अपना सरल, विमल व निश्चित विश्वास प्रकट करते हुए कभी-कभी वे कहते थे :

"विचार पूर्वक जीने वाला प्रत्येक व्यक्ति, जीवन का एक आदर्श, जीवन की एक कला को लेकर जीता है. उसकी दृष्टि में कलारहित और आदर्शविहीन जीवन, जीवन नही होता, आदर्श रहित व्यक्ति भूलता है, पथ से भटक जाता है. उसके जीवन मे कभी-कभी आदर्श के अभाव में ऐसी घड़ी भी आ सकती है जबकि वह अपने अस्तित्व को भी बिसार देता है. 'मैं कौन हूँ ? किस लिये यहाँ आया हूँ ? मेरा गन्तव्य क्या है ? मेरा कर्तव्य क्या है ?—आत्मा के इस अतर्नाद को भी वह नही सुन पाता है. कलारहित मनुष्य कर्म करते हुए उसमे एकाग्र नही हो पाता. इसके अभावमें उसे कर्म से आनन्दानुभव भी नही होता !"

स्वामीजी महाराज ने ११ वर्ष की फूल-सी सुकोमल अवस्था में ही जीवन का आदर्श स्थापित कर लिया था उसी आदर्श पर जीवन की अतिम साँसे खर्च करते समय तक वे अविराम चलते-बढते रहे.

उनका ज्ञान शुष्क ज्ञान न था. उनका आदर्श पखविहीन न था । वे जीवन की आवश्यक माग और भूख से भागने में भी विश्वास नही करते थे विश्वास एक ही बात पर करते थे, "घूमे मन, पर गुमराह न हो." और "पाप न मन में आ पाए." वे मानते थे कि समाज में रहकर पलकें बन्द करके योग-साधना का नाटक नही खेला जा सकता है. हमे समाज को अपनी दृष्टि से ओझल नही करना होगा. एक जैन भक्त कवि की जीवन-व्यवस्था और जीवन-कला के अनुसार "अतर घट न्यारा रहे, जूं धाय खिलावे बाल." के वे जीवन्त उदाहरण ही थे. उनकी जीवन-साधना का आदर्श और कला का सार—'आत्मभाव के अतिरिक्त ससार के समस्त परभाव से विमुक्त हो जाना ही परम काम्य और सलक्ष्य है.

उनके इस प्रकार के निःस्पृह जीवन के प्रति जनता में आकर्षण का कारण यह था कि जो भी एक बारगी उनके परिचय में आ गया, उनके मन मे उनके प्रति श्रद्धा सदा-सदा के लिए स्थिर हो गई. और उनमें जिनकी भी एक बार श्रद्धा उत्पन्न हुई वह सदा-सदा को मूर्तिमान हो गई.

नाम की क्षुधा से परिमुक्त :

गोस्वामी तुलसीदास ने, मानवमन की दुर्वलता का कितना सुन्दर सजीव व्यक्ती करण किया था

'कचन तजिबो सहज है, सहज त्रिया को नेह, मान बडाई ईर्षा, तुलसी दुर्लभ एह !'

मनुष्य घर से, परिजनो के दर से, अपने तन से, राग की केन्द्र-विन्दु नारी से, धन से और सौन्दर्याधार कञ्चन से–सम्बन्ध विच्छेद कर सकता है, इनसे ममत्व मेट सकता है, परन्तु यश, सम्मान और प्रतिष्ठा से ममत्व नही तोड़ सकता इसे जैन परिभाषा मे 'एषणा' कहा जाता है इसका घनत्व प्राय मुनिसूचक परिधान पहनने पर और भी घनीभूत हो जाता है परन्तु स्वामीजी महाराज इसके स्पष्टत अपवाद थे इसकी अभिव्यक्ति यह लेखनी ही नही कर रही है, पूरा जैन समाज ही, उन्हे इसी रूपमे पहचानता था, जानता है उनका मन, मगल आचरण, साधना, भावना सभी कुछ तो सुन्दर था फिर भी विश्वास किया जाता है कि उनका सर्वोपरि एक गुण था उसमे उनके सम्पूर्ण सन्तोचित गुण गर्भित हो जाते है वह यह कि महामना मुनि श्रीहजारीमलजी महाराज ने अपने आपको सदैव सीमित रखा था कर्म करने मे उनका विश्वास था उसका प्रकटीकरण उन्हे इष्ट न था

जप करना, तप करना, प्रवचन करना, लोकोपकार के अन्य अनेकविध कर्म करना–ये सब उनकी आत्मा के सरगम थे पर इन सब का हृदय था—'इनका प्रकट न होना' उनके योगनिष्ठ मन को आत्म-प्रकाशन कतई पसन्द न था वे अपने अतर्मन के अमर विश्वास को सक्षम कलाकार के इन शब्दो मे प्रकट करते थे—

केवल यश से कर्म नहीं नापा जाता है
मेरा मन तो एक माप का ही ज्ञाता है,
कौन कोष सस्कृति का कितना भर पाता है,
सागर-तल के सदृश कर्म के प्रति आस्था है !
फल की इच्छा तट पर रोती हुई लहर हैं,
हार-जीत तो नश्वर केवल कर्म अमर हैं !

सच यह कि उन्हे नाम की कभी भूख पैदा ही नही हुई थी यह केवल बात ही वात नही है. जब भी उन्हे यह पता लगता–'मेरा नाम प्रचारित हो रहा है, लोग मुझे जान रहे हैं, तो वे तत्काल उस नगर या ग्राम को छोडकर अगले ग्राम या नगर मे चल दिया करते थे.

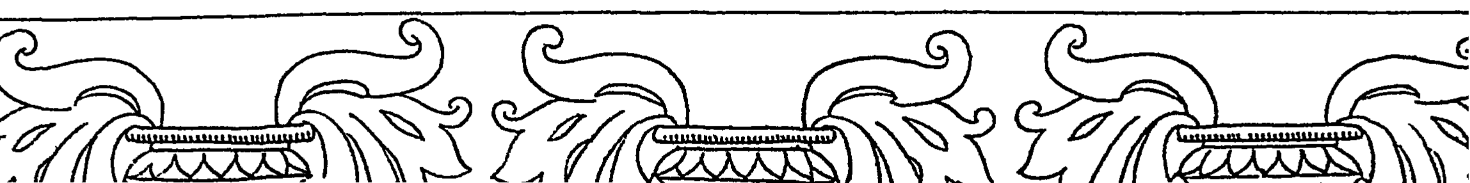
उनकी इस वृत्ति से लगता है कि वे मन के भी पूर्ण साधु थे वे जो कुछ करते या करना चाहते थे, वह सव कुछ 'स्वात सुखाय' ही करते थे

इस प्रकार वे परिचय, प्रदर्शन और प्रचार के सभी अवसरो से दूर रहा करते थे. उनके हृदयकमल की किसी भी पुष्प-पखुरी पर यह कामना प्रवेश नही कर पाई थी कि 'लोग मुझे जाने ! मेरा नाम हो !! मेरी ख्याति हो !!!'

तोड चलो चट्टान, कगारों को भी ढहने दो यहीं मत रहने दो !!
श्वासों पर विश्वास चला है, कर्मों पर इतिहास चला है,
छाया पर आभास चला है, सयम पर संन्यास चला है,
सुनो पुकार लक्ष्य की, जग जो कहता कहने दो यहीं मत रहने दो !!

कवि अपनी कम, जग की अधिक कहता है इसलिए वह समाज का प्रतिनिधि है

'सन्यास की सफलता गोपन मे है. इसके अभाव मे सयम सधता नही सयम के अभाव मे सन्यास मर जाता है आत्मा विलुप्त हो जाती है शरीर रह जाता है. स्वामीजी महाराज के इन्ही विचारो मे से दो प्रकाशदीप प्रज्वलित हुए थे. एक दिन उन्होने कहा था—



१. "यश और ख्याति की कामना सन्यास-साधना की राख है।"

२. "कीर्ति-कामना साधना को कलुषित कर देती है"

इन्ही दो दीपाधारो से उनका अंतर्-वाह्य आलोकित था ख्याति या प्रसिद्धि की भावना आध्यात्मिक जीवन के दिवालियेपन का प्रमाण है. वह वहिरात्मवृत्ति की सूचक है

जिसके हृदय मे कीर्ति-कामना जागृत रहती है, उसका जप-तप, ध्यान-मौन सभी कुछ अनात्मस्पर्शी, प्राणविहीन और निस्तेज होता है अध्यात्म-जगत् मे उसका कुछ भी मूल्य नही है इसीलिए श्रमण भगवान् महावीर ने कहा

नो इह लोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा,
नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा,
नो कित्ति-वण्ण-सद्द-सिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा,
नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा !

दशवैकालिक आगम का यह वाक्य स्वामीजी की जीवन-नीति का स्पष्ट मुद्राकन था. अतएव नाम, प्रचार, परिचय, ख्याति से जीवन पर्यंत उन्होने अपने आपको बचाए रखा यह तथ्य उनके उत्कृष्ट सन्त होने का एक प्रबल प्रमाण है

साधुता का सत्य :

स्वामीजी म० हृदय के सन्त थे. फक्कड़ साधुओ-से कठोर शब्दो का प्रयोग करके वाणी से साधुता उन्होने कभी नही जताई. फक्कड साधुओ के समान पाषाण स्फोटक शब्द बोलकर अपने आपको निस्पृह प्रमाणित करने का भी उन्होने कभी प्रयास नही किया और जड क्रिया-काड के प्रदर्शन द्वारा उन्होने अपनी साधुता को नीलामी के दाव पर भी कभी नही लगने दिया था. सम्प्रदायवाद की किलेबन्दी में रहनेवालो के सामने यह समस्या विकट ही रहती है कि अन्य सम्प्रदाय के साधुओ के साथ क्या, कितना और कैसे सम्बध रखे ? स्वामीजी म० का फूल-सा कोमल मन, सब सम्प्रदायो के साधुओ के प्रति विनम्र था यही कारण है कि जैनो के लगभग सभी सम्प्रदायो के साधु—जिन्होने उनके किसलयवत् मन का मधुर प्यार पाया था—हृदय से उनके साधु स्वभाव के प्रति पूर्णरूप से समर्पित थे.

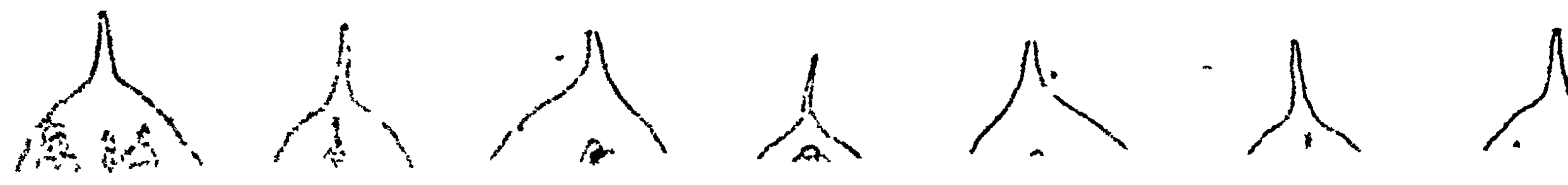
जैनेतर सम्प्रदायो के भी वहुत-से भिक्षु, जो उनके सम्पर्क में आये, उन्हे आज भी स्मरण करते है—वे उनके सुमधुर और उत्प्रेरक सस्मरण सुनाते है, तो भावातिरेक से उनकी पलकें भीग जाती है. पूज्य स्वामीजी के सहजाचार से आकर्षित होकर जैनाजैन सम्प्रदायो के वहुत से साधु उनकी सेवा मे रहने के लिये आए उनके पास, तब भी उनका सन्त-मन चेलो की सख्या-वृद्धि के मोह मे नही ललचाया था.

आगत भिक्षु को वे अपने पास रखते थे. नेह से समझाते-बुझाते. गुरु-भक्ति का महत्त्व बताकर पुन. उसके गुरु के पास भेज देते थे. मूर्तिपूजक श्वेताम्वर और स्थानकवासी सम्प्रदाय के अन्यान्य उपसंप्रदायो के साधु उनके पास गुरुओ से विचारभेद होने के कारण शिष्यत्व ग्रहण करने आये थे. इस प्रकार आनेवाले साधुओ की काफी वडी सख्या है यह था उनका निस्पृहभाव ! साधुता का सत्याकन !!

चमत्कार हो तो श्रद्धा क्यों न हो ?

व्यक्ति के पास श्रद्धा है किन्तु वहुधा विचित्र प्रकार की साधुता देख वह कुण्ठाग्रस्त हो जाता है उसके पास विचार करने के लिए मस्तिष्क है. वह सोचा करता है—मैं अपनी श्रद्धा और आस्था को कहाँ केन्द्रित करूँ ?

संसार के समस्त सम्वध लेन और देन की आधारतुला पर तुलकर स्थापित होते है । सत ही एक ऐसा आधार है जिसे वह अपनी आराधना, साधना व भक्ति का मेरुदण्ड मान सकता है क्यो कि उसका आदर्श लेन और देन की तुला से अभिमुक्त है सन्त ही मात्र पारलौकिक दिशा का नि स्वार्थ वोध प्रदान करता है. वह नि स्वार्थ होने के कारण कलह, काम और द्वेष



से परिपूरित मानव को मुक्ति का विमल सदेश दे सकता है वह अपनी अध्यात्मविद्या के वल से उसके दिल की गाँठें खोल सकता है इसलिए जनमानस उस ओर अतीत काल से आज तक झुका है, झुकता आया है चाहिए उसके श्रद्धाशील मानस को झुकानेवाला मनुष्य का मन-मस्तिष्क वही झुकता है जहाँ उसे अलौकिकता दीखती है 'चमत्कार को नमस्कार' जैसी लोकमानस मे तैरती-उभरती भावना इसीलिए चलती आ रही है

स्वामीजी श्रीहजारीमलजी महाराज मे कुछ इसी प्रकार का चमत्कार विद्यमान था. यही कारण है कि वे जहाँ भी वर्षा-वास विताया करते थे, वहाँ का वातावरण अत्यत शान्त और प्रेमयुक्त रहता था वहाँ एक विचित्र प्रकार की दिव्यता, भव्यता और पावनता-सी परिव्याप्त हो जाती थी उनके वर्षावास काल मे जनता का धर्मभाव मूर्तिमान् और स्फूर्त हो उठता था

वर्षाऋतु मे प्रकृति वरस कर तप्त भूमि को शीतलता प्रदान करती है। स्वामीजी म० के भद्रभाव, निष्पक्ष व्यवहार, प्रशान्त मुखमुद्रा, और विमल मन को देखकर—द्वेष, क्लेश व द्वन्द्व से घुटती उफनती उमडती सुलगती लोगो की हृदय-भूमि स्वत शान्त हो जाया करती थी वर्षों से चली आ रही द्वेष की लम्बी परपरा की लौहशृखला, उनके समभावो से कहे वचनो की चोट से टूट जाय। करती थी

मुनिश्री ने जहाँ-जहाँ भी वर्षावास किया, वहाँ-वहाँ सर्वत्र अखण्ड शान्ति रही ! सभी सम्प्रदायो और वर्गो के लोगो का, उनके प्रवचनो के पीयूष से साम्प्रदायिकता का गरल विनष्ट हो जाया करता था उन का उदार व्यवहार, धार्मिक उन्माद को पनपने ही नही देता था भगवान् महावीर की धर्मसभा मे जन्मजात प्राणी भी अपना वैर-भाव भूलकर निर्वैर हो जाते थे, इसी प्रकार स्वामीजी के सानिध्य मे भी लोग अपने वैमनस्य एव वैर-विरोध को विस्मृत कर देते थे

उनका मन व हृदय, शान्त सरोवर के समान ही परिशान्त और विशाल था उनके हृदय-सरोवर मे प्रथम तो किसी व्यक्ति को ककरी डालने का असत् विचार ही उत्पन्न नही होता था, अगर कोई ककरी निक्षेप कर भी देता था, तो वहाँ चचलता की ऊर्मियाँ उठती उभरती फैलती और आगे बढती हुई दृष्टिगत नही होती थी

जहाँ-जहाँ भी उन्होने वर्षावास किया, वहाँ-वहाँ उन्हे सबने अपना कहकर ही पुकारा था एक सन्त की सब से बडी विशेषता यही होती है कि उसे जनता साम्प्रदायिक भेद-भाव भुलाकर कितनी श्रद्धा अर्पित करती है ! कितना चाहती है !!

उनके हृदय का प्रेम, वाल, युवा, वृद्ध, वाला, वृद्धा आदि सबके प्रति समान था हृदय-द्वार सवके लिए अनावृत था वहाँ जाति, सम्प्रदाय, प्रात और प्रदेश के व्यक्ति को लेकर किसी भी प्रकार की भेद-भावमूलक समस्या उनके मन मे नही थी लगता है उनके रेशे-रेशे मे, पुष्प मे सुगन्ध, दुग्ध मे धवलता और अग्नि मे ऊष्मा समाई रहती है—ऐसे ही समा गया था उनमे सतत्व ! समत्व !! और निर्ममत्व सबके प्रति !!! इस तरह वे सबको चाहते थे, सब उनको चाहते थे वे सबके वन जाते थे और सब उनके अपने वन जाया करते थे

सन्त मे सन्तानुकूल आचरण हो तो जनता का नमन भाव और श्रद्धा क्यो न प्राप्त हो उच्चतम सात्विक जीवन-व्यव-हार ही वह चमत्कार है जो जनमानस को स्वत नतमस्तक कर देता है इस प्रकार जीवन मे सात्विकता आने पर जन-समाज हृदय की समस्त श्रद्धा अर्पित करने को प्रतिपल उत्सुक और प्रस्तुत रहता है !

जीवन यों बनते है :

जीवन कैसे बने ? यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है अध्ययनकाल समाप्त होते-होते ही उनके मस्तिष्क मे यह प्रश्न उभर आया था पुरानी पीढी का जीवन व्यक्तिश प्रयत्न करने पर बनाया जा सकता है परन्तु प्रश्न का यह वुनियादी और व्यापक हल नही है नई पीढी का जीवन बने यह अधिक स्पृहणीय है यह उन्होने मन मे तय कर लिया था । वे व्यक्तिश आत्म-साधना मे जुटे रहे, क्षणिक उत्साह में आकर वे कोई कार्य नही करते थे वहुतो के पीछे यह लेविल चिपका रहता है 'इन्होने इतनी सस्थाओ को जन्म दिया है, इनके कार्यो का लेखा लम्बा है आदि'



स्वामीजी सोचा करते थे. 'हर साल जैसे वच्चा पैदा करने वाली स्त्री सतान की फौज तो खड़ी कर देती है, परन्तु किस में शक्ति का सचार हो रहा है, कौन योग्य वन रहा है–इस ओर वह बहुत कम जाती है, अत सतान की फौज खडी करने से कोई लाभ नही, जव तक सतान की समुचित युगानुकूल शिक्षा-दीक्षा की एव सपोषण की सुव्यवस्था न की जाए. ऐसी अवस्था में वह फौज ही उसे नोचना शुरू कर देगी. फलस्वरूप तन और मन दोनो ही की शान्ति भग हो जायगी. वहुत-सी सस्थाओ का जन्म भी ऐसा ही अल्प-स्थायी होता है.

स्वामीजी म० जो कहते, वही समय आने पर करते थे पर जो करते उसकी नीव अत्यन्त गहरी रखते थे किसी की देखा-देखी एक कदम भी यहाँ से वहाँ रखना उन्हे इष्ट न था

स्वामीजी म० नूतन पीढी को सुशिक्षा के साथ-साथ सुसस्कार देने के प्रबल समर्थक थे शिक्षा के साथ यदि सस्कार न आया तो शिक्षा को वे त्रुटिपूर्ण मानते थे. सामूहिक रूप मे सुसस्कार प्रदान करने की योजना तभी सफल हो सकती है जव वालको को धर्ममय वातावरण मे रहने का अवसर दिया जाय इस हेतु स्वामीजी ने मेडता में प्रभावशाली प्रवचन किए. वात लोगो के गले उतरी. मेडता सघ ने समय आने पर भक्ति-साधिका मीराबाई की जन्मभूमि मेडता में अपने आदि गुरु (जिनके नाम से सम्प्रदाय का नामकरण हुआ) की सस्मृति को स्थायित्व प्रदान करने की दृष्टि से 'आचार्य जयमल जैन छात्रावास' की स्थापना का निश्चय किया. जागरण आया. छात्रावास स्थापित हुआ

आज भी उस छात्रावास मे विद्यार्थी अपने भावी जीवन का निर्माण जैन सस्कारो में जीकर करते है. जिनके नामपर छात्रावास का नामकरण हुआ है, वे पूज्य पुरुष एक जैन में जिन-जिन विशेषताओ के दर्शन किया करते थे. वे सब बाते छात्रावासीय वच्चो के जीवन-व्यवहार, रहन-सहन, बोलचाल आदि से प्रतिबिम्बित हो—ऐसा प्रयत्न जारी है सस्था अपने आदर्श की ओर अभिमुख होती हुई आज भी सुन्दर पद्धति से चल रही है.

हृदय-परिवर्तन :

द्यूत-कर्म भारत मे प्राचीनकाल से प्रचलित रहा है द्यूत-कर्म की अवहेलना भी तभी से सन्तो, महात्माओ और ऋषियो, मुनियो व धर्म ग्रथो के द्वारा होती आ रही है द्यूत कर्म मनुष्य की विना श्रम के धनोपार्जन करने की आलस्यपूर्ण मनोवृत्ति का सूचक है अतीत की ओर उद्ग्रीव होकर देखिए सती द्रौपदी का दुर्योधन द्वारा पुरुष-समूह में चीर-हरण का घृणित कार्य जुवे का ही कुफल था राजा नल के लिए एक समय ऐसा था कि वह अपनी सगिनी को एक पल भी आँखो से ओझल नही कर सकता था इस कर्मका चस्का ऐसा पडा कि वह चारो ओर से निराश हो गया और उस स्थिति तक पहुँच गया जहाँ उसे अपनी जीवन-सगिनी को निस्सहाय और निराधार अवस्था में सुनसान जगल मे छोड देना पडा. एक कवि ने द्यूत कर्म में फँसे मनुष्य की मनोवृत्ति का कितना सुन्दर चित्रण किया है !

> ना मुरीद इस खेल की जीत भली न हार,
> जीते तो चस्का पडे हारे लेत उधार।

इसीलिये जैनाचार की प्राथमिक भूमिका प्राप्त करने के लिए जैनाचार्यों ने सात कुव्यसनो का परित्याग करना अनिवार्य माना है. सात दुर्व्यसनो का स्वरूप प्रतिप्रादित करते हुए सर्वप्रथम द्यूत-कर्म परित्याग का उपदेश दिया.

स्वामी श्रीहजारीमलजी महाराज के जीवन में एक जुवारी से वार्तालाप का प्रसग किस प्रकार एक जुवारी के जीवन मे एक नया मोड लाता है और उसके जीवन की किस प्रकार दशा वदल जाती है, इसका उदाहरण उनसे हुए एक कथोपकथन से जाना जा सकता है. वह कथोपकथन निम्न प्रकार है ·

एक जुवा खेलने का अभ्यासी उनके पास आया। कहने लगा. "महाराज, मैं जिन्दगी से निराश हो चुका हूँ."

"क्यो, निराश कैसे हो गए ?"



"महाराज, जो पूजी पास मे थी, वह मै आस-आस मे जुवे के दाव पर लगाता रहा. इस तरह सब कुछ खो दिया अब स्थिति यह है कि कभी-कभी अन्न के दाने भी पेट के लिए नसीब नही होते है

ज्ञान-बोझिल और शुष्क ज्ञानी ऐसे प्रसगो के लिए कह दिया करते है कि किसका काम कैसे चलता है, किसको दो जून रोटी मिलती है और किसको एक जून, इससे हमे क्या ? ये तो अपनी-अपनी जन्म-पत्रीके भोग है इन्हे रोकर भोगो तो और हँसकर भोगो तो-भोगने तो होगे ही' । परन्तु ऐसे प्रसगो पर भी मुनिश्री का व्यक्ति के प्रति एक विशिष्ट प्रकार का व्यवहार व अत्यन्त सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि-कोण होता था जो उनकी दयार्द्रता का परिचायक था वे कहा करते थे

"मनुष्य जब सन्मार्ग से उन्मार्ग की ओर अभिमुख हो और अभिमुख हो चुकने पर भी, जब वह पश्चात्ताप की घडी मे बरत रहा हो—उस समय उसे जीवन का सत्य दिखा देने का स्वर्णावसर होता है ।"

उस धन हारे जुवारी को उन्होने आत्मीयतापूर्ण भाव से कहा "धन हार गये तो क्या हुआ, अब उस पथ को तज दो दूसरा विचारपूर्ण पथ अगीकार करो हार और जीत तो जीवन मे लगी ही रहती है सम्पूर्ण जीवन ही एक व्यापार है व्यापार मे हानि और लाभ, दिन-रात के समान अवश्यभावी है बिना महनत किये कमाई करने की सोचने पर ऐसा हो ही जाया करता है अब ही सही सकल्प कर लो—"श्रम करके ही कमाई करूगा और वही मेरी सच्ची कमाई होगी—ऐसी ध्रुवधारणा बना लो इस सकल्प से चलनेवाला कभी पराजित नही होता' स्वामीजी महाराज की वाणी उसके हृदय मे प्रवेश पा गई. उसने कुमार्ग तज दिया.

पूज्य मुनिश्री के सम्पर्क व परिचय मे आनेसे पूर्व वह जुवारी, अनेक सन्तो के पास अपनी पराजय व निराश स्थिति की कहानी कहने गया था सर्वत्र उसे शुष्क ज्ञानोपदेश मिला था इससे वह लगभग अनास्थावादी हा चुका था
पूज्य मुनिमना श्रीहजारीमलजी म० ने जुवारी की पीडा को आत्मीयता से सुना और फिर एक नेक सलाहकार की तरह हृदय-स्पर्शी उपदेश-वाक्यो से स्थायी प्रभाव डालकर उसका हृदय जीत कर जीवन-दिशा ही बदल दी थी.

'बहुधा हारा और निराश व्यक्ति ही अदृश्य-सत्ता को स्वीकार कर अपने अस्तित्व को उसमे लय कर देना चाहता है' स्वामीजी म०ने जुवारी कीनब्ज सभाली एव ताडना-तर्जना रहित सीख देकर सदा-सदा के लिए सात्विक भावो का पुजारी बनाकर उसे अमर आस्थावान् बना दिया उनका यह सिद्धान्त था 'जीवन मे व्यक्ति को व्यक्ति से मृदु व्यवहार करना चाहिए. क्योकि व्यवहार की मृदुता समुखस्थ मे भी मृदुता और कोमलता ला देती है, स्वामीजी के व्यवहार से उसके हृदय पर जो प्रभाव पडा वह असाधारण था वह सन्त-सस्कृति की ही विजय है. इस प्रकार पहले का जुवारी और अब का सन्त-भक्त, एक मात्र सन्त स्वामी हजारीमलजी मुनि को ही नमस्कार नही करता है, अपितु सत-सस्कृति की अविच्छिन्न परम्परा को नमस्कार करता है' इस तरह वह व्यक्ति के प्रति ही आकृष्ट नही हुआ, समष्टि के प्रति भी दायित्व समझने लगा, बल्कि स्पष्ट कहा जाय तो वह व्यक्तिपूजक होकर भी गुणमूलक परम्परा का अनुयायी हो गया

बहुधा ऐसा कहा जाता है कि दूर से वस्तु या व्यक्ति मे सौदर्य और आकर्षण परिलक्षित होता है, समीप पहुँचते ही वह समाप्तप्राय हो जाता है इसके विपरीत कभी-कभी जो निकट से सुन्दर दीखता है, दूर से वह उतना सुन्दर नही दीखता पूज्य मुनिमना इन श्रेणियो से ही भिन्न थे उन्हे जिसने नजदीक से देखा, उसने तो सदैव के लिये उन्हे अपना आराध्य और आदर्श माना ही, परन्तु जो दूर रहे, वे भी आकर्षित हुए बिना न रहे

वे व्यक्तिगत रूप से जितने महान् व दिव्य थे, सामूहिक जगत् मे उससे भी महान् थे वे दूसरो के सुख-दु खको अपनेपन के भाव से सुनते थे । अपनी जीवन-गाथा कहने वाला यही अनुभव करता था कि मेरा परम शुभचिंतक यदि कोई है, तो यही परमपुरुष है

हम कब अपनीबात छुपाते ?

आज व्यक्ति दुमुही की तरह दुहरा व्यक्तित्व लेकर जी रहा है दुहरे व्यक्तित्व का अर्थ है कृत्रिम जीवन आज समाज के



सामने जो व्यक्तित्व प्रदर्शित होता है, वस्तुत मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन उससे भिन्न होता है उसे वह छुपाये रखता है जैसा अदर मे वह है, उसे प्रकट नही करना चाहता.

इस प्रकार के जीवन का राजनीति या चाणक्य-नीति मे स्थान होगा, परन्तु आत्म-चिन्तको की दृष्टि मे ऐसा जीवन क्षुद्र जीवन है कृत्रिमता-प्रेमी छल, वल और कल से काम लेता है मनीषियो का कहना है—ये तीनो शूल है, बाण है, इन त्रिमुख वाणो से आत्मा आहत हो जाती है इस तरह की त्रिकोण-आहत-आत्मा मे सत्य की पूजा, प्रतिष्ठा और सम्मान कहाँ ? सत्य प्रतिविम्वित नही, तो सरलता नही. सरलता नही तो निर्मलता कहाँ ? सरलता व निर्मलता नही तो आत्म-अर्पण नही आत्म-अर्पण नही तो धर्म का प्रतिविम्व कहाँ ? प्रतिविम्ब नही तो दिल के दाग कैसे मिटे ? बिना इसके मन में चमक कहाँ ? चमक नही तो आत्म-गुण की छाया कैसे पडे ? और इसके बिना आत्मा मे पवित्रता का उदय कैसे हो ? स्वामीजी म० का मन, इतना निर्मल और बृहद् था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने दोष, उनके स्वच्छादर्श में देख सकता था. उनके मनकी स्वच्छता को देखकर मन कह उठता है '

'कैसा मन पाया था उन्होने चादनी-सा '

उनके जीवन मे गोपनीय तो कुछ था ही नही. जो कुछ था, वह एक खुली पुस्तक की तरह स्पष्ट था कवि बच्चन के शब्दो में कहे, तो यो कह सकते है —

> हम अपना जीवन अकित कर,
> फेंक चुके हैं राजमार्ग पर,
> जिसका जी चाहे सो पढ ले,
> पथ पर आते जाते !
> हम कब अपनी बात छुपाते !!

सच है प्रारम्भ से अन्त तक उन्होने कभी कुछ छुपाया ही नही था—अपने जीवन मे ! वे स्व और पर के भेद-रहित बालक की तरह ही स्वच्छमना बने रहे !

उनकी प्रवचन-पद्धति :

स्वामीजी म० की धर्मदेशना की अपनी एक असाधारण प्रणाली थी. वे वात तो वही कहते थे जो अनादिकाल से मुनिजन कहते आये है. किन्तु उनके कहने मे न तो दार्शनिक सूक्ष्मता होती थी, न अध्यात्मवाद की अज्ञेय गहराई और न लोकमानस के अनुरजन की लोकैषण। प्रवचन करते समय वे अन्तर्विलीन हो जाते थे. उनके वाक्य-वाक्य से उनके हृदय की शुचिता, सरलता, मृदुता, विरक्ति और आत्म-कल्याण की सहज स्पृहा टपकती थी. इसलिए टपकती थी कि आगम समर्थित सयम-मूलक व्याख्यामय उनका आचरण था !

वे आदर्श और व्यवहारके पार्थक्य मे विश्वास नही करते थे यही कारण था कि उनकी वाणी न एकात हवाई आदर्श तक सीमित रहती थी और न आदर्शनिरपेक्ष व्यवहार मात्र का अनुसरण करती थी. उनके प्रत्येक प्रवचन मे आदर्श और व्यवहार का अद्भुत समिश्रण रहता था, जो उपदेशक श्रोतृवर्ग की आसपास की परिस्थितियो, जीवन-प्रणालियो और मानसिक स्थितियो से अनभिज्ञ होता है, उसका उपदेश अन्य दृष्टियो से कितना ही प्रशस्त क्यो न हो, श्रोताओ के जीवन को प्रभावित नही कर सकता उससे उन्हे जीवन की दिशा नही मिलती और न वे सही व सीधी राह ही पा पाते है. सूक्ष्म-दर्शी स्वामीजी इस तथ्य से भली-भाँति परिचित थे. अतएव उनकी देशना जीवन को गहराई से स्पर्श करने वाली होती थी उनकी वाणी मे श्रोताओ के जीवन की समस्याएँ सुलझती थी. उन्हे जीवन की सही दिशा मिलती थी

स्वामीजी की भाषा में कोई बनावट नही थी अलंकारो से सुसज्जित होकर वह प्रकट नही होती थी. सरल, सुगम, सुबोध अन्तस्तल से निःसृत होती थी और श्रोता के अन्तर् तक पहुंचकर उसे उद्बुद्ध कर देती थी. अपढ़ से अपढ़ श्रोता भी

उसे अनायास ही हृदयगम कर सकता था भगवान् महावीर द्वारा अगीकृत भाषा-नीति का वे पूरी तरह अनुसरण करते थे यही कारण है कि उनके प्रवचनो ने सहस्रो भद्रात्माओ को प्रभावित किया है न जाने कितने पापी पाप-पथ का परित्याग करके धर्म और नीति के मार्ग के राही बने है।

वे कभी राजस्थानी मे तो कभी खडी बोली मे प्रवचन करते थे जैसा रोगी, वैसा ही उपचार करना उन्हे खूब आता था जिन प्रदेशो मे उनका विचरण हुआ, वहाँ की जनता आज भी स्वामीजी की प्रवचनशैली को स्मरण करती है और मन मसोस कर रह जाती है आत्म-दृष्टि प्राप्त करा देने का उनका ढग और तौर-तरीका अलग था वे कहते थे आत्म-दृष्टिप्राप्त भक्त, मै उसे मानता हूँ जिसके जीवन मे प्रस्तुत कवि-कडी का भाव प्रतिबिंबित होता है—

पर-घर पाऊँ पूजा या, निज घर अपमान मिले,
दोनो में ही मुस्कान रहे, मन के भीतर भी आह न हो।
पर पीडा में ही रोऊँ जीभर, पर सुखको अपना सुख समझूँ,
सुखियो से भी मुझको दाह न हो।

जीवन के प्रति उनकी दृष्टि थी कि ससार से भागकर तो तुम गिरि-कन्दराओ मे भी सुख प्राप्त नही कर सकते जीवन मे भागने की नही, दृष्टि बदलने की आवश्यकता है।

जीवन सरोज : कुछ पांखुरियां

एक :

वर्धमान महावीर के शब्दो मे सन्त, अप्रतिबद्ध विहारी होता है जीवन की ऐहिक शृ खलाओ के बधन से मुक्त, उन्मुक्त आकाशचारी की तरह सर्वत्र विचरण करता है उसका लक्ष्य एक ही होता है कि स्व-साधना वर्धमान होती रहे और पर को आत्मसाधना की प्रेरणा मिलती रहे।

स्वामीजी म० अपने गुरु-भाइयो सहित पद-विहार के पथ पर बढते-बढते अपनी जन्मस्थली डासरिया के समीप टाडगढ जा निकले।

साम्प्रदायिक वर्ग-विभाजन की दृष्टि से स्वामीजी म० तेरापथी परिवार मे जन्मे थे. टाडगढ मे आज भी विपुल मात्रा मे तेरापथी श्रावको के घर है उस समय भी पर्याप्त थे

स्वामीजी भिक्षार्थ पधारे अनेक घरो मे पदार्पण हुआ। कही-कही आहार नही मिला निवास पर आये आहार से निवृत्त हुये ब्यावर के कुछ सज्जन भी आ गये कुछ जैनेतर बन्धुओ ने उनसे कहा "मुनिश्री को यात्रा मे पर्याप्त असुविधाओ का सामना करना पडा यहाँ पर भी दिक्कत उठानी पडी यहाँ पर तेरापथी लोगो ने मुनिश्री को पत्थर वहराये आगत व्यक्तियो के मस्तिष्क में बात बैठ गई कि स्वामीजी म० को आहार के स्थान पर तेरापथी भाइयो ने पत्थर वहराये उन सज्जनो ने ब्यावर मे उक्त बात कही ब्यावर के स्थानकवासियो के मस्तिष्क उत्तेजित हो गये कि हमारे महाराज को पत्थर कैसे बहरा दिये। तेरापथ के आचार्य (तुलसी) ब्यावर आ रहे है, हम भी उनका नगर प्रवेश के समय काले झण्डो से स्वागत करेंगे।

स्वामीजी म० जितने समय रहना था, वहाँ रहे आगे प्रस्थान कर दिया सयोग की बात कि घूमते हुए ब्यावर ही पदार्पण हो गया. चर्चा सामने आई स्वामीजी म० ने स्पष्टीकरण दिया "नही, टाडगढ मे हमारे साथ ऐसी कोई घटना नही हुई हमे किसी ने भी पत्थर नही वहराये।" ब्यावर के तेरापथी श्रावको ने और स्थानकवासी श्रावको ने इस बात को लेकर रोटी-बेटी का सम्बन्ध विच्छेद करने का भीष्म निर्णय कर लिया था परन्तु मुनिश्री के स्पष्टीकरण से स्थिति स्पष्ट हो गई और अशान्त वातावरण शान्ति मे परिणत हो गया



उन्होंने अपने साथी मुनियो से कहा "मैं वीतराग पथ का राहगीर हूँ. समभाव साधना करने के लिए ही मैने वीतरागपथ अनुसरा है. मुझे ही निमित्त वना कर ये लोग विषम भाव के वीजारोपण करे यह मेरी साधना का ध्वज नही, कलक है' अस्तु, उक्त परम्परा स्वामीजी म० की दृढता से कायम न हो सकी उनके जीवन में इस प्रकार की अनेक वार पारस्परिक द्वेप की स्थिति उत्पन्न हुई परन्तु उन्होने सव प्रसगो पर अपनी विलक्षण बुद्धि द्वारा गलत परपरा स्थापित न होने दी. घटना, वि०स० १९९३, ब्यावर.

दो :

चरितनायक महामनस्वी स्वामीजी म० के वक्ष मे एक बडी गाठ थी एक दिन निश्चय हुआ : 'डाक्टर कुजबिहारीलाल से निदान कराया जाय'

वे अपने सहयोगी मुनि को लेकर निदान निमित्त चले गये डॉक्टर की राय हुई 'ऑपरेशन करना होगा.' स्वामीजी ने मन-मन मे सोचा : 'जीना है सयम के लिये सयम और तप की साधना में यह व्याधि, विघ्न उपस्थित करेगी तब क्यो न डॉक्टर की इच्छा पर ही छोड दूं सव कुछ ?

स्वामीजी ने कहा 'मै तैयार हूँ, आप अपनी सुविधानुसार ऑपरेशन कर सकते हो' 'डॉक्टर ने पूछा ' क्लोरोफार्म का उपयोग किया जाय या इजेक्शन का ?"

एक का भी नही. मै सव तरह से तैयार हूँ, आप अपनी सुविधानुसार ऑपरेशन कर सकते है' स्वामीजी का यह संक्षिप्त-सा उत्तर था 'साहस, सकल्प और विश्वास का ऐसा विकट धनी पुरुष आज तक मैने नही देखा—कह कर डाक्टर आश्चर्य-चकित हो गये उन्होने अपना काम प्रारम्भ किया. ४५ मिनिट मे छाती के एक भाग से ६ तोले की गाठ निकाल कर मेज पर रख दी. स्वामीजी से कहा गया · 'तीन दिन तक यही पर रहना होगा. ऑपरेशन काफी डेजरस था'

भद्र सन्त का उत्तर था "मै सकुशल अपने निवास पर पहुँच जाऊँगा." और उसी समय पूरे चार फर्लांगका रास्ता पार करके जैन स्थानक (पीपलिया वाजार) मे सानन्द पधार गये

घटना स० २००७, ब्यावर

तीन ·

जैनधर्म के सभी सम्प्रदाय आध्यात्मिक पर्वो में सवत्सरी पर्व को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पवित्र आध्यात्मिक त्यौहार मानते है. इस दिन सभी सम्प्रदायो के जैन वधु तपस्यापूर्वक अपने गत वर्ष के जीवन में लगे दोषो का प्रायश्चित्त करते हैं. छोटे-छोटे वालक भी अपनी रसना पर नियत्रण कर यथाशक्ति अवश्य तप करते है

ब्यावर के स्थानकवासी सघ मे और जैन-नवयुवक संघ में किसी मामले को लेकर सवत्सरी के दिन चर्चा चली । चर्चा-मच तेज होता गया. वात यहाँ तक आगे वढी कि व्यक्ति दो दलो में बँट गए मुनिश्री अपने दोनो शिष्य स्वरूप गुरु-भाइयो सहित न्यात के नोहरे (सामूहिक अर्थराशि से निर्मित सार्वजनिक स्थान) में प्रवचन-मच पर स्थित थे.

संघर्ष वढ़ने की पूरी-पूरी सभावना तीव्र हो चली थी स्वामीजी म० ने निष्पक्ष दृष्टि से सोचा और अपना अद्भुत निर्णय किया. अपने शिष्यो से कहा . 'व्याख्यानमच से उठकर तत्काल हमें अपने निवास (जैन स्थानक) पर पहुँच जाना चाहिए.' स्वामीजी का आदेश हुआ. तीनो मुनि सवत्सरी का प्रवचन छोडकर चले आये.

स्थिति के अनुसार संघर्ष वढता किन्तु मुनिश्री के प्रस्थान करते ही स्कूल की छुट्टी होने पर वच्चे विभिन्न दिशाओ मे विखर जाते हैं—ऐसे ही दो दलो मे विभाजित जैनबन्धु भी तितर-वितर हो गए. सघर्ष का शमन हो गया.
घटना . सं० २०१६, ब्यावर.



चार :

स्थानकवासी जैनो का अखिल भारतीय स्तर पर अजमेर मे एक मुनि-सम्मेलन हुआ सम्मेलन मे एकीकरण की दृष्टि से युग-पुरुष आचार्य श्रीजवाहरलालजी म० ने उस युग मे रहे सन्तो की मन स्थिति को समझा और पहले गणो मे सम्प्रदायो का केन्द्रीयकरण किया जाय—ऐसा मूल्यवान सुझाव प्रस्तुत किया उनके विचारो को समर्थन मिला राजस्थान की छ सम्प्रदायो ने मिलकर निश्चय किया 'छ. सम्प्रदायो का एक गण वनना चाहिये और उसका फिर एक आचार्य भी' सबने मिलकर अपना विश्वास प्रकट करते हुए कहा 'स्वामीजी म० का हृदय पितृहृदय है अत छ सम्प्रदायो के आप ही आचार्य वनाये जायँ'

स्वामीजी म० का यह ध्रुव विश्वास था कि शासन करनेवाला कोमल हृदय से काम ले तो व्यवस्था विगडती है कठोरता न बरती जाय तो अनुशासन स्थापित नही होता अत मुनि-पद ही मेरा सलौना पद है और फिर आचार्य-पद स्वीकार करने से मेरी एकान्त-साधना मे विक्षेप भी उपस्थित हो सकता है अत स्वामी जी म० का निर्णय था 'मै आचार्य-पद ग्रहण करना नही चाहता मैं साधक ही रहना चाहता हूँ, शासक नही

घटना १९९१ अजमेर, (राजस्थान)

पांच :

राजस्थान के स्थानकवासी जैनमुनि सम्प्रदायो के विभाजन को जितना महत्त्व देते रहे है, सगठन को भी उससे कम नही. इसलिये लीक-लीक चलने को वे सर्वैव गलत मानते रहे हैं एक समय ऐसा था जब वे अलग-अलग बँटे. अपने नैतिक विचारो के विश्वासो के अनुसार उनका प्रचार करते रहे

आगे आनेवाली पीढी ने सोचा 'हमारे बडो ने विभाजित होना उचित माना था हम सगठित होने मे जैनधर्म का अभ्युदय मानते है विकेन्द्रित होने से नैतिक प्रचार की शक्ति विभाजित हो जाती है हम जो 'धर्माभ्युदय' को व्यापक वनाने का लक्ष्य लेकर चले है—इससे बाधा उत्पन्न होती है तब क्यो न शक्ति का केन्द्रीकरण किया जाय ? यह आज के युग की माँग है इस शुभ सकल्प से उत्प्रेरित होकर पाली (राजस्थान) मे छ सम्प्रदायोका एक मुनि सम्मेलन आयोजित किया गया. छहो सम्प्रदायों के मुनिजन एकत्रित हुए सबने आचारगत हार्द पर चर्चा की सगठन सूचक नियम वनाये स्वामीजी को उन्होने अपने सम्प्रदाय का प्रवर्तक-पद प्रदान किया आचार्य की नियुक्ति का परिपाक काल न आया जान दोवारा वृहत् सम्मेलन मे इस वृहत् कार्य को करने का निश्चय किया

घटना स० १९९०, पाली.

छ :

फल तो भावारे लारे है 'यस्मात् क्रिया प्रतिफलति न भावशून्याः' फल तो भावो के साथ है फल, मात्र साधुओ को देने में नही है हम लोग तप करते हैं तो उस दिन का भी भोजनाश अभावग्रस्तो तक पहुँचना चाहिये सदयतावश दिया गया सहयोग अभाव का नही, साधन-सम्पन्नता का निमित्त बनता है इसे परिग्रह का प्रायश्चित्त भी कहा जा सकता है इस प्रकार उन्होने एक समय विश्वशाति की भावना का परिचय जनता को उद्वोधित करते हुए तो दिया ही था, साथ ही एक अधोवस्त्र, एक उत्तरीय, एक बारदाने का आसन और अन्य अनिवार्य उपकरणो के अतिरिक्त दुष्काल, सुकाल मे परिणत हो जाय तव तक के लिये सवका परित्याग कर दिया था एक बार राजस्थान मे भी दुष्काल पडा था वह समय, बगाल जितना कठिन-कठोर तो नही था परन्तु उस समय भी उन्होने अपने शिष्यो को आदेश दिया था कि मारवाड मे सुकाल की स्थिति पुन स्थापित न हो जाय तव तक मेरे लिए घृत, दुग्ध-दधि, नवनीत आदि कोई भी वहुमूल्य खाद्य



वस्तु न लाई लाय. यह दुष्काल सं० १६८६ में पड़ा था. उस समय मारवाड़ के अधिकाश लोगो ने "पग-पग रोटी डग-डग नीर" वाले हरे-भरे मालव प्रदेश में जाकर आश्रय ग्रहण किया था.

घटना : १६५६ मेडता.

सात :

'सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो, न दीसई जाइविसेस कोइ'

जातिगत उच्चता-नीचता की दीवारो में धर्म को कैद करने वालो के सामने धर्म की उदारता प्रतिपादित करते हुये श्रमण भगवान् महावीर ने अपनी देशना में कहा है—"ससार में तप एव नैतिक आचार की विशेषता प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर होती है. जाति से उच्चता-नीचता को स्वीकार करना धर्म, नीति, सदाचार और संयम का अपमान है." इस कल्पना में जाति सद्गुणो से ऊपर उठ कर दंभ का कारण बनती है यही कारण है कि भगवान् महावीर ने सभवत. सर्व-प्रथम जातिवाद के विरुद्ध शखनाद किया था.

हरिजन-मन्दिर-प्रवेश का आन्दोलन देशव्यापी था. स० २०१४ का वर्षावास स्वामीजी सिंहपोल, जोधपुर में बिता रहे थे. दो हरिजन बधु सिंहपोल में स्वामीजी के पास, इस इरादे से आये कि "मदिर-प्रवेश के लिए हमें बरजा जाता है यहा भी हमे रोका-टोका जायगा ! हम जबरदस्ती करेंगे तर्क करेगे हमे अधिकार क्यों नही ?'

कक्ष के बाहर तक आकर उनके पैर ठिठके मुनिराज ने हाथ से अन्दर आने का स्नेहपूर्वक सकेत किया.

उन्होने कहा . 'स्वामीजी ! हम जैन धर्म में श्रद्धा रखते है, इस नाते हम जैन हैं !' बहुत सुन्दर ! तब हम-तुम सहधार्मिक हुए. स्वामीजी का नपा-तुला उत्तर था. आगत बन्धुओ का सघर्षमूलक मनोरथ पिघल कर बह गया.

स्वामीजी ने उन्हे धार्मिक पुस्तके प्रदान की ! जाते समय उनके नमस्कार के उत्तर में पुन आशीर्वादात्मक हस्त-मुद्रा की.

घटना : स० २०१४. जोधपुर.

आठ :

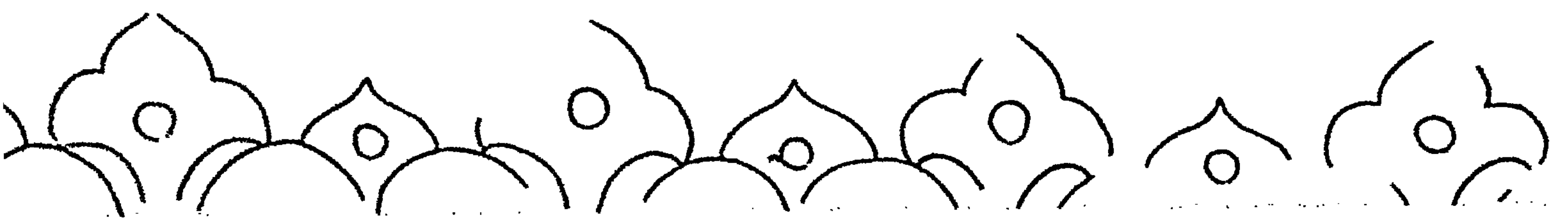
एक कन्दरा में दो सिंह कैसे रह सकते है ?

मारवाड के अल्हड़ सन्त श्रीपूर्णमलजी म०, बाबाजी के नाम से प्रसिद्ध थे एक बार वे तिवरी मे विराजमान थे. तिवरी ग्राम मे स्वामी के भक्त श्रावक अधिक सख्या में निवास करते हैं अतएव उनका पदार्पण होने पर स्वाभाविक ही था कि श्रोता प्रवचन मे अधिक सख्या में सम्मिलित होते. मगर स्वामीजी तो सरलता, उदारता और समता की प्रतिमूर्ति थे ! वे बाबाजी की साधना और योग्यता से भी परिचित थे. अतः उनकी उपेक्षा को सहन नही कर सकते थे. स्वामीजी, वर्षावास निमित्त वर्षावास प्रारंभ होने के काफी दिन पहले विचरते हुए तिवरी पधारे थे.

स्वामीजी ने तिवरी-निवासियो को बाबाजी के प्रति अधिकाधिक आदर-भाव व्यक्त करने की दृष्टि से अपनी सहज उदारतावश आदेश दिया—'बाबाजी जब तक तिवरी मे हैं, उन्ही का व्याख्यान होगा. और आप सबको उनके व्याख्यान में जाना है'

उनकी उदारता ने कहा : एक गुफा में दो सिंह नही रह सकते परन्तु एक क्षेत्र मे समभाव के साधक अनेक सन्त रह सकते हैं. क्योकि उन का संलक्ष्य एक है.

बाबाजी म० जब तक वहाँ रहे, दोनोंका बडा स्नेहपूर्ण व्यवहार रहा. स्वामीजी ने क्षण भर के लिये भी बाबाजी को अनुभव नही होने दिया कि वे अपने भक्तो के मध्य मे नही है.



नौ :

मरुभूमि के आराध्य गुरुदेव, अत्यत सवेदनशील और अनुभूति-प्रवण थे स० १९९६ में भयकर दुष्काल था स्वामीजी ने अपने साथी मुनियो को किसी प्रकार जताये बिना ही एक दिन यह घोषित कर दिया

"देश मे दुष्काल है । मै घृत, दुग्ध-दधि और नवनीत का उपयोग करता रहूँ—यह नही हो सकता । आजसे मेरे लिए ये वस्तुए तब तक मत लाना, जब तक सुकाल न हो जाय ।

साथी मुनियो के हृदय को मुनिराज के विचारो ने स्पर्श किया । उन्होने भी मुनि-प्रधान का पथ अनुसरा ।

घटना स० १९९६

दस

स्वामीजी म० के गुरुदेव श्रीजोरावरमलजी म० को लम्बे समय से उदर-सम्बन्धी पीडा थी 'पीडा है तो है, यह कर्म-फल है इससे छूटने का उपाय क्यो किया जाय ? कुछ ऐसे व्यर्थ के आदर्शवादी भी होते है

कुचेरा निवासी श्रीहसराजजी भण्डारी उपचार-व्यवस्था के पक्ष मे नही थे स्वामीजी से उन्होने कहा · "कर्म-फल को डाक्टर मिटा सकते है क्या ? क्यो व्यर्थ औषधोपचार करते हो ?' भण्डारीजी का कथन उनकी गुरुभक्ति को चुनौती थी उन्होने भण्डारीजी से कहा

'हमारी व्यवस्था मे आपको हस्तक्षेप करने की क्या आवश्यकता है ?' स्वामीजी द्वारा दिये गये सटीक उत्तर ने जैसे करट का काम किया हो, अगले दिन से उन्होने स्थानक मे जाना स्थगित कर दिया

तीन समय उपाश्रय आने वाले भण्डारीजी जब दो समय उपाश्रय मे नही आए, तो स्वामी का मन यो मुडा

'मालूम होता है, मेरी बात उन्हे खल गई है' स्वामी म० तत्काल उक्त सज्जन के घर गए और क्षमायाचना की

गणधर गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर के समय आनन्द श्रावक के घर जाकर अपनी भूल की क्षमा-याचना की थी स्वामीजी महाराज ने भी भण्डारीजी के घर जाकर क्षमा-याचना की

ग्यारह :

घटना सवत् १९८५ कुचेरा.

आचार्य श्री रघुनाथजी म० की सम्प्रदाय की परपरा के विद्वान् सन्त श्रीसन्तोषचन्द्रजी म०, पूज्य गुरुदेव श्रीजोरावरमलजी म०, श्री सतोषचद्रजी म० के शिष्य श्री मोतीलालजी म०, श्री जोरावरमलजी के शिष्य स्वामीजी म० आदि सन्त सावलिया (जवाली राजस्थान) से विहार करते हुए रानी (राजस्थान) से पहले, अजनेश्वर महादेव (वैष्णवसम्प्रदाय का प्रसिद्ध तीर्थस्थान) पहुँचने वाले थे साथ के सभी मुनिजन आगे निकल गये थे स्वामीजी म० और श्री मोतीलालजी म० पीछे रह गये थे सहसा श्रीमोतीलालजी म० का ध्यान गया देखा कि एक व्याघ्र आ रहा है । मोतीलालजी मुनि भय-भीत हो उठे मुनिश्री ने कहा 'अहिंसा-व्रती को भयानुभव करने की क्या आवश्यकता है? अहिंसक को तो निर्भय और वीर होना चाहिये भय तो वह खाए जो दूसरो को भय पहुचाता हो यदि ऐसे प्रसगो पर अहिंसाव्रती ही डरने लगेंगे तो लोक-मानस के धरातल पर अहिंसा का अर्थ कायरता है—यह गलत विश्वास, और गहराई से उभर आएगा आत्मा के अहिंसास्त्र पर विश्वास लाकर ध्यानावस्थित हो जाओ साधु का आदर्श तो 'अर्घावतारण असिप्रहारण मे सदा समता धरन' होना चाहिये दोनो मुनि अर्ध-निमीलित नेत्रो से ध्यानावस्थित हो गये व्याघ्र आया जैसे उसके मन मे किसी प्रकार का भावोद्गम ही न हुआ हो—वह मुनियुगल से दो फुट की दूरी पर आकर एक निमिष को रुका और चला गया.

घटना स० १९९६, स्थान जगल. (मुनि रूपचन्द्र 'रजत' की गुरुमुखश्रुति)



वचन संचय !

[स्वामी जी महाराज के द्वारा विभिन्न समयो और स्थलो पर उच्चारित कतिपय वचनो का सक्षिप्त सचयन प्रस्तुत किया जा रहा है. विचारशीलो के लिये ये विचार चिनगारियाँ है चिनगारियों को चेता लेने वाला उनका चेला है श्रद्धाशीलो के लिये ये जीवनदीप है. दीप मे भक्ति का स्नेह उडेलने वाला उनका श्रद्धालु भक्त है ! व्याख्यान मंच पर इनकी विवेचना करने वाला उनका व्याख्यानी शिष्य है !!]

भाग्य से सघर्ष करो ! सघर्ष से भाग्य को सतोष मिलता है. भागने से भाग्य की क्रूरता बढती है. भागने से जीवन की समस्याएँ नही सुलझती अत. सघर्ष करते रहो. सघर्ष ही जीवन है !

●

जीवन सयम के लिए है. जीना है तो सयम के लिये जीओ. भोग मे रोग के काटे है. योग मे जिन्दगी के सुगधित फूल है. फूलो का उपहार उसी को मिलता है जो भोग की मेड़ पर बैठकर भी तप व सयम की आच तापता रहता है.

●

मैं अब सबका बनना चाहता हूँ. मैं सबका हूँ. सब मेरे है. विश्व-प्रेम मेरा सर्वोपरि काम्य है.

पर-उपकार, हृदय का सहज गुण है. कोई यह कहता हो कि मैंने अमुक को दु ख से उबारा है—तो यह उसका दम्भ है

●

अतीत और भविष्य के बारे मे सोचना छोडो ! वर्तमान पर सोचना और चलना सत्य है । अतीत और भविष्य के काल्पनिक जाल मे मन को फँसाने से आत्मा गुरु (कर्मनिबद्ध) होती है.

●

नारी, माँ, बहिन, सेविका, पत्नी और पुत्री है. परन्तु इन सब रूपो मे वह केवल वात्सल्य की अमर मूर्ति ही है. वात्सल्य के अभाव में नारी केवल शून्य है वात्सल्य-भावना नारी को नारायणी बनाती है.

●

कानून या सिद्धांत के सिकजे शरीर को जकड सकते है ! हृदय इनकी पकड से परे है ! पीडा की अनुभूति व सहानुभूति के भाव हृदय की वसुन्धरा मे अकुरित होते है ! मस्तिष्क, मनुष्य को तर्क की कटीली झाड़ियो में उलझाता है ! हृदय की पुकार मनुष्य को करुणा के आनन्द-लोक मे पहुँचाती है !

●



कपडे पहन कर सन्त होने वाले अनेक मिल जाते है। उन अनेको मे से कुछ ही ऐसे होते है जिनका सोचना और बोलना निसर्गत सन्ताचार के अनुकूल हो.

●

सन्त सब का होता है। वह सन्त सबका निश्चय ही नही है, जिसकी वाणी मे सम्प्रदायवाद के काटे हो.

●

वन्दनीय महावीर ने करुणा-भीगी पलको से दरिद्र ब्राह्मण को देखा था. उन्होने अपना उत्तरीय उतार कर उसके स्कध पर अपने हाथो स्वय रख दिया था. वस्त्र प्रदान कर उनके साधनामूलक मन को परम मोदानुभूति हुई थी इस कार्य से उनकी निस्पृह और निवृ`त्तिमूलक साधना मे तनिक भी अन्तर नही आया था इससे उनकी पवित्र आत्मसाधना उर्ज्जस्वल हो उठी थी।

●

जिस सन्त के रेशे-रेशे मे, पुष्प मे सुगध, दुग्ध मे धवलिमा और अग्नि मे ऊष्मा समाई रहती है—ऐसे ही सब के प्रति करुणा न हो वह गुणग्राही सतो रूपी हसो की पात मे बगुला है

●

जिस धनार्जन मे श्रम के मोती न चमकते हो वह धन एक दिन दुराचार के अन्धकार मे धकेल देगा प्रामाणिकता-पूर्वक अर्जित द्रव्य सदाचार की ओर बढने को उत्प्रेरित करता है

●

मुझे मनुष्य की नैतिकता मे अखण्ड आस्था है जहाँ विश्वासो की अमिट छाया है वही साया मिलता है साया और छाया सकल्पविजयी के लिये अलग-अलग नही है। व्यक्ति की सहज सरलता और नैतिकता मे हमारा विश्वास होना चाहिये. कोई भी मनुष्य अनैतिक नही बनना चाहता है परावलम्बन की कठिनाई का ताप, मनुष्य को खेदखिन्न बना कर पश्चात्ताप की भट्ठी मे झुलसा देता है। परावलम्बी जीवन, स्वतत्रता का सुख नही भोग सकता।

●

कृत्रिमता, छल और बल के बाणो से आत्मा लहूलुहान हो जाती है इन बाणो से आहत आत्मा में सत्य की पूजा प्रतिष्ठा और सम्मान कहाँ ? जहाँ आत्मा सम्मानित नही, वहाँ सत्य प्रतिबिम्बित नही, सत्य प्रतिबिम्बित नही तो सरलता नही, सरलता नही तो निर्मलता कहाँ ? सरलता-निर्मलता नही, वहाँ आत्मार्पण नही आत्मार्पण नही तो धर्म का प्रतिबिम्ब कहाँ ? प्रतिबिम्ब नही तो मन के दाग कैसे दिखें ? दाग दिखेगे नही, तो मिटाये कैसे जायेंगे ? दाग नही मिटेंगे तो मन मे चमक कहाँ ? चमक नही तो उसमे आत्मगुण की छाया कैसे पडे ? आत्मगुणो की छाया न दीखने से ही उसे आत्मा मे पवित्रता नजर नही आ पाती

●

सरल, सुगम और सुबोध भाषा, हृदय की भाषा है अलकार के आवरण मे लिपटी भाषा श्रोता के हृदय-देश मे नही पहुँचती, वह इससे उद्बुद्ध भी नही होता. अपढ से अपढश्रोता भी हृदय की भाषा समझ लेता है। उसके पास भी अनुभूतिशील हृदय है

●

एक गुफा मे दो सिंह नही रह सकते क्योकि वे दूसरे के प्राणो का व्यपरोपण करते हैं वे प्राणियो के खून को चूस कर जीवन-पोषण करते है पर एक क्षेत्र मे दो भिन्न सम्प्रदायो के साधु रह सकते है क्योकि साधु समभाव साधना का समता-रस पीकर आत्म-पोषण करते है साधु अगर यश कीर्ति के लिये लडते है तो इसका साफ-साफ अर्थ यह है कि उन्होने सत्य के दर्शन नही किये ऐसे सन्त लिबास के सन्त है, पर बढ रहे हैं, वे अहकार की ओर ही वे मर-मर कर जीते है प्रकाश का पथ समता, विश्वममता और धर्मदृढता से मिलता है

●



जो उपदेशक श्रोताओं के जीवन में आने वाली समस्याओ, परिस्थितियो जीवनप्रणालियो और मानसिक स्थितियों से अनभिज्ञ रहता है; उसका उपदेश अन्य किन्ही दृष्टियो से चाहे जितना प्रशस्त क्यो न हो पर वह जीवन नही वदल मकता श्रोता के जीवन को प्रभावित नही कर सकता इसीलिए जीवन की दिशा नही वदलती.

●

संसार का लक्षण परिवर्त्तन है यहाँ स्थायित्व के नाम पर क्या स्थिर है ? स्नेह और ममत्व भी वहकाए और वँटाए वट जाते है स्नेह का स्रोत, एक दिशा मे वहते-वहते दूसरी दिशा में वहने लगता है. वाल्यावस्था मे माता के प्रति रहा हुआ ममत्व युवावस्था में पत्नी पर केन्द्रित हो जाता है. पुत्री पर टिका स्नेह पुत्र प्राप्त होते ही दिशा वदल कर पुत्र मे मिमट जाता है एक दिन पुत्र में सिमटी ममता भी स्वार्थ से निचुडने लगती है

●

स्नेह वँट जाता है. धन लुट जाता है समय सरक जाता है ! समय की करवट से, सव कुछ उलट-पुलट हो जाता है. मनुष्य का, न स्नेह स्थायी है न सलोने अलोने सुनहरे स्वप्न ! जगमें स्वार्थ प्रवल है स्वार्थ के कच्चे धागो मे रागी, वैरागी, त्यागी, तपस्वी, कवि, विद्वान् और मुनि—सव जकडे हुए है.

●

ससार की प्रत्येक माता मे विश्वमातृत्व विद्यमान है नारी के आँसुओ मे दाहक ज्वाला नही, पावस की शीतलता है. आँसू नारी के हृदय का अमृत है ! आंसू उसके मातृत्व का प्रमाण है.

●

धान्य की लहलहाती खेती कितनी सुखद है ! पता है आँखो का यह सौन्दर्य उपलब्ध करने के लिए किसान ने कितना पसीना वहाया है ? सस्कृत जीवन के सम्वन्ध मे भी यही वात है. किसी भी कार्य के प्रति दृढ निष्ठा का होना आवश्यक है निष्ठा प्रत्येक सुन्दर कार्य के नीव की ईंट है.

●

भारत का अध्यात्मवाद अरण्य मे भटकने की वात नही कहता, वह यह भी नही कहता कि सासारिक कार्य में अभिरुचि मत रखो ! वह नही कहता है कि नारी नरक की खान है. वस्तु जैसी है, उसे वैसा ही समझ लो पर वैराग्य व सन्यास के नाम पर अरण्य मे ठोकर खाते हुए मत फिरो !!

●

शरद ऋतु मे वादल वरसता नही केवल गरजता है अनुदार व्यक्ति काम कम करता है. वोलता भर है. इसके विपरीत सज्जन या उदार कहता कुछ नही वरसता जाता है या काम किए जाता है.

●

कर्म करो ! आसक्त मत वनो !! रुचि अवश्य दिखाओ पर अहकार त्याग दो. कर्म करना तुम्हारा काम है, उसमें सौन्दर्य खोजना, उसका मूल्याकन करना—ये सव दूसरो के काम हैं। तुम अपनी सीमा में काम करो वे तुम्हारा मूल्य अवश्य अकित करेंगे।

●

तोता रामायण की चौपाइयाँ और गीता के श्लोक रट लेता है परन्तु इतने मात्र से वह विल्ली से अपनी रक्षा नही कर सकता. साधु, महत, पण्डित और मुल्ला भी भाषण देकर जनता के मस्तिष्क में विचारो का छोंक लगा सकते है परन्तु माया के पंजे से वे अपनी रक्षा नही कर सकते.

●

हमारे कुछ धर्माचार्यों ने भारतीय जनता को स्वार्थमय वना दिया है. वे निरतर यही उपदेश करते है कि ससार स्वार्थमय



है। तुम्हारा कोई सगा नही है। मृत्यु के समय कोई साथ नही देगा. पर वे यह क्यो नही सोचते कि मृत्यु के समय नही पर आज तो साथ दे रहे है सारा ससार स्वार्थमय है यह सोचकर अगर एक दूसरे पर विश्वास ही मनुष्य को न रहेगा तो उस हालत मे ससार जरूर स्वार्थ की आग में जलने लगेगा और उस आग मे पण्डित मुल्ला या साधु कोई भी नही बच सकेगा।

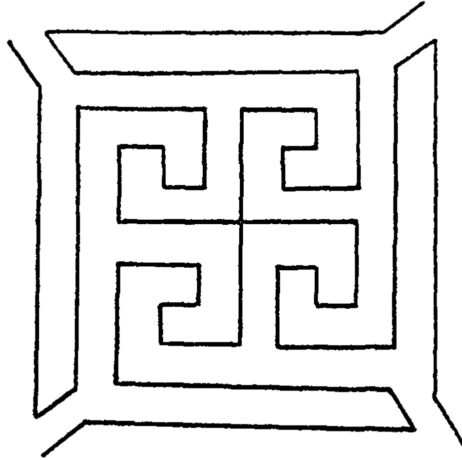
●

पराजय से मनुष्य निराश हो जाता है परन्तु वस्तुतः पराजय से मनुष्य की बासी जिन्दगी मे ताजगी आती है वह मनुष्य की हलचलभरी जिन्दगी मे रगीनी ला देती है उसके खून मे उबाल आ जाता है. साँसो में गीत गूजने लगते है, यद्यपि विजय महान् है परन्तु आवश्यक हो तो पराजय महत्तर है.

●

कल! इस शब्द में कितनी सभावनाए भरी पडी हैं. भले ही आज का दिन कितना ही निराशा के मेघो से घिरा, भय, बीमारी तथा मृत्यु की आशंका लिए है, किन्तु सौभाग्य की सभावना का कल कितना सुन्दर है! इसलिये अच्छा हो हम मृत्यु को सिर्फ आनेवाले एक कल की तरह समझें जो असीम विश्वास और उत्साह से भरापूरा है

●





स्वामीजी के जीवनसूत्र

महास्थविर मुनिराज श्रीहजारीमलजी म० को उनके जीवनकाल मे और आजतक जनमानस एकात श्रद्धा, स्नेह, भक्ति और आदर की दृष्टि से देखता रहा, मानता रहा तथा मान रहा है. उसका कारण यह है कि उनका जीवन, कुछ जीवन की उदात्त और दिव्य प्रेरणाओ से प्रेरित था उनमें से कतिपय प्रेरणाए निम्न प्रकार है—

(१) विश्वशान्ति (२) विश्ववात्सल्य (३) मातृजाति का उचित सम्मान (४) छोटो के प्रति स्नेह (५) गुणी जनो के प्रति आदर (६) धर्म के प्रति जागरूकता (७) अखड ब्रह्मचर्य मे एकात निष्ठा (८) हितमित व परिमित मधुर सभाषण (९) निष्काम एव नि स्पृह वृत्ति (१०) सयम और तपश्चर्या मे परायणता.

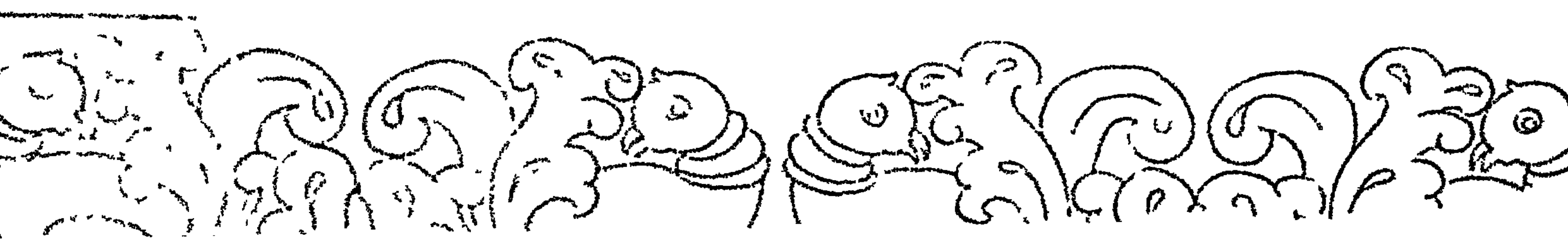
ये वे जीवन-सूत्र हैं जिन पर उन्हे अपूर्व आस्था थी 'इन सूत्रो के अनुसार मेरी दिनचर्या निर्बाध व्यतीत हो—ऐसा वे अहर्निश चिन्तन किया करते थे. इन सूत्रो की व्याख्यामय उनका जीवन था सूत्रो की सीमा में आनेवाली सीमित रेखा के अतिरिक्त भी उनके जीवन मे कुछ ऐसे विलक्षण सत्य देखे जाते थे, जो उच्चकोटि के सन्तो मे विरल ही पाए जाते है

एक : उनकी दीन-बन्धुता !

वैसे मिलने भेंटने बोलने के प्रसग कभी भी किसी के भी हो वे नही टालते थे. उन्होने अपने जीवन में गरीब और अमीर के साथ कभी भेद-व्यवहार नही किया तथापि वे दीन, असहाय, निराश और धनहीन से अधिक सम्बन्ध रखते थे. इस के पीछे उनका यह विश्वास बोलता रहता था—'निराशा में घिरा व्यक्ति सन्त के सम्पर्क मे आकर, सन्त के जीवन से, साधना से, उपदेश से—आशा और उत्साह का प्रकाश प्राप्त कर सकता है. कर्त्तव्य की निष्ठा की पवित्र ज्योति जगा सकता है इसलिये सन्त पुरुषो का सग आवश्यक है.' स्वय जिस विचार-पथ पर चलते थे उसी पर बढने का वे अन्य सम्पर्कस्थ व्यक्ति को बडी दृढतापूर्वक उपदेश करते थे 'पत्थर के भगवान् की पूजा कर तुम यह सोचते हो कि वे तुम्हारी आत्मा का पाप नाश कर देंगे यह कभी नही हो सकता. अपने क्रूर कर्मो का यदि वस्तुत प्रायश्चित्त करना चाहते हो तो पहले झोपड़ी में रहनेवाले दरिद्रनारायण को प्रसन्न कर लो, तभी सौ हाथोवाला आत्मस्वरूप भगवान् तुम्हें सत्य-पथ पर बढने की सत्प्रेरणा प्रदान कर सकता है.'

दो : प्राणिमात्र के प्रति स्नेह !

मनुष्य, अपने ही सुख की सोचे. अपने ही आराम-विश्राम को महत्त्व दे, आस-पास के मनुष्य और दूसरे प्राणी किस प्रकार



जीवन व्यतीत कर रहे है, इस ओर कभी ध्यान ही न दे तो निस्सदेह, उस मानव को मानव के परिधान में पशु कहना होगा

स्वामीजी की करुणा-धारा आवश्यकता के अनुसार मनुष्यो और पशुओ की ओर मुड जाती थी क्योकि 'खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा,. वेर मज्झ न केणइ' भावना की इस भावगगा मे उन्होने अपने आपको निमज्जित किया था स्वाभाविक ही था वह उनके जीवन के प्रत्येक व्यवहार व कर्म से प्रकट होती.

एक बार उन्होने देखा कि 'तिवरी' के आस-पास इस वर्ष सुकाल न होने के कारण साधारण जनता भारी सकट मे है व्यापक अभाव व्याप्त है रोटी-रोजी के और वस्त्र के अभाव मे तिवरी के आस-पास के अभावग्रस्त लोग रेलवेलाईन पर सामर्थ्य है तो और नही है तो, दिनभर खटते है—छोटे-छोटे बच्चो को साथ लेकर—मेहनत मजदूरी करते है.

उन्होने गभीरतापूर्वक सोचा अपने प्रवचन को मोड दिया निपुण व्याख्याता वही कहलाता है जो मानव समस्या को लक्ष्य मे रखकर विवेचन करता है और सत्य के दर्शन कराता है अत उस समय उन्होने अपने उपदेशो मे इस समस्या को सामने रखकर प्रवचन करने प्रारम्भ किये

'जो श्रम कर रहे है, उन्हे श्रम इस स्थिति मे ही क्या हर अवस्था मे करना होगा श्रम के बिना किसी से दान स्वरूप सहयोग लिये जाने से तात्कालिक समस्या का हल होता है वह उस काल तक ही सीमित होकर रह जाता है यह स्पष्ट है कि वह स्थायी हल नही है साथ ही इस प्रकार से बिना श्रम के प्राप्तव्य से श्रम के प्रति अनास्था उत्पन्न होती है. तथापि साधनसम्पन्न मनुष्य का इस हालत मे धर्म हो जाता है कि वह अभावग्रस्तो को सुविधा पहुँचाये अस्तु, उनके सतर्क करुणाभाव प्रतिपादक उपदेशो से प्रेरित होकर प्रसिद्ध उद्योगपति श्रीजुगराजजी श्रीश्रीमाल ने अभावग्रस्त लोगो के लिये यथायोग्य वस्त्र व भोजनादि की व्यवस्था की'

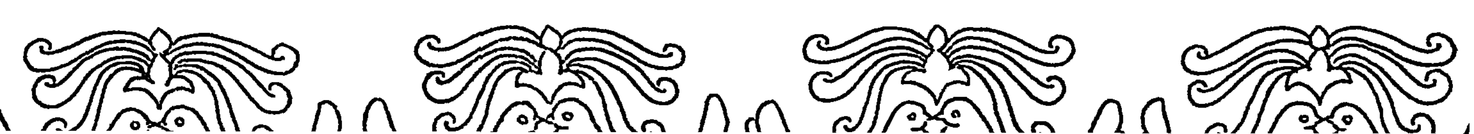
प्रस्तुत प्रसग मे एक और करुणा का साकार घटित स्वरूप प्रस्तुत करना अप्रासगिक न होगा एक बार नागोर के समीपवर्त्ती क्षेत्रो मे चारे के अभाव मे पशुओ का जीना दूभर हो गया था उस समय उन्होने दुष्काल के सकट के परिणामो को सामने रखकर अपने प्रवचनो मे पशुओ की उपयोगिता और उनके द्वारा मानव जाति के लिये होनेवाले लाभो का प्रतिपादन किया अनुदिन के प्रवचनो मे प्रकारान्तर से यह विषय उपस्थित किया कि 'धार्मिक पुरुषो के लिए इस समय इस समस्या का निराकरण करना ही आध्यात्मिक साधना का सार है!'

स्थानकवासी सम्प्रदाय का उद्गम, विकास और परम्परादर्शन

भारत की निर्गुण सन्त सम्प्रदायो की परपरा बुद्धिवादी परपरा कहलाती है भावविह्वलता का अतिरेक सदा नही रहता उसका एक समय होता है उम्र की सलवट ज्यो-ज्यो वढती जाती है त्यो-त्यो मनुष्य यथार्थवादी होता जाता है जैन-परम्परा मे भी महावीर के वाद सन्तो मे साकार और निराकार धारा का प्रस्फुटन हुआ लगभग सभी धर्मों में उपासना की दो धाराएँ प्रवाहित हो रही है इन धाराओ को साकार और निराकार कहा जाता रहा है भक्ति युग में इसे सगुण और निर्गुण नाम से अभिहित किया गया.

भगवान् म० के सैकडो वर्षो वाद भारत के वहुत वडे भाग मे भयकर दुष्काल पडा था उस समय अन्नसकट-जनित अस्त-व्यस्तता के परिणामस्वरूप जैनधर्म की निराकार धारा अन्त सलिला हो गई थी किंतु इस धारा का यह सौभाग्य रहा कि इसका साहित्य रह गया था पन्द्रहवी शती तक यह धारा अन्त सलिला ही वनी रही सोलहवी शती के तृतीय दशक मे लोकाशाह नामक क्रान्तिकारी वीर पुरुष का उदय हुआ वह परम वौद्धिक और विचारक था. उसने तत्कालीन श्रमणो के भयकर पतन को देखा, तो उसका लौहपुरुष विद्रोह कर उठा

लोकाशाह ने धर्मग्रथो का अध्ययन प्रारम्भ किया, उसे निराकार की अन्त सलिला का निनाद सुनाई देने लगा उसने अधिक तत्परता व लगन से आगमो का गहन एव सूक्ष्म अध्ययन और चिन्तन किया लोकाशाह को पता लगा



कि धर्म की आत्मा आडवर एव दभ के आवरण में छिप गई है ! उसे प्रकाश मे लाना ही इस समय सबसे बडी शासन-सेवा है कहा जाता है कि इसके बाद लोकाशाह ने काफी समय तक पद यात्रा करते हुये अपने विचारो का शखनाद सर्वत्र सुनाया उनके विचारो को आशातीत समर्थन मिला.

आराध्य की मूर्ति स्थापित न करके एक स्थानविशेष में सामूहिक रूप में या व्यक्तिगत रूप में निराकार उपासना करने के कारण उनके अनुगामियो का सम्प्रदाय स्थानकवासी सम्प्रदाय कहलाया

इस अर्थ मे जैनधर्म मे साकार और निराकार—ये दोनो प्रकार के सम्प्रदाय है. स्थानकवासी सम्प्रदाय निराकार की उपासना में विश्वास रखता है.

लोकाशाह के विचाराशो मे सशोधन करके श्रीधर्मदासजी श्रीलवजी ऋषि और श्रीधर्मसिंहजी इन तीन महापुरुषो ने इस सम्प्रदाय को सर्वद्धित और परिपुष्ट किया. तीनो धर्म-स्तभो के विचार-आधार पर ही स्थानकवासी सम्प्रदाय टिका हुआ है. आचार्य श्रीजयमलजी म०, आचार्य श्रीधर्मदासजी म० की सम्प्रदाय की कड़ी थे. श्रीहजारीमलजी म० भी इसी सप्रदाय के एक उज्ज्वल रत्न थे

वि० की अठारहवी शती में आचार्य श्रीरघुनाथजी महाराज से दयादान के सैद्धान्तिक प्रश्नो मे विचार सामजस्य स्थापित न होने के कारण श्रीभीखणजी स्वामी ने गुरु से सम्बन्ध तोडकर स्वतत्र सम्प्रदाय 'तेरापथी' के नाम मे स्थापित किया आचार्य श्रीजयमलजी महाराज श्रीभीखणजी के चचेरे गुरु थे आचार्यश्री नही चाहते थे कि भीखणजी गुरु से विमुख हो. उन्होने इस सम्बन्ध में पर्याप्त प्रयत्न किये और श्रीभीखणजी को समझाया भी, किन्तु वैसा न हो सका.

श्रीहजारीमलजी महाराज अपने समाज और सम्प्रदाय के अत्यत निष्ठावान् सत थे. वे कहते थे—'मनुष्य जिस समाज, सम्प्रदाय, धर्म और परिवार से जब तक अनुबधित हो, उसके प्रति उसे ईमानदारी के साथ कर्त्तव्य करना चाहिये' यह कहना उनका कोरा उपदेश ही नही था. व्यक्तिगत रूप से वे इस पर अत्यन्त दृढ भी थे.
श्रीभीखणजी गणि की परपरा के अष्टम आचार्य श्रीकालूगणि का बडी पादू (राजस्थान) में आगमन हुआ उस समय पूज्य श्रीस्वामीजी महाराज भी पादू मे ही विराजित थे श्रीकालूगणिजी ने सोचा 'हमारे आदिगुरु आचार्य श्रीभीखणजी स्वामी के चचेरे गुरु आचार्यश्री जयमलजी महाराज की सम्प्रदाय के बडे सन्त प्रवर्तक श्रीहजारीमलजी म० यही विराजमान है उनसे मिलना चाहिये.' उन्होने अपने भक्तो से कहा—'स्थानकवासी मुनि श्रीहजारीमलजी महाराज को यहाँ आने का निमत्रण दे आओ.'

भक्त निमत्रण देने गये. प्रसग यहाँ आकर अड़ गया—'कालूगणि मुनिश्री के निवास पर आये या मुनिश्री कालूगणि के निवास पर जाये ?' मुनिश्री ने निर्णय दिया—'तेरापथी' सम्प्रदाय में यह प्रचारित करने की प्रथा है कि कोई भी स्थानकवासी मुनि उस पक्ष के चाहने पर भी मिलता है तो यही प्रचारित किया जाता है कि स्थानकवासी मुनि कालूगणि के दर्शन करने या दर्शनो का लाभ लेने आये. जैसे भी हो यह परपरा आज तक रूप वदल कर चल रही है, अत उनकी मिलने सम्बन्धी इस भावना की तो मैं कद्र करता हूँ मगर उनके निवास पर नही जा सकता. अच्छा यही है कि वे स्वय ही यहा पधार जायें.'

मिलने वाला जिससे मिलना चाहता रहा है वह उसके निवास पर जाकर ही उससे मिलता रहा है. और इस प्रकार से मिलना व्यवहार्य भी कहलाता है एक दिन अन्य स्थान पर दोनो मुनियो का अत्यत स्नेहपूर्ण मिलन हुआ. आचार्य श्रीजयमलजी म० की उदारता और सौहार्दभाव की चर्चा हुई 'हम दोनो मूलत चारित्रिक ऊर्जा के धनी आ० रघुनाथजी म० से सवधित रहे है कालगत दूरी अवश्य है परन्तु स्नेहगत दूरी नही है !' इस प्रकार के वार्ता-प्रसगो में उनकी मिलन-वेला प्रेमपूर्ण ढंग से सपन्न हुई.
घटना. स० १९९१, पादू (राज०)





स्वामीजी की आचार्यपरंपरा

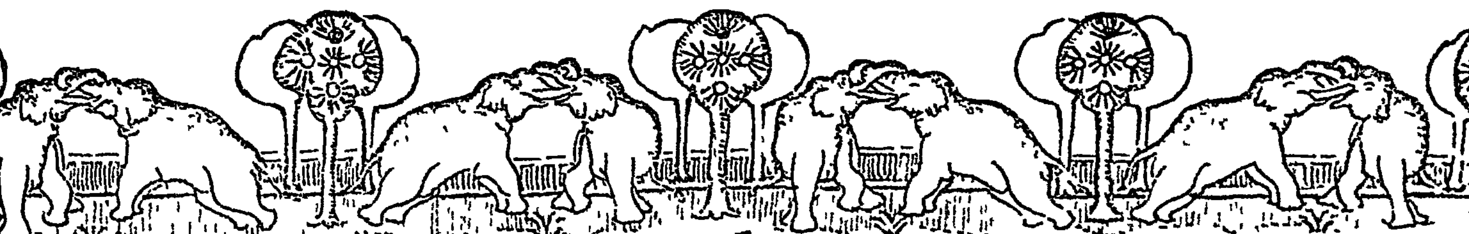
भारतीय संस्कृति के जीवनाधार सन्त :

सन्त भारतीय सस्कृति के जीवनाधार है भारत के सन्तो ने अध्यात्मविद्या प्रदान कर ससार के भवारण्य में भूले-विसरो को जीवन का चरम लक्ष्य वताया है आज अध्यात्मविद्या विदेशो मे भी पल्लवित हो रही है इसका उद्गमस्थल भारत है यह अतिशयोक्ति नही कि भारत के सन्त अनुस्रोतगामी न वनकर प्रतिस्रोतवाहक वने और उन्होने भोगाकुल भयग्रस्त ससार को, दुनिया से स्वय दूर रह कर, ध्यान, धारणा, समाधि और लयावस्था की अनुभूति का अमृत बाट कर ससार मे महनीय उपकार किया है

सन्त, विचार मे आचार और आचार मे विचारो का पवित्र पावन सगम हे सन्त का जीवन विचार, आचार, विवेक-क्रिया, साधना, सयम और तप आदि का वहुरगी चित्र है भारतीय जन-जीवन, सन्त का समादर करता है, उसकी पूजा करता है क्योकि सन्तो के तप पूत जीवन से उसे प्रेरणा मिलती है जीवन की सम्यग् दिशा का सुवोध प्राप्त होता है अत सन्त का जीवन एक आलोकस्तभ है उसके चारो ओर प्रकाश-किरणें बिखर रही है

सन्तसस्कृति के प्रभाव से भारत का समग्र भाग प्रभावित हे कश्मीर से कन्याकुमारी तक व अटक से कटक तक सर्वत्र सन्तजीवन का सौरभ परिव्याप्त है दक्षिण भारत के जीवट के सन्त, गुजरात व महाराष्ट्र के भक्तिपरायण सत, पजाव के, उत्तर भारत के व मध्यभारत के सतो की कीर्तिकथा और गौरवगाथा सुनकर आज भी किस भद्र भावना वाले व्यक्ति का मस्तक श्रद्धानत नही हो जाता है ? और फिर राजस्थान तो एक प्रकार से सन्तो का ही देश है तप, त्याग की विख्यात रणभूमि राजस्थान के उद्भट अलवेले मस्त सन्त जो अपनी जीवन-ज्योति से जन-जन के मन को जागृत करते रहे है—कौन उन्हे भुला सकेगा ? जैन जगत् के सन्त, श्री आनन्दघन जी, योगिराज श्रीदेवचन्द्र जी जैसे पण्डित पुरुष और श्रीयशोविजयजी जैसे विद्वान् सन्त एव भक्ति के अद्वितीय कवि विनयचन्द्रजी, भूधर जी, द्यानत व दौलतराम जी एव बनारसीदासजी जैसे अमर सन्त जैन समाज मे भक्ति युग के यशस्वी कवि हुए है

राजस्थान सन्तभक्तो का देश है राजस्थान, जिसमे प्रेमदीवानी, स्नेहविह्वल मीरावाई की सरस स्वर-लहरी समस्त भारत मे गूंज रही है, जिस राजस्थान मे दादू की उदात्त विचारधारा, जिससे राष्ट्रीय कवि रवीन्द्र भी प्रभावित हुए है, वीर राजस्थान के उन आध्यात्मिक वीर सन्तो की अमर देन चिर नवीन है राजस्थान इसीलिये 'वीर राजस्थान' के रूप मे अमर है कि यहाँ के निवासी अन्याय के लिये रण मे अद्भुत पराक्रम भी दिखा सकते है और समय आने पर सयम के रण मे भी उसी वीरता से आगे बढते है जब तक राजस्थान के सन्तो का जादूभरा सगीत राजस्थानियो की हृत्तत्री के तारो को झकृत करता रहेगा, तब तक नि सदेह वे समस्त उर्ज्जस्वल अतीत को साकार करते रहेगे



राजस्थान के सन्तजन लोकभाषा के वहुत बडे हिमायती रहे है. उन्होने सदैव यह लक्ष्य अपने सामने रखा है कि जिस प्रात में हमे जनता मे जागृति उत्पन्न करनी है उस प्रात मे उसी भाषा में अपनी सतेज वाणी का प्रकाश करे इस प्रकार राजस्थान के सन्तो ने जो सदेश दिये है वे निश्चय ही भारतीय सस्कृति को राजस्थानी सन्तो की अमर देन के रूप मे सदैव उल्लेखनीय रहेगे.

इतनी भूमिका के वाद स्वामीजी म० की आचार्यपरम्परा और सन्तपरम्परा का क्रमश उल्लेख किया जाता है.

आचार्य श्रीजयमलजी म०

आचार्य श्रीजयमलजी म० धर्मोद्धारक वीर पुरुष श्रीधर्मदासजी म० की परम्परा के ज्योतिर्धर सन्तरत्न थे. उन्होने उफनते यौवन की तपती दुपहरी में ब्रह्मचर्य के कठोर व्रत को स्वीकार कर राजस्थान की वीर सन्तपरम्परा को गौरवान्वित किया था अपने कौटुम्बिक मोह को विश्व-प्रेम में परिवर्तित कर दिया था और माता सरस्वती के विनीत पुत्र के रूप में ज्ञान की अखड लौ प्रज्वलित की थी वे माता जिनवाणी की जीवनपर्यन्त त्याग, तपस्या, वैराग्य आदि के द्वारा उपासना करते रहे.

आपका जन्म मरु-प्रदेश के लाबिया ग्राम में हुआ था. माता पिता का नाम क्रमशः महिमाबाई और मोहनदासजी था. एक सभ्रात परिवार की कन्या (श्री लक्ष्मी बाई) के साथ इनका विवाह २२ वर्ष की अवस्था में हुआ था. द्विरागमन का समय नवविवाहितो के लिये उमगों का गुलाल बरसाता हुआ-सा होता है आपके यहाँ भी द्विरागमन होने वाला था. इसी बीच मेडता में आपको पूज्य श्रीभूधरजी म० का वैराग्यमूलक उपदेश श्रवण करने का स्वर्ण-अवसर मिला मुनिश्री के मुख से सुदर्शन सेठ के ब्रह्मचर्य व्रत की महिमा का सगीत सुना विचार बदले जीवन बदला. पूज्य श्री भूधरजी म० से दीक्षा प्रदान करने की विनती की. भूधर जी म० ने कहा—'जीवन के महान् निर्णय को इस प्रकार सहसा कैसे कर रहे हो ?'

जयमलजी ने कहा 'निर्णय तो सहसा और एक साथ ही होते है. प्यास लगी हो तब पानी पीने के लिए सोचने-विचारने की आवश्यकता नही होती. अन्तत. मेडता मे ही रहकर परिवार की अनुमति प्राप्त की, और सं० १७८७ की मगसिर कृष्णा द्वितीया को मुनि-दीक्षा ग्रहण की.

तो द्विरागमन का उल्लास भी सयमवीर के पथ का अवरोधक तत्त्व न बन सका.

नवदीक्षित जयमल जी ने मुनिजीवन की साधना के साथ-साथ ही ज्ञानोपासना भी प्रारम्भ की. आगे चलकर लोकगीतो व सामाजिक रगमच पर प्रचलित धुनो की रागो में स्वानुभूतिमूलक विपुल साहित्य सृजन किया. इनके भक्ति, वैराग्य स्तुति, उपदेश एव तात्त्विक विषयो के फुटकल पद आज राजस्थान के विभिन्न ज्ञानागारो मे पाए जाते है 'जयवाणी' के नाम से इनकी रचनाओ का एक बृहत् सग्रह सन् १९६० मे आगरा से प्रकाशित हो चुका है.

आचार्यश्री के जीवन और व्यक्तित्व के सम्बन्ध में डा० नरेन्द्र भानावत का प्रस्तुत ग्रथ मे प्रकाशित निबंध यथेष्ट प्रकाश डालता है

आचार्य श्रीरायचन्द्रजी

उत्तराधिकार भौतिक और आध्यात्मिक दो प्रकार का होता है. भौतिक, चल-अचल सम्पत्ति के रूप मे होता है, जब कि आध्यात्मिक उत्तराधिकार तप, त्याग एव सयम का होता है जिसको उत्तराधिकारी बनाया जाता है उसके विचार और आचार से यह प्रकट होता है. आचार्य श्रीजयमलजी ने सघ-व्यवस्था का दायित्व रायचन्द्र जी को सं० १८४६ मे युवाचार्य घोषित करके प्रदान कर दिया था

अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करते समय आचार्यश्री ने सघ के समक्ष कहा 'मै आज युवाचार्यपद रायचन्द्र जी को प्रदान

करता हूँ यह समय इनके पूर्वाभ्यास का है मैं अनुभव कर रहा हूँ कि ये आचार्य पद के उत्तरदायित्व को दक्षतापूर्वक निभा सकते है सघ इनके नेतृत्व मे रत्नत्रय की वृद्धि करता हुआ आध्यात्मिक पथ पर निरतर बढता रहे, यही मेरी आन्तरिक अभिलाषा है

आचार्यश्री रायचन्द्रजी का जन्म, स० १७९६ आसौज शुक्ला एकादशी को जोधपुर मे हुआ था माता नन्दादेवी और पिता विजयराज धाडीवाल थे

इन्होने किशोरावस्था व यौवनावस्था के सधिस्थल पर खडे होकर मुनिदीक्षा का भीष्म निर्णय किया था स्वामी श्री गोरधनदास जी द्वारा स० १८१४ आषाढ शुक्ला एकादशी को मारवाड के प्रसिद्ध पुरातन नगर पीपाड मे भागवती दीक्षा ग्रहण की थी ३९ वर्ष १० माह और ६ दिन तक मुनिजीवन के कठोर विधि-निषेधो मे रहकर आचार्य जयमल जी की दृष्टि मे युवाचार्य पद की योग्यता प्राप्त कर ली थी समग्र मुनि जीवन ५४ वर्ष ६ माह और १८ दिन तक अत्यन्त दृढतापूर्वक व्यतीत किया

इनके वैराग्योद्गम की कहानी अत्यत अद्भुत है किशोर और यौवन अवस्था के मदभरे दिन थे माता-पिता ने सुशील कन्या से पाणिग्रहण करने की तैयारी कर ली थी. स्वजन-परिजन पर्याप्त मात्रा मे उपस्थित हो गये थे घर मे स्त्रियाँ मगलगीत गा रही थी अडोस-पडोस से विवाह की शुभ कामना स्वरूप भोजन (बिंदोला) के निमत्रण वश घर-घर क्रमश भोजन करने जाना पडता था एक दिन (बिंदोला आरोगणने पडोसी रे घरे पधारया हा) भोजन करते-करते अकस्मात् वैराग्य भाव के अकुर फूट पडे विवाह की तैयारी जहाँ की तहाँ रह गई और थोडे ही दिनो बाद दीक्षा का बिंदोला प्रारभ हो गया और आप मुनिव्रत धारण कर वीरव्रती बन गये

इन्होने ज्ञानधन का विपुल अर्जन किया था दर्शनशास्त्र पढा लक्षणग्रथो पर अधिकार प्राप्त किया वह युग, पद्य की प्रतिष्ठा का युग था अत इन्होने तत्त्वात्मक, उपदेशात्मक, स्तुत्यात्मक एव कथात्मक पद्यो की राजस्थानी भाषा मे रचना की वे रचनाएँ राजस्थान के विभिन्न प्राचीन भण्डारो मे आज तक बराबर मिलती जा रही है परन्तु इस यत्र-युग मे भी कोई ऐसा अन्वेषक नही उत्प्रेरित हुआ जिसने प्राचीन मुनियो की मूल्यवान रचनाओ को प्रकाशित कर जनता के समक्ष उपस्थित किया हो मैने इनकी विपुल रचनाओ का एक सग्रह 'रायरचना' के नाम से तैयार किया है जो शीघ्र प्रकाश मे आने वाला है

आपने ७ भव्यात्माओ को दीक्षा प्रदान कर उनकी शिक्षा-दीक्षा, तप, त्याग, वैराग्य आदि का दायित्व वहन किया था आपकी सम्पूर्ण आयु ७२ वर्ष ३ माह की थी. सं० १८६८ माघकृष्ण चतुर्दशी को देहोत्सर्ग किया.

आचार्य श्रीआसकरणजी

आचार्य श्री रायचन्द्र जी ने सवत् १८५७ आषाढ कृष्णा पचमी के दिन श्रीआसकरण जी म० को युवाचार्य पद प्रदान किया निरीक्षण करते रहे कि आचार्य-पद का महान् दायित्व परिवहन करने मे ये कितने सक्षम है कालातर मे आचार्यश्री को विश्वास हो चला कि आचार्य-पद का उत्तरदायित्व ये कुशलतापूर्वक वहन कर सकेंगे आचार्य श्री-रायचन्द्रजी म० के स्वर्गवास के पश्चात् आपने स० १८६८ माघ पूर्णिमा के दिन मेडता मे आचार्य-पद ग्रहण किया जयगच्छ सुयोग्य नेतृत्व प्राप्त कर प्रमुदित हुआ

आचार्य श्रीआसकरणजी का जन्म, तिवरी (तिमरपुर राज०)मे सवत् १८१२ मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीया को हुआ था माता गीगादे और पिता रूपचन्द्र जी बोथरा थे इनका गृही जीवन साढे सोलह वर्ष रहा आचार्य श्रीजयमलजी म० द्वारा स० १८३० वैशाख कृष्णा पचमी को तिवरी मे मुनिदीक्षा धारण की थी

इनके वैराग्योद्गम की कहानी बडी महत्त्वपूर्ण है आसकरणजी के वाग्दान की तैयारी हो चुकी थी माता परम प्रसन्न थी मेरे घर मे जिस चाद-सी बहूरानी का आगमन होनेवाला है, उसके अभिभावक आज वाग्दान कर वचनबद्ध होगे



साथ ही मुझे समधिन के मीठे रिश्ते का लाभ होगा वे वचन देकर घर के सब सदस्यो से अपनत्व सम्बन्ध स्थापित करेगे पिता उल्लसित हो रहे थे कि मेरे बेटे को जीवनसगिनी मिलने वाली है मुझे समधी मिलेगे. परिजन मोद मना रहे थे कि आज के वाद आसकरण जी के विवाह की सीमारेखा अकित होने वाली है

इस प्रकार सब की तैयारी व प्रसन्नता आसकरण जी पर आधारित हो चुकी थी आसकरण जी के मन के हिमालय से वैराग्य की गगा अवतरित होकर हृदय मे समाहित हो चली थी. सबकी आशा के सुनहरे तार कच्चे धागो की तरह टूट गये आसकरणजी के वैराग्य का स्वप्न साकार हुआ उन्होने हाड़मास की पुतली के बदले विरक्ति के साथ सगपन किया माता-पिता व अन्य जनो के स्वप्न भग हो गये कालातर में मुनि पद की विधवत् दीक्षा ग्रहण की

जैनागमो का गहरा अध्ययन किया. तप-त्याग, सयम का विमल मन से ५२ वर्ष से भी कुछ अधिक समय तक सम्यक् परिपालन किया

इनका कृतित्वपक्ष भी आचार्य श्रीरायचन्द्रजी म० की तरह अत्यत प्राणवान् था मारवाड के प्राचीन ज्ञानागारो मे आपके द्वारा रचित विभिन्न विषय के उत्प्रेरक पद आज तक उपलब्ध होते जा रहे है. २० विहरमान, ११ गणधर, २४ तीर्थंकर व १६ सतियो की स्तुति मे स्तुतिपरक पद तो रचे ही, इनके अलावा अन्य तात्त्विक विषयो पर भी पद्यरचना की. इनके अब तक उपलब्ध पद्यो का 'आसकरणपदावली' के नाम से एक विशाल सग्रह किया जा चुका है जो निकट भविष्य मे ही प्रकाश मे आने वाला है आगे अन्वेपण चालू है १० भव्यात्माओ को मुनिजीवन की दीक्षा प्रदान की. सम्पूर्ण जीवन ७० वर्ष का था, १८८२ की कार्तिक कृष्णा पचमी को देहोत्सर्ग हुआ

आचार्य श्रीसबलदासजी

आचार्य श्रीआसकरण जी म० ने परम्परा से चली आ रही युवाचार्य-पद की पद्धति का सम्यक् निर्वाह करते हुये श्री-सवलदास जी म० को स० १८८१ की चैत्र शुक्ला पूर्णिमा की प्रभात-वेला मे युवाचार्य-पद प्रदान किया स० १८८२ की माघशुक्ला त्रयोदशी को जोधपुर में आचार्य-पद प्राप्त हुआ सघव्यवस्था का दायित्व आपके कधो पर आ गया

आचार्य श्रीसवलदासजी म० का जन्म स० १८२८ भाद्रपद शुक्ला द्वादशी को पोकरणनगर मे हुआ था माता सुन्दर देवी और पिता आनन्दराम जी लुणिया थे इन्होने मार्गशीर्ष शुक्ला तृतीया को बुचकला ग्राम मे आचार्य श्रीरायचन्द्रजी के द्वारा स० १८४२ मे मुनिदीक्षा धारण की थी तीन दशक से कुछ अधिक समय तक मुनिजीवन की कठोर साधना हो चुकने पर आचार्य की दृष्टि में आपने युवाचार्य-पद की योग्यता प्राप्त की अर्धशती से कुछ अधिक समय तक समग्र मुनि जीवन व्यतीत किया तीन शिष्यो को स्वय दीक्षा प्रदान की

आप अपने समय के वहुत अच्छे कवि थे आज तक के आपके प्राप्त पदो के आधार पर निस्सकोच कहा जा सकता है कि आपको छन्द शास्त्र का ठोस ज्ञान था पूर्ववर्ती आचार्यो की तुलना मे आपका पद्यसाहित्य यद्यपि स्वल्प ही उपलब्ध हुआ है परन्तु अन्वेपण की महती आवश्यकता है. लेखक इस दिशा में प्रयत्नशील है.

इनका देहोत्सर्ग स० १९०३ मे सोजत (शुद्ध दतीपुर) नगर में वैशाख शुक्ला नवमी को हुआ था.

आचार्य श्रीहीराचन्द्रजी

आचार्य श्रीसवलदासजी म० युवाचार्य-पद पर आसीन रहे थे. परन्तु उनके पश्चात् किसी आचार्य को पहले युवाचार्य-पद प्रदान किया गया हो, ऐसा कोई उल्लेख नही मिलता श्री हीराचन्द्र जी म० आषाढ शुक्ला नवमी स० १९०३ में आचार्य पद पर जोधपुर मे प्रतिष्ठित हुए

आचार्य श्रीहीराचन्द्रजी का जन्म स० १८५४ भाद्रपद शुक्ला पचमी को विराईग्राम (राज०) मे हुआ था. माता गुमाना देवी और पिता नरसिंह जी कांकरिया थे. दसवें वर्ष मे वैराग्य का उद्गम हो गया था आचार्य श्रीआसकरणजी के द्वारा



स० १८६४ आश्विन कृष्णा तृतीया को सोजत नगर मे मुनिदीक्षा ग्रहण की दीक्षोपरात विभिन्न विषयो का अध्ययन किया अपने द्वारा स्वीकृत आचारधर्म का अर्द्धशताब्दी से भी कुछ अधिक समय तक सुदृढ मन से पालन किया आपने बालवय मे ही दीक्षा धारण की थी. इन्हे वैराग्य किन परिस्थितियो मे उत्पन्न हुआ था, इस बारे में कुछ भी अधिकृत रूप से ज्ञात नही होता है

आपका छन्द अलकार सम्बन्धी ज्ञान प्रसिद्ध है पद्य रचनाएँ कम ही मिली हैं. पर जो मिली हैं वे परिपूर्ण हे अन्वेषको से अनुरोध है कि जहाँ भी आपकी रचनाएँ प्राप्त हो सके, उन्हे प्रकाश मे लाने का प्रयास करें
आपकी सम्पूर्ण आयु ६६ वर्ष की रही स० १९२० फाल्गुन कृष्णा सप्तमी को आप स्वर्गवासी हुये

आचार्य श्रीकस्तूरचन्द्रजी

आचार्य श्रीसवलदासजी म० ने युवाचार्य-पद प्रदान करने की परम्परा उठा दी थी, अतः आचार्य श्रीकस्तूरचन्द्रजी म० स० १९२० फाल्गुन शुक्ला पचमी को सघ द्वारा आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित हुए
आचार्य श्रीकस्तूरचन्द्रजी का जन्म स० १८९८ की फाल्गुन कृष्णा तृतीया को विसलपुर मे हुआ था माता कुन्दनादे और पिता नरसिंह जी थे आचार्य हीराचन्द्रजी द्वारा पाली नगर मे मुनिदीक्षा धारण कर सयम के अग्निपथ पर आप बढते रहे सयम की बाट मे आई अनेक बाधाओ पर साहस पूर्वक विजय प्राप्त की आपका गृहीजीवन ९ वर्ष १ मास और १९ दिन का था—ऐसा स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है मुनि जीवन, ६१ वर्ष ६ माह और २१ दिन का रहा है समग्र जीवनायु ७० वर्ष के लगभग है इस प्रकार दीक्षा का स० १९०७ फलित होता है इन्होने ५ भव्यात्माओ को मुनि-जीवन की दीक्षा प्रदान की थी
आपके द्वारा कोई साहित्य रचा गया या नही, इस विषय मे अभी तक कोई जानकारी प्राप्त नही हो सकी है सम्भव है अपने पूर्व आचार्यो की परम्परा का निर्वाह करते हुए आपने भी कुछ रचनाएँ की हो, जो किन्ही ग्रथागारो मे दबी पडी हो

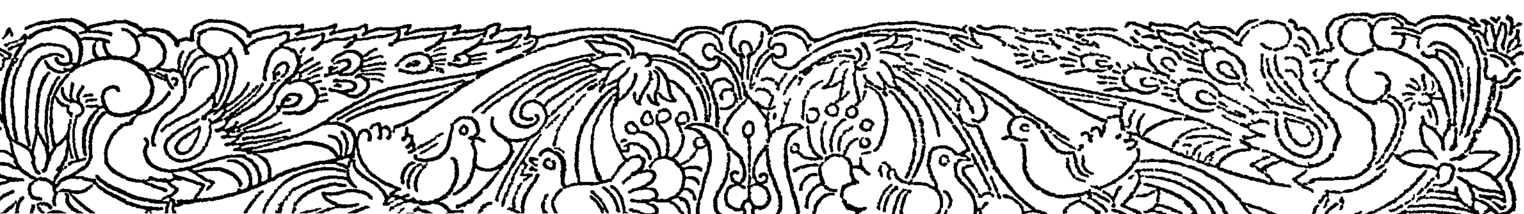
आचार्य श्रीभीखमचन्द्रजी

सातवे आचार्य श्री भीखमचन्द्र जी म० भाद्रपद शुक्ला पूर्णिमा स० १९६० मे आचार्य-पद पर आसीन हुए मारवाड की प्रसिद्ध राजधानी जोधपुर मे आपको आचार्य पद प्रदान किया गया था

आपका जन्म, माता जीवनदे की रत्नकुक्षि से हुआ था पिता का नाम रत्नचन्द्र था, बरलोटा गोत्र के थे मूथाजी के नाम से अधिक प्रख्यात थे आचार्य श्रीकस्तूरचन्द्रजी के द्वारा मुनिदीक्षा ग्रहण की थी. आप जन्मजात वैरागी थे आपने कुमार वय मे ही सयम व्रत स्वीकार कर लिया था आपके दो शिष्य हुये थे श्री कानमल जी अतीव प्रतिभाशाली थे आगे चलकर वे ही आपके उत्तराधिकारी हुये जन्म, आचार्य-पद व स्वर्गवास सवत् से दीक्षा स० का अनुमान किया जा सकता है स० १९६५ की वैशाख कृष्णा पचमी आपका देहोत्सर्ग दिवस है

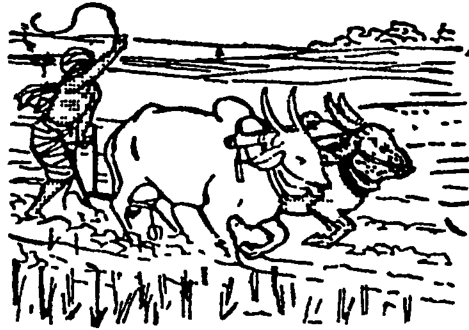
आचार्य श्रीकानमलजी

आचार्य भीखमचन्द्र जी म० के पश्चात् आपके सुयोग्य शिष्य मुनि कानमल जी को स० १९६५ की ज्येष्ठशुक्ला द्वादशी को कुचेरा (कूर्मपुर) मे आचार्य-पद प्रदान कर जयगच्छ का आध्यात्मिक शासन सौपा गया
इनका जन्म स० १९४८ की माघ शुक्ला पूर्णिमा के दिन धवा गाँव मे हुआ था माता तीजादे, पिता अगराजी पारिख थे आचार्य भीखमचन्द्र जी द्वारा १९६२ की कार्तिक शुक्ला अष्टमी को महामदिर (जोधपुर) मे लघु वय मे ही आपने मुनिव्रत स्वीकार किया था २३ वर्ष मुनि जीवन के रूप में व्यतीत किये आपके बारे मे एक विशेष उल्लेखनीय घटना यह है कि सिर्फ तीन वर्ष की दीक्षापर्याय के पश्चात् ही आप आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित हुए इससे ज्ञात होता है कि आप मे असाधारण योग्यता, सयमनिष्ठा और सुशासन की अद्भुत योग्यता थी



ज्ञातव्य

यह है कि आचार्य जयमल जी म० के पट्ट पर आसीन होनेवाले सभी आचार्य अविवाहित थे किसी का वाग्दान होने वाला था तो किसी का वाग्दान हो चुका था और उन्होने मुनि दीक्षा ग्रहण कर ली थी. प्रारभ के तीन आचार्यो के अतिरिक्त सभी आचार्य वाल्यावस्था मे दीक्षित हुए थे ! किस आत्मा मे कितनी तेजस्विता छुपी हुई है, यह उसके वालरूप को देखकर अनुमान करना असभव लगता है आरम्भ मे साधारण प्रतीत होनेवाले इन तेजस्वी सन्तो ने बडी शान के साथ अपनी पावन परम्परा का निर्वाह किया और जिनशासन को जन-जन तक पहुँचाने में महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया है यह इस सम्प्रदाय की अपनी एक मौलिक विशेषता रही है.



विक्रम सवत् १९८५ में आचार्य श्रीकानमल जी महाराज के स्वर्गवास के पश्चात् स० १९८९ मे मारवाड के प्रसिद्ध नगर पाली मे छह सम्प्रदायो के मुनिवरो का एक सम्मेलन आयोजित हुआ. उसमे इस सम्प्रदाय की सुव्यवस्था के लिए श्रद्धेय मुनि श्रीहजारीमल जी महाराज को प्रवर्तक-पद प्रदान किया गया और स्वामी जी श्रीचौथमल जी मत्री पद पर आसीन किये गये. कुछ समय तक यह व्यवस्था चालू रही, किंतु सम्प्रदाय के प्रमुख विचारशील सज्जनो का विचार था कि जब सम्प्रदाय मे विद्वान् मुनिराज विद्यमान है तो फिर आचार्य-पद की रिक्तता की पूर्त्ति क्यो न की जाय ? तदनुसार उनका प्रयास प्रारम्भ हुआ और वि० स० २००४ मे नागौर नगर में श्रमणसघीय प्रान्तमत्री प० र० मुनि श्रीमिश्रीमल जी म० (मधुकर) भारी समारोह के साथ नौवें आचार्य के पद पर प्रतिष्ठित किये गये और श्री आचार्य जसवन्तमल जी म० नाम से अभिहित किये गए. सम्प्रदाय के इतिहास मे सस्कृत-प्राकृत आदि भाषाओ तथा व्याकरण, साहित्य एव दर्शनशास्त्र आदि के विशिष्ट ज्ञाता विद्वान् का नेतृत्व पद पर आना एक नवीन घटना थी. आपके नेतृत्व मे सम्प्रदाय का विशेष उत्कर्ष होगा, ऐसी आशा थी. किंतु परिस्थितियाँ कुछ ऐसी निर्मित हुईं कि आचार्य श्रीजसवन्तमलजी म० की शातिप्रिय एव साधनाशील प्रकृति ने आचार्य-पद पर न रहने का निर्णय किया अनेकानेक सन्तो एव श्रावको के अनुनय-विनय को भी ठुकरा कर आपने पद त्याग कर दिया तत्पश्चात् वही प्रवर्तकपरम्परा पुनः प्रचलित हुई. वि० स० २००९ मे सादडी (मारवाड) मे अखिल भारतीय स्था० मुनियो का वृहत् सम्मेलन हुआ, जिसके सर्वसम्मत निर्णयानुसार अन्य सम्प्रदायों के साथ इस सम्प्रदाय का भी श्रमणसघ मे विलीनीकरण हो गया.

—संपादक



स्वामीजी का वंश-परिचय

स्वामी श्रीबुधमलजी म०

आचार्य श्रीजयमल्लजी म०[1] के ५१ शिष्य होने का उल्लेख मिलता है उनके १६ शिष्यो के नाम भी पाए जाते है स्वामी श्रीगोरधनजी म० आचार्यश्री के ज्येष्ठ शिष्य थे मुनि श्रीरायचन्द्रजी आपके प्रतिभावान् तार्किक व चर्चावादी शिष्य थे आपको सघ द्वारा जयगच्छ का आचार्य पद प्रदान किया गया था आप द्वितीय आचार्य थे अपने समय के ज्योतिस्तभ थे आपके ५ शिष्य हुये प्रधान शिष्य श्रीआसकरणजी थे आचार्य रायचन्द्रजी के वाद आप तीसरे आचार्य हुए आपके १० शिष्य थे श्रीवुधमलजी म० पाचवे शिष्य माने जाते थे

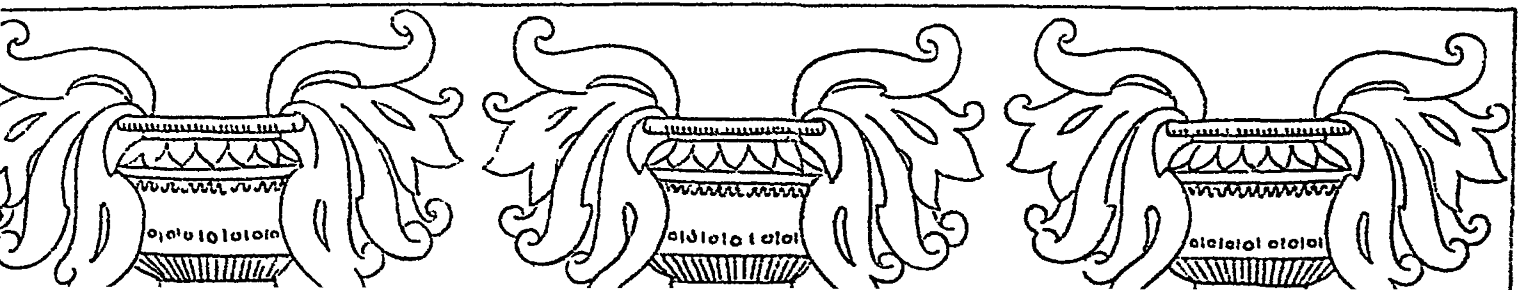
स्वामी श्रीवुधमलजी म० का जन्म जोधपुर समीपस्थ लुणार ग्राम मे हुआ था माता पन्नादे और पिता श्रीकपूरचन्द्रजी थे आपके माता-पिता व स्वय इस प्रकार तीनो ने भागवती दीक्षा धारण की थी आपकी स्तुति व प्रशस्ति मे कवियो ने जो पद्य-रचना की है उसमे आपके माता-पिता और स्वय आपके दीक्षित होने का विस्तार से उल्लेख पाया जाता है आपके ही शिष्य स्वामी श्रीफकीरचन्द्रजी म० के उल्लेखानुसार जोधपुर के राजा मानसिंहजी और नवाव मीरखान मे युद्ध हुआ ग्राम मे जीवन की सुरक्षा मे सन्देह उत्पन्न होने लगा श्रीकपूरचन्द्रजी सपरिवार लुणार से जोधपुर आगये दोनो भूपतियो मे सघर्ष छिडा हुआ था एक दिन मीरखान-पक्ष की ओर से चलाया गया तोप गोला पन्नाजी के बरावर से गुजरा पन्नाजी को शारीरिक हानि तो नही हुई, केवल उनके वस्त्र झुलस गये यह गोला श्रीपन्नाजी के वैराग्य मे निमित्त वन गया जयगच्छीय श्रीगीगाजी साध्वी के पास पन्नाजीने जयपुर मे दीक्षा धारण कर ली श्रीकपूरचन्द्रजी का मन भी निर्वेद मे ढल गया, साथ ही पुत्र का भी

आचार्य श्रीआसकरणजी म० उन दिनो जोधपुर मे विराजमान थे पिता-पुत्र आचार्यश्री की सेवा मे पहुँचे आचार्यश्री ने पिता-पुत्र के वैराग्य-मूलक मन की गहराई नापी और दोनो को स० १८६६ की पौष शुक्ला षष्ठी को महामदिर (जोधपुर) मे दीक्षा प्रदान की

दीक्षानतर स्वामी श्री वुधमलजी ने जैनागमो का अध्ययन किया पहले जैसी परपरा थी तदनुसार जैनागमो व अन्य

---

१. स्वामीजी के वशपरिचय के प्रसग में आ० जयमल्लजी, आ० रायचन्द्रजी, आ० आसकरणजी का परिचय आवश्यक है यह अन्यत्र आचार्य-परपरा में दिया जा चुका है अत. यहा स्वामी वुधमलजी म० से हजारीमलजी तक के अतीत परिवार का परिचय प्रस्तुत किया गया है



ग्रथो को कलापूर्ण ढंग से लिपिवद्ध किया । आपके जीवन की सर्वाधिक विशेषता यह थी कि आप निरतर श्रुतसाधना मे निमग्न रहते थे. जीवन मे सदैव अप्रमत्त भाव की उपासना में लीन रहे एक मिनट भी व्यर्थ खोना आपको इष्ट नही था यही कारण है कि आपके लिखित ग्रथ आज भी विपुल मात्रा में पाए जाते है.

परवर्ती अनेक विद्वान् सन्त-सतियो ने आपके परिचय एव प्रशस्ति के रूप में पद्य-रचना की है—

सुन्दराक्षरसयुक्त-शास्त्र-लेखन-तत्परम् ,
बुधमल्लं-महाराज वन्दे भक्तिपुरस्सरम् ।

आपने ३२ आगमो की अनेक वार प्रतिलिपियाँ मनोयोगपूर्वक की थी आज भी आप द्वारा लिखित ग्रथ स्थान-स्थान पर खोज करने पर पाए जाते है. ज्ञानाराधना में अत्यत निरत रहते हुए आप सयमसाधना में भी आस्थावान् थे. सयम का अत्यत दृढतापूर्वक आपने पालन किया. स० १९२६ वैशाख शुक्ला दशमी के दिन नागौर नगर में विधिवत् सलेखना करके स्वर्गवासी हुये

स्वामी श्रीफकीरचन्द्रजी महाराज

आप स्वामी श्रीबुधमलजी म० के एकमात्र विद्वान् शिष्य थे. आपका जन्म जोधपुर समीपस्थ विसलपुर ग्राम मे हुआ था. माता कुन्दना के अगजात और पिता श्रीनरसिंहदासजी के आत्मज थे, आपके एक छोटे भाई थे जो इसी गच्छ में आचार्य कस्तूरचन्द्रजी म० के नाम से विख्यात थे. पुत्रो और पत्नी को असमय में ही त्याग कर श्रीनरसिंहदासजी स्वर्गवासी हुए. आपके पूरे परिवार ने, जिसमे पत्नी भी सम्मिलित थी, जिन-धर्म की दीक्षा धारण की

स्वामीजी की अध्यवसायशील प्रकृति के वारे में लिखे गये अनेक पदो मे से एक इस प्रकार है—

विनय करी गुरुदेव रिझावी, भण्या अग सारा,
छेद मूल उपांग पइन्ना लिया कंठ—धारा ।
व्याकरण छंद ज्योतिष स्वरोदय और वेद च्यारा,
पुराण कुरान ने डिंगल पिंगल, न्याय नाममाला ।

जैनागमो के अग उपाग आदि का सूक्ष्म मनन किया. आगमो के अतिरिक्त अन्य धर्मो के ग्रन्थो का भी गहन अध्ययन किया. आपका व्याकरण सबधी ज्ञान गभीर मूल्यवान् था आप सस्कृत के उद्भट विद्वान् थे यही कारण है कि आपके पास अन्य सम्प्रदायो के सन्त भी अध्ययन करने मे गौरव का अनुभव करते थे मूर्तिपूजक श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य श्रीविजयानन्दजी सूरि (आत्मारामजी) ने सम्प्रदाय परिवर्त्तन कर लेने के पश्चात् भी आपकी विशिष्ट विद्वत्ता की ख्याति से प्रभावित व आकृष्ट होकर व्याकरण आदि का अध्ययन किया था. सौराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त तपस्वी श्री माणकचन्दजी राजस्थान मे[1] आये और आपके निकट लगभग दो वर्ष तक रहकर व्याकरण आदि का अध्ययन करते रहे. तपस्वी श्रीमाणकचन्द्रजी म० के गुर्जर भाषा मे प्रकाशित बृहद् जीवन-चरित्र में स्वामी श्रीफकीरचन्द्रजी म० की अद्वितीय विद्वत्ता के वारे मे पर्याप्त विस्तार से उल्लेख किया गया है

आप प्रखर तार्किक और उद्भट चर्चावादी भी थे. किंतु आपकी तत्त्वचर्चा कभी मनोमालिन्य का कारण नही वनी. तत्त्व-चर्चा, तर्क और प्रमाणो के आधार पर वडी कुशल व तर्कसगत करते थे तेरापथी (जैनो की एक उपशाखा) सम्प्रदाय के मुनियो के साथ भी आपने तत्त्वचर्चा अपने समय मे की थी. तेरापथियो के गढ लाडनू में वर्षावास करना प्रवल

१. किशनगढ आदि स्थानों में



प्रभाव, उन जैसे सयमशील और प्रकाण्ड पण्डित और तत्त्वज्ञानी के लिए ही सभव था आपका लाडनू-चार्तुमास धर्म-प्रभावना की दृष्टि से वडा सफल रहा अनेक भाइयो और वाइयो को दया-दान का उपदेश देकर जिनाज्ञामूलक सन्मार्ग प्रदर्शित किया आपके पश्चात् ही पूज्य श्रीजवाहरलालजी म० को इस क्षेत्र मे सफलता का गौरव प्राप्त हुआ था.

उस युग के असाधारण प्रतिभाशाली इन विद्वान् सतशिरोमणि ने चैत्र कृष्णा त्रयोदशी के दिन समाधिमरणपूर्वक व्यावर नगर मे देहोत्सर्ग किया

स्वामी श्रीजोरावरमलजी म०

आप स्वामी श्रीफकीरचन्द्रजी म० के सबसे छोटे प्रतिभावान शिष्य थे. आपका जन्म सिहु (जोधपुर) की पवित्र धरती पर विक्रम सवत् १९३६ की वैशाख शुक्ला तृतीया के दिन माता मगना बाई की रत्नकुक्षि से हुआ था आप श्रीरिद्ध-करणजी के आत्मज थे स० १९४४ की अक्षयतृतीया के शुभ मुहूर्त मे स्वामी श्रीफकीरचन्द्रजी के द्वारा मुनिदीक्षा ग्रहण की थी आपकी यह दीक्षा जयगच्छीय परपरा के गौरवशाली नगर नागौर मे हुई

दीक्षाग्रहणोपरात सस्कृत व्याकरण, आगम, टीका चूर्णि, छन्द शास्त्र, ज्योतिष और न्यायशास्त्र का गहन अध्ययन किया अध्ययन के साथ-साथ सूक्ष्म चितन करना आपके जीवन की एक उल्लेखनीय विशेषता थी प्रबुद्ध एव गभीर चितन का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि सम्प्रदाय मे रहते हुए भी आपके विचारो मे विराटता आगई और आप समन्वयवादी हो गये आपको लगा कि सब धर्मो का लक्ष्य एक ही है आपके जीवन मे समन्वयवृत्ति के महत्त्वपूर्ण कार्यो की एक लम्बी सूची जुडी हुई है सामाजिक क्षेत्र मे मानव के सर्वागीण विकास पर सोचना और उसे कार्यरूप मे परिणत करना ही अन्त मे आपने अपने लोकहित का मूलाधार बना लिया था।

आपने कुचेरा डेह नागौर आदि क्षेत्रो मे हरिजनो के सम्मान का प्रभावशाली आन्दोलन प्रारम्भ किया था स० १९९५ का प्रसग उल्लेख्य है साधारणतया सर्वत्र ही हरिजनो को जूठन देने की परपरा है स्वामीजी को यह व्यवहार मानवजाति का घोर अपमान प्रतीत हुआ उन्होने कुचेरा, नागौर डेह आदि क्षेत्रो मे हरिजनो के सम्मान का प्रभावशाली आन्दोलन प्रारम्भ किया सर्वप्रथम कुचेरा मे अनुदिन के प्रवचनो मे इसका विरोध किया निरन्तर के प्रवचनो के परिणामस्वरूप कुचेरा के जैन बन्धुओ ने हरिजनो को झूठा भोजन न देने की प्रतिज्ञा की साथ ही उन्हे शुद्ध भोजन अमुक परिमाण मे देने का भी निश्चय किया इसके बाद मे जहाँ कही भी आप पधारे सर्वत्र इस बुराई के उन्मूलन के लिये प्रयत्नशील रहे

मुनिश्री द्वारा किये गये अन्त्यजोद्धार के कार्य की उलटी प्रतिक्रिया हुई हरिजन-बन्धु मुनिश्री के पास आये और वोले—'महाराज, आपने यह क्या किया ? पहले हमे अधिक मात्रा मे भोजन प्राप्त होता था और अव सीमित ही मिलता है आपका यह सुधार हमारे किस काम आया ?'

स्वामीजी म० ने हरिजन-बन्धुओ की बात सुनी और विचारो मे गहरे उतर गए.—'मनुष्य कितना हीन भावो मे डूब जाता है उसे अपने मानवीय महत्त्व का भी भान नही रहता है सच है, दासता मनुष्य के शरीर पर ही नही, मन, वाणी और आत्मा पर भी छा जाती है जब और जिन परिस्थितियो मे इस प्रथा का प्रारम्भ हुआ होगा उस समय अवश्य इन लोगो के मन मे यह चुभा होगा कि हमे उच्छिष्ट भोजन दिया जाता है धीरे-धीरे वे विचार मर गये दासता और दीनता इनके दिमाग पर आज किस कदर सवार हो गई है कि शुद्ध भोजन मिल रहा है तो भी उच्छिष्ट भोजन के विना इन्हे सन्तोष नही मिल रहा है दैन्य कितना बडा पाप है वह मानव को अपना मूल्य और महत्त्व भी नही आँकने देता है आज उन्ही के हित की बात मे उन्हे हानि दिखाई दे रही है '

मुनिश्री ने आगत हरिजन-बन्धुओ को समझाया—'मनुष्य-मनुष्य सब समान है. वर्णविभाजन का उद्देश्य समाज की सुव्यवस्था था सुव्यवस्था करने मे जिसके हिस्से मे जो कार्य आता है, उसे वह कार्य करना होता है आप लोग सेवा-



कार्य करने लगे, किन्तु धीरे-धीरे समाज से अलग हो गये. आज स्थिति यह कि आप उच्छिष्ट भोजन के आधिक्य को महत्त्व देने लगे और अपने स्वाभिमान को भुला वैठे. आप समझते है कि मैने आपको घाटे मे डाल दिया है, पर यह मत समझना कि आपके अधिकार छिनवाने का प्रयत्न किया है अगर आप लोग ऐसा समझते है तो यह गलत है. मै चाहता हूँ कि आपका सुपुप्त स्वाभिमान जाग्रत हो आपकी मानवता ऊँची उठे और आप अपने को कुलीन कहे जाने वालो की कोटि मे ही अनुभव करे स्वच्छ भोजन प्राप्त करना आपका स्वाभाविक अधिकार है. आपको यह अधिकार प्राप्त करना ही चाहिये हरिजन-बन्धुओ के गले बात उतर गई. स्वामीजी द्वारा मानव अधिकार की व्याख्या से वे अत्यधिक प्रभावित हुये

कुचेरा के समीप ही डेह ग्राम मे भी स्वामीजी ने उक्त आन्दोलन को उसी समय चलाया और सफलता प्राप्त की । यह प्रसग पचास वर्ष से भी अधिक पूर्व का है । आचार्य श्रीजवाहरलाल जी म० ने भी इस आन्दोलन को आगे बढाने का प्रयास किया

स्वामीजी म० के गुरुदेव जब तक रहे तब तक आपने अपने को सर्वतोभावेन उनके चरणो मे अर्पित किये रखा. आपने मन मे यह निश्चय कर रखा था कि गुरु म० जब तक विद्यमान है तब तक उनकी सेवा और अध्ययन ही मेरा प्रधान कार्य रहेगा गुरु म० के स्वर्गवास के पश्चात् आपने राजस्थान के लगभग छोटे-बडे सभी गाँवो मे धर्म-प्रचार किया सर्वत्र सामाजिक कुरीतियो के उन्मूलन का दिव्य सदेश दिया आपने अपने प्रवचनों मे समन्वय के स्वर को सर्वाधिक मुखरित किया. राजस्थान के ठाकुरो, राजाओ और जागीरदारो मे आपका धर्मगुरु के रूप में पर्याप्त प्रभाव था उन्हे मास, मदिरा, जुवा और शिकार जैसे क्रूर कर्मो से उपरत कर उनमे मानवीय सवेदना की अनुभूतियो को जाग्रत किया । जागीरदारो से शिकार छुडवाने की दिशा मे आपको अद्वितीय सफलता मिली । इस दिशा मे मारवाड के 'हरसौलाव' के ठाकुर, रजलानी के महाराजा आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है.

स्वामीजी म० के सयमीय जीवन पर दृष्टिपात करने पर पता चलता है कि वे कितने बडे धीर, वीर, तपस्वी थे. ब्रह्मचर्य का दिव्य तेज उनके भाल पर प्रतिबिम्बित था स्वीकृत प्रतिज्ञाओ को दृढतापूर्वक स्वय पालन करते थे और अपने अधीनस्थ मुनियो को भी समय-समय पर प्रतिबोधित करते रहते थे स्वय जिस सम्प्रदाय मे रहे उस सम्प्रदाय के नियमो के पालन मे वडे वफादार सैनिक की तरह सजग रहे अन्य सम्प्रदाय से सम्बन्धित व्यक्ति को अपने सम्प्रदाय की ओर आकर्पित कर स्व-सम्प्रदाय की अभिवृद्धि करना अभीष्ट नही था. जैसा कि सर्वत्र होता रहा है ! होता आया है । इस सबध मे उनका स्पष्ट अभिमत था कि—जहाँ हो, वही रहो नैतिक बनो, धर्म के निकट रहो नियमित रूप से धर्मक्रिया करो कही करो, करो धर्मात्मा बनने के लिये सम्प्रदाय बदलने की नही, हृदय-परिवर्तन की आवश्यकता है'

आपके नाम के व्याख्यामय मुनिजीवन का लक्षण एक कवि ने किया है जैन जगत् मे व विशेषत जयगच्छ मे निम्न कवित्त बहुत प्रसिद्ध है

जो रति-नायक जीति करे, जो रन संजम जोर लगावे ।
जो रत प्रीति जिनेश्वर के पद, जो रत्न-त्रय यत्न करावे ।
जो रमतो रह आतम-ज्ञान में, जो रसना शिव-मार्ग बतावे ।
जो रत होय रटे प्रभु-जाप ही 'जोर' मुनीश्वर सो ही कहावे ।

स्वामी जी म० ने भवाल-मारवाड मे स० १९८६ के वर्प मे सल्लेखना पूर्वक समाधिमरण प्राप्त कर जिनधर्म की शाश्वत सलेखना की परम्परा मे मृत्यु को चुनौती दी और कालधर्म की उपलब्धि की.

स्वामी श्रीब्रजलालजी म०

आप स्वामी श्रीजोरावरमलजी म० के मॅझले शिष्य है जन्म-स्थान तिंवरी (मारवाड़) । स० १९५८ की वसंत

पचमी के दिन माता चम्पादेवी की पुण्यकुक्षि से जन्म हुआ श्रीअमोलकचन्द्रजी श्रीश्रीमाल को आपके पिता होने का गौरव प्राप्त हुआ वैशाख शुक्ला द्वादशी विक्रम स० १६७१ के दिन स्वामी श्रीजोरावरमलजी से आपने व्यावर मे दीक्षा अगीकार की

गुरु ने शिष्य को अपना विद्यावैभव प्रदान किया शिष्य ने गुरु की अपूर्व निष्ठापूर्वक सेवा की गुरु के आदेश-निर्देश से एक इच भी इधर-उधर होना आपके सेवापरायण मन ने कभी स्वीकार नही किया गुरु म० के समक्ष जैसी सयमनिष्ठा थी वैसी ही निष्ठा आज तक विद्यमान है दीक्षा के वाद आज तक सयम मे पराक्रम दिखाते हुये, साधुता की मस्ती का आनन्दोपभोग करते हुये, सयमशील जीवन की नैया को कर्त्तव्यशील माझी की तरह खेते चले जा रहे हैं आपको दीक्षा धारण किये ५० वर्ष से भी अधिक समय व्यतीत हो गया है इस वीच अल्हड जवानी आई, और गई परन्तु सयम मे हिमालय-सी अचलता, समुद्र-सी गम्भीरता और इस्पात-सी कठोरता जैसी प्रारम्भ मे रही वैसी ही आज भी विद्यमान है

थोकडो का ज्ञान आपका अद्भुत है. कितने ग्रथो का ज्ञान प्राप्त किया या किसी ने कितने ग्रथ पढ लिये, इस वात को आपने कभी महत्त्व नही दिया आपने सदैव एक ही सिद्धात को अपने जीवन का आदि, मध्य और अन्त का केन्द्र माना है कि जो हम पढते है, समझते हैं वह हमारे जीवन को कितना स्पर्श कर पाया है यही कारण है कि आपने पढ-पढकर पठित ग्रथो की सख्या वढाने मे कभी विश्वास नहीं किया, जो पढा उसे जीवन की प्रयोगशाला मे ढाला है.

आपके जीवन की सर्वाधिक विशेषता है—सेवा सेवा को आपने साधुता का शृगार माना है इसलिए आप सेवाव्रती के रूप मे साधु समाज मे विख्यात हैं सेवा परम धर्म है यह धर्म, योगियो की योगसाधना मे भी दुष्कर है, क्योकि इसके पालन करने मे अपनी मनोवृत्तियो का दृढतापूर्वक दमन करना पडता है मन पर विजय प्राप्त करने वाला ही सेवा-जैसे महान् गुण को जीवन मे साकार कर पाता है भर्तृहरि ने भी कहा है—'सेवाधर्म परमगहनो योगिनामप्यगम्य' गुरु की सेवा करना उतना प्रशसनीय नही है जितना प्रशसनीय है प्रत्येक छोटे-वडे सन्त की सेवा करना गुरु की सेवा समाज मे सम्मान पाने एव गुरु का प्रिय वनने को भी मनुष्य कर लेता है किन्तु आप समान भाव से छोटे-वडे सभी मुनियो की सेवा कर अपूर्व प्रसन्नता का अनुभव करते हैं अपने उपकारी के प्रति विनम्र भाव से सेवकत्व जतलाना एक वात है और आकाक्षा रहित होकर गुणी जनो की सेवा मे प्रवृत्त रहना जीवन की दुष्प्राप्य सिद्धि है आपकी पुनीत सेवावृत्ति के परिणामस्वरूप ही मैं (मधुकर मुनि) साधु जीवन मे एकदम निर्द्वन्द्व और निश्चिन्त रह कर एकाग्रभाव से अध्ययन मे तत्पर रह सका वस्तुत: मेरे जीवन के निर्माण मे स्वामीजी म० की अनुग्रहपूर्ण सद्भावना एक प्रधान कारण रही है, गुरुदेव श्रीजोरावरमलजी महाराज की और फिर स्वामी श्रीहजारीमल जी म० की सेवा के अवसरो को आप स्वय ओट आ लेते और मुझे सदैव ज्ञान-ध्यान करते रहने की प्रेरणा प्रदान करते रहे जीवन के ६३ वर्ष पूर्ण कर चुकने पर भी आप मे आज भी सन्तो की सेवा के प्रति वही तीव्र वेग है
आपके भाल पर ब्रह्मचर्य का तेज आज भी देदीप्यमान है आप अपनी धुन के धनी हैं आपमे साधुता की सहज मस्ती है श्रावक समाज पर आपका प्रभाव पर्याप्तमात्रा मे विद्यमान है

स्वामीजी म० के स्वर्गवास के वाद आपका स्वास्थ्य ठीक नही रहता है तथापि आपकी वाणी मे जो कडक है उसके पीछे विशुद्ध साधुत्व का वल वोलता दिखाई देता है आपने सौन्दर्यात्मक लेखन मे खूब प्रगति की है वर्तमान मे आपका जैनलिपि (प्राचीनशास्त्रो की पडीमात्रा लिपि) मे सुन्दर लेखन साधु-समाज मे प्रसिद्ध है

मुनि मिश्रीमल 'मधुकर'

(स्वामीजी म० के वर्तमान परिवार का परिचय यहाँ दिया जा रहा है मै भी उसका एक सदस्य हूँ इसी नाते निम्नलिखित पक्तियाँ लिखने की विवशता है—स्वय अपने वारे मे)
जन्म, तिंवरी स० १६७० मे माता तुलसा जी पिता जमनालालजी धाडीवाल गुरुदेव श्रीजोरावरमल जी म० की कृपा



हुई स० १६८० मे भिनाय (मेरवाडा) मे वैशाख शुक्ला दशमी को दीक्षा सम्पन्न हुई. जीवन को एक नई दिशा मिली.

दीक्षा के पश्चात्, सस्कृत प्राकृत आदि भाषाओ का और व्याकरण, साहित्य, धर्म एव दर्शन आदि विविध विषयो का अध्ययन किया सौभाग्य से ऐसे समर्थ विद्वान् गुरुदेव का सान्निध्य प्राप्त हुआ जो ज्ञान के महत्त्व से भली भाँति परिचित थे और जो अपने जीवन मे ज्ञान की ज्योति स्वय प्राप्त कर सके थे उन्होने अध्ययन की प्रेरणा दी समुचित व्यवस्था की गुरुदेव के देहोत्सर्ग के पश्चात् स्वामी श्रीहजारीमलजी म० की छत्र-छाया मे आया आपने भी गुरु का प्यार दिया और पथप्रदर्शन किया प्राकृत भापा के उद्भट विद्वान् प० बेचरदास दोशी को भी अध्यापन के निमित्त बुलाया गया बगाल सस्कृत साहित्य-परिषद् की न्यायतीर्थ और काव्यतीर्थ आदि परीक्षाएँ उत्तीर्ण की साहित्यिक जीवन मे प्रवेश हुआ सर्वप्रथम श्रमण भगवान् महावीर की धर्मदेशनाओ का सकलन किया[1]. जयवाणी आदि ग्रथो के सपादन का भी सुअवसर मिला इसके पश्चात् अन्य सन्त कवियो की रचनाओ का अनेक वर्षो तक अन्वेषण करके रायरचना और आसकरण-पदावली का सम्पादन किया सस्कृत तथा हिन्दी भापा मे अनेक प्रकीर्णक रचनाएँ की है जो विभिन्न सग्रहो और पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित हो चुकी है.

मुनि श्रीमाँगीलालजी

आप स्वामी श्रीहजारीमलजी म० के ज्येष्ठ शिष्य थे आपने ढलती उम्र में स्वामी म० द्वारा वि० स० १९९४ मार्गशीर्ष कृष्णा एकादशी को नौखा ग्राम मे दीक्षा ग्रहण की थी आपका जन्म भाद्रपद शुक्ला दशमी को दादिया (किशनगढ) मे हुआ था माता का नाम पुष्पादेवी और पिता का नाम हजारीमलजी तातेड था.

आपका प्रारम्भ से ही धर्म के प्रति रुझान था. सात्विक भाव का बीजारोपण बचपन से ही हो गया था परम विदुपी महासती श्रीउमरावकुँवरजी म० आपकी ही सुपुत्री है, जिन्होने स्वामीजी म० की परम्परा मे दीक्षा ग्रहण की है. पुत्री की दीक्षा ने आपको सयम-जीवन की ओर मोड़ दिया आप वृद्ध होते हुए भी तपस्या करते रहे रसनाविजय के लिए एक उदाहरण स्वरूप सन्त हुए आपने तीन वर्ष के लगभग ब्यावर में स्थिरवास किया. अत में स० २०१३ श्रावण कृष्णा दशमी को स्वर्गगमन किया.

तपस्वी श्रीमोहनमुनिजी

आप स्वामी म० के द्वितीय शिष्य है. आपका जन्म मेवाड के शाहपुरा नगर मे हुआ था. माता गुलाबबाई और पिता माँगीलालजी पारख थे स्वामीजी से महामदिर (जोधपुर) मे दीक्षा धारण की थी. दीक्षा के थोड़े समय पश्चात् ही तपश्चरण प्रारम्भ कर दिया था आज भी आपकी तपश्चर्या का क्रम चलता ही रहता है उग्र विहारी मुनियो में आप विशेप उल्लेखनीय माने जाते है.

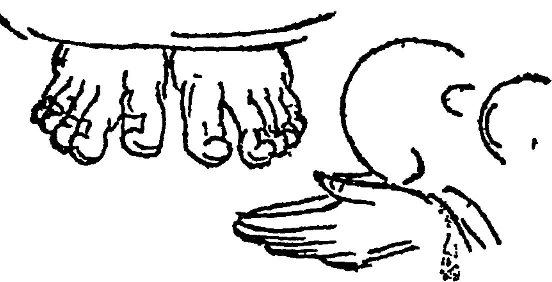
श्रीसोहनमुनिजी

आप श्रीमोहनमुनिजी के शिष्य है. सासारिक दृष्टि से आपके सहोदर लघुभ्राता भी है आपने श्रीमोहनमुनिजी से इन्दौर मे मार्गशीर्ष नवमी स० २०१८ मे दीक्षा ग्रहण की अध्ययन और सेवा मे आपकी विशेष अभिरुचि है सब सन्तो की आपके साथ पूरी सद्भावना है कि आप अपने इस उद्देश्य मे आगे बढें आपको भी पूरी लगन है भविष्य मे इसका सुन्दर परिणाम देखने को समाज उत्सुक है.

---

१. धर्मपथ, जागरण आदि





जयगच्छीय विशिष्ट संत

आचार्यश्री जयमलजी महाराज की सन्तपरम्परा वैचारिक और आचारिक मामलो मे अपना विशिष्ट महत्त्व रखती है इस परम्परा मे होने वाले आचार्य और विशिष्ट सन्तो मे भूल से ही कोई ऐसा सन्त रहा होगा, जिसने साहित्य-मुक्ताओ मे चचुप्रवेश न किया हो

प्रत्येक युग की एक सीमा होती है जयगच्छीय सन्तो ने माता सरस्वती के ज्ञानमदिर मे श्रद्धा और भक्ति के पद्यपुष्पो की मालाएँ अत्यत विनीत भाव से समर्पित की है माता सरस्वती को पुष्पमाला अर्पित करने पर भी समुचित अनुसधान के अभाव मे वे इतिहास के पृष्ठो पर अकित न हो सके, प्रकाशित न हो सके, ख्याति और यश के निकष पर चढाए न गए

परन्तु राजस्थान के प्राचीन ज्ञानागारो की खोज करने पर उनकी कृतियाँ रत्न की तरह चमकती दीख रही हैं यह अन्वेपको की पैनी दृष्टि का सत्य है साहित्य के कालविभाजन के अनुसार एक युग का नाम भक्तियुग है भक्तियुग मे आत्मविज्ञापन से दूर रहने का एक प्रवाह चल पडा था परिणामस्वरूप उस काल मे सन्त-भक्त कवियो ने अनत सत्ता के प्रति पद्य-पुष्पाजलियाँ अर्पित की परन्तु अपना एक निश्चित लक्ष्य निर्धारित कर रखा था कि जो रचनाएँ की जाएँ वे ख्याति के लिये नही अपितु स्वात सुखाय ही की जाएँ भक्तियुग अठारहवी सदी से कुछ अधिक दशको तक माना जाता है

जयगच्छ मे होनेवाले परवर्ती सभी सन्त भक्तियुग मे हुए हैं स्वय ने आनन्दानुभूति करके अपनी रचनाओ को जब जहा अवसर मिला वहाँ के भण्डारो मे रख दी कभी यह नही सोचा कि इनका प्रचार-प्रसार हो इनके प्रचार-प्रसार के साथ हमारा नाम हो आचार्य श्रीजयमलजी महाराज एक विशिष्ट चिन्तक और साहित्यकार सन्त थे. वे सन्तपरम्परा का निर्वाह करने वाले सबल और सूक्ष्म साहित्यकार थे उनके साहित्य ने उनके पश्चाद्वर्ती सन्तो को इस दिशा मे बढने के लिये उत्प्रेरित किया था बहुत से ऐसे सन्त उनकी साहित्यिक परम्परा को निभानेवाले हुए परन्तु आज उनकी रचनाएँ अत्यल्प मात्रा मे ही पाई जाती हैं

जयगच्छ मे कुछ अन्वेषणप्रिय सत हुए और है जिन्होने उनकी कृतियो की खोज की है उन्हे इस परम्परा के सन्तो की अनेकानेक कृतिया मिली है 'मुनि श्रीहजारीमल स्मृतिग्रथ' मे जयगच्छ के उन समस्त विशिष्ट सन्तो का हम परिचय देना चाहते थे परन्तु दुर्दैवविपाक ही समझिये कि जिन सन्तो के पास इस सम्बन्ध की सामग्री है, प्रयत्न करने पर भी हमे वह उपलब्ध न हो सकी यदि वह सामग्री किसी पृथक् ग्रथ के रूप मे प्रकाश मे आए तो हम उनका अभिनन्दन करेगे
जयगच्छ के जिन महामनीषी मुनियो का परिचय दिया जा चुका है उनके अतिरिक्त कतिपय विशिष्ट सन्तो का भी परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जाता है, जो इस प्रकार है—

(१) स्वामी श्रीशोभाचन्द्रजी महाराज (२) स्वामी श्रीहरखचन्द्रजी महाराज (३) स्वामी श्रीचौथमलजी महाराज
(४) स्वामी श्रीवक्तावरमलजी महाराज (५) स्वामी श्रीचैनमलजी महाराज (६) स्वामी श्रीरावतमलजी महाराज



श्रीशोभाचन्द्रजी म०

जन्म चिचडनी (जोधपुर) स० १९१७ पिता श्रीजीतमलजी माता धुराबाई की रत्नकुक्षि से जन्म ग्रहण किया. हृदय की सुकोमल भूमि मे बचपन से वीतराग वाणी का पानी साधु-सन्तो द्वारा पडता रहा फलस्वरूप धर्म का बीज अकुरित हुआ जनक-जननी से भागवती दीक्षा धारण की अनुमति ग्रहण कर स० १९२६ की भाद्रपद शुक्ला पूर्णिमा के दिन पाली (राजस्थान) क्षेत्र मे आचार्य हीराचन्द्रजी म० का शिष्यत्व स्वीकार किया

ज्ञानाराधना की. यौवन आया, चुप-चाप चला गया ज्ञान की अखड लौ से आपने अपने जीवन-पथ मे प्रकाश पाया चारित्र की कठोर साधना, स्वाध्याय, त्याग और तप की अखड आराधना के फलस्वरूप आपका स्वभाव अत्यन्त नम्र बना. जिज्ञासा वेगवती हुई स्व और पर सन्त परिवार की भेदक दीवारो को लाघ कर सब से स्नेह व सौजन्यपूर्ण व्यवहार करना—उस समय के सन्तो मे आपमे विशेष रूप से पाया जाता था

आप के स्वभाव के आकर्षण ने तीन भव्यात्माओ को जिनधर्म की दीक्षा धारण की बलवती प्रेरणा प्रदान की. **मुनि श्रीचौथमलजी म०, नरसिंहजी म० व श्रीमूल मुनिजी म०.**

वैशिष्ट्य

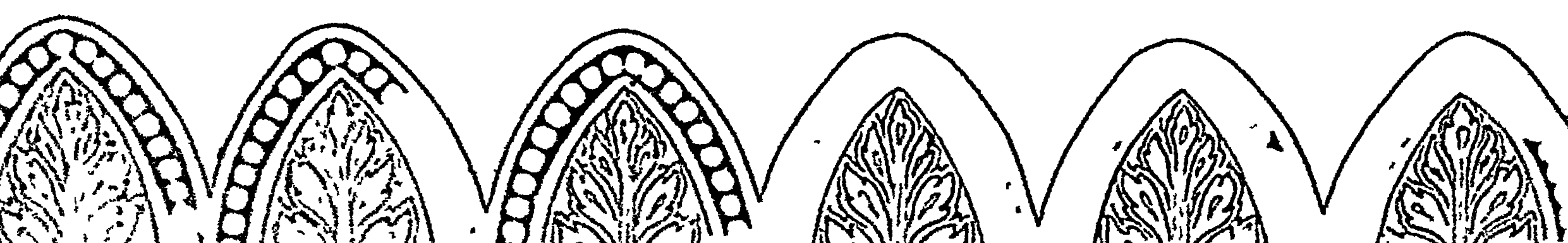
जिनके जीवन मे हिमालय-सा उन्नत लक्ष्य व उद्देश्य होता है वह व्यक्ति परिवार की सीमाओ मे बँधकर कभी नही रहता है सन्त परिवार की दृष्टि से आपका मुनि हजारीमलजी म० के दादा गुरु श्रीफकीरचन्द्रजी म० एव गुरु श्रीजोरावरमलजी म० से निकट सम्बन्ध नही था तथापि आचार्य श्रीजयमलजी म० के पश्चाद्वर्ती बने जयगच्छ के नाम की मुद्रा सम्प्रदाय के तीनो मुनियो के पीछे लगी होने के कारण उनका सम्बन्ध एक परिवार के सन्तो के समान ही था

युग और समय के अनदेखे प्रभाव बडे विचित्र होते है. काल का चक्र बीतता जा रहा है. आज कालचक्र का वह पहलू हमारे सामने है कि जिसमे शोभाचन्द्रजी म० के सन्तपरिवार मे से कोई भी दृष्टिपथ नही हो रहा है परन्तु उनका शिष्य एक भी न होने पर भी यह नि सकोच कहा जा सकता है कि उनका सन्तपरिवार है स्वामी श्रीजोरावरमलजी म० उनके स्नेही समकालीन थे अत उनका सन्त या शिष्य न होने पर भी जोरावरमलजी म० के शिष्यो का सन्तपरिवार विद्यमान है अत वह उनका ही शिष्य परिवार है जोरावरमलजी म० का जब तक सन्तपरिवार है यह गौरवपूर्वक कहा जा सकता है कि श्रीजोरावरमलजी का सन्तपरिवार उनका भी परिवार है.

स्वामी श्रीहरखचन्द्रजी म०

सन्तजीवन भारतीय धर्मशास्त्रो मे अत्यन्त पवित्र माना गया है वह इसलिये कि दुनिया के छल-प्रपच व मायाजाल से उसने अपने आपको परिमुक्त कर लिया है मानव अपने स्वार्थ व लाभवश इस प्रकार के बन्धनो मे जकडा-पकडा हुआ पाया जाता है कि प्रयत्न करने पर भी वह इस बधन से मुक्त होने मे अपने आपको दुर्बल अनुभव करता है अत सामान्यत मनुष्य मे दुर्बलता सहज है बस यही भाव सन्त-जीवन की ओर मनुष्य को आकर्षित करता है

मुनिश्री हरखचन्द्रजी म० के प्रति जन-जन की सहज श्रद्धा थी. इसका कारण यह था कि वे सासारिक बन्धनो से मुक्त होकर अनन्त आकाश और विशाल धरती पर धर्म का छत्र धारण कर चुके थे. वाणी के वे जादूगर बन चुके थे भगवान् महावीर अपनी धर्मदेशनाओ मे स्थान-स्थान पर साधको को सत्य का छोर थमाते हुये कह गये—साधको, थोडा बोलो, स्वल्प बोलो. अधिक बोलने पर अधिक प्रवृत्तिमय जीवन होगा. प्रवृत्ति, निवृत्तिमूलक वीतराग धर्म मे बाधा उपस्थित करती है. महावीर की यह धर्मदेशना उनके जीवन मे साकार हो गई थी अत उनके श्रीमुख से कहा गया प्रत्येक सहज वचन सत्य प्रमाणित होता था यही कारण है कि उनका स्वर्गवास हुये आज अर्ध शताब्दी से भी अधिक समय व्यतीत हो गया है, फिर भी उनके चारित्रिक जीवन पर आज भी श्रद्धालुओ की विपुल मात्रा मे अखड श्रद्धा पाई जाती है.



उन्होने जिसको जो कह दिया वह वैसा ही हो गया, यदि किसी को यह कहा कि व्यापार मे लाभ होगा तो वह निहाल हो गया. यही कारण है कि आज भी उनके स्वर्गवास स्थान पर सच्चे मन से खडे होकर अगर कोई यह सोचता है कि मेरा यह कार्य हो जाना चाहिये तो वह हो जाता है सक्षेप मे उनकी वाणी से कहा गया प्रत्येक वचन जन-जन के लिये वरदान साबित होता था वचनसिद्ध महात्मा पुरुष के रूप मे वे अपने समय में बहुत प्रख्यात हुए.

आपका जन्म सेठो की रीया मे स० १८८२ कार्तिक शुक्ला ६ मे हुआ था माता-पिता का नाम क्रमश श्रीनथमलजी भडारी और पाना बाई था आपने पूज्य श्रीकुशालचन्द्रजी म० द्वारा विक्रम स० १८६१ मे अपने जन्मस्थान रीया मे ही दीक्षा ग्रहण की थी विक्रम स० १६३६ वैसाख कृष्णा एकादशी को कुचामण मे नश्वर देह का परित्याग कर अपने सयमीय जीवन का अन्तिम काम्य प्राप्त किया था

स्वामी श्रीचौथमलजी म०

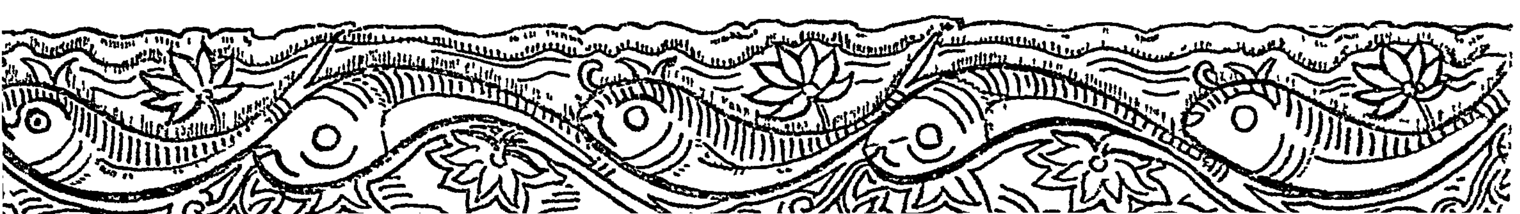
स्वामीजी की परिचय रेखा मे उनको सीमित या अकित करना असभव है वे नये युग की उजली रेखा को कल्पना की आखो से भविष्यद्दृष्टा की तरह देखते थे वे पुराने युग के सन्त कहलाते थे साधुत्व की मर्यादा और सीमा रेखा मे खडे रहकर भी भविष्य मे समाज को किस प्रकार के विचार-आचार का प्रतिपादन प्रिय होगा, इसके उन्होने बखूबी अपनी पद्य-रचनाओ मे सकेत दिये है वे सुधारक भी प्रथम कोटि के थे. जडता या विचारशून्यता उन्हे कतई पसन्द नही थी साधु समाज को भी उन्होने पर्याप्त सतर्क और सबल सुधारात्मक विचार दिये मारवाड प्रात के अत्यत निर्भीक सन्त थे अपनी बात को सचोट शब्दो मे कहना उनका स्वभाव था उन्होने साधुसमाज के सामने सबसे पहले यह विचार प्रस्तुत किये कि निवृत्तिप्रधान जैनमुनि आज जो काष्ठ के पात्र ग्रहण करते है, वे मकान और पानी उन्हे गिर्दोष नही मिलते है जब उन्होने ये और इस प्रकार के सतर्क अन्य विचार प्रस्तुत किये तो साधु समाज मे काफी चर्चा रही पर उनके सटीक प्रश्न का किसी के पास कोई उत्तर नही था तब से साधु समाज मे एक विचारधारा इस श्रेणी की भी बनी जो स्वामीजी के विचारो का समर्थन करती है ये विचार उन्होने प्रवचन-मच से तो सैकडो बार उपस्थित किये ही परन्तु अपने उन विचारो को कविता की कडी मे पिरोकर भी उपस्थित किये वे सुधारात्मक गीत आज भी विद्यमान है वैसे आपका कवित्वबल जागृत और प्राणवान था भक्तिप्रधान तत्त्वप्रधान सुधारप्रधान और कथाचरित प्रधान रचनाए की उनके निकटवर्ती स्वामी श्रीचादमलजी, श्रीजीतमलजी, बख्तावरमलजी, लालचदजी आदि ने प्रकाशित भी करावे हैं कुछ पुस्तके विभिन्न नामो से उनके जीवनकाल मे भी प्रकाशित हो चुकी हैं

सस्कृत और प्राकृत भाषा के बल पर जैनागमो का गभीर अध्ययन और चिंतन किया

प्रवचनपद्धति श्रवणसुखद थी भाषा का माध्यम राजस्थानी था क्योकि राजस्थान का समूचा क्षेत्रफल उनका विहार क्षेत्र था सगठन की ओर उनका सर्वाधिक लक्ष्य था अलग-अलग सम्प्रदायो मे साधुओ का बँटे रहना उन्हे तनिक भी पसन्द नही था व्यक्तिश उन्होने सगठनो के लिये समय-समय पर विपुल प्रयत्न किये थे. वे मानते थे कि महावीर के उत्तराधिकारियो की शक्ति विकेन्द्रित हो रही है इसका केन्द्रीकरण होना नितान्त आवश्यक है यह युग सगठन का युग है सगठित होकर ही हम लोग नैतिक अभियान छेडकर जन-जनें मे नैतिकता की पूजा प्रतिष्ठा कर सकते हैं

स० २००६ मे सादडी मे मुनियो का अखिल भारतीय स्तर पर सम्मेलन होने की घोषणा सुनी चर्चा, सुनी तो उनके मनका कोना-कोना प्रसन्नता, से परिव्याप्त हो गया था यद्यपि वे शारीरिक अवस्थावश उस सम्मेलन मे शरीक नही हो सके थे परन्तु अपने साथी मुनि श्रीचादमलजी श्रीजीतनमलजी व श्रीलालचन्दजी म० को बडे चाव व उत्साह से सम्मेलन मे भाग लेने के लिये भेजा था

सम्मेलन के पश्चात् अखिल भारतीय स्तर पर 'श्रमणसघ' के नाम से साधुओ का सगठन हो गया है, जब उन्होने यह सुना



तो उनका मन सन्तोप अनुभव कर कहा था. मेरी जीवन की एक साध तो पूरी हुई, धीरे-धीरे समाज मे अन्य सुधार भी होगे. समाज को सगठन भूमि मिली है खुदेगी तो समय आने पर सुधार और चारित्रिक निर्मलता के सुफल भी भावी समाज प्राप्त करेगा.

आपका जन्म स० १९४७ आपाढ शुक्ला तृतीया पिरोजपुरा (कुचेरा) मे माता कुंवरादे की रत्नकुक्षि से हुआ था. पिता का नाम श्रीहरचन्दराय जाट था.

१९५९ वैसाख कृष्णा सप्तमी को सेठो की रिया मे श्रीनथमलजी का शिष्यत्व ग्रहण किया था आपके बाबागुरु का पवित्र नाम श्रीसूरजमलजी म० था दोनो मुनि अपने समय के आचारनिष्ठ व कर्मठ स्वाध्यायी सन्त माने जाते थे. वर्तमान मे श्री चादमलजी म० इसीलिए स्वाध्यायी चादमलजी म० के नाम से विख्यात है कि आपके अग्रज स्वाध्याय-प्रेमी थे. श्रीचादमलजी म० और श्रीजीतमलजी म०, श्रीचौथमलजी म० के गुरुभाइयो मे है. इस युग मे शास्त्रलिपिकारो मे श्रीचादमलजी का नाम सर्वोपरि है.

श्रीचौथमलजी म० का स्वर्गवास जोधपुर में समाधीमरण पूर्वक हुआ था. तेरह दिन सथारा भावो की वड़ी निर्मलता के साथ चला था. सम्मेलन के वाद सवसे पहले स्वर्गवास आप ही का हुआ था. ऐसा लगता था कि वे सम्मेलन होने की वाट ही जो रहे थे उनके मन की मुराद सगठन की थी. वह पूरी होते ही वे अपने सयमीय जीवन के काम्य को पा गये श्रमण सघ मे परिगणित अन्य सन्त भी उनके सल्लेखना के भीष्म व्रत की पूर्णाहुति के समय पधारे थे. सन्तो को देखकर उन्हे अपार हर्ष हुआ उन्होने कहा था कि मेरी युगो की अभिकाक्षा आज साकार है मैं आज परम प्रसन्न हूँ.

स्वामी श्रीरावतमलजी म०

जिनके जीवन की गहराई से सन्तत्व जन्म लेता है वे महान् सन्त कभी युवा और वृद्धत्वावस्था की विभाजक रेखा को स्वीकार नही करते है स्वामी श्रीरावतमलजी म० भी एक ऐसे ही सन्त है आज वय की दृष्टि से जयमलजी म० की सम्प्रदाय मे तो वे सवसे पुराने अनुभवी और ज्ञानी तपस्वी सन्त है ही परन्तु अनुमान है कि अखिल भारतीय श्रमण सघ में भी आप सब से वयोवृद्ध सन्त है

आपका जन्म मारवाड के के रडोद (आसोप के पास) नामक ग्राम मे, स० १९४५ मे हुआ था. माता-पिता होने का गौरव क्रमश श्री परादे व श्रीमहरदासजी को प्राप्त हुआ था. स० १९६० वैशाख कृष्णा पचमी के शुभ दिन रिया सेठोकी मे गुरुवर श्रीमगनमलजी म० के द्वारा दीक्षा ग्रहण की थी आपके शिष्यो मे श्रीभैरवमुनि जी है

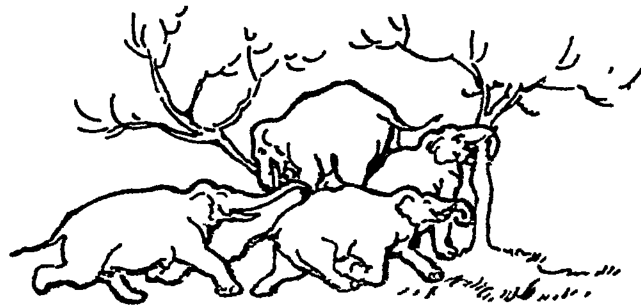
विशेष

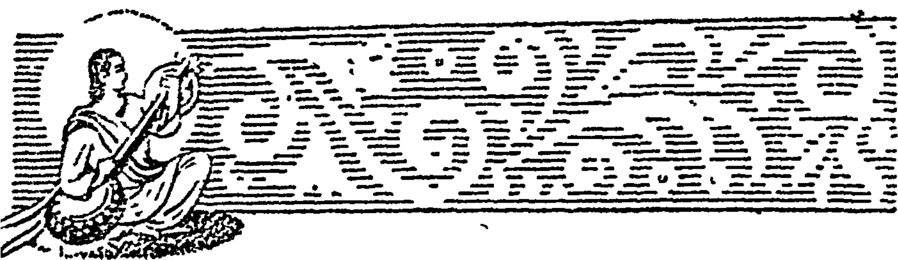
तप.साधना आपके जीवन का सर्वाधिक प्रिय लक्ष्य है. आगमस्वाध्याय और तप वस ये ही दो जीवन में करणीय मान कर किए जा रहे है वर्पावास के अतिरिक्त समय मे भी आप जहा पर विराजते हैं वही पर स्वय भी तपस्या करते हैं और अपने सम्पर्कस्थो को भी तप करने की पवित्र प्रेरणा प्रदान करते रहते है. आपका मानना और कहना भी केवल मानने और कहने तक ही सीमित नही है आप तप स्वय करते है और दूसरो को भी तप का महत्त्व वताकर तप द्वारा महान् आत्मवल और आत्मशोधन की ओर अभिमुख करते रहते है.

आपकी मान्यता है कि प्रवचन करना साधु का परम धर्म है. यही कारण है कि आपके द्वारा जनता को प्रवचन का लाभ मिलता रहता है. प्रवचनशैली मारवाड़ी है, परन्तु वड़ी रसमय दोहे सवैये कवित्त आदि काव्य कला के माध्यम से जनता को अपनी वात सटीक जमा देते हैं. वात-वात पर दोहे कवित्त का सरस सगीत सुनाई देता है. थोडे समय के लिये भी जो उनके पास बैठता है वह उनसे किसी शिक्षात्मक दोहे द्वारा दिव्य प्रेरणा ग्रहण करता है.

स्वामी महाराज का साध्वी परिवार

- चपाजी
  - राय कवरजी
    - चौथाजी
      - कस्तूराजी
      - चूनाजी
      - जडावाजी
      - सोवनकवरजी
      - मगनाजी
      - सरदारकवरजी
        - पानकवरजी
        - जमनाजी
        - सुन्दरकवरजी
        - झमकूजी
          - गुलाबाजी
        - तुलछाजी
        - कानकवरजी
          - चपाजी
        - उमरावकुंवरजी
          - उम्मेदकवरजी
          - रतनकवरजी
          - कचनकवरजी
          - सेवावतीजी
      - सोन कवरजी





स्वामीजी के प्रिय पद

राग—[काफी—देसी—होरी नी]

श्रेयांस जिनन्द सुमर रे।

चेतन जाण कल्याण करन को, आन मिल्यो अवसर रे।
शास्त्र प्रमाण पिछान प्रभू गुण, मन चंचल थिर कर रे। श्रे० १
सास उसास विलास भजन को, दृढ विश्वास पकर रे।
अजपाभ्यास प्रकाश हिये बिच, सो सुमरन जिनवर रे। श्रे० २
कंद्रप क्रोध लोभ मद माया, ये सबही परहर रे।
सम्यक्-दृष्टि सहज सुख प्रगटे, ज्ञान दशा अनुसर रे। श्रे० ३
झूठ प्रपंच जोबन तन धन अरु, सजन सनेही घर रे।
छिन में छोड चले पर भव को, बांध सुभासुभ थर रे। श्रे० ४
मानस जनम पदारथ जाकी, आशा करत अमर रे।
ते पूरब सुकृत कर पायो, मरम-परम दिल धर रे। श्रे० ५
'विश्वसैन' 'विस्नाराणी' को, नंदन तू न विसर रे।
सहज मिटे अज्ञान अविद्या, मुक्ति पंथ पग भर रे। श्रे० ६
तू अविकार विचार आतम गुन, भव-जंजाल न पर रे।
पुद्गल चाह मिटाय 'विनयचन्द', ते जिन तू न अवर रे। श्रे० ७



धरम जिनेश्वर मुझ हिवडे बसो, प्यारो प्राण समान।
कबहू न विसरूं हो चितारूं नहीं, सदा अखंडित ध्यान। ध० १
ज्यू पनिहारी कुम्भ न वीसरे, नट्वो नृत्य निदान।
पलक न विसरे हो पदमनि पियुभणी, चकवी न विसरे भान। ध० २
ज्यूं लोभी मन धन की लालसा, भोगी के मन भोग।
रोगी के मन माने औषधी, जोगी के मन जोग। ध० ३
इण पर लागी हो पूरण प्रीतडी, जाव जीव परियंत।
भव-भव चाहूं हो न पडे आंतरो, भव भञ्जन भगवंत। ध० ४

काम-क्रोध मद मत्सर लोभथी, कपटी कुटिल कठोर।
इत्यादिक अवगुण कर हूं भर्यो, उदय कर्म के जोर। ध०

तेज प्रताप तुमारो प्रगटे, मुज हिवडा में आय।
तो हूं आतम निज गुण संभालने, अनंत बली कहिवाय। ध०

'भानू' नृप 'सुव्रता' जननी तणो, अगजात अभिराम।
'विनयचन्द' ने बल्लभ तू प्रभु, सुध चेतन गुणधाम। ध०

●

[राग—रेखता]

कुंथु जिनराज ! तू ऐसो, नहीं कोई देव तो जैसो।
त्रिलोकी-नाथ तू कहिये, हमारी बांह दृढ गहिए। कुं०

भवोदधि डूबतो तारो, कृपानिधि आसरो थारो।
भरोसा आपको भारी, विचारो विरुद उपकारी। कुं०

उमाहो मिलन को तोसो, न राखो आंतरो मोसो।
जैसी सिद्ध अवस्था तेरी, तैसी चैतन्यता मेरी। कुं०

करम-भ्रम जाल को दपट्यो, विषय सुख ममत में लपट्यो।
भ्रम्यो हुं चहूं गती माही, उदयकर्म भ्रम की छाही। कुं०

उदय को जोर जौलों, न छूटे विषय सुख तौलों।
कृपा गुरुदेव की पाई, निजातम भावना भाई। कुं०

अजब अनुभूति उर जागी, सुरत निज रूप में लागी।
तुम्ही हम एकता जाणूं, द्वैत भ्रम कल्पना मानूं। कुं०

'श्रीदेवी' 'सूर' नृप नन्दा, अहो सरवज्ञ सुख कन्दा।
'विनयचन्द' लीन तुम गुन में, न व्यापे अविद्या मन में। कुं०

●

[श्री नवकार जपो मन रंगे—यह देशी]

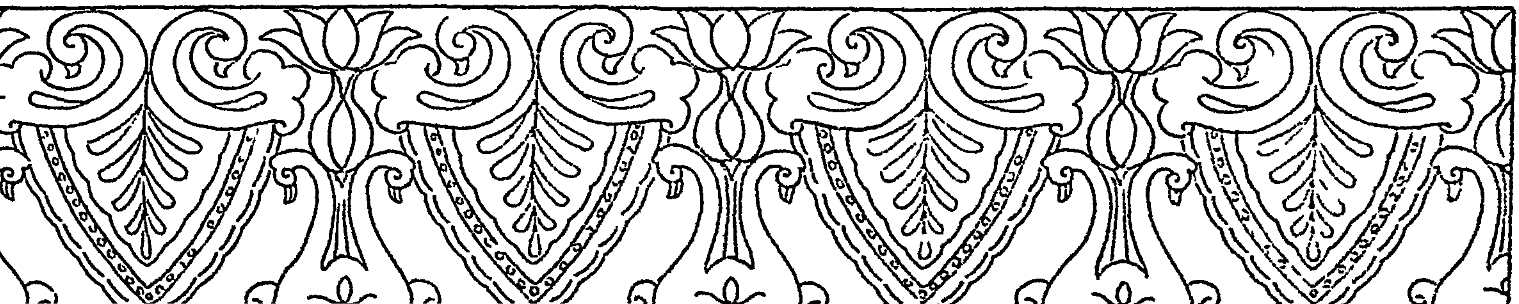
श्री महावीर नमो वरनाणी, शासन जेहनो जाणरे प्राणी।
धन-धन जनक'सिद्धारथ'राजा,धन 'त्रसलादे'मात रे प्राणी। श्री०

ज्यां सुत जायो गोद खिलायो, 'वर्धमान' विख्यात रे प्राणी।
प्रवचन सार विचार हिया में, कीजे अरथ प्रमाण रे प्राणी। श्री०

सूत्र विनय आचार तपस्या, चार प्रकार समाध रे प्राणी।
ते करिये भवसागर तरिये, आतम भाव अराध रे प्राणी। श्री०

ज्यों कचन तिहुं काल कहीजे, भूषण नाम अनेक रे प्राणी।
त्यों जग जीव चराचर जोनी, है चेतन गुण एक रे प्राणी। श्री०

अपनो आप विषै थिर आतम, 'सोहं' हंस कहाय रे प्राणी।
केवल ब्रह्म पदारथ परिचय, पुद्गल भरम मिटाय रे प्राणी। श्री०



शब्द रूप रस गन्ध न जामें, नाय परस तप छांह रे प्राणी।
तिमर उद्योत प्रभा कछु नांही, आतम अनुभव मांहि रे प्राणी। श्री०

सुख दुख जीवन मरन अवस्था, ए दस प्राण संगात रे प्राणी।
इनथी भिन्न 'विनयचन्द' रहिये, ज्यो जलमें जल जातरे प्राणी। श्री०

•

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे, और न चाहुं रे कंत,
रीझ्यो साहेब संग न परिहरे रे, भांगे सादि अनंत रे—ऋषभ०

प्रीतसगाई रे जगमां सहु करे रे, प्रीतसगाई न कोय,
प्रीतसगाई रे निरुपाधिक कही रे, सोपाधिक धन खोय—ऋषभ०

कोई कंत कारण काष्ट भक्षण करे रे, मलशुं कंतने धाय,
ए मेलो नवि कइये संभवे रे, मेलो ठाम न ठाय—ऋषभ०

कोई पतिरंजन अति घणो तप करे रे, पतिरंजन तन ताप,
ए पतिरंजन मे नवि चित धरयु रे, रंजन धातु मेलाप—ऋषभ०

कोई कहे लीला रे अलख अलखतणी रे, लख पूरे मन आश,
दोपरहितने लीला नवि घटे रे, लीला दोष विलास—ऋषभ०

चितप्रसन्ने रे पूजन-फल कह्युं रे, पूजा अखंडित एह,
कपट रहित थइ आतम अरपणा रे,'आनन्दघन' पद-रेह— ऋषभ०

•

[राग—आशावरी]

पंथडो निहालुं रे बीजा जिनतणो रे, अजित अजित गुणधाम,
जे तें जीत्या रे, ते मुझ जीतियो रे पुरुष किश्यु मुज नाम ?—पंथडो०

चरमनयण करी मारग जोवतां रे, भूल्यो सयल ससार,
जे नयणे करी मारग जोइए रे, नयण ते दिव्य विचार—पंथडो०

पुरुप परम्पर अनुभव जोवतां रे, अंधोअध पुलाय,
वस्तु विचारे रे जो आगमें करी रे, चरण धरण नहीं ठाय—पंथडो०

तर्क विचारे रे वाद परम्परा रे, पार न पहोंचे कोय।
अभिमत वस्तु रे वस्तुगते कहे रे, ते विरला जग जोय—पंथडो०

वस्तु विचार रे दिव्य नयणतणो रे, विरह पड्यो निरधार,
तरतम जोगे रे तरतम वासना रे, वासित बोध आधार—पंथडो०

काल-लब्धि लही पंथ निहालशुं रे, ए आशा अवलम्ब,
ए जन जीवे रे जिन जी जाणजो रे, 'आनन्दघन' मत अंब—पंथडो०

•

[राग—धनाश्री सिंधुडा]

अभिनन्दन जिन दर्शन तरसिये, दर्शन दुर्लभ देव,
मत-मत भेदे रे जो जइ पूछिये, सहु थावे अहमेव—अभि०
सामान्ये करी दरिशण दोहिलु, निर्णय सकल विशेष,
मदमे घेर्यो रे अधो केम करे, रवि शशि रूप विलेख—अभि०
हेतु विवादे हो चित धरी जोइए, अति दुर्गम नयवाद,
आगमवादे हो गुरुगम को नही, ए सबलो विषवाद—अभि०
घाती डुंगर आडा अति घणा, तुज दरिशण जगनाथ,
ढिठाइ करो मारग संचरु, सेगु कोइ न साथ—अभि०
दर्शन-दर्शन रटतो जो फरुं, तो रण रोझ समान,
जेहने पिपासा हो अमृत पाननी, किम भाजे विषपान—अभि०
तरस न आवे हो मरण जीवनतणो, सीजे जो दर्शन काज,
दरिशण दुर्लभ सुलभ कृपा थकी,'आनन्दघन' महाराज—अभि०

●

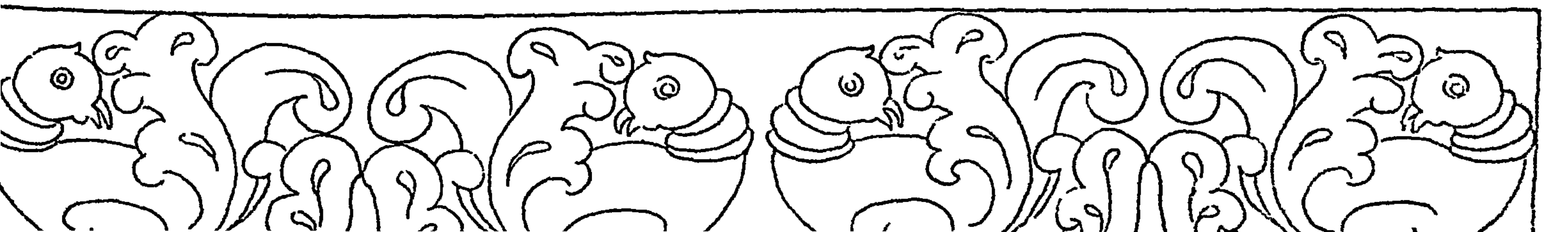
[राग—केदारा-गौड]

देखण दे रे सखी मने देखण दे, चंद्रप्रभ मुखचंद, सखी०
उपशम रसनो कंद, सखि गत कलिमल दुखदंद, सखी चद्र०
सूक्ष्म निगोदे न देखीओ, सखी बादर अतिहि विशेष, सखी०
पुढवी आउ न लेखियो, सखी तेउ वाउ न लेश, सखी चंद्र०
वनस्पति अति घण दिहा, सखी दीठो नहीं दीदार, सखी०
बि,ति,चउरिंदिय जललीहा, सखी गतसन्नीपण धार, सखी चद्र०
सुर तिरि निरयनिवासमां, सखी मनुज अनारज साथ, सखी०
अपज्जत्ता प्रतिभासमां, सखी चतुर न चढीओ हाथ, सखी चद्र०
एम अनेक थल जाणीए, सखी दर्शन विणु जिनदेव, सखी०
आगमथी मत जाणीए, सखी कीजे निर्मल सेव, सखी चद्र०
निर्मल साधु भक्ति लही, सखी योग अवचक होय, सखी०
क्रिया अवंचक तिम सही, सखी फल अवचक जोय, सखी चंद्र०
प्रेरक अवसर जिनवरु, सखी मोहनीय क्षय जाय, सखी०
कामित पूरण सुरतरु, सखी 'आनन्दघन' प्रभु पाय, सखी चद्र०

●

[राग—रामग्री-कडखा]

धार तरवारनी सोहिली, दोहिली चउदमा जिनतणी चरणसेवा,
धार पर नाचता देख बाजीगरा, सेवना-धार पर रहे न देवा—धा०



एक कहे सेविये विविध किरिया करी, फल अनेकांत लोचन न देखे,
फल अनेकांत किरिया करी बापडा, रडबडे चार गतिमांहे लेखे—धा०
गच्छना भेद बहु नयण निहालतां, तत्वनी बात करतां न लाजे,
उदरभरणादि निज काज करता थका, मोह नडिया कलिकाल राजे—धा०
वचन निरपेक्ष व्यवहार जूठो कह्यो, वचन सापेक्षा व्यवहार साचो,
वचन निरपेक्ष व्यवहार संसार फल, सांभली आदरी कांइ राचो—धा०
देव गुरु धर्मनी शुद्धि कहो किम रहे किम रहे, शुद्ध श्रद्धान आणो,
शुद्ध श्रद्धान विण सर्व किरिया करी, छार पर लींपणु तेह जाणो—धा०
पाप नहीं कोइ उत्सूत्र भाषण जिस्यो, धर्म नहीं कोइ जग सूत्र सरिखो,
सूत्र अनुसार जे भविक किरिया करे, तेहनु शुद्ध चारित्र परिखो—धा०
एह उपदेशनो सार सक्षेप थी, जे नरा चितमां नित्य ध्यावे,
ते नरा दिव्य बहु काल सुख अनुभवी, नियत 'आनन्दघन' राज गावे—धा०

●

[राग—गुर्जरी-रामकली]

कुंथुजिन ! मनडु किम ही न बाझे हो कुंथुजिन, मनडु किम ही न बाझे,
जिम-जिम जतन करीने राखु, तिम-तिम अलगु भाजे हो—कु०
रजनी वासर वसति उज्जड, गयण पायाले जाय,
साप खाये ने मुखडु थोथु, एह उखाणो न्याय हो—कु०
मुगतितणा अभिलाषी तपिया, ज्ञान ने ध्यान अभ्यासे,
वयरीडू कांइ एहेवु चिंते, नाखे अवले पासे हो—कु०
आगम आगमधरने हाथे, नावे किणविधि आकु,
किहां कणे जो हठ करी हटकु, तो व्यालतणी परे वांकु हो—कु०
जो ठग कहु तो ठगतो न देखु, साहुकार पण नांहि,
सर्वमाहे ते सहुथी अलगु, ए अचरिज मनमांही हो—कु०
जे-जे कहु ते कान न धारे, आप मते रहे कालो,
सुर नर पंडित जन समजावे, समजे न मारो सालो हो—कु०
में जाण्यु ए लिंग नपुंसक, सकल मरदने ठेले,
बीजी वाते समरथ छे नर, एहने कोइ जेले हो—कु०
मन साध्यु तेणे सघलु साध्यु, एह बांत नहीं खोटी,
एम कहे साध्यु ते नवि मानु, ए कही बात छे मोटी हो कु०
मनडु दुराराध्य ते वश आण्यु, ते आगमथी मति आणु,
'आनन्दघन' प्रभु माहरु आणो तो सांचु करी जाणु हो—कु०

●

[राग—राग आशावरी]

षड् दर्शन जिन-अग भणीजे, न्यास षडग जो साधे रे,
नमि जिनवरना चरण उपासक, षड्दरशन आराधे रे—षड्०



जिन सुर पादप पाय वखाणुं, सांख्य जोग दोय भेदे रे,
आतम-सत्ता विवरण करता, लहो दुग अंग अखेदे रे—षड्०

भेद अभेद सुगत मीमांसक, जिनवर दोय कर भारी रे,
लोकालोक अवलबन भजिये, गुरुगमथी अवधारी रे—षड्०

लोकायतिक कूख जिनवरनी, अंश विचार जो कीजे रे,
तत्त्व-विचार जो कीजे रे, गुरुगमविण किम पीजे रे—षड्०

जैन जिनेश्वर वर उत्तम अंग, अतरंग बहिरंगे रे,
अक्षर न्यास धरा आराधक, आराधे धरी संगे रे—षड्०

जिनवरमां सघळा दर्शन छे, दर्शन जिनवर भजना रे,
सागरमां सघळी तटिनी सही, तटिनीमां सागर भजना रे—षड्०

जिनस्वरूप थइ जिन आराधे, ते सही जिनवर होवे रे,
भृंगी इलिकाने चटकावे, ते भृंगी जग जोवे रे—षड्०

चूर्णि भाष्य सूत्र निर्युक्ति, वृत्ति परम्पर अनुभव रे,
समय पुरुषना अग कह्या ए, जे छेदे ते दुर्लभ रे—षड्०

मुद्रा बीजधारणा अक्षर—, न्यास अर्थ विनियोगे रे,
जे ध्यावे ते नवि वचीजे, क्रिया अवंचक भोगे रे—षड्०

श्रुत अनुसार विचारी बोलु, सुगुरु तथाविध न मिले रे,
किरिया करी नवि साधि शकीये, ए विषवाद चित्त सघळे रे—षड्०

ते माटे उभो कर जोडी, जिनवर आगल कहिये रे,
समय चरण सेवा शुद्ध देजो, जिम 'आनन्दघन' लहिये रे—षड्०

●

(निद्रडी वेरण हुइ रही—यह देशी)

ऋषभ जिणदसु प्रीतडी, किम कीजे हो कहो चतुर विचार,
प्रभुजी जइ अळगा वस्या, तिहां को नवि हो कोई वचन उच्चार।

कागळ पण पहोचे नहिं, नवि पहोंचे हो तिहां को परधान
जे पहोचे ते तुम समो, नवि भाखे हो कीनो व्यवधान।

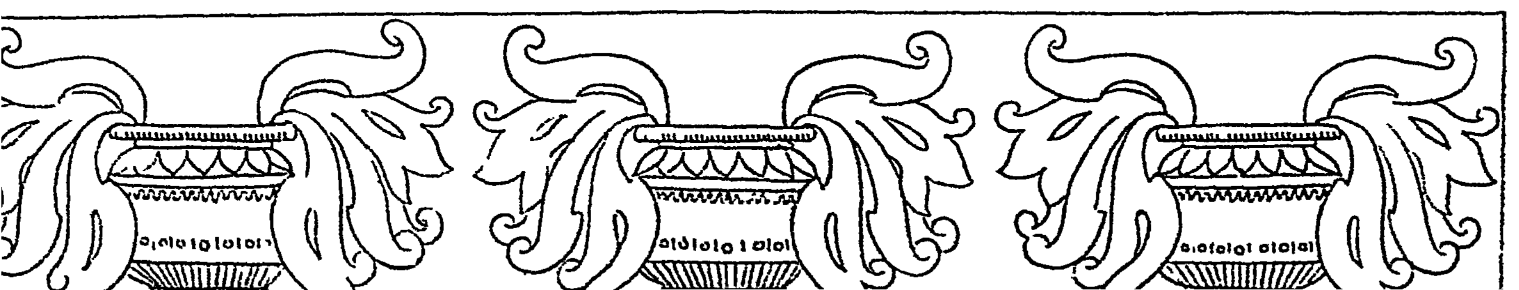
प्रीति करे ते रागिया, जिनवरजी हो तुमे तो वीतराग,
प्रीतडी जेह अरागीथी, मेलववी ते हो लोकोत्तर माग।

प्रीति अनादिनी विष भरी, ते रीते हो करवा मुज भाव,
करवो निर्विष प्रीतडी, किण भांते हो कहो वने बनाव।

प्रीति अनती पर थकी, जे तोडे हो ते जोडे एह,
परम पुरुषथी रागता, एकत्वता हो दाखी गुण गेह।

प्रभु जीने अवलम्बतां, निजप्रभुता हो प्रगटे गुणराश,
'देवचन्द्र' नी सेवना, आपे मुजे हो अविचल सुखवास।

●



(हरीगीत छन्द)

बहु पुण्य केरा पुंजथी शुभ देह मानवनो मल्यो,
तोये अरे भव-चक्रनो आंटो नहि एके टल्यो,
सुख प्राप्त करतां सुख टले छे, लेश ए लक्षे लहो,
क्षण-क्षण भयकर भाव मरणे, कां अहो राची रहो ?
लक्ष्मी अने अधिकार वधतां शुं वध्युं ते तो कहो,
शुं कुटुंब के परिवार थी वधवापणुं ए नय ग्रहो,
वधवापणुं ससारनुं नरदेहने हारी जवो,

एनो विचार नहि अहो ! हो ! एक पल तमने हवो,
निर्दोष सुख निर्दोष आनन्द, ल्यो गमे त्यांथी भले,
ए दिव्य शक्तिमान जेथी, जंजीरेथी नीकले,
परवस्तुमां नहि मुंझवो, एनी दया मुजने रही,
ए त्यागवां सिद्धान्त के पश्चात् दुःख ते सुख नहि,

हुं कोण छुं ? क्यांथी थयो, शुं स्वरूप छे मारुं खरुं !
कोना संबंधे वळगणा छे, राखुं के ए परिहरुं,
एनो विचार विवेकपूर्वक, शान्त भावे जो कर्यां,
तो सर्व आत्मिक ज्ञाननां, सिद्धान्त तत्त्वो अनुभव्यां.

ते प्राप्त करवा वचन कोनुं, सत्य केवल मानवुं,
निर्दोष नरनुं कथन मानो, तेह जेणे अनुभव्युं,
रे आत्म तारो, रे आत्म तारो, शीघ्र, एने ओळखो,
सर्वात्ममां समदृष्टि द्यो, ए वचनने हृदये लखो।

●

हम तो कबहुं न निज घर आये।

पर घर फिरत बहुत दिन बीते नाम अनेक धराये।
हम तो कबहु न निज घर आये।

पर पद निजपद मान मगन ह्वै, परपरणति लपटाये।
शुद्ध-बुद्ध सुखकन्द मनोहर, चेतनभाव न भाये।
हम तो कबहुं न निज घर आये।

नर, पशु, देव, नरक निज जान्यौ परजयबुद्धि लहाये।
अमल, अखण्ड,अतुल,अविनाशी आतमगुन नहीं गाये।
हम तो कबहुं न निज घर आये।

यह बहु भूल भई हमरी फिर, कहा काज पछताये।
'दौल' तजौ अजहूं विषयन को, सतगुरु वचन सुहाये।
हम तो कबहुं न निज घर आये।

●



अब हम अमर भये, न मरेंगे ॥
जा-कारन मिथ्यात दियौ तज, क्यो करि देह धरेंगे ?
अब हम अमर भये, न मरेंगे ॥

उपजै-मरै काल तैं प्रानी, तातैं काल हरेंगे ।
राग-दोष जग बन्ध करत है, उनको नाश करेंगे ।
अब हम अमर भये, न मरेंगे ॥

देह विनाशी, मैं अविनाशी, भेद-ज्ञान पकरेंगे ।
नाशी जासी, हम थिरवासी, चोखे हों निखरेंगे ।
अब हम अमर भये, न मरेंगे ॥

मरे अनन्तवार, विन समझे, अब सब दुख बिसरेंगे ।
'द्यानत' निपट निकट दो अक्षर, विन सुमरैं सुमरैंगे ।
अब हम अमर भये, न मरेंगे ॥

●

अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ ।
ज्यो शुक नभ चाल बिसरि, नलिनी लटकायौ ।
अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ ॥

चेतन अविरुद्ध शुद्ध, दरशबोधमय विशुद्ध ।
तजि जड रस फरस रूप, पुद्गल अपनायौ ।
अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ ॥

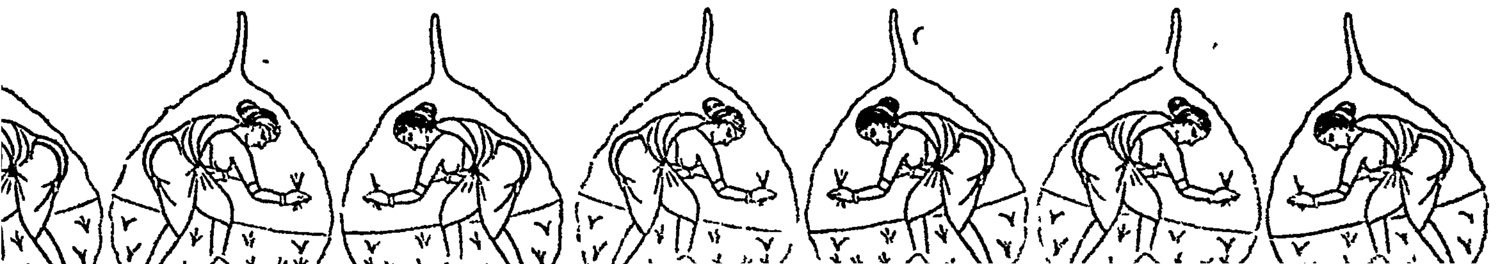
इन्द्रिय सुख दुख में नित्त, पाग राग-रुख मे चित्त ।
दायक भव-विपत्तिवृन्द, बंध को बढायौ ।
अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ ॥

चाह-दाह दाहै, त्यागौ न ताह चाहै ।
समता-सुधा न गाहै, जिन-निकट जो बतायौ ।
अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ ॥

मानुष भव सुकुल पाय, जिनवर शासन लहाय ।
'दौल' निज स्वभाव भज, अनादि जो न ध्यायौ ।
अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ ।
ज्यो शुक नभ-चाल बिसरि, नलिनी लटकायौ ॥

●

अन्तर उज्ज्वल करना रे भाई !
कपट कृपान तजै नहिं तवलौं, करनी काज न सरना रे ।
अन्तर उज्ज्वल करना रे भाई !



जप तप तीरथ जज्ञ व्रतादिक, आगम अर्थ उचरना रे।
विषय कषाय कीच नहिं धोयो, यों ही पचि पचि मरना रे।
अन्तर उज्ज्वल करना रे भाई!

वाहिर भेष क्रिया उर शुचि सों, कीये पार उतरना रे।
नाहीं है सब लोक रंजना, ऐसे वेदन वरना रे।
अन्तर उज्ज्वल करना रे भाई!

कामादिक मल सौ मन मैला, भजन किये क्या तिरना रे!
'भूधर' नील वसन पर कैसें, केसर रंग उछरना रे?
अन्तर उज्ज्वल करना रे भाई।

•

चेतन, उल्टी चाल चले।
जड़ संगति सौं जडता व्यापी, निज गुन सकल टले।
चेतन, उल्टी चाल चले।

हितसौं विरचि ठगनिसौं राचे, मोह पिशाच छले।
हँसि-हँसि फन्द सँवारि आपही, मेलत आप गले।
चेतन, उल्टी चाल चले।

आये निकसि निगोद सिन्धु ते, फिर तिह पंथ टले।
कैसे परगट होय आग जो दबी पहार तले।
चेतन, उल्टी चाल चले।

भूले भव-भ्रम वीचि 'बनारसि' तुम सुरज्ञान भले।
धर शुभ ध्यान ज्ञान-नौका चढ़ि, बैठे ते निकले।
चेतन, उल्टी चाल चले।

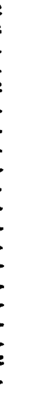
•

राम कहो, रहमान कहो कोऊ, कान कहो महादेव री।
पारसनाथ कहो, कोई ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री।
भाजन भेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूप री।
तैसे खण्ड कल्पनारोपित, आप अखण्ड सरूप री।
राम कहो, रहमान कहो कोऊ ..।

निज पद रमे राम सो कहिए, रहिम करे रहिमान री।
कर्षे करम कान सो कहिए, महादेव निर्वाण री।
राम कहो, रहिमान कहो कोऊ ।

परसे रूप पारस सो कहिए, ब्रह्म चीन्हें सो ब्रह्म री।
अह विधि साधो आप 'आनन्दघन', चेतन में निष्कर्म री।
राम कहो, रहमान कहो कोऊ .।





अपूर्व अवसर

अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ? क्यारे थईशु' बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ जो।
सर्व सम्बन्धनु बंधन तीक्ष्ण छेदी ने, विचरशु क्व महत्पुरुषने पंथ जो।

सर्वभावथी औदसीन्य वृत्ति करी, मात्र देह ते सयम-हेतु होय जो।
अन्य कारणे अन्य कशु' कल्पे नहिं, पण किंचित् मूर्च्छा नव जोय जो।

दर्शनमोह व्यतीत थई उपज्यो बोध जे, देह भिन्न केवल चैतन्यनु' ज्ञान जो।
एथी प्रक्षीण चारित्रमोह विलोकीए, वर्त्ते एवु' शुद्धस्वरूपनु' ध्यान जो।

आत्मस्थिरता त्रण संक्षिप्त योगनी, मुख्यपणे तो वर्ते देह पर्यन्त जो।
घोर परिषह के उपसर्ग भये करी, आवी शके नहिं ते स्थिरतानो अन्त जो।

संयमना हेतुथी योग-प्रवर्तना, स्वरूपलक्षे जिन-आज्ञा आधीन जो।
ते पण क्षण-क्षण घटती जती स्थितिमां, अंते थाय निज स्वरूपमां लीन जो।

पच विषयमां रागद्वेष-विरहितता, पंच प्रमादे न मले मननो क्षोभ जो।
द्रव्य, क्षेत्र ने काल, भाव प्रतिबन्ध विण, विचरवु' उदयाधीन पण वीतलोभ जो।

क्रोध प्रत्ये तो वर्ते क्रोध स्वभावता, मान प्रत्ये तो दीनपणानु' मान जो।
माया प्रत्ये माया साक्षीभावनी, लोभ प्रत्ये नहि लोभ समान जो।

बहु उपसर्गकर्ता प्रत्ये पण क्रोध नहिं, वंदे चक्री तथापि न मळे मान जो।
देह जाय पण माया थाय न रोममां, लोभ नहि छो प्रबल सिद्धि निदान जो।

नग्नभाव, मुण्डभाव सह-अस्नानता, अदंतधावन आदि परम प्रसिद्ध जो।
केश, रोम, नख के अंग शृंगार नहि, द्रव्य-भाव संयममय निर्ग्रन्थ सिद्धि जो।

शत्रु-मित्र प्रत्ये वर्ते समदर्शिता, मानअमाने वर्ते ते ज स्वभाव जो।
जीवित के मरणे नहि न्यूनाधिकता, भवमोक्षे पण वर्ते शुद्ध स्वभाव जो।

एकाकी विचरतो वली श्मशान मां, वळी पर्वतमां वाघ सिंह-संयोग जो।
अडोल आसन ने मनमां नहि क्षोभता, परम मित्रनो जाणे पाम्या योग जो।

घोर तपश्चर्यामां (पण) मनने ताप नहि, सरस अन्ने नहि मनने प्रसन्नभाव जो।
रजकण के रिद्धि वैमानिक देवनी, सर्वे मान्यां पुद्गल एक स्वभाव जो।

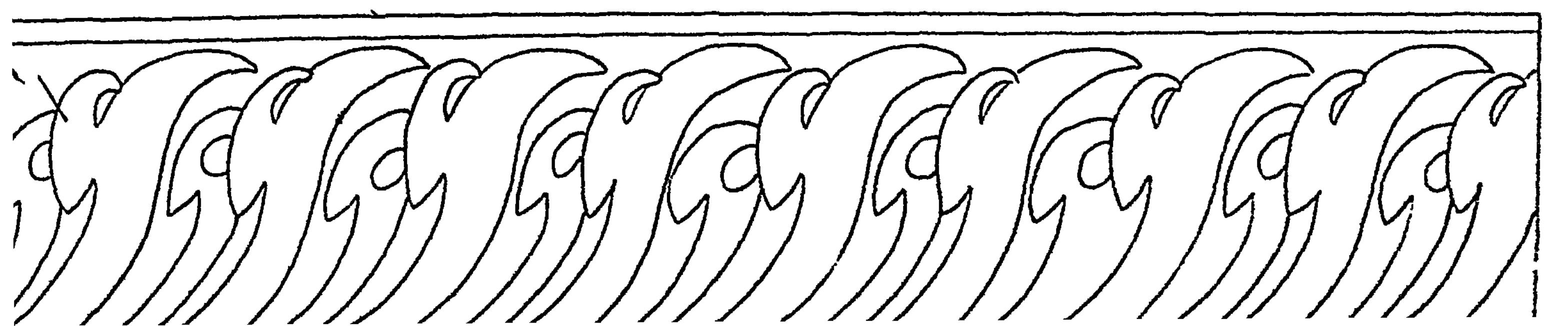
एम पराजय करीने चारित्रमोहनो, आवुत्यां ज्यां करण अपूर्व भाव जो।
श्रेणी क्षपक तणी करीने आरूढता, अनन्य चिन्तन, अतिशय शुद्ध स्वभाव जो।

मोह-स्वयंभूरमणसमुद्र तरी करी, स्थिति त्यां ज्यां क्षीणमोहगुणस्थान जो।
अन्त समय त्यां पूर्णस्वरूप वीतराग थई, प्रगटाऊं निज केवलज्ञान-निधान जो।

चार कर्म घनघाती ते व्यवच्छेद ज्यां, भवना बीज तणो आत्यन्तिक नाश जो।
सर्वभावज्ञाता द्रष्टा सह शुद्धता, कृतकृत्य प्रभु वीर्य अनन्तप्रकाश जो।

वेदनीयादि चार कर्म वर्ते ज्यां, वळी सींदरीवत् आकृतिमात्र जो।
ते देहायुष आधीन जेनी स्थिति छे, आयुष पूर्णे मटी ए दैहिक पात्र जो।

मन, वचन, काया ने कर्मनी वर्गणा, छूटे जहां सकल पुद्गल सम्बन्ध जो।
एवु' अयोगी गुणस्थानक त्यां वर्ततु, महाभाग्य सुखदायक पूर्ण अबंध जो।



एक परमाणु मात्रनी मले न स्पर्शता, पूर्ण कलंक रहित अडोल स्वरूप जो।
शुद्ध निरञ्जन चैतन्य मूर्ति अनन्यमय, अगुरुलघु, अमूर्त सहज पदरूप जो।

पूर्वप्रयोगादि करणनां योगथी, ऊर्ध्व गमन सिद्धालय प्राप्त सुस्थित जो।
सादि अनन्त, अनन्त समाधि सुखमां, अनन्त दर्शन, ज्ञान अनन्त सहित जो।

जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां, कही शक्या नहीं ते पण श्री भगवान जो।
तेह स्वरूपने अन्य वाणी ते शुं कहे ! अनुभवगोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो।

एह परमपद प्राप्तिनुं कर्युं ध्यान मैं, गजा वगर ने हाल मनोरथ रूप जो।
तो पण निश्चय 'राजचन्द्र' मनने रह्यो, प्रभु-आज्ञाए थाशुं ते ज स्वरूप जो।

●

स्वामीजी के कृतित्व के नमूने

वितर वारिद ! वारि दवातुरे, चिर-पिपासित-चातक-पोतके।
प्रचलिते पवने क्षणमन्यथा, क्व च भवान् क्व पय क्व च चातक।

इस श्लोक के भावो पर

वेग पधारो रे मेघराज ! मया कर काज सुधारो रे। ध्रुव।
मैं बालक मति-हीन दीन अति, यह है काज तुम्हारो रे।
तड़फ रया है प्राण हमारा, मती बिसारो रे। वेग०।

तुम-घर मांही कोई कमी ना, भर्या अखुट भंडारो रे।
पर-उपकारी कारज सारे, लेई उधारो रे। वेग०।

करूं अरजी मैं गरजी होकर, और नहीं आधारो रे।
टुक एक महर नजर कर मुझ पर, दुखडो टारो रे। वेग०।

जो नहीं वर्स्यां इण अवसर तो, नहीं है म्हारो सारो रे।
दक्षिण-पवन झपाटे सटके, होसी उधारो रे। वेग०।

फूट

जगत में घर की फूट बुरी है। ध्रुव।

फूट बुरी है आपस केरी, सोचो आप जरूरी।
एक-एक से वैर बढाकर, भूले काम जरूरी। जगत।

शांति का नाश करे इक छिन में, फूट राक्षसी पूरी।
कलह बढावत, प्रेम घटावत, बात बनावत कूरी। जगत।

फूट भई रावन के घर में, भयो विभीषण दूरी।
सोवनी लक गमाय आजलो वाजत अपजस तूरी। जगत।

कौरव-पांडव फूट भई जब, झगडया बात बहूरी।
'भीषम' 'करण' से वीर खपाये, मानी न बात गरूरी। जगत।

(राजीमती से विवाह करने के लिये जाते समय मार्ग मे बाडो मे और पिंजरो मे सरुद्ध पशु और पक्षियो को देखकर भगवान् नेमिनाथ का सारथी से पूछना—)

भगवान्—कैसे मचाया शोर जीवों ने, कैसे मचाया शोर ॥ ध्रुव ॥

वनचर जीव को वन है प्यारा, मुरझ रहे पखो-वारा।
देख रहे चहू ओर ॥ जीवो ने ॥

तड़फ रहे है प्राण इनो के, प्रवल सहाय न दीसे जिनों के।
किम भेले किये इन ठौर ॥ जीवों ने ॥

सारथी—सारथी सज्जन वाक्य सुणी के, दयाभाव है हृदय जिन्ही के।
अरज करे कर जोर ॥ जीवो ने ॥

कारण आप विवाह के मांई, भोजन काज हनेंगे तांई।
सांच कहू शिरमोर ॥ जीवो ने ॥

भगवन्! भारी दीन-दयाला, सब जीवो के है रखवाला।
बंधन दिये सब खोल ॥ जीवों ने ॥

उपदेशी भजन

आप मुवॉ जग सूना है तो ही पाप करत नर दूना है ॥ ध्रुव० ॥

एह कहावत सब नर भाखे, इन का भाव न घट में राखे।
जैसे आहार अलूना है ॥ आप० ॥

मुख से कहना वैसा करना, इन बातों से होवे तिरना।
धरना चित्त में करुणा है ॥ आप० ॥

जाना है जग में नहीं रहना, उत्तम मारग में नित रहना।
समजो आप सलूना है ॥ आप० ॥

[जैन-रामायण के अनुसार किष्किधा के स्वामी वाली ने सयम ग्रहण किया था, उस अवसर पर प्रस्तुत रचना]

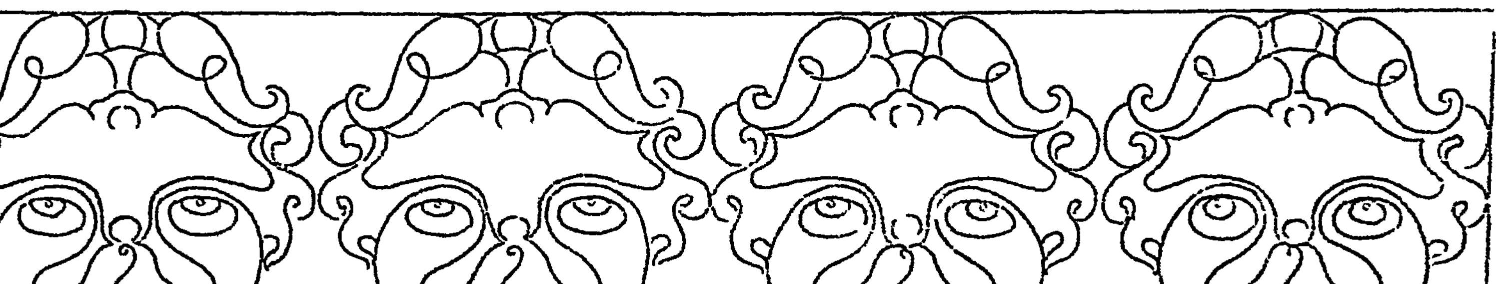
राज तज बाली भए मुनिराज ॥ ध्रुव ॥

राज-काज सब त्याग दियो है, साम्य-सुधा-रसपान कियो है।
छोड विषय के साज ॥ राज० ॥

समिति गुप्ति शुद्ध आराधे, मनसा नित हित साधन साधे।
सब जंतु हित काज ॥ राज० ॥

अष्टापद गिरि आप पधारे, विषम भाव सब दूर निवारे।
तारण - तरण जहाज ॥ राज० ॥

सुर-नर मुनि की सेवा करत है, कर्म मैल निज दूर हरत है।
सेवत भव्य-समाज ॥ राज० ॥



[अपनी दासी को चुराकर ले जाने वाले उज्जयिनीनरेश चडप्रद्योतन पर विजय कर उसे बन्दी वना कर अपनी राजधानी वीतभय-पाटन की ओर ले जाते समय मार्ग में आए हुए सावत्सरिक पर्व पर राजा उदायी—]

बार-बार मुझ अरजी ऐसी, सुण लीजो महिपत! सारी।
आज संवत्सरी पर्व मनोहर, आप खमावो हितकारी। बार-बार।

चार आहार तज अष्ट पहरिया, पौषध व्रत लीधो धारी।
वैर-विरोध तजी समभावे, खत्ता माफ करो म्हारी। बार-बार।

चण्ड प्रद्योतन भूप न माने, किम बोलो तुम अविचारी।
नजर कैद कर दासीपति को, विरुद दियो है बदकारी। बार-बार।

धन्य-धन्य जग में राय 'उदाई', पूरण समता-रस-धारी।
आप कयो (सो) मंजूर सरब है, खमत खामणा किया भारी। बार-बार।

नोट—स्वामीजी महाराज ने अनेक रचनाएँ की थी, उनमे कुछ उपलब्ध हुई है, वे यहाँ दी गई हैं. वे कभी अपनी रचना पर अपना नाम नही लगाते थे

स्वामीजी के वर्षावास

नागौर — वि० स० १९ सौ-५४, ८१, ८५, २००२
ब्यावर — वि० स० १९ सौ-६६, ७६, ७७, ८३, ८६, ८९, ९५, ९९, २००७, ८, १६.
तिंवरी — वि० स० १९ सौ-५९, ६२, ६४, ७०, ७३, ७७, ८४, ८७, ९२, २००६, २०१५.
जोधपुर — वि० स० १९ सौ-६१, ९१, २०००, २०१४.
पाली — वि० स० १९ सौ-६६, ७१, ७४, ८०, ९३, ९७
जयपुर — वि० स० १९ सौ ९०, २०१२.
हरसोलाव— वि० स० १९ सौ-५५, ५८, ६७, ७८.
मेडता — वि० स० १९-सौ-९६, २०१७.
कालू — वि० स० १९ सौ-५६
विसलपुर — वि० स० १९ सौ-६३
डेह — वि० स० २००३
भोपालगढ—वि० सं० २००५
विजयनगर—वि० स० २००९
अजमेर — वि० स० २०१०
नोखा — वि० स० २०१३
कुचेरा — वि० स० १९ सौ-५७, ६०, ६५, ६८, ७२, ७५, ८२, ८८, ९४, ९८, २००१ २० ०४, २०११, १०१७.
नोट — वि० स० १९ सौ के ५४ से ८५ तक गुरु महाराज के साथ और शेष वर्षावास स्वतत्र



शत शत तुम्हें प्रणाम

शोकाकुल भयग्रस्त अति त्रस्त विश्वके प्राण
शरणकरो दे ज्ञान धन भक्तोंके ध्रुव ध्यान

भव्यवर्ण गोधूम सम दीर्घदेह सितकेश
विमल कमल सम नयनदल त्रिपुटी भाल विशेष

सत्यरूप सुखवल्लिका अतिसुन्दर मुखशान्त
गुरुवर था यह आपका बाह्यरूप शिवकान्त

गिरा ज्ञान शुचि नम्र सुभग था व्यक्तित्व महान
स्वर विनीत चिर तेजमय प्रिय पुनीत व्याख्यान

मनमें थी अतिमधुरता सीधा सादा वेश
समन्वयात्मक आपका था शाश्वत सन्देश

जन जनके प्रति सहज था सुहृद सौम्य सद्भाव
प्राणिमात्र उन्नयन हित सजग रहा समभाव

मेरे पर थी आपकी कृपा अतीव अपार
वरद हस्त अवलोकना मेरे करुणा धार

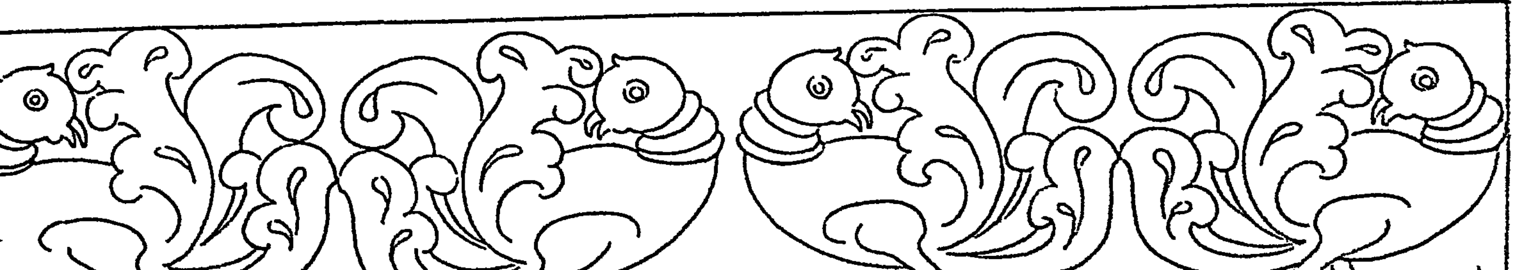
रहूं सदा संयत सतत जोरावर जयमान
शोभाशुभ हो साधना मिले भक्ति वरदान

पूज्य हजारीमल्ल तव सच्चिदानन्द नाम
ब्रजके दिलके देवता शत शत तुम्हें प्रणाम

मुनि ब्रजलाल
वि. सं. २०२१ द्वितीय चैत्र शुक्ला ११ ब्यावर

न लिपि मे
वृत
श्रीब्रजलालजी

की भावपूर्ण
सहज
अभिव्यक्ति



श्रमणसंघाचार्य श्रीआनन्दऋषिजी महाराज

सरल हृदय सन्त

स्वय सन्मार्ग पर चलने और समाज को सत्पथ का बोध कराने के लिये सन्त-सस्था की उपयोगिता मानी गई है ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य की त्रिपथगा मानवमेदिनी मे प्रवाहित कर सन्त, जनसमुदाय मे आध्यात्मिक अवगाहन की सुन्दर सुविधा प्रस्तुत करते है सन्तो की इस शीतल निर्मलसलिला-सुरसरिता के अमृतोपम पय पान से–भव्य प्राणी अपनी परमार्थ-पिपासा को शान्त करते है और इसीमे निमज्जनोन्मज्जन कर कषायकलुष का प्रक्षालन करके सत्य, तथ्य और पथ्य की पुनीत प्रेरणा प्रदान करते है—जो उनके जीवन को प्रशस्त बनाने मे सहायक सिद्ध होती है

अतएव समाज की सुव्यवस्था के लिये आदर्श सघ की स्थापना करते समय वीतराग तीर्थंकर महावीर ने अपने साधु—साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध तीर्थ मे सयमी वर्ग को मूर्धन्य स्थान देकर उसे आत्मकल्याण की साधना के दृढ सकल्प के साथ-साथ समाज मे आत्मजागृति प्रस्तुत करने का उत्तरदायित्व भी सुपुर्द किया.

श्रद्धेय स्वर्गीय श्रीहजारीमलजी महाराज आत्मसाधना के पवित्र पथ पर स्वय चलते हुए सम्पर्क मे आनेवाले जिज्ञासु-जनो को भी सत्पथ की शिक्षा प्रदान करते थे. आपका स्वभाव बहुत ही सरल था क्षमा, मृदुता आदि साधुगुण आपके अन्दर विशेष रूपमे विद्यमान थे. इन विशेषताओ के कारण मरुधरा (राजस्थान) के सुयोग्य सन्त के रूप मे आप प्रख्यात हुए सघ-ऐक्य के कार्य से राजस्थान मे विचरते समय आपके दर्शन का सुअवसर प्राप्त हुआ था प्रत्यक्ष मिलन से आपके विशिष्ट स्वभाव का परिचय प्राप्त कर अत करण में प्रमोदभावना जागृत हुई.

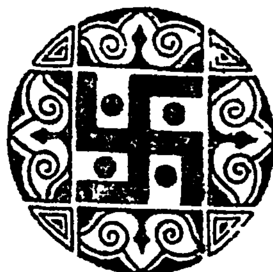
आप अपने शिष्यसमुदाय एव नेश्राय मे रहे हुए सन्तो के साथ बहुत ही कृपापूर्ण मधुर व्यवहार रखते थे. आपकी छाप आपके सुयोग्य शिष्य श्रीमधुकर जी पर अच्छी दिखाई दे रही है. आप उच्चकोटि के विद्याभिलाषी, सयमनिष्ठ, महान् गुणी सन्त है आप गर्व से बहुत ही दूर रहते हैं.

पृथक्-पृथक् सम्प्रदायो के कारण साम्प्रदायिकता के दोष, समाज मे कलह, मतभेद आदि व्याप्त होते देख जब चतुर्विध सघ के नेताओ ने अपनी आवाज बुलन्द की, तब जिन मुनिवरो ने अपने साम्प्रदायिक मोह का त्याग कर संगठनतत्त्व को प्रोत्साहन देने का निश्चय किया, उनमे श्रद्धेय श्रीहजारीमल जी महाराज एक निष्ठावान् सन्त थे. आपने अपनी सप्रदाय-परम्परा को श्रमण-सघ में विलीन कर साप्रदायिक प्रवर्तक पदवी का परित्याग कर दिया था. जो निष्ठा आपने सगठन के प्रति व्यक्त की उसका परिपालन जीवन-पर्यन्त किया

आपके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर श्रमणसघ ने आपको सघ का प्रान्तीय मत्री पद प्रदान किया. इस उत्तरदायित्त्व का परिवहन भी आपने कुशलतापूर्वक किया.

आज आप अपने पार्थिव देह मे विराजमान नही रहे, तथापि आपका यशः शरीर आज भी समाज की अन्तदृष्टि का विषय बना हुआ है उस सन्त-जीवन की पुनीत पुष्पवाटिका से आज समाज सौरभान्वित हो रहा है

श्रमण के जिन आदर्श गुणो द्वारा आपने अपनी आत्मा को उत्कृष्ट बनाया, श्रमणगण स्वामीजी के इन गुणरत्नो की समाराधना से अपनी आत्मा को सफल बनाने की प्रेरणा प्राप्त करे, इसी भावना के साथ उस परम श्रद्धेय महान् सन्त को मैं अपनी श्रद्धाजलि समर्पित करता हूँ.



उपाध्याय श्रीअमरमुनिजी महाराज

मगलमूर्ति सन्त

अन्तरजगत् का यात्री

जैन सस्कृति की साधना अत परिमार्जन की साधना है, आत्मपरिष्कार की उपासना है वह बाहर के वेष और कर्मकाण्ड की चमक-दमक मे ही परिसमाप्त नही होती है उसका मार्ग बाहर मे उतना नही, जितना कि अदर से होकर गुजरता है यही कारण है कि महाश्रमण भगवान् महावीर ने मुक्ति की विवेचना करते हुए—स्त्री, पुरुष, नपुसक, ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य, शूद्र, स्वलिंग, अन्यलिंग-सभी को आतरिक वीतरागभाव की चरमपरिणति मे मोक्ष होना प्रतिपादन किया है

मरुधरा के महान् सन्त श्रद्धेय हजारीमलजी महाराज इसी अन्तरग साधनापथ के प्रशस्त यात्री थे बाल्यकाल के पुनीत क्षणो मे वे साधुत्व की निर्मल भूमि पर अवतरित हुए तब से सतत, बिना किसी प्रकार का शोरगुल मचाये, विज्ञापन-बाजी से दूर, मौनभाव से अदर ही अदर सद्गुरु-निर्दिष्ट अध्यात्मपथ पर अग्रसर होते रहे. आँधी आयी, तूफान आये, सुख-दु ख के भयकर झझावात उठे, परन्तु वे न कही रुके, न कही भटके यौवनकाल के घनान्धकार मे, विवेक एव वैराग्य की मसाल लेकर, जिस शानदार ढग से वे जीवन मे प्रकाश फैला सके, मजिल पर पहुँच सके—वह भविष्य के साधको के लिए मूर्तिमान् आदर्श बन गया

नख-शिख सरल

क्या गृहस्थ और क्या सन्त, सभी साधको की साधना का महाप्राण सरलता है, निष्कपटता है, अदभता है आत्मविशुद्धि के लिये सरलता जैसा अमोघ साधन, दूसरा और कौन है ? बाह्य आचार प्रचार न्यूनाधिक हो सकता है क्षेत्र काल आदि की परिस्थितियो के अनुसार क्रियाकलाप मे घटाव-बढाव सदा से क्षम्य रहा है और रहेगा परन्तु जो भी हो, जितना भी हो, वह सरल शुद्ध भाव से हो, इसमे कही भी कभी भी दो मत नही है घृतसिक्त पावक के समान सहज सरल साधना निर्धूम होती है, निर्मल होती है भगवान् महावीर ने कहा है—

> सोही उज्जुय-भूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई ,
> निव्वाणं परमं जाइ, घयसित्तेव पावए !

श्रद्धेय हजारीमलजी महाराज, सरल भाव की ज्योतिर्मय मूर्ति थे वे काव्य की भाषा मे नख-शिख सरल थे, निर्दम्भ थे. मैंने उन्हे निकट से देखा है, ब्यावर और जयपुर के वर्षावास मे उनके सतत् साहचर्य मे रहा हूँ मारवाड और मेवाड की दुर्गम विहार यात्रा मे कितनी ही बार उन्हे परखा है, वे शत-प्रतिशत, सरल और अदम्भभाव की कसौटी पर खरे उतरे है आचार सरल, विचार सरल, और परस्पर के सब व्यवहार सरल जो भी किया, वह साफ, जो भी कहा वह भी साफ. कही छुपाव नही, दुराव नही वे नाक की सीधी राह चलने के आदी थे अगल-बगल की चाल उन्हे पसन्द नही थी अथवा यो कहिये कि वे टेढी-मेढी राह चलना ही नही जानते थे

सम्प्रदायातीत मानस

स्वर्गीय आत्मा स्थानकवासी परपरा के सन्त थे, ढुल-मुल नही, निष्ठावान् सन्त स्थानकवासी आचार और विचार के प्रति मैंने उन्हे काफी सजग और सतर्क पाया है परन्तु उसका यह अर्थ नही कि उनकी यह स्व-निष्ठा दूसरो के प्रति घृणा का भाव रखती थी. स्व-निष्ठा होते हुए भी दूसरो के प्रति उदार और उदात्त भावना कोई उनसे सीखा होता मैंने उनके चरणो मे जहाँ एक ओर स्थानकवासी भक्त श्रद्धावनत बैठे देखे हैं, वहाँ दूसरी ओर श्वेताम्बर मूर्तिपूजक, वैष्णव, आर्य-समाजी आदि भक्त-जन भी भाव-विभोर मुद्रा मे दर्शन करते देखे है मुनिश्री की तत्कालीन प्रसन्न मुखमुद्रा की वह दिव्यछवि



आज भी हृदयपटल पर अंकित है. एक ओर उनके मुख-कमल से जैन-सन्त आनन्दघन. देवचन्द, जयमल्लजी महाराज आदि के विचारोत्तेजक भजनों की मधुर मादक सुगध प्रसूत होती थी, वहाँ दूसरी ओर मर्मी वैष्णव सन्तो के आध्यात्मिक पदो का पराग भी कुछ कम मोहक नही होता था. उनका निर्मल मानस सम्प्रदाय-विशेष से सबधित होते हुए भी सम्प्र-दायातीत था. वे व्यक्ति की अपेक्षा गुणो की पूजा को महत्त्व देते थे सत्य कही भी हो, किसी का भी हो, वह सब उनका था और उसी समष्टिगत सत्य को वे मुक्त भाव से सरल, सरस आडम्बर हीन भाषा में समष्टि को अर्पण करते थे.

विनम्र ही नहीं, प्रविनम्र

सन्त विनम्रता की साक्षात् मूर्ति होता है. जिसे अहकार छू गया वह सन्त कैसा ? क्योकि अहकार और साधुता का शाश्वत वैर है—'तेजस्तिमिरयोरिव'. भगवान् महावीर कहते है—धर्म का मूल विनय है—'धम्मस्य विणओ मूल' सन्त श्रेष्ठ नानक, सन्तो की परिभाषा के सम्बन्ध में कहते है—

'नानक नन्हें हो रहो जैसे नन्हीं दूब.'

श्रीहजारीमलजी महाराज ऐसे ही विनम्र सन्त थे विनम्र क्या, प्रकर्षताबोधक 'प्र' उपसर्ग लगाकर कहना चाहिए, वह प्रविनम्र सन्त थे. अपनी परम्परा के माने हुए, वयोवृद्ध, भक्त मडल मे यशस्वी, फिर भी इतने विनम्र कि आश्चर्य—चकित हो जाना पडता था. निर्धन, धनी, बाल, वृद्ध, गृहस्थ, सन्त सभी के साथ उनका वह सहज उदारभाव था, हृदय और वाणी का वह विलक्षण माधुर्य था कि परिचय में आने वाला हर व्यक्ति गद्गद हो उठता था उन्हे छोटे-से-छोटे साधुओ के समक्ष भी नतमस्तक नमस्कार मुद्रा मे देखा है. मैं स्वय उनसे आयु और दीक्षा मे काफी लघु हूँ, फिर भी मुझे उनसे वाणी और व्यवहार मे वह सम्मान मिलता रहा है जिसकी कोई दूरस्थ कल्पना भी करे तो कैसे करे ?

दया का देवता

दया साधना का नवनीत है करुणा की अनवरत रसधारा ही साधक की साधना-भूमि को उर्वरा बनाती है दया धर्म की गगा के महातीर पर ही अन्य सब धर्मो एव सद्गुणो के कल्पतरु फूलते-फलते है सन्त तो दया का देवता ही माना जाता है वह स्व-पर का भेद-विभाव किये बिना सबको एक ही भाव से प्रेम और करुणा का, वात्सल्य और दया का अमृत वितरण करता है. सन्तो का हृदय नवनीत से भी विलक्षण स्नेहार्द्र होता है. नवनीत पर-ताप से नही, स्व-ताप से ही द्रवित होता है, किन्तु सन्त-हृदय का द्रवत्व सदैव पर-ताप से ही होता है, स्व-ताप से नही.

श्रीहजारीमलजी महाराज ने स्वभावत ही वह अद्भुत दयार्द्र हृदय पाया था कि जिसके कारण उनकी साधुता प्रतिक्षण ज्योतिर्मय होती चली गई. परदु खदर्शन तो क्या, परदु·ख की कथा मात्र से ही उनका कोमल हृदय चन्द्रकान्तमणिवत् विचलित हो उठता था, आँखो से अश्रुधारा तक वह निकलती थी वे आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के शब्दो मे—'त्वं नाथ दु खिजन-वत्सल है शरण्य !' का सर्वतोभद्र मगल रूप धारण कर लेते थे.

अजर-अमर जीवन के धनी

सन्त शब्द सस्कृतभाषा के सत् शब्द से बना है, जिसका अर्थ है—अविनाशी, अजर-अमर, त्रिकालाबाधित सत्त्व-सत्ता ! क्योकि सन्त शरीर नही होता, आत्मा होता है आत्मा का वह दिव्य तेज, जो महाकाल के अंधकार से न कभी आच्छा-दित हुआ है न आच्छन्न वह कभी होगा भी नही सन्त शरीर से मरकर भी आत्मा से अमर है अपने दिव्य गुणो के प्रकाश से अविनाशी है.

श्रीहजारीमलजी महाराज, भले ही देहाकार से हम मे नही रहे है, परन्तु अपने दिव्यगुणों के भावाकार से तो अब भी हम सब में साक्षात् विद्यमान है. उनके साधुत्व का मूल रूप, अब भी हम सब के भाव-कक्ष में, ज्यो का त्यो विराजमान है. उनकी स्मृति, उनके निर्मल साधुत्व को अपने हृदय मे सदा सर्वदा सजोये रखने मे है.



दिवगंत के वर्तमान प्रतिनिधि

श्रीव्रजलालजी महाराज और श्रीमधुकर मुनिजी, व्यावहारिक दृष्टि से स्वर्गीय आत्मा के गुरु-भ्राता होते है परन्तु उक्तमुनि ने उनमे भ्रातृत्व का नही, गुरुत्व का ही दर्शन किया है उनकी सेवा मे सदैव दत्तचित्त, उनकी आज्ञापालन के लिए सतत सतर्क, सर्वतोभावेन उनके श्रीचरणो मे सवकुछ अर्पण—यह सव गुरुशिष्य के पवित्र सम्वन्ध का मूल्याकन है, जिसमे मेरे दोनो स्नेही सहयोगी खरे उतरे है मै अमर विश्वास के साथ कह सकता हूँ—स्वर्गीय आत्मा के पुनीत दर्शनो का लाभ आज भी उनका भक्तमडल, उक्त मुनि-युगल मे कर सकता है 'गुरुत्व शिष्यरूपेण चिर विजयतेतराम्'



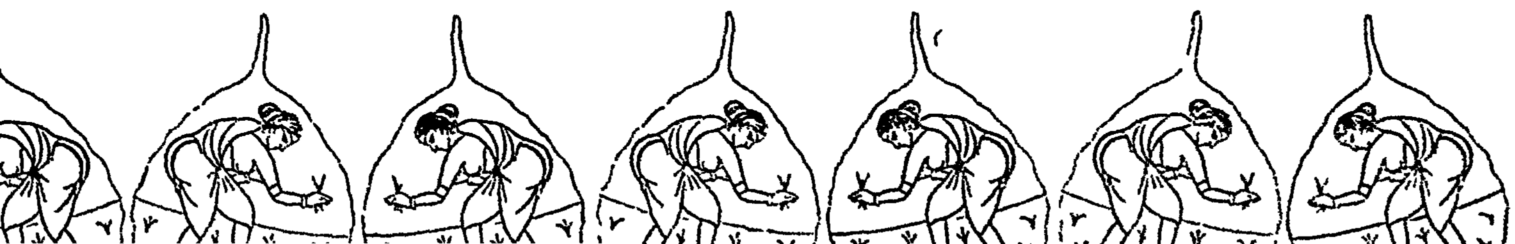
डॉ० इन्द्रचन्द्र,
शास्त्री, एम०ए०, पी-एच० डी०

मुनि श्रीहजारीमलजी महाराज : कुछ सस्मरण

मैंने मुनि श्रीहजारीमलजी महाराज के सर्वप्रथम दर्शन १९३४ ई० में किये थे ग्रीष्मावाकाश था, मै व्यावर गुरुकुल मे गुरुवर प० श्रीशोभाचन्द्रजी भारिल्ल के पास ठहरा हुआ था आर्थिक आवश्यकता के कारण मै किसी अस्थायी काम की खोज मे था और पण्डितजी ने मुनिश्री के अल्प-वयस्क गुरुभाई मधुकर मुनि को पढाने के लिए भेज दिया मुनिश्री नागौर (मारवाड) मे थे. मैं वहाँ पहुँचा और छुट्टियाँ पूरी होने तक अध्यापन करता रहा यह सिलसिला भविष्य के लिए भी चल पडा और मैं प्रतिवर्ष ग्रीष्मावकाश मे उनके पास जाने लगा

मुनि श्रीहजारीमलजी का विहार-क्षेत्र मारवाड तक सीमित था नागौर, कुचेरा, खजवाना, नौखा, हरसोलाव, जोधपुर, तिंवरी, मथानिया, सोजत, किशनगढ, अजमेर तथा व्यावर उनके प्रिय क्षेत्र थे दो-तीन नगरो को छोडकर मारवाड का प्रदेश प्राय अशिक्षित है अनेक स्थानो पर पानी का सकट वना रहता है ग्रीष्मऋतु मे यह और भी वढ जाता है ऐसे प्रदेश मे पैदल घूमकर धर्मोपदेश करना अपने आप मे वहुत वडी साधना है यदि एक शव्द मे कहा जाय तो मुनिश्री सच्चे स्थानकवासी साधु थे उनकी सरलता, निरभिमानता, सादगी का मुझ पर गहरा प्रभाव पडा मिथ्या आडम्वर धर्म-सस्था की वहुत वडी शक्ति है. इसके बिना उसका प्रचार नही हो पाता और प्रचार के बिना धार्मिक सगठन नही टिक सकता किन्तु वही इसके पतन का कारण भी है साधक वाह्य-कामनाओ से विरक्त होकर त्याग का मार्ग अपनाता है किन्तु एक नये प्रकार की आसक्ति खडी हो जाती है शिष्य-मोह, प्रतिष्ठा-मोह, अनुयायियो का मोह आदि उस आसक्ति के विविध रूप है मुनिश्री मे आडम्वर का सर्वथा अभाव था उन्होने न कभी तपस्या का प्रदर्शन किया, न कभी ज्ञान का और न कभी चर्या का, मैले कपडे रखकर उन्होने कभी मल्लधारी वनने की भी चेष्टा नही की

साधु-समाज से मेरा सम्पर्क वचपन से रहा है और उसका अनुकूल-प्रतिकूल दोनो प्रकारका प्रभाव पडा है एक वार की वात है, जहाँ हमारा विद्यालय था, एक प्रभावशाली आचार्य का आगमन हुआ विद्यार्थियो के लिए नाश्ता करने से पहले व्यायाम करना होता था, फिर मुनिदर्शन उसके पश्चात् नाश्ते की अनुमति मिलती थी आचार्यश्री के साथ लगभग २० साधु थे. व्यायाम के कारण थकावट और भूख पहले ही सताने लगती थी ऐसी स्थिति मे प्रत्येक साधु को तीन वार उठ वैठकर वन्दना करना अर्थात् साठ वैठके और लगाना-वस की वात नही थी परिणामस्वरूप, पूरी विधि का पालन किये बिना केवल हाथ जोडकर उस नियम को निभाया जाने लगा इस वात की तुरन्त शिकायत हो गई एक दिन सस्था के अध्यक्ष की उपस्थिति मे आचार्यश्री के सामने हमारी पेशी हुई और यह पूछा गया कि हमे वन्दना करना आता है या नही ? प्रत्येक विद्यार्थी ने विधिपूर्वक वन्दना करके इस प्रश्न का उत्तर दिया आचार्यश्री ने पुन पूछा—प्रतिदिन प्रत्येक साधु को इस प्रकार वन्दना क्यो नही की जाती ? मेरे मन मे इस की भयकर प्रतिक्रिया हुई और उसके सस्कार अवतक



वने हुए है. उसके पश्चात् प्राय ऐसा होता कि जब मैं दर्शन करने जाता था तो एक-दो साधुओ को जान-बूझकर छोड देता था वे देखते रहते थे और मैं उन्हे वन्दना किये विना ही वापिस लौट जाता था. इसकी कई प्रकार की प्रतिक्रियाएँ होती थी कुछ साधु इसकी उपेक्षा कर देते थे और जब दो-चार दिन बाद मैं उनके दर्शनार्थ जाता तो व्यवहार मे कोई अन्तर नही दिखाई देता था उनके प्रति हृदय स्वाभाविक श्रद्धा से झुक जाता था कुछ ऐसे होते थे जो मिलने पर अपनी नाराजगी प्रकट करते थे और कुछ आचार्यश्री या बडे साधु के पास शिकायत करते थे, जो क्रमश: सस्था के अध्यक्ष के पास पहुँचती थी

कुचेरे की वात है, एकबार वहाँ कुछ साधुओ का आगमन हुआ. आने के दो दिन बाद मैं दर्शनार्थ गया मेरे साथ सेठ मोहनमल जी चोरडिया के द्वितीय पुत्र पारसमलजी भी थे. उन्हे देखकर साधुजी ने उनके भावी ससुराल के समस्त कुटुम्वियो के नाम वताने शुरू किये वालक चुपचाप सुनता रहा. जब बाहर निकला, तो पूछने लगा—साधुओ को इन नामो से क्या मतलव था ? दूसरी ओर जब साधुजी को यह ज्ञात हुआ कि मैं एक जैन सस्था का विद्यार्थी रहा हूँ तो पूछने लगे—कल दर्शन करने क्यो नही आये ? क्या बीकानेर में भी ऐसा ही करते थे ? मैंने उत्तर दिया, वहाँ तो और भी अधिक विलम्व हो जाता था मुझे यह मालूम नही था कि आप इसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं उसके पश्चात् न मैं उनके दर्शनार्थ गया और न वह सरल हृदय बालक

मुनिश्री हजारीमलजी मे इस प्रकार की लोकैषणा नही थी. मैने कई बार जान-बूझकर ऐसा किया कि उन्हे वन्दना किये विना ही श्रीमधुकर मुनि को पढाना प्रारम्भ कर दिया किन्तु उनके व्यवहार मे मैने किसी प्रकार परिवर्तन नही देखा ! वे अपने व्याख्यान मे आदर्श व्यक्तियो के चरित्र मारवाडी गीतो मे गाकर सुनाया करते थे सरलहृदय भक्तो पर उनका सीधा प्रभाव पडता था मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि भगवान् महावीर ने लोकभाषा मे उपदेश देने की जो परम्परा प्रारम्भ की थी यह उसका वर्तमान रूप है सस्कृत के श्लोक, लच्छेदार हिन्दी, दार्शनिक चर्चा आदि बाते पाडित्य-प्रदर्शन के लिए भले ही हो किन्तु उनका हृदय पर सीधा असर नही पडता. मीरा तथा सूरदास के सीधे-सादे भजन भावनाओ को जितना तरगित करते है, उतना शकराचार्य या धर्मकीर्ति का शब्दजाल नही कर सकता. सक्षेप मे कहा जा सकता है कि मुनिश्री हृदय की भाषा मे उपदेश देते थे, बुद्धि की भाषा मे नही. उस परिवार में तीन साधु थे—स्वय मुनिश्री, ब्रजलालजी महाराज और श्रीमधुकर मुनि तीनो का परस्पर स्नेह और सहृदयता अभिनन्दनीय थी न उनमे दिखावा था, न मायाचार और न किसी प्रकार का अभिमान ऐसे मुनियो के प्रति हृदय अपने आप झुक जाता है. इस परिवार का एक साथी और था जो साधु न होने पर भी उसका स्थायी सदस्य-सा बन गया था ! वह था, भानजी नाम का जाट ! उस मे सरलता थी और मस्ती थी सदा अपने आपमे तृप्त रहता था उसे देखकर ऐसा लगता था कि यदि जीवन का लक्ष्य सुख है तो वह तृप्ति से प्राप्त होता है जो ज्ञान अतृप्ति को उत्पन्न करता है उस ज्ञान से अज्ञान अच्छा. कवीर का एक दोहा है कि भगवान् स्वप्न अर्थात् अर्ध-निद्रित अवस्था में मिलते है और जागने पर लुप्त हो जाते है ऐसे जागरण से निद्रा अच्छी

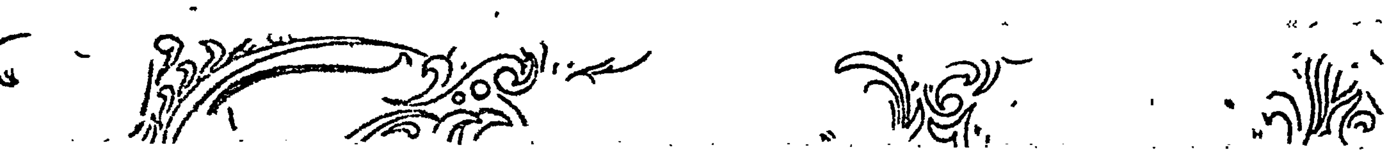
मुनिश्री हजारीमलजी महाराज तथा उनके परिवार का स्मरण प्राय. आता रहता है ग्रथ के द्वारा उनकी स्मृति स्थायी वनाना अभिनन्दनीय है इन शब्दो के साथ उस महापुरुष के प्रति हार्दिक श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ.



मुनि श्रीमल्लजी महाराज

साधुता के गौरीशंकर

आत्मा की चरम उन्नति, अन्तर्वाह्य सयोगो की मुक्ति मे है. समस्त प्राणियो को अपनी आत्मा के समान समझने का उच्चतम भाव सच्चे सन्त मे होता है. इसी आत्मौपम्य वुद्धि के परिणाम स्वरूप सन्त, मनुष्यो के कल्याण-कार्य में जुटे



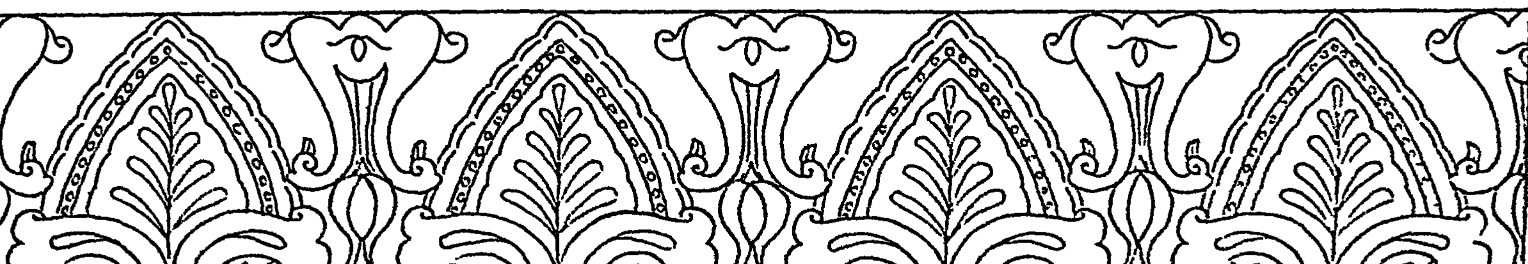
रहते है सन्त मनुष्य की आकृति मे मनुष्यता का बीज बोनेवाला कुशल माली है लोकोत्तर पथ प्रदर्शक ही नही वह इसका शिक्षक भी है. जगत्कल्याण के लिए भीषण से भीषण कष्ट सह कर भी वह सुख के ही दर्शन करता है विलुप्त होती हुई मानवता यत्र-तत्र उपलब्ध हो रही है, उसका सम्पूर्ण श्रेय सन्तो को ही है यदि सन्त-समाज का इस दिशा मे प्रयत्न न होता तो मनुष्य-समाज आज पशुओ की श्रेणी से अलग दृष्टिपथ न होता इसी लिए कहा जाता है कि सन्त मनुष्य में मनुष्य के गुणो का जन्मदाता है महास्थविर श्रीहजारीमलजी महाराज महान् थे उक्त सन्तोचित सभी गुण उनमे विद्यमान थे उन्होने राजस्थान के विभिन्न भागो मे पैदल भ्रमण करके मानव समाज के विकास मे जो योगदान दिया है वह अपूर्व है उसका प्रत्यक्ष अनुभव करने का अवसर मुझे मिला है जब मै उनके विहार-क्षेत्र मे गया तब मैंने देखा कि जैन-अजैन सभी मानवो मे श्री हजारीमलजी महाराज के उपदेश का असर है श्रीहजारीमलजी महाराज का नाम श्रवण करते ही उनके दिलो मे प्रसन्नता छा जाती थी. अपने मधुर स्वभाव से वे हरएक को अपनी ओर आकर्षित कर लेते थे छोटे-से-छोटे साधु भी जब उनसे मिलने जाते तो उसे देखते ही सर्वप्रथम उनके दोनो हाथ जुड जाते और मधुर मुस्कान के साथ स्वागत करते. उनके दर्शन करते समय और बातचीत करते समय अन्तर्मन को अवर्णनीय सन्तोष मिलता था. ऐसे शील तथा मधुर स्वभाव के थे—श्रीहजारीमलजी महाराज.

सादडी सम्मेलन के पहले इस महास्थविर के दर्शन का अवसर मिला था परन्तु सप्रदायवाद के आवरण मे होने के कारण उस महापुरुष को सम्यक् रूप मे पहचान नही पाया था सादडी सम्मेलन मे वह आवरण सर्वानुमति से हटा दिया गया, तब ही भिन्न-भिन्न सप्रदायो मे रहे हुए महास्थविरो के एव महामुनिवरो के निकट सम्पर्क मे आने का मगलमय अवसर मुझे प्राप्त हुआ ज्यो-ज्यो मैं श्रीहजारीमलजी महाराज के परिचय मे आता गया त्यो-त्यो उनमे मेरी श्रद्धा बढती गई

कुचेरा वर्षावास मे उपाचार्यश्री के साथ रहकर आपने सादडी-सम्मेलन-जन्य एकता को मूर्त्त रूप दिया दोनो महापुरुषो का वह अभेद रूप देखकर समाज का मनमयूर नाच उठा कितना अच्छा होता यदि मुझे भी दोनो महापुरुषो की सेवा का अपूर्व अवसर मिलता ? परन्तु उपाचार्यश्री की आज्ञानुसार इस वर्ष, सेवाभावी मुनि सुन्दरलालजी और प्रिय व्याख्यानी मुनि श्रीसुमेरमलजी के साथ—सरदारशहर चातुर्मास करना पडा.

"आज्ञा गुरूणा खलु धारणीया" इस सिद्धान्तवाक्य पर विश्वास होने के कारण मैं सरदारशहर चला गया. भीनासर सम्मेलन मे श्रमणसघीय विधानानुसार उपाचार्य श्री ने मत्री मडल का चुनाव किया महास्थविर श्रीहजारीमल जी महाराज को मत्रीपद मिला उपस्थित सर्व मुनिवरो ने इसका सहर्ष स्वागत किया. किन्तु उस महापुरुष के मुख पर मत्रीपद के कारण प्रसन्नता नही थी उसके मुख को देखकर यही मालूम होता था कि सिर्फ आज्ञाराधना के लिए एव उपाचार्यश्री का सम्मान रखने के लिए ही उन्हे मन्त्रीपद की स्वीकृति देनी पडी है श्रमणसघ के मत्री बनने पर भी छोटे साधु के साथ आपका प्रेम-व्यवहार ज्यो का त्यो बना रहा आपके जीवन का यह एक वैशिष्ट्य था इसी कारण वे मेरी दृष्टि मे महान् थे

भीनासर बृहत्साधुसम्मेलन सम्पन्न होने के पश्चात् परम श्रद्धेय उपाचार्यश्री की आज्ञा से उपाध्याय कवि श्रीअमरचन्द्र महाराज की सेवा मे वर्षावास करने के लिये मैं और मुनि आईदान जी (समदर्शी) चल दिये, उपाध्यायश्री जी महाराज, मत्री हजारीमल जी महाराज के साथ कुचेरा विराजमान थे, हम दोनो मुनि भी कुचेरा पहुँचे मत्रीश्री जी म० का चातुर्मास नोखा क्षेत्र में निश्चित हो गया था. चातुर्मास में सेवा का लाभ मिलेगा यह आशा तो निराशा मे बदल गई परन्तु अब कोई उपाय नही था. फिर भी जितने दिन मत्री श्री जी कुचेरा मे विराजमान रहे, उतने दिन सेवा का एव ज्ञानचर्चा का लाभ तो हुआ ही, परन्तु उस समय यह नही ज्ञात हो सका कि महान् आत्मा के ये मेरे लिये अतिम दर्शन हैं. चातुर्मास के पश्चात् हम दोनो मुनि उपाचार्यश्री की सेवा मे पहुँचे करीब दो महीने तक मैं उपाचार्यश्री जी की सेवा मे रहा उपाचार्यश्री की आज्ञा से मैंने तपस्वी मुनि केशूलाल जी एव शास्त्रज्ञ मुनि गोपीलाल जी इन तीन सन्तो के साथ महाराष्ट्र की तरफ विहार किया भौगोलिक दृष्टि से महाराष्ट्र और राजस्थान मे सैकडो मील का अन्तर है, परन्तु



मत्री श्रीहजारीमलजी म० के दिल में अतर नही था जहाँ सच्चा और स्थायी प्रेम होता है उसमें भौगोलिक अतर बाधक नही होता है यही कारण है कि मत्री श्रीहजारीमल जी महाराज समय-समय पर पत्रो द्वारा मेरी सार-सँभाल अपने जीवन के अन्त तक लेते रहे हैं. हृदय का प्रेम एक बार जिसके प्रति उमडा कि उमडा जब वह कोई पथ नही पाता तो पत्र के माध्यम से प्रेमपात्र के पास पहुँचता है. मत्री श्रीहजारीमल जी महाराज का सहवास भले ही अल्प मिला, परन्तु उनका विशाल प्रेम प्राप्त हुआ है उस प्रेममूर्ति सयमधन, महास्थविर के प्रति आज भी मैं श्रद्धान्वित हूँ.



मुनि श्रीकन्हैयालाल जी 'कमल' न्यायतीर्थ

वे क्या थे ? एक अवलोकन

स्वर्गीय स्वामी श्रीहजारीमल जी महाराज के सान्निध्य में रहने का मुझे सर्वप्रथम शैशवकाल मे सौभाग्य प्राप्त हुआ था. उस समय मैं, अपने गुरुदेव के श्रीचरणो मे शिक्षा प्राप्त कर रहा था मैंने प्रथम बार मे ही उनमें सहज वात्सल्य भावकी झलक पाकर अपना सुकोमल हृदय उन्हे समर्पित कर दिया था. तभी से मैं स्वामीजी महाराज का हो गया था और स्वामी जी महाराज मेरे अपने हो गये थे. उन महामुनि ने मेरे गुरुदेव से विचारविमर्श करके मेरे अध्ययन की व्यवस्थित रूपरेखा बनाकर मुझे ज्ञानालोक की राह दिखलाई थी.

अध्ययन का फल यद्यपि योग्यता है, पर अध्ययन की गहराई का अकन परीक्षा के मापदण्ड से होता है परीक्षा के भय से भी अध्ययन मे मन लगाने वाले कुछ विद्यार्थी होते है इस अपेक्षा को लेकर स्वामी जी महाराज परीक्षाप्रणाली के समर्थक थे. उनकी भावना प्रेरणा से अनेक मुनियो ने कलकत्ता और वाराणसी की परीक्षाएँ दी थी. राजस्थानी मुनियो का यह प्रथम प्रयास था मैं भी उनमे से एक था उस समय एक वर्ग-विशेष ने इस परीक्षा-पद्धति का कठोरतम विरोध भी किया

स्वामी जी म० ने उस थोथे विरोध की परवाह नही की और हमे अध्ययन के प्रति निष्ठावान् बनाया. हमारे अध्ययन का क्रम ठीक तरह चलता रहे, इस दृष्टि से प० बेचरदास जी दोशी बुलाये गये प्राकृत भाषा और जैनागमो का अध्ययन हम दोनो[1] ने प्रारम्भ किया. आज हम जो कुछ बन पाये है, यह उन्ही महामनीषी सन्त की कृपा का प्रसाद है. राजस्थान के स्थानकवासी समाज मे हमारी इस प्रकार की अध्ययन-प्रणाली को लेकर काफी उखाड़-पछाड के प्रयत्न हुए पर वे सब स्वामी जी म० की दृढता से अस्थानीय ही सिद्ध हुए. हमारी विद्याध्ययन की रुचि अधिकाधिक अग्रगामी हुई. उनका विरोध हमारे लिए वरदान साबित हुआ

यद्यपि स्वामी जी म० अत्यन्त विनम्र व अनाग्रही थे परन्तु अपने प्रगतिशील विचारो के प्रति अत्यधिक आग्रहशील भी थे. अच्छे-अच्छे धनपति भी अनुचित दबाव डाल कर उनको अपने विचारो से नही डिगा सकते थे. एक सस्कृत कवि की यह उक्ति उनके प्रति यथार्थ चरितार्थ हो रही है—

> वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि ,
> लोकोत्तराणां चेतांसि, को हि विज्ञातुमर्हति !

वे श्रुत, वय और दीक्षा स्थविर होते हुए भी पारस्परिक व्यवहार में अत्यधिक उदार विचार रखते थे. आगन्तुक सन्त चाहे दीक्षा मे कितने ही छोटे क्यो न हो, वे उनके स्वागत के लिए बहुत लम्बी दूर चले जाते थे. लघुत्व भाव की

---

१ मुनि श्रीमधुकरजी और लेखक.




साधना इतनी ऊँची थी कि उनके मधुर व्यवहारो से छोटे सन्तो के हृदय मे सहज आत्मिक भाव जाग उठता था. छोटे सन्तो से वे मिलते, उनकी समस्याएँ समझते और उन्हे योग्य मार्ग अपनाने का दिशासकेत करते

उनसे श्वेताम्बर, दिगम्बर, तेरापथी वीसपथी आदि जैनधर्म की शाखाओ के सन्त तो मिलते-जुलते ही, परन्तु कबीरपन्थी या दादूपन्थी, जो मिलता वह उनका अनुरागी बन जाता, क्योकि वे समन्वयवादी विचारधारा के सपोषक थे यही कारण है कि नागौर, कुचेरा, खजवाना, रूण आदि के आसपास के छोटे-बडे सभी गाँवो मे जैनेतरो के द्वारा भी जैनो के समान ही उनका सर्वत्र स्वागत सत्कार और सम्मान होता था

अपने आस-पास श्रावक, श्राविकाओ का जमघट होना उन्हे पसन्द नही था वे सदा उन्मुक्त वातावरण मे रहना ही पसद करते थे श्रमण-जीवन का मौलिक प्रेरक सूत्र उनके जीवन मे साकार हो उठा था 'काले काल समायरे" यह उनके जीवन का अत्यधिक प्रिय मत्र रहा है उनके मन में यदा-कदा एकान्तवास का सकल्प आता तो वे हमे कहा करते—स्वाध्याय करते समय जब मै गुणशील उद्यान, श्रीवन उद्यान आदि मे ठहरे हुए श्रमण-निर्ग्रंथो के जीवन की झलक पाता हूँ तो मेरा मन अतीत के श्रमण-जीवन की परिकल्पना मे ऐसा निमग्न हो जाता है कि मानो थोडी देर के लिए सहज समाधि मे लीन हो गया हूँ. विहार करते समय जब वे जगल मे ठहरते तो अपूर्व शान्ति एव समाधि का अनुभव करते थे उन्होने अनेक बार कहा था—मै चाहता हूँ—मेरा अतिम जीवन एकान्त शान्त वातावरण मे बीते,स्वामी जी म०की यह भावना साकार हो कर ही रही उनका स्वर्गगमन एक छोटे-से ग्राम (नोखा चदावतो का, मेडता, मारवाड) मे ही हुआ.

इस प्रकार स्वामी जी म० अपने सुदीर्घ श्रमण-जीवन मे अनेक साधको की प्रगति के प्रेरणास्रोत रहे प्रगतिवादी विचारधारा की अमूल्य निधि हमे सौप गये

मेरे श्रमण-जीवन के धाता-विधाता आदि से अन्त तक स्वामी जी महाराज थे अत परम श्रद्धेय उन विद्यानुरागी गुरु प्रवर के प्रति मेरा मस्तक नत है. युग-युग तक नत रहेगा.

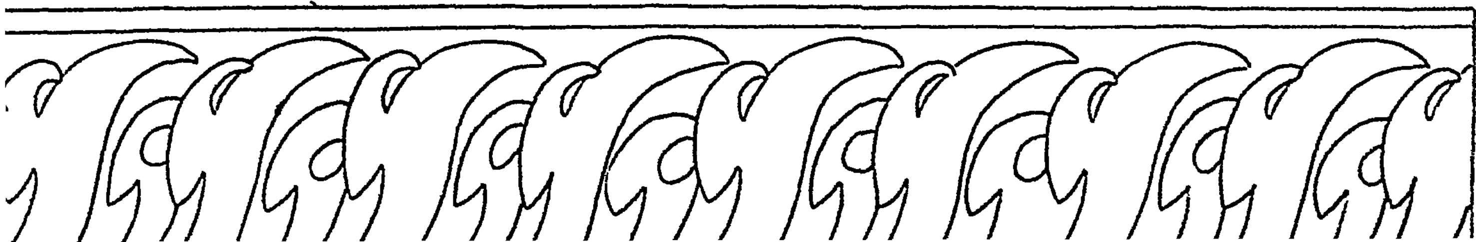


श्रीसुरेशमुनिजी महाराज
शास्त्री, साहित्यरत्न

मधुर मिलन : मधुर स्मृति

जीवन की डगर पर चलता हुआ यात्री अनेक व्यक्तियो से साक्षात्कार करता है उनमें कुछ व्यक्तित्व तो ऐसे होते है, जो सिनेमा की तस्वीर की तरह सामने आते है और चले जाते है ! उनके मिलन मे कुछ स्थायित्व नही होता. किन्तु कुछ व्यक्तित्व ऐसे उजागर होते है, जो अपनी एक ही झलक से, मन को मुग्ध कर जाते है, अन्तर मे गहरे उतर जाते है और मानस-पटल पर अपनी तेजोमय स्मृति की ऐसी रेखाएँ छोड जाते है, जो मिटाये नही मिटती, भुलाये नही भूलती.

बात पुरानी है सन् १९५० की समझिए ! उपाध्याय कविरत्न श्रीअमरचन्दजी महाराज का वर्षावास ब्यावर मे था. ब्यावर के सघ मे उन दिनो साम्प्रदायिक तनाव अपने यौवन पर था सन्तो मे भी और गृहस्थो मे भी. एक ओर पूज्य जवाहरलालजी महाराज के सम्प्रदाय वालो का जोर-शोर, दूसरी ओर श्रीचौथमलजी महाराज की मान्यता वालो का बोलबाला और तीसरी ओर स्थानकवाला पक्ष यानी पूज्य जयमलजी महाराज की परम्परा वालो की लहर-बहर. इस साम्प्रदायिक तनाव-खिचाव के विष को कम करने के लिए ही, अखिल भारतीय एस० एस० जैन कान्फरेन्स के कुछ प्रमुख तत्त्वो तथा ब्यावर के समूचे सघ के सामूहिक अनुरोध-आग्रह पर ही, कविश्री का वर्षावास ब्यावर मे स्वीकार



हुआ था और सघ की इस मौलिक तथा दूरगामी भावना को मूर्त करने के लिए ही उपाध्याय कविरत्न श्रीअमरचन्दजी महाराज, उमेशमुनि विजयमुनि तथा इन पक्तियो का लेखक—हम चारो सन्त आगरा से दिल्ली और दिल्ली से व्यावर की कठिन-कठोर यात्रा करके उस नयी दुनिया मे पहुँचे थे.

व्यावर-क्षेत्र और वहाँ का रगीला वातावरण हमारे लिए एकदम नया था ! हम भी बिल्कुल नए—सर्वथा अपरिचित ! पर, उस रगीन और सगीन वातावरण मे भी हम प्रसन्न और मस्त !

सन्तो के तीन पक्ष तो वहाँ पहले मौजूद थे ही इधर से हम पहुँच गए, नए पछी—तटस्थ—बिल्कुल निष्पक्ष ! उन तीनो पक्षो का आपस मे कोई ताल-मेल नही, और हमारा सब से मेल-जोल, बोल-चाल, वार्ता-व्यवहार, हिलन-मिलन यानी हम सबके और सब हमारे । तटस्थता की नीति इसीलिए तो स्पृहणीय तथा उपादेय है कि, वह व्यक्ति-व्यक्ति, समाज-समाज तथा राष्ट्र-राष्ट्र को मिलाती है, जोडती है, एक मच पर बिठाती है, सह-अस्तित्व एव सह-जीवन का पाठ पढाती है.

उन्ही दिनो प्रवर्त्तक श्रीहजारीमलजी म० से हमारा मिलन हुआ. क्षमापना का पावन दिन था हम मिले, घुल-मिल कर मिले. तन से मिले, मन से मिले, लहर से मिले, बहर से मिले, वन्दना क्षमापना की प्रथा चली, भावना की उमग चली, वार्ता-व्यवहार का दौर चला. खुलकर दिल के अरमान निकले-निकाले

और, मैंने देखा, जैन-जगती के महान् सन्त श्रीहजारीमलजी महाराज के चेहरे पर एक प्रसन्न आभा खेल रही थी. उनका रोम-रोम खिल रहा था. उनके मनकी प्रसन्न लहर उनकी वाणी पर थिरक रही थी. मधुर-मिलन की उस वेला में हम भी प्रसन्न, वह भी प्रसन्न, दर्शक भी प्रसन्न ! आस-पास के वातावरण पर प्रसन्नता तैर रही थी.

उस सहज-शान्त जीवन, सरल-सौम्य व्यक्तित्व तथा निश्छल-सात्विक स्वभाव की एक मधुर-स्मृति आज भी मेरे मन-मानस मे घूम रही है, आँखों के सामने झूम रही है ! और, उनके पुनीत चरण-कमलो मे अपनी भाव-प्रवण श्रद्धाजलि अर्पित-समर्पित करते हुए, अन्तर्मन एक अमाप्य हर्ष की अनुभूति कर रहा है !



मुनिश्री नेमचन्द्रजी महाराज

सरलात्मा श्रीहजारीमलजी महाराज

बहुत दिनो से नाम सुना था. आँखें उनके दर्शनो की प्यासी थी मीराबाई के प्रसिद्ध भक्तिस्रोत मेडता नगर मे सर्वप्रथम उनके दर्शन हुए. मैंने उन सरलमति, सरलगति और सरल हृदय के दर्शन किए आँखे अभी तक अतृप्त थी, चाहती थी कि उनके साथ बातचीत करके उनके वचन और हृदय की थाह ली जाय । बातचीत की पहल मैंने ही की—'आप सुख शान्ति मे है, महाराज ! उन्होने प्रसन्नतापूर्वक प्रत्युत्तर मे कहा · 'हा देवगुरु—धर्म के प्रसाद से आनन्द है. आप सन्तो के सुखसाता तो है न ?' बस, फिर तो लगभग आध-पौन घण्टे तक हमारी दिन चर्या, अध्ययन, प्रगति आदि के बारे मे बाते चली. इन बातो मे उन्होंने सरलभाव से, प्रसन्न मुखमुद्रा मे हमारे जीवन के विकास के लिए दिलचस्पी ली फिर तो मेडता मे जितने दिन रहे, कुछ न कुछ चर्चा सहजभाव से चलती रही इसके बाद व्यावर मे कई बार स्वामीजी महाराज के दर्शन हुए, मिलन हुआ

मैंने देखा कि वे अलग उपसम्प्रदाय (स्थानकवासी सम्प्रदायान्तर्गत) के होते हुए भी कदापि साम्प्रदायिकता को उत्तेजित करनेवाली या छिद्रान्वेषण करने की एक बात भी नही करते थे.

व्यावर वैसे साम्प्रदायिक तनाव का गढ है. और वहाँ साम्प्रदायिकता के तत्त्व, समय-समय पर दोष-छिद्र ढूँढने की दृष्टि





से मडराया करते है किन्तु स्वामीजी महाराज इन तत्त्वो से सतर्क रहा करते थे और जब भी साम्प्रदायिक मसला आता तो उनकी सरलात्मा उसे स्वीकार नही करती थी वे नही चाहते थे साम्प्रदायिक मोह मे घुटना, वे नही चाहते थे साम्प्रदायिक प्रतियोगिता मे उतरना वे नही चाहते थे बाह्याडम्बर द्वारा जनमानस को आकर्षित करना !

वे चाहते थे सबके साथ मिल-जुलकर रहना, एक-दूसरे के आत्मोत्थान मे सहायक बनना, एक-दूसरे के गुणो से प्रेरणा लेना यही कारण था कि जहाँ साम्प्रदायिकता-ग्रस्त साधु दूसरे सम्प्रदाय या उपसम्प्रदाय के साधु के विशिष्ट गुणो को प्रत्यक्ष देखते हुए भी ग्रहण करने से या उन्हे प्रतिष्ठा देने से हिचकिचाते, वहाँ स्वामीजी महाराज गुणग्राही थे गुण प्रशसक थे 'गुणिषु प्रमोदम्' की भावना उन्होने जीवन मे चरितार्थ कर बताई थी 'उनकी सरलता दिखाऊ नही थी.' प्रदर्शन करना तो उन्हे पसन्द ही न था उनकी सरलता हृदय के आचरण से, नम्रवाचा से भी प्रकट होती थी ऐसा मालूम होता है कि उनकी सरलता एव गुणग्राहिता मानो गुरुभ्रातृयुगल, (ब्रजलालजी महाराज व मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर')मे प्रतिबिम्बित हुई हो काश ! स्थानकवासी सम्प्रदाय का जैन साधु वर्ग उन सरलात्मा का पथानुसरण करता.



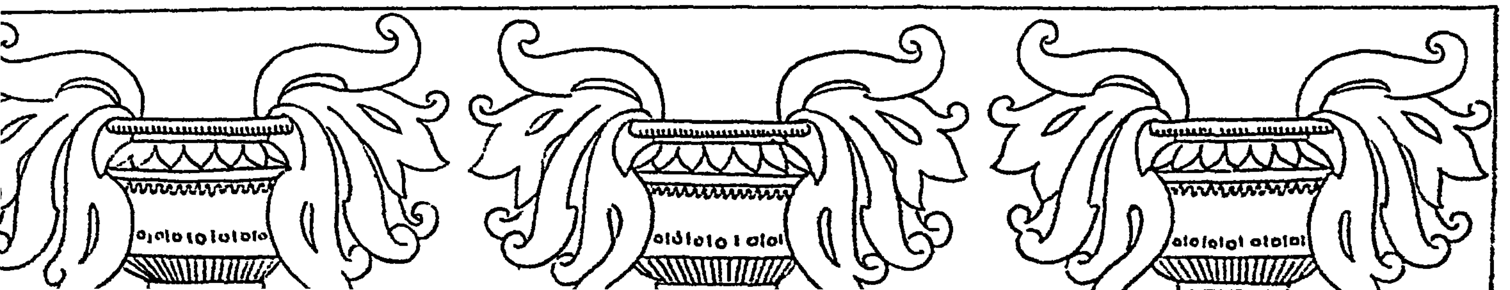
श्रीउमेश मुनिजी

श्रमण परम्परा के गौरव : श्रद्धेय मुनिहजारीमलजी

हमारी गौरवशालिनी मातृभूमि सन्तो, मुनियो, ऋषियो और महात्माओ की तपोभूमि रही है इसे मर्यादापुरुषोत्तम राम, महान् कर्मयोगी कृष्ण, महान् आत्म-साधक तथा आत्मवेत्ता श्रमण भगवान् महावीर और महात्मा गौतम बुद्ध जैसे मानव-रत्नो की अध्यात्म-क्रीडास्थली तथा आत्म-साधना भूमि होने का असाधारण गौरव प्राप्त है इसे हम योग-भूमि कहने मे भी सकोच का अनुभव नही करेंगे इसके कण-कण मे आज भी सन्त-साधना का साक्षात्कार कराने की क्षमता है, यदि कोई इसे जाने, पहचाने और माने तो ! इतिहास इस बात का साक्षी है कि एक साधारण से साधारण गृहस्थ के द्वार से लेकर बडे-से-बडे सम्राटो के राज-प्रासादो ने सन्तो की चरण-धूलि से अपने आपको सौभाग्यशाली माना है. फलत. हमारी सस्कृति और सभ्यता पर उनकी अमिट छाप का पडना सहज स्वाभाविक था. इसीलिए विद्वज्जगत् मे भारतीय-सस्कृति को सन्त सस्कृति के नाम से प्रसिद्ध होने का गौरव प्राप्त हुआ है परिणामत. हमारी सास्कृतिक परम्पराओ पर आज भी सन्तो की छाप अवशिष्ट है

एक समय था, जब भारत मे सन्तो का प्रत्येक क्षेत्र पर वर्चस्व था. वह एक तरह से भारत का निर्माता और जनता का निर्देशक बनकर यहाँ के मैदानो मे नि सग भाव से इधर से उधर अर्थात् कश्मीर से कन्याकुमारी तक घूमा, और खूब घूमा ! भारतीय परम्परा के अनुसार सन्त-समाज घुमक्कडो का समाज रहा है जो एक प्रान्त की परम्पराओ को साथ जोडने मे और राष्ट्र को एकरूपता प्रदान करने मे एक महत्त्वपूर्ण कडी का कार्य सम्पादित करता रहा है इसीलिए वह भारतीय वाङ्मय मे परिव्राट् या परिव्राजक के नाम से सम्बोधित किया गया है

प्रागैतिहासिक काल पर जब हम दृष्टिपात करते है तो वहाँ भी हमे साधारण गृहस्थ की समस्याओ से लेकर बडी-बडी राजनीतिक उलझने को सुलझाने मे सन्त-परम्परा एक बहुत ही शानदार पार्ट अदा करती हुई नजर आती है. उस समय सन्तो ने राजनीति में भी प्रवेश किया, परन्तु तटस्थ भाव से, तथा जन-हित और जन-कल्याण के भाव-लहरी को हृदय मे सँजोकर. वह किसी निजी स्वार्थ या राजसत्ता के प्रलोभन से खिचकर इधर नही आया, वरन् जनता-जनार्दन की सेवा का ही मुख्य लक्ष्य था—उसका लक्ष्यबिंदु था पथ-भ्रष्ट मानव को सही मार्गदर्शन कराना, उसके जीवन का दिग्भ्रम मिटा कर सही दिशा-निर्देश करना इस रूप में वह सच्चे अर्थ मे एक पथ-प्रदर्शक था, गाइड था, हर दिशा और हर क्षेत्र का



जब हम इतिहास की गहराई में पैठ कर उसका पर्यालोचन करते है तो इस सत-परम्परा मे ही एक अन्य और विशिष्ट परम्परा के दर्शन होते हैं, जो कि श्रमण परम्परा के नाम से जानी, मानी और पहचानी जाती है इसमे जैन और बौद्ध दोनो परम्पराओ के भिक्षुओ का समावेश हो जाता है.

जब जैन परम्परा के भिक्षुओ की जीवन-चर्या की ओर हम नजर दौडाते है तो हमें वहाँ बहुत ही कठिन-कठोर मर्यादाओ से आवद्ध जीवन के दर्शन होते है इसीलिए जहाँ दूसरी परम्पराओ के सन्त केवल राजनीति मे ही उलझ-पुलझ कर रह गए, वहाँ जैन भिक्षु एकात आत्म-साधना का पथिक बन विचरण करता रहा. उसका क्षेत्र अध्यात्म-साधना रहा. यदि उसने जन-जीवन से सम्पर्क भी स्थापित किया तो वह भी आत्म-साधना के मार्गदर्शक के रूप मे उसने भौतिक ससार की ओर नही, वरन् सच्चे आत्म-सुख और सच्ची शान्ति द्वारा प्राप्त होनेवाली मोक्ष की पगडडी-की ओर जन-मानस को उत्प्रेरित किया. उसने भुक्ति नही, मुक्ति की ओर मानव को अभिमुख रहने की सतत प्रेरणा प्रदान की

हमारे श्रद्धेय श्रीहजारीमल जी महाराज भी अध्यात्म-पथ के पथिक जैन भिक्षुओ की वर्त्तमान परम्परा मे अपनी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर गये हैं.

सन्तो के निधन पर शोकसतप्त होना हमारी सास्कृतिक परम्परा के अनुरूप नही है सन्त का मरण तो मरण-महोत्सव है. सन्त इस दुनिया मे रहता है तब भी अपनी साधना की मस्ती मे मस्त रहता है और जब वह पार्थिव शरीर को छोड कर अगली दुनिया के लिये प्रयाण करता है, तब भी खुशी-खुशी आनन्द की लहरो मे अपने लक्ष्य-बिन्दु को दृष्टि मे रख कर जाता है क्योकि उसके मानस-सागर मे अपनी साधना और कृतित्व के प्रति पूर्ण विश्वास और दृढ आस्था की वेगवती लहरे रहती है ये लहरे उसे अनास्था और अविश्वास के कूडे-करकट की गदगी से बचाए रखती है यह उसकी मौत नही—जिसको कि मोह-पाश से आवद्ध यह सासारिक प्राणी मौत समझने की भूल किया करता है वरन् लक्ष्य-प्राप्ति की ओर एक बढता हुआ लौह-चरण होता है यह एक सर्वविदित तथ्य है कि जब मानव अपने अभीप्सित लक्ष्य की ओर आगे बढ चलता है तो वह प्रयाण उसके और उसके स्नेहियो के लिये एक खुशी का पैगाम होता है.

श्रद्धेय श्रीहजारीमलजी म० भी इस नश्वर देह को छोड कर उस अनश्वर लक्ष्य की ओर एक कदम और आगे बढ गये. ऐसा हमे उनके प्रति दृढ विश्वास और आस्था होनी चाहिये.

मानवजीवन का पुष्प इस संसार के उद्यान में पुष्पित होता हे और एक दिन मुरझा कर परिसमाप्ति की ओर बढ जाता है फूल एक नन्ही सी कलिका के रूप में खिलता है, महकता है और अपने आस-पास के वातावरण को सुगन्धित से भर-भर देता है. उसकी इस सुरभि से अपना कहा जानेवाला माली और उद्यान से बाहर की दुनिया भी परिचि हो जाती है ऐसे ही कुछ विशिष्ट मानव भी उच्च श्रेणी में लाकर खडा कर देते है अपने आपको उनके जीवन-गुणो की सुगन्ध भी हर पास आने वाले, या दूर से ही गुजर जाने वाले के मन-मस्तिष्क को सुरभि से परिप्लावित किए बिना नही रहती. वह जन-जन के मन में आत्म-परिचय की छाप छोड जाता है. जीवन-सम्पादन का जीवित आदेश देते हुए एक उर्दू के शायर के शब्दो मे यूँ समझ लीजिए—

"फूल बन कर महक, तुझको ज़माना जाने,
तेरी भीनी खुशबू को, अपना बेगाना जाने !

बस, यही जीवन जीने की कला है. जिसको हमारे श्रद्धेय श्रीहजारीमल जी महाराज ने प्राप्त किया था, भारतीय सस्कृति मे विरासत के रूप में उन्होने जीवन को जिया, खूब जिया बडे ही कलात्मक ढग से. वे इस ससारोद्यान के एक ही सुन्दर सुगन्धित पुष्प थे. जीवन-तरु की डाली पर रहे तब भी महक का अक्षय भडार जन-हित के लिए मुक्तकर से लुटाते रहे और जब डाल से पृथक् हुए तब भी अपनी जीवन-दर्शन-सुरभि से सुवासित करते रहेगे, जो कि आने वाली पीढी के लिए गौरव की बात होगी ऐसा मेरा उनके प्रति श्रद्धापूर्ण विश्वास है

उन्होंने कब और कहाँ जन्म लिया ? उनका शैशव कैसा बीता ? उनके माता-पिता कौन थे ? उन्होने किस जाति, कुल

या वर्ग मे आखे खोली ? इन प्रश्नो से हमे यहाँ कोई विशेष सरोकार नही हमे तो केवल इतना ही देखना और जानना है कि उन्होने क्या कुछ प्राप्त किया इस निर्ग्रन्थ श्रमणपरम्परा मे अपने आपको दीक्षित-शिक्षित करके ? क्योकि हमारी गौरवशाली जैन सास्कृतिक परम्परा हमे वाह्यदर्शन के लिए नही, वरन् अन्तर्दर्शन के लिए प्रेरित करती है

उनकी अध्यात्म-साधना का काल काफी लम्बा रहा है गणना की दृष्टि से उनकी अध्यात्म-साधना के चौसठ वर्ष अपना कुछ अर्थ रखते है, आज के इस विलासिता-प्रधान भुक्ति-युग मे ! इस लम्बी अवधि मे उन्होने वहुत कुछ उपलब्ध किया होगा उनका यह अनुभव-प्रकाश साधको के मार्ग-दर्शन का कार्य कर सकता है, यदि उसका सही मूल्याकन कर, उनका शिष्यवर्ग जन-मानस तक उसे पहुँचाने का सत्प्रयत्न करे

वे न तो शब्द-जाल के महारण्य मे भटकने वाले कोई वैयाकरणी ही थे, और न वाल की खाल उतारने वाले नैयायिक ही, और न वे दर्शन की गहन गुत्थियो मे उलझने वाले दार्शनिक ही थे वे तो एक अध्यात्म-निष्ठ सरलमना लोकोत्तर प्रवृत्ति के सन्त थे इस बात का अनुभव मुझे उनके साथ की गई कुछ समय तक की वीर-भूमि मेवाड की सहयात्रा मे हुआ अध्यात्म-रस मे पगे दोहे और पद जव कभी वे तरगित हृदय से गाते थे तो मन-मयूर मस्त हो, मार्ग की सव थकावट भूल, नाच उठता था कभी-कभी तो वे छोटे-छोटे दोहो के माध्यम से राजपूती इतिहास की वडी ही सुन्दर सुनहरी कडियाँ खोलकर सामने रख देते थे उनकी वह सूक्तियाँ उस शुष्क पर्वतीय यात्रा को भी रसमय वना देती थी वे अतीत की घटनाएँ अपने मे सँजोये मौन पर्वत भी उनके मुख से मुखर हो अपने इतिहास की वीर-वाणी हमारे कर्ण-कुहरो मे डाल देते थे उन्होने जो एक सच्चे हितैषी की सी सहृदयता और एक वालक-सी निश्छलता तथा सरलता प्राप्त की थी, वह प्रत्येक साधक के लिए स्पृहणीय है यह शिशु की सी सरलता, भद्रता और भव्यता ही उनका व्याकरण था, यही उनका न्याय और दर्शन-शास्त्र था थोडे ही शब्दो मे उनका जीवन सागर की तरगो पर साहस की विजली के प्रकाश मे बढते हुए नाविको के लिए एक प्रकाशस्तम्भ था जिसके प्रकाश मे प्रत्येक नाविक अपना मार्ग स्वय ढूँढ लेता है इस अनूठे जीवन सत्य को उर्दू के शायर के शब्दो मे यूँ समझ लीजिए

"खुशनुमा दुनिया में वो हाजत रवा मीनार है !
रोशनी से जिनकी मल्लाहों के बेडे पार हैं !!"

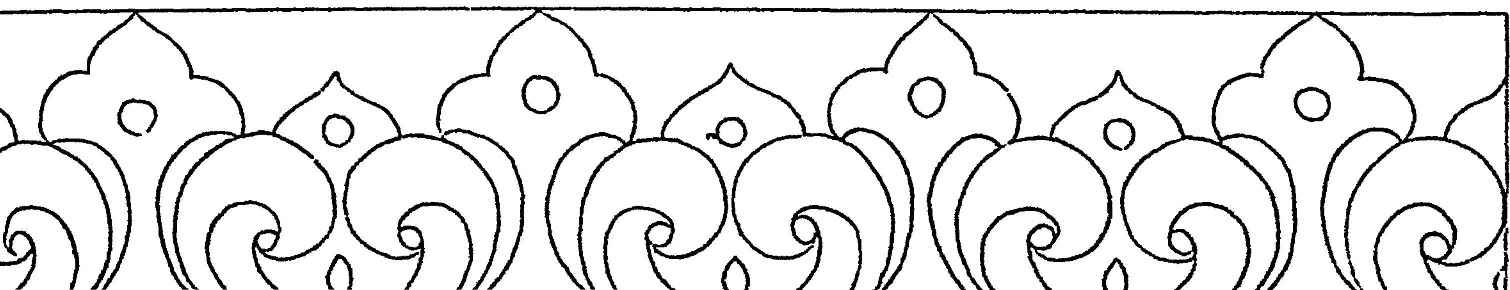
श्रीविजयमुनिजी, महाराज
शास्त्री, साहित्यरत्न

श्रमण सघ की विमल विभूति श्रद्धेय हजारीमलजी

मनुष्य के मन का विचार नि सन्देह मनुष्य से ऊँचा होता है जीवन मे उसे छूने का प्रयत्न ही साधना है आरम्भ अन्तर्जगत् से होता है और धीरे-धीरे वहिर्जगत् मे उसका विस्तार होता है वृक्ष का फैलाव वाहर होकर भी उसकी जडें धरती मे समाई रहती है. मनुष्य का वाहरी जीवन, उसके विचार-बीज मे से फूटता है भारतीय सस्कृति मे 'सन्त' विचारो का केन्द्र माना जाता है.

भारत की पुण्य-भूमि मे समय-समय पर सन्त पुरुषो के आगमन ने यहाँ की मिट्टी और हवा में अपने जीवन से, अपने उज्ज्वल कर्म से और अपनी वाणी से जो सस्कार-बीज वोये थे, वे आज भी त्याग, तपस्या और ज्ञान के रूप मे यहाँ पर अकुरित है भारत ने सदैव ही सम्राट् के चरणो मे नही, सन्त के पावन चरणो मे ही अपना मस्तक झुकाया है. इस प्रकार सन्त-जीवन, भारतीय सस्कृति का केन्द्र-विन्दु रहा है

स्थानकवासी समाज के युग-पुरुषो की लम्बी परम्परा ने समाज को वहुत कुछ दिया है युग-पुरुषो की उसी लम्बी



परम्परा की एक बेजोड कडी थे-मन्त्रि प्रवर, श्रद्धेय हजारीमल जी महाराज अभी कल तक वे हमारे मध्य में थे, पर आज नही रहे उस विमल विभूति के वियोग ने समाज को अनाथ बना दिया है 'वे आज नही रहे'—इस तथ्य को मानने ने भले ही हमारा भक्ति-परायण मन विद्रोह करे, फिर भी यह सत्य है, कि उनका भौतिक रूप अब हम न देख सकेंगे. उनका अध्यात्मरूप हमारे कण-कण मे रम चुका है अत' उस विमल विभूति का भौतिक वियोग होकर भी आज अध्यात्मयोग हमारे जीवन के साथ है. फिर शोक क्यो ? अग्रेजी साहित्य मे मनुष्य-जीवन के लिए दो वाक्यो का प्रयोग किया जाता है— A man is mortal and a man is immortal अर्थात् मनुष्य मरणशील है, और मनुष्य अमर भी है जैन-दर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु, फिर भले ही वह चेतन हो अथवा अचेतन—पर्याय-दृष्टि से अनित्य होती है, और गुण-दृष्टि से नित्य श्रद्धेय हजारीमलजी महाराज, आज नही होकर भी हैं और होकर भी आज नही रहे. भक्त-हृदय की मोह-बुद्धि उनके भौतिक वियोग को देखकर शोक, विषाद और परिताप करती है

निश्चय ही श्रद्धेय मन्त्री जी महाराज महान् थे क्योकि महान् बनने के लिए जिन गुणो की आवश्यकता है, वे समस्त गुण उनमे विद्यमान थे आप कह सकते हैं, और जैसा कि कुछ लोग कहेगे कि वे महान् नही थे क्योकि न तो वे प्रवक्ता थे, और न नामी लेखक ही, परन्तु मेरी दृष्टि मे महानता के उक्त दोनो लक्षण सर्वथा निरर्थक है विशेषत तब, जबकि विचार मे उदारता न हो, वाणी मे मधुरता न हो और व्यवहार मे शिष्टता न हो.

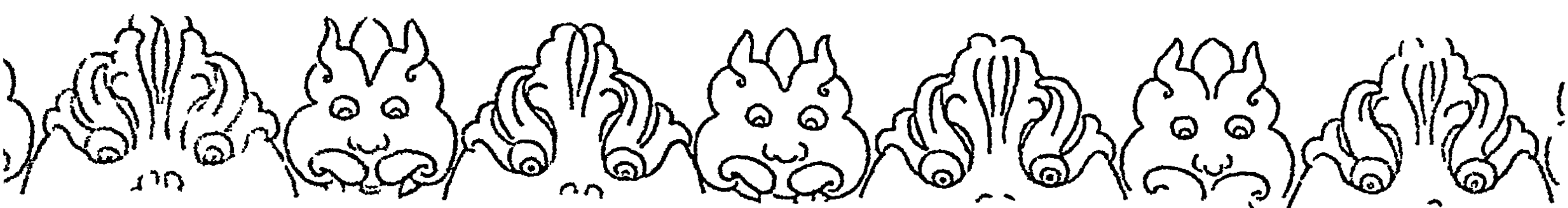
जो लोग उस विमल विभूति के सान्निध्य मे रहे है, वे इस तथ्य को भली-भाँति जानते है, कि स्वामी जी महाराज का जीवन हिमालय से भी ऊँचा था, और सागर से भी अधिक गम्भीर था उनके मन की गरिमा ने और वाणी की मधुरिमा ने तथा उनके कर्म की महिमा ने जन-जन के जीवन को भावित किया था, पवित्र किया था और विशुद्ध किया था वे मन से पवित्र थे, हृदय से सरल थे, बुद्धि से प्रखर थे और व्यवहार से मधुर थे. क्या सन्त और क्या गृहस्थ वे सबसे सहज स्नेह करते थे. उनके जीवन-कोष मे कोई भी पराया न था, सब अपने थे सबको प्यार करना, सबको प्रेम करना, जैसे उनका जीवन-व्रत ही था.

नाम तो उनका पहले भी अनेक बार सुना था और वह भी इस रूप मे कि मरुधरा के तेजस्वी आचार्य, परम श्रद्धेय जयमलजी महाराज के प्रतिनिधि के रूप मे आज भी एक ज्योति अपना प्रकाश विकीर्ण कर रही है, जिसे लोग 'हजारी मलजी महाराज' के नाम से जानते, पहचानते, और मानते हैं एक युग था, जब कि समग्र मरुभूमि पर पूज्य श्री जय मलजी महाराज का धर्म-शासन ही स्वीकार किया जाता था उसी पावन परम्परा की विमल विभूति थे 'स्वामी जी महाराज' इस विमल विभूति का प्रथम दर्शन मुझे ब्यावर में सन् १९५० मे हुआ था. पूज्य कवि जी महाराज कुन्दन-भवन मे और स्वामीजी महाराज ठहरे थे स्थानक मे. पूज्य उपाध्याय श्रीअमरचन्द्रजी महाराज श्रद्धेय हजारीमलजी महाराज के दर्शनार्थ स्थानक मे पधारे थे तभी मैंने पहली बार उस विमलविभूति के पुनीत दर्शन किए थे तब मैंने यह कहा था—

> 'दूरेऽपि श्रुत्वा भवदीय-कीर्तिं, कर्णौ तृप्तौ न च चक्षुषी मे !
> तयोर्विवाद परिहर्तुकामः समागतोऽहं तव दर्शनाय !!

पूज्य प्रवर ! दूर बैठे-बैठे, अपने कानो से आपका शुभ नाम तो सुना था. परन्तु जो कुछ सुना था, नेत्र उसपर इसलिए विश्वास नही करते थे, क्योकि इन्होने आपका पवित्र दर्शन नही किया था. आज आपका दर्शन पाकर मै परम प्रसन्न हूँ. इसलिए कि मैंने जैसा सुना था, उससे भी अधिक सुन्दर रूप मे आपको देखा है आज आपको देखकर मैंने अपने श्रोत्र और नेत्र के चिर विवाद को समाप्त कर दिया है.

ब्यावर वर्षावास मे बोया गया स्नेह-बीज कुछ इस रूप मे अंकुरित एव पल्लवित हुआ कि वर्षावास के बाद भी पूज्य गुरुदेव की मेदाड़यात्रा मे उनके साथ ही रहे और साथ ही ब्यावर वापस लौटे. भीनासर सम्मेलन मे भी आपके दर्शन हुए. सम्मेलन से लौटते हुए नागौर से कुचेरा पूज्य अमरचन्द्र जी महाराज को आप ही ले गए थे. हमारा कुचेरा वर्षावास



आपकी पुण्य-प्रेरणा का ही शुभ परिणाम था जयपुर मे आपने एक वर्षावास भी उपाध्यायजी महाराज के स्नेहवश ही किया था

मुझ जैसे एक अकिंचन व्यक्ति पर भी आपका अत्यत स्नेह था स्नेह की अपार सम्पत्ति, आपसे पाकर मैं तव भी धन्य था, और आज भी अपने आपको भाग्यशाली मानता हूँ मै आपके उन असाधारण गुणो पर मुग्ध हूँ जो अन्यन्त्र दुर्लभ है बड़प्पन के भार को ढोनेवाले वडो की आज भी कमी कहाँ है ? परन्तु दम्भ-रहित होकर जीवन जीने की कला आपसे कोई सीखे. भीनासर सम्मेलन मे मत्री-पद पाकर भी आपने कभी उसका अहकार नही किया और अपने पद का दुरुपयोग भी नही किया, जबकि अपने पद का अहकार करनेवाले और उसका दुरुपयोग करनेवाले सन्त, आज भी अपने समाज मे विद्यमान है

श्रद्धेय हजारीमलजी महाराज प्रकृति से सरल थे, मन से उदार थे और वुद्धि से विचक्षण थे गभीर विचार करना उनका सहज स्वभाव था मधुर वाणी और कोमल व्यवहार करना उनका सहज धर्म था न कभी किसी की निन्दा करना और न किसी की चापलूसी करना, उनका प्रकृति-सिद्ध गुण था जो भी उनके निकट आया, उनका होकर ही लौटा उनकी आत्मीयता की परिधि बहुत विशाल और व्यापक थी वहाँ पर सब 'स्व' थे, कोई भी 'पर' न था मधुर वाणी होने के कारण वे कभी किसी के साथ अप्रिय व्यवहार नही करते थे सबके हित मे ही वे अपना हित समझते थे सघ-हित मे और समाज-एकता मे उन्हे गहरी निष्ठा थी श्रमण-सघ से उनका सच्चा प्रेम था सघ-विरोधी लोगो की हरकतो को वे पसन्द नही करते थे स्वामीजी महाराज अवस्थासे वृद्ध होकर भी नये विचारो का समर्थन करते थे समाज और सघ का हित ही उनका लक्ष्य था भले ही वह नये विचार से हो अथवा पुराने विचार से यह है उनके अतरग जीवन का परिचय

शरीर दुबला-पतला होकर भी कद्दावर था गेहुँआ वर्ण मुस्कानभरा चेहरा हृदय की सरलता और सरसता को अभिव्यक्त करने वाले सुन्दर नेत्र, लम्वी नासिका सिर पर धवल-विरल केश-राशि श्वेत श्मश्रु धवल खादी के शुद्ध वस्त्र गज जैसी गम्भीर गति यह सब कुछ उनके दिव्यत्व का वाहरी रूप था, इसे मरुभूमि की जनता 'श्रद्धेय हजारीमलजी म० के नाम से पहचानती थी

सस्कृत और प्राकृत के वे पण्डित थे आगमो के मर्मज्ञ और ज्ञान के सागर उन्होने कभी भी अपने ज्ञान का अहकार नही किया. बोलने मे और व्याख्यान मे भी वे राजस्थानी भाषा का ही प्रयोग किया करते थे उनकी भाषा मे एक अद्भुत मिठास और आकर्षण था राजस्थानी सस्कृति मे उनका सम्पूर्ण जीवन रग चुका था वोलने मे, लिखने मे, खाने में, चलने मे, फिरने मे, खाने मे, पीने मे हर जगह वे मारवाडी थे अपने को मारवाडी कहने मे वे एक प्रकार का सतोप अनुभव करते थे

स्वामी जी महाराज लेखक नही थे, परन्तु निश्चय ही वे अपने युग के एक सरस प्रवक्ता थे उनकी प्रवचन-शैली सीधी-सादी होकर भी मधुर थी ढाल और चरित्रो को वे वहुत ही सुन्दर ढगसे तथा मधुर स्वरलहरी मे गाते थे रामायण बाँचने मे वे मारवाड के वे-जोड कलाकार थे मारवाड का प्रसिद्ध राग 'माड' उनके श्रीमुख से वहुत ही आकर्षक और प्रिय लगता था

जिन लोगो ने उनके मुख से देवचन्द जी, आनन्दघनजी और विनयचन्द जी की चौवीसी सुनी है, वे भली-भाँति जानते है कि उनके सगीत की स्वर-लहरी मे कितना आनन्द था ? कितना आकर्षण था ? कितनी तल्लीनता थी ? सुनने-वाला श्रोता अध्यात्मरस की सरिता मे डूब-डूव जाता था. अन्तरग आनन्द मे झूम-झूम जाता था गाने वाला और सुनने-वाला आत्म-विभोर हो जाता था मुझको अनेक वार इस अध्यात्म-रस के अनुभव करने का परम सौभाग्य मिला था विहार-यात्राओ मे अनेक बार ऐसा आया, जब कि स्वामी जी महाराज और श्रद्धेय अमरचन्द्रजी महाराज-दोनो जमकर वैठ जाते थे और एक-दूसरे को सुनते सुनाते 'स्वामी जी सुनाते आनन्दघन के अध्यात्म-पद और गुरुदेव सुनाते आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की और आचार्य समन्तभद्र की दार्शनिक स्तुति' उस समय हम लोगो को ऐसा लगता, जैसे मानो अध्यात्म और दर्शन-शास्त्र का सुन्दर समन्वय होकर, दो धाराएँ मिल-जुलकर एक विशाल महानद के रूप मे प्रवाहित होकर जन-मन के ताप का परिहार कर रही हो. कितने सुखद, कितने सुन्दर, कितने मधुर और साथ ही कितने



स्वप्निल थे जीवन के वे क्षण ? मुझे आज भी याद है कि हल्दीघाटी का इतिहास प्रसिद्ध दुर्गम घाटियो को पार करते हुए, एक ऐसा प्रसग आया था, जिन दुर्गम घाटियो ने कभी राणाप्रताप और बादशाह अकबर के वीर सैनिको का तुमुल नाद सुना था आज वे ही घाटियाँ दो सन्तो की, अहिंसा के सेवको की शान्त-स्वर-लहरी से प्रतिध्वनित होकर, जैसे अध्यात्म-रस मे डूब रही हो

क्या लिखूं लिखना बहुत कुछ चाहता हूँ, परन्तु अब लिखा नही जाता. आज तो यह सब कुछ जैसे अनन्त अतीत की करुण-कहानी बनकर शेष रह गया है. जैसे-जैसे अतीत मे प्रवेश करता हूँ, स्वामी जी महाराज के मधुर जीवन की उन मधुर स्मृतियों को खोजने के लिए वैसे-वैसे चित्र मेरे स्मृति-पट पर अंकित होते जा रहे हैं. किन्तु क्या करूँ ? मैं अपने अन्तर-मन की भावनाओ को अभिव्यक्त नही कर पा रहा हूँ.

स्वामीजी महाराज क्या थे उक्त प्रश्न का समाधान करने के लिए न मेरे पास कोई शब्द, न कोई उपमा, और न कोई वस्तु ही है, जिसके तुल्य मे उन्हे कह सकूं वे अपने जैसे आप थे वे अपने ढग के निराले थे, अद्भुत थे और असाधारण भी थे इसलिए वे हमसे विशिष्ट थे

'आओ' आप और हम-सब मिलकर एक स्वर से उस विमल विभूति के सद्गुणो का कीर्तन करलें

⊙

श्री गुलाबचन्द्र मुणोत, अजमेर

नमन हो मेरे कुल रत्न को

स्वर्गीय पूज्य मुनि श्रीहजारीमलजी म० की और मेरी जन्मभूमि एक ही थी. उनसे मेरा पारिवारिक दृष्टि से निकटतम सबध था ससार पक्ष से वे मेरे काका सा० थे तथापि मै कई वर्षो तक उनके पुण्यदर्शनो से वचित रहा उसका मुख्य कारण यह था कि मेरे जन्म से ६ वर्ष पूर्व ही आपने वि० स० १९५४ मे ही जिनदीक्षा ग्रहण कर ली थी दस वर्ष की अल्पायु मे अध्ययन के हेतु मुझे जन्मभूमि से दूर चला जाना पडा

मैं कभी-कभी चिन्तन करते हुए आश्चर्य मे पड जाता हूँ कि इतने उच्च सस्कार आप मे कैसे जागृत हुए ? स्पष्ट लगता है कि उनकी माता ही पुत्र के लिये सुसस्कारो की जननी थी और उनकी प्रेरणा से ही वे ऐसे विकट पथ को अपना कर त्याग-मार्ग पर लगे थे

प्रथम बार जब मुझे आपके दर्शन का सौभाग्य अजमेर मे प्राप्त हुआ तो हृदय गद्गद हो गया. मैं सपरिवार आपके दर्शन निमित्त गया. मैंने प्रथमबार ही पाया कि आपके विचार उच्च है, शान्ति की आप सजीव प्रतिमा है, आपकी वाणी में मृदुता है, हृदय मे कोमलता है, व्यवहार मे कुशलता है.

मैं स्वर्गीय मुनि श्रीहजारीमलजी म० को अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए अपना गौरव समझता हूँ कि आपने अपने परिवार को ही नही किन्तु हजारो व्यक्तियो के जीवन को उज्ज्वल कर दिया. आप इतनी अल्पायु मे त्याग मार्ग को अपना कर बाल-ब्रह्मचारी रहे आप अद्वितीय साहस के धनी थे सहन-शीलता, धैर्य, एव समदर्शित्व आदि आपके विशेष गुण थे.

उनके मन के विमल चिन्तन की ऊँचाई का कहाँ तक बयान किया जाय ? उन्हे सम्प्रदाय का आचार्य पद प्रदान करने का प्रस्ताव सब साधुओ व सघ द्वारा रखा गया था तथापि उन्होने अस्वीकार कर दिया एक विशेषता आपके जीवन मे यह थी कि आप प्रशसा मे हर्षित और प्रतिकूल आलोचनाओ से क्षुब्ध नही होते थे. अपने कर्तव्य की ओर ही अग्रसर



रहते थे आप ६४ वर्ष तक निरन्तर स्व-पर कल्याण मे लीन रहे ऐसी दिवगत महान् आत्मा की पवित्र स्मृति किस विचारशील मानव को न आयेगी ? मेरे जीवन मे अन्तिम क्षण तक उनकी बालसुलभ सरलता स्मरण रहेगी. ऐसे श्रद्धेय पुरुषो के चरणो मे मैं नतमस्तक हूँ

प्र० श्रीपुष्करमुनिजी महाराज

एक ज्योतिर्मय जीवन

बहुत शौक से सुन रहा था जमाना,
तुम्हीं सो गए दास्तां कहते-कहते।

जोधपुर से आए एक सज्जन के मुख से मत्री हजारीमलजी महाराज के स्वर्गवास की हृदयवेधक सूचना सुनी तो सिर चकरा गया और एक क्षण तक विश्वास ही नही हुआ कि क्या यह सत्य है ? मैंने उनसे प्रश्न किया कि क्या कह रहे है आप ? उन्होने स्वामी जी महाराज की रुग्णता का विस्तृत विवरण सुनाया और साथ ही यह भी बताया कि जोधपुर से अत्येष्टि-क्रिया मे सम्मिलित होने के लिये श्रद्धालु श्रावक बस लेकर पहुँचे है.

मत्री मुनिश्री के स्वर्गवास के दु खद समाचारो ने सहसा चालीस वर्ष पुरानी स्मृतियाँ जाग्रत कर दी वि० स० १९८० का वर्षावास श्रद्धेय सद्गुरुवर्य महास्थविर श्रीताराचन्द जी महाराज का पाली मे था मैं भी उस समय गुरुदेवश्री के सान्निध्य मे दीक्षा लेने से पूर्व धार्मिक अध्ययन कर रहा था उस वर्ष पडित-प्रवर श्री जोरावरमल जी महाराज के साथ आप श्री का चातुर्मास भी वही था गुरुदेव से आप वय एव दीक्षा आदि मे लघु थे गुरुदेव के प्रति आपकी अपूर्व निष्ठा थी और उनका भी आप पर अपार स्नेह था आप समय-समय पर उनके पास भी पधारते रहते थे मुझ पर भी आपश्री की असीम कृपा थी आपने मुझे उस समय मधुर शिक्षाएँ प्रदान की—वे आज भी मेरे जीवन की अमूल्य थाती हैं

पिछले चालीस वर्षो मे बीसो बार स्वामी जी महाराज के दर्शनो का सौभाग्य सम्प्राप्त हुआ है. जयपुर मे सयुक्त वर्षावास करने का अवसर भी मिला है उनकी नेत्र चिकित्सा के अवसर पर लम्बे समय तक सेवा का अवसर प्राप्त हुआ, आगमिक, सामाजिक, ऐतिहासिक आदि विविध विषयो पर वार्तालाप भी किया है वह अगणित शिष्ट वाग्विनोद—आज भी कानो के गहन गह्वरो मे प्रतिध्वनित हो रहा है

सन्त की दृष्टि से स्वामी जी म० की गणना प्रथम कोटि मे की जायेगी वे उच्चकोटि के सहृदय सन्त थे उनका जीवन आचार और विचार का पावन सगम था आज के युग मे प्रतिभा सम्पन्न विद्वानो की कमी नही है, यह फसल बडी तेजी से बढती जा रही है विचारको का बाजार भी बडा गर्म है ग्रन्थकारो का तो कहना ही क्या ! वे भी अल्प-सख्यक नही रहे है पर सच्चे सन्त बडे मँहगे हो गये है किन्तु स्वामी जी महाराज सच्चे सुसस्कारी सन्त थे इसी कारण जन-जन के वे हृदय के हार और जन-मन के सम्राट् थे

सहृदयता, नियमबद्धता, परिश्रमशीलता, परदुखकातरता इत्यादि जो सद्गुण सन्तजीवन मे अपेक्षित है, वे सभी स्वामी जी महाराज मे अत्यधिक मात्रा मे विद्यमान थे उनका हृदय कुसुम से भी अधिक कोमल और मक्खन से भी अधिक मृदु था उनकी नवनीत-सी स्निग्ध सहृदयता, विपण्ण हृदयो के लिए मरहम का काम देती थी सुहावनी सुबह मे भी जियादा था उनमे आकर्षण

स्वामी जी महाराज का अपना एक केन्द्रीभूत विचार था कि अधिक वार्तालाप से समय और शक्ति का अपव्यय होता है, अत बहुत ही कम बोलो, और जब बोलो तो मधुर बोलो मधुर वाणी ही सन्तजीवन की शोभा है मुख को कवियो



ने कमल की उपमा से समलकृत किया है, अत उससे ललित शब्दावली ही निकलनी चाहिये. स्वामीजी महाराज जब भी बोलते थे तब ऐसा ही प्रतीत होता था कि उनकी वाणी मे मिश्री घुली हुई है वे स्वय कम बोलना पसन्द करते थे मौन के सम्बन्ध मे उनके विचार मननीय थे उन्होने एक बार कहा था—"मौन केवल धर्म ही नही अपितु स्वास्थ्य के लिए भी एक अच्छा टॉनिक है !" स्वामी जी महाराज का रहन-सहन बडा ही सादा एवं सीधा था जहाँ तक शुद्ध खादी के वस्त्र उपलब्ध होते, वे उन का ही उपयोग करना श्रेयस्कर समझते थे छोटा-सा और फटा-सा वस्त्र शरीर पर यो ही डाल लेते थे. कभी कोई उन्हे कहता तो मुस्करा कर कह देते—'भाई, शरीर ही तो ढँकना है. वस्त्र नया हो या पुराना हो, छोटा हो या बडा !'

स्वामीजी महाराज की स्मरणशक्ति विलक्षण थी उन्हे पूज्य जयमलजी म०, आचार्य देवचन्दजी, उपाध्याय यशोविजयजी, आनन्दघनजी, विनयचन्दजी आदि अनेक सन्तो के अध्यात्मरस से छलछलाते हुये पद कठस्थ थे उनका गला भी सुरीला था. जब वे गाते तो श्रोता झूम उठते थे. रामायण, महाभारत आदि के प्रसगो को बहुत ही सुन्दर ढग से सुनाया करते थे इसके अतिरिक्त कर्मग्रन्थ, तत्त्वार्थसूत्र व आगम के सुन्दर स्थल उनके स्मृतिपट पर नाचते रहते थे राजस्थानी लोकथाएँ, ओखाणे, चुटकुले आदि भी उन्हे बहुत से स्मरण थे. जब वे उन्हे सुनाते थे तब श्रोता हँस-हँस कर लोट-पोट हो जाते थे

आज स्मृति के झरोखे से अनेक स्मृतियाँ झाक रही हैं. उन सभी पावन स्मृतियो को इस लघु सस्मरण मे पिरोना कठिन है उनकी स्मृति तो सदा बनी ही रहनी चाहिए



श्रीज्ञान मुनिजी महाराज

दिव्य पुरुष के दर्शन

सन्त का वेष लेने वाले व्यक्तियो की ससार में कमी नही है अकेले भारत में ५६ लाख के लगभग साधु सुने जाते है. साधुओ की इतनी विशाल सख्या होने पर भी लोगो का आचार-विचार समुन्नत न होकर अवनत होता चला जा रहा है. यह आश्चर्य की बात है अकेला सूर्य अधकार को नही छोडता फिर जहाँ लाखो सूर्य हो तब भी अधकार बना रहे, तो मानना पडेगा कि सूर्य अपने सूर्यत्व से विहीन हो गया है, उसकी अधकार को नष्ट करने की शक्ति समाप्त हो गई है. ठीक यही बात आज के साधु वर्ग पर भी लागू होती है. आज साधु वेष अवश्य है पर वास्तविक साधु बहुत कम है साधुता के नाम पर आज ढोग अधिक पनप रहा है ऐसे वेषधारी साधुओ से समाज एव राष्ट्र का हित सम्पन्न नही हो सकता समाज एव राष्ट्र का हित उन्ही साधु-सन्तो से सभव है, जो मोह-माया के आवरण को दूर हटा कर अहिंसा, सयम और तप के विराट् साधना-पथ पर—बढते जा रहे है, तथा आत्म भावना एव जनहित-कल्पना में अपनी समस्त शक्तियाँ निछावर कर देते है ऐसे सन्तो का दर्शन कही सौभाग्य से ही होता है सस्कृत के एक आचार्य को यह कहना पडा—

निज-हृदि विकसन्तः, सन्ति सन्तः कियन्त ?

अर्थात् अपने हृदय मे गुणो का विकास करने वाले सन्त मुनि कितने है ? उत्तर स्पष्ट है—बहुत थोडे है चाणक्य नीति मे इसी सत्य को समझाया है—

साधवो न हि सर्वत्र, चन्दन न 'वने-वने'—हर किसी जगल मे चन्दन के वृक्ष नही मिला करते है वैसे ही हर स्थान पर साधु पुरुष भी नही मिला करते है

हमारे श्रद्धेय श्रीहजारीमलजी म० ऐसे ही त्यागी, वैरागी मुनिवर थे वैराग्य जप-तप के विशाल सरोवर मे वे गहरी डुबकी लगाने वाले सन्त थे त्याग की उज्ज्वलता के साथ-साथ उनका अतर्जगत् बाहर से भी अधिक सुन्दर था, समुज्ज्वल

था चमत्कृतिपूर्ण था सयम साधना का परम पवित्र अनुराग उनके कण-कण मे व्याप्त हो रहा था उनके जीवन मे सयम अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच चुका था इस तरह सयम-साधना के अध्यात्म आनन्द मे वे सदा अप्रमत्त भाव से निमग्न रहा करते थे

भगवती सूत्र मे भगवान् महावीर ने सयमी पुरुष के सुख का वडी विलक्षणतापूर्वक वर्णन किया है उक्त सूत्र के शतक १४, उद्देश्य ६ मे लिखा है कि 'एक मास की दीक्षा वाला श्रमण, निर्ग्रन्थ वाणव्यन्तर देवो के सुख को अतिक्रमण कर जाता है. दो मास की दीक्षा वाला नागकुमार आदि भवनवासी देवो के सुखो का अतिक्रमण कर जाता है इसी प्रकार तीन मास की दीक्षा वाला असुरकुमार के देवो के सुख को, चार मास की दीक्षा वाला ग्रह नक्षत्र एव ताराओ के सुख को, पाँच मास की दीक्षा वाला ज्योतिष्क देव जाति के इन्द्र चन्द्र एव सूर्य के सुख को, छ मास की दीक्षा वाला सौधर्म एव ईशान देवलोक के सुख को, सात मास की दीक्षा वाला सनत्कुमार एव माहेन्द्र देवो के सुख को, आठ मास की दीक्षा वाला ब्रह्मलोक एव लान्तक देवो के सुख को, नव मास की दीक्षावाला, आनत और प्राणत देवो के सुख को, ग्यारह मास की दीक्षा वाला नव ग्रैवेयक देवो के सुख को तथा बारह मास की दीक्षा वाला श्रमण अनुत्तरोपपातिक देवो के सुख को अतिक्रमण कर जाता है"

जहाँ तक मैं जानता हूँ, वहाँ तक कह सकता हूँ कि भगवान् महावीर की उक्त मान्यता श्रद्धेय मत्री श्रीहजारीमलजी म० के जीवन मे व्यवहार का रूप ले रही थी महाराजश्रीजी अपनी सयम-साधना मे तथा त्याग-वैराग्य की आराधना मे सदा आनन्दविभोर रहा करते थे उनके मस्तक पर कभी सलवट नही देखी गई क्या वाल, क्या युवक, क्या वृद्ध, क्या नारी, क्या पुरुष सभी पर वे स्नेह की, प्रसन्नता की—मधुर वर्षा किया करते थे सयम का वे पूर्णतया आनन्द लूट रहे थे

परम आदरणीय, सन्तहृदय मत्री श्रीहजारीमलजी म० का परम पवित्र जीवन एक विस्तृत उपवन के समान था उसमे त्याग, वैराग्य, जप, तप, ब्रह्मचर्य. धैर्य, उदारता, सहृदयता, कठोरता, कोमलता, दु खी जनो के प्रति वत्सलता आदि ऐसे अनेको सुगन्धित गुण-पुष्प दिखाई देते थे, जिनकी सुगन्ध ने लाखो हृदयो को सुगन्धित वना दिया था मत्री श्री के जीवन का एक-एक गुण इतना विलक्षण और अद्भुत है कि कुछ कहते नही वनता सभी सद्गुणो के सम्बन्ध मे कुछ न कह कर आज मै श्रद्धेय मत्री श्री के एक गुण का वर्णन करूँगा वह गुण है—

"वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि"

मत्रीश्रीजी वज्र से भी अधिक कठोर थे, और पुष्प से भी ज्यादा कोमल वज्र और पुष्प दोनो के परस्पर विरोधी गुण एक स्थान पर कैसे टिक सकते है ? इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक है मै समझता हूँ श्रद्धेय मत्री का जीवन इस प्रश्न का ही एक समाधान था उनकी जीवन-घटनाओ से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि इस पवित्र जीवन मे दोनो विरोधी गुण बिना किसी वाधा के स्पष्टतया देखे जा सकते है

मत्री श्रीजी म० अपने शरीर के लिए वज्र के समान कठोर थे अपने दु ख मे वे कभी घवराए नही भयकर-से-भयकर वेदना की घडियो मे भी इन्होने जवान से उफ तक नही की प्रत्युत् वडी शान्ति और धीरता से उसे सहर्ष सहन किया. वस्तुत साधक की महत्ता इसी वात मे है कि सकट की वर्षा हो रही हो, प्रतिकूलता की भीषण आधियाँ चल रही हो, फिर भी यदि वह डावाडोल नही होता, धैर्य को अपने हाथ से जाने नही देता, तथा अपने वौद्धिक सन्तुलन को सर्वथा सुरक्षित रखता है, तो साधक की इन्ही वृत्तियो से पता चलता है कि वह ससार का एक महापुरुष है हमारे मत्री श्रीजी का महापुरुषत्व इन्ही वातो से अभिव्यञ्जित हो जाता है कि भीषण से भीषण दु ख मे भी वे स्वस्थ रहे जरा भी डावा-डोल नही हुए और प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थिति मे भी सवको प्रसन्न मुद्रा मे दिखाई दिया करते थे पर जव वे (मत्री श्रीजी) किसी दूसरे को दु खी देख लेते तो एक दम सिहर उठते थे करुणा के मारे उनका हृदय व्याकुल हो उठता था. जव तक उस दु खी के दु ख को दूर नही कर देते थे तव तक उनको शान्ति नही मिलती थी गोस्वामी तुलसीदासजी की—



सन्त हृदय नवनीत समाना, कहा कविन पर कहिय न जाना !
निज दु ख द्रवहिं सदा नवनीता,पर दु ख द्रवहिं सन्त पुनीता !!

यह उक्ति इनके जीव पर शत प्रतिशत सत्य प्रमाणित होती है गोसाइँ जी का कहना है—कवियों ने सन्तो के हृदयो को नवनीत की उपमा दी है. सन्त हृदय को वे माखन-तुल्य समझते है पर वस्तुस्थिति ऐसी प्रतीत नही होती क्योकि माखन उस समय द्रवित होता है, पिघलता है, जब स्वय ताप पाता है, पर सन्तहृदय अपने ताप से कभी द्रवित नही होते, दु ख-वेला मे तो वे हसते रहते है, कभी घबराते नही है वे तो अन्य पीड़ित व्यक्तियो की पीड़ा को देखकर या उसका स्मरण होते ही दुखित हो उठते है अत सन्त हृदय और नवनीत दोनो में आपसी कोई मेल नही है. एक पर-परिताप से द्रवित होता है और एक निज के परिताप से अपनी बात सक्षेप में कह दूँ, श्रद्धेय मत्री श्री हजारीमल जी म० बडे कोमल स्वभाव के महापुरुष थे माखन की कोमलता उनकी कोमलता के समकक्ष नही बैठ सकती थी

धन्य है, वे महापुरुष जिन्होने आत्मा और शरीर के वास्तविक भेद को समझ कर अपनी शान्ति को कभी भग नही होने दिया. इन मगलमूर्ति महापुरुष की आदर्श कोमलता तथा वज्रमय कठोरता देखकर ही मेरे मन की परत पर यह सस्कृत-वाक्य उभर आया है—'वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि'



श्रीरोशनमुनिजी महाराज

एक वाक्य जीवन-दीप बन जाय

स्थविरपदविभूषित श्रीहजारीमलजी महाराज, गुणागार के रूप मे आज भी मेरे सम्मुख साकार है. ब्यावर मे ही उनके सामीप्य, दर्शन और सेवा का शुभ अवसर प्राप्त हुआ था. वह समय अल्प था परन्तु उस स्वल्प समय की पवित्र घडियो मे ही मैंने उनमे कुछ ऐसे गुणो के दर्शन किये ये जिनके आकर्षण स्वरूप उनके दर्शन की शुभाशा पुन पुन. किया करता था

वे हृदय से स्वच्छ, कोमल, करुणामूर्ति थे उनके विमल हृदय से निकले वे शब्द आज भी मुझे प्रतिक्षण याद आते है मैं सोचा करता हूँ उनके ये शब्द ही मेरी साधना का आधार बन जाएँ. उन्होने कहा था—'रोशन मुनि, तुम निर्मोही और अमायी हो'. उन पूज्य आत्मा के इस स्वर्णिम वाक्य को स्मरण करके श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ. उनका यह वाक्य ही मेरा जीवन-दीप वन जाय इस वाक्य को मैं जीवनपर्यंत न बिसरूँ.



श्री रिखबराज कर्णावट एडवोकेट, जोधपुर

सरलता के मूर्तिमान स्वरूप

स्वामीजी श्रीहजारीमलजी महाराज ने करीब ६५ पैंसठ वर्षो तक जैन-साधु का जीवन बिताया प्रकाश-स्तम्भ की तरह विषयान्धकार में भूले-भटके जन-मन को सत्पथ पर चलने की प्रेरणा प्रदान करते रहे. जीवन भर उनकी यही चेष्टा रही कि पाप, ताप व अभाव से पीडित मानव समाज का कल्याण हो स्वामीजी प्रतिपल इसी भावना मे रहते थे कि—

'सर्वे भवंतु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः !
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत !'



ऐसे महात्माओ की गुणावलियो का स्मरण कर उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने मे लेखक अपने को कृतकृत्य समझता है.

लेखक को स्वामीजी महाराज के प्रथम दर्शन का सौभाग्य अपने वचपन मे ही प्राप्त हो गया था लेखक के पिताजी ने स्वामीजी महाराज के सम्बन्ध मे उन दिनो बातचीत के दौरान मे कहा था कि—स्वामीजी 'चौथे आरे की बानगी' है तव से स्वामीजी के स्वर्गारोहण तक लेखक का स्वामीजी से परिचय रहा और इस वीच सैकडो वार स्वामीजी की सत्सगति का लाभ लेखक को मिलता रहा स्वामीजी से समाज को कुछ न कुछ सत्प्रेरणा व स्फूर्ति प्राप्त होती रहती थी उच्च भावो की प्रगति मे स्वामीजी के दर्शन सदा सहायक वने रहते थे स्वामीजी का सौम्य मुख-मण्डल और मीठे वचन अनायास ही सम्पर्क मे आनेवाले व्यक्ति को अपनी ओर आकृष्ट कर लेते थे व्यावहारिक रूप मे स्वामीजी मनोविज्ञान के महान् पण्डित थे सासारिक लोगो की स्थिति का विचार रखकर ही वे जनता को उपदेश करते थे जिससे शनै शनै श्रोता की अभिरुचि आध्यात्मिकता की ओर बढती रहे दुरूह शास्त्रीय भावो को लोकभाषा मे प्रकट करने और उन्हे जनमानस मे अकित करने की कला मे स्वामीजी निपुण थे सरलता स्वामीजी मे कूट-कूटकर भरी हुई थी । स्वामीजी सरलता के मूर्तिमान स्वरूप थे ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना मे वे उच्चतर भूमिका पर पहुँचे हुए थे किन्तु अपनी आराधना का इजहार उन्होने कभी नही किया स्वामीजी गोस्वामी तुलसीदासजी के इस कथन को मानते थे कि —

'पुण्य प्रकट ना कीजिये, करिये पाप प्रकाश,
प्रकट किये दोउ घटत है वरणत तुलसीदास !'

स्वामीजी महाराज अपनी छोटी-सी कमजोरी को भी बृहद् रूप मे महसूस करते थे और यही कारण है कि कमजोरियाँ उनसे दूर भागती थी जागतिक प्रपच से वे कोसो दूर रहते थे इच भर भी वे सत्य और अहिंसा के मच से नीचे नही उतरे इस महापुरुष ने जिन्दगी मे जो पाया वह सब कुछ साँसारिक प्राणियो के उपकार के लिये बाँट दिया छोटे-छोटे ग्रामो मे भी स्वामीजी ने धर्म-प्रचारार्थ भ्रमण किया और भोले-भाले लोगो को सत्पथ पर आरूढ होने की प्रेरणा दी स्वामीजी उन इने-गिने साधुओ मे थे जिन्हे लोगो ने साम्प्रदायिक दृष्टि से नही देखा, जैन तथा जैनेतर सभी लोग स्वामीजी से धर्म श्रवण का अवसर पाने मे अपना अहोभाग्य समझते थे सकीर्ण परिधि को लाघकर विश्व कल्याणार्थ अपने जीवन को लगा देना स्वामीजी का लक्ष्य था वैसे स्वामीजी स्वय स्थानकवासी साधु परपरा के थे किन्तु दूसरे मजहव व सम्प्रदायो से स्वामीजी को द्वेष नही था न स्वामीजी को इस बात का कदाग्रह था कि 'मेरा सो सच्चा' बल्कि स्वामीजी तो 'सच्चा सो मेरा' कहने मे सतोष प्राप्त करते थे उनकी भव्य आकृति के दर्शन मात्र करने से ही श्रद्धा व भक्ति दर्शको मे प्रस्फुटित होती थी व्यक्तिगत महत्वकाक्षा स्वामीजी को छू तक न सकी प्रात स्मरणीय पू० जयमलजी महाराज की सम्प्रदाय के आचार्य बनाने का प्रश्न आने पर स्वामीजी ने आचार्यपद पर स्वय आसीन होने से इकार किया और अपने लघुभ्राता पण्डित रत्न मिश्रीमलजी महाराज का नाम निर्दिष्ट किया 'पुत्ताय सीसाय भवित्ता' की उक्ति के अनुसार पण्डित मुनि श्री मिश्रीमलजी की योग्यता बढाने का सम्पूर्ण श्रेय स्वामीजी महाराज को है जिनकी छत्रछाया मे पण्डित मिश्रीमल जी महाराज ने ज्ञान-ध्यान की आराधना की और जैन जगत् के समक्ष निर्मल प्रकाश देनेवाले सितारे के रूप मे जिन्हे हम आज देखकर गौरव अनुभव कर रहे है

स्वामीजी का समस्त जीवन ससार से विरक्त, उदासीन व निस्पृह था और वे स्वच्छ, निर्मल तथा उज्ज्वल मुनि जीवन के भोक्ता थे स्वामीजी उन सभी साधु के लक्षणो से ओत-प्रोत थे जो श्रमण भगवान् महावीर ने साधु के लिये बताये है

नाण-दंसण-सम्पन्न संजमे य तवे रयं,
एवं गुणसमाउत्तं सजयं साहुमालवे !

श्रमण सघ के निर्माण के समय भी स्वामीजी महाराज ने अपना पूर्ण लक्ष्य उस तरफ रखा स्वामीजी का विश्वास था



कि 'सघे शक्ति कलौ युगे' श्रमण सघ के अत्यन्त आग्रह पर स्वामीजी ने मरुधर प्रान्त के मन्त्री बनने की स्वीकृति दी. स्वामीजी प्रिय भाषी, दूरदर्शी व गुणवत होने से अपने इस पद का निर्वाह करने में पूर्णत सक्षम थे प्रगतिशील विचारो का स्वामीजी ने सदा स्वागत किया और उनको समर्थन दिया.

स्वामीजी के गुणो का कहाँ तक वर्णन किया जाय वे इतने अधिक है कि इस लेख के कलेवर में उनका साकेतिक उल्लेख भी सभव नही है उनके विराट् जीवन में गम्भीरता, सरलता, मर्मज्ञता, नीतिमत्ता, वत्सलता, सहिष्णुता, आध्यात्मिकता, समता आदि गुण इस तरह से व्याप्त थे जैसे तिलो मे तेल व्याप्त हो. अपने जीवन काल मे उन्होने केवल अपना ही कल्याण नही किया किन्तु अनेक प्राणियो को सत्पथ पर आगे बढाया और सम्पूर्ण विश्व के कल्याण में निरत रहे उनका भौतिक शरीर पृथ्वी की गोद मे अवश्य समा गया और समाज मे एक अभाव की खटक पैदा कर गया किन्तु यश शरीर उनका आज भी कायम है और युग-युगो तक उनके जीवन की उपासना और धर्म-प्रचार ससार के भूले-भटके लोगो को सत्धर्मका प्रकाश देकर सत्पथ पर आगे बढने की प्रेरणा देता रहेगा.



मुनि श्रीसमदर्शीजी

एक मधुर स्मृति

सरलता का महत्त्व

सरलता—साधना का प्राण है श्रमण-साधना तो क्या, मानवता की ज्योति को प्रज्वलित करने के लिए भी जीवन मे सरलता का होना आवश्यक है. आगम मे मानव बनने के जो चार कारण बताए हैं, उनमे सर्व प्रथम है—"पगइभद्दयाए" अर्थात् प्रकृति की भद्रता, सरलता—साधनाओ का मूल है.

सरलता की साकार मूर्ति

श्रद्धेय मत्री मुनि श्रीहजारीमलजी महाराज, जिनकी मधुर सस्मृति ही आज हमारे पास है—जिनका अभाव मन को पीडा से भर देता है. वे सरलता, सौम्यता एव निष्कपटता की साकार मूर्ति थे उनके जीवन में वह कला थी, जो मिलने वाले व्यक्ति को सहज ही अपनी ओर खीच लेती थी, दूसरे को अपना बना लेती थी वह कला-मन, वचन, वाणी की एकरूपता थी जो उनके मन मे था, वह वाणी मे और जो वचन में था, वही कर्म मे. जीवन की यह एकरूपता अति दुर्लभ है, परन्तु श्रद्धेय मत्रीजी महाराज के जीवन मे वह स्वभावत. थी उनके पावन-पुनीत जीवन का यह पहलू स्पृहणीय है सचमुच वे सरलता के प्रकाश-पुज थे. उनके कण-कण मे स्नेहशीलता एव निश्छल प्रेम की धारा प्रवहमान थी.

ज्ञान और कर्म योगी

ज्ञान-पिपासा उनके जीवन की एक महान् साध थी जीवन के अरुणोदय से लेकर जीवन की सध्या तक वे अनवरत ज्ञान-पिपासा को शान्त करने मे तन्मय रहते थे. जब देखो तभी स्वाध्याय एव सयम क्रिया मे व्यस्त मिलते थे निष्क्रिय होकर वैठना उन्हे पसन्द नही था अपने दैनिक कार्यों से निवृत्त होकर अवकाश के समय वे शास्त्रो की गाथाएँ एव भक्तिरस के तथा उपदेशप्रद भजन कण्ठस्थ करने मे लग जाते थे. उन्हे दस-बीस नही, सैकडो हजारो भजन, पद, एव दोहे कठस्थ थे.



स्मृति के मधुर पृष्ठ :

मुझे श्रद्धेय मन्त्रीजी महाराज के दर्शन करने एव उनके चरणो मे बैठकर सीखने का अनेक बार सुअवसर मिला है वि० स० २०११ मे गुरुदेव उपाचार्य श्रीगणेशीलालजी महाराज के साथ कुचेरा के वर्षावास के समय, आपका जो स्नेह रहा, वह अद्भुत था उसके बाद अजमेर मे, भीनासर सम्मेलन मे एव कुचेरा आदि क्षेत्रो मे मुझे आपकी सेवा मे रहने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ है वे मेरे जीवन के मधुर क्षण रहे हैं, जिनमे मैं उनके चरणो मे बैठकर कुछ सीख सका आज वे मधुर क्षण केवल स्मृति के मधुर पृष्ठ ही रह गए है.

डॉ० श्रीकुजविहारीलाल

पुण्य सस्मरण: सन्त हों तो ऐसे हों

पूज्य जैन मुनि श्रीहजारीमलजी महाराज के दर्शन व सेवा का शुभ अवसर मुझे चिकित्सा के सेवा-कार्य करने के प्रसग मे ही प्राप्त हुआ था गुणी व सन्त पुरुषो का मैं सदा से ही आदर करता आया हूँ

मुझे आज भी चित्रवत् स्पष्ट व साकार स्मरण है राजस्थान के ब्यावर नगर मे उस सन्त पुरुष का एक दिन हॉस्पिटल मे आगमन हुआ था उनके सीने मे एक छोटी-सी गाठ थी. निदान निमित्त कक्ष मे वे पधारे मैंने निदान कर उनसे—कहा—महाराज ! ऑपरेशन करना पडेगा, लेकिन आपके साथ गारजियन .!' वे निमिषभर मौन रहे फिर कहा—'मैं तैयार हूँ आप अपनी सुविधानुसार ऑपरेशन कर सकते हैं'

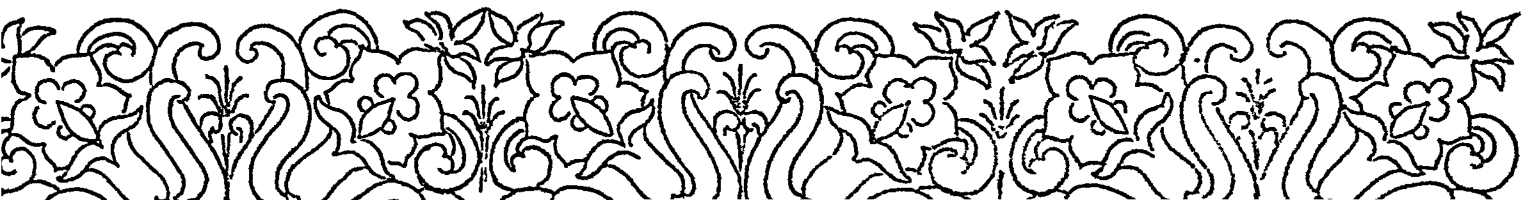
मैंने कहा—'महाराज, क्लोरोफार्म का उपयोग किया जाय या इजैक्शन का? मेरे प्रश्न का उन्होने सक्षिप्त उत्तर दिया—एक का भी नही. मैं पूरी तरह तैयार हूँ आप अपनी सुविधापूर्वक आपरेशन कर सकते है

मैं उनके साहसपूर्ण उत्तर को सुनकर आश्चर्य से स्तभित-सा रह गया दोबारा कुछ न कह सका

उस अद्भुत पुरुष के ऑपरेशन की घटना मुझे याद है ३० मिनट मे उनके वक्ष के दक्षिण पक्ष से ५ तोले की गाठ "लोकल ऐनेस्थिसिया" से निकाली

ऑपरेशन कर चुकने पर मुझे तो पुन अपना चिकित्सक धर्म निभाना था मैंने मुनिश्री से कहा—'महात्मा जी ! आप तो सन्त पुरुष है किन्तु हमारे थ्योरिकल हिसाब से आपको ३ दिन तक यही रहना चाहिए—उन्होने ऑपरेशन से पूर्व जितनी साहस पूर्ण स्वीकृति बिना क्लोरोफार्म के ऑपरेशन करने की दी थी, उतने ही साहसपूर्वक कहा—हम जहाँ पर ठहरे है वह स्थान यहाँ से ४ फर्लांग ही है मेरा आत्मविश्वास कहता है कि मैं सकुशल वहाँ पर पहुँच जाऊँगा. वे सचमुच ही जैनस्थानक मे पहुँच गये, ३ घन्टे बाद हॉस्पिटल का समय समाप्त होने पर उनके निवास-स्थान पर गया तो वे लकडी के पाट पर शयन करते मिले

इस ऑपरेशन के बाद भी मैंने अनेक जैनमुनियो की चिकित्सा-सेवा की आज मुनि श्रीहजारीमलजी म० सस्मरण लिखते हुए हर्ष होता है कि वे महान् सन्त थे वस्तुत भारत की आध्यात्मिक विद्या व योगविद्या की सतह तक ऐसे ही सन्त पहुँचे है ऐसे सन्तो की योगिक प्रक्रियाओ के द्वारा ही भारत ऋषि, मुनि, त्यागी व महात्माओं का देश कहलाता है मेरे मस्तिष्क व हृदय पर उनके पुण्य सस्मरण लिखते हुए जो भावोदय हुआ उनके आधार पर मैं कह सकता हूँ कि वे महान् सन्त थे सन्त हो तो ऐसे ही हो



श्री पारसमल 'प्रसून'

संस्मरण : विष अमृत हो गया

गौरा, लम्बा, पतला, शुभ्रवस्त्रावृत सुभग वदन, आँखो मे विहसती प्रभा, मुखपर मद मृदु मुस्कान, वाणी में मधुरिमा का अक्षय कोप इस कोष मे छुपा था विष को अमृत मे परिवर्तित करने वाला आत्मा—श्रीहजारीमलजी महाराज. एक शब्द मे कहे तो सच्चे सन्त सरलता की प्रतिमूर्ति कारुण्य एव वात्सल्य के साक्षात् सिन्धु जिस किसी ने एक बार भी उनका पावन मनभावन सुदर्शन किया, वह भला क्या पूज्यप्रवर के मुख पर प्रतिक्षण खेलने वाली मद मधुरिमा को कभी विस्मृत कर सकेगा ? कभी नही पूज्य गुरुदेव की मधुर अमृतोपम वाणी तो आज भी शतसहस्र भावुक भक्तो के हृदय को उल्लसित कर रही है गुरुदेव में स्फटिक मणि की भाति विमल ज्ञान के साथ गगा-जल से भी विशेप निर्मल आचरण का कचन-मणि का सुसयोग था उनका आदर्श जीवन आज भी हमारा पथप्रदर्शक है उनके जीवन-चित्रपट के के दिव्य दृश्य कभी भी अदृश्य नही होगे.

गुरुदेव क्षमा-शान्ति के सागर थे उनके सपर्क मे आकर अनेक पाषाण-हृदव भी द्रवित हो गये उनके सस्मरण की एक झाँकी यहाँ प्रस्तुत है

परम सौभाग्य से पूज्य गुरुदेव का सं० २००५ का वर्षावास हमारे छोटे-से ग्राम भोपालगढ में हुआ था उस समय विद्यालय के प्रधान अध्यापक के रूप मे श्री वटुक जी नियुक्त थे. वे स्वभाव के कठोर थे जो बात एक बार कह दी उसको उसी रूप मे करवा लेना उनके जीवन की उल्लेखनीय विशेषता थी जब उनकी क्रोध से तनी हुई भृकुटि देखते तो हम विद्यार्थी तो क्या, ग्रामवासी भी भयभीत हो जाते थे

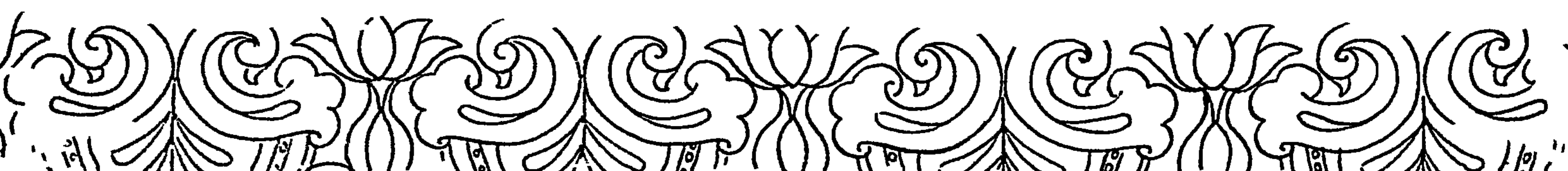
प्रसग का स्मरण नही है एक बार उन्होने किसी समस्या को लेकर विद्यालय-हॉल के सामने भूख हडताल कर दी सारे ग्राम मे खबर फैल गई, पर्याप्त प्रयत्न इस बात के लिये किये गये कि वे किसी प्रकार अपनी भूख हडताल स्थगित कर दे पर सव प्रयत्न विफल सिद्ध हो चुके थे. दो दिन बीत गये थे विद्यालय के इतिहास मे यह एक प्रकार की अभूतपूर्व घटना थी अध्यापक जी ने घोषित कर दिया था कि यह ब्राह्मण-शरीर तो अब प्राण तज कर ही उठेगा स्थिति लाइलाज हो गई थी

पूज्यप्रवर का ध्यान इस ओर आकर्षित हुए बिना न रहा स्वामी जी ने अत्यत स्नेहपूर्वक अध्यापक जी को एकात में बुलाकर समझाया. कुछ ही मिनट के बाद स्वामी जी म० से वार्त्ता करके वे बाहर आये तो देखा—उनके चेहरे पर प्रसन्नता की कान्ति परिव्याप्त थी वे वैर भूल गये क्रोधी चेहरे पर शान्ति व प्रसन्नता की लहरें चमकने लगी उनके नेत्र पश्चात्ताप से साश्रु हो रहे थे उनकी आँखो से गगा-जमुना की अविरल धारा प्रवाहित हो रही थी ग्रामवासियो के मन मे जो आशका व अशान्ति छाई हुई थी वह क्षण मात्र मे ही मिट गई और स्वामी जी म० ने समग्र ग्रामवासियो की श्रद्धा प्राप्त की

प्रेम व शान्ति का यह बोलता प्रत्यक्ष जादू था प्यार के समक्ष क्रोध की पराजय थी. वातावरण में नया आनन्द और उल्लास था. मानवमेदिनी मे सर्वत्र चर्चा थी कि इस अनोखी घटना ने तो चडकौशिक व भगवान् महावीर की घटना का स्मरण करा दिया है

फिर तो जब तक गुरुदेव विराजे बटुक जी प्रतिदिन मुनिश्री के प्रवचनो का लाभ लेते रहे उन्होंने अनेक बार अनेको से इस वात को दुहराया कि स्वामी जी मेरे जीवन के परम निर्माता है मैं इनके उपकार को जीवन की आखरी घडी तक नही भूल सकता.

तो ऐसे थे हमारे परम पूज्य गुरुदेव श्रीहजारीमलजी म० उनके पवित्र परिचय से विष भी अमृत मे परिणत हो गया उस दिव्य आत्मा को मैं अपनी श्रद्धा के पुष्प अर्पित कर अपने को कृतकृत्य अनुभव करता हूँ



श्रीदेवेन्द्रमुनिजी, शास्त्री, साहित्यरत्न

वे एक महापुरुष थे

फ्रास के विश्व-विख्यात विद्वान् रोम्या रोला ने कहा—"महापुरुप ऊँचे शैल-शिखरो के समान होते है हवा उन पर जोरो से प्रहार करती है, मेघ उनको ढँक देता है, परन्तु वही हम अधिक खुले तौर से व जोर से साँस ले सकते है" वस्तुत महापुरुष की छत्रछाया मे और उनके पावन पादपद्मो मे वैठकर जो आनन्दानुभूति होती है वह अनुभवगम्य है. महा-पुरुप स्वय कप्ट सहन करते है किन्तु आश्रित व्यक्ति को कभी कष्ट नही होने देते जहाँ वे स्वय के लिए 'वज्रादपि कठोर' होते है वहाँ दूसरो के लिए कुसुमादपि कोमल होते है वे स्वय विघ्नो और बाधाओ के वात्याचक्रो से विचलित नही होते परन्तु दुखियो के स्वल्प से करुण क्रन्दन से भी काँप जाते है अनेकान्त की भाषा मे कहा जाय तो महापुरुष का जीवन विविधताओ का सुन्दर सगम है उसमे कोमलता है, कठोरता भी, सहिष्णुता भी आवेग भी, निष्ठा भी, तर्क भी, अपेक्षा भी, उपेक्षा भी, राग भी, विराग भी, आचार भी, विचार भी और सरलता भी होती है

यह एक शाश्वत सिद्धात है कि महापुरुष वनने के लिये जीवन को निखारना और चमकाना होता है. तपे बिना कोई भी व्यक्ति ज्योति नही बनता और खपे बिना कोई भी व्यक्ति मोती नही वनता परम-श्रद्धेय श्रीहजारीमलजी महाराज इसी प्रकार के एक विशिष्ट महापुरुष थे उनका जीवन गगा की तरह निर्मल था, स्फटिक की तरह स्वच्छ था, सगीत की तरह सुखद था और उषा की तरह मोहक था

सन् १९४२ के मई के द्वितीय सप्ताह मे उस महापुरुष के दर्शनो का सौभाग्य सर्वप्रथम ब्यावर मे प्राप्त हुआ गेहुआँ वर्ण, लम्बा कद, एकहरा शरीर, उन्नत ललाट, पैनी नाक, उपनेत्र मे से गोल-गोल चमकती हुई आँखें, सजग कर्ण, अधरो पर खेलती स्निग्ध मधुर-मुस्कान, विरलरूप मे सुशोभित सिर पर वर्फ-सी धवल केशराशि—यह था उनका बाह्य व्यक्तित्व जिसे मै अज्ञात प्रेरणावश टकटकी लगाये कुछ क्षणो तक निहारता रहा मुझे अनुभव हुआ कि उनके प्रशस्त ललाट पर क्रोध और दुश्चिताओ की लिखावट नही है, सीधी और सरल भृकुटियो मे असहिष्णुता का कुचन नही है ऊँची व पैनी नासिका पर दम्भ का उतार-चढाव नही है अधरो पर निष्ठुरता की वक्रता नही है और न एवरेस्ट की तरह उनका व्यक्तित्व दुरूह है अपितु सरिता की सरसधारा के समान सहज ग्राह्य है जो अपने शीतल स्वच्छ शिखरो से जन-जन के मन को आह्लादित करता है कवि की भाषा मे—

जिसके अधरों पर अगर, अमर मधुर मुस्कान,
उसके लिये जहान मे, सब कुछ है आसान.

भारत के अनेक मूर्द्धन्य मनीषी महापुरुषो को अत्यन्त सन्निकट से देखने का इन पक्तियो के लेखक को अवसर प्राप्त हुआ है इस आधार पर अधिकार की भाषा मे कहा जा सकता है कि श्रीहजारीमलजी महाराज भी एक विशिष्ट महापुरुष थे कारलाइल ने महापुरुष की परिभापा करते हुए लिखा है कि—"किसी भी महापुरुष की महानता का पता लगाना है तो यह देखना चाहिये कि वह अपने छोटो के साथ कैसा वर्ताव करता है ?" प्रस्तुत कसौटी पर श्रीहजारीमल जी महाराज पूर्ण खरे उतरते थे.

भारत के विचारको ने मस्तिष्क को महत्त्व नही दिया है अपितु यह कहा कि हृदयशून्य विकसित मस्तिष्क—अभिशाप है श्रीहजारीमल जी महाराज वाल की खाल निकालनेवाले प्रकाण्ड पण्डित नही थे और न धुँआधार प्रवक्ता ही, तथापि उनका हृदय इतना विशाल था और मन इतना विराट् था कि आवाल वृद्ध सभी उन्हे श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे वे हृदय के राजा थे, मनके सम्राट् थे

उस युग-पुरुष के जीवन मे अनेको गुण थे—सहृदयता, नियमवद्धता, परदु:खकातरता, सरलता सौजन्य-आदि उनका जगमगाता व्यक्तित्व, वस्तुत विभिन्न रगो से रजित एक कलामय चित्र की तरह रमणीय था किसी को उच्च स्वर मे वार्तालाप करते देखकर उनके रोगटें खडे हो जाते थे वे कभी-कभी मधुमक्षिकाओ के दश सदृश पीडा का अनुभव



करते थे उस समय उनका अभिनय प्रेक्षणीय होता था दुनिया इसे कायरता कह सकती है परन्तु विचारक उसे उनका बहुत बडा गुण मानते और स्वभाव की कोमलता कहते है अपने स्वभाव की कोमलता के कारण वे सघर्षो से सदा दूर रहे और अत तक जनप्रिय बने रहे सन् १९५५ मे जयपुर में सयुक्त वर्षावास था. उस वर्षावास के मधुर सस्मरण आज भी स्मृति-पटल पर चलचित्रो की भाँति आरहे है पर उन सभी को वाक्यो की कडियों मे पिरोना कठिन है. एक शब्द में कहा जाय तो उस महापुरुष में पुरानी पीढियो की सब खूबियो के साथ ही नवीन विचार भी पर्याप्त मात्रा मे थे. दुर्भाग्य से वे आज हमारे बीच मे नही है पर उनका पावन चरित्र प्रकाशस्तम्भ की तरह सदा हमारा पथ-प्रदर्शन करता रहे यही मगल-कामना है.

मुनि श्रीरामप्रसादजी.

पुण्याः स्मृतयः

न योऽभूद् माद्दत्तै परिचिततरोऽतीतसमये, न पूर्वं यस्यासीत्, प्रथिततरनामाऽप्यवगतम् ।
हजारीमल्लाख्यं, मुनि-बहुल-भीनासर-भुवि मुनीन्द्रं त नेत्रे निमिषमिह साक्षात्कृतवती[1] ।।

—जिन हजारीमलजी महाराज का हमे पहले परिचय नही था, तथा प्रसिद्ध होने पर भी जिनका नाम हमने कभी नही सुना था, उन्हे भीनासर मे-जहाँ बहुत से मुनि एकत्रित थे-हमारे अपलक नेत्रो ने देखा.

कचाः शुक्लाः शुक्ला हिम इव हिमावास-शिरसि, वपुः शुक्ल शुक्ल सित-पट धरत्वाद्विकलम् !
तथा शुक्लः शुक्लो मधुरतरहासश्च वदने, समा शुक्ला तस्यावरतति हि मूर्तिः स्मृतिपथे !!

—हिमालय पर पडी हिम के समान धवल उनके केश थे. उनकी गौर-देह श्वेत-परिधान के कारण और भी उज्ज्वल लगती थी उनके चेहरे पर मधुरता-पूर्ण मुस्कान की धवलिमा थी इस प्रकार उनकी शुक्लाति-शुक्ल मूर्ति हमें स्मरण हो रही है.

वयोभिर्दीक्षाब्दैर्जिन-वचन-शिक्षादि-सुगुणैः, महत्त्व बिभ्राणः परमपि दधानो गुरुपदम् !
लघूनां साधूनामपि, सहज-मुद्रां तु कलयन्, कृते स व्याहार्षीद् हसितवदनः स्वागतमिति !!

—वे आयु काल और दीक्षा काल से बडे थे जिनागम की शिक्षाओ से परिपूर्ण थे तथा अन्य गुणो से भी महान् थे. गुरुत्व का उत्कृष्ट पद उन्हे प्राप्त था फिर भी अपनी सहज मुद्रा अथवा स्वाभाविकता को बनाये रखते हुए वे छोटे मुनियो के लिए भी प्रसन्नवदन होकर स्वागत पद का प्रयोग करते थे.

न विद्वत्वं तेषां न च विभु-प्रभावः प्रभवताम्, पटुत्वं वा वाण्या लघु-समय-संगेन विदितम् !
तथापि व्याहृत्या हरति हि मनो मे मधुरता, तथा बालस्येवाऽऽहरति खलु तेषां सरलता !!

—उनके पाण्डित्य को, उनके बडप्पन के व्यापक प्रभाव को तथा उनकी वाणी के कौशल को बहुत थोडे समय साथ रहने के कारण हम न भी जान सके तो भी उनकी वचन-माधुरी बडी हृदयहारी प्रतीत होती थी तथा उनकी बाल-सुलभ सरलता मन को आकृष्ट करती थी.

मदीयैः स्वर्यातैर्गुरुभिरथ वाचस्पति-पदैः, पुरा तेषां प्रीतिः समजनि सुधासार-भरिता !
अहं स्मारं-स्मारं निज-मनसि तामेव नियतम्, पुरस्कर्तुकाव्यैरिममगुरुयत्नं विहितवान् !!

—मेरे स्वर्गीय गुरुदेव व्याख्यानवाचस्पति श्रीमदनलालजी महाराज से उनका अमृत-रस-वाही-स्नेह बहुत पहले हो गया था. उसी स्नेह को अपने मन मे पुन पुन लाते हुए कुछ पक्तियो द्वारा प्रकट करने का यह लघुतर प्रयत्न किया है.

---

१. नपुसंक लिगे द्विवचने प्रयोग.

डा० सूरजनारायण जी,
भूतपूर्व सिविल सर्जन, अजमेर राज्य

नमन करो स्वीकार

भारत मे ऋषियो की परम्परा न होती तो भारतीयो के पास अध्यात्मविद्या न होती तो भारतीय, अन्य देशो की तुलना मे किस बात मे महान् कहलाते ? आज अन्य देश भौतिक दृष्टि से अपना अस्तित्व अलग रखते है परन्तु अदृश्यशक्ति के अनदेखे सत्य, व दर्शन की गहरी गुत्थी और आत्मदृष्टि का जहाँ भी प्रसग आता है—उन्हे भारतीय दर्शनो की दृष्टि प्राप्त करनी होती है इस दृष्टि का उद्गम दुनिया से दूर रह कर सार्वभौम सत्य का साक्षा- त्कार करने वाले सन्त है

अत ऋषि परम्परा का, भारत ने सदैव ऋण स्वीकार किया है ऋषि मुनियो की परार्थचिन्तनात्मक पावनी गगा मे भारत स्नान कर आत्मस्फूर्त रहा आज भी सन्तसस्कृति के प्रति हम भारतीय लोग आकर्षित और श्रद्धावान् है—इसीलिये कि सन्तो के अनुभूतिमूलक अमृत से हमारी आत्मा को परितृप्ति प्राप्त होती है.

मुझे चिकित्सा के माध्यम से जन-सेवा की दृष्टि अपने गुलाबी बचपन मे महापुरुषो के जीवन-चरित्र पढते-पढते, प्राप्त हुई थी अपने जन-सेवा-कार्य मे जैनमुनियो की चिकित्सा का भी अनेक बार शुभ प्रसग आया है पूज्य स्वामी श्रीहजारीमलजी महाराज की चिकित्सा करने के प्रसग मे मैंने उनसे अनेक बार धर्म चर्चा भी की है.

मैंने अनुभव किया था—स्वामीजी के रक्ताणुओ मे भी साधुता मिश्रित थी भयकर रोगाक्रमण की कष्टपूर्ण वेला मे भी उनके धैर्य का बाँध फौलादी ही बना रहा

जब-जब मुझे साधुओ का पावन जीवन-स्मरण आता है, तब-तब पूज्य श्रीहजारीमलजी महाराज की भव्य और सरल मूर्ति स्मृति के आँगन मे साकार हो जाती है मेरा हृदय उनकी, और उन जैसे पुरुषो की स्मृति आते ही श्रद्धापूरित हो जाता है पूज्य मुनिश्री को मेरे भक्ति पूर्वक नमस्कार है वे विमलात्मा जहाँ भी हो, मेरे नमन स्वीकार करे !!



प्र० श्रीकस्तूरचन्द्र जी महाराज.

संस्मरण और कृतज्ञता

सरल स्वभावी पूज्य मुनिराज श्रीहजारीमलजी म० के दर्शन का सौभाग्य अनेक बार मुझे प्राप्त हुआ है जब-जब मैंने उनके दर्शन किये, उनके उदात्त, प्रेरक और कर्मठ जीवन से प्रेरणा ग्रहण करने मे ब्यावर, जोधपुर, नागौर, भीनासर प्रभति नगर साक्षी है

उनके स्नेह, औदार्य और सदाशयता आदि गुण मुझे आज तक याद आते है जोधपुर वर्षावास के अन्तिम दिनो मे नेत्र का ऑपरेशन कराकर मै, सरदारपुरा मे ठहरा हुआ था, स्वामीजी को क्या आवश्यकता थी कि वे मेरे पास, दीक्षा मे बड़े होते हुये भी साता पृच्छा करने आते ? परन्तु यह उनके सहज औदार्य और निर्मल स्नेह का महत् उदाहरण है स० २०१८ मे मन्दसौर मध्य प्रदेश वर्षावास था. सहसा उनके स्वर्गवासी होने के दु खद समाचार सुनकर हृदय को आघात लगा. तभी मेरा मन शोक मे डूबकर यह सोचने को विवश हुआ—'श्रमणसघ मे अब वृद्ध, अनुभवी, उदारचेता और समत्व का साधक सन्त कहाँ है ?"

उनका स्नेह सम्प्रदाय, प्रान्त, और वर्ग के घेरे मे कभी आबद्ध नही हुआ था उनका स्नेहतत्त्व धर्मनिष्ठ था धर्म की चर्चा और धर्माचरण जहाँ जिसमे भी उन्होने पाया—वे उन सभी के प्रति सहज ही द्रवित होते थे



उनके जीवन के पावन सन्देश और उपदेश मेरे जीवन को प्रकाशित कर रहे है. मैं उनके प्रति अत्यन्त कृतज्ञ हूँ. साथ ही उस दिव्य दिवगत महान् आत्मा के चरणारविन्द में श्रद्धानत हू.

श्रीनैनसुख हजारीमलजी, बोथरा, अहमदनगर

संस्मरण और श्रद्धा

जैन सस्कृति व्यक्ति पूजा की अपेक्षा गुण पूजा मे विश्वास रखती है. परम श्रद्धेय स्वामी जी महाराज भी निरन्तर तत्त्वचिन्तन सतत मनन, ज्ञानाराधन एव आत्म गुण के रमण मे निमग्न रहते हुये ध्येय सिद्धि करने मे ही प्रयत्नशील रहते थे . भले ही आज वे अपने पार्थिव शरीर से हमारे मध्य नही रहे हो परन्तु उनकी जीवन-सुगन्ध आज भी हमे प्रेरणा दे रही है.

मेरे जीवन मे उस विरल विभूति के दर्शन करने का सुअवसर सवत् २००९ मे, स्वामीजी महाराज वर्षावास निमित कुचेरा (राजस्थान) क्षेत्र मे विराजमान थे—तब आया था. प्रथम दर्शन मे जब मैंने अपना परिचय दिया तब वे शान्तमूर्ति मेरी तरफ देखते रहे. मैं भी उनकी सरलता, शान्त मुखमुद्रा व भद्रता पर मुग्ध था. वे आलेखन करते रहे पश्चात् मधुर स्वर मे कहने लगे 'मेरे गुरुवर्य के सासारिकपक्ष के बोथरा परिवार मे से तुम्हे देखकर गुरुदेव की स्मृति जागृत हो आती है. और उन्होने एक प्रपत्र जो मेरे दादाजी श्रीछोटेमलजी बोथरा ने घोडनदी (पूना) से सवत् १९७२ में परम पूज्य गुरुदेव की सेवा मे भेजा था मेरे पिता श्रीहजारीमलजी बोथरा ने उनके आकस्मिक अवसान व व्यथितचित्तता, व्यग्र मन स्थिति एव कुटुम्व पर आई हुई आपत्ति का उल्लेख करते हुए कुटुम्ब व परिजनो के साथ आत्मीय भाव से गुरु भक्ति के भाव का चित्र चित्रित किया था मुझे पढने को दिया मैंने पढकर अनुभव किया कि मेरे प्रति गुरुदेव का कितना अपनत्व पूर्णभाव है ? उस हृदयस्पर्शी प्रसग का स्मरण करते ही आज मेरा हृदय गद्‌गद हो रहा है. उन्होंने जिस वात्सल्य भाव से मुझे अपनापन दिया था, वह जीवन की अविस्मरणीय वेला है

भीनासर (राजस्थान) के वृहत् साधु-सम्मेलन के वक्त दर्शन का पुन: अवसर प्राप्त हुआ था मैंने अपने जीवन को धन्य माना था ऐसे महान् पवित्र आत्मा को मै श्रद्धा के सुमन समर्पित करते हुये आज परम आनन्द की अनुभूति कर रहा हूँ.

श्रीचम्पालालजी वांठिया.

एक मधुर संस्मरण

उष्णताप्रधान मरुधरा का कुचेरा ग्राम ! चौमासे का मौसम ! अन्य प्रान्तो में जब आसमान से पानी की वर्षा होती है तब वहाँ शरीर से पसीने की धाराएँ बहती है. उन्ही दिनो मै कुचेरा गया था

स्वर्गीय पूज्य श्रीगणेशीलालजी म० का और प्रर्वतक श्रीहजारीमलजी म० का संयुक्त चौमासा था. दोनो महान् सन्त एक ही मकान मे ठहरे थे. ऊपर की मजिल मे पूज्यश्री और नीचे की मजिल मे प्रर्वतकजी थे.

जिन कमरो में हवा का नाम-निशान न था, उन्ही मे रात-दिन ज्ञानार्जन, ध्यान और स्वाध्याय मे निमग्न रहते हुए प्रवर्त्तक मुनिश्री को देखकर विस्मय के साथ अनायास ही उनकी तपोनिष्ठा एव सहिष्णुता के प्रति हृदय मे श्रद्धाभाव जागृत हो उठा. हृदय ने कहा—'सच्चे सन्त का यही लक्षण है. ऐसी कसौटियो पर ही सन्त का जीवन कसा जाना चाहिए'

किसी भी प्रकार के प्रदर्शन की भावना ने उन्हे स्पर्श तक नही किया था वे अपने आप मे जो कुछ भी थे, उससे अन्यथा प्रदर्शित करने की वृत्ति उनमे नही थी. सादगी, सरलता एव शिशु की-सी शुचिता उनके जीवन की सर्वोपरि विशेषता थी, जिसने उनकी साधना मे प्राणो का सचार कर दिया था.

यद्यपि मेरा उनके साथ विशेप वार्तालाप नही हुआ तथापि उनके उच्च व्यक्तित्व का कुछ ऐसा प्रभाव मेरे मन पर पडा कि वह विस्मृत नही किया जा सकता. आज भी वह भद्रात्मा मेरी कल्पना मे जैसे सशरीर अकित है



श्रीगुलाबचन्द्रजी जैन, दिल्ली

महामना मुनि श्रीहजारीमलजी

सन् १९३७ के वर्षाकाल की बात है जोधपुर से दिल्ली वापस आते हुए कुचेरा ग्राम (मारवाड) मे श्रीमधुकरजी म० तथा उनके गुरुतुल्य ज्येष्ठ-गुरुभाई वयोवृद्ध मुनिराज श्रीहजारीमलजी म० का परिचय प्राप्त करने का सौभाग्य मिला.

प्रथम परिचय मे ही आपकी सरलता, सज्जनता, साधुता और विद्याप्रेम की असाधारण छाप मेरे मन पर पडी इस घटना को २६-२७ वर्ष हो गए, अब भी ऐसा मालूम पडता है कि मानो यह घटना अभी घटी है फिर तो अनेक बार जब-जब मेरा मारवाड जाना होता तब-तब मैं प्राय आपके दर्शन करने का मन मे उत्साह रखता और फिर दर्शन करके ही लौटता ।

आपके विद्याप्रेम और अपने साधुओ को विद्या-अध्ययन कराने और कलात्मक लेखन की प्रेरणा देने का प्रत्यक्ष प्रमाण तो उस समय मिला जब पडित बेचरदासजी के द्वारा मुझे लगभग पाँच सौ वर्ष पुरानी स्वर्णाक्षरो की चित्राकित सस्कृत भाषा मे एक पुस्तक 'कालकाचार्य की कथा' प्रदान की इसके अन्तिम पृष्ठ पर अपने ज्येष्ठ-गुरुभ्राता मुनिराज श्रीव्रज-लालजी के हाथ से सुन्दर हिन्दी भाषा के अक्षरो मे स्नेहपूर्ण उपहार प्रदान करने के आशीष वचन अकित कराये

पुस्तक तो आज भी ऐसी मालूम होती है कि मानो अभी लिखकर तैयार की गई है पुरातत्त्ववेत्ता और भारतीय तथा विदेशी विद्वानो ने जब इस ग्रथ को देखा तब यही कहा कि ऐसी पुस्तक गुजरात और राजस्थान के प्राचीन जैन-भण्डारो मे भी देखने मे कम आती है, यह पुस्तक भारतीय एव जैन-कला का उच्चतम प्रतीक है

इसके थोडे समय बाद जब मै अपने मित्र फ्रासीसी प्रोफेसर ओलीवर लुकुम्ब के साथ आबू पहाड के प्राचीन जैनमदिरो को देखकर लौट रहा था तो मैं पडित बेचरदासजी से मिलने ब्यावर जैन-गुरुकुल गया वहाँ भी मुनिश्री के दर्शन करने और वार्तालाप करने का अवसर मिला आपसे धर्म-कार्यों के सबध में अनेको बार पत्र व्यवहार करने का भी गौरव प्राप्त हुआ इस लम्बी अवधि मे आप से कितनी ही बार कई स्थानो मे (गुलाबपुरा, अजमेर आदि) मे भेट करने का भी अवसर मिला.

यह आप ही की कृपा का परिणाम है कि आज मुनि श्रीमिश्रीमलजी 'मधुकर' प्राकृत, सस्कृत और हिन्दी भाषा के योग्य विद्वान् और कवि बन सके हैं । आप का हृदय अति कोमल, मधुर, निष्कपट और वात्सल्यमय था सम्प्रदाय मे रहते हुए भी वे साम्प्रदायिक सकीर्णता से कोसो दूर थे उम्र मे बहुत अधिक, कद लम्बा और वर्ण गौर था व्यवहार मे ऊँच-नीच या छोटे-बडे का भेद किंचित् भी देखने मे नही आता था वे पुराने जमाने के मुनिराज थे किन्तु विचारो मे आज के नवयुवक साधुओ से पीछे न थे आपके आचार-व्यवहार मे दृढता और प्राणिमात्र के प्रति दया के भाव भरे थे. आडम्बर और ढोंग से दूर थे वे मारवाड के प्रसिद्ध जैन-मुनिराज ऋषि श्रीजयमलजी महाराज की परपरा के उज्ज्वल नक्षत्र थे. ऐसे महान् सन्त के प्रति मै भी अपनी श्रद्धाजलि अर्पण करके अपने आपको कृतार्थ समझता हूँ साथ ही प्रार्थना करता हूँ कि मुनिराज श्री व्रजलालजी और श्रीमिश्रीमलजी 'मधुकर' आपके चरणचिह्नो पर चलकर वीरशासन की सेवा करने मे आपही की तरह सामर्थ्यवान् बनें






श्री धीरजलाल के० तुरखिया

जिनशासन की विमल विभूति-सन्त

अवसर्पिणिकाल मे भरत क्षेत्र मे अनेक विभूतियाँ जिनशासन मे हो चुकी है महान् यशस्वी आचार्य श्रीजयमलजी महाराज की सम्प्रदाय मे मुनि श्रीहजारीमलजी महाराज भी एक विभूति थे

आप बडे ही शान्त, दान्त, गभीर और सौम्य प्रकृति के भद्रपरिणामी सन्त थे विहार क्षेत्र विशेपत मरुभूमि ही आपका था आप जैसे सन्तो के योग से शुष्क मरुभूमि भी धर्म-उद्यान से सदा हरी-भरी थी

आपश्री से मुझे सर्वप्रथम ब्यावर गुरुकुल के अधिष्ठाता के नाते, साधुसम्मेलन के मत्री के नाते, और अ० भा० श्वे० स्था० जैन कान्फरेन्स के मत्री के नाते व श्रावकसघ के विनीत सेवक के नाते—अनेक बार दर्शन करने मिलने और निकट परिचय मे आने व सत्सग करने के अवसर मिले हर समय आपको शान्त चित्त और समत्वभाव मे प्रतिष्ठित देखकर हृदय उल्लसित होजाता था

आपके शिष्य प० मुनि श्रीमिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर' को पूज्य श्रीजयमलजी महाराज के पाटानुपाट के लिए नागौर मे आचार्य पद दिया गया था तब भी आप समरसी भाव मे ही पाये गये अहकार का स्पर्श न हो पाया था.

और तो क्या दु ख, दर्द मे भी आपमें वही समरसी भाव पाया जाता था किसी की आलोचना होती हो तो वैसे प्रसग से सदैव दूर ही रहा करते थे उनका विरोधी कोई था ही नही, अगर किसी विघ्न-सतोषी ने कभी विरोध भी करना चाहा तब भी आप अपने समत्वमूलक भाव से उपरत नही हुए, दर्शनार्थी के द्वारा सुखशान्ति की पृच्छा करने पर आपके श्रीमुख से 'आनन्द-मगल' की ही प्रति-ध्वनि सुनी जाती थी.

किंवहुना, कभी क्रोधादि कषायो ने आपको स्पर्श ही नही किया था. आपके सरल विमल आचार और विचारो की सादगी देखकर निकटभव्यता के लक्षण स्पष्ट ही परिलक्षित होते थे चौथे आरे की बानगी रूप सन्तश्रीजी थे समता रस के समुद्रवाले किसी के दिल को न दुखाने मे सदा जागृत, दयानिधि, परम गुणग्राहक, सौम्यमूर्ति, भद्रपरिणामी मुनि श्री हजारीमलजी म० को जिसने भी एक बार देखा होगा वह कभी भी उनके जीवनोत्कर्षमूलक गुणो को और स्वभाव को विस्मृत नही कर सकता है ऐसे ससार मे आदर्श दिव्य पुरुष को मेरे कोटिश भाववन्दन है



प० रघुवीरसहायजी शर्मा, आयुर्वेदाचार्य.

पावन संस्मरण

साधुपुरुप, ससार के उद्धारकर्ता है क्योकि वे 'शुनि चैव श्वपाके च पडिता: समदर्शिन:' के सिद्धान्तानुसार सर्वभूतात्मैक्य का अनुभव करते हैं और वीतराग होकर कचन और काष्ठ मे समत्व साधकर अपनी इच्छाओ की आहुति देते हुए अपने जीवन को आत्मसाधना, ज्ञानोपदेश, व जनकल्याण के लिये अर्पित कर देते है काम, क्रोध इत्यादि निराकार प्रबल शत्रुओ को पराजित कर अपने जीवन को तप पूत बनाना ही अपने जीवन का परम ध्येय बनाकर चलते है.

काम, क्रोध, लोभ, मोह के गर्त मे फँसे हुए तथा अन्य जघन्य कार्यो मे रत-व्यक्तियो का उद्धार सन्तो के सदुपदेशो से हुआ है और वर्तमान मे भी कितने ही कुमार्गगामी, विलासी तथा कचनकामिनी के पीछे अपने धर्म-कर्म व जीवन के उद्देश्य को भूल जानेवाले व्यक्तियो को अपने सदुपदेशो से मोड़कर सन्त-जन ही उचित मार्ग पर लाते है

श्वेताम्बर, स्थानकवासी जैन-सन्तो मे आचार्य श्रीजयमलजी महाराज को सम्प्रदाय के समुज्ज्वल रत्न पूज्यपाद श्रीहजारीमलजी महाराज एक उच्चकोटि के महान् योगी, तपोधन, अध्यात्मनिष्ठ सरल एवम् सौम्य, ज्ञानवृद्ध तथा

आयुवृद्ध महात्मा थे सन् १९४३ मे सेठ इन्द्रचन्द्रजी गेलडा ने अपनी मातेश्वरी की स्मृति मे 'श्रीजिनेश्वर' धर्मार्थ औषधालय' की स्थापना की और औषधालय के द्वारा जन-सेवा करने का प्रारम्भ से ही मुझे अवसर मिला इस सुयोग के कारण ही स्वामीजी महाराज अपने गुरुभाई परम सेवाभावी श्रीव्रजलालजी महाराज तथा पडित-प्रवर श्रीमिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर' के साथ मुनित्रयी के रूप मे कुचेरा पधारे तभी महाराजश्री के दर्शन करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ

लम्बा कद, गोधूमवर्ण, प्रशस्त विशाल ललाट, आजानुबाहु, शात एव मुनि जनोचित कातिमयी मुखाकृति सर्व साधारण के हृदयो मे शान्ति का सचार करती थी,

साधारण व्यक्तियो को बाल्यकाल मे माता-पिता एव निकटतम सम्बन्धियो का स्नेह अपनी ओर खीचता है विविध प्रकार की बालसुलभ क्रीडाएँ तथा आमोद-प्रमोद व प्रलोभन सामने आते है काल गति करता जाता है, यौवन का आगमन हो जाता है व्यक्ति सुखो की कठोर शृखलाओ मे बँध जाता है. किंतु सन्तहृदय आत्मा एक विशिष्ट आदर्श लेकर उपस्थित होता है

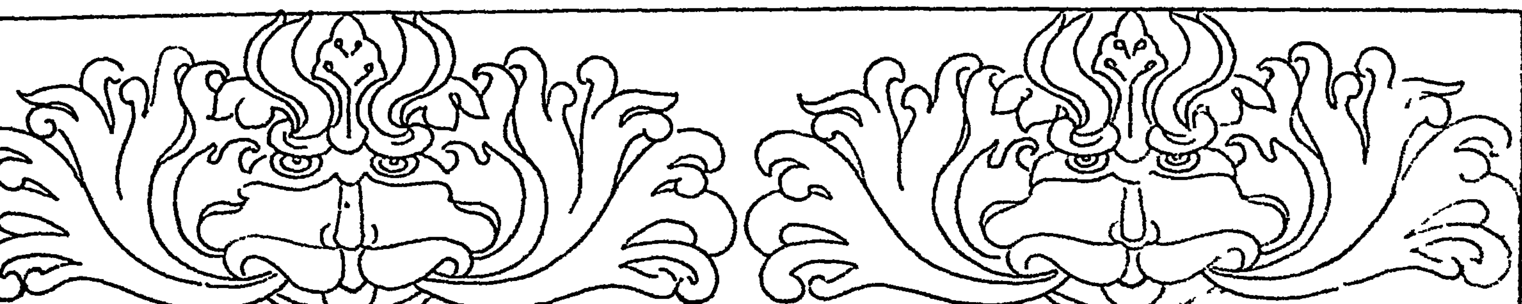
महामहिम मुनिराज को सासरिक भोग तथा सुख अपनी तरफ आकृष्ट नही कर सके आपने भौतिक वैभवो को तृणवत् त्याग दिया था और दुर्दमनीय चचल मन की गति को मोड कर अध्यात्म-साधना की ओर प्रेरित किया था इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि आपने केवल ११ वर्ष की सुकोमल वय मे ही भागवती दीक्षा धारण की थी दीक्षा लेने के उपरान्त ३२ वर्ष तक गुरुचरणो की सेवा में रत रहते हुए मुनिवर ने सस्कृत, प्राकृत गुजराती, हिन्दी, ब्रज एव राजस्थानी भाषा का अध्ययन किया जैन-धर्म के अनेको ग्रथो को हृदयगम किया और गुरुवर के साथ मरुभूमि के विविध स्थानो पर भ्रमण करते हुए अपने जीवन को तपःपूत बनाया

गुरुवर का शरीर आत्मलीन होने के बाद सवत्-१९८६ से स्वामीजी का स्वतत्र विचरण प्रारभ हुआ अपने सरल सुबोध उपदेशो की अमृतमयी वाणी की अजस्र धारा से जन-साधारण के हृदयो मे अध्यात्म और नैतिकता का सचार किया लगभग ६४ वर्ष तक मुनिवर ने सयमपूर्ण तथा कठिन साधनायुक्त साधु-जीवन बिताया

स्वामीजी बडे ही शान्त सरल, और उच्चकोटि के भद्र सन्त थे मुनिवर का जीवन सर्वजन प्रशसनीय रहा आप हृदय के इतने विमल और सरल थे कि ससार से पद्मपत्रवत् पूर्ण निर्लिप्त तथा पूर्ण विरक्त रहते हुये भी सपर्क मे आनेवाले साधारण तथा विशेष सभी व्यक्तियो से उनकी सुख सुविधा के विषय मे साधारणत सतोषजनक वार्तालाप कर, सबको शान्ति का उपदेश दिया करते थे

आपका स्नेह व सदुपदेश केवल जैन-जगत् तक ही सीमित नही था जैन व जैनेतर सभी के साथ आप सरल व मधुर वर्ताव के अभ्यासी थे उन्होने जहाँ भी चातुर्मास किया वहाँ के वातावरण मे सर्वत्र शान्ति तथा प्रेम का साम्राज्य स्थापित हो जाता था वर्षाऋतु मे तप्त भूमि पर मेघ उन्मुक्त रूप से बरस कर उसे हरी-भरी तथा शस्य-श्यामला बना देता है, वैसे ही दु.ख क्लेश, द्वेष, वैमस्य, से दुखी हुए सर्वसाधारण के हृदय, स्वामीजी के उपदेशो की शीतल धारा से शान्ति प्राप्त करते थे. विविध धर्मावलम्बी जनता दूर-दूर से आकर्षित होकर स्वामीजी के दर्शनार्थ और सदुपदेशो को श्रवण करने के लिये उत्सुकतापूर्वक आया करती थी जहाँ-जहाँ भी मुनिवर चातुर्मास के लिये या विचरण काल मे पधारे, वहाँ सबने उनको अपना ही माना और साम्प्रदायिक भेदभाव से दूर रहकर स्वामीजी के चरणो के दर्शन प्राप्त कर अपने को कृतार्थ किया उनका अपने गुरु-भाइयो के प्रति इतना स्नेह था कि आजतक बहुत से लोग यह भी नही जान पाये कि ये गुरुभाई है या गुरुशिष्य दोनो गुरुभाइयो ने भी आपको गुरु के समान ही समझा

पिछले पाँच-सात वर्षो से मुनिराज को हृदय-व्याधि का कष्ट विशेष रूप से रहा करता था चिकित्सको की यह राय थी कि स्वामीजी को अब विशेष परिभ्रमण छोडकर एक स्थान पर विराजमान हो जाना चाहिये श्रावको की भी अनेक बार यही विनती रही परन्तु स्वामीजी ने अपने उपदेशो से जनता को वचित रखना कभी उचित नही समझा



आपने जीवन को पगु वनाकर एक स्थान पर रहने की अपेक्षा विचरणशील जीवन ही पसद किया वे कहते थे कि 'रमता जोगी और वहता पानी पवित्र रहता है'

स्वामीजी का अन्तिम चातुर्मास सवत् २०१८ कार्तिक शुक्ला १४ को कुचेरा में सानन्द सम्पन्न हुआ था. अस्वस्थतावश वर्षावास सम्पन्न हो जाने पर भी कुछ अधिक समय तक विराजना हुआ था. स्वास्थ्य कुछ ठीक होने पर खजवाना की तरफ विहार किया महाराजश्री जव खजनाना विराज रहे थे तव वहाँ के श्रावको ने कुछ अधिक दिन तक अपने यहाँ विराजने की प्रार्थना की स्वामीजी ने श्रावको से कहा था —'मुझे तो नोखा जाना है' कौन जाने नोखा जाने की यह वात स्वामीजी का भविष्य ज्ञान था या अकस्मात् यू ही यह शब्द स्वामीजी महाराज के श्रीमुख से निकल गये थे वे नोखा पहुँच कर नोखा के ही हो गये

मेडता तहसील मे 'नोखा चादावतो' का एक सुन्दर ग्राम है. मद्रास नगर के ख्यातनामा सेठ श्रीमान मोहनमलजी चोरडिया की यह जन्मभूमि है यहाँ विशाल चोरड़िया परिवार निवास करता है यहाँ के सभी श्रावक स्वामी जी म० के विशेष भक्त है भक्तो की भावना पूर्ति के लिये ही स्वामी जी, सभव है, नोखा पधारे थे. नोखा में बड़े आनन्द पूर्वक विराजमान थे धर्मध्यान तथा तपस्या इत्यादि चल रही थी परन्तु—

> अघटितघटितं घटयति, सुघटितघटितानि दुर्घटीकुरुते ।
> विधिरेव तान्विघटयति, यान्नरो नैव चिन्तयति .

सुगमता से सम्पन्न होने वाले कार्य कठिनता से सम्पन्न हो पाते है. अनहोनी घटनाये सामने उपस्थित हो जाती है विधि-विधान कुछ ऐसा विचित्र है कि उन घटनाओ का हम सबको सामना करना पडता है, जिनके बारे में मनुष्य कभी सोच भी नही पाता है. स० २०१८ चैत्रकृष्णा दशमी की रात्रि को उन्होने अत्यन्त शान्तभाव से समाधिमरण किया. उनके देहोत्सर्ग के थोडे ही क्षणो मे शोक-समाचार चारो ओर गृहस्थो ने प्रसारित किये जोधपुर, अजमेर ब्यावर, पाली, नागौर, कुचेरा एव सुदूर प्रदेशो मे जैन जनता को तार-फोन आदि किये गये समीपस्थ ग्रामो के निवासी स्वामीजी के अन्तिम दर्शन करने उमड पडे स्वामीजी के पार्थिव शरीर को नये परिधान पहनाये गये. पद्मासन से उनके शरीर को स्थापित किया गया मैंने देखा कि उनका मृत शरीर भी तप त्यागमय जीवन के प्रभाव से ऐसा लग रहा था जैसे वे ध्यानमुद्रा मे ही वैठे हो ! उनके शरीर को रजत शिविका पर विराजित किया गया. सहस्रो की सख्या मे नर-नारी अपने गुरुवर की शिविका के साथ दुखी व साश्रुनयनो से आगे बढ रहे थे जनसमूह धीरे-धीरे जैनधर्म की जय के नारे लगाता हुआ एक सरोवर के समीप पहुँचा ज्ञानी जनो की बात को तो ज्ञानी ही जाने, परन्तु मैंने देखा कि उपस्थित जनसमूह साश्रु-नयनो से उनके अन्तिम अग्निसस्कार को देख रहा था.

> परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ?

यह ससार परिवर्तनशील है, जिसने जन्म लिया है उसकी एक दिन मृत्यु भी अवश्यभावी है व्यक्ति आता है और चला जाता है परन्तु कुछ व्यक्ति ऐसे होते है जो जाने के बाद भी जन-जन के हृदयो पर अपने व्यक्तित्व की ऐसी गहरी छाप छोड जाते है जिससे वह चिरस्मरणीय वन जाती है अस्तु शरीर त्याग जाने पर भी वे अमर रहेगे. स्वामीजी म० की पवित्र आत्मा जहाँ भी हो, मैं अपनी—उस महान् आत्मा को भावभीनी श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ.



श्रीलालचन्दजी पीतलिया

मेरे मनोदेवता के प्रति

कराल काल की करतूतो का अन्त कहाँ ? देखते-देखते वह हमारे श्रद्धास्पद और स्नेहास्पद जनो को उठा ले जाता है. विवश आँखें वरसना शुरु कर देती है. वरसती है. वरसती रहती है. मन का वह श्रद्धाभाजन लौटकर नही आता है.





आंखे कितनी ही वरसें, हृदय कितना ही पसीजे, मन कितना ही भीगे, पर काल की भयकर आँखे कभी नही भीगती. उस दिन सुना पूज्य मुनिमना मरुधरा मत्री श्रीहजारीमलजी महाराज काल की आखो आ गये, तो विश्वास नही हुआ था परन्तु अविश्वास का महल जल्दी ही ढह गया.

और फिर मैं सोचने लगा—"उनके स्वर्गवास से मरुधरा सूनी हो गई क्योकि मरुभूमि मे वे आध्यात्मिक भावो के केन्द्र-स्थल थे. मरुभूमि का हर श्रद्धावादी उनमे अपनी श्रद्धा अर्पित करके स्वय को भवभ्रमण से मुक्त अनुभव करता था

मेरी जिन्दगी का वह सुनहरा दिन था, जिस दिन (स० २०१५) कृपालु गुरुदेव अपनी पद-रज से मेरे गाव सिरयारी (राणावाम) को पावन करने पधारे थे मैंने इससे पहले उनके कभी दर्शन नही किये थे दर्शन करते ही मन स्वत ही उनके प्रति झुक गया था. सिरयारी का प्रत्येक व्यक्ति उनका भाषण सुनकर सदा के लिये उनके प्रति आस्थावान् हो गया था उनके व्याख्यान की सर्वोपरि विशेपता थी—'मधुरता' और 'सरलता'. धर्मजागरण और ज्ञानार्जन की वे जिन भावो में भीगकर प्रेरणा प्रदान करते, उन भावो को सुनकर अपने हृदय-कक्ष मे धर्मनिष्ठा और ज्ञान की अखण्ड लौ प्रज्वलित करने की इच्छा बलवती हो उठती थी

उनका जन्म टाडगढ (मेवाड) के समीप डासरिया ग्राम मे हुआ था यह गाव पर्वतो के वीच वसा हुआ है इस गाव मे जन साधारण मे भी पर्याप्त स्नेह और सद्भाव है यह आन-शान पर प्राण देने वाले मेवाड की अपनी निजी विशेपता है यही कारण है कि स्वामीजी म० के स्वभाव को उसने अत्यन्त करुणामय वना दिया था

उनके पुण्य दर्शन करके मेरे मन मे इस कामना ने जन्म ले लिया था कि कुछ समय तक इस आत्मा के चरणो मे रहू पर दुर्दैव को वह स्वीकार न था उसने मेरे मनोदेवता को छीन लिया.

मेरा मन उनके प्रथम दर्शन से ही झुक गया था आज भी मेरा मन श्रद्धा से उनके प्रति झुका जा रहा है



उपाध्याय श्रीहस्तीमलजी म०

कबहुं न बिसरुं !

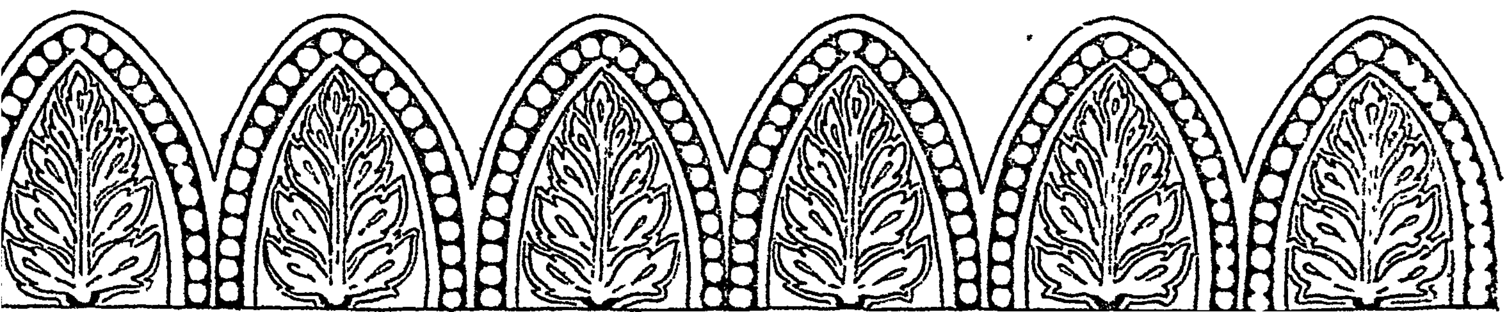
श्रमण-सस्कृति का मूल, समता पर अवलम्बित है क्षणभगुर-भुक्ति-पथ से मन मोडकर, अटल-सुखद-निर्मल-मुक्ति की ओर, सहज-सरल, सात्विक गति से बढना एव इसके अवरोधक अज्ञान और मोह को, वायु-प्रेरित-सघन-घन की तरह दूर करना ही, इस सस्कृति का पवित्रतम लक्ष्य माना गया है जो समभाव से ही सिद्ध हो सकता है स्वामी श्री हजारी-मलजी म० वस्तुत श्रमण-सस्कृति एव समत्व के एक मूर्तिमान्-सजीव प्रतीक थे

उनकी सहज-सरलता, भद्रता, सहनशीलता, आत्मीयता, समता और सहृदयता आज भी जन-मानस मे सम्मान पा रही है और उनकी सौम्याकृति नयनो मे नाच रही है अत गुणमय शरीर से आज भी स्वामीजी हमारे सामने है और आगे भी रहेगे.

स्वर्गवास के कुछ मास पूर्व ही उनके पवित्र-दर्शन और सुखद-सहवास का सुअवसर प्राप्त हुआ था निकट से देखा तो पाया कि वे मान, सम्मान और महिमा पूजा की कामना से सर्वथा परे थे. स्वामीजी के जीवन मे 'समयाए समणो होइ' इस सूत्र का साक्षात्कार होता था और 'समो निंदापससासु' का अन्तर्नाद गूँजता रहता था उनके निश्चल मन मे पद की कोई कामना नही थी, भीनासर सम्मेलन मे मत्रीपद से सुशोभित होने पर भी उनमे गर्वातिरेक नही दिखाई दिया. सचमुच श्रमण-जीवन का ऐसा ही पुनीत आदर्श ससार को शान्ति का पाठ दिखाने मे सफल हो सकता है इस तरह आपका श्रमण-जीवन, उस विराट्-सत्य का एक खुला पृष्ठ है जो सदा सवके लिए परमोपयोगी सिद्ध हो सकता है

पूर्व परम्परा से उनका हमारा निकटतम सम्वन्ध रहा है जयमल्लजी म० और पूज्य कुशलोजीम० परस्पर गुरु भाई थे और उन दोनो मे प्रगाढ प्रेम और असाधारण वन्धुभाव था आप पूज्य आचार्य श्रीजयमल्लजी म० की सप्तम पीढी मे थे और हम कुशलोजी म० की सप्तम पीढी मे हैं

वे गुणागार थे. उनके किन गुणो का वर्णन किया जाय! यहाँ तो 'कवहू न विसरु हो चितारु नही' का सगीत गूंज रहा है.



हृदय की श्रद्धा हाथों में

श्रद्धा मेरे हृदय में है ! श्रद्धा को हाथों से निकाल कर कैसे बता सकती हूँ—गुरूवर ! आपकी दृष्टि में, आपके प्रति श्रद्धा रखने वाला और अश्रद्धावान दोनों ही समान थे. आपको जीवन में यह नापने-जोखने की आवश्यकता ही अनुभव नही हुई थी कि मुझमें किसकी कितनी श्रद्धा है ! तथापि मैं, आपके प्रति कितनी श्रद्धा रखती आई हूँ—यह हाथ पर रखकर तो नही पर हाथ से लिखकर जतानी पड़ रही है ! पड़ ही क्यों रही है—यह मेरा परम पुनीत कर्त्तव्य है ! आपको नही समाजस्थो को बताने-जताने की आवश्यकता है. मैं उन्ही को बता-जता रही हूँ फिर भी हृदय में उफनती श्रद्धा हाथों से उठाकर बताने में असमर्थ हूँ !

मेरी श्रद्धा जितनी गहरी या उथली है—मेरी श्रद्धा की उतनी ही गहराई और जितना उथलापन है, उसका उतना ही मूल्यांकन कर, वन्दना के सामूहिक उठते स्वरों में, एक स्वर मेरा भी—अपनी जानकर—मिला लेना ! क्योकि यह मेरा लोक व्यवहार गत श्रद्धार्पण है !

श्रद्धा हृदय की वस्तु है ! उसका स्थान हृदय ही है ! यह हाथों में निथार कर नही निकाली जाती. श्रद्धा बाँटी भी नही जाती! श्रद्धा कृपण की तरह हृदय में सजोकर रखने से हृदयान्धकार मिटता है! मैं, हृदय का अन्धकार मिटाना चाहती हूँ ! श्रद्धाप्रदर्शन से हृदय-प्रकाश, प्रस्थान कर जाता है! अन्धकार हृदय के अन्दर प्रवेश पाता



है ! मैं श्रद्धा देकर भी हृदय श्रद्धा से शून्य करना नहीं चाहती ! मेरी श्रद्धा के श्रद्धेय सब के श्रद्धेय बन गये—यह मेरा अचल-अखण्ड अमर सौभाग्य है !

—विदुषी महासती श्रीउमरावकुँरजी

युगपुरुष : श्रद्धेय श्रीहजारीमलजी महाराज

युगपुरुष अपने युग की चेतना का प्रतिनिधि होता है उसके चिन्तन मे युग का चिन्तन चलता है, उसकी वाणी मे युग की वाणी मुखरित होती है और उसके कर्म में युग का कर्म प्रारम्भ होता है युग-पुरुष का जीवन जन-जन के जीवन मे प्रेरणा, स्फूर्ति और चेतना भर देता है

श्रद्धेय श्रीहजारीमलजी महाराज अपने युग की एक विमल विभूति थे वे क्या थे ? विचार मे गम्भीर, आचार मे प्रखर और वाणी मे मधुर ! उनका पावन और पवित्र जीवन विचार और आचार का सुन्दर सगमस्थल था स्वामीजी म० अपने सिद्धान्त मे अडिग और अडोल थे. व्यवहार मे मृदु और मधुर होने पर भी वे किसी के प्रभाव मे नही आते थे. प्रकृति से भावुक एव भावना-शील होते हुए भी व्यवहार मे उनकी चतुरता परिलक्षित होती थी दृष्टिकोण उनका इतना विशाल था कि उसमे सबको समाहित होने का सहज ही अवकाश मिल जाता था उस पावन व्यक्तित्व के प्रति मै अपनी श्रद्धाजलि समर्पित करता हूँ

प्र० श्रीपृथ्वीचन्द्रजी म०



श्रद्धापुष्प

स्वामीजी महाराज का जीवन सरलता, सरसता और आत्मसाधना से परिपूर्ण था उनका जीवन आज भी मेरे दृष्टि-पटल पर पूर्णत अकित है

जहाँ तक मैं स्वामीजी महाराज के जीवन-पहलुओ को देखभाल पाया हूँ—उसके आधार पर कह सकता हूँ कि उनके मन मे वद्व्रज-सी सरलता, वचन मे मिश्री-सी मधुरता और तन मे मधुकर-सी स्फूर्ति साकार थी और थी साधना के पथ पर आगे बढने मे वज्र-सी कठोरता.

सौम्याकृति से सदा सर्वजनहितकर सोमरस की बूदें टपका करती थी उनका नाम 'हजारी' वस्तुत सार्थक था वह नाम आज भी हजारो अधरो से उच्चरित होकर कर्ण-कुहरो मे गूँज रहा है उस अलौकिक ऋजु पुरुष की छाप मेरे हृदय पर अनतकाल के लिए अकित रहेगी !

प्र० मुनि श्रीपन्नालालजी महाराज



अर्पित श्रद्धा-पुष्प

अवनी पर चन्दन शीतल है चन्दन से चन्द्र की चादनी शीतल है ! चन्द्र की चादनी से सन्त शीतल है ! पशुओ से मनुष्य श्रेष्ठ है ! साधारण मनुष्य से विद्वान् श्रेष्ठ है ! विद्वान् की विद्वत्ता से सन्त का मगल-आचरण श्रेष्ठ है ! हर तरह से सन्त सर्वश्रेष्ठ है ! उत्तम है ! सन्त का सोचना, बोलना और करना यह सब देव-कोटि का है ! क्योकि वह समाज से लेता कम और देता अधिक है देने वाला देव है जैन दृष्टि से सन्त के शुभाचरण की तुलना मे इन्द्रादि देवो की समृद्धि और पद फीका है क्योकि सन्त का कण-कण ज्ञान दर्शन और चारित्र मे सराबोर होता है

रत्नत्रय की साधना के लिये साधुजीवन उत्तम माना गया है क्योकि वह व्यक्ति मे केन्द्रित न होकर समष्टि में व्याप्त होता है उसी के हित मे रत रहता है मगल आचरण केवल सन्तो के जिम्मे ही हो और सन्तत्ववृत्ति स्वीकार किये विना वह सम्भव नही है—ऐसा नहीं है जैनधर्म मे उसके लिए दो पथ निर्धारित है सन्तवृत्ति और गृही (श्रावक) वृत्ति किन्तु हमे स्वीकार करना होगा—यह सब सद्विचारो और सुसस्कारो के विना सम्भव नही है.



मेरा सौभाग्य है कि सन्त-समागम की अभिरुचि मुझे पूर्वजो से प्राप्त हुई है. उसके फल-स्वरूप ही मैं सन्तों की सेवा मे समय-समय पर पहुँचता रहा हूँ और सन्तवचनो का लाभ उठाता रहा हूँ. अपने जीवन में कुछ सफलता के दर्शन किये है तो वह साधुकृपा का ही सुफल है. मेरे जीवन पर दो सन्तो का विशेष और चामत्कारिक प्रभाव है. एक पूज्य श्री शोभाचन्द्रजी म० तथा दूसरे जन-जन पूज्य स्वामी श्रीहजारीमलजी म० इनके अतिरिक्त भी मैं अनेक सन्तो के सम्पर्क मे आया हूँ

स्वामीजी म० मे यह विशेषता थी कि वे स्वभाव से अत्यन्त सरल होने के साथ-साथ अत्यन्त उपशातकषाय थे. स्वामीजी म० के प्रत्येक व्यवहार में शीतलता शान्ति एव सरलता ही अभिव्यक्त होती थी उन्ही की कृपा का फल है कि मुनि मिश्रीमलजी म० 'मधुकर' जैसे एक विद्वान् और अभिमान के गरल से रहित महान् सन्त की उपलब्धि समाज को हुई है. यही कारण है कि वे जनता के विशेष श्रद्धा और आदर के पात्र बने है.

वर्तमान युग की सर्वाधिक आवश्यकता साम्प्रदायिकता के उन्मूलन की है. परस्पर प्रेम का प्रचार तथा स्याद्वाद के महान् सिद्धान्त द्वारा भेदभाव को मिटाकर समन्वय की चेष्टा की जाय. ऐसा न होने से धर्म को गहरा धक्का लगने की सम्भावना हो रही है और समय तथा शक्ति नष्ट हो रही है. जहाँ तक मेरी स्मृति काम कर रही है, श्रीहजारीमल जी म० भी मेरे इन विचारो को पसन्द करते थे और उनका व्यवहार भी इसीके अनुसार था इन्ही विचारो का पूर्ण प्रतिविम्ब, मै मुनि श्रीमिश्रीमलजी म० 'मधुकर' मे देख रहा हूँ. इस विचारधारा का अधिकाधिक प्रचार हो तो समाज वहुत लाभान्वित हो सकता है.

अस्तु, उस पूज्य पुरुष के प्रति मैं अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करता हुआ यह कामना करता हूँ कि स्वामीजी म० के जीवन व उपदेशो और विचारो के अनुरूप ही अपना जीवन बनाऊँ.

स्वामीजी म० की पवित्र स्मृति मे मेरी श्रद्धा के ये पुष्प सादर अर्पित हैं

मेहता रणजीतमल, भूतपूर्व जज हाईकोर्ट, जोधपुर.



श्रद्धासुमन-समर्पण

श्रद्धेय दिवगत श्रीहजारीमल जी महाराज का 'स्मृतिग्रथ' प्रकाशित होने जा रहा है. इस अवसर पर मैं उनके प्रति अपनी श्रद्धाजलि के रूप में दो शब्द निवेदन करना अपना महान् सौभाग्य समझता हूँ.

चाहे वे किसी भी धर्म के हो, सन्त ससार में श्रेष्ठ है. जैन या अजैन सभी सन्त पुरुषो का जीवनस्तर, उनका आत्मिक ज्ञान-ध्यान, तथा दैनिक कार्यक्रम—एक ऐसे निर्मल अलौकिक स्तर पर चलता रहता है कि मेरी मान्यता है कि उनके जीवन को ठीक-ठीक आकना मुझ जैसे साधारण व्यक्तियो के लिये वैसा ही है जैसे आकाश के सितारो को भूतल पर अवतरित करने का प्रयास.

फिर भी साधारण मानव का भी सन्त के प्रति एक दृष्टिकोण होता है. और आज के युग में सभी को अपनी बात कहने की स्वतन्त्रता भी तो है. यही विचारधारा मेरी इन पक्तियो की आधारशिला है.

महाराज श्री मुझे कैसे दिखाई पडे ? त्याग और तप, ज्ञान और ध्यान का ओजस्वीपन उनकी प्रसन्न मुखमुद्रा पर सदैव शोभायमान रहता था. वे वहुत ही मितभाषी थे. मेरा अनुमान है कि वे आवश्यकता होने पर ही कुछ कहने को तत्पर होते थे. उनका स्वभाव वहुत ही कोमल और सरल था. छल-कपट तो उनसे कोसो दूर था, और जव भी मुझे उनके दर्शनो का सौभाग्य प्राप्त हुआ, मुझे ऐसा लगता था कि वे अगाध शान्ति और असीम आत्मानन्द के महासागर में अनवरत डुवकियां लेते रहते थे. उनका शान्त-हृदय सासारिक प्रपंचों से सदैव अलग-थलग था. ऐसे सन्त जैन श्रमणपरम्परा के तो उत्कृष्ट उदाहरण होते ही है, लेकिन मेरी अल्पवुद्धि मे वे किसी देश, जाति, धर्म व सप्रदाय विशेष की ही सम्पत्ति



नही, किन्तु विराट् मानवता के उच्चत्तम पवित्र प्रतीक भी होते है, जिन पर हमारे देश को ही नही, वरन् सारे विश्व को ही गौरव की अनुभूति होना स्वाभाविक है

ऐसे सन्त, जब अपनी जीवन-लीला को समाप्त कर दिव्यत्व की ओर प्रयाण करते है, तो उनका स्थान रिक्त हो उठता है. सहज ही, एक न्यूनता का कटु अनुभव होता है उनका स्थान सहज मे भरा भी नही जा सकता है हम केवल उन्हे अपनी श्रद्धाजलि के भावपुष्प समर्पित करने के अतिरिक्त कर ही क्या सकते है ?

न्यायमूर्ति श्री इन्द्रनाथ मोदी

श्रद्धांजलि

परिवर्तिनि संसारे मृत को वा न जायते,
स जातो येन जातेन याति वश· समुन्नतिम्.

इस परिवर्तनशील ससार मे कौन नही जन्म लेते है और मरते है ? किन्तु जन्म और जीवन उन्ही का सफल है, जिन्होने अपने वश की प्रतिष्ठा मे चार चाद लगाए, जाति के अभ्युत्थान मे योगदान किया, कोई श्रेष्ठ कार्य करके जीवन मे क्रान्ति की.

विश्ववाटिका मे नाना प्रकार के पुष्प खिलते है और अपना सौरभ दुनिया को लुटा कर मुरझा जाते है ऐसे ही महान् पुरुष भी इस ससार में आते है और अपने सत्कृत्यो का सौरभ ससार मे फैलाकर चले जाते है. जिस प्रकार मेघ वृष्टि करके चला जाता है, किन्तु पिछला वातावरण बहुत ही सुन्दर बना जाता है सम्पूर्ण वसुन्धरा को हरीभरी बना देता है. महान् पुरुष विश्व मे आते है और पथभ्रान्त जनो को सत्यपथ प्रदर्शित करके तथा भूतल को अपनी वाणी-सुधा से आप्लावित करके ससार से विदा हो जाते है जन-जन के हृदय मे सम्यक्ज्ञान का महान् प्रकाश फैलाकर जाते है.

मुनि श्रीहजारीमलजी स्वामी भी ऐसे ही एक महान् विशिष्ट सन्त थे आपने निरन्तर ६४ वर्षो तक अप्रमत्तभाव से सयमसाधना मे प्रगति करते हुए भारत के विभिन्न प्रदेशो म परिभ्रमण किया और अनेको भव्यात्माओ को अपने उपदेशामृत का पान कराया

आपके दर्शनो का सौभाग्य मुझे ब्यावर मे प्राप्त हुआ था. आपका सौम्य चेहरा, भद्र स्वभाव, शान्त प्रकृति तथा वाणी का अनूठा प्रभाव सदा स्मरणीय है आपकी दृष्टि मे विलक्षण तेज और व्यक्तित्व मे असाधारण आकर्षण था ऐसे महापुरुष के चरणारविन्द मे मैं, श्रद्धा के सुमन अर्पित कर कृतार्थता अनुभव करती हूँ

सती श्री कुसुमवतीजी जैनसिद्धांताचार्या

अभ्यर्थना और श्रद्धांजलि

महापुरुष, मुनि श्रीहजारीमलजी म० की पावन स्मृति मे 'स्मृतिग्रथ' प्रकाश में आ रहा है मेरी निश्चित धारणा है कि वे गुणपूजा के पक्षकार थे जीवन पर्यन्त उन्होने पच महाव्रतो का दृढता पूर्वक पालन किया था चरित्रनिष्ठ महामुनि के जीवन की दिव्य प्रेरणाओ को आधार मानकर हम भी वर्गो मे विभाजित वीतराग के अनुगामी गुण-पूजा व त्याग प्रतिष्ठा का श्रीगणेश करे. यही शुभ अभ्यर्थना करते हुए अपनी विनीत श्रद्धाजलि प्रस्तुत करता हूँ

मुनि श्रीजनकविजयजी गणि



स्मरणाञ्जलि

हमारा देश आर्यावर्त्त, आज भौतिक साधनो मे, सैनिक बल मे, आर्थिक समृद्धि में तथा जड विज्ञान में विश्व के अनेक देशो से कितना ही पिछडा हुआ क्यो न हो, फिर भी वह एक ऐसी समृद्धि का धनी है जिसके कारण समग्र जगत् के विचारशील विद्वान् उसका आदर करते है. उस समृद्धि की वदौलत आज भी उसका स्थान सर्वोपरि है और उसके कारण हम महान् गौरव की अनुभूति करते है वह समृद्धि हमारी आध्यात्मिक सस्कृति है अन्तत भौतिकवाद से त्रस्त जगत् को किसी समय वही शान्ति पहुँचाएगी, यह हमारा सुनिश्चित विश्वास है. अतएव हमे इसे सजीव और स्फूर्त्त वनाये रखना है

हम यह भूल नही सकते कि यह पुनीत सस्कृति भारत के ऋषियो की तपस्या और अनुभूति की ही देन है और उन्ही की कृपा से यह आज भी जीवित है स्व० मुनि श्रीहजारीमलजी म० ने इस सस्कृति को जीवित रखने और फैलाने मे जो महत्त्वपूर्ण योग दिया है उसके लिए वे सदैव अभिनन्दनीय, अभिवन्दनीय और स्मरणीय है उनकी आत्मा हमारी इस स्मरणाजलि को स्वीकृत करे

श्री सुज्ञानचन्द्र भारिल्ल, एडवोकेट



मेरा युग-युग तक हो वन्दन !

अहर्निश साधना की अखण्ड-ज्योति प्रज्वलित रखकर साधना के चरम सत्य को प्राप्त करने वाले पूज्य मत्री मुनिराज श्रीहजारीमलजी म० के दर्शन कर मैं धन्य-धन्य हुई थी. वह दिन याद आ रहा है वह समय था स० २०१२ भीनासर सम्मेलन का

पूज्या साध्वी श्रीउमरावकुँवरजी के श्रीमुख से—जव आपका जम्मू आगमन हुआ था—परमश्रद्धेय गुरुदेवश्री की स्वभावगत विशेपताओ का वर्णन सुनते-सुनते मैं श्रद्धाभिभूत हो भक्तिनत हो गई थी.

उनके भीनासर मे दर्शन कर मैने यह अनुभव किया था—"आज मेरे अखण्ड सौभाग्य का दिन है जिस परम पुनीत आत्मा के दर्शन कर रही हूँ इनके जीवन में मधुरता, दृष्टि मे वात्सल्य-भाव और तेज है. इनके जीनन में विवेक की सजीदगी है वृद्ध होते हुए भी स्वत ही अपना कार्य कर रहे है. कार्य कर चुकने पर भी प्रसन्नता का अनुभव करते है. सेवा इनके जीवन की वडी विशेषता है"

इन सव विशेपताओ के कारण ही वे जन-जन के मन मे बस गए. जन-जन की जिह्वा पर बस गए मेरा यह दुर्भाग्य ही रहा कि मैं पुन उनके दर्शन न कर सकी भीनासर के दर्शन ही मेरे प्रथम और अन्तिम दर्शन सिद्ध हुए

परन्तु मेरे हृदय के कण-कण मे आज भी यही अन्तरध्वनि गूंज रही है—

"उस सन्त पुरुष के चरणों में हो, मेरा युग-युग तक अभिवादन !"

श्री कलावती जैन



मेरी श्रद्धा के आधार

विश्वागण मे मनुष्य स्वयं अनुभव प्राप्त कर अपने जीवन की पुस्तक के पृष्ठो पर आचरण की मसि से अनुभव का अमृतानुभवाकन करना चाहता है. यह प्रयास अत्यन्त पवित्र है विकासोन्मुख व्यक्ति वधी-वधाई व सुनी-सुनाई वातो पर, पलकें मूंदकर चलना स्वीकार नही करता है यह मेरी समझ मे प्रगति का प्रतीक है

कलाकार की कृति उसके अनुभव के वल पर ही हमारे नेत्र का सौदर्याधार बनती है

परम श्रद्धेय श्रीहजारीमलजी महाराज भी अपने अनुभव के वल पर सयम के महामार्ग पर अग्रसर हुए थे उन्होने अनुभव की प्रयोगशाला मे अपने आपको निर्भय होकर प्रविष्ट कर दिया था तप करना उत्तम है पर क्यो उत्तम है ? इसका अनुभव तो तप करके ही किया जा सकता है इसीलिये उन्होने नाना प्रकार के तप तपे, वाल्यकाल से ही उन्होने सयमीय जीवन के नाना प्रयोग प्रारम्भ कर दिये थे प्रतिफल यह आया कि वे एक विशिष्ट सन्त-रत्न के रूप मे हम सव की श्रद्धा के आधार वने

उन्हे मैंने मरुभूमि मे शान्ति, क्षमा, ध्रुवधैर्य, कष्टसहिष्णु और करुणा के साकार रूप मे देखा था जिस दिन मैंने इन रूपो मे उनके दर्शन किये थे, तभी से उनके प्रति मेरे हृदय मे अपार श्रद्धा उत्पन्न हुई थी ज्यो-ज्यो कालक्रम वढा मेरी श्रद्धा भी वर्धमान होती गई. आज मेरी श्रद्धा के उस आधार को श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए मनमे वार-वार एक प्रश्न उभर रहा है—अब मेरी श्रद्धा का नया आधार कौन वनेगा ?

मुनि श्रीसौभाग्यमलजी महाराज, मालवकेसरी

सौम्यस्वभाव सन्त

जैनदर्शन के विद्वान्, लोकप्रिय मुनिराज पूज्य श्रीहजारीमलजी के दर्शन का सौभाग्य मुझे भी प्राप्त हुआ था उनके सौम्यस्वभाव की छाप मेरे हृदय पर आज भी गहरी अकित है. पिछले वर्ष महाराजश्री के स्वर्गवास की सूचना सुनकर मन को गहरी व्यथा का अनुभव हुआ लेकिन सोचता हूँ—इस अनन्त-पथ पर एक न एक दिन तो सभी को सुनिश्चित जाना है ! यही सोचकर चुप हो रहता हूँ

उनका सम्पूर्ण जीवन जनहित और मानवता के नैतिक जागरण मे वीता मुझे विश्वास है कि महाराजश्रीका 'स्मृतिग्रथ' जनसमुदाय के लिए अवश्य ही लाभप्रद सिद्ध होगा इस शुभ प्रयत्न की मैं हृदय से सफलता चाहता हूँ.

श्रीमूलचन्द्रजी देशलहरा

आचार के गौरीशंकर

मुनि श्रीहजारीमलजी की स्मृति मे एक ग्रथ प्रकाशित करने के आयोजन का मैं हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ सन्त जनो का जीवन सार्वजनिक कल्याण के लिए समर्पित होता है अत. उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना समाज का कर्तव्य है उन्होने ११ वर्ष की अवस्था मे सांसारिक प्रलोभनो की ओर से मुँह मोडकर तपश्चर्या का मार्ग अगीकार किया था और ६४ वर्ष तक लगातार उसी पर अग्रसर होते गये. अपनी अखण्ड साधना से उन्होने त्याग और तपस्या का जो ऊँचा आदर्श प्रस्तुत किया वह वास्तव मे अद्भुत है

आज हम सब भौतिकता की साधना मे लीन है और पश्चिम की हवा ने हमारे मापदण्ड वदलकर, ऐसे वना दिये है कि जीवन की सफलता भौतिक–उपलब्धियो मे आँकने लगे है. पर सच यह है कि हम जिसके पीछे दौड़ रहे है, वह छाया मात्र है, उस मे सार नही है

मुनिश्री ने वताया कि वास्तविक आनन्द की सिद्धि भोग मे नही है, त्याग मे है और व्यक्ति का जीवन कृतार्थ तव वनता है, जब कि उसके कदम उत्तरोत्तर ऊँचाई की ओर वढते हैं जो साधना की चोटी पर पहुँच जाते है, वे जानते है कि ऊँचाई का कितना निराला आनन्द और कितना सुख होता है.

मुनिश्री ने इस मर्म का उपदेश केवल शब्दो मे नही दिया. आचरण से भी उसका दर्शन कराया



जिनकी कथनी और करनी समान हो, ऐसे सत्पुरुष आज के युग में विरल है. पर जितने भी है, यह ससार उन्ही पर टिका है.

मुनिश्री के प्रति मैं अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ और आशा करता हूँ कि जिन गुणो के कारण हम उनका स्मरण और अभिनन्दन करते है, वे गुण जन-जन मे अवश्य फैलेंगे और आज का सतप्त मानव उनसे प्रेरणा ग्रहण कर सही मूल्यो की ओर अग्रसर होगा

श्रीयशपालजी जैन

मेरी श्रद्धा मेरा मन

राजस्थान के पूज्य श्रीहजारीमलजी महाराज का आध्यात्मिक जीवन अत्यन्त महान् और ऊचा था वे हृदय के अत्यन्त सरल और विमल थे ससार मे सतो की आध्यात्मिक पूँजी ही मनुष्य को सुख दे सकती है दुःख से त्राण कर सकती है. मुनिश्रीजी आत्मयोगी और परमज्ञानी थे उनके ज्ञान और आत्म-योग पर राजस्थान का अधिकाश श्रद्धालुवर्ग गहरी आस्था और निष्ठा रखता था. उनसे उन्होने जो पाया वह उनके आत्म-सुख का परम कारण है.

आज उनके अभाव मे उनका श्रद्धालुवर्ग एक अभाव की अनुभूति कर रहा है पीडा का अनुभव करता है. परन्तु दुख जैसी क्या बात है ? उनकी विरासत को अपने जीवन में नैतिक आचरण के द्वारा खूब उतारे, उसकी सुरक्षा करे, यही उनके प्रति सच्ची श्रद्धाजलि है.

मेरा मन ! मेरी श्रद्धा, मेरा विश्वास, ऐसे सन्त चरणो का दास है !

श्रीजगन्नाथजी नाहर

वे क्या थे ?

करुणा के असीम सागर, शान्ति के निर्भय प्रचारक, अध्यात्मवाद के प्रबल प्रसारक, अति सरल, सत्य के तेज पुन्ज, छलकपट से अनभिज्ञ, प्रवीण सगठनकर्त्ता, अडिग कर्तव्यपरायण, उच्चकोटि के सादगी प्रिय, क्रोध से सहस्रो कोस दूर स्याद्वाद के सच्चे अनुयायी, शास्त्र-ज्ञान के निरभिमानी पडित और थे वे अहिंसा के अमर पुजारी मुनि श्रीहजारीमलजी महाराज.

ऐसे सन्त जन-जन वद्य होते है. उनको मेरे अनेको प्रणाम !

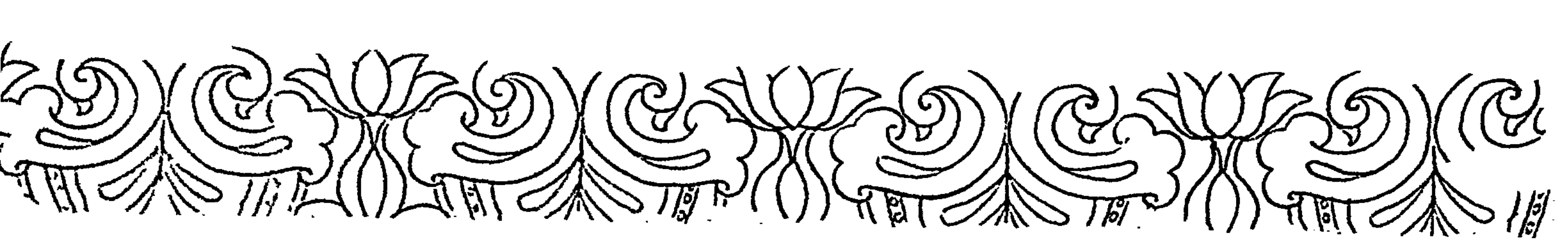
श्री मिलापचन्द्र सुरट, बी० एस-सी० ए-जी०

तुम केवल श्रद्धा हो !

पूज्य पुरुप मत्री श्रीहजारीमल जी म० भी जीवन के राहभूले पथिको को जीवन-दर्शन कराने वाले थे. वे निरन्तर अपने सात्विक विचारो से उनका पथ आलोकित करते रहे—सयमीय जीवन की शुरूआत से—आखिर तक.

वे स्वभाव के सरल, मन के निर्मल, तन के तपस्वी और शुद्ध सन्ताचरण के हामी थे.

प्राणीमात्र का कल्याण उनका काम्य था. मैंने उस पुनीत आत्मा के अनेक वार शुभ दर्शन किये थे जव-जव भी उनके दर्शन किये तव-तव मैने यही अनुभव किया था सम्प्रदाय विशेष मे रह कर भी उनके विशाल हृदय मे सकीर्ण विचारो



की दरिद्रता नही थी व्यक्तिगत साधना मे अत्यन्त दृढ थे, अन्य सन्तो के प्रति कृपा और स्नेह उनकी आँखो से अहर्निश वरसता रहता था यही कारण है कि साधुसमुदाय उन्हे अत्यन्त आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखता था

उनके कृतित्व-जगत् और व्यक्तित्व-जगत् के अनेक वैशिष्ट्य थे, मैं कुशल कलाविद् नही कि उन गुणाकर के गुण-पुष्पो की माला गूथ सकू उनका पुण्य स्मरण हृदय-भूमि में केवल श्रद्धा और आस्था ही अकुरित करता है उनका तप, त्याग और साधना इतनी कठोर थी कि आज मेरा मन यह कहने को विवश हो रहा है—गुरुदेव तुम केवल श्रद्धा हो

श्रीमगरूपचन्दजी भण्डारी



मेरे लिए

वे मरुधरा के धर्मप्राण आचार्य श्रीजयमलजी म० की सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक थे. श्रमण सघ की अखण्डता के लिए प्रवर्त्तक पद का परित्याग कर श्रमणवर्ग मे उदाहरण सिद्ध हुए उनके असाधारण व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उन्हे श्रमण-सघ ने मारवाड प्रान्त का मत्री पद प्रदान किया पूर्ण उत्तरदायित्व पूर्वक उन्होने उसको निभाया. साधको का समुचित मार्गदर्शन किया

वे आत्मविद्या के ज्ञानी साधक थे परमयोगी थे उनकी योग-साधना का प्रत्यक्ष रूप उनके दर्शन मात्र से प्रतिविम्बित होता था मैंने उनके दर्शन किये—तो वे मेरे लिए श्रद्धा के अमर आधार वन गए वे गए मन को असीम कष्ट है, पर मेरी श्रद्धा का सुहाग मर कर भी वे अमर कर गए मैं श्रद्धा सहित उस गुणी योगी पुरुष मुनि श्रीहजारीमलजी म० के प्रति नत हूँ

प्रवर्तक श्रीशुक्लचन्दजी म०



भावांजलि

वीर, रणभूमि मे लडकर देशरक्षा के स्वाभिमान का सुख पाता है वह वीर युद्ध मे काम आ गया यह जानकर भी उसके परिजन परिताप का अनुभव नही करते उसकी वहादुरी से प्रेरणा ही लेते है

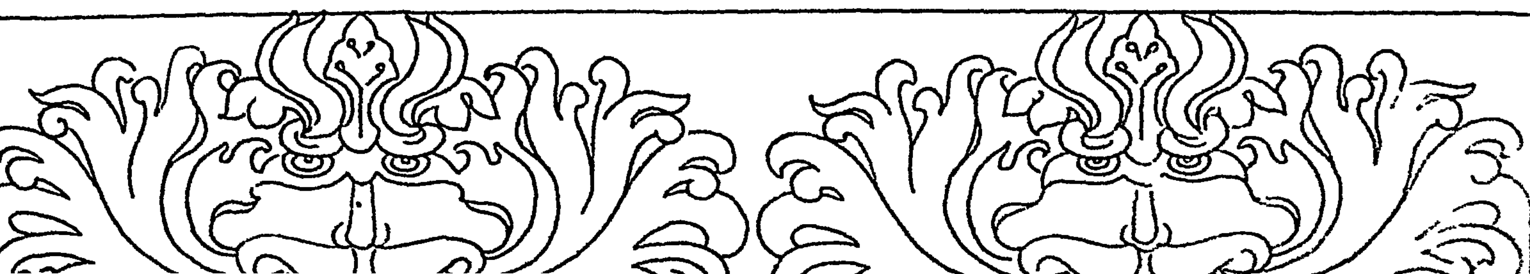
सन्त भी जीवन भर युद्ध करता है सन्त महात्माओ का युद्ध राम और रावण का युद्ध है काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, मत्सर, छल आदि अनेक वुराइयाँ दशमुखी रावण की सूचक है प्रेम, जगत्वत्सलता, सदाचार और ईश्वरभक्ति आदि रामवृत्ति, भगवान् राम की सूचक है इसलिए सन्त, जीवन पर्यन्त राम का प्रतिनिधित्व करता हुआ युद्ध करता रहता है अत सन्त परम योद्धा है

देशरक्षा के लिये लडाई नियत समय तक ही होती है सन्तवृत्ति मे वुराइयो से जीवनपर्यन्त लडाई होती रहती है लौकिक लड़ाई मे मरने वालो का दुख नही मनाया जाता यह सव इसलिये कि उसने युद्धभूमि मे शत्रु को पीठ नही दिखाई

सन्त भी वुराइयो से अभिभूत होकर आत्मशत्रुओ को पीठ नही दिखाते

जैनमुनियो के नियम अन्य सम्प्रदायो की अपेक्षा कठोर होते है अत. जैनमुनि की पोषाक पहनकर आत्मशत्रुओ से लडाई लडना और भी कठिन है. प्रवर्तक मुनि श्रीहजारीमलजी म० से अपने राम—(नेनूराम) की कभी प्रत्यक्ष 'रामा श्यामा' नही हुई थी, परन्तु सन्तो की रामा श्यामा तो प्रभु भक्ति मे ही होती है

जैन समाज ने उनकी स्मृति को कायम रखने की दृष्टि से 'स्मृतिग्रन्थ' का आयोजन किया है यह वहुत सुन्दर काम है. सन्तजीवन के अनुरूप है



राजस्थान के उस जैन मुनिराज को मेरी रामजी म० के स्मरणपूर्वक भावांजलि समर्पित है.

स्वामी श्रीनेनूरामजी आयुर्वेदाचार्य



भावसमर्पित श्रद्धांजलि

भारतीय सस्कृति व्यक्तिपूजा मे नही, गुणपूजा में विश्वास करती है. विशिष्ट गुणवान् व्यक्ति ही वस्तुत जन-जन के मन मे विशिष्ट श्रद्धा का केन्द्र बनता है.

मानव की पूजा कौन करे, मानवता पूजी जाती है.
साधक की पूजा कौन करे, साधकता पूजी जाती है.

श्रमण-सघ के महाप्राण सन्त, ऋषिप्रधान भारत की महान् सम्पत्ति, आध्यात्मिक क्राति के सदेशवाहक, श्रीहजारीमलजी महाराज एक ऐसे ही अनुपम व्यक्तित्व के धनी थे उन महान् सन्त के पुण्यदर्शन करने का सुअवसर मुझे ब्यावर मे प्राप्त हुआ था उनके शुभ दर्शन पाकर मेरा रोम-रोम पुलकित हो उठा. उनकी पीयूष-वर्षिणी वाणी श्रवण कर मेरे हृदय मे अमन्द आनन्द की मन्दाकिनी प्रवाहित होने लगी !

आज वे भौतिक रूप में हमारे सम्मुख नही रहे है परन्तु सद्गुणो के आदर्श के रूप मे आज भी वे हमारे समक्ष ही है. उनके सरल व सरस स्वभाव से मै अत्यधिक प्रभावित हुई हूँ. मैने देखा उनके हृदय में अनुपम उदारता, भावो मे गाम्भीर्य और वाणी में माधुर्य ! उनका जीवन आचार-विचार से मजा हुआ व सयम-साज से सजा हुआ था त्याग, तप और क्षमा उनके प्रधान आभूषण थे. वे आध्यात्मिक सौन्दर्य के आलोक से आलोकित थे, पौरुष की साक्षात् मूर्ति थे. उनकी सरल प्रकृति और भव्य आकृति देख मेरा मन अपने आप बोल उठा—इस महान् सन्त के अंदर एक महान् आत्मा निवास करती है उनके जीवन की मधुर सुवास मेरे मन के कण-कण को आज भी सुवासित कर रही है. आज वे हमारे चर्म-चक्षुओ के सामने नही रहे किन्तु उनके तप और त्याग का उज्ज्वल प्रकाश हमारे अतश्चक्षुओं के सामने चमक रहा है मैं विश्वास करती हूँ कि उनकी मधुर स्मृति हमे युग-युग तक सयमीय जीवन के लिये पावन प्रेरणा प्रदान करती रहेगी

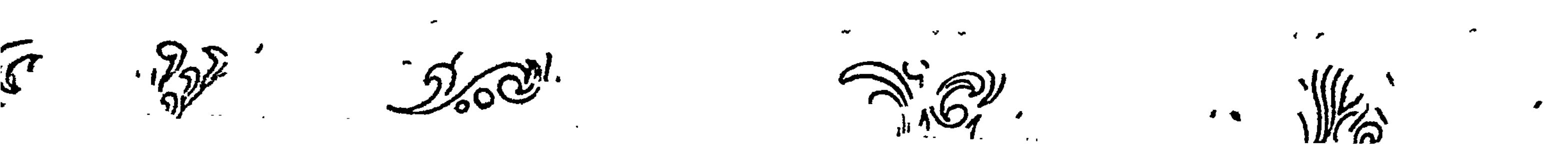
आर्या श्री कौशल्याकुमारीजी, जैनसिद्धांताचार्या



बहुरत्ना मरुधरा

दो पहलू है ! एक दिखावटी आडम्बर और कृत्रिमता से लदापदा, दूसरा आडम्बरहीन और वास्तविकता से ओतप्रोत. दोनो मे भिन्नता है. दोनो के आकर्षण में भी पर्याप्त अन्तर है. पहला चाकचिक्यपूर्ण है दूसरे आकर्षण मे सात्विकता है. वहा चाकचिक्यता जैसी चौंधिया देने वाली कोई कृत्रिमता नही है स्वभावत ही उस ओर दर्शको की आखे कम पहुचती है. किन्तु जो कोई भी उसे पा लेता है, सचमुच उसे अपूर्व सहजानन्द का अनुभव होता है क्योकि वहाँ पर वास्तविकता के दर्शन होते है।

स्वर्गीय स्वनामधन्य परम श्रद्धेय श्रीहजारीमलजी म० का जीवन, निर्लिप्त व निर्विवाद रूप से दूसरे उज्ज्वल पहलू-सा था यह बात मैं औपचारिक रूप में नही कह रहा हूँ बल्कि अनुभव के आधार पर ही इसका प्रकटीकरण है. यो तो एक बार उनके दर्शन पहले भी हुए थे. परन्तु उसे मैं एक झलक मात्र ही स्वीकार करता हूँ उनसे मैं पूरा-पूरा परिचय नही कर पाया था पुन. भीनासर सम्मेलन के अवसर पर एक उद्यान मे उनके शुभ दर्शन का सौभाग्य मिला. उसे मैं उनके अन्तिम दर्शन भी कह सकता हूँ उसके बाद दोबारा उनके दर्शन का लाभ नही प्राप्त कर पाया प्रथम दर्शन में ही मत्री श्रीजी के मृदुल व्यक्तित्व की छाप जो मुझ पर पड़ी तो सचमुच हृदय और मस्तक दोनो ही श्रद्धावनत हो गये.



उनके निष्कपट सरल व ममतापूर्ण व्यवहार ने मेरे मन को जीत लिया मैंने सुना है—'वहुरत्ना वसुधरा' आज उनके प्रति श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए मन यो कहने को विवश हो रहा है—'वहुरत्ना मरुधरा' इस तरह मरुधरा के वे एक रत्न थे.

स्वर्गीय श्रीहजारीमलजी म० हमारी गौरवमयी परम्परा के सन्त थे. उनके प्रति नये सिरे से क्या श्रद्धा व्यक्त करूँ ? मेरी श्रद्धा के पुष्प तो उनके पवित्र चरणो में पहले से चढ चुके थे उनका समुज्ज्वल 'मगलमय यश' स्मृतिग्रथ से भी ज्यादा व्यापक व स्थायी है फिर भी उनके सुयोग्य शिष्यरत्न श्रीमधुकरजी महाराज द्वारा श्रद्धास्वरूप स्मृतिग्रथ सवन्धी जो उपक्रम किया जा रहा है, उसके प्रति भी मेरी हार्दिक शुभ कामना व शुभ भावना है

प्रांतमंत्री श्रीअम्बालालजी महाराज

समभावयोगी सन्त

सेयंवरो वा आसंवरो वा, बुद्धो वा तह व अन्नो वा !
समभावभावियप्पा लहेइ मुक्खं न संदेहो !!

साधक श्वेताम्वर हो या दिगम्वर, वौद्ध हो या वैष्णवादि, जाति और वर्ग का प्रश्न नही है—हिन्दू, यवन, सिख, पारसी, ईसाई, व्राह्मण अथवा क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र, किसी भी धर्म का अनुयायी क्यो न हो, जिसमें समभाव की साधना का योग चल रहा है—वह अवश्य ही मोक्ष को प्राप्त होगा

समभाव सर्व सिद्धि का केन्द्र है समभाव से जातिगत, धर्मगत, वर्गगत, सम्प्रदायगत और राष्ट्रगत, सभी प्रकार के सघर्ष और द्वद्व समाप्त हो सकते हैं मेरी निश्चित धारणा है कि इस से विश्व-शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो सकता है. मेरी यह शुभाशा है कि सभी वर्ग के लोग समभाव साधना के द्वारा जीवन का परम काम्य प्राप्त करे

स्मृतिग्रन्थ के नायक, समभाव व योग-साधना के वल पर ही जीवन मे श्रेष्ठता प्राप्त कर जन-जन वद्य वने थे मेरे श्रद्धा के नेत्रो मे वे मुझे समभाव योगी ही दीख रहे हैं शिवमस्तु सर्वजगत !

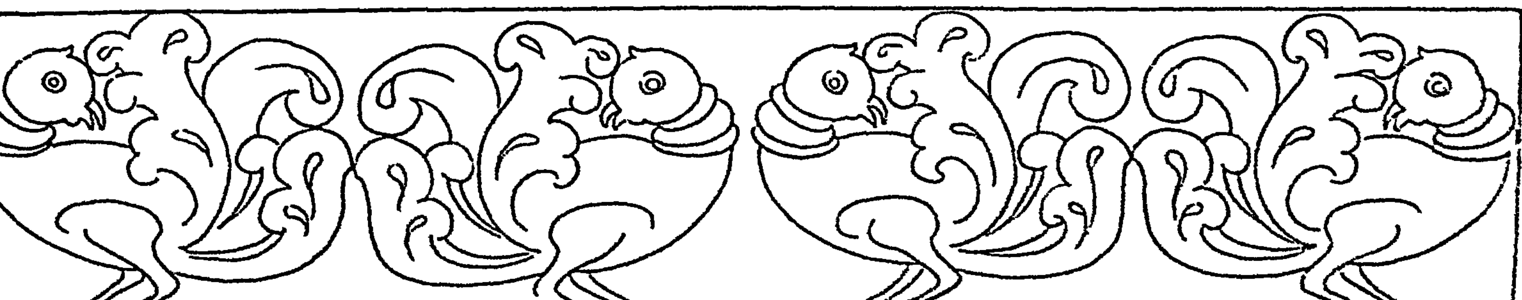
आचार्य श्रीविजयसमुद्रसूरिजी महाराज

मरुधरा की एक महान् विभूति

भारतीय जनता ऋपियो, महर्पियो, सन्तो, साधुओ का सम्मान सदैव करती आई है क्योकि साधक का जीवन महान्, पवित्र, शीतल, शम, दम एव उपशम भाव से परिपूर्ण होता है वे अपने सहज सात्विक गुणो से अज्ञानी जीवो को मार्ग-दर्शन कराते रहते है

आर्यावर्त के इतिहास को इन्ही नव-रत्नो पर विश्वास है और इन्ही पर गर्व है. ऐसी महान् विभूतियो द्वारा ही आर्य-सस्कृति को पोषण मिला और मिल रहा है सत्य तो यह है कि भारतीय सस्कृति, धर्म और दर्शन का इतिहास सन्तो का ही इतिहास है. उन्ही की इस सात्विक देन के कारण भारतवर्ष का स्थान विश्व मे अद्वितीय माना जाता है

आज जिस महापुरुष को श्रद्धाजलि अर्पण करने की भावना हो रही है, वे ऐसे ही उच्चकोटि के सन्त थे, जिन्होने "मधुकर" मिश्री जैसे को समाज के लिए उपहार दिया है स्थानकवासी समाज का इतिहास ऐसे एक दो नही, सैकडो सन्तो के स्तुत्य जीवन और ज्ञान की अलौकिक प्रभा से भरा पड़ा है उन्ही महापुरुषो मे से मुनिराज श्रीहजारीमलजी महाराज थे उन्होने श्रमणसघ के मत्री पद का उत्तरदायित्व वडी खूवी से निभाया "मनस्येक वचस्येक कर्मण्येक महात्मनाम्" यह आदर्श उनका जीवनव्यवहार वन गया था



इससे उनका जीवन अतिशय भव्य और दिव्य था. उन पुण्यश्लोक शान्त भद्रपरिणामी मन्त्री मुनि श्रीहजारीमलजी महाराज के चरणो मे अपनी श्रद्धाजलि समर्पित कर धन्यता का अनुभव करती हूँ.

श्रीसुमतिकुंवरजी आर्या



मेरे श्रद्धाप्रसून

यह सही है कि स्व० महाराजश्री का कार्यक्षेत्र अधिकतर राजस्थान ही रहा परन्तु इससे उनके चारित्र्य में, सगठन और अनुशासन की अनुभूति अधिक प्रखर हो उठी, और उल्लेखनीय यह है कि श्रमण-सगठन की आवश्यकता और अनुशासन की कठोरता के पक्के हिमायती होने के बावजूद भी, वे अत्यन्त संवेदनशील और भावनाप्रधान थे. मेडता मे पिछले दर्शन, मेरे लिये अन्तिम ही सिद्ध हुए. आज स्मृति टटोलता हूँ तो लगता है—मेडता में वे कितने भाव-प्रवण और श्रावको के अनुराग से अभिभूत थे.

श्रीस्वामीजी की साहित्यरुचि और जैन आगमो के प्रति एकान्त-निष्ठा केवल औपचारिक न थी, वे चाहते थे कि जैन साहित्य का अधिकाधिक प्रचार और प्रसार हो और गूढ तथा अप्राप्य ग्रन्थो को पूरे विश्लेषण और अनुसधान का अवसर मिले आशा है हमारा समाज उनकी इन भावनाओ को क्रियात्मक रूप देने में पीछे न रहेगा.

स्व० महाराजश्री के सुयोग्य अतेवासी प० र० मुनि श्रीमिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर' मे हम मुनिवर के सारे गुण पा रहे है और स्वाभाविक ही इसका श्रेय अन्तत स्व० श्री १००८ श्रीहजारीमलजी म० को है और उनकी पुण्यस्मृति मे इससे अच्छी श्रद्धाजलि और क्या होगी यदि हम सभी उन्ही के बताये मार्ग पर केवल कहने और बोलने के बजाय-सचमुच मे चलना शुरू कर दे

श्रीजवाहरलालजी मुणोत



श्रद्धांजलि

पूज्य मुनिराज श्रीहजारीमलजी म० के प्रेरक उपदेश का ही सुफल है कि मैं सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र मे प्रवेश पा सका उनके उपदेशो ने मेरे हृदय में जनसेवा के भावो के अकुर उत्पन्न किये. स्थानीय जैन समाज मे गति लाने के लिये श्रावकसघ की स्थापना करवाई सेवक के नाते उसमे मेरा भी उल्लेख हुआ

उनका स० २००९ का वर्षावास विजयनगर मे था मेरा वह वर्ष उनके अधिक सम्पर्क मे आने का था. उसने मेरे जीवन को एक नई दिशा दी. उनको अनेक बार अनेक प्रसगो पर मैने देखा कि वे दया और करुणा की साकार प्रतिमा है.

श्रीकन्हैयालालजी भटेवडा, विजयनगर



अर्पित है श्रद्धा मेरी

मनुष्य का जीवन अध्रुव और अशाश्वत है वह जिस क्षण जन्म लेता है उसी क्षण मृत्यु की ओर यात्रा प्रारम्भ हो जाती है. जन्म और मृत्यु एक मुद्रा के दो पहलू है.—यह सब होते हुए भी एक अलौकिक ज्योति मानव के सम्मुख है. मृत्यु शरीर को हानि पहुँचाती है आत्मा इस खतरे से मुक्त है जन्म मरण के विवर्त्त से सन्त भी व्यतीत होता है. परन्तु वह अपने आदर्श, त्याग, तपोमय जीवन के कारण मर कर भी अमर है

स्वर्गीय शास्त्रस्थविर श्रीहजारीमलजी महाराज हमारे सम्मुख नही है किन्तु उनके आदर्श और कार्य हमारे लिए प्रेरणा



का आधार है "यश से नही व्यक्ति कर्म से अमर रहता है" इस कथन के ध्रुवाधार पर कह सकती हूँ, वे अमर है और अमर ही रहेगे

साध्वी श्रीयशकुंवरजी

समर्पित हैं श्रद्धा-सुमन मेरे

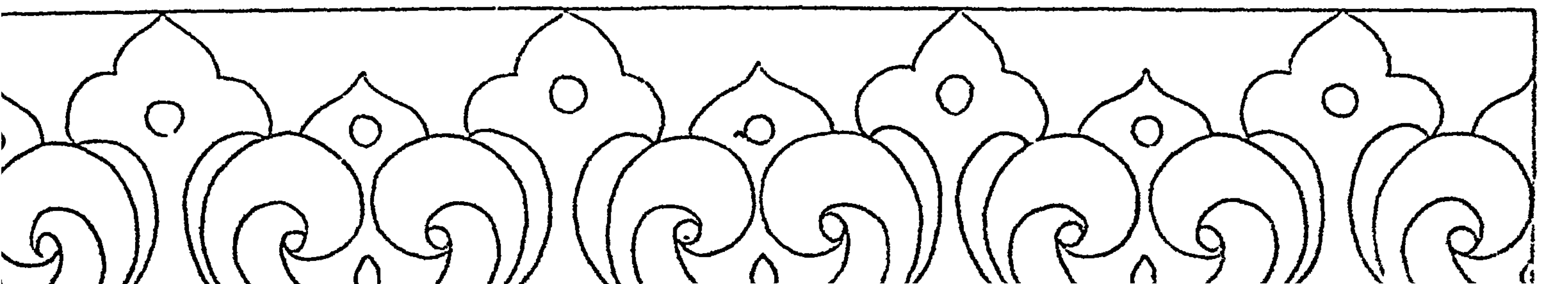
इस धराधाम पर जब भास्करदेव अवतरित होते है तो प्रकृतिश्री मुस्कुरा उठती है चम्पा की सलौनी टहनी पर जब सुमन खिलते है तो समग्र वातावरण सुवासित हो उठता है आकाश मे बादलो की जब बारात सजती है तो काले कजरारे मेघ नृत्य करने लगते है, गर्जना करते है तो मनमौजी मयूर भी नृत्य करने लगते हैं. बसत के शुभागमन पर आम्र-मजरी लहराने लगती है कोकिला स्वयमेव ही पचम स्वर मे मधुर राग आलापने लगती है रजनी के प्रियतम नभमडल मे उदित होते है तो अन्धकार विलुप्त हो जाता है इसी प्रकार जब कोई असाधारण, दिव्य भव्य विभूति का अवनीतल पर अवतरण होता है तो परिवार, समाज, राष्ट्र और यहाँ तक कि समग्र विश्व भी प्रफुल्लित हो उठता है

परम श्रद्धेय स्व० पूज्य गुरुदेव श्रीहजारीमलजी महाराज भी एक ऐसे प्रतिभासम्पन्न विभूति थे वे सचमुच हजारो मे से एक थे उनमें चरित्रनिष्ठा, व्रतो की दृढता, मानस की कोमलता, भावो की भव्यता और साथ ही उनके जीवनव्यवहार की प्रत्येक क्रिया मे आर्द्रता भी थी उनके सद्गुणो से परिपूर्ण जीवन के लिये तो मेरे मुख से कवि की ये पक्तिया बरबश ही प्रस्फुटित होती है—

> अधरं मधुर, वदनं मधुरं, नयनं मधुरं, हसितं मधुर, हृदयं मधुर, गमनं मधुरं, मधुराधिपतेरखिल मधुरम् ।
> वचनं मधुरं, चरितं मधुरं, वसनं मधुरं, वलितं मधुरं, चलितं मधुरं, भ्रमितं मधुरं, मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥

ठीक इसी प्रकार स्वामीजी म० का सब कुछ मधुर था. 'अधर मधुर' उनके होठ मधुर थे क्योकि सत्य वचनो का उच्चारण करने के लिये ही वे खुलते थे 'वदन मधुर' उनका सारा शरीर ही मधुरता से ओतप्रोत था उनका चेहरा इतना मधुर और रसिक था कि देखने वाले को आत्मतृप्ति की अनुभूति होती थी इतना अद्भुत सौंदर्य उनमे लहराता था 'नयन मधुर' उनके नेत्रकमलो से करुणावर्षा सतत हुआ करती थी कमल-से कलात्मक नयनो मे अज्ञेय गहराई थी उनकी विशाल पलके परदुख से जब बोझिल बन जाती तो नयनो से करुणा-बिन्दु टपक पडते 'हसित मधुर' अपनी साधना मे, आत्मज्ञान मे आत्मरमणता मे अहर्निश मुस्कुराहट अठखेलियाँ करती थी. 'हृदय मधुर' उनका हृदय नवनीत-सा सुकोमल और शर्करा-सा मधुर था उनके हृदय मे करुणा मैत्री और दया के भाव परिव्याप्त थे इसीलिये वे सरलता के सगम थे 'गमन मधुर' पतितो के उद्धार के लिये ही वे गमन करते थे ईर्यासमिति के पूर्णरूपेण पालन पर उनका अत्यधिक ध्यान था 'मधुराधिपतेरखिल मधुर' इस प्रकार उन मधुराधिपति का सब कुछ मधुमय था फिर 'वचन-मधुर' उनके वचनो मे चातुर्य, माधुर्य, औदार्य, विवेक और साथ ही साथ दिव्य एव भव्य जीवनसत्य था उनके चेत-नामय वचन मुर्झाये हुए मानव-फूलो को नवचेतन एव नवस्फुरण प्रदान करते थे दुख-दुविधा से जिनका जीवन पत्र रहित वृक्ष-सा बन गया हो उसे वे अपने आर्द्रतापूर्ण वचनरूपी वर्षा से पुन पल्लवित कर देते थे उनकी वाणी मे एक अलौकिक प्रकार का जादू था जो सुनने वाले के समग्र जीवन को आलोकित कर देता था

उनकी वाणी के पीछे विलास नही विचार था विचारो के पीछे हृदय की शून्यता नही मगर भावभीनी भावना थी वाणी मे जिन्दगी के अनुपम लालित्य के दर्शन होते थे उन्होने वक्तृत्वकला की महान् साधना नही की थी किन्तु उनके सहज जीवन से ही वह निर्मित हुई थी 'चरित मधुर' उनका सम्यक्चारित्र सचमुच महान् और मधुर था वे अपने चरित्र की चमक लिए जहाँ भी जाते थे वहाँ अपनी आत्मसुवास से सारे वातावरण को सौरभान्वित कर देते थे. 'वसन मधुर'-उनका बसना भी मधुर था जब आत्मज्ञानधारी वे सत अपनी आत्ममस्ती मे बैठते तो ऐसा लगता मानो भव्य विभूति प्रभु से साक्षात्कार कर रही हो सुदृढ सुस्थिर, सुसमाधिमय बैठने का उनका अपना निराला तरीका था उनके वसन अर्थात्



वस्त्र भी मधुर अर्थात् श्वेत थे जो निर्मलता और पवित्रता के प्रतीक थे 'बलित मधुर' उनका आत्मबल असाधारण था. इसलिये भक्तो के लिये वह भी मधुर था. वे अपने आत्मबल का उपयोग अधिक से अधिक साधनात्मक जीवन को सुदृढ़ बनाने मे करते थे.

समरागण में हजारो शत्रुओ का सहार करने वाले हजारो मिलेंगे मगर षड्रिपुओ पर विजय प्राप्त करने वाले हजारो मे से एक ही [हजारीमल जी म०] थे इससे उनका बल भी मधुर था 'चलित मधुर' हस की धीमी गति से वे सयम के मार्ग मे पर्यटन किया करते थे सन्तो का विहार भव्य जीवो के कल्याणार्थ ही होता हे अपनी मर्यादानुसार चलते हुए जो जनकल्याण करते थे. 'भ्रमित मधुर' उनका सादा-सा, भ्रमण करना भी बडा मधुर लगता था जिस समय वे भ्रमण करते तो ऐसी अनुभूति होती मानो मानव मात्र के अभ्युत्थान का चिन्तन करते हुये एक सजग प्रहरी, आत्ममस्ती एव मधुर मानस लिये भ्रमण कर रहा है 'मधुराधिपतेरखिल मधुर' उनका समग्र जीवनव्यवहार मधुरतासे ओत-प्रोत था

उनमें बालक-सी निश्छलता, कर्मठ युवक-सी कार्यदृढता, प्रौढ-सी गभीरता और वृद्ध-सी अनुभवगरिमा थी साधूचित गुणो से और अपने तप त्याग वैराग्यमूलक व्यक्तित्व से वे बरवस ही मन मोह लेते थे. उनके तप पूत शरीर पर सयमीय सौन्दर्य था चेहरे पर नि सीम शान्ति थी, वात्सल्य और मधुरता थी. पद उन्हे भाररूप लगते थे. अनावश्यक धूमधाम उन्हे बखेडा लगती थी उनके जीवन मे निस्पृहता का सागर लहराता था. मानवता की लहरे उठती थी. वे साधुता के सुनहरी रगमहल मे निवास करते थे खुशामदियो के मीठे वचन उन्हे डिगा नही सकते थे. वे अपने सयमीय जीवन के प्रति पूर्ण बफादार थे

उन्होने अपनी सफल साधना से जो उज्ज्वल ज्योति अपने जीवन मे जगाई वह जैन समाज के लिये गौरव का विषय है. इस प्रसग मे एक पद्य स्मृतिस्थ हो आया है—

दूर न कोई हो कभी, वह उपाय है कौन ? यही प्रश्न है विश्व में, यहाँ विश्व है मौन !

अन्त मे मै अपने श्रद्धासुमन उन महान् आत्मा को समर्पित करती हूँ.

कुमारी श्रीकुमुदिनी मुथा



कैसे करूं अर्पित तुम्हें श्रद्धा-सुमन मेरे ?

बडा होने का नाटक भी किया जाता है. कुछ व्यक्ति ऐसे होते है कि उनका अहंकार दया और करुणा को भी कुचल देता है किन्तु परम श्रद्धेय श्रीहजारीमलजी महाराज ऐसे नही थे. उन्होने बडप्पन का कभी अभिमान नही किया. उनके जीवन मे जो कुछ था वह सहज था. वहाँ दिखावे और प्रदर्शन के लिए कुछ न था. करुणा और दया उनके जीवन मे पूर्णत साकार हुई थी. किसी को कष्ट या पीड़ा से घिरा हुआ देखते तो उनका हृदय पिघल जाता था. मैंने जीवन के कुछ क्षण उनके सान्निध्य मे व्यतीत किये हैं. अनेको बार पदयात्रा करते हुए ऐसे प्रसग आए हैं जब अभावग्रसित, भाग्य के ठुकराए हुए मनुष्य, जीवन से निराश होकर अपना जीवनात करने की मलिन बुद्धि से प्रेरित होकर इधर-उधर भटकते—मिले है. मुनिश्री ऐसे व्यक्ति को तत्काल पहचान लिया करते थे और वार्ता द्वारा उसकी मर्मपीडा को छू कर सारा राज खुलवा लिया करते थे उसे जीवन जीने की कला सिखाते उनके जीवन के अनेक प्रसग ऐसे हैं जो मुझे प्रमाद और आलस्य के क्षणो मे प्रेरणा तो प्रदान करते ही है, जीवन को समुज्ज्वल बनाने का पाठ भी पढ़ाते हैं. उनका व्यवहार प्रत्येक मनुष्य के साथ, चाहे वह छोटा हो या बडा—समान रहता था. अत युवा, वृद्ध, बाल सभी उनके दर्शन कर अपूर्व आनन्दानुभव करते थे उनके विमल मन मे छोटे-बड़े का भेद था ही नही. साथ वाले मुनियो का, मुनिव्यवस्थानुसार जो कार्य उनके करने का होता था, उसे वे स्वय कर लिया करते थे.

एक बार हम यात्रा कर रहे थे. कुछ मुनि उनसे आगे-आगे चल रहे थे. वे वृद्ध थे. अत उनका पीछे और धीरे-धीरे चलना स्वाभाविक ही था एक मुनि अपना पुस्तको का थैला एक स्थान पर रख विश्राम करने के लिए रुककर चलने

लगे तो थैला भूल गए. उन्होने आगे चले मुनियो को थैला उठाने को नही बुलाया और स्वय ही अपने स्कध पर धारण कर लिया दो-तीन माइल के करीब आगे चलने पर उन्हे अपना थैला याद आया पीछे लौटने लगे तो उन्होने कहा—"तुम्हारा थैला मेरे पास है, चले चलो." बात साधारण-सी लगती है परन्तु इस घटना ने काफी प्रभावित किया यह घटना याद आती है तो उनके प्रति श्रद्धा, स्नेह और भक्ति उमड आती है

वे मुनिसघ के नियता थे चाहते तो किसी भी मुनि को कह सकते थे उनके कहे से कौन मुकर सकता था ? किन्तु उन्होने वैसा न कर स्वय ही थैले का भार वहन कर लिया उस समय मैंने अनुभव किया श्रद्धेय गुरुवर कितने उदार, स्नेहशील और करुणा से ओतप्रोत है !

मुनि श्रीमिश्रीमलजी 'मुमुक्षु'

करुणामूर्ति महामना मुनि श्रीहजारीमलजी !

सत भारतीय सस्कृति के प्राण है। उस दिव्य पुरुष ने राजस्थान के रजकणो को पावन करते हुए इस सत्य को साक्षात् कर दिखाया था उनका हृदय किसलय-सा कोमल था सारे वृक्ष मे अनुभूतिशील या कवि-हृदयो को अपनी ओर खीचती है तो वह वृक्ष की कोमल पँखुरियाँ सन्तमना मुनि श्रीहजारीमलजी म० मे सर्वाधिक आकर्षण का कोई केन्द्र-स्थल था तो वह उनका पीडितो के प्रति अर्पित करुणाशील मन !

उनके जीवन को मैंने पढा तो मन श्रद्धावनत हो गया. उनके जीवन से मुझे यह अनुभव हुआ कि वे तन और मन दोनो से सन्त थे इसलिये यह कहने मे मुझे प्रसन्नता है कि सन्त भारतीय सस्कृति के प्राण है और वे उन प्राणो मे से एक थे. वे चोला बदल कर साधु कहलाने वालो मे से नही थे वे मन से भी पूर्ण साधु थे.

आज मेरा मन उनके प्रति भावाजलि अर्पित करते हुए हृदय के इस भाव को प्रकट करने के लिए विवश है कि वे सन्त-मना ही नही महामना भी थे उस महामना के प्रति मेरी श्रद्धा, उनके दिव्यलोक तक पहुँचे और वे मुझ अकिंचन के भावो को पहचान सकें

आज मै यही सोचकर यही पर रुक रहा हूँ कि उनको श्रद्धार्पण करने के अधिकारी हम तभी है जब स्वय भी प्रमाद तज उनके चरण-चिह्नो पर चले

अत मे यही भाव उभर कर आ रहा है कि कैसे करूँ अर्पित श्रद्धा-सुमन तुम्हे मेरे ?

मुनि श्रीनन्दीषेणविजयजी 'विश्वबन्धु'

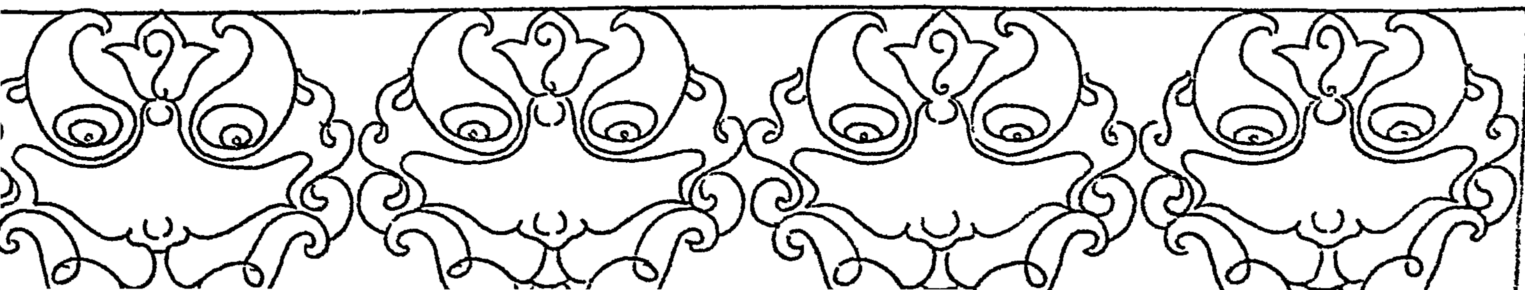
चारित्रिक ऊर्जा के धनी

मैंने पूज्य स्वामीजी महाराज के दर्शन, अपनी वासती वय मे किये

हृदय मे एक परम पुरुष का चित्र अकित हुआ ! मैंने वीरपथिक बनकर दोबारा दर्शन किये ! पिता का-सा वात्सल्य और प्रेम मिला मेरे अन्दर के बुद्धिवादी मुनि ने उनके स्नेह कृपा और वात्सल्य को परखा. परखते-परखते ही मेरा अन्तर मानस झुक गया—उनके चरणो मे

मैं उन्हे साधना का प्रेरक सेतु मानने लगा

लोकैषणाओ के झझावातो से बच निकलने वाला उनका प्रेरक सन्देश तूफान मे फँसी नौका का सबल है—"बडे बनने का प्रदर्शन मत करो ! अन्यथा असम्मान, घृणा और आलोचना की तीखी लोह-कीलें तुम्हारे हृदय को छेद देंगी बडा



वन जाने के उपक्रम से या वडप्पन को मौन भाव से स्वीकार करने से तुम्हारा मन ही तुम्हे कचोटने लगेगा. उस समय तुम सन्तो की सेवा न कर सकोगे."

जीवन के तीसरे मोड पर खडे होकर दिए उनके सन्देश को मैने अपने दूसरे मोड़ पर सुना आज वही सन्देश मेरे जीवन का स्वर्णिम और प्रिय पृष्ठ वनता जा रहा है

जीवन के महानादर्श का दिशानिर्देश करनेवाले परम पूज्य चारित्रिक ऊर्जा के धनी मुनिराज श्रीहजारीमलजी महाराज को मेरे अगणित श्रद्धाभिवादन ! अभिनन्दन !! अभिनमन !!!

श्रीअशोक मुनि



वे महान् थे, महान् ही रहे

मनुष्य मात्र मे महान् वनने की आकाक्षा स्वाभाविक होती है. किन्तु सफलता प्राप्त करने वाले विरल ही होते है. श्रमण सव के महास्थविर मत्री श्रीहजारीमलजी महाराज, महान् थे और महान् ही बने रहे. अत तक उनकी महानता नदी से समुद्र, परमाणु से महास्कन्ध बनता है—वैसे ही विकसित और पल्लवित हुई थी

मुनिश्री उस समय अपने स्वर्गीय पूज्य गुरुदेव श्रीजोरावरमलजी महाराज की चरणसेवा मे तन्मयतापूर्वक सलग्न थे. जवानी आकर उनके जीवन द्वार पर दस्तक दे रही थी. इस अल्हड मादक अवस्था मे आत्मसाधना कितनी दुष्कर होती है, इसे कठोर साधना करने वाला साधक ही जान सकता है उस साधना मे कितना आनन्द आता है, यह भी साधक के अनुभव की ही वस्तु है वह मेरे शैशवकाल का समय था-- जब मैंने उस पुण्य आत्मा के सर्वप्रथम दर्शन किये थे. हरसोलाव व रजलानी मे मुझे उनके प्रथम दर्शन हुए थे इसके बाद दोबारा ब्यावर, जोधपुर, कुचेरा तथा अत में भीनासर के मुनिसम्मेलन मे

उस समय के पावन सस्मरण आज भी हृदयपटल पर सचित्र अकित है, जिनकी स्मृतियाँ यदा-कदा हुआ करती है. वे शान्त सरल और निष्कपट सन्त थे कलह और कदाग्रह की वृत्ति से सदा दूर ही रहते रहे आज वे भौतिक शरीर से अदृश्य होगए है किन्तु उनके गुण, उनकी गुण-गरिमा की महक खिले पुष्प की तरह ही महक रही है वह साधको के हृदय मे सदा स्थान पाती ही रहेगी

'मुनि श्रीहजारीमल स्मृतिग्रथ प्रकाशन समिति' ने उनके जीवन को व्यवस्थित रूप से लिखकर प्रकाशित करने का तथा आचार्य श्रीजयमलजी महाराज एव परवर्ती सन्तो एव कवियो आदि के कार्यो को प्रकाश में लाने का जो शुभ सकल्प किया, नि सदेह वह महान् कार्य होगा इससे इतिहासज्ञो के लिए महत्त्वपूर्ण सामग्री की उपलब्धि होगी.

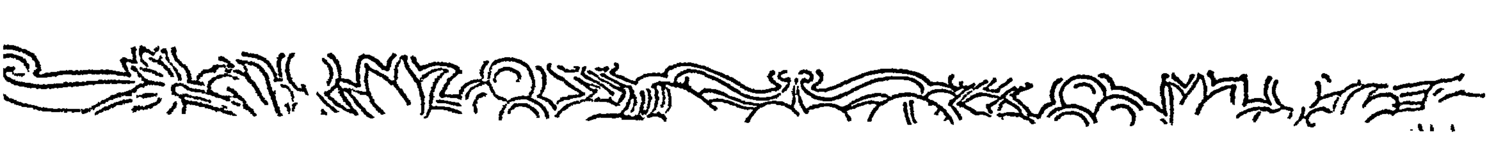
मुनि श्रीलक्ष्मीचन्द्रजी म०



मेरी श्रद्धा, मेरी आस्था

महापुरुषो का यशशरीर आचन्द्रार्क सजीवित रहता है. उनका यह रूप रत्नत्रय को आत्मसात करने पर ही स्थायित्व पाता है अत महापुरुषो का जीवन, अधकारपूर्ण पथ मे प्रकाशस्तम्भ का कार्य करता है.

महान् पुरुषों की परम्परा में से ही प्रात स्मरणीय मरुधरामत्री सरल स्वभावी, उदारचेता, श्रीहजारीमलजी म० भी थे. उनके अनेक जीवनप्रसग समय-समय पर हृदय में उभरते रहते हैं उनका पितृवत् स्नेह स्मरण आता है तो हृदय गद्गद हो जाता है



उनका त्यागतपमय जीवन, आज के साधु समाज के सम्मुख एक पावन आदर्श उपस्थित कर रहा है पूज्य स्वामीजी म० का यह मधुर वाक्य जीवन की इस सूनी वेला मे वार-बार स्मरण आता रहता है—"श्रीजमनाजी वृद्धा हैं, मुझे बार-बार यही ख्याल आता है कि इनके बाद तुम दो ही रह जाओगी" हुआ भी ऐसा ही स्वामीजी म० के १४ माह के बाद ही वे भी स्वर्गलोकवासिनी हो गईं

श्री स्वामीजी म० की कठोर सयम-साधना का सबसे बडा प्रमाण यही है कि शारीरिक दृष्टि से अत्यत वृद्ध होते हुए भी उन्होने स्थिरवास स्वीकार नही किया था अपना आवश्यक कार्य वे—शिष्य बराबर सेवा मे प्रस्तुत रहते हुए भी, स्वय करते थे मेरा अध्ययन और जीवननिर्माण उन्ही की शुभ प्रेरणा का सुफल है

आज उनके प्रति श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए प्रभु से यही प्रार्थना है कि हमे भी उन्ही के पथ पर चलते रहने की प्रेरणा मिलती रहे और आत्मकल्याण की आस्था अचल बनी रहे

साध्वी श्रीचम्पाकुँवरजी



श्रद्धा-आंजुरी

राजस्थान के गावो और नगरो मे घूमते हुए पूज्यात्मा मुनि श्रीहजारीमलजी म० के दर्शन का मुझे अनेक वार अवसर प्राप्त हुआ उन्हें मैंने निकट से देखा उनकी मुझ पर बडी कृपा थी उनके शिष्यो से भी मेरा निकट का सम्पर्क रहा है

उस महामना मुनि की सरल और कोमल भावना ने मेरे अन्तस को आलोकित और प्रभावित किया है मुझे जब-जब जैन मुनियो से मिलने का प्रसग आता है तब-तब एक आदर्श मुनि के रूप मे उनकी पुण्य-स्मृति आये बिना नही रहती

आज मेरी उभरती श्रद्धा उनको स्मरण करके हृदय मे समाहित हो रही है वे जहाँ भी हो, मेरे स्नेह को स्वीकार करें, यही मेरी उनके प्रति श्रद्धा-आजुरी है

सन्त स्वामी रामदासजी शास्त्री, रामद्वारा समदडी



श्रद्धासमर्पण

मेरे पूज्य पिताजी के साथ मुझे बहुत समय तक पूज्य श्रीहजारीमलजी महाराज के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था उनके सतोगुणी स्वभाव और सरल हृदय से मै बहुत प्रभावित हुआ हूँ मेरे मानस मे उनके प्रति प्रगाढ श्रद्धा रही है ऐसे सन्तो का आधार पा कर ही धार्मिक व्यक्ति इस ससार मे असतोष की अनुभूति करते रहे है

ऐसे महान् सन्त के लिये मेरी श्रद्धा सदा के लिये सर्मपित है

श्रीगोपालमलजी महता, जिला एवम् सब न्यायाधीश, अजमेर



श्रद्धान्वित हूँ

वयोवृद्ध श्रद्धेय श्रीहजारीमलजी म० सा० अत्यन्त सरलस्वभाव तथा क्रियावान सत थे आपने लम्बे समय तक सयम का पालन करते हुए बहुत से क्षेत्रो को पावन किया उन महापुरुष के जीवन से हमे बहुत-सी शिक्षाएँ लेनी है. मैं उन महापुरुष के सयममय जीवन के प्रति श्रद्धान्वित हूँ

श्रीसरदारमलजी कांकरिया





हृदयंगम हों उनकी शिक्षाएँ

पूज्य गुरुदेव श्रीहजारीमलजी म०, दया, क्षमा, विनय, कर्मठता, साहस, स्फूर्ति, दूरदर्शिता, विवेक, निर्भीकता, विनोद-प्रियता, भावुकता और ऐसे ही न जाने कितने गुणो के भण्डार थे.

वे वाणी मे मधुरिमा, सयममार्ग मे एकनिष्ठा, दिव्यज्ञान एव पाडित्य का वैभव लेकर सयमपथ पर अग्रसर हुए थे. उनका यही रूप मुझे उनमे प्रारम्भ से अत तक दिखाई देता रहा.

समय-समय पर मुझे दर्शन करने का सुअवसर मिला था वे श्रमणसंघ में मत्री पद पर विभूषित थे. सघ की प्रगति के लिए उन्होने अविश्रान्त परिश्रम, लगन और त्याग के साथ काम किया.

गुरुदेव के चरणो मे श्रद्धा-पूर्वक शत-शत वन्दन करके प्रतिज्ञाबद्ध होता हूँ कि उनकी अमृत-तुल्य शिक्षाएँ जीवन में उतारूँ.

श्री पारसमल बाफना



सत्संग के दुर्लभ क्षण

स्वामी श्रीहजारीमलजी म० के सत्सग के लिये उपलब्ध जीवन के अपने क्षणो को मैं परम पवित्र मानता हूँ आज भी उनके सत्सग मे व्यतीत हुये क्षण, मस्तिष्क में तैर आते है तो आह्लाद की अनुभूति होती है.

स्वामीजी म० सरलता, सहृदयता, साधुता की सजीव मूर्ति थे. आपके प्रभावक व्यक्तित्व से सहस्रो व्यक्ति लाभान्वित हुए है तथा आपके जीवन से अपूर्व प्रेरणा ग्रहण कर बहुत-से साधक सत्यपथ पर आगे बढे हैं

मुनिश्री के मिलन की मधुर स्मृतिया अविस्मरणीय है.

श्रीकन्हैयालाल लोढा, केकडी



उस पुण्य-पुरुष के प्रति

भारतीय सस्कृति जीवन के बाह्य और आन्तरिक, दोनो पक्षों का सामजस्य साधती है. इस सस्कृति की यह एक उल्लेखनीय और अभिनन्दनीय विशिष्टता है जीवन के दोनो पक्ष यथार्थ है और उनमें से किसी एक की उपेक्षा करके दूसरे पर ही बल देना जीवन की समग्रता को अस्वीकार करना है. यह अस्वीकृति वैयक्तिक ही नही सामाजिक जीवन के लिए भी घातक सिद्ध होती है. इसी कारण भारत की सस्कृति में जीवन की समग्रता पर पूरा-पूरा लक्ष्य दिया गया है. भारतवर्ष की सस्कृति चिर-पुरातन है उसके उद्गम का पता लगाने के लिए कोई साधन आज उपलब्ध नही है. ऐसा होने पर भी उसकी धारा सतत परिवर्तनशील रही है उसके निर्माण, सशोधन और परिवर्धन में भारतीय सन्तो का प्रमुख हाथ रहा है.

वास्तव मे हमारी सस्कृति मे जो दिव्यता, भव्यता अतर्मुखता और पूर्णता के तत्त्व है, वे प्राय सन्तो की ही देन है. उन सन्तो ने भोग-विलासमय जीवन से ऊपर उठकर त्यागमय जीवन अगीकार किया, जन-कोलाहल से दूर रहकर एकान्त वनवास अगीकार करके जीवन के गहन रहस्यमय तथ्यो का चिन्तन, मनन और निदिध्यासन किया और तब अपने अनुभवों को प्रकाशित किया. उनकी इस तपश्चर्या के परिणामस्वरूप ही हमारी सस्कृति मे आध्यात्मिकता का अमृत प्रवाहित है.

भारतवर्ष भौतिक विद्याओ में भले कई देशो से पीछे हो, मगर अध्यात्मविद्या में वह सदैव सब से आगे रहा है और अपने इस वैशिष्ट्य के लिए आज भी गौरव का अनुभव कर सकता है.



मुनि श्रीहजारीमलजी महाराज उन्ही अध्यात्मनिष्ठ सन्तो की परम्परा मे एक थे उनके हृदय मे नवनीत की मृदुता, वचनों मे सुधा का माधुर्य, नेत्रो मे पवित्रतम सात्त्विक तेज और व्यवहार मे सन्तजनोचित सहृदयता थी. साठ वर्षो से भी अधिक समय तक वे वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के उत्थान मे सलग्न रहे जनता को अपने जीवनव्यवहार से और वाणी द्वारा भी श्रेयस् का पथ प्रदर्शित करते रहे और स्वर्गवासी हो जाने के पश्चात् भी अपने मधुर एवं प्रेरणाप्रद सस्मरण छोड गए

इस पुण्य-पुरुष के प्रति श्रद्धाजलि अर्पित करके मैं अपने आपको गौरवशाली मानता हूँ

श्रीहरिभाऊ उपाध्याय, शिक्षामंत्री राजस्थान, जयपुर



महामुनि : एक श्रद्धांजलि

सन्तो का जीवन आदर्श और पवित्र होता है उनके दर्शन और सेवा मानव को शुभाचरण की प्रेरणा देते है सन्त का प्रत्यक्ष जीवन जितना पावन होता है उनका स्मरण भी उतना ही पावन होता है

तपोधन मुनि श्रीहजारीमलजी म० के प्रत्यक्षीकरण का मुझे अनेक वार सौभाग्य प्राप्त हुआ है उनसे दूर रहकर मैं जितना उनके जीवन से प्रभावित हुआ, निकट जाने पर मेरी श्रद्धा और,भी वलवती होती गई

आज वे नही है उनके तप-त्यागमय जीवन का प्रतिविम्व उनके शिष्यो मे पाकर मैं हार्दिक प्रसन्नता अनुभव कर रहा हूँ किसी भी सन्त के आदर्श हम मे कितने मुखरित हो रहे है ? यह है महत्त्वपूर्ण प्रश्न उनके उपदेशो के तथा उद्देश्यो के अनुरूप सामाजिक चलें तो निश्चय ही समाज का आध्यात्मिक अभ्युदय हो सकता है

स० २०१४ मे उनका चौमासा जाधपुर था तब और इससे पहले अनेक बार उनकी चिकित्सा-सेवा करने का अवसर मुझे मिला है उस अलौकिक महापुरुष के साक्षात्कार से मेरे मन और आत्मा मे परमशक्ति और सतोष प्राप्त हुआ. २०१४ के बाद उनसे शुभ मिलन नही हो पाया आज उस शान्त मनीषी का स्मरण करते हुए मेरी सन्त पुरुषो पर गहरी श्रद्धा उभर कर ऊपर आ रही है

उनकी स्मृति को चिरस्थायी करने के उद्देश्य से 'स्मृतिग्रथ' का आयोजन बहुत सुन्दर लगा. उस अदृश्य पुरुष को मेरे अनेको भाव-प्रणाम और शुभ स्मरण

पं० उदयचन्द्र भट्टारक, आयुर्वेदमार्तण्ड, प्राणाचार्य, वैद्यावतंस महोपाध्याय, राजमान्य राजवैद्य.

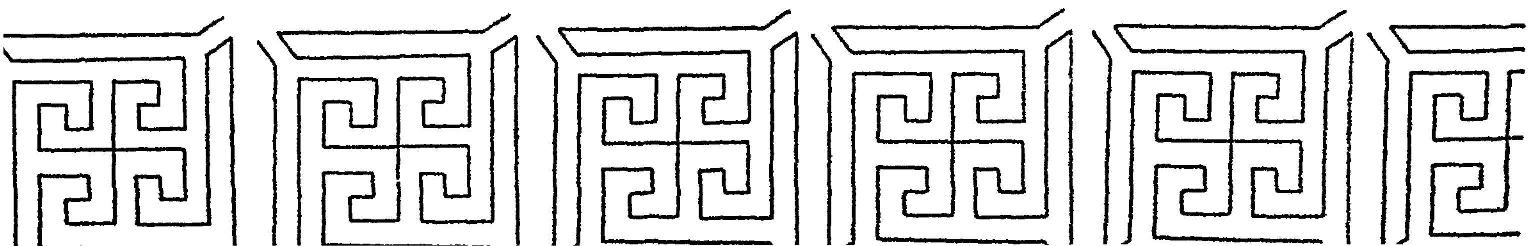


उनके तीन गुण

महान् पवित्र आत्मा मेरे गुरुदेव ! तुम्हे कैसे श्रद्धाजलि अर्पित करू ? गुरुजनो की आज्ञा है कि मैं अपने मनोभाव लिखू पर सोचती हूँ मुझ मे सामर्थ्य कहाँ ? गुरुदेव के गुण तो अनन्त है

कवीर के शब्दो मे अगर सम्पूर्ण पृथ्वी का कागज वनाया जाय, सम्पूर्ण वनराजि के वृक्षो की कलम और सभी समुद्रो की स्याही वनाई जाए तो भी हृदय मे उल्लसित भावो को लिखना सभव नही

गुरुदेव ! आपकी महिमा निराली थी आज मुझे अपना अतीत स्मरण हो उठा है, वाल्यकाल से ही आपकी कृपादृष्टि का सौभाग्य मुझे मिल गया था पिता, पति, स्वसुर आदि के वियोग के वज्र जव मुझ पर गिरे उस समय आप ही ने वडे आश्वासन भरे मधुर व हृदयस्पर्शी शब्दो मे सान्त्वना दी थी—'यह ससार परिवर्तनशील है सभी को काल के गाल मे समाना है, मृत्यु के सामने किसी का वश नही चलता, अत धैर्य धारण करो' आज मुझे वह सव कुछ याद आता है,



जिन्हे उनके कंठविनिर्गत पद और भजन सुनने का सौभाग्य मिला है, वे भली भाति जानते है कि उनकी वाणी मे कैसा अनोखा जादू था. उनकी धर्मदेशना का अद्‌भुत प्रभाव होता था कि लम्बा समय भी व्यतीत होते पता नही चलता था. मैंने लोगों को कहते सुना है "चालो मीठो बखाण सुणणने चालो काई" मधुरता के साथ-साथ उनकी भाषा में बडा ही ओज तथा प्रवल आकर्षण था.

दयालुता, वचनदृढता और निर्ममत्व उनके स्वाभाविक गुण थे. सवत् २००१ मे इसी महान् सरलात्मा के चरणकमलों में दीक्षा स्वीकार करने की मेरी इच्छा हुई. किन्तु गुरुदेव व गुरुणीजी ब्यावर में नही थे. इच्छा व्यक्त करते ही विद्युत् वेग की तरह सम्पूर्ण शहर मे चर्चा फैल गई. मेरे भाई गुलाबचन्द जी मुणोत गुरुदेव के पास अश्रुपूर्ण नेत्रो से पहुँचे. उन्हें रोते देख गुरुदेव की आँखे भी सजल हो गईं बोले—'गुलावचन्द भाई, क्या बात है ? रोओ मत, बात कहो।'

गुलावचन्दजी ने निश्वास छोडते हुए कहा—'गुरुदेव बड़ी आशा लेकर आया हूँ.'

गुरुदेव वोले—'कहो न फिर !'

वे कहने लगे—'गुरुदेव, वाई सयम लेने को कहती है. यह मेरे लिये ही नही, दोनो परिवारो के लिए असह्य है. हम इसे साध्वी के रूप मे नही देख सकते ! बाई को वहुत समझाया, पर वह नही मान रही है अपने विचारो में अडिग है ! अत' मैं आपसे एक आश्वासन लेने आया हूँ.'

'वह क्या ?'

'मैं दीक्षा नही दू गा,' वस यही आपसे सुनना चाहता हूँ हुजूर ! आप पर दृढ़ विश्वास है और मैं यहाँ से प्रसन्न चित्त होकर घर वालो को खुश खवर सुनाऊगा दयालु! आपके मना कर देने पर दीक्षा नही हो सकेगी.' गुरुदेव ने फौरन कह दिया था—'चिन्ता मत करो गुलावचन्दजी, मैं क्या मेरी आज्ञा में रहने वाला कोई सत या सती, यहा तक कि राजस्थानी कोई भी साधु साध्वी तुम्हारी बहिन को दोनो घर वालो (सुसराल और पीहर पक्ष) की प्रसन्नता पूर्वक प्राप्त आज्ञा के विना—दीक्षा नही देंगे.' फिर पीठ पर थपथपी लगाते हुए कहने लगे—'अब मत रोओ. चिन्ता दूर हो गई न ?'

गुलावचन्दजी प्रसन्न थे. उनकी कामना सफल हुई. यह है गुरुदेव की दयालुता का ज्वलन्त उदाहरण. दूसरा उनका गुण था—'कहे हुए शब्दो पर दृढ़ता'

इस आश्वासन का पता लगने पर मुझे बडा दु ख हुआ पर क्या किया जाय ? कुछ ही देर बाद, वात दिमाग में आ गई. गुरुदेव ने ठीक ही तो कहा—'आज्ञा के विना जैन मुनि दीक्षा नही देते. मैं आज्ञा प्राप्त करूगी तो दीक्षा लेने की मनाई भी नही होगी.'

किन्तु आठ वर्षो तक अत्यन्त कोशिश करने पर भी आज्ञा नही मिली. तब स्वय दीक्षा ग्रहण कर ली किन्तु गुरुदेव व गुरुणी-जी म० ने मुझे स्वीकार नही किया तव मैने गुरुदेव के समक्ष नम्रता पूर्वक प्रार्थना की 'गुरुदेव, अब तो मै घर जाने वाली नही हूँ. महाव्रत दे दीजिये.'

उत्तर मिला—'मैं वचन दे चुका हूँ. तुम्हे दीक्षा नही दे सकता' किन्तु महान् सौभाग्य से उन दिनो पजाव प्रान्तीय प० श्रीविमलमुनि जी आगए और दीक्षा हो गई. यह थी गुरुदेव की वचनदृढता.

तीसरा गुण निर्ममत्त्व तो इसी से स्पष्ट है कि मैं गुरुदेव की शिष्या वनने जारही थी. गुरुदेव का ही परिवार वढ रहा था. फिर भी वे चेली के मोह से ऊपर उठे रहे

दीक्षा के वाद मैं गुरुदेव के चरणो मे पहुँची. देखते ही कहने लगे—'काई ओ ! गुलाबचन्द जी की बहन, साधुपणो सौरो है ? विहार अने लोच विगेरा सोरो हुयो ?'

मैंने कहा—'तहत्त' तत्पश्चात् गुरुणी जी से कहा—काई ओ झमकूजी, मारग मे आहार पाणीरी तकलीफ तो नही रही ?' 'मन जोगवाई ठीक वैठ गई गुरुदेव ?'



कितने मीठे और मधुर शब्द थे उस महापुरुष के.

दीक्षा के बाद गुरुदेव की छत्रछाया मे दो चातुर्मास साथ-साथ किये, अजमेर और जोधपुर जोधपुर चातुर्मास के बाद हमे विहार करना पडा. अजमेर जाकर गुरुणीजी म० को आचार्य की एव मुझे शास्त्री की परीक्षा देनी थी—पाथर्डी बोर्ड की अत गुरुदेव का शुभाशीर्वाद लेकर प्रस्थान किया उस समय कौन सोच सकता था कि यही गुरुदेव के अन्तिम दर्शन है ? गुरुदेव से आज्ञा लेकर जयपुर चातुर्मास करके अलवर, देहली, शिमला, भाखडा नगल होते हुए लुधियाना आचार्य महाराज की सेवा मे पहुँचे वहाँ चातुर्मास करके जम्मू-कश्मीर आदि स्थानो मे पहुचे वहाँ भी गुरुदेव की ओर से बराबर पत्र मिलते रहते थे हम जब तक उधर रहे, आपको हमारी बडी चिन्ता रही आने जाने वालो से आप हमारे समाचार पूछते, जिनमे छोटी-छोटी बाते भी सम्मिलित रहती थी

कश्मीर और पजाब का विहार समाप्त कर हम सब शीघ्र गुरुदेव की सेवा मे पहुँचने और साथ ही चातुर्मास करने को उत्कठित थी, परन्तु विधि को यह स्वीकार नही था देहली मे ही यह हृदय-वेधी समाचार सुनने को मिला कि गुरुदेव स्वर्ग सिधार गए श्रीआनन्दराजजी सुराणा तार लेकर आए गुरुदेव के स्वर्गप्रयाण के समाचार से दिल दहल उठा हृदय से चीख निकल पडी. नेत्रो के आगे अधकार छा गया. मानो सब कुछ लुट गया आशाओ पर पानी फिर गया. लोकोत्तर सरलता, सौजन्य और सयम की वह महनीय सजीव प्रतिमा सहसा विलीन हो गई।

आह, असीम सामर्थ्य का धनी मानव इस जगह, कितना विवश है ! यहाँ पर असहाय और क्षुद्र बन जाता है गुरुदेव, आप उसी उदारता करुणाशीलता और सौजन्य की प्रतिमूर्ति बनकर हमारी कोटि-कोटि वन्दना स्वीकार कीजिए

साध्वी श्रीउम्मेदकुवरजी



श्रद्धा पुरुष

स्वामीजी महाराज सूक्ष्म अहिंसावादी, कठोर ब्रह्मचारी, परमविनीत, अत्यन्त निरभिमानी थे उनका हृदय करुणा और वात्सल्य के अणु परमाणुओ से निर्मित हुआ था.

आत्मा के उक्त स्वाभाविक गुण उन्होने फूल-सी कोमल अवस्था मे गुरुचरणो की छाया मे रह कर प्राप्त किये थे आज के जैन मुनियो को देख कर मैं मानता हूँ कि उनका जीवन परम आदर्शमय था वे करुणा-भावना से निर्मित हुए, कठोराचरण मे ढले और ब्रह्मचर्य के तेज से चमके थे

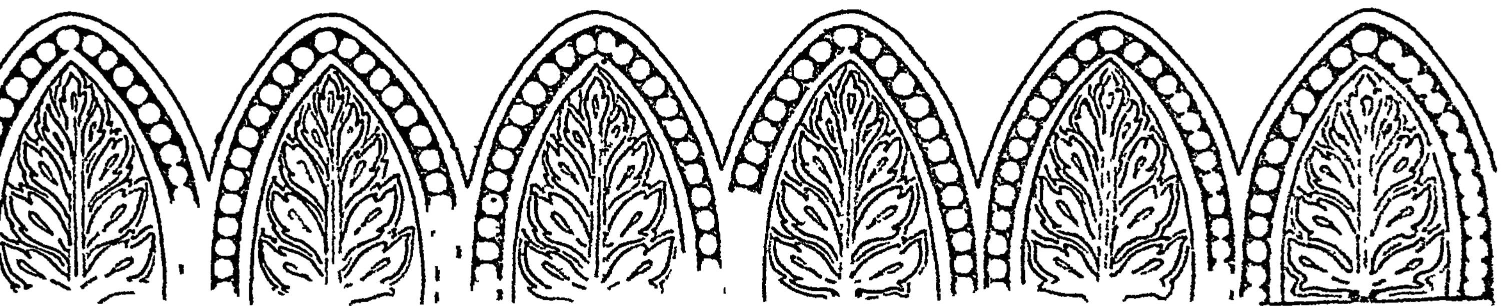
मैं और मेरी प्रत्येक शुभ प्रवृत्ति का क्षण उस श्रद्धापुरुष मुनिराज श्रीहजारीमलजी महाराज के प्रति श्रद्धानत है.

अचलसिंह, एम० पी०
अध्यक्ष, अ० भा० स्था० जैन कॉन्फ्रेंस, देहली



वह सन्तपुरुष महान्

इस ससार मे अनन्तकाल से समय-समय पर ऐसे जगत् प्रसिद्ध सन्त महात्मा होते आये है जिनके प्रात स्मरणीय नाम आज तक चले आ रहे है परन्तु कुछ ऐसे भी सन्त हुये है जिनका नाम जगत्विख्यात नही हुआ. किन्तु उन्होंने अपनी आत्मा का परम साध्य पाकर उच्च स्थान प्राप्त किया है ऐसे ही सतो की पक्ति मे इस सदी की महान् आत्माओ मे श्रीहजारीमलजी म० भी है कवि शेक्सपीयर के शब्दो मे—'उनके जीवन का सदैव यही ध्येय था कि नाम मे क्या रखा है 'आत्मा का उद्धार या जीवन की सफलता तो सदैव कृतित्व में है' मेरी दृष्टि मे इसी कथन को उन्होंने साकार रूप दिया था. वे हमेशा उपदेश मे यही भाव दर्शाते थे कि जिनके हृदय मे लेशमात्र भी दया नही है वे यदि ज्ञान की बडी-



वड़ी वातें वनाते है तो उनका ज्ञान उन्मत्तप्रलाप मात्र है. जो भी उनके सम्पर्क मे आया और जिसने उनके वचनामृत का पान किया, वही उनकी सत प्रकृति व अनेक सद्गुणो का भक्त वन गया वे महान् सरलहृदय सन्त थे उन्होने जीवन भर कभी नाम पाने की आकाक्षा नही की. जो भी सन्तप्तहृदय उनके पास पहुँच गया उसे सदैव सन्मार्ग का उपदेश देकर अशोक-वाटिका मे पहुँचा दिया यही उनकी महान् देन उनके उपदेशो मे सदैव झलकती रहती थी—'वर्तमान वर्ते मदा सो ज्ञानी जग माय' उन्होने जिन भावो से सासारिक सुखो का त्याग किया उन्ही उच्च भावो को जीवन भर कायम रखा

वैसे तो स्थानकवासी समाज मे साम्प्रदायिक मोह अभी तक कुछ अशो में विद्यमान है और प्राय श्रावकगण में कुछ लोग अभी तक इसे मान्यता भी प्रदान करते है मगर जो भी स्थानकवासी जैन इस महान् आत्मा की सेवा मे उपस्थित हुआ और जिसने वचनामृत का पान किया, उसने अपने सम्यक्त्वदाता गुरु के समान उनका सादर सत्कार किया

श्रीसरदारमलजी छाजेड

●

जेनी सुवास सर्वत्र म्हेकी रही छे

कुदरतना गर्भागारमाथी विश्वना विशाल भूमडल पर प्रतिदिन अनेक व्यक्तिओ प्रवेशे छे अने विदाय ले छे परन्तु चित्रगुप्तना चोपडे ओ सोनी नोध लेवाती नथी अने स्मृतिये जळवाती नथी.

आम छता आ सनातन नियम सर्वथा अपवादविहीन तो नथीज. अनेक पयगवरो, तीर्थंकरो, ज्योतिर्धरो अने महापुरुषो के जेओओ पृथ्वी पर प्रवेशी अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह आदि सत्योनो विश्वने सदेश आप्यो, ओमनी नोध इतिहासना पाने सुवर्णाक्षरे अकाई छे, अने ओमनी स्मृति युग-युगथी लोकोना अन्तरमा दृढ स्वरूपे सचवाई रही छे

आ ग्रथमा ओवा एक वीतरागी सन्त श्रीहजारीमलजी म० नी स्मृति जनहृदय पर चिरजीव राखवानो सुयोग्य प्रयास करवामा आव्यो छे-

स्मृतिग्रथ प्रकाशन समिति द्वारा प्रगट थयेल 'महकता व्यक्तित्व' शीर्षक पुस्तक द्वारा जाणवामा आव्यु के मात्र अगीयार वर्षनी कुमली वये श्रीहजारीमलजी म० नु जीवन, तप, त्याग, वैराग्यथी सर्वथा योगनिष्ठ वनी गयु हतु. ओमना अतरमा प्रेम, करुणा, त्याग अने मध्यस्थभाव महेकता ससार ओषणाथी पीडित मानवीओ प्रत्ये ओमनी सवेदना सदैव जागृत रहेती, ससारत्रस्त मनुष्योना ओ आश्वासन हता.

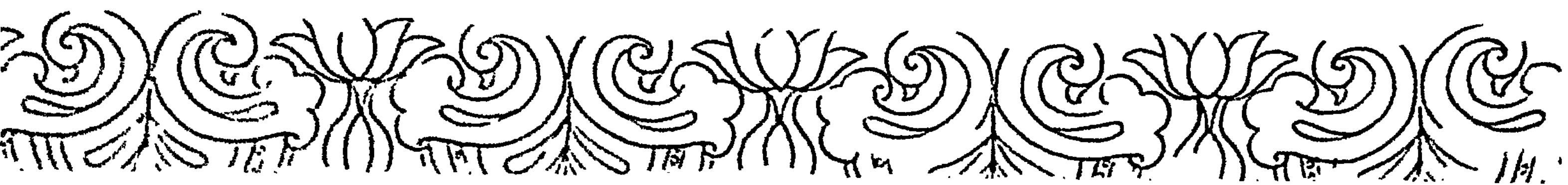
चिनन, मनन आत्मरटन, निदिध्यासनमा ओ सदा ओतप्रोत रहेता, धर्मोपदेश आपता त्यारे ज्ञान, विरक्ति अने मुदुतानी सुरभि ओमना शब्दे-शब्दे टपकती, ओमनी वैराग्यमूलक वाणीनो स्रोत श्रोताने मत्रमुग्ध वनावी देतो तोली तोली ने वोलाता शब्दो आकार लेता त्यारे ओमा सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्रनी प्रतिभा प्रतिविम्वित थती

मूळे आचार्य श्रीजयमलजी महाराजना सप्रदायना ओ सत श्रमणसघनी स्थापना पहेला वी० स० १९८८ मा पाली मुकामे भरेला ६ सप्रदायना सघना प्रवर्तक रह्या ओ वाद वर्धमान श्रमण सघनी स्थापना थता तेमनो सप्रदाय श्रमणसघमा प्रविष्ट थता तेओ विशाल श्रमणसघना ओक प्रतिभाशाली सन्त वन्या.

आ प्रभावशाली सन्त श्रीहजारीमलजी महाराजनी स्मृति रूपे आध्यात्मिक, तात्त्विक, शैक्षणिक आदि विविध प्रकारना साहित्यथी समृद्ध ओवो स्मृतिग्रथ प्रकाशित थई रह्यो छे, ओ माटे स्मृतिग्रथसमितिने धन्यवाद छे

जेओ ओमना जीवनकाल दरम्यान वीतरागी, योगनिष्ठ, आध्यात्मिक अने उत्कृष्ट साधक जीवननी सुन्दर सुवास पसारी गया ओवा श्रीहजारीमलजी म० श्री प्रत्ये हुं मारी आ भाव-भक्तिभरी श्रद्धाजलि समर्पु छु

श्रीधीमचन्द मगनलाल वोरा. मंत्री, अ० भा० स्था० जैन कॉन्फरेंस



दो बूंद आँसू

सध्या ने दोपहरी को ढाल दिया था
क्योकि साझ सवरने लगी थी,
छुटपुटा फैलने की तैयारी में था
और
आकाश नीरव था—कसावट गहरी थी उसमे
हवा भारी थी—बोझिल—और उदासी से बँधी हुई,
बादलो का जैसे मौनव्रत था
घर के द्वार पर देहरी के पास
दीवार से सटी हुई,
बैठी है एक नारी—मूर्तिवत् ।
ललाट पर उभरी है चिन्तन की रेखायें,
कम्पन नही है उनमे
पर गहरी स्थिरता है
रेखायें जब बनती हैं चिन्तन की
तो सजीव हो उठता है वर्तमान

कर्मभाव मुखरता है—
दृढ सकल्प की निष्ठा तत्पर हो उठती है
ऐसा पल घुमडा है अभी

इस नारी की आँखो मे—
आँखो मे आकाशी चमक है,
सज्जित है सौम्य शृखला से वह
रजित है—सरलता—पवित्रता के अनुराग मे

ममत्व के बाध से बधी हुई, देवी वह
बैठी है—निर्विकार

पर, मथन विचारो का मथ उसे रहा है

वह मा है—नन्द की मा —
हजारी के वात्सल्य की दात्री

विचारो ने करवट ली—
लाल मेरा ! कैसा पगला है
सोचने लगा है क्या ? अभी से बात वर्तमान की
वर्तमान ! हाँ वर्तमान की बात जो कही है अभी
याद है मुझे वह वाणी—आज भी
मधुर स्वर वह चिरन्तन सत्य—सा,
वर्तमान को आस्था दो
वर्तमान सबल है मानव के मन का
कचोटती है तन और मन को—
अतीत की स्मृतियाँ, आकुल बना जाते हैं

विडम्बना के भाव जब वे भूत के जगते है—
कहा था साध्वी चोथाजी ने सुमधुर वाणी मे
ब्यावर मे

जब नौ का था पुत्र हजारी मेरा,

जाने क्या रेख पढी मेरे मस्तक की—

साध्वी ने और फिर कहा था—
वर्तमान प्रबल है

शक्ति का सबल है

कवल है शान्ति का—जो घटा देता है
अतीत के शीत को

तुम देवी मेरी ओर देखकर बोली थी.

अतीत के दु ख मे डूबो मत
रिता दो पीडा के घट को
बूंद बूंद ही सही पर दु ख को बिसार दो

और फिर नन्द को—
हजारी को देखकर दुलार की वाणी मे कहा था—
इसमे अलौकिक शक्ति की प्रभा समाई है

सरले !
तुम सरल हो, सहृदय और सुकोमल हो

वर्तमान पर चलना ही श्रेय है—
इसी से गौरव बनोगी तुम हजारी से पुत्र की

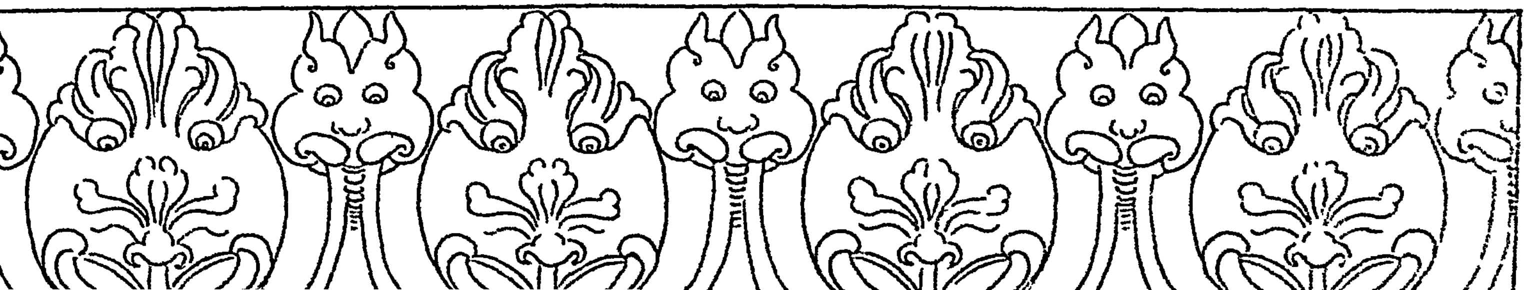
श्रद्धा के भाव से उनके चरणो मे,
झुक गया था माथ तब मेरा अनायास ही
और आज वह कहने लगा है सयाना बन,
बात वर्तमान की

माँ ने देखा और ममत्व की धार वह चली

कैसा तल्लीन था आत्मलीन-सा हुआ
जब सुनी थी धर्मदेशना गुरुजी की

मुनि श्री जोरावरमल की

प्रवचन सुन उनका,
भीग गया था जैसे उसके प्रवाह मे.



लगता है मुझे यह गुरु का प्रसाद है—
तभी —
मन मेरे लाल का खोया है,
सन्न गया है शायद—निर्वेद के भाव में
गुरु की वैराग्यमूलक वाणी से

तभी तो कहता है—कहा है अभी—
मा ! वर्तमान पर सोचने वाली हो तुम तो.

छोड़ा अतीत और भविष्य के विचार को.

सत्य है विचारना ही वर्तमान का.

मन के—उलझने से—
अतीत और भविष्य के काल्पनिक जाल मे,
कर्मनिबद्ध होती है आत्मा.

पुत्र सच कहता है—
वर्तमान सत्य है.
ममता के विचार जगे.
और हौले से पलकें उठा कर देखा—
विनीत रूप मे बालक हजारी खडा है,
नेत्र झुकाकर—मा के सम्मुख.
साधना की दिशा मे बढने को,
पाने को आज्ञा मा की.
पर मा खोई है विचारो मे.

बालक हजारी ने सहसा ही तोड कर विराम कहा—
बोलो मा, 'बोलो तो'—
तुम क्यो मा मौन हो.
कहा था—गुरुणी ने जो सत्य है—है न सत्य ?
हा वत्स !, वाणी झकार उठी मा के निश्चय की !
सत्य है—गुरुणी का कथन भी

और उचित है यह भी जो—तू कह रहा.

तो मा,
फिर आज्ञा दे दो न—दीक्षा की.

चाहता हूँ धर्म की सेवा में समर्पित यह
जीवन हो

बात कह मौन हुआ हजारी
और फिर डूबी-सी ममत्व के सागर में.

बैठी थी दीवार से सटकर,
ताक रही थी शून्य मे—ऊंचे आकाश को.

सध्या तब गहरी थी—उतर आई,
प्रकृति शान्त थी खामोश थी

हवा भारी थी—उदासी से डूबी हुई.
और भारी था—मा का कलेजा भी.
पर वह मा थी—स्नेहमयी.
कर्त्तव्य और धर्म के भाव में पगी हुई

तभी एक—गर्जन हुआ—सन्नाटा चीरकर
बादल की कोख से बिजली गरज उठी,
वेग उठा प्रभजन का—प्रकृति मचल उठी.

मा ने अपने को समेट कर
पुत्र को वक्ष से लगा कर
मस्तक पर प्यार का चुम्बन दे

बोली वह—करुणामयी—-
तू मेरी ममता का केन्द्र है,
लाल मेरे—जीवन का तू ही सर्वस्व है,
पर, पाषाण सा अचल है—निश्चय तेरा.
यह मै जानती हूँ.
तेरे भावो को कर लिया है हृदयगम मैंने.

तुझे सुख है साधना मे ही—

तो मै आज्ञा देती हूँ—
तेरा पथ प्रशस्त हो—सेवा कर जन-जन की.
कि सहसा एक झोका—सा आया, और

भर उठी धरती आलोक से—
बादलो ने गूज कर नौछावर
करदी बूदो की.

मा तू कितनी अच्छी है—
मेरी मा, गद्‌गद हुई वाणी हजारी की.
मा के चरणो की धूल लगा मस्तक पर
पुत्र ने विदा ली ! सेवा व्रत लिया.
लाल मेरे—पर कठ अवरुद्ध हुआ
जननी का.

भगवान् महावीर तेरा कल्याण करें—
और आनन्दमय—व्यथा के कोष से—
टपक पडे—दो बूद आँसू—
मोह छोड पलको का.

प्रो० राधेश्याम त्रिपाठी, एम० ए०

स्वागत प्रभात के प्रभा-पुत्र !

स्वागत ! जन-मानस के मानधनी,
स्वागत ! धरती के कण-कण का,

नील गगन का, मुक्त पवन का
जन-जन का स्वागत ! स्वीकारो
है धवल नवल प्रिय विमल

तुम्हारा सत्-शिव-सुन्दर—
स्वर-स्वर मधुर-मुखर मन
स्वागत ! श्रद्धा-भाव-भावना-भू
तुम्हारा शाश्वत स्वागत !

उतरो नीलाभ गगन से
विचरो मानस की लहरो पर
बैठा निर्मल तल मे डुबकी लगाकर

मुक्त करो स्नेहिल सीपी को—
चुन-चुन बीनो विवेक के मोती
ये अनमोल ! भोले ! ये मोती अनबोले !
शान्ति-क्षितिज पर सत्य-सूर्य चमका है

स्वागत ! प्रभात के प्रभा-पुत्र !

ये आकुल नयन हजारो दर्शन के प्यासे है,
हुलसो हिमहिय हरखो हे हितकारी
स्वागत ! सत हजारी !

श्रीओंकार पारीक



वह देवपुरुष महान्

सात्विकता के पावन प्रतीक,
महानता मे सूर्य सम,
दिव्य ज्ञान का दे प्रकाश,
मिटाया हृदय का घोरतम

याद रहेगा युग-युग तक वह,
अमरता का सुरम्य ज्ञान
दिया कभी था जो वसुधा को
तुमने देव-पुरुष महान्

सौ० मदनकुँवर पारख



गौरव-गान

[तर्ज —देख तेरे ससार की हालत]

स्वामी हजारीमल गुरुवर के, गाओ गौरव गान ।
जिससे होवे परम कल्याण ।। टेर ।।

सम्यक् पाला सयम गुरुवर, सम्यक् पाया ज्ञान ।
निर्मल गुण रतनां की खान ।।

नन्द कुँवर बाई का जाया,
अखिल विश्व मे सुयश कमाया ।
सयम साध उच्च-पद पाया,
सत्-पुरुषो मे नाम कमाया,

जीवन मेरा उन्नत होवे ऐसा दो वरदान
जिससे होवे परम कल्याण—

जय गच्छ नायक पूज्य हजारी,
शुद्ध करणी कर आतम तारी ।
उज्ज्वल-यश की किरणें सारी,
फैल रही है देव ! तुम्हारी ।।

मेरे मन के पूरण करदो अब सारे अरमान
जिससे होवे परम कल्याण—

'व्रज' मुनिवर है 'मधुकर' प्यारे,
जगमग चमके शिष्य तुम्हारे ।
जैन जगत् के दिव्य सितारे,
जन मन गण के एक सहारे ।।

सयम-पथ के साधक स्वामी पाली जिनवर आन
जिससे होवे परम कल्याण—

तव चरणो मे शीश झुकाऊँ,
श्रद्धा के दो पुष्प चढाऊँ ।
मन मन्दिर मे तुम्हे बिठाऊँ,
विमल प्रेम की ज्योति जगाऊँ ।।

'हीरा मुनि' नित बलि २ जाये जैन धर्म की शान
जिससे होवे परम कल्याण—

श्री हीरा मुनि जी म० 'हिमकर'





आज मस्तक स्वतः ही झुका जा रहा है



आज मस्तक स्वत. ही झुका जा रहा,
कर रहा भक्ति के पुष्प अर्पित तुम्हे.

किन्तु वाणी कहे आज क्या किस तरह,
किस तरह वह तुम्हारी करे अर्चना ?
किस तरह वह तुम्हारे गुणो को कहे,
क्या करे वह नये कोष की सर्जना ?

स्नेह भीने सहस्रो हृदय अश्रुओ से,
करेंगे गुरुवर्य चर्चित तुम्हे
आज मस्तक स्वत ही झुका जा रहा,
कर रहा भक्ति के पुष्प अर्पित तुम्हे.

था लहरता तुम्हारे नयन में सदा,
स्नेह का एक निस्सीम निष्पाप सागर.
कि करुणा उमडती सदा बन तरंगे,
गगन कापता डोल जाता प्रभाकर.

जगत् के प्रलोभन सदा दूर रहते,
कि मानो प्रताडित किया हो उन्हे.
आज मस्तक स्वत ही झुका जा रहा,
कर रहा भक्ति के पुष्प अर्पित तुम्हे.

सुकोमल वयस मे गहा मुक्ति का पथ,
सदा अग्रसर किन्तु होते रहे थे.
कभी भी न नन्हे चरण डगमगाए,
महत साधना-भार ढोते रहे थे.

दिखाया सदा पथ भटकते हुओ को—
किया आत्मवत और हर्षित उन्हे
आज मस्तक स्वत ही झुका जा रहा,
कर रहा भक्ति के पुष्प अर्पित तुम्हे.

'हजारी' हजारो बरस तुम हृदय में,
बहो प्रेरणा का सहज स्रोत बनकर.
सभी आत्माएँ बनें भद्र तुम-सी,
तुम्हारे सुगुण ही रहे सब बिखर कर

हुआ क्या न सशरीर हो जो यहा पर,
न करना कभी पर विसर्जित हमे.
आज मस्तक स्वत ही झुका जा रहा,
कर रहा भक्ति के पुष्प अर्पित तुम्हे

तपोधन ! तुम्हें वन्दना बार सौ-सौ,
सहस बार स्नेहांजलि भेंट तुमको.
महादिव्य आत्मा, महा प्राणयोगी,
सहस बार श्रद्धाजलि देव तुमको.

हृदय मे सदा छवि तुम्हारी रहेगी,
दृगो ने किया क्योकि चित्रित तुम्हे.
आज मस्तक स्वत. ही झुका जा रहा,
कर रहा भक्ति के पुष्प अर्पित तुम्हे.

श्री कमला जैन 'जीजी' एम० ए०



म्हारि भाव आंजलि

परमपूजनिक महाभागवान श्रीहजारीमलजी महाराज सा० म्हारी परम्परा सु गुरु होता छता उण उत्तम पुरुषा ने परम्परा गुरु सम्वन्ध सु अलग राख ने देखता छता भी वा निर्मल चारितवान पुरुषा ने मानतो झुकतो लुलतो म्हारो मन उणा रो दास हो गयो.

वडा सरल स्वभावी, भदरीक आत्मा श्रीहजारीमलजी म० सा० रा दरसण रो सौभाग म्हाने घणीवार मिलतो रयो हो. स्वामीजी० सा० रो वी म्हारे उपरे घणो उपकार हो.

असातारो उदो ससार मे सबा के लारे लागोडो है. हू परम पवित्तर आतमा री सहण-सगती री काई तारीफ करूँ घोर सु घोर असाता रो उदो होता छता बी वे घणा मजवूत रहता हा म्है उणारी सहणसगती निहाल-निहाल घणो अचवो करतो. करम-सिद्धाँत पर वारी घणी अटूट सरधा ही

म्हे आपसू घणी वार ठाणापति विराजण री वीणती करी पण वा रो साहस अटूट हो. ठाणापति विराजण री वीणती सिकारी कोनी, वे एक आ हीज कहता के ठाणापति रेवण सू गोडा थाक जावे. म्हारो वस चालसी जठा तक ठाणापति रेवण रो मन कोनी. इण तरह सू स्वर्गवास पेली भी घणी वार वीणती करी ही

"चारितवान निरमल आत्मा रो भव-भव मे सरणो होइजो" आ भावना भाता म्हारे हिरदे मे पूज गुरुदेव री खामी घणी खटके है. वारी पवित्तर आतमा ने हू बार-बार म्हारी भाव-भरी आजली अरपण करू हू.

सेठ श्रीमोहनमलजी चोरडिया



स्वामी श्रीहजारीमलजी म०

पूज्यश्री हजारीमलजी म० के लिये 'स्वामीजी' विशेषण योग्य था वे वस्तुत समाज के स्वामी ही थे स्वामित्व का अधिकार वहाँ शोभित होता है जहाँ सरलता होती है उनमे जितनी सरलता और विमलता थी वह और वैसी सरल आत्मा के आज कही खोजे भी दर्शन नही होते हैं जव-जव मुझे उनकी स्मृति आती है तो उनके साथ वीते वाल्यकालीन स्वप्नचित्र आखो मे तैर जाते है मस्तक श्रद्धा से झुक-झुक जाता है

आदरणीय श्रीहजारीमलजी म० मेरे कुलगुरु थे परन्तु कुलगुरु के ममत्वभाव से ऊपर उठकर भी एक अपरिचित मुनि की पक्ति मे खडे करके अनेक वार मेरे तर्कशील मस्तिष्क ने उन्हे जाचना तथा परखना चाहा तव भी उनकी सरलता ने मेरे हृदय की भक्ति एव स्नेह को ही प्राप्त किया है

आज उनकी माटी की काया हमारे मध्य नही है परन्तु मैं ऐसा मानता हू कि उनकी दृढ चरित्रनिष्ठा, प्रवल करुणा और निश्छल निष्कपट हृदय हमारे रक्ताणुओ मे प्रवेश कर जाय तो हम धन्य हो सकते है. हम मे धन्यता उनके गुणो को स्मरण करने पर भी प्राप्त हो जाय तो इससे वढकर हमारा सौभाग्य क्या हो सकता है ?

मेरा सन्तार्पणभाव—मुनि श्रीहजारीमलजी महाराज जैसे सन्तो के लिए अर्पित है.

श्रीआनन्दराजजी सुराणा



मेरे परम्परा गुरु !

पूज्य गुरुदेव श्री हजारीमलजी म० मेरी पैत्रिक परम्परा से गुरु रहे है उनमे स्नेह सौजन्य आदि कुछ ऐसे गुण थे जिन्होने मुझे एकान्त श्रद्धावादी वना दिया है वे हमारे परम्परा से गुरु तो थे ही, सेवा और भक्ति-केन्द्र भी वन गये थे.

मुन्शी श्रीघेवरचन्द्रजी पारख



श्रद्धा-सुमन समर्पित तुमको

अगरवत्ती जब से जलती है तभी से सुवास विकीर्ण करना प्रारम्भ करती है. अन्त तक सुवास देती है ! मुनिश्री अपने जीवन के प्रारम्भ से अन्त तक अपनी आत्मसाधना और समाज अभ्युदय के कार्यों की सुगन्ध से परिव्याप्त रहे, उन्होने स्वसाधना और जनकल्याण के कार्य किए परन्तु जल मे कमल बन कर. कमल प्रारम्भ से अन्त तक पानी मे रहता है परन्तु कमल पर पानी की बूद भी दिखाई पड़ती है ? नही ! स्वामीजी म० भी ठीक इसी प्रकार का साधु समाज में आदर्श जीवन व्यतीत कर अतीत हुये हैं.

वह जीवन क्या है, जो ससार को प्रेम का धन न बाँट सके ? वह वक्ता और विचारक, क्या वक्ता और विचारक है जो सम्प्रदाय और व्यक्ति को समाज के प्रति केन्द्रित करने का प्रचार न करे ? स्वामीजी म० ने जीवन भर सर्वत्र प्रेम की वृष्टि की. शान्ति की पावनी गगा बहाई उनकी वात्सल्य भावना मे जिसने भी स्नान किया वह समभव-साधना का अमर पुजारी बना

आज मैं, चतुर्दिक देख रहा हूँ. वैसा महामानव मुझे कही दृष्टि पथ नही होरहा है. उनके ससार के लिये किये गये उपकार अमर है इसलिये वे स्वयं भी अमर है ससार उनका चिरऋणी है मैं, उनके उपकारी जीवन और गुणो के प्रति श्रद्धा अर्पित करते हुए अपने श्रद्धाशील हृदय मे सुख अनुभव करता हूँ.

श्रीमूल मुनिजी म०



वह युगपुरुष महान्

उस युग पुरुष के निस्पृह जीवन की परिक्रमा करने पर, मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ—"युग-युग तक उनकी कीर्ति-कथा, सहस्र-सहस्र कण्ठस्वरो से फूट कर उस पूज्य पुरुष तक पहुँचती रहेगी और वे अपनी सन्तजनोचित विशेषतावश उसे अस्वीकार ही करते रहेगे !"

श्रीसोहनमुनिजी म०



जीवनधर्म के कुशल और यशस्वी कलाकार

कलाविहीन जीवन, जीवन नही है. कलामय जीवन ही सच्चा और सफल जीवन है. वह जीवनकला कौन-सी है जो जीवन को धन्य, कृतकृत्य और सफल बना देती है ?

इस सनातन प्रश्न का उत्तर जीवन के मर्मी शास्त्रकार एक ही वाक्य मे इस प्रकार देते हैं :—

सव्वा कला धम्मकला जिणेइ.

अर्थात् सभी कलाओ में धर्मकला सर्वश्रेष्ठ है प्राकृत जीवन को सस्कृत बनाने के लिए 'कला' की आवश्यकता होती है और कलामय जीवन बनाने के लिए धर्म की आवश्यकता रहती है

पूज्य मुनि श्रीहजारीमलजी म०सा० निर्ग्रन्थ भिक्षु थे, ज्ञानी, त्यागी, तपस्वी थे, लेकिन सही अर्थ मे वे थे जीवन-धर्म के यशस्वी और कुशल कलाकार. मैंने हजारों जन-मन को अपने जीवन-धर्म की कला से सस्कृत और पावन-पवित्र करते हुए उन्हें देखा है. जीवन-धर्म के यशस्वी और कुशल कलाकार पू० हजारीमलजी म० की पावन स्मृति आज भी धर्म-जीवन की कला, जीवन का आदर्श प्रस्तुत कर जाती है और कलामय जीवन बनाने की प्रेरणा देती है.

श्री शान्तिलाल वनमाली शेठ



श्रद्धार्पण

तत्त्वज्ञो ने मानवजीवन की सफलता त्याग मे मानी है जिसके जीवन मे त्याग है, अध्यात्मसाधना के लिए धर्म-परायणता है, वही व्यक्ति अखिल विश्व के लिए वन्दनीय और महनीय होता है.

मरुधर देश के पावनकर्त्ता, तपोनिष्ठ स्वर्गीय श्रद्धेय स्वामी श्रीहजारीमलजी म० एक महान् आदर्श सतरत्न थे मैंने आपके दर्शन भीनासर-सम्मेलन मे किये थे वे क्षण अनिर्वचनीय आनन्दप्रद व दुर्लभ थे, जो सौभाग्य से मुझे मिले

आपके दिव्य जीवन मे मधुरता, तेजस्विता आदि अनेकानेक गुण विद्यमान थे आपश्री शरीर से वृद्ध होते हुए भी युवक की भाँति उत्साहपूर्ण व कुशल कार्यकर्त्ता थे

आपका जीवन सरल एव निरभिमान था. ज्ञानाभ्यास गहन था आप शासन सेवा मे सदैव तत्पर रहते थे आपने जैन सस्कृति को जीवित रखने व प्रसारित करने मे वेजोड श्रम किया. वाधाओ से घवराना आपने सीखा ही न था. इसीलिए आप आज भी जन-जन के हृदयमदिर मे विराजमान है

उस महान् आत्मा के चरण-कमलो मे मेरी श्रद्धा के पुष्प समर्पित हैं

श्री मदनमुनिजी "पथिक'

कलपे म्हाणो जीवड़लो

(तर्ज—म्हाने जयपुरियारो लहरियो)

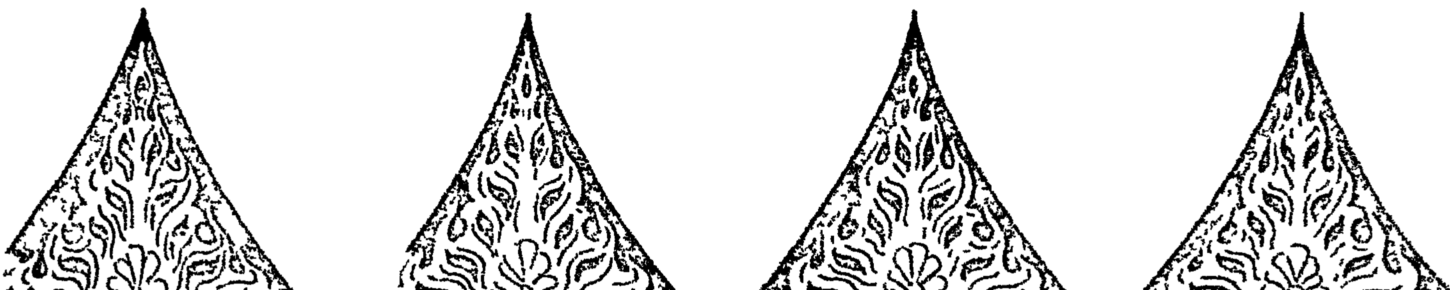
गुरुवर दीनानाथ, जोड़ा चरणां मे हाथ ।
म्हाणी झुक-झुक वन्दना होईज्यो म्हाणा स्वामी जी ।
कलपे म्हाणो जीवड़लो—टेर

म्हाणा कालजा री कोर, म्हाणा माथा रा हो मौड ।
म्हाने छोड़ी ने अकेला, आप चाल्या ओ म्हाणा स्वामी जी ।
कलपे म्हाणो जीवडलो—१

मोतीलाल जी रा नन्द, नन्दू वाई रा कुल चन्द ।
गाव डासरिया मे आप, जनम लीनो म्हाणा स्वामी जी ।
कलपे म्हाणो जीवडलो—२

प्यारो नाम है हजारी, वोले सघला नर नारी ।
मोटी पुण्यवानी साथे लेई, आया ओ म्हाणा स्वामी जी ।
कलपे म्हाणो जीवडलो—६

छायो घट मे वैराग, देऊ संसार ने त्याग ।
मोह माया ने छोड़ी ने, सजम लीनो म्हाणा स्वामी जी ।
कलपे म्हाणो जीवड़लो—४



भणियां आगमा रो सार, भरिया ज्ञान रा भण्डार।
साचा जैन रा अनमोल हीरा, बणग्या ओ म्हाणा स्वामी जी।
कलपे म्हाणो जीवड़लो—५

गांवा नगरां में पधारया, भवि जीवा ने सुधारया।
जिनवाणी रा वे मीठा प्याला, पाया ओ म्हाणा स्वामी जी।
कलपे म्हाणो जीवड़लो—६

यशधारी गुरुदेव, नाम लेवां नितमेव।
श्रमणसघ मे सितारो, तेज चमक्यो म्हाणा स्वामी जी।
कलपे म्हाणो जीवडलो—७

जिन मारग ने दिपायो, जीवन सफल बणायो।
थाणी महिमा रो पार, नही आवे ओ म्हाणा स्वामी जी।
कलपे म्हाणो जीवड़लो—८

म्हाने छोड़ मंझधार, गया स्वर्ग सिधार।
म्हाणो एक पल में जलतो, दीपक बुझग्यो म्हाणा स्वामी जी।
कलपे म्हाणो जीवड़लो—९

सब रा दिल में शोक छायो, हियो भर-भर आयो।
दोई नेणा में पानीड़ो टप-टप, आवे ओ म्हाणा स्वामी जी।
कलपे म्हाणो जीवड़लो—१०

पूरो आपरो आधार, सब छूट्यो तारण हार।
म्हाणा मनड़ारी बातां, कूण सुणसी ओ म्हाणा स्वामी जी।
कलपे म्हाणो जीवड़लो—११

अब या ही अरदास, कीज्यो मुगत्यां में वास।
जुग-जुग में अमर आप, रहिजो म्हाणा स्वामी जी।
कलपे म्हाणो जीवड़लो—१२

'व्रज मुनिजी' महाराज, 'मुनि मधुकर' म्हाणा ताज।
जाणे चन्द्रमा सूरज भला, उगा ओ म्हाणा स्वामी जी।
हरषे म्हाणो जीवड़लो—१३

गुरुदेव सुन लीजो, श्रद्धाञ्जली मान लीजो।
किरपा राखजो, 'रसिक' दर्शन दीजो म्हाणा स्वामी जी।
कलपे म्हाणो जीवड़लो—१४

श्रीमगनमुनिजी 'रसिक'

उत्तमहीरयस्स जम्मणट्ठाणं

रायट्ठाणजणवयम्मि टाडगढसमीवे डासरिया नाम एगो गामो आसि तत्थ वि० स० १९४३ माहमासे, सुक्कपक्खे सुहे दिवहे, वसन्तपचमीए तिहीए वभमुहुत्ते एक्काए माआए कुच्छीए एगो पुत्तो जाओ. तम्मि काले णवजायसिसुणो सुहलक्खण वजण च दट्ठूण सव्वे इत्थीओ पुरिसा य हरिसेण पुलकिअतणवो हवीअ तेहिं विण्णाय—अय वालो, उम्मुक्क-वालभावे अम्हाण कुलकेऊ कुलपईवो कुलमउलिभूओ कुलजसकरो होहिइ णेण कारणेण अम्हे इयाणिं कयत्था कयपुण्णा जाया आसि, एत्थन्तरे कइवया नेमित्तिया आगया तम्मि घरे, तेहिं नेमित्तिएहिं विण्णाय—कइवया गहा उच्चय गया चिट्ठन्ति, णेण नज्जइ अय वालो जह सिग्घ समुज्जलणक्खत्त पिव ससारे पयासिहिइ, इमो य उच्चय पयपि पाविहिइ. धणेण कित्तीए सिरीए पच्चह—वड्ढिहिइ अहव सजमेण तवसा सह अज्झत्थसिरीए सयय सोह लहिहिइ एत्तिअ वज्ज-रिऊण ज दिस पाउब्भूआ तमेव दिस पडिगया वारसाहे वइक्कन्ते तस्स वालस्स अम्मापिऊहिं गुणसहस्सुववेअ गुणणि-प्फण्ण नामधेज्ज हजारीमल त्ति कय पुव्वभवुवज्जिअपुण्णपहावेण उत्तमवालो स निव्वाघाएण कप्पतरु व्व विज्जालए अज्झावगाओ विज्ज पढेन्तो रूवेण धम्मकलाहिं विज्जाए निम्मलगुणेहिं दहवासेच्च विक्खाओ जाओ एगार-हवासे पविट्ठे समाणे मोहणिज्जकम्मखओवसमेण पुव्वसुहसक्कारो उव्वुद्धो. हजारीमलस्स मणमि अपुव्वज्झवसाओ समुप्पन्नो परमत्थओ कस्सइ जीवस्स न माया, न पिया, न भाया, न भइणी, न भज्जा, न सुण्हा, न पुत्तो, न धूआ, न सत्तू मित्त च अत्थि लोए कज्जवसेण सव्वे जणा दीसन्ति ससारे रागविमोहियमणाण अदीहदसीण जीवाण सुलहाओ आवयाओ. पुव्वकयकम्माणि च्च सुह—दुह—जणणम्मि समत्थाणि अत्थि अण्णेण न केणावि सुह दुह च दिज्जइ जीवस्स पुव्वकम्मकयाओ दोसाउ सव्वाइ दुक्खाइ जीवा वेदयन्ति अवराहेसु गुणेसु व परो निमित्तमेत्त होइ

अणिच्च रूव जीविअ जोव्वण च विज्जुसम चवल, सव्वे वन्धवो सवन्धा, धिरत्थु इमस्स ससारवासस्स, ज मूढा पच्च-क्ख अणिच्च जाणिऊण वि थिर भणेन्ति, नाऊण वि जिणवयण पुणो महारभ—परिग्गहेसु वट्टेन्ति. ता ससार-निवासहेउभूएण गरुयदुक्खमूलेण गिहिवासेण अल

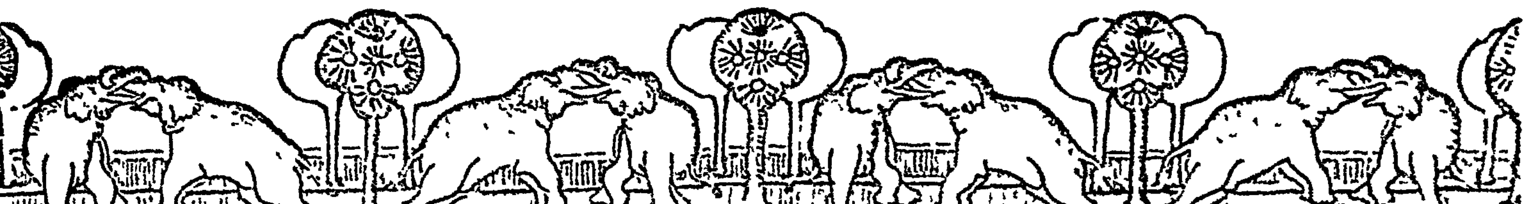
आयरियजयमलस्य संखित्तगुणपरिचओ

एत्थन्तरे किर राजट्ठाणजणवयरयणभूओ, गुणरयणाण आगरो सव्वगसुन्दराहिरामो, कुलहर पिव खतीए, वसुन्धराए मण्डण विव, आदेअभावस्स ठाण व, कुसलकम्मस्स विवागसव्वस्स व, सयलजणणअणाण आणन्दो पिव, धम्मनिरयाण पच्चाएसोव्व, परमधण्णयाए निलओ व, जेण तेअगुणेहिं नवसरयरवी, सोमगुणेहिं नवसरयससी, रूवगुणेहि पुण्डरीअ विजिअ, महाणुभावो, घोरतवस्सी विजितिन्दिओ, आयरियपवरो पुज्जपाओ सणामधण्णो सिरी सामी जयमलजी महाराओ अहेसि

गुरुप्पवरो समोसरिओ

महाजसस्स तस्स गणे एगो थेरो अणेगसीसपरियालपरिवुडो डासरियागामे उवस्सयम्मि उग्गह उग्गिण्हिअ सजमेण तवसा च अप्पाण भावेमाणे विहरइ तेसिं मुणिपुगवाणं दसणट्ठ विरत्तप्पा हजारीमल्लो वि निग्गन्थ पावयण च सोउ घराउ निक्खमई उवस्सय पाविऊण सव्वेसि मुणिसत्तमाण दसण करिअ कमसो मुणिवरे सविहिणा वन्दइ नमसइ सक्कारेइ सम्माणेइ, तप्पच्छा गुरुपामूले आगम्म पुणो तिहुत्तो आयाहिण पयाहिण काऊण गुरूण तिए उवविट्ठो पजलिउडो विण-एण वज्जरइ हजारीमल्लो-भन्ते ! अहय भवन्ताण पासे केवलिभासिअ धम्म सोउमिच्छामि, जइ न गिलाएति तत्थ-भवन्ता. तओ पच्छा गुरुमुहाओ उवएस सोऊण महप्पणो हजारीमल्लस्स मणे वेरग्गो विगुणिओ जाओ ज वेरग्गवीअ उव-एसहाराए अकुरिओ जाओ, तप्पभावेण महप्पा हजारीमल्लो विणयेण वोल्लेइ-भवन्तेहिं ज कहिअ त सच्च, असदिद्ध अवि-तह च अत्थि, नो इहरा

अह णिअगेहिं अब्भणुण्णाए समाणे तुम्हाण तिए भगवइ जिणदिक्ख धारिउमिच्छामि. गुरुणाहिअ—जहासुह देवाणुपिया ! माइ पडिवन्ध काहि त्ति निवेइऊण उट्ठाय उट्ठेइ गुरुवर नमिऊण महप्पा हजारीमल्लो जाए दिसाए समागओ तं चिअ



दिस पडिगओ नियगाण पुरओ अप्पणो हिययुग्गार रक्खीअ-अह गिहवास चइऊण अणगारवित्ति धारेउमिच्छामि.

तेहिं कहिअ, दुक्करा भो ! अणगारवित्ती, न एव बालकीलावणग, तुम इयाणिं बालो सि.

महेसिणा हजारीमल्लेण साहिअ-तुम्हाण कहण सच्च,कीवाण कापुरिसाण इहलोए पडिबद्धाण, परलोयणिप्पिवासाण दुरणुचरा इमा साहुवित्ती, निस्सकमेय, पर नो चेव धीरस्स, निच्छिअस्स, विरतस्स, अणियट्टगामिस्स ते जाहे नो सचाइन्ति विसयाणुलोमेहिं तह विसयपडिकूलेहिं वयणेहिं सण्णवित्तए, ताहे अकामाइ चेव कहीअ-भद्द ! जइ तुम दिक्ख धारिउमिच्छसि, तरिहि गच्छसु, मगलमई होउ तुह सजमजत्ता, एव नियगेहिं अब्भणुण्णाए समाणे पायविहारचारेण जत्थ गुरुपवरो आसि, तत्थ सपत्तो महप्पा हजारीमल्लो -सुहतिहि-करण-जोग-णक्खत्त-मुहुत्ते गुरुपवरेण अप्पणो च्च करकमलेण पव्वाविओ सिक्खाविओ, सामाइय चारित्त दिण्ण, महया हरिसेण चारित्त पडिवज्जिअ महेसिणा हजारीमल्लेण.

अट्ठमे दिवहे छेदोवट्ठावणिज्जचारित्तारोवण करेमाणेण गुरुणा साहिअ—

मोक्खसाहणभूआ सिक्खा

अरिह देवो, सुसाहुणो गुरुणो, जिणदेसिओ तत्तत्थो एएसिं सद्दहाणे सम्मत्त होइ सम्मत्तस्स निम्मलपालणे सदा जइयव्व. मणवयणकायजोगेहि सावज्जपरिवज्जण च एसो चिअ जइणधम्मो जो मन्दसत्ताण दुरणुचरो. छण्ह वि पुढवीकायाईण जीवाण सया सव्वओ दया कायव्वा सव्वोवाहिविसुद्ध सच्चवयण भाणियव्व

असुद्धचित्तेण तणमेत्त पि अदिण्ण न घेत्तव्व णवगुत्तिसणाह बभवय सया धारेयव्व, धम्मोवगरणे विणा थेवोवि परिग्गहो न कायव्वो, रयणीए आहारचउक्क पि नेव भोत्तव्व णिच्च समिईउ पच, गुत्तीउ तिण्णि सेवियव्वाओ. उदिआ वावीसपरीसहा सम्म जेयव्वा. आयरियपमुहाणससत्तीए वेयावच्च कायव्व, णरतिरिदेवोहकया उवसग्गा सहिअव्वा सद्दाइमु विसएसु रागदोसा न कायव्वा बायालदोससुद्धो कारणे पिण्डो भोत्तव्वो. कायव्वो सज्झाओ, परिहरियव्वाओ सव्वाओ विकहाउ सब्भिन्तरवाहिरतवम्मि सयय उज्जमिअव्व धम्मसुक्काणि झाणाणि झाएव्वाणि, मोत्तूण अट्टरुद्दे. अणिच्चयाइपवरभावणासमुदय भावेअव्व सच्छन्दया न कायव्वा, विणओ सया अब्भसियव्वो दसविहो समणधम्मो णिच्चपि अणुट्ठेओ वसियव्व मुणिमज्झे, कुसीलससग्गी नो कायव्वा विसेसपयत्तेण पचविहो वि पमाओ सया परिहरिअव्वो. एस मुणिधम्मो खिप्प मोक्खम्मि णेइ हजारीमल्लेण णवदिक्खियमहामुणिणा णिवेइय-भन्ते ! जह भवन्तस्स आणा, तह करेमि न अण्णहा जप्पभिइ च चारित्त गहिअ तप्पभिइ महामुणिणा विणएण गहणआसेवणरूवा दुविहा सिक्खा सिक्खिआ. सयमतवविणयकरणचरणेसु निच्च उज्जुत्तो महामुणी, विहिणा गुरुपायमूले जिणवाणिं सो रिसी अहिज्झिउ समाढत्तो चउत्थछट्ठट्ठमदसमदुवालसाइ विविहे तवे पकुव्वइ जह गुरूण तह अण्णरायणियसाहूण विणय वेयावच्च च मणसा वायाए काएण कुणइ.

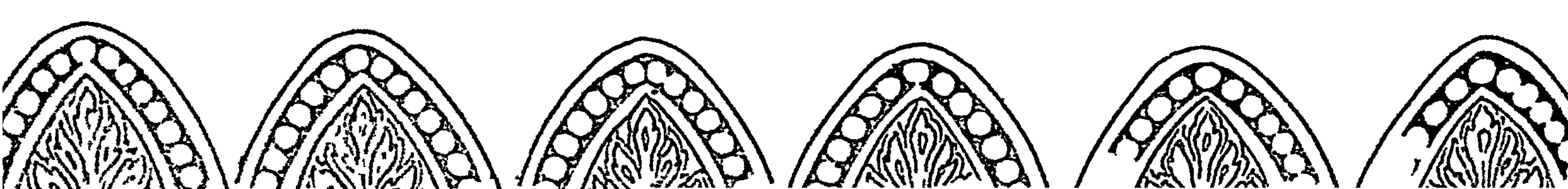
आयार-गोअर-विणय-वेणइय-चरण-करण-जायामायावत्तियो धम्मो महप्पणा हजारीमल्लेण अप्पमत्तेण सेविओ. भीणासरसाहुसम्मेलने मतित्ति पएण विभूसिओ एस महप्पा बीकानेर नयरे भीनासरसाहुसम्मेलने कुचेरा नयरम्मि य तेसिं पुणीअदसण पुव्वपुण्णेण मए वि कय

विसिट्ठा गुणा

भे सन्ता, दन्ता, धीरा, वीरा, जिइन्दिया, गभीरा, सुत्तत्थविण्णू, सुदीहरदसिणो, जियपरीसहुवसग्गा खन्तिखमा तवसच्चज्जवमद्दवसतोसप्पहाणा, उच्चूढसरीरा, सल्लविहूणा आसि. सजमेण तवसा च अप्पाण भावेमाणाण हजारीमल्लमहारायाण अइक्कन्ता चउसट्ठीवासा सामण्णपज्जाया

पण्डिअमरणं कहं हवीअ ?

आउसो चरिमकालम्मि अकम्हा सरीरे महावेयणा उज्जला दुरहिआसा जा तेसिं परमसतिं पराजेउ सुमहं पयत्त काहीअ. तहवि त पराजिणिउ न सक्का जया अप्पणो नासेण महेसिणा देहावसाण जाणिअ तया समणे निग्गन्थे निग्गन्थीओ य



खामेइ, खामित्ता पुरत्थाहिमुहे सपलियकणिसण्णे करयलपरिग्गहिअ सिरसावत मत्थए अजलि काऊण एव वोल्लीअ-नमोत्थुण अरिहताण भगवन्ताण जाव सपत्ताण ,'नमो जिणाण जिअभयाण पुव्वि पि मए गुरुवरस्स अन्तिए सव्वे पाणाइवाए पच्चक्खाए मुसावाए अदिण्णादाणे मेहुणे परिग्गहे कोहे पेज्जे दोसे माणे माया लोहे कलहे अब्भक्खाणे पेसुण्णे परपरिवाए रइअरई मायामोसे मिच्छादसणसल्ले पच्चक्खाए, इयाणि पि अह सव्व पाणाइवाय, पच्चक्खामि जाव मिच्छादसणसल्ल जावज्जीवाए पच्चक्खामि चउविहपि आहार जावज्जीवाए पच्चक्खामि भण्डमत्तोवगरणे सरीरम्मि व ममाइयमइ वोसिरामि एव सलेहणा भूसणाभूसिए भत्तपाणपडिआइक्खिए कालमणवकखमाणो विहरइ हजारीमल्लो महप्पा

आलोइयपडिक्कन्ते समाहिपत्ते कालमासे काल किच्चा सग्ग पत्तो हजारीमल्लो महारायो महारायो वजलालो तह मट्ठगर मीसीमलो दोण्णि वि मुनिवरेहिं वेयावच्च कय अगिलायमाणेहिं एरिस मरण जीवो गरुयपुण्णेहिं लहइ तह एरिसाण महप्पाण वेयावच्च पि अइपुण्णेहिं कीरइ जीवेण

जत्थ वि भवन्तो अत्थि मज्झम्मि अणुग्गह कुणउ त्ति मे पत्थणा अत्थि

मुनि श्रीफूलचन्द्रजी 'श्रमण'

चिर नवीन है याद तुम्हारी

प्रणम्य !

आप मानवरूप मे भी देवत्व के प्रतीक थे
पीडित मानवता के कल्याणार्थ आपका त्याग,
उत्सर्ग व चिन्तन था
आपका दिव्य सदेश, आपके सारगर्भित उपदेश,
मानव मात्र का सदा सर्वदा मार्गदर्शन कर उसे
जीवन मे सफलता एव श्रेष्ठता की ओर अग्रसर
करते रहेगे

गुरुदेव !

यद्यपि अब आप हमारे मध्य नही है,
तथापि आपकी तेजस्वी मूरत,
उस पर अवतरित शान्ति एव सौम्यभाव,
की झलक तथा आपकी विचक्षणता,
स्मृति रूप मे सदा ही हमारे हृदय-पटल पर
चिरस्थायी रहेगी !

पूज्यतम !

इस तुच्छ दास की अन्तर्मन से अर्पित
भावाजलि है !
श्रद्धेय पुरुष ! आशीष दो

श्रीरेखचन्द पारख

वे हि हजारी मुनीश अहो !

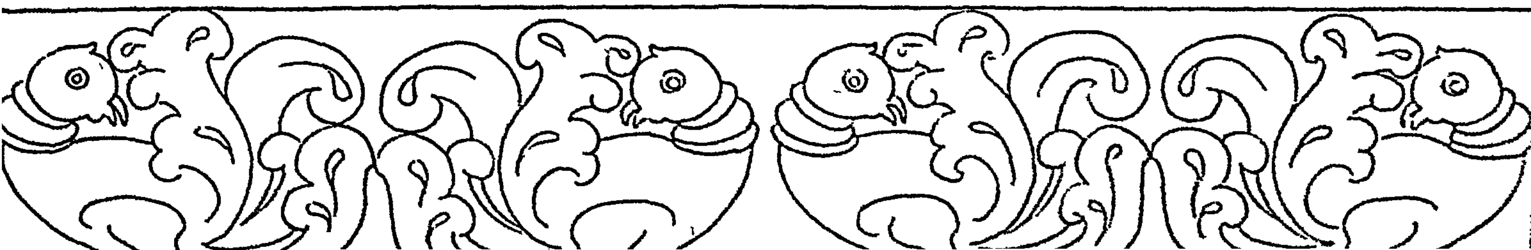
ह–र्षित हो मुनि हस-कला उर मे अपना कर।
जा–गरूक हो जगज्जाल को अहा ! जला कर ॥
री–ति, नीति, मर्याद, जिनेश्वर धर्म दृढा कर।
म–न्मथ को मद मार पार करिके भव-सागर ॥
ल–ब्ध-प्रतिष्ठ निज इष्ट पै, पहुधारे जो पेखलो।
जी–वन सु-धन्य को नाम शुभ, आद्याक्षर मे देखलो ॥
सयमनिष्ठ विज्ञानगरिष्ठ, वरिष्ठ महा, निज इष्ट पियारे।
शिष्ट अचार, विचार वलिष्ठ सु-लब्धप्रतिष्ठ, महामतिवारे।
मिष्ठ गिरा, करणी उत्कृष्ट रु क्लिष्ट परीषह के सहनारे।
वे हि हजारी मुनीश अहो ! कवि-वाल कहे सुरलोक सिधारे।

श्रीवालाराम, 'कवि-किंकर'

नवीन समर्पण क्या ?

जो समर्पित हो चुके है, उन पुष्पो से अर्चन क्या ?
जो भाव चरण मे पहुँच चुके, उन भावो का अर्पण क्या ?
खिले कुसुम, वहाँ मधुकर पहुँचे, आश्चर्यान्वित सर्जन क्या ?
भास्कर चमका, कमल खिले तो, यह भारी परिवर्तन क्या ?
त्रिधाराएँ मिली, तीर्थ का, नूतन फिर परिकल्पन क्या ?
जहाँ समर्पित हृदय हुआ वहाँ, गुणगौरव का जल्पन क्या ?
रत्नत्रय ही जीवन जिसका, उस मुनिवर का वर्णन क्या ?
सहस्रगुणान्वित सन्त 'हजारी' 'कुमुद' नवीन समर्पण क्या?

श्री सौभाग्य मुनि 'कुमुद'



श्रीहजारीमल-मुनीनाम्

१

गातुं गुणानद्य प्रवृत्ताः,
श्री हजारीमल मुनीनाम् ।
वन्द्यचरणाना वराणाम्,
मरुधरामानसमणीनाम् ।

२

कीदृशी प्रतिभा प्रभाऽऽसीत्,
कीदृशी प्रकृतिः कृतिर्वा ।
कीदृशी शान्तिश्च दान्तिः,
कीदृशी भणितिः भृतिर्वा ।

३

मन्त्रिपदवीमादधानाः,
येऽभ्रमन् बहुजनहिताय ।
सदयहृदयाः महात्मानः,
केवल स्वान्त.सुखाय ।

४

मनसि मनसि विराजते,
पुण्यस्मृति. सद्गुणखनीनाम् ।
गातु गुणानद्य प्रवृत्ताः,
श्रीहजारीमल-मुनीनाम् ।

५

मोहममतामुक्तिकामाः,
वयसि पथमे प्राव्रजन्ये ।
सिद्धजोरावरमलानाम्,
शिष्यतामायन्नगण्ये ।

६

त्यागसीमान विलंघ्य,
सत्य तत्त्वान्वेषणाय ।
ये समाजान्नाभिचेलुः,
लोकविपदामनुभवाय ।

७

पोषकाः परमा अभूवन्,
साधु मुनिजनजीवनीनाम् ।
गातु गुणानद्य प्रवृत्ता',
श्री हजारीमल-मुनीनाम् ।

८

व्यथितहृदयाकृष्ट-केदा-
रेषु भावान् यानभावान् ।
येऽवपन्नुपदेशकाले,
प्रवचनार्हान्प्रभावान् ।

९

भक्त-मानस-मन्दिरेपु,
साधनास्निग्धां विदिग्धाम् ।
ज्ञानदीपालि महान्तोऽ-
ज्वालयन्महसाभिमुग्धाम् ।

१०

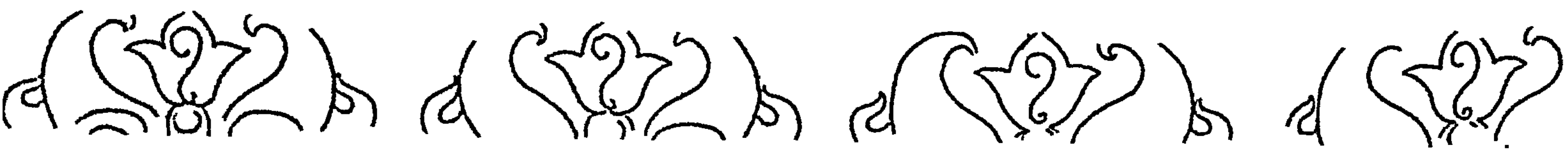
अतस्ते नेतृत्वमापुः,
परिषदां पथदर्शिनीनाम् ।
गातुं गुणानद्य प्रवृत्ताः,
श्री हजारीमलमुनीनाम् ।

११

दूरमेत्याऽपि स्वमातुः,
नेदीयासो येऽभिजाताः ।
एकमुत्सग विमुच्य,
ह्यनेकाङ्कश्रियो जाताः ।

१२

व्यक्तिगतवात्सल्यविमुखा,
प्राप्तवत्सलताब्धि धाराः ।
सीमिताशावञ्चिता अपि,
ये समाशा हृदयहाराः ।



१३

भवन-भूमीर्विलङ्घ्यापि,
महितनिजजन्माऽवनीनाम् ।
गातु गुणानद्य प्रवृत्ता,
श्रीहजारीमलमुनीनाम् ।

१४

स्वजननीजलदानदीना,
अध्वपतिता पाययन्त ।
लोकमातरमम्बु सुतवत्,
काष्ठपात्र रिक्तयन्त. ।

१५

वेपमाने वपुषि कम्बल-
मक्षिपन्येऽपरिचितस्य ।
शीतशीर्णां तनुमुपेक्ष्या-
प्यात्मनः करुणार्दितस्य ।

१६

एवमास्त उदात्तचरित,
सृतिव्यथाचिन्तामणीनाम् ।
गातु गुणानद्य प्रवृत्ताः,
श्री हजारीमलमुनीनाम् ।

१७

रोदनार्तिक धावनाज्जी-
वनसमस्या. समाधेयाः ।
भीत ! भवितारस्तदर्थम्,
प्रत्न प्रयत्ना अनुविधेयाः ।

१८

जीवित संघर्पनिकषे,
निकषितं तावच्चकास्ति ।
सहन्ता दु खानि सुखवत्,
नो सुख धर्मविनाऽस्ति ।

१९

करतलीकृतकान्तिशान्ति,
सान्त्वनामृतदोहनीनाम् ।
गातु गुणानद्य प्रवृत्ताः,
श्री हजारीमलमुनीनाम् ।

२०

अर्जित श्रमशोभि भूयात्,
जनः सत्य सत्यसन्धः ।
साम्प्रदायिकतासु न स्या-
दन्यधर्मविरोधगन्ध. ।

२१

एकदाऽस्या सिंहपालौ,
मुनिवरै मीरा पदानि ।
सत्य स्मराम्यनुरागिभि-
र्मया गीतानि श्रुतानि ।

२२

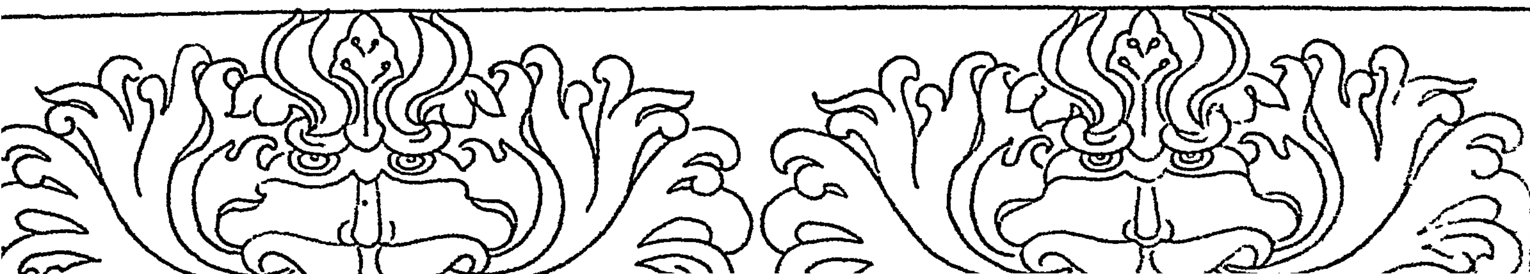
अद्भुता हृदुदारता,
धृतदोप सिकतामार्जनीनाम् ।
गातु गुणानद्य प्रवृत्ता,
श्री हजारीमलमुनीनाम् ।

२३

नो गभीरा दार्शनिकता,
सूक्ष्मता वाऽध्यात्मपथगा ।
तेपामभूवन्देशनायाम्,
रीतय सरलाश्च सुभगा. ।

२४

समाधान सशयानाम्,
स्वयमभूज्जनसचिनानाम् ।
तेषा पुरस्तादसम भव्य-
व्यक्तितानुप्राणितानाम् ।



२५

साश्रुनेत्र स्मरति मूर्तीना,
नरः सन्तोषिणीनाम् ।
गातु गुणानद्य प्रवृत्ताः,
श्रीहजारीमलमुनीनाम् ।

२६

नामलोभो मानमोहो,
नो कदा स्फुरता सुधीषु ।
दम्भहीना कर्मनिष्ठा,
जागरीदियमग्रणीषु ।

२७

कीर्त्यकामा नीत्यवामाः,
शिष्यवादविरोधमन्याः ।
स्वप्रमादस्वीकृतौ ये,
महाराजाः प्रथमगण्या. ।

२८

सरलप्रकृतीना विधेयाः,
सदा पितृवत्पालनीनाम् ।
गातुं गुणानद्य प्रवृत्ताः,
श्रीहजारीमलमुनीनाम् ।

आचार्य श्रीमणिशंकरजी द्विवेदी,
प्रिंसिपल, गवर्नमेंट सस्कृत कॉलेज, जोधपुर

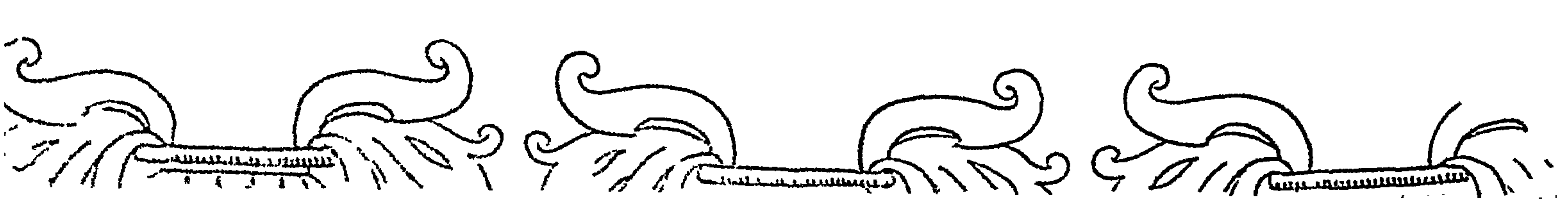
●

सद्धंजली

थेरो मुणी चत्तसयातिसल्लो सो एरिसो आसि हजारिमल्लो ।

गोहूमवण्णो य पलम्बहत्थो, पसत्थवयणो अवि दीहकाओ ।
जो बंभचेरेण तवेण दित्तो, सो एरिसो आसि हजारिमल्लो ॥ १ ॥
वाणीए किं आसि ? खु तस्स सच्चं, फुडवाइओ आसि मुणी महप्पा ।
झाणे णिमग्गो य रओ गुणेसु, सो एरिसो आसि हजारिमल्लो ॥ २ ॥
पयईपसन्तो दन्तो गहीरो, उवासगो जो उ अहिंसयाए ।
परोवयाराय गहीयदेहो, सो एरिसो आसि हजारिमल्लो ॥ ३ ॥
के के जिया तेण महानरेण ? चउक्कसाया मयमोहसत्तू ।
मणेण काएण गिराइ गुत्तो, सो एरिसो आसि हजारिमल्लो ॥ ४ ॥
सरोवरा सन्त-वलाहया य, रुक्खा तहा हुन्ति परस्स अट्ठा ।
अभेयभावेण रओवयारे, सो एरिसो आसि हजारिमल्लो ॥ ५ ॥
मणं महाभीमहयं वसम्मि, किच्चा जियाइं जेणिंदियाइ ।
निउणासवारुव्व जो अविवईओ, सो एरिसो आसि हजारिमल्लो ॥ ६ ॥
जया चउम्मासकए पयट्टो, 'कराचि' नयरं तु तया स दिट्ठो ।
न भुल्लइ अज्ज वि तस्स वत्ता, सो एरिसो आसि हजारिमल्लो ॥ ७ ॥
थिरीकरणनिउणो होत्थ जो अथिराणं, समाहाणकुसलो आसि जो संकियाणं ।
सयलवायपउणो होसि जो वाइयाणं, परमहरिसजणगो जो अभू सज्जणाणं ॥ ८ ॥
जं जेइ जुज्झम्मि सहस्सवीरे, सूरो न सो विणजुजणेहिं सिट्ठो ।
जियकाममल्लो य सया निसल्लो, थेरो मुणी आसि हजारिमल्लो ॥ ९ ॥

श्रीपुष्फ भिक्खू



पूज्यवरो जयः

१—सुगुण-वृ द-विभूपित-भावन , सुजनता-जनता-जय-जीवनः ।
मुनि-पतिः सुमतिः शम-संचयः, जयतु पूज्यवरो भुवने जय ।

२—सुवितता भुवि यस्य विरागता, सुविहिता भुवि येन विशालता ।
स मुनि-मडल-मोहन-मूर्तिक , जयतु पूज्य-वरो भुवने जय ।

३—सरलता-शुचिता-सरिता-पतिः, मधुरता-मृदुता-गुण-सतति ।
मनन-वाचन-सस्कृत-वाङ्मय , जयतु पूज्यवरो भुवने जयः ।

४—रिपुषु मार-ममत्व-मदादिपु, जय-मवाप्य निज 'जय'-नामकम् ।
प्रकटित कृतमत्र हि येन स , जयतु पूज्य-वरो भुवने जय ।

५—स्मरणतो हृदि यस्य महामुनेः, लघुतरोऽपि सुयाति सुगौरवम् ।
स जिन-शासन-सम्मत-सयमः, जयतु पूज्य-वरो भुवने जय ।

६—शान्त सदा यो मुनि-माननीय ,श्रीमान् हजारीमल-मान्य-भाग ।
तत्सेवकोऽसौ मुनि 'मिश्रिमल्ल', व्यरीरचत् पद्य-सुपुज-मेतत् ।

रचयिता श्रीमधुकरमुनि.

गुरुदेवश्रीजोरावरमल्ल-मुनीश्वराणां परिचयः

१—मारवाडे महादेशे, 'मेडता'-मण्डले शुभे ।
प्रसिद्धो 'लाबिया' ग्राम , आसीद्धर्म-विदा खनि ॥

२—श्रावको न्यवसत्तत्र, 'मोहनदास'-सज्ञक ।
महता-वशजो धीमान्, दृढ-धर्मा गुण-प्रिय ॥

३—महिमान सुतन्वन्ती पत्यु पितृ-कुलस्य च ।
सजाता 'महिमा' देवी, तस्य जाया शुभाशया ॥

४—जय-स्तम्भ सुधर्मस्य, जयो मुक्ति-पथार्थिनाम् । ।
'जयमल्लो'ऽभवत्तस्या , पुत्र. सघ-ध्वजा-धर. ॥

५—स द्वाविशति-वर्षीयान्, नूतनाऽऽरब्ध-यौवन ।
परिणिन्ये प्रिया 'लक्ष्मी', लक्ष्मीमिव मनोहराम् ॥

६—षण्मासानतर श्रीमान् आगतो मेडता-पुरे ।
वाणिज्याय, चतुर्दश्या, कार्तिक्यां दैवयोगत ॥

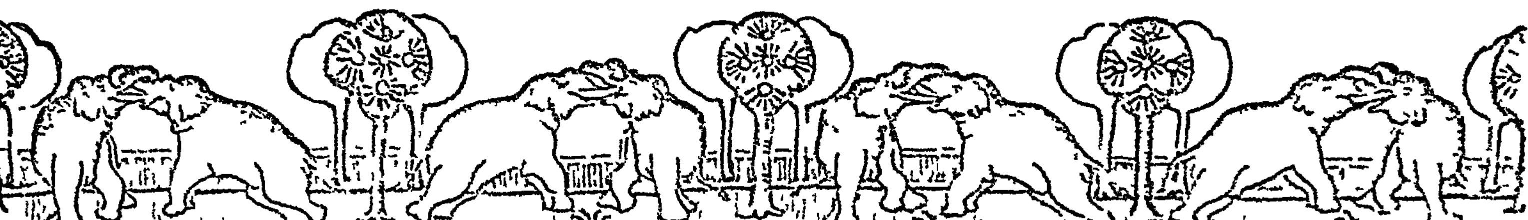
७—सार्द्धं सहचरैस्तत्र, तेन धर्म-हृदा किल ।
व्याख्यान' भूधर' मुने श्रुत शील-प्रशसनम् ॥

८—'सुदर्शन'-कथा श्रुत्वा, जातो भोग-विरक्तिमान् ।
त्यक्त्वा मोह स्व-वधूना, दीक्षामगीचकार स. ॥

९—तपस्वी ज्ञानवान् शान्त उग्र सयम-पालने ।
तत्तद्देशे विहृत्याऽसौ जिन-धर्ममुपादिशत् ॥

१०—आषोडश-समा धीर तप एकान्तर व्यधात् ।
पञ्चाशद्वर्ष-पर्यन्त नैवाऽऽसेवत सस्तरम् ॥

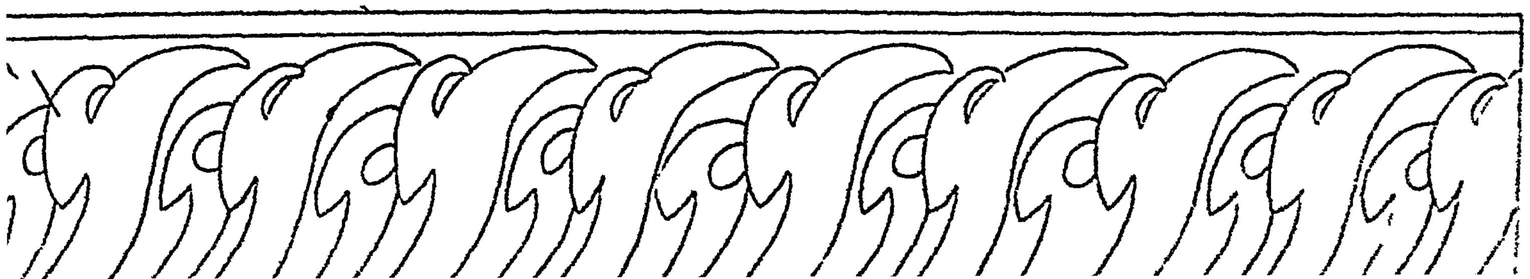
११—'वीकानेर' सुदुर्गम्य आसीत् स्थानकवासिनाम् ।
तत्र गत्वा महाकष्टै', श्रावकान् समबोधयत् ॥



१२—तत्र संयमिनां पूजा, पुनरस्थापयन् मुनिः ।
प्रसिद्धस्तस्य नाम्नाऽस्य सम्प्रदायो वरोऽभवत् ॥
१३—सप्तति-वर्ष-पर्यंत, धृत्वा खलु सुसयमम् ।
द्योतयित्वा मुनेधर्म वोधयित्वा बहून् जनान् ॥
१४—वर्षे हि वैक्रमे योगे[३], वौण[५] "सिद्धचेक[१]-सयुते ।
नर-सिंह-चतुर्दश्या, देवालयमगाज्जय. ॥
१५—तस्य पट्टे महामान्यो, 'रायचद्रो' मुनीश्वरः ।
सघ-श्लाध्यो गुणैर्गीतो, जातो पूज्य. प्रिय-व्रतः ॥
१६—तस्य पट्टे सुधी-मान्ये, भव्ये धर्म-धुरा-धरे ।
'आसकर्णो' महाभाग., आसीत् पूज्यः प्रभा-परः ॥
१७—शिष्यस्तस्य गुणैराढ्य', 'बुधमल्ल'-मुनिः सुधीः ।
गुरो र्भक्तौ सदा लीन, आसीत् शान्ति-सुधाकर ॥
१८—'फकीरचन्द्र' इत्याख्यः, तस्य शिष्यो महायशा. ।
आसीद्धर्म-विशेषज्ञो, वादी वाद-जयी व्रती ॥
१९—शास्त्रार्थ-कौशल तस्य, दृष्ट्वा तर्क-वितर्कणम् ।
मन्ये देव-गुरुर्बिभ्यन्, पूर्वमेव दिव गत ॥
२०—सयुत षोडशै शिष्यै, बभौ मान्यो मुनिस्तथा ।
यथा भाति कला-कान्तः पूर्णिमाया तिथौ विधुः ॥
२१—'लाडनू'-नगरे गत्वा, तेरहपथिनो बहून् ।
स्थानकवासि-सद्धर्मे ऽस्थापयत् मुनि-पुगव ॥
२२—तेरहपन्थिभि सार्द्ध, शास्त्रार्थ कृतवान् मुनिः ।
विद्वत्ससदि लेभे च विजय धर्म-यशस्करम् ॥
२३—विहृत्याऽनेकदेशेषु, कृत्वा धर्म-प्रचारणम् ।
धर्म-देव-पद स्वीय, कृतार्थ कृतवानिह ॥
२४—तस्य शिष्यो यश शाली, तेजस्वी विदुषावर ।
श्री 'जोरावरमल्लोऽभूत्, मेदिन्यां मुनि-पुगव ॥
२५—जन्मनाऽलकृतस्तेन, सुग्राम. 'सिंहु'-सज्ञकः ।
धन-धान्यादि-सपन्न सर्व-प्राणि-सुखावह. ॥
२६—कवयश्चारणास्तत्र, वसन्ति स्तुति-पाठकाः ।
येभ्यो ग्राम प्रसन्नेन, राज्ञा दत्त प्रसादतः ॥
२७—आसीत्तत्र महाभागः, ओसवाल-कुलोद्भव. ।
'वोथरा'-जाति-शृगार, श्रीपति. सुख-सन्ततिः ॥
२८—उदारो नीति-निष्णातो, दीनार्थिभ्यः सुर-द्रुमः ।
ऋद्धि-करण इत्याख्य. ऋद्धिधारी वणिग्वर ॥
२९—दीना जना यमाश्रित्य, वभूवुर्वृद्धि-शालिन ।
ऋद्धि-करण इत्याख्या, तस्यान्वर्थमुपागमत् ॥
३०—मन्यन्तेस्म जनास्तत्र, श्रेष्ठ त परम जनम् ।
आसीद् बन्धु स सर्वेषां, पिता भ्राता सहायक. ॥
३१—निमग्ना धर्म-कार्येषु, समग्ना पति-सेवने ।
अमग्ना मोह-मायाया 'मग्ना' तस्य प्रियाऽभवत् ॥



३२—द्रव्य[६]-लोका[३]-ङ्क[९]-भू[१]-ख्याते, शुभे वैक्रम-वत्सरे ।
अक्षयाया तृतीयाया, श्रेष्ठे शुभ-मुहूर्त्तके ॥
३३—पूर्वदिगिव भास्वत, भास्कर सुतमाप सा ।
तेजस्विना सुपुत्रेण, दिदीपे च तयोर्गृहम् ॥
३४—श्री रिद्धकरणादासन्, प्रतिकूलास्तु ये जना ।
प्रभावाद्वालकस्यास्य, प्रेम्णा प्राप्ता सुवन्धुताम् ॥
३५—वालकस्य प्रभाव त, मवीक्ष्य पितरौ मुदा ।
जोरावरमलेत्याख्या चक्रतुस्तस्य हर्षितौ ॥
३६—वाल्येऽपि तस्य सद्वृत्ति, रुचि धर्मे विलोक्य च ।
ऊचिरे वहवो वृद्धा, 'अय योगी भविष्यति' ॥
३७—ताते दिवगते शीघ्रं वाणी सत्या वभूव सा ।
जनन्या सह वाल स, जैन-योगी वभूव यत् ॥
३८—वेदा[४]-ब्धि[४]-निधि[९]-शीताशु[१]-मिते वैक्रम-वत्सरे ।
स्वीय-जन्म-तिथावेव, नागौर-नगरे वरे ॥
३९—जनन्या सार्द्धमादृत्य, निर्ग्रन्थ-व्रतमुत्तमम् ।
'फकीरचन्द्र'-शिष्योऽभूत्, बालो जोराबरस्तदा ॥
४०—गुरोरिव गुरोस्तस्य, शास्त्रज्ञस्य प्रसादत ।
स्वल्पेनैव स कालेन, पाण्डित्य परम गत. ॥
४१—व्याकृतावागमे तर्के, साहित्ये गणिते श्रुते ।
निर्ग्रथाना समाचार्या तथोत्सर्गापवादयो ॥
४२—व्याख्याने धर्म-चिन्तायां, श्रीसङ्घस्यानुशासने ।
पाटव परम लेभे, सर्व-तन्त्र-स्वतन्त्रताम् ॥
४३—आकृतौ व्याकृतौ साक्षात्, भास्वत भास्कर भुवि ।
अभिषिच्य निजे पट्टे, गुरुर्गुरोर्गृह गतः ॥
४४—जोरावरो मुनिर्दीप्यन्, जैन-शासन-भास्कर ।
उन्निनीषु समाज स्व, रेभे धर्म-प्रभावनाम् ॥
४५—अश्लीलानि कुगीतानि, गायन्तिस्म कुलागना ।
उच्छिष्ट भोजयन्ति स्म, अस्पृश्यान् गृहिणो महे ॥
४६—वेश्या-नृत्य तथा रात्रौ, भोजन जिन-धर्मिषु ।
विलोक्य हृदय तस्य, दु.ख लेभे पर यत ॥
४७—न्यषेधयन् मुनिस्तास्ता, कुरूढी. स्वप्रभावत ।
यानि निन्द्यानि कार्याणि, तानि सर्वाण्यभर्त्सयत् ॥
४८—बाल-वृद्ध-विवाहादीन् कन्याना विक्रय तथा ।
मृत्यु-भोज, महात्माऽसौ, व्याख्यानेष्वनिन्दयत् ॥
४९—यदा लोक. कुरीत्यादीन्, त्यक्त्वा शुद्धो भविष्यति ।
तदैव जिन-धर्मस्य, स्थापना सभवा स्थिरा ॥
५०—इत्येव मन्यमानोऽसौ, नीति-शास्त्रस्य देशनाम् ।
सार्द्ध धर्मोपदेशेन सतत कृतवान् मुनि ॥



५१—मिथ्या-ज्ञान-तमो-व्याप्तान्,वीक्ष्य सामाजिकान् निजान् ।
सुविद्याया प्रचाराय,प्रयत्न प्रचुर व्यधात् ॥

५२—'कुचेरा'-ख्य-शुभे ग्रामे, मुनेस्तस्य प्रभावत ।
स्थापितो 'ज्ञान-भडारो' जिज्ञासुभ्यो हितावह ॥

५३—साधव श्रावकाश्चापि, शिष्यास्तस्य गुणाऽऽग्रहा ।
अभवन् वहवो योग्या. श्रद्धावन्तो दृढा व्रते ॥

५४—अनेके मानवास्तस्य पार्श्वे दीक्षार्थमागता ।
परन्तु तेषु ये योग्या., तेन त एव दीक्षिता ॥

५५—बाण[५]-सि[८]द्धचक[६]-भू[१]-वर्षे वैशाखे च महामुनिः ।
ग्रामेऽतिष्ठन् 'कुचेराख्ये', सशिष्यो विहरन् मरौ ॥

५६—रोग-सक्रान्त-देहोऽभूत्, तत्र कर्म-प्रभावतः ।
वैद्यैश्चिकित्सितोऽनेकै स्वास्थ्य नैव यदाऽऽगमत् ॥

५७—वीकानेरात् समाहूत सुवैद्यश्चन्द्रशेखर. ।
तेन स्वास्थ्य मुनिर्लेभे, मोद श्रीसघ आप्तवान् ॥

५८—श्रेष्ठिमोहन-मल्लेन, कृतभूरिव्ययेन च ।
भूरि-भूरि-प्रसन्नेन, स्व-गुरो. स्वास्थ्य-लाभत. ॥

५९—ग्रामेऽतिदुर्लभ दृष्ट्वा, भैषज्यादि-सहायताम् ।
गुरो संस्मरणायैव स्थापित औषधालय. ॥

६०—धर्म-प्रभावना कुर्वन्, भावयन् शुभ-भावनाम् ।
विहरन्नेकदा सो हि ग्राम 'भवाल' मागत. ॥

६१—तत्राऽकस्मादभूद्देव: पक्षाघातेन पीडित ।
सा व्यथा तस्य सजाता जीवितस्य विनाशिनी ॥

६२—द्रव्य[६]-सिद्धि[८]-निधि[९]-क्षोणी[१]-मिते वैक्रम-वत्सरे ।
सिताया ज्येष्ठ-तुर्याया, तिथौ पूर्ण-समाधित ॥

६३—द्विचत्वारिंशदब्दान् हि पालयित्वा मुनेर्व्रतम् ।
धर्म-ध्यान-मना शीघ्र स्वर्गवासी बभूव स. ॥

६४—तस्याऽधुना त्रय: शिष्या, सच्चरित्रा जन-प्रिया ।
विहरन्ति मरौ देशे,भान्ति शान्ताश्च मानिता:॥ ॥

६५—श्रीमान् हजारिमल्लोऽस्ति, सन्मुनि सरल. प्रिय. ।
विशुद्धो बहिरतश्च, प्रिय-धर्मा गुणाकर. ॥

६६—'व्रजलाल'-मुनिर्नित्य सेवा-धर्म-परायणः ।
सहिष्णुर्गणिताऽभ्यासी, भाति सुन्दर-लेखक: ॥

६७—मिश्रीमल्लस्तृतीयोऽय, मधुकरोपनामक ।
एतत्पद्यौघ-निर्माता विभाति प्रतिभा-युत. ॥

६८—गुरोर्जोरावरस्यैते, त्रय. शिष्यास्त्रयीव ये ।
त्रिपदी च प्रदीप्यन्त: सघ-सेवा प्रकुर्वते[१] ॥

रचयिता—श्रीमधुकर मुनिः

---

१. श्रीयुत पूज्य गुरुदेवपादाना हजारीमल्लमुनीश्वराणा जीवितावस्थाया कृतेय रचना.



आचार्यश्री जयमल्लजी म० गृहस्थ-जीवन का रहस्य बताते हुए. पीछे श्रीरायचन्द्रजी महाराज
जो इस सम्प्रदाय के द्वितीय आचार्य हुए.



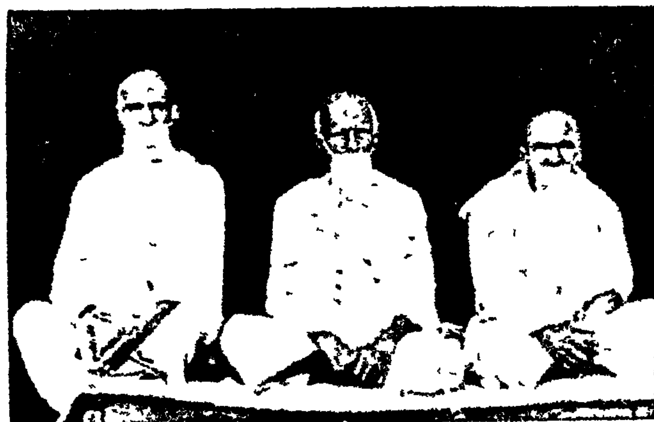
स्वामी श्रीहजारीमलजी महाराज
युवावस्था मे.

आचार्यश्री जयमलजी महाराज का शास्त्र-लिपिमें लिखित एक नमूना ।

स्वामीजी द्वारा प्रारंभिक अवस्थामें लिखित शास्त्रलिपि का नमूना ।



स्वामीजी के गुरुदेव श्रीजोरावरमलजी
महाराज



गुरुदेव के तीन शिष्य
क्रमश १ मुनि मधुकरजी २ स्वामीजी
३ श्री ब्रजलालजी



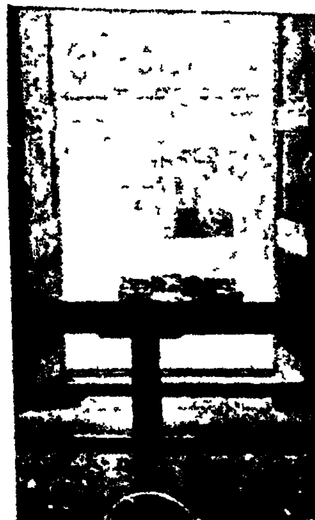
स्वर्गवास के पश्चात् विमान की तैयारी.



अन्तिम संस्कार के लिए प्रस्थान.



बड़ा काष्ठ-पट्ट जिसपर संलेखना ग्रहण की.

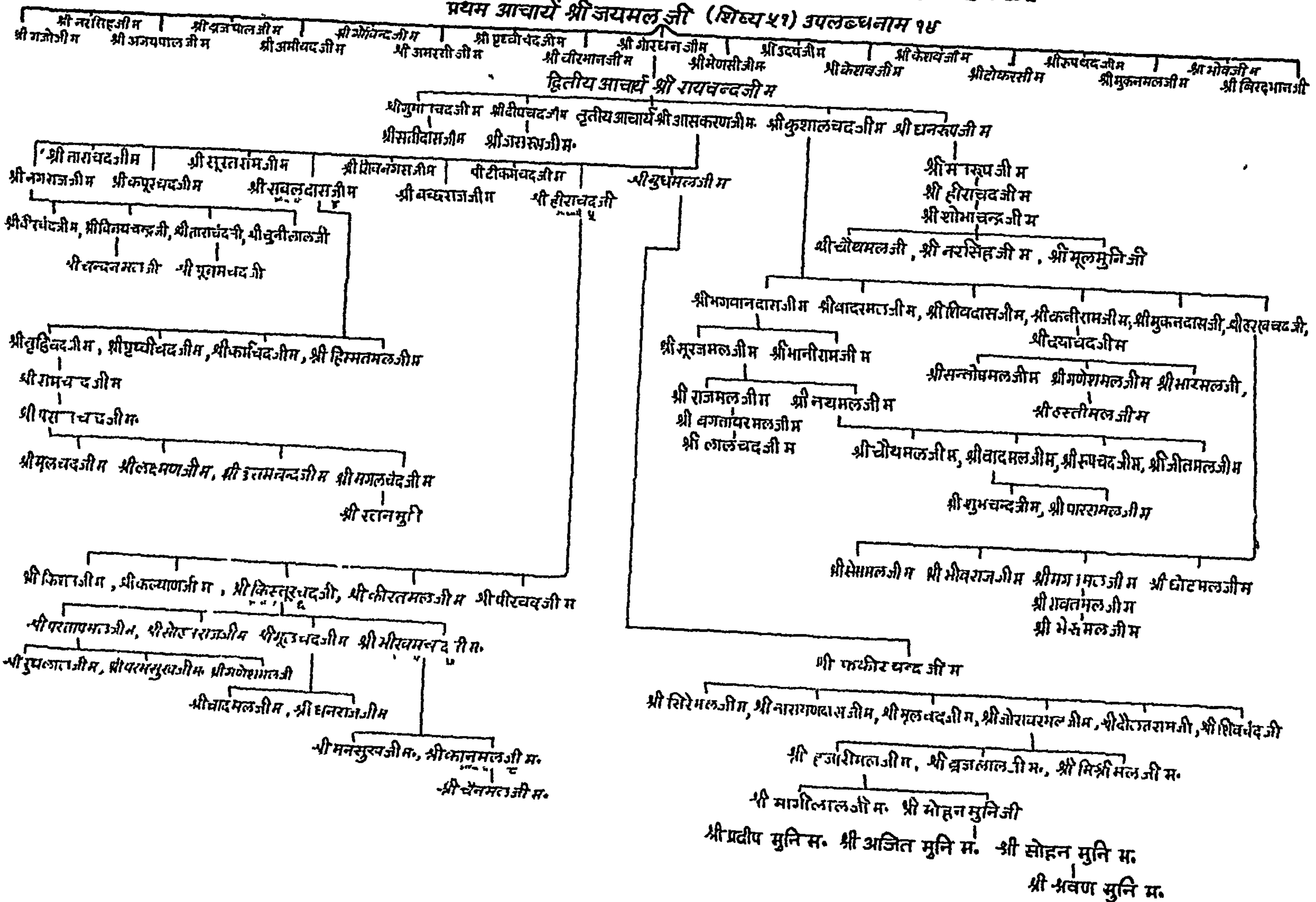


स्वामीजी के दो उपनेत्र



स्वामीजी का काष्ठ-पात्र स्वाध्याय-पुस्तक तथा यष्टिका

आचार्य श्री जयमल जी वंशावली





डा० नरेन्द्र भानावत,
एम० ए०, पी-एच० डी, साहित्यरत्न, हिन्दी-विभाग राजस्थान
विश्वविद्यालय, जयपुर

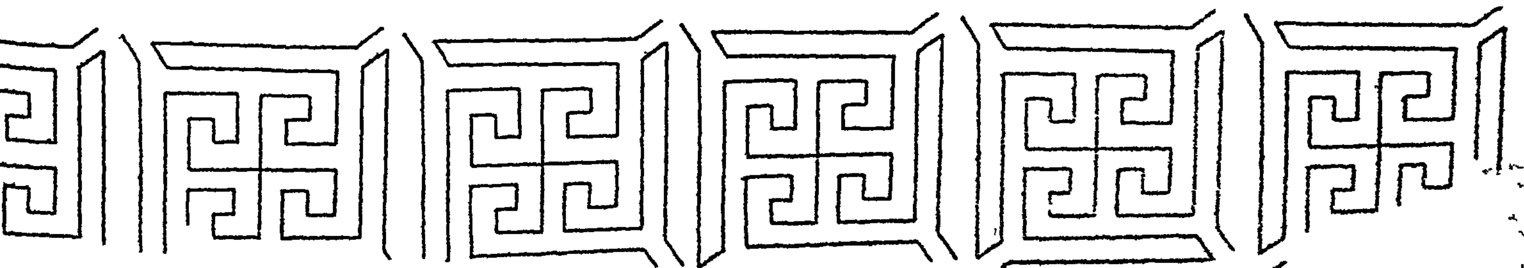
संत कवि आचार्य जयमल्लजी : व्यक्तित्व और कृतित्व

भारतीय वाङ्मय की वाटिका को सजाने-सवारने का जितना अधिक श्रम और तप जैन-साधक मनीषियो ने किया है उतना शायद ही किसी एक धर्मविशेष के साधको ने किया हो काव्य, कोश, अलकार, ज्योतिष, आख्यान, वैद्यक, इतिहास, रूपक-सभी ओर इन दृष्टिसम्पन्न मालियो की दृष्टि दौडी है इनके विस्तृत लोक-ज्ञान और अगम शास्त्रीय विवेक ने कला और विज्ञान के क्षेत्रो मे रग-विरगे चटकीले फूल खिलाये है ये सुरभित पुष्प अपने सौन्दर्य से सबको आकर्षित करते है पर रूप-मोह मे नही डुबोते, अपने सौरभ से सबको मत्र-मुग्ध तो करते है पर विलास की निद्रा मे नही सुलाते. इन फूलो का सात्विक परिमल मन को पवित्र, हृदय को निष्कलुष और आत्मा को परमात्मोन्मुख बनाता है.

हिन्दी साहित्य के इतिहास का अवगाहन करने पर सखेद आश्चर्य होता है कि इतिहास-लेखको ने इन फूलो (साहित्य सम्पदा) का उचित मूल्याकन नही किया साहित्य के ऐतिहासिक विकासक्रम मे इनके अस्तित्व तक की अवमानना की. इस स्थिति का एक कारण यह भी रहा कि जैन साहित्य उपाश्रयो और मन्दिरो के गर्भ-गृहो मे प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथो के रूप मे लावारिस सम्पत्ति की तरह अस्त-व्यस्त बिखरा पडा रहा न जाने कितने यशस्वी साहित्यकार और भावुक भक्त कवि काल-कवलित हो गये दीमक के ग्रास बन गये ! अब समय आया है कि प्राचीन हस्तलिखित ग्रथो का सम्यक् अध्ययन अनुशीलन कर हिन्दी-विद्वानो के सामने जैन साहित्य का प्रामाणिक सर्वांग-सम्पूर्ण इतिहास प्रस्तुत किया जाय.

यो जैन साहित्य के इतिहास-लेखन के स्फुट प्रयत्न यदा-कदा अवश्य होते रहे स्वर्गीय नाथूराम 'प्रेमी' और मोहनलाल दलीचन्द देसाई के प्रयत्न इस दिशा मे उल्लेखनीय हैं श्रीकामताप्रसाद जैन ने भी इधर 'हिन्दी जैन साहित्य का सक्षिप्त इतिहास' लिखा है. बीकानेर के श्रीअगरचन्दजी नाहटा की लेखनी से कई अज्ञात जैन ग्रथकार प्रकाश मे आये है पर ये सारे प्रयत्न 'ऊट के मुह मे जीरा' जैसे है

जैन धर्म विविध शाखा-प्रशाखाओ मे विभक्त है श्वेताम्बर स्थानकवासी सम्प्रदाय, जैनधर्म की ऐतिहासिक एव साहित्यिक दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण परम्परा रही है इस सम्प्रदाय मे तप पुज बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न अनेक आचार्य और प्रभावक कवि हुए है दिगम्बर सम्प्रदाय के कतिपय कवियो का उल्लेख तो इधर के साहित्य-इतिहास मे हुआ है पर स्थानकवासी परम्परा के कवियो का नामोल्लेख जैन साहित्य के इतिहासग्रथो तक मे नही मिलता यह स्थिति विस्मयजनक ही नही भयावनी भी है हमारे आलोच्य कवि आचार्य जयमल्लजी का सम्बन्ध इसी स्थानकवासी परम्परा से है.



इस असाधारण कवि-व्यक्तित्व की गणना अब तक के किसी साहित्य के इतिहासकार ने नही की. सर्वप्रथम इस सुकुमार कवि-पुष्प पर 'मधुकर' की तरह मडराने वाले है मुनि श्रीमिश्रीमल्लजी महाराज.[1]

जीवन वृत्त—कविवर जयमल्लजी का जन्म स० १७६५ भादवा सुदि १३ को[2] जोधपुर राज्यान्तर्गत-मेडता से जैतारण की ओर जाने वाली सड़क पर अवस्थित 'लाबिया' नामक गाव मे हुआ. पिता और माता का नाम क्रमश. मोहनलाल जी एव महिमा देवी था ये समदडिया महता गोत्रीय बीसा ओसवाल थे. इनके पिता कामदार थे. बडे भाईका नाम रिडमल था. २२ वर्ष की अवस्था मे[3] इनका विवाह रीया निवासी शिवकरणजी मूथा की सुपुत्री लक्ष्मीदेवी के साथ हुआ.

दीक्षा प्रसंग—जयमल्लजी की वैराग्य-भावना सहज स्फूर्त्त थी, वह आरोपित या विवश क्षणो की परिणति नही थी व्यापारी बनकर कर्मक्षेत्र मे उतरे अवश्य पर व्यापार उनका लक्ष्य नही था धर्म की ओर रुझान होते हुए भी पागलो की तरह उसके पीछे भटके नही सयोग की ही बात थी कि वे अपने व्यावसायिक मित्रो के साथ सौदा करने के लिए मेडता गए. वहा बाजार बन्द देख अनायास ही स्थानकवासी परम्परा के आचार्य श्रीधर्मदासजी[4] की शाखा के प्रशासक पूज्यप्रवर भूधरजी[5] महाराज की सेवा मे उपस्थित हो गये भूधरजी महाराज अपने प्रवचन में ब्रह्मचर्य व्रत की दृढता और महत्ता पर सेठ सुदर्शन का जीवन-प्रसग गा-गाकर सुना रहे थे. युवकहृदय पहली बार इस सयम-भावना से अभिभूत हुआ. आषाढ की प्रथम वृष्टि का स्पर्श पाकर झुलसी धरती जिस प्रकार हरी-भरी हो उठती है उसी प्रकार धर्मदेशना के अमृत का पान कर जयमल्ल सासारिक विषय-वासनाओ की ज्वाला को शान्त कर सका. एकदम, आजीवन ब्रह्मचर्य-व्रत अगीकार कर लिया पर सन्तोष कहा ? वह तो पूर्ण साधक बनने की प्रतिज्ञा कर चुका था, कैसे मेड़ता छोडकर चला जाय ? मा की ममता और पिता का आक्रोश, सबसे बढकर नवपरिणीता वधू का ज्वार-भाटे की तरह उफनता हुआ प्यार-पर सब व्यर्थ ! कोई उसे न रोक सका. पत्नी द्विरागमन की तैयारी मे तल्लीन और पति श्रमणजीवन की तैयारी मे तत्पर[6]

साधना काल—श्रीजयमल्लजी साधना मे वज्र की तरह कठोर थे. विचारो मे प्रेम और कर्त्तव्य का द्वन्द्व नही था. इनकी विवाहिता पत्नी भी सयममार्ग की पथिका बन गई थी. जीवन का एक ही लक्ष्य था—आत्म-कल्याण. श्रमणजीवन मे प्रवेश करते ही एकान्तर तप[7] की आराधना प्रारम्भ हो गई जो १६ वर्ष तक निरन्तर चलती रही.
ये अध्यवसायी ही नही अथक अध्येता भी थे बुद्धि के धनी और स्मृति के चिरसहचर थे दीक्षा लेने के बाद स्वल्प समय में ही इन्होंने 'श्रमण-सूत्र' कण्ठस्थ कर लिया था, तभी तो सप्ताह भर बादही बड़ी दीक्षा हो गई मेधा के चमत्कार का क्या कहना ? एक ही प्रहर मे पाच शास्त्र[8] कण्ठस्थ कर लिये थे[9]

धुन के पक्के थे. गुरु के प्रति असीम श्रद्धा थी जब भूधरजी स्वर्ग सिधारे तभी प्रतिज्ञा कर ली थी कभी न लेटने की.

---

१ इन्होंने जयवाणी' नाम से आचार्यश्री की रचनाओं का संकलन किया है जो सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा से प्रकाशित हुआ है.
२. पूज्य गुणमाला : श्रीचौथमलजी महाराज, पृ० ८
३. सवत १७८८ ज्येष्ठ शुक्ला ६ 'पूज्य गुणमाला' के अनुसार
४. पूज्य धर्मदासजी युगप्रधान आचार्य थे. इनका जन्म अहमदाबाद के पास सरखेज गांव में जीवन भाई पटेल के यहाँ सं० १७०१ चैत्र शुक्ला एकादशी को हुआ था स० १७२१ में वे आचार्य बने और ३८ वर्ष तक धर्म प्रचार करने के बाद स० १७५९ में स्वर्गस्थ हुए. जिनवाणी सितम्बर १९६०, पृ० २२८-३२
५. भूधरजी का जन्म स० १७१२ में हुआ था और मृत्यु स० १८०४ में. ये अच्छे व्याख्याता और सफल धर्मप्रचारक थे.
६ जयमल्लजी ने स० १७८७ (गुणमाला के अनुसार १७८८) की मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीया को मेडता में दीक्षा ली. सात दिनों के बाद ही 'बिकरगिया' गाव में इनको बड़ी दीक्षा हुई.
७ एक दिन उपवास एक दिन आहार के क्रम को एकान्तर तप कहते है.
८. (१) कप्पिया (२) कप्पवडंसिया (३) पुप्फिया (४) पुप्फचूलिया (५) वण्हिदसा
९. पाच सूत्र जो एक पहर में पढकर कठो करियारे'-गुणमाला, पृ० ५७.

५० वर्ष (जीवन-पर्यन्त) तक ये लेटकर न सोये इस सतत जागरूकता ने इन्हे अतर्मुख वनाया और इनकी अतर्दृष्टि ने काव्य का स्वरूप पाया जो 'स्वान्त सुखाय' वनकर ही नही रहा वरन् 'परान्त सुखाय' भी वना

स० १८०४ मे आसौज सुदी १० शुक्रवार को आचार्य भूधरजी का स्वर्गवास हुआ उनकी मृत्यु के वाद ये आचार्य[1] वने इनका व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली था कि इनकी आख्या पर ही इनके सम्प्रदाय का नामकरण हो गया लगभग ५० वर्ष तक आचार्य अवस्था मे धर्म-प्रचार करते रहे अतिम वर्षों मे ये अस्वस्थ रहे अत मे सवत् १८५३ की वैशाख शुक्ला चतुर्दशी को नागौर मे ३१ दिन के सथारे से स्वर्गवास हुआ

शिष्यसम्पदा—इनके शिष्यो की सख्या ५१ थी[2] श्रीरायचन्द्रजी महाराज को इन्होंने अपना पट्टधर वनाया[3] इनका सम्प्रदाय 'जयमल्लसम्प्रदाय' के नाम से विख्यात हुआ जो आज भी प्रचलित है.

विहारक्षेत्र—जैन सन्तो का वर्षावास के अतिरिक्त एक जगह ठहरने का विधान नही है तदनुसार वे आठ माह तक ग्रामानुग्राम विचरण कर जन-जन को धर्मोपदेश देते रहते थे आचार्य श्रीजयमल्लजी का विहारक्षेत्र प्रधानत राजस्थान रहा है. राजस्थान के अतिरिक्त दिल्ली, आगरा, पजाव व मालवा मे भी विचरते रहे

जन-सम्पर्क और धर्म-प्रचार—आचार्य जयमल्लजी अपने समय के प्रमुख सन्तो मे से थे. इनका साधारण जनता से लेकर राजवर्ग तक सम्पर्क था. राजवर्गीयो द्वारा आखेटचर्या आदि मे होने वाली हिंसा से, मुनि श्री ने अपनी साधना-सिक्त ओजस्विनी वाणी द्वारा न केवल उन्हे विरत ही किया अपितु उनमे से अनेको को अपना दृढ अनुयायी भी वना लिया. महाराजाओ मे जोधपुर नरेश अभयसिंह[4] जी आपसे तथा आचार्य भूधरजी से अत्यधिक प्रभावित थे जव ये पीपाड मे विराज रहे थे तव इनकी गौरव-गाथा सुनकर महाराजा ने अपने दीवान रतनसिंह भडारी को भेजकर (इनको) जोधपुर पधारने की विनती करवाई जब आप जोधपुर पधारे तव महाराजा अकेले ही दर्शन को नही आये वरन् अपनी रानियो और सरदारो को भी शाही ठाट से लाये[5] यही नही स० १७९१ मे जव ये दिल्ली विराज रहे थे तव जोधपुर नरेश ने ७ राजाओ के साथ आपका उपदेश श्रवण किया जयपुर-नरेश तो इनकी यश-गाथा से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होने शाहजादे को भी यह शुभ सवाद सुनाया शाहजादे के हृदय मे मुनि-दर्शन की इच्छा वलवती हुई उसने दर्शन कर हिंसा अहिंसा सम्वन्धी कई प्रश्न किये और उनका समुचित समाधान पाकर निरपराध प्राणियो का वध न करने की प्रतिज्ञा की[6] जोधपुर-नरेश के साथ ही कविवर करणीदानजी[7] ने भी इनके दर्शन किये थे[8]

जैसलमेर मे आप के पधारने पर वहाँ कुछ विरोधियो ने आपकी मूर्ति वनाकर उस पर धूल उछाली यह समाचार सुनकर आपने मुस्करा कर कहा-मेरे कर्म धुल रहे है राजा ने अपने किले मे इनका ससम्मान स्वागत किया और साधुचर्या की जानकारी पाकर प्रसन्नता प्राप्त की उसने अपने ग्रथ-भण्डार भी इन्हे वतलाये[9]

---

१ स० १८०५ अक्षय तृतीया को जोधपुर में ये आचार्य वने

२ घासीरामजी, सूरतरामजी, गजराजजी, तुलसीदासजी, वगतमलजी, उदोजी, खेमचन्दजी, पृथ्वीराजजी आदि इनके प्रमुख शिष्य थे

३ रायचन्दजी का जन्म स० १७९६ में आसौज सुदि ११ जोधपुर में विजयराजजी धाडीवालके यहा हुआ था स० १८१४ की आपाढ शुक्ला ११ को पीपाड शहर में गोवर्द्धनदासजी महाराज से इन्होंने दीक्षा अगीकृत की स० १८६८ में इनका स्वर्गवास हुआ ये भी आचार्य जयमल्लजी की तरह प्रतिभाशाली कवि थे

४ इनका शासनकाल स० १७८१ से १८१६ तक रहा जोधपुर राज्यका इतिहास, द्वितीय खण्ड-ओझा.

५ पूज्यगुणमाला चौथमल्लजी म० पृ० ६०-६३.

६. वही : पृ० ६९-७६

७ ये कविया शाखा के चारण मेवाड के शूलवाडा गाव के रहने वाले थे इन्होंने 'सूरजप्रकाश' नाम का वडा ग्रथ लिखा है जिसमें ७५०० छद हैं महाराजा अभयसिहजी ने इन्हे लाखपसाव तथा कविराजा की उपाधि दी थी

८. पूज्य गुणमाला . चौथमल्लजी म० पृ० ८७.

९. वही पृ० ७८-८१ ।



जयमल्लजी ने धर्मप्रचार करते समय अपने नये क्षेत्र भी बनाये. बीकानेर ऐसा ही एक क्षेत्र था. आप की पहुँच के पहले बीकानेर मे स्थानकवासियो का कोई प्रभाव नही था सभवत ये पहले सन्त थे जिन्होने बीकानेर मे जाकर स्थानकवासी धर्म की ज्योति प्रज्वलित की इस धर्माभियान मे इन्हे अनेक परीषहो का सामना करना पड़ा. बीकानेर जाने पर उन्हे प्रवेशद्वार पर ही यह कह कर रोक लिया गया—

> बीकानेर है क्षेत्र जत्यों का नहीं थांरो, पग फेर ।
> जावो जल्दी पाछा जिससे हो जासी तुम खैर ॥[1]

सत की मर्यादा के कारण ये उलटे पाँव लौट पडे और 'छतरी तलावरी पाल' पर एक कुभकार के यहाँ आठ दिन तक रहे अन्तिम दिन आपकी श्रद्धालु श्राविका रामकवर बाई को जब इस घटना का पता लगा तब उसने प्रतिज्ञा की कि "जब तक पूज्यश्री नगर मे पदार्पण नही करेंगे तब तक मै अन्न-जल न लूगी. उसके दोनो पुत्रो का प्रतिदिन मा के साथ ही भोजन करने का नियम था. मा को इस प्रकार चिन्तित देखकर उन्होने तात्कालिक बीकानेर नरेश गजसिहजी[2] से विशेष आज्ञापत्र प्रचारित करवा कर पूज्यश्री को नगर मे प्रवेश कराया. स्वय गजसिहजी जयमल्लजी के धर्मोपदेश से प्रभावित हुए और उन्हे एक माह तक अपने महल में ठहराया.[3] उदयपुर के महाराणा रायसिहजी[4] (द्वितीय) नागौर अहिपुर के राजा बखतसिहजी[5] भी इनके सम्पर्क मे आकर प्रभावित हुए

कई ठाकुर और सरदार भी जयमल्लजी के व्यक्तित्व और चारित्रिक गुणो से प्रभावित थे पीपाड़ से जोधपुर विहार करते समय आप मध्यवर्ती गाव 'बुचकला' मे ठहरे वहाँ के ठाकुर के यहाँ गोचरी गये, जहाँ नौकर ने मना कर दिया. ये उलटे पाँव लौट पडे ठाकुर को पता चला तो उसने नौकर को बुरा-भला ही नही कहा वरन् स्वय दिन भर आचार्यश्री की सेवा करते हुए भविष्य मे आखेटचर्या न करने की प्रतिज्ञा की.[6] इसी प्रकार पोकरण के ठाकुर देवीसिहजी चांपावत को भी शिकार-वृत्ति से विमुख किया[7] देवगढ के जशवतराय और देलवाडा के राव रघु इनका उपदेश सुनकर धर्मानुरागी बने[8]

जयमल्लजी आगमो के विशिष्ट ज्ञाता थे. एक बार पीपाड मे एक पोतियाबंध[9] से आपका शास्त्रार्थ हो गया. उसका कहना था कि इस काल मे महावीर ने मुनिवृत्ति का निषेध किया है आपने भगवती सूत्र के आधार पर शका-समाधान किया[10]

व्यक्तित्व—जयमल्लजी का व्यक्तित्व मधुर और प्रभावशाली था. उनकी आखो मे तेज, स्वभाव में सरलता, हृदय मे करुणा और वाणी मे ओज था कठोर से कठोर प्राणी भी इनके सम्पर्क मे आकर करुणाशील बन जाता था. ये सच्चे अर्थों मे 'धर्म-पथ के दीप-स्तभ थे' बाधाओ को हँसते हुए सहन करना इनका स्वभाव बन गया था 'तपोनिधि सयम-शुचिता-

---

१. पूज्य गुणमाला पृ० ९२
२. इनका शासनकाल स० १८०२ से १८४४ तक रहा.
   —बीकानेर राज्य का इतिहास : पहला भाग, पृ० ३२३-५८—ओझा.
३. पूज्य गुणमाला : पृ० ९१-९८.
४ वही पृ० १०३.
५ वही : पृ० ८८.
६. वही : पृ० ६१
७. वही : पृ० ७८
८. पूज्य गुणमाला : पृ० १०३
९ १६ वी सदी से पोतिया बन्ध की एक परम्परा चली है ये श्रावक होते है पर साधु के समान उपाश्रयों में बैठकर शास्त्र का पठन-पाठन करते है, घरो से भिक्षा लाते है, खुले सिर और नगे पाव चलते है देखो—पोतियाबन्ध परम्परा पर एक दृष्टि, गजेन्द्रमुनि, जिनवाणी : अगस्त १९६०, पृ० १९७-२००
१०. पूज्य गुणमाला : पृ० ५८-६०

सार' के रूप मे 'मोह-मल्ल के प्रवल विजेता' को जो श्रद्धाजलि[1] अर्पित की गई है वह सोलह आना ठीक है ! कालजयी यह शूरवीर अपने आप मे अद्‌भुत था हाथ मे क्षमा-खड्‌ग और शील-सत्य की वरछी लेकर यह ज्ञान के अश्व पर आरूढ था.

काव्य-साधना—आचार्य रूप मे जयमल्लजी जितने प्रभावक थे, कवि रूप मे उतने ही सहृदय भावुक. इनके कवि-व्यक्तित्व मे सन्तकवियो का विद्रोह और भक्त-कवियो का समर्पण एक साथ दिखाई पडता है. समय की दृष्टि से इनका आविर्भाव रीतिकाल मे हुआ ये हिन्दी के प्रमुख रीतिकालीन कवि पद्‌माकर के समकालीन थे यो नागरीदास और चाचा हितवृन्दावनदास भी उसी समय राधा-कृष्ण के चरणो मे अपनी भाव-भरी काव्याजलि समर्पित कर रहे थे ठाकुर और वोधा जैसे कवि रीतिमुक्त होकर एक ओर प्रेम का सात्विक चित्रण कर रहे थे तो दूसरी ओर कविराय गिरधर जैसे सूक्तिकार भी थे जो नीति की वातो को कुडलियो मे गा-गाकर कह रहे थे कवि जयमल्ल ने इन सब सूत्रो से अपनी कविता का ताना-वाना बुना

हिन्दी साहित्य के रीतिकाल (स० १७०० से १६००) की यह प्रमुख विशेषता थी कि सस्कृत मे कवि और आचार्यों का जो अलग-अलग वर्ग था वह इस युग मे आकर एक हो गया कवि कर्म का सम्वन्ध केवल काव्य-रचना से था, जव कि आचार्यो का काम केवल काव्यगत सिद्धान्तो का निरूपण करना था अव रीति-युग मे कवि स्वय आचार्य वन गया वह पहले कविता के लक्षण आदि वताकर आचार्यधर्म का पालन करता, फिर उसके उदाहरण के रूप में कवि-कर्म की पूर्ति के लिए कविता रचता परिणामत काव्यधारा एक निश्चित नियम, रीति या रूढि मे वँधकर वहने लगी हमारे आलोच्य कवि इस प्रकार के तथाकथित 'आचार्य' तो नही वने पर उनको 'आचार्य' का विरुद अवश्य मिल गया यह विरुद उनकी काव्याराधना का प्रतिफल न होकर उनकी धर्मसाधना, सयम-निष्ठा और आगमिक ज्ञान की गभीरता का परिणाम था

कवि जयमल्लजी रीतिकाल की वँधी वँधाई परिपाटी मे नही चले उन्होने रीतिकाल की उद्दाम वासनात्मक शृगार-धारा को भक्तिकाल की प्रशान्त साधनात्मक प्रेम-धारा की ओर मोडा इन्होने तीर्थंकरो, सतियो, विहरमानो, व्रती श्रावको आदि को अपना काव्य-विषय बनाया.

काव्य-रचना—मुनि 'श्रीमिश्रीमल्लजी' मधुकर 'ने वडे परिश्रम से इनकी यत्र-तत्र विखरी हुई रचनाओ का 'जय-वाणी' नाम से सकलन किया है इस सकलन मे आलोच्य कवि की ७१ रचनाएँ सग्रहीत है इन समस्त रचनाओ को विषय की दृष्टि से चार खण्डो मे-स्तुति, सज्झाय, उपदेशीपद और चरित, चर्चा-दोहावली मे विभक्त किया गया है उपाध्याय अमर मुनि ने इसकी चर्चा करते हुए लिखा है—स्तुतिखण्ड में उन्होने अपने आराध्य देवो के सस्तवन मे अपनी भक्ति-भाव-भरित अनेकश श्रद्धाञ्जलिया गुम्फित की है. 'सज्झाय' खण्ड मे आत्म-स्वातन्त्र्य के मार्ग को प्रशस्त करने वाले अनेक गहन चिन्तनो को काव्यमयी भाषा मे लिपिवद्ध किया गया है. इसी प्रकार 'उपदेशी पद' नामक खण्ड मे अनेक आत्म-विकासी एव मानवीय नैतिक धरातल को समुन्नत करने वाले उपदेश सहज-सुवोध शैली मे ग्रथित किये हैं अन्तिम खण्ड मे जिन महान् आत्माओ के पावन चरितो को काव्यमृत से सिंचित एवं भावित किया गया है, उनके जीवन्त चित्र आत्मा को असत् से सत् की ओर, तम से ज्योति की ओर एव मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाने की अपूर्व क्षमता रखते है इसी भाति इस खण्ड की चर्चा एव दोहावली भी जीवन के अनेक उत्कर्प-विधायक तत्त्वो से आपूर्ण है[2].

इन रचनाओ के अतिरिक्त भी आचार्यश्री की और कई रचनाए हस्तलिखित प्रतियो मे विखरी पडी हैं. खोज करते समय जो अतिरिक्त रचनाए हमारी दृष्टि मे आई हैं उनके नाम इस प्रकार हैं[3]—

(१) चन्दन वाला की सज्झाय (२) मृगालोढा की कथा (३) श्रीमतीनी ढाल (४) मल्लीनाथचरित (५) अञ्जनानो

---

१. गुणगीतिका—प० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, पृ० ३

२. जयवाणी : पृ० ६ ('कवि और कविता' एक मूल्याकन).

३. ये सभी रचनाए आचार्य विनयचन्द्र ज्ञान-भडार, जयपुर में सग्रहीत हैं



राम (६) पाँच पाडव चरित्र (७) कलकली की ढाल (८) नन्दन मनिहार (९) क्रोध की सज्झाय (१०) आनन्द श्रावक (११) सोलह सती की सज्झाय व चौपई (१२) अजितनाथ स्तवन (१३) दुर्लभ मनुष्य-जन्म की सज्झाय (१४) रावणविभीपण सवाद (१५) इलायचीपुत्र को चौढालियो (१६) नव तत्त्व की ढाल (१७) नव नियाणा की टालाँ (१८) दान-शील-तप-भावना सज्झाय (१९) मिथ्या उपदेश निषेध सज्झाय (२०) लघु साधुवन्दना (२१) वज्र पुरन्दर चौढालिया (२२) कुडरीक-पुडरीक चौढालिया (२३) सुरपिता का दोहा (२४) रोहिणी (२५) अवड सन्यासी (२६) कर्मफलपद, आदि

काव्य-रूप और वस्तु व्यञ्जनाः—जैनागमो में वाड्मय के चार रूप बताये गये है—(१) धर्मकथानुयोग (२) चरण-करणानुयोग (३) गणितानुयोग और (४) द्रव्यानुयोग.

जयमल्लजी ने सबसे अधिक प्रथम अनुयोग पर ही लिखा. यही रूप जन-साधारण के लिए उपयोगी और आकर्षक होता है इसमे चरित-नायक की कथा गा-गाकर विविध रूपो मे कही जाती है. ये एक प्रकार के कथा-काव्य या चरित-काव्य होते है इनके प्रमुख रूप लौकिक छन्दो मे रचित रास, रासो, चौपाई, ढाल, चौढालियो, चरित आदि होते है. कवि जयमल्लजी ने इन सभी रूपो मे तीर्थंकरो, सतियो, बलदेव आदि धार्मिक पुरुषो का आख्यान गाया है

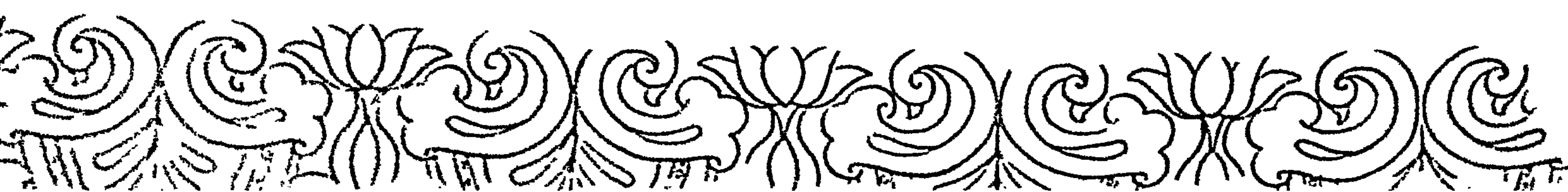
दूसरे रूप चरणानुयोग को अपनाकर उन्होंने अपने सन्त कवि का दायित्व निभाया इसमे व्यवहार, सदाचार और नीति सम्बन्धी बातो का बोलचाल की भाषा में मार्मिक वर्णन किया है इस सम्बन्ध के कई गीत और स्तवन स्तुति-काव्य के रूप में आलोच्य कवि ने लिखे है इन काव्यरूपो मे स्तुति, स्तवन, स्तोत्र, सज्झाय, गीत, बीसी, चौबीसी, तीसी, बत्तीसी छत्तीसी, बयालीसी, आदि काव्य-रूप प्रधानत कवि द्वारा अपनाये गये है.

द्रव्यानुयोग के रूप मे कवि ने कम लिखा है तात्त्विक सिद्धान्तो का निरूपण स्वतन्त्र रूप में कम कर कथा के मध्य यथा-प्रसग कर दिया गया है यो दडक, क्षमा, सम्यक्त्व, क्रोध, पाप, कर्म, मोक्ष आदि पर स्फुट रूप मे लिखी हुई रचनाएं मिलती है.

भाव-व्यञ्जनाः—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सन्त कवि जयमल्लजी की भाव-धारा दो रूपो मे विशेषत बही है—प्रबन्ध और मुक्तक प्रबन्ध-रूप महाकाव्य की विशदता नही ले पाया वह बन्धकाव्य की तरह भी अपना विकास न कर सका मात्र कथाकाव्य बनकर रह गया उसमे इतिवृत्त का अश अधिक है मार्मिक स्थलो की पहचान करने की क्षमता कवि में अवश्य है पर कथा कहने की अधीरता उसमें इतनी अधिक है कि वह मार्मिक स्थलो पर बिना विराम किये ही आगे बढ जाता है प्रबन्धकाव्यो की तरह उसने कथा को अध्याय या सर्गों में विभाजित नहीं किया पर ढालो की सख्या देकर इस अभाव की पूर्ति कर दी है यहाँ जो प्रबन्धकाव्य मिलते है उन्हे कथा-काव्य कहना अधिक समीचीन होगा ये कथाएँ आगमसम्मत है. इन सबका एक ही उद्देश्य है, वह है निर्वाणप्राप्ति. सासारिक भोग-विलास से विमुख होकर लोकोत्तर आनन्द के लिए प्राय सभी पात्र प्रवज्या धारण करते है इन कथाओ मे काव्य-शास्त्रीय ढग की जो कार्यावस्थाए है, उनका क्रमबद्ध स्वरूप देखा जा सकता है आरम्भ मे जो पात्र है. वह राजघराने या कुलीन परिवार से सम्बन्धित है यो सामान्यत उसका परिवेश धार्मिक-आध्यात्मिक सौरभ से पूर्ण है कभी-कभी इससे विपरीत स्थितिया भी देखने को मिलती है उद्देश्य की प्राप्ति (निर्वाण प्राप्ति) के लिए 'प्रयत्न' शुरु होने के रूप मे प्राय किसी न किसी तीर्थंकर या मुनिराज का उस नगरी विशेप में पदार्पण होता है. नायक इन शुभ समाचारो से प्रसन्न होकर राजसी ठाट-बाट के साथ उन्हे वन्दन करने के लिए जाता है वे (तीर्थंकरादि) धर्मोपदेश देते है और पूछने पर नायक के पूर्वभव का आख्यान भी कहते है अपने पूर्व-जन्म की कथा सुनकर नायक सासारिक भयंकर दुखो से सतप्त होकर सयम-धारण करने का सकल्प कर लेता है इस सकल्प को साकार रूप देने के लिए नायक को सघर्ष करना पडता है यह सघर्ष प्रायः पारिवारिक होता है. कभी माता की ममता[1] उसे रोकती है तो कभी

---

१. (क) सुबाहु कुमार की माता उसे रोकती है—जयवाणी : पृ० २११-१३
(ख) देवकी गजसुकुमाल को रोकती है—जयवाणी : पृ० ३४०-४१



प्रियतमा की अश्रुपूर्ण आखें उसे सकल्प से डिगाना चाहती है[1] किन्तु वह मोहपाश को तोड कर कर्त्तव्य-पथ पर बढ जाता है यही 'प्राप्त्याशा' की स्थिति है कभी-कभी सयम-धारण करने की भावना को प्रोत्साहित करने के लिए प्रतिकूल परिस्थितियाँ भी अनुकूल वन जाती है कृष्ण, नेमिनाथ को विवाह के सूत्र मे बांधने के लिए अथक प्रयत्न करते हैं राजमती के साथ उनका (नेमिनाथ का) वाग्दान भी हो जाता है यही नही, नेमिनाथ विवाह करने के लिए दूल्हा वन कर, वरात सजाकर, राजमती के प्रासाद तक भी चल देते हैं पर अचानक परिस्थिति वदलती है और वे भोज के लिए वन्दी पशु-पक्षियो का कातर करुण क्रन्दन सुनकर तोरण से उल्टे पाँव लौट दीक्षा धारण कर लेते हैं[2]

सयम लेने के बाद केवल-ज्ञान प्राप्त होने तक की स्थिति 'प्राप्त्याशा' से लेकर 'नियताप्ति' तक की स्थिति है 'नियताप्ति' तक पहुँचने के लिए साधक को कई प्रकार की कठिन परिस्थितियो (परीषहो) से गुजरना पडता है. यदि वह इन परिस्थितियो से वीर योद्धा की भाँति जूझ सकता है तो 'फलागम' निश्चित है स्कदक ऋषि की उनके वहनोई द्वारा ही चमडी उतरवाई गई पर वह तनिक भी विचलित नही हुए[3] उदाई राजा ने अपने पुत्र को राज्य न देकर भागिनेय केशी को राज्य दिया और प्रव्रज्या ली पर केशी ने मुनि उदाई को विषमिश्रित औषध देकर मरवा डाला, इस पर भी उदाई मुनि समभावी बने रहे[4] मेघकुमार ने अन्य मुनियो के पैरो की ठोकरें खाई,[5] सताप भी हुआ पर पूर्वभव मे हाथी की शशक बचाने की भावना ने उसे सयम मे दृढ वना दिया कार्तिक सेठ ने अपनी पीठ पर खीर की गरम-गरम थाल झेली.[6] गजमुकुमाल ने खैर के खीरे मस्तक पर रखे जाने पर भी ध्यान न छोडा.[7] ये ही वे वाधाएँ है जो साधक को कसौटी पर कसती है. जो इस परीक्षा मे खरा उतर जाता है वह 'नियताप्ति' की स्थिति मे पहुँच जाता है इन कथाओ

---

१. मेघकुमार को उसकी आठ रानियाँ रोकती हैं—जयवाणी पृ० ३७४-७५

२ भगवान् नेमिनाथ . पृ० २१७-२२८—जयवाणी

३. तीखो पालणा नी धार,
मस्तक ऊपर फार, सुकोमल साथ ।
त्वचा उतारी देहनी ए ॥२३॥
पग सुधी खाल,
तो ही रह्या सयम मा लाल, सुकोमल साध ।
ना केई सल घाल्यो नहीं ए ॥२४॥—जयवाणी पृ० ३०८

४. अटण करता आविया, वैद्य अकारज कीधो रे ।
विष मिश्रित वस्तु तिका, मुनिवर पात्रे दीधो रे ॥३॥
निरदोषण जाणा थानक आय ने, रोग जाणा औषध खायो रे ।
जहर प्रगट्यो वेदन हुई ऊजल, सही न जायो रे ॥४॥—जयवाणी : पृ० ३६०

५ कोई परठन जावेजी मातरो, रात तणे समय मांय जी,
किण री ठोकर लागवे, कोई ऊपर पड़ी जाय जी ॥
कोई लेवा जावेजी वाचणी, पग तले आगु ली आय जी ।
पगनी रज पड साथ रे, अरति आई मन माय जी ॥ मेघ० ॥२—जयवाणी : पृ० ३७६ ढाल १३

६. ऊनी खीर परुसने, मोरा ऊपर मूकी थाल ।
सेठ मोर फेर्या नहीं, जिन थाल सू उपड्या छाल रे ॥१२॥
कठिन परीषह सेठ सह्यो, जाणे अजयणा थाय ॥
रखे थाल हेठो पडे रे, तो नानाजीव मार्या जाय रे ॥१३॥—जयवाणी पृ० ३६०-३६१

७. मस्तक पाल वन्धी माटी की, मुनिवर समता रस भरिया ।
झग झगता खयर ना खीरा, मुनिवर ने शिर धरिया ॥४॥
खदवद खीच तणी परे सीजे, तड-तड़ नासा तूटे ।
मुनिवर समता-भाव करी ने, लाभ अनतो लूटे ॥५॥—जयवाणी पृ० ३४८



में यह स्थिति या तो केवलज्ञान की प्राप्ति पर निश्चित होती है या किसी विमान (स्वर्ग-लोक) विशेष मे पहुँचने पर. इसके वाद 'फलागम' के रूप मे मुक्ति की प्राप्ति होती है जहाँ जन्म-मरण का चक्र टूट जाता है. यह पूर्ण आध्यात्मिक स्थिति होती है जहाँ लौकिकता का किंचित् भी अश नही रहता.

इन कथा-काव्यो को पढने से पता चलता है कि इनका आधार आगम रहे है. ग्रथ पर कही-कही कथानक रूढियो का प्रयोग इतना अधिक हुआ है कि कथा का मूल-अश दव-सा गया है. सक्षेप में कहा जा सकता है कि कवि जयमल्लजी ने अपने इन कथा काव्यो मे निम्नलिखित प्रमुख कथानक-रूढियो का प्रयोग किया है—

(१) नायक कोई राजा, राजकुमार या गाथापति है.

(२) नायक को सासारिक भोग के सभी-सुख-साधन यथेष्ट मात्रा में सुलभ हैं सामान्यत. उसके एक से अधिक रानियाँ है

(३) तीर्थंकर भगवान् या कोई विशिष्ट मुनिराज गामानुग्राम विहार करते हुए उसकी नगरी में पदार्पण करते है

(४) नगरी के प्रमुख उद्यान मे ये मुनिवर ठहरते है

(५) नायक राजसी ठाट-वाट के साथ सपरिवार उन्हे वन्दन करने के लिए जाता है.

(६) तीर्थंकर भगवान् नायक को धर्म-देशना के साथ-साथ उसके पूर्वभव का वृत्तान्त सुनाते है.

(७) अपने पूर्वभव का वृत्तान्त सुनकर नायक ससार से विरक्त होकर दीक्षा लेने का सकल्प करता है और अपने पुत्र को उत्तराधिकार देता है.

(८) दीक्षा के भयकर कष्टो का वर्णन कर नायक की माता और पत्नी उसे सयम से रोकने का प्रयत्न करती हैं.

(९) नायक उन्हे प्रतिवोध देकर दीक्षित हो जाता है, कभी-कभी माता-पिता और पत्नी तक उसके साथ सयम ग्रहण कर लेती है,

(१०) साधना-काल मे नायक को भयकर उपसर्ग और परीषह सहन करने पड़ते है.

(११) इन कठिनाइयो में प्राय देवता आकर सहायता करते है पर तपस्वी साधक अपने बल पर ही उसका मुकावला करते है

(१२) कभी-कभी देवता भी वैक्रिय रूप धारण कर नाना प्रकार के दु ख देकर नायक के सयम की परीक्षा लेते है.

(१३) साधना मे खरा उतरने पर नायक की जयजयकार होती है, उसे केवलज्ञान की प्राप्ति होती है और अन्तत' वह मोक्ष पाता है

काव्य-निर्माण का निर्वाह यहाँ प्राय. सभी कथाओ मे हुआ है. इसके दो रूप रहे है. इसी जीवन से सम्वन्ध रखने वाला, दूसरा पूर्व-जन्म से सम्वन्धित कर्मवाद में आस्था रखने के कारण सैद्धान्तिक दृष्टि से भी काव्य-निर्णय की स्थिति को यहाँ सहज आश्रय मिल गया है यहाँ जो प्रतिनायक है वह पूर्वजन्म में किसी न किसी रूप से नायक द्वारा शोषित, पददलित और पीडित रहा है इसीलिए इस जन्म मे वह नायक से वदला लेता है.

यहाँ जितने भी पात्र आये है वे कुलीन वर्ग से सवधित है. पुरुप पात्र राजा-महाराजा या सेठ आदि हैं. जीवन के प्रात - काल मे पूर्णत भोगी और गृहस्थी है. मध्याकाल मे सयम धारण कर निर्वाणपथ के पथिक वनते है निम्न वर्गो मे कुम्भकार का प्राय वर्णन मिलता है आचार-विचार में ये वारह व्रतधारी श्रावक-से हैं. सद्दालपुत्र की गिनती आदर्श श्रावकों मे की जाती है. उदाई राजा को एक कुभकार ने ही ठहरने के लिए राजाज्ञा के विरुद्ध भी साहस करके स्थान दिया था. स्त्रीपात्रों में माता और पत्नी के रूप अधिक निखर कर सामने आये है. राजमती का चरित्र उस नारी का चरित्र है जिसने यौवन की देहरी पर प्रेम को निमन्त्रित किया था, वह आता हुआ दिखाई भी दिया पर न आया. उसके वाद विरह की अनन्य साधना और फिर योग धारण. देवकी सात-सात पुत्रों को जन्म देकर भी अपने मातृत्व को तृप्त न कर

सकी इसका प्रायश्चित्त उसे वात्सल्य रस की सजीव प्रतिमा वना देता है और वह अन्तत. आठवें पुत्र (गजमुकुमाल) की माता वनकर अपने मातृत्व को सार्थक करती है देव पात्रो मे देवता और यक्ष आते है ये सहायता भी करते हैं और आतकित भी पर इन दैविक शक्तियो के आगे भी ऊर्जस्वल मनुष्यत्व कभी नतमस्तक नही होता

इन कथा-काव्यो मे इतिवृत्त की प्रधानता है कथा मे वस्तु-वर्णन और दृश्य-वर्णन के कई अवसर आये है दृश्य-वर्णन-प्रमुख स्थल प्राय निम्नलिखित रहे हैं—

(क) वस्तु रूप मे —

(१) नगर-वर्णन (२) वैभववर्णन (३) जन्म-वर्णन (४) रूप-वर्णन (५) विवाह-वर्णन (६) मुनि-दर्शन-वर्णन, दीक्षा-वर्णन

(ख) भाव-रूप मे —

(१) मुनि-व्रत की कठोरता का वर्णन (२) शृगार के सयोग-वियोग रूप (३) वात्सल्य के सयोग-वियोग रूप (४) वीर और रौद्र रस के चित्र (५) करुण और शान्तरस के चित्र (७) मुक्त हास्य का सजीव चित्र.

वस्तु रूप मे जो चित्रण है, वे इतिवृत्तात्मक वनकर ही रह गये हैं प्रकृति-चित्रण और उसकी आलकारिक क्षमता के कारण ये वस्तुवर्णन रस-परिपाक मे असमर्थ रहे है जैन मुनियो ने प्रकृति के उपादानो से ग्रहण करने का प्रयत्न किया है परन्तु उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम भिन्न रहा है अर्थात् वैष्णव कवियो ने कृष्ण-भक्ति के नाम पर विलासविवर्धक तथ्याभिव्यक्ति मे तनिक भी सकोच नही किया है, जब कि अध्यात्मसस्कृतिमूलक जीवनयापन करने वाले एव आत्मस्थ सौन्दर्यप्रबोधक सन्तो ने प्रकृति से साधना के प्रकाश मे सौन्दर्य ग्रहण तो किया है किन्तु उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम पार्थिव सौन्दर्यमूलक तथ्य न हो कर अन्तरग सौन्दर्य ही रहा है

नगर-वर्णन मे उसके वैभव का ही अधिक चित्रण है द्वारिका नगरी के वर्णन मे कवि ने उसके ऐश्वर्य को यो व्यक्त किया है—

'सोवन कोट रतन कांगुराजी, सोभे रूडा आवास।
झिग मिग करने दीपताजी देवलोक जिम सुख वास ॥ —पृ० ३१८

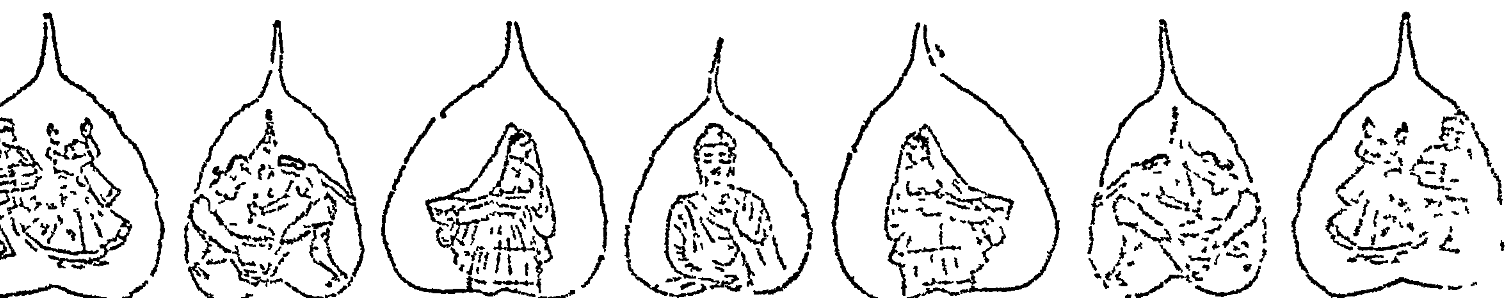
रूप-वर्णन के तीन प्रसग है जन्म के अवसर पर, विवाह के अवसर पर और मुनि-दर्शन के अवसर पर द्रौपदी का जन्म हुआ है उसके रूप का कोई पार नही उसकी वोली शकरकद-सी मीठी, उसका अर्ध चन्द्राकृति सम ललाट, नयन कमल से विकसित, भुजाएँ मृणालिनी-सी, नासिका दीपशिखा-सी और दत-पक्ति दाडिम-कुली-सी.[1] विवाह के लिए नेमिनाथ वरयात्रा सजाकर चले है रथ मे वैठे हुए वे ऐसे लगते है मानो ग्रह-नक्षत्रो के वीच चन्द्र हो'[2] देवकी भगवान् नेमिनाथ को वन्दना करने के लिए जा रही है. उसने स्नान कर नया वेश धारण किया है, आभूपण पहने है—हाथो मे ककण, कठ मे नवसर हार, पैरो मे नूपुर; मानो साक्षात् देवागना हो[3]

---

१ कु वरी रूप माहे रलियामणी, मुख वोले अमृत-वाण।
मीठी शाकरकद सी, वले भासे हित मित जाण ॥ नयणसलूणी रे कन्यका।
अरध शशी सम सोभतो, पुनि पूरण भरियो भाल।
नयन कमल जिम विकसता, वेहुं वाह कमल नो नाल ॥
नाशिका दीपे शिखा समी, नकवेसर लहे नाक।
दत जिसा दाडिम कुली, मृग-नयनी सूरत पाक ॥—पृ० ३९७-९८

२. नगारा री धोरज वाजे, आकाशे जाणे अवर गाजे।
नेम कँवर रथ वैठा छाजे, ग्रह नक्षत्र में जिम चद्र विराजे ॥—पृ० २२२

३. न्हाई ने मजन करी, पहिर्या नव-नवा वेश।
माणक मोती माला मूदड़ी, गहणा हार विशेष ॥—पृ० २१३



मुनि-दर्शन के लिए राजा-महाराजा अकेले नही जाते थे वे शोभा-यात्रा के साथ सज-धजकर जाते थे. देवकी नेमिनाथ को वन्दना करने जा रही है उसने शानदार रथ सजाया है वह बहुत ही हलका है और चार पहियो वाला है चारो ओर मोतियों की जाली लगी हुई है [1] उसमे जुते हुए बैलो का क्या कहना ? दोनो की समान जोडी है उन पर झूल सुशोभित है. उनके सीगो मे 'राखड़ी', गले मे रजतघटिकायुक्त स्वर्ण-शृखला और सीगो पर सोने की खोल. रेशम की मृदु 'नाथ' नाक मे पडी है ताकि उन्हे पीडा न हो [2]

दीक्षा-वर्णन में वर्षीतप का, दान देने का, लोच करने का प्राय वर्णन किया गया है

वस्तु-रूप मे जो वर्णन आये है उनमे कुछेक बहुत ही सुन्दर बन पडे है, जैसे रथ-वर्णन भाव-रूप मे, जिन मनोवृत्तियो की अतुल गहराई मे पैठकर कवि ने चित्रण किया है, वह प्रभावोत्पादक और सरस बन पडा है. कवित्व का स्फुरण इन्ही स्थलो पर दिखाई देता है

जैन-सत-कवि की काव्य-कला का मूल्याकन करते समय हमे लौकिक-काव्य को परखने की प्रचलित कसौटी से कुछ भिन्न कसौटी अपनानी होगी तभी हम उसके साथ ठीक-ठीक न्याय कर सकेगे जैन-सत-कवि की मूल चेतना लौकिक-सुख से प्रेरित-प्रभावित न होकर लोकोत्तर आनन्द से सचरित होती है. इसीलिए प्राय. इन कवियो ने ससार की नश्वरता और असारता का वर्णन प्रभावोत्पादक ढग से किया है.

कवि जयमलजी ने इन कथाओ के माध्यम से भोगपरक जीवन की निस्सारता और योगपरक सयमनिष्ठ जीवन की श्रेष्ठता प्रमाणित की है. कमलावती के माध्यम से उन्होने कहलाया है—

> रतन जडित हो राजाजी पिंजरो, सुवो तो जाणे छे फद ।
> इसडी पण हूं थांरा राज में, रति न पाऊं आणन्द ॥ —पृ० १६४ ॥

राजा प्रदेशी भी केशी श्रमण से सभी शकाग्रो का समाधान पाकर इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि—

> कुण माता ने कुण पिता, कुण स्त्री प्रिय भाय रे ।
> हुवे दुपमण कपडा डील रा, जब करम उदय हुवे आय रे ॥ —पृ० २६०

अत मुग का एक ही रास्ता है—

> हस्ती जिम बंधन तोडने, आवणो वन में सुखे जाय ।
> ज्यूं कर्म बंधन तोडी संजम ग्रहां—होस्यां ज्यूं सुखी मुगत मांय ॥—पृ० १६५

पर यह सयम मार्ग सरल नही है 'कृपाण की धार के समान' दुस्तर है इसकी कठोरता, भयकरता और उग्रता का वर्णन देखिये—

हाथ में कांकण सोभता, कठे नवसर हार ।
पगे नेवर दीपना, जाणे देवागना उणिहार ॥१४॥—पृ० ३२७

१. रथ हलको घणो बानणो, चले च्यार पैडा री जाण ।
खुद शब्द करे नहीं,, लागे लोका ने सुहाण ॥३॥
[illegible] काठ नो भूंसरो, चले मोटा पैडा जोत ।
मोत्या री जाली लग रही, छबी शोभा को उद्योत ॥४॥—पृ० ३२६

२. [illegible] रे [illegible] सोवनी, नाके नथ [illegible] रे ।
राखडी सींगा में सोभती गल घाघी घुघर-माल रे ॥६॥
सोना री गले में [illegible], रूपा री घोकरियो जाण रे ।
[illegible] ऊपर [illegible] बलदज आण रे ॥१०॥
[illegible] सिणगारे नाथ रे ।
[illegible] रेशम री [illegible], [illegible] दोरो नहीं [illegible] रे ॥११॥—पृ० ३२६-२७



मुनिवर मोटा अणगार, करता उग्र विहार।
पड रही तावडे री भोट, तिरसा सू सूखा होट।
कठिन परिसो साधनो ए॥ तालवे कोइ नहीं थूक,
जीभ गई ज्यारी सूख, होठो रे आई खरपटी ए॥—पृ० १८३॥

निर्वेदप्रधान रचनाओ के होने पर भी शृगार-रस के सयोग-वियोग के कई रसीले चित्र यहाँ देखने को मिलते है सयोग का वर्णन अधिकतर वहाँ हुआ है जहाँ सयम लेने के पूर्व नायक सासारिक भोग भोगता है[1] विरह के चित्र वहाँ अकित हैं जहाँ नायक दीक्षित हो जाता है राजमती के प्रिय-वियोग के चित्र बहुत ही सुन्दर और स्वाभाविक बन पडे है उसके लिए 'महल अटारी भए कटारी' और 'चन्द-किरण तनु दाझतिया' है उसकी आँखे प्रियदर्शन को आतुर है—

तरसत अंखियां, हुई द्रम-पखियां।
जाय मिलो पिव सू सखिया॥
यादुनाथ रे हाथ री ल्यावे कोई पतियां॥१॥ पृ० २२६

वह प्रिय को उपालभ देना चाहती है. "थे तज राजुल किम भये-जतिया" जो उसका उपालभ नेमिनाथ को देने जायगी, उस दूतिका को वह गहनो से लाद देगी—

जाकूं दूंगी जरावरो गजरो, कानन कूं चूनी मोतिया॥३॥
अगुरी कू मूंदडी-ओढण कूं फमडी, पेरण कूं रेशमी धोतिया॥४॥ —पृ० २२६-२३०॥

उसका यह विरह ही उसे अनन्य प्रेमिका[2] बनाकर मुक्ति-पथ पर ले दौडता है और वह अन्त मे साधिका बन जाती है. इस प्रकार कहा जा सकता है कि यहाँ जो शृगार आया है वह शान्त रस की पीठिका बनकर ही

वात्सल्य-रस के सयोग के चित्र भी यहाँ उसी तन्मयता से अकित है. देवकी के ६ पुत्र देवता के उपक्रम से मृत घोषित हो जाते है, कृष्ण का पालन-पोषण भी वह नही कर पाती पर जब भगवान् नेमिनाथ से उसे यह जानकारी मिलती है कि जो ६ साधु है वे जन्मत उसी के पुत्र है तो उसका मातृत्व उमड पडता है वह जब छहो मुनिवरो के पास पहुँचती है तो उसके सयोग-वात्सल्य का स्रोत उमड पडता है—

तडाक से तूटी कस कचू तणी रे, थण रे तो छूटी दूधाधार रे।
हिवडा माहे हर्ष मावे नहीं रे, जाणे के मिलियो मुझ करतार रे॥४॥
रोम-रोम विकस्या, तन-मन ऊलस्या रे, नयणे तो छूटी आसू धार रे।
विलिया तो बांहा माहे मावे नही रे, जाणे तूट्यो मोत्यां रो हार रे॥५॥ —पृ० ३३०॥

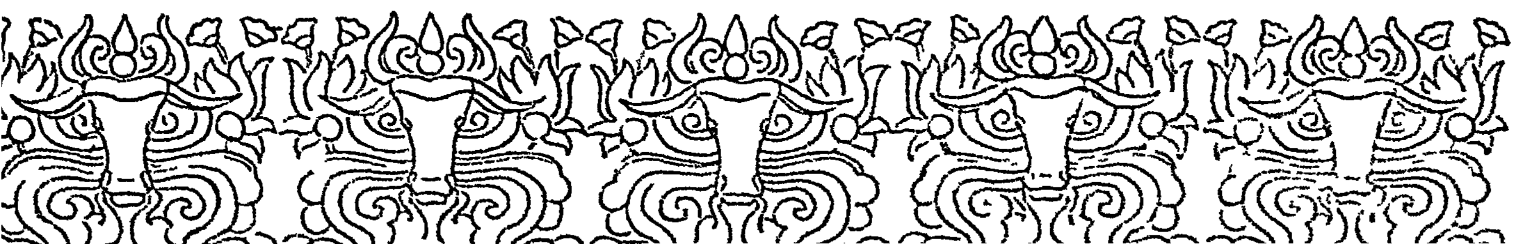
इस सयुक्त अनुभूति पर न जाने सूर के कितने पद न्यौछावर किये जा सकते है सयोग-वात्सल्य का प्रत्यक्ष रूप वहाँ देखने को मिलता है जब देवकी की गोद मे गजसुकुमाल किलकारी करते है वह उसे यशोदा की तरह झुलाती है, आँखो मे अजन आँजती है, अगुली पकडकर चलाती है, खाने को दही-रोटी देती है[3] इस वर्णन को पढ कर तो ऐसा लगता है मानो कवि जयमल ने माता का हृदय पा लिया हो

---

१ चद्र-वदन मृग-लोयणीजी, चपल-लोचनी बाल।
हसीलकी, मृदु भाषिणीजी, इद्राणी-सी रूप रसाल॥२॥
प्रीतवती सुख आगलेजी, मुलकनी मोहन वेल।
चतुराना मन मोहतीजी, हस-गमणी सू करता बहु केल॥३॥ —पृ० ३२२

२ कुण ताके तारा ने, छोड शशी, म्हारे सावरिया सलोणी सूरत किसी, म्हे दूजा भरतार नी तृष्णा त्यागी॥ —पृ० २३०

३ जी हो खेलावण-हुलरावणे, लाला, नु गावण ने पाय।
जी हो न्हवरावण पेहरावणे, लाला, अगो अग लगाय॥८॥



वियोग-वात्सल्य का वर्णन भी कम सुन्दर नही है. देवकी के हृदय की थाह वही स्त्री ले सकती है जिसने ७-७ पुत्रो को जन कर भी मातृत्व का आनद नही उठाया. उसके हृदय मे इस बात का बड़ा दर्द है कि उसने कन्हैया को हाथ पकड-कर चलाया नही, रोते हुए को बहलाया नही, ओढ़ाया नही, पहनाया नही. इस पश्चात्ताप मे घुल-घुल कर देवकी सचमुच वात्सल्य की मूर्ति बन गई है—

"जाया में तुम सारिखा कन्हैया, एकण नाले सात रे।
एकण ने हुलरायो नही कन्हैया ! गोद न खिलायो खण मात रे ॥७॥
रोवतो में राख्यो नहीं कन्हैया ! पालणिये पोढाय रे।
हालरियो देवा तणी, कन्हैया, म्हारे हूंस रही मन मांय रे ॥६॥
आंगणिये न करावी थिरी, कन्हैया ! आगुंलियॉ विलगाय रे।
हाऊ बैठो छे तिहां, कन्हैया ! अलगो तू मति जाय रे ॥१०॥
ओडणियो पहराव्यो को नहीं, कन्हैया, टोपी न दीधी माथ रे।
काजल पिण सार्यो नहीं, कन्हैया, फदिया न दीधा हाथ रे ॥१०॥ —पृ० ३३२-३३

कहना न होगा कि इस भावना को वात्सल्य रस के सम्राट् महाकवि सूर भी नही पहुँच सके है.

वीर और रौद्र रस के प्रसग भी यथास्थान आये है. जब कुती कृष्ण के पास पहुँचकर द्रौपदी की खोज लाने के लिए उत्तेजित करती है, तब कृष्ण जो वचन नारद को कहते हैं उनमे उनका उत्साह छलका पड़ता है—

'दल बादल पाछा फिरे, फिरे नदियाँ का पूर।
'माधव वचन फिरे नही, जो पिच्छम ऊगे सूर ॥पृ० ४१४

रौद्र रस का प्रसग तब उपस्थित होता है जब राजा पद्मोत्तर कृष्ण द्वारा भेजे गए दूत को बुरा भला कह बैठता है—

सिह रे मुडा मांय, कांई घाले आंगुली रे।
असवारां री होड करे, डोशी पागुली रे ॥—पृ० ४१७

करुण और शान्त रस के चित्र पशुओ के करुण क्रन्दन, स्कदक ऋषि, उदाई राजा, मेघकुमार, गजसुकुमाल, कार्तिक सेठ आदि के क्षमा-भाव मे दिखाई देते हैं यो प्रत्येक कथा का अन्त शान्तरस में ही हुआ है, सभी रस शातरस के सहयोगी बनकर ही आये है.

हास्य और व्यग्य के लिए भी कतिपय अवसर उपस्थित किये गये है. नेमिनाथ विवाह के लिए इच्छुक नही है. इसके कारणों की कल्पना हास्य-व्यग्य-प्रसूत है. कृष्ण की रानिया देवर नेमिनाथ को चिढाने के लिए कभी तो कहती हैं कि 'तोरण आया करे आरती, टीको काढने सासू खाचे नाको रे' अतः 'इम डरतो परणे नही.' कभी कहती है—'बाई चित कारने चवरी चढे, तीने फेरा लेणा पडे लारो रे' इसलिए विवाह नही करता. कभी कहती है—'जुवाजुई रमता थका, रखे बनड़ो जावे हारो हे बाई' और कभी 'दोरडो, दोरो हैं कांकण दोरड़ो खेलणो पड़े एकण हाथो हे बाई'. इसी प्रकार एक स्थान पर सखिया नेमिनाथ को काला कहकर राजुल से मजाक करती है—

"सहियां कहे राजुल ! सुणो,
बाई ! कालो नेम कुरूपो ए। भल भूपो ए—
और भलेरो लावसां के सहियों ए ॥

करी कुसामदी ताहरी पिण म्हारे दया न आयो-ए। न सुहायो ए—
काली वर किण काम रो के सहियां ए—॥ पृ० २३२

यहाँ तक हमने आलोच्य कवि की प्रवन्ध-पटुता और वर्णन-क्षमता का विवेचन किया है अव उसकी मुक्तक रचनाओ पर विचार करेंगे

मुक्तक रचनाओ में कथा की कोई धारा नही वहती यहाँ प्रत्येक मुक्तक अपने आप मे स्वतन्त्र होता है जयमल्लजी ने जिस सफलता के साथ कथाओ को प्रवन्धात्मक रूप दिया है, उसी सफलता के साथ भावनाओ को मुक्तक-रूप भी. इनके मुक्तक-काव्य को तीन भागो मे वाटा जा सकता है—

(१) स्तुतिप्रधान मुक्तक (२) नीतिप्रधान मुक्तक (३) तत्त्वप्रधान मुक्तक

स्तुतिप्रधान मुक्तको मे तीर्थंकरो, विहरमानो, सतियो, साधुओ आदि की प्रधान रूप से स्तुति की गई है तीर्थंकरो मे कवि को विशेष रूप से सोलहवे तीर्थंकर शान्तिनाथ[1] और २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ[2] अधिक भाये हे विहरमानो मे प्रथम विहरमान श्री सीमधर स्वामी कवि के आराध्य रहे है सतियो मे आदर्श सतियो की नाम—गणना (६४ सतिया) कर उनका शील-माहात्म्य बतलाया है साधुओ मे आदर्श साधुओ के नाम गिना कर उनकी साधना का गुणानुवाद किया है चार मगल[3] (अरिहन्त, सिद्ध, साधु और धर्म) भी कवि के लिए स्तुति-योग्य रहे है प्रथम मगल मे अरिहन्त के ३४ अतिशय और ३५ वाणी की विशिष्टताएँ वर्णित है दूसरे मगल मे सिद्ध का स्वरूप निरूपित है तीसरे मगल मे साधु की ज्ञान क्रिया और महिमा दिग्दर्शित है चौथे मगल मे धर्म, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और रात्रि-भोजननिपेध का साधनात्मक रूप प्रदर्शित है

यहाँ जो स्तुत्य पात्र आये है वे शक्तिशाली, पुरुषार्थी और वीतरागभावी है. उनकी स्तुति करने के मूल मे दो भावनाएँ निहित है एक तो स्तुति-योग्य पुरुषो के समान अपने आप को वनाने की ललक और दूसरे उनके नामस्मरण से दुख-मुक्ति की वलवती स्पृहा, कवि शान्तिनाथ का स्तवन इसीलिए करता है कि—

तुम नाम लिया सव काज सरे,
तुम नामे मुगति महल मले ॥—पृ० ७

ठीक यही बात सीमधर स्वामी के नाम-स्मरण के वारे मे भी कही गई है—

तुम नामे दुःख दोहग टले,
तुम नामे मुगति सुख मले ॥ —पृ० १३

इन स्तुतिप्रधान मुक्तको मे कवि अपने आराध्य के गुणकीर्त्तन में ही विशेष लगा रहा है भक्त कवियो की सी दीनता, आर्त्तता, याचना, लघुता और विह्वलता के दर्शन नही होते न तो कवि तुलसी की भाँति राम के दरवार मे अपने हृदय की 'विनयपत्रिका' को खोल कर रखता है, न सूर की भाँति वह अपने आराध्य को चुनौती देता है कि 'हौं तो पतित सात

---

१. चालीस धनुप ऊँची रे देही
वलि हेमवरणी उपमा रे कही।
दीठे दिल दरियाव ठरो,
श्री शान्ति जिनेश्वर शान्ति करो ॥१६॥ पृ० ६

२. पाचे अगनी कमठे साझी,
देखण भीड मिली जाझी।
नागने काढ्यो काठताणी,
श्री पास भजो पुरुपादानी ॥८॥ पृ० ८

३. 'मगल' एक प्रकार का काव्य-रूप है जिसमें विवाह-वर्णन को प्रधानता रहती है. विवाह के अवसर पर गाये जाने वाले गीत भी मंगल कहलाते यहाँ 'मगल' शब्द भिन्न अर्थ में आया है



पीटिन को, पनिते ह्वै निम्तरि हो.' इसका प्रवान कारण कवि का एक सिद्धान्त-विशेप मे आस्थावान् वने रहना है यो एकाध जगह 'रटवडियो जेम गेडि दडो' या 'पची रह्यो जिम तेल वड़ो', कहकर उसने ससार के परिभ्रमण की कठिनाइयों और परेशानियों का मार्मिक चित्र खीच दिया है

कवि भगवान् के साथ अपना कोई विशेप पारिवारिक सम्वन्ध भी नही जोडता है कवीर की तरह 'हरि जननी मैं वालक तोरा' या 'हरि मोर पीव मैं राम की वहुरिया' जैसी भावना प्रकट करने का अवसर ही यहाँ नही. वह तो स्वय ईश्वर वनने की साधना मे सलग्न है. ईश्वर का अश वनकर क्यो रहे ? फिर भी सीमधर स्वामी के साथ 'कागडियो' शीर्षक रचना मे वह दाम्पत्य सम्वन्ध जोड़ता है—

दूर डिसावर जेहनो पिऊ वसेजी,
ते नार सुहागण कहाय।
महाविदेह मे धणिय विराजिया जी
तिके निरधणिया किम थाय ॥—पृ० ४३-४४

पर यह सम्वन्ध मिलन की खुशी का नही, विरह की पीडा और विवशता का है—

आडा डूंगर ने नदियां वन घणाजी, वीचे विकट विद्याधर ग्राम।
वाणी सुनवाने हो आय सकूं नहीं, यां ही लेसु' तमारो नाम ॥ पृ० ४४

नीतिप्रधान मुक्तको में सदाचार, ज्ञान और उपदेश की बाते कही गई है. इसकी दो धाराएँ दृष्टिगोचर होती है. एक मे आत्म-गुणो के महत्त्व की झलक है तो दूसरी मे लौकिक व्यवहार और आचार का निरूपण. आत्मवल के विकास के लिए जिन गुणो पर वल दिया गया है वे हैं धर्माचरण, सम्यक्त्व भाव, क्षमा, ब्रह्मचर्य-पालन आदि. आत्म-कल्याण की ओर व्यक्ति को अभिमुख करने के लिए शरीर की नश्वरता और जीवन की क्षणभगुरता[1] का वर्णन कर साधु-जीवन की श्रेष्ठता[2] का प्रतिपादन किया गया है इस आध्यात्मिक जागरण-अभियान का ओजपूर्ण चित्र देखिये—

दया-रणसिंघो वाजियो, जागो-जागो नर-नार।
मुगत-नगर में चालणो तुमे, वेगा हुइजो त्यार ॥ —पृ० १६०

वस्तुत जो यह तैयारी कर लेता है उसे पारमात्मिक ज्योति का साक्षात् हो जाता है

मोती विखर्या चौक में रे, आंधा उलंघ्या जाय।
ज्योति खुली जगदीश री रे, चतुरां लिया उठाय ॥ —पृ० १६०

लोक को भी साधक की दृष्टि से देखा गया है वह हटवाडे के मेले की तरह[3] है कभी यह जग सपना लगता[4] है तो कभी कलियुग के दुखों का घर[5] 'जहाँ पापनी वाता वल्लभ लागे, धरम लागे खारो रे' सच तो यह है कि इस 'मिनख

जमारे' को सफल और सार्थक बनाने के लिए आत्मा को सन्नद्ध होना होगा 'दीवाली' शीर्षक कविता मे जो आध्यात्मिक रूप, दीवाली को दिया गया है,[1] वह महादेवी के 'क्या पूजा क्या अर्चनरे' गीत की याद दिला देता है

यह सही है कि इन नीतिपरक मुक्तको मे काव्य की अपेक्षा उपदेश की अधिक प्रधानता है अन्य नीतिकार कवियो ने जहाँ सूक्तियो के माध्यम से लोकव्यवहार की बातें कहकर लोक-जीवन को सुखी बनाने का उपक्रम किया है, वहाँ कवि जयमलजी का लक्ष्य लोकोत्तर जीवन को सफल बनाने का रहा है एक ने लौकिक पक्ष के विविध रहस्यो का उद्घाटन किया है तो दूसरे ने आत्म-प्रदेश की यात्रा मे पडने वाले विभिन्न स्थलो का पर्यटन एक की दृष्टि यथार्थमूलक अधिक रही है तो दूसरे की पूर्णत आदर्शमूलक

तत्त्वप्रधान मुक्तको मे जैन-दर्शन के कतिपय तात्त्विक सिद्धान्तो को पद्यबद्ध किया गया है. यहाँ कवित्व पीछे छूट गया है और दर्शन की पारिभाषिकता तथा दुर्बोधता उभर आई है ऐसे मुक्तको मे 'इरियावही नी सज्झाय', 'चौवीस दडक नी सज्झाय', 'पन्द्रहपरमाधर्मी देव', 'शास्त्र छत्तीसी', 'जीवा बयालीसी' आदि रचनाओ के नाम गिनाये जा सकते हैं

उपर्युक्त विवेचन से इस सत कवि की काव्य-साधना और भाव-व्यजना का विशद स्वरूप हमारे सामने प्रत्यक्ष हो उठता है. कवि मे प्रबन्ध-पटुता, वर्णन-कौशल और रसोपलब्धि कराने की क्षमता के साथ-साथ मुक्तक-रचनाओ के सृजन की प्रतिभा भी है सक्षेप मे कहा जा सकता है कि जयमलजी की कविता मे कबीर का विद्रोह, सूर का वात्सल्य और तुलसी का लोकहित, साथ-साथ दिखाई देता है

काव्य-कला—साधक-कवियो की दृष्टि काव्य-कला पर उतनी नही रही जितनी जीवन-निर्माण की कला पर यही कारण है कि इनकी कविताओ मे आपको न तो कल्पनाओ का स्वच्छन्द विहार मिलेगा, न भावनाओ का शृगारपरक उद्दाम वेग न यहाँ 'भूषण बिना न राजइ कविता बनिता मित्त' की मादक मनुहार मिलेगी, न छन्दो का सग्रहालय ' ये कवि तो अनुभूति मे जितने सच्चे और खरे हैं अभिव्यक्ति मे भी उतने ही स्पष्ट और सीधे इन्हे चमत्कार प्रदर्शन कर किसी का हृदय जीतना नही था, काव्य के माध्यम से जीने की कला बताकर उनका उद्धार करना था. इस कसौटी पर सत कवि आचार्य जयमलजी की काव्यकला खरी उतरती है

कविता करना इनका लक्ष्य नही था. धर्मोपदेश देते समय जन-साधारण को आत्मा, परमात्मा, पाप, पुण्य, बध, मोक्ष आदि का स्वरूप समझाने के लिए जो भावनाएँ हृदय मे उठती थी, वे ही तन्मयता की स्थिति मे सरस और तीव्र बनकर कविता बन गईं

ये अपनी बात जनता की ही भाषा मे कहने के अभ्यस्त रहे हैं सस्कृत, प्राकृत के विशिष्ट ज्ञाता होते हुए भी इन्होंने अपनी रचनाएँ सामान्यत राजस्थानी भाषा मे ही लिखी है जयमलजी का विहारक्षेत्र और कार्यक्षेत्र भी अधिकतर राजस्थान ही रहा है, अत यहाँ की लोकसस्कृति, लोक-व्यवहार और लोक-भावना का सही प्रतिबिम्ब इनकी रचनाओ मे झलकता है[2]

भाषा पर कवि का अच्छा अधिकार है वह भावानुकूल उठती-गिरती है प्रबन्धात्मक रचनाओ मे भाषा का प्रवाह और माधुर्य है तो मुक्तक रचनाओ मे उसका गाभीर्य और सारल्य भाषा की प्रवहमानता और मधुरता का एक उदाहरण देखिए—

---

१ दीवाली जयवाणी, पृ० ५३

२ (क) विवाह में जिनको बुलाया जाता है उन्हें पीले चावल दिये जाते हैं ·

'बिगर बुलाया आविया रे, थाने किण पीला चावल दीधा'

(ख) अमगल होने पर स्त्री का दाया अग फड़कना है. राजुल सखियों से कहती है :

'म्हारे जीमणो फरूके गातो ए, जग-नाथो-ए ॥ मिलसी के मिलसी नहीं क-नहिया ए ॥

(ग) अनिष्ट निवारण के लिए अमागलिक बात पर थूक दिया जाता है :

राजुल की सखिया इसीलिए कहती हैं 'बाई ! बोलता मती चूको ए, परो थूको ए ॥

तोरण ऊपर आवियो क नहिया ए ॥

> महाराज चढे गज-रथ तुरियां हय गय रथ पायक-सुखदायक । नयन-कमल हरसत ठरिया ॥महा०॥
> म्रूव वगत वनी-व्यावन की । घोर घटा उमही झरियां ॥महा०॥ पृ० २२१

जहाँ तात्त्विक विवेचन किया गया है वहाँ पारिभाषिक शब्दो का वाहुल्य है. ऐसे स्थल जैन-दर्शन से अपरिचित व्यक्तियो के लिए अवश्य दुर्बोध हो गये है पर जिसे जैन-दर्शन का थोडा-वहुत भी ज्ञान है, वह रस लिए विना नही रहेगा. अस्सी प्रतिशत से अधिक शब्द राजस्थानी और हिन्दी के है कही-कही प्राकृत के वाक्याश भी प्रयुक्त हुए है जिनमे सास्कृतिक वातावरण के निर्माण में सहायता मिली है जैसे—'खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया' (पृ० ३२५).

कवि की अभिव्यक्ति प्रतीकात्मक कम, अभिधात्मक अधिक है, यही कारण है कि जगह-जगह कवित्व में वाधा पहुँची है. यहाँ कवीर की तरह चमत्कारपूर्ण और विरोधमूलक सख्यात्मक या सम्वन्धात्मक प्रतीको का प्रयोग नही हुआ है. केवल एक जगह ऐसे सकेत मिले है—

(क) सख्यात्मक प्रतीक—

> पांचू[1] मेली रे मोकली, छहुं[2] री खबर न काय ।
> सातां[3] सेती रे लग रह्यो, पड्यो आठ मद माय ॥

(ख) वर्ण प्रतीक—

> पापां सूं परिचय वध्यो, 'हवो'[4] रहे रे हजूर ।
> ल,[5] ले लिव लागी रही, ददो[6] दिल सूं दूर ॥ पृ० १६२

यद्यपि अलकारो की ओर कवि का झुकाव अधिक नही रहा तथापि भावो को मधुर से मधुरतर और स्पष्ट से स्पष्टतर वनाने के लिए यथाप्रसग अलकारो का प्रयोग किया गया है. सादृश्यमूलक अलकारो का प्रयोग ही अधिक हुआ है इनमे भी उपमा और रूपक ही कवि को विशेप प्रिय रहे है उपमानो के चुनाव मे कवि विशेप सजग रहा है. उसकी दृष्टि केवल मात्र रूढिवद्धता या शास्त्रीय ज्ञान मे वँधकर नही रही. इससे ऊपर उठकर भी उसने देखा है. लोकजीवन और लोक-मानस का गहन अध्ययन और सूक्ष्म निरीक्षण कवि द्वारा प्रयुक्त उपमानो से झाकता प्रतीत होता है. शास्त्रीय और किताबी ज्ञान लोक-सस्कृति से पीछे छूट गया है यहाँ दोनो के कतिपय उदाहरण दिये जा रहे है—

(क) शास्त्रीय रूढिवद्ध उपमान —

(१) कुगुरु तो कालो नागज सरिखा (१२४–११)
(२) आयु घटती जाय छे, जिम अंजली नो पाणी रे (१३१–१८)
(३) जाया तो विण घडी रे छ मास (२११–३)
(४) नेम कवर रथ वेठाँ छाजे,
ग्रह नक्षत्र मे जिम चन्द्र विराजे (२२२–३)
(५) कुँवर लागे छे प्यारो,
उवर फूल ज्यू दुलभ हमारो हो (३५६–१)

---

१. पांच इन्द्रिया : श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय.
२. षट्काय : पृथ्वीकाय. अप्काय. तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय.
३. [illegible] :
४ [illegible]
५. [illegible]
६. [illegible]



(ख) लोक-जीवन से लिए गए उपमान —

(१) ओ जीव राय ने रक थ्यो, वलि नरक निगोदमा वहू रे रह्यो,
रडवडियो जेम गेडि दडो, श्री शान्ति जिनेश्वर शान्ति करो (६–१६)

(२) चार गतिना रे दुख कह्या, जीवे अनति अनति वार लह्या,
पची रह्यो जिम तेल वडो, श्री शान्ति जिनेश्वर शान्ति करो (६–२०)

(३) तामस तपियो नर इसो, आँख मिरच जिम आँजी रे
क्रोध विणासे तप सही, दूध विणासे काजी रे (६८–२०)

(४) आदि अनादि जीवडो, भमियो चऊ गति माय
अरहट घटिका नी परे, भरि आवे रीति जाय (८४–१)

(५) काल खडो थारे वारणे, जिम तोरण आयो वीद (११३–१०)

(६) डाभ अणी जल जेहवोजी, आगिया नो चमत्कार.
तेहवो ए धन आउखोजी, वीजली नो झबकार (१२५–७)

(७) पिण परवश पडिया जोर न लागे,
जिम दवी साप नी ठोडी रे (१३५–७)

(८) ले जाई लक्कड मे दीधो, हुवो घर रो धोरी रे.
घास फूस छाणा देई ने, फूंक दियो जिम होली रे (१३५–१६)

(९) अथिर ज जाणो रे थारो आउखो,
जिम पाको पीपल पान (१४०–४)

(१०) सडण-पडण-विधसण देहनी, तिणरी किसडी रे आस
खिण एक माही रे जासी विगडी, जिम पाणी माहे पतास (१४१–१६)

(११) देव गुरु धर्म री नही पारखा,
सगलाई जाणे सारखा
जिम सरवर नी फूटी पाल (१५६–४)

लगभग सभी उपमान मौलिक और सटीक हैं. इनसे कवि के विस्तृत ज्ञान और सच्चे अनुभव का पता चलता है बिना मर्मभेदिनी दृष्टि के ऐसे उपमान ढूढे ही नही जा सकते जीव की परिभ्रमणशीलता का न जाने कितने कवियो ने वर्णन किया है पर उसकी विवशता को 'रडवडियो जेम गेडि दडो' और 'पची रह्यो जिम तेल वडो' कह कर इसी कवि ने पुकारा क्रोधी मनुष्य के स्वभाव का 'आख मिरच जिम आजी रे' से सुन्दर वर्णन और क्या होगा ? काल के आने की अनिवार्यता और निश्चितता का सकेत 'तोरण आयो वीद' से अधिक और क्या हो सकता है ? शरीर की नश्वरता का बोध 'पाणी माहे पतास' से अधिक कौन करा सकता है ? इन उपमानो मे जितना साधर्म्य निहित है उतना अन्यत्र बहुत कम देखा जाता है

रूपक-दृष्टि मे भी कवि पीछे नही रहा अधिकतर उसने सागरूपक बाधे है. कुछ उदाहरण यहां द्रष्टव्य है—

(१) साधूजी ऊठ्या सूरमा रे, ज्ञान घोडे असवार
कर्म कटक दल जूंझिया रे, विलम्ब न कीध लिगार (१६२–३३)

(२) म्हारे क्षमा गढ-मांय, फोजां रहसी चढी-री माई
बारे भेदे तप तणी, चोकी खडी.
बारे भावना नाल, चढाऊ कागरे-री माई
तोडू आठे कर्म, सफल कार्य सरे (३४३–२४.२५)



(३) काया रूपी हवेलियाँ, तपस्या करने रेल.
सूंस' वरत कर मांडणों, विनय भाव वर वेल ।२८।
क्षमा रूप खाजा करो, वैराग्य घृतज पूर.
उपशम मोवण घालने, मदवो मोतीचूर ।२६।
दिवाली दिन जाणने, धन पूजे घर मांय
इम तू धर्म ने पूज ले, ज्यों अमरापुर में जाय ।३१।
राखे रूप चवदश दिने, गहणा कपडा री चूंप.
ज्यों चूंप राख धर्म सूं, दीपे अधिको रूप ।३२।
पर्व दिवाली ने दिने, पूजे वही, लेखण ने दोत.
ज्यूं तू धर्म ने पूजले, दीपे अधिको जोत ।३४।
पर्व दिवाली जाण ने, उजवाले हवेली ने हाट.
इम तूं व्रत उजवाल ले, वन्धे पुनांरा ठाट ।३५। पृ० ५३

उपर्युक्त तीनो रुपक सुन्दर वन पडे है। पहले मे सत को शूरवीर का रूप दिया गया है। वह ज्ञान के घोडे पर सवार है और वडी त्वरा के साथ कर्म-सैन्यदल का नाश करता है. दूसरे मे क्षमा-गढ़ में प्रविष्ट होने के लिए वारह भावना रूपी नाल की चढाई और आठ कर्म रूपी किवाड़ो को तोडने का वर्णन है. तीसरा रूपक आध्यात्मिक दिवाली का है. दीपावली पर्व मनाने का यह तरीका पूर्णत आध्यात्मिक है. यहाँ काया की हवेली को तपस्या से उज्ज्वल करना है, क्षमा के खाजे, वैराग्य के घेवर तथा उपशम के मोवण से मोतीचूर वनाने हैं. धर्म की वही और कलम दवात को पूजना है. यही नही, काय के मन्दिर मे जिनदेव को प्रतिष्ठित कर उनकी पूजा करनी है उन्हे धैर्य की धूप, 'तपस्या' की अगर और 'श्रद्धा' के सुमन चढाने हैं 'दया' के दीपक मे सवेग की वाती जला कर, 'ज्ञान' का तेल डालकर 'समकित' का ऐसा उज्ज्वल प्रकाश करना है कि आठो कर्मो का अधकार भस्म हो जाय —

काया रूप करो 'देहरो, ज्ञान रूपी जिनदेव ।
जस महिमा शंख झालरी, करो सेवा नितमेव ।१४।
धीरज मन करो धूपणों, तप अगरज खेव ।
श्रद्धा पुष्प चढ़ायने, इम पूजो जिन देव ।१५।
दया रूपी दिवलो करो, संवेग रूपणी वाट ।
समगत ज्योत उजवाल ले, मिथ्या अंधारो जाय फाट ।१६।
संवर रूपी करो ढांकणो, ज्ञान रूपियो तेल ।
आठो ही कर्म परजाल ने, दो रे अन्धारो ठेल ।१७। —जयवाणी : पृ० ५२

साधर्म्यमूलक अलकारो में दृष्टान्त और उदाहरण के प्रयोग ही कही-कही दिखलाई पड़ते है—

(१) दग्ध वीज जिम धरती व्हाया, नहि भेले अकूरजी.
तिम हीज सिद्धजी, जन्म मरण री कर दी उत्पत्ति दूरजी (२८–८)

(२) रुधिर नो कोई खरड्यो कपडो, रुधिर सूं केम धोईजे रे.
हिंसा कर हुवे जीव मेलो, वले हिंसा धर्म करीजे रे (११६–६)

भाषा को प्रभावोत्पादक और भावो को प्रेषणीय वनाने के लिए लोकोक्तियो और मुहावरों का भी यथास्थान प्रयोग किया गया है. यथा—

---

१. सौगन,व्रत, प्रत्याख्यान आदि

(१) जिण घर नो तूं टुकडो खावे सो घर नाखे ढाई रे (११७–१)

(२) वमिया आहार की हो, वाछा कुण करे ?
करे छे कूतरो ने काग (१६३–६)

(३) दिक्षा छे पुत्र दोहिली, तो ने कहु छु जताय
मेण-दात लोहना चणा, कुण सकेला चाय (२१३–२)

(४) हुवे दुपमण कपडा डील रा, जव करम उदय हुवे आय रे (२६०-१)

(५) पाडव जीत माथौ मति धूण
पिण हू तोने करसू आटे लूण (४१६-२)

छन्द-विधान —जैन-सन प्रतिदिन व्याख्यान देते है इन व्याख्यानो मे मुख्य-भाग कथा-काव्यो का रहता है आलोच्य कवि आचार्य जयमल्लजी ने स्वय कई कथा-काव्य रचे जिन्हे वे व्याख्यानो मे गा-गाकर सुनाया करते थे गाने और सुनाने के उद्देश्य से लिखे जाने के कारण इनमे सगीत-तत्त्व की प्रधानता हो गई है. यही कारण है कि यहाँ जो छन्द अपनाये गये है वे ढाल आदि है, जिनसे विभिन्न राग-रागिनियो[1] का वोध होता है अन्य छदो मे दोहा-सोरठा-सवैया आदि है प्रबन्धात्मक काव्यो मे जहाँ दो भावो या घटनाओ के बीच कथा-सूत्र सयोजित करना होता है वहा प्राय दोहा या सोरठा छन्द का प्रयोग किया गया है और जहाँ किसी भावना या घटना का चित्रण किया गया है वहा किसी राग विशेष मे वधी हुई ढाल मे.

निष्कर्ष यह है कि सत कवि जयमलजी का व्यक्तित्व उस युग के कवियो मे अलग जान पडता है सूर ने जहाँ 'सौन्दर्य' को प्रधानता दी, तुलसी ने 'शक्ति' की प्रतिष्ठा की, वहाँ हमारे इस कवि ने 'शील' का निरूपण कर समाज को वासना की वेग-धारा मे वहने से वचाया पद्माकर जैसे कवि जिस युग मे 'नैन नचाय, कह्यो मुसकाय, लला फिर आइयो खेलन होरी' का निमन्त्रण दे रहे थे, उसी युग मे पैदा होकर इस साधक कवि ने 'व्यारूँ ई जाप जपो भला, मोटी दिवाली नी रात' का वोध देकर भक्ति और अध्यात्म की अवरुद्ध काव्य-सरिता को फिर से वहने का प्रवाह दे दिया यही उसकी उपलब्धि और महानता है.

प्रसगत यह उल्लेख कर देना भी अनिवार्य जान पडता है कि रीतियुग मे एक ओर कविगण विलास-वैभव एव साम्पत्तिक जीवन को महत्त्व देकर पार्थिव सौन्दर्य का उद्घाटन कर रहे थे, वहाँ दूसरी ओर जैन कवि आध्यात्मिक सस्कृति को उद्दीपित करने वाली लोककल्याणकामिनी वाग्धारा द्वारा अन्त स्थ सौन्दर्य को निखारने मे तल्लीन थे वे किसी के आश्रित कवि नही थे जिससे कि उन्हे अपने स्वामियो की प्रसन्नता के लिए विकारपोपणार्थ शृगारधारा को साकार कर जनमानस को विशृखलित करना पडता उनका आराध्य और श्रेय नैतिक सिद्धान्तो की अभिव्यक्ति के द्वारा राष्ट्रीय चरित्र को उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित करना था यही जैन कवियो की मौलिक विशेषता रही है इस सत्योपलब्धि की एक कडी आचार्य जयमलजी है, जिन्होने जीवनरस और सिद्धि को न केवल तत्कालीन मनुष्यो के लिए ही प्रस्तुत किया अपितु काव्य द्वारा ऐसी सृष्टि की जिससे शताब्दियो तक मानवता अनुप्राणित होती रहे.

---

१ कुछ रागों के तर्ज इस प्रकार हैं जो मुक्तक रचनाओं में प्रयुक्त हुई हैं —
(१) ते मुझ मिच्छा मि दुक्कड (२) आदर जीव क्षमा गुण आदर (३) वीर वखाणी राणी चेलणा (४) हिवे आश्चर्य थयो ए (५) कागदियो लिख मेजु हो सगू को नहीं (६) ते गुरु मेरे उर वसो (७) चर्णाली चामुंडा रिण चढे (८) कोयलो पर्वत-धूधलो रे लाल (९) ढोला रामत ने परी छोडने (१०) सामी म्हारा राजा ने धरम सुणावजो (११) चितोडी राजा रे (१२) इम धण ने परचावे (१३) अधर्मी अविनीत (१४) तुझ विन घडी (१५) गज घोडा देख भुलाणो रे (१६) प्राणी कव ठाकुर फुरमायो रे (१७) दुनिया में बहुत दगाई रे (१८) कलजुग रो लोक ठगारो रे (१९) प्राणी किये कर माहिव रीजे रे (२०) प्राणी ! ए जग सपनो लागो रे (२१) चेतन चेतो रे मिनख जमारो पायो रे (२२) भवि जीवा करणी हो कीजो नित निर्मली (२३) जीवडला दुलहो मानव भव काई रे तू हारे (२४) बूढा तिके पण कहिये वाल (२५) पुण्य रा फल जोयजो कायर मत होयज्यो रे (२६) काढ भाई रूडो ते न्यू कियो (२७) जीवा तूं तो भोलो रे प्राणी, इम रुलियो ससार



प्रो० श्रीराधेश्याम त्रिपाठी
एम० ए०

आचार्य रायचंद्रजी म० की साहित्यसर्जना

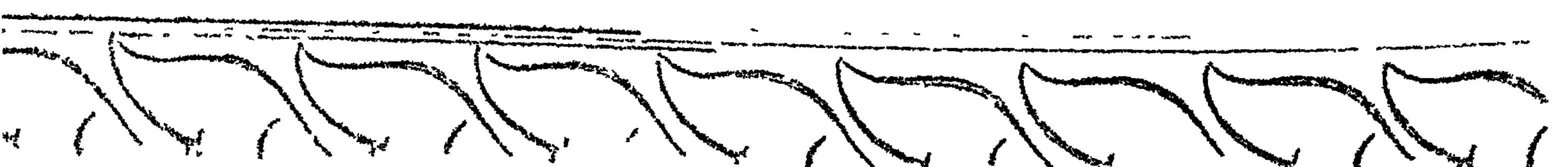
भारतीय साहित्य में जैन साहित्य का जो लोकोपकारक और धर्मनिष्ठ स्वरूप है, वह अनायास ही इस साहित्य के रूप-वैभव की गरिमा का जीवन्त आभास देता है जो अपने साथ एक ऐसी परम्परा का सूत्र थामे हुए है जिसका एक सिरा विक्रम सवत् ११६७ से पूर्व का है जैनाचार्य जिनवल्लभ सूरि के 'बृहद् नवकार' 'के रूप मे विक्रम सवत् १२२५ तथा १२४१ के क्रमश "भरतेश्वर वाहुवलि घोर" तथा 'भरतेश्वर वाहुवलि रास' से वन्धकर विक्रम की १५ वी शताब्दी मे जाकर गठित होता हुआ सूत्र वर्तमान तक सुगठित है

जैन-साहित्य के रचनाकार अधिकाश जैन मुनि हुए है जिन्होने मानव को जीवन का प्रकाश दिया, वह प्रकाश जो सासारिक, माया, मोह, लोभ, क्रोध, मद और जडता आदि मानसिक विकारो को दूर करने मे सामर्थ्यवान् हो सका है जीवन यदि धर्म की पवित्र रेखाओ से वन्धकर आचरण नही करता तो वह व्यर्थ है. इस प्रकार जीवन को धर्ममय बनाने और लोक का कल्याण करने की भावना इस साहित्य मे विद्यमान है १२ वी शताब्दी से लेकर वर्तमान युग तक हमारे सामने जैन रचनाओं के अनेक स्वर्णिम पृष्ठ खुले पडे है, जिनमे मानव-जीवन का सत्य छलक रहा है और जिसके निर्माता जैन मुनि है इसी परम्परा में आचार्य श्रीरायचन्द्रजी महाराज का योगदान जैन साहित्य की आधुनिक कडी के रूप में है

आचार्य रायचन्द्र जी का जन्म विक्रम सवत् १७९६ आश्विन शुक्ला एकादशी को हुआ था आपकी किशोर वय ने जीवन की सार्थकता को खोजने की दिशा ढूढ ली, और विक्रम सवत् १८१४ की आषाढ शुक्ला एकादशी को आपने दीक्षा ग्रहण कर ली आपका सन्त स्वरूप सौम्यता का प्रतीक था. लोकमानस मे जैन धर्म के उच्च आदर्श की प्रतिष्ठा करने के लिए लोकभाषा को अपने भावो का माध्यम बनाया लोकभाषा के रथ पर बैठकर आपके भाव काव्य-सृजन की वल्गा थामे चलते रहे आपने जैन चरित्र व कथा-काव्यो तथा स्तवनो की परम्परा में ऋषभ देव, महावीर, नेमिनाथ, आदि तीर्थंकरो, जम्बू स्वामी, गौतम स्वामी, शालिभद्र आदि उच्चवर्गी जैन साधुओ और देवकी, चन्दनबाला, मृगलेखा आदि सतियो के महत्त्व का एव उनके जीवन की विविध घटनाओ का वर्णन किया है उपदेशात्मक शैली पर लिखी चेतावनीयुक्त शिक्षाएँ, रास, वाणी, सज्झाय आदि विभिन्न पक्षों पर आपने वडा ही भावपूर्ण वर्णन किया है. आपकी रचनाओं में काव्य का माधुर्य उदात्त चरित्रो की सृष्टि करता हुआ लौकिक भावभूमि पर रमण करता है आप प्रतिभासम्पन्न तो थे ही, साथ ही आपके सरस व भावुक हृदय मे सन्त के साथ जो कवि विद्यमान है, वह लोकभावो का सदाचारपूर्ण चित्र खीचने मे सफल और सक्षम हुआ है

सन्तो और मुनियो ने स्तवन द्वारा महान् पुरुषो और अवतारो का गुणानुवाद किया है. "राय-रचना" में मुख्य रूप से जिनका स्थान है उनमें भगवान् ऋषभदेवजी, चन्द्रप्रभ, नेमिनाथ, महावीर और गौतम सम्बन्धी जिनस्तवन उल्लेखनीय है। इन स्तवनों मे आचार्य श्री ने यह प्रतिपादित किया है कि महान् आत्माओ की स्तुति करने से सासारिक कष्टों से छुटकारा होता है रोग, शोक मिट जाते है तथा नामस्मरण से अनेक कार्य सिद्ध होते है. ऋषभस्तवन का एक उदाहरण द्रष्टव्य है —

"मनचिन्तविया, मनोरथ फले
जे सुख चावे ते सुख मिले



लाभे लिच्छमी लील विलास
श्री आदिनाथ पूरो मेरी आस

तथा भवसागर से मुक्त होने की लोकोत्तर भावना भी इन स्तुतियो मे विद्यमान है—

"प्रभु तुम चरणे म्हारो चित लागो
थारो मुगत महल मो सू अति आगो
मुझ भवसागर थी वेगो तारो
प्रभु पार्श्वनाथ लागे प्यारो—पार्श्वनाथ स्तुति

इन स्तवनो मे तीर्थंकरो के जीवन तथा कार्य व्यापारो की एक स्पष्ट झलक भी मिलती है—

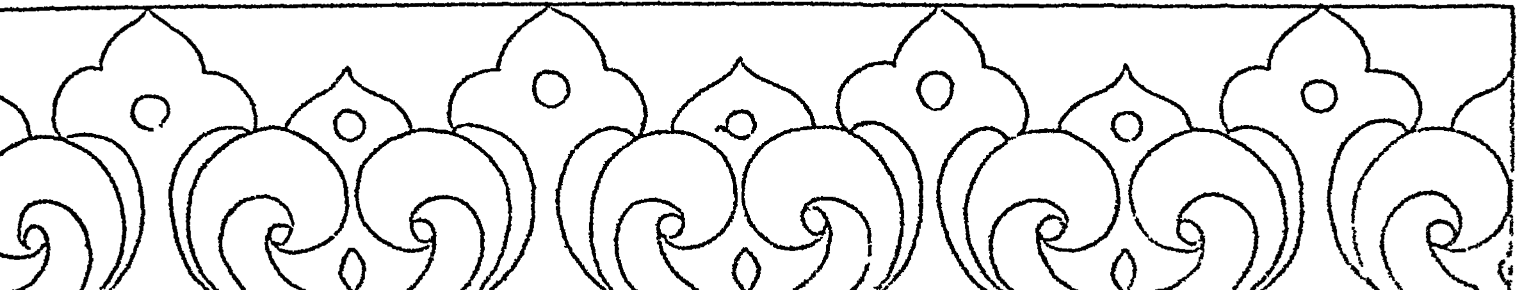
"अनन्त बलि ताप दुष्कर किया
करमां ने दावानल दिया
खम, सम, दम ने धीमा धीर .
मनवछित पूरण महावीर"—श्री महावीरस्तवन

जैनागमो मे चार अनुयोग वतलाये गए हैं, जिनमे प्रथमानुयोग का एक विशिष्ट स्थान है वह जनसामान्य के लिए सुगम और बोधगम्य भी है देखा जाय तो रायचन्द्रजी का साहित्य प्रधानत चरितानुयोगी है उनके साहित्य मे चरितो एव कथाओ का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है जैन साहित्य का वहुत वडा भाग तीर्थंकरो, मुनियो, आचार्यो, श्रेष्ठियो, सतियो और धर्मप्राण नरेशो से सम्वन्धित चरितकाव्यो और कथाकाव्यो के रूप मे पाया जाता है इन कथाकाव्यो मे विविध प्रकार से वर्णित पापो के दुष्परिणाम, पुण्य के प्रमाद तथा धर्मपालन की महत्ता का दिग्दर्शन हुआ है जैन मुनियो का उद्देश्य जनसाधारण को धर्म की ओर प्रेरित करना था और साधारण मानसिक स्तर की जनता गहन धर्मतत्त्व को चरित के द्वारा जिस सुगमता से हृदयगम कर सकती है, अन्य उपायो से नही अतएव जैन साहित्य मे चरितो तथा कथाकाव्यो का विशेष महत्त्व है रायरचना मे चरितकथाकाव्य इसी परम्परा के अन्तर्गत आते है रायरचना मे जिन चरित्रो को काव्यात्मक स्वरूप दिया गया है, वे इस प्रकार है—नव तीर्थंकर, मरुदेवी माता, वलभद्र, शालिभद्र, भगवान् ऋषभदेव, नन्दन मणियार, धन्वन्तरि वैद्य, भग्गू, दुर्योधन, कोतवाल, उज्झित कुमार, हरिकेशी अणगार, अतिमुक्त कुमार, स्कधक, धनमित्र, आषाढ-भूति, कलावती, मृगलेखा, नर्मदा, कुरटगड, पुष्पचूला, मेतार्य, रथनेमि, वहुपुत्तिया देवी और जिनरक्षित-जिनपाल

रायमुनि ने ऐतिहासिक और पौराणिक दोनो प्रकार के चरितकाव्य लिखे है
इन चरितकाव्यो मे चरितनायक का जन्मस्थान, उसकी तपस्या तथा उसके व्यक्तित्व की महत्ता का वर्णन किया गया है कही-कही पर चरित्रनायक की महानता वतलाने के लिए दृष्टातो का उपयोग भी किया गया है लोकमानस ने इन चरित्रो के प्रति जो श्रद्धाभाव व्यक्त किए है, उनका सकेत भी घटनाक्रम के अनुसार दिया गया है मरुदेवी माता के चरित्राकन में रायमुनि ने उनके स्वरूप का सुन्दर पक्ष प्रस्तुत किया है मरुदेवी माता के सतीत्व का सुन्दर वर्णन इस प्रकार है

"कोड पूरब लगे हो सुहागण रही सती, नित-नित नवला वेस
भर जोवन रह्या हो माता जीवी ज्यां लगे, काला रह्या केस"

भगवान् ऋषभदेव, मेतार्य मुनि, कलावती और नर्मदा आदि का चरित्र रायमुनि ने विस्तार से चित्रित किया है भगवान् ऋषभदेव के चरिताकन मे रायमुनि ने युगधर्म की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हुए उनके जन्मस्थान, माता-पिता का नामोल्लेख, वाल्यजीवन की झांकी, उनकी दीक्षा, उनके उपदेश और उनके द्वारा किये गये प्रमुख कार्यो का वडा ही सुन्दर वर्णन किया है सभी वर्णन 'ढाल' के अन्तर्गत विभिन्न राग-रागिनियो मे हुए है उनके सिद्ध चमत्कारो का वर्णन भी



कवि ने बडा ही मार्मिक किया है उनके व्यक्तित्व के प्रभाव से अनेक श्रेष्ठियो और नरेशो ने उनके प्रवचनो को सुनकर धर्म की दीक्षा ग्रहण की.

स्तवन और चरित्रकाव्यो के अतिरिक्त रायमुनि ने अपनी वाणी का सार निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया है—सज्झाय, निह्नवों का वर्णन, उपदेशी पद और गुरुमहिमा. इसके साथ गौतम रासा की रचना भी की है साधुवन्दन, सिद्ध-स्वरूप, चेतावनी आदि के द्वारा विविध पक्षो पर काव्यात्मक वर्णन किया है. ससार की असारता के साथ-साथ अस्थिरता का सदेश भी आपने दिया है. गुरुमहिमा के स्वरूप को प्रतिष्ठित करने के साथ ही शिष्य का विनय, और अविनीत शिष्य को चेतावनी भी है यौवन की अस्थिरता का वोध कराते हुए अयोग्य दीक्षा का निषेध भी आपने किया है और उद्बोधन के द्वारा साध्वियो को चेतावनी भी दी है पाप, कपट, लोभ, निन्दक, कृपण आदि के स्वरूप को वतलाते हुए आपने दानशीलता, और पुण्य का महत्त्व भी प्रतिपादित किया है इस प्रकार रायमुनि ने जीवन के सभी पक्षों को आध्यात्मिक दृष्टि से देखा है इनकी वाणी मे मुख्यत दान, शील, तप और भावना इन चार प्रकार के धर्मो के फल के दृष्टान्त हैं साथ ही क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चार दूषणो पर भी सुन्दर लिखा गया है. इनके मुख्य विषय इस प्रकार हैं—

(१) ऋषभदेव, महावीर, नेमिनाथ आदि तीर्थंकर.
(२) जम्बूस्वामी, गौतम स्वामी, स्थूलिभद्र, शालिभद्र आदि जैन साधु
(३) तेजपाल, वस्तुपाल आदि जैन श्रेष्ठी.
(४) चन्दनवाला, नर्मदा, कलावती, पुष्पचूला आदि सतिया
(६) स्तुति, नीतिव्यवहार, उपदेश, शिक्षा आदि

इस प्रकार रायमुनि ने अपनी भाषा, जो कि लोकप्रचलित वोलचाल की थी, मे अपने उद्गारो को व्यक्त करके धार्मिक भावनाओ की सृष्टि की इनकी वाणी की मूल प्रेरणा धर्म है सारा काव्य शान्तरस में अपनी रसात्मकता लिए हुए है. विभिन्न राग-रागिनियो के माध्यम से इनकी वाणी मुखरित है.



कमला जैन 'जीजी'
एम० ए०

आशाकिरण आचार्य आसकरणजी



भारत की सभ्यता और सस्कृति के इतिहास मे चिरकाल से चली आ रही सन्तपरम्परा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है यह कहने मे अत्युक्ति न होगी कि भारत की आदिम व उज्ज्वल सस्कृति के जन्मदाता यहाँ के योगी ऋषि और मुनि ही थे. जैन, वैदिक और बौद्ध धर्म व सस्कृति की धाराओ को ऋषियो और सन्त भिक्षुओ ने ही प्रवाहित किया और युगो तक गतिशील रखा.

भारत के सतो ने त्याग और वैराग्यमय जीवन बिताने के साथ-साथ साहित्य की भी श्रीवृद्धि की भारत का अधिकाश साहित्य मुनियो एव ऋषियो की ही तप पूत साधना का प्रसाद है हिन्दी साहित्य को भी सतो की अपनी निराली देन है. तुलसीदास, मीरावाई, सूरदास, आनन्दघन आदि के द्वारा रचित साहित्य भारत मे ही नही वरन् विश्व-साहित्य मे भी महत्त्वपूर्ण है इसी सन्त-परम्परा मे जैन आचार्य कवि आसकरण जी का स्थान आदरणीय है

आपका जन्म सवत् १८१२ मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीया को राजस्थान के तिंवरी नामक ग्राम मे हुआ था पिता का नाम रूपचन्द्रजी तथा माता का नाम गीगादे था. बचपन से ही आप बडे प्रतिभाशाली व तेजस्वी थे आपके माता-पिता को आप पर बडा गर्व था तथा आपसे बडी-बडी आशाएँ थी किन्तु उन्हे स्वप्न मे भी सभावना नही थी कि उनका पुत्र ससार के भौतिक सुखो से भी ऊपर उठकर उनका व अपना नाम सदा के लिये अमर कर देगा साढे सोलह वर्ष की आसकरण जी की अवस्था होते ही माता-पिता ने उनका विवाह करना चाहा किन्तु उन्होने स्पष्ट इन्कार कर दिया और सब स्वजन-परिजनो को छोडकर सयम लेने का पक्का इरादा कर लिया और शीघ्र ही उस अल्प वयस् मे ही आपने आचार्य श्रीजयमलजी म० के श्रीचरणो मे वि० स० १८३० वैशाख कृष्णा पचमी को दीक्षा ग्रहण की

दीक्षा के बाद आपने जैनागमो का गम्भीर अध्ययन किया और बहुत जल्दी उन पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया. अपने गुरु के प्रति आपके हृदय में अगाध श्रद्धा थी आप स्वय अत्यन्त कठोर साधक व तपस्वी थे परिणाम स्वरूप आचार्य श्री रायचन्द्रजी म० की कसौटी पर आप खरे उतरे तथा उनके द्वारा सवत् १८५७ आषाढ कृष्णा पचमी के दिन युवाचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए. तत्पश्चात् श्रीरायचन्द्रजी म० का स्वर्गवास होने पर स० १८६८ माघ शुक्ला पूर्णिमा के दिन आपको आचार्य पद प्रदान किया गया आचार्य रूप मे भी १४ वर्ष तक आपने जैन धर्म का प्रचार किया. सयम के अभिलाषी १० श्रेष्ठ व्यक्तियो को मुनिदीक्षा दी तथा जन-जन को अपने असीम ज्ञान का लाभ दिया. ७० वर्ष की उम्र मे स० १८८२ की कार्तिक कृष्णा पंचमी को आपने देह त्याग किया.

व्यक्तित्व

आपका व्यक्तित्व वडा ही प्रभावपूर्ण था अपने सरल स्वभाव के कारण आप सहज ही प्रत्येक को अपनी ओर आकर्षित कर लेते थे आपकी अत्यन्त मधुर व सरल ढग से कही हुई प्रत्येक बात श्रोताओ के मर्म तक सहज ही पहुँच जाती थी आपमे अति विनयशीलता और गुरुभक्ति थी बीस विहरमान रचना मे कहा है—

पूज्य जयमल जी प्रसाद थी, थाने सिमरु' वारवारो जी ।



तप महिमा मे —

पूज्य श्री मोटा रायचन्द जी, पोहंच ज्यांरी छे भारी रे।
ज्यारे प्रसादे गुण जोडीया, त्रेपने आसोज मझारी रे।

रचनाकाल

आपका रचनाकाल वि० स० १८४० से शुरु हुआ और अत तक आप इसमे सलग्न रहे मारवाड के ग्रथागारो मे आपकी विभिन्न विषयो पर लिखी हुई अनेक रचनाएँ उपलब्ध हुई है जिनका सकलन 'आसकरण-पदावली' के नाम से विद्वद्वर्य श्रीमधुकरमुनि कर रहे है अभी भी अन्वेषण किया जा रहा है और आशा है शीघ्र ही वह प्रकाशित होकर पाठको के हाथो मे पहुँचेगा आप वडे ही कर्मठ व मनोयोगी सत थे आपकी रचनाएँ भी अत्यन्त प्रेरणाप्रद हैं. दया, दान, विनय व तप आदि जैसे सरल से सरल व सगुण तथा निर्गुण पूजा जैसे कठिन से कठिन विषयो को भी आपने वडे ही सरस व सुन्दर ढग से समझाने का प्रयत्न किया है

काव्यकला

जैसा कि बतलाया जा चुका है, सवत् १८१२ मे श्रीआसकरणजी का अपनी बहुमुखी प्रतिभाके साथ आविर्भाव हुआ. आसकरण जी का काव्यकाल हिन्दी का रीतिकाल था, जिसमे शृगारपरक काव्यो के साथ-साथ भक्ति की धारा भी बही चली जा रही थी सूर, तुलसी, मीरा आदि प्रसिद्ध भक्त कवि अपनी अमर काव्यरचना कर चुके थे. आसकरणजी की रचनाएँ भी भक्तिरस से ओतप्रोत हैं आपकी रचनाओं मे यदि एक ओर हम सूर, तुलसी का प्रभाव देखते है तो दूसरी ओर कबीर का प्रभाव भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है

रीतिकाल मे उस समय दो धाराएँ प्रवहमान थी एक तो पुरातनवादी और दूसरी स्वच्छदतावादी प्रथम मे तो शृगार व नीति आदि का परम्पराबद्ध वर्णन होता था और दूसरी मे इष्ट के प्रति प्रेम का सात्त्विक निरूपण श्रीआसकरणजी के साहित्य में इन दोनो का बाहुल्य है आपने अपनी रचनाओ के द्वारा जिस प्रकार अपने इष्टदेव की भक्ति की है उसी प्रकार मानव मात्र को धर्म नीति की भी भरसक शिक्षा दी है आपकी सुप्रसिद्ध ढाले (नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, ऋषभदेव आदि २) उपास्य के प्रति अखण्ड भक्ति का परिचय देती है, उसी प्रकार विनय का महत्त्व, शील की महिमा, दान, तप आदि पर लिखी हुई रचनाएँ नीतिपूर्ण शिक्षा भी देती है

रचनाएँ

आपने खण्डकाव्य और मुक्तक दोनो प्रकार की काव्यरचनाएँ की है, जिनमें से कतिपय इस प्रकार है—

(१) खण्डकाव्य—

श्रीजयमलजी म०, गजसुकुमाल, केशी गौतम, नमिराजजी, धन्नाजी, पार्श्वनाथजी, कालीरानी, मुनि जयघोष विजयघोष निषदकुमार, डोकरी, भरतजी की ऋद्धि, नेमिनाथजी

(२) मुक्तक—

जीव परिभ्रमण, तपमहिमा, स्तुति, साधुवदना, सज्झाय, स्वर्ग आयुष्य के दसबोल, साधुसगति, गुरुमहिमा, विनय का महत्त्व, तेरह काठिया, देवलोक का वर्णन, पर्युषण पर्व, शीलमहिमा, दान, सत, उपदेशीपद, काल का अविश्वास, तेरा कोई नही, कालगति, परनारी, गौतम को सदेश, तृष्णा, बारहमासा, निंदकइक्कीसी, भवपच्चीसी, सीख-मोहवैरी, ससार की माया काची, सद्गुरु वाणी साची, पचम आरे का सुख अपूर्ण, धर्म की दलाली, अष्टादश पाप, सामायिकव्रत होनहार, दृढप्रहारी, श्रमण भद्र

अपनी लेखनी से आपने अनेक विषयो को छुआ है जो कि उपरोक्त रचनाओ के नामकरण से ही स्पष्ट है ढालो मे



आपने अधिकतर जीवनचरित वर्णित किये है तथा फुटकर रचनाओ के द्वारा अत्यत सुन्दर ढग से जीवननिर्माण की शिक्षा दी है. यथा —

आत्मप्रशसक परनिंदक रचना मे आपने दर्शाया है कि स्वय की प्रशसा करना तथा औरो की निंदा करना घृणित कार्य है ऐसा करने वाला व्यक्ति कितना भी दान दे या सत्य बोले, न दानी कहलायेगा और नही सत्यवादी

दानतणो दातार न कहिजे,
न कहिजे सतवत सूरोजी।
सोभागवंत तिणने नहिं कहिजे,
जिणने निंद्यारो पूरो जी।

इसी प्रकार होनहार तथा कालगति की अमिटता स्पष्ट की है—

निश्चय भाव कदे नहिं चूके,
भावे करो क्रोड प्रकार।
लाभ तोटो सुख दुख भुगते,
जीव वांध्या ते लार।
टले नहीं होवणहार॥

काल के क्रूर हाथो से कोई नही बच सकता —

काल तणो कोई नहीं भरोसो,
तू परमाद में पसियो।
विषय थकी जीव चहु गत भमियो,
तो पिण भोग रो रसियो।

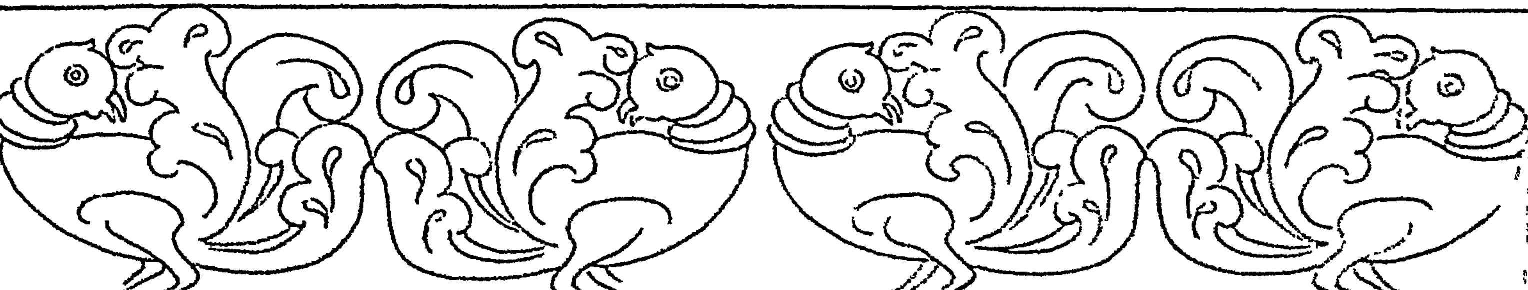
भावाभिव्यक्ति

मुनि आसकरण जी एक महान् जैन सत थे, अतः सहज ही आपने सतमहिमा, चौवीस तीर्थंकर, सोलह सतियाँ, वीस विहरमान, पर्युषण पर्व, विनय, शील, दान, तप आदि २ विषय अपने लेखन के लिए चुने जैन परम्परा अपनी कठोर तपस्या के लिए विश्वविश्रुत है तपश्चर्या के विना पूर्ववद्ध कर्ममल का प्रक्षय नही हो सकता इस तथ्य को ध्यान मे रखकर आपने स्पष्ट समझाया है कि तप का महत्त्व अत्यधिक है और उसके विना साधना सफल नही हो सकती तपस्या तो अज्ञानपूर्वक करने पर भी निष्फल नही जाती फिर ज्ञान सहित तप के फल का तो पूछना ही क्या है उससे तो अनादिकालीन भवभ्रमण का अन्त ही आ जाता है और पुनर्जन्म का चक्र बद हो जाता है—

तप बडो ससार में जीव उज्वल थावे रे,
कर्म रूप इंधन वले शिव नगरी सिधावे रे।
अज्ञान पणे तपस्या करे तो ही निर्फल न जावे रे,
ज्ञान सहित तप जे करे ते गर्भावास में न आवे रे।

तप की तरह ही आपने सतो की महिमा दर्शाते हुए वताया है कि सत एक महान् व निस्वार्थ साधक है जो जहाज की तरह खुद तो भवसागर से पार होता ही है, साथ ही अपने सम्पर्क मे आने वालो को भी विना कुछ लिए पार कर देता है—

जिहाज समाणा संत ऋसेस्वर,
वैठे भवि जीव आय रे।
पर उपगारी मुनि कोई दाम न मांगे,
देवे मुगत पहुंचाय रे।



आलोच्य कवि की रचनाओ को देखते हुए स्पष्ट ज्ञात होता है कि उनका अध्ययन विशाल था उन्होने सन्तसाहित्य का गम्भीर अध्ययन किया था सन्तो के परम्परागत विचारो को पचाया था, जिनमें कबीर भी एक है .

कब मठपति कब सिन्यासी जोई,
कब रामानन्दी कबीर पंथी होई।
कब मंथन कब वखयो मती,
कब पाडियो कब दादूपंथी ॥

उपरोक्त पद आचार्य श्रीआसकरण जी ने अपनी जीव परिभ्रमण रचना में लिखा है. उन्होने बताया है कि आत्मा अनादि है और वह ब्रह्माड मे परिभ्रमण करते हुए कभी सन्यासी, कभी मठाधिपति, कभी कबीरपथी व कभी दादूपथी के रूप में अवतरित होती है, किन्तु कर्मकाड के पाखड में फसकर ही मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकी. कबीर ने भी इसीलिए स्वय मुसलमान होते हुए भी मुसलमानो को तथा हिन्दुओ को भी फटकारा है —

कांकर पाथर जोरि के मसजिद लइ बनाय,
ता चढि मुल्ला बांग दे क्या बहिरा भया खुदाय।
पोथी पढि २ जग मुआ पडित भया न कोय,
ढाई अक्षर प्रेम के पढे सो पंडित होय।

मुनि श्रीआसकरणजी ने मानव मात्र को सावधान होने का सदेश देते हुए बार-बार कहा है कि होनहार को कोई नही टाल सकता. रावण जैसे बडे-बड़े राजा हुए किन्तु काल का ग्रास बन गये.—

लंका नगरी रो साहिबो रावण,
कह्या बंधव इक लाखो।
काल बेताल जिणानेई ले गयो,
लंक भई छिन में राखो।
आण मोलत जब काल री पहुंचे,
तरे किंचित जोर न चाले।

काल की इसी प्रबलता को देखकर व जन्म-मरण की चक्की में मनुष्यो को पिसते देखकर कबीर का हृदय रो उठा था.

चलती चाकी देखि के दिया कबीरा रोय।
दो पाटों के बीच मेंसाबत बचा न कोय ॥

जीव माया से प्रेरित होकर धर्मविमुख हो जाता है और कभी उच्च तथा कभी नीच कर्म करता हुआ चौरासी लाख योनियो मे भटकता फिरता है —

धर्म बिना जीव भम्यो अपारो,
लाख चौरासी के मझारो।
कबहिक ऊंचो कबहिक नीचो,
कबहिक दुर्बल कबहिक मीचो।

संत तुलसी ने भी यही बात कही है.—

आकर चारि लक्ष चौरासी, जोनि भ्रमत यह जीव अविनाशी,
फिरत सदा माया करि प्रेरा, काल करम सुभाउ गुन हेरा।

जैन परम्परा त्याग-वैराग्यमूलक परम्परा है इस परम्परा के अनुसार साहित्य एव ज्ञान का प्रधान लक्ष्य आत्महित-साधना है. प्रत्येक जैन सन्त कवि ने त्याग वैराग्य के सुधास्रावी स्वरो को ही उद्गीर्ण किया है. आचार्य श्रीआसकरणजी



ने इसी पावन परम्परा का निर्वाह किया है इस कारण आपकी रचनाओ मे अनेक विशेषताएँ समाविष्ट हुई है आपकी एक वडी विशेषता यह है कि आपने जो वारहमासे लिखे है वे रीतिकालीन परम्परा से बिलकुल भिन्न है रीतिकालीन वारहमासो मे नायक, नायिका, आलवन और प्रकृतिवर्णन का घिसा-पिसा राग अलापा जाता था नायिका प्रकृति के विभिन्न रूपो को देखकर नायक के अभाव मे विकल होती हे किन्तु आसकरणजी ने ऋतु को वैराग्य व तपस्या के प्रेरणाप्रद भावो के प्रेरक के रूप मे लिया है यथा—

चैत्र मास मनुष्यो को चेतावनी देते हुए कहता है कि मनुष्य जन्म पाया है तो धर्म का आश्रय लो. यह भव व्यर्थ मत करो—

चेत कहे तमे चेतज्यो, पायो नर अवतारो जी,
खरची लिजो धर्म ध्यान री, एसो जमारो म हारो जी।

इसी प्रकार सावन भी सावधान करते हुए कहता है कि साधुओ की वाणी सुनो ताकि पाप व पुण्य को समझ सको और फिर कभी जन्म न लेना पड़े —

सावण सुनो वाणी साध री,
सुणियां पातक जासे जी।
खबर पडे जी पुण्य पाप री,
जिम गर्भावास न आसे जी ।

कलापक्ष

यद्यपि आपका लक्ष्य पाडित्य का प्रदर्शन करना नही था, जिससे कि केशवदास की भाति आपकी हर पक्ति मे अलकारो की भरमार होती फिर भी आपकी रचनाओ मे सहज ही अलकारो की सुन्दर छटा अपनी झलक दिखा देती है अनुप्रास का एक उदाहरण देखिये —

सहस अठारे साधजी समणि चालीस हजार,
एक लाख गुण सहज ऊपरे श्रावक हुआ व्रतधार।

उपमालकारो का वाहुल्य है —

आरीसा अपरा ऊपरी मेलिया,
जेहवी पांसलिया जाणो रे।
हाथ रो पंजो बड नो पानडो,
कुलथ फलियां सुखी अंगुलिया रे।

आपकी रचनाओ मे करुण, वीर, शृगार तथा रौद्र आदि रसो का भी सुन्दर परिपाक हुआ है

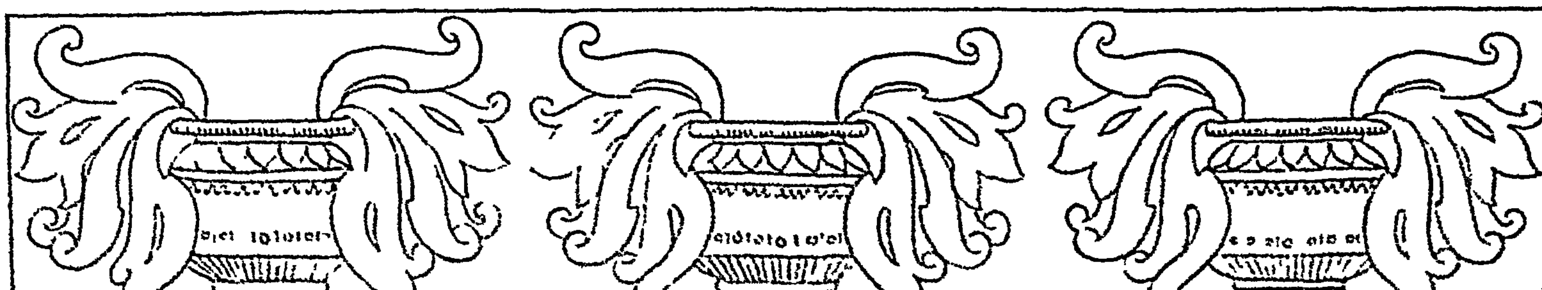
जव नेमिनाथजी वैराग्य हो जाने पर राजुल को छोड जाते हैं तब वह करुण विलाप कर उठती है .—

नेणां नीरज नांखती, जाणे तूट्यो मोत्यां नो हार,
मैं पाप किया भव पाछले, मोने तज गया नेम कुमार।

शात रस के उदित हो जाने पर हृदय मे कैसी-कैसी भावनाएँ उठने लगती है, इसे आचार्यश्री ने वडे मार्मिक रूप मे दर्शाया है—

काया माया कारमी, काचो एहनो सग रें लाल,
जातां रे वार लागे नहीं, जिम हलदी नो रंग लाल।

तप और साधना के लिए कितना कष्ट और पीडा उठानी पडती है, यह हमे मुनि श्री द्वारा रचित गजसुकुमालचरित मे देखने को मिलता है गजसुकुमाल का ससुर उन्हे तप करते देखकर आगबबूला हो उठता है और उनके साथ कैसा



व्यवहार करता है, यह पढ़कर रौद्ररस हमारे सामने साकार हो उठता है—

सोमल देखी लारलो देशी, बांधी माटी नी पाल।
मस्तक खीरा मेलिया अगीरा, वेदन भई असराल।
नाड्यां तूटे ने भेजी फूटे, बल रही नसां जाल।

छन्दो मे आपने प्रचुर मात्रा में पद ही लिखे है, पर सवैया और दोहा आदि छन्दो का भी प्रयोग किया है. वास्तव मे आचार्य श्रीआसकरणजी की रचनाएँ हिन्दी साहित्य भडार की अनमोल निधि है आपकी बहुमूल्य समस्त रचनाएँ उपलब्ध होने पर निश्चय ही भारतीय साहित्य की श्रीवृद्धि होगी व्रज, भोजपुरी, अवधी आदि भारत की विभिन्न भाषाओ के साहित्य की अपेक्षा निस्सदेह राजस्थानी का साहित्य अधिक समृद्ध है डिंगल मे वीररस के अनेकानेक ग्रथ उपलब्ध है. आचार्य जी की रचनाएँ वीररस के अलावा प्रेम, त्याग, वैराग्य आदि के क्षेत्र को अपनी रसमयी काव्य-धारा से सिंचित करती है. दु ख है कि अधिकाश राजस्थानी साहित्य अब तक अप्रकाशित हैं और काव्यप्रेमियो के लिए अनुपलब्ध है. आशा है हिन्दी साहित्य-ससार आचार्य जी के साहित्य का अध्ययन कर उसका यथोचित सन्मान करेगा. वास्तव में आपकी रचनाएँ मुमुक्षुओ के लिए सान्त्वनाप्रद और आशा-किरण है.





मुनि श्रीलक्ष्मीचन्द्रजी महाराज

मुनि रूपचन्द्रजी : एक खोज-पूर्ण आलेख

हिन्दी व राजस्थानी साहित्य के विकास और सरक्षण मे जैन मुनियो का विशिष्ट योग रहा है जैन मुनियो ने अपनी अनुभूति व्यक्त करने का माध्यम, लोकभाषा को बनाकर, न केवल जनसाधारण को मूल्यवान् दार्शनिक व धार्मिक विचारो से परिचित कराया अपितु प्रकारान्तर से लोकभोग्य या जनमगलकारी साहित्य की भी सृष्टि की, जिससे शताब्दियो तक मानवता अनुप्राणित होती आ रही है भगवान् महावीर और बुद्ध ने भी आत्मानुभूति को ऐसी ही बोधगम्य भाषा मे व्यक्त करना समुचित समझा कि सामान्य जन भी सरलता से उच्चतम विचार आत्मसात् कर जीवन के प्रशस्त पथ का अनुसरण कर सके.

आज तक अधिकाशत साहित्य और इतिहास-समीक्षको ने इस प्रकार की मगलमय रचनाओ को केवल साम्प्रदायिक कृतिया घोषित कर उन्हे धार्मिक जगत् तक ही सीमित माना है जबकि भारतीय नैतिकता का जहाँ तक प्रश्न है, इन का गौरव किसी भी दृष्टि से कम नही है भले ही लाक्षणिक दृष्टि से ऐसी कृतियो का साहित्य में अन्तर्भाव न होता हो किन्तु मानवता के मूल्याकन एव उसे उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित करने मे इन रचनाओ का निर्विवाद महत्त्व है

आज के शोधप्रधान युग मे हिन्दी साहित्य और भाषा के मौलिक महत्त्व पर प्रकाश डालने वाले प्रचुर प्रयत्न हुए हैं पूर्वार्जित एव सचित सपत्ति-हस्तलिखित ग्रन्थो का अन्वेषण किया जा रहा है. और दिनानुदिन नव्य भव्य पुष्प माता शारदा के ज्ञानमन्दिर से समुपलब्ध होते ही रहते है प्रसगत यह सूचित कर देना आवश्यक जान पडता है कि अब भी बहुत-से ऐसे स्थान है जो अन्वेषण की प्रतीक्षा में है कई कवि ऐसे है जिनका उल्लेख अद्यावधि प्रकाशित किसी भी हिन्दी साहित्य और भाषा के इतिहास में नही हुआ है जब तक प्राचीन ज्ञानागारो का व्यापक रूप से सर्वेक्षण नही हो जाता तब तक हिन्दी का इतिहास अपूर्ण रहेगा

राजस्थान की सास्कृतिक परम्परा में जैन परम्परा शताब्दियो से मूर्धन्य रही है जैन सन्तो ने अपने लौकिक एव लोकोत्तर साधनामूलक विचारो से जनमानस को प्रभावित किया है तथ्य तो यह है कि एक समय था जब आचार्य हरिभद्र सूरि जैसे बहुश्रुत मनीषी ने सम्पूर्ण पश्चिम भारत को सस्कृति के सूत्र में बाध रखा था जिसकी परम्परा आशिक परिवर्तन के साथ आज भी विद्यमान है कालिक परिस्थितियो के अनुसार वह परम्परा कई सम्प्रदायो में विभक्त होने पर भी मौलिकदृष्ट्या एक है

जिस प्रकार हिन्दी के भक्त कवियो में सगुण और निर्गुण धाराएँ प्रवर्तित है उसी प्रकार जैन परम्परा में भी दोनो धाराएँ समान रूप से प्रचलित रही हैं यहाँ निर्गुण परम्परावादी सम्प्रदाय का उल्लेख विवक्षित है, जिसने राजस्थान के जनमानस को उल्लेख्य रूप से प्रभावित कर साहित्य-सृष्टि की है हमारा तात्पर्य स्थानकवासी सम्प्रदाय से है. यह परम्परा साधना मे बाह्याडम्बरो को महत्त्व नही देती. शुद्ध ज्ञान और चारित्र के प्रति नैष्ठिक भावनाओ को जीवन मे साकार करना ही इसका लक्ष्य रहा है आत्मोत्थान के लिए वह किसी ऐसे निमित्त को महत्त्व नही देती जो साधक को



एक सीमा मे उलझा दे. साधना का क्षेत्र स्पष्ट और अहिंसावादी अपेक्षित है. स्व के अतिरिक्त पर को आत्मोत्थान मे स्थानकवासी परम्परा साधक बाधक नही मानती

स्थानकवासी मुनि-समाज ने भले ही विद्वदभोग्य साहित्य की उल्लेखनीय सेवा न की हो पर सास्कृतिक दृष्टि से जन-जीवन-उन्नयन के लिए जो सूत्रात्मक एव गेय कृतिया रची है उनका अपना स्थान है सन्त-साहित्य का आलोचक वर्ग इसकी उपेक्षा नही कर सकता सामान्य पद्यो मे अनुभवमूलक सत्य सीमित शब्दावली मे समुपस्थित करना, दीर्घकालीन सक्षम साधक के लिए ही सभव है परन्तु बडे हो खेद और परिताप के साथ सूचित करना पड़ रहा है कि आज के वैज्ञानिक और शोधप्रधान युग मे भी हमारा विद्वान् मुनि-समुदाय अपने ही पूर्वजो की कृतियो के प्रति उदासीन है. यही कारण है कि हमारे पास साहित्यिक शृखलाएँ विद्यमान होने के बावजूद भी इसका व्यवस्थित व प्रामाणिक इतिहास सामने नही आया है किसी भी समाज की उच्चता और दर्शनमूलक परम्परा का वास्तविक परिचय उसके साहित्य मे प्रति-बिम्बत होता है

प्रस्तुत प्रबन्ध मे धर्मदासीय परम्परा के एक प्रतिभासम्पन्न मुनि श्रीरूपचन्द्रजी महाराज—जो आचार्य श्रीजयमलजी महाराज के सुशिष्य थे—के सम्बन्ध मे कतिपय विचार उपस्थित किए जा रहे हैं.

जयपुर, जोधपुर, रतलाम, बालोतरा आदि पश्चिमीय भारत इनका विहारक्षेत्र रहा था इनकी औपदेशिक वाणी का प्रभाव महलो से लगाकर झोपडो तक विस्तृत था. उच्चादर्शमूलक सयममय जीवन व्यतीत करते हुए आत्मानुभूति को लिपिबद्ध कर इन्होने जो विचारकण देश्य भाषा मे प्रस्तुत किए है, उनसे विदित होता है कि चारित्र की एकनिष्ठ साधना मे वे इतने तन्मय थे कि उसमे तनिक भी शैथिल्य क्षम्य नही मानते थे जैसा कि इनकी ४७ पद्यात्मक एक लघुकृति से अवगत होता है इसमे कोई सन्देह नही कि विक्रम की १८वी शताब्दी मे समाज में, बडा विषम वातावरण था कई सम्प्रदायो के उपसम्प्रदाय, व्यक्ति विशेष के प्रभाव के कारण बनते जा रहे थे. स्थानकवासी समाज भी इस प्रभाव से अपने आपको न बचा सका मुनिजीवन के दैनिक आचारो में स्वल्प शैथिल्य प्रविष्ट हो गया था गुणो के स्थान पर व्यक्तिपूजा पनप रही थी मुनि रूपचन्दजी ने इनका विरोध करते हुए मुनि समाज को निरतिचार जीवनयापन करने की महती प्रेरणा दी. घोषित किया कि जब हमे आत्मोत्कर्ष के स्वर्णिम पथ का अनुसरण करना है और जन-जीवन को नये मानदण्ड के आधार पर उच्च स्थान पर प्रतिष्ठापित करना है तो हमारा आतरिक जीवन अत्यन्त शुद्ध और उच्च आदर्शानुव्यजक होना चाहिए उच्चाचार ही साधुजीवन का सौरभ है समाज और राष्ट्र का वास्तविक उत्थान सदाचारिक और सयमशील मुनिपरम्परा पर ही अवलबित है निराकाक्षी जीवन ही प्रेरणा का स्रोत बन सकता है और राष्ट्रीय चरित्र का प्रतीक भी

मुनि रूपचन्द्रजी के समय राजस्थान सामतवादी भोगविलासो में अनुरक्त था. उन दिनो सन्तो की साधना जनजीवन को उद्दीप्त करती हुई नैतिक कर्तव्य के प्रति आकर्षित कर रही थी. यहाँ यह कहने की शायद ही आवश्यकता रह जाती है कि उपदेश के क्षेत्र मे गद्य की अपेक्षा पद्यात्मक शैली राजस्थान के लिए अधिक उपयुक्त थी उच्चतम आध्या-त्मिक व नैतिक भावो को अभिव्यक्त करने वाली मुनि रूपचन्द्रजी की जिस स्फुट रचना का उपर्युक्त पक्तियो मे उल्लेख किया गया है उसका निर्माणकाल स० १८२० का चैत्र और रचनाक्षेत्र नवसर ग्राम है जैसा कि इन पक्तियो से प्रमाणित है

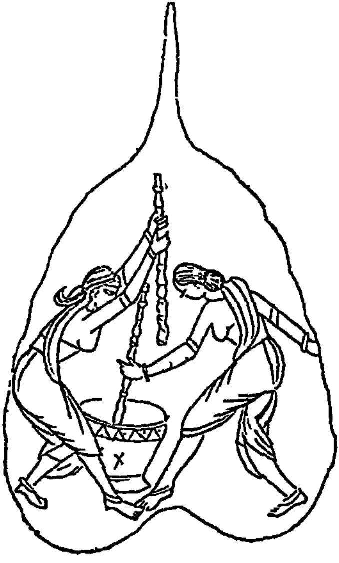
संवत् अठारेवीसा ने समे, नवसर गाम मझार म० ।
चेत महिने रे जोडज ए करी भव जीवां ने उपकार (सं० ४५) ।

राजस्थान मे उन दिनो स्थानकवासी सम्प्रदाय कई उप-सम्प्रदायो मे विभक्त था जैसा कि तात्कालिक साधुमार्गीय पट्टा-वलियो से स्पष्ट है आचार्य श्रीजयमलजी महाराज ने अपनी आध्यात्मिक साधना के बल पर उन दिनो बीकानेर और जोधपुर नगर एव तत्सन्निकटवर्ती बहुभाग में निवास करने वाले ओसवाल लोगो को स्थानकवासी परम्परा मे दीक्षित

किया उनके द्वारा इस परम्परा मे दीक्षित होने वालो का समुदाय आगे चल कर जयमलजी सम्प्रदाय के नाम से अभिहित हुआ

कबीर, नानक नही चाहते थे कि मेरी सक्रिय विचारधारा को मेरे अनुयायी मेरे नाम से अभिहित करें ठीक इसी प्रकार मुनि श्रीजयमलजी महाराज ने स्वप्न मे भी कल्पना नही की होगी कि श्रमणसघ की इस धारा की उपशाखा के रूप मे मेरा नाम सयुक्त किया जाय पर तदुत्तरवर्ती मुनियो ने अपने परमोपकारी की स्मृति सुरक्षित रखने के लिये नाम सयुक्त कर लिया हो तो कोई आश्चर्य नही यो तो प्रत्येक सम्प्रदाय के जैन मुनियो का जीवनक्रम अतर्मुखी अर्थात् मूलगुण-मूलक ही होता है, फिर भी जयमलजी ने मूल गुण की रक्षा करनेवाले उत्तर गुणो को भी उल्लेखनीय प्रश्रय दिया और अपने सम्प्रदाय मे कुछ ऐसे सशोधन समुपस्थित किये जिनसे सयम की साधना को आन्तरिक बल प्राप्त हो सके





श्रीशान्ता भानावत

श्रीतिलोक ऋषि की काव्यसाधना

हिन्दी साहित्य मे 'सन्त' शब्द सामान्यत निर्गुणोपासक कवियो के लिए और 'भक्त' शब्द सगुणोपासक कवियो के लिए रूढ हो गया है सन्त कवियो मे कबीर का स्थान सर्वोपरि है इधर जब से जैन साहित्य के प्रति विद्वानो की दृष्टि गई है तव से सन्तसाहित्य की परिधि अधिक व्यापक हो गई है निर्गुणमार्गी सन्त कवियो की तरह जैन सन्त कवियो ने भी नामस्मरण, सद्‌गुरुमाहात्म्य, कषायपरित्याग, भावशुद्धि, ज्ञानोपासना, सयमवृत्ति, बाह्याडम्बर-विरोध और अन्तरग उपासना पर अधिक वल दिया है सच तो यह है कि ये जैन कवि जीवन से भी उतने ही सन्त है जितने काव्य से इनकी धर्मसाधना ने ही उन्हे काव्यसाधना की ओर उन्मुख किया है. श्रीतिलोकऋषि ऐसे ही सन्त कवियो की माला मे उज्ज्वल मनके के रूप मे देदीप्यमान है जैन समाज मे उनकी लोकप्रियता कबीर से होड लेती है इनके कवित्त, सवैये और मुक्तक पद अध्यात्मप्रेमी लोगो द्वारा इसी प्रकार गाये जाते है जिस प्रकार रसिको द्वारा बिहारी के दोहे

जीवनवृत्त

तिलोकऋषि का जन्म वि० सवत् १९०४ में चैत्र कृष्णा तृतीया, बुधवार को रतलाम में हुआ इनके पिता दुलीचन्दजी सुराणा नगर के प्रतिष्ठित व्यक्ति थे उन्हे भौतिक वैभव के सभी साधन उपलब्ध थे, फिर भी उनकी धर्म के प्रति गहरी निष्ठा और जिनवाणी के प्रति उत्कट श्रद्धा थी आलोच्य कवि की माता नानू बाई भी धर्मप्राण महिला थी माता पिता के इन धार्मिक संस्कारो ने 'बालक' तिलोक को 'ऋषि' तिलोक बनाने मे वडा योग दिया जन्म से चार मास पूर्व ही कवि के पिता इस लोक से कूच कर गये थे. जन्मजात पितृवियोगी बालक तिलोक के कवि-जीवन में इस अभाव ने अनेक भाव-रत्नो की सृष्टि की

जब कवि दस वर्ष का था तभी ज्ञान-क्रिया-सम्पन्न पडित अयवन्ता ऋषिजी अपने शिष्य-परिवार के साथ रतलाम पधारे कवि अपनी मा के साथ उनका प्रवचन सुनने गया 'वैराग्य' भावना पर उनका प्रवचन इतना अधिक मर्मस्पर्शी और हृदयग्राही था कि कवि की माता नानू बाई आत्मविभोर हो गई और सयमपथ पर बढ़ने का दृढ सकल्प कर बैठी मा को सयममार्ग पर बढते देख बेटी हीराबाई कैसे रुक सकती थी ? और बेटे 'तिलोक' का क्या कहना ? वह तो तीन लोक की कल्याणकामना का सस्कार लेकर इस भव मे अवतरा था.

क्या हुआ यदि उसका वाग्दान सैलाना निवासिनी श्रीमती चुन्नीबाई की लाडली बेटी गुलाबकुवर के साथ निश्चित हो गया ? लो, वह भावी जीवन-सगिनी भी इस लोक से चल बसी । ससार की असारता और काया की नश्वरता के दो चित्र सामने थे । बालक तिलोक साधनापथ पर बढ चला. भाई कुवरमल से न रहा गया, उसने भी सयम का रास्ता अपनाया. फलत सवत् १९१४ मे माघ कृष्णा प्रतिपदा, गुरुवार को अयवन्ता ऋषिजी के सान्निध्य मे एक ही परिवार के चार व्यक्ति (मा, बेटी और दो बेटे) दीक्षित हुए.

जैन आचार के अनुसार चौमासा (वर्षावास) के अतिरिक्त जैन सन्त के लिए एक स्थान पर अधिक ठहरना निषिद्ध है. जैन सन्त की चरण-गगा सतत प्रवहमान रहने मे ही आनन्द और तृप्ति का अनुभव करती है. दीक्षा लेते ही कवि तिलोक अपने गुरु अयवन्ताऋषिजी के साथ विहार करते रहे. अपने गुरु के साथ ही कवि ने जावरा, शुजालपुर, प्रतापगढ, शाजापुर, भोपाल, वरडावदा आदि स्थानो पर चातुर्मास किये स० १६२२ मे अयवन्ता ऋषि जी देवलोक-वासी हुए तब से कवि स्वतन्त्र चातुर्मास करने लगा. कवि के ये चातुर्मास मालवप्रदेश तक ही सीमित न रहे. एक ओर उसने वागड प्रदेश के धरियावद क्षेत्र को स्पर्श कर पिछड़ी जाति के लोगो, भील्लो, मीणो आदि को सच्चा जीवन जीने की कला सिखाई तो दूसरी ओर दक्षिण भारत के अछूते क्षेत्रो को अपनी पद-रज से पवित्र कर विपरीत श्रद्धालु लोगो को धर्म का मूल तत्त्व वताया इसी तत्त्वसधान मे एकान्त लीन रहने वाला यह कवि ३६ वर्ष की अल्पायु मे ही इस लोक से चल वसा अन्तिम दिनो मे कवि तीव्र शिरोवेदना और भयकर व्याधि से पीड़ित रहा. स० १६४० मे श्रावण कृष्णा द्वितीया, रविवार को अहमदनगर मे इस सन्त कवि ने मानवलीला सवरण की. श्री तिलोक-रत्न-स्थानकवासी जैन धार्मिक परीक्षा वोर्ड, पाथर्डी, आज भी इस ज्ञानरत साधक की यश सुरभि चारो ओर विखेर रहा है.

काव्य-साधना

तिलोकऋषि का जीवन जितना साधनामय और ज्ञानरत था, उनका काव्य उतना ही भावनामय और सगीत-तत्त्व मे पूर्ण उन्होने अपनी काव्य-आराधना सहज भाव से की जहाँ कारीगरी है वहाँ भी उनका अकृत्रिम सत-स्वभाव ही आगे रहा है कविता करना उनका व्यवसाय नही था, उनका व्यवसाय तो था लोकमानस को प्रवुद्ध करना इस लोक-जागृति और आत्मोन्नति मे काव्य जितना सहायक होता, कवि उस अनुपात मे उसे आत्मसात कर आगे वढता दूसरे शब्दो मे ये सन्त पहले थे, कवि वाद मे.

कवि तिलोक ऋषि ने विपुल परिमाण मे लिखा. जन-साधारण के लिये भी लिखा और विद्वन्मडली के लिये भी लिखा. स्वान्त सुखाय भी लिखा और लोकहिताय भी प्रवन्धकाव्य भी लिखा और मुक्तक भी. स्थूल रूप से उनकी काव्य-सामग्री को दो भागो मे वाँटा जा सकता है—

(१) रसात्मक कृतियाँ और (२) कलात्मक कृतियाँ रसात्मक कृतियो को सामान्यत तीन भागो मे विभक्त किया जा सकता है (क) स्तवनमूलक (ख) आख्यानमूलक (ग) औपदेशिक कलात्मक कृतियो को भी दो भागो मे रखा जा सकता है (क) चित्रकाव्यात्मक और (ख) गूढार्थमूलक यहाँ प्रत्येक का सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया है

(१) रसात्मककृतियाँ

ये कृतियाँ विशुद्ध साहित्यिक रसवोध की दृष्टि से रची गई है इनमे कवि की अनुभूति, उसका लोकनिरीक्षण और गेय व्यक्तित्व समाविष्ट है साधारणत सत कवियो के सम्वन्ध मे माना जाता है कि वे अधिक पढे लिखे नही होते जो कुछ आत्मानुभव करते उसे ही शब्दो का रूप दे देते इसलिये वहाँ कला के दर्शन नही होते पर हमारा आलोच्य कवि तिलोक ऋषि इस परम्परागत अर्थ मे सन्त कवि नही था वह आगमो का पडित, सस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, राजस्थानी आदि भाषाओ का विद्वान्, शास्त्रीय ज्ञान का धनी, विभिन्न छन्दो का जानकार तथा लोकप्रचलित रीति-रिवाजो, विश्वासो एव परम्पराओ का ज्ञाता था. यही कारण है कि उसकी रचनाओ मे एक ओर सत कवि का सारल्य है तो दूसरी ओर शास्त्रज्ञ कवि का पाण्डित्य उनमे निरा निवृत्तिमूलक उपदेश नही मिलता वरन् प्रवृत्तिमूलक रसग्रहण भी होता है ये रसात्मक कृतियाँ तीन प्रकार की है—

स्तवनमूलक

भारतीय साधनामार्ग मे नामस्मरण एव ईश्वर-स्तुति का वडा महत्त्व है सन्तो एव भक्तो दोनों ने इस प्रकार की रचनाएँ लिखी हैं भक्तो ने भगवान् के साथ अपना पारिवारिक सम्बन्ध अधिक जोडा है कभी यह सम्वन्ध स्वामी और सेवक का रहा तो कभी माँ और वेटे का रहा, कभी यह सम्वन्ध पति और पत्नी का रहा तो कभी पिता और पुत्र का



रहा. सन्तो मे यह व्यक्तिपरक सम्बन्ध कम और नाम का माहात्म्य अधिक रहा है, तिलोक ऋषि ने चौबीस तीर्थंकरो, पच परमेष्ठियो, गणधरो और सन्त-सतियो की स्तुति विशेष रूप से की है. स्तुतियो में उनके बाह्य रूपरंग का वर्णन कम और आन्तरिक शक्ति तथा गरिमा का वर्णन अधिक रहा है. उदाहरण के लिये 'पच परमेष्ठी वन्दना' को देखा जा सकता है.

अरिहन्तो की वन्दना करते हुए कवि ने उनके कर्मक्षयकरण स्वभाव, चौतीस अतिशय, पैंतील वाणी, शारीरिक सौन्दर्य, अनन्तगुण, निर्दोष भाव आदि का स्मरण किया है

नमो श्री अरिहन्त, कर्मो का किया अन्त, हुआ सो केवलवन्त करुणा भडारी है,
अतिशय चौतीस धार, पैंतीस वाणी उच्चार, समझावे नरनार पर उपकारी है।
शरीर सुन्दराकार, सूरज सो झलकार, गुण है अनन्त सार, दोष परिहारी है,
कहत तिलोक रिख मन वच काया करि, लुलि-लुलि बारम्बार वन्दना हमारी है।

सिद्धो की वन्दना करते हुए उनके अचल, अटलरूप, आवागमन-चक्र-मुक्ति, सर्व कर्मक्षयी एव कालजयी व्यक्तित्व, निर्विकार एव निर्लेप स्वरूप आदि की स्तुति की है.

सकल करम टाल, वश कर लियो काल, मुगति मे रह्या माल, आतमा को तारी है,
देखत सकल भाव, हुआ है जगत राव, सदा ही खायक भाव, भये अविकारी है।
अचल, अटलरूप आवे नही भवकूप, अनूप सरूप ऊप, ऐसे सिद्धधारी है,
कहत है 'तिलोक रिख' बताओ वास प्रभु सदा ही उगते सूर, वन्दना हमारी है।

आचार्यो की वन्दना करते हुए उनके ३६ गुणो, आचारनिष्ठा, मधुर वचनामृत, नेतृत्वगरिमा, लोकहितभावना आदि का कीर्तन किया है.

गुण है छत्तीस पुर, धरत धरम उर, मारत करम क्रूर, सुमत विचारी है,
शुद्ध सो आचारवन्त, सुदर है रूप कन्त भण्या सब ही सिद्धान्त, वाचणी सुप्यारी है।
अधिक मधुर बेण, कोई नही लोपे केण, सकल जीवां का सेण, कीरत अपारी है,
कहत है 'तिलोकरिख' हितकारी देत सीख, ऐसे आचारज ताकू वन्दना हमारी है।

उपाध्यायो की वन्दना करते हुए उनके अग उपागादि शास्त्रो के पठन, नीर-क्षीर-विवेकी बुद्धि, भ्रमविध्वसक व्यक्तित्व, तपतेजस्विता, अगाध पाडित्य, तर्कशक्ति आदि गुणो का स्मरण किया है.

पढत इग्यारे अग, करमो सु करे जग, पाखडी को मानभग करण हुसियारी है,
चवदे पूरब धार, जानत आगम सार, भविन के सुखकार, भ्रमता निवारी है।
पढावे भविक जन, स्थिर कर देत मन, तप कर तावे तन ममता निवारी है,
कहत है 'तिलोक रिख' ज्ञान भानु परतिख, ऐसे उपाध्याय ताकु वन्दना हमारी है।

साधुओ की वन्दना करते हुए उनके आत्म-सयम, समिति गुप्ति पालन, छ. काय की रक्षा, महाव्रत पालन, कषाय-त्याग, ममता-निवारण, स्वाध्याय, क्रिया, प्रभुभक्ति आदि विविध आचारो का बखान किया है—

आदरी सयम भार, करणि करे अपार, समिति गुपतिधार विकथा निवारी है,
जयणा करे छ काय, सावद्य न बोले वाय, बुझाय कषाय लाय, किरिया भडारी है।
ज्ञान भणै आठू याम, लेवे भगवत नाम, धरम को करे काम, ममता कू मारी है,
कहत है 'तिलोक रिख' करमो कां टाले बिख, ऐसे मुनिराज ताकू वदना हमारी है।

(ख) आख्यानमूलक

स्तवनात्मक रचनाओ में गीतितत्त्व अधिक सुरक्षित रह सका है. आख्यानमूलक कृतियाँ प्रबन्ध काव्य की कोटि मे आती है

पर ये महाकाव्य और खण्डकाव्य की कसौटी पर नही कसी जा सकती. यद्यपि इनमे कई भावपूर्ण रसात्मक स्थल हैं पर प्रधान दृष्टि इतिवृत्त पर ही रही है कथानक अन्त की ओर दौडते प्रतीत होते हैं सभी मे धार्मिक दृष्टि और उपदेश की भावना प्रमुख रही है. इन कथाओ के नायक वैभवशाली राजा भी है और नवयौवनसम्पन्न राजकुमार भी. नगर के प्रख्यात सेठ-साहूकार भी है और शीलधर्म पर प्राण देनेवाली सद्नारियाँ भी इतना अवश्य कहा जायगा कि सारे पात्र ऊँचे कुल और वैभव-विलास से सम्बन्ध रखनेवाले है सामान्य पात्रो की ओर कवि का ध्यान शायद इसलिए नही गया, क्योकि वह भुक्ति से मुक्ति की ओर, भोग से योग की ओर, और राग से विराग की ओर जीवन-प्रवाह को गति देना चाहता है कही-कही तो ये आख्यान केवल पद्यवद्ध कथा-काव्य वनकर ही रह गये हैं

इन आख्यानपरक कृतियो मे कई काव्य-रूप दृष्टिगत होते है जिन आख्यानो को चार ढालो मे गुम्फित किया गया है वे 'चौढालिया' नाम से अभिहित किये गये है. सुदर्शन सेठ, अर्जुनमाली, नदीषेण मुनि, वर्धमान स्वामी, खदक मुनि, मेतारज मुनि, आनन्द, कामदेव आदि रचनाएँ 'चौढालिया' सज्ञक रचनाओ का प्रतिनिधित्व करती है. जो आख्यान पाँच ढालो मे लिखे गये है वे 'पचडालियाँ' नाम से प्रसिद्ध है 'महावीर स्वामी का पचढालिया' तथा 'भृगु पुरोहित पच-ढालिया' ऐसी ही रचनाएँ है. जिनमे प्रमुख नायक का चरित्र प्रधानत वर्णित है वे 'चरित्र काव्य' कहे गए है. ऐसे चरित्र काव्यो मे आलोच्य कवि द्वारा लिखे गये श्रीचद केवली चरित्र, श्रीसीता चरित्र, श्रीनेमिचरित्र, हसकेशवचरित्र, धर्मवुद्धि पापवुद्धि चरित्र, श्रेणिक चरित्र, शालिभद्र चरित्र, समरादित्य केवली चरित्र आदि प्रमुख है 'लावणी' नाम से भी कई आख्यान पद्यवद्ध किये गये हैं, काल की लावणी, जीव-रक्षा की लावणी, गजसुकुमाल की लावणी, धन्नाजी की लावणी, पचम आरा की लावणी आदि ऐसी ही रचनाए है 'छद' सज्ञक रचनाओ मे श्रीआचार्य छद, श्रीपार्श्वनाथजी का छद, साधु छद आदि के नाम गिनाये जा सकते हैं राजमती वारहमासा, गौतम स्वामी रास, जयकुमार की चौपाई आदि रचनाए भी इसी वर्ग की है

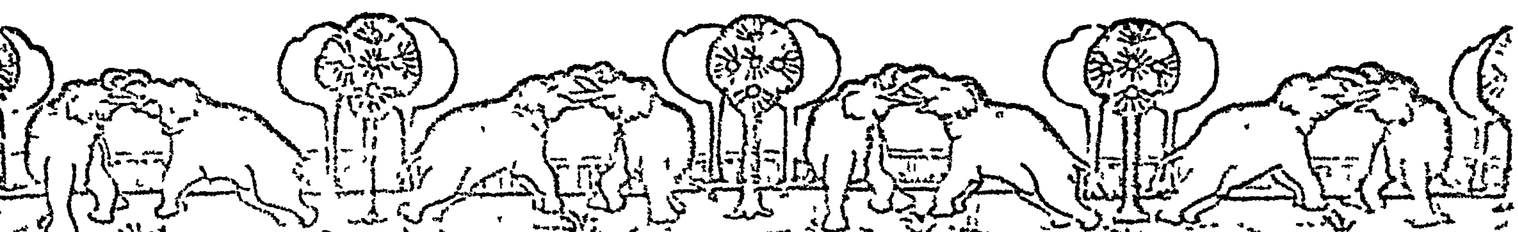
इन आख्यानमूलक रचनाओ के सम्बन्ध मे इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि वे प्रभाव डालने मे वडी कारगर सिद्ध हुई है जन साधारण मे धर्म-प्रचार करने के साधन रूप मे इन रचनाओ की वडी उपयोगिता है

(ग) औपदेशिक

काव्य के माध्यम से उपदेश देना सत कवियो की सामान्य प्रवृत्ति रही है जिनमे कवित्वप्रतिभा नही होती वे सीधा औपदेशिक भाव प्रकट कर ही रह जाते है पर जिसे कविता का वरदान प्राप्त है वह लाक्षणिक अभिव्यक्ति द्वारा उस भावविशेप को सरल वना देता है यो तो कवि ने सामान्यत ससार की असारता, शरीर की नश्वरता, मन की चचलता कामभोगो की निस्सारता आदि का वर्णन कर साधक को कपाय-त्याग, व्रत-पालन, दया-दान, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि वृत्तियो की ओर अभिमुख किया है यदि कवि इन भावनाओ को अभिधेय अर्थ मे ही ग्रहण करके रह जाता तो वह पद्यकारो की श्रेणी मे ही गिना जाता है पर तिलोक ऋषि ने अपनी रूपकयोजना द्वारा सामान्य लौकिक भावो मे भी अलौकिक सौन्दर्य और अध्यात्मभावो का माधुर्य भर दिया है

यह रूपकयोजना सामान्यत चार रूपो मे व्यवहृत हुई है जितने भी लौकिक त्यौहार हैं उन्हे अध्यात्म भावना का रग दिया गया है इन त्यौहारो मे दशहरा, धनतेरस, रूपचवदस, दीपावली, होली, शीतला सप्तमी, वसन्तपचमी, अक्षय-तृतीया, गणगौर, पर्युषण पर्व आदि त्यौहारो को कवि ने अपना वर्ण्य विपय वनाया है देश और काल को भी कवि ने आध्यात्म भावो मे वाधा है जिन-जिन गाँवो और नगरो मे कवि ने पद-यात्रा की है उनके नामो और गुणो को लोकोत्तर अर्थ मे ढालकर आत्मा को पवित्र वनाने का उपदेश दिया गया है काल की दृष्टि मे कवि ने एक ओर वारहमासा को रूढिगत विरहालाप से वाहर निकाल कर अध्यात्म क्षेत्र की ओर मोड़ा है तो दूसरी ओर सात वारो सोम, मगल, वुध, गुरु, शुक्र, शनि, रवि को भी आत्मधर्म मे उपमित किया है सामान्य नाम सस्करण प्रणाली को भी अध्यात्म रग मे रग दिया गया है. इस यह आशय का एक कवित्त उद्धृत किया जाता है .

> प्रेमसी जुम्भारसिंह वश किया जीवराज, मानसिंह भाईदास मिल्या चारौ भाई है,
> कर्मचन्द्र काठा भग्या, रूपचन्दजी से प्यार, धनराजजी की वात चाहत मदाई है।



ज्ञानचन्दजी की वात सुने न चेतनराय, आवें नहीं दयाचन्द सदा सुखदाई है,
कहत तिलोकरिख मनाय लीजे नेमिचन्द, नहीं तो कालूराम आयां विपत सवाई है।

विराट् साग रूपक बाँधकर कवि ने जो उपदेश दिये है वे चमत्कार प्रकट नही करते वरन् उनमें निजीपन, घरेलू वातावरण और लोकव्यवस्था का विशिष्ट चित्रण है. राज्यव्यवस्था के कुत्सित और आदर्श दोनों चित्रों को कवि ने बडी खूबी के साथ अन्तरग-आत्मपरक-व्यवस्था के साथ फिट बैठाया है.

कुत्सित चित्र :

काया रूप नगरी में चिदानन्द राज करे, क्रोध-कोटवाल मान-सिंह प्रधान है,
कपट हजूर्यो लोभ छड़ीदार बन्यो तामें, मोह फौजदार अति करत गुमान है।

आदर्श चित्र :

जीव रूप राजा समकित परधान जाके, ज्ञान को भंडार शील रूप रथ सारके,
क्षमा रूप गज मन हय को स्वभाव वेग, संजम की सेना तप आयुध अपार के।
सज्झाय वार्जित्र, शुभ ध्यान नेजा फरकत, रैयत छ काय सो बचाय कर्म मार के,
मोक्ष गढ जीतवा को, कहत तिलोकरिख, करिये संग्राम ऐसी धीरजता धार के।

कलात्मक कृतियाँ :

तिलोकऋषि के कवि-व्यक्तित्व के साथ उनके चित्रकार-व्यक्तित्व ने मिल कर कई नवीन, मौलिक, कलात्मक कृतियो को जन्म दिया इन कलात्मक कृतियो में कवि की एकाग्रता, उसकी सूझ, लेखनकला चित्रण-क्षमता और अपार भाषा-शक्ति का परिचय मिलता है ये कलात्मक कृतियाँ दो प्रकार की हैं :

(क) चित्रकाव्यात्मक :

सस्कृत आचार्यो ने चित्रकाव्य को अधम काव्य कहा है और ध्वनिकाव्य को श्रेष्ठ काव्य. विवेच्य चित्रकाव्य उस तथाकथित "चित्रकाव्य" से भिन्न है. यहाँ "चित्रकाव्य" का प्रयोग काव्य की विशेष लेखनपद्धति द्वारा निर्मित चित्र के प्रसग मे किया गया है. ऐसे चित्रकाव्य की सृष्टि वही कर सकता है जिसमें कवि का हृदय हो, चित्रकार का लाघव हो, गणितज्ञ की बुद्धि हो और स्थितप्रज्ञ की तन्मयता हो. कहना न होगा कि तिलोकऋषि ने इन सबका दायित्व कुशलता के साथ निभाया है. इन चित्रो को "काव्यात्मक चित्र" भी कहा जा सकता है पर प्रधान दृष्टि चित्र बनाने की रही है इसीलिये हमने इन कृतियो को "चित्रकाव्यात्मक" सज्ञा दी है.

ये चित्रकाव्य दो प्रकार के हैं. सामान्य और रूपकात्मक. सामान्य चित्रो में कवि ने स्वरचित या किसी प्रसिद्ध कवि की कविताओ-दोहे, सवैये, कवित्त आदि को इस ढग से लिखा है कि एक चित्र सा खड़ा हो जाता है. समुद्रबन्ध, नागपाश बन्ध आदि कृतियाँ इसी प्रकार की है. इन चित्रो के नामानुरूप भाव वाली कविताओ को ही यहाँ लिपिबद्ध किया गया है समुद्रबन्ध कृति मे ससार को समुद्र के रूप में उपमित करने वाली कविता का प्रयोग किया गया है नागपाशबन्ध मे भगवान पार्श्वनाथ के जीवन की उस घटना को व्यक्त करने वाला छन्द सन्निहित है जिसमें उन्होने कमठ तापस की पचाग्नि से, सकटग्रस्त नागदम्पती का उद्धार किया था प्रयुक्त छन्द इस प्रकार है .

अमर उद्धरण धीर गम्भीर, भविक भव पार उतारण रक्षा करण समंद कमठ तापस मद हारण।
संकट उरगंगवाय खरग पदवी ठवी सारण, विकट कमठ दियो कष्ट सही जलदल विस्तारण।
जब नागदेव करूर भये दहल तपविन न गण, सख दियो त्रिविध विचित्र सही पारस गरू तारण तरण।

"चित्रालकार काव्य" कवि की एकाग्रता, बौद्धिकता और श्रमशीलता का प्रत्यक्ष प्रमाण है इसमें प्रारम्भ से अत तक की कुल ३६ पंक्तियो मे ३६ दोहे लिखे गये है प्रथम पक्ति मे मगलाचरण, द्वितीय पक्ति से पच्चीसवी पक्ति तक २४ तीर्थकरो के स्तुतिपरक २४ दोहे है तदनन्तर क्रमश नमस्कार मत्र के ५ दोहे, त्रिरत्न के ३ दोहे और देव, गुरु, धर्म

विषयक ३ दोहे दिये गये है. यही नही, बीच-बीच में छत्रवध, दुर्गवध तथा गोमूत्रिका वध मे तीन प्रकार के नमस्कार मत्र दिये गये है. रचनाकाल, रचनाकार आदि का नाम भी वडी खूबी मे लिख दिया गया है अशोक वृक्ष, ज्योतिपचक्र आदि भी इसी प्रकार की कलाकृतियाँ है.

रूपकात्मक चित्रकाव्यो मे कवि की रूपक योजक-वृत्ति ही काम करती रही है ज्ञानकुजर और शीलरथ के रूपकात्मक चित्र अत्यन्त सुन्दर बन पडे है हाथी कवि का प्रिय प्रतीक रहा है 'ज्ञानकुजर' उन लोगो के लिए, जो पढे-लिखे नही है, जैन धर्म के समग्र सिद्धान्तों को समझने की कुजी है विभिन्न आध्यात्मिक ज्ञान से परिपूर्ण अक्षरो द्वारा हाथी का यह चित्र वडा भव्य और विशाल है २४ तीर्थंकरो के नाम लिखकर हाथी की सूड, गणधरो के नाम लिखकर उसका कान, ज्ञान रूप उसकी आँख, धीरज और धर्म लिखकर उसकी दतूरे, वत्तीस आगमो के नाम लिखकर उसके पाँव, पाँच महाव्रतो के नाम लिखकर उस पर चढने की सीढियाँ आदि वनाई गई है दान दया रूपी महावत के हाथों मे उपदेश और ज्ञान का अकुश दिया गया है उसके ऊपर देव, गुरु धर्म की छत्री है जिसमे सम्यक्त्व की डडी लगी हुई है अवाडी को विभिन्न शास्त्रीय गाथाओ से सजाया गया है अवाडी के ऊपर स्थित मन्दिर के दोनो ओर, ज्ञान, दर्शन, चरित्र और तप रूप चार स्तभ है. इसके मध्य प्रतिभाशाली मुनि की आकृति है. ऊपर धर्मध्यान और शुक्लध्यान की पताका लहरा रही है. महाकवि तुलसी रूपको के वादशाह माने गये है. आध्यात्मिक क्षेत्र मे रूपको की सृष्टि करनेवाला यह तिलोक कवि भी किसी वादशाह से कम नही है

(ख) गूढार्थमूलक :

सत कवियो ने अपने सिद्धान्तो को कही-कही वडी रहस्यात्मक भाषा मे प्रतिपादित किया है. इस प्रकार की गूढ अभिव्यक्ति को 'उलट बासियो' के नाम से अभिहित किया गया है. इसका कारण यह रहा कि यह अभिव्यक्ति सामान्य लोक-नियमो का अतिक्रमण ही नही करती, उससे नितान्त विरोध और वैपम्यभाव भी प्रकट करती है आलोच्य कवि तिलोक के काव्य मे इस प्रकार की उलट वासिया तो नही मिलती जिस प्रकार की कबीर के काव्य मे फिर भी कवि-अपनी शब्द-क्रीडा करना नही भूला सगुण भक्त कवियो मे सूर ने जिस प्रकार दृष्टिकूट पद लिखे है उसी प्रकार तिलोकऋषि ने भी कतिपय गूढार्थ-व्यजक दोहे लिखे है. उन्हे कूटशैली के अन्तर्गत रखा जा सकता है यहाँ इस प्रकार का एक दोहा दृष्टव्य है

दधिसुत-रिपु ते जाणिये, तस रिपु-रिपु ते जाण, कठ छवि तसु वाहने, लछण सो है सुजाण,
येह जिनराज ने भजो नित ।

अर्थ . दधिसुत अर्थात् चन्द्रमा, उसका रिपु राहु, राहु का रिपु विष्णु (राम) विष्णु का रिपु रावण. रावण का स्वामी शिव, उस कंठ छविवाले शिव का वाहन वृषभ जिसके चिह्न रूप से सुशोभित होता रहता है, ऐसे जिनराज अर्थात् ऋपभदेव भगवान का नित्य भजन करो.

इस कूट शैली के साथ-साथ कवि ने सस्कृत की सूक्तियो पर भी कवित्त लिखे है इस शैली को 'समस्यापूर्ति' के अन्तर्गत रखा जा सकता है 'मनुष्यरूपेण मृगाश्चरति, मनुष्यरूपेण श्वानो भवति, मनुष्यरूपेण खराश्चरति' आदि पर लिखे गये इनके कवित्त बडे मर्मस्पर्शी और प्रभाव डालने वाले है

तिलोक ऋषि की इन काव्यगत विशेपताओ के आधार पर यह निस्सकोच कहा जा सकता है कि यह कवि सत कवियो मे अपना विशिष्ट स्थान बनाये हुए है सत कवियो ने सामान्यत अपनी रचनाएँ दोहा और पद में की पर इस कवि ने रीतिकालीन कवियो के सवैया और कवित्त जैसे छन्द को अपनाकर उसमे जो संगीत की गूज और भावना की पवित्रता भरी वह अन्यतम है तिलोकऋषि के काव्य मे भक्तियुग की रसात्मकता और रीतियुग की कलात्मकता के एक साथ दर्शन होते है. यह अपने आप मे कम वैशिष्ट्य नही है



डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित,
एम० ए० (हिन्दी), एम० ए० (सस्कृत), पी-एच० डी०,
रीडर, हिन्दी-विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर.

कविवर्य अमीऋषिजी और अमृतकाव्यसंग्रह

'अमृत-काव्यसग्रह' पण्डितरत्न मुनि श्रीअमीऋषिजी की कई काव्य-रचनाओ का सग्रह है सग्रह के अन्तर्गत मुनिवर्य द्वारा रचित १ शिक्षा-बावनी, २ सुबोध-शतक, ३ विविधबोध-बावनी, ४ चौरासी उपमायुक्त मुनि-गुण-बत्तीसी, ५ एकल विहारी मुनि हितशिक्षा चालीसा, ६, शारदा विनय, ७ तीर्थंकर परिचय, ८ श्री त्रिलोकाष्टक, ९ हिंसामति हित-शिक्षा, १० निश्चय-व्यवहार-चर्चा, ११ प्रश्नोत्तरमाला तथा १२ कतिपय समस्यापूर्तियाँ और अनेक प्रकीर्णक सगृहीत है सगृहीत रचनाओ के अतिरिक्त श्री अमीऋषिजी की और भी रचनाओ का पता चलता है मुनि श्रीमोती-ऋषिजी ने ऐसे प्राप्त ग्रथो की सख्या २८ बताई है और निम्नलिखित रूप मे उनकी तालिका प्रस्तुत की है —

१ स्थानक निर्णय, २ मुखवस्त्रिका निर्णय, ३ मुखवस्त्रिका चर्चा, ४ श्रीमहावीरप्रभु के छब्बीस भव, ५ श्रीप्रद्युम्न चरित ६ श्री पार्श्वनाथ चरित, ७ श्री सीताचरित, ८ सम्यक्त्व महिमा, ९ सम्यक्त्व निर्णय, १० श्री भावनासार, ११ प्रश्नोत्तर माला, १२ समाज स्थिति दिग्दर्शन, १३ कषाय कुटुम्ब छहढालिया, १४ जिनसुन्दरी चरित १५ श्रीमती सती चरित, १६ अभयकुमारजी की नवरग लावणी, १७ भरतबाहुबली चौढालिया १८ अयवता कुमार मुनि-छह ढालिया, १९ विविध बावनी, २० शिक्षा बावनी, २१ सुबोध शतक २२ मुनिराजो की ८४ उपमाएँ, २३ अम्बड सन्यासी चौढालिया, २४ कीर्त्तिध्वज राजा चौढालिया, २५ सत्यघोषचरित, २६ अरणकचरित, २७ मेघरथ राजा का चरित २८ धारदेवचरित.

उक्त तालिका मे ११, १९, २०, २१, तथा २२ सख्या वाले नाम अमृतकाव्य-सग्रह के क्रमश ११, ३, १, २, तथा ४, पर दिये गये नामो से मिलते-जुलते है, अतएव इन पाच रचनाओ को कम कर दे तो प्रथम तालिका मे प्रश्नोत्तरमाला तक के ११ तथा द्वितीय तालिका में से केवल २३ अर्थात् कुल ३४ रचनाओ तथा इनके अतिरिक्त अनेकानेक समस्या-पूर्तियो तथा प्रकीर्णको का श्रेय मुनिवर्य श्रीअमीऋषिजी को दिया जायगा. इन रचनाओ का अनेक दृष्टिबिन्दुओ से वर्गीकरण किया जा सकता है, वह इस प्रकार—इन्हे नीति, साम्प्रदायिक वर्णन, चरित वर्णन आदि जैसे कई वर्गो मे रखा जा सकता है. सग्रह-शैली-भेद से भी इनके अनेक रूप, यथा, अष्टक, चालीसा, बावनी, शतक, आदि मिलते है छन्दभेद की दृष्टि से विचार करे तो केवल अमृत-काव्य-सग्रह मे सग्रहीत रचनाओ में ही दोहा, कवित्त, सवैया, सोरठा,पद्धरी, हरिगीतिका, शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित, मालिनी आदि छन्दो का सुचारु निर्वाह मिल जायगा. सवैया और कवित्त पर तो इनका विशेष अधिकार जान पडता है. प्राय अष्टक आदि के नाम से प्रस्तुत की जाने वाली रचनाओ मे निश्चित रूप से सदैव केवल गिनती के ही छन्द नही रहते श्रीअमीऋषिजी की रचनाओ मे भी इसी परम्परा के दर्शन होते है मगलाचरण और समाप्तिसूचक छन्दो को छोड़ भी दे तो भी मूल-विषय से सम्बन्धित छन्दसख्या मे कही अधिक ही है छन्द और शैली की ऐसी विविधता के साथ-साथ विषय की विविधता और उसके कारण जीवन के विशाल निरीक्षण-परीक्षणके प्रति ऋषिजी की सजगता जितनी ही सराहनीय है, उतनी ही साहित्य-शास्त्रकी चमत्कारक-प्रणालियों का ज्ञान और उन पर उनका अधिकार भी प्रशसनीय है सत, दार्शनिक और भावुक कवि प्राय चित्र-काव्य की रचना मे प्रवृत्त होते नही दिखाई पडते कवियो के बीच भी जिन्होने अपने काव्य मे आलकारिक-चमत्कार को बहुत बहुमान दिया, उन्होने भी चित्र-काव्य-रचना की ओर अपनी रुचि नही दिखाई. जिन्हे शास्त्र-सम्पादन करना था, उनमे से भी

बहुतेरो ने उसकी उपेक्षा ही उचित समझकर मौनावलम्बन से काम लिया, किन्तु सत, दार्शनिक और कवि का एक-साथ सम्मिलित रूप प्रस्तुत करने वाले मुनिवर्य श्रीअमीऋषिजी ने इस दिशा को भी अछूता न छोडा, आपने खड्गवन्ध, कपाट-वन्ध, कदलीवन्ध, मेरुवध, कमलवध चमरवध, एकाक्षर त्रिपदीवध, चटाईवध, गोमूत्रिकावध, छत्रवध, वृक्षाकारवध, धनुर्वन्ध, नागपाशवध, कटारवंध, चौपटबध, चौकीवध स्वस्तिकवध आदि अनेक चित्रकाव्यो का सृजन किया है इस प्रकार उक्त रचनाओ के साथ इन चित्रकाव्य-रूपो की गणना करने तथा 'जयकुजर' नामक काव्य-कृति को सम्मिलित कर लेने पर तो ऋषि जी की वहुमुखी प्रतिभा और काव्य सृजन-क्षमता के साथ-साथ चमत्कार-चारुता-सम्पादन के प्रति भी विश्वास किए विना नही रहा जा सकता प्रत्येक छद मे अमीरिख, अमृत, पीयूप, रिख अमृत, अथवा अमी की छाप देकर पूर्व-प्रचलित कविपरिपाटी को आपने सर्वत्र निवाहा ही नही है, उससे अपने कवित्व के प्रति अपनी सजगता को भी द्योतित करा दिया है सतो के वीच भी अपने नाम की छाप देकर लिखने या छन्द कहने की प्रवृत्ति प्रचलित रही है, अतएव आप कवि और सत दोनो के बीच भली-भाति वैठ जाते हैं

श्रीअमीऋषिजी का काव्य उनके सत तथा कवि दोनो रूपो के सम्यक् सम्मिलन का स्वय ही प्रमाण है. सत की निश्छलता, स्पष्टोक्ति और हित-भावना ने उनके काव्य को शिक्षा और उपदेश से जिस प्रकार मण्डित किया है, प्रत्येक पक्ति से जीवन और जगत् के सवध मे सत्य के उद्घाटन का जैसा आग्रह उनकी रचनाओ मे छलक रहा है, वैसी ही भाषा की सुस्पष्टता एव सरलता और शब्द-योजना तथा छन्द-प्रवाह से उनकी काव्य-प्रतिभा भी फूटी पड रही है सत की वाणी अलकृति की राह नही अपनाती, सीधी, सरल राह से होकर चलती है, तिर्यक् उक्ति-भगिमाओ का प्रदर्शन नही करती उसकी वाणी अपने लक्ष्य को सीधे वेधती है, अलकारो, वक्रोक्तियो और ध्वनियो की आड लेकर आगे नही वढती सीधी वात मे ही उसका प्रभाव वढ जाता है, उसके लक्ष्य की सिद्धि उसी मे होती है स्पष्ट है कि श्रीअमीऋषि-जी की रचना भी इसीलिये इन सद्गुणो से युक्त है

सत का कार्य जीवन के नानाविध रूपो को निरावरण करके उन्हे जनता के सामने प्रस्तुत करना और इस रूप मे उसे सच्ची राह दिखाना है नीति और उपदेश का मार्ग ही उसका मार्ग है और इस मार्ग पर चलने के लिये कभी अपदार्थ पदार्थों की निन्दा, कभी मोह-भ्रम मे भटके हुए मनुष्य की चेतना को सबोधन, कभी अच्छे-बुरे के विवेक के लिये दो वस्तुओ की तुलना, कभी पूर्व-कथाओ की सूचना देकर काम-क्रोधादि के कुपरिणाम की ओर पाठक का ध्याना-कर्षण, कभी समाज के दूषणो पर कठोर प्रहार आदि अनेक कौशलो का प्रयोग करके उसे अपनी वात का प्रभाव-जमाना होता है श्रीअमीऋषिजी ने अपनी रचनाओं मे इन सभी साधनो का कुशल उपयोग किया है

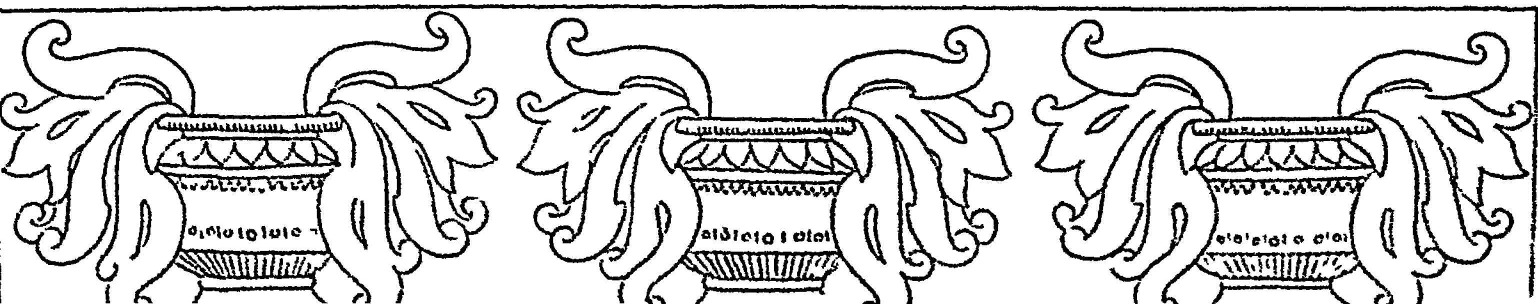
सतो की दृष्टि मे ईश्वर के प्रति जीव की उदासी का मुख्य कारण उसका यह मोह एव भ्रम है कि वह कोमल और सुन्दर शरीर का है अथवा अभी क्या है, अभी तो वहुत आयु पडी है, भगवान् का भजन भी हो जायगा इस भ्रम को दूर करने का एक तरीका यह है कि ठेठ भाषा मे मनुष्य को सतर्क कर दिया जाय 'काल चवेना जगत् का कुछ मुख मे कुछ गोद", और यह भी है कि अन्योक्ति के सहारे उसे नश्वरता का ज्ञान कराते हुए कह दिया जाय

'माली आवत देख कर, कलियां करी पुकार। फूले-फूले चुन लिये, काल्ह हमारी वार।

अथवा, यह भी है कि चमत्कारक रूपक के सहारे मनुष्य को सावधान कर दिया जाय कि—

'जम-करि-मुंह तरहरि पर्‌यो, इहिं धरहरि चित लाउ। विषय, तृषा परिहरि अजौं, नरहरि के गुन गाउ॥"

सत इनमे से पहले दो प्रकार की उक्तियाँ अपनाता है और कवि, विशेषत चमत्कार-प्रिय कवि, अन्तिम प्रकार की उक्ति का सहारा लेता है. श्रीअमीऋषिजी ने सत होने के नाते पहले दो प्रकार की उक्तियो के मेल मे ही अपनी उक्तियो को उपस्थित किया है अमीऋषिजी ने निम्नलिखित छन्द मे इसी शरीर-सौन्दर्य के तीन आकर्षक उपमान और रग-वैचित्र्य को उपस्थित करके मोहकता, दर्शनीयता, विकसमानता और मृदुलता के साथ उन सवकी



म्लानता की अनुभूति जाग्रत करने वाला चित्र अंकित कर दिया है, 'फुलाना' तथा 'कुमलाना' शब्द जैसे यहाँ आकर सार्थक हो गये है —

"मन में विचार नर, आउखो अलप तामें, करे अति आश न भरोसा पल दम का,
पल में पलट जाय, इन्द्रधनुष जिम, संध्या का फुलाना, कुमलाना ज्यों कुसुम का।
कोमल शरीर सुख ऐश में लोभाय रह्यो निकसत दम ढेर होयगा भसम का,
जम डर आन के सयाने अमीरिख कहे, धार ले शरण चित्त, प्रभु के कदम का।" —शिक्षा बावनी।

प्रबुद्ध व्यक्ति को समझाना सरल है, मूढ या हठी को उपदेश देना कठिन. सतो ने बराबर इस बात का अनुभव किया है और इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि मूर्ख को बहुत समझाने का प्रयत्न न करे. साथ ही उनका अनुभव यह भी है कि किसी व्यक्ति का स्वभाव बाहरी उपचारो से नही बदला जा सकता "कहा होत पयपान कराये, विष नहिं तजत भुअग" सूरदास ने इस प्रकार का छन्द लिखकर इसी धारणा को पुष्ट किया है श्रीअमीऋषि का अनुभव, श्रुत और पठित ज्ञान भी इसी के अनुकूल बैठा, अतएव उन्होने भी बडे ही सरल शब्दो मे इस बात का निर्देश कर दिया है —

"सीख नहीं दीजे हठग्राही मूढ प्राणिन कूं, सार नहीं होवै जैसे पानी के मथाए से,
खर का चन्दन–लेप, मुकुट भूषण तन, होवत निकाम जैसे ओस बिन्दु वाए से।
मर्कट के गले हार सार शोभादार बहु, तोरी के देवत फेंक फद जानी काये से,
अमीरिख कहे नहीं माने उपकार मन, होवत है बैरी बात हित की बताए से। —शि० बा०।

सूरदास जी का 'खर को कहा अरगजा लेपन, मरकट भूषण अग' भी आ गया और 'पानी को मथाए' 'ओस विन्दु वाएसे' के द्वारा मुहावरो का निर्वाह ही नही हुआ उनके द्वारा निस्सारता और असभाव्यता का अविलम्ब अनुभव भी हो गया उपदेश के साथ कवित्व का मेल प्रशसनीय है, विशेपत इसलिये भी कि ऐसा केवल एकाध स्थल पर ही नही हुआ है अधिकाशत हुआ है ससार की असारता और नश्वरता का चित्र खीचते हुए निम्नलिखित दोनो छन्दो मे मुनि जी ने इसी कौशल का परिचय दिया है, साथ ही प्रवाहमय शब्द-योजना का निर्वाह करके उक्ति को प्रभावपूर्ण वना दिया है —

"ढील नहीं कीजे गुरुदेव के वचन सुणि, छीजे छिन-छिन आयु, अजली के पाणी ज्यूं,
देह बलहीन होय, आई है जरा नजीक, नदी पूरवेग जैसे, बीते है जवानी ज्यूं।
कालदूत आय तेरे शीस पर छाय रह्यो, देह की ममत्व नहीं छोडे अभिमानी ज्यूं,
अमीरिख कहें पाप बांध के सिधायो जब, जम हाथ नरक में पचे, नाज धानी ज्यूं। —शि० बा०

अथवा, "आयु है अथिर जैसे अंजली के नीर सम, दौलत चपलता ज्यों दामिनी झलक में।
यौवन पतग रंग, काया है नीकाम अति, वार नहिं लागे ओस बिन्दु की ढलक में,
सुपन समान यह सपदा पिछान मन, सरिता को पूर ढल जाय ज्यों पलक में।
कहें अमीरिख जग सुख है असार धार, सुकृत सदीव यही सार है खलक में।" —सुबोध शतक

नारी-निन्दा सतो का प्रिय विषय रहा है कभी-कभी बिहारी जैसे शृगारप्रिय कवियो ने भी 'छवि-छायाग्राहिनी' तिय से बचे रहने की ओर सकेत कर दिया है, अन्यथा उनकी प्रवृत्ति 'हाँसी-फाँसी डालनेवाली' नायिका के सौन्दर्य का वर्णन करने की ओर ही अधिक रही है तथा, विहारी का कथन है —

डारे ठोढी-गाड, गहि नैन-बटोही, मारि,
चिलक-चौंध में रूप-ठग, हाँसी-फाँसी डारि।

अमीऋषिजी ने विहारी के कथन का निर्वाह करते हुए भी उसकी योजना प्रशसा के लिये नही, उसकी निन्दा और

निर्वेद के स्थायी उद्बोध के लिये की है:—

"जोबन की झलक चलक तन भूषण की दरसाय चकित करत जे विचारे हैं,
सुमति भूलाय के भूराय करि लेत वश, तन धन जस लूटी पराधीन पारे हैं।
कहे अमीरिख निज समय निहारी सार, करत जुलम हिये करुणा न धारे हैं,
हांसी फांसी डारी नैन बानन ते मारी ऐसी, नारो है ठगोरी ठगी अधोगति डारे हैं।—सु० ग०।

कबीर ने 'करमगति टारे नाहिं टरी' की पुकार लगाई तो अमीऋषिजी ने भाग्यवाद के आधार पर व्यापारो से विरति और ताला-कुंजी की अनावश्यकता पर जोर दिया है और स्याद्वाद की दुहाई दी है सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह आदि से बचाना, काम-क्रोधादि से अलिप्त रखना जहाँ संतो के उपदेश का विशेष उद्देश्य है, दर्शन-सिद्धान्तो का प्रतिपाद्य है, वहाँ परस्पर के भेद-भाव को नष्ट करके, जाति-पाँति और छुआछूत के द्वारा उत्पन्न बाह्याचार का निषेध भी उनका कार्य है या बना रहा है कबीर ने इस भेद-भाव पर बडी कडी दृष्टि डाली है और इसे माननेवालो की आडे हाथो खबर ली है, उनके नग्न रूप को प्रदर्शित करके उन्हे लज्जित किया है। श्रीअमीऋषिजी की दृष्टि से भी शुद्धतावादियो के विचित्राचार बच नही सके है और उन्होने शोध-मीमासा के रूप मे प्रकीर्ण छन्दो की रचना कर ही दी है किन्तु उनकी उक्ति मे कबीर की-सी कटुता नही है. यथा—

"मेवा दाख मधु गुड खांड गोल लूण हींग, शर्बत मुरब्बा प्राय म्लेच्छ ही बनावे है,
डाक्टर की दवा खास बनत बिलात माही, उत्तम कुलीन कोई पीवे अरु खावे है।
चाय घृत खावे कीडे युक्त फल चावे, औ तमाल पत्र पीते खाते सूग हू न आवे हैं,
अमीरिख पुद्गल के लक्षण न जाने शठ, शोध-शोध गावे कछु भेद नहीं पावे है।"—प्रकीर्णक।

किन्तु ऐसे स्थलो पर उनकी प्रतिभा केवल तथ्योक्ति तक ही सीमित रह गई है, काव्यचातुरी की झलक वहाँ नही मिलती. चमत्कार के लिये उन्होने बिल्कुल ही न लिखा हो, सो नही श्लेप अलकार के प्रयोग के आधार पर बारहो महीनो का नाम लेकर उपदेश के लिये मार्ग निकाल लेने मे अमीऋषिजी भी चमत्कारवादी कवियो से कम नही है—उदाहरणत,

"चेत भवि धार ज्ञान संजम वैसाख होय, जेष्ठ पर आपाढ़ समान सुविचारिये,
श्रवण आगम सुणी धार भद्र पद रोक, मन अश्विन को काती कपट को टारिये।
मृगशिर सिंह जैसे काल गही लेगो ताते, पोप पट्काय महामुनि पद धारिये,
फागुण में फाग सखी समता के साथ खेल, अमीरिख ऐसे बारे मास को उच्चारिये।"

इसी प्रकार मुनिवर्य मनुष्यों के नामो के द्वारा आध्यात्मिक उपदेश देने मे भी नही चूकते और काव्य मे चमत्कार ले आते है प्रकीर्णक ३७-४० इसके प्रमाण है इसी चमत्कार-प्रदर्शनेच्छा अथवा व्यापक अधिकार-लालना के कारण उन्होने प्रकीर्णक तथा प्रश्नोत्तरमाला मे सर्व लघुवर्णकाव्य की जैसी रचना की है वैसे ही प्रकीर्णको मे मत्ताईस वकार काव्य भी प्रस्तुत किया है रूपक और अन्योक्तियाँ लिखने मे इनका मन अच्छा रमता है और दृष्टान्त देने तथा कथात्मक शैली मे बात कहने के आप अभ्यस्त है. 'मधुबिन्दु दृष्टान्त' देते हुए आपने लिखा है—

"चउगति कानन मे पंथी जीव काल गज, नरभव वट आयु शाखा लटकानो है,
कूप है निगोद अहि क्रोध मान दम्भ लोभ, अजगर दोय रागद्वेप भीम जानो है।
मूसे दिन रैन परिवार मधुमक्षी सम, विद्याधर संत उपदेश फरमानो है,
अमीरिख कहे विपै सुख मधु बिंदु सम, सहे दुखे संकट मे मूढ ललचानो है।"

लोकप्रसिद्ध अथवा पचतन्त्र मे आई हुई कहानियो को लेकर उन्हे सवैया छन्द मे काव्यात्मक रूप देकर मुनिजी ने जीवनोपदेश के लिये अच्छा मार्ग निकाल लिया है. इसी प्रकार प्रश्नोत्तरमाला के अन्तर्गत अनेक प्रकार के गोतो की कल्पना करके जीव की गति का वर्णन भी किया है. कथा की कथा, उपदेश का उपदेश और काव्य का स्वाद अलग ऐसे सभी छन्द पठनीय और मननीय है. समस्यापूर्त्तियां भी शब्द-योजना के कारण उत्पन्न श्रवण-सुखदता और प्रवाह-



मयता के साथ-साथ उपदेश और व्यग के लिये स्मरणीय है. उदाहरणार्थ नीचे दो समस्यापूर्त्तियाँ दी जाती हैं, जिनमें पहली शब्द-योजना के लिये और दूसरी उपदेश और चमत्कार-रक्षण के लिये प्रमाण है—

१—विधवा सिर कीध सुहाग को टीको।

"कुल कान कटा करिके कुलटा अधरामृत बूंद चटा पर पीको,
ठारि अटा तन धारि छटा करि बंक कटाच्छ कटा जन ही को।
लाय वटा निज नेम घटा उलटा करि काज हटा सुमती को,
हे धिक वेश पियूष गुणी विधवा सिर कीध सुहाग को टीको।"

२—लोह के सुपिंजर में पारस पर्‌यो रह्यो।

"पाय नरदेह नेह कीनो ना धरम साथ, पातक के काज दिन रैन ही अर्‌यो रह्यो,
सुगुरु की केन हितकारी उर धारी नाहिं, अज्ञान मिथ्यात्व को विकार ही भर्‌यो रह्यो।
जीव पुद्गल को स्वरूप ना पिछान्यो कर्मी, मन को मनोरथ सो मन में धर्‌यो रह्यो,
अमीरिख वसन लपेट्यो निज गेह सदा, लोह के सुपिंजर में पारस पर्‌यो रह्यो।"

कवि-प्रतिभा का सचरण जिस प्रकार कल्पना, भावुकता और वैचित्र्य-सपादन के हेतु होता है और शब्द-योजना जिस प्रकार भावावेगो, क्रियाओ, अन्तरानुभूतियो के चित्र और मजमून बाधने में प्रयुक्त की जाती है, श्रीअमीऋषिजी की कवि-प्रतिभा का सचरण और उनकी शब्द-योजना की प्रयुक्ति दोनो ही उनके उद्देश्य के कारण वैसी नही है. श्री अमीऋषिजी का उद्देश्य तो जीव और जगत् को उनके वास्तविक और सही रूप में उपस्थित करके मोहान्धकार मे फँसे हुए मनुष्य का उससे उद्धार करना और उसके लिये उसे मार्ग दिखाना था. हास-विलास आदि की नाना गतियो मे न वे स्वय मग्न हुए और न किसी दूसरे को ही उस ओर ले गये. निर्वेद के द्वारा जिस शान्त रस को उपस्थित करना उनका उद्देश्य था, उसी की सिद्धि की ओर उन्होने ध्यान दिया और उसमे भी सफल हुए स्वाभाविक रूप से उनकी वाणी सहज मार्ग से होकर ही चली और उन्होने जिस निर्व्याज-भाव से अपने उद्गार प्रस्तुत किये उनमें प्रासादिकता और अनेक व्यवहृत भाषाओ के शब्दो का समावेश भी हो गया. राजस्थानी के विभिन्न भेदो मे तो उन्होने कविता की ही, अरबी-फारसी और अग्रेजी के प्रचलित शब्द भी उनकी पक्तियो में स्वयमेव आकर बैठ-से गये. इन शब्दो के आ जाने से ब्रजभाषा के सौन्दर्य की कही कोई हानि नही हुई, बल्कि उल्टे अर्थ-सौकर्य और प्रवाह मे सहायता ही मिली. विदेशी शब्दो में केवल दम, ऐश, कदम, हुश्यार, मौज, कैद, ख्वारी, तैयार या त्यार, जरूर, मौत, खुराक, फरमाई, खबर, दौलत, खलक, हाजर, हजूर, जुलम, गरीब, गरज, खफा, सफा, कानून, मजमून, जैसे शब्दो का ही प्रयोग आपने नही किया है, अग्रेजी के 'नम्बर' का प्रयोग भी नि सकोच कर दिया है. किन्तु इन शब्दो का मिश्रण सर्वत्र या बाहुल्य के साथ नही है. शब्दो को अपने उच्चारण के या मात्रा के अनुकूल बना लेने में तो आप कुशल है ही नये-नये शब्दो को गढ लेने मे भी प्रवीण है इद्रधनुष का इन्दर धनुष्य, शोभा से शोभादार, निकम्मी या निष्काम से नीकाम, सदैव से सदीव, सजा से सजावार, जैसे शब्द भी उनके यहा मिलेगे और मात्रा-लोप, आगम या परिवर्तन से होने वाले विकार भी उनके शब्दो मे बहुलता से दिखाई देगे. अति का अती, मित्र का मित, पीडा का पीड, अग्नि का अगन, शय्या या सेज का सिज्जा, चिता का चित्या, भाति का भात,ताको का ताकू, ऊपर का उपर, ममता का ममत जैसे प्रयोग उनकी रचना मे अति साधारण से ही समझने चाहिये. देशज प्रयोग भी प्राय. दिखाई पडते है. किन्तु इन प्रयोगो से काव्यपाठ और काव्यार्थ-बोध में सहायता ही मिली है, वाधा उपस्थित नही हुई वस्तुत. श्रीअमीऋषिजी की उक्तियाँ इतनी सहज और उपदेश इतने सीधे है कि उनकी भाषा भी उसी ढाल मे ढल गई है. भाषा-परिष्कार और शाब्दिक-एकरूपता की ओर उनका ध्यान नही है, भाव या विचार की निश्छल अभिव्यक्ति ही उनका उद्देश्य है और इसी दृष्टि से उनकी भाषा का विचार होना भी चाहिये श्रीअमीऋषिजी के कवि-रूप पर छाए हुए उनके सत रूप को ही उनका वास्तविक रूप मानना चाहिये और जहाँ-जहाँ इन दोनो रूपो का सम्मिलन दिखाई देता हो, वहाँ उनकी काव्य-प्रतिभा की भी मुक्तकण्ठ से प्रशसा करनी चाहिये



पारसमल प्रसून
एम० ए०, साहित्यरत्न

दीर्घदृष्टि लोंकाशाह

विषय-प्रवेश

विक्रम सवत् १४७२ के कार्तिक मास की अमल रात्रि !

ऊपर नील गगन मे चन्द्रमा अपनी समग्र रश्मियो से जगमगा कर वसुधातल को उजला बना रहा था कितना सुन्दर सयोग था कि सौभाग्यवश इसी रात्रि मे धरती पर भी अरहटवाडा नगर मे, ओसवाल गृहस्थ सेठ हेमाभाई के घर, माता गगाबाई की कुक्षि से एक चन्दा का उदय हुआ कवि की बात सही हुई कि—"एक ही रात मे दो दो चाद खिले"

पर आश्चर्य कि इस सलौने चाद ने आगे जाकर प्रचण्ड प्रभाकर की तरह, धार्मिक जगत् मे व्याप्त रूढिवादिता के अज्ञानपूरित भीषण अधकार को क्षत-विक्षत कर, सत्य के प्रखर आलोक से आध्यात्मिक क्षेत्र को प्रकाशित कर प्रशस्त बनाया

यह चन्द्रमा और कोई नही, मध्यकालीन जगत् का अग्रगण्य, महाप्रभावक, निडर क्रातिकर वीर लोकाशाह था वही लोकाशाह जिसकी क्रान्ति जैन जगत् के इतिहास मे अद्वितीय एव अद्‌भुत है, और वही लोकाशाह जिसके पुण्य प्रयासो का ही सत् परिणाम है आज का स्थानकवासी समाज

तात्कालिक परिस्थितियाँ

कल्पसूत्र मे उल्लेख है—भगवन् ! आपके जन्म-नक्षत्र पर भस्मकग्रह का सक्रमण है—उसका क्या फल होगा ? शक्रेन्द्र ने भगवान् से नम्र जिज्ञासा की

भगवान् ने फरमाया—"हे इन्द्र ! इस भस्मकग्रह के कारण दो हजार वर्ष तक श्रमणसघ की उत्तरोत्तर सेवा-भक्ति क्षीण होगी धर्म की हानि होगी जडता बढेगी सच्चे गुणो की पूजा घटेगी भस्मकग्रह के हटने पर जैन धर्म मे नव चेतना का जागरण होगा उजडे उपवन मे एक नई बहार छा जायेगी

वीतराग के वचन मे कैसे सत्य नही ? वे तो सर्वज्ञ होते है भगवान् महावीर के निर्वाण के कुछ समय पश्चात् पचम आरा प्रारम्भ हो गया काल-प्रभाव से धर्म का भी क्रमश ह्रास होने लगा कल के चमकते दमकते धर्म-सूर्य को आज ग्रहण लग गया था दृढ वैराग्य व सर्वोच्च त्याग की मनहर भूमिका पर आधारित जैन धर्म आज आडम्बर व विलासिता के कीचड मे फँस गया था त्याग भोग मे पराजित हो गया था, विराग के स्थान पर जैन-वीणा आज राग के मादक स्वर अलाप रही थी श्रमणवर्ग मे शैथिल्य का अखण्ड साम्राज्य था नगे पाँव, नगे शिर, गाव गाव, नगर



नगर, डगर-डगर, पैदल घूमकर अहिंसा, सयम व त्याग की गगा बहाने वाला, घर-घर धर्म का अलख जगाने वाला, निस्पृह, क्रियाशूर धर्मवीर, क्रियानिष्ठ जैन श्रमण-समूह, आज परिग्रह, बाह्य क्रियाकाण्ड और साम्प्रदायिकता आदि के चक्र मे पड़ गया था धर्म का अन्तस्तल विलुप्त था. मिथ्या आडम्बरो मे ही धर्म साधना की इतिश्री समझी जाने लगी थी चैत्यवाद का जोर था चेतनपूजा के स्थान पर जडपूजा का प्राबल्य था जैन-धर्म का सार तप, त्याग व इन्द्रियनिग्रह तो अब बस कल की वस्तु बन गया था. इस प्रकार उस समय सामाजिक व धार्मिक दशा शोचनीय थी

क्रान्तिका शुभागमन

प्रकृति का अपरिवर्तनशील विधान है कि क्रिया की प्रतिक्रिया होती है परिस्थितियाँ स्वय समयानुसार महापुरुष को उत्पन्न करने की शक्ति रखती है. धर्म का सच्चा स्वरूप सदा छिपा नही रह सकता आडम्बर एक दिन प्रकट होते ही है. अतत धर्म की मशाल जलती है. आखिर सत्य की पूजा होती है.

१५ वी शताब्दी विश्व-इतिहास में धर्मक्रान्ति का काल है यूरोप मे भी जब पोपशाही खूब फैली, जनता गुमराह होने लगी, स्वर्ग के प्रमाण-पत्र तक बिकने लगे, पास-पोर्ट बनने लगे, तब जर्मनी मे मार्टिन लूथर चमका. उस नर-नाहर ने बुलन्द गर्जना की इतिहास साक्षी है कि एक दिन इस नन्हे दिये ने तूफान को पराभूत कर दिया और लूथर की प्रचण्ड चट्टान से टकराकर पोप का जगी बेडा चूर-चूर हो गया.

इसी तरह भारतवर्ष मे भी इसी काल में बिजली के महान् प्रकाश की तरह आशा-उमग का नया आलोक ले अवतरित हुए थे—समर्थ क्रियोद्धारक सत्य-पथ—प्रदर्शक वीर लोकाशाह.

इस प्रकार भगवान् महावीर की भविष्यवाणी अक्षरश. सत्य हुई लोकाशाह ने वि० सवत् १५३१ मे क्रान्ति का बिगुल फूका धर्म के मूल रहस्यो को प्रकाशित किया और सत्-धर्म का डका आलम में बजवा दिया.

प्रारम्भिक जीवन

लोकाशाह का बाल्यकाल खेलकूद में बीता वे बडे होनहार थे. जीवन प्रारम्भ से ही वैराग्यवृत्ति प्रधान था, पर माता-पिता के अत्यन्त आग्रहवश वे विवाह-सूत्र मे बद्ध हुए. उनका गृहस्थ-जीवन भी आदर्श था. एक सुपुत्र-रत्न की भी प्राप्ति हुई वाद मे वे कुछ कारणो से अहमदाबाद मे आकर बस गये जवाहिरात के व्यापार में खूब चमके. गुलाब की सुवास सीमित क्षेत्र मे अवरुद्ध कैसे रह सकती है ? प्रसन्न होकर तत्कालीन बादशाह मुहम्मद शाह ने लोकाशाह को कोषाध्यक्ष के पद पर सुशोभित किया.

सुख की कमनीय क्रोड में पलने वाले लोकाशाह को क्या अभाव था ? उनका वर्चस्व जोरो पर था. पर उनका दीर्घ-दर्शी अन्तर्मन समाज व धर्म की विकृत अवस्था देखकर फूट-फूट कर रोता था. वे एक महान् आत्मा थे उन्होने समाज का भद्दा चित्र एकदम भाप लिया

यह सब देख उनके अंतस्थल मे क्रान्ति की लहरे हिलोरे मारने लगी, गहरा चिंतन किया. हृदय मे से पुकार उठी—लोकाशाह ! समाज और धर्म मे कुछ जागृति ला. अभी समय है, फिर तो बिगड़ा बनना मुश्किल हो जायेगा.

सत्य की खोज में

उनकी दूरदर्शिता ने पाँखे फैलाई पहले विशेष ज्ञान प्राप्त करने की अभिलाषा जागी. लोकाशाह सत्यान्वेपक बने. गवेषणा का क्रम चला. वे स्वय एक अच्छे लेखक थे. उन्होने एक लेखक-मण्डल बनाया. शास्त्रो का लेखन प्रारम्भ हुआ. पर उस समय शास्त्र श्रावकों को उपलब्ध कहाँ ? शिथिल श्रमणवर्ग ने अपनी सुरक्षा के लिए श्रावको को उलटी पट्टी पढा रखी थी कि उनका शास्त्रो से क्या सबध ? उन्हे तो शास्त्र पढने ही नही चाहिये. कितनी धाधली थी ! और अधा बना भोला श्रावकसमुदाय "बाबावाक्यम् प्रमाणम्" के जाल मे आवद्ध था अत लोकाशाह को शास्त्र कठिनता से उपलब्ध हो रहे थे

पर सज्जन की चाह सदा पूरी होती है जो ढूंढता है उसे मिलता है. सयोग कि एक बार ज्ञान मुनि लोकाशाह के घर गोचरी को गये. उन्होने उनके मोती जैसे अक्षरो को देखकर सूत्रो की नकल करने का काम सौंपा. ज्ञानजी को क्या पता था कि यह आज का सुलेखक कल का महान् क्रान्तिकारी बन धर्म का सत्य स्वरूप दृढता मे प्रतिपादित करेगा

ज्ञान की प्राप्ति

शास्त्रो की नकल चलती गई दो प्रतियाँ बनती थी एक मुनिजी को देते. दूसरी अपने पास रखते स्वाध्याय, चिंतन, मनन, पठन-पाठन से लोकाशाह का ज्ञान बढता गया ज्ञान के प्रकाश मे रूढिवाद या आडम्बर कैसे टिक सकता है ? ज्यो-ज्यो शास्त्र-ज्ञान बढता गया त्यो-त्यो विलासिता व शिथिलता की पोल खुलती गई और दशवैकालिक सूत्र की प्रथम गाथा "धम्मो मगलमुक्किट्ठ " ने तो उनका पूरा पथ-प्रदर्शन कर दिया उनके नेत्र खुल गये शास्त्रो के विशुद्ध ज्ञान से, समाज मे व्याप्त अध-श्रद्धा से उन्हें ग्लानि हो गई शुद्ध जैन आगम पर श्रद्धा मजबूत हुई अब तो उन्हे समाज मे दिन-प्रतिदिन बढती शिथिलता स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगी उन्होने देखा तो भली भाति ज्ञात हुआ कि—मदिरो, मूर्तियो, मठो की प्रतिष्ठा का उल्लेख आगमो मे कही नही है

अब दीर्घदृष्टि लोकाशाह भला कैसे शात रहते ? सद्ज्ञान का प्रसार उनका लक्ष्य बन गया प्रथम तो वे पास आनेवालो को ही ज्ञानप्रसाद बाँटते. पर शीघ्र ही उन्होने समझ लिया कि आज का जमाना विज्ञापन का है तब वे सार्वजनिक स्थानो पर अपने सत्य विचार निडरता से प्रकट करने लगे

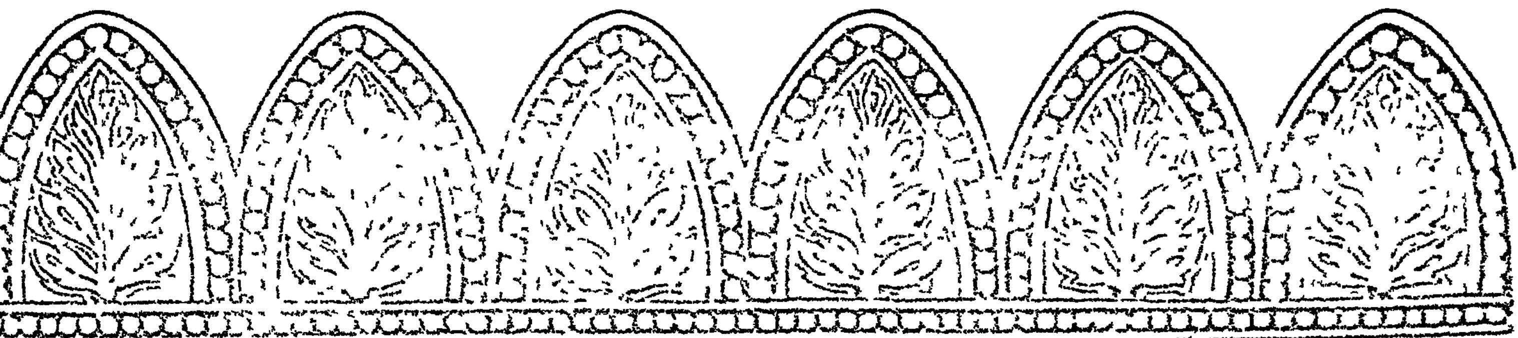
उपदेशधारा

अपने सद्ज्ञान का सार विलक्षण मेघावी, दीर्घदृष्टा वीर लौंकाशाह ने इस प्रकार घोषित किया—

'शास्त्रो मे प्रमाणित अहिंसा, त्याग, सयम से समन्वित सद्धर्म, आज शिथिल सम्प्रदायपोषक हाथो मे पडकर कलुषित बन गया है मोक्षसाधना के लिये आडम्बरभरी हिंसायुक्त जडपूजा की कोई आवश्यकता नही है मानसिक पूजा से ही आत्मकल्याण शक्य है वीतराग धर्मकी आराधना के लिये त्याग तपश्चर्या की आवश्यकता है मूर्तिपूजा आगमोक्त नही है अहिंसा मे ही धर्म है धर्म के नाम पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म हिंसा भी अक्षम्य है सासारिक लालसाओ की पूर्ति हेतु देवार्चन मिथ्यात्व है रूढि एव अधपरम्परा को तोडना ही जैनत्व है जैन जन्म या जाति से नही प्रत्युत गुण व आचरण से होता है जैन-धर्म का दीक्षा-प्रसग भी कम महत्त्वपूर्ण नही है केशमुडन तो वैराग्य का लक्षण है कषायविमोचन ही सच्चा वैराग्य है जैन श्रमण के तो क्षमा मार्दव आर्जव आदि १० निकट अभिन्न सहयोगी होते है वह तो ससार से अत्यल्प ग्रहण कर आत्मकल्याण करता हुआ विश्वकल्याण मे सतत निरत रहता है वह किसी को भारस्वरूप नही होता साधु-साध्वी श्रावक-श्राविका ये जैन-सघ के चार सुदृढ स्तभ है यदि इनमे से कोई एक भी डगमगा जाय तो सारी भव्य इमारत हिल सकती है साधुवर्ग एव श्रावकवर्ग दोनो की धर्म को सुदृढ बनाने की समान जिम्मेवारी है. अहिंसामय जैनधर्म की हानि से विश्वशाति को खतरा पहुँच सकता है और यह विश्व दुख के गहरे सागर में गोते खा सकता है अत जैन-धर्म का सच्चा स्वरूप विश्व का सम्यक् पथप्रदर्शन करता रहे तथा जन-मानस मे प्रेम और शाति की भावना जागृत करता रहे, यह सर्वथा वाछनीय है

लोकाशाह को कथन की मनहर शैली, सरलता, सज्जनता, विनम्रता समाज की हितभावना एव दूरगामी दृष्टि प्राप्त थी उनके उपदेशो का आशातीत प्रभाव होने लगा लोग खिंचे से आने लगे. कुछ श्रद्धा मे आते तो बहुत कुछ कौतूहल से या परीक्षा लेने या तमाशबीन बन दर्शक की तरह आते पर उनके पास आकर सत्य सदेश के समर्थक बन जाते.

एक नई घटना थी पुराण पथी वर्ग के खेमे मे खलबली मच गई उनके लिये तो लोकाशाह के ये प्रयास सर्वघाती थे सत्तालोलुप वर्ग इस प्रभावशाली दूरगामी धर्मक्रांति को देख घबरा गया लोगों को बहकाया जाने लगा कि—'लोका-शाह नाम के एक 'लहिये' ने अहमदाबाद मे शासन के विरोध मे विद्रोह खडा कर दिया है वह धर्मभ्रष्ट है उत्सूत्र प्ररूपणा कर रहा है, ढोंगी है, छलिया है'



लखमसी का सहयोग

तत्कालीन एक सुसपन्न व प्रख्यात श्रावक अनहिलपुर पाटण निवासी श्रीलखमसी भी लोकाशाह को परखने आये. बात इन्द्रभूति व महावीर की-सी हुई लखमसी ने अपने प्रश्न रखे. लोकाशाह ने शास्त्रसम्मत युक्तियो से सुस्पष्ट समझाया. लखमसी पूर्ण प्रभावित हुए फिर खूब विचारविमर्श, गहरा शका-समाधान और अतत लोकशाह के घनिष्ठ सहयोगी ! सह धर्मप्रचारक !

क्रांति की व्यापकता

अव तो शक्ति एकदम द्विगुणित. फिर तो अरहटवाडा, पाटण, सूरत आदि चार सघो के सघपति भी लोकाशाह की विचारधारा के कायल बने. शनैं. शनैं लोकाशाह की धर्मक्राति की लपटे फैलती गईं. सत्य का बल प्रबल होता है. कितने आश्चर्य का विषय है कि उस युग मे बिना किसी रेल, तार, प्रेस, प्लेटफार्म, प्रचार प्रसार यत्रो के मात्र सत्य, दृढता व दूरदर्शिता से लोकाशाह के ये सत्य सिद्धान्त भारत के कौने-कौने में फैल गये.

क्रांति की अंतिम आहुति

लोकाशाह ने आगमानुसार साधुमार्ग का पुनरुद्योत किया वे स्वय तो दीक्षित नही हुए क्योकि वृद्ध हो चुके थे उनके साथियो ने दीक्षित होने की प्रार्थना भी की थी पर लोकाशाह बहुत दूर की सोचने वाले थे वे जानते थे कि आचरण की सर्वागसुदरता ही अभी अपेक्षित है. उनके साथियो ने स्वय दीक्षित होने की जब अत्यधिक भावना बार-बार व्यक्त की तो उन्हे सच्चे सयम का विकट स्वरूप भली भाति समझाया. फिर भी उनकी दृढता व प्रबल इच्छा देखी तो लोकाशाह ने जिन धर्म के उद्योत के लिये उनकी भावना का स्वागत किया और उनके उपदेश से लखमसी जगमाल आदि ४५ व्यक्ति एक साथ भागवती दीक्षा से दीक्षित बने लोकाशाह की क्राति की यह चरम परिणति थी इन ४५ व्यक्तियो मे से कई वडे-वडे सघपति व लक्ष्मीपति थे. इनके सयम, तप, तेज का खूब प्रभाव पडा.

महत्त्व एवं मूल्यांकन

इस प्रकार लोकाशाह ने धर्म के नाम पर प्रचलित पाखड का पर्दाफाश किया. उन्होने क्राति का नव्य भव्य सदेश दिया. सत्यमार्ग की प्ररूपणा हुई. धर्म का पुनरुद्धार हुआ.

वह धार्मिक क्राति का सुप्रभात कितना आह्लादकारी था जब कि शताब्दियो की अधकारमय रात्रि मे सुषुप्त जनमानस ने चेतना की प्रथम अगडाई लेकर क्राति-ज्योति के सर्वप्रथम अभिनव दर्शन किये. यह नूतन मगल-प्रभात था. सत्यधर्म का सूर्य चमक रहा था. उसके नव्य दिव्य प्रकाश मे रूढिवादिता-रात्रि का आडम्बर-अधकार एव शैथिल्य के उलूक न जाने कहाँ विलुप्त हो गये ! जन-मानस का हृदय-कमल प्रफुल्लित था

धर्मक्राति की वीणा बजाने वाले, सत्य का शख फूकने वाले, महान्, निडर-दूरदर्शी, वीर क्रातिकारी लोकाशाह ! तुम्हे हमारा भावपूर्ण शत-शत वन्दन अभिनन्दन है !

लोकाशाह की यह क्राति विलक्षण है. ज्ञान-दर्शन-चारित्रप्रधान 'स्थानकवासी समाज' इसी वीर पुरुष की देन है. उस विकट अधकार के अटपटे जडयुग मे गुण-पूजा की सबल स्थापना कितनी उत्साहपूर्ण व आशा-प्रद घटना है. हम कल्पना तक नही कर सकते अगर लोकाशाह ने यह धार्मिक क्राति न की होती तो आज क्या होता ?

हमारा कर्तव्य

भारत के लूथर लोकाशाह की क्राति का मूल्याकन सरल नही है. पर दुर्भाग्य से हमारे समाज मे इतिहास के लेखन व प्रचार एव प्रसार की भावना न होने से एक ऐसा जबर्दस्त क्रातिकर अतीत के अधकार मे आज भी विलुप्त है नही तो क्या इस सुधारक का महत्त्व मध्यकालीन किसी भी धर्म-सुधारक से कम है? इस महान् क्रातिप्रणेता का आद्योपांत विशद



विवरण प्रस्तुत कर हम अब पुरानी भूलो का परिमार्जन कर सकते हैं. अन्यथा आनेवाला कल हमे कदापि क्षमा नही करेगा.

धर्मवेदी पर बलिदान

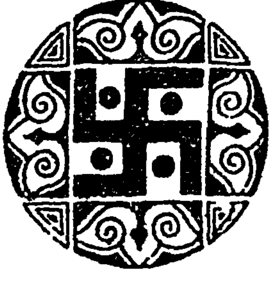
सुधारक का पथ कटकाकीर्ण होता है उन्हे पूजा मिलती है तो प्रहार भी मूर्ख जनता अपने वीर सुधारक का एकदम स्वागत कहाँ करती है ? ईसा को शूली पर चढना पडता है तो सुकरात को विषपान करना होता है पैगम्बर मुहम्मद साहब को मक्का से मदीना प्रयाण करना पडता है यही बात इस सुधारक लोकाशाह के साथ हुई चैत्यवासी एव स्वार्थी लोग लोकाशाह की विमल कीर्ति व उनका दिन प्रतिदिन बढता प्रभाव सहन नही कर सके एक दिन विषयुक्त आहार से इस वीर ने अपने प्राणो तक को समाज धर्म की बलिवेदी पर हँसते-हँसते न्यौछावर कर दिया क्राति की मशाल की कितनी दीप्ति ? लोकाशाह धर्म के लिये ही जिये व धर्म के लिये ही मरे वे क्राति की लपट बनकर आये और प्रकाशपुज फैला गये

अंतिम आकांक्षा

नश्वर शरीर से न सही क्राति के अविनश्वर स्वर से वे आज भी अमर हैं उनकी क्राति के स्फुलिंग आज भी वायुमण्डल मे इतस्तत व्याप्त है उनकी सिहगर्जना से आज भी दिशाएँ गूज रही है

लोकाशाह के क्रान्तिमय जीवन के अगारे आज भी मद नही हुए है उनकी ज्योति अखड है आवश्यकता है कि उस क्राति की ज्वाला मे से एक शोला फूटकर बाहर आये व चमके तथा पुन सशक्त नई क्राति करे ताकि आज का अज्ञान, भय, अविश्वास, द्वेष, फूट से जर्जरित विश्रृंखल जैन-समाज पुन सयुक्त व सुदृढ बनकर इस आकुल विश्व मे नवमगल-सचारित कर सके.





श्रीदलसुखभाई मालवणिया,
निदेशक, द० ला० भारतीय सस्कृति-विद्यामदिर अहमदाबाद

लोंकाशाह मत की दो पोथियाँ

[भारतवर्ष के सास्कृतिक उत्क्रान्तिपूर्ण इतिहास मे १५-१६वी शताब्दी का विशिष्ट महत्त्व रहा है कबीर, नानक, और तारणतरण स्वामी आदि महान् पुरुषो ने निर्गुण विचारधारा का प्रबलता से समर्थन किया है एव सगुणोपासक समाज धर्म और पूजा के नाम पर फैले हुए अर्थहीन आडम्बरो पर प्रहार कर जनमानस को उद्‌बुद्ध किया है.

श्रीमान् लोकाशाह भी इसी युग की उपलब्धि है इसमे कोई सन्देह नही कि उनके मन मे जैनधर्म की शुद्ध प्रभावना की बलवती भावना घर किये हुई थी और वे यह चाहते थे कि श्रमणसस्कृति मे आचारमूलक जो शैथिल्य प्रविष्ट हो गया है उसका उन्मूलन हो.

यहाँ प्रश्न यह उपस्थित हो जाता है कि श्रीमान् लोकाशाह ने आदर्शमूलक सम्प्रदाय प्रारम्भ तो किया पर उनकी मौलिक विचारधारा क्या थी ? वे सस्कार के रूप मे समाज को क्या देना चाहते थे और उनका उच्चादर्श किस प्रकार और किस सीमा तक प्रतिस्फुटित हुआ ? एव उनके परवर्ती विभिन्न आनुगामिको ने उनके नाम पर किन सिद्धातो का समर्थन करते हुए परिवर्तन परिवर्धन व परिशोधन किया ? इत्यादि तथ्य तिमिराच्छन्न है

प्रस्तुत निबध इसी अनुसधान मे यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है. इसके पश्चात् भी अन्वेषण का क्षेत्र प्रशस्त होता रहे एव अन्य किन्ही विद्वानो को एतद्विषयक प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध हो तो वे अवश्य ही प्रकाश मे लाए ताकि यह अन्धकारपूर्ण युग आलोकित हो सके.

इस सम्बन्ध मे निम्न सामग्री भी द्रष्टव्य है—

(१) सिद्धात चौपई—मुनि लावण्यसमयकृत, रचनाकाल १५४३.
(२) सिद्धातसारोद्धार-कमलसयम उपाध्यायप्रणीत रचना-काल १५४४.
(३) त्रयोदशवचन-पार्श्वचन्द्र सूरि ग्रथित, रचना स० १६ वी सदी के करीब
(४) सिद्धातबोल सग्रह-लेखन काल १५७१
(५) कुमतिविध्वसन चौपई-हीरकलश गुफित रचनाकाल १६१७.
(६) लोक-मतनिराकरण चौपई-सुमतिकीर्ति कृत.
(७) प्रवचन-परीक्षा-धर्मसागरग्रथित रचनाकाल १६७५.
(८) लुपकमत-तमोदिनकर चौपई गुणविनयकृत रचना : १६७५.
(९) लोकामत-स्वाध्याय-गजसागर. रचना : १७ वी सदी
(१०) रूपचन्द माडणि—टीकम कृत. रचना : १६९९.
(११) दया धर्म चौपई—भानुचन्द्र कृत.

इन के अतिरिक्त तात्कालिक जैन ग्रन्थों की पट्टावलियों में लोंकाशाह और तदनुयायियों के सम्बन्ध में भी कई उल्लेख उपलब्ध है जो समसामयिक स्थिति के अध्ययन में सहायक हो सकते है. पुरातन ज्ञानागारों में भी विद्वानों के स्मरणपत्र व स्फुट चर्चात्मक ग्रन्थों में इस विषय की चर्चा पाई जाती है. —सपादक]



श्री लोकाशाह स्थानकवासी सम्प्रदाय के आदि सस्थापक माने जाते है किन्तु उनके विषय मे तथा उनके द्वारा रचित साहित्य के विषय मे हमारा ज्ञान अत्यल्प है उनके विरोधियो ने उनके विषय मे जो कुछ लिखा है, उसी को आधार मान कर अभी तक लोकाशाह का इतिहास लिखा गया है अब तक यह खोज नही हुई कि उन्होने स्वय या उनके अनुयायियो ने क्या कुछ लिखा है सही जानकारी के लिए और उनके प्रामाणिक इतिहास के लिए यह आवश्यक है कि उनका लिखा या उनका उपदिष्ट कुछ साहित्य खोजा जाय इस ओर मेरी अभी-अभी प्रवृत्ति हुई है मैंने कुछ हस्तलिखित प्रतियो का निरीक्षण किया तो पता लगा कि श्री लोकाशाह के विरोधियो ने जो लिखा है उसमे यह विवेक नही किया गया कि स्वय लोकाशाह ने क्या कहा और उसके बाद उनके अनुयायियो ने (जो कालक्रम से होते आये हैं) क्या कहा ? अतएव विपक्षियो के इस साहित्य से यथार्थ बात सामने नही आती किन्तु समग्र रूप से स्थानकवासी सम्प्रदाय की क्या-क्या बातें थी, यही केवल जाना जाता है

किस क्रम से यह सम्प्रदाय आगे बढा और लोकाशाह ने कितनी बाते कही और कितनी बाते बाद के आचार्यों ने उसमे जोडी, यह जानने का ठीक साधन अभी तक मुद्रित रूप मे हमारे सामने नही आया मैंने हस्तलिखित प्रतियो मे खोजना प्रारम्भ किया कि स्वय लोकाशाह को क्या बातें मान्य थी ? सद्भाग्य से मेरे सामने ऐसी दो हस्तलिखित प्रतिया आई है जिनके विषय मे यह कहा जा सकता है कि उनका सीधा सबन्ध लोकाशाह से है. इन दो प्रतियो का परिचय यहा देना है और इनके फलितार्थ पर कुछ विवेचन करना है

इन दो प्रतियो की नकले लोकाशाह के विरोधियो ने की है, क्योकि एक मे लुका के स्थान पर सस्कृत मे 'लुपक' लिखा हुआ है और दूसरी मे प्रति की समाप्ति के अनन्तर लिखा है—इसमे जो लिखा है वह श्रद्धा के लिए नही, अपितु लोकाशाह क्या मानते है, उसे दिखाने के मन्तव्य से लिखा है तथापि दोनो प्रतियो मे लिखित मूल मन्तव्य तो लोका के ही हैं, इसमे तनिक भी सदेह नही क्योकि एक मे स्पष्टरूपेण लिखा है कि यहाँ लोकाशाह के द्वारा जिन ५८ बोल-बातो की श्रद्धा की गई है तथा जो उन्होने किया है वही लिखा जाता है एक मे ५८ तो दूसरी मे ३३ बोल है

इतनी सामान्य-चर्चा के बाद अब दोनो प्रतियो के आधार पर जो मत फलित होता है उसकी चर्चा की जाय

यह तो निश्चित है कि लोकाशाह ने मूर्ति का निर्माण, मूर्ति की पूजा, मूर्ति की प्रतिष्ठा, तीर्थयात्रा आदि मूर्तिपूजा के साथ सबन्ध रखने वाली सभी बातो मे हिंसा देखी है दया के नाम पर या अहिंसा के नाम पर उनका विरोध किया है उन्होने यह बताने का प्रयत्न किया है कि शास्त्र मे मूर्तिपूजा को कर्तव्य या आवश्यक कर्तव्य मे स्थान नही है. द्रौपदी जैसी किसी व्यक्ति द्वारा मूर्तिपूजा करने का उल्लेख यदि शास्त्र मे है भी तो इसका तात्पर्य इतना ही है कि उसने मूर्ति की पूजा सासारिक प्रयोजनो से की है, मोक्ष के लिए नही मूर्तिपूजा हिंसा का काम है अतएव वह धर्मकार्य नही है, इस बात की सिद्धि करने के लिए श्री लोकाशाह ने जहाँ कही से, जो भी आगम-वाक्य का सहारा मिला, उस सभी का उपयोग करके एक ही बात कह दी है कि दया मे धर्म है और हिंसा से ससार अतएव मूर्ति-पूजा अकरणीय है.

उनके इस आग्रह का खडन कई विद्वानो ने योग्य उक्तियो द्वारा करने का प्रयत्न किया है और सम्भवत उन उक्तियो का ही फल है कि आज स्थानकवासियो मे मूर्तिपूजा का भले ही प्रचार न हुआ हो किन्तु लोका गच्छ मे तो मूर्तिपूजा का प्रचलन हुआ ही है तत्कालीन धार्मिक इतिहास का पर्यालोचन किया जाय तो विदित होगा कि देश की धार्मिक आवश्यकताओ में से ही मूर्तिपूजा जैन धर्म मे आई है और वह स्थिर रहने के लिए ही आई है उसका सर्वथा उन्मूलन नही हो सकता है मूर्तिपूजा मे कई प्रकार के आडम्बर आ गए है और उनका निराकरण जरूरी है किन्तु आडम्बरो के साथ मूर्तिपूजा को भी उठा देना सभव नही है

लेकिन लोकाशाह को तो एक बात का विरोध करना था अतएव अति आग्रह किये बिना उनका काम चल नही सकता था समाधान-वृत्ति को अपनाने पर या समन्वय-वृत्ति को अपनाने पर तो धर्म मे भी मूर्ति को स्वीकार करना पडता और ऐसी स्थिति मे मूर्तिपूजा का आत्यन्तिक विरोध सम्भव नही रह जाता, ऐसे आत्यन्तिक विरोध में से ही सम्प्र-



दायो का जन्म होता है समाधान या समन्वय मे से सम्प्रदाय उत्पन्न नही हो सकता. इस प्रकार जैनधर्म मे मूर्तिपूजा विरोधी लोकाशाह सम्प्रदाय शुरू हुआ. किन्तु आज के अमूर्तिपूजक जैन लोग अपने को लोका सम्प्रदाय के नाम से नही परन्तु स्थानकवासी या तेरापथी के नाम से कहते है. ऐसा क्यो हुआ, यह भी जानना जरूरी है लोकाशाह की मूर्तिपूजा विरोधी मान्यता को कायम रखते हुए भी इन सम्प्रदायो के प्रवर्तको ने कुछ नई बाते जोडी है उन नई बातो को जोडने के कारण ये सम्प्रदाय नये-नये नामो से पहिचाने जाते है. स्वय लोकाशाह ने किसी भी साधु के पास दीक्षा नही ली वे भिक्षाजीवी थे किन्तु महाव्रतो को उन्होने स्वीकार नही किया था. इसलिए वे न श्रावक थे और न साधु ही स० १५३४ (मतान्तर से १५३०, १५३१) मे भाणाजी जब उनके अनुयायी हुये तो भाणाजी ने महाव्रतो का स्वीकार किया था और फिर उन्ही से वेशधरो की परम्परा शुरू हुई जो लोका के नाम से प्रसिद्ध हुई आगे चल कर इसी लोका-सम्प्रदाय मे से, गुरु के साथ मनमुटाव हो जाने के कारण भाणाजी ऋषि (ये प्रथमोक्त भाणाजी से भिन्न थे) स० १६८७ मे ढूढ मे जाकर रहे, अतएव उनका सम्प्रदाय 'ढूढिया' के नाम से प्रसिद्ध हुआ इस सम्प्रदाय की भी कई शाखा-प्रशाखाए हुई किन्तु आज ये सभी स्थानकवासी कहलाते है परन्तु इनमे भी कुछ उप-सम्प्रदाय ऐसे है जो आज स्थानकवासी होते हुए भी स्थानक मे ठहरने से इन्कार करते है. ढूढिया सम्प्रदाय मे से ही स० १८१८ मे भीखण जी अलग हो गये उन्होने तेरापथ की स्थापना की. इन सभी का इस विषय मे एक मत है कि मूर्तिपूजा न की जाय किन्तु वेश और उपकरणो मे बहुत थोडा ही भेद है कुछ शास्त्रीय बातो मे भी भेद है लोकाशाह के विषय मे यह आक्षेप किया गया है कि वे तत्कालीन सुल्तान के साथ मिल गये और कई मन्दिरो का ध्वस किया. इस आक्षेप मे सत्य का इतना ही अश है कि सुलतान ने मूर्तिपूजा का विरोध मूर्ति का ध्वस करके किया जबकि लोकाशाह ने शास्त्रीय प्रमाणो से सभव है कि बढते हुये मुस्लिम प्रभाव से भी लोकाशाह ने कुछ प्रेरणा ली हो और जैनागमो के आधार पर विरोध किया हो.

आज के स्थानकवासी तथा तेरापथी सम्प्रदायो मे ३२ मूल मात्र आगम प्रमाण रूप मे स्वीकृत है किन्तु लोकाशाह को ४५ मान्य थे यह बात विरोधियो के द्वारा लिखे गये ग्रथो से जानी जा सकती है. प्रस्तुत ५८ बोल के और ३३ बोल के आधार पर तो यह भी कहा जा सकता है कि लोकाशाह को ४५ आगमो की निर्युक्ति, चूर्णि, टीका आदि भी उतने अश मे मान्य थे जिनका आगमो के साथ विरोध नही है

लोकाशाह रजोहरण, दड, मुखवस्त्रिका तथा कम्बल नही रखते थे, जो तत्कालीन यतियो और साधुओ के वश मे स्थान पा चुके थे पात्र रखते थे किन्तु अन्य यतियो की तरह उसमे लेप नही देते थे किन्तु यह भी स्पष्ट है कि मुखवस्त्रिका जैसी आज थोडे से परिमाण-भेद के साथ स्थानकवासी और तेरापथी सदैव बाधते है, लोकाशाह या उनके अनुयायी भाणाजी नही बाधते थे. यह भी स्पष्ट है कि मुखवस्त्रिका में धागा डालकर कान मे बाधने की प्रथा लोकाशाह के कई वर्षो के बाद जब ढूंढिया सम्प्रदाय चला तब शुरू हुई है. इसके पहले मूर्तिपूजको में भी कुछ लोग बाधते अवश्य थे, परन्तु केवल व्याख्यान के समय ही बाधने के प्रकार मे भी यह इतिहास बताया गया है कि स० १००८ मे मुखवस्त्रिका के छोरो को कान के छेद मे डालकर व्याख्यान के अवसर पर मुँह और नाक ढँका जाता था इसके बाद लोकाशाह की परम्परा मे धागा सीकर के उस धागे से कान मे बाध कर व्याख्यान मे मुह और नाक ढँकना शुरू हुआ इसके बाद ढूढिया सम्प्रदाय मे आज की तरह मुँहपत्ती बाधना शुरू हुआ उसी के नाप मे थोडा परिवर्तन करके तेरापथी भी बाधते है लोकाशाह के मन्तव्यो की चर्चा करने वाली दोनो हस्तलिखित प्रतियो मे मुहपत्ती की कोई चर्चा नही है इससे भी पता चलता है कि उस समय यह कोई विवाद का प्रश्न नही था.

विरोधियो ने लोकाशाह को मूर्ख आदि अनेक विशेषणो से विभूषित किया है किन्तु इन दोनो हस्तलिखित प्रतियो के आधार से इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जैन आगमो और उनकी टीकाओ का ज्ञान उन्हे था व्याख्या उनकी अपनी थी पर उन्हे शास्त्रो का ज्ञान ही नही था, ऐसा नही कहा जा सकता

मूर्तिपूजा के विरोध के विषय में उनका अति आग्रह था, यह सत्य है. फिर भी उनकी वाणी मे विवेक की मात्रा पद-

पद पर दीखती है अधिकाश बोलो के अन्त मे वे यही कहते या लिखते है कि बुद्धिमान् लोग इस विषय मे सोचे या विवेकी जन इस पर विचार करें इससे यह सुस्पष्ट है कि उनके लेखन मे कटुता बढाने का भाव नही था

लोकाशाह का यह विरोध सफल हुआ है और धर्म मे जो मूर्तिविरोधी सम्प्रदाय खडा हुआ है, इसके मूल मे लोकाशाह ही हैं, ऐसा नि सकोच कहा जा सकता है.

जैनधर्म के अनुयायियो मे लोकाशाह के कारण कुछ लोग मूर्तिपूजक नही रहे किन्तु जो मूर्तिपूजक रहे उनमे भी आड-म्बरो का और साधुओ के आचारो मे आई हुई शिथिलता का विरोध हुआ और जैनधर्म अध्यात्मप्रधान ही बना रहे, इसलिए स्वय मूर्तिपूजक साधुओ ने भी प्रयत्न किये. जैनधर्म को मौलिक आध्यात्मिकता की ओर ले जाने का अनेक महानुभावो ने प्रयत्न किया है उनमे लोकाशाह का भी एक विशिष्ट स्थान रहेगा, इसमे दो मत नही हो सकते

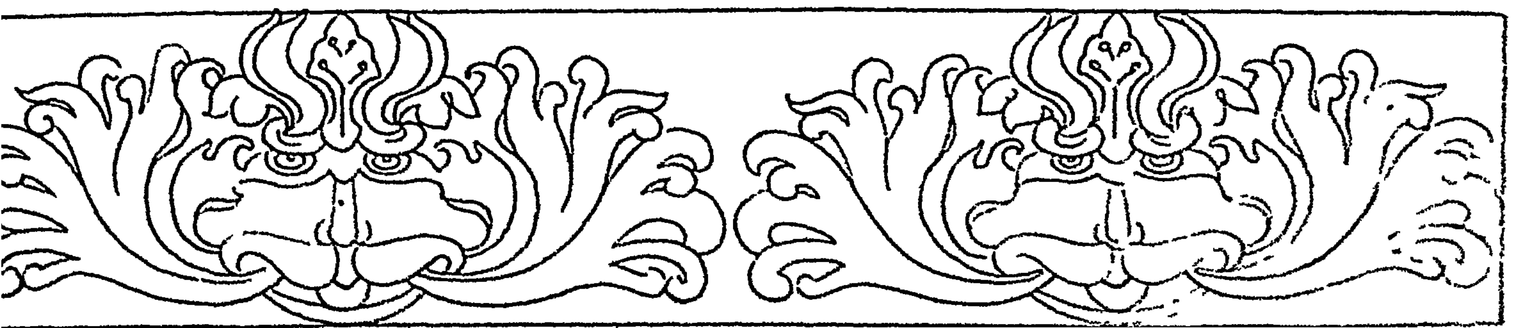
इतना परिचय हो जाने के बाद अब उक्त दो प्रतियो का विवरण प्रस्तुत किया जाता है. ये दोनों प्रतिया अहमदाबाद के श्री लालभाई दलपतभाई भारतीय सस्कृति विद्यामन्दिर के अन्तर्गत मुनिराज श्री पुण्यविजय जी के सग्रह की है

(१) न० ४१२१ लूंकानी हुडी ३३ बोलसग्रह, पत्र २ इसके आरम्भ मे लिखा है कि जो लोग यह कहते है कि हमे निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य, वृत्ति, प्रकरण आदि प्रमाण रूप से मान्य है, उन्हे ये बाते भी मान्य करनी होगी इस प्रकार प्रस्तावना करके निशीथचूर्णि मे से अहिंसा आदि महाव्रतो के जो अपवाद दिये है उनमे से कुछ का उल्लेख किया है. जैसे कि गच्छ की रक्षा के लिए व्याघ्रादि पशु की हत्या की जाय तब भी शुद्ध अर्थात् उसे अप्रायश्चित्ती कहा है, इत्यादि ये अपवाद निशीथचूर्णि के उद्देशो के क्रम से चुने हैं और बोल १ से लेकर २५ तक इसी मे से हैं २५ वें बोल के अन्त मे लिखा है—"जिस निशीथचूर्णि मे ऐसी बाते है वह सम्पूर्ण रूप से कैसे प्रमाण मानी जाय ? अर्थात् उनमे जो अविरोधी बाते हे वे तो प्रमाण है किन्तु कोई यह कहे कि जैसी लिखी है वैसी ही प्रमाण मानी जाएँ, तब लोकाशाह ने सदेह उठाया है

छब्बीसवाँ बोल उत्तराध्ययन (अ० ६) की टीका मे से है, जहा यह उल्लेख है कि मुनि, प्रसग आने पर चक्रवर्ती के सम्पूर्ण सैन्य को नष्ट कर सकता है अन्त मे लिखा है कि इस विषय मे बुद्धिमान् पुरुष सोचे इसी प्रकार के अपवाद की चर्चा २७ वें बोल से लेकर ३५ वे बोल तक व्यवहारवृत्ति, प्रज्ञापनावृत्ति और आवश्यकनिर्युक्ति मे से की गई है और प्रश्न किया है कि इस प्रकारकी बाते जिस आवश्यकनिर्युक्ति मे हो, वह चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु स्वामी की रचना कैसे मानी जा सकती है ? और ऐसी ऐसी बाते जिन ग्रन्थो मे हो उन्हे सम्पूर्ण रूप से प्रमाण कैसे माना जाय ? अतएव बुद्धिमान पुरुष इस विषय मे सोचे और मूल सिद्धान्तो के ऊपर श्रद्धा करें जिससे इस लोक और परलोक दोनो मे सुख प्राप्त करेंगे

इस प्रति के अन्त मे जो लिखा है उससे स्पष्ट है कि यह प्रति लोकाशाह के मत का यथार्थ निर्देश करती है साथ ही कापी करने वाले ने अपनी ओर से वाचक को उपदेश दिया है कि प्रतिमा मानने वाले के लिए तो सर्वयुक्तिओ से पचागी प्रमाण है और यहा जो यह लिखा है वह केवल जानने के लिए ही लिखा है यथा—"ए सर्व लूंकामतीनी युक्ति छइ प्रतिमा मानइ तेहने तो पचांगी प्रमाणइ सर्व युक्ति प्रमाण छइ ' जाणवानइ हेतुइं लिखु छइ ' सार यह है कि प्रस्तुत ३३ बोल का विषय यह दिखलाना है कि मूल आगम ही प्रमाण है और निर्युक्ति आदि सर्वांगत प्रमाण नही है यह कहना इसलिए आवश्यक था कि विपक्षी लोग लोका के समक्ष आगमो की टीकाओ मे से प्रमाण उपस्थित करते होगे अतएव उन टीकाग्रन्थो के प्रामाण्य का परीक्षण करना लोका के लिए आवश्यक हो गया था ३३ बोल में यही उन्होने किया है

(२) न २९८९ लूंकाना सद्दहिया अठावन बोल विवरण पत्र १५ इस प्रति के प्रारम्भ मे हरताल लगाकर गुरु का नाम निकाल दिया है और उसके बाद—'गुरुभ्यो नमः लूंकाना सद्दहिया अनइ कर्या बोल ५८ लिखिइ छइ'—है. इस प्रकार प्रारम्भ मे ही लूका की श्रद्धा जिन ५८ बोलो मे थी और जो उन्होने दूसरो के समक्ष रखे थे, उनकी



सूची दे दी है. इसके बाद एक एक का विवरण लिखा गया है. समाप्ति मे प्रथम प्रतीत होता है कि इस ग्रथ का सस्कृत नाम दिया है जिस पर हरताल लगा दी गई है. उसका कारण यह है कि यह प्रति विरोधी ने लिखी थी. और लुका के नाम का सस्कृत रूप लुपक का निर्देश उसमे किया गया है. प्रतीत होता है कि जब यह किसी लुका के अनुयायी के पास आई तव उसने लुपक नाम के ऊपर हरताल लगा दी. साथ ही सस्कृत नाम के ऊपर भी हरताल लगा दी. फिर भी जो पढ़ा जाता है वह इस प्रकार है—

इति श्री लुंपकेन कृताष्टपंचाश .. त . विचारश्च. लुंकाना सद्दहिया अनइ लुंकाना करिया अठावन बोल अनइ तेहनुं विचार लिख्उि छइ. शुभ भवतु

यह प्रति पत्र १५ की प्रथम अर्ध बाजू में समाप्त होती है किन्तु उसके बाद ५४ बोल की एक सूची लिखी गई है और प्रारम्भ में प्रश्न किया गया है कि इन ५४ वातो का मूल आगम मे कहा है ? इस सूची मे तत्काल के आचार और विचार की ऐसी बातो का सग्रह किया गया है जो मूल आगमो मे नही मिलती है, किन्तु उस काल मे जैन समाज में प्रचलित हो गई थी और जिनके विषय मे लोका और उनके अनुयायी प्रश्न उठाते होगे. इस प्रति को मुद्रित करने का विचार है, अतएव विशेष विवरण मुद्रण के समय दिया जायगा.





कुवर लालचन्द्र नाहटा 'तरुण'

स्थानकवासी परम्परा की विशेषताएँ

शरीर विजातीय पदार्थों के प्रवेश से विकारग्रस्त हो जाता है यही नियम भाषा, जाति, पथ, सप्रदाय, सस्कृति एव धर्म पर भी चरितार्थ होता है. वातावरण मे व्याप्त विजातीय तत्त्वो की प्रचुरता एव अनतकालीन विभावपरिणति मे उद्भूत मानव-मन की प्रमादप्रियता से जब धर्म मे विजातीय तत्त्व स्थान पा जाते है तो धर्म मे पाखड, आडवर एव गुरडमवाद का वोलवाला हो जाता है धर्म का वास्तविक उद्देश्य विलुप्त हो जाता है. नि सत्त्व क्रिया-काडो की भरमार हो जाती है, जिनपर आधारित विधि-निषेधो से मानव का मन कुठाग्रस्त हो जाता है धर्म के इस शव से उत्पन्न दुर्गन्ध से समस्त वातावरण विषम और विषमय हो जाता है ऐसे समय मे या तो उसमे क्राति होती है अथवा वह विनष्ट हो जाता है जैन-धर्म भी इसका अपवाद नही है भगवान् महावीर ने जिन रीति-रिवाजो या क्रियाकाण्डो का विरोध किया था उनके कुछ काल पश्चात् वे ही चोर दर्वाजो से इसमे प्रवेश करने लगे.

जब धीरे-धीरे जैन-धर्म मे विकार अत्यधिक बढ गये, तो उसमे क्राति के लिये पूरी-पूरी पीठिका तैयार हो गयी ऐसे ही समय मे अहमदाबाद के श्रीमान् लोकाशाह नामक महान् प्रतिभासपन्न, तेजस्वी, विद्वान् श्रावक को सयोगवशात् आगम-अवलोकन का अवसर उपलब्ध हुआ उनके सुन्दर अक्षरो पर मोहित होकर ज्ञानजी नामक यति ने उन्हे प्रतिलिपि करने के हेतु शास्त्र दिये. सुज्ञ श्रावकजी ने उन शास्त्रो की दो-दो प्रतिलिपियाँ की एक-एक प्रति यतिजी को दी तथा एक-एक अपने पास सुरक्षित रखी. तीव्र मेधावी और परम जिज्ञासु तो वे थे ही, यतियो एव पडितो के विशेष सपर्क से आगमों में उनकी गति भी थी; फिर मिल गया उन्हे प्रतिलिपि करते समय आगमो के गहन अध्ययन, अनुशीलन और अनुसधान का अवसर ! फिर क्या था, उनकी प्रतिभा निखर उठी उनके ज्ञानचक्षु खुल गये उन्होने दृढ सकल्प किया कि जैन-धर्म मे प्रविष्ट आडवर और पाखड-प्रपच हटाकर शुद्ध जैन-धर्म का प्रचार करूँगा अपने भगीरथ-प्रयत्नो मे उन्होने अपने जीवनकाल मे ही वहुसख्यक व्यक्तियो को अपना अनुयायी बनाया वर्तमान युग मे भगवान् महावीर द्वारा सस्थापित और श्रीमान् लोकाशाह द्वारा प्रचारित जैन धर्म की मौलिक धारा स्थानकवासी परम्परा के नाम से प्रख्यात है यह परम्परा जैन-धर्म की प्राचीन गरिमा से सयुक्त तो है ही, आधुनिकता से भी समन्वित है इसकी तीन मौलिक विशेषताएँ है —

(१) मूर्तिपूजा की अनुपादेयता (२) मुखवस्त्रिका की अनिवार्यता (३) आगमोक्त आचार का परिपालन

(१) मूर्तिपूजा की अनुपादेयता —जैसा कि भारत के माननीय प्रधानमत्री पडित जवाहरलालजी नेहरू ने अपनी विश्व-विख्यात पुस्तक 'हिन्दुस्तान की कहानी' मे सिद्ध किया है, मूर्तिपूजा का मूल स्रोत युनान है भारत मे बुद्ध के वचे हुए स्मृतिचिह्नो के आदर मान-सम्मान ने आगे जाकर उनकी और बुद्ध की मूर्तियो की पूजा को जन्म दिया इसी का अनुकरण अन्य सप्रदायो ने किया फारसी मे मूर्ति के लिये प्रयुक्त शब्द 'वुत' बुद्ध का अपभ्रंश ही है, यह इसका प्रमाण है जैन-धर्म मे महावीर के बहुत काल पश्चात् मूर्ति-पूजा का प्रवेश हुआ प्रारम्भ मे केवल स्मारक आदि बने फिर धीरे-



धीरे उसमें मूर्तिया आई, और उनका पूजन प्रारम्भ हुआ और अब तो साधक की समस्त साधना ही इस पूजापाठ के आस-पास केन्द्रित हो गई किन्तु प्राचीन और आगमिक साहित्य का अवलोकन करते है तो यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि मूल जैनधर्म मे मूर्तिपूजा को कोई स्थान नही था यदि मूर्तिपूजा मूलत आगमसम्मत होती तो आगमो मे अवश्य इसका उल्लेख होता कि मूर्ति किस धातु की होनी चाहिये, किस आकार-प्रकार की होनी चाहिये, किस आसन और किस मुद्रा मे होनी चाहिये ? किन्तु पूरे के पूरे आगमसाहित्य मे किसी भी स्थान पर उक्त विषयो का वर्णन प्राप्त नही होता. इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि आगमकारो को मूर्तिपूजा अभीष्ट नही थी, न जैनधर्म मे उस समय मूर्तिपूजा प्रचलित ही हुई थी.

उपासकदशाग सूत्र मे भगवान् महावीर के प्रमुख १० श्रावको के जीवनचरित का तथा जीवन-चर्या का विस्तृत वर्णन है उनके उपवास करने, पोषधशाला मे जाने, पौषध करने के उल्लेख भी है, किन्तु किसी भी श्रावक द्वारा, किसी भी समय मे मदिर जाने या मूर्ति पूजने का कोई उल्लेख नही है किसी श्रावक द्वारा मदिर आदि के निर्माण कराये जाने का भी वर्णन नही है

अनेक आगमो में हमे भगवत्-वदनार्थ जानेवाले श्रावको, राजाओ और देवताओ का विशद वर्णन मिलता है, किन्तु तीर्थंकरो की मूर्तिवदनार्थ जानेवालो का नही

भगवती और पुप्फिया सूत्र मे सोमिल को उत्तर देते हुए महावीर फरमाते है—हमारे मत मे ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि से आत्मविकास करना ही यात्रा है. 'ज्ञाताधर्मकथा' सूत्र में थावच्चा अनगार ने भी शुक परिव्राजक को ऐसा ही उत्तर दिया इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि जैनधर्म मे मदिर-मूर्ति अथवा पर्वत, नदी आदि पर जाने को कभी भी पुण्यकार्य या धर्मकार्य (तीर्थयात्रा) नही माना गया ज्ञान, दर्शन, चारित्र द्वारा आत्मविकास को ही जैनधर्म तीर्थयात्रा मानता है,

हम देखते है कि भगवान् ने भिन्न-भिन्न आगमो मे, भिन्न-भिन्न नयविवक्षाओ से धर्मसाधना के भेद-प्रभेदो के विस्तृत वर्णन किये किन्तु किसी भी नय से साधना के किसी भी स्तर पर मूर्तिपूजा की गणना नही की. न ही उन्होने कही मूर्तिपूजा का आदेश उपदेश रूप से विधिविधान ही किया [१] भगवती आदि सूत्रो में भगवान् के एव गौतम आदि के विभिन्न विषयो पर सहस्रो प्रश्नोत्तर हुए उनमे साधारण विषयो से लेकर गहन गम्भीर दार्शनिक गुत्थियो पर भी प्रश्नोत्तर हुए किन्तु मूर्तिपूजा के विषय मे एक भी प्रश्नोत्तर नही हुआ. इससे सिद्ध होता है कि उस समय जैनधर्म मे मूर्तिपूजा को कोई स्थान नही था.

समवायाग सूत्र एव दशाश्रुतस्कन्ध में ३३ प्रकार की आशातनाएँ टालना आवश्यक बताया है, किन्तु मन्दिर मूर्ति की कोई आशातना होना या टालना नही बताया इसी प्रकार छेदसूत्रो मे अनेको बातो के प्रायश्चित्त बताये किन्तु मूर्तिपूजा नही करने से अथवा मूर्ति नही बनवाने से अथवा मूर्तिपूजा का खण्डन करने से कोई प्रायश्चित्त आता हो ऐसा नही बताया.

---

१ मूर्तिपूजक समाज के सुप्रसिद्ध विद्वान् पडित बेचरदासजी 'जैन साहित्य में विकार' नामक ग्रन्थ में लिखते है :—
'मूर्तिवाद चैत्यवाद के बाद का याने उसे चैत्यवाद जितना प्राचीन मानने के लिये हमारे पास एक भी ऐसा मजबूत प्रमाण नहीं है जो शास्त्रीय सूत्रविनिष्पन्न या ऐतिहासिक हो यों तो हम और हमारे कुलाचार्य भी मूर्तिवाद को अनादि का ठहराने और महावीर-भाषित बतलाने का बिगुल बजाने के समान बातें किया करते हैं, परन्तु जब उन बातों को सिद्ध करने के लिये कोई ऐतिहासिक प्रमाण या अंगसूत्र का विधिवाक्य मागा जाता है, तब हम बगलें झाकने लगते है और अपनी प्रवाहवाही परम्परा की ढाल को आगे कर अपने बचाव के लिये बुजुर्गों को सामने रखते है. मैंने बहुत कोशिश की तथापि परपरा और 'बाबावाक्य प्रमाण' के सिवा मूर्तिवाद को स्थापित करने के संबध मे मुझे एक भी प्रमाण या विधान नहीं मिला—मै यह बात हिम्मतपूर्वक कह सकता हू कि मैंने मुनियों या श्रावकों के लिये देवदर्शन या देवपूजन का विधान किसी भी अगसूत्र में नहीं देखा इतना ही नही बल्कि भगवती आदि सूत्रों में कई एक श्रावकों की कथायें आती है. उनमें उनकी चर्या का भी उल्लेख है. परन्तु उसमें एक भी शब्द ऐसा मालूम नहीं होता जिसके आधार से हम अपनी उपस्थित की हुई देवपूजन और तदाश्रित देवद्रव्य की मान्यता को घडी भर के लिये भी टिका सकें.

वौद्ध ग्रथो मे जैन सिद्धान्तो के उल्लेख एव आलोचना दोनो ही मिलते है किन्तु कही भी जैनधर्म मे मूर्तिपूजा की चर्चा नही है इससे भी उस समय मे जैनधर्म मे मूर्तिपूजा का न होना सिद्ध होता है

भगवान् महावीर के विहार के एव उनके ठहरने के स्थानो के विशद वर्णन आगमो मे स्थान-स्थान पर प्राप्त होते है किन्तु एक भी स्थान पर उनके जैन मदिर मे ठहरने का वर्णन नही है यदि उस समय जैन मदिर थे तो भगवान् उनमे कभी भी क्यो नही ठहरे या गये ?

आगमो मे कई नगरो का, और यहा तक कि यक्षायतनो और वागवगीचो तक का भी वर्णन अनेको स्थलो पर विस्तार से उपलब्ध होता है किन्तु किसी भी नगर मे तीर्थंकर-मदिर का होना नही वताया है

प्रश्नव्याकरण सूत्र के प्रथम आश्रवद्वार मे देवालय, मदिर, मूर्ति, स्तूप, चैत्य आदि वनवाने को हिंसाकारी कृत्य और उसका अनिष्ट फल वताया इससे स्पष्ट है कि जैनधर्म मे मूर्तिपूजा का कोई प्रश्न ही नही उठता

जैनधर्म मे मूर्तिपूजा घुसने के वाद भी अनेक विद्वानो ने उसकी कडी आलोचना की है जिससे मूर्तिपूजा का पक्ष अत्यन्त निर्वल हो जाता है

(२) मुखवस्त्रिका की अनिवार्यता—स्थानकवासी जैन मुनि सर्वदा और श्रावक धर्मक्रिया करते समय मुख पर मुखवस्त्रिका वाँधे रहते है, क्योकि—

(१) भगवती सूत्र मे स्वय भगवान् महावीर ने फरमाया है कि 'जीवहिंसा करके वोली गयी भाषा सावद्य (पापमय) होती है'[१]

(२) महानिशीथ नामक सूत्र मे भी कहा है—कान मे डाली गयी मुहपत्ती के विना या सर्वथा मुहपत्ती के विना इरियावही क्रिया करने पर साधु को मिच्छा मि दुक्कड का या डेढ पहरसी का दण्ड आता है[२]

(३) मुख से निकलने वाले उष्ण श्वास से वायुकायिक जीवो की तो विराधना होती ही है किन्तु त्रस जीवो के मुख मे प्रवेश की भी सभावना सदा रहती है[3] तथा अचानक आई हुई खासी, छीक आदि से थूक आदि शास्त्रो या कपडो पर गिरने की भी सभावना रहती है मुखवस्त्रिका इन सव कठिनाइयो का समीचीन प्रतीकार है

(४) आगमो तथा अन्य साहित्य मे स्थान-स्थान पर मुखवस्त्रिका मुँह पर वाधने के पुष्कल प्रमाण प्राप्त होते है, यथा—

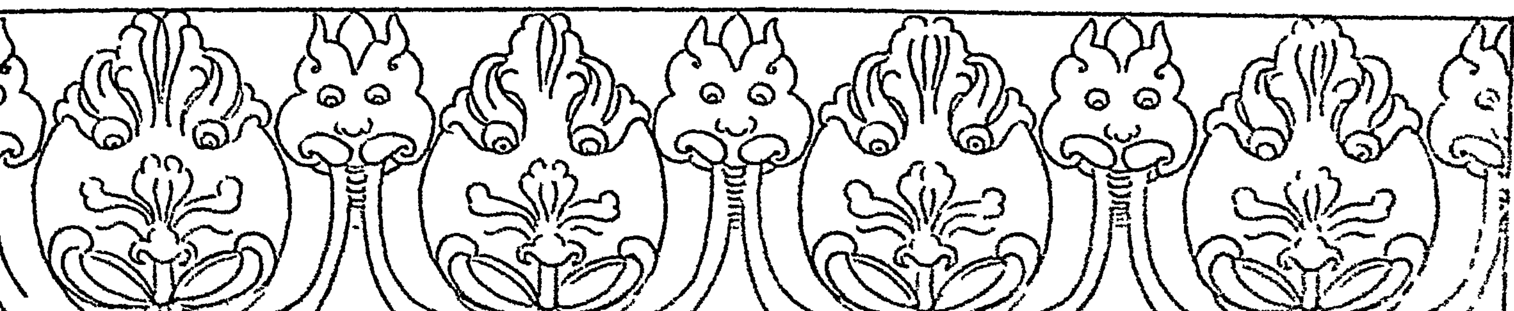
(१) ज्ञाताधर्मकथा के १४ वें अध्ययन मे लिखा है कि जव तेतली प्रधान को उसकी स्त्री अप्रिय हो गयी तो वह दानादि देकर समय विताने लगी उस समय तेतलीपुर मे आया हुआ सुव्रताजी का सघाडा नगर मे भिक्षार्थ घूमता हुआ तेतली प्रधान के घर आया. तव तेतली प्रधान की अप्रिय पत्नी पोट्टिला ने उन साध्वीजी को अशनादि वहराया और पूछने लगी—आप अनेको नगरो मे भ्रमण करते है कही ऐसी जडी वूटी या मत्रादि उपाय देखा हो तो वताइये जिसके प्रयोग से मै पुन स्वपति की प्रिया वन जाऊँ ऐसा सुनते ही उन महासतीजी ने अपने दोनो कानो मे दोनो हाथो की अगुलियाँ

---

१ गोयमा ! जाहेण सक्के देविदे देवराया सुहुमकाय अणिज्जूहित्ताण भास भासति ताहेण सक्के देविदे देवराया सावज्ज भास भासइ जाहेण सक्के देविदे देवराया सुहुमकाय णिज्जूहित्ताण भास भासइ ताहे सक्के देविदे देवराया असावज्ज भास भासइ—श्री व्याख्याप्रज्ञप्ती पोडश शतकस्य द्वितीयोद्देशे.

२. कन्नेट्ठियाए वा मुहणतगेण वा विणा
इरिय पडिक्कमे मिच्छुक्कड पुरिमड्ढ ॥ महानिशीथ सूत्र अ० ७

३ तथा सपातिमा सत्त्वा:, सूक्ष्म च व्यापिनोऽपरे ।
तेषा रक्षानिमित्तच विज्ञेया मुखवस्त्रिका ।
—योगशास्त्र का हिन्दी भाषातर पृ० २६० ।
अर्थात् सपातिम और सूक्ष्म जीवों की रक्षा के लिये मुखवस्त्रिका समझनी चाहिए ।



लगाकर कहा—अहो देवानुप्रिये ! हमें इस प्रकार के शब्द कानो से सुनना भी नही कल्पता है. फिर ऐसा मार्ग दिखाना तो रहा ही कहाँ ?

इससे यह सिद्ध होता है कि साध्वीजी के मुँह पर मुखवस्त्रिका बँधी हुई थी, क्योकि उनके दोनो हाथ तो दोनो कानो को वद करने के लिये उन पर लगे हुए थे और खुले मुँह वे वोल नही सकती थी ऐसी स्थिति में बोलने से उनके मुख पर मुखवस्त्रिका वधी होनी चाहिए.

(२) निरयावलिया सूत्र मे लिखा है कि जैनधर्म से निकले सोमिल ब्राह्मण ने काष्ठ की मुहपत्ती मुँह पर बाधी, किन्तु सन्यास धर्म मे कही भी काष्ठ-पट्टी बाधने का विधान नही है इससे सिद्ध होता है उस समय जैनधर्म मे मुहपत्ती मुह पर वाधी जाती थी जिसकी नकल सोमिल ने काष्ठपट्टी वाधकर की.

(३) भगवतीसूत्र शतक ८ उद्देशा ३३ मे जमालि के दीक्षाधिकार मे उल्लेख है "सुद्धाए अट्ठपडलाए पोत्तिए मुह वधइ" गृहस्थ नाई से सवधित इस पाठ से भी यही सिद्ध होता है कि उस समय आठ पड़त वाली मुखवस्त्रिका मुख पर वाधी जाती थी यह भी सिद्ध होता है कि व्यावहारिक कार्य मे भी आठ पडत की मुहपत्ती चाहिये तो वायुकायिक जीवो की विराधना से वचने के लिए तो इसका होना अनिवार्य ही है.

आगमसाहित्य का गहन अध्ययन करने पर और भी अनेको प्रमाण मुखवस्त्रिका बाधने के मिल सकते है.

(४) आगमेतर साहित्य मे—

(क) शिवपुराण ज्ञानसहिता में जैन मुनि के लक्षण बताते हुए कहते है—

हस्ते पात्रं दधानाश्च, तुंडे वस्त्रस्य धारकाः,
मलिनान्येव वासांसि, धारयन्त्यल्पभाषिणः ।

हाथ मे काष्ठ पात्र वाले, मुह पर धारण की हुई मुखवस्त्रिका वाले, मलीन वस्त्र वाले और अल्पभाषी को ही जैनमुनि कहा है तथा आगे चलकर यह भी वताया है कि ऐसे (मुखवस्त्रिका मुह पर बाधने वाले) जैन मुनि ऋषभावतार के समय भी थे उस समय भी आज की ही भाति सब यही समझते थे कि मुखवस्त्रिका बाँधने की परम्परा भगवान् ऋषभदेव के समय से ही चली आरही है.

(ख) श्रीमालपुराण अध्याय ७-३३ में भी मुह पर मुहपत्ती धारण करने वाले को ही जैनमुनि कहा है.

(ग) इनके अतिरिक्त आचारदिनकर, भुवनभानुकेवली चरित्र, हरिबल मच्छी नो रास, अवतारचरित्र, सम्यक्त्वमूल वारा व्रत नी टीप, हितशिक्षा नो रास, ओघनिर्युक्ति, जैनकथारत्नकोष, समुत्थान सूत्र, मुहपत्तिचर्चासार आदि अनेकानेक ग्रथ ऐसे है, जिनके लेखक स्थानकवासी नही होते हुए भी उनमे मुखवस्त्रिका बाधने के प्रमाण प्राप्त होते है.

(५) मुखवस्त्रिका स्थानकवासी जैन साधु का परिचय-चिह्न है. ससार के सभी प्रकार के साधुओ के अलग-अलग चिह्न हैं कोई लम्वा कोई आडा तिलक, कोई त्रिशूलधारी तो कोई मयूरपखधारी, कोई भगवाँ कपड़े वाले तो कोई लाल कपडे वाले होते हे मुखवस्त्रिका देखते ही स्थानकवासी जैन मुनि की पहचान हो सकती है.

इस प्रकार हमने देखा कि स्थानकवासी परम्परा की मुखवस्त्रिका धारण करने की विशेषना आगमसम्मत, युक्तियुक्त एव वैज्ञानिक है अव स्थानकवासी परम्परा की अहिंसा-साधना या आचार-परिपालन की ओर दृष्टिपात करले—

(३) आचार-पालन-स्थानकवासी परम्पराका आचार-पालन-अहिंसा-साधना सारे विश्व मे अनुपम, वैज्ञानिक एव व्यावहारिक है. साधु त्रिकरण त्रियोग से हिंसा के सर्वथा त्यागी होते है, स्थावर काय से लेकर पचेन्द्रिय तक किसी भी प्राणी की न तो स्वय हिसा करते है, न करवाते है, न ही करने वालो को अच्छा ही समझते है और न ही वे ऐसा उपदेश देते है जिससे किसी भी हिंसामय (सावद्य) कार्य को प्रोत्साहन मिले इसी अहिंसा-साधना के लिए वे आगमोक्त मुखस्त्रिका धारण

करते है और रजोहरण रखते है. आगमो मे साधुओ के लिए जिन आचारो का निर्देश किया गया है, स्थानकवासी जैन मुनि प्राय: सभी का पालन करते है विहार के समय उनके सामान को ढोने के लिए कोई आदमी साथ नही होता, अत: स्वभावत वे कम से कम उपकरण रखते है साथ मे कोई भक्त नही चलते जो उनके लिए आहार-पानी की व्यवस्था करें. अतएव उन्हे मार्ग की कठिनाइयो का भारी सामना करना पडता है

दो-दो मास तक सर्वथा निराहार रहने की कठोर-तम तपस्या इसी समाज के साधु और श्रावक करते है. समग्र विश्व मे धार्मिक तपस्याओ के इतने वडे-वडे रिकार्ड खोजने पर भी नही मिल सकते. पर्वों, त्योहारो और विशेष अवसरो पर इस परम्परा मे नृत्य गाजे बाजे आदि का आयोजन नही किया जाता, न ही किसी प्रकार का आडम्बर किया जाता है. तप-त्याग, प्रत्याख्यान, स्वाध्याय आदि सात्विक कार्य ही किये जाते है.

इस समाज के सभी साधु साध्वी पाद-विहारी, त्यागी, तपस्वी, क्रोध, मान, माया एव परिग्रह के सर्वथा त्यागी, प्रवल विरागी, अल्प एव मृदु भाषी, ससार को आत्म-कल्याण का पथ-प्रदर्शन करने वाले, धर्म के प्रेरणास्रोत, सत्य के पुजारी, ज्ञान के देवता होते है इनके उपदेश निवृत्ति-साधना से अनुप्राणित और वैराग्यरग से अनुरजित तो होते ही है, किन्तु ससार मे सुख, शान्ति और समृद्धि की वृद्धि मे सहायक एव पारस्पग्कि विद्वेष, कटुता, घृणा, प्रतिस्पर्द्धा एव ईर्ष्या-द्वेष की समाप्ति के लिए अमोघ अस्त्र रूप भी होते है इनके प्रवचन-श्रवण से मन की दुष्प्रवृत्तियाँ शात हो जाती है. विकारो, भ्रान्त-धारणाओ, शकाओ, कुठाओ और अन्तर्द्वन्द्वो के ज्वार समाप्त होकर मन और आत्मा शान्त एव निर्मल वन जाती है

स्थानकवासी समाज की साहित्यिक मान्यता कुसुमादपि कोमल और वज्रादपि कठोर है. इसे ससार का सभी सत्साहित्य मान्य है, चाहे वह किसी भी देश के किसी भी धर्म के किसी भी विद्वान् द्वारा लिखा गया हो इसके साथ ही वज्र के समान एक कठोर शर्त भी जुडी हुई है कि वह आत्म-कल्याण और आत्म-विकास मे बाधक न हो अर्थात् आगम-विरुद्ध न हो इस कोमलता और दृढता के फलस्वरूप ही यह अपने (जैन धर्म के) मौलिक स्वरूप को सुरक्षित रख सका है भीषणतम झझावातो, भयकर तूफानो, घोरतम भूकम्पो के दुस्सह दुर्निवार झटको के बीच भी आज यह समाज अडोल अकम्प खडा है वातावरण मे पनपने वाली विकृतियो से बहुत कुछ अछूता रहा है. सनातन और चिरन्तन सत्य का प्रतीक, आधुनिकतम विज्ञान की अभिनव उपलब्धियो से परिपुष्ट, आत्म-विकास का सवलतम मार्ग-प्रदर्शक यह अत्यन्त प्रगतिशील सम्प्रदाय है.





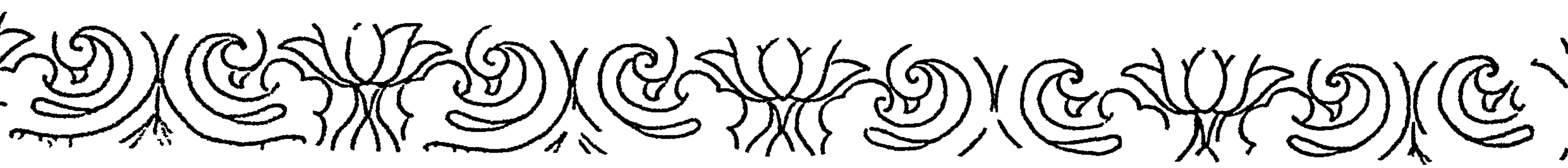
मरुधरकेसरी श्रीमिश्रीमलजी महाराज

स्थानकवासी जैन समाज रा साचा सपूत

स्थानकवासी जैन समाज रा साचा सपूत, म्हारा प्यारा दयाधर्म रा लाडला भाइयो! श्रमण भगवान् श्रीमहावीर स्वामीरो शासण२१०००वर्षो ताइ अखड चालसी,इसो भगवती सूत्रमे दाखलो आयो है. जिणसू पूरो-पूरो भरोसो है कि ओ दयामय धर्म सीधरी तरह सु चालतो हीज रेवेला पिण सोले सुपणा रा वरतारा सू कणेही मद ने कणे ही तेज वेतो वरतेला. जिणरा प्रत्यक्ष दाखला गया कालरा पढवा में तथा सुणवा मे आया है और अबार भी ओहिज ढग देख रया हा. समय-समय पर धर्म मे सिथिलता आइ जरे चमत्कारी पुरुष पैदा हुआ ने नीचो पडता धर्म ने झेलने उचो चढायो एडा पुरुष त्यागी वैरागी क्रियापात्र एक हीज नही, घणा हुआ है. जिणोरा थोडासाक नमूनारूप दाखला आप लोगा रे सन्मुख राखू हू सो ध्यान सू पढजो.

(१) धर्मदासजी म०—जातरा भावसार, जीवणदास भाइरा बेटा ने हीराबाई रा अगजात हा. वे सवत् १७ सौ मे पोतियावध पथ ने छोडने साचो साधुमार्ग अपणायो आपरे चेला ९९ हुआ. २२ सप्रदायरी थापना किवी. दयाधर्म दिपायो, घणा चमत्कारी-उग्रविहारी-घोर तपस्वी ने क्रियोद्धारक हा. ग्वालियर महाराजा आपरा पूर्ण भक्त वणिया ने खूव सेवा कीधी. कारण एक बार आप ग्वालियर पधारिया ने मसाणा में रूखरे नीचे स्वाध्याय कर रया हा. उण समें सिकार मे गयोडा सिंधिया दरवार ने सर्प काट खायो ने वेहोस होय गया. सारा सरदार दिलगीर होय ने पाछा सहर में जावता मसाणा रे पास मे आया ने श्रीधर्मदासजी म० ने देखिया. जरे सरदारा पूछियो के महाराज, अठे काइ कर रया हो ? स्वामीजी फुरमायो कि आत्मा रो साधन कर रया हा. सरदारा कयो के महाराज ! थारो पगफेरो चोखो नही हुवो कारण के थारे आवासू म्हारा राजाजी ने सर्प काट खायो ने उपाय लागे कोयनी दरवार लासरे ज्यु होय गया है. सो या तो आप इणा ने सावल करो नही तर थाने घणी तस्दी देवाला.

स्वामीजी फुरमायो के भाई, थांरी थे जाणो, म्हा तो इसा पडपच मे पडा कोयनी. पिण एक बात है के जो राजाजी आज सू सिकार जावता वध हो जावे तो सर्प रो जहर तो काइ वडी बात है—म्होटा जहर पिण अमृत सरीखा हौ जावे है. सरदारा मजूर कर दरवार ने चरणा मे सुवाणिया, ने आपरा पगा हेटली धूड लेईने माथे सरदारा नाखी. धर्मरा प्रतापसू केवो या स्वामीजी रा त्यागवलसू केवो, राजाजी रो जहर उतर गयो ने उठने बैठा होय गया. सारा ने घणो अचंभो आयो. राजाजी सुण ने खुशी मानी ने स्वामीजी ने गुरुपणे धारण किया तथा मदिरा-मासरा त्याग कर पाछा शहर में आया. स्वामीजी ने पिण शहर में लाया, घणो धर्मरो उद्योत कियो. आ वात सवत् १७६४ रा अषाढसुदी ७ री है. श्रीधर्मदासजी म० सा० रो नाम घणो वधियो. सैंकड़ा साधु-साधवी हुया, ने सवत् १७७२ में धार नगर मे २२ सप्रदाय स्थापित करी. उणहीज वर्ष एक आपरो शिष्य लूणकरणजी धार मे सथारो कियो, उण समय आचार्य श्रीजी म० उज्जैण विराजता हा. चेलारा भाव सथारा मे ढीला पड़ गया. समजाया समजे नही, जरे समाचार उज्जैण पूज्यजी म० मा० ने भेजिया. सुणतां पाण उठा सु विहार करायो सिताव पणासु चालता एक गाम मे अहार कियो अहार में



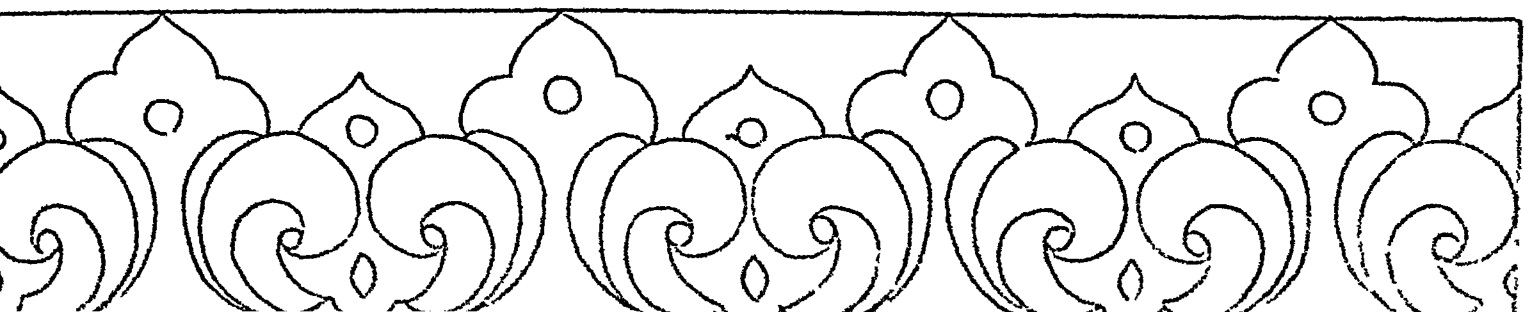
तेलरा भुजिया अरोगिया ने फेर विहार कर साजरे पेली आप धार पधारिया. पाणी पी सकिया नही ने पडिकमणो ठाय दियो वाद मे पच्चखाण कर चेलाने समजायो, स्वर्गारा सुख वताया, पिण डिग्योडो मजवूत नही हुवो जरे उण ने उठाय ने उणरी ठौर आप सथारो करने पोढ गया गर्मीरा जोग सू वडी खेद उत्पन्न हुइ पिण वीर माता रा वीर पुरुष धर्म रे उपर आप वलिदान दे दियो-तीन दिनरो सथारा आयो ने चैत सुदी ११ ने स्वर्ग पधार गया. उणो रो वो पाट आज-ताइ धार मे मौजूद केवे है धन्य इसा पुरुषा ने

(२) श्रीलवजी ऋषिजी म०—सूरतरा वासी, फूला वाइ रा अगजात, वोहरा वीर जी रा दोहिता हा. लोका गच्छरा यति वजरगजी रे पास ज्ञान पढता वैराग्य उत्पन्न होय गयो ने यति दीक्षा लिवी, पिण उन्हारो सिथिलाचार सहन नही हुवो, जरे आप आज्ञा ले ने स्वतत्र विहार कर दियो ने सोमजी सेठ ने वैराग भाव जाग्रत कर सजम दिरायो ने तीसरा भाणजी भाई भी सजम लियो तीना स्वय भगवानरी साक्षी सू दयाधर्म धारण कर सुद्ध दीक्षा अगीकार करी. आप लोकाशाह रे वाद पेला क्रिया सुद्ध करने वाला महा उत्तम पुरुष ज्ञानरा धणी ने प्रभावशाली क्षमारा अवतार हा घणो प्रचार कर सैकडा भवि जीवा ने समकित्तरो स्वरूप ओलखायो आपरा घणा लाडला सोमजी स्वामी ने धर्मरा द्वेषी मार नाखिया पिण आप घणी शाति रखाइ ने धर्म ने उचो लाया.

(३) श्रीधर्मसिंहजी म०—उत्तर गुजरातरा सरवानिया गामरा रेवासी, रेवा भाइ रा पुत्र ने रभा वाइ रा अगजात हा आप अष्टावधानी हा, ने दो पगा सू ने दो हाथा सू अर्थात् चार कलमा सू एक साथ लिखता हा आपरी वुद्धि घणी निर्मल ही. ३२सूत्रा रा टव्वा आप वणाया जिका आज दरियापुरी टव्वा नाम सू समाज मे मौजूदा है. आप तीसरा प्रचारक हा, क्रिया उद्धार करने शासण ने दिपायो

(४) श्री आ० जीवराजजी म०—आप कुवरजी यतिरा चेला हा घणा विद्वान् भाग्यशाली और विचारक पुरुष हा एक वार, गर्मी री मौसम मे रातरा प्यास लाग गइ, जिण सू वडी वेदना हुई जतिजी चेलारा मोह मे आय ने पानी पीवण रो इशारो कर दियो ने कयो कि एडी तकलीफ हो जावे तो पानी पी लेवे तो चौविहार मे टटो नही लागे. आ वात सुण ने जीवराजजी म० फुरमायो के—गुरु महाराज, आपने सहाय देणो तो दूर रह्यो, उल्टो म्हने कायर वनाओ हो चेलारो मोह डुवावण वालो है मैं तो मर जाऊ पर व्रत भागु कोनी. रात ज्यो-त्यो पूरी करी प्रभात होता ही गुरुजी ने नमस्कार कर चालता रहिया ने स्वय दीक्षा लेइने दया धर्म रो प्रचार शुरू कियो आप रो परिवार भी घणो वढियो ने त्याग तपस्या रा जोर सू हजारा लोगो ने धर्मरे सन्मुख किया

(५) श्री दौलतरामजी म०—कोटा सम्प्रदायरा सस्थापक हा वडा सूत्रो रा जाण, क्रियापात्र और महा म्होटा पुरुष हा. उण जमाना मे दिल्ली मे दलपतराजजी श्रावक द्रव्यानुयोग रा प्रखर विद्वान् हा मा वेटा दो जणा हा. धनमाया घर मे घणी ही, पिण व्याव कियो नही ने श्रावक धर्म मे घणा मजवूत हा सारो धन माताजी ने सभलाय दियो ने वादशाहरे साथ जूवे रमता रोजिना ५ रूपिया जीतता, जिण माय सू १ रुपिया खावन सारु, ने २ रुपिया स्वधर्मि भाई वहिनारी सहायता मे देता २ रुपिया ज्ञान खाता में लगावता. आप रा वणायोडा ग्रथ, नवतत्त्व प्रश्नोत्तर, दलपतराय ना प्रश्नोत्तर, समकितछप्पनी, नय निक्षेप प्रमाण आदि ग्रथ आज है वे सूत्रा सू वरावर मिलता तथा प्रमाणिक है सुणण मे एडी भी आई के महाविदेह क्षेत्र मे सीमधर स्वामीजी रे श्रीमुख सू पहिला देवलोकरा इन्द्र निगोदरो स्वरूप सुणियो जरै उछरग भाव सू इन्द्र पूछियो के भगवान् ऐडो निगोदरो स्वरूप समजावण वालो भरत क्षेत्र मे कोई है ? भगवान् फरमायो के दिल्ली मे दलपतराज श्रावक है, उणरो ज्ञान निर्मल है इन्द्र महाराज ने सुणने घणो इचरज आयो. ब्राह्मण रो रूप वणायने श्रावकजी कने पहोचिया ने विनय सू कयो के मैं आप कने निगोद रो स्वरूप सुननो चावू हू श्रावक जी कयो के खुशी सू सुणो श्रावक जी भिन्न-भिन्न तरहनू निगोद पद सुणायो सुणने इन्द्र महाराज तो आनन्द मे मगन होय गया ने पाछो कयो के श्रावक जी, धन्य है आप रा ज्ञानने श्रावकजी कयो के ज्ञानीरो ज्ञान तो घणो गहन है, म्हारा क्षयोपशम प्रमाणे सुनायो हू पछे श्रावकजी रे सामने आपरो हाथ लवो कर ने पूछियो के श्रावकजी, म्हारो आउखो आपरा ध्यान मे कितरोक जचे है ? श्रावकजी हाथ देखने उपयोग



लगाय ने कयो के मने तो २ सागरोपम रो भासे है. सुणने इन्द्र महाराज मुलकीया ने कयो आप तो मने ओलख लियो अवे आप काइ ने काइ मागो. श्रावकजी कयो के मारे तो काइ चायना नही, कारण मनुष्य जन्म ने जैनधर्म हाथे आय गयो फिर काइ चहिजे इतो कहता पिण इन्द्र नही मानीयो, श्रावकजी जरे कह्यो कि आप नाराज हो तो हो, म्हारे रोजाना ५ रुपिया कमावारो जोग है. सो आप सवा पाच या पूणी पाच कर दिरावो. इन्द्र महाराज ज्ञान सू जोयो तो मालूम हुइ के पाच मे कमति वत्ती नही हो सके जरे फुरमायो के आ बात तो बैठे कोयनी. श्रावकजी कयो—ठीक है. आप आनन्द सू पधारो. इन्द्र आपरे ठिकाणे गया श्रावकजी धर्मध्यान मे मस्त है. श्रावक री तारीफ सुनने आचार्य श्री दौलतरामजी म० श्रीभगवती सूत्र री वाचणी लेवा सारू दिल्ली पधारिया ने श्रावक जी ने कयो श्रावक अर्ज करी के चौमासो अठै करावो, मैं सेवा मे हाजर हू. श्री दौलतरामजी म० सा० चौमासो कियो ने पाना भगवती सूत्ररा वाचणी लेवण सारु काढिया. श्रावकजी विनयपूर्वक अर्ज करी के स्वामी नाथ ! भगवती सूत्र घणो म्होटो है, आप पहली दसवेकालिक सूत्ररी वाचणी लिरावो. पूज्य श्री ने थोडो विचार आयो ने फुरमायो के श्रावक जी, दसवैकालिक री तो म्हारा पोता पडपोता चेला ही वाचणी लियोडा है. श्रावकजी कयो—कृपानाथ ! आप तो घणा बहुश्रुति हो पिण तावेदार री अर्ज तो आइज है कि आप ने दसवैकालिक री वाचणी लेणी चोखी रहेला. आखिर दसवैकालिकरी वाचणी प्रारम्भ किवी—श्रावकजी भिन्न-भिन्न तरह सू समजावण लागा. पूजजी ने घणो आनन्द आयो चार महिना मे छज्जीवणी तक री वाचणी लिवी. उणमे ही वत्तीस सूत्रो रा भाव बताय दिया. पूज्यजी म० फुरमायो के इत्तो छ जीवणी मे जाणपणो है धन्य है आपरी तर्क बुधि ने. दलपतरायजी अर्ज करी के आखिर छठे आरे छजीवनीज रेवेला सो इतरो डणा मे ज्ञान नही वे तो पछे वे जीव किण तरह जाणपणो कर आत्मारो कल्याण कर सके. पूज्य महाराज और श्रावक जी रा प्रश्नोत्तर आज मौजूद है. उणा ने पढिया पत्तो पडे है के दोनो महापुरुष समर्थ ज्ञानी होय ने जिन शासन दिपाय ने आछी गती मे पधारिया.

(६) आचार्य श्री धनराजजी म०—जातरा पोरवाल. मारवाडरा मालवाडा गामरा रेवासी, कामदार वाघाजी मूथारा वेटा हा. पोतियावद धर्म मे दीक्षा लिवी ने पछे धर्मदासजी महाराज रा चेला हुवा. आप आडो आसण करने सूवता नही—आतापना लेता—पाचो विगयरा त्याग ने एकान्तर निरन्तर तपस्या करता हा ने एक ही चादर ओढवा ने राखता हा घणा चमत्कारी, वचनसिद्ध पुरुष हुवा ने म्होटा-म्होटाने दया धर्म में पक्का बनाय ने आपरो ने परायारो उद्धार कियो

(७) आचार्य श्री भूधरजी म०—सोजतरा निवासी, जातरा मूणोयत, माणचन्दजी रा बेटा, जोधपुर महाराजा श्री अजितसिंह जी रा फोजी अफसर हा. घणी लडाया जीती, डाकू चोरा ने सर किया. एक बार सिरीयारी रे घाटा मे ८४ डाकुवाने घेरिया, लड़ाई फत्ते करी, डाकुवो रो सफायो कियो. उण वखत एक डाकूरा हाथ सू आपरा उटरे तरवार रो झटको लागण सू आधी गर्दन कट गई ने ऊट घणो तडफ-तड़फ ने मरियो. ऐडो प्रसग देखने आपने ग्लानी पैदा हो गई के ओ काम खोटो. आत्मा ने डुवोवण को रास्तो है आप सरकारी नौकरी छोड़ पोतियाबद धर्म मे दीक्षित हो गया. घणी ऋद्धि, औरत, वेटा, परिवार छोड ने निकलिया बाद में श्रीधर्मदासजी म० तथा श्री धनाजी म० रा ससर्ग मे आया. साची वात जाण ने सुद्ध साधुपणो लियो. पाच पाचरो आप पारणों करता हा. चार विगय रा त्यागी हा. उपदेश आपरो घणो उमदा हो जिणासू घणा भविजीवा ने सुध समकितरो दान दिरायो, घणा राजा राणा उमरावा ने समजाया दिल्ली रा वादशाहरा साहजादीरा प्राण वचाया—उणा राजी वेने चोमासो करायो, आठ दिन पजूसणो रो अगतारो परवाना करने दिया ने वारादरी रो मकान श्रावका रे धर्म ध्यानरे वास्ते दियो. जैन धर्मरो नाम घणो दिपायो, जिणसु जोधपुररा दिवान भडारी खिवसीजी आपरा पक्का भक्त वणिया ने मारवाड में विनती कर ने लाया. मार्ग में आपने घणा परीषा पडिया. सोजत मे एक भय वाला मस्जिद मे मरवाने वास्ते उतार दिया पिण त्याग तपस्या रा जोग सू आल आइ नही. पछे उण मस्जिरो दरवार सू परवानो होय गयो के आज पछे इण मकान मे श्रावक, समाइ पोसा पडिकमणा कीजो ने साधां ने उतारजो, कोइ थाने खेचल नही कर सकेला. वो थानक कोटरा मोहला मे सोजत मे हाल मौजूद है. आपरा ६ चेला हुवा धर्म दीपाय ने स्वर्ग मे पधारिया.

(८) पूज्य श्रीरघुनाथजी महाराज—आप भूधरजी महाराज रा चेला, सोजतरा रहवासी जातरा वलावन, नथमलजी रा वेटा ने सोमादेजीरा अगजात हा आप वेद पुराण उपनिषदो रा ने भगवत्-गीता रा आछा ज्ञाता हा सोजतरी हाकमी और कियोडो सगपण छोड आपरा मित्ररो मरणो सुन चामुण्डा देवी ने माथो चढावण ने जाय रया हा अमर होवणारे वास्ते रास्ता मे पूज्य श्री भूधरजी महाराज मिलिया तीन दिन तक चर्चा करने समजाया. उसी टेम चार खद कर लिया माता पिता रे काल किया रे वाद सासरा वाला घणो झमेलो कियो कारण आपसू सम्वन्ध कियो वा वाई रत्नवती दूजा ने परणीजे नही, पिण आप तो रातरा मकान सु कूद ने जोधपुर पोचिया ने भडारी जी सीवसी जी सू मिलिया ने पूज्य महाराज रे पास १७८७ रा जेठ वद २ बुधवार ने साधूपणो घणा ठाठ-बाट सू लियो दीक्षा मे सारो खर्च श्री जी दरबार का खजाना सू हुवो आप दीक्षा लेवताँ ही पाच-पाच रो पारणो करणो ने ४ विगय नही लगावणरो नियम लियो १८ वडा-वडा मुसद्दीयो ने समकितरो दान दियो आपरो प्रताप घणो वधियो और धर्मरा प्रचार मे भाटा खाया, काटण कुता री वेदना भी सहन कीवी, जहर रो भोजन भी अरोगियो आपने मारण सारू पर पक्ष वाला घणा उग्र परिषह दिया पिण जालोर समदडी पाली सादडी मेडता आदि सात सौ गावो मे दया-धर्म को झडो रोप दियो आपरा परचा भी घणा है. ५२५ दीक्षा आपरा हाथ सू हुई ३२ सूत्रो री हुडिया भी आप वनाई आपरा गुरु भाई श्री जेतसीजी महाराज, श्री जयमल्लजी महाराज, श्री कुशलोजी महाराज आदि नव हा. चेला श्री टोडरमलजी नगराज जी आदि घणा विद्वान् ने क्रियापात्र हा. तेरापथ रा प्रवर्त्तक श्री भीपणजी भी आपरा चेला हा सवत १८१६ चैत्र सुद ९ शुक्रवार ने शास्त्रीय मतभेद होणा से सम्वन्ध विच्छेद कर दियो आपरा जमाना मे जतियोरो जोर घणो हो उणासू शास्त्रीय चर्चा कर सुद्ध मार्ग री थापना की, जिण पर अवालाल सेवग मेडतावालो दूहो कयो के—

जति धर्म जातो रह्यो, थानक लागा थाट,
उपाश्रय आडा जड्या, पडिया रे गया पाट।

इसा उग्रभागी वैरागी महा म्होटा पुरुष हा आपरो जन्म १७६६ माघ सुद ५ रो हो ने पाली मे आप काल आयो जाण ने सथारो कियो १७ दिन रो सथारो दिपायो अस्सी वर्ष मे १८४६ रा माघ सुदी ११ ने दिवगत हुवा.

(९) पूज्य श्रीजयमलजी महाराज—आप उदावतोरी लाविया रा वासी, जातरा समदडिया मूथा, मोहनदास जी रा वेटा, ने महिमा देवीरा अगजात हा आपरा वडा भाई रिडमलजी हा उणोरो परिवार नानणा मारवाड मे है आपरो जन्म सवत् १७६२ भादवा सुदी १४ शनिवार ने हुवो आपरो व्याह १७८७ रा आषाढ सुदी ९ ने लाछा देवी रे साथ हुवो आप माल खरीदण वास्ते मेडते आया. पूज्य भूधरजी रे पास वैरागी वण गया १ पोर मे पडिकमणो शीखीया. १७८७ मिगसर वदी २ ने दीक्षा मेडता मे लीवी वडी दीक्षा आप री विखरणिया मे तलाव रे पास वडला रे हेठे हुई. वो वडलो भी आज तइ दुनियाँ रे वास्ते प्रभावशाली होय गयो खासी खुलखुलीयो नीचे जावता ही मिट जावे. आप वेले २ पारणो कियो, आडो आसण करता नही, अतापना भी लिरावता हा. आप घणा चमत्कारी पुरुष हा. नागोर डेह वीकानेर आदि घणा गावो मे धर्म-प्रचार कियो, केइ परिषह सहन किया आप कवि प्रसिद्ध हा. शास्त्रानुसार कविता करता हा ने घणा तवन चोपिया वणाई ही नागौर मे एक महीना रो सथारो कर स्वर्ग पधारिया

(१०) पूज्य श्री कुशलोजी महाराज—आप वडलूरा निवासी हा घणी सुखशाहवी छोडने सोजत मे सवत् १७८८ रा जेठ मे सयम लियो पूज्य भूधरजी रे पास मे आप भद्रीक सरलात्मा और पोच्योडा पुरुष था कई जगा आपरा प्रताप सु धर्म री उन्नति हुई आप आत्मा पर जोर लगाय ने उत्तम गति मे पधारिया.

(११) पूज्य श्री रत्नचन्दजी महाराज—कूड (राजस्थान) रा निवासी और भट्टारो गोद गया हा. आप श्री गुमानचन्द जी महाराज रा चेला हा कविता भी आप घणी रसभरियोडी करता ने व्याख्यान आपरो मीठो ने असरकारक हो जिणसु घणा जीव प्रतिवोध पाया. आप शास्त्रज्ञ हा सम्प्रदाय आपरा नाम सु चाली. आपरा सिंघाडा मे तपस्वी जी



श्री वालचन्दजी महाराज घणा चमत्कारी हा जोधपुर रा घणा मुसद्दी आपरी आस्था राखता हा. पडित श्री कनीराम जी महाराज कवि ऊँचा दर्जा रा हा ने चर्चावादी आप चोखा हा आपरा बनायोड़ा ग्रथ आज मौजूद है. स्वामीजी श्री नन्दलाल जी महाराज लेखक नामी हा. वत्तीस सूत्र घणा विस्तार सू लिखिया अक्षर मोत्याँ जिसा हा. आचार्य श्री विनयचन्द जी महाराज, आचार्य श्री शोभाचन्द्र जी महाराज, स्वामी जी श्री चन्दनमल जी महाराज घणा होशियार ने सरल पुरुप हा भव्य जीवा ने घणा व्हाला लागता हा

(१२) पूज्य श्रीटोडरमलजी म०—पूज्य श्रीरघुनाथजी म० रा चेला हा. म्होटा पुरुष, महा विद्वान् और लिपिकार भी प्रसिद्ध हा सात वत्तीसीया आप हाथा सू लिखी ने और भी ग्रथ घणा लिखिया. आप सोजत रा वासी, जातरा कोठारी हा भाइ रे सासरे वगडी भूजाइ ने लेवण सारू गया ने उठे ही वैरागी बन ने दीक्षा लेली. आप कवि हा, 'टोडरसतसई' वनाई क्रिया आपरी घणी उची ही विदेशो सू घणा प्रश्न आवता जिणा रा उत्तर आछा ढग सू दिरावता हा. आपरी नेश्राय मे सैकडो साधु-साध्वी हा प० टीकमचन्दजी महाराज व्याकरण रा वेत्ता ने चर्चावादी हा उणारा भी ग्रन्थ घणा है श्री रूपचन्दजी महाराज, श्रीदीपचन्दजी म०, श्रीभोपतरामजी म० तीनो ही चमत्कारी पुरुष हा. जगा जगा चमत्कार लोगा देखिया, जिणसू धर्म पर मजबूत हुआ. श्रीटोडरमलजी म० रा दियोडा ने कयोडा वरदान आज ताइ वरावर मिल रया है. आछो साधूपणो पाल ने ऊची गति मे पधारिया

(१३) आचार्य श्रीरायचन्दजी म०—श्रीजयमलजी म० रा पाटवी चेला हा. घणा चतुर कवि ने क्रियापात्र हा. लेखक भी आछा हा स्वा श्रीकुशालचन्दजी म० महातपस्वी उग्रभागी और आचार्य पद्वीरे लायक होता छता भी आप पद्वी नही लिवी आपरे ८ चेला हुवा वचनसिद्ध भी पूरा हा. स्वामीजी री शाखा सू प्रसिद्ध है. कविया री ने पडिता री तथा सुन्दर अक्षर वालारी तो श्रीजयमलजी म० सा० री सप्रदाय प्रसिद्ध ही है प० श्रीफकीरचदजी म० उन समय रा नामी पडित हुवा घणा प० मुनिराज उनाने पूछता हा आप व्याकरण तथा दर्शनशास्त्र मे धुरन्धर हा. प० मुनि श्रीरामचन्द्रजी म० सा० भी कमाल रा कवि हा

(१४) पूज्य श्रीचौथमलजी म०—पूज्य श्रीरघुनाथजी म० रा सप्रदाय मे आशुकवि हा. चेला भी घणा हुआ व्याख्यान भी आपरो घणो सुन्दर हो आप भवाल रा वासी, जातरा झामड़ हा. सैकडो म्होटा २ चरित्र ने चोपीया वनाइ. स्तवनो रा तो ढेर लगाय दिया उत्तम पुरुष सयम पाल ने स्वर्ग पधारिया

(१५) पूज्य श्रीअमरसिंहजी म०—जीवराजजी म० री शाखा मे हुआ हजारो नवा श्रावक बणाया प्रचार आपरो पजाव, यू० पी०, मारवाड मे जोरदार रयो, चमत्कारी भी जोरावर हा. कोइ पाखडी सामने टिक नही सकता हा आपरा सिंघाडा मे प० आ० श्रीजीतमलजी म० नामी लेखक चित्रकार ने विद्वान् हा सस्कृत, फारसी रा पण्डित हा लेखनकला तारीफ रे जेडी ही छोटा सू छोटा चित्रा मे म्होटी वाता वताय दीवी. भण्डारी रघुनाथसीजी आप रा पूर्ण भक्त हा वैजनाथजी पटवा आपरा श्रावका मे प्रसिद्ध हा मुनि श्रीज्ञानचदजी म०, मुनि श्रीजेठमलजी म० पिण वचन-सिद्ध पुरुप हा. वे पुरुप उत्तमगति में जावण री साधना घणी चोखी करी ही परिवार साधु-साध्वी रो घणो बढियो

(१६) पूज्य श्रीनानकरामजी म०—श्री अमरसिंहजी म० री शाखा में हा. उचा क्रियापात्र हा. धर्म अजमेरा प्रात मे घणो दिपायो अजमेर, किशनगढ, टोक, सवाई मावोपुर, भीलवाडा, कोटा, बू दी तक प्रचार कियो. आप रा सिंघाडा मे स्वा० श्रीमुखलालजी म०, स्वा० श्रीनिहालचन्दजी म०, श्रीगजमलजी महाराज घणा प्रभावशाली हुवा. तपस्वीजी माधोलालजी महाराज री क्रिया तो अनोखी ही. आप स्याला मे सुवे और जेठ में दोपहर रा विहार करावता अजयणा वचावण सारु दोनो हाथ भेला करने चालता हा मासखमण तो आपरे साधारण-सी चीज ही एक पात्र राखता हा. एक चादर ओढता और ४ द्रव्य जावजीव ताइ लगाया ऐसा घोर तपस्वी हा. एक बार आप पुष्कर पधारण ने तैयार हुआ. अजमेर रा श्रावका मना किया के पुष्कर मती पधारो उठे जैन साधा ने रेवण देवे नही पडा वडा कुरापाती है तपस्वी फुरमायो के अबे तो पुष्कर जरूर जावाला. आप पुष्कर पधारता हा जिण वेला उणा ने देखने ४० पंडा, २० सन्यासी १६ उदासी, १५ त्रिदडी, ३ रावावावा आदि कुल १०० जना लाठिया लेइ ने आया और कयो कि—मोड़ा! माजना

सू परो जाइजे, नही तो थारा हाडका-हाडका बिखेर देवाला म्हारे तीर्थ मे थारो जैनीयो रो काइ काम है माधूजी म० समता राखने नाग पहाड मे चलीया गया ने तपस्या ठाय ने बैठ गया और मन मे धारणा कर ली के पुष्करने सर कर ने ही आहार करूला, नही तो जावजीवरा आहार करवारा त्याग है. पूरा दिन २५ नही निकलिया ने पुष्कर मे जोर सू बेमारी पैदा हो गई ने घणा उत्पात हावण लागा साररा होशहवास उड गया ने विचार कियो के आ काइ वात है ? कठै ही असवाडे पसवाडे बेमारी नही, बैचेनी नही तो अठेईज क्यो है? पत्तो पडता मालूम हुई के एक जैन रा फक्कड ने सतायो ने वो महात्मा नाग पहाड मे तपस्या तप रयो है लोग भेला होय ने साधुजी महाराज रे पास गया वा तपस्या ने ध्यान देख ने घणो अचरज पाया लोग कहियो कि बावाजी, आप गाव मे पधारो. म्हा पर दया करो म्हा दुखी हो गया हा साधुजी कयो–आप आपरा कर्म भुगते है, जैन रा साधा ने पुष्कर मे कुण आवण दे लोग कह्यो–बावाजी, आप पधारो, कोई नही रोकेला साधुजी महाराज कहियो के जीके १०० जणा मणे रोकियो वे आय ने केवे तो चालण मे कइ हरज नही पाछा सारा जाय ने गाव भेलो कियो ने पूछियो के जैनरा फक्कड ने कुण रोकियो है ? नो चौडे केवो, नही तो महात्मा घोर तपस्वी है धर्म पर मर मिटेला ने आपारा गाव भी बरबाद हो जावेला. जणे वे १०० जणा चौडे हुआ वाने साथे लेण आया माफी मगाइ ने गाव मे साधुजी ने लाया गाव मे पधारया ने पारणो करता ही शाति होय गइ. घणा जीव सुलभ हुआ ने तलाक खा गया के आज पछे कोई धर्म रा महात्मा ने आवता म्हा नही वर्जाला उण दिन सु दुनिया केवण ने लाग गई के—'सौ साधु ने एक माधू' एडा महापुरुष हा. वे खेत्र निकाल दियो आज ताइ खेत्र साताकारी है और भी श्रीनानकरामजी म० रे सप्रदाय मे साधु घणा प्रभावशाली हुआ है

(१७) आचार्य श्रीस्वामीदासजी म०—श्रीअमरसिंह म० रा भतीजा चेला हा. आप सोजत रा वासी, जातरा रातडिया मुथा हा आप बडा कडक हा जैपुर वाटी, किशनगढ, रूपनगढ, साभर, पर्वतसर आदि गावा मे प्रचार कियो आपरा सिंघाडा में स्वामी श्रीमहकरणजी म० भी प्रसिद्ध हुवा है पू० श्रीरेखराजजी म० व्याख्यानवाचस्पति हा कविता घणी सुदर ही जोधपुर रा राजकवि मुरारदानजी सु शास्त्रार्थ कर विजय प्राप्त करी ही स्वा० श्रीनथमलजी महाराज कवि, क्रियापात्र और समयज्ञ पुरुष हा स्वा० श्रीवखतावरमलजी म० चमत्कारी हा ववई जावणरो मार्ग वे सरल कियो लिपिकार भी चोखा हा. पडित नामी हा घणा सवेगी सतो ने पिण ज्ञान पढायो गोडवाड प्रात मे आप रो जोरदार धाको जमीयोडो हो, पिण हा घणा सरल और सेवाभावी ऐ धर्म ने दीपायो ने आछी गति प्राप्त करी

(१८) पूज्य श्रीशीतलदासजी म०—और तेजसिंहजी म० दोनो गुरुभ्राता हा वडा सरल और पुण्यवान पुरुष हा. आपरा सिंघाडा मे श्रीदौडजीस्वामी तथा प्रतापमलजी म० प्रभावशाली हुआ ने आत्मा-रो कल्याण कियो.

(१६) पूज्य श्रीनरसिंहजी म०—मेवाड मे प्रचार जबरो कियो. सैकडो गावो मे धर्म री जड रोप दी आपरा सिंघाडा मे पूज्य श्रीमानमलजी म० वडा काकडाभूत तपस्वी हुआ मणिभद्रजी यक्ष आपरी सेवा मे रेतो हो राणाजी आपरा पूर्ण भक्त हा ने मेवाड का घणा सरदार, देलवाडे रावजी, देवगढ रावजी, आदि सोला सरदार सेवा मे हाजिर रहता हा. घणी वार सैकडो वकरा ने कुडकी घलाई. आपरा शरीर रो अग्नि-सस्कार हुवो जरे एक चादर, मुहपती ने पूजणी-रे अग्नि सु आल नही आइ लोगा पर घणो प्रभाव पडयो. मेवाड मे मान बावाजी री केई लोग आण दिरावण ने लाग गया आपरा सिंघाडा मे तपस्वी वेणीदासजी महाराज ५० वर्ष अन्न नही लियो घोर तपस्वी हा, अभिग्रह भी आप घणा आकरा किया के हाथी कदोई री दुकान सु लाडु लेने वहरावे तो पारणो करणो. उदेपुर मे अभिग्रह फलियो और भी घणा अभिग्रह किया. पडित वालकिसनजी मुनि महाराज भी नामी हुआ पिण छोटी उमर मे काल कर गया. कवि ऋषभदासजी पिण ग्रन्थ केइ वणाया है पूज्य एकलिंगदासजी म० भी घणा सरल पुरुष आपरी सावना सफल करी

(२०) पूज्य श्रीमनोहरदासजी म०–जमनापार रा क्षेत्र सुधारिया घणो उपकार कियो आपरा सिंघाडामे श्रीरत्नचदजी म० पिण चमत्कारी पुरुष हुआ. हजारो अग्रवाला ने तथा पल्लिवाला ने जैन वणाया आगरा में आपरो घणो प्रभाव हो और आज पिण उन्होरी पुण्य तिथि मनावे ने आपरे नाम पर जैनरत्नमुनि कोलेज हाई स्कूल आदि चाले है. पूज्य



मोखमजी स्वामी, पूज्य श्रीमोतीरामजी म० पिण प्रभावशाली होई ने धर्म ने ऊचो लाया.

(२१) पूज्य श्रीनाथूरामजी म०—और श्रीरूपचन्दजी म० पिण गुरु भाई हा प्रचार घणो कियो यू० पी० प्रात, भरत-पुर, धोलपुर, भटिंडा, बीकानेर आदि मे प्रसिद्ध पुरुष हा. प० ऋषिराजजी म०, भज्जूलालजी म०, श्रीविनेचन्दजी म०, वटा कविरत्न, पडितराज और वादीमानमर्दन हा उणा रा बनायोडा ग्रथ अनेक है श्रीअगरचन्दजी म० अलवेला मस्त चमत्कारी साधु धर्म रा पालक हा.

(२२) पूज्य श्रीमाधवमुनिजी म०—आप जाति रा ब्राह्मण हा और धर्मदासजी म० री सप्रदाय रा आचार्य हा महा-विद्वान् क्रियापात्र तथा वडा वीर पुरुष हा व्याख्यान भी घणो असरकारक हो. ने चर्चावादी ने कवि महान हा. केइ ग्रथ आपरा बनायोडा है वडा-वडा पडिता सु टक्कर लीवी ने उन्हाने आगे नही आवण दिया. पल्लीवाल भाया ने दिगम्बर लोगा ने समझाय ने धर्म मे दृढ किया. एक वार एक दिगबरी भाई पूछियो के आप मुडा ऊपर पाटी क्यो बाधो हो ? आप फरमायो के पहली तो यो धर्म रो चिन्ह है, दूसरी बात जीवारी जतना रे वास्ते है तीसरी बात कोई जीवजतु मुडा मे वडे नही, इण वास्ते वाधा हा वो भाई मजाक करी के यो कोई मुडा मे थोडा ही बडे है आ तो बात गलत है इत्ता मे तो उनरा खुला मुडा मे माखी बड गई ने नीचे उतर गइ वमन होवण लागी ने घणो दुख पायो जद वो साची मानी के महाराज, आज सू मैं मुखपत्ति जरूर बाधूला केणो साचो है. कविता मे अनुप्रास अलकारा री झड बाध देता हा अनुशासन आपरो बडो करडो हो. छोटी उमर मे ही सर्वधर्म सम्मेलन मे जैन-समाज रा प्रतिनिधि बण ने मथुरा, जयपुर चौमासो कर पधारता हा, मार्ग मे अक्समात् स्वर्ग पधार गया और धर्मदासजी म० रा सिंघाडा मे श्रीनरोत्तमदासजी महाराज, श्रीकासीरामजी महाराज, श्रीज्ञानचदजी महाराज, श्रीचपालालजी, म०, पूज्य श्रीनदलालजी म०, श्रीचुन्नी-लालजी म०, श्रीपूर्णमलजी म०, श्रीताराचन्दजी म०, तपस्वी श्रीभगवान्दासजी म०, श्रीइन्दरमलजी महाराज आदि घणा उचा क्रियापात्र, प्रभावशाली, चमत्कारी और श्रद्धाशील पुरुष हुवा ने धर्म ने घणो दिपाय ने आछी गति में पधारिया

(२३) पूज्य श्रीतिलोक ऋषिजी महाराज—महाकवि, सुन्दर लेखक, चित्रकार, पडित और सरल प्रकृति रा धणी हा. आप लाखा श्लोका रा ग्रथ वनाया. महाराष्ट्र में घणो नाम दिपायो आयुखो थोडा पाया पिण आपरी कृतिया सु अमर हो गया पू० श्रीरत्नऋषिजी म० पिण विद्वान् हा. पूज्य श्रीअमोलकऋषिजी म० तो महा उपकारी हा. समाज रो वच्चो वच्चो जाण रयो है सव सु वडी वात तो आ किवी के महामगलीक ३२ सूत्रा रो हिन्दी अनुवाद करने छपाया पाच वर्षां रा थोडा समय मे इणरे सिवाय और भी घणा ग्रथ बणाया ऐडा आप उद्योगी पुरुष हा आपरा भक्त लालाजी सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसादजी सरीखा दानेश्वरी ने आप सरीखा ज्ञान रा उद्योगी सायत ही सवाज में फिर पैदा होवेला. आप सरल कवि हा अनेक चरित्र वनाया हा. जिण पर भी आप में मान री मात्रा नही ही. विनय रो गुण तो इत्तो उचो हो के प्रभात रा वेगा उठ ने छोटा सु छोटा सन्ता ने पिण आप वदन कर लेता. धन्य है ऐडा महा पुरुषा ने इत्ता पुरुषा सू ही जैनधर्म दीपे है. तपस्वीजी देवजी ऋषिजी महाराज ज्योतिर्विद श्रीदौलतरामजी म०, कवि श्रीअमी ऋषिजी म० पिण क्रियापात्र तथा निर्भीक आचारी हा.

(२४) पूज्य श्री भगवानदास जी म०—खभात सम्प्रदाय में घणा प्रभावशाली हुवा. हजारा भावसार जातिरा लोगा ने दया-धर्मरा अनुयायी तथा मजवूत वणाया. पूज्य श्री छगनलालजी म० पिण उग्र विहारी हा तथा सप्रदाय री व्यवस्था आछी राखी ही.

(२५) पूज्य श्रीमूलचन्दजी म०—श्री धर्मदासजी म० रा चेला हा, आप काठियावाड में धर्म रो प्रचार कियो घणा परिषह खमिया. घणी चर्चा वार्त्ता कर वादियो ने पेमाल किया. पूज्य श्रीअजरामरजी महाराज लिवडी सम्प्रदाय रा प्रवर्तक हा. आपरो आतापनाकर्म घणो वधियो. स्वामीजी श्रीलाधाजी म०, श्रीखोडीदासजी म०, श्री अवादास जी म०, यह तीनो ही गुजराती भाषा रा ऊचा लेखक तथा कवि हा. आ० मूलचन्द जी म० रा अनुयायी वोटाद नो सिंघाडो, गोडल रो सिंघाडो, छोटा स्वामी जी रो सिंघाडो, वरवालारो सिंघाडो आठ कोटी छोटी पक्ष वडी पक्ष आदि सारा है—इणा मे उपाध्याय देवचन्द्रजी म०, श्री ज्ञानचन्दजी म०, नागचन्द्रजी म० घणा प्रसिद्ध पुरुष हुवा है

शतावधानी श्री रत्नचन्द्रजी म० री विद्वत्ता तथा कृति तो समाज रे वास्ते गौरव री चीज है आपरो साहित्य जैन अजैन दोनो विद्वानो ने हिया रो हार हो रयो है ज्यादा काइ केवा अनमोल रत्न हा, सरस्वती रा अवतार तथा भारत-भूषण री पदवी मिली ही

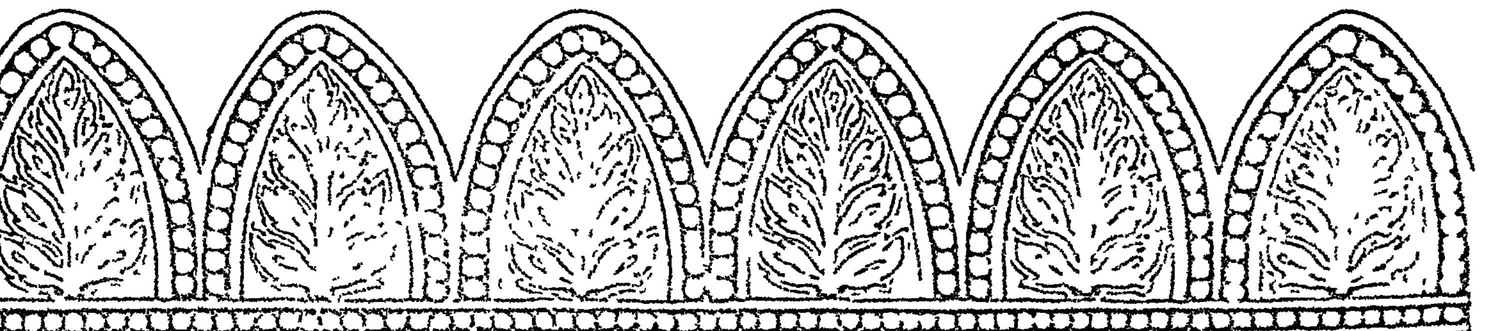
(२६) दरियापुरी सम्प्रदाय—रा अनुयायी पूज्य श्री उत्तमचन्दजी म०, ईश्वरलाल जी महाराज, तपस्वी चतुरलाल जी म० पिण आपरी जोड रा अनोखा पुरुष हा पडित हर्षचन्द जी म० पिण कवि सुन्दर हा. और भी महापुरुष धर्म दिपावण मे कसर नही राखी—आप तिरिया ने ओरा ने तारिया

(२७) पूज्य श्री अमरसिंह जी म० (पंजाबी)—घणा मोटा प्रचारक हा अनेक परिषा सहन किया. सारी पजाव मे डको वजायो आपरा सिंघाडा मे श्री गैंडाराय जी महाराज, शालिगरामजी म० मयाचन्दजी म०, पूज्य श्री मोतीराम जी महाराज, पूज्य श्री ज्योतिर्विद सोहनलालजी महाराज, पूज्य श्री काशीराम जी म०, वादिमानमर्दन गणी श्री उदयचन्दजी महाराज आदि जैन शासन रा स्तभ हा परम्परा धर्म री निभावण मे घणा कट्टर हा चमत्कारी पुरुष हा पूज्य श्री आत्माराम जी म० तो समाज मे चमकता कोहनूर हीरा हा आप न्याय-व्याकरण रा प्रौढ विद्वान् हा लेखक तो श्रीशतावधानी जी म० सा० रे जोडरा हा. अनेक ग्रथो सूत्रा रा प्रसिद्ध लेखक अनुवादक हा २२ सम्प्रदाय रा सन्त ऐडा उत्तम पुरुषा ने आपरा आचार्य वणाया आपरी सादगी नम्रता सहनशीलता और सूत्रा री स्वाध्याय तथा मौखिक याददासती घणी ऊची ही एक वार दर्शन करने मात्र सू दर्शक ताजिन्दगी भूले जिसी वस्तु नही ही आपरा सिंघाडा मे सतीजी श्री पार्वतीजी सिंहणी समान निडर चर्चावादी ही आचार पिण ऊचो हो श्री राजीमती जी, श्री चन्दाजी आदि सतियाँ पिण सतो रा प्रभावसूं अधिकी ही पिण किणी तरह कम नही

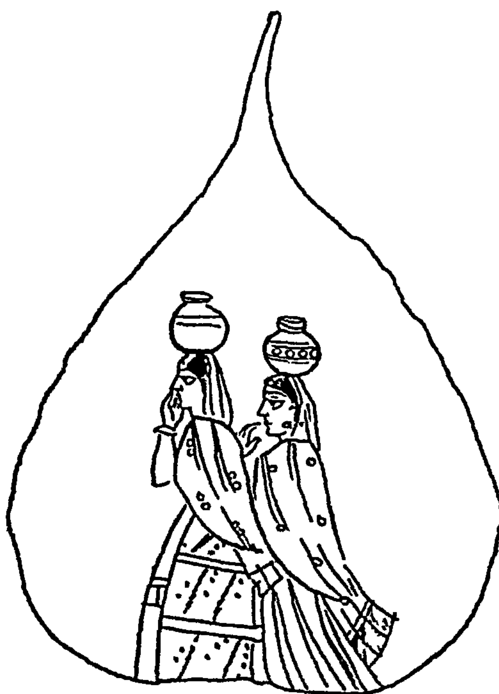
(२८) आचार्य श्री श्रीलालजी महाराज—टोक रा निवासी, जातरा बव हा वैरागी वेजोड रा क्रियापात्र हा, सहनशीलता, सादगी, नम्रता आपरी आछी घणी ही, आपरी वैरागरी छाप सुणने वाला ऊपर घणी पडती ऐडो वर्ष नही निकलियो के १०–१५ दिक्षा आप नही दीवेला साधुमार्गी सघ मे आप दीपता पुरुष हुवा आचार्य श्री जवाहिरलाल जी म० तात्त्विकव्याख्यानी, तर्कभूषण, निर्भीक वक्ता हा साहित्य रा पूरा रसिक हा चर्चावादी घणा प्रशसनीय हा. अनुशासण करडो घणो हो उत्पातिया वुद्धि आपरी ऐडी ही के कोइ भी विकट सू विकट प्रश्न रो जवाव दे देता जो ऐडो सागोपाग होवतो के सुनने वाला चकित रे जावता शिष्या ने ज्ञान पढावण रो पिण आपने शोख घणो हो अने आज आपरा शिष्य टीकाकार श्री घासीलालजी महाराज सरीखा आगमरी सेवा करने अमर नाम कर रया है और कृतिकार भी मामुली नही है पूज्य श्री हुकमीचन्द जी महाराज री सम्प्रदाय मे पूज्य श्री उदयसागर जी म० पिण घणा गभीर ने प्रभावशाली पुरुष हुवा हा आचार्य श्री गणेशीलाल जी म० घणा सरल भद्रीक और पुण्यशाली हा. प्रभाव आपरो भक्ता उपर घणो हो आचार री पूरी पूरी हिमायती राखण वाला पुरुष हा आप श्रमणसघरा उपाचार्य पद माथे भी रह्या हा

(२९) पूज्य श्रीमुन्नालालजी म०—आप भद्रीक आत्मा, सूत्रा रा ज्ञाता हा सौम्यमूर्ति, श्रद्धा रा निरूपण करने वाला हा आपरा सिंघाडा मे तपस्वी श्रीवालचन्दजी म० दयारा रूखडा हा हजारा जीवा ने अभयदान दिरायो वडा चमत्कारी हा. स्वामी श्रीनदलालजी महाराज, श्रीदेविलालजी म०, श्रीहीरालालजी महाराज कवि तथा लेखक तथा समयज्ञ पुरुष हा श्रीजैनदिवाकर चौथमलजी म० तो जगतवल्लभ हा. वाणी आपरी घणी रमीली ही घणो परिवार वढायो, घणा राजा-महाराजा सेठ साउकारा ने तथा अन्यमतावलवीया ने आप री जादुसरिकी वाणी सुणाय-सुणाय ने सुलभ वणाया आप जैनधर्म रा झडा हा कविता करने मे तो वडा कुशल हा सगीत मे कविता विना पार री किवी, वचन घणा लागणा हा आप कोटा मे स्वर्ग पधारिया.

(३०) स्वामीजी श्रीपीरचन्द्रजी म०—आप पूज्य श्रीरघुनाथजी म० सा० रे सिंघाडे मे घोर तपस्वी हा साथ मे सन्त ३१ठाणे हा जोजावर सू घाणेराव पधारता तावडो घणो चढगयो ने सन्त पूरा-पूरा थाक गया ने प्यास घणी जोर नू लागी. जरे पूज्य महाराज फुरमायो के—पीरदानजी, थे आगे गाव मे जावो ने धोवण पाणी छाछ मिले सो ही लेने आवो तपस्वी



जी म० पधारिया अने धर्म रा द्वेषी गाव में वडता ही एक ठाकर ने सिखा दियो. वो राजपूत आडो फिरयो ने अर्ज करी के म्हारे रावले पधारो—छाछ घाट मिल जावेला. तपस्वीजी रावले पधारिया. छाछ सु पातरो भर दियो ने फेर घाट रो केने अखज वेरावियो वेहर ने वाहरे आवता ही महाजना कह्यो के साधा, मांस वेहर ने लाया हो ? तपस्वीजी कह्यो के साधु-सन्त कदे ही आ चीज नही लेवे. महाजना कह्यो नही लाया तो पातरो दिखावो. तपस्वीजी सोचियो-दगो होय गयो दिखे है. सन्त कह्यो—थाने नही दिखावा. जरे झमेलो घणो हुओ. खुद घाणेराव ठाकुर सा० पिण माजना रो पक्ष कर ने आया ने कह्यो के साधा, मास वहरता शर्म नही आयी तो वतावता क्यो शर्म आवे ? माजना सु झोली खोलने दिखा दो तपस्वीजी फुरमायो के ठाकरा, आपरे तो सारा सरिखा है क्यो खाली पखपात करो हो झोली थे जिद करो तो दिखाय देसू पिण थे कई जिका नही लादी तो ? ठाकुर क्यो के नही लाधी तो थाने शावाशी देवा ला ने आज पछे कोई साधाने नही सतावा ला. बडा चमत्कारी पुरुष झोली खोलने चौडे में बताई. देखे तो असल कमोदनी चावल. सारा डरिया ने महात्मा ने करामाती समजने पगा पडिया ने सिला लेख लिख दियो के जैनरा मुहवधाने आज पछे छेड़ा तो तीन सौ तलाक है ने गायारी हत्या लागे. एडो प्रवध कराय दियो वाद मे लोग सामा जायने पूज्य महाराज ने लाया. एकात जाय वा चीज परठ ने पूज्य महाराज कने आया ने प्रायश्चित्त मागियो. पूज्य महाराज फरमायो के तपसीजी, थारे अजाण मे यो करम हुग्रो जिण रो 'मिच्छा मि दुक्कड' देवो और प्रायश्चित नही तुमा तो धर्म री वात उची लाया हो सो धन्यवाद है. इसा उत्तम पुरुष हा. श्रीपोमाजी स्वामीजी, तपस्वी श्रीपृथ्वीराजजी स्वामी, श्रीजेतसीजी, स्वामीजी श्रीफोजमलजी, श्रीमाणकचन्दजी म०, श्रीधर्मचन्दजी म०, श्रीसतोषचन्दजी म०, प्रभावशाली कवि और क्रियापात्र हुआ. तपस्वी श्रीमानमलजी म० पिण मारवाड में बड़ा अवधूत करामाती हा आप घणा निस्प्रेही हा. आपरा घणे ठिकाणे परचा पडिया. चार-चार महिना और छ-छ महीना री तपस्या अभिग्रह सहित करता हा. आप अक्सर मसाणा मे ही चौमासो करता हा. तपस्वीजी श्रीहजारीमलजी म० भी काकड़ाभूत हा पाली मे घणा चमत्कार लोगा रे देखण में आया. इसा स्थानकवासी समाज रा अग्रदूत घणा हुआ. केई परचा पडिया. लेख मोटो हो जाय इणांमु थोडी वाता वताई है इणरो इतिहास तो स्वतन्त्र निकलेला.



श्रीआलमशाह खान,
एम० ए०, रिसर्च स्कालर,
हिन्दी विभाग, महाराणा भूपाल कालेज, उदयपुर.



लोंकागच्छ की साहित्य-सेवा

भारतीय साहित्य परम्परा के निर्माण मे जैनो का योग-दान निरन्तर एव अक्षुण्ण रहा है सस्कृत से लेकर प्राकृत, अपभ्र श तथा अन्यान्य देश्य-भापाओ तक जैनो की सृजन-सलिला का प्रवाह कभी नही सूखा वह अवाध गति मे प्रवहमान रहा जैन-साहित्य जितना प्रचुर है उतना ही प्राचीन भी, जितना परिमार्जित है उतना ही विपय-वैविध्यपूर्ण भी और जितना प्रौढ है उतना ही विविध-शैली-सम्पन्न भी यदि एक इकाई के रूप मे कभी समस्त भारतीय साहित्य का इतिहास लिखा जायेगा तो इसका आधार यही जैन-साहित्य बनेगा, इसमे सशय नही. आचार्य शुक्ल जैसे पूर्वाग्रही आलोचक भले ही इस साहित्य को 'धार्मिक नोटिस मात्र' कह कर उपेक्षित कर दें किन्तु अद्यावधि शोधित तथ्यो के आलोक मे हमे यह स्वीकार करना ही पडेगा कि भारतीय चिंतना की मूल्यवान धारा अपने समस्त ज्ञान-वैभव के साथ जैन साहित्य मे उतरी है कहने की शायद ही आवश्यकता रह जाती है कि जितना गौरव शुद्ध साहित्य का है उतना ही सम्प्रदायमूलक साहित्य-राशि का

जैन-साधक सदैव देश-काल एव तज्जन्य परिस्थितियो के प्रति जागरूक रहे हैं उनकी ऐतिहासिक बुद्धि कभी सुपुप्त नही रही वे आध्यात्मिक परम्परा के अनुगामी एव आत्मलक्ष्यी सस्कृति मे विश्वस्त रहने के बावजूद भी लौकिक चेतना से विरक्त नही थे क्योकि उनका अध्यात्मवाद वैयक्तिक होकर भी जन-कल्याण की भावना से अनुप्राणित था यही कारण है कि सम्प्रदायमूलक साहित्य का सृजन करते हुए भी वे अपनी रचनाओ मे देश-काल से सम्बन्धित ऐतिहासिक एव सास्कृतिक टिप्पण दे गये हैं जिनका यदि वैज्ञानिक पद्धति से अध्ययन किया जाय तो भारतीय इतिहास के कई तिमिराच्छन्न पक्ष आलोकित हो उठे आचार्य नरचन्द्र सूरिकृत 'हम्मीर-मद-मर्दन महाकाव्य' और भावकलश रचित हम्मीरायण अथवा हमीर देव प्रभृति जैन-रचनाए आज भी राजपूत इतिहास के कई निष्कर्षो को चुनौती दे रही है. विविध तीर्थ-कल्प, प्रभावक-चरित्र, प्रवन्धकोष, विज्ञप्ति-पत्र, प्राचीन तीर्थमालाए, जैन गच्छो और परम्पराओ की पट्टावलिया, शिला-लेख आदि ऐसी उपलब्धिया है जिनसे तत्कालीन भौगोलिक, सास्कृतिक एव राजनैतिक धाराओ का प्रामाणिक विवेचन प्राप्त होता है

मौलिक साहित्य-सृष्टि के साथ-साथ जैन-साधको ने विभिन्न मूल्यवान कृतियो पर निताात ही सारगर्भित और पाण्डित्य-पूर्ण टीकाए रचकर साहित्य-परम्परा की अविस्मरणीय सेवा ही नही अपितु सरक्षा भी की है जैन मुनियों की रचनाओ को पिष्टपेषण से पूर्ण माना गया है इसमे कोई सदेह नही कि औपदेशिक वृत्ति के कारण जैन रचनाओ मे विपयान्तर से परम्परागत वातो का वर्णन-विवरण रहता है पर सम्पूर्ण जैन-साहित्य पिष्ट-पेपण मात्र नही है और जो है वह भी न केवल लोक-पक्ष वल्कि भापा-विकास की दृष्टि से भी वडा महत्त्वपूर्ण है जैनो ने भारतीय चिंतना की आदर्श सस्थापक नैतिक एवं धार्मिक मान्यताओ को जन-भापा-समन्वित शैली मे ढाल कर राष्ट्र के आध्यात्मिक स्तर को वडा वल दिया है और हमारी धर्म-मूलक थाती की रक्षा की है. उन्होने इस प्रकार साहित्य परम्परा को सस्कृत के कूप-जल से निकाल कर भापा के बहते नीर मे अवगाहन कराया है—उसे अभिव्यक्ति के नये पथ पर अग्रसर किया है

विभिन्न जैन-गच्छो ने साहित्य की जो सेवा की है उसका पूरा-पूरा लेखा-जोखा लेने का न यहां अवसर ही है और न



अवकाश ही यहाँ केवल लोकागच्छ द्वारा की गई साहित्य-सेवा के विषय मे कतिपय सूचनात्मक सकेत वर्णानुक्रम से प्रस्तुत किये जा रहे है.

अमोलक ऋषि—इस नाम के दो व्यक्ति हुए है प्रथम तो 'भीमसेन चौपई' के रचयिता, जिनका विशेष परिचय नही मिल सका, और द्वितीय वत्तीस सूत्रो के उद्धारक ऋषि सम्प्रदाय के आचार्य. इन्ही की साहित्य-साधना एव दीर्घदर्शिता का परिणाम है कि उन दिनों आगम सानुवाद सर्वसुलभ हो सके. यद्यपि तत्पश्चात् इस दिशा मे सर्वश्री मुनि आत्मा-रामजी एव मुनि घासीलालजी के प्रयास अभिनन्दनीय है तथापि एतद्विषयक प्राथमिक प्रयास का श्रेय द्वितीय अमोलक ऋषि जी को ही है.

आणंद—इनका स० १६६२ के वाद रचित 'शिवजी का सिलोका' प्राप्त है, जो एक ऐतिहासिक १४ पद्यात्मक कृति है इसमे आचार्य शिवजी का वर्णन है जो गुजराती लोकागच्छीय द्वितीय पक्ष अर्थात् कुवरजी पक्ष के पाटानुक्रम से १३ वे आचार्य थे तथा जिनका जन्म, स० १६५४ माघ सुदि दूज को जामनगर निवासी श्रीमाली सघवी अमरसी की धर्मपत्नी तेजवाई की रत्नकुक्षि से हुआ था सवत् १६७० में दीक्षा और सवत् १६८८ जेठ सुदि ५, सोमवार को पाटण मे पद-स्थापन, स० १७३३ मिगसर दूज रविवार को स्वर्गवास इन्ही आचार्य श्री का एक रास नाकर ऋषि के प्रशिष्य और देवजी ऋषि के शिष्य धर्मसिंह ने स० १६९२ में उदयपुर में रचा. आचार्य श्री के समय—स० १६८५—मे ही उनके शिष्य धर्मसिंह ने नवीन पक्ष की स्थापना की इन्ही की परम्परा मे एक और आणद हुए हैं. जिनका परिचय आगे दिया जा रहा है.

आणंद—कुवरजी पक्ष के त्रिलोकसिंहजी के शिष्य आणद (आनन्द) मुनि ने, स० १७३१ श्रावण, लालपुर (देहली) मे एव, स० १७३८ कार्तिक सुदि पूर्णिमा, राधनपुर मे क्रमश 'गणितसार' और 'हरिवशचरित्र' की रचना की. दोनों रचनाओ की अतिम प्रशस्तिया ऐतिहासिक तथ्यो से परिपूर्ण हैं.

'गणितसार' मे दिल्ली का वर्णन करते हुए छत्रपति औरंगजेब, सिद्दी पोलादखां, काजी शेख सुलेमान के न्याय की कवि ने भूरि-भूरि प्रशसा की है साथ ही उसने रामचन्द्र (नागौरीगच्छीय), मानसिंह, हरिकृष्ण, भागीरथ और रूपचन्द्र का उल्लेख भी किया है जिनकी अभ्यर्थना से गणि त्रिलोकसिंह जी, जो आचार्य शिवजी के पट्टधर थे, ने लालपुर मे चातुर्मास व्यतीत किया था.

'हरिवशचरित्र' में कुवर जी, श्रीमलजी, केशवजी, रत्नागरजी, शिवजी, त्रिलोकसिंह आदि पुण्यात्माओ का स्मरण किया गया है. राधनपुर के श्रमणोपासक भडसाली सूरजी के पुत्र भीमजी के आग्रह से उत्तराध्ययन सूत्र सटीक, ज्ञाता, समवायाग और अन्तगड़ आदि शास्त्रो के सार स्वरूप प्रस्तुत कृति का सृजन किया गया था.

आनन्द जेठमल—यह जयपुर निवासी ओशवाल जैन गृहस्थ थे. इन्होने 'जम्बूस्वामी गुणरत्नमाल' (सं० १९०२) पैंतीस ढालो मे लिखकर महर्षि के प्रति आदर-भाव व्यक्त किया है.

आलकरण—यह रायचन्द्र ऋषि के शिष्य थे. इनका अस्तित्व समय १९ वी शती है. 'नेमिराज ढाल' और 'चूदडी ढाल' आदि इनकी रचनाए है

उम्मेदचन्द—स्थानकवासी सम्प्रदाय के गुजराती साहित्य-सेवी मुनियो में इनका स्थान महत्त्वपूर्ण है इन्होने प्रचुर परिमाण में महामुनियो के आदर्श चरित्र लिखकर जन-मानस को नैतिकता का पाठ पढाया इनकी कवित्वशक्ति सहज थी, जो उनकी वृहत्तर काव्य-रचनाओं और नाना औपदेशिक स्फुट-पद्यो से स्पष्ट है. रूपाणी भीमजी कालिदास ने उम्मेद-चन्दजी कृत काव्य-संग्रह कई भागो में प्रकाशित किये है.

कवि का साहित्य-साधना-काल वीसवी शती का प्रथम चरण है. यह उनकी कृतियो की अंतिम प्रशस्तियो से सिद्ध होता है. इनकी कृतियां इस प्रकार है—

१. आर्द्रकुमार का रास (सं० १९२२ विजयादशमी सोमवार, भावनगर)

२. गजसुकुमार की ढाल (स० १९२२ आश्विन शुक्ला १२, मंगलवार, भावनगर)
३ अर्जुन माली की ढाल (स० १९२२ आसौज सुदि १४ शुक्रवार, भावनगर)
४ अयमता मुनि की ढालें (स० १९२२ आसौज वदि ८, शनिवार भावनगर)
५ अमरकुमार की ढालें (स० १९२५ मिगसर वदि अमावस्या, रविवार, वोरसद)
६. हरिकेशि मुनि का रास (स० १९२५ फागुन, गणपुर--गढा)
७ मेतार्य मुनि का चौढालिया (स० १९२५ वैशाख सुदि ६ सोमवार खभात)
८. नीपढ कुमार की ढाल (स० १९२५ भादो, खभात)
९. सुकोशल की ढाल (स० १९३०)
१०. नेमराजुल का षट् ख्याल
११ ऋषभदेव का किस्सा (स० १९२८ कार्तिक वदि ११)

कनीराम—इनका 'तिलोकसुन्दरी चौपाई' का नामोल्लेख स्व० मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने अपने ग्रथ 'जैन गुर्जर कविओ' भाग ३ पृ० २२२ पर किया है इसकी एक प्रति मुनि श्री कान्तिसागरजी के सग्रहालय मे सुरक्षित है, जिसकी प्रशस्ति का ऐतिहासिक भाग नीचे दिया जा रहा है—

इग्यारे वसु समत कहायो इन्दुहर सवरस पायो रे लो,
धन तेरसे भोमवार सुहायो विजय महूर्त मन भायो रे लो।
शासन मंडण धन ज्यूं गाजे पूज गुमान गुरू राजे रे लो,
तास दिवाजै विसुणज लाजै सांसा सुहना भाजे रे लो।
तस लघु बांधव पाट सुहाया दुरगदास मुनिरायो रे लो,
च्यारू सिंध निज द्रष्ट चलाया आदित्य तेज सवायो रे लो।
रतनेसर तस पाट वैरागी पुद्गल रसना त्यागी रे लो,
वाण अभी ज्यांरी सुणावण भागी वहु थया धरम लागी रे लो।
तस सुखदाता जिण गुणगाता दलीचन्द गुरभ्राता रे लो,
सकल सिंध ज्यांरो जगत विख्यात नेह परसपर ज्ञाता रे लो।
ऋष कनिराम जश सिणगायो पीपाडपुर मन लायो रे लो,
ढाल वाईस कर गाय सुणायो श्रावक-जन-मन भाया रे लो।
वरणव नै वक्ता जो भणसी श्रोता हित धर सुणसि रे लो,
सील नवल रस जांणीं गणसी सिव सुफल लणसी रे लो।

कान्हजी—यह लोका गच्छ के सुप्रसिद्ध १६ वे आचार्य तेजसिंह के शिष्य थे. स० १७४३ मे इन्हे गणिपद प्राप्त हुआ इनका मूल निवास-स्थान नाडोलाइ था तेजसिंह की अपूर्ण 'गुरुगुण-मालाभास' की पूर्ति इन्ही द्वारा हुई यद्यपि इनकी कोई वडी कृति आज तक देखने मे नही आई पर अनेक स्फुट पद्य उपलब्ध है इन्ही के समय मे गग मुनि तथा इनकी परम्परा के अन्य मुनियो ने भी साहित्यिक रचनाए की है, जिनका उल्लेख यथास्थान किया जायेगा।
कान्हजी की रचनाए इस प्रकार है—

१. अर्जुनमाली स्वाध्याय (रचनाकाल स० १७४८ राणपुर)
२. गजसुकुमार स्वाध्याय (रचनाकाल स० १७५३)
३. शान्तिनाथस्तवन (रचनाकाल स० १७५६ सूरत)
४. सुदर्शन सेठ स्वाध्याय (रचनाकाल स० १७५६ सूरत)
५. समायक दोप स्वाध्याय (रचनाकाल स १७५८ सूरत)



६. नेमिनाथ स्तवन (रचनाकाल स० १७७० कालावड)
७. मेघमुनि स्वाध्याय (रचनाकाल स० १७७० कालावड़)
८. स्थूलभद्र स्वाध्याय

किशनदास—स्थानकवासी जैन सम्प्रदाय मे 'बावनी' सज्ञक रचना लिखने वाले यह तीसरे कवि है. इनकी 'किशनबावनी' हिन्दी की सुन्दर, भावपूर्ण और विचारोत्तेजक रचना स्वीकार की जा सकती है इसका निर्माण सघराजजी के समय मे स० १७५८ विजया दशमी को साध्वी रतनवाई के देहावसान पर आगरा में हुआ.

कुंवरजी—यह लोकागच्छीय परम्परा के ८ वे आचार्य जीवराजजी के शिष्य थे अहमदाबाद के श्रीमाली वणिक् लहुवोजी की धर्मपत्नी रूडी बाई की रत्नकुक्षि से इनका जन्म हुआ. सात व्यक्तियो के साथ स० १६०२ जेठ सुदि पचमी को दीक्षा अगीकार की, स० १६१२ मे गुरुपट्टस्थान हुआ और स० १६२८ दीपावली को स्वर्गगमन हुआ. कुंवरजी ने अपने गुरु से पृथक् हो एक स्वतन्त्र पक्ष स्थापित किया था

कुंवरजी ने आत्मशुद्धि एव जीवनोत्कर्ष के लिए स० १६२४ श्रावण सुदि १३, गुरुवार को 'साधुवन्दना' का प्रणयन किया. स० १६२७ एव स० १६९१ की इसकी प्रतिलिपित प्रतिया इन्ही की परम्परा के मुनियो की उपलब्ध है

कुशल—लोकागच्छीय रामसिहजी के शिष्य कवि कुशल ने स० १६८६ सोजत में दशार्णभद्र 'चौढ़ालिया' स० १७८९ चैत्र सुदि दूज को मेडता मे सनत्कुमार चौढालिया 'लघु साधुवन्दना' एव 'सीता आलोयणा' का प्रणयन किया

केशवजी—यह कुँवरजी पक्ष के तीसरे और पाटानुक्रम से १२ वे आचार्य, गुणादा के विजा की पत्नी जयवन्ती के पुत्र थे जन्म स० फागुन वदि ५, आचार्य पद स० १६८६ जेठ सुदि १३, गुरुवार और तदनन्तर स्वल्प समय मे देहावसान. केशवजी ने कुंवर के पट्टधर श्रीमल्लजी के समय मे लोकाशाह का सिलोका की रचना की २४ पद्य की इस ऐतिहासिक कृति मे लोकाशाह और उनकी परम्परा के कतिपय मुनियो का सकेतात्मक परिचय है

खीममुनि—'पचमहाव्रत' 'पचढालिया सज्भाय' के प्रणेता, खीममुनि उपाध्याय कान मुनि के शिष्य थे. खीममुनि ने अपने रचना-काल का कही स्पष्ट उल्लेख नही किया है पर 'जैन गुर्जर कवियो' भाग ३ पृ० १५३ पर एक अज्ञातकर्तृक रचना 'खिम ऋषि पारणा' का उल्लेख है, जिसका लेखन-काल स० १७८२ है, यदि यह पारणा पचमहाव्रत के कर्त्ता खीम मुनि से सवद्ध मान लिया जाय तो इन्हे स० १७८२ के पूर्व का कवि मान लेने मे कोई अनौचित्य नही है

खुशालचन्द—'सम्यककौमुदी चौपाई' अथवा 'अरहद्दासा चरित्र' के प्रणेता खुशालचन्द रायचन्द्र के शिष्य और पुण्यात्मा जेठमलजी के प्रशिष्य थे सम्यक्त्व जैन-दर्शन की आत्मा है, विना इसे प्राप्त किये जीवन शून्यवत् है । इसी विषय को लेकर सम्यककौमुदी चौपाई की रचना हुई है, जिसमे समकित की विशद विवेचना द्वारा जन-मानस को धर्म-भावनाओ की ओर आकृष्ट किया गया है इस चौपाई की रचना नागौर में स० १८७९ वैशाख सुदि ३ को हुई

खेतसी—लोकागच्छीय १३ वे पट्टधर दामोदरजी के शिष्य कवि खेता ने वि० स० १७३२ मे वैराट (मेवाड) मे 'धन्ना महर्षि के रास' का प्रणयन किया और स० १७४५ मे अनाथी ऋषि की ढाले बनाई.

खोडीदास-खोडाजी स्वामी—यह स्थानकवासी गोडल सम्प्रदाय के साधु थे. इनका जन्म राजकोट में वीरजी की पत्नी डाही से स० १८९२ कार्तिक सुदि ११ को हुआ था. स० १९०८ आपाढ सुदि ११ को दीक्षा अगीकार की और स० १९२७ भादो सुदि ११ शनिवार को गोडल मे स्वर्गवास हुआ

खोडीदासजी अपने क्षेत्र के माने हुए सत और कवि थे तत्रस्थित जैनेतर समाज पर इनका प्रभाव था. इनकी रचनाओ मे जैनधर्म के मौलिक सिद्धान्तो को वोधगम्य भाषा मे उपस्थित करने का प्रयास परिलक्षित होता है इनका काव्य-सग्रह दो भागो मे गोडल से प्रकाशित हो चुका है खोडीदासजी की रचनाए इस प्रकार है—

१ निरजन पच्चीसी (स० १९१६ आसौज सुदि १३ जैतपुर)
२ तस्कर पच्चीसी (स० १९१६ आसौज)



३ जोवन पच्चीसी (स० १९१६ पोस सुदि पूर्णिमा गोडल)
४. भीमजी स्वामी जी का चोढालिया (स० १९१६ पोस सुदि १ गोडल)
५ बोहत्तरी (स० १९१८ ज्ञान पचमी)
३ तीर्थंकर चौढालिया (स० १९१८)
७ अजना सती का रास (स० १९१९ वैशाख सुदि ३ गोडल)
८ ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का रास (स० १९२७)
९. चौवीसी
१० जुगत (ट ?) पच्चीसी
११. सत्यवाईसी

गंग-गांगजी—यह लोकागच्छीय १७ में पट्टधर कानजी की शिष्य-परम्परा मे लक्ष्मीधरजी के शिष्य थे. उनकी रचनाएँ ये है—

१. रत्नसार तेजसार रास (स० १७६१ जेठ सुदि ६ गुरुवार, हालार (सौराष्ट्र)
२ जम्बू स्वामी स्वाध्याय (स० १७६५ श्रावण सुदि २ राणपुर)
३ गौतम स्वामी स्वाध्याय (स० १७६५ प्रथम भाद्रवदि ५, बुधवार, मागरौल)
४. सीमधरविनति (स० १७७१ भादो सुदि १३ कुन्तलपुर)

गुलाल—यह गुजराती गच्छ के नगराज के प्रशिष्य केशर के शिष्य थे. इन्होने नोवा मे न० १८२१ मे श्रावण सुदि ८ रविवार को तेजसार कुमार चौपाई की रचना की.

गोधा-गोवर्धन—इनकी ६८ पद्यो की 'रतन-सी ऋषि की मनभास' उपलब्ध है यह कृति ऐतिहासिक दृष्टि से उपादेय है

चौथमल—इन्होने उपदेशमाला के आधार दर 'ऋषिदत्ता चौपाई' (स० १८६४ कातिक सुदि १३ देवगढ-मेवाड) की रचना की. इसमे आदर्श नारी का चित्रण हुआ है इस रचना की प्रतिलिपि इनके शिष्य सूरजमल ने पाली नगर मे की

जगजीवन—यह थराद के ओसवाल चौपडा गोत्रीय पिता जोइता की पत्नी रत्ना के पुत्र थे. इनके निम्नाकित स्फुट स्तवन उपलब्ध है—

१. सभवजिन स्तवन (स० १८००)
२ मल्लीजिन स्तनवन (स० १८१४)
३. ऋषभ जिनस्तवन (स९ १८१५)
४. नेमि जिन स्तवन (स० १८२५)

जगन-जगन्नाथ—यह लोकागच्छीय ऋषि शेखा के शिष्य थे इन्होने स० १७६१ मे 'सुकोमल मुनि चौपाई' की रचना की जिसकी कवि के हाथ की लिखी प्रति राजस्थान प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान मे सुरक्षित है इसमे सुकोशल मुनि के माध्यम से अहिंसामाहात्म्य प्रकट किया गया है.

जयमल—ये लोका-गच्छीय मुनि थे और राजस्थान मे विचरण किया करते थे 'साधुवन्दना' (स० १८८७ जालोर) इनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना है. इसके अतिरिक्त 'परदेसी राजा का रास' 'अर्जुनमाली का छ ढाला' (स० १८२० कार्तिक सुदि पूर्णिमा) 'अवन्ति सुकुमार चौढालिया' (स० १८२५ असौज सुदि ७ नागौर) 'दीपावली स्वाध्याय' 'उदक चौढालिया', (स० १८११ चैत्र ७ लाडूया) 'चन्द्रगुप्त सोलह स्वप्न 'स्वाध्याय' 'नेमि चरित्र चौपाई'-स० १८०४ भादो सुदि ५), 'कमलावती स्वाध्याय' 'स्थूलभद्र स्वाध्याय' आदि अन्य रचनायें है.

मुनि जयमलजी अपने समय मे एक आदर्श मुनि के रूप में मान्य रहे इनकी यशोगाथा को किसी अज्ञात कवि ने स्वर



दिया है, जिसका उल्लेख जैनगुर्जर कविश्रो भाग ३ पृ० १५३६ पर किया गया है. भाव यह है. कि लाबिया मे मुहता मोहनदास की धर्म-पत्नी महमादे की रत्नकुक्षि से इनका जन्म हुआ व्यापारिक प्रसग को लेकर मेडता पधारे और भूधरजी मुनि श्री आध्यात्मिक वाणी का श्रवण कर स० १७८८ मिग० वदि दूज अर्थात् २२ वे वर्ष में सयम ग्रहण कर लिया इससे सिद्ध है कि इनका जन्म स० १७६६ है. इन्होने जयपुर, आगरा, दिल्ली, बीकानेर,फतेहपुर, मारवाड, मेवाड किसनगढ आदि नगरो मे चातुर्मास किये.

तिलोक ऋषि—लोका-गच्छीय विशिष्ट कवियो मे तिलोक ऋषि ऐसे कवि है जिनकी प्रचुर कृतिया पाई जाती है. यह लवजी ऋषि की परम्परा के अयवन्ता ऋषि के शिष्य थे. रतलाम निवासी सुराणा गोत्रीय दुलीचदजी की धर्मपत्नी नानूबाई की रत्नकुक्षि से इनका जन्म स० १९०४ चैत्र वदि ३ बुधवार को हुआ था

तिलोकचदजी ने स० १९१४ में अर्थात् १० वर्ष की कोमल वय मे अयवन्ता ऋषि से दीक्षा ग्रहण की साधना के कठिन मार्ग पर चलते हुए भी सरस्वती के प्रति इनका आकर्षण बना रहा, जिसकी परिणति निम्नांकित कृतियो में हुई—

१. पचवादी काव्य (स० १९३० वै० व० १० सोमवार मदसौर)
२ धर्म जयकुमार चौपाई (स० १९३० आषाढ शु० ३ शुक्र मदसौर)
३. तिलोक बावनी (स० १९३३ वै० शु० ९ शनि रतलाम)
४ श्रेणिक रास (स० १९३९ आषाढ सुदि ३ पूना)
५ चद्र केवली चरित्र
६ समरादित्य केवली चरित्र
७ सीता-चरित्र
८. धर्मवुद्धि पापबुद्धि चरित्र
९ हस केशव चरित्र
१० अर्जुन माली चरित्र
११. धन्ना शालिभद्र चरित्र
१२ भृगु पुरोहित चरित्र
१३ हरिवश काव्य
१४ अमरकुमार चरित्र
१५ नन्दनमणिहार चरित्र
१६ महावीर स्वामी चरित्र
१७ प्रतिक्रमण सत्यवोध
१८. ज्ञान प्रदीपक

तेज-तेजमुनि—यह लोकागच्छीय भीमजी के शिष्य थे. इनकी रचनाये है—
१ चदराज का रासा (स० १७०७ दीपावली, सोमवार, राणपुर)
२. जितारि रास (स० १७३४)
तेजपाल—यह लोकागच्छीय इन्द्रजी के शिष्य थे. इनकी रचनायें ये है—
१. रत्न पचवीसी रत्नचूड चौपाई (स० १७३५ रविवार, अहमदपुर)
२ थावच्चामुनि स्वाध्याय

तेजसिंह—यह लोकागच्छीय मूल परम्परा के १६वे आचार्य पचेरिया निवासी छाजेड गोत्रीय लखमण की धर्म-पत्नी लखमादे के पुत्र थे जन्म सवत् अज्ञात है इनकी दीक्षा स० १७०६ आषाढ सुदि १० शुक्रवार को हुई. पदस्थापन वोरा वीरजी द्वारा सूरत मे स० १७२१ वैसाख सुदि ७ गुरुवार को हुआ यह केशवजी के शिष्य थे. इनके समय में



सप्रदाय सघर्ष की स्थिति मे थी तथापि ये साहित्य-रचना मे लगे रहे. इतिहास के प्रति इनका विशिष्ट अनुराग था तेजपाल इन्ही के शिष्य थे. इनकी निम्नाकित रचनाएँ प्राप्त है—

१. नेमिनाथ स्तवन (स० १७११)
२. ऋषभजिन स्तवन (स० १७२७ चैत्र पूर्णिमा जालौर)
३. शातिनाथ स्तवन (स० १७३३ बुरहानपुर)
४. वीर स्तवन (स० १७३३)
५ जिन स्तवन (स० १७६४ रतलाम)
६. अतराका स्तवन (स० १७३५ नादेसमा-मेवाड)
७. श्रीसीमधर स्तवन (स० १७४८)

अज्ञात रचनाएँ—

१ सत्ताईस पीठ स्वाध्याय
२. हरिवशोत्पत्तिरास
३ सोलह स्वप्न स्वाध्याय
४. सुविधिजिन स्तवन
५ तमाखू की स्वाध्याय

श्रीतेजसिंह सस्कृत के भी अच्छे ज्ञाता थे दृष्टातशतक इनकी सर्वज्ञात रचना है

त्रिक्रम—यह नागौरी गच्छीय आसकरण के प्रशिष्य और वणवीर के शिष्य थे इनका 'रूपचन्द ऋषि का रास' (स० १६६६ भादो वदि ३ बुधवार, अकबरपुर) लोकागच्छीय इतिहास की दृष्टि से अपना स्वतन्त्र स्थान रखता है जीवन-चरित लेखन की दृष्टि से भी यह रचना महत्त्वपूर्ण है इनकी रचनाये इस प्रकार है—

१ अमरसेन रास (स० १६९८)
२. वगचूल का रास (स० १७०६ भादो सुदि ११ गुरुवार किशनगढ)

दीप—यह लोकागच्छ की १३-१४ वी गद्दी के आचार्य के समय स्वतत्र मत चलाने वाले श्रीधनराज की परम्परा मे थे. इनकी रचनायें है—

१ सुदर्शन श्रेष्ठि रास
२ वीर स्वामी का रास
३. पाचम चौपाई
४ गुणकरण्ड गुणावली रास (स० १७५७)

कुलैथ मे इन्होने एक धमार भी लिखी थी

धर्मदास—यह लोकागच्छीय जीवराज के शिष्य थे इनकी कृति 'जसवत मुनि का रास' स० (१६५२ भादो वदि १०, खण्डेहरा) प्राप्त है

धर्मसिंह—इन्होने स० १६९२ मे, उदयपुर में चातुर्मास रहकर आचार्य शिवजी का ऐतिहासिक रास निर्मित किया. स० १६८५ मे इन्होने लोकागच्छ से अलग एक स्वतत्र शाखा स्थापित की जो 'दरियापारी (पुरी) शाखा' के नाम से विख्यात है इनकी परम्परा मे कई स्वतन्त्र ग्रन्थकार मुनि हुए है

नन्दलाल—यह रतिराम के शिष्य थे इन्होने 'लब्धिप्रकाश चौपाई (स० १९०३ कपूरथला) और 'ज्ञानप्रकाश' (स० १९०६) की रचना की



नरसिंह मुनि—यह असदिग्ध सत्य है कि सशोधन के क्षेत्र में कभी-कभी सामान्य गीत का भी बहुत बड़ा महत्त्व प्रमाणित हो जाता है यहा जिन नरसिंह मुनि का उल्लेख किया गया है वे न तो स्वय बहुत वडे ग्रन्थकार थे और न साहित्यकार ही. किंतु इनकी एक मात्र अद्यावधि अज्ञात कृति उपलब्ध हुई है जिसमे १९वी शती के एक महान् व्यक्तित्व की यशोगाथा वर्णित है. हमारा तात्पर्य रोड़जी स्वामी से है ये अपने समय के विशिष्ट कोटि के सयमशील तपस्वी स्थानकवासी मुनि थे. रायपुर, सनवाड, उदयपुर, नाथद्वारा और आमेट मे रहकर इन्होने जो-जो उपसर्ग सहन किये और सूचित स्थानो में इनके सबध मे प्रचलित जन-प्रवादो पर इस गीत मे प्रकाश डाला गया है. इसकी रचना स० १८४७ मे रायपुर (मेवाड) मे की गई है. भले ही यह गीत लघुतम है पर महामुनि की यश कीर्ति को ज्योतित करने मे अनुपम है

नानजी—यह कुवरजी पक्ष के तृतीय आचार्य रतनसी के शिष्य थे इन्होने पचावरण स्तवन स० १६७९, दीपावली-जामनगर) और नेमिनाथ स्तवन (स० १६७२ दीपावली-अहमदाबाद) की रचना की

नारायण—यह लोकागच्छीय अष्टम पट्टधर जीवराजजी के शिष्य थे, इन्होने कल्पवल्ली मे चातुर्मास रहकर स० १६८४ आसौज वदि ७ गुरुवार को 'श्रेणिकरास' की रचना की

परमा—यह राजसिंघ के शिष्य थे इन्होने 'प्रभावती चौपाई'(स० १६४८ आश्विन शुक्ला १०, शनिवार) की रचना की.

प्रकाशसिंह—यह स्थानकवासी सप्रदाय के प्रथम कवि है जिन्होने स्वतत्र छप्पय लिखे. रचना-काल स० १८७५ आषाढ सुदि ८ (गौडल) है यह स्थानकवासी सम्प्रदाय के सद्गृहस्थ थे.

पासो पटेल—यह बना के प्रशिष्य और जीवा के शिष्य थे. इन्होने स० १८१८ चै० अमावस्या को लीमडी मे रहकर 'भरत चक्रवर्ती रास' लिखा.

प्रेम—इन्होने स० १६९१ मे 'द्रौपदी रास' और स० १६९२ में 'मगल कलश रास' की रचना की

प्रेम—यह नृसिंह के शिष्य थे. इन्होने 'हरिचद चौपाई' (स० १८५८ मगसिर वदि ६ रविवार-जोधपुर) की रचना की स्व० मोहनलाल दलीचद देसाई ने 'वैधर्भी चौपाई' को भी इनकी रचना मान लिया है जो स्पष्टत भूल है. क्योकि वैधर्भी चौपाई-जिसकी १८वी शती की प्रतिलिपि प्राप्त है—के प्रणेता प्रेमराज सूरि थे. जब कि 'हरिचद चौपाई' के प्रणेता १९वी शती के कवि थे.

भाणुचन्द—यह लोकागच्छ के प्राचीन कवियो मे प्रमुख ऐतिहासिक कवि है. इन्होने 'दयाधर्म चौपाई' (स० १५७८ माघ सुदि ७) की रचना की जिसमे अपने सम्प्रदाय का ऐतिहासिक वर्णन एव तात्कालिक साम्प्रदायिक मान्यताओ का उल्लेख है.

भीम—यह लोकागच्छीय वडे वीरसिंह के शिष्य थे. इन्होने तीन खण्डो मे 'श्रेणिक रास' लिखा, जिसका क्रमशः रचना-काल इस प्रकार है—

प्रथम खण्ड स० १६२१ भादो सुदि २, बड़ोदा.
द्वितीय खण्ड स० १६३२ भादो वदि २, बड़ोदा.
तृतीय खण्ड स० १६३६ आसोज वदि ७, रविवार.

इनकी एक अन्य रचना 'नागलकुमार—नगदत्त का रास' (स० १६३२ आसोज सुदि ५, गुरुवार बड़ोदा) प्राप्त है.

बालचन्द्र—यह कुवरजी पक्ष के श्रीमल के प्रशिष्य और गगदास के शिष्य थे हिन्दी भाषा पर इनके अद्भुत प्रभुत्व का परिचय इनकी 'बालचन्द्र बत्तीसी' (स० १६५८ दीपावली, अहमदाबाद) से मिलता है गृहस्थोचित कर्त्तव्यो का सम्यक् विवेचन एव नैतिक उपदेशो से परिपूर्ण यह एक आदर्शवादी रचना है. स्मरणीय है कि एक और बाल कवि स० १५१७ में हुए है जिनकी 'बाल-बावनी' प्रसिद्ध है. खरतरगच्छ मे भी इस नाम के दो कवि हो गये है.

मयाचन्द—यह लीलाधरजी के शिष्य और कृष्णदास जी के प्रशिष्य थे. इन्होने 'गजसिंह राजा का रास' (स० १८१५ चैत्र वदि ८, गुरुवार जामनगर) की रचना की.

स्मरणीय है कि इसी समय मयाचन्द नाम के दो अन्य कवि भी हुए हैं जिनमे एक तो रत्नसिंह के शिष्य मयाचन्द जिनकी रचना 'वुद्धिरास स्वाध्याय' प्राप्त है और दूसरे सिद्धिवल्लभ के शिष्य मयाचन्द जो 'नवरत्न स्तवन' (स० १८५२ जेष्ठ सुदि ४, मुलतान) के प्रणेता थे इन मयाचन्द का मतिलाभ नाम भी था

मानमुनि—'ज्ञानरस' के प्रणेता मानमुनि नवल ऋषि के शिष्य थे जो स० १७३९ मे विद्यमान थे.

माल—यह खूबचन्द सन्तानीय नाथाजी के शिष्य थे, जैसा कि इनकी रचनाओ की अन्त्य प्रशस्तियो से प्रमाणित है. प्राप्त कृतियो के आधार पर इनका साहित्यसाधना-काल स० १८१० से स०१८५७ का मध्यकाल जान पडता है. इनकी रचनाये इस प्रकार है—

१. आषाढभूति चौढालिया (स० १८१० आषाढ सुदि २, भुज)
२. राजीमती स्वाध्याय (स० १८२२, मुन्द्रा)
३ इलाचीकुमार छ ढाला (स० १८५५, जेठ, अजार)
४ इषुकार कमलावती छ ढाला (स० १८५५, जेठ वदि ३, अजार)
५. षट्वाधवरास छ ढाला (स० १८५७, कार्तिक, माडवी)

'जैन-गुर्जर कविओ' भाग ३ पृ० २२८ पर 'अजनासुन्दरी चौपाई'—जिसका प्रतिलिपिकाल स० १८०९ है—को स्व० देशाई ने नाथाजी शिष्य मान की रचना माना है, जो स्पष्टत भूल है कारण कि 'अजनासुन्दरी चौपाई' के प्रणेता मुनि माल वड गच्छीय भटनेर शाखा के थे और इनका अस्तित्व समय १७ वी शती का प्रथम चरण उनकी कृतियो से स्पष्ट है. सूचित माल की इसी कृति का उल्लेख 'जैन गुर्जर कविओ' भाग प्रथम पृ० ४६३ पर भी किया गया है. जिसका प्रतिलिपिकाल स० १६६३ है अत यह स्पष्ट है कि देशाई महोदय की भूल के कारण ही १७ वी शती के माल की रचना १९ वी शती के लोकागच्छीय माल के नाम पर चढ गई है भाषा और वर्णनशैली की दृष्टि से भी दोनो का भिन्नत्व स्पष्ट प्रतीत होता है इसी मुनि माल की रचनाओ को नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित हिन्दी हस्तलिखित पुस्तको के १८ वें त्रैवार्षिक विवरण (१९४१–४३) मे अज्ञातकर्तृक रचनाए मान लिया गया है जब कि इनका नाम अतिम पक्तियो मे स्पष्टत सूचित है इस माल की एक दर्जन से अधिक अन्य रचनाए भी प्राप्त हैं. यह राजस्थानी के कवि थे जब कि नाथाजी के शिष्य गुजराती के

मालसिंह—यह लोकागच्छीय करमसी के शिष्य थे इनकी रचना 'कलावती चौढालिया' प्राप्त है जिसका रचना-काल स० १८३५ श्रावण सुदि ५ है

मेघराज—लोकागच्छीय जगजीवन के शिष्य मेघराज ने 'ज्ञानपचमी स्तवन' (स० १८३०–वीरमगाम) और 'पार्श्वनाथ स्तवन' (स० १८४१) की रचना की

उल्लेखनीय है कि इस नाम के चार और कवि भी हुए हैं प्रथम दिगम्बर सम्प्रदाय के ब्रह्मशाति के शिष्य, जिनका 'शातिनाथचरित्र' (स० १६१७ मे प्रतिलिपित) प्राप्त है द्वितीय दिगम्बर सुमतिकीर्ति के शिष्य जिनका 'कोहलद्वादशी रास' (स १७५४ मे प्रतिलिपित) उपलब्ध है तृतीय पार्श्वचन्द्रगच्छीय श्रवण ऋषि के शिष्य जिनकी नलदमयन्ती रास (स० १६६४) सोलह सती का रास, राजचन्द्र प्रवहण (स० १६६१) पार्श्वचन्द्र स्तुति, रायपसेणी बालावबोध और स्थानाग बालावबोध आदि रचनाए मिलती है चतुर्थ मेघराज आचल गच्छीय भानुलब्धि के शिष्य थे जिनके 'सत्तर भेदी पूजा' और 'ऋषभजन्म' ग्रथ उपलब्ध है इनका समय १७ वी शती का उत्तरार्द्ध है

रत्नचन्द्र—यह गुमानचन्द के प्रशिष्य और दुर्गादास के शिष्य थे. इन्होंने चतुर्दश ढालबद्ध 'चन्दनबाला चौपाई' स० १८५२) और पचढालबद्ध निर्मोहीढाल (स० १८७४ पाली मे) लिखी

इस नाम के दो अन्य विद्वान् भी हुए है जिनमे से एक वडगच्छीय समरचन्द्र के शिष्य 'पचाख्यान चौपाई' (स० १६४८) के प्रणेता और दूसरे तपागच्छीय शातिचन्द्र के शिष्य 'सूरत सग्रामसुर कथा' (स० १६७८) के रचयिता हैं.



रामदास—यह लोकागच्छीय उत्तम के शिष्य थे. इन्होने 'पुण्यपाल राजा का रास' (स० १६६३ जेठ वदि १३, गुरुवार सारगपुर—मालवा) की रचना की. इसकी अतिम प्रशस्ति महत्त्व की हैं

रायचन्द—रायचन्द सुप्रसिद्ध लोकागच्छीय जयमलजी के शिष्य थे. इनकी कृतियो में उल्लिखित ग्रथाधारो से विदित होता है कि ये स्वाध्याय के प्रति विशेष रूप से आकृष्ट थे. इन्होने स० १८३३ से स० १८४७ तक साहित्यिक जीवन व्यतीत कर ज्ञान और क्रिया का समन्वयमूलक आदर्श उपस्थित किया कवित्वशक्ति जैसे इन्हे पारम्परिक रूप से उपलब्ध थी. इनकी रचनाए इस प्रकार है—

१ समाधि-पचवीसी (स० १८३३, मेडता)
२. गौतम स्वामी का रास (स० १८३४ भादो सुदि ६, बीकानेर)
३ कलावती चौपई (स० १८३७ आसोज सुदि ५, मेडता)
४. आषाढभूति चौढालिया (स० १८३४ विजयादशमी नागौर)
५. मृगाकलेखा चौपई (स० १८३८ भादो वदि ११, जोधपुर)
६ महावीर चौढालिया (स० १८३९ दीपावली, नागौर)
७. ऋषभ चरित (स० १८४० आसोज सुदि ५, पीपाड)
८. नर्मदा सती की चोपई (१८४१ मिगसर, जोधपुर)
९. सज्झायादि

रूपचन्द—यह मेघराज की परम्परा के प्रेमकृष्ण के शिष्य थे रूपचन्द जी ने अपनी कृतियो में अपनी पूर्व परम्परा का सुन्दर वर्णन किया है यद्यपि इनकी भाषा गुजराती है तथापि अधिक समय तक बगाल में निवास करने के कारण हिन्दी और वगला का स्वल्प प्रभाव इनकी रचनाओ मे आ गया है इनकी अधिकतर रचनाए आजमगढ मे हुई है सभव है यह आदेशी के रूप मे वहा की गद्दी के सरक्षक के रूप मे रहे हो इनकी रचनाये इस प्रकार है—

१. श्रीपाल चौपाई (स० १८५६ फाल्गुन वदि ७ रविवार मकसूदाबाद)
२ धर्मपरीक्षण रास (स० १८६० मिगसर सुदि ५, शनिवार अजीमगज)
३. पचेन्द्रीय चौपई (स० १८७३ वैशाख सुदि ८ रविवार मकसूदाबाद)
४. रूपसेन चौपई (स० १८७८ श्रावण सुदि ४ गुरुवार अजीमगज)
५ अम्बडरास (स० १८८० जेठ सुदि १०, बुधवार, मकसूदाबाद)

उपर्युक्त रचनाओ मे कोरा धार्मिक वर्णन ही नही है अपितु इनमे लोककथाए भी समाविष्ट हैं. 'अम्बड-चरित्र' मे क्षत्रिय अम्वड का अद्‌भुत चरित्र वर्णित हुआ है रूपचन्द नाम के कतिपय पूर्ववर्ती कवि भी हुए है.

लालचन्द—इनका नाम स्थानकवासी परम्परा की १९ वी शती की पट्टावलियो में मिलता है. 'सवत्थ पच्चीसी' (स० १८६३ फाल्गुन सुदि ६, भाणपुर) और 'बुद्धिप्रकाश'—समुद्रबद्धकाव्य (स० १८६३ कोटा) इनकी अज्ञात रचनाए हैं. इनके स्फुट छद, सवैया, कवित्त आदि विभिन्न सग्रहो मे मिलते है.

विनय—यह अनूपदेवजी के शिष्य थे इन्होने मयणरेखा चौपई (स० १८७० माघ १३, जयपुर) और सुभद्रा चौपई (स० १८७० पोष शुक्ला १२, जयपुर) की रचना की. 'सुभद्रा चौपई' का रचना-काल श्री देशाई ने अपने जैन-गुर्जर कविओ मे सं० १८७२ से पूर्व माना है, जो ठीक नही. यही तथ्य स्वामीजी सावतरामजी के शिष्य हम्मीरमलजी द्वारा स० १९०२ मिति आषाढ वदि १२ ममनोर मे प्रतिलिपित प्रति से भी सिद्ध होता है. प्रशस्ति इस प्रकार है—

गुण गुणालंकृ महर्ण दूर्मति श्रीआचारिज सांमजी,
तस श्री चर्ण सेवा ताराचन्दजी करि अति अभिरामजी ।



श्रीअनोपचन्दजी तास सिष्या आदरी आणंद धरी,
तस चर्णा सेवा श्री वनेचन्दजी ढाल ए पांचू करी।
गज नह ए वसुंधरा वांते सम्त १८७० पोष में सीत द्वादमी,
जैयपुर जिनपद पूरी सव नें अपंड चन्द कला जसी।

वस्तो—यह वढवाण के श्रावक थे. इन्होने 'झूठा तपसी का सिलोका' (स० १८३६ भादो सुदि रविवार) की रचना की झूठा तपसी सौराष्ट्र के अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्ति थे इनके विषय मे राणपुर आदि नगरो मे कई किंवदतिया प्रचलित है

सबलशाह—इन्होने 'तिलोकसुन्दरी ढाल' (स० १८९२ फलौदी) की रचना की

समरचन्द्र—यह कुंवर जी पक्ष के रत्नागर के शिष्य थे इन्होने 'श्रेणिक रास' की रचना की

सांवतराम—यह स्थानकवासी सम्प्रदाय के क्रियाशील मुनि थे इनकी निम्नलिखित रचनाए प्राप्त है—

१ द्रौपदी चौपाई (स० १८९३, कार्तिक कृष्णा ७, जयपुर)
२ मदनसेन चौपाई (स० १८९८ फागुन सुदि ७, बीकानेर)
३ सतीविवरण चौढालिया (स० १९०७ चैत्र वदि ७, लश्कर)

सुजाण—यह भीमजी के शिष्य थे इन्होने सूरत मे रह कर स० १८३२ मे 'शीयल स्वाध्याय' का प्रणयन किया

सुन्दर—इन्होने 'नेमराजुल के नवभव' (स० १७९१) की रचना की

सूजी—सूजी ने 'श्री पूज्य रत्नसिंह रास' (स० १६४८ वैशाख वदि १३ तालनगर, मेवाड) की रचना की, यह ऐतिहासिक महत्त्व की रचना है आचार्य रत्नसिंह कुंवरजी पक्ष के अर्थात् मूल पाटक्रमानुसार ११ वें पट्टधर थे जामनगर निवासी वीसा श्रीमाली वणिक् सोलाणी गोत्रीय सुरा की पत्नी सोहवदे की रत्न-कुक्षि से स० १६३२ मे इनका जन्म हुआ था दीक्षा स० १६४८ वैशाख वदि १३, अहमदाबाद, पदस्थापन स० १६५४ जेठ वदि ७ एव स्वर्गवास स० १६८६ विदित होता है

स्वराज—सायला निवासी हरखा के पुत्र स्वराज लोकागच्छीय सद्गृहस्थ थे इन्होने मूली वाई के वारह मास (स० १८९२ मिगसर सुदि १३ गुरुवार, सायला) ५२ पद्यो मे रचे वर्णित मूली वाई दशा श्रीमाली रतनशाह की पत्नी अमृत वाई की पुत्री और कोठारी नानजी की पत्नी थी इन्होने आर्या आणद वाई से प्राथमिक ज्ञान प्राप्त करने के उपरात स० १८६५ मे लीमडी मे रतनवाई से दीक्षा ग्रहण की इनका जीवन नितात ही तपश्चर्यापूर्ण था यह सथारा लेकर स० १८९० आषाढ सुदि १४ शुक्रवार को परमधाम सिधारी

हुलासचन्द—यह नागोरी लोकागच्छीय लक्ष्मीचन्द सूरि की परम्परा के शिवचन्द के शिष्य थे इन्होने 'राजसिंघ रत्नावली चौपई' (स० १९४७ माघ सुदि ११ बुधवार) की रचना की

उपर्युक्त पक्तियो मे इगित सकेतो का सीमाक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत और व्यापक रहा है अभी लोंकागच्छ-स्थानकवासी परम्परा के आधीनस्थ प्राचीनतम ज्ञान-भण्डारो का वैज्ञानिक सर्वेक्षण होना तो दूर रहा, कही-कही तो व्यवस्थित सूची-पत्र तक नही बन पाये है अतः वर्णित ग्रथराशि को देखते हुए सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि अन्वेषण करने पर लोकागच्छीय साहित्यकारो की और भी अनेक कृतियाँ उपलब्ध हो सकती है.





मुनि श्रीकान्तिसागरजी

श्रीलोंकाशाह की परंपरा और उसका अज्ञात साहित्य

सन्त-परम्परा के समुज्ज्वल इतिहास में सोलहवी शती का विशेष महत्त्व है. इस युग को वैचारिक क्रान्तिकारियो का स्वर्ण-काल कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी कबीर, धर्मदास, नानक, सत रविदास, तरण-तारण स्वामी और श्रीमान् लोकाशाह आदि आदर्श-प्रेरक व्यक्तियो ने इसी समय मे क्रान्ति की शखध्वनि से भारतीय जनमानस को नवजागरण का दिव्य सन्देश दिया था धर्म के मौलिक तत्त्वो के नाम पर जो विकार, असगतियाँ और साम्प्रदायिक-कहलमूलक धारणाए पनप रही थी उनके प्रति तीव्र असतोष का ज्वार इन्ही सन्तो की अनुभवमूलक वाणी मे फूटा था स्वाभाविक था कि आकस्मिक और अप्रत्याशित क्रान्तिपूर्ण विचारधारा के उदय से स्थितिपालक समाज मे हलचल उत्पन्न हो. परिणाम स्वरूप प्रतिक्रियावादी भावनाए जाग्रत हुई. यह सर्वसिद्ध ऐतिहासिक सत्य है कि मानव-सस्कृति का वास्तविक पल्लवन एव सवर्द्धन सघर्ष की पृष्ठभूमि मे ही होता है शान्तिकाल में ऐहिक और भौतिकमूलक प्रवृत्तियाँ प्रोत्साहित होती है क्रान्ति, नवसर्जन का न केवल प्रेरक सदेश ही देती है अपितु समत्व की मौलिक भावना द्वारा श्रमणसस्कृति को जन-जीवन मे प्रतिष्ठित भी करती है जो जनतन्त्र का मुख्य आधार है यही कारण है कि सन्त-परम्परा का विकास विपरीत परिस्थितियो मे ही हुआ है वह पाशविकता से लडी और पूरी शक्ति के साथ लडी, पर मरी नही क्योकि उसका आदर्श विशाल और उदार भावनाओ पर आधारित था. वहा व्यक्ति की अपेक्षा गुणो का प्रामुख्य था, वह किसी सम्प्रदाय या उच्च व्यक्ति के प्रति नही, पर समीचीन तत्त्वो के प्रति वफादार थी इसीलिए सुदृढ और सौंदर्य-सम्पन्न परम्पराए वह डाल सकी, जिस पर शताब्दियो तक मानवता गर्व कर सकती है.

यद्यपि श्रीमान् लोकाशाह के क्रान्तिकारी विचारो का समर्थन उनके अनुयायिवर्ग द्वारा किस सीमा तक और कितना हुआ, इस पर ऐतिहासिक मौन है कहने का तात्पर्य यह है कि जिस समय विचारक्रान्ति का सूत्रपात हुआ उसकी पृष्ठभूमि को द्योतित करने वाली तात्कालिक साम्प्रदायिक साधन-सामग्री तिमिराच्छन्न है, तथापि उनकी परम्परा का इतिहास इस बात का साक्षी है कि अपने युग मे उत्पन्न धार्मिक विकृतियो के प्रति उनका विद्रोह जैन सम्प्रदाय को दूर तक प्रभावित कर एक नवमार्ग का निर्माता और पोषक सिद्ध तो हुआ ही. इसका अकाट्य प्रमाण लोकाशाह और उनकी परम्परा के विरुद्ध रचा गया विपुल साहित्य है, जिसके सृजन मे उस युग के चेतना-सम्पन्न मस्तिष्को को सजग होकर सक्रिय होना पडा था इनमें लावण्यसमय, कमलसयम उपाध्याय पार्श्वचन्द्र सूरि आदि प्रमुख है.

किसी नवमत-प्रवर्तक व्यक्ति की विचारधारा का भले ही उस सम्प्रदाय ने तात्कालिक स्वरूप लिपिबद्ध न किया हो. पर समसामयिक साहित्य मे, भले ही उसके विपरीत ही क्यो न लिखा गया हो, जो उल्लेख आते है, या उसके निरसन के लिए जो पूर्व पक्ष प्रस्तुत किया गया है, उससे उसकी मूल विचारधारा का आशिक अनुभव तो हो ही जाता है. लोकाशाह की मूल मान्यताएँ क्या रही होगी ? उनका सीमित समय मे ही क्षेत्र कितना व्यापक हो गया ? आदि बातो का उत्तर उस सम्प्रदाय का तात्कालिक साहित्य भले ही न दे सकता हो, पर उस समय मे जो चर्चास्पद साहित्य विरोधियो द्वारा रचा गया उससे बहुत कुछ सकेत तो मिल ही जाते है. परन्तु इन महत्त्वपूर्ण साधनो पर अभी तक बहुत कम विद्वानो का ध्यान आकृष्ट हुआ है. मैंने प्रसगवश जितना भी अध्ययन-अन्वेषण किया उसके आधार पर मै इस निष्कर्ष पर पहुचा हू कि यदि सूचित विषय का मौलिक ज्ञातव्य प्रकट करना है तो विरोधी साहित्य के अध्ययन की नितान्त आवश्यकता है कडवा मत की 'गुर्वावली' इस रहस्योद्घाटन मे सफल साधन सिद्ध हो सकती है

लोकाशाह किन परिस्थितियो मे उठे-उभरे, उन्होने जन-चेतना के किन निगूढ गह्वरो मे अपनी क्रान्ति के स्वरो का प्रतिनिधित्व किया ? उसका कहाँ कब कितना और कैसे प्रभाव पडा ? उसकी परम्परा की दौड मे अन्य क्या कुछ हुआ है ? इन सब विषयो पर विचार करने का न यह अवसर है, न अपेक्षा ही है यहाँ तो केवल मुझे अपनी शोध-यात्रा मे प्राप्त उस सम्प्रदाय के मुनिवरो के ऐतिहासिक गीतो पर ही विचार करना अपेक्षित है

आगामी पंक्तियो मे समुपलब्ध गीतो मे सबद्ध व्यक्तियो के सबन्ध में प्राप्त साहित्यिक और ऐतिहासिक साधनो के आधार पर जैसा भी परिचय प्राप्त हो सका, दिया जा रहा है उद्धृत गीत यद्यपि गुरुभक्ति से प्रेरित होकर लिखे गये हैं, जिन्हे आचार्य शुक्ल जैसे आलोचक भले ही 'धार्मिक नोटिस' कहकर टाल दे, और इनका लाक्षणिक दृष्टि से साहित्यिक मूल्य न हो परन्तु भाषा-शास्त्र और सस्कृति की दृष्टि से ये बहुत ही उपादेय है उस समय की ऐतिहासिक उलझनो को सुलझाने मे पर्याप्त सहायक सिद्ध हुए हैं। उदाहरणार्थ गुजरात के सुलतान महमूद बेघडा के दाहोद के स० १५४५ वाले लेखान्तर्गत उल्लिखित 'अहम्मदपुर' की भौगोलिक समस्या प्रस्तुत प्रबन्ध मे दिये हुए 'जसवत चातुर्मास' से ही सुलझी है भले ही ये गीत लघुकाय और प्रशसात्मक हो पर सबद्ध आचार्य के विषय मे कोई न कोई प्रामाणिक नवीन ज्ञातव्य समुपस्थित करते हैं। मैंने आगामी पंक्तियो मे अपने आपको गणि तेजसिंह के शिष्य और उनके पट्टधर कानजी तक ही अर्थात् १७ वे पाट तक ही सीमित रखा है, क्योकि अन्य मुनियो के गीत प्राप्त न थे और पूरी परम्परा पर प्रकाश डालना सभव न था

साहित्य के और विशेषकर राजस्थानी-गुजराती भाषाओ के क्षेत्र मे स्थानकवासी मुनियो ने जो योग दिया है, सचमुच अभिमान की वस्तु है इस पवित्र कार्य से जनमानस आश्वस्त हुआ है कहा जाता है कि अद्यावधि इस दिशा मे समुचित मूल्याकन की ओर कदम नही उठाया गया है, पर मेरी विनम्र सम्मत्यनुसार अभी वह समय भी परिपक्व नही हुआ है, कारण कि अभी तो अनुसधान ही कहा हो पाया है ? जब तक लोकागच्छीय और स्थानकवासी समाज द्वारा सग्रहीत एव सरक्षित पुरातन ज्ञानागारो का समुचित पर्यवेक्षण न हो जाय, तब तक नव्य दृष्टिकोण की कल्पना असभव है ज्ञात से भी अज्ञात अभी बहुत कुछ शेष है मेरे निजी सग्रह मे भी स्थानकवासी समाज के प्रतिष्ठित मुनियो और साध्वियो द्वारा रचित व प्रतिलिपित साहित्य पर्याप्त है यह मुझे सखेद कहना पडता है कि मुनि-समाज ने इस विषय पर आज के शोधप्रधान युग मे भी कम ही ध्यान दिया है

मूल ऐतिहासिक गीतो के पूर्व तत्संबधी मुनियो की परम्परा पर विचार अपेक्षित है—

भाणाजी—सिरोही के निकट अरहटवाल-अटकवाड़ा के निवासी, जाति से पोरवाल, स० १५३१ मे स्वयमेव दीक्षा, लोकागच्छ के आदि मुनि भाणाजी के वैयक्तिक जीवन और उनके विहारप्रदेश आदि के विषय मे अधिक ज्ञातव्य तिमिराच्छन्न है साम्प्रदायिक पट्टावलिया भी इस सबध मे मौन है, पर समसामयिक अन्यगच्छीय पट्टावलियो से किंचित् प्रकाश मिलता है. स्व० मोहनलाल दलीचद देसाई ने इनका दीक्षाकाल स० १५३१ अहमदाबाद दिया है, पर तपागच्छीय पट्टावलियों' मे दीक्षा समय स० १५३३ उल्लिखित है, जैसे—

'तन्मध्ये वेषधरास्तु वि० त्रयस्त्रिंशदधिकपंचदशशत १५३३ वर्षे जाता तत्र प्रथमो वेषधारी भाणाख्योऽभूत्तदिति'

—पट्टावली समुच्चय पृष्ठ ६७

उपाध्याय रविवर्द्धन ने अपनी पट्टावली मे दीक्षाकाल स० १५३८ दिया है—

'तद्वेषधरास्तु स० १५३८ वर्षे जाता , तत्र प्रथमो वेषधारी ऋषि भाणाख्यो ऽभूदिति'

—पट्टावली समुच्चय पृष्ठ १५७

उपर्युक्त उल्लेख अधिक विश्वसनीय प्रतीत नही होता स० १५३३ का समर्थन कुवरजी पक्षीय केशवजी रचित (स० १६८८ लगभग) 'लोकाशाह सिलोके' की इन पंक्तियो से होता है—

शत पन्नर तेत्रीसनी साल्हइ, भाणजी नें दीक्खा आल्हइ ।

—जैनगूर्जरकविओ भाग ३, पृष्ठ १०९४,



इनका स्वर्गगमन देसाई ने स० १५३७ सूचित किया है, पर वह सत्य प्रतीत नही होता, कारण कि 'कडुआ मत पट्टावली' के अनुसार स० १५४० मे नाडोलाई मे कडवा शाह इन से मिले थे और वार्तालाप हुआ था, अत· इस समय तक तो भाणाजी का अस्तित्व असदिग्ध है. इस पट्टावली में और भी लोकाशाह के अनुयायियो के सबध मे कतिपय महत्त्वपूर्ण उल्लेख हैं जिनका स्वतन्त्र पर्यवेक्षण अपेक्षित है.

२ भीदाजी—सिरोही के ओसवाल, साथडीया गोत्रीय, स्व० तोला के भाई, अहमदावाद में स० १५४० मे ४५ व्यक्तियो के साथ दीक्षा भाणाजी के पास ग्रहण की.

३ नूंनाजी—सिरोही के ओसवाल, दीक्षा स० १५४५ या ४६.

४. भीमाजी—पाली निवासी, लोढा गोत्रीय, सयम ग्रहण स० १५५०

५. जगमालजी—उत्तराधवासी, ओसवाल सुराणा गोत्रीय, दीक्षा ग्रहण स० १५५०, झाझणनगर मे.

६. सरवाजी—दिल्ली निवासी श्रीश्रीमाल ज्ञातीय सिंधूड गोत्रीय, सयम ग्रहणकाल स० १५५४. 'लोकागच्छ की वडे पक्ष की पट्टावली' मे उल्लेख है सरबाजी ने एक माह का सथारा पचखा था.

विजयगच्छ—सरवाजी के समय में लोकागच्छ मे प्रथम क्रान्ति हुई और परिणामस्वरूप विजय ऋषि ने 'विजयमत' की स्थापना की. सस्थापन काल पर विद्वज्जगत् मे भिन्नत्व है कोई तो स० १५६५ या १५७० मानते है. जैनधर्म और साहित्य की दृष्टि से यह परम्परा प्राणवान् रही. तात्कालिक मुगल शासको पर भी कतिपय आचार्यों का प्रभाव अन्यान्य स्फुट ऐतिहासिक पद्यो से प्रमाणित है विजय ऋषि की परम्परा मे आचार्य धर्मदासजी, खेमसागरजी, पद्मसागरसूरि, गुणसागरसूरि, कल्याणसागरसूरि, सुमतिसागरसूरि, विनयसागरसूरि, मनोहर दास, मल्लीदास, विजयसिंह, मोहन ऋषि, पचायण, सुजाण, गिरधर, केशराज आदि आचार्य और ऐसे स्थविर हुए है जिनने धार्मिक प्रभावना के साथ-साथ अपनी प्रतिभा द्वारा पर्याप्त साहित्य सृजन कर भारतीय भाषा ग्रन्थो मे अभिवृद्धि की तात्कालिक ही नही आज भी इनकी कृतियो—ढालसागर और रामयशोरसायण—का समाज मे सर्वत्र आदर है. विशेषकर राजस्थान-मेवाड मे इस परम्परा का इतना प्रभाव था कि राज-सभाओ में भी इनके अनुयायियो का सम्मान होता था उययपुर के सुप्रसिद्ध कवि मानजी की रचनाये-सयोगद्वात्रिंशिका, राजविलास और विहारी सतसई की हिन्दी टीका—आदि स्फुट-आज भी साहित्यिक जगत् का अभिमान है. आज तक केवल यही माना जाता था कि इस परम्परा का साहित्य केवल केशराज और गुणसागरसूरि द्वारा ही रचित है, पर मेरे सग्रहस्थ एक विजयगच्छ के गुटके मे इस सप्रदाय का प्रचुर भाषासाहित्य उपलव्ध हुआ है जिससे कई अज्ञात कवियो का पता चला है. सत्रहवी शताव्दी से लगाकर उन्नीसवी शती तक विजयगच्छीय यति-मुनियो ने जो सारस्वतोपासना की है, वस्तुत वह अभिमान की वस्तु है मेवाड के जैन-सास्कृतिक इतिहास मे इनका अनुपम योग रहा है अन्वेषण का क्षेत्रप्रशस्त होने पर और भी रचनायें उपलव्ध हो सकती हैं कोटा, वयाना मे इनके सुविशाल साहित्यसग्रह विद्यमान है.

७. रूपजी—अणहिलपुर पाटण निवासी, ओसवाल वैद गोत्रीय, पिता देवा, माता मिरधाई, जन्म स० १५४३, स्वयमेव दीक्षा स० १५६८ माह शुक्ला पूर्णिमा. इनने पाटणगच्छ-गुजराती लोकागच्छ की स्थापना की लोकागच्छ की वडे पक्ष की पट्टावली मे विशेष उल्लेख है कि रूपा साह ने शत्रुजय का सघ निकाला था और वाद में सरवाजी का अहमदावाद में व्याख्यान सुनकर प्रव्रजित हुए और वह भी ५०० व्यक्तियो के साथ. अन्य प्रमाण इस के समर्थन मे अपेक्षित है

रूपजी ने स० १५७८ मे जीवराजजी को सयम देकर स्वपद पर स्थापित किया. ७ वर्ष तक गुरु-शिष्य साथ में विचरण करते रहे.

इनके समय मे हीरा नामक व्यक्ति ने—"नागौरी लुंकागच्छ" की स्वतत्र स्थापना की और मूर्त्तिपूजा स्वीकार की. इन के परवर्त्ती अनुगामियो ने भी जैन सस्कृति को गौरवान्वित किया. अनुसधान की दृष्टि से यह परम्परा भी उपेक्षित ही रही है. यति रघुनाथ ने इस शाखा की विस्तृत पट्टावली सस्कृत भाषा मे लिखी है जो इतिहास की दृष्टि से बहुत ही

काम की है इसका प्रणयन स० १८६० मे पटियाला मे हुआ रघुनाथ स्वय सस्कृत साहित्य के विशिष्ट अभ्यासी और ग्रन्थकार महानुभाव थे ये इस गच्छ के आचार्य लक्ष्मीचन्द्र जी के समय मे विद्यमान थे. इनका स० १८६३ मे चूरु मे चातुर्मास था तब रघुनाथ ने इनकी सेवा मे एक बृहत्पत्र सस्कृत भाषा मे प्रेषित किया था, जो पत्र-साहित्य की दृष्टि मे अन्यतम है ये आचार्य हरखचदजी के पट्टधर थे. इनका नाम पट्टावलियो (रघुनाथ कृत पट्टावली के अतिरिक्त) नही मिलता है सूचित पत्र इन पक्तियो के लेखक द्वारा "जैन सत्यप्रकाश वर्ष १९ अक १२ मे प्रकाशित है

इसी समय उत्तरार्द्ध लाहोरी लुकागच्छ स्थापित हुआ सरवाजी के अनुयायी लोकागच्छ की मूल मान्यताओं के अनुगामी बने रहे.

सूचित उत्तरार्द्ध गच्छानुयायी सरवाजी के शिष्य अर्जुन के शिष्य दुर्गादास ने स० १६३५ मे "खधक चौपाइ" की रचना की जिसका परिचय" 'जैन गूर्जर कविओ" भाग ३ पृष्ठ ७४० पर दिया है सुप्रसिद्ध कलाममीक्षक डा० आनन्दकुमार स्वामी के समीप स० १६८० के चित्रित समवरण-चित्र मे उत्तरार्द्ध गच्छीय आचार्य कृष्णचद्र और मुनि ताराचन्द के नाम आते हैं

८. जीवराजजी—रूपऋषिजी ने जीवराज जी को स० १५७८ में स्व पद पर स्थापित किया ये सूरत के देशलहरा गोत्रीय तेजल-तेजपाल की पत्नी कपूरा बाई के पुत्र थे जन्म स० १५५०, दीक्षा स० १५७८ माह शुक्ला २ गुरुवार, रुपऋषि-भास मे इनका दीक्षा समय स० १५७८ सूचित किया है और जीवराजजी-भास मे वही कवि स० १५६८ सूचित करता है—जब कि स० १५६८ मे तो रूपजी स्वय सयम स्वीकार करते बताये गये है स० १६१२ वैशाख सुदि ६ को बडे वरसिंघजी को पद पर स्थापित किया, एव स्वय स० १६१३ ज्येष्ठ शुक्ला ६ सोमवार को ५ दिन का अनशन लेकर ६३ वर्ष की आयु मे परम धाम प्रस्थित हुए इनके नाम से "गुजराती लोकागच्छ' प्रसिद्ध हुआ जीव-राजजी के एक शिष्य मोल्हा की अज्ञात रचना "लोकनालिका बालावबोध" प्राप्त है जिसका आदि और अन्त भाग यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

आदिदेवं नमस्कृत्य बालानां बोधहेतवे।
क्रियतेनुपकाराय नालिकायास्तुवार्त्तिकं ॥१॥
जीवऋषि महापूज्य तस्य पादप्रसादत.।
कृतं मोल्हा मुनिंद्रेण नालिकायास्तुवार्त्तिक ॥२॥

अन्त भाग.—

इत्याचार्य श्रीजीवऋषिचरणांभोजसेवक मोल्हाभिधानेनकृत. लोकनालिकायाः वार्तिकावबोध समाप्त. ॥
श्रीरस्तु। सं० १६०६ ॥

स्मरणीय है कि गुजराती लोकागच्छ मे एक और मुनि इसी नाम के प्रसिद्ध रहे है जो चतुर कवि कृत "चदन मलयागिरि चौपाई" (र० का० स० १७७१) मे उल्लिखित हुए है लोकनालिका के वार्त्तिककार पूर्ववर्ती है

जीवराजजी के दो शिष्य कुवरजी और श्रीमल्लजी[1] थे, जिनसे कुवरजी पक्ष की स्थापना हुई इनकी परम्परा भी विद्वान्

---

१. श्रीमल्लजी के एक शिष्य सुन्दरऋषि थे जिनकी अज्ञात रचना हीराचक्र भाषा" मेरे सग्रह में सुरक्षित है. यद्यपि कवि ने आत्मवृत्त नहीं दिया है, पर अहमदाबाद से प्रकाशित "प्रशस्ति सग्रह" मे एक लेखनपुष्पिका स० १७५७ (पृष्ठ २६८) की आई है जिसमें सुन्दरऋषि का नामोल्लेख श्रीमलजी के शिष्य के रूप मे हुआ है, इसी आधार पर इन्हें उनका अन्तेवासी माना है होराचक्र भाषा का अन्तिम पद्य इस प्रकार है—

कछुक पराई उक्त हरि कछु निज हिय विमांस
सुन्दरऋषि भाषा रची होडाचक्र *विलास।

कृति साधारण होते हुए भी सामान्य ज्योतिषी का मार्ग प्रशस्त कर सकती है. होराशास्त्र को कवि ने सक्षेप मे समझाने का प्रयास किया है, 'जैन गूर्जर कविओ' के तीसरे भाग मे सुन्दर ऋषि का उल्लेख है नहीं कहा जा सकता है कि वह यही है या कोई अन्य ?



एव ग्रथकर्त्री थी गल्लूऋषि शिष्य श्रीपाल ने "दशवैकालिक वालावबोध" की रचना स० १६६४ में की जिसकी कर्त्ता के हाथ की प्रति उपलब्ध है पुष्पिका इस प्रकार है—

श्रीमन्महावीरशासनेचितांमणिसदृशाः आचार्य श्रीरूपऋषि तत्पट्टे गच्छाधिपो मुनिश्रीजीवराजस्तत्पट्टे मुनि श्री कुवरजीगच्छाधिपस्तत्पट्टे मुनि श्री श्रीमल्लगच्छाधिपस्तत्पट्टे आचार्य श्रीरत्नसिंह विराजमाने आचार्य श्रीजीवनऋषि हस्तदीक्षितऋषि श्रीमल्लूस्तशिष्य मुनि श्रीपालेन श्रीगुरुप्रसादात् विरचितः श्रीदशवैकालिक वालावबोधः ॥ सं० १६६४ वर्षे श्रीविक्रम महानगरे आसो मासे शुक्लपक्षे द्वितीया दिने शुक्रवारे प्रथम दिने प्रथग प्रहरे लाभ वेलायां सम्पूर्ण कृतः लिखितं श्रीपाल मुनिना स्वपठनार्थं

इनके अतिरिक्त कुवरजी प्रमुख मुनियो द्वारा रचित साहित्य इस प्रकार उपलब्ध है—

१, कुवरजी साधु वदना र० का० स० १६२४

२. नानजी पचवरण स्त० र० का० स० १६६९.

३ समरचद्र श्रेणिक रास र० का० स०

४. वालंचद्र वालवावनी र० का० स० १६८५

५. केशवजी लोकाशाह शिलोका र० का० स० १६८८ लगभग

६ धर्मसिह आ० शिवजी रास र० का० स० १६९२ उदयपुर,

धर्मसिहजी शिवजी ऋषि के शिष्य थे. इनसे दरियापुरी सम्प्रदाय अलग चला इन्होने कई प्राकृत भाषा की रचनाओ पर स्तवकादि लिखकर सामान्य मुनियों को स्वाध्याय की सुविधा की. ये कवि भी थे. इनकी परम्परा २० वी शती तक विद्यमान रही है

७	आणद	गणितसार	र० का० स० १७२१ लालपुर
८	आणद	हरिवश चरित्र	र० का० स० १७३८ राधनपुर.
९	किशन मुनि	कृष्णबावनी स्फुट स्तुति	र० का० स० १७६७
१०	रामचन्द्र	तेजसार रास	र० का० स० १८६० नवानगर.

एक महत्त्वपूर्ण गुटका—

तात्कालिक अन्यान्य ऐतिहासिक साधनो से प्रमाणित है कि लोकागच्छ के अष्टम आचार्य जीवाजी के एक शिष्य कुवरजी को वालापुर के श्रीसघ ने आचार्य पद देकर 'लोकागच्छ नानी पक्ष' की स्थापना की. बालापुर और तत्सन्निकटवर्ती प्रदेश मे इनका वर्चस्व था वालापुर और बुरहानपुर सत्रहवी शताब्दी से ही जैन सस्कृति के व्यापक केन्द्र रहे हैं दोनो स्थानो के श्रावको मे प्रारम्भ से ही स्वाध्याय के प्रति स्वाभाविक आकर्षण रहा है. सतत संतसमागम के कारण सस्कारशील परम्परा का प्रादुर्भाव एव विकास साहजिक कार्य है मैं यहाँ पर एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित गुटके का परिचय देने जा रहा हू जिसमे कुवरजी पक्ष के मुनियों द्वारा रचित अज्ञात रचनाए संकलित है इसका लेखनकाल सं० १७०४ से १७२९ है. सुप्रसिद्ध सैद्धान्तिक कवि जीवराजजी के शिष्य लालजी, सामल और श्रीपति ने इसे विभिन्न समयो मे वहा के प्रतिष्ठित श्रावक श्री अमरसी पुत्र अखयराज, विजयराज, रूपराज और जीवराज के लिए प्रतिलिपित किया. नित्य स्वाध्याय के गुटके के शीर्ष भाग में "गुरु केशवजी गुरुभ्यो नम" आलेखित है. भक्तामर, कल्याणमन्दिर स्तोत्र और सवोधसत्तरी के अतिरिक्त साम्प्रदायिक रचनाओ का सुन्दर सग्रह है श्रीपति, जीवराज, सामल, बालचन्द आदि मुनियो की कृतियाँ सन्निविष्ट है. गुटका सूचित परिवार के कलाप्रेम का परिचायक है, चारो ओर सुन्दर वोर्डर वनाकर विविध अलकरणो से सुसज्जित है. इसमें जो लेखनपुष्पिकाए दी है वे मुनिपरम्परा की नामावली उपस्थित करती है. केशवजी शिष्य भीमा, ठाकुरसी ऋषि, पूजराजजी, वाघजी, हीरानन्द (मीरपुरीय) आदि नव्य नाम कृतियो के साथ है.

६ वडे वरसंघजी—प्रभास पाटण निवासी, ओसवाल नाहटा गोत्रीय, पिता मुमीया माता कस्तूरा बाई, जन्म स० १५६४ दीक्षा स० १५८७ चैत्र वदि ५, पदस्थापन स० १६१२ वैशाख शुक्ला ६, सवा वर्ष जीवराजजी के साथ विहार, स० १६४४ कार्तिक शुक्ला ३ को स्तम्भतीर्थ-खभात मे स्वर्ग-गमन.

जिस प्रकार जीवराजजी के एक शिष्य कुवरजी को वालापुर के श्रावको ने आचार्य पद प्रदान कर 'लोकागच्छ नानी पक्ष' की स्थापना की, उसी प्रकार वटपद्रीय-वडौदा के भावसारों ने इन्हे श्रीपूज्य की पदवी देकर 'गुजराती लोकागच्छ वडी-पक्ष' का प्रादुर्भाव किया कवि नेम प्रणीत इनकी प्रशसा मे एक छन्द स० १७७१ के पूर्व लिखा गया जो इसी प्रवन्ध मे आगे दिया जा रहा है. इसमे विशेष ऐतिहासिक तथ्य तो नही है, केवल माता-पिता के नाम है स० १५३६ मे लोकाशाह की साधना की सफलता मानी है और प्रथम चारित्र की उपलब्धि का श्रेय रूपऋषि को दिया है जो विचार-णीय है लोकागच्छ मे प्रथम मुनि तो भाणाजी ही माने जाते रहे है, पर अनुमान है कि कवि गुजराती लोकागच्छ का अनुयायी था और इसकी सस्थापना रूपऋषि द्वारा हुई थी अत इस अपेक्षा से मुनित्व की प्राथमिक सज्ञा दी जान पडती है पर लोकाशाह द्वारा १५३६ की सफलता का रहस्य समझ मे नही आया सूचित काल मे ऐसी कोई उल्लेख्य घटना का पता नही लगता कही इसका सकेत लोकाशाह के स्वर्गवास से तो नही है ?

तात्कालिक जैन परम्परा के इतिहास से विदित होता है कि वह समय जैन समाज के लिए वडा ही विषम था नित नई क्रान्तिया हुआ करती थी, जिसका तनिक भी व्यक्तित्व उभरा कि उसने अपनी नव्य प्ररूपणा प्रारम्भ कर दी यह सनातन सत्य है कि एक क्रान्ति दूसरी क्रान्ति की पृष्ठभूमि हुआ करती है. पूर्वजो के चरण-चिह्नो पर चलना भारतीय परम्परा रही है. स० १६१६ मे सिसु प्रमुख बारह व्यक्तियो ने विभिन्न मान्यताओ के रहने के बावजूद भी वरसघजी से विरुद्ध होकर नया मार्ग निकाला कुवरजी[1] ने भी इसी समय अपना पक्ष स्वतन्त्र स्थापित किया ये कवि थे इनकी स० १६२४ श्रावण सुदि १३ गुरुवार, रचित साधु वदना उपलब्ध है

वडे वरसघजी स० १६२७ मे गच्छ का दायित्व अपने शिष्य लघु वरसघजी को सौंपकर २७ वर्ष साथ विचरण करते रहे खभात मे इनका स्वर्गवास स० १६४४ मे हुआ.

वडे वरसघजी के समय मे भीमाजी भावसार ने, जो वाद मे मुनि हो गये थे, ३ खडो मे श्रेणिक रास क्रमश स० १६२१ भाद्रपद शुक्ला २ वडौदा, स० १६३२ भाद्र पद कृष्णा २ वडौदा, और स० १६३६ आश्विन कृष्णा ७ रविवार को पूर्ण किया इसी बीच भीमजी ने स० १६३२ मे नागलकुमार-नागदत्त रास भी बनाया

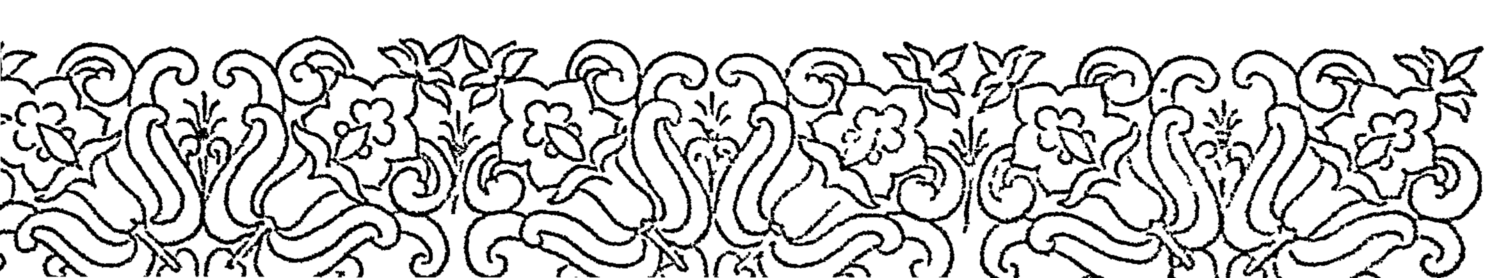
मेरे सग्रह मे वरसघ की प्रशसा मे लिखा गया एक अपूर्ण सार्थ पद्य है जिसका लेखनकाल स० १६४१ है वह पद्य इस प्रकार है—

. . . . . रसुनियुतं मालवेलातटीचं ।
वंदे श्रीवीरशिष्यं श्रुतवरसरसी खेलने राजहंसं ॥
शिक्षादं साधुसिंहं शिवपुरसुखदं सुन्दरंमाधुयुक्त ॥६॥
इति स्रग्धरा छन्द

अभिनवंसदाचार्यं सारासार विचारकं ।
गणिसंगरसमायुक्तं वंदे वादीवरांकुशम् ॥७॥

वंदे चारुवरं वरहगणिवादिव्यालेमृगारिं ।
शांत्यागारं शुभवरगुणं साधुपद्मेशशांकं ॥

१ लोंकागच्छ की वडे पक्ष की पट्टावली में बताया गया है कि कुवरजी ने अपने पक्ष की स्थापना स० १६३६ में बीकानेर में की. पर यह कथन युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता



प्रेक्षाजीवंवरसुरतरुं धर्म्मधीरं वरेण्यं ।
श्रीमत्पूज्यैर्वरगणिपदेस्थापितंसाधु सारं ।।८।।

श्रीश्रीपूज्यैर्वरगणियुतैरत्रदेशेषुशीघ्रं ।
कृत्वाशूकं सकलसुखदं श्रावकाणांशमीना ।।
आगंतव्यं सुगुणनगरे दर्शनेहश्चसंघो ।
यस्मात्तस्मात् सफल सुवसोमं चुकार्योधुनात्र ।।६।।

वंदे के पुन । श्रीवरऋषिना शिष्य पुनः । श्रुत क० सिद्धान्तरूप प्रधान सरोवरइं रमवानइ विषइ राजहंस समान, पुन' शिक्षा० क० सिक्षा ग्रहण आसेवण रूपना देणहार, साधु श्रीसिंह स्थविर, सिव क० मोक्षसुखना देणहार, सुन्दरं क० सुशोभित, साधुनइ वंदइ करी संयुक्तनइ हूं वांदू ।।६।।

हिवइ श्री आचार्य वरसिंहना काव्य वषाणइ छइ. अभिनव क० नवा, सदा० क० सदा काल अथवा सोभनिक आचार्य ऋपि श्रीवरसिंहनइ हु वांदु. पुन किं विशिष्टैः श्री आचार्य, सारा० क० तत्व अतत्वना विचारणहार, पुनः किं विशिष्टं गणि क० आचार्यनी आचार सूत्रादिक संपदाए करी संयुक्त, वंदे क० तेहनइ हु वांदु. वादि क० वादि रूप दुष्ट हस्तीनइ अंकुस समान ।।७।।

वांदे क० हु वांदु. चारु क० मनोहर श्रीवरसिंह गणिनइ पुनः वादि कः वादी रूप दुष्ट हस्ती जीपवानइ विषइ सिंह समान, पुनः शान्त्या० क० उपशमना वर, पुनः शुभकः क० भले प्रधान गणइं करीनइ सहित, साधुक साधु रुप कमल विकसावानइ विपइं चंद्रमा, सासांन, प्रे० क० बुधे करी वृहस्पति, पुनः वरकः० प्रधान कल्पवृक्ष, धर्मक० क० धर्मनइ विषइ अक्षोभ्य व० क० प्रधान, श्रीम० क० श्रीपूज्य वरसिंह ऋषि प्रधान आचार्य पदइ थापउ साधु मौहे जे सार आचार्य ऋपि वरसिहनइं हु वांदु. श्रीश्री क० श्रीपूज्येवर० क० प्रधान आचार्य वरसिंह सहित, रत्र० क० कपदेशन विषइ शीघ्र उतावला क्ष०क० दयाकरीनइ—सुखना देवणहारी,—शूणनगरनइं विषइं, दर्श०क० दर्शननी वांछा करइ छइ संघ. तस्मा० तिणइं कारणइ सफल मनोरथ शीघ्र करउ ।।

श्रीरस्तु संवत १६४१ वर्षे वैशाख वदि अमावस्यायां. सोमवासरे बिभीतक ग्रामे लिखितं मुनि मोटाकेन ।। छ । लिखावतं ऋ० ५ जयमलजी ।।

१०. लघु वरसिंवजी—सादडी निवासी ओसवाल, पिता झाझण, माता सुन्दर बाई, जन्म स० १५८९, दीक्षा सोलहवे वर्ष स० १६०६ सिरोही, पदस्थापन स० १६२७ अहमदपुर, साठवे वर्ष मे जसवतजी को स० १६४९ सोजत मे दीक्षा दी, १२ वर्ष तक गुरु-शिष्य साथ मे विचरे स० १६६२ मे माही पूर्णिमा के दिन अनशन द्वारा खभाल में देहोत्सर्ग. स्व० मोहनलाल भाई देसाई ने अपने 'जैनगूर्जर कविओ' भाग ३ पृष्ठ २२०९ पर इनका स्वर्ग स्थान उसमापुर, सोजत या दिल्ली वताया है.

११. जसवतजी—राजस्थान प्रान्तान्तर्गत शुद्धदतीपुर-सोजत-के निवासी ओसवाल लोकड़ गोत्रीय, पिता परवत, माता सहोदरा, जन्म स० १६३४, दीक्षा स० १६४९ माह सुदि १३ सोजत, स० १६८८ मगसिर पूर्णिमा को रूपसिंह को अहमदपुर नगर में स्वपद पर स्थापित किया.

अभी तक गुजराती लुकागच्छ में जितने भी सयमी महापुरुष हुए है उन सब मे जसवतजी अधिक प्रभावशाली व्यक्ति जान पड़ते हैं. इन्होने राजस्थान गुजरात और सौराष्ट्र में विहार कर जिनशासन की महती प्रभावना की. इनका शिष्य-परिवार विशाल और विद्वान् ग्रथकार था सघर्पमूलक युग में, जहा चारो ओर धर्म के नाम पर अमानवीय तत्त्वो का पोपण होता हो, वहा एक सप्रदाय के आचार्य का इतना व्यापक प्रभाव इस वात का परिचायक है कि वह सयम की साधना के साथ पाण्डित्य-गुणसमन्वित व्यक्तित्वसंपन्न विज्ञ थे. ज्ञान और चारित्र की समन्विति ही सतको जन-मानस मे प्रतिष्ठित करती है.

आचार्य तेजसिंह ने परम्परानिर्वाहार्थ इनका संक्षिप्त परिचय अन्य आचार्यों के समान वृद्धों के मुख से सुनकर दिया है इनके विषय में ३ और कृतियां भी प्राप्त हैं जिनमें विस्तृत विवरण उपलब्ध है. एक रचना तो इनकी दीक्षा के ३ वर्ष बाद ही जीवराज-शिष्य धर्मदास ने सं० १६५२ में 'जसवंत मुनि का रास' नामक रची, जिसका परिचय 'जैन गूर्जर कविओ' भाग ३ पृष्ठ ८१६ पर दिया है अन्य दो कृतियां, जो अद्यावधि अज्ञात थीं, इस प्रबंध में सर्वप्रथम उद्धृत की जा रही हैं इनमें उनके जीवन की ऐतिहासिक घटनाओं पर अभिनव प्रकाश ही नहीं पड़ता अपितु भ्रामक बातों का परिमार्जन भी हो जाता है

प्रथम कृति में इनकी दीक्षा का भव्य वर्णन प्रस्तुत किया गया है उत्साह के साथ संयम ग्रहण करने का निश्चय हो जाने पर गुरुवर्य श्रीवरसिंघजी को तथा अन्य प्रमुख श्रीसंघों को आमंत्रित किया जाता है और इस आध्यात्मिक समारोह में बीकानेर, जैसलमेर, कालू, निम्बाहेडा, अजमेर, बगडी, जयतारण, जोधपुर आदि नगरों का संघ श्रद्धा के साथ सम्मिलित होता है पिता ने विवाह के समान प्रचुर व्यय कर सांसारिक बंधनों से जसवंत को मुक्त कर गुरु के श्रीचरणों में समर्पित किया

दूसरी रचना है—'जसवंत चातुर्मास' जिसके प्रणेता हैं आचार्यश्री के शिष्य विद्या मुनि के शिष्य मुनि माधव इनने सं० १६६१ कार्तिक कृष्णा ६ गुरुवार को खंभात में रचना की. प्रतिलिपिकार हैं कर्ता के शिष्य मुनि वीरजी अत यह रचना सभी दृष्टियों से विश्वस्त और प्रामाणिक है. ६४ पद्यों की इस कृति में आचार्यश्री के सिरोही, खंभात, पाटण, सत्रिपुर, वटपद्र-वडौदा, अहमदपुर, राजनगर-अहमदाबाद, उसमापुर, जालौर, अजमेर, आगरा, बगड़ी, गुन्दवच पीपाड,, दीव, गौरी (?) सुदामापुरी-पोरबन्दर, और मगलपुर-मागरोल आदि चातुर्मासों का वर्णन किया है सूरत के बोहरा हांपा, वीरजी, बुरहानपुर के मानी माणकदास, पोरबन्दर के सोमजी, मगलपुर के मालजी और अहमदपुर के धर्मदास व जिणदास के नाम भी सम्मिलित हैं प्रति किसी श्रद्धाशील गुरुभक्त के लिये ही लिखी गई है, चतुर्दिक् सुन्दर सुशोभन और पृष्ठि तो उत्तम ग्रंथ-चित्रकला की परिचायिका है.

जसवंतजी को गुंदवच का १४ वां चातुर्मास धार्मिक दृष्टि से विशेष लाभप्रद सिद्ध हुआ, वहीं पर पेथड-पुत्र रूपकुमार को आचार्यश्री की वाणी ने अपना बना लिया सं० १६७५ मार्गशीर्ष शुक्ला द्वादशी को दीक्षा अंगीकार की और सं० १६८८ मार्गशीर्ष शुक्ला अष्टमी को स्वपद पर अहमदपुर में स्थापित किया अपना आयुष्य निकट जानकर सं० १६८८ मार्गशीर्ष पूर्णिमा को आठ प्रहर का अनशन लिया अहमदपुर[1] में ही देहोत्सर्ग हुआ.

---

१. ऐतिहासिक साधन चाहे अत्यन्त लघुतम या सामान्य हो क्यों न हो पर किसी वस्तुविशेष के साथ घनिष्ठ संबंध निकल आने पर कभी-कभी इतना क्रान्तिकारी और मार्गदर्शक सिद्ध होता है कि विद्वानों को वर्षों की साधनोपरान्त स्थिर सम्मति को बदलना पड़ता है सूचित 'जसवंत चातुर्मास' यद्यपि एक विशुद्ध धार्मिक और वह भी सूचनात्मक कृति है तथापि उपर्युक्त पंक्तियां मोलक आना इस पर चरितार्थ होती हैं. उदाहरणार्थ राजस्थान के सम्माननीय गवेषक श्री गोपालनारायणजी बहुरा द्वारा संपादित एवं महाकवि उदयराज प्रणीत 'राज-विनोद' के समीक्षात्मक संस्करण में गुजरात के शासक महमूद बेगडा का वि० सं० १५४५ का दाहोदवाला शिलोत्कीर्ण लेख अविकल प्रकाशित है, इसके विवेचन में मित्रवर्य डा० एच० डी० सांकलिया ने पृष्ठ ३८ पर लेखान्तर्गत 'अहमदपुर' को अहमदाबाद मानने की संभावना प्रकट की है प्रश्न होता है कि इस नगर की स्थिति कहां है ? पुरातत्त्व के अनुसंधाता के लिये यह एक पहेली था. 'जसवंत-चातुर्मास' से यह उलझन सरलता से सुलझ जाती है. लोंकागच्छ के आचार्यों का इस नगर से घनिष्ठ संपर्क रहा है जसवंतजी ने इस नगर को कई बार पावन किया. ३७ वां चौमासा दीव में व्यतीत कर अहमदपुर पधारते हैं, वहां से खंभात होकर पुनः अहमदपुर आते हैं. दशवां चातुर्मास भी बड़ौदा होते हुए अहमदपुर ही करते हैं और ११ वां अहमदाबाद. इससे स्पष्ट प्रमाणित है कि सूचित नगर की अवस्थिति खंभात और बड़ौदा के बीच कहीं रही होगी. आचार्यश्री का जब देहान्त अहमदपुर में हुआ तो सर्वप्रथम खंभात के श्रावक पहुंचे और समुचित रूप से मरणोत्तर व्यवस्था की. अहमदाबाद और अहमदपुर तो सर्वथा भिन्न नगर हैं, कारण कि जसवंत चातुर्मास में दोनों का भिन्न उल्लेख स्पष्ट है हां 'कडुआ मत पट्टावली' के अनुसार अहमदाबाद का एक उपनगर अहमदपुर सोलहवीं शती में बिगा गया. पर वह भी सूचित अहमदपुर से पृथक ही था. सं० १५५२ का एक स्वतन्त्र उल्लेख भी इस नगर को अहमदाबाद न मानने की प्रेरणा देता है—

आचार्य तेजसिंह द्वारा सवत १७५१ मे रचित 'गुरु-गुणमाला भास' में जसवत के विषय मे कतिपय सवत भ्रामक दिये है जिनका परिमार्जन अपेक्षित है भास मे बताया गया है कि आचार्यश्री ने रूपसिंह को स्वपद पर स० १६८८ मार्गशीर्ष पूर्णिमा को स्थापित किया और अनशन स० १६८८ मार्गशीर्ष कृष्णा २ को ग्रहण किया, (देखे गुरु गुणमाला भास मे जसवत भास, सख्या ७) जब कि 'जसवत चातुर्मास' और आचार्य के प्रशिष्य मुनि बाघाजी रचित द्वारा 'रूपऋषि भास' मे पद स्थापन समय स० १६८८ मिगसर सुदि ८ सूचित किया है और अनशन सुदि पूर्णिमा को बताया है.

ऋषि रूपसीह नि पट्ट आपीइ मुझ मनि हरष अपार,
संबत सोल अठासीइ मागसिर शुदि अष्टमी सोमवार।
चढति दिन चढति कला निज पद दीधु सार,
—मुनि माधव—जसवत चातुर्मास।

रूडा रूपसिंह नी पदवी परतग दीध,
अविरल मूरती अष्टमी मागरसिर सुदि सोमवार।
—मानू रचित रूपसी छद।

श्री पूज्य जसवंत पद योग्य रूपसिह परषिया ए,
अहमदपुर मझारि सघ समिथ्यिइं हरषिया ए।
संवत ससि रस सार असीय ऊपरि आठ आगना ए,
मिगसर सुदि सोमवार आठिमें तिथि गुरु गुण निलना ए।
—वाघ मुनि प्रणीत 'रूपऋषि भास'

अनशन विषयक उद्धरण इस प्रकार है—

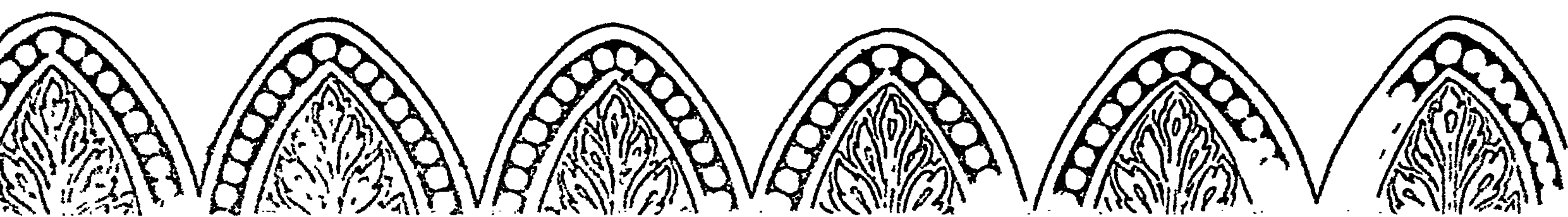
संवत सोल सार अठ्यासिए अहिमदपुरि ए,
श्री जसवंत सुजाण अणसण नी मति उपनी ए।
पूरया पुरुष प्रधांन रूपऋषीस्वर गुण निलने ए,
जो दियो अनुमति आज संथारो संघ साषि करू ए।
मागसिर सुदि पुन्यम जाणि पच्छिम जामि अणसण कयु ए,
—जसवत चातुर्मास

तेह जसवंत जाणीइ मिगसर सुदि सोमवार,
पुनिमि तिथि अति निरमली अणसण कीधौ उदार।
षमाय पमावि संघनी वलीय वचन इम बोलि,
सिद्ध थया सवि माहरा चिंतव्या सुरतरु तोलि।
—वाघ मुनि रचित भास,

उपर्युक्त सभी उद्धरण तेजसिंह की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय है. कारण कि इन में से कई तो आचार्य के शिष्य-प्रशिष्य द्वारा रचित रचनाए है. माधव तो प्रत्यक्षदर्शी ही थे. जब कि तेजसिंह का आधार पारम्परिक जनश्रुति रहा है.

सवत् १५५२ वर्षे वैसाख वदि २ शुक्रे श्री अहमदपुरे बादशाह मुहमद विजयराज्ये'
भूवनेश्वरी पीठ-ग्रन्थसूची, पृ० २०, गोंडल.

जैन-ग्रन्थों की प्रशस्ति और लेखनपुष्पिकाओं में अहम्मदपुर का उल्लेख अहमदाबाद से भिन्न ही आता है वस्तुत: आज उसकी भौगोलिक अवस्थिति कहा और किस मंडल में है, यह अन्वेषणीय है.



जीवराजजी—प्रसगत. यहाँ एक ऐसे कवि का परिचय देना आवश्यक जान पडता है जो अद्यावधि उपेक्षित रहा और लोकागच्छ के साहित्यकारो मे जिसका अपना स्वतन्त्र स्थान है मेरा तात्पर्य सोमजी शिष्य कवि जीवराजजी स है इनका नाम किसी भी प्रकाशित जैन इतिहास विषयक कृति मे नही आया है आचार्य जसवत की विद्यमानता में ही इनने पर्याप्त ख्याति अर्जित कर ली होगी, पर पट्टावलियो मे तो वही स्थान पाता है जो सम्प्रदाय का नेता हो या किसी विशिष्ट घटना से जिसका सीधा सम्बन्ध रहा हो सामान्य मुनिजन, चाहे प्रतिभासम्पन्न ही क्यो न हो, का उल्लेख सम्भव ही नही इन पक्तियो के लेखक की दृष्टि मे जीवराज वह मुनि और कवि है जिसने लोकागच्छीय परम्परा को समुज्ज्वल किया है यद्यपि इन्होने कोई बृहदाकार कृति का सर्जन नही किया, न वे आचार्य पद से समलकृत थे, पर इन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है इनकी जिन चौवीसी की रचना, जो इस सम्प्रदाय का गौरव है. यो तो और भी भक्तिमूलक जीवन के अभिलाषियो ने प्रभु के चरणो मे आत्म-निवेदन स्वरूप स्तुतिपरक रचनाए अवश्य की होगी, पर जीवराजजी का इस दिशा मे जो प्रयास है वह अपने ढग का अकेला ही है इस एक ही कृति ने कवि को गुणमूलक परम्परा के कारण अमरत्व प्रदान किया है,

कवि आत्मवृत्त पर मौन है केवल एक स्थान पर अपने गुरु सोमजी का नाम निर्देश किया है वैयक्तिक जीवन, दीक्षा आदि सभी कुछ भौतिक परिचय तिमिराच्छन्न है पर उनकी वाणी उनके हार्द और ऊर्ज्जस्वल व्यक्तित्व का परिचय भली भाँति दे देती है वस्तुत॰ साहित्यिको का जीवन-मापदण्ड उनकी कृतिया ही होती है—जिनमे जीवन के विविध अनुभवो का सचय सुरक्षित रहता है इनकी चौवीस तीर्थंकरो की स्तुतियो का सग्रह मेरे हस्तलिखित चित्कोश मे है. इसे देखते हुए तो यही पता लगता है कि कवि को चौवीसी लिखने का विचार नही था, जव कुछ स्तवन रचे गये तो वाद मे अवशिष्ट तीर्थंकरो के स्तवन भी सम्मिलित कर चौवीसी का रूप दे दिया, यह मैं इसलिये लिख रहा हू कि जिन स्तवनो मे रचनाकाल है उनसे यह विचार स्वय वन जाता है उदाहरणार्थ भगवान् ऋषभदेव का बृहत्स्तवन स० १६७६ की रचना है तो महावीरस्तवन स० १६७५ की कृति है

आनदघन और देवचदजी के स्तवनो मे जितनी आत्मपरक भावनाए प्रस्फुटित हुई है उतनी अन्यत्र नही आध्यात्मिक भावो का उद्दीपन ही तो भक्ति में वांछनीय है इसके विपरीत केवल आकाक्षाओ को वलवती वनाने की भावनाओं को प्रोत्साहन देना स्तुति-साहित्य के लिये कलक है जीवराजजी की चौवीसी इन अपवादो से परे है इसमे केवल तीर्थंकरो के गुणो का ही विशद् विवेचन है सैद्धान्तिक दृष्टि से यह कृति अनुपम है चौवीसियो मे प्राय देखा गया है कि एक ही गेय पद मे एक स्तवन समाप्त हो जाता है, पर इस की विशेषता है कि एक ही तीर्थंकर का स्तवन कई ढालो मे है ऋषभदेव-स्तवन ७५ गाथाओ मे है

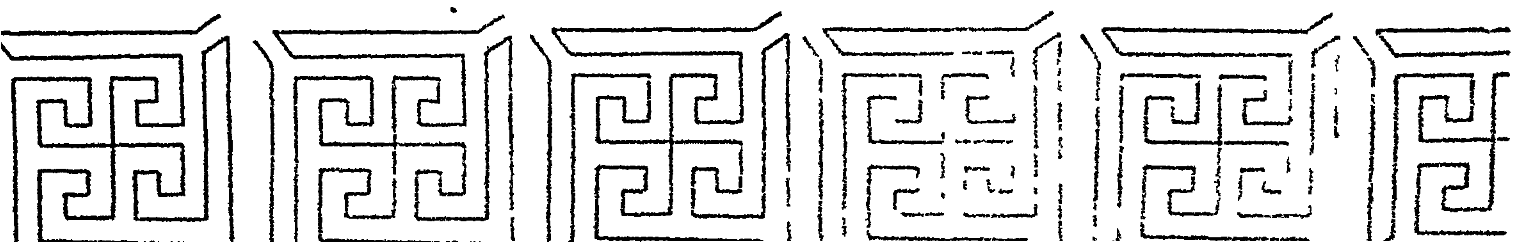
जिन स्तवनो मे रचनाकाल है उनका ऐतिहासिक दृष्टि से थोडा महत्व होने से उद्धरण देना आवश्यक जान पडता है—

१. आदिनाथ स्तवन का अन्तिम भाग—

संवत् सोल छिहोत्तरा वरषे श्रावण सुदि पचमी सार ए।
वावेल) चौमासिं मन उल्लसिं करूयु स्तवन रविवार ए।
जे भावे भणसइं नित्य शुणसइं सिद्ध थाय तस काज ए॥
कर जोडी हरष कोडी गुण जंपै ऋषि जीवराज ए॥

वीर रतवन—अन्त भाग—

संवत सोल पंचोत्तरा वरषे आषाढ सुद दसमी सार ए
शुक्रवारे तवन रच्यु जेतपुर नगर मझार ए
ऋषि सोमजी सदा सोभागी जेहनो जस अपार ए
तास सेवक ऋषि जीवराज जंपै सकल संघ जयकार ए॥



चन्द्रप्रभु स्तवन—

संवत् सोल सित्योत्तरा भाद्रवा सुदि आठम सार ए
मंगलवारे तवन कीधुं बालापुर मभ्कार ए ।।
गल्ल भाव आणी भगति जाणी, तवन भणइ जे एक मना ।
कर जोडी जीवराज बोलइ काज सरसइ तेहनां ।।

सप्त जिन स्तवन—

सत्तमो जिनवर उदय दिनकर सोभागी महिमा निलो ।
भगति वच्छलविरद जेहने धन्य स्वामी त्रिभुवन तिलो ।।
संवत सोल उगणासी बरषे विजयदशमी सोमवार ए ।
वाहादरपुर मांहे तवन कीधुं भणतां सुणतां जयकार ए ।।
सुबुद्धि आणी सहज वाणी जिन तणां गुण भाषी ए ।
ऋषि सोमजी चा सीस जीवराज बोले दया तणां फल दाषी ए ।।

इन उद्धरणो से कवि के विहारप्रदेश पर भी प्रकाश पडता है कवि कब तक जीवित रहे, यह कहना कठिन है, पर इतना असदिग्ध तथ्य है कि स० १७०४ तक विद्यमान थे जैसा कि उपर्युक्त महत्वपूर्ण गुटके की एक कृति दीपावली-स्वाध्याय (जो इसी कवि की रचना है और इन्ही के शिष्य लालजी द्वारा प्रतिलिपित है) से ज्ञात होता है

प्रश्न होता है कि ये सोमजी कौन थे ? धर्मसिहजी की परम्परा मे एक सोमजी का नाम आता है, पर कवि-काल को देखते हुए तो वह पर्याप्त परवर्ती जान पडते है सभव है कि रूपसिह या जसवतजी कालिक कोई मुनि रहे हो

१२ रूपसिंह जी—ओसवाल साहलेचा गोत्रीय, पिता साह पथड माता कनकादे, जन्म स० १६५८, सयमग्रहण स० १६७५ मार्गशीर्ष शुक्ला द्वादशी गुरुवार, पदस्थापन स० १६८८ मार्गशीर्ष शुक्ला अष्टमी सोमवार अहमदपुर, स० १६९७ आषाढ कृष्णा १० किशनगढ मे स्वर्गवास

इसी प्रवध मे रूपऋपि के प्रशसात्मक ३ गीत दिये है, जिनमे प्रथम मानू कृत (रचनाकाल स० १७७१ के पूर्व का है) दूसरी रचना इन्ही के शिष्य प्रशिष्य भोजराज और बाघ मुनि की है. ऐतिहासिक दृष्टि से इनका विशेष मूल्य है.

रूपऋपि के जीवन-पट पर विस्तृत प्रकाश डालनेवाली सामग्री अत्यल्प ही है, तथापि जो भी तात्कालिक स्फुट उल्लेख है इनसे उनका वैशिष्ट्य झलकता है इनसे पूर्वकालिक आचार्य सस्कृत के कितने विद्वान् और साहित्यसेवी थे ? कहने के साधन नही है, पर रूपऋषि सस्कृत साहित्य से भलीभाँति परिचित रहे है, यह एक असदिग्ध तथ्य है. इनके द्वारा रचित "नाममाला" सस्कृत भापा में गुम्फित प्राप्त है जिसका परिचय यहाँ कराया जा रहा है—

प्रणम्य प्रमोदेन निग्रंथनाथं, प्रसिद्धं गुरुं कीर्त्तिमंत चिदर्थं ।
प्रवीणोपहास्यालयो नव्यपाठी, प्रवक्ष्यामि काव्यैरह नाममालां ।।१।।
दयोमुक्तिधर्म्मो च तीर्थंकरस्या, चतुर्विंशतिश्चार्हतांज्ञातपुत्रः ।
चतुस्त्रिंशदंवाधिवुद्धातिशेषा, ऋषिश्चोपवासोमतिः स्वामि मौने ।।२।।

× × × ×

श्रीलुंकागच्छतिलकतुल्य श्रीपूज्यवरसिंह पट्टभूषण श्रीयशश्वी गणि शिष्य रूपकृतनाममालायां संक्षिप्तवादः ।।

दया नाम—

दया १ निमुक्ति २ महती ३ विभूति ४ । नंदि ५ प्रमोदः ६ समितिश्च ७ शांति ८ ।
कल्याण ९ कीर्त्ति १० रति ११ कांति १२ भद्रा १३ पुष्टि १४ प्रतिष्ठा १५ च विशिष्ट दृष्टि १६।।१३।।

आश्वास १७ विस्वाम १८ शिवानि १६ शूको २०, लब्धि २१ विशुद्वया २२ यतने २३ च पूना २४ ।
वुद्धि २५ स्मृधि २६ विरति २७ समाधि : २८ स्त्रार्थ २६ शुचिः ३० संयम ३१ संवरौ च ३२ ॥ १४ ॥

गति ३३ सुगुप्ति ३४ द्वयमाय ३५ यज्ञो ३६, द्वीप ३७ श्चदीप : ३८ शरण ३६ स्वहिंसा ४० ।
निर्वाण ४१ शीले ४२ विमलप्रभास्मा ४३, स्थितिः ४४ : शुभांगा ४५ यजनं ४६ च रक्षा ४७ ॥ १५ ॥

अनाश्रयो ४८ निर्वृत्ति ४६ रप्रमादो ५० धुति ५१ श्चतृप्ति ५२ यंतनं च पूजा ५४ ।
ऋद्धि ५५ श्चवृद्धि ५६ : करुणो ५७ छयो ५८ च क्षांति ५६ श्चबोधि ६० स्वपिमगल च ६१ ॥ १६ ॥

कृपा ६२ चतुक्रोश ६ घृणा ६४ नुकंपा ६५ ॥
अन्त भाग—
ग्रास नाम—
ग्रास १ श्चपिंड २ कवलो गडोल : ४
आदि नाम—
आदि १ श्चपूर्व २ प्रथमा ३ दिमानि ॥२५॥

इतिश्रीलु कागच्छतिलकतुल्य श्रीपूज्यवरसिंहपट्टभूषण श्रीयशस्विगणि शिष्य रूपकृत नाममालायां विस्तरः प्रवाद : सम्पूर्ण. ॥छ॥

इनमे १२५ श्लोको मे कवि ने लोकप्रचलित नामो का समावेश कर दिया है ऐसा प्रतीत होता है कि अपने साधुओ के ज्ञानवर्द्धनार्थ ही इसकी सृष्टि हुई है रचना सुन्दर है और इसका प्रकाशन वाछनीय है इसके अतिरिक्त स्फुट स्तवन भी प्राप्त है जिनकी सख्या एक दर्जन लगभग है

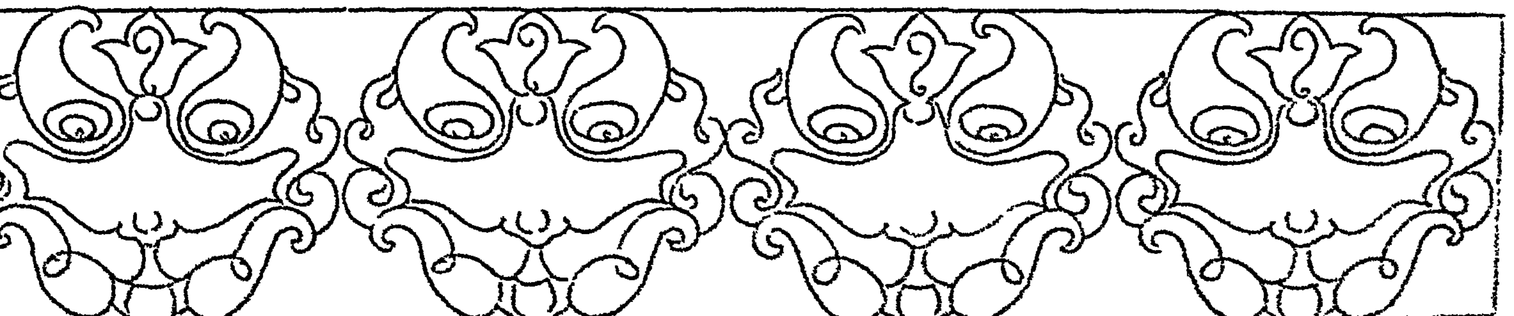
रूपऋषि के सम्प्रदाय के मुनि रामदास ने स० १६६३ ज्येष्ठ कृष्णा १३ सारगपुर (मालवा) मे "पुण्यपाल रास" निर्मित किया इस कृति की अतिम प्रशस्ति मे अपने पूर्वाचार्यो की विस्तृत नामावली दी है कवि चतुर भी इसी परम्परा के है जिनकी रचना "चदनमलयागिरि रास"(र० का० स० १७७१)प्राप्त है अनुसधान करने पर अन्य कवि भी उपलब्ध हो सकते है

१३ दामोदरजी—अजयमेरु-अजमेर निवासी, लोढा गोत्रीय, पिता रतनसिंह-रतनशाह माता रत्नादे, जन्म स० १६७२ दीक्षा स० १६८६ ज्येष्ठ शुक्ला ७, पदस्थापन स० १६६७ आषाढ कृष्णा ६, स्वर्गगमन स० १६६७ माह सुदी १३. सतीचद नामक किसी मुनि ने इनका छद लिखा है कवि ने प्रारम्भ मे लोकाशाह द्वारा स० १५२८ मे पुस्तक-वाचना की चर्चा कर स० १५३१ मे "लोकागच्छ" की स्थापना बताई है दामोदरजी अजमेर निवासी होने के कारण कवि ने वहाँ के प्रसिद्ध स्थानो का वर्णन किया है जब छन्द ही उद्धृत किया जा रहा है तब वर्णन का पिष्टपेषण व्यर्थ है

इसमे ऐतिहासिक तथ्य केवल इतना ही है कि इनकी दीक्षा किशनगढ मे हुई थी और छन्दकार ने दीक्षातिथि ज्येष्ठ सुदि ५ सूचित की है जब अन्यत्र ७ का उल्लेख है आचार्य पद भी इन्हे किशनगढ मे ही मिला जिसमे वहाँ के वेणीदास आदि श्रावको ने विशेष भाग लिया

कवि ने अपना समयसूचक कोई स्पष्ट उल्लेख नही किया है, पर "साहिजिहा तणी जिहा राई" शब्दो से पता चलता है कि यह रचना उनके समय मे अर्थात् स० १६८४-१७१५ के मध्य भाग मे हुई होगी और विचार करने पर पता लगता है कि इसमे दामोदरजी के आचार्य पद की चर्चा भी है और उनका आचार्यत्वकाल अत्यन्त सीमित रहा है अत उन बातो से अनुमान तो यही होता है कि निश्चित रूप से इनका रचनाकाल लगभग स० १६६७ ही होना चाहिए. छन्द पर भाषा की दृष्टि से डिंगल का प्रभाव परिलक्षित होता है कविता सारगर्भित और भावों से ओतप्रोत है.

दामोदरजी के शिष्य खेता की दो रचनाएँ—धन्नारास (र० का० स० १७३२ वैराट, मेवाड) और अनाथी मुनि की ढाले (र० का० स० १७४५)—उपलब्ध है



१४ कर्मसिंह—ये महाराज दामोदरजी के वडे भाई थे जन्म स० १६६६, दीक्षा सं० १६८८, पदस्थापन स० १६९७ माह सुदि १३ (दामोदर जी के अनन्तर) स्वर्गवास स० १६९८ माह सुदि ९ खभात.

दामोदरजी और कर्मसिंह के अस्तित्वकाल मे जयतारण में धनराज मुनि ने इन दोनो के विरुद्ध होकर अपना स्वतन्त्र पक्ष स्थापित किया था जिसका उल्लेख कवि सतीचन्द और आचार्य श्रीतेजसिहजी भी करते हैं धनराज की शिष्य-परम्परा मे कई-आसकरणजी[1] बर्द्धमानजी और कवि दीपो-दीपचन्द-आदि हुए है इनकी रचनाएँ मेरे सग्रह मे सुरक्षित है ये सब सुन्दर और सुपाठ्य ग्रन्थो के प्रति-लेखक भी थे.

कर्मसिंह का आचार्यत्व काल अत्यन्त मर्यादित रहा है अत कवि तेजसिंह दोनो बधुओ का परिचय एक ही पद्य मे देकर सतुष्ट हो गये. वह समय, जैसा कि ऊपर बताया गया है, बडा सघर्ष का था धनराज ने फिर आगे चल कर सूरत जाकर आपसी मेल-मिलाप भी कर लिया था जिसका विस्तृत वर्णन किसी लोकागच्छीय अज्ञात पट्टावाली के आधार पर स्व० मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने "सूर्यपर नो स्वर्णयुग" की विद्वत्तापूर्ण भूमिका में दिया है.

१५ केशवजी—जयतारण निवासी ओसवाल पिता नेतसी माता नवरगदे, जन्म स० १६७५, दीक्षा नौ व्यक्तियो के साथ स० १६८९ ज्येष्ठ सुदि ७, पद स्थापना काल स० १६९८ माह सुदि ९, स्वर्गगमन स० १७२० आषाढ कृष्णा ९ कोलदे मे. सूरत के प्रमुख श्रावक वोहरा वीरजी को लिखकर गच्छभार सभलाया था.

"लोकागच्छीय बडे पक्ष की पट्टावली" मे इनका दीक्षास्थान कोलदे लिखा है और १५ दिन का सथारा पचखने का विवरण है इनका गोत्र कोठारी था.

केशवजी के समय मे भी पर्याप्त साम्प्रदायिक सघर्ष रहा, उस समय की मीमासा यहाँ न तो अभीष्ट है और न स्थान ही है, पर इतना कहना समुचित होगा कि लोकागच्छ की समस्त शाखाओ के लिए यह काल बडा ही कठिन रहा. यहाँ तक कि राजस्थान और गुजरात के प्रान्तीय भेद और धार्मिक जीवनयापन-पद्धति जैसी वस्तु भी समीक्षा का विषय बन चुकी थी. मेरा तो मानना है कि एक प्रकार से यह युग उत्कर्ष का भी था, कारण कि आलोचना और विरोध में ही विकास के बीज होते है जिस सम्प्रदाय का जितना अधिक विरोध होगा, वह उतना ही प्रगतिगामी बनेगा.

आचार्य केशवजी की प्रशसा मे रवि मुनि ने जो गीत लिखे है वे आगे उद्धृत किये गये है. इन्ही मुनि ने स० १७८१ में भी दो भास आचार्यश्री के बालापुर के श्रीसघ के आग्रह से लिखे थे, पर इस समय वे मेरे सम्मुख नही है, प्रयत्न करने पर भी उपलब्ध न हो सके अत अन्त भाग देकर ही सतोष करना पड रहा है—

संवंत सतरशशि बसु समइ रे, रविमुनि कहइ उल्लास ।
बालापुर नी रे संघनी वीनतीइ कीधी भास ॥८॥

× × ×

श्रीबालापुर मन रंग तो रविमुनि भास बनाइ ॥१॥

इन रचनाओ से रविमुनि का समय स्वत स्थिर हो जाता है.

केशवजी भाषाकार के रूप मे ख्याति अर्जित कर चुके है. इनने "दशाश्रुतस्कध" और "दशवैकालिक सूत्र" पर बालावबोध लिखे है. राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान के हस्तलिखित ग्रथसग्रह मे एक प्रति है जिसमे कृत पद्यो का सकलन बताया जाता है इसकी अतिम पुष्पिका इस प्रकार है—

---

१. इनने संवत् १७०४ में उदयपुर चातुर्मास व्यतीत किया था. उस समय की 'सथारापयन्ना' बालावबोध की एक हस्तलिखित प्रति मेरे सग्रह में है जिसकी लेखनपुष्पिका इस प्रकार है—
'सवत १७०४ वर्षे भाद्रपद मासे शुक्लपक्षे षष्ठ्या तिथौ शुक्रवासरे ॥ उदैपुर मध्ये राणाश्रीजगतसिंहजी राज्ये कवर श्रीराजकुमार चिर भूयात् ॥ आचार्य श्री आसकरणजी विधमानेन ॥ उदैपुरमध्ये चातुर्मासिक कारित तेन लिपिकारापित ॥श्रा० देरगा ॥ "प्रति बहुत ही जीर्ण है".

"इति श्रीमदाचार्यजी श्री ६ केशवजी कृतानि काव्यानि ।। लिपिकृतं पूज्यऋषि श्री सोमजी तच्छिष्य पू० ऋषि श्री ५ : महिराजी ऋत्सिष्य पू० ऋषिश्रीटोडरजी तत्सिष्य पवित्रात्मा श्री ५ भीमजी तच्छिष्येण मुनि दामाख्येणालेखि। शुभं श्रेय. सवद्वसुगगनसमुद्रचन्द्रवर्षे (स० १७०८) कार्त्तिकमासे त्रयोदशीगुरुवासरे राणपुरे लिपिकृत्वा प्रतिरियं शुभ श्रेय. ॥

—राज० प्रा० ग्रन्थसूची भाग २ पृष्ठ ३०५, जोधपुर

ये गीत वस्तुत केशवजी रचित है या क्या ? विना मूल प्रति का अवलोकन किये कुछ भी कहना सम्भव नही पुष्पिकान्तर्गत मुनियों की अन्य प्रतिलिपित रचनाएँ भी इन पक्तियो के लेखक के सग्रह मे सुरक्षित है भीमजी दामाजी के गुरु थे, केशवजी शिष्य महीराज के प्रशिष्य और तेजमुनि के गुरु थे तेजमुनि कृत "चदराजा का रास" (र० का० स० १७०७ कार्तिक, राणपुर) उपलब्ध है एक हीरानन्द नामक कवि की रचनाएँ स० १७७० पाई जाती हैं, पर निश्चित रूप मे नही कहा जा सकता कि ये किस केशवजी के शिष्य थे ? कारण कि कुवरजी पक्ष मे भी एक केशवजी का उल्लेख मिलता है, जो अपनी शाखा के १३ वें आचार्य थे

यहाँ पर प्रसगत विवक्षित १५ वे पट्टधर केशवजी के एक शिष्य कवि बाल कृत बावनी का परिचय देना इस लिये अनिवार्य है कि यह रचना सर्वथा अज्ञात और अन्यत्र अनुल्लिखित है इसका रचनाकाल स० १७१५ है अत आचार्य श्री की विद्यमानता मे ही प्रणीत है रचना के प्रारभिक भाग मे सक्षेप मे कवि ने आत्मीयो की परम्परा दी है उसमे जसवत ऋषि के शिष्य-पट्टधर प्रभावसपन्न आचार्य रूपसिंहजी का नाम नही है, यह एक आश्चर्य है यद्यपि उनके समय मे ऐसी कोई अवाछनीय घटना भी नही घटी, फिर भी उनका नाम न होना खटकता है

जैन साहित्य मे सख्यावाचक कृतियो का बाहुल्य रहा है बल्कि कहना यह चाहिए कि एतद्विषयक परम्परा को जितना प्रोत्साहन और प्रेरणा जैन मुनियो ने दी है, शायद ही किसी ने कल्पना तक की हो लोकागच्छ के साहित्यकारो मे इत पूर्व बालचद और किशन मुनि ने सफल प्रयास किया था जैसा कि ऊपर की पक्तियो से स्पष्ट हो चुका है उन्ही के अनुकरण स्वरूप कवि बाल का यह सुप्रयत्न जान पडता है इसकी भाषा हिन्दी और भाव आध्यात्मिक रस से ओतप्रोत है जनता के दैनिक जीवन की शुद्धि पर विशेष बल दिया गया है

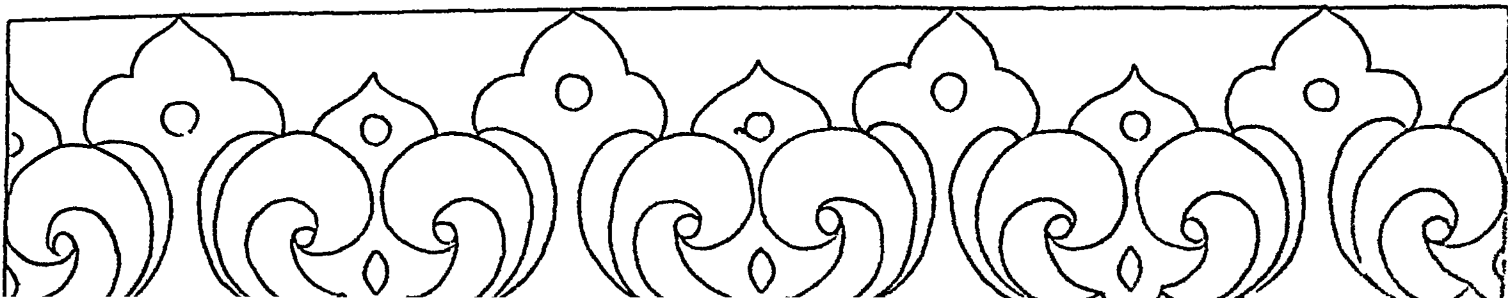
इसका आदि और अन्त भाग इस प्रकार है—

। पद्य ५६ । कर्ता कवि बाल । सं १७१५ आश्विन शुक्ला ५।

ओंकार अनत अलख अवगत अवनासी। अकपट अमिट अघट अप्रगट पद जोत प्रकासी ॥
नर सुरवर राजेन्द्र आन चित अंतरै आवै। असरन सरन नाथ नाथ अन्य नाथ न भावै ॥
संसार पार तट पामीओ उत्तम जस जंपे अवर। देवाधिदेव भज सयमेव शिव सो सुप्रसन केशव सुगर ॥१॥
नमो साधु निकलंक मांन भीडा सूय भम्भल। नुन भीम गुरु नमो अनग मगो जिन अगल ॥
जगमल सरखो जति नमो रूपा जीवा ऋषि। सिंघ जे जसवंतसीह नमो दामोदर दीपक दप्प ॥
कर्मसीह नमो षोटे कलौ सुखदायक सुरतरु समौ। गछ तिलक गुज्जरगछै नर नायक केशव नमो ॥२॥
महियल धन मरुधरा उतनछ पइयापुर आपां। उस वंस अवतार सोहे चौरासी सापां ॥
कोठारी कासिप गोत्र गढपति गरथे। उचितापति अपीया हेंम हय वर लष हथे ॥
आचार सुर आगे लगै दातारां उपम देउ। प्रगटाया तीयारां पटंतरे वीमलने तोगा देउ ॥३॥
सिरहर वलि सपनो तिये कुलमें कलपतरु। सुभ कर सुत नेतसी संघ त्रिकिरा वरस घर ॥
नवरगदे ता नांम प्रीया सत्य सील पीयारी। उयरे तेण उपनौ कुयर केशव सुखकारी ॥
सुपनरांक ससार सुख-सुवेसे संजम लीयौ। कमसी सुगर केशव नें धंम गछपति थपीयो ॥४॥

अन्त

कहै बाल सुगुरु केशव तणी बावन अक्षर बावनी ॥५५॥
सतरा सय सवत वरस पनरा वषाणुं। हैला मास आसौज शुकल पंचम शुभ जाणुं ॥



शुभ महूरत सोमवार सुणंत भणंत सुष करंता। गच्छपतिनां गुण माण मालहदि पहिरे दुष हरंता॥
आचार्य केशव ईला अवल सुकवि बाल सद् गुरु वर्ण। ओकार आदि बावन अक्षर सकल संघ मगल कर्ण॥

१६. गणि तेजसिंह—पचेटिया निवासी, ओसवाल छाजेड गोत्रीय, पिता लखमण माता लखमादे, दीक्षा सं० १७०६, (लोकागच्छ पट्टावली मे इनका सयम-ग्रहण-स्थान जयपुर बताया गया है, पर वह गलत है कारण कि जयपुर की स्थापना ही स० १७८४ में हुई है) पद स्थापना स० १७२१ बैसाख सुदि ७ गुरुवार, स्वर्गगमन सं० १७५१ के बाद. यद्यपि देशाई महोदय ने इनका स्वर्गवास सं० १७४३ माना है पर इनकी रचनाओ से प्रमाणित है कि स० १७५१ तक ये जीवित थे.

गणिवर्य तेजसिह को इतिहास के प्रति विशिष्ट अनुराग था. अपनी रचनाओ मे भी वह रचनाकाल, स्थान और किस की अभ्यर्थना से किस कृति का सृजन किया आदि बातो का उल्लेख करने मे कम चूके है इससे इनके जीवनपट पर भी सामान्य प्रकाश पडा है और फैली हुई भ्रान्तियो का परिमार्जन हुआ है यद्यपि इनकी रचनाए साहित्यिक दृष्टि से उतनी महत्त्वपूर्ण नही है, पर सामान्य जैन श्रद्धालुओ को उनसे मार्गदर्शन मिलता है. आत्मशुद्धि और जीवनदर्शन के स्वर कर्णगोचर होते है

इनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और इतिहास की दृष्टि मे विशिष्ट मूल्य रखने वाली कृति "गुरुगुणमाला भास" है जो इस निबध की प्रेरक शक्ति रही है इसकी प्राप्ति मुझे स० १९९३ के मेरे सूरत चातुर्मास दरम्यान तत्रस्थ एक प्रभावशाली परिवार से हुई थी. साथ ही कई स्फुट रचनाए, जिनका सबध स्थानकवासी परम्परा से रहा था, उपलब्ध हुई. दूसरी प्रति स० १७७१ के स्थानकवासी परम्परा के मुनियो द्वारा प्रतिलिपित गुटके मे प्राप्त हुई इन्ही के आधार पर स्व० मोहनलाल दलीचद देशाई ने अपने जैन गुर्जर कविओ मे लोकागच्छ की पट्टावली दी है कवि ने पूर्वजो से सुनकर पूर्वाचार्यो का इतिवृत्त लिपिबद्ध कर जैन इतिहास की एक काल विशेष से सबद्ध घटनावली को सुरक्षित रखा. यद्यपि इसमे आये उल्लेखो को तात्कालिक अन्यान्य ऐतिहासिक साधनो के प्रकाश मे विश्लेषण करने पर कुछ तथ्य सदिग्ध प्रतीत हुए, पर इससे कृति का महत्त्व कम नही होता और न गणिवर्य के प्रयास पर ही आंच आती है रूपसिह से लगाकर १६ वे पाट तक का व्यवस्थित वर्णन एक स्थान पर प्राप्त होना अन्यत्र दुर्लभ ही है. इस रचना के अतिरिक्त भी "२७ पाट स्वाध्याय" नामक एक और रचना स० १७३४ मे रची थी, पर मुझे इसका केवल अतिम पत्र ही प्राप्त हो सका है—

पाट सतावीस ए कह्या रे जिनशासन के मुणिंद।
अधिक प्रत्यय मुहता तणो नथमल सुत रे भागचंद हीरचद कि॥
संवत सतर चोतीस में रे गणिगुण गाया चौमास।
वीनती हीराचंद नी सही रतनपुरी सदा सुखवास॥

इनकी गुर्जर गिरा मे परिगुम्फित रचनाओ का परिचय जैन गुर्जर कविओ मे आ चुका है, तदनन्तर कतिपय नव्य कृतिया मेरे सग्रह मे इस प्रकार उपलब्ध है—

१ हरिवशोत्पत्ति रास, २ सुविधि जिन साधना, ३ सोलह स्वप्न सज्झाय (स० १७३३ आश्विन कृष्णा १४ ऋषि दामाजी शिष्य मनोहर द्वारा प्रतिलिपित) ४ स्वाध्याय, ५ प्रतिक्रमण स्वाध्याय, तमाखू स्वाध्याय आदि.

इनकी रचनाओ से पता चलता है कि इनका विहार प्रदेश बहुत ही विस्तृत था, मेवाड, मारवाड, मालवा और गुजरात के प्रमुख नगरो का उल्लेख स्वकृतियो में किया है.

सस्कृत भाषा में रचित इनका एक 'दृष्टान्त शतक' नामक ग्रथ भी उपलब्ध है—जिसकी अन्त्य प्रशस्ति इस प्रकार है—

"संवत १७६८ वर्षे कार्तिक सुदि १४ दिने वार मंगले सं० १८४० कार्तिक वदि ३०.

श्रीलुकाख्यगणे गणीश्वरगुरुः श्रीकेशवान्ते स्थितः
शिष्येणाशु कृतं वरं निजधिया दृष्टान्तकानां शतम्

छंदोऽलंकृतिशब्दशास्त्ररहितं काव्यं यदा निर्मितं
तत्सर्वं मुनितेजसिंहगणिभिधीरैर्विशोध्यं वरैः ॥१०२॥

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर के हस्तलिखित ग्रथो की सूची मे 'ज्ञानप्रकाश स्तवक' तेजसिंह कृत सूचित है, पर मूल प्रति के बिना निरीक्षण कैसे कहा जाय कि वह इसी तेजसिंह द्वारा प्रणीत है या अन्य किसी द्वारा इनकी रचनाओ के आधार पर कहा जा सकता है कि तेजसिंह का साहित्य-साधना-काल स० १७११ मे १७५१ के लगभग रहा है स० १७५१ का उल्लेख एक सज्झाय मे इन शब्दो मे हुआ है—

सवत सतर एकावनां वरषे कहे तेजसिंह गणधारी ।
दीव नगर संघ दीपतो धरमी नें धनधारी ॥

इनके प्रशिष्य तेजपाल 'रत्नपचवीसी' और 'रत्नचूड चौ०' (र० का० स० १७३५) के प्रणेता थे

इनके समय मे और केशवजी के आचार्यत्व काल मे पूर्वोलिखित धनराज आदि ३ मुनि वोहरा वीरजी के सुप्रयत्न से सूरत मे आकर गच्छ मे सम्मिलित हुए धनराज के सतानीय दीप मुनि सुदर्शन रास, गुणकरड चौ० और धमार (मेरे सग्रह मे, कुलैश नगरे रचित,) के प्रणेता थे

१७ कानजी—नाडोलाई के ओसवाल पिता कचरा माता जगीसा इनका सयम ग्रहण समय अनुपलब्ध है, देवमुनि रचित भास मे केवल इतना ही सकेत है कि वाल्यकाल मे दीक्षित हो चुके थे इनकी कृतिया औपदेशिक ही मिलती है एक स्थूलिभद्र स्वाध्याय (पद्य १५) मेरे सग्रह मे है

इनके समय मे गागजी मुनि ने स० १७६१ मे रत्नसार तेजसार रास, स० १७६१ मे राणपुर मे जवू स्वाध्याय का निर्माण किया इन्ही के शिष्य दाम-वरसिंह ने स० १७६६ मे नवतत्व चौपाई रची तदनन्तर भीमसेन-सुजाण और महानद आदि मुनियो ने गुजराती मे कई कृतिया विनिर्मित की

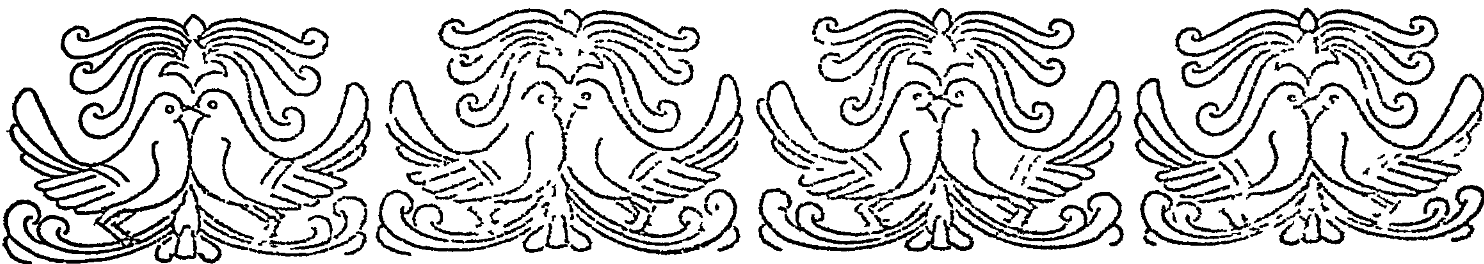
कानजी के वाद तुलसीदासजी, जगरूपजी, जगजीवनजी, मेघराजजी, सोमचदजी, हरखचदजी, जयचदजी, कल्याणचदजी, खूवचदजी और न्यायचदजी आचार्य हुए, विस्तार भय से इनका नामोल्लेख ही पर्याप्त समझा गया कुवरजी पक्ष, धर्मसिंहजी, लवजीऋषि और धर्मदासजी आदि की परम्परा का इतिहास भी गौरवपूर्ण रहा है और इनके मुनियों ने समय-समय पर जैन सस्कृति के विकास मे योग भी दिया है, पर उन सभी का नव्य मूल्याकन सीमित समय और साधन द्वारा सभव नही मेरी मर्यादा कानजीऋषि तक ही सीमित थी

यहाँ पर लोकाशाह के परवर्ती मुनियो के जीवन पर मार्मिक प्रकाश डालनेवाले जो कतिपय काव्य प्रकाशित किये जा रहे है, इनके अतिरिक्त भी स्थानकवासी मुनियो की प्रशस्ति स्वरूप कई पद्य लिखे गये है, जिनका मारवाड और मेदपाट से सवध रहा है. किसनमुनि, पूज्य लालचदजी, विजयचंदजी आदि अनेक प्रभावशाली आचार्य और मुनियो द्वारा विविध विषयक साहित्य भी निर्मित हुआ है, जो अद्यावधि अज्ञात ही रहा है, पर उन सभी का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना, समय और श्रमसाध्य कार्य है इतना कह देना आवश्यक है कि चाहे जैन सप्रदायो मे कितना ही मनोमालिन्य हो, पर मेवाड जैसे कठिन विहार के प्रदेश मे स्थानकवासी-मुनियो ने जैन-संस्कृति की व्यापक एव सार्वभौमिक भावनाओ को वनाए रक्खा है शताधिक कृतियो की प्रतिलिपि कर भाषा साहित्य की परम्परा को गतिमान किया और अपनी औपदेशिक वाणी से जन-मानस को विचारपूर्ण क्रान्ति के लिये प्रोत्साहित किया

जो ऐतिहासिक काव्य उपलब्ध हुए हैं वे मूल रूप मे इस प्रकार है—

१
नेम कवि रचित
बड़ा वरसिंघ जी का छंद

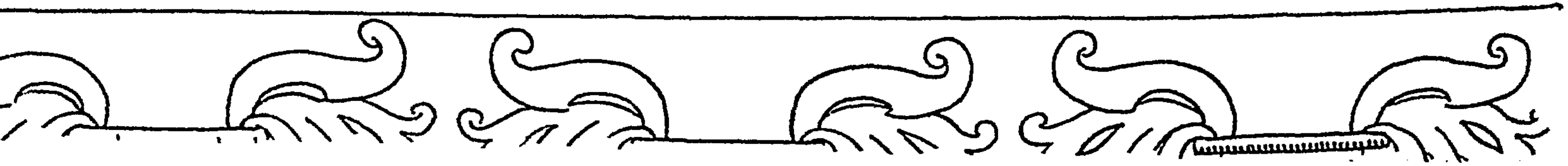
पास जिणद परम पद पहिलो करीस प्रणाम । गुण व्रणवु वरमघ रा नेज गुण ताहारि नाम ॥
पाटण यादे अनादे पुर दीपे गूजर देस । लाधो द्रुम श्रावक लकि प्रवचन तणें प्रवेस ॥



धूना वचन सुधारवा सघला गास्त्र सुध। जेयन ध्रम देखाड्यो वोहता जन प्रतिवोध ॥
सुध सावद्य अखर सवे वचने कथआ वीर। पनर छत्रीसे प्रगटीस वचन मुध सरीरीज आन तणो ॥
ध्रम जगवो पाचमै आरे प्रगट पहिलो रूपो पामियो। चितामणि चारित्र रूप रसेसर पायौ ॥
उतपत इम अकोर केवल वयणे प्रगट प्रवचन। पुन पडूर जिन शासन साचौ जती अतर भेद अनत ॥
जीव रपेसर जे हुआ मोटा पुरुष महन्त। नाम लेअता नध नद्य सपत सुख ससार॥
सेवता सुख ऊपजै उपशम गोर अणगार। मयण क्रोध माया मछर. दुरी निवारण दोष ॥
स्वल्प सतोपी सयम मलियो, मारग दाखण मोय। केवल बयणे प्रसिद्ध किय, पोहचे पुण्य प्रमाण ॥
जीव ऋपि जैन शासन जती, वडो गुण जाणी माया काय मोहथी। वश कीधा मुनिवरजी,जीव ऋषि जे वडा जती।
कोअ नही एणे काज जीवऋषीश्वर जीवता। सियल सतोषीसुख पलडी ग्रहीअ पटिनू रूपक बरसघ रखि ॥

छद

वरसघ रसेसर धार सवाणे जतीस रे उदयो जगे एणे जाणे।
भला गुण अन्तर जाणे भेद वचन विचार लह दाय भेद ॥
धरा लग धरम न चूकि ध्यान, मनीसर महिमा मेर समान।
लको जन धरम लिहिल वेलाय, करि भवि एक लगार ॥
कषाय दए दहवीस ने कदण दोष, स्वल्प आहार माने सतोष।
ममता माया छडी मोह सजमे चासण चाढि सोह ॥
ईर्या सुद्ध लेई आहार आजू न कालि वडौ अणगार।
हृदय मूल न आणै रीस बरसंघ ऋप वीस वावीस ॥
प्रसिद्धे महाव्रत पालि पच नवे तत्व सवि जाणै सच।
भेद न वचजौ लाख अनत जीव अजीव सुर -पण साधे ॥
जोग सदीव क्रिया सुध साध निवारण क्रोध अवोधक जीव दिए प्रतिबोध।
न कदे न पाप वधारण नाम धरता पाग न चूकि ध्यान ॥
जोय कर कीडी कुजर जेम निरमल काया जात न गेम।
ऋषीश्वर जीव दया प्रतिपाल, दिन प्रति वयण आपद आण ॥
अभयज दान आलोहि अख परज न हालि भारड पख।
अढारे पाप तजे अपराध सदा सुध मारग दाखि साध ॥
प्रवचन सूत्र सूद्र म प्रवेस अमीरस वाणी दिए उपदेस।
मल दल कद ए अमली माण व्रण वस जोध मदन वषाण ॥
रतिपति राव कियो मन रोस उडोड्या ढे कम असोस।
दलपते आप अनग दीवान धसरवा पाप कनि दरवान ॥
कहा जे च्यारे क्रोध कषाय रिहितु आगलो सुरते राय।
वधारें क्रोध करि भडवाअ रहे लो आगमि अन्द्र राहु।
भजो भाराये अपाढी भूत भीता ऋध प्राणें वडा जम दूत ॥
गीतारथ मोटा गाजी गात्र मानव तणी त्याहा केई मात्र।
मदन कहे ऋषि छोडो माण पुगी कोण मुसु जोध पराण ॥
आगि वरसघ कहि अणगार कसो तुम अणकरि अहकार।
आगा रखें सकर वोलै अगने मनावो तू नाहार मदन ॥



वरसंघ रपे तणी मुणो वाण, मदन महा चढ्यो भड प्राण ।
उलसे आयौ आप अणग जतीस रे साथे जवरो जग ।।
जपै ऋपि वरसंघ जीत जू यार अरिहत देव तणो आधार ।
अपूरव भाव अतर न आणै पच व्रत पवग पलाणै ।।
वाजि षट त्रीस वाजित्र घन सजि अगै सियल तणो ते सत ।
सजोडा भारथे पच सुभत पूइसन मावि त्रिण गुपति ।।
मुनिसर भोटि जुध मडाणौ अनग सरे सकरे अवासण ।
प्रवचन सूत्र सुखिम प्रहार धर्मचक्र नवाडो व्रत धार ।।
सुदृढ खिमावत खेडो साहि मदन हि कप हुओ मन माहि ।
दीठो जीव रिपि तणो प्रसाह् मडी दोहो वर कियो मदराअ ।।
नपेसर तुझ खमि कोण ताप परठै परज व्यासी पाप ।
छके मयण गीऔ वल छड मोटा सु कोअ न सकै माड ।।
जीतो वरसंघ हुऔ जिकार स सव जपि सयल ससार ।
करि जन शासन कोडि कल्याण वदे पठत्रीसे वृत्त वषाण ।।

कलश

पूज्य प्रतपो ससार सयल जीव सुखकारी ।
उत्तम रिषि अणगार ध्यान शुद्धे व्रतधारी ।।
शासन नध्य सानध वस्यो सघलें ख्याती ।
उत्कृष्टो आचार गच्छ वधज्यौ गुजराती ।।
ताहरें तापि समया तणा दोपी दह् वाटे गया ।
वरसंघ रिषि कव्य नेंम कहे सदा प्रतिपालो दया ।।

इति श्री वरसघजी रो छद ।

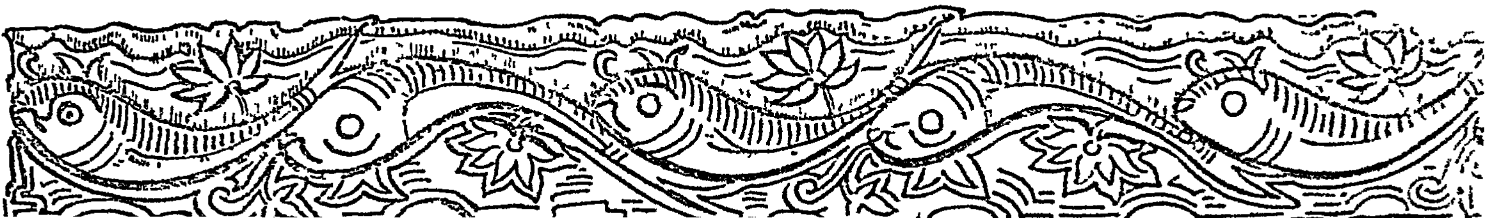
संवत १७७१ वर्षे चैत्र मासे कृष्ण पक्षे चतुर्थी तिथौ द्राफा मध्ये लि० पू० ऋ० श्री वेलजी तच्छिष्य पू० ऋ० श्री कान्ह जी तच्छिष्य लि० मुनि भोजा । भोजा नंदा पठनार्थं ।।

२
आचार्य जसवंत—छंद

श्री जिनशासन सलहि ए साधा तणा समध, जैन तणा जाणि जकै नर ता न्यान वध ।।
जेहा जसवंत जपीए आचारज अणगार, वाणि अमिरस जे वयण सहु वदे ससार ।।
जेहा जसवत जपीए आचारज अणवीह, धन्य महुरति ति धन घडी धन्य वेला धन्य दीह ।।
नयरी धन्य नवि साहसी निज निरखत निधान, सलहा आवै सारसा उत्तम पुरुप समान ।।
जहा एवि पधारिया परबत नें प्रथेराज, परवत घरे सहोदरा अलि पडि अम आवाज ।।
उदर तिहारे ऊपनौ मही पडि महिमावत, जोति महा घण जागीयो जिन शासन जसवत ।।
रषभ तणा वसीआ रदे सुधा शास्त्र सार, मागे मा वित्राकने अनुमति जस उदार ।।

छंद

माता दीओ अनुमती तुझ गुण नवजसो दाखि ।
मुझ नत्थ ससार रा सुख त्याग चित्तमा धारीयो वैराग ।।



भगवत तणो गृहीयो भेद वसुधा वात ए द्रुवेव ।
वदहि मात सुणि जसवत अविचल नाणि सुख अनत ।।
परबत तात तनु पोहो चाल बिद्वोलील भागवि बाल ।
काकु पेय उकल मोड धारे रदे वीजा धोड ।।
सजसी साख साहस ओघ जसवंत तुझ वधव जोद्धि ।
मोटा थाहरा मोसाल सोहि हस सुत श्रीपाल ।।
तिम निज सो काया न्यान ग्रहीयो रदे उत्तम ज्ञान ।
सोहिए अगी जको सोहाय काय जोणि तावी ए ग्रभवास ।
मेर हर तणा लाभे मान अभरे दाखि ना विज्ञान ।
मुपे कमल जे दसमास रहिवो रात्य दीह वदीस ।।
जल दल मले पच श्रीजच्च माहि नीझरे मल-मूत्र ।
मछा जेम तुछ जल माहि तेणि त्यम करि त्रुफडी-ह ।।
एहवा दुख जाणि अनंत जग वषि जागीयो जसवत ।
जसवंत जोति घण तेणि आर प्रणामि आगलि परिवार ।।
कहीए घणु कौतुक हाय मुह नाह दिव्यो अनमति मायै ।
वदवा वयण जिवा वालि परिसी पूत्र बार त्रपाल ।।
आणद उपशम धरि आव्य ततक्षण सघ सहु तेडाव्य ।
भावना घणी लख्या भूज्य सतरा धरा दसमी पूज्य ।।
पुण्य रो एणि गच्छ परसग वेगा पधारज्यौ वरसंग ।
चावो सुगर जाणिवोज मुरधर देश कीधी मोज ।।
थानक मोरधर घरि थाय साचो साधरो समवाय ।
निज गुरु आवीया निद्रोह सोजित नयर वाटण सोय ।।
परवत साह रो पुन्यवत जती व्रत झालिसी जसत ।
दाखि वात एम देश-विदेश नर विथया हरष न वेस ।।
नरनाहा गुर बीकानेर महाजन लगि जेसलमेर ।
जपि जाहा लो श्रावक जेह साभलि आवीया सघ लेह ।।
सबलो जोधपुर रो सघ भणि-भणि भावन अणभग ।
कालू मेडतो कै कद नर विथया हरष निरद ।।
निमाहे से रो लगै अजमेर घणथट हुओ आवि घेर ।
चिगडी जेतारण सुखवास श्रावक लाए सहु सावास ।।
सजस रीति जुनीया साह मोछव हुए सोजित माह ।
मलीया सादडी रा साह आणि मन घणै उछाह ।।
परवत करि ए प्रसिद्ध नित्य-नित्य वावरि नव निद्ध ।
वध्यो वरे जीमणवार परबत प्रसिद्ध अनत नि वार ।।
मलीया जोवा मडलीक दीक्षा महोछव वड वीक ।
मेगल पाखर्यो कल कोड धारे रदे साचो घुड ।।
जेणी विधि दसण भद्र जु आंण वादणि आवीया व्रधमाण ।
मुनिवर वेश धरे मुगट पाचां जणा सुपरगट ।।

ओघो मुहपत्ति करि आणि पारभ वडो हुव्य प्रमाण।
रूपगि सोहि जसवंत रपि शुदगर तणो साचो रिपि ।।
वदहि जेम ज साहे वचन विकमे तेम सुगर वदन।
वरसंघ कियो एम विचार भूज जू दीओ गच्छ रो भार ।।

पूरव छाई

नयरी सीरोही नयर पडिया जसु गट।
थरि तेंण थानक थपीउ महीपद ठवण प्रगट ।।

छंद

पद ठवण शुदग तणो प्राभो ठामि तेण उछव थयो।
मालवो गुजर धा मडल गछ सघ लोग हि गह्यो ।।
साध-साधवी अनेक श्रावक वसहि सहि सजस वेचाइयै ।।
चारित्र खडाधार चलि चति चोखि नवि चलि।
नव धन्य धुना गच्छनायक नव्रो नेह अमृत नलि ।।
दरीयाउ शुदगई तणो दरसण पुन्य पाप नि पाइएँ।
श्रीपूज्य वरसंघ पाट शुदगर ए आकणी ।।
पुन्यवत प्रज्ञावत प्राभो ध्यानि शुद्ध मनि धरि।
अगियार अग उपाग बारह उग्र करणी आदरि ।।
आगम नीगम अरथ अनोपम सकल सूत्र सराहीए ।।
महाव्रत पच मूल मडे करम आठे कापीआ।
कपाय च्यारि दूर कीधी भला शुदगर भेटीया ।।
वेराग वेलि समु द्रव्य सुद्धा ध्यान निर्मल ध्याइए।
श्रीपूज्य वरसघ पाट खुदगर गुण जसवत गाइए ।।

कलश

गाइजे गूण जाण गुण गिरवो गितारथ।
प्रतपो चारित्र पात्र पुन्य अकोरे पदारथ ।।
परबत पिता प्रचड उदर सहोद्रा ऊपनो।
निरमल मति निधान सकल श्रीसाध सपनो ।।
रूप ऋपि जीव ऋषि वरसघ ऋपि तेहनें प्रताप अध्यकार तिम।
श्रीपूज्य पाट वरसंघजी जसो जोति जग वसि ज्यम ।।
।। इति श्री जसवंतजी नो छन्द ।।

३

मुनि माधव रचित जसवत चतुर्मास

श्री वीतरागाय नमः

दुहा

प्रथम जिणेसर पायकमल, पहिलू प्रणमी पाय, गछनायक गुण गायवा, मुझ मनि उल्ट थाय ।।१।।
मास वसति कोकिला, देपी चकवो चद, मोर मेघ गाजि करी पामि परमाणद ।।२।।



तिम मुझ उलट उपनो, गुरू गुण गावा अवदात, ते भवीयण तुम्हो सामलो, जेहनो जस विष्यात ॥३॥
रूप ऋषीवर गुण निलो, जीवजी जुगप्रधान, वड वरसिंघ वरसिंघजी, जस्स महिमा मेरू समान ॥४॥
तास पाटि पटोधरू, परवत पुत्र पवित्र, सती सहोदरां जनमीया कहिसू तास चरित्र ॥५॥
मरूधर देशि जाणीइ, सोभित मोटु गाम, वसि तिहा विवहारिया, उसवस अभिराम ॥६॥
परवत घरणी सहोदरां, जनमो पुत्र रतन, अनुक्रमि वैरागीयो, सयम उपरि मन ॥७॥
श्रीपूज्य स्वहस्ते करी, सजम दीधू सार, तिहाथी अनुक्रमि आवीया, सविपुर नगर मझारि ॥८॥
सघ तेडी श्रीपूज्यजी, पूत्रा पुरुष प्रधान, ऋषि जसवतनि पद आपीइ, एह छइ गुण निधान ॥९॥
सघ सहु, वलतु कहि वादी सहि गुरू पाय, पूज्य पटोधर थापीइ जस नामि नव निध पाय ॥१०॥
सघ समक्षि श्रीपूज्यजी, निज पद दीधु सार, सघ सहु आणदीया, तव वरत्यो जयजयकार ॥११॥
विहार करी वदावता, आव्या गुजर देस, श्रावक सहु आणदीया, सुणी सदगुरू उपदेश ॥१२॥
जस कीरति वाधी घणी, जसवतजीनी जाणि, जिन शासन दीपाववा, उदवषो अवनी भाण ॥१३॥
श्रीपूज्य पाटि दीपावता, ऋषि जसवंत जगि जाण, तास चउमासां गायसुं, सुणयो चतुर सुजाण ॥१४॥

राग देशाष

श्रीपूज्य सीरोही आवीया, पूज्य प्रथम चउमास
सकल सघ आणदीया, पोहोच्चि मनानी आस। १५ श्री
श्रीपूज्य बीजें बदिर षंभायति, चउमासु सार
सघ सहु उछव करि, हइउ हरष अपार। १६ श्री
पाटिण पूज्य पधारीया, प्रभू पूरण आस
भणसाली भगति करि घणी, तृतीए चउमासि।१७ श्री
उसमांपुरि चउथु करू, पाचमु षंभाइति
बुधि निधानइ बि कर्या, सविपुरि सघाति। १८ श्री
षंभाइतिं करू आठमु, श्रावक सुषकार
धर्म दीपति थइ घणी, आंबावती मझारि। १९ श्री
वदपद्र पटोधर आवीया, सघ हरख अपार
तप जप बहु लाहवा, नवमि ते सार। २० श्री
अहिमदिपुरि गुरू आवीया, दशमि सुषसार
अग्यारमि राजनगरमां, सोनी समझा अपार। २१ श्री
उसमापुरि उछव घणां, विलगतां सार
सात सात थया षंभाइति, गाता हरष अपार। २२ श्री

राग सारंग

अहिमदिपूरि पनरहवारे, पाटिण रहा नव सात
जादोरे सतमु जाणीइरे, जेहनी बहुली ष्यात। २३
सुगुण नर सेवो एह गुरू सार
जस नामि सुष अपार। सुगुण० आचली
आठ दशपी षोडइ थया रे, आगरि उगणीसमु उदार
अजमेर महिमा घणो रे, दश दशमु कर सार। २४ सुगुण०

वगडी एकवीसमु हवु रे, बावीसमु करू षभाइति
साहा नरा सील व्रत उचरेरे, जहनो जस विख्यात । २५ सुगुण०
उसमांपुरि महिमा घणो रे, त्रेवीसमि थयो सार
भवीक जन समभाय घणा रे, कहिता नावि पार । २६ सुगुण०
चउमासि चउवीसमि रे, गुदवचि गुणनो ठाम
साहा पेथड पुत्र भणि घणु रे, जेहनु रूपसीह नाम । २७ सुगुण०
पटोधर पचवीसमि रे, सवि पुर सदगुरू सार
दानादिक उछव घणा रे, वरत्यो जयजयकार । २८ सुगुण०
साल दशमु गुदवचि रह्या रे, श्रावक हर्ष अपार
रूपकुमर तिहा सज थया रे, वरवा सजम सार । २९ सुगुण०

राग सामेरी

गुदवचि नगरि उछव घणा, साह पेथड पुत्र दिक्षा तणा
तेह तणा मनोरथा पहाचि अति घणाए । ३०
रूपकुमर तव सज थया, सामग्री सहुइ गहि गया
उछव करवा सघ सहु मलाए । ३१
सवत साल पचोतरि, मागसिर श्रुदि बारसि सही करि
स्वहस्ते श्रीजसवत सजम दीएए । ३२
दिनदिन प्रति चढती कला, रूपऋषि गुणे भला
गुण निला सास्त्र सुविध भणा भलाए । ३३
पीपाडि पूज्य पधारीया, सतावीसमु घरीया
गुदवचि अठावीस पुरा थया ।३४
सीरोही सदगुरू आवइ, सघ सहु मली वधावि
गोरि गावि उगणत्रीसमि उछव थाविए । ३५
जालोरे त्रीस पुरा थया, सीध गुणे सीरोही रह्या
योग सग्रहे पाटिण पूज्य पधारीयाए । ३६
वडोदरि वारू धरी, सामग्री पोति पुण्य भरी
तेत्रीसमि सदगुरूनी सेवा करी । ३७

ढाल फागनी

सूरति सदगरू आवीया श्रीसघ हरष अपार, वधावि वर कामनी वोली जयजयकार । ३८
वोहरा हापा हरप घणो थयो वीरजी वारू विचार दानादिक विध साचवि पारिप प्रमुप उदार । ३९
वुधि निधान वुहरानपुरि सानी माणिकदास धायतादिक सघ सहु मली वादवा आवि उल्हास । ४०
सघ सहु सतोषीया पोहोती मननी आस, अतीसइ समु सहु जाणयो श्री गुरु रह्या चउमास । ४१
पात्रीसमु पूज्य आवीया आंबावती मझारि सघ सहु साता घणी उलटि अगि अपार । ४२

राग मारूणी

कोणीक राजा रजीयो, आव्या जाणी वीर जिणदजी ।
तेम सोरठ सघ हरषीउ, सुणी आगम महा मुणिदजी, श्री गुरु धन्य धन्यजी । ४३



जेहनि नामि परिमाणदजी, श्री गरू० ।
पोरिवंदिरे पूज्य पधारा, सकल सघ सुखकारी जी ।
विसा सोमजी वित्त वावरि, हुया हरष अपार जी । श्री गु० ४४
पोरवंदिरि वार त्रणि करी करीनि, मंगलपुरि वदाविजी ।
वोहरा मालजी प्रमुख सघहरपि, वदन काजि आविजी । श्री गु० ४५
वुधि नीधान दीवबदिरि आव्या, सकल सघ मनि भाव्याजी ।
नगरलोक सहु साहमा आव्या, मोतीइ थाल वधाव्याजी । श्री गु० ४६
सातत्रीसमु सदगुरुहीनि, सघ सहु सतोष्याजी ।
दानादिक वहु विधइ करीने, पज अमृत पोषाजी । श्री गु० ४७
श्री अहिमदपुरि आठत्रीस करीनइ, षंभाइति पूज्य आव्याजी ।
त्रीस नवमु एह जाणयो, सघ सहु मनि भाव्याजी । श्री गु० ४८

दुहा

षंभाइति सघ पूछी करी श्रीगुरु करि विहार, अहिमदपुरि पूज्य आवीया हुयो हरप अपार । ४९
साहा नरा सुत सरदार छइ धर्म्मीजन धर्मदाश, जिणदाश धीरदाश वषाणीइ पुरवी सहुनी आस । ५०
तास तणी आज्ञा लही सघ सुकरी विचर, ऋषि रूपसीहनि पट्ट आपीइ मुझ मनि हरष अपार । ५१
संवत सोल अठासीइ मागसिर शुदि अष्टमी सोमवार, चढति दिन चढति कला निज पद दीधु सार । ५२
श्रीपूज्य सघ तेडी करी बोला बुधि नीधान, ऋषि रूपसीहनि मानयो एह छइ गुण नीधान । ५३
श्रीपूज्य श्रीजसवंतजी आचार्य अण वीह, तास पाट दीपाववा ऋष्यापति रूपसीह । ५४

ढाल धवल धन्यासी

संवत सोलि सार अठ्यासीए अहिमदपुरि ए ।
श्रीजसवंत सुजाण अणसणनी मति उपनी ए । ५५
पुग्या पुरुष प्रधान रूप ऋषीस्वर गुण निलो ए ।
जो दीयो अनुमति आरज सथारो सघ साषि करू ए । ५६
मागसिर शुदि पुन्यम जाणि पछिम जामि अणसण करयु ए ।
श्री जसवंत सुजाण सथारो निज मुषि करो ए । ५७
स्वपखी परपखी जाणि आवि उलट अति घणो ए ।
वार वार वदेव जस महिमा बाधो घणो ए । ५८
अणसण पालीसार आठ पोहोरनु अति भलु ए ।
उगणचालीसमू सार आराधी अमर थया ए । ५९
दिन दिन दीपयो ज्यो एह चन्द्रपरि चढती कला ए ।
आचार्य उदयवत दिनकरनी परि दीपज्यो ए ।६०
धन्य पवती धनराज साहा देदा सुत वषाणी ए ।
सारि सहुना काज प्रधान पदवी तुझ भली ए ।६१

कलसलो

श्री रूप जीवजी वड लघुवरसिंघ आचार्य जसवंत ए ।
तास पाटि पेथड नदन उदयो अवकत ए । ६२

संवत सोल एकाणुंया वर्षे कार्त्तिक वदि छठि गुरू।
आवावतीइं रचा चउमासा पाठक जननि सुपकरू। ६३
श्रीपूज्य जसवत शिष्य सुन्दर ऋषिविज्जा गुण धार ए।
तास शिप्य माधव जपइ श्रीसघ जयजयकार ए। ६४

इति श्री ६ आचार्य ऋषि श्री ६ जसवतजी ना चतुर्मासा सम्पूर्ण ॥

श्री आचार्यजी ऋषि ६ जसवंत जी। तस्य शिष्य ऋषि श्री ५ विज्जाजी तस्य शिप्य ऋषि श्री ५ माधवजी तयोरंते-वासी लिखितं मुनि वीरजी पठनार्थं सुदो जय चातरया सुता बा० मवीबाई शुभं भवतु। कल्याणमस्तु ॥

४

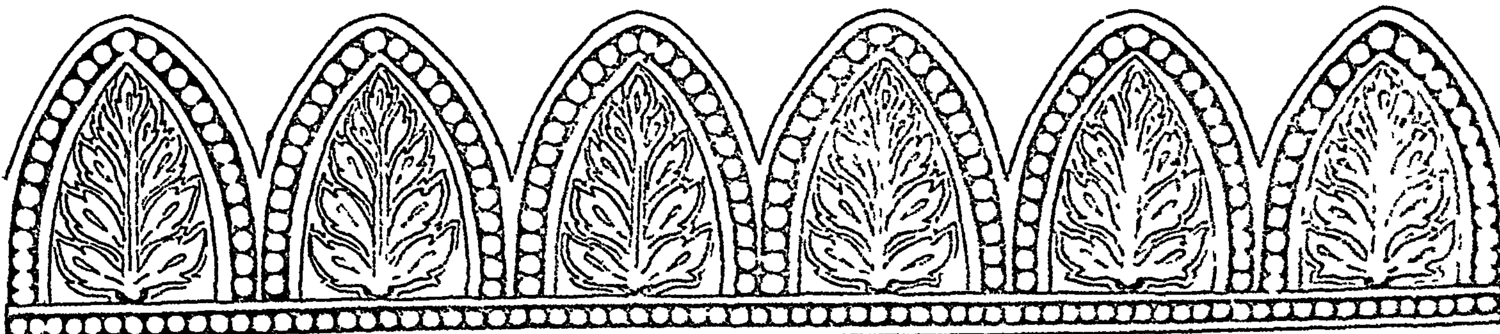
मानू रचित

रूपजी का छन्द

सरसती समरु सदा गवरी नद गणेश।
रूडें विरदिं रूपसी जसह थल जस जपेस ॥१॥
गुणसागर जस गह गहि गोतम जसडो गात्र।
रवजै प्रतपो रूपचद चावो चारित्र पात्र ॥२॥
गरवो गछ गुजरातिया गाइजें गुण जाण।
रूप सीह जिम रूपसी वचि वडे वपाण ॥३॥
पाट तपि जसवतरी जस प्रगट्यो कुल एक जीह।
दावि मोटि दाषजी दन-दन चढता दीह ॥४॥
रूप सषिसर पाट तहु जीवराज जस हाथ।
त्या आसुहु तेजपालरि गणी गण घे वोहोथ ॥५॥
वडा वरस घरा चाकसू वाचीजै वापाण।
माझी अविरल म—यु मोटा प्रसणा माण ॥६॥
वरस घ रे पाट वली वरसघ हुयो व्रीआन।
क्रीया पात्र कहीज तू नरा सिरोमणि नाम ॥७॥
तेणे पाटे परबत तणो जसडु थयो जसराज।
माझि चोरासी महि मेर समी वेड वाझ ॥८॥
तेणें वर कर रूपो थपीऊ काअम कोड वरीस।
साधा मोटो जेम सही दिन दिन आणें रीस ॥९॥

छद मोतीदाम

दिन आणें रीस लगार भूले भल लीधो सयम भार।
वचि वरी आव वडा वपाण म जेम चद मनावि आण ॥१०॥
सुण्या जसवत तणा उपदेश लीयो सयम लघु मति वेश।
पधारिया पूय गुदावि गभीर निरमल वम वडायो नीर ॥११॥
करि कर जोड वीनती कीध रुडी परि रूपमी सयम लीध।
पर हर नारि न कीधो प्रेम जस हथ जाण गउतम जेम ॥१२॥



भज भले सयम लीधो भार षरी विधि चालि षडाधार ।
वस्तु वड शास्त्र जाणे वेद भला कवि पात्रा वाला भेद ।।
सदा लगी सायर जेम सधीर हवेइ तेणी कोय न लापि हीर ।
भुजे जसराज भलायो भारि अनोपम आज वडो अणगार ।।
पीथावत पचमुषा पाणी भलो गह लूके ऊगो भाण ।
मानि तुझ आण वडा मुनिराय भलपण चारित्र हे कण भाय ।।
भुजे जसराज भलायो भार सोहे अगि सील तणो सणगार ।
पूरवं छाइ सील तो अगि सासतो साचो कियो सनाह ।
पेथाउत वेहु पपि सहो जम करइ सराह ।
परबत सुत मोटो पुरुष करणी उत्तम कीध ।
रूडा श्रीरूपसीह नी पदवी परतग दीध ।।
अविचल मूरति अष्टमी मागसिर सुद सोमवार ।
वडा वडा मलिया वरद भूज गछि लोप्या भार ।।
भूज भार सोप्यो गछनायक रूपे वधीयो रूपसी ।
प्रथीराज समम पेष पदवी जगत्र सहू कालि जिसी ।।
वे हो राय वसत दोन वाचे लाह सयम नित्य लीये ।
प्रभात श्रीरूपसींह प्रणमे वडो मुनिवर वदिये ।।
गाड जगो तिम किना गुण धर पाप सघला परहरि ।
देषिइ दरसण हु ऋतना सिषरि धरम वे पषि षरो ।।
थाचो थूलभद्र जाणि चाउ जस चरि नदिये ।
परभाति श्रीरूपसींह प्रणमे ।
वाल ब्रह्मचारी विरूद मोटो धार पग षडा धरै ।
वावीस परीसा जेणि जीप्या काम नित्य उत्तम करइ ।
ताहरी पीथड ठाणा पृथवी होड कुण हालिवी ए ।
परभाती श्रीरूपसिंह प्रण में वडो मुनिसर वदिए ।।

कलस

वडो साध वदिये मोह जिणि जीती माया ।
क्षिमा तणो भडार क्रोध नह आणि काया ।।
जसवत रो पाटवी जगत्र सघलो ही जाणें ।
काछवाछी निकलंक वडा कवि पात्र वषांणे ।।
देषीइ दरसण जाय दुष कीती काव्य मांनू कीये ।
भोजक नदा पठनार्थं । लि० मुनि भोजा

५

भोजा ऋषि प्रणीत

रूपसिंह ऋषीश्वर भास

।। पूज्य ऋषि श्री भोजराजजी गुरुभ्यो नम. ।।
राग सोरठ, ढाल काछवा नी
वादु श्रीवीरजिणिद हे सखी वादु श्री वीरजिणंद ।
जाप जपु जसवंतजी तणो जी गास्युं गच्छ सिणगार हे सखी ।।
आणद आणी अंगि अति घणो जी ।।

सेवो रूपसिंघ हे सखी युगप्रधान जसवंत जिसो जी ।
वैरागी वड भाग हे सखी कुण कहीजइ त्रिभुवन माहि तिसो जी ।
साह पेथड सुत सार है सखी मात कनकादे उरि ऊपना ।
जाणो जवूकुमार हे सखी गुणनिधान गछपति नीपना जी ।।
गुरु गौतम अवतार हे सखी जसवतजीइं पूरा परपीया जी ।
आचारिज पद आपि हे सखी सघ समीक्ष्यइ हीयडि हरखीया जी ।।
जसवंतजी जगि जाण हे सखी आठ पहोर नो अणसण आदरी जी ।
सार्या सघला काम हे सखी पाटि पट्टोधर रूपसिंघजी करी जी ।।
वरत्यौ जय-जयकार हे सखी दरसण दीठइ दोलति होइ घणी जी ।
हरख धरि मन माहि हे सखी आण मानयो सहुको एह तणीजी ।।
सुरतरु सरिषो सुजाण हे सखी पार न पामि गुरु गुण ते कही जी ।
तो मानव कुण मात है सखी गुण सपूरण वोलिजे सुहीजी ।।
श्रीरूपसिंघ ऋषिराइ हे सखी पुहवी प्रतपो अविचल ।
भोज भणइ कर जोडि नाम वपु निज गुरु तुम्ह तणुजी ।।
मेह समरइ जिम मोर हे सखी ।
तिम समरू तुम्ह नाम हे सखी हरख धरीनि गिरुया गछपति ।।
मेह तणी परि वाट हे सखी सघजी जोइ सदगुरु तुम्ह तणी जी ।
मया करी मुनिराइ हे सखी वेगइ वदावो गुरुजी गच्छ धणी जी ।।

कलशलो

श्री
तस पाटि दिनकर जिसो दीपइ श्रीरूपसिंघ वषाणीइ ।।
नर नारि भणिस्यइ अनि सुणस्यइ गछपतिना गुण घणा ।
श्रीपूज्य शिष्य कर जोडि जपइ फलइ मनोरथ तस तणा ।।
इति श्री भास सपूर्ण
लिखतं ऋषि ५ भोजाजी तस्य शिष्य ऋषि वाघा । वाई अमृतदे पठनार्थं ।।

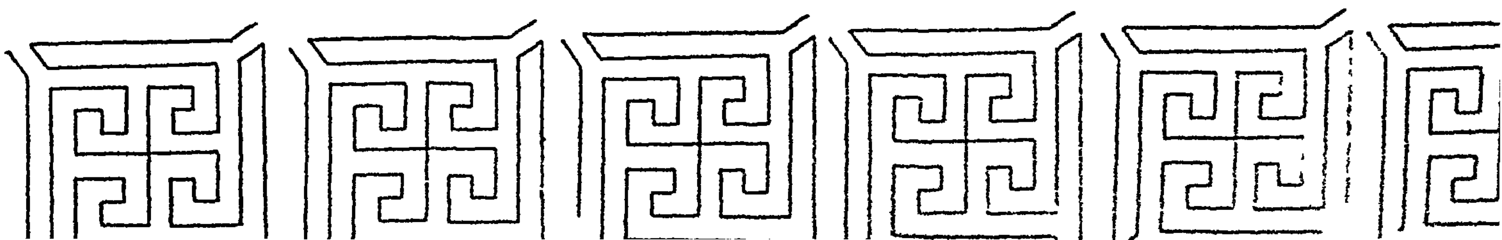
६

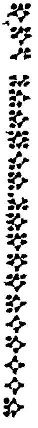
वाघ मुनि रचित

रूप ऋषि भास

ढाल धूआरिनी

प्रथम जिनेसर पाय प्रणमीनि श्रीगुरु लागुं पाइ ।
श्रीपूज्यना पट्टोधर गाऊ पात्तिक दूरि पुलाय ।।१।।
गुणायर गछपति गाइइ हो श्रीरूपसिंघ साधु सुजाण गु० आकणी ।।
ओसवंस अवनीतल उदयो साह पेथड सुत सार ।
दिनकरनी परि दीपइ दिन-दिन गुरु ज्ञान तणा भडार ।।
स्वर्ग तणा सुष सुदर अनुभवि कनकादे उरि अवतार ।
उत्तम ग्रह अनुसारि अनोपम जनम हुउ तिण वार ।।





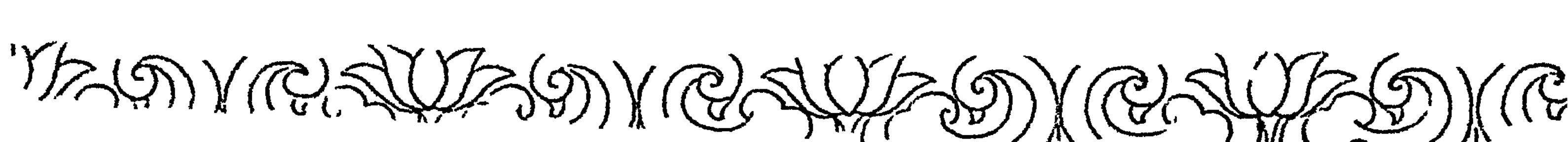
जनम महोच्छव जन सवि पोषि रूपसिह नाम उदार ।
गुण सागर गगा जलनी परि निरमल नाण अपार ।।
वालपणि वहु बुद्धि मनोहर वाणी अमीय रसाल ।
हाटक ऊपरि हार विराजइ दिनकर तेज भमाल ।।
वचन सुवारस सरिपा साभलि श्रीगुरुजी ना सार ।
मेघ तणी परि मोटि महोछवि आदर्यो उत्तम भार ।।
जनम नगर वींझेवि दीपि पुन्यवत बहु परिवार ।
गुदवच नगरि सोह् चडावी लीधोय सजम भार ।।

राग धन्यासी

संवत सोल रसाल अब्द पच्योत्तरो जाणीइ ए ।
मिंगसिर सुदि गुरुवार दस-दोइ तिथि वषाणीइ ए ।।
दिष्या देइ सार जसवंतजी जयकारीया ए ।
वदावि मारुयाडि गुज्जर देसि पधारीया ए ।।
विचरइ श्रीमुनिराइ भवि जननि प्रतिवोधता ए ।
साथि श्रीरूपसिंह बहु परिवारि सोभता ए ।।
हालार सोरठ देस विहार करी वदावीया ए ।
लाभ तणि लेइ कोडि अनुक्रमि गुज्जर आवीया ए ।।
श्रीपूज्य जसवत पद योग्य रूपसींह परषीया ए ।
अहिमदपुर मझारि सघ समिष्यइ हरपिया ए ।।
सवत ससि रस सार असीय ऊपरि आठ आगना ए ।
मिगसिर सुदि सोमवार आठिमें तिथि गुरु गुणनिला ए ।।
दे पदवी मुनि पाल अमृत वाणी उचरइ ए ।
सारु आतम काज भव जल निधि जीव निस्तरइ ए ।।

ढाल जलही नी

वचन सुणी गुरु तणा रूपसीहजी इम वोलि ।
जयवता सघ नायक विचरो जिम जिन तोलि ।।
जसवतजी जयकारीया गुण निधि गुणह भडार ।
पट्टोधरनि वुझवी अणसण उचरइ सार ।।
तेह जसवंत जाणीइ मिंगसिर सुदि सोमवार ।
पुनिमि तिथि अति निरमली अणसण कीधो उदार ।।
षमाय षमावी सघनि वलीय वचन इम वोलि ।
सिद्ध थया सवि माहरा चितव्या सुरतरु तोलि ।।
युगप्रधान रूपमाह ना करयो वहुला जतन ।
पट्टोधर नी आगिना धारयो जेम रतन ।।
इम अनेक शिष्या कही धरीय परम शुभ ध्यान ।
आठ पहोर अणसण करी पामीया अमर विमान ।।
एहवा गुणवत गुरु तणा नाम जपि नर-नारी ।
इह भवि सुप सपद लहि परभवि शिव सुपकारी ।।



जसवतजी ना पाटवी रूपसिह जी चिर जीजो
गौतम नी परि गाजता भविजन श्रीगुरु वदो ।।

कलशलो

तीरथ नायक रूप ऋपिजी जीवोजी दोइ वरहरी ।
जसवतजीनी पाटि प्रतपइ श्री रूपसीह तेजि करी ।।
जसवतजी ना शिष्य दीपइ भोजराज चचडती कला ।
तास शिष्य मुनि वाघ प्रणमि पाय पकज निर्मला ।।
।। इति श्री भास समाप्त ।।

७

सतीचद कृत

दामोदर छंद

दुहा

परम पुरुष पय अनुसरी समरू श्रीगुरू नाम, आचारय गुण गावता सीझै विछत काज ।१।
वीर जिन मध्रह भिर गति दोय हजार वरीस, विक्रे सवत वेत सुत पनरसे अठावीस ।२।
लकें पुस्तक वाचा करी जाण्यो श्रीजिनधर्म, जीव दया चित मे वसी टाल्यो मोह भ्रम ।३।
लुकागछ जगमे प्रगट पनरसें ईकतीस भाखें सजम आदरो पोती मन जगीस ।४।
प्रागवस भीमो जती नुन भोम जगमाल सरवा रूप मुणिंद पटि जीवराज उसवाल ।५।
सात मे पाटि ए व्रनमुं मरुधर देश निधान, तिहा मण्डल अजमेर गढ महिमा ईक्कउ ठान ।६।

छंद अडयल्ल

मैं देस नगर अविचल अविठाण गीरवर मेर सिपर उपमान ।
सषर कोट प्राकार सुजाण भीतर कोट वाहिर जग ठाण ।७।
विषम ठाम गढ विमान दरवाजा उचा असमान
षाजेंपीर कुवा जलपाई केसी सा रची हार गलाई । ८
नौवति सवद सदा वरदाई साहाजिहांन तणी जिहा राई ।
अदलि नाम काहावे न्याई चोडी चाड नही दुप दाई ।। ९
दिन दुनि सवको मन भाई आरियण कोइ नही तीन ठाइ ।
तीन धन धमी जीण मोटा पाघडी नर दिसें छोटा ।।
नाना विध मडप तिहा छाया नित्य नित्य उछव मगल माया ।। ११

दुहा

वावि सरोवर कूप जल पोहकरणी वोधाल । जलनिधि मोटा झालरा चोपडी चौसाल ।। १२
घरि घरि कलस सोहामणा तोरण घर घर वार । सपर वध प्रासाद पर धजा सुरग नीहार ।। १३

छद भुजंगप्रिया

जिहा वाग वाडी वगीचे वणाए जिहा रग नाटिक गीत सुहाए ।
जिहा दिज दुनी पढे छत्र नीका जिहा वस्त्र अवार व्योपार टीका ।।१४



जिहां वहुधा नायकी जैन देवा जिहा जैन सषीवे सषी केवां ।
जिहा व्रन च्यारे वसें छत्र रेवा जिहा धर्म सोभा चढी साधरेवां ।।१५
जिहा चोहटा विच नीकी विराजै जिहा साइ द्रव्येसरी व्र द छाजे ।
जिहां मस्त हाथी कीधु मेघमाला जिहा जोध जाणे कीधु कान काला ।।१६
जिहा असु चापलची मान वाला जिहा ऊट असवारी जीनसाला ।
जिहा उसवस महाराज राजे जिहा ध्रम नीसाण जाण वीर गाजे ।१७
किधु नागरी जोपुरी जोत ठाणी कीधु श्रग लीला कीधु ईस वाणी ।
जिहा पोषधसाला आछि मिठाई जिहा साह रतन वसै ध्रमधारी ।।१८
सदा साधवा साधवी प्रेम मत्तै भाया सील दानि दया रग गत्तै ।
कीधु उपमान कामदेवा विचारी कीधु अंन धनेसरा व्रतधारी ।। १९

दुहा

तस घरणी गुण आगला सतिया सिर सिरदार । रतनादे लिषमी जिसी सोभा गुण गुणकार ।। २०
तस नदन च्यारे सरस तिण मे एक प्रमाण । दांमोदर महिमा निलौ सोभागी महिमान ।। २१
सवत सोल निवामीऐ रूपा गुर गुणधार । गढ अजमेर समासर्‌या सव जीवन सुषकार ।। २२

छंद हाटकी

मैं है मागर सागर जागर आगम श्रावक रग सुरग कीयं ।
पाटवर अन सु धन धना धन जाचिक जिन वहु दान दीय ।।
कु मर दामोदर पुन्य जिसो दर वदि सदगुर पाटबीय ।
अमृतन रस वाणी सुगुरु वषाणी सुमता सयम सार दीय ।।
विहुल झमकार असार तसो जग जोवन सजम विन थय ।।
लषमी सुपन तरी भोग किसो अवा जिसो पष चदवीय ।
सुणैं उपदेश करे उर वदण आयो घर वैराग लीय ।।
अमृत रस वाणी सुगुरू वषाणी सुमता सयम सार दीय ।
माता पग लागी कहै सुवाच षिण द्यौ उनमति मुझ मान हिय ।।
सुणहि कुलवती उहि कुलमडण ए लषिण परवार हिय ।
कीजे घर घरणि सुकल उदारणि भोगवी सुष वाल कीय ।।
अमृत रस वाणी सुगुरू वषाणी सुमता सजम सार दियं ।
वलतौ कहै कु मर पाप तजै सव मारग मोष चित रचीय ।।
समझावै मात पिता गुण सुदर दीधी उनमति सुध कीय ।
सव संघ विचारी सयमधारी कीसनगढ दीषा सविय ।।

अमृत रस आंकणी— ।

चपल चपल तुरगम तेज मगल मे मत घटा रचिय ।
कारथ पायक लायक लायक ध्रोउ उदधि विनाद कीय ।।
धपमप धपमप वजे मदल सजे चचपट चचपट ताल विय
भर्र भर्रर किन्नरानदन फेरी झणण कि झणण कित विण व्रिण विवय ।
संवत निव्यासी मान विलासी जेठ सुदि पांचम लखीय ।।

थावचा जेम जमालि उछव आगम वेण यथा कथिय ।
चोवीसे साखें इणी पर भाखें धन कुष जिण अवतरीय ।।
रूपां गुरु पासे नव जण सजम चारित्त गाणी हुथ आदरीय ।
जे जे जस बोले अमृत तोलें दामोदर महिमा झिलीय ।।

दोहा

श्रीसदगुरू नी सेवा करे सीखे अर्थ विचार, छद तरक परवीण गुण व्याकरणादिक सार ।
चवदे विदा अविस बहोतर कला प्रधान, सोभागी महिमा निलो ग्यान दै रहै लीन ।।
संवत सोल सताणुवे आषाढे शनिवार, विधनादिक पदवी रची कीसनगढ सुविचार ।

छद अडयल

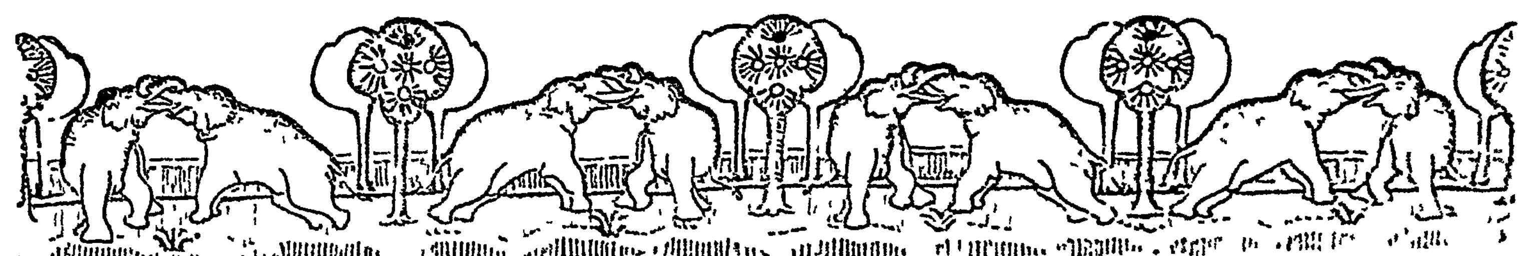
तो रूपा गुरु सुन्दर धर्म धुरधर थाप्यो निज पटधार ।
दामोदर नीको दीधो टीकौ रूपा सवै गछ भार ।।
श्रावक महिमा मागर कलासागर वेणीदास उदार ।
उच्छव बहु किधा वछित सीधा भरिया पुन्य भडार ।।
महिमा जग भीतर आणदनि पर सघ सवै सिरदार ।
गछपति सुपकारी जग हितकारी दामोदर दिनकार ।।
व्रत पाच सिषावे सुमति चढावें दशविध धरम प्रकार ।
सतरे विध सयम तिर्थं जगम पचे पचाचार ।।
नौविध भ्रमचारी उग्रविहारी दूरें दोप अढार ।
सपति गुण पुरा तेज सनूरा निरदोपण आहार ।।
तिहु गुपतें पिवित्र मगह चित्रा त्यागे विपय विकार ।
मनथ मद धुरा सील सनुरा जिन सासन सिरदार ।।
क्रोधा विकथा टालै भव अजुवालै सोहै गुण छत्तीस ।
बारौ तप तापन भावन भावन लक्षण अग वत्रीस ।।
मुनिवर वड प्रत्तमा द्वादश धर्मा धिन धिन तो पोहवीस
भवि जिन जे वदे ते चिर नदे पौहचै मन जगीस ।।
पावन पुरूषोत्तम पोहवी उत्तिम तरण तारण ससार ।
गोइम जिम ग्यानी मधुरा वाणी केसी गोयम तीर ।।
ठकर जस करणी पुन्यम भरणी समता रस भडार ।
रतना कुल मडण कुमति निषडण जगजीवन अणगार ।।

दोहा

जग तारण जग उद्धरण श्रीधनराज उजीर, मानु श्रीजिन वीर के गोतिम नाम सधीर ।
गछ नायक गुणवत नर अति सेवत मुणिंद, महिमा महियल विस्तरी जागें जोति जिणद ।।
ज्ञान जोति जगमग जगी वटालें कर्म्म दद्दुल । कुमति विडारण केहरी बालां बोल अमोल ।

छंद नाराचक

सुकाम धाम ईस वीस ग्यान ध्यान सोही ए ।
निरद इद भूप चद दुप विभ मोही ए ।।



ईग्यार अग बार उपाग च्यार मूल देखी ए।
सिद्धात सार व्रत धार साध व्रत पेखी ए॥
चलत मतिज्ञान वत पाप दुरि छेद ए।
करती लील सुध सील आठ कर्म्म मोडी ए॥
अमा मुणद सुषकद भवि जीव लोडी ए।
अनार बीज दत दतरीह जेम लक ए॥
षमा दया सुरग सत राग मेंडी षेदि ए।
चलत सत चाल दोष नाग हस सक ए॥
सुचिल चिल कामगार ध्यान ईसरो।
समेर मान इद्रराज पूज्यजी मुनीसरो॥
रूप पेहे हीर गगनीर कामनाथ सक ए।
दामोदरा महा मुणिद सान पान रग ए॥

दुहा

जातवत कुलवत लज्जावत दयाल। त्रिने वत सरूप तन लाघव सगुण मयाल॥
जिनसासन उद्योत कर वहुश्रुत वहु परिवार। मन मोहन गुण आगलौ जिनसासन सिणगार॥

छंद त्रिभंगी

उदय-उदय जिणद देव सारत सुरद सेव ।
मानसूते नितमेव हरष भरे मडल अधिकवान॥
सरज धरे अचल माण मुणद छाजत गणि प्रधान तपहु निधान।
काग दी घनो बलद सो हम कीधो जिणद धरम धरै।
सेवो-सेवो हैं सवे गुरू पाय दूहवो दरग जाय सपत सत थाय विविध परै।
कीधो काहुसु गुरू गुरूं उदधि सुग्यान धरू सुकृत करू मुसर सरे॥
कीधो काहु इदराज सारित्त भपिक काज धरम पान सरग सरो।
कीधो काहु रामचद काम धूरि कद भारत भरम कद पवन पुरो॥
कीधो काहु गगाजल टारत करम मल कीधो काहु वल ध्यान धरू।
कीधो जगदीश पुरित जग जगीश सकम विपम बीस अनहरे॥
सोवन-सोवन वानि छाजित गणि प्रधान अमृत सरे
जव लगी शशी सूर गाजत उदधि पुर सुगुरू सेवक भ्रम उर-हेस जिमानसर प्रेम भरै।
प्रेपत सुगुरु सुप पावन अनत सुष मेटत दूरे सुष परसपरे।

कलस

सीयल सिद्ध दातार दुरित दारिद विहडण।
लुँकागच्छ सिणगार कुमति मिथ्यामति षडण॥
आचार्य गुणवत पूज्य दामोदर सूणीए।
तस सासन गुणधार सगुरू पेम रपि सुप सपति तिनको वरणी।
सतीचंद साध सदगुरू अचल जा दानी करति सीहर घरणी॥

इति दामोदर छद



८

रवि मुनि रचित

आचार्य श्री केशवजी ऋषि भास

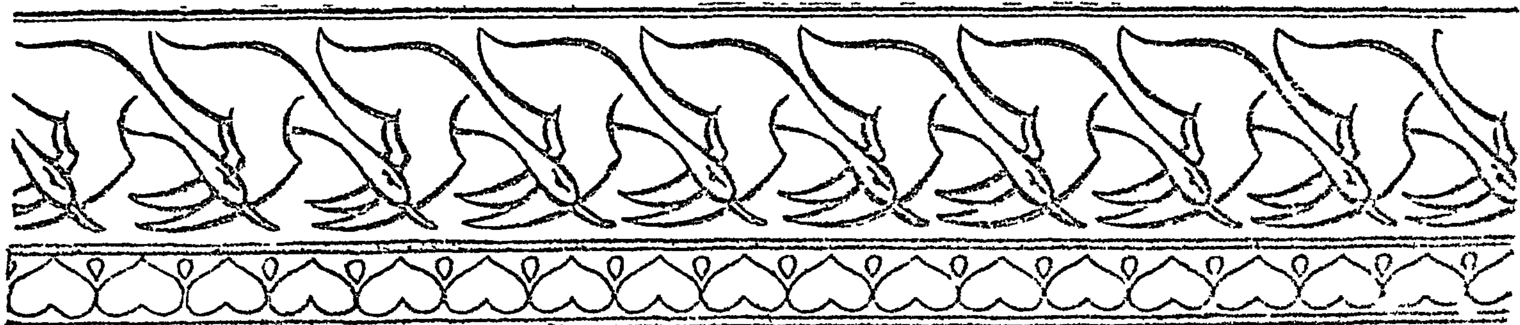
गुरु गुण गाईये रे श्री केशवजी गुणधार।
प्रवल प्रताप पुन्ये जेहनो सहु जाणइ ससार ।। गुरु गुण १ ।।
श्री जिनवर पाटि सुषकारी जिम सोहम गणधार।
तिम श्रीपूज्ये क्रमसीह पटोधर दुषहरण सुषकार ।। गु० २ ।।
सुमति गुपति गुण अगइ सोभित षट्जीवन हितकार।
कुमति मिथ्यात्व तिमिर दल चूरण नेम जाणइ दिनकार ।। गु० ३ ।।
सुरपत्य वाहण अरि कुण कहिये सामिनी तस भरतार।
मुष मडण वाधव मुत पेत्ती सा सोहइ ऋषि सार ।। गु० ४ ।।
जिम जगती धरतीपते तिम गुरु गुण गभीर उदार।
सीहने ताकुले कीरतीकारी नवरग देउरे अवतार ।। गु० ५ ।।
जनपद माहि सोहइ जिम मरूधर जायतारणें जयकार।
सघ सवे दरसण इम वछइ कोईल जिम सहकार ।। गु० ६ ।।
जिहा लगी उडुपति दिनकर तिहा लगै प्रतपो श्रीगुरु सार।
मानूं दास सेष गुण श्रीगुरुना रविमुनि कहइ अपार ।।७।।

९

राजसिंह रचित

केशवजी भास (अपूर्ण)

श्री सूरती ...
श्री सूरति नयर सिणगार ।।५।।
वोहरा श्री वीरजी सघ सिरोमणि, पुण्यवत वहु परिवार।
श्रीपूज्यजी नो वचन विचारी, करिय पद महोछव सुविचार ।।६।।
अनुक्रमि गुरु विहार करता, गुजर मरुधर सार।
मेदपाट मालवनइ सोरठ, सिंघ सतोपी सुविचार ।।७।।
सूरति नगरि सिंघ सिरोमणि, वोहरा सुत वहु परिवार।
श्री सि सेवा करइ गुरु नी, दिन-दिन अधिक आणद ।।८।।
मन सुधइ सेवा करता सदा पामइ परमानन्द।
सेवा करइ सद् गुरु नी साह पुनसी गुण निवास ।।९।।
साह कर्मचन्द नी वीनती ए भास रचि अति उल्लास।
श्रीपूज्यजी केशवजी गुणागुर वहु गणा निवास।
तास सेवक राजसिंह इम जपइ आणी अगि उल्लाहास।
लि० ऋषि वस्तपाल । वाई मेघवा पठनार्थं।



१०

देवमुनि रचित

आचार्य तेजसिंह भास

ढाल चूनडी नी

शान्ति जिणेसर सुखकरु प्रणमु अहनिसि पायो रे।
श्रीगुरुना गुण गावता सुख सपति घर थायो रे।
श्री तेजसिंह गुरु सेवियै ॥१॥
इला माहे अति शोभतो नगरा महि सिरदारो रे।
साह लखमण तिहा वसे नगर पंचेटीयो सारो रे ॥२॥
तस घर लखमा दे सति जायो सुत कुल चन्दो रे।
दिन-दिन अति शोभा करु तेजें करी दिणदो रे ॥३॥
अनुक्रमे दीक्षा आदरी श्रीपूज्यजी ने पासो रे।
व्याकरणादिक सहु भण्या आगम अरथ अभ्यासो रे ॥४॥
सूरति वहोरा वीरजी पद दीधो गुण पेखो रे।
सघ सकल सेवे सदा वधते भाव विशेपो रे ॥५॥
व्यवहार करता आवीया सीरोही सुखदायो रे।
चरण-कमल श्रीगुरु तणा प्रणम्यां पाप पुलायो रे ॥६॥
संवत-सतरै बैतालीसै सीरोही चौमासो रे।
सकल सघनी वीनती देवमुनि कहे भासो रे ॥७॥

११

आचार्य श्रीतेजसिंह भास (अपूर्ण)

ढाल फागनी

श्रीपारस प्रणमु मुदा हो गावा गुण गछ राय।
श्रीपूज्य श्रीगुरु तेजसी हो नाम जप्या सुख थाय ॥
धन्य धन्य श्रीगुरु तेजसी हो ॥१॥

उतपति मरुधर जाणिइ हो पाचेटीयो पुर ठाम।
उसवंश कुल सु दरु हो लखमणसी शुभ नाम हो ॥२॥

तसु सुत श्रीतेजसिंहजी हो लखमादे प्रभु माय।
लघु वयसें सजमि जिणि लीद्धो श्रीपूज्य केशव पाय ॥३॥

खभायति चौमासें श्रीगुरु पूरे संघ मनि खति।
वदन कमल देखि हरखज पामें कोकिल मास वसत ॥५॥

गौतमनी परि श्रीगुरु वाचै जिनवर वचन विचार।
श्रवणे सुणीनै सघ करै हो दान शियल तप सार ॥६॥

१२

रविमुनि रचित

आचार्य श्रीतेजसी भास

म्हारी सही रे समाणी, ए देशी

प्रथम नमी जिन पाय सुमति ना तो गुण गाउ गच्छपतिना रे ।
माहरो गुरु रे वैरागी श्रीतेजसिंहजी सुगण सुजाता तो । नाम लही सुखसाता रे माहरो ।।१।।
गुरु रे वैरागी अनइ रागी गुणना तो सुदर साध सोभागी रे माहरो, आकणी ।
वदन सोहइ जिम पुन्यमचद तो दीठा हो ए आनन्द रे माहरो ।
नयन कमल सम सोभाकारी तो सपदा सहु अति सारी रे ।।२।।
बाल-ब्रह्मचारी सदा सुखकारी तो श्रीपतिजी नो पट्टधारी रे मा० ।
सरस सुधारस सारसी वाणी तो सुणता रीझइ बहु प्राणी रे मा० ।।३।।
साह लखमण सुत वसुधा विख्याता तो करणी अधिक तुम्हारी रे मा० ।।४।।
तप सयम गुण अधिको अगि तो सत्य सवेग धरइ रगी रे ।
नय निगमादिक न्याय विचारी तो आगम अरथ सुधारी रे ।।५।।
युगतिवत देखी बहु अन्य तो सहु को कहइ धन्य धन्य रे ।
सरस बखाण कला जन पेखी तो प्रसरइ गुरजीनी निरखी रे ।।६।।
पार न पामु हु गुण प्रभुजीना तो गुण अनन्त गुरुजीना रे ।
सुदर सुरति नयर सुहावइ तो रविमुनि तुम्ह गुण गावइ रे ।।७।।

।। इति भास समाप्त ।।

लेखन काल स० १७३२ पोष वदी १ रविवार ।

१३

देवमुनि रचित

आचार्य श्री कानजी भास

ढाल बिंदलानी

प्रथम नमु जिन पाय गुण गावु तास पसाय हो ।
गुरु नें भाषणडें श्रीपूज्यना, पटधार नामे कांहन उदार हो गुरु० ।।१।।
मरुधर देश मझार नड्डुलाई नयर सिरदार हो गु० ।
कचरा तात सुखदाई जगीसा गुरुजी नी माई हो गुरु० ।।२।।
वाल पणे व्रत, लीधो श्रीपूज्यजी निज कर दीद्धो हो गुरु० ।
सिद्धान्त भण्या न्याय सार व्याकरण काव्य विचार हो गुरु० ।।३।।
सूरत नयर पद दीधो पूरवली पैरे कीधो हो गुरु० ।
वरसंघ वरसंघ दीठो वरसंघ जसवंत कीद्धो हो गुरु० ।।४।।
श्रीपूज्यजी एम विचारी कीद्धा निज पटधारी हो गुरु० ।
अविचल जोडी जग माहि जेहने वाद्या अति सुख थाय हो गुरु० ।।५।।
सघनी विनती जाणी श्रीपूज्यजी चित्तमा आणी हो गुरु० ।
खंबावती नयरे आया सकल सघ सुख पाया हो गुरु० ।।६।।



संवत छैंताले उल्लास खंभायति नयर चौमास हो ।
देवमुनि गुरु नामे भणतां सुख पाम हो गुरु० ॥७॥

सवत १७७१ मे प्रतिलिपित एक गुटके मे निम्न पद्य है, जिसके लिपिकार आचार्य श्रीतेजसिंह के शिष्य वेलजी है—

१४

सोरठ देश शिरोमणि जानत आवत तेज लको पटधारी ।
संघ सकल जू मोती वधावत गावत गीत बडी वहु नारी ॥
वखाण सुनाजत सघ रिझावत दीपत तेज तपे दुय तारी ।
कान्हकी कीरति चद जू गावत पावत हे सुख सपति प्यारी ॥

१५

आचार्य श्री तेजसिह रचित

गुरु-गुणमाला भास

१

राग धन्यासी, ढाल तु मेरे मन तु अभिनदन देवा,
राग रामकली, ढाल अवर दे हो मुरारी ।
लकें जिन वचननी लवध ते पाई,
पोरवाड सिद्ध पाटण मे लका नामे लुंका कहाई,
लके जिन वचन नी लबध ते पाई ॥१॥
संवत पनर अठ्यावीसे वडगच्छ सूत्र सिद्धान्त लिखाई ।
लिखी परति दोई एक आप राखी एक दिये गुरु ने ले जाई ॥२॥
दोय वरस सूत्र अर्थ सर्व समझी धर्म विध सघ नें वताई ।
लके मूल मिथ्यात उथापी देव गुरु धर्म समझाई ॥३॥
त्रीसे वीर राशि ग्रह भस्म उतरतां, जिम वीर कह्यौ तिम थाई ।
उदे-उदे पूजा जिनशासन नी, ति दया धर्म दीपाई ॥४॥
इगत्रीसे भाणाजी ए सजम लेई लुंकागच्छे आदि जति थाई ।
लुंकागच्छे नी उतपति इण विधें, कहे तेजसंघ समझाई ॥५॥
इति गच्छ संबंध भास

२

ढाल अवसर अनज छे रे भाई,
लुंकागच्छ आदि थया अधिकारी,
भाणां भीदा नून भीम जगमाल साध सरवा सुविचारी ।
भगवंत भाख्यौ तिणे सरव राख्या, दया धरम चित धारी ॥
केशी गौतम नी परि मिलिनैं विचार्यो सुध आचारी ॥
विनयादिक विवेक सव विधिसु करो जिन वचन विचारी ॥
देश-देशना श्रावक समझाव्या, थया सवे उग्र विहारी ।
संवत पनर पेंसटे लुंकाथी विजे कीधी विध न्यारी ॥

विजामति तिणें नाम कहायो जाणो सुजाण विचारी।
साध-साधवी सहस्र दोय सस्या, श्रावक वहु धनधारी ॥
अठतीस वर्ष इणि परि विचर्या पछै रूपऋषि थया गणधारी।

३

रूप ऋषि भास

राग धन्यासी तथा सोरठ

ढाल रावण रे तोकु कवण मति आई,
रूपा ऋषि सरवण नो सिणगारी,
देवो पिता मात मिरधाई जाया पनर अयालें सुखकारी। रूपा०।
पनर अठसठ माही पून्यम स्वयमेव सजमधारी ॥
मोदिक पात्र सासूए मूक्यौ गच्छ वघेज सुकन विचारी।
तिण समे सहु साध-साधवी श्रावक वहु धनधारी ॥
पद देई पाटण गछ थाप्यो जिनशासन जयकारी।
पनर अठ्यौत्तरें जीवजी ने सजम पद दे किया पटधारी ॥
सात वरस गणि साथे विचर्या समझाव्या वहु नरनारी।
महा पन्नवणां उदे ग्रथ माहे आगम कह्यो ते उदारी ॥
रूपा जीवाना भेद आचरिया थया तेजउ विचारी।
चोरासी गच्छ माहे केई गछना थया उग्र विहारी ॥
ज्ञान ध्यान तप तेहनो देखी थिर थया श्रावक तिण वारी।
लुंका नागोरी पनरसें असीइ जूदा थया नागोर मझारी ॥
हीरो आचार्य थयो तेणि चौदस पाखीमा निवारी।
उतराध देसे गछ उतराधी ते जूदा थया तेण वारी ॥
साथ सरवानो परिवार सघलो लुंका विरुद नामधारी।
पनर पच्यासीए रूपऋष अणसण दिन पचवीस चउविहारी ॥
अणसणमा उदोत कियो देवे सातवार जाणे ते ससारी।
पचवीस ग्रीहावास वर्ष वली सतरे साध सजमपदधारी ॥
वरस सर्व आयु पाली थया देव स्वर्ग मझारी ॥

४

जीवजी भास

राग धन्यासी, काफी,

जीव ऋषि सासन उदयो दिणदा जीव ऋपि जिणदा।
पंनर पंच्यासे कपूराई जनम्या दोषी तेजपाल फूलचंद ॥ जीव० १ ॥
अढसठ माह सुदि पचमी दिवसे सजम मन मानदा।
तिणे समे रूपऋषि पदवी देता धन विलस्या लाख लेखता जी ॥ जीव० २ ॥
विहार कर्यो जीवजीए जिण देशै समझाव्या नर-नारिंदा।
सोल बारोत्तर वैशाख सुदि सातम, जीवें वरसध ने पद देहीं ॥ जीव ० ३ ॥



वरस भाभेरा गणि दोय विचर्या, धर्मनो ध्यान धरंदा।
तेरोत्तरै जेठ सुदि सोमे जीवजीए अणसण लेदां ॥ जीव० ४ ॥
अठयावीस गृहवास वर्ष पेंत्रीस सजम पद पालदा।
पच दिन चौविहार त्रेसठ वर्ष आयु पाली पाम्या सुर तेज वृंदा ॥ जीव० ५ ॥

५

वडा वरसंघजी भास

राग धन्यासी, गौडी,

ढाल आवे माई व्रज ललना दुख मोचना

वरसंघजी जीवजीनां पटधार,
सोरठ देश पाटण पिता सुमिया कस्तूरां कूख अवतार ॥ वर० १ ॥
संवत पनर चौंसठ जनमा खित्यासीइं संजम धार।
सोल वौरोत्तरे सिसुमति नीकल्या अविधकारी अपार ॥ वर० २ ॥
वरसघ सु विरूद्ध करीनें सिसुधन नाम गणिधार।
लका सा पॉचा सा विजा सरवा कडूआ धरमा मनधार ॥ वर० ३ ॥
ब्रह्मा कोथलिया साकर टाकरिया सिसुमति सु थया वार।
सवे चवदिस पासे वेठा पडिकमणो वजे हीर कुल मान्यौ ॥ वर० ४ ॥
आकार सरवे देश कडूइं गृह वेसइ ? धर्मो नामा धनो धार।
कोथलीए पोसो कोथली मे ब्रह्मा मति मान्यौ नमस्कार ॥ वर० ५ ॥
साकरीइं व्रतठाकरीइं समकित सिसुए मान्यौ सूत्र विवहार।
वारे मत एक स्थिर परुपणा जो रह्या हुत तिणवार ॥ वर० ६ ॥
वर्द्धमान उहीपरि लुंका तो वधे गच्छ विस्तार।
चद्रगुपति चद्र छिद्र दीठा फल कह्यौ पूरवधार ॥ वर० ७ ॥
शासनमा वहु मति-मता, रे ए लक्षण पचम आर।
मत गया केई मत जासे थिर थडनो विस्तार ॥ वर० ८ ॥
एकवीस सहस लगी आरा रहसी अति दुप्पसें नाम गणधार।
वरसंघजी ए वरसंघजी नें सत्तावीसे दियो गच्छ भार ॥ वर० ९ ॥
सतर वरसे वे साथे विचर्या आव्या खंभायति नयर मभार।
वड वरसघजी सोले चामासें अणसण अग उदार ॥ वर० १० ॥
सिसुधन पखथी श्रीपति सघ सघातें वादी आण मानी व्रतवार।
गृहावास त्रैवीस सजम सतावन वत्रीस वरस पटधार ॥ वर० ११ ॥
आठ पोहर अणसण असी वर्ष आयु, पाली लियो सुर अवतार ॥

६

लघु वरसंघजी भास

राग धन्यासी, कल्याण,

ढाल आज माई रग दे,

वरसंघजी पाट वरसंघ कहाजै,
पनर निव्यासीइं मुदरी जाय भाडण सा तात वीजें ॥ वर० १ ॥

सोलछके संजम ले विचरिइ, सत्तावीसें गणि पद लीजें।
विचरता वर्ष साठे चिंतव्यो कौन हिवे पद थापीजें ॥ वर० २ ॥
रात्रे देव सुपन माहे कहियो पर्वत सुत पद दीजै।
अगुणपचासै जसवतजीनें दीक्षा दे पद ठवीजै ॥ वर० ३ ॥
वार वरस भाझेरा गणी वे विचर्या ने हव दीजै ।
सोले बासठे माहि पुन्य जे अणसण अंगि आदरीजे ॥ वर० ४ ॥
सोल गृहवास सोल वर्ष सजम पेंत्रीस पद पालीजे।
बोहोत्तेर वर्षनो आयु पाली पाम्या स्वर्ग सहीजै ॥ वर० ५ ॥

७

आचार्य जसवंतजी-भास

राग धन्यासी, नट
ढाल पीया तेरे अखिया उपर वारी,

जसवंतजीइं जग माहे जश पायो,
चौरासी गछ माहे जस चावो सगले देस सवायो ॥ जस० १ ॥
पर्वत पिता सहोदर माता सोलें चोत्रीसे जायो।
उगणपंचासे सयम लेई पद त्रीसी दिने आयो ॥ जस० २ ॥
सोल अठ्यासीए मगसिर पुन्यम रूपसाहजी ने पद ठायो ।
मिगसिर वदि बीज बुद्धे अणसण, आराधी देव पद पायो ॥ जस० ३ ॥
सोल गृहावास वर्ष अठत्रीस ने सजम पद धरायो।
चोपन वरस सर्वे आयु पाल्यौ गणि तेजसघ गुण गायो ॥ जस० ४ ॥

८

रूपसाह भास

राग धन्यासी, सारग,
ढाल रे वनचर कौन देश थैं आयौ

जसवतजी पाट पर रूपसाह नीको,
जसनो जिहाज जाणी जसवतजी दियो आचार्य पद टीको ॥ जस० १ ॥
पिथड पिता कनकाई जनमो सोले अठाणवे कीको ।
सजम पच्योत्तरे सोल अठ्यासी घणी थयो गणि पदवीको ॥ जस० २ ॥
सोल छन्नुइ अणसण कीधो पच्चख्खाण भात पाणीको।
दामोदर ने पद देई देव पद पाम्या जग माहे जस जाको ॥ जस० ३ ॥
सतर गृहावासइ इकवीस सजम सात वर्ष आयु पदवीको।
अठवीस वर्षनो आयु जाणी कहे तेजस्मिह रूपसाह को ॥ जस० ४ ॥



९

आचार्य दामोदर और कर्मसिंह का भास

राग धन्यासी तथा सामेरी

ढाल दीनानाथ भमर कमल विनु झूरें

कर्मसिंह दामोदर वे भाई,
पाचमे आरे वे पुण्यवत उपना, वेहु जणे गणि पद पाई ।। कर्म० १ ।।
उगणोत्तरे रतनादे जनम्यो कर्मसिंह वहोत्तर दामोदर भाई ।
अठासीइ नवासीइं संजम महोछव कियो रतने साह सवाई ।। कर्म० २ ।।
सोल छिन्नुइं वे भाई पद पाम्या, पहिला नाने पछै वडे भाई ।
मास दामोदर वर्ष एक कर्मसी अति अणसण अगि आई ।। कर्म० ३ ।।
दामोदर सोल गृह आठ वर्ष सयम, त्रेवीस वर्षे स्वर्ग जाई ।
तिण समे धनराज कर्मसिंह थी जूदो गणि नाम धराई ।। कर्म० ४ ।।
सोल सताणु खंभायति अणसण कर्यो केशवने पद ठवाई ।
सतर गृहे दिक्षा सतावीस वर्ष आइयु पाली सुर थाई ।। कर्म० ५ ।।

१०

आचार्य केशव जी भास

राग धन्यासी तथा ललित

ढाल जागि अव भोर भयो नाभि के नंदा

श्री केशवजी सघ सेवे मन भायो,
सतर वरसे सघ साथे धनराज मेल करवा पासे आयो श्री केशवजी० १ ।।
नेतसी पिता नवरंगदे, सोलसे पचोत्तेरे जायो ।
निव्यासीइ नवसु सजम लेई सत्ताणुइं गणि पद पायो ।। श्रीकेश० २ ।।
विचरता तेरोत्तेरे सवच्छर सुरति नयर सोहायो ।
वोरा वीरजो विचार करीनई धनराजजीने तेडायो ।। श्रीकेश० ३ ।।
मेल करता मनोरथ फलिया लालमण पाए आयो ।
तिन थिवर गछमाहे आया सघले जस सवायो ।। श्रीकेश० ४ ।।
सतर वीसोतरै जेठ वदि नवमी कोलदे अणसण ठायो ।
त्यारे वोरा वीरजी ने नामे लखि ने, गच्छनो भार भलायो ।। श्रीकेश० ५ ।।
चउद गृहावास वत्रीस सजम में वरस त्रेवीस पद धरायो ।
वरस छेतालीस सरव आयु पाली स्वर्गे थयो सुर रायो ।। श्रीकेश० ६ ।।

११

राग धन्यासी

हमारे दोलति गुरुनी दयाथी,
श्रीकेशवजी नी धुरथी कपा मोटी महिमा गुरुनी मयाथी ।। हमारे० १ ।।
संवत सतर एकत्रीसें संवछर वोरा वीरजी हीयाती ।
वैसाख सुदि ७ सातम बुधवारे गच्छ भलाव्यो गुरुना कह्याथी ।। हमारे० २ ।।



सघ वदावता धर्मनो महिमा गुरुभाई सु सतोप थयाथी ।
गणि तेगसिंघनें सुगुरु प्रसादें सरव सपति सुख सयाथी ।। हमारे० ३ ।।
पूरवे पचपाट विद्ध जाणी विचार्या मन नी मयाथी ।
कानजी मे पीतासम कीधो गणि तेजसिंघ पासे रह्याथी ।। हमारे ४ ।।
स वत सतर त्रैंतालीसै स ंवच्छर चौमासो सूरति थयाथी ।
दिन-दिन दौलति अधिकी दीसैं दुसमन दोप गया थी ।। हमारे ५ ।।

कलशलौ

लुंकागच्छ उतपति कही ते सत्य सघ सेवे साभलौ सही ।
वली साध सारा गुण भडारा थया पटनाम ते कही ।।
वली वाट पाटोधर धरम धुरधर गाम नामे सवे कह्या ।
तेहना पोच कल्याणक माता पिता नाम जाणी परम्पराए लह्या ।।
स ंवत सतर एकावनां सवछर दीवनगर चोमासए ।
ए भण गुणें जे कहे गणि तेजसिंघ तस घर सपति सुखवासए ।।
इति श्रीगुरु-गुणमाला भास सम्पूर्णं ।। सर्वगाथा ६६ ।।

इस प्रति मे अतिम एक और सामूहिक गीत है जो इस प्रकार है—

राग देशाख

लवधवत लुका सही श्रावक समझाव्या ।
सिद्धान्त वचन सुणाविने मिथ्यात मुकाया ।। ल० १ ।।
असयत पूजन उथापिनें दया धर्म दीपाव्या ।
साते आतरैं जिम जिणे मिथ्यात मिटाया ।। ल० २ ।।
भाण भीम दनु भीमजी जगमल मुनि सरवा ।
रूपऋषि सजम लियो भवसायर तरवा ।।ल० ३ ।।
तस पाटे जीवऋषि थया पाटे वरसंघ जाणे ।
वरसंघ तस पाट वली माने सहु सघ आण ।।ल० ४ ।।
जसवंत रूप दामोदरू कर्मसिंह कुल भाण ।
तस पाट केशव गणि तेज अधिके वान ।। ल० ५ ।।

इन ऐतिहासिक स्फुट गीतो के अतिरिक्त भी स्वामी श्रीजेठमलजी द्वारा अहमदावाद के किसी अग्रेज उच्च अधिकारी को प्रेषित पत्र प्राप्त है पर स्थानाभाव के कारण उसे अविकल रूप से उद्‌धृत करना सभव नही

अन्त मे लोकाशाह के अनुगामियो से निवेदन करना चाहूँगा कि वे इतस्तत विशृंखलित महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर अपने पूरे इतिवृत्त के प्रकाशन पर ध्यान दे मेरा विश्वास है यदि ऐसा किया गया तो अनेक मूल्यवान् नव्य और भव्य तथ्य प्रकाश मे आने की पूर्ण सभावना है







मुनि श्रीहजारीमल स्मृति-ग्रंथ

दर्शन और धर्म

द्वितीय अध्याय



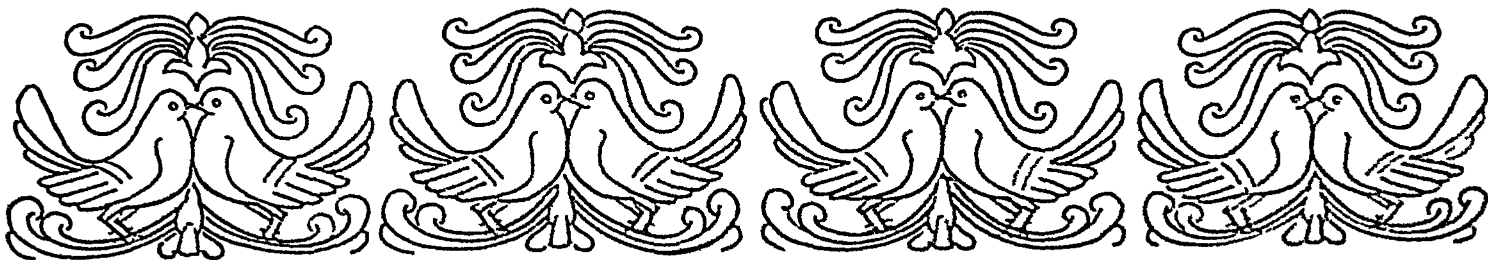
श्री ज्ञान भारिल्ल, एम० ए०

अनन्य और अपराजेय जैनदर्शन

जैनदर्शन इस विश्व मे आज तक प्रचलित और प्रतिपादित हुए समस्त दर्शनो मे अद्भुत, अनन्य और अपराजेय है- इस ससार का वह सर्वश्रेष्ठ दर्शन है इस कथन की सत्यता उन सुधी और धैर्यवान् पाठको के समक्ष स्पष्ट हुए विना नही रह सकती जो वास्तव मे सत्य के अन्वेषी है और जो तटस्थ भाव से, किसी भी पूर्वाग्रह से रहित होकर जैनदर्शन के विषय मे जानना चाहते है इससे पूर्व कि हम इस निवन्ध मे जैनदर्शन की उन विशेषताओ पर विचार करें जो अन्य किसी भी दर्शन में हमे देखने को नही मिलती, इतना स्पष्ट कर देना अनिवार्य है कि हमारी इस विचारणा के पीछे शुद्ध सत्य और वास्तविकता के ज्ञान की भावना ही है, किसी अन्य धर्म के प्रति उपेक्षा या ईर्ष्या का लेश मात्र भी नही है एक-एक तथ्य जो इस निवन्ध मे प्रस्तुत किया जा रहा है, उसे देख कर पाठक स्वय भी ऐसा ही अनुभव करेंगे—ऐसा हमारा विश्वास है

कभी-कभी एक विचित्र प्रश्न पूछा जाता है यदि जैनदर्शन ऐसा श्रेष्ठ है, इतना सम्पूर्ण दर्शन है, तो फिर उसका अनुसरण करनेवाले व्यक्तियो की सख्या इतनी कम क्यो है ? इस प्रश्न का उत्तर सीधा और स्पष्ट है मनुष्य का स्वभाव है कि वह कठिनाई से वचना चाहता है और सरल मार्ग पर चल निकलना है आज के इस स्व-केन्द्रित भौतिक युग मे तो यह प्रवृत्ति अपने चरम-विन्दु पर है आज का भौतिकवादी मनुष्य-समाज अपने लिए और इस ससार के इस जीवन के लिए सारी सुख-सुविधाएँ वटोर लेना चाहता है और उसमे अपने जीवन की चरम सार्थकता समझता है, जव कि जैनदर्शन, स्वार्थ से परे परमार्थ और सत्य की ओर दृष्टि रखता है, मनुष्य को त्याग के मार्ग की ओर सकेत करता है और भौतिक नही, आध्यात्मिक सुख प्रदान करने का मार्ग है यही कारण है कि आज जैनदर्शन के अनुयायियो की और जैनदर्शन को समझने और स्वीकार करनेवालो की सख्या न केवल कम है, वल्कि प्रतिदिन कम होती जा रही है यह असमर्थता, अयोग्यता और दुर्भाग्य आज के भौतिकवादी मनुष्य का है,—दर्शन अथवा धर्म की स्थिति इसमे परिवर्तित नही होती वल्कि इससे यही प्रमाणित होता है कि यह दर्शन कोई काम चलाऊ दर्शन नही, हमारे सासारिक स्वार्थो की पूर्ति के लिए ओढ ली गई कोई वनावटी नकाब नही—यह वह ठोस, दृढ और अचल आधार है जिसके सहारे आगे वढकर और ऊपर चढकर हम अपने वास्तविक और अन्तिम लक्ष्य—आध्यात्मिक विकास और सम्पूर्ण आत्मविशुद्धि तक पहुँच सकते है

और यह चित्र तो आज की स्थिति का है, जव कि मनुष्य विगत कुछ शताब्दियो से धीरे-धीरे किन्तु स्पष्ट रूप से अवनति की ओर वढा है, जहाँ तक मानवोचित गुणो का सम्बन्ध है विज्ञान और सभ्यता (जिसे आज सभ्यता कहा जाता है, की दृष्टि से वह चाहे स्वय को आगे वढा समझे, किंतु मानवता के जो महान् और स्वाभाविक और स्थायी गुण है उनकी दृष्टि से आज के युग का मानव पीछे की ओर ही चला है, कमजोर और अयोग्य ही हुआ है. लेकिन वह भी युग था जव मनुष्य भौतिक स्वार्थो मे इस तरह और इतना लिप्त नही था और तव वह अपनी आत्मा को आज से अधिक



पहचानता था, जीवन के अर्थ और सार्थकता को अधिक जानता था और अपने अन्तिम और एक मात्र लक्ष्य पर सीधा चलने का प्रयत्न करता था इस युग में जैनधर्म—जो एक चिरन्तन ज्योति के समान प्राणी-मात्र के पथ को आलोकित करता है—के अनुयायी करोड़ो की सख्या में थे इतिहास उलटने पर ऐतिहासिक तथ्यो और अनुसधानों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त और सम्प्रति महाराजा के शासनकाल मे जैनियों की सख्या २० करोड़ से अधिक थी. मि० फरग्युसन (Ferguson) ने लिखा है कि भारत भर मे जैन संस्कृति के स्मारक स्थान-स्थान पर विखरे पडे है. किसी स्थान पर एक चिह्न वना कर यदि हम खोज करें तो चार कोस के घेरे मे हमें जैन संस्कृति का कोई न कोई स्मारक अवश्य उपलब्ध होगा. श्रीगगानाथ वेनर्जी की मान्यता के अनुसार भी ईस्वी पूर्व की सदियो मे जैनो की सख्या करोड़ो तक पहुंचती थी.

तात्पर्य केवल इतना ही है कि किसी भी धर्म अथवा दर्शन की सत्यता और श्रेष्ठता की परीक्षा करने का यह तरीका नही कि उसके अनुयायियो की सख्या की गिनती की जाय उसकी श्रेष्ठता उसमे प्रतिपादित किये गये उन तत्त्वो मे निहित होती है जो मनुष्य को अपने जीवन की उच्च भूमिका पर पहुँचने के लिए प्रेरित करते है. जैन दर्शन के उन विश्वप्रसिद्ध सिद्धान्तो का, जिनके अनुसरण और पालनसे आज पग-पग पर आशका, युद्ध और विनाश से संत्रस्त मानवता सुरक्षित हो सकती है, का विचार हम आगे करेगे जैसा कि हमने पहले कहा, मनुष्य-स्वभाव सरलता को पकडने की कोशिश करता है और कठिनाई से वचना चाहता है. सत्य का मार्ग इतना सरल ही होता तो फिर कठिनाई शेष क्या रहती ? और यदि गम्भीरता से विचार किया जाए तो कठिनाई जो हमें मालूम पडती है वह हमारी कमजोरी मे से आई है हम ज्ञान से अज्ञान की ओर चले, प्रकाश से अन्धकार की ओर वढे और मार्ग मे ठोकरें खाकर रुक जाएँ तो वह हमारी ही नासमझी है, हमारा ही अज्ञान है

आइये, हम अज्ञान से ज्ञान की ओर चले. अन्धकार से प्रकाश की ओर वढें— जैनदर्शन के आलोक-लोक मे अपने अध-कारग्रसित नेत्र खोलें. जैनदर्शन की ज्ञानाञ्जन-शलाका से अपनी 'अज्ञानतिमिरान्ध' आँखे उन्मीलित करें.

धर्म और दर्शन

धर्म और दर्शन परस्पर इतने सवधित है कि यदि उन्हे एक ही वस्तु मान लिया जाए तव भी अनुचित नही होगा. धर्म का सम्वन्ध आचार से है और यह एक स्पष्ट वात है कि आचार और विचार का वहुत ही प्रगाढ संवध है. अच्छे विचारो के विना अच्छे आचरण की आशा नही की जा सकती और अच्छे आचरण के विना अच्छे विचारो का मन मे उठना अशक्य है आचार और विचार परस्पर एक दूसरे को शक्ति देते हुए चलते है। यदि कोई मनुष्य निरन्तर अच्छा आचरण रखता है तो उसकी विचारधारा भी धीरे-धीरे शुद्ध होती चलती है और इसी तरह यदि कोई मनुष्य निरन्तर अच्छे विचार रखता है तो उसका आचरण भी, यदि वह शुद्ध नही है तो धीरे-धीरे शुद्ध और अच्छा होता जाता है.

यहाँ हमें दर्शन की आवश्यकता और उपयोगिता का अनुभव होता है. हमे यह विचार करना आवश्यक है कि अच्छा आच-रण किसे कहे ? प्रत्येक व्यक्ति को अपने ही मनोनुकूल जैसा भी आचरण अच्छा लगे वही 'अच्छा' हो, यह आवश्यक नही. ऐसा हो तो मनुष्य अपनी वृत्तियो और इन्द्रियो को अच्छा लगने वाला प्रत्येक आचरण अच्छा समझ कर व्यव-हार करने लगे और परिणामत समाज में एक उच्छृङ्खलता व्याप्त हो जाय. अत हमे इस परिणाम पर आना ही होगा कि अच्छा वह है जो सत्य हो और सत्य क्या है इसका निर्णय करने के लिये हमे एक निश्चित और व्यवस्थित दर्शन की आवश्यकता है.

अव जो प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होता है वह यह कि वह कौन-सा दर्शन है जिसका आश्रय लेकर हम सही मार्ग पर आगे वढ सकते है ?

वैसे तो ससार मे जितने भी दर्शन है, सभी मनुष्य को सुविचार प्रदान करते है, किन्तु जैन दार्शनिकों ने इस विश्व को अनेकान्तवाद नाम से जो दर्शन भेट किया है, उसकी समता कोई अन्य दर्शन नही कर सकता. क्योंकि यह दर्शन एक

ऐसी पद्धति से युक्त है जो मनुष्य को किसी भी वस्तु के विपय मे भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो से विचार करने की समझ प्रदान करता है

आज पश्चिम भौतिकवादी हो चुका है भौतिक सुख और विकास ही उसका लक्ष्य है. उसका दर्शन भौतिक एव सासारिक सुखो के चारो ओर ही घूमता है परिणामत पश्चिम के देश दर्शन के पूर्ण विकास से बहुत ही दूर पडे हुए है जबकि भारत मे धर्म तथा दर्शन भौतिक विकास या सुख के साधन न माने जाकर आत्म-विकास के साधन माने गए है प्रकृति की कोई साकेतिक लीला ही समझा जा सकता है कि दुनिया भर के सभी धर्मो का उद्भवस्थान एशिया खण्ड ही रहा है हिन्दूधर्म, जैनधर्म, बौद्धधर्म, ईसाई धर्म, और इस्लाम धर्म—ये पाचो धर्म आज के विश्व के मुख्य धर्म है. इनमे से ससार ने जैन, बौद्ध और हिन्दू-धर्म को तो भारत मे विकसित होते देखा है जब कि इस्लाम और ईसाई धर्म भी एशिया से ही अस्तित्व मे आए है [1]

इस्लाम, ईसाई और बौद्ध धर्म तो पिछले दो ढाई हजार वर्ष से ही अस्तित्व मे आए हैं इसे सारा ससार जानता है शेष रहते है हिन्दू तथा जैनधर्म इन दोनो के अनुयायी अपने-अपने धर्म को अनादिकालीन होने का दावा करते है. हमे इस निबन्ध मे इस चर्चा मे नही पडना है कि कौन-सा धर्म प्राचीन या अनादि है और कौन-सा अपेक्षाकृत नया. और किसी भी धर्म अथवा दर्शन की श्रेष्ठता केवल इस बात पर निर्भर नही करती कि वह कितना पुराना है. ठीक वैसे ही जैसे कि वह अपने अनुयायियो की सख्या पर भी निर्भर नही करती किन्तु यदि हम खोज करे तो यह प्रकट होता है कि वेदो और भागवत आदि ग्रथो मे, जो कि हिन्दू धर्मशास्त्रो मे अधिक से अधिक प्राचीन माने गए है, जैनो के वर्तमान तीर्थंकरचौवीसी के पहले तीर्थंकर श्रीऋषभदेव के सम्बन्ध में उल्लेख मिलते है. इससे सहज ही यह सिद्ध होता है कि इन दोनो धर्मो मे भी जैन धर्म ही अधिक प्राचीन है ऐतिहासिक प्रमाणो द्वारा सिद्ध इस बात को अनेक पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानो ने स्वीकार किया है जैन अनुश्रुति के अनुसार भगवान् महावीर ने किसी नये तत्त्वदर्शन का प्रचार नही किया है पार्श्वनाथ के तत्त्वज्ञान से उनका कोई मतभेद नही. किन्तु जैन अनुश्रुति इससे भी आगे जाती है उसके अनुसार श्रीकृष्ण के समकालीन तीर्थंकर अरिष्टनेमि की परम्परा को ही पार्श्वनाथ ने ग्रहण किया था और स्वय अरिष्टनेमि ने प्रागैतिहासिक काल मे होने वाले नमिनाथ से इस प्रकार यह अनुश्रुति हमे ऋषभदेव, जो भरत चक्रवर्ती के पिता थे, तक पहुँचा देती है इसके अनुसार तो वर्तमान वेद से लेकर उपनिषद् पर्यन्त सम्पूर्ण साहित्य का मूल स्रोत ऋषभदेव द्वारा प्रणीत जैनतत्त्वविचार ही है [2]

जहाँ तक दर्शन का प्रश्न है, हिन्दू-धर्म मे उसकी अनेक शाखाएँ है और हिन्दू दार्शनिको मे हिन्दू-दर्शन के सिद्धान्तो के सम्बन्ध मे मतभेद है. वेदान्त, नैयायिक, वैशेषिक, साख्य, योग, मीमासा, चार्वाक आदि—ये भिन्न-भिन्न शाखाएँ हिन्दू धर्म मे है इसके अतिरिक्त वेदान्त मे अद्वैत और विशिष्टाद्वैत आदि भी अनेक उपशाखाएँ है वैदिकधर्मसम्मत चौवीस अवतारो मे आद्य जैनतीर्थंकर ऋषभनाथ और बौद्धधर्मप्रणेता बुद्ध भी सम्मिलित किये गये है इन सब बातो पर विचार करने से ऐसा लगने लगता है कि वैदिकधर्म कोई एक धर्म ही नही है

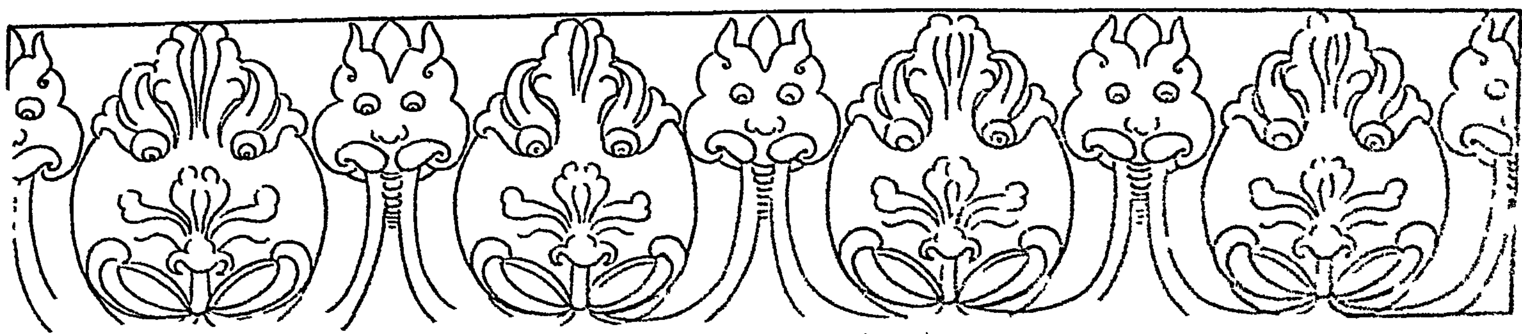
किन्तु इन सब मे एक मात्र जैनदर्शन ही एक ऐसा दर्शन है जिसमे स्थिरता, एकता, और मूलभूत दृढता विद्यमान है. इस दर्शन मे तत्त्वाश्रित शाखाएँ अथवा उपमार्ग नही है धर्माचरण की दृष्टि से जैनधर्म मे दिगम्बर, श्वेताम्बर स्थानकवासी आदि शाखाएँ है किन्तु दर्शन की भूमिका पर ये सभी शाखाएँ एक हैं और एकमत ही है हजारो वर्षो पूर्व, नही, अनादि काल से जैन तीर्थंकरो ने ठोस सिद्धान्त ससार के समक्ष रखे है. वे आज भी ज्यो के त्यो मौजूद है स्पष्ट है कि ऐसा होने का कोई विशेष कारण भी होना चाहिये यही कारण जैनदर्शन की विशिष्टता है

केवल प्राचीनता की दृष्टि से जैनदर्शन की विशिष्टता का दावा नही किया गया है यह निवेदन हम पूर्व कर चुके है.

---

१ अनेकान्त व स्याद्वाद—स्व० चन्दुलाल शाह

२ न्यायावतार वार्तिकवृत्ति (प्रस्तावना)



जैनदर्शन की विशिष्टता और श्रेष्ठता उसके दर्शन, उसके तत्त्वज्ञान मे निहित है. जैनदर्शन का वह विशिष्ट और सर्वोच्च सिद्धान्त अनेकान्तवाद है. अनेकान्तवाद की एक विशिष्ट महत्त्वपूर्ण तथा प्रमाणयुक्त पद्धति है. ससार के जितने भी विद्वान् इस तर्कपद्धति के परिचय में आते है, वे सभी इस पर मुग्ध हो जाते है. हर्मन जेकोबी, डा० स्टीनकोनो, डा० टेसीटोरी, डा० पारोल्ड, बर्नार्ड शा जैसे चोटी के पाश्चात्य विद्वानो ने इस दर्शन और इस तर्कपद्धति की मुक्त कण्ठ से प्रशसा की है.

अनेकान्त के विषय में हम आगे विस्तार से विचार करेगे. यहाँ हमे इतना ही कहना अभीष्ट है कि जैनदार्शनिको ने प्रत्येक वस्तु का एक स्थान पर अनेक दृष्टियो से निरीक्षण करने की अपनी अद्वितीय पद्धति से न केवल अपने ही दर्शन की, किन्तु ससार के सभी दर्शनो की छानबीन की है और यह सिद्ध किया है कि ये सारे दर्शन केवल एक ही अन्त (एकान्त) पर आधारित है. अलग-अलग दृष्टिबिन्दुओ पर विचार किये विना ही, सिर्फ एक ही ओर से विचार करके इन दर्शनो की रचना की गई है जैनदार्शनिको ने यह सिद्ध किया है कि जैनदर्शन सातो नयो (जिन्हे सात अन्त अथवा सात छोर कहा जा सकता है) पर आधारित है, इसलिए सम्पूर्ण और अविचल है, जबकि शेष मुख्य-मुख्य दर्शन एक ही अन्त अथवा छोर पर आधारित है, इसलिए अपूर्ण और ऐकातिक है हम यहाँ पर उल्लेख करना उचित और सगत समझते है कि भिन्न-भिन्न दर्शन किस-किस एक-एक नय पर रचित है. यथा—

(१) अद्वैत वेदान्त और सांख्य, संग्रह नय पर आधारित है.
(२) नैयायिक और वैशेषिकदर्शन नैगम नय पर आधारित है
(३) चार्वाकमत सिर्फ व्यवहार नय पर आधारित है.
(४) बौद्धमत ऋजुसूत्र नय पर आधारित है.
(५) मीमासक मत शब्द नय पर निर्भर है.
(६) वैयाकरणदर्शन समभिरूढनय का आधार लेकर चलता है

(७) इनके अतिरिक्त अन्य कई Extremist (उद्दाम) तत्त्वज्ञान है जो सब एवभूत नय के अनुसार चलते है. उपरोक्त स्थिति को देखते हुए जैनदर्शन हमे एक महासमुद्र की भाति प्रतीत होता है जो इन सातो नयो को अपने में समाहित किए हुए है

आइये, अब हम अनेकान्तवाद के विषय मे कुछ विचार करे जिसकी सनातन शक्ति के बल पर जैनदर्शन ससार का सर्वश्रेष्ठ और दिग्विजयी दर्शन माना जाता है.

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद

अनेकान्त शब्द का यदि हम विग्रह करे तो हमे उसमें तीन शब्द मिलते है—अन्+एक+अन्त, अर्थात् जिसका एक अत नही—जिसमें अनेक अन्त है—वह अनेकान्त. किसी भी वस्तु के विषय मे निर्णय करने से पूर्व हमे उसके अलग अलग पहलुओ तथा उसकी विभिन्न सीमाओ को अपनी दृष्टि मे रखना चाहिये ऐसा करने पर जो निर्णय हम करेंगे, उसमे हमें वस्तु का सच्चा स्वरूप जानने को मिलेगा. यह सुनहरी शिक्षा हमे अनेकान्तवाद देता है. श्री सिद्धसेन दिवाकर ने कहा है—

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा न निव्वहइ
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स ॥

भावार्थ—जिसके विना लोकव्यवहार भी सर्वथा नही चलता, उस भुवन के श्रेष्ठ गुरु अनेकान्तवाद को नमस्कार हो.[१] इग्लैड के प्रसिद्ध विद्वान् डा० थामसन ने कहा है कि—Jain logic is very high. The place of syadvad

१. सन्मतितर्क

in it is very important It throns a fine light upon the various conditions & states of the things

(न्यायशास्त्र मे जैनन्याय अति उच्च है उसमे स्याद्वाद का स्थान अति गम्भीर है वस्तुओ की भिन्न-भिन्न परिस्थितियो पर वह सुन्दर प्रकाश डालता है)

महामहोपाध्याय रामशास्त्री ने कहा है—'स्याद्वाद जैनधर्म का अभेद्य किला है उसमे प्रतिवादियो के मायामय गोले प्रवेश नही कर सकते हैं"

प० हसराज शर्मा कहते है—"अनेकान्तवाद-स्याद्वाद अनुभवसिद्ध स्वाभाविक और परिपूर्ण सिद्धान्त है"

महात्मा गाधी स्याद्वाद के विषय मे कहते हैं—"अनेकान्तवाद (स्याद्वाद) मुझे बहुत प्रिय है उसमे मैने मुसलमानो की दृष्टि से उनका, ईसाइयो की दृष्टि से उनका, इस प्रकार अन्य सभी का विचार करना सीखा मेरे विचारो को या कार्य को कोई गलत मानता तब मुझे उसकी अज्ञानता पर पहले क्रोध आता था अब मैं उनका दृष्टिबिन्दु उनकी आँखो से देख सकता हूँ, क्योकि मैं जगत् के प्रेम का भूखा हूँ. अनेकान्तवाद का मूल अहिंसा और सत्य का युगल है" गाधीजी द्वारा कही गई बात राजनीति के क्षेत्र मे कितनी उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है, यह स्पष्ट हैं वैज्ञानिक क्षेत्र मे स्याद्वाद ने अपनी उपयोगिता सिद्ध की है वस्तुओ को अनेक दृष्टि से देखना, जाँचना और उनके विविध गुण-धर्मो से परिचित होना अनेकान्त दृष्टि के अतिरिक्त और क्या है ? यदि विज्ञान अपनी पहले से चली आ रही मान्यताओ से ही जकडा रहता और कई-अनेक दृष्टियो को नही अपनाता तो क्या वह अपनी कोई भी शोध कार्यान्वित कर सकता था ? लोहा बहुत भारी होता है और पानी मे डूब जाता है, ऐसी एकान्त रूढ मान्यता बहुत समय से चली आ रही है किन्तु विज्ञान ने उसे अन्य दृष्टियो से देखने का प्रयत्न किया इस प्रयत्न और प्रयोग में लोहा हल्का भी बन जाता है और इस कारण से पानी पर तैर सकता है उसके इस अनेकान्तज्ञान ने लोहे के जलयान समुद्र मे चला दिए इसी प्रकार बिजली, ध्वनि, अणुशक्ति आदि से सम्बन्धित सभी चीजें अनेकान्त दृष्टि पर ही अवलम्बित हैं.

वैज्ञानिक जगत् मे अनेक समस्याएँ घिरी हुई थी किन्तु सन् १९०५ मे जब प्रो० आइन्सटीन ने ससार के सम्मुख अपना सापेक्षवाद सिद्धान्त (Theory of Relativity) रखा, तब उनमे से अधिकांश समस्याओ का समाधान सहज ही मे हो सका. यह सापेक्षावाद क्या है ? स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद का ही दूसरा नाम सापेक्षवाद है जैनशास्त्रो मे स्याद्वाद को स्पष्ट रूप से अपेक्षावाद या सापेक्षवाद कहा गया है[1]

जैन दार्शनिको द्वारा स्यादवाद और अनेकान्तवाद, इन दोनो शब्दो का प्रयोग समान अर्थ में किया गया है अत उनमे कोई भिन्नता नही है.[2]

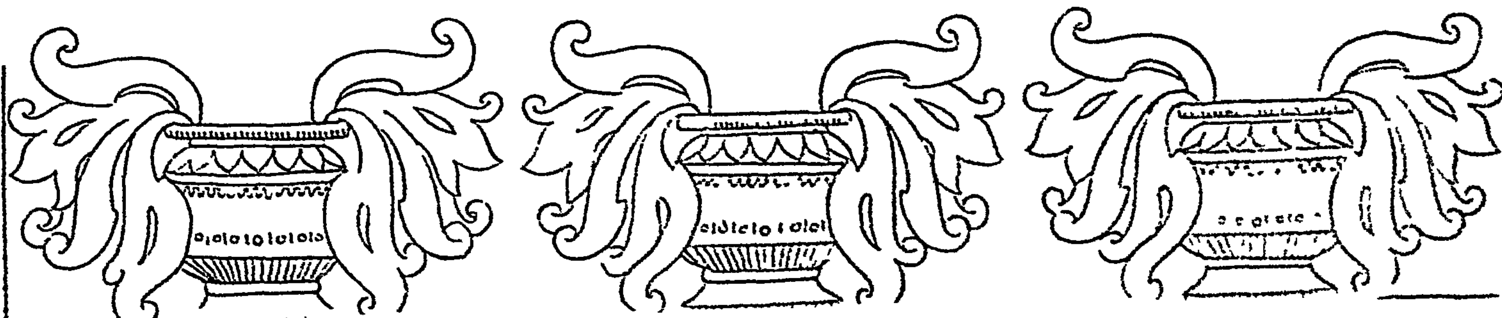
किसी वस्तु का एक ही अन्त अथवा छोर अथवा पहलू अथवा गुणधर्म देखकर जब उसके समस्त स्वरूप का निर्णय कर लिया जाय तो वह एकान्तवाद है किन्तु जब वस्तु के अनेक अन्त, छोर, पहलू अथवा गुणधर्मो का अवलोकन करके उसके सम्बन्ध मे निर्णय किया जाय तो वह अनेकान्तवाद है कहा गया है कि "एकस्मिन् वस्तुनि सापेक्षरीत्या विरुद्ध-नानाधर्मस्वीकारो हि स्याद्वाद." एक ही पदार्थ मे सापेक्ष रीति से नाना प्रकार के विरोधी धर्मो का स्वीकार करना ही स्याद्वाद है.[3]

यहाँ हमे स्याद्वाद शब्द की व्युत्पत्ति करके उसके सही अर्थ को समझ लेना चाहिए स्याद्वाद शब्द 'स्याद्' और 'वाद' इन दो पदो से बना हुआ है. अत इसका अर्थ हुआ—स्यात् शब्द की मुख्यता वाला वाद—स्याद्वाद वाद का अर्थ तो स्पष्ट है—कथन अथवा प्रतिपादन. किन्तु स्याद् शब्द अत्यन्त रहस्यपूर्ण है और उसके ठीक अर्थ को समझ लेना अत्यन्त

१ जैनधर्मसार

२ अनेकान्तात्मकार्थकथन स्याद्वादः लघीयस्त्रयटीका

३ स्याद्वादोऽनेकान्तवाद —स्याद्वादमजरी.



आवश्यक है इस पद का अर्थ ठीक नही समझ कर ससार के बडे-बडे विद्वानो ने भूल की है और परिणामत· स्याद्वाद को सशयवाद अथवा विवर्तवाद कहा है जैन ग्रथो मे अनेक ऐसे विवेचन है जो इस पद का सही रहस्य अथवा अर्थ बताते है फिर भी यह भ्रातिपूर्ण परम्परा अब तक चली आ रही है

जो शब्द जिस अर्थ मे प्रयुक्त हुआ हो उसी अर्थ मे उसे ग्रहण किया जाना चाहिए अन्यथा यदि अर्थ का अनर्थ हो तो उसमे क्या आश्चर्य है ? भाषा के अनुसार स्यात् शब्द का अर्थ भले ही 'सम्भवत' अथवा 'कदाचित्' होता हो, किन्तु यहाँ पर 'स्यात्' शब्द इस अर्थ मे प्रयुक्त नही हुआ है. इसका प्रयोग कथचित् अर्थात् 'विशिष्ट अपेक्षा से' इस अर्थ मे हुआ है इस अर्थ मे जब हम 'स्यात् अस्ति घट' अथवा 'स्यात् नास्ति घट' कहते है तब उसका यह अर्थ नही होता कि सम्भव है यहाँ घडा है, अथवा सम्भव है यहाँ घडा नही है किन्तु इसका अर्थ होता है 'कथञ्चित्' अर्थात् 'किसी विशिष्ट अपेक्षा से' यह घडा है और कथञ्चित्—किसी विशिष्ट अपेक्षा से यह घडा नही है अस्तु, स्यात् पद किसी प्रकार सशय अथवा सम्भावना प्रकट करने के लिए नही, अपितु एक निश्चित अपेक्षा का दृष्टिकोण प्रकट करने के लिये प्रयुक्त किया गया है.

अग्रेजी भाषा में स्यात् पद का अर्थ (It may be perhaps, perchance) इस प्रकार किया जाता है जो कि सर्वथा गलत है. सगत और सही अर्थ है—(Under certain circumstances). अत जहाँ स्यात् अस्ति और स्यात् नास्ति ऐसे पद कहे गए हो वहाँ (Perhaps it is, Perhaps it is not) ऐसा गलत अर्थ करने के स्थान पर (Under certain circumstances it is) तथा (Under certain circumstances it is not) ऐसा अर्थ जाना चाहिए सर मोनियर विलियम्स की विश्वविख्यात सस्कृत-इग्लिश डिक्सनरी मे यह अर्थ दिया हुआ है.[1] फिर भी हम यदि इसका अर्थ (Rigarding certain aspects) अर्थात् अमुक अपेक्षा से करे तो वह अधिक व्यावहारिक होगा.[2]

आचार्य मल्लिषेण ने स्याद्वादमजरी मे स्पष्ट कहा है कि 'स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकम्' अर्थात् स्यात् अव्यय अनेकान्त का द्योतक है[3]

उपरोक्त विवेचन से इतना तो अब हम समझ ही चुके है कि किसी भी एक वस्तु को किसी एक ही पक्ष से देखकर उसके स्वरूप के सम्बन्ध मे निर्णय करना एकान्त निर्णय है और इसीलिये वह गलत है. अनेकान्तवाद हमे यही शिक्षा देता है कि किसी भी विषय का निर्णय करने से पहले उसके हर पहलू की जाच करना चाहिए

किन्तु इतना ही समझ लेना पर्याप्त नही है कि वस्तु के अनेक पक्ष, अनेक अन्त होते है हमे यह भी जानना चाहिए कि प्रत्येक वस्तु में आपस मे विरोधी अनन्त-गुण-धर्मात्मक अनेक प्रकार की विविधताए भरी हुई है. इस दृष्टि से जैन दार्शनिको का कहना है कि जो वस्तु तत्त्वस्वरूप है, वह अतत्त्व रूप भी है जो वस्तु सत् है, वह असत् भी है. जो एक है, वह अनेक भी है जो नित्य है, वह अनित्य भी है. इस प्रकार हर एक वस्तु परस्पर विरोधी गुण धर्मो से भरी हुई है

इस महत्त्वपूर्ण बात को ठीक तरह से समझ लेने पर ही हम अनेकान्त अथवा स्याद्वाद के सही अर्थ को समझ सकते है स्वाभाविक रूप से यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि 'जो सत् है वही असत् कैसे हो सकता है ?'

सामान्य दृष्टि से देखने पर हमें प्रतीत हो सकता है कि यह विरोधाभास इतना प्रबल है कि इसे देखने से जैन दार्शनिको द्वारा कही गई बात मे सशय हो सकता है. किन्तु वास्तव मे ऐसी बात नही है. जैन दार्शनिको ने अनेकान्तवाद की दृष्टि से, अनेक भिन्न-भिन्न दृष्टिबिन्दुओ तथा विचारधाराओ का एक साथ विचार करने के बाद ही यह

---

१ पृष्ठ १२७३

२ जैनधर्मसार—स्व० चन्दुलाल शाह.

३. पाचवें श्लोक की व्याख्या

बात कही है द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की चारो अपेक्षाओ, सातो नयो द्वारा की गई तुलना और सप्तभगी से मिलान करने के पश्चात् ही जैन शास्त्रकारो ने यह विचित्र किन्तु सम्पूर्ण रूप से सत्य बात कही है उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो सकेगी

(१) कोई दवाई है. वह एक विशेष बीमारी से पीडित मनुष्य के लिए उपयोगी है, लेकिन वही दवाई दूसरे पीडित मनुष्य के लिए व्यर्थ होती है यह स्वीकृति तथ्य है अत एक ही दवाई उपयोगी भी है और व्यर्थ भी

(२) विष एक ही है किन्तु वह अलग-अलग स्थितियो मे बिलकुल विपरीत कार्य करता है वह मनुष्य को मार भी देता है और विशेषरूप से, विशेष सयोग मे प्रयोग मे लिये जाने पर वह मनुष्य को जिलाने का भी कार्य करता है इस तरह विष, जो एक ही पदार्थ है, विष और अमृत दो पदार्थो का कार्य करता है अर्थात् उस एक ही पदार्थ मे दो सर्वथा विरोधी गुणधर्म उपस्थित रहते है

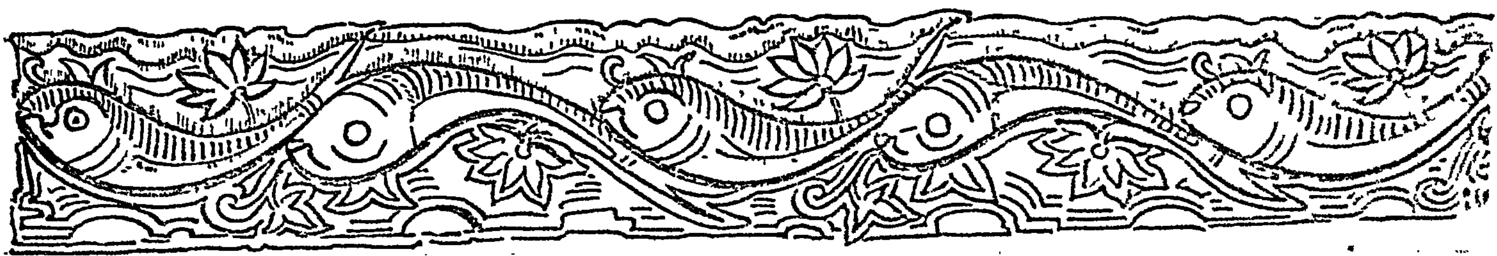
जैनदर्शन के अनेकान्तवाद के विरुद्ध अन्य मत स्वीकार करने वालो का सबसे बडा विरोध यह है कि जो वस्तु सत् है वही वस्तु असत् कैसे हो सकती है ? जो नित्य है वही अनित्य कैसे हो सकती है ? इसका मुख्य कारण यही है कि उन्होने एक वस्तु को एक ही पहलू से, एक ही स्वरूप मे देखा है, जब कि जैन दार्शनिको ने वस्तु के पूर्ण स्वरूप को अपनी दृष्टि मे रख कर यह बात कही है, किसी एक पहलू अथवा स्वरूप के सम्बन्ध मे यह बात उन्होने नही कही है

गम्भीरता से विचार करने पर प्रतीत होगा कि ये जो विरोधी दिखने वाले गुणधर्म है वे वस्तुत अलग-अलग नही, एक ही है जो सत् है वही असत् है, दोनो एक दूसरे मे मिले हुए है, एक के बिना दूसरे का अस्तित्व न केवल निरर्थक ही बल्कि असभव हो जाता है एक का अस्तित्व दूसरे के कारण—दूसरे के आधार पर ही है यदि उनमे से एक का नाश हो जाय तो दूसरे का अस्तित्व भी नही रह सकता जगत् मे यदि असत्य न होता तो सत्य की क्या आवश्यकता थी ? असत्य है, इसीलिये सत्य भी है परस्पर विरोधी दिखाई पडने वाले ये सत्त्व और असत्त्व आदि धर्म तत्त्व के दो स्वरूप है अनेकान्त दृष्टि से देखे जाने पर ये दोनो भिन्न भी है और अभिन्न भी

इसी प्रकार नित्य-अनित्य, एक-अनेक आदि परस्पर विरोधी गुणधर्म होते हुए भी वास्तव मे एक ही है प्रकाश और अन्धकार को ही लीजिये वैसे तो ये भिन्न तत्त्व है इनका कार्य एक दूसरे का विरोधी है यदि यह कहा जाय कि एक ही वस्तु मे प्रकाश और अन्धकार दोनो साथ रहते है, तो क्या यह बात स्वीकार की जायेगी ?

विचार करने पर मालूम होगा कि यह सत्य है जब आकाश मे प्रकाश था तब अन्धकार कहाँ था ? प्रकाश के आने पर अन्धकार कहाँ गया ? क्या अन्धकार के छिपने के लिए अन्य कोई स्थान है ? नही तब फिर यह मानने मे आपत्ति क्यो कि ये दोनो तत्त्व एक ही हैं अथवा एक दूसरे मे ही समाहित है ? अन्धकार जो था वह प्रकाश मे ही विलीन हो गया, उसी तरह जो प्रकाश था वह अन्धकार के आगमन पर उसमे ही विलीन हो गया अत जो परिवर्तन हमे दिखाई देता है वह सिर्फ अवस्था का है रात की अपेक्षा से अन्धकार और दिन की अपेक्षा से प्रकाश को हम देखते है अत जैन दार्शनिको ने अन्धकार और प्रकाश के मूलभूत पुद्गलो को एक माना है केवल अवस्थाभेद के कारण ही वे अन्धकार और प्रकाश के रूप मे आते है इससे यह स्पष्ट होता है कि परस्पर विरोधी गुणधर्म वाले ये तत्त्व वास्तव मे एक ही तत्त्व के अन्तर्गत है यदि हम अनेकान्त दृष्टि से देखे तो हमे इसे समझने मे कठिनाई नही हो सकती है

बहुत बडा आश्चर्य तो हमे तब होता है जब वेदान्त के अनुयायी इस बात का विरोध करते है उनकी मान्यता है कि प्रथम जो था वह शुद्ध विशुद्ध निर्गुण ब्रह्म था उसमे से माया का सर्जन हुआ. ब्रह्म शुद्ध है, माया अशुद्ध है ब्रह्म और माया परस्पर विरोधी गुण धर्म वाले तत्त्व है यदि माया की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई तो इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि उत्पत्ति के पूर्व यह माया ब्रह्म मे बसी हुई थी और यदि ऐसा ही है तो उस शुद्ध ब्रह्म के भीतर ही एक अशुद्ध तत्त्व मौजूद था इस तरह वेदान्त की कल्पना के अनुसार शुद्ध और अशुद्ध—दो परस्पर विरोधी तत्त्व एक साथ ही थे अपनी



ही मान्यता और कल्पना को काटकर वे इस बात को स्वीकार नही करते. और यदि करे तो जैनदर्शन ने जो यह बात बताई है कि 'प्रत्येक वस्तु परस्पर विरोधी गुणधर्म से युक्त है' उसे भी उन्हे स्वीकार करना होगा.

इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनदर्शन द्वारा प्रतिपादित अनेकान्तदृष्टि ही एक ऐसा मार्ग है जो हमें इस ससार की प्रत्येक वस्तु को उसके सच्चे और वास्तविक रूप मे समझ सकने मे सहायता करता है. बल्कि यदि ऐसा कहा जाय कि अनेकान्तदृष्टि ही एक मात्र दृष्टि है, शेष अज्ञान है, तो अतिशयोक्ति नही होगी. अनेकान्तदृष्टि प्राप्त होते ही हमारे जीवन मे समभाव का उदय स्वाभाविक रूप से हो जाता है क्योकि ऐसा होने पर हम किसी भी वस्तु अथवा घटना की समस्त मर्यादाओ, विभिन्न पहलुओ को जानते और विचारते है हम यह जान जाते है कि अवस्था-स्वरूप बदलने से ही वस्तु में परिवर्तन आता है. इसी प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इत्यादि के बदलने पर उस वस्तु के स्वरूप मे परिवर्तन आता है. अथवा यो कहे कि इन भिन्न-भिन्न अपेक्षाओ से एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न स्वरूपो मे दिखाई पडती है एक ही देह काल की अपेक्षा से बाल्यावस्था, यौवन, अधेड़ावस्था, वृद्धावस्था आदि अवस्थाओ मे पहचानी जाती है. द्रव्य की अपेक्षा से वही देह कोमल, मजबूत, स्वस्थ, पीड्ति, सशक्त, अशक्त आदि दीख पडती है क्षेत्रभेद से वही अग्रेज अमरीकन हिन्दुस्तानी आदि रूप मे जानी जाती है भाव की अपेक्षा से वही मनुष्य सौम्य, रौद्र, शान्त अशात स्थिर-अस्थिर रूपवान-कुरूप आदि दिखलाई पडता है.

तात्पर्य यह है कि किसी भी पदार्थ मे परस्पर विरोधी गुणधर्मो का अस्तित्व होता ही है जैन दार्शनिक जब यह कहते है कि एक ही वस्तु है भी और नही भी है, तब अनेकान्त दृष्टि द्वारा ही यह बात कहते है, और यह यथार्थ है अनेकान्त दृष्टि की ये बाते इतनी महत्त्वपूर्ण और समझने योग्य है कि यदि हम इन्हे ठीक प्रकार से समझ ले तो हमारे सम्पूर्ण जीवन और सारे ससार की समस्याओ का हल आसानी से हो जाय. आज के विज्ञानवादी अणु-परमाणुओ के सशोधनयुग मे हमे यह बात समझने मे कोई कठिनाई नही होनी चाहिए कि एक और अनेक दोनो एक ही साथ एक समय मे ही रहते है जैनतत्त्वज्ञानियो ने सर्वथा असदिग्धता से, भारपूर्वक यह बात कही है कि एकान्त नित्य से अनित्य का या एकान्त अनित्य से नित्य का स्वतंत्र उद्भव असभव है यह ज्ञान हमें द्वैत अद्वैत और उसकी सभी शाखाओ से तथा क्षणिकवाद आदि सभी एकान्त तत्वज्ञानो में नहीं मिल सकता, क्योकि इनकी रचना एकान्तज्ञान के आधार पर तथा ऐकान्तिक निर्णय द्वारा की गई है इन सब दर्शनो के सम्मुख जैनदर्शन का अनेकान्तवाद एक महान् समुद्र की भाति खडा है उसके द्वारा दी गई समझ और ज्ञान ही एक मात्र सच्ची समझ और ज्ञान है वस्तु के विभिन्न पक्ष तथा उसी वस्तु मे रहे हुए परस्पर विरोधी गुणधर्म हमें एकान्त दृष्टि से समझ मे नही आते, दिखाई ही नही देते अनेकान्तदृष्टि द्वारा ही हम उन्हे देख और समझ सकते है जैनदर्शन, जहाँ तक दर्शन का सम्बन्ध है, एक महान सिद्धि है. यही कारण है कि अनेकान्तवाद को तत्त्वशिरोमणि की उपाधि दी गई है [१]

सुवर्ण और कसौटी

वैसे तो अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और अपेक्षावाद (सापेक्षवाद) एक ही है. फिर भी यदि हम अनेकान्तवाद को और भी बारीकी से समझना चाहे तो हम यह कह सकते हैं कि अनेकान्तवाद के इस तथ्य को कि प्रत्येक वस्तु में परस्पर विरोधी अनेक गुण-धर्म होते है , युक्तियुक्त एव तार्किक ढग से प्रस्तुत करने के लिए जिस पद्धति की आवश्यकता है वह पद्धति स्याद्वाद है हम अनेकान्त को सुवर्ण तथा स्याद्वाद को कसौटी की उपमा दे सकते है अथवा अनेकान्त को हम एक किले की तथा स्याद्वाद को उस किले तक जाने वाले मार्गो को बतलाने वाले नक्शे की उपमा भी दे सकते है किन्तु भूलना नही चाहिए कि अनेकान्तवाद तथा स्याद्वाद एक ही तत्त्वज्ञान के अग है, इस कारण वे वस्तुत एक ही है [२]

---

१ अनेकान्तवाद व स्याद्वाद—स्व० चन्दूलाल शाह.

२. स्याद्वादोऽनेकान्तवाद. —स्याद्वादमजरी.

आज का संकटग्रस्त संसार, जीवन और जैनदर्शन

आजका युग, आज का संसार—यह भौतिक वाद की ओर अन्धा होकर दौडता चला जा रहा मानव-समाज विनाश के अतल गर्त के कितना समीप आ पहुँचा है, इस बात को कौन समझदार व्यक्ति नही जानता ? आज के मनुष्य का जीवन कितना सदिग्ध और उलझनो से भरा हुआ प्रतीत होता है ? ऐसा लगता है कि चारो ओर सघन अन्धकार परिव्याप्त है और कही किसी दिशा मे कोई एक भूली-भटकी किरण भी दिखाई नही देती

हम आँखे होते हुए भी अन्धे बने है प्रकाश की उपेक्षा करके अन्धकार की ओर दौडें तो यह हमारा ही अज्ञान है किन्तु यदि अपनी सहज बुद्धि का उपयोग करें, तटस्थ तथा निष्पक्ष भाव से विचार करें तो हमारे लिए निराशा का कोई कारण नही है

अनन्त और अमर आशा का सदेश लिये हुए जैनदर्शन और जैनधर्म के युग-युगान्तरो से चले आ रहे अटल सिद्धान्त हमारे द्वार पर खडे है आवश्यकता इतनी ही है कि हम अपने हृदय के, मन के अवरुद्ध कपाट उन्मुक्त करे और उन सिद्धान्तो का स्वागत करें जो हमारे जीवन को, हमारी सृष्टि को, हमारे अस्तित्व को सुरक्षित तथा उन्नत करने के लिये उपस्थित है

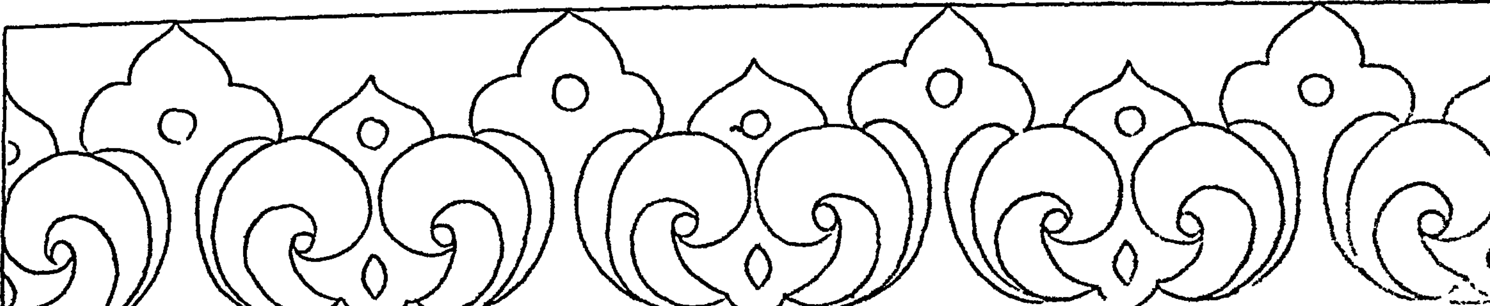
आज हमे जीवन एक समस्या के समान प्रतीत होता है हम चारो ओर से परेशानियो और झझटो से अपने आपको घिरा हुआ अनुभव करते है क्या इसका कारण कभी हमने शान्त चित्त से विचारा है ?

इसका एक मात्र कारण है कि हम अपने सहज स्वभाव को भूल बैठे है मनुष्य जीवन के जो वास्तविक और हितकारी सिद्धान्त हैं उन्हे हमने त्याग दिया है और हम इन झूठे और भ्रामक आकर्षणो की ओर दौड रहे है जो मात्र भौतिक है, अस्थायी है, और इसीलिए असत्य है

सत्य का मार्ग जैनदर्शन जब हमे बतलाता है तो हम, चूकि हमे बुद्धिवादी होने का भ्रम और गर्व है, अपना मुह बना-कर कहते है—यह साधु-सन्यासियो की बातें है, भला इस ससार मे यह कही चलता है !

यह साधु सन्यासियो की बातें भला आपके इस असाधु, इस जड-अनुरक्त संसार मे कैसे चल सकती है ? और नही चल सकती तो न चलने दीजिए इससे सत्य को हानि नही है आप हिंसक बने रहिए, अपने ही हाथो मानवता का खून कीजिए, अपने ही अस्तित्व को अपने ही हाथो विनष्ट कर दीजिए—इसमे अहिसा के पवित्र तत्त्व की कोई हानि है ? आप शायद विचार कर रहे हैं, विचार बडी उपयोगी वस्तु है, विचारिए आज की मानवता, मानवसमाज के सन्मुख जो समस्या है वह मनुष्य के अपने ही स्वार्थ, दुर्बलता और अज्ञान के कारण है आज का मनुष्य कठिनाई का सामना करने को तैयार नही है वह कठिनाई से तो मुह मोड कर भागता ही है, स्वय अपनी दुर्बलताओं को भी स्पष्ट रूप से समझने से कतराता है यह मनुष्य की पलायनवृत्ति (Escape tendency) है और विश्वास कीजिये जब तक यह वृत्ति मनुष्य मे है तब तक वह किसी भी प्रकार अपना हित नही कर सकता उसे निरन्तर अवनति और विनाश की ओर ही खिसकते चले जाना होगा

जीवन मे किसी भी दु ख अथवा समस्या के आ पडने पर उसे दूर करने, उसका समाधान ढूढ निकालने का मार्ग क्या है ? जैनदर्शन कहता है कि अपने विवेक का उपयोग करो यह विचार करो कि वह दुख क्या है, उसका स्वरूप कैसा है, उसका कारण क्या है, उसे दूर करने का उपाय क्या है ? दुख आया है तो उसके सामने हमारे पास जो सुख हो उसका विचार हमे करना चाहिए ऐसा विचार हमारे मन को शान्त और सुव्यवस्थित करेगा इस तरह शान्त बने हुए चित्त से अपनी विवेक-बुद्धि का उपयोग करके यदि हम विचार करने लगेगे तो हमे साफ दिखाई देगा कि आया हुआ, अथवा माना हुआ वह दुख दूर किया जा सकता है उस दुख के पीछे ही सुख भी रहा हुआ है हम उस दुख के कारणो को जान सकेंगे और कारण जानने के बाद हम उसे दूर करने का पुरुषार्थ भी कर सकेंगे इस प्रकार की समझ और उस समझ से दिखाई पडने वाला उन्नति का एव सुख का राजमार्ग हमे केवल स्याद्वाद के द्वारा ही मिलेगा.



तात्पर्य यह है कि मनुष्य-समाज के समक्ष आज जो समस्याएँ, जो भी कठिनाइयाँ है, उनका अस्तित्व इसीलिये है कि हमें जीवन का, जीवन के उद्देश्य का, जीने की पद्धति का स्पष्ट ज्ञान नही है. यदि हमे यह ज्ञान हो जाय तो आज ध्वस के कगार पर खड़ी हुई मानवता की रक्षा निश्चित रूप से हो सकती है.

और इस ज्ञान की मशाल को मजबूती से अपने हाथो में चिर काल से-अनादि काल से थामे हुए जैनदर्शन एक अचल ज्योतिस्तम्भ के समान खडा है.

आइये, हम जरा विचार करें कि जैनदर्शन हमारे सामने क्या सिद्धान्त उपस्थित करता है.

जैनदर्शन की विशिष्ट आचारपद्धति

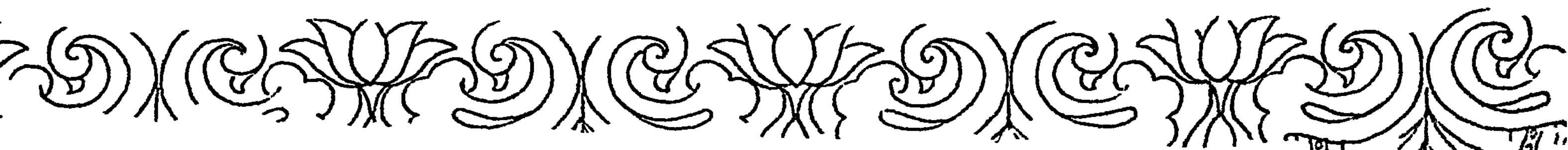
कौन नही जानता कि हमारा मन, मनुष्य मात्र का मन, आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा इन पाचो इन्द्रियो के सहयोग से कार्य करता है यदि इनमे से एक भी इन्द्रिय कार्य नही करती तो जीवन खडित हो जाता है. ठीक इसी प्रकार जैन-दार्शनिको ने मनुष्य के आचरण—मनुष्य के जीवन-व्यवहार के लिए एक ऐसी विशिष्ट आचारपद्धति बताई है जिसका अनुसरण और पालन यदि हम करने लग जाय तो यह निश्चित स्पष्ट और अवश्यम्भावी है कि हमारे सामने आज जो हमारे विनाश का भय उपस्थित हो गया है उससे हमे सहज ही मुक्ति मिल जाय तथा मानव-समाज एक सुखी समाज बन जाय. इस आचारपद्धति के प्रमुख सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं :— (१) अहिंसा (२) सत्य (३) अस्तेय (४) ब्रह्मचर्य (५) अपरिग्रह

इन महान् अर्थगम्भीर और परम कल्याणकारी सिद्धान्तो के विषय मे शाब्दिक दृष्टि से हम प्राय लोगो को बात-चीत करते देखते हैं. लेकिन उनमें से कितने है जो इनके वास्तविक अर्थ को समझते हैं ? कितने है जो गम्भीरता से इनके मर्म पर विचार करते है ? इनका पालन करना तो दूर—बहुत दूर की बात है.
ये सिद्धान्त इतने महान् है कि इनमे से प्रत्येक पर अलग-अलग विशाल ग्रथो की रचना की जा सकती है. किन्तु हम यहाँ पर उनका अत्यन्त सक्षेप मे विवेचन करेंगे और देखेगे कि आज के जगत् को वह कितनी बडी शक्ति, कितना अनन्त प्रकाश और सुख देने की सामर्थ्य रखते है.

अहिंसा शब्द आज विश्वव्यापक बन चुका है किन्तु अहिंसा का बहुत स्थूल अर्थ ही अधिकतर लोगो ने समझा है. लोग समझते है कि दूसरे मानव को दुख पहुँचाने वाला कोई कार्य नही करना ही अहिंसा है. यह बहुत ही सीमित अर्थ है. हिंसा के सच्चे अर्थ में केवल मनुष्य ही नही बल्कि पशु-पक्षी कीडे-मकोडे इत्यादि सूक्ष्म जीवो की हिंसा भी वर्ज्य है. क्योकि उनकी हिंसा करने से भी हमारा हृदय कठोर और क्रूर बनता है. और कठोर और क्रूर हृदय में सात्विक भाव जाग्रत नही होते पूर्णतया और सही अर्थ मे अहिंसा का पालन करना ही जीवन को नीव से सुन्दर और सुखी बनाने का उपाय है. जैन दार्शनिको द्वारा प्रतिपादित अहिंसा के सिद्धान्त की यही विशेषता है कि वह अपनी इस महान् भावना को न केवल मनुष्य तक ही, बल्कि जीव मात्र तक विस्तारित करता है. इस सृष्टि में अपना सूक्ष्म से सूक्ष्म भी अस्तित्व रखने वाले प्रत्येक प्राणी को जैनदर्शन एक स्वतत्र आत्मा स्वीकार करके उसके हित और उपकार की भावना पर बल देता है जैन अहिंसा का यही वास्तविक, व्यापक और विशिष्ट स्वरूप है यदि ससार इस व्यापक स्वरूप में इसका पालन करे तो यह ससार ही स्वर्ग के समान सुख का स्थान बन जाय.

सत्य का अर्थ है असत्य कथन अथवा विचार न करना. असत्य मे हिंसा भी निहित है. हमारे असत्य वचन अथवा असत्य आचरण से किसी अन्य को दु ख अवश्य होगा. और धर्म तथा दर्शन का विचार करने वाले पाठको को विस्तार से यह समझाने की आवश्यकता नही कि अन्य को दिया गया दु ख स्वय हमारे लिये क्या लेकर आएगा ?

अस्तेय का अर्थ है चोरी नही करना. यहाँ इस चोरी शब्द का अर्थ केवल कानून की भाषा के अर्थ तक ही सीमित नही समझना चाहिए. इसका अर्थ है—जो हमारा नही है, न्यायपूर्वक हमारा नही है उसे स्वीकार नही करना. ऐसी कोई भी वस्तु लेना, जिस पर न्यायपूर्वक हमारा अधिकार न हो, चोरी माना गया है.



ब्रह्मचर्य एक अत्यन्त व्यापक व्रत है, इसका पूर्णतया पालन ससारी मनुष्यो के लिये सभव नही है. किन्तु व्यवहार मे इसे दो प्रकार से लागू किया गया है एक तो परस्त्री के प्रति कुदृष्टि अथवा कुविचार न करना, दूसरे स्वपत्नी के साथ अब्रह्मचर्य का सेवन सीमित करना इसमे मन, वचन काय तीनो पर अकुश रखना आवश्यक माना गया है

अपरिग्रह अन्तिम आचार माना गया है आज जो ससार की स्थिति है उसमे अपरिग्रह के सिद्धान्त का पालन कितना उपयोगी है, यह बहुत आसानी से समझा जा सकता है अपरिग्रह का अर्थ है—अपनी आवश्यकता से अधिक सग्रह न करना आज इस भौतिक जगत् मे हमारे चारो ओर जो सामाजिक और राजनैतिक दुर्दशा दिखाई पडती है, उसका एक प्रधान कारण अपरिग्रह व्रत का पालन न करना भी है

आज के ससार मे धनवान् तथा गरीब वर्ग के बीच असह्य असमानता मे से कार्ल मार्क्स (Karl Marx) का नया अर्थशास्त्र उत्पन्न हुआ उससे प्रेरणा पाकर लेनिन (Lenin) ने रूस मे एक जबरदस्त क्रान्ति उपस्थित की उसमे से साम्यवाद तथा समाजवाद उत्पन्न हुये और उनसे रक्तमय क्रान्तियाँ हुईं

जैन समाज-शास्त्रियो ने आज से हजारो-लाखो वर्षों पूर्व अपरिग्रह का जो अर्थशास्त्र बनाया था, यदि उसका पालन किया गया होता तो द्वेष, विद्वेष मारकाट और व्यापक हिंसा से पूर्ण घटनाएँ विश्व मे न होती. कार्ल मार्क्स, लेनिन, स्टालिन, चाउ एन लाई आदि साम्यवादियो द्वारा अपनाई गई विचारधाराएँ तथा कार्यप्रणालियाँ भी घातक ही हैं. क्योकि इनके पीछे अहिंसा की कोई भावना नही है

शोषको की हिंसा के विरुद्ध साम्यवादियो की हिंसा आई किन्तु हिंसा से हिंसा नही मिटती, हिंसा से दुख समाप्त नही होता, हिंसा से सुख प्रकट हो ही नही सकता यह एक भयानक विषमचक्र है, और अपरिग्रह का अभाव इसके मूल मे है. मानव जाति को यदि सुख और शान्ति चाहिए तो इसका सच्चा और सफल उपाय अपरिग्रह का पालन ही है सादगी और सन्तोष की वृत्ति विकसित करना ही है परिग्रह से कभी सन्तोष-सुख नही मिलता है

सक्षेप मे इसी प्रकार कह सकते है कि जैनतीर्थंकर भगवन्तो ने ससारी मनुष्यो के पालन करने के लिये उपरोक्त पांच आचार-सिद्धान्त बताए है, उनके पालन के अतिरिक्त समूची मानव-जाति की रक्षा, अस्तित्व और उद्धार का कोई अन्य मार्ग नही है

इन सिद्धान्तो पर बडी गम्भीरता से विचार किया जाना चाहिए जैनदर्शन के ये अक्षत सिद्धान्त परस्पर जुटे हुए हैं. इनमे से आप एक को छोडिए तो दूसरा स्वत छूट जाता है

इतने विवेचन से यह बात अब हमारी समझ मे सहज ही आ जाती है कि यदि मनुष्य, मानवता एव ससार की सुरक्षा और उन्नति का कही कोई मार्ग है तो वह मार्ग हमे जैनदर्शन ही दिखाता है इन विशिष्टताओ को अपने भीतर समाहित किए हुए इस अद्भुत जैनदर्शन को यदि विश्व का सर्वश्रेष्ठ, अनन्य और अपराजेय दर्शन कहा जाय तो न इसमे कोई अतिशयोक्ति है और न कोई असत्य का अश यह बात एक निर्विवाद तथ्य के रूप मे हमारे सामने स्पष्ट हो जाती है

जैनदर्शन में आत्मविकास का अनन्त अवकाश

आत्मा और परमात्मा के विषय मे विभिन्न दर्शनो की भिन्न-भिन्न मान्यताएँ हैं जैनदर्शन की भी इस सम्बन्ध मे अपनी एक विशिष्ट मान्यता है और विचार करने पर हम देखेंगे कि वह मान्यता अन्य दर्शनो की सीमित मान्यताओ से कितनी विशिष्ट व्यापक और उच्च है

कुछ दर्शन आत्मा के विषय मे यह मानते है कि विभिन्न जीवात्माएँ वस्तुत किसी एक ही परम-आत्मा (ईश्वर) का विस्तार है अपना विकास और शुद्धि करते करते वे अत मे मुक्त होकर उसी परम-आत्मा में विलीन हो जाती है, हो सकती हैं. इस तरह ये दर्शन भिन्न-भिन्न जीवात्माओ की स्वतत्र सत्ता स्वीकार न करते हुए एक ही ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते है



कुछ अन्य दर्शन (उदाहरण के लिये वौद्धदर्शन) यह स्वीकार करते है कि आत्मा अन्ततोगत्वा किसी दीपक की लौ के समान वुझ जाती है और शून्य मे विलीन हो जाती है वह विलीनीकरण उस जीवात्मा का पूर्ण अनस्तित्व (Total Extinction) है.

इसके विपरीत जैनदर्शन की यह विशिष्ट मान्यता है कि प्रत्येक जीवात्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व है. जीवन्मुक्ति के पश्चात् आत्मा सिद्ध (परमात्मा) वन जाती है और सिद्धात्माओ के निवास (सिद्धशिला) पर वह एक स्वतन्त्र सिद्ध—परम आत्मा के रूप मे स्थित रहती है इस तरह जैनदर्शन प्रत्येक आत्मा के उच्चतम विकास और अस्तित्व के लिये एक अनन्त अवकाश की मान्यता रखता है जैनदर्शन की यह मान्यता विशिष्ट तो है ही, साथ ही पूर्णतया तर्कयुक्त और व्यापक भी है.

जैनदर्शन और जगत्

मानव-मस्तिष्क में ये प्रश्न सदा से उठते आये है कि जिसमे हम सदा से रहते आये है और रहते हैं वह जगत् क्या है ? कब से है ? इसका निर्माण किसने किया ? किन उपादानो से किया ? अथवा क्या यह अनादिकालीन है ? अकरणीय है ? इन प्रश्नो के उत्तर खोजने और देने का प्रयत्न विभिन्न दर्शनो ने किया है भिन्न-भिन्न समय पर और भिन्न कारणो से ससार के निर्माण किये जाने की बात ये भिन्न-भिन्न दर्शन कहते है किन्तु जैसा तर्कयुक्त और सगत समाधान जैनदर्शन इस सम्बन्ध में प्रस्तुत करता है वह इन सब मे विशिष्ट और श्रेष्ठ है महात्मा बुद्ध ने, जो भगवान् महावीर के प्राय समकालीन थे, ऐसे प्रश्नो पर अधिक कुछ भी नही कहा है परन्तु भगवान् महावीर ने उनका सरल और बुद्धिगम्य स्पष्टीकरण किया है. जहाँ वस्तुएँ इतनी अधिक हो कि प्रत्येक की पृथक्-पृथक् गणना सभव न हो, वहाँ वर्गीकरण का सिद्धान्त उपयोगी होता है जगत् का वर्गीकरण करने से हमे दो तत्त्व—मौलिक पदार्थ—उपलब्ध होते है. (१) जीव और (२) जड. इनके अतिरिक्त और कोई मौलिक वस्तु है ही नही, अतएव यह कहा जा सकता है कि जीव और जड के समूह को ही जगत् कहते है

प्रत्येक प्राचीन दर्शनशास्त्र और आधुनिक विज्ञान, इन दोनो की मान्यता है कि "नासतो विद्यते भाव , नाभावो जायते सत " अर्थात् जो सत् नही, असत् है, वह कभी सत् नही हो सकता और जो सत् है उसका कभी अभाव नही हो सकता, इस सर्वसम्मत सिद्धान्त को स्मरण रखते हुए विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि जगत् यदि सत् है (और उसकी सत्ता निर्विवाद सिद्ध है) तो वह अनादिकालीन अवश्य है इसका निर्माण न किसी ने किया है और न करने की आवश्यकता ही थी. इस प्रकार दो मौलिक पदार्थो का समूहात्मक ससार सदा से विद्यमान था, है और रहेगा. इसमें दिखलाई देने वाली विविधता इन्ही दोनो वस्तुओ के अमुक भाति के सम्मिश्रण आदि पर निर्भर है एक उदाहरण लीजिए—मिट्टी जड वस्तु है कुम्हार उसे लेता है, चाक पर चढाता है और घड़ा बना देता है. अब वह मिट्टी घडे के रूप मे आ जाती है इसी प्रकार अन्यान्य वस्तुएँ अमुक प्रकार के सयोगो मे पडकर भिन्न-भिन्न रूप धारण करती रहती है यही जगत् की विविधता का रहस्य है किन्तु इस बाह्य विविधता के आवरण को चीर कर भीतर नजर डालने से हमे उल्लिखित जड़ और चेतन, यही दोनो मौलिक पदार्थ उपलब्ध होते है. ये अनादिकालीन है और अनन्तकाल तक रहेगे अत ऐसा कहना सर्वथा उचित ही है कि जगत् अनादिकालीन है और अनन्त काल तक रहेगा. इसका न तो कोई कर्त्ता है, न हर्ता है

जगत् की उत्पत्ति अथवा रचना के सम्बन्ध में जैनदर्शन का यह सर्वथा मौलिक, तर्कसम्मत, बुद्धिगम्य और विशिष्ट दृष्टिकोण है

क्या ईश्वर कर्ता है ?

कुछ ऐसे मत है जिनकी मान्यता के अनुसार यह सारी सृष्टि परमात्मा के ही द्वारा उत्पन्न की गई है किन्तु जैसा कि हम पहले कह चुके है, सृष्टि अनादिकालीन है, अत इसके वनने का प्रश्न ही नही उपस्थित होता फिर भी तर्क के लिये

यदि हम यह मान ले कि परमात्मा ही इसे बनाता और बिगाडता है तो यह शका उत्पन्न होती है कि आखिर इन झझटो मे पडने की उसे क्या आवश्यकता है ? इसमे उसका क्या अभिप्राय है ? ईश्वर कोई बालक नही है कि अपने मनोरजन के लिये वह सृष्टि को बनाए और बिगाडे फिर यदि सृष्टि को बनाने का उसका स्वभाव है तो वह उसे बिगाडता क्यो है ? बिगाडने का स्वभाव है तो बनाता क्यो है ? बनाने और बिगाडने के दोनो स्वभाव परस्पर विरोधी है, अत दोनो एक ही परमात्मा मे नही हो सकते परमात्मा सब प्रकार की इच्छाओ से मुक्त है उसे सृष्टि बनाने की इच्छा नही हो सकती तब कौन बलात् उससे बनवाता है ? यदि कोई बलात् उससे बनवा लेता है तो वह ईश्वर ही कैसे रहा ? वह बलात्कार करने वाली शक्ति ही क्या ईश्वर नही हुई ? ईश्वर तो उसके हाथ का एक कठपुतला हुआ इस प्रकार ईश्वर के ईश्वरत्व मे ही बट्टा लगता है

ईश्वर को दयालु माना जाता है यदि वह दयालु भी है और कर्त्ता भी है तो उसने भांति भांति के दुखो का सृजन क्यो किया ? अपने माता-पिता के सर्वस्व, निर्दोष जीवनाधार पुत्र को असमय मे ही मार कर उन्हे असह्य वेदनाओ मे पटक कर उनकी छटपटाहट देखता रहता है, तब ईश्वर की दयालुता कहाँ चली जाती है ? इस प्रकार सृष्टि को अनन्त दु ख देता हुआ क्या ईश्वर दयालु कहा जा सकता है ?

यहाँ यह कहा जा सकता है कि यह जीव के पूर्वोपार्जित कर्मो का फल है न पहले पाप करता न ऐसा दु खमय परिणाम भोगना पडता इसमे ईश्वर क्या कर सकता है ? किन्तु यह बचाव भी विचार करने पर छिन्न-भिन्न हो जाता है ईश्वर सर्वज्ञ है और सर्वशक्तिशाली भी माना जाता है जब उन जीवो ने पाप करने का विचार किया तो सर्वज्ञ ईश्वर ने जाना ही होगा वह दयालु है इसलिए उन्हे पाप से बचाने का प्रयत्न वह कर सकता था और वह सर्वशक्तिमान् है इसलिए किसी प्रकार उन्हे पाप से रोक भी सकता था किन्तु उसने ऐसा कुछ नही किया—वह सर्वज्ञ-दयालु, सर्व-शक्तिमान् और कर्ता ईश्वर केवल देखता ही रहा ! यह विचार कहाँ तक उचित है इसे पाठक स्वय ही सोच सकते है अस्तु, जैनदर्शन ईश्वर को इन प्रपचो से, इस क्रूरता से मुक्त रखता है वह ईश्वर को इन कलको से बचाता है वह मानता है कि ईश्वर सर्वज्ञ है, पूर्ण वीतराग है, कृतकृत्य है, अपुनरावृत्ति है, सासारिक झझटो से उसका कोई सम्बन्ध नही है

एक मात्र शका, जो यहाँ उपस्थित की जा सकती है, वह यह है कि यदि ईश्वर वीतराग है, निग्रह और अनुग्रह नही करता, रुष्ट और तुष्ट नही होता, तो वह अपने भक्तो की भलाई नही करेगा तब उसकी आराधना करने की क्या आवश्यकता है ?

इसका स्पष्ट और सरल उत्तर यह है कि ईश्वर हमारी भलाई करे, इसलिए हम उसकी आराधना करें, यह स्वार्थ-पूर्ण हृदय की वासना है ऐसी भावना के साथ ईश्वरभक्ति करना वास्तविक भक्ति नही है बल्कि रिश्वत देकर उसे फुसलाना ही है भक्ति मे आदान-प्रदान की भावना नही होती, सर्वस्व दान की कामना होती है भक्ति व्यापार नही है अत. निष्काम भक्ति ही वास्तविक भक्ति है कल्याण स्वय ही इस प्रकार की भक्ति द्वारा आकर चरणो पर लोटता है कहा गया है—'देवा वि त नमसति जस्स धम्मे सया मणो ' (जिसका मन सदा धर्म मे लीन रहता है, देवता भी उस के चरणो पर लोटते है)

तात्पर्य यह नही है वीतराग की भक्ति से कुछ लाभ नही होता मानसशास्त्र का यह नियम है कि जो व्यक्ति सदैव जिसका स्मरण करता है, जैसा बनने की भावना करता है, वह कालातर मे वैसा ही बन सकता है. इस नियम के अनु-सार वीतराग का स्मरण करने से और वीतराग बनने की प्रबल भावना से भक्त भी वीतराग बन जाता है इसके अतिरिक्त वीतराग भगवान् आत्मविकास के सर्वोत्तम आदर्श है हमे उस आदर्श तक पहुँचना है अत हमारा ध्यान सदैव उस आदर्श पर रहना चाहिए

जड होने के कारण अजन की इच्छा नही होती कि अमुक व्यक्ति मुझे सेवन करता है, इसलिए उसकी दृष्टि निर्मल कर

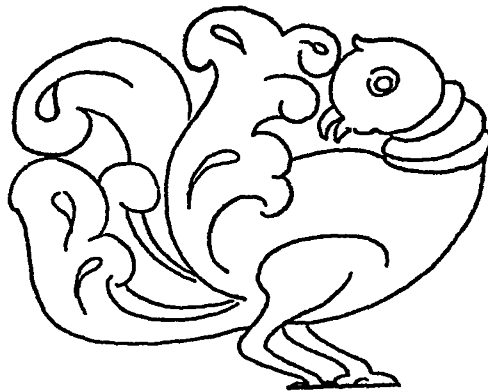


दूं. फिर भी अजन का सेवन करने वाले की दृष्टि निर्मल हो जाती है इसी प्रकार वीतराग होने के कारण भगवान् की इच्छा नही होती कि मैं अपने भक्त का कल्याण करू, तो भी उनकी भक्ति करने वाले का कल्याण अवश्य होता है. दूसरे शब्दो मे हम यह कह सकते है कि, किसी कार्य का कर्त्ता हो या न हो परन्तु कारणो की पूर्णता होने पर कार्य की निष्पत्ति हो ही जाती है अत वीतराग भगवान् की भक्ति करना ही चाहिए वह कभी निष्फल नही हो सकती.

जैनदर्शन नित्य नूतन है

जैनदर्शन सम्बन्धी अपनी इस विवेचना मे हमने देखा कि इस महान् दर्शन का प्रत्येक सिद्धान्त, चाहे वह सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ–अणु-परमाणु के विषय मे हो अथवा सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान् परमात्मा तथा अनन्त और अनादि सृष्टि के विषय मे, अकाट्य, तर्कयुक्त और विशिष्ट है यही कारण है कि इस विश्व का यह दिग्विजयी दर्शन चिरनवीन-नित्य-नूतन है. लाखो वर्षो से जो सिद्धात इस दर्शन के द्वारा प्रतिपादित किये गए है वे आज भी जीवन के हर क्षेत्र मे, जीवन की प्रत्येक समस्या के विषय मे, सीधा, सच्चा और स्पष्ट समाधान प्रस्तुत करते हैं हमने देखा कि जैनदर्शन का अनेकान्त-वाद, जिसे युग-युग के पूर्व से जैन दार्शनिको ने ससार को भेट किया है, एक ऐसा दृष्टिकोण है जिसे अन्ततोगत्वा विज्ञान ने स्वीकार किया है उसके अतिरिक्त कोई दृष्टिकोण नही है जिसके आधार पर चल कर हम वस्तु, जीवन, सत्य को उसके सच्चे स्वरूप मे जान सके हमने देखा कि जैन दर्शन ने जो आचार-पद्धति हमे बताई है, वही, केवल वही, आचार-पद्धति है जिसका पालन करने से ही आज की मानवता की, सृष्टि की रक्षा और अस्तित्व सम्भव है. यह असम्भव है कि मानव-समाज उस आचार-पद्धति को त्याग दे और त्याग कर अपना अस्तित्व कायम रख सके हमारे जीवन की समस्त कठिनाइयाँ, हमारी समस्याएँ, हमारे दुख, सर्वनाश का भय जो हमारे द्वार तक आ पहुँचा है, यदि दूर किया जा सकता है तो केवल इसी आचार-पद्धति के अनुसरण द्वारा ही हमने देखा कि जीवन, जगत् और जगत् की रचना के विषय मे जैनदर्शन ने जो समाधान उपस्थित किए है, वे अकाट्य हैं और उन्हे स्वीकार किए विना हमारे पास अन्य कोई मार्ग नही है इसीलिए हमे यह मानना ही पडेगा कि जैनदर्शन इस ससार का एक अनन्य दर्शन है. कोई अन्य दर्शन नही जो इसकी समता मे रखा जा सके. जैनदर्शन का चिन्तन, उसके सिद्धात किसी भी तर्क द्वारा अवास्तविक प्रमाणित नहीं किए जा सकते ऐसा सुदृढ, सुविचारित ठोस वैज्ञानिक दर्शन यदि इस ससार का अपराजेय दर्शन है, तो इसमे कोई आश्चर्य नही.

हम अपनी ओर से यही भावना कर सकते है कि ससार के इस अनन्य, अपराजेय और नित्य नूतन दर्शन—जैनदर्शन—का ज्ञान और अनुसरण इस विश्व के सन्मुख कल्याण का मार्ग मुक्त करे.



महेन्द्र राजा
एम० ए०, डिप० लिप-एस-सी०, एफ० एल० ए० (लदन)

कुछ विदेशी लेखकों की दृष्टि में

जैनधर्म एवं भगवान् महावीर



लगभग ७ वर्ष तक इग्लैड के सार्वजनिक पुस्तकालयो के सपर्क मे रहने के बाद मुझे आज यह लिखने मे जरा भी सकोच नही कि भारत और भारतीयो के विषय मे जितनी पुस्तके अग्रेजी मे प्रकाशित हुई है, उतनी हिन्दी तो बहुत दूर, भारत ही नही, ससार की भी किसी अन्य भाषा मे उपलब्ध नही होगी इतना होने पर भी अग्रेजी मे प्रतिवर्ष भारत सम्बन्धी २०-२५ पुस्तकें प्रकाशित होती ही रहती है इन पुस्तको के रचयिता कोई ऐरे-गैरे लोग नही होते जो इग्लैड या युरोप मे रहते हुए भारत के सपने देखते रहते है और फिर भारत के सबध मे इधर उधर से कुछ पढकर स्वय के नाम से कोई पुस्तक तैयार कर लेते है इन पुस्तको के लेखक वस्तुत वे लोग होते है जिन्हे भारतीय परिवारो के सपर्क मे आने का भले ही कोई अवसर न मिला हो, पर उन्होने भारत के बाहरी रूप को अच्छी तरह देखा है

आज अग्रेजी के उपलब्ध प्रकाशित साहित्य की स्थिति यह है कि आपको प्राय प्रत्येक विषय की पुस्तक मिल जाएगी कुछ विषयो के एक-एक अग पर बडे-बडे ग्रथ प्रकाशित हो चुके है किसी भी देश का इतिहास, सस्कृति, धर्म, आचार-विचार, आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था आदि के सम्बन्ध मे उस देश की किसी भाषा मे भले ही कोई पुस्तक न मिले, पर यदि आप अग्रेजी साहित्य की ओर दृष्टि करें तो आपको शायद ही निराश होना पडे

सूचीकार एव वर्गीकार (Cataloguer and classifier) के रूप मे कार्य करते हुए प्रतिवर्ष लगभग दस हजार से ज्यादा पुस्तके मेरे हाथ स गुजरती है इन पुस्तको मे मैंने उपन्यास एव कथासाहित्य की पुस्तके सम्मिलित नही की है इतनी अधिक पुस्तकें पढने का अवसर भले ही न मिला हो पर इन पुस्तको की विषयवस्तु, उनके लेखक का परिचय, उनकी उपादेयता, विषय-विश्लेषण आदि को समझने का अवसर अवश्य मिला है इसके अतिरिक्त कभी-कभी पुस्तक के किसी अध्याय मे अकस्मात् भारत सम्बन्धी कोई बात नजर आ गई तो फिर उत्सुकतावश उसे पढने का मोह भी सवरण नही कर पाया हूँ

इस प्रकार अपने कार्य के दौरान मे मेरे हाथो से ऐसी अनेक पुस्तके गुजरी है जिनमे यथावसर भगवान् महावीर एव जैन धर्म सम्बन्धी चर्चा भी आई है इन पुस्तको के जैनधर्म सम्बन्धी अध्यायो या पेरेग्राफो को मैंने रुचिपूर्वक पढा है उन्हे पढ कर कई बार मेरे मन मे यह इच्छा हुई कि मैं "विदेशी लेखको की दृष्टि मे जैनधर्म एव महावीर" शीर्षक एक लेख लिख डालू, पर आलस्यवश ऐसा नही कर सका पिछले वर्ष जब श्री हजारीमल स्मृति-ग्रथ के लिए किसी लेख की माग की गई तो अकस्मात् ही मुझे उक्त विषय स्मरण हो आया और मैं इस लेख की तैयारी करने लगा

अभी तक मुझे जितनी भी पुस्तको मे जैन धर्म सम्बन्धी उल्लेख देखने को मिले है, उन सभी के लेखक इस मत से सह-मत है कि जैनधर्म बौद्धधर्म से पुराना है पर इन दोनो ही धर्मों का विकास एव उत्थान छठी शताब्दी मे विशेष रूप से हुआ प्राय सभी लेखक इस मत के भी है कि ये दोनो धर्म ब्राह्मणत्व के विरोध मे उठे और अपने उद्देश्य मे बहुत कुछ सफल भी हुए



"एन एनसाईक्लोपीडिया आफ रिलीजन[1] में चार्ल्स एस०ब्रेडन जैनधर्म सम्बन्धी परिच्छेद मे लिखते है "कि जैनधर्म स्पष्ट ही बौद्धधर्म से कुछ पुराना है और उसका प्रारम्भ छठी शताब्दी से बहुत पहले का माना जा सकता है जैनधर्म मे हिंदू धर्म के कर्म एव पुनर्जन्म के सिद्धान्त को कुछ परिवर्तित रूप मे अपनाया गया है. विश्व के किसी भी अन्य धर्म की अपेक्षा जैनधर्म मे 'अहिंसा' या किसी को कष्ट न देने के सिद्धान्त को सर्वाधिक प्रमुखता दी गई है जैनधर्मानुयायियो के मदिर बहुत ही आकर्षक एव विश्व के अन्य मतानुयायियो के पूजास्थलो की अपेक्षा भव्य होते है. वास्तुकला की दृष्टि से भी उनका अलग महत्त्व है. कोई भी अपरिचित व्यक्ति उन्हे प्रथम बार देखकर सहसा स्तभित रह जाता है"

विश्वप्रसिद्ध अमेरिकी पाक्षिक पत्रिका 'लाइफ' मे समय-समय पर जो लेखमालाए प्रकाशित होती है, बाद मे अधिकाश का प्रकाशन सदर्भ-ग्रन्थ के रूपमे भी होता है. १९५९ में इस पत्रिकाके सपादको की ओर मे 'वर्ल्ड्स् ग्रेट रिलीजियन्स'[2] नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था. वैसे तो इस ग्रथ मे प्राय सभी धर्मो के सम्बन्ध मे लम्बे-लम्बे सचित्र लेख दिये गए है तथा विश्व के अनेक धर्मो का परिचय अलग-अलग परिच्छेदो मे है कम सख्या वाले मतानुयायियो का परिचय एक प्रारम्भिक परिच्छेद मे दिया गया है इसी परिच्छेद मे जैन, सिख और पारसी धर्मो के लिए भी एक-एक पैराग्राफ दिया गया है

अन्य प्रसिद्ध लेखको के समान, 'लाइफ' के सपादको के मत से भी जैनधर्म का प्रारम्भ ईसापूर्व छठी शताब्दी मे हिन्दूधर्म की बुराइयो के विरुद्ध एक आदोलन के रूप में हुआ था ·· एक शब्द मे जैनधर्म का मुख्य सिद्धात 'अहिंसा' है जिसे बहुधा जैन लोग इस सीमा तक मानते है कि पाश्चात्य वातावरण मे पले लोगो को हास्यास्पद सा जान पडता है ऐसी स्थिति मे यह समझने मे कोई कठिनाई नही होना चाहिए कि जैन लोग गाधीजी को किस प्रकार अपने मत का अनुयायी मानने का दावा करते है.

'लाइफ' के मत से जैनत्व 'धर्म' की अपेक्षा 'नीति' अधिक है, भले ही जैनियो के अपने तीर्थकर हो, विशाल मन्दिर हो तथा उनमे वे पूजन-अर्चन करते हो. आधुनिक युग मे जैनधर्म एक नए रूप में विश्व के समक्ष आगे आ रहा है विश्व-बन्धुत्व तथा युद्ध की समाप्ति की पृष्ठभूमि मे जैनधर्म का अपना अलग महत्त्व है तथा रहेगा

"दी न्यू शेफ—हरजोग एनसाईक्लोपीडिया ऑफ रिलीजियस नालेज"[3] मे श्री ज्योर्फ डब्ल्यू० गिलमोर ने जैनधर्म के सवन्ध मे लिखा है कि जैनधर्म के सस्थापक पार्श्वनाथ थे जिन्होने यद्यपि एक स्वतत्र विचारधारा को जन्म दिया पर वह विचारधारा उनके बाद दो शताब्दी तक कार्यशील नही हो पाई. उनकी इस विचारधारा को आगे बढाने का श्रेय महावीर को है जो उनके करीब २५० साल बाद हुए

इसके बाद जैनधर्म एव बौद्धधर्म की समानता बतलाते हुए लेखक ने मुख्यरूप से अहिंसा का उल्लेख किया है और यह ठीक ही लिखा है कि "दोनो धर्मो मे अहिंसा मुख्य सिद्धात होते हुए भी जैनधर्म इस अर्थ मे अधिक महत्त्व रखता है कि अहिंसा के सिद्धान्त को जैन लोग जिस कट्टरता से मानते है और उसका व्यवहार मे जितना प्रयोग करते है, उतना बौद्ध लोग नही इसका प्रमाण केवल इस तथ्य से मिल जाता है कि जैन मुनि अहिंसा का पालन करने में इतने आगे बढे हुए है कि वे अपने मुह पर हमेशा एक पट्टी बाँधे रहते है ताकि सास लेने या बाहर निकालने मे किसी जीव की हत्या न हो जाए इसी प्रकार जब वे उठते-बैठते या सडक पर चलते है तो एक छोटा सा झाडू[4] साथ में लिए रहते है जिससे वे रास्ता साफ करते चलते है और इस प्रकार किसी सभावित हिंसा से बचे रहते है.

---

१. Encyclopedia of Religion, edited by vergilius Ferm (New york, Philosophical Library, 1945)
२ 'World's Great religions' by the editors of 'Life' International
३ The New Schaff Herzog encyclopedia of religious Knowledge, edited by Samuel Macaulay Jackson (Baker Book, House Michigan,1956,
४ लेखक का आशय रजोहरण से है, जो प्राय ऊन का होता है —सम्पादक

वाद मे जैनधर्म एव ब्राह्मण धर्म की समानता का विलक्षण उदाहरण देते हुए लेखक ने जैनधर्म का मूल ब्राह्मण धर्म मे बतलाया है लेखक का मत है कि जैनधर्म का अधिकाश आचार-विचार ब्राह्मण धर्म पर आधारित है उदाहरणत· ब्राह्मण धर्म मे साधुओ को वर्षाकाल मे विहार करना मना है तथा किसी एक स्थान पर निश्चित काल से अधिक समय तक ठहरने का भी निषेध है यही वात जैन धर्म मे भी है ब्राह्मण एव जैन धर्म दोनो मे ही साधुओ को केश न कटवाने का विधान है तथा दोनो ही धर्मो मे पानी छान कर पीने तथा साधुओ को साथ मे एक भिक्षापात्र रखने का नियम है अत जैनधर्म को ब्राह्मण धर्म के विरोध मे खडे दो आन्दोलनो मे से एक ही माना जा सकता है, जैनधर्म की नीव, विचारधारा एव आचार-विचार का आधार ब्राह्मण धर्म ही है"

कहने की आवश्यकता नही कि लेखक के उक्त मत से विशेषकर 'पानी छानकर पीने की वात' से शायद ही कोई व्यक्ति सहमत होगा अहिंसा के समान ही पानी छानकर पीने की वात भी जैनधर्म की अपनी विशेपता है तथा उसका उद्देश्य भी अनावश्यक हिंसा से बचाव ही है आज तक ऐसा कही कभी सुना या पढा नही गया कि ब्राह्मण धर्म मे भी पानी छानकर पीने का एक आवश्यक नियम वतलाया गया है.

जैनधर्म को इतनी जल्दी महत्त्व कैसे मिल गया तथा महावीर को अपने सिद्धातो का प्रचार करने मे उतनी अधिक सफलता क्यो मिली, इसका समाधान भी लेखक ने अपनी विलक्षण सूझ-बूझ से किया है लेखक का मत है कि चूकि महावीर को समाज मे महत्त्व प्राप्त था तथा धनी लोगो से उनका परिचय था अत उन्हे उन सभी का सहयोग आसानी से प्राप्त हो गया दूसरी ओर उनके सरल जीवन एव विचारधारा से निम्न वर्गो के लोग भी उनकी ओर आकर्षित हुए जैनधर्म को ब्राह्मण धर्म के विरोध मे सफलता केवल इसीलिए मिली कि जैनधर्म ने सभी वर्गो के लिए अपना द्वार खोल दिया और तथाकथित जातिवाद को कोई प्रश्रय नही दिया

जैनधर्म के सिद्धातो का जितना स्पष्ट, निष्पक्ष एव सही-सही परिचय लदन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर श्री ए० एल० वाशम ने 'कान्साइज एन्साइक्लोपीडिया आफ लिविंग फैथ्स' मे[1] दिया है, वैसा सभवत अव तक कोई अन्य आधुनिक लेखक नही दे पाया है

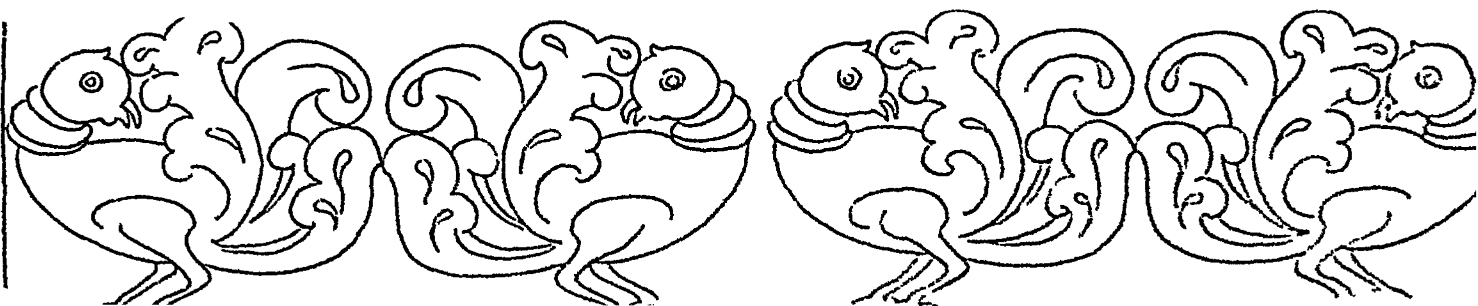
श्री वाशम का मत है कि हिन्दू धर्म से अपने आपको अलग एव स्वतन्त्र माने जाने का जितना दावा बौद्ध धर्म का है, करीव उतना ही, वल्कि उससे कुछ अधिक ही, दावा जैन धर्म का भी है

जैन धर्म प्रारम्भ से ही विशुद्ध रूप मे एक भारतीय धर्म रहा है बौद्धधर्म के विपरीत जैन धर्म Theism से कभी समझौता नही किया और वह अपनी जन्मभूमि मे ही फलता-फूलता रहा बौद्ध धर्म यदि जीवित रह सका तो इसका मुख्य श्रेय उन बौद्ध मठो को मिलना चाहिए जो बाद मे मुस्लिम आक्रमणकारियो द्वारा नष्ट कर दिये गये इसके विपरीत जैनधर्म यदि जीवित रह सका तो केवल उन इने-गिने शिक्षित एव सुसस्कृत अनुयायियो के कारण जो अपने भिक्षुओ के कड़े आचरण के कारण उनसे प्रभावित रहे तथा अपने सिद्धान्त एव विश्वास पर डट रहे जैन धर्म के सिद्धान्तो को उन्होंने अपने जीवन मे उतारा इन थोडे से धर्मभक्त नागरिको एव उनकी भावी पीढी ने आज तक जैन धर्म को जीवित रखा है

लेखक का मत है कि जैन धर्म का आत्मा एव मोक्ष का सिद्धान्त हिन्दुओ के साख्यदर्शन से बहुत कुछ मिलता-जुलता है और इस वात की भी सम्भावना की जा सकती है कि जैन एव साख्यदर्शन दोनो का ही आधार कोई एक प्राचीन मूल सूत्र रहा हो. अन्य धर्मो की अपेक्षा जैन धर्म की एक मुख्य विशेपता यह है कि इस धर्म ने ही सर्व प्रथम यह मत प्रतिपादित किया कि सपूर्ण विश्व जीवमय है

वैसे देखा जाय तो अव बहुत कुछ वातो मे जैन धर्म ने हिन्दू धर्म से अप्रत्यक्ष रूप मे समझौता कर लिया है कुछ

१ Concise encyclopedia of living faiths, edited by R C Zaehner (London, Hutchinson, 1959)



हिन्दू देवताओ को जैन लोग भी पूजते है तथा जैनियो के यहा जन्म, मृत्यु व शादी के अवसर पर विविध सस्कारो के लिए ब्राह्मणो को भी बुलाया जाता है.

इसके बावजूद भी Theism से जैनधर्म ने कभी समझौता नही किया. जैन धर्म जैसा आज से करीब दो ढाई हजार वर्ष पूर्व था, वैसा ही, अपने उसी मूल रूप मे आज भी है

यद्यपि सख्या में जैन लोग भारत के अन्य किसी भी धर्म के मतानुयायियो की अपेक्षा कम है, पर भारत के दैनिक सामाजिक एव राजनैतिक जीवन मे ये बडे ही प्रभावशाली रहे है. इसका मुख्य कारण इनकी सपन्नता, इनका अतुल वैभव एव शिक्षा का उच्च स्तर है. इस बात की किंचित् भी सम्भावना नही की जानी चाहिए कि ये लोग हिन्दुत्व के विशाल सागर में समाकर अपना स्वतन्त्र अस्तित्व समाप्त कर देगे ..

. इनके अहिंसा सिद्धान्त का आधुनिक भारत पर जो प्रभाव पडा है, उसका पूरा-पूरा श्रेय उन्हे नही मिल सका है महात्मा गाधी के जीवनदर्शन पर जिन कुछ मुख्य बातो के प्रभाव का अभी तक पता चल सका है, उसमे जैनधर्म का प्रमुख स्थान है. अपनी युवावस्था मे ही गाधीजी जैन साधुओ से प्रभावित हो चुके थे. इस बात में कोई सदेह नही कि गाधीजी का अहिंसा का सिद्धान्त वस्तुत जैन धर्म की ही देन है तथा इस बात के लिए गाधीवादी जैनियो के सदा ऋणी रहेगे "

करीब दो वर्ष पूर्व बालको के लिए उपयोगी एक छोटी सी पुस्तक यहा प्रकाशित हुई थी. इस पुस्तक का नाम है "एनसियेण्ट इण्डिया"[१] और इसके लेखक है श्री ई० रायस्टन पाइक १३ से १५ वर्ष तक के बालको के लिए लिखित इस पुस्तक मे प्राचीन भारत का परिचय १० परिच्छेदो मे दिया गया है. इसमें से एक परिच्छेद भगवान् महावीर के सम्बन्ध में है जिसका शीर्षक है "दी प्रिंस हू बिकेम ग्रेट हीरो" The prince who became great hero (अर्थात् वह राजकुमार जो महावीर बना) 'ग्रेट हीरो' वस्तुत महावीर का ही अग्रेजी अनुवाद है, पर मैं समझता हूँ कि हिन्दी मे 'महावीर' का जो शाब्दिक अर्थ होता है, अंग्रेजी मे 'ग्रेट हीरो' का अर्थ उससे कही अधिक प्रभावोत्पादक है ऐसा लिखने का मेरा अभिप्राय मात्र इतना ही है कि इस पुस्तक के लेखक की दृष्टि मे महावीर का स्थान काफी ऊचा है.

जैसा कि मै पहले लिख चुका हू, उक्त पुस्तक प्राचीन भारत से सबन्धित है, अत भगवान् महावीर सम्बन्धी इस परिच्छेद मे भी तत्कालीन भारतीय पृष्ठ भूमि मे ही भगवान् महावीर का विवरण दिया गया है.

लेखक ने बडी ही सरल एव सुबोध शैली में पहले महावीर के समय के भारत का परिचय देते हुए बिम्बसार, अजातशत्रु, वैशाली, कोशल आदि का विवरण दिया है अजातशत्रु का उल्लेख करते हुए लेखक ने लिखा है कि उसने महावीर और बुद्ध दोनो के दर्शन किये थे और वह उनसे काफी प्रभावित भी हुआ था.

महावीर के अवतरण के पूर्व सर्वत्र हिंसा का बोलबाला था पशुवलि चरम सीमा पर थी. मदिरो मे इस कार्य के लिए विशेष स्थान नियत कर दिये गए थे और देवताओ के नाम पर प्रतिदिन अनेक मूक पशुओ की वलि दी जाती थी जातिवाद की प्रथा भी उन दिनो इस प्रकार व्याप्त थी कि कुछ इने-गिने लोगो को छोडकर अधिकाश का जीवन वड़ी विपन्न अवस्था मे वीतता था. केवल ब्राह्मणो को ही वेद पढ़ने-पढाने या तत्सम्वन्धी ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार था इतना ही नही, भगवान् की पूजा—आराधना भी हर कोई नही कर सकता था केवल ब्राह्मणो की कृपा से ही कोई व्यक्ति किसी प्रकार का धार्मिक कार्य कर सकता था. इसका एक मुख्य कारण यह भी था कि उन दिनो ब्राह्मणो ने धर्म को इतना जटिल वना दिया था, धर्म सम्वन्धी प्रत्येक क्रियाकलाप ऐसी-ऐसी रूढियो एवं सस्कारो से ग्रसित कर

---

१ Ancient India, by E Royston Pike (London, Weidenfeld and Nicolson, 1961) Young enthusiast library The young historian series No 5

दिया गया था कि उन विधि-विधानो की क्रिया ब्राह्मणो के अतिरिक्त और कोई नही जानता था ब्राह्मणो के अभाव मे किया गया कोई भी कार्य व्यर्थ और महत्त्वहीन समझा जाता था.

ब्राह्मणो की ही इच्छानुसार देश मे स्थान-स्थान पर कुछ ऐसे स्थल नियुक्त कर दिये गए थे जहा बडे समारोह के साथ पशुवलि दी जाती थी ब्राह्मणो ने जनसाधारण के मन मे ऐसी धारणा उत्पन्न कर दी थी कि भगवान् वलि से प्रसन्न होते है उनका ऐसा कहना सच हो या नही, पर यह निर्विवाद है कि धर्म की आड लेकर उस समय ब्राह्मण लोग अनेक प्रकार से अपना स्वार्थ साधन करते थे

ब्राह्मणो का इस प्रकार का वाह्य आडम्वर और भ्रष्टाचार देखते-देखते जब लोग तग हो गए, लगातार वलि के दृश्य देखते-देखते जब लोगो के मन मे भी कुछ समझ आई तो यह स्वाभाविक था कि उनके हृदय मे ब्राह्मणो के एकाधिकार के विरुद्ध भावना जागृत हो पर इतना ही पर्याप्त नही था ईसापूर्व छठी और ५वी सदी मे लोगो के मन मे धर्म और दर्शन के प्रति आस्था वढ रही थी और लोग स्वय इन वातो मे रुचि लेने लगे थे 'ब्राह्मणवाक्य प्रमाणम्' मानने के लिए अब वे तैयार नही थे अब वे प्रत्येक वात के विपय मे क्यो और कैसे ?' कहा व क्या ? आदि प्रश्न पूछने लगे थे

जब ब्राह्मण लोग उनकी इस जिज्ञासा का समाधान नही कर सके तो उनके मन मे ब्राह्मणो के प्रति अविश्वास और अश्रद्धा हो उठी ऐसे ही समय महावीर का अवतरण हुआ

'महावीर' शब्द का अर्थ है 'ग्रेट हीरो' (Great hero) यह उपाधि उन्हे उनके अनुयायियो द्वारा दी गई है उनका असली नाम वर्द्धमान था तथा उनका जन्म गणतन्त्र की राजधानी वैशाली के लिच्छवि वश मे हुआ था. कुछ लोगो का यह भी मत है कि वे वैशाली-नरेश के नाती थे तथा कुछ लोग राजा विम्बसार से भी उनका सवध जोडते है महावीर का जन्म कव हुआ, इस सम्वन्ध मे लोगो मे मतभेद है पर आधुनिक अनुसधान के आधार पर उनका जन्म ई० पू० ५४० मे हुआ माना जाता है क्षत्रियवश मे जन्म लेने के कारण उनकी शिक्षा-दीक्षा भी तत्कालीन रीति-रिवाजो के अनुसार हुई शिक्षासमाप्ति के वाद युवावस्था मे उनका विवाह हुआ और उनको एक पुत्री भी हुई लेकिन महावीर एक महान् विचारक थे घर-गृहस्थी मे उनका मन अधिक समय तक नही रह सका तीस वर्ष की अवस्था मे वे अपनी पत्नी, पुत्री तथा घर-वार छोडकर कुछ ऐसे साधुओं के साथ चले गए जो पार्श्वनाथ के उपासक माने जाते थे[1] पार्श्वनाथ लगभग २५० वर्ष पूर्व हुए थे तथा वे जैनो के महापुरुपो की श्रेणी मे २३वें माने जाते है कहा जाता है कि उनके पूर्व २२ अन्य महापुरुष हो चुके थे

लगभग १२ वर्ष तक महावीर सारे देश मे इधर-उधर घूमते रहे अपनी दैनिक जीवन की आवश्यकताए उन्होने वहुत कम कर दी तथा वे तपस्या मे अधिक समय विताने लगे कभी-कभी वे ध्यानावस्था मे कई दिनो तक भूखे-प्यासे रह जाते थे पहले तो वे कुछ वस्त्र पहने रहे पर कुछ समय वाद उन्होने सभी प्रकार के परिग्रह का त्याग कर दिया उन्होने वस्त्रो को भी अनावश्यक कहकर त्याग दिया कहा जाता है कि इसके वाद वे मृत्यु पर्यन्त निर्वस्त्र रहे

इस प्रकार रहते-रहते वे १३वे वर्प मे जिन हो गए 'जिन' का अर्थ है 'विजेता'. यह एक प्रकार से ठीक ही है, क्योंकि इस अवधि मे उन्होने प्रत्येक विषय का ज्ञान प्राप्त कर लिया था और सभी प्रकार की मानवीय भावनाओं, आकाक्षाओं पर विजय प्राप्त कर ली थी इसी 'जिन' शब्द से ही जैन शब्द वना जो आज उनके अनुयायियो के लिए प्रयोग किया जाता है

महावीर यद्यपि जैन धर्म के सस्थापक नही थे, पर अन्य किसी व्यक्ति की अपेक्षा उन्होने ही इसके प्रसार-प्रचार मे सर्वाधिक योगदान दिया उन्हे 'तीर्थंकर' भी कहा जाता है उनके पहले २३ तीर्थंकर हो चुके थे, अत उन्हे २४वा

---

१ महावीर ने कुछ साधुओं के साथ नहीं, एकाकी ही अभिनिष्क्रमण किया था और दीर्घ काल तक वे एकाकी ही साधनानिरत रहे थे, यह तथ्य इतिहास से प्रमाणित है किन्तु यहा श्रीपाठक के विचार दिये जा रहे हैं —सम्पादक



तीर्थंकर माना गया है तीर्थंकर का अर्थ होता है वह व्यक्ति जो जनसाधारण को सासारिक वधनो से छुटकारा दिला-कर 'निर्वाण' की ओर अग्रसर करे. तीर्थंकर की विशेषताओ के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह 'पुरुषोत्तम' 'आदर्श पुरुष' होता है वह ऐसा व्यक्ति होता है जो न किसी से राग करता है, न द्वेष, न किसी पर क्रोधित होता है, न प्रसन्न. जिसे किसी वस्तु के प्राप्त होने पर न तो खुशी होती है और न उसके वियोग में रज. धनी-गरीब, ऊच-नीच, सभी के साथ वह समान व्यवहार करता है सर्वथा निर्भय और नि शक वह सभी मानवीय आवश्यकताओ के प्रति रागहीन होकर न तो निद्रा की आवश्यकता महसूस करता है और न किसी प्रकारके आहार-विहार की. जैनो के धार्मिक ग्रथो मे तीर्थंकर की ३४ विशेषताएँ बतलाई गई है. महावीर मे ये सभी विशेषताएँ थी.

लगभग ३० वर्ष तक महावीर जगह-जगह उपदेश देते रहे. करीब ७२ वर्ष की आयु में शरीरत्याग किया

यद्यपि महावीर ने उपनिषदो से भी बहुत कुछ ग्रहण किया पर उपनिषदो की अपेक्षा महावीर के सिद्धान्तो मे कुछ मौलिक अतर था महावीर 'आत्मा' को मानते थे 'विश्वात्मा' को नही जैनधर्म के अनुसार मरने के बाद जीव पुन (तुरन्त) जन्म लेता है. इस प्रकार यह जीवन-चक्र चलता ही रहता है जैनधर्म मे 'कर्म' को बहुत महत्त्व दिया गया है. वस्तुत जैनधर्म के सारे सिद्धान्त 'कर्म' के इर्द-गिर्द घूमते है. कर्म का सीधा और सरल अर्थ है जीव द्वारा किया गया कार्य. जो जीव जैसा कार्य करता है उसी के अनुसार जन्म-जन्मातर मे उसे अच्छा-बुरा फल मिलता है. महावीर के सिद्धान्त के अनुसार जीव को जहाँ तक सभव हो अच्छे-से-अच्छे कार्य करके शीघ्रातिशीघ्र जन्म-मरण के इस चक्कर से छुटकारा पाना चाहिए. इसका सरल मार्ग भी उन्होने बतला दिया यह सरल मार्ग है 'अहिंसा' अर्थात् किसी को किसी प्रकार का शारीरिक या मानसिक कष्ट नही देना महावीर का मत था कि केवल मानव ही नही, वरन पशु-पक्षियो, पेड़-पौधो, जल-वायु आदि मे भी जीव होता है इस आधार पर जैन लोग कम-से-कम वस्तुओ का उपयोग कर अहिंसा का पालन करते है. इसी आधार पर जैनधर्म मे पशुबलि का निषेध तो हो ही गया, पर ऐसी क्रीडाओ-कार्यो का भी जैनो ने बहिष्कार किया, जिनमे पशु-पक्षियो को किसी प्रकार का कष्ट पहुंचता हो आहार के लिए पशु-हत्या तो स्वाभाविक ही बद हो गई. आज ससार मे जैन समाज ही एक ऐसा समाज है जिसे पूर्णत शाकाहारी कहा जा सकता है. भारत मे जैन परिवारो में किसी भी प्रकार के उपयोग के लिए पानी को पहले छान लिया जाता है इसका भी मुख्य उद्देश्य अदृश्य जीवो की हत्या रोकना है कुछ जैन साधु अपने मुह के ऊपर कपडा बाधते है (केवल इसीलिए कि बोलने मे सूक्ष्म कीटाणु मुह के अदर न चले जाए) सडक पर चलते समय भी पूर्णत सावधानी रखी जाती है ताकि रास्ते मे छोटे-छोटे कीडे न कुचल जाएँ. चूकि जीवित रहने के लिए कुछ-न-कुछ खाना-पीना आवश्यक है, अत यह जानते हुए कि 'वनस्पति' में भी जीव होता है, जैन लोग आहार के लिए कुछ (सभी नही) ऐसी वनस्पतियो का उप-योग करते है जिन्हे प्राप्त करने में जीवहत्या की संभावना कम रहती है जैन लोगों को इस बात का गौरव है कि भारत में सबसे पहला पशु-अस्पताल उन्होने ही खोला था

महावीर के सिद्धान्तो में अहिंसा प्रमुख है वस्तुत. अहिंसा ही जैनधर्म की रीढ है, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह—इन चार बातो से बचना अहिंसा के बाद मुख्य रूप से माना जाता है ये सभी बाते ऐसी हे जो कोई भी व्यक्ति आसानी से पालन कर सकता है, पर महावीर का आग्रह था कि ससार मे रहते हुए इन बातो से बचे रहना मुश्किल है. अत उनका मत था कि शीघ्रातिशीघ्र इस ससार से वैराग्य लेकर साधु-सन्यासी का जीवन बिताना चाहिए. जन-साधारण की अपेक्षा जैन साधु के जीवन-निर्वाह के नियम और भी कठिन है. वे अपने साथ न तो किसी प्रकार का धन या सामान आदि रखते है और न कभी किसी एक मकान में ही रहते है यद्यपि व्यावहारिक जीवन में सभी जैन वस्त्र पहिनते है पर सिद्धान्तत उनमें 'दिगम्बर' नामक एक सम्प्रदाय है जो साधुओ के निर्वस्त्र रहने पर जोर देता है उनकी मूर्तियाँ भी नग्न रहती है.

इस प्रकार सोचने-समझने और कार्य करने की प्रेरणा महावीर को कहाँ से मिली ? इस सबध में मैं कुछ भी नही कह सकता. विद्वानो मे भी इस सबध मे मतभेद है. लेकिन हमे इससे कोई सरोकार नही. मुख्य बात यही है कि आज से

करीब दो हजार वर्ष से भी अधिक समय पहले एक उच्च क्षत्रिय वश के राजकुमार ने साधारण जन की भांति रहकर जनसाधारण को इतना अधिक प्रभावित किया और उन्हे ऐसा नैतिक उपदेश दिया कि उनके बाद मे अब तक वह उपदेश अमिट रहा है. ससार के सभी धर्मो मे महावीर के सिद्धान्त किसी-न-किसी रूप मे विद्यमान है जिस व्यक्ति ने 'आत्मा' का महत्त्व बतलाया, सरल और सादे जीवन पर जोर दिया, जिसने पशु-पक्षियो को भी मानव के समकक्ष रखा तथा यह बतलाया कि वे भी मानव के समान सुख-दुख का अनुभव करते है, उसे हम सर्वोच्च सम्मान व श्रद्धा नही दें तो फिर और किसे देगें ?

एक ओर जहाँ श्री पाइक ने जैनधर्म एव महावीर की प्रशसा मे इतना अधिक लिखा है, तथा बच्चो के लिए लिखी गई उक्त पुस्तक मे जैनधर्म की बहुत प्रशसा की है, तो दूसरी ओर अमेरिका मे प्रकाशित कालेज स्तर की एक पाठ्य पुस्तक मे केवल कुछ ही पैराग्राफो मे जैनधर्म को चलता कर दिया गया है इस पुस्तक के लेखक हैं श्री जार्ज ए० बार्टन और पुस्तक का नाम है 'दी रिलिजियन्स आफ दी वर्ल्ड'[1]. श्री बार्टन लिखते हैं—बौद्धधर्म के समान ही जैनधर्म भी ब्राह्मण धर्म के विरोध मे एक आदोलन के रूप मे प्रारभ हुआ जहाँ तक ईश्वरो का प्रश्न है, महावीर गौतम मे भी बढ गए गौतम ईश्वरो का अस्तित्व मानते थे लेकिन उनकी पूजा के हिमायती नही थे महावीर ईश्वरो को मानते ही नही थे पर गौतम के समान पुनर्जन्म एव कर्म के सिद्धान्त को उन्होने माना

जैनधर्म के ५ मुख्य (आचारसबधी) सिद्धान्त है, जिनके आधार पर उसके अनुयायियो को हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह से बचाने का प्रयास किया गया है यद्यपि बौद्धधर्म मे भी कुछ इसी प्रकार के ५ नियम हैं, पर यह कहना गलत होगा कि जैन धर्म ने उन्हे बौद्धधर्म से लिया या बौद्धधर्म ने जैनधर्म से प्रसिद्ध लेखक जैकोबी[2] के मतानुसार इस बात की सभावना अधिक है कि दोनो पर हिन्दू धर्म का प्रभाव पडा

जैन लोग अहिंसा के सिद्धान्त को इतना अधिक आगे मानते है कि वे (मनुष्येतर) जीवहत्या को भी बहुत ही बडा मानते हैं शायद यही कारण है कि भारत के प्रत्येक ग्राम और नगर मे, जहाँ जैनियो की कुछ बस्ती है, कोई न कोई पशु-चिकित्सालय आवश्य है

ई० डब्ल्यू० होपकिन्स[3] तो जैन धर्म को धर्म ही नही मानते. उनका कहना है कि जो धर्म ईश्वर के अस्तित्व मे विश्वास नही करता वरन मानवपूजा का हिमायती है, उसे जीवित रहने का कोई अधिकार नही

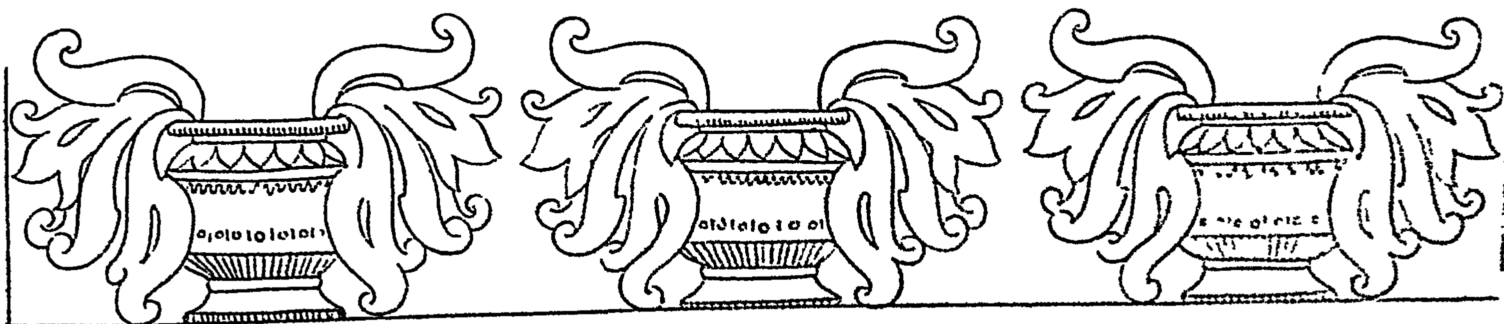
"एन्साईक्लोपीडिया अमेरिकाना"[4] मे जैन धर्म को भारत के बहुत से धर्मो मे मे एक मानते हुए लेखक का मत है कि केवल अहिंसा के कारण ही जैन धर्म का जन्म व विकास हुआ मुख्य ब्राह्मणो की बलिप्रथा के विरोध मे जन्मे इस धर्म ने लोगो को शीघ्र ही आकर्पित किया और इसी का परिणाम है कि भारत मे अधिकाश पशुचिकित्सालय जैनधर्मावलम्बियो द्वारा खुलवाए गए है जैन मन्दिरो की प्रशसा मे लेखक ने लिखा है कि वे अत्यन्त सुन्दर चित्ताकर्पक, भव्य एव वास्तुकला की दृष्टि से उच्चकोटि के होते हैं जैनियो की अपनी स्वतन्त्र वास्तु कला है

"एन्साईक्लोपीडिया ब्रिटानिका"[5] मे लेखक ने जैनियो को भारत का एक महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय माना है अपनी सपन्नता के कारण जैन लोग अपनी सख्या की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली है

"ब्रिटानिका' के लेखक को यह मानने मे कोई आपत्ति नही कि जैनधर्म बौद्धधर्म की अपेक्षा कुछ पुराना है अन्य

---

१ Barton, George A The Religions of the world (Chicago, University of Chicago Press, 1919) 2nd edition
२ Jacobi, H in "Sacred Books of the East Vol xxii
३ Hopkins E W Religions of India (Bostan,1895)
४ Encyclopedia Americana vol Xv, 1958 edition
५ Encyclopedia Brittanica vol XII 1961 edition



लेखको के समान इस लेख का लेखक भी यह मानता है कि पहले के २२ तीर्थंकर भले ही पौराणिक चरित्र हो, पर पार्श्वनाथ एव महावीर वास्तविक व्यक्ति थे पहले २२ तीर्थंकर कहाँ तक ऐतिहासिक है, यह विवाद का विषय है. श्वेताम्बर-दिगम्बर विवाद पर कुछ विचार करते हुए तथा तत्सवधी ऐतिहासिक तथ्यो की पुष्टि अपुष्टि पर अपना मत व्यक्त करते हुए लेखक ने जैन साहित्य की अलभ्यता पर खेद प्रकट किया है -लेखक का मत है कि जैन साहित्य प्रचुर मात्रा मे अस्तित्व मे है, पर उसका अधिकाश अभी तक अप्रकाशित है तथा आलमारियो मे बन्द है इसी कारण जन-साधारण को इस सवध मे अधिक जानकारी नही हो सकी

लेखक का मत है कि जैन वास्तुकला, विशेषकर मन्दिरनिर्माणकला की अपनी अलग शैली है इस कला मे जैनियो से आगे वढना अन्य किसी के लिए कठिन है. यद्यपि कुछ जैन गुफा मन्दिरो एव स्तूपो पर बौद्ध-शैली का प्रभाव है पर पत्थरो पर खुदाई की कला को उन्होने चरम सीमा पर पहुँचाया था जिस पर अब तक अन्य कोई नही पहुँच सका है.

एक छोटे से लेख मे यह सभव नही कि अग्रेजी मे प्राप्त प्रत्येक ऐसे ग्रन्थ का सदर्भ दिया जा सके जिसमे जैन धर्म या महावीर सबधी कुछ चर्चा हो. पाठको की सुविधा के लिए इस लेख के अन्त मे कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रकाशनो का विवरण दिया गया है जिनमें जैन धर्म सम्बन्धी चर्चा विस्तार से की गई है. इच्छुक व्यक्तियो को उन्हे देखने का प्रयत्न करना चाहिए यहाँ उपसहार के रूप मे मैं अमेरिका मे प्रकाशित एक वहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रथ "दी आर्कियोलाजी आफ वर्ल्ड रिलीजियन्स"[१] का उल्लेख करने का मोह सवरण नही कर पा रहा हूँ

इस पुस्तक मे करीव ६० पृष्ठो में जैन धर्म एव महावीर सम्बन्धी विवरण तथा विषय से सम्वन्धित करीब २० चित्र दिये गए है. अभी तक मुझे जैन धर्म सम्वन्धी जितने भी ग्रथ देखने को मिले है, उनमे सवसे अधिक विस्तृत एव स्पष्ट विवरण इसी ग्रथ मे देखने को मिला है

विद्वान् लेखक ने जैन धर्म सम्बन्धी प्राय प्रत्येक प्रश्न पर जैन धार्मिक ग्रथो के आधार पर विचार किया है जैन धर्म के २४ सस्थापक, विपुल जैन साहित्य, सभी तीर्थंकरो का वर्ण, चिह्न, आयु, ऊचाई, काल तथा एक दूसरे के वीच की अवधि का उल्लेख करते हुए निष्कर्ष निकाला है कि एक के बाद दूसरे प्रत्येक तीर्थंकर की आयु एव बीच की अवधि, तथा ऊचाई मे क्रमश कमी होती गई. प्रारम्भिक कुछ तीर्थंकरो के सम्बन्ध में तो जैन साहित्य मे ऐसे कल्पनातीत आकडे दिये गए है जो स्पष्ट ही अतिशयोक्ति माने जाएँगे पर लेखक का अनुमान है कि अन्य धर्मो के देवताओ के समान ये भी पौराणिक चरित्र ही है

अन्तिम दो तीर्थंकरो के विवरण सहज सभाव्य मानते हुए लेखक का मत है कि केवल पार्श्वनाथ एव महावीर को ही ऐतिहासिक चरित्र माना जा सकता है तथा उन्हे ही इस धर्म का सस्थापक माना जाना चाहिए.

यद्यपि पार्श्वनाथ के सबन्ध मे लेखक का मत है कि अधिकाश बाते बढा-चढाकर कही गई है पर वह यह स्वीकार करता है कि पार्श्वनाथ के जीवन की घटनाएँ तत्कालीन भारतीय सामाजिक स्थिति देखते हुए सत्य हो सकती है तथा उनके सवध मे जो कुछ लिखा गया है, अधिकाश ऐतिहासिक माना जा सकता है

इसके वाद पार्श्वनाथ एव महावीर की जन्मतिथि एव काल, जैनधर्म के मूल सिद्धात, जैनधर्म के आधार पर विश्वरचना, कालक्रमानुसार विश्व-विवरण, जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आश्रव आदि का विस्तृत परिचय, धर्म का विश्लेपण, भारतीय इतिहास की पृष्ठभूमि मे जैनधर्म का विकास-प्रचार, शिशुनाग एव नन्द काल, मौर्यकाल, कुषाणकाल, गुप्तकाल तथा मध्यकाल मे जैनधर्म के इतिहास पर अलग-अलग परिच्छेदो में विचार किया गया है.

जैन धर्म का इतिहास तथा उक्त सभी कालो मे जैन वास्तु एव चित्रकला का जितना विशद विवरण इस पुस्तक मे दिया

---

१. Finegan Jack The archeology of world Religions. (Princeton, princeton university press 1952.)



गया है उतना अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। इस पुस्तक के लेखक श्रीफाइनगेन बर्कली (कैलीफोर्निया) मे पेसिफिक स्कूल आफ रिलीजियन मे लेक्चरर है

कुछ अन्य ग्रन्थ जिनका उल्लेख लेख मे नही हो सका—

1. Brown, W. Norman The story of Kalka, Texts, History, Legends, and Miniature Paintings of the Svetambara Jain Hagiographical Work, The Kalkacharyakatha (Smithsonian Institution, Freer Gallery of Art. Oriental Studies 1)

2 Smith Vincent A The Jain Stupa and other antiquities of Mathura (Archeological Survey of India, New Imperial Series, xx) 1901

Griffin, Lepel . Famous monuments of Central India 1886

Macdonell, A A India's past a survey of her literatures, languages and antiquities 1927

Brown, Noman Brown A descriptive and illustrated catalogue of the miniature paintings of the Jain Kalpasutra as executed in the early Western Indian style.

(Smithsonian Institution, Freer Gallery of Art, Oriental studies, Vol 2) 1934

Brown, W Norman Manuscript illustrations of the Uttradhyayana Sutra reproduced and described (American Oriental Series 21) 1941

Moore, George Foot History of religions International Theological Library 1919-1920





मुनिश्री श्रीमल्लजी

आर्हत आराधना का मूलाधार : सम्यग्दर्शन

सम्पूर्ण मानवसभ्यता विकासक्रम का सुपरिणाम है मानवजाति के आज तक के रूप पर यदि दृष्टिपात किया जाय तो क्रमिक विकास की अजस्र प्रवाहित होनेवाली स्रोतस्विनी का दर्शन-दिग्दर्शन किया जा सकता है विकास की गतिशीलता स्वय मानव पर ही निर्भर रही है उसकी आवश्यकताओ एव आकाक्षाओके साथ उसका अविच्छिन्न सम्बन्ध है समस्त धर्म, दर्शन और सस्कृति इसी शाश्वत प्रक्रिया के अग है केवल धर्म, दर्शन और सस्कृति ही क्यो, समस्त मानव ज्ञान-विज्ञान ही इसी प्रक्रिया के अन्तर्गत है

प्रत्येक युग मे इनका स्वरूप भिन्न-भिन्न परिलक्षित होगा. स्थिति, काल और वातावरण के अनुसार हर युग इनका सृजन करता रहा है मिट्टी मिट्टी है पर कलाकार अपने मनोभावो के अनुसार उसे विभिन्न रूप देता रहता है. सृजन की यह प्रक्रिया सदैव गतिशील रही है कभी मंद तो कभी तीव्र यदि यो कहा जाय तो अधिक स्पष्ट होगा कि मनुष्य ने अपने निर्माण के लिए समस्त ज्ञान-विज्ञान का सृजन किया है. धर्म, दर्शन और सस्कृति भी मानव के मस्तिष्क की सहज उपज है और इसका आविष्कार भी उसने अपने लिए ही किया है.

भारतीय धर्म-परम्परा मे जीवन के प्रत्येक अनुष्ठान का केन्द्रबिंदु मनुष्य है. धर्म दर्शन तथा सस्कृति के क्षेत्र में सर्वत्र मनुष्य ही उपास्य रहा है जिस धर्मक्रिया का फल मानवीय जीवन के लिए उपयोगी न हो, वह न भारतीय सस्कृति के लिए अनुकूल है और न आधुनिक जीवनपद्धति के लिए उपादेय. विज्ञान, साहित्य, कला, राजनीति आदि की उपयोगिता की एक मात्र कसौटी मानव का प्रत्यक्ष परोक्ष लाभ है जीवन के इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जहाँ एक ओर मानव की प्रतिष्ठा बढी है, वहाँ दूसरी ओर स्वर्ग की कल्पनाओ मे खोये रहने वाले लोगो को धरती का कुशल-मगल पूछने का पाठ पढना पढा है.

आज के इस जाने-पहचाने विश्व के समग्र विचारो का मध्य बिन्दु मानव के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नही है विश्व-क्षितिज का प्रत्येक ग्रह-उपग्रह मानव रूपी केन्द्र के चारो ओर मडराता है विश्व की गति-विधि का मूल आधार है मनुष्य.

जो मनुष्य इतना महनीय और विश्वपरिधि का केन्द्र-बिन्दु है, वह यथार्थ मे है क्या ? हम इसे मिट्टी, पानी, आग, हवा आदि का सयोग मात्र माने ? क्या यह जल मे से उत्पन्न होने वाला और फिर जल ही मे विलीन हो जाने वाला क्षण-भगुर एक बुद्बुद मात्र है ? नही. मनुष्य मात्र वही नही है, जो देखा जाता है उसमे एक ऐसा अदृष्ट तत्त्व भी विद्यमान है, जो होकर भी दृष्टिगोचर नही होता।

इसी तत्त्व का अन्वेषण करने के लिए भारत ने कई ऋषि महर्षि एव आचार्य उत्पन्न किये. इसी के साक्षात्कार के लिए उन्होने अपने जीवन तक को उत्सर्ग कर दिया. भारत में जो भिन्न-भिन्न मत-मतान्तर तथा वाद दृष्टिगोचर होते हैं वे इसी अदृष्ट के साक्षात्कार का निर्घोष कर रहे हैं.

आत्मवादी दर्शनो की विचारधारा के अनुसार मनुष्य मर्त्य और अमृत का सुदर सयोग है. इसमे कुछ ऐसा है, जो वार-वार वनता है, विगडता है, सडता है और मिटता है. परन्तु साथ ही उसमे कुछ ऐसा भी सन्निहित है, जो न उत्पन्न



होता है, न विकृत होता है और न नष्ट ही होता है वह चिरतन सुन्दर है देह मर्त्य है और आत्मा अमृत. मनुष्य का देहमूलक मर्त्य अश ही उसे पार्थिव जगत् से सम्वद्ध रखता है भारतीय दर्शन का यह कथन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है कि "जब तक मर्त्य और अमृत अशो को ठीक से नही समझा जायगा एव उनका सम्यक् विकास नही किया जायगा तब तक मनुष्य अपूर्ण ही रहेगा"

यदि किंचित् सम्यक् दृष्टि से सोचा जाय तो कहा जा सकता है कि आदर्श और यथार्थ के कगारो मे जीवन-सरिता प्रवहमान होनी चाहिए इनका सम्यक् समन्वय ही जीवन को सत्यम् शिवम् सुन्दरम् से अभिहित कर सकता है यथार्थ और आदर्श, मर्त्य और अमृत का सयोग ही मानव जीवनको उन समस्त मानवीय मूल्यो से अवगत करा सकता है जिसने मनुष्य को देवतातुल्य बनाया है।

आज जिनकी सर्वाधिक आवश्यकता अनुभव की जा रही है वे यही मानवीय मूल्य है जो भौतिकता के अतिरेक मे प्राय नष्ट होते जा रहे है. स्वार्थ, दम्भ, मोह एव तृष्णा ने आज इन्हे अपरूप बना डाला है, लिप्सा और वासना के आधिक्य ने विरूप कर दिया है

भोगवादी मनुष्य केवल अपने भौतिक स्वरूप को ही जानता-पहचानता है शरीर का सुख उसका सुख है शरीर का दु ख उसका दु ख है शरीर के ह्रास-विकास मे ही उसके ह्रास-विकास की सीमा है वह मानता है कि शरीर सुन्दर है तो वह सुन्दर है और यदि शरीर विकृत है तो वह भी विकृत है. भोगवादी मात्र भोग के जाल मे आवद्ध रहता है वह सोचता है कि पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि आदि सब मेरे है और मैं उनका हू इन भूतो के सयोग से ही मेरा अस्तित्व है और इनका बिखराव ही मेरा मरण है भोगवादी अमृत अश को मानने से इन्कार करता है और मर्त्य अश को मानने के लिए इकरार करता है इसीलिए भोग-विलास, दैहिक सुख, अर्थ, काम इत्यादि उसके साध्य बन जाते है इन सबकी प्राप्ति और इनके उपभोग मे ही वह अपने जीवन की सार्थकता समझता है

पाश्चात्य राष्ट्रो मे इस दर्शन अथवा दृष्टि का चरम विकास हुआ है शायद सदियो की घुटन, कुठा, उत्पीडन, शोषण एव रक्तलोलुपता की यह प्रतिक्रिया है पाश्चात्य साहित्य एव इतिहास के अनुशीलन से यह और भी स्पष्ट हो जाता है यह सब वहा इसलिए सभव हुआ कि वहा मानव की वृत्तियो पर कोई प्रतिबन्ध नही लगाया गया

हमारे यहा नीति, धर्म, सभ्यता एव सस्कृति के आलोक मे उनको सस्कारित करने का प्रयत्न किया गया है इस प्रकार के प्रयत्न वहा स्वल्प दृष्टिगत होते है यह भी हो सकता है कि जिस प्रकार की भूमिका की उसके लिए अपेक्षा होती है वह शायद वहां नही बन पाई हमारे यहा तो हमारा आद्य इतिहास भी उसकी एक भूमिका है हमारे धर्माचार्य भी सदैव इसके लिए सजग रहे है

अध्यात्मवादी मनुष्य शरीर की सत्ता से इन्कार नही करता उसकी विवेक-दृष्टि शरीर के अन्त स्थित दिव्य अश का भी साक्षात्कार करती रहती है इसीलिए शरीर मे स्थित होने पर भी वह आत्मा को शरीर से भिन्न मानता है[1]

यह एक चेतन तत्त्व है यही चेतना प्राणीमात्र को सचालित करती है मानव के उद्भव मे इसी तत्त्व का सर्वाधिक योग है मानवीय उत्क्रान्ति के मूल मे भी यह समाहित है यही चेतना मानवी वृत्तियो को दुष्प्रवृत्तियो की ओर से पराङ्मुख कर शिवत्व की ओर उन्मुख करती है सामाजिक हित व श्रेय-मार्ग की ओर प्रेरित करती है स्व के अतिरिक्त अन्य का भी अस्तित्व है एव उसका सम्यक् ज्ञान भी इसी के आलोक का परिणाम है व्यक्ति समाज का अग है, समाज विराट् है अत. यह व्यक्तित्व, यह सत्त्व समाज मे घुल-मिल कर एक रस हो जाना चाहिए अहम् मे वयम् की यह प्रक्रिया इसका प्राण है

आत्मवादी के जीवन मे भोग-विलास आदि का अस्तित्व भी रहता है, परन्तु इनकी प्राप्ति एव उपभोग ही उनके जीवन

---

१. आया वि काया, अन्ने वि काया —भगवती सूत्र



का साध्य नही बनता भोग से योग की ओर अग्रसर होने मे ही उसकी सफलता है. वह सदा अंधकार से प्रकाश की ओर बढने का विश्वास लेकर चलता है.[१] वह शरीर को मारता नही, साधता है शरीर के विना केवल शरीरी धर्म-साधना नही कर सकता शरीर का सम्यक् विकास करते हुए अन्तर्मुख होना ही आत्मवाद को अभीष्ट है.

आत्मतत्त्व इन्द्रियग्राह्य नही है उस पर श्रद्धा कैसे की जाय, यही एक मुख्य प्रश्न है. इसे वौद्धिक व्यायाम के जरिये हम प्रत्यक्ष अनुभूति का विषय नही बना सकते. आत्मा की अनुभूति सवेदना से की जा सकती है 'मैं सुखी हू, मैं दु खी हू' ऐसी जो अनुभूति है, वह आत्म-प्रत्यक्ष है. यह अनुभूति सिर्फ शरीर को नही हो सकती शरीर पच भूतो से वना हुआ है. इन पच भूतो का जो उपयोग करता है, वही आत्मा है. कोई मनुष्य अधा हो जाय तो क्या उसे आखो से देख न पाने के कारण पदार्थो का अनुभव नही होता ? होता है. यह अनुभव करने वाला तत्त्व ही आत्मा की सज्ञा से अभिहित होता है इन्द्रियो से भिन्न यह आत्मानुभव ही सवेदना का प्रधान अग है

रूप, रस, गध, स्पर्श, शब्द आदि आत्मा में नही है. और इन्द्रिया रूप, रस, गध, स्पर्शादि को ही ग्रहण करती है इसी-लिए आत्मा इन्द्रियो के प्रत्यक्ष दर्शन का विषय नही हो सकती तथापि अन्तर-आत्मा मे स्पष्ट रूप से अनुभूयमान जो सवेदना है, उसके द्वारा शरीर तथा इन्द्रियो से भिन्न आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को समझा जा सकता है.

आत्मा सत् स्वरूप है. उसका कभी विनाश नही होता. इसी प्रकार आत्मा चिद्रूप भी है चिद्रूप का अर्थ ज्ञानमय होता है आत्मा अपने आपको जानता है और ससार मे जितने पदार्थ है, उन्हे भी जानने की क्षमता रखता है. यह क्षमता जड पदार्थो मे नही होती.

श्रमण सस्कृति मे आत्मवादी को सम्यक्-दृष्टि कहा गया है सत्य-दृष्टि, सम्यक्-दृष्टि, सम्यक्-दर्शनी और सम्यक्त्वी, ये पर्यायवाची है. इन सवको एक ही शब्द मे कहना हो तो 'विवेक-दृष्टि' कहा जा सकता है. आत्मवादी विवेक-दृष्टा होता है वह सत्य की उपासना, साधना और आराधना के लिए अपना सर्वस्व उत्सर्ग कर देता है

सत्य ही लोक मे सारभूत है[२] जो मनुष्य सत्य का पालन करता है, वह सुखी होता है. सत्याचरण करने से जीवन मे आत्मविश्वास, आत्म-सतोष तथा आत्म-शाति बढती है सत्यशोधक वस्तुस्थिति को जानने का प्रयत्न करता है जानना ज्ञान का लक्षण है ज्ञान मानवता का सार है. ज्ञान का भी सार सम्यक्त्व अर्थात् सच्ची आत्मश्रद्धा है[३] सत्य शोधक के श्रद्धामय जीवन व्यापार में से सम्यक्त्व फलित होता है सम्यक्त्वी के लिए सत्य सत्य है वह सत्य अपने शास्त्रों मे है तव भी उपादेय है और यदि वह पर शास्त्रो मे है, तब भी उपादेय है सम्यक्त्वी के लिए सत्य की साधना ही भगवान् की आराधना है. सत्य ही भगवान् है[४] सत्याचरण मे स्वत्त्व परत्व की कल्पना तथा जल्पना सबसे वडा मिथ्यात्व है. सत्य दृष्टि प्रतिकूलता मे अनुकूलता का सृजन करती है सत्य की आराधना करने वाले सम्यक्दृष्टि के लिए मिथ्याश्रुत भी सम्यक्श्रुत वन जाते है[५] सत्यसाधक राग-द्वेषात्मक ससार से पार हो जाता है.[६]

सत्य को पहचानने एव पाने के लिए अनेकातदृष्टि की नितान्त आवश्यकता है. पूर्वाग्रही व्यक्ति सत्य के यथार्थ रूप को पहचानने मे असफल रहता है उसका एकात दृष्टिकोण सत्य के समस्त पहलुओ पर ध्यान केन्द्रित नही होने देता है और इस प्रकार वह समग्र सत्य का साक्षात्कार नही कर पाता. अपनी स्थूल दृष्टि से भले ही कोई व्यक्ति सत्य के अश को

---

१ आरोह तमसो ज्योति· —वेद
२. सच्च लोगम्मिमारभूय. —प्रश्नव्याकरण सूत्र
३ नाण नरस्स सारं सारो वि नाणस्स होइ सम्मत्तं
४. सच्च खु भगव. —प्रश्नव्याकरणसूत्र
५. सम्मदिट्ठिस्स सुअं सुयनाण, मिच्छदिट्ठिस्स सुअ सुअ-अन्नाण —नंदीसुत्तं.
६. सच्चस्स आणाए उवट्ठिओ मेहावी मारं तरइ. —आचाराग

समझने का दावा कर सकता है किन्तु वह व्यापक एव अनेकात दृष्टि के अभाव मे उसके प्रति न्याय करने मे समर्थ नही हो सकेगा

वर्तमान मे वादो एव मताग्रहो का जो भीषण कोलाहल एव सघर्ष दिखाई पड रहा है उसका भी मूल कारण सत्य को सम्पूर्ण रूप मे जानने का अभाव है "मेरी स्थापना ही सत्य है" यह अहम् भावना ही वस्तुत इन समस्त विग्रहो का मूल कारण है अत सम्पूर्ण सत्य का साक्षात्कार आवश्यक है और वह तभी सम्भव है जब व्यक्ति अपने एकान्त दृष्टिकोण को छोडकर अनेकात दृष्टि का वरण करेगा

वर्तमान मे सत्य को आवृत करने की प्रथा-सी चल पडी है अनावृत सत्य सामाजिक अहित का कारण हो सकता है, इस तर्क के अवलम्बन से आवृत सत्य को अगीकार करने का प्रायः उपदेश दिया जाता है किन्तु इस यथार्थोन्मुख युग मे यह प्रवचना स्थायी नही हो सकती है जो सत्य है, स्पष्ट है, उसको आवृत रूप मे जानने, पहचानने मे क्या प्रयोजन है ? अनावृत सत्य की आराधना ही सही सत्य-साधना है, वही प्रयोजनीय है

श्रमणसस्कृति सम्यक्त्वमूलक है सम्यक्त्व है तो ही श्रावक श्रावक है और श्रमण श्रमण है सम्यक्त्व रहित श्रावक और श्रमण का आत्मसाधना की दृष्टि से कोई मूल्य नही है किसी भी साधक ने जब कभी भी आत्मा के शुद्ध एव निर्मल स्वरूप को पाया है तो वह सम्यक्त्वमूलक सत्याचरण के द्वारा ही श्रमण सस्कृति मे जीव, जीवन और जगत् की प्रत्येक प्रक्रिया एव प्रयोग को सम्यक्त्व की कसौटी पर ही कसकर परखा जाता है जैन आगमो मे यह कहा गया है कि जिसने जीवन मे सम्यक्त्व नही पाया, उसने ज्ञान और चारित्र भी नही पाया सम्यक्त्वहीन का ज्ञान अज्ञान है[1] सम्यक्त्वहीन का चारित्र भी कुचारित्र है[2] सम्यक्त्व धर्म के प्रभाव से नीच-से-नीच मनुष्य भी देव हो जाता है और उसके अभाव मे उच्च-से-उच्च भी अधम हो जाता है[3]

आज समता और साम्य की स्थापना के नारो का गगनभेदी उद्घोष प्राय सुनाई पडता है मनुष्य के स्वार्थ, वासना लिप्सा ने वैषम्य का साम्राज्य स्थापित किया है और मनुष्य-मनुष्य मे अन्तर उत्पन्न कर दिया है उसके बीच एक गहरी खाई का निर्माण कर दिया है, भेद की दुर्भेद्य दीवार खडी कर दी है इसी वैषम्य का निराकरण करने के लिए प्राय. समता अथवा साम्य का आयोजन किया जाता है

यह युग यान्त्रिकयुग, वैज्ञानिकयुग एव आर्थिकयुग के नाम से सम्बोधित किया जाता है मानव के विधि-विधान भी इन्ही के द्वारा परिचालित होते है जिन भावनाओ एव मनोविकारो की प्रेरणा से मनुष्य ने इतनी उत्क्रान्ति की है, उनकी इन विधि-विधानो एव रचनाओ मे प्राय उपेक्षा की गई है। विज्ञान एव अर्थशास्त्र के नियम एक निश्चित फार्मूले पर नियोजित हो सकते है किंतु भावप्रवण मानव को इन बन्धनो मे कैसे घेरा जा सकता है ? इसी भ्रममूलक दृष्टि ने इन वर्गसघर्षों का नियोजन किया है आज जिस साम्य व समता की बात बार-बार दोहराई जाती है उसमे भी ये कमजोरिया समाहित है और फिर इसके पीछे मानवहित की विशुद्ध भावना नही अपितु राजनैतिक षड्यन्त्रो एव छलछन्दो की धूल उड रही है अत. सम्यक्त्व के विशुद्ध रूप का वरण ही इन सबका समाधान कर सकता है और अशान्ति मे भटकने वाले विश्व को शान्ति प्रदान कर सकता है

श्रमण-साहित्य के अतिरिक्त वैदिक-साहित्य मे भी सम्यग्दर्शन की महिमा कम नही है वहाँ ऋत, सत्य, समत्व आदि शब्दो से इसी की ओर इगित किया गया है सम्यक्दर्शन शब्द भी प्रयुक्त हुआ है, परन्तु बहुत कम श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते है—हे अर्जुन ! जीवन को शान्त और पवित्र बनाने के लिए समत्व प्राप्त करो. समत्व सब से बड़ा योग है[4]

---

१ नादसणिस्स नाण —उत्तराध्ययन अ० २८ गा० ३

२. नत्थि चरित्त सम्मत्तविहूण—उत्तराध्ययन अ० २८ गा० २६

३. सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातगदेहजम् , देवा देव विदुर्भस्मगूढागारान्तरौजसम् —आचार्यम मतभद्र.

४ समत्व योग उच्यते —गीता



मनु-सहिता मे भी इसे परम तत्त्व के रूप में निर्दिष्ट किया है. महर्षि मनु कहते है कि सम्यक्दर्शन से सम्पन्न व्यक्ति कर्मबद्ध नही होता. संसार में परिभ्रमण वही करता है जो सम्यग्दर्शनविहीन होता है[1] सम्यक्त्वी का जीवन-व्यापार गुणप्रधान होता है. आत्मा और जगत् के हित की दृष्टि से तर्कसगत विचार कर जो क्रिया की जाय वही सम्यक्त्वी का आचार है. सम्यक्त्वी का आचार पापप्रधान नही होता है.[2]

"मै मनुष्य हूँ, जो कुछ मानवीय है, उसे मैं अपने से पृथक् नही कर सकता" सम्यक्त्वी मे ऐसी अभेददृष्टि होती है. वह जल में रहकर भी कमलवत् निर्लिप्त रहता है. स्वादु भोजन, मधुर पेय, सुन्दर वसन, अच्छे अलकार और भव्य भवन भी उसे पथभ्रष्ट नही कर सकते सभी को अपने समान मानना, और समतामय जीवन का विकास करना ही सम्यक्त्वी की पहिचान है.

सम्यक्त्वी को पहचानने के पॉच लक्षण है—सम, सवेग, निर्वेद, अनुकपा और आस्तिक्य.

समता जीवनव्यवहार का एक मुख्य गुण है जो पदार्थ, जो प्रवृत्तियाँ और दृष्टि मनुष्य को मनुष्य से पृथक् करती है, वह असमता की द्योतक है. सम्यक्त्वी भाषा, प्रान्त, जाति, धर्म, अर्थ, शास्त्र, ईश्वर, पथ आदि किसी भी क्षेत्र मे आवेश, आग्रह या पक्षपात के वशीभूत होकर असमता को मान्य नही कर सकता. जीवननिर्वाह के लिए जो आवश्यक पदार्थ है, वे सारे समाज के लिए है उन पर एकाधिपत्य स्थापित कर वैषम्य पैदा करना सम्यक्त्वी का लक्षण नही है. जो समभाव बाह्य जीवन को स्पष्ट करता है, वही अन्तर्जीवन मे 'समभाव' का रूप धारण कर लेता है. समभाव का अर्थ है उदय मे आये हुए क्रोधादि कषायो को असफल करना क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, घृणा आदि विकार किस में नही होते ? इनके परित्याग की बात श्रवण करने में सभी को अच्छी लगती है किन्तु आचरण मे लाना अत्यन्त कठिन होता है सम्यक्त्वी साधक उपशम से क्रोध को, विनय से मान को, सरलता से माया को, सतोष से लोभ को,[3] समभाव से ईर्ष्या को, और प्रेम से घृणा को जीतने का अभ्यास करता है क्योकि क्रोध प्रेम का नाश करता है, मान विनय का, माया मित्रता का और लोभ समस्त सद्गुणो का घात करता है[4] क्रोधादि विकार जीवन भर स्थिर रह जाए अथवा वर्षभर से भी अधिक रह जाए तो वे आत्मा के सम्यक्त्व गुण का घात कर सकते है अत. इन पर विजय पाना ही सम्यक्त्वी की प्राथमिक साधना है इसी साधना को प्रशम भी कहते है

यह साधना व्यक्ति के लिए शीघ्र ग्राह्य हो सकती है किन्तु समष्टि के लिए कठिन सी प्रतीत होती है. हालाकि व्यक्तियो से ही समष्टि का निर्माण होता है, किन्तु समष्टि मे विषमता होती है अत यह कठिनाई स्पष्ट है.

व्यक्तिमूलक या इकाईपरक साधनाओ का समाजीकरण आज आवश्यक होगया है. जब तक इनका समाजीकरण नही होगा तब तक समता का स्वराज्य-स्थापन भी एक कल्पना या स्वप्नवत् रहेगा. क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, घृणा के जो मूल कारण है उनका उच्छेदन आवश्यक है. इनके उच्छेद पर ही समता के भव्य सामाजिक भवन का निर्माण सभव है.

इसके उच्छेद का क्या उपाय है ? इस सबन्ध में यह बताना अपेक्षित है कि वैयक्तिकता का तिरोभाव सामूहिकता मे करना होगा सामाजिक हित को सर्वोपरि महत्त्व देकर व्यक्ति को स्वार्थ, मोह, तृष्णा आदि का विसर्जन करना होगा.

---

१. सम्यग्दर्शनसम्पन्न , कर्मभिर्न निबध्यते,
दर्शनेन विहीनस्तु ससारं प्रतिपद्यते. —मनुसहिता.

२ सम्मत्तदसी न करेइ पाव

३. उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे,
मायामज्जवभावेण, लोहो सतोसओ जिणे. —दशवैकालिक

४. कोहो पीइ पणासेइ माणो विणयनासणो
माया मित्ताणि नासेइ लोहो सव्वपणासणो. —दशवैकालिक

तभी सग्रहवृत्ति नष्ट होगी एक उदाहरण से इसे समुचित रूप मे समझा जा सकता है—

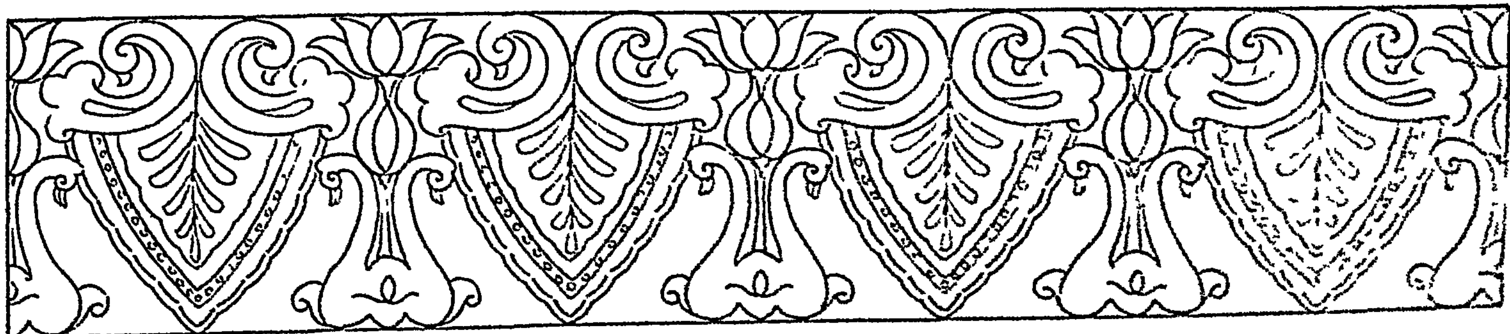
शरीर के विभिन्न अगो मे यदि एकात्मता न हो तो शरीर निर्जीव हो जायगा माना कि चोट लगने के कारण हाथ कार्य करने मे असमर्थ है और पैर चलने मे अशक्त । तो उन पर क्रोध कर उन्हे काटा नही जा सकता अपितु उन की परिचर्या कर पुन उन्हे कार्य योग्य बनाना पडता है इसी प्रकार समाज का प्रत्येक व्यक्ति शरीर के विभिन्न अवयव के सदृश है उसके व्यसनो को घृणा से नही वरन् स्नेह एव सहानुभूति से अवसन्न करना है इस के लिए प्रशम की साधना अति उपयोगी है

प्रशम की सिद्धि मे 'सवेग' सहायक है रागद्वेषात्मक ससार की ओर से हटाकर इन्द्रियो की गति को वीतराग भाव की साधना की तरफ मोडना ही सवेग है. वेग का अर्थ है गति यदि वह गति वासनापोषण की ओर है तो वह कुवेग है. और यदि वह गति वासनाक्षय की ओर है तो सवेग है सम्यग्दृष्टि सवेग का आराधक होता है वह इस तथ्य से भलीभाति परिचित होता है कि इन्द्रियो के द्वारा प्रवाहित जो वासना का वेग है, वह वर्षाकालीन नदी की भाति स्व-पर-सहारक है शरत्कालीन नदी दो तटो के बीच बहती हुई जैसे सृजन और पोषण मे योग देती है, वैसे ही त्याग और भोग रूपी तटो के बीच प्रवाहित जीवन सवेग साधना के लिए उपयुक्त है त्याग और भोग के बीच मे वही साधक विवेकपूर्वक खडा रह सकता है जिस की आत्मा पर प्रबल मोह का साम्राज्य न हो मोह की प्रबलता ही सवेग गुण की घातक है सवेगसाधना मे सजग रहने से ही प्रबल मोह को हटाकर प्रशम गुण का विकास किया जा सकता है

सवेग की अतिम परिणति 'निर्वेद' मे होती है मोहोदय को 'वेद' कहते है उसके तीन रूप है—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसकवेद पुरुष के साथ रति-सुख की कामना स्त्रीवेद है स्त्री के साथ रतिसुख की कामना पुरुषवेद है उभय के साथ की कामना नपुसकवेद है इस प्रकार कामवासना का क्षय होना ही 'निर्वेद' है सम्यक्त्वी का जीवन भोगलक्षी नही होता वह न इह लोक के भोग चाहता है और न स्वर्ग आदि के ही प्रशम और सवेग की साधना करते-करते वेदोदय की प्रवृत्ति उसी प्रकार क्षीण हो जाती है, जिस प्रकार ज्ञानाभ्यास मे रत विद्यार्थी का मन बचपन मे खेले हुए गदे खेलो से उपरत हो जाता है

सम्यक्त्वी कोमलहृदय होता है दूसरे को पीडा और कष्ट मे देखकर वह द्रवित हो उठता है क्योकि वह प्राणीमात्रके साथ आत्मीयता की अनुभूति करता है आत्मीयता के कारण दूसरो का सुख दुख भी अपना हो जाता है इसी सवेदनशीलता तथा सहानुभूतिने मनुष्य के हृदयमे दया और दान भावना की सृष्टि की है मानव को पशु और दानव बननेसे बचाने मे इसी का सर्वाधिक योग है किसीको पीडित अवस्था मे देखकर हृदय मे करुणा का उत्स प्रवाहित होना स्वाभाविक है आत्मा का यही एक ऐसा सहज गुण है—जिसने पृथ्वी पर बार-बार प्रलय होने से रोका है इसका विस्तार यदि समुचित रूप से किया जाय तो आज दुनिया को परेशान करने वाला शीत युद्ध भी उपशान्त हो सकता है इसका स्वाभाविक विकास इन समस्त गत्यवरोधो को समाहित कर शान्ति और सौरम्य का निर्झर प्रवाहित कर सकता है दूसरो के सुख दुख को आत्मीय भाव से ग्रहण कर उनके कष्टो को मिटाने का प्रयास ही अनुकम्पा है अनुकम्पा सामाजिक जीवन एव सह-जीवन का स्नेहसूत्र है अनुकम्पा के कारण ही मनुष्य अपनी तथा अपने परिवार की तरह ही, अपने अधीनस्थ व्यक्तियो की योग्य और उचित आवश्यकताओ की पूर्ति सम्यक् रूप से करता है दूसरो की आवश्यकताओ का ध्यान न रखकर अपनी आवश्यकताओ को बढाते रहने से अनुकम्पा का घात होता है सम्यक्त्व-आराधक अपनी आजीविका का अर्जन करने के लिए जो साधन अपनाता है, उसमे किसी प्रकार की अप्रामाणिकता न आ जाय, इसके लिए सतत जागरूक रहता है

सम्यक्त्व गुण के विस्तार के लिए आस्तिकता आवश्यक होती है मनुष्य ज्यो-ज्यो सद्‌गुणो को जीवन मे अपनाता है त्यो-त्यो आस्तिक्य गुण का विकास होता है आस्तिकता श्रद्धा को बलवती बनाती है श्रद्धा कभी मनुष्य को विपथगामी नही होने देती श्रद्धा और अधश्रद्धा मे अन्तर है अधश्रद्धालु दूसरो के प्रति अशिष्ट व्यवहार कर सकता है, किन्तु श्रद्धालु ऐसा नही कर सकता उसमे करुणा, मुदिता, मैत्री और, तटस्थता विद्यमान रहती है आत्मा और उसके विकास के



प्रशस्त पथ पर दृढ विश्वास का होना ही आस्तिकता की व्यावहारिक भूमिका है. आस्तिकता, आस्था और श्रद्धा सभी एक ही अर्थ का द्योतन करने वाले शब्द है विश्वास भी इन्ही के अन्तर्गत आता है बहुत से व्यक्ति आस्तिकता, का सही अर्थ न समझने के कारण अपने आप को नास्तिक कहते है. अस्ति का अर्थ है स्थिति या अस्तित्व को स्वीकार करना इस अभेदमूलक दृष्टि से सभी आस्तिकता के अन्तर्गत आ जाते है नास्तिकता जैसी कोई चीज फिर अस्तित्व मे नही रहती पर आस्तिकता को किसी अर्थ विशेष मे रूढ कर देने के कारण ये सभी विकृतिया उत्पन्न हो गई है. आस्था के अभाव मे व्यक्ति का विकास निश्चित रूप से अवरुद्ध हो जायेगा जब लक्ष्य और उद्देश्य के प्रति ही व्यक्ति की आस्था नही रहेगी तब दृढता और सकल्प भी उसे सिद्धि के सोपान तक नही पहुँचा सकते. साधना के पाव लड-खडा उगेठे और विकास की गति अवरुद्ध हो जाएगी अत आस्तिकता, आस्था अथवा श्रद्धा की सहज स्मित-रेखा मे साधना और विकास को ग्रथित करना होगा आस्था के इस सूत्र में वलयित होने पर सम्यक्त्व की भूमिका प्रशस्त और अबाधित हो जायेगी

इस प्रकार सम, सवेग, निर्वेद, अनुकपा और आस्तिक्य, ये पाच लक्षण सम्यक्त्वी के है इनका स्वरूप सम्यक्त्वी के जीवन मे परिलक्षित होना ही चाहिये

सम्यक्त्वी साधक सम्यक्त्व की रक्षा के लिए सतत सावधान रहता है जागृति जीवन का लक्षण है अजागृति मरण का प्रतीक है जागृत मनुष्य ही विकृतियो से अपनी रक्षा कर सकता है असावधानता की अवस्था मे जो शिथिलता या विकृति आती है उसे अतिचार कहते है. सम्यक्त्व भी एक व्रत है उसे शुद्ध व निर्मल रखने के लिए पाच अतिचारो से वचना चाहिये वे अतिचार ये है—शका, काक्षा, विचिकित्सा, पर-पाखण्डप्रशसा और पर-पाखण्डसस्तव

सम्यक्त्वप्राप्ति के साधन, एव साधना मे सशय करना शका है शका-शील व्यक्ति किसीभी विषयका विशेषज्ञ नही हो सकता क्योकि मूल तत्त्वो पर अविश्वास रखने के कारण वह पुरुषार्थ की साधना करने मे असमर्थ रहता है 'सशयात्मा विनश्यति[1] इस उक्ति के अनुसार संशयी अपनी शक्ति का नाश करता है और स्वय का भी नाश करता है सम्यक्त्वी साधक शकाशील नही रहता. वह सदसद्-विवेकिनी बुद्धि के द्वारा तत्त्वो का यथार्थ समाधान प्राप्त करता है[2] जो अदृष्ट तत्त्व बुद्धि की पकड मे नही आते, उन्हे आप्तोपदिष्ट मानकर अपनी शकाओ का निरसन कर लेता है, आप्तपुरुष यथार्थ ज्ञाता एव वक्ता होते है क्षीणदोष होने के कारण उनकी वाणी मे किसी प्रकार की अपूर्णता नही होती सम्यक्त्वी की यह दृढ श्रद्धा होती है कि "तमेव सच्च णीसक ज जिणेहिं पवेइय"[3] ज्ञानप्राप्ति एव तत्त्वनिर्णय के लिए जो शका की जाती है, वह अतिचार की कोटि मे नही आती. "न सशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति"

जो सिद्धान्त, साधना तथा क्रियाकाण्ड सम्यक्त्व के परिपोषक न हो वे सभी परधर्म है, पर-धर्म की चाह करने को 'काक्षा' कहते है गीता मे 'स्वधर्मे निधन श्रेय परधर्मो भयावह' कहकर इसी तथ्य का समर्थन किया गया है धर्मके दो रूप है, स्वधर्म और परधर्म. आत्मगुणो की अभिव्यजक एव स्वस्वरूप-रमण मे स्थिर करने वाली प्रक्रिया स्वधर्म है परधर्म की प्रक्रिया इससे प्रतिकूल है स्व-पर-धर्मात्मक परस्पर विरोधी साधनो मे मनोयोग बिखर जाने से काक्षाशील साधक सम्यक्त्व को न तो सुरक्षित रख सकता है और न पुष्ट ही कर सकता है.

आराधना के फल के प्रति सदेह करना 'विचिकित्सा' है मेरी साधना, जप, तप, एव पुरुषार्थ का फल मिलेगा या नही, ऐसा सदेह विचिकित्सा का परिणाम है इससे पुरुषार्थ के प्रति अनास्था पैदा होती है

तन्मयता के द्वारा ही साधक अपनी मन स्थिति को केन्द्रित कर सकता है लक्ष्य के प्रति वह तन्मयता ही सफलता

---

१ भगवद्गीता

२ तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम् —तत्त्वार्थसूत्र, अ० १-२

३ आचाराग प्र० श्रु०.

का सुलक्षण है लक्ष्य के प्रति क्षण मात्र का प्रमाद स्खलना का कारण होगा[1] लक्ष्यभ्रष्ट कभी अपने सदुद्देश्य को प्राप्त नही कर सकता अतएव लक्ष्य के प्रति तन्मयता आवश्यक है किसान बादलो की तब तक प्रतीक्षा करता रहता है, जब तक कि वे बरस न जाए वे न भी बरसे, तब भी वह अपने कृषि-कर्म से पराङ्मुख नही होता उसकी सतत चलने वाली पुरुषार्थमयी प्रवृत्तियो से सम्यक्त्वी साधको को शिक्षा लेनी चाहिए और अपनी असफलताओं पर विजय प्राप्त करते हुए विचिकित्सा से बचना चाहिए 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'[2] इस सिद्धान्त को जीवन मे व्यवहृत करने से विचिकित्सा नही पनप सकती

सम्यक्त्वी की साधना भोगप्रधान नही होती, इन्द्रिय और विषयो के सयोग से प्राप्त होने वाले सुख परापेक्षी होने मे 'पर' कहलाते है इन सुखो की आकाक्षा से किये जाने वाले व्रत' पर-पाखण्ड' है आचार्य हरिभद्र ने पाखण्ड शब्द का अर्थ व्रत किया है[3] ऐसे व्रत स्वीकार करने वाले 'पर-पाखण्डी' कहलाते है 'परपाखण्डी' धर्मविहीन होते है वे इन्द्रिय-सुखो को ही महत्त्व देते है और वही तक केन्द्रित रहते है सम्यक्त्वी इन से आगे बढता है वह आत्मदर्शन चाहता है इस प्रकार दोनो का साध्य भिन्न होने के कारण सम्यक्त्वी न तो परपाखण्ड रूप व्रतो को स्वीकार करता है और न पर-पाखण्डी की प्रशसा या परिचय ही करता है

मनकी वृत्तिया चचल होने के कारण पतन की ओर शीघ्रता से अग्रसर हो जाती है ऊर्ध्व की ओर उन्मुख करने मे आयाम करना पडता है किन्तु ऐहिक प्रलोभन ऊर्ध्व की ओर गति नही होने देते. यहाँ ऐसे व्यक्तियो का अभाव नही है जो स्वार्थ के वशीभूत होकर दूसरो की झूठी प्रशसा कर अपना उल्लू सीधा करते रहते है वे अपने को अधिक चतुर और प्रवीण समझते है तथा दूसरे को मूर्ख और बेवकूफ ऐसे व्यक्तियो को सहयोग देकर आत्मा को पतनोन्मुख बनाना भीषण पाप है समाज मे आज इस प्रकार का एक वर्ग ही बन गया है राजनीति मे तो स्पष्ट ही उसका बोल-बाला है धर्म भी इसका शिकार हो गया है अपनी उच्चता की प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिए भी इसका अधिकाधिक प्रयोग किया जा रहा है परपाखडप्रशसा और परपाखडसस्तव क्लीबो का हथियार है अमोघ मानकर ही वे इसे सगर्व धारण करते हैं परपाखण्ड प्रशसा और और परपाखण्ड सस्तव मन को अधोमुख बनाते हैं सम्यक्त्व-साधना-मार्ग के ये शूल हैं इनका उच्छेद करके ही आत्मा सम्यक्त्व के साथ एकाकार हो सकती है

देव, गुरु, तथा धर्म के प्रति जो श्रद्धा है, उसे भी सम्यक्त्व कहते है जिन्होने राग, द्वेष, मोहादि आत्मशत्रुओं को जीत लिया है, वे देव है देव तत्त्व की कल्पना आदर्श के रूप मे की जाती है इस तत्त्व मे किसी प्रकार की साम्प्रदायिकता या सकुचित वृत्ति नही है प्रत्येक आत्मा उत्क्रान्ति करता हुआ परमात्मा बनता है इसीलिए जैन परम्परा मे जिस आत्मा ने अपना पूर्ण विकास कर लिया है उसको देव माना है ऐसे देव के प्रति आत्म-कल्याण के प्रत्येक अभिलाषी का मस्तक झुक जायगा

गुरु हमारे सामने साधना का मार्ग उपस्थित करता है साधु स्व-पर-कल्याण के साधक होते है वे महाव्रतो, समितियो तथा गुप्तियो का पालन करते हैं. उन्हे देखकर हम अपनी साधना का व्यावहारिक रूप निश्चित कर सकते हैं ऐसे साधु के चरणो मे किसका मस्तक नत नही होगा ?

तीसरा तत्त्व धर्म है. वह अहिंसा सयम और तप रूप है इस धर्म को स्वीकार करने मे किसी को कोई आपत्ति नही हो सकती

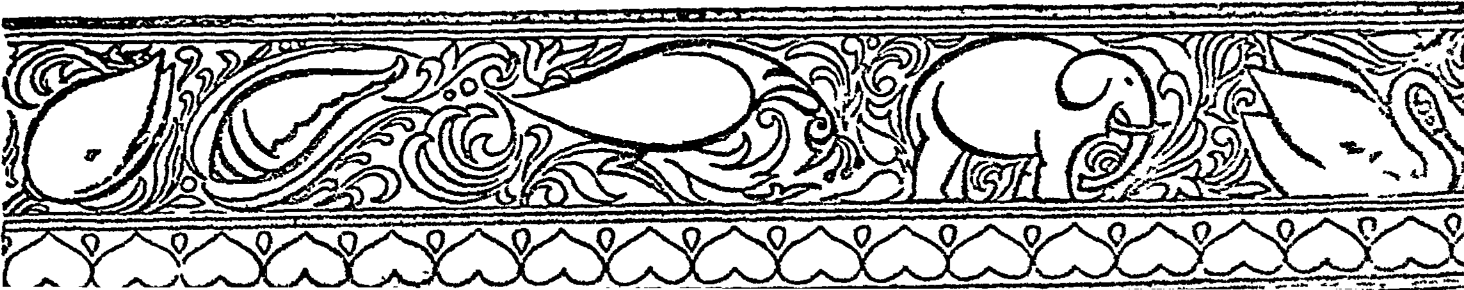
देव गुरु और धर्म की ऊपर जो व्याख्या की गई है वह सिद्धान्तत सुन्दर और उदार होते हुए भी उसका उपयोग पथ तथा सम्प्रदायवाद की पुष्टि मे जब किया जाता है तब आत्मगुणो के स्थान पर मिथ्यात्व को ही प्रोत्साहन मिलता है अन्त-

---

१ समय गोयम ! मा पमायए —उत्तराध्ययन

२ गीता

३ पाखण्ड व्रतमित्याहु· —दशवैकालिकटीका



दृष्टि के स्थान पर वाह्य दृष्टि को ही प्रधानता मिलती है उस समय आत्मा को न देखकर उसका कलेवर ही देखा जाता है

सम्यक्त्व जीवन का चिरतन सत्य है. यह सत्य जब जीवन मे सपूर्ण अभिव्यक्ति पाता है, तब व्यवहार और आदर्श की खाई पटती जाती है. सम्यक्त्वी के आचार-विचार मे एक विशिष्ट प्रकार की समानता होती है मानव मानव है उसमे कमजोरिया भी है. परन्तु सम्यक्त्वी का जीवन उन कमजोरियो पर विजय पाने के लिए सतत सघर्षशील रहता है मानवीय दुर्बलताओ के कारण आदर्शो को न निभा पाना अलग बात है और सकल्पपूर्वक अपने व्यक्तित्व का आदर्श तथा व्यवहार में विभाजन करना अलग बात है सम्यक्त्वी जीवन को इस प्रकार विभाजित नही करता इसीलिए वह साधना की चरमस्थिति तक पहुँच कर शाश्वत सिद्धि प्राप्त कर सकता है

आत्म-साधना करने वाले ऋषि, महर्षि आचार्य और धर्मगुरु सम्यक्त्व का यह पाठ चिरकाल से समाज को पढा रहे हैं फिर भी समाज पर इसका कोई प्रभाव परिलक्षित नही हो रहा है धर्मगुरु इस साधना के द्वारा समाज को परिवर्तित करने का प्रयत्न करते रहे है और उधर समाज मे शोषण, उत्पीडन, तृष्णा और वासनाओ का वही दौर चालू है. इसके कारण का यदि विश्लेषण किया जाय तो प्रत्यक्ष हो जायगा कि इन सिद्धातो को व्यवहार की भूमिका पर उतारने के स्वल्प प्रयत्न किये गये. जनसाधारण तक उन्ही की भाषा में पहुँचाने की ओर ध्यान केन्द्रित नही किया गया. व्यक्ति और उसके हितो की उपेक्षा करके कोई भी आदर्श अथवा सिद्धात व्यावहारिकता की परिधि में अपना स्थान नही बना सकता. उसकी सीमाओ मे प्रवेश पाने के लिए व्यावहारिकता का परिवेश धारण करना ही होगा.

यहाँ यह उल्लेख भी आवश्यक है कि देश, काल और वातावरण की ओर ध्यान केन्द्रित नही किया गया है प्रत्येक युग की अपनी मान्यताएँ होती है उसकी उपेक्षा कर कोई भी सिद्धात अपना क्षेत्र नही बना सकता अत: युग के मार्ग को अस्वीकार करना उचित नही कहा जा सकता.

इस आलोक मे यदि आज सम्यक्त्व की आराधना की जाय तो निश्चित ही विश्व समता की भूमिका प्राप्त कर सकेगा. सत्य अनन्त है व्यक्ति सान्त है. परन्तु जब व्यक्ति, सीमाओ को, क्षुद्रताओ को पार करके ससीम से असीम बन जाता है, तब उसका सत्य भी अनन्त हो जाता है अनत मे ही अनत गुणो की अभिव्यक्ति होती है





डा० ईश्वरचन्द्र शर्मा
एम० ए०, पी-एच० डी०

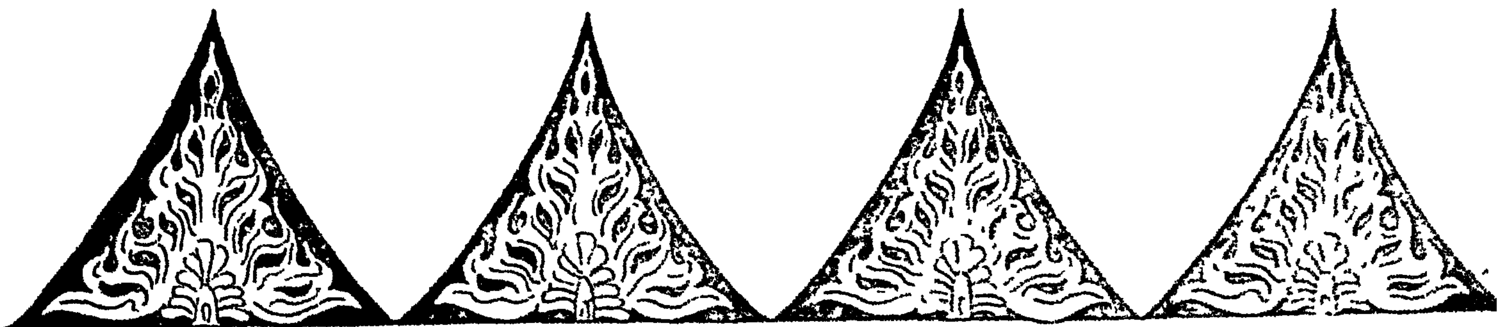
जैनधर्म के नैतिक सिद्धान्त

जैन दर्शन ऐतिहासिक दृष्टि से बौद्ध धर्म की अपेक्षा अधिक प्राचीन है इसमे कोई सन्देह नही कि यह दर्शन अहिंसा को जीवन का परम लक्ष्य और मोक्ष का अनिवार्य साधन मान कर चलता है इस प्रकार भारतीय दर्शनो मे जैनवाद को प्राचीनतम अहिंसावादी दर्शन स्वीकार किया जाता है जैनियो की यह धारणा है कि उनका धर्म तथा उनका दर्शन वैदिक विचारधारा से भी अधिक प्राचीन है इसमे कोई सन्देह नही कि वर्द्धमान महावीर जैनधर्म के प्रवर्तक नही थे, अपितु एक सुधारक थे यह सत्य है कि महावीर से पूर्व जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे और महावीर के माता-पिता पार्श्वनाथ के अनुयायी थे महावीर ने निस्सदेह जैन दर्शन को एक व्यवस्थित रूप दिया है और साधुओं तथा गृहस्थ अनुयायियो के लिए अहिंसा धर्म पर आधारित ऐसे नैतिक नियमो का प्रतिपादन किया है, जो आज तक जैन समाज द्वारा आदर्श स्वीकार किए जाते है जैन आचारमीमासा अत्यन्त कठिन और कडे नैतिक नियमो का प्रतिपादित करती है इससे पूर्व कि हम जैन आचारशास्त्र की विस्तृत व्याख्या करें, हमारे लिए यह बताना आवश्यक है कि जैन आचारशास्त्र कडे अनुशासन पर क्यो बल देता है ?

जैनवाद में कठोरता का कारण

हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि जैनवाद निवृत्तिमार्ग को अपनाता है और उस प्रवृत्तिमार्ग का विरोध करता है, जो वैदिक दृष्टिकोण के अनुसार क्रियात्मक सामाजिक जीवन को वाछनीय स्वीकार करता है जिन प्राचीन वैदिक मत्रो का आर्य लोग गान करते थे, देवताओ और परमेश्वर के प्रति सासारिक जीवन की सफलता के लिये प्रार्थना मात्र थे किन्तु धीरे-धीरे वैदिक विचारको ने यह अनुभव किया कि त्याग की भावना विना वे मोक्ष प्राप्त नही कर सकते इसके फलस्वरूप उन्होने चार आश्रमो की प्रथा को प्रचलित किया ये चार आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास है इसी प्रकार वैदिक धर्म के अनुसार अर्थ, काम, धर्म तथा मोक्ष इन चार पुरुषार्थो को भी स्वीकार किया गया है वैदिक दृष्टिकोण के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति क्रमिक हो सकती है, यद्यपि उस प्राप्ति के लिये सन्यास अत्यत आवश्यक है. जीवन के पहले तीन आश्रम सन्यास की उस अन्तिम अवस्था की तैयारी मात्र है, जिस पर पहुँच कर मोक्ष की अनुभूति हो सकती है ब्रह्मचर्य अवस्था मे व्यक्ति के लिये अपने समय और शक्ति को विद्या प्राप्त करने मे लगाना इसलिये आवश्यक है कि वह गृहस्थ आश्रम मे प्रविष्ट होने के लिये योग्यता प्राप्त करके अर्थ तथा काम को अनुभूत कर सके पच्चीस वर्षो तक पर्याप्त धन उपार्जन करने के पश्चात् वानप्रस्थ आश्रम मे पच्चीस वर्ष धर्माचरण मे लगाना आवश्यक है इस अवस्था मे व्यक्ति नैतिकता का उपदेश करता है तथा उसका आचरण करता है और सामाजिक कल्याण मे प्रवृत्त हो जाता है अन्तिम पच्चीस वर्ष ध्यान तथा आत्मानुभूति के लिये इसलिये नियत है कि व्यक्ति सन्यास की अवस्था मे जीवन्मुक्त हो जाय और अन्त मे विदेह मुक्ति को प्राप्त करे

वेदवाद अथवा ब्राह्मणवाद इस प्रकार अनासक्त तथा त्याग के जीवन की ओर क्रमश अग्रसर होने मे विश्वास रखता था. जीवन की यह योजना नि सदेह आकर्षक और व्यापक थी लेकिन उस समय के विचारको ने विशेष कर जैन सिद्धान्त



के समर्थको ने यह अनुभूत किया कि इस योजना की सफलता मे दो मुख्य बाधाएँ थी. प्रथम बाधा यह थी कि जब व्यक्ति एक बार गृहस्थजीवन मे प्रविष्ट हो जाता है तो उसके लिये विषयभोग आदि का त्यागना तथा काम, क्रोध, मोह एव लोभ से मुक्त होना अत्यत कठिन हो जाता है. तृष्णा अनन्त है और उसकी तृप्ति कदापि सभव नही है. इस दृष्टिकोण को उत्तराध्ययन सूत्र में निम्न लिखित शब्दो मे अभिव्यक्त किया गया है—

"और यदि कोई व्यक्ति एक मनुष्य को सम्पूर्ण पृथ्वी भी दे दे, तो भी वह उसके लिये काफी न होगी. किसी भी व्यक्ति को तृप्त करना अत्यत कठिन है तुम जितना अधिक प्राप्त करोगे, उतनी ही अधिक तुम्हारी आवश्यकता बढेगी. तुम्हारी वासनाएँ तुम्हारे साधनो के साथ-साथ बढ़ती चली जायेगी."

दूसरी बाधा यह है कि सन्यासजीवन की यह क्रमिक योजना, यह मानकर चलती है कि जीवन की कम से कम अवधि एक सौ वर्ष है. वास्तव मे जीवन अस्थिर है और किसी भी क्षण एक धागे की भाति टूट सकता है. यदि एक बार व्यक्ति, अपने आध्यात्मिक विकास के अवसर से चूक जाय, तो उसे पुन मनुष्य का जन्म लेने के लिये युगो की प्रतीक्षा करनी पड सकती है. विख्यात जैन आगम उत्तराध्ययन सूत्र में लिखा है—

"जिस प्रकार वृक्ष का सूखा पत्ता किसी भी समय गिर जाता है, इसी प्रकार मनुष्य का जीवन भी समाप्त हो जाता है. हे गौतम ! तुम हर समय सावधान रहो ! जिस प्रकार कुशा के तिनके पर लटकी हुई ओस की बूद क्षण भर के लिये ही अस्तित्व रखती है, मनुष्य का जीवन भी वैसा ही अस्थिर है. गौतम ! तुम हर समय सावधान रहो !"

विश्व के अनेक विचारको ने जीवन की अनिश्चितता से प्रभावित हो कर क्रियात्मक सासारिक जीवन को निरर्थक घोषित किया है.

बुद्ध ने दु ख तथा जीवन की अनिश्चितता से प्रेरित हो कर ही ससार को त्याग दिया. वह अशोक महान्, जिसका नाम विश्व के इतिहास मे प्रेम और शान्ति का प्रतीक माना जाता है, इसी प्रकार दुःख तथा जीवन की अनिश्चितता से प्रभावित हुआ विख्यात पाश्चात्य दार्शनिक काण्ट की उदात्त नैतिकता और विश्वव्यापी शुभ सकल्प की धारणा भी मानवीय दु खो के अनुभव से ही प्रेरित थी. काण्ट एक कडे नैतिक अनुशासन मे विश्वास करता था. यही कारण है कि जैनवाद मे कठोर नैतिक अनुशासन पर बल दिया गया है इसलिये महावीर ने साधुओ के लिये ऐसे नैतिक नियम निर्धारित किये, जो उन्हे पूर्णतया विरक्त बना दें.

जैनवाद के नैतिक सिद्धात की व्याख्या करते हुए हमे यह स्मरण रखना चाहिये कि विशेषकर साधु अथवा मुमुक्षु के लिये सत्य, अहिंसा ब्रह्मचर्यादि महाव्रतो का पालन विशेष महत्त्व रखता है और उनका अनुसरण करने के लिये विशेष सावधानी की आवश्यकता है. एक साधु अथवा साध्वी के लिये अहिंसा का व्रत स्वय धारण करना ही पर्याप्त नही है, अपितु इस के साथ-साथ उसके लिये स्वय हिंसा न करना और न ही किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा किसी प्रकार की हिसा करवाना अनिवार्य है. इसी प्रकार एक साधु के लिये स्वय असत्य न बोलना ही पर्याप्त नही है, अपितु हर प्रकार के असत्य का वहिष्कार करना और मन, वचन तथा काया से असत्य का साधन न बनना भी आवश्यक है. इसी प्रकार अस्तेय अथवा अचौर्य के महाव्रत को धारण करने का अर्थ न स्वयं चोरी करना और नही प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप मे चोरी का समर्थन करना है. ब्रह्मचर्य का महाव्रत एक साधु से यह आशा रखता है कि वह हर प्रकार के काम-प्रवृत्यात्मक सम्पर्क से मुक्त हो और ऐसे कर्मो का साधन भी न वने. जैनवाद के अनुसार पाचवा महाव्रत अपरिग्रह का है इस के अनुसार साधु के लिये स्वय किसी भी सम्पत्ति को न रखना और किसी अन्य व्यक्ति द्वारा सचित सपत्ति का साधन न वनना भी आवश्यक है. इन पाच महाव्रतो का पालन करना प्रत्येक मुमुक्षु के लिये आवश्यक है. इस प्रकार का कडा नैतिक अनुशासन इसलिये प्रतिपादित किया गया है कि जैनवाद मोक्ष को चरम लक्ष्य मानता है. इससे पूर्व कि हम जैनवाद की आचारमीमासा की व्याख्या करें, हमारे लिये यह आवश्यक है कि हम तत्त्ववाद तथा आचारशास्त्र के अभेद-सम्वन्ध पर एक वार दृष्टि डाले.

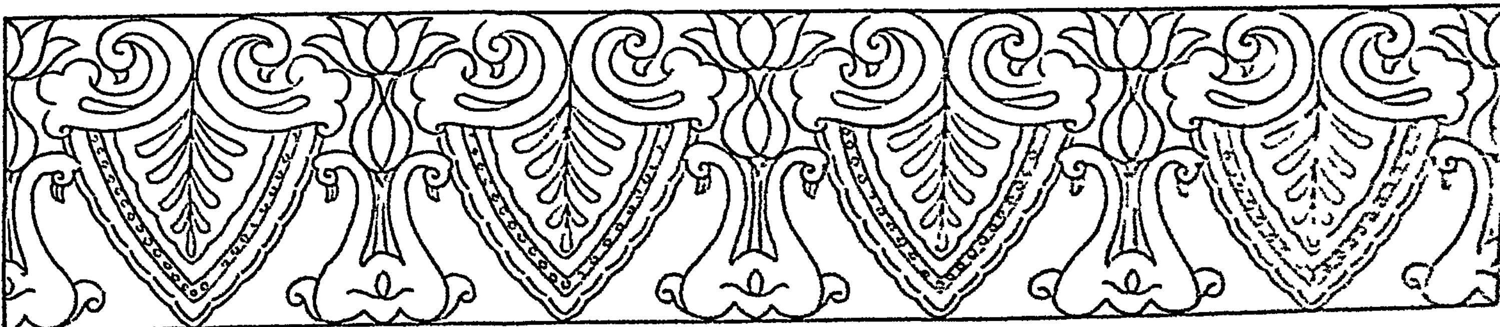
इसका कारण यह है कि जैनवाद एक नैतिक तत्त्वात्मक (Ethico-Metaphysical) सिद्धात है यह वात सर्दैव स्मरण रखनी चाहिये कि तत्त्वविज्ञान के विना आचारशास्त्र न केवल अव्यावहारिक है, अपितु असगत और असभव भी है. एक वास्तविक नैतिक मनुष्य वही है जो दार्शनिक भी है और एक यथार्थ दार्शनिक वह नही है जो केवल सत्य का ज्ञान रखता हो, अपितु वह है जो दार्शनिक सिद्धान्तो को अपने व्यावहारिक जीवन पर लागू करता हो इसी दृष्टिकोण को पुष्ट करते हुये विल ड्यूरैंट (Will Durant) ने एक दार्शनिक का दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुये लिखा है—"To be a philosopher is not merely to have subtle thought, nor even to found a school, but so to love wisdom as to live according to its dictates, a life of simplicity, independance magnanimity and trust"

अर्थात् दार्शनिक होने का अर्थ केवल सूक्ष्म विचार रखना नही है और न ही कोई सिद्धान्त प्रतिपादन करना मात्र है, अपितु उसका अर्थज्ञान से उस प्रकार प्रेम रखना है कि उसके आदेश के अनुसार सरलता, स्वतत्रता, सम्मान तथा सत्यपरायणता का जीवन व्यतीत किया जाय

यदि हम पाश्चात्य दर्शन के इतिहास पर दृष्टि डालें, तो इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि दर्शन का प्रत्येक उदात्त सिद्धान्त, स्पाइनोजा के सिद्धान्त की भाति तत्त्ववाद से आरम्भ होता है और आचारशास्त्र मे समाप्त होता है जहाँ तक भारतीय दर्शन के सिद्धान्तो का सबध है, हम यह कह सकते हैं कि नास्तिक तथा आस्तिक सिद्धान्त, समान नैतिक दृष्टिकोण रखते हुये भी एक-दूसरे से इसलिये विभिन्न हैं कि उनकी तत्त्वात्मक मान्यतायें समान नही है चार्वाक जैसे नास्तिक सिद्धान्त भी अपनी सुखवादी आचारमीमासा को उन तत्त्वात्मक धारणाओ पर आधारित करता है जो पूर्णतया भौतिक हैं यह एक खेद की बात है कि भारतीय दर्शन मे यह प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त सामग्री उपलब्ध नही कि चार्वाक दर्शन एक पूर्ण विकसित सिद्धान्त था तथापि हम चार्वाकज्ञानमीमासा, तत्त्वमीमासा तथा आचारमीमासा के विषय मे, भारतीय दर्शन के अन्य ग्रन्थो मे उल्लेख प्राप्त करते है. अन्य सभी ग्रन्थो ने तो चार्वाक धारणाओ का विरोध करने के लिये ही चार्वाक दर्शन का प्रकरण दिया है और इसलिये भारतीय दर्शन के इस भौतिक सिद्धान्त के प्रति जो सामग्री उपलब्ध है वह चार्वाक ज्ञानमीमासा तत्त्वमीमासा तथा आचारमीमासा को निषेधात्मक सिद्धान्त ही प्रमाणित करती है

हमे यह स्मरण रखना चाहिये कि अन्य सभी भारतीय दार्शनिक सिद्धान्तो की भाँति चार्वाकसिद्धान्त भी यह मानकर चलता है कि आधारभूत सत्ताका यथार्थ ज्ञान ही हमारे जीवनका मार्गदर्शन कर सकता है क्योकि हम यथार्थ ज्ञान को केवल प्रत्यक्ष द्वारा ही प्राप्त कर सकते है, इसलिए चार्वाकदर्शन के अनुसार कोई भी ऐसी वस्तु वास्तविक नही है जिसका कि हम प्रत्यक्ष अनुभव नही कर सकते हैं परन्तु इसका अभिप्राय यह नही कि चार्वाक दार्शनिको ने आधारभूत सत्ता को अस्वीकार किया है, यद्यपि उनका उद्देश्य अन्य सिद्धान्तो द्वारा स्वीकृत ईश्वर, आत्मा तथा अमरत्व की धारणाओ का विरोध करना था चार्वाकदर्शन नि सन्देह भौतिक द्रव्य को सत्ता मानकर चलता है, यद्यपि यह भौतिक द्रव्य वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी तक ही सीमित माना गया है क्योकि चार्वाकदर्शन के अनुसार भौतिक द्रव्य ही वास्तविक है, इसलिये हम अधिक-से-अधिक सुख केवल भौतिक विषयो से ही प्राप्त कर सकते है इस प्रकार चार्वाकदर्शन का मोक्ष के प्रति निषेधात्मक दृष्टिकोण भी विशेष महत्त्व रखता है और यह प्रमाणित करता है कि चार्वाकदर्शन के अनुसार आचारशास्त्र तत्त्वमीमासा पर निर्भर है

अन्य सिद्धान्तो ने चार्वाक-आचारशास्त्र को अप्रमाणित करने के लिये उसकी तत्त्वात्मक धारणाओं पर ही आक्षेप किया है और ऐसा करके ही चार्वाक-आचारशास्त्र को निराधार बताने की चेष्टा की है भारतीय स्वभाव से तत्त्ववादी है इन आध्यात्मिक ऋषिभूमि मे कोई भी ऐसा दर्शन नही पनप सकता जो तत्त्वात्मक न हो अथवा जिसका तत्त्वात्मक आधार निर्बल हो , क्योकि दर्शन शब्द का अर्थ आधारभूत सत्ता का प्रत्यक्षीकरण है यही कारण है कि भारतीय दर्शन के इतिहास मे अनेक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्तो का उत्थान-पतन हुआ है यही तथ्य भारतीय संस्कृति के इतिहास के उस विरोधाभास की व्याख्या करता है जिसके अनुसार उदात्त नैतिक बुद्धधर्म, विश्वप्रिय होता हुआ भी अपनी जन्मभूमि मे



उखाड दिया गया महात्मा बुद्ध की उदात्त आचारमीमासा, उनका अष्टविध सरलतम नैतिक विधान अहिंसा की आध्यात्मिक धारणा पर आधारित होता हुआ भी भारतीय जनता द्वारा इसलिये स्वीकार न किया गया कि उसमे तत्त्वात्मक प्रेरणा न थी. हमारे देश मे केवल वे ही सिद्धान्त स्थिर रह सकते हैं जिनकी तत्त्वात्मक पृष्ठभूमि अत्यन्त दृढ है. भारतीय दर्शन के सिद्धान्त और व्यवहार का इतिहास यह प्रमाणित करता है कि तत्त्व-विज्ञान के विना आचार-शास्त्र अन्धा है और आचारशास्त्र के विना तत्त्व-विज्ञान शून्य है

जैनवाद की सभी धारणाए आचार सम्बन्धी तथा पूजा सम्बन्धी मतभेद रखते हुए भी इस बात मे सहमत हैं कि आधारभूत सत्यो का यथार्थ ज्ञान मोक्ष की प्राप्ति के लिये नितान्त आवश्यक हैं. उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार—'वही व्यक्ति सत् का आचरण करने वाला है जो आधारभूत सत्य ज्ञान मे विश्वास रखता है' जैनवाद के अनुसार जीव के बन्धन का एक मात्र कारण मिथ्यात्व अथवा आधारभूत सत्यो के प्रति मिथ्याज्ञान है. यही कारण है कि जैन आचार-शास्त्र का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिये जैन तत्त्वमीमासा पर प्रकाश डालना नितान्त आवश्यक है वर्द्धमान महावीर ने जिन नव तत्त्वो को प्रतिपादित किया हैं वे आजतक जैन सिद्धान्त की आधारशिला है. ये नवतत्त्व निम्नलिखित हैं—(१) जीव (२) अजीव (३) पुण्य (४) पाप (५) आस्रव (६) बन्ध (७) सवर (८) निर्जरा (९) मोक्ष इन तत्त्वो की व्याख्या जैनवाद मे इसलिये की जाती है कि हम यह जान सके कि जीव किस प्रकार ससारचक्र में फसता है और उसे किन विधियो द्वारा मुक्त किया जा सकता है यहाँ पर यह बता देना आवश्यक है कि वास्तव मे जैनवाद के अनुसार जीव तथा अजीव दो मुख्य तत्त्व हैं और अन्य सभी तत्त्व इन दोनो के विभिन्न स्तर है दूसरे शब्दो मे जीव तथा अजीव दो आधारभूत सत्ताए है, पुण्य पाप आदि उनकी उपाधिया है.

जीव—जीव को चैतन्य माना गया है और ज्ञान तथा दर्शन उसके दो मुख्य लक्षण बताए गए है जीव मे पाच प्रकार के ज्ञान है, जिन्हे मति, श्रुत, अवधि, मन पर्याय और केवल ज्ञान कहा गया है दर्शन चार प्रकार के हैं—चक्षु, अचक्षु, अवधि तथा केवल. किन्तु कर्म रूप पौद्गलिक द्रव्य के साथ सम्बद्ध रहने के कारण जीव का वास्तविक ज्ञान तथा वास्तविक दर्शन आच्छादित रहता है. इसलिये जीवनमुक्ति प्राप्त करने के लिये कर्म-पुद्गल का सम्बन्ध हटा देना आवश्यक है जीव का चरम लक्ष्य केवलज्ञान तथा केवलदर्शन एव सर्वज्ञता प्राप्त करना है. यह तभी सम्भव हो सकता है, जब जीव पूर्णतया उन कर्मो से पृथक् हो जाय, जिनमें वह आस्रवो के द्वारा लिप्त है. प्रत्येक अवस्था मे जीव बन्ध में होता है. जीव की ये अवस्थाए पृथ्वीकाय (पृथ्वी सम्बन्धी जीव) अप्काय (जल सबधी जीव) वनस्पतिकाय (वनस्पति सम्बन्धी जीव) पशु, मनुष्य, देवता तथा दैत्यादि है ये सभी जीव कर्मबन्धन में होते है केवल मुक्त जीव ही कर्मपुद्गलरहित होता है

अजीव—जैनदर्शन के अनुसार धर्म अधर्म, पुद्गल, आकाश तथा काल पाँच ऐसे द्रव्य है जिन्हे अजीव कहा गया है धर्म तथा अधर्म जैन परिभाषा के अनुसार विशेष अर्थ रखते है यहा पर धर्म का अर्थ सद्गुण अथवा धार्मिक विश्वास न होकर गति का आधारभूत नियम है धर्म वह द्रव्य है, जो एक विशेष रूप से गति को सहायता देता है. वह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म द्रव्य है और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म गति को सभव बनाता है इसी प्रकार अधर्म वह द्रव्य है, जो विशेष रूप से वस्तुओं की स्थिति मे सहायक होता है दूसरे शब्दो मे धर्म का लक्षण गति है और अधर्म का लक्षण स्थिति है. पुद्गल निस्सदेह विशुद्ध भौतिक द्रव्य का नाम है. इसमें रस, रूप, गन्ध आदि के गुण उपस्थित रहते हैं इसका विश्लेषण तथा सम्मिश्रण हो सकता है यह आणविक है और इसका आधार होता है, इसलिये पुद्गल को रूपी कहा गया है. इसका सूक्ष्म-से-सूक्ष्म रूप अणु है और स्थूल-से-स्थूल रूप समस्त भौतिक विश्व रूप है. जैनदर्शन के अनुसार लम्बाई, चौडाई, सूक्ष्मता, स्थूलता, हल्कापन और भारीपन, बन्ध, पार्थक्य, आकार, प्रकाश तथा अन्धकार और धूप एव छाया सभी पौद्गलिक तत्त्व हैं. जीव के बन्ध का अर्थ कर्मपुद्गल से प्रभावित होना है और निर्जरा का अर्थ पुद्गल का क्षय है. पुद्गल के इस रूप की व्याख्या करना इसलिये आवश्यक है कि जैन आचारशास्त्र का मुख्य उद्देश्य कर्मपुद्गल का अन्त करना है सन्यास के नियमो का कठोरता से पालन करने एव सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन तथा सम्यक्चरित्र के अनुसरण करने का

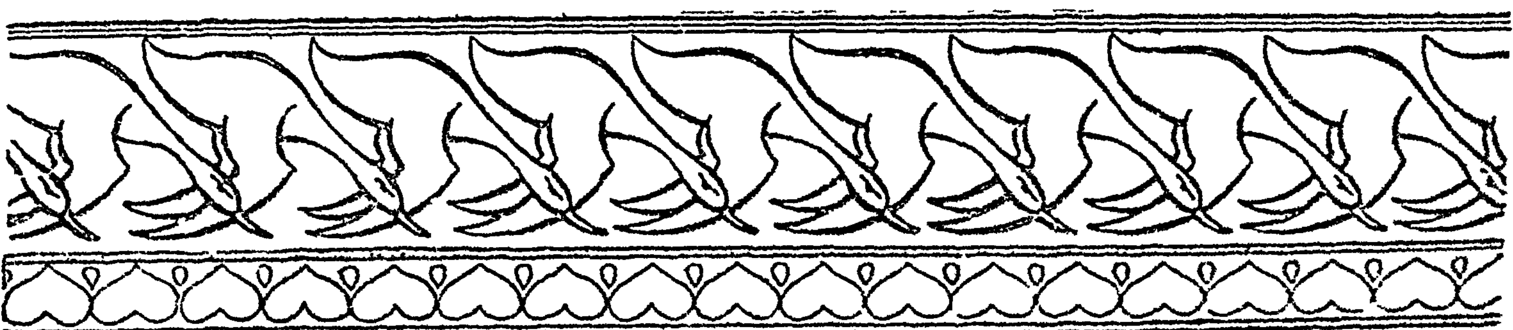


उद्देश्य कर्मपुद्गल से निवृत्ति प्राप्त करना है आकाश को भी जैनदर्शन मे सर्वव्यापी द्रव्य स्वीकार किया गया है. आकाश के दो भाग हैं, लोकाकाश तथा अलोकाकाश. लोकाकाश, आकाश का वह भाग है जिसमे धर्म, अधर्म, पुद्गल जीव तथा काल स्थित होते है अलोकाकाश वह (शून्य) द्रव्य है, जो लोकाकाश मे परे है और जिसमे उपरोक्त पाचो द्रव्य नही हे अलोकाकाश मे धर्म, अधर्म न होने के कारण किसी प्रकार की गति या स्थिति नही होती है

जैनदर्शन मे काल भी ऐसा द्रव्य स्वीकार किया गया है, जो पुद्गल तथा जीव के परिवर्तन का आधार है हमे यह देखना है कि आकाश के लोक भाग मे धर्म अधर्म पुद्गल तथा जीव होते हैं पुद्गल और जीव गति और स्थिति मे प्रभावित होते हैं पुद्गल जीव को बन्ध मे डाल देता है और जीव अपने आपको पुद्गल मे मुक्त करके निर्जरा एव जीवनमुक्ति प्राप्त करने की चेष्टा करता है किन्तु इस प्रकार पुद्गल से निवृत्त होने की प्रक्रिया मे, जीव अनेक परिवर्तनो मे गुजरता है पुद्गल मे भी सूक्ष्मसे स्थूल बनने मे परिवंतन होते हैं पुद्गल तथा जीव का यह परिवर्तन, जो कि उन दोनों के विकास का कारण है, काल तत्त्व पर आधारित है

पुण्य—पुण्य का अर्थ शुभ कार्य माना जाता है जैनदर्शन मे भी पुण्य की यही परिभाषा स्वीकार की जाती है किन्तु पुण्य के दो अग हैं क्रियात्मक दृष्टि से तो पुण्य एक शुभ कर्म है, जो जीव द्वारा किया जाता है यदि शुभकर्म का अर्थ वह कर्म-पुद्गल हो जो जीव द्वारा सञ्चित किया जाता है और जिसका आगामी काल मे भोग किया जाता है, तो हम पुण्य के पौद्गलिक अग की ओर सकेत कर रहे होते हैं वास्तव मे पुण्य एक प्रवृत्ति भी है और सस्कार भी यहा पर प्रवृत्ति का अर्थ क्रियाशीलता और सस्कार का अर्थ कर्मपुद्गल है जो क्रियाएँ शुभ सस्कारो को सचित करने मे सहायता देती हैं वे पुण्य कहलाती है जैनदर्शन के अनुसार नौ प्रकार के पुण्य स्वीकार किये गये हैं—(१) अन्नपुण्य (२) पान-पुण्य (३) वस्त्रपुण्य (४) लयनपुण्य (५) शयनपुण्य (६) मनपुण्य (७) शरीरपुण्य (८) वचन पुण्य (९) नमस्कार-पुण्य अन्नपुण्य का अर्थ किसी ऐसे भूखे या दरिद्र या अकिंचन तपस्वी को भोजन देना है जो उसका पात्र है उसी प्रकार पानपुण्य का अर्थ किसी प्यासे व्यक्ति की प्यास को बुझाना है वस्त्रपुण्य का अर्थ उन लोगो को वस्त्र दान देना जिन्हे शरीर को ढकने के लिये आवश्यकता है जैनदर्शन के अनुसार यद्यपि अन्न, जल और वस्त्र का दान किसी भी सुपात्र व्यक्ति को दिया जा सकता है, तथापि ये तीनो सयमशील महाव्रती साधुओ के प्रति किये जाय तो उनका महत्त्व और भी अधिक हो जाता है लयन तथा शयन पुण्यो का अर्थ ठहरने का स्थान तथा शयन के लिये पट्टा आदि देना है मनपुण्य शरीर पुण्य तथा वचन पुण्य का अर्थ शरीर मन और वाणी का इस प्रकार प्रयोग करना है कि व्यक्ति हर प्रकार की हिंसा से बचे और दूसरो को धर्म तथा नैतिकता की ओर आकर्षित करे नमस्कारपुण्य का अर्थ गुणी जनो को श्रद्धापूर्वक नमस्कार करना है

पाप—जैनदृष्टिकोण के अनुसार पाप का अर्थ राग द्वेष आदि भावो से प्रभावित होकर निकृष्ट कर्म करना है यह वास्तव मे मनुष्य की नीच प्रवृत्तियो का उसकी शुभ प्रवृत्तियो के विरुद्ध आन्दोलन है जैनदर्शन के अनुसार निम्नलिखित अठारह पाप माने गये है– (१) प्राणवध अथवा जीवहिंसा जिसका अर्थ किसी भी जीवधारी को अथवा उसकी जीवनशक्ति को क्षति पहुचाना है. (२) असत्य अथवा मृषावाद अर्थात् असत्य बोलना (३) अदत्तादान पाप अथवा प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से चोरी करना (४) अब्रह्मचर्य पाप जिसका अर्थ मन अथवा शरीर द्वारा कामवृत्ति की तृप्ति करना है, (५) परिग्रह पाप, जिसका अर्थ अपनी सम्पत्ति मे आसक्ति है (६) क्रोधपाप (७) मान पाप अर्थात् अहकार (८) माया पाप अथवा छल-कपट (९) लोभपाप अथवा लालच करना (१०) रागपाप अथवा आसक्ति (११) द्वेषपाप, जिसका अर्थ किसी भी जीव के प्रति घृणा रखना है (१२) क्लेश पाप अथवा कलह (१३) अभ्याख्यान पाप, जिसका अर्थ किसी व्यक्ति का अपमान करने के लिये अपवाद फैलाना है (१४) पैशुन्य पाप, जिसका अर्थ चुगलखोरी है (१५) पर-परिवाद पाप, जिसका अर्थ दूसरो की निन्दा अथवा उनके दोषो पर बल देना है. (१६) रति-अरति पाप, जिसका अर्थ सयम मे अरुचि और विषयभोग आदि मे रुचि है (१७) मायामृषा पाप, जिसका अर्थ औचित्य और सद्गुण के आवरण मे अनुचित तथा दूषित कर्म करना है (१८) मिथ्यादर्शनशल्य पाप जिसका अर्थ असत् को सत् स्वीकार करना है



वन्ध—वन्ध का अर्थ जीव का उसी प्रकार कर्मपुद्गल से मिश्रित होना है, जिस प्रकार दूध मे पानी का मिश्रण होना जीव का कर्मपुद्गल से सम्बद्ध होना अनादि माना गया है. किन्तु ऐसा होते हुए भी यह बन्ध अनन्त नही है व्यक्ति इस वन्ध को तोड सकता है और निर्जरा प्राप्त कर सकता है. उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—"चरित्रसम्पन्न होने के कारण साधु मेरुपर्वत की भाँति स्थायित्व प्राप्त कर लेता है और कर्म के उन अशो को नष्ट कर देता है, जो केवली मे भी उपस्थित होते है उसके पश्चात् वह पूर्णत्व, ज्ञान, मुक्ति तथा परम निर्जरा को प्राप्त करता है और सभी दुखो का अन्त कर देता है" यही अवस्था वन्ध से मुक्त होने की अवस्था है. वन्ध चार प्रकार के माने गए है—(१) प्रकृति वन्ध (२) स्थितिवन्ध (३) अनुभागवन्ध (४) प्रदेशबन्ध. बन्ध के ये विभिन्न वर्ग वारतव मे कर्मपुद्गल तथा जीव के परस्पर सयुक्त होने के विभिन्न स्तर है प्रकृतिबन्ध का अर्थ है बधनेवाले कर्म का स्वभाव, उदाहरण—ज्ञानावरणीय कर्म की प्रकृति ज्ञान को आच्छादित करने की है. इसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म की प्रकृति दर्शन (सामान्यज्ञान) को आच्छादित करने की है. स्थितिवन्ध कर्मपुद्गल तथा सायुज्य (Unity) को बतलाता है. अनुभागबन्ध कर्म के फल की तीव्रता और मन्दता को निर्दिष्ट करता है प्रदेशबन्ध कर्मपुद्गल तथा जीव के सायुज्य के ऐसे प्रकार को बतलाता है जो दूध-पानी के मिश्रण की भाँति हो सकता है.

आस्रव–आस्रव जीव का वह वैभाविक गुण है, जो कर्म को आकर्षित करता है इसे आत्मा का वह विकार एव भाव कहा गया है जो शुभ तथा अशुभ कर्मपुद्गल तथा जीव को अपनी ओर आकर्षित करता है और जो उसे जीव मे विलीन कर देता है आस्रव कर्म की जीव मे आगति अथवा अन्दर की और प्रवाह है आस्रव की परिभाषा देते हुए श्रीपूर्णचद नाहर ने लिखा है—'Asrava is the influx of the Karma particles into the Soul, or it may be said as the acquirement by the soul of the fine Karma matter from without" अर्थात् आस्रव कर्मपुद्गल का जीव मे प्रवाह है अथवा उसे जीव के द्वारा बाहर से सूक्ष्म कर्मपुद्गल को ग्रहण करने की क्षमता कहा जा सकता है आस्रव को प्राय दो वर्गो मे विभक्त किया जाता है (१) भावआस्रव अथवा अन्तरात्मक प्रवाह (२) द्रव्य-आस्रव अथवा विषयात्मक प्रवाह.

भाव-आस्रव का प्रवाह वह मानसिक अवस्था अथवा परिवर्तन है, जो जीव को इस प्रकार आकर्षक वना देता है मानो वह चुम्बक की भाँति कर्मपुद्गल को ग्रहण करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है. द्रव्य-आस्रव का अर्थ वह कर्मपुद्गल है, जो जीव के द्वारा आकर्षित किया जाता है और सचित किया जाता है

आस्रवो की एक और प्रकार की व्याख्या भी की गई है इस दृष्टि से उनकी एक जलाशय की उन मोरियो से तुलना की गई है जिनके द्वारा जल अन्दर की ओर प्रवाहित होता है इस दृष्टि से निम्नलिखित पाँच प्रकार के आस्रव माने गए है—(१) मिथ्यात्व (२) अविरति (३) प्रमाद (४) कषाय (५) योग

मिथ्यात्व का अर्थ आधारभूत सत्ता के प्रति विपरीत धारणा एव मिथ्या धारणा रखना है अविरति का अर्थ त्याग के विपरीत झुकाव है प्रमाद का अर्थ सत् कर्म के प्रति आलस्य है. कषाय का अर्थ राग-द्वेष का उत्पन्न होना तथा प्रभावशाली होना है और योग का अर्थ शरीर, मन तथा वचन की त्रिया है योग को भी दो अन्य वर्गो मे विभक्त किया गया है, जिन्हे शुभ योग तथा अशुभ योग कहा गया है शुभ योग पुण्यबन्ध को उत्पन्न करता है और अशुभ योग पापबन्ध को. शुभ योग, जो शुभ पुण्य का सचय करने वाला है और कर्मपुद्गल के वन्ध का कारण है, जीव को निर्जरा की ओर अवश्य ले जाता है यो तो जैन दर्शन मे आस्रवो की बहुत बडी सूचियां दी गई है किन्तु अन्य सब आस्रवो को ऊपर दिये गये पाँच आस्रवो के अन्तर्गत किया जा सकता है.

संवर—आस्रव को वन्ध का कारण माना गया है जैनदर्शन का मुख्य उद्देश्य बन्ध से पूर्णतया मुक्त हाकर मोक्ष की प्राप्ति है, इसलिये जैनवाद की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व वह है जो कर्म को पूर्णरूप से नष्ट कर देता है इसी महत्त्वपूर्ण तत्त्व को जैनवाद मे सवर कहा गया है. क्योकि आस्रव जीव के वास्तविक रूप एव उसकी स्वतत्र तथा निहित दिव्य सत्ता को आच्छादित करता है, इसलिये सवर वह तत्त्व है जो आस्रव का विरोधी है और जीव की वास्तविक

सत्ता की स्थापना करता है सवर के द्वारा आस्रव रूपी कर्मपुद्गल के प्रवाह को रोक दिया जाता है सवर का अर्थ जीवन के उन नियमो का अपनाना तथा तपश्चर्या करना है, जो जीव को आस्रवो से मुक्त करे और नवीन कर्म-बन्धन का अत कर दे निम्नलिखित पाच मुख्य सवर उल्लेखनीय हैं—(१) सम्यक्त्व अथवा आधारभूत सत्ता मे दृढ विश्वास (२) विरति अथवा अनासक्ति (३) अप्रमाद अथवा सावधानी (४) अकपाय अथवा क्रोधादि विकारो से निवृत्ति (५) अयोग अथवा शरीर, मन और वाणी की क्रियाओ से मुक्ति

ये पचविध सवर जीव का अन्तरात्मक परिवर्तन कर देते हैं जैन शास्त्रो मे इन सवरो की भी विस्तृत सूचिया दी गई है और ५७ सवर सवधी नियम निर्धारित किये गये है ५७ नियम निम्नलिखित रूप मे सक्षेप मे बताए जा सकते है (क) पाच समितिया (ख) तीन गुप्तिया (ग) दस यतिधर्म (घ) बारह भावनाए (ङ) बाईस परीपह और (च) पाच चारित्र

इन ५७ नियमो की व्याख्या का हमारे विषय से विशेष सवध नही है, क्योकि ये सभी सवर विशेपतया साधुओं के व्यवहार से सम्बन्ध रखते है यहा पर इतना कह देना पर्याप्त है कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाच महाव्रतो का अनुसरण करने से और इन्हे किसी भी प्रकार भग न होने देने से जीव कर्म के प्रभाव से मुक्त हो जाता है, और जब उसके कर्मो का क्षय हो जाता है, तो उसे मुक्त अवस्था की प्राप्ति होती है

निर्जरा—निर्जराका अर्थ जीव की वह अवस्था है जिसमे कर्मपुद्गल का आशिक क्षय हो जाता है निर्जरा को स्पष्ट करने के लिये निम्नलिखित तीन उदाहरण उपयोगी सिद्ध होते हैं—(१) जिस प्रकार जलाशय का गन्दा पानी मोरियों के द्वारा बाहर निकाल दिया जाता है, उसी प्रकार जब कर्म रूपी पानी आध्यात्मिक शासन के द्वारा बाहर निकाल दिया जाता है, तो व्यक्ति निर्जरा प्राप्त करता है (२) जिस प्रकार घर से झाडू के द्वारा कूडा-कर्कट बाहर निकाल दिया जाता है, उसी प्रकार जब कर्म रूपी पानी आध्यात्मिक अनुशासन के द्वारा बाहर निकाल दिया जाता है, तो व्यक्ति निर्जरा प्राप्त करता है (३) जिस प्रकार नाव मे एकत्रित जल को हाथो से बाहर फेंक दिया जाता है, उसी प्रकार आत्मा मे सचित कर्म को बाहर निकाल देना निर्जरा है

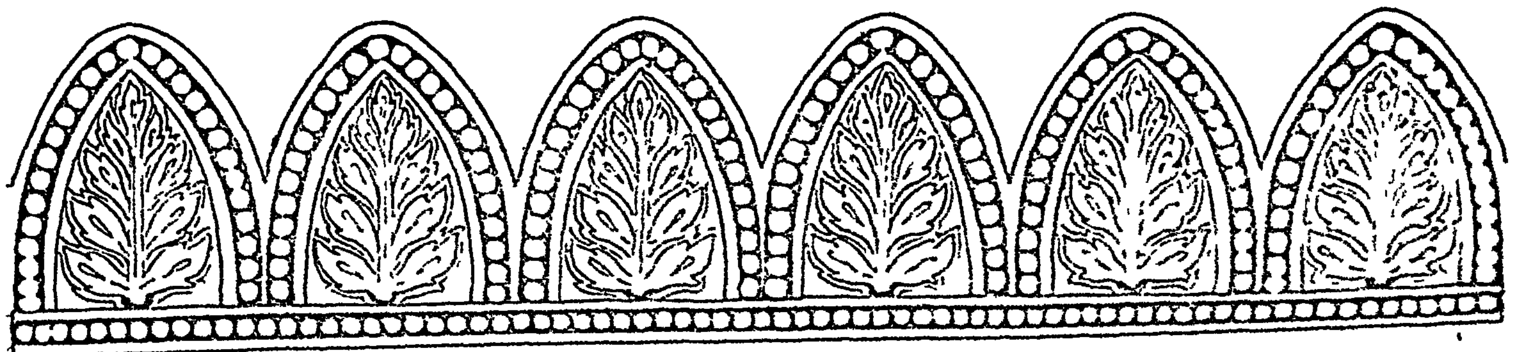
मोक्ष—मोक्ष नि संदेह जीव की कर्मपुद्गल से पूर्ण रूप से निवृत्ति है हम ने यह पहले ही बतलाया है कि चार प्रकार के बन्धो के द्वारा जीव कर्मपुद्गल से जुडा रहता है यद्यपि हमने बन्ध की व्याख्या ऊपर की है, तथापि मोक्ष की धारणा को उदाहरणो द्वारा अधिक स्पष्ट करने के लिये बन्ध के निम्नलिखित तीन उदाहरण देना आवश्यक है

(१) जिस प्रकार दूध और मक्खन एक दूसरे मे ओतप्रोत होते है उसी प्रकार जीव और कर्म बन्ध द्वारा एक दूसरे मे विलीन होते है

(२) जिस प्रकार धातु और मिट्टी एक दूसरे मे विलीन होते है, उसी प्रकार आत्मा और कर्म बन्ध द्वारा एक दूसरे मे जुडे होते है

(३) जिस प्रकार तिल और तेल एक दूसरे मे ओतप्रोत होते है उसी प्रकार बन्ध द्वारा जीव और कर्म एक दूसरे मे समाविष्ट होते है

क्योकि मोक्ष की अवस्था हर प्रकार के कर्म से जीव की पूर्ण निवृत्ति है, इसलिए निम्नलिखित उदाहरणो द्वारा मोक्ष की उचित व्यवस्था की जा सकती है—(१) जिस प्रकार तेल को कोल्हू के द्वारा तिल से निकाल लिया जाता है, उसी प्रकार जब आत्मसयम और तपश्चर्या के द्वारा जीव को कर्म से पृथक् कर दिया जाता है, मनुष्य मोक्ष को प्राप्त करता है (२) जिस प्रकार मक्खन को विलोने के द्वारा छाछ से पृथक् कर दिया जाता है उसी प्रकार जब जीव को तपश्चर्या और आत्मसयम द्वारा कर्म से पृथक् कर दिया जाता है, तो मोक्ष प्राप्त करता है



जैन आचारशास्त्र में संन्यासवाद

जैन आचारशास्त्र की विशेषता यह है कि वह अत्यन्त कठोर है, क्योंकि उसका परम उद्देश्य मोक्ष है, जिसका अर्थ अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन तथा अनन्त शक्ति है इस असाधारण अवस्था की प्राप्ति स्वार्थ का पूर्णतया त्याग किये विना कदापि नही हो सकती जैनदृष्टि से केवल सन्यासी ही इन कठोर नैतिक नियमो का अनुसरण कर सकता है, क्योंकि वह सभी सासारिक बन्धनो को त्याग देता है वास्तव मे भारतीय दर्शन मे प्राय सभी सिद्धान्तो द्वारा सन्यास की भावना को अनन्त अवस्था प्राप्त करने का साधन माना गया है आत्मानुभूति के लिये सभी सासारिक वस्तुओं का त्याग करना आवश्यक माना गया है. इस प्रकार के उच्च सन्यासवाद की ओर प्रवृत्ति आत्मा की अनन्त बनने की प्रवल इच्छा से ही प्रेरित होती है यह सन्यासवाद आत्माको विशाल बनाता है, व्यक्ति को उसकी स्वार्थ की भावनाओ से मुक्त करता है और एक ऐसे जीवन का निर्माण करता है, जिसमें मानवमात्र के लिये प्रेम तथा सहानुभूति की भावना की प्रधानता होती है

सन्यासवाद का अर्थ सेवा तथा आत्मत्याग है. सेवा तथा आत्मत्याग का अनुसरण कायर तथा निर्वल व्यक्ति नही कर सकता, अपितु इस मार्ग पर वीर और साहसी आत्मा ही चल सकती है एक सामान्य व्यक्ति को भले ही सन्यास का जीवन अपूर्ण प्रतीत होता हो किन्तु यह तथाकथित अपूर्ण जीवन वास्तव में पूर्ण जीवन है इसी दृष्टि को लाओजू जैसे चीनी दार्शनिको ने भी अपनाया है. लाओजू के अनुसार "सरल जीवन ऐसा निष्कपट जीवन है, जिसमे लाभ को एक ओर फेक दिया जाता है, चातुर्य का त्याग किया जाता है, स्वार्थ तथा इच्छाओ का बलिदान कर दिया जाता है यह पूर्णता का ऐसा नियम है जो अपूर्ण प्रतीत होता है, ऐसी सम्पन्नता है जो रिक्त दिखाई देती है, ऐसा पूर्ण सीधा मार्ग है जो टेढा दिखता है ऐसी दक्षता है जो असुन्दर दिखाई देती है, और ऐसी वाक्पटुता है जो मौन दिखाई देती है. यह ऐसा जीवन है जो तलवार की धार की भाति तीखा है, किन्तु जो चुभता नही है यह एक रेखा की भाति सीधा है किन्तु प्रसारित नही है. प्रकाश की भाति चमकदार है परन्तु आखो को चुधियाता नही है यह वस्तुओ के उत्पादन तथा उनके पोषण का वह जीवन है, जिसमे उन वस्तुओ को अपना नही बनाया जाता है यह कर्म मे प्रवृत्त होने की विधि है जिसमे स्वाभिमान नही रहता है यह एक ऐसा साम्राज्य है, जिसमे प्रभुत्व नही जमाया जाता"

सन्यास-जीवन का यह विचित्र लक्षण, जो कि एक विरोधाभास को प्रकट करता है, ऐसी जटिलता उत्पन्न करता है, जिसको सुलझाना सामान्य व्यक्ति का काम नही है इस जीवन के मर्म को समझने के लिए ऐसे जीवन का गम्भीर अध्ययन करना चाहिए. हमे यह नही भूलना चाहिए कि सन्यासी के जीवन का उद्देश्य मानवमात्र का उत्थान तथा उसका आदर्श एक सम्पूर्ण जीवन की प्राप्ति होने के कारण निराशावाद को वह प्रश्रय नही दे सकता इसमे सन्देह नही कि सन्यासी जीवन के तथाकथित सुखो को घृणा की दृष्टि से देखता है किन्तु उसका उद्देश्य परम सुख होता है. वह अपने वातावरण के प्रति असन्तुष्ट या कम से कम तटस्थ दिखाई देता है, तथापि उसका मुख्य उद्देश्य परम सत्ता की अनुभूति होता है भारतीय दर्शन को समझने के लिये हमें बुद्ध द्वारा प्रस्तुत चार आर्यसत्यो को नही भूलना चाहिए जो निम्नलिखित हैं —

(१) विश्व में दुख है (२) उस दुख का कारण है (३) उस दुख का अन्त होता है तथा (४) इस उद्देश्य की प्राप्ति का उपाय है इससे यह स्पष्ट होता है कि भारतीय दर्शन सन्यासवाद को निराशावाद के रूप मे ग्रहण नही करता, अपितु उसे मोक्ष का साधन मात्र ही मानता है.

जैनवाद को श्रमणवाद इसलिए कहा जाता है कि इसके अनुसार केवल सन्यासी अथवा साधु ही अहिसा का निरपेक्ष अनुसरण करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है. यद्यपि इसमे गृहस्थियो के लिए भी नैतिक नियमो का प्रतिपादन किया गया है, तथापि जैन आचारशास्त्र प्रधानतया सन्यासवादी आचार शास्त्र है. गृहस्थ श्रावको के लिये जिस प्रकार के आचार को प्रतिपादित किया जाता है, उसे अणुव्रत कहते हैं किन्तु जो आचार साधुओ के लिये प्रतिपादित किया गया है, उसे महाव्रत कहा जाता है महाव्रतो तथा अणुव्रतो की व्याख्या करने से पूर्व यह वताना आवश्यक है कि जैन आचारशास्त्र

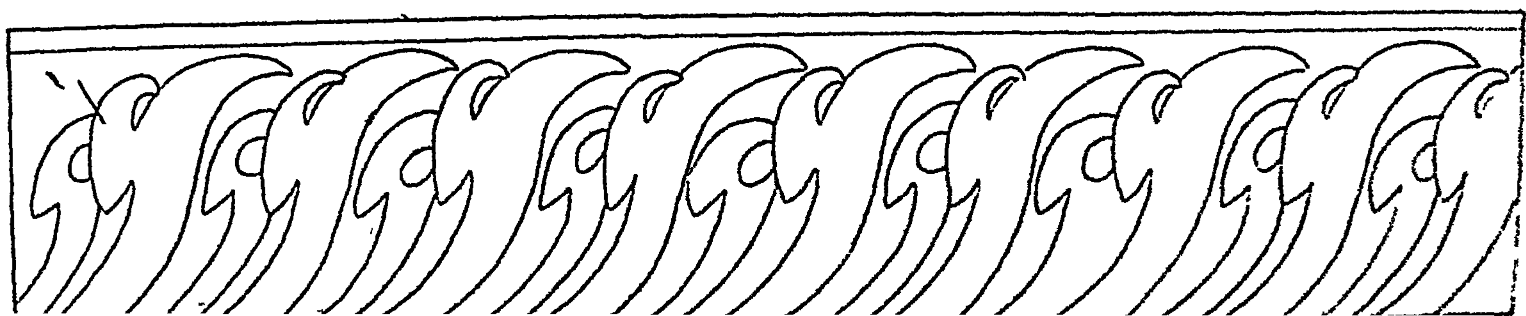
मोक्ष को ही एक मात्र पुरुषार्थ मानता है और मोक्ष की यह तत्त्वात्मक धारणा ही उसे पाश्चात्य आचारशास्त्र के सिद्धान्तो की अपेक्षा उत्कृष्ट प्रमाणित करती है

जैनवाद के अनुसार मोक्ष की धारणा एक ऐसा अमूर्त आदर्श नही है, जो कि मनुष्यों को केवल इच्छाओं का अन्त करने की आज्ञा दे, और न ही वह पश्चिमी सुखवाद की भाँति इच्छाओ की निरकुश तृप्ति को वाञ्छनीय स्वीकार करता है जब मोक्ष की प्राप्ति होती है तो व्यक्ति अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त दर्शन और अनन्त वीर्य प्राप्त करने के कारण पूर्णत्व का अनुभव करता है और उसकी इच्छाए स्वत ही समाप्त हो जाती है इस प्रकार शाश्वत और व्यापक आत्मानुभूति मे कान्ट द्वारा प्रस्तुत तर्कात्मक आकार तथा पश्चिमी सुखवाद द्वारा प्रतिपादित सुख की भौतिक सामग्री दोनो सम्मिलित होते है मोक्ष नि सन्देह एक तर्कात्मक एव प्रत्ययात्मक धारणा है और साधारण दृष्टि मे भौतिक नही कहा जा सकता, किन्तु इसके साथ ही साथ मोक्ष की अनुभूति, जिसका अर्थ आत्मानुभूति है, नैतिकता को विश्वव्यापी आत्मा से सम्बन्धित करती है और इस व्यापक आत्मानुभूति मे तर्क तथा सुख दोनो का समन्वय हो जाता है

यह सत्य है कि एक पूर्ण नैतिक सिद्धात के लिये एक ऐसी तत्त्वात्मक धारणा की आवश्यकता है, जो आदर्श होते हुए भी वास्तव मे अनुभूत किया जा सके और जो व्यापक होते हुए भी अन्तरात्मक हो. यद्यपि कान्ट ने सद्गुण के आन्तरिक अग पर वल दिया है, तथापि उसने एक बाहरी ईश्वर की मान्यता को अपने नैतिक सिद्धात को पूर्ण बनाने के लिये ही स्वीकार किया है कान्ट एक व्यापक दृष्टिकोण को ही आदर्श दृष्टिकोण मानता है और कहता है कि हमे अपने आपको तथा अन्य मनुष्यों को कदापि साधन न मान कर स्वलक्ष्य-साध्य ही स्वीकार करना चाहिए वह एक उद्देश्यात्मक साम्राज्य स्थापित करने की चेष्टा करता है, यद्यपि उसका यह उद्देश्यवाद कुछ अस्पष्ट है तथापि कान्ट की धारणा है कि सदाचार तथा सुख दोनो मिल कर पूर्ण शुभ का निर्माण करते है, तथापि वह यह स्पष्ट नही करता कि इन दोनो का परस्पर समन्वय कैसे किया जा सकता है ? इस जटिल समस्या को सुलझाने के लिये वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर की धारणा को स्वीकार करता है, जो प्रत्येक व्यक्ति को उसके सदाचार के अनुरूप सुख प्रदान करने वाला है यह एक विचित्र बात है कि वह कान्ट, जो उद्देश्यात्मक साम्राज्य का समर्थक है और जो इस बात पर बल देता है कि मनुष्य स्वलक्ष्य है, वह स्वय ईश्वर को सदाचार तथा सुख के समन्वय के उद्देश्य की पूर्ति के लिये साधन मात्र स्वीकार करता है कान्ट मनुष्य को स्वलक्ष्य मानते हुए भी सदाचार के आत्मसगत सिद्धात को इसलिये सगत प्रमाणित नही कर सका क्योकि वह आत्मानुभूति के सिद्धात से अनभिज्ञ था, वह मोक्ष की धारणा का ज्ञान नही रखता था.

पश्चिमीय नैतिक सिद्धात, नैतिकता को सापेक्ष स्वीकार करते है और उसे एक विरोधाभास मानते है ब्रैडले ने अपनी पुस्तक 'नैतिक अध्ययन' (Ethical Studies) मे लिखा है 'नैतिकता मे विरोधाभास तो है ही, वह हमे उस वस्तु को अनुभूत करने का आदेश देती है जिसकी (पूर्ण) अनुभूति कदापि नही हो सकती और यदि उसकी अनुभूति हो जाय तो वह स्वय नष्ट हो जाती है कोई भी व्यक्ति कभी भी पूर्णतया नैतिक नही रहा है और न भविष्य मे हो सकता है जहा पर अपूर्णता नही है, वहा पर कोई नैतिक औचित्य नही हो सकता नैतिक औचित्य एक विरोधाभास है'

क्योकि मोक्ष की प्राप्ति की धारणा पाश्चात्य विचारको को ज्ञात नही है, इसलिये वे इस तथ्य मे अनभिज्ञ है कि नैतिकता के विरोधाभास को ऐसे स्तर पर पार किया जा सकता है, जो कि तर्क और बुद्धि से ऊचा स्तर है कान्ट तत्त्वात्मक दृष्टि से तो अनुभवातीत सिद्धात प्रस्तुत करता है किन्तु वह अनुभवातीत नैतिक सिद्धात (Transcendentalism in Ethics) प्रस्तुत नही कर सका यही कारण है कि उसे धर्मवाद का आश्रय लेना पडा और बाह्यात्मक तथा वैयक्तिक ईश्वर की धारणा को स्वीकार करना पडा. जैनवाद मनुष्य के विरोधाभास और उसकी अपूर्णता से सन्तुष्ट नही रहता उसके अनुसार मनुष्य स्वभाव से विरोधाभास से परे है और उसमे पूर्णत्व निहित है उसके जीवन का उद्देश्य नैतिक तथा आध्यात्मिक अनुशासन के द्वारा इस अव्यक्त पूर्णत्व को व्यक्त करना है मनुष्य मे विरोधाभास नही है हमें ऐसी नैतिकता को स्वीकार ही नहीं करना चाहिए, जो एक विरोधाभास हो ब्रैडले ने स्वय स्वीकार किया है "मनुष्य विरोधाभास से कुछ अधिक है" मेरी यह धारणा है कि यह आधिक्य वह आध्यात्मिक क्षमता है, जो



मनुष्य को पूर्णता तथा समरूपता प्राप्त करने के योग्य बनाती है एव उसे मोक्ष की अनुभूति कराती है. केवल ऐसी मोक्ष की धारणा के द्वारा ही आकार तथा सामग्री, सत् तथा असत्, शुभ तथा अशुभ, तर्क तथा सुख, सामाजिक तथा वैयक्तिक कल्याण के विरोध को दूर किया जा सकता है. नैतिकता के आदर्श के रूप मे मोक्ष हमे आकार तथा सामग्री, तर्क तथा सुख देता है इस प्रकार जैनवाद के अनुसार मोक्ष ही एक मात्र नैतिक आदर्श है. इस दृष्टिकोण को सामने रखते हुए हमे जैन आचारशास्त्र का अध्ययन करना चाहिए.

संन्यासी अथवा साधु की आचार-मीमांसा

जैनसिद्धात के अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह इन पाच महाव्रतो का अनुसरण करना मोक्ष का साधन है. जैनधर्म में इन्ही पाच नियमो को साधुओ के आचार के आधारभूत नियमो के रूप मे स्वीकार किया गया है. अहिंसा का अर्थ हर प्रकार की हिसा से बचना है, चाहे वह हिंसा सूक्ष्म से सूक्ष्म अदृश्य जीवो की हो, चाहे वह पशुओ की हो और चाहे मनुष्यो की. हिंसा का अर्थ केवल शरीर द्वारा हिंसा करना ही नही है, अपितु मन और वचन द्वारा भी हिंसा करना है. जब जैन साधु अहिंसा का पालन करता है, वह हर प्रकार से यही चेष्टा करता है कि इस महाव्रत का यथासम्भव निरपेक्ष रूप से अनुसरण करे और मन, वचन तथा काया से किसी भी जीवधारी को दुःख न दे. यह तीन प्रकार की अहिंसा तीन गुप्तियो पर आधारित मानी जाती है दूसरे शब्दो मे मन, वचन तथा कर्म द्वारा महाव्रतो के पालन करने को तीन गुप्तिया कहा गया है. हमे यह स्मरण रखना चाहिये कि सभी महाव्रतो का मूल आधार अहिंसा महाव्रत है. इस अहिंसा का निरपवाद अनुसरण करने के लिये ही अन्य चारित्र सबधी नियमो को स्वीकार किया गया है सत्य बोलना इसलिये आवश्यक है कि किसी के प्रति झूठ बोलने से उस व्यक्ति को कम से कम मानसिक आघात अवश्य पहुँचता है यदि कोई व्यक्ति सत्य की अवहेलना करके केवल अहिंसा को अपनाने की चेष्टा करे तो वह कदापि ऐसा नही कर सकता. असत्य बोल कर हम नि सदेह वचन द्वारा हिंसा करते हैं और दूसरे व्यक्ति के मन को दुःखी करते हैं इसी प्रकार किसी व्यक्ति की सपत्ति को चुराना एव तीसरे महाव्रत को भग करना हिंसा है जिस व्यक्ति की सम्पत्ति चुराई जाती है, नि सदेह उसको मानसिक आघात पहुँचता है. अत अस्तेय भी अहिसा पर आधारित है. आधुनिक विज्ञान भी इस दृष्टिकोण को पुष्ट करता है कि ब्रह्मचर्य पर न चलने से अर्थात् काम की तृप्ति से असख्य जीवो की हिंसा होती है अत ब्रह्मचर्य अहिंसा को पुष्ट करने का साधन है. अपरिग्रह का अर्थ आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति न रखना है यह स्पष्ट है कि जो व्यक्ति आवश्यकता से अधिक धन-धान्य आदि रखता है, वह नि सदेह उन निर्धनो और भूखो को जीवन की आवश्यकताओ से वचित रख रहा है, जिनकी रक्षा करने के लिये अतिरिक्त धन और धान्य का सदुपयोग किया जा सकता है अत अपरिग्रह का अनुसरण करना अहिंसात्मक जीवन को पुष्ट करना है.

साधुओ का आचार पूर्णतया अहिंसात्मक माना गया है. इसलिये प्रत्येक जैन साधु को पाँच महाव्रतो और तीन गुप्तियो के साथ-साथ निम्नलिखित पाँच समितियो का भी अनुसरण करना पडता है —(१) ईर्यासमिति अर्थात् जीवो की हिंसा से बचने के लिये सावधानी से चलना (२) भाषासमिति—वचन द्वारा हिंसा से बचने के लिये भाषा पर नियत्रण रखना. (३) एषणासमिति—साधु द्वारा भोजन तथा जल का सावधानी से निरीक्षण किया जाना और यह निश्चित करना कि जो अन्न तथा जल उसे दिया जा रहा है वह उसी के लिये तो प्रस्तुत नही किया गया. (४) आदान-निक्षेपणसमिति— सूक्ष्म जीवो को आघात न पहुँचाने की दृष्टि से नित्य की आवश्यक वस्तुओ को सावधानी से प्रयोग मे लाना (५) परिष्ठापनिका-समिति—अनावश्यक वस्तुओ को सावधानी से विसर्जित करना.

ये पाँच समितिया साधु को अहिंसा के मार्ग पर चलने मे सहायता देती है और यह प्रमाणित करती है कि साधु का जीवन हर प्रकार से एक तटस्थता का जीवन होना चाहिए। साधु-आचार की यह तटस्थता इसलिये आवश्यक है क्योंकि इसी के द्वारा वह हर प्रकार के राग-द्वेष से मुक्त हो सकता है. जब तक साधु ससार के द्वन्द्वो से ऊपर उठ कर निरपेक्ष रूप से अहिसा का पालन नही करता तब तक वह मोक्ष प्राप्त नही कर सकता साधारणतया अहिंसा का अर्थ अन्य प्राणियो की रक्षा भी माना जाता है. यही कारण है कि अधिकतर जैन गृहस्थ अथवा श्रावक पक्षियो को दाना डाल



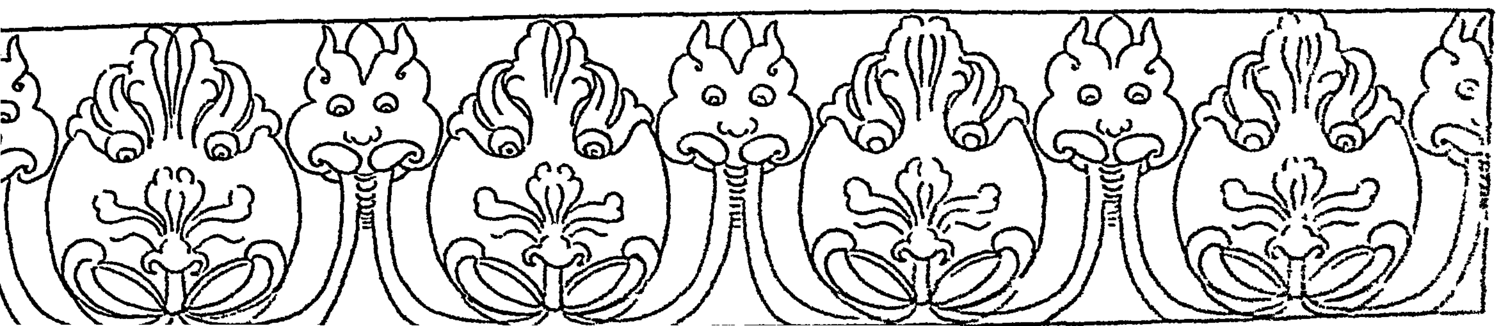

है और बीमार पशु-पक्षियो के लिये चिकित्सालय आदि बनवाते है. इस प्रकार दया को अहिंसा के समकक्ष स्वीकार किया जाता है किन्तु जैनवाद मे श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे "तेरापन्थ" नाम का मत अहिंसा की विचित्र व्याख्या करता है और उसे जीवन की रक्षा से पृथक् मानता है अहिंसा की इस परिभाषा का निष्पक्ष विश्लेषण करना आवश्यक है, क्योकि अहिंसा ही जैन नैतिकता का आदर्श है जहा तक साधु-आचार का सम्बन्ध है निरपेक्ष दृष्टि पर आधारित अहिंसा की व्याख्या विशेष महत्त्व रखती है

निरपेक्ष दृष्टि से जो अहिंसा की व्याख्या की जाती है, वह नि सदेह जनसाधारण की परिधि से बाहर है और उसके अनुसार साधारण हिंसा और अनिवार्य हिंसा मे कोई भेद नही है इस दृष्टि से हिंसा हर अवस्था मे और हर समय पर हिंसा ही है यदि एक बार हम सूक्ष्म जीवो के अस्तित्व को स्वीकार कर लेते है तो कोई कारण नही कि कुछ मानवीय जीवो की रक्षा करने के लिये अनन्त सूक्ष्म जीवो की हिंसा को आध्यात्मिक दृष्टि से अनैतिक न समझा जाय इस बात को तो स्वीकार किया जा सकता है कि इस प्रकार की निरपेक्ष अहिंसा का पालन करना एक बुद्धिमान् मनुष्य के लिये इसलिए असम्भव है कि वह सूक्ष्म जीवो के सहार के बिना अपने आपको जीवित नही रख सकता. किन्तु तत्त्वात्मक आधार पर इस प्रकार की सापेक्ष हिंसा को अहिंसा कहना और ऐसे कर्म को मोक्ष की दृष्टि से सगत स्वीकार करना भी एक भूल है तेरापथियो की यह धारणा है कि मनुष्य विवश होकर सापेक्ष अहिंसा के मार्ग को अपनाता है और उसका ऐसा करना मोक्ष मार्ग के अनुकूल नहीं कहा जा सकता उनकी यह धारणा है कि आध्यात्मिक जीवन मे तथा व्यावहारिक जीवन मे भेद है मनुष्य को यह स्वीकार करना चाहिए कि वह निर्बल है और वह हर समय आध्यात्मिक नैतिकता का पालन नही कर सकता निरपेक्ष अहिंसा, जो कि सूक्ष्म तथा स्थूल हर प्रकार के जीवो की हिंसा को समान रूप से अनैतिक मानती है, साधुजीवन का ही आदर्श बन सकती है अहिंसा की यह धारणा तेरापथ के अनुसार सूक्ष्म जीवो के प्रति तथा मनुष्यो के प्रति दया के भेद को स्वीकार नही करती

यह तो स्वीकार किया जा सकता है कि मनुष्य निरपेक्ष रूप से अहिंसा को नही अपना सकता महात्मा गाधी ने भी निरपेक्ष अहिंसा के विषय मे इस प्रकार के विचार प्रकट किए है उनके शब्दो मे "निरपेक्ष एव पूर्ण अहिंसा का अर्थ सभी जीवो के प्रति हर प्रकार की दुर्भावना से मुक्त रहना है और इसलिए उसके क्षेत्र मे मानवेतर भयानक पशु तथा कीडे भी सम्मिलित हो जाते है." एक और स्थान पर गाधीजी ने कहा है—"अहिंसा एक अत्यन्त भयानक शब्द है मनुष्य बाह्यात्मक हिंसा के बिना जीवित ही नही रह सकता वह खाते, पीते, बैठते, उठते समय अनायास ही किसी-न-किसी प्रकार की हिंसा करता रहता है उसी व्यक्ति को अहिंसा का पुजारी मानना चाहिए, जो इस प्रकार की हिंसा से निवृत्त होने का सतत प्रयास करता है, जिसका मन दया से पूर्ण है और जो सूक्ष्म जीवो की हिंसा की भी इच्छा नही करता ऐसे मनुष्य का नियन्त्रण तथा उसके हृदय की कोमलता सदैव प्रवृद्ध होते चले जायेंगे किन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि कोई भी जीवित प्राणी बाह्यात्मक हिंसा से पूर्णतया मुक्त नही है"

महात्मा गाधी ने तो निरपेक्ष अहिंसा को असम्भव मानकर सापेक्ष अहिंसा को ही सामान्य मनुष्य के लिये आदर्श माना है उन्होने अपने लेखो तथा भाषणो मे अनेक बार यह अभिव्यक्त किया है कि उनकी अहिंसा एक विशेष अहिंसा है वह उन जीवधारियो के प्रति दया को अहिंसा नही मानते जो मनुष्यो का भक्षण कर जाते है किन्तु तेरापन्थी साधु यह मान कर चलते है कि विरक्त सन्यासी के लिए निरपेक्ष अहिंसा का पालन करना नितान्त आवश्यक है इसलिये वे आध्यात्मिक दृष्टि से जीवरक्षा को अहिंसा नही मानते उनका कहना यह है कि जीवरक्षा व्यावहारिक दृष्टि से सराहनीय मानी जा सकती है किन्तु आध्यात्मिक एव मोक्ष की दृष्टि से उसे धर्म स्वीकार नही किया जा सकता है इस मत के वर्तमान आचार्य तुलसी ने दया की परिभाषा करते हुए लिखा है "दया का अर्थ अपनी तथा अन्य प्राणियो की आत्मा की अधर्म से रक्षा करना है. व्यावहारिक जीवन मे जीव की रक्षा को भी दया कहा जाता है"

हम यह कह सकते है कि जब आध्यात्मिक पूर्णता की तुलना मे दया का मूल्याकन किया जाता है तो वह अहिंसा की अपेक्षा न्यून स्तर का मूल्य प्रमाणित होती है अत इस मत के अनुसार जो व्यक्ति दया से प्रेरित होकर दूसरे के प्राणो



की रक्षा करता है, उसकी सराहना की जा सकती है, किन्तु यदि मोक्ष के स्थान पर दया को कर्म का प्रेरक माना जाय तो ऐसा कर्म आध्यात्मिक दृष्टि से अनुचित होगा. दया से प्रेरित होकर प्राण की रक्षा, अहिंसा के अतिरिक्त अन्य साधनो से भी की जा सकती है ऐसी अवस्था में दया को मोक्ष के लिए उपयोगी नही माना जा सकता, क्योकि साधु न तो धन रख सकता है और न किसी अन्य व्यक्ति को धन दे सकता है यदि धन के स्थान पर व्याध को समझा-बुझा कर उसके मन को परिवर्तित कर दिया जाय तो यह कर्म आत्मा की रक्षा से प्रेरित होने के कारण मोक्ष-धर्म समझा जायेगा, यद्यपि इसमे प्राणी की रक्षा स्वत: ही हो जायेगी. इससे यह प्रतीत होता है कि केवल अध्यात्म और और अनुभवातीत दृष्टि से ही आत्मा की रक्षा को जीव की रक्षा की अपेक्षा उत्कृष्ट माना जा सकता है

यहाँ पर स्मरण रखना चाहिये कि जहा तक साधु-आचार का सम्बन्ध है, कुछ सीमा तक प्राण-रक्षा की ओर तटस्थता को धर्म स्वीकार किया जा सकता है. क्योकि साधु मुमुक्षु होता है, उसे शुभ अशुभ से ऊपर उठना पडता है और अहिंसा का पालन करते समय जीवो के प्रति तनिक मात्र राग-द्वेष से भी मुक्त रहना पडता है. शुभ तथा अशुभ कर्मो को जैन दर्शन मे बन्ध माना गया है. जैनदर्शन के विख्यात विद्वान् श्री ए० एन० उपाध्ये ने लिखा है "शुभ तथा अशुभ कर्मो की लोहे तथा सोने की हथकडियो से उपमा दी जा सकती है मोक्ष प्राप्त करने के लिये इन दोनो से मुक्त होना चाहिये. यह आवश्यक है कि आसक्ति को त्याग दिया जाय और व्यक्ति अपनी विशुद्ध आत्मा मे ही स्थित होजाय, अन्यथा-समस्त तपश्चर्या और धार्मिक कर्म निरर्थक है' किन्तु तेरापथी इस तटस्थता पर आवश्यकता से अधिक बल देते है और प्राणरक्षा को केवल व्यावहारिक दया स्वीकार करते है. इस कर्त्तव्य को केवल व्यावहारिक कर्त्तव्य कह कर और उसका उत्तरदायित्व गृहस्थो पर छोड कर तेरापथी आध्यात्मिक तटस्थता पर आवश्यकता से अधिक बल देते है वे इस बात को भूल जाते है कि प्राणरक्षा करते समय भी एक साधु तटस्थ रह सकता है और इस प्रकार प्राणरक्षा भी आत्मा की रक्षा की भाँति आध्यात्मिक दया हो सकती हैं. विशेष कर साधु के लिए यह अनिवार्य नही है कि वह प्राणियो की रक्षा करते समय, उनके प्रति राग अथवा आसक्ति रखे आध्यात्मिक आदर्श पर चलते हुए भी और प्राणो की रक्षा करते हुए घृणा, द्वेप, भय, आदि से निवृत्ति की प्राप्ति की जा सकती है

ऐसा आदर्श हमे भगवद्‌गीता की स्थितप्रज्ञ की धारणा में मिलता है. भगवद्‌गीता के अनुसार स्थितप्रज्ञ वही है, जो दुखो का अनुभव करते समय उद्वेगरहित है, जो सुख का अनुभव करते समय अभिमान एव आत्मप्रशसा से रहित है और जिसके भय क्रोध आदि नष्ट हो गए है एक साधु को भी दुख-सुख का अनुभव करना पडता है, क्योकि ये अनुभव उसके पूर्व जन्म का फल होते है किन्तु उसमे और गृहस्थ मे अन्तर होता है कि गृहस्थ भावावेश से असन्तुलित अवस्था मे होता है, जब कि साधु स्थितप्रज्ञ होने के कारण शात होता है वह न किसी व्यक्ति से प्रसन्न होता है न अप्रसन्न. शुभ अशुभ वस्तुओ के प्रति वह अनासक्त और तटस्थ रहता है भगवद्‌गीता का यह आदर्श जैन साधु के आदर्श के सदृश है कुन्दकुन्दाचार्य के शब्दो मे— 'अज्ञानी के लिये कर्म बन्ध का कारण बनता है, जब कि ज्ञानी आध्यात्मिक होने के कारण उस समय हल्का एव सात्विक होता है, जब कि वह कर्म के फल को भोगता है. वह साधु जो जीवित प्राणियो की रक्षा करते समय आध्यात्मिक दृष्टिकोण से भावशून्य होता है और जिसका दृष्टिकोण विश्वातीत होता है, कदापि कर्म से आसक्त नही हो सकता और न ही उसका कर्म बन्ध को उत्पन्न कर सकता है"

स्थितप्रज्ञ की यह धारणा जैन धारणा के विपरीत नही है. कुन्दकुन्दाचार्य ने ज्ञानी की जो धारणा प्रस्तुत की है, वह स्थितप्रज्ञ की धारणा के सदृश है कुन्दकुन्दाचार्य ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि ज्ञानी को अपनी आत्मा मे ही स्थित रहना चाहिये और यह आत्मस्थिति ही उसे आनन्द देती है. इसी आत्मानुभूति के लिए ही अनासक्त रहना आवश्यक है कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार में इस दृष्टिकोण की पुष्टि करते हुए स्पष्ट रूप से लिखा है—'परमाणु के बराबर तनिकमात्र आसक्ति भी आत्मानुभूति के लिए महान् आपत्ति का कारण है, यद्यपि किसी व्यक्ति ने सभी आगमो को कण्ठस्थ भी क्यो न कर लिया हो व्यक्ति को अपनी आत्मा मे निलीन हो कर आत्मस्थित रहना चाहिए, क्योकि आत्मा ही ज्ञान का भण्डार है. इस प्रकार सन्तुष्ट रहना ही उत्कृष्ट एव परम सुख है. भगवद्‌गीता के दूसरे



अध्याय का ५५ वाँ श्लोक, जो स्थितप्रज्ञ की ऐसी व्याख्या करता है, निम्नलिखित है—

"हे अर्जुन ! जब एक व्यक्ति मन से उत्पन्न अपनी सभी इच्छाओ को त्याग देता है और जब अपनी आत्मा के द्वारा अपनी आत्मा मे स्थित हो कर सन्तुष्ट एव तृप्त हो जाता है, तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है"

यह आदर्श श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को यह समझाने के लिए प्रतिपादित किया गया है कि यदि अर्जुन जैसा योद्धा निष्काम भाव से अपने कर्तव्य का पालन करे, तो वह कर्म के वन्धन मे नही पडता इसी प्रकार जैन मुमुक्षु एव साधु भी प्राणो की रक्षा करता हुआ सन्तुलित रह सकता है और कर्म-पुद्गल से मुक्त हो सकता है साधु तथा योद्धा के कर्तव्यो मे भेद अवश्य हो सकता है, किन्तु साधु आचार का मार्गदर्शन करने वाले जैन सिद्धान्त तथा योद्धा के मार्गदर्शन करने वाले भगवद्गीता के सिद्धान्त का लक्ष्य एक ही है, भगवद्गीता के अनुसार मुमुक्षु एक साधु की भाँति फल की इच्छा से रहित होकर युद्ध-क्षेत्र मे अपने कर्तव्य का पालन करता हुआ भी मोक्ष प्राप्त कर सकता है, किन्तु जैन साधु एव मुमुक्षु एक विरक्त की भाँति प्राणरक्षा के भौतिक फल के प्रति तटस्थ रह कर आध्यात्मिक क्षेत्र मे अपने कर्तव्य का पालन करता है, उसका उद्देश्य भी मोक्ष की प्राप्ति है यदि एक सैनिक द्वारा आध्यात्मिक दृष्टि मे किया गया देश की रक्षा का कर्तव्य मोक्ष प्राप्त करने मे सहायक हो सकता है, तो अहिंसा के मार्ग पर चलने वाले साधु द्वारा तटस्थ दृष्टि से किया गया प्राणरक्षा का कर्तव्य भी अवश्य ही आध्यात्मिक माना जा सकता है तेरापथी अनासक्ति पर आवश्यकता से अधिक वल देते हुये यह भूल जाते है कि आत्मा की रक्षा की भाँति जीवरक्षा भी निष्काम भाव से हो सकती है.

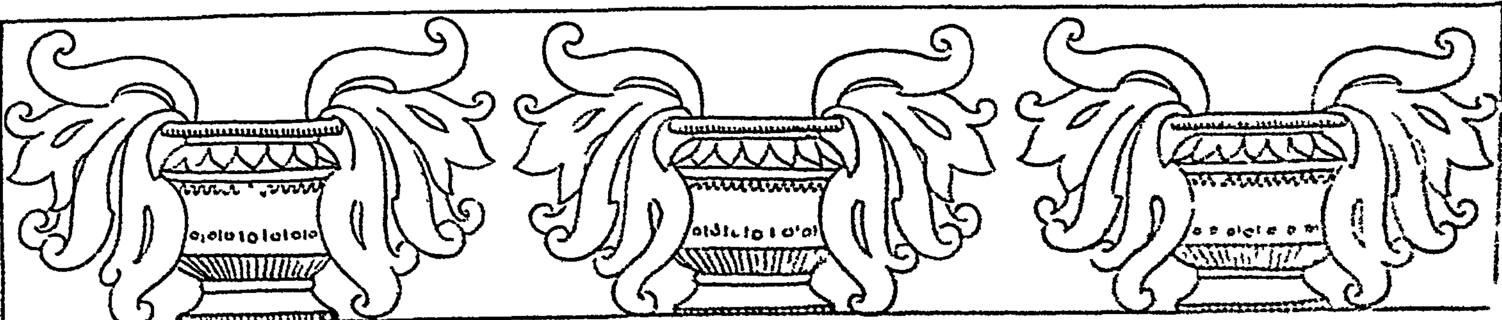
जिस प्रकार मुमुक्षु के लिए प्राणरक्षा पर आवश्यकता से अधिक वल न देना इसलिए आवश्यक है कि वह कही मोक्ष के परम लक्ष्य को विस्मृत न करदे, उसी प्रकार उसके लिये आत्मा की रक्षा पर आवश्यकता से अधिक वल न देना भी इसलिये ही महत्त्वपूर्ण है कि वह कही प्राणरक्षा जैसे शुभ साधन की उपेक्षा न करदे यदि आध्यात्मिक अग की ओर उपेक्षा प्राणरक्षा को स्वलक्ष्य मानने की भ्रान्ति उत्पन्न कर सकती है, तो प्राणरक्षा को मोक्ष का साधन न मानने की प्रवृत्ति भी मुमुक्षु मे प्राणरक्षा के प्रति घृणा उत्पन्न कर सकती है यदि जीवित प्राणियो के प्रति राग, वन्ध का कारण है तो उनके प्रति घृणा भी वन्ध का ही कारण है वास्तव मे ये दोनो दृष्टिकोण एक दूसरे के पूरक है जैनदर्शन मे आत्मा की रक्षा तथा प्राणरक्षा दोनो को प्रतिपादित किया गया है आत्मा की रक्षा नि सन्देह इस सिद्धान्त के तत्त्वात्मक लक्षण पर वल देती है, जब कि प्राणरक्षा तथा आत्मा की रक्षा दोनो ही साधु के लिये महत्त्वपूर्ण है और इन दोनो का समन्वय यह प्रमाणित करता है कि जैनवाद एक नैतिक तत्त्वात्मक (Ethicometaphysical) सिद्धान्त है

श्रावकाचार (Ethics for laymen)

यद्यपि जैनवाद का यह मत है कि मोक्षप्राप्ति के लिये गृहस्थ तथा वानप्रस्थ आश्रमो मे गुजरना अनिवार्य नही है उनमे गुजरने से पूर्व ही सन्यास अपनाना आवश्यक है, तथापि एक गृहस्थ पाच महाव्रतो का आशिक अनुसरण करके त्यागाश्रम के जीवन का अभ्यास कर सकता है सभी जैन सम्प्रदाय यह स्वीकार करते हैं कि गृहस्थियो एव श्रावको के लिये अणुव्रतो का अनुसरण करना भी वास्तव मे त्याग के जीवन का अभ्यास करना है अणुव्रत का अर्थ महाव्रत का सूक्ष्म अश अथवा अणु है अणुव्रत वास्तव मे महाव्रतो पर आधारित सरल नियम है

इसमे कोई सन्देह नही कि अणुव्रतो की जैनमत मे जो व्याख्या की गई है उसे देखते हुए वह हमारी अनेक नैतिक और सामाजिक समस्याओ को सुलझा सकते है ये अणुव्रत न ही केवल एक मनुष्य को आत्मशुद्धि के द्वारा आत्मानुभूति करा सकते है, अपितु सत्य, अहिंसा, न्याय तथा साहस पर आधारित एक दृढ चरित्र का निर्माण कर सकते है

जैनवाद के उपरोक्त अध्ययन से यह सिद्ध होता है कि इस दर्शन का विशेष लक्षण इसकी व्यावहारिकता है. उसका सुनिश्चित नैतिक अनुशासन व्यक्ति को सामान्य स्तर से ऊपर उठाता है और उसे सच्चरित्र द्वारा यथार्थ ज्ञान से अवगत कराता है जैनवाद को सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र के तीन नियमो पर आधारित माना गया है. इन्ही



तीनो नियमो को रत्नत्रयी कहा जाता है. सर्वप्रथम सम्यक्‌दर्शन एव सम्यक् निष्ठा को इसीलिए स्थान दिया गया है कि निष्ठा के विना न तो यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है और न सम्यक् चरित्र का अनुसरण किया जा सकता है गीता के अनुसार भी यह कहा गया है 'श्रद्धावान् लभते ज्ञान, सशयात्मा विनश्यति' अर्थात् निष्ठा वाला व्यक्ति ही यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करता है और सन्देह करने वाला व्यक्ति नाश को प्राप्त होता है सम्यक् ज्ञान का आदर्श जैनदर्शन मे प्रतिपादित उन नवतत्त्वो का ज्ञान है, जिनकी व्याख्या हमने ऊपर दी है सम्यक्-चारित्र का अर्थ उन सत्यो को जीवन मे अवतरित करना है, जिनको कि यथार्थ स्वीकार किया गया है क्योकि जैनवाद बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने का साधन सवर मानता है, इसलिए इन्ही महाव्रतो का अनुसरण करना अथवा उन पर आधारित अणुव्रतो को जीवन मे अपनाना सम्यक्‌चरित्र माना जायेगा

हमने ऊपर दिये गए विवेचन में यह देखा कि जैनवाद का आचारशास्त्र अहिंसा को परम धर्म मान कर चलता है और अहिंसा एक निषेधात्मक धारणा प्रतीत होती है किन्तु जब इस महान् आदर्श को जीवन मे अपनाया जाता है तो यह निषेधात्मक आदर्श से कही अधिक प्रमाणित होता है. इस आदर्श को निरपेक्ष रूप से जीवन मे अपनाना कठिन ही नही, अपितु व्यावहारिक दृष्टि से असभव प्रतीत होता है किन्तु अन्तरग में पूर्ण अहिंसावृत्ति जागृत हो जाने पर अहिंसा के आचरण में भी पूर्णता आजाती है अत अहिंसा का मार्ग सरल मार्ग नही, अपितु एक तलवार की धार की भाँति कठिन मार्ग है महात्मा गाधी ने भी अहिंसा की व्याख्या करते हुये अनेक बार कहा है "यह मार्ग निर्बल व भीरु व्यक्ति के लिये नही, अपितु वीर और साहसी व्यक्ति के लिये निर्धारित किया गया है" जैनवाद एक ऐसा सिद्धात है जिसने युगो से अहिसा के मार्ग को अपनाया है और जो आज तक भी इस उच्च आदर्श को जीवन मे अवतरित कर रहा है. अहिंसा का अर्थ न ही केवल किसी व्यक्ति को आघात न पहुँचाना है, अपितु दूसरो की क्रियात्मक सेवा करना भी है. यद्यपि जैनवाद व्यक्तिगत रूप से अहिंसात्मक आदर्शो को जीवन मे उतारने पर बल देता है, तथापि यह स्पष्ट है कि उसका उद्देश्य मानवमात्र का कल्याण और सामाजिक प्रगति है. आज विश्व आर्थिक दृष्टि से पूजीवाद और साम्यवाद की दलबन्दी में ग्रस्त है पूजीवाद व्यक्ति को आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति एकत्रित करने की आज्ञा देकर न ही केवल लोभ के अवगुण को प्रोत्साहन देता है, परन्तु आर्थिक विषमताएँ उत्पन्न करने के कारण असख्य मनुष्यो को भोजन से भी वञ्चित करता है. पूजीवाद नि सन्देह परोक्ष रूप से हिंसा और शोषण को प्रोत्साहन देता है. साम्यवादी हिंसा का प्रयोग करके बलपूर्वक सम्पत्ति का वितरण करते है. और व्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्तियो का दमन करते है इस पूजीवाद और साम्यवाद के पारस्परिक संघर्ष का एक मात्र विकल्प आध्यात्मिक साम्यवाद है, जो नि.सन्देह जैनवाद द्वारा प्रतिपादित अहिंसात्मक मार्ग की स्वाभाविक उत्पत्ति है विनोबा भावे ने भारत मे भूदान के यज्ञ मे जो श्वेत क्रान्ति उत्पन्न की है वह वास्तव मे अहिंसा और अपरिग्रह के नियमो पर आधारित है

यहाँ पर यह कहना अनुचित न होगा कि महात्मा गाधी जी ने स्वतन्त्रता-सग्राम मे जिस अहिंसात्मक मार्ग को अपनाया और जिसका अनुसरण करके उन्होने अपने तथा अपने साथियो के उदात्त चरित्र का निर्माण किया, उसकी प्रेरणा उन्हे जैनवाद से अवश्य प्राप्त हुई है अहिंसा को राजनीति मे अपना कर और सत्याग्रह की प्रथा को सर्वप्रिय बनाकर महात्मा गाधी ने यह प्रमाणित कर दिया कि अहिंसा अणुव्रत के रूप मे करोडो व्यक्तियो द्वारा एक साथ व्यावहारिक जीवन मे अवतरित की जा सकती है. इस अहिंसात्मक मार्ग को अपनाना निःसन्देह स्वतन्त्रता सग्राम में अद्वितीय साहस और वीरता का काम था, क्योकि इस सघर्प मे सत्याग्रही को शस्त्रो का सामना करना पडता था—चुपचाप दुख सहन करना पडता था. किन्तु महात्मा गाधी की सफलता ने यह प्रमाणित कर दिया है कि नैतिक शक्ति भौतिक शक्ति से अधिक बलवती है और सत्य पर आधारित अहिंसा की सदैव विजयी होती है.





श्रीरिषभदास रांका

जैन साधना

हर प्राणी सुख की अभिलापा रखता है और सुख प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील भी रहता है किन्तु इच्छा और प्रयत्नो के बावजूद भी अधिकाश लोगो को मुख और सतोप नही प्राप्त होता इसलिए यह मानना पडता है कि सुखप्राप्ति के मार्ग मे कुछ न कुछ भूल अवश्य हो रही है मानव को सच्चे सुख का मार्ग अनुभवी साधक व सिद्ध पुरुषो ने बताया है वे कहते है कि मनुष्य के अधिकाश दु ख उसके तथा दूसरो के अज्ञान, तृष्णा, मूर्खता या असमता के कारण ही निर्माण होते है हमारे पास सुखप्राप्ति के सभी सावन मौजूद हैं आत्मा मे सुखप्राप्ति की शक्ति है इसलिये आत्मा को सत् चित् व आनद रूप माना है उसमे श्रेय-साधन की अनत शक्ति भरी हुई है. वह चैतन्य-स्वरूप है पुरुपार्थ से वह अपने श्रेय-साधन की शक्ति मे वृद्धि कर सकता है और उसे आनद की अवस्था प्राप्त हो सकती है उसने जो चित्-चैतन्य व शरीर मे शक्ति पाई है उसका योग्य उपयोग करके उन्नत व सुखी हो सकता है पर वह शक्ति निरर्थक वर्वाद हो रही है उसे साधना द्वारा योग्य काम मे लगाना चाहिए

भारतीय संस्कृति की साधना

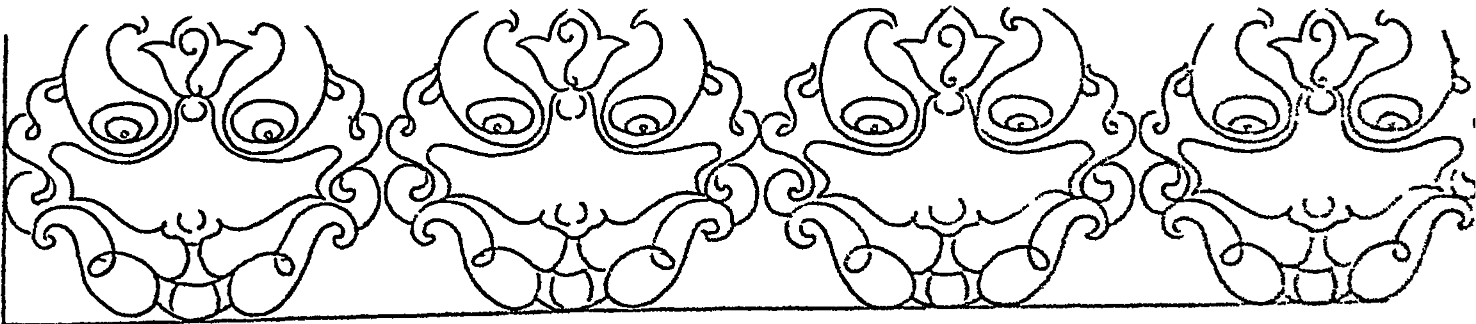
भारतीय सस्कृति की तीन धाराये है- वैदिक, वौद्ध और जैन हम देखते है कि वैदिक सस्कृति की साधना मे पतञ्जलि ने योग के द्वारा दु खमुक्ति व सुखप्राप्ति का रास्ता वताया वौद्ध साधना मे भी समाधि-मार्ग का वर्णन मिलता है जिससे निर्वाण-प्राप्ति हो सकती है और जैन साधना मे भी कर्मवधन और उसके परिणामो से मुक्ति पाने का रास्ता वताया है

जैनसाधना

जैनदर्शन ने दु ख का कारण कर्म माना है आत्मा पर कर्म का आवरण आ जाने से मनुष्य सच्चे सुख का रास्ता भूल जाता है और शरीर के प्रति उसका ममत्व हो जाता है वह शारीरिक सुखो को ही महत्त्व देकर उन्हे पाने के लिए गलत रास्ता अपनाता है दूसरो को दु ख देने पर कोई सुखी नही वनता पर वह अपने सुखो के लिये सव जीव समान है, इस तथ्य को भूलकर दूसरो को कष्ट देने लगता है जैनदर्शन कहता है कि दूसरो को दु खी वनाकर सुखप्राप्ति का प्रयत्न अज्ञान है इस अज्ञान के कारण दु खवृद्धि के साथ-साथ जन्म-मरण के चक्कर भी वढते है इसलिए आत्मा पर से कर्म का आवरण दूर करना चाहिये तभी आत्मा की सुप्त शक्तिया जाग्रत होती है, जिससे मनुष्य सच्चे सुखका स्वरूप जानकर शारीरिक सुख-दु खो मे विवेक करना सीखता है अज्ञान, तृष्णा या कपायो द्वारा निर्माण होने वाले दु ख से वह मुक्ति पा जाता है और दूसरो के द्वारा दिये हुए दु खो को वह शातिपूर्वक सहन करने की शक्ति पा लेता है वह दु खो मे विह्वल या क्षुब्ध नही वनता

मानवता का पूर्ण विकास

कर्मों के आवरण हट जाने पर भी शेप आयु तो उसे भोगनी पडती है, नाम से भी वह पुकारा जाता है और जब तक



शरीर है तब तक वेदना भी होती है उसके लिये आयु, नाम, गोत्र तथा वेदनीय कर्मो के आवरण हटना आवश्यक होता है. उनके हटने पर जिसे शुद्ध ज्ञान हो गया है उसे फिर से बध नही होता, क्योकि साधक सच्चा स्व-रूप जान जाता है. शुद्ध निर्मल तथा पूर्ण सद्‌गुण युक्त बन जाता है. यही मानवता का पूर्ण विकास है, मनुष्य जीवन की अन्तिम सिद्धि और सार्थकता है.

सिद्धों के प्रकार

इस प्रकार मानवता का विकास करने वाले दो प्रकार के होते है. एक अपनी ही मानवता का विकास करते हुए उसकी सिद्धि करने वाले सिद्ध और दूसरे अपनी मानवता की सिद्धि के साथ-साथ दूसरो को मानवता की वृद्धि का मार्गदर्शन करनेवाले, जिन्हे जैन तत्त्वज्ञान तीर्थंकर सिद्ध कहता है. वे तीर्थ की स्थापना कर दूसरो के विकास का मार्गदर्शन कर मानवता के विकास का मार्ग प्रशस्त करते है, दूसरो के दु ख से द्रवित होकर उन्हे कल्याण-पथ का प्रदर्शन करते है

कर्मो के आवरण

आत्मा पर आवरण डालने वाले कर्मो के विषय में ज्ञानियो ने इस प्रकार विवरण दिया है दृष्टि और ज्ञान ढकने वाले कर्मो को मोहनीय और ज्ञानावरण कर्म कहा है उनके कारण मनुष्य अपने सही रूप को भूलकर अज्ञानी बनता है सत्य को पहचान नही सकता. उसे क्या करना चाहिए, इसका सही ज्ञान नही होता यदि ज्ञान हो भी जाय तो वैसा आचरण हो नही पाता मोहनीय कर्म बाधक बनते है इन कर्मों के आवरणो को हटाना और नये कर्म के बधन न हो इसकी सावधानी ही साधना है. वह साधना इस प्रकार बताई है—

मन, वचन और शरीर द्वारा होने वाली बुराई को रोकना साधक के लिये प्राथमिक आवश्यकता है. मन कभी खाली नही रहता वह किसी न किसी विपय मे लगा ही रहता है दिन भर मन मे वृत्तियो का प्रभाव चलता ही रहता है. उसमे से अनिष्ट के विचार को वह अपने मन मे स्थान नही देता. यहाँ तक कि जिसने उसका अहित किया हो ऐसे शत्रु को भी वह अपना उपकारकर्त्ता ही मानता है, क्योकि उसने अहित करके सहनशीलता को बढाया विचारो पर सयम रखकर बुरे विचार मन मे न आने से वाचासयम आता है साधक के मुह से असत्य, दूसरे का अकल्याण या अनिष्ट करनेवाली व कठोर भाषा नही निकलती. वह सत्य, परिमित, हितकर व मीठी भाषा ही बोलने का प्रयत्न करता है.

जब मन पर काबू हो जाता है, वाणी मे सयम आ जाता है तो शरीर से भी कोई ऐसा कर्म नही होता जिससे दूसरे को कष्ट पहुँचे या दूसरे का अकल्याण हो बल्कि उसके द्वारा ऐसे ही कार्य होते है जिनमे दूसरो की भलाई हो. इस प्रकार समप्रवृत्ति करते हुये भी उसकी उसमे किसी प्रकार की आसक्ति नही होती वह सहज भाव से अपने आत्मगुणो के विकास के लिये सत्प्रवृत्ति करता रहता है.

व्रत

जब मनुष्य आत्मविकास का पथ लेकर अपने आपको साधनापथ का पंथिक बनाता है तो अहिंसा, ब्रह्मचर्य अममत्वादि गुणो की आराधना करता है दूसरो के प्रति आत्मभाव होना अहिंसा है. इस साधना का अभ्यास दृढ करने के लिये प्रथम व्रत लेना आवश्यक हो जाता है. वह दूसरो के प्रति समभाव रखकर जीवन-व्यवहार करता है. किसी को दु.ख या कष्ट नही पहुँचाता वैसे ही सत्य का उपासक बनकर भाषा-सयम का अभ्यास बढाता है समता व सत्य के उपासक के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह दूसरे का शोपण न करे, अन्याय से दूसरे की वस्तु का अपहार न करे पर यह साधना तभी सभव है जब वह अपरिग्रह या सादगी को अपनाता है, उसकी जरूरतें सीमित होती है तृष्णापाश काटे विना मनुष्य उचित परिग्रह की सीमा की ओर जा नही सकता और परिग्रह सीमित हुये विना आत्म-विकास की ओर शक्ति नही लगाई जा सकती. इसीलिये उचित परिग्रह की सीमा साधक को बाध ही लेनी पडती है जैसे परिग्रह को सीमित बनाना साधक के लिये आवश्यक है, वैसे ही ब्रह्मचर्य व्रत को भी साधना में महत्त्वपूर्ण स्थान है उसके विना

वह आत्मशक्तियों का पूर्ण विकास नहीं कर पाता जैसे जैन साधना मे, अहिंसा सत्य, अपरिग्रह व ब्रह्मचर्य को स्थान है वैसे ही वैदिक विचारपरम्परा की साधना मे भी यम नियम को स्थान दिया है और बौद्ध साधना में भी उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है

तप

योगदर्शन मे यम नियम के बाद शरीर को साधना के योग्य बनाने के लिये आसन प्राणायाम बताया है तो जैन साधना मे तप के द्वारा शरीर को कसने का विधान है आज तप का अर्थ शरीर-कष्ट बन गया है पर उसका उपयोग शरीर और मन को साधना के योग्य बनाने मे होना चाहिए. जैनसाधना मे तप के दो प्रकार हैं—बाह्य और आभ्यन्तर बाह्य तप के छह भेद हैं—अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश

साधक अपनी सारी शक्ति को आत्मविकास मे लगावे, उसका वासना मे क्षय न करे, इस दृष्टि से वासनाओं को क्षीण बनाने के प्रयत्नों को तप कहा जा सकता है यह प्रयत्न मन और शरीर दोनों की ओर से होने चाहिए, तभी सफलता प्राप्त हो सकती है तप मे मनका साथ न मिला तो शरीर से किया हुआ तप देह-दंड या कायक्लेश मात्र ही बन सकता है शरीर से मन की शक्ति विशेष होने से शारीरिक या बाह्य तपश्चर्या से मानसिक-आभ्यंतर तपश्चर्या को अधिक महत्त्व दिया गया है फिर भी साधक को अभ्यास मे बाह्य तप भी उपयोगी होता है, उसकी आवश्यकता होती है उस पर भी विचार करना आवश्यक है

अनशन

शरीर व आहार का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है आहार के बिना शरीर चल नहीं सकता लेकिन यह आहार कितना और कैसा लेना चाहिये, इस जानकारी के अभाव मे मनुष्य अधिकतर जरूरत से ज्यादा ही खाता है इसलिये उसे उपवास करना भी आवश्यक हो जाता है उपवास मे अन्नपाचन मे लगने वाली शक्ति बचाकर आत्मचिंतन मे लगाई जा सकती है इसीलिये उपवास को आत्मा के निकट वास करना माना गया है भोजन को त्याग कर उसके पचाने के लिये खर्च होने वाली शक्ति का उपयोग आत्मचिंतन मे किया जाय तो वह अनशन साधना मे लाभदायक होता है पर यदि प्रतिष्ठा या दंभ का कारण बन जाय तो निश्चित ही वह बाधक बनता है वह कर्ममल को दूर करने के बदले उसे बढ़ाता है

अवमोदर्य

साधक शरीर को जितना आवश्यक हो उतना ही आहार देता है कम से कम आहार के सहारे अपनी जीवनचर्या चलाता है उससे अधिक आहार से पैदा होनेवाला प्रमाद नहीं आता और साधना के प्रति जाग्रति बढ़ती है. अप्रमत्तता साधना के विकास मे आवश्यक होने से वह भूख से कम खाता है

वृत्तिपरिसंख्यान

अवमोदर्य की साधना के लिये वस्तुओं की सीमा आवश्यक है मनुष्य स्वादवश जो जरूरत से अधिक खा लेता है उसके लिये खाने की वस्तुओं का संक्षेप करना आवश्यक हो जाता है और साधक इस आदत को बढ़ाने के लिये व्रत का सहारा लेता है. खाने की वस्तुएं असंख्य हैं पर साधक उन्हें सीमित करता है

रसपरित्याग

मिताहार के लिये रसपरित्याग भी आवश्यक हो जाता है इसीलिये तपश्चर्या मे रस-त्याग का स्थान महत्त्वपूर्ण है हमारे विकारों पर नियंत्रण आवे, इंद्रियाँ प्रबल न हों, इसलिये रसपरित्याग साधना मे सहायक होता है इसलिये साधक यह मानकर कि खाने के लिये जीना नहीं है पर जीवन के लिये भोजन है, ऐसा आहार करे जिससे मन स्वस्थ रहे



विविक्तशय्यासन

साधना में स्थान का भी महत्त्व है. वह ऐसे स्थान में रहे जहाँ का वातावरण और परिस्थिति साधना के लिये अनुकूल हो इसलिये उसका एकान्त, निरुपाधिक स्थान में रहना आवश्यक है इसलिये तप में विविक्त शय्यासन का स्थान है.

कायक्लेश

सर्दी-गर्मी के उपद्रव साधना मे बाधक न हो और सदा अप्रमत्त अवस्था बनी रहे, इस दृष्टि से शरीर को सहनशील बनाना आवश्यक है. नही तो वैसे प्रसग आने पर साधक विचलित हो जाता है. सदा स्फूर्ति रहे और प्रतिकूल परिस्थिति का मन पर असर न हो, इसलिये आसनादि द्वारा शरीर को कष्टसहन के योग्य बनाने की आवश्यकता है. इस तप का यही उद्देश्य है.

आभ्यन्तर तप :

प्रायश्चित्त

शारीरिक बाह्य तपो की अपेक्षा साधनामार्ग मे मानसिक तपों का अधिक महत्त्व है. जीवनशुद्धि तथा आत्मविकास की दृष्टि से सभी धर्मो मे मानसिक अभ्यास पर जोर दिया गया है. साधक जब साधना-क्षेत्र में आगे बढता है तब आत्म-आलोचना कर अपनी प्रत्येक शारीरिक क्रिया और मानसिक वृत्ति का शोधन करता है जब उसे अपने द्वारा हुई भूल मालूम देती है तो प्रायश्चित्त कर फिरसे वह भूल न हो इसका सकल्प करता है. वैसे तो प्रायश्चित्त का श्रमण-परम्परा मे महत्त्व था पर भ० महावीर ने उसे दैनिक कार्य-क्रम में जोड दिया. उनके पहले २२ तीर्थंकरो की परम्परा मे भूल हो तब प्रायश्चित्त लेने का विधान था, पर भगवान् महावीर ने मनुष्य स्वभाव की दुर्बलता को जानकर इसमे यह परिवर्तन किया कि मनुष्य सावधान होकर अपने दैनिक कार्यो का निरीक्षण करे. जान या अनजान मे होने वाली भूलो की आलोचना कर वैसी भूले फिरसे न हो, इसके लिये सकल्प करे आत्मविकास के लिये व्रतो मे कही दोप आ जाय, व्रतभग हो जाय, सकल्पो मे ढिलाई आवे तो उसका स्मरण कर आलोचना और प्रायश्चित्त साधक को आगे बढाता है. वह अपने मन, वचन और शरीर से होनेवाले दोपो के लिए जो कुछ करना आवश्यक हो वह करता है

विनय

साधना मे विनय का अत्यन्त महत्त्व होने से आभ्यन्तर तप मे अनुभवियो ने उसे भी स्थान दिया है. अहकार मनुष्य को नीचे गिराता है और विनय साधना मे सहायक होता है अहकार ज्ञानियो, अनुभवियो तथा गुरु से ज्ञान व अनुभव प्राप्त करने मे बाधक बनता है जब साधक अपने आपको पडित या ज्ञानी मान लेता है, मुझे सब कुछ मालूम है, ऐसा समझता है, तब उसका विकास रुक जाता है. साधक को हमेशा जिज्ञासु और विद्यार्थी रहना चाहिये, गुणियो के प्रति आदर भाव रखना चाहिये. जाति, कुल और उम्र से कोई श्रेष्ठ नही बनता पर गुणो से ही श्रेष्ठ और पूज्य बनता है. इसलिये ज्ञान, दर्शन और चारित्र के विनय भी बताये गये है सतत ज्ञानप्राप्ति का अभ्यास और स्मरण को ज्ञानविनय कहा है, वैसे ही ज्ञानियो के प्रति आदर भी ज्ञान का विनय है

जब तक सिद्धान्त या तत्त्व के प्रति दृढ निष्ठा नही होती तब तक साधना-पथ मे आगे नही बढा जा जकता. इसलिये यथार्थ तत्त्व को जानना और उसके प्रति दृढ निष्ठा होना आवश्यक है. यदि शका हो तो ज्ञानियों और गुरु से शका-निवारण कर लेना चाहिये. यह दर्शन एव ज्ञान विनय है ज्ञान से तत्त्व का ठीक निर्णय हो जाय तब तदनुकूल आचरण या अभ्यास करना चारित्रविनय है

साधक सदा नम्र होता है, उसे अपनी अपूर्णता का ध्यान होता है. वह अपने से वृद्ध तथा अनुभवियो के प्रति सदा विनयी होता है, जिसे जैन साधना में उपचार-विनय कहा गया है. विनय को मोक्ष का मूल माना गया है

सेवा

साधक के लिये सेवावृत्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है. क्योंकि चित्तशुद्धि के साथ-साथ गुणो की उपासना ही उसकी आत्म-शक्ति को बढाती है विवेकी साधक अपनी आवश्यकताए घटाकर दूसरो स कम से कम सेवा लेता है और अधिक से अधिक दूसरो के लिये उपयोगी बनता है जीवन मे एक दूसरे की सेवा और सहयोग आवश्यक होता है पर साधक सदा यह ध्यान रखता है कि वह किसी पर बोझरूप न बने और दूसरो से जो सेवा ले उसे चुकाने का प्रयास करे. जैन-साहित्य मे सेवा के लिये 'वैयावृत्य' शब्द का प्रयोग किया गया है उसके दस प्रकार बताये गये है, जिसका अर्थ यही है कि जहाँ जैसी सेवा की जरूरत हो वह की जाय

स्वाध्याय

साधना मे स्वाध्याय का भी अत्यन्त महत्त्व है अपने ध्येय की जाग्रति और उस पथ मे आगे बढने के लिये अनुभवियों के अनुभवयुक्त वचन या ग्रथो का स्वाध्याय अत्यन्त उपयोगी होता है यदि साधनामार्ग मे कही कुछ शका हो तो अपने से अधिक ज्ञानी और जानकार से शकानिवारण कर लेना चाहिये पढे हुये अनुभवो तथा पाठो का चिंतन तथा शुद्धतापूर्वक उच्चारण और आये हुये अनुभवो का या धर्म का उपदेश आदि बाते ज्ञानप्राप्ति मे नि शक बनाने, उदात्त तथा परिपक्व बनाने मे सहायक होती है इसलिये स्वाध्याय का अत्यन्त महत्त्व है स्वाध्याय एक प्रकार की प्राचीन-काल मे हुये महापुरुषो की सत्सगति है स्वाध्याय करते समय यदि यह दृष्टि रहे तो हम बहुत लाभान्वित हो सकते हैं

व्युत्सर्ग

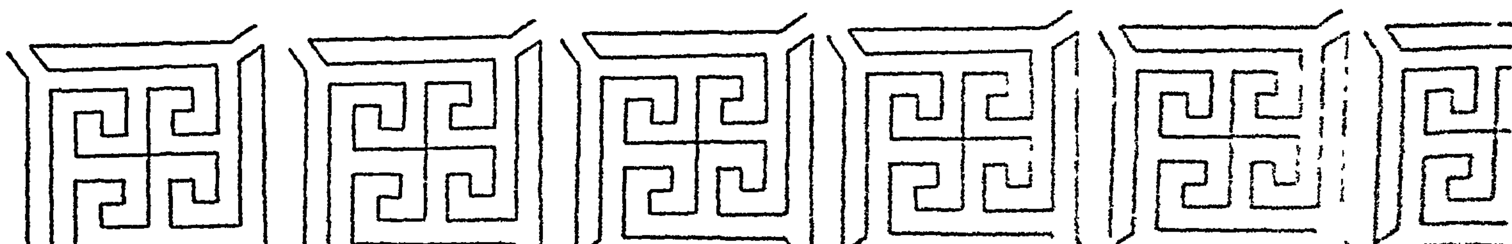
ममता, अहकार, रागद्वेष तथा क्रोधादि कषायो का त्याग व्युत्सर्ग है व्युत्सर्ग के दो प्रकार बताये गये हैं—बाह्य और आभ्यन्तर घर, खेत, धन, सपत्ति, परिवार आदि की आसक्ति का त्याग बाह्य व्युत्सर्ग है और राग, द्वेष, क्रोध, अहकार आदि आन्तरिक दुर्गुणो का त्याग आभ्यन्तर व्युत्सर्ग है चित्त शुद्धि के लिये इन सब बातो का त्याग आवश्यक होता है साधक प्रात काल तथा सध्या समय मे, एकान्त में, निरुपाधिक होकर ममतात्याग का चिंतन करे और उसे त्यागने का प्रयास करता रहे तो साधना-पथ मे आगे बढता है

इस प्रकार साधक अपनी तैयारी कर लेता है तब वह ध्यान की ओर आगे बढता है पतजलि की साधना मे यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, यह साधनाक्रम बताया है प्रकारान्तर से वैसा ही जैन साधना मे भी है आसन शरीर को अप्रमत्त बनाते है और प्राणायाम चित्त को स्थिर बनाने मे उपयोगी होता है प्रत्याहार फैली हुई वृत्तियो को एकाग्र बनाता है तो धारणा सकल्प को धारण करने की शक्ति देती है इतनी तैयारी हो जाने पर साधक ध्यान की साधना कर चित्त [को स्थिर दृढ एकाग्र और निर्मल बनाता है जिससे समाधि प्राप्त होती है.

ध्यान

जैन साधना मे पूर्व बताई पार्श्वभूमि तैयार होने पर ध्यान की साधना करने को कहा है कर्मक्षय के लिए ध्यान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधना है

ध्यान चित्त को एकाग्र बनाता है चित्त का स्वभाव है—वह खाली नही रहता. किसी न किसी विषय का चिंतन करता ही रहता है ध्यान के दो प्रकार जैन साधना मे बताये गये है—एक अशुभ और दूसरा शुभ चित्त एकाग्र और स्थिर करने से उसकी शक्ति मे वृद्धि होती है चित्त की बढी हुई शक्ति से मनुष्य इच्छित कार्य कर सकता है यदि इस शक्ति का उपयोग वह अशुभ के लिए करना चाहे तो वैसा भी कर सकता है और उसका उपयोग शुभ के लिए भी कर सकता है इसलिए जैन साधना ने ध्यान के प्रकार बताकर इस विषय का स्पष्टीकरण किया है आर्त्त और रौद्रध्यान ये अशुभ ध्यान है. धर्म तथा शुक्ल ध्यान ये शुभध्यान माने गये हैं



आर्त्तध्यान

ससार में इष्टवियोग, अनिष्टयोग, बीमारी तथा वस्तुओ की प्राप्ति की अभिलाषा स्वाभाविक रूप से पाई जाती है उसके लिए लोग चिंता करते हुए भी पाये जाते है. अप्रिय की प्राप्ति सुखकर नही होती, दुखदायक होती है मनुष्य अपने आप को उसके चिन्तन मे लगाता है. अनिष्टयोग, इष्टवियोग, बीमारी, वेदना आदि को सर्वथा टालना असंभव है. ऐसे अवसरो पर विवेक और धीरज रखकर उन्हे सहन करना चाहिए. वैसा न कर यदि वह व्याकुल बनकर उस विषय की चिंता करता है तो अपनी शक्ति व्यर्थ खोता है उस शक्ति को आत्मविकास में लगाए यही इष्ट है और नये विषयो की प्राप्ति मे चित्त को लगाना यह विवेक से टाला जा सकता है क्योकि तृष्णा के पीछे चित्त को लगाना हानिकर है.

ध्यान किसी भी विषय का किया जा सकता है चित्त को एकाग्र करने से शक्ति प्राप्त होती है शारीरिक सुखप्राप्ति के लिए तपश्चर्या कर उन्हे प्राप्त करने के उदाहरण पुराणो मे मिलते है. पर यह ध्यान मनुष्य को नीचे गिराता है और दुःखो का कारण बनता है, इसलिए आर्त्तध्यान को अनिष्ट माना गया है.

रौद्रध्यान

हिंसा, असत्य, दूसरो का शोषण तथा परिग्रह के सतत चिंतन को रौद्रध्यान कहा गया है. जैसे आर्त्तध्यान का मूल लालसा या तृष्णा है वैसे ही रौद्रध्यान का आधार क्रूरता-हिंसा है अपने स्वार्थ के लिए दूसरो का अनिष्ट चिन्तन, दूसरो को ठगना, असत्य, बेईमानी आदि तरीके सोचने मे चित्त को एकाग्र बनाना, दूसरे के धन के अपहार का मार्ग सोचना, परिग्रह की रक्षा का चिंतन करना आदि रौद्रध्यान मे आते है रौद्रध्यान साधक की दृष्टि से अनिष्ट है.

जो ध्यान मनुष्य को ऊँचा उठाते है वे धर्म और शुक्लध्यान है ऐसे ध्यान के लिये वज्रऋषभनाराचसहनन जैसा बलिष्ठ शरीर आवश्यक होता है निर्बल रोगी तथा पगु शरीर में वह सहनशक्ति नही होती इसलिए उत्कृष्ट ध्यान के लिये स्वस्थ शरीर का होना आवश्यक है.

धर्मध्यान

जो ध्यान समता को बढाने और दृढ करने के लिये किया जाता है वह धर्मध्यान है. इसके लिये जिन्होंने रागद्वेषादि शत्रुओ पर विजय पाई है, ऐसे अनुभवी पुरुषो के वचनो का, चित्र का तथा उनकी मूर्ति का आलवन लिया जा सकता है

जब मनुष्य आत्मनिरीक्षण कर अपने दोष या कमजोरियो को समझकर उन्हे दूर करने की कोशिश करता है, राग द्वेषादि कषायो को अपने विकास-पथ में बाधक समझकर उन्हे दूर कर सत्यमार्ग पर चलने का चिंतन करता है, उसपर अपने चित्त को केन्द्रित कर अभ्यास बढाता है तब उस ध्यान को धर्मध्यान कहा जा सकता है.

शुभ-अशुभ कर्मो के फल का चिंतन शुद्धि की ओर अग्रसर करने मे सहायक होता है. ससार का स्वरूप, उसकी विशालता, शाश्वतता, स्थिति या विनाश-शीलता का चिंतन, विविध द्रव्यो की परिवर्तनशीलता जान लेने पर अनासक्ति बढती है. फिर उसमे व्याकुलता नही आती

इस तरह के ध्यान से भावनाओ की शुद्धि होती है. अनासक्ति और धर्म के चिंतन से आयुकर्म के बन्धन ढीले पड जाते हैं और वह शुक्लध्यान में प्रवेश कर पूर्ण मानवता को प्राप्त होता है. विकासक्रम मे धर्मध्यान के वाद शुक्लध्यान आता है

शुक्लध्यान

साधक जड़-चेतन के भेदो को समझकर चिंतन करता है और गहराई मे जाकर परमाणु तथा चेतन द्रव्य के सबधो का भिन्न-भिन्न दृष्टि से विचार करता है तो उसके सदाचार मे दृढता आने से चारित्रमोहनीय कर्मो का नाश होता है.



जड और चेतन द्रव्य पृथक् है, फिर भी सयोग से मिल गये है इनमे से किसी एक तत्त्व का आलंबन लेकर उस पर चित्त को निश्चल या एकाग्र किया जा सकता है इससे ध्यान मे एकाग्रता आती है और मन की सुप्त शक्तियो का विकास होता है अनेक विषयो मे भटकनेवाले मन को एकाग्र करने के लिए ऐसी उपमा दी जाती है कि जैसे चूल्हे मे जलने वाली एक एक लकडी के निकाल लेने पर अपने आप आग बुझ जाती है वैसे ही मन को चचल बनाने वाले एक एक विषय को दूर कर देने से चचलता दूर होकर वह निष्प्रकप बन जाता है आत्मा पर जो अज्ञान के आवरण थे वे दूर होकर ज्ञान का प्रकाश फैल जाता है

ऐसी अवस्था प्राप्त होने पर श्वासोच्छ्वास आदि शारीरिक क्रियाए चलती रहती है पर वे सहज भाव मे प्राकृतिक धर्म के रूप मे चलती रहती है उनसे बन्धन नही होता साधक शैल की तरह अकप बन जाता है जिसे जैन साधना मे शैलेशी अवस्था कहा है. उस समय ऐसी अपूर्व अवस्था उत्पन्न होती है जिसमे अन्दर और बाहर की समस्त सूक्ष्म और स्थूल क्रियाए रुक जाती है मन का व्यापार भी निरुद्ध हो जाता है आत्मा पूर्ण रूप से परमात्मस्थ हो जाता है यही साधना का अन्त होता है और साधक सिद्ध बन जाता है





डा० मोहनलाल मेहता
एम० ए०, पी-एच० डी०

जैनाचार की भूमिका

आचार और विचार परस्पर सम्बद्ध ही नही एक-दूसरे के पूरक भी है ससार मे जितनी भी ज्ञान-शाखाएँ है, किसी न किसी रूप मे आचार अथवा विचार अथवा दोनो से सम्बद्ध है. व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए ऐसी ज्ञान-शाखाएँ अनिवार्य है जो विचार का विकास करने के साथ ही साथ आचार को भी गति प्रदान करे दूसरे शब्दो मे जिन विद्याओ मे आचार व विचार, दोनो के बीज मौजूद हो वे ही व्यक्तित्व का वास्तविक विकास कर सकती है. जब तक आचार को विचारो का सहयोग प्राप्त न हो अथवा विचार आचार रूप मे परिणत न हो तब तक जीवन का यथार्थ विकास नही हो सकता इसी दृष्टि से आचार और विचार को परस्पर सम्बद्ध एव पूरक कहा जाता है.

आचार और विचार

विचारो अथवा आदर्शो का व्यावहारिक रूप आचार है. आचार की आधारशिला नैतिकता है जो आचार नैतिकता पर प्रतिष्ठित नही है वह आदर्श आचार नही कहा जा सकता ऐसा आचार त्याज्य है समाज मे धर्म की प्रतिष्ठा इसीलिए है कि वह नैतिकता पर प्रतिष्ठित है. वास्तव मे धर्म की उत्पत्ति मनुष्य के भीतर रही हुई उस भावना के आधार पर ही होती है जिसे हम नैतिकता कहते है नैतिकता का आदर्श जितना उच्च होता है, धर्म की भूमिका भी उतनी ही उन्नत होती है. नैतिकता केवल भौतिक अथवा शारीरिक मूल्यो तक ही सीमित नही होती. उसकी दृष्टि मे आध्यात्मिक अथवा मानसिक मूल्यो का अधिक महत्त्व होता है सकुचित अथवा सीमित नैतिकता की अपेक्षा विस्तृत अथवा अपरिमित नैतिकता अधिक बलवती होती है वह व्यक्तित्व का यथार्थ एव पूर्ण विकास करती है

धर्म का सार आध्यात्मिक सर्जन अथवा आध्यात्मिक अनुभूति है. इस प्रकार के सर्जन अथवा अनुभूति का विस्तार ही धर्म का विकास है जो आचार इस उद्देश्य की पूर्ति मे सहायक हो वही धर्ममूलक आचार है इस प्रकार का आचार नैतिकता की भावना के अभाव मे सभव नही ज्यो-ज्यो नैतिक भावनाओ का विस्तार होता जाता है त्यो-त्यो धर्म का विकास होता जाता है. इस प्रकार का धर्मविकास ही आध्यात्मिक विकास है आध्यात्मिक विकास की चरम अवस्था का नाम ही मोक्ष अथवा मुक्ति है. इस मूलभूत सिद्धान्त अथवा तथ्य को समस्त आत्मवादी भारतीय दर्शनो ने स्वीकार किया है

दर्शन का सम्बन्ध विचार अथवा तर्क से है, जबकि धर्म का सम्बन्ध आचार अथवा व्यवहार से है दर्शन हेतुवाद पर प्रतिष्ठित होता है जबकि धर्म श्रद्धा पर अवलम्बित होता है आचार के लिए श्रद्धा की आवश्यकता है जबकि विचार के लिए तर्क की आचार व विचार अथवा धर्म व दर्शन के सम्बन्ध में दो विचारधाराएँ है. एक विचारधारा के अनुसार आचार व विचार अर्थात् धर्म व दर्शन अभिन्न है. इनमे वस्तुत कोई भेद नही है आचार की सत्यता विचार मे ही पाई जाती है एव विचार का पर्यवसान आचार मे ही देखा जाता है दूसरी विचारधारा के अनुसार आचार व

विचार अर्थात् धर्म व दर्शन एक-दूसरे से भिन्न हैं तर्कशील विचारक का इससे कोई प्रयोजन नही कि श्रद्धाशील आचरणकर्त्ता किस प्रकार का व्यवहार करता है इसी प्रकार श्रद्धाशील व्यक्ति यह नही देखता कि विचारक क्या कहता है तटस्थ दृष्टि से देखने पर यह प्रतीत होता है कि आचार और विचार व्यक्तित्व के समान शक्ति वाले अन्योन्याश्रित दो पक्ष हैं इन दोनो पक्षो का सतुलित विकास होने पर ही व्यक्तित्व का विशुद्ध विकास होता है इस प्रकार के विकास को हम ज्ञान और क्रिया का सयुक्त विकास कह सकते है जो दु खमुक्ति के लिए अनिवार्य है

आचार और विचार की अन्योन्याश्रितता को दृष्टि मे रखते हुए भारतीय चिन्तको ने धर्म व दर्शन का साथ-साथ प्रतिपादन किया उन्होने तत्त्वज्ञान के साथ ही साथ आचारशास्त्र का भी निरूपण किया एव बताया कि ज्ञानविहीन आचरण नेत्रहीन पुरुष की गति के समान है जबकि आचरणरहित ज्ञान पगु पुरुष की स्थिति के सदृश है जिस प्रकार अभीष्ट स्थान पर पहुचने के लिए निर्दोष आँखे व पैर दोनो आवश्यक है, उसी प्रकार आध्यात्मिक सिद्धि के लिए दोषरहित ज्ञान व चारित्र दोनो अनिवार्य है

भारतीय विचार-परम्पराओ मे आचार व विचार दोनो को समान स्थान दिया गया है उदाहरण के लिए मीमासा परम्परा का एक पक्ष पूर्वमीमासा आचारप्रधान है जब कि दूसरा पक्ष उत्तरमीमासा (वेदान्त) विचारप्रधान है साख्य और योग क्रमश विचार और आचार का प्रतिपादन करने वाले एक ही परम्परा के दो अग है बौद्ध परम्परा मे हीनयान और महायान के रूप मे आचार और विचार की दो धाराएँ है हीनयान आचारप्रधान है तथा महायान विचारप्रधान जैन परम्परा मे भी आचार और विचार को समान स्थान दिया गया है अहिंसामूलक आचार एव अनेकान्तमूलक विचार का प्रतिपादन जैन विचारधारा की विशेषता है

वैदिक दृष्टि

भारतीय साहित्य मे आचार के अनेक रूप उपलब्ध होते है वैदिक सहिताओ मे लोकजीवन का जो प्रतिबिम्ब मिलता है उससे प्रकट होता है कि लोगो मे प्रकृति के कार्यो के प्रति विचित्र जिज्ञासा थी उनकी धारणा थी कि प्रकृति के विविध कार्य देवो के विविध रूप थे, विविध देवप्रकृति के विविध कार्यो के रूप मे अभिव्यक्त होते थे. ये देव अपनी प्रसन्नता अथवा अप्रसन्नता के आधार पर उनका हित कर सकते थे और इसलिए लोग उन्हे प्रसन्न रखने अथवा करने लिए उनकी स्तुति करते, उनकी यशोगाथा गाते स्तुति करने की प्रक्रिया अथवा पद्धति का धीरे-धीरे विकास हुआ एव इस मान्यता ने जन्म लिया कि अमुक ढग से अमुक प्रकार के उच्चारणपूर्वक की जाने वाली स्तुति ही फलवती होती है. परिणामत यज्ञ-यागादि का प्रादुर्भाव हुआ एव देवो को प्रसन्न करने की एक विशिष्ट आचार-पद्धति ने जन्म लिया इस आचार-पद्धति का प्रयोजन लोगो की ऐहिक सुख-समृद्धि एव सुरक्षा था लोगो के हृदय मे सत्य, दान, श्रद्धा आदि के प्रति मान था विविध प्रकार के नियमो, गुणो, दण्डो आदि के प्रवर्तको के रूप मे विभिन्न देवो की कल्पना की गई

औपनिषदिक रूप

उपनिषदो मे ऐहिक सुख को जीवन का लक्ष्य न मानते हुए श्रेयस् को परमार्थ माना गया है तथा प्रेयस् को हेय एव श्रेयस् को उपादेय बताया गया है. इस जीवन को अन्तिम सत्य न मानते हुए परमात्म तत्त्व को यथार्थ कहा गया है आत्म-तत्त्व का स्वरूप समझाते हुए इसे शरीर, मन, इन्द्रियो आदि से भिन्न बताया गया है इसी दार्शनिक भित्ति पर सदाचार, सतोष, सत्य आदि आत्मिक गुणो का विधान किया गया है एव इन्हे आत्मानुभूति के लिए आवश्यक बताया गया है इन गुणो के आचरण से श्रेयस् की प्राप्ति होती है श्रेयस् के मार्ग पर चलने वाले विरले ही होते हैं ससार के समस्त प्रलोभन श्रेयस् के सामने नगण्य है—तुच्छ है

सूत्र, स्मृतियाँ व धर्मशास्त्र

सूत्रो, स्मृतियो व धर्मशास्त्रो मे मनुष्य के जीवन की निश्चित योजना दृष्टिगोचर होती है. इनमे मानव-जीवन के कर्तव्य-अकर्तव्यो के विषय मे विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है वैदिक विधि-विधानो के साथ ही साथ सामाजिक गुणों एव



आध्यात्मिक विशुद्धियो का भी विचार किया गया है सक्षेप मे कहा जाय तो इनमे मौलिक सुखो एव आत्मिक गुणो का समन्वय करने का प्रयत्न किया गया है. सूत्रो व धर्मशास्त्रो मे मानव-जीवन के चार सोपान-चार आश्रम निर्धारित किये गये है. जिनके अनुसार आचरण करने पर मनुष्य का जीवन सफल माना जाता है इन चार आश्रमो के पारिभाषिक नाम ये है —ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम व सन्यासाश्रम ब्रह्मचर्याश्रम मे शारीरिक व मानसिक अनुशासन का अभ्यास किया जाता है जो सारे जीवन की भूमिका का काम करता है गृहस्थाश्रम सासारिक सुखो के अनुभव व कर्तव्यो के पालन के लिए है वानप्रस्थाश्रम सासारिक प्रपचो के आशिक त्याग का प्रतीक है. आध्यात्मिक सुखो की प्राप्ति के लिए सासारिक सुख-सुविधाओ के हेतु किये जाने वाले प्रपचो का सर्वथा त्याग करना सन्यासाश्रम है. प्रथम तीन आश्रमो का पर्यवसान सन्यासाश्रम मे ही होता है इन चार आश्रमो के साथ ही साथ चार प्रकार के वर्णो अर्थात् मनुष्यवर्गो का भी निर्धारण किया गया इन वर्गो के कर्तव्याकर्तव्यो के लिए आचारसहिता भी बनाई गई. आचार के दो विभाग किये गये सब वर्णो के लिए सामान्य आचार और प्रत्येक वर्ण के लिए विशेष आचार. जिस प्रकार प्रत्येक आश्रम के लिए विभिन्न कर्तव्यो का निर्धारण किया गया, उसी प्रकार प्रत्येक वर्ण के लिए विभिन्न कर्तव्य निश्चित किये गये, जैसे ब्राह्मण के लिए अध्ययन-अध्यापन, क्षत्रिय के लिए रक्षण-प्रशासन, वैश्य के लिए व्यापार-व्यवसाय एव शूद्र के लिए सेवा-शुश्रूषा इसी व्यवस्था अर्थात् आचारसहिता का नाम वर्णाश्रमधर्म अथवा वर्णाश्रम-व्यवस्था है

कर्ममुक्ति

भारतीय आचारशास्त्र का सामान्य आधार कर्मसिद्धान्त है. कर्म का अर्थ है चेतनाशक्ति द्वारा की जाने वाली क्रिया का कार्य-कारणभाव जो क्रिया अर्थात् आचार इस कार्य-कारण की परम्परा को समाप्त करने मे सहायक है वह आचरणीय है इससे विपरीत आचार त्याज्य है विविध धर्मग्रथो, दर्शनग्रन्थो एव आचारग्रन्थो मे जो विधिनिषेध उपलब्ध है, इसी सिद्धान्त पर आधारित है योग-विद्या का विकास इस दिशा मे एक महान् प्रयत्न है, भारतीय विचारको ने कर्ममुक्ति के लिए ज्ञान, भक्ति एव ध्यान का जो मार्ग बताया है वह योग का ही मार्ग है ज्ञान, भक्ति एव ध्यान को योग की ही सज्ञा दी गई है इतना ही नही, अनासक्त कर्म को भी योग कहा गया है. आत्मनियन्त्रण अर्थात् चित्त-वृत्ति के निरोध के लिए योग अनिवार्य है योग चेतना की उस अवस्था का नाम है जिसमे मन व इन्द्रिया अपने विषयो से विरत होने का अभ्यास करते है ज्यो-ज्यो योग की प्रक्रिया का विकास होता जाता है त्यो-त्यो आत्मा अपने-आप मे लीन होती जाती है योगी को जिस आनन्द व सुख की अनुभूति होती है वह दूसरो के लिए अलभ्य है वह आनन्द व सुख बाह्य पदार्थो पर अवलम्बित नही होता अपितु आत्मावलम्बित होता है. आत्मा का अपनी स्वाभाविक विशुद्ध अवस्था मे निवास करना ही वास्तविक सुख है यह सुख जिसे हमेशा के लिए प्राप्त हो जाता है वह कर्मजन्य सुख-दु ख से मुक्त हो जाता है. यही मोक्ष, मुक्ति अथवा निर्वाण है

कर्म से मुक्त होना इतना आसान नही है योग की साधना करना इतना सरल नही है. इसके लिए धीरे-धीरे निरन्तर प्रयत्न करना पडता है आचार व विचार की अनेक कठिन अवस्थाओ से गुजरना होता है आचार के अनेक नियमो एव विचार के अनेक अकुशो का पालन करना पडता है इसी तथ्य को ध्यान मे रखते हुए विभिन्न आत्मवादी दर्शनो ने कर्ममुक्ति के लिए आचार के विविध नियमो का निर्माण किया तथा आत्मविकास के विभिन्न अगो तथा रूपो का प्रतिपादन किया.

आत्मविकास

वेदान्त मे सामान्यतया आत्मिक विकास के सात अग अथवा सोपान माने गये है प्रथम अग का नाम शुभ इच्छा है. इसमे वैराग्य अर्थात् सम्यक् पथ पर जाने की भावना होती है द्वितीय अग विचारणारूप है. इसमे शास्त्राध्ययन, सत्सगति तथा तत्त्व का मूल्याकन होता है तृतीय अग तनुमानस रूप है जिसमें इद्रियो और विषयो के प्रति अनासक्ति होती

है. इसके बाद की जो अवस्था है उसमे मानसिक विषयो का निरोध प्रारम्भ होकर मन की शुद्धि होती है इस अवस्था का नाम सत्यापत्ति है इसके बाद पदार्थभावनी अवस्था आती है जिसमे बाह्य वस्तुओं का मन पर कोई प्रभाव नही पडता सातवा अग तुरीयगा कहलाता है इसमें पदार्थो का मन से कोई सम्बन्ध ही नही रहता तथा आत्मा का सत् चित् व आनन्दरूप ब्रह्म से एकाकार हो जाता है यह अवस्था निर्विकल्पक समाधिरूप है

योगदर्शन का अष्टाग योग प्रसिद्ध ही है प्रथम अग यम मे अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह का समावेश होता है द्वितीय अग नियम मे शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय व ईश्वरप्रणिधान का समावेश किया जाता है तृतीय अग का नाम आसन है चतुर्थ अग प्राणायामरूप है पाचवा अग प्रत्याहार, छठा धारणा, सातवा ध्यान व आठवा समाधि कहलाता है निर्विकल्प समाधि आत्मविकास की अतिम अवस्था होती है, जिसमे आत्मा अपने स्वाभाविक रूप मे अवस्थित हो जाती है

कर्मपथ

मीमासा व स्मृतियो आदि मे क्रियाकाण्ड पर अधिक भार दिया गया है जबकि साख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, वेदान्त आदि आत्मशुद्धि पर विशेष जोर देते है बौद्धो के अनुसार हमारी समस्त प्रवृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं—ज्ञात और अज्ञात इन्हे बौद्ध परिभाषा मे विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति कहा जाता है जब कोई व्यक्ति परोक्ष अर्थात् अज्ञात रूप मे किसी अन्य द्वारा किसी प्रकार का पापकार्य करता है तो वह अविज्ञप्ति-कर्म करता है जो जानबूझ कर अर्थात् ज्ञातरूप से पापक्रिया करता है वह विज्ञप्ति कर्म करता है यही बात शुभ प्रवृत्ति के विषय मे भी है अत शील भी विज्ञप्ति व अविज्ञप्ति रूप दो प्रकार का है बौद्ध दर्शन के अनुसार प्रत्येक क्रिया के तीन भाग होते है—प्रयोग, कर्मपथ और पृष्ठ क्रिया की तैयारी करना प्रयोग है वास्तविक क्रिया कर्मपथ है अनुगामिनी क्रिया का नाम पृष्ठ है उदाहरण के रूप मे चोरी को ले जब कोई चोरी करना चाहता है तो अपने स्थान से उठता है, आवश्यक साधन-सामग्री लेता है, दूसरे के घर जाता है, चुपचाप घर मे घुसता है, रुपये-पैसे व अन्य वस्तुए ढूढता है और उन्हे वहा से उठाता है यह सब प्रयोग के अन्तर्गत है चोरी का सामान लेकर वह घर मे बाहर निकलता है, यही कर्मपथ है. उस सामान को वह अपने साथियो मे बाटता है, बेचता है अथवा छिपाता है ये तीनो प्रकार विज्ञप्ति व अविज्ञप्तिरूप होते हैं. इतना ही नही, एक प्रकार का कर्मपथ दूसरे प्रकार के कर्मपथ का प्रयोग अथवा पृष्ठ बन सकता है इसी प्रकार अन्य पापो एव शुभ क्रियाओ के भी तीन विभाग कर लेने चाहिए वस्तुत प्रयोग, कर्मपथ व पृष्ठ प्रवृत्ति की अथवा आचार की तीन अवस्थाए है इन्हे प्रवृत्ति के तीन सोपान भी कह सकते है किस प्रकार की प्रवृत्ति अर्थात् कर्म से किस प्रकार का फल प्राप्त होता है, इसका भी बौद्ध साहित्य मे पूरी तरह विचार किया गया है यह विचार बौद्ध आचारशास्त्र की भूमिकारूप है

जैनाचार व जैन विचार

जैनाचार की मूल भित्ति कर्मवाद है इसी पर जैनो का अहिंसावाद, अपरिग्रहवाद एव अनीश्वरवाद प्रतिष्ठित है कर्म का साधारण अर्थ कार्य, प्रवृत्ति अथवा क्रिया है कर्मकाण्डी, यज्ञ आदि क्रियाओ को कर्म कहते हैं पौराणिक व्रत-नियम आदि को कर्मरूप मानते है जैन परम्परा मे कर्म दो प्रकार का माना गया है -द्रव्यकर्म व भावकर्म कार्मण पुद्गल अर्थात् जडतत्त्व विशेष जो कि जीव के साथ मिल कर कर्म के रूप मे परिणत होता है, द्रव्यकर्म कहलाता है यह ठोस पदार्थ-रूप होता है द्रव्यकर्म की यह मान्यता जैन कर्मवाद की विशेषता है आत्मा के अर्थात् प्राणी के राग-द्वेषात्मक परिणाम अर्थात् चित्तवृत्ति को भावकर्म कहते है दूसरे शब्दो मे प्राणी के भावो को भावकर्म तथा भावो द्वारा आकृष्ट सूक्ष्म भौतिक परमाणुओ को द्रव्यकर्म कहते हैं यह एक मूलभूत सिद्धान्त है कि आत्मा और कर्म का सम्बन्ध प्रवाहत अनादि है प्राणी अनादि काल से कर्मपरम्परा मे पडा हुआ है चैतन्य और जड का यह सम्मिश्रण अनादिकालीन है जीव पुराने कर्मों का विनाश करता हुआ नवीन कर्मो का उपार्जन करता जाता है जब तक उनके पूर्वोपार्जित समस्त कर्म नष्ट नही हो जाते-आत्मा से अलग नही हो जाते तथा नवीन कर्मो का उपार्जन बद नही हो जाता-नया बध रुक नहीं जाता तब



तक उसकी भवभ्रमण से मुक्ति नही होती. एक बार समस्त कर्मो का नाश हो जाने पर पुन. नवीन कर्मो का आगमन नही होता क्योकि उस अवस्था मे कर्मोपार्जन का कोई कारण विद्यमान नही रहता आत्मा की इसी अवस्था का नाम मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण अथवा सिद्धि है. इस अवस्था मे आत्मा अपने असली रूप मे रहता है. आत्मा का यही रूप जैन-दर्शन का ईश्वर है. परमेश्वर अथवा परमात्मा इससे भिन्न कोई विशेष व्यक्ति नही है. जो आत्मा है वही परमात्मा है. 'जे अप्पा से परमप्पा '

कर्मवाद, नियतिवाद अथवा अनिवार्यतावाद नही है कर्मसिद्धान्त यह नही मानता कि प्राणी को नियत समय मे उपार्जित कर्म का फल भोगना ही पड़ता है अथवा नवीन कर्म का उपार्जन करना ही पडता है यह सत्य है कि प्राणी को स्वोपार्जित कर्म का फल अवश्य भोगना पडता है किन्तु इसमे उसके पश्चात्कालीन पराक्रम, पुरुषार्थ अथवा आत्मवीर्य के अनुसार न्यूनाधिकता तथा शीघ्रता अथवा देरी हो सकती है. इसी प्रकार वह नवीन कर्म का उपार्जन करने मे भी अमुक सीमा तक स्वतन्त्र होता है. आन्तरिक शक्ति तथा आचार की परिस्थिति को दृष्टि मे रखते हुए व्यक्ति अमुक सीमा तक नये कर्मो के आगमन को रोक सकता है इस प्रकार जैन कर्मसिद्धान्त में सीमित इच्छास्वातन्त्र्य स्वीकार किया गया है

कर्मबन्ध व कर्ममुक्ति

जैन कर्मवाद मे कर्मोपार्जन के दो कारण माने गये है—योग और कषाय शरीर, वाणी और मन के सामान्य व्यापार को जैन परिभाषा मे योग कहते है. दूसरे शब्दो मे जैन परिभाषा में प्राणी की प्रवृत्तिसामान्य का नाम योग है. कषाय मन का व्यापारविशेष है यह क्रोधादि मानसिक आवेगरूप हैं. यह लोक कर्म की योग्यता रखने वाले परमाणुओ से भरा हुआ है जब प्राणी अपने मन, वचन अथवा तन से किसी प्रकार की प्रवृत्ति करता है तब उसके आस-पास रहे हुए कर्मयोग्य परमाणुओ का आकर्षण होता है अर्थात् आत्मा अपने चारो ओर रहे हुए कर्म-परमाणुओ को कर्मरूप से ग्रहण करता है इस प्रक्रिया का नाम आस्रव है कपाय के कारण कर्मपरमाणुओ का आत्मा से मिल जाना अर्थात् आत्मा के साथ बँध जाना वध कहलाता है. वैसे तो प्रत्येक प्रकार का योग अर्थात् प्रवृत्ति कर्मवध का कारण है किन्तु जो योग क्रोधादि कपाय से युक्त होता है उससे होने वाला कर्मवध दृढ होता है. कषायरहित प्रवृत्ति से होने वाला कर्मवध निर्बल व अस्थायी होता है यह नाममात्र का बध है. इससे ससार नही वढता.

योग अर्थात् प्रवृत्ति की तरतमता के अनुसार कर्मपरमाणुओ की मात्रा में तारतम्य होता है वद्ध परमाणुओ की राशि को प्रदेश-बन्ध कहते है इन परमाणुओ की विभिन्न स्वभाव रूप परिणति को अर्थात् विभिन्न कार्यरूप क्षमता को प्रकृति-बन्ध कहते हैं. कर्मफल की मुक्ति की अवधि अर्थात् कर्म भोगने के काल को स्थिति-वन्ध तथा कर्मफल की तीव्रता-मन्दता को अनुभाग-बन्ध कहते है. कर्म वधने के बाद जब तक वे फल देना प्रारम्भ नही करते तव तक के काल को अवाधाकाल कहते है कर्मफल का प्रारम्भ ही कर्म का उदय है. ज्यो-ज्यो कर्मो का उदय होता जाता है त्यो-त्यों कर्म आत्मा से अलग होते जाते है. इसी प्रक्रिया का नाम निर्जरा है. जब आत्मा से समस्त कर्म अलग हो जाते है तब उसकी जो अवस्था होती है उसे मोक्ष कहते है.

जैन कर्मशास्त्र में प्रकृति-बन्ध के आठ प्रकार माने गये है अर्थात् कर्म की मूल प्रकृतियाँ आठ गिनाई गई हैं. ये प्रकृतियाँ प्राणी को भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुकूल एव प्रतिकूल फल प्रदान करती है. इनके नाम इस प्रकार है—१ ज्ञानावरणीय २. दर्शनावरणीय, ३ वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयु, ६ नाम, ७ गोत्र, ८. अन्तराय इनमे से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय व अन्तराय—ये चार प्रकृतिया घाती कहलाती है क्योकि इनसे आत्मा के चार मूल गुणो—ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य का घात होता है शेप चार प्रकृतियाँ अघाती है क्योकि ये किसी आत्मगुण का घात नही करतीं. ये शरीर से सम्वन्धित होती है. ज्ञानावरणीय प्रकृति आत्मा के ज्ञान अर्थात् विशेष उपयोगरूप गुण को आवृत करती है दर्शनावरणीय प्रकृति आत्मा के दर्शन अर्थात् सामान्य उपयोगरूप गुण को आच्छादित करती है. मोहनीय प्रकृति



आत्मा के स्वाभाविक सुख मे बाधा पहुचाती है अन्तराय प्रकृति से वीर्य अर्थात् आत्मशक्ति का नाश होता है. वेदनीय कर्मप्रकृति शरीर के अनुकूल एव प्रतिकूल सवेदन अर्थात् सुख-दु ख के अनुभव का कारण है आयु कर्मप्रकृति के कारण नरक, तिर्यच देव एव मनुष्य भव के काल का निर्धारण होता है नाम कर्म प्रकृति के कारण नरकादि गति, एकेन्द्रियादि जाति,औदारिकादि शरीर आदि की प्राप्ति होती है गोत्र कर्मप्रकृति प्राणियो के लौकिक उच्चत्व एव नीचत्व का कारण है कर्म की सत्ता मानने पर पुनर्जन्म की सत्ता भी माननी पडती है पुनर्जन्म अथवा परलोक कर्म का फल है मृत्यु के बाद प्राणी अपने गति नाम कर्म के अनुसार पुन मनुष्य, तिर्यञ्च, नरक अथवा देव गति मे उत्पन्न होता है आनुपूर्वी नाम कर्म उसे अपने उत्पत्तिस्थान पर पहुचा देता है. स्थानान्तरण के समय जीव के साथ दो प्रकार के सूक्ष्म शरीर रहते है तैजस और कार्मण औदारिकादि स्थूल शरीर का निर्माण अपने उत्पत्तिस्थान पर पहुचने के बाद प्रारम्भ होता है इस प्रकार जैन कर्मशास्त्र मे पुनर्जन्म की सहज व्यवस्था की गई है

कर्मबन्ध का कारण कषाय अर्थात् राग-द्वेपजन्य प्रवृत्ति है इससे विपरीत प्रवृत्ति कर्ममुक्ति का कारण बनती है कर्म-मुक्ति के लिए दो प्रकार की क्रियाएँ आवश्यक है —नवीन कर्म के उपार्जन का निरोध एव पूर्वोपार्जित कर्मका क्षय प्रथम प्रकार की क्रिया का नाम सवर तथा द्वितीय प्रकार की क्रिया का नाम निर्जरा है ये दोनो क्रियाए क्रमश आस्रव तथा बन्ध से विपरीत है इन दोनो की पूर्णता से आत्मा की जो स्थिति होती है अर्थात् आत्मा जिस अवस्था को प्राप्त होती है उसे मोक्ष कहते है. यही कर्ममुक्ति है

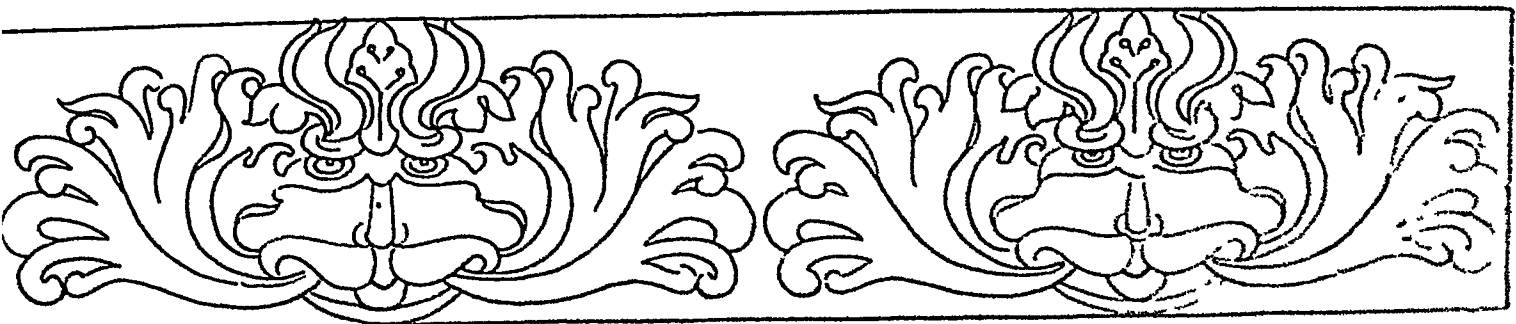
नवीन कर्मो के उपार्जन का निरोध अर्थात् सवर निम्न कारणो से होता है —गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीपहजय, चारित्र व तपस्या सम्यक् योगनिग्रह अर्थात् मन, वचन व तन की प्रवृत्ति का सुष्ठु नियन्त्रण गुप्ति है सम्यक् चलना, बोलना, खाना, लेना-देना आदि समिति कहलाता है उत्तम प्रकार की क्षमा, मृदुता, ऋजुता, शुद्धता आदि धर्म के अन्तर्गत है अनुप्रेक्षा मे अनित्यत्व, अशरणत्व, एकत्व आदि भावनाओ का समावेश होता है क्षुधा, पिपासा, सर्दी, गर्मी आदि कष्टो को सहन करना परीपहजय है चारित्र, सामायिक आदि भेद से पाच प्रकार का है तप बाह्य भी होता है व आभ्यन्तर भी अनशन आदि बाह्य तप है, प्रायश्चित्त आदि आभ्यन्तर तप कहलाता है तप से सवर के साथ-साथ निर्जरा भी होती है सवर व निर्जरा का पर्यवसान मोक्ष-कर्ममुक्ति मे होता है

आत्मवाद

कर्मवाद का आत्मवाद से साक्षात् सम्बन्ध हे यदि आत्मा की पृथक् सत्ता न मानी जाय तो कर्मवाद की मान्यता निरर्थक सिद्ध होती है जैन आचारशास्त्र मे कर्मवाद के आधारभूत आत्मवाद की भी प्रतिष्ठा की गई है आत्मा का लक्षण उपयोग है उपयोग का अर्थ है बोधरूप व्यापार यह व्यापार चैतन्य का धर्म है जड पदार्थो मे उपयोग-क्रिया का अभाव होता है क्योकि उनमे चैतन्य नही होता, उपयोग अर्थात् बोध दो प्रकार का है —ज्ञान और दर्शन सुख और वीर्य भी चैतन्य का ही धर्म है इसीलिए आत्मा को अनन्त-चतुष्टयात्मक माना गया है अनन्त चतुष्टय ये है—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य बद्ध अर्थात् ससारी आत्मा मे ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म के सम्पूर्ण क्षय से क्रमश विशेष बोधरूप अनन्त ज्ञान, सामान्य बोधरूप अनन्त दर्शन, अलौकिक आनन्दरूप अनन्त सुख व आध्यात्मिक शक्तिरूप अनन्त वीर्य प्रादुर्भूत होता है मुक्त आत्मा मे ये चार अनन्त-अनन्त-चतुष्टय सर्वदा बने रहते हैं ससारी आत्मा स्वदेहपरिमाण एव पौद्गलिक कर्मों से मुक्त होती है, साथ ही परिणमनशील, कर्त्ता, भोक्ता एव सीमित उपयोगयुक्त होती है.

अहिंसा और अपरिग्रह

जैनाचार का प्राण अहिंसा है, अहिंसक आचार एव विचार से ही आध्यात्मिक उत्थान होता है जो कर्ममुक्ति का कारण है. अहिंसा का जितना सूक्ष्म विवेचन एव आचरण जैन परम्परा मे उपलब्ध है उतना शायद ही किसी जैनेतर परम्परा मे हो. अहिंसा का मूलाधार आत्मसाम्य है प्रत्येक आत्मा—चाहे वह पृथ्वी सम्बन्धी हो, चाहे उसका आश्रय जल हो,



चाहे वह कीट अथवा पतग के रूप मे हो, चाहे वह पशु अथवा पक्षी में हो, चाहे उसका वास मानव मे हो—तात्त्विक दृष्टि से समान है सुख-दु ख का अनुभव प्रत्येक प्राणी को होता है. जीवन-मरण की प्रतीति सवको होती है. सभी जीव जीना चाहते है वास्तव मे कोई भी मरने की इच्छा नही करता जिस प्रकार हमें जीवन प्रिय है एव मरण अप्रिय, सुख प्रिय है एव दु ख अप्रिय, अनुकूलता प्रिय है एव प्रतिकूलता अप्रिय, मृदुता प्रिय है एव कठोरता अप्रिय, स्वतन्त्रता प्रिय है एव परतन्त्रता अप्रिय, लाभ प्रिय है एव हानि अप्रिय, उसी प्रकार अन्य जीवो को भी जीवन आदि प्रिय है एव मरण आदि अप्रिय इसीलिए हमारा कर्त्तव्य है कि हम मन से भी किसी के वध आदि की वात न सोचें. शरीरसे किसी की हत्या करना अथवा किसी को किसी प्रकार का कष्ट पहुँचाना तो पाप है ही, मन अथवा वचन से इस प्रकार की प्रवृत्ति करना भी पाप है मन, वचन और काया से किसी को सताप न पहुँचाना सच्ची अहिंसा है, पूर्ण अहिंसा है वनस्पति आदि एकेन्द्रिय जीवो से लेकर मानव तक के प्रति अहिंसक आचरण की भावना जैन विचारधारा की अनुपम विशेपता है. इसे अहिंसक आचार का चरम उत्कर्ष कह सकते है. आचार का यह अहिंसक विकास जैन सस्कृति की अमूल्य निधि है

अहिंसा को केन्द्रविन्दु मानकर अमृषावाद, अस्तेय, अमैथुन एव अपरिग्रह का विकास हुआ आत्मिक विकास में वाधक कर्म-वध को रोकने तथा वद्ध कर्म को नष्ट करने के लिए अहिंसा तथा तदाधारित अमृषावाद आदि की अनिवार्यता स्वीकार की गई इसमे व्यक्ति एव समाज दोनो का हित निहित है वैयक्तिक उत्थान एव सामाजिक उत्कर्ष के लिए असत्य का त्याग, अनधिकृत वस्तु का अग्रहण तथा सयम का परिपालन आवश्यक है. इनके अभाव में अहिंसा का विकास नही हो पाता. परिणामत. आत्मविकास में बहुत बड़ी बाधा उपस्थित होती है इन सबके साथ अपरिग्रह का व्रत अत्यावश्यक है. परिग्रह के साथ आत्मविकास की घोर शत्रुता है. जहां परिग्रह रहता है वहा आत्मविकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है. इतना ही नही, परिग्रह मनुष्य के आत्मपतन का बहुत बड़ा कारण बनता है परिग्रह का अर्थ है पाप का सग्रह. यह आसक्ति से बढता है एव आसक्ति को बढाता भी है. इसी का नाम मूर्च्छा है ज्यो-ज्यो परिग्रह बढता है त्यो-त्यो मूर्च्छा-गृद्धि-आसक्ति बढती जाती है. जितनी अधिक आसक्ति बढ़ती है उतनी ही अधिक हिंसा बढती है यही हिंसा मानव-समाज मे वैषम्य उत्पन्न करती है. इसीसे आत्मपतन भी होता है अपरिग्रहवृत्ति अहिंसामूलक आचार के सम्यक् परिपालन के लिए अनिवार्य है

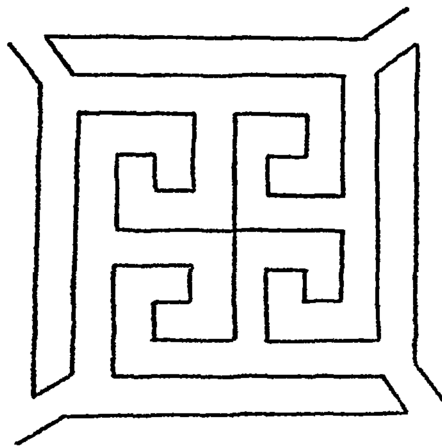
अनेकान्तदृष्टि

जिस प्रकार जैन विचारको ने आचार मे अहिंसा को प्रधानता दी उसी प्रकार उन्होने विचार में अनेकान्तदृष्टि को मुख्यता दी अनेकान्तदृष्टि का अर्थ है वस्तु का सर्वतोमुखी विचार वस्तु मे अनेक धर्म होते हैं. उनमे से किसी एक धर्म का आग्रह न रखते हुए अर्थात् एकान्तदृष्टि न रखते हुए अपेक्षाभेद से सब धर्मों के साथ समान रूप से न्याय करना अनेकान्तदृष्टि का कार्य है. अनेक धर्मात्मक वस्तु के कथन के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग आवश्यक है. 'स्यात्' का अर्थ है कथचित् अर्थात् किसी एक अपेक्षा से—किसी एक धर्म की दृष्टि से वस्तु के अनेक धर्मो अर्थात् अनन्त गुणो मे से किसी एक धर्म अर्थात् गुण का विचार उस दृष्टि से ही किया जाता है इसी प्रकार उसके दूसरे धर्म का विचार दूसरी दृष्टि से किया जाता है. इस प्रकार वस्तु के धर्म-भेद से दृष्टि-भेद पैदा होता है. दृष्टिकोण के इस अपेक्षावाद अथवा सापेक्षवाद का नाम ही स्याद्वाद है चूकि स्याद्वाद से अनेक धर्मात्मक अर्थात् अनेकान्तात्मक वस्तु का कथन या विचार होता है अत स्याद्वाद का अपर नाम अनेकान्तवाद है इस प्रकार स्याद्वाद व अनेकान्तवाद जैनदर्शनाभित सापेक्षवाद के ही दो नाम है.

जैनधर्म मे अनेकान्तवाद के दो रूप मिलते है—सकलादेश और विकलादेश सकलादेश का अर्थ है वस्तु के किसी एक धर्म से तदितर समस्त धर्मों का अभेद करके समग्र वस्तु का कथन करना दूसरे शब्दो में वस्तु के किसी एक गुण मे उसके शेष समस्त गुणो का सग्रह करना सकलादेश है उदाहरणार्थ 'स्यादस्त्येव सर्वम्' अर्थात् कथचित् सव है ही' ऐसा जव कहा जाता है तो उसका अर्थ यह होता है कि अस्तित्व के अतिरिक्त अन्य जितने भी धर्म है, सव किसी दृष्टि से



अस्तित्व से अभिन्न है इसी प्रकार, नास्तित्व आदि धर्मों का भी तदितर धर्मों से अभेद करके कथन किया जाता है यह अभेद काल, आत्मरूप, अर्थ, सम्बन्ध, उपकार आदि आठ दृष्टियो से होता है. जिस समय किसी वस्तु मे अस्तित्व धर्म होता है उसी समय अन्य धर्म भी होते है घट मे जिस समय अस्तित्व रहता है उसी समय कृष्णत्व, स्थूलत्व आदि धर्म भी रहते है अत काल की दृष्टि से अस्तित्व व अन्य गुणो मे अभेद है यही बात शेष सात दृष्टियो के विषय मे भी समझनी चाहिये. वस्तु के स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्व धर्म का विचार किया जाता है एव परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तित्व धर्म का सकलादेश मे एक धर्म मे अशेष धर्मों का अभेद करके सकल अर्थात् सम्पूर्ण वस्तु का कथन किया जाता है विकलादेश मे किसी एक धर्म की ही अपेक्षा रहती है और शेष की उपेक्षा जिस धर्म का कथन करना होता है वही धर्म दृष्टि के सन्मुख रहता है अन्य धर्मों का निषेध तो नही होता किन्तु प्रयोजनाभाव के कारण उनके प्रति उपेक्षाभाव अवश्य रहता है विकल अर्थात् अपूर्ण वस्तु के कथन के कारण इसे विकलादेश कहा जाता है इस प्रकार अहिंसा और अनेकान्तवाद की मूल भित्ति पर ही जैनाचार के भव्य भवन का निर्माण हुआ है





डा० जगदीशचन्द्र जैन
एम० ए०, पी-एच० डी०

महावीर और उनके सिद्धान्त

कल्पना कीजिये आज से अढाई हजार वर्ष पहले के जीवन—की उस समय की—आर्थिक,सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियो की आजकी अपेक्षा उस समय की आर्थिक परिस्थितियाँ सीमित थी, जिनका प्रभाव तत्कालीन समाज-व्यवस्था पर पडना अवश्यभावी था यातायात, बनिज—व्यापार के साधन बहुत अल्प थे जिससे दूर के लोगो के साथ सपर्क रखना कठिन था. देवी देवताओ सम्बन्धी अनेक मान्यतायें प्रचलित थी खेती-वारी और वनिज-व्यापार में समृद्धि प्राप्त करने और परलोक मे शान्ति प्राप्त करने के लिये लोग यज्ञ-यागो में पशु-हिंसा को धर्म मानते थे. मनुष्यो के वर्ण अर्थात् रगभेद पर आधारित और कार्य-विभाजन के लिये उपयोगी वेदकालीन वर्ण-व्यवस्था, वदलती हुई आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियो के कारण अहितकर सिद्ध हो रही थी. मनुष्य-मनुष्य मे अन्तर बढ रहा था. ज्ञातृपुत्र महावीर ने ऐसे ही समय मे वैशाली नगरी के कुडग्राम मे जन्म लेकर बिहार की भूमि को पवित्र किया था. वैशाली मे लिच्छिवी गण का राज्य था जहाँ कि राजसत्ता नागरिको द्वारा चुने हुए अनेक गणराजाओ के अधिकार में थी. वर्धमान के पिता सिद्धार्थ वैशाली के ऐसे ही गणमान्य राजाओ मे से थे. उनकी माँ त्रिशला लिच्छिवी घराने की थी. 'पूत के पाव पालने मे ही दीख जाते है' इस कहावत के अनुसार वर्धमान शुरू से ही कुशाग्र बुद्धि थे. कोई चीज जानने और समझने मे उन्हे देर न लगती थी. वे अपने माता-पिता और गुरुजनो के आज्ञाकारी और सयमी प्रकृति के थे. दूसरे को दुखी देख उनका हृदय पिघल जाता और दुखियो का दुख दूर करने के लिये वे सदा प्रयत्नशील रहते. वर्धमान वडे वीर और साहसी थे. उनके वीरतापूर्ण कृत्यो से मुग्ध होकर ही लोग उन्हे महावीर कहने लगे थे.

महावीर का मन ससार मे नही लगता था. ससार के अन्याय और अत्याचारो को देख उनका कोमल हृदय रो उठता. जितना ही वे विचार करते उतना ही उन्हे यह ससार दुखमय प्रतीत होता. कही वे धन-सम्पत्ति की लालसा से युद्ध में सलग्न गणराजाओ को देखते, कही उन्हे राजकर और राजदण्ड से पीडित लोग दिखाई देते और कही ऋण-भार, अकाल और दुर्भिक्ष से ग्रस्त यत्र की नाई चलते-फिरते मानव नजर आते. कही पशु से भी बदतर जीवन व्यतीत करने वाले दास थे, कही समाज से वहिष्कृत नीच समझे जाने वाले शूद्र, और कही मनुष्योचित अधिकारो से वचित अपना सर्वस्व समर्पण कर देने वाली नारियाँ. धर्म के नाम पर आडम्बर और शुष्क क्रियाकाण्ड फैला हुआ था तथा जाति-मद से उन्मत्त वने उच्चवर्ण के लोग अपने ही धर्म-कर्म को सर्वोत्कृष्ट प्रतिपादन करते थे.

यह सव देखकर महावीर के भावुक हृदय मे उथल-पुथल मच गई एकात मे घण्टो वैठ वे वडी गभीरता से जीवन की समस्याओ पर विचार करते, लेकिन कोई रास्ता उन्हे न सूझता. अनेक वार उन्होने गृहत्याग कर दीक्षा ग्रहण करने का विचार किया लेकिन घरवालो की अनुज्ञा न मिलने से विचार स्थगित कर देना पडा.

महावीर अव तीस वर्ष के हो गये थे. उन्होने सोचा-ऐसे तो सारी उम्र वीत जायेगी. आखिर उन्होने लोककल्याण करने का निश्चय कर लिया. उन्होने एक से एक सुन्दर, नाक के श्वास से उड़ जाने वाले कोमल वस्त्रो और वहुमूल्य आभूपणो को त्याग दिया, सोना-चादी और मणि-मुक्ताओ को छोड़ दिया, स्वादिष्ट भोजन-पान को तिलाजलि दे दी, अपने मित्रो को त्याग दिया, भाई-वन्धुओ को छोड़ दिया और स्वजन-सम्वन्धियो की अनुमति पूर्वक, पालकी मे सवार हो, ज्ञातृखड नामक उद्यान मे पहुँच, श्रमण-दीक्षा स्वीकार की.

महावीर ने वारह वर्ष से अधिक समय तक घोर तप किया. वे शून्यगृहो, उद्यानों, श्मशानो अथवा वृक्षो के नीचे एकासन

से खडे रहते कोई उन्हे कठोर वचन कहता तो मौन भाव से सहन करते भोजन-पान मे उन्हे आसक्ति नही रह गई थी, अपने लिये तैयार न किया हुआ, रूखा-सूखा भोजन खाकर ही वे काम चला लेते थे कई दिन तक वे उपवासे रहते बीमार पडने पर चिकित्सा न कराते कभी कोई ऐसा काम न करते जिससे किसी को कष्ट पहुँचे महावीर की तपश्चर्या और कष्टसहिष्णुता महान् थी जिसे देखकर बडे-बडे साधु-मुनियो के आसन डोल जाते थे

अपने दीर्घकालीन तपस्वी जीवन मे महावीर ने दूर-दूर तक यात्रा की बिहार मे घूमे, पूर्वीय उत्तरप्रदेश के बनारस, साकेत, श्रावस्ती और कौशाबी आदि नगरो को उन्होने अपने पाद-विहारो से पवित्र किया लेकिन सबसे अधिक कष्ट उन्हे पश्चिमी बगाल के लाढ देश मे सहन करना पडा इस देश मे अनार्य जातिया बसती थी और वे श्रमणो के आचार-विचार को हेय समझती थी लेकिन महावीर यातनाओ से जरा भी न घबराये और अपने उद्देश्य पर अटल रहे परिश्रम का फल मीठा होता है आखिर एक दिन जभियग्राम मे वालुका नदी के किनारे ध्यान-मुद्रा मे अवस्थित महावीर ने बोध प्राप्त किया—उनके ज्ञान-चक्षु खुल गये.

केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद महावीर की ख्याति दूर-दूर तक फैल गई जन-समूह उनके दर्शन के लिये उमड पडा कोई उनका उपदेश सुनने, कोई कुशल-वार्ता पूछने, कोई शकानिवारण करने और कोई कौतूहल वृत्ति शात करने के लिए आया वैदिक दर्शन के प्रकाण्ड पडित अर्थ-निर्णय के लिये उनके समीप उपस्थित हुए महावीर की विद्वत्ता और सर्वतो-मुखी प्रतिभा से चकित होकर उन्होने उनका शिष्यत्व स्वीकार किया आगे चलकर ये ही शिष्य गणधर पद से विभूषित किये गये

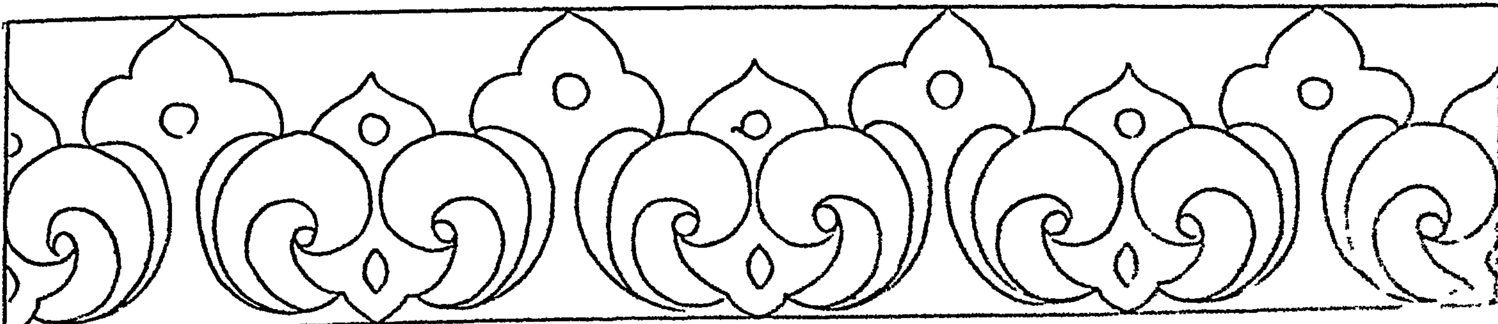
गण और सघ के आदर्श पर महावीर ने अपने अनुयायियो को चार सघो मे विभाजित किया था—साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविका सघ के सगठन को दृढ बनाने के लिये चारो के चार नेता चुने गये जिससे सघ सुसगठित रूप से आगे बढता रहा

निर्ग्रन्थ श्रमण, मठो या उपाश्रयो मे रहते और सैकडो की सख्या मे एक साथ विहार करते. वर्षा ऋतु मे चार महीने वे एक स्थान पर ठहरते, बाकी आठ महीने जन-पद विहार करते विहार करते समय उन्हे देश-देश की भाषाओ का ज्ञान लोकरिवाजो का ज्ञान तथा जन साधारण के मनोविज्ञान का परिचय आवश्यक था

महावीर ने अहिंसा पर सबसे अधिक जोर दिया इस समय खेती-बारी मे उन्नति हो जाने से पशु-हिंसा के स्थान पर अहिंसा की उपयोगिता स्वीकार की जाने लगी थी महावीर का कथन था कि सब जीव सुख-शातिपूर्वक रहना चाहते है, इसलिए हमे किसी भी प्राणी को कष्ट नही पहुँचाना चाहिए. अपने विकारो पर विजय प्राप्त करने, इन्द्रियो का दमन करने और अपनी प्रवृत्तियो को सकुचित करने को ही वे वास्तविक अहिंसा मानते थे इसलिए उन्होने अपने भिक्षुओ को बोलने-चालने, उठने-बैठने, सोने और खाने पीने मे सतत जागरूक रहने का उपदेश दिया है

महावीर की मान्यता थी कि यदि सोने-चादी के असख्य पर्वत भी खडे हो जायें तो भी मनुष्य की तृष्णा शान्त नही होती इसलिए मनुष्य को अपना परिग्रह कम करना चाहिए. उनके अनुसार सच्चा त्यागी वही हो सकता है जो सुन्दर और प्रिय भोगो को पाकर भी उनकी ओर से पीठ फेर लेता है, उन्हे धता बता देता है.

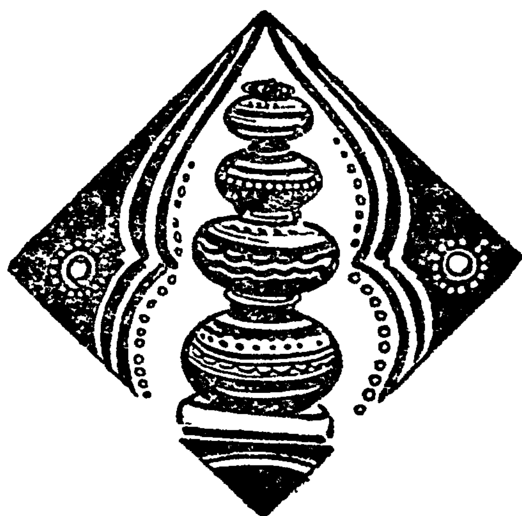
महावीर ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता नही मानते उनके अनुसार आत्म-विकास की सर्वोच्च अवस्था ही ईश्वरावस्था है महावीर जाति-पाति और छुआछूत के सख्त विरोधी थे मनुष्य मात्र की समानता पर वे जोर देते थे उन्होने बार-बार अपने शिष्यो को सबोधन करके कहा था—हे शिष्यो ! सच्चा जैन अथवा सच्चा ब्राह्मण वही है जिसने राग-द्वेष पर विजय प्राप्त की है, जो पाचो इन्द्रियो पर निग्रह रखता है, जो मिथ्या भाषण नही करता और जो सब प्राणियो के हित मे रत रहता है वास्तव मे कर्म से ही मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होता है जन्म से नहीं. महावीर के निर्ग्रन्थ धर्म को कोई भी पाल सकता था और उन्होने स्वय म्लेच्छ, चोर, डाकू, मछुए, और वेश्याओ आदि को अपने धर्म मे दीक्षित किया था.



केवलज्ञान होने के पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर तीस वर्ष तक उपदेश देते रहे. राजगृह से विहार करते-करते वे चतुर्मास व्यतीत करने के लिये पावापुरी पधारे. कार्तिक अमावस्या को प्रात काल यकायक ईसवी सन् पूर्व ५२७ के दिन ७२ वर्ष की अवस्था मे उनका उपदेश बन्द हो गया. और अमावस्या की रात्रि के पिछले पहर मे उन्होने निर्वाण पद पाया.

बात की बात मे महावीर-निर्वाण की चर्चा सर्वत्र फैल गई. भुवन-प्रदीप ससार से सदा के लिये बुझ गया. उस समय काशी कौशल के मल्ल और लिच्छिवी गणराजा उपस्थित थे उन्होने इस पुनीत अवसर पर सर्वत्र दीपक जला कर दीपावली का उत्सव मनाया किसी ने कहा—ससार की एक दिव्य विभूति उठ गई है, किसी ने कहा—अब दुर्बलो का कोई मित्र नही रहा. किसी ने कहा—श्रमण भगवान् आज कूच कर गये हैं तो क्या ! वे हमारे लिये बहुत कुछ छोड गये हैं, उनके सदुपदेशो को आगे बढाने का काम हम करेगे, दुनिया को सत्पथ हम दिखायेगे.

आज भी अणुशक्ति के इस युग में महावीर के लोकप्रिय सिद्धान्त विश्व को मार्गदर्शन करने और हमें राष्ट्र की समस्याओ को सुलझाने में सहायक होगे, इसमें सन्देह नही. लेकिन यह कार्य उनके धर्म के तत्त्व को ठीक-ठीक समझ कर हृदयगम करने से हो सकता है उनके नाम पर चली आई रूढ़ियो को पालने से नही.[1]



१. आकाशवाणी बम्बई के सौजन्य से.



आचार्य श्रीतुलसी

सर्व-धर्म-समभाव और स्याद्वाद

धर्म एक ही है इसलिए 'सर्व-धर्म' ऐसा प्रयोग सही नही है जब धर्म अनेक नही तब समभाव किन पर हो ? निश्चय-दृष्टि से यह धारणा उचित है व्यवहार की धारणा इससे भिन्न है जब हम धर्म और सम्प्रदाय को एक ही शब्द से अभिहित करते है, तब धर्म अनेक हो जाते है और उन सब पर समभाव रखने का प्रश्न भी उपस्थित होता है पर प्रति-प्रश्न यह है कि जो धर्म सम नही है उन पर समभाव कैसे रखा जाए ? कोई धर्म अहिंसा का समर्थन करता है और कोई नही करता. क्या उन दोनो को सम-दृष्टि से देखा जाए ? यह कैसे हो सकता है ? प्रकाश और धूमिल को सम नही माना जा सकता जो विषम है, उन्हे सम मानना मिथ्या दृष्टिकोण है

किन्तु स्याद्वाद के सदर्भ मे समभाव का अर्थ होगा अपने भावो का समीकरण जिसका दृष्टिकोण अनेकान्तस्पर्शी होता है वही व्यक्ति प्रत्येक धर्म के सत्याश को स्वीकार और असत्याश का परिहार करने मे सम (तटस्थ) रह सकता है धर्म के विचार अनेक है कोई कालवादी है, कोई स्वभाववादी कोई ईश्वरवादी है, कोई यदृच्छावादी कोई नियति-वादी है, कोई पुरुषार्थवादी कोई कर्मवादी है, कोई परिस्थितिवादी कोई प्रवृत्तिवादी है, कोई निवृत्तिवादी

श्वेताश्वतर-उपनिषद् मे उल्लेख है कि—काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत और पुरुष—ये अलग-अलग विश्व के कारण नही हैं और इनका सयोग भी आत्मा के अधीन है, इसलिए वह भी विश्व का कारण नही है आत्मा सुख, दु ख के हेतुओ के अधीन है, इसलिए वह भी विश्व का कारण नही हो सकता[1]

ब्रह्मवादी विचारधारा प्रवृत्त हुई तब उसके सामने ये अभिमत प्रचलित थे महाभारत मे हमे काल, स्वभाव आदि का समर्थन करनेवाले असुरो के सिद्धात मिलते हैं प्रह्लाद स्वभाववादी थे. इन्द्र ने उनसे पूछा—"आप राज्य-भ्रष्ट होकर भी शोक-मुक्त कैसे है ?"[2]

प्रह्लाद ने कहा—"मेरी यह निश्चित धारणा है कि सब कुछ स्वभाव से ही प्राप्त होता है मेरी आत्म-निष्ठ-बुद्धि भी इसके विपरीत विचार नही रखती[3]

इसी प्रकार इन्द्र के प्रश्न पर असुरराज बलि ने काल के कर्तृत्व का समर्थन किया.[4] नमुचि ने नियतिवाद के समर्थन मे कहा—"पुरुष को जो वस्तु जिस प्रकार मिलनेवाली होती है, वह उस प्रकार मिल ही जाती है जिसकी जैसी भवित-व्यता होती है, वह वैसा ही होता है"[5]

---

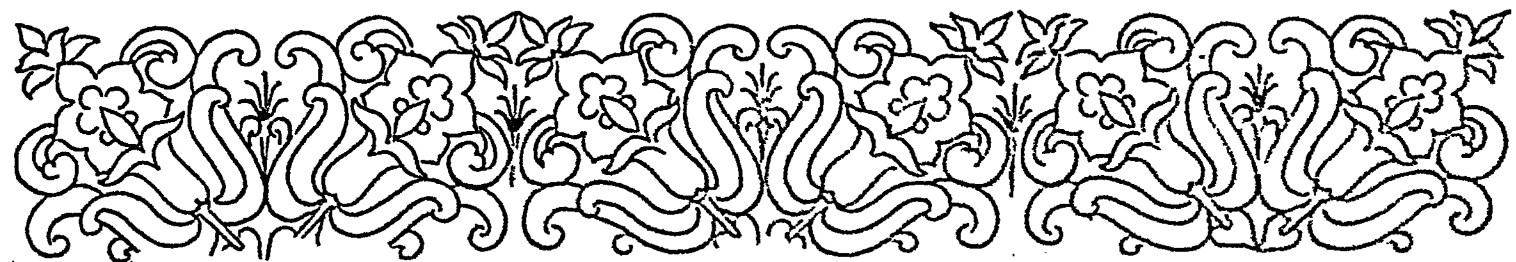
१. श्वेताश्वतर १ २
काल• स्वभावो नियतिर्यदृच्छा, भूतानि योनि• पुरुष इति चिन्त्या।
सयोग एषा न त्वात्मभावा दात्माप्यनोशः सुखदु खहेतो ।

२. महाभारत शान्तिपर्व २२३ ११

३ महाभारत शान्तिपर्व २२३ २३, २२७ ७३
कालः कर्त्ता विकर्त्ता च, सर्वमन्यदकारणम् ।
नाश विनाशमैश्वर्य, सुख दु ख भवाभवौ ॥

४. महाभारत शान्तिपर्व २२४। ५-६०

५. महाभारत शान्तिपर्व २२६ १०



स्याद्वाद की मर्यादा के अनुसार काल, स्वभाव आदि कार्य की निष्पत्ति में कारण है, पर ये वियुक्त होकर किसी कार्य को निष्पन्न नही करते. इनका समुचित योग होने पर ही कार्य निष्पन्न होता है आचार्य सिद्धसेन के शब्दो में—'काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत और पुरुषार्थ'—ये पाचो कारण परस्पर निरपेक्ष होकर अयथार्थ बन जाते है और ये ही परस्पर सापेक्ष होकर यथार्थ बन जाते है [1]

वस्तुस्थित्या कर्त्तृत्व स्वय पदार्थ मे होता है. प्रत्येक पदार्थ का सस्थान स्वय सचालित होता है. काल आदि उसके सचालन मे निमित्त कारण बनते है. पदार्थ और उसकी कारण-सामग्री से अतिरिक्त किसी शक्ति मे कर्त्तृत्व का आरोप करने की कोई अपेक्षा नही. फिर भी कुछ दार्शनिक ईश्वरकर्त्तृत्व की स्थापना करते है. हरिभद्र सूरि ने स्याद्वाद भाषा मे कहा—"कर्त्ता वही होता है जो परम ईश्वर है. आत्मा परम ईश्वर है वह अपने स्वभाव-कार्य का कर्त्ता है. कर्त्तृवाद अमान्य ही नही, हमें मान्य भी है.[2]"

कोई दार्शनिक स्थायित्व का आग्रह करता है, कोई परिवर्तन का किन्तु स्याद्वादी दोनो का प्रत्येक वस्तु में समाहार करता है. इसीलिए उसकी दृष्टि में केवल स्थायी या केवल परिवर्तनशील पदार्थ होता ही नही. जिसमे विरोधी धर्मो का सह-अस्तित्व न हो, वह असत् है—वैसी वस्तु का कोई अस्तित्व ही नही है. समभाव स्याद्वाद का पूर्व रूप है और सह-अस्तित्व उसका फलित है.

यदि सब पदार्थ या एक पदार्थ के अनेक धर्म अविरोधी ही होते तो पदार्थ एक ही होता और एक पदार्थ भी एक धर्म से युक्त होता, किन्तु ऐसा नही है और इसीलिए नही है कि अनेक विरोधी पदार्थ और हर पदार्थ मे अनेक विरोधी धर्म है जिनकी दृष्टि विषम होती है, वे ऐसा मानते है कि विरोधी वस्तुओ या धर्मों का सह-अस्तित्व हो ही नही सकता. किन्तु समदृष्टि वाले ऐसा मानते है कि सह-अस्तित्व, उन्ही का होता है जो विरोधी अशो से पृथक् अस्तित्व रखते है यह वस्तु-जगत् के प्रति स्याद्वाद का सह-अस्तित्व सिद्धान्त है.

धार्मिक जगत् के प्रति भी स्याद्वाद का फलित यही है. यह देखकर कष्ट होता है कि कुछ जैन विद्वान् स्याद्वाद का पूरा निर्वाह नही कर सके. वाद-विवाद के क्षेत्र मे वैसे उतरे, जैसे एकान्तवादी दार्शनिक उतरे थे समदृष्टि उतनी नही रही जितनी स्याद्वाद की पृष्ठभूमि मे रहनी चाहिए इसीलिए उसका फलित, सह-अस्तित्व, उतना विकसित नही हो सका, जितना होना चाहिए

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो एक ही महावृक्ष की महान् शाखाए है उनके सिद्धान्त-निरूपण मे भी कोई बहुत मौलिक अन्तर नही है. फिर भी दोनो शाखाओ के विद्वानो ने मतभेद की समीक्षा में ऐसे शब्द प्रयोग किये है, जो वांछनीय नही थे. लगता है कि स्याद्वाद की मर्यादा अब विकसित हो रही है श्वेताम्बर और दिगम्बर धारा की दूरी मिट रही है. सह-अस्तित्व निष्पन्न हो रहा है.

स्याद्वाद एक समुद्र है. उसमे सारे वाद विलीन होते है. जितने वचन-पथ है उतने ही नयवाद है, और जितने नयवाद है उतने ही दर्शन है [3]

---

१. सन्मतिप्रकरण ३ ५३
कालो सहाव णियई पुव्वकयं पुरिस कारणेगतं ।
मिच्छत्त ते चेवा (व) समासओ होंति सम्मत्त ॥

२ शास्त्रवार्तासमुच्चय २०७
परमैश्वर्ययुक्तत्वाद्, मत आत्मैव चेश्वरः ।
स च कर्तेति निर्दोष. कर्त्तृवादो व्यवस्थितः ॥

३. सन्मतिप्रकरण ३।४७
जावइया वयणपहा तावइया चेव होंति णयवाया ।
जावइया णयवाया तावइया चेव परसमया ॥

धर्म या दर्शन की तालिका बहुत लम्बी है उनके विचारो का भेद भी बहुत तीव्र है उनका समन्वय करना कोई सरल काम नही है पर स्याद्वाद का मूल समन्वय की गहराई मे नही है उसका मूल साधना की गहराई मे है वह वहा तक पहुचती है जहा सत्य ही आधार है प्रोफेसर कीथ का मतव्य है—"दर्शन के प्रति जैनियो की देन, जहां तक वह मौलिक थी, इस प्रयत्न के रूप मे है कि जो स्थिर वस्तु है और जो अस्थिर है उन दोनो के विरोध का समाधान कैसे किया जाए ? उनका समाधान इस रूप मे है कि एक स्थिर सत्ता के रहते हुए भी वह बराबर परिवर्तनशील है. यही सिद्धान्त न्याय मे प्रसिद्ध स्याद्वाद का रूप धारण कर लेता है इस वाद को मूलत इस रूप मे कह सकते है कि एक अर्थ मे किसी बात को कहा जा सकता है, जबकि दूसरे अर्थ मे उसी का निषेध भी किया जा सकता है परन्तु जैनदर्शन का कोई गम्भीर विकास नही हो सका क्योकि यह आवश्यक समझा गया कि जैनदर्शन जिस रूप मे परम्परा से प्राप्त था, उसको वैसा ही मान लेना चाहिए और इस अवस्था मे उसे बौद्धिक आधार पर खडा नही किया जा सकता [1]

प्रो० कीथ का निष्कर्ष पूर्णत यथार्थ नही है तो पूर्णत अयथार्थ भी नही है जैन विद्वान् परम्परा-सेवी रहे है परन्तु जैनदर्शन का गम्भीर विकास नही हुआ, यह सही नही है इसमे कोई सन्देह नही कि जैन-परम्परा मे तर्क- शास्त्र का उतना विकास नही हुआ जितना नैयायिक और बौद्ध धारा मे हुआ इसका कारण यही मान्यता थी कि सत्य की उपलब्धि तर्क के द्वारा नही, किन्तु साधना के द्वारा होती है

स्याद्वाद एक तर्क-व्यूह के रूप मे गृहीत नही हुआ, किन्तु सत्य के एक द्वार के रूप मे गृहीत हुआ

केवल स्याद्वाद को जानने वाला सब धर्मों पर समभाव नही रख सकता, किन्तु जो अहिंसा की साधना कर चुका, वही सब धर्मो पर समभाव रख सकता है स्याद्वाद अहिंसा का ही एक प्रकार है जो अहिंसक न हो और स्याद्वादी हो, यह उतना ही असम्भव है कि कोई व्यक्ति हिंसक हो और शुष्क तर्कवादी न हो

कौटिल्य ने तर्कविद्या को सब धर्मो का आधार कहा है [2] इसके विपरीत भर्तृहरि का मत है—"कुशल अनुमाता के द्वारा अनुमित अर्थ भी दूसरे प्रवर तार्किक द्वारा उलट दिया जाता है [3] इसी आशय के सन्दर्भ मे आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा था—"कोरे ज्ञान से निर्वाण नही होता, यदि श्रद्धा न हो कोरी श्रद्धा से भी वह प्राप्त नही होता, यदि सयम न हो" [4]

जैन विद्वानो ने सयम और श्रद्धा से समन्वित ज्ञान का विकास किया, इसलिए उनका तर्कशास्त्र स्याद्वाद की परिधि से बाहर विकसित नही हो सकता था

तर्क से विचिकित्सा का अन्त नही होता वही तर्क जब स्याद्वादस्पर्शी होता है, तो विचिकित्सा समाप्त हो जाती है तर्कशास्त्र के सारे अगो का जैन आचार्यो ने स्पर्श किया और हर दृष्टिकोण को उन्होने मान्यता दी उनके सामने असत्य कुछ भी नही था असत्य था केवल एकान्तवाद और मिथ्या आग्रह आग्रह न हो तो चार्वाक का दृष्टिकोण भी असत्य नही है, वह इन्द्रियगम्य सत्य है वेदान्त का दृष्टिकोण भी असत्य कैसे है? वह अतीन्द्रिय सत्य है इन्द्रिय-गम्य और अतीन्द्रिय दोनो का समन्वय पूर्ण सत्य है.

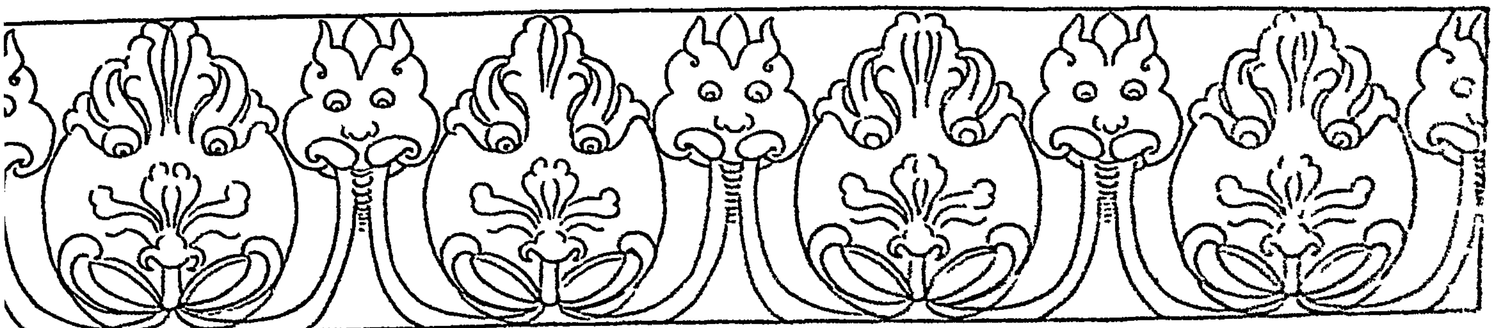
---

१ सस्कृत साहित्य का इतिहास पृष्ठ ५८६

२ कौटलीय अर्थशास्त्र १।२
आश्रय सर्वधर्माणा, शश्वदान्वीक्षिकी मता ।

३ वाक्यपदीय १।३४
यत्नेनानुमितोऽप्यर्थ कुशलैरनुमातृभि ।
अभियुक्ततरैरन्यै रन्यथैवोपपाद्यते ।।

४ प्रवचनसार चारित्राधिकार । ३७
ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहण जदि ण अत्थि अत्थेसु ।
सद्दहमाणो अत्थे, असजदो वा ण णिव्वादि ।।

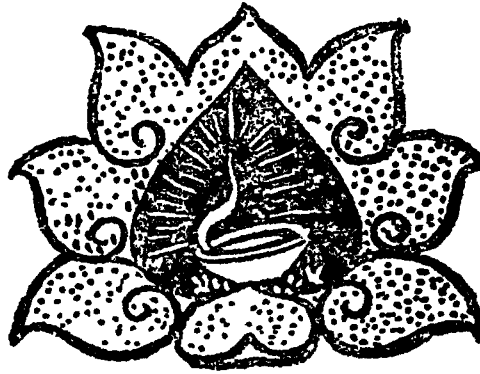


समन्वय या समभाव की दिशा मे हरिभद्र सूरि का दृष्टिकोण बहुत प्रशस्त है उन्होने लिखा है—"जिस प्रकार अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त कर्म का सम्बन्ध जैन दृष्टि से घटित होता है, अमूर्त आकाश के साथ घट का सम्बन्ध होता है, अमूर्त ज्ञान पर मूर्त मदिरा का आघात होता है, वैसे ही साख्य का प्रकृतिवाद घटित हो सकता है. कपिल मुनि दिव्य-ज्ञानी थे. वे भला असत्य कैसे कहते ?[1]"

महात्मा बुद्ध ने क्षणिक-वाद का उपदेश आसक्ति मिटाने के लिए, विज्ञान-वाद का उपदेश बाह्य-पदार्थों से विमुक्त रखने के लिए दिया. वे भला बिना प्रयोजन के ऐसी बात कैसे कहते.[2]

अद्वैत की देशना समभाव की सिद्धि के लिए की गई[3] इस प्रकार विरोधी प्रतिभासित होने वाली दृष्टियो मे अविरोध ढूढना और उनके प्रवर्तको के प्रति आदरभाव प्रकट करना एक समदर्शी स्याद्वादी महातार्किक का ही काम है.

आज जैन मनीषियो के लिए यह सद्य प्राप्त कार्य है कि वे समभाव की साधना से समन्वित स्याद्वाद का प्रयोग कर जीवन के हर क्षेत्र मे उठने वाले विवादो और सघर्षो का शमन करें.

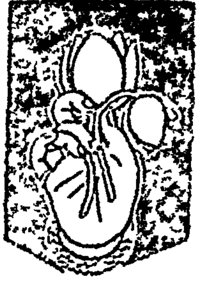


---

१ शास्त्रवार्तासमुच्चय २३६–२३७
मूर्तस्याप्यात्मनो योगो, घटेन नभसो यथा ।
उपघातादिभावश्च, ज्ञानस्येव सुरादिना ॥
एव प्रकृतिवादोऽपि, विज्ञेयः सत्य एव हि ।
कपिलोक्तत्वतश्चैव, दिव्यो हि स महामुनिः ॥

२ शास्त्रवार्तासमुच्चय ४६४–६६ ।

३. शास्त्रवार्तासमुच्चय ५५० ।



श्री सौभाग्यमल जैन

स्याद्वाद और अहिंसा

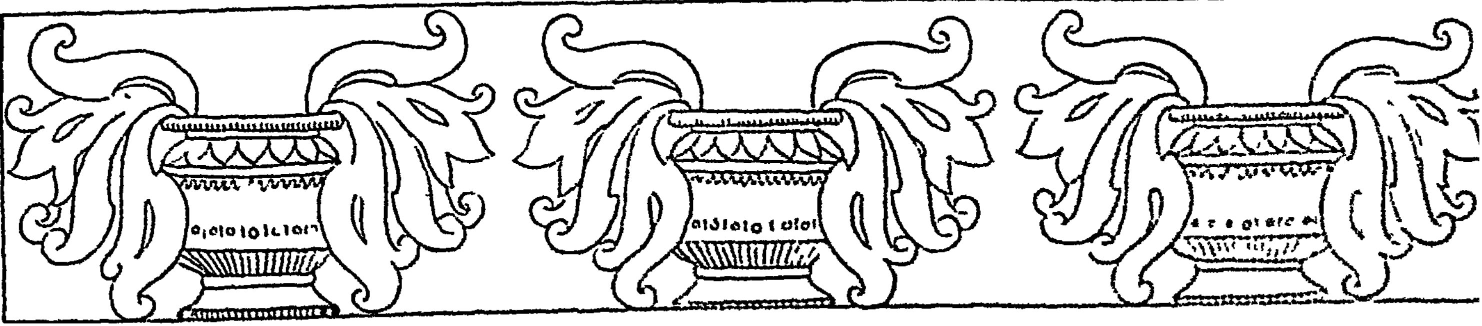
स्याद्वादो वर्तते यस्मिन्, पक्षपातो न विद्यते,
नास्त्यन्यपीडनं किञ्चित् जैनधर्मः स उच्यते ।

आचार्य ने सक्षिप्त मे जैन धर्म का अतस्तल उक्त श्लोक मे व्यक्त कर दिया है. वास्तव मे 'स्याद्वाद और अहिंसा' जैन धर्म का प्राण है जिस प्रकार किसी प्राणधारी के शरीर मे से प्राण निकल जाने पर वह निष्प्राण हो जाता है, उसका जीवन समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार "जैनधर्म" मे से उक्त दोनो महान् सिद्वान्त यदि कम minus कर दिये जावें तो उसका अस्तित्व ही नही रहेगा वैसे सूक्ष्म पर्यवेक्षण करने मे ज्ञात होगा कि उक्त दोनो सिद्वान्त वास्तव मे एक ही है स्याद्वाद मे अहिंसा की भावना निहित है और अहिंसा मे स्याद्वाद की जैन दर्शन मे अहिंसा का सिद्वान्त सर्वोपरि है. जैन दर्शन ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे अहिंसा का प्रयोग किया है जैन दार्शनिक विचारमथन ने प्राणी के वधनिषेध मात्र को अहिंसा की परिपूर्णता नही मानी अपितु यह भी आवश्यक समझा कि मनुष्य मे "बौद्धिक अहिंसा" भी जरूरी है मनुष्य मे जब तक विचार करने की क्षमता है उसके दृष्टिकोण मे अतर रहेगा इसी प्रकार विश्व मे प्रत्येक वस्तु अनत धर्मात्मक है और यह भी स्वाभाविक है कि मनुष्य के सीमित ज्ञान के कारण वस्तु का भिन्न-भिन्न स्वरूप अथवा प्रश्न के समस्त पहलू एक समय ही मनुष्य के मस्तिष्क मे नही आ सकते इस कारण मनुष्य का किसी वस्तु अथवा प्रश्न के सम्बन्ध मे अभिप्राय आशिक सत्य ही हो सकता है. यदि मनुष्य आशिक सत्य पर ही परस्पर विवाद करता रहे तथा स्वय द्वारा अनुभूत सत्य (आशिक) को ही पूर्ण सत्य होने का दावा करता रहे तो यह परिपूर्ण सत्य नही हो सकता वास्तव मे आशिक सत्यो को यदि एकत्रित कर लिया जाये तो ही पूर्ण सत्य का दर्शन हो सकता है. यही स्थिति विश्व के धर्मो की विभिन्न मान्यताओ के सम्बन्ध मे है.

विश्व के धर्माचार्यो ने अपनी तात्कालिक परिस्थिति से प्रभावित होकर सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया था इस कारण यह स्वाभाविक था कि देश, काल, क्षेत्र की भिन्नता के कारण उन सिद्वान्तो मे वैषम्य होता और यही हुआ भी किन्तु मनुष्य अपने धर्माचार्यो के प्रति ममता, उनके मन मे व्याप्त आग्रह तथा अहकार ने उसको उस आशिक सत्य को पूर्ण सत्य मानने के लिए प्रेरित किया परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक धर्म का अनुयायी अपने द्वारा स्वीकृत आशिक सत्य को पूर्ण सत्य, अन्तिम सत्य मानता रहा यहा तक भी ठीक था किन्तु उसके आग्रह तथा अहकार मे वृद्धि हुई और उसने स्वय द्वारा स्वीकृत आशिक सत्य को दूसरे धर्मानुयायी से पूर्ण सत्य के रूप मे मनवाने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ किया परस्पर प्रतिस्पर्द्धा हुई, उससे कटुता निर्मित हुई और विश्व ने देखा कि धार्मिक असहिष्णुता ने विश्व मे जघन्य दुष्कृत्य कराये और धर्म के नाम पर उनको स्वर्ग-प्रवेश का साधन बताया गया.

विश्व के इतिहास मे रुचि रखने वाले सज्जन भलीभाति जानते है कि धर्म के नाम पर धार्मिक असहिष्णुता के कारण जितने अत्याचार हुए है उतने किसी अन्य कारण से नही हुए यह आश्चर्य का विषय है कि 'धर्म' मनुष्य को आतरिक शक्ति प्रदानकर्त्ता होते हुए भी मनुष्य ने उसका दुरुपयोग किया विचार करने पर यही फलित होता है कि मनुष्य मे आग्रह अहकार तथा तज्जनित 'बौद्धिक हिंसा' काम कर रही है धार्मिक असहिष्णुता के कारण हिंसक दृश्यो की हमारे देश मे कमी नही रही यूरोप आदि देशो मे भी कमी नही रही

जैनधर्म के अतिम तीर्थकर 'महात्मा महावीर' के हृदय मे इस परिस्थिति के निराकरण के लिए आन्दोलन प्रारम्भ हुआ.



पाठक भलीभाति जानते है कि महात्मा महावीर के समय मे विभिन्न सिद्धान्तो (वादों) का प्रतिपादन करने वाले दार्शनिक तथा धर्माचार्य वर्तमान थे और वह अपने-अपने मतो का प्रचार करते थे इस कारण यह स्वाभाविक था कि परस्पर जय-पराजय की भावना से वाद-विवाद होता, परस्पर कटुता निर्मित होती और परिणाम स्वरूप धर्म की आत्मा का हनन होता. जैन शास्त्रो से यह स्पष्ट है कि महात्मा महावीर के समय में ३६३ मत प्रचलित थे बौद्ध साहित्य से भी यह स्पष्ट है कि उस समय ६२ या ६३ मत प्रचलित थे. सख्या का महत्व नही है किन्तु उस समय जन साधारण मे मतिभ्रम था और परस्पर धार्मिक असहिष्णुता विद्यमान थी. महात्मा महावीर ने इस स्थिति पर गम्भीर विचार किया और यह प्रतिपादित किया कि यह सब आशिक सत्य प्रतिपादित करते हैं यदि पूर्ण सत्य का दर्शन करना चाहते हो तो एकात का आग्रह तज दो इसी सदर्भ मे ३६३ मतो का समन्वय किया.

सूक्ष्म विचार करने पर यह भलीभाति स्पष्ट होगा कि महात्मा महावीर ने विश्व के प्रत्येक प्रश्न तथा वस्तु के सम्बन्ध मे विचार करने की एक नई पद्धति को जन्म दिया जिसे "अनेकान्त-विचारधारा" कहा जाता है संक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि महात्मा महावीर ने प्रत्येक वस्तु तथा प्रश्न पर ७ नयो की अपेक्षा से विचार करके अपना मत स्थिर करने की जिस पद्धति का आविष्कार किया उसे 'सप्तभगी' अथवा 'अनेकान्त-विचारपद्धति' कहा गया. उसे वाणी द्वारा स्पष्ट करने को "स्याद्वाद" नाम से अभिहित किया सत्य यह है कि इस 'अनेकान्त-विचार पद्धति' मे किसी पक्षविशेष के प्रति आग्रह नही होता, अनाग्रह होता है. किसी वस्तु अथवा प्रश्न के प्रति एक दृष्टिकोण अपनाने वाला उसी वस्तु तथा प्रश्न के प्रति अन्य दृष्टिकोण अपनाने वाले के प्रति उदार विचार रखता है. वह मानता है कि उसमे भी सच्चाई है मेरे द्वारा अपनाया दृष्टिकोण जहा सत्य है वहाँ अन्य दृष्टिकोण मे भी सत्यता हो सकती है यह उदारता का लक्षण है एकात विचार-धारा का व्यक्ति जहा अपने द्वारा अपनाये दृष्टिकोण के प्रति 'ही' का आग्रह रखता है वहा अनेकात विचारधारा वाला 'भी' का मत रखता है. वास्तव मे महात्मा महावीर ने इस सिद्धान्त का आविष्कार करके विश्व के सम्मुख 'धार्मिक असहिष्णुता' या सर्वधर्मसमभाव का उदाहरण प्रस्तुत किया है.

महात्मा महावीर के निर्वाण से १००० वर्ष पश्चात् का काल साहित्य की दृष्टि से "आगमयुग" कहा जाता है अर्थात् विक्रमपूर्व ४७० से लेकर विक्रम पश्चात् ५ वी शताब्दी तक का काल "आगम युग" है. उसके पश्चात् ५ वी शताब्दी से ८ वी शताब्दी तक का काल साहित्यनिर्माण की दृष्टि से "अनेकान्तयुग" कहा जाता है इस युग मे महात्मा महावीर के पश्चात्-वर्ती आचार्यो ने अनेकान्त पर प्रचुर साहित्य का निर्माण किया. महात्मा महावीर द्वारा प्रतिपादित "स्याद्वाद" सिद्धान्त का ही यह प्रताप था कि जैनाचार्यो ने जो तार्किक दृष्टिकोण अपनाया उस प्रकार का निष्पक्ष तथा उदार दृष्टिकोण अन्य के लिए अपनाना सम्भव नही था. श्रीमद् हेमचन्द्रचार्य ने शिवमन्दिर मे निम्नप्रकार की स्तुति की थी—

> भवबीजांकुरजनना रागाद्या क्षयमुपागता यस्य ।
> ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥

उक्त श्लोक मे आचार्य ने उस महापुरुष को नमस्कार किया है जिसने रागद्वेप नष्ट करके पुर्नजन्म की सम्भावना समाप्त कर दी हो, चाहे वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, हरि हो या जिन हो. इस उदारता का उदाहरण अन्यत्र मिलना सम्भव नही है. जैनाचार्यों के तार्किक दृष्टिकोण के सम्बन्ध में निम्न उद्धरण पर्याप्त होगा जो एक जैनाचार्य ने दृढ शब्दो मे व्यक्त किया था—

> पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु ।
> युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

उक्त आचार्य को न तो महावीर के वचनो के सम्बन्ध मे पक्षपात है और न कपिलादि मुनियो के सम्बन्ध मे द्वेप है. उनकी केवल एक कसौटी तर्क है. वह तर्क-युक्त वचनो को प्रमाण के रूप में मान्य करते है. इसी प्रकार एक अन्य आचार्य स्वय महात्मा महावीर के अनुयायियो द्वारा अपनाई गई एकांत विचारधारा के कारण क्षुब्ध होकर स्पष्ट मन्तव्य देते हैं कि :—

नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे, न तत्त्ववादे न च तर्कवादे,
न पक्षसेवाऽऽश्रयणेन मुक्ति कषायमुक्ति. किल मुक्तिरेव ।

उक्त आचार्य ने केवल कषाय से मुक्तता को ही मोक्ष का कारण प्रतिपादन किया है यदि हम जैनेतर दृष्टिकोण पर विचार करे तो वहाँ पर भी ऐसे सूत्र-वाक्य मिल जाते है जिनमे स्याद्वाद अथवा अनेकान्तविचार पद्धति का प्राधान्य है उदाहरण के लिए "एक सद्विप्रा वहुधा वदति" एक ही सत्य को विप्रगण अनेक प्रकार से प्रतिपादन करते हैं. वास्तव मे विश्व ही भिन्नता का समूह है उसमे किसी के दुराग्रह के लिए कोई स्थान नही है.

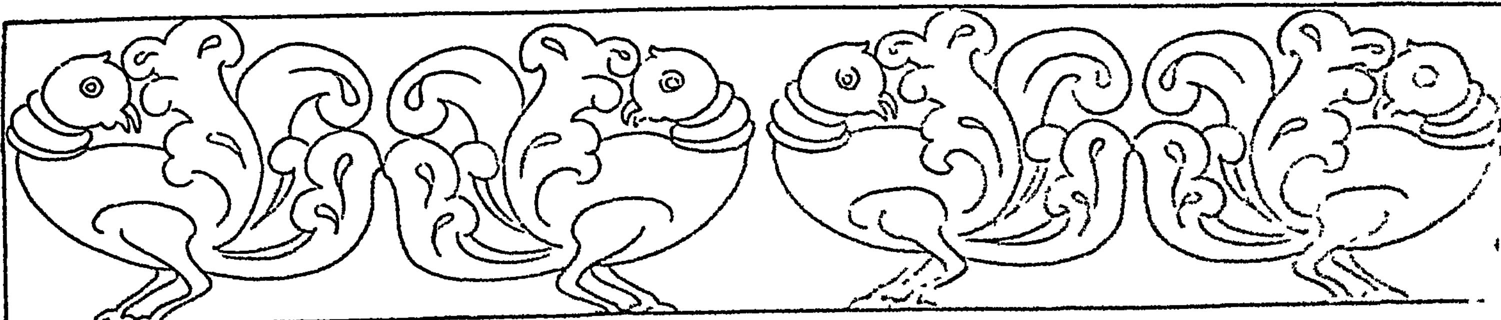
हो भिन्न सब भिन्नत्व तो संसार का है नियम ही,
पर भिन्न होना नहिं किसी से बुद्धिमत्ता है यही ।

जैनाचार्यों ने इस सिद्धान्त का जनसाधारण को सरलता से वोध कराने के लिए कई उदाहरण अपने साहित्य मे प्रस्तुत किये है स्याद्वाद के सम्बन्ध मे कुछ अजैन विद्वानो ने भ्राति उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है कुछ विद्वान् इसे सशय-वाद (ढिलमिल यकीनी) वताते है यह भी कहा जाता है कि इसमे जव मनुष्य अपने से भिन्न दृष्टि को सत्य होने का विचार करता है तव वह अपने द्वारा अपनाये हुए दृष्टिकोण को असत्य मानता है इसी प्रकार किसी समय एक दृष्टिकोण को सत्य मानता है किसी समय अन्य को यही ढिलमिल यकीनी तथा सशयवाद कहा जाता है किन्तु जैनाचार्यो ने दधि-मथन का उदाहरण देकर इसका निराकरण किया है युरोपीय विद्वानो ने "सापेक्षवाद" (Principle of relativity) का आविष्कार करके उक्त सिद्धान्त की उपयोगिता मानी है एक विद्वान् का कहना है कि यह सिद्धात अत्यन्त सरल तथा तर्कपूर्ण है यदि एक लकीर स्लेट पर खीच कर परीक्षा की जाये कि यह वडी है या छोटी ? तो निश्चित रूप-से उसके दोनो उत्तर होगे अन्य लकीर (जो उससे छोटी हो) खीचकर उसे वडी कहा जा सकता है और अन्य (जो उससे वडी हो) खीचकर उसे छोटी कहा जा सकता है यही तो सापेक्षवाद है

स्याद्वाद सिद्धात की पृष्ठभूमि मे जो भावना काम करती है वही भावना प्रजातत्रीय पद्धति मे कार्य करती है लोक-तत्रात्मक राज्य मे पार्लियामेंट मे "विरोधी दल" का वडा महत्त्व है उसमे भी यही भावना काम करती है "सत्तारूढ दल" अपनाई गई नीति मे आलोचना की गुजायश स्वीकार करता है सत्तारूढ दल अपने द्वारा अपनाई नीति तथा कार्य-क्रम मे विश्वास रखते हुए भी इस वात की गुजायश स्वीकार करता है कि अन्य नीति तथा कार्यक्रम देशहित के लिए अपनाया जाना उचित हो सकता है उक्त आलोचना को सुनकर वह लाभ उठाता है हम उसे 'राजनीतिक स्याद्वाद' के नाम से अभिहित कर सकते हैं

जैसा कि ऊपर व्यक्त किया गया है स्याद्वाद एक अग है अहिंसा का स्याद्वाद वास्तव मे बौद्धिक अहिंसा ही है ऊपर यह भी वतलाया जा चुका है कि जैनदर्शन मे "अहिंसा" सर्वोपरि है यदि यह कहा जाए कि "अहिंसा" जैन-दर्शन का पर्यायवाची नाम है तो भी अत्युक्ति न होगी भगवान् महवीर ने स्पष्ट कहा था कि जो तीर्थंकर पूर्व मे हुए, वर्तमान मे है, तथा भविष्य मे होगे, उन सबने अहिंसा का प्रतिपादन किया है अहिंसा ही ध्रुव तथा शाश्वत धर्म है इस प्रकार जैनदर्शन मे अहिंसा का स्थान सर्वोपरि पाया जाता है जैनदर्शन द्वारा प्रतिपादित "अहिंसा" के सम्बन्ध मे देश मे काफी भ्रम रहा. किसी ने उसे अव्यवहार्य वताया, किसी ने उसे वैयक्तिक वताकर सामाजिक, राजकीय प्रश्नों के लिए अनुपयोगी वताया इस प्रकार का भ्रम उत्पन्न करने वालो ने जैनदर्शन द्वारा प्रतिपादित "अहिंसा" का पूर्ण अध्ययन किये विना ही उसकी आलोचना की है जो जैनदर्शन मनुष्य अथवा प्राणधारी के जीवन की प्रत्येक क्रिया मे हिंसा का आभास पाता है और कहता है कि विश्व मे किसी भी प्राणधारी की, पृथ्वी, अप, तेज, वायु, वनस्पति तथा त्रस जीवों की हिंसा से विरत रहना चाहिए, उसी जैनदर्शन के व्याख्याता आचार्यो ने यह भी प्रतिपादित किया कि—

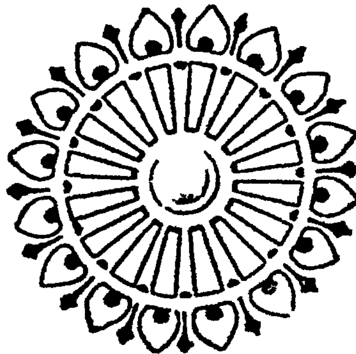
"जयं चरे, जयं चिट्ठे, जयमासे, जयं सये,
जयं भुंजंतो. भासंतो, पावकम्मं न बंधइ ।



तात्पर्य यह है कि जैनदर्शन यह मानता है कि किसी भी प्राणधारी का जीवन सर्वथा अहिंसक होना असम्भव है, क्योंकि प्राणधारी द्वारा जीवित रहने के लिए वायु काय आदि के जीवो का सहार विना इच्छा ही हो जाता है. इसी कारण उपरोक्त व्याख्याकार ने यत्नपूर्वक जीवनयापन मे पापकर्म के बधन न होने का प्रतिपादन किया है. हमारे देश के जीवन मे अहिंसा की जो छाप दृष्टिगोचर होती है वह जैनधर्म की देन है सामूहिक प्रश्नो के निराकरण के लिए अहिंसा का प्रयोग हमारे देश मे काफी सफल रहा जैनदर्शन मे मनुष्य को केवल वैयक्तिक जीवन व्यतीत करने का ही विधान नही किया है अपितु सामूहिक जीवन मे उसके कर्त्तव्य भी बतलाये है. जैनशास्त्र "स्थानाग सूत्र" मे ग्रामधर्म नगरधर्म राष्ट्रधर्म आदि का उल्लेख करके मनुष्य को सामूहिक जीवन के कर्त्तव्यो का बोध कराया गया हमारे देश मे विदेशी सत्ता के विरुद्ध महात्मा गाधीजी के नेतृत्व में "अहिंसक युद्ध" ही लडा गया. जिसके परिणामस्वरूप देश स्वतन्त्र हुआ और आज हम स्वतन्त्रता के फल भोग रहे है. वास्तव मे यह प्रयोग था हमारे इतिहास मे शायद ही अहिंसा के सामूहिक प्रयोग का उदाहरण उपलब्ध हो सके. प्रचीन ग्रथो मे हार तथा हाथी के लिए स्वजनो का युद्ध एक प्रसिद्ध घटना है. रामायणकाल मे रावण को सत्पथ पर लाने के लिए श्रीरामचन्द्र ने युद्ध का ही आश्रय लिया. महाभारत मे भी भ्रातृजनो मे व्याप्त कलह के कारण युद्ध को अनिवार्य माना गया महाभारत युद्ध के एक पात्र के द्वारा निम्न वाक्य कहलाये जो तत्कालीन स्थिति पर प्रकाश डालते है और जिससे युद्ध की अनिवार्यता स्पष्ट होती है

"सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव"

वास्तव मे अहिंसा के प्रयोग मे गाधी-युग ने एक नई दिशा का श्रीगणेश किया था किन्तु गाधीयुग के उक्त श्रीगणेश को आज विश्व मे अधिक प्रोत्साहन नही मिल रहा है आज पूज्य गाधीजी के स्वर्गवास को १५ वर्ष हो गये. उनके अभूतपूर्व व्यक्तित्व के अभाव के कारण "अहिंसा" का विचार गति नही पा रहा है, विश्व के राजनीतिज्ञ अपने प्रश्नो के निपटाने के लिए अहिंसा का माध्यम स्वीकार नही करते अपितु हिंसक युद्ध को माध्यम मानते है. यही कारण है कि कुछ समय पूर्व चीन ने सीमा विवाद के नाम पर भारत पर हिंसक आक्रमण किया और शातिप्रेमी भारत को अपने रक्षण के हेतु शस्त्रो का उपयोग करना पडा दुर्भाग्य से हमारे बीच अहिंसा का अपूर्व हामी पूज्य गाधी जी जैसा प्रभावशाली व्यक्तित्व नही है इसी कारण अहिंसा के तत्त्वदर्शन को हमारे जीवन में जो स्थान मिलना चाहिए था वह नही मिल पा रहा है काश समाज कोई ऐसा नररत्न पैदा कर सके.





श्रीकन्हैयालाल लोढा, बी० ए०

जैनदर्शन और विज्ञान

वर्त्तमान युग विज्ञान का युग है इसमे प्रत्येक सिद्धात विज्ञान के प्रकाश मे निरखा-परखा जाता है. विज्ञान की कसौटी पर खरा न उतरने पर उसे अधविश्वास माना जाता है और उस पर विश्वास नही किया जाता है आज अनेक प्राचीन धार्मिक एव दार्शनिक सिद्धान्त विज्ञान के समक्ष न टिक सकने से धराशायी हो रहे है परन्तु जैनदर्शन इसका अपवाद है वह विज्ञान के प्रकाश से शुद्ध स्वर्ण के समान अधिक चमक उठा है

विज्ञान के विकास के पूर्व जैनदर्शन के जिन सिद्धातो को अन्य दर्शनकार कपोल-कल्पित कहते थे वे ही आज विज्ञान-जगत् मे सत्य प्रमाणित हो रहे है जिस युग मे प्रयोगशालाएँ तथा यान्त्रिक साधन न थे, उस युग मे ऐसे सिद्धातो का प्रतिपादन करना निश्चय ही उनके प्रणेताओ के अलौकिक ज्ञान का परिचायक है

जैनदर्शन के सिद्धातो से विश्वविख्यात साहित्यकार श्री जार्ज बर्नार्ड शा इतने अधिक प्रभावित थे कि महात्मा गाधी के पुत्र श्रीदेवदास गाधी ने जब उनसे पूछा कि आप से किसी धर्म को मानने के लिए कहा जाय तो आप किस धर्म को मानना पसद करेंगे ? शा ने चट उत्तर दिया— 'जैनधर्म' इसी प्रकार प्रसिद्ध विद्वान् डा० हर्मन जैकोबी आदि ने जैनदर्शन के सिद्धातो की भूरि-भूरि प्रशसा की है

जैनदर्शन के उन कतिपय सिद्धातो पर, जो पहले इतर दार्शनिको के बुद्धिगम्य न थे और आज विज्ञान जिन्हे सत्य सिद्ध कर रहा है, प्रस्तुत निबन्ध मे प्रकाश डाला जायेगा

जीव तत्त्व

पृथ्वी, पानी, पावक, पवन और वनस्पति की सजीवता:—जैनदर्शन विश्व मे मूलत दो तत्त्व मानता है —जीव[1] और अजीव इनमे से जीव के मुख्यत दो भेद माने गये हैं[2]—त्रस और स्थावर वे जीव जो चलते फिरते है त्रस और जो स्थिर रहते है वे स्थावर कहे जाते है केचुआ, चिउटी मक्खी, मच्छर, मनुष्य, पशु आदि त्रस जीवो को तो अति प्राचीन काल से ही प्राय सभी दर्शन सजीव स्वीकार करते रहे है परन्तु स्थावर जीवो को एक मात्र जैनदर्शन ही सजीव मानता रहा है स्थावर जीवो के भी पाँच भेद हैं[3]-पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति.

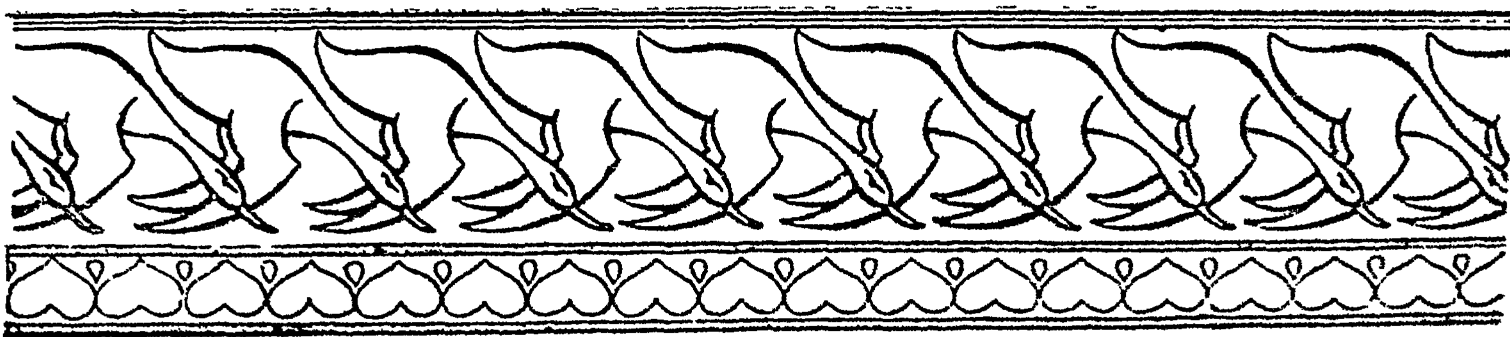
कुछ समय पूर्व तक जैनदर्शन की स्थावर जीवो की मान्यता को अन्य दर्शनकार एक मनगढत कल्पना मानते थे. परन्तु आज विज्ञान ने इस मान्यता को सत्य सिद्ध कर दिया है

---

१ जीवा चेव अजीवा य एस लोए वियाहिए —उत्तराध्ययन अ० ३६ गाथा २.

२. ससारिणस्त्रसस्थावरा:—तत्त्वार्थसूत्र अ० २ सूत्र १२

३. पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतय: स्थावरा: —तत्त्वार्थसूत्र अ० २ सूत्र १३.



श्री एच० टी० वर्सटापेन का कथन है कि जिस प्रकार वालक वढ़ता है वैसे ही पर्वत भी धीरे-धीरे वढते हैं. आप विश्व के पर्वतों की वृद्धि का अकन करते हुए लिखते हैं[1]—न्यूगिनी के पर्वतो ने अभी अपनी शैशवावस्था ही पार की है. सेलिवोस के दक्षिणी पूर्वी भागों, मोलूकास के कुछ टापुओं और इडोनेशिया के द्वीप-समूह की भूमि भी ऊँची उठ रही है. श्री सुगाते का मत है कि न्यूजीलैण्ड के पश्चिमी नेलसन के पर्वत 'प्लाइस्टोसीन' युग के अत मे विकसित हुए हैं. श्री वेलमेन के अनुसार आल्पस पर्वतमाला का पश्चिमी भाग अब भी वढ रहा है. द्वीपो की भूमि का उठाव तथा पर्वतो की वृद्धि पृथ्वी की सजीवता के स्पष्ट प्रमाण हैं

प्रसिद्ध वैज्ञानिक श्री कैप्टिन स्कवेसिवी ने यत्र के द्वारा एक लघु जलकण मे ३६४५० जीव गिनाये हैं. जिस प्रकार मनुष्य पशु आदि सजीव प्राणी श्वास द्वारा शुद्ध वायु से ओक्सीजन (oxygen) ग्रहण कर जीवित रहते है और ओक्सीजन या शुद्ध हवा के अभाव में मर जाते है, इसी प्रकार अग्नि भी वायु से ओक्सीजन लेकर जीवित रहती या जलती है और उसे किसी बरतन से ढक देने या अन्य किसी प्रकार हवा न मिलने देने पर तत्काल वुझ जाती है वैज्ञानिको का कथन है कि सुई के अग्रभाग जितनी हवा मे लाखो जीव रहते है जिन्हे 'थेक्सस' कहा जाता है.

वनस्पति भी सजीव है विज्ञान-जगत् में यह वात सर्वप्रथम सर जगदीशचन्द्र वसु ने सिद्ध की उन्होने यत्रो के माध्यम से प्रत्यक्ष दिखाया कि पेड-पौधे आदि वनस्पतिया मनुष्य की भाँति ही अनुकूल परिस्थिति मे सुखी और प्रतिकूल परिस्थति मे दु खी होती है तथा हर्ष, शोक, रुदन आदि करती है जैनागमो[2] मे आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चारो सज्ञाओ को भी वनस्पति में स्वीकार किया गया है.

वैज्ञानिको ने सिद्ध किया है कि वनस्पतियाँ मिट्टी, जल, वायु तथा प्रकाश से आहार ग्रहण कर अपने तन को पुष्ट करती है आहार के अभाव मे वे जीवित नही रह सकती. वनस्पतियाँ भी पशु पक्षियो के समान निरामिप आहारी और सामिप आहारी दोनो प्रकार की होती है आम, नीम, जामुन आदि निरामिष आहारी वनस्पतियाँ तो हमारी आँखो के सामने सदैव ही रहती है. सामिष आहारी वनस्पतियाँ अधिकतर विदेशो मे पाई जाती हैं.

आस्ट्रेलिया में एक प्रकार की वनस्पति होती है जिसकी डालो मे शेर के पंजो के समान वडे-वडे काँटे होते है. अगर कोई सवार घोडे पर चढा इस वृक्ष के नीचे से निकले तो वे घोडे पर से उस व्यक्ति को इस प्रकार उठा लेती है, जैसे वाज किसी छोटी चिडिया को फिर वह शिकार उस वृक्ष का आहार वन जाता है अमरीका के उत्तरी कैरोलीना राज्य मे वीनस फ्लाइट्रेप पौधा पाया जाता है ज्यो ही कोई कीडा या पतगा इसके पत्ते पर वैठता है तो पत्ता तत्काल वद हो जाता है. पौधा जव उसका रक्त-मास सोख लेता है, तव पत्ता खुल जाता है और कीडे का सूखा शरीर नीचे गिर जाता है. इसी प्रकार 'पीचर प्लाट' रेन हैटट्रम्पट, वटर-वार्ट, सनड्यू, उपस, टच-मी-नाट, आदि अनेक मासाहारी वृक्ष है जो जीवित कीटो को पकड़ने व खाने की कला मे प्रवीण हैं.

भय के लिए तो छुईमुई आदि वनस्पतियाँ प्रसिद्ध ही है, जो अगुली दिखाने मात्र से भयभीत हो अपने शरीर को सिकोड़ लेती है वनस्पति में मैथुन-क्रिया किस प्रकार सपन्न होती है तथा इस क्रिया के सपन्न न होने की स्थिति मे फूल फल मे परिणत नही होते हैं, आदि सव वाते श्री पी० लक्ष्मीकात[3] ने सविस्तार दिखाई है वनस्पतियाँ अपने और अपनी सतान के लिए आहार का सग्रह या परिग्रह भी करती है. वनस्पतिविशेषज्ञो का कथन है कि एक[4] भी फूलने वाला पौधा ऐसा नही है जो अपने वच्चे के लिए बीज रूप मे पर्याप्त भोजनसामग्री इकट्ठी न कर लेता हो. ऐसे पौधे वसन्त और गर्मी में खूव प्रयास करके सामग्री जमा कर लेते हैं. वनस्पति मे निद्रा का वर्णन करते हुए हिरण्यमय बोस लिखते

---

१. नवनीत, सितम्बर १६६२.

२. चत्तारि सण्णाओ पण्णत्ताओ तजहा-आहारसण्णा. भयसण्णा, मेहुणसण्णा परिग्गहसण्णा—ठाणागसूत्र स्था० ४ उ० ४.

३. नवनीत, अगस्त १६५५ पृष्ठ २६ से ३२

४. देखिये नवनीत, अप्रैल १६५२ पृष्ठ २६



है—'जैसे जीवित (चलते-फिरते) प्राणी परिश्रम के बाद रात मे सोकर थकावट दूर करते हैं वैसे ही पेड़-पौधे भी रात को सोते हैं सूडान और वेस्ट इडीज मे एक ऐसा वृक्ष मिलता है जिसमे से दिन मे विविध प्रकार की राग-रागिनिया निकलती है और रात मे ऐसा रोना-धोना प्रारम्भ होना है मानो परिवार के सब सदस्य किसी की मृत्यु पर बैठे रो रहे हो या सिसक रहे हो डा० जगदीशचन्द्र वसु ने तो वनस्पति की क्रोध, घृणा, प्रेम, आलिंगन आदि अनेक अन्य प्रवृत्तियो पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है जैन ग्रथो मे वनस्पति की उत्कृष्ट आयु दस हजार वर्ष कही गई है प्रसिद्ध वैज्ञानिक एडमड शुमाशा के कथनानुसार आज भी अमेरीका के कैलीफोर्निया के नेशनल वन मे ४६०० वर्ष की आयु के वृक्ष विद्यमान है

आत्म-अस्तित्व और विज्ञान

आज के विज्ञान-जगत् मे आत्म-अस्तित्व पर भी विश्वास प्रकट किया जाने लगा है विश्व के महान् वैज्ञानिक अपनी शोध-खोज के आधार पर आत्म-अस्तित्व स्वीकार करने लगे हैं यथा[1] —

"वह युग निश्चय ही आयेगा, जब विज्ञान अज्ञात-अज्ञेय के सभी बन्द दरवाजे खोलने मे समर्थ होगा जितना हम पहले सोचते थे, ब्रह्माण्ड उससे भी अधिक आध्यात्मिक तत्त्वो पर टिका है सच तो यह है कि हम ऐसे आध्यात्मिक जगत् मे रहते है, जो भौतिक ससार से अधिक महान् और सशक्त है"—सर ओलिवर लॉज

कोई अजानी शक्ति निरन्तर क्रियाशील है, परन्तु हमे उसकी क्रिया का कुछ पता नही . मै मानता हूँ कि चेतना ही प्रमुख आधारभूत वस्तु है पुराना नास्तिकवाद अब पूरी तरह मिट चुका है और धर्म, चेतना तथा मस्तिष्क के क्षेत्र का विषय बन गया है इस नयी धार्मिक आस्था का टूटना सभव नही है"—सर ए० एस० एडिंग्टन

"कुछ ही समय पहले तक यह बात वैज्ञानिक क्षेत्रो मे एक हद तक फैशन बन गई थी कि अपने को नास्तिक (एग्नौस्टिक) कहा जाए, लेकिन अब अगर कोई आदमी अपनी नास्तिकता की नासमझी पर गर्व करता है, तो यह लज्जा और तिरस्कार की बात है नास्तिकता का फैशन अब मिट चुका है और, यह विज्ञान के श्रम का ही फल है"—साइन्स एड रिलिजन

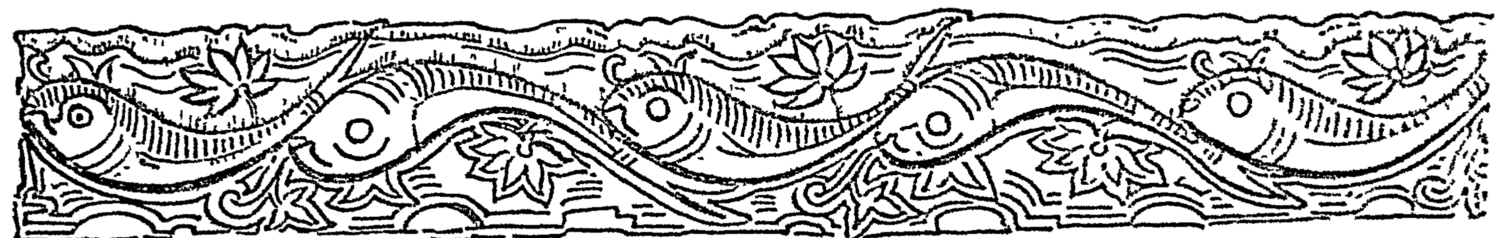
"सच्चाई तो यह है कि जगत् का मौलिक रूप जड (Matter), बल (Force) अथवा भौतिक पदार्थ न होकर मन और चेतना ही है.—जे० बी० एस० हेल्डन

अजीव तत्त्व

अब दूसरे तत्त्व 'अजीव' को लीजिए जैनागमो मे अजीव के पाँच भेद कहे है—(१) धर्म (२) अधर्म (३) आकाश (४) काल (५) पुद्गल ये पाँच द्रव्य तथा जीव कुल छ द्रव्य रूप यह लोक[2] कहा गया है यहाँ न तो धर्म, शब्द कर्त्तव्य, गुण, स्वभाव व आत्म-शुद्धि के साधन का अभिव्यजक है और न अधर्म शब्द दुष्कर्म या पाप का अभिव्यजक. यहाँ ये दोनो ही जैन दर्शन के विशेष पारिभाषिक शब्द है और दो मौलिक द्रव्यो के सूचक है जैनागमो मे धर्म शब्द उस द्रव्य के लिए प्रयुक्त हुआ है जो जीव और पुद्गल की गतिक्रिया मे सहायक होता है और अधर्म उस द्रव्य के लिए प्रयुक्त हुआ है जो जीव और पुद्गल की स्थिति मे सहायक होता है इसी प्रकार 'आकाश' और 'काल' को भी मौलिक द्रव्यो मे स्थान दिया है

धर्म और अधर्म—विज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण शोध 'ईथर' है ईथर और जैनदर्शन मे कथित धर्म द्रव्य के गुणो मे

१. ज्ञानोदय अक्टूबर १९५९
२ धम्मो अहम्मो आगास, कालो पुग्गल जन्तवो.
एस लोगोत्ति पन्नत्तो, जिणेहि वरदसिहि । —उत्तराध्ययन अ० २८ गा ७



इतना अधिक साम्य है कि ये दोनों एक द्रव्य के दो पृथक्-पृथक् नाम हैं, ऐसा कहना असमीचीन न होगा. ईथर के विषय मे भौतिक विज्ञानवेत्ता डा० ए० एस० एडिंगटन लिखते है.—[१]

"आज कल यह स्वीकार कर लिया गया है कि ईथर भौतिक द्रव्य नही है. भौतिक की अपेक्षा उसकी प्रकृति भिन्न है— भूत मे प्राप्त पिण्डत्व और घनत्व गुणो का ईथर मे अभाव होगा परन्तु उसके अपने नये और निश्चयात्मक गुण होंगे— "ईथर का अभौतिक सागर."

अलवर्ट आईन्स्टीन के अपेक्षावाद के सिद्धातानुसार ईथर अभौतिक (अपारमाणविक), लोकव्याप्त, नही देखा जा सकने वाला, अखड द्रव्य है प्रोफेसर जी० आर० जैन एम० एस-सी० धर्म द्रव्य और ईथर का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए लिखते है.—[२]

"यह सिद्ध हो गया है कि विज्ञान और जैन दर्शन दोनो यहाँ तक एकमत है कि धर्मद्रव्य या ईथर अभौतिक, अपारमाणविक, अविभाज्य, अखड आकाश के समान व्यापक, अरूप, गति का अनिवार्य माध्यम और अपने आप में स्थिर है."

इसी प्रकार स्थिति मे सहायक अधर्म द्रव्य (Medium of rest) के विषय मे वैज्ञानिको की खोज जारी है.

आकाश और काल

जैन दर्शन के समान ही विज्ञान-जगत् मे आकाश और काल का भी द्रव्य के रूप मे अस्तित्व स्वीकार कर लिया गया है. विश्वविख्यात वैज्ञानिक आइन्स्टीन का कथन है कि देश और काल स्वतत्र पदार्थ है और ये भी घटनाओ मे भाग लेते हैं. नयी भौतिकी सकेत देती है कि देश और काल के भीतर केवल द्रव्य और विकिरण ही नही बहुत सी और भी चीजें है जिनका महत्त्व है. डा० हेनशा का मत है—

These four elements (Space, Matter, Time and Medium of motion) are all seperate in our mind. We cannot imagine that the one of them could depend on another or converted into another.

अर्थात् 'आकाश, पुद्गल, काल और गति का माध्यम (धर्म) ये चारों तत्त्व हमारे मस्तिष्क मे भिन्न-भिन्न है हम इसकी कल्पना भी नही कर सकते कि ये एक दूसरे पर निर्भर रहते हो या एक दूसरे में परिवर्तित हो सकते हो'. इससे जैनदर्शन के इस सिद्धात की पुष्टि होती है कि सभी द्रव्य स्वतंत्र परिणमन करते है और कोई किसी के अधीन नही है.

उत्तराध्ययन सूत्र अ०२८ गाथा ८ के अनुसार 'अणताणि य दव्वाणि कालो पुग्गल जतवो' अर्थात् काल द्रव्य अनन्त है. तथा अलोकाकाश मे काल आदि द्रव्य नही है जैनदर्शन की इन दोनो मान्यताओ की पुष्टि एडिंग्टन ने की है :—

The World is closed in space dimensions (लोकाकाश) but it opens at both ends its time dimensions. I shall use the phrase arrow to express this one way property which has no analogue in space.

---

१ Now a days it is agreed that ether is not a kind of matter, being non-material, its properties are quite unique, characters such as a mass and rigidity which we meet with in matter will naturally be absent in ether but that ether will have new definite characters of its own .... .non material ocean of ether.

The Nature of the physical world P. 31.

२. Thus it is proved that Science and Jain physics agree absolutely so far as they call Dharm (ether) non-material, non-atomic, non-discrete, continuous, co-extensive with space, in divisible and as a necessary medium for motion and one which does not it self move.

जैन दर्शन लोक को परिमित मानता है और अलोक को अपरिमित लोक को छ द्रव्य रूप मानता है और अलोक केवल एक आकाश द्रव्यमय है. प्रो० अलवर्ट आइस्टीन ने भी लोक और अलोक की भेद-रेखा खींचते हुए जो व्यक्त किया है उससे जैन दर्शन की लोकविषयक उपर्युक्त मान्यता का पूर्ण समर्थन होता है आइन्स्टीन का कथन है —"लोक परिमित है, अलोक अपरिमित लोक के परिमित होने के कारण द्रव्य अथवा शक्ति लोक के बाहर नही जा सकती लोक के बाहर उस शक्ति (द्रव्य) का अभाव है, जो गति मे सहायक होती है" जैन दर्शन ने भी अलोक मे द्रव्यो के अभाव का कारण गति मे सहायक धर्मास्तिकाय के अभाव को ही बताया है कितनी आश्चर्यजनक समानता है दोनो के सिद्धान्तो मे !

पुद्गल-परमाणु

अजीव का पाँचवाँ भेद पुद्गल (Matter) है विश्व के दृश्यमान सपूर्ण पदार्थ इसी के अतर्गत आते है पुद्गल वर्ण, गध, रस व स्पर्श युक्त होता है पुद्गल का सूक्ष्मतम अविभागी अश 'परमाणु' कहा गया है जैन दर्शन सोना, चादी, शीसा, पारा, मिट्टी, लोहा, कोयला, पत्थर, भाप, गैस आदि सर्व पदार्थो को एक ही प्रकार के परमाणुओ से निर्मित मानता है पदार्थो की भिन्नता का कारण केवल परमाणुओ के स्निग्धता और रूक्षता आदि गुणो के अतर मे निहित मानता है उसके अनुसार परमाणु परमाणु के वीच कोई भेद नही है कोई भी परमाणु कालातर मे किसी भी परमाणु रूप परिणमन कर सकता है आधुनिक विज्ञान पहले इस तथ्य को स्वीकार नही करता था तथा ९२ प्रकार के मौलिक परमाणु मानता था परन्तु अणु की रचना के आविष्कार ने सिद्ध कर दिया कि सब पदार्थो की रचना एक ही प्रकार के परमाणुओ से हुई है और इनका अन्तर केवल उनके अतर्हित धनाणु (Proton) और ऋणाणु (Electron) की सख्याभेद से है. यही नही, प्रयोगशाला मे वैज्ञानिको ने एक तत्त्व को दूसरे तत्त्व मे परिवर्तित कर उक्त सिद्धान्त को व्यावहारिक सत्य प्रमाणित किया वैज्ञानिक वैंजामिन ने पारे को सोने मे वदल दिया अनेक प्रयोगशालाओ मे प्लेटिनम् को सोने मे वदलने के प्रयोग सफल हो चुके है.

ठाणाग सूत्र, स्थानक २ उ० ३ मे पुद्गल के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है—'दुविहा पोग्गला पण्णत्ता, तजहा परमाणुपोग्गला चेव नोपरमाणुपोग्गला चेव, अर्थात् पुद्गल के दो भेद है (१) परमाणु—जिसका विभाग न हो तथा (२) स्कध-बहुत से परमाणुओ का समुदाय अभिप्राय यह है कि परमाणुओ से स्कन्ध और स्कन्धो के समुदाय से वस्तुनिर्माण होता है परमाणुओ से स्कन्ध का निर्माण कैसे होता है, इस विषय मे पन्नवणासूत्र के त्रयोदश परिणामपद मे वर्णन आया है—'गोयमा ! दुविहे परिणामे पण्णत्ते तजहा समणिद्धयाए वधो न होई, समलुक्खयाए वि ण होई, वेमायणिद्धलुक्खत्तणेण. णिद्धस्य णिद्धेण दुयाहिएण, लुक्खस्स लुक्खेण दुयाहिएण णिद्धस्य लुक्खेण उवइ वधो, जघन्नवज्जो विसमो समो वा.' यहाँ आगम मे अनेक परमाणुओ मे निहित स्निग्धता और रूक्षता बतलाते हुए कहा है—'समान गुण वाले स्निग्ध और समान गुण वाले रूक्ष परमाणु वध को प्राप्त नही होते वध स्निग्धता और रूक्षता की मात्रा मे विपमता से होता है दो गुण अधिक होने से स्निग्ध का स्निग्ध के साथ तथा रूक्ष का रूक्ष के साथ वध हो जाता है स्निग्ध का रूक्ष के साथ भी वध हो जाता है किन्तु जघन्य गुण वाले का विपम या सम किसी के साथ वध नही होता. अर्थात् एक गुण स्निग्ध और एक गुण रूक्ष परमाणुओ मे वधन नही होता

जैन दर्शनिको ने जैसे स्निग्धता और रूक्षता को वधन का कारण माना, वैज्ञानिको ने भी पदार्थ के धनविद्युत् और ऋणविद्युत्, इन दो स्वभावो को वधन का कारण माना. तथा जैसे जैन दर्शन परमाणु मात्र मे स्निग्धता और रूक्षता मानता है, आधुनिक विज्ञान भी पदार्थ मात्र मे धनविद्युत् तथा ऋणविद्युत् मानता है तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय ५, सूत्र ३४ की सर्वार्थसिद्धि टीका मे आकाश मे चमकने वाली विद्युत् की उत्पत्ति का विवेचन करते हुए कहा है[1]—"स्निग्धरूक्षगुण-

---

१. डा० वी० एल० शील का कथन है कि जैन दार्शनिक इस बात से पूर्ण परिचित थे कि पोजेटिव और नेगेटिव विद्युत्कणों के मिलने से विद्युत् उत्पन्न होती है



निमित्तो विद्युत्" अर्थात् विद्युत् स्निग्ध रूक्ष गुणो के मिलन का परिणाम है यो कहे कि स्निग्ध गुण से घन (Positive) विद्युत् और रूक्ष गुण से (Negative) विद्युत् उत्पन्न होती है. और इन दोनो की विद्यमानता प्रत्येक पदार्थ मे अनिवार्य है इस प्रकार आणविक वधन के कारणभूत सिद्धान्त मे जैन दर्शन और विज्ञान दोनो एक मत है जैन दर्शन की भाषा मे उसे स्निग्ध और रूक्ष गुणो का सयोग कहा है जब कि विज्ञान की भाषा घन और ऋण विद्युत् का सयोग कहती है यही नही, विज्ञान ने जैन दर्शन के इस सिद्धान्त को—कि दो गुण से अधिक होने पर स्निग्ध का स्निग्ध के साथ और रूक्ष का रूक्ष के साथ बध होता है—स्वीकार कर लिया है विज्ञान ने भारी ऋणाणु (Heavy Electrons) को स्वीकार किया है, उसे नेगेट्रोन (Negatrons) कहा जाता है. यह साधारण ऋणाणु का ही समुदाय है, इस प्रकार यह ऋणाणु का ऋणाणु के साथ अर्थात् रूक्ष का रूक्ष के साथ वधन है. इसी प्रकार प्रोटोन स्निग्ध का स्निग्ध के साथ तथा न्यूट्रोन स्निग्ध का रूक्ष के साथ वधन का परिणाम है

जैनदर्शन परमाणु को निरतर गतिशील मानता है विज्ञान भी कहता है कि प्रत्येक परमाणु में ऋणाणु (इलेक्ट्रोन) है और प्रत्येक इलेक्ट्रोन प्रति सेकिण्ड अपनी कक्षा पर १३०० मील की चाल से चक्कर काटता है प्रकाश की गति प्रति सैकिण्ड १८६००० मील है जैन शास्त्रो मे पुद्गल का वर्णन करते हुए कहा है —

> सद्दन्धयार-उज्जोओ, पभा छायाऽऽतवे इ वा,
> वण्णरसगंधफासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं । —उत्तराध्ययन सूत्र अ० २८ गा० १२.

अर्थात् शब्द, अधकार, उद्योत, प्रभा, छाया, आतप एव वर्ण, गध, रस स्पर्श ये पुद्गल है इनमे से शब्द, अधकार, प्रकाश, प्रभा, छाया, और ताप को पौद्गलिक मानना जैन दर्शन की निजी विशेषता थी, जो अन्य दर्शनों से निराली ही थी 'शब्द' ही को लीजिए। पहले यह आकाश का गुण माना जाता था इस विषय में प्रो० ए० चक्रवर्ती का मत देखिए —

The Jain account of sound is a physical concept. All other Indian systems spoke of sound as a quality of space But jainism explains in relation with material particles as a result of concission of atmospheric molecules. To prove this the jain thinkers employed arguments which are now generally found in the text Book of physics.

यहाँ यह दिखलाया गया है कि अन्य सब भारतीय विचारधाराएँ शब्द को आकाश का गुण मानती रही है जब कि जैनदर्शन उसे पुद्गल मानता है. जैन दर्शन की इस विलक्षण मान्यता को विज्ञान ने पुष्ट कर दिया है और अब वह पाठ्य-पुस्तको पर भी उतर रही है

आधुनिक वैज्ञानिक मानते है कि 'शब्द' शक्ति (energy) रूप है और यह प्रति घटा ११०० मील की गति से आगे बढता है. परन्तु विज्ञान के नये आविष्कारो ने शक्ति को पदार्थ का ही सूक्ष्म रूप स्वीकार कर लिया है. अतः शक्ति अब पदार्थ से भिन्न प्रकार की कोई वस्तु नही रह गई है. प्रोफेसर मैक्सवोर्न लिखते है—Energy and mass are just different names for the same thing—अर्थात् शक्ति और पदार्थ एक ही वस्तु के दो अलग-अलग नाम है. यही नही, आईस्टीन के सापेक्षवाद के अनुसार शक्ति भार सहित प्रमाणित हो चुकी है, साथ ही पदार्थत्व (mass) वाली भी.

विज्ञान अधकार, प्रकाश, छाया, ताप को शक्ति (energy) रूप मानता है और पहले कह आये है कि शक्ति पुद्गल का ही रूपान्तर मात्र है अत ये पुद्गल ही है इस प्रकार जैनदर्शन के इनको पौद्गलिक मानने के सिद्धात की पूर्ण पुष्टि हो जाती है अधकार, छाया और प्रकाश का विवेचन करते हुए लिखा है —

अंधकार केवल प्रकाश तथा व्यक्तीकरण पट्टियो (Interferance bands) पर गणना यत्र (counting machine) चलाया जाय तो काली पट्टी मे से विद्युत् रीति से विद्युद्दण्ड निसृत होते है. इससे सिद्ध होता है कि काली पट्टी केवल प्रकाश का अभाव ही नही किन्तु शक्ति (energy) का रूपांतर भी है अत. अधकार और छाया उर्जा के भी

रूपान्तर है[1] वैज्ञानिको ने अब प्रकाश और ताप की मात्रा को भी नाप लिया है. उनका कहना है कि प्रकाश विद्युत् चुम्बकीय तत्व है और एक वर्ग मील क्षेत्र पर एक मिनिट मे सूर्य से गिरने वाले प्रकाश की मात्रा का तौल ढाई तोला है तथा तीन हजार टन पत्थर के कोयले जलाने से उत्पन्न ताप का वजन लगभग एक माशा के बराबर होता है.

जैन शास्त्रो मे द्रव्य का लक्षण बताते हुए कहा—'सद् द्रव्यलक्षणम् उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्' (तत्त्वार्थ सूत्र अ० ५ सूत्र २९-३०) अर्थात् द्रव्य सत् है और सत् उसे कहते है जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य गुण युक्त हो अर्थात् जैन-दर्शन यह मानता है कि वस्तु अपने अस्तित्व रूप मे नित्य रहती है, उसका नाश कभी भी नही होता उत्पत्ति और विनाश तो उसकी पर्यायें मात्र है जैसे स्वर्ण के मुकुट को तोडकर कुडल बना देने पर भी स्वर्णत्व यथावत् बना रहता है. यह स्वर्णत्व ध्रौव्य है और मुकुट के आकार का नाश और कुडल के आकार का निर्माण क्रमशः व्यय और उत्पाद पर्यायें अर्थात् रूपान्तर मात्र है इसी प्रकार सब द्रव्य ध्रुव है, न तो शून्य से किसी द्रव्य का निर्माण ही सभव है और न कोई द्रव्य अपना अस्तित्व खोकर शून्य बनता है इसी मत का समर्थन करते हुए वैज्ञानिक लेवाईजर (Lavoiser) लिखते है.- Nothing can be created in every process there is just as much substance (quality of matters) present before and after the process has taken place There is only change of modification of matter (from law of indestructibility of matter as defind by Lavioser)

अर्थात् किसी भी क्रिया से कुछ भी नवीन उत्पत्ति नही की जा सकती और प्रत्येक क्रिया के पूर्व और पश्चात् की पदार्थ की मात्रा मे कोई अतर नही पडता है क्रिया से केवल पदार्थ का रूप परिवर्तित होता है

डेमोक्राइटस का अभिमत है—विज्ञान के 'शक्ति स्थिति' (conservation of Energy) ,वस्तु अविनाशित्व (law of Indestructibility) 'शक्ति की परिवर्तनशीलता' (Transformation of Energy) आदि सिद्धान्त स्पष्ट प्रमाणित करते है कि नाशवान पदार्थ मे भी ध्रुवत्व है Nothing can never become some thing and some thing can become nothing अर्थात् कुछ नही से किसी पदार्थ की उत्पत्ति नही हो सकती और कोई पदार्थ अभाव को प्राप्त नही हो सकता

जैन दर्शन के परमाणुसिद्धात की सचाई से प्रभावित होकर Dr G S Mallinathan लिखते है—A Student of Science, if reads the Jain treatment of matter will be surprised to find many corresponding ideas

अर्थात् एक विज्ञान का विद्यार्थी जब जैनदर्शन का परमाणुसिद्धात पढता है तो विज्ञान और जैनदर्शन मे आश्चर्यजनक समता पाता है रिसर्चस्कालर प० माधवाचार्य का कथन है कि आधुनिक विज्ञान के सर्वप्रथम जन्मदाता भगवान् महावीर थे.

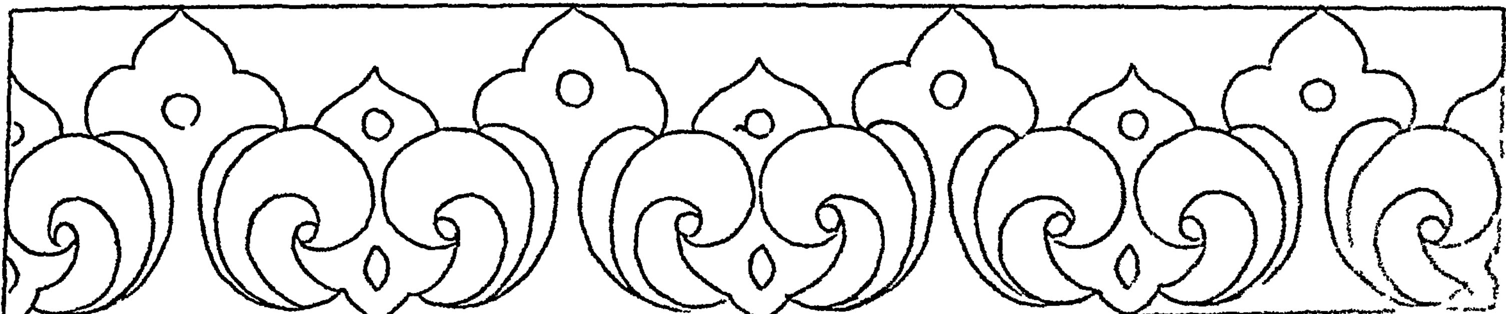
लेश्या

जैन दर्शन 'मन' को आत्मा से भिन्न अनात्म,जड, और एक विशेष प्रकार के पुद्गलो (मनोवर्गणा के द्रव्यो)मे निर्मित पदार्थ मानता है तथा उसमे उन गुणो को स्वीकार करता है जो पुद्गल मे विद्यमान है अर्थात् मन को भी पुद्गल की भाति वर्ण, आकार व शक्ति युक्त मानता है आगमो मे मन के विभिन्न स्तरो का वर्गीकरण लेश्याओं क रूप में किया गया है लेश्याएँ ६ प्रकार की होती है — (१) कृष्ण लेश्या (२) नील लेश्या (३) कापोत लेश्या (४) पीत(तैजस्) लेश्या (५) पद्म लेश्या (६) शुक्ल लेश्या ये क्रमश (१) अशुभतम भाव (२) अशुभतरभाव(३) अशुभभाव (४) शुभभाव (५) शुभतरभाव (६) शुभतम भाव की अभिव्यजक है

अत्यन्त महत्त्व की बात तो यह है कि लेश्याओ का नामकरण काले, नीले, कबूतरी, पीले, हल्का गुलाबी, शुभ्र आदि

---

१ नवनीत ५५ सितम्बर, पृष्ठ ७८



रंगों के आधार का किया गया है यह इस वात का स्पष्ट द्योतक है कि किस प्रकार के विचारों से किस प्रकार की मनोवर्गणाएँ उत्पन्न होती है. अतीव हिंसा, क्रोध, क्रूरता आदि अशुभतम भाव कृष्णलेश्या के अन्तर्गत होते हैं. इन भावो से कृष्ण वर्ण की मनोवर्गणाएँ पैदा होती हैं और ये लेश्यावाले व्यक्ति के चारो ओर वादलो के समान फैल जाती है. इसी प्रकार अशुभतर, अशुभ, शुभ, शुभतर, शुभतम भावों से नीले, कवूतरी, पीले, हल्का गुलावी, शुभ्र, वर्ण के मनोव-र्गणाओं के मेघो के समुदाय मे न केवल वर्ण ही होता है अपितु आकार एव शक्ति भी होती है. विचारो मे रंग, आकार, शक्ति होती है, इस तथ्य को पेरिस के प्रसिद्ध डाक्टर वेरडुक ने यत्रो की सहायता से प्रत्यक्ष दिखाया है. उन्होने विचारो से आकाश में जो चित्र वनते है उन चित्रो के एक विशेष यत्र से फोटो भी लिए है. यथाः—

एक लडकी अपने पाले हुए पक्षी की मृत्यु पर विलाप कर रही थी. उस समय के विचारो की फोटो ली गई तो मृत पक्षी का फोटो पिंजडे सहित प्लेट पर आ गया . एक स्त्री अपने शिशु के शोक में तल्लीन वैठी थी. उसके विचारो का फोटो लिया गया तो मृत बच्चे का चित्र प्लेट पर उतर आया आदि आदि—

श्री वेरडुक का कथन है कि जैसा सकल्प होता है उसका वैसा ही आकार होता है और उसी के अनुसार उस आकृति का रग भी होता है. आकाश मे, सकल्प द्वारा नाना रूप बनते है. इन रूपो की वाह्य रेखा की स्पष्टता-अस्पष्टता संकल्पो की तीव्रता के तारतम्य पर निर्भर है रग विचारो का अनुसरण करते है; यथा-प्रेम एव भक्ति युक्त विचार गुलावी रग, तर्क-वितर्क पीले रग, स्वार्थ-परता हरे रग तथा क्रोध लाल मिश्रित काले रंग के आकारो को पैदा करते है अच्छे विचारो के रग वहुत सुन्दर और प्रकाशमान होते है, उनसे रेडियम के समान ही सदैव तेज निकला करता है. (देखिये—"सकल्पसिद्धि" विचारो के रूप और रग.)

जैन शास्त्रो में एक अन्य लेश्या का भी वर्णन मिलता है. उसे तेजोलेश्या कहा गया है. आगमो में इसकी प्राप्तिहेतु तपश्चर्या की एक विशेष विधि वतलाई गई है तेजोलेश्या विद्युतीय शक्ति के समान गुण-धर्मवाली होती है. उसके[1] दो रूप है. एक उष्ण तेजोलेश्या, दूसरी शीतल तेजोलेश्या. अणु या विद्युत् शक्ति के समान यह भी दो प्रकार से प्रयोग मे लाई जाती है इसका एक प्रयोग सहारात्मक है और दूसरा प्रयोग सरक्षणात्मक. प्रथम प्रयोग मे प्रयोक्ता अपने मनो-जगत् मे उष्णता स्वभाव वाली उष्ण तेजोलेश्या की विद्युतीय शक्ति का प्रक्षेपण करता है जो विस्तार को प्राप्त हो अंग, वग, मगध, मलय, मालव आदि सोलह देशो का सहार (भस्म) करने में समर्थ होती है[2] दूसरे प्रयोग में प्रयोक्ता शीतल स्वभाववाली शीतल तेजोलेश्या की शक्ति का प्रयोग कर प्रक्षेपित उष्ण तेजोलेश्या के दाहक स्वभाव को शून्यवत् कर देता है.

उष्ण तेजोलेश्या का प्रयोग गोशालक ने भगवान् महावीर पर किया था. फलत. भ० महावीर के दो शिष्य भस्म हो गये और स्वय सर्वसमर्थ भ० महावीर को भी अतिसार रोग हो गया जिससे भ० महावीर छः मास तक पीडित रहे. इस शक्ति के प्रयोग के विषय मे श्रमण कालोदायी भ० महावीर से पूछता है और भगवान् सविस्तार उत्तर देते है.[3] अहो कालोदायि ! क्रुद्ध अनगार से तेजो लेश्या निकलकर दूर गई हुई दूर गिरती है, पास गई हुई पास मे गिरती है. वह तेजोलेश्या जहाँ गिरती है, वहाँ उसके अचित्त पुद्गल प्रकाश करते यावत् तपते हैं. उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि तेजोलेश्या एक विद्युतीय शक्ति-सी है. इस विषय मे विज्ञान की वर्त्तमान उपलब्धियो से आश्चर्य-जनक समानता मिलती है :—

---

१. भगवती-शतक १५

२. सोलसण्हं जणवयाणं तंजहा—अंगाणं, वंगाणं, मगहाणं, मलयाणं, मालवगाणं, अच्छाणं, वच्छाणं, कोच्छाणं, पाढाणं, लाढाणं वज्जीणं, मोलि.ण, कासीणं, कोसलाणं, अवाहाणं, सुमुत्तराणं, घाताए, वहाए उच्छादणट्ठाए भासीकरणयाए.
—भगवती, शतक १५

३. कुद्धस्स अणगारस्स तेउलेस्सा निसट्ठासमाणी दूरं गंता दूरं निपतइ, देसं गंता देसं निपतइ, जहिं जहिं च णं से निपतइ तहिं तहिं च णं ते अचित्ता वि पोग्गला ओभासंति जाव पभासंति. भगवती शतक ७ उ० १०

"विचार[1] शक्ति की परीक्षा करने के लिए डाक्टर वेरडुक ने एक यत्र तैयार किया है एक काच के पात्र मे सुई के सदृश एक महीन तार लगाया है और मन को एकाग्र करके थोडी देर तक विचार-शक्ति का प्रभाव उस पर डालने से सुई हिलने लगती है यदि इच्छा-शक्ति निर्बल हो तो उसमे कुछ भी हलचल नही होती विचार-शक्ति की गति बिजली से भी तीव्र है. पृथ्वी के एक कोने से दूसरे कोने तक एक सैकेंड के १६ वें भाग मे १२००० मील तक विचार जा सकता है"

विचार के समय मस्तिष्क मे विद्युत् उत्पन्न होती है और उसका असर भी मिकनातीसी सुई द्वारा नापा गया है जिस प्रकार यत्रो द्वारा विद्युत् तरगो का प्रसारण और ग्रहण होता है और रेडियो, टेलीग्राम, टेलीफोन, टेलीप्रिंटर, टेलीवीजन आदि उस विद्युत् को मानव के लिए उपयोगी व लाभप्रद साधन बना देते है, इसी प्रकार विचार-विद्युत् की लहरो का भी एक विशेष प्रक्रिया से प्रसारण और ग्रहण होता है इस प्रक्रिया को टेलीपैथी कहा जाता है यह पहले लिखा जा चुका है कि टेलीपैथी के प्रयोग से हजारो मील दूरस्थ व्यक्ति भी विचारो का आदान-प्रदान व प्रेषण-ग्रहण कर सकते है भविष्य मे यही टेलीपैथी की प्रक्रिया सरल और सुगम हो जनसाधारण के लिए भी महान् लाभदायक सिद्ध होगी, ऐसी पूरी सम्भावना है

आशय यह है कि अति प्राचीन काल ही से जैन जगत् के मनोविज्ञानवेत्ता मन के पुद्गलत्व, वर्ण, विद्युतीय शक्ति आदि गुणो से भलीभाँति परिचित थे जब कि इस क्षेत्र मे आधुनिक विज्ञानवेत्ता अभी तक भी उसके एक अग का ही अन्वेषण कर पाये है

ज्ञान

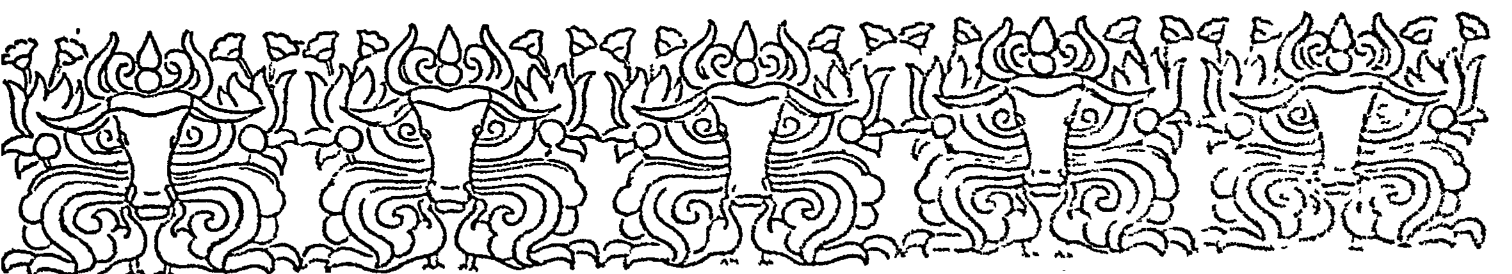
जैनशास्त्रो मे ज्ञान का वर्णन करते हुए कहा है —

> तत्थ पंचविह नाणं, सुयं आभिणिबोहिय ।
> ओहिनाणं तु तइयं मणनाणं च केवलं ॥—उत्तराध्ययन अ० २८ गाथा ४

अर्थात् ज्ञान पाच प्रकार का है—मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यव और केवल ज्ञान इनमे से मति और श्रुत ज्ञान तो प्राय सर्वमान्य है परन्तु शेष तीन ज्ञान के अस्तित्व पर अन्य दार्शनिक आपत्तिया उपस्थित करते रहे है लेकिन आधुनिक वैज्ञानिक अन्वेषण ने इनको सत्य प्रमाणित कर दिया है ज्ञान के स्वरूप का वर्णन करते हुए भगवती सूत्र श० १ उ० ३ मे कहा है—अवधि ज्ञान से मर्यादा सहित सकल रूपी द्रव्य, मन पर्यवज्ञान से दूरस्थ सज्ञी जीवो के मनोगत भाव तथा केवलज्ञान से तीन लोक युगपत् जाना जाता है इसी विषय पर वैज्ञानिको के विचार व निर्णय द्रष्टव्य है—डा० वगार्नर्डथिगा लिखते है[2] "पीनियल आई" नामक ग्रन्थि का अस्तित्व मानव मस्तिष्क के पिछले भाग मे है ग्रथि हमारे मस्तिष्क का अत्यत सबल रेडियो तन्त्र है जो दूसरो की आतरिक ध्वनि, विचार और चित्र ग्रहण करती है इसका विकास होने पर व्यक्ति दुनिया भर के लोगो के मन के भेद जान सकने मे समर्थ हो जायेगा मनुष्य-मनुष्य के बीच कोई दुराव न रह सकेगा कोई किसी से कुछ छिपा कर न रख सकेगा" लेखक का यह भी कहना है कि यह शक्ति प्राचीन काल मे विद्यमान थी, बाद मे लुप्त हो गई तथा डा० कर्वे का कथन[3] है—"पाच इन्द्रियो के अतिरिक्त एक छठी इन्द्रिय भी है जो अगम्य है, जिसे हम अतीन्द्रिय भी कह सकते है मनुष्य प्रयत्न करे तो उस छठी इन्द्रिय का विकास हो सकता है इस इन्द्रिय या शक्ति के कारण हम दूसरो के मन की बात जान सकते है मन के विचार जानने के अतिरिक्त ऐसे लोग दूर घटी घटना की सूचना भी प्राप्त कर सकते है कुछ वर्षो पूर्व ऐसी बाते करने वालो को

---

१ देखिये-सकल्प सिद्धि -अध्ययन-विचारशक्ति
२ नवनीत अप्रैल ५३
३ नवनीत जुलाई ५५



लोग मूर्ख मानते थे लेकिन इधर सुप्रसिद्ध विज्ञानवेत्ताओं ने काफी शोधकार्य के पश्चात् इस तथ्य मे विश्वास करना आरम्भ कर दिया है. कुछ विद्वानो का विश्वास है कि प्राचीन काल मे इस शक्ति का बहुत विकास हुआ था. इसी के समर्थन मे एक अन्य वैज्ञानिक का मन्तव्य[1] है—"अनदेखी और अनजानी चीजो के बारे मे सही-सही बता देने की ताकत को ही अंग्रेजी मे 'सिक्स्थ सेंस' अर्थात् छठी सूझ कहते हैं. समय और दूरी की सीमा मे ही नही बल्कि किसी दूसरे के मन और मस्तिष्क की अभेद्य सीमा के अन्दर भी आप इस सूझ के जरिये आसानी से प्रवेश पा सकते है क्या यह सच है ? क्या सचमुच ही ऐसी ताकत किसी मे हो सकती है ? बात कुछ असम्भव सी दीखती है पर है यह सत्य इससे इन्कार नही किया जा सकता".

दूरस्थ मानव के मन को बिना किसी भौतिक माध्यम (रेडियो, तार, टेलीफोन आदि) के हजारो मील दूरस्थ व्यक्ति के साथ केवल मन के माध्यम से विचारो का आदान-प्रदान प्रेपण-ग्रहण करने की प्रक्रिया को टेलीपैथी कहते है. आज टेलीपैथी के विकास में अमेरीका और रूस में होड लगी है. कुछ समय पूर्व अमेरीका के प्रयोगकर्त्ताओ ने हजारों मील दूर सागर के गर्भ मे चलने वाली पनडुब्बियो के चालको को टेलीपैथी प्रक्रिया से संदेश भेजने मे सफलता प्राप्त कर विश्व को चकित कर दिया है. अभिप्राय यह है कि दूरस्थ व्यक्ति के मन के भावो को जानना आज सिद्धांतत. स्वीकार कर लिया गया है.

प्रसिद्ध वैज्ञानिक आईन्स्टीन का कथन है कि यदि प्रकाश की गति से अधिक (प्रकाश की गति एक सेकिंड मे १८६००० मील है) गति की जा सके तो भूत और भविष्य की घटनाओ को भी देखा जा सकता है

अभिप्राय यह है कि विज्ञान अवधि, मन पर्यव व केवलज्ञान के अस्तित्व मे विश्वास करने लगा है.

दर्शन

जैनागमो मे 'तत्त्वार्थश्रद्धानम् सम्यग्दर्शनम्'[2] अर्थात् तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा है तत्त्वो की यथार्थ श्रद्धा स्याद्वाद के बिना होना असभव है. कारण कि स्याद्वाद ही एक ऐसी दार्शनिक प्रणाली है जो तत्त्व के यथार्थ स्वरूप का दिग्दर्शन करती है प्रत्येक तत्त्व या पदार्थ अनत गुणो का भडार है उन अनन्त गुणो मे वे गुण भी सम्मिलित है जो परस्पर में विरोधी हैं फिर भी एक ही देश और काल मे एक साथ पाये जाते हैं. इन विरोधी तथा भिन्न गुणो को विचार-जगत् में परस्पर न टकराने देकर उनका समीचीन सामञ्जस्य या समन्वय कर देना ही स्याद्वाद, सापेक्षवाद या अनेकातवाद है. अलबर्ट आइन्स्टीन के सापेक्षवाद (Theory of Relativity) के आविष्कार (जैनागमो की दृष्टि से आविष्कार नही) के पूर्व जैनदर्शन के इस सापेक्षवाद सिद्धात को अन्य दर्शनकार अनिश्चयवाद, संशयवाद आदि कहकर मखौल किया करते थे. परन्तु आधुनिक भौतिक विज्ञान ने द्वन्द्वसमागम (दो विरोधो का समागम) सिद्धात देकर दार्शनिक जगत् मे क्रान्ति कर दी है.

भौतिक विज्ञान के सिद्धांतानुसार परमाणु मात्र आकर्षण गुणवाले धनाणु (Proton) और विकर्षण गुण वाले ऋणाणु (Electron) के संयोग का ही परिणाम है अर्थात् धन और ऋण अथवा आकर्षण और विकर्षण इन दोनो विरोधों का समागम ही पदार्थरचना का कारण है. पहले कह आये हैं कि जैसे जैनदर्शन पदार्थ को नित्य (ध्रुव) और अनित्य (उत्पत्ति और विनाश युक्त) मानता है उसी प्रकार विज्ञान भी पदार्थ को नित्य (द्रव्य रूप से कभी नष्ट नहीं होने वाला) तथा अनित्य (रूपातरित होने वाला) मानता है इस प्रकार दो विरोधी गुणों को एक पदार्थ मे एक ही देश और एक ही काल में युगपत् मानना दोनो ही क्षेत्रों मे सापेक्षवाद की देन है

---

१. नवनीत जुलाई ५२ पृष्ठ ४०

२. तत्त्वार्थसूत्र अ० १ सूत्र २

दो रेलगाडिया एक ही दिशा मे पास-पास ४० मील और ३० मील की गति से चल रही है—तो ३० मील की गति से चलने वाली गाडी की सवारियो को प्रतीत होगा कि उनकी गाडी स्थिर है और दूसरी गाडी ४०-३०=१० मील की गति से आगे वढ रही है, जव कि भूमि पर स्थित दर्शक व्यक्तियो की दृष्टि मे गाडिया ४० मील और ३० मील की गति से चल रही हैं इस प्रकार गाडियो का स्थिर होना व विभिन्न गतियो का होना सापेक्ष ही है

जिस प्रकार स्याद्वाद मे 'अस्ति' और 'नास्ति' की बात मिलती है उसी प्रकार 'है' और 'नही' की वात वैज्ञानिक क्षेत्र के सापेक्षवाद मे भी मिलती है पदार्थ के तोल को ही लीजिए जिस पदार्थ को साधारणत हम एक मन कहते है सापेक्षवाद कहता है यह 'है' भी और 'नही' भी कारण कि कमानीदार तुला से जिस पदार्थ का भार पृथ्वी के धरातल पर एक मन होगा वह ही पदार्थ, मात्रा मे कोई परिवर्तन न होने पर भी पर्वत की चोटी पर तोलने पर एक मन से कम भार का होगा पर्वत की चोटी जितनी अधिक ऊँची होगी भार उतना ही कम होगा अधिक ऊँचाई के कारण ही उपग्रह मे स्थित व्यक्ति, जो पृथ्वी के धरातल पर डेढ-दो मन वजन वाला होता है, वहाँ वह भारहीन हो जाता है पदार्थ या व्यक्ति का भिन्न-भिन्न स्थानो पर भिन्न-भिन्न वजन का होना अपेक्षाकृत ही है

दूसरा उदाहरण और लीजिए-एक आदमी लिफ्ट मे खडा है उसके हाथ मे सतरा है जैसे ही लिफ्ट नीचे उतरना शुरू करता है वह आदमी उस सतरे को गिराने के लिए हथेली को उल्टी कर देता है परन्तु वह देखता है कि सतरा नीचे नही गिर रहा है और उसी की हथेली से चिपक रहा है तथा उसके हाथ पर दवाव भी पड रहा है कारण यह है कि सतरा जिस गति से नीचे गिर रहा है उससे लिफ्ट के साथ नीचे जाने वाले आदमी की गति अधिक है ऐसी स्थिति मे वह सतरा नीचे गिर रहा है और नही भी लिफ्ट के वाहर खडे व्यक्ति की दृष्टि से तो वह नीचे गिर रहा है परन्तु लिफ्ट मे खडे मनुष्य की दृष्टि से नही

आधुनिक विज्ञान इसी सापेक्षवाद के सिद्धात (Theory of relativity) का उपयोग कर दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति कर रहा है सापेक्षवाद न केवल विज्ञान के क्षेत्र मे वल्कि दार्शनिक, राजनैतिक आदि अन्य सब ही क्षेत्रो की उलझन भरी समस्याओ को सुलझाने के लिए वरदान सिद्ध हो रहा है अमेरिका के प्रसिद्ध विद्वान् प्रो० डा० आर्चा पी० एच० डी० अनेकात की महत्ता व्यक्त करते हुए लिखते है —The Aneekant is an important principle of jain logic, not commonly asserted by the western or Hindu logician, which promises much for world place through metaphysical harmony

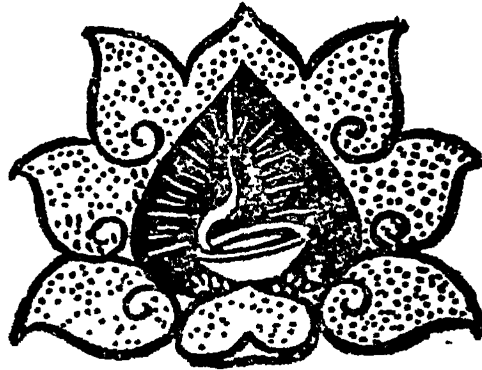
इसी प्रकार जैन दर्शन के 'कर्मसिद्धात' और विज्ञान की नवीन शाखा 'परामनोविज्ञान', अणु की असीम शक्ति का आविर्भाव करने वाले विज्ञान की अणु-भेदन प्रक्रिया और आत्मा की असीम शक्ति का आविर्भाव करने वाली भेद-विज्ञान की प्रक्रिया आदि गणित सिद्धातो मे निहित समता व सामञ्जस्य को देखकर उनकी देन के प्रति मस्तक आभार मे झुक जाता है

साराश यह है कि जैनागमो मे प्रणीत सिद्धात इतने मौलिक एव सत्य है कि विज्ञान के अभ्युदय से उन्हे किसी प्रकार का आघात नही पहुँचने वाला है, प्रत्युत् वे पहले से भी अधिक निखर उठने वाले है तथा विज्ञान के माध्यम से वे विश्व के कोने-कोने मे जन-साधारण तक पहुँचने वाले है.

विज्ञान-जगत् मे अभी हाल ही की आत्मतत्त्वशोध से आविर्भूत आत्म-अस्तित्व की सभावनाएँ एव उपलब्धियाँ विश्व के भविष्य की ओर शुभ सकेत है विज्ञान की वहुमुखी प्रगति को देखते हुए यह दृढ व निश्चय के स्वर मे कहा जा सकता है कि वह दिन दूर नही है जव आत्म-ज्ञान और विज्ञान के मध्य की खाई पट जायेगी और दोनो परस्पर पूरक व सहायक वन जायेंगे विज्ञान का विकास उस समय विश्व को स्वर्ग वना देगा, जिस मे अभाव, अभियोग तथा ईर्ष्या, द्वेष, वैयक्तिक स्वार्थ, शोषण आदि बुराइयाँ न होगी मानव का आनद भौतिक वस्तुओ पर आधारित न होकर प्रेम, सेवा,

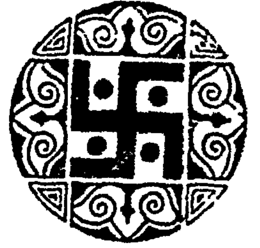


आदि मानवीय गुणो पर आधारित होगा. विज्ञान का विकास आध्यात्मिक क्षेत्र मे होगा, इसका समर्थन करते हुए विश्व के महान् वैज्ञानिक डा० चार्ल्स स्टाइनमेज लिखते है —महानतम[1] आविष्कार आत्मा के क्षेत्र में होगे. एक दिन मानव-जाति को पुन प्रतीत हो जायगा कि भौतिक वस्तुएँ आनद नही देती और उनका उपयोग स्त्री पुरुषो को सृजनशील तथा शक्तिशाली वनाने मे वहुत ही कम है. तव वैज्ञानिक प्रयोगशालाओ को ईश्वर और प्रार्थना के अध्ययन की ओर उन्मुख करेंगे जव वह दिन आयेगा, तव मानव जाति एक ही पीढी मे इतनी वैज्ञानिक उन्नति कर सकेगी जितनी आज की चार पीढियाँ भी न कर पायेगी आशय यह है भविष्य मे आत्मज्ञान और विज्ञान के मध्य की भेद-रेखा मिटकर दोनो परस्पर घुल-मिल जायेंगे. वह दिन विश्व के लिए वरदान सिद्ध होगा.



---

१. ज्ञानोदयः अक्तूबर १९५९



श्रीरूपेन्द्रकुमार पगारिया, न्यायतीर्थ

सप्तभंगी

जैनधर्म जितना आचार-जगत् मे गहरा उतरा है, विचार-जगत् मे भी उतना ही गहरा उतरा है जन्म और मृत्यु जैसे विकट सकट से सर्वथा मुक्ति पाने के लिए साधक के जीवन मे आचारशुद्धि और विचार शुद्धि दोनो की आवश्यकता है आचार और विचार दोनो एक दूसरे के पूरक है एकान्तक्रियावाद की पगडण्डी पर चलने वाला साधक नही विचार के अभाव मे अपने गतव्य स्थल पर नही पहुँच सकता विशुद्ध आचार को समझने के लिए तत्त्व-ज्ञान की आवश्यकता होती है जब तक साधक को पदार्थ के सही स्वरूप का ज्ञान नही हो जाता तब तक वह कितनी ही क्रिया की गहराई मे क्यो न गया हो, ज्ञान के अभाव मे उसकी साधना की सफलता मे सन्देह ही रहता है उसे तत्त्व-ज्ञान रूप दीपक की आवश्यकता है इसी दीपक से सहारे वह अपने गतव्य स्थल पर पहुँच सकता है.

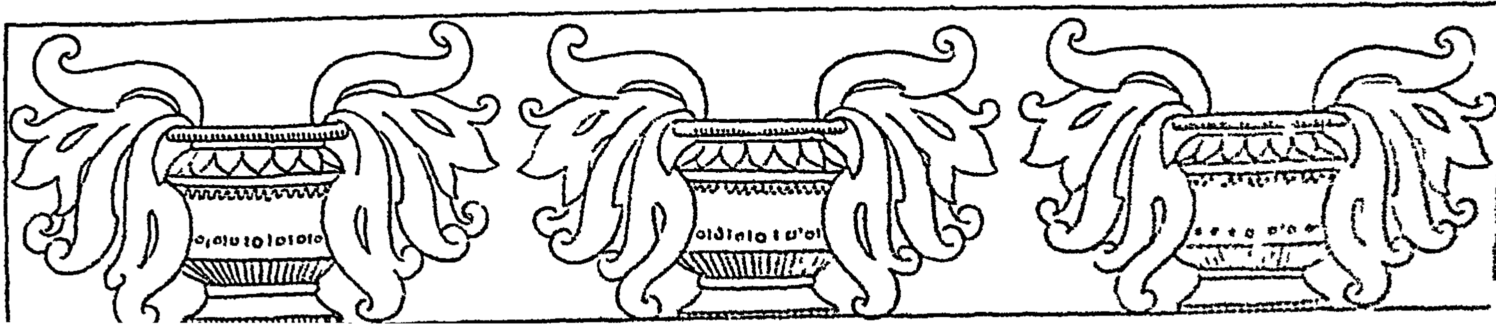
वस्तु की अनन्तधर्मात्मकताः— किसी भी वस्तु के सच्चे ज्ञान के लिए उसके सही स्वरूप को जानना नितान्त आवश्यक है वस्तु अनन्तधर्मात्मक है हमारा ज्ञान ज्यो-ज्यो आगे बढता जाता है त्यो-त्यो अज्ञात धर्म ज्ञात होते जाते है वस्तु का पूर्ण ज्ञान होना ही सर्वज्ञता है भौतिक विज्ञान पदार्थ के पर्यायो की खोज करता है उसके गुण-धर्मो को बताता है उसमे कौन-कौन सी प्रक्रियाएँ होती है, यह भी बताता है तत्त्वज्ञान ऐसा नही करता वह तो पदार्थ के गुणो को स्वीकार करके ही आगे बढता है इन वस्तुओ के गुणधर्मो का पदार्थ के साथ कैसा सम्बन्ध है, यह बताने का काम तत्त्व-ज्ञान का है वस्तु मे अगणित गुण-धर्म होते है, जिनमे कुछ तो ज्ञात होते है, कुछ अर्धज्ञात और कुछ अज्ञात ऐसी अवस्था में यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति मे कठिनाई अवश्य सामने आती है

इस कठिनाई के कारण तत्त्वज्ञान के इतिहास मे अनेक सशयवादो का जन्म हुआ है दार्शनिक तत्त्व-विचार मे सशयवाद लम्बे समय तक नही टिक सकता उसका समाधान कही न कही निकल ही आता है जो लोग यह कहते है कि सत्य हमेशा अज्ञात रहता है, उनका यह कथन भी निर्णीत सत्य ही तो है भगवान् महावीर ने अपने समय के एकातवादो को खण्डित सत्य कहा उन खण्डित सत्यो के एकीकरण के लिए उन्होंने समन्वयात्मक एव सापेक्ष दृष्टि रखी यही व्यापक दृष्टि तत्त्व-चिंतक साधक को सत्य की ओर ले जाती है

सत्य विशाल, व्यापक, अखण्ड और अनन्त होता है, परन्तु सामान्यत. मानव का परिमित ज्ञान उसे सम्पूर्ण रूप मे जान नही पाता, खण्डरूप मे अथवा अनेक अशो मे ही वस्तु का ज्ञान कर पाता है सत्य के परिज्ञान के लिए अथवा ज्ञान सत्य को जीवन मे उतारने के लिए व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता है

व्यष्टि, समष्टि और परमेष्ठी-जीवन विकास की यह क्रमपद्धति है जैनदर्शन की सत्योन्मुखी अनेकान्तदृष्टि, जैनधर्म का सर्वसहिष्णु अहिंसासिद्धात और जैन परम्परा का चिरागत समन्वयवाद, ये तीनो मिलकर एक ही कार्य करते है और वह है व्यक्ति समष्टि के विकास मे अवरोधक न बने बल्कि समझौता करके परमेष्ठी मे रूप मे परिणत हो जाय-परम-ज्योति बन जाय

इस श्रेयस् एव विशाल दृष्टिकोण को जीवन मे ढालने से पूर्व वस्तु-तत्त्व के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है चेतन-अचेतनमय इस जगत् की प्रत्येक वस्तु अनन्तगुण-धर्मो का अखण्ड पिण्ड है वह कभी नही रही-यह नही कहा जा सकता वह नही है—यह भी नही कहा जा सकता, लेकिन कहा यह जायगा कि वह थी, है और रहेगी भूत, वर्तमान और वर्तिष्यमान् इन तीनो कालो मे कभी भी उसका अभाव नही होता अत वस्तु सत् है, शाश्वत है, नित्य है, परन्तु कूटस्थ नित्य नही, अपितु परिणामी नित्य है, क्योकि प्रत्येक वस्तु मे प्रतिक्षण पूर्व पर्याय का विगम और उत्तर पर्याय का उत्पाद



होता रहता है. अत द्रव्यदृष्टि से पदार्थ नित्य है किन्तु विगम और उत्पाद दृष्टि से अर्थात् पर्यायदृष्टि से प्रतिक्षण बदलने वाला परिणामी है. सुवर्ण के ककण को तोडकर उसका कटिसूत्र बनावा डाला हुआ क्या ? आकृति वदल गई परन्तु उसका सुवर्णत्व नही वदला. वह तो ज्यो का त्यो है. जैसा पहले था वैसा अव भी सिद्धान्त यह रहा कि—द्रव्य नित्य, आकृति. पुनरनित्या'

प्रमाण और नय—पदार्थ को समझने की ज्ञानपद्धति दो प्रकार की है स्वार्थ और परार्थ. मति आदि रूप ज्ञानपद्धति स्वार्थरूप है और शब्दरूप पद्धति परार्थरूप है परार्थ-पद्धति के दो भेद है, प्रमाण रूप और नय रूप अनन्त धर्मात्मक वस्तु-तत्त्व के समस्त धर्मो को अथवा उसके अनेक धर्मो को ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रमाण है और उसके किसी एक धर्म को ग्रहण करने वाला ज्ञान नय है जैसे 'अय घट ' यह ज्ञान प्रमाण है, क्योकि इसमें घट के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का एव लघुगुरु छोटे-वडे आदि आकाररूप धर्मो का ज्ञान हो जाता है 'रूपवान् घटः' यह ज्ञान नय है, क्योकि इसमे घट के अनन्तधर्मो मे से केवल एक धर्म अर्थात् रूप का ही प्रतिभास है, अन्य रस, गन्ध आदि धर्मो का नही 'नयवाद' जैनदर्शन की व्यापक विचारपद्धति है. जैनदर्शन हर बात को 'नय' पद्धति से सोचता है, उसका विश्लेषण करता है जैनदर्शन मे ऐसा कोई भी सूत्र या अर्थ नही जो नयशून्य हो—'नत्थि नयेहिं विहूरा सुत्त अत्थो य जिणमये किंचि '

नय को प्रमाण माना जाय या अप्रमाण ? यह जैन दार्शनिको के सामने एक गम्भीर प्रश्न था. यदि नय प्रमाण है तो वह प्रमाण से भिन्न क्यो है ? और यदि अप्रमाण है तो यह मिथ्याज्ञान होगा फिर मिथ्याज्ञान का मूल्य ही क्या है ? इस का समाधान जंनदार्शनिको ने वड़े अच्छे ढग से किया है. वे कहते है—नय न तो प्रमाण है और न अप्रमाण. वह प्रमाण का एक अश है जैसे समुद्र का एक विन्दु समुद्र नही कहा जा सकता परन्तु समुद्र का अश तो कहा जा सकता है. प्रमाण का विपय अनेकान्तात्मक वस्तु है और नय का विषय उस वस्तु का एक अश. यहा यह प्रश्न भी हो सकता है कि यदि नय अनन्तधर्मात्मक वस्तु के किसी एक ही अश को ग्रहण करता है तो वह मिथ्याज्ञान ही रहेगा फिर उससे पदार्थ का यथार्थ ज्ञान कैसे हो सकता है ? इसका समाधान आचार्यो ने असदिग्ध भाषा में कर दिया है वे कहते है—यद्यपि नय अनन्तधर्मात्मक वस्तु के एक ही धर्म को ग्रहण करता है परन्तु इतने मात्र से उसे मिथ्याज्ञान नही कह सकते. एक अश का ज्ञान यदि वस्तु के अन्य अश का निषेध करता हो तो उसे मिथ्या कह सकते है किन्तु जो अशज्ञान अपने से अतिरिक्त अश का निषेध न कर केवल अपने दृष्टिकोण को ही वताता है उसे मिथ्याज्ञान नही कहा जा सकता है. जो नय अपने स्वीकृत धर्म का प्रतिपादन करते हुए अपने से भिन्न धर्म का निपेध करता है वह निस्सदेह नय न होकर नयाभास या दुर्नय होता है निरपेक्ष नय दुर्नय है और सापेक्ष नय सुनय है

सप्तभंगी का रूप :—जैसा कि हम कह आये है, पदार्थज्ञान के लिए प्रमाण और नय ये दो पद्धतियाँ है इन दोनो पद्धतियो का समावेश 'सप्तभगी' मे हो जाता है. सप्तभगी का अर्थ है सात वाक्यो का समूह अर्थात् एक प्रश्न का सात ढग से उत्तर किसी प्रश्न का उत्तर या तो 'हाँ' मे दिया जाता है या 'नही' मे हाँ और नही के औचित्य को लेकर ही 'सप्तभगी' वाद की रचना हुई है. किसी भी पदार्थ के लिए अपेक्षा के महत्त्व को ध्यान मे रखते हुए सात प्रकार के वचनो का प्रयोग किया जाता है. वे इस प्रकार है—

(१) कथचित् घट है.
(२) कथचित् घट नही है.
(३) कथचित् है और नही है
(४) कथचित् घट अवक्तव्य है.
(५) कथंचित् घट है और अवक्तव्य है.
(६) कथचित् घट नही है और अवक्तव्य है.
(७) कथचित् घट है, नही है और अवक्तव्य है.

प्रश्न के वश से एक ही वस्तु मे अविरोध रूप से विधि-प्रतिपेध की कल्पना ही 'सप्तभगी' है. किसी भी पदार्थ के विपय



मे सात प्रकार के प्रश्न हो सकते है इसीलिए सप्तभगी कही गई है 'सात प्रकार के प्रश्नो का कारण है सात प्रकार की जिज्ञासा और सात प्रकार की जिज्ञासा का कारण है सात प्रकार के सशय, तथा सात प्रकार के सशयो का कारण है उसके विषय रूप वस्तु के धर्मो का सात प्रकार से होना उपरोक्त परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि सप्तभगी के सात 'भग' केवल शाब्दिक कल्पना ही नही किन्तु वस्तु के धर्मविशेष पर आश्रित हैं इसलिए सप्तभगी का विचार करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उसके प्रत्येक भग का स्वरूप वस्तु के धर्म के साथ सबद्ध हो यदि किसी भी पदार्थ का कोई भी धर्म दिखलाया जाना जरूरी हो तो उसे इस प्रकार दिखलाया जाना चाहिये जिससे कि उन धर्मों का स्थान उस वस्तु मे से विलुप्त न हो जाए जैसे कि आप घट मे नित्यत्व का स्वरूप बतलाना चाहते है तो आपको घट के नित्यत्व का बोध करवाने के लिए ऐसे उपयुक्त शब्द का प्रयोग करना चाहिये जो घट का नित्यत्व तो बताता ही हो किन्तु उसके अनित्यत्व आदि अन्य धर्मो का विरोध न करता हो यह कार्य सप्तभगी द्वारा ही हो सकता है

शंका—भग सात ही नही किन्तु अधिक भी हो सकते है—जैसे कि प्रथम और तृतीय विकल्पो का एक साथ उल्लेख करने से नया भग बन सकता है इसी तरह सातो भगो मे से एक दूसरे के साथ दो-दो या तीन-तीन भग के जोड़ने से और भी नवीन भग बन सकते है ?

उत्तर—प्रथम और तृतीय धर्म को मिलाने से उत्पन्न नवीन भग के अनुसार नवीन वाच्य पदार्थ की प्रतीति लोक मे नही पाई जाती इसी प्रकार अन्य भग के लिए भी समझना चाहिये ऐसी अवस्था मे सात से अधिक भगो की उत्पत्ति का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता

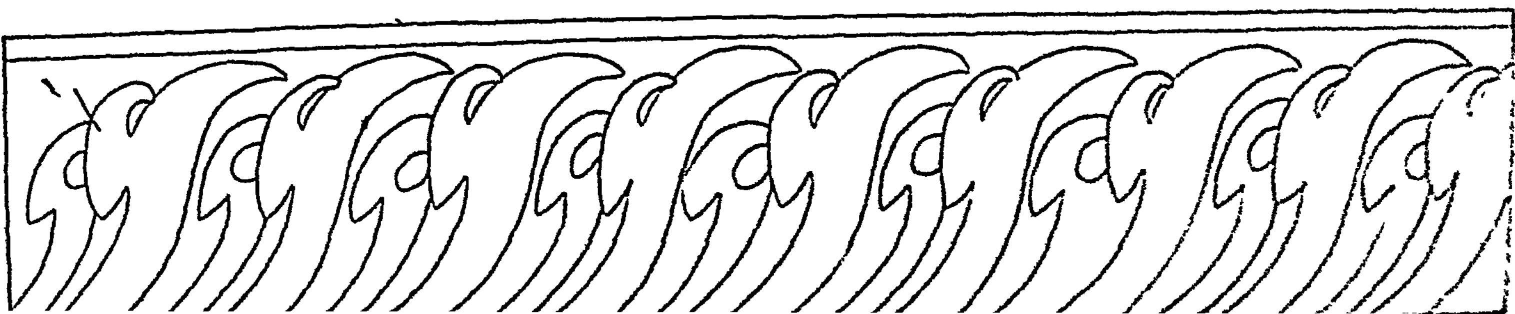
इस प्रकार एक धर्म के आधार से सात ही भग बनते है, किन्तु पदार्थ अनन्तधर्मात्मक है, अत अनन्त सप्तभगियाँ भी बन सकती है, किन्तु भगो की मर्यादा सात ही है

शंका—माना कि सप्तभग से अधिक भग नही हो सकते किन्तु उनसे कम तो हो सकते है ? क्योकि जो घट स्वरूप से सत् है वही अन्य पटादि रूप से असत् भी है, इसलिए 'स्यादस्त्येव' तथा 'स्यान्नास्त्येव' ये दो धर्म नही घटित हो सकते इन दोनो का एक दूसरे मे समावेश हो जाता है अत इन दो भगो मे से किसी एक ही भग को मान लो दूसरे की आवश्यकता नही

समाधान—यह कथन अयोग्य है क्योकि सत्त्व और असत्त्व दोनो एक दूसरे से भिन्न हैं जो सत्त्व है वह असत्त्व नहीं हो सकता और जो असत्त्व है वह सत्त्व नही हो सकता ऐसी स्थिति मे दोनो को अलग-अलग ही मानना चाहिये अगर इन्हे एक दूसरे से अलग नही माना जायगा तो स्वरूप से सत्त्व ग्रहण के सदृश पर रूप से भी सत्त्व मानने का प्रसग आजायगा और पर रूप से असत्त्व की तरह स्वरूप से भी असत्त्वग्रहण का प्रसग आजायगा साथ ही बौद्ध लोग जो त्रिरूप हेतु तथा नैयायिक पचरूप हेतु मानते है वे भी सत्त्व और असत्त्व की अपेक्षा से ही मानते है अर्थात्-हेतु का सपक्ष मे पाया जाना यह सत्त्व की अपेक्षा से और विपक्ष मे न पाया जाना यह असत्त्व की अपेक्षा से माना है उन्होंने भी सत्त्व और असत्त्व को भिन्न-भिन्न ही माना है यदि ऐसा न मानकर सत्त्व और असत्त्व मे से किसी एक को ही मानते तो त्रिरूप व पचरूप हेतु की हानि होती अत उनके सिद्धान्त से भी सत्त्व का भेद ही सिद्ध होता है

शंका—सत्त्व और असत्त्व को भले ही भिन्न-भिन्न मान ले किन्तु सत्त्वासत्त्व स्वरूप तीसरे भग को अलग मानने की क्या आवश्यकता ? क्यो कि जैसे घट और पट इन दोनो को अलग-अलग कहने पर या एक साथ उभय रूप मे घट-पट कहने पर भी घट-पट का ही ज्ञान होता है, भिन्न ज्ञान नही होता है, अत 'स्यादस्ति और स्याद् नास्ति' मानने के बाद तीसरा भग अस्ति नास्ति मानना व्यर्थ है

समाधान—प्रत्येक की अपेक्षा उभयरूप समुदाय का भेद अनुभवसिद्ध है जैसे भिन्न घ और ट की अपेक्षा से समुदाय रूप 'घट' इस पद को सब वादियो ने भिन्न माना है यदि भिन्न नही माना जाय तो 'घ' इतना कहने मात्र से ही 'घट' का बोध हो जाना चाहिये जिस प्रकार प्रत्येक पुष्प की अपेक्षा से माला कथचित् भिन्न है उसी प्रकार समर्पित 'उभय-रूप-सत्त्व असत्त्व', 'सत्त्व' और 'असत्त्व' की अपेक्षा से कथचित् भिन्न ही है



प्रश्न—क्रम से योजित सत्त्व-असत्त्व उभयरूप की अपेक्षा से सहयोजित सत्त्व-असत्त्व इस उभयरूप का भेद कैसे सिद्ध हो सकता है ?

उत्तर—क्रम से योजित कल्पना सहयोजित कल्पना से भिन्न ही है, क्योकि पूर्व कल्पना मे पदार्थ की पर्याएँ क्रम से कही जाती है, जबकि उत्तर कल्पना मे युगपद् उन पर्यायो का कथन है. यदि भेद नही माना जायगा तो पुनरुक्ति दोष की सभावना रहेगी. क्योकि एक वाक्य जन्य जो बोध है, उसी बोध के समान बोधजनक यदि उत्तर काल का वाक्य हो तो यही पुनरुक्ति दोष है यहाँ पर क्रम से योजित तृतीय भग है और अक्रम से योजित चतुर्थ भग है. तृतीय भग के द्वारा उत्पन्न ज्ञान-विकल्प, अस्तित्व के साथ नास्तित्व रूप स्थिति को बतलाता है इस प्रकार से स्वयसिद्ध है कि तृतीय और चतुर्थ भग से उत्पन्न ज्ञानो मे समान-आकारता नही है, अत दोनो भग अलग-अलग ही है.

प्रश्न—भग सात ही नही किन्तु नौ होते है जैसे तृतीय भग में रहे हुये 'अस्तित्व-नास्तित्व' के क्रम का परिवर्तन कर देने से 'नास्तित्व-अस्तित्व' रूप नया भग बन जायगा. इसी प्रकार सातवें भग मे प्रदर्शित क्रम को भी पलट दिया जाय अर्थात् 'स्यादस्ति नास्ति च अवक्तव्यः' के स्थान मे 'स्यान्नास्ति अस्ति च अवक्तव्य' बना दिया जाय तो एक और नया भग बन जाता है इस प्रकार भगो की सख्या नौ हो जाएगी नूतन बने हुए भगो मे तीसरे और सातवे भग की पुनरावृत्ति नही कही जा सकती है, क्योकि अस्तित्वविशिष्ट नास्तित्व का बोध तृतीय भग से होता है. जबकि नवीन भग मे नास्तित्वविशिष्ट अस्तित्व का बोध होता है विशेषण-विशेष्यभाव की विपरीतता हो गई है, जो विशेषण था वह विशेष्य बन गया है और जो विशेष्य था वह विशेषण बन गया है, यही बात सातवे भग के सबध मे भी नूतन भग के साथ समझना चाहिये अर्थात् उसमे भी क्रम बदल गया है, विशेषण-विशेष्यभाव की विपरीतता आ गई है. अत. भग सात नही किन्तु नव बनते है ?

उत्तर—उपरोक्त शका मे केवल समझ का ही फेर है वह इस प्रकार है—तृतीय भग में रहे हुए 'अस्तित्व और नास्तित्व' दोनो ही धर्म स्वतत्र है. परस्पर सापेक्ष रूप से रहे हुए नही है. इसीलिये प्रधानता होने के कारण से ही पदार्थ मे अवक्तव्यता धर्म की उत्पत्ति होती है, तदनुसार विशेषण विशेष्य जैसी कोई स्थिति नही है किन्तु पर्यायों मे भूतकालीन-भविष्यत्कालीन और वर्तमानकालीन दृष्टिकोण से ही अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्यत्व जैसे वाचक शब्दो की आवश्यकता पड़ती है अवक्तव्यत्व रूप धर्म अस्ति नास्ति से विलक्षण पदार्थ है सत्त्व मात्र ही वस्तु का स्वरूप नही है और केवल असत्त्व भी वस्तु का स्वरूप नही है. सत्त्व-असत्त्व ये दोनो भी वस्तु का स्वरूप नही है, क्योकि उभय से विलक्षण अन्य जातीय रूप से भी वस्तु का होना अनुभवसिद्ध है जैसे दही, शक्कर, काली मिरच, इलायची, नागकेशर तथा लवग के सयोग से एक नवीन जाति का पेय-रस तैयार हो जाता है, जो कि उपरोक्त प्रत्येक पदार्थ से स्वाद मे और गुण मे एव स्वभाव मे भिन्न ही बन जाता है फिर भी सर्वथा भिन्न नही कहा जा सकता है और न सर्वथा अभिन्न भी कहा जा सकता है, एवं सर्वथा अवक्तव्य भी नही कहा जा सकता है इस प्रकार सातों ही भगो मे परस्पर में विलक्षण अर्थ की स्थिति समझ लेना चाहिये. अतएव पृथक्-पृथक् स्वभाव वाले सातो धर्मों की सिद्धि होने से उन-उन धर्मो के विषयभूत सशय, जिज्ञासा आदि क्रमो की श्रेणियाँ भी सात-सात प्रकार की होती है, इस प्रकार प्रत्येक धर्म के विषय मे सात-सात भग होते है

सकलादेश और विकलादेश—यह सप्तभगी दो प्रकार की है—एक प्रमाणसप्तभगी और दूसरी नय-सप्तभगी. प्रमाण-वाक्य को सकलादेश वाक्य अर्थात् सम्पूर्णरूप से पदार्थो का ज्ञान कराने वाला वाक्य कहते है और नयवाक्य को विकलादेश अर्थात् एक अश मे पदार्थो का ज्ञान करानेवाला वाक्य कहते है.

प्रश्न—आपने प्रमाण और नय-सप्तभगी के भी सात-सात भेद माने है किन्तु सात-सात भेद एक-एक के नही सिद्ध होते हैं क्योकि प्रथम द्वितीय व चतुर्थ भग वस्तु के एक धर्म को ही बताते है अत ये तीन भंग नयवाक्य या विकलादेश रूप है और तृतीय, पचम, षष्ठ और सप्तम भग वस्तु के अनेक धर्मों का बोध करानेवाले होने से प्रमाणवाक्य या सकलादेश रूप हैं.



उत्तर—यह कथन अयोग्य है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो स्याद्वाद-सिद्धान्त का विरोध होगा

प्रश्न—अन्य लोग यह शंका करते है कि सप्तभंगी के सप्तवाक्य अलग-अलग तो विकलादेश रूप ही है किन्तु सातों मिल कर सकलादेश रूप है

उत्तर—पृथक्-पृथक् वाक्य सम्पूर्ण अर्थों के प्रतिपादक नही होने से विकलादेश है, यह कथन अयुक्त है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो सातो वाक्य भी विकलादेश हो जावेंगे कारण सातो वाक्य मिलकर भी सम्पूर्ण अर्थ के प्रतिपादक नही हो सकते सम्पूर्ण अर्थप्रतिपादक तो सकलश्रुतज्ञान ही हो सकता है सिद्धान्त के ज्ञाता तो यह कहते है कि अनन्त-धर्मात्मक सम्पूर्ण वस्तु के बोध कराने वाले वाक्य को सकलादेश और एक धर्मात्मक वस्तु का बोध कराने वाले वाक्य को विकलादेश कहते हैं कहने का तात्पर्य यह है कि सकलादेश की दृष्टि मे पदार्थ अनन्त गुण रूप है, जब कि विकलादेश की दृष्टि मे पदार्थ एक गुण रूप है सकलादेश समष्टि रूप है, जब कि विकलादेश व्यष्टि रूप है परन्तु दोनों ही अपेक्षा पूर्वक पदार्थ की विवेचना करते हैं

'एव' पद की सार्थकता—इन सप्तभगो मे अन्य धर्मों का निषेध नही करके विधि-विषयक अर्थात् सत्ता के विषय मे बोध उत्पन्न कराने वाला वाक्य प्रथम भग है. जैसे 'स्यात् अस्ति एव घट ' इसी प्रकार अन्य धर्म का निषेध न करके निषेध-बोध-जनक वाक्य द्वितीय भग है जैसे 'स्यात् नास्ति एव घट ' 'स्यादस्त्येव' मे अस्ति के बाद 'एव' लगाने का अर्थ यही है कि प्रत्येक पदार्थ स्वरूप की अपेक्षा से अस्तित्व रूप ही है न कि नास्तित्वरूप स्वरूप की अपेक्षा से नास्तित्व का निषेध करने के लिए ही 'एव' शब्द लगाया गया है बौद्धदर्शन का कथन है कि सभी शब्दो मे अन्य से व्यावृत्ति कराने की शक्ति होने से घट-पट आदि शब्दो द्वारा घट से भिन्न अथवा पट से भिन्न पदार्थो की व्यावृत्ति हो जाया करती है अत अवधारणवाचक 'एव' शब्द का प्रयोग करना व्यर्थ है

उत्तर—सामान्यत शब्द विधि रूप से ही अर्थ का बोध कराते है किन्तु सशय, अनिश्चय, अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोषो की निवृत्ति के लिए एव अन्य की व्यावृत्ति के लिए 'एव' शब्द का प्रयोग अनिवार्य है यह अवधारणवाचक 'एव' तीन प्रकार का होता है—

१—अयोगव्यवच्छेदबोधक अर्थात् धर्म-धर्मी के सबध को समान अधिकरण रूप से बतानेवाला, एव धर्म-धर्मी की एकाकारता, एकत्र-स्थिति-धर्मता अथवा एकरूपता बताने वाला 'एव' अयोग-व्यवच्छेदबोधक कहलाता है

२—अन्ययोगव्यवच्छेदबोधक—अर्थात् अधिकृत पदार्थ मे इष्ट धर्मो के अतिरिक्त अन्य पदार्थो का अथवा अन्य पदार्थो के धर्मो का अस्तित्व नही है, इस प्रकार दूसरे के सबध की निवृत्ति का बोधक 'एव' शब्द अन्ययोगव्यवच्छेदबोधक है

३—अत्यन्तायोगव्यवच्छेदबोधक—अर्थात् अत्यन्त असबध की व्यावृत्ति का ज्ञान करानेवाला 'एव' शब्द अत्यन्तायोग-व्यवच्छेदबोधक है यह दोषपूर्ण सबधो की एव इतर सबधो की भी सर्वथा व्यावृत्ति करता है

(१) यही 'एव' शब्द विशेषण के साथ लगा हुआ हो तो 'अयोग' की निवृत्ति का बोध कराने वाला होता है जैसे शख. पाण्डु एव—शख सफेद ही है यहाँ पर शख मे सफेद धर्म का ही विधान उसके असबध की व्यावृत्ति के लिए है यहाँ अयोगनिवृत्ति है

(२) 'एव' शब्द विशेष्य के साथ लगा हो तो 'अयोग व्यवच्छेद रूप' अर्थ का बोध कराता है जैसे कि पार्थ एव धनुर्धर' अर्थात् धनुष्यधारी पार्थ ही है इस उदाहरण से पार्थ के सिवाय अन्य व्यक्तियो मे धनुर्धरत्व का व्यवच्छेद किया गया है

(३) यदि क्रिया के साथ 'एव' लगा हुआ हो तो वह 'अत्यन्तायोग के व्यवच्छेद का बोधक होता है जैसे 'नील सरोज भवत्येव—कमल नीला भी होता है यहाँ पर इतर वर्णो का निषेध न करते हुए नीलत्व धर्म का विधान भी है

'स्यात्' शब्द का प्रयोजन—सप्त-भगी वाक्य-रचना मे जितना 'एव' शब्द का महत्त्व है उतना ही 'स्यात्' शब्द का भी



महत्त्व है. अनेकान्त, विधि, विचार आदि अनेक अर्थों में 'स्यात्' शब्द का प्रयोग होता है किन्तु यहाँ पर केवल अनेकान्त के अर्थ मे ही 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया है. अनेकान्त अर्थात् अनेक धर्म स्वरूप.

प्रश्न—'स्यात्' शब्द से ही जब अनेक धर्म-स्वरूप घट आदि पदार्थों का बोध हो जाता है, तब अस्तित्व आदि शब्दो की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—'स्यात्' शब्द से अनेकान्त रूप अर्थ का सामान्य रूप से बोध होने पर भी विशेष रूप से अर्थ का बोध कराने के लिए वाक्य मे अस्तित्व आदि अन्य शब्द का प्रयोग करना भी आवश्यक है. अतः विवक्षित अर्थ का निश्चयपूर्वक ज्ञान करने के लिए जैसे 'एव' शब्द लगाना अनिवार्य है वैसे ही सर्वथा एकान्त पक्ष की व्यावृत्तिपूर्वक अनेकान्त रूप अर्थ का ज्ञान करने के लिए 'स्यात्' शब्द का जोड़ना अनिवार्य है.

प्रश्न—जो घट आदि पदार्थ हैं, वे सभी अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से अस्तित्व रूप ही है, न कि अन्य पदार्थ से सबन्धित. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के कारण से अस्ति रूप है क्योकि अन्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि की निवृत्ति तो अप्रसग होने से अपने आप ही हो जाती है ऐसी अवस्था मे 'स्यात्' शब्द जोडना निरर्थक है.

उत्तर—किसी दृष्टिकोण से यह सत्य हो सकता है परन्तु जिस पदार्थ का विवेचन किया जा रहा है उसमें रही हुई अनेकान्तात्मक स्थिति किस शब्द से प्रगट होगी ? यह जानने के लिए और बतलाने के लिए एव वस्तुस्थिति को ठीक समझने के लिए 'स्यात्' शब्द जोडना जरूरी है इसके सिवाय प्रत्येक द्रव्य मे द्रव्यत्व अभेदवृत्ति से रहता है, तथा पर्यायें भी अभेद के उपचार से द्रव्य के ही आश्रित होती है. इस प्रकार द्रव्य अनेकान्त रूप वाला होता है. यह स्थिति 'स्यात्' शब्द से प्रतीत होती है. अतः सकलादेश सप्तभगी और विकलादेश सप्तभगी मे 'स्यात्' शब्द जोडना अनिवार्य है.

क्रम और यौगपद्यः—सकलादेश प्रमाणात्मक वाक्यप्रणाली है और विकलादेश नयात्मक वाक्यप्रणाली सकलादेश प्रणाली घटादि रूप पदार्थ को सामूहिक रूप से पदार्थ मे स्थित सभी धर्मो को एक रूप से काल आदि आठ द्वारो द्वारा अभेद वृत्ति से और अभेद रूप उपचार से विषय करती है. जबकि विकलादेश प्रणाली काल आदि आठो द्वारो द्वारा भेद-वृत्ति से और भेद रूप उपचार से पदार्थ मे स्थित अनेक धर्मों मे से किसी एक धर्म को ही अपेक्षा द्वारा वर्णन करती है.

प्रश्न—क्रम और यौगपद्य से आपका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—प्रत्येक पदार्थ मे अस्तित्व और नास्तित्व आदि अनेक धर्म है, उनका वर्णन देश काल आदि की अपेक्षा से जब करना हो तब केवल अस्तित्व आदि किसी एक शब्द के द्वारा उस पदार्थ मे स्थित अनेक धर्मो का एक साथ वर्णन नहीं किया जा सकता है और न एक शब्द द्वारा ही उन सब धर्मो का वर्णन हो सकता है. अत निश्चित पूर्वापरभाव प्रणाली द्वारा अथवा अनुक्रम शैली द्वारा उस पदार्थ का वर्णन करना क्रमपद्धति है. क्रमपद्धति से विपरीत यौगपद्य है. पदार्थ में स्थित अस्तित्वादि अनेक धर्मो की काल आदि कारणो से जब एकरूपता बतलाई जाती हो, तथा केवल एक शब्द के आधार से धर्मविशेष का कथन करके उसी मे शेष धर्मो की स्थिति समझ ली जाती हो, इस प्रकार का प्रतिपादन एक समय मे भी सम्भव है. इस तरह का जो वस्तु-स्वरूप का निरूपण है वही यौगपद्य है.

काल आदि आठ द्वारः—१ काल, २ आत्मरूप ३ अर्थ ४ सम्बन्ध, ५ उपकार ६ गुणिदेश, ससर्ग और ८ शब्द, इन आठ द्वारों से वस्तु के किसी एक धर्म से शेष धर्मो का अभेद माना जाता है.

(१)"अस्ति एव घट — यहाँ पर जिस काल मे घट द्रव्य मे अस्तित्व धर्म रहता है, उसी काल में शेष अनन्त धर्म भी घट मे रहे हुए होते है. इस प्रकार एक काल-अवस्थिति की दृष्टि से शेष अनन्त धर्मों को अस्तित्व धर्म मे अभिन्न मानना काल मे अभेदवृत्ति है

(२) जैसे घट मे 'अस्तित्व' नामक गुण उसका स्वरूप बनकर रहता है, वैसे ही अन्य अनेक गुण—जैसे कालापन आदि भी घट के स्वरूप बनकर रहते है. यही 'एक स्वरूपत्व' नामक आत्मरूप दूसरा द्वार है जिसके द्वारा अभेदवृत्ति नामक ज्ञानप्रणाली उत्पन्न होती है.




(३) जैसे 'अस्तित्व' नामक गुण का घट द्रव्य आधार है वैसे ही अन्य अनन्त धर्मों का आधार भी वही घट द्रव्य है अत अर्थ की दृष्टि से अस्तित्व और अन्य गुणो मे अभेदवृत्ति है

(४) जैसे अस्तित्व नामक गुण का घट द्रव्य के साथ सम्बन्ध है वैसे ही अन्य गुणो का भी उसके साथ सम्बन्ध है, अत सम्बन्ध की दृष्टि मे भी अस्तित्व और अन्य गुणो मे अभेदवृत्ति है

(५) जैसे अस्तित्व नामक गुण पदार्थ के प्रति सत्ता के प्रदर्शन मे और अपनी विशिष्टता के सम्पादन मे सहायता करता है, वैसे ही अन्य गुण भी अस्तित्व की तरह अपनी अपनी क्रियारूप सहायता करते है और पदार्थ की विशिष्टता के सम्पादन मे सहयोग प्रदान करते हैं . अत गुणो की 'उपकार' वृत्ति समान होने से उपकारदृष्टि से भी अभेदवृत्ति पाई जाती है

(६) जैसे अस्तित्व नामक गुण घट द्रव्य के जिस क्षेत्र मे रहता है उसी क्षेत्र मे अन्य शेष धर्म भी रहते है अत अस्तित्व की तरह अन्य धर्म भी एक ही देश मे रहने वाले होने से गुणिदेश की अपेक्षा से अभेदवृत्ति है.

(७) जैसे—'अस्तित्व' नामक गुण का घट द्रव्य के साथ ससर्ग है वैसा ही शेष अनन्त धर्मों का भी एक ही वस्तुत्व स्वरूप से उसी घट के साथ ससर्ग है वह ससर्गदृष्टि से अभेदवृत्ति हुई

प्रश्न—सबध और ससर्ग पर्यायवाची जैसे शब्द प्रतीत होते है, अत इनमे परस्पर मे क्या अन्तर है ?

उत्तर—जहाँ अभेदवृत्ति की प्रधानता हो और भेदवृत्ति की गौणता हो, वह 'सम्बन्ध' अभेदवृत्ति है और जहाँ भेदवृत्ति की प्रधानता और अभेदवृत्ति की गौणता हो वह ससर्ग अभेदवृत्ति है अर्थात् भेद की गौणता और अभेद की प्रधानता 'सबध' है जबकि अभेद की गौणता और भेद की प्रधानता 'ससर्ग' है

(८) यह 'है' ऐसा शब्द जैसे अस्तित्व गुण वाले घट पदार्थ का वाचक है, वैसे ही शेष अनन्त गुणो वाले घट पदार्थ का वाचक भी यही है इस प्रकार सभी गुणो की एक शब्द द्वारा वाचकता सिद्ध करने वाली 'शब्द' नामक अभेद वृत्ति है

द्रव्यार्थिक नय की गौणता और पर्यायार्थिक नय की प्रधानता होने पर इस प्रकार के गुणो की अभेदवृत्ति की सभावना नही होती, जैसे—

(१) एक ही पदार्थ मे परस्पर विरोधी अनेक गुणो की स्थिति एक साथ मे होना असभव है, क्योकि प्रत्येक क्षण मे वस्तु का परिवर्त्तन होता रहता है वह कालकृत भिन्नता है

(२) नाना गुणो का स्वरूप परस्पर मे भिन्न होता है. अत आत्मरूप अभेदवृत्ति परस्पर की भिन्नता मे नही पाई जाती है

(३) अपने आश्रय रूप अर्थ (पदार्थ) अनेक रूप होता हुआ पदार्थ रूप से सभी गुणो के लिए भिन्न-भिन्न रूपवाला ही है, क्योकि परस्पर मे विरोधी गुणो का एकत्र होना असभव है इस प्रकार अर्थ रूप से भिन्नता होती है.

(४) सबधी के भेद से सबन्ध का भी भेद देखा जाता है, अत सबध से भी अभेदवृत्ति नही दिखाई देती है

(५) अनेक गुणो द्वारा किए हुए वा क्रियमाण, उपकार भी अनेक है, अत उपकार से भी अभेदवृत्ति नही दिखाई देती.

(६) प्रत्येक गुण की अपेक्षा से गुणी के देश का भी भेद माना गया है अत गुणिदेश की अपेक्षा से भी भेदवृत्ति ही सिद्ध होती है

(७) ससर्ग की भिन्नता से ससर्गी मे भी भिन्नता आ जाती है, अत ससर्ग की दृष्टि से भी भेदवृत्ति सिद्ध होती है

(८) अर्थ के भेद होने से शब्द का भी भेद अनुभवसिद्ध है यदि शब्दभेद नही मानोगे तो वाच्य का अर्थभेद कैसे प्रतीत होगा ? अत शब्द से भी भेदवृत्ति सिद्ध होती है इस प्रकार पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से कथंचित् भेद-रूप वर्णन होने



से आठो द्वारो द्वारा भेद प्रणाली की ही मुख्यता होती है. किन्तु द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से कथचित् अभेद रूप से वर्णन होने से उपरोक्त प्रकारो द्वारा अभेदप्रणाली की ही मुख्यता रहती है.

प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से अस्तिरूप है और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से नास्तिरूप है द्रव्य से द्रव्यत्व कथचित् भिन्न है और कथचित् अभिन्न है द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से अभिन्न है और पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से भिन्न है.

भंग सात ही क्यों ?—(१) 'स्यात् अस्ति एव घट.' इस प्रथम भंग में पदार्थ की विवेचना 'सत्ता' रूप से की गई है इस मे यह बताया गया है कि–पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि मे अस्ति रूप है.

(२) 'स्यात् नास्ति एव घट ' इस द्वितीय भग मे पदार्थ की विवेचना 'नास्ति' रूप से की गई है इसमे यह प्रदर्शित किया गया है कि सभी पदार्थ पर की अपेक्षा से नास्ति रूप ही होते है यदि पर की अपेक्षा से पदार्थ को नास्ति रूप नही मानेंगे तो सभी पदार्थो के सर्वात्मक होने का प्रसग आ जायगा और इस प्रकार पदार्थो के प्रति अव्यवस्था दोष उत्पन्न हो जायगा. अत उपरोक्त दोनो भगो की पदार्थ की वास्तविक विवेचना के लिए आवश्यकता है

(३) 'स्यात् अस्ति च स्यात् नास्ति च घट' इस तृतीय भग मे अस्तित्व-नास्तित्व की विवेचना क्रम से बतलाई गई है इसमे 'घट' विशेष्य है और क्रम से योजित विधि एव प्रतिषेध विशेषण रूप है

(४) 'स्यात् अवक्तव्य एव घट ' इस चौथे भग मे पदार्थ की विवेचना मे 'सहअर्पित' याने दोनो स्थितिया साथ-साथ योजित रूप से बतलाई गई है 'सह अर्पित' अवस्था मे स्व की अपेक्षा से और पर की अपेक्षा से घट 'अस्तिरूप' भी होता है, और 'नास्तिरूप' भी होता है ऐसी दशा मे किसी भी शब्द द्वारा उसका विवेचन कर सकना असभव होता है क्योकि शब्दशास्त्र मे ऐसा कोई शब्द नही है, जोकि एक साथ पदार्थ की अस्तित्व और नास्तित्व दोनो ही स्थितिया बतला सके, अत शब्दाभाव के कारण इसे 'अवक्तव्य' कहा गया है

प्रश्न—अनेकान्तवाद छल मात्र है क्योकि इसमे नित्यता अनित्यता, अस्तित्व नास्तित्व आदि परस्पर विरोधी सिद्धातो की विवेचना की जाती है, जो प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा अप्रमाणित ठहरते है

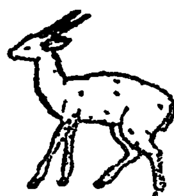
उत्तर—अन्य अभिप्राय से कहे गये शब्द का अन्य ही अर्थ करना छल है. जैसे 'नवकवलोऽयम् देवदत्त ' का अर्थ बदल कर पूछना कि—कहाँ है देवदत्त के पास नौ कम्बल ? यह छल का लक्षण अनेकान्त में घटित नही होता

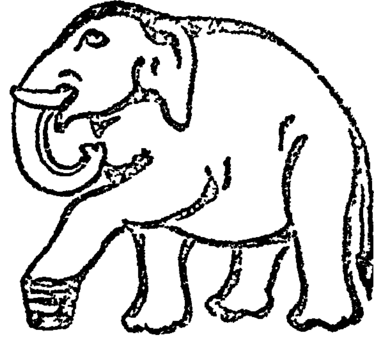
प्रश्न—अस्ति नास्ति आदि नाना धर्मो का प्रतिभास होने से अनेकातवाद को सशयवाद क्यो नही कहा जा सकता ?

उत्तर—सामान्य अश के प्रत्यक्ष और विशेष अश के अप्रत्यक्ष होने से ही सशय उत्पन्न होता है किन्तु अनेकान्तवाद मे तो विशेष अशो (धर्मो) की उपलब्धि होती है, अत अनेकान्तवाद सशयवाद नही हो सकता

अन्य दार्शनिको ने भी अपने सिद्धातो की सिद्धि के लिए अनेकान्तवाद का ही आश्रय लिया है साख्यो की मान्यता है कि प्रकृति सत्त्व रजस् और तमोगुणमयी है इस प्रकार परस्पर विरोधी गुणो का अस्तित्व एक प्रकृति मे माना है यह मान्यता अनेकान्तवाद के आधार से ही हो सकती है, अन्यथा नही

नैयायिक भी द्रव्य आदि पदार्थो को सामान्य-विशेष रूप स्वीकार करते ही है. द्रव्य में अनुवृत्ति तथा व्यावृत्ति स्वभाव है, अत वह सामान्य-विशेष स्वरूप है पृथ्वी द्रव्य है, तेज द्रव्य है, वायु द्रव्य है, इस प्रकार द्रव्य में द्रव्यत्व सामान्य भी है और विशेष तथा गुण कर्म आदि भी हैं इस प्रकार नैयायिक भी अनेकान्तवाद के विना वस्तु मे सामान्य और विशेष का रहना सिद्ध नही कर सकते. बौद्ध मेचक मणि के ज्ञान को एक किन्तु अनेकाकार मानते है इस प्रकार बौद्ध मत में भी ज्ञान एक-अनेक रूप है. अतः वे भी स्याद्वाद का आश्रय लेते है चार्वाक भी पृथ्वी तेज जल और वायु से एक चैतन्य तत्त्व की उत्पत्ति मानते है इस प्रकार वे अनेक में एक का सद्भाव मानकर स्याद्वाद की ही शरण ग्रहण करते है मीमासक भी प्रमाता, प्रमिति तथा प्रमेयाकार को एक ज्ञान रूप ही मानते है इस प्रकार उन्होने भी अनेको को एक रूप मे ही स्वीकार किया है





श्रीसुरेश मुनि, शास्त्री, साहित्यरत्न

अनेकान्तवाद

जैन तत्त्व-ज्ञान का मूलाधार—मानव-जीवन का सर्वतोमुखी उन्नयन एव विकास करने के लिए श्रमण भगवान् महावीर की अहिंसा त्रिवेणी के रूप मे प्रवाहित हुई थी पहली जीव-दयारूपी अहिंसा-जिसके द्वारा स्व-पर के क्लेश तथा मनस्ताप को शान्त करने के लिए, जीवन के कण-कण मे दया, करुणा, मैत्री, उदारता तथा आत्मोपमता का निर्मल झरना बहने लगता है दूसरी, अनेकान्त रूपी बौद्धिक अहिंसा—जिसके द्वारा विचारो का वैपम्य, मालिन्य एव कालुष्य धुलकर पारस्परिक विचारसघर्ष तथा शुष्कवाद-विवाद का नामशेप हो जाता है और अन्तर्मन मे पारस्परिक सौहार्द तथा शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का प्रकाश चमकने लगता है तीसरी, तपस्यारूपी आत्मिक अहिंसा—जिसके द्वारा पूर्व-सञ्चित कर्म-मल का शोधन-परिशोधन करके आत्मा को माजा जाता है, पूर्णत शुद्ध, स्वच्छ, निर्मल तथा साफ किया जाता है उपर्युक्त विचार-पृष्ठभूमि मे अनेकान्तवाद जैन-सस्कृति का तत्त्व-ज्ञान-निरूपण का मूलाधार है जैन-सस्कृति मे जो भी बात कही गयी है, वह अनेकान्तात्मक विचार एव स्याद्वाद की भाषा मे तोलकर ही कही गयी है। इसी दृष्टिबिन्दु से सस्कृति के क्षेत्र मे जैन-सस्कृति का दूसरा नाम 'अनेकान्त-सस्कृति' भी है

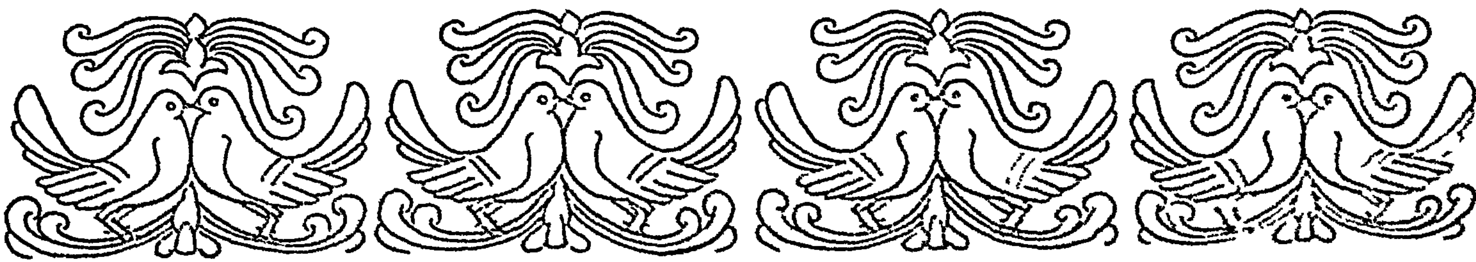
अनेकान्त का स्वरूप—जैन-सस्कृति का मन्तव्य है कि प्रत्येक वस्तु के अनन्त पक्ष है उन पक्षो को जैनदर्शन की भाषा मे धर्म कहते है इस दृष्टि से ससार की प्रत्येक वस्तु अनन्त-धर्मा है —

"अनन्तधर्मात्मकं वस्तु"—स्याद्वादमजरी

अनेकान्त मे 'अनेक' और 'अन्त' ये दो शब्द है 'अनेक' का अर्थ अधिक—बहुत और 'अन्त' का अर्थ धर्म अथवा दृष्टि है किसी भी पदार्थ को अनेक दृष्टियो से देखना, किसी भी वस्तु-तत्त्व का भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं मे पर्यालोचन करना 'अनेकान्त' है एक ही पदार्थ मे भिन्न-भिन्न वास्तविक धर्मों का सापेक्ष रूप से स्वीकार करने का नाम "अनेकान्त' है.

जैन-सस्कृति मे एक ही दृष्टि-बिन्दु से पदार्थ के पर्यालोचन करने की पद्धति को एकागी, अधूरा एव अप्रामाणिक माना गया है, और एक ही वस्तु के विषय मे भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं मे कथन करने की विचार-शैली को पूर्ण तथा प्रामाणिक स्वीकार किया गया है इस सापेक्ष विचारपद्धति का नाम ही वस्तुत अनेकान्तवाद है अपेक्षावाद, कथचिद्वाद, स्याद्वाद, अनेकान्तवाद ये सब शब्द प्राय एक ही अर्थ के वाचक हैं

अनन्त-धर्मात्मिक वस्तु को यदि कोई एक ही धर्म मे सीमित करना चाहे, किसी एक धर्म के द्वारा होने वाले ज्ञान को ही वस्तु का ज्ञान समझ बैठे, तो इससे वस्तु का यथार्थ स्वरूप बुद्धि-गत नही हो सकता कोई भी कथन अथवा विचार निरपेक्ष स्थिति मे सत्यात्मक नही हो सकता सत्य होने के लिए उसे अपने से अन्य विचार-पक्ष की अपेक्षा रखनी ही पडती है साधारण ज्ञान, वस्तु के कुछ धर्मो—पहलुओ तक ही सीमित रहता है केवल ज्ञान की स्थिति मे ज्ञान के परिपूर्ण होने पर ही वस्तु के अनन्त धर्मो का ज्ञान होना सभव है दूसरे शब्दो मे, केवलज्ञान ही वस्तु स्वरूप को समग्र रूप मे साक्षात् कर सकता है इस पूर्ण ज्ञान को ही जैन-सस्कृति मे प्रमाण माना गया है। इसके अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार का ज्ञान अपूर्ण एव सापेक्ष है सापेक्ष स्थिति मे ही वह सत्य हो सकता है, निरपेक्ष स्थिति मे नही हाथी को खभे जैसा बतलाने वाला अन्धा व्यक्ति अपने दृष्टि-बिंदु से सच्चा है, परन्तु हाथी को रस्से-जैसा कहने वाले दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा से सच्चा नही हो सकता हाथी का समग्र ज्ञान करने के लिए, समूचे हाथी का ज्ञान कराने वाली सभी दृष्टियो की अपेक्षा रहती है इसी अपेक्षादृष्टि के कारण 'अनेकान्तवाद' का नाम अपेक्षावाद और स्याद्वाद



भी है स्याद्वाद में स्यात् का अर्थ है—किसी अपेक्षा से, किसी दृष्टि से और 'वाद' का अर्थ है—कथन करना. किसी अपेक्षा-विशेष से वस्तु-तत्त्व का निर्वचन करना ही 'स्याद्वाद' है.

ही और भी का अन्तर:—अनेकान्तवाद की यह सर्वोपरि विशेषता है कि वह किसी वस्तु के एक पक्ष को पकडकर यह नही कहता कि, "यह वस्तु एकान्तत ऐसी ही है" वह तो 'ही' के स्थान पर 'भी' का प्रयोग करता है जिसका अर्थ है इस अपेक्षा के वस्तु का स्वरूप ऐसा भी है 'ही' एकान्त है, तो 'भी' वैषम्य एव सघर्ष के बीज का मूलत' उन्मूलन करके समता तथा सौहार्द के मधुर वातावरण का सृजन करती है. 'ही' मे वस्तु-स्वरूप के दूसरे सत्पक्षो का इनकार है, तो 'भी' में इतर सब सत्पक्षो का स्वीकार है 'ही' से सत्य का द्वार बन्द हो जाता है, तो 'भी' मे सत्य का प्रकाश आने के लिए समस्त द्वार अनावृत रहते है

जितने भी एकान्तवादी दर्शन है, वे सब वस्तु-स्वरूप के सम्बन्ध में एक पक्ष को सर्वथा प्रधानता दे कर ही किसी तथ्य का प्रतिपादन करते है वस्तु-स्वरूप के सम्बन्ध में, उदारमना होकर विविध दृष्टि-कोणो से विचार करने की कला उनके पास प्राय: नही होती यही कारण है कि उनका दृष्टिकोण अथवा कथन 'जन-हिताय' न होकर 'जन-विनोदाय' हो जाता है इस के विपरीत, जैन-दर्शन के तत्त्व-पारखी आचार्यो ने खुले मन-मस्तिष्क से वस्तु-स्वरूप पर अनेक दृष्टि-बिन्दुओ से विचार करके चौमुखी सत्य को आत्मसात् करने का दूरगामी यत्न किया है. अत उनका दृष्टि-कोण सत्य का दृष्टिकोण है, शान्ति का दृष्टि-कोण है, जन-हित का दृष्टि-कोण है, सह-अस्तित्व का दृष्टि-कोण है. उदाहरण के लिए, आत्म-तत्त्व को ही ले लीजिए साख्य-दर्शन आत्मा को कूटस्थ (एकान्त, एकरस) नित्य ही मानता है उसका कहना है—'आत्मा सर्वथा नित्य ही है'. बौद्ध-दर्शन का कथन है—"आत्मा अनित्य (क्षणिक) ही है" आपस मे दोनो का विरोध है दोनो का उत्तर-दक्षिण का रास्ता है. पर, जैन-दर्शन कभी एक करवट नही पडता. उसका विचार है :—यदि आत्मा एकान्त नित्य ही है, तो उसमें क्रोध, अहकार, माया तथा लोभ के रूप मे रूपान्तर होता हुआ कैसे दीख पडता है? नारक, देवता, पशु और मनुष्य के रूप मे परिवर्तन क्यो होता है आत्मा का? कूटस्थ-नित्य मे तो किसी भी प्रकार पर्याय-परिवर्तन अथवा हेर-फेर नही होना चाहिए. पर परिवर्तन होता है—यह दिन के उजेले की तरह स्पष्ट है. अत: "आत्मा नित्य ही है"—यह कथन भ्रान्त है और, यदि आत्मा सर्वथा अनित्य ही है तो यह वस्तु वही है जो मैंने पहले देखी थी—"ऐसा एकत्व-अनुसन्धानात्मक प्रत्यभिज्ञान नही होना चाहिए परन्तु, प्रत्य-भिज्ञान तो अबाध रूप से होता है, अत आत्मा सर्वथा अनित्य (क्षणिक) ही है—यह मान्यता भी त्रुटिपूर्ण है जीवन में एक करवट पड़कर 'ही' के रूप में हम वस्तु-स्वरूप का तथ्य-निर्णय नही कर सकते. हमे तो 'भी' के द्वारा विविध पहलुओ से सत्य के प्रकाश का स्वागत करना चाहिए. और इस सत्यात्मक दृष्टि से आत्मा नित्य 'भी' है द्रव्य की दृष्टि से आत्मा नित्य है और पर्याय की दृष्टि से आत्मा अनित्य है.

कहने का तात्पर्य यह है कि, 'ही' के एकान्त प्रयोग से सत्य का तिरस्कार एव बहिष्कार होता है, आपस मे वैर-विरोध, कलह-क्लेश, तथा वादविवाद बढते है, और 'भी' से ये सब द्वन्द्व एकदम शान्त हो जाते है. 'ही' से सघर्ष एव विवाद कैसे उत्पन्न हो जाते है, इस विषय मे एक बडा सुन्दर कथानक है दो आदमी नाच देखने गए एक अन्धा, दूसरा बहरा. रातभर तमाशा देखकर, सुबह वे दोनो अपने घर वापस लौट रहे थे रास्ते मे एक आदमी पूछ बैठा—क्यो भई, नाच कैसा था ? अन्धे ने कहा—आज केवल गाना ही हुआ है, नाच तो कल होगा. बहरा बोला—'अरे आज तो नाच ही हुआ है, गाना तो कल होगा दोनो लगे अपनी-अपनी तानने मैं-तू के साथ खीचतान और कहा-सुनी हो गयी और मार-पीट तक की नौबत आ गयी.

बस, अनेकान्तवाद यही कहता है कि, एक ही दृष्टि-कोण अपना कर अन्धे, बहरे मत बनो दूसरे की भी सुनो—दूसरो के दृष्टि-बिन्दु को भी देखो-परखो तमाशे मे हुई थी दोनो चीजे—नाच भी और गाना भी. पर, अन्धा नाच न देख सका और बहरा गाना न सुन सका. आज गाना 'ही' हुआ है अथवा नाच 'ही' हुआ है—इस 'ही' के झमेले मे पडकर दोनो उलझ गए—दोनो मे लडाई ठन गई. यदि वे एक-दूसरे को देख लेते, समझ लेते और 'ही' के चक्कर मे पडकर



अपनी-अपनी न तानते, तो कोई बात ही न होती, संघर्ष की नौबत ही न आ पाती अनेकान्तवाद परस्पर मे संघर्ष उत्पन्न कराने वाली 'ही' का उन्मूलन करके उसके स्थान पर 'भी' का प्रयोग करने की बलवती प्रेरणा प्रदान करता है अनेकान्त कानेपन को मिटाता है.—जैन-दर्शन की अनेकान्तदृष्टि मानव-मन को यही प्रकाश देती है कि मनुष्य को दो आखें मिली है अत एक आँख से वह अपना, तो दूसरी से विरोधियो—दूसरो का सत्य देखे जितनी भी वचन-पद्धतिया अथवा कथन के प्रकार है, उन सब का लक्ष्य सत्य के दर्शन कराना है जैसे द्वितीया के चन्द्रमा का दर्शन करने वाले व्यक्तियो मे से कोई एक तो ऐसा बतलाता है कि—"चन्द्रमा उस वृक्ष की टहनी से ठीक एक बित्ता ऊपर है." दूसरा व्यक्ति कहता है—"चन्द्रमा इस मकान के कोने से सटा हुआ है" तीसरा बोलता है—"चन्द्रमा उस उड़ते पक्षी के दोनो पखो के बीच मे से दीख रहा है" चौथा व्यक्ति सकेत करके कहता है—"चन्द्रमा ठीक मेरी अगुली के सामने नजर आ रहा है" इन सभी व्यक्तियो का लक्ष्य चन्द्र-दर्शन कराने का है और वे अपनी साफ नीयत मे ही, अपनी-अपनी प्रक्रिया बतला रहे है पर एक-दूसरे के कथन मे परस्पर आकाश-पाताल का अन्तर है.

ठीक इसी प्रकार सत्य-गवेषी दार्शनिक विचारको का एक ही उद्देश्य है—साधको को सत्य का साक्षात्कार कराना सब अपने-अपने दृष्टि-बिन्दु से सत्य की व्याख्या कर रहे है परन्तु, उनके कथन मे भेद है 'अनेकान्त' की सतेज आंख मे ही उन तथ्यांशो के प्रकाश को देखा-समझा जा सकता है

वस्तुत अनेकान्तवाद सत्य का सजीव भाष्य है यह सत्य की खोज करने और पूर्ण सत्य की मजिल पर पहुँचने के लिए प्रकाशमान महा मार्ग है दूसरे शब्दो मे, जैन-दर्शन का अनेकान्त-विचार, सब दिशाओ से खुला हुआ वह दिव्य मानस-नेत्र है, जो अपने से ऊपर उठकर दूर-दूर तक के तथ्यो को देख लेता है अनेकान्त मे एकागिता तथा सकीर्णता को पैर टेकने के लिए जरा भी स्थान नही है यहाँ तो मन का तटस्थ-भाव एव हृदय की उदारता ही सर्वोपरि मान्य है यहाँ स्व-दृष्टि नगण्य है, हेय है और सत्य-दृष्टि प्रधान है, उपादेय है जो भी सच्चाई है, वह मेरी है, चाहे वह किसी भी जाति, व्यक्ति अथवा शास्त्र मे क्यो न हो—यह ज्योतिष्मती दिशा है, अनेकान्त के महान् सिद्धान्त की

अनेकान्तवाद का आदर्श है कि, सत्य अनन्त है हम अपने इधर-उधर चारो ओर से जो कुछ भी देख-जान पाते है, वह सत्य का पूर्ण रूप नही, प्रत्युत अनन्त सत्य का स्फुलिंग है, अश-मात्र है अत जैन-धर्म की अनेकान्त-धारा, मनुष्य को सत्य-दर्शन के लिए आखे खोलकर सब ओर देखने की दूरगामी प्रेरणा प्रदान करती है उसका कहना है कि, सारे ससार को तुम अपने ही विचार की आँखो से मत देखो-परखो दूसरे को हमेशा उसकी आँख से देखिए, उसके दृष्टि-कोण से परखिए सत्य वही और उतना ही नही है जो-जितना आप देख पाए है फिर भी यह तो सम्भव है कि हाथी के स्वरूप का वर्णन करने वाले वे छहो अन्धे व्यक्ति अपने-आप मे शत-प्रतिशत सच्चे होकर भी इसलिए अधूरे हो कि एक ने हाथी को देखा था सूड की तरफ से, दूसरे ने पूछ की तरफ से, तीसरे ने देखा था पेट छूकर, चौथे ने देखा था कान पकडकर, पाँचवे ने देखा था दातो की ओर से और छठे ने पाव की तरफ से. जीवन के उस कानेपन को, एकागी सत्य को देखने की वृत्ति को ही तो दूर करता है—अनेकान्तवाद ! काना व्यक्ति एक ओर के सत्य को ही देख सकता है सत्य का दूसरा पहलू, वस्तुतत्त्व की दूसरी करवट उसकी आँख से लुप्त ही रहती है !

एक पुरानी लोक-कथा है किसी मा का काना बेटा हरद्वार गया. लौटा तो मा ने पूछा—हरद्वार मे तुझे सब से अच्छा क्या लगा रे ? कौन-सी नयी चीज देखी तूने वहाँ पर ? गाव के भोले बेटे ने तब तक कही बाजार देखा नही था ! बोला मा, मैंने नयी बात यही देखी कि हरद्वार का बाजार घूमता है मां हरद्वार हो आई थी चौंक कर उसने पूछा कैसे घूमता है रे हरद्वार का बाजार ?

बेटे ने नए सिरे से आश्चर्य मे डूबकर कहा मा, जब मै हर की पैडी नहाने गया तो बाजार इधर था और नहाकर लौटा तो देखा—बाजार उधर हो गया



दु ख पाकर भी मा हस पडी और अपने भोले बेटे को छाती से लगा लिया.

बाजार तो दोनो ओर था परन्तु कानेपन के कारण वह मा का भोला बेटा एक ओर ही देख सका । ऐसे ही वे विचारक भी काने ही है जो एकान्त के झमेले में पडकर, अपनी एक दृष्टि—आख से वस्तु-स्वरूप के सत्य को देखने का यत्न करते है. वे वस्तु-स्वरूप के एक-एक पहलू को ही देख पाते हैं, पर वह सत्य होता हैं दूसरी ओर भी अपने कानेपन के कारण दूसरी ओर का सत्य उन्हे दीख नही पडता । एकान्त का पक्षान्ध भला प्रकाश का दर्शन कैसे कर सकता है ?

अनेकान्तवाद मनुष्य की दृष्टि के इस कानेपन को मिटाकर, वस्तु-स्वरूप को 'विविध दृष्टियो' से देखने की प्रेरणा प्रदान करता है अपने घर के आगन मे खडा व्यक्ति अपने ऊपर ही प्रकाश देखता है छत पर चढकर देखे तो सब जगह प्रकाश ही प्रकाश अनेकान्त खिड़की या आगन का धर्म नही, छत का धर्म है

पदार्थ के विराट स्वरूप की झांकी—जैन-दर्शन की विचारधारा के अनुसार, जगत् के सब पदार्थ उत्पत्ति, विनाश और स्थिति—इन धर्मो से युक्त है । जैनत्व की भाषा मे इन्हे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य कहते है. वस्तु मे जहाँ उत्पत्ति तथा विनाश की अनुभूति होती है, वहा उसकी स्थिरता का भान भी स्पष्टत होता है सुनार के पास सोने का कगन है उसने उस कगन को तोडकर मुकुट बना लिया. इससे कगन का विनाश हुआ और मुकुट की उत्पत्ति हुई परन्तु, उत्पत्ति-विनाश की इस लीला मे मूल-तत्त्व सोने का अस्तित्व तो बराबर बना रहा वह ज्यो-का-त्यो अपनी स्थिति मे विद्यमान रहा इससे यह तथ्य निखर कर ऊपर आया कि उत्पत्ति और विनाश केवल आकार-विशेष का होता है, न कि मूल-वस्तु का मूल वस्तु तो हजार-हजार परिवर्तन होने पर भी अपने स्वरूप से च्युत नही होती । कगन और मुकुट सोने का आकार-विशेष है इस आकार-विशेष के ही उत्पत्ति एव विनाश देखे जाते हैं पुराने आकार का नाश हो जाता है और नए आकार की उत्पत्ति हो जाती है अत उत्पत्ति, विनाश और स्थिति तीनो ही पदार्थ के स्वभाव सिद्ध हुए सोने मे कगन के आकार का विनाश, मुकुट की उत्पत्ति और सोने की स्थिति, ये तीनो धर्मतया मौजूद हैं ससार का कोई भी पदार्थ मूलत नष्ट नही होता वह केवल अपना रूप बदलता रहता है इस रूपान्तर का नाम ही उत्पत्ति और विनाश है और पदार्थ के मूल-स्वरूप का नाम स्थिति है.

उत्पत्ति, विनाश और स्थिति—ये तीनो गुण प्रत्येक पदार्थ के स्वाभाविक धर्म है, इस तथ्य को हृदयगम कराने के लिए, जैन-दर्शन के ज्योतिर्धर विचारको ने एक बहुत सुन्दर रूपक हमारे सामने प्रस्तुत किया है । तीन व्यक्ति मिलकर किसी सुनार की दूकान पर गए । उनमे से एक को सोने के घडे की जरूरत थी, दूसरे को मुकुट की और तीसरे को मात्र सोने की । वहा जाकर वे क्या देखते है कि सुनार सोने के घडे को तोडकर उसका मुकुट बना रहा है सुनार की इस प्रवृत्ति को देखकर उन तीनो व्यक्तियो मे अलग-अलग भाव-धाराएँ उत्पन्न हुई । जिस व्यक्ति को सोने का घडा चाहिए था वह घडे को टूटता हुआ देखकर शोक-सन्तप्त हो गया । जिसे मुकुट की आवश्यकता थी, वह हर्ष से नाच उठा । और जिस व्यक्ति को केवल सोने की जरूरत थी, उसे न शोक हुआ और न हर्ष ही । वह तटस्थ-भाव से देखता रहा

उन तीनो व्यक्तियो मे यह भिन्न-भिन्न भावो की तरगे क्यो उठी ? यदि वस्तु उत्पत्ति, विनाश तथा स्थिति से युक्त न होती तो उनके मानस में इस प्रकार की भाव-धाराएँ कभी न उमडती । घडा चाहने वाले व्यक्ति के मन मे घडे के टूटने से शोक हुआ, मुकुट की इच्छा रखने वाले को प्रमोद हुआ और मात्र सोना चाहने वाले को शोक या प्रमोद कुछ भी नही हुआ, क्योकि सोना तो घडे के विनाश और मुकुट की उत्पत्ति दोनो ही अवस्थाओ मे विद्यमान है अतः वह मध्यस्थ-भाव से खडा रहा अलग-अलग भावनाओ के वेग का कारण वस्तु मे उत्पत्ति, विनाश और स्थिति तीनो धर्मो का होना है—

> घट-मौलि-सुवर्णार्थी, नाशोत्पत्तिस्थितिष्वयम्,
> शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं, जनो याति सहेतुकम् । —समन्तभद्र, आप्तमीमासा

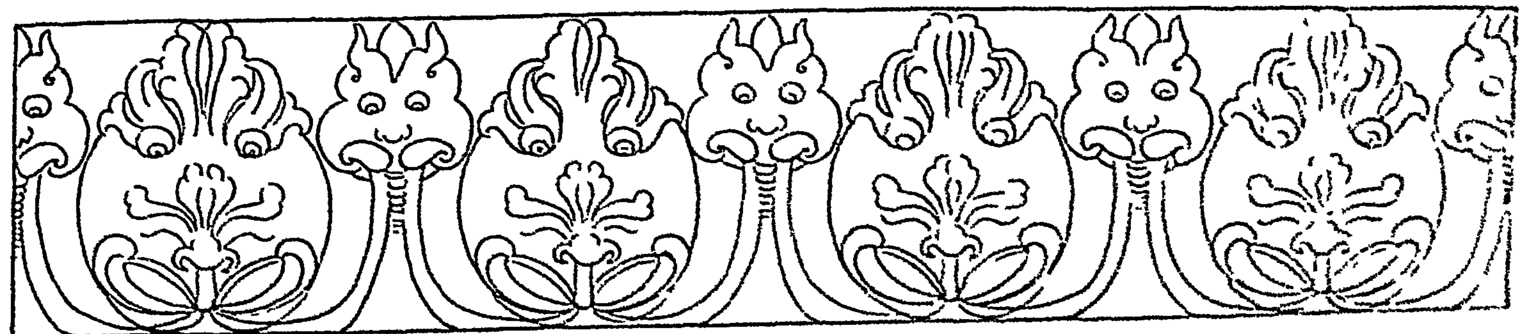
वस्तु के इस त्रयात्मक रूप को और अधिक स्पष्ट करने के लिए एक दूसरा उदाहरण भी जैन-दर्शनकारों ने उपस्थित किया है किसी व्यक्ति ने दूध को ही ग्रहण करने का नियम ले लिया है, वह दही नही खाता और जिसने दही ग्रहण करने का ही व्रत लिया है वह दूध ग्रहण नही करता, परन्तु जिसने गोरस-मात्र का त्याग कर दिया है, वह न दूध लेता है और न दही ही खाता है इस नियम के अनुसार दूध का विनाश, दही की उत्पत्ति और गोरस की स्थिरता, ये तीनो तत्त्व अच्छी तरह प्रमाणित हो जाते हैं. दही के रूप मे उत्पाद, दूध के रूप का विनाश और गोरस के रूप में ध्रौव्य, तीनो तत्त्व एक ही वस्तु मे स्पष्टत अनुभव मे आते हैं—

पयोव्रतो न दध्यत्ति, न पयोऽत्ति दधिव्रत.,
अगोरसव्रतो नोभे, तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ।—वही पूर्वोक्त

पदार्थ के उत्पत्ति, विनाश और स्थिति, इन तीनो धर्मों से यह स्पष्ट हो जाता है कि, वस्तु का एक अश बदलता रहता है—उत्पन्न और विनष्ट होता रहता है तथा दूसरा अश अपने रूप मे बना रहता है वस्तु का जो अश उत्पन्न एव नष्ट होता रहता है, उसे जैन-दर्शन की भाषा मे 'पर्याय' कहा जाता है और जो अश स्थिर रहता है वह 'द्रव्य' कहलाता है. कगन से मुकुट बनाने वाले उदाहरण मे, कगन तथा मुकुट तो 'पर्याय' है और सोना 'द्रव्य' है द्रव्य की दृष्टि से विश्व का प्रत्येक पदार्थ नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है मिट्टी का घडा नित्य भी है और अनित्य भी है घडे का जो आकार है, वह विनाशी है, अनित्य है, परन्तु घडे की मिट्टी अविनाशी है, नित्य है क्योंकि, आकार-रूप मे, घडे का नाश होने पर भी, मिट्टी-रूप तो विद्यमान रहता ही है मिट्टी के पर्याय-आकार परिवर्तित होते रहते है किन्तु मिट्टी के परमाणु सर्वथा नष्ट नही होते

यही बात वस्तु के 'सत्' और असत्' धर्म के सम्बन्ध मे भी है कुछ विचारको का मत है कि वस्तु सर्वथा 'सत्' है और कुछ का कहना है कि वस्तु सर्वथा 'असत्' है किन्तु जैन-दर्शन के महान् आचार्यों का मन्तव्य है कि प्रत्येक पदार्थ सत् भी है और असत् भी दूसरे शब्दो मे, वस्तु है भी और नही भी अपने स्वरूप की दृष्टि से वस्तु 'सत्' है और पर स्वरूप की दृष्टि से 'असत्' है घट अपने स्वरूप की अपेक्षा से 'सत्' है, विद्यमान है, परन्तु पट के स्वरूप की अपेक्षा से घट असत् है, अविद्यमान है ब्राह्मण 'ब्राह्मणत्व' की दृष्टि से 'सत्' है, लेकिन क्षत्रियत्व की दृष्टि से 'असत्' है प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व अपनी सीमा के अन्दर है, सीमा से बाहर नही यदि प्रत्येक वस्तु प्रत्येक वस्तु के रूप मे सत् ही हो जाए, तो फिर विश्व-पट पर कोई व्यवस्था ही न रहे एक ही वस्तु सर्व-रूप हो जाए

अनेकान्तवाद 'संशयवाद नहीं है'—अनेकान्तवाद के सम्बन्ध मे अजैन जगत् मे कितनी ही भ्रान्तियां फैली हुई हैं किसी का विचार है कि अनेकान्तवाद सशयवाद है परन्तु जैन-दर्शन के दृष्टिबिन्दु से यह सत्य से हजार कोस परे की बात है सशय तो उसे कहते है जो किसी भी बात का निर्णय न कर सके अधेरे मे कोई वस्तु पडी है उसे देखकर अन्तर्मन मे यह विचार आना कि "कि यह रस्सी है या साप ?" इस अनिर्णीत स्थिति का नाम है सशय इसमें 'रस्सी' अथवा 'साप' किसी का भी निश्चय नही हो पाता कोई वस्तु किसी निश्चयात्मक रूप मे न समझी जाए, यही तो 'सशय' का स्वरूप है परन्तु अनेकान्तवाद मे तो 'सशय' जैसी कोई स्थिति है ही नही वह तो सशय का मूलोच्छेद करने वाला निश्चितवाद है यहा जिस अपेक्षा से जो बात कही जाती है, उस अपेक्षा से वह बात वैसी ही है यह सौ फी सदी निश्चित है 'अनेकान्तवाद' अपेक्षा की दृष्टि से अपनी बात जोर देकर 'ही' पूर्वक कहता है उदाहरण के तौर पर, अनेकान्तवादी द्रव्य की दृष्टि से आत्मा को नित्य ही मानता है और पर्याय की दृष्टि से 'अनित्य' ही मानता है. द्रव्य की दृष्टि से आत्मा नित्य भी है और अनित्य भी है अथवा पर्याय की अपेक्षा से आत्मा अनित्य भी है और नित्य भी है—ऐसे अनिश्चयात्मक घपले की बात अनेकान्तवादी कभी नही कहता-मानता 'ही'—पूर्वक अपनी बात को कहता हुआ भी, वह 'स्यात्' पद का प्रयोग इसलिए करता है कि आत्मा द्रव्य की दृष्टि से जैसे नित्यत्व धर्म वाला है, उसी प्रकार पर्याय की दृष्टि से अनित्यत्व-धर्म वाला भी है सत्य का यह पहलू कहीं आंखों से लुप्त न हो जाए, यदि यह सत्य-दृष्टि विचारक के मानस-नेत्र से ओझल हो जाए तो फिर वहा एकान्तवाद आकर अपना आसन जमा



लेता है और 'एकान्तवाद' से तत्त्व की, सत्य की पूर्ण झाकी कभी मिल नही सकती. अत जैन-दर्शन का अनेकान्तवाद 'सशयवाद' नही प्रत्युत वस्तु तत्त्व का यथार्थ निर्णय करने वाला सुनिश्चितवाद है.

अनेकान्तवाद असत्समन्वयवाद नहीं:—कुछ आधुनिक शिक्षा-दीक्षा मे पले हुए विचारको का कहना है कि अनेकान्तवाद कोरा समन्वयवाद है. जैन-दर्शन की विचार-सरिणी से, उनका यह कथन एक विशुद्ध भ्रान्ति से अधिक मूल्य महत्व नही रखता. अनेकान्तवाद एक ही पदार्थ मे अनन्त धर्मो को स्वीकार करता है, इस अपेक्षा से उसे वस्तु के समस्त धर्मो का समन्वय करने वाला कह दिया जाए तो यह दृष्टिकोण अनेकान्तदृष्टि का दूषण नही, भूषण है. किन्तु एकान्तवाद की मूल भित्ति पर खडे किए गये सब धर्म, सब धर्ममार्ग सच्चे है, सब धर्ममार्ग मोक्ष के साधन है, यह कहना सत्य का गला घोटना है. एकान्त और अनेकान्त का तो अन्धकार तथा प्रकाश की तरह शाश्वत-विरोध है अनेकान्तवाद असत् बातो का समन्वय कभी नही करता क्या अनेकान्तवाद यह भी सिद्ध करेगा कि आदमी के सिर पर सीग होते भी है और नही भी होते ? अनेकान्त का समन्वय सत्य की शोध पर आधारित होता है, सत्य के अनुकूल होता है असत्य के साथ उसका समझौता कभी हो नही सकता. अध समन्वय जीवन मे बेमेलपन उत्पन्न कर देगा.

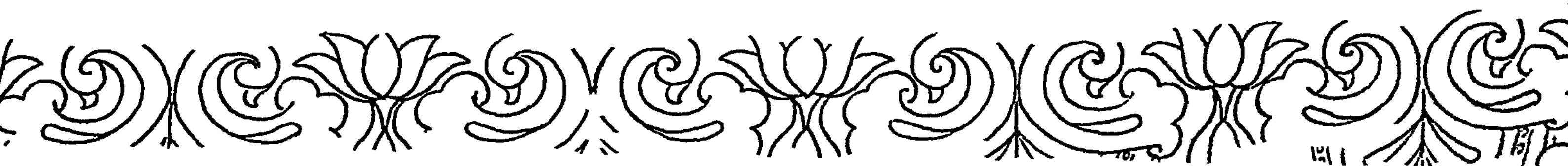
वास्तव में सच और झूठ को शब्द-रूप मे स्वीकार कर लेना अनेकान्त नही है. जैन-धर्म के जिन महान् विचारको ने अनेकान्त की प्रतिष्ठा की थी, उनका यह आशय कभी नही था कि विधि-निषेध अथवा आचार-शास्त्र की कुछ समान बातो के आधार पर सब धर्म-मार्ग एक रूप ही है, समान ही है ऐसा मानना तो गुड गोबर एक करना है. समानता को समानता और असमानता को असमानता स्वीकार करने वाला व्यक्ति ही, अनेकान्त का उपासक हो सकता है. सब धर्मो मे आचार-विषयक जैसे कुछ समानताए दृष्टिगोचर होती है, उसी प्रकार असमानताए भी तो बहुत है भक्ष्य-अभक्ष्य, पेय-अपेय, कृत्य-अकृत्य की सब मान्यताए समान ही है—यह विचार अविवेकपूर्ण है, सर्वथा भ्रान्त है एकान्त और अनेकान्त के जीव-अजीव तत्त्वो के सम्बन्ध में किये गये विवेचन विश्लेषण मे उत्तरी ध्रुव तथा दक्षिणी ध्रुव जैसा अन्तर होते हुए भी, इनमें परस्पर कोई भेद नही, सब धर्मो और प्रवर्तको में पूर्ण साम्य है, यह कह बैठना अनेकान्तवाद नही, मृषावाद है.

अनेकान्तवादी का सर्व-धर्म-समन्वय एक भिन्न कोटि का होता है वह सत्य को सत्य और असत्य को असत्य के रूप मे देखता है, मानता है और असत्य का परिहार तथा सत्य का स्वीकार करने के लिए सतत उद्यत रहता है असत्य का पक्ष न करना और सत्य के प्रति सदा जागरूक रहना ही अनेकान्तवादी की सच्ची मध्यस्थ-दृष्टि है. सत्य-असत्य मे कोई विवेक न करना, यह मध्यस्थ-दृष्टि नही, अज्ञान-दृष्टि है, जड-दृष्टि है. सत्य और असत्य दोनो को एक ही पलड़े में रख देना एक प्रकार से असत्य के प्रति पक्षपात और सत्य के प्रति द्वेष ही है. सत्य के प्रति अन्याय न होने पाए और असत्य को प्रश्रय न मिलने पाए, इस अपेक्षा से अनेकान्त-सिद्धान्त के मानने वाले व्यक्ति का मध्यस्थ-भाव एक अलग ही ढग का होता है जिसकी स्पष्ट झाकी हम निम्न श्लोक में देख सकते है—

> 'तत्रापि न द्वेषः कार्यो, विषयस्तु यत्नतो मृग्यः ।
> तस्यापि च सद्वचनं, सर्वं यत्प्रवचनादन्यत् ॥ —षोडशक १६।१३

दूसरे शास्त्रो के प्रति द्वेष करना उचित नही है. परन्तु वे जो बात कहते है, उसकी यत्नपूर्वक शोध करनी चाहिए और उसमे जो सत्य वचन है, वह द्वादशागी-रूप प्रवचन से अलग नही है.

अनेकान्तवाद का गाम्भीर्य और मध्यस्थ-भाव दोनो उपर्युक्त श्लोक मे मूर्त्त हो उठे है. अनेकान्तवादी के लिए कोई भी वचन स्वय न प्रमाणरूप है और न अप्रमाणरूप ही. विषय के शोधन-परिशोधन से ही, उसके लिए कोई वचन प्रमाण अथवा अप्रमाण बनता है, चाहे वह स्व-शास्त्र का हो या पर-शास्त्र का. जिसका विषय प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण से अविरुद्ध हो, वह वाक्य प्रमाण है और जिसका विषय प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से बाधित हो, वह वचन अप्रमाण है वस्तु अनेक धर्मात्मक है. किसी भी एक धर्म को लेकर कहा गया वचन, उस धर्म की दृष्टि से प्रमाण है, अन्य धर्मो का अपलाप करके कहा हुआ वचन अप्रमाण है, असत्य है, मिथ्या है.



सार-तत्त्व यह है कि जैन-दर्शन का मौलिक अनेकान्तवाद असत् पक्षो का समन्वय-ट्रेल-मेल नही साधता. इसमे तो जीवन मार्ग मे अन्ध-स्थिति उत्पन्न हो जाती है केवल सत्पक्षो और तथ्यांशों का समन्वय ही अनेकान्त है

क्या एक ही वस्तु मे विरुद्धधर्म रह सकते है ?—'एक ही पदार्थ नित्य भी है, अनित्य भी है, सत् भी है, असत् भी है, एक भी है, अनेक भी है, जैन-धर्म के मेरुमणि अनेकान्तवाद का यह वज्र आघोष है नित्यत्व, अनित्यत्व सत्त्व, असत्त्व, एकत्व, अनेकत्व आदि परस्पर-विरोधी धर्म एक ही पदार्थ मे कैसे रह सकते है ? इस आशका का होना सहज है पर जरा गहराई से विचार करने पर यह तथ्य उजागर हो जाएगा कि विरुद्ध धर्मों का एकत्र पाया जाना कोई नई अद्भुत अथवा आश्चर्यकारी बात नही है यह तो हमारे दैनिक अनुभव मे आने वाली बात है. कौन नही जानता कि एक ही व्यक्ति मे अपने पिता की दृष्टि से पुत्रत्व, पुत्र की अपेक्षा से पितृत्व, भ्राता की अपेक्षा से भ्रातृत्व, छात्र की अपेक्षा मे अध्यापकत्व और अध्यापक की दृष्टि से छात्रत्व आदि परस्पर विरुद्ध धर्म पाये जाते है

हा, विरोध की आशका तब उचित कही जा सकती है, जब एक ही अपेक्षा से, एक पदार्थ मे परस्पर विरुद्ध धर्मों का निरूपण किया जाए पदार्थ मे द्रव्य की दृष्टि से नित्यत्व, पर्याय की दृष्टि से अनित्यत्व, अपने स्वरूप की दृष्टि से सत्त्व और पर-स्वरूप की दृष्टि से असत्त्व स्वीकार किया जाता है अत अनेकान्त के सिद्धान्त को विरोधमूलक बतलाना अपनी अज्ञानता का परिचय देना है अनेकान्त विरोध का तो कट्टर शत्रु है—

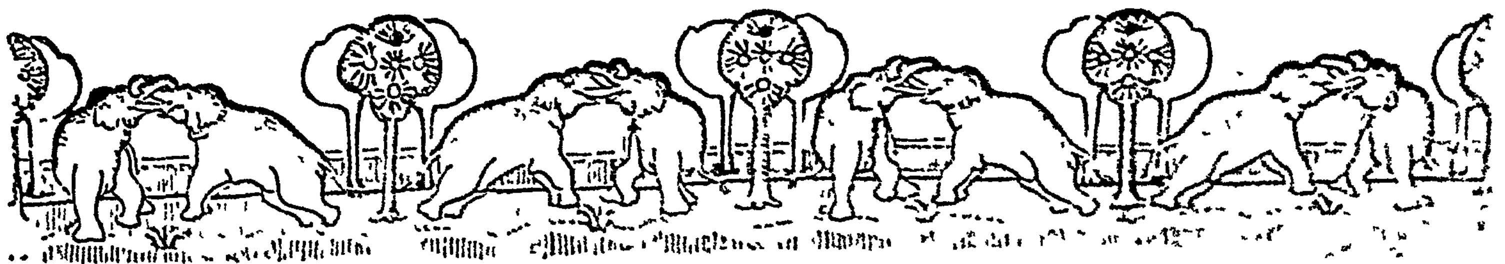
'सकलनयविलसितानां विरोधमथन नमाम्यनेकान्तम् !' —अमृतचन्द्र, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

—सकल नयो के विरोध को विनाश करने वाले अनेकान्त को मैं नमस्कार करता हूँ.

किसी भी पदार्थ मे नित्यत्व, अनित्यत्व, सत्त्व, असत्त्व, एकत्व, अनेकत्व आदि विरुद्ध धर्मों का रहना यदि असम्भव होता, तो उस पदार्थ मे उनका प्रतिभास भी नही होना चाहिए था परन्तु, प्रतिभास तो सहज अबाध रूप से होता है उदाहरण के लिए घट को ही ले लीजिए घट अपने स्वरूप की दृष्टि से 'सत्' है यदि ऐसा न होता, तो घट है, यह ज्ञान नही होना चाहिए था 'घट' घट है, पट नही, ऐसी ज्ञानानुभूति भी होती है अत घट मे पट का अभाव भी ठहरता है और इसी अपेक्षा से घट को पट की दृष्टि से 'असत्' कहा जाता है यदि वस्तु को अपने स्वरूप की अपेक्षा से 'सत्' और पर-स्वरूप की अपेक्षा से 'असत्' स्वीकार न किया जाएगा, तो किसी भी विशेष पदार्थ मे प्रवृत्ति नही हो सकती जिस प्रकार अपने स्वरूप की दृष्टि से 'सत्त्व' उस पदार्थ का धर्म है, उसी प्रकार अन्य पदार्थ की दृष्टि से 'असत्त्व' भी उस पदार्थ का धर्म है यदि ऐसा न होता तो उसमे इन दोनो बातो का व्यवहार भी नही हो सकता था किन्तु, 'सत्त्व' की तरह 'असत्व' का भी व्यवहार उसमे निरन्तर होता है अत पदार्थ को 'असत्' भी माना जाता है

हा, पदार्थ को जिस अपेक्षा से 'सत्' माना जाता है, यदि उसी अपेक्षा से उसे असत् माना जाता, तब तो असम्भव दोष को अवकाश हो सकता था पदार्थ को जिस दृष्टिकोण मे सत् स्वीकार किया गया, उस दृष्टिकोण मे वह 'सत्' ही है और जिस दृष्टिकोण से 'असत्' माना गया है, उस दृष्टिकोण से 'असत्' ही है यही बात 'नित्यत्व' और 'अनित्यत्व' के सम्बन्ध मे भी है जिस अपेक्षा से हम पदार्थ को नित्य मानते है, उस अपेक्षा से वह नित्य ही है और जिस अपेक्षा से 'अनित्य' स्वीकार किया जाता है, उस अपेक्षा मे वह 'अनित्य' ही है यदि नित्यवाली दृष्टि मे ही अनित्य माना जाता, तो विरोध हो सकता था पदार्थ को द्रव्य की दृष्टि से नित्य और पर्याय की दृष्टि मे अनित्य माना जाता है ये दोनो धर्म पदार्थ मे ही है. इसलिए पदार्थ नित्यानित्यात्मक है

अनेकान्तवाद की उपयोगिता.—अहिंसा का विचारात्मक पक्ष अनेकान्त है राग-द्वेपजन्य सस्कारो के वशीभूत न होकर एक-दूसरे के दृष्टि-बिन्दु को ठीक-ठीक समझने का नाम ही तो 'अनेकान्त' है इससे मनुष्य के अन्तर मे सत्य को हृदयगम करने की वृत्ति का उदय होता है, जिससे सत्य को समझकर, उस तक पहुँचने मे सुगमता होती है जब तक मनुष्य अपने ही मन्तव्य अथवा विचार को सर्वथा ठीक समझता रहता है, अपनी ही बात को परम सत्य माना करता है, तब तक उसमे दूसरे के दृष्टिकोण को समझने की उदारता नही आ पाती और वह कूप-मण्डूक बना रहता है फलत, वह अपने को सच्चा और दूसरे को सर्वथा मिथ्यवादी समझ बैठता है



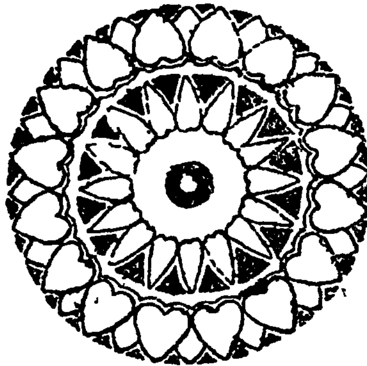
यह जो आज परिवारो में लडाई-झगड़े और कलह-क्लेश है, सार्वजनिक-जीवन में क्रूरता तथा कल्मष है, धार्मिक क्षेत्र मे 'मैं-तू' का बोलबाला है, अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण मे गहरी तनातनी है, वह सब अनेकान्त के दृष्टि-कोण को न अपनाने के कारण ही है. दुनिया का यह एक रिवाज-सा बन गया है कि वह अपनी आँखो से अपनी कल्पना तथा विचार-दृष्टि के अनुसार ही सब कुछ देखना-समझना चाहती है. समाज का प्रत्येक व्यक्ति यही चाहता है कि सब जगह मेरी ही चले, समूचा समाज मेरे इशारे पर ही नाचे. और जब यह नही हो पाता तो आपस मे एक-दूसरे के दोष निकालते है, टीका-टिप्पणी के रूप में एक-दूसरे पर छींटा-कशी करते है, इससे 'मैं-तू' का वातावरण गरम हो जाता है और सर्वत्र अशान्ति की लहर दौड जाती है.

राजनीति के क्षेत्र को ही ले लीजिए. राजनीति के पचड़े में पडकर सारा ससार वादो के चक्कर में फँसा हुआ है, अपनी अपनी बात को खीच रहा है. कोई कहता है समाजवाद ही विश्व की समस्याओ को सुलझा सकता है. दूसरा कहता है . साम्यवाद से ही विश्व मे शान्ति हो सकती है तीसरा पुकार रहा है पूँजीवाद की छत्रछाया मे ही ससार सुख की सास ले सकता है. कोई किसी वाद से और कोई किसी वाद से विश्व-शाति की रट लगा रहा है इस पारस्परिक तनाव और खीचतान से ही विश्व के राजनीतिक मच पर ईर्ष्या, कलह, सघर्ष, भय तथा द्वन्द्व अपनी-अपनी छाती तान कर खड़े हो जाते है और ससार अशान्ति का अखाडा बन जाता है

यही स्थिति धार्मिक क्षेत्र मे है. वहाँ भी अपनी-अपनी ढपली अपना-अपना राग है. प्रत्येक धर्म अपनी उच्चता, सच्चाई तथा मुक्ति की ठेकेदारी का राग अलाप रहा है अपने-आप को सच्चा और दूसरे को झूठा बतला रहा है.

यदि ये सब विचारक, एक मच पर बैठकर सहिष्णुता और धैर्य के साथ, एक-दूसरे की बात सुने और अपनी ही दृष्टि को दूसरो पर बलात् थोपने का यत्न न करे, तो फिर सत्य-तथ्य इनकी आखो के सामने न तैरने लगे! इनमे परस्पर मेल न हो जाए! 'समझौते और समन्वय का द्वार न खुल जाए! सर्वोदय की पगडडी साफ न हो जाए! सर्वत्र शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व और सहजीवन का प्रकाश न फैल जाए!

और यही सिखाता है जैन-सस्कृति के तत्त्व-ज्ञान का मूलाधार अनेकान्तवाद. जैसे प्रकाश के आते ही अन्धकार अदृश्य हो जाता है, उसी प्रकार अनेकान्त का आलोक मन-मस्तिष्क मे आते ही कलह, द्वेष, वैषम्य, कालुष्य, पारस्परिक तनाव सकीर्णवृत्ति एव सघर्ष बात की बात में शान्त हो जाते है और शान्ति तथा समन्वय का एक मधुर वातावरण बनता-बढ़ता चला जाता है पारस्परिक विरोध और संघर्षात्मक तनाव के जहर को निकालकर अविरोध, शाति, सह-अस्तित्व के इस अमृतवर्षण मे ही अनेकान्तवाद की सर्वोपरि उपयोगिता निहित है.





श्री इन्द्रचन्द्र शास्त्री
एम० ए०, पी-एच० डी० दिल्ली

जैनदर्शन

'जैन' शब्द का अर्थ है जिन के अनुयायी और 'जिन' शब्द का अर्थ है जिसने राग द्वेष को जीत लिया है उसे अर्हत् अर्थात् पूजनीय भी कहा जाता है इसी आधार पर जैनधर्म का दूसरा नाम आर्हद्धर्म है जैनसाधु परिग्रह या सपत्ति नही रखते उनके पास ऐसी कोई वस्तु नही होती जिसे गाठ बाधकर रखा जाय इसलिये वे निर्ग्रन्थ कहे जाते हैं और उनका धर्म निर्ग्रंथ धर्म ईस्वीपूर्व छठी शताब्दी मे भारतीय सस्कृति की दो मुख्य धाराएँ थी. एक ओर यज्ञ तथा भौतिक सुखो पर बल देने वाली ब्राह्मण परपरा और दूसरी ओर निवृत्तितथा मोक्ष पर बल देनेवाली श्रमण परपरा जैनधर्म श्रमणपरपरा की एक प्रधान शाखा है.

जैनधर्म न विकासवादी है और न ह्रासवादी जगत्कर्त्ता के रूप मे किसी अतीन्द्रिय सत्ता को नही मानता विश्व परिवर्त्तनशील है उसकी उपमा एक चक्र से दी जाती है जिसमे उन्नति और अवनति, उत्थान और पतन का क्रम निरन्तर चलता रहता है इस क्रम को बारह आरो मे विभक्त किया गया है उत्थान को उत्सर्पिणी काल और पतन को अवसर्पिणी काल कहा जाता है प्रत्येक मे छह आरे हैं प्रत्येक काल के मध्य मे धर्म की स्थापना होती है.

प्रस्तुत काल अवसर्पिणी है इसमे सभी बाते हीयमान हैं इसके मध्य मे अर्थात् तृतीय आरे के अत मे प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव हुये वे ही जैनधर्म की वर्तमान परपरा के सस्थापक माने जाते है उनका वर्णन भागवत तथा वैदिक साहित्य मे भी आया है ज्ञात होता है वे सर्वमान्य महापुरुष रहे होगे. उनके समय के विषय मे ऐतिहासिक दृष्टि मे कुछ नही कहा जा सकता

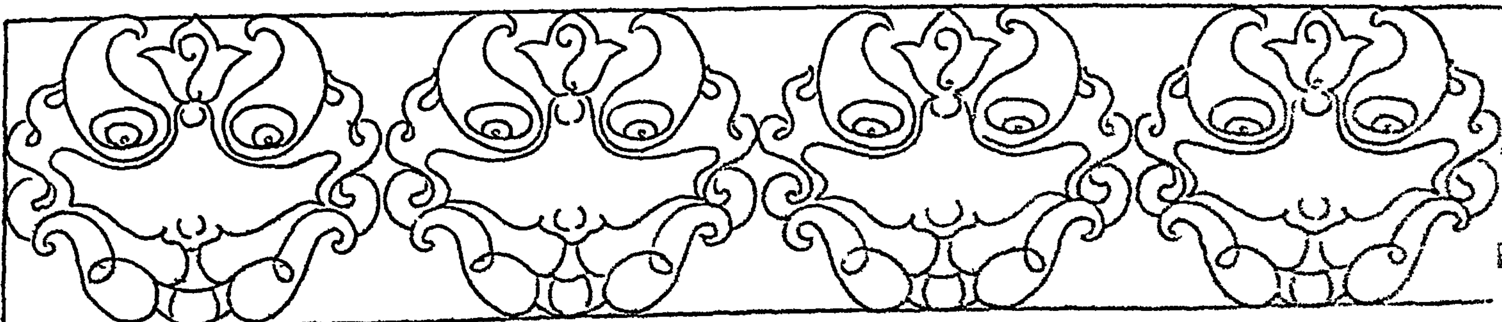
ऋषभदेव के पश्चात् २३ तीर्थंकर हुये बाईसवें नेमिनाथ भगवान् कृष्ण के चचेरे भाई थे छादोग्य उपनिषद् मे उनका निर्देश घोर अगिरस के रूप मे आया है तेईसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ ईस्वीपूर्व ८५० मे हुये. वे वाराणसी के राजकुमार थे अतिम तीर्थकर भगवान् महावीर ईस्वीपूर्व ६०० मे हुये वर्तमान जैनधर्म उन्ही की देन है

महावीर के पश्चात् एक हजार वर्ष का समय आगमयुग कहा जाता है उस समय श्रद्धाप्रधान आगम ग्रन्थो की रचना हुई दार्शनिक दृष्टि से उनका इतना महत्त्व है कि यत्र-तत्र विभिन्न मान्यताएँ मिलती है, किन्तु प्रतिपादनशैली दार्शनिक नही है

दर्शनयुग का प्रारम्भ ईसा की ५वी शताब्दी मे हुआ महावीर के कुछ समय पश्चात् जैनधर्म मे श्वेताम्बर और दिगम्बर दो सम्प्रदाय हो गये दोनो ने दार्शनिक साहित्य का विकास किया

जहा तक जैन मान्यताओ का प्रश्न है उनका सग्रह करने वाला प्रथम सूत्रग्रन्थ तत्त्वार्थ सूत्र है उसे मोक्षशास्त्र भी कहा जाता है यह उमास्वाति या उमास्वामी (तृतीय शताब्दी) की रचना है इस पर उनका स्वोपज्ञ भाष्य, पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि, सिद्धसेनगणी का भाष्य, अकलक की राजवार्तिक, विद्यानद की श्लोकवार्तिक तथा श्रुतसागर की आत्मख्याति नामक टीकाए है ये रचनाये आगम साहित्य मे सम्मिलित की जाती है

कुदकुद ने प्रवचनसार समयसार, नियमसार, अष्टपाहुड आदि अनेक ग्रथो की रचना की. उनमे खण्डन-मण्डन न होने पर भी आत्मा, ज्ञान आदि विषयो का सूक्ष्म विवेचन है दिगम्बर परम्परा मे उन्हे आगम माना जाता है दार्शनिक दृष्टि से भी उनका महत्त्व कम नही है



दर्शनयुग का प्रारम्भ ५वी शताब्दी मे माना जाता है. इसी समय सिद्धसेन दिवाकर और समतभद्र, मल्लीवादी और पात्र-केसरी नामक आचार्य हुए. सिद्धसेन श्वेताम्बर थे और समतभद्र दिगम्बर. दोनो ने जैनदर्शन के प्राण अनेकान्तवाद की स्थापना की भगवान् महावीर ने नयवाद का प्रतिपादन किया था सिद्धसेन ने उसे आधार बनाकर सन्मतितर्क की रचना की जो अनेकान्तवाद पर प्रथम ग्रथ माना जाता है उनकी दूसरी रचना न्यायावतार जैनतर्कशास्त्र का प्रथम ग्रथ है सिद्धसेन ने ३२ द्वात्रिंशिकाये भी रची. उनमे से २२ उपलब्ध है इनमे स्तोत्र के रूप में दार्शनिक चर्चा की गई है. समतभद्र की दर्शनशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाली ३ रचनाएँ है—

(१) आप्तमीमासा मे उन्होने यह चर्चा की है कि आप्त अर्थात् विश्वास एव पूजा के योग्य महापुरुष वही हो सकता है जो राग द्वेषादि से परे हो तथा जिसकी वाणी मे पूर्वापर विरोध न हो. इस कसौटी पर बुद्ध, कपिल, कणाद आदि नही उतरते. अत उन्हे आप्त नही कहा जा सकता. साथ ही नित्यानित्य, भेदाभेद, सामान्य-विशेष, गुण और गुणी का परस्पर सम्बन्ध आदि विषयो को लेकर प्रचलित एकान्त दृष्टियो का खण्डन और अनेकान्त का प्रतिपादन किया है इस पर अकलक की अष्टशती और विद्यानन्द की अष्टसहस्त्री नामक टीकाएँ है उनका दार्शनिक साहित्य में मूर्धन्य स्थान है समतभद्र के अन्य ग्रन्थ. (२) युक्त्यनुशासन और (३) स्वयभूस्तोत्र है. सभी में उनकी प्रौढ तार्किकता का परिचय मिलता है. मल्लिवादी ने नयचक्रम् तथा वादन्याय की रचना की. उनका अथन है कि विभिन्न मत चक्र में आरो के समान है. सभी एक-दूसरे का खण्डन करते रहते है. किन्तु निष्कर्ष पर कोई नही पहुँचता. सम्पूर्ण सत्य चक्र के समान है और समस्त मत उसके घटक है अपने आप मे अर्थात् निरपेक्ष होने पर मिथ्या है और सापेक्ष होने पर सत्य के अग बन जाते है. क्षमाश्रमण (७वी शताब्दी) ने नयचक्र पर बृहद् टीका लिखी है. पात्रकेसरी या पात्र स्वामी ने 'त्रिलक्षण-कदर्थन' नामक ग्रथ रचा. इसमें बौद्धो द्वारा प्रतिपादित हेतु के स्वरूप का खण्डन है

अकलक (८०० ईसवी) ने दिग्नाग, धर्मकीर्ति, आदि बौद्ध आचार्यो का खडन करते हुए जैनदृष्टि से प्रमाणव्यवस्था का प्रतिपादन किया उनके मुख्य ग्रथ है—अष्टशती, प्रमाणसग्रह, न्यायविनिश्चय, लघीयस्त्रय तथा सिद्धिविनिश्चय इसी समय श्वेताम्बर आचार्य हरिभद्र सूरि हुए उन्होने बहुसख्यक ग्रन्थो की रचना की. दर्शनशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थ है—अनेकान्तजयपताका, शास्त्रवार्तासमुच्चय, षड्दर्शनसमुच्चय तथा लोकतत्त्व निर्णय. उनके षोडशक और अष्टको मे भी दार्शनिक चर्चाएँ है योगदृष्टिसमुच्चय, योगबिन्दु तथा योगविंशिका योगविषयक ग्रथ है धर्मसग्रहणी प्राकृत मे है. हरिभद्र ने दिङ्नाग के न्यायप्रवेश पर टीका लिखकर अपनी उदारदृष्टि का परिचय दिया है अकलक के भाष्यकार विद्यानन्द हुए. अष्टसहस्री के अतिरिक्त उनके मुख्य ग्रथ है—प्रमाणपरीक्षा, आप्तपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, तथा श्लोकवार्तिक आदि इस समय अनतकीर्तिने लघुसर्वज्ञसिद्धि, बृहत्सर्वज्ञसिद्धि तथा जीवसिद्धि और अनन्तवीर्य ने उस पर सिद्धिविनिश्चय टीका रची.

माणिक्यनदी (१०वी शताब्दी) का परीक्षामुख जैन तर्कशास्त्र का प्रथम सूत्र ग्रथ है इसी समय सिद्धर्षि ने सिद्धसेन कृत न्यायावतार पर टीका रची. अभयदेव (१०५४) की सन्मतितर्क पर 'वादमहार्णव' नामक विशाल टीका भी इसी समय की है. प्रभाचन्द्र (१०३७ से ११२२) ने परीक्षामुख पर प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा लघीयस्त्रय पर न्यायकुमुन्दचन्द्र नामक टीकाये रची. वादिराज ने न्यायावतार पर न्यायविनिश्चयविवरण और जिनेश्वर (११ वी शताब्दी) ने न्याया-वतार पर प्रमाणलक्ष्य नामक वार्तिक तथा उन पर टीका रची. अनन्तवीर्य (१२ वी शताब्दी) की परीक्षामुख पर प्रमेयरत्नमाला नामक सक्षिप्त टीका है वादी देवसूरि (११४३-१२२६) ने प्रमाणनयतत्त्वालोक नामक सूत्र ग्रथ और उस पर स्याद्वादरत्नाकर नामक विशाल टीका लिखी. कहा जाता है कि इसकी श्लोक सख्या ८४००० थी, किन्तु सपूर्ण उपलब्ध नही है. वादी देव श्वेताम्बर थे. उनकी रचनाएँ परीक्षामुख और प्रमेयकमलमार्तण्ड की प्रतिक्रिया है उन्होने स्त्रीमुक्ति और केवली के आहार को लेकर विस्तृत चर्चा की है कहा जाता है इन विषयोको लेकर कुमुन्दचन्द्र और वादी देवसूरि मे शास्त्रार्थ हुआ था प्रमाणनयतत्त्वालोक पर वादी देव के शिष्य रत्नप्रभ ने रत्नाकरावतारिका टीका लिखी इसी समय हेमचन्द्राचार्य (११४५ से १२२९) हुए. उन्होने स्वोपज्ञ टीका के साथ प्रमाणमीमासा नामक सूत्र ग्रथ तथा

दो द्वात्रिंशिकायें रची इनकी 'अन्ययोग-व्यवच्छेदिका' नामक द्वात्रिंशिका पर मल्लिषेण की स्याद्वादमजरी नामक टीका है १२ वी शताब्दी मे ही शात्याचार्य ने न्यायावतार पर स्वोपज्ञ टीका के साथ न्यायवार्तिक की रचना की गुणरत्न (१५ वी शताब्दी) की षड्दर्शनसमुच्चय पर टीका दार्शनिक साहित्य के इतिहास मे महत्वपूर्ण स्थान रखती है भट्टारक धर्मभूषण (१५ वी शताब्दी) की न्यायदीपिका जैनन्याय का प्रारम्भिक ग्रथ है

सत्रहवी शताब्दी मे यशोविजय नामक प्रतिभाशाली आचार्य हुए उन्होने जैनदर्शन मे नव्य न्याय का प्रवेश किया उनके मुख्य ग्रथ है—अनेकातव्यवस्था, जैनतर्कभाषा, ज्ञानविन्दु, नयप्रदीप, नयरहस्य और नयामृततरगिणी, सटीक नयोपदेश. न्यायखडखाद्य तथा न्यायालोक मे नव्य न्याय शैली मे नैयायिकादि दर्शनो का खडन है अष्टसहस्री पर विवरण तथा हरिभद्रकृत शास्त्रवार्तासमुच्चय पर स्याद्वादकल्पलता नामक टीकाए है भाषारहस्य, प्रमाणरहस्य, वादरहस्य नामक ग्रन्थो मे नव्यन्याय के ढग पर जैन तत्वो का प्रतिपादन है उन्होने योग तथा अन्य विषयो पर भी ग्रथ रचे इसी युग मे विमलदास गणी ने 'सप्तभगीतरगिणी' नामक ग्रथ नव्यन्याय शैली पर रचा

ज्ञानमोमासा

वेदान्त मे आत्मा को सत् चित् और आनद स्वरूप माना गया है इसी प्रकार जैनदर्शन मे उसे अनत चतुष्टयरूप माना गया है वे है अनतज्ञान, अनतदर्शन, अनतसुख और अनतवीर्य प्रथम दो—ज्ञान एव दर्शन चेतना ही के दो रूप है प्रत्येक आत्मा अपने आप मे सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी है उसके ये गुण बाह्य आवरण के कारण छिपे हुए है.

ज्ञान का स्वरूप —जैनदर्शन के अनुसार ज्ञान प्रकाश के समान है अर्थात् वह अपने आप मे विद्यमान वस्तु को प्रकाशित करता है नई रचना या अपनी ओर से उसमे कोई सम्मिश्रण नही करता यहाँ एक प्रश्न होता है किसी व्यक्ति को देखकर हमे यह प्रत्यक्ष होता है कि वह हमारा शत्रु है क्या शत्रुत्व उस व्यक्ति मे है ? यदि ऐसा है तो वह दूसरो को भी शत्रु के रूप मे क्यो नही दिखाई देता ? उत्तर मे जैनदर्शन का कथन है कि व्यक्ति या वस्तु मे प्रतीत होने वाले सभी धर्म सापेक्ष होते है एक ही वस्तु एक व्यक्ति को छोटी दिखाई देती है और दूसरे को बडी दोनो की अपनी-अपनी अपेक्षाए होती है और उस दृष्टि से दोनो सच्चे हैं इसी प्रकार वही व्यक्ति एक को शत्रु दिखाई देता है और दूसरे को मित्र दानो का यह ज्ञान अपनी-अपनी अपेक्षा को लिए हुए है यदि मित्रता का दर्शन करने वाला व्यक्ति शत्रुतादर्शन करने वाले की अपेक्षा को दृष्टि मे रख कर विचार करे तो उसे भी शत्रुता का ही दर्शन होगा एक ही स्त्री एक व्यक्ति की दृष्टि मे माता है, दूसरे की दृष्टि मे बहिन, तीसरे की दृष्टि मे पत्नी, चौथे की दृष्टि मे पुत्री इनमे से कोई भी दृष्टि मिथ्या नही है. मिथ्यापन तभी आयगा जब अपेक्षा बदल जाये सभी ज्ञान आशिक सत्य को लिए रहते है और यदि उन्हे आशिक सत्य के रूप मे स्वीकार किया जाय तो सभी सच्चे है वे ही जब पूर्ण सत्य मान लिये जाते है और दूसरी दृष्टि या अपेक्षा का निराकरण करने लगते है तो मिथ्या हो जाते है. जैनदर्शन के अनुसार पूर्ण सत्य का साक्षात्कार सर्वज्ञ को ही हो सकता है और उसी का ज्ञान पूर्ण सत्य कहा जा सकता है

ज्ञान के भेद

ज्ञान के ५ भेद हैं (१) मति—इन्द्रिय और मन से होने वाला ज्ञान (२) श्रुत—शास्त्रो मे होने वाला ज्ञान (३) अवधि—दूरवर्त्ती तथा व्यवधान वाले पदार्थो का ज्ञान, जो विशिष्ट योगियो को होता है इसके द्वारा योगी केवल रूप वाले पदार्थो को ही देख सकता है (४) मन.पर्यय—दूसरे के मनोभावो का प्रत्यक्ष (५)केवलज्ञान—सर्वज्ञो का ज्ञान, जिसके द्वारा वे विश्व के समस्त पदार्थो को एक साथ जानते है

प्राचीन परपरा मे इनमे से प्रथम दो को परोक्ष माना गया और अतिम तीन को प्रत्यक्ष कालातर मे अन्यदर्शनो के समान इन्द्रिय से होने वाले ज्ञान को भी प्रत्यक्ष मे सम्मिलित कर लिया गया अकलक ने इस बात को लक्ष्य मे रखकर प्रत्यक्ष के दो भेद कर दिये साव्यवहारिक और पारमार्थिक इन्द्रिय तथा मन से होने वाले प्रत्यक्ष को प्रथम कोटि मे ले लिया और अवधि आदि तीन ज्ञानो को द्वितीय कोटि मे



जैनदर्शन के अनुसार आत्मा कमरे मे वैठे हुए व्यक्ति के समान है और मन तथा इन्द्रियाँ खिडकी के समान. उनका काम इतना ही है कि थोडी देर के लिए ज्ञाता और ज्ञेय के बीच पड़े हुए आवरण या पर्दे को हटा दे. जानने का काम आत्मा स्वय करता है इसी दृष्टि को सामने रखकर प्राचीन आगमो मे प्रत्यक्ष और परोक्ष का भेद नही किया गया. सर्वप्रथम यह भेद उमास्वाति ने किया उसका आधार था कि जिस ज्ञान मे इन्द्रिय, मन या शब्द आदि की सहायता होती है वह परोक्ष है और जहाँ उस सहायता की आवश्यकता नही है वह प्रत्यक्ष है अन्य दर्शनो के साथ सपर्क होने पर इन्द्रियज्ञान को भी साधारण व्यवहार की दृष्टि से प्रत्यक्ष मान लिया गया.

प्रत्यक्ष का क्रम

जब हम किसी वस्तु को देखते है तो एकदम अतिम निर्णय पर नही पहुचते. पहले सामान्य ज्ञान होता है, धीरे धीरे विशेषता की ओर बढते है जब किसी दूर की वस्तु को देखते है तो यह क्रम स्पष्ट प्रतीत होता है, किन्तु परिचित एव निकटस्थ वस्तु का ज्ञान शीघ्र हो जाता है स्पष्टतया मालूम न पडने पर भी वहा इस क्रम का अभाव नही होता. जैनदर्शन मे इस क्रम की पाच अवस्थाए बताई गई है.

(१) दर्शन—सामान्यज्ञान, जहा केवल इतना ही भान होता है कि कुछ है.

(२) अवग्रह—इन्द्रिय के द्वारा वस्तु का ग्रहण इसकी भी दो अवस्थाए हैं १ व्यजनावग्रह और अर्थावग्रह व्यजनावग्रह का अर्थ है इन्द्रिय और पदार्थ का परस्पर सम्बन्ध. यह केवल चार इन्द्रियो में होता है. मन और चक्षुरिन्द्रिय से होने वाले ज्ञान मे नही होता दूसरा अर्थावग्रह है—इसका अर्थ है वस्तु का प्रतिभास.

(३) ईहा—विशेष जानने की इच्छा

(४) अवाय—विशेष का निश्चय.

(५) धारणा—ज्ञान का सस्कार के रूप मे परिणत होना, जिससे कालान्तर मे स्मरण हो सके
इन अवस्थाओ मे प्रथम दर्शन निराकार होने के कारण ज्ञान कोटि मे नही आता शेष चार मतिज्ञान की अवस्थाए है.

परोक्ष के भेद

परोक्ष का निरूपण मुख्यतया तर्कयुग की देन है इसके ५ भेद है.

(१) स्मृति—पूर्वानुभूत वस्तु का स्मरण न्यायदर्शन इसे प्रमाण कोटि मे नही रखता

(२) प्रत्यभिज्ञान—इसका शब्दार्थ है पहिचान. पूर्वानुभूत वस्तु को पुन देखने पर हमे यह ज्ञान होता है कि यह वही है, इसे एकत्व प्रत्यभिज्ञान कहते है. कभी तत्सदृश दूसरी वस्तु को देखकर यह ज्ञान होता है कि यह उसके सदृश है भिन्न वस्तु को देख कर यह ज्ञान होता है कि यह उससे भिन्न है. इस प्रकार पूर्वानुभूत और प्रत्यक्ष तुलना का सकलन करने वाले सभी ज्ञान प्रत्यभिज्ञान है वैदिक दर्शनो मे इसका प्रतिपादन उपमान के रूप में किया गया है.

(३) तर्क—धुआँ अग्नि का कार्य है और अग्नि धुए का कारण. कार्य, कारण के विना नही होता. इसी प्रकार जहा आम होगा वहा वृक्ष अवश्य होगा, क्योकि आम वृक्ष की अवातर जाति अर्थात् व्याप्य है. इस प्रकार कार्य-कारण भाव, व्यप्य-व्यापकभाव आदि सम्बन्धो के आधार पर यह निश्चय करना कि एक वस्तु दूसरी वस्तु के होने पर ही हो सकती है, तर्क है इसे व्याप्तिज्ञान भी कहा जाता है

(४) अनुमान—तर्क के आधार पर स्थान विशेष मे एक वस्तु को देखकर दूसरी वस्तु की सत्ता या अभाव सिद्ध करना अनुमान है. इसका निरूपण न्यायदर्शन मे किया गया है यहा इतना ही बता देना पर्याप्त है कि जैनदर्शन हेतु और साध्य के परस्पर सम्बन्ध के लिये इतना ही आवश्यक मानता है कि साध्य के विना हेतु नही रहना चाहिए वौद्धो के समान उसे कार्य तथा स्वभाव तक सीमित नही करता उदाहरण के रूप मे जैनदर्शन का कथन है कि जिस प्रकार कार्य से कारण का अनुमान किया जा सकता है उसी प्रकार कारण से कार्य का भी अनुमान किया जा सकता है हम

आग देख कर यह अनुमान कर सकते है कि वहा उष्णता होगी इतना ही नही, आज रविवार है तो यह अनुमान किया जा सकता है कि दूसरे दिन सोमवार होगा क्योंकि सोमवार रविवार का उत्तरचर है इस प्रकार हेतु के पूर्वचर सहचर आदि अनेक रूप हो सकते है

(५) आगम—आप्त अर्थात् विश्वसनीय पुरुष के वचन को आगम कहा जाता है इसके दो भेद है माता,पिता, गुरुजन आदि लौकिक आप्त है इस सम्बन्ध मे दर्शनकारो का मतभेद नही है किन्तु अलौकिक आप्त के विषय मे पर्याप्त मतभेद है मीमासादर्शन का कथन है कि शब्द मे दोष तभी आता है जब उसके वक्ता मे कोई दोष हो वेद अनादि है, उनका कोई वक्ता नही है अत वे दोषरहित है न्याय तथा वेदान्त का कथन है कि वक्ता मे दो गुण होने चाहिए. वह निर्दोष हो और साथ ही अपने विषय का पूर्ण ज्ञाता हो उनके मत मे वेद ईश्वर के बनाये हुये है उसमे कोई दोष नही है साथ ही उसका ज्ञान परिपूर्ण है जैनदर्शन ईश्वर को नही मानता उसकी मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति साधना द्वारा आत्मा का पूर्ण विकास कर सकता है उस अवस्था मे वह वीतराग और सर्वज्ञ हो जाता है आगम उसकी वाणी है, अत प्रमाण है

जैन परम्परा की मान्यता है कि सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी तीर्थंकर उपदेश देते है उनकी गद्य के रूप मे रचना गणधरो अर्थात् मुख्य शिष्यो द्वारा की जाती है उनके पश्चात् ज्ञानसम्पन्न अन्य मुनियो द्वारा रचे गये ग्रथ भी आगमो मे सम्मिलित कर लिये गये श्वेताम्बर मतानुसार यह क्रम भगवान् महावीर के पश्चात् १००० वर्ष अर्थात् चौथी ईस्वी तक चलता रहा वे अपने आगमो को बारह अग, बारह उपाग, छह मूल, छह छेद तथा दस प्रकीर्णको मे विभक्त करते है इनमे से दृष्टिवाद का लोप हो गया शेष ४५ आगम विद्यमान है

दिगम्बरो का मत है कि अग उपागादि सभी आगम लुप्त हो गये वे षट्खडागम और कषायप्राभृत को मूल आगम के रूप मे मानते है ये ग्रथ महावीर के ४०० वर्ष पश्चात् रचे गये इनके अतिरिक्त कुदकुद, उमास्वामी, नेमिचद सिद्धान्त-चक्रवर्ती आदि आचार्यो की रचना को भी आगमो के समान प्रमाण माना जाता है

जैनदर्शन मे ज्ञान के जो भेद किये गये है, उन्ही को प्रमाण के रूप मे स्वीकार किया गया है और यह बताया गया है कि ज्ञान वस्तु के समान अपने आप को भी ग्रहण करता है अर्थात् एक ज्ञान को जानने के लिए दूसरे ज्ञान की आवश्यकता नही होती

सात नय

व्यक्ति अपने विचारो को प्रकट करते समय निजी मान्यताओ को सामने रखता है एक ही स्त्री को एक व्यक्ति माता कहता है, दूसरा बहिन, तीसरा पुत्री और चौथा पत्नी इसी प्रकार विभिन्न परिस्थितियो मे भी एक ही व्यक्ति को भिन्न-भिन्न रूप मे प्रकट किया जाता है एक ही व्यक्ति परिवार की गणना करते समय राम या कृष्ण के रूप मे कहा जाता है जातियो की गणना के समय ब्राह्मण या क्षत्रिय, व्यवसाय की गणना के समय अध्यापक या व्यापारी इस प्रकार अनेक अभिव्यक्ति की दृष्टिया है उन सब को नय कहा जाता है जैनदर्शन मे उनका स्थूल विभाजन ७ नयो के रूप मे किया गया है इनमे मुख्य दृष्टि विस्तार से सक्षेप की ओर है अर्थात् एक ही शब्द किस प्रकार विस्तृत अर्थ का प्रतिपादन होने पर भी उत्तरोत्तर सकुचित होता चला जाता है यह प्रकट किया गया है

नैगमनय—इसकी व्युत्पत्ति की जाती है 'नैक गमो नैगम' अर्थात् जहा अनेक प्रकार की दृष्टिया हो यह नय वास्तविकता के साथ उपचार को भी ग्रहण कर लेता है उदाहरण के रूप मे हम तागेवाले को तागा कहकर पुकारने लगते है क्रोधी को आग तथा वीर पुरुष को शेर कहने लगते है इस उपचार का आधार कही गुण होता है, कही सादृश्य और कही किसी प्रकार का सबध जैसे तागे और तागे के मालिक मे स्व-स्वामिभाव सबध है इस नय का क्षेत्र अति विस्तृत है

सग्रहनय—इस का अर्थ है सामान्यग्राही दृष्टि अर्थात् अधिकाधिक वस्तुओ को सम्मिलित करने की भावना इसके दो भेद है परसग्रह और अपरसग्रह परसग्रह मे सभी पदार्थ आ जाते है इसके द्योतक है सत्, ज्ञेय, आदि शब्द आर



सग्रह का क्षेत्र अपेक्षाकृत न्यूनाधिक होता है जैसे मनुष्यत्व का क्षेत्र ब्राह्मत्व की अपेक्षा विस्तृत है और जीवत्व की अपेक्षा सकुचित.

व्यवहार नय—साधारण व्यवहार के लिए किया जाने वाला भेद इस नय को प्रकट करता है. जैसे मनुष्य का ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि जातियो में विभाजन करना. सग्रह मे दृष्टि अभेद की ओर जाती है और यहां भेद की ओर.

ऋजुसूत्रनय—ऋजु अर्थात् वर्तमान अवस्था को लेकर चलने वाला नय. ऋजुसूत्र की दृष्टि मे जिस व्यक्ति का मुख्य व्यवसाय अध्यापन है उसे अध्यापक कहा जा सकता है जिस समय वह सो रहा है या भोजन कर रहा है उस समय भी अध्यापक है

शब्दनय—ऋजुसूत्र केवल वर्तमानकाल पर दृष्टि रखता है. शब्दनय लिंग, कारक, सख्या आदि का भेद होने पर वस्तु में परस्पर भेद मानता है. उदाहरण के रूप मे नगर और पुरी शब्द को लिया जा सकता है. शब्द नय की दृष्टि से दोनो में परस्पर भेद है.

समभिरूढनय—यह नय समानार्थक शब्दो को स्वीकार नही करता अर्थात् जहा एक ही अर्थ को प्रकट करने वाले कई शब्द है उनके अर्थ मे भी भेद मानता है.

एवभूतनय—इस नय की दृष्टि क्रिया पर रहती है. व्यक्ति विशेष को अध्यापक तभी कहा जायगा जब वह अध्यापन कर रहा है, सोते या भोजन करते समय नही. हमारा साधारण व्यवहार ऋजुसूत्र नय को लेकर चलता है ७ मे से प्रथम ३ अर्थनय माने जाते है और अतिम ४ शब्द नय.

नयों का विभाजन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के रूप मे भी किया जाता है द्रव्यार्थिक में मुख्य दृष्टि अभेद की ओर रहती है और पर्यायार्थिक मे भेद की ओर. प्रथम चार नय द्रव्यार्थिक माने जाते हैं और अन्तिम ३ पर्यायार्थिक.

चार निक्षेप

निक्षेप शब्द का अर्थ है रखना या विभाजन करना. शब्द का अर्थ करते समय विभाजन की चार दृष्टिया है और हमें यह सोचकर चलना पड़ता है कि प्रस्तुत प्रसग में किस दृष्टि को लिया जा रहा है ?

(१) नाम निक्षेप—हम किसी व्यक्ति का नाम राजा रख लेते है भिखारी होने पर भी वह राजा कहा जाता है और इस कथन को असत्य नही माना जाता. यह नाम निक्षेप अर्थात् नाम की दृष्टि से शब्द का प्रयोग है

(२) स्थापना निक्षेप—हम मदिर में रखी हुई मूर्ति को भगवान् कहते है. शतरज के मोहरो को हाथी घोडे कहते हैं. यह सब स्थापना निक्षेप है. अर्थात् वहां उन्हे उस रूप मे मान लिया जाता है नाम निक्षेप मे केवल उस नाम से पुकारा जाता है, वैसा व्यवहार नही किया जाता. स्थापना निक्षेप में पुकारने के साथ व्यवहार भी होता है. प्रतीकवाद स्थापना निक्षेप का एक रूप है.

(३) द्रव्य निक्षेप—भावी या भूत पर्याय की दृष्टि से किसी वस्तु को उस नाम से पुकारना. जैसे युवराज को राजा कहना या भूतपूर्व अधिकारी को उस पद के नाम से पुकारना.

(४) भावनिक्षेप—गुण या वर्तमान अवस्था के आधार पर वस्तु को उस नाम से पुकारना जैसे सिंहासन पर बैठे हुए व्यक्ति को राजा कहना या पदाधिकारी को उसके कार्य काल मे उस नाम से पुकारना.

तत्त्वमीमांसा

जैनदर्शन विश्व को ६ द्रव्य या ७ तत्त्वो के रूप में विभक्त करता है. प्रथम विभाजन ज्ञेय जगत् को उपस्थित करता है और द्वितीय मे मुख्य दृष्टि आचार या आत्मविकास की है. ७ तत्त्वो मे प्रथम दो अर्थात् जीव और अजीव द्रव्यरूप



है और शेष ५ जीव की आध्यात्मिक अवस्थाओ से सम्बन्ध रखते है उनका निरूपण आचारमीमासा मे किया जायगा. यहा ६ द्रव्यो के रूप मे जीव और अजीव तत्त्व का प्रतिपादन किया जाता है.

छह द्रव्य

द्रव्य का लक्षण है वह पदार्थ जिसमे गुण और पर्याय विद्यमान हो जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक द्रव्य मे अनेक गुण होते है और वह प्रतिक्षण बदलता रहता है बौद्धदर्शन केवल गुण और पर्याय अर्थात् अवस्थाओं को मानता है उनके आधार के रूप मे किसी पृथक् सत्ता को नही मानता दूसरी ओर अद्वैत वेदात आधारभूत सत्ता को वास्तविक मानता है और उसमे दिखाई देने वाले गुण एव अवस्थाओ को कल्पित जैनदर्शन दोनो को वास्तविक मानता है ६ द्रव्य निम्नलिखित है

(१) जीवास्तिकाय (२) पुद्गलास्तिकाय (३) धर्मास्तिकाय (४) अधर्मास्तिकाय (५) आकाशास्तिकाय और (६) काल अस्तिकाय शब्द का अर्थ है परमाणु, प्रदेश, या अवयवो का एक पिण्ड होकर रहना जीव, पुद्गलादि मे वे एक साथ रहते है किन्तु काल के अश एक साथ नही रह सकते वहा एक के नष्ट होने पर ही दूसरा अस्तित्व मे आता है इसलिए उसे अस्तिकाय नही कहा गया

(१) जीवास्तिकाय—जीव का अर्थ है चेतन या आत्मा जैनदर्शन मे इसका स्वरूप अनत चतुष्टय अर्थात् अनत ज्ञान, अनत दर्शन, अनत सुख और अनत वीर्य के रूप मे किया जाता है साथ ही वह अमूर्त्तिक है अर्थात् उसमे रूप, रस, गध और स्पर्श नही है प्रत्येक शरीर मे पृथक्-पृथक् आत्मा है और वह जिस शरीर मे प्रवेश करता है उतना ही बडा आकार ले लेता है चीटी के शरीर मे चीटी जितना आत्मा है और हाथी के शरीर मे हाथी जितना इस प्रकार उसमे सकोच और विस्तार होते रहते है प्रत्येक जीव अपने भाग्य का स्वय निर्माता है अर्थात् वह कार्य करने मे स्वतन्त्र है और तदनुसार फल भोगता है कार्य और फलभोग का स्वाभाविक नियम है उस पर किसी अतीन्द्रिय शक्ति का नियत्रण नही है उदाहरण के रूप मे यदि कोई आखो पर पट्टी बाध कर कुए की ओर बढेगा तो उसमे गिर जाएगा उसे गिराने वाली कोई उच्च सत्ता नही है, वह स्वय अपने आपको गिराता है साथ ही यह भी निश्चित है कि कार्य करने पर फल अवश्य भोगना होगा यह कार्य-कारण का स्वाभाविक नियम है भूख न करने पर यदि हम भोजन करते है तो अजीर्ण हो जाता है पेट दुखने लगता है इस अजीर्ण और उदरशूल के लिए किसी बाह्य सत्ता को नियामक मानने की आवश्यकता नही है उसके लिये हम स्वय उत्तरदायी है

साख्य और वेदातदर्शन मे भी पुरुष अथवा ब्रह्म को चित् स्वरूप माना गया है किन्तु वहा चेतना का अर्थ शुद्ध चैतन्य है अर्थात् उसमे विषय का भान नही रहता यह भान प्रकृति या माया के कारण होता है मुक्त अवस्था मे वह नही रहता किन्तु जैनदर्शन मे ज्ञान और दर्शन अर्थात् निराकार और साकार दोनो प्रकार की चेतना जीव का स्वाभाविक गुण है इसी को उपयोग कहते है जो जीव का लक्षण माना गया है अर्थात् बाह्य जगत् को सामान्य तथा विशेष दोनो रूपो मे जानना जीव का स्वभाव है और वह मुक्त अवस्था मे भी बना रहता है इसी तथ्य के कारण इन परम्पराओ मे कैवल्य शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न हो गया है सास्यदर्शन मे कैवल्य का अर्थ है प्रकृति के सम्पर्क से रहित शुद्ध चेतना जैनदर्शन मे उसका अर्थ है सर्वज्ञता अर्थात् बाह्य तथा आभ्यन्तर समस्त जगत् की अनुभूति

(२) पुद्गलास्तिकाय—साख्यदर्शन मे जो स्थान प्रकृति का है वही जैनदर्शन मे पुद्गल का है जीव के ससार मे भ्रमण और सुख दु ख भोग का सारा कार्य पुद्गल द्वारा सपादित होता है किन्तु साख्यदर्शन के समान यहा उसका विकास बुद्धि के रूप मे नही होता जैनदर्शन के अनुसार वह चेतना का गुण है और उसी के समान अनादि तथा अनन्त है न्यायदर्शन मे पृथ्वी आदि चार भूतो के परमाणु भी भिन्न-भिन्न प्रकार के माने गये है जल के परमाणुओ मे गध नही होती, अग्नि के परमाणुओ मे गध और रस नही होते तथा वायु के परमाणुओ मे केवल स्पर्श ही होता है, किन्तु जैनदर्शन पृथ्वी आदि के परमाणुओ मे मौलिक भेद नही मानता सभी मे रूप, रस, गध तथा स्पर्श चारो गुण



रहते है. पुद्गल के दो रूप है परमाणु और स्कध अर्थात् अवयवी. दृश्यमान समस्त जगत् पुद्गल परमाणुओ का सघटन या रचना विशेष है न्यायदर्शन के अनुसार परमाणु मे रहने वाले रूप, रस आदि गुण नित्य है, उनमे परिवर्तन नही होता स्थूल वस्तु मे जव परिवर्तन होता है तो परमाणु ही वदल जाते है, उनके गुण नही वदलते. घडा पकने पर जव मिट्टी अपना रग छोडकर नया रग लेती है तो मिट्टी के रग वाले परमाणु बिखर जाते है और उसका स्थान लाल रग के परमाणु ले लेते है किन्तु जैनदर्शन ऐसा नही मानता. वहा परमाणु वही रहते हैं किन्तु उनके रूप, रस आदि गुण वदल जाते है.

आठ वर्गणायें

जैनदर्शन में पुद्गल का विभाजन आठ वर्गणाओ के रूप में किया गया है वर्गणा का अर्थ है विभिन्न प्रकार के वर्ग या श्रेणिया यह विभाजन उनके द्वारा होने वाले स्थूल पदार्थो के आधार पर किया गया है.

(१) **औदारिक वर्गणा**—स्थूल शरीर के रूप मे परिणत होने वाले परमाणु जैनदर्शन के अनुसार पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु तथा वनस्पतियो मे भी जीव है. इनके रूप में प्रतीत होने वाले स्थूल पदार्थ उन जीवो का शरीर है. यह शरीर कही सजीव दिखाई देता है और कही निर्जीव इसे औदारिक शरीर माना जाता है इसी प्रकार पशु-पक्षी तथा मनुष्यो का शरीर भी औदारिक है

(२) **वैक्रियक वर्गणा**—देवता तथा नारकी जीवो के शरीर के रूप मे परिणत होने वाले परमाणु योगी अपनी योग-शक्ति के द्वारा जिस शरीर की रचना करते है वह भी इन परमाणुओ से वनता है

(३) **आहारकवर्गणा**—विचारो का सक्रमण करने वाले शरीर के रूप मे परिणत होने वाले परमाणु

(४) **भाषा वर्गणा**—वाणी के रूप मे परिणत होने वाले परमाणु

(५) **मनोवर्गणा**—मनोभावो के रूप में परिणत होने वाले परमाणु

(६) **श्वासोच्छ्वास वर्गणा**—प्राणवायु के रूप मे परिणत होने वाले परमाणु

(७) **तैजस वर्गणा**—तैजस नामक सूक्ष्म शरीर के रूप मे परिणत होने वाले पुद्गल परमाणु

(८) **कार्माण वर्गणा**—कार्माण या लिंग शरीर के रूप में परिणत होने वाले परमाणु. कार्माण शरीर का अर्थ है आत्मा के साथ लगे हुए कर्मपुद्गल. ये ही जीव को विविध योनियो मे ले जाकर स्थूल शरीर के साथ सवन्ध जोडते हैं और सुख दु ख का भोग कराते है साख्यदर्शन मे जो स्थान लिंग-शरीर का है वही जैनदर्शन मे कार्माण शरीर का है और वहाँ जो सूक्ष्म शरीर का है यहाँ वही तैजस शरीर का मरने पर जीव स्थूल शरीर को छोड देता है, तैजस और कार्माण उसके साथ जाते है.

आठ वर्गणाओ मे से वैक्रियक और आहारक का देवता, नारकी या योगियो के साथ सवन्ध है शेष ६ हमारे व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं

(३-४) धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय—धर्म द्रव्य जीव तथा पुद्गल की गति में सहायक है और अधर्म स्थिति मे वर्तमान विज्ञान विद्युत् शक्ति के दो रूप मानता है धन (Positive) और ऋण (Negative). धर्म और अधर्म वही कार्य करते हैं

(५-६) आकाशास्तिकाय और काल—आकाश जीव और पुद्गल को स्थान प्रदान करता है और काल उनमें परिवर्तन लाता है कुछ आचार्यो का मत है कि परिवर्तन जीव और पुद्गल का स्वभाव है, अत उसके लिए अलग द्रव्य मानने की आवश्यकता नही है.

वर्तमान विज्ञान की दृष्टि से हम इन द्रव्यो को नीचे लिखे अनुसार विभक्त कर सकते हैं —



जीव (Mind) पुद्गल (Matter) धर्म (positive Energy) अधर्म (Negative Energy) आकाश (Space) काल (Time)

आचार मीमांसा

ऊपर बताया गया था कि जैनधर्म मे ७ तत्त्व माने गये हैं उनमे से प्रथम २ अर्थात् जीव और अजीव विश्व के स्वरूप को बताते हैं शेष ५ का सबध आचार अर्थात् आध्यात्मिक विकास के साथ है

जैन दर्शन भी मोक्ष को जीवन का चरम लक्ष्य मानता है इसका अर्थ है आत्मा के स्वरूप का पूर्णविकास प्रत्येक जीव अपने आप मे अनत चतुष्टय रूप है अनतज्ञान, अनतदर्शन, अनतसुख और अनतवीर्य उसका स्वभाव है किन्तु यह स्वभाव बाह्य प्रभाव के कारण दबा हुआ है इस प्रभाव को कर्म कहते हैं कर्मों का बन्ध जिन कारणों से होता है उन्हे आश्रव कहते है इस बन्ध का रुक जाना सवर है और सचित कर्मो का नाश निर्जरा है जैन आचार इन ५ तत्वो पर विकसित हुआ है अब हम इनका विवेचन करेंगे

आस्रव—कर्मबन्ध के कारणो को आस्रव कहते है इसके ५ भेद है

(१) मिथ्यात्व—विपरीत श्रद्धा तात्विक दृष्टि से इसका अर्थ है सत्य को छोडकर असत्य को पकडे रहना इसी प्रकार कुदेव कुगुरु या कुधर्म को मानना भी मिथ्यात्व है

(२) अविरति—पाप कर्मो से निवृत्त न होना पापाचरण न करने पर भी जब तक साधक उससे अलग रहने की प्रतिज्ञा नही करता, जब तक मन मे डाँवाडोल है तब तक अविरत कहा जाता है

(३) प्रमाद—आलस्य या अकर्मण्यता, जो जीवन मे अनुशासन नही रहने देती अगीकार किए हुए व्रत मे किसी प्रकार की भूल-चूक होना भी प्रमाद है

(४) कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ

(५) योग—मन, वचन और काया की अशुभ प्रवृत्तियाँ

आस्रव का शब्दार्थ है आने का मार्ग आत्मा अपने आप मे शुद्ध है इन ५ कारणो से कर्म-परमाणुओं का बन्ध होना है और वह मलीन हो जाता है कर्म एक प्रकार का जड पदार्थ है जो आत्मा के साथ मिलकर उसे मलिन कर देता है

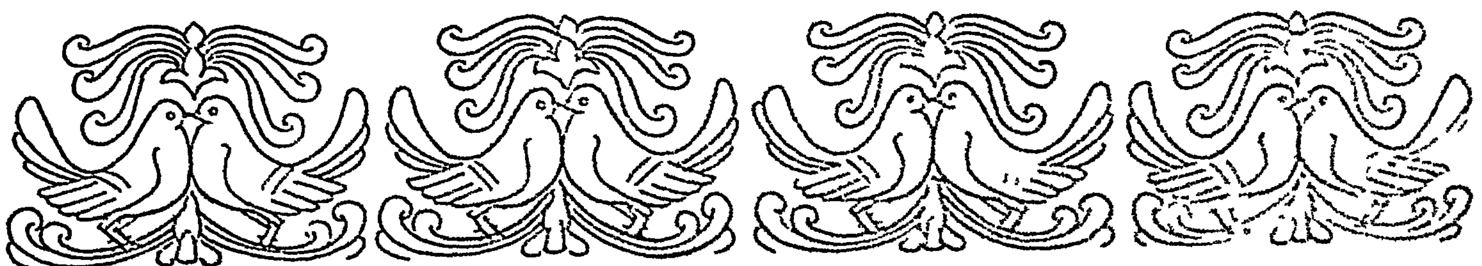
बंध—बन्ध का अर्थ है कर्मों का आत्मा के साथ चिपकना और शुभाशुभ फल देने की शक्ति प्राप्त करना इसके चार भेद है

(१) प्रकृति बंध—आत्मा के साथ जो कर्म-पुद्गल बन्धते है वे आठ प्रकार के हैं उनमे से चार आत्मा के अनन्त चतुष्टय को आच्छादित करते है शेष योनि विशेष मे जन्म, शारीरिक सगठन, तथा आयु आदि का निर्माण करते हैं प्रथम प्रकार के कर्म आत्म-गुणो का घात करने के कारण घाति कहे जाते हैं और शेष चार अघाति घाति कर्म नीचे लिखे अनुसार है

(१) ज्ञानावरण—ज्ञान को ढकने वाला. (२) दर्शनावरण—दर्शन को ढकने वाला (३) मोहनीय—आत्मा को विपरीत दशा मे ले जाने वाला वेदान्त तथा योगदर्शन मे अविद्या का तथा बौद्धदर्शन मे तृष्णा का जो स्थान है वही जैनदर्शन मे मोहनीय कर्म का है (४) अंतराय—आत्मशक्ति को कुठित करने वाला ४ अघाति इस प्रकार है

(क) वेदनीय—शारीरिक सुख दु ख उत्पन्न करने वाला

(ख) नाम कर्म—उच्च नीच गतियो मे ले जाने, शरीर रचना करने एव अन्य अनुकूल तथा प्रतिकूल सामग्री उपस्थित करने वाला



(ग) आयुष्य—विभिन्न गतियो में अल्प या दीर्घ जीवन प्रदान करने वाला.

(घ) गोत्र—उच्च या नीच कुल में उत्पन्न करने वाला.

(२) प्रदेशबध—प्रत्येक कर्म के प्रदेश अर्थात् परमाणु.

(३) स्थितिबंध—प्रत्येक कर्म की आत्मा के साथ रहने और फल देने की काल मर्यादा

(४) अनुभागबंध—न्यूनाधिक फल देने की शक्ति

आध्यात्मिक विकास के साथ मुख्य सम्बन्ध मोहनीय का कर्म है इसके दो भेद है. (१) दर्शन मोहनीय और (२) चारित्र मोहनीय दर्शन मोहनीय का अर्थ है मिथ्यात्व या दृष्टि का विपरीत होना. चारित्र मोहनीय का अर्थ है क्रोध मान माया और लोभ आदि दुर्बलताये जो हमारे चारित्र को पनपते नही देती. उत्कटता की दृष्टि से इसकी चार श्रेणिया है, जिन्हे लाघते हुए साधक विकास की उत्तरोत्तर उच्च अवस्थाओ को प्राप्त करता है प्रथम श्रेणी अनतानुबधी है जिसके मिथ्यात्व मोहनीय तथा इसका उदय रहता है वह श्रद्धा तथा चारित्र दोनो से गिरा हुआ होता है और आध्यात्मिक विकास का अधिकारी नही है दूसरी कोटि अप्रत्याख्यान की है. इसके उदय वाला सम्यग्दृष्टि तो हो सकता है किन्तु आशिक या पूर्ण किसी भी रूप मे व्रत ग्रहण नही कर सकता. तीसरी कोटि प्रत्याख्यानावरण है इसका उदय होने पर पूर्ण या महाव्रतो का पालन नही हो सकता. चौथी कोटि सज्वलन है इसके उदय वाला महाव्रत तो अगीकार कर सकता है किन्तु सूक्ष्म दोष लगते रहते है. इसका नाश होने पर कैवल्य या आत्मा की शुद्ध अवस्था प्राप्त हो जाती है.

सवर—इसका अर्थ है आस्रव अर्थात् कर्मबध के कारणो को रोकना मिथ्यात्व को रोकना अर्थात् सुदेव, सुगुरु और सुधर्म मे विश्वास करना सम्यदर्शन है तत्वार्थ सूत्र मे इसे तत्वार्थश्रद्धान के रूप मे बताया गया है इसका अर्थ है जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित ७ तत्त्व और ६ द्रव्यो मे विश्वास अविरतिरूप आस्रव को रोकने की २ कोटिया है प्रथम कोटि श्रावक की है वह अहिंसा, सत्य आदि व्रतो का आशिक रूप मे पालन करता है. इसे देशविरति भी कहा जाता है. दूसरी कोटि सर्वविरति या मुनि की है. वह महाव्रतो का पूर्णतया पालन करता है. इनके पालन के लिए समिति, गुप्ति, परीषहजय, अनुप्रेक्षाएँ आदि अनेक वातो का प्रतिपादन किया गया है आस्रव के अतिम तीन द्वारो का निरोध इन्ही मे आ जाता है.

निर्जरा—निर्जरा शब्द का अर्थ है सचित कर्मो का नाश. इसके लिए १२ प्रकार के तप बताये गये है उनमें से ६ वाह्य है और ६ आभ्यतर वाह्यतप का सम्बन्ध मुख्यतया शारीरिक अनुशासन से है और आभ्यतर तप का मनोनिग्रह से.

मोक्ष—इसका निरूपण पहले किया जा चुका है

१४ गुणस्थान—जैनधर्म मे आध्यात्मिक उत्थान की भूमिकाओ को १४ गुणस्थानो मे विभक्त किया गया है प्रथम अर्थात् मिथ्यात्व गुणस्थान अविकसित अवस्था को प्रकट करता है द्वितीय से लेकर १२वे तक विकास की विविध अवस्थाओ को, तेरहवा और चौदहवाँ पूर्णतया विकसित अवस्था को. विकास या उच्चतर भूमिकाओ को प्राप्त करने के दो मार्ग है. उपशमश्रेणि अर्थात् विकारो को दवाते हुए आगे वढना वहा दोष सस्कार के रूप मे विद्यमान रहते है और अवसर पाकर उभर जाते हैं. परिणाम स्वरूप साधक नीचे गिर जाता है दूसरा मार्ग क्षपक श्रेणि है इसमे साधक विकारो का नाश करता हुआ आगे वढता है उसके पतन की सभावना नही रहती

द्वितीय गुणस्थान पतनकाल मे प्राप्त होता है. यह मिथ्यात्व प्राप्त करने से पहले की अवस्था है. उस समय संस्कार के रूप मे सम्यग्दर्शन का क्षीण प्रभाव वना रहता है तृतीय गुणस्थान डावाडोल मन वाले मिश्रदृष्टि जीव का है जहा कभी सम्यक्त्व की ओर झुकाव होता है और कभी मिथ्यात्व की ओर योगदर्शन की दृष्टि से प्रथम गुणस्थान को क्षिप्त और मूढभूमिका कहा जा सकता है तथा तृतीय गुणस्थान को विक्षिप्त भूमिका चतुर्थ. गुणस्थान सम्यग्दृष्टि जीव का है, जो श्रद्धा ठीक होने पर भी व्रतो को अगीकार नही कर पाता पाचवा देशविरति श्रावक या गृहस्थ का



है, उनके जीवन मे प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय होता है छठे से लेकर दसवें तक पाच गुणस्थान निवृत्तिप्रधान मुनि की भूमिकाओ को प्रकट करते है, जो कषायो को क्षीण करता हुआ उत्तरोत्तर ऊपर चढता जाता है ११ वा उपशात मोहनीय है वहाँ मोहनीय पूर्णतया दब जाता है किन्तु दूसरे ही क्षण उसका पुन उभार आता है और साधक नीचे गिरने लगता है १२ वाँ गुणस्थान क्षीणमोहनीय है, जो मोहनीय कर्म के पूर्णतया क्षय हो जाने पर प्राप्त होता है तत्पश्चात् साधक ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अतराय कर्म का भी क्षय कर डालता है और तेरहवें गुणस्थान मे पहुच जाता है उस समय वह वीतराग और सर्वज्ञ कहा जाता है कषायो का सर्वथा नाश होने पर भी योग अर्थात् मन वचन और काय की हलचल बनी रहती है चौदहवें गुणस्थान मे वह भी रुक जाती है. ५ ह्रस्व अक्षरो के उच्चारण मे जितना समय लगता है साधक उतनी ही देर जीवित रहता है और शरीर का परित्याग करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है





श्रीगोपीलाल अमर
एम०ए०, शास्त्री, काव्यतीर्थ, साहित्यरत्न
जैन सस्कृत डिग्री कालेज, सागर (म० प्र०)

दर्शन और विज्ञान के आलोक में पुद्गल द्रव्य

प्रारम्भिक—जैन दर्शन ने विश्व को जहाँ स्याद्वाद और अनेकान्त के अखण्ड सिद्धान्त दिये है वहाँ पुद्गलद्रव्य की अद्वितीय मान्यता भी दी है. उधर जैनेतर दर्शनो ने पुद्गल द्रव्य को तत्तत् रूपो मे स्वीकार किया है और इधर विज्ञान भी इस द्रव्य को स्पष्ट रूप से मान्यता देता जा रहा है.

हम यहाँ पुद्गल द्रव्य का एक सुस्पष्ट विश्लेषण प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेगे सर्वप्रथम हमे जैन दर्शन के अनुसार इस का अध्ययन करना होगा, फिर जैनेतर दर्शनो मे उसकी तह खोजनी होगी और तब उसका वैज्ञानिक विश्लेषण करना होगा.

जैन सिद्धान्त विश्व (Universe) को छह द्रव्यो (Substances) से निर्मित मानता है जो सत् (Existent) हो या जिसकी सत्ता (Existance) हो वह द्रव्य है[1] जिसमें पर्यायो (Modifications) की दृष्टि से उत्पाद (Manifestation) और विनाश (Disappearance) प्रतिसमय होते रहते हो और गुणो (Fundamental realities) की दृष्टि से, प्रतिसमय ध्रौव्य (Continuity) रहता हो वह सत् (Existent) है[2] द्रव्य छह है.[3]

(१) जीव (Soul, substance possessing consciousness)

(२) पुद्गल (Matter & Energy)

(३) धर्म (Medium of motion of souls, matter and energies)

(४) अधर्म (Medium of rest of souls, matter and energies)

(५) आकाश (Space, medium of location of soul etc.) और

(६) काल (Time)

पुद्गल का स्वरूप—पुद्गल शब्द एक पारिभाषिक शब्द है लेकिन रूढ नही इसकी व्युत्पत्ति कई प्रकार से की जाती है

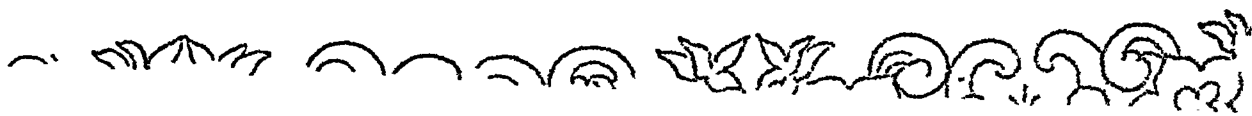
पुद्गल शब्द मे दो अवयव हैं, 'पुद्' और 'गल', 'पुद्' का अर्थ है पूरा होना या मिलना (Combination) और

---

१ सद् द्रव्यलक्षणम् । —आचार्य उमास्वामी · तत्त्वार्थसूत्र, अ० ५, सू० २९

२. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत् । —वही, अ० ५, सू० ३० ।

३. जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा तहेव आयास. —आचार्य कुन्दकुन्दः पचास्तिकाय



'गल' का अर्थ है गलना या मिटना (Disintegration) जो द्रव्य प्रतिसमय मिलता-गलता रहे, बनता-बिगड़ता रहे, टूटता-जुडता रहे वह पुद्गल है[1]

सम्पूर्ण विश्व मे पुद्गल ही एक ऐसा द्रव्य है जो खण्डित भी होता है और पुन परस्पर सम्बद्ध भी पुद्गल की एक सबसे बडी पहिचान यह है कि वह छुआ जा सकता है, चखा जा सकता है, सूघा जा सकता है और देखा भी जा सकता है. अत कहा जा सकता है कि जिसमे स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण, चारो अनिवार्यत पाये जावे वह पुद्गल है[2]

पुद्गल (Matter of Energy) के गलन-मिलन स्वभाव (Disintegration and combination phenomena) को वैज्ञानिक शब्दो मे भी समझाया जा सकता है पुद्गल के मिलने या सम्बद्ध होने (Combination) का अर्थ है कि एक स्कन्ध (Molecule) दूसरे स्निग्ध-रूक्ष गुणयुक्त स्कन्ध से मिल सकता है और इस प्रकार अधिक स्निग्ध-रूक्ष गुणयुक्त स्कन्ध उत्पन्न हो सकता है पुद्गल के गलने या खण्डित होने का अर्थ है कि एक स्कन्ध मे से कुछ स्निग्ध-रूक्ष गुणयुक्त देश (भाग) अलग हो सकता है और इस प्रकार कम स्निग्ध-रूक्ष गुणयुक्त स्कन्ध उत्पन्न हो सकता है

ईसा की उन्नीसवी शती तक वैज्ञानिको का मत था कि तत्त्व (Elements) अपरिवर्तनीय (Non-transformable) है एक तत्त्व दूसरे तत्त्व के रूप मे परिवर्तित (Transformed) नही हो सकता किन्तु अब तेजोद्गरण (Radio activity) आदि के अनुसन्धानो से यह सिद्ध हो गया है कि तत्त्व परिवर्तित भी हो सकता है

किरणातु (Uranium) के एक अणु (Atom) मे से जब तीन अ-कण (Particles) विच्छिन्न हो जाते है तो वह एक तेजातु (Radium) के अणु के रूप मे परिवर्तित हो जाता है इसी तरह जब तेजातु का एक अणु पाँच अ-कणो मे विच्छिन्न हो जाता है तो वह सीसा (Lead) के अणु के रूप मे परिवर्तित हो जाता है यह तो हुई विगलन या खण्डन (Disintegration) की क्रिया और अब देखिये पूरण या मिलन (Combination) की क्रिया-भूयाति (Nitrogen) के एक अणु की न्यष्टि (Nucleus) मे जब एक अ-कण मिल जाता है तो एक जारक (Oxygen) का अणु बन जाता है यही प्रक्रिया लघ्वातु (Lithium) और विदूर (Beryllium) मे भी सभव है

पुद्गल के गुण —जैसा कि उक्त परिभाषा से स्पष्ट है, पुद्गल के मूलत चार गुण होते है, स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण इन चारो के भी बीस भेद होते है यह वर्गीकरण अत्यन्त स्थूल रूप मे किया गया है, वास्तव मे तो ये गुण अपने विभिन्न रूपो मे अगणित होते है

स्पर्श .—पुद्गल मे आठ प्रकार का स्पर्श पाया जाता है—स्निग्ध, रूक्ष, मृदु, कठोर, शीत, उष्ण, लघु (हलका) और गुरु (भारी)

---

१ (१) पूरणात् पुद् गलयतीति गल । —शब्दकल्पद्रुमकोष

(२) पूरणगलनान्वर्थसंज्ञत्वात् पुद्गला.

आचार्य अकलङ्कदेव तत्त्वार्थराजवार्तिक, —अ० ५, सू० १, वा० २४

(३) छव्विहसठाणा बहुविहि देहेहि पूरदित्ति गलदित्ति पोग्गला. —धवला ग्रन्थ

(४) पुगिलनात् पूरणगलनाद्वा पुद्गल इति । —आचार्य अकलङ्क देव तत्त्वार्थराजवार्तिक, अ० ५, सू० १६, वा० ४०

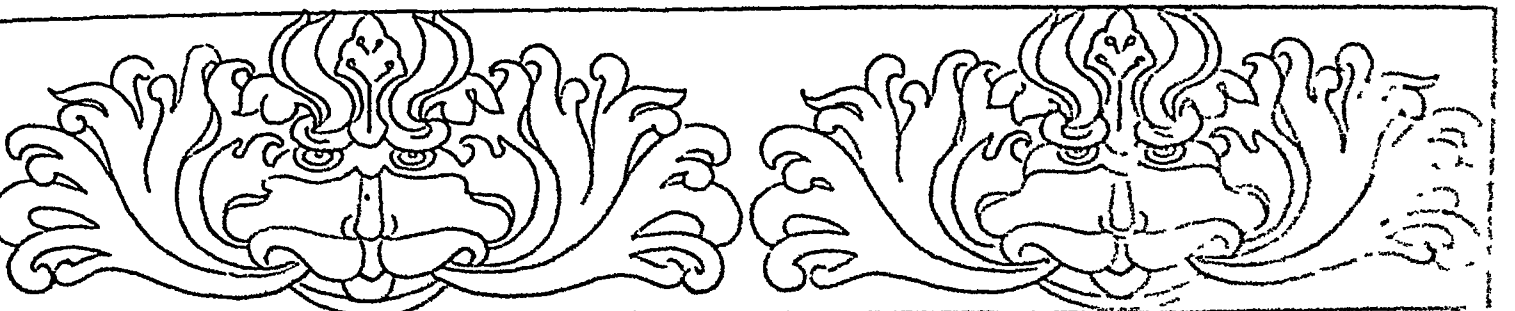
(५) वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शै -पूरण गलन च यत् ।

कुर्वन्ति स्कन्धवत् तस्मात् पुद्गला परमाणव । —आचार्य जिनसेन. हरिवंशपुराण, सर्ग ७, श्लो० ३६

(६) पूरणाद् गलनाच्च पुद्गला । —गणी सिद्धसेन : तत्त्वार्थभाष्य की टीका, अ० ५, सू० १

(७) पूरणाद् गलनाद् इति पुद्गला. । —न्यायकोष, पृ० ५०२

२ स्पर्शरसगन्धवर्णवन्त पुद्गला । —आचार्य उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र, अ० ५, सू० २३



पुद्गल के एक स्कन्ध (Molecule) मे एक साथ स्निग्ध और रूक्ष मे से कोई एक, मृदु और कठोर में से कोई एक, शीत और उष्ण में से कोई एक तथा लघु और गुरु मे से कोई एक, ऐसे कोई चार स्पर्श अवश्य पाये जाते है लेकिन अणु (Ultimate atom) मे स्निग्ध और रूक्ष मे से कोई एक तथा शीत और उष्ण मे से कोई एक, ऐसे कोई दो स्पर्श ही पाये जाते हैं क्योकि वह पुद्गल का सूक्ष्मतम अश है अत उसके मृदु या कठोर और लघु या गुरु होने का प्रश्न ही नही उठता.

रस (स्वाद) :—रस पाँच होते है, मधुर, अम्ल (खट्टा), कटु, तिक्त (तीखा, चरपरा आदि) और कषायला (जैसे आवले का स्वाद).

इन रसो का सम्बन्ध भोजन से है. साहित्यशास्त्र मे भी नौ रसो की मान्यता है. जैन दर्शन नौ रसो का अन्तर्भाव जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य दोनो मे करता है. इनमे से प्रत्येक के हम दो भेद कर सकते है, अनुभूतिरूप और शब्दरूप. अनुभूति चूकि जीव (आत्मा) करता है अत अनुभूतिरूप रस जीव में और शब्द, जिसकी चर्चा आगे की जावेगी, चूकि पुद्गल की पर्याय है अतः शब्दरूप रस पुद्गल मे अन्तर्भूत होता है

गन्ध :—गन्ध दो प्रकार की है, सुगन्ध और दुर्गन्ध.

वर्ण (रंग) :—वर्ण मुख्यत पाँच प्रकार का होता है, कृष्ण (काला), रक्त (लाल), पीत, श्वेत और नील

दा या दो से अधिक रगो के मिश्रण से बहुत-से नये रग बन जाते है, उनका अन्तर्भाव यथासभव इन्ही पाँच रगो मे होता है.

पंचवर्णो का सिद्धान्त

जैन दर्शन के अनुसार वर्ण पाँच होते है जब कि सौर वर्णपटल (Solar-spectrum) में सात वर्ण होते है और प्राकृतिक (Natural) और अप्राकृतिक (Pigmetory) वर्ण तो अनेको होते है. इसका समाधान यह है कि यहाँ वर्ण शब्द से जैनाचार्यो का तात्पर्य सौर वर्णपटल के वर्णो से अथवा अन्य वर्णो से नही, प्रत्युत पुद्गल के उस मूलभूत (Fundamental Property) गुण से है जिसका प्रभाव हमारी आख की पुतली पर लक्षित होता है और हमारे मस्तिष्क में कृष्ण, रक्त आदि आभास कराता है आप्टिकल सोसायटी ऑफ अमेरिका (Optical society of America) ने वर्ण की यह परिभाषा दी है—वर्ण एक व्यापक शब्द है जो आख के कृष्ण पटल और उससे सम्बद्ध शिराओ की क्रिया से उद्भूत आभास को सूचित करता है. रक्त, नील, पीत, श्वेत और कृष्ण इसके उदाहरण है.[1]

पञ्चवर्णो का सिद्धान्त यही तो है कि यदि किसी वस्तु का ताप बढाया जावे तो उसमें से सर्वप्रथम अदृश्य (Dark) ताप किरणे (Heat Rays) निस्सरित (Emitted) होती है और फिर ज्यो-ज्यो उसके ताप को बढाया जावेगा त्यो-त्यो उसमें से क्रमश. रक्त, पीत, श्वेत और यहा तक कि नील किरणें निस्सरित होने लगती है श्रीमेघनाद शाहा और बी० एन० श्रीवास्तव ने लिखा है कि कुछ तारे नील-श्वेत रश्मिया छोडते है जिससे स्पष्ट है कि उनका तापमान बहुत है तात्पर्य यह कि ये पाच वर्ण ऐसे प्राकृतिक वर्ण है जो किसी भी पुद्गल से विभिन्न तापमानो (Temperatures) पर उद्भूत हो सकते है और इसलिए उन्हे पुद्गल के मूलगुण मानना पडेगा.

वैसे जैन विचारको ने वर्ण के अनन्त भेद माने है. हम सौर वर्णपटल (Solar Spectrum) के वर्णों (Colours)

---

१. Colour is a general term for all sensations, arising from the activity of retina and its attached nervous machanisms. It may be examplified by the enumeration of characteristic instances such as red, yellow, blue, black and white ....
Prof. G R. Jain : Cosmology old & New.



मे देखते है कि यदि रक्त से लेकर कासनी (Violet) तक तरगप्रमाणो (Wavelengths) की विभिन्न अवस्थितियो (Stages) की दृष्टि से विचार किया जाय तो ये अनन्त सिद्ध होगी और इनके अनन्त होने के कारण वर्ण भी अनन्त सिद्ध होगे. इसका भी कारण यह है कि यदि एक प्रकाशतरग प्रमाण मे दूसरी प्रकाशतरग से अनन्तवें भाग (Infinitesimal amount) भी न्यूनाधिक होती है तो वे तरगे दो विसदृश वर्णो को सूचित करती हैं

पुद्गल की विशेषताएँ

वैसे तो पुद्गल की मुख्य विशेषता उसके स्पर्श आदि चार गुण ही है, ये चारो उसके असाधारण भाव हैं अर्थात् उसके अतिरिक्त किसी अन्य द्रव्य मे सम्भव नही हैं. ऐसी विशेषताएँ मुख्यत छह कही जा सकती है पुद्गल द्रव्य के स्वरूप का विश्लेषण करना ही इन विशेषताओ का उद्देश्य है.

पुद्गल द्रव्य है—द्रव्य की परिभाषा हम पहले प्रस्तुत कर चुके है और उस की कसौटी पर पुद्गल खरा उतरता है इसे समझाने के लिए हम एक उदाहरण देंगे सुवर्ण पुद्गल है. किसी राजा के एक पुत्र है और एक पुत्री राजा के पास एक सुवर्ण का घडा है पुत्री उस घड़े को चाहती है और पुत्र उसे तोडकर उसका मुकुट बनवाना चाहता है राजा पुत्र की हठ पूरी कर देता है पुत्री रुष्ट हो जाती है और पुत्र प्रसन्न लेकिन राजा की दृष्टि केवल सुवर्ण पर ही है जो घडे के रूप मे कायम था और मुकुट के रूप में भी कायम है अत उसे न हर्ष है न विषाद[1] एक उदाहरण और लीजिए. लकडी एक पुद्गल द्रव्य है वह जलकर क्षार हो जाती है उससे लकडीरूप पर्याय का विनाश होता है और क्षाररूप पर्याय का उत्पाद, किन्तु दोनो पर्यायो मे वस्तु का अस्तित्व अचल रहता है, उसके आगारत्व (Carbon) का विनाश नही होता मीमासा-दर्शन के प्रकाण्ड व्याख्याता कुमारिल भट्ट ने इस सिद्धान्त का समर्थन ऐसे ही एक उदाहरण द्वारा मुक्तकण्ठ से किया है[2]

द्रव्य की परिभाषा एक-दूसरे ढग से भी की जा सकती है जिसमे गुण (Fundamental realities) और पर्यायें (Modifications) हो वह द्रव्य[3]

जो द्रव्य मे रहते हो और स्वय निर्गुण हो वे गुण कहलाते हैं[4] चूकि गुण द्रव्य मे अपरिवर्तनीय (Non-transformable) और स्थायी रूप से रहते है अत वे द्रव्य के ध्रौव्य (Continuity) के प्रतीक है सज्ञान्तर या भावान्तर अर्थात् रूपान्तर को पर्याय (Modification) कहते है[5] पर्याय का स्वरूप ही चूकि यह है कि वह प्रतिसमय बदलती रहे, नष्ट भी होती रहे और उत्पन्न भी, अत वह उत्पाद और विनाश, दोनो की प्रतीक हैं द्रव्य की इस परिभाषा की दृष्टि से भी पुद्गल की द्रव्यता सिद्ध होती हैं

---

१. घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्य जनो याति सहेतुकम् ॥ —आचार्य समन्तभद्र आप्तमीमासा, श्लोक ५९

२ वर्धमानकभगे च रुचक. क्रियते यदा ।
तदा पूर्वार्थिन शोक प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिन ।
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्य तस्माद् वस्तुत्रयात्मकम् ।
नोत्पादस्थितिभगानामभावे स्यान् मतित्रयम् ।
न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम् ।
स्थित्या विना न माध्यस्थ्य तेन सामान्यनित्यता ॥ —मीमासाश्लोकवार्तिक, श्लोक २१-२३

३ गुणपर्ययवद् द्रव्यम् । —आचार्य उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र, अ० ५, ० ३८ ।

४. द्रव्याश्रया निर्गुणा' गुणा । —वही, अ० ५, सू० ४१

५. संज्ञान्तर भावान्तर च पर्याय. । —आचार्य सिद्धसेन गणी तत्त्वार्थभाष्य टीका, अ, ५, सू० २७



पुद्गल नित्य और अवस्थित है

जिसका तद्भाव-अव्यय हो अर्थात् जिसकी मौलिकता (Fundamental reality) कभी नष्ट न हो वह वस्तु नित्य कहलाती है[1] पुद्गल की मौलिकता स्पर्श रस गध और वर्ण मे है और वे चारो उससे एक समय के लिए भी पृथक् नही होते अत. वह नित्य है. यह एक अलग बात है कि यह मौलिकता रूपान्तरित (Modified) हो जाती है कच्चा आम हरा और खट्टा होता है, और वही पककर पीला हो जाता है लेकिन वह वर्णहीन और रसहीन नही हो सकता. सोने की चूडी को पिघलाकर हार बनाया जा सकता है, लेकिन सोना फिर भी कायम रहेगा, वह तो हर हालत मे नित्य है.

जो सख्या मे कम या बढ न हो, जो अनादि भी हो और अनन्त भी और जो न स्वय को अन्य द्रव्य के रूप मे परिवर्तन करे वह वस्तु या द्रव्य अवस्थित कहलाती है. अनादि अतीत काल मे जितने पुद्गल-परमाणु थे वर्तमान मे उतने ही है और अनन्त भविष्य मे भी उतने ही रहेगे. पुद्गल द्रव्य की अपनी मौलिकता यथावत् कायम रहती चली जावेगी.

पुद्गल द्रव्य की अपनी मौलिकता (स्पर्श आदि गुण) किसी अन्य द्रव्य मे कदापि परिवर्त्तित नही होती और नही किसी अन्य द्रव्य की मौलिकता पुद्गल द्रव्य मे परिवर्त्तित होती है.

पुद्गल की एक अद्वितीय विशेषता है उसका रूप[2] यहाँ रूप शब्द का अर्थ है शरीर अर्थात् प्रकृति और ऊर्जा (Matter & energy) जिसमे स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण स्वय सिद्ध है.[3]

पुद्गल का छोटा या बडा, दृश्य या अदृश्य, कोई भी रूप हो, उसमें स्पर्श आदि चारो गुण अवश्यभावी है. ऐसा नही कि किसी पदार्थ मे केवल रूप या केवल गन्ध आदि पृथक्-पृथक् हो जहा स्पर्श आदि मे से कोई एक भी गुण होगा वहाँ अन्य शेष गुण प्रकट या अप्रकट रूप में अवश्य पाये जावेंगे

न्यायदर्शन की मान्यता

लेकिन न्यायदर्शन के अन्तर्गत केवल पृथ्वी मे ही चारो गुण माने गये है, जल में केवल स्पर्श, रस और रूप, तेज में केवल स्पर्श और रूप तथा वायु मे केवल स्पर्श ही माना गया है इस भ्रान्ति का कारण यह है कि न्यायदर्शन मे पृथ्वी, जल, तेज और वायु को पृथक्-पृथक् द्रव्य माना गया है जबकि वास्तव मे, ये सब अपने परमाणुओ (ultimate atoms) की दृष्टि से एक पुद्गल द्रव्य के ही अन्तर्गत आते है

न्यायदर्शन की इस मान्यता के खण्डन मे मुख्यत चार तर्क दिये जाते है. प्रथम यह कि यदि पृथ्वी आदि चारो पृथक्-पृथक् द्रव्य होते तो उनमें के एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य की उत्पत्ति नही होनी चाहिए थी जबकि होती अवश्य है. उदाहरणार्थ मोती पृथ्वी द्रव्य के अन्तर्गत है लेकिन उत्पन्न होता है वह जल द्रव्य से. बास पृथ्वी द्रव्य के अन्तर्गत है लेकिन जगलो मे देखते है कि दो वासो की रगड से अग्नि द्रव्य उत्पन्न हो जाता है. दियासलाई आदि का दृष्टान्त भी ऐसा ही है. जौ नामक अन्न भी पृथ्वी द्रव्य के अन्तर्गत है लेकिन उसके खाने से वायु द्रव्य उत्पन्न होता है. उद्जन (Hydrogen) और जारक (Oxygen) ये दो वातिया (Gases) है, और वायु द्रव्य के अतर्गत आती है लेकिन उनके रासायनिक सयोग से जल द्रव्य बन जाता है.

दूसरा तर्क यह है कि जिस प्रकार पृथ्वी मे चारो गुण है उसी प्रकार जल, तेज और वायु मे से प्रत्येक मे भी चारो-चारो गुण है. विज्ञान ने भी यह सिद्ध कर दिया है, और जब सभी मे समान-समान (चारो-चारो) गुण है तो उन्हे पृथक्-पृथक् द्रव्य मानकर द्रव्यो की मूल सख्या बढ़ाना उचित नही न्यायदर्शन जल मे गन्ध का निषेध करता है लेकिन

---

१. तद्भावाव्ययं नित्यम् । —आचार्य उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र, अ० ५, सू० ४२.

२. रूपिणः पुद्गलाः ।—वही, अ० ५, सू० ५.

३. रूपमूर्तिः रूपादिसंस्थानपरिणामः, रूपमेषामस्तीति रूपिणः पुद्गलाः । —आचार्य पूज्यपादः सर्वार्थसिद्धि, अ० ५, सू० ५.

उसीमे गन्ध तब कितनी स्पष्ट हो उठती है जब खेतो मे पहली बरसात होती है ? चूंकि यह गन्ध जल के संयोग से उत्पन्न होती है अत उसे केवल पृथ्वी का ही गुण न मानकर जल का भी गुण मानना होगा वायु मे न्यायदर्शन ने केवल स्पर्श गुण ही माना है लेकिन जब उद्जन (Hydrogen) और जारक (Oxygen) वायुओ का सयोग होकर जल बनता है तो उसके सभी गुण प्रत्यक्ष हो जाते है

तीसरे तर्क मे हम यह बताएँगे कि न्यायदर्शनकार अग्नि के तेजस्वी रूप के समान सुवर्ण के तेजपूर्ण वर्ण को देख उसमे अप्रकट अग्नितत्त्व की अद्भुत कल्पना करता है[1] यह बात यदि शक्ति की अपेक्षा कही जाय तो जल के परमाणुओं तक मे अग्निरूप परिणत होने की शक्ति सिद्ध होती है

चौथा तर्क वैज्ञानिक है विज्ञान सिद्ध करता है कि जिस वस्तु मे स्पर्श, रस, गन्ध और रूप, इन चारो मे से एक भी गुण होगा उसमे प्रकट या अप्रकट रूप मे शेष तीन गुण अवश्यमेव होगे सम्भव है कि हमारी इन्द्रियों से किसी वस्तु के सभी गुण अथवा उनमे से कुछ गुण लक्षित न हो सके जैसे उपरक्त किरणे (Infrared rays) जो अदृश्य ताप-किरणे है, हम लोगो की आखो से लक्षित नही हो सकती, किन्तु उल्लू और बिल्ली की आँखे इन किरणो की सहायता से देख सकती हैं कुछ ऐसे आचित्रीय पट (Photographic plates) होते हैं जो इन्ही किरणो से प्रभावित हुए है और जिनके द्वारा अन्धकार मे भी आचित्र (Photographs) लिए जा सकते हे इसी प्रकार अग्नि की गन्ध हमारी नासिका द्वारा लक्षित नही होती किन्तु गन्धवहन-प्रक्रिया (Tele-olefaction phenomenon) से स्पष्ट है कि गन्ध भी पुद्गल का (अग्नि का भी) आवश्यक गुण है एक गन्धवाहक यत्र (Tele-olefactory cell) का आविष्कार हुआ है जो गन्ध को लक्षित भी करता है यह यत्र मनुष्य की नासिका की अपेक्षा बहुत सग्राहक (Sensitive) होता है और सौ गज दूरस्थ अग्नि को लक्षित करता है इसकी सहायता से फूलो आदि की गन्ध एक स्थान से ६५ मील दूर दूसरे स्थान तक तार द्वारा या बिना तार के ही प्रेषित की जा सकती है स्वयचालित अग्निशमक (Automatic fire Control) भी इससे चालित होता हे इससे स्पष्ट है कि अग्नि आदि बहुत से पुद्गलो की गन्ध हमारी नासिका द्वारा लक्षित नही होती किन्तु और अधिक सग्राहक (Sensitive) यत्रो से वह लक्षित हो सकती है.

पुद्गल सक्रिय और शक्तिमान् है पुद्गल मे क्रिया होती है शास्त्रीय शब्दो में इस क्रिया को परिस्पन्दन कहते हैं यह परिस्पन्दन अनेक प्रकार का होता है इसका सविस्तार विवेचन भगवती सूत्र के टीकाकार अभयदेव सूरि ने किया है[2] पुद्गल मे यह परिस्पन्दन स्वत भी होता है और दूसरे पुद्गल या जीव द्रव्य की प्रेरणा से भी परमाणु की गतिक्रिया की एक विशेषता है कि वह अप्रतिघाती होती है, वह वज्र और पर्वत के इस पार से उस पार भी निकल जा सकता है पर कभी-कभी एक परमाणु दूसरे परमाणु से टकरा भी सकता है

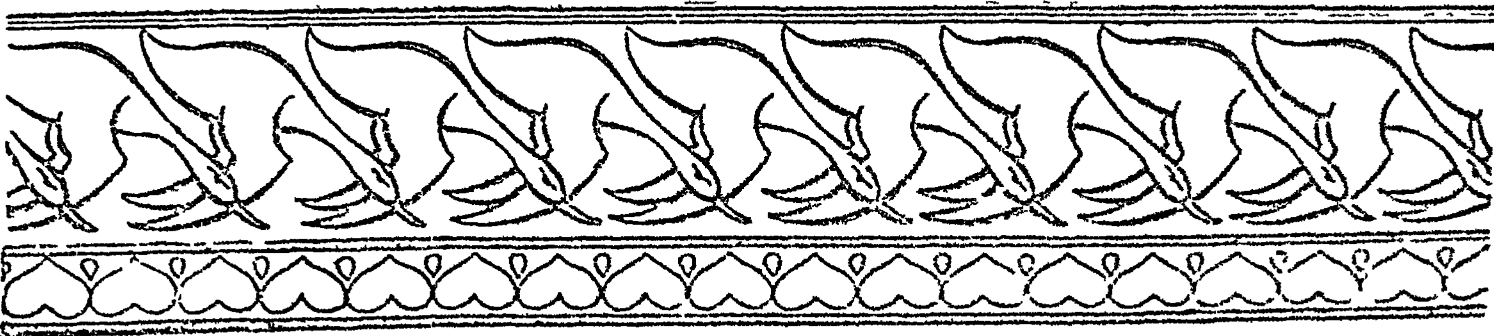
पुद्गल मे अनन्त शक्ति भी होती है एक परमाणु यदि तीव्र गति से गमन करे तो काल के सबसे छोटे अंश अर्थात् एक समय (Timepoint) मे वह लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक जा सकता है आधुनिक वैज्ञानिक अनुसधानो द्वारा भी सिद्ध है कि पुद्गल मे अनन्त शक्ति होती है एक ग्राम (Gram) पुद्गल मे जितनी शक्ति (energy) होती है उतनी शक्ति ३००० टन (८४००० मन) कोयला जलाने पर मिल सकती है

पुद्गल मे सकोच-विस्तार होता है—पुद्गल आदि द्रव्य लोक मे अवस्थित हैं लोक मे असख्यात (Countless) प्रदेश (absolute units of space) ही होते हैं जबकि पुद्गल द्रव्य ही केवल अनन्तानन्त (Infinite in number) है अब प्रश्न यह उठता है कि अनन्तानन्त पुद्गल असख्यात प्रदेश वाले लोक मे कैसे स्थित है जबकि एक प्रदेश, आकाश का वह अश है जिससे छोटा कोई अश सभव ही न हो ? उत्तर यह होगा कि सूक्ष्म परिणमन और अवगाहनशक्ति के

---

१ सुवर्णं तैजसम् , असति प्रतिबन्धकेऽत्यन्ताग्निसंयोगेऽपि अनुच्छिद्यमानद्रवत्वाधिकरणत्वात् । –आचार्य अन्नंभट्ट तर्कसंग्रह पृ० ८

२ शतक ३, उद्देश ३.



कारण परमाणु और स्कन्ध सभी सूक्ष्मरूप परिणत हो जाते हैं और इस प्रकार एक ही आकाशप्रदेश मे अनन्तानन्त पुद्गल रह सकते हैं [1]

उदाहरणार्थ, एक कमरे मे एक दीपक का प्रकाश पर्याप्त होता है, लेकिन उसमें सैकडो दीपको का प्रकाश भी समा सकता है अथवा एक दीपक का प्रकाश, जो किसी वडे कमरे मे फैला रहता है, किसी छोटे वर्त्तन से ढँके जाने पर उसी मे समा जाता है [2] इससे स्पष्ट है कि पुद्गल के प्रकाश-परमाणुओ मे सूक्ष्म परिणमन शक्ति विद्यमान है, उसी प्रकार पुद्गल के प्रत्येक परमाणु की स्थिति है परमाणु की भाति स्कन्धो मे भी सूक्ष्म परिणमन और अवगाहन शक्ति होती है. अवगाहन शक्ति के कारण परमाणु अथवा स्कन्ध जितने स्थान में स्थित होता है उतने ही, उसी स्थान मे अन्य परमाणु और स्कन्ध भी रह सकते है [3]

सूक्ष्म परिणमन की क्रिया का अर्थ ही यह हुआ कि परमाणु में सकोच हो सकता है, उसका घनफल कम हो सकता है.

वैज्ञानिक समर्थन

यह सूक्ष्म परिणमन क्रिया विज्ञान से मेल खाती है. अणु (Atom) के दो अग होते है, एक मध्यवर्ती न्यष्टि (Nucleus) जिसमे उद्युत्कण (Protons) और विद्युत्कण (Neutrons) होते है और दूसरा वाह्यकक्षीय कवच (Orbital Shells) जिसमें विद्युदणु (Electrons) चक्कर लगाते है. न्यष्टि (Nucleus) का घनफल पूरे अणु (Atom) के घनफल से बहुत ही कम होता है और जब कुछ कक्षीय कवच (Orbital Shells) अणु से विच्छिन्न (Disintigrated) हो जाते है तो अणु का घनफल कम हो जाता है. ये अणु विच्छिन्न अणु (Stripped atoms) कहलाते है. ज्योतिप सम्वन्धी अनुसन्धाताओ से पता चलता है कि कुछ तारे ऐसे हैं जिनका घनत्व हमारी दुनिया की घनतम वस्तुओ से भी २०० गुणित है एडिंग्टन ने एक स्थान पर लिखा है कि एक टन (२८ मन) न्यष्टीय पुद्गल (Nuclear matter) हमारी वास्केट के जेब में समा सकता है. कुछ ही समय पूर्व एक ऐसे तारे का अनुसन्धान हुआ है जिसका घनत्व ६२० टन (१७३६० मन) प्रति घन इच है इतने अधिक घनत्व का कारण यही है कि वह तारा विच्छिन्न अणुओ (Stripped atoms) से निर्मित है, उसके अणुओ मे केवल व्यष्टिया ही है, कक्षीय कवच (Orbital shells) नही जैन सिद्धान्त की भाषा मे इसका कारण अणुओ का सूक्ष्म परिणमन है

पुद्गल द्रव्य का जीव द्रव्य से सयोग भी होता है.

आगे पुद्गल द्रव्य के वर्गीकरण (Classification) का विषय आने वाला है यह वर्गीकरण कई प्रकार से सम्भव है. एक प्रकार से पुद्गल को २३ वर्गणाओ या वर्गो मे रखा जाता है इन वर्गणाओ मे से एक है कार्मण वर्गणा. कार्मण वर्गणा का तात्पर्य ऐसे पुद्गल-परमाणुओ से है जो जीव द्रव्य के साथ सयुक्त हुआ करते है

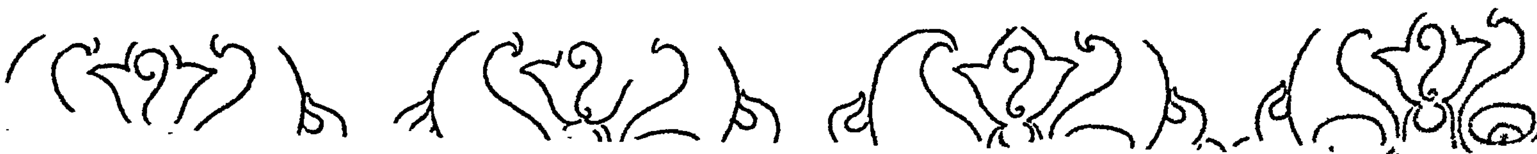
पुद्गल परमाणुओ का सयोग जीव द्रव्य के साथ दो प्रकार से होता है, प्रथम अनादि और द्वितीय सादि सम्पूर्ण जीव-द्रव्यो का सयोग पुद्गल- परमाणुओ के साथ अनादिकाल से है या था. इस अनादि सयोग से मुक्त भी हुआ जा सकता है, मुक्त जीव को फिर यह सयोग कदापि नही होता—लेकिन अमुक्त या वद्ध (ससारी) जीव को यह प्रतिक्षण होता व मिटता रहता है इसी होने-मिटने वाले सयोग को सादि कहते है.

---

१. सूक्ष्मपरिणामावगाह्य शक्तियोगात् परमाण्वादयो हि सूक्ष्ममानेन परिणता एकैकस्मिन्नप्याकाशप्रदेशेऽनन्तानन्ता व्यवतिष्ठन्ते, अवगाहन-शक्तिश्चैषामव्याहताऽस्ति, तस्मादेकस्मिन्नपि प्रदेशेऽनन्तानन्तावस्थान न विरुध्यते । —आचार्य पूज्यपाद-सर्वार्थसिद्धि, अ० ५, सू० १६

२. पदेशसहारविसर्गाभ्या प्रदीपवत् । —आचार्य उमास्वामी : तत्वार्थसूत्र, अ० ५, सू० १६.

३ जावदिय आयास अविभागी पुग्गलाणुवट्ठद्ध,
त तु पदेस जाणे सव्वाणुट्ठा न दाणरिहं । —आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती : द्रव्यसंग्रह.



संयोग का कारण

यह सयोग क्यो होता है ? इस प्रश्न के दो उत्तर है जहा तक अनादि सयोग का प्रश्न है उसका कोई उत्तर नहीं जब से जीव का अस्तित्व है तभी से उसके साथ पुद्गल-परमाणुओ (कार्मणवर्गणाओ) का सयोग भी है जिस सुवर्ण को अभी खान से निकाला ही न गया हो उसके साथ धातु-मिट्टी आदि का सयोग कब से है, इसका कोई उत्तर नही जब से सोना है तभी से उसके साथ धातु-मिट्टी आदि का सयोग भी है यह बात दूसरी है कि सोने को उस धातु-मिट्टी आदि से मुक्त किया जा सकता है, उसी तरह जीव द्रव्य भी स्वय के पुरुषार्थ से अपने को कार्मणवर्गणा से मुक्त कर सकता है इधर, जहाँ तक सादि सयोग का प्रश्न है, इसका उत्तर दिया जा सकता है अनादि सयोग के वशीभूत होकर जीव नाना प्रकार का विकृत परिणमन करता है और इस परिणमन को निमित्त के रूपमे पाकर पुद्गल परमाणु अपने आप ही कार्मण वर्गणा के रूप मे परिवर्तित होकर तत्काल, जीव से सयुक्त हो जाते हैं [1] सयोग के बनने-मिटने की यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक जीव द्रव्य स्वयमेव अपने विकृत परिणमन से मुक्त नही हो जाता है

संयोग की विशेषता

जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य के सयोग की इस प्रक्रिया की यह विशेषता है कि वह सयुक्त होकर भी पृथक्-पृथक् होती है जीव की प्रक्रिया जीव मे और पुद्गल की प्रक्रिया पुद्गल मे ही होती है. एक की प्रक्रिया दूसरे मे कदापि सम्भव नहीं इसी प्रकार एक की प्रक्रिया दूसरे के द्वारा भी सम्भव नही जीव की प्रक्रिया जीव के ही द्वारा और पुद्गल की प्रक्रिया पुद्गल के ही द्वारा सम्पन्न होती रहती है लेकिन इन दोनो प्रक्रियाओ मे ऐसी कुछ समता, एकरूपता रहती है कि जीव द्रव्य कभी पुद्गल की प्रक्रिया को अपनी और कभी अपनी प्रक्रिया को पुद्गल की मान बैठता है [2] जीव की यही भ्रान्त मान्यता मिथ्यात्व, मोह या अज्ञान कहलाती है

संयोग से आस्रव आदि तत्त्वो की सृष्टि

जीव और पुद्गल की इस सयोग-प्रक्रिया के फलस्वरूप ही जीव (Souls) और अजीव (Nonsouls, e g matters & Energies etc) पुद्गल आदि के अतिरिक्त शेप पाँच तत्त्वो की सृष्टि होती है जैन दर्शन मे स्वीकृत सात तत्त्व (principles) ये हैं.[3]

(१) जीव Soul, a substence (२) अजीव (३) आस्रव (४) बन्ध (५) सवर (६) निर्जरा (७) और मोक्ष

आस्रव—जीव से पुद्गल द्रव्य के सयोग का मूल कारण है जीव की मनसा, वाचा और कर्मणा होनेवाली विकृत परिणति और इसी विकृत[4] परिणति का नाम आस्रव तत्त्व है [5]

बन्ध-आस्रव तत्त्व के परिणामस्वरूप जीव द्रव्य से पुद्गल द्रव्य का सयोग होता है, लोलीभाव होता है जिसे बन्ध तत्त्व कहते है.[6]

बन्ध तत्त्व के अन्तर्गत यह ध्यान देने की बात है कि पुद्गल-परमाणु (कार्मणवर्गणायें) जीव द्रव्य मे प्रविष्ट हो जाते हैं,

---

१. जीवकृत परिणाम निमित्तमात्र प्रपद्य पुनरन्ये ।
   स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गला कर्मभावेन । —आचार्य अमृतचन्द्र • पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लो० १२

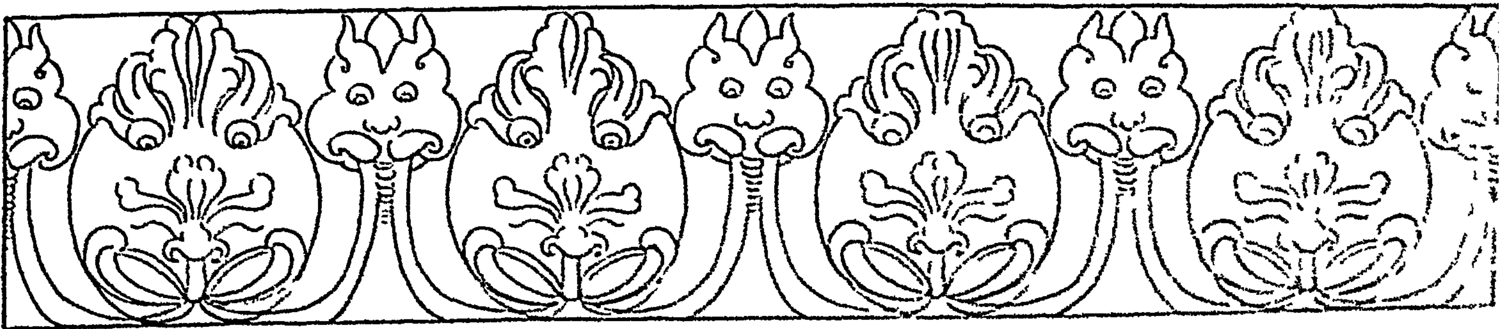
२. एवमय कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव ।
   प्रतिभाति बालिशाना, प्रतिभास' स खलु भवबीजम् । —वही, श्लो० १४

३ जीवाजीवास्रव बन्ध सवर निर्जरा-मोक्षास्तत्त्वम् । —आचार्य उमास्वामी . तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सूत्र ४.

४ कायवाङ्मन कर्म योग । —वही, अ० ६, सू० १

५ स आस्रव । —वही, अ० ६, सू० ४

६ सकषायत्वाज्जीव कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्ध । —वही, अ० ७, सू० २.



अन्तर्लीन हो जाते है, जीव द्रव्य के साथ कार्मणवर्गणाये अपना एकक्षेत्रावगाही सम्वन्ध स्थापित कर लेती हैं, अर्थात् आकाश के जिस और जितने प्रदेशो मे जीव स्थित होता है, अपनी सूक्ष्म-परिणमन शक्ति के वल पर ठीक उन्ही और उतने ही प्रदेशो मे उससे सम्वन्धित कार्मणवर्गणाएँ भी स्थित हो जाया करती है. इस स्थिति (एकक्षेत्रावगाही सम्वन्ध) का यह तात्पर्य कदापि नही कि वे दोनो एक दूसरे में परिवर्तित हो जाते हैं. इस सम्वन्ध के रहते हुए भी जीव, जीव ही रहता है और पुद्गल पुद्गल ही दोनो अपने-अपने मौलिक गुणो (Fundamental realities) को एक समय के लिए भी नही छोड़ते.

संवर—जीव अपने ही पुरुपार्थ से निरन्तर सयुक्त होती रहने वाली कार्मण वर्गणाओ पर रोक लगा सकता है, और यही रोक सवर तत्त्व कहलाती है [1]

निर्जरा—इसी प्रकार, जीव अपनी पूर्व-सयुक्त कार्मणवर्गणाओ को क्रमश निर्जीर्ण या दूर भी कर सकता है और यही निर्जरा तत्त्व है.

मोक्ष—अपनी कार्मणवर्गणाओ से सदा के लिए पूर्णरूपेण मुक्त हो जाना जीव का मोक्ष कहलाता है [2]

पुद्गल का वर्गीकरण

पुद्गल क्या है, यह हम जान चुके हैं. वह एक द्रव्य है उसके परमाणु-परमाणु मे प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की अखण्ड प्रक्रिया वर्त्तमान है. इस प्रक्रिया की दृष्टि से, जितने भी पुद्गल हे चाहे वे परमाणु के रूप मे हो, चाहे स्कन्ध के रूप में, सव एक समान है उनमे भेद या वर्गीकरण को अवकाश ही नही अत हम कह सकते हैं कि द्रव्यदृष्टि से पुद्गल का केवल एक ही भेद है, अथवा यो कहिए कि वह अभेद है.

पुद्गल का अधिकतम प्रचलित और सरल वर्गीकरण किया जाता है अणु (परमाणु) और स्कन्ध के रूप मे [3] हम यहाँ इन दोनो वर्गो का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत करेंगे.

अणु

अणु और उसकी परिभाषा—अणु, पुद्गल का वह सूक्ष्मतम अश है जिसका पुन. अश हो ही न सके [4] अणु का विभाजन नही किया जा सकता, वह अविभाज्य है [5] अणु को पुद्गल का अविभाग-प्रतिच्छेद भी कहा जाता है.

अणु की मुख्यत पांच विशेषताये हैं—(क) सभी पुद्गल-स्कन्ध अणुओ से ही निर्मित है

(ख) अणु नित्य, अविनाशी और सूक्ष्म है, वह दृष्टि द्वारा लक्षित नही हो सकता, इस वात का समर्थन वैज्ञानिको द्वारा भी होता है, जव हम किसी परमाणु का निरीक्षण करते है तो हर हालत मे हम कोई-न-कोई वाहरी उपकरण उपयुक्त करते है यह उपकरण किसी-न-किसी रूप मे परमाणु को प्रभावित करता है और उसमे परिवर्तन ला देता है और हम यही परिवर्तित परमाणु देख पाते हैं, वास्तविक परमाणु नही [6]

---

१. आस्रवनिरोध सवर' । —आचार्य उमास्वामी; तत्त्वार्थसूत्र, अ० ९, सू०.
२ वन्धहेत्वभावनिर्जराभ्या कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष. । —वही अ० १०, सू० २
३. (१) अणव स्कन्धाश्च । —वही, अ० ५, सू० २५.
    (२) एगत्तेण पुहुत्तेण खधा य परमाणु य । —उत्तरज्झयणसुत्त ३६,११
४. नाणो । —आचार्य उमास्वामी. तत्त्वार्थसूत्र अ० ५
५. अविभाज्य परमाणु' । —जैनसिद्धान्तदीपिका, प्रकाश १ सूत्र १४.
६. सर डब्लू० सी० डैम्पियर . विज्ञान का सक्षिप्त इतिहास—(हिन्दी अनु० पृ० २९९)

(ग) अणु मे कोई एक रस, एक गन्ध, एक वर्ण और दो स्पर्श (स्निग्ध अथवा रूक्ष और शीत अथवा उष्ण) होते है[1]

(घ) अणु के अस्तित्व का ज्ञान (अनुमान) उससे निर्मित पुद्गल-स्कन्धरूप कार्य मे होता है

(ङ) अणु इतना सूक्ष्म होता है कि उसके आदि, मध्य और अन्त का प्रश्न ही नही उठता.[2]

अणु और विज्ञान का तथाकथित 'एटम'—इन सभी विशेषताओं के बावजूद यह ध्यान देने की बात है कि आधुनिक रसायन-शास्त्र (Chemistry) मे जो 'एटम' (Atoms) माने गये है, उन्हे प्रस्तुत अणु का ही दूसरा रूप नही कहा जा सकता यद्यपि 'एटम' का मतलब पहले यही लिया गया था कि उसे विभाजित नही किया जा सकता लेकिन अब यह प्रमाणित हो चुका है कि 'एटम' (Atom) उद्युत्कण (Proton), निद्युत्कण (Neutrons) और विद्युत्कण (Electron) का एक पिण्ड है जबकि परमाणु वह मूल कण है जो दूसरो से मेल के विना स्वय कायम रहता है

अणु और 'एटम' की इस विषमता को देखकर वैशेषिक दर्शन की यह मान्यता और भी हास्यास्पद लगने लगती है कि सूर्य के प्रकाश मे चलते-फिरते दिखने वाले धूलिकण परमाणु है

अणु का वर्गीकरण—अणु को चार वर्गो मे रखा जा सकता है —

(१) द्रव्य अणु अर्थात् पुद्गल-परमाणु,

(२) क्षेत्र अणु अर्थात् आकाश-प्रदेश,

(३) काल अणु अर्थात् 'समय'

(४) भाव अणु अर्थात् 'गुण'[3]

भाव अणु के भी चार मूल भेद[4] और सोलह उपभेद[5] होते है

स्कन्ध

स्कन्ध की परिभाषा—दो या दो से अधिक परमाणुओ का पिण्ड स्कन्ध कहलाता है

स्कन्ध का घनत्व—यह आवश्यक नही कि सभी स्कन्ध नेत्र द्वारा लक्षित हो सके एक स्कन्ध मे भी, जिसे हम सूक्ष्म-दर्शक यत्र से ही देख पाते हो—अनन्त परमाणु रहते है

जैनदर्शन का यह स्कन्धो के घनत्व का सिद्धान्त विज्ञान द्वारा खूब पुष्ट हुआ है एक औस पानी मे इतने स्कन्ध है कि यदि उन्हे ससार के तमाम स्त्री-पुरुष और बच्चे प्रति सेकण्ड पाँच की रफ्तार से गिनना शुरु कर दें तो पूरा गिनने मे चालीस अरब वर्ष का समय लग जावेगा[6] अभी-अभी सौरमण्डल मे एक ऐसे नक्षत्र का पता चला है जिसके एक घन इच का अश ६२० टन (१७३६० मन) के वजन का होता है[7]

स्कन्ध का वर्गीकरण—स्कन्धो को तीन वर्गो मे रखा जाता है[8] 'स्कन्ध' अनेक परमाणु जब एक समुदाय मे आकर

---

१ एक-रस-गन्ध-वर्णो द्विस्पर्श कार्यलिगश्च
कारणमेव तदन्त्य, सूक्ष्मो नित्यो भवेत् परमाणु । आचार्य अकलकदेव तत्त्वार्थराजवार्तिक, अ० ५, सू० २५.

२ सौक्ष्म्याद् य आत्मादि-रात्ममध्य-आत्मान्तश्च । —वही, अ० ५, सू० २५, वा० १

३. चउव्विहे परमाणू पण्णत्ते, त जहा, दव्वपरमाणू, खेत्तपरमाणू, कालपरमाणू, भावपरमाणू । —भगवतीसूत्र, २० । ५ । १२

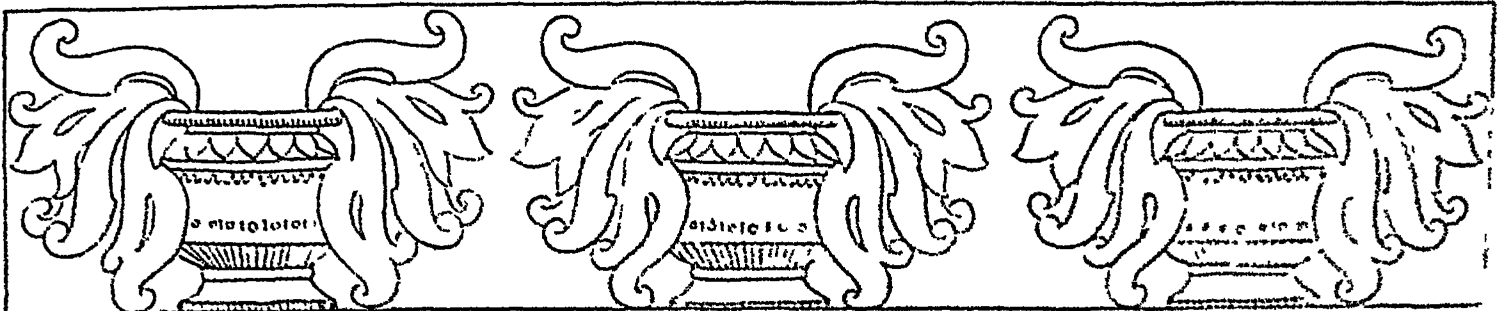
४ वही, २० । ५ । १६

५ वही, २० । ५ । १

६ E N D Sc & Andrade D Sc Ph. D The Machanism of Nature Page 37

७ Raby fa Bois F R A. 'Arm Chair Science' London, July 1937

८ जे रूवी ते चउव्विहा पण्णत्ता, खधा, खधदेसा, खधपएसा, परमाणुपोग्गला —भगवती सूत्र, २। १०। ६६.



परस्पर सम्बद्ध हो जाते हैं तब वे स्कन्ध कहलाने लगते है स्कन्ध का खण्ड भी स्कन्ध कहलाता है.[१]

स्कन्धदेश—स्कन्ध का कोई भी अश या खण्ड (part) जो अपने अगी से पृथग्भूत न हो, स्कन्धदेश कहा जाता है[२]

स्कन्धप्रदेश—स्कन्ध या स्कन्धदेश का एक परमाणु जो अपने अगी से पृथग्भूत न हो, स्कन्धप्रदेश कहलाता है.[३] अथवा पुद्गल के परमाणु और स्कन्ध के रूप मे दो भेद होते है लेकिन ग्राह्य और अग्राह्य के रूप मे भी दो भेद सम्भव है.

ग्राह्य पुद्गल—पुद्गल के जो परमाणु जीव द्रव्य से सयुक्त होते है उन्हे ग्राह्य कहा जाता है. इन्हे हम कार्मण आदि वर्गणा भी कह सकते है.

अग्राह्य पुद्गल—ग्राह्य पुद्गलो के अतिरिक्त शेष सभी अग्राह्य है, उन्हे जीव ग्रहण नही करता, जीव से उनका सयोग नही होता.

तीन भेद—पुद्गल द्रव्य परिणमनशील है उसमे परिणमन स्वयमेव तो होता ही है, जीव के सयोग से भी होता है, इसी दृष्टि को लेकर उसके तीन भेद सम्भव हैं[४]

प्रयोग-परिणत (Organic matter)—ऐसे पुद्गलो को प्रयोग-परिणत कहते है जिन्होने जीव के सयोग से अपना परिणमन किया है.

विस्रसा-परिणत (Inorganic matter)—विस्रसा-परिणत ऐसे पुद्गलो को कहते है जो अपना परिणमन स्वत किया करते हो, जीव का सयोग ही जिनसे कभी न हुआ हो

मिश्र-परिणत—ये वे पुद्गल है जिनका परिणमन जीव के सयोग से और स्वयमेव, दोनो प्रकार से एक-ही-साथ रहा होता है मिश्र-परिणत पुद्गल उन्हे भी कहा जा सकता है जिनका परिणमन कभी जीव के सयोग से हुआ हो लेकिन अब किन्ही कारणो से जो स्वयमेव अपना परिणमन कर रहे हैं

चार भेद

पुद्गल के चार भेद किसी विशिष्ट दृष्टि से नही होते, स्कन्ध के तीन भेद जिनका अध्ययन हमने अभी-अभी किया है और परमाणु का एक भेद मिलकर पुद्गल के चार भेद कहलाने लगते है.[५]

छह भेद

परमाणु और स्कन्ध के रूप मे हमने पुद्गल का अध्ययन किया, और हम देखेगे कि उसका अध्ययन छह भेदो के रूप मे भी हो सकता है.[६] ये छहो भेद स्कन्ध को दृष्टि में रखते हुए किये गये है

---

१. भेदसङ्घातेभ्य उत्पद्यन्ते । —आचार्य उमास्वामी . तत्त्वार्थसूत्र, अ० ५, सू० २६.

२. वस्तुनो पृथग्भूतो बुद्धिकल्पितोऽशो देश उच्यते । —जैनसिद्धान्तदीपिका, प्र० १, सु० २२.

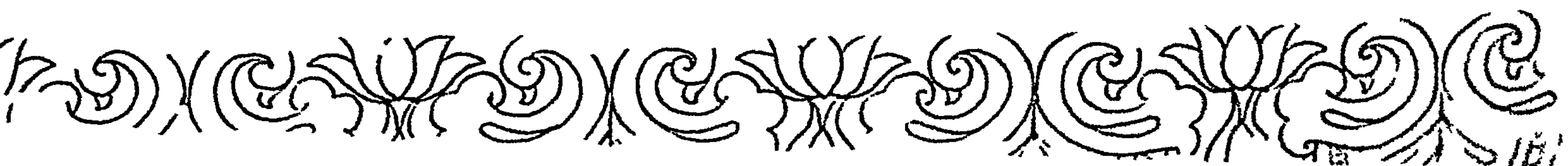
३. निरशो देशः प्रदेश कथ्यते । —वही, प्र० १, सु० २३.

४. तिविहा पोग्गला पएणत्ता, पओगपरिणया, वीससापरिणया, मीसापरिणया । —भगवतीसूत्र, ८। १। १

५. जे रूवी ते चउव्विहा पएणत्ता, खधा, खधदेसा, खधपदेसा, परमाणुपोग्गला । —वही, २।१०।६६.

६. (१) बादरबादर-बादर-बादरसुहुमं च सुहुमथूलं च ।
सुहुमं च सुहुम-सुहुमं धरादिय होदि छब्भेय । —नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती : गोम्मटसार, जीवकाण्ड गा० ६०२.

(२) अइथूलथूल-थूल थूलसुहुम च सुहुमथूलं च ।
सुहुम अइसुहुमं इदि धरादियं होदि छब्भेयं ।
भूपव्वदमादीया भणिदा अइथूलथूलमिदि खंधा ।
थूला इदि विएणेया सप्पीजलतेलमादीया ।



पुद्गल का यह वर्गीकरण, विश्व के अनन्त पुद्गल-परमाणुओ का यह पृथक्-पृथक् विभाजन, इतना वैज्ञानिक बन पडा है कि वह आधुनिक विज्ञान-वेत्ताओ के लिए आश्चर्य का विषय है इस वर्गीकरण मे हम कुछ उन तत्त्वो का भी अन्तर्भाव करते चलेंगे जिनका आविर्भाव या आविष्कार इसी युग मे हुआ है

स्थूल-स्थूल [Solids]

लकडी पत्थर आदि जैसे ठोस पदार्थ इस वर्ग मे आते है

स्थूल [Liquids].

इस वर्ग मे जल, तेल आदि द्रव पदार्थ आते है

स्थूल-सूक्ष्म [Visible Energies].

प्रकाश, छाया, अन्धकार आदि जैसे दृश्य पदार्थ इस वर्ग मे लिए गये है, प्रकाश ऊर्जा [Energy] भी इसी वर्ग मे रखी जा सकती है

सूक्ष्म-स्थूल [Ultravisible but intrasensual matters]

ऐसे पदार्थ इस वर्ग मे आते है जिन्हे हम नेत्र इन्द्रिय से तो नही जान पाते लेकिन शेष चारो मे से किसी-न-किसी इन्द्रिय द्वारा अवश्य जान सकते है इसके उदाहरण है उद्जन [Hydrogen], जारक [Oxygen] आदि वातियें [Gases] और ध्वनि ऊर्जा [Sound energies] आदि जैसी ऊर्जायें

सूक्ष्म [Ultravisible matter]

शास्त्रीय भाषा मे जिन्हे कार्मणवर्गणा कहते है, उन पुद्गलो को इस वर्ग मे रखा गया है ये वे सूक्ष्म स्कन्ध है जो हमारी विचार-क्रिया जैसी क्रियाओ के लिए अनिवार्य है हमारे विचारो और भावो का प्रभाव इन पर पडता है तथा इनका प्रभाव जीव-द्रव्य एव अन्य पुद्गलो पर पडता है

सूक्ष्म-सूक्ष्म—इस वर्ग मे सूक्ष्मतम स्कन्ध आते है ये नग्न नेत्र [Naked eye] से नही ही देखे जा सकते इसके उदाहरणो मे विद्युदणु [Electrons] उद्यदणु [positrons], उद्युत्कण [protons] और विद्युत्कण [Neutrons] आदि आते है

तेईस भेद

एक अन्य दृष्टि से पुद्गल के २३ भेद भी किये जाते है[1] इन भेदो को शास्त्रीय शब्दो मे वर्गणाएँ कहते है उनमे से कुछ वर्गणाएँ है—आहार वर्गणा, भाषा वर्गणा, मनोवर्गणा कार्माण वर्गणा और तैजस् वर्गणा आदि इन वर्गणाओ के अनेक उपभेद भी होते है[2]

छायातवमादीया थूलेदरखधमिदि वियाणाहि ।
सुहुमथूलेदि भणिया खन्धा चउरक्खविसया य ।
सुहुमा हवन्ति खधा पाओग्गा कम्मवग्गणस्स पुणो ।
तव्विवरीया खधा अइसुहुमा इदि परूवेंदि । —आचार्य कुन्दकुन्द नियमसार, गा० २१-२४.

१ अणुसखासखेज्जाणता य अगेज्जगेहि अतरिया ।
आहारतेजभासामणकम्मइया धुवक्खन्धा ।
सातर निरन्तरेण य सुण्णा पत्तेयदेहधुवसुण्णा ।
बादरणिगोदसुण्णा सुहुम णिगोदा णभो महक्खन्धा । —आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती गो० जी०, गा० ५९३-९४

२ परमाणुवग्गणम्मि य, अवरुक्कस्स च सेसगे अत्थि ।
गेज्झमहक्खन्धाण वरमहिय सेसग गुणिय । —वही० गा० ५९५.



अनन्त भेद—पुद्गल द्रव्य की संख्या, क्या परमाणु और क्या स्कन्ध, सभी के रूप मे अनन्त है. एक पुद्गल दूसरे पुद्गल से, स्पर्श, रस आदि किसी-न-किसी कारण से भिन्न या असमान भी हो सकता है अत हम कह सकते है कि पुद्गल भी अनन्त है [1]

वैज्ञानिक वर्गीकरण—विज्ञान ने सम्पूर्ण पुद्गल द्रव्य [Matters of Energies] को तीन वर्गो मे रखा है ठोस [Solids], द्रव [Liquids] और गैस [Gases] विज्ञान की यह भी मान्यता है कि ये तीनो वर्गो के पुद्गल सदा अपने-अपने वर्ग में ही नही रहे आते, वे अपना वर्ग छोडकर, रूप वदलकर दूसरे वर्गो मे भी जा मिलते है.

विज्ञान के इस सिद्धान्त से जैन दर्शन को कोई वाधा तो नही ही पहुँचती, वल्कि उसकी पुष्टि ही होती है. जैन दर्शन भी यह स्वीकार करता है कि जल जो द्रव [Liquid] पुद्गल है, पौधे आदि के रूप मे ठोस पुद्गल वन जाता है, उद्जन [Hydrogen] आदि दो गैसे [Gases] जल के रूप में तरल [Liquid] वन जाती है.

पुद्गल का कार्य—प्रत्येक द्रव्य का अपना कार्य होता है. शास्त्रीय भाषा मे इस कार्य को उपग्रह या उपकार करते है. यह उपग्रह, पुद्गल द्रव्य अपने स्वय या अन्य पुद्गल द्रव्यो के प्रति तो करता ही है, जीव द्रव्य के प्रति भी करता है.

पुद्गल द्रव्य द्वारा किसी अन्य पुद्गल द्रव्य का उपग्रह होता है, इसका उदाहरण सावुन और कपडा है सावुन कपडे को साफ कर देता है, दोनो पुद्गल हैं. एक पुद्गल ने दूसरे पुद्गल का उपग्रह किया, यह स्पष्ट ही है

पुद्गल—जीव द्रव्य का उपग्रह भी अनेक रूपो मे करता है वह जीव के परिणमन के अनुसार कभी शरीर तो कभी मन और कभी वचन तो कभी श्वासोच्छ्वास के रूप मे अपना स्वय का परिणमन करता हुआ, उस परिणमन के माध्यम से जीव द्रव्य का उपग्रह करता रहता है [2] सुख, दु ख, जीवन और मरण के रूप मे भी पुद्गलद्रव्य, जीवद्रव्य का उपग्रह करता है

पुद्गल द्रव्य के द्वारा जीव द्रव्य के उपग्रह का यह अर्थ कदापि नही कि पुद्गल-द्रव्य द्वारा जीव-द्रव्य मे कोई प्रक्रिया या परिणमन किया-कराया जाता है. इसका अर्थ, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, केवल यही है कि जीवद्रव्य का परिणमन जीवद्रव्य मे और पुद्गल-द्रव्य का परिणमन पुद्गल-द्रव्य मे होता है लेकिन सयोगवश दोनो के परिणमनो मे स्वभावत , ऐसी कुछ समानता या एकरूपता वन पडती है कि हमे—जीवद्रव्यको—लगता है कि यह परिणमन हममे—जीव द्रव्य मे-हो रहा है.

दोनो द्रव्यो के स्वतन्त्र परिणमन के सिद्धान्त का ही फल है कि एक ही वस्तु के उपभोग से अनेक लोगो–जीवो--मे अनेक प्रकार की प्रतिक्रियाएँ होती है एक उदाहरण लीजिए किसी अत्यन्त रूपवती वेश्या का मृत शरीर पडा है एक साधु उसे देखकर सोचता है कि यदि इस वेश्या ने अपने शरीर के अनुरूप सुन्दर कार्य भी किये होते तो कितना कल्याण होता? इसका एक व्यभिचारी उसे देखकर सोचता है—यदि जीवित होती तो इसे जीवन भर न छोडता ! कोई व्यक्ति उसे देखकर सोचता है कि अच्छी मरी पापिन, अपना शील वेचा है इसने ! एक उस वेश्या का रिश्तेदार है जो स्नेहवश फूट-फूटकर रो रहा है एक अजनवी उसे देखकर भी उसकी स्थिति पर कुछ विचार नही करता यहा जो वस्तुत जीवद्रव्य के अपने परिणमन की तारीफ है कि वह होता तो अपने आप है और लगता है कि पर-पुद्गल द्रव्य अथवा किसी अन्य जीव-द्रव्य के द्वारा कराया जा रहा है वेश्या के मृत शरीर को देखकर होने वाला साधु का वैराग्य, व्यभिचारी की लम्पटता, असहिष्णु की घृणा, रिस्तेदार का विलाप और अजनवी की मध्यस्थता, यही सिद्ध करते है कि जीवद्रव्य का परिणमन उसके अपने उपादान या अन्तरग कारण [material cause] पर ही निर्भर है, पुद्गल द्रव्य तो केवल निमित्त या वाह्य कारण [outer cause] है

---

१ आचार्य अकलक देव : तत्त्वार्थराजवार्तिक, अ० ५, सू० २५, वा० ३

२ शरीर-वाड्-मन-प्राणापानाः पुद्गलानाम् । —आचार्य उमास्वामी · तत्त्वार्थसूत्र, अ० ५, सू० १९.

३. सुख-दु ख जीवित-मरणोपग्रहाश्च । —वही, अ० ५, सू० २० ।

पुद्गल के पर्याय—किसी भी द्रव्य का स्वरूप ही यह है कि उसमे गुण और पर्याय हो पुद्गलो के गुणो का विश्लेषण हो चुका है पर्यायो की चर्चा यहाँ की जा रही है

यो तो पुद्गल द्रव्य के अन्य द्रव्यो की भाति, अनन्त पर्याय हैं तथापि कुछ प्रमुख एव हमारे दैनिक व्यवहार मे आने वाले पर्यायो की चर्चा यहा की जाती है.

शब्द, बन्धन, सूक्ष्मता, स्थूलता, सस्थान [आकार], भेद [खण्ड], अधकार, छाया, आतप [धूप] और उद्योत [चादनी] पुद्गल के पर्याय है [1] सगीत, प्रदर्शन, आवागमन आदि भी इसी कोटि मे रखे जा सकते है

इन सबके अतिरिक्त, पुद्गल के कुछ पर्याय ऐसे भी है जो मानव-शरीर और विज्ञान मे सम्बन्ध रखते हैं उनका विश्लेषण यहाँ हम विशेष रूप से करेंगे

शब्द

शब्द का स्वरूप—एक स्कन्ध के साथ दूसरे स्कन्ध के टकराने से जो ध्वनि उत्पन्न होती है वह शब्द है [2] शब्द कर्ण या श्रोत्र इन्द्रिय का विषय है

शब्द और वैशेषिक दर्शन—वैशेषिक दर्शन मे शब्द को पुद्गल का पर्याय न मानकर आकाश द्रव्य का गुण माना है इस मान्यता के खण्डन मे अनेक तर्क दिये जा सकते हैं प्रथम और स्पष्ट तर्क तो यही है कि आकाश द्रव्य अमूर्तिक है, उसमे स्पर्श आदि कुछ भी नही होते, जबकि शब्द मूर्तिक है, उसमे स्पर्श आदि है, उसे छुआ-पकडा भी जाता है अमूर्तिक द्रव्य का गुण भी अमूर्तिक ही होना चाहिए, मूर्तिक नही द्वितीय, आकाश का गुण मानने के मोह मे यदि शब्द को अमूर्तिक ही माना जाय तो मूर्तिक इन्द्रिय उसे ग्रहण नही कर सकेगी अमूर्तिक विषय को मूर्तिक इन्द्रिय भला कैसे जानेगी? तृतीय तर्क यह है कि शब्द टकराता है, उसकी प्रतिध्वनि होती है यदि वह अमूर्तिक आकाश का गुण होता तो जैसे आकाश नही टकराता वैसे ही शब्द भी न टकराता चौथे-शब्द को रोका-बाधा भी जा सकता है, जबकि आकाश को, जिसका वह गुण कहा जाता है, रोकने-बाधने की चर्चा ही हास्यास्पद है पाँचवा तर्क है शब्द गतिमान है जबकि आकाश गति-हीन है, निष्क्रिय है और अन्तिम तर्क है विज्ञान की ओर से, शब्द ऐसे आकाश मे गमन नही कर सकता जहा किसी भी प्रकार का पुद्गल [matter] न हो यदि शब्द आकाश का गुण होता तो उसे आकाश के प्रत्येक कोने मे जा सकना चाहिए था क्योकि गुण अपने गुणी के प्रत्येक अश मे रहता है वहा पुद्गल के होने और न होने का प्रश्न ही न उठना चाहिए था

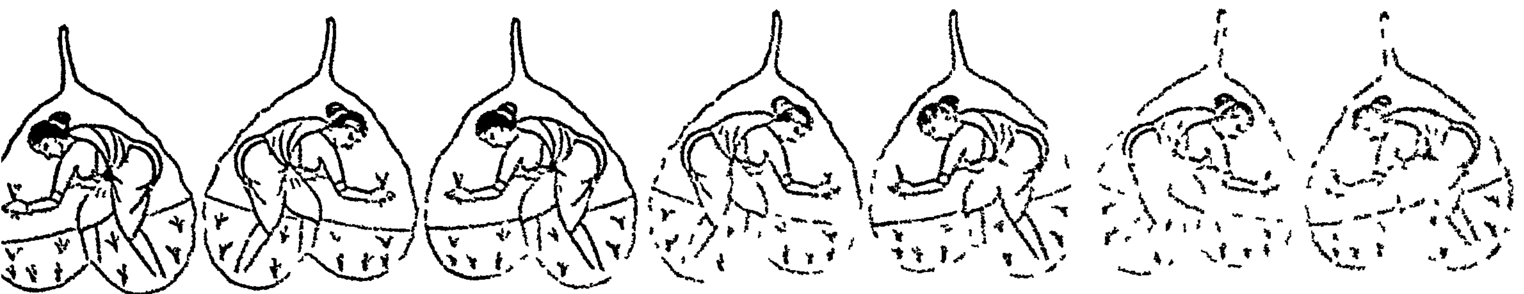
शब्द और विज्ञान—शब्द-सम्बन्धी जिन सिद्धान्तो की स्थापना जैनाचार्यो ने सदियो पहले की थी उन्ही का पुन स्थापन और विस्तार आज के वैज्ञानिको ने किया है उदाहरणार्थ-शब्द का वर्गीकरण ही ले लें जैनाचार्यो ने शब्द को भाषात्मक और अभाषात्मक, दो वर्गो मे रखा आज के वैज्ञानिको ने उन्ही को क्रमश. सगीत ध्वनि [Musical sounds] और कोलाहल [Noises] नाम दे दिये इसी तरह जैनाचार्यो के भाषात्मक शब्दो के प्रभेदो को भी वैज्ञानिको ने ज्यो-का-त्यो वर्गीकृत कर दिया है शब्द की प्रकृति और गति के विषय मे भी जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान मे अद्भुत समानता है

शब्दो का वर्गीकरण—सक्षेप मे शब्दो को तीन वर्गों मे रखा जा सकता है, भाषात्मक, अभाषात्मक और मिश्र [1]

---

१ (१) शब्दबन्ध सौक्ष्म्य स्थौल्य-सस्थान-भेद-तमश्छायातपोद्योतवन्तश्च । —आचार्य उमास्वामी तत्त्वार्थसूत्र, अ० ५ : सू० २४.
(२) सद्दो बधो सुहुमो थूलो सठाण-भेद तम-छाया ।
उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया ।—आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती. द्रव्यसग्रह, गा० १६.

२. सद्दो खधप्पभावो खधो परमाणुसगसघादो । पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादगो णियदो—पञ्चास्तिकाय, गा० ७९.



विस्तार से, शब्द के मूलत दो भेद होते है और दोनो के दो-दो प्रभेद तथा द्वितीय भेद के प्रथम प्रभेद के भी चार प्रभेद होते है [1] हम यहा प्रत्येक का परिचय देगे

भाषात्मक—इस वर्ग मे मानव और पशु-पक्षियो आदि की ध्वनियाँ आती है, इसके दो भेद है.

अक्षरात्मक—ऐसी ध्वनियाँ इस वर्ग मे आती है जो अक्षरबद्ध की जा सके–लिखी जा सके.

अनक्षरात्मक—इस वर्ग मे रोने-चिल्लाने, खासने-फुसफुसाने आदि की तथा पशु-पक्षियो आदि की ध्वनियाँ आती है, इन्हे अक्षरबद्ध नही किया जा सकता.

अभाषात्मक—शब्द के इस वर्ग में प्रकृतिजन्य और वाद्ययत्रो से उत्पन्न होने वाली ध्वनियाँ सम्मिलित है. इसके भी दो वर्ग है—प्रायोगिक और वैस्रसिक. वाद्ययत्रो से उत्पन्न होने वाली ध्वनियाँ प्रायोगिक शब्द है और इन्हे चार वर्गो मे रखा जाता है

तत वर्ग मे वे ध्वनियाँ आती है जो चर्म-तनन आदि झिल्लियो के कम्पन से उत्पन्न होती हो तबला, ढोलक, भेरी आदि से ऐसे ही शब्द उत्पन्न होते है

वितत शब्द वीणा आदि तत्र-यत्रो में, तत्री के कम्पन से उत्पन्न होते है

घन शब्द वे है जो ताल, घण्टा आदि घन वस्तुओ के अभिघात से उत्पन्न हो. इसी वर्ग मे हारमोनियम आदि जिह्वाल-यत्रो से उत्पन्न ध्वनियाँ भी आती है।

सौषिर वर्ग मे वे शब्द आते है जो बास, शख आदि मे वायु प्रतर के कम्पन से उत्पन्न हो [2]

वैस्रसिक—मेघगर्जन आदि प्राकृतिक कारणो से उत्पन्न होनेवाले शब्द वैस्रसिक कहलाते है.

बन्ध

बन्ध की परिभाषा—बन्ध शब्द का अर्थ है बधना, जुडना, मिलना, सयुक्त होना दो या दो से अधिक परमाणुओ का भी बन्ध हो सकता है और दो या दो से अधिक स्कन्धो का भी, इसी तरह एक या एक से अधिक परमाणुओ का एक या एक से अधिक स्कन्धो के साथ भी बन्ध होता है पुद्गल परमाणुओ (कार्मण वर्गणाओ) का जीवद्रव्य के साथ भी बन्ध होता है

बन्ध की विशेषताः— बन्ध की एक विशेषता यह है कि उसका विघटन या खण्डन या अन्त अवश्यम्भावी है, क्योकि जिसका प्रारम्भ होता है उसका अत भी अवश्यमेव होता है [3] एक नियम यह भी है कि जिन परमाणुओ या स्कन्धो या स्कन्ध परमाणुओ या द्रव्यो का परस्पर बन्ध होता है वे परस्पर सम्बद्ध रहकर भी अपना-अपना स्वतत्र अस्तित्व कायम रखते है एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के साथ दूध और पानी की भाति अथवा रासायनिक प्रतिक्रिया से सम्बद्ध होकर भी अपनी पृथक् सत्ता नही खो सकता, उसके परमाणु कितने ही रूपान्तरिक हो जावे, फिर भी उनका अपना स्वतत्र अस्तित्व कायम रहता है.

---

१ शब्दो द्वेधा, भाषालक्षण-विपरीतत्वात् ।
भाषात्मक उभयथा, अक्षरादिकृतेतरविकल्पत्वात् ।
अभाषात्मको द्वेधा, प्रयोगविस्रसानिमित्तत्वात्, तत्र वैस्रसिको
वलाहकादिप्रभव , प्रयोगजश्चतुर्धा, तत वितत-घन सौषिरभेदात् ।
—आचार्य अकलकदेव तत्त्वार्थराजवार्त्तिक, अ० ५, सू० २४

२ चर्मतनननिमित्त पुष्कर भेरी-दुर्दु रादिभवस्तत: । तत्रीकृतवीणा-सुघोष दिसमुद्भवो वितत. । तालघण्टालालनाद्यभिघातजो घन । वशशखा-दिनिमित्त सौषिर. —आचार्य पूज्यपाद. सर्वार्थसिद्धि, अ० ५, सू० २४.

३ सयुक्ताना वियोगश्च भविता हि नियोगत । —आचार्यवादीभसिह सूरि, क्षत्रचूडामणि

बन्ध का कारण:—पुद्गल का बन्ध जीव के साथ भी होता है और इसके कई कारण है.

यह तो स्पष्ट है कि पुद्गल द्रव्य सक्रिय है और जो सक्रिय होता है उसका टूटते-फुटते रहना, जुडते-मिलते रहना-स्वभाविक ही है हाँ, उसमे कोई न कोई कारण निमित्त के रूप मे अवश्य होता है उदाहरणार्थ मिट्टी के अनेक कणो का बन्ध होने पर घडा बनता है, इसमे कुम्हार निमित्त कारण है द्रव्य की अपनी रासायनिक प्रक्रिया भी बन्ध का कारण बन जाती है, कपूर आदि के सम्मिलिन से बनी अमृतधारा और उद्जन (Hydrogen) आदि वातियो (Gases) के मिलने से बना हुआ जल ऐसी ही प्रक्रियाओ के प्रतिफल है

जीव-द्रव्य और पुद्गल द्रव्य के बन्ध मे मुख्य कारण है जीव का अपना भावनात्मक परिणमन और दूसरा कारण है पुद्गल की प्रक्रिया

बन्ध की प्रक्रिया:—जैनाचार्यो ने बन्ध की प्रक्रिया का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण किया है यद्यपि विज्ञान उस विश्लेषण को अपने प्रयोगो द्वारा पूर्णत सिद्ध नही कर सका है तथापि विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि इसकी वैज्ञानिकता मे सदेह नही परमाणु से स्कन्ध, स्कन्ध से परमाणु और स्कन्ध से स्कन्ध किस प्रकार बनते है, इस विषय मे हम मुख्यतः सात तथ्य पाते है

(१) स्कन्धो की उत्पत्ति कभी भेद से, कभी सघात से और कभी भेद-सघात से होती है. स्कन्धो का विघटन अर्थात् कुछ परमाणुओ का एक स्कन्ध से विच्छिन्न होकर दूसरे स्कन्ध मे मिल जाना भेद कहलाता है दो स्कन्धो का सघटन या सयोग हो जाना सघात है और इन दोनो प्रक्रियाओ का एक साथ हो जाना भेद-सघात है[१]

(२) अणु की उत्पत्ति केवल भेदप्रक्रिया से ही सम्भव है[२]

(३) पुद्गल मे पाये जाने वाले स्निग्ध और रूक्ष नामक दो गुणो के कारण ही यह प्रक्रिया सम्भव है[३]

(४) जिन प्रमाणुओ का स्निग्ध अथवा रूक्ष गुण जघन्य अर्थात् न्यूनतम शक्तिस्तर पर हो उनका परस्पर बन्ध नही होता[४]

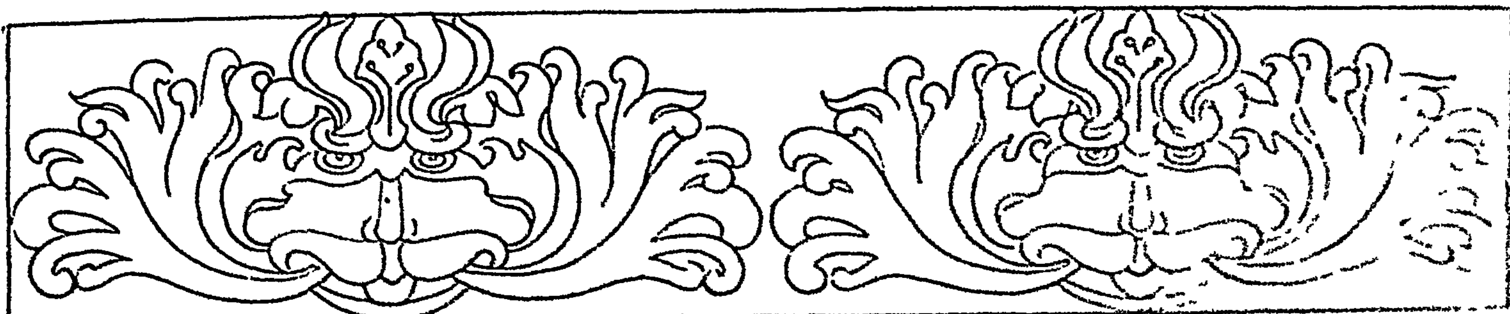
(५) जिन पमाणुओ या स्कन्धो मे स्निग्ध या रूक्ष गुण समान मात्रा मे अर्थात् सम शक्तिस्तर पर हो उनका भी परस्पर बन्ध नही होता[५]

(६) लेकिन उन परमाणुओ का बन्ध अवश्य होता है जिनसे स्निग्ध और रूक्ष गुणो की सख्या मे दो एकाको का अन्तर होता है जैसे चार स्निग्ध गुणयुक्त स्कन्ध का छह स्निग्ध गुण युक्त स्कन्ध के साथ बन्ध सम्भव है अथवा छह रूक्ष गुणयुक्त स्कन्ध से बन्ध सम्भव है[६]

(७) बन्ध की प्रक्रिया मे सघात से उत्पन्न स्निग्धता अथवा रूक्षता मे से जो भी गुण अधिक परिमाण मे होता है, नवीन स्कन्ध उसी गुण रूप मे परिणत होता है उदाहरण के लिए एक स्कन्ध, पन्द्रह स्निग्धगुणयुक्त स्कन्ध और तेरह रूक्ष गुण स्कन्ध से बने तो वह नवीन स्कन्ध स्निग्धगुणरूप होगा[७] आधुनिक विज्ञान के क्षेत्र मे भी हम देखते हैं कि यदि किसी अणु (Atom) मे से विद्युदणु (Electron ऋणाणु) निकाल लिया जाय तो वह विद्युत्प्रभृत (Positively charged) और यदि एक विद्युदणु जोड लिया जाय तो वह विद्युत्प्रभृत (Negatively charged) हो जाता है

---

१ भेदसघातेभ्य उत्पद्यन्ते —उमास्वामी तत्त्वार्थसूत्र अ० ५, सू० २६
२ भेदादणु । —वही अ० ५, सू० २७
३ स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्ध । —वही, अ० ५, सू० ३३
४ न जघन्यगुणानाम् । —वही अ० ५, सू० ३४
५ गुणसाम्ये सदृशानाम् । —वही, अ० ५, सू० ३५
६. द्व्यधिकादिगुणाना तु । —वही, अ० ५, सू० ३६
७ बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च । —वही, अ० ५, सू० ३७



जीव और पुद्गल का बन्ध—जीव और पुद्गल के पारम्परिक बन्ध की एक विशिष्ट परिभाषा है, जिसका विश्लेषण बहुत कुछ पहले किया जा चुका है.

कषाय सहित होने अर्थात् रागद्वेपरूप भावनात्मक परिणमन करने के कारण जीव कार्मणवर्गणा के पुद्गल को ग्रहण करता है, और इसी ग्रहण का नाम है बन्ध.[1]

कर्मबन्ध का सिद्धान्त—जीव जैसा कर्म करता है उसे वैसा ही फल भोगना पडता है, यही तथ्य कर्म-सिद्धान्त की भूमिका है इस सिद्धान्त को जैन, साख्य, योग, नैयायिक, वैशेषिक और मीमासक आदि आत्मवादी दर्शन तो मानते ही है, अनात्मवादी बौद्ध दर्शन भी मानता है. इसी तरह ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी भी इस सिद्धान्त मे प्राय एकमत है.

कर्मबन्ध का स्वरूप—जैन दर्शन मे कर्म केवल सस्कारमात्र ही नही है किन्तु एक वस्तुभूत पुद्गल पदार्थ है जो रागी-द्वेषी जीव की क्रिया से आकृष्ट होकर जीव के साथ आ मिलता है. अथवा यो कहिए कि राग-द्वेष से युक्त जीव की प्रत्येक मानसिक, वाचनिक और शारीरिक क्रिया के साथ एक द्रव्य पुद्गलपरमाणु या कार्मणवर्गणा—जीव में आती है जो उसके राग-द्वेप रूप भावो का निमित पाकर जीव से बध जाता है और आगे चलकर अच्छा या बुरा फल देने लगता है[2]

कर्म के दो भेद है—द्रव्यकर्म और भावकर्म. जीव से सयुक्त कार्मणवर्गणा द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्म के निमित्त से होने वाले जीव के राग-द्वेष रूपभाव, भावकर्म कहलाते है.

कर्मबन्ध और वैदिक दर्शन—ईश्वर को जगत् का नियन्ता मानने वाले दर्शन जीव को कार्य करने में स्वतन्त्र, किन्तु उसका फल भोगने मे परतन्त्र मानते है[3] उनके मत से कर्म का फल ईश्वर देता है किन्तु जैन-दर्शन के अनुसार कर्म अपना फल स्वय देते हैं. उनके लिए किसी न्यायाधीश की आवश्यकता नही होती शराब पीने से नशा होता है और दूध पीने से पुष्टि शराब या दूध पीने के बाद उसका फल देने के लिए किसी दूसरे शक्तिशाली नियामक की आवश्यकता नही होती इसी प्रकार जीव की प्रत्येक कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्ति के साथ जो कर्मपरमाणु जीव द्रव्य की ओर आकृष्ट होते हैं और राग-द्वेष का निमित्त पाकर उस जीव से बध जाते है, उन कर्मपरमाणुओ (कार्मण-वर्गणाओ) मे भी शराब और दूध की तरह अच्छा और बुरा प्रभाव डालने की शक्ति रहती है. जो चैतन्य के सम्बन्ध से व्यक्त होकर जीव पर अपना प्रभाव डालती है और उसके प्रभाव से मुग्ध हुआ जीव ऐसे काम करता है जो सुखदायक या दु खदायक होते है

कर्मबन्ध का वर्गीकरण—बन्ध या सयोग को प्राप्त होने वाली कार्मण वर्गणाओ मे अनेक प्रकार का स्वभाव पडना प्रकृतिबन्ध है यह आठ प्रकार का होता है[4]

(१) ज्ञानावरण कर्म (२) दर्शनावरण कर्म (३) वेदनीय कर्म (४) मोहनीय कर्म (५) आयु कर्म (६) नाम कर्म (७) गोत्र कर्म (८) अन्तराय कर्म.

---

१ सकषायत्वाज्जीव. कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स वंध : —वही, अ० ८, सू० २.

२. परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुदो ।
त पविसदि कम्मरय णाणावरणादिभावेहि ।—आचार्य कुन्दकुन्द. प्रवचनसार, गाथा ९५.

३ (१) कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन । —श्रीमद्भगवद्गीता, अ० ४, श्लो० २७ ।
(२) अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मन सुखदु खयो ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्ग वा श्वभ्रमेव वा । —महर्षि वेदव्यास : महाभारत,वनपर्व, अ० ३०, श्लो० २८.

४. आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनायायुर्नामगोत्रान्तराया. ।—आचार्य उमास्वामी . तत्त्वार्थसूत्र, अ० ८, सू० ४.

स्थितिवन्ध—कार्मण वर्गणाओ मे आत्मा के साथ वद्ध रहने की काल-मर्यादा पडना, स्थिति वन्ध है.

अनुभागबन्ध—कार्मणवर्गणाओ मे फल देने की न्यूनाधिक शक्ति उत्पन्न होना, अनुभाग वन्ध है.

प्रदेशबन्ध—कार्मणवर्गणा के दलिको की सख्या का नियत होना, प्रदेशवन्ध है

सूक्ष्मता—सूक्ष्मता का अर्थ है छोटापन यह दो प्रकार का है—अन्त्य सूक्ष्मता और आपेक्षिक सूक्ष्मता अन्त्यसूक्ष्मता परमाणुओ मे ही पाई जाती है और आपेक्षिक सूक्ष्मता दो छोटी-वडी वस्तुओ मे तुलनात्मक दृष्टि से पाई जाती है

स्थूलता—स्थूलता का अर्थ वडापन है वह भी दो प्रकार का है—अन्त्य स्थूलता जो महास्कन्ध मे पाई जाती है और आपेक्षिक स्थूलता जो छोटी-वडी वस्तुओ मे तुलनात्मक दृष्टि से पाई जाती है

संस्थान (आकार)—सस्थान का अर्थ है—आकार, रचनाविशेष सस्थान का वर्गीकरण दो प्रकार मे देखने मे आता है प्रथम प्रकार से उसके दो भेद हैं—इत्थ सस्थान, जिसे हम त्रिकोण, चतुष्कोण, गोल आदि नाम देते हैं और अनित्थ-सस्थान, जिसे हम अनगढ भी कह सकते है, उसको कोई खास नाम नही दिया जा सकता तथापि उसे छह खण्डो मे विभक्त किया गया है—उत्कर, चूर्ण, खण्ड, चूर्णिका, प्रतर और अणुचटन सस्थान का द्वितीय प्रकार से वर्गीकरण मानव-शरीर को दृष्टिगत रखकर किया जाता है—समचतुरस्र, न्यग्रोध, परिमण्डल, स्वाति, कुब्जक, वामन और हुण्डक

भेद (खण्ड)—स्कन्धो का विघटन अर्थात् कुछ परमाणुओ का एक स्कन्ध से विच्छिन्न होकर दूसरे स्कन्ध मे मिल जाना भेद कहलाता है

तम (अन्धकार)—जो देखने मे बाधक हो और प्रकाश का विरोधी हो वह अन्वकार है[1]

कुछ अजैन दार्शनिको ने अधकार को कोई वस्तु न मानकर केवल प्रकाश का अभाव माना है पर यह उचित नही यदि ऐसा मान लिया जाय तो यह भी कहा जा सकेगा कि प्रकाश भी कोई वस्तु नही है, वह तो केवल तम का अभाव है विज्ञान भी अधकार को प्रकाश का अभावरूप न मानकर पृथक् वस्तु मानता है विज्ञान के अनुसार अधकार मे भी उपरक्त किरणो (Infre-red heat rays) का सद्भाव है जिनसे उल्लू और विल्ली की आँखें तथा कुछ विशिष्ट आचित्रीय पट (Photographic plates) प्रभावित होते है. इससे सिद्ध होता है कि अधकार का अस्तित्व दृश्य प्रकाश (visible light) से पृथक् है

छाया—प्रकाश पर आवरण पडने पर छाया उत्पन्न होती है[2] प्रकाश-पथ मे अपारदर्शक कायो (opeque bodies) का आ जाना आवरण कहलाता है छाया को अधकार के अतर्गत रखा जा सकता है और इस प्रकार वह भी प्रकाश का अभावरूप नही अपितु पुद्गल की पर्याय सिद्ध होती है.

विज्ञान की दृष्टि मे अणुवीक्षो (Lenses) और दर्पणो के द्वारा निर्मित प्रतिविम्ब दो प्रकार के होते हैं, वास्तविक और अवास्तविक इनके निर्माण की प्रक्रिया से स्पष्ट है कि ये ऊर्जा प्रकाश के ही रूपान्तर है ऊर्जा ही छाया (shadows) और वास्तविक (Real) एव अवास्तविक (virtual) प्रतिविम्बो (images) के रूप मे लक्षित होती है. व्यतिकरण पट्टियो (interference bands) पर यदि एक गणनायत्र (Counting machine) चलाया जाय तो काली पट्टी (Dark Band) मे से भी प्रकाश वैद्युत रीति से (photo electrically) विद्युदणुओ [Electrons] का नि सरण होना सिद्ध होता है तात्पर्य यह कि काली पट्टी केवल प्रकाश के अभावरूप नही, उसमे भी ऊर्जा होती है और इसी कारण उससे विद्युदणु निकलते है काली पट्टियो के रूप मे जो छाया [shadows] होती है वह भी ऊर्जा का ही रूपान्तर है

१. तमो दृष्टिप्रतिबन्धकारणं प्रकाशविरोधि—आचार्य पूज्यपाद. सर्वार्थसिद्धि, अ० ५, सू० २४

२ छाया प्रकाशावरणनिमित्ता ।—वही, अ० ५, सू० २४



वर्गीकरण—प्रकाश-पथ मे दर्पणो [Mirrors] और अणुवीक्षो [Lenses] का आ जाना भी एक प्रकार का आवरण ही है इस प्रकार के आवरण से वास्तविक और अवास्तविक प्रतिविम्ब बनते है. ऐसे प्रतिबिम्ब दो प्रकार के होते है, वर्णादिविकारपरिणत और प्रतिविम्बमात्रात्मक[1] वर्णादिविकारपरिणत छाया मे विज्ञान के वास्तविक प्रतिबिम्ब लिये जा सकते हैं जो विपर्यस्त [inverted] हो जाते है और जिनका प्रमाण [size] बदल जाता है ये प्रतिविम्ब प्रकाश-रश्मियो के वस्तुत [Actually] मिलन से बनते है और प्रकाश की ही पर्याय होने से स्पष्टत: पौद्गलिक है प्रतिविम्बमात्रात्मिका छाया के अतर्गत विज्ञाने के अवास्तविक प्रतिबिम्ब [virtual images] रखे जा सकते हैं जिनमे केवल प्रतिबिम्ब ही रहता है, प्रकाश-रश्मियो के मिलने से ये प्रतिविम्ब नही बनते.

प्रकाश—जैन सूत्रकारो ने प्रकाश के आतप और उद्योत के रूप मे दो विभाग किए है और उन्ही के रूप मे उसका विवेचन किया है उनका यह विभाजन बडा ही वैज्ञानिक बन पडा है जैन सूत्रकारो की यह सूक्ष्मदृष्टि और भेदशक्ति [Discriminative Power] निस्सदेह आश्चर्यजनक है

प्रकाश का वैज्ञानिक विवेचन भी सम्भव है वह चाहे सूर्य का हो, चाहे दीपक का, निरन्तर गतिशील है वैज्ञानिको ने लोक [ब्रह्माण्ड] मे घूमने वाले आकाशीय पिण्डो की गति, दूरी आदि को मापने के लिये प्रकाश-किरण को ही अपना माप-दण्ड मान रखा है क्योकि उसकी गति सदा समान है प्रकाश मे पहले भार नही माना गया था लेकिन अब यह सिद्ध हो चुका है कि वह एक शक्ति का भेद होते हुए भी भारवान् है वैज्ञानिको ने यह भी पता लगाया कि प्रकाश विद्युत-चुम्बकीय तत्त्व है वह एक वर्गमील क्षेत्र पर प्रतिमिनिट आधी छटाक मात्रा मे सूर्य से गिरता है.

आतप (धूप)—सूर्य आदि के निमित्त से होने वाले उष्ण प्रकाश को आतप कहते है[2] इसमे ऊर्जा का अधिकाश ताप-किरणो [Heat Rays] के रूप मे प्रकट होता है.

उद्योत (चांदनी)—चन्द्रमा, जुगनू आदि के शीत प्रकाश को उद्योत कहते है उद्योत में अधिकाश ऊर्जा प्रकाश-किरणो [Light-energy] के रूप मे प्रकट होती है

ताप—ताप को हम उष्णता कह कर समझ सकते है इसे पुद्गल के उष्ण स्पर्श गुण की पर्याय कहा जाना चाहिए. तभी ताप का विवेचन पूर्णत. वैज्ञानिक दृष्टि से होगा.

परमाणु में घनाणु और ऋणाणु निरन्तर गतिशील रहते है और इसी तरह अणु मे स्वय परमाणु और अणु-गुच्छको मे अणु निरन्तर गतिशील रहते हैं यही आन्तरिक गति जब बहुत बढ जाती है और सूक्ष्मकण परस्पर टकराते हुए इधर-उधर दौडने लगते है तो वे ताप के रूप में दिखने लगते है.

विद्युत (बिजली)—विद्युत् को हम साधारणत घन-विद्युत् और जल-विद्युत् के दो रूपो मे देखते है ये दोनो ही पुद्गल-पर्याय है और दोनो का वैज्ञानिक मूलाधार एक ही है

वैज्ञानिक दृष्टि से विद्युत् के दो रूप है, घन और ऋण. घन का आधार उद्युत्कण [Proton] और ऋण का आधार विद्युत्कण [Electron] है सिद्धान्त के अनुसार विश्व का प्रत्येक पदार्थ विद्युन्मय है.

रेडियो--क्रियातत्त्व [Radio-activity]—जब किसी परमाणु [Atom] से किसी कारणवश उसके मूलभूत कण, विद्युत्कण [Electron] और उद्युत्कण [proton] पृथक् होते है तो बम फटने की तरह धडाके की आवाज होती है, साथ ही उससे एक प्रकार की लौ निकलती है जो प्रकाश की तरह आगे-आगे बढती चली जाती है इसी लौ के प्रसरण को रेडियो-क्रियातत्त्व [Radio activity] या किरण-प्रसरण [Radiation] कहते है.

आधुनिक विज्ञान के १०३ तत्त्व—वैज्ञानिको ने पुद्गल के कुछ ऐसे पर्यायो का पता लगाया है जो अपनी एक स्वतन्त्र

---

१ सा द्वेधा वर्णादिविकारपरिणता प्रतिविम्बमात्रात्मिका चेति ।—वही, अ० ५, सू० २४

२ आतप आदित्यादिनिमित्त उष्णप्रकाशलक्षण. । वही, अ० ५, सू० २४

जाति के होते है और जिनमे किसी अन्य जाति का मिश्रण स्वभावत नहीं होता ऐसी अमिश्रित जाति के पुद्गल-पर्यायो को ही विज्ञान मे तत्त्व कहा जाता है मौलिक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि इन तत्त्वो के अन्वेषण की प्रेरणा वैदिक दर्शन के पञ्च महाभूतो वाले सिद्धान्त से मिली है तत्त्वों का अन्वेषण दिनोदिन होता ही चला गया और उनकी सख्या ९२ तक पहुँच गई अब तो, सुनते है कि यह सख्या १०३ तक पहुँच गई है. भविष्य मे और भी अनेक तत्त्वो के अन्वेषण की सम्भावना है

जैन दर्शनकारो ने ७ तत्त्व और ६ द्रव्य ही माने है लेकिन उन्हे इस १०३ की सख्या से भी कोई आपत्ति नही उनका वर्गीकरण स्वय इतना युक्तिपूर्ण और वैज्ञानिक है कि आये दिन होते रहने वाले वैज्ञानिक अन्वेषणो से उनकी पुष्टि ही होती जाती है ये १०३ तत्त्व केवल पुद्गल द्रव्य के ही पर्याय है और उनका अन्तर्भाव इसी द्रव्य के स्थूल-स्थूल आदि ६ भेदो मे यथासम्भव किया जा सकता है जैनदर्शन मे परमाणुओ की जातियाँ भी मानी गई है और यह भी माना गया है कि एक जाति दूसरी जाति से अमिश्रित रह सकती है

अणु बम—पहले वैज्ञानिको की मान्यता थी कि उनका तथाकथित परमाणु टूटता नही, विच्छिन्न नही होता लेकिन धीरे-धीरे उनकी यह मान्यता खण्डित होती गई धीरे-धीरे यह भी अन्वेषण हुआ कि परमाणुओ के बीजाणुओ की इकाई मे अपार शक्ति भरी पडी है उन्होने यह अन्वेषण भी किया कि यूरेनियम नामक तत्त्व के परमाणुओका विकीरण हो सकता है, इन्ही सब अन्वेषणो के आधार पर अणु बम को जन्म मिला

कहना न होगा कि यूरेनियम तत्त्व, जिसके परमाणुओ के विकीरण से अणुविस्फोट होता है पुद्गल द्रव्य की पर्याय है, अत यह सब पुद्गल द्रव्य का ही चमत्कार है

उद्जन बम—उद्जन बम का सिद्धान्त अणु बम के सिद्धान्त से ठीक विपरीत है अणु बम अणुओ के विभाजन का परिणाम है जबकि उद्जन बम उनके सयोग का यह भी स्पष्टत पुद्गल का ही पर्याय है

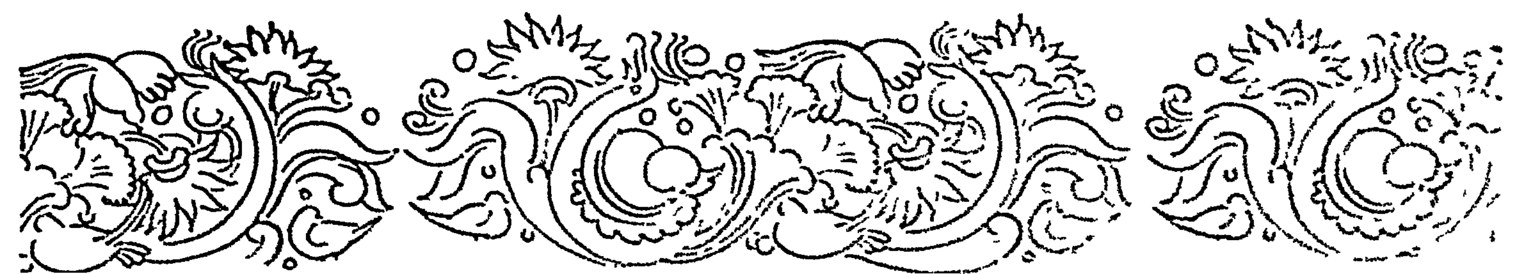
रेडियो और टेलीग्राम आदि—रेडियो, ट्राजिस्टर, टेलीग्राम, टेलीफोन, टेलीप्रिंटर, बेतार-का-तार, ग्रामोफोन और टेप-रिकार्डर आदि अनेक यन्त्र आज विज्ञान के चमत्कार माने जाते है पर इन सबके मूलभूत सिद्धान्त पर दृष्टिपात करने से हम इसी निष्कर्ष पर आते हैं—यह सब शब्द की अद्भुत शक्ति और तीव्र गति का ही परिणाम है और शब्द पुद्गल का ही पर्याय है सचमुच, पुद्गल के खेल अद्भुत और अनन्त है

टेलीविजन—जैसे रेडियो यन्त्र-गृहीत शब्दो को विद्युत्प्रवाह से आगे बढाकर सहस्रो मील दूर ज्यो-का-त्यो प्रकट करता है वैसे ही टेलीविजन भी प्रसरणशील प्रतिच्छाया को सहस्रो मील दूर ज्यो-का-त्यो व्यक्त करता है

जैन शास्त्रो मे बताया गया है कि विश्व के प्रत्येक मूर्त्त पदार्थ से प्रतिक्षण तदाकार प्रतिच्छाया निकलती रहती है और पदार्थ के चारो ओर आगे बढकर विश्वभर मे फैल जाती है जहाँ उसे प्रभावित करने वाले पदार्थो—दर्पण, जल आदि का योग होता है वहाँ वह प्रभावित भी होती है. टेलीविजन का आविष्कार इसी सिद्धान्त का उदाहरण है अत टेलीविजन का अन्तर्भाव पुद्गल की छाया नामक पर्याय मे किया जाना चाहिए

एक्स-रेज़—एक्स-रेज भी विज्ञान-जगत् का एक महत्त्वपूर्ण एव चमत्कारमय आविष्कार है प्रकाश-किरणो की अबाध गति एव अत्यन्त सूक्ष्मता ही इस आविष्कार का मूल है अत एक्स-रेज को पुद्गल की प्रकाश नामक पर्याय के अन्तर्गत रखना ही उचित है.

अन्य—विश्व मे जो कुछ भी छूने, चखने, सूघने. देखने और सुनने मे आता है वह सब पुद्गल की पर्याय है प्राणिमात्र के शरीर, इन्द्रिय और मन आदि पुद्गल से ही निर्मित है विश्व का ऐसा कोई भी प्रदेश—कोना नहीं है जहाँ पुद्गल द्रव्य किसी-न-किसी पर्याय मे विद्यमान न हो.



उपसंहार

यह विज्ञान का युग है. प्रत्येक व्यक्ति की जिज्ञासा आज तीव्र हो उठी है. उसे कोरे शास्त्रीय तर्कों से ही सन्तोष नही. विज्ञान की तुला पर तोले बिना वह किसी भी सिद्धान्त से सहमत नही होता. फलत. सर्वोपरि सिद्धान्त-दर्शन आज वही माना जाने लगा है जो शास्त्र-सम्मत तो हो ही, विज्ञान-सम्मत भी हो.

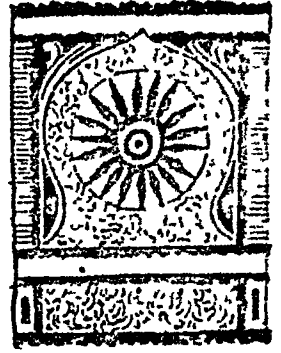
आज की इसी प्रवृत्ति को लक्ष्य मे रखकर मैंने पुद्गल द्रव्य का यह विश्लेषण प्रस्तुत किया है. विश्लेपण दर्शन और विज्ञान, दोनो दृष्टियो से किया गया है. पुद्गल द्रव्य के विषय में स्थान-स्थान पर दर्शन और विज्ञान की समता तो दिखाई ही गई है, विषमता भी दिखाई गई है.

इस निबन्ध मे पुद्गल द्रव्य के लगभग सभी पहलुओ का विश्लेषण किया गया है—तुलनात्मक दृष्टि से भी और विवेचनात्मक दृष्टि से भी.

विश्लेषण में शास्त्रीय भाषा का प्रयोग प्राय नही किया है ताकि जन-साधारण उसे सहज ही समझ सके इसी दृष्टि से यथास्थान अग्रेजी पर्याय भी देता गया हूँ. कथित विपय की पुष्टि के लिये सन्दर्भ-ग्रन्थो का हवाला भी दिया गया है.

ऐसे ही विश्लेषण जीव द्रव्य, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य और काल द्रव्य के विषय में आज अनिवार्यरूप से अपेक्षित है.





पं० मिलापचन्द्र कटारिया

जीवतत्त्व विवेचन

ससार अनादिकाल से छह द्रव्यो से परिपूर्ण है उसमे एक जीवद्रव्य भी है जीवो की सख्या सदा से ही अनन्तानत हैं वे जितने हैं उतने ही रहते है, न घटते, न वढते हैं कोई भी जीव नया पैदा नही होता है और न किसी का विनाश ही होता है. अमुक प्राणी पैदा हुआ, अमुक मर गया, ऐसा जो कहा जाता है उसका अर्थ इतना ही है, कि किसी अन्य देह से निकलकर जीव इस देह मे आया है वस इसे ही उसका जन्म होना कहते हैं. और इस देह से निकलकर जीव अन्य देह मे चला गया, वस यही उसका मरण कहलाता है तत्त्वत प्रत्येक जीव अजन्मा और अविनाशी है उन अनतानत जीवो मे कई जीव अशुद्ध रूप मे और कई शुद्ध रूप मे पाये जाते हैं. जो अशुद्ध रूप मे हैं उन्हे ससारी जीव और शुद्ध रूप वालो को मुक्त जीव कहते है

सव द्रव्यो मे एक जीव द्रव्य ही चेतनामय है वाकी सव अचेतन-जड है ससार मे जो पदार्थ नेत्र आदि इद्रियो द्वारा ग्राह्य होते हैं वे सव पुद्गल द्रव्य हैं पुद्गलद्रव्य रूपी अर्थात् मूर्त्त होने से इद्रियगोचर हैं किंतु जीव द्रव्य रूपी व मूर्त्तिक नही है अत वह किसी भी इद्रिय के द्वारा ग्राह्य नही है इसका अर्थ यह नही है कि वह शून्य रूप है जीव भी अपनी सत्ता अवश्य रखता है उसका भी कुछ न कुछ आकार रहता है ससार-अवस्था मे वह देह के आकार मे रहता है और मुक्त अवस्था मे उसके देह नही रहती, तथापि जिस देह को छोडकर वह मुक्त होता है उस देह के आकार मे (किंचित् न्यून) रहता है

जीव मे फैलने और सिकुडने की शक्ति विद्यमान है वह अगर अधिक से अधिक फैले तो अकेला ही सारी सृष्टि को व्याप्त कर सकता है किंतु उसे विभिन्न भवो मे जितने प्रमाण का देह मिलता है उतने ही प्रमाण का होकर रहना पडता है. भवातर मे ही नही, किसी एक भव मे भी वाल्यावस्था के छोटे शरीर मे छोटा वनकर रहता है, युवावस्था के वडे शरीर मे वडा वनकर रहता है फिर वही शरीर वृद्धावस्था मे कृश हो जाता है तो उसमे कृश होकर रहने लगता है जैसे दीपक का प्रकाश छोटे वडे कमरे मे सिकुडता-फैलता है, वैसे ही जीव भी वडी-छोटी देह मे फैलता सिकुडता है प्रत्यक्ष मे यह भी देखा जाता है कि जव मनुष्य के दिल मे कामवासना पैदा होती है तो उसकी कामेन्द्रिय का प्रमाण वढ जाता है उसी के साथ उसके आत्मप्रदेश भी वढ जाते हैं और कामेन्द्रिय का सकोच होने पर उसके आत्मप्रदेश भी सकुचित हो जाते है

यहाँ शका की जा सकती है कि जैसे दीपक का ढक्कन हटा देने पर उसका प्रकाश फैल जाता है, उसी तरह मोक्ष मे जीव के साथ देह के न होने से वह लोक प्रमाण क्यो नही फैलता है ? इसका समाधान यह है कि जैसे कोई आदमी पाँच हाथ की लवी डोरी को समेट कर अपनी मुट्ठी मे वद कर ले. फिर कालातर मे मुट्ठी खोल देने पर भी वह डोरी विना किसी के फैलाये अपने आप नही फैलती है, उसी तरह मोक्ष मे देह के न रहने पर आत्मा के प्रदेश भी अपने आप नही फैलते हैं

जीव को देहप्रमाण कहने का अर्थ यह है कि शरीर के प्राय सभी अशो मे आत्मा के अश मिले हुए हैं जैसे दूध मे घृत के अश मिले रहते है शरीर और आत्मा के अश ऐसे कुछ घुलमिल जाते है कि उनकी सयुक्त क्रियाओ मे कही तो आत्मा का असर शरीर पर होता दिखाई देता है और कही शरीर का असर आत्मा पर पडा दिखाई देता है जैसे



आत्मा मे क्रोध भाव उत्पन्न होने पर मुखाकृति का भयकर बनना, भृकुटि चढना, चक्षुका लाल होना आदि. इसी तरह हर्ष होने पर मुख का प्रफुल्लित होना, भय होने पर शरीर का कापना, कामभाव होने पर कामेन्द्रिय मे उत्तेजना होना यह सब शरीर पर होने वाला आत्मा का असर है तथा बाल शरीर की अपेक्षा युवा शरीर मे ताकत का अधिक होना, वृद्धावस्था मे ताकत का घट जाना व स्थूल शरीर वाले पुरुष को दौडने-कुदने मे कठिनाई का अनुभव होना, हाड मासमय एकसमान देह होते हुए भी स्त्री और पुरुष की भिन्न-भिन्न आकाक्षा होना अर्थात् स्त्री को पुरुष से रमण करने की और पुरुष को स्त्री से रमण करने की इच्छा होना इत्यादि उदाहरण शरीर का असर आत्मा पर पडने के है

प्रश्न—अगर शरीर और आत्मा का इतना घनिष्ठ सबध है तो दोनो को भिन्न न मानकर शरीर को ही आत्मा क्यो न मान लिया जावे ?

उत्तर—दोनो का स्वरूप भिन्न-भिन्न है. एक चेतन है दूसरा अचेतन है अत दोनो एक नही माने जा सकते है. अगर शरीर ही जीव हो तो मूर्छावस्था मे शरीर के रहते भी वह अचेत क्यो हो जाता है ? और निद्रावस्था मे कर्ण, रसना आदि इद्रियो के होते हुए भी वह विषय को ग्रहण क्यो नही करता है कोई मनुष्य शरीर और इद्रियाँ ज्यो-की-त्यो रहने पर भी पागल कैसे हो जाता है ? इससे प्रकट होता है कि शरीर और आत्मा ये दो भिन्न-भिन्न चीजे है जीव का स्वरूप जैन शास्त्रो मे निम्न गाथा मे कहा गया है—

जीवो उवओगमओ, अमुत्तो कत्ता सदेहपरिमाणो ,
भोत्ता संसारत्थो, सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ।

—द्रव्य सग्रह नेमिचन्द्र सिद्धात चक्रवर्ती

जीव चैतन्यमय है—जीता है, उपयोगमय है यानी ज्ञाता दृष्टा है, अमूर्तिक यानी इद्रियो के अगोचर है, अच्छे-बुरे कार्यो का करने वाला है, उसका आकार अपना देह-प्रमाण है, और वह सुख-दुख का भोक्ता है वह ससार मे रह रहा है अर्थात् अनेक योनियो मे जन्म मरण करता रहता है, शुद्ध स्वरूप से सिद्ध के समान है और ऊर्ध्वगमन उसका स्वभाव है सब द्रव्यो में एक पुद्गल ही ऐसा द्रव्य है जो रूपी यानी दीखने मे आता है, शेष सब अरूपी है. कुछ पुद्गल ऐसे भी होते है जो अपनी सूक्ष्मता से नेत्रगोचर नही भी होते है तथापि वे यत्रादि के द्वारा ग्रहण योग्य होने से रूपी ही माने जाते है जैसे गध, शब्द, हवा आदि कुछ ऐसे भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म पुद्गल होते है जो सभी इन्द्रियो के अगोचर होने पर भी पुद्गल की जाति के ही माने जाते है जैसे कार्मणवर्गणा. जब कोई पुद्गल विशेष रूपी होकर भी अपनी सूक्ष्मता की वजह से नेत्रगोचर नही होते है तब जीवद्रव्य तो अरूपी है, वह दृष्टिमे तो क्या अन्य किसी भी इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण मे नही आ सकता है इसी से भ्रम मे पडकर कई लोग कहने लगते है कि यह शरीर ही जीव है, शरीर से भिन्न कोई जीव नाम का द्रव्य नही है. किन्तु ऐसा समझना मिथ्या है आत्मा सूक्ष्म अरूपी होने से भले ही आँखो आदि से ग्रहण मे नही आता है तथापि जो देखने जानने वाला है, किसी की इच्छा करता है और जिसको हर्ष सुख-दुख का अनुभव होता है, वही आत्मा है आत्मा के होने से ही प्रत्येक प्राणी को उसके शरीर के छिन्न-भिन्न करने से दुख होता है. आत्मा के निकल जाने पर मुर्दा शरीर को काटने जलाने आदि से कोई पीडा नही होती है इससे जाहिर होता है कि आत्मा और शरीर दो भिन्न-भिन्न चीजे है. उसके अलावा स्मृति जिज्ञासा, सशयादि ज्ञान विशेष आत्मा के गुण है, उनका स्वसवेदन प्रत्यक्ष होने से उन गुणो वाला आत्मा भी प्रत्यक्ष है, क्योकि गुण से गुणी भिन्न नही रहता है जहाँ गुण है वहाँ गुणी भी अवश्य होता है जैसे रूपादि गुण प्रत्यक्ष होने से उन गुणो का धारी घट भी प्रत्यक्ष है

प्रश्न—माना कि गुण और गुणी अभिन्न है किन्तु शरीर ही आत्मा होने से वही गुणी है और ज्ञान उस शरीर का गुण है. ऐसा क्यो न मान लिया जाय ?

उत्तर—ऐसा कहना ठीक नही, क्योकि घट की तरह शरीर मूर्त्तिवान् और चक्षुगोचर है. वह अमूर्त्तिक ज्ञानादि गुणो का आधार गुणी नही हो सकता. गुण और गुणी में अनुरूपता होती है—निरूपता नही. अत. ज्ञानादि गुण जिसमे है वह शरीर से भिन्न अन्य कोई अरूपी द्रव्य है और वही आत्मा है.



प्रश्न—ज्ञानादि गुण शरीर के नही है ऐसा कहना प्रत्यक्ष विरुद्ध है सब पदार्थों का ज्ञान इन्द्रियो से होता है और इन्द्रियरूप ही शरीर है इन्द्रियाँ न हो तो कुछ भी ज्ञान नही होता

उत्तर—आत्मा को पदार्थ का ज्ञान इन्द्रियो के द्वारा होता है. इसका अर्थ यह नही है कि आत्मा और इन्द्रियाँ अभिन्न है. क्योकि चक्षु एव कर्ण के न रहने पर भी अर्थात् अधा वहरा हो जाने पर भी उनसे उत्पन्न पहिले का ज्ञान आत्मा को वना रहता है जैसे खिडकियो के द्वारा देखे हुए पदार्थों का वोध खिडकियाँ वन्द कर देने पर भी देवदत्त को रहता है अत देवदत्त खिडकियो से जुदा है वैसे ही आत्मा इन्द्रियो से जुदा है इसी तरह इन्द्रियों के रहने पर भी अगर आत्मा का उपयोग विषय-ग्रहण की ओर न हो तो पदार्थज्ञान नही होता है इसलिए इन्द्रियो के होने पर भी आत्मा को पदार्थ ज्ञान नही होता और इन्द्रियो के न होने पर भी पदार्थज्ञान रहता है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि देहादि से आत्मा कोई जुदी चीज है

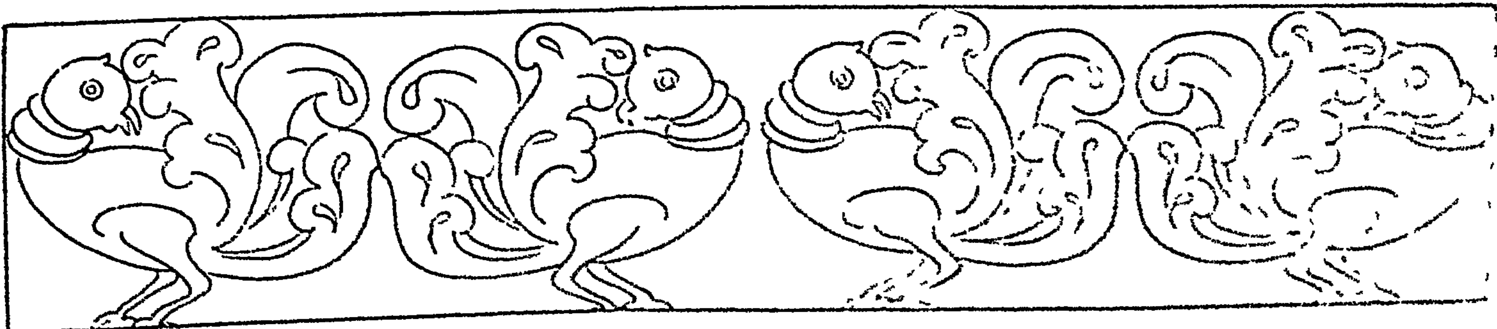
इसके अतिरिक्त किसी दूसरे को इमली खाते देखकर मात्र उसका अनुभव करने मे ही हमारे मुह मे पानी आ जाता है दूसरे का रुदन सुनकर या उसके कष्ट का अनुभव करने मात्र से ही हमारी आँखो मे अश्रु पैदा हो जाते है यहाँ अनुभव करने वाला शरीर से भिन्न कोई आत्मा ही हो सकता है एक इन्द्रिय मे जानकारी हासिल करके दूसरी इन्द्रिय से कार्य करने, जैसे आख से घटको देखकर हाथ उसे उठाने इत्यादि रूप मे इन्द्रियो को सोच समझ कर काम मे लेनेवाला भी, इन्द्रियो से भिन्न ही कोई हो सकता है देवदत्त मकान की किसी एक खिडकी मे किसी को देखकर दूसरी खिडकी मे मुह डालकर उसे बुलाता है. यहाँ जैसे खिडकियो से काम लेनेवाला देवदत्त खिडकियो से भिन्न है, उसी तरह इन्द्रियो को काम मे लेनेवाला आत्मा भी, इन्द्रियो से भिन्न है, जैसे थोडे ज्ञानवाले पाच पुरुषो से अधिक ज्ञान वाला छठा पुरुष भिन्न है, उसी तरह एक-एक विषय को ग्रहण करनेवाली पाचो इन्द्रियो से सभी विषयो को ग्रहण करने वाला छठा आत्मा भी, इन्द्रियो से भिन्न है एक सेठ अलग-अलग गुमास्ते रखकर उनसे अपनी इच्छानुसार अलग-अलग काम लेता है जैसे गुमास्तो से सेठ भिन्न है, उसी तरह इन्द्रियो से अपनी इच्छानुसार अलग-अलग विषय को ग्रहण करने वाला उनका अधिष्ठाता आत्मा भी, इन्द्रियो से भिन्न है जैसे रेल के डिब्बे इजन की गति विशेष के अनुसार चलते है, मुडते है, दौडते है, धीमे चलते है, उसी तरह इद्रियाँ भी आत्मा की प्रेरणा से कार्य करती है रेल के डिब्बो से इजन भिन्न है उसी प्रकार इद्रियो से आत्मा भिन्न है

इस प्रकार से जव स्वशरीर मे आत्मा की सिद्धि होती है तो उसी तरह परशरीर मे भी आत्मा है क्योकि जैसे स्व-शरीर मे आत्मा होने से इष्ट मे प्रवृत्ति देखी जाती है, तद्वत् परशरीर मे भी इष्ट अनिष्ट मे प्रवृति देखी जाती है अत परशरीर मे भी आत्मा है, यह प्रमाणित होता है इससे जीवो की अनेक सख्या सिद्ध होती है किन्तु सब ससारी जीवो मे ज्ञान की हीनाधिकता पाई जाने के कारण सव जीव सर्वथा एक समान नही है, यह भी सिद्ध होता है इस असमानता का कारण उनका अपना स्वभाव नही है किन्तु उन पर होने वाला पौद्गलिक कर्मवर्गणाओं का आवरण है.

शरीर यद्यपि अचेतन है तथापि वह चेतन जीव द्वारा चलाये जाने के कारण चेतन सदृश ही दिखाई देता है जैसे कि वैलो द्वारा चलाया शकट वैलो की तरह ही चलता हुआ दिखाई देता है

प्रश्न—अगर आत्मा शरीर से भिन्न है तो वह जन्म के समय शरीर मे प्रवेश करते और मृत्यु के समय शरीर से निकलते किसी को क्यो नही दिखती है ? जैसे पुष्प से गध भिन्न नही, उसी तरह आत्मा भी शरीर से भिन्न नही है जैसे पुष्प के नाश होने से गध का विनाश हो जाता है उसी प्रकार देह के नाश होने से आत्मा का भी अभाव हो जाता है गर्भ मे शुक्रशोणित के सम्मिश्रण से शरीर का निर्माण होता है वही शनै-शनै बढने लगता है वहा अन्य स्थान से जीव आकर उसमे स्थान कर लेता है ऐसा कहना केवल कल्पना है

उत्तर—दूर से आया हुआ शब्द नेत्रो द्वारा नही देखा जाता वह कान द्वारा ही ज्ञात होता है किन्तु आत्मा तो सूक्ष्म अरूपी और अमूर्त्त है वह न नेत्रो के गोचर है और न अन्य इन्द्रियो के इसलिए जीव जन्म-मरण के समय आता-जाता



दिखाई नही देता है जैसे चम्पा के पुष्प को तेल मे क्षपण करने से उसकी सुगन्ध पृथक् होकर तेल मे मिल जाती है किन्तु पुष्प बना रहता है इसी प्रकार आत्मा मृत्यु के समय इस शरीर से निकल कर भवान्तर मे, अन्य शरीर में, चला जाता है और पूर्व शरीर यहा पडा रह जाता है. माता पिता के शुक्रशोणित से बनने वाली देह के सिवा उसमे आने वाली आत्मा का निषेध किया सो भी ठीक नही है. क्योकि माता पिता कई बार मैथुन कर्म करते है, किन्तु गर्भ तो कभी-कभी ही रहता है. इससे सिद्ध होता है कि जब कभी उस समय भवान्तर से जीव आने का सयोग वैठता है तभी गर्भ रहता है अगर गर्भोत्पत्ति मे एक मात्र शुक्रशोणित ही कारण होता तो माता पिता के हर मैथुन कर्म के समय में गर्भ रहना चाहिये था. जैसे वनस्पति सचित्त अवस्था मे होने पर ही जल सीचने से बढती है सूखा ठूठ अचित्त होने से नही बढता है उसी तरह गर्भ की वृद्धि भी सजीव अवस्था मे ही होती है, निर्जीव अवस्था मे नही साधु लोग बरसो नगे पाव चलते है पर उनके तलुवे नही घिसते है, जब कि जूता पहनकर चलने से वह कुछ काल मे ही घिस जाता है. इसका कारण यही है कि तलुवे सजीव है उन्हे खुराक मिलती रहती है जिससे वे घिसते नही. जूता निर्जीव होने से घिसता है पुष्प का नाश होने से उसकी गध का भी नाश हो जाता है, उसी तरह देह के नाश होने पर आत्मा का नाश हो जाता है, ऐसा मानना समिचीन नही है. क्योकि मृत्यु के समय देह का नाश कहा होता है ? देह तो मौजूद रहती है फिर क्यो मृत्यु होनी चाहिए ?

प्रश्न—देह तो रहती है पर जिन भू, जल, अग्नि आदि पंचभूतो के समुदाय से देह मे चेतना उत्पन्न होती है, उनके जीर्ण हो जाने पर देह के रहते भी चेतना नही रहती है इसे ही मृत्यु कहते है. जैसे धातकी, पुष्प, दाख, जल आदि के मिश्रण से शराब मे मादकता उत्पन्न होती है. वह मादकता शराब पुरानी पड जाने पर भी शराब के रहते हुए उसमें से निकल जाती है

उत्तर—पचभूतो मे से किसी भी भूत मे चेतना नही है फिर वह पचभूतो के मिश्रण से कैसे उत्पन्न हो सकती है ? यदि कहा जाय कि धातकी आदि अलग-अलग द्रव्य में मादकता नही है किन्तु सब के मिलने पर मद्य उत्पन्न हो जाता है उसी तरह पचभूतो मे से अलग-अलग किसी मे चेतना न होने पर भी उनके समुदाय मे चेतना उत्पन्न हो जाती है किन्तु ऐसा ही हो तो जलते हुए चूल्हे पर पानी की भरी हडिया को गरम करते समय पचभूत इकट्ठे हो जाते है, वहा चेतना क्यो नही पैदा होती है ? मद्य के प्रत्येक उपादान द्रव्य में अगर मादकता के कुछ अश न हो तो उनके समुदाय मे भी मादकता कैसे हो सकती है ? और फिर धातकी आदि से ही मद्य क्यो बनता ? अन्य द्रव्यो से क्यो नही ? जैसे हर रज-कण मे तेल के अश नही होते तो उनके समुदाय में भी तेल उत्पन्न नही होता है उसी तरह मद्य के हर एक उपादान द्रव्य मे मादकता न होती तो उनके समुदाय मे भी मादकता नही हो सकती थी. सही चीज तो यह है कि धातकी आदि से जो मदिरा पैदा होती है सो धातकी आदि भी पुद्गल है और उनसे उत्पन्न मदिरा भी पुद्गल है अतः पुद्गल से पुद्गल ही पैदा हुआ उसी तरह पचभूत भी पुद्गल है तो उनमें भी पौद्गलिक शरीर ही पैदा हो सकता है, चैतनामय आत्मा नही. पुरानी हो जाने से शराब रहते भी शराब में से मादकता निकल जाती है उसी तरह शरीर के जीर्ण हो जाने से शरीर रहते भी उसमें से चेतना निकल जाती है, यह कहना भी ठीक नही है, क्योकि सब ही की मृत्यु वृद्धावस्था मे होती तो यह भी मान लिया जाता कि शरीर के जीर्ण होने से चेतना नष्ट हो गई किन्तु मृत्यु तो छोटे बच्चो व युवाओ की भी देखी जाती है, यहा तक कि कोई तो गर्भ मे ही मर जाता है.

प्रश्न—धातकी दाख आदि प्रत्येक मे अल्परूप मे मादकता विद्यमान होती है. इस सिद्धान्त को मान लेते हैं उसी तरह पचभूतो मे भी प्रत्येक मे चेतना के अश है और उनके समुदाय मे पूरी आत्मा बन जाती है

उत्तर—ऐसा मानने मे भी बाधा है. पचभूत पुद्गल है—मूर्तिक है, उनके अश अमूर्तिक-चेतनास्वरूप कैसे हो सकते है ? और सब भूतो के इकट्ठे हो जाने पर चेतना की नई उत्पत्ति मानी जाय तो मृत शरीर मे भी भूत समुदाय तो रहता ही है फिर उसमे आत्मा का अभाव क्यो है ? यदि कहो कि मृत शरीर में से वायु निकल जाने के कारण चेतना नही रहती, तो नली के द्वारा वायु प्रवेश कराने पर चेतना पैदा हो जानी चाहिये पर पैदा नही होती है जो कहो



कि उस वक्त तेज का अभाव होने मे चेतना पैदा नही होती है और चेतना पैदा होने योग्य विशिष्ट वायु की उपलब्धि भी नही होती है, तो फिर यो ही क्यो न कहो कि वह तेज और विशिष्ट वायु आत्मतत्त्व के सिवाय अन्य कोई नही है ?

प्रश्न—जैसे मिट्टी जल आदि के सयोग से धान्य आदि पैदा होना प्रत्यक्ष देखते हैं, वैसे ही भूतो के सयोग से जीव पैदा होते हैं ऐसा मानना भी उचित ही है.

उत्तर—धान्य के पैदा होने मे मिट्टी जलादिक उपादान कारण नही है. उपादान कारण उनके बीच मे है वे बीज मिट्टी जलादि से भिन्न हैं. उसी तरह शरीर मे चेतना भूत समुदाय की नही है किन्तु भूत-समुदाय से भिन्न आत्मा की है. जैसे एक वृद्ध पुरुष का ज्ञान युवावस्था के ज्ञान पूर्वक होता है और युवावस्था का ज्ञान बाल्यावस्था के ज्ञान पूर्वक होता है, उसी प्रकार बाल्यावस्था का ज्ञान भी उसके पूर्व की किसी अवस्था का होना चाहिये वह अवस्था उस जीव के पूर्व भव की ही सम्भव है जैसे जीव को वृद्धावस्था मे अनेक अभिलाषाये होती है उसके पूर्व युवावस्था मे भी होती थी और युवावस्था के पूर्व बाल्यावस्था मे होती है वैसे ही बाल्यावस्था के पूर्व भी कोई अवस्था होनी चाहिये ताकि इच्छाओं की परम्परा टूट न सके वह अस्वथा जीव का पूर्व जन्म ही हो सकती है इसी कारण से तो जन्म लेते ही बछडा गाय का स्तन चूसने लगता है इससे यही सिद्ध होता है कि भवान्तर से जीव आकर शरीर को अपना आश्रय बनाता है वर्तमान मे भी समाचार-पत्रो मे पूर्व जन्म की घटनायें छपती रहती हैं अगर पूर्व जन्म नही है तो बिल्ली का चूहे से और मयूर का सर्प से स्वाभाविक वैर होने का क्या कारण है ?

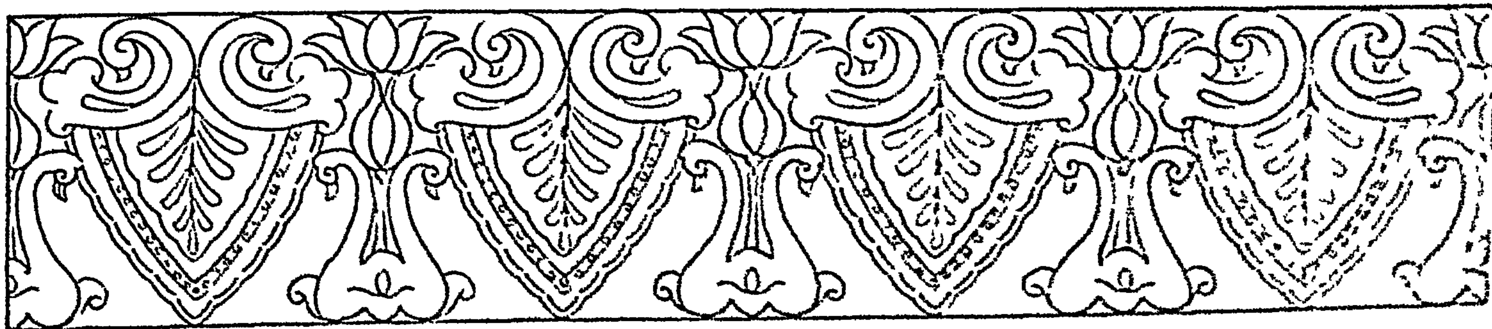
प्रश्न—यदि प्रत्येक शरीर मे जीव भवातर से आता है तो इसका अर्थ यही हुआ कि इस जन्म के शरीर मे जो जीव है वही पूर्वजन्म के शरीर मे था शरीर बदला है जीव तो वही का वही है तो फिर सभी जीवो को पूर्व जन्म की बातें याद क्यो नही है ?

उत्तर—जैसे वृद्धावस्था मे किन्ही को अपनी बाल्या अवस्था की बाते याद रहती है और किन्ही को नही रहती है, उसी प्रकार किसी जीव को भवातर की बातें याद आजाती हैं, किसी को नही इसमे कारण जीव की धारणा शक्ति की हीनाधिकता है दूसरी बात यह है कि जिन बातो पर अधिक सूक्ष्म उपयोग लगाया गया हो वे सुदूरभूत की होने पर भी याद आ जाती है और जिन पर मामूली उपयोग लगाया गया हो, वे निकट भूत की भी स्मरण मे नही रहती है मनुष्य को अपनी गर्भावस्था का स्मरण इसीलिये नही रहता है कि वहा उसको किसी विषय पर गम्भीरता पूर्वक सोचने की योग्यता ही पैदा नही होती है इसके अतिरिक्त पूर्व शरीर को छोडकर अगले शरीर को धारण करने मे प्रथम तो बीच मे व्यवधान पड जाता है, दूसरे अगला शरीर पूर्व शरीर से भिन्न प्रकार का होता है और उसके विकसित होने मे भी समय लगता है चूकि जीव की ज्ञानोत्पत्ति मे शरीर और इद्रियो का बहुत बडा हाथ रहता है यदि पूर्व जन्म मे जीव असज्ञी रहा हो तो वहा किसी विषय का चितन ही न हो सका अतएव अगले जन्म मे याद आने का प्रश्न ही नही रहता है इत्यादि कारणो से प्रत्येक प्राणी को जाति स्मरण का होना सुलभ नही है

प्रश्न—एक लोहे की कोठी मे किसी प्राणी को बन्द कर दिया जाय और उस कोठी के सब छिद्रो को ढक दिया जाय तो प्राणी मर जाता है. उस प्राणी की आत्मा उस कोठी से बाहर निकल जाती है मगर उस कोठी मे कही छिद्र नही होता है इससे सिद्ध होता है कि उस प्राणी का जो शरीर था वही जीव था

उत्तर—उस कोठी मे शख देकर किसी आदमी को बैठाया जावे और सब छिद्र बद कर दिये जावें फिर उस कोठी मे बैठा आदमी शख बजावे तो शख की आवाज कोठी के बाहर सुनाई देती है आवाज के निकलने से कोठी मे कही छेद हुआ नजर नही आता है. फिर आत्मा तो आवाज से भी अत्यधिक सूक्ष्म है आवाज मूर्त है, आत्मा अमूर्त है आत्मा के निकलने पर कोठी मे छेद होने की क्या जरूरत है ?

प्रश्न—मरणासन्न मनुष्य को जीवित अवस्था मे तोला जाय और फिर मरने के पश्चात् तत्काल तोला जाय तो वजन



में कमी नही होती है. अगर शरीर से भिन्न कोई जीव होता तो मरने पर शरीर का वजन कम होना चाहिये था

उत्तर—हवा भरी हुई मशक का जो वजन होता है वही वजन हवा निकालने के वाद भी उसमें रहता है जव हवा के निकल जाने पर भी मशक के वजन में कमी नही आती है तो आत्मा तो अरूपी और हवा से भी अति सूक्ष्म है. उसके निकल जाने पर शरीर के वजन में कमी कैसे आ सकती है ?

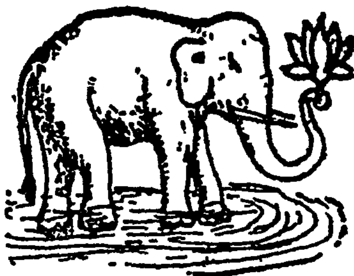
प्रश्न—आख ठीक हो तो दिखाई देता है, कान ठीक हो तो सुनाई देता है. दोनो ही में खराबी आजाने पर आत्मा न देख सकती है, न सुन सकती है इससे क्या यह सिद्ध नही होता है कि देखने-सुनने वाला जो है वह इन्द्रिय रूप शरीर ही है कोई अलग आत्मा नही है

उत्तर—स्वप्नावस्था में मनुष्य अपनी इद्रियो को काम मे लिये विना भी देखता है, सूघता है, खाता है, पीता है यहा तक कि जिस मनुष्य को मरे कई वर्ष हो गये उसे भी प्रत्यक्ष देखता है इस प्रकार की बाते निश्चय ही शरीर से भिन्न आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती है

प्रश्न—जीवो की उत्पत्ति भौतिक समिश्रणो के आधार पर होती है या तो माता-पिता के रजोवीर्य के मिलने पर या इधर-उधर के परमाणुओ से ही जीवोत्पत्ति हो जाती है जैसे आटे में जीव पड़ना वालो मे जू पड़ना आदि. अगर ये सब जीव भवातर से आकर पैदा होते है तो भवान्तर के शरीर को छोडते ही उनके लिये जैसा शरीर चाहिये वैसे ही शरीर का सयोग अपने आप कैसे बन जाता हे ? जैसे किसी जीव को मनुष्य पर्याय मे आना है तो उसके मरते ही कही अन्यत्र उसी समय पुरुष के और स्त्री के समागम से उत्पन्न शुक्रशोणित का मिश्रण भी तैयार रहना चाहिये, ताकि वह उसमें आ सके. इस प्रकार की तैयारी सदा ही अकस्मात् मिल जाना सम्भव नही है इससे तो यही क्यो न माना जाय कि भौतिक मिश्रणो से ही चैतन्य उत्पन्न हो जाता है यह नही कह सकते कि कोई जीव भवातर के शरीर से निकलने के बाद, जब तक उनके योग्य शरीर की सामग्री का सयोग न मिले तब तक यो ही भटकता रहता है. क्योकि विग्रहगति मे अधिक से अधिक काल जैन-सिद्धात मे तीन समय मात्र बताया गया है चौथे समय मे तो उसे जहाँ भी जन्म लेना है वहाँ अवश्य पहुँचना ही पड़ता है यह तीन समय का काल बहुत ही थोडा है. जैन शास्त्रो मे एक श्वास मे ही असख्यात समय बताये है

उत्तर—जैन-शास्त्रो मे जीवो का जन्म तीन तरह का माना है—सम्मूर्च्छन, उपपाद और गर्भ इनमे से सम्मूर्छन जन्म के लिये तो कोई कठिनाई नही है. यह जन्म रजोवीर्य के सयोग से नही होता है. यह तो तीन लोक मे फैले हुये इधर-उधर के पुद्गल पदार्थो से ही हो जाता है अत अगणित जीवो के इस जन्म के लिए तो हर समय लोक मे सामग्री भरी पड़ी है. उपपाद जन्म देव-नारकियो का होता है. इस जन्म के लिए भी माता-पिता के सयोग की जरूरत नही है इस जन्म के लिये तो नियत स्थान बने हुये है और वे सदा तैयार मिलते है रहा गर्भजन्म, उसके लिये अगर माता-पिता के सयोग की जरूरत रहती है तो वह भी दुर्लभ नही है मैथुन कर्म करने वाले जीवो की लोक में कोई कमी नही है यह सयोग भी हर समय मिल ही जाता है मैथुन के अन्त मे ज्यो ही रजोवीर्य का पतन होकर मिश्रण हो, उसी समय भवातर से जीव आकर उसमें पैदा हो, ऐसा भी कोई नियम नही है. किसी के मत से रजोवीर्य के उस मिश्रण मे सात दिन पश्चात् तक जीव का आना बताया गया है

इस तरह से जीवो के आवागमन की समस्या भी हल हो जाती है



श्रीरतनलाल संघवी न्यायतीर्थ,



भारतीय दर्शनों में आत्मवाद

(१) ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि

भारतीय-विचार-जगत् के दार्शनिक क्षेत्र मे सुदीर्घ काल से अनुभूतिधारक तत्त्व अर्थात् 'आत्मा' के सम्बन्ध मे उत्सुकता-श्रद्धा एव विचारात्मक अनुसधान चला आ रहा है आर्यावर्त्त मे अब तक अनेक तीर्थंकर ऋषि-मुनि, तत्त्व-चिंतक, सन्यासी, ईश्वर-भक्त, सत एव मनीषा-निधि दार्शनिक पुरुष और सर्वोच्च कोटि के निर्मल चारित्र-सपन्न लोक-सेवक, नानाविध भौतिक एव आध्यात्मिक प्रगूढ समस्याओ का चिन्तन-मनन करते हुए इस विचार-मथन मे अनुरक्त रहे है कि इस महान् अज्ञात और अज्ञेय रहस्य वाले ब्रह्माण्ड मे मौलिकता तथा अमरता का कौन-सा तत्त्व है ?

यह दृश्यमान और अदृश्यमान अर्थात् प्रत्यक्ष एव परोक्ष रीति से विलोक्यमान लोक किन-किन वस्तुओ का बना हुआ है ? ऐतिहासिक और श्रद्धामय दोनो दृष्टियो से विचार किया जाय तो विदित होता है कि जब से मानव-जाति सुसस्कृत हुई है और जब से इसमे विचार-शक्ति तथा मानव-समाज रचने की दृष्टि उत्पन्न हुई है, तभी से चेतना गुण वाले तत्त्व मे आत्मा के सम्बन्ध मे ऊहापोह प्रारम्भ हो गया है तदनुसार अब तक यही अनुभव हुआ है कि इस अखिल विश्व मे दो तत्त्वो की ही मुख्यता है, जिनके आधार से इस विश्व का विस्तार है

इस प्रकार श्रद्धा-दृष्टि से आत्मवाद की विचारणा प्रथम तीर्थंकर प्रभु श्रीऋषभदेव से मानी जा सकती है और ऐतिहासिक दृष्टि से लगभग दस हजार वर्ष से कुछ अधिक काल से, मेधा-सपन्न दार्शनिको के मस्तिष्क मे यह समस्या उत्पन्न हुई कि 'अनुभूति अथवा ज्ञान-शक्ति,' एक विशिष्ट तत्त्व है जो कि ज्ञान-शून्य पदार्थो से अर्थात् पुद्गल तत्त्वसे सर्वथा ही भिन्न है अनुभूतिशक्तिसपन्न तत्त्व के गुण, धर्म और पर्याय सर्वथा मौलिक, स्वतन्त्र, अनुपम, विलक्षण और असाधारण है, जब कि अनुभूतिशून्य तत्त्व, इससे सर्वथा विपरीत गुणो वाला है इसी चिंतन ने भारतीय साहित्यक्षेत्र मे अपना एक स्वतन्त्र विचार-विभाग प्रस्तुत किया जो कि दार्शनिक विचार-क्षेत्र कहलाया

इस प्रकार से उत्पन्न हुई यह दार्शनिक विचारणा की धारा शनै शनै विभिन्न कोटि के चिन्तको के मस्तिष्क मे प्रवाहित होने लगी और परिणाम स्वरूप नित्य नये-नये विचार और नई-नई व्यवस्थाएँ तथा अपूर्व-अपूर्व कल्पनाएँ उस अनुभूतिमय तत्त्व के सबध मे उपस्थित होने लगी

आज से लगभग पाच हजार वर्ष से कुछ समय पहिले यह विचारधारा मुख्यत दो क्षेत्रो मे विभाजित हो गई एक धारा मुख्यत वेद-ऋचाओ के निर्माताओ और तत्सबधी सप्रदाय के विचारको द्वारा प्रवाहित हुई, जो कि नैयायिक, साख्य आदि नामो से वैदिक दार्शनिक रूप मे प्रस्फुटित हुई दूसरी भगवान् पार्श्वनाथ से सम्बन्धित विचारधारा इन के समकालीन अथवा इनसे कुछ पूर्वकालीन आध्यात्मिक महापुरुषो द्वारा प्रवाहित हुई यह विचारधारा श्रमण दार्शनिक-विचारणा कही जा सकती है यो प्रज्ञाशील पुरुषो के मानस मे मीमासापूर्वक प्रगति करता हुआ यह आत्मवाद-विचारणा का सिद्धान्त लगभग चार-पाच हजार वर्षो के पूर्व काल से आज दिन तक बराबर अखण्ड रूप से चिन्तन-मनन के रूप मे अनुसधान का विषय रहा है

अब तक इस विषय मे हजारो ग्रन्थ लिखे गये, लाखो महापुरुषो द्वारा इसकी व्याख्या की गई और करोडो आध्यात्मिक पुरुषो द्वारा एकात मे, ध्यानावस्था मे, इस विलक्षण तत्त्व का चिन्तन मनन किया गया है

जहाँ तक अनुभूतिमय तत्त्व अर्थात् आत्मा के अस्तित्व का प्रश्न है, सभी दार्शनिको ने इसका अस्तित्व निःसंदेह रूप



से स्वीकार किया है परन्तु उसके स्वरूप और नित्यत्व आदि के विषय मे भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ रही है कोई उसे परमाणु रूप मानता है, कोई विश्व-व्यापी स्वरूप वाला मानता है, कोई सकोच-विस्तारमय प्रदेशो वाला मानता, तो कोई उसे ईश्वरीय रूप वाला मानता है कोई नित्य कहता है तो कोई अनित्य ही बतलाता है. इस तत्त्व की अन्तिम दशा मुक्त रूप कही गई है परन्तु मोक्ष के स्वरूप के सबध मे भी विभिन्न मत है कोई उसे अनन्तकालीन कहते है तो कोई परिमितकालीन बतलाते है बौद्ध-दर्शन तो इस विषय मे अवक्तव्य जैसी स्थिति मे है और दृष्टान्त रूप में "दीप-निर्वाणवत्" कह कर छुटकारा पा लेता है.

इन विविध दार्शनिक विवेचनाओ मे भाषा-भेद, प्ररूपणा-भेद, कल्पना-भेद और व्याख्या-भेद के होते हुए भी आत्मा के प्रति किसी को अस्वीकृति नही है. इससे प्रमाणित होता है कि प्राय सभी दार्शनिक आत्मा को एक स्वतत्र तत्त्व स्वीकार करते है

जब एक बार आत्मा का अस्तित्व स्वीकार कर लिया गया तो इसके बाद मे उत्पन्न होने वाले जन्म, मरण, पाप, पुण्य, वासना, सस्कार, मलीनता, पुनीतता, अर्धविमलत्व, पूर्ण विमलत्व, अज्ञानत्व, ज्ञानत्व, अमरत्व, ईश्वरत्व आदि के विषय मे उत्पन्न होने वाले प्रश्नो की भी विवेचना की गई इनका अपनी-अपनी शैली से तथा अपनी-अपनी भाषा-पद्धति से समाधान किया गया और भारतीय दर्शन-क्षेत्र मे समुच्चय रूप से यह एक पूर्ण सत्य स्थापित किया गया कि आत्मा अवश्यमेव है तथा अपरिमित शक्ति-सपन्न एव अचिन्त्य स्वरूप वाले ईश्वर तत्त्व से इसका घनिष्ठ सबध है. इस घनिष्ठ सम्बन्ध के विषय मे भी मुख्यत दो विचार धाराएँ प्रस्तुत हुई हैं नैयायिक वैशेषिक दर्शन आत्मा तथा ईश्वर दोनो को पृथक्-पृथक् मानते है, जब कि वेदान्त एव साख्य आदि प्रमुख सप्रदाय आत्म-तत्त्व मे काल्पनिक भिन्नता बतलाते हुए मूलतः दोनो को एक ही तत्त्व बतलाते है

बौद्ध दर्शन आत्मतत्त्व और ईश्वरत्व के सम्बन्ध में विशेष उलझने की आवश्यता नही बतलाता हुआ भी इसके अस्तित्व को स्वीकार करता है, यद्यपि पश्चात्वर्ती सुप्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् नागार्जुन तथा दिङ्नागादि आत्म-तत्त्व के सम्बन्ध मे आश्चर्यजनक 'शून्यता' जैसी कल्पताएँ करते हुए पाये जाते है फिर भी प्रच्छन्न रूप से आत्मतत्त्व की स्वीकारोक्ति उनमे भी प्रतीत होती है

बौद्ध तार्किको मे सर्व-प्रथम और प्रधान आचार्य नागार्जुन हुए इनका काल ईसा की दूसरी शताब्दी है ये महान् प्रतिभाशाली और प्रचण्ड तार्किक थे इन्होने 'माध्यमिक-कारीका' नामक तर्क का प्रौढ एव गम्भीर ग्रन्थ बनाया और बौद्ध-साहित्य का मूल आधार "शून्यवाद" निर्धारित किया. इसके आधार पर शेष भारतीय दार्शनिक मान्यताओ का तथा तर्को का प्रबल खण्डन किया दिङ्नागादि पश्चात्-तार्किको ने इस विपक को विशेषरूप से आगे वढाया और भारतीय तर्क-शास्त्र सम्बन्धी गहन साहित्य का गूढतम और गम्भीरतम रूप प्रस्तुत किया

जैनदर्शन मे आत्मतत्त्व को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है और आत्मतत्त्व की पूर्ण विकसित अवस्था को ही ईश्वरत्व माना गया है ईश्वरत्व-प्राप्ति के बाद आत्मा पूर्ण रूप से कृतकृत्य तथा विमलतम स्थिति वाला हो जाने से जन्म-मरण आदि रूप भौतिक हस्तक्षेप से एव तज्जनित विविध ससारचक्र रूप घट-माल से सर्वथा और सदैव के लिये परिमुक्त हो जाता है.

जीव तत्त्व को यह सासारिक अवस्था कव और कैसे प्राप्त हुई ? इसका उत्तर यही है कि यह समस्या अनादि कालीन है और इसलिये इसका उत्तर यही हो सकता है कि सासारिक अवस्था प्रत्यक्ष रूप से मलीन दिखाई दे रही है, इसको पवित्र बनाने का ही विचार करो और यह मत पूछो कि यह आत्मा क्यो और कव से तथा कैसे मलीन हुई है ?

मूल स्वरूप मे सभी आत्माएँ अरूपी है, अजर है, ऊँच-नीच अवस्थाओ से रहित है और सभी प्रकार के लेपो से रहित है. जैन-शास्त्रो मे आत्मतत्त्व का लक्षण उपयोगमय, ज्ञानमय अथवा अनुभूतिमय कहा गया है, जड-तत्त्व मे ज्ञान, अनुभव, उपयोग और विवेक जैसी शक्ति का सर्वथा अभाव है. यह अन्तर ही इन दोनो का असाधारण लक्षण है

प्रत्येक सासारिक आत्मा मे यह सहजात आत्म-धर्म-रूप शक्ति विद्यमान है कि वह अपने मूल सात्विक गुणों के बल मे सासारिक अवस्था का उच्छेद करके 'ब्रह्म-ज्योति' के रूप मे अखण्ड, अगोचर, सर्वगुणसपन्न और सर्वशक्तिमान परमात्मा के रूप मे परिणत हो सकता है

जैन-दर्शन का विधान है कि प्रत्येक आत्मा मे ईश्वरत्व मौजूद है, केवल उसके विकास करने की आवश्यकता है. अपने मे स्थित मूल गुणो का विकास करने मे, किसी भी आत्मा के लिये किसी भी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं है

इस प्रकार जैन-दर्शन की 'आत्म-तत्त्व' के सबध मे यह मौलिक विचारधारा है, जो कि अपने आप मे विलक्षण स्वरूप वाली होती हुई परिपूर्ण रूप से सत्यमय एव श्रद्धेय स्वरूप वाली है

(४) आत्म-तत्त्व-मीमासा

ससारावस्था मे अवस्थित आत्मतत्त्व के गुणावगुणो की अपेक्षा मे जो अनेकानेक श्रेणियाँ दिखाई दे रही है, उनका कारण विकृति की न्यूनाधिकता ही है. जिस आत्मा मे जितना सात्विक गुणो का विकास है, वह आत्मा उतनी ही ईश्वरत्व के समीप है और जिसमे जितनी विकृति की अधिकता है, उतनी ही वह ईश्वरत्व से दूर है

आज दिन तक अनतानत आत्माओ ने अपने-अपने सत्-प्रयत्न द्वारा ईश्वरत्व प्राप्त किया है और आगे भी करती रहेगी ईश्वरत्व-प्राप्ति के पश्चात् ये आत्माएँ पूर्ण-रूपेण कृतकृत्य, 'वीतराग' अक्षय-अनन्त ज्योतिरूप हो जाती है. तत्पश्चात् ससार के प्रति इनका किसी भी प्रकार का कोई उत्तरदायित्व शेष नही रह जाता है ये अनन्त-शक्ति के रूप मे, परिपूर्ण विमल ज्ञान के रूप मे या साक्षात् पूर्ण ईश्वरत्व के रूप मे अवस्थित हो जाती है

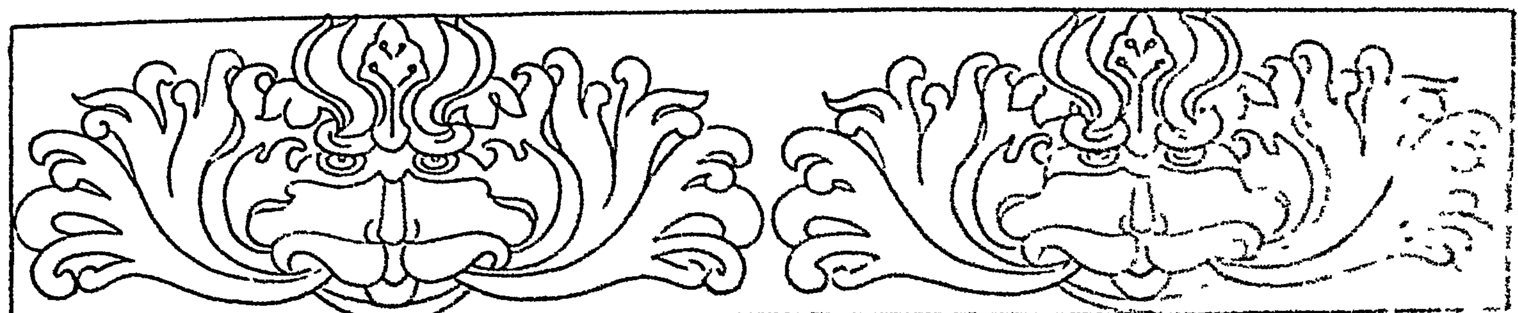
जैन-दर्शन की यह मान्यता है कि इस प्रकार अनतानत आत्माएँ 'ज्योति मे ज्योति' के समान ईश्वरत्व-स्वरूप मे विगसित होकर परमावस्था मे सदैव के लिये अवस्थित रहती है इनमे न तो स्थानान्तर ही होता है और न अवस्थातर ही, ये परस्पर मे अबाधित रूप मे, अखण्ड-अविनाशी-ज्ञान-ज्योति के रूप मे स्थित होती है. यही जैन-दर्शन का ईश्वरत्व है

वेदान्त-दर्शन का ब्रह्मतत्त्व, साख्य दर्शन का पुरुषतत्त्व और जैन-दर्शन का आत्मतत्त्व लगभग समान है उक्त तीनो दर्शनकारो की आत्मतत्त्व की विवेचन-प्रणाली भिन्न-भिन्न होती हुई भी सिद्धान्त समान है शब्द-भेद और विवेचन-शैली-भेद होने पर तात्पर्य-भेद उतना नही है जितना कि ऊपर से दिखलाई पड़ता है इस प्रकार अर्थ-भेद के अभाव मे तीनो दर्शनो का आत्मवाद लगभग एक-सा ही है

साराश यह है सपूर्ण विश्व का मूल आधार एव इसका उपादान कारण केवल दो तत्त्व ही है, प्रथम अचेतन तत्त्व और दूसरा चेतन तत्त्व इन्ही को वेदान्तदर्शन मे माया और ब्रह्म कहते है, जब कि इन्ही तत्त्वो का उल्लेख साख्य दर्शन मे प्रकृति एव पुरुष के नाम से किया गया है.

वेदान्तदर्शन उद्घोषित करता है कि माया तत्त्व के कारण ही ब्रह्म नामक आत्मतत्त्व अपने आपको बँधा हुआ समझता है यदि ब्रह्म तत्त्व अपने स्वरूप को पहचान ले तो तत्काल ही इसकी माया से मुक्ति हो जायगी और यह उसी क्षण ईश्वरीय स्वरूप को प्राप्त हो जायगा परिपूर्ण ईश्वरतत्त्व मे और तत्काल माया से मुक्त आत्मतत्त्व मे कोई अन्तर शेष नही रह जायगा, क्योकि वास्तव मे माया से परिबद्ध आत्म-तत्त्व की सज्ञा ब्रह्म ही है एव यह ब्रह्म भी उस परम-ज्योतिस्वरूप ब्रह्म का ही अश रूप है विश्व-प्रवृत्ति माया तत्त्व से जनित है, ब्रह्मतत्त्व से नही इस प्रकार स्थूल रूप से वर्णित उपरोक्त ब्रह्मवाद का तथा जैन-दर्शन के आत्मवाद का अन्तिम लक्ष्य एक ही है

साख्यदर्शन तत्त्व-चिन्तको के सम्मुख यह मान्यता प्रस्तुत करता है कि विश्व मे केवल दो ही मूलभूत पदार्थ है—पुरुष तथा प्रकृति पुरुषतत्त्व साक्षात् ईश्वर स्वरूप है परन्तु प्रकृति के सान्निध्य से वह अपने आप को बँधा हुआ मान बैठा है ज्यो ही पुरुषतत्त्व को यह स्फुरणा होती है कि यह सब खेल प्रकृति का है, प्रकृति के साथ पुरुष का कोई लगाव नही है, त्यो ही पुरुषतत्त्व परिमुक्त हो जाता है



(५) आत्म-तत्त्व की मौलिकता

सभी आत्माएँ समान रूप से अनन्त गुणो की भडार है एक आत्मा में जितने भी गुण है, उतने ही तथा वैसे ही गुण शेष सभी आत्माओ मे विद्यमान है. ज्ञान, दर्शन, आनन्द, अमरता, सात्विकता आदि सभी गुण प्रत्येक आत्मा के मूल धर्म है इन गुणो को बाह्य पदार्थ से प्रेरित अथवा जनित नही समझना चाहिये, अतएव ये वैभाविक नही है ये सभी स्वाभाविक है.

इनमे विकास, अविकास, अर्धविकास, विपरित विकास जैसी नानाविध वैभाविक स्थितियाँ उत्पन्न हो सकती है, परन्तु इन गुणो का सर्वथा विनाश नही हो सकता है, क्योकि इन गुणो का और आत्मा का परस्पर मे अभिन्न सबध है इसे शास्त्रीय-भाषा में तादात्म्यसम्बन्ध कहते है जैसे उष्णता और अग्नि, शीतलता और जल किरण और सूर्य, औपधि और उसकी प्रभाव-शक्ति आदि का परस्पर अभिन्न सम्बन्ध है वैसा ही उपरोक्त सभी गुणो का आत्मा के साथ सम्बन्ध जानना चाहिए

आत्मा चाहे निगोद, तिर्यच, नरक आदि अवस्था में रहे, चाहे देवगति या, मनुष्यगति मे रहे, अथवा अरिहत-सिद्ध अवस्था में, इन गुणो का विनाश कभी नही होता इन गुणो की स्थिति सासारिक अवस्था में अविकसित अथवा अपूर्ण विकसित जैसी होती है, जब कि अरिहत-सिद्ध अवस्था मे ये गुण परिपूर्ण रूप से विकसित हो जाते है ससार-अवस्था मे आत्मतत्त्व के मौलिक गुण कर्म से आवृत्त रहते है, परिमुक्त-अवस्था में, अनावृत्त हो जाते है सिद्धान्त यह है कि स्वरूप स्वरूपी से कदापि पृथक् अथवा भिन्न नही हो सकता है.

गुण, कर्म, वृत्ति और स्वभाव ये पारिभापिक शब्द आत्मगत पर्यायो की स्थिति का परिचय कराते है, अत इन पर विचार करने की आवश्यकता है.

जैन-दर्शन मे आत्मतत्त्व की सर्वोत्तम तथा सर्वोच्च विकास-अवस्था तेरहवे-चौदहवें गुणस्थान की प्राप्ति के समय मे कही गई है आध्यात्मिकभाषा में इस स्थिति को अरिहत-अवस्था कहते हैं और उस अवस्था मे उत्पन्न होने वाली सर्वोच्च सात्विक विशेषताएँ ही स्वाभाविक गुण शब्द से व्यक्त की जाती है इन गुणो मे अनन्त ज्ञान, दर्शन, निर्मलता, अक्षयता, अनिर्वचनीय आत्मिक आनद, सरलता, सतोष, निर्लोभता आदि विशेपाओ का अन्तर्भाव है ये आत्मिक गुण है, इनका और आत्मतत्त्व का परस्पर मे तादात्म्य सम्बन्ध है. ये गुण ही आत्मा के धर्म कहलाते है

ससार मे परिभ्रमण करते समय इन गुणो एव धर्मो मे जो ह्रास अथवा विकास होता है, उसी को वृत्ति कहते हैं. सासारिक-अवस्था मे वृत्ति का स्थान क्रियात्मक रूप से हृदय और मस्तिष्क माना गया है. आत्म-तत्त्व से प्रेरित मानसिक-शक्ति का प्रभाव शरीर पर होता हुआ भी हृदय एव मस्तिष्क पर विशेष रूप से जानना चाहिये मन यद्यपि शरीर-व्यापी ही है परन्तु उसका प्रमुख स्थान हृदय और मस्तिष्क है. मन मे जो अच्छे अथवा बुरे विचार उत्पन्न होते है, तथा जो भली एव बुरी भावनाएँ उत्पन्न होती है, उन्हे ही 'वृत्ति' सज्ञा दी गई है

ये वृत्तियाँ मुख्यत· तीन भागो मे विभाजित है —(१) सात्विक, (२) राजस और (३) तामस. अच्छी वृत्तियो को या श्रेष्ठ तथा हितावह विचारो को, और उत्तम भावनाओ को 'सात्विक-वृत्तियाँ' कहते है

सर्वोच्च विकास-शील अवस्था मे अर्थात् अरिहत-स्थिति में जो गुण है, वे ही ससार-अवस्था मे रहते हुए- साधना-काल में, सात्विक-वृत्तियो के नाम से परिलक्षित होते हैं निष्कर्ष यह है कि ससार-अवस्था मे रहते हुए आत्मा के गुण-धर्मों मे पर्याय रूप से उत्पन्न होने वाली विशिष्ट गुण-धारा ही वृत्ति है

(६) आत्मतत्त्व का संविकास

जब तक आत्मा का दृष्टिकोण बाह्यसुख और पुद्गलो मे रहता है अर्थात् जब तक सासारिकसुख, सासारिक लालसा, इन्द्रिय-भोग, इन्द्रिय-पोषण ,धनसग्रह, पद-लालसा और यशोलिप्सा आदि तामस वृत्तियो की ओर आत्मा लगी रहती

है, तब तक वह अन्तर्मुखी नही है इस स्थिति को 'वहिरात्म' स्थिति कहते है इसे मिथ्यात्व-अवस्था भी कहा गया है इसकी तीन श्रेणियाँ विचार-भेद से कही गई है, इनके पारिभाषिक नाम प्रथम, द्वितीय और तृतीय गुणस्थान हैं

इन गुण स्थानो की भी अवान्तर रूप से असख्यात श्रेणियाँ है, क्योकि इन गुणस्थानों मे पाई जाने वाली अनतानत आत्माएँ है, जिनकी विचार-श्रेणियाँ अथवा अध्यवसायस्थान अ सख्यात है, तदनुसार उपर्युक्त तीनो गुणस्थानो मे भी अवान्तर श्रेणियो की सख्या भी असख्यात प्रकार की हो सकती है

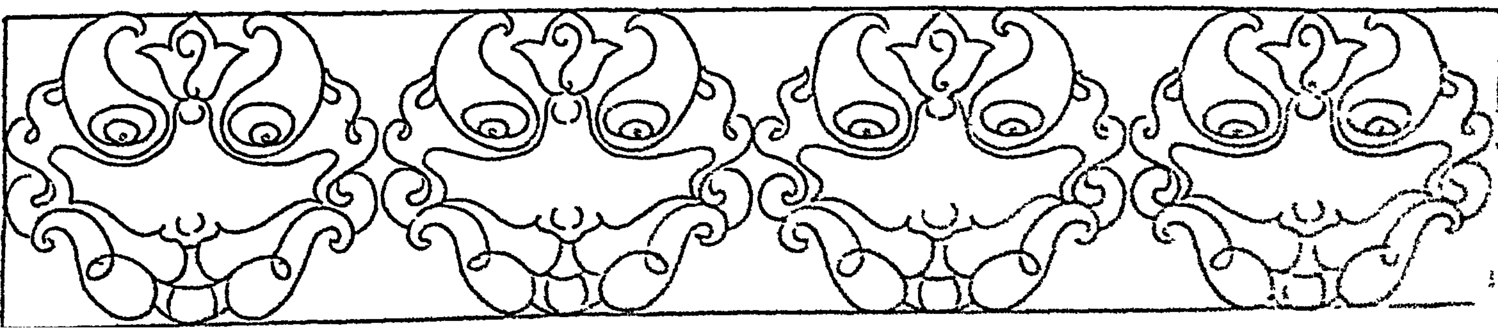
अनतानुवन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, एव मिथ्यात्वमोहनीय कर्म की प्रकृतियों का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होने पर आत्मा मे वाह्य-भावना के स्थान पर आतरिक भावना की जागृति होती है, ऐसी आत्माओ की श्रद्धा और रुचि ईश्वर, मोक्ष, ज्ञान, दर्शन, चारित्र की ओर होनी प्रारभ हो जाती है, सासारिक भोगो के प्रति उदासीनता हो जाती है, इस स्थिति को 'अन्तरात्मभाव' कहते है यह विकास की सीढी है, आध्यात्मिकता की नीव है इसे ही जैनदर्शन मे 'सम्यक्त्व' कहते है

यह स्थिति चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होकर वारहवें गुणस्थान तक रहती है इस स्थिति मे विभिन्न आत्माओं की प्रगति विभिन्न प्रकार की होती है, क्योकि प्रत्येक आत्मा की विचार-धारा अलग-अलग होती है आध्यात्मिक-अध्यवसायो की श्रेणिया असख्यात प्रकार की है, तदनुसार चौथे गुणस्थान से वारहवें गुणस्थान तक के अवान्तर भेदो की सख्या भी असख्यात प्रकार की है, परन्तु फिर भी प्रमुख श्रेणिया दो प्रकार की कही गई है —

कुछ आत्माए ऐसी होती है जिनकी विचार-धारा भावुक मात्र होती है उनकी कषाय-भावनाए, विषम-वासनाए, धन-मूढता आदि तामस वृत्तिया मूल से क्षीण नही होती है, किन्तु वातावरण तथा कुछ वाह्य सयोगो से दव जाती है. इनका वीज तथा इनकी विशालता ज्यो की त्यो अव्यक्त रूप मे भीतर छिपी रहती है. केवल वाह्य रूप से शाति दिखाई देती है इसे जैन-दर्शन मे "उपशम अवस्था" कहा गया है इस अवस्था के विपरीत जिन आत्माओं मे कषाय, वासना, मोह, मूढता आदि तामस तथा राजस वृत्तिया जड-मूल से क्षीण हो जाती है, जिनके पुन उदय होने की अथवा पुन विकसित होने की कोई सभावना नही रहती है, ऐसी आत्माएँ ही वास्तव मे पूर्ण विकास कर सकती है ऐसी स्थिति को जैन-दर्शन मे 'क्षय अवस्था' कहा गया है उपरोक्त दोनो प्रकार की अवस्थाओ के लिये पारिभाषिक सज्ञा क्रम से 'औपशमिक सम्यक्त्व' तथा 'क्षायिक सम्यक्त्व' है

क्षायिक सम्यक्त्व का उत्कृष्टतम विकास क्रमश. वारहवे, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान मे होता है इस प्रकार अन्तरात्मभाव दो मार्गो से विकास को प्राप्त होता है, एक उपशममार्ग से और दूसरा क्षयमार्ग से उपशममार्ग से चलने वाली आत्मा अधिक से अधिक ग्यारहवें गुणस्थान तक जाकर लौट जाती है इस प्रकार उपशममार्गी आत्मा वहिरात्म-भाव तथा अन्तरात्म-भाव मे ही चक्कर लगाया करती है और आगे नही वढ पाती है, किन्तु क्षायिक मार्गगामी आत्मा अन्तरात्म-भाव द्वारा आगे विकास करती हुई अपने मूल स्वरूप की ओर वढती ही चली जाती है और 'परमात्म-भाव' को प्राप्त कर लेती है इस अवस्था को जैन-शास्त्रो मे तेरहवाँ तथा चौदहवाँ गुणस्थान कहा गया है इस अवस्था को प्राप्त आत्मा पूर्ण रूप से 'कृतकृत्य' हो जाता है और सदैव के लिए अपने परमध्येय ईश्वरत्व को प्राप्त कर लेता है जैन-दर्शन मे यही 'अरिहत' अवस्था कहलाती है यह अवस्था परिपूर्ण परमात्मतत्त्व की या सिद्ध-स्वरूप की ही पूर्ववर्ती पर्याय है भारतीय दर्शनो के अनुसार इसे ही 'आत्मा की पूर्णता' कहते है

इस प्रकार आत्मा की तीन स्थितियाँ वतलाई गई है, (१) वहिरात्म-भाव, (२) अन्तरात्म-भाव और (३) परमात्म-भाव अन्तरात्म-भाव से परमात्म-भाव की ओर वढते-वढते आत्मा को अनेक स्थितियो मे से गुजरना पडता है सबसे प्रथम तो मोह की जो दुर्भेद्य ग्रन्थि है, उसको तोडना पडता है इस ग्रथि को तोडे विना आगे आत्मा वढ ही नही सकता है इसे तोडने के लिए महान् आध्यात्मिक प्रयत्न करना पडता है ऐसी आत्मा को हृदय मे निहित तामस एव राजस वृत्तियो से घोर सघर्ष करना पडता है. जवर्दस्त रस्सा-कशी चलती है इस सघर्ष मे अनिष्ट वृत्तिया तो



आत्मा को सासारिक भोगो की ओर खीचती है, इन्द्रियो को तथा मन को ललचाती हैं और सात्विक वृत्तियाँ आत्मा को उच्च भावनाओ की ओर आकर्षित करती है. इस सघर्ष मे यदि आत्मा निर्बल हुई तो अनिष्ट वृत्तियो की जीत हो जाती है और उसका विकास रुक जाता है और यदि आत्मा प्रबल हुई तो सात्विक वृत्तियो की विजय होती है. इस प्रकार के उतार-चढाव को आध्यात्मिक-साहित्य मे 'वृत्ति-सघर्ष' अथवा 'भावना-युद्ध' कहते है.

शैतान वृत्तियो मे एव सात्विक वृत्तियो के पारस्परिक सघर्ष के बाद यदि सात्विक वृत्तियो की जीत हो जाती है तो यह घटना आत्मा के लिये परम सौभाग्य रूप मानी जाती है. इसे जैन-शास्त्रो मे अपूर्वकरण सज्ञा दी गई है.

अनादि काल से परिभ्रमण करते हुए जीव के लिये यह प्रथम ही प्रसग होता है और इसीलिये शास्त्रकारो ने इसका 'अपूर्वकरण' नाम प्रस्थापित किया है.

अपूर्वकरण की स्थिति में अवस्थित आत्मा की भावना प्रशस्त हो जाती है, और जब उसकी प्रगति विकास की ओर ही रहती है तो उस विकासोन्मुख प्रवृत्ति के लिये जैनदर्शन मे यथा-प्रवृत्ति-करण' नाम प्रदान किया गया है.

जब आत्मा मे 'अपूर्वकरण' तथा 'यथाप्रवृत्तिकरण' का उदय हो जाता है, तब आत्मा मे रही हुई मोह की गाठ आत्य-तिक रूप से छूट जाती है, शैतान वृत्तियो का नाश हो जाता है आत्मा की ऐसी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थिति के लिये जैनाचार्यो ने अनिवृत्तिकरण नाम निर्धारित किया है.

ऊपर उल्लिखित अन्तरात्म-भाव से परमात्म-भाव तक पहुँचने के लिये किसी उत्तमोत्तम आत्मा को तो बहुत थोडा समय लगता है और किसी-किसी आत्मा को बहुत अधिक समय भी लग जाता है

मोक्षगामी एव मोक्षगत आत्माओ के इतिहास मे ऐसे अनेक उदाहरण विद्यमान है, जिनसे विदित होता है कि कोई-कोई भव्य आत्मा तो कुछ घन्टो, महीनो अथवा वर्षो मे ही परमात्म-भाव को प्राप्त कर लेते है जब कि अनेक आत्मा सख्यात वर्षो मे, असख्यात वर्षो मे अथवा अनत काल मे परमात्म भाव को प्राप्त कर पाते है.

गजसुकुमार, मरुदेवी, भरतचक्रवर्ती, एलायचीकुमार, अर्जुनमाली आदि के दृष्टान्त जैन-आगमो मे उपलब्ध है, जो प्रथम बात का समर्थन करते है द्वितीय बात के समर्थन के लिये ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती आदि के उदाहरण देखे जा सकते है. इस प्रकार आत्मवाद के विकास के सम्बन्ध मे यह एक मननीय एव चिंतनीय-सुबोध पाठ है.

(७) आत्मवाद का तारतम्य

(१) चार्वाकदर्शन को छोड कर शेष सभी भारतीय-दर्शन आत्मा के अस्तित्व के विषय मे एकमत है उसके स्वरूप वर्णन मे एव उसकी व्याख्या करने मे भाषा-भेद अवश्य पाया जाता है, फिर भी उसके अस्तित्व से कोई इन्कार नही करता

(२) आत्मा के स्वरूप, प्रदेशो, तथा अमरता तथा पुनर्जन्म के सम्बन्ध में प्रयुक्त की गई विवेचनशैली में भिन्नता होने पर भी सभी भारतीय दर्शनो का आत्मवाद सम्बन्धी धरातल एक जैसा ही है.

(३) 'आत्मा सासारिक बधनो से परिमुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करती है, एव सम्पूर्ण ईश्वरीय शक्ति के रूप मे इसका सविकास होता है.' इस विषय में भी सभी भारतीय दर्शनो मे एकता दिखाई देती है.

(३) ईश्वर-स्वरूप के सम्बन्ध में भारतीय-दर्शनो का दृष्टिकोण उलझा हुआ प्रतीत होता है यह अस्पष्ट एव कल्पनाओ से भरा हुआ है. फिर भी ईश्वर की सत्ता का स्वीकार सभी भारतीय दर्शन करते है

(५) सभी भारतीय दर्शन प्रत्यक्ष रूप से अथवा परोक्ष रूप से यह वर्णन अवश्य करते है कि अज्ञेय स्वरूप वाले

ईश्वर-तत्त्व के साथ आत्म-तत्त्व का किसी न किसी प्रकार से सम्बन्ध अवश्य है दोनो का पृथक्-पृथक् अस्तित्व होते हुए भी आश्चर्य है कि दोनो का मौलिक स्वरूप समान है

(६) सभी भारतीय दर्शनो ने आत्म-तत्त्व को चेतनामय, ज्ञानमय, और अनुभूति-शक्ति-सपन्न स्वीकार किया है इससे निश्चय होता है कि भारतीय दर्शन का चिन्तन मूल मे एक जैसा ही है

यह है भारतीय-दर्शनो मे आत्मवाद का सुन्दर सिद्धात 'सत्, चित् और आनन्द' की प्राप्ति करना ही इसका मूल ध्येय है तथा चिरतन सत्य का अनुसधान करते हुए आत्म-तत्त्व का जो 'शिव-स्वरूप' है उसके मधुर सदर्शन करने मे ही यह भारतीय दर्शन समूह अपने आप को कृतकृत्य मानता है





श्रीराजकुमार जैन,
दर्शनायुर्वेदाचार्य

कर्म स्वरूप और बंध

अपने मूलभूत सिद्धान्तो के वैशिष्ट्य के कारण जैनदर्शन भारतीय दर्शनो मे अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है जैनदर्शन के अनुसार वेदो को पौरुषेय माना गया है तथा जैनदर्शन ईश्वर को सृष्टिकर्ता स्वीकार नही करता यही कारण है कि उस पर नास्तिकता का आरोप किया है जैनदर्शन के समान बौद्धदर्शन एव चार्वाकदर्शन भी वेदो को प्रमाण स्वीकार नही करते अत उनकी गणना भी नास्तिक दर्शनो मे की गई है किन्तु जैनदर्शन मे अनेक ऐसे सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है जिनके आधार पर उसकी आस्तिकता स्वत ही सिद्ध हो जाती है उन्ही सिद्धान्तो मे से एक 'कर्म-सिद्धान्त' भी है वैसे तो कर्म-सिद्धान्त को अन्य षड्दर्शन के साथ बौद्धदर्शन ने भी स्वीकार किया है, किन्तु अपनी विशेषताओ के कारण जैनदर्शन द्वारा प्रतिपादित 'कर्म-सिद्धान्त' अपना विशेष महत्त्व रखता है. जैन-ग्रथो मे कर्म-सिद्धान्त का जैसा सागोपाग, तर्कसगत और वैज्ञानिक विवेचन मिलता है, अन्यत्र कही भी दृष्टिगोचर नही होता

कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी विषय इतना गहन एव विस्तृत है कि एक छोटे से निबध मे उसका सम्पूर्णत प्रतिपादन सम्भव नही है अत सामान्यत कर्म क्या है और उसका आत्मा के साथ कैसे और क्यो सम्बन्ध होता है ? इसका अत्यन्त सक्षिप्त स्वरूप प्रस्तुत लेख मे प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है.

जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक ससारी आत्मा कर्मो से बद्ध है कर्म के पाश मे आत्मा वैसे ही वधी हुई है, जैसे जजीरो से किसी को बाध दिया जाता है यह कर्मबन्धन आत्मा को किसी अमुक समय मे नही हुआ अपितु अनादिकाल से है जैसे—खान से सोना शुद्ध नही निकलता अपितु अनेक मलो (अशुद्धियो) से युक्त निकलता है, वैसे ही ससारी आत्माएँ भी कर्मबन्धनो से जकडी हुई ही रही है यदि आत्माए किसी भूतकाल मे शुद्ध होती तो फिर उनके कर्म बन्धन नही हो सकता क्योकि शुद्ध आत्मा मुक्त होता है. आत्मा की मुक्ति के अनन्तर कर्मबन्धन सम्भव नही आत्मा के कर्मबन्धन के लिये आन्तरिक अशुद्धि आवश्यक है शुद्ध आत्मा के लिये अशुद्धि का प्रश्न ही नही उठता अशुद्धि के विना कर्मबन्ध का भी प्रश्न नही उठता यदि अशुद्धि के विना भी कर्म बन्धन होने लगे तो, मुक्ति को प्राप्त आत्माओ को भी कर्म बन्धन का प्रसग उपस्थित हो जायगा ऐसी अवस्था मे आत्मा की मुक्ति के लिए प्रयत्न करना हो जायगा.
अनादि काल से आत्मा का कर्मबन्ध और उसका ससार की विविध गतियो मे जन्म लेना, इसका प्रतिपादन आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने 'पचास्तिकाय' नामक ग्रन्थ मे बडे ही सुन्दर ढग से किया है —

> जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो,
> परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी।
> गदिमधिगदस्य देही देहादो इन्दियाणि जायंते,
> तेहि दु विसयग्गहणं तत्तो रागो वा दोसो वा।
> जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि,
> इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा।



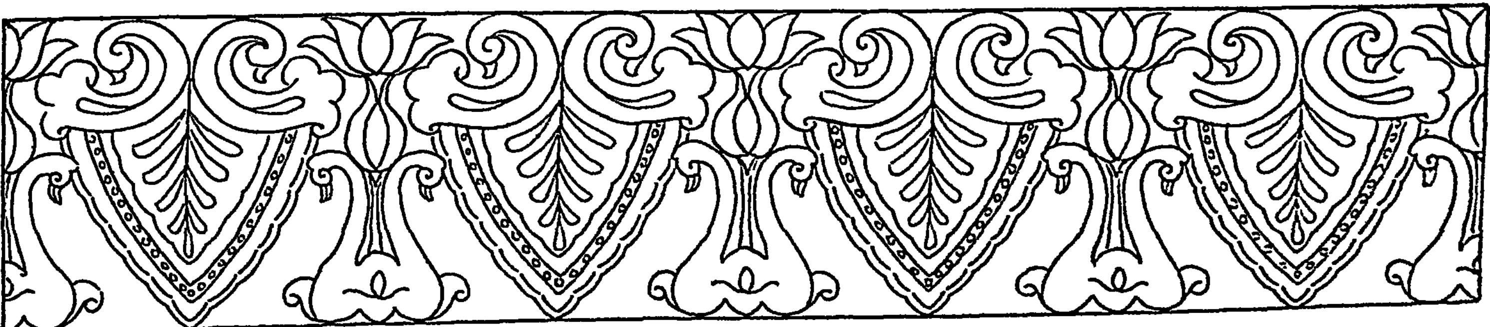
अर्थात् जो जीव ससार मे स्थित है, अर्थात् जन्म और मरण के चक्कर मे पडा हुआ है, उसके राग रूप और परिणाम होते है उन परिणामो से नए कर्म बधते है कर्मों से विभिन्न गतियो मे जन्म लेना पडता है जन्म लेने से शरीर मिलता है शरीर मे इन्द्रियाँ होती है इन्द्रियो से विषयो का ग्रहण होता है. जीव विषयो को ग्रहण करने से इष्ट विषयो मे राग और अनिष्ट विषयो से द्वेष करता है. इस प्रकार ससार रूपी चक्रकाल मे पडे हुए जीव के भावो से कर्मबन्ध और कर्मबन्ध से राग-द्वेष रूप भाव होते रहते है यह चक्र अभव्य जीव की अपेक्षा से अनादि अनन्त है और भव्य जीव की अपेक्षा से अनादि सान्त है

सामान्य रूप से जो भी कुछ किया जाता है वह कर्म कहलाता है इस ससार मे समस्त प्राणी क्रियाशील रहते हैं, मनुष्य भी अपने व्यक्तिगत दैनिक जीवन मे अनेक प्रकार की क्रियाओ को करता है विविध प्रकार की ये क्रियाए ही साधारणतया कर्म कहलाती है प्राणी जैसा कर्म करता है वह वैसे ही फल का भागी होता है कर्म के अनुसार फल को भोगना नियति का क्रम है कर्मसिद्धात को जैन, साख्य, योग, नैयायिक, वैशेषिक और मीमासक आदि आत्मवादी दर्शन तो मानते ही है, किन्तु अनात्मवादी एव अनीश्वरवादी दोनो ही इस विषय मे एक मत है. कर्म सिद्धान्त को स्वीकार करने मे यद्यपि चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त समस्त दर्शनो मे मतैक्य है, तथापि कर्म के फलस्वरूप एव उसके फल देने के सम्बन्ध मे ईश्वरवादी एव अनीश्वरवादी दोनो मे मौलिक मतभेद है

ऊपर कर्म के विषय मे सामान्य रूप से कहा जा चुका है कि जो कुछ किया जाता है, वह कर्म है इसके अन्तर्गत मनुष्य की व्यक्तिगत दैनिक क्रियाओ का भी समावेश हो जाता है जैसे खाना, पीना, उठना, बैठना सोचना, विचारना, हसना चलना, फिरना, बोलना, खेलना, कूदना, गाना, बजाना आदि मनुष्य जो भी राग या द्वेष के वशीभूत होकर करता है उसी के अनुसार उसे फल मिलता है परलोक मानने वाले दर्शनो के अनुसार मनुष्य द्वारा कर्म किये जाने के उपरात वे कर्म जीव के साथ अपना सस्कार छोड जाते है ये सस्कार ही भविष्य मे प्राणी को अपने पूर्वकृत कर्म के अनुसार फल देते है पूर्वकृत कर्म के सस्कार, अच्छे कर्म का फल अच्छा एव बुरे कर्म का फल बुरा देते है पूर्वकृत कर्म अपना जो सस्कार छोड जाते है और उन सस्कारो द्वारा जो प्रवृत्ति होती है उसमे मूल कारण राग या द्वेष होता है किसी भी कर्म की प्रवृत्ति राग या द्वेष के अभाव मे असम्भावित है और जब सम्भव होती है तो कर्मबन्ध जनक नही होती है अत सस्कार द्वारा प्रवृत्ति एव प्रवृत्ति द्वारा सस्कार की परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है यह परम्परा अथवा चक्रवत् परिभ्रमण ही ससार कहलाता है कर्म, सस्कार एव प्रवृत्ति की परम्परा तथा ससार चक्र के विचारो का दिग्दर्शन हमे प्राय दर्शनो मे प्राप्त होता है किन्तु जैनदर्शन के विचार मे पूर्वोक्त विचारो से कुछ भिन्नता है

जैनदर्शन के अनुसार कर्म सस्कारमात्र ही नही है अपितु एक वस्तुभूत पदार्थ है जिसे कार्मणजाति के दलिक या पुद्गल माना गया है वे दलिक रागी, द्वेषी जीव की क्रिया से आकृष्ट होकर जीव के साथ दूध-पानी की तरह मिल जाते है यद्यपि वे दलिक भौतिक है, तथापि जीव के कर्म अर्थात् क्रिया द्वारा आकृष्ट होकर जीव के साथ एकमेक हो जाते हैं कहने का तात्पर्य यह है कि जो भी कर्म किया जाता है, वह जीव या आत्मा के साथ सयुक्त हो जाता है और तब तक सयुक्त रहता है जब तक कि वह अपना फल नही दे देता इस प्रकार प्राणी द्वारा किया गया कोई भी कर्म आत्मा से पृथक् नही रहता ससार मे कर्म से घिरे हुए आत्मा की स्थिति ठीक वैसी ही रहती है जैसे कि जाल मे फसी हुई मछली की अथवा लोहे के सीखचो वाले पिंजरे मे बन्द सिंह की

अन्य दर्शनो ने कर्म को क्षणिक मानकर उसके सस्कार को स्थायी माना है अत कर्म की सत्ता तो क्रिया करने के बाद ही समाप्त हो जाती है, किन्तु उसका सस्कार ही स्थायी रूप से आत्मा के साथ रहता है जैनधर्म मे यहाँ कुछ मतभेद है वस्तुस्थिति यह है कि कर्म एक वस्तुभूत पदार्थ है और वह राग द्वेष अथवा भाव से युक्त जीव द्वारा की गई क्रिया से आकृष्ट होकर उसमे (जीव मे) मिल जाता है कहने का तात्पर्य यह है कि राग, द्वेष से युक्त जीव की प्रत्येक मानसिक वाचनिक और कायिक क्रिया के साथ एक द्रव्य जीव मे आता है जो उसके रागद्वेष रूप भावो का निमित्त पाकर उसमे



बन्ध जाता है और आगे जाकर अच्छा या बुरा फल देता है. इसी बात का स्पष्टीकरण निम्न रूप से किया गया है—

परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुदो ,
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं । —प्रवचनसार

अर्थात् जब राग, द्वेष से युक्त आत्मा अच्छे या बुरे कामो में परिणत होता है तब कर्म रूपी रज ज्ञानावरणादि रूप से उसमें प्रवेश करती है.

इससे यह स्पष्ट है कि कर्म एक मूर्तिक पदार्थ है जो जीव के साथ बध जाता है. यहाँ एक ऐसी आशका उठ खडी होती है कि कर्म मूर्तिक है एव आत्मा अमूर्तिक अतः दोनो का बन्ध सम्भव नही. मूर्तिक के साथ मूर्तिक का वध तो हो सकता है किन्तु अमूर्तिक के साथ मूर्तिक का बन्ध कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यही है कि अन्य दर्शनो की भाँति जैनदर्शन भी जीव और कर्म के सम्बन्ध को अनादि मानता है ससारी जीव अनादि काल से मूर्तिक कर्मो से बँधा हुआ है और इसीलिए वह भी मूर्तिक हो रहा है, जैसा कि 'द्रव्य सग्रह' मे स्पष्टत कहा है—

वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठणिच्चिया जीवे ,
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो ।

अर्थात् वास्तव में जीव मे पाँचो रूप, पाँचो रस, दोनो गन्ध और आठो स्पर्श नही रहते, इसलिए वह अमूर्तिक है जैन-दर्शन मे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुण वाली वस्तु को मूर्तिक कहा है किन्तु अनादि कर्म बन्ध के कारण व्यवहार में जीव मूर्तिक है अत कथचित् मूर्तिक आत्मा के साथ मूर्तिक कर्म द्रव्य का सम्बन्ध होता है.

साराश यह है कि कर्म के दो भेद हैं—द्रव्यकर्म और भावकर्म. जीव से सम्बन्ध कर्म पुद्गल को द्रव्य कर्म कहते है और द्रव्य कर्म के प्रभाव से होने वाले जीव के राग-द्वेष रूप भावो को भावकर्म कहते है. द्रव्यकर्म भावकर्म का कारण है और भावकर्म द्रव्यकर्म का कारण है. द्रव्यकर्म के विना भावकर्म और भावकर्म के विना द्रव्यकर्म—नही होते है इन कर्मो का बन्ध ही जीव के जन्म मरण एव विविध गतियो मे परिभ्रमण का कारण है. इस प्रकार आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से चक्रवत् चला आ रहा है.





श्रीजैनेन्द्रकुमार

प्रश्नोत्तर : अपरिग्रह

प्रश्नकार—कुमार सत्यदर्शी

प्रश्न—आपकी परिभाषा के अनुसार परिग्रह क्या है ?

उत्तर—जो हमारी अन्तश्चेतना को पकडे और रोके, उस वस्तु रूप बाधा को परिग्रह कह सकते हैं.

प्र०—अन्तश्चेतना आप किसे कहते है ?

उ०—आदमी निश्चेतन तो है नही, और यदि चेतन है तो उसके चैतन्य का अधिष्ठान उससे बाहर कैसे माना जा सकता है ? 'अन्तश्चेतना' इसलिए कहा है कि चेतना के अनेक स्तर होते हैं अपने ही स्रोत से स्फूर्त हो, प्रतिक्रियात्मक न हो, इसलिए 'अन्तस्' का विशेषण है

प्र०—क्या आप बाह्य और आन्तरिक परिग्रह के भेद भी मानते हैं ?

उ०—भाव और द्रव्य का भेद मानने से समझ को सुभीता होता है पर सार सदा आन्तरिक है अर्थात् परिग्रह को मूर्छा-भाव मे मानना अधिक सार्थक होगा

प्र०—गृह-परिवार मे रहकर भी आप अपने को मूर्छा-स्वरूप परिग्रह से रहित मानते हैं ?

उ०—नही मैं अपरिग्रह का विश्वासी हूँ, अपरिग्रही पूरा नही लेकिन यह इस मकान के निमित्त से नही. जगल मे बैठा रहू तो भी अन्दर से तृष्णार्त्त हुआ तो जगल मेरी मदद नही कर पायेगा पशु तो वहाँ ही रहता है, क्या वह अपरिग्रही है ?

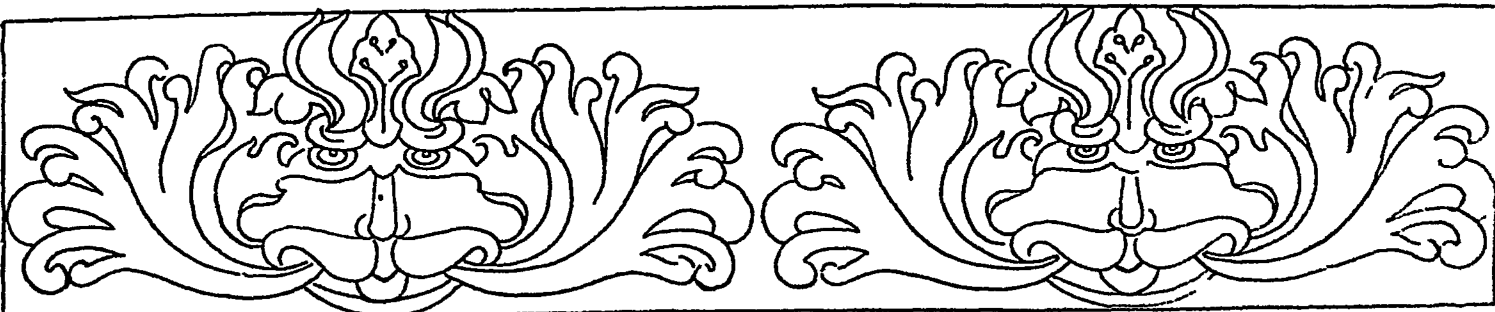
प्र०—अपरिग्रही होने के लिए वस्तु का त्याग अपेक्षित नही है, तो अतीत मे जो ऋषि-मुनि हुए है, उन्होने जागतिक वस्तुओ से नाता तोड कर एकान्त मे रहना पसन्द किया था, क्या उनके लिए ऐसा करना अनिवार्य नही था ?

उ०—त्याग-तपस्या मे बाहुबली की कौन समता कर सकता है ? लेकिन मुक्ति उन्हे नही मिली, जब तक अन्दर मे शल्य बनी रही

वस्तु का नितान्त परिहार हो नही सकता वस्तु अपनी जगह है, उसका नाश सभव नही वस्तु से अगर हम अपने को बचाते है तो आखिर किस लिए ? इसीलिए न कि वस्तु हम पर हावी न हो और हमारी आत्मता को न ढके इस कोण से देखे तो वस्तु को लेने अथवा छोड देने, इन दोनो ही दृष्टियो मे वस्तु को प्रधानता मिल जाती है. इसलिए त्याग-तपस्या मे अपने आप मे कोई मुक्ति समाविष्ट नही है वस्तु की निर्भरता से ऊपर उठने की दृष्टि से अमुक साधना या अभ्यास किया जा सकता है. लेकिन अभ्यास साधना है, साध्य नही है

अपरिग्रह का नितान्त शुद्ध रूप है कैवल्य कैवल्य की स्थिति पर तीर्थंकर के लिए समवसरण की रचना हो जाती है. समवसरण के ऐश्वर्य का क्या ठिकाना है ! लेकिन क्या उससे तीर्थंकर के कैवल्य मे कोई त्रुटि पडती है ? या अपरिग्रह पर कोई विकार आता है ?

व्यक्ति और वस्तु के बीच सर्वथा असम्बद्धता नही हो सकती सारा जगत् सामने पडा है, क्या अपरिग्रही उसको देखने से इकार करेगा ? देखना भी एक प्रकार का सम्बन्ध है. दृष्टि सम्यक् वह नही है जो वस्तु-मय जगत् को देख



नही पाती, सम्यक् दृष्टि वह है जो वस्तु मे रुकती नही है जो रुक सकती है वही दृष्टि वस्तु से विमुख होने की सोच सकती है, यह विज्ञान सिद्ध दृष्टि नही कहलायेगी, वल्कि सीधे या उल्टे अर्थ मे विमूढ दृष्टि समझी जायेगी. वस्तु और व्यक्ति के बीच समीचीन सम्बन्ध को सिद्ध करने वाला होता है—अपरिग्रह वस्तु के डर से व्यक्ति को हीन और रहित वनाना उसका इष्ट नही है

सामने वह दीन और दरिद्र है, वस्तु के नाम पर उसके आस-पास अभाव ही अभाव है, क्या आप उसको अपरिग्रही कह सकेगे ? नही, उसको दीन और दरिद्र इसलिए कहना होता है कि बाहरी अभाव के कारण उसका मन वस्तु के प्रति और भी ग्रस्त और लुब्ध होता है, ऊपर से नितान्त नग्न होते हुये भी वह भीतर से कातर और लोलुप हो सकता है. अपरिग्रह मे वस्तु का लोभ व भय भी समाप्त हो जाता है आत्म-चेतना सर्वथा स्वय निर्भर हो जाती है उसमे से वस्तु के प्रति एक विभुता और इसलिए निश्चिन्तता प्राप्त होती है, अधीनता और चिन्ता नही. दूसरे शब्दो मे अप-रिग्रह अभावात्मक नही, सद्भावात्मक भाव है, अर्थात् अपरिग्रह मे वस्तु के प्रति रुष्ट विमुखता नही होती, वल्कि प्रसन्न मुक्तता होती है वस्तु की अपेक्षा मे जो अपने को दीन अनुभव करता है वह कभी अपरिग्रही नही हो सकता अपरिग्रही तो वह है जो आत्म सम्पन्नता मे भरपूर हो.

प्र०—मनुष्य का कार्य वस्तु के द्वारा सम्पन्न होता है अर्थात् दैनिक कार्य चलाने के लिए वस्तु की आवश्यकता होती है. आवश्यकता है तो प्रयत्न भी करने होगे. क्या उस प्रयत्न को दीनता कहा जा सकता है ?

उ०—हाँ, समग्र दृष्टि यदि वस्तु मे घिरी हो और प्रयत्न उसी पर केन्द्रित हो तो दैन्यभाव माना जायेगा.

सास हम अनायास लेते है उसके लिए प्रयत्न करना पडता है तब सास का रोग कहलाता है. प्राणवायु तो चहु ओर है, लेकिन जब उसे भीतर लेने के लिए प्रयत्न करना पडता है तो मानना चाहिए कि स्वास्थ्य निर्बल है और फेफडे निरोग नही है

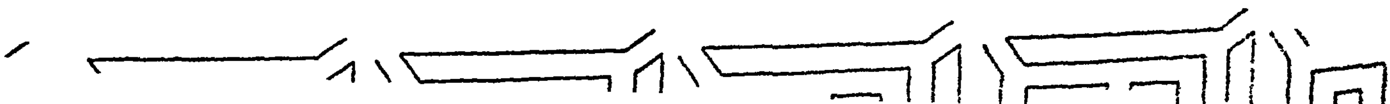
अन्तश्चैतन्य से युक्त और प्रवृत्त व्यक्ति की आवश्यकताए अनायास पूर्ण हो जाती है, प्रयत्न-हीनता मे से पूर्ण नही होती, केवल वह पुरुषार्थ वस्तु-मुखी नही होता है, चित्तप्रेरित और चिन्मुख होता है लाख प्रयत्न करने पर भी कोई इतना वस्तु-वैभव नही पा सकता कि समवसरण की रचना कर सके वही तीर्थंकर के लिये अनायास प्रस्तुत हो जाता है यह महिमा प्रयत्न की नही है, अपरिग्रह की है मैं नही मानता कि आत्मचैतन्य मे से जगत् का लाभ नही होता है उस जगत्-लाभ या अर्थलाभ मे यदि कुछ बाधा बनता है तो चीजो पर मुट्ठी को बाधने का लोभ बाधा बनता है, अन्यथा जो सर्वथा अपनी आत्मा को पा लेता है, सारा ही वस्तुजगत् उसका अपना हो जाता है त्यागने भागने की कही जरूरत ही नही रह जाती है

प्रश्न—समवसरण के प्रसग मे आपने जो कुछ कहा वह ठीक है तीर्थंकर को उसके लिये कोई प्रयत्न नही करना होता सुना जाता है कि देवगण ही समवसरण की रचना करते है परन्तु तीर्थंकर के आदेश का उल्लघन कौन कर सकता है ? तब क्या वे देवताओ को समवसरण की रचना करने से इन्कार नही कर सकते थे ? जबकि समवसरण रचने मे आडम्बर प्रत्यक्ष ही है

उत्तर—कैवल्य प्राप्त होने से पहले साधक अवस्था मे वैसा वर्जनभाव रहा ही होगा वह आवश्यकता कैवल्य-लाभ के अनतर यदि निश्शेष हो जाती हो तो विशेष विस्मय की वात नही है.

प्रश्न यहा यह नही है कि क्या तीर्थंकर को समवसरण की रचना से देवताओ को वर्जित नही कर देना चाहिये था ? प्रश्न अपरिग्रह का है और इस उदाहरण के उल्लेख से जो मै व्यक्त करना चाहता हू वह इतना ही कि अपरिग्रह मे से अनायास वस्तु की विभुता का लाभ हो आता है. मुक्तता उस विभुता का ही रूप है, और अपरिग्रह सच्चे अर्थ मे कोई अभावात्मक सज्ञा नही है

मान लीजिए कि तीर्थंकर समवसरण के निर्माण को अपने लिये अस्वीकार कर देते है तो उससे यही तो सिद्ध होता है



कि विभुता और भी बढी-चढी है और उनका अन्तरग इस विभूति-भाव से सर्वथा प्रकाशित और वस्तुनिरपेक्ष है हम जब अपरिग्रह को वस्तु के परिमाण के हिसाब मे नापते है तो कहना चाहिए कि आत्मा का मूल्य वस्तु की अपेक्षा मे आकते है पाच लाख का किसी ने मकान छोडा तो मानो पाच लाख अको की अपरिग्रहता प्राप्त कर ली अपरिग्रह की इस आकिक उपलब्धि के लिये जो वस्तु का त्याग जाहिर किया जाता है, हो सकता है वह अन्दर से यश-प्रतिष्ठा के परिग्रह का लोभ ही हो वस्तु से जब हम अहम् भाव से जुडे होते है तभी हम उसके वर्जन और त्यजन की भाषा मे बात किया करते है वस्तु के साथ सम्बन्ध मिथ्या-दृष्टि का न हो, यदि सम्यक्-दृष्टि का हो जाये तो वर्जन-तर्जन की दोनो भाषाए एक-सी विसगत हो जायेगी मुक्ति मे भी कही त्याग की सगति रह जाती है ? सीढी के हर डण्डे को छोडना पडता है, जब तक सीडी है. छत पर आगए तब छोडने को रह क्या जायेगा ?

प्रश्न—कैवल्य प्राप्त होने के पश्चात् महावीर ने तीर्थ की स्थापना कर प्रवृत्ति कर्म का परिचय दिया था जब पूर्णत्व प्राप्त हो गया तब प्रवृत्ति की आवश्कता उन्हे क्यो पडी ? समाज सुधार के अन्य प्रयत्न वे अपने साधनाकाल के साडे बारह वर्षो मे भी कर सकते थे तीर्थंकरत्व प्राप्त होने के पश्चात् वे प्रवृत्ति के प्रपच मे क्यो पडे? यदि निवृत्तिके पश्चात् प्रवृत्ति का क्रम हो तो राजकुमार वर्द्धमान ही क्या, प्रत्येक मनुष्य का कर्म प्रवृत्ति मे है ही पहले निवृत्ति और फिर प्रवृत्ति, इससे अच्छा तो यही न है कि वह जो प्रवृत्ति करता है, करता चला जाये, क्योकि निवृत्ति-साधना कर लेने के पश्चात् भी अन्तत प्रत्येक साधक को प्रवृत्ति करनी पडती है इससे अच्छा तो यही है कि वह निवृत्ति के शून्यवाद मे ही न भटके

उत्तर—निवृत्ति-प्रवृत्ति के शब्दो की जोडी को आप अपने लिये वृथा झमेला न बनायें निवृत्ति जिसके अतरग मे नही वह प्रवृत्ति उतनी ही चचल और निष्फल होती है मैं इन दोनो शब्दो को परस्पर विरोध मे नही देखता हू, पहले पीछे की भाषा भी मुझे कुछ विशेष सगत मालूम नही होती है बाद मे यदि प्रवृत्ति आ गई हो तो शुरु मे ही निवृत्ति क्यो ? यह आपका प्रश्न इस भ्रम मे से बनता है कि ये दोनो परस्पर को काटने वाली सज्ञायें है और एक समय मे एक ही हो सकती है वस्तुत ऐसा नही है. दुख की अनुभूति सब मे है इस अनुभूति को निवृत्तिपरक माना जायेगा अब इसी व्यथा-नुभूति मे से प्रवृत्ति निकलती है जितनी वह अपने निवृत्तिस्रोत से सयुक्त होगी उतनी ही वह प्रवृत्ति फलदायक होगी निवृत्तिमय प्रवृत्ति मुक्तिदायक हो सकती है, और जितना उनमे वैमुख्य और वैपरीत्य होगा उतनी ही बधनकारक अपरिग्रही, अहिंसक, अनासक्त कर्म-सयुक्त होता है जो जितना वियुक्त है, अर्थात् आत्मव्यथा के स्वीकार मे से नही बल्कि अहकृत इकार मे से निकलता है वह उतना ही आसक्त ह्रस्व और व्यर्थ होता जाता है

तीर्थंकर की प्रवृत्ति शायद फल न लाती अगर उन्हे अन्तरग मे निवृत्ति ही सिद्ध न हुई होती यज्ञ-हिंसा के विरोध मे कही उनका अहभाव मिला होता तो क्या उसका उतना फल आ सकता था ? भीतर मे निवृत्त हो गये, शुद्ध करुणा की प्रेरणा मे से शब्द और कर्म उत्कृष्ट हुए इसी से परिणाम भी आसका होगा अन्यथा ऊपर से की जाने वाली प्रवृत्ति केवल अस्थिरता का दूसरा रूप हो जाता है उसमे तेजस्विता और अमोघता नही आती

प्रश्न—परार्थमूलक प्रवृत्ति का अर्थ क्या है ? परार्थमूलक प्रवृत्ति के द्वारा यदि उद्देश्य की उपलब्धि होती है तो वह भी एक स्वार्थ-प्रवृत्ति है स्वार्थमूलक प्रवृत्ति यदि एकान्त प्रवृत्ति है तो जब वह परार्थ के लिये होती है तब निवृत्तिमूलक कैसे हो जाती है ?

उत्तर—अब आप स्व-पर शब्द की जोडी के चक्कर मे पड गये व्यथा मे 'स्व' की सीमा घुल जाती है इसलिये उस सृजनकर्म से स्व-पर का अभेद सिद्ध होता है करुणा मूलक और अहम् मूलक प्रवृत्ति मे यही अन्तर है करुणामूलक कर्म मे उपकार, उद्धार या रक्षा की दृष्टि अर्थात्-परार्थ-दृष्टि उतनी नही होती स्वार्थ परार्थ के आगे मैं तीसरा शब्द सुझाता हूँ—परमार्थ यहाँ पर भेद मिट जाता है और स्वार्थ-परार्थ का परमार्थ मे समन्वय हो जाता है स्वार्थ अह-कृत होता है, उसी तरह परार्थ भी अहकृत हुआ करता है उपकार अधिकाश उसी भूल के कारण अत मे अपकार बन जाता है जो चाहिए वह अकर्म है, अर्थात् ऐसा कर्म जिसमे कर्तृत्व न हो उसी को दूसरे शब्दो मे निवृत्ति-मूलक कर्म कह दीजिए कर्मनिर्जरा कर्महीनता मे से नही वरन् प्रचण्ड पुरुपार्थ मे से ही फलित हो सकती है





पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ

जैनधर्म में भक्तियोग

भक्ति एक प्रकार का योग है, किन्तु 'भक्तियोग' शब्द का प्रयोग जैनशास्त्रो मे देखने मे नही आया जबकि भक्ति शब्द का प्रयोग यत्र-तत्र बहुलता से हुआ है. कर्मयोग या निष्काम कर्मयोग की तरह भक्तियोग भी एक सिद्धान्त है और उसका औचित्य तर्कसिद्ध है.

योग एवं भक्ति शब्द का अर्थ

योग[1] शब्द के अनेक अर्थ हैं. यहा योग का अर्थ प्रयोग अथवा अप्राप्त की प्राप्ति है. उपाय या रक्षा का साधन भी यहाँ योग शब्द का अर्थ लिया जा सकता है तब 'भक्तियोग' शब्द का अर्थ होगा आत्मशुद्धि के लिये भक्ति का प्रयोग, अथवा भक्ति के द्वारा अप्राप्त को प्राप्त करना, परमात्मा का सानिध्य पाने के लिये भक्ति सर्वोत्कृष्ट उपाय है एव वह बुराइयो से बचने का साधन भी है इसलिए यहाँ योग का अर्थ उपाय एव सनहन अर्थात् कवच भी कर सकते है.

भक्ति का अर्थ है भाव की विशुद्धि से युक्त अनुराग. जिस अनुराग में भाव की निर्मलता नही होती वह अनुराग (प्रेम) भक्ति नही कहला सकता. सासारिक अनुराग मे वासना होती है इसलिए उसे भक्ति का रूप नही दिया जा सकता. परमात्मा[2] सन्त या शास्त्र आदि मे होने वाले विशुद्ध प्रेम को ही भक्ति कहा जा सकता है भक्ति का भाव उत्पन्न होता है जिसकी भक्ति की जाती है उसमे पहले पूज्यबुद्धि उत्पन्न होती है उसका कारण है अपने इष्ट देवता आदि के वे गुण जिन्हे भक्त प्राप्त करना चाहता है

भक्ति का लक्ष्य

जैनभक्ति का लक्ष्य वैयक्तिक अर्थात् ऐहिक स्वार्थ नही है, अपितु आत्मशुद्धि है. आत्मा जब परमात्मा बनना चाहता है तव उसका प्रारम्भिक प्रयत्न भक्ति के रूप मे ही होता है भक्ति आत्मा को परमात्मा वनाने के लिये एक सरल एव पकड सकने योग्य मार्ग है खासकर ग्रहस्थ के लिये यह मार्ग विषेप रूप से उपादेय है. भक्ति शुभोपयोग का कारण है और शुभोपयोग से पुण्यवध होता है यदि भक्ति मे फलासक्ति न हो और वह पूर्णतया निष्काम हो तो अन्त मे मनुष्य को शुद्धोपयोग की ओर आकृष्ट करने का कारण बन सकती है जो मुक्ति का साक्षात् कारण है

जैनधर्म गुण का उपासक है

जैनधर्म व्यक्ति का उपासक नही अपितु गुण का उपासक है व्यक्ति की उपासना का समर्थन तो करता है पर उसका कारण भी व्यक्ति के गुण ही है व्यक्ति स्वय मे कुछ नही है, उसकी सारी महत्ता का कारण उसके गुण हैं और गुणो की उपासना का प्रयोजन भी गुणो की प्राप्ति है. गुणो की प्राप्ति के लिये ही भक्त उपासक गुणवान् उपास्य को अपना

---

१ योग. सन्हनोपायध्यानसगतियुक्तिपु—अमरकोष, तृतीय काड नानार्थवर्ग, २२ श्लोक.
योगोऽपूर्वार्थसप्राप्तौ रागतिध्यानयुक्तिपु, वपुःस्थैर्ये प्रयोगे च विष्कभादिपुभेपजे, विश्रब्धघातकेद्रव्योपायसन्हतेष्वपि. कार्मणेऽपि च—मेदनी.

२. अर्हदाचर्यावहुश्रुतप्रवचनेपु भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्ति —सर्वार्थसिद्धि, .

आदर्श मानता है और जिस विधि से स्वय उपास्य ने गुण प्राप्त किये उसी विधि से उस मार्ग को अपनाकर भक्त भी उपास्य के गुणो को प्राप्त करना चाहता है यही भक्ति का वास्तविक ध्येय है इस सम्बन्ध मे निम्नाकित प्राचीन उल्लेख बडा ही महत्त्वपूर्ण है

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ,
ज्ञातार विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ।

अर्थात् मैं मोक्ष मार्ग के नेता, कर्मरूपी पर्वतो के भेत्ता और विश्व तत्त्वो के ज्ञाता को उसके गुणो की प्राप्ति के लिये वदना करता हूँ यहाँ किसी खास व्यक्ति को प्रणाम नही है अपितु उन गुणो को धारण करने वाले व्यक्ति को प्रणाम है चाहे वह कोई भी क्यो न हो. एक श्वेताम्बराचार्य भी यही कहते है—

भवबीजांकुरजलदा·, रागाद्या· क्षयमुपागता यस्य ,
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ।

भव-बीजाकुर के लिये मेघ के समान, रागादिक सपूर्ण दोप जिसके नष्ट हो गये है उसे मेरा प्रणाम है फिर चाहे वह ब्रह्मा हो या विष्णु अथवा महादेव हो या जिन

सुप्रसिद्ध तार्किक आचार्य अकलकदेव भी गुणोपासना के सम्बन्ध मे यही कहते हैं—

यो विश्वं वेद वेद्य' जननजलनिधेर्भंगिन. पारदृश्वा ,
पौर्वापर्याऽविरुद्ध' वचनमनुपम निष्कलंकं यदीयम् ।
तं वन्दे साधुवद्य निखिलगुणनिधिं ध्वस्तदोषद्विषन्त ,
बुद्ध' वा वर्द्धमान शतदलनिलयं केशव वा शिव वा ।

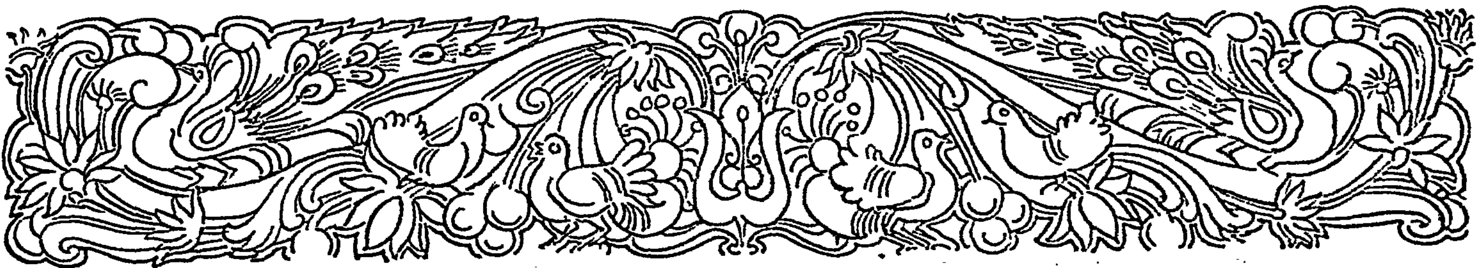
जिसने जानने योग्य सब कुछ जान लिया है, जो जन्म रूपी समुद्र की तरगो के पार पहुँच गया है, जिसके वचन दोप-रहित, अनुपम और पूर्वापर विरोध रहित हैं, जिसने अपने सारे दोषो का विध्वस कर दिया है और इसीलिए जो सपूर्ण गुणो का भडार बन गया है तथा इसी हेतु से जो सतो द्वारा वदनीय है, मैं उसकी वदना करता हूँ चाहे वह कोई भी हो—बुद्ध हो, वर्द्धमान हो, ब्रह्मा हो, विष्णु हो अथवा महादेव हो

ये सब उदाहरण हमे यह बतलाते है कि भक्ति के स्थान गुण है, व्यक्ति नही इसलिए जैनदर्शन भक्ति का आधार गुणो को मानता है यदि परमात्मा की भक्ति करने से कोई परमात्मा नही बन सकता तो फिर उसकी भक्ति का प्रयोजन ही क्या है ? इस सम्बन्ध मे भक्ति के प्रधान आचार्य मानतुग ने ठीक ही कहा है —

नात्यद्भुतं भुवनभूषण । भूतनाथ ।
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्त ,
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किंवा ।
भूत्याश्रित य इह नात्मसम करोति ।

हे जगत् के भूषण ! हे जगत् के जीवो के नाथ ! आपके यथार्थ गुणो के द्वारा आपका स्तवन करते हुए भक्त यदि आपके समान हो जाय तो हमे कोई अधिक आश्चर्य नही है ऐसा तो होना ही चाहिए क्योकि स्वामी का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने आश्रित भक्त को अपने समान बना ले अथवा उस मालिक से लाभ ही क्या है जो अपने आश्रित को वैभव से अपने समान नही बना लेता

किन्तु यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब परमात्मा रागद्वेष से विहीन है, तब उसकी भक्ति से लाभ ही क्या है ? राग न होने के कारण वह अपने किसी भी भक्त पर अनुग्रह नही करेगा और द्वेप न होने से किसी दुष्ट का निग्रह करने के लिये भी कैसे प्रेरित होगा ? क्योकि अनुग्रह और निग्रह मे प्रवृत्ति तो रागद्वेष की प्रेरणा से ही होती है जो शिष्टो पर अनुग्रह और दुष्टो का निग्रह करता है उसमे राग या द्वेष का अस्तित्व जरूर होता है किन्तु जैन इस



प्रकार के किसी ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार नही करते. इस प्रश्न का उत्तर जैन स्तोत्रो मे जो दिया गया है वह बड़ा ही मनोग्राही तर्कसगत एव आकर्षक है प्रख्यात तार्किक आचार्य समन्तभद्र इस प्रश्न का उत्तर देते हुए अपने 'स्वयभूस्तोत्र' में वासुपूज्य तीर्थंकर का स्तवन करते हुए कहते है—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे,
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चेतो दुरितांजनेभ्यः ।

हे नाथ ! आप तो वीतराग हैं आपको अपनी पूजा से कोई प्रयोजन नही है. आप न अपनी पूजा करने वालो से खुश होते है और न निन्दा करने वालो से नाखुश, क्योकि आपने तो वैर का पूरी तरह वमन कर दिया है. तो भी यह निश्चित है कि आपके पवित्र गुणों का स्मरण हमारे चित को पापरूप कलको से हटा कर पवित्र बना देता है इसका आशय है कि परमात्मा स्वय यद्यपि कुछ भी नही करता फिर भी उसके निमित्त से आत्मा मे जो शुभोपयोग उत्पन्न हो जाता है उसी से उसके पाप का क्षय और पुण्य की उत्पत्ति हो जाती है.

महाकवि धनजय इसी का समर्थन करते हुए अपने विषापहार नामक स्तोत्र मे क्या ही मनोग्राही वाणी मे कहते है—

उपैति भक्त्या सुमुखः सुखानि त्वयि स्वभावाद् विमुखश्च दुःखम्,
सदावदातद्युतिरेकरूपस्तयोस्त्वमादर्श इवावभासि ।

हे भगवान् ! तुम तो निर्मल दर्पण की तरह सदा स्वच्छ हो स्वच्छता तुम्हारा स्वभाव है. जो तुम्हे अपने निष्कपटभाव से देखता है वह सुख पाता है और जो तुमसे विमुख होकर बुरे भावो से तुम्हे देखता है वह दु ख पाता है. ठीक ही है, दर्पण में कोई अपना मुह सीधा करके देखता है तो उसे उसका मुह सीधा दिखता है. और जो अपना मुह टेढा करके देखता है उसे टेढा दिखता है. किन्तु दर्पण किसी का मुह न सीधा करता है और न टेढा. इसी प्रकार रागद्वेष रहित परमात्मा स्वय न किसी को सुख देते है और न दु ख. वह तो प्रकृतिस्थ है. इस प्रकार के कार्यो मे स्वय उनका कोई भी प्रयत्न सभव नही है सुख अथवा दु ख तो मन की अपनी ही वृत्तियो का परिणाम है. सजीव अथवा निर्जीव पदार्थ एव अनुरक्त अथवा विरक्त व्यक्ति का दूसरे सजीव अथवा निर्जीव पदार्थो पर जो स्वय प्रभाव पडता है वह मनुष्य के लिये नई चीज नही है यह तो प्रत्येक मनुष्य के अपने अनुभव की वस्तु है मनुष्य अपनी मनः प्रकृति के अनुसार दूसरो से प्रभावित होता है. किसी स्त्री का मनोहर चित्र किसी भी रागी पुरुष के आकर्षण का कारण बन जाता है. किन्तु यह कार्य वह चित्र नही करता, वह तो उसमे निमित्त मात्र है. चित्र में न किसी के प्रति राग होता है और न किसी के प्रति द्वेष. फिर भी यह आकर्षण चित्र का कार्य माना जाता है यही बात परमात्मा की भक्ति के विषय में भी है

भक्ति के सम्बन्ध मे एकलव्य का उदाहरण ससार मे अप्रतिम है. वह मिट्टी के द्रोणाचार्य से स्वय पढकर ससार का अद्वितीय धनुर्धारी बना था वह एक निष्ठ होकर मिट्टी के द्रोणाचार्य से पढता रहा. उसकी मन कल्पना में वह मिट्टी की मूर्ति साक्षात् द्रोणाचार्य थी. कहने की आवश्यकता नही है कि एकलव्य को ससार का अप्रतिम धनुर्धारी बनने मे मिट्टी के द्रोणाचार्य का स्वय कोई प्रयत्न नही था क्यो कि मिट्टी मे किसी प्रकार की आकाक्षा सम्भव ही नही है, पर यह भी सही है कि मिट्टी का द्रोणाचार्य ही एकलव्य को ऐसा धनुर्धारी बना सका जिसकी धनु सचालन-कुशलता को देखकर द्रोणाचार्य का साक्षात् शिष्य अर्जुन भी दग रह गया

सस्कृत-ग्रथो मे एक प्रयोग आता है—'कारीषोऽग्निरध्यापयति' अर्थात् छाणो की आग पढा रही है. एक गरीब छात्र के पास ओढने के लिये कुछ भी नही होने से जाडे की रातो मे आग के सहारे से पढता है और कहता है कि यह आग ही मुझे पढा रही है आग तो अध्यापक नही है फिर वह कैसे पढा रही है ? उसमे इसलिये पढाने का उपचार है कि अगर आग न हो तो वह छात्र पढ नही सकता. पढने और अग्नि में निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है इसी तरह भक्त के आत्मोद्धार और भगवान् की भक्ति मे निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है. यद्यपि जैनदर्शन मानता है कि भक्ति साक्षात् मुक्ति का कारण नही है, क्योकि उससे 'दासोऽहम्' की भावना नष्ट नही होती, तो भी भक्ति का महत्त्व

कम नही होता वह मनुष्य के सामने परमात्मा का आदर्श उपस्थित करती है यद्यपि उस आदर्श की प्राप्ति अभेद रत्नत्रय से होती है, भक्ति से कभी नही, किन्तु साधना की प्रथम भूमिका मे भक्ति का वहुत वडा उपयोग है इसका कारण यह है कि मन जव उपास्य की ओर आकृष्ट होता है तव वह उसके मार्ग का अनुसरण करना भी अपना कर्तव्य समझता है वह असत् प्रवृत्तियो से हटता है और सत् प्रवृत्तियो को अपनाता है अदया से दया की ओर, अक्षमा से क्षमा की ओर तथा सक्षेप मे अधर्म से धर्म की ओर बढता है यदि भक्ति मे पाखण्ड न हो, किसी प्रकार का प्रदर्शन न हो और वह मानव-मन को अपने यथार्थ रूप से छूने लगे तो भक्ति उसको मुक्ति की ओर ले जा सकती है. यही कारण है कि अनेक जैन कवियो ने भक्ति को इतना अधिक महत्त्व दे दिया है कि उसे पढ कर आश्चर्य हुए विना नही रहता

भक्ति तर्क को पसन्द नही करती, वह तो श्रद्धाप्रसूत है पर इसका अर्थ यह कदापि नही है कि भक्ति मे विवेक नही होता ऐसा हो तो वह भक्ति ही नही है ज्ञानी और अज्ञानी की भक्ति मे जो महान् अतर जैनाचार्यो ने वतलाया है उसका कारण विवेक का सद्भाव और असद्भाव ही तो है विवेक सहित भक्ति ही मनुष्य को अमरत्व की ओर ले जाती है जो साधक श्रमणत्व की ऊची भूमिका मे नही जा सकता उसके लिए भक्ति सबल है, मुक्तिमार्ग मे पाथेय है और साधक के लिये एक सहारा है इसलिये महाकवि वादिराज ने अपने एकीभाव स्तोत्र मे कहा है—

शुद्धे ज्ञाने शुचिनि चरिते सत्यपि त्वय्यनीचा,
भक्तिर्नो चेदनवधिसुखावचिका कुचिकेयम्,
शक्योद्घाटं भवति हि कथं मुक्तिकामस्य पुसो,
मुक्तिद्वारं परिदृढमहामोहमुद्राकपाटम् ।

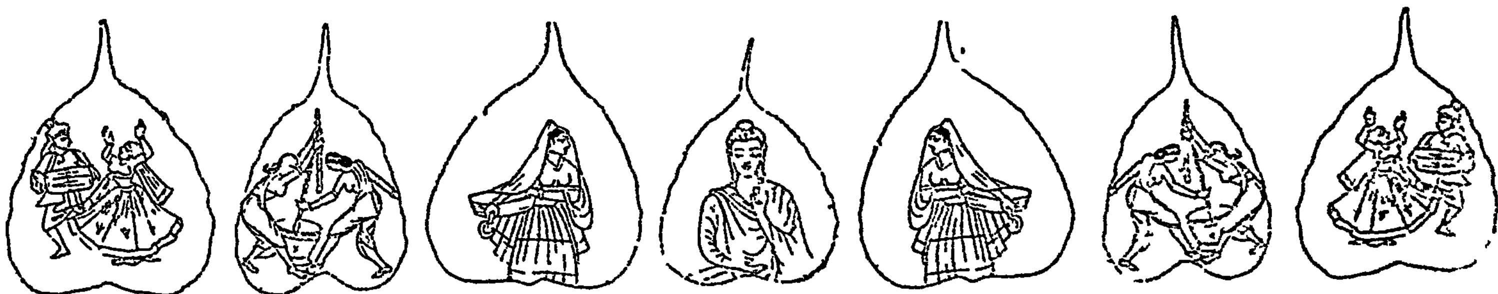
अर्थात् शुद्ध ज्ञान और पवित्र चारित्र होने पर भी यदि असीम सुख देने वाली तुम्हारी भक्ति रूपी कुचिका न हो तो जिसके महामोह रूपी ताला लगा हुआ है ऐसा मुक्तिद्वार, मुक्ति की इच्छा रखने वाले के लिये कैसे खुल सकता है ? यहा कवि ने भक्ति की तुलना मे शुद्ध ज्ञान और पवित्र चारित्र को भी उतना महत्त्व नही दिया यह भक्ति की पराकाष्ठा है

भक्ति का फल

जैनाचार्यो ने भक्ति को एक निष्काम कर्म माना है यदि उसे लक्ष्य कर मनुष्य मे फलासक्ति उत्पन्न हो जाय तो भक्ति बिल्कुल व्यर्थ है जैनशास्त्रो मे निदान (फलाकाक्षा) को धार्मिक जीवन मे एक प्रकार का शल्य (काटा) बतलाया गया है भक्त के सामने सदा मुक्ति का आदर्श उपस्थित रहता है वह उससे कभी भटकता नही यदि भटक जाय तो उसे सच्चा भक्त नही कह सकते भक्ति का सच्चा फल वह यही चाहता है कि जब तक मुक्ति की प्राप्ति न हो तब तक प्रत्येक मानव जन्म मे उसे भगवद्भक्ति मिलती रहे इसी आशय को स्पष्ट करते हुए 'द्विसधान काव्य' के कर्त्ता महाकवि धनजय कहते हैं—

इति स्तुतिं देव विधाय दैन्याद्, वरं न याचे त्वमुपेक्षकोऽसि ।
छाया तरु संश्रयत. स्वत. स्यात्, कश्छायया याचितयाऽऽत्मलोभ. ।
अथास्ति दित्सा यदिवोपरोध , त्वय्येव सक्तां दिश भक्ति बुद्धिं ।
करिष्यते देव तथा कृपां मे, को वात्मपोष्ये सुमुखो न सूरी ।

हे देव ! इस प्रकार आपकी स्तुति कर मैं आप से उसका कोई वर नही मागता, क्योकि किसी से भी कुछ मागना तो एक प्रकार की दीनता है सच तो यह है कि आप उपेक्षक (उदासीन) हैं आप मे न द्वेष है और न राग राग विना कोई किसी की आकाक्षा पूरी करने के लिए कैसे प्रवृत्त हो सकता है ? तीसरी वात यह है कि छायावाले वृक्ष के नीचे बैठकर फिर उस वृक्ष से छाया की याचना करना तो बिल्कुल व्यर्थ है, क्योकि वृक्ष के नीचे बैठने वाले को तो वह स्वत ही प्राप्त हो जाती है



यह सब कुछ होने पर भी यदि आप स्तुति का कोई फल देना ही चाहे, इतना ही नहीं इसके लिए आपका अनुरोध या आग्रह भी हो तो हे भगवान्! आप मुझे यही वर दीजिए जिससे आपकी भक्ति में ही मेरी बुद्धि लगी रहे. यह कृपा मुझ पर जरूर कीजिये ऐसा कौन है जो अपने आश्रित के हित की ओर ध्यान न दे !

कल्याणमदिर स्तोत्र के कर्त्ता महाविद्वान् कुमुदचन्द्र भी इस सवध मे यही बात करते हैं:—

यद्यस्ति नाथ भवदंघ्रिसरोरुहाणाम्, भक्तेः फलं किमपि सतत संचितायाः,
तन्मे त्वदेकशरणस्य शरण्यभूयाः स्वामी त्वमेव भुवनेऽत्र भवान्तरेपि ।

हे शरण्य ! आपके चरण-कमलो की सतत सचित भक्ति का यदि कोई फल हो तो वह यही होना चाहिए कि इस जन्म और अगले जन्म में आप ही मेरे स्वामी हो क्योकि आप के अतिरिक्त मेरा कोई भी शरण नही हो सकता.

किन्तु जैसा कि पहले कहा है, मनुष्य का चरम लक्ष्य मुक्ति है. इसलिए कोई भी भक्त जब तक मुक्ति नही मिले तब तक ही इस फलाकाक्षा का औचित्य समझता है. इसलिए भगवान् की पूजा के अत में जैन मदिरो मे जो शान्तिपाठ बोला जाता है, उसमे इस अभिप्राय को अत्यन्त स्पष्ट शब्दो मे व्यक्त किया गया है:—

तव पादौ मम हृदये, मम हृदयं तव पदद्वये लीनम्,
तिष्ठतु जिनेन्द्र! तावत् यावन्निर्वाणसंप्राप्तिः ।

हे भगवन् ! जब तक निर्वाण की प्राप्ति न हो तब तक तुम्हारे चरण मेरे हृदय में लीन रहे और मेरा हृदय तुम्हारे चरणो में लीन रहे. इन उद्धरणो से यह अच्छी तरह समझा जा सकता है कि जैन भक्ति का उद्देश्य परमात्मत्त्व की ओर बढना है. किसी भी प्रकार का लौकिक स्वार्थ उसका लक्ष्य नही है. जिसके जीवन में भक्ति की महत्ता अकित हो जाती है उसकी दुनिया के क्षणमगुर पदार्थों मे आस्था नही होती और न उसके मन मे किसी प्रकार के वैयक्तिक स्वार्थ की ही आकाक्षा होती है वास्तविक भक्त वह है जिसकी दुनिया के क्षणभगुर सुखो में आस्था नही होती. जिसको इस प्रकार की आस्था, आसक्ति अथवा आकाक्षा होती है वह कभी परमात्मत्त्व की ओर नही बढ सकता, भक्तहृदय अहिंसक होता है इसलिए उसका कोई शत्रु भी नही होता हैं वह अपनी भक्ति के बीच में इस प्रकार की आकाक्षाये भी नही लाता जो द्वेषमूलक एव हृदय को विकृत करनेवाली हो. जैनदृष्टि से वे स्तोत्र अत्यन्त नीच स्तर के ही समझे जाने चाहिए जो मनुष्य को हिंसा एव विकार की ओर प्रेरित करने वाले हो

हाँ, जैन भक्ति एव पूजा के प्रकरणो मे भक्ति के फलस्वरूप ऐसी मागे जरूर उपलब्ध होती है जो वैयक्तिक नही अपितु सार्वजनिक है, फिर चाहे वे लौकिक ही क्यो न हो भगवान् की उपासना के बाद जो जैन उपासना-गृहो मे शातिपाठ बोला जाता है उसमे भक्त कहता है.—

क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपालः,
काले काले च सम्यग् विलसतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम् ।
दुर्भिक्षं चौरमारी क्षणमपि जगतां मास्मभूज्जीवलोके,
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्वसौख्य—प्रदायि ।

हे भगवन् ! सारी प्रजा का कल्याण हो. शासक बलवान् और धर्मात्मा हो समय-समय पर (आवश्यकतानुसार) पानी बरसे. रोग नष्ट हो जावे. कही न चोरी हो और न महामारी फैले और सारे सुखो के देनेवाला भगवान् जिनेन्द्र का धर्मचक्र शक्तिशाली हो

इसी प्रकार का एक उल्लेख और भी सुनिये —

संपूजकानां प्रतिपालकानाम्, यतीन्द्रसामान्यतपोधनानाम्,
देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञः, करोतु शांति भगवान् जिनेन्द्रः ।

जो भगवान् के भक्त है, जो दीन-हीनो के सहायक है, जो यतियो मे श्रेष्ठ हैं, जो तपोधन है उन सवको तथा देश, राष्ट्र, नगर और राजा को भगवान् जिनेन्द्र शान्ति प्रदान करें

ये सव उल्लेख स्पष्ट यह वतलाते है कि जैनो के वाङ्मय का लक्ष्य आत्मशोधन के साथ-साथ लोकोपकार की भावना भी है उसका दृष्टिकोण सकुचित नही अपितु उदार, विशाल एव व्यापक है इसमे वसुधैवकुटुम्बकम् की 'उदात्त' तथा प्राजल भावना ओतप्रोत है इससे मानव को जो प्रेरणा मिलती है उससे उसकी पशुता निकल कर मानवता निखर जाती है जैन-भक्ति की एक विशेषता यह भी है कि इसमे किसी प्रकार के आडम्वर को स्थान नही मिलता आडम्वर भक्ति की विडम्वना है. उससे कभी आत्मा का यथार्थ दर्शन नही होता. उपास्य का जो वास्तविक स्वरूप है उसीकी उपासना पर जैनभक्ति मे वल दिया गया है भक्त भी उसी स्वरूप की प्राप्ति के लिये कृतसकल्प होता है जैन मदिरो मे वीतरागता के साधनो के अतिरिक्त जो वाह्य चीजे दीख पडती हैं, वे चाहे कितनी ही आकर्षक क्यो न हो, भक्ति मे उनका कोई महत्त्व नही जहाँ भक्ति के उच्च स्तर का वर्णन मिलता है वहाँ सोने-चाँदी आदि अत्यन्त वाह्य पदार्थो की कौन कहे, शरीराश्रित गुणो को भी कोई महत्त्व नही दिया गया वहाँ तो आत्माश्रित गुणो को ही भक्ति कर आधार माना गया है क्योंकि उन्ही की अभिव्यक्ति जीवन मे अपेक्षित है शरीर और इससे सम्वन्ध रखने वाले सभी वाह्य पदार्थ जड है जड के किसी भी गुण-धर्म की अभिव्यक्ति आत्मा को इष्ट नही है

मूर्तिपूजा और भक्ति

श्वेताम्वर जैनो के स्थानकवासी और तेरापथी एव दिगम्वर जैनो का तारणपथी सम्प्रदाय—यद्यपि मूर्तिपूजा को महत्त्व नही देते, फिर भी वे भक्ति का समर्थन करते है यद्यपि मूर्तिपूजा और भक्ति का निमित्त-नैमित्तिक सम्वन्ध है तो ये दोनो चीजें एक नही है किन्ही दो पदार्थो मे निमित्त-नैमित्तिक सम्वन्ध वनाना व्यक्तिगत प्रश्न है भक्ति के लिये भी कोई मूर्ति को अवलम्वन मानता है और कोई नही मानता है जो सप्रदाय मूर्ति या प्रतिमा को अवलम्वन नही मानते, वे भी भगवान् की भक्ति करते हैं भक्ति तो मनुष्य की मानसिक वृत्ति है वह मूर्तिरूप आलवन के विना निरालवन भी हो सकती है वास्तव मे परमात्मा या भगवान् ही आलवन हैं उपास्य मे तो कोइ भेद है नही, भले ही उनकी मूर्ति वनाई जाय या न वनाई जाय विना मूर्ति के भी परमात्मा या महात्माओ के गुणो मे अनुराग उत्पन्न कर उसमे पूजनीयता की आस्था स्थापित की जा सकती है भक्ति का रहस्य भी यही है इन तीनो सप्रदायो ने जो मूर्ति का विरोध किया है इसके ऐतिहासिक कारण है इससे किसी मे किसी की स्थापना करने की मानव-वुद्धि का विरोध नही होता. मूर्तिपूजा का विरोध करना उन तीनो सम्प्रदायो का क्रान्तिकारी कदम था किन्तु वह भक्ति का विरोध कभी नही था जैनधर्म मे जो भक्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है उसे जैनो के सभी सम्प्रदाय एक मत से स्वीकार करते है.

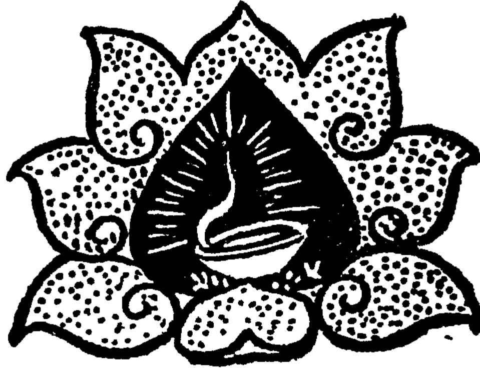
भक्ति साहित्य

जैन वाङ्मय मे भक्तिसाहित्य अथवा स्तोत्रग्रन्थो का उल्लेखनीय स्थान है. तीर्थंकरो पचपरमेष्ठी एव अन्य देवी-देवताओ सम्वन्धी हजारो स्तोत्रग्रन्थ उपलव्ध होते है भक्तामरस्तोत्र, कल्याणमन्दिरस्तोत्र आदि स्तुतिपरक रचनाएँ वडी ही महत्वपूर्ण है जैन उपासक प्रतिदिन इन रचनाओ को भक्ति के भाव मे विभोर होकर अपनी आत्मशुद्धि के लिये पढते हैं तुलनात्मक दृष्टि से इन स्तुतिग्रन्थो की अनेक विशेषताए हैं. इनका प्रत्येक पद्य एक मत्र माना जाता है और इन पर अनेक कथाए लिखी गई है जैनो के वैयक्तिक जीवन पर इन स्तोत्रो का वहुत प्रभाव है यह साहित्य इतना विशाल है कि इस पर विभिन्न दृष्टियो से अनुसधान किया जा सकता है जैनो के चोटी के आचार्यो ने अन्यान्य विपयो की रचना के साथ-साथ भक्तिसाहित्य को भी अपनी रचना का विषय वनाया है दार्शनिक साहित्यकारो ने भक्ति को तर्क की कसौटी पर कस कर अपने ग्रन्थो मे इसकी उपादेयता सिद्ध की है.



भक्ति का समन्वय

ससार के सभी धर्मो मे भक्ति का उल्लेखनीय स्थान है. जो ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते है और जो ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नही करते, उनका भक्ति तत्त्व अनेक दृष्टियो से समान नही है. गीता का अध्ययन करने से पता चलता है कि ईश्वर की सत्ता स्वीकार करके भी गीताकार निष्काम भक्ति पर बहुत जोर देते है. ऐसा ज्ञात होता है कि गीताकार पर कर्तत्ववाद की कोई छाप ही नही है. गीताकार की भक्ति और जैनभक्ति मे अनेक दृष्टियो से साम्य है किन्तु उपास्य का स्वरूप दोनो मे एक-सा नही है. विभिन्न धर्मो मे जो भक्तितत्त्व की व्याख्या मिलती है उसका अनेकान्तवाद के आधार पर समन्वय किया जा सकता है. इस प्रकार के समन्वय की आज अत्यन्त आवश्यकता है अत. साध्य की सिद्धि के लिये उसका निष्कपट भाव से प्रयोग करना चाहिए, यही भक्तियोग की मर्यादा है.



डा० कन्हैयालाल सहल
अध्यक्ष हिन्दी विभाग, बिड़ला आर्ट्स कॉलेज, पिलानी

नियति का स्वरूप



काव्यप्रकाशकार ने कवि-भारती का जयजयकार करते हुए 'नियतिकृतनियमरहिता' का प्रयोग किया है जिससे स्पष्ट है कि वे नियति[1] को नियम-समष्टि अथवा नियमन करने वाली शक्ति के रूप मे ग्रहण करते है. 'नियति' शब्द का इस तरह का प्रयोग वैदिक 'ऋत' से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है जहाँ ऋत के कारण ही ससार मे नियम-चक्र चलता है तथा ब्रह्माण्ड मे व्यवस्था दृष्टिगोचर होती है[2]

वैज्ञानिक अध्ययन और प्रयोगो के परिणामस्वरूप अब यह तथ्य अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि यह विश्व कुछ ऐसे नियमो द्वारा सचालित है जो अकाट्य और अनुल्लघनीय है इस विचारधारा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति विश्व-शृखला की एक कडी मात्र है सस्कृत के अनेक प्राचीन ग्रथो मे नियति के स्वरूप की विवेचना की गई है. उदाहरणार्थ योगवासिष्ठ के निम्नलिखित श्लोको को लीजिए—

> यथास्थित ब्रह्मतत्त्व सत्ता नियतिरुच्यते ।
> सा विनेतुर्विनेयत्व सा विनेयविनेयता । —प्रकरण २, सर्ग १० श्लोक १.
> आदिसर्गे हि नियतिर्भाववैचित्र्यमक्षयम् ।
> अनेनेत्थं सदा भाव्यमिति संपद्यते परम् । —प्रकरण ३, सर्ग ६२, श्लोक ९
> महासत्तेति कथिता महाचितिरिति स्मृता ।
> महाशक्तिरिति ख्याता महादृष्टिरिति स्थिता ।१०।
> महाक्रियेति गदिता महोद्भव इति स्मृता ।
> महास्पन्द इति प्रौढा महात्मैकतयोदिता ।११।
> तृणानीव जगत्येवमिति दैत्याः सुरा इति ।
> इति नागा इति नगा इत्याकल्पं कृता स्थितिः ।१२।

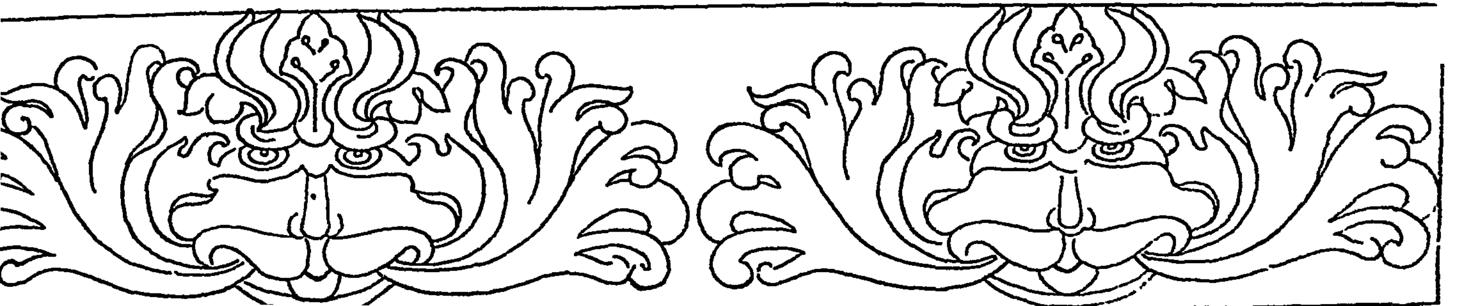
अर्थात् सर्वत्र सम रूप से स्थित जो व्यापक ब्रह्म की सत्ता है, उसी का नाम नियति है, वही कार्य-कारण के नियम्य और नियामक रूप से स्थित है कारण होने पर कार्य अवश्य होता है और कार्य होने पर उसका कोई कारण अवश्य होता है इसी नियम का नाम नियति है वही कारण आदि की नियामकता है और वही कार्य आदि की नियम्यता भी है.

सृष्टि के प्रारम्भ से ही अग्नि आदि की उष्णता और ऊर्ध्वज्वलन नियति के कारण है, पर ब्रह्म स्वय अपने सकल्प से पदार्थो की विचित्रतासहित अक्षय नियति का रूप धारण कर लेती है वही नियति सपूर्ण ब्रह्माण्डो की स्थिति, विस्तार,

---

१ नियम्यन्ते धर्मा अनया इति नियति ।

२ There is no error in the Eternal plan, All kings are working for the final good of man
—Wordsworth



सामर्थ्य, विवेक, रचना, जन्म और अर्थक्रियाकारितादि की हेतुता से महासत्ता, महाचिति, महाशक्ति, महादृष्टि, महाक्रिया, महाउद्भव और महास्पन्द, गति इत्यादि नामो से कही गई है. तृणो के समान सब जगत् का परिवर्तन करती हुई—दैत्य इस प्रकार के क्रूर हैं, देवता इस प्रकार शान्त है, नाग ऐसे है, पर्वत ऐसे जड़ है इत्यादि रूप से कल्पपर्यन्त नियति अपने रूप मे स्थित रहती है.

× × ×

न शक्यते लंघयितुमपि रुद्रादिबुद्धिभः। —३,६२,२.
सर्वज्ञोऽपि बहुज्ञोऽपि माधवोऽपि, हरोऽपि च।
अन्यथा नियतिं कर्तुं न शक्त. कश्चिदेव हि। —५,८९,२६.
सर्गादौ या यथारूढा संविक्तचनसंतति।
साऽद्याप्यचलिताऽन्येन स्थिता नियतिरुच्यते। —३,५४,२२
आमहारुद्रपर्यन्तमिदमित्थमिति स्थिते।
आतृणपद्मजरपन्दं नियमान्नियति स्मृता। —६,३७,२१.

अर्थात् रुद्रादि देवता भी नियति का उल्लघन नही कर सकते. माधव और हर के समान सर्वज्ञ और बहुज्ञ भी नियति के नियमो में व्यतिक्रम नही कर सकते. वर्तमान विश्व के प्रारम्भ मे नियति की जैसी कल्पना की गई थी, उसी रूप मे वह आज भी अचल भाव से स्थित है. रुद्र से लेकर छोटे-से-छोटे तृण पर्यन्त नियति का ही नियमन-व्यापार सर्वत्र दिखलाई पडता है इस नियमन के कारण ही इसे नियति कहा गया है.

योगवासिष्ठ में ही नियति की नटी के रूप में भी कल्पना की गई है—

नियतिर्नित्यमुद्वेगवर्जिता परिमार्जिता।
एषा नृत्यति वै नृत्यं जगज्जालकनाटकम्। —प्रकण ६, सर्ग ३७, श्लोक २३.

अर्थात् यह नियति नित्य उद्वेगरहित तथा परिमार्जित रहते हुए जगज्जाल रूप नाटक रचती रहती है Rational Mysticism के लेखक ने भी नियति के प्रभुत्व को स्वीकार किया है—"Individual man can modify the course of nature on the earth in many minor ways; but he can not alter the course of nature as a whole, that is to say, those cosmic happenings which are determind by a higher power, or by higher powers" —(Kingsland) : Rational Mysticism p 354

अर्थात् बहुत से छोटे-मोटे रूपो में तो व्यक्ति प्रकृति के कार्य-व्यापार मे रूपान्तर उपस्थित कर सकता है किन्तु कुल मिलाकर वह प्रकृति की पद्धति को बदल नही सकता अर्थात् विश्व की जो घटनाएँ किसी उच्चतर शक्ति अथवा उच्चतर शक्तियो द्वारा नियत कर दी जाती है, उनमें परिवर्तन उपस्थित करना व्यक्ति के वश का रोग नही. योगवासिष्ठकार के मतानुसार नियति विश्व की नियामिका शक्ति है, जिसके अनुशासन को अखिल भुवन तथा चर और अचर सभी स्वीकार करते है. एक छोटी-सी सभा के सचालन के लिये भी जब नियम बनाए जाते हैं, तब इस विराट् ब्रह्माण्ड के लिये नियमो की कितनी अधिक आवश्यकता है, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है. नियमो के अभाव में सर्वत्र धाधली और अव्यवस्था फैल जायगी, कर्म-व्यवस्था के सबन्ध मे वेद मे भी कहा गया है—

'न किल्बिषमत्र नाधारो अस्ति न यन्मित्रै सममान एति,
अनूनं निहितं पात्रं न एतत् पक्तारं पक्वः पुनराविशाति।'

अर्थात् कर्म-व्यवस्था में किसी प्रकार की त्रुटि नही हो सकती. आम का बीज डालने से जमीन मे आम ही उगता है. यह कारण-कार्यविधान विश्व मे सर्वत्र लागू है. यहा कोई आधार या सिफारिश भी नही चलती और न यही संभव है कि मित्रो के साथ गति प्राप्त की जा सके. किसी भी वाह्य कारण से हमारे इस कर्म-फल-पात्र मे कोई घटा-बढी नहीं

हुई जैसा और जितना हमने इसे भरा, वैसा और उतना ही यह सुरक्षित है पकाने वाले को पका पदार्थ फिर आ मिलता है अर्थात् कर्म-फल से छुटकारा नही मिलता.

शैवागमो द्वारा किया गया नियति का निरूपण भी इस प्रसग में उल्लेखनीय है नियति शैवागम दर्शन का एक विशिष्ट शब्द है जो उस तत्त्व के अर्थ मे प्रयुक्त होता है जिसके कारण प्रत्येक वस्तु की कारिका शक्ति नियत रहती है 'नियतिर्नियोजना धत्ते विशिष्टे कार्यमण्डले'

नियति के कारण ही सरसो के वीज से सरसो का अकुर फूटता है और अग्नि मे केवल जलाने की शक्ति है, नियति के कारण ही पवन मे जल को आन्दोलित करने की क्षमता पाई जाती है

बहुत से नियतिवादियो का तो कहना यह है कि ससार मे जो आपातत आकस्मिक और आश्चर्यमयी घटनाएँ घटित होती हुई दिखलाई पडती है, वे वस्तुत न आकस्मिक होती है और न आश्चर्यमयी आकस्मिकता और आश्चर्य की सत्ता तो उन लोगो के लिये है जो नियति के रहस्य को हृदयगम नही कर पाते नियति यदि विश्व की नियामिका शक्ति है, यदि यह कर्म-चक्र की सचालिका है, यदि नियति की प्रेरणा से ही यह गोलक, कर्म-चक्र की भाति घूम रहा है तो अवश्य ही यह सब किसी विधान के अन्तर्गत होता होगा

किन्तु इसके विपरीत एक विचारधारा ऐसी भी है जो भाग्य को अन्धा मान कर चलती है योरीपीय देशो के लोगो का विश्वास था कि कोई ऐसी शक्ति अवश्य है जो मनुष्य के जन्म के समय ही उसके सपूर्ण जीवन की गतिविधि निश्चित कर हमेशा के लिये उसके भाग्य का निपटारा कर देती है भाग्य, वह अवश्यभावी दैवी विधान है जिसके अनुसार प्रत्येक पदार्थ और विशेषत मनुष्य के सब कार्य-उन्नति, अवनति, नाश आदि पहले से ही निश्चित रहते है और जिससे अन्यथा कुछ हो ही नही सकता अशिक्षितो मे से अधिकाश लोगो का यही विश्वास रहता है कि ससार मे जो कुछ होता है, वह सदा भाग्य से ही होता है और उस पर मनुष्य का कोई अधिकार नही होता साधारणत शरीर मे भाग्य का स्थान ललाट माना जाता है बहुत-से लोग यह मानते है कि छठी के दिन भाग्य की देवी शिशु के ललाट पर भाग्य का अकन कर जाती है जिसमे न राई घटती है, न तिल वढता है सामान्य लोगो की दृष्टि मे भाग्य अन्धा है और उसके द्वारा नियोजित कार्य-व्यापार मे कारण-कार्य की कोई शृखला नही दिखलाई पडती ग्रीस देश के दु खान्त नाटको मे भी किस्मत की जो कल्पना की गई है, उसके अनुमार वह एक ऐसी निरपेक्ष शक्ति है जिसके अनुशासन को सभी स्वीकार करते है किन्तु स्वय वह किसी भी प्रकार के प्राकृतिक अथवा नैतिक विधान को मानकर नही चलती

स्व० डॉ० अन्सारी किसी रोगी की चिकित्सा के सिलसिले मे रेल द्वारा यात्रा कर रहे थे डॉक्टर साहव उन महाभागो मे से थे, जो गाधीजी की भयकर-से-भयकर वीमारीकी खवर सुनते ही महात्माजी को सूचित किया करते थे कि मैं आपको मृत्यु के मुख से छुडा लाऊँगा किन्तु उन्ही डॉक्टर अन्सारी को रेल के डिव्वे मे ही जब हृद्रोग ने आ दवाया तो कहने लगे—'मैं मृत्यु के पद-चापो की निकटतम आती हुई ध्वनि को सुन रहा हूँ चाहता हू कि कभी विधि के विधान मे कुछ दिवस अपने लिये और मुरक्षित करवा लू किन्तु कोई उपाय नही, कोई चारा नही वे ही डॉक्टर साहव, जो किसी दूसरे को मृत्यु के भीपण मुख से निकालने जा रहे थे, स्वय कराल काल के गर्भ मे समा गये

डाण्टे के 'इन्फनो' तथा 'होमर' के 'ईलियड' और 'ओडीसी' से लेकर आधुनिक युग तक के लेखको ने भवितव्यता की प्रवलता को स्वीकार किया है किन्तु जो भवितव्य है, वह क्या पहले से नियत है? क्या वह किसी कारण-कार्य-परम्परा का अनुसरण करता है अथवा उनका सारा कार्य व्यापार अन्धवत्-प्रवृत्त होता है ? इस प्रकार के अनेक प्रश्न भवितव्यता के सम्वन्ध मे हमारे मन मे उठे विना नही रहते दुनिया के मनीषियो ने इस विषय पर भिन्न-भिन्न विचार प्रकट किये है. चीन की एक कहावत मे कहा गया है कि बीमारी का इलाज हो जाता है, किन्तु भाग्य का नही अनेक वार ऐसा हुआ है कि भाग्य से वचने के लिये किसी ने जिस मार्ग का अनुसरण किया, उसी मार्ग मे वह अपने दुर्भाग्य का शिकार हो गया इस सम्वन्ध मे रावर्ट साऊदे का निम्नलिखित कथन उल्लेख्य है—



"The poor slaves . must drag the car ıf Destıny wherever she drıves, ınexorable and blınd
जो हमारे भाग्य की गाडी चलती है, वह यदि अन्धी हो तो फिर इस जीवन का क्या ठिकाना है.

उक्त विवेचन को पढ़ कर ऐसा लगता है कि यदि इस विश्व में सब कुछ पूर्वनिर्दिष्ट है तो क्या मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा शक्ति के लिये यहाँ कोई स्थान नही है ? दर्शन-शास्त्र का यह एक बडा जटिल प्रश्न है जिस पर गम्भीरता से विचार करना आवश्यक है.

डा० राधाकृष्णन् ने शायद कही कहा था कि 'स्वतन्त्र कर्त्ता' केवल पाणिनि का ही सूत्र नही, वह हमारे देश का दार्शनिक सूत्र भी है. प्राकृतिक जगत् की वस्तुओ की भाति मनुष्य वस्तु नही, वह वस्तुओ को अपनी इच्छानुसार रूप देने वाला कर्त्ता है. जब वैज्ञानिक किसी वस्तु का आविष्कार करता है, तब वह उस वस्तु से अपने को अलग कर लेता है और तब उसके रहस्योद्घाटन का प्रयत्न करता है. इससे स्पष्ट है कि जहाँ तक व्यक्ति का सम्बन्ध है, उसमे अपनी स्वतन्त्र इच्छा—शक्ति का तत्त्व सन्निहित है वह तत्त्व वस्तु-बाह्य अथवा आन्तरिक है. इस तत्त्व की जब हम उपेक्षा करने लगते है तब हम अपने आप को मात्र वस्तु मान लेते है जड पदार्थों की भाति हम अपने आपको यत्र का एक पुर्जा समझने लगते हैं और उस स्वतन्त्रता से अपने आपको वञ्चित कर लेते है—जो हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है.

मनुष्य नियति के अधीन है अथवा कर्म करने मे स्वतन्त्र है, इस प्रश्न का वेदान्त ने स्पष्ट शब्दो मे उत्तर दिया है वेदान्त के अनुसार जब तक मनुष्य अविद्या के वशीभूत रहता है, तब तक वह स्वतन्त्र नही कहा जा सकता मोक्ष अथवा स्वातन्त्र्य, विद्या द्वारा ही सम्भव है जो मनुष्य इच्छा तृष्णा अथवा वासनाओ का शिकार है, वह स्वतन्त्र नही माना जा सकता. स्वतन्त्र बनने के लिए सतत साधना द्वारा उसे आत्म-साक्षात्कार करना होगा. साथ ही यह भी सत्य है कि मनुष्य की मनुष्यता इस स्वातन्त्र्य-सिद्धि में ही है क्योकि वही एक ऐसा प्राणी है जो साधना द्वारा आत्म-सस्कार कर सकता है. पेड-पौधों, पशु-पक्षियो तथा जीव-जन्तुओ मे यह शक्ति नही कि वे मनुष्य की भाति अपना सस्कार कर सके. वे अपनी सहज वृत्ति से ऊपर नही उठ सकते.

दैववाद तथा स्वातन्त्र्यवाद के सम्बन्ध मे जो विचार ऊपर प्रकट किए गये हैं, वे हमारे देश की दार्शनिक विचारधारा के अनुरूप है किन्तु व्यावहारिकता की दृष्टि से हमारे जीवन मे दैव तथा पौरुष दोनो का स्थान है. माघ कवि के शब्दो में—

"नालम्बते दैष्टिकतां, ना निषीदति पौरुषे ।
शब्दार्थौ सत्कविरिव, द्वयं विद्वानपेक्षते । —शिशुपालवध, द्वितीय सर्ग, श्लोक ८६.

अर्थात् विद्वान् न तो केवल दैव का सहारा लेता है और न पौरुष पर ही स्थित रहता है जिस प्रकार सत्कवि शब्द और अर्थ दोनो का आश्रय ग्रहण करता है, उसी प्रकार विद्वान् भी दैव और पौरुष दोनो को जीवन में आवश्यक समझता है. गीताकार ने भी कार्य सिद्धि मे अधिकरण, कर्त्ता, भिन्न-भिन्न प्रकार के कारण तथा विविध चेष्टाओ से साथ 'दैव चैवात्र पचमम्' कह कर दैव की भी सत्ता स्वीकार की है

एक बार हमारे प्रधानमन्त्री प० नेहरू ने नियतिवाद और स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का तारतम्य बतलाते हुए लिखा था—'इस विश्व मे नियतिवाद और स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति दोनो के लिये स्थान है. इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है ब्रिज के खेल में प्रत्येक खिलाडी को जो ताश के पत्ते मिलते है, उसमे खिलाडी की स्वतन्त्र-इच्छा-शक्ति का कोई हाथ नही रहता किन्तु उन्ही पत्तो की सहायता से अपने अनुभव और बुद्धि-कौशल द्वारा चतुर खिलाडी जो खेल, खेलता है उसमे उसकी स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति का पूरा योग है' एक दूसरा उदाहरण लीजिए. पिता के चुनाव मे पुत्र स्वतन्त्र नही है किन्तु पुत्र रूप मे अवतरित व्यक्ति अपनी स्वतन्त्र इच्छा शक्ति द्वारा अपने व्यक्तिव का समुचित विकास कर सकता है. कर्ण के सारथि-पुत्र होने की बात कह कर जब अश्वत्थामा ने उसके मर्मस्थल पर चोट करनी चाही तो कर्ण ने कहा था—

सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्,
दैवायत्तं कुले जन्म, मदायत्तं तु पौरुषम्।

कर्ण की इस ओजमयी उक्ति मे ही नियति और स्वातन्त्र्य का तत्त्व समाहित है

मंखलि गोशालक का नियतिवाद

इस प्रसग मे मक्खलि गोशाल के नियतिवाद की चर्चा करना भी अवाँछनीय न होगी मक्खलि, आजीवको के सुप्रसिद्ध सिद्धात नियतिवाद के प्रवर्तक माने जाते है वे बहुत समय तक भगवान् महावीर के साथ रहे किन्तु फिर मतभेद के कारण उनसे पृथक् हो गये 'भगवती सूत्र' तथा आवश्यक सूत्र' की चूर्णि मे दोनो के पार्थक्य का विवरण उपलब्ध है कहा जाता है कि एक दूसरे से पृथक् होने पर ये दोनो १६ वर्षो तक अपने-अपने सिद्धान्तो का प्रचार करते रहे इस अवधि मे मक्खलि गोशाल की भी प्रतिष्ठा बढ गई और श्रावस्ती मे उनके अनेक अनुयायी हो गये उन्होने अपने आपको तीर्थंकर भी घोषित कर दिया विद्वानो के मतानुसार भगवान् महावीर से उनका मौलिक मतभेद नियतिवाद के सम्बन्ध मे ही था जहाँ गोशाल एकात नियतिवादी थे, वहा श्रमण भगवान् महावीर अनेकान्तवाद के समर्थक थे 'श्रीमदुपासकदशाग-सूत्र' का निम्नलिखित प्रसग यहाँ उल्लेख्य है—

एक दिन सद्दालपुत्र 'आजीविकोपासक' वायु से कुछ सूखे हुए मिट्टी के कच्चे बरतनो को घर से बाहर निकाल कर धूप मे सुखा रहा था उस समय भगवान् महावीर ने उससे पूछा 'हे सद्दालपुत्र! ये मिट्टी के बरतन किस प्रकार बनते है ? सद्दालपुत्र ने उत्तर दिया : 'हे भगवन् ! प्रथम ये सब मिट्टी के रूप मे थे, उस मिट्टी को पानी मे भिगो कर उसमे राख और लीद मिलाते है, पीछे बहुत खूद करके उसको चाक पर चढाते है जिससे बहुत से करवे कुंजे आदि तैयार होते है

यह सुनकर श्रमण भगवान् ने फिर पूछा 'सद्दालपुत्रा, एसण कोलालभडे किं उट्ठाणेण जाव पुरिसक्कारपरक्कमेण कज्जति उदाहु अणुट्ठाणोण जाव अपुरिसक्कारपरक्कमेण कज्जति ?" अर्थात् हे सद्दालपुत्र ! जो ये मिट्टी के बरतन बने है, ये सब उत्थान, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम से बने हैं या विना उत्थान, बल वीर्य और पुरुषकार-परा- क्रम मे वने है ?

इस पर सद्दालपुत्र ने उत्तर दिया, 'भते ! अणुट्ठाणेण जाव अपुरिसक्कारपरक्कमेण, नत्थि उट्ठाणे इ वा जाव पर-क्कमे इ वा, नियया सव्वभावा' अर्थात् हे भगवन् ! विना उत्थान, बल, वीर्य और पराक्रम से बनते है इनके वनाने मे उत्थान, वल और पराक्रम की कुछ भी आवश्यकता नही है, क्योकि सब भाव नियत है

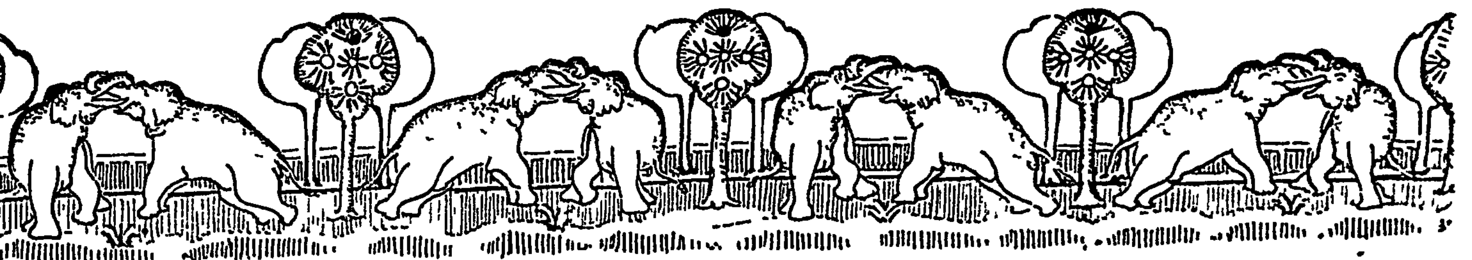
इस पर श्रमण भगवान् ने फिर पूछा, "सद्दालपुत्ता ! जइ ण तुब्भ केइ पुरिसे वायाहय वा पक्केलय वा कोलालभड अवहरेज्जा वा विक्खिरेज्जा वा भिंदेज्जा वा अच्छिदेज्जा वा परिट्ठवेज्जा वा अग्गिमित्ताए वा भारियाए सद्धि विउलाइ भोगभोगाइ भुजमाणे विहरेज्जा, तस्स ण तुम पुरिसस्स किं दड वत्तेजासि ?"

अर्थात् हे सद्दालपुत्र ! यदि कोई पुरुप कच्चे मे से पके हुए तेरे बरतनो की चोरी कर ले जाय, बिखेर दे, फेंक दे, छेद करदे, फोड डाले या बाहर लेजाकर छोड दे अथवा तेरी अग्निमित्रा भार्या के साथ अनेक प्रकार से भोग, भोगे तो तू उस पुरुष को दड दे अथवा नही ?

यह सुनकर सद्दालपुत्र ने उत्तर दिया, "भते ! अह ण त पुरिस आओसेज्जा वा हणेज्जा वा वधेज्जा वा महेज्जा वा तज्जेज्जा वा तालेज्जा वा निच्छोडेज्जा वा निब्भच्छेज्जा वा अकाले चेव जीविआओ ववरोवेज्जा"

अर्थात् हे भगवन् ! मैं उस पुरुष पर आक्रोश करू, दडादिक से मारू, रस्सी से बाध लू, तर्जना करू, तमाचा लगाऊ दाम वसूल करके तिरस्कार करू और उसके प्राण ले लू

यह सुन कर भगवान् महावीर ने कहा, "हे सद्दालपुत्र ! तुम्हारे मतानुसार तो उत्थान, बल, वीर्य और पराक्रम कुछ नही है, सब भाव नियत ही है तो तेरे पके हुए मिट्टी के बरतनो को चोरने वाले या फोडने वाले तथा तुम्हारी भार्या



से भोग करने वाले को तुम क्यो मारते हो जब कि तुम्हारे मत से होनहार होकर ही रहता है तथा उत्थान, बल, वीर्य, पराक्रम आदि सब व्यर्थ है."

श्रमण भगवान् के उक्त शब्द सुन कर सद्दालपुत्र से कुछ उत्तर देते न बना और उसने प्रतिबोध पाया.

इसी प्रसग मे 'उपासकदशाग सूत्र' के ६ठे अध्ययन मे उपलब्ध कुडकोलिक और देव का विवाद भी उद्धरणीय है

देव ने कहा, उत्थान कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार तथा पराक्रम व्यर्थ है क्योकि अनेक वार उत्थानादि करने पर भी कार्य सिद्धि नही होती. कहा भी है—

> प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभाशुभो वा,
> भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्तिनाशः।
> न हि भवति यन्न भाव्यं भवति च भाव्यं विनाऽपि यत्नेन,
> करतलगतमपि नश्यति यस्य तु भवितव्यंता नास्ति।

—उवासग-दसाओ, ६–१६५

अर्थात् नियति के बल पर जो कुछ भी शुभ अथवा अशुभ होने वाला है, वह होकर ही रहेगा. प्राणी चाहे कितना भी बड़ा प्रयत्न क्यो न करे, जो कुछ नही होने वाला होगा, नही होगा, और इसी प्रकार, जो होने वाला होगा, उसका नाश भी नही हो सकेगा. जो भवितव्य नही है, नही होगा और जो भवितव्य है, वह बिना प्रयत्न के भी होगा किन्तु जिस व्यक्ति के लिये उसकी भवितव्यता नही, उसकी हथेली में आकर भी वह नष्ट हो जायगा.

यह सुन कर कुण्डकोलिक श्रमणोपासक ने देव से पूछा · "तुमने इस प्रकार की दिव्य देवऋद्धि, दिव्य देवद्युति और दिव्य देव-प्रभाव किस प्रकार प्राप्त किये ? उत्थानादिक से प्राप्त किये अथवा अनुत्थानादिक से ?"
इस पर देव ने उत्तर दिया : "मुझे इस प्रकार की देवऋद्धि आदि विना उत्थान, कर्म, वल, वीर्य, पुरुषकार पराक्रम किये प्राप्त हुई है."

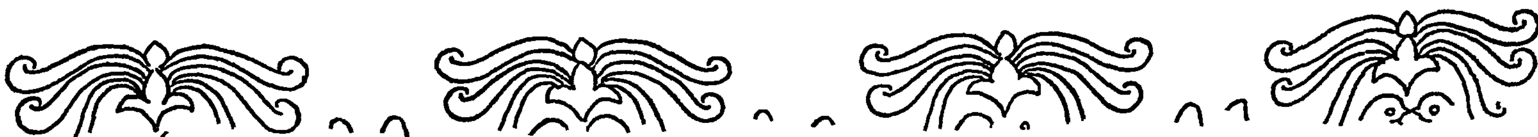
यह सुन कर कुडकोलिक ने कहा · "यदि यही बात है तो जो जीव उत्थान आदि नही करते, वे भी तेरे जैसी दिव्य देव-ऋद्धि क्यो नही प्राप्त कर लेते? वस्तुतः तू ने उत्थानादि से ही देव-ऋद्धि प्राप्त की है और तेरा कथन मिथ्या है" उक्त वचन सुन कर देव शकित हो गया है कि गोशाल का मत सत्य है या श्रमण भगवान् श्री महावीर स्वामी का मत सत्य है.

नियतिवाद और पुरुषार्थवाद का विषय चिरकाल से ही दार्शनिक क्षेत्र में वादविवाद का विषय रहा है. श्री गुणरत्नसूरि-कृत 'षड्दर्शन समुच्चयटीका' की प्रस्तावना में नियति के स्वरूप की विवेचना करते हुए कहा गया है—

ते (नियतिवादिनः) ह्येवमाहु—

> नियतिर्नाम तत्त्वान्तरमस्ति यद्वशादेते भावा सर्वेऽपि नियतेनैव रूपेण प्रादुर्भावमश्नुवते, नान्यथा तथाहि यद् यदा यतो भवति तत्तदा तत एव नियतेनैव रूपेण भवदुपलभ्यते, अन्यथा कार्यकारणव्यवस्था प्रतिनियतरूप व्यवस्था च न भवेत् नियामकाभावात्. तत एव कार्यनैयत्यत प्रतीयमानामेनां नियतिं को नाम प्रमाणपथ-कुशलो बाधितु क्षमते ? मा प्रापद् (अन्यथा) अन्यत्रापि प्रमाणपथव्याघातप्रसग . तथा चोक्तम्—
>
> नियतेनैव रूपेण सर्वे भावा भवन्ति यत्,
> ततो नियतिजा ह्येते, तत्स्वरूपानुवेधतः।
> यद्यदैव यतो यावत्तत्तदैव ततस्तथा,
> नियतं जायते नान्यात् क एनां बाधितु क्षमः।

उक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि नियतिवादी नियति को कार्यकारण की नियामिका शक्ति के रूप मे ग्रहण करते है यदि नियति न हो तो कार्यकारण की व्यवस्था ही भग हो जाय.



नियतिविषयक यह दृष्टिकोण अत्यन्त वैज्ञानिक है जिसकी तुलना वैदिक 'ऋत' तथा पाश्चात्य दार्शनिको के नियतवाद (Deterominism) से की जा सकती है, यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि नियति सबन्धी यह धारणा अन्ध भाग्यवाद (Blind fatalism) की किसी भी प्रकार नही है—जहाँ भाग्य के देवता को अन्धा चित्रित किया गया है बबूल का पेड लगाने से बबूल का पेड ही उगता है, अन्य कोई पेड नही, इसका कारण नियति ही है, और कुछ नही नियति के विषय मे यही दृष्टिकोण काश्मीर शैवागमो मे भी गृहीत हुआ है मिट्टी से मिट्टी का घडा ही निर्मित होता है, स्वर्ण-घट नही, इसके मूल मे भी कार्यकारण की नियामिका शक्ति नियति ही वर्तमान है

मक्खलि गोशाल के नियतिवाद का वास्तविक रूप क्या था, यह प्रश्न सहज ही हमारे मन मे उपस्थित होता है 'उपासकदशाग सूत्र' मे श्रमण भगवान् महावीर के तथा मक्खलि गोशाल के अनुयायियो मे जिस प्रकार का वार्तालाप हुआ है, उससे मक्खलि भाग्यवादी, (Fatalist) सिद्ध होते है, गुणरत्नसूरी द्वारा प्रतिपादित नियतिवाद के मानने वाले नही यदि मक्खलि के अनुयायी गुणरत्नसूरी द्वारा प्रस्तुत नियतिवाद के मानने वाले होते तो वे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के प्रश्नो का भली-भाति ऊत्तर दे सकते थे, उन्हे निरुत्तर होने की आवश्कता नही थी

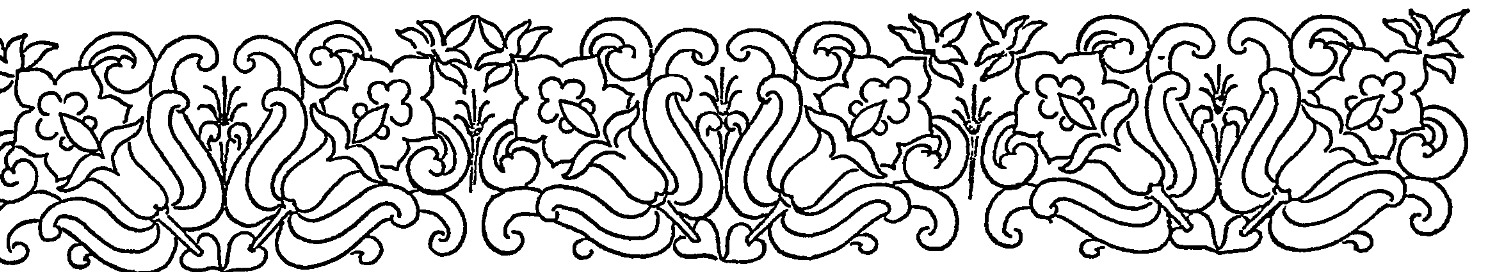
मक्खलि गोशाल द्वारा किया हुआ नियतिवाद का स्वतत्र विवेचन यदि उपलब्ध हो तो मक्खलि के नियतिवाद का यथार्थ रूप समझने मे बडी सहायता मिलेगी श्रीपरशुराम चतुर्वेदी ने 'आजीवको का नियतिवादी सम्प्रदाय' शीर्षक अपने एक लेख मे लिखते है —

'छुट-पुट अवतरणो के सहारे भी यह अनुमान करते अधिक विलव नही लगता कि मक्खलि गोशाल के नियतिवाद मे सारतत्त्व की कमी नही है. उनकी मान्यता की आधार-शिला यह प्रतीत होती है कि 'नियत' किसी सुव्यवस्था के सिद्धात का एक व्यापक एव सर्वग्राही नियम है जो प्रत्येक कार्य एव प्रत्येक दृश्य को मूलत शासित किया करता है, जिस कारण मनुष्य के कर्म स्वातत्र्य को कोई स्थान नही और न उसकी क्रियाशक्ति का ही कोई परिणाम सभव है वास्तव मे यह नियति एक प्रकार के किसी प्राकृतिक व विश्वात्मक नियम की प्रतीक है जिसके किसी न किसी रूप को स्वय भगवान् बुद्ध एव महावीर ने भी स्वीकार किया है उनके द्वारा उपदिष्ट कर्मवाद मे भी एक सर्व व्यापक नियम दृष्टिगोचर होता है जो सारे विश्व को नियत्रित एव शासित करता है, अन्तर केवल यही हो सकता है कि वहाँ पर अपवाद की भी सभावना है, इसी प्रकार साख्य दर्शन के परिणामवाद मे भी हमे नियतिवाद के तत्व दीख पडते है, किन्तु वहाँ पर भी आजीवको की जैसी कठोरता का पता नही चलता नियति की चर्चा करते समय मक्खलि गोशाल का कथन कुछ इस प्रकार का था कि 'जिस प्रकार कोई सूत से भरी रील फेंकने पर बराबर उभरती चली जाती है और वह उसकी पूरी लबाई तक एक ही प्रकार से बढती जाती है, उसी प्रकार चाहे कोई मूर्ख हो, चाहे कोई पडित ही क्यो न हो, सभी को ठीक एक ही नियम का अनुसरण कर अपने दु ख का अन्त करना है, मक्खलि गोशाल के इस नियतिवाद की धारणा को उनके दक्षिणी अनुयायियो ने कुछ और भी विकसित किया उन्होने, कदाचित् पकुध कच्चायन की मान्यता के अनुसार, नियति को 'अविचलितनित्यत्वम्' जैसा विशेषण अथवा नाम दिया जिसका भाव यह था कि वह सभी प्रकार से अपरिवर्तनशील है इस प्रकार नियति का रूप गतिशील न होकर सर्वथा 'नित्य स्थायी' (Static) सा बन जाता है जिसमे किसी प्रकार के काल (Time) की भी गुजायश नही रहती एक तमिल ग्रन्थ के अनुसार धन एव निर्धनता, पीडा और आनन्द, किसी एक देश का निवास और अन्य देशो मे भ्रमण-ये सभी पहले से ही गर्भ के भीतर निश्चित कर दिये गए रहते है और यह सारा जगत् किसी कठोर नियति द्वारा शासित और परिचालित है[1]

मक्खलि गोशाल के दक्षिणी अनुयायियो की विचारधारा को यदि एक बार छोड दें तो उक्त उद्धरण के आधार पर मक्खलि उस नियतिवाद के समर्थक जान पडते है जिसके अनुसार विश्व कार्यकारण के नियमो द्वारा सचालित है यह दृष्टिकोण 'उपासकदशाग सूत्र' मे प्रस्तुत किये हुए नियतिवादी दृष्टिकोण से भिन्न जान पडता है तथा श्री गुणरत्नसूरि

---

१ भारतीय साहित्य (जुलाई १९५८) पृ० २९-३०

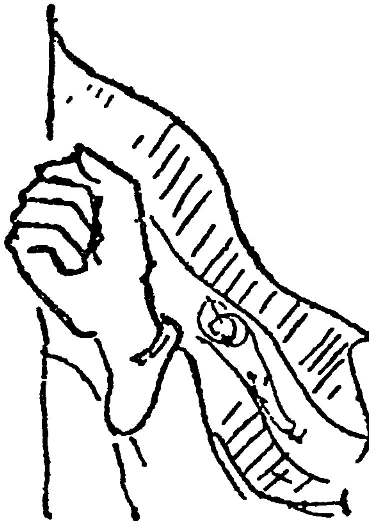


के उल्लेख से मेल खाता है. मक्खलि गोशाल के नियतिवाद का तात्त्विक रूप वस्तुत गवेष्य है. 'नियति' दैव का रूप है अथवा कर्म का, यह प्रश्न विद्वानो द्वारा विचारणीय है.

दैववादी 'दैव' को ही प्रत्येक कार्यसिद्धि का हेतु मानते है किन्तु जैन दार्शनिक सिद्धसेन दिवाकर ने एकान्त कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, पूर्वकृतवाद, पुरुषार्थवाद आदि की अलग-अलग एकान्त मान्यता को मिथ्यावाद कहते हुए इन सबके समुदाय को ही कार्यसाधक माना है—

कालो सहाव णियई पुव्वकयं पुरिसकारणेगंता ।
मिच्छत्तं ते चेव उ, समासओ होंति सम्मतं ।। —सन्मतितर्क प्रकरण तृतीय खण्ड

गीताकार ने भी किसी भी कर्म की सिद्धि के लिये अधिष्ठन, कर्त्ता, भिन्न-भिन्न साधन, भिन्न-भिन्न चेष्टाएँ तथा दैव—ये पाँच हेतु माने है.[1]



१ पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे । साख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ।।
अधिष्ठान तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम् । विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ।।



मुनि श्रीसुशीलकुमार

भिक्षु जमाली और बहुरतदृष्टिवाद

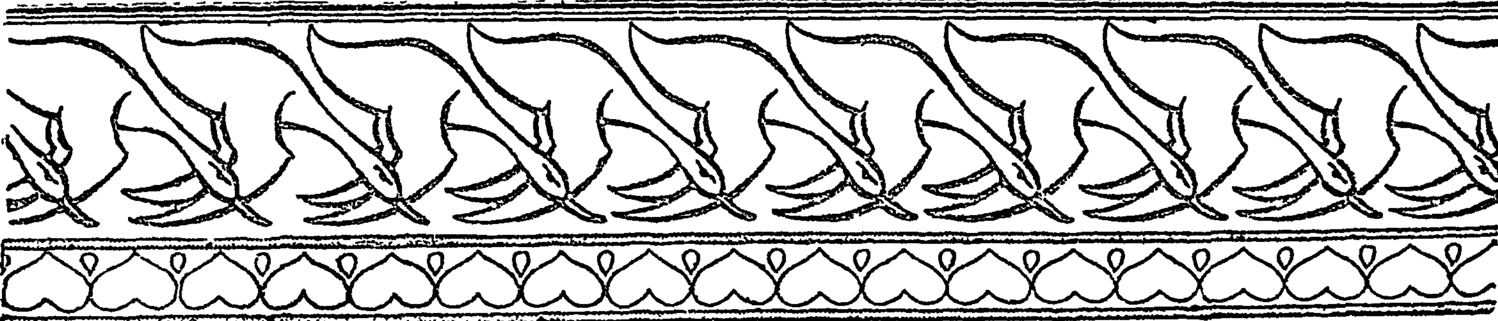
भगवान् महावीरके युग मे, सत्य के सम्बन्ध मे बहुत कुछ सोचा गया वह एक चिन्तन-प्रधान युग था. विचारकोने विचार की मौलिकता के नाते अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया था विचार एक बहुत बडी शक्ति है. विचारको के बल से हम मनुष्य के सोचने के ढग को और सिद्धान्त स्थापित करनेवाले दृष्टिकोण को इस प्रकार व्यवस्थित कर देते है कि बुद्धि की सही समझ और स्फुरणा से उठे हुए भावावेग वास्तविकता का रूप ले लेते हैं जीवन और जगत् के प्रति जितनी हमारी धारणा है वह सब विचारको की देन है हमारे विश्वास और हमारी श्रद्धा हमे अपने सम्बन्ध मे और जगत् के सम्बन्ध मे स्वरूप निर्धारण करने मे एक मात्र सहायक होती है

भगवान् महावीरने आत्मा को और इस सारे जगत् को स्याद्वाद की दृष्टि से, नय और निक्षेपके वर्गीकरण से व भेद और अभेद दृष्टि से सोचा है इसी तरह भगवान् बुद्ध ने, पूर्ण काश्यप ने, प्रबुद्ध कात्यायन ने, मखली गोशाल ने और सजय वेलट्ठी-पुत्त ने भी इस जगत् के सम्बन्ध मे अपने-अपने ढग से विचार किया है वह हमारे राष्ट्र का स्वर्ण-युग था उस काल मे मौलिक विचार और मौलिक दर्शन हमारी सपत्ति बन रहे थे विचारो की दृढता और आचार की निष्ठा उस युग की अस्मिता बन गई थी

जमाली उसी जमाने के ऋषि है भगवान् महावीर के वे अनन्यतम शिष्य थे सासारिक सम्बन्ध मे वे बहन के पुत्र होने के नाते भानजे लगते थे और स्वय भगवान् महावीर की सुपुत्री का परिणय भी उन्ही के साथ हुआ था, इस नाते भगवान् महावीर के जामाता भी थे वैराग्य-भाव के साथ जमाली ने ५०० राजकुमारो और सुदर्शना ने १००० सखियो के साथ भगवान् महावीर के पास दीक्षा धारण कर ली थी भगवान् महावीर के केवल-ज्ञान के चौदह वर्ष बाद श्रावस्ती के तँदुकवन मे यह चर्चा उठी थी, जिसको हम बहुरतदृष्टिवाद कहते हैं

जमाली, श्रमण भगवान् महावीर से अलग हो कर तँदुकवन मे विश्रामार्थ गये तो उन्होने अपने शिष्यो से कहा, कि मेरा शरीर रुग्ण है, बहुत जल्दी मेरे शैयासन को बिछा दो दर्शन का प्रारम्भ जीवन की बहुत छोटी-छोटी घटनाओ से हो जाया करता है मालूम नही कब सत्य या सत्याभास हमे प्राप्त हो जाये और उसके पीछे हम अपना सर्वस्व लगा दें ऐसी ही स्थिति जमाली की हुई

आसन बिछाने की आज्ञा देने के बाद जमाली ने अपने शिष्यो से पूछा . 'मेरा आसन बिछ गया?' शिष्यो ने कहा 'हा'. उनकी स्वीकारोक्ति के बाद जमाली जब बडी अधीरता के साथ पहुँचे तो देखा कि आसन अभी बिछ रहा है जमाली ने कहा 'सत्य का व्रत लेने वाले साधक इतना असत्य नही बोल सकते आसन जब तक पूरी तरह बिछा नही, तब तक बिछे होने की बात कैसे कह सकते है ?' शिष्यो ने कहा "श्रमण भगवान् महावीर का यह सिद्धात है कि 'चलमाणे चलिए' और अन्त मे "निज्जरमाणे निज्जरिए" इसके अनुसार जिस काम को हम कर रहे है, उसको कर चुके, ऐसा हमे मानना चाहिए.' जमाली कहने लगे 'जब तक काम पूरा न हो जाय, जब तक क्रिया उद्देश्य को परिपूरित न कर दे, तबतक हम



ऐसा नही कह सकते कि वह काम हो गया, अगर कहते है तो उसमे असत्य लगता है[१] बस इतनी-सी बात पर चर्चा चल पडी. भगवान् महावीर का सिद्धात और जमाली का तर्कवाद दोनो एक दूसरे के विरुद्ध मोर्चा बना कर खडे होगए जमाली के साधुओ मे और सुदर्शना की साध्वियो मे यह चर्चा चल पडी कि जमाली का कथन सत्य है या भगवान् महावीर का!' सुदर्शना जमाली के सिद्धातका समर्थन करने लगी किन्तु कुछ समय पश्चात् ही एक ऐसी घटना घटी कि जिससे उसे अपनी भूल का पता चल गया. ढक नाम के प्रजापति के यहा ठहरने का अवसर प्राप्त हुआ. ढक जमाली के इस सिद्धात का विरोधी था और भगवान् महावीर के 'चलमाणे चलिए' सिद्धात का उपासक था. उसने उसके सामने अग्नि का एक शोला महासती सुदर्शनाकी साडी पर गिरा दिया. गिरते ही सुदर्शना चिल्ला उठी मेरी साडी जल गई. तव ढक ने कहा 'आप जमाली के सिद्धात को मानने वाली है, जब तक क्रिया की अन्तिम परिणति न हो जाय, तब तक आप यह नही कह सकती कि साडी जल गई, क्योकि शोले ने साडी नही जलाई, अभी तो इसका एक हिस्सा ही जला है आपने कैसे कह दिया कि साडी जल गई. बात तो व्यवहार की थी पर उसका असर मन पर हो गया और जमाली के सिद्धात को एक आग के छोटे से शोले ने तथ्यहीन कर दिया. सुदर्शना के साथ अन्य साध्वियाँ भी महावीर के सघ मे जा मिली वहुत साधु भी जिनके मन मे जमाली के सिद्धान के प्रति आस्था नही हुई, भगवान् महावीर के श्रमण-सघ मे चले गये, किन्तु जमाली अपनी बात पर डटे रहे और उनके लगातार चिन्तन ने बहुरतदृष्टिवाद को जन्म दिया

व्यवहार का बहुत-सा सम्बन्ध जमाली के सिद्धात से जुडता है. हम भोजन कर रहे है तो ऐसा नही कह सकते कि भोजन कर चुके हम जा रहे हो तो ऐसा नही कहते कि हम जा चुके है हम लिख रहे हो तो ऐसा नही कह सकते कि हम लिख चुके है अगर कहते है तो व्यावहारिक दृष्टि से सत्य उसके साथ नही रहता जमाली ने अपने बहुरतदृष्टिवाद की सिद्धि के लिए जितने तर्क दिए है वे सव व्यवहार से लिए है बहुरतदृष्टिवाद का अर्थ यह है कि उद्देश्य की परिपूर्णता मे जब हम सफल हो चुके हो अर्थात् बहुताश या सर्वाश मे जब हम क्रिया पूर्ण कर ले तभी हमे किसी कार्य को 'किया हुआ' कहना चाहिए यही जमाली का दर्शन था.

वाणी सत्य के किनारो से सट कर चल सके, इस पर वडी शोध हुई है यद्यपि वाणी और सत्य को अर्थात् यथार्थ और भाषा को आपस मे जोडने की क्षमता पूर्णता से मनुष्य को प्राप्त नही हुई है भाषा इतनी निर्वल और शक्तिहीन है कि वह अपने मन मे उठने वाले किसी गभीर भावावेग को अभिव्यक्ति नही दे सकती. गुड खाने के बाद गुड का स्वाद वताने का सामर्थ्य हमारी भाषा मे नही है, 'गूगे का गुड' लोकोक्ति से आप यह मत समझ लीजिये कि गूगा ही गुड का स्वाद नही बता सकता अपितु ससार का कोई भी व्यक्ति नही बता सकता सबसे बडी कठिनाई यह है कि जब हम सत्य बोलने की प्रतिज्ञा लेते है उस समय जितनी सरलता प्रतीत होती है, उतना बोलने मे सत्य को स्थापित करना आसान नही होता है

जमाली सत्य के पक्षपाती थे, और सत्य की पूर्ण रक्षा के विचार से ही उन्होने बहुरतदृष्टिवाद की स्थापना की. जीवन के अन्त तक वे इसी बात पर डटे रहे किन्तु भगवान् महावीर के अकाट्य तर्को और गहराइयो से प्राप्त हुए अनुभव के मोती इतने वास्तविक थे कि उन्होने बहुरतदृष्टिवाद को स्थापित नही होने दिया

भगवान् महावीर का कथन था कि लोग समय की सूक्ष्मता को और क्रिया की तीव्रता को पहचान नही पाते हैं काल का सबसे छोटा हिस्सा, जिसके हम टुकडे न कर सके और जिससे और लघुतम काल की कल्पना न कर सके, एक 'समय' कहा गया है. 'समय' को समझाने के लिये किसी भी दृष्टात के द्वारा 'नेति-नेति' प्रक्रिया का ही अवलम्बन लेना पडता है भगवान् महावीर कहते है कि आँख की पलक गिरा देने मात्र मे असख्यात समय बीत जाते है 'समय' कितना सूक्ष्म है, इससे आप अनुमान लगा सकते है फिर आवलिका, श्वासोच्छ्वास, प्राण, स्तोक, लव, मुहूर्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, सहस्रयुग, पूर्व, शकु, महापद्म, निखर्व, त्रुटिताग और शीर्षप्रहेलिका तक की गणना तो और भी विस्तृत है. यह सब गणना भी समय को नापने मे असमर्थ है.

---

१. विस्तार से जानने के लिए देखिए विशेषावश्यकसूत्र —गा० २३०६ से २३३२

कोई बलिष्ठ नवयुवक अपने बलिष्ठ हाथो से जब वस्त्र काटता है तो जमाली के अनुसार जब तक वह पूरा वस्त्र न काट ले तब तक वस्त्र काटा हुआ नही कहा जासकता किन्तु भगवान् महावीर कहते है कि वस्त्र काटने की प्रथम क्रिया जितनी हो चुकी है, जिसमे कितने तन्तु कट चुके और एक तन्तु मे कितने रेशे, और एक रेशे मे कितने रज-कण और हर रज मे कितने परमाणु प्रदेश, उन सवको काट कर के ही वह व्यक्ति उस वस्त्र के मध्य तक पहुँचा है अगर आप कहे कि पहला तन्तु जो उसने काटा और पहले तन्तु मे रहे हुए लक्ष्यावधि रजकणो को काटा, वह सब काटा हुआ नही माना जा सकता, तो समूचे वस्त्र का काटना भी आप कैसे मानेगे ? क्योकि वही क्रिया काटने की पहले समय भी हुई और अन्तिम समय मे भी वही काटने की क्रिया की गई कोटि-कोटि तन्तुओ के रजकणो को काटने को काटना हम नही मानें और जिनको हम काट चुके है उनको हम काट रहे है, कहे तो क्या यह सत्य के निकट होगा ?[1] आप भोजन कर रहे हैं, लेकिन आप जो ग्रास खा चुके और उस एक ग्रास मे कितने बीज और उस बीज मे रहे हुए कितने रज-कण, हर रजकण मे कितने परमाणु-प्रदेश को खा चुकने पर भी आप खा रहे है यह कैसे कहेगे ? यही उदाहरण आप चलने पर घटाइये, अनुभव पर घटाइये, मरने पर घटाइये, छेदन करने मे, भेदन करने में घटाइये अथवा किसी पर भी घटाइये आपको इस सत्य का दर्शन होगा कि आप जिसे काट रहे है, उसको काट चुके है, चल रहे हैं वो चल चुके है. अनुभव कर रहे है, वो कर चुके है अगर इसे व्यवहार मे घटाना हो तो एक वडा सीधा उदाहरण है कोई व्यक्ति अपने घर से अमरीका के लिये चल पडता है, और थोडी देर बाद उसका कोई मित्र आकर पूछता है कि वह कहाँ गया ? आप कहते हैं—अमरीका गया बेशक वह अभी रास्ते मे ही हो, या चल रहा हो परन्तु इस बात को सुनने के बाद भी आपके कथन को कोई असत्य नही कहता जब कि उद्देश्य के नाते वह असत्य है

अमरीका जाने के निमित्त घर से चल पडने का नाम ही अमरीका जाना मान लिया, यह क्यो ? इसलिए कि यह एक व्यवहार है उद्देश्य के नाते यह कथन सर्वत्र असत्य नही है किन्तु कर्मवाद के क्षेत्र मे जब हम भगवान् महावीर के सिद्धान्त को घटायेगे, केवल-ज्ञान की प्राप्ति और महा-परिनिर्वाण की अवस्था में इसे लागू करेगे तो हमे भगवान् महावीर के इस सिद्धान्त की सच्चाई का दर्शन होगा[2] जैसा कि भगवती सूत्र मे भगवान् ने कहा है कि प्रथम समय के चलित कर्म अथवा आदि समय मे चलित कर्मांश को उत्तर समय की अपेक्षा चलित मानना उदय मे आए हुए कर्म-दलिक के अनुभव को असख्यात समयवर्ती उत्तर समयो की अपेक्षा वेदित मानना भोगते हुए कर्मभोग को मुक्ति मानना जीव-प्रदेश हे कर्मांश को प्रहाण करते हुए प्रहीण मानना छेदन होते हुए कर्मांश को छिन्न, भेदन होते हुए कर्म के रसास्वाद को भिन्न, दग्ध होते हुए कर्मांश को दग्ध, नष्ट होते हुए आयुष कर्मांश को मृत और निर्जरित अर्थात् अपुन-र्भावि रूप मे क्षय करते हुए कर्माश को निर्जरित मानना ही सिद्धान्त के अनुकूल है

सत्य की गहराई और कर्मबन्ध की विलक्षणता, केवलज्ञान की उत्पत्ति और निर्वाण की प्राप्ति के सारे पहलुओ को समझ लिया जाय तो हम इन एकार्थक और भिन्नार्थक वाक्यो की सचाई को सही रूप से जान सकते है अगर हम समय की सूक्ष्मता मे विश्वास करते है, क्रिया की तीव्रता को मानते है और स्कन्ध, देश, प्रदेश के सारे पदार्थगत सूक्ष्म तन्त्रात्मक, हिस्सो के अस्तित्व को स्वीकार करते है, तो भगवान् महावीर के सिद्धान्त को माने विना किसी तरह भी सत्य हाथ नही लग सकता सत्य के प्रति तीर्थंकर भगवान् कितने जागरूक थे और कितनी गहराई से उन्होने हमारे सामने इस सत्य का प्रकाश अनावृत किया है, उसके लिये युग-युग तक हम उनके कृतज्ञ रहेगे यह स्वाभाविक है, किन्तु जमाली श्रमण के इस उपकार को हम नही भुला सकते कि अगर वह वहुरतदृष्टिवाद के आग्रही सिद्धान्त को स्थापित न करते तो हमे भगवान् महावीर के सत्य-सिद्धान्त को समझने मे अवश्य कठिनाई अनुभव होती ☆

---

१ अनुयोगद्वार सूत्र

२. चल माणे चलिए ?, उदीरिज्जमाणे उदीरिए ?, वेइज्जमाणे वेइए ?, पहिज्जमाणे पहीणे ?, छिज्जमाणे छिन्ने ?, भिज्जमाणे भिन्ने ?, उज्झमाणे दड्ढे ?, मिज्जमाणे मडे ?, निज्जरिज्जमाणे निज्जिएणे ?



डा० भुवनेश्वरनाथ मिश्र, माधव
एम०ए०, पी-एच० डी०, निदेशक बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना

धर्म का वास्तविक स्वरूप

धर्म के तत्त्व के सम्बन्ध मे विभिन्न मत पथ सम्प्रदायो में नाना प्रकार के वितडावाद आज भी प्रचलित है और शायद सदा प्रचलित रहेगे. इसमे मुख्य हेतु कदाचित् यही है कि प्रत्येक मत-पथ या सम्प्रदाय के व्यक्ति अपने-अपने मत पथ या सम्प्रदाय के सकीर्ण दायरे से बाहर की बाते सोच समझ नही पाते या सोचना समझना नही चाहते इसी-लिए धर्म के क्षेत्र में प्राय कूपमडूकता का ही बोल-बाला है और इसीलिए धर्म के नाम पर ससार में इतना अधर्म हो रहा है. और इतिहास साक्षी है कि धर्म के नाम पर क्या-क्या अनाचार और रक्तपात नही हुए. अस्तु, आश्चर्य नही कि आज के प्रगतिशील व्यक्ति, धर्म का नाम सुन-सुन कर नाक भौह सिकडने लगते है और इसे अफीम की सज्ञा दे बैठते है उनकी दृष्टि में धर्म एक नशा है जिसका सेवन करने वाले धर्मांध हो कर सब कुकर्म करने पर उतारु हो जाते है और जीवन के सामान्य शिष्टाचार के नियमो से भी आँखे बन्द कर लेते है

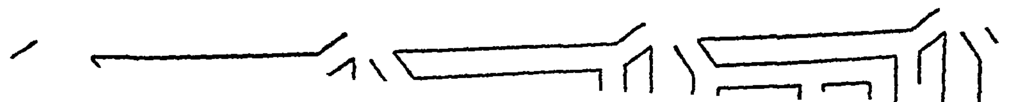
धर्म शब्द का यथार्थ पर्यायवाची शब्द न अग्रेजी भाषा में है, न विश्व की किसी भी अन्य भाषा मे है धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ है धारण करना, पोषण करना. वैशेपिक दर्शन के अनुसार धर्म की परिभाषा है. 'यतोऽ-भ्युदयनि श्रेयस्-सिद्धि सधर्म.' अर्थात् जिससे लौकिक अभ्युदय और पारलौकिक नि श्रेयस् (कल्याण अथवा मोक्ष) की सिद्धि हो वही धर्म है महर्षि जैमिनी धर्म की परिभाषा एक व्यापक परिवेश में करते है—"चोदनालक्षणो धर्म" अर्थात् श्रुतिस्मृति द्वारा बोधित अर्थ ही धर्म है सच तो यह है कि श्रुति स्मृति ही धर्म का प्राण है और उनके वचन ही धर्ममार्ग मे अग्रसर होने की प्रेरणा देते रहते है

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो, धर्म-शास्त्रं तु वै स्मृतिः,
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां हि धर्मो निर्बभौ।

परन्तु श्रुतियाँ भी अनेक हैं और स्मृतिया भी अनेक है और उनमें मतैक्य नही वे भिन्न-भिन्न मतो का प्रतिपादन करती है, ऐसी अवस्था में विचारक या धर्मसाधक क्या करे ? ऐसी अवस्था मे 'महाजनो ये न गत स पथा' जिस मार्ग से महापुरुष चलते हो वही निष्कटक है यहा महापुरुष का अर्थ है श्रेष्ठजन, आदर्श, धर्मप्राण व्यक्ति, जिसने अपने लोक-परलोक को सवार लिया है. जो मुक्त है या मोक्षार्थी है, न कि लौकिक पद मर्यादा या मान-प्रतिष्ठा के कारण महान् बन बैठा है. ऐसे ही महापुरुष सूत्र बतला गये है जिनका पथदर्शन मानवता को कल्याणपथ पर अग्रसर करता रहेगा वे कहते है :

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्,
आत्मनः प्रतिकूलानि न परेषां समाचरेत्।
विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यं अद्वेषरागिभिः,
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत।
श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः,
परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनम्।

अर्थात् धर्म का यह रहस्य सुनो और सुनकर हृदय मे धारण करो जिसे अपने लिए बुरा समझते हो उसे दूसरो के



के लिए मत करो. विद्वानो ने, सतो ने, और सदा रागद्वेष से मुक्त वीतराग पुरुपो ने जिसका सेवन किया है और जिसे हृदय ने मान लिया है वही धर्म है, उसे जानो करोडो ग्रथो मे जो कहा गया है उसे मैं आधे श्लोक मे कहूगा दूसरो का भला करने से पुण्य होता है और बुरा करने से पाप गोस्वामी तुलसीदासजी इसी को कहते है

परहित सरिस धरम नहिं भाई, परपीडा सम नहिं अधमाई ।

सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, आकाश, पृथ्वी, जल, हृदय, यम, दिन और रात साझ और सवेरा और स्वय धर्म मनुष्य के आचरण को जानते हैं, यानी मनुष्य अपना कार्य विचार या कर्म इन से छिपा नही सकता

'धर्मस्य तत्त्व निहित गुहाया' का उद्घाटन ऋषियो ने, सतो ने, मुनियो ने अपने अनुभूत आचरण और आचरित अनुभय के आधार पर यत्र तत्र किया है मनु ने चारो वर्णो के लिए बहुत ही सक्षेप मे धर्माचरण का सकेत किया है

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रह ,
एत सामासिक धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनु. ।

हिंसा न करना, सत्य बोलना, चोरी न करना, पवित्रता का पालन करना, इन्द्रियो पर काबू रखना—मनुने चारो वर्ण के लिये थोडे मे यह धर्म कहा है. अहिंसा का अर्थ केवल 'सिसा न करना' ही नही है उसका वास्तविक अर्थ है—'आत्मवत्सर्थभूतेषु " इसी प्रकार सत्य का अर्थ केवल सच बोलने तक ही सीमित नही, उसका अर्थ है सत्चित्आनन्द स्वरूप परमात्मा मे स्थित होकर आचरण करना इसी प्रकार अस्तेय, शौच और इन्द्रियनिग्रह भी व्याप्क अर्थो मे व्यवहृत हुये है परन्तु इन शब्दो का जो सामान्य भाव है उसी का अनुसरण करने पर विशिष्ट भावलोक के द्वार उन्मुक्त होगे जहा धर्म से वस्तुत साक्षात्कार होगा जो ज्ञानी और तत्त्वदर्शी है उनके चरणो मे आदर और भक्ति पूर्वक साष्टाग पणिपात द्वारा, उनकी अहैतुकी सेवा मे अपने को लीनकर के तथा अत्यन्त विनम्रतापूर्वक जिज्ञासुभाव से उनसे परिप्रश्न करके धर्म का तत्त्व जाना जा सकता है ऐसा गीता उपदेश करती है

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ,
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।

श्वेम्बर उपनिषद् मे ईश्वरीय शक्ति से अनुप्राणित महर्पि ने विश्व के सामने खडे होकर उसी अमर सन्देश की घोपणा की

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा , आये धामानि दिव्यानि तस्थु. ।
वेदाहमेत पुरुषं महान्तम्, आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति, नान्य पथा विद्यतेऽयनाय ।

हे अमृतपुत्र ! अनादि पुरातन पुरुष को पहचानना ही अज्ञान एव माया से परे जाना है केवल उस पुरुष को जानकर ही लोग ज्ञानी बन सकते है, मृत्यु के चक्कर से छूट सकते है—और कोई मार्ग है नही यह निर्मल ज्ञान ही धर्म की आत्मा है सच तो यह कि ससार मे ज्ञान के सदृश पवित्र करने वाला तत्त्व नि सन्देह कुछ भी नही है, छान्दोग्य उपनिषद् मे इसी सत्य का समर्थन है .

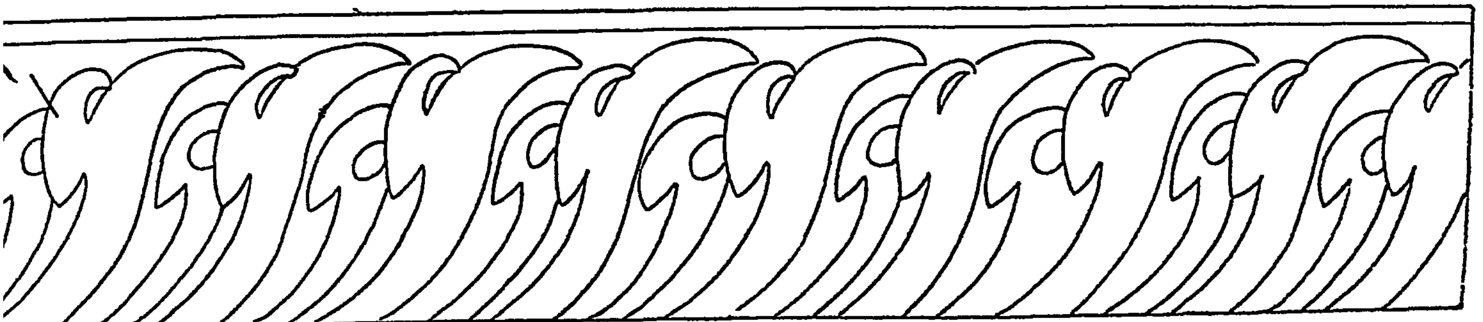
'सच एषोणिमा एतात्म्य मिद सर्व तत्सत्य स आत्मा तत्वमसि—श्वेत केतो इति'

अपनी आत्मा को जानना पहचानना और उसी मे स्थित होकर आचरण करना—'स्वस्य च प्रियमात्मन' यही धर्माचरण का केन्द्र-विन्दु है. कठोपनिषद् मे उस पुरुष के स्वरूप के सम्बन्ध मे आया है

भयादग्निस्तपति भयात्तपति सूर्य , भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पचम. ।

उसी के भय से अग्नि तपती है, उसी के भय से सूर्य प्रकाश देता है—उसी के भय से इन्द्र और वायु अपना काम करते है और उसी के भय से मृत्यु भी भयभीत है

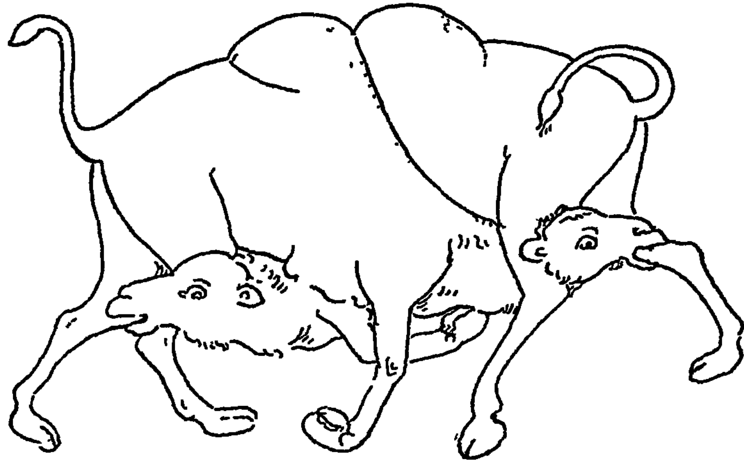
इस प्रकार धर्म की आत्मा का जब साक्षात्कार हो जाता है तो सभी विभिन्न धर्मो, मतो, पथो, सम्प्रदायो मे उसी एक

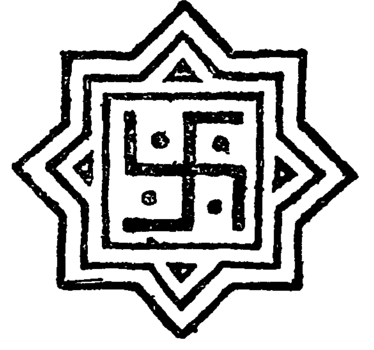


का अखण्ड अविच्छिन्न सूत्र हाथ लग जाता है और समस्त विनाशशीलो मे अविनाशीतत्त्व—'विनश्यत्सु अविनश्यन्त' का स्वर्णसूत्र हाथ लग जाने पर मानव विश्वकल्याण की कामना से ओतप्रोत होकर इसका उद्‌घोष करता है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः,
सर्वे भद्राणि पश्यंतु मा कश्चिद्‌दुःखभाग् भवेत्।
दुर्जनः सज्जनो भूयात् सज्जनः शान्तिमाप्नुयात्,
शान्तः मुच्येत् बंधेभ्यो मुक्तश्चान्यान् विमोचयेत्।

संसार में सभी जीवजन्तु कीट पतग स्थावर जगम सुखीहो, सभी निरामय हो, सभी कल्याण कामी मगलदृष्टिसम्पन्न हों किसी को भी किसी प्रकार दुख न हो. दुर्जनों में सज्जनता आ जाय, सज्जनो को शान्ति प्राप्त हो, जो शान्त है वे वधनो से मुक्त हो जाएँ और जो मुक्त है वे मायावद्ध जीवो को मुक्त करे.





पं० हीरालाल जैन
सिद्धान्तशास्त्री, न्यायतीर्थ

गुणस्थान

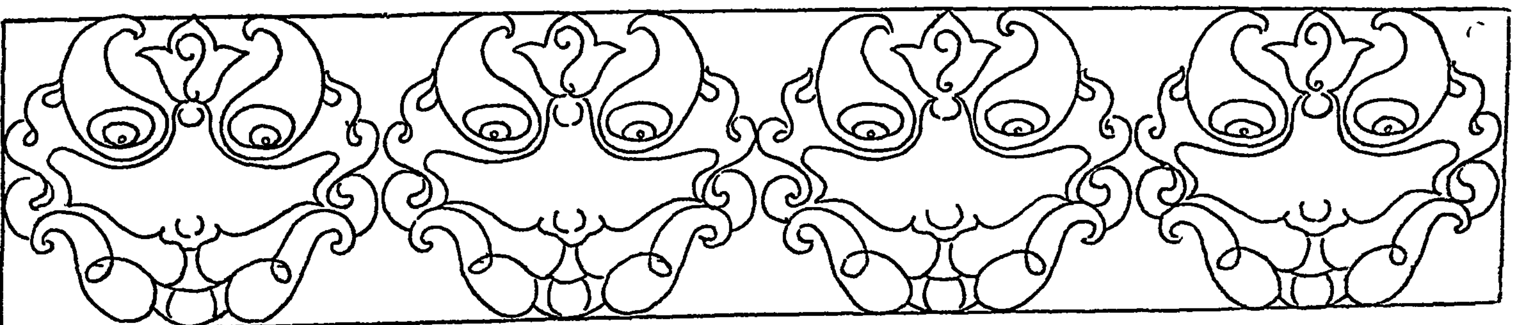
अनादि काल से यह जीव अज्ञान के वशीभूत होकर विषय और कषाय मे प्रवृत्ति करता हुआ ससार मे परिभ्रमण करता चला आ रहा है, यद्यपि अपने इस परिभ्रमण-काल मे जीव ने चौरासी लाख योनियो के अनन्त उतार-चढाव देखे है, पुण्य का उपार्जन कर मनुष्य और देवो के दिव्य सुखो को भी भोगा है और पाप का सचय कर नाटको और पशु-पक्षियो के महान् दु खो का भी अनुभव किया है, तथापि आज तक अपने आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार या यथार्थ ज्ञान नही हो सकने से भव-बन्धनो से मुक्ति पाने के लिये प्रयत्न करने पर भी वह सफल नही हो सका है आत्म-स्वरूप का दर्शन नही हो सकने के कारण इस जीव की दृष्टि अनादि से ही विपरीत हो रही है और उसी के कारण आत्मा से भिन्न परपदार्थो को यह अपना मानकर उन्ही की प्राप्ति के लिये अहर्निश प्रयत्न करता रहता है और इच्छानुसार उनके प्राप्त नही हो सकने से आकुल-व्याकुल रहता है जीव की इस विपरीत दृष्टि के कारण ही जैन शास्त्रकारो ने उसे मिथ्यादृष्टि या बहिरात्मा कहा है

बहिरात्मा अपनी मिथ्यादृष्टि को छोडकर किस प्रकार अन्तरात्मा या यथार्थ दृष्टिवाला समयग्दृष्टि बनता है और किस प्रकार आगे आत्म-विकास करते हुए परमात्मा बन जाता है, उसके इस क्रमिक विकास के सोपानो का नाम ही गुण-स्थान है बहिरात्मा ने परमात्मा बनने के लिये आत्मिक गुणो की उत्तरोत्तर प्राप्ति करते हुए इस जीव को जिन-जिन स्थानो से गुजरना पडता है उन्हे ही जैन-शास्त्रो मे 'गुणस्थान' कहा है गुणस्थानो के चौदह भेद है, जो इस प्रकार है

१ मिथ्यादृष्टि, २ सासादन सम्यग्दृष्टि, ३ सम्यगिमिथ्यादृष्टि, ४ अविरत-सम्यग्दृष्टि, ५ देशसयत, ६ प्रमत्तसयत, ७ अप्रमत्तसयत, ८ अपूर्वकरण सयत, ९ अनिवृत्तिकरण सयत, १० सूक्ष्मसाम्पराय सयत, ११ उपाशान्त कपाय सयत, १२ वीतरागछद्मस्थ सयत, १३ सयोगिकेवली गुणस्थान और १४ अयोगिकेवली गुणस्थान

(१) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान जब तक जीव को आत्मस्वरूप का दर्शन नही होता तब तक वह मिथ्यादृष्टि कहलाता है ससार के बहुभाग प्राणी इसी प्रथम गुणस्थान की भूमिका मे रह रहे है ये मिथ्यादृष्टि जीव शरीर की उत्पत्ति को ही आत्मा की उत्पत्ति और शरीर के मरण को ही आत्मा का मरण मानते है शरीर की सुरूपता-कुरूपता और सबलता-निर्बलता को ही अपना स्वरूप मानते है पुण्य-पाप के उदय से होने वाली इन्द्रियजनित सुख-दुख की परिणति को ही आत्मस्वरूप मानते है और इसी कारण इष्ट-वियोग या अनिष्ट-सयोग के होने पर वे असीम दु खो का अनुभव करते रहते हैं

जब किसी सुगुरु के निमित्त से इस मिथ्यादृष्टि जीवको आत्म-स्वरूपका उपदेश प्राप्त होता है, तब इसकी कपाय मद होती है, आत्म-परिणामो मे विशुद्धि बढती है और यह आत्म स्वरूप को प्राप्त करने के लिये उद्यत होता है आत्म-परिणामो की विशुद्धि के कारण इसके अनादि काल से लगे हुए कर्मों का उदय भी मन्द होता है, नवीन कर्मो का बन्ध भी बहुत हलका हो जाता है और राग-द्वेष की परिणति भी धीमी पडती है ऐसे समय मे ही यह जीव करण-लब्धि के द्वारा अपने अनादिकालीन मिथ्यात्वरूप महामोह का अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभरूप तीव्र कषायो का उपशमन करके सच्ची आत्म-दृष्टि को प्राप्त करता है अर्थात् आत्म-साक्षात्कार करता है. इस अवस्था को ही शास्त्रीय भाषा मे



असयतसम्यग्दृष्टि नामक चौथे गुणस्थान की प्राप्ति कहते है. मिथ्यादृष्टि जीव आत्मसाक्षात्कार के होते ही प्रथम गुणस्थान से एक दम ऊँचा उठकर चतुर्थ गुणस्थानवर्ती बन जाता है.

मिथ्यादृष्टि जीव के दर्शनमोहनीय कर्म अनादिकाल से अभी तक एक मिथ्यात्व के रूप में ही चला आ रहा था किन्तु कणलब्धि के प्रताप से उसके तीन खण्ड हो जाते है, जिन्हे शास्त्रीय शब्दो मे क्रमश मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति कहते है. जीव को प्रथम बार जो सम्यग्दर्शन होता है उसे प्रथमोपशमसम्यक्त्व कहते है. इसका काल अन्तर्मुहूर्तमात्र है. इस काल के समाप्त होते ही यह जीव सम्यक्त्वरूप पर्वत से नीचे गिरता है उस काल मे यदि सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय आ जावे, तो वह तीसरे गुणस्थान मे पहुँचता है और यदि अनन्तानुबन्धी क्रोधादि किसी कषाय का उदय आजावे, तो दूसरे गुणस्थान में पहुँचता है तदनन्तर मिथ्यात्वकर्म का उदय आता है और यह जीव पुन मिथ्यादृष्टि बन जाता है अर्थात् पहले गुणस्थान मे आ जाता है इस सब के कहने का सार यह है कि दूसरे और तीसरे गुणस्थान जीव के उत्थान काल मे नही होते, किन्तु पतनकाल मे ही होते है.

(२) सासदनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान : जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, इस गुणस्थान की प्राप्ति जीव को सम्यक्त्व-दशा से पतित होते समय होती है. सासादन का अर्थ सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन की विराधना है. सम्यग्दर्शन के विराधक जीव को सासादनसम्यग्दृष्टि कहते है इसे सास्वादन सम्यग्दृष्टि भी कहते है जैसे कोई जीव मीठी खीर को खावे और तत्काल ही यदि उसे वमन हो जाय, तो वमन करते हुए भी वह खीर की मिठास का अनुभव करता है इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव जब कर्मोदय की तीव्रता से सम्यक्त्व का वमन करता है, तो उस वमन काल मे भी उसे सम्यग्दर्शनकाल भावी आत्मविशुद्धि का आभास होता रहता है किन्तु जैसे किसी ऊचे स्थान से गिरने वाले व्यक्ति का आकाश मे अधर रहना अधिक काल तक सम्भव नही है, इसी प्रकार सम्यग्दर्शन से गिरते हुए यह जीव दूसरे गुणस्थान मे एक समय से लगाकर ६ आवली काल तक अधिक से अधिक रहता है तत्पश्चात् नियम से मिथ्यात्व कर्म का उदय आता है और जीव पहले गुणस्थान मे जा पहुँचता है. काल के सब से सूक्ष्म अश को समय कहते है और असख्यात समय की एक आवली होती है यह छह आवलीप्रमाण काल भी एक मिनट से बहुत छोटा होता है

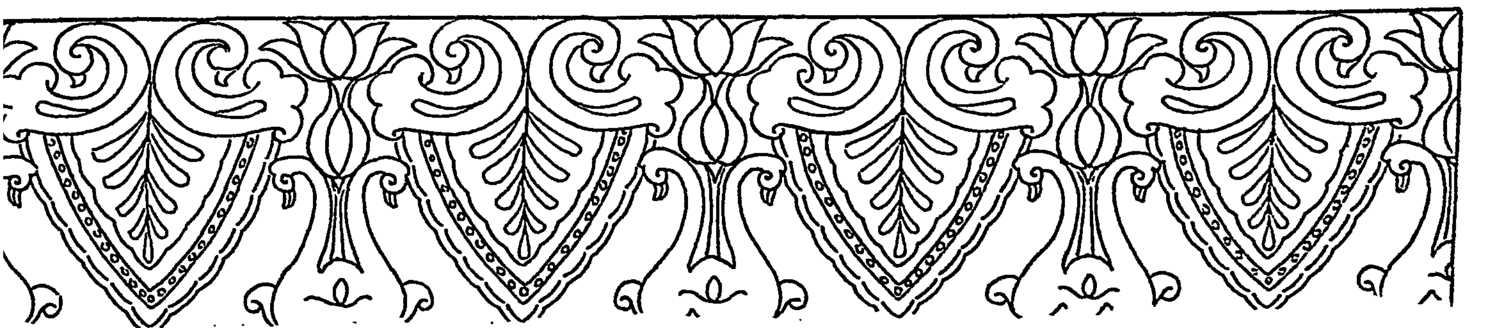
(३) सम्यग्मिथ्यादृष्टि : चौथे गुणस्थान की असयत सम्यग्दृष्टि दशा मे रहते हुए जीव के जब मोहनीय कर्म की सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति का उदय आता है, तो यह जीव चौथे गुणस्थान से गिरकर तीसरे गुणस्थान में आ जाता है. सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से तीसरे गुणस्थानवर्ती जीव के परिणाम न तो शुद्ध सम्यक्त्वरूप ही होते है और न शुद्ध मिथ्यात्वरूप ही होते है किन्तु उभयात्मक (मिश्ररूप) होते है. जैसे दही और चीनी का मिला हुआ स्वाद न तो केवल दही रूप खट्टा ही अनुभव में आता है और न चीनी रूप मीठा ही. किन्तु दोनो का मिला हुआ खट-मिट्ठारूप एक तीसरी ही जाति का स्वाद आता है इसी प्रकार तीसरे गुणस्थानवर्ती जीव के परिणाम न तो यथार्थ रूप ही रहते है और न अयथार्थरूप ही किन्तु यथार्थ-अयथार्थ के सम्मिश्रित परिणाम होते है इस गुणस्थान का काल भी अधिक से अधिक एक अन्तर्मुहूर्त ही है मुहूर्त का मतलब दो घडी या ४८मिनट है उसमे एक समय कम काल को उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त कहते है. एक समय अधिक आवली काल को जघन्य अन्तर्मुहूर्त कहते है आगे एक-एक समय की वृद्धि करते हुए उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त प्राप्त होने तक मध्यवर्ती काल को मध्य अन्तर्मुहूर्त कहते है इस मध्यम अन्तर्मुहूर्त के असख्यात भेद होते है सो इस तीसरे गुणस्थान का काल यथासभव मध्यम अन्तर्मुहूर्त जानना चाहिए इतना विशेष है कि इस गुणस्थान वाला जीव यदि सम्भल जावे तो तुरन्त चढकर चौथे गुणस्थान मे पहुँच सकता है, अन्यथा नीचे के गुणस्थानो मे उसका पतन निश्चत ही है.

(४) असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान : जैसा कि पहले बतलाया गया है, जीव को *यथार्थदृष्टि* प्राप्त होते ही चौथा गुणस्थान प्राप्त हो जाता है यह यथार्थ दृष्टि—जिसे कि सम्यग्दर्शन कहते है—तीन प्रकार की होती है—औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक दर्शनमोहनीय की मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन तीन प्रकृतियो तथा चारित्र मोहनीय कर्म की अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार प्रकृतियाँ, इस प्रकार सात प्रकृतियो के उपशम

से औपशमिक सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है जीव को सर्वप्रथम इसी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, किन्तु इसका काल अन्तर्मुहूर्त ही है, अत उसके पश्चात् वह सम्यक्त्व से गिर जाता है फिर और मिथ्यादृष्टि वन जाता है पुन यह जीव ऊपर चढने का प्रयत्न करता है और बतलाई हुई सातो प्रकृतियो का क्षयोपशम करके क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि बनता है इस सम्यग्दर्शन का काल अन्तर्मुहूर्त से लगाकर ६६ सागर तक है अर्थात् किसी जीव को यदि क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन लगातार बना रहे—तो उसके देव और मनुष्यभव मे परिभ्रमण करते हुए लगातार ६६ सागर तक बना रह सकता है. जब जिस जीव का ससार बिल्कुल ही कम रह जाता है, तब वह क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव, उक्त सातो ही प्रकृतियो का क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि बनता है यह जीव ससार मे अधिक से अधिक तीन भव तक रहता है उसके पश्चात् चौथे भव मे नियम से ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है

इस गुणस्थानवर्ती जीव की बाहिरी क्रियाओ मे और मिथ्यादृष्टि की बाहिरी क्रियाओ मे कोई खास अन्तर दिखाई नही देता, पर अन्तरग की परिणति मे आकाश-पाताल जैसा अन्तर हो जाता है जहाँ मिथ्यादृष्टि की परिणति सदा मलीन और आर्त्तरौद्रध्यान-प्रचुर होती है, वहाँ सम्यग्दृष्टि की परिणति एकदम प्रशस्य, विशुद्ध और धर्मध्यानमय हो जाती है चारित्रमोहनीय कर्म के तीव्र उदय होने से यद्यपि चौथे गुणस्थान वाला जीव व्रत-शील-सयमादि का रच मात्र भी पालन नही करता है, इन्द्रियो के विषयो की प्रवृत्ति भी बराबर बनी रहती है तथापि मिथ्यादृष्टि दशा मे जो इन्द्रियो के विषय-सेवन मे उसकी तीव्र आसक्ति थी, वह एकदम घट जाती है वह अनासक्त रहता हुआ ही इन्द्रियो के विषयो का सेवन करता है, अन्यायपूर्वक आजीविका का परित्याग कर देता है और न्याय-नीति से ही धनादिक का उपार्जन करके अपना और अपने कुटुम्ब का भरणपोषण करता है जैसे जल मे रहते हुए भी कमल जल से अलिप्त रहता है, उसी प्रकार यह असयत सम्यग्दृष्टि जीव घर मे रहते हुए भी उससे अलिप्त रहता है—और इन्द्रियभोगो को भोगते हुए भी उनमे अनासक्त रहता है

(५) देशसयत गुणस्थान : चौथे गुणस्थान मे रहते हुए जीव आत्मविकास की ओर अग्रसर होता है, तब उसे ऐसा विचार उत्पन्न होता है कि मै जिन भोगो को भोग रहा हू ये भी कर्मबन्धन के कारण है, विनश्वर है और अन्त मे दु खो को ही देने वाले है, तब वह हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह इन पाँचो पापो का स्थूल त्याग करता है अर्थात् अब मैं किसी भी त्रसप्राणी का सकल्पपूर्वक घात नही करूगा, ऐसी प्रतिज्ञा करके अहिंसाणुव्रत को अगीकार करता है आज से मैं राज्य-विरुद्ध, समाज-विरुद्ध, देश-विरुद्ध और धर्म-विरुद्ध असत्य नही बोलूगा, इस प्रकार से स्थूल झूठ का परित्याग करके सत्याणुव्रत को स्वीकार करता हे अब मैं बिना दिये किसी की वस्तु को नही लूगा मैं दायाद (भागीदार) का हक नही छीनूगा, राज्य के टैक्सो की चोरी नही करूगा, इस प्रकार से स्थूल चोरी का त्याग करके अचौर्याणुव्रत का पालन करता है. अपनी विवाहिता स्त्री के अतिरिक्त ससार की स्त्रीमात्र को अपनी मा, बहिन और बेटी के समान समझ कर उन पर बुरे भाव से दृष्टिपात नही करूगा, इस प्रकार स्थूल कुशील का त्याग करके ब्रह्मचर्याणुव्रत को अगीकार करता है और अपनी आवश्यकताओ को सीमित रखता हुआ अनावश्यक परिग्रह के सग्रह का परित्याग कर परिग्रहपरिमाणाणुव्रत को स्वीकार करता है तथा इन ही पाँचो अणुव्रतो की रक्षा और वृद्धि के लिये तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत रूप सात शीलव्रतो को भी धारण करता है इस प्रकार वह सम्यग्दर्शन के साथ श्रावक के उक्त १२ व्रतो का पालन करते हुए आदर्श गृहस्थजीवन बिताता है मिथ्यादृष्टि जीव की अपेक्षा असयतसम्यग्दृष्टि जीव के परिणामो की विशुद्धि अनन्तगुणी अधिक होती है और अविरत सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा इस देशसयत जीव के परिणामो की विशुद्धि और भी अनन्तगुणी होती है इस गुणस्थान वाला ससार से उत्तरोत्तर विरक्त होते हुए अपने आरम्भ और परिग्रह को भी घटाता जाता है और श्रावक के प्रतिमारूप मे जो ग्यारह दर्जे शास्त्रो मे बतलाये गये है, उनको अगीकार करता हुआ अपने आत्मिक गुणो का विकास करता रहता है अन्त मे सर्व आरम्भ का त्यागकर, शुद्ध ब्रह्मचर्य को धारण कर अपनी स्त्री का भी परित्याग कर, तथा घर-बार को भी छोड कर या तो साधु बनने की ओर अग्रसर होता है या जीवन को अल्प समझकर सल्लेखना को धारण कर समाधिमरणपूर्वक अपने शरीर का परित्याग करता है



इस गुणस्थान का काल कम से कम अन्तर्मुहूर्त है और अधिक से अधिक आठ वर्ष और एक अन्तर्मुहूर्त से कम एक पूर्व कोटी वर्ष है जो कि कर्म भूमिज मनुष्य की उत्कृष्ट आयु वाले के ही सम्भव है

(६) **प्रमत्तसयत गुणस्थान :** गृहस्थधर्म का पालन करते हुए भी जब यह जीव अनुभव करता है कि मै कितनी ही सावधानी क्यो न रखू, कुटुम्ब आदि के निमित्त से या धनोपार्जनादि के कारण मेरी आत्मिक शान्ति मे बाधा पडती ही है, तब वह अपने परिवार से भी नाता तोड कर और घर-बार का भी परित्याग कर साधु बनने के लिये तैयार होता है. ऐसी दशा मे वह हिसादि पाँचो पापो का सर्वथा परित्याग कर आजीवन के लिये अहिंसादि पच महाव्रतो को अगीकार करता है, घर मे रहना छोडकर साधुजनो के साथ निवास करता है और भिक्षावृत्ति से निरुद्दिष्ट आहार लेता हुआ अपने सयम की साधना मे सलग्न हो जाता है. यद्यपि यह सयम का पालन करता है, अत' सयत है तथापि इसके जब तक प्रमाद का सद्भाव बना रहता है तब तक उसे प्रमत्तसयत करते है इस गुणस्थान का जघन्य और उत्कृष्ट काल भी अन्तर्मुहूर्त ही है. इसलिए साधु के सदा-प्रमत्तदशा नही रहती है, किन्तु थोडी देर मे वह सावधान होकर आत्मचिन्तन करता रहता है जब वह आत्म-चिन्तन करता है, तब उसके अप्रमत्तदशा आ जाती है. इस प्रकार वह सदा प्रमत्तदशा से अप्रमत्तदशा मे और अप्रमत्तदशा से प्रमत्तदशा मे आता जाता रहता है.

सज्वलन कषाय और नव नोकषायो का उदय होने पर महाव्रतो के परिपालन मे किन्ही कारणो से जो अनुत्साह होता है उमे प्रमाद कहते हैं प्रमाद के १५ भेद परमागम मे बतलाये है—चार कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ) चार विकथाएँ (स्त्रीकथा, राजकथा, आहारकथा और देशकथा) पाँच इन्द्रियो के विषयो की ओर झुकाव, प्रणय (स्नेह) और निद्रा साधु सदा आत्म-चिन्तन मे निरत नही रह सकता है, अत उसकी प्रवृत्ति इन १५ प्रमादो मे से किसी न किसी प्रमाद की ओर घडी-आध घडी के लिये होती रहती है जितनी देर उसकी प्रवृत्ति प्रमाद रूप रहती है, उस समय उसकी प्रमत्त सज्ञा है और वह पाँचो पापो का यावज्जीवन के लिये सर्वथा त्याग कर चुका है, अत सयम-धारण करने के कारण सयत है इस प्रकार वह प्रमत्तसयत कहा जाता है

(७) **अप्रमत्तसंयत** जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, साधु की सावधान-दशा का नाम ही सातवाँ गुणस्थान है जितनी देर आत्म-चिन्तन और उसके मनन में जागरूक रहता है, उतनी देर के लिये ही वह सातवे गुणस्थान में पहुँचता है, और किसी एक प्रमाद रूप परिणति के प्रकट होते ही छठे गुणस्थान में आ जाता है यद्यपि इन छठे और सातवे गुणस्थान का काल साधारणत अन्तर्मुहूर्त बतलाया गया है, तथापि छठे गुणस्थान से सातवे गुणस्थान का काल आधा है. इसका यह अर्थ है कि साधु आत्म-चिन्तन मे सलग्न रह कर जितनी देर अन्तर्मुख रहता है उससे अधिक काल तक वह बहिर्मुख रहता है

यहाँ इतना विशेष ज्ञातव्य है कि जिन साधुओ की प्रवृत्ति निरन्तर बहिर्मुखी देखने मे आती है, जो निरन्तर खान-पान की ही चर्चा करते रहते है, विकथाओ मे व्यस्त और निद्रा मे मस्त रहते है, समझ लीजिए कि वे भावलिंगी साधु नही है. व्याख्यान देते, खान-पान करते और चलते फिरते मे भी भावलिंगी साधु सदा सावधान रहेगा और उक्त कार्यो के करते हुए भी बीच-बीच मे उसे विचार आता होगा कि—"आत्मन् तुम कहाँ भटक रहे हो ! यह बातचीत, खानपान और गमनागमनादि तो तुम्हारा स्वभाव नही है फिर भी तुम अभी तक इनमे अपना अमूल्य समय व्यतीत कर आत्म-स्वरूप से पराङ्मुख हो रहे हो" ऐसा विचार आते ही वह आत्माभिमुख हो जायगा

वर्तमान काल मे कोई भी साधु सातवे गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थानो मे नही चढ सकता है, क्योकि ऊपर चढने के योग्य न तो उत्तम सहननादि आज है और न मनुष्यो मे उतनी पात्रता ही है किन्तु जिस काल मे सर्व प्रकार की पात्रता और साधन-सामग्री सुलभ होती है, उस समय साधु ऊपर के गुणस्थानो मे चढता है.

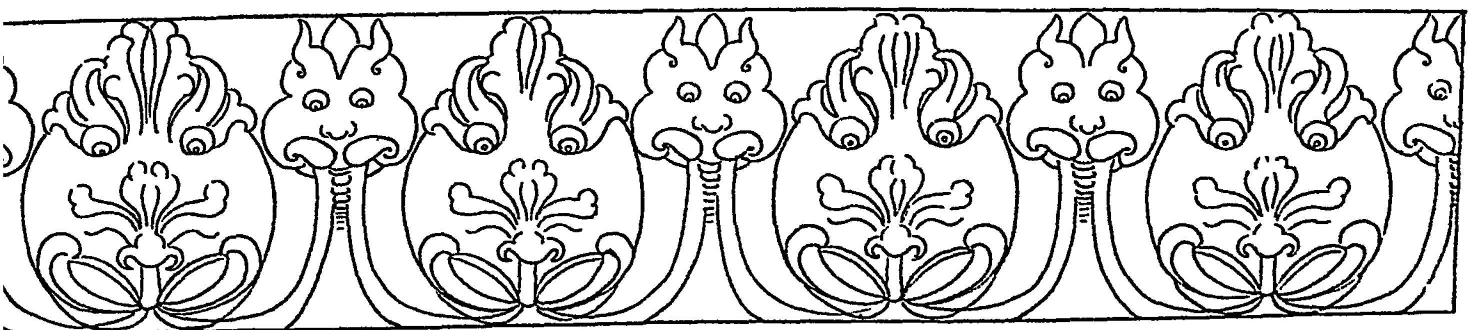
सातवें गुणस्थान से लेकर बाहरवें गुणस्थान तक का काल परम समाधि का है परम समाधि की दशा छद्मस्थ जीव के अन्तर्मुहूत काल से अधिक नही रह सकती है इसलिए सातवे, आठवे आदि एक-एक गुणस्थान का काल भी अन्तर्मुहूर्त है और सबका सामूहिक काल भी अन्तर्मुहूर्त ही है, ऐसा जानना चाहिए.

सातव गुणस्थान के दो भेद है—१ स्वस्थान-अप्रमत्त और २ सातिशय-अप्रमत्त सातवें से छठे मे और छठे से सातवें गुणस्थान मे आना जाना स्वस्थान-अप्रमत्तसयत के होता है किन्तु जो साधु मोहनीय कर्म का उपशम या क्षय करने के लिए उद्यत होते है, सातिशय अप्रमत्तदशा उन्ही साधुओ की होती है उस समय ध्यान अवस्था मे ही मोहनीय कर्म के उपशमन या क्षपण के कारणभूत अध करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नाम वाले एक विशिष्ट जाति के परिणाम जीव मे प्रकट होते है, जिनके द्वारा यह जीव मोहनीय कर्म का उपशनम या क्षपण करने मे समर्थ होता है इनमे से अध करण रूप विशिष्ट परिणाम सातिशयअप्रमत्तसयत के अर्थात् सातवें गुणस्थान मे ही प्रकट होते है इन परिणामो के द्वारा वह सयत मोहकर्म के उपशम या क्षय के लिए उत्साहित होता है

आगे के गुणस्थानो का स्वरूप जानने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि आठवे गुणस्थान से दो श्रेणियाँ प्रारम्भ होती है—उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी उपशमश्रेणी के ४ गुणस्थान है —आठवाँ, नौवाँ, दशवाँ और ग्यारहवाँ क्षपकश्रेणी के भी ४ गुणस्थान है—आठवाँ, नौवाँ, दशवाँ और बारहवाँ क्षपकश्रेणी पर केवल तद्भवमोक्षगामी क्षायिक सम्यदृष्टि साधु ही चढ सकता है, अन्य नही किन्तु उपशमश्रेणी पर तद्भवमोक्षगामी और अतद्भवमोक्षगामी तथा औपशमिक सम्यग्दृष्टि और क्षायिक सम्यग्दृष्टि दोनो प्रकार के जीव चढ सकते है किन्तु इतना निश्चित जानना चाहिए कि उपशमश्रेणी पर चढने वाला साधु ग्यारहवें गुणस्थान मे पहुँच कर और अन्तर्मुहूर्त के लिए मोहनीयकर्म का पूर्ण उपशमन करके वीतरागता का अनुभव करने के पश्चात् भी नियम से नीचे गिरता है. यदि वह सभलना चाहे तो छठे-सातवे गुणस्थान मे ठहर जाता है, अन्याथा नीचे के भी गुणस्थानो मे जा सकता है किन्तु जो तद्भवमोक्षगामी और क्षायिक सम्यग्यदृष्टि जीव हैं, वे सातवे गुणस्थान मे पहुँच कर फिर भी मोहकर्म की क्षपणा के लिये प्रयत्न करते है और आठवे गुणस्थान मे पहुँचते है इसलिए आगे दोनो श्रेणियो के गुणस्थानो का स्वरूप एक साथ कहा जायगा

(८) अपूर्वकरण-संयतगुणस्थान : जब कोई सातिशय अप्रमत्त सयत मोहकर्म का उपशमन या क्षपण करने के लिए अध करण परिणामो को करके इस गुणस्थान मे प्रवेश करता है, तब उसके परिणाम प्रत्येक क्षण मे अपूर्व-अपूर्व ही होते है प्रत्येक समय उसके परिणामो की विशुद्धि अनन्तगुणी होती जाती है इस गुणस्थान के परिणाम इसके पहले कभी नही प्राप्त हुए थे, अत उन्हे अपूर्व कहते है इस गुणस्थान मे अनेक जीव यदि एक साथ प्रवेश करें, तो उनमे से एक समयवर्ती कितने ही जीवो के परिणाम तो परस्पर समान होगे और कितने ही जीवो के परिणाम असमान रहेगे परन्तु आगे—आगे के समयो मे सभी जीवो के परिणाम अपूर्व और अनन्तगुणी विशुद्धि को लिए हुए होते है, इसीलिए इस गुणस्थान का नाम अपूर्वकरण है इस गुणस्थान का कार्य मोहकर्म के उपशमन या क्षपण की भूमिका तैयार करना है यद्यपि इस गुणस्थान मे मोहकर्म की किसी भी प्रकृति का उपशम या क्षय नही होता है, तथापि मोहकर्म के स्थिति-खण्डन अनुभाग आदि कार्य प्रारम्भ हो जाते है

(९) अनिवृत्तिकरण-सयतगुणस्थान . आठवे गुणस्थान मे अन्तर्मुहूर्त काल रह कर और अपूर्व-अपूर्व विशुद्धि को प्राप्त हो, विशिष्ट आत्म-शक्ति का सचय करके यह जीव नौवें गुणस्थान मे प्रवेश करता है इस गुणस्थान के प्रत्येक समयवर्ती जीवो के परिणाम यद्यपि उत्तरोत्तर-अपूर्व और अनन्तगुणी विशुद्धि वाले होते है, किन्तु एक समयवर्ती जीवो के परिणाम सदृश ही होते है, उनमे निवृत्ति या विषमता नही पाई जाती है, अत उन परिणामो को अनिवृत्तिकरण करते हैं इस गुणस्थान मे होने वाले परिणामो के द्वारा आयुकर्म को छोडकर शेष सात कर्मो की गुणश्रेणी, निर्जरा, गुणसक्रमण, स्थिति खण्डन और अनुभागखण्डन होता है अभी तक जो करोडो सागरो की स्थिति वाले कर्म बधते चले आ रहे थे उनका स्थितिबन्ध उत्तरोत्तर कम-कम होता जाता है, यहाँ तक कि इस गुणस्थान के अन्तिम समय मे पहुँचने पर कर्मो की जो जघन्य स्थिति बतलायी गयी है, तत्प्रमाण स्थिति के कर्मो का बन्ध होने लगता है कर्मो के सत्व का भी बहुत परिमाण मे ह्रास होता है प्रतिसमय कर्मप्रदेशो की निर्जरा असख्यातगुणी बढती जाती है उपशमश्रेणी वाला जीव इस गुणस्थान मे मोहकर्म की एक सूक्ष्म लोभप्रकृत्ति को छोड कर शेष सर्वप्रकृतियो का उपशमन कर देता है और क्षपक श्रेणी वाला जीव उन्ही का क्षय करके दशवे गुणस्थान मे प्रवेश करता है यहाँ इतना विशेष ज्ञातव्य है कि क्षपकश्रेणी



वाला मोहकर्म की प्रकृतियो के साथ अन्य कर्मो की भी अनेक प्रकृतियो का क्षय करता है

(१०) सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थान : इस गुणस्थान मे परिणामो की प्रकृष्ट विशुद्धि के द्वारा मोहकर्म की जो एक सूक्ष्म लोभप्रकृति शेष रह गई है, वह प्रतिसमय क्षीण-शक्ति होती जाती है. उसे उपशमश्रेणी वाला जीव तो अन्तिम समय उपशमन करके ग्यारहवे गुणस्थान में जा पहुँचता है और क्षपक श्रेणी वाला जीव क्षय करके बारहवे गुणस्थान मे पहुँचता है. जिस प्रकार धुले हुए कसूमी रग के वस्त्र में लालिमा की सूक्ष्म आभा रह जाती है, उसी प्रकार इस गुणस्थान के परिणामो द्वारा लोभकषाय क्षीण या शुद्ध होते हुए अत्यन्त सूक्ष्म रूप में रह जाता है, अत इस गुणस्थान को सूक्ष्म-साम्पराय करते हैं. यहाँ साम्पराय का अर्थ लोभ है इतना विशेष ज्ञातव्य है कि क्षपक श्रेणी वाला इस गुणस्थान के अन्तिम समय में सूक्ष्मलोभ के साथ अन्य कर्मो की भी अनेक प्रकृतियो का क्षय करता है.

(११) उपशान्तकषाय वीतरागछद्मस्थगुणस्थान : दशवे गुणस्थान के अन्तमें सूक्ष्म लोभका उपशम होते ही समस्त कषायो का उपशमन हो जाता है और वह जीव उपशान्तकषायी बन कर ग्यारहवें गुणस्थान मे आता है जिस प्रकार गन्दले-जल में कतक-फल या फिटकरी आदि डालने पर उसका मलभाग नीचे बैठ जाता है और निर्मल जल ऊपर रह जाता है, उसी प्रकार उपशम श्रेणी में शुक्लध्यान से मोहनीयकर्म एक अन्तर्मुहूर्त के लिए उपशान्त कर दिया जाता है, जिससे कि जीव के परिणामो मे एक दम वीतरागता, निर्मलता और पवित्रता आजाती है, इसी कारण उसे उपशान्तमोह या वीतराग सज्ञा प्राप्त हो जाती है. किन्तु अभी तक वह अल्पज्ञ ही है, क्योकि ज्ञान का आवरण करने वाला कर्म विद्यमान है, अत वह वीतराग होते हुए भी छद्मस्थ ही कहलाता है. मोहकर्म का उपशम एक अन्तर्मुहूर्त काल के लिए ही होता है, अत. उस काल के समाप्त होते ही इस जीव का पतन होता है और यह नीचे के गुणस्थानो मे चला जाता है

(१२) क्षीणकषाय वीतरागछद्मस्थ गुणस्थान : क्षपक श्रेणी वाला जीव दशवे गुणस्थान के अन्त में सूक्ष्म लोभ का क्षय करके एकदम बारहवे गुणस्थान मे जा पहुँचता है. इस गुणस्थान में शुक्लध्यान का दूसरा भेद प्रकट होता है. उसके द्वारा वह ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इन तीन घातिक कर्मो का क्षय करता है. मोहकर्म का क्षय तो दशवें गुणस्थान के अन्त में ही हो चुका था इस प्रकार चारो घातिक कर्मो का क्षय होते ही वह कैवल्यदशा को प्राप्त करता हुआ तेरहवें गुणस्थान में प्रवेश करता है.

(१३) सयोगिकेवली गुणस्थान : बारहवें गुणस्थान तक ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म का सद्भाव रहने से जीव अल्पज्ञ ही रहता है अत वहाँ तक के जीवों की छद्मस्थ सज्ञा है. किन्तु बारहवे गुणस्थान के अन्त मे उन कर्मों का एक साथ क्षय होते ही जीव विश्व के समस्त चराचर तत्त्वो को हस्तामलकवत् स्पष्ट देखने और जानने लगता है. अर्थात् वह विश्वतत्त्वज्ञ और विश्वदर्शी बन जाता है, इसे ही अरहन्त अवस्था कहते हैं. केवल ज्ञान की प्राप्ति हो जाने के कारण उसे केवली भी कहते हैं. योग अभी तक बना हुआ है, अतः इस गुणस्थान का नाम सयोगीकेवली है इस गुणस्थान मे चार घातिया कर्मो के नाश से अरहन्त भगवान् के नव केवल लब्धियाँ प्रकट हो जाती हैं ज्ञानावरण कर्म के क्षय से अनन्त ज्ञान, दर्शनावरण के क्षय से अनन्त दर्शन, मोहकर्म के क्षय से अनन्तसुख और क्षायिक सम्यक्त्व, अन्तरायकर्म के क्षय से अनन्त दान, लाभ, भोग, उपभोग और अनन्तवीर्य की प्राप्ति होती है कैवल्य की प्राप्ति होने पर समवसरण-विभूति और अष्ट महाप्रतिहार्य भी प्रकट होते है. और अरहन्त भगवान् विहार करते हुए भव्य जीवों को अपने जीवनपर्यन्त मोक्षमार्ग का उपदेश देते रहते है इस गुणस्थान का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्टकाल आठ वर्ष एव अन्तर्मुहूर्त कर्म एक पूर्वकोटी वर्ष है

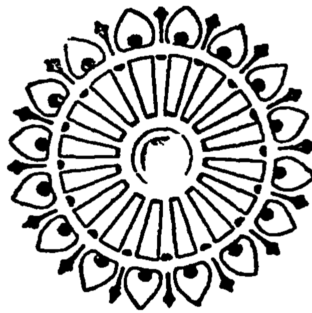
जब तेरहवे गुणस्थान के काल में एक अन्तर्मुहूर्त मात्र समय शेष रह जाता है और केवली भगवान् की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु से शेष अघातिया कर्मो की स्थिति अधिक रहती है तब उनकी स्थिति के समीकरण के लिए तीसरा शुक्लध्यान प्रकट होता है और भगवान् केवलीसमुद्घात करते हैं. प्रथम समयमे चौदह राजुप्रमाण लम्बे दण्डाकार आत्म-प्रदेश फैलते है. दूसरे समय मे कपाट के आकार के आत्मप्रदेश चौडे हो जाते है. तीसरे समय में प्रतर के आकार मे

विस्तृत होते हैं और चौथे समय मे उनसे आत्मप्रदेश सारे लोकाकाश मे व्याप्त हो जाते है इसे लोकपूरण-समुद्घात कहते हैं इसी प्रकार चार समयो मे आत्मप्रदेश वापिस सकुचित होते हुए शरीर मे प्रविष्ट हो जाते हैं इस केवली-समुद्घात क्रिया से नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म की स्थिति भी आयुकर्म के बराबर अन्र्मुहूर्त की रह जाती है. तभी वे चौदहवे गुणस्थान मे प्रवेश करते है

(१४) अयोगिकेवली गुणस्थान : इस गुणस्थान मे प्रवेश करते ही शुक्लध्यान का चौथा भेद प्रकट होता है और उसके द्वारा उनके योगो का निरोध होता है योग-निरोध के कारण ही उनको अयोगिकेवली कहा जाता है इस गुणस्थान का काल यद्यपि अन्तर्मुहूर्त कहा जाता है, तथापि वह 'अ इ उ ऋ लृ' इन पाँच ह्रस्व स्वरो के बोलने मे जितना समय लगता है, तत्प्रमाण ही है इस गुणस्थान के उपान्त्य या द्विचरम समय मे केवली भगवान् अघातिया कर्मो की ७२ प्रकृतियो का क्षय करते हैं और अन्तिम समय मे, यदि वे तीर्थंकर हैं, तो १३ प्रकृतियो का, अन्यथा १२ प्रकृतियो का क्षय करते है और एक क्षण मे सर्व कर्मो से विप्रमुक्त होकर अयोगिकेवली भगवान् मुक्त या सिद्ध सज्ञा को प्राप्त करते हुए सिद्धालय मे जा विराजते है और सदा के लिये आवागमन से विमुक्त हो जाते है

उपसंहार

कर्म-मलीमस यह ससारी जीव अपने पुरुषार्थ के द्वारा इन चौदह गुण-स्थान रूप नसैनी पर चढता हुआ लोकान्त मे अवस्थित सिद्धालय तक पहुँचता है और ससार के अनन्त दु खो से छूट कर अनन्त आत्मिक सुख का अनुभव करता है प्रारम्भ के तीन गुणस्थान वाले जीवो की बहिरात्मा सज्ञा है. चौथे से लेकर बारहवें गुणस्थान वाले जीवो को अन्तरात्मा कहते है और तेरहवें चौदहवें गुणस्थान वाले जीव परमात्मा कहलाते है इस प्रकार बहिरात्मा से परमात्मा बनने के लिये गुणस्थानो पर चढकर उत्तरोत्तर आत्मविकास के लिये प्रत्येक तत्त्वज्ञ पुरुष का प्रयत्न होना चाहिए





मुनि श्रीमहेन्द्रकुमार 'द्वितीय'
बी० एस० सी० (Hons)

अनेकतत्त्वात्मक वास्तविकतावाद और जैनदर्शन

विश्व की चरम वास्तविकता एक नही अपितु अनेक है, यह अनेकतत्त्वात्मक वास्तविकतावाद है विविध विचारधाराओ मे यदि कोई विचारधारा जैनदर्शन के अधिक निकट हो, तो वह अनेकतत्त्वात्मक वास्तविकतावाद की है इस विचारधारा मे भी तत्त्वो के स्परूप, सख्या आदि को लेकर अनेक अभिप्राय प्रस्तुत हुए है. द्वैतवाद (Dualism) विश्व मे दो तत्त्वो की सत्ता का प्रतिपादन करता है— जड और चेतन. अनेकवाद अनेक प्रकार के तत्त्वो का प्रतिपादन करता है अनुभयवाद जड और चेतन के अतिरिक्त तीसरे ही प्रकार के तत्त्वो को विश्व की वास्तविकता मानता है. यहाँ पर हम केवल कुछ विशिष्ट दार्शनिको और वैज्ञानिको की विचारधारा की जैनदर्शन के साथ तुलनात्मक समीक्षा करेगे

आधुनिक दार्शनिको मे ब्रट्रेण्ड रसेल की विचारधारा मे अनेक तत्त्वात्मक वास्तविकतावाद का प्रतिपादन हुआ है भौतिक पदार्थो के अस्तित्व को वे अनुभूति पर आधारित नही मानते. रसेल ने सभी प्रकार की आदर्शवादी और ज्ञात सापेक्षवादी विचारधाराओ का तार्किक ढग से खण्डन किया है. बर्कले के अनुभववाद और प्लूतो के प्रत्ययो के सिद्धान्त की भी उन्होने तर्कपूर्ण रीति से धज्जिया उडाई है. ज्ञान मे मानसिक विश्लेषण की दृष्टि से रसेल ने एक नये प्रकार के वास्तविकवाद को जन्म दिया है इसमे स्पष्ट रूप से माना गया है कि ज्ञेय पदार्थो का अस्तित्व ज्ञाता से सर्वथा स्वतन्त्र है जैनदर्शन भी इस सिद्धान्त को स्वीकार करता है इस प्रकार पदार्थों के वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व को दोनो दर्शनो मे स्वीकार किया गया है.

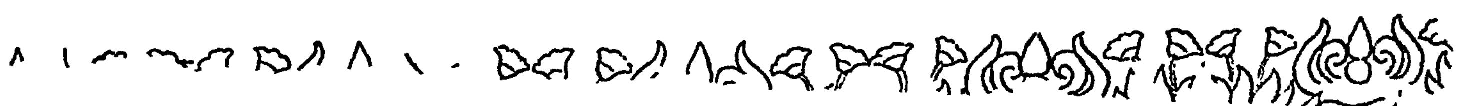
बर्ट्रेण्ड रसेल जहाँ पदार्थो के वास्तविक अस्तित्व को स्वीकार करते है वहाँ चैतन्य के अस्तित्व को भी स्वीकार करते है अत भौतिकवाद के भी वे विरोधी है यहाँ तक तो उनका दर्शन, जैनदर्शन के साथ सामजस्य रखता है किन्तु इससे आगे वे मानते है कि विश्व की वास्तविकता 'अनुभय' अर्थात् जड और चेतन से परे तीसरे प्रकार के तत्त्व है. जिनको वे घटनाए (Events) कहते है. इस प्रकार उनके अनुसार विश्व के सभी पदार्थ घटनाओ के समूह है घटनाए अपने आप मे जड और चेतन दोनो से भिन्न है और आकाश काल के सीमित प्रदेश मे स्थित है[1] इन घटनाओ को वे स्वभावत गत्यात्मक (Dynamic) मानते है तथा एक दूसरे से सम्बन्धित भी. 'घटना' के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये उन्होने लिखा है जब मैं 'घटना' के विपय में कह रहा हूँ, तो मेरा तात्पर्य किसी अनुभवातीत वस्तु से नही है बिजली की चमक को देखना एक घटना है. मोटर के टायर को फटते सुनना अथवा सडे अण्डे को सूघना या किसी मेंढक के शरीर की शीतता का अनुभव करना आदि घटनाएँ है.[2] इन घटनाओ के परस्पर सम्बन्ध भिन्न-भिन्न प्रकार के होते है, जिनके कारण उनका कोई समूह जड कहलाता है और कोई चेतन. इस प्रकार जड पदार्थो की घटनाओ के पारस्परिक सम्बन्ध चेतन पदार्थो की घटनाओ के सम्बन्धो से भिन्न है, यद्यपि दोनो मे विद्यमान घटनाओ का स्वरूप एक ही है[3]

---

१ एन० आउटलाइन आफ फिलोसोफी, पृ० २८७

२ वही पृ० २८७,

३ दर्शन-शास्त्र का रूपरेखा, पृ० १३१



अब यदि जैनदर्शन के द्रव्य गुणपर्यायवाद के साथ रसेल के इस 'घटनासिद्धान्त' की तुलना की जाये, तो इनके बीच रहे हुए सादृश्य-वैसदृश्य का पता हमे लग सकता है जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक द्रव्य, गुण और पर्यायो का आश्रय है[1] प्रतिक्षण प्रत्येक द्रव्य मे जो परिवर्तन होता है, उसे पर्याय कहा गया है[2] जीव और पुद्गल, धर्मास्तिकाय, और अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल, सभी द्रव्यो मे प्रतिक्षण यह पर्याय का क्रम चलता रहता है अब जिसको रसेल 'घटना' कहते हैं, वह सम्भवत पर्याय का ही द्योतक लगता है रसेल पदार्थो को घटनाओ के समूह रूप मानते है जैनदर्शन 'पर्याय' प्रवाह के आधार को द्रव्य मानता है रसेल की घटनाए गत्यात्मक है और एक दूसरे से सम्बन्धित है, तो जैनदर्शन भी पर्यायो को सदा गतिमान और एक दूसरे से सम्बन्धित बताता है घटनाए और पर्याय दोनो हमारे अनुभय से परे नही है रसेल जहाँ घटनाओ को विविध सम्बन्धो से जड और चेतन मे विभाजित करते है और जड पदार्थो की घटनाओ के पारस्परिक सम्बन्ध को चेतन पदार्थो की घटनाओ के सम्बन्ध से भिन्न मानते है, वहाँ जैनदर्शन भी पुद्गल और जीव की पर्यायो को भिन्न-भिन्न मानता है अन्तर केवल इतना ही है कि रसेल प्रत्येक घटना को एक स्वतन्त्र तत्त्व-अनुभव मानते है, जब कि जैनदर्शन पर्याय को स्वतन्त्र तत्त्व के रूप मे स्वीकार नही करता यथार्थता की दृष्टि से देखने पर रसेल का यह अनुभय भी अन्तत तो द्वैतवाद मे ही परिणत हो जाता है क्योकि जहाँ पारस्परिक सम्बन्धो से वे घटनाओ को दो प्रकारो मे विभाजित करते हैं, वहाँ मौलिक तत्त्व घटनाए न रह कर जड और चेतन ही बन जाते है

जड चेतन की उत्पत्ति के लिये उत्तरदायी सम्बन्धो की परीक्षा करते हुए डा० स्टेस (Dr Stace) इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि ये सम्बन्ध अनुभयवाद को वस्तुत द्वैतवाद बना डालते है[3] वे कहते है कि यदि जड और चेतन का अन्तर उनके तत्त्वो के सम्बन्धो का अन्तर है, तो इसका मतलब है कि चेतन पदार्थ के तत्त्वो मे जो सम्बन्ध है, वह भौतिक पदार्थ के सम्बन्ध से बिल्कुल भिन्न है, अर्थात् वह भौतिक नही है यह भी निश्चित है कि वह अनुभय नही है, तो अवश्य ही मानसिक या चेतन होगा अनुभय नही होने का मतलब है कि जड और चेतन दोनो से भिन्न नही है, अर्थात् भौतिक या मानसिक है यह भी मालूम है कि भौतिक नहीं है इसलिए अवश्य ही मानसिक होगा इसी तरह यह दिखाया जा सकता है कि भौतिक पदार्थो के तत्त्वो मे विद्यमान सम्बन्ध भौतिक हैं अतएव अनुभय तत्त्वो से चेतन पदार्थ को उत्पन्न करने वाले सम्बन्ध सिर्फ चेतन है और भौतिक पदार्थ को उत्पन्न करने वाले सिर्फ भौतिक इसका मतलब है कि जड और चेतन की भिन्नता मौलिक या आधारिक है किन्तु ऐसा होने से उनका वास्तविक द्वैत सिद्ध हो जाता है इस द्वैत का परिहार नही हो सकता, क्योकि यह द्वैत सम्बन्धो का है और सम्बन्ध ही जड को जड और चेतन को चेतन बनाने वाले है[4] इस प्रकार यद्यपि रसेल ने घटनाओ को अनुभय तत्त्वो के रूप मे बताया है, पर वस्तुत तो उनके मूल मे जड़ या चेतन, कोई न कोई होता ही है[5]

यह तो जैन-दर्शन भी मानता है कि जितने भी चेतन तत्त्व है और परमाणु पुद्गल है वे सभी स्वतन्त्र वास्तविकताएँ हैं, और इस दृष्टि से विश्व के मूलतत्त्वो की सख्या तो अनन्त ही है. जहाँ हम इन तत्त्वो को प्रकारो मे बाटते है, वहाँ हमारे सामने केवल दो भेद रह जाते है, जीव और पुद्गल.[6] अस्तु रसेल का दर्शन पाश्चात्य जगत् का एक ऐसा दर्शन है जो सम्भवत जैनदर्शन के सबसे निकट माना जा सकता है

आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिको मे प्रो० हेनरी मार्गेनो की विचारधारा भी जैनदर्शन के साथ बहुत सादृश्य रखती है

१ गुणपर्यायाश्रयो द्रव्यम्. जैनसिद्धान्तदीपिका १-३

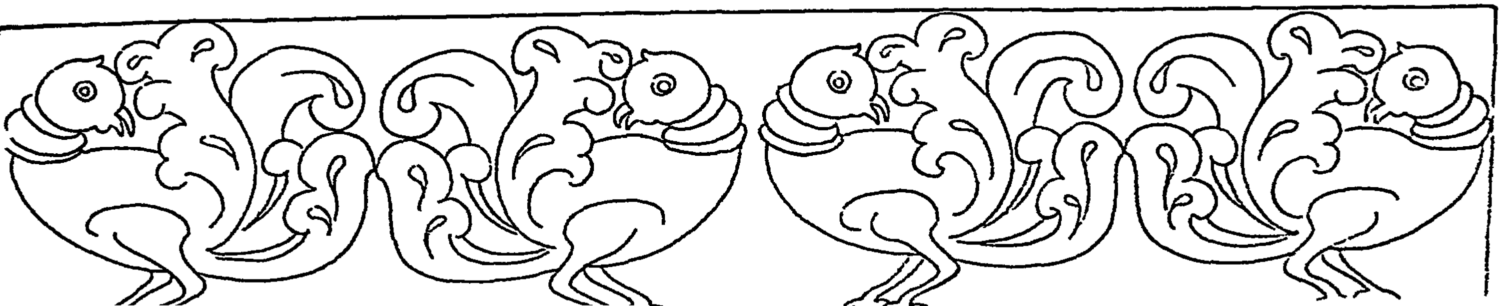
२ पूर्वोत्तराकारपरित्यागादान पर्याय । वही १-४४.

३ दी फिलासोफी आफ बर्ट्रेण्ट रसेल, पी०ए० शिल्प द्वारा सम्पादित पृ०३५५-४००

४ दर्शनशास्त्र की रूपरेखा, पृ० १३३

५ रसेल ने स्वय अपने दर्शन को द्वैतवाद कहा है देखें दर्शन-दिग्दर्शन पृ०३७१.

६ धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय, ये तीन भी वास्तविक तत्त्व हैं, किन्तु इनकी सख्या एक एक है



प्रो० मार्गेनो ने कन्स्ट्रक्ट्स के सिद्धात का निरूपण करके यह बताया है कि ज्ञाता और ज्ञेय पदार्थ दोनो कास्व तन्त्र अस्तित्व है अभौतिक वास्तविकता को भी वे स्वीकार करते है.

इस प्रकार जैन-दर्शन के साथ इनकी विचारधारा का काफी सामजस्य प्रतीत होता है मार्गेनो की विचारधारा में ज्ञान मैमासिक विश्लेषण के द्वारा ज्ञाता और ज्ञेय पदार्थ की वास्तविकता के विषय मे चिन्तन किया गया है और वह विचारधारा समीक्षात्मक वास्तविकतावाद (Critical realism) के निकट चली जाती है

समीक्षात्मक वास्तविकतावाद के अनुसार ज्ञान-प्रक्रिया में तीन तत्त्व होते है

१ ज्ञाता (known of mind), २. ज्ञेय (object as it is), ३. ज्ञात पदार्थ (object as known)

'ज्ञाता' ज्ञान करनेवाला है. जिस वस्तु का ज्ञान होता है, उसी को 'ज्ञेय पदार्थ' कहते है मन या ज्ञाता की चेतना के समक्ष जो पदार्थ विद्यमान रहता है, उसीको 'ज्ञात' पदार्थ कहते है, उसे प्रदत्त (Datum) भी कहते है. क्योकि ज्ञाता को यही प्राप्त होता है वास्तविक वस्तु नही मिलती. यह सिद्धात वास्तविक वस्तु और ज्ञात वस्तु दोनो मे द्वैत या भिन्नता मानता है, इसलिए इसे ज्ञान-शास्त्रीय-द्वैतवाद (Epigtemological dualism) कहते है[१] इस प्रकार इसके अनुसार ज्ञेय पदार्थ और ज्ञात पदार्थ मे सख्यात्मक भिन्नता (Numerical duality) तो होती है. किन्तु इन प्रदत्तो के द्वारा पदार्थ वस्तुओ का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है क्योकि हम प्रदत्तो को नही देखते. बल्कि चश्मे की तरह उनके माध्यम से वस्तुओ को देखते है. अब देखा जा सकता है कि जैनदर्शन की विचारधारा इसके समीप है. जैन-दर्शन ज्ञेय पदार्थ को स्वतत्र वास्तविकता के रूप मे स्वीकार करता है ज्ञाता का भी स्वतत्र वास्तविक अस्तित्व मानता है 'ज्ञात पदार्थ' ज्ञेय पदार्थ से सख्यात्मक भिन्नता रखता है ज्ञानप्रक्रिया मे दो प्रकार के साधनो का उपभोग होता है— ऐन्द्रिय और अतीन्द्रिय. ऐन्द्रिय साधनो द्वारा ज्ञात पदार्थ ज्ञेय पदार्थ से न केवल सख्यात्मक भिन्नता रखता है बल्कि इनमे स्वरूपात्मक भिन्नता भी होनी सभव है. हाँ, यह ज्ञात-पदार्थ ज्ञेय पदार्थ और ऐन्द्रिय उपकरणो के पारस्परिक सम्बन्धो के अनुरूप ही होता है गणित की भाषा मे इसे कहे तो यदि 'अ' ज्ञेय पदार्थ है और 'ब' ऐन्द्रिय साधनो द्वारा ज्ञात पदार्थ है तो ब-फ (अ ऐन्द्रिय सम्बन्ध)[२] होता है इस प्रकार हमारे ज्ञान मे आने वाला विश्व वास्तविक विश्व मे यह 'द्वैत' हो जाता है अब, जहाँ अतीन्द्रिय साधनो द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है, वहाँ ज्ञात पदार्थ और ज्ञेय पदार्थ में सख्यात्मक द्वैत तो रहता है, किन्तु स्वरूपात्मक द्वैत तो नही रहता अर्थात् यदि 'क' अतीन्द्रिय साधनो द्वारा ज्ञात पदार्थ है तो 'क-अ' होता है.

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनदर्शन और समीक्षात्मक वास्तविकतावाद में बहुत कुछ सादृश्य है, किन्तु थोडा अन्तर भी है , दूसरा जहाँ प्रदत्त (Datum)और यथार्थ वस्तु में स्वरूपात्मक भिन्नता को स्वीकार नही करता, वहा, जैनदर्शन उसकी सभवता को स्वीकार करता है. दूसरी बात यह है कि प्रदत्तो को जैन-दर्शन में कोई स्वतत्र वास्तविकता के रूप मे स्वीकार नही किया गया है, किन्तु वह वस्तुत ज्ञाता का ही एक अग बन जाता है. हाँ, उसका स्वरूप 'ज्ञेय-पदार्थ' पर आधारित अवश्य होता है. ऐसा मानने से जो दोष समीक्षात्मक वास्तविकतावाद में आते है,[३] जैनदर्शन की विचारधारा उनसे मुक्त रह जाती है.

वैज्ञानिको मे अनेक ऐसे है, जो अनेकतत्त्वात्मक वास्तविकतावाद को स्वीकार करते है. प्राचीन युग मे न्यूटन ने स्पष्ट रूप से भूत और चेतन के स्वतत्र अस्तित्व को स्वीकार किया था, आधुनिक युग मे हाईसन वर्ग व्ही हॉकर आदि भी पदार्थ के वस्तुसापेक्ष अस्तित्व को स्वीकार करते है. हाईसनवर्ग का स्थान वर्तमान वैज्ञानिको मे प्रथम श्रेणी मे है उन्होने अपने 'भौतिक विज्ञान और दर्शन' नामक ग्रन्थ मे आधुनिक विज्ञान के दर्शन की जो चर्चा की है, उसके

---

१ दर्शनशास्त्र की रूपरेखा, पृ० ३४५

२. (फलक) (Function) का चिह्न है

३. विवरण के लिए देखें, दर्शन-शास्त्र की रूपरेखा, पृ० ३४७-३४८.

आधार पर कहा जा सकता है कि उन्होने भौतिक पदार्थो को वस्तुसापेक्ष वास्तविकता के रूप मे माना है साथ ही चेनन तत्त्व की वास्तविकता को भी वे स्वीकार करते हैं. उन्होने माना है कि चेतनतत्त्व को भौतिकशास्त्र, रसायन-शास्त्र और विकासवाद के सिद्धातो पर नही समझाया जा सकता [१] हाईसन वर्ग यह भी मानते हैं कि 'वास्तविकता' को समझने के लिये हमारी धारणाओ की सूक्ष्म परिभाषाये आवश्यक है [२] इनकी विचारधारा को हम आधुनिक प्रत्यक्षवाद (Modern Positivism) के अन्तर्गत मान सकते हैं उन्होने स्वय आधुनिक प्रत्यक्षवाद की चर्चा मे यह कहा है कि 'पदार्थ अनुभूति' 'अस्तित्व' आदि की समीक्षात्मक परिभाषायें आवश्यक हैं [३]

अव जैन-दर्शन के साथ यदि इसकी तुलना की जाये तो कहा जा सकता है कि वैज्ञानिको की दार्शनिक विचारधाराओ मे हाईसन वर्ग की विचारधारा जैन-दर्शन के साथ बहुत सादृश्य रखती है दोनो ही भूत और चेतन के वास्तविक अस्तित्व को स्वीकार करते है ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्धी हाईसन वर्ग की दार्शनिक विचारधारा का विस्तृत विवेचन नही होने से, इतनी समीक्षा प्रर्याप्त मानी जा सकती है.

हाईसन वर्ग के अतिरिक्त अन्य वैज्ञानिक भौतिक पदार्थों को और चेतन तत्त्व को भी वास्तविक मानते है किन्तु उनकी विचारधारा दर्शन के रूप मे उपलब्ध होने से तुलनात्मक समीक्षा नही की जा सकती



१. फिजिक्स एण्ड फिलोसोफी, पृ० ९५

२ वही पृ० ८४

३. वही पृ० ७८.



श्रीदेवनारायण शर्मा
एम० ए०, साहित्यरत्न,
रिसर्च स्कॉलर, प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध सस्थान, मुजफ्फरपुर, विहार.

हिंदू तथा जैनसाधु-परम्परा एवं आचार

यह हमारी राष्ट्रीय विशेषता है कि जब भी हम किसी वस्तु के इतिहास का अन्वेषण करते है, तो उसके मूल-स्रोत की जानकारी के लिये वेदो को अवश्य टटोलते है. और यह ठीक भी है क्योकि वेदो मे वीजरूप मे जो चिंतन है उसका सम्यक् विकास आगे के साहित्य मे मिलता है वस्तुत यही बात साधु-परम्परा के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है यद्यपि यह सत्य है कि आत्मा,पुनर्जन्म और कर्मफलवाद के विषय मे वैदिक ऋषियो ने अधिक नही सोचा था, किन्तु इनका विकास आगे चलकर उपनिषदो मे हुआ-सा लगता है आत्मा शरीर से भिन्न वस्तु है, जो मरणोपरान्त परलोक को जाती है, सिद्धान्त का आभास वैदिक ऋचाओं[1] मे मिलता है. यद्यपि वेदो का वातावरण आनन्द और उल्लास का है, उसमे भय अथवा शोक की छाया नही है किन्तु इससे यह नही समझना चाहिए कि वैदिक जनता[2] इसी ससार पर भूली हुई थी और उसे सांसारिक जीवनोपरान्त आनेवाले पारलौकिक जीवन का ध्यान ही नही था ध्यान था और ऋषिओं[3] ने कभी-कभी इस रहस्य पर विचार भी किया है

पर इसके बाद भी वेदो से यही स्पष्ट होता है कि उस समय के आर्यो मे श्रेय की अपेक्षा प्रेय की भावना ही अधिक है प्रबल थी[4] प्रेय को छोडकर श्रेय की ओर बढने की आतुरता उपनिषदो के समय जगी, जब मोक्ष के सामने गृहस्थ जीवन निस्सार समझा जाने लगा एव लोग, जीवन से आनन्द लेने के बदले सन्यास[5] लेने लगे उपनिषदो ने मोक्ष का ससार को समाधान बतलाया और यह कहा कि मोक्ष का मार्ग ज्ञान है इस युग मे ज्ञान की इतनी महिमा बढी कि वर्णाश्रम और यज्ञवाद, दोनो बहुत पीछे छूट गये.

चूंकि मोक्ष का सिद्धान्त निरुपित करने मे बार-बार सासारिक जीवन की दु खपूर्णता की चर्चा की गयी, इस कारण समाज मे एक तरह का निराशावाद फैलने लगा और लोग, जीवन मे उस उत्साह को खोने लगे, जो वेदकालीन भारत-वासियो की विशेषता थी वैदिक-सभ्यता, कर्मठ मनुष्य की सभ्यता थी जो सोचता कम, काम अधिक करता था जिसे नरक की चिन्ता नहीं, सदा स्वर्ग का ही लोभ था जो जीवन को दु खो का आगार नही, सुख और आनन्द का साधन मानता था मगर उपनिषदो ने मानव-जीवन के अनेक नये पट उघाड दिये और वह उनके सवालो के चक्कर मे पड गया. यह सृष्टि क्या है ? जीव सान्त है या अनन्त ? यह जन्म के पहले क्या था ? जीवन की स्थिति मरने के बाद क्या होगी ? क्या जीवन मरने के साथ ही समाप्त हो जायेगा ? या मरने के बाद भी हमें स्वर्ग मिलेगा ? अगर हाँ तो इसका

---

१ ऋग्वेद—१, १६४, २०-३७-३८.

२ यजुर्वेद—३१।१८

३. वही—११।५

४. अथर्ववेद—१९।५२।१, यजु० पुरुष सूक्त २२

५. ऋग्वेद—३५०८।६।२८





प्रमाण क्या है ? इन प्रश्नो ने मानव को स्थूल एव प्रत्यक्ष से सूक्ष्म तथा अनुमान की ओर अग्रसर होने को बाध्य किया और वे ऐसे धर्म की खोज मे लगे जो भोगप्रधान नही, योगप्रधान हो, वैराग्य-प्रधान हो साराशत हम यही से साधु-परम्परा का सूत्रपात होता हुआ देखते है

वैदिकदर्शन मे वैराग्य की मनोभावना का आरम्भ उपनिषदो मे ही होता है और वह भावना बौद्ध तथा जैनदर्शनो मे अधिक प्रबल होती हुई दीखती है उपनिषदो से आत्म-विद्या और तपश्चर्या की जो परिपाटी चली उससे प्रेरित होकर लोग अधिक सख्या मे विरागी होने लगे. इसका कारण यह था कि जो लोग यह समझते थे कि उन्हे आत्म-ज्ञान प्राप्त हो गया तथा वे जीवन्मुक्त हो गये है या जीवन्मुक्ति की राह पर है, वे ससार को छोडकर इसलिए सन्यासी या विरागी हो जाते थे कि कही गृहस्थाश्रम मे रहने से वे इस अवस्था से पतित न हो जाए ये सन्यासी और परिव्राजक सर्वत्र घूमते रहते थे पेडो के नीचे अथवा कुटियो मे उनका सोना होता था और वनो मे तपश्चर्या इन साधुओ की विशेषता यही थी कि यज्ञ मे इनका विश्वास नही था, कर्मकाण्ड को वे नही मानते थे और ऐहिक सुखो को वे मनुष्य का हीन उद्देश्य बतलाते थे उनका लक्ष्य मनुष्य के भीतर वैराग्य जगाकर उसे ईश्वर की ओर ले जाना था यद्यपि यह सन्यास मार्ग वैदिककाल मे ही प्रचलित हो चुका था, तो भी प्राय वह कर्मकाण्ड से आगे कदम नही बढा सका था स्मृति आदि ग्रन्थो मे सन्यास लेने की बात कही गयी है, परन्तु उसमे प्रधानत पूर्वाश्रमो के कर्त्तव्यपालन[1] का उपदेश दिया ही गया परन्तु यहाँ यह विचारणीय है कि जो कर्मकाण्ड अथवा यज्ञवाद इतनी प्रबलता से देश मे प्रचलित था और जिसका समर्थक प्रभावशाली पुरोहितवर्ग था, उसने भी इस उपनिषद्कालीन निवृत्ति-प्रधान धर्म के सामने घुटने टेक दिये इस आश्चर्यमय परिवर्तन को देखकर यह स्पष्ट कहना पड जाता है कि उसके अपदस्थ हो जाने के कुछ ऐसे प्रबल कारण अवश्य उपस्थित हुए, जिन्होने उसके मानने वालो पर तीव्र प्रतिक्रिया उत्पन्न की वास्तव मे इसमे से पहला एव प्रधान कारण जैन एव बौद्ध धर्मो का प्रचार-प्रसार है क्योकि इन्ही दोनो धर्मो ने प्राय चारो वर्णो के लिए सन्यासमार्ग का द्वार खोल दिया पर, इसका तात्पर्य यह कदापि नही कि भगवान् महावीर तथा बुद्ध के पूर्व इस देश मे वैरागी अथवा सन्यासी थे, ही नही थे, पर सन्यास अथवा वैराग्य-ग्रहण करने का अधिकार केवल ब्राह्मण-वर्ग को ही था, अन्य वर्गो को नही इस कारण ये वैरागी और सन्यासी इने गिने ही देखने को मिलते थे. लेकिन इन दोनो श्रमण-सम्प्रदायो ने अपने आचारो एव निवृत्ति प्रधान उपदेशो से इस प्रकार देश की जनता को अपनी ओर आकृष्ट किया कि पुरोहित-धर्म जो चिरकाल से पोषित एव सत्कृत होने के कारण दृढमूल हो चुका था, उसकी जड सर्वथा हिल गयी

वस्तुत. यह श्रमण वर्ग भी ब्राह्मण वर्ग के साथ ही इस देश मे विद्यमान रहा है भगवान् ऋषभदेव को जिन्हे श्रीमद्-भागवत मे भगवदशावतार माना गया है, जैनलोग अपना आदि तीर्थंकर मानते है बौद्धो के कथानुसार सिद्धार्थ गौतम वास्तव मे अन्तिम बुद्ध है और त्रेतायुग के दाशरथी राम भगवान् बुद्ध के एक अवतार समझे जाते है हिन्दुओं के प्राचीन-ग्रन्थो मे यत्र-तत्र जैनो और बौद्धो के प्राचीन अस्तित्व के प्रमाण मिलते है इसलिए यह ठीक-ठीक कहना कठिन है कि ब्राह्मण और श्रमण-सम्प्रदायो मे कौन किसकी अपेक्षा अधिक प्राचीन है वेद मे वेदनिन्दको, नास्तिको और यज्ञ मे विघ्न डालने वाले दृश्यादृश्य सभी तरह के प्राणियो के विरुद्ध मन्त्र और निराकरण के साधन है इससे यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि इन दोनो सम्दाओ का रूप चाहे जो भी हो, पर इसमे सन्देह नही कि उपर्युक्त दोनो मतो के लोग वेद-मन्त्रो के रचना-काल से पहले के ही है

ये श्रमण अवैदिक होते थे ब्राह्मण यज्ञपात्र को मानते थे, श्रमण उन्हे अनुपयोगी समझते थे सभी ब्राह्मण आस्तिक थे, किन्तु श्रमणो के भीतर आस्तिक और नास्तिक दोनो ही प्रकार के लोग थे अनुमान यह है कि योग और कृच्छ्राचार की परम्परा इस देश मे आर्यो के आगमन के पूर्व से ही विद्यमान थी और इस परम्परा का वर्द्धन एव पोषण सभवतया

१ मनु०अ०या० ६।१।२



यह श्रमण-वर्ग ही करता आ रहा था किन्तु जबतक यज्ञपात्र की प्रधानता रही. श्रमणो का प्रभाव सीमित रहा. उनका प्रभाव तबतक बढा जब समाज में प्रबल वेग से मोक्ष का सिद्धान्त प्रचलित हुआ और लोग गृहस्थ की अपेक्षा सन्यासी को अधिक श्रेष्ठ समझने लगे.

इसी प्रकार मूर्ति-पूजक वैरागियो की भी परम्परा आती है यद्यपि उपनिषदो मे मूर्तिपूजा का प्रमाण नही मिलता, किन्तु महामहोपाध्याय काणे विरचित धर्मशास्त्रो के इतिहास से ज्ञात होता है कि ईसा से पाँच सौ वर्ष पूर्व समाज मे ऐसे पुरोहित थे, जो मदिरो में प्रतिमा-पूजन करवाते थे इस आधार पर यह स्वीकार कर लिया जा सकता है कि वैरागी कहलाने वाले भक्त-साधुओ की परम्परा का आरम्भ भी ई०पूर्व०५०० के लगभग हो चुका था. इस तरह हम भारत की साधु-परम्परा का सामान्य अवलोकन कर लेने के बाद अब यहाँ उनके आचार का भी स्थूल रूप से दिग्दर्शन कर सकते है. वस्तुत यह आचार शब्द धर्म का ही समानार्थक शब्द माना जाता रहा है. मनु ने दशक-धर्म-लक्षणम् के द्वारा आचार को ही विशेष स्पष्ट करने की चेष्टा की है. जैन धर्म और बौद्धधर्म में तो इसका महत्त्व और भी अधिक है. वहाँ यह आचार विविध रूपो मे निरूपित किया गया है अहिंसा, निष्कामता, मनोविजय, आत्म-सयम जैसी सदाचरण-सम्बन्धी वातो की ओर उन्होने विशेष ध्यान दिया है क्षमा, शील, प्रज्ञा, मैत्री, सत्य, वीर्य आदि बोधिसत्त्व के आदर्श गुण माने गये है इसी तरह थोडे से शब्द भेद के साथ प्राय इन्ही को अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, सतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान के नाम देकर योग-दर्शन ने भी अपने यहाँ यम-नियमो के रूप मे स्थान दे दिया है स्मृतियो ने तो आचार परमोधर्म इस कथन के द्वारा धर्म का स्पष्ट अर्थ ही आचार प्रधान कर्म निर्धारित कर दिया है. हम देखते है कि जैनधर्म में भी 'अहिंसा परमो धर्म.' इस कथन के द्वारा अहिंसा प्रधान कर्म को ही धर्म कहा गया है[1]

इस तरह इस निष्कर्ष पर हम आसानी से पहुँच सकते है कि अहिंसा अथवा आचार प्रधान कर्म को ही भारतीय परम्परा मे धर्म की सज्ञा दी गई है जैनधर्म मे अहिंसा के अतिरिक्त जो सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये चार अन्य व्रतो के भी नाम लिये गये है, वस्तुत· वे स्वतत्र अथवा पृथक् सत्ता वाले नही हैं, अपितु अहिंसा के ही पूरक है इसे यो भी कहा जा सकता है कि अहिंसा के पूर्ण-पालन के लिए ही इन व्रतो की साधना आवश्यक मानी गयी है

अब यह सिद्ध हो जाने के बाद कि आचार ही धर्म है अथवा आचार को ही धर्म कहते है, यह समझने मे भ्रम का कोई स्थान नही रह जाता कि किसी व्यक्ति, समाज, अथवा राष्ट्र के जीवन मे आचार का कितना अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है हिन्दू और जैन दोनो ही परम्पराओ मे जैसा कि हम ऊपर देख चुके है, अहिंसा, अमृषा, अस्तेय, अमैथुन और अपरिग्रह इन पचव्रतो को ही धर्म का मूल स्तम्भ माना गया है इन व्रतो के स्वरूप पर विचार करने से एक तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इनके द्वारा मनुष्य की उन वृत्तियो का नियंत्रण करने का प्रयत्न किया गया है, जो समाज मे मुख्यरूप से वैर एव विरोध का कारण हुआ करती है दूसरी यह बात ध्यान देने योग्य है कि आचरण का परिष्कार सरलतम-रीति से कुछ निषेधात्मक नियमो के द्वारा ही किया जा सकता है. हम देखते है कि व्यक्ति जो क्रियाएँ करता है, वे मूलत स्वार्थ से प्रेरित होती है. अब क्रियाओ में कौन सी क्रिया अच्छी है और कौन सी बुरी यह किसी मानदण्ड के निश्चित होने पर ही कहा जा सकता है. हम यहाँ उसके मानदण्ड के रूप मे स्पष्टत. रख सकते है—समाज का हित एव शान्ति की रक्षा हिंसा ,असत्य, चोरी,कुशील और परिग्रह ये सभी सामाजिक पाप है व्यक्ति जितने ही अश मे इनका परित्याग करेगा, उतनाही वह सभ्य समाज-हितैषी माना जायेगा और इस प्रकार जितने व्यक्ति इन व्रतो का पालन करेंगे उसी अनुपात मे समाजशुद्ध, सुखी और प्रगतिशील हो सकेगा.

---

१. चरितं खलु धन्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोह,विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ।। प्र० स्त० कु० क० ।। १७.
धम्मो मगलमुक्किट्ठ अहिसा संयमो तवो,
देवा वि त्तं न सति जस्स धम्मे सया मणो ।–दशवैकालिक सूत्र । अ० १, गा० १.

यहाँ धर्माचार्यों ने प्रथम तो यह अनुभव किया कि सबके लिये सब अवस्थाओ मे इन व्रतो का पूर्ण परिपालन सभव नही है अतएव जैन-धर्म मे तो इन व्रतो के दो स्तर स्थापित किये गये—अणु और महत् अर्थात् एकदेश और सर्वदेश. पश्चात् काल मे आवश्यकतानुसार इनके अतिचार भी निर्धारित हुए, जिससे सच्चे अर्थ मे (भावत) इन व्रतो का पालन हो सके इस प्रकार व्रतो के अणु और महत् इन दो विभागो के द्वारा जैनधर्म मे गृहस्थ और साधु-आचार के बीच भेद प्रकट करनेवाली स्पष्ट रेखा खींच दी गयी. प्राय इसी तरह की मिलती जुलती व्यवस्था हम हिन्दूधर्म मे भी पाते है जो व्यक्ति के जीवन व यथाक्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास-धारण की चतुर्विध आश्रम-व्यवस्था से प्रमाणित है वस्तुत व्यक्ति ब्रह्मचर्याश्रम से जिस जीवन का प्रारम्भ करता है उसकी परिसमाप्ति सन्यासाश्रम मे ही जाकर होती है, जबकि साधक उस गृह तथा परिवार को भी, जो उसके बाल्य और युवा दोनो अवस्थाओ मे आश्रय एव आकर्षण के स्थान रहे है, बन्धन का कारण समझता हुआ छोडकर चल पडता है और पुन उसकी ओर लौटकर देखता तक नही वस्तुत यह मानव-जीवन का एक महान् परिवर्तन एव चरम साधना है ऐसे साधु-आचार पर प्रकाश डालने वाले ग्रथ भी भारतीय साहित्य के अतर्गत अधिकाश एव शीर्ष-स्थानीय माने जाते है

यह साधु आचार विषयक साहित्य बहुत विशाल है इसकी विशालता का प्रधान कारण यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल से ही धर्म एव अध्यात्मचर्चा का प्रधान केन्द्र इस भारत मे प्राय जितने भी धार्मिक ग्रन्थ लिखे गए, उनमे शायद ही कोई ग्रथ बचा हो जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप से साधु-आचार से सम्बद्ध न हो प्राय इन सभी ग्रथो मे मानव के चरित्र को निर्मल एव उज्जवल बनाने के यथासभव सभी प्रयत्न किये गए हैं, जिनमे उद्योतमान मणि-दीप के रूप मे अनिवार्य साधु-आचार भी वर्णित है इस प्रकार भारतीय परम्परा मे जो भी साहित्य धार्मिक क्षेत्र के अन्तर्गत आता है, उसे हम प्राय साधु-आचार विषयक भी मान सकते है, जिनकी सख्या सहस्त्रावधि ग्रथो से भी कही अधिक है पर यहा यह नही भूलना चाहिए कि यह साहित्य किन्ही एक या दो पन्थो अथवा सम्प्रदायो की सम्पत्ति हो,इनके अन्तर्गत तो सैकडो पन्थ और सम्प्रदाय आ जाते है ।किन्तु यहाँ निबन्ध की सीमा को देखते हुए मात्र हिन्दू और जैन साधु-आचार का सामान्य परिचय ही अभीष्ट है और इस मे भी हिन्दूपरम्परा से प्रतिनिधि ग्रथ के रूप मे मनुस्मृति और जैन परम्परा से मूलाचार इन दो को ही ग्रहण किया गया है, वह भी स्थूल-दृष्टि से सूक्ष्म-दृष्टि से नही क्योकि 'अरथ अमित अरु आखर थोरे' की उक्ति को चरितार्थ करने वाले इन धर्म ग्रथो का सूक्ष्म विवेचन स्वत एक महान् साहित्य रचे जाने की अपेक्षा रखता है

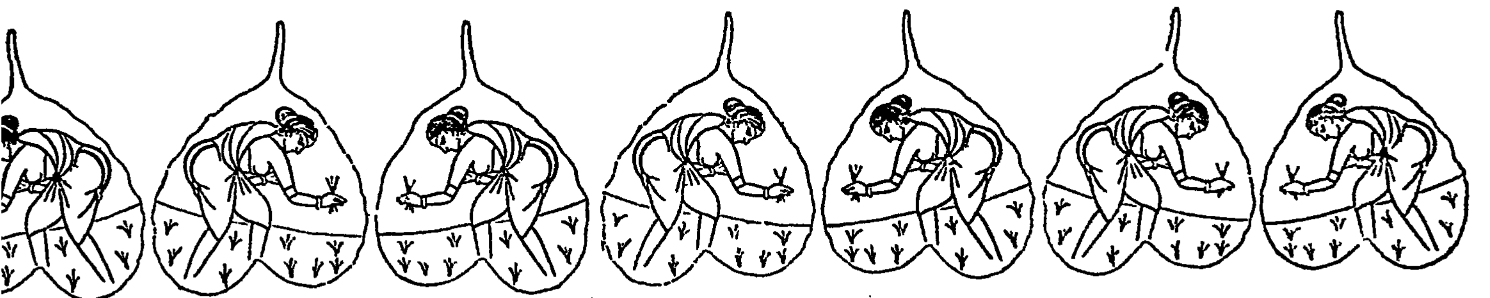
मनुस्मृति और साधु-आचार

मनुस्मृति मे साधु-आचार का वर्णन वैदिक एव वर्णाश्रम परम्परा पर आधारित है मनु ने ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास, इन चारो आश्रमो का क्रमानुसार पालन पर जोर देते हुए साधु के वानप्रस्थी और सन्यासी नामके दो विभाग किये हैं यही कारण है कि वानप्रस्थाश्रम मे प्रवेश करने से पूर्व स्नातक द्विज के लिये उन्होने विधिवत् गृहस्थाश्रमी होना आवश्यक बताया है इतना ही नही, मनु के मत से गृहस्थ जब अतिवृद्ध हो जाए, उनकी त्वचा शिथिल पड जाय, उसके बाल जब सफेद दिखने लगे और जब वह पौत्रवान् हो जाए तब सासारिक विषयो से स्वभावत विरत हुआ—वह वन का आश्रय ग्रहण करे

वानप्रस्थाश्रम स्वीकार कर लेने के बाद, साधक ग्राम्य आचार एव उपकरणो का भी परित्याग कर दे पत्नी की इच्छानुसार ही, वह उसे अपने साथ लेले अथवा पुत्र के सरक्षण मे ही रख दे पर, वन मे वानप्रस्थी श्रोत अग्नि तथा उससे सम्बन्धित साधन सुक, सुवा, आदि के साथ ही निवास करे वानप्रस्थी के लिये मुनिनिमित्तक अन्नो एव वन मे उत्पन्न पवित्र शाक, मूल, फलादि से गृहस्थो के लिये विहित पंचमहायज्ञो का पालन करना मनु ने आवश्यक बतलाया है.

---

१. देखिये मनु० अध्या ६



मुनि की वेश-भूषा एव रूप के सम्बन्ध में भी मनु के विचार बड़े स्पष्ट है, उनकी राय मे मुनि चाहे तो मृगचर्म धारण करे अथवा वस्त्रखण्ड, पर उसे जटा, दाढी, मूछ एव नख आदि रखने ही है

मुनि अपने भोजन मे से यथाशक्ति वलि तथा भिक्षा प्रदान करे एव आश्रम में आये हुए अतिथियो की जल, कद, मूल, फलादि से अर्चना भी करे तपस्वी को नित्यवेदाभ्यास, दानशीलता, निर्लोभ एव सर्वहित में रत रहते हुए अमावश्या, पूर्णिमा आदि पर्वो मे शास्त्रानुसार किये जाने वाले यज्ञो का भी सम्पादन करना चाहिए.उस मुनि को वन में उत्पन्न नीवार आदि से निर्मित यज्ञ के योग्य हवि को देवताओ को अर्पित कर शेष स्वयकृत लवण के साथ ग्रहण करना चाहिए उसके लिये शहद, मास, तथा भूमि मे उत्पन्न पुष्प आदि सभी त्याज्य है मनु ने मुनिको आश्विनमास मे सभी पूर्व सचित धान्यो शाक-मूल-फलो, यहा तक कि शरीर मे धारण किये गये जीर्ण-वस्त्रखण्ड को भी छोड देने का आदेश दिया है अफालकृष्ट भूमि के धान्य ही उनकी दृष्टि में तपस्वी के लिये ग्राह्य है. फालकृष्ट भूमि से उत्पन्न अन्न वनान्तर्गत का भी, यहां तक कि उत्सृष्ट भी ग्राह्य नही है. भले ही इसके फलस्वरूप मुनि को भूखा ही क्यो न रह जाना पडे सामर्थ्य के अनुसार प्राप्त अन्न को भी रात्रि अथवा दिन के चतुर्थ अथवा अष्टकाल में ही वानप्रस्थी ग्रहण करे यहा अन्य कालो का निषेध किया गया है तपस्वी उस अन्न को भी कृष्णपक्ष में एक-एक पिण्ड घटाता हुआ एव शुक्लपक्ष में एक-एक पिण्ड बढाता हुआ ग्रहण कर चान्द्रायणव्रत के द्वारा जीवन-यापन करे इसके विकल्प में कालपक्व तथा वृक्ष से गिरे हुए फल के खाने की व्यवस्था है वानप्रस्थी को जीवन धारण के योग्य भिक्षा वानप्रस्थ ब्राह्मणो से अथवा वनवासी ग्रहस्थ ब्राह्मणो से अथवा उपर्युक्त दोनो के अभाव मे ग्रामवासियो से भी ग्रहण करनी चाहिए पर साथ ही, यहा यह भी ध्यान देने योग्य है कि वह भिक्षा भी किसी के पात्र मे नही अपितु पत्ते के दोने मे, कपाल खण्ड में अथवा हाथो मे ही आठ ग्रास लेनी चाहिए

यहा जिस प्रकार आहार ग्रहण करने आदि के सबध के कठोर नियम मनु ने बताये है, उसी प्रकार मुनि की दिनचर्या भी सुकर नही गिनायी है. तपस्वी के लिये भूमि पर लौटते हुए चलना, पैरो के अग्रभाग से दिन भर खडा रहना, सध्या, प्रात एव मध्याह्न मे स्नान करना तथा इनसे भी बढकर ग्रीष्म ऋतु मे पचाग्नि के बीच, वर्षा मे खुले आकाश के नीचे एव हेमन्त ऋतु मे आर्द्रवस्त्र धारण कर तप वृद्धि करने का विधान है इसके बाद भी तीनो कालो मे स्नान-क्रियादि से निवृत्त होकर देवता, ऋषि एव पितरो का तर्पण व अन्यान्य उग्रतर व्रतों का पालन करते हुए अपने शरीर को कृश बनाना यह भी तपस्वी का धर्म बताया गया है

इस प्रकार इन नियमो का तथा शास्त्रोक्त अन्य नियमों का भी पालन करते हुए मुनि की विद्या, तप आदि की वृद्धि शरीर की शुद्धि एव ब्रह्मत्व की सिद्धि के लिये उपनिषदो मे पढी गयी विविध श्रुतियो का अभ्यास करना चाहिए असाध्य रोगो से आक्रान्त हो जाने की स्थिति में तपस्वी को शरीर निपातपर्यन्त जल तथा पवन का आहार करते हुए योगनिष्ठ होकर ईशान-दिशा की ओर आगे बढते चला जाना चाहिए, क्यो कि इस प्रकार शोकभय रहित शरीर-परित्याग करने वाला ही मोक्ष का अधिकारी होता है.

उपर्युक्त प्रकार से वानप्रस्थी तपस्वी के आचार का वर्णन करने के पश्चात् मनु ने परिव्राजक साधुओ का आचार वतलाया है. वस्तुतः यह जीवन का अतिम पहलू है, जिसके पश्चात् जीवन मे और कुछ करने को नही रह जाता यही स्थिति वेदान्तियो के शब्दो मे सोऽहमस्मि की अवस्था मानी जाती है, जबकि वानप्रस्थी मुनि गृह का पूर्ण परित्याग कर पवित्र दण्ड, कमण्डलु आदि के साथ पूर्णकाम एव निरपेक्ष रूप मे सन्यास धारण कर लेता है और अनग्नि एव अनिकेत होकर मात्र भिक्षा के लिये ही ग्राम की शरण लेता है और अन्यथा नही वह इस अवस्था मे शरीर की उपेक्षा करता हुआ स्थिर-बुद्धि होकर ब्रह्म चिंतन मे एकनिष्ठ भाव से अपने भिक्षापात्र के रूप मे कपाल, निवास के लिये वृक्ष की छाया एवं शरीर आवेष्टन के लिये जीर्णवस्त्र धारण कर लेता है साथ ही वह ब्रह्म-बुद्ध समलोष्टाश्मकाचन की भावना से युक्त होता हुआ पूर्ण जीवन्मुक्त लक्षित होता है वह न जीने की ही कामना करता है और न मरने की ही. वह मात्र एक आज्ञाकारी किंकर की तरह स्वामी-काल के आदेश की प्रतीक्षा मे रहता है. वह सदा आँखों से

देखकर पद-विक्षेप, वस्त्र से पवित्रकर जल ग्रहण सत्यमय वचन-प्रयोग एव वचन निषिद्ध सकल्प रहित मन के अनुसार आचरण करता है उस व्यक्ति मे दूसरो के कटु-वाक्यो को सह लेने की अपूर्व क्षमता, सबो को सम्मान देने की प्रवृत्ति एव विश्व मैत्री की हार्दिक अभिलाषा पाई जाती है वह क्रोधी के प्रति भी शान्ति एव निंदक के प्रति भी स्तुति की भावना से व्यवहार करता है वह सप्तद्वारावकीर्ण अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रिय एव मन तथा बुद्धि विषयक अनृत-बातो का परिहार कर ब्रह्म विषयक वाणी का ही प्रयोग करना अपेक्षित मानता है वह परिव्राजक ब्रह्मभाव मे लीन, योगासनस्थिति, निरपेक्ष, निरामिष एव आत्म-साहाय्य से ही मोक्ष-सुख की कामना रखता हुआ, इस ससार मे विचरण करता है.

ब्रह्मलीन विरक्त साधु के लिये मनु ने भूकम्प आदि उत्पातो की सभावना, अगस्फुरण आदि के फल, सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार हस्तरेखा आदि के परिणाम, यहाँ तक कि शास्त्रोपदेश आदि के कथन द्वारा भी भिक्षा प्राप्ति करने की प्रवृत्ति की निन्दा की है

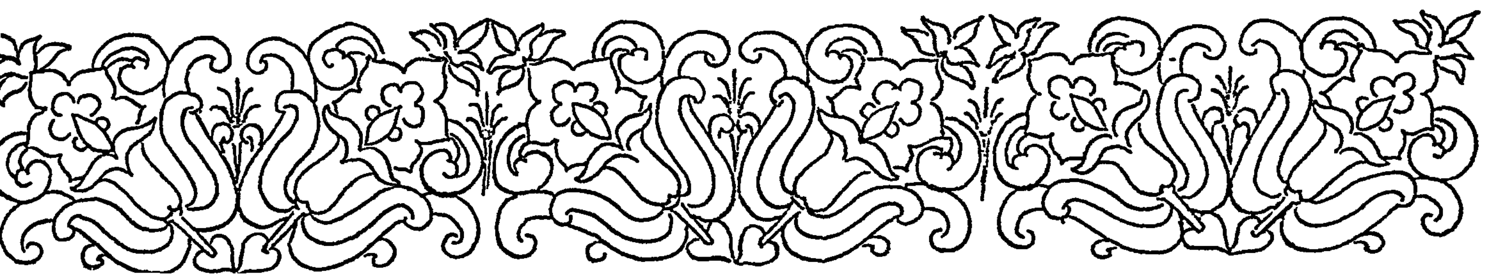
साधुओ को भिक्षा के लिये जाते समय सावधान करते हुए मनु ने स्पष्ट कह दिया है कि जिस दरवाजे पर अन्य तपस्वी, भोजनार्थी, ब्राह्मण, यहा तक कि पक्षी, कुत्ते अथवा क्षुद्रातिक्षुद्र कोई याचक भी खडा हो तो वहा कभी भी जाना उचित नही मुनि का भिक्षा पात्र तुम्बी, काष्ठ, मृत्तिका अथवा बास आदि के खण्ड से निर्मित एव निश्छिद्र होना चाहिए *विषयासक्ति से बचने के लिये साधु को दिन मे एक बार ही भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए*

साधु के भिक्षा-ग्रहण-काल का स्पष्टीकरण करते हुए मनु ने साफ-साफ बतला दिया है कि जब रसोई की उष्णता समाप्त हो चुकी हो, मूसल कूटन का शब्द तक न सुनाई देता हो, रसोई की आग भी बुझ चुकी हो एव प्राय सब लोग भोजन भी कर चुके हो तब साधु को भिक्षा ग्रहण के लिये प्रस्थान करना चाहिए भोजन के मिल जाने पर तपस्वी प्रसन्न हो और न अप्राप्ति की स्थिति मे दुखी हो दाता मे ममत्व की प्रवृत्ति से बचने के लिये साधु सत्कार पूर्वक दी गई भिक्षा को स्वीकार न करे

तपस्वी को सदा जन्म-मरण, सुख-दु ख, जरा व्याधि आदि के कारणो पर विचार करते हुए, सभी प्राणियो मे समदृष्टि के साथ ही स्वधर्माचरण मे प्रवृत्त होना चाहिए उसे चाहिए कि अपने शरीर को क्लेश पहुँचाकर भी चीटी आदि क्षुद्र जन्तुओ की रक्षा के लिये दिन अथवा रात मे भी भूमि को देखकर विचरण करे पर, इसके बाद भी यदि उससे अज्ञान-वश हिंसा हो ही जाए, तो वह उसके प्रायश्चित-स्वरूप छ प्राणायाम करे सप्त व्याहृतियो एव प्रणवो से युक्त विधिवत किये गए तीन प्राणायाम भी ब्राह्मण का श्रेष्ठ तप जानना चाहिए यहा उस ब्रह्मलीन यति के लिए प्राणायाम के द्वारा रागादि दोषो का, ब्रह्मनिष्ठ मन की धारणा से पापो का, इन्द्रियो का निग्रह कर विषय-ससर्ग का एव ध्यान के द्वारा क्रोधादि अनीश्वर गुणो का दहन करना आवश्यक बतलाया गया है

पर यहा यह नही भूलना चाहिए कि सन्यासी के उपर्युक्त विशेष धर्म का विधान करते हुए भी मनु ने मनुष्य के साधारण धर्म धृति, क्षमा, दम, अस्तेय आदि की भी अपेक्षा बतलाया है यद्यपि मनु के विचार मे उपर्युक्त सभी उपाय मुनि को सम्यग्दर्शन प्राप्त कराने मे सहायक होने के ही कारण बाह्य हैं क्योकि कर्म-बन्धन से मुक्त होने का एकमात्र उपाय सम्यग्दर्शन ही है यदि सम्यग्दर्शन अर्थात् समत्वभाव की जागृति यति मे नही हुई तो अन्य सभी बाह्यआचार आडम्बर मात्र ही रह जायेंगे वे किसी भी स्थिति मे यति को मोक्ष की प्राप्ति कराकर धर्म के कारण नही हो सकते यही कारण है कि उपर्युक्त सभी मुनि के आचारो का स्पष्टीकरण करते हुए भी मनु ने समत्व प्राप्ति पर ही अधिक जोर दिया है और उसके विना सभी परिश्रम व्यर्थ घोषित कर दिये है.

इसी प्रकार मनु ने बहूदक, हस, परमहस कुटीचक सज्ञक सभी प्रकार के सन्यासियो के आचार एव नित्यचर्या आदि गिनाये है पर, इन सबो के सामान्य धर्म एव आचार मे कोई विशेष अन्तर नही रखा है अर्थात् ऊपर वर्णित परिव्राजक के आचार ही सामान्य रूप से सबो के लिये अनुकरणीय हैं ऐसा माना है केवल कुटीचक के सम्बन्ध मे कुछ विशेष बाते



कही है. इस कोटि का यति अपने पुत्र के आश्रय मे ही रहकर भोजन, वस्त्रादि जीविका की चिन्ता से मुक्त हुआ मोक्ष-प्राप्ति का प्रयत्न करता है

मूलाचार और साधु[1] आचार

आचार्य बट्टकेर ने मनु की तरह मुनि बनने के लिये न तो कोई आयु-सीमा ही निर्धारित की है और न उनके लिये मुनि बनने से पूर्व गृहस्थाश्रमी बनना ही आवश्यक माना है उनकी दृष्टि मे जिस व्यक्ति के हृदय मे कामभोग की अभिलाषा समाप्त हो चुकी हो, जिसकी बुद्धि धर्माभिमुख हो, वही विरक्त कर्मवीर पुरुष निर्माल्य-पुष्प की तरह गृहवास त्याग कर साधु-धर्म स्वीकार कर सकता है. अर्थात् जिस व्यक्ति में उपर्युक्त विशेषताएँ नही आ पाई है, वह चाहे किसी भी आयु का क्यो न हो, वह यति-धर्म का अधिकारी, अनगार नही कहला सकता.

सत्य, अहिसा, अदत्त-परिवर्जन, ब्रह्मचर्य तथा त्रिगुप्तियो में नित्य प्रवृत्ति एव परिग्रह से निवृत्ति को आचार्य ने साधु के मूल गुण माने है. मुनि के लिये मिथ्यात्व, राग, हास्य, रति, अरति, भय, जुगुप्सा, आदि ग्रथियो से मुक्त होकर यथाजात रूप अर्थात् दिगम्बरत्व स्वीकार कर जिन-प्रणीत धर्म मे अनुरक्त रहना अनिवार्य बताया गया है. उनकी राय मे साधु सदा निरीह, निष्काम भाव से जीवन-यापन करते है, एव उन्हे इस पच तत्त्व निर्मित अपने शरीर मे किसी तरह की ममता नही रहती

आचार्य ने साधु के आवास-काल एव आवास-स्थान के सम्बन्ध मे निम्नलिखित विचार व्यक्त किये है

साधु के लिए आश्रय लेने का समय सूर्यास्तकाल ही है वह काल जहा कही भी प्राप्त हो जाए पर, ध्यान यह रहे कि वह आवास भी घर से बाहर हो, घर मे नही अनगारो के लिए ग्रामवास एव नगरवास की सीमा आचार्य ने क्रमश. एक रात और पाच दिन निर्धारित की है. मुनि की उपमा गन्धहस्ति से देते हुए उनके लिए एकान्तवासी होकर ही मुक्ति सुख का अनुभवन करना आवश्यक बताया गया है एकान्त स्थानो मे सामान्यत, गिरि-कन्दरा, शून्य-गृह, पर्वत श्मशानादि के नाम गिनाये गये है

मुनि की चर्या, विहार, भिक्षा आदि के सम्बन्ध मे आचार्य बट्टकेर के निम्नलिखित आदेश है

मुनि पर्वत की गुफाओ में वीरासनादि से अथवा एकपार्श्वशायी रहकर रात्रि व्यतीत करे उसे वायु की तरह मुक्त, निरपेक्ष एव स्वच्छन्द होकर ग्राम, नगर, आदि से मण्डित इस पृथ्वी पर परिभ्रमण करना चाहिए. पर विहार करते समय मुनि सतत, सचेष्ट रहे कि कही उसकी असावधानी से किसी जीव को क्लेश न पहुचे. उसे जीवो के प्रति अनुक्षण सतर्क एव दयार्द्र-दृष्टि रखनी चाहिए. मुनि के लिए, जीवो के सभी पर्याय एव अजीव अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश, काल आदि के स्वरूप, सभेद पर्याय आदि का ज्ञान प्राप्त कर ही सावद्य वस्तुओ का त्याग एव अनवद्य का ग्रहण करना कर्त्तव्य है. यति तृण, वृक्ष, छाल, पत्र, कन्द, मूल, फल आदि के छेदन करने तथा कराने दोनो ही से अलग रहे. साधु को पृथ्वी का खनन, उत्कीर्णन, चूर्णन, सेवन, उत्कर्पण, बीजन, ज्वालन, मर्दन, आदि कार्यो से दूर रहना चाहिए इतना ही नही, वह इन कार्यो को दूसरे से भी न करावे और न दूसरे के किये हुए का अनुमोदन ही करे

श्रमण-साधुओ के लिये दण्डधारण का सर्वथा निषेध किया गया है. बट्टकेर के मतानुसार साधु को शस्त्र, दण्ड आदि का पूर्णत त्यागकर सभी प्राणियो मे समभाव रखते हुए आत्म-चिन्तनशील होना चाहिए उसे छठे, आठवे, दसवे, बारहवें आदि भक्तो पर पारणा करना चाहिए और वह भी दूसरो के घर भिक्षा के द्वारा प्राप्त अन्न से, न कि अपने लिए वनाये, बनवाये या बनाने की सहमति से प्राप्त अन्न से और वह पारणा भी रसास्वादन के लिये नही, अपितु चरित्र-साधना के लिये विहित है.

आचार्य ने किसी के पात्र में वा अपने हाथ से लेकर अथवा किसी तरह के दोष से युक्त भोजन, मुनि के लिए सर्वथा

१. देखिये मूल० अनगारभावनाधिकार.

त्याज्य कहा है. वह भोजन यदि परम विशुद्ध तथा सभी दोषो से मुक्त हो और वह भी अन्य के द्वारा पाणिपात्र मे ही दिया जाए तव मुनि उसे ग्रहण करे, ऐसा आचार्य का मत है.

यति के द्वारा भिक्षा निमित्त हिंडन की ओर ग्रन्थकर्त्ता (आचार्य वट्टकेर) ने ध्यान आकृष्ट करते हुए यह स्पष्ट कह दिया है कि साधु विना यह जाने हुए अमुक स्थान मे गृहस्थ उसकी प्रतीक्षा कर रहे होगे, अत वहा उसका स्वागत होगा तथा अमुक दिशा मे उसकी उपेक्षा होगी, सामान्य रूप से घर के कतारो से उच्च-नीच, धनी, दरिद्र आदि को समान दृष्टि से देखता हुआ भिक्षा ग्रहण करे उसके लिये शीतल, उष्ण, रुक्ष, स्निग्ध आदि का विना विचार किये ही अस्वादपूर्वक भोजन स्वीकार करना कर्त्तव्य है क्योकि मुनि इस पचतत्त्व से निर्मित शरीर का धारण धर्म-पालन के निमित्त तथा धर्म पालन व मुक्ति-प्राप्ति-हेतु करता है अत भिक्षा-ग्रहण का एक मात्र लक्ष्य शरीर-धारण करना ही है और कुछ नही श्रमण मुनि न भिक्षा प्राप्त होने पर सतुष्ट और न उसकी अप्राप्ति की स्थिति मे असतुष्ट ही होता है उसके लिये ये दोनो ही स्थितियाँ समान है इस कारण वह सदा मध्यस्थ एव अनाकुल रूप से विहार करता है वह कभी भी किसी गृहस्थ से दीनतापूर्वक भिक्षा की याचना नही करता ऐसी स्थिति मे उसे खाली हाथ भी लौटना पड सकता है, पर वह निर्विकार चित्त कभी मौन भग नही करता वह भोजन स्वीकार करने के सम्वन्ध मे वडी सावधानी रखता है वासी, विवर्ण, तथा अप्रासुक अन्न उसे कभी ग्राह्य नही होता

साधु के उपर्युक्त प्रकार से भोजन, आचरणादि का वर्णन करते हुए आचार्य ने उसकी शास्त्रीय योग्यता पर भी जोर दिया है उनके अनुसार साधु को केवल भोजन आदि की ही शुद्धि नही अपितु ज्ञान की शुद्धि भी रखनी चाहिए विवेकी मुनि के लिये आचाराग, सूत्रकृताग, स्थानाग आदि का ज्ञान होना आवश्यक है वे यति के लिये, स्वभावत आचार्य उपाध्याय आदि के उपदेशो को धारण-ग्रहण करने मे समर्थ, तदनुसार अक्षरश आचरण करने वाला, वीजवुद्धि (अर्थात् किसी भी विषय को एकाध बीजरूप प्रधान अक्षरो को सुन लेने पर ही समस्त रूप से समझने वाला), और श्रुतो मे पारगामी विद्वान् होना अनिवार्य मानते है पर इस ज्ञान-गरिमा के बाद भी श्रमण को मान-रहित, अगर्वित, क्रोधरहित, मृदु स्वभावी, स्व-परसमयविद् एव विनीत होना चाहिए, आचार्य का लक्ष्य यहा तक है

साधु के लिए शरीर का सस्कार निषिद्ध है वह मुख, दात, नयन, पैर आदि तक नही धोते, अर्थात् किसी तरह का भी बाह्यमार्जन उनके लिए विहित नही यहा तक कि शरीर मे यदि किसी तरह की कष्टकर व्याधि भी हो जाए, तव भी श्रमण-साधु उसे मौनपूर्वक सहन ही कर ले, पर किसी तरह की चिकित्सा न करावे यह आचार्य का मत है

साधु अपनी पूर्वावस्था मे की गयी रति-क्रीडा अथवा धन-जन आदि के विविध भोगो का न स्मरण ही करे और न उसे दूसरो के प्रति कथन ही उसके द्वारा किसी भी स्थिति मे धर्म-विरोधी अथवा विनय-विहीन भाषा का प्रयोग निन्द्य है साधु आँखो से देखता हुआ तथा कानो से सुनता हुआ भी मूक होकर विहार करे तथा कभी भी लौकिक कथाओ मे प्रवृत्त न हो, यह आचार्य की आज्ञा है

आचार्य मुनि के लिये कठोर तपस्या के पक्षपाती है. वे सभवतया आत्मा के साक्षात्कार मे इस शरीर के प्रति अनुरक्ति को ही प्रधान वाधा मानते है. इस कारण यथासभव तप के द्वारा इस स्थूल शरीर को जर्जरित करते रहना ही आत्म-वोध मे सहायक सिद्ध हो सकता है, इस ओर उनका सकेत है

अव उपर्युक्तरूप से साधु-आचार के सम्वन्ध मे राजर्षि मनु तथा आचार्य वट्टकेर के विचारो के अवलोकन के वाद यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दू तथा जैन दोनो ही सम्प्रदायो के साधु अन्त तथा वाह्य दोनो ही दृष्टियो से एक दूसरे के अत्यन्त सन्निकट है एव परस्पर प्रभावित भी है वस्तुत सदाचरण और सहानुभूति ही साधु-जीवन के आधार-स्तम्भ एव मानदण्ड है तार्किक बुद्धि के द्वारा शास्त्रज्ञ किसी तथ्य का केवल ऊहापोह करता है किन्तु उस ज्ञान को अपने जीवन मे उतारना वह नही जानता साधु उस ज्ञान को अपने जीवन का आदर्श वनाता है और अपना समग्र आचरण उसी भित्ति पर खडा करता है यही कारण है कि इन साधुओ मे वर्ग-भिन्नता रहने पर भी आचरण-भिन्नता केवल नाम मात्र की और ऊपरी ही होती है, वास्तविक नही

★



श्रीजुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

सकाम धर्मसाधन

लौकिक-फल की इच्छाओ को लेकर जो धर्मसाधन किया जाता है उसे 'सकाम-धर्मसाधन' कहते है और जो धर्म वैसी इच्छाओ को साथ में न लेकर मात्र आत्मीय कर्तव्य समझकर किया जाता है उसका नाम निष्काम-धर्मसाधन है निष्काम-धर्मसाधन ही वास्तव मे धर्मसाधन है और वही वास्तविक फल को फलता है. सकाम-धर्मसाधन धर्म को विकृत करता है, सदोष बनाता है और उससे यथेष्ट धर्मफल की प्राप्ति नही हो सकती. प्रत्युत उससे, अधर्म की और कभी-कभी घोर-पाप-फल की भी प्राप्ति होती है जो लोग धर्म के वास्तविक स्वरूप और उसकी शक्ति से परिचित नही, जिनके अन्दर धैर्य नही, श्रद्धा नही, जो निर्बल हैं, कमजोर है, उतावले है और जिन्हे धर्म के फल पर पूरा विश्वास नही है, ऐसे लोग ही फलप्राप्ति में अपनी इच्छाओ की टाँगे अडा कर धर्म को अपना कार्य करने नही देते, उसे पगु और बेकार बना देते है, और फिर यह कहते हुए नही लजाते कि धर्म-साधन से कुछ भी फल की प्राप्ति नही हुई है. ऐसे लोगो के समाधानार्थ—उन्हे उनकी भूल का परिज्ञान कराने के लिये ही यह निबध लिखा जाता है, और इसमे आचार्य-वाक्यो के द्वारा ही विषय को स्पष्ट किया जाता है

श्रीगुणभद्राचार्य अपने 'आत्मानुशासन' ग्रन्थ मे लिखते है

संकल्प्यं कल्पवृक्षस्य चिन्त्यं चिंतामणेरपि ।
असंकल्प्यमसंचिंत्यं फलं धर्मादवाप्यते ।

'फल के प्रदान मे कल्पवृक्ष सकल्प की और चिन्तामणि चिन्ता की अपेक्षा रखता है—कल्पवृक्ष विना सकल्प किये और चिन्तामणि विना चिन्ता किये फल नही देता, परन्तु धर्म वैसी कोई अपेक्षा नही रखता—वह विना सकल्प किये और विना चिन्ता किये ही फल प्रदान करता है.'

जब कर्म स्वय ही फल देता है और फल देने मे कल्पवृक्ष तथा चिन्तामणि की शक्ति को भी परास्त करता है, तब फल-प्राप्ति के लिये इच्छाए करके—निदान बाधकर—अपने आत्माको व्यर्थ ही सक्लेशित और आकुलित करने की क्या जरूरत है ? ऐसा करने से तो उलटे फल-प्राप्ति के मार्ग में काँटे बोये जाते है, क्योकि इच्छा फल-प्राप्ति का साधन न होकर उसमे बाधक है

इसमें सदेह नही कि धर्मसाधन से सब सुख प्राप्त होते है, परन्तु तभी तो जब धर्मसाधन मे विवेक से काम लिया जाय. अन्यथा, क्रिया के—बाह्य धर्माचरण के—समान होने पर भी एक को बन्धफल, दूसरे को मोक्षफल अथवा एक को पुण्यफल और दूसरे को पापफल क्यो मिलता है ? देखिये, कर्मफल की इस विचित्रता के विषय में श्रीशुभचद्राचार्य ज्ञानार्णव मे क्या लिखते है

यत्र बालश्चरत्यस्मिन्पथि तत्रैव पंडितः ।
बालः स्वमपि बध्नाति मुच्यते तत्त्वविद् ध्रुवं । ७२१ ।



ाजस मार्ग पर अज्ञानी चलता है उसी पर ज्ञानी दोनो का धर्माचरण समान होने पर भी, अज्ञानी अविवेक के कारण कर्म बाधता है और ज्ञानी विवेक द्वारा कर्म-बधन से छूट जाता है.

ज्ञानार्णव के निम्न श्लोक मे भी इसी वात को पुष्ट किया गया है

वेष्टयत्यात्मनात्मानमाज्ञानी कर्मबन्धनै ।
विज्ञानी मोचयत्येव प्रबुद्ध. समयान्तरे । ७१७ ।

इससे विवेकपूर्ण आचरण का कितना बडा माहात्म्य है उसे वतलाने की अधिक जरूरत नही रहती

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य ने, अपने प्रवनचनसार के चारित्राधिकार मे, इसी विवेक का—सम्यग्ज्ञान का—माहात्म्य वर्णन करते हुए बहुत स्पष्ट शब्दो मे लिखा है —

ज अण्णाणी कम्म खवेदी भवसयसहस्सकोडीहिं ।
त णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण । ३८ ।

अर्थात्—अज्ञानी—अविवेकी मनुष्य जिस अथवा जितने ज्ञानावरणादिरूप कर्मसमूह को शतसहस्त्रकोटि भवो मे—करोडो जन्म लेकर-क्षय करता है उस अथवा उतने कर्मसमूह को ज्ञानी मनुष्य मन-वचन काय की क्रियाका निरोध कर अथवा उसे स्वाधीन कर स्वरूप मे लीन हुआ उच्छ्वासमात्रमे—लीलामात्र मे—नाश कर डालता है

इस से अधिक विवेक का माहात्म्य और क्या हो सकता है ? यह विवेक ही चारित्र को 'सम्यक्चारित्र' वनाता है और ससारपरिभ्रमण एव उसके दु ख-कष्टो से मुक्ति दिलाता है विवेक के विना चारित्र मिथ्या चारित्र है, कोरा कायक्लेश है और वह ससार-परिभ्रमण तथा दु ख परपरा का ही कारण है इसी मे विवेकपूर्वक अथवा सम्यग्ज्ञान के अनन्तर चारित्र का आराधन वतलाया गया है, जैसा कि श्री अमृतचन्द्राचार्य के निम्न वाक्य से प्रकट है

न हि सम्यग्व्यपदेशं चारित्रमज्ञानपूर्वक लभते ।
ज्ञानानन्तरमुक्त चारित्राराधनं तस्मात् । ३८ ।—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

अर्थात्—अज्ञान पूर्वक-विवेक को साथ मे न लेकर—दूसरो की देखा-देखी अथवा कहने सुननेमात्र से, जो चारित्र का अनुष्ठान किया जाता है वह 'सम्यक् चारित्र' नाम नही पाता—उसे 'सम्यक् चारित्र' नही कहते इसी से (आगम मे) सम्यग्ज्ञान के अनन्तर—विवेक हो जाने पर—चारित्र के आराधन का—अनुष्ठान का—निर्देश किया गया है—रत्न-त्रयधर्म की आराधना मे, जो मुक्ति का मार्ग है, चारित्र की आराधना का इसी क्रम से विधान किया गया है

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार मे, 'चारित खलु धम्मो' इत्यादि वाक्य के द्वारा जिस चरित्र को—स्वरूपाचरण को—वस्तुस्वरूप होने के कारण धर्म वतलाया है वह भी यही विवेकपूर्वक सम्यक्चारित्र है, जिसका दूसरा नाम साम्यभाव है, और जो मोह क्षोभ अथवा मिथ्यात्व-रागद्वेष तथा काम-कोधादिरूप विभाव-परिणति से रहित आत्मा का निज परिणाम होता है [1]

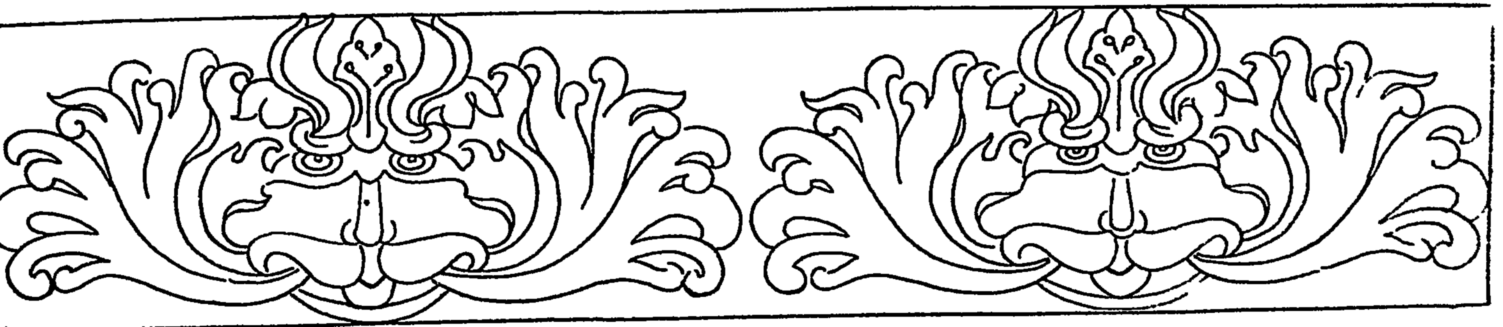
वास्तव मे यह विवेक ही उस भाव का जनक होता है जो धर्माचरण का प्राण कहा गया है विना भावके तो क्रियाए फलदायक होती ही नही है कहा भी है

यस्मात् क्रिया प्रतिफलन्ति न भावशून्या.[2] ।

तदनुरूप भाव के विना पूजनादिक की, तप-दान जपादिक की और यहाँ तक कि दीक्षाग्रहणादिक की सब क्रियाएँ भी ऐसी ही निरर्थक है जैसे कि वकरी के गले के स्तन (थन), अर्थात् जिस प्रकार वकरी के गले मे लटकते हुए स्तन देखने मे

१ चारित्त खलु धम्मो, धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो ।
मोह-क्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो । ७ ।

२ देखो कल्याण मन्दिर स्तोत्र का 'आकर्णितोऽपि' आदि पद्य



स्तनाकार होते है परन्तु वे स्तनो का कुछ भी काम नही देते—उनसे दूध नही निकलता—उसी प्रकार विना तदनुकूल भाव के पूजा, तप, दान, जपादिक सब क्रियाएं भी देखने की ही क्रियाए होती है, पूजादिक का वास्तविक बल उनसे कुछ भी प्राप्त नही हो सकता.[1]

ज्ञानी-विवेकी मनुष्य ही यह ठीक जानता है कि किन भावो से पुण्य बधता है—किन से पाप और किन से दोनो का वन्ध नही होता स्वच्छ, शुभ शुद्ध भाव किसे कहते है ? और अस्वच्छ, अशुभ अशुद्ध भाव किस का नाम है ? सांसारिक विषयसुख की तृष्णा अथवा तीव्र कषाय के वशीभूत होकर जो पुण्य कर्म करना चाहता है वह वास्तव में पुण्य कर्म का सम्पादन कर सकता है या कि नही और ऐसी इच्छा धर्म की साधक है या बाधक—वह खूव समझता है कि सकाम-धर्म साधन मोहक्षोभादि से घिरा होने के कारण धर्म की कोटि से निकल जाता है, धर्म वस्तुका स्वभाव होता है. और इसलिए कोई विभाव परिणति धर्म का स्थान नही ले सकती इसी से वह अपनी धार्मिक क्रियाओ मे तद्रूपभाव की योजना द्वारा प्राण का सचार कर के उन्हे सार्थक और सफल बनाता है ऐसे ही विवेकी जनो के द्वारा अनुष्ठित धर्म को सब सुख का कारण बताया है. विवेक की पुट बिना अथवा उसके सहयोग के अभाव में मात्र कुछ क्रियाओ के अनुष्ठान का नाम ही धर्म नही है, ऐसी क्रियाए तो जड-मशीने भी कर सकती है और कुछ करती हुई देखी भी जाती है फोनो-ग्राफ के कितने ही रिकार्ड खूब भक्ति-रस के भरे हुए गान तथा भजन गाते है और शास्त्र पढते हुए भी देखने मे आते है. और भी जड मशीनो से आप जो चाहे धर्म की वाह्य क्रियाए करा सकते है इन सब क्रियाओ को करके जड मशीनें जिस प्रकार धर्मात्मा नही बन सकती और न धर्म के फल को ही पा सकती है, उसी प्रकार अविवेकपूर्वक अथवा सम्यग्-ज्ञान के विना धर्म की कुछ क्रियाए कर लेने मात्र से ही कोई धर्मात्मा नही बन जाता और न धर्म के फल को ही पा सकता है. ऐसे अविवेकी मनुष्यो और जड मशीनो में कोई विशेष अतर नही होता—उनकी क्रियाओ को सम्यक्चारित्र न कह कर 'यात्रिक चारित्र' कहना चाहिए. हा, जड मशीनो की अपेक्षा ऐसे मनुष्यो मे मिथ्याज्ञान तथा मोह की विशेपता होने के कारण वे उसके द्वारा पाप बन्ध करके अपना अहित जरूर कर लेते है—जब कि जड मशीने वैसा नही कर सकती. इसी यात्रिक चारित्र के भुलावे मे पडकर हम अक्सर भूले रहते है और यह समझते रहते है कि हमने धर्म का अनुष्ठान कर लिया ! इसी तरह करोडो जन्म निकल जाते है और करोडो वर्ष की बालतपस्या से भी उन कर्मो का नाश नही हो पाता, जिन्हे एक ज्ञानी पुरुष त्रियोग के ससाधनपूर्वक क्षणमात्र मे नाश कर डालता है.

इस विषय मे स्वामी कार्तिकेय ने अपने 'अनुप्रेक्षा' गथ मे, अच्छा प्रकाश डाला है. उनके निम्नवाक्य खास तौर से ध्यान देने योग्य है .

कम्मं पुण्णं पावं हेऊ-तेसिं च होंति सच्छिदरा।
मंदकसाया सच्छा तिव्वकसाया असच्छा हु।
जीवो वि हवइपावं अइतिव्वकसायपरिणदो णिच्च।
जीवो हवेइ पुण्णं उवसमभावेण संजुत्तो।
जो अहिलसेदि पुण्णं सकसाओ विसयसोक्खतण्हाए।
दूरे तस्स विसोही विसोहिमूलाणि पुण्णाणि।
पुण्णासएण पुण्णे जहो णिरीहस्स पुण्णसंपत्ती।
इय जाणिऊण जइणो पुण्णे वि य आयरं कुणह॥
पुण्णं बंधदि जीवो मंदकसाएहिं परिणदो संतो।
तम्हा मदकसाया हेऊ पुण्णस्स ण हि वंछा॥ गाथा ६०, १६०, ४१०-४१२

---

१. भाव-हिनस्य पूजादि-तपोदान-जपादिकम्।
व्यर्थदीक्षादिक च स्यादजाकंठे स्तनाविव।



इन गाथाओ मे वतलाया गया है कि—'पुण्य कर्म का हेतु स्वच्छ (शुभ) परिणाम है और पाप कर्म का हेतु अस्वच्छ (अशुभ या अशुद्ध) परिणाम मदकषायरूप परिणामो को 'स्वच्छपरिणाम' और तीव्र कषाय रूप परिणामो को 'अस्वच्छ परिणाम' कहते है जो जीव अति तीव्र-कषायपरिणाम से परिणत होता है, वह पापी होता है और जो उपशम भाव से कषाय की मदता से—युक्त रहता है वह पुण्यात्मा कहलाता है जो जीव कषाय भाव से युक्त हुआ विषय-सौख्य की तृष्णा ने— इन्द्रिय विषय को अधिकाधिक रूप मे प्राप्त करने की इच्छा से—पुण्य करना चाहता है—पुण्यक्रियाओ के करने मे प्रवृत्त होता है—उससे विशुद्धि वहुत दूर रहती है और पुण्य कर्म विशुद्धि-मूलक-चित्त की शुद्धि पर आधार रखने वाले होते है अत उनके द्वारा पुण्य का सपादन नही हो सकता—वे अपनी उन धर्मके नाम से अभिहित होनेवाली क्रियाओ को करके पुण्य पैदा नही कर सकते. चूकि पुण्यफलकी इच्छा रखकर धर्म क्रियाओ के करने से—सकाम-धर्म-साधन से—पुण्य की सप्राप्ति नही होती, वल्कि निष्काम रूपसे धर्म साधन करने वाले को ही पुण्य की सप्राप्ति होती है, ऐसा जान कर पुण्य मे भी आसक्ति नही रखना चाहिए वास्तव मे जो जीव मन्दकषाय से परिणत होता है वही पुण्य वाधता है इसलिए मदकषाय ही पुण्य का हेतु है, विषयवाछा पुण्य का हेतु नही—विषयवाछा अथवा विषयाशक्ति तीव्र कषाय का लक्षण है और उसका करने वाला पुण्य से हाथ धो वैठता है

इन वाक्यो से स्पष्ट है कि जो मनुष्य धर्म-साधना के द्वारा अपने विषयकषायो की पुष्टि एव पूर्ति चाहता है, उसकी कषाय मन्द नही होती और न वह धर्म के मार्ग पर ही स्थिर होता है इसलिए उसके द्वारा वीतराग भगवान् की पूजा-भक्ति-उपासना तथा स्तुतिपाठ, जप-ध्यान, सामायिक, स्वाध्याय, तप, दान और व्रत-उपवासादिरूप से जो भी धार्मिक क्रियाएँ वनती है—वे सब उसके आत्मकल्याण के लिये नही होती—उन्हे एक प्रकार की सासारिक दुकानदारी ही समझना चाहिए ऐसे लोग धार्मिक क्रियाए करके भी पाप उपार्जन करते हैं और सुख के स्थान मे उलटा दुख को निमन्त्रण देते है ऐसे लोगो की इस परिणति को श्रीशुभचद्राचार्य ने ज्ञानार्णव ग्रथ के २५ वें प्रकरण मे, निदान-जनित आर्त्त-ध्यान लिखा है और उसे घोर दु खो का कारण वतलाया है यथा .

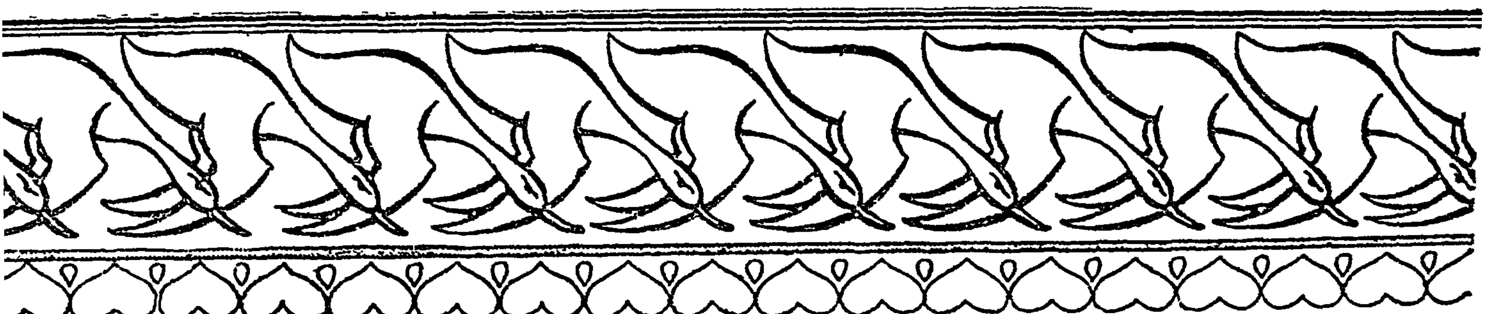
> पुण्यानुष्ठानजातैरभिलषति पद यज्जिनेन्द्रामराणा ,
> यद्वा तैरेव वाञ्छत्यहितकुलकुजच्छेदमत्यन्तकोपात् ।
> पूजा-सत्कार-लाभ-प्रभृतिकमथवा याचते यद्विकल्पै. ,
> स्यादार्तं तन्निदानप्रभवमिह नृणा दु.खदावोऽग्रधामं ।

अर्थात—अनेक प्रकार के पुण्यानुष्ठानो को—धर्म कृत्यो को—करके जो मनुष्य तीर्थंकर पद तथा दूसरे देवो के किसी पद की इच्छा करता है अथवा कुपित हुआ उन्ही पुण्याचरणो के द्वारा शत्रुकुल रूपी वृक्षो के उच्छेद की वाछा करता है, अथवा अनेक विकल्पो के साथ उन धर्मकृत्यो को करके अपनी लौकिक पूजा-प्रतिष्ठा अथवा लाभादिक की याचना करता है, उसकी यह सव सकाम प्रवृत्ति 'निदानज' नामका आर्त्तध्यान है ऐसा आर्त्तध्यान मनुष्य के लिये दु ख-दावानल का अग्रस्थान होता है उससे महादु खो की परम्परा चलती है

वास्तव मे आर्त्तध्यान का जन्म ही सक्लेश-परिणामो से होता है, जो पापवध के कारण है ज्ञानार्णव के उक्त प्रकरणान्तर्गत निम्न श्लोक मे भी आर्त्तध्यान को कृष्ण-नील-कापोत ऐसी तीन अशुभ लेश्याओ के वल पर ही प्रकट होना लिखा है और साथ ही यह सूचित किया है कि आर्त्तध्यान पाप रूपीदावानल को प्रज्वलित करने के लिये ईंधन के समान है

> कृष्णनीलाद्यसल्लेश्याबलेन प्रविजृम्भते, इद दुरितदावार्चि प्रसूतेरिन्धनोपमम् । ४० ।

इससे स्पष्ट है कि लौकिक फलो की इच्छा रखकर धर्म साधन करना धर्माचरण को दूषित और निष्फल नही वनाता, वल्कि उलटा पापवध का भी कारण होता है, और इसलिए हमे इस विषय मे वहुत ही सावधानी रखने की जरूरत है. सम्यक्त्व के आठ अगो मे नि काक्षित नाम का भी एक अग है, जिसका वर्णन करते हुए श्रीअमितगति आचार्य उपासकाचार के तीसरे परिच्छेद मे स्पष्ट लिखते है



विधीयमानाः शम-शील संयमाः श्रियं ममेमे वितरन्तु चिन्तिताम् ,
सांसारिकानेकसुखप्रवर्द्धितीं निष्कांक्षितो नेति करोति कांक्षाम् । ७४।

अर्थात्—नि काक्षित अंग का धारक सम्यग्दृष्टि इस प्रकार की वाछा नही करता है कि मैने जो शम-शील और सयम का अनुष्ठान किया है वह सब धर्माचरण मुझे उस मनोवाञ्छित लक्ष्मी को प्रदान करे, जो नाना प्रकार के सासारिक सुखों में वृद्धि करने के लिये समर्थ होती है—ऐसी वाछा करने से उसका सम्यक्त्व दूषित होता है

इसी नि.काक्षित सम्यग्दृष्टिका स्वरूप श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने 'समयसार' मे इस प्रकार दिया है .

जो ण करेदि दुकंखं कम्मफले तह य सव्वधम्मेसु ,
सो णिकक्खो चेदा सम्मदिट्ठी मुणेयव्वो । २४८ ।

अर्थात् जो धर्म कर्म करके उसके फल की—इद्रियविषय सुखादिक की इच्छा नही रखता है, यह नही चाहता है कि मेरे अमुक कर्म का मुझे अमुक लौकिक फल मिले—और न उस फल साधन की दृष्टि से नाना प्रकार के पुण्य रूप धर्मो को ही इष्ट करता है—अपनाता है—और इस तरह निष्कामरूप से धर्म साधन करता है, उसे नि काक्षित सम्यग्दृष्टि समझना चाहिए.

यहा पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हू कि तत्त्वार्थ सूत्र में क्षमादि दश धर्मो के साथ मे 'उत्तम' विशेषण लगाया गया है. उत्तम क्षमा उत्तम मार्दवादि रूप से दश धर्मो का निर्देश किया है. यह विशेषण क्यो बताया गया है ? इसे स्पष्ट करते हुए श्रीपूज्यपाद आचार्य अपनी 'सर्वार्थसिद्धि' टीका में लिखते है .

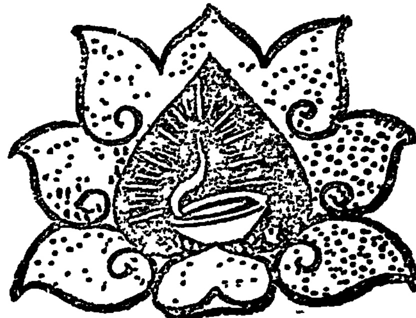
दृष्टप्रयोजन-परिवर्जनार्थमुत्तमविशेषणम् ।

अर्थात्-लौकिक प्रयोजनो को टालने के लिये 'उत्तम' विशेषण का प्रयोग किया है. इससे यह विशेषण पद यहाँ 'सम्यक्' शब्द का प्रतिनिधि जान पडता है और उसकी उक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि किसी लौकिक प्रयोजन को लेकर–कोई दुनियावी गर्ज साधने के लिये–यदि क्षमा मार्दव-आर्जव-सत्य-शौच-सयम-तप-त्याग-आर्किचन्य-ब्रह्मचर्य, इन दश धर्मो मे से किसी भी धर्म का अनुष्ठान किया जाता है तो वह अनुष्ठान धर्म की कोटि से निकल जाता है. ऐसे सकाम-धर्म साधन को वास्तव मे धर्म-साधन ही नही कहते. धर्म-साधन तो स्वरूपसिद्धि अथवा आत्म-विकास के लिये आत्मीय कर्त्तव्य समझ कर किया जाता है, और इसलिए वह निष्काम धर्म साधन ही हो सकता है

इस प्रकार सकाम-धर्म साधन के निषेध मे आगम का स्पष्ट विधान और पूज्य आचार्यो की खुली आज्ञाए होते हुए भी खेद है कि हम आजकल अधिकाश में सकाम धर्म साधन की ओर ही प्रवृत्त हो रहे है हमारी पूजा-भक्ति-उपासना, स्तुति-वदना-प्रार्थना, जप-तप-दान और सयमादिक का सारा लक्ष्य लौकिक फलो की प्राप्ति ही रहता है—कोई उसे करके धन-धान्य की वृद्धि चाहता है तो कोई पुत्र की सप्राप्ति. कोई रोग दूर करने की इच्छा रखता है, तो कोई शरीर मे बल लाने की. कोई मुकदमे मे विजय लाभ के लिये उसका अनुष्ठान करता है, तो कोई अपने शत्रु को परास्त करने के लिये. कोई उसके द्वारा किसी ऋद्धि-सिद्धि की साधना में व्यग्र है, तो कोई दूसरे लौकिक कार्यो को सफल बनाने की की धुन मे मस्त. कोई इस लोक के सुखो को चाहता है तो कोई परलोक में स्वर्गादिकों के सुखो की अभिलाषा रखता है और कोई-कोई तो तृष्णा के वशीभूत होकर यहां तक अपने विवेक को खो बैठता है कि श्रीवीतराग भगवान् को भी रिश्वत (घूस) देने लगता है—उनसे कहने लगता है कि हे भगवन्, आपकी कृपा से यदि मेरा अमुक कार्य सिद्ध हो जायेगा तो मै आपकी पूजा करूगा, सिद्ध चक्र का पाठ थापूगा, छत्र-चमरादि भेट करूगा, रथ-यात्रा निकलवाऊगा, गजरथ चलवाऊगा अथवा मन्दिर बनवा दूंगा ये सब धर्म की विडम्बनाए है. इस प्रकार की विडम्बनाओ मे अपने को धर्म का कोई लाभ नही होता और न आत्मविकास ही सध सकता है जो मनुष्य धर्म की रक्षा करता है—उसके विषय में विशेष सावधानी रखता हुआ उसे विडवित या कलकित नही होने देता—वही वास्तविक धर्म के फल को

पाता है 'धर्मो रक्षति रक्षित.' की नीति के अनुसार रक्षा किया हुआ धर्म ही उसकी रक्षा करता है—और उसके पूर्ण विकास को सिद्ध करता है.

ऐसी हालत मे सकाम धर्मसाधन को हटाने और धर्म की विडम्बनाओं को मिटाने के लिये समाज मे पूर्ण आन्दोलन होने की जरूरत है, तभी समाज विकसित तथा धर्म के मार्ग पर अग्रसर हो सकेगा, तभी उसकी धार्मिक पोल मिटेगी और तभी वह अपनी पूर्वगौरव-गरिमा को प्राप्त कर सकेगा इसके लिये समाज के सदाचारनिष्ठ एव धर्मपरायण विद्वानो को आगे आना चाहिए और ऐसे दूषित धर्माचरणो की युक्ति-पुरस्सर खरी-खरी आलोचना करके समाज को सजग तथा सावधान करते हुए उसे उसकी भूलो का परिज्ञान कराना चाहिए यह इस समय उनका खास कर्त्तव्य है और बड़ा ही पुण्य कार्य है ऐसे आन्दोलन द्वारा सन्मार्ग दिखलाने के लिये समाज के अनेक प्रमुख पत्रों को अपना-अपना—पवित्र कर्त्तव्य समझना चाहिए





श्रीदरबारीलाल जैन, कोठिया
एम०ए०, न्यायाचार्य, शास्त्राचार्य, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

जैनदर्शन में संलेखना का महत्त्वपूर्ण स्थान

[अद्यतन युग मे जैन संस्कृति के मार्मिक तथ्यों को न समझने के कारण संलेखना जैसी जीवन की पवित्र क्रिया को भी आत्मघात की कोटि में ला खडा किया जाता है. वस्तुतः आत्मघात और अनशन में स्पष्टतः महद् अन्तर है. वह यह कि आत्मघात के लिये मनुष्य तब ही उत्प्रेरित होता है जब उसकी मनोवांछित विशिष्ट पौद्गलिक सामग्री प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नहीं होती या कारणवश कषाय के वशीभूत होकर संसार से ऊब कर जीवन नष्ट कर डालना चाहता है. अर्थात् नैराश्य-पूर्ण जीवन की अन्तिम अभिव्यक्ति मृत्यु में परिणत हो जाती है. जब कि संलेखना अनशन ठीक इसके विपरीत सत्य है.

मुमुक्षु आत्माओं के लिये देह की तब तक ही आवश्यकता मानी जाती है जब तक वह समतामूलक संयम की आराधना में सहायक है. तदनन्तर अनाकांक्षीभाव से, शरीर के प्रति तीव्र अनासक्तता के कारण जो शरीर-पात किया जाता है उसमें किसी भी प्रकार की स्वार्थपरक भावना या क्षोभ के अत्यंताभाव के कारण उसे आत्मघात की संज्ञा देना बुद्धि को अर्धचन्द्राकार देना है.

प्रश्न आन्तरिष्ट दृष्टि का है, न कि स्थूल देह का. प्रत्येक संस्कृति का जीवन और अध्यत्म के प्रति अपना निजी दृष्टिकोण होता है. —सम्पादक]

पृष्ठभूमि

जन्म के साथ मृत्यु का और मृत्यु के साथ जन्म का अनादि प्रवाह-सम्बन्ध है जो उत्पन्न होता है उसकी मृत्यु भी अवश्य होती है और जिसकी मृत्यु होती है उसका पुन जन्म भी होता है[1] इस प्रकार जन्म मरण का चक्र निरन्तर चलता रहता है और इसी चक्र मे आत्माओ को नाना क्लेश एव दु ख उठाने पडते है. परन्तु कषाय और विषय-वासनाओ मे आसक्त व्यक्ति इस ध्रुव सत्य को नही समझते इसीलिए जब कोई पैदा होता है तो वे उसका 'जन्मोत्सव' मनाते तथा हर्ष प्रकट करते है. लेकिन जब कोई मरता है तो उसकी मृत्यु पर कोई उत्सव नही किया जाता प्रत्युत, शोक एव दु ख प्रकट किया जाता है

ससार-विरक्त व्यक्ति की वृत्ति इससे विपरीत होती है. वह अपनी मृत्यु का 'उत्सव' मनाता है और उसपर प्रमोद व्यक्त करता है. अतएव मनीषियो ने उसकी मृत्यु के उत्सव को 'मृत्युमहोत्सव' के रूप मे वर्णन किया है.[2] इस वैलक्षण्य को

---

१. जा तस्य हि ध्रुव मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।—गीता २-२७

२ संसारासक्तचित्ताना मृत्यर्भीत्यै भवेन्नृणाम् ।
मोदायते पुन सोऽपि ज्ञानवैराग्यवासिनाम् ।
ज्ञानिन् ! भय भवेत् कस्मात्पाप्ते मृत्युमहोत्सवे ।
स्वरूपस्थ पुर यासि देहाद्देहान्तरस्थिति ।—शान्तिसोपान, मृत्युमहोत्सव श्लो० १७, १०,

समझना कठिन नही है यथार्थ मे सासारिक जन ससार (विषय-कषाय के पोषक चेतनाचेतन पदार्थो) को आत्मीय समझते है अत उनके छोडने मे उन्हे दु:ख का अनुभव होता है और उनके मिलने मे हर्ष होता है परन्तु आत्मा तथा शरीर के भेद को समझने वाले ज्ञानी वीतरागी सत न केवल विषय-कषाय की पोषक बाह्य वस्तुओ को ही, अपितु अपने शरीर को भी बन्धन मानते हैं अत उसके छोडने मे उन्हे दु ख न होकर प्रमोद होता है वे अपना वास्तविक निवास स्थान-मुक्ति को समझते है तथा सद्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, त्याग, सयम आदि आत्मीय गुणो को अपना यथार्थ परिवार मानते है फलत साधुजन यदि अपने पार्थिव शरीर के त्याग को मृत्युमहोत्सव कहे तो कोई आश्चर्य नही है वे अपने रुग्ण, अशक्त, कुछ क्षणो मे जाने वाले और विपद्ग्रस्त जीर्ण-शीर्ण शरीर को छोडने तथा नये शरीर को ग्रहण करने मे उसी तरह उत्सुक एव प्रमुदित होते हैं जिस तरह कोई व्यक्ति अपने पुराने, जीर्ण, मलिन और काम न दे सकने वाले वस्त्र को छोडने मे तथा नवीन वस्त्र के परिधान मे अधिक प्रसन्न होता है[1]

इसी तथ्य को दृष्टि मे रखकर जैन श्रावक या साधु अपना मरण सुधारने के लिये शारीरिक विशिष्ट परिस्थितियो मे सल्लेखना (समाधिमरण) ग्रहण करता है वह नही चाहता कि शरीर-त्याग, रोते-विलखते, लडते-झगडते, सक्लेश करते और रागद्वेष की भट्टी मे जलते हुए असावधान अवस्था मे हो, किन्तु दृढ, शान्त और उज्ज्वल परिणामो के साथ विवेकपूर्ण स्थिति मे वीरो की तरह उसका पार्थिव शरीर छूटे सल्लेखना मुमुक्षु श्रावक या साधु के इसी उद्देश्य की पूरक है प्रस्तुत लेख मे इसी के सम्बन्ध मे जैन दृष्टि से कुछ प्रकाश डाला जा रहा है

सल्लेखना का अर्थ

'सल्लेखन' शब्द जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है इसका अर्थ है 'सम्यक्कायकषायलेखना सल्लेखना[2]—सम्यक् प्रकार से काय और कषाय दोनो को कृश करना सल्लेखना है जिस क्रिया मे बाहरी शरीर का और भीतरी रागादि कषायो का, उनके निमित्त कारणो को कम करते हुए प्रसन्नतापूर्वक विना किसी दबाव के स्वेच्छा से लेखन अर्थात् कृशीकरण किया जाता है, उस क्रिया का नाम सल्लेखना अथवा समाधिमरण है यह यावज्जीवन पालित एव आचरित समस्त व्रतो तथा चारित्र की सरक्षिका है, इसलिए इसे 'व्रतराज' कहा गया है श्रावक के द्वारा द्वादश व्रतो और साधु के द्वारा महाव्रतो के अनन्तर पर्याय के अन्त मे इसे ग्रहण किया जाता है[3]

सल्लेखना का महत्त्व और उसकी आवश्यकता

अपने परिणामो के अनुसार प्राप्त जिन आयु, इन्द्रियो और मन, वचन, काय, इन तीन बलो के सयोग का नाम जन्म है, उन्ही के क्रमश अथवा सर्वथा क्षीण होने को मरण कहा गया है यह मरण दो प्रकार का है—एक नित्यमरण और दूसरा तद्भवमरण प्रतिक्षण जो आयु आदि का ह्रास होता रहता है वह नित्यमरण है तथा शरीर का समूल नाश हो जाना तद्भव मरण है[4] नित्य मरण तो निरन्तर होता रहता है, उसका आत्मपरिणामो पर विशेष कोई प्रभाव नही

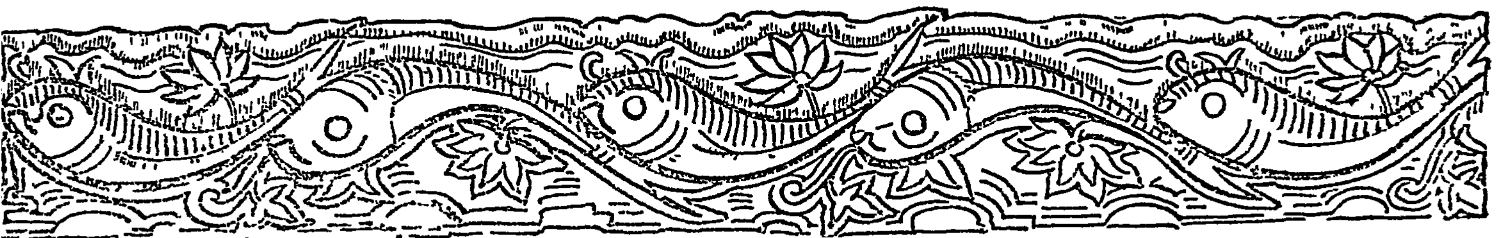
---

१. (क) जीर्णं देहादिकं सर्वं नूतन जायते यत ।
स मृत्यु· किं न मोदाय सता सातोत्थितिर्यथा ।।—शान्तिसोपान, मृत्युमहोत्सव, श्लो० १५.
(ख) वासासि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णति नरो पराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि सयाति नवानि देही ।।—गीता २-२२

२ सम्यक्कायकषाय लेखना सल्लेखना । कायस्य बाह्यस्याभ्यन्तराणा च कषायाणा तत्कारणहापनक्रमेण सम्यग्लेखना सल्लेखना ।
—सर्वार्थसिद्धि । ७ २२.

३ मारणान्तिकी सल्लेखना जोषिता—त० सू० ७-२२

४ स्वायुरिन्द्रियबलसक्षयो मरणम् स्वपरिणामोपात्तस्यायुष इन्द्रियाणा बलाना च कारणवशात् सक्षयो मरणमिति मन्यन्ते मनीषिण : मरण द्विविधम्, नित्यमरण तद्भवमरण चेति तत्र नित्यमरण समये समये स्वायुरादीना निवृत्ति तद्भवमरण भवान्तरप्राप्त्यनन्तरोपश्लिष्ट पूर्वभवविगमनम् —भट्ट अकलकदेव, तत्त्वार्थराजवार्तिक ७–२२



पडता. पर शरीरान्त रूप जो तद्भवमरण है उसका कषायो एव विषय-वासनाओ की न्यूनाधिकता के अनुसार आत्म-परिणामों पर अच्छा या बुरा प्रभाव अवश्य पडता है. इस तद्भवमरण को सुधारने और अच्छा वनाने के लिये ही सल्लेखना ली जाती है सल्लेखना से अनन्त ससार की कारणभूत कपायो का आवेग उपशान्त अथवा क्षीण हो जाता है तथा जन्ममरण का चक्र बहुत ही कम जो जाता है. जैन लेखक आचार्य शिवार्य सल्लेखना धारण पर बल देते हुए कहते हैं कि[1] "जो जीव एक ही पर्याय में समाधिपूर्वक मरण करता है वह सात-आठ पर्याय से अधिक संसार में परिभ्रमण नहीं करता." उन्होंने सल्लेखना-धारक का महत्त्व वताते हुए यहां तक लिखा है[2] कि जो व्यक्ति अत्यन्त भक्ति के साथ सल्लेखनाधारक (क्षपक) के दर्शन-वन्दन-सेवादि के लिये उनके निकट जाता है वह व्यक्ति भी देवगति के सुखों को भोग कर अन्त मे उत्तम स्थान (निर्वाण) को प्राप्त करता है."

तेरहवी शताब्दी के प्रौढ लेखक पंडित आशाधरजी ने भी इसी वात को वडे ही प्राञ्जल शब्दो मे स्पष्ट करते हुए कहा है कि स्वस्थ शरीर, पथ्य आहार और विहार द्वारा पोपण करने योग्य है और रुग्ण शरीर योग्य औषधो द्वारा उपचार के योग्य है. परन्तु योग्य आहार-विहार और औपधोपचार करते हुए भी शरीर पर उनका अनुकूल असर न हो, प्रत्युत व्याधि वढती जाय तो ऐसी स्थिति मे उस शरीर को दुष्ट की तरह छोड देना ही श्रेयकर है[3] वे असावधानी एवं आत्म-घात के दोष से वचने के लिये कुछ ऐसी वातों की ओर भी सकेत करते है, जिनके द्वारा शीघ्र और अवश्यमरण की सूचना मिल जाती है और उस हालत मे व्रती को सल्लेखना मे लीन हो जाना ही सर्वोत्तम है[4]

इसी प्रकार एक दूसरे विद्वान् ने भी प्रतिपादन किया है कि "जिस शरीर का बल प्रतिदिन क्षीण हो रहा है, भोजन उत्तरोत्तर घट रहा है और रोगादिक के प्रतीकार करने की शक्ति नष्ट हो गयी है वह शरीर ही विवेकी पुरुषो को वतलाता है कि उन्हे क्या करना चाहिए. अर्थात् यथाख्यातचारित्र रूप सल्लेखना धारण कर लेना चाहिए[5]

मृत्युमहोत्सव-कार तो यहा तक कहते है कि समस्त श्रुताभ्यास. तपश्चर्या और व्रताचरण की सार्थकता तभी है जव मुमुक्षु श्रावक अथवा साधु विवेक जागृत हो जाने पर सल्लेखनामरण, समाधिमरण, पण्डितमरण या वीरमरण पूर्वक शरीर त्याग करता है वे लिखते है

"जो फल वडे-वडे व्रती पुरुषो को कायक्लेश आदि तप, अहिंसादि व्रत धारण करने पर प्राप्त होता है, वह फल अन्त समय मे सावधानीपूर्वक किये गए समाधिमरण से जीवो को सहज मे ही प्राप्त हो जाता है अर्थात् जो आत्मविशुद्धि अनेक प्रकार के तपादि से होती है वह अन्त समय मे समाधिपूर्वक शरीर त्यागने पर प्राप्त हो जाती है[6]

'वहुत काल तक किये गए उग्र तपो का, पाले हुए व्रतो का और निरन्तर अभ्यास किये हुए शास्त्रज्ञान का एकमात्र फल

---

१ "एगम्मि भवग्गहणे समाधिमरणेण जो मदो जीवो ।
ण हु सो हिंडदि वहुसो सत्तट्ठ भवे पमोत्तूण । —शिवार्य, भगवती आराधना.

२. सल्लेहणाए मूल जो वच्चइ तिव्व-भत्ति-राएण ।
भोत्तूण य देव—सुख सो पावदि उत्तमं ठाणं । —शिवार्य, भगवती आराधना.

३ कायः स्वस्थोऽनुवर्त्य' स्यात्प्रतिकार्यश्च रोगित' ।
उपकार विपर्यस्यस्त्याज्य सद्भि खलो यथा । —आशाधर, सागारधर्मामृत–८–६.

४ देहादिवैकृते. सम्यक् निमित्तैस्तु सुनिश्चते ।
मृत्यावाराधनामग्नमतेदूरे न तत्पदम् ।—आशाधर, सा० ध० ८–१०.

५. प्रतिदिवस विजहद्बलमुज्झद्भुक्तिं त्यजत्प्रतीकारम् ।
वपुरेव नृणा निगदति चरमचरित्रोदय समयम् । लेखक—आदर्श सल्लेखना पृष्ठ १९ (उधृत)

६ यत्फल प्राप्यते सद्भिर्व्रतायासविडम्वनात् ।
तत्फल सुखसाध्य स्यान्मृत्युकाले समाधिना । —शान्तिसोपान, मृत्युमहोत्सव, श्लो० २१

शान्ति के साथ आत्मानुभव करते हुए समाधिपूर्वक मरण करना है इसके विना उनका कोई फल नही है—केवल शरीर को सुखाना या ख्यातिलाभ करना है'[1]

विक्रम की दूसरी शताब्दी के विद्वान् स्वामी समतभद्र की मान्यतानुसार जीवन मे आचरित अनशनादिक विविध तपो का फल अन्त समय मे गृहीत सल्लेखना है अत अपनी पूरी शक्ति के साथ समाधिपूर्वक मरण के लिए प्रयत्न करना चाहिए [2]

आचार्य पूज्यपाद—देवनन्दि भी सल्लेखना के महत्त्व और आवश्यकता को बतलाते हुए लिखते है[3] कि मरण किसी को इष्ट नही है जैसे अनेक प्रकार के सोने, चादी, बहुमूल्य वस्त्रो आदि का व्यापार करने वाले किसी भी व्यापारी को अपने घर का विनाश कभी भी इष्ट नही हो सकता यदि कदाचित् उसके विनाश का कोई (अग्नि, बाढ, राज्यविप्लव आदि) कारण उपस्थित हो जाय तो वह उसकी रक्षा करने का पूरा उपाय करता है और जब रक्षा का उपाय सफल होता हुआ नही देखता तो घर मे रखे हुए उन सोना, चादी आदि बहुमूल्य पदार्थों को जैसे-बने-वैसे बचाता है तथा घर को नष्ट होने देता है उसी तरह व्रतशीलादि गुणरत्नो का सचय करने वाला व्रती—मुमुक्षु गृहस्थ अथवा साधु भी उन व्रतादि गुणरत्नो के आधारभूत शरीर की प्राणप्रण से सदा रक्षा करता है—उसका विनाश उसे इष्ट नही होता यदि कदाचित् शरीर मे रोगादि विनाश का कारण उपस्थित हो जाये तो उनका वह पूरी शान्ति के साथ परिहार करता है लेकिन जब असाध्य रोग, अशक्य उपद्रव आदि की स्थिति देखता है और शरीर का बचना असम्भव समझता है तो आत्मगुणो की रक्षा करता है तथा शरीर को नष्ट होने देता है."

इन उल्लेखो से सल्लेखना के महत्त्व और उसकी आवश्यकता पर पर्याप्त प्रकाश पडता है यही कारण है कि जैन-सस्कृति मे सल्लेखना पर बडा बल दिया गया है जैन लेखको ने अकेले इसी विषय पर अनेको स्वतत्र ग्रथ लिखे है आचार्य शिवार्य की 'भगवती आराधना' इसी विषय का एक अत्यन्त प्राचीन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है इसी प्रकार 'मृत्युमहोत्सव' आदि कृतियाँ भी लिखी गई है, जो इस विषय पर बहुत अच्छा प्रकाश डालती है

सल्लेखना का प्रयोजन, काल और विधि

यद्यपि ऊपर के विवेचन से सल्लेखना का प्रयोजन और काल ज्ञात हो जाता है फिर भी नीचे उसे और भी अधिक स्पष्ट किया जाता है स्वामी समन्तभद्र ने सल्लेखना-धारण की स्थिति और उसका स्वरूप निम्न प्रकार प्रतिपादित किया है—'जिसका उपाय न हो, ऐसे किसी भयकर सिंह आदि क्रूर वन्यजन्तुओ द्वारा खाये जाने आदि के उपसर्ग आजाने पर, जिसमे शुद्ध भोजन-सामग्री न मिल सके ऐसे दुर्भिक्ष के पडने पर, जिसमे धार्मिक एव शारीरिक क्रियाये यथोचित रीति से न पल सके ऐसे बुढापे के आजाने पर तथा किसी असाध्य रोग के हो जाने पर धर्म की रक्षार्थ शरीर के त्याग करने को 'सल्लेखना' कहा गया है'[4]

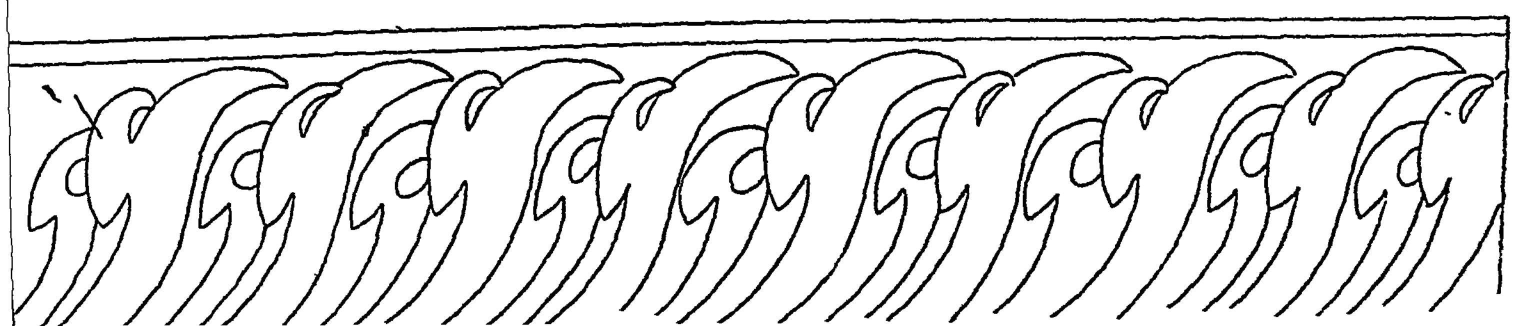
---

१ तप्तस्य तपसश्चापि पालितस्य व्रतस्य च ।
पठितस्य श्रुतस्यापि फल मृत्यु· ममाधिना ।—शान्ति सो० मृत्युमहो० श्लोक २३.

२ अन्त क्रियाधिकरण तप फल सकलदर्शिन स्तुवते ।
तस्माद्यावद्विभव समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ।—समन्तभद्र-रत्नकरण्ड श्रा० ५-२

३ "मरणस्यानिष्टत्वात् यथा वणिजो विविधपण्यदानादानसचयपरस्य स्वगृहविनाशोऽनिष्ट तद्विनाशकारणे च कुतश्चिदुपस्थिते यथाशक्ति परिहरति, दु परिहारे च पण्यविनाशो यथा न भवति तथा यतते एव गृहस्थोऽपि व्रतशीलपण्यसचये प्रवर्तमानस्तदाश्रयस्य न पातमभिवाञ्छति तदुपप्लवकारणे चोपस्थिते स्वगुणाविरोधेन परिहरति दु परिहारे च यथा स्वगुणविनाशो न भवति तथा प्रयतते "
—सर्वार्थ सि० ७-२२

४. उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजाया च नि प्रतीकारे ।
धर्माय तनुविमोचनमाहु सल्लेखनामार्या । —समन्तभद्र-रत्नकरण्ड श्रा० ५-१



सच बात तो यह है कि इन उल्लिखित चार सकटावस्थाओ में—जो व्यक्ति को झकझोर देने तथा विचलित कर देनेवाली हैं—आत्मधर्म से च्युत न होना और हँसते-हँसते साम्यभावपूर्वक उसकी रक्षा के लिये अवश्य जाने वाले शरीर का उत्सर्ग कर देना साधारण पुरुषो का कार्य नही है. वह तो असाधारण व्यक्तियो तथा उनकी असाधारण साधना का फल है. अत सल्लेखना एक असामान्य वस्तु है. हमे शरीर तथा आत्मा के मध्य देखना होगा कि कौन अस्थायी है और कौन स्थायी ? निश्चय ही शरीर अस्थायी है और आत्मा स्थायी ऐसी स्थिति मे अवश्य नाश होने वाले शरीर के लिये अभीष्ट फलदायी धर्म का नाश नही किया जाना चाहिए, क्योकि शरीर के नाश हो जाने पर तो दूसरा शरीर पुन मिल सकता है, किन्तु नष्ट धर्म का पुन मिलना दुर्लभ है[1] अतएव जो शरीर-मोही नही होते वे आत्मा और अनात्मा के अन्तर को ठीक तरह से समझते है तथा आत्मा से परमात्मा की ओर बढ़ते है. जैन सल्लेखना मे यही तत्त्व निहित है इसी से प्रत्येक जैन देवोपासना के अन्त में प्रतिदिन यह पवित्र भावना करता है.[2]

"हे जिनेन्द्र मेरे दु ख का नाश हो, दु ख के कारण कर्म का भी नाश हो और कर्मनाश के कारण समाधिमरण का लाभ हो तथा समाधिमरण के कारणभूत सम्यक्बोध की प्राप्ति हो ये चारो वस्तुएँ हे देव ! हे जगद्बन्धु ! आपके चरणो की शरण से मुझे प्राप्त हो."

जैन सल्लेखना का यही पवित्र उद्देश्य और प्रयोजन है, जो सासारिक किसी कामना या वासना से सम्बद्ध नही है सल्लेखना-धारक की ससार के किसी भोग या उपभोग व इन्द्रादि पद की प्राप्ति के लिये राग और अप्राप्ति के लिये द्वेष जैसी जघन्य इच्छाएँ नही होती. उसकी सिर्फ एक विदेह-मुक्ति की भावना रहती है, जिसके लिये ही उसने जीवन-भर व्रत-तपादिपालन का घोर प्रयत्न किया है और अन्तिम समय मे भी वह उस प्रयत्न से नही चूकना चाहता है अतएव क्षपक को सल्लेखना मे कैसी प्रवृत्ति करना चाहिए और उसे लेने मे किस प्रकार की विधि अपनाना चाहिए, इस सम्बन्ध मे भी जैन शास्त्रो मे विस्तृत और विशद विवेचन किया गया है

आचार्य समन्तभद्र ने निम्न प्रकार सल्लेखनाविधि बतलाई है[3]

सल्लेखना-धारक को सबसे पहले इष्ट वस्तुओं से राग, अनिष्ट वस्तुओ से द्वेष, स्त्रीपुत्रादि प्रिय जनो से ममत्व और धनादि मे स्वामित्व की बुद्धि को छोड कर पवित्रमन होना चाहिए उसके बाद अपने परिवार और अपने से सबन्धित व्यक्तियो से जीवन मे हुए अपराधो को क्षमा कराये तथा स्वय भी उन्हे प्रियवचन बोलकर क्षमा करे और इस तरह अपने अन्त करण को निष्कषाय बनाए

---

१. नावश्य नाशिने हिंस्यो धर्मो देहाय कामदः ।
देहो नष्ट पुनर्लभ्यो धर्मस्त्वत्यन्तदुर्लभ ।।—आशाधर, सागारधर्मामृत—८-७

२ दुक्खक्खओ कम्मक्खओ समाहिमरण च बोहिलाहो य ।
मम होउ जगतबधव नव जिणवर ! चरणसरणेण ।—भारतीय ज्ञानपीठ, पूजाञ्जलि पृ० ८७.

३ स्नेह वैरं सङ्ग परिग्रह चापहाय शुद्धमना ।
स्वजनं परिजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत्प्रियैर्वचनैः ।
आलोच्य सर्वमेन कृत-कारितमनुमत च निर्व्याजम् ।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि नि शेषम् ।
शोक भयमवसाद क्लेद कालुष्यमरतिमपि हित्वा ।
सत्वोत्साहमुदीर्य च मन प्रसाद्य श्रुतैरमृतै ।
आहार परिहाप्य क्रमश स्निग्ध विवर्द्धयेत्पानम् ।
स्निग्ध च हापयित्वा खरपान पूरयेत्क्रमश ।
खर-पान-हापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या ।
पञ्चनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन ।—समन्तभद्र, रत्न क० श्रा० ५, ३-७



इसके पश्चात् वह जीवन मे किये, कराये और अनुमोदित समस्त हिंसादि पापो की निश्छल भाव से आलोचना (खेद प्रकाशन) करे तथा मृत्युपर्यन्त महाव्रतो का अपने मे आरोप करे

इसके साथ ही शोक,भय, खेद, ग्लानि (घृणा), कलुषता और आकुलता को भी छोड दे तथा बल एव उत्साह को जागृत करके अमृतोपम शास्त्रवचनो द्वारा मन को प्रसन्न रखे

इस प्रकार कषाय को कृश करने के उपरान्त शरीर को कृश करने के लिये सल्लेखनाधारी सल्लेखना मे सर्वप्रथम आहार (भक्ष्य पदार्थो) का त्याग करे और दूध, छाछ आदि पेय पदार्थों पर निर्भर रहे इसके अनन्तर उन्हे भी छोड कर काजी या गर्म जल पीने का अभ्यास करे

वाद मे उन्हे भी त्याग कर शक्तिपूर्वक उपवास करे इस प्रकार उपवास करते-करते एव परमेष्ठी का ध्यान करते हुए पूर्ण जाग्रत एव सावधानी मे शरीर का उत्सर्ग करे'

यह सल्लेखना की विधि है इस विधि से साधक (आराधक) अपने आनन्द-ज्ञान-धन आत्मा का साधन करता है और और भावी पर्याय को वर्तमान जीर्ण-शीर्ण नश्वर पर्याय से ज्यादा सुखी, शान्त, निर्विकार, नित्य, शाश्वत एव उच्च वनाने का सफल पुरुषार्थ करता है नश्वर से अनश्वर का लाभ हो तो उसे कौन विवेकी छोडने को तैयार होगा ? अतएव सल्लेखना-धारक उन पाँच दोषो से[1] भी अपने को बचाता है, जो उसकी पवित्र सल्लेखना को दूषित करते है वे पाँच दोष निम्न प्रकार है

सल्लेखना धारण करने के वाद जीवित वने रहने की आकाक्षा करना, शीघ्र मृत्यु की इच्छा करना, भयभीत होना, स्नेहियो का स्मरण करना और आगे की पर्याय मे सुखो की चाह करना, ये पाँच दोप है, जिन्हे अतिचार कहा है और जिनसे सल्लेखना-धारक को वचना चाहिए

सल्लेखना का फल

सल्लेखना-धारक धर्म का पूर्ण अनुभव और प्राप्ति करने के कारण नियम से नि श्रेयस् और अम्युदय प्राप्त करता है स्वामी समन्तभद्र सल्लेखना का फल बतलाते हुए लिखते है कि "उत्तम सल्लेखना करने वाला धर्मरूपी अमृत को पान करने के कारण समस्त दु खो से रहित होता हुआ नि श्रेयस् और अभ्युदय के अपरिमित सुखो को प्राप्त करता है"[2]

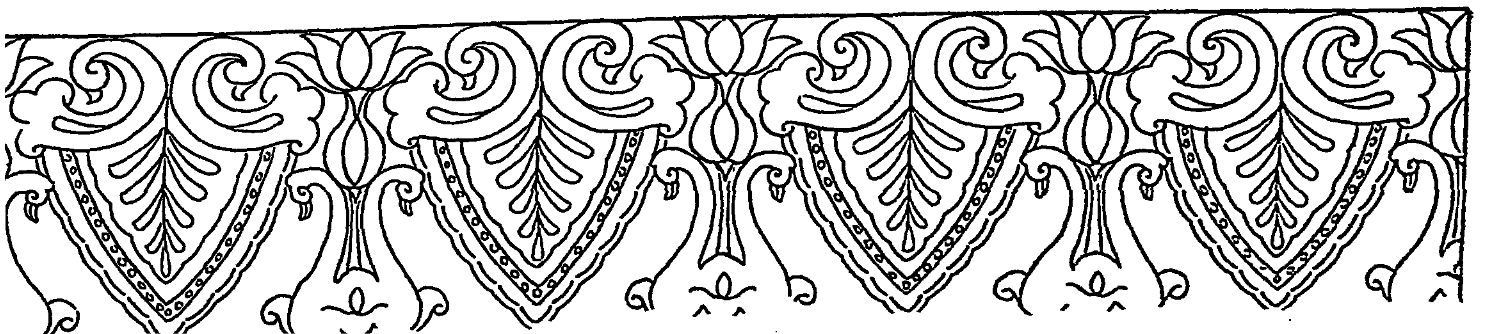
विद्वद्वर प० आशाधरजी भी कहते है[3] कि 'जिस महापुरुष ने ससारपरम्परा के नाशक समाधिमरण को धारण किया है उसने धर्म रूपी महान् निधि को परभव मे जाने के लिये साथ ले लिया है जिससे वह उसी तरह सुखी रहे जिस प्रकार एक ग्राम से दूसरे ग्राम को जाने वाला व्यक्ति पास मे पर्याप्त पाथेय रखने पर निराकुल रहता है इस जीव ने अनन्त वार मरण किया, किन्तु समाधि-सहित पुण्यमरण कभी नही किया, जो सौभाग्य एव पुण्योदय से अव प्राप्त हुआ है सर्वज्ञदेव ने इस समाधि सहित पुण्यमरण की वडी प्रशसा की है क्योकि समाधिपूर्वक मरण करनेवाला महान् आत्मा निश्चय से ससार-रूपी पिंजडे को तोड देता है—उसे फिर ससार के वन्धन मे नही रहना पडता है'

---

१ जीवित-मरणाऽऽशसे भय-मित्रस्मृति-निदाननामान ।
सल्लेखनातिचारा ५च जिनेन्द्रै समादिष्टा ।—समन्तभद्र, र० क० श्रा० ५-८

२ नि श्रेयममभ्युदय निस्तीर दुस्तर सुखाम्बुनिधिम् ।
नि पिवति पीतधर्मा सर्वैदु खैरनालीढ ।—समन्तभद्र, र०क०श्रा० ५-६

३ सहगामि कृत तेन धर्मसर्वस्वमात्मन ।
समाधिमरण येन भवविध्वसि साधितम् ।
प्राग्जन्तुनाऽमुनाऽनन्ता प्राप्तास्तद्भवमृत्यव ।
समाधिपुण्यो न पर परमाश्चरमक्षण ।
वर शसन्ति माहात्म्य सर्वज्ञाश्चरमक्षणे ।
यस्मिन्समाहिता भव्या भञ्जन्ति भवपञ्जरम् ।—आशाधर, सागारधर्मामृत ७-५८,८-२७,२८



क्षपक की सल्लेखना मे सहायक और उनका महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य

आराधक जब सल्लेखना ले लेता है तो वह उसमे बडे आदर, प्रेम और श्रद्धा के साथ सलग्न रहता है तथा उत्तरोत्तर पूर्ण सावधानी के साथ आत्म-साधना मे गति-शील रहता है उसके इस पुण्य कार्य मे, जिसे एक 'महान् यज्ञ' कहा गया है, पूर्ण सफलता मिले और वह अपने पवित्र पथ से विचलित न होने पाये, इसके लिए अनुभवी मुनि-निर्यापकाचार्य उसकी सल्लेखना मे सम्पूर्ण शक्ति एव आदर के साथ उसे सहायता करते है और समाधिमरण मे सुस्थिर रखते है वे उसे सदैव तत्त्वज्ञान-पूर्ण मधुर उपदेशों द्वारा शरीर और ससार की असारता एव नश्वरता बतलाते हैं, जिससे वह उनमे मोहित न हो. 'भगवती आराधना' (गा ६५०-६७६) मे समाधिमरण कराने वालो का बहुत ही सुन्दर वर्णन करते हुए लिखा है .

"क्षपक की सल्लेखना कराने वाले मुनियो को धर्मप्रिय, दृढश्रद्धानी, पापभीरु, परीषहजेता, देशकालज्ञाता, योग्यायोग्य-विचारक, त्यागमार्गमर्मज्ञ, अनुभवी, स्व-पर-तत्त्वविवेकी, विश्वासी और परोपकारी होना चाहिए. उनकी सख्या उत्कृष्ट ४८ और कम-से-कम २ होना चाहिए ।"

"४८ मुनि क्षपक की इस प्रकार सेवा करे—४ मुनि क्षपक को उठाने बैठाने आदि रूप से शरीर की टहल करे ४ मुनि धर्म श्रवण करायें. ४ मुनि भोजन और ४ मुनि पान करायें. ४ मुनि रक्षा-देखभाल करे. ४ मुनि शरीर के मल-मूत्रादि के क्षेपण मे तत्पर रहे ४ मुनि वसतिका के द्वार पर रहे, जिससे अनेक लोग क्षपक के परिणामो मे क्षोभ न कर सके. ४ मुनि क्षपक की अराधना को सुन कर आये लोगो को सभा मे धर्मोपदेश द्वारा सन्तुष्ट करे. ४ मुनि रात्रि मे जागे ४ मुनि देश की ऊच-नीच स्थिति के ज्ञान मे तत्पर रहे ४ मुनि बाहर से आये गये लोगो से बातचीत करे और ४ मुनि क्षपक के समाधिमरण मे विघ्न करने की सम्भावना से आये लोगो से वाद(शास्त्रार्थ द्वारा धर्मप्रभावना) करे ये महाप्रभावशाली निर्यापक मुनि क्षपक की समाधि में पूर्ण यत्न से सहायता करते है और उसे ससार से पार कराते है भरत और ऐरावत क्षेत्र में काल की विचित्रता होने से यथानुकूल अवसर में जितनी विधि बन जाये और जितने गुणो के धारक निर्यापक मिल जाएँ उतने भी समाधि कराये, अति श्रेष्ठ है. पर निर्यापक एक नही होना चाहिए, क्योंकि अकेला एक निर्यापक क्षपक की २४ घटे सेवा करने पर थक जायेगा और क्षपक की अच्छी तरह समाधि नही करा पायेगा.[1]

निर्यापक मुनि क्षपक को जो कल्याणकारी उपदेश देकर समाधिमरण मे सुस्थिर रखते है उसका पडित प्रवर आशाधर जी ने निम्न प्रकार वर्णन किया है[2]

"हे क्षपक ! लोक मे ऐसा कोई पुद्गल नही, जिसे तुमने एक से अधिक बार न भोगा हो, फिर भी वह तुम्हारा कोई हित न कर सका पर-वस्तु क्या कभी आत्मा का हित कर सकती है ? आत्मा का हित तो ज्ञान, सयम और त्याग, ये आत्मगुण ही कर सकते है. अत बाह्य वस्तुओ से मोह को त्यागो और विवेक तथा सयम का आश्रय लो और सदैव यह विचारो कि मै अन्य हूँ और पुद्गल अन्य है, मैं चेतन हूँ, ज्ञाता-द्रष्टा हूँ और पुद्गल अचेतन है, ज्ञानदर्शनरहित है मैं आनन्द-धन हूँ और पुद्गल ऐसा नही है."

---

१. पियधम्मा दढधम्मा सविग्गाऽवज्जभीरुणो धीरा ।
छदण्हू पच्चइया पच्चक्खाणम्मि य विदण्हू ।
कप्पाकप्पे कुशला समाधिकरणुज्जुदा सुदरहरसा ।
गीदत्था भयवन्तो अडदालीस तु णिज्जवया ।
णिज्जावया य दोण्णि वि होंति जहण्णेण कालससयणा ।
एक्को णिज्जावयओ ण होइ कइया वि जिणसुत्ते । —शिवार्य, भगवती आराधना

२ देखिए, आशाधर, सागारधर्मामृत, ८, ४८-१०७.

"हे क्षपकराज ! जिस सल्लेखना को तुम अब तक धारण नही कर पाये थे, उसे धारण करने का सुअवसर तुम्हे आज प्राप्त हुआ है उस सल्लेखना मे कोई दोष मत आने दो तुम परीषह या वेदना के कष्ट मे मत घबराओ वे तुम्हारे आत्मा का कुछ विगाड नही सकते उन्हे तुम सहनशीलता एव धीरता से सहन करो और उनके द्वारा कर्मो की असख्यातगुणी निर्जरा करो "

"हे आराधक ! मिथ्यात्व का वमन करो, सम्यक्त्व का सेवन करो पचपरमेष्ठी का स्मरण करो और उनके गुणो मे अनुराग करो तथा अपने शुद्ध ज्ञानोपयोग मे लीन रहो अपने महाव्रतो की रक्षा करो कषायो को जीतो इन्द्रियो को वश मे करो सदैव आत्मा मे ही आत्मा का ध्यान करो मिथ्यात्व के समान दु खदायी और सम्यक्त्व के समान सुखदायी तीन लोक मे अन्य कोई वस्तु नही है देखो धनदत्त राजा का सघश्री मत्री पहले सम्यग्दृष्टि था, पीछे उसने सम्यक्त्व की विराधना की और मिथ्यात्व का सेवन किया, जिसके कारण उसकी आँखे फूटी और ससार-चक्र मे उसे घूमना पडा राजा श्रेणिक तीव्र मिथ्यादृष्टि था, किन्तु बाद मे सम्यग्दृष्टि वन गया, जिसके प्रभाव से अपनी बधी हुई नरक स्थिति को कम करके उसने तीर्थकर प्रकृति का वन्ध किया तथा भविष्यत्काल मे वह तीर्थंकर होगा "

"हे क्षपकराज ! तुमने आगम मे अनेक वार सुना होगा कि पद्मरथ नाम का मिथिला का राजा "वासुपूज्याय नम " कहता हुआ अनेक विघ्न-बाधाओ से पार हो गया था और भगवान् के समवसरण मे पहुँचा था वहाँ पहुँच कर उसने दीक्षा ले ली तथा भगवान् का शीघ्र गणधर वन गया था यह अर्हन्तभक्ति का ही इतना वडा प्रताप था सुभग नाम के ग्वाले ने 'नमो अरिहन्ताण' इतना ही कहा था, जिसके प्रभाव से वह सुदर्शन हुआ और अन्त मे मोक्ष को प्राप्त हुआ "

"इसी तरह हे क्षपक ! जिन्होने परिषहो को एव उपसर्गो को सहन करके महाव्रतो का पालन किया उन्होने अभ्युदय और मोक्ष प्राप्त किया सुकुमाल को देखो, वे जब तप के लिये वन मे गये और ध्यान मे मग्न थे, तो शृगालिनी ने उन्हे कितनी निर्दयता से खाया, परन्तु सुकुमाल स्वामी जरा भी अपने ध्यान से विचलित नही हुए और घोर उपसर्ग सहकर उत्तम गति को प्राप्त हुए शिवभूति महामुनि को भी देखो, उनके सिर पर आधी से उड कर घास का गाज आपडा था, परन्तु वे आत्म-ध्यान से तनिक भी नही डिगे और निश्चल वृत्ति से शरीर त्यागकर निर्वाण को प्राप्त हुए पाचो पाण्डव जब तपस्या कर रहे थे उस समय कौरवो के भानजे आदि ने पुरातन वैर निकालने के लिये गरम लोहे की साकलो से बाधा और कीलें ठोकी, किन्तु वे अडिग रहे और उपसर्ग सह कर उत्तम गति को प्राप्त हुए युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन मोक्ष गये तथा नकुल और सहदेव सवार्थसिद्धि को प्राप्त हुए विद्युच्चर ने कितना भारी उपसर्ग सहा और अन्त मे सद्गति पाई "

"अत हे आराधक ! तुम्हे इन महापुरुषो को अपना आदर्श वना कर धीरता-वीरता से सब कष्टो को सहन करते हुए आत्मलीन रहना चाहिए, जिससे तुम्हारी समाधि उत्तम प्रकार हो और अभ्युदय तथा निर्वाण प्राप्त करो जो जीव एक बार भी अच्छी तरह समाधिमरण करके शरीर त्यागता है वह ७-८ भव से अधिक ससार मे नही घूमता[1] अत हे क्षपक ! तुम्हे अपना यह दुर्लभ समाधिमरण पूर्ण धीरता-वीरता, सावधानी एव विवेक के साथ करना चाहिए, जिससे तुम्हे ससार मे फिर न घूमना पडे "

इस तरह निर्यापक मुनि क्षपक को समाधिमरण मे निश्चल और सावधान बनाये रखते है क्षपक के समाधिमरण रूप महान् यज्ञ की सफलता मे इन महान् निर्यापक साधुओ का प्रमुख एव अद्वितीय सहयोग होने से आगम मे उनकी प्रशसा करते हुए लिखा है[2]—"वे महानुभाव (निर्यापक मुनि) धन्य है, जो सम्पूर्ण आदर और शक्ति के साथ क्षपक को सल्लेखना कराते है "

---

१. शिवार्य भगवती आराधना

२ ते चिय महाणुभावा धण्णा जेहि च तस्स खवयस्स ।
सव्वादरसत्तीए उवहिदाराधणा सयला ।—शिवार्य, भ० आ० गाथा २०००



सल्लेखना के भेद

जैन शास्त्रो मे शरीर का त्याग तीन तरह से बताया गया है[1] १ च्युत, २ च्यावित और ३ त्यक्त

१. च्युतः—स्वत आयु पूर्ण होने पर शरीर छूटता है वह च्युत कहलाता है

२. च्यावितः—जो विष-भक्षण, रक्तक्षय, धातुक्षय, शस्त्राघात, सक्लेश, अग्निदाह, जलप्रवेश आदि निमित्त कारणो से शरीर छोडा जाता है वह च्यावित कहा गया है.

३. त्यक्तः—जो रोगादि हो जाने और उनकी असाध्यता एव मरणान्त होने पर विवेक सहित सन्यास रूप परिणामो से शरीर छोडा जाता है वह त्यक्त है

तीन तरह के शरीरत्यागो मे त्यक्त-शरीरत्याग सर्वश्रेष्ठ और उत्तम माना गया है, क्योकि त्यक्त अवस्था मे आत्मा पूर्णतया जागृत एव सावधान रहता है तथा उसे कोई सक्लेश परिणाम नही होता.

इस त्यक्त शरीरत्याग को ही समाधिमरण, सन्यासमरण, पण्डितमरण, वीरमरण और सल्लेखनामरण कहा गया है यह सल्लेखनामरण (त्यक्त शरीरत्याग) तीन प्रकार का प्रतिपादन किया है.[2] १. भक्तप्रत्याख्यान, २ इगिनीमरण और ३. प्रायोपगमन

१. भक्तप्रत्याख्यान—जिसमें अन्न-पान का क्रमशः अभ्यास पूर्वक त्याग किया जाता है उसे भक्तप्रत्याख्यान या भक्त-प्रतिज्ञा सल्लेखना कहते है इसका काल—प्रमाण कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त है और अधिक-से-अधिक १२ वर्ष है मध्यम, अन्तर्मुहूर्त से ऊपर और वारह वर्ष से नीचे का काल है इसमे आराधक आत्मातिरिक्त समस्त परवस्तुओ से रागद्वेषादि छोडता है तथा अपने शरीर की टहल स्वय भी करता है और दूसरो से भी कराता है

२ इंगिनीमरण[3]— मे क्षपक अपने शरीर की सेवा—परिचर्या स्वय तो करता है, पर दूसरे से नही कराता स्वय उठेगा और स्वय लेटेगा और इस तरह अपनी सम्पूर्ण क्रियाएँ स्वय करेगा वह पूर्णतया स्वावलम्बन का आश्रय ले लेता है. ३. प्रायोपगमन[4]—मे वह न अपनी सहायता लेता है और न दूसरे की आत्मा की ओर ही उसका सतत लक्ष्य रहता है और उसी के ध्यान मे सदा रत रहता है इस सल्लेखना को साधक तब ही धारण करता है जब वह अन्तिम अवस्था मे पहुँच जाता है तथा जिसका सहनन प्रबल होता है.

इनमे भक्तप्रत्याख्यान दो तरह का है—१ सविचार भक्तप्रत्याख्यान और २ अविचार भक्तप्रत्याख्यान. सविचार भक्तप्रत्याख्यान मे आराधक अपने सघ को छोडकर दूसरे सघ में जाकर सल्लेखना ग्रहण करता है यह सल्लेखना बहुत काल वाद मरण होने तथा शीघ्र मरण न होने की हालत मे ग्रहण की जाती है इस सल्लेखना का धारी 'अर्ह' आदि अधिकारो के विचार पूर्वक उत्साह सहित इसे धारण करता है इसी से इसे सविचार भक्तप्रत्याख्यान सल्लेखना कहते है पर जिस आराधक की आयु अधिक नही है और शीघ्र मरण होने वाला है तथा अब दूसरे सघ मे जाने का समय नही है और न शक्ति है, वह मुनि अविचार भक्तप्रत्याख्यान समाधिमरण धारण करता है. इसके भी तीन भेद है. १. निरुद्ध, २. निरुद्धतर और ३. परमनिरुद्ध.

१. निरुद्धः—दूसरे सघ में जाने की पैरो मे सामर्थ्य न रहे, शरीर थक जाय अथवा घातक रोग, व्याधि या उपसर्गादि आजाये और अपने सघ मे ही रुक जाय तो उस हालत मे मुनि इस समाधिमरण को ग्रहण करता है. इसलिए इसे निरुद्ध

---

१. देखिये, नेमिचन्द्राचार्य, गोम्मटसार कर्मकाण्ड ५६, ५७, ५८

२ देखिये, नेमिचन्द्राचार्य —गो० कर्म० गा० ५९ तथा भग० आरा० गा० २९

३ देखिये नेमिचन्द्राचार्य —गो० कर्म० गा० ६१.

४. देखिये, नेमिचन्द्राचार्य —गो० कर्म गा० ६१. श्वेताम्बरपरम्परा के ग्रन्थों में इसे 'पादपोपगमन' या 'पादोपगमन' कहते है

अविचार प्रत्याख्यान-सल्लेखना कहते है यह दो प्रकार का है—१ प्रकाश और २ अप्रकाश लोक मे जिनका समाधि-मरण विख्यात हो जाये वह प्रकाश है तथा जिनका विख्यात न हो वह अप्रकाश है

२ निरुद्धतर—सर्प, अग्नि, व्याघ्र, महिष, हाथी, रीछ, चोर, व्यन्तर, मूर्च्छा, दुष्ट पुरुषो आदि के द्वारा मारणान्तिक आपत्ति आने पर तत्काल आयु का अन्त जानकर निकटवर्ती आचार्यादिक के समीप अपनी निन्दा, गर्हा करता हुआ साधु शरीर-त्याग करे तो उसे निरुद्धतर-अविचार-भक्त-प्रत्याख्यान-सल्लेखना कहते है

३ परमनिरुद्ध—सर्प, व्याघ्रादि भीषण उपद्रवो के आजाने पर वाणी रुक जाय, बोल न निकल सके, ऐसे समय मे मन मे ही अरहन्तादि पच परमेष्ठियो के प्रति अपनी आलोचना करता हुआ साधु शरीर त्यागे उसे परम-निरुद्ध-भक्त प्रत्याख्यान-सल्लेखना कहते है

समाधिमरण की श्रेष्ठता

ये तीनो (भक्त प्रत्याख्यान, इगिनी और प्रायोपगमन) समाधिमरण उत्तम एव सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं आचार्य शिवार्य ने (भगवती आराधना गाथा-२५ से ३० तक मे) सत्तरह प्रकार के मरणो का उल्लेख करके उनमे पांच[1] तरह के मरणो का वर्णन करते हुए तीन मरणो को प्रशसनीय बतलाया है वे तीनो मरण ये है[2]

'पडितपडितमरण, पडितमरण, और बालपडितमरण ये तीन मरण सदा प्रशसा के योग्य है'

आगे पाँच मरणो के सम्बन्ध मे कहा है[3] कि वीतराग केवली भगवान् के निर्वाण-गमन को 'पडित-पडितमरण' देशव्रती श्रावक के मरण को 'बालपडितमरण' आचाराग शास्त्रानुसार चारित्र के धारक साधु-मुनियो के मरण को 'पडितमरण'' अविरतसम्यग्दृष्टि के मरण को 'बालमरण' और मिथ्यादृष्टि के मरण को 'बाल-बालमरण कहा है भक्त-प्रत्याख्यान, इगिनी और प्रायोपगमन ये तीन पडित मरण के भेद है इन्ही तीन का ऊपर सक्षेप मे वर्णन किया गया है

आचार्य शिवार्य ने इस सल्लेखना के करने, कराने, देखने, अनुमोदन करने, उसमे सहायक होने, आहार-औषध-स्थानादि का दान देने तथा आदरभक्ति प्रकट करने वालो को पुण्यशाली बतलाते हुए बडा सुन्दर वर्णन किया है वे लिखते है,[4]

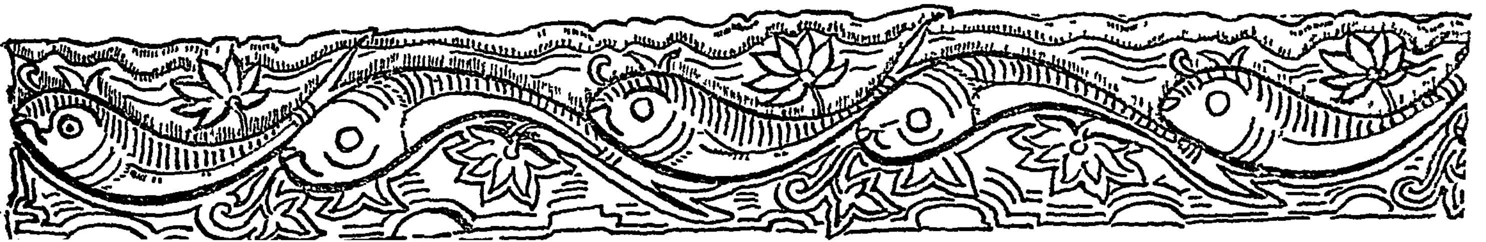
---

१ पडिदपडिदमरणं पडिदयं बालपडिदं चेव।
बालमरणं चउत्थं पचमयं बालबालं च।—भग० आराधना गा० २६

२ पडिदपडिदमरणं च पडिदं बालपडिदं चेव।
एदाणि तिण्णि मरणाणि जिणा णिच्चं पसंसन्ति।—भग० आराधना गा० २७

३ पडिदपडिदमरणे खीणकसाया मरन्ति केवलिणो।
विरदाविरदा जीवा मरन्ति तदियेण मरणेण।
पाओवगमणमरणं भत्तपण्णा य इगिणी चेव।
तिविहं पडिदमरणं साहुस्स जहुत्तचरियस्स।
अविरदसम्मादिट्ठी मरन्ति बालमरणे चउत्थम्मि।
मिच्छादिट्ठी य पुणो पचमए बालबालम्मि।—भग० आराधना गा० २८, २९, ३०

४ ते सूरा भयवन्ता आइच्चइऊण सघमज्झम्मि।
आराधणा-पडाया चउप्पयारा धिया जेहिं।
ते धण्णा ते णाणी लद्धो लाभो य तेहि सव्वेहिं।
आराधणा भयवदी पडिवण्णा जेहि सपुण्णा।
किंणाम तेहि लोगे महाणुभावेहि हुज्ज ण य पत्तं।
आराधणा भयवदी सयला आराधिदा जेहिं।
ते वि य महाणुभावा धण्णा जेहिं च तस्स खवयस्स।
सव्वादर - सत्तीए उवविहिदाराधणा सयला।



'वे मुनि धन्य है जिन्होने सघ के मध्य में समाधिमरण ग्रहण कर चार प्रकार की आराधनारूपी पताका को फहराया'
'वे ही भाग्यशाली है और ज्ञानी है तथा उन्होने समस्त लाभ पाया है जिन्होने दुर्लभ भगवती आराधना (सल्लेखना) को प्राप्त कर उसे सम्पन्न किया है'

'जिस आराधना को ससार मे महाप्रभावशाली व्यक्ति भी प्राप्त नही कर पाते, उस आराधना को जिन्होने पूर्णरूप से प्राप्त किया उनकी महिमा का वर्णन कौन कर सकता है ?'

'वे महानुभाव भी धन्य है, जो पूर्ण आदर और समस्त शक्ति के साथ क्षपक की आराधना कराते है'

'जो धर्मात्मा पुरुष क्षपक की आराधना में उपदेश, आहार-पान, औषध व स्थानादि के दान द्वारा सहायक होते है वे भी समस्त आराधनाओ को निर्विघ्नपूर्ण करके सिद्धपद को प्राप्त होते है'

'वे पुरुष भी पुण्यशाली है, कृतार्थ है जो पापकर्म रूपी मैल को छुटाने वाले तीर्थ में सम्पूर्ण भक्ति और आदर के साथ स्नान करते है. अर्थात् क्षपक के दर्शन-वन्दन-पूजन में प्रवृत्त होते है'

'यदि पर्वत, नदी आदि स्थान तपोधनो से सम्बन्धित होने से तीर्थ कहे जाते है और उनकी सभक्ति वन्दना की जाती है तो तपोगुणराशि क्षपक, तीर्थ क्यो नही कहा जायेगा[1] अवश्य कहा जायेगा. उसकी वन्दना और दर्शन का भी वही फल प्राप्त होता है जो तीर्थ-वन्दना का होता है'

'यदि पूर्व ऋषियो की प्रतिमाओ की वन्दना करने वाले के लिए पुण्य होता है तो साक्षात् क्षपक की वन्दना एव दर्शन करने वाले पुरुष को प्रचुर पुण्य का सचय क्यो नही होगा ? अपितु अवश्य होगा.'
'जो तीव्र भक्ति सहित आराधक की सदा सेवा—वैयाकृत्य करता है उस पुरुष की भी आराधना निर्विघ्न सम्पन्न होती है अर्थात् वह उत्तम गति को प्राप्त होता है'

क्या जैनेतर दर्शनों मे यह महत्त्वपूर्ण विधान है ?

यह सल्लेखना जैनेतर जनताके लिए अज्ञात विषय है, क्योकि जैन साहित्यके सिवाय अन्य साहित्यमे उसका कोई वर्णन उपलब्ध नही होता हाँ, ध्यान या समाधि का विस्तृत कथन मिलता है, पर उसका अत क्रिया से कोई सबध नही है उसका सबध केवल सिद्धियो को प्राप्त करने अथवा आत्म-साक्षात्कार से है वैदिक साहित्य में सोलह सस्कारो मे एक अन्त्येष्टि सस्कार आता है[1] जिसे ऐहिक जीवन के अतिम अध्याय की समाप्ति कहा गया है[2] और जिसका दूसरा नाम मृत्यु-सस्कार है. यद्यपि इस सस्कार का अन्त क्रिया से सबध है किन्तु वह सामान्य गृहस्थो का किया जाता है. सिद्ध—महात्माओ, सन्यासियो या भिक्षुओ का नही, जिनका परिवार से कोई सम्बन्ध नही रह जाता और न जिन्हे अन्त्येष्टि—क्रिया की आवश्यकता

जो उववियेदि सव्वादरेण आराधणा खु अण्णस्स ।
सपज्जदि णिव्विग्घा सयला आराधणा तस्स ।
ते वि कदत्था धण्णा य हुन्ति जे पावकम्ममलहरणे ।
ण्हायन्ति खवय-तित्थे सव्वादरभत्तिसजुत्ता ।
गिरि-णदिआदिपदेसा तित्थाणि तवोधणेहि जदि उसिदा ।
तित्थ कध ण हुज्जो तवगुणरासी सय खवओ ।
पुव्व-रिसीण पडिमाउ वदमाणस्स होइ जदि पुण्ण ।
खवयस्स वन्दओ किह पुण्ण विउल ण पाविज्ज ।
जो ओलग्गदि आराधय सदा तिव्व-भत्ति-सजुत्तो ।
सपज्जदि णिव्विग्घा तस्स वि आराधणा सयला ।—शिवार्य, भ० आ० १९९७–२००५.

१.-२ डा० राजबली पाण्डेय, हिन्दू सस्कार पृ० २९६

ही रहती है[1] इनके तो जल-निखात या भू-निखात के उल्लेख मिलते है[2] यह भी ध्यान देने योग्य है कि हिंदू धर्म मे अन्त्येष्टि की सम्पूर्ण क्रियाओ मे मृत-व्यक्ति के विषय-भोग तथा सुख-सुविधाओ के लिये प्रार्थनाए की जाती है हमे उसके आध्यात्मिक लाभ अथवा मोक्ष के लिए इच्छा का बहुत कम सकेत मिलता है जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति पाने के लिये प्रार्थना बहुत कम है[3] जब कि जैन सल्लेखना मे पूर्णतया आध्यात्मिक लाभ तथा मोक्ष की भावना निहित है लौकिक एपणाओ की उसमे कामना नही है एक बात यहाँ ज्ञातव्य है कि निर्णयसिंधुकार ने ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थ के अतिरिक्त आतुर अर्थात् मुमूर्पु (मरणाभिलाषी) और दु खित अर्थात् चौर व्याघ्रादि से भयभीत व्यक्ति के लिये भी सन्यास का विधान करने वाले कतिपय मतो को दिया है[4] इनमे बतलाया गया है कि सन्यास लेने वाला आतुर अथवा दु खित यह सकल्प करता है कि "मैंने जो अज्ञान प्रमाद या आलस्य दोष से बुरा कर्म किया उन सब का मैं त्याग करता हूँ और सब जीवो के लिये अभयदान देता हूँ तथा विहार करते हुए किसी जीव की हिंसा नही करूँगा" पर यह सब कथन सन्यासी के मरणान्त समय के विधि-विधान को नही बतलाता, केवल सन्यास लेते समय की जाने वाली चर्या का दिग्दर्शन कराता है स्पष्ट है कि यहाँ सन्यास का वह अर्थ विवक्षित नही है जो सल्लेखना का अर्थ है सन्यास का अर्थ है यहाँ साधु-दीक्षा, किंवा, कर्मत्याग या सन्यास नामक चतुर्थ आश्रम का स्वीकार है और सल्लेखना का अर्थ सन्यास के अन्तर्गत मरण समय मे होने वाली क्रिया विशेष[5] (कषाय एव काय का कृषीकरण करते हुए आत्मा को कुमरण से बचाना तथा आचरित धर्म की रक्षा करना) है अत सल्लेखना जैनदर्शन की एक अनुपम देन है, जो पारलौकिक एव आध्यात्मिक जीवन को उज्जवल बनाती है इस क्रिया मे रागादि कषाय से युक्त होकर प्रवृत्ति न होने के कारण सल्लेखना धारी को आत्मवध का भी दोष नही लगता



---

१. डा० राजवली पाण्डेय, हिन्दू सस्कार पृ० ३०३

२ डा० राजवली पाण्डेय, हिन्दू सस्कार पृ० ३०३ तथा कमलाकर भट्ट, निर्णयसिधु पृ० ४४७

३ डा० राजवली पाण्डेय, हिंदू सस्कार, पृष्ठ ३४६

४ सन्यसेद् ब्रह्मचर्याद्वा सन्यसेच्च गृहादपि ।
वनाद्वा प्रव्रजेद्विद्वानातुरो वा थ दु खित ।
उत्पन्ने सकटे घोरे चौरव्याघ्रादि गोचरे ।
भयभीतस्य सन्यासम गिरा मनुरब्रवीत् ।
यत्किंचि द्बाधक कर्म कृमाज्ञानतो मया ।
प्रमादालस्यदोषाय तत्तसत्यक्त वानहम् ।
एव सत्यज्य भूतेभ्य दद्याद भय दक्षिणाम् ।
पभ्दया कराभ्या विहरन्नाह वाक्यायमानसै ।
करिष्ये प्राणिना हिंसा प्राणिन सन्तु निर्भया. ।—कमलाकरभट्ट, निर्णयसिंधु पृ० ४४५.

५. वैदिक साहित्य में यह क्रिया विशेष भृगुपतन, अग्नि प्रवेश आदि के रूप में स्वीकृत है. (शिशुपाल वध ४ २३ की टीका विवद जैनसस्कृत में इसे लोक मूढता कहा है



श्रीरमेश उपाध्याय

सत्यं शिवं सुन्दरम्

मानवीय विचारो की एक परम्परागत अपौरुषेय शृखला होती है. अपौरुषेय इस अर्थ मे कि परम्परा में आने पर विचार किसी एक व्यक्ति का नही रह जाता. उसमें अनेक व्यक्तियो के विचारो का सार निहित रहता है कभी-कभी इन परम्परागत विचारो को सूत्रो में बाध लिया जाता है. ऐसे सूत्र उन विचारों का प्रतिनिधित्व तो करते ही है, नये विचारो की प्रेरणा भी देते रहते है.

'सत्य शिव सुन्दरम्' भी एक ऐसा ही सूत्र है जिसके पीछे दार्शनिक विचारो की एक लम्बी शृखला है और जिसमे नये-नये विचारो की कडिया जुड़ने की अनेक सम्भावनाए है

सूत्र के प्रथम पद 'सत्य' को पहचानने, पाने और स्वरूप निर्धारण के प्रयत्न प्राचीनकाल से होते रहे है भारतीय दार्श-निको ने ही नही सुक्रात, प्लेटो, अरस्तु आदि विश्व के अन्य असख्य सत्यान्वेषियो ने सत्य की व्याख्याए की है और प्रयोग किये है निकट अतीत मे गाधी का उदाहरण सत्यार्थी के रूप में दिया जा सकता है

कोई शब्द जितना अधिक सार्थक होता है, उतनी ही कठिन उसकी व्याख्या होती है शब्दो का लचीलापन और उनकी व्यापकता, दो ऐसे आयाम है जो व्याख्या का विशाल क्षेत्र प्रदान करते है यही कारण है कि सत्य की एक सीमित परिभाषा देना असम्भव है. यो, कोई परिभाषा वैसे भी स्वय में पूर्ण नही होती—होनी भी नही चाहिए क्यो कि ऐसा होने पर चिन्तन की दिशा अवरुद्ध होने लगती है. कहने को कह सकते है कि सत्य एक स्थिति है, ऐसी स्थिति जिसके अस्तित्व के विषय मे कोई सदेह नही किया जा सकता किन्तु विभिन्न दृष्टिकोणो से देखने पर उसके विभिन्न रूपाकार दृष्टिगोचर हो सकते है. यही कारण है कि प्रत्येक युग में सत्य-सम्बन्धी मान्यताएँ बदलती रहती है एक उदाहरण द्वारा इस बात को स्पष्ट कर दू.

प्राचीन काल मे 'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या' के आधार पर ईश्वर के अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु असत्य या माया समझी जाती थी और नितान्त आधुनिक विचारो के लोग ठीक इसके विपरीत बात कहते हुए सुने जाते है कोई व्यक्ति निश्चित रूप से नही कह सकता कि यही अन्तिम सत्य है सत्य को एक सूक्ष्म अनुभूति के रूप मे ही जाना जा सकता है उसको किसी आकार मे ढालने पर उसकी सत्यता मे सदेह होने लगता है मैं तो कहूँगा कि यह सदेह ही हमे सत्य की खोज के लिये प्रेरित किया करता है.

साहित्य मे सत्य एक स्थायी मूल्य है और अनिवार्य आवश्यकता है. असत्य प्रतीत होने वाली कृतिया भी सत्य पर आधारित होती है. भले ही उनकी सत्यता परिवेश के अनुसार उभरकर सामने आ सके साहित्यकार जिस दृष्टिकोण से चीजो को देखता है और ईमानदारी से उनके प्रभाव को अभिव्यक्ति देता है, वह उसका अपना सत्य है वह सत्य बहुमत द्वारा मान्य भी हो सकता है और अमान्य भी. बहुमत द्वारा अमान्य साहित्यिक सच्चाइयो को परखते समय



कृतिकार की सत्य के प्रति उसकी निजी पहुँच (Approach) की प्रक्रिया को ध्यान में रखना अत्यत आवश्यक है अन्यथा कृति और और कृतिकार के प्रति अन्याय हो जाता है

परन्तु साहित्यिक कृति का सच होना ही उसकी पूर्णता नही है. केवल यथार्थ पर दृष्टि रखने वाला कृतिकार या विचारक सत्य का सही सर्जक नही हो सकता कारण, कोरा सच मनुष्य को कोई दिशा दे सकता है न आनन्द यही कारण है कि जहा सत्य है वहा शिव और सुन्दर का होना भी अनिवार्य है 'सत्य शिव सुन्दरम्' के तीनो शब्द अन्योन्याश्रित एव एक सहज सगीत मे बधे है जहा सत्य है, वहा शिव और सौन्दर्य का होना अनिवार्य है शिव अर्थात् कल्याणकर होने के लिये सत्य और सुन्दर होना अपेक्षित ही है और सुन्दर तो कुछ हो ही नही सकता जो सत्य और शिव न हो. इन तीनो शब्दो के क्रमागत रूप का भी एक निश्चित उद्देश्य है यह क्रम तीनो की क्रमागत वशिष्टता एव गुरुता को प्रदर्शित करता है तीनो की श्रेष्ठता मे भी सत्य श्रेष्ठतम, शिव श्रेष्ठतर एव सुन्दर श्रेष्ठ है परन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नही है कि तीनो मे किसी की महत्ता कम है तीनो की क्रमागत गुरुता स्वीकार न भी करें, किन्तु पारस्परिक सापेक्षता से तो इकार किया ही नही जा सकता

मानवता के आध्यात्मिक, भौतिक एव काल्पनिक जगत्-रूपो मे 'सत्य शिव सुन्दरम्' का क्रमिक रूप देखा जाय तब भी अच्छे परिणामो पर पहुचा जा सकता है सत्य तो आध्यात्मिक है ही क्योकि दर्शन के समस्त प्रश्न सत्यासत्य विवेक की जिज्ञासा लिये हुए होते है 'शिव' के अन्तर्गत ससार के लिये जो कुछ हितकर है, उपादेय है, वह सब आ जाता है हितकर और उपादेय चाहे वस्तु हो या कार्य तथा विचार मानवता के कल्याण के लिये जो हितकर एव उपादेय है, उसके निर्माण, सवर्द्धन एव सरक्षण के समस्त प्रयत्न 'शिव' से ही प्रेरित होते है और 'सुन्दरम्' मानव-कल्पना के आनन्ददायक स्वरूप का सकेत है किसी वस्तु विशेष का अपना सौन्दर्य असौन्दर्य कुछ भी नही है वस्तु को सुन्दर-असुन्दर बनाने वाला हमारा मन है, हमारी कल्पना है अपने मानसिक सौंदर्य के कारण ही हम फूलो को हँसता देख सकते है, घटाओं को आँसू बहाते हुए महसूस कर सकते है जिनके काले रग और मोटे होठो को देखकर हम नाक-भौह सिकोडने लगते है उनमे भी अफ्रीका-निवासी परम-सौन्दर्य की कल्पना करते है अत 'सुन्दरम्' हुआ मनुष्य के मानसिक जगत् का प्रतीक है.

भौतिक जगत् मे हमे सभ्यताओ के विकास और ह्रास मिलते है अपनी भौतिकता मे मनुष्य अध्यात्म और कल्पना दोनो से आक्रात रहता है प्रगति के लिये सकेत मिलते है कल्पना से और प्रगति की दिशा निर्धारित करने के लिये अध्यात्म का अकुश काम आता है फिर भी जब सस्कृतिया गलत मोड ले लेती है और दर्शन एव कल्पना दोनो विकृत होने लगते है, तब 'शिव' की उपादेयता को महत्त्व देने वाली प्रवृत्ति दोनो मे या दोनो मे से एक मे क्राति ले आती है. उस क्राति द्वारा 'शिव' को सत्य और सुन्दर बनाने की प्रेरणा स्वत ही प्राप्त हो जाती है जब मनुष्य भौतिकता को ही सब कुछ मान लेता है और अध्यात्म एव कल्पना से पीछा छुडा लेना चाहता है तो वह अवनति की ओर जाने लगता है अत उसे कही न कही आध्यात्मिक दर्शन की ओर झुकना ही पडता है 'आत्मज्ञ हार्ययेद् भूतिकाम ' मे भी यही भावना परिलक्षिन होती है

आदर्शवाद और भौतिकवाद को देखते समय भौतिकवाद हमे अधिक आकर्षित करता है साहित्यिक रचनाओ मे भी हम देखते हैं कि आदर्शवादी विचार हमे उतना प्रभावित नही करते जितना भौतिक जगत् के नग्न यथार्थ को चित्रित करने वाले विचार करते है वैसे साहित्यिक क्षेत्र मे नितान्त यथार्थ अथवा कोरे आदर्श को प्रस्तुत करने वाली रचनाओ को खोज पाना असम्भव ही है क्योकि बिलकुल यथार्थ लगने वाला विचार भी कही बहुत गहरेपन मे आदर्श से प्रभावित होता है और आदर्श की तो विवशता है कि उसे यथार्थ के पावो पर खडा होना पडता है

विश्व की राजनीतिक एव सामाजिक विचारधाराओ पर दृष्टिपात करने पर लगता है कि 'सत्य शिव सुन्दरम्' को लेकर न चलने वाली धाराए असमय ही उपेक्षा के मरुस्थल मे खो गयी जबतक उनके प्रवर्तक या कुछ दृढ अनुयायी रहे तब तक वे अपने विचारो को सत्य मानकर सुदृढ आस्था के स्तम्भो पर उनका भार ढोते रहे किन्तु सत्य, शिव और सुन्दर



के सामजस्य से उद्भूत विचारो के एक ही धक्के से उनकी अर्द्ध सत्य मान्यताओ के प्रासाद भहराकर गिर पडे सामजस्य ! हा, सत्य शिव सुन्दर का सामजस्य अनिवार्य है. इसके अभाव मे ससार मे स्थित कोई भी अस्तित्व अपूर्ण है. वस्तु, कर्म और विचार सभी में तीनो के सामजस्य से श्रेष्ठता आती है.

सुन्दरम् क्या है ?

झील के नीले जल में तट के वृक्षो की परछाइया, परस्पर टकरा कर टूटती हुई लहरो मे चमकती चादनी, घाट पर पड़े हुए पत्थरो मे समय का सगीत, दूर नीलाकाश से आता हुआ कोई अज्ञात आह्वान, भयकर भूडोल मे भी लय की अनुभूति, खुली धूप में स्वतन्त्रता और अधकार में गुलामी का एहसास—यह सब क्या है ?

आपके घर में एक गुलाब का पौधा है. उसके फूल और कलियो को देख-देख कर आप प्रसन्न होते है. एकान्त के उदास क्षणो मे आपका ध्यान अनायास ही कुम्हलाई पखुरियो पर जा पडता है और आप उस गुलाब के पौधे से आत्मीयता अनुभव करने लगते है. काटा चुभता है तो जीवन के लिये शिक्षा ग्रहण करते है लेकिन जब आप अपने गमले मे सूखते गुलाब के पौधे को बचाने के लिये सहानुभूति से प्रेरित होकर किसी वनस्पति-शास्त्री (Botanist) के पास जाते है तो आपकी सहानुभूति उसकी बाते सुनकर एक शुष्क ज्ञान में परिणत हो जाती है. घर लौट कर आप देखते है पौधा मर चुका है. उखाड़ कर फेकते तनिक भी दु ख नही होता नया पौधा लगा लेंगे. ऐसा क्यो होता है ?

अनुसधान का उद्देश्य प्रकृति मे मनुष्य का प्रवेश है पृथ्वी के आर-पार देख सकना, सितारो को छू लेना, पक्षियो और पशुओ की बोलियो को समझ लेना, समय की यति-गति को पहचान लेना, क्षण का अश्रुत सगीत सुन सकना और आकाश-पाताल को अपनी सहानुभूति मे समेट कर एक सुन्दर स्नेहमय ससार की रचना, विज्ञान का उद्देश्य है किन्तु आज विज्ञान उस पथ को भूल गया है. सत्य और शिव का निर्वाह तो वह जैसे तैसे कर लेता है किन्तु सौन्दर्य को अस्पृश्य मान कर छोड देता है. यही आकर वह भटक जाता है और नीरस कारण-परिणामो को सूचित करने वाली तालिका मात्र बन जाता है. यही कारण है कि सौन्दर्य के अभाव मे सहानुभूति-शून्य होकर वह विध्वसक होने लगता है

सौन्दर्य तो एक चेतना है जो स्वय उद्भुत होती है. मनुष्य में, उसके रूप और आकृति मे, और उसकी शक्ति के प्रयोगो मे हम अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण द्वारा कही न कही एक ऐसी झलक पा लेते है जो हमे अभिभूत कर जाती है यह चेतना न पुस्तको से मिलती है न शिक्षको से. इस चेतना के अभाव मे मनुष्य जीवन का आनन्द खो देता है.

आज समाज मे व्यक्ति का मूल्याकन कैसे होता है ? अच्छा पति या अच्छी पत्नी, आज्ञाकारी पुत्र या सुशीला पुत्री, अच्छा नागरिक, धनवान् व्यक्ति या सम्मानित महिला परन्तु यह मूल्याकन सही नही है यह तो ऊपरी वेश भूषा का मूल्याकन है, मनुष्य का नही. मनुष्य का मूल्याकन करने के लिये उसका आतरिक सौन्दर्य देखना पड़ता है, उसकी आत्मा जाना पडता है, स्वय अपने हृदय मे सौदर्य से सहानुभूति की भावना जागृत करनी होती है सौदर्य से सहानुभूति रखने वाला मन सवेदनशील और भावुक होता है सौन्दर्य के किसी भी रूप को देखकर उसकी हृत्तत्री पर स्पदकम्पन होते है. कम्पन, जड़ता, उल्लास, हर्षातिरेक, अधीरता, सवेदना आदि का उत्स सौन्दर्य ही है.

अत सत्य और शिव सौन्दर्य के विना फीके है. सौन्दर्य हमें अस्तित्व के उद्गम का चिन्तन करने के लिये प्रेरित करता है. प्रकृति के गोपन का उद्घोष सुन्दरम् के द्वारा होता है. सौन्दर्य को पाकर जीवन का असतोष मिटता है विश्राति का अनुभव होता है किन्तु यह सन्तोष और विश्रान्ति, जीवन को निष्क्रिय नही बनाते, आगे बढने का उल्लास और प्रेरणा प्रदान करते है. प्रेम का उद्भव भी सौन्दर्य से ही होता है

रालफ वल्डो एमर्सन ने लिखा है :

In the true mythology love is an immortal child and beauty leads him as guide nor can

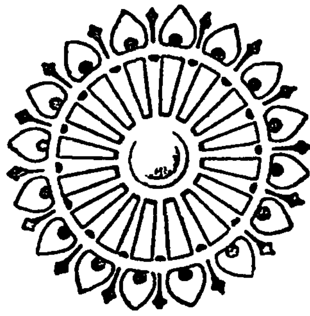


we express a deeper sense than when we say, Beauty is the pilot of the young Soul.

(सच्ची पौराणिकता मे प्रेम एक अमर शिशु है और सौन्दर्य उसका पथ-प्रदर्शक है जब हम कहते है कि सौन्दर्य शिशु आत्मा का चालक है, तो इससे अधिक गहन अर्थ को अभिव्यक्त नही कर सकते)

प्रेम मानव मात्र की सीमाओ से परे सम्पूर्ण विश्व पर छाया हुआ है एकता एव सहकार की भावनाए प्रेम से उत्पन्न होती है और प्रेम-पाश फैकने वाले अदृश्य हाथ सौन्दर्य के होते है हमे भद्दी और कुरूप वस्तुओ से भी स्नेह क्यो हो जाता है क्योकि हम उस वस्तु की सतही आकृति के नीचे उसके अतराल मे झाकते हैं, जहा सौन्दर्य की विपुल सृष्टि हमारा आवाहन् करती है सोक्रेटीज या कौटिल्य की कुरूपता उनके आत्म सौन्दर्य को ढक नही सकी गाधी सत्य के पुजारी और मानवता के हितकारी होकर भी राम की मनोहर मूर्ति के उपासक थे क्योकि राम सौन्दर्य के प्रतीक भी थे—अपनी सम्पूर्ण मर्यादाओ के साथ कौटिल्य को युद्ध की वीभत्सता मे रण-देवी के तेजस्वी और सुन्दर स्वरूप के दर्शन होते थे क्योकि उनके अन्तर मे सौन्दर्य की व्यापक चेतना थी जो लोग कौटिल्य को नीरस-राजनीतिज्ञ और अर्थशास्त्री मानते है वे 'मुद्रा राक्षस' मे उनके हृदय की सौन्दर्य प्रियता के दर्शन करके अपनी भूल सुधार सकते हैं

'सत्य शिव सुन्दरम्' के विस्तृत विवेचन मे अनेक ग्रथ लिखे जा सकते है—लिखे भी जा चुके है आवश्यकता है इन्हे अपने जीवन मे समन्वित रूप से उतार लेने की मन, वचन, कर्म से इन्हे अपने आचरण मे उतार कर मानवता की सेवा के प्रयत्नो की सुदीर्घ परम्परा मे उज्ज्वल कडिया जोडते चलना मनुष्य का लक्ष्य भी है, और कर्तव्य भी





श्रीशिखरचन्द्र कोचर
बी०ए०, एल०एल०बी०, आर०एच०जे०एस०, साहित्य शिरोमणि, साहित्याचार्य

मनुष्य-जाति का सर्वोत्तम आहार : शाकाहार

मनुष्य प्रकृति से ही शाकाहारी-प्राणी है. उसके शरीर की रचना दुग्धपेयी प्राणियो की शरीर-रचना से मिलती जुलती है, राष्ट्र-पिता महात्मा गाधी ने लिखा है

'शरीर की रचना को देखने से जान पडता है कि कुदरत ने मनुष्य को वनस्पति खाने वाला बनाया है दूसरे प्राणियो के साथ अपनी तुलना करने से जान पडता है कि हमारी रचना फलाहारी प्राणियो से बहुत अधिक मिलती है, अर्थात् बन्दरो से बहुत ज्यादा मिलती है बन्दर हरे और सूखे फल-फूल खाते है फाड खाने वाले शेर, चीते आदि जानवरो के दात और दाढो की बनावट हमसे और ही प्रकार ही होती है उनके पजे के सदृश हमारे पजे नही है साधारण पशु मासाहारी नही है, जैसे गाय बैल हम इनसे कुछ-कुछ मिलते है, परन्तु घास आदि खाने के लिये आरे जैसी आतें उनकी है, हमारी नही हैं. इन बातो से बहुत से शोधक ऐसा कहते है कि मनुष्य मासाहारी नही है. रसायन-शास्त्रियो ने प्रयोग करके बतलाया है कि मनुष्य के निर्वाह के लिये जिन तत्त्वो की आवश्यकता है, वे सब फलो मे मिल जाते है. केले, नारगी, खजूर, अजीर, सेव, अनन्नास, बादाम, अखरोट, मूगफली, नारियल आदि मे तन्दुरुस्ती को कायम रखने वाले सारे तत्त्व है. इन शोधको का मत है कि मनुष्य को रसोई पकाने की कोई आवश्यकता नही है जैसे और प्राणी सूर्य-ताप से पकी हुई वस्तु पर तन्दुरुस्ती कायम रखते है वैसे ही हमारे लिये भी होना चाहिए'

मनुष्य अनादि-काल से शैशवावस्था में मातृ-दुग्ध, और उसके अभाव मे गोदुग्ध-द्वारा पोषित होता रहा है इसी प्रकार मनुष्य-जाति अनादि-काल से ही शाकाहारी चली आ रही है. ससार के प्राय सभी धर्मो मे अहिंसा को प्रधानता दी गई है जैन-धर्म का तो अहिंसा-सिद्धान्त प्राण ही है अन्यान्य धर्मो मे भी इस सिद्धान्त पर अत्यधिक बल दिया गया है श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है .

> आत्मोपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
> सुख वा यदि वा दुःखं सयोगी परमो मतः । —अ० ६, श्लोक० ३२

अर्थात्, जो सभी जीवो को अपने समान समझता, और उनके सुख एव दु ख को अपने सुख-दु ख के समान समझता है, वही परम-योगी है यथा .

> समं पश्यन् हि सर्वत्र, समवस्थितमीश्वरम् ।
> न हिनस्त्यात्मनात्मानं, ततोयाति परां गतिम् । —अ० १३ श्लो० २८

अर्थात्, ज्ञानी पुरुष ईश्वर को सर्वत्र व्यापक जानकर हिंसा नही करता, क्योंकि वह जानता है कि किसी प्राणी की हिंसा करना आत्म-हत्या करने के समान है. इस प्रकार से वह सर्वोच्चगति को प्राप्त होता है.

महात्मा बुद्ध ने भी कहा है .

> पाणे ने हने न घातयेय, न चानुमन्या हनंत परेसं ।
> सव्वेसु भूतेसु निधाय दंडं, ये थावरा ये च तसंति लोके ।—सुत्तनिपात-धम्मिक सुत्त.

इसका भावार्थ यह है कि त्रस अथवा स्थावर जीवो को मारना या मरवाना नही चाहिए, और न ही त्रस या स्थावर जीवो को मारने वाले का अनुमोदन ही करना चाहिए.

तथा

"अपरिमितैर्य्यहामते कारणैर्मांसं सर्वभक्ष्यम् सर्वभूतात्म भूतानुयागन्तुमेनका सर्वं जन्तु प्राणिभूतसंभूतंभूनमांसं कथामिव भक्ष्य ॥" —लकावतार सूत्र ८०

अर्थात् सब प्रकार का मास दयावान् के लिए अगणित कारणो से अभक्ष्य है जो सर्व प्राणियो को अपने समान जानने वाला है, वह इन सब प्राणियो के वध से उत्पन्न हुए मास को कैसे भक्ष्य समझेगा.

महात्मा ईसा मसीह ने भी कहा है कि "देखो मैने तुम्हे हरएक बीज तथा उपजाऊ वनस्पति दी है, जो पृथ्वी पर पैदा होती है, और हरएक वृक्ष भी दिया है जिस वृक्ष मे उपजाऊ बीज के फल लगे है, ये सब तुम्हारे लिए भोजन सामग्री है तुम न तो चर्बी और न खून खाओगे " —लेविटिक्स ३,५,२७

महात्मा जरथुस्त्र ने भी कहा है कि "प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्येक प्राणी का मित्र होना चाहिए.... दुष्ट व्यक्ति जो अनुचित रूप मे पशुओ और भेडो तथा अन्य चौपायो की घोर हत्या करता है, उसके अवयव नष्ट किये जायेंगे
—आर्दविरफ १७४-१९२

पैगम्बर मुहम्मद साहब ने कहा है कि · "हमने स्वर्ग से मेह बरसाया जिससे बाग पैदा हुए और अनाज की फसल उगी, और खजूरो से लदे हुए लम्बे वृक्ष उत्पन्न हुए, जो मनुष्य के लिये भोजन होंगे —कुरानसूराकाफ ९,११

जो दूसरे के प्राणो की रक्षा करता है, वह गोया तमाम मानव-जाति के प्राणो की रक्षा करता है"—कुरान, ५

सिख धर्म के प्रवर्त्तक, गुरु नानक ने कहा है

"मांस मास सब एक है, मुर्गी हिरनी गाय। आंख देख नर खात है, ते नर नर कहिं जाय ॥"

महात्मा कबीर ने कहा है

"मांस मछलियां खात है, सुरा-पान के हेत। ते नर नरकहिं जायगे, माता-पिता समेत ॥
तिलचर मछली खायके, कोटि गऊ दे दान। काशी करवत ले मरे, तो भी नरक निदान ॥"

शाकाहार का प्रचार एव प्रसार ससार के सभी देशो एव समस्त कालो मे रहा है ग्रीस-देश के प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वानो पिथागोरस, इम्पीडोक्लिस, प्लेटो, सोक्रेटिज, ओविड, सेनेका, पोर्फिरी, प्लूटार्क आदि ने तथा आरिजेन, टरट्यूलियन, क्रिसोस्टोम तथा अलेक्जेंड्रिया के क्लीमेंट जैसे ईसाई धर्म-गुरुओ ने भी शाकाहार का प्रतिपादन किया है भारतवर्ष के महान् सम्राट् अशोक ने अपने विशाल साम्राज्य मे स्थान-स्थान पर इस आशय के शिला-लेख उत्कीर्ण करवाये थे, कि कोई व्यक्ति किसी प्राणी की हत्या न करे महान् मुगल सम्राट् अकबर ने भी आदेश दिया था कि उसके साम्राज्य मे विशेष पर्वो के अवसरो पर किसी प्रकार का प्राणी-वध न किया जाय ससार के प्रसिद्ध विद्वान् स्वीडन बोर्ग, टाल्सटाय, वाल्टेयर, मिल्टन, वेस्ले, आइजक न्यूटन, बूथ, आइजक पिटमैन, बर्नडशा इत्यादि शाकाहारी थे, और उन्होने अपनी रचनाओ मे शाकाहार का पूर्ण रूपेण प्रतिपादन किया है मैं विस्तारभय से उनके विचारो को इस लेख मे उद्धृत करने मे असमर्थ हू मासाहार के पक्ष मे कुछ लोग यह युक्ति देते हैं कि मासाहार से शक्ति बढती है परन्तु यह युक्ति निस्सार है, क्योकि हम देखते है कि शाकाहारी हाथी किसी मासाहारी प्राणी से कम-शक्तिशाली नही होता ससार के अनेक डाक्टरो तथा वैज्ञानिको ने इस बात पर मतैक्य प्रकट किया है कि फलो तथा शाक-भाजी एव गो-दुग्ध मे मास की अपेक्षा अधिक पोषक तत्त्व विद्यमान रहते है, जिनके सेवन से मनुष्य की शक्ति, स्फूर्ति तथा बुद्धि की अभिवृद्धि होती है, और मास-सेवन से जो नाना प्रकार की हानिया होती है, उनका शाकाहार मे सर्वथा अभाव पाया जाता है. शाकाहारी मनुष्य मे मासाहारी मनुष्य की अपेक्षा उदारता सहनशीलता, धैर्य, परिश्रम-शीलता इत्यादि गुणो का अधिक समावेश दृष्टि-गोचर होता है प्राचीन समय मे भारतवर्ष की सर्वांगीण उन्नति का प्रधान कारण भारतीय जनता का अहिंसा-धर्म का पूर्ण रूप से पालन ही था ससार मे शाति एव समृद्धि का सर्वोत्कृष्ट साधन अहिंसा ही है,और यदि हमे राष्ट्रो, के मध्य प्रेम शान्ति एव सौहार्द की स्थापना करनी अभीष्ठ है, तो हमे ससार के सभी धर्म-प्रवर्त्तको द्वारा समर्थित अहिंसा एव शाकाहार को अपनाना ही पडेगा



डा० सत्यकाम वर्मा

वर्णों का विभाजन[1]

आज के भाषा-विषयक अध्ययन की जो महत्त्वपूर्ण देनें मानी जाती है, उनमे से वर्णभागो या अल्लाफोन्स की स्वीकृति भी एक है. वर्ण को आधुनिक परिभाषा में 'फोनीम' कहा जाता है. जब कोई ध्वनि वर्ण की पूर्णस्थिति तक न जाकर बीच में ही रह जाती है, उसे 'अल्लाफोन्स' के नाम से स्मरण किया जाता है आज जिसे वर्तमान भाषा-विज्ञान की अपूर्व देन समझा जाता है यहाँ हम यह दिखाने का प्रयास करेंगे, कि उसका अध्ययन कितनी गहराई के साथ प्राचीन भारतीय वैयाकरणो ने किया था.

कुछ अवधेय परिभाषाएं—इस विषय मे सबसे प्रथम सहायक परिभाषा हमें यास्क के निरुक्त मे मिलती है धातुभिन्न किसी 'पदभाग' की केवल वर्णसाम्य के आधार पर उसने कल्पना की है · 'पदेभ्यो पदान्तरार्धान् सचस्कार' (निरुक्त). पदान्तर या पदान्तरार्ध सज्ञा भाषा, वैज्ञानिक महत्त्व की है इसी समय के प्रातिशाख्यो मे एक नई परिभाषा 'अपिनिहिति' के रूप मे सामने आई 'आत्मा' 'इष्य' आदि शब्दो मे जहा भी सधि-नियमो के विरुद्ध-कार्य होता दिखाई दिया (और बाद में अपभ्रश आदि मे उनका स्थानान्तरण किसी और वर्ण द्वारा हुआ), वहा ही उन्होने 'अपिनिहिति' के रूप मे एक अस्पष्टोच्चरित ध्वनि की अन्तर्वर्त्तिनी सत्ता को स्वीकार कर लिया. यह पाणिनि के 'वॉयड्' या 'जीटो' से भिन्न स्थिति है पाणिनि ने ऐसी अपूर्ण स्थिति कुक्, टुक्, ङमुट्, घुट् आदि आगमो की स्वीकार की है, जिनके द्वारा आगत ध्वनियाँ सुनाई न देकर भी अपना प्रभाव छोडती दिखाई देती है[2]

परन्तु पाणिनि इस विषय मे दो परिभाषाएँ ऐसी देते है, जिन पर विचार अत्यावश्यक हो जाता है ये है—ह्रस्वादेश और सवर्ण 'ह्रस्वादेश' से हमे केवल यही पता चलता है कि वर्ण अपनी स्थिति और मात्रा आदि बदल सकते हैं किन्तु 'सवर्ण' की परिभाषा हमे कुछ और ही सकेत करती है. आस्य और प्रयत्न की समानता के आधार पर सवर्ण (तुल्यास्यप्रयत्न सवर्णम्) सिद्ध करने के बाद, जब वे प्रत्येक व्यजनवर्ग को सवर्ण (अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय) कहते है, तब समस्या यह उठती है कि क्या क्-ख्-ग्-घ्-ङ् आदि मे भी कुछ वैसी ही समानता है, जैसी अ-आ-अ आदि मे पाई जाती है ? पाणिनि इसका उत्तर 'हाँ' में ही देते है तो, क्या यह समानता केवल मुखगत उच्चारणसाम्य के कारण ही है ? सवर्ण का अर्थ है समान वर्ण. अर्थात् इन तथाकथित सवर्णो मे वर्णात्मक या ध्वन्यात्मक साम्य भी मूलत निहित होता है तथाकथित वर्ग के पाचो वर्णो मे 'क्' की-सी ध्वनि का कुछ अश अवश्य उपस्थित रहता है. फिर यदि 'कण्ठ्य' होने के कारण भी उनकी ध्वन्यात्मक समानता स्वीकार की जाए, तब भी उनमे 'ध्वनि-तरगो' की कुछ अश तक समानता स्वीकार करनी पडेगी, उन सब की ध्वनि-तरगे एक ही स्थान से जो उठती है ।

परन्तु, सवर्णो और 'ह्रस्वादेशो' की इस समस्या को अधिक स्पष्ट करने का श्रेय पतजलि को ही मिलता है. उन्होंने ही हमे सर्वप्रथम 'वर्णैकदेश' और 'उत्तरपदभूयस्' जैसी वैज्ञानिक परिभाषाएँ दी. ह्रस्वादेश हो, सन्धिनियम हो, सन्ध्यक्षरों

---

१. २६ वें अन्तर्राष्ट्रीय प्राच्यविद्या-सम्मेलन में—लेखक द्वारा पढे गए एक लेख के आधार पर.

२ इसकी विशेष चर्चा देखें लेखक के लेख-वर्णभाग में, 'भारतीय साहित्य', जनवरी—१९६१ ई०.

अथवा सम्प्रसारणो की समस्या हो—पतजलि उन सब की व्याख्या 'वर्णैकदेश' की परिभाषा के द्वारा करते है वर्ण मे 'एकदेश' की स्वीकृति आज के 'अल्लाफोन्स' की वात को अधिक स्पष्ट करती है, 'उत्तरपदभूयस्' से भी इतना ही पता चलता है कि गुणस्वरो या वृद्धिस्वरो मे स्पष्टत 'उत्तरपद' और 'पूर्वपद' जैसी स्थिति खोजी जा सकती है.

भर्तृहरि की चमत्कारी देन—किन्तु, भर्तृहरि ने अपने महान् ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' मे इस समस्या को अत्यधिक वैज्ञानिक आधार पर लिया है. उन्होने वहाँ जो चमत्कारपूर्ण परिभाषाएँ दी है, वे हैं—'वर्णभाग' और 'वर्णान्तर सरूप' उनकी इन परिभाषाओ को केवल काल्पनिक कहकर टाला नही जा सकता इनके प्रतिरूप ही वे पद-सम्बन्धी समानान्तर परिभाषाएँ भी देते है ये है—'पदभाग' और 'पदान्तरसरूप'

वर्णान्तरसरूपाश्च वर्णभागा अवस्थिता. । पदान्तरसरूपाश्च वर्णभागा अवस्थिता ।।—वा० २ ११.

'वर्णभाग' की वात को तो वे काफी विस्तार से उठाते हैं एक स्थान पर वे स्पष्ट कहते हैं .

पदानि वाक्ये तान्येव, वर्णास्ते च पदे यदि । वर्णेषु वर्णभागानां भेद स्यात् परमाणुवत् ।।—वा० २ २८

भागानामनुपश्लेषान्नवर्णो न पद भवेत् । तेषामव्यपदेश्यत्वात्किमन्यदपदिश्यताम् ।।—वा० २ २९

'वर्ण' बनने के लिये स्पष्ट ही वर्णभागो के उपश्लेष की आवश्यकता है उनके उपश्लेष के विना वर्ण की स्थिति ही सम्भव नही इस धारणा का विरोध करने वाले कदाचित् भर्तृहरि के निम्न श्लोक को उद्धृत करेंगे

'पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च । वाक्यात्पदानामत्यन्त प्रविवेको न कश्चन ।।—वा० १ ७३

यहा वर्णावयवो की सत्ता का प्रत्यक्ष निषेध-सा दिखाई देता है परन्तु यही निषेध 'पदो' पर लागू होता है अर्थात् भर्तृहरि स्पष्ट घोषित करते है कि जिस प्रकार की स्थिति वाक्य मे पदो की है, उसी प्रकार की स्थिति पदो मे वर्णो की, और वर्णो मे वर्णभागो या वर्णावयवो की है वस्तुत॰ वे उपरोक्त सभी प्रसगो मे अर्थ और वाक्यार्थ की अखण्डता की चर्चा कर रहे है उनका कथन यह है कि यदि वाक्य का विभाग पदो मे सम्भव है, तो पदो को वर्णो मे विभक्त मानना होगा और वर्णो को उन वर्णभागो से वना मानना होगा, जो परमाणुवत् अनन्त और सूक्ष्म है उनका वाक्यार्थ अविभाज्य है अत वे पदार्थो की पृथक् सत्ता मे विश्वास नही रखते परन्तु, इसका अर्थ यह नही कि 'सुप्तिङन्त पदम्' की पाणनि की परिभाषा व्यर्थ हो जाती है और पदो की सत्ता ही वाक्य मे सिद्ध नही होती यदि पदो की स्थिति वाक्य मे होने पर भी उसकी एकता और एकार्थता रक्षित रह सकती है, तव वर्णभागो की स्थिति रहने पर भी वर्ण की एकता कायम रह सकती है[1] और यदि आवश्यकता आ पडे तो

वाक्यार्थस्य तदेकोऽपि वर्ण प्रत्यायक. क्वचित् ।—वा० २ ४५

दोनो मे भेद—'वर्णान्तरसरूप' और 'वर्णभाग' सज्ञाओ को हमने पृथक् माना है भर्तृहरि ने भी इनका पृथक् उल्लेख किया 'वर्णभाग' को वर्तमान 'अल्लाफोन्स' का समकक्ष स्वीकार किया जा सकता है, जव कि 'वर्णान्तरसरूप' की उससे कुछ स्थूल स्थिति है इसमे कुछ वर्णभाग मिलकर 'सवर्णभाग' की-सी स्थिति मे आते हैं इस 'वर्णान्तरसरूपकता' के आधार पर ही सवर्णो का आविर्भाव सम्भव माना जाता है, जव कि वर्णभाग किसी भी वर्ण की सूक्ष्मतम विभाज्य स्थिति को ही सूचित करता हैं यही भर्तृहरि यह भी स्पष्ट करते है कि इन्हे स्पष्टत पहचाना नही जा सकता—**'प्रविवेको न कश्चन'**

भाषा विज्ञान—आज के भाषा-विज्ञानी भी इस स्थिति को स्वीकार करने लगे है विविध यन्त्रो के सहारे उन्होने ध्वनि-तरगो और ध्वनिभागो को निश्चित करने का प्रयास किया है, पर इस विषय मे कुछ निश्चित विभाजक रेखाएँ नही खीच सके हैं 'अल्लाफोन्स' विषयक उनकी देन की चर्चा हो चुकी है प्रो० जोसुटाव्हाटमाऊ, पीटर साइमन और दूसरे कुछ अमरीकी भाषाविदो ने 'साउण्ड-वेव' अर्थात 'ध्वनि-तरगो' को भी पहचानने का प्रयास किया है पर अधिक अच्छा हो कि वे इन परिभाषाओ को विचार मे रखकर वढे

१ विस्तृत चर्चा के लिये देखें लेखक के शोध-प्रवध—'भाषातत्त्व और वाक्यपदीय' के पृ० १७, तथा अनुच्छेद २४ (अ) एव ७१०



पण्डित श्रीवंशीधर
शास्त्री व्याकरणाचार्य

जैनदृष्टि से मनुष्यों में उच्च-नीच व्यवस्था का आधार

जैन सस्कृति में समस्त ससारी अर्थात् नारक, तिर्यक्, मनुष्य और देव—इन चारो ही गतियो मे विद्यमान सभी जीवो को यथायोग्य उच्च और नीच दो भागो में विभक्त करते हुए यह बतलाया गया है कि जो जीव उच्च होते है उनके उच्च-गोत्र कर्म का और जो जीव नीच होते है उनके नीचगोत्र कर्म का उदय विद्यमान रहा करता है.

यद्यपि जैन सस्कृति के मानने वालो के लिये यह व्यवस्था विवाद या शका का विषय नही होना चाहिए परन्तु समस्या यह है कि प्रत्येक ससारी जीव में उच्चता अथवा नीचता की व्यवस्था करने वाले साधनो का जब तक हमे परिज्ञान नही हो जाता, तब तक यह कैसे कहा जा सकता है कि अमुक जीव तो उच्च है और अमुक जीव नीच है ?

यदि कोई कहे कि एक जीव को उच्च गोत्र कर्म के उदय के आधार पर उच्च और दूसरे जीव को नीच गोत्र कर्म के उदय के आधार पर नीच कहने मे क्या आपत्ति है ? तो इस पर हमारा कहना यह है कि अपनी वर्तमान अल्पज्ञता की हालत मे हम लोगो के लिये जीवो मे *यथायोग्य* रूप से विद्यमान उच्चगोत्र-कर्म और नीचगोत्र-कर्म के उदय का परिज्ञान न हो सकने के कारण एक जीव को उच्चगोत्र-कर्म के उदय के आधार पर उच्च और दूसरे जीव को नीच-गोत्र-कर्म के उदय के आधार पर नीच कहना शक्य नही है.

माना कि जैन सस्कृति के आगम-ग्रथो के कथनानुसार नरकगति और तिर्यंगति मे रहने वाले सपूर्ण जीवो में केवल नीच गोत्र कर्म का तथा देवगति में रहने वाले सम्पूर्ण जीवो मे केवल उच्चगोत्र कर्म का ही सर्वदा उदय विद्यमान रहा करता है इसलिए यद्यपि सपूर्ण नारकियो और सपूर्ण तिर्यंचो मे नीच गोत्र कर्म के उदय के आधार पर केवल नीचता का तथा सपूर्ण देवो में उच्च गोत्र कर्म के उदय के आधार पर केवल उच्चता का व्यवहार करना हम लोगो के लिये अशक्य नही है परन्तु उन्ही जैन आगम ग्रथो मे जब सपूर्ण मनुष्यो मे से किन्ही मनुष्यो के तो उच्च गोत्र कर्म का और किन्ही मनुष्यो के नीच गोत्र कर्म का उदय होना बतलाया है तो जब तक सपूर्ण मनुष्यो मे पृथक्-पृथक् यथायोग्य रूप से विद्यमान उक्त उच्च तथा नीच दोनो ही प्रकार के गोत्र कर्मो के उदय का परिज्ञान नही हो जाता तब तक हम यह कैसे कह सकते है कि अमुक मनुष्यो में चूंकि उच्चगोत्र-कर्म का उदय विद्यमान है इसलिए उन्हे तो उच्च कहना चाहिए और अमुक मनुष्य मे कि नीचगोत्र-कर्म का उदय विद्यमान है इसलिए उसे नीच कहना चाहिए ? इसके अतिरिक्त मनुष्यो मे जब गोत्र-परिवर्तन की बात भी उन्ही आगम-ग्रथो में स्वीकार की गयी है तो जब तक उनमें (मनुष्यों में) यथा समय रहने वाले उच्चगोत्र-कर्म तथा नीचगोत्र-कर्म के उदय का परिज्ञान हमे नही हो जाता, तब तक यह भी एक समस्या है कि एक ही मनुष्य को कब तो हमे उच्चगोत्र-कर्म के उदय के आधार पर उच्च कहना चाहिए और उसी मनुष्य को कब हमे नीचगोत्र-कर्म के उदय के आधार पर नीच कहना चाहिए ? एक बात और है जैन सस्कृति की



मान्यता के अनुसार सातो नरको के सपूर्ण नारकियो मे परस्पर तथा एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक की सपूर्ण तिर्यग्-जातियो और इनकी उपजातियो मे रहने वाले सपूर्ण तिर्यंचो मे परस्पर उच्चता और नीचता का कुछ न कुछ भेद पाया जाने पर भी यदि सभी नारकी, नरकगति सामान्य की अपेक्षा और सभी तिर्यंच, तिर्यग्गति सामान्य की अपेक्षा नीच गोत्र-कर्म के उदय के आधार पर नीच माने जा सकते है तो, और इसी प्रकार भवनवासी व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक नाम की सपूर्ण देव जातियो और इनकी उपजातियो मे रहने वाले सम्पूर्ण देवो मे परस्पर उच्चता और नीचता का कुछ न कुछ भेद पाया जाने पर भी यदि सभी देव देवगति सामान्य की अपेक्षा, उच्चगोत्र कर्म के उदय के आधार पर उच्च माने जा सकते है तो, फिर मनुष्यगति मे रहने वाले सपूर्ण मनुष्यो मे भी मनुष्य-गति सम्बन्धी विविध प्रकार की समानता रहते हुए अन्य ज्ञात साधनो के अभाव मे केवल अज्ञात उच्चगोत्र-कर्म और नीचगोत्र-कर्म के उदय के आधार पर पृथक्-पृथक् क्रमश उच्चता और नीचता का व्यवहार कैसे किया जा सकता है ?

ये सब समस्याएँ है जिनका जब तक यथोचित समाधान प्राप्त नही हो जाता, तब तक जैन सस्कृति के अनुयायी होने पर भी हम लोगो के मस्तिष्क मे मनुष्यो को लेकर उच्चता और नीचता सबन्धी सदेह पैदा होते रहना स्वाभाविक ही है

षट्खण्डागम के सूत्र १३५ का आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी द्वारा किया गया जो व्याख्यान धवलाशास्त्र की पुस्तक १३ के पृष्ठ ३८८ पर पाया जाता है, उसे देखने से मालूम पडता है कि मनुष्यो की उच्चता और नीचता के विषय मे आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी के समय मे भी विवाद था इतना ही नही, आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी के उस व्याख्यान से तो यहा तक भी मालूम पडता है कि उनके समय के कोई-कोई विचारक विद्वान् मनुष्यगति मे माने गये उच्च और नीच उभयगोत्र कर्मो के उदय के सम्बन्ध मे निर्णयात्मक समाधान न मिल सकने के कारण उच्च और नीच दोनो भेद-विशिष्ट व समूचे गोत्र-कर्म के अभाव तक को मानने के लिये उद्यत हो रहे थे आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी का वह व्याख्यान निम्न प्रकार है

"उच्चैर्गोत्रस्य क्व व्यापार ? न तावद् राज्यादिलक्षणाया सम्पदि, तस्या. सद्वेद्यत समुत्पत्ते नापि पचमहाव्रतग्रहण-योग्यता उच्चैर्गोत्रेण क्रियते, देवेष्वभव्येपु च तद्ग्रहण प्रत्ययोग्येपु उच्चैर्गोत्रस्योदयाभावप्रसगात् न सम्यग्ज्ञानोत्पत्तौ व्यापार स्यात्, तत्र सम्यग्ज्ञानस्य सत्त्वात् नादेयत्वे, यशसि, सौभाग्ये वा व्यापार, तेषा नामत समुत्पत्ते नेक्ष्वाकु-कुलाद्युत्पत्तौ, काल्पनिकाना तेषा परमार्थतोऽसत्त्वात् विड्ब्राह्मणसाधुष्वपि उच्चैर्गोत्रस्योदयदर्शनात् न सम्पन्नेभ्यो जीवोत्पत्तौ तद्व्यापार, म्लेच्छराजसमुत्पन्नपृथुकस्यापि उच्चैर्गोत्रोदयप्रसगात् नाणुव्रतिभ्य समुत्पत्तौ तद्व्यापार, देवेष्वौपपादिकेपु उच्चैर्गोत्रोदयस्यासत्वप्रसगात् नाभेयस्य नीचगोत्रतापत्तेश्च ततो निष्फलमुच्चैर्गोत्रम् तत एव न तस्य कर्मत्वमपि तदभावे न नीचैर्गोत्रमपि, द्वयोरन्योन्याविनाभावित्वात् ततो गोत्रकर्माभाव इति"

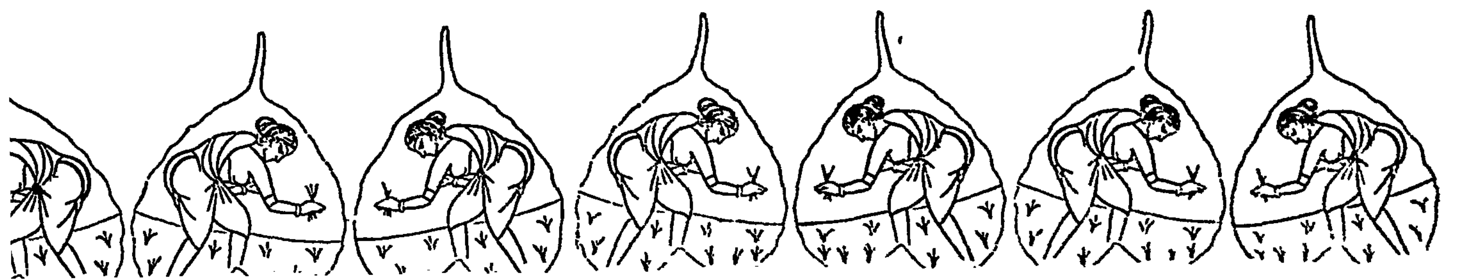
इस व्याख्यान मे प्रथम ही यह प्रश्न उठाया गया है कि जीवो मे उच्चगोत्र-कर्म का क्या कार्य होता है ? इसके आगे उच्चगोत्र कर्म के कार्य पर प्रकाश डालने वाली तत्कालीन प्रचलित मान्यताओ का निर्देश करते हुए उनका खण्डन किया गया है और इस तरह उक्त प्रश्न का उचित समाधान न मिल सकने के कारण अत मे निष्कर्ष के रूप मे गोत्र-कर्म के अभाव को प्रस्थापित किया गया है व्याख्यान का हिन्दी विवरण निम्न प्रकार है

"शंका— जीवो मे उच्चगोत्र-कर्म का किस रूप मे व्यापार हुआ करता है ? अर्थात् जीवो मे उच्चगोत्र-कर्म का कार्य क्या है ?

१ समाधान—जीवो मे उच्चगोत्र कर्म का कार्य उनको राज्यादि सम्पत्ति की प्राप्ति होना है

खण्डन— यह समाधान गलत है क्योकि जीवो को राज्यादि सपत्ति की प्राप्ति उच्चगोत्र कर्म के उदय से न होकर सातावेदनीय कर्म के उदय से ही हुआ करती है

२ समाधान—जीवो मे पच महाव्रतो के ग्रहण करने की योग्यता का प्रादुर्भाव होना ही उच्चगोत्र-कर्म का कार्य है



खण्डन— यदि जीवो मे उच्चगोत्र-कर्म के उदय से पचमहाव्रतो के ग्रहण करने की योग्यता का प्रादुर्भाव होता है तो ऐसी हालत मे देवो मे और अभव्य जीवो मे उच्चगोत्र-कर्म के उदय का अभाव स्वीकार करना होगा, जबकि उन दोनो प्रकार के जीवो मे, जैन सस्कृति की मान्यता के अनुसार, उच्चगोत्र-कर्म के उदय का तो सद्‌भाव और पचमहाव्रतो के ग्रहण करने की योग्यता का अभाव दोनो ही एक साथ पाये जाते है

३ समाधान—जीवो मे सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति उच्चगोत्र कर्म के उदय से हुआ करती है

४ खण्डन—यह समाधान भी सही नही है क्योकि जैन सस्कृति की मान्यता के अनुसार जीवो में सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति उच्चगोत्र कर्म का कार्य न होकर ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की सहायता से सापेक्ष सम्यग्दर्शन का ही कार्य है दूसरी बात यह है कि जीवो में सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति को यदि उच्चगोत्र कर्म का कार्य माना जायगा तो फिर तिर्यचो और नारकियो मे भी उच्चगोत्र कर्म के उदय का सद्‌भाव मानने के लिये हमे बाध्य होना पडेगा जो कि अयुक्त होगा, क्योकि जैन शास्त्रो की मान्यता के अनुसार जिन तिर्यंचो और जिन नारकियो मे सम्यग्ज्ञान का सद्‌भाव पाया जाता है उनमे उच्चगोत्र कर्म के उदय का अभाव ही रहा करता है

४ समाधान—जीवो मे आदेयता यश और सुभगता का प्रादुर्भाव होना ही उच्चगोत्र-कर्म का कार्य है

खण्डन— यह समाधान भी इसीलिए गलत है कि जीवो मे आदेयता, यश और सुभगता का प्रादुर्भाव उच्चगोत्र कर्म के उदय का कार्य न होकर क्रमश आदेय, यशः कीर्त्ति और सुभग सज्ञा वाले नाम कर्मो का ही कार्य है

५. समाधान—जीवो का इक्ष्वाकु कुल आदि क्षत्रिय कुलो मे जन्म लेना उच्चगोत्र-कर्म का कार्य है [1]

खण्डन— यह समाधान भी उल्लिखित प्रश्न का उत्तर नही हो सकता है क्योकि इक्ष्वाकु कुल आदि जितने क्षत्रिय कुलो को लोक मे मान्यता प्राप्त है वे सब काल्पनिक होने से एक तो अतद्रूप ही है. दूसरे यदि इन्हे वस्तुत सद्रूप ही माना जाय तो भी यह नही समझना चाहिए कि उच्चगोत्र-कर्म का उदय केवल इक्ष्वाकु कुल आदि क्षत्रिय कुलो मे ही पाया जाता है, कारण कि जैन सिद्धान्त की मान्यता के अनुसार उक्त क्षत्रिय कुलो के अतिरिक्त वैश्य कुलो और ब्राह्मण कुलो मे भी तथा उक्त सभी तरह के कुलो के वन्धन से मुक्त हुए साधुओ मे भी उच्चगोत्र कर्म का उदय पाया जाता है [2]

६. समाधान—सम्पन्न (धनाढच) लोगो से जीवो की उत्पत्ति होना ही उच्चगोत्र-कर्म का कार्य है.

खण्डन— यह समाधान भी सही नही है क्योकि सम्पन्न (धनाढच) लोगो से जीवो की उत्पत्तिको यदि उच्चगोत्र कर्म का कार्य माना जायगा तो ऐसी हालत मे म्लेच्छराज से उत्पन्न हुए बालक मे भी हमे उच्चगोत्र कर्म के उदय का सद्‌भाव स्वीकार करना होगा, कारण कि म्लेच्छराज की सपन्नता तो राजकुलका व्यक्ति होने के नाते निर्विवाद है परन्तु समस्या यह है कि जैन-सिद्धान्त मे म्लेच्छ जाति के सभी लोगो के नियम से नीचगोत्र-कर्म का ही उदय माना गया है

७ समाधान—अणुव्रतो को धारण करने वाले व्यक्तियो से जीवो की उत्पत्ति होना उच्चगोत्र-कर्म का कार्य है

---

१. 'नेन्नाकुकुलाद्युत्पत्तौ' का हिन्दी अर्थ षट्‌खण्डागम पुस्तक १३ मे 'इक्ष्वाकुकुल आदि की उत्पत्ति में इसका व्यापार नहीं होता' किया गया है जो गलत है इसका सही अर्थ 'इक्ष्वाकु कुल आदि क्षत्रिय कुलों में जीवों की उत्पत्ति होना इसका व्यापार नहीं है' होना चाहिए

२ यहां पर षट्‌खण्डागम पुस्तक १३ में 'विट्‌ब्राह्मण साधुष्वपि' वाक्य का हिन्दी अर्थ 'वैश्य और ब्राह्मण साधुओं में' किया गया है जो गलत है. इसका सही अर्थ 'वैश्यों, ब्राह्मणों और साधुओं में' होना चाहिए

खण्डन— यह समाधान भी निर्दोष नही है क्योकि अणुव्रतो को धारण करने वाले व्यक्ति से जीव की उत्पत्ति को यदि उच्चगोत्र-कर्म का कार्य माना जायगा तो ऐसी हालत मे देवो मे पुन उच्चगोत्र-कर्म के उदय का अभाव प्रसक्त हो जायगा जो कि अयुक्त होगा देवो मे एक ओर तो उच्चगोत्र-कर्म का उदय जैन-धर्म मे स्वीकार किया गया है तथा दूसरी ओर देवगति मे अणुव्रतो के धारण करने की असभवता के साथ-साथ मात्र उपपादशय्या पर ही देवो की उत्पत्ति स्वीकार की गई है जीवो की अणुव्रतियो से उत्पत्ति होना उच्चगोत्र कर्म का कार्य मानने पर दूसरी आपत्ति यह उपस्थित होती है कि इस तरह से तो नाभिराज के पुत्र भगवान् ऋषभदेव को भी नीचगोत्री स्वीकार करना होगा क्योकि नाभिराज के समय मे अणुव्रत आदि धार्मिक प्रवृत्तियो का मार्ग खुला हुआ नही होने से जैन-सस्कृति मे उन्हे अणुव्रती नही माना गया है

इस प्रकार उच्चगोत्र-कर्म के कार्य पर प्रकाश डालने वाले उल्लिखित सातो समाधानो मे से जब कोई भी समाधान निर्दोष नही है तो इनके आधार पर उच्चगोत्र-कर्म को सफल नही कहा जा सकता है और इस तरह निष्फल हो जाने पर उच्चगोत्र-कर्म को कर्मो के वर्ग मे स्थान देना ही अयुक्त हो जाता है जिससे इसका (उच्चगोत्र-कर्म का) अभाव सिद्ध हो जाता है तथा उच्चगोत्र-कर्म के अभाव मे फिर नीचगोत्र-कर्म का भी अभाव निश्चित हो जाता है, कारण कि उच्च और नीच दोनो ही गोत्र-कर्म परस्पर एक-दूसरे से सापेक्ष होकर ही अपनी सत्ता कायम रक्खे हुए है इस प्रकार अतिम निष्कर्ष के रूप मे सपूर्ण गोत्र-कर्म का अभाव सिद्ध होता है

उक्त व्याख्यान पर बारीकी से ध्यान देने पर इतनी बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी के समय के विद्वान् एक तो जैन-सिद्धान्त द्वारा मान्य नारकियो और तिर्यंचो मे नीचता की व्यवस्था को तथा देवो मे उच्चता की व्यवस्था को निर्विवाद ही मानते थे लेकिन दूसरी तरफ मनुष्यो मे जैन शास्त्रो द्वारा स्वीकृत उच्चता तथा नीचता सबधी उभय रूप व्यवस्था को वे शकास्पद स्वीकार करते थे नारकियो और तिर्यंचो मे नीचता की व्यवस्था को और देवो मे उच्चता की व्यवस्था को निर्विवाद मानने का कारण यह जान पडता है कि सभी नारकियो और सभी तिर्यंचो मे सर्वदा नीचगोत्र-कर्म का तथा सभी देवो मे सर्वदा उच्चगोत्र-कर्म का उदय ही जैन आगमो द्वारा प्रतिपादित किया गया है और मनुष्यो मे उच्चता तथा नीचता उभय रूप व्यवस्था को शकास्पद मानने का कारण यह जान पडता है कि चूकि मनुष्यो मे नीचगोत्र-कर्म तथा उच्चगोत्र-कर्म का उदय छद्मस्थो (अल्पज्ञो) के लिये अज्ञात ही रहा करता हे अत उनमे नीचगोत्र-कर्म के उदय के आधार पर नीचता का और उच्चगोत्र-कर्म के उदय के आधार पर उच्चता का व्यवहार करना हम लोगो के लिये शक्य नही रह जाता है

यद्यपि धवलाशास्त्र की पुस्तक १५ के पृष्ठ १५२ पर तिर्यंचो मे भी उच्चगोत्र-कर्म की उदीरणा का कथन किया गया है इसलिए मनुष्यो की तरह तिर्यंचो मे भी उच्चता तथा नीचता की दोनो व्यवस्थाये शकास्पद हो जाती है परन्तु वही पर यह बात भी स्पष्ट कर दी गई है कि तिर्यंचो मे उच्चगोत्र-कर्म की उदीरणा का सद्भाव मानने का आधार केवल उनके (तिर्यंचो के) द्वारा सयमासयम का परिपालन करना ही है वह कथन निम्न प्रकार है

'तिरिक्खेसु णीचागोदस्स चेव उदीरणा होदि त्ति सव्वत्थ परूविदं, एत्थ पुण उच्चागोदस्स वि उदीरणा परूविदा तेणं पुण पुव्वावरविरोहो त्ति भणिदे, ण, तिरिक्खेसु संजमासंजमपरिवालयतेसु उच्चागोत्तुवलंभादो उच्चागोदे देससयलसंजमणिबंधणे संते मिच्छाइट्ठीसु तदभावो त्ति णासंकणिज्जं, तत्थवि उच्चागोदजणिदसंजमजोगतावेक्खाए उच्चागोदत्तं पडि विरोहाभावादो'

यह व्याख्यान शका और समाधान के रूप मे है इसमे निर्दिष्ट जो शका है वह इसलिए उत्पन्न हुई है कि इस प्रकरण मे इस व्याख्यान के पूर्व ही तिर्यग्गति मे भी उच्चगोत्र-कर्म की उदीरणा का प्रतिपादन किया गया है[१] व्याख्यान का हिन्दी अर्थ निम्न प्रकार है—

---

१. तिरिक्ख गईए 'उच्चागोदस्स जहण्णट्ठिदि उदीरणा सखेज्जगुणा, जट्ठिदि० विसेसाहिया (धवला पुस्तक १५ पृष्ठ १५०)

शंका— तिर्यंचो मे नीचगोत्र-कर्म की उदीरणा होती है यह बात तो आगम मे सर्वत्र प्रतिपादित की गई है लेकिन इस प्रकरण मे उनके उच्चगोत्र-कर्म की उदीरणा का भी प्रतिपादन किया गया है इसलिए आगम में पूर्वापर-विरोध उपस्थित होता है

समाधान— यह शका ठीक नही, क्योकि सयमासयम का पालन करने वाले तिर्यंचो में ही उच्चगोत्र की उपलब्धि होती है

शंका— यदि जीवो में देशसयम और सकलसयम के आधार पर उच्चगोत्र का सद्‌भाव माना जाय तो इस तरह मिथ्यादृष्टियो मे उच्चगोत्र का अभाव मानना होगा जब कि जैन सिद्धान्त की मान्यता के अनुसार उनमे उच्चगोत्र का भी सद्‌भाव पाया जाता है.

समाधान— यह शका ठीक नही, क्योकि मिथ्यादृष्टियो मे देशसयम और सकलसयम की योग्यता का पाया जाना तो सम्भव है ही इसीलिए उनकी उच्चगोत्रता के प्रति आगम का विरोध नही रह जाता है

यद्यपि धवला के उक्त शका समाधान से तिर्यग्गति मे उच्चगोत्र की उदीरणा सम्बन्धी प्रश्न तो समाप्त हो जाता है परन्तु इससे एक तो देशसयम और सकलसयम को उच्चगोत्र-कर्म के उदय के सद्‌भाव मे कारण मानने से पचम गुणस्थान मे जैन-दर्शन के कर्म-सिद्धान्त के अनुसार प्रतिपादित नीचगोत्र कर्म के उदय का सद्‌भाव मानना असगत होगा और दूसरे मनुष्यगति की तरह तिर्यग्गति मे भी देशसयम धारण करने की योग्यता का परिज्ञान अल्पज्ञो के लिये असम्भव रहने के कारण उच्चगोत्र-कर्म और नीचगोत्र-कर्म के उदय की व्यवस्था करना मनुष्यगति की तरह जटिल ही होगा.

उक्त दोनो ही प्रश्न इतने महत्त्व के है कि जब तक इनका समाधान नही होता तब तक तिर्यग्गति मे भी उच्चगोत्र और नीचगोत्र की व्यवस्था सम्बन्धी समस्या का हल होना असभव ही प्रतीत होता है विद्वानो को इन पर अपना दृष्टिकोण प्रगट करना चाहिए. हमारा दृष्टिकोण निम्न प्रकार है :

प्रथम प्रश्न के विषय मे हम ऐसा सोचते है कि आगम द्वारा तिर्यग्गति मे उच्चनोत्र-कर्म की उदीरणा का जो प्रतिपादन किया गया है उसे एक अपवाद सिद्धान्त स्वीकार कर, यही मानना चाहिए कि ऐसा कोई तिर्यञ्च—जो देशसयम धारण करने की किसी विशेष योग्यता से प्रभावित हो—उसी के उक्त आगम के आधार पर उच्चगोत्र-कर्म का उदय रह सकता है इस तरह सामान्य रूप से देशसयम को धारण करने वाला तिर्यच नीचगोत्री ही हुआ करता है.

दूसरे प्रश्न के विषय मे हमारा यह कहना है कि नरकगति, तिर्यग्गति और देवगति के जीवो की जीवनवृत्तियो मे समान रूप से प्राकृतिकता को स्थान प्राप्त है, इसलिए तिर्यंचो मे उच्चता और नीचताजन्य भेद का सद्‌भाव रहते हुए भी जीवनवृत्तियो की उस प्राकृतिकता के कारण नारकियो और देवो के समान ही सभी तिर्यंचो मे परस्पर जीवनवृत्तिजन्य ऐसी विषमता का पाया जाना सम्भव नही है जिसके आधार पर उनमें यथायोग्य दोनो गोत्रो के उदय की व्यवस्था स्वीकार करने से व्यावहारिक गडबडी पैदा होने की सभावना हो केवल मानव-जीवन ही ऐसा जीवन है जहा जीवनवृत्ति के लिये अनिवार्य सामाजिक व्यवस्था की स्वीकृति के आधार पर गोत्र कर्म के उच्च तथा नीच रूप उदयभेद का व्यावहारिक उपयोग होता है तात्पर्य यह है कि नरकगति, तिर्यग्गति और देवगति के जीवो की जीवनवृत्तियो मे प्राकृतिकता को जैसा स्थान प्राप्त है वैसा स्थान मनुष्यो की जीवनवृत्तियो मे प्राकृतिकता को प्राप्त नही है यही कारण है कि मनुष्य को सामान्य रूप से कौटम्बिक सगठन, ग्राम्य सगठन, राष्ट्रीय सगठन और यहा तक कि मानव सगठन आदि के रूप मे सामाजिक व्यवस्थाओ के अधीन रह कर ही पुरुषार्थ द्वारा अपनी जीवनवृत्ति का सचालन करना पडता है परन्तु यह सब तिर्यंचो के लिये आवश्यक नही है

यद्यपि हम मानते है कि भोगभूमिगत मनुष्यो की जीवनवृत्तियो मे प्राकृतिकता के ही दर्शन होते हैं और यही कारण है कि उन मनुष्यो मे सामाजिक व्यवस्थाओ का सर्वथा अभाव पाया जाता है. अलावा इसके, उनमे केवल उच्चगोत्र

कर्म का ही उदय सर्वदा विद्यमान रहता है इसलिए उनके जीवन मे व्यावहारिक विषमता को स्थान प्राप्त नही होता हैं लेकिन कर्मभूमिगत मनुष्यो की जीवनवृत्तियो मे जो अप्राकृतिकता स्वभावत पायी जाती है उसके कारण उनको अपनी जीवनवृत्ति की सम्पन्नता के लिये उक्त सामाजिक व्यवस्थाओ की अधीनता मे पुरुषार्थ का उपयोग करना पडता है और ऐसा देखा जाता है कि उनके द्वारा अपनी जीवनवृत्ति के सचालन के लिये अपनाये गये भिन्न-भिन्न प्रकार के पुरुषार्थों मे उच्चता और नीचता का वैषम्य स्वभावतः हो जाता है जिसके कारण उनकी जीवन-वृत्तिया भी उच्च और नीच के भेद से दो वर्गो में विभाजित हो जाती है यद्यपि कर्मभूमिगत मनुष्यो मे जीवनवृत्तियो की बहुत-सी विविधतायें पायी जाती है और जीवनवृत्तयो की इन्ही विविधताओ के आधार पर ही उनमे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णो की तथा इन्ही वर्णो के अन्तर्गत जीवनवृत्तियो के आधार पर ही यथायोग्य लुहार, चमार आदि विविध जातियो की स्थापना को जैन सस्कृति मे स्वीकार किया गया है परन्तु जीवनवृत्तियो के आधार पर स्थापित सभी वर्णो और उनके अन्तर्गत पायी जाने वाली उक्त प्रकार की सभी जातियो को भी जीवन-वृत्तियो मे पायी जाने वाली उच्चता और नीचता के अनुसार ही उच्च और नीच दो वर्गो मे सग्रहीत कर दिया गया है इस प्रकार उच्च और नीच दोनो प्रकार की जीवनवृत्तियो को ही क्रमश उच्चगोत्र कर्म और नीचगोत्र कर्म के उदय का जैन सस्कृति मे मापदण्ड स्वीकार किया गया है

जीवो मे उच्चगोत्र कर्म का किस रूप मे व्यापार होता है ? अथवा जीवो मे उच्चगोत्र कर्म का क्या कार्य होता है ? इस प्रश्न का जो समाधान आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी ने स्वय किया है और जिसे इन्होने स्वय ही निर्दोप माना है उसमे मनुष्यो की इसी पुरुषार्थप्रधान जीवनवृत्ति को आधार प्ररूपित किया है आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी का वह समाधानरूप व्याख्यान निम्न प्रकार है

'न, जिनवचनस्यासत्यत्वप्रसंगात् तद्विरोधोऽपि तत्र तत्कारणाभावतोऽवगम्यते न च केवलज्ञानविषयीकृतेष्वर्थेपु सकलेष्वपि रजोजुषां ज्ञानानि प्रवर्तन्ते येनानुपलम्भाज्जिनवचनस्याप्रमाणत्वमुच्येत न च निष्फलमुच्चैर्गोत्रम्, दीक्षायोग्यसाध्वाचाराणां साध्वाचारैः कृतसबन्धानां आर्यप्रत्ययाभिधानव्यवहारनिबन्धनानां पुरुषाणां संतान. उच्चैर्गोत्रम् तत्रोत्पत्तिहेतुः कर्माप्युच्चैर्गोत्रम् न चात्र पूर्वोक्तदोषाः संभवन्ति, विरोधात् तद्विपरीतं नीचैर्गोत्रम् एवं गोत्रस्य द्वे एव प्रकृती भवत ''

पहले जो समूचे गोत्रकर्म के अभाव की आशका इस लेख मे उद्धृत धवलाशास्त्र की पुस्तक १३ के पृष्ठ २८८ के व्याख्यान मे प्रगट कर आये हैं, उसी का समाधान करते हुए आगे वही पर ऊपर लिखा व्याख्यान आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी ने किया है उसका हिन्दी अर्थ निम्न प्रकार है

"गोत्रकर्म के अभाव की आशका करना ठीक नही है क्योकि जिनेन्द्र भगवान् ने स्वय ही गोत्रकर्म के अस्तित्व का प्रतिपादन किया है और यह बात निश्चित है कि जिनेन्द्र भगवान् के वचन कभी असत्य नही होते है असत्यता का जिनेन्द्र भगवान् के वचन के साथ विरोध है अर्थात् वचन एक ओर तो जिनेन्द्र भगवान् के हो और दूसरी ओर वे असत्य भी हो—यह बात कभी सभव नही है ऐसा इसलिए मानना पडता है कि जिन भगवान् के वचनो को असत्य मानने का कोई कारण ही दृष्टिगोचर नही होता है

जिन भगवान् ने यद्यपि गोत्रकर्म के सद्भाव का प्रतिपादन किया है किन्तु हमे उसकी (गोत्रकर्म की) उपलब्धि नही होती है, इसलिए जिन-वचन को असत्य माना जा सकता है, पर ऐसा मानना ठीक नही हैं, क्योकि केवलज्ञान के विषयभूत सम्पूर्ण पदार्थो मे हम अल्पज्ञो के ज्ञान की प्रवृत्ति ही नही होती

इस प्रकार उच्चगोत्र-कर्म को निष्फल मानना भी ठीक नही है क्योकि जो पुरुष स्वय तो दीक्षा के योग्य साधु आचार वाले है ही तथा इस प्रकार के साधु आचार वाले पुरुषो के साथ जिन का सम्बन्ध स्थापित हो चुका है उनमे 'आर्य' इस प्रकार के प्रत्यय और 'आर्य' इस प्रकार के शब्द-व्यवहार की प्रवृत्ति के भी जो योग्य है, उन पुरुषो के सतान[1] अर्थात् कुल

---

१ सततिर्गोत्र जननकुलान्यभिजना न्वयौ वशोऽन्वाय सतान —अमर कोप ब्रह्म वर्ग



की जैन सस्कृति मे उच्चगोत्र सज्ञा स्वीकार की गयी है[1] तथा ऐसे कुलो मे जीव के उत्पन्न होने के कारणभूत कर्म को भी जैन सस्कृति मे उच्चगोत्र-कर्म के नाम से पुकारा गया है

इस समाधान मे पूर्व प्रदर्शित दोषो मे से कोई भी दोष सम्भव नही है क्योकि इसके साथ उन सभी दोषो का विरोध है इसी उच्चगोत्र कर्म के ठीक विपरीत ही नीचगोत्र-कर्म है इस प्रकार गोत्रकर्म की उच्च और नीच ऐसी दो ही प्रकृतियाँ है

आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी ने जीवो मे उच्चगोत्र-कर्म का किस रूप मे व्यापार होता है, इस प्रश्न का समाधान करने के लिये जो ढग अपनाया है उसका उद्देश्य उन सभी दोषो का परिहार करना है, जिनका निर्देश ऊपर उद्धृत पूर्व पक्ष के व्याख्यान मे आचार्य महाराज ने स्वय किया है वे इस समाधान मे यही बतलाते है कि दीक्षा के योग्य साधु-आचार वाले पुरुषो का कुल ही उच्चगोत्र या उच्चकुल कहलाता है और ऐसे गोत्र या कुल मे जीव की उत्पत्ति होना ही उच्च-गोत्रकर्म का कार्य है इस प्रकार मनुष्य-गति मे दीक्षा के योग्य साधु-आचार के आधार पर ही जैन सस्कृति द्वारा उच्च-गोत्र या उच्चकुल की स्थापना की गयी है इससे निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्यगति मे तो जिन कुलो का दीक्षा के योग्य साधुआचार न हो वे कुल नीच-गोत्र या नीच कुल कहे जाने योग्य है 'गोत्र' शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ गोत्र शब्द के निम्न-लिखित विग्रह के आधार पर होता है

"गूयते-शब्द्यते अर्थात् जीवस्य उच्चता वा नीचता वा लोके व्यवह्रियते अनेन इति गोत्रम् !"

इसका अर्थ यह है कि जिसके आधार पर जीवो का उच्चता अथवा नीचता का लोक मे व्यवहार किया जाय वह गोत्र कहलाता है इस प्रकार जैन सस्कृति के अनुसार मनुष्यो की उच्च और नीच जीवनवृत्तियो के आधार पर निश्चिय किये गए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र ये चार वर्ण तथा लुहार, चमार आदि जातियाँ—ये सब गोत्र, कुल आदि नामो से पुकारने योग्य है. इन सभी गोत्रो या कुलो मे से जिन कुलो मे पायी जाने वाली मनुष्यो की जीवनवृत्ति को लोक मे उच्च माना जाए वे उच्चगोत्र या उच्च कुल तथा जिन कुलो मे पायी जाने वाली मनुष्यो की जीवनवृत्ति को लोक में नीच माना जाए वे नीचगोत्र या नीच कुल कहे जाने योग्य है इस तरह उच्चगोत्र या कुल मे जन्म लेने वाले मनुष्यो को उच्च तथा नीच या कुल मे जन्म लेने वाले मनुष्यो को नीच कहना चाहिए आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी के उल्लिखित व्याख्यान से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि उच्चगोत्र मे पैदा होने वाले मनुष्यो के नियम से उच्चगोत्र-कर्म का तथा नीच गोत्र मे पैदा होने वाले मनुष्यो के नियम से नीचगोत्र-कर्म का ही उदय विद्यमान रहा करता है अर्थात् बिना नीचगोत्र-कर्म के उदय के कोई भी जीव उच्च कुल मे और बिना नीचगोत्र-कर्म के उदय के कोई भी जीव नीच कुल मे उत्पन्न नही हो सकता है तत्त्वार्थसूत्र की टीका सर्वार्थसिद्धि मे तत्त्वार्थसूत्र के आठवे अध्यायके 'उच्चैर्नीचैश्च'. (सूत्र १२) सूत्र की टीका करते हुए आचार्य श्रीपूज्यपाद ने भी यही प्रतिपादन किया है कि

"यस्योदयाल्लोकपूजितेषु कुलेषु जन्म तदुच्चैर्गोत्रम् । यदुदयाद् गर्हितेषु कुलेषु जन्म तन्नीचैर्गोत्रम् ।"

अर्थात् जिस गोत्र-कर्म के उदय से जीवो का लोकपूजित (उच्च) कुलो मे जन्म होता है उस गोत्र कर्म का नाम उच्च-गोत्र कर्म है और जिस गोत्र कर्म के उदय से जीवो का लोकगर्हित (नीच) कुलो मे जन्म होता है उस गोत्र कर्म का नाम नीचगोत्र कर्म है

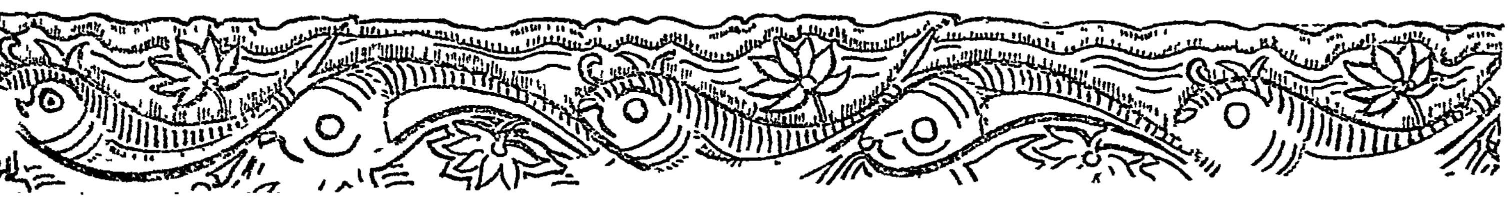
जैन सस्कृति के आचारशास्त्र (चरणानुयोग) और करणानुयोग से यह सिद्ध होता है कि सभी देव उच्चगोत्री और सभी नारकी और सभी तिर्यंच नीचगोत्री ही होते है परन्तु ऊपर जो उच्चगोत्र-कर्म की उदीरणा करने वाले तिर्यंचो का कथन किया गया है उन्हे इस नियम का अपवाद समझना चहिए मनुष्यो मे भी केवल आर्यखण्ड में बसने वाले कर्मभूमिज

---

१. 'दीक्षायोग्यसाध्वाचाराणा ' आदि वाक्य का जो हिन्दी अर्थ षट्खण्डागम पुस्तक १३ में किया गया है, वह गलत है. हमने जो यहा अर्थ किया है उसे सही समझना चाहिए

मनुष्य ही ऐसे है जिनमे उच्चगोत्री तथा नीचगोत्री दोनो प्रकार के वर्गो का सद्भाव पाया जाता है अर्थात् उक्त कर्म-भूमिज मनुष्यो मे से चातुर्वण्य व्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णो और इन वर्णो के अन्तर्गत जातियो के सभी मनुष्य उच्चगोत्री ही होते हैं इनसे अतिरिक्त जितने शूद्र वर्ण और इस वर्ण के अन्तर्गत जातियो के मनुष्य पाये जाते हैं वे सब तथा चातुर्वण्य व्यवस्था से बाह्य जो शक, यवन, पुलिन्दादिक हैं, वे सब नीचगोत्री ही माने गये है आर्यखण्ड मे बसने वाले इन कर्मभूमिज मनुष्यो को छोड़ कर शेष जितने भी मनुष्य लोक मे बतलाये गये है उनमे से भोगभूमि के सभी मनुष्य उच्चगोत्र तथा पाँचो म्लेच्छखण्डो मे बसने वाले मनुष्य और अन्तर्द्वीपज मनुष्य नीचगोत्री ही हुआ करते है आर्यखण्ड मे बसने वाले शक, यवन, पुलिन्दादिक को तथा पाचो म्लेच्छखण्डो मे और अन्तर्द्वीपो मे बसने वाले मनुष्यो को जैन सस्कृति मे म्लेच्छ सज्ञा दी गयी है और यह बतलाया गया है कि ऐसे म्लेच्छो को भी उच्च-गोत्री समझना चाहिए जिनका दीक्षा के योग्य साधु आचार वालो के साथ सम्बन्ध स्थापित हो चुका हो और इस तरह जिनमे 'आर्य' ऐसा प्रत्यय तथा 'आर्य' ऐसा शब्द व्यवहार भी होने लगा हो. इससे जैन सस्कृति मे मान्य गोत्रपरिवर्तन के सिद्धान्त की पुष्टि होती है गोत्रपरिवर्तन के सिद्धान्त को पुष्ट करने वाले बहुत से लौकिक उदाहरण आज भी प्राप्त है, जैसे—यह इतिहासप्रसिद्ध है कि जो अग्रवाल आदि जातिया पहले किसी समय मे क्षत्रिय वर्ण मे थी वे आज पूर्णत वैश्य वर्ण मे समा चुकी है जैन पुराणो मे अनुलोम और प्रतिलोम विवाहो का उल्लेख है वे उल्लेख स्त्रियो के गोत्र-परिवर्तन की सूचना देते है आज भी देखा जाता है कि विवाह के अनन्तर कन्या पितृपक्ष के गोत्र की न रह कर पति-पक्ष के गोत्र की हो जाती है इस सपूर्ण कथन का अभिप्राय यह है कि यदि परिवर्तित गोत्र उच्च होता है तो नीचगोत्र की बन जाती है और यदि परिवर्तित गोत्र नीच होता है तो उच्चगोत्र मे उत्पन्न हुई नारी भी नीचगोत्र की बन जाती है और परिवर्तित गोत्र के अनुसार ही नारी के यथायोग्य नीचगोत्र कर्म का उदय न रह कर उच्चगोत्र कर्म का उदय तथा उच्चगोत्र का उदय समाप्त होकर नीचगोत्र कर्म का उदय आरम्भ हो जाता है इसी प्रकार मनुष्यो मे जीवनवृत्ति का परिवर्तन न होने पर भी गोत्र परिवर्तन हो जाता है जैसा कि अग्रवाल आदि जातियो का उदाहरण ऊपर दिया गया है

पहले कहा चुका है कि आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी ने 'उच्चगोत्र कर्म का जीवो मे किस रूप मे व्यापार होता है' इस प्रश्न का समाधान करने के लिये जो ढग बनाया है उसका उद्देश्य उन सभी दोषो का परिहार करना है जिनका निर्देश पूर्व पक्ष के व्याख्यान मे किया गया है इससे हमारा अभिप्राय यह है कि आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी ने उच्चगोत्र का निर्धा-रण करके उसमे जीवो की उत्पत्ति के कारणभूत कर्म को उच्चगोत्र-कर्म नाम दिया है उन्होने बतलाया है कि दीक्षा के योग्य साधु आचार वाले पुरुषो का कुल ही उच्चगोत्र कहलाता है और ऐसे कुल मे जीव की उत्पत्ति होना ही उच्च-गोत्र-कर्म का कार्य है इसमे पूर्वोक्त दोषो का अभाव स्पष्ट है क्योकि इससे जैन सस्कृति द्वारा देवो मे स्वीकृत उच्चगोत्र कर्म के उदय का और नारकियो तथा तिर्यंचो मे स्वीकृत नीचगोत्र-कर्म के उदय का व्याघात नही होता है. क्योकि इसमे उच्चगोत्र का जो लक्षण बतलाया गया है वह मात्र मनुष्यगति से ही सबन्ध रखता है और इसका भी कारण यह है कि उच्चगोत्र-कर्म के कार्य का यदि विवाद है तो वह केवल मनुष्यगति मे ही सभव है दूसरी गतियो मे याने देव, नरक और तिर्यक् नाम की गतियो मे, कहाँ किस गोत्र-कर्म का, किस आधार से उदय पाया जाता है, यह बात निर्विवाद है इस समाधान से अभव्य मनुष्यो के भी उच्चगोत्र कर्म के उदय का अभाव प्रसक्त नही होता है क्योकि अभव्यो को उच्च माने जाने वाले कुलो मे जन्म लेने का प्रतिबन्ध इससे नही होता है म्लेच्छखण्डो मे बसने वाले मनुष्यो के नीच-गोत्र-कर्म के उदय की ही सिद्धि इस समाधान से होती है क्योकि म्लेच्छखण्डो मे जैन सस्कृति की मान्यता के अनुसार धर्म-कर्म की प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव विद्यमान रहने के कारण दीक्षा के योग्य साधु आचार वाले उच्च कुलो का सद्भाव नही पाया जाता है इसी आधार पर अन्तर्द्वीपज और कर्मभूमिज म्लेच्छ के भी केवल नीचगोत्र-कर्म के उदय की ही सिद्धि होती है आर्यखण्ड के ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सज्ञा वाले कुलो मे जन्म लेने वाले मनुष्यो के इस समाधान से केवल उच्चगोत्र कर्म के उदय की ही सिद्धि होती है क्योकि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सज्ञा वाले सभी कुल दीक्षा योग्य साधु आचार वाले उच्चकुल ही माने गये है. साधुवर्ग मे उच्च-गोत्र कर्म के उदय का व्याघात भी



इस समाधान से नही होता है क्योकि जहाँ दीक्षायोग्य साधु आचार वाले कुलो तक को उच्चता प्राप्त है वहाँ जब मनुष्य, कुलव्यवस्था से भी ऊपर उठकर अपना जीवन आदर्शमय बना लेता है तो उसमे केवल उच्चगोत्र-कर्म के उदय का रहना ही स्वाभाविक है शूद्रो मे इस समाधान से नीचगोत्र-कर्म के उदय की ही सिद्धि होती है क्योकि उनके कौलिक आचार को जैन सस्कृति मे दीक्षायोग्य साधु आचार नही माना गया है यही कारण है कि पूर्व मे उद्धृत धवलाशास्त्र की पुस्तक १३ के पृष्ठ ३८८ के 'विड्ब्राह्मणसाधुष्वपि उच्चैर्गोत्रस्यादयदर्शनात्' वाक्य में वैश्यो, ब्राह्मणो और साधुओ के साथ शूद्रो का उल्लेख आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी ने नही किया है यदि आचार्यश्री को शूद्रो के भी वैश्य, ब्राह्मण और साधु पुरुषो की तरह उच्चगोत्र के उदय का सद्भाव स्वीकार होता तो शूद्र शब्द का भी उल्लेख उक्त वाक्य में करने से वे नही चूक सकते थे उक्त वाक्य मे क्षत्रिय शब्द का उल्लेख न करने का कारण यह है कि उक्त वाक्य उन लोगो की मान्यता के खण्डन मे प्रयुक्त किया गया है जो लोग उच्चगोत्र कर्म का उदय केवल क्षत्रिय कुलो मे मानना चाहते थे.

यदि कोई यहा यह शका उपस्थित करे कि भोगभूमि के मनुष्यो में भी तो जैन सस्कृति द्वारा केवल उच्चगोत्र-कर्म का ही उदय स्वीकार किया गया है लेकिन उपर्युक्त उच्चगोत्र का लक्षण तो उनमे घटित नही होता है, क्योकि भोगभूमि मे साधुमार्ग का अभाव ही पाया जाता है, अत वहाँ के मनुष्य-कुलो को दीक्षा-योग्य साधु-आचार वाले कुल कैसे माना जा सकता है ? तो इस शका का समाधान यह है कि भोगभूमि के मनुष्य उच्चगोत्री ही होते है, यह बात हम पहले ही बतला आये है जैन-सस्कृति की भी यही मान्यता है इसलिये वहाँ मनुष्यो की उच्चता और नीचता का विवाद नही होने के कारण केवल कर्मभूमि के मनुष्यो को लक्ष्य मे रखकर ही उच्चगोत्र का उपर्युक्त लक्षण निर्धारित किया गया है

इस प्रकार षट्खण्डागम की धवला टीका के आधार पर तथा सर्वार्थसिद्धि आदि महान् ग्रन्थो के आधार पर यह सिद्धान्त स्थिर हो जाता है कि उच्च गोत्रीमनुष्य के उच्चगोत्र-कर्म का और नीचगोत्री मनुष्यो के नीचगोत्र-कर्म का ही उदय रहा करता है लेकिन जो उच्चगोत्री मनुष्य कदाचित् नीचगोत्री हो जाता है अथवा जो नीचगोत्री मनुष्य कदाचित् उच्चगोत्री हो जाता है, उसके यथायोग्य पूर्वगोत्र कर्म का उदय समाप्त होकर दूसरे गोत्रकर्म का उदय हो जाया करता है

षट्खण्डागम की धवला टीका के आधार पर दूसरा सिद्धान्त यह स्थिर होता है कि दीक्षा के योग्य साधु आचार वाले जो कुल होते हैं याने जिन कुलो का निर्माण दीक्षा के योग्य साधु-आचार के आधार पर हुआ हो वे कुल ही उच्चकुल या उच्चगोत्र कहलाते है इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि कौलिक आचार के आधार पर ही एक मनुष्य उच्चगोत्री और दूसरा मनुष्य नीचगोत्री समझा जाना चाहिए गोम्मटसार कर्मकाण्ड मे तो स्पष्ट रूप से उच्चाचरण के आधार पर एक मनुष्य को उच्चगोत्री और नीचाचरण के आधार पर दूसरे मनुष्य को नीचगोत्री प्रतिपादित किया है गोम्मटसार कर्मकाण्ड का वह कथन निम्न प्रकार है

'संताणकमेणागयजीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा ।
उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं । १३ ।

जीव का सतानक्रम से अर्थात् कुलपरम्परा से आया हुआ जो आचरण है उसी नाम का गोत्र समझना चाहिए वह आचरण यदि उच्च हो तो गोत्र को भी उच्च ही समझना चाहिए और यदि वह आचरण नीच हो तो गोत्र को भी नीच ही समझना चाहिए

गोम्मटसार कर्मकाण्ड की उल्लिखित गाथा का अभिप्राय यही है कि उच्च और नीच दोनो ही कुलो का निर्माण कुलगत उच्च और नीच आचरण के आधार पर ही हुआ करता है यह कुलगत आचरण उस उस कुल की निश्चित जीवनवृत्ति के अलावा और क्या हो सकता है ? इसलिये कुलाचरण से तात्पर्य उस उस कुल की निर्धारित जीवनवृत्ति का ही लेना चाहिये. कारण कि धर्माचरण और अधर्माचरण को इसलिए उच्च और नीच गोत्रो का नियामक नही माना जा सकता है कि धर्माचरण करता हुआ भी जीव जैन-संस्कृति की मान्यता के अनुसार नीचगोत्री हो सकता है. इस प्रकार

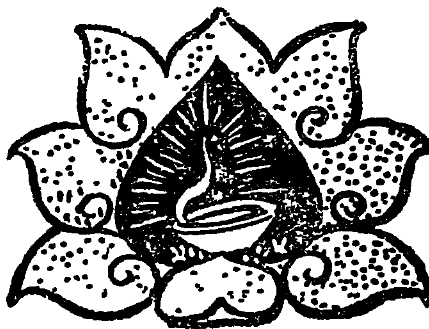


कर्मभूमि के मनुष्यो मे ब्राह्मणवृत्ति, क्षात्रवृत्ति और वैश्यवृत्ति को जैन-सस्कृति की मान्यता के अनुसार उच्चगोत्र की नियामक और शौद्रवृत्ति तथा म्लेच्छवृत्ति को नीचगोत्र की नियामक समझना चाहिए.

एक वात और है कि वृत्तियो के सात्विक, राजस और तामस ये तीन भेद मानकर ब्राह्मणवृत्ति को सात्विक, क्षात्रवृत्ति और वैश्यवृत्ति को राजस तथा शौद्रवृत्ति और म्लेच्छवृत्ति को तामस कहना भी अयुक्त नही है जिस वृत्ति मे उदात्त गुण की प्रधानता हो वह सात्विकवृत्ति, जिस वृत्ति मे शौर्यगुण अथवा प्रामाणिक व्यवहार की प्रधानता हो वह राजस-वृत्ति और जिस वृत्ति मे हीनभाव अर्थात् दीनता या क्रूरता की प्रधानता हो वह तामसवृत्ति जानना चाहिए इस प्रकार ब्राह्मण वृत्ति मे सात्विकता, क्षात्रवृत्ति मे शौर्य, वैश्यवृत्ति मे प्रामाणिकता, शौद्रवृत्ति मे दीनता और म्लेच्छवृत्ति मे क्रूरता का ही प्रधानतया समावेश पाया जाता है इन तीन प्रकार की वृत्तियो मे से सात्विक वृत्ति और राजसवृत्ति दोनो ही उच्चता की तथा तामसवृत्ति नीचता की निशानी समझना चाहिए

इस लेख मे हमने मनुष्यो की उच्चता और नीचता के विषय मे जो विचार प्रगट किये हैं उनका आधार यद्यपि आगम है फिर भी यह विषय इतना विवादग्रस्त है कि सहसा समझ मे आना कठिन है अत विद्वानो से हमारा अनुरोध है कि वे भी इस विषय का चिन्तन करे और अपनी विचारधारा के निष्कर्ष को व्यक्त करें.

यद्यपि इस विषय पर कर्मसिद्धान्त की दृष्टि से भी विचार किया जाना था परन्तु लेख का कलेवर इतना वढ चुका है कि प्रस्तुत लेख मे मैंने जो कुछ लिखा है उसमे भी सकोच की नीति से काम लेना पडा है अत अतिरिक्त विषय कभी प्रसगानुसार ही लिखने का प्रयत्न करूगा.





श्रीजयभगवान जैन
एडवोकेट

वेदोत्तरकाल में ब्रह्मविद्या की पुनर्जागृति

जन्मेजय की मृत्यु के बाद जब उत्तर के नागवशी क्षत्रियो के आये दिन के हमलो ने कुरुक्षेत्र के कौरवो की राष्ट्रीय सत्ता को छिन्न-भिन्न कर दिया और सप्तसिन्धु देश तथा मध्यदेश मे पुन भारत के नागराज घरानो ने अपनी-अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को प्राप्त किया तो कौरव वश की सरक्षकता के अभाव मे वैदिक सस्कृति को बहुत धक्का पहुँचा. गान्धार से लेकर विदेह तक समस्त उत्तर भारत मे पहले के समान पुन श्रमणसस्कृति का उभार हो गया इसी ऐतिहासिक स्थिति की ओर सकेत करते हुए हिन्दू पुराणकारो ने लिखा है कि भारत का प्राचीन धर्म, जो सतयुग से जारी रहता चला आया है, तप और योगसाधना है त्रेतायुग मे सबसे पहले यज्ञो का विधान हुआ, द्वापर मे इनका ह्रास होना शुरु हो गया और कलियुग में यज्ञ का नाम भी शेष न रहेगा[1] मनुस्मृतिकार ने भी लिखा है कि सतयुग का मानवधर्म तप है, त्रेता का ज्ञान है, द्वापर का यज्ञ है, कलियुग का दान है[2] इस सम्बन्ध में यह बात याद रखने योग्य है कि हिन्दू पुराणरचयिताओं तथा ज्योतिष ग्रन्थकारो की मान्यता के अनुसार कलियुग का आरम्भ महाराज युधिष्ठिर के राज्यारोहण-दिवस से गिना जाता है.[3] इस राज्यारोहण का समय लगभग १५०० ई० पूर्व माना जाता हे[4]

इस तरह जन्मेजय के बाद राष्ट्रीय सरक्षण उठ जाने के कारण और सास्कृतिक वैमनस्यो से ऊब कर जब वैदिक ऋषियो का ध्यान भारत की आध्यात्मिक सस्कृति की ओर गया, तो वे उसके उच्च आदर्श, गम्भीर विचार, सयमी जीवन और त्याग-तप-साधना से ऐसे आनन्द-विभोर हुए कि उनमें आत्मज्ञान के लिये एक अदम्य जिज्ञासा की लहर जाग उठी[5] अब उन्हे जीवन और मृत्यु की समस्याये विकल करने लगी अब उनके मानसिक व्योम मे प्रश्न उठने लगे—ब्रह्म अर्थात् जीवात्मा क्या वस्तु है ? इसका क्या कारण है ? यह जन्म के समय कहा से आता है ? यह मृत्यु के समय कहा चला जाता है ? कौन इसका आधार है ? कौन इसकी प्रतिष्ठा है ? यह किस के सहारे जीता है ? किस के सहारे बढता है ? कौन इसका अधिष्ठाता है ? कौन इसे सुख दुख रूप वर्ताता है ? कौन इसे मारता और जिलाता है[6]

अब ऋक्, यजु , साम, अथर्व वैदिक सहिताये और शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष सम्बन्धी पट्क

---

१. महाभारत शान्ति पर्व अ० ३३५

२. तप पर कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते,
द्वापरे यज्ञमेवाहु दानमेक कलौ युगे । मनुस्मृति—१-८६

३. महाभारत आदि पर्व २. १३ । महाभारत वन पर्व १४९-३८
आर्य भटीयम् प्रथम पाद श्लोक ३—(इस ग्रन्थ का रचियता वृद्ध आर्य भट ईसा की पाचवीं सदी का महान् ज्योतिषज्ञ है)

४. श्रीजयचन्द्र विद्यालकार—"भारत के इतिहास की रूपरेखा"—जिल्द १ १९६३, पृष्ठ २६१-२६३

५. अथातो ब्रह्मजिज्ञासा—ब्रह्मसूत्र १. १. १.

६ किं कारणं ब्रह्म कुत स्म जाताः जीवाम केन च संप्रतिष्ठा,
अधिष्ठिता. केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ।।—श्वेताश्वतर उप० १. १.

विद्याएँ, जिन्हे वे अमूल्य निधि जानकर परम्परा से पढते और पढाते चले आये थे, उनको अपरा अर्थात् साधारण, लौकिक विद्याएँ भासने लगी [1] अब धन और सुवर्ण, गाय और घोडे, पुत्र और पौत्र, खेत और जमीन, राज्य व अन्य लौकिक सम्पदाये, जिनकी प्राप्ति, रक्षा तथा वृद्धि के लिये वे निरन्तर इन्द्र और अग्नि से प्रार्थनाये किया करते थे, उनकी दृष्टि मे सब हेय तुच्छ और सारहीन वस्तुएँ दिखाई देने लगी अब उनके लिये आत्मविद्या ही परम विद्या वन गयी आत्मा ही देखने जानने और मनन करने योग्य परम सत्य हो गया [2]

अब उन्हे भासने लगा कि जो आत्मा से भिन्न सूर्य, इन्द्र, वायु अग्नि आदि देवो की उपासना करते हे वे देवो के दास है, वे लद्दू पशुओ के समान देवो के भार को उठाने वाले वाहन है परन्तु जो आत्मा की अद्भुत विश्वव्यापी शक्तियो को जानकर आत्मा के उपासक है वे सर्वभू (सर्वान्तिर्यामी), परिभू (विश्वव्यापी) स्वयम्भू (स्वतन्त्र) वन जाते है,[3] वे आत्मज्ञानी ही ससारपूजनीय है [4] यज्ञ याग आदि श्रौत कर्म ससारबन्धन का कारण है और ज्ञान मुक्ति का कारण कर्म करने से जीव वार-वार जन्म मरण के चक्कर मे पडता है. परन्तु ज्ञान के प्रभाव से वह ससार-सागर से उभर अक्षय परमात्मपद को पा लेता है. नासमझ आदमी ही इन कर्मो की प्रशसा करते है, इससे उन्हे वार-वार शरीर धारण करना पडता है [5] जो ज्ञान को त्याग कर वेदोक्त यज्ञ यजन कर्म करने वाले है, अथवा ऐहिक आकाक्षाओ से प्रेरित दान आदि पुण्य कर्म करने वाले है, वे सब पितृयान मार्ग के पथिक है, वे धूम, कृष्ण पक्ष, दक्षिणायन पथ से पितृलोक, चन्द्रलोक, स्वर्ग को जाते हैं, पुण्य-अवधि क्षीण होने पर पुन इसी मर्त्य-लोक मे आकर जन्म धारण करते है ज्ञानी जन द्वारा ये कर्म अपनाने योग्य नही है [6]

व्रात्यो के प्रति आदर—इस जिज्ञामा के फलस्वरूप उनका व्रात्यो और यतियो के प्रति आदर और सहिष्णुता का व्यवहार वढने लगा ब्राह्मण ऋषियो ने गृहस्थ लोगो के लिये यह नियम कर दिया कि जब कभी व्रात्य (व्रतधारी साधु) अथवा श्रमणजन घूमते-फिरते हुए आहार-पान के लिये उनके घर आवे तो उनके साथ अत्यन्त विनय का व्यवहार किया जावे, यहा तक कि यदि उनके आने के समय गृहपति अग्निहोत्र मे व्यस्त हो तो गृहपति को अग्निहोत्र का उपक्रम छोड कर उनका आतिथ्य सत्कार करना अधिक फलदायक है [7]

ब्रह्मविद्या की खोज—ज्ञान की इस अदम्य प्यास से व्याकुल हो अनेक प्रसिद्ध ऋषिकुलो के पूर्ण शिक्षा प्राप्त नवयुवक घर-वार छोड ब्रह्मविद्या की खोज मे निकल गये वे दूर-दूर की यात्राये करते हुए, जगलो की खाक छानते हुए, गान्धार से विदेह तक, पाचाल से यमदेश तक, विभिन्न देशो मे विचरते हुए, ब्रह्मविद्या के पुराने जानकार क्षत्रिय घरानो मे पहुचने लगे वे वहा शिष्य भाव से ठहर कर इन्द्रियसयम, ब्रह्मचर्य, तप, त्याग और स्वाध्याय का जीवन विताने लगे

इनकी इस अपूर्व जिज्ञासा, महान् उद्यम और रहस्यमय सवादो के आख्यान भारतीय वाङ्मय के जिन ग्रथो मे सुरक्षित हैं वे उपनिषत् सज्ञा से प्रसिद्ध हैं यो तो ये उपनिषत् सख्या मे २०८ से भी अधिक है परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से ११ मुख्य

---

१. तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्ववेद शिक्षा कल्पो व्याकरण निरुक्त छन्दो ज्योतिष्मति अथ परा यथा तदक्षरमधिगम्यते.
—मुण्डक उपनिषद् १ पृ० ५.

२ आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य । (याज्ञवल्क्य द्वारा दिया हुआ उपदेश) वृहदारण्यक उपनिषद् २, ४, ५

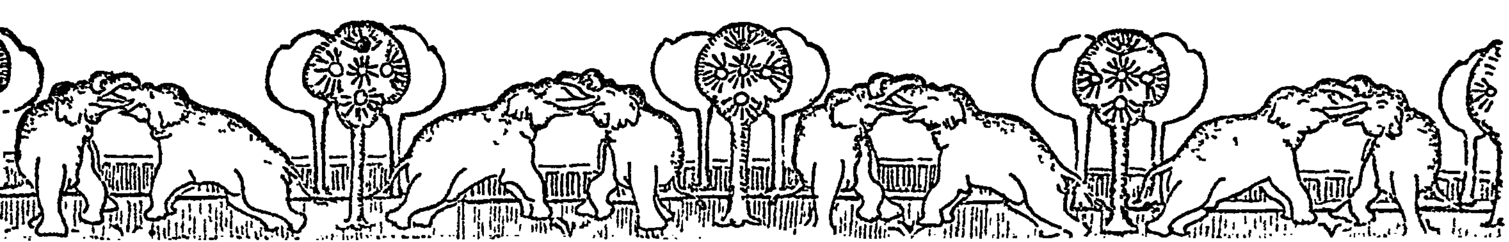
३. वृहदारण्यक उपनिषत्–१, ४ ६, १०

४ तस्मादात्मज्ञ ह्यर्चयेद् भूतिकाम । —मुण्डक उप० ३-१-१०

५ मुण्डक उपनिषत् १, २, ७।१, २, १० महाभारत शान्ति पर्व अ० २४१, १. १०

६ (क) यास्काचार्य प्रणीत निरुक्त, परिशिष्ट २, ८, ९
(ख) छादोग्य उपनिषद् निरक्त ५, १०, ३-७
(ग) प्रश्न उप० १-९
(घ) भगवद्गीता १-९, २०, २१

७ अथर्ववेद—काण्ड १५-सूक्त १ (११), १ (१२), १ (१३).



उपनिषत्—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तरीय, छान्दोग्य, वृहदारण्यक और श्वेताश्वतर अधिक प्रामाणिक हैं. चूकि इन उपनिषदो मे महाभारत काल से लेकर बुद्ध, महावीरकाल तक की वैदिक और श्रमण दो मौलिक संस्कृतियों के सम्मेलन की कथा अकित है[१] चूकि इनमे जिज्ञासु ऋषियो की सरल विचारणा, सत्यपरायणता और तत्कालीन आध्यात्मिक शिक्षा-दीक्षा के जीते-जागते चित्र दिये गए है, चूकि इन मे आर्य ऋषियो के तत्त्वज्ञान का अतिम निष्कर्ष दिया हुआ है जो वेदान्तदर्शन के नाम से प्रसिद्ध है, चूकि ये आधुनिक हिन्दू दर्शनशास्त्र के मूलाधार है, इन्ही का दोहन करके २०० वी० सी० के लगभग शुग काल मे गीता का विकास हुआ है, इन्ही का दोहन करके २०० वी० सी० के लगभग वादरायण ऋषि के नाम से ब्रह्मसूत्र की रचना की गई है, इसलिये इनका भारतीय साहित्य में एक अमूल्य स्थान है बुद्ध और महावीर से पहले की भारतीय संस्कृति की जाच करने के लिये इनका अध्ययन वहुत ही आवश्यक है उस जमाने की शिक्षापद्धति के अनुसार इन उपनिषदो की कथनशैली आलकारिक है. तत्त्व-वोध के लिये नित्य अनुभव मे आनेवाली प्राकृतिक वस्तुओं को प्रतीक रूप मे (Symbols) प्रयुक्त किया गया है. जगह-जगह याज्ञिक परिभाषाओं को भी काम मे लाया गया है· आध्यात्मिक आख्यानो को रूपको की (Parables) शक्ल में पेश किया गया है इस कारण पिछले आचार्यो को इन्हे अपने-अपने साम्प्रदायिक साँचे मे ढालने के लिये इनकी व्याख्या करने मे खीचातानी करने की वहुत सुविधा मिल गई है इस खीचातानी के कारण ही दार्शनिक युग में ब्राह्मण आचार्यो ने कितने ही नये वेदान्त दर्शनो को जन्म दिया है कुछ भी हो, यह वात निर्विवाद सिद्ध है कि उस जमाने के ऋषियो की कथनशैली दार्शनिक और वैज्ञानिक ढग की न थी.

उस समय ब्रह्मज्ञान के प्रसार मे पिप्पलाद, नारायण, श्वेतकेतु, भृगु, वामदेव, अगिरस याज्ञवल्क्य आदि ऋषियो के अलावा जिन क्षत्रिय राजाओ ने वडा भाग लिया है, वे हैं कैकेयदेश के अश्वपति, पाचाल देशके प्रवाहण जैबलि, काशीके अजातशत्रु, विदेह के जनक और दक्षिण देशके वैवस्वत यम आदि इसके आख्यानो के कुछ नमूने यहा उद्धृत किये जाते है

प्रवाहण जयवलि की कथा[२]—एक वार अरुणि–गौतम ऋषि का पुत्र श्वेतकेतु पाचाल देश के क्षत्रियो की सभा मे गया तव पाचाल के राजा प्रवाहण जयवलि ने उस को कहा—हे कुमार ! क्या तुझे तेरे पिता ने शिक्षा दी है ? यह सुनकर उसने उत्तर दिया—हाँ भगवन् ! उसने मुझे शिक्षा दी है राजा ने कहा—हे श्वेतकेतु ! जिस प्रकार मर कर प्रजाएँ परलोक को जाती हैं, क्या तू उसे जानता है ? उसने कहा—भगवन् ! मैं नही जानता

राजा ने कहा—जिस प्रकार से प्रजाये पुन जन्म लेती है क्या तू उसे जानता है ? उसने कहा—भगवन् ! मैं नही जानता राजा ने पूछा—क्या तू देवयान और पितृयान के मार्गो की विभिन्नता को जानता है ? उसने कहा—भगवन् ! मैं नही जानता उसके वाद राजा ने फिर पूछा—जिस प्रकार यह लोक और परलोक कभी जीवो से नही भरता, क्या तूउसे जानता है ? उससे कहा-भगवन् ! मै नही जानता राजा ने फिर पूछा—जिस प्रकार गर्भ मे पुरुषाकृति वन जाती है, क्या तू उसे जानता है ? उसने कहा—भगवन् ! मै नही जानता

तदनन्तर राजा ने कहा—जो मनुष्य इन प्रश्नो का उत्तर नही जानता वह किस भाति अपने को सुशिक्षित कह सकता है ? इस प्रकार प्रवाहण राजा से परास्त हो वह श्वेतकेतु अपने पिता अरुणि के स्थान पर गया और कहने लगा—आपने मुझे विना शिक्षा दिये हुए ही यह कैसे कह दिया कि मुझे शिक्षा दे दी गई है ?

राजा ने मुझमे पाच प्रश्न पूछे, परन्तु मैं उनमे से एक का भी उत्तर देने मे समर्थ न हो सका तव अरुणि वोला—मै भी इन प्रश्नो का उत्तर नही जानता यदि मैं इनका उत्तर जानता होता तो तुम्हे कैसे न वताता !

---

१. A. Upnishads are the product of the Aryan and Drividian intermixture of Cultures
—Keith—Religion and Philosophy of the Vedas and Upnishads Page 447.
B Dr. Winternitz—History of Indian Literature Vol I P. 226-244.

२. छान्दोग्य उपनिषत् ५-३ वृहदारण्यक उपनिषत् ६।२.



उसके बाद वह अरुणि गौतम उन प्रश्नो का उत्तर जानने के लिये राजा प्रवाहण के पास गया राजा ने उसे आसन दे पानी मगवाया और उसका अर्घ्य किया तत्पश्चात् राजा ने कहा—हे पूज्य गौतम ! मनुष्य योग्य धन का वर मागो यह सुनकर गौतम ने कहा—हे राजन् ! मनुष्य धन तेरा ही धन है, मुझे नही चाहिए मुझे तो वह वार्ता बता दे जो तूने मेरे पुत्र से कही थी.

गौतम की यह प्रार्थना सुन राजा सोच मे पड गया सोच-विचार करने पर उसने ऋषि से कहा—यदि यही वर चाहिए तो चिरकाल तक व्रत धारण करके मेरे पास रहो नियत साधना करने पर राजा ने उसे कहा—हे गौतम ! जिस विद्या को तू लेना चाहता हे, उसे मैं अब देने को तैयार हू, परन्तु यह विद्या पूर्व काल मे तुझ से पहले ब्राह्मणो को प्राप्त नही होती थी, चूकि सारे देशो मे क्षत्रियो का ही शासन था क्षत्रिय क्षत्रियो को ही सिखाते थे [1] यह कहकर राजा ने पाच प्रश्नो का रहस्य गौतम को बताना शुरू कर दिया पण्डित जयचन्द विद्यालकार और डा० पार्जीटर के कथनानुसार पाचाल नरेश प्रवाहण जैवलि-जन्मेजय के पौत्र अश्वमेध दत्त अर्थात् पाण्डवपुत्र अर्जुन की पाचवी पीढी के समकालीन था [2] इस तरह उक्त वार्ता का समय लगभग १४ सौ ईसवी पूर्व होना चाहिए

कैकेय अश्वपति की कथा[3]—कैकेय देश का राजा अश्वपति परीक्षित और जन्मेजय का समकालीन था कैकेय देश (आधुनिक शाहपुर जेहलम गुजरात जिला) गान्धार से ठीक पूर्व मे सटा हुआ है कैकेय अश्वपति की कीर्ति उसकी सुन्दर राज्यव्यवस्था और उसके ज्ञान के कारण सब ओर फैली हुई थी [4]

एक बार का कथन है कि उपमन्यु का पुत्र, प्राचीन शाल, पुलुषि का पुत्र सत्ययज्ञ, मालवी का पुत्र इन्द्रद्युमन, शर्कराक्ष का पुत्र जन और अश्वतराश्वि का पुत्र बुडिल जो बडी-बडी शालाओ के अध्यक्ष थे और महाज्ञानी थे, आपस मे मिलकर विचारने लगे 'हमारा आत्मा कौन है ? ब्रह्म क्या वस्तु है?' उन्होने निश्चय किया कि इन प्रश्नो का उत्तर वरुणवशीय उद्दालक ऋषि ही दे सकता है, वह ही इस समय आत्मा के ज्ञान को जानता है, चलो उसके पास चले

उन आगन्तुको को देख उद्दालक ऋषि ने विचार किया कि ये सभी ऋषि महाशाला वाले है और महाश्रोत्रिय है, उन को उत्तर देने के लिये मैं समर्थ नही हूँ उसने कहा कि इस समय कैकेय अश्वपति ही आत्मा का सब प्रकार ज्ञाता है, आओ उसके पास चलें वहा पहुँचने पर अश्वपति ने उनका सत्कार किया और कहा 'मेरे देश मे न कोई चोर है, न कृपण, न शराबी, न अग्निहोत्र रहित, न कोई अपढ है और न व्यभिचारी, व्यभिचारिणी तो होगी ही कहा से ?' आप इस पुण्य देश मे ठहरें मैं यज्ञ करने वाला हूँ आप उसमे ऋत्विज बने, मैं आपको बहुत दक्षिणा दूगा. उन्होने कहा—हम आपसे दक्षिणा लेने नही आये है, हम तो आपसे आत्मज्ञान लेने आये है. अश्वपति ने उन्हे अगले दिन सवेरे उपदेश देने का वायदा किया अगले दिन प्रात काल वे समिधाएँ हाथो मे लिये उसके पास पहुँचे और अश्वपति ने उन्हे आत्मज्ञान दिया

अजातशत्रु की कथा[5]—काशीनरेश अजातशत्रु, विदेह के राजा जनक उग्रसेन तथा कुरुराज जनमेजय के पुत्र शतानीक का समकालीन था वह अपने समय का एक माना हुआ आत्मज्ञानी था और ज्ञान की चर्चा मे अभिरुचि रखने वाले विद्वानो का भक्त था एक बार आत्मविद्याभिमानी गर्गगोत्रीय दृप्त बालाकि नाम वाला ब्राह्मण ऋषि उशीनर (वहावल पुर का प्रदेश) मत्स्य (जयपुर राज्य) कुरु (मेरठ जिला) पाचाल, (रुहेलखण्ड, आगरा का इलाका) काशी, विदेह,

---

१ 'सह कृच्छ्री बभूव त ह चिर वसेत्याज्ञापयाचकार त हो वाचयथा मा त्व गौतमावदो यथेय न प्राक् त्वत पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति. तस्मात् सर्वेपु लोकेपु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति —छा० उप० ५-३-७

२ भारतीय इतिहास की रूपरेखा—जिल्द प्रथम, पृष्ठ २८६

३ छा० उप० ५-११, १२ महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ७७.

४ भारतीय इतिहास की रूपरेखा. जिल्द प्रथम पृ० २८६

५ (अ) बृहदारण्यक उपनिपत् २, १ (आ) कौषीतकि ब्राह्मणोपनिपत् अध्याय ४



(तिरहुत, बिहार) मे से घूमता हुआ काशीराज अजातशत्रु के पास आत्मचर्चा के लिये पहुँचा और कहने लगा कि मैं तुझे ब्रह्म की बात बताऊँगा अजातशत्रु ने कहा कि यदि तुम ब्रह्म की व्याख्या कर पाओगे तो मै तुम्हे एक हजार गाये दक्षिणा मे दूगा गार्ग्य ने व्याख्या करनी चाही परन्तु वह सफल न हुआ उसका आज तक का शिक्षण आधिदैविक परम्परा मे हुआ था अत स्वभावत उसकी दृष्टि बाह्यमुखी थी उसने बाह्य के महिमावान पदार्थो मे ब्रह्म का साक्षात्कार करते हुए कहा—'यह जो सूर्यमण्डल मे पुरुष है, यह जो चन्द्रमण्डल मे पुरुष है, यह जो विद्युन्मण्डल मे पुरुष है, यह जो मेघमण्डल मे पुरुष है, यह जो आकाशमण्डल में पुरुष है, यह जो वायुमण्डल मे पुरुष है, यह जो अग्निमण्डल मे पुरुष है, यह जो जनमण्डल मे पुरुष है, यह जो दर्पण मे पुरुष है, यह जो प्रतिध्वनि मे पुरुष है, यह जो छाया में पुरुष है, इसी की मैं ब्रह्मरूप मे उपासना करता हू यह जो शरीर है, यह जो प्रज्ञा है, यह जो दाहिने नेत्र मे पुरुष है, यह जो बाये नेत्र मे पुरुष है, इसी की मै ब्रह्मरूप से उपासना करता हू' इतना कुछ कहने पर अजातशत्रु ने कहा कि क्या इतना ही तेरा ब्रह्मज्ञान है ? इस पर गार्ग्य ने कहा—'हा इतना ही' तब अजातशत्रु ने कहा कि तू वृथा ही मुझ से ब्रह्म का सवाद करने आया है, इनमे से कोई भी ब्रह्म नही है ये सब तो उसके कर्म मात्र है. इनका जो कर्ता है वह जानने योग्य है तदनन्तर हाथ मे समिधा ले उसके पास जाकर बोला—'मैं तेरे पास शिष्य भाव से आया हू, तू मुझे आत्मविद्या का उपदेश दे' तब अजातशत्रु ने उसे बताया कि जैसे क्षुरधान मे क्षुर, काष्ठ मे अग्नि सर्वत्र व्याप्त है, ऐसे ही शरीर मे नख से शिखा तक आत्मा व्याप्त है उस साक्षी आत्मा का ये वाक्, मन, नेत्र, कर्ण आदि सभी इन्द्रिया अनुगत सेवक की तरह अनुसरण करती है जैसे एक धनी पुरुष का उसके आश्रित रहने वाले स्वजन अनुवर्तन करते है सोते समय ये सभी शक्तिया आत्मा मे लीन हो जाती है और उसके जागने पर अग्नि मे से निकलने वाली चिनगारियो के समान ये समस्त शक्तिया निकल कर अपने-अपने काम मे लग जाती है

सनत्कुमार की कथा[1]—एक समय नारद महात्मा ने सनत्कुमार के पास जाकर कहा—'हे भगवन् ! मुझे ब्रह्मविद्या पढाइये' सनत्कुमार ने उसको कहा—'पहले जो कुछ तू जानता है, मेरे समीप बैठकर मुझे सुनादे उसके बाद मैं तुझे बताऊगा' नारद ने कहा—'भगवन् ! मै ऋग्वेद को जानता हू, यजुर्वेद को, सामवेद को, चौथे अथर्ववेद को, पाचवें इतिहास-पुराण को, वेदो के वेद व्याकरण को, पितृविज्ञान को, गणित शास्त्र को, भाग्यविज्ञान को, निधिज्ञान को, तर्कशास्त्र को, नीतिशास्त्र को, देवविद्या को, भक्तिशास्त्र को, भूतविद्या को, धनुर्विद्या को, ज्योतिष, सर्पविद्या, सगीत, नृत्यविद्या को जानता हू हे भगवन् ! इन समस्त विद्याओ से सम्पन्न मै मन्त्रवित् ही हू परन्तु आत्मा का ज्ञाता नही हू. मैने आप जैसे महापुरुषो से सुना है कि जो आत्मवित् होता है वह जन्म-मरण के शोक को तर जाता है, परन्तु भगवन् ! मैं अभी तक शोक मे डूबा हुआ हू मुझे शोक से पार कर देवें.' सनत्कुमार ने नारद से कहा—'तुमने आजतक जो कुछ अध्ययन किया है वह नाम मात्र ही है इसके उपरान्त सनत्कुमार ने आत्मविद्या देकर नारद को सन्तुष्ट किया.

वैवस्वत यम और नचिकेता की गाथा—कठ उपनिषत् मे औद्दालिक आरुणि गौतम के पुत्र नचिकेता ऋषि की एक कथा दी हुई है एक बार नचिकेता, जो जन्म से ही बडा त्यागी और विचारशील था, अपने पिता के सकुचित व्यवहार से रूठ कर भाग गया वह शान्तिलाभ के लिये वैवस्वत यम के घर पहुचा, पर उस समय वैवस्वत बाहर गया हुआ था उसके बाहर जाने के कारण नचिकेता को तीन रात भूखा रहना पडा. वापिस आने पर घर मे भूखे अतिथि को देखकर यम को बडा खेद हुआ. अपने दोष की निवृत्ति यम ने नचिकेता को तीन रात के कष्ट के बदले तीन वर मागने के लिये कहा नचिकेता के माँगे हुये पहले दो वर यम ने उसे तुरन्त ही दिये फिर नचिकेता ने तीसरा वर इस प्रकार मागा—'यह जो मरने के बाद मनुष्य के विषय मे सन्देह है—कोई कहते हे कि रहता है, कोई कोई कहते है कि नही रहता, यह आप मुझे समझादे कि असल बात क्या है ? यही मेरा तीसरा वर है

इस वर को सुनकर यम बोला—'इस विषय मे तो पुराने देवजन अर्थात् विप्रजन भी सन्देह करते रहे है इसका जानना

१. छान्दोग्य उपनिषद्, सातवा प्रपाठक पहला खण्ड

सुगम नही है यह विषय बहुत सूक्ष्म है नचिकेता ! तुम कोई दूसरा वर मांग लो, इसे छोड दो, मुझे बहुत विवश न करो'

इस पर नचिकेता ने कहा—'निश्चय मे ही यदि देवो ने भी इसमें सन्देह किया है और आप स्वय भी इसे सुगम नही कहते तो आप जैसा इसका वक्ता दूसरा कौन मिल सकता है, इसके समान दूसरा वर भी क्या हो सकता है ?'

यम ने परीक्षार्थ यह जानने के लिये कि नचिकेता आत्मज्ञान का अधिकारी है या नही, उसे बहुत से प्रलोभन दिये. हे नचिकेता! तू सौ वर्ष की आयु वाले पुत्र और पौत्र माँग बहुत से पशु, हाथी, घोडे और सोना माग, भूमि का बहुत बडा भाग माग और जबतक तू जीना चाहे उतनी आयु का वर माग तू इस विशाल भूमि का राजा बन जा जो भी कामनाये तू इस लोक मे दुर्लभ समझ रहा है वे सभी जी खोलकर तू मुझ से माग रथो और बाजो सहित ये अलभ्य रमणिया तेरी सेवा के लिये देता हू इन सभी वस्तुओ को ले ले, परन्तु हे नचिकेता! मरने के अनन्तर की बात मुझ से न पूछ'

पर नचिकेता इन प्रलोभनो से तनिक भी भ्रम मे न पडा वह बोला—'हे यम ! ये सब उपभोग के सामान दो दिन के है, ये सब इन्द्रियो का तेज नष्ट करने वाले है. जीवन अल्पकाल तक ही रहने वाला है इसलिये ये सब नाच-गान, हाथी-घोडे मुझे नही चाहिए, धन से कभी तृप्ति नही होती मुझे तो वही वर चाहिए' नचिकेता की इस सच्ची लगन को देख यम विवश हो गया उसने अन्त मे जन्म-मरण सम्बन्धी आत्मज्ञान दे नचिकेता के छटपटाये हुए दिल को शान्ति दी

उपरोक्त कथा मे जिस नचिकेता का उल्लेख है वह कठ जाति का ब्राह्मण मालूम होता है प्राचीन काल मे यह जाति पजाब के उत्तर की ओर रावी नदी से पूर्व वाले देश मे, जिसे आजकल माझा (लाहौर, अमृतसर वाला देश) कहते है, रहा करती थी इसी कारण इस देश का पुराना नाम कठ है[1] उपर्युक्त कथा के समय यह जाति मध्यदेश अर्थात् आर्यखण्ड मे बसी हुई थी

यम और यमलोक—वैवस्वत यम, जिसके पास नचिकेता ज्ञान-प्राप्ति के लिये गया था, उस मगध देशवासी सूर्यवंशी यम शाखा का एक क्षत्रिय राजा मालूम होता है, जिसने मध्यदेश के दक्षिण की ओर एक स्वतन्त्र जनपद कायम कर लिया था जैन परम्परा के अनुसार इस शाखा का मूल सस्थापक आदि ब्रह्मा वृषभ अपर नाम विवस्वत मनु का पुत्र बाहुबली था आदि ब्रह्मा ने प्रव्रज्या लेने से पहले भारतभूमि का बटवारा कर उत्तर भारत का राज्य अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को और दक्षिण का भाग बाहुबली को दे दिया था बाहुबली ने दक्षिण के अशमक (कर्णाटक) देश के पोदनपुर स्थान पर अपनी राजधानी बसा ली थी[2] बाहुबली पीछे से राज्य छोड त्यागी तपस्वी हो गया था और उसने एक साल पर्यन्त कायोत्सर्ग मुद्रा मे खडे रहकर मन वचन काय तथा समस्त इन्द्रियो के यमन द्वारा ऐसी घोर तपस्या की थी कि उसे देख कर देव, असुर, मनुष्य सभी लोग चकित हो गये थे उस तपस्या के द्वारा उसने यम व मृत्यु का सदा के लिये अन्त कर दिया था वह मृत्यु की मृत्यु बन गया था[3] इसलिये वह लोक मे यम नाम से प्रसिद्ध हुआ और पीछे से इस शाखा के राजा यम व जम के ही नाम से पुकारे जाने लगे. इस तरह यह उनकी एक परम्परागत उपाधि बन गई और कर्णाटक देश यमलोक के नामसे प्रसिद्ध हुआ इसीलिए भारतीय अनुश्रुति मे दक्षिण का अधिष्ठाता देवता यम कहा गया है,[4] यम पीछे

---

१ जयचन्द्र विद्यालकार—भारतीय इतिहास की रूपरेखा प्रथम जिल्द पृ० २९०.

२ (क) विन्ध्यगिरि पर्वत का शिलालेख—लगभग शक स० ११०२ वाला जैन शिलालेख सग्रह प्रथम भाग पृ० १६९-१७५

(ख) नव सदी का श्रीगुणभद्राचार्य विरचित उत्तरपुराण

(ग) छठी सदी के पूज्यपाद स्वामी ने अपने निर्वाण भक्ति ग्रन्थ में विन्ध्यगिरि के पोदनपुर नगर का सिद्धतीर्थ के रूप में उल्लेख किया है

(घ) वि० स० १२८५ का श्रीमदनकीर्ति यति द्वारा रचित शासनचतुर्विंशिका ।२।

३ अथर्ववेद ८ १०, ४ ६, में यम को मृत्यु का आदि अन्तक कहा गया है और उसे पितरों में सबसे प्रमुख पित्र बताया गया है उसका स्वधा शब्द पूर्वक श्राद्ध करने को कहा गया है

४ बृहदारण्यक उपनिषत् ३ ९, २१



से किसी विशेष व्यक्ति का नाम न रहकर उस शाखा के राजाओ की उपाधि बन गई थी. सूर्यवंशी क्षत्रियो की यह यम शाखा अपनी दान-दक्षिणा, न्यायशीलता और ज्ञानचर्चा के लिये बहुत प्रसिद्ध थी. इसी कारण इस शाखा का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण १३, ४, ३, ६[1] और ऋग्वेद के दसवें मण्डल के दसवें सूक्त तथा अथर्व १८ काण्ड के पहले सूक्त मे भी भी मिलता है. उक्त उल्लेखो से यम लोगो की ज्ञानलिप्सा व सभ्यता का पर्याप्त परिचय प्राप्त होता है ईरान की धर्म-पुस्तक छन्द-अवस्ता (Zend Avesta) में यम को मित्र कहा गया है तथा यम को प्रथम राजा एव धर्म और सभ्यता का सस्थापक बतलाया गया है वहा यह भी उल्लिखित है कि सदाचारी लोग मित्र के साथ अहुरमजद (असुरमहत-वृषभ) का भी दर्शन करते है वैदिक साहित्य के अनुरूप ही छन्द अवस्त मे यम के पिता का नाम वियस्वत (विस्वत) दिया हुआ है और यमपुरी को धर्मात्मा लोगो की निवासभूमि बतलाया गया है.

अध्यात्मविद्या की शिक्षा-दीक्षा पद्धति—उल्लिखित आख्यानो से यह स्पष्ट है कि भारत मे अध्यात्म विद्या के वास्तविक जानकार क्षत्रिय लोग थे. परम्परा से उन्ही लोगो में अध्यात्म तत्त्वो का मनन होता चला आ रहा था और उन्ही के महापुरुष घर-बार छोड भिक्षु वन जगलो में रहते हुए तप ध्यान श्रद्धा द्वारा आत्म-साधना किया करते थे.[2] उन्होने यह विद्या उस समय तक ब्राह्मण लोगो को न दी जब तक उन्हे परीक्षा करके यह विश्वास न हो गया कि वे (ब्राह्मण) लोग शुद्ध बुद्धि नम्रभाव एव शिष्य वृत्ति से इसे ग्रहण करने के लिये उत्सुक है

अध्यात्मबोध पाने के लिये परिग्रह से विरक्ति और मन वचन काय की शुद्धि की आवश्यकता होती है। इसी साधना के अर्थ पातजलयोग दर्शन मे यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि रूप अष्टांग मार्ग की व्याख्या की गई है

अध्यात्मविद्या अनधिकारी के हाथो मे पडकर दूषित न हो जाय[3] इस विचार से अध्यात्मवादी क्षत्रियो का सदा यह नियम रहा है कि यह विद्या श्रद्धालु और शान्तचित शिष्यो के सिवाय किसी और को न दी जाय, चाहे वह सागर से घिरी धनपूर्ण सम्पूर्ण पृथ्वी भी पुरस्कार में देने को तैयार हो[4] इसी कारण उपनिषदो मे अध्यात्मविद्या को रहस्य-विद्या व गुह्यविद्या कहा गया है स्वय उपनिषत् (उप+निषत्) शब्द का अर्थ है पूज्य पुरुषो के चरणो मे रह कर उनके सान्निध्य से प्राप्त होने वाली विद्या, अर्थात् वह रहस्य विद्या जो गुरु के निकट रह कर साक्षात् उनकी वाणी और जीवन से ग्रहण की जाती है इस प्रकार विनीत, श्रद्धालु और अन्तेवासी शिष्यो को एकान्त मे मौखिक रूप से आध्यात्मिक शिक्षा देने की प्रथा केवल उपनिषत्काल मे ही प्रचलित न थी, बल्कि यह प्रथा भारत के शैव, शाक्त, जैन, बौद्ध आदि अध्यात्मवादी लोगो मे आज तक भी प्रचलित है इसी प्रथा का फल है कि आज से पचास वर्ष पहले

---

१ यमो वैवस्वतो राजेत्याह० शत—ब्रा० १३, ४, ३, ६ अर्थात् विवस्वत के पुत्र यम राजा ने कहा है

२ तप श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वासो भैक्ष्यचर्या चरन्त ।
सूर्यद्वारेण ते विरजा: प्रयान्ति यत्रामृत स पुरुषो ह्यव्ययात्मा । मुण्डक उप० १, २, ११ ।

३ बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो, मामय प्रहरिष्यति—महाभारत, आदिपर्व १—२६७ ; अर्थात् वेद अल्पश्रुत से डरता है कि कहीं यह मुझे बिगाड न दे

४. (अ) वेदान्ते परमं गुह्यं, पुराकाले प्रचोदितम् ।
नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्राय शिष्याय वा पुनः ।
यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिताह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मन ।। श्वेताश्वतर उप० ६– २२–२३
(आ) इद वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात्, प्रणाय्याय वान्तेवासिने । नान्यस्मै कस्मैचन, यद्यप्यस्मा इमामद्भि: परिगृहीता धनस्य पूर्णां दद्यात्, एतदेव ततो भूय इत्येतदेव ततो भूय इति—छान्दोग्य उप० ३–११–५–६.
(इ) मुण्डक उपनिषद्—३, २, १० । १, २, १३ .
(ई) यास्काचार्यकृत निरुक्त २–१.

तक अविनय के भय से जैन विद्वानो को अपना साहित्य दूसरो को दिखाना या उसे मुद्रित कराना तक भी सह्य न था. इसी कारण जैन साहित्य का परिचय बाहर के विद्वानो को आज तक बहुत कम हो पाया है

प्रश्न हो सकता है कि ये जिज्ञासु ब्राह्मण विद्वान ब्रह्मविद्या सीखने के लिये उन वनवासी त्यागी तपस्वी यतियो के पास क्यो नही गये जो साक्षात् धर्ममूर्ति और ब्रह्मविद्या की निधि थे ? उन्हे छोड कर वे गृहस्थ क्षत्रिय राजाओ के पास क्यो गये ? इसका उत्तर सम्भवत. यही हो सकता है कि ब्राह्मण जन उस समय ब्रह्मविद्या की खोज मे न केवल अध्यात्मधनी क्षत्रिय कुलो मे प्रत्युत यतियो के पास भी पहुच रहे थे, परन्तु जो जिज्ञासु यतियो के सम्पर्क मे आये, वे ब्रह्मविद्या के ज्ञानमात्र से सन्तुष्ट न होकर स्वय यतियो के समान आत्मसाधना मे लग गये उन्होने ब्रह्मविद्या के तत्त्वो को सकलन करने और साहित्यिक रूप मे पेश करने का कोई यत्न नही किया. केवल वे विद्वान् ही जो क्षत्रिय-घरानो से ब्रह्मविद्या ग्रहण करने के बाद भी गृहस्थ जीवन विताते रहे, इन तत्त्वो को आख्यानो के रूप मे सुरक्षित रखने का परिश्रम करते रहे इस कारण उपनिषदो मे उनके आख्यान आज भी उपलब्ध है

लिपिबोध और लिखित साहित्य—सिन्ध और पजाब के मोहनजोदडो और हडप्पा आदि पुराने नगरो के खडहरो से प्राप्त मोहरो के अभिलेखो से यह सिद्ध है कि भारतीय लोग ईसा पूर्व ३००० वर्ष से भी पहले लिपिविद्या और लेखन-कला से भलीभाति परिचित थे, परन्तु जैसा कि अन्य प्रमाणो से सिद्ध है, वे इस लेखनकला का प्रयोग आध्यात्मिक तत्त्वो तथा पौराणिक गाथाओ के सकलन के हेतु न करके केवल मुद्राकन व लौकिक व्यवसाय के लिये ही करते थे[१] अध्यात्मविद्या के प्रचार और प्रसार के लिये वे मौखिक शब्दो से ही काम लेते थे और शिष्य-प्रशिष्य परम्परा से ही वह मौखिक ज्ञान अग्रसर होता जाता था

इसीलिए उस काल मे विविध विद्याओ तथा धार्मिक और पौराणिक तथ्यो का बोध श्रुति व श्रुतज्ञान के नाम से प्रसिद्ध था अथवा गुरु-शिष्य परम्परा से विद्याओ के पदो को बार-बार घोख कर जबानी याद रखा जाता था इसलिए अभ्यास द्वारा जबानी याद रखी हुई विद्या को आम्नाय कहा जाता था प्राचीन भारतीय साहित्य मे धर्मशिक्षण सम्बन्धी ग्रथलेखन व पठन का कोई उल्लेख नही मिलता—केवल प्रवचन और श्रवण का ही उल्लेख मिलता है (कठ० उप० २–२–२३) जो श्रोता सतो की सगत मे रहकर प्रवचन सुनने मे प्रर्याप्त समय विताते थे, वे दीर्घश्रुत व बहु-श्रुत कहलाते थे (छादो० १०–७–३२) दूसरी ईस्वी सदी के प्रसिद्ध जैन ग्रथ तत्त्वार्थ सूत्र ९–२५ तक मे स्वाध्याय के अगो का वर्णन करते हुए वाचना पृच्छा, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश का वर्णन किया गया है, पठन का नही. जैसा कि यूनानी दूत मैगास्थनीज के वृत्तान्तो से विदित है, ईसा से ३०० वर्ष पूर्व मौर्य शासनकाल तक भारतीय लोगो के पास अपने कोई लिखे कानून तक मौजूद न थे[२] इसी तरह वौद्ध आचार्यो ने यद्यपि अपने आगमसाहित्य को २४० ईसा पूर्व मे सकलित कर लिया था परन्तु इस समय के बहुत बाद तक भी वे लिखित साहित्य का सृजन न कर सके भारत मे सवसे पुराने धार्मिक अभिलेख, जो आज तक उपलब्ध हो पाये है वे है जो अशोक की धर्मलिपि के नाम से प्रसिद्ध है. ये सम्राट् अशोक ने[३] अपने शासन काल मे तीसरी सदी ईस्वी पूर्व स्तम्भो व शिला-खण्डो पर अकित कराये थे लिखित साहित्य के अभाव के कई कारण हो सकते है एक तो योग्य लेखन सामग्री और खासकर कागज का अभाव, दूसरे विद्वानो की महत्त्वाकाक्षा और सकीर्णता कि कही दूसरे भी पढ लिख कर उन जैसे विद्वान् न बन जावे तीसरे शिक्षा-दीक्षा की प्राचीन पद्धति ऊपर वाले कारणो मे से तीसरा कारण ही इस अभाव का प्रमुख कारण माना जाता है शिक्षा-दीक्षा की इस प्राचीन पद्धति के कारण ही भारत के तत्त्ववेत्ता क्षत्रिय विद्वानो ने लिखित रचनाये करने का प्रयास नही किया अध्यात्मविद्या ही क्या, इतिहासविद्या, पुराणविद्या, सर्पविद्या, पिशाचविद्या, असुरविद्या, विश्वविद्या, अगिरसविद्या, भूतविद्य, पितृविज्ञान, ब्रह्मविद्या, शब्दोच्चारण विद्या, गाथा आदि भारत की अनेक पुरानी विद्याओ का

१ Dr winternitz—History of Indian Literature Vol I, Introduction pp 31–40
२ Ancient India as described by Megsthnees—by Macrindle, 1877, p 69
३ कुछ विद्वानों का यह मत है कि ये समस्त अभिलेख अशोक के नही वल्कि इनमें कुछ उसके पौत्र सम्राट् सम्प्रति के है

भी, जिनका नाम मात्र प्रसगवश वैदिक वाड्मय[1] मे मिलता है और जिनका सविस्तार निर्देश जैन वाड्मय[2] के १४ पूर्वो के कथन मे दिया हुआ हे, कोई लिखित साहित्य मौजूद नही है

श्रुति (श्रुति ज्ञान) की परम्परा वैदिक सूक्तों से भी अति प्राचीन है—वैदिक परम्परा मे साधारणतया वेदसहिताओ. ब्राह्म आरण्यक और उपनिपदो को श्रुति की सज्ञा दी जाती है और तदुपरान्त शेष हिन्दु साहित्य को, जिसमें श्रौत्र सूत्र, ग्रह्म सूत्र, कल्पसूत्र, स्मृतिग्रथ आदि सम्मिलित हैं, उन सभी को स्मृति की सज्ञा दी जाती है, परन्तु वास्तव मे इनमे से कोई भी रचना 'श्रुति' कहलाने की अधिकारी नही है भारत की सभी प्राचीन वैदिक तथा श्रमण अनुश्रुतियो के अनुसार भारतीय जन की सदा ही यह अटूट धारणा रही है कि सभी ज्ञान विज्ञान और कला सम्बन्धी विद्याओ का मूल स्रोत आदि ब्रह्मा, आदिपुरुष, आदि प्रजापति स्वयभू ब्रह्मा है. आदि ब्रह्मा के जिन शिष्यो प्रशिष्यो की प्रणाली द्वारा ये विद्याये हम तक पहुची है उनके अनुवशो का उल्लेख तत्-तत् विद्या सम्बन्धी सभी प्राचीन रचनाओ मे भिन्न-भिन्न ढग से किया गया है[3] इन रचनाओ के अतिरिक्त आदि ब्रह्मा की वाणी के द्वारा कथित जीवन-जगत सम्बन्धी अनेक तात्त्विक, धार्मिक, पौराणिक, और ऐतिहासिक तथ्य जो वैदिक आर्यजनो के आगमन के पूर्व यहाँ के दस्युजनो को प्राप्त थे जिन्हे वे स्वयम्भू-कथित होने से श्रद्धेय मान कर कठस्थ किये हुये थे, कालप्रवाह मे वहते-वहते सन्तति-प्रसन्तति क्रम से आये मनीविपयो को भी सुनने को मिले हो वेद सूक्तो के निर्माता ऋषियो ने अपने सूक्तो मे गूथे हुए तथ्यो की प्रामाणिकता-पुष्टि मे स्थान-स्थान पर इन श्रुतियो की ओर सकेत करते हुए 'श्रूयते श्रुतम्' आदि शव्दो का प्रयोग किया है.

इन उदाहरणो से पता लगता है कि श्रुतिज्ञान वेदसहिताओ मे सकलित सूत्रो से भी प्राचीन है ये श्रुतियाँ आप्त-वचन होने के कारण तत्त्वत प्रमाण मानी जाती रही है और इन श्रुतियो पर आवारित होने के कारण वेद-सूक्तो को भी श्रुति कहा जाने लगा है

ब्राह्मणो का श्रेय—इस अभाव पर से कुछ विद्वानो ने यह मत निर्धारित कर लिया है कि औपनिषदिक काल से पहले भारतीय लोगो को आत्मविद्या का कोई वोध न था. भारत में अध्यात्मविद्या का जन्म उपनिषदो की रचना के साथ-माथ या उससे कुछ पहले से हुआ है उनका यह मत कितना भ्रमपूर्ण है यह ऊपर वाले विवेचन से भलीभाति सिद्ध है औपनिपदिक काल आत्मविद्या का जन्मकाल नही है. आत्मविद्या तो वैदिक आर्यगण के आने से भी वहुत पहले वल्कि यो कहिए कि मिन्ध घाटी की ३००० वर्ष ईसा पूर्व मोहनजोदडोकालीन आध्यात्मिक मे सस्कृति से भी पहले यहाँ के व्रात्य यति, श्रमण, जिन, अतिथि, हस आदि कहलाने वाले योगी जनो के जीवन प्रवृत्त मे हो रही थी. औपनिपदिक काल तो उस युग का स्मारक है जव ब्राह्मण विद्वानो की निष्ठा वैदिक त्रिविद्या (ऋक्, यजु साम) से उठकर आत्मविद्या की

---

१ अथर्व वेद १५-१ (६) ७-१२. गोपथब्राह्मण पर्व १-१० शतपथ ब्रा० १४-५-४-१०. बृहदारण्यक उप० २. ४, १०. छान्दोग्य ७, १, २ शाखायन श्रौत सूत्र १६२ आश्वलायन श्रौत सूत्र १०, ७ अथर्व वेद ११-७-२४ शतपथ ब्रा० १३-४-३. ३-१४.

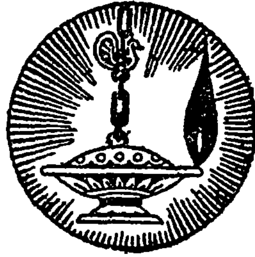
२ (अ) षट्खण्डागम-धवला टीका जिल्द १ अमरावती सन् १९३८ पृ० १०७ १२४ (आ) समवायाग सूत्र (इ) स्थानाग (ई) नन्दीसूत्र (उ) पाक्षिक सूत्र (ऊ) आठवी सदी के श्रीजिनसेनाचार्यकृत हरिवशपुराण १० ११-१४३, (ए) आठवीं सदी के स्वामी जिनसेन कृत महापुराण २-१९८-११३-३४, १३५-१४७.
(ऐ) अगपण्णत्ति-शुभचन्द्राचार्य कृत (ओ) तत्त्वार्थसारदीपिका-भट्टारक सकलकीर्तिकृत

३. (क) ऋग्वेद १०-९०-९.
(ख) शतपथ ब्राह्मण अन्तर्गत वश ब्राह्मण १४-९-४, १८, ५, १९-२२
(ग) बृहदारण्यक उपनिषद् २, ६, ६, ५.
(घ) छान्दोग्य उपनिपद् ३, ५१, ४, ८, १५, १.
(ङ) मुण्डक उप० १, १-२; २, १, ६.
(च) म० शान्ति पर्व ३४९, ५१-५३ भगवद्गीता ४, १-२
(छ) चरक संहिता सूत्र स्थान, प्रथम अध्याय

ओर झुकी और आत्मविद्या क्षत्रियो की सीमा से निकल कर ब्राह्मणो मे फैलनी शुरू हुई इस दिशा मे ब्राह्मण ऋषियो का श्रेय इस बात मे है कि उन्होने सबसे पहले भारत के आध्यात्मिक दर्शन और उनके पौराणिक आख्यानो को उपनिषदो, ब्रह्मसूत्र, भिक्षुसूत्र, योगदर्शन व पुराणो की शकल मे सकलित व लिपिवद्ध करने का परिश्रम किया यदि इन के द्वारा सकलित की हुई अध्यात्मचर्चाए आज हमारे पास न होती तो बुद्ध और महावीर काल से पहले की आध्यात्मिक सस्कृति का साहित्यिक प्रमाण ढूढना हमारे लिये असम्भव था. जैन परम्परागत जो लिखित साहित्य आज उपलब्ध है उसका आरम्भ महावीरनिर्वाण के ५०० वर्ष बाद ईसा पूर्व की पहली सदी मे उस समय हुआ जब जैन आचार्यों को यह अच्छी तरह विदित हो गया कि अध्यात्मतत्त्व वोध दिनो दिन घटता जा रहा है और यदि इसे लिपिवद्ध न किया गया तो रहा सहा बोध भी लुप्त हो जायगा,[1]

अध्यात्मविद्या सभी लोगो मे रहस्य विद्या बनकर रही है .—भारत के सभी धर्मशास्त्रो मे जगह-जगह अधिकारी और अनधिकारी श्रोताओ के लक्षण देते हुए वतलाया गया है कि अध्यात्मविद्या का वखान उन्ही को किया जाय जो जितेन्द्रिय और प्रशान्त हो, हस के समान शुद्ध वृत्ति वाले हो, जो दोषो को टालकर केवल गुणो को ग्रहण करने वाले हो[2]

अध्यात्मविद्या को इस प्रकार अनधिकारी लोगो से सुरक्षित रखने का विधान केवल भारत के सन्तो तक ही सीमित नही रहा है भारत के अलावा जिन अन्य देशो मे आध्यात्मिक तत्त्वो का प्रसार हुआ है, वहाँ के आध्यात्मिक सन्तो ने भी इस विद्या को अनधिकारी लोगो से बचा रखने का भरसक यत्न किया है। आज से लगभग २००० वर्ष पूर्व जब पश्चमी एशिया के यहूदी लोगो मे प्रभु ईसा ने आध्यात्मिक तत्त्वो की विवेचना शुरू की तो वहुत विवेक और सावधानी से (parablas) रूपको द्वारा ही की थी[3] इस लिये कि कही वे अपनी नासमझी से इन तत्त्वो को विगाडकर कुछ का कुछ अर्थ न लगा बैठे और फिर विरोध पर उतारू हो जाये इसीलिए प्रभु ईसा ने इस बात को कई स्थलो पर दोहराया है—जो वहुमूल्य और पवित्र तत्त्व है उन्हे श्वान और वराहवृत्ति वाले लोगो के सामने न रखा जाय, कही वे उन्हे पावो से रौद कर तुम्हे ही आघात पहुँचाने को उद्यत न हो जाएँ[4]



१. पट्खण्डागम भाग १—डा० हीरालाल द्वारा लिखित प्रस्तावना

२ (अ) महाभारत शान्तिपर्व अध्याय २४६.

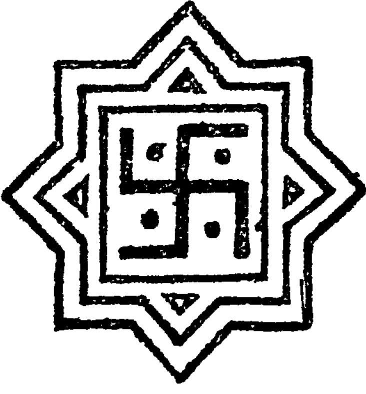
(आ) पट्खण्डागम, धवला टीका, जिल्द १ गाथा ६२-६३.

३ (A) But without a parable spake he not unto them and when they were alone, he expounded all things to his desciples Bible—Mark IX 34

(B) I will open my mouth in parbles I will utter things which have been kept secret from the foundations of the world Bible-Matthew XIII 35

४. (A) It is not meet to take the children's bread and to cast it unto the dogs Bible Mark VII 27

(B) Give not that which is holy unto the dogs, neither cast your pearls before swine Lest they trample them under their feet and turn again and rend you Bible Matthew VII 6



साध्वी श्रीनिर्मलाश्री
रिसर्च स्कॉलर, प्राकृत जैन विद्यापीठ, मुजफ्फरपुर

जैनमतानुसार अभाव-प्रमेयमीमांसा

प्रत्येक पदार्थ अपने लक्षण से ही ज्ञात होता है घट की सजातीय और विजातीय पदार्थों से व्यावृत्ति करके ज्ञाता उसका ज्ञान करता है. यदि घट का ज्ञान करते समय सजातीय और विजातीय पदार्थों की व्यावृत्ति न की जाय, तो घट के निश्चित रूप का ज्ञान नही हो सकता है. अत सभी पदार्थ सदसदात्मक है. उनमें सद् अश को भाव या विधि कहा जाता है (विधि सदश इति) और असद् अश को प्रतिषेध अर्थात् अभाव कहा जाता है जैसे प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार[1] मे वादि-देवसूरि ने कहा है—'प्रतिषेधोऽसदंश इति' यदि पदार्थ को सदसदात्मक न माना जाय किन्तु केवल सद् रूप ही माना जाय तो किसी भी वस्तु के स्वरूप का ज्ञान नही हो सकेगा, क्योकि प्रत्येक वस्तु अभावरूप और व्यावृत्तिरूप होने पर ही स्वरूप-युक्त कही जाती है इसी तरह वस्तु को सर्वथा अभाव रूप माना जाय तो वस्तु का स्वरूप ही सिद्ध नही होगा अतएव प्रत्येक पदार्थ स्वरूप से सत् और पर रूप से असत् होने के कारण भाव और अभाव रूप है आचार्य श्रीहेमचन्द्र ने भी अपनी प्रमाणमीमांसा[2] मे इसी बात का समर्थन किया है.

सर्वमस्ति स्वरूपेण, पर-रूपेण नास्ति च।
अन्यथा सर्वसत्त्वं स्यात् स्वरूपस्याप्यसंभवः।

प्रत्येक वस्तु स्व-स्वरूप से विद्यमान है और पर-स्वरूप से अविद्यमान है यदि वस्तु को पररूप से भी भावरूप स्वीकार किया जाय तो एक वस्तु के सद्भाव मे सपूर्ण वस्तुओ का सद्भाव मानना चाहिए, और यदि वस्तु को स्वरूप से भी अभावरूप माना जाय तो वस्तु को सर्वथा स्वभाव-रहित मानना चाहिए, जो कि वस्तुस्थिति से विपरीत है अर्थात् यदि वस्तु को अभावात्मक यानी सर्वथा शून्य ही माना जाय तो वाक्य का भी अभाव होने से—अभावात्मक तत्त्व—की स्वय प्रतीति कैसे होगी ? तथा दूसरे को कैसे समझाया जायगा ? स्वप्रतिपत्ति का साधन है बोध, तथा पर-प्रतिपत्ति का उपाय है वाक्य. इन दोनो के अभाव मे स्वपक्ष का साधन और पर-पक्ष का दूषण कैसे हो सकेगा ? इस तरह विचार करने से लोक का प्रत्येक पदार्थ भावाभावात्मक प्रतीत होता है

जो वादी वस्तु को पर-रूप मे असत् नही मानते है, उन्हे घट को सर्वात्मक मानना चाहिए, क्योकि घट जिस तरह स्वरूप मे सत् है, यदि उसी तरह पररूप से भी सत् हो तो घट किसी भी रूप से असत् न होने के कारण उस(घट) को सर्वात्मक मानना चाहिए, किन्तु वस्तुस्थिति वैसी नही है अत· पररूप से असत् मानने से ही पदार्थ के निश्चित स्वरूप का ज्ञान हो सकता है. स्व-सत्त्व को ही पर-असत्त्व नही कहा जा सकता, क्योकि विधि और प्रतिषेध दो विरोधी धर्म है, यदि कहा जाय कि जैनसिद्धान्तानुसार भी एक ही जगह विधि और प्रतिषेध माना जाता है तो यह कथन भी उचित नही है, क्योकि जैन वस्तु के जिस अश को सत् मानते हैं उसी अश को असत् नही मानते है, तथा उसके जिस अश को असत् मानते हैं, उसी अश को सत् नही मानते है जैन सिद्धान्तानुसार वस्तु न सत् है, न असत्, पर सदसदात्मक

१. न्याय परिच्छेद. सूत्र ५७
२. पृ० १२

जात्यन्तर है. वह स्वद्रव्य, क्षेत्र काल और भाव रूप से सत् है और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप से असत् है अत विरोध के लिये कोई स्थान नही है

वस्तुस्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिये भाव पदार्थ से अत्यन्त भिन्न अन्योन्याभाव नामक स्वतत्र पदार्थ मानने से ही काम चल सकता है, अत वस्तु को भावाभावात्मक मानने की आवश्यकता नही है—यह शका भी उचित नही, क्योकि यदि वस्तु को पर-रूप से अभावात्मक नही माना जाय, तो पट आदि के अभाव को घट नही कह सकने के कारण घट को पटरूप मानना पडेगा जैसे घटाभाव से भिन्न होने के कारण घट को घट कह सकते है, वैसे ही पट को भी घटाभाव से भिन्न होने के कारण घट मानना चाहिए

तात्पर्य यह है कि न्याय-वैशेषिक के अनुसार अन्योन्याभाव को दो पदार्थो की स्वतत्र स्थिति मे कारण माना जाता है, और यह भेद स्वय एक स्वतत्र पदार्थ है उसके अनुसार जहा घट का अभाव नही रहता वहा घट का निश्चय होता है पर यह मान्यता ठीक नही है न्याय-वैशेषिक के अनुसार पट आदि घट के अभावरूप नही है, इसलिए पट आदि के घट के अभाव से भिन्न होने पर पटादि मे भी घट का ज्ञान होना चाहिए जैन-सिद्धान्तानुसार घट को घट के अतिरिक्त सभी पदार्थो का अभावरूप-स्वीकार गया है अत घट-पटादि के भी अभाव स्वरूप होने से घट मे पट का ज्ञान नही हो सकता, इसलिए स्व-पररूप से सदसदात्मक सब पदार्थो को स्वीकार करना चाहिए, अन्यथा प्रतिनियत रूप व्यवस्था की अनुपपत्ति होगी न्यायकुमुदचन्द्र[1] मे आचार्य प्रभाचन्द्र ने कहा है—'स्वपररूपाभ्यां सदसदात्मका. सर्वे भावा प्रतिपत्तव्या प्रतिनियतरूपव्यवस्थान्यथानुपपत्ते.' यदि कहा जाय कि प्रतिनियतरूप व्यवस्था की अनुपपत्ति नही होगी, क्योकि पूर्व-कथित इतरेतराभाव से उसकी व्यवस्था हो जायगी तो यहा प्रश्न उठता है कि यह इतरेतराभाव स्वतन्त्र है कि भाव का धर्म है ? इतरेतराभाव स्वतत्र नही हो सकता, क्योकि अपने स्वातत्र्य के लिये वह दूसरे इतरेतराभाव की अपेक्षा रखेगा और दूसरा तीसरे की, तीसरा चौथे की इत्यादि, और इस प्रकार अनवस्था होने के कारण इतरेतराभाव का स्वतत्र अस्तित्व ही सिद्ध नही हो सकेगा तब क्या वह भाव का धर्म है ? इतरेतराभावको भावपदार्थ का धर्म स्वीकार करने पर प्रश्न होगा—किस भाव का धर्म है ? घट का, भूतल का या उभय का ?—यदि इतरेतराभाव को घट रूप भावपदार्थ का धर्म माना जाय तो भी प्रश्न उठता है कि वह घटस्वरूप का निषेधक है या नही ? यदि उसे निषेधक माना जाय तो फिर प्रश्न होगा कि घट मे ही घटस्वरूप का वह निषेधक है या भूतल मे घटस्वरूप का ?

इतरेतराभाव को घट मे घटस्वरूप का निषेधक मानना उचित नही है, क्योकि ऐसा मानने पर घट की सत्ता ही असिद्ध हो जायगी और उस परिस्थिति मे वह इतरेतराभाव किस भाव पदार्थ का धर्म होगा ? और "भूतले घटो नास्ति" यह प्रतीति भी कैसे होगी ? क्योकि घट मे ही उस प्रतीति का प्रसग होगा यदि आप इतरेतराभाव को भूतल में घटस्वरूप का निषेधक मानेंगे तो यह जैन मत स्वीकार करना होगा, कारण जैन-दर्शन के अनुसार घटाभाव घटधर्म होता हुआ ही भूतल मे घटस्वरूप का निषेधक होता है

यदि इतरेतराभाव को घटस्वरूप का अनिषेधक माना जाय तो भूतल मे भी घटस्वरूप का प्रसग होने से अभाव-कल्पना व्यर्थ हो जायगी. भूतल का धर्म भी उसे नही मान सकते क्योकि 'घटोऽस्ति' इत्याकारक अस्तिता-प्रतीति के विषय-भूत 'अस्तिता' की तरह समान 'घटो नास्ति' इत्याकारक 'नास्तिता'-प्रतीति का विषयभूत नास्तिता-धर्म भी घट का ही धर्म है यदि नास्तित्व आधार(भूतलका) धर्म होकर भी आधेय (घटादि) के साथ समानाधिकरण हो सकता है तब तो,अस्तित्व को भी आधार का धर्म मान लेने मे कोई विरोध नही होना चाहिए और फलस्वरूप अस्तित्व तथा नास्तित्व इन दोनो धर्मों से शून्य होने के कारण घटपटादि द्रव्य खपुष्पवत् असत् हो जायेंगे इसी प्रकार 'नास्तित्व' आधार तथा आधेय—इन दोनो का धर्म भी नही हो सकता है क्योकि तब तो उपरोक्त युक्ति द्वारा अस्तित्व को भी उभय धर्म मानना पड़ेगा.

---

१. प्रथम भाग, पृ० ३६७






इस अभाव प्रमेय को लेकर दार्शनिकों में काफी विचारविमर्श हुआ है प्रभाकर मीमांसक अभाव के संपूर्ण द्वेषी है, वे अभाव को नही मानते. बौद्ध दार्शनिक भी अभाव को कल्पित पदार्थ मानते है न्याय-वैशेषिक तथा वेदान्ती अभाव को भाव से भिन्न एक स्वतन्त्र पदार्थ स्वीकार करते हैं सांख्य इसे अधिकरण स्वरूप मानते है. जैनमतानुसार अभाव वस्तु का अभावांश है

इस अभाव प्रमेय के भेद को लेकर भी दार्शनिको मे मतभेद विद्यमान है वैशेषिक सम्प्रदाय मे प्रागभावादि भेद से अभाव को चार प्रकार का माना गया है. नव्य नैयायिक गंगेश प्रभृति आचार्यो ने अभाव के चार प्रकार ही माने है प्राचीन नैयायिक उदयनाचार्य ने भी स्वरचित लक्षणावली मे अभाव के चातुर्विध्य का ही प्रतिपादन किया है वाचस्पति मिश्र ने भी इसी बात का समर्थन किया है किन्तु जयन्त भट्ट के मतानुसार अभाव द्विविध है—प्रागभाव और ध्वंस वे अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव को स्वतन्त्र अभाव नही मानते किन्तु प्रागभाव को ही उक्त दोनो अभावो के स्थान मे मानते है जैन-सिद्धान्तानुसार भी अभाव चार प्रकार का है, जैसे—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव. पदार्थ का पूर्व मे अनस्तित्व ही प्रागभाव है, अर्थात् जिसका विनाश होने पर कार्य की उत्पत्ति हो वह पदार्थ उस कार्य-का प्रागभाव है, जैसे घट मृत्पिण्डविनाश के द्वारा उत्पन्न होता है अत मृत्पिण्ड घट का प्रागभाव है जैसाकि वादि-देव-सूरि ने अपने प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार[1] मे कहा है—'यन्निवृत्तावेव कार्यस्य समुत्पत्ति सोऽस्य प्रागभाव.' कोई भी कार्य अपनी उत्पत्ति के पहले असत् होता है, वह कारणो से उत्पन्न होता है. कार्य का अपनी उत्पत्ति के पहले न होना ही प्रागभाव कहलाता है यह अभाव भावान्तर रूप होता है यह तो ध्रुव सत्य है कि किसी भी द्रव्य की उत्पत्ति नही होती. द्रव्य तो अनादि-अनन्त है उत्पत्ति होती है पर्याय की द्रव्य अपने द्रव्यरूप से कारण होता है, और पर्यायरूप से कार्य. जो प्रायः उत्पन्न होने जा रहा है वह उत्पत्ति के पूर्व पर्याय रूप मे नही था. अत उसका जो अभाव वही प्रागभाव है यह प्रागभाव पूर्वपर्यायरूप होता है, अर्थात् घट-पर्याय जब तक उत्पन्न नही हुआ तब तक वह असत् है और जिस मिट्टी द्रव्य से वह उत्पन्न होने वाला है उस द्रव्य का घट से पहले का पर्याय घट का प्रागभाव कहा जाता है अर्थात् वही पर्याय नष्ट होकर घटपर्याय बनता है अत वह पर्याय घट-प्रागभाव है

इसी तरह अत्यन्त सूक्ष्म काल की दृष्टि से पूर्वपर्याय ही उत्तरपर्याय का प्रागभाव है और सन्तति की दृष्टि से यह प्रागभाव अनादि भी कहा जाता है. पूर्वपर्याय का प्रागभाव तत्पूर्वपर्याय है, तथा तत्पूर्वपर्याय का प्रागभाव उसमे भी पूर्व का पर्याय होगा, इस तरह सन्तति की दृष्टि से यह अनादि होता है. यदि कार्य-पर्याय का प्रागभाव नही माना जाता है, तो कार्यपर्याय अनादि हो जायगा और द्रव्य मे त्रिकालवर्ती सभी पर्यायो का एक काल में प्रकट सद्भाव मानना होगा, जो कि सर्वथा प्रतीति-विरुद्ध है

जिसकी उत्पत्ति से कार्य का अवश्य विनाश हो, वह उस कार्यका प्रध्वंसाभाव है जैसे कपाल-समुदाय की उत्पत्ति होने से नियमत घटका विनाश होता है, अत कपालसमुदाय ही घट का प्रध्वंसाभाव है जैसा कि वादि देवसूरिने कहा है—'यदुत्पत्तौ कार्यस्यावश्य विपत्ति सोऽस्य प्रध्वंसाभाव'.[2] द्रव्य का विनाश नही होता किन्तु विनाश होता है पर्याय का अत कारण-पर्याय का नाश कार्यपर्यायरूप होता है कारण नष्ट होकर कार्यरूप बन जाता है. कोई भी विनाश सर्वथा अभावरूप या तुच्छ न होकर उत्तर पर्यायरूप होता है घट पर्याय नष्टहोकर कपाल-पर्याय बनता है, अत घट का विनाश कपालरूप ही फलित होता है

तात्पर्य यह है कि पूर्वपर्याय का नाश उत्तरपर्यायरूप होता है यदि प्रागभाव को न माना जाय तो कार्यभूत द्रव्य घट-पटादि अनादि हो जायगा, और अनादि पदार्थ का नाश नही होता है अत घट पटादि की नित्यत्वापत्ति होगी. प्रध्वंसा-भाव को न स्वीकार करने पर कार्यभूत घट-पटादि अनन्त हो जायेंगे जैसा कि स्वामी समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा[3] मे

१. तृतीय परिच्छेद, सूत्र ५६

२. प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार, तृतीय परिच्छेद, सूत्र ६१.

३. कारिका १०



कहा है

कार्यद्रव्यमनादि स्यात् प्रागभावस्य निह्नवे, प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत् ।

और घट-पटादि अनन्त हो जाने पर सभी पर्यायो का सद्भाव युगपत् अनुभव मे आना चाहिए किन्तु वर्तमान मे तो एक ही पर्याय अनुभव मे आता है

यहा यह शका भी नही करनी चाहिए कि घटविनाश यदि कपालरूप है तो कपाल का विनाश होने पर, यानी घटविनाश का नाश होने पर, फिर घट को पुनरुज्जीवित हो जाना चाहिए, क्योकि विनाश का विनाश तो सदभावरूप होता है. कारण का उपमर्दन करके कार्य उत्पन्न होता है, पर कार्य का उपमर्दन करके कारण नही उपादान का उपमर्दन करके उपादेय की उत्पत्ति ही सर्वजनसिद्ध है

प्रागभाव (पूर्वपर्याय) और प्रध्वसाभाव (उत्तरपर्याय) मे उपादान-उपादेय भाव है प्रागभाव का नाश करके प्रध्वस उत्पन्न होता है, पर प्रध्वस का नाश करके प्रागभाव पुनरुज्जीवित नही हो सकता जो नष्ट हुआ वह नष्ट हुआ नाश अनन्त है जो पर्याय गया वह अनन्त काल के लिये गया, वह फिर वापिस नही आ सकता 'यदतीतमतीतमेव तत्'—यह ध्रुव नियम है अत यदि प्रध्वसाभाव नही माना जाता है तो कोई भी पर्याय नष्ट नही होगा और सभी पर्याय अनन्त हो जायेंगे प्रध्वसाभाव प्रतिनियत पदार्थव्यवस्था के लिये नितान्त आवश्यक है

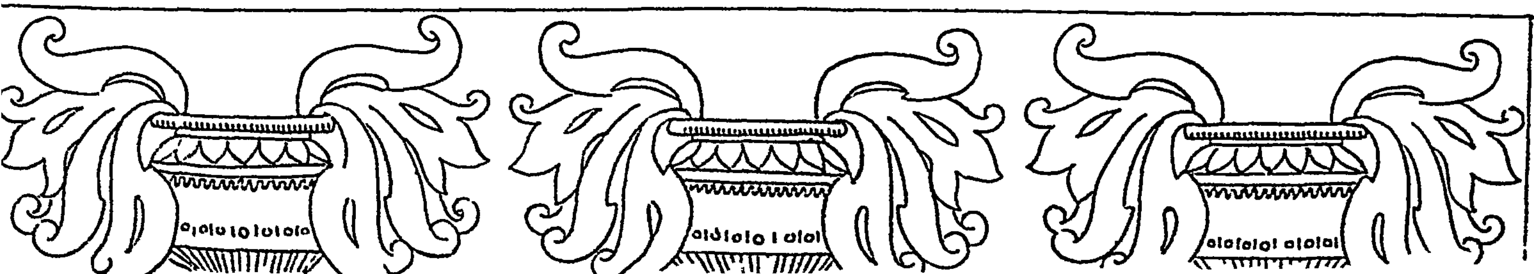
अन्य स्वभाव से अपने स्वभाव की व्यावृत्ति को इतरेतराभाव या अन्यापोह कहते हैं जैसे स्तम्भ-स्वभाव से कुम्भ-स्वभाव की व्यावृत्ति होती है आचार्य वादि-देवसूरि ने भी इसी बात को इस प्रकार कहा है—'स्वरूपान्तरात् स्वरूपव्यावृत्तिरितरेतराभाव इति '[1] एक पर्याय का दूसरे पर्याय मे जो अभाव है वह इतरेतराभाव है स्वभावान्तर से स्वस्वभाव की व्यावृत्तिको इतरेतराभाव कहते है प्रत्येक पदार्थ का अपना-अपना स्वभाव निश्चित है एक का स्वभाव दूसरे का स्वरूप नही होता यह जो स्वभावो की प्रतिनियतता है वही इतरेतराभाव है घटका पट मे और पट का घट मे वर्तमानकालिक अभाव है कालान्तर मे घट के परमाणु मिट्टी, कपास और तन्तु बनकर पट-पर्याय को धारण कर सकते है, पर वर्तमान मे तो घट-पट नही हो मकता यह जो वर्तमानकालीन परस्पर व्यावृत्ति है वह अन्योन्याभाव है

प्रागभाव और प्रध्वसाभाव से अन्योन्याभाव का कार्य नही चलाया जा सकता, क्योकि जिसके अभाव मे नियम से कार्य की उत्पत्ति हो वह प्रागभाव, और जिसके होने पर नियम के कार्य का विनाश हो वह प्रध्वसाभाव कहलाता है पर इतरेतराभाव के अभाव या भाव से कार्योत्पत्ति या विनाश का कोई सम्बन्ध नही है वह तो वर्तमान पर्यायो के प्रतिनियत स्वरूप की व्यवस्था करता है. यदि यह इतरेतराभाव नही माना जाय, तो कोई भी प्रतिनियत पर्याय सर्वात्मक हो जायगा अर्थात् सब सर्वात्मक हो जायेगे जैसाकि स्वामी समतभद्र ने आप्तमीमांसा[2] मे कहा है—'सर्वात्मक तदेक स्यादन्यापोह-व्यतिक्रमे '

अतीतादि तीनो कालो मे तादात्म्य परिणाम की निवृत्ति को अत्यन्ताभाव कहा जाता है जैसे चेतन मे अचेतन के तादात्म्य भाव का अत्यन्त अभाव है. अर्थात् चेतन किसी काल मे अचेतन नही बनता इसी बात को वादिदेवसूरि ने प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार[3] मे इस प्रकार कहा है—'कालत्रयापेक्षिणी हि तादात्म्यपरिणामनिवृत्तिरत्यन्ताभाव ' यदि अत्यन्ताभाव को स्वीकार न किया जाय तो घट-पटादि मे भी चेतनत्व की प्राप्ति हो जायगी जैसाकि स्वामी समतभद्र ने कहा है—'अन्यत्र समवायेन व्यपदिश्येत सर्वथा '[4] अत एक पदार्थ मे दूसरे पदार्थ का त्रैकालिक अभाव ही अत्यन्ताभाव है ज्ञान का आत्मा

---

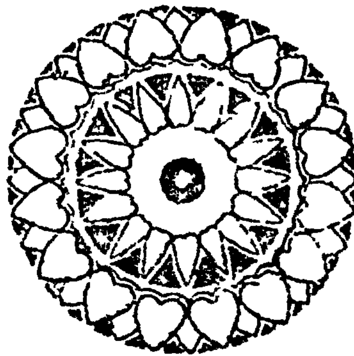
१ प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार. परिच्छेद, ३, सूत्र ६३
२ कारिका ११ (पूर्वार्ध)
३ तृतीय परिच्छेद, कारिका ६५
४. कारिका ११ (उत्तरार्ध)



में समवाय है, उसका समवाय कभी भी पुद्गल मे नही हो सकता, अत यह अत्यन्ताभाव कहलाता है यदि अत्यन्ता-भाव का लोप कर दिया जाय तो किसी भी द्रव्य का कोई असाधारण स्वरूप नही रह जायगा सब द्रव्य सर्वात्मक हो जायेगे

अत्यन्ताभाव के कारण ही एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नही हो पाता. द्रव्य चाहे सजातीय हो या विजातीय, उसका अपना प्रतिनियत अखण्ड स्वरूप होता है. एक द्रव्य दूसरे मे कभी भी ऐसा विलीन नही होता जिससे कि उसकी सत्ता ही समाप्त हो जाय

इस लेख मे हमने अभाव प्रमेय को लेकर विचार किया उसके ग्राहक-प्रमाण के सम्बन्ध मे विस्तृत विचार यहाँ इष्ट नही है अभावरूप प्रमेय के ग्राहक-प्रमाण के बारे मे अनेक प्रकार के मत दार्शनिको मे पाये जाते हैं. मीमासक कुमारिल के अनुसार अभाव प्रमेय अनुपलब्धिप्रमाण-ग्राह्य है बौद्ध, अपने कल्पित अभावका ग्यारह प्रकार की अनुपलब्धियो द्वारा अनुमेय मानते हैं वेदान्तियों के मत में घटाभाव पटाभाव आदि अभावो के साथ इन्द्रियो का कोई सम्बन्ध सभव नही होने से प्रत्यक्ष के द्वारा अभाव का ग्रहण नही हो सकता है, अत कुमारिल का अनुसरण करते हुए वे अभाव के ग्रहण के लिये अभाव या अनुपलब्धि नामक एक पृथक् मानते हैं किन्तु नैयायिक अभाव ग्रहण का प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा ही मानते हैं और साख्य ने भी उसको प्रत्यक्ष के अन्तर्गत ही माना है. परन्तु उसके उपपादन का मार्ग भिन्न है जैन मतानुसार अभाव को प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा ग्राह्य माना गया है जैसा कि वादी देवसूरि ने स्याद्वाद-रत्नाकर मे कहा है—'अभाव-प्रमाण तु प्रत्यक्षादावेवान्तर्भ-वतीति'. स्थानाभाव के कारण इन मान्यताओ पर ऊहापोह करना प्रस्तुत प्रसग मे सम्भव नही है.





डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री
एम० ए० पी-एच० डी०, शास्त्राचार्य, वेदान्तवारिधि, न्यायतीर्थ

श्रावकधर्म

जैनधर्म के अनुसार साधना का उद्देश्य किसी बाह्य वस्तु की प्राप्ति करना नही, वरन् बाह्य प्रभाव के कारण आत्मा का जो शुद्ध स्वरूप छिपा हुआ है, उसे प्रकट करना है जब आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है तो वही परमात्मा बन जाता है परमात्मपद की प्राप्ति ही जैन-साधना का लक्ष्य है इसकी प्राप्ति के लिये जीव अपने विकारो को दूर करता हुआ क्रमश आगे बढता है

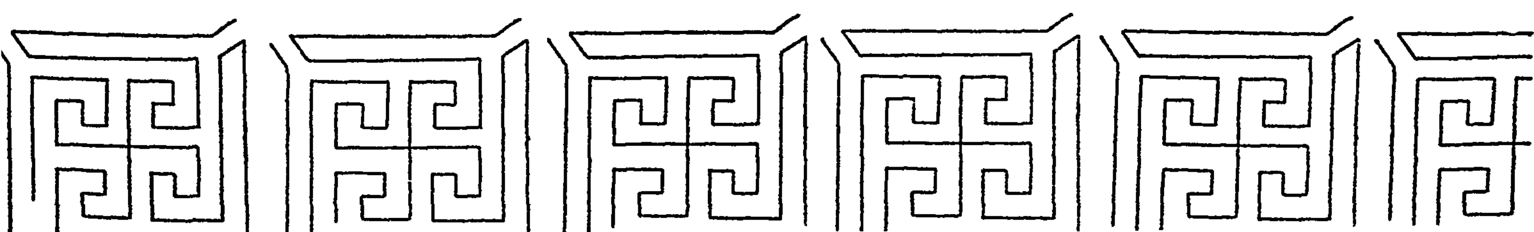
जैनसघ मे गृहत्यागी और गृहस्थ दोनो वर्गो को स्थान दिया गया है अतएव स्वाभाविक है कि साधको के स्तरभेद के कारण उनकी साधना के स्तर मे भी भिन्नता हो यही कारण है कि जैनशास्त्रो मे मुनिधर्म और गृहस्थ-धर्म का पृथक्-पृथक् निरूपण किया गया है प्रस्तुत निबध मे गृहस्थधर्मसाधना पर ही प्रकाश डाला जाएगा

गृहस्थधर्म को सयमासयम, देशविरति, देशचारित्र आदि भी कहते हैं यह सर्वविदित है कि श्रमण-परम्परा मे त्याग पर अधिक बल दिया गया है

यहा विकास का अर्थ आन्तरिक समृद्धि है और यदि बाह्य सुख-सामग्री उसमे बाधक है तो उसे भी हेय बताया गया है. फिर भी जैन-परम्परा ने आध्यात्मिक विकास की मध्यम श्रेणी के रूप मे एक ऐसी भूमिका को स्वीकार किया है जहाँ त्याग और भोग का सुन्दर समन्वय है बौद्धसघ मे केवल भिक्षु ही सम्मिलित किये जाते हैं, गृहस्थो के लिये स्थान नही है किन्तु जैनसघ मे दोनो सम्मिलित है जहाँ तक मुनि की चर्या का प्रश्न है जैन-परम्परा ने उसे अत्यन्त कठोर तथा उच्चस्तर पर रखा है बौद्ध-भिक्षु अपनी चर्या मे रहता हुआ भी अनेक प्रवृत्तियो मे भाग ले सकता है किन्तु जैन मुनि ऐसा नही कर सकता परिणामस्वरूप जहाँ तप और त्याग की आध्यात्मिक ज्योति को प्रज्वलित रखना साधु-सस्था का कार्य है, सघ के भरण-पोषण एव बाह्य सुविधाओ का ध्यान रखना श्रावक-सस्था का कार्य है

बौद्धधर्म मे भी साधना-मार्ग के रूप मे श्रावक-यान का निर्देश मिलता है वहा श्रावक शब्द का अर्थ है, वह साधक जो दूसरो से सुनकर ज्ञान प्राप्त करता है और साधना के पथ पर अग्रसर होता हुआ निर्वाण अवस्था मे पहुचता है इसकी तुलना मे वहाँ दो यान और है प्रत्येक बुद्धयान और बोधिसत्वयान प्रत्येक बुद्ध अपने आप ज्ञान प्राप्त करता है और बोधिसत्व अपने कल्याण के साथ दूसरो के कल्याण मे भी प्रवृत्त होता है इस प्रकार बोधिसत्व और शेष दो मे लक्ष्य का भेद है जैन परम्परा मे जो स्थान तीर्थंकर का है बौद्ध-परम्परा मे वही बुद्ध का है श्रावक और प्रत्येक बुद्ध मे ज्ञान-प्राप्ति की दृष्टि से भेद है जहाँ तक उनके शील या चरित्र का प्रश्न है कोई भेद नही है किन्तु जैन परम्परा मे श्रावक और मुनि मे मुख्य भेद चरित्र के स्तर का है

जैन-साहित्य मे श्रावक शब्द के दो अर्थ मिलते हैं—पहला, 'श्रि' धातु से बना है, जिसका अर्थ है सुनना जो शास्त्रो का श्रवण करता है और तदनुसार चलने का यथाशक्ति प्रयत्न करता है वह श्रावक है श्रावक शब्द से साधारणतया यही अर्थ ग्रहण किया जाता है प्रतीत होता है जैन परम्परा मे श्रावको द्वारा स्वय शास्त्राध्ययन की परिपाटी नही



रही यत्र तत्र साधुओ के अध्ययन और उन्हे पढाने वाले वाचनाचार्य का वर्णन मिलता है अध्ययन करने वाले साधुओ की योग्यता तथा आवश्यक तपोनुष्ठान का विधान भी किया गया है किन्तु श्रावको का निर्देश शास्त्राध्ययन के सम्बन्ध मे कही नही मिलता इस का दूसरा अर्थ 'श्रापाके' धातु के आधार पर किया जाता है. इस धातु से सस्कृत रूप 'श्रापक' बनता है जिसका प्राकृत मे 'शावय' हो सकता है किन्तु संस्कृत मे 'श्रावक' शब्द के साथ इसकी सगति नही बैठती इन शब्द का आशय है वह व्यक्ति, जो भोजन पकाता है, इसके विपरीत साधु भिक्षा पर निर्वाह करते है, पकाते नही

श्रावक के लिये बारह व्रतो का विधान है उनमे से प्रथम पाच अणुव्रत या शीलव्रत कहे जाते हैं. अणुव्रत का अर्थ है छोटे व्रत साधु हिसा आदि का पूर्ण परित्याग करता है अत उसके व्रत महाव्रत कहे जाते है. श्रावक उनका पालन मर्यादित रूप मे करता है अत उसके व्रत अणुव्रत कहे जाते है शील का अर्थ है आचार, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाच चरित्र या आचार की आधार शिला है इसीलिए इनको शील कहा जाता है बौद्ध साहित्य मे भी इनके लिये यही नाम मिलता है योग दर्शन मे इन्हे यम कहा गया है और अष्टाग योग की आधार शिला माना गया है और कहा गया है कि ये ऐसे व्रत हैं जो सार्वभौम हैं—व्यक्ति देश-काल तथा परिस्थिति की मर्यादा से परे है अर्थात् धर्माधर्म या कर्त्तव्या-कर्त्तव्य का निरूपण करते समय अन्य नियमो की जाच अहिंसा आदि के आधार पर करना चाहिए किन्तु इन्हे किसी दूसरे के लिये गौण नही बनाया जा सकता. हिंसा प्रत्येक अवस्था मे पाप है उसके लिये कोई अपवाद नही है कोई व्यक्ति हो या कैसी ही परिस्थिति हो, हिंसा पाप है, अहिंसा धर्म है. सत्य आदि के लिये भी यही बात है किन्तु इनका पूर्णतया पालन वही हो सकता है जहाँ सब प्रवृत्तिया वन्द हो जाती हैं. हमारी प्रत्येक हलचल मे सूक्ष्म या स्थूल हिंसा होती रहती है अत साधक के लिये विधान है कि उस लक्ष्य पर दृष्टि रखकर यथाशक्ति आगे बढता चला जाय साधु औरश्रावक इसी प्रगति की दो कक्षाए हे श्रावक के शेष सात व्रतो को शिक्षा-व्रत कहा गया है वे जीवन मे अनुशासन लाते हैं इनमे से प्रथम तीन बाह्य अनुशासन के लिये हैं और हमारी व्यावसायिक हलचल, दैनन्दिन रहन-सहन एव शरीर-सचालन पर नियत्रण करते है और शेष चार आतरिक शुद्धि के लिये हैं इन दोनो श्रेणियो मे विभाजन करने के लिये प्रथम तीन को गुण व्रत और शेष चार को शिक्षा व्रत भी कहा जाता है

इन बारह व्रतो के अतिरिक्त पूर्व भूमिका के रूप मे सम्यक्त्व-व्रत है जहा साधक की दृष्टि अन्तर्मुखी बन जाती है और वह आन्तरिक विकास को अधिक महत्त्व देने लगता है, इसका निरूपण पहले किया जा चुका है. बारह व्रतो का अनुष्ठान करता हुआ श्रावक आध्यात्मिक शक्ति का सचय करता जाता है उत्साह बढने पर वह घर का भार पुत्र को सौप कर धर्म-स्थान मे पहुच जाता है और सारा समय तपस्या और आत्म-चिन्तन मे बिताने लगता है उस समय वह ग्यारह प्रतिमायें स्वीकार करता है और उत्तरोत्तर बढता हुआ अपनी चर्या को मुनि के समान बना लेता हे जब वह यह देखता कि मन मे उत्साह होने पर भी शरीर कृश हो गया है और बल क्षीण होता जा रहा है तो नही चाहता कि शारीरिक दुर्बलता मन को प्रभावित करे और आत्म-चिन्तन के स्थान पर शारीरिक चिन्तायें होने लगें इस विचार के साथ वह शरीर का ममत्व छोड देता है आहार का परित्याग करके निरन्तर आत्म-चिन्तन में लीन रहता है. जहाँ वह जीवन की इच्छा का परित्याग कर देता है, वहाँ यह भी नही चाहता कि मृत्यु शीघ्र आ जाय जीवन और मृत्यु, निन्दा और स्तुति, सुख और दु ख सबके प्रति समभाव रखता हुआ समय आने पर शान्तचित्त से स्थूल शरीर को छोड देता है. श्रावक की इस दिनचर्या का वर्णन उपासकदशाग के प्रथम आनन्द नामक अध्ययन मे है अब हम सक्षेप में इन व्रतो का निरूपण करेंगे प्रत्येक व्रत का प्रतिपादन दो भागो मे विभक्त है. पहला भाग विधान के रूप मे है जहा साधक अपनी व्यवहार मर्यादा का निश्चय करता है उस मर्यादा को सकुचित करना उसकी अपनी इच्छा एव उत्साह पर निर्भर है किन्तु मर्यादा से आगे बढने पर व्रत टूट जाता है दूसरे भाग मे उन दोषो का प्रतिपादन किया गया है जिनकी सभावना बनी रहती है और कहा गया है कि श्रावक को उन्हे जानना चाहिए किन्तु आचरण न करना चाहिए श्रावक के लिये दिनचर्या के रूप मे प्रतिक्रमण का विधान है उसमे वह प्रतिदिन इन व्रतो एवं सभावित दोषो को दोहराता है किसी



प्रकार का दोष ध्यान मे आने पर प्रायश्चित्त करता है और भविष्य मे उनके निर्दोष पालन की घोषणा करता है इन सम्भावित दोषो को अतिचार कहा गया है

जैन शास्त्रो मे व्रत के अतिक्रमण की चार कोटिया बताई गई है :

१ अतिक्रम-व्रत को उल्लघन करने का मन मे ज्ञात या अज्ञात रूप से विचार आना

२ व्यतिक्रम-उल्लघन करने के लिये प्रवृत्ति

३ अतिचार-व्रत का आशिक रूप मे उल्लघन

४, अनाचार-व्रत का पूर्णतया टूट जाना.

अतिचार की सीमा वही तक है जब कोई दोष अनजान मे लग जाता है, जान-बूझ कर व्रतभग करने पर अनाचार हो जाता है.

अहिंसा-व्रत

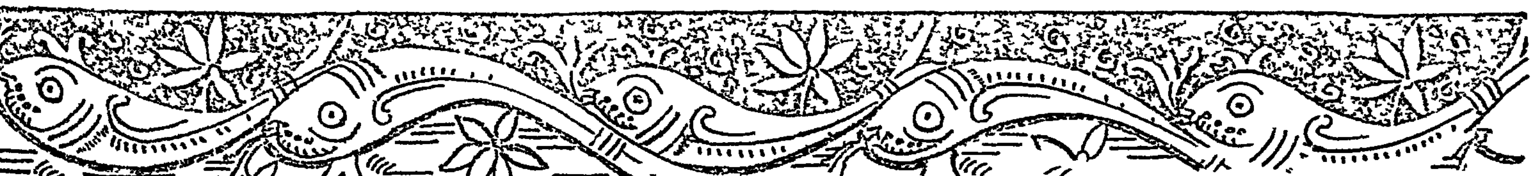
अहिसा जैन-परम्परा का मूल है जैनधर्म और दर्शन का समस्त विकास इसी मूल तत्त्व को लेकर हुआ है आचाराग सूत्र मे भगवान् महावीर ने घोषणा की है कि जो अरिहन्त भूतकाल मे हो चुके है, जो वर्तमान मे है तथा जो भविष्य मे होगे उन सबका एक ही कथन है, एक ही उपदेश, एक ही प्रतिपादन है तथा एक ही उद्घोष है कि विश्व मे जितने प्राणि, भूत, जीव या सत्त्व है किसी को नही मारना चाहिए, किसी को नही सताना चाहिए. किसी को कष्ट या पीडा नही देनी चाहिए जीवन के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन समता के आधार पर करते हुए उन्होने कहा—जब तुम किसी को मारना, सताना या पीडा देना चाहते हो तो उसके स्थान पर अपने को रखकर सोचो, जिस प्रकार यदि कोई तुम्हे मारे या कष्ट देवे तो अच्छा नही लगता इसी सूत्र मे भगवान् ने फिर कहा है—अरे मानव, अपने आपसे युद्ध कर, बाह्य युद्धो से कोई लाभ नही

इस प्रकार भगवान् महावीर ने अहिसा के दो रूप उपस्थित किये एक बाह्य रूप जिसका अर्थ है किसी प्राणी को कष्ट न देना दूसरा आभ्यन्तर रूप है जिसका अर्थ है किसी के प्रति दुर्भावना न रखना, किसी का बुरा न सोचना.

दशवैकालिक सूत्र मे धर्म को उत्कृष्ट मगल बताया है इसका अर्थ है जो आदि, मध्य तथा अत, तीनो अवस्थाओ मे मगल रूप हो वही धर्म है उसके तीन अग बताए गए है—१ अहिंसा, २ सयम, ३ तप वास्तव मे देखा जाय तो सयम और तप अहिंसा के दो पहलू हैं सयम का सम्बन्ध बाह्य प्रवृत्तियो के साथ है और तप का आन्तरिक मलिनताओ या कुसस्कारो के साथ उपर्युक्त अणुव्रतो तथा शिक्षाव्रतो का विभाजन इन्ही दो रूपो को सामने रखकर किया गया है सयम और तप की पूर्णता के रूप मे ही मुनियो के लिये एक ओर महाव्रत तथा समिति, गुप्ति आदि उनकी सहायक क्रियाओ का विधान है और दूसरी ओर बाह्य तथा आभ्यन्तर अनेक प्रकार की तपस्याओ का विधान है पाच महाव्रतो मे भी वस्तुत देखा जाय तो सत्य और अस्तेय, बाह्य अहिंसा अर्थात् व्यवहार के साथ सम्बन्ध रखते है, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह आन्तरिक अहिंसा अर्थात् विचार के साथ सम्बन्ध रखते है.

व्यास ने पातञ्जल योग के भाष्य मे कहा है "अहिंसा भूतानामनभिद्रोह " द्रोह का अर्थ है ईर्ष्या या द्वेष बुद्धि इसमे मुख्यतया विचारपक्ष को सामने रक्खा गया है, जैन-दर्शन विचार और व्यवहार दोनो पर बल देता है

जैन-दर्शन का सर्वस्व स्याद्वाद है वह विचारो की अहिंसा है इसका अर्थ है व्यक्ति अपने विचारो को जितना महत्त्व देता है दूसरो के विचारो को भी उतना दे गलत सिद्ध होने पर अपने विचारो को छोडने पर तैयार रहे और वास्तविक सिद्ध होने पर दूसरे के विचारो का स्वागत करे जैन-दर्शन का कथन है कि व्यक्ति अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुसार विभिन्न दृष्टिकोणो को उपस्थित करते है. वे दृष्टिकोण मिथ्या नही होते किन्तु सापेक्ष होते है परिस्थिति तथा समय के अनुसार उनमे से किसी एक का चुनाव किया जाता है इस चुनाव को द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव इन शब्दो द्वारा प्रकट किया गया है



उमास्वाति ने अपने 'तत्त्वार्थसूत्र' मे हिंसा की व्याख्या करते हुए कहा है—'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणम् हिंसा !" इस व्याख्या के दो भाग हैं, पहला भाग है—'प्रमत्तयोगात्' योग का अर्थ है मन, वचन और काया की प्रवृत्ति, प्रमत्त का अर्थ है प्रमाद से युक्त वे पाच है

१ मद्य—अर्थात् ऐसी वस्तुए जिनसे मनुष्य की विवेक-शक्ति कुण्ठित हो जाती है.

२ विषय—रूप, रस, गन्ध आदि इन्द्रियो के विषय, जिनके आकर्षण मे पड कर मनुष्य अपने हिताहित को भूल जाता है

३ कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ आदि मनोवेग, जो मनुष्य को पागल बना देते है

४ निद्रा—आलस्य या अकर्मण्यता

५ विकथा—स्त्रियो के सौन्दर्य, देश-विदेश की घटनाए, भोजन सम्बन्धी स्वाद तथा राजकीय व्यवस्था आदि विषयो को लेकर व्यर्थ की चर्चाये करते रहना प्रमाद की अवस्था मे मन, वचन और शरीर की ऐसी प्रवृत्ति करना जिससे दूसरे के प्राण पर आघात पहुचे—हिंसा है इसका अर्थ है यदि हितबुद्धि से प्रेरित होकर कोई कार्य किया जाता है और उससे दूसरे को कष्ट पहुचता है तो वह हिंसा नही है.

उपरोक्त व्याख्या मे प्राणशब्द अत्यन्त व्यापक है जैन-शास्त्रो मे प्राण के दस भेद है—पाच इन्द्रिया, मन, वचन, काया, श्वासोच्छ्वास और आयु इनका व्यपरोपण दो प्रकार से होता है आघात द्वारा तथा प्रतिबन्ध द्वारा दूसरे को ऐसी चोट पहुचाना जिससे दिखना या सुनना बन्द हो जाय, आघात है दूसरे को देखने या सुनने से रोकना, उसकी स्वतन्त्र वृत्तियो मे बाधा डालना प्रतिबन्ध है दूसरे के स्वतन्त्र चिन्तन, भाषण अथवा यातायात मे रुकावट डालना भी प्रतिबन्ध के अन्तर्गत है और वह हिंसा है दूसरे की खुली हवा को रोकना, उसे दूषित करना, श्वासोच्छ्वास पर प्रतिबन्ध है

यहाँ यह प्रश्न होता है कि एक नागरिक अपनी स्वतन्त्र प्रवृत्तियो के कारण दूसरे नागरिक के रहन-सहन एव सुख-सुविधा मे बाधा डालता है, उसके वैयक्तिक जीवन मे हस्तक्षेप करता है, चोरी, डकैती तथा अन्य अपराधो द्वारा शान्ति भग करता है, क्या उस पर नियन्त्रण करना आवश्यक नही है ? यही साधु और श्रावक की चर्या मे अन्तर हो जाता है साधु किसी पर हिंसात्मक नियत्रण नही करता वह अपराधी को भी उसके कल्याण की बुद्धि से उपदेश द्वारा समझाता है, उसे किसी प्रकार का कष्ट नही देना चाहता इसके विपरीत श्रावक को इस बात की छूट रहती है वह अपराधी को दण्ड दे सकता है नागरिक जीवन मे बाधा डालने वाले पर हिंसात्मक नियन्त्रण रख सकता है.

साधु और श्रावक की अहिंसा में एक बात का अन्तर और है—जैन-धर्म के अनुसार पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु तथा वनस्पतियो मे भी जीव है और उन्हे स्थावर कहा गया है और चलने फिरने वाले जीवो को त्रस कहा गया है. साधु अपने लिये, भोजन बनाना, पकाना, मकान बनाना, आदि कोई प्रवृत्ति नही करता, वह भिक्षा पर निर्वाह करता है, इसके विपरीत श्रावक अपनी आवश्यकता-पूर्ति के लिये मर्यादित रूप मे प्रवृत्तिया करता है और उनमे पृथ्वी, पानी, अग्नि आदि स्थावर जीवो की हिंसा होती ही रहती है उस सूक्ष्म हिंसा का उससे त्याग नही होता वह केवल स्थूल अर्थात् त्रस जीवो की हिंसा का त्याग करता है इस प्रकार श्रावक की चर्या मे दो छूटे हैं पहली अपराधी को दण्ड देने की और दूसरी सूक्ष्म हिंसा की इसी आधार पर श्रावक के व्रतो को सागारी अर्थात् छूट वाले कहा जाता है इसके विपरीत साधु के व्रतो को अनागार कहा जाता है.

जीवनव्यवहार के सम्बन्ध मे दो दृष्टिकोण मिलते है पहला दृष्टिकोण मनुस्मृति मे आया है जहा कहा गया है—'जीवो जीवस्य जीवनम्'. एक जीव दूसरे जीव का जीवन है अर्थात् भोजन है इसमे यह प्रकट किया गया है कि प्राणियो का जीवन परस्पर हिंसा पर टिका हुआ है आर्थिक क्षेत्र मे इसी हिंसा को शोषण कहा जाता है और राजनीतिक क्षेत्र मे अत्याचार जब उसका व्यवहार चोर, डाकू, आदि करते है तो उसे अपराध कहा जाता है. दूसरा

दृष्टिकोण परस्पर सहयोग का है एक व्यक्ति को भोजन की आवश्यकता है और दूसरे को वस्त्र की भोजन तैयार करने वाला अपने भोजन का कुछ अश वस्त्र तैयार करने वाले को दे देता है और उससे वस्त्र प्राप्त करता है इस प्रकार विनिमय के द्वारा विना किसी हिंसा के दोनो की आवश्यकता पूर्ण हो जाती है श्रावक का जीवन परस्पर सहयोग के इसी सिद्धात पर आधारित है

करण और योग

पहले बताया जा चुका है कि मनुष्य की प्रवृत्तिया साधना की अपेक्षा से तीन प्रकार की होती है—मानसिक, वाचिक, और कायिक इन्हे जैन-परम्परा मे योग कहा गया है इसी प्रकार क्रिया की अपेक्षा से भी उसके तीन प्रकार हैं—स्वय करना, दूसरे से कराना और करने वाले का अनुमोदन करना इन्हे करण कहा गया है

अहिंसा का विध्यात्मक रूप

अहिंसा को जीवन मे उतारने के लिये मैत्री-भावना का विधान किया गया है श्रावक प्रतिदिन घोषणा करता है—मैं सव जीवो को क्षमा प्रदान करता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा प्रदान करे मेरी सबसे मित्रता है, किसीसे वैर नही है इस घोषणा मे श्रावक सर्वप्रथम स्वय क्षमा प्रदान करता है और कहता है कि मुझसे किसी को डरने की आवश्यकता नही है, मै सबको अभय प्रदान करता हूँ दूसरे वाक्य द्वारा वह अन्य प्राणियो से क्षमा-याचना करता है और स्वय निर्भय होना चाहता है वह ऐसे जीवन की कामना करता है जहाँ वह न शोषक वने और न शोषित, न भयोत्पादक वने और न भयभीत, न त्रासक बने और न त्रस्त, न उत्पीडक वने न पीडित तीसरे चरण मे वह सवसे मित्रता की घोषणा करता है अर्थात् सबको समता की दृष्टि से देखता है मित्रता का मूल आधार है प्रतिदान की आशा न रखते हुए दूसरे को अधिक से अधिक प्रदान करने की भावना. एक मित्र को दूसरे मित्र की सुख-सुविधा व आवश्यकता का जितना ध्यान रहता है, उतना अपना नही इसके विपरीत जब अपनी सुख-सुविधा के लिये दूसरे का हक छीनने की भावना आ जाती है, तभी शत्रुता का मिश्रण होने लगता है. मित्रता की घोषणा द्वारा श्रावक अन्य सव प्राणियो का हितैषी एव रक्षक बनने की प्रतिज्ञा करता है चौथा चरण है—मेरा किसी से वैर नही है वह कहता है—ईर्ष्या, द्वेष, मनोमालिन्य आदि शत्रुता के जितने कारण हैं, मैं उन सव को धो चुका हूँ और शुद्ध एव पवित्र हृदय को लेकर विश्व के सामने उपस्थित होता हू जो व्यक्ति कम से कम वर्ष मे एक बार इस प्रकार घोषणा नही करता, उसे अपने आप को जैन कहने का अधिकार नही है यदि प्रत्येक व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र इस घोषणा को अपना लें तो विश्व की अनेक समस्याए सुलझ जायें

विभिन्न व्यक्तियो की दृष्टि से मैत्री के चार रूप बताये गये है इन्ही को वौद्ध धर्म मे ब्रह्मविहार के रूप मे कहा गया है और योग-दर्शन मे चित्त को प्रसन्न एव निर्मल बनाने के रूप मे

१ मैत्री— समस्त प्राणियो के साथ मित्रता तथा उनके सुख की कामना योग-दर्शन में सुखसम्पन्न व्यक्तियो के प्रति मित्रता का निर्देश किया गया है जिस प्रकार हमे मित्र के सुख-सम्पत्ति तथा स्वास्थ्य से प्रसन्नता होती है इसी प्रकार सवकी उन्नति पर प्रसन्न होना सर्वमैत्री है इस भावना द्वारा व्यक्ति ईर्ष्या पर विजय प्राप्त करता है, अर्थात् दूसरो की उन्नति से उसके मन मे दु ख नही होता प्रत्युत प्रसन्नता होती है दूसरी ओर वह सकुचित स्वार्थ से ऊपर उठने लगता है और वैयक्तिक उन्नति के स्थान पर सबकी उन्नति चाहने लगता है

२. करुणा— दुखी को देखकर मन मे सहानुभूति तथा सवेदना होना, उसके दु ख को दूर करने के लिये प्रयत्नशील होना. प्राय. यह देखा गया है कि दूसरे को कष्ट या सकट मे देख कर सर्वसाधारण उससे घृणा करने लगता है. सहयोगी तथा मित्रजन उससे कतराने लगते है इतना ही नही, उसकी विवशताओ से लाभ उठाने का प्रयत्न करते है यह एक प्रकार की हिंसा-वृत्ति है अहिंसा के साधक को दुखी का दु ख दूर करने तथा उसके कष्ट मे हिस्सा वटाने की भावना रखनी चाहिए



३ मुदिता—जो व्यक्ति विद्या, त्याग अथवा किसी अन्य गुण के कारण आगे बढा हुआ है उसे देख कर प्राय हमारे मन मे असूया उत्पन्न होती है अर्थात् हम उसमे दोप निकालने का प्रयत्न करते हैं यदि वह त्यागी है तो उसे ढोगी कहने लगते हैं, यदि विद्वान है तो रट्टू इसी प्रकार समाज-सेवक, नेता, दानी आदि प्रत्येक मे कोई न कोई दोष निकालने की चेष्टा की जाती है. यह एक प्रकार की असहिष्णुता है और छिपी हुई हिंसा का बाह्य रूप है इसे दूर करने के लिए गुणी को देखकर प्रसन्न होने की आदत होनी चाहिए उसे देखकर झुक जाना और उसके गुणो को अपने मे लाना मुदिता है दोप और गुण प्रत्येक व्यक्ति मे रहते है, हमारा ध्यान गुणो की ओर जाना चाहिए, दोषो की ओर नही

४. उपेक्षा—जो व्यक्ति हमारे प्रतिकुल चलता है, हमसे शत्रुता करता है, हमे हानि पहुँचाने की चेष्टा करता है, उसके प्रति भी द्वेप न कर के तटस्थ वृत्ति रखना उपेक्षा है

इन चार भावनाओ से क्रमश ईर्ष्या, घृणा, असूया और द्वेष पर विजय प्राप्त होनी है ये सब आत्मा के मल है और उसे अशान्त बनाये रखते है

अहिंसा और कायरता

अहिंसा पर प्राय आक्षेप किया जाता है कि यह कायरता है शत्रु के सामने आने पर जो व्यक्ति सघर्ष की हिम्मत नही रखता, वही अहिंसा को अपनाता है, किन्तु यह धारणा ठीक नही है कायर वह होता है जो मन मे प्रतिकार की भावना होने पर भी प्रत्याक्रमण करने से डरता है ऐसे व्यक्ति का आक्रमण न करना या शत्रु के सामने झुक जाना अहिंसा नही है, वह तो आक्रमण से भी बडी हिंसा है महात्मा गाधी का कथन है कि आक्रमक या क्रूर व्यक्ति विचारो मे परिवर्तन होने पर अहिंसक बन सकता है किन्तु कायर के लिये अहिसक बनना असम्भव है अहिंसा की पहली शर्त शत्रु के प्रति मित्रता या प्रेम भावना है छोटा बालक बहुत-सी वस्तुए तोड-फोड डालता है, माता को उससे परेशानी होती है, किन्तु वह मुस्करा कर टाल देती है बालक के भोलेपन पर उसका प्रेम और भी बढ जाता है. मित्रता या प्रेम की यह पहली शर्त है दूसरे के द्वारा हानि पहुँचाने पर क्रोध न आना प्रत्युत उपस्थित किये गये कष्टो, झझटो तथा हानियो से सघर्प करने मे अधिकाधिक आनन्द अनुभव करना अहिंसक शत्रु से डर कर शत्रु को क्षमा नही करता किन्तु उसकी भूल को दुर्बलता समझ कर क्षमा करता है.

अहिंसा की इस भूमि पर विरले ही पहुँचते हैं जो व्यक्ति पूर्णतया अपरिग्रही है, अर्थात् जिन्हे धन-सम्पत्ति, मान-अपमान तथा अपने शरीर से भी ममत्व नही है, जो समस्त स्वार्थो को त्याग चुके हैं वे ही ऐसा कर सकते है दूसरो के लिये अहिंसा ही दूसरी कोटि है कि निरपराध को दण्ड न दिया जाय किन्तु अपराधी का दमन करने के लिये हिंसा का प्रयोग किया जा सकता है उसमे भी अपराधी को सुधारने या उसके कल्याण की भावना रहनी चाहिए उसे नष्ट करने की नही द्वेपबुद्धि जितनी कम होगी व्यक्ति उतना ही अहिंसा की ओर अग्रसर कहा जायेगा

भारतीय इतिहास मे अनेक जैन राजा-मत्री, सेनापति तथा बडे-बडे व्यापारी हो चुके है समस्त प्रवृत्तियाँ करते हुए भी वे जैन बने रहे

अहिंसा और जीवन-निर्वाह

कुछ समय से यह प्रश्न उठा है कि भारत की जन-सख्या बहुत बढ गई है परिणाम स्वरूप खाद्य-सामग्री कम पडने लगी है अत सरकार की ओर से मछलियाँ पालने तथा उन्हे खाने को प्रोत्साहन दिया जा रहा है ऐसी स्थिति मे एक जैन का क्या कर्त्तव्य है ?

खाद्य-सामग्री की कमी को दूर करने के अनेक उपाय हैं. भारत के क्षेत्रफल को देखते हुए कमी नही होनी चाहिए. उपज बढाना तथा जन-सख्या की वृद्धि को रोकना आदि अनेक उपाय काम मे लाये जा सकते हैं उस चर्चा मे न जा कर हम खाद्य सकट को वास्तविक मान कर चलते हैं

जैन का अर्थ है वह व्यक्ति, जो जैन-सिद्धांतों मे विश्वास रखता है जो व्यक्ति मांसाहारी वैश्यागमन आदि को नही छोड़ता फिर भी जैन-सिद्धात मे अनुराग रखता है, उसे अपने आप को जैन कहने का अधिकार है, श्रावक, साधु तथा वीतराग की श्रेणियाँ उसके ऊपर है मासाहार बुरा होने पर भी करने या छोडने मात्र से कोई जैन या अजैन नही वनता यह बात प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा और उत्साह पर निर्भर है कि वह त्याग के मार्ग पर कितना आगे वढता है साधु प्राण-सकट आने पर भी दूसरे की हिंसा नही करता, उसकी चर्या निरपवाद है, किन्तु श्रावक को आवश्यकता-नुसार छूट रहती है वह अपनी शक्ति और परिस्थिति के अनुसार ही व्रतो का पालन करता है यदि वह मासाहार को बुरा समझता है और प्राण-सकट आने पर भी उस ओर नही जाना चाहता तो वह उच्चादर्श है यदि इतनी शक्ति या साहस नही है तो हेय समझता हुआ भी वह उसका सेवन करेगा, किन्तु जब तक जैन-सिद्धातो पर उसका विश्वास अक्षुण्ण है तब तक उसे जैन ही कहा जायेगा

त्याग का सर्वोत्कृष्ट रूप तीन करण तीन योग से है अर्थात् जहाँ साधक यह निश्चय करता है कि मैं किसी सावद्य प्रवृत्ति को मन, वचन और काया से न स्वय करूगा, न स्वय कराऊँगा, और न करने वाले का अनुमोदन करूगा इस प्रकार का त्याग साधु का ही होता है क्योकि वह सासारिक उत्तरदायित्व को छोडकर एकान्त आत्मचिन्तन मे लीन रहने लगता है. परिवार या समाज से किसी प्रकार का लौकिक सम्बन्ध नही रखता, श्रावक का त्याग निम्न कोटि का होता है वहुत से कार्य वह अपने हाथ से नही करता किन्तु दूसरे से कराने की छूट रखता है वहुत से ऐसे है जो न करता कराता है किन्तु उनके अनुमोदन का त्याग नही करता त्याग की इन कोटियो को लक्ष्य मे रख कर शास्त्र मे ४९ भग किये गये है. सवसे स्थूल त्याग है एक करण एक योग अर्थात् अपने हाथ से स्वय न करना इसी प्रकार एक करण दो योग, एक करण तीन योग, दो करण एक योग आदि भग वताये गये हैं श्रावक प्राय दो करण तीन योग से त्याग करता है अर्थात् मन वचन और काया से स्वय नही करता तथा दूसरे से नही कराता, उसे अनुमोदन करने का परित्याग नही होता

श्रावक अपने प्रथम अणुव्रत मे यह निश्चय करता है कि मैं निरपराध त्रस जीवो की हिंसा नही करूँगा अर्थात् उन्हे जान-बूझ कर नही मारूगा इस व्रत के पाँच अतिचार हैं जिनकी तत्कालीन श्रावक के जीवन मे सम्भावना वनी रहती थी वे इस प्रकार है—

१ बन्ध—पशु तथा नौकर चाकर आदि आश्रितजनो को कष्टदायी वन्धन मे रखना यह वन्धन शारीरिक, आर्थिक, सामाजिक आदि अनेक प्रकार का हो सकता है

२ वध—उन्हे बुरी तरह पीटना

३ छविच्छेद—उनके हाथ, पाव आदि अगो को काटना

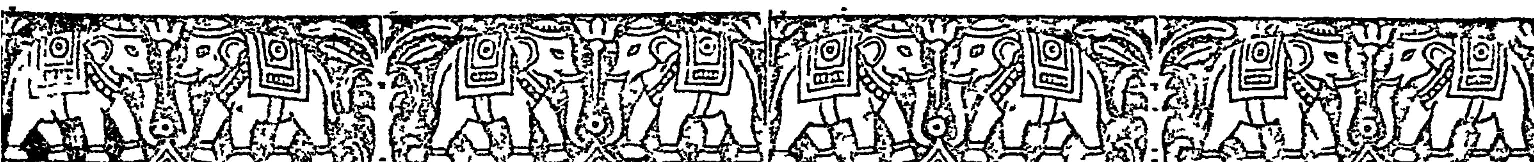
४ अतिभार—उन पर अधिक वोझ लादना. नौकरो से अधिक काम लेना भी अतिभार है

५ भक्तपानविच्छेद—उन्हे समय पर भोजन तथा पानी न देना. नौकर को समय पर वेतन न देना जिससे उसे तथा घर वालो को कष्ट पहुँचे

सत्य-व्रत

श्रावक का दूसरा व्रत मृषावाद-विरमण अर्थात् असत्यभाषण का परित्याग है

उमास्वाति ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि 'असदभिधानमनृतम्' असदभिधान के तीन अर्थ है (१) असत् अर्थात् जो वात नही है उसका कहना (२) वात जैसी है उसे वैसी न कह कर दूसरे रूप मे कहना, एक ही तथ्य को ऐसे रूप मे भी उपस्थित किया जा सकता है जिससे सामने वाले पर अच्छा प्रभाव पडे उसी को विगाड कर रखा जा सकता है जिससे सामने वाला नाराज हो जाय सत्यवादी का कर्त्तव्य है कि वस्तु को वास्तविक रूप मे रखे, उसे वनाने या विगाडने का प्रयत्न न करे (३) इसका तीसरा अर्थ है असत्-बुराई या दुर्भावना को लेकर किसी से कहना यह



दुर्भावना दो प्रकार की है (१) स्वार्थसिद्धि-मूलक अर्थात् अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिये दूसरे को गलत बात बताना. (२) द्वेषमूलक—दूसरे को हानि पहुँचाने की भावना.

इस व्रत का मुख्य सम्बन्ध भाषण के साथ है, किन्तु दुर्भावना से प्रेरित मानसिक चिन्तन तथा कायिक व्यापार भी इसमे आ जाते हैं

सत्य की श्रेष्ठता के विषय मे उपनिषद् में कहा है—'सत्यमेव जयते नानृत' अर्थात् सत्य की जीत होती है, झूठ की नही दूसरा वाक्य जैन-शास्त्रो मे मिलता है—'सच्च लोगम्मि सारभूय'—अर्थात् सत्य ही दुनिया मे सारभूत है इन दोनो मे भेद बताते हुए काका कालेलकर ने लिखा है कि प्रथम वाक्य मे हिंसा मिली हुई है, जीत मे हारने वाले की हिंसा छिपी हुई है अहिंसक मार्ग तो वह है जहाँ शत्रु और मित्र दोनो की जीत होती है, हार किसी की नही होती दूसरा वाक्य यह बताता है कि सत्य ही विश्व का सार है, उसी पर दुनिया टिकी हुई है जिस प्रकार गन्ने का मूल्य उसके सार अर्थात् रस पर आश्रित है इसी प्रकार जीवन का मूल्य सत्य पर आधारित है यहाँ जीत और हार का प्रश्न नही है

उपनिषदो मे सत्य को ईश्वर का रूप बताया गया है और उसे लक्ष्य मे रख कर अभय अर्थात् अहिंसा का उपदेश दिया गया है जैन-धर्म आचारप्रधान है अत अहिंसा को सामने रख कर उस पर सत्य की प्रतिष्ठा करता है उपनिषदो मे विश्व के मूलतत्त्वो की खोज अर्थात् दर्शनशास्त्र की प्रधानता है अत. वहा सत्य को आधार बनाकर अहिंसा का सदेश दिया गया है इसी का दूसरा नाम एकता का दर्शन या अभेद का साक्षात्कार है, वहाँ भेदबुद्धि ही हिंसा है

श्रावक अपने सत्य-व्रत मे स्थूल-मृषावाद का त्याग करता है उन दिनो स्थूल-मृषावाद के जो रूप थे, यहाँ उनकी गणना की गई है

१ कन्यालीक—वैवाहिक सवन्ध के समय कन्या के विषय में झूठी बाते कहना उसकी आयु, स्वास्थ्य, शिक्षा आदि के विषय मे दूसरे को धोखा देना. इस असत्य के परिणाम स्वरूप वर तथा कन्यापक्ष मे ऐसी कटुता आजाती है कि कन्या का जीवन दूभर हो जाता है

२ गवालीक—गाय, भैस आदि पशुओ का लेन-देन करते समय झूठ बोलना. वर्तमान समय को लक्ष्य मे रखकर कहा जाय तो क्रय-विक्रय सबन्धी सारा झूठ इसमे आजाता है

३. भूम्यलीक—भूमि के सवन्ध मे झूठ बोलना

४ स्थापनमृषा—किसी की धरोहर या गिरवी रखी हुई वस्तु के लिये झूठ बोलना.

५ कूटसाक्षी—न्यायालय आदि मे झूठी साक्षी देना

उपरोक्त पाँचो बाते व्यवहारशुद्धि से सवन्ध रखती है और स्वस्थ समाज के लिये आवश्यक है इस व्रत के पाँच अतिचार निम्नलिखित है :

१. सहसाभ्याख्यान—विना विचारे किसी पर झूठा आरोप लगाना
२ रहस्याभ्याख्यान—राग मे आकर विनोद के लिये किसी पति-पत्नी अथवा अन्य स्नेहियो को अलग कर देना, किंवा किसी के सामने दूसरे पर दोषारोपण करना.

३. स्वदारमन्त्रभेद—आपस मे प्रीति टूट जाय, इस ख्याल ने एक-दूसरे की चुगली खाना या किसी की गुप्त बात को प्रकट कर देना

४ मिथ्योपदेश—सच्चा-झूठा समझा कर किसी को उल्टे रास्ते डालना

५ कूट लेखक्रिया—मोहर, हस्ताक्षर आदि द्वारा झूठी लिखा-पढी करना तथा खोटा सिक्का चलाना आदि
तत्त्वार्थसूत्र मे सहसाभ्याख्यान के स्थान पर न्यासापहार है, इसका अर्थ है किसी की धरोहर रख कर इंकार कर जाना



अचौर्य-व्रत

श्रावक का तीसरा व्रत अचौर्य है वह स्थूल चोरी का त्याग करता है. इसके नीचे लिखे रूप है :

दूसरे के घर मे सेंध लगाना, ताला तोडना या अपनी चाभी लगा कर खोलना, विना पूछे दूसरे की गाठ खोल कर चीज निकालना, यात्रियो को लूटना अथवा डाके मारना

इस व्रत के पाच अतिचार नीचे लिखे अनुसार हैं

१ स्तेनाहृत—चोर के द्वारा लाई गई चोरी की वस्तु खरीदना या घर मे रखना

२ तस्करप्रयोग—आदमी रख कर चोरी, डकैती, ठगी आदि कराना

३ विरुद्धराज्यातिक्रम—भिन्न-भिन्न राज्य वस्तुओ के आयात-निर्यात पर कुछ बन्धन लगा देते है अथवा उन पर कर आदि की व्यवस्था कर देते हैं राज्य के ऐसे नियमो का उल्लघन करना विरुद्धराज्यातिक्रम है

४ कूटतुला-कूटमान—नाप तथा तोल मे बेईमानी करना

५. तत्प्रतिरूपक व्यवहार—वस्तु मे मिलावट करना या अच्छी वस्तु दिखा कर बुरी वस्तु देना

सत्य तथा अचौर्य व्रत के अतिचारो का व्यापार तथा व्यवहार मे कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है, यह वताने की आवश्यकता नही

स्वदारसन्तोष-व्रत

श्रावक का चौथा व्रत ब्रह्मचर्य है इसमे वह परायी स्त्री के साथ सहवास का परित्याग करता है और अपनी स्त्री के साथ उसकी मर्यादा स्थिर करता है यह व्रत सामाजिक सदाचार का मूल है और वैयक्तिक विकास के लिये भी अत्या-वश्यक है इसके पाँच अतिचार निम्न है

१ इत्वरिक परिग्रहीतागमन—ऐसी स्त्री के साथ सहवास करना जो कुछ समय के लिये ग्रहण की गई हो भारतीय सस्कृति मे विवाह-सबन्ध समस्त जीवन के लिये होता है. ऐसी स्त्री भोग और त्याग दोनो मे सहयोग देती है जैसा कि आनन्दादिक श्रावको की पत्नियो के जीवन से सिद्ध होता है. इसके विपरीत, जो स्त्री कुछ समय के लिये अपनाई जाती है वह भोग के लिये होती है, वह जीवन के उत्थान मे सहायक नही हो सकती श्रावक को ऐसी स्त्री से गमन नही करना चाहिए

२ अपरिगृहीतागमन—वैश्या आदि के साथ सहवास

३ अनंगक्रीडा—अप्राकृतिक मैथुन अर्थात् सहवास के प्राकृतिक अगो को छोडकर अन्य अगो से सहवास करना

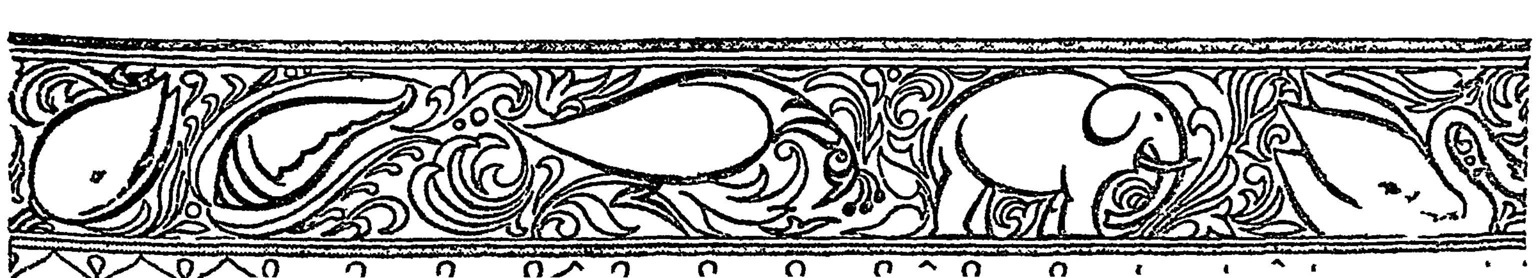
४ परविवाहकरण—दूसरो का परस्पर सबन्ध कराना

५ कामभोगतीव्राभिलाप—विषय भोग तथा काम-क्रीडा मे तीव्र आसक्ति

परविवाहकरण अतिचार होने पर भी श्रावक के लिये उसकी मर्यादा निश्चित है अपनी सन्तान तथा आश्रित-जनो का विवाह करना उसका उत्तरदायित्व है इसी प्रकार पशु-धन रखने वाले को गाय, भैंस आदि पशुओ का सवन्ध भी कराना पडता है, श्रावक को इसकी छूट है

अपरिग्रह परिमाण-व्रत

इसका अर्थ है श्रावक को अपनी धन-सम्पत्ति की मर्यादा निश्चित करनी चाहिए और उससे अधिक सम्पत्ति न रखनी चाहिए सम्पत्ति हमारे जीवन-निर्वाह का एक साधन है साधन वही तक उपादेय होता है जहाँ तक वह अपने साध्य की पूर्ति करता है सपत्ति सुख के स्थान पर दुखो का कारण वन जाती है और आत्म-विकास को रोकती है अत हेय है. इसी-



लिए साधु सम्पत्ति का सर्वथा त्याग करता है और भिक्षा पर जीवन निर्वाह करता है. साधु वस्त्र—आदि उपकरणों की तरह अपने शरीर के प्रति भी ममत्व नही करता श्रावक भी उसी लक्ष्य को आदर्श मानता है किन्तु लौकिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये मर्यादित सम्पत्ति रखता है

आज मानव भौतिक विकास को अपना लक्ष्य मान रहा है वह 'स्व' के लिये सम्पत्ति के स्थान पर सम्पत्ति के लिये 'स्व' को मानने लगा है भौतिक आकाक्षाओ की पूर्ति के लिये समस्त आध्यात्मिक गुणो को तिलाजलि दे रहा है. परिणाम-स्वरूप तथाकथित विकास विभीषिका बन गया है. परिग्रह परिमाण व्रत इस बात की ओर सकेत करता है कि जीवन का लक्ष्य बाह्य सम्पत्ति नही है

इस व्रत का महत्त्व एक अन्य दृष्टि से भी है. ससार मे सोना, चादी, भूमि, अन्न, वस्त्रादि सम्पत्ति कितनी भी हो, पर वह अपरिमित नही है यदि एक व्यक्ति उसका अधिक सचय करता है तो दूसरे के साथ सघर्ष होना अनिवार्य है. इसी आधार पर राजाओ और पूजीपतियो मे परस्पर चिरकाल से सघर्ष चले आ रहे है, जिनका भयकर परिणाम साधारण जनता भुगतती आ रही है. वर्तमान युग मे राजाओ और व्यापारियो ने अपने-अपने सगठन बना लिये है और उन सगठनो मे परस्पर प्रतिद्वन्द्विता चलती रहती है यह सब अनर्गल लालसा और सम्पत्ति पर किसी प्रकार की मर्यादा न रखने का परिणाम है इसी असन्तोष की प्रतिक्रिया के रूप में रूस ने राज्य-क्रान्ति की और सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार को समाप्त कर दिया. दूसरी ओर भूपतियो की सत्ता-लालसा और परिणामस्वरूप होने वाले भयकर युद्धो को रोकने वाले लोकतन्त्री शासन-पद्धति प्रयोग मे लाई गई फिर भी समस्याए नही सुलझी. जब तक व्यक्ति नही सुधरता, सगठनो से अपेक्षित लाभ नही मिल सकता क्योकि सगठन व्यक्तियो के समूह का ही नाम है परिग्रहपरिमाण व्रत वैयक्तिक जीवन पर स्वेच्छा से अकुश रखने के लिये कहता है इसमे नीचे लिखे नौ प्रकार के परिग्रह की मर्यादा का विधान है

१. क्षेत्र—(खेत) अर्थात् उपजाऊ भूमि की मर्यादा.
२. वस्तु—मकान आदि
३ हिरण्य—चादी.
४ सुवर्ण—सोना
५. द्विपद—दास, दासी
६. चतुष्पद—गाय, भैस घोडे आदि पशुधन.
७ धन—रुपये पैसे सिक्के या नोट आदि.
८. धान्य—अन्न, गेहूँ, चावल आदि खाद्य-सम्पति
९ कुप्य या गोप्य—ताबा, पीतल आदि अन्य धातुए

कही कही हिरण्य मे सुवर्ण के अतिरिक्त शेप सब धातुए ग्रहण की गई है और कुप्य या गोप्य धन का अर्थ किया है हीरे, माणिक्य, मोती रत्न आदि

इस व्रत के अतिचारो मे प्रथम आठ को दो-दो की जोडी मे इकट्ठा कर दिया गया है और नवे को अलग लिया गया है, इस प्रकार नीचे लिखे पाच अतिचार बताये गये है .

१. क्षेत्र-वास्तु परिमाणातिक्रम
२ हिरण्य-सुवर्ण परिमाणातिक्रम
३. द्विपद-चतुष्पदपरिमाणातिक्रम.
४. धन-धान्यपरिमाणातिक्रम.
५. कुप्यपरिमाणातिक्रम

दिशा-परिमाण-व्रत

पाचवे व्रत मे सम्पत्ति की मर्यादा स्थिर की गई छठे दिशापरिमाण व्रत मे प्रवृत्तियो का क्षेत्र सीमित किया जाता है. श्रावक यह निश्चय करता है कि ऊपर नीचे एव चारो दिशाओ मे निश्चित सीमा से आगे बढकर मै कोई स्वार्थमूलक प्रवृत्ति नही करूगा साधु के लिये क्षेत्र की मर्यादा का विधान नही है क्योकि उसकी कोई प्रवृत्ति हिंसात्मक या स्वार्थमूलक नही होती वह किसी को कष्ट नही पहुचाता प्रत्युत धर्म-प्रचारार्थ ही घूमता है विहार अर्थात् धर्म-प्रचार के लिये घूमते रहना उसकी साधना का आवश्यक अग है किन्तु श्रावक की प्रवृत्तिया हिंसात्मक भी होती है अत उनकी मर्यादा स्थिर करना आवश्यक है

विभिन्न राज्यो मे होने वाले सघर्षों को रखकर विचार किया जाय तो इस व्रत का महत्त्व ध्यान मे आ जाता है और यह प्रतीत होने लगता है कि वर्तमान युग मे भी इस का कितना महत्त्व है यदि विभिन्न राज्य अपनी-अपनी राजनीतिक एव आर्थिक सीमाए निश्चत करले तो बहुत से सघर्ष रुक जाए श्रीजवाहरलाल नेहरू ने राष्ट्रो मे परस्पर व्यवहार के लिये पचशील के रूप मे जो आचार-सहिता बनाई थी उसमे इस सिद्धान्त को प्रमुख स्थान दिया है कि कोई राज्य दूसरे राज्य मे हस्तक्षेप नही करेगा

इस व्रत के पाच अतिचार निम्नलिखित है

१ ऊर्ध्व दिशा मे मर्यादा का अतिक्रमण

२. अधो दिशा मे मर्यादा का अतिक्रमण

३ तिरछी दिशा अर्थात् पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण मे मर्यादा का अतिक्रमण

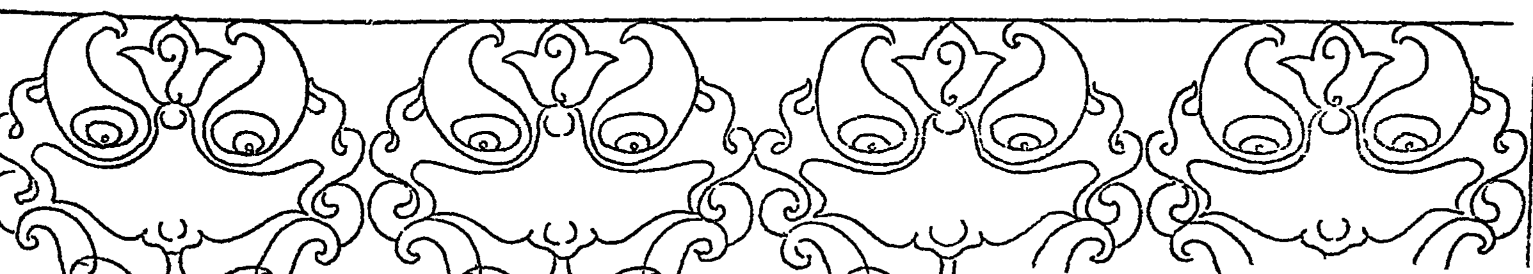
४. क्षेत्रवृद्धि—अर्थात् असावधानी या भूल मे मर्यादा के क्षेत्र को बढा लेना.

५. स्मृति-अन्तर्धान-मर्यादा का स्मरण न रखना.

उपभोगपरिभोग-परिमाण-व्रत

सातवे व्रत मे वैयक्तिक आवश्यकताओ पर नियत्रण किया गया है उपभोग का अर्थ है भोजन-पानी आदि वस्तुए जो अनेक वार काम मे लाई जा सकती है उपभोग और परिभोग शब्दो का उपरोक्त अर्थ भगवती शतक ७ उद्देशा २ मे तथा हरिभद्रीयावश्यक अध्ययन ६ सूत्र ७ मे किया गया है उपासकदशाग सूत्र की अभयदेव टीका मे उपरोक्त अर्थ के साथ विपरीत अर्थ भी दिया गया है अर्थात् एक वार काम मे आने वाली वस्तु को परिभोग तथा वार-वार काम मे आने वाली वस्तु को उपभोग बताया गया है

इस व्रत मे दो दृष्टिया रखी गई है—भोग और कर्म भोग की दृष्टि को लक्ष्य मे रखकर २६ बाते गिनाई गई है जिनकी मर्यादा स्थिर करना श्रावक के लिये आवश्यक है, उनमे भोजन, स्नान, विलेपन, दन्तधावन, वस्त्र आदि समस्त वस्तुए आ गई हैं इस से ज्ञात होता है कि श्रावक के जीवन मे किस प्रकार का अनुशासन था, किस प्रकार वह अपने जीवन को सन्तोषमय और सादा बनाता है उनमें स्नान तथा दन्त-धावन आदि का स्पष्ट उल्लेख है अत जैनियो पर गन्दे रहने का जो आरोप लगाया जाता है वह मिथ्या है, अपने आलस्य या अविवेक के कारण कोई भी गन्दा रह सकता है—वह जैन हो या अजैन, उसके लिये धर्म को दोष देना उचित नही है दूसरी दृष्टि कर्म की अपेक्षा से है श्रावक को ऐसी आजीविका नही करनी चाहिए जिसमे अधिक हिंसा हो, जैसे—कोयले बनाना, जगल साफ करना, वैल आदि को नाथना या खस्सी करना आदि उसको ऐसे धन्धे भी नही करना चाहिए जिनसे अपराध या दुराचार की वृद्धि हो, जैसे—दुराचारिणी स्त्रियो को नियुक्त करके वैश्यावृत्ति कराना, चोर, डाकुओ को सहायता देना आदि. इसके लिये १५ कर्मादान गिनाए गए है उपरोक्त २६ वातो तथा १५ कर्मादानो को विस्तृत रूप मे जानने के लिये उपासकदशाग सूत्र का प्रथम आनन्द-अध्ययन देखना चाहिए.



अनर्थदण्ड विरमण-व्रत

पाँचवें व्रत मे सम्पत्ति की मर्यादा की गई और छठे मे सम्पत्ति या स्वार्थमूलक प्रवृत्तियो की सातवें मे प्रतिदिन व्यवहार मे आनेवाली भोग्यसामग्री पर नियत्रण किया गया आठवे मे वैयक्तिक हलचल या शारीरिक चेष्टाओ पर अनुशासन है. श्रावक के लिये व्यर्थ की बातें करना, शेखी मारना, निष्प्रयोजन प्रवृत्ति करना वर्जित है इसी प्रकार उसे अपनी घरेलु वस्तुए व्यवस्थित रखनी चाहिए ऐसा कोई कार्य नही करना चाहिए जिससे लाभ कुछ भी न हो और दूसरे को कष्ट पहुँचे। अनर्थदण्ड अर्थात् निष्प्रयोजन हिंसा के चार रूप बताये गये है

१ अपध्यानाचरित—चिंता या क्रूर विचारो के कारण होने वाली हिसा.

धन सम्पत्ति का नाश, पुत्र-स्त्री आदि प्रियजन का वियोग आदि कारणो से मनुष्य को चिन्तायें होती रहती है किन्तु उनमे लाभ कुछ भी नही वरन् अपनी ही आत्मा निर्बल होती है. इसी प्रकार क्रूर या द्वेषपूर्ण विचार रखने से भी कोई लाभ नही होता ऐसे विचारो को अपध्यानाचरित अनर्थदण्ड कहा गया है.

२. प्रमादाचरित—आलस्य या असावधानी के कारण होने वाली हिंसा

घी, तेल तथा पानी वाली खाद्य वस्तुओ को विना ढँके रखना तथा अन्य प्रकार की असावधानी इस श्रेणी मे आ जाती है यदि कोई व्यक्ति सडक पर चलते समय, यात्रा करते समय या अन्य व्यवहार मे दूसरे का ध्यान नही रखता और ऐसी चेष्टाए करता है जिससे दूसरे को कष्ट पहुँचे तो यह सब प्रमादाचरित है

३ हिंस्रप्रदान—दूसरे व्यक्ति को शिकार खेलने आदि के लिये शस्त्रास्त्र देना जिससे व्यर्थ ही हिंसा के प्रति निमित्त वनना पडे हिंसात्मक कार्यो के लिये आर्थिक या अन्य प्रकार की सभी सहायता इसमे आ जाती है

४ पापकर्मोपदेश—किसी मनुष्य या पशु को मारने, पीटने या तग करने के लिये दूसरो को उभारना बहुधा देखा गया है कि वालक विना किसी द्वेप-बुद्धि के किसी भिखमगे, या घायल-पशु को तग करने लगते है और पास में खडे दूसरे मनुष्य तमाशा देखने के लिये उन्हे उकसाते है यह सब पापकर्मोपदेश है इसी प्रकार चोरी, डकैती, वेश्यावृत्ति आदि के लिये दूसरो को प्रेरित करना, व ऐसी सलाह देनी भी इसी के अन्तर्गत है

इस व्रत के पाँच अतिचार निम्नलिखित है

१ कदंर्प—कामोत्तेजक चेष्टाये या वाते करना.

२ कौत्कुच्य—भाडो के समान हाथ, पैर पटकाना तथा नाक मुह आँख आदि से विकृत चेष्टाये करना.

३ मौखर्य—मुखर अर्थात् वाचाल वनना वढ-वढ कर वाते करना और अपनी शेखी मारना

४ संयुक्ताधिकरण—हथियारो एव हिसक साधनो की आवश्यकता के विना ही जोड कर रखना.

५. उपभोगपरिभोगातिरेक—भोग्य सामग्री को आवश्यकता से अधिक वढाना

वैभव प्रदर्शन के लिये मकान, कपडे, फर्निचर आदि का आवश्यकता से अधिक सग्रह करना आदि इस अतिचार के अन्तर्गत है इससे दूसरो मे ईर्ष्या वृत्ति उत्पन्न होती है और अपना जीवन उन्ही की व्यवस्था मे उलझ जाता है.

सामायिक-व्रत

छठे, सातवें और आठवे व्रत मे व्यक्ति की वाह्य चेष्टाओ पर नियत्रण वताया गया नवें से लेकर वारवे तक चार व्रत आन्तरिक अनुशासन या शुद्धि के लिये है. इनका अनुष्ठान साधना के रूप में अल्प समय के लिये किया जाता है.

जिस प्रकार वैदिक परम्परा मे सध्या-वदन तथा मुसलमानो में नमाज दैनिक कृत्य के रूप में विहित है, उसी प्रकार जैन-परम्परा मे सामायिक और प्रतिक्रमण है. सामायिक का अर्थ है जीवन मे समता को उतारने का-अभ्यास. साधु का सारा जीवन सामायिक रूप होता है अर्थात् उसका प्रत्येक कार्य समता का अनुष्ठान है. श्रावक प्रतिदिन कुछ समय के



लिये उसका अनुष्ठान करता है. समता का अर्थ 'स्व' और 'पर' मे समानता जैनधर्म का कथन है कि जिस प्रकार हम सुख चाहते है और दु ख से घबराते है, उसी प्रकार प्रत्येक प्राणी चाहता है हमे दूसरे के साथ व्यवहार करते समय उसके स्थान पर अपने को रखकर सोचना चाहिए, उसके कष्टो को अपना कष्ट, उसके सुख को अपना सुख मानना चाहिए समता के इस सिद्धान्त पर विश्वास रखने वाला व्यक्ति किसी की हिंसा नही करेगा किसी को कठोर शब्द नही कहेगा और न मन मे किसी का बुरा सोचेगा पहले बताया जा चुका है कि व्यवहार मे समता का अर्थ है अहिंसा जो जैनशास्त्र का प्राण है विचारो मे समता का अर्थ है स्याद्वाद, जो जैनदर्शन की आधारशिला है

प्रतिक्रमण का अर्थ है वापिस लौटना साधक अपने पिछले कृत्यो की ओर लौटता है उनके भले-बुरे पर विचार करता है, भूलो के लिये पश्चात्ताप करता है और भविष्य मे उनसे बचे रहने का निश्चय करता है श्रावक और साधु दोनो के लिये प्रतिक्रमण का विधान है इसका दूसरा नाम आवश्यक है अर्थात् यह एक आवश्यक दैनिक कर्त्तव्य है

श्रावक के व्रतो मे सामायिक का नवा स्थान है किन्तु आत्मशुद्धि के लिये विधान किये गए चार व्रतो मे इसका पहला स्थान है इसके पाच अतिचार निम्नलिखित है

१ मनोदुष्प्रणिधान—मन मे बुरे विचार आना
२ वचनदुष्प्रणिधान—वचन का दुरुपयोग, कठोर या असत्य भाषण
३ कायदुष्प्रणिधान—शरीर की कुप्रवृत्ति
४- स्मृत्यकरण—सामायिक को भूल जाना अर्थात् समय आने पर न करना
५. अनवस्थितता—सामायिक को अस्थिर होकर या शीघ्रता मे करना निश्चित विधि के अनुसार न करना.

देशावकाशिक व्रत

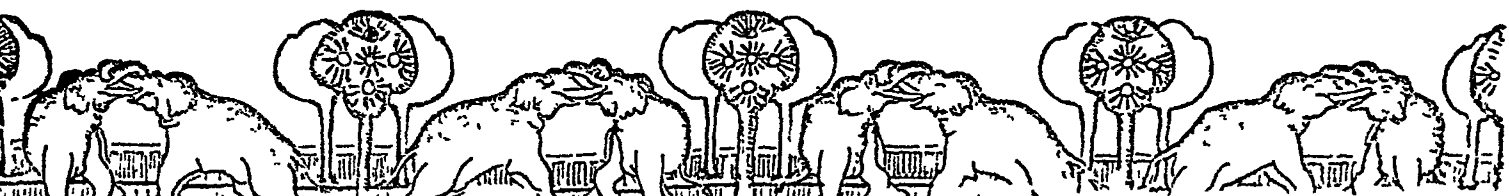
इस व्रत मे श्रावक यथाशक्ति दिन-रात या अल्प समय के लिये धर्म के लिये साधु के समान चर्या का पालन करता है सामायिक प्राय दो घडी के लिये की जाती है और सारा समय धार्मिक अनुष्ठान मे लगाया जाता है खाना, पीना, नीद लेना आदि वर्जित है किन्तु इस व्रत मे भोजन आदि वर्जित नही है किन्तु उनमे अहिंसा का पालन आवश्यक है इस व्रत को देशावकाश कहा जाता है अर्थात् इसमे साधक निश्चित काल के लिये देश या क्षेत्र की मर्यादा करता है, उसके बाहर किसी प्रकार की प्रवृत्ति नही करता

श्रावक के लिये चौदह नियमो का विधान है अर्थात् उसे प्रतिदिन अपने भोजन, पान तथा अन्य प्रवृत्तियो के विषय मे मर्यादा निश्चित करना चाहिए. इससे जीवन मे अनुशासन तथा दृढता आती है वे निम्नलिखित है :

१ सचित्त— प्रतिदिन अन्न, फल, पानी आदि के रूप मे जिन सचित्त अर्थात् जीवसहित वस्तुओ का सेवन किया जाता है उनकी मर्यादा निश्चित करना यह मर्यादा सख्या, तोल एव बार के रूप मे की जाती है

२ द्रव्य—खाने, पीने सम्बन्धी वस्तुओ की मर्यादा, उदाहरण के रूप मे भोजन के समय अमुक सख्या से अधिक भोजन नही ग्रहण करूगा

३. विगय—घी, तेल, दूध, दही, गुड और पक्वान्न की मर्यादा.
४ पण्णी— उपानह–(जूते, मोजे, खडाऊ आदि पैर मे पहनी जाने वाली वस्तुओ) की मर्यादा
५ ताम्बूल—पान, सुपारी, इलायची, चूर्ण, खटाई आदि की मर्यादा
६. वस्त्र—प्रतिदिन वस्त्रो के पहनने की मर्यादा
७ कुसुम—फूल, इत्र आदि सुगन्धित पदार्थो की मर्यादा
८ वाहन—सवारी की मर्यादा.
९ शयन—शैय्या एव स्थान की मर्यादा.



१० विलेपन—केसर, चन्दन, तेल आदि लेप किये जाने वाले द्रव्यो की मर्यादा.
११ अब्रह्मचर्य—मैथुन सेवन की मर्यादा
१२ दिशि—ऊपर, नीचे तथा चारो दिशाओ मे यातायात तथा अन्य प्रवृत्तियो की मर्यादा.
१३ स्नान—स्नानो की सख्या तथा जल की मर्यादा
१४. भक्त—चार प्रकार के आहार की मर्यादा.
इस व्रत के निम्नलिखित पाच अतिचार है
१ आनयनप्रयोग—मर्यादित क्षेत्र से वाहर की वस्तु मगाने के लिये किसी को भेजना
२ प्रेष्यप्रयोग—नौकर, चाकर आदि को भेजना
३ शब्दानुपात—किसी प्रकार के शाब्दिक सकेत द्वारा वाहर की वस्तु मगाना.
४ रूपानुपात—हाथ आदि का इशारा करना,
५ पुद्गलप्रक्षेप—ककर, पत्थर आदि फेक कर किसी का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करना.

पौषधोपवास व्रत

'पौषध' शब्द सस्कृत के उपवपथ शब्द से वना है इसका अर्थ है धर्माचार्य के समीप या धर्मस्थान मे रहना. उपवषथ अर्थात् धर्म स्थान मे निवास करते हुए उपवास करना पौषधोपवास व्रत है यह दिन-रात अर्थात् आठ प्रहरो का होता है और अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व-तिथियो पर किया जाता है.

इस व्रत मे नीचे लिखा त्याग किया जाता

१ भोजन, पानी आदि चारो प्रकार के आहारो का त्याग
२ अब्रह्मचर्य का त्याग
३ आभूषणो का त्याग.
४ माला, तेल आदि सुगधित द्रव्यो का त्याग
५ समस्त सावद्य अर्थात् दोषपूर्ण प्रवृत्तियो का त्याग

इसके पाच अतिचार निवास स्थान की देखरेख एव प्रमार्जन के साथ सवध रखते है.

अतिथिसंविभाग व्रत

सविभाग का अर्थ है अपनी सम्पत्ति एव भोग्य वस्तुओ मे विभाजन करना अर्थात् दूसरे को देना अतिथि के लिये किया जाने वाला विभाजन अतिथि सविभाग है. वैदिक परम्परा में भी अतिथिसेवा गृहस्थ के प्रधान कर्त्तव्यो में गिनी गई है किन्तु जैन-परम्परा मे अतिथि शब्द का विशिष्ट अर्थ है यहाँ निर्दोप जीवन व्यतीत करने वाले साधुओ को ही अतिथि माना गया है उन्हे भोजन, पानी वस्त्र आदि देना अतिथि सविभाग व्रत है. इसके नीचे लिखे पाच अतिचार है

१ सचित्तानिक्षेप—साधु के ग्रहण करने योग्य निर्दोष आहार मे कोई सचित्त वस्तु मिला देना जिससे वह ग्रहण न कर सके

२. सचित्तपिधान—देने योग्य वस्तु को सचित्त वस्तु से ढकना
३ कालातिक्रम—भोजन का समय व्यतीत होने पर निमन्त्रित करना
४. परव्यपदेश—न देने की भावना से अपनी वस्तु को परायी वताना
५. मात्सर्य—मन मे ईर्प्या या दुर्भावना रखकर दान देना

जैनधर्म मे दान के दो रूप है—अनुकम्पादान और सुपात्र दान अनुकम्पा सम्यक्त्व का अग है इसका अर्थ है प्रत्येक



दुखी या अभावग्रस्त को देख कर उसके प्रति करुणा या सहानुभूति प्रगट करना और उसके दुख को दूर करने के लिये यथाशक्ति सहायता देना. इससे आत्मा मे उदारता, मैत्री आदि सद्‌गुणो की वृद्धि होती है

साधु-साध्वी को दिया जाने वाला दान सुपात्र दान कहलाता है

ग्यारह प्रतिमायें

लम्वे समय तक व्रतो का पालन करता हुआ श्रावक पूर्ण त्याग की ओर अग्रसर होता है उत्साह वढने पर एक दिन कुटुम्व का उत्तरदायित्व सन्तान को सौप देता है और पौपधशाला मे जाकर सारा समय धर्मानुष्ठान मे विताने लगता है उस समय वह उत्तरोत्तर साधुता की ओर वढता है. कुछ दिनो तक अपने घर से भोजन मगाना है और फिर उसका भी त्याग करके भिक्षा पर निर्वाह करने लगता है, इन व्रतो को ग्यारह प्रतिमाओ के रूप मे प्रगट किया गया है प्रतिमा शव्द का अर्थ है सादृश्य. जब श्रावक साधु के सदृश होने के लिये प्रयत्नशील होता है तो उसका आचार, प्रतिमा कहा जाता है इन की विस्तृत चर्चा के लिये उपासकदाश सूत्र का आनद अध्यन देखना चाहिए

संलेखना-व्रत

श्रमण परम्परा जीवन को अपने आप मे लक्ष्य नही मानती उसका कथन है कि साधना का लक्ष्य आत्मा का विकास है और जीवन उसका साधन मात्र है जिस दिन यह प्रतीत होने लगे कि शरीर शिथिल हो गया है, वह धर्म साधना मे सहायक होने के स्थान पर विघ्न-वाधाए उपस्थित करने लगा है तो उम समय यह उचित है कि उसका परित्याग कर दे. इसी परित्याग को अतिम सलेखना व्रत कहा है इसमे श्रावक या साधु आहार का परित्याग करके धर्मचितन मे लीन हो जाता है, न जीवन की आकाक्षा करता है, न मृत्यु की, न यश की, न ऐहिक या पारलौकिक सुखो की धन, सम्पत्ति, परिवार, शरीर आदि सवसे अनासक्त हो जाता है इस प्रकार आयुष्य पूरा होने पर शान्ति तथा स्थिरता के साथ देह का परित्याग करता है

इस व्रत को आत्म-हत्या समझना भूल है व्यक्ति आत्म-हत्या तव करता है जब किसी कामना को पूरा नही कर पाता और वह इतनी वलवती हो जाती है कि उसकी पूर्ति के विना जीवन बोझ जान पडता है और उस वोझ को उतारे विना शाति असम्भव प्रतीत होती है आत्म-हत्या का दूसरा कारण उत्कट वेदना या मार्मिक आघात होता है दोनो परिस्थितिया व्यक्ति की निर्वलता को प्रगट करती है इसके विपरीत सलेखना त्याग की उत्कटता तथा हृदय की परम दृढता को प्रगट करती है जहाँ व्यक्ति विना किसी कामना के शान्तिपूर्वक अपने आप जीवन का उत्सर्ग करता है आत्म-हत्या निराशा तथा विवशता की पराकाष्ठा है, सलेखना वीरता का वह उदात्त रूप है जहा एक सिपाही हसते-हसते प्राणो का उत्सर्ग कर देता है सिपाही मे आवेश रहता है किन्तु सलेखना मे वह भी नही होता

इस व्रत के पाँच अतिचार निम्नलिखित है

१ धन, परिवार आदि इस लोक सम्वन्धी किसी वस्तु की आकाक्षा करना

२ स्वर्ग सुख आदि परलोक से सम्बन्ध रखने वाली किसी वात की आकाक्षा करना

३ जीवन की आकाक्षा करना

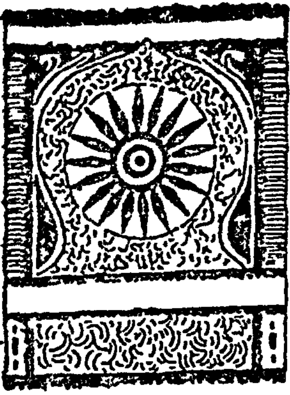
४ कष्टो से घवरा कर शीघ्र मरने की आकाक्षा करना

५ अतृप्त कामनाओ की पूर्ति के रूप मे काम-भोगो की आकाक्षा करना

उपसंहार

सलेखना तक जिन व्रतो का यहाँ प्रतिपादन किया गया है वे एक आदर्श गृहस्थ की चर्या प्रगट करते हैं उपासक-दशाँग सूत्र के प्रथम अध्ययन मे इन सवका विस्तृत वर्णन है





मुनि श्रीसन्तबालजी

जनशासन और जिनशासन

'सव्वे जीव करु शासनरसि, ऐसी भावदया मन उलसी' इस प्रसिद्ध वाक्य का अर्थ स्पष्ट है कि जब सर्वांगीण और सच्चा आत्मज्ञान प्रकट होता है तब प्राणि-मात्र को जिनका रसिक बनाने की भाव-दया अपने आप उत्पन्न हो जाती है. परन्तु जिनशासन की इमारत जनशासन के दृढ पाये के बिना लम्बे समय टिक नही सकती. इसी से उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है कि चार अग मिलना दुर्लभ है. उनमे भी मानवना सबसे पहला अग है. वह मूल गाथा इस प्रकार है :

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जन्तुणो,
माणुसत्तं सुई सद्धा संजमम्मि य वीरियं।

मनुष्यत्व अथवा मानवता अर्थात् जनशासन की आधारशिला है।

भगवान् ऋषभनाथ

इस अवसर्पिणी काल मे, इस क्षेत्र मे सर्व प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभनाथ ने युगलिक धर्म का निवारण करके इसी कारण सुयोग्य जनशासन का बीजारोपण किया था उन्होने स्वय, जब वे स्वय क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे तब, जनता को रोजी-रोटी के लिये खेती, पशुपालन, व्यवहार के लिये कलम और सुरक्षा के लिये शस्त्रकला सीखने की प्रेरणा की थी भारत के इस आदि समाज के नेता ने लोगों को इतना कर्मठ एव स्वावलम्वी बनाया कि जिससे व्यक्ति स्वातत्र्य की रक्षा के साथ-साथ सामाजिक जीवन का आनन्द मिला करे और मानव जाति का विकास होता रहे, क्योंकि मानव जाति निर्भय और शान्त हो तो ही ससार के छोटे मोटे सभी जीव निर्भयता और शान्ति अनुभव करने का सौभाग्य प्राप्त कर सकते है.

ऋषभयुग मे मानवबुद्धि और मानवहृदय का सुसमन्वय था भले ही कर्मठता कच्ची थी तत्पश्चात् विविध युग, आये, कालरात्रिया भी आई और बीत गई इन युगो मे हृदय और बुद्धि का समन्वय हुआ, साथ ही कर्मठता का विकास हुआ और अपरपार बौद्धिक विकास हुआ

भगवान् महावीर

भगवान् महावीर का काल एक ओर जहा विषम था, दूसरी ओर चारित्र्य के चमत्कारो का भी था. उस युग मे जनशासन के पाये को मजबूत करने के लिये जो भगीरथ पुरुषार्थ हुये उनमे से नीचे लिखी दो तीन घटनाए उस रहस्य को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त होगी.

[१]

रत्न-कम्बलो का एक विक्रेता निराश स्वर मे गुन-गुनाता हुआ राह पर जा रहा है वह कहता है—मगध जैसे विशाल राज्य का और राजगृही जैसी राजधानी का राजा श्रेणिक भी यदि मेरा एक रत्न-कम्बल नही खरीद सकता तो मेरी कला की कद्र और कहा होगी ? क्या मगध राज्य भी अब अकिंचन हो गया है ?

अटारी मे खड़ी हुई भद्रा सेठानी इन उद्गारो को सुन कर व्यापारी को बुला कर समझाती है—'भाई, मगध राज्य



का-कोषागार समाप्त नही हो गया है किन्तु प्रजा का धन अन्त पुर के वैभव मे व्यय नही किया जा सकता, मगधराज को इससे परहेज है आपके पास जो कला है उसकी कद्र करने वाले हमारे जैसे मगध के नागरिक मौजूद है" इस प्रकार कह कर शालिभद्र की माताजी ने सोलह रत्न-कम्बल वीस लाख जितनी स्वर्ण-मुहर देकर पल भर मे खरीद ली और दूसरे सोलह कम्बलो की माग की कलाकार, दातो तले उगली दबा कर रह गया.

× × ×

राज्य का अक्षय भडार राजा का नही, राजा तो केवल प्रजा का पालक है । वत्तीस-बत्तीस रत्न-कम्बल क्रय करने वाले धनिको को धन का अभिमान नही । उन्हे राष्ट्र का अभिमान है कला की कद्रदानी है

[२]

जिस शालिभद्र के पास इतना विशाल धनभडार था, जिसके घर मे देवो की समृद्धि ठिली पडी थी, उस शालिभद्र के पास श्रेणिक राजा स्वय पहुचता है शालिभद्र की माता भद्रा का हृदय आनन्द-पुलकित बन जाता है सत्ता स्वय जनता के सामने झुकने आती है, माता भद्रा विचार करती है—'राजा कैसा ही क्यो न हो आखिर प्रजा की सुरक्षा करने वाला पालक पिता सरीखा है' शालिभद्र को उससे मिलने के लिये नीचे बुलाया जाता है शालिभद्र भेट तो अवश्य करता है पर उसके मन मे क्या विचार उत्पन्न होता है ? 'सत्ता से सत्य महान् है सत्य साधना की सच्ची सत्ता तो भगवान् महावीर के पास है' और वह भगवान् महावीर के पास जाकर जैन साधुदीक्षा अगीकार कर लेता है

× × ×

मानवधन और देवधन की अपेक्षा साधुधन सर्वोपरि है विशाल समृद्धि और सत्ता की अपेक्षा वात्सल्य सत्ता महान् है.

[३]

जिनशासन के एक दृढ स्तभ के सदृश पुणिया श्रमणोपासक के पास न कोई सम्पत्ति है और न कोई सत्ता ही है. परिश्रम करके न्यायसम्पन्न आजीविका प्राप्त करने की परम आत्मिक सम्पत्ति ही उसके पास है और प्राणिमात्र के साथ 'सव्वभूयप्पभूयस्स' की महान् आत्मिक सम्पत्ति का वह स्वामी है इसी कारण राजा श्रेणिक एक वार याचक बन कर उसके आगन मे आकर याचना करता है—'पुणियाजी, आप अपनी एक सामायिक मुझे दे सकते हैं ?'

पुणिया कहता है—सामायिक आत्म-दशा है जो आपके पास ही है प्राणि-मात्र की हृदय गुफा मे वह प्रकाशित होती है वह लेने-देने की वस्तु नही है

श्रेणिक नरपति समझ गया

× × ×

इन तीन घटनाओ से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि पुणिया जैसे श्रावको और शालिभद्र जैसे साधुओ से जिनशासन की शोभा है भद्रामाता प्रजा और राज्य के प्रति अपना कर्तव्य पालती है पर श्रेणिक जैसा नृप समझ जाता है कि राजा की अपेक्षा प्रजा वडी है और प्रजा की अपेक्षा सत्य वडा हे इस कारण अन्तत जिनशासन की अनुपम सेवा करके वह तीर्थंकर गोत्र उपार्जित कर लेता है

× × ×

आज पचम काल चल रहा है जिनशासन की इमारत डगमगा चुकी है क्योकि जनशासन का पाया हिल गया है परिणामस्वरूप दुनिया मे जैसे राज्यशासन का बोलवाला है, उसी प्रकार भारत मे भी बोलवाला होने लगा तव एक धर्मवीर पुरुप आगे आया उसका नाम था महात्मा गाधी

उसने ब्रिटिश शासन की सर्वोच्चता को चुनौती दी कहा—"स्वच्छद राज्य के कानून की और सेना की सत्ता महान्



नही, प्रजा के नैतिक कानून की और प्रजा की सामुदायिक चारित्र की सत्ता महान् है. आखिर ब्रिटिश शासन समाप्त हुआ. अहिंसा-शक्ति वाली प्रजा की विजय हुई

गाधीजी गये. एक शून्यता व्याप गई

सद्भाग्य से इसी अन्तराल मे भालनलकाठा प्रयोग इसी अनुसधान मे शुरू हुआ पुन यह सूत्र गूज उठा—'राज्य की अपेक्षा प्रजा महान् है. प्रजा की अपेक्षा नैतिकता महान् है ! और नैतिकता अध्यात्मलक्षी बनी रहे इसके लिये क्रान्तिप्रिय साधु साध्वियो का मार्गदर्शन अनिवार्य है'

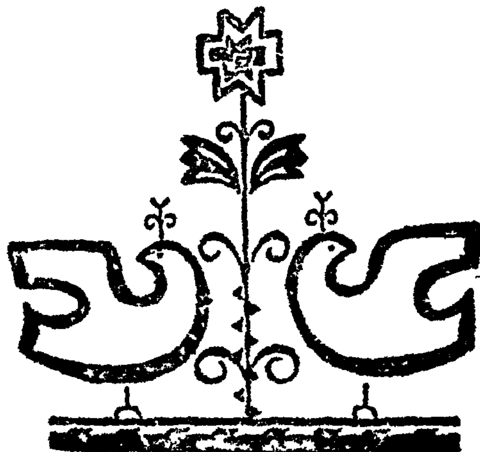
यद्यपि भालनलकाठा प्रदेश का विस्तार स्वल्प है वहा (१) क्रान्ति-प्रिय साधु प्रेरणा (२) रचनात्मक कार्यकर्त्ताओ की सस्था का सचालन (३) नैतिक ग्राम सगठन (४) उसका काग्रेस के साथ (सत्य, अहिंसा के लक्ष्य को सुरक्षित रखते हुये) अनुसधान के साथ सफलता प्राप्त की जा चुकी है, किन्तु गहराई के साथ यदि व्यापकता पर्याप्त प्रमाण मे न आवे तो सम्पूर्ण सफलता की दिशा में आगे बढने के बदले पीछे हटना कहलायगा इसी हेतु से जैसे पच्चीस वर्ष गुजरात के ग्रामो को दिये गये है, उसी प्रकार अन्तिम लगभग ६ वर्ष से बम्बई जैसी महानगरी के साथ और इतर प्रान्तो के साथ गाढा सम्पर्क साधने के लिये मै और साथी श्रीनेमिमुनि प्रयत्नशील है. इसी दृष्टि से नेमिमुनि ने मद्रास में चातुर्मास किया और लगभग आठ प्रान्तो का प्रवास किया इसीलिए हम दोनो ने दिल्ली मे चातुर्मास किया और अब कलकत्ते की ओर प्रयाण करने का निश्चय किया है

× × ×

अब काग्रेस का कायापलट हो रहा है काग्रेस राज्य की अपेक्षा, काग्रेस का सस्था-सगठन महान् है इतनी बात उसने विधिपूर्वक स्वीकार करने की तैयारी की है. किन्तु जब तक कांग्रेस ग्रामो, महिलाजाति और पिछडी हुई जातियो के वर्गो की नैतिक सस्थाओ का मार्गदर्शन स्वीकार नही करती तब तक सच्ची कायापलट होना अशक्य है.

ऐसी परिस्थिति मे यदि क्रान्तिप्रिय-साधु साध्वी अपना आध्यात्मिक बल ऊपरी दृष्टि से नाम मात्र के लिए बनी हुई ग्रामो और शहरो की जनसस्थाओ को अर्पित करें—गाधीयुग के रचनात्मक कार्यकर्त्ता और उपर्युक्त साधु-साध्वी के श्रद्धालु श्रावक-श्राविकाए तथा सन्यासी भक्त जन अपना नैतिक बल सस्थारूप बन कर उन्हे प्रदान करे और जहा ऐसी सस्थाए न हो, वहा उन्हे खड़ी करने में लग जाए तो काग्रेस मे कायापलट होना सुशक्य है अगर ऐसा हुआ तो भले ही ऐसे साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका विरल मिले, परन्तु जनशासन के पाये पर निर्भर जिनशासन की इमारत सुदृढ बन जाएगी

सद्गत पूज्य श्रीहजारीमलजी महाराज के सतपन को जब श्रद्धाजलि के रूप मे यह स्मारक-ग्रन्थ अर्पित किया जा रहा है, तब यदि जिनशासन के पाये जनशासन का ठिकाना न हो और सत्ता के सामने जनता, जनसेवक और साधु-सन्त मस्तक झुकाते रह जाए, तो यह अजलि कैसे सार्थक बनेगी ? जब छठे आरे के अन्त तक, भले ही छोटा सही, चतुर्विध सघ रहना है, तब पचम आरे मे यह महत्त्वपूर्ण काम क्यो नही बन सकता ? अवश्य बनेगा.





काका कालेलकर

सत्याग्रह और पशु

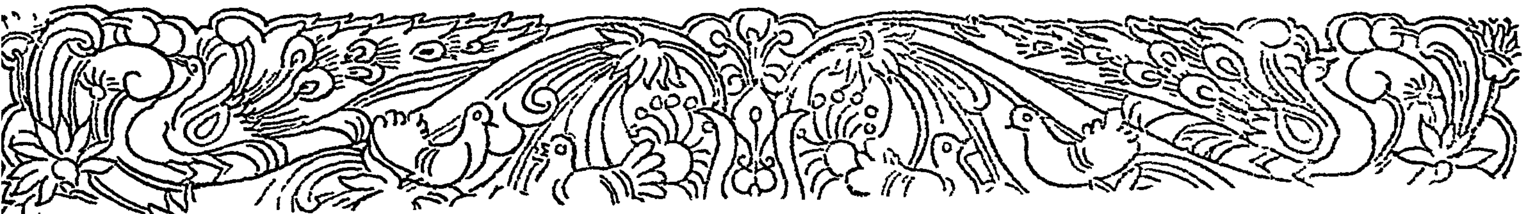
प्रश्न—अगर सत्याग्रह आत्म-शक्ति का प्रयोग है तो क्या सिंह आदि हिंस्र जानवरो के खिलाफ सत्याग्रह चल सकता है ?

जवाब—जिस अर्थ मे आप सत्याग्रह शब्द का उपयोग करते है उस अर्थ में सिंह आदि पशुओ के प्रति सत्याग्रह का उपाय कारगर नही हो सकेगा पशुओ मे बुद्धिशक्ति परिमित पायी जाती है पशुओ मे अन्तर्मुख होकर सोचने की शक्ति हमारे देखने मे आयी नही

प्रथम आपका हिंस्र शब्द लीजिये गाय घास खाती है, बंदर फल-पत्ते आदि खाता है, पक्षी धान्य भी खाते है और कीडे आदि जन्तुओ को भी खा जाते है, इसी तरह सिंह, बाघ और भेडिया पशुओ को मार कर खा जाते है उनका यह आहार ही है पशुओ का दु ख हम देख सकते है इसलिए उनको खानेवालो को हम हिंस्र कहते है इसमे भी सिंह बाघ भेडिया आदि से हमे भय है इसलिए हम उन्हे हिंस्र कहते है बिल्ली भी तो हिंस्र है साँप अजगर आदि सरीसृप भी हिंस्र है वे हमे काटते है लेकिन फाड नही खाते, इसलिए उनके बारे मे हिंस्र शब्द का प्रयोग देखने मे नही आता

हिंस्र शब्द केवल आपका अपनी दृष्टि से प्रेरित Re-action है, प्रतिक्रिया है जिसमे परिवर्तन लाने के लिये आप सत्याग्रह का प्रयोग करेगे उसके प्रति द्वेष, तिरस्कार आदि भावना हटाने की आपकी कोशिश होनी चाहिए पशु मे सुधार हो सकता है ऐसी आपकी भावना भी कहाँ तक है !

इस तरह सत्याग्रह का प्रभाव डालने की शक्ति आपके पास नही है और सत्याग्रह के असर के नीचे आने का माद्दा ही पशु मे नही है इसलिए मैने तुरन्त स्पष्ट 'नही' का जवाब दिया लेकिन इस बारे मे जरा गहराई में उतरना जरूरी है चन्द ईसाई मिशनरियो से बातचीत हो रही थी उन्होने कहा कि जानवरो को आत्मा नही होता उनमे जीव है, प्राण है किन्तु आत्मा नही है मैंने कहा कि इस भेद की चर्चा मै नही करूगा आप हमेशा कहते है न कि परमात्मा प्रेमस्वरूप-God is Love है. तो जिन प्राणियो मे प्रेम कमोवेश प्रकट होता है उनमे ईश्वरी अश आत्मा है ही प्राणी अपने बच्चो पर प्यार करते है उनको बचाने के लिये अपना प्राण तक दे देते है तो आप कैसे कह सकते है कि उनमे प्रेम का उत्कर्ष नही है ? आत्मा नही है ? जहाँ आत्मबलिदान का तत्त्व आया वहा आत्मशक्ति है ही पशु एक दूसरे के बच्चो को बचाने के लिये सगठित प्रयत्न भी करते है हमारी एक भैस मर गई तो तब से दूसरी भैस ने उसके बच्चे को अपना दूध देना शुरू किया उसके पहले उस पराये बछडे को वह पास भी आने नही देती थी ! यह सहानुभूति, करुणा, प्रेम आत्मा का ही आविष्कार है इसलिए यह कहते मुझे तनिक भी सकोच नही है कि योग्य साधुता जिसमे है वह पशुओ पर भी असर कर सकता है "अड्रोक्लीज और सिंह" की कथा तो आप जानते ही है मेरा ही एक छोटा अनुभव आपको कहूँ जब मैं अपने गाँव मे रहता था तब घर मे मेरी एक प्यारी बिल्ली थी हमारे बीच गहरी दोस्ती थी उसका वर्णन नही करता क्योकि बिल्ली का प्यार सब जानते ही है एक दिन जगल के नजदीक अपने बगीचे मे मै गया था, मैंने एक खरगोश का बच्चा पाया. मैंने सोचा—यहा तो कुत्ते आकर उसे फाडकर खा जाएगे मै उसे उठाकर घर ले आया



अब आप जानते ही है कि बिल्ली, खरगोश को मारकर खाती है हमारी बिल्ली छटपटाने लगी फिर बिल्ली ने देखा कि खरगोश भी मेरा प्यारा प्राणी है, मेरे हाथो खाता है मैं उसके साथ खेलता हूँ. खरगोश ने भी देखा कि बिल्ली मेरी गोद मे जाकर बैठती है उसका डर कम हो गया धीरे-धीरे मेरी हाजरी मे दोनो पास आने लगे साथ बैठकर खाने लगे दोनो की अच्छी दोस्ती हो गई इससे इतना तो स्पष्ट है ही कि जानवरो पर भी कुछ न कुछ प्रेम का असर होता ही है उसी को मैं सत्याग्रह कहूँगा पशु का स्वभाव, उसके विकास की मर्यादा आदि देख कर अगर कोई प्रेममूर्ति उस पर प्रभाव डालने की कोशिश करेगा तो उसे निराश नही होना पडेगा

अगर मनुष्य केवल स्वार्थवश, हजारो वरसो की महनत से जगली पशुओ को पालतू बना सका तो नि स्वार्थ प्रेम के द्वारा पुरुष प्राणियो का स्वभाव अवश्य बदल-सुधार सकेगा सापो के साथ दोस्ती करने वाले एक गोरे आदमी का किस्सा मैने कही पढा था

मनुष्य अगर अपना स्वभाव सुधारेगा और विश्वप्रेम की ओर बढेगा तो उसका असर प्राणियो पर कमोवेश होगा ही 'चित्त शुद्धतरी, शत्रु मित्र होती, व्याघ्र ही न खाती, सर्प तया' तुकाराम की यह अभिलाषा व्यर्थ नही थी किन्तु यह सिद्धि एक दो दिन मे या पाँच-दस वर्षो मे मिलने की नही इसके लिये उत्कट साधना की परम्परा चाहिए

मेरा सवाल यह है कि सिंह और बाघ के खिलाफ सत्याग्रह करने की बात उठी ही किसलिए ? क्या मेरा जवाब मिलने पर कोई जगल मे जाकर सत्याग्रह का प्रयोग करना चाहता है ! या घर की बिल्ली को कहने वाला है कि चूहे खाना छोड दो, नही तो मैं तुम्हारे खिलाफ सत्याग्रह करूँगा ? नही, ऐसी बात नही है जवाब मिलने पर कि सिंह आदि हिंस्र जानवरो के खिलाफ सत्याग्रह नही हो सकता, दूसरा प्रश्न पूछा जाता है कि—फिर जिसका स्वभाव ही सिंह, बाघ या सर्प जैसा है, ऐसे मनुष्य के सामने सत्याग्रह क्या करेगा ?

हम कबूल करते है कि चन्द मनुष्यो का स्वभाव हिंस्र पशुओ से भी बदतर होता है तब भी मनुष्य और पशुओ के बीच मूलभूत फर्क है, यह भूलना नही चाहिए मनुष्य सामाजिक प्राणी है इतना ही नही उसने सामाजिक उन्नति भी की है. मनुष्यो मे अन्तर्मुख होने की शक्ति है भाषा के द्वारा मनुष्य काफी गहराई का विचार-विनिमय कर सकता है और सबसे बडी चीज यह है कि मनुष्य के पास धर्म है पशुओ और मनुष्यो के बीच तुलना करते कवि ने कहा है

'धर्मो हि तेषामधिको विशेष ' इस धर्मबुद्धि को जाग्रत करने का काम ही सत्याग्रह करता है

जब बुद्धि और तर्क के जोश मे आकर चन्द लोग कहते है कि हम धर्म को नही मानते तब वे ऐसे धर्मो का इन्कार करते है जिनका विस्तार भिन्न-भिन्न जमानो ने शास्त्रग्रथो के द्वारा किया है जैसे हिन्दुधर्म, इस्लाम-धर्म, ईसाई-धर्म, यहुदी-धर्म आदि हर एक समाज अपने-अपने रस्म-रिवाजो को अपना धर्म मानता है. ऐसे धर्मो के द्वारा हर एक समाज ने उन्नति प्राप्त की है. चन्द रिवाजो के कारण उन्नति रुक भी गई है धर्म के नाम से मनुष्य ने कई अनाचार भी चलाये है ऐसी हालत मे कोई आदमी अधीर हो कर जल्दबाजी से कहे कि हम धर्म मे नही मानते तो वह समझने लायक बात है. लेकिन जब हम यह कहते है कि पशुओ से अधिक चीज जो मनुष्य के पास है वह है धर्म, तब हम व्यापक, सार्वभौम, विश्वजनीन धर्म की बात करते है उसमें प्रेम, करुणा, अहिंसा, दया, क्षमा, तेजस्विता, बलिदान, आत्मौपम्य सेवा, ज्ञानोपासना, संस्कृतिनिष्ठा, वचन-पालन, सत्वसशुद्धि, अभय आदि सर्व सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक गुण आ जाते है खराब से खराब मनुष्य मे भी इन गुणो के उदय की सभावना है वह आज पशुओ मे उतनी मात्रा मे नही इसलिए पशुओ की मिसाल मनुष्य को लागू नही हो सकती है आखिरकार सब मनुष्य एक दूसरे के सजातीय है एक दूसरे पर असर कर ही सकते है





श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल
काशी विश्वविद्यालय

पुरुष प्रजापति

भगवान् वेदव्यास का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वचन है, जो उनके समस्त ज्ञान-विज्ञान का मथा हुआ मक्खन कहा जा सकता है. उन्होने लिखा है

'गुह्य' ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि न हि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्'

जो गुह्य तत्त्वज्ञान है, जो अव्यक्त ब्रह्म के समान सर्वोपरि और सर्वव्याप्त अनुभव है, वह मै तुम से कहता हू—मनुष्य से श्रेष्ठ और कुछ नही है सचमुच अनन्त शाखा-प्रशाखाओ के वेद का गुह्य सदेश यही है कि प्रजापति की सृष्टि मे मनुष्य प्रजापति के निकटतम है शतपथ ब्राह्मण मे स्पष्ट शब्दो मे कहा है :

पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्—शत० ४ ३. ४ ३.

पुरुष प्रजापति के निकटतम है निकटतम का तात्पर्य यही कि वह प्रजापति की सच्ची प्रतिमा है, प्रजापति का तद्वत् रूप है प्रजापति और उसके बीचमे ही ऐसा सान्निध्य और घनिष्ठ सम्बन्ध है, जैसा प्रतिरूप अर्थात् असल रूप और अनुकृति मे होता है प्रजापति मूल है, तो पुरुष उसकी ठीक प्रतिकृति है, प्रजापति के रूप मे देखना और समझना चाहे तो उसके सारे नक्शे को इस पुरुष मे देख और समझ सकते है. सत्य तो यह है कि पुरुष प्रजापति के इतना नेदिष्ठ या निकटतम या अतरग है कि विचार करने पर यही अनुभव होता है और यही मुह से निकल पडता है कि पुरुष प्रजापति ही है

पुरुषः प्रजापतिः—शत० ६. २ १. २३.

जो प्रजापति के स्वरूप का ठाट या मानचित्र है, हूबहू वही पुरुष मे आया है. इसलिए यदि सूत्र रूप मे पुरुष के स्वरूप की परिभाषा बनाना चाहे, तो वैदिक शब्दो मे कह सकते हैं

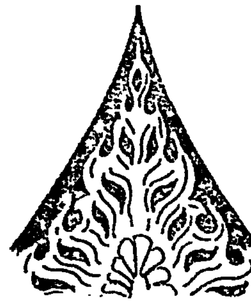
प्राजापत्यो वै पुरुषः—तैत्ति० २ १. ५ ३

किन्तु यहाँ एक प्रश्न होता है पुरुष साढे तीन हाथ परिमाण के शरीर मे सीमित है, जिसे बाद के कवियो ने

अहुठ हाथ तन सरवर, हिया कंवल तेहि मांह

इस रूप मे कहा है, अर्थात् साढे तीन हाथ का शरीर एक सरोवर के समान है, जो जीवन रूपी जल से भरा हुआ है, और जिसमे हृदयरूपी कमल खिला हुआ है जिस प्रकार कमल सूर्य के दर्शन से, सहस्ररश्मि सूर्य के आलोक से विकसित होता या खिलता है, उसी प्रकार पुरुष रूपी यह प्रजापति उस विश्वात्मा महाप्रजापति के आलोक से विकसित और अनुप्राणित है प्रजापति आतप है. तो यह पुरुष उसकी छाया है जब तक प्रजापति के साथ यह सम्बन्ध दृढ है, तभी तक पुरुष का जीवन है प्रजापति के बल का ग्रथिबन्धन ही पुरुष या मानव के हृदय की शक्ति है जो समस्त विश्व मे फैला हुआ है, विश्व जिसमे प्रतिष्ठित है और जो विश्व मे ओतप्रोत है, उस महाप्रजापति को वैदिक भाषा मे सकेत रूप से 'सहस्र' कहा जाता है वह सहस्रात्मा प्रजापति ही वैदिक परिभाषा मे 'वन' भी कहलाता है उस अनन्तानन्त






'वन' के भीतर एक-एक विश्व एक-एक अश्वत्थ वृक्ष के समान है इस प्रकार के अनन्त अश्वत्थ उस सहस्रात्मा 'वन' नामक प्रजापति मे हैं उसके केन्द्र की जो धारा सृष्ट्युन्मुख होकर प्रवृत्त होती है, उसी मूलकेन्द्र से केन्द्रपरम्परा विकसित होती हुई पुरुप तक आती है केन्द्रो के इस वितान मे पूर्वकेन्द्र की प्रतिमा या प्रतिविम्ब उत्तर के केन्द्र मे आता है इस प्रकार जो सहस्रात्मा प्रजापति है, वही मूल से तूल में आता हुआ ठीक-ठीक अपने सम्पूर्ण स्वरूप के साथ इस पुरुप मे अवतीर्ण होता है और हो रहा है वैदिक महर्पियो ने ध्यान योग्यतानुगत हो कर उस महान् तत्त्व का साक्षात्कार किया और सृष्टिपरम्परा का विचार करते हुए उन्हे यह साक्षात् अनुभव हुआ कि यह जो पुरुप है, वह इसी सहस्रात्मा प्रजापति की सच्ची प्रतिमा है—पुरुषो वै सहस्रस्य प्रतिमा—शत० ७. ५ २ १७.

जो महान् प्रजापति है, उसी के अनन्त अव्यक्त स्वरूप मे किन्ही अचिन्त्य अप्रतर्क्य वलो के सघर्पण से या ग्रन्थिवन्धन से या स्पन्दन से सृष्टि की प्रक्रिया प्रवृत्त होती है. किसी भी प्रकार की शक्ति या वेग हो, उसके लिये वलग्रन्थि आवश्यक है विना वलग्रन्थि के अव्यक्त व्यक्तभाव मे, अमूर्त्त मूर्त्तरूप मे आ ही नही सकता. शुद्ध रसरूप प्रजापति मे अमित-भाव की प्रधानता है, उसमे जव तक मितभाव का उदय न हो, तव तक सृष्टि की सम्भावना नही होती प्रजापति के केन्द्र मे जिस रस का वितान या विस्तार होता है, वह यदि वाहर की ओर ही फैलता जाये तो कोई ग्रन्थि-सृष्टि सभव नहीं वह इस परिधि की ओर फैल कर जव वल के रूप केन्द्र की ओर लौटता है तव द्विविरुद्ध भावो की टक्कर से स्थिति और गति या गति और आगतिरूप स्पन्दन का चक्र जन्म लेता है स्पन्दन का नाम प्रजापति है स्पन्दन को वैदिक परिभाषा मे छन्द कहते हैं जो छन्द है, वही प्रजापति है किसी भी प्रकार की फडकन का नाम छन्द है सारे विश्व मे द्विविरुद्व भाव से समुत्पन्न जहाँ-जहाँ छन्द या फडकन है, वही प्रजापति के स्वरूप का तारतम्य दृष्टिगोचर होता है अतएव एक महान् सत्य सूत्ररूप मे इस प्रकार व्यक्त किया गया

'प्रजापतिरेव छन्दो भवत्'—शत० ८ २ ३ १०.

सृष्टि की महती प्रक्रिया मे अनेक लोको मे अनेक स्तरो पर प्रजापति के इस छन्द की अभिव्यक्ति हो रही है उसी छन्दो-वितान मे सहस्रात्मा प्रजापति पुरुपरूप में अभिव्यक्त होता है सूर्य भी उसी केन्द्रपरम्परा का एक विन्दु है ऐसे पूर्वयुग की कल्पना करे, जव सव कुछ तमोभूत था, अलक्षण था, और अप्रज्ञात था उस समय रस और वल के तारतम्य से जो शक्ति का सघर्पण होने लगा, सघर्पण उसी के फलस्वरूप ज्योतिष्मान् महान् आदित्यो का जन्म हुआ वैज्ञानिक भाषा मे इसी को यो सोचा और कहा जा सकता है कि आरम्भ मे शक्ति के समान वितरण के फलस्वरूप एक शान्त समुद्र भरा हुआ था शक्ति के उस शान्त सागर मे न कोइ तरग थी, न क्षोभ था. किन्तु न जाने कहाँ से, कैसे, क्यो और कब उसमे तरगो का स्पन्दन आरम्भ हुआ और उस सघर्प के फलस्वरूप जो शक्ति समरूप मे फैली हुई थी उसमे केन्द्र या विन्दु उत्पन्न होने लगे, जो कि प्रकाश और तेज के पुञ्ज वन गए इस प्रकार के न जाने कितने सूर्य शक्ति की उस प्राक्का-लीन गर्भित अवस्था मे उत्पन्न हुए. वैदिकभाषा में व्यक्त की सज्ञा हिरण्य है, अव्यक्त अवस्था हिरण्यगर्भ अवस्था थी. समभाव से वितरित शक्ति की पूर्वावस्था वही हिरण्यगर्भ अवस्था थी, जिसमे यह व्यक्त हिरण्यभाव समाया हुआ था. आगे का व्यक्तभाव उसी के पूर्व अव्यक्त मे लीन था यदि सदा काल तक शक्ति की वही साम्यावस्था वनी रहती तो किसी प्रकार का व्यक्तभाव उत्पन्न ही न होता शक्ति के वैपम्य से ही महान् आदित्य जैसे केन्द्र या विन्दु उस शान्तशक्ति समुद्र मे उत्पन्न होने लगे पहली शान्त अवस्था के लिये वेद मे सयती शब्द है और दूसरी व्यक्तभावापन्न क्षुब्ध अवस्था के लिये क्रन्दसी शब्द है, सयती शान्त आत्मा है क्रन्दसी क्षुभित आत्मा है शक्ति के उस समुद्र मे जो क्षुभित केन्द्र उत्पन्न हुए, उन्ही की संज्ञा सूर्य हुई. हमारे सौर-मण्डल का सूर्य भी उन्ही मे से एक है. प्रत्येक आदित्य या सूर्य सहस्रात्मा प्रजापति की प्रतिमा है और वह भी ऐसी प्रतिमा है जो विश्वरूपी है, जिसमे सव रूपों की समष्टि है, जिसके मूलकेन्द्र से सव रूपों का निर्माण होता है. उसी के लिये कहा है

आदित्यं गर्भं पयसा समङ्धि सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपम् —यजु १३ ४१

शक्ति के शान्त महासमुद्र मे जो आदित्य उत्पन्न हुआ, वह प्रजापति का शिशुरूप था. उसके पोपण के लिये पय या दुग्ध



की आवश्यकता थी यह कौन-सा पय था, किसने उस आदित्य को पुष्ट किया ? ब्राह्मणो की परिभाषा के अनुसार प्राण ही वह पय या दुग्ध है, जिससे आदित्यरूप उस शिशु का सवर्धन होता है विराट् प्रकृति मे सौरप्राणात्मक स्पन्दन या प्राणनक्रिया के द्वारा ही वह विश्वरूप आदित्य जीवनयुक्त है अर्थात्—स्वस्वरूप मे स्थित है वह अपने से पूर्व की कारण-परम्पराओ का पूर्णतम प्रतिनिधि है इसीलिए उसे सहस्र की प्रतिमा कहा गया है हमारा जो दृश्यमान सूर्य है, वह उन्ही महान् आदित्यो की केन्द्र-परम्परा मे एक विशिष्ट केन्द्र है अथवा उनकी तुलना मे यह शिशुमात्र है इसीलिए वैदिक-भाषा मे 'द्रप्सश्चस्कन्द'

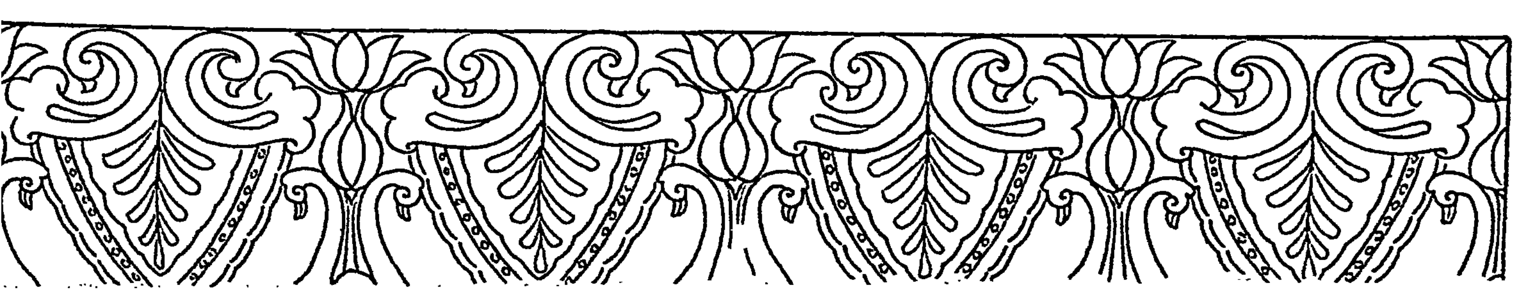
कहा जाता है अर्थात् शक्ति के उस पारावार-हीन महासमुद्र मे जो शक्ति का प्रज्वलित केन्द्र उत्पन्न हुआ, वह इस प्रकार था, जैसे वडे समुद्र से एक जलबिन्दु चू पडा हो. वह महासमुद्र जो कि वाष्परूप मे था अथवा अव्यक्त था उमी मे से यह एक द्रप्स या बिन्दु व्यक्तभाव को प्राप्त हो गया है यही वैदिक काव्य की भापा है और विज्ञान की भापा है सब प्रकार की सीमाओ से ऊपर, सब प्रकार के गणितीय निर्देशो से परे जो शक्ति तत्त्व है, जहा किसी प्रकार के अको का सस्पर्श नही होता, जिसके लिये शून्य या पूर्ण ही एकमात्र प्रतीक है, उस अनन्त सजक पूर्ण मे से यह प्रत्यक्ष आदित्यरूपी एक बिन्दु प्रकट हुआ है और इसकी सज्ञा भी पूर्ण है वह अदस् है, यह इदम् है वह भी पूर्ण है, यह भी पूर्ण है इस प्रकार की रहस्यमयी भाषा सृष्टि से प्राक्कालीन अचिन्त्य और अव्यक्त तत्त्वो के लिये विज्ञान और वेद दोनो मे समानरूप से प्रयुक्त होती है

प्रकृत मे हमारा लक्ष्य इसी पर है कि उस अनत प्रजापति के छन्द से ही पुरुप का निर्माण हुआ है उस सहस्रात्मा प्रजापति की साक्षात् प्रतिमा पुरुप या मानव है रस और बल के तारतम्य से पुरुप, अश्व, गौ, अज, अवि ये पाँच मुख्य पशु प्रकृति मे प्राणदेवताओ के प्रतिनिधिरूप से चुन लिए गए है, यद्यपि समस्त पशुओ की सख्या अनन्तानन्त है वैदिक परिभापा के अनुसार जो भूतसृष्टि है, उसी की सज्ञा पशु या प्रजा है यह भूतसृष्टि तीन प्रकार की है

१ असज्ञ—जैसे पाषाण आदि २ अन्त सज्ञ—जैसे वृक्ष आदि, ३ ससज्ञ—जैसे पुरुष,पशु आदि

इन तीनो मे यह प्रातिस्विक भेद क्यो है ? यह पृथक् विचार का विषय है, सक्षेप मे असज्ञ सृष्टि मे केवल अर्थमात्रा की अभिव्यक्ति है अन्त सज्ञ सृष्टि मे अर्थमात्रा और प्राणमात्रा दोनो की अभिव्यक्ति है, और ससज्ञ प्राणियो मे अर्थ या भूतमात्रा, प्राणमात्रा एव मनोमात्रा—इन तीनो की अभिव्यक्ति होती है इन्हे ही भूतात्मा, प्राणात्मा और प्रज्ञानात्मा भी कहते हैं प्रज्ञानात्मक जो सौर प्राण है, उसे ही इन्द्र कहते है मानव या मनुष्य मे इस सौर इन्द्रतत्त्व की सबसे अधिक अभिव्यक्ति है अन्त सज्ञ वृक्ष वनस्पतियो मे वह प्रज्ञानात्मा इन्द्र मूर्छित रहता है उनमे केवल प्राणात्मा या तैजस आत्मा का विकास होता है जहाँ तेज या प्राण है, वही विकास है बीज जब पृथ्वी मे जल, मिट्टी एव पृथिवी की उष्णता के सम्पर्क मे आता है, तत्क्षण उसमे विकास की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है अतएव उपनिपदो मे कहा गया है कि जो तैजस आत्मा है वह वृक्ष-वनस्पतियो मे भी है, किन्तु प्रज्ञानात्मा का विकास केवल मानव मे होता है इस दृष्टि से मानव समस्त विश्व मे अपना विशिष्ट स्थान रखता है जिस प्रकार प्रजा-पति वाक्, प्राण, मन की समष्टि है, वैसे ही मानव भी वाक्, प्राण और मन तीनो की समष्टि का नाम है अर्थ या स्थूल भूतमात्रा को वैदिक परिभापा मे वाक् कहते है पचभूतो मे आकाश सबसे सूक्ष्म होने के कारण सबका प्रतीक है और वाक् आकाश का गुण है अतएव वाक् से उपलक्षित स्थूल भूतमात्रा या अर्थमात्रा का ग्रहण किया जाता है मानव का शरीर यही भाग है इसके भीतर क्रिया रूप प्राणात्मा का निवास है और उसके भी अभ्यन्तर मे मनोमय प्रज्ञानात्मा का निवास है मन की ही सज्ञा प्रज्ञान है

इस प्रकार प्रजापति और मानव इन दोनो मे रूप-प्रतिरूप या बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव का सम्बन्ध है पुरुष प्रजापति की सच्ची प्रतिमा है, इसका यह अर्थ भी है कि जिस प्रकार प्रजापति त्रिपुरुष पुरुष है, उसी प्रकार यह मनुष्य भी है त्रिपुरुषपुरुप का तात्पर्य यह है कि प्रजापति नामक सस्थाका निर्माण अव्यय, अक्षर और क्षर इन तीन तत्त्वो की समष्टि के रूप मे होता है इनमे से अव्यय दोनो का आलम्बन या प्रतिष्ठारूप धरातल है अक्षर निमित्ति है और क्षर उपादान



है अव्यय प्रजापति से मन, अक्षर से प्राण और क्षर से शरीरभाग का निर्माण होता है. इस प्रकार जो प्रजापति है वही पुरुष है और पुरुष को प्राजापत्य कहना सर्वथा समीचीन है

वैदिक दृष्टि के अनुसार पुरुष दीन-हीन दासानुदास या शरणागत प्राणी नही है वह है प्रजापति के निकटतम उसकी साक्षात् प्रतिमा सहस्रात्मा प्रजापति का जो केन्द्र था, उसी की परम्परा मे पुरुष-प्रजापति के केन्द्र का भी विकास होता है जो सहस्र के केन्द्र की महिमा थी, वही पुरुष के केन्द्र की भी है सहस्रात्मा वनसज्ञक प्रजापति का केन्द्र प्रत्येक अश्वत्थ-सज्ञक प्रजापति मे होता है, और वही विकसित होता हुआ प्रत्येक सूर्य मे और प्रत्येक मानव मे अभिव्यक्त होता है. इसीलिए कहा जाता है कि जो पुरुष सूर्य मे है, वही मानव मे है वैदिक भाषा मे केन्द्र को ही हृदय कहते है केन्द्र को ही ऊर्ध्व और नाभि भी कहा जाता है केन्द्र ऊर्ध्व और उसकी परिधि अध है चक्र की नाभि उसका केन्द्र और उसकी नेमि उसका वाह्य या महिमा भाग है केन्द्र से चारो ओर रश्मियो का वितान होता है केन्द्र को उक्थ भी कहते है, क्योकि उस केन्द्र से चारो ओर रश्मियाँ उत्पन्न होती और फैलती है इन रश्मियो को उक्थ की सापेक्षता से अर्क कहा जाता है. जिस प्रकार सूर्य से सहस्रो रश्मिया चारो ओर फैलती है, और फिर एक-एक से सहस्र-सहस्र होकर विखर जाती है, यहा तक कि तनिक-सा भी स्थान उनसे विरहित या शून्य नही रह जाता और उनकी एक चादर—जैसी सारे विश्व मे फैल जाती है, वैसे ही पुरुष के केन्द्र या उक्थ से अर्क या रश्मियो का विकास होता है.

सहस्रधा महिमानः सहस्रम्

अर्थात् केन्द्र भी महिमा सहस्ररूप से व्यक्त होती है. और फिर उसकी रश्मियाँ सहस्र-सहस्र रूप से वट जाती है जहाँ केन्द्र और परिधि की सस्था है, वहाँ सर्वत्र यही वैज्ञानिक नियम कार्य करता है. इस प्रकार जो पुरुष का आत्म-केन्द्र हृदय है, वह विश्वात्मा सहस्र या प्रजापति का ही अत्यन्त विलक्षण और रहस्यमय प्रतिबिम्ब है ऐसा यह पुरुष प्रजापति की महिमा से महान् है साढे तीन हाथ के शरीर मे परिमित होते हुए भी यह त्रिविक्रम विष्णु के समान विराट् है गीता मे जो कहा है 'ईश्वर सर्वभूताना हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' वह इसी तत्त्व की व्याख्या है वैदिक दृष्टिकोण मे सदेह और अनास्था का स्थान ही नही है यहा तो जो पूर्ण पुरुष है, जो समस्त विश्व मे भरा हुआ है, वही पुरुष के केन्द्र या हृदय मे भी प्रकट हो रहा है वह पुरुष वामन भी कहा जाता है विराट् प्राण की अपेक्षा सचमुच वह वामन है यह जो मानव के केन्द्र या हृदय मे वामन-मूर्ति भगवान् है इसे ही व्यान प्राण भी कहा जाता है जो प्राण और अपान इन दोनो को सचालित करता और जीवन देता है इस व्यान प्राण की शक्ति वडी दुर्धर्ष है इसके ऊपर सौर जगत् के प्राण और पार्थिव जगत् के अपान इन दोनो का घर्षण या आक्रमण निरन्तर होता रहता है, किन्तु वह वामन-मूर्ति विष्णु विराट् का प्रतीक है यह किसी तरह पराभूत नही होता यदि यह वामन या मध्यप्राण हमारे केन्द्र मे न हो तो सौर और पार्थिव प्राण-अपान का प्रचण्ड धक्का न जाने हमारा किस प्रकार विस्त्रसन कर डाले उपनिषद् मे कहा है

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन, इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ.

जिस केन्द्र या मध्यस्थ प्राण मे ऊर्ध्वगति प्राण और अधोगति अपान दोनो की ग्रन्थि है, उसकी पारिभाषिक सज्ञा व्यान है. उसी को यहा साकेतिक भाषा मे इतर कहा गया है प्राण-अपान दोनो उसी के आश्रय मे सचालित होते है. और भी ·

'मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते'

यह केन्द्र या मध्यप्राण या वामन इतना सशक्त और बलिष्ठ है कि सृष्टि के सब देवता इसकी उपासना करते हैं इसी हृद्ग्रन्थिबन्धन या बल से इतर सब देवो के बल सन्तुलित होते है यह वामनरूपी मध्यप्राण ही समस्त विश्व मे अपनी रश्मियो से फैल कर विराट् या वैष्णवरूप धारण करता है. विष्णुरूप महाप्राण ही हृदयस्थ वामन के रूप मे सब प्राणियो के भीतर प्रतिष्ठित है इसी के लिये कहा जाता है

'स हि वैष्णवो यद् वामन.'—शत ५.२ ५४

हृदयस्थ वामनरूपी विष्णु किसी प्रकार अवमानना के योग्य नही है वही अविचाली सहज परिपूर्ण और स्वस्थभाव है जो मानव इस केन्द्रस्थभाव मे स्थिर रहता है, वही निष्ठावान् मानव है जिसका केन्द्रविचाली है, कभी कुछ कभी कुछ सोचता और आचरण करता है वही भावुक मानव है केन्द्र स्थिर हुए विना परिधि या महिमामण्डल शुद्ध वन ही नही सकता आत्मा, बुद्धि मन और शरीर इन चारो विभूतियो मे आत्मा और बुद्धि की अनुगत स्थिति का नाम निष्ठा है और मन एव शरीर की अनुगत स्थिति का नाम भावुकता है प्राय निर्बल सकल्प-विकल्प वाले मनुष्य मन और शरीरानुगत रहते हुए अनेक व्यापारो मे प्रवृत्त होते है जो बुद्धि मन को अपने वश मे कर लेती है, उसी को वैदिक भाषा मे मतीषा कहते हैं जिस अविचाली अटल बुद्धि मे पर्वत के समान ध्रुव या अटल निष्ठा होती है, उसे ही धिषणा कहते हैं वैदिक भाषा मे इमी अश्माखण प्राण के कारण इसे "धिषणा पार्वतेयी" कहा जाता है

वारम्बार यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि भारतीय मानव धर्मभीरु होते हुए भी सर्वथा अभिभूत क्यो है ? उसका ज्ञान और कर्म इस प्रकार कुण्ठित क्यो बना हुआ है ? इस प्रश्न का मानवोचित समाधान यही है कि भारतीय मानव अत्यन्त भावुक हो गया है उसने अपना प्राचीन निष्ठाभाव खो दिया है वह सारे विश्व के कल्याण के लिये सौम्यभाव से आकुल हो जाता है, किन्तु आत्मकेन्द्र की रक्षा नही करता उसका अन्त करण सौम्य होते हुए भी भावुक होने के कारण पिब्दमान या पिलपिला रहता है वह दृढ कर्म और विचारो मे सक्षम नही वन पाता उसमे धर्मभीरुता तो होती है, किन्तु आत्मसत्यरूपी धर्मात्मकता नही होती आत्मनिष्ठा पर अध्यारूढ होना सच्ची श्रद्धा है उसका भारतीय मानव मे अभाव हो गया है अतएव उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्त्व का विकास नही हो पाता वह जिस किसी के लिये भी अपनी आत्मा का समर्पण तो करता है, किन्तु निष्ठापूर्वक ग्रहण कुछ भी नही करता मनोगर्भिता बुद्धि से प्रवृत्त होने वाला मानव ही निष्ठावान् मानव है ऐसे मानव का स्वय केन्द्र विकसित होता है केन्द्रबिन्दु का नाम ही मनु है आत्मबीज का नाम ही मनु कहा जाता है वह मनुतत्त्व जिस मानव मे विकसित नही है, उसमे श्रद्धा का होना भी व्यर्थ है श्रद्धा तो मनु की पत्नी है अर्थात् श्रद्धा मनु के लिये अशिति या भोग्य है जिस समय आत्मकेन्द्र मनु तेजस्वी होता है, उस समय वह अपने ही आप्यायन या सवर्धन के लिये वाहर से श्रद्धारूपी अशिति या भोग्य प्राप्त करता है मनु श्रद्धा का भोग करके ही पूर्ण बनते है. मनु और श्रद्धा की एक साथ परिपूर्ण अभिव्यक्ति ही सत्य का स्वरूप है, अर्थात् सर्वप्रथम मानव का आत्मकेन्द्र उद्‌बुद्ध होना चाहिए उसमे सौर प्राण या इन्द्रात्मक ज्योति का पूर्ण प्रकाश आना चाहिए, तभी वह सच्चा मनुपुत्र या मानव वनता है और इस प्रकार आत्मकेन्द्र के उद्‌बुद्ध होने के वाद आत्म-वीज के विकास के लिये वह सारे विश्व से अपने लिये ग्राह्य अश स्वीकार करता हुआ बढता है यही श्रद्धा द्वारा मनु का आप्यायन है वैदिक भाषा मे इसे ही यो भी कहा जाता है—अशीतिभिर्महदुक्थमाप्यायते

केन्द्र या मनु 'महदुक्थ' है उस महदुक्थ की तृप्ति या आप्यायन श्रद्धारूपी अशिति से होता है, जो उसे चारो ओर से प्राप्त होती है इस प्रकार एक ही बात को कई रीति से कहा गया है महदुक्थ और अशिति, मनु और श्रद्धा इन दोनो की एक साथ अभिव्यक्ति का नाम ही सत्य प्रतिष्ठातत्त्व है

सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्

सत्य स्वयप्रतिष्ठ होता है और सब कुछ सत्य का आधार पाकर प्रतिष्ठित बनता है सत्य आग्नेय तत्त्व है, और श्रद्धा ऋत या स्नेह्य या आपोमय पारमेष्ठ्य तत्त्व है सत्यपरायण बुद्धि सौर प्राण या इन्द्रतत्त्व को ग्रहण करती है सूर्य की सज्ञा ही इन्द्र या रुद्र भी है वेद की दृष्टि से अग्नि या शिव बडे है, और सोम अग्नि का छोटा सखा सोम है की आहुति अग्नि मे पडती है, जिससे अग्नि सौम्य रहता है और अमृतधर्मा बनता है यही प्रक्रिया मानव मे भी निश्चित है भावुकता सौम्यता का रूप है और निष्ठा आग्नेय प्राणात्मक बुद्धि का धर्म है श्रद्धा का उद्‌गम मन मे और विश्वास का उद्‌गम बुद्धि मे होता है विश्वास सौर तत्त्व और श्रद्धा आपोमय है बुद्धि से भी परे और उससे भी उच्चतर तन्त्र का नाम आत्मा है

यो बुद्धेः परतस्तु स ।



श्रद्धासमन्वित बुद्धि ही उस आत्मतत्त्व तक पहुँच सकती है

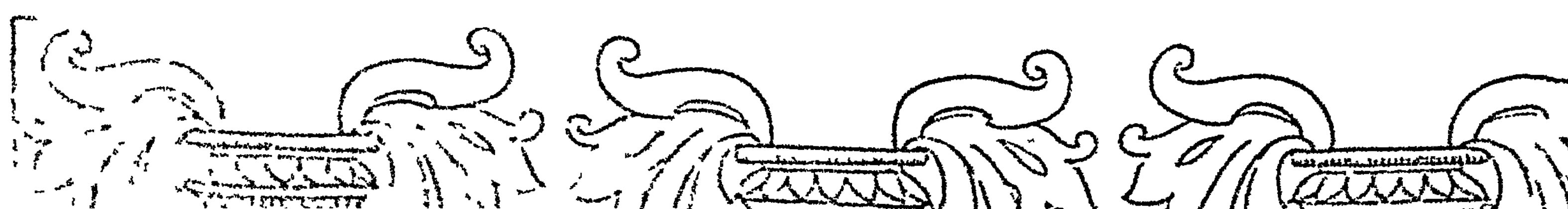
अलौकिक परिपूर्ण मानव ही मनुष्य जाति का युग-युगो मे आदर्श रहा है गीता मे इसी मानव को लक्ष्य करके 'पुरुषोत्तम' कहा है इसे ही अग्रेजी में 'सुपरमैन' करते हैं प्रकृत मानव और महामानव का जो अन्तर है, वही मैन और सुपरमैन का है वेदव्यास ने जो

नहि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्.

इस लोकोत्तर सत्य का उद्घोष किया है, वह उसी महामानव, अति-मानव या लोकत्तरमानव के लिये है, न कि सर्वात्मना दीन-हीन और अशक्त बने हुए निर्बल मानव के लिये, जो परिस्थितियो के थपेडो से पराभूत होता हुआ इधर-उधर लक्ष्यहीन कर्म करता रहता है इस प्रकार का जो बापुरा मनुष्य है वह तो शोक का विषय है वस्तुत मानव का उद्देश्य तो अपने उस स्वरूप की प्राप्ति है जिसमें विश्व का वैभव या समृद्ध्यानन्द और आत्मा का सहज स्वाभाविक उत्कर्ष या शान्त्यानन्द दोनो एक साथ समन्वित हुए हो जो मानव इस प्रकार की स्थिति इसी जन्म मे यही रहते हुए प्राप्त करता है, वही सफल श्रेष्ठतम मानव है. महाभारत के समस्त पात्रो मे दो प्रकार के चरित स्पष्ट लक्षित होते है एक वे हैं जो स्थिर धृति और दृढ निष्ठा से कभी च्युत नही होते और सदा दूसरो का उद्बोधन करते हुए देखे जाते है दूसरे वे है जो भावुक है और बार-बार उद्बोधन प्राप्त करने पर भी जो उसे विस्मृत कर देते है और असत् कर्म मे प्रवृत्त होते है, या निष्ठा से विपरीत केवल भावुकतापूर्ण कर्म करते है. पहली कोटि के पात्रो मे केवल चार की गिनती है—कृष्ण, व्यास, भीष्म और विदुर उनके अतिरिक्त युधिष्ठिर, अर्जुन आदि धर्मपथ के पथिक भी अपनी भावुकता के कारण विषमभाव को प्राप्त हो जाते हैं और कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के ज्ञान से कुछ समय के लिये शून्य या विचलित हो जाते हैं इनके अतिरिक्त दुर्योधन, दु.शासन, शकुनि, कर्ण—जैसे मानव तो एकदम असत् निष्ठा के लिये कर्म कर रहे थे उनका तो अन्त मे विनाश निश्चित ही था महाभारत जैसी लोकोत्तर धर्म-सहिता का लक्ष्य दुर्योधन कर्ण आदि पात्र नही है, क्योंकि वे अपने दुष्ट आग्रह को किसी भाति त्याग नही सकते थे. महाभारत के लिये समस्यारूप मे तो युधिष्ठिर और अर्जुन हैं, जो धर्मपथ पर आरूढ होते हुए भी और धर्मपरायण निष्ठा रखते हुए भी बार-बार कर्त्तव्यपथ से च्युत होते है और विषम निष्ठा को प्राप्त हो जाते हैं और अपने ध्येय को भूल कर कुछ कर कुछ करने के लिये उतारू हो जाते हैं कहाँ तो एक ओर अन्याय का प्रतिकार करने के लिये अर्जुन का युद्ध के लिये कृष्ण को सारथी बनाकर रणभूमि मे जाना, कहाँ दूसरी ओर क्षणभर मे ही युद्ध न करने के लिये भारी अवसाद को प्राप्त हो जाना ऐसे ही युधिष्ठिर भी कई अवसरो पर आत्महत्या के लिये या सब-कुछ छोड़ कर वैराग्य-धारण करने के लिये तैयार हो जाते हैं जिस व्यक्ति की निष्ठा ठीक है, जिसका आत्मकेन्द्र अविचलित है वह इस प्रकार की धर्मभीरु बाते नही कहेगा, जैसी अर्जुन या युधिष्ठिर ने कही, जो ऊपर से देखने मे तो तर्कसगत और पण्डिताऊ जान पडती हैं, किन्तु जो आत्मनिष्ठ सत्य-धर्म की दृष्टि से नितान्त विरुद्ध है.

जिसे महामानव या अतिमानव या पुरुषोत्तम या लोकोत्तर मानव कहा गया है, जो व्यक्ति समाज, राष्ट्र और समस्त मानवजाति की दृष्टि से हमारा आदर्श है, उस श्रेष्ठ मानव का इस विश्व में सच्चा स्वरूप क्या है ? उसका निर्माण कैसे हुआ है ? विराट् विश्व के कौन-कौन से तत्त्व उसके निर्माण मे समाविष्ट हुए है ? उसका केन्द्र और उसकी महिमा क्या है ? विश्वात्मा षोडशी प्रजापति और केन्द्र प्रजापति का क्या सम्बन्ध है ?

कहने के लिये तो मानव का निर्माण छोटी सी बात है, किन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है यह मानव महत्र प्रजापति की प्रतिमा है. अतएव मानव के स्वरूप का यथार्थज्ञान विश्वस्वरूप की मीमासा के विना अथवा सहस्रात्मा प्रजापति के स्वरूपपरिचय के बिना सम्भव नही है सृष्टि के आदि से सृष्टि के अन्त तक विश्व की कोई प्रक्रिया ऐसी नही है जिसका प्रतिबिम्ब मानव मे न हो. संक्षेप मे इसका सूत्र यह है कि जो षोडशी प्रजापति है वही मानव के केन्द्र मे बैठा हुआ मनुप्रजापति या आत्मबीज है षोडशी प्रजापति को ही त्रिपुरुष-पुरुष भी कहते हैं. अव्यय, अक्षर और क्षर ये ही सृष्टि के आधारभूत तीन पुरुष है, और चौथा उन तीनों से परे रहने वाला परात्पर पुरुष कहलाता है, जो



सर्वथा अव्यक्त और अमूर्त्त है, किन्तु जिसकी स्वाभाविकी ज्ञान, बल, क्रिया से यह सारा विश्व प्रवृत्त हो रहा है इस प्रकार त्रिपुरुष समन्वित परात्पर पुरुष ही षोडशी प्रजापति का दूसरा नाम है. इन्ही तीनो की विशेषताओ को और भी अनेक शब्दो द्वारा प्रकट किया जाता है, क्योकि विश्व मे भी वस्तुत वे तीन ही नानाभावो को प्राप्त हो रहे हैं उदाहरण के लिए अव्यय. क्षर का ही विकास मन, प्राण और भूत है उन्हे ही जैसा पहले कहा गया है—प्रज्ञानात्मक, प्राणात्मा और भूतात्मा कहते है इन्ही तीनो से क्रमश भावसृष्टि और विकारसृष्टि का जन्म होता है. इन तीनो मे से प्रत्येक की पाच-पाच कलाए है अर्थात् *अव्यय* की पाच कलाएँ, अक्षर की पाच कलाए और क्षर की पाच कलाए और इनसे अतिरिक्त स्वय परात्पर पुरुष—इस प्रकार षोडशी प्रजापति कहलाता है कहा है

पंचधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमदन्यदस्ति, यस्तद् वेद स वेद सर्वं सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति ।

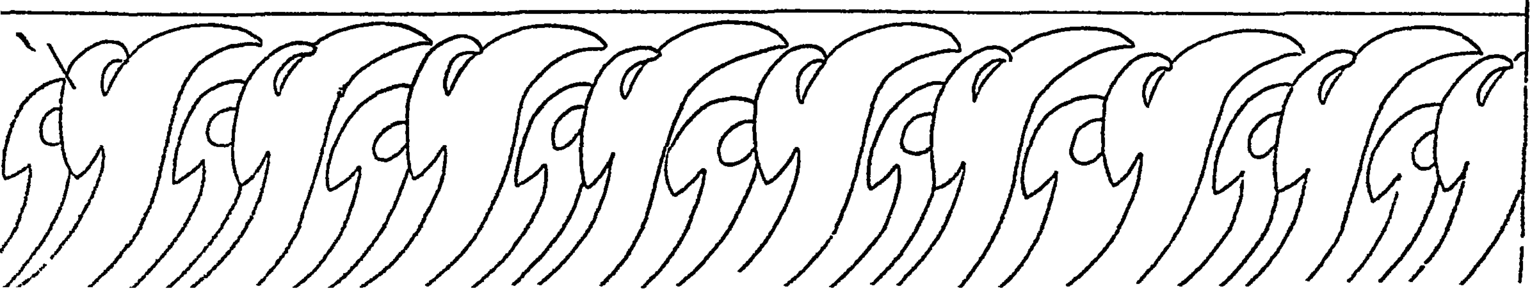
क्षर, अक्षर और अव्यय इन तीनो मे शुद्ध आत्मा केवल अव्यय है वह प्रकृति सापेक्षता से ऊपर है प्रकृति के दो रूप है—अव्यक्त और व्यक्त व्यक्त रूप विश्व या क्षर है प्रकृति का अव्यक्त रूप अक्षर पुरुष कहा जाता है उसे ही वराप्रकृति कहते है उसकी तुलना मे क्षर सृष्टि अपरा प्रकृति है जो क्षर सृष्टि है वही भौतिक जगत् है भूत प्रजाधार पर प्रतिष्ठित रहता है प्राण के बिना भूत की स्थिति हो ही नही सकती प्राचीन और अर्वाचीन दोनो दृष्टियो से यही सत्य सिद्धान्त है प्रत्येक भूत या पिण्डात्मक अर्थ प्राणरूप शक्ति का ही व्यक्त रूप है भूत और प्राण इन दोनो से ऊपर इनके भीतर समाविष्ट अव्यय पुरुष है, जो विश्वसाक्षी, असग और अव्यक्त रूप है वैदिक परिभाषाओ से प्राय परिचय न होने के कारण उनके सान्निध्य मे बुद्धि को व्यामोह होने लगता है किन्तु जिस प्रकार विज्ञान की परिभाषाए सुनिश्चित और सार्थक है, उसी प्रकार वैदिक सृष्टिविज्ञान ने भी अपने अभिधेय अर्थ का प्रकाश करने के लिये सुनिश्चित परिभाषा-शास्त्र का निर्माण किया था उन पारिभाषिक शब्दो के द्वारा ही मन्त्रो मे, ब्राह्मणो मे और उपनिषदो मे सृष्टि सम्बन्धी नाना तत्त्वो को स्पष्ट किया गया है दुर्भाग्य से उस परम्परा से हम दूर हटते चले गए और ब्राह्मणग्रन्थो का पठन-पाठन भी केवल यज्ञीय कर्मकाण्डो तक सीमित रह गया वैसे तो ऋषियो की दृष्टि से उन्होने ब्राह्मणग्रन्थो मे प्राय इन अर्थो को आद्यन्त भर दिया है, किन्तु वे स्रोतग्रन्थ भी आज दुरूह बने हुए है

प्रजापति को चतुष्पात् कहा गया है ओंकार सर्वोत्तम गुह्य सकेत है प्रणव भी चतुष्पात् है और प्रजापति की प्रतिमा मानव भी चतुष्पात् है विश्व, विश्वकर्त्ता, विश्वसाक्षी, विश्वातीत इन चारो की ही सज्ञा क्षरात्मा, अक्षरात्मा, अव्ययात्मा और परात्पर है और इन्हे ही म, उ, अ एव अर्धमात्रा युक्त प्रणव के प्रतीक से किया जाता है 'विश्व क्या है? यहा से प्रश्नसूत्र का वितान करते हुए समष्टि और व्यष्टि रूप मे पाच भौतिक विश्व के मूलकारण की जिज्ञासा और उसका समाधान किया गया है इसके उत्तर मे उपनिषदो की प्रसिद्ध अश्वत्थविद्या का निरूपण है जो वैदिक सृष्टिविद्या का ही दूसरा नाम है इस प्रसग मे कई प्राचीन परिभाषाए महत्त्वपूर्ण है जैसे महावनर्ण, परात्पर, अश्वत्थरूपी महावृक्ष *अव्यय*, इसे मायी महेश्वर भी कहते है

इस अश्वत्थविद्या मे अव्यय को अमृत, अक्षर को ब्रह्म और क्षर को शुक्र भी कहा गया है अव्यय अभिष्ठानकारण और भाव सृष्टि का हेतु है, अक्षर निमित्त कारण और गुणसृष्टि का हेतु है, एव क्षर उपादानकारण तथा विकारसृष्टि का हेतु है

मनुतत्त्व

अश्वत्थविद्या के अतिरिक्त दूसरा महत्त्वपूर्ण विषय मनुतत्त्व की व्याख्या है, जिसके कारण मानव मानव कहलाता है मनु-तत्त्व को ही अग्नि, प्रजापति, इन्द्र, प्राण और शाश्वतब्रह्म इन नामो से पुकारा जाता है, जैसा कि मनु के श्लोक मे प्रसिद्ध है, (मनु १२।१२३) अध्यात्मसस्था के अन्तर्गत चार प्रकार के मनस्तन्त्र है—श्वोवसीयस् मन, सत्त्वमन, सर्वेन्द्रियमन और इन्द्रिय मन ज्ञानशक्तिमय तत्त्व को मन कहते है. इन चारो का सम्बन्ध चिदश से है उसी के कारण ये प्रज्ञात्मक बनते है इनमे सृष्टि की जो मूलभूत कामना या काम है (कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेत प्रथम यदासीत्) वही सर्वजगत् के मूल मे स्थित अतएव पुरुष के मूल मे भी सर्वोपरि विराजमान हृदय विश्वात्मा मन या हृदयभाव से युक्त



काममय पुरुष ही श्वोवसीयस् मन है यही पुरुषमन मौलिक मनुतत्त्व है जो सबका प्रशास्ता और सर्वान्तर्यामी है. इसी की ज्ञानमात्रा उत्तरोत्तर सुषुप्त्यधिष्ठाता सत्त्वमूर्ति महन्मन मे, और वहा से इन्द्रियप्रवर्त्तक अशनायारूप सर्वेन्द्रिय मन मे, और अन्त मे नियतविषयग्राही इन्द्रियो के अनुगामी इन्द्रियमन मे अवतीर्ण या अभिव्यक्त होती है एक-एक इन्द्रिय का रूप रस घ्राण आदि नियत विषय इन्द्रियमन से गृहीत होता है इसी को 'पचेन्द्रियाणि मन षष्ठानि' कहा जाता है फिर पांचो इन्द्रियो का अनुकूल प्रतिकूल वेदनात्मक जो व्यापार है, वह सब इन्द्रियो मे समान होने से सर्वेन्द्रियमन का विषय है इसे अनिन्द्रिय मन भी कहा जाता है जब चलते हुए किसी एक इन्द्रियविषय का अनुभव नही होता, तब भी सर्वेन्द्रियमन अपना कार्य करता रहता है भोगप्रसक्ति के बिना भी विषयो का चिन्तन यही मन करता है सुषुप्तिदशा मे अपने इन्द्रियप्राणो के साथ मन जब आनन्द की दशा मे शान्त हो जाता है, जब सब इन्द्रिय-व्यापार रुक जाते है, वह तीसरा सत्वगुणसम्पन्न सत्वैकघन महान् मन कहा जाता है उस सत्वमन से भी ऊपर चौथा अव्ययमन या सृष्टि का मौलिक चिदंश पुरुषमन है जिसे श्वोवसीयस् मन कहते है और जिसका सम्बन्ध परात्पर पुरुष की सृष्टियुन्मुखी कामना से है वही अणु से अणु और महतो महीयान् है केन्द्रस्थभाव मन है वही उक्थ है जब उसी से अर्क या रश्मिया चारो ओर उत्थित होती है तो वही परिधि या महिमा के रूप मे मनु कहलाता है यही मन और मनु का सम्बन्ध है यद्यपि अन्ततोगत्वा दोनो अभिन्न है

स्वयम्भू स्वय प्रतिष्ठित सृष्टि का मूल तत्त्व है. वह स्वय विश्वसर्ग की क्रमधारा से परे रहता हुआ कभी किसी प्रकार अणुभाव मे परिणत नही होता उसे वृत्तौजा या वर्त्तुलाकार कहा गया है किन्तु उससे ही जब सृष्टि की प्रवृत्ति आरम्भ होती है, तब त्रिवृत् भाव का विकास हो जाता है त्रिवृतभाव के ही नामान्तर मन, प्राण, वाक् है उनके और भी अनेक पर्याय वैदिक-साहित्य मे आते है. त्रिवृत् या त्रिक के उत्पन्न होते ही स्वयम्भू का एक केन्द्र तीन केन्द्रो में परिणत हो जाता है इस त्रिकेन्द्रक सृष्टि का नाम ही अण्डसृष्टि है, जो कि ज्यामिति की परिभाषा मे वृत्तायत आकृति वाली अण्डाकृति होती है यही वैदिक भाषामे त्रिनाभिचक्र है स्वयम्भू के बाद सृष्टिक्रमधारा मे पाच अण्डो का जन्म होता है उनमे पहला 'अस्त्वण्ड' है, जिसका सम्बन्ध परमेष्ठी या महान् आत्मा से है स्वयम्भू से गर्भित परमेष्ठी त्रिवृत् भाव के प्रथम जन्म के कारण अण्डाकार बनता है स्वयम्भू ने सर्व प्रथम कल्पना की कि यह सृष्टि उत्पन्न हो :

तदभ्यमृषत् अस्तु इति.

इसी कारण यह पहला अण्ड अस्त्वण्ड कहलाया स्वयम्भूब्रह्म को अपने गर्भ मे रखने वाला परमेष्ठी का आपोमण्डल अस्त्वण्ड ही ब्रह्माण्ड कहलाता है इसके बाद सूर्य से दूसरा हिरण्मयाण्ड उत्पन्न होता है जैसा कहा जा चुका है कि व्यक्तभाव की सज्ञा हिरण्य है अतएव हिरण्मयाण्ड का सम्बन्ध अस्ति या गर्भित अवस्था से नही वरन् उस अवस्था से है जब कि गर्भ आगे चल कर जन्म ले लेता है, अथवा अव्यक्त व्यक्तभाव मे आ जाता है पहली स्थिति या अस्त्वण्ड का सबध अस्तिभाव से है दूसरी का सबध जायते या जन्म से है जन्म के अनतर तीसरा भाव वर्द्धते अर्थात् वृद्धि से है इसे ही पोषाण्ड कहते है जिसका सबध भूपिण्ड या पृथ्वी से है पुष्ट होने के अनतर परिपाक की अवस्था आती है जिसे 'विपरिणमते' इस शब्द से कहा जाता है इसे यशोऽण्ड कहते है वह वस्तु का महिमाभाव है और इसका सम्बन्ध महिमा पृथ्वी से है महिमा ही यश है इसके अनन्तर प्रत्येक वस्तु क्षीण होने लगती है. वह अपक्षीयते अवस्था चन्द्रमा के विवर्त्त है और उसे रेतोऽण्ड कहा गया है. इन पाच ब्रह्माण्डो की समष्टि ही विश्व है और विश्वरूप समर्पक स्वय भूब्रह्म स्वय विश्वनिर्माण करने के कारण विश्वकर्मा कहलाता है महान् विश्व से लेकर यच्च यावत् जितने भूत या उत्पन्न होने वाले पदार्थ है उन सबमे अस्ति, जायते, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते—ये पाच भाव विकार अवश्य होते है एक एक बीज मे प्रकृति का यही नियम चरितार्थ हो रहा है स्वय बीज अस्त्वण्ड है उनमे से अकुर का फूटना अर्थात् अव्यक्त विटप का व्यक्तभाव मे आना हिरण्यमयाण्ड है भूपिण्ड से अपनी खूराक लेकर अकुर का बढना उसका पोषाण्डरूप है. फिर उस अकुर का अपने सम्पूर्ण महिमाभाव को प्राप्त होकर पूरा वितान करना यह उस बीज का यशोऽण्डरूप है दिक्चक्रवाल को व्याप्त करके जो महान् वटवृक्ष देखा जाता है, वह अति सूक्ष्म उसी वटबीज की महिमा या यश है सर्वथा विपरिणाम या परिपाक के बाद प्रत्येक

शरीर मे अपने ही जैसा उत्पन्न करने की एक शक्ति आती है, उसी का घनीभूत रूप रेत या बीज है. यही रेतोऽण्ड अवस्था है. इस अवस्था को प्राप्त करते ही प्रत्येक शरीर क्षयोन्मुख होने लगता है यही अपक्षीयते-स्थिति है ये पाँचो अण्ड व्यक्तभाव के ही परिणाम है अव्यक्त जब कभी व्यक्तभाव को प्राप्त करेगा उसे पाच भावविकारो की क्रमिक स्थिति प्राप्त करनी होगी शतपथब्राह्मण की यह अत्यन्त रहस्यमयी विद्या है यह विषय अत्यन्त गूढ और क्लिष्ट है, किन्तु सृष्टिव्यापिनी निर्माणप्रक्रिया को समझने के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भी है अर्वाचीन शती का मानव विश्व की पहेली को वैज्ञानिक दृष्टि से समझना चाहता है आधुनिक वैज्ञानिको के प्रयत्न विश्वरहस्यमीमासा को स्पष्ट करने में लगे हुए है

सृष्टि का मौलिक तत्त्व क्या है? क्यो इसकी प्रवृत्ति होती है ? इसके मूल मे कौन-सी शक्ति है? उसका स्पन्दन किस कारण से हुआ और किन नियमो से आज वह प्रवृत्त है ? शक्ति की प्राणनक्रिया और स्थूल भौतिक पदार्थो मे परस्पर क्या सम्बन्ध है ? गति और स्थितिसज्ञक द्विविरुद्ध भावो का जन्म क्यो होता है और उनका स्वरूप क्या है ? इत्यादि एक से एक रोचक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न सृष्टिविद्या के सम्बन्ध मे हमारे सामने आ खडे होते है. उनके समाधान का सच्चा प्रयत्न आज के वैज्ञानिक कर रहे है नित्य नूतन प्रयोगो द्वारा वे विश्व की मूलभूत शक्ति के स्वरूप और रहस्य को जानने मे लगे है वैज्ञानिक तत्त्ववेत्ताओ ने इतना अब निश्चय पूर्वक जान पाया है कि स्थूल भौतिक सृष्टि जिसे हम भूतमात्रा, अर्थमात्रा या वैदिक परिभाषा मे वाक् कहते है, अन्ततोगत्वा शक्ति के स्पन्दन का ही परिणाम है विश्व के सब पदार्थ मूलभूत शक्ति की रश्मियो के स्पन्दन से घनीभूत या व्यवस्थित हुए है यह शक्ति विश्व की प्राणनक्रिया है प्रत्येक भूत मे यह विद्यमान है बुद्धिमान् उसे हर एक भूत मे देखते और पहचानते है—

भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः

आज परमाणु के विशकलन ने यह सम्भव कर दिया है कि शक्ति के इस रहस्य की झाकी मानव को प्राप्त हो सकी है किन्तु भूतमात्रा और प्राणमात्रा के सदृश ही तीसरी प्रज्ञानमात्रा भी है, जो समस्त सृष्टि मे उसी प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार भूतमात्रा और प्राणमात्रा लोष्ठ, पाषाण आदि असज्ञ वृक्ष-वनस्पति आदि अन्त सज्ञ एव पशु-मनुष्य आदि ससज्ञ भूतो मे सर्वत्र अव्ययात्मा का श्वोवशीयस्मन अवश्य ही व्याप्त है. सबके जन्म, स्थिति और लय के पीछे मूलभूत त्रिक का नियम एक समान है अवश्य ही विश्व मे वैचित्र्य और विज्ञान की अनेक कोटिया पाई जाती है जिनका स्पष्ट अन्तर कीट-पतग आदि की मानव से तुलना करने पर समझा जा सकता है प्रजापति का जो अमृत और अनिरुक्त स्वरूप है, उसकी भाषा को समझने की जो स्थिति हो सकती है विज्ञान भी शीघ्रता से उस ओर बढ रहा है और विश्वविज्ञान के तत्त्ववेत्ताओ की मौलिक चिन्तनप्रवृत्ति को देखते हुए कहा जा सकता है कि वह समय दूर नही है जब देश और काल के अतिरिक्त तीसरी सत्ता को भी मानने से ही विश्वनिर्माण की व्याख्या ठीक प्रकार करना सम्भव होगी एक समय था जब देश के आयतन पर आधारित ज्यामिति द्वारा भूतो के निर्माण की मीमासा की जाती थी

वैज्ञानिकप्रवर आइन्स्टाइन ने इस विचार मे महती क्राति की और देश के साथ काल को भी सृष्टिनिर्माण के मौलिक तत्त्व रूप मे सिद्ध किया गणित और भौतिक विज्ञान की उपपत्ति द्वारा यह तत्त्व सबके लिये मान्य हुआ. देश और काल सृष्टि के निर्माण का अनिवार्य चौखटा है. इसी साचे मे पडकर भूतसृष्टि ढल रही है देश और काल को ही नाम और रूप कहा गया है शतपथ के अनुसार नाम और रूप दोनो बडे यज्ञ है जिनके पारस्परिक विमर्द या सघर्ष से यह सब कुछ हो रहा है शक्ति की सक्षा ही यज्ञ है, किन्तु नाम और रूप दोनो अभ्व यक्ष कहे गये है, जो होकर भी नही है (भूत्वा न भवतीति) उसे अभ्व कहते है नामरूपात्मक सारा विश्व वैदिक दृष्टि से अभ्व ही है वैज्ञानिक की दृष्टि मे भी यह सारा विश्व शक्ति के मूल आधार पर तरगित नामरूप के अतिरिक्त कुछ नही है, जो देश और काल के टकराने से अस्तित्व मे आया है, आ रहा है और आता रहेगा वह जो मूलभूत शक्ति है उसके सम्बन्ध मे वैज्ञानिक को भी अभी बहुत कुछ जानना है विश्वरश्मिया (कास्मिक रेडियेशन कहाँ से आती है, उनका स्रोत क्या है ? शक्ति का जो समान वितरण इस समय हो रहा है, उसकी उल्टी प्रक्रिया भी क्या कभी सम्भव है कि जिसके कारण महासूर्य



जैसे ज्वलन्त शक्ति-केन्द्रो का पुन: निर्माण हो सके ? एक वार शक्ति का विलय हो जाने पर इसकी पुन प्रवृत्ति का क्या कोई हेतु और सम्भावना है ? इत्यादि प्रश्न विज्ञान के सप्रश्न है जिनका सकेत मानव का आह्वान उस ओर निश्चित रूप से कर रहा है, जो विश्व का मूल कारण है और जिसके विषय मे सबसे बडा रहस्य यह है कि वह इस विश्व से वाहर रहता हुआ भी इसकी रचना करके इसी मे समाया हुआ है.

'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'.

वैज्ञानिको के सामने सुमेरु के समान दुधर्ष सृष्टि का सप्रश्न बना हुआ है, जैसा मनीषिप्रवर मारिस मेटरलिंक ने कहा है 'सत्य तो यह है कि इतना अनुसन्धान और बौद्धिक मन्थन हो जाने के बाद भी अभी विश्व-मानव उस स्थिति मे नही पहुँचा पाया है जहाँ एक भी परमाणु, एक भी घटक कोप या एक भी मानस का पूरा रहस्य या उसकी प्रक्रियाओ का पूरा भेद हमे मिल पाया हो अभी तक चारो ओर रहस्य ही रहस्य भरा हुआ है, किन्तु मानव प्रजापति का नेदिष्ठ रूप है उसे तत्त्व की प्राप्ति के विना सन्तोप नही हो सकता शक्ति के स्वरूप और जीवन के स्रोत एव मन के स्वरूप को जान कर ही मानव के प्रश्न का समाधान हो सकेगा कहा जाता है कि विश्ववैज्ञानिक आइन्स्टाइन अपने जीवन के अन्तिम क्षणो मे विश्व की गूढ पहेली को समझने मे अतिव्यस्त थे और उनके दृष्टिपथ मे यह सत्य आने लगा था कि देश और काल के अतिरिक्त भी कोई शक्ति है जो सृष्टिप्रक्रिया मे अनिवार्य अग के समान कार्य कर रही है और उसकी सत्ता को भी सम्भवत गणित की उपपत्तियो द्वारा व्यक्त करना सम्भव होगा यह भविष्य के प्रश्न है जिनके विपय मे अधिक ऊहापोह सम्भव नही, किन्तु वैदिक विज्ञान की जो सामग्री हमारे सामने है उसका जब बुद्धिगम्य विवेचन हम देखते है, तो यह ध्रुव रूप निश्चित हो जाता है कि उस किसी सत् चित् आनन्द तत्त्व ने अपने त्रिवृत् स्वरूप द्वारा इस सर्ग का वितान किया है और वह स्वय इसमे गूढ है, वही अव्यक्त से व्यक्त भाव मे आया है, साथ ही समझने वालो को इसका भी आभास स्पष्ट मिलता है कि वैदिक—विज्ञान और अर्वाचीन विज्ञान इन दोनो की शब्दावली और परिभापाओ मे चाहे जितना भेद हो, मूलतत्त्व की व्याख्या मे वहुत कुछ सादृश्य है ऊपर कही हुई पचाण्ड-विद्या उसका एक छोटा-सा उदाहरण है जन्म वृद्धि और ह्रास की मौलिक प्रक्रिया जो विज्ञान और दर्शन मे समानरूप से मान्य है वही पचाण्डविद्या का विषय है जिसे अग्रेजी मे औवल या आयतवृत्त कहते है, वही अण्ड है एक अविशेप केन्द्र से तीन विशिष्ट केन्द्रो का विकास यही सृष्टि है. त्रिकभाव का नाम ही विश्व है 'त्रिवृद् वा इदं सर्वम्' यह वेद की परिभाषा विज्ञान को भी मान्य है इसी त्रिवृत् भाव की सज्ञा मनु, प्राण, वाक् है जिसकी वहुत प्रकार की व्याख्या वैदिकसाहित्य मे पाई जाती है. उस व्याख्या के भिन्न-भिन्न स्तर है जैसे इस सृष्टि के विभिन्न क्षेत्र या स्तर है. यह बात भी स्मरण रखनी चाहिए कि विज्ञान के नियम के समान ही मूलभूत वैदिक नियम भी अत्यन्त सरल है अध्यात्म, अधिदैवत्त और अधिभूत के स्तरो पर उन नियमो को समझने का प्रयत्न ब्राह्मण ग्रन्थो में पाया जाता है वैदिक विज्ञान का एक कठिन पक्ष भी है, वैदिक विज्ञान एक सूत्र या तन्तु नही, पूरा पट है एक तन्तु को पकडते ही पूरे पट को सम्हालने का साहस यदि वुद्धि मे न हो तो बुद्धि कातर हो जाती है और दिङ्मूढ स्थिति में पड जाती है किस दशा मे कहा गति की जाय यह स्पष्ट दिखाई नही पडता, किन्तु यह ऐसी कठिनाई नही है जिसका परिहार न हो सके यह तो सृष्टि की ही विचित्रता है, उसमे सव कुछ ओतप्रोत है. एक सामान्यातिसामान्य अकुर समस्त विश्व का प्रतीक वना हुआ है उसका कृत्स्न ज्ञान कोई प्राप्त करना चाहे तो उसे एक ओर समस्त विज्ञान को और दूसरी ओर दर्शन के ज्ञान को मथना होगा. ज्ञान और विज्ञान को आत्मसात् करके ही अन्तिम तत्त्व का दर्शन किया जा सकता है. ज्ञान शिरोमूला दृष्टि है और विज्ञान पादमूला दृष्टि है वट मे वीज का दर्शन और वीज मे वट का दर्शन ये दोनो ही ज्ञानसाधन के प्रकार है



संस्कृति, समाज, इतिहास और पुरातत्त्व

तृतीय अध्याय



डॉ० मंगलदेव शास्त्री
पूर्व उपकुलपति सस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी.

भारतीय संस्कृति का वास्तविक दृष्टिकोण

भारतीय सस्कृति के विषय मे आजकल जो विचार-विभ्रम फैला हुआ है उसको दूर ने के लिये, इस लेख मे हम भारतीय सस्कृति के विषय मे कुछ मौलिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन करते हुए उसके वास्तविक दृष्टिकोण को स्पष्ट करना चाहते है

सबसे पहले हम भारतीय सस्कृति स्वभावत प्रगतिशील है, इस सिद्धान्त को लेते हैं

भारतीय संस्कृति की प्रगतिशीलता

प्राचीन जातियो मे अपनी प्रथाओ, अपने आचार विचारो और अपनी सस्कृति को अत्यन्त प्राचीन काल से आने वाली अविच्छिन्न परम्परा के रूप मे मानने की प्रवृत्ति सर्वत्र देखने मे आती है अनेक धार्मिक या राजनैतिक प्रभाव वाले वशो की, यहा तक कि धार्मिक मान्यताओ से सबद्ध अनेक नदियो आदि की भी, दैवी या लोकोत्तर उत्पत्ति के मूल मे यही प्रवृत्ति काम करती हुई दीख पडती है

भारतवर्ष मे भी यह प्रवृत्ति अपने पूर्ण विस्तृत और व्यापक रूप मे चिरकाल से चली आ रही है.

इसी के परिणामस्वरूप देश की साधारण जनता मे प्राय ऐसी भावना बद्धमूल हो गयी है कि उसकी धार्मिक और सास्कृतिक रूढिया सदा से एक ही रूप मे चली आयी है दूसरे शब्दो मे, साम्प्रदायिक दृष्टि के लोग भारतीय सस्कृति को, प्रगतिशील या परिवर्तनशील न मानकर, सदा से एक ही रूप मे रहने वाली स्थितिशील मानने लगे है

'सनातन धर्म' या 'शाश्वत धर्म' जैसे शब्दो के प्राय दुरुपयोग द्वारा उक्त भावना मे और भी दृढता लायी गयी है

परन्तु विज्ञान-मूलक ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर तत्काल यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि भारतीय सस्कृति की सूत्रात्मा चिरन्तन काल से चली आ रही है, वह अपने बाह्य रूप की दृष्टि से बराबर परिवर्तनशील और प्रगतिशील रही है

वैदिक तथा पौराणिक उपास्य देवो की पारस्परिक तुलना से हमारी देवता-विषयक मान्यताओ मे समय-भेद से होने वाला महान् परिवर्तन स्पष्ट हो जाता है

समय-भेद से ब्रह्म आदि की पूजा की प्रवृत्ति और उसके विलोप से भी यही बात स्पष्टतया सिद्ध होती है.

इसी प्रकार के दो-चार अन्य निदर्शनो को भी यहा देना अनुपयुक्त न होगा

'यज्ञ' शब्द को लीजिए वैदिक काल मे इसका प्रयोग प्रायेण देवताओ के यजनार्थ किये जाने वाले कर्म-कलाप के लिये ही होता था पर कालान्तर मे अनेक कारणो से वैदिक कर्म-काण्ड के शिथिल हो जाने पर यही शब्द अधिक व्यापक अर्थो मे प्रयुक्त होने लगा इसी परिवर्तित दृष्टि के कारण भगवद्गीता,[१] मे वैदिक यज्ञो के साथ-साथ (जिनको

१ देखिए भगवद्गीता ४।२५-३०, ३२ तथा २।४२-४३

वह 'द्रव्य-यज्ञ' कहती है,) तपोयज्ञ, योगयज्ञ, ज्ञानयज्ञ आदि का भी उल्लेख करती है. स्वामी दयानन्द के अनुसार तो 'शिल्प-व्यवहार और पदार्थ-जीवन जो कि जगत् के उपकार के लिये किया जाता है उसको (भी) यज्ञ कहते है"[1] आचार्य विनोवा भावे का भूदान-यज्ञ तो आज सवकी जिह्वा पर है

इसी प्रकार 'ऋग्वेद, 'यजुर्वेद' 'आयुर्वेद' 'धनुर्वेद' आदि शब्दो मे प्रयुक्त 'वेद' शब्द स्पष्टतया किसी समय सामान्येन विद्या या ज्ञान के अर्थ मे प्रयुक्त होता था कालान्तर में यह अनेकानेक शाखाओ मे विस्तृत मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वैदिक साहित्य के लिये ही प्रयुक्त होने लगा. उन शाखाओ मे से अनेको का तो अव नाममात्र भी शेप नही है यही 'वेद' शब्द अव प्रायेण उपलब्ध वैदिक सहिताओ के लिए ही प्रयुक्त होने लगा है

इसी प्रकार 'वर्ण' शब्द के भी विभिन्न प्रयोगो मे समय भेद से परिवर्तित होने वाली वर्ण-विषयक दृष्टियो का प्रभाव दिखाया जा सकता है.

'यज्ञ' आदि जैसे महत्त्व के शब्दो का समय-भेद से होने वाला भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग स्पष्टतया विचारो मे घात-प्रतिघात तथा सामयिक आवश्यकताओ के फलस्वरूप होने वाली भारतीय सस्कृति की प्रगति की ओर ही सकेत करता है

आचार-विचार की दृष्टि से भी अनेकानेक स्पष्ट उदाहरणो से भारतीय सस्कृति कभी स्थितिशील न होकर सदा प्रगतिशील या परिवर्तनशील रही है, इस सिद्धान्त की पुष्टि की जा सकती है

शूद्र, अतिशूद्र कहलाने वाली भारतीय जातियो के प्रति हमारी कठोर दृष्टि और व्यवहार में सामयिक परिस्थितियो और सन्त महात्माओ के आन्दोलनो के कारण शनै.शनै होने वाला विकासोन्मुख परिवर्तन भारतीय सस्कृति की प्रगतिशीलता का एक उज्ज्वल उदाहरण है 'न शूद्राय मतिं दद्यात्'[2] (शूद्र को किसी प्रकार का उपदेश न दे), तथा 'पद्यु ह वा एतच्छ्मशान यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्'[3] (शूद्र तो मानो चलता-फिरता श्मशान है. इसलिए उसके समीप मे वेदादि नही पढना चाहिए, शूद्र के प्रति इस कठोर और अशोभन दृष्टि से चल कर उसको 'हरि+जन' मानने की दृष्टि मे स्पष्टतया आकाश-पाताल का अन्तर है.[4]

इसी प्रकार विभिन्न विदेशी जातियो को आत्मसात् (हम इसको 'शुद्धि' नही मानते) करने मे, विदेशो में भारतीय संस्कृति के सदेश को पहुँचाने मे, और वेद, और शास्त्रो की दुरधिगम कोठरियो मे वन्द उस सन्देश को जनता की भाषा मे, प्राय जनता के ही सच्चे प्रतिनिधि सन्त-महात्माओ द्वारा, सर्व साधारण के लिए सुलभ किये जाने में, हमे उपर्युक्त प्रगतिशीलता का सिद्धान्त ही काम करता हुआ दीखता है

भारतीय सस्कृति के इतिहास के लम्वे काल में ऐसे स्थल भी अवश्य आते है जब कि उसके रूप मे होने वाले परिवर्तन आपातत विकासोन्मुख प्रगति को नही दिखलाते तो भी वे उसकी स्थिति-शीलता को तो सिद्ध करते ही है साथ ही, जैसे स्वास्थ्य-विज्ञान की दृष्टि से रोगावस्था अरुचिकर होने पर भी हमारे स्वास्थ्य-विरोधी तत्त्वो को उभाड कर उनको नाश करके हमारे स्वास्थ्य मे सहायक होती है, उसी प्रकार आपातत अवाछनीय परिवर्तनो को समझना चाहिए. कभी-कभी उन परिवर्तनो के मूल मे हमारी जातीय आत्मरक्षा की स्वाभाविक प्रवृत्ति या सामयिक आवश्यकता भी काम करती हुई दीखती है इसलिए उन परिवर्तनो के कारण भारतीय सस्कृति की प्रगतिशीलता के हमारे उपर्युक्त सामान्य सिद्धात मे कोई क्षति नही आती.

---

१. स्वामी दयानन्द-कृत 'आर्योद्देश्यरत्नमाला' से

२. मनुस्मृति ४.८०.

३ देखिए—'वेदान्तसूत्र—शाकरभाष्य' १.३.३८.

४. इन दृष्टि-भेद के विस्तृत इतिहास में एक प्रकार से भारतीय सस्कृति का सारा इतिहास प्रतिबिम्बित रूप में दिखाया जा सकता है. हम इस पर स्वतन्त्ररूप से फिर कभी विचार करना चाहते है.

यह प्रगतिशीलता या परिवर्तनशीलता का सिद्धात केवल हमारी कल्पना नही है हमारे धर्मशास्त्रो ने भी इसको मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है

धर्मशास्त्रो का कलि-वर्ज्य प्रकरण[1] प्रसिद्ध है इसमे प्राचीन काल मे किसी समय प्रचलित गोमेध, अश्वमेध, नियोग-प्रथा आदि का कलयुग मे निषेध किया गया है विभिन्न परिस्थितियो के कारण भारतीय सस्कृति के स्वरूप मे प्रगति या परिवर्तन होते रहे हैं इस बात का, हमारे धर्मशास्त्रो के ही शब्दो मे, इससे अधिक स्पष्ट प्रमाण मिलना कठिन होगा

इसके अतिरिक्त, प्रत्येक युग मे उसकी आवश्यकता के अनुसार 'धर्म' का परिवर्तन होता रहता है, इस सामान्य सिद्धात का प्रतिपादन भी धर्मशास्त्रो मे स्पष्टत मिलता है उदाहरणार्थ

> अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे युगे ।
> अन्ये कलियुगे नृणां युगरूपानुसारतः ।
> युगेष्वावर्तमानेषु धर्मोऽप्यावर्तते पुनः ।
> धर्मेष्वावर्तमानेषु लोकोऽप्यावर्तते पुन ।
> श्रुतिश्च शौचमाचारः प्रतिकालं विभिद्यते ।
> नाना धर्माः प्रवर्तन्ते मानवानां युगे-युगे ।

अर्थात्, सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग मे युग के रूप या परिस्थिति के अनुसार 'धर्म' का परिवर्तन होता रहता है युग-युग मे मनुष्यो की श्रुति (धार्मिक मान्यता की पुस्तक या साहित्य), शौच (स्वच्छता का स्वरूप और प्रकार) और आचार (आचार-विचार या व्यवहार) सामयिक आवश्यकताओ के अनुसार बदलते रहते है

धर्मशास्त्रो की ऐसी स्पष्ट घोषणा के होने पर भी, यह आश्चर्य की बात है कि हमारे प्राचीन धर्मशास्त्री विद्वानो के भी मन मे 'भारतीय सस्कृति स्थितिशील है' यह धारणा बैठी हुई है गाधी-युग से पहले के साप्रदायिक विद्वानो के शास्त्रार्थ अब भी लोगो को स्मरण होगे उनमे यही निरर्थक तथा उपहासास्पद झगडा रहता था कि हमारा सिद्धात सनातन है या तुम्हारा अब भी यह धारणा हमारे देश मे काफी घर किये हुए है इसी के कारण साप्रदायिक कटु भावना तथा सकीर्ण विचार-धारा अब भी हमारे देश मे सिर उठाने को और हमारे सामाजिक जीवन को विषाक्त करने को सदा तैयार रहती है

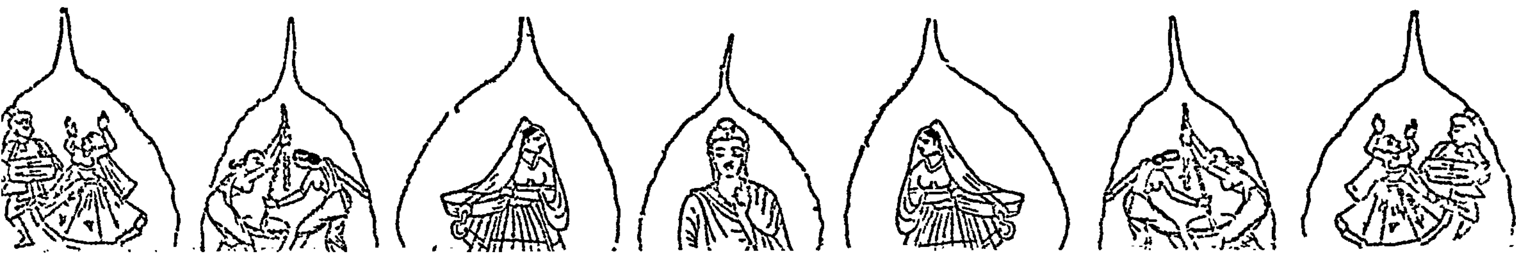
इसलिए भारतीय सस्कृति की सबसे पहली मौलिक आवश्यकता यह है कि उसको हम स्वभावत प्रगतिशील घोषित करें. उसी दशा मे भारतीय सस्कृति अपनी प्राचीन परम्परा, प्राचीन साहित्य और इतिहास का उचित सम्मान तथा गर्व करते हुए अपने अन्तरात्मा की सदेश-रूपी मानव-कल्याण की सच्ची भावना से आगे बढती हुई, वर्तमान प्रबुद्ध भारत के ही लिए नही, अपितु ससार भर के लिए उन्नति और शान्ति के मार्ग को दिखाने मे सहायक हो सकती है

यह कार्य 'हमारा आदर्श या लक्ष्य भविष्य मे है, पश्चाद्दर्शिता मे नही' यही मानने से हो सकता है भारतीय सस्कृति रूपी गगा की धारा सदा आगे ही बढती जाएगी, पीछे नही लौटेगी प्राचीन युग जैसा भी रहा हो, पुन. उसी रूप मे लौट कर नही आ सकता, हमारा कल्याण हमारे भविष्य के निर्माण मे निहित है, हम उसके निर्माण मे अपनी प्राचीन जातीय सपत्ति के साथ-साथ नवीन जगत् मे प्राप्य सपत्ति का भी उपयोग करेगे यही भारतीय सस्कृति की प्रगतिशीलता के सिद्धान्त का रहस्य और हृदय है

भारतीय सस्कृति का दूसरा सिद्धात उसका असाम्प्रदायिक होना है यहाँ हम उसी की व्याख्या करेंगे.

---

१. देखिए—'अथ कलिवर्ज्यानि बृहन्नारदीये—समुद्रयातु स्वीकार कमण्डलुविधारणम् । देवराच्च सुनोत्पत्तिर्मधुपर्के च गोर्वध । मासदान तथा श्राद्धे वानप्रस्थाश्रमस्तथा । ··नरमेधाश्वमेधकौ । गोमेधश्च तथा मख । इमान् धर्मान् कलियुगे वर्ज्यानाहुर्मनीषिण ॥ 'इत्यादि'··
—निर्णयसिन्धु, कलिवर्ज्यप्रकरण



भारतीय संस्कृति की असांप्रदायिकता

सस्कृत मे प्राचीन काल से एक कहावत चली आ रही है कि .

श्रुतयो विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्ना, नैको मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम् ।

अर्थात् श्रुतियो और स्मृतियो मे परस्पर विभिन्न मत पाये जाते है. यही बात मुनियो के विषय मे भी ठीक है

इसका अभिप्राय यही है कि किसी भी सभ्य समाज में मतभेद और तन्मूलक सम्प्रदायो का भेद या बाहुल्य स्वाभाविक होता है इसका मूल कारण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्यो की स्वाभाविक प्रवृत्ति और रुचि में भेद का होना ही है कोई व्यक्ति स्वभाव से ही ज्ञान-प्रधान, कोई कर्म-प्रधान और कोई भक्ति या भावना-प्रधान होता है. फिर समय-भेद तथा देश-भेद से भी मनुष्यो की प्रवृत्तियो मे भेद देखा जाता है रेगिस्तान के शुष्क प्रदेश मे रहने वालो के और बगाल जैसे नमी प्रधान प्रदेश मे रहने वालो के स्वभावो मे अन्तर होना स्वाभाविक ही है

ऐसे ही कारणो से भारत वर्ष जैसे विशाल और प्राचीन परम्परा वाले देश मे अनेकानेक सम्प्रदायो का होना बिल्कुल स्वाभाविक है.

एक सीमा तक यह सम्प्रदाय-भेद स्वाभाविक होने के कारण व्यक्तियो की सत्प्रवृत्तियो के विकास का साधक होता है यह तभी होता है जब कि उन विभिन्न सम्प्रदायो के लोगो के सामने कोई ऐसा उच्चतर आदर्श होता है जो उन सबको परस्पर सगठित और सम्मिलित रहने की प्रेरणा दे सकता हो परन्तु प्राय ऐसा देखा जाता है कि साप्रदायिक नेताओ की स्वार्थ वृद्धि और धर्मान्धता या असहिष्णुता के कारण सम्प्रदायो का वातावरण दूषित, सघर्षमय और विषाक्त हो जाता है उस दशा मे सम्प्रदाय-भेद अपने अनुयायियो के तथा देश के लिये भी अत्यन्त हानिकारक आर घातक सिद्ध होता है.

भारतीय सस्कृति की आतरिक धारा मे चिरन्तन मे सहिष्णुता की भावना का प्रवाह चला आया है तो भी, भारतवर्ष मे सम्प्रदायो का इतिहास बहुत कुछ उपर्युक्त दोषो से युक्त हो रहा है आर्थिक और राजनीतिक स्वार्थो के कारण और कुछ अशो मे धर्मान्धता के कारण भी अपने-अपने नेताओ द्वारा सम्प्रदायो का और स्वभावत शाति-प्रधान, पर भोली-भाली और मूर्ख, जनता का पर्याप्त दुरुपयोग किया गया है

साम्प्रदायिक वैमनस्य और अत्याचार का उल्लेख करने पर आजकल तत्काल हिन्दू-मुसलिम वैमनस्य या पिछली शताब्दियो मे दक्षिण भारत मे ईसाइयो द्वारा हिन्दू जनता पर किये आत्याचार सामने आ जाते है यह सब तो निस्सन्देह ठीक ही है पर साम्प्रदायिक असहिष्णुता और अत्याचार का विशुद्ध भारतीय सम्प्रदायो मे अभाव रहा है, यह न समझ लेना चाहिए

पौराणिक तथा धर्मशास्त्रीय सस्कृत साहित्य मे वर्णित उन व्यक्तिगत अथवा सामूहिक अत्याचारो[1] के आख्यानो या विधानो को, जो वास्तव मे साम्प्रदायिक असहिष्णुता-मूलक या उसके व्याज मे राजनीतिक-मूलक थे, जाने दीजिए हम उसका उल्लेख यहाँ नही करेगे. यहाँ कुछ अन्य निदर्शनो को देना पर्याप्त होगा.

उदाहरणार्थः

'श्रमण-ब्राह्मणम्' (व्याकरण-महाभाष्य २.४.९) पद के आधार पर श्रमणो (अर्थात जैन-बौद्धो) और ब्राह्मणो मे सर्प और नकुल जैसी शत्रुता का उल्लेख किया जा सकता है. ईसवी शतियो के प्रारम्भिक काल के आसपास इस शत्रुता ने भारतवर्ष के राजनीतिक तथा धार्मिक वातावरण मे जो हलचल मचा रखी थी, वह इतिहासकार से छिपी नही है.

---

१. उदाहरणार्थ, स्कन्द-पुराणान्तर्गत सूतसंहिता में शैव संप्रदाय के विरोधियों के बाधन और शिरश्छेदन का स्पष्टतया विधान किया है, जैसे— शिवद्रोहिपराणां तु बाधकानां तु बाधनम् । शिवभक्तिरिति प्रोक्ता ··॥ भस्मसाधन निष्ठाना दूषकस्य छेदन शिरसः ॥ (सूतसंहिता ४।२६।२८—३२) । रामायण में भगवान् रामचन्द्र द्वारा शम्बूक (शूद्र) का वध प्रसिद्ध है । वेद सुनने मात्र के अपराध के लिए शूद्र के कानों में रांगा पिलाने की चर्चा प्रसिद्ध ही है.

आज की असाम्प्रदायिक भारत सरकार के विरुद्ध सम्प्रदाय-वादियो का आन्दोलन उसके सामने कुछ भी नही है.

भगवान् मनु ने अपनी मनुस्मृति मे जैन जैसे सम्प्रदायो को नास्तिक ही नही कहा है, उनके धर्मग्रथो को भी 'कुदृष्टि' 'तमोनिष्ठ' (अज्ञानमूलक) और 'निष्फल' कहा है [1]

हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम् ।

(अर्थात् मदमत्त हाथी से पीछा किये जाने पर भी, जैन-मन्दिर मे न जाए) ऐसे वचनो से और दक्षिण भारत मे पूर्व-मध्य काल मे अनेकानेक जैन-बौद्ध मन्दिरो को वलात् छीन कर पौराणिक मन्दिरो का रूप देने मे भी साप्रदायिक विद्वेष और अत्याचार के ही निदर्शन हमारे सामने आते है

इसके अतिरिक्त, नीचे लिखे उद्धरणो को भी देखिए :

त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचरा. ।

(वेदो के बनाने वाले भाड, धूर्त और निशाचर ये तीन थे),

धिग् धिक् कपालं भस्मरुद्राक्षविहीनम् । तं त्यजेदन्त्यं यथा ।

(भस्म और रुद्राक्ष से जिसका कपाल विहीन है उसका अन्त्यज के समान दूर से ही परित्याग कर दे),

भवव्रतधरा ये च ये च तान् समनुव्रताः ।
पाषण्डिनस्ते भवन्तु सच्छास्त्रपरिपन्थिन. । —भागवत ४ २.२८

(अर्थात्, शैवधर्म के अनुयायी वास्तव मे पाखण्डी और सच्छास्त्र के विरोधी है)

यथा श्मशानजं काष्ठं सर्वकर्मसु गर्हितम् ।
तथा चक्राङ्कितो विप्र. सर्वकर्मसु गर्हितः ।

(अर्थात् श्मशान के काष्ठ के समान ही चक्राकित वैष्णव का सब कर्मो से वहिष्कार करना चाहिए)

इसी प्रकार हमारे अनेक धार्मिक ग्रथ, शैव, वैष्णव, जैन, वौद्ध आदि सप्रदायो के परस्पर विद्वेष के भावो से भरे पडे है इस साम्प्रदायिक विद्वेष भावना ने हमारे दार्शनिक ग्रन्थो पर भी कहा तक अवाछनीय प्रभाव डाला है, इसका अच्छा नमूना हमको 'माध्वमुखभग' 'माध्वमुखचपेटिक' दुर्जन-करि-पचानन' जैसे ग्रन्थो के नामो से ही मिल जाता है इन नामो मे विद्वज्जन सुलभ शालीनता का कितना अभाव है यह कहने की वात नही है.

दर्शनशास्त्र का विषय ऐसा है जिसका प्रारम्भ ही वास्तव मे साम्प्रदायिकता की सकीर्ण भावना की सीमा की समाप्ति पर होना चाहिए इसलिए दार्शनिक क्षेत्र में विभिन्न सप्रदायो के लोग सकीर्णता से ऊपर उठ कर, सद्भावना और सौहार्द के स्वच्छ वातावरण मे एकत्र सम्मिलित हो सकते है

परन्तु भारतवर्ष मे दार्शनिक साहित्य का विकास प्रायेण साप्रदायिक सघर्ष के वातावरण मे ही हुआ था इसलिए उन-उन सम्प्रदायो से सपृक्त विभिन्न दर्शनो के साहित्य से भी प्रायः साप्रदायिकता को प्रोत्साहन मिलता रहा है

न्याय-वैशेपिक दर्शनो का विकास शैव सम्प्रदाय से हुआ है [2] योग की परम्परा का भी झुकाव शैव सम्प्रदाय की ओर अधिक है रहे पूर्व—मीमासा, वेदान्त, बौद्ध और जैन-दर्शन—इनका तो स्पष्टतया घनिष्ठ सम्वन्ध वैदिक, वैष्णव, वौद्ध और जैन-सम्प्रदायो से ही रहा है एक साख्य-दर्शन ऐसा है जिसकी दृष्टि प्रारम्भ से ही विशुद्ध दार्शनिक रही है पर इसीलिए उसे वेदान्तसूत्र-शाकरभाष्य[3] आदि मे अवैदिक कह कर तिरस्कृत किया गया है

---

१ देखिए—'या वेदह्या स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टय । सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ता स्मृता '—मनुस्मृति १२ ९५.

२ इस विषय में राजशेखरसूरिकृत षड्दर्शन—समुच्चय, तथा हरिभद्रसूरिकृत षड्दर्शन—समुच्चय को भी देखिए.

३ देखिए 'न तया श्रुतिविरुद्धमपि कापिल मत श्रद्धातु शक्यम्'—वेदान्तसूत्रशाकरभाष्य २ १ १



साम्प्रदायिक भावना की तरह ही जाति-पाँति का अनन्त भेद भी भारतीय समाज मे वैषम्य का कारण रहा है. अब भी नाना रूपो मे हमारे समाज मे फैला हुआ इसका विष हमारे अनेक कार्यकर्त्ताओ को 'अन्त शाक्ता बहि शैवा. सभामध्ये च वैष्णवा' इस उक्ति का लक्ष्य बनाता रहता है.

इस प्रकार चिरकाल से प्रायेण विचार-सकीर्णता और परस्पर संघर्ष की भावना से परिपूर्ण सप्रदायवाद, तदभिभूत दार्शनिक साहित्य और जाति-पाँति के भेद-भाव से जर्जरित भारतीय जनता मे एक जातीयता के नवीन जीवन का सचार करने के लिये, मानो एक उपास्य देव के रूप में, एकमात्र प्रगतिशील तथा असाम्प्रदायिक भारतीय सस्कृति के आदर्श का ही आश्रय लिया जा सकता है

भारतीय सस्कृति असाम्प्रदायिक है, इसका अभिप्राय यह नही है कि भारतीय सस्कृति का सम्प्रदाय-विशेष से कोई विरोध या झगडा है प्रत्युत नैतिकता तथा मानव-हित की भावना की सीमा के अन्दर वह सम्प्रदायो का सम्मान करती है और किसी मुख्य धारा की सहायक नदियो के समान, उनको अपना उपकारक और पूरक मानती है नैयायिको की जाति, जैसे व्यक्तियो से पृथक् होते हुए भी उनसे पृथक् नही रहती, इसी प्रकार सस्कृति भारतीय सप्रदायो से पृथक् अर्थात् स्वय असाम्प्रदायिक होते हुए भी उनसे पृथक् नही है इसी कारण, भारतीय सस्कृति के नाते से, सम्प्रदायो का परस्पर सम्बन्ध आदरयुक्त और सौहार्द-पूर्ण होना चाहिए उनमे होड या स्पर्धा भी हो तो वह मानव-हित और भारतीय सस्कृति के महत्त्व को वढाने वाली वातो में होनी चाहिए

इस प्रकार असाम्प्रदायिक भारतीय सस्कृति की भावना ही सम्प्रदायो मे पारस्परिक सघर्ष की भावना को नष्ट कर उनको अपने विशुद्ध कर्तव्य-पालन के लिए प्रेरणा दे सकती है भारतीय सस्कृति का तीसरा सिद्धात है

भारतीय संस्कृति की भारत के समस्त इतिहास से ममत्व-भावना

भारतीय सस्कृति की सतत-प्रवहण-शील धारा की तुलना भगवती गगा की धारा से की जा सकती है जैसे गगा की धारा मे मूल किसी अज्ञात स्थान से निकल कर, अनेकानेक दुरधिगम तथा दुर्गम ऊँचे-नीचे पर्वतो और प्रदेशो मे होती हुई, अनेक विभिन्न धाराओ के जलप्रवाहो को आत्मसात् करती हुई, अन्त मे सुन्दर रमणीक समतल प्रदेशो मे प्रवेश कर नवीनतर गम्भीरता, विस्तार और प्रवाह के साथ आगे की ओर ही बहती है, ठीक उसी तरह भारतीय सस्कृति की धारा किसी प्रागैतिहासिक अज्ञात युग से प्रारम्भ होकर, अनुकूल तथा प्रतिकूल विभिन्न परिस्थितियो में से गुजरती हुई तथा विभिन्न प्रकार की विचार-धाराओ को आत्मसात् करती हुई शनै शनै अपने विशालतर और गम्भीरतर रूप मे आगे वढती हुई ही दिखायी देती है. विशिष्ट स्थानो के विशिष्ट माहात्म्य के होने पर भी जैसे गगा की समस्त धारा मे हमारी मान्यता है, इसी प्रकार भारतीय सस्कृति की दृष्टि से उसकी पूरी धारा मे, दूसरे शब्दो मे, भारत के समस्त इतिहास मे हमारी ममत्व की भावना होनी चाहिए. ऐसे किये विना न तो, 'भारतीय सस्कृति' शब्द की ही कोई सार्थकता रहेगी और न देशव्यापी भारतीयत्व की भावना को ही हम जीवित रख सकेंगे

परन्तु दुर्भाग्य से अव तक हमारी स्थिति प्राय उक्त सिद्धांत के प्रतिकूल ही रही है

साम्प्रदायिकता, निराशावाद और तज्जनित पश्चाद्दृष्टि की भावना, विभिन्न सकीर्ण स्वार्थों की क्षति और उनके प्राचीन काल के, कुछ कल्पित और कुछ वास्तविक, अभ्युदय की निराशाप्रद स्मृति, इत्यादि अनेक कारणो से हम उक्त आवश्यक सिद्धात की प्राय· अवहेलना करते रहे हैं, और यह प्रवृत्ति अब तक हममें विद्यमान है

हमारे धर्मशास्त्रो मे युगो के क्रम से धर्म के ह्रास का सिद्धात, पुराणो मे 'नन्दान्त क्षत्रियकुलम्' (अर्थात् नन्दो के राज्यारूढ होने पर वैदिक परम्परा के पोषक जो 'क्षत्रिय' राजा थे उनका अन्त हो गया) यह कथन, अथवा कलियुग के दुष्प्रभाव का वर्णन, ये सब उसी प्रवृत्ति के निदर्शन हैं.

वैदिक परम्परा के उन अन्तिम युग के दिनो मे, जब कि जन्मना जातिवाद खूब वढ गया था और हमारे यज्ञो ने भी केवल यान्त्रिक द्रव्य-यज्ञो का रूप धारण कर लिया था, साधारण जनता के हित की आवाज उठाने वाले बौद्ध और



जैनधर्मो के अभ्युदय से तथा प्राय. उसी के फल-स्वरूप राजनीतिक प्राधान्य के दूसरो के हाथो मे चले जाने से, वैदिक सम्प्रदाय के नेताओ मे स्वभावत उत्पन्न होने वाली निराशा ने ही उपर्युक्त विचारो को जन्म दिया था.

इसी साप्रदायिक (तथा राजनीतिक) प्रतिक्रिया के कारण हम देखते है कि उन शताब्दियो के तथा तदुत्तरकालीन सस्कृत साहित्य मे विश्व को चमत्कृत करने वाले बौद्ध-धर्म सम्बन्धी राजनीतिक तथा धार्मिक अभ्युदय की कुछ भी चर्चा नही है यदि आधुनिक ऐतिहासिक अनुसन्धान इसके उद्धार को अपने हाथ मे न लेता, तो भारतवर्ष के गौरव और गर्व के इस स्वर्ण-युग के इतिहास को हम सदा के लिये खो बैठते.

अब भी, इस विद्या और ज्ञान के युग मे भी, हममे ऐसे सकीर्ण-दृष्टि वाले साप्रदायिकों की कमी नही है जो समझते है कि महाभारत-काल के पश्चात् भारत का जो भी महत्त्व का इतिहास है, वह उनके लिये अरुचिकर न हो तो भी, उनके गर्व और गौरव की वस्तु नही है यहाँ तक कि कालीदास के ससार को मुग्ध करने वाले शाकुन्तल नाटक से, भक्ति-सुधा के प्रवाह-रूप भागवत से, या भारत की कोटिश जनता की धार्मिक अथवा आध्यात्मिक पिपासा को शान्त करने वाले सन्तो के साहित्य से भी कोई वास्तविक उल्लास या प्रसन्नता प्राप्त नही होती

इस प्रकार की एकागी या पक्षपात की दृष्टि से न तो हम भारतीय सस्कृति के प्रवाह और परम्परा को ही समझ सकते है, और न हम उसके साथ न्याय ही कर सकते है

वास्तव मे भारतीय सस्कृति के प्रवाह और स्वरूप को समझने के लिये हमे जनता के विकास की दृष्टि से ही उसका अध्ययन करना होगा भारतीय इतिहास के विभिन्न कालो का महत्त्व भी हमे, किसी सम्प्रदाय या राजवश की दृष्टि से नही, किन्तु जनता की दृष्टि से ही मानना पडेगा इस प्रकार के अध्ययन से ही हमे प्रतीत होगा कि भारतीय सस्कृति की प्रगति मे वैदिक युग के समान ही बौद्ध-युग का या सन्त-युग का भी महत्त्व रहा है

राजवशो के इतिहास से ही किसी देश की सस्कृति का इतिहास समाप्त नही हो जाता राजवश तो किसी नगर के बाह्य प्राकार के ही स्थानीय होते है प्राकार के अन्दर प्रवेश करने पर ही प्रजा या जनता के वास्तविक जीवन का पता लग सकता है

इसलिए जनता के जीवन के अविच्छिन्न प्रवाह को या लोक-सस्कृति की प्रगति को समझने के लिये किसी देश के समस्त इतिहास से सम्बन्ध और सपर्क स्थापित करना आवश्यक होता है इसी को हमने ऊपर ममत्व-भावना शब्द से कहा है

इस ममत्व-भावना के होने पर ही हम अपनी सकीर्ण साप्रदायिक भावनाओ को पृथक् रख के, भारत के समस्त महान् व्यक्तियो मे, चाहे वे किसी सम्प्रदाय के या जाति के कहे जाते हो, ममत्व का, समादर का, श्रद्धा का और गर्व का अनुभव करेंगे आजकल इन महान् व्यक्तियो को साम्प्रदायिको ने अपने-अपने सम्प्रदायो की तग कोठरियो मे कैद कर रखा है हमारा कर्तव्य है कि हम उनको उस कैद से निकाल कर एक खुले असाप्रदायिक वातावरण मे लावे, जिससे उनके उपदेशामृत का लाभ समस्त देश को ही क्यो, सारे ससार को हो

असाम्प्रदायिक भारतीय-सस्कृति की भावना से ही यह हो सकता है भारतीय सस्कृति के सम्बन्ध मे अन्तिम सिद्धात है .

भारतीय संस्कृति की अखिल-भारतीय भावना

भारत के समस्त इतिहास के ममत्व-भावना की व्याख्या करते हुए हमने भारतीय सस्कृति के ऐतिहासिक विकास और विस्तार की ओर सकेत किया है, उसी प्रकार भारतीय सस्कृति की अखिल भारतीय भावना का सकेत उसके देशकृत विस्तार की ओर है ऐतिहासिक विकास और विस्तार के समान ही उसके अखिल दैशिक विस्तार के साथ भी ममत्व-भावना की आवश्यकता है

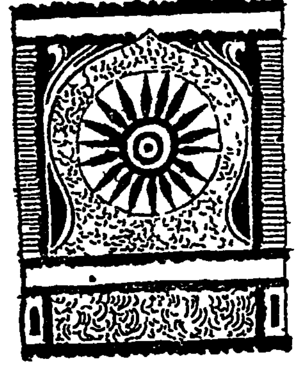
इसको हमारे देश के प्राचीन नेताओ ने अच्छी तरह अनुभव किया था इसीलिए हमारे धार्मिक तीर्थस्थान देश के कोने-कोने मे, प्रत्येक प्रान्त मे, नियत किये गये थे कुम्भ जैसे धार्मिक मेले भी देश के विभिन्न प्रान्तो मे बारी-बारी से होते



है. इसीलिए तत्तत् प्रान्तो मे किसी का भी राज्य हो, सब प्रान्तो के वासी धार्मिक यात्राओ में समस्त देश में जाते थे. सास्कृतिक दृष्टि से वे समस्त भारत को अपना देश समझते थे भारतीय सस्कृति की अखिल भारतीय भावना ही प्रातीय सघर्षो को बहुत-कुछ नियन्त्रण मे रख सकती है.

परन्तु इस सम्बन्ध मे हमारा कर्तव्य केवल प्रान्तीय सघर्षो के प्रतिकार से ही समाप्त नही हो जाता. हमारा उत्तर-दायित्व इससे बहुत अधिक है आज के भारतवर्ष की एक बड़ी समस्या उसका साप्रदायिक सघर्ष तथा पिछडी जातियो का प्रश्न है भारतीय सस्कृति की अखिल भारतीय भावना का अभिप्राय मुख्यत यह है कि हम उक्त समस्या का वास्तविक समाधान भारतीय सस्कृति की दृष्टि से कर सकें. भारतीय सस्कृति के सम्बन्ध मे ऊपर दिखलाये हुए सिद्धांतो को दृष्टि मे रख कर बडे उदार हृदय से साम्प्रदायिक तथा पिछडी जातियो की समस्या को हाथ में लेने से ही उसका समाधान हम कर सकेंगे सम्प्रदायो मे परस्पर समादर और सम्मान की भावना स्थापित करने से, ऐसे जातीय तथा ऋतु-सम्बन्धी पर्वो और विभिन्न सम्प्रदायो के मान्य महापुरुषो की जयन्तियो की स्थापना से जिनमे सब प्रेमपूर्वक भाग ले सकें, तथा अधिक-से-अधिक सद्भावना के साथ बौद्धिक, नैतिक, साहित्यिक और कला-सम्बन्धी सपर्क स्थापित करने से ही साप्रदायिक समस्या का समाधान हो सकता है.





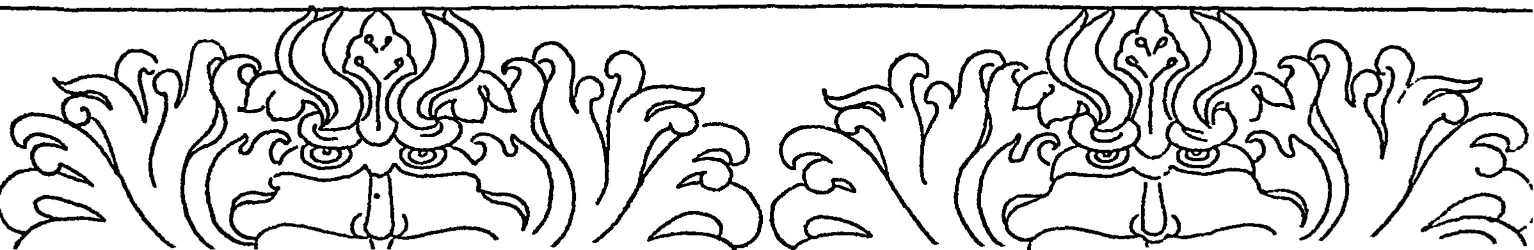
डा० गुलाबचन्द्र चौधरी
एम० ए०, पी-एच० डी०
प्रोफेसर, प्राकृत जैन रिसर्च इन्स्टीट्यूट, मुजफ्फरपुर

आर्यों से पहले की भारतीय संस्कृति

जब से सिन्धु घाटी की खुदाई हुई है और पुरातत्त्व विभाग ने एक विशिष्ट सभ्यता की सामग्री उपस्थित की है, तब से हमे आर्यो के आगमन से पूर्व की भारतीय स्थिति जानने की परम जिज्ञासा उत्पन्न हुई है और लगभग चार पीढियो से विद्वद्गण उस सुदूर अतीत को जानने के लिये प्रयत्नशील है भारतीय इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन जब शिशु अवस्था मे था, तभी विद्वानो ने इसके विवेचन का कुछ गलत तरीका अपना लिया था वे इस पृथ्वीतल पर डार्विन के प्राणि-विकासवाद के अनुसार बन्दर से मनुष्य की उत्पत्ति बतला कर भारत मे आदि सभ्यता का दर्शन वेदकाल से मानते थे यह सत्र था कि तब उनके पास इतिहास जानने के साधन ही कम थे तथा विश्व के सर्व प्रथम साहित्य के रूप मे वेद ही उनके सामने थे. पर आज भारतवर्ष के वेदकालीन और उसके पश्चात् युग के सास्कृतिक इतिहास को जानने के लिये प्रचुर लिखित साहित्य ही नही बल्कि विशाल पुरातत्त्व सामग्री उपलब्ध है, तथा आर्यो के आगमन के पूर्व की प्राग्वैदिक भारतीय सस्कृति के ज्ञान के लिये भी विद्वानो ने अनेक साधन जुटा लिये है

आज विद्वान् लोग जिन साधनो का आश्रय ले कर उस सुदूर अतीत का चित्र उपस्थित करते है वे मुख्यत तीन है · (१) मानववश विज्ञान (Anthropology), (२) भाषाविज्ञान (Philology), तथा (३) पुरातत्त्व (Archaeology) प्रथम मानववश विज्ञान द्वारा मनुष्य के शरीर का निर्माण तथा विशेषकर मुख-नासिका के निर्माण का अध्ययन कर विविध मानव शाखाओ की पहचान की गई है इस अध्ययन से यह निष्कर्ष निकला है कि आज ही नही बल्कि सुदूर अतीत मे भारत की जातियो का निर्माण अनेक मानव शाखाओ के समिश्रण से हुआ है यह समिश्रण वेदकाल से ही नही बल्कि सिन्धु घाटी की सभ्यता से भी प्राचीन काल से है द्वितीय भाषा विज्ञान ने भाषा के विविध अगो के विकास के अध्ययन के साथ विविध सस्कृतियो के प्रतिनिधि शब्दो को खोज निकाला है और उन सस्कृतियो के आदान-प्रदान तथा समिश्रण के इतिहास जानने की भूमिका प्रस्तुत की है भाषा विज्ञान से तत्कालीन समाज की विचारधारा और सास्कृतिक स्थिति का भी पता लगता है तृतीय पुरातत्त्व सामग्री, इतिहास का एक दृढ आधार है जहा अन्य ऐतिहासिक साधन मौन रह जाते है या धुधले दीखते है वहा इस पुरातत्त्व की गति है, यह अन्य निर्बल से दीखने वाले प्रमाणो मे सबलता प्रदान करता है इस पुरातत्त्व की प्रेरणा से हम भारतीय सस्कृति के आर्येतर आधारो को खोजने मे समर्थ हुए हैं

भारतीय इतिहास को जब हम विश्व-इतिहास का एक भाग मानकर अध्ययन करते है तथा विशेषकर निकट पूर्व (Near East) से सबधित कर वेदो का अध्ययन करते है तो मानव-इतिहास की अनेक समस्याएँ सहज मे सुलझ जाती है वेदो मे वर्णित घटनाओ का मतलब निकट पूर्व (Near East) की घटनाओ से मालूम होता है इन घटनाओ से विद्वानो ने सिद्ध किया है कि आर्य लोग भारत मे बाहर से आये है उन्हे बाहर से आने पर दो प्रकार के शत्रुओ से सामना करना पडा. एक तो व्रात्य कहलाते थे जो कि सभ्य जाति के थे दूसरे थे दास और दस्यु जो कि आर्येतर जाति के थे. ये नगरो मे रहने वाले लोग थे वेदो मे इनके बडे-बडे नगरो (पुरो) का उल्लेख है इनमे से जो व्यापारी थे वे पणि कहलाते थे , जिनसे आर्यो को अनेक अवसरो पर युद्ध करना पडा था ऋग्वेद मे दिवोदास और पुरुकुत्स का उन



पुरी के स्वामियों से युद्ध का वर्णन है ऋग्वेद (७-१८) में दिवोदास के पोत्र सुदास द्वारा एक शत्रुदल के पराजय का वर्णन है, उसमे निम्नलिखित जातियो तुर्वसु, मत्स्य, भृगु, द्रुह्यु, पक्थ, मलानस्, अलिनस्, शिव, विषाणिन्, वैकर्ण अनु अज, शिग्रु और यक्षु का उल्लेख है. इन जातियो के सवन्ध मे विद्वानो को वहुत कम मालूम है. श्री हरित कृष्णदेव ने इनमें से बहुत कुछ जातियो की पहचान मिश्रदेशीय रिकार्डों से की है. उनके कथनानुसार ये वारहवी शताब्दी ई० पूर्व की मध्य-एशिया की जातिया थी, तथा कुछ द्रविडो की सजातीय और कुछ आर्यो की सजातीय थी.

वेदरचना की पूर्ववर्ती तिथि यदि इन घटनाओ के आसपास मानी जाय तथा उत्तरवर्ती तिथि अवेस्ता के प्राचीन भागो की रचना सातवी शता० ई० पूर्व और अखेमेनियन राजाओ के प्राचीन फारसी में लिखे गये अभिलेखो की, जिनसे वैदिक भापा का वहुत कुछ मिलान होता है—तिथि छठी शता ई० पूर्व मानी जाय तो हम वेदरचना का समय दसवी ईसा पूर्व कह सकते है. इसी समय आर्य लोग समूहो (ग्रामो) मे भारत आये थे. मिश्र और चाल्डिया के प्रागैतिहास और इतिहास की घटना की तुलना मे आर्यो के आने की घटना कोई वहुत प्राचीन नही वैठती. कतिपय विद्वान आर्यो के आगमन की वात ज्योतिप गणना के अनुसार वहुत सुदूर प्राचीन काल मे ले जाते हैं पर उस ज्योतिष गणना की व्याख्या वैज्ञानिक अनुसधानो के आधार पर की जाय तो आर्यो के आगमन का समय बहुत वाद वैठता है इसीलिए वैदिक काल की तिथि के निर्णय के लिये हमारे पास सुरक्षित पक्ष भाषाविज्ञान और पुरातत्त्व ही है कुछ विद्वान् आर्यो का भारत मे वाहर से आना नही मानते वे इन्हे यही का निवासी मानते है पर उनका यह कथन अनुमानाश्रित है मानववंश विज्ञान और भापाविज्ञान के अध्ययन से उनका यह मत पुष्ट नही होता.

आर्यो के वाहर से आने की घटना कोई कल्पित नही है तथा उसका उल्लेख भी वेदो तक ही सीमित नही वह ऐसी घटना है जिसकी ध्वनि वाद के साहित्य मे भी मिलती है. सस्कृत पुराणों मे असुरो की उन्नत भौतिक सभ्यता का तथा वडे-वडे प्रासाद और नगर वनाने की कला का उल्लेख है ब्राह्मण, उपनिषद् और महाभारत आदि परवर्ती साहित्य मे असुरो की अनेक जातियो का उल्लेख है जैसे कालेयनाग आदि ये सारे भारत मे फैले थे इनके अनेक स्थानो पर वडे-वडे किले थे युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का मण्डप इसी असुर जाति के मय नामक व्यक्ति ने वनाया था महाभारत और पुराणों मे ब्राह्मण-क्षत्रियो के साथ अनार्य नाग और दासो के विवाह के अनेक उल्लेख मिलते है. ये शान्तिप्रिय, उन्नतिशील और व्यापारी थे अपने इन उपायो से ये भौतिक सभ्यता मे बहुत वडे चढे थे.

इन पर भौतिक सभ्यता से पिछडी पर युद्धप्रिय एव उद्यमशील तथा समृद्ध भाषा से सम्पन्न आर्य जाति ने आक्रमण प्रारम्भ किया उन्हे भौतिक सभ्यता के वैभव सुख मे पली सुकुमार अनार्य जाति को जीतना कठिन प्रतीत नही हुआ और वडी सरलता से उसे उन्होने वश मे कर लिया आर्यो के भारत मे प्रवल दो आक्रमण हुए ऐसा विद्वानो का अनुमान है. आर्य लोग प्राय झुण्डो (ग्रामो) मे आये थे एव अपने साथ वडा पशुधन तथा आशुगामी अश्वों के रथ लाये थे वे प्रकृतिपूजक थे तथा उन्हे होम और यज्ञ के रूप मे पशुवलि, यव, दूध, मक्खन और सोम चढाते थे. वे अपनी पूर्व निवासभूमि—लघु एशिया (Asia minor) और असीरिया वावुल से कुछ धार्मिक मान्यताए, कुछ कथा इतिहास (प्रलय कालीन जलप्लावन) आदि भी साथ मे लाये थे. उनका जातीय देवता इन्द्र था जो कि वावुल के देवता मर्दुक से मिलता-जुलता है. अपनी समृद्ध भापा से अनार्यो को विशेष प्रभावित किया था

आर्यो ने यहां वसकर यहा के निवासियों को ही अपने मे परिवर्तित नही किया वलिक स्वय बहुत हदतक उनमे परिवर्तित हो गए. आर्य सस्कृति के निर्माण मे आर्यो की अपेक्षा अनार्यो का वडा भाग है जव अनार्य, आर्यो मे सम्मिलित हुए तो उस जाति के समृद्ध कवियो ने आर्यभापा मे अपने भी भाव व्यक्त किये, पद रचनायें की. उन्होने अपने दार्शनिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक कथानक, आख्यान आदि सामग्री को आर्य भापा मे प्रकट करना शुरू किया जैसे कि आज का भारतीय अपने साहित्य को अंग्रेजी मे प्रकट करता है उसमे आर्य साहित्य मे अनार्य सस्कृति का वहुत वडा भाग आ गया अनार्य साहित्यिको ने आर्यो की भापा को सम्भाला, सुधारा दो प्रवल सस्कृतियो के सघर्प का परिणाम तो यह होना है.

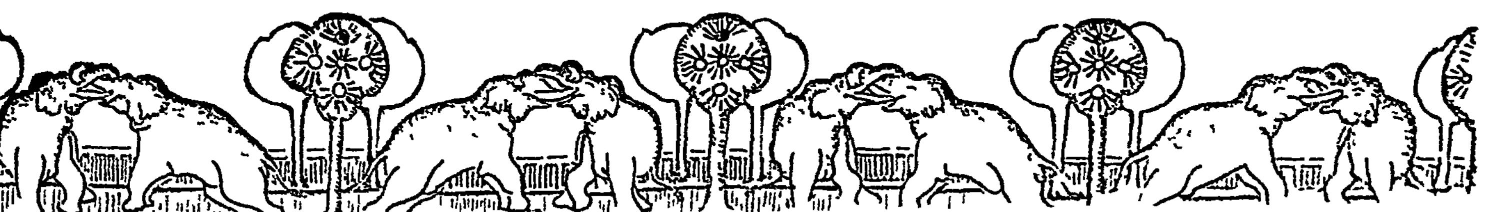


डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का कहना है कि 'आज की नूतन सामग्री और नवीन उद्धार कार्य बतलाते हैं कि भारतीय सभ्यता के निर्माण मे न केवल आर्यो को श्रेय है बल्कि उनसे पहले रहने वाले अनार्यो को भी हैं अनार्यो का इस सभ्यता के निर्माण मे बहुत बडा हिस्सा है अनार्यो के पास आर्यों से बहुत बढी-चढी भौतिक सभ्यता थी जब आर्य बेघरबार के लुटेरे थे तब अनार्य बडे-बडे नगरोमे रहते थे. भारतीय धर्म और सस्कृति की अनेक परम्पराए रीति-रिवाज, प्राचीन पुराण और इतिहास अनार्य भाषाओ से आर्य भाषा मे अनूदित किये है क्योकि आर्य भाषा ऐसी थी जो सर्वत्र छा गई थी तथापि उसकी शुद्धि कायम न रह सकी क्योकि उसमे अनेक अनार्य शब्द मिल गये हैं

मानव वश-विज्ञान के अध्ययन से भारत की भूमि पर प्रथम जिस अनार्य जाति का पता चला है, वह है कृष्णांग (Negrito) बन्दर से विकसित हो उत्पन्न होने वाली किमी जाति का यहा पता नही चला कृष्णागो की सन्तान आज भी अन्दमान द्वीपो मे पाई जाती है उनकी भाषा का विश्व की किसी भाषा-शाखा से सबध नही पहले ये अरब-सागर से चीन तक फैले हुए थे पर अब वे या तो खतम कर दिये गये या दूसरी मानव शाखा के लोगो ने उन्हे अपने मे पचा लिया यत्र-तत्र बिखरे शेष लोगो से उनकी सुदूर अतीत की सस्कृति का अनुमान लगाना सभव नही कहा जाता है कि उनके उत्तराधिकारी बलोचिस्तान मे पाये जाते है तथा दक्षिण भारत की मुख्य जगली जातियो मे उनका जातीय गुण मिलता है. तिब्बत, बर्मा की नागा जाति के रूप मे भी उनका अस्तित्व है चूकि यह जाति बहुत प्राचीन युग की है इसलिए बाद की सभ्यता मे इसकी क्या देन रही है, यह कहना बडा कठिन है यह जाति अपने पीछे आने-वाली शक्ति-शालिनी मानव शाखाओ से अपनी सस्कृति को बहुत कम बचा सकी अजन्ता के एक चित्र मे कृष्णांग जाति का चिन्ह मिलता है

कृष्णांग जाति के बाद पूर्व की ओर से आग्नेय (Austric) जाति आई इनकी भाषा, धर्म और सस्कृति का रूप हिन्द चीन मे मिलता है इस जाति की सतानें और भाषा प्रशान्त महासागर के द्वीप-पुजो मे मिलती है ये असम से भारत भूमि पर आये और यहा आकर कुछ तो कृष्णाग जाति मे मिल गये और कुछ भारत के समृद्ध प्रदेशो मे अपने से पीछे आनेवाली जातियो द्वारा पचा लिये गये इस जाति का अवशेषरूप खासी, कोल, मुण्डा, सथाल, मुन्दरी, कुर्कु और शबर आदि जातिया है एक समय था जब कि इस जाति के लोग सारे उत्तर भारत, पजाब और मध्यभारत तक फैल गये थे तथा दक्षिण भारत मे भी घुम गये थे उत्तर भारत के विशाल नदियो के कछारो मे बस जाने मे इन्हे बडी सुविधा हुई गंगा शब्द की व्युत्पत्ति आग्नेय भाषा के खांग, कांग आदि नदीवाचक शब्दो से कही जाती है आर्यो की पद-रचना, ध्वनि और मुहावरो पर इनकी भाषा का बडा प्रभाव है. आर्यो ने इनके सम्पर्क मे आकर अपनी भाषा के रूप को बदला है ये भौतिक सभ्यता मे बहुत बढकर थे इनकी सस्कृति के अनेक स्तर थे जो मध्यभारत की उच्च विषम भूमियो मे रहते थे या जो आर्यो के दबाव के फलस्वरूप भागे थे वे अब भी अविकसित हालत मे हैं पर जो उत्तर भारत के मैदानो मे रहते थे उनकी सस्कृति का अवशेष परिवर्तित आर्यीकरण के रूप में अब भी विद्यमान है आर्य-संस्कृति और आग्नेय संस्कृति का आदान-प्रदान विशेषतः भारत के पूर्वीय प्रान्तो मे हुआ है आर्यो ने इनसे चावल की खेती करना सीखा नारियल, केला, ताम्बूल, सुपाडी, हलदी, अदरक, बैंगन, लौकी आदि का उपयोग आग्नेयो की देन है कोरी अर्थात् बीसी की गणना तथा चन्द्रमा से तिथि की गणना आग्नेय है वे अपने मृतको की पाषाण समाधि बनाते थे उनके यहाँ परलोक की मान्यता थी तथा वे विश्वास करते थे कि आत्मा अनेक पर्यायो (हालतो) मे जाती है उनकी इस विचारधारा से आर्यो को पुनर्जन्म का सिद्धान्त मिला डा० सुनीतिकुमार चटर्जी लिखते है कि आर्यो ने अनार्यो से 'कर्म तथा परलोक सिद्धान्त को, योगसाधना, शिव, देवी के रूप मे परमात्मा को मानना, वैदिक होमविधि के मुकाबिले उनकी पूजाविधि अपनाई'

ईसा के हजारो वर्ष पूर्व, आर्यो के आने से अवश्य बहुत प्राचीन काल मे पश्चिम भारत से द्रविड लोग आए यह जाति आजकल दक्षिण भारत के बहुभाग मे है पर आधुनिक खोजो से सिद्ध है कि द्रविडों का मूल निवासस्थान पूरबी भूमध्यसागर के प्रदेश है लघु एशिया के एक अभिलेख मे वहा की जाति का नाम 'त्रमिल्ली' लिखा है जो तामिल



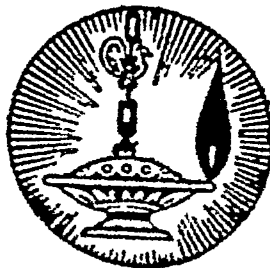
शब्द का प्राचीन रूप मालूम होता है. द्रविडो का पुराना नाम द्रामिल भी है जो तामिल और त्रमिल्ली का मूलरूप है इन लोगो की सभ्यता नगर-सभ्यता के रूप मे विकसित हुई थी इनकी प्राचीन सभ्यता के अवशेप दजला-फुरात नदियों की घाटी से सिन्धु घाटी तक मिलते है. द्रविड लोग व्यापार मे समृद्ध थे तथा आदान प्रदान की वस्तुओं का निर्माण करते थे. जौ, गेहूँ और कपास की खेती करते थे, कताई और बुनाई की कला का विकास चरमसीमा पर था. वे हाथी, ऊट, बैल और भैस को रखते थे तथा घोडे पर सवारी करना जानते थे पर वाहन के रूप मे घोडे के रथ की जगह बैलगाडी का विशेप प्रयोग करते थे उपलब्ध मिट्टी के खिलौनो और मूर्तियो से मालूम होता है कि उस समय दुर्गा, शिव और लिंग की पूजा प्रचलित थी, कितनी ही कायोत्सर्ग जैनमूर्तिया भी उस काल की पुरातत्त्व सामग्री मे निकली हैं वे अपने देवता की पूजा, फल-फूल चन्दन आदि से करते थे. बलि नही चढाते थे.

जबकि आर्य बहुत बडी सख्या मे आकर पंजाब मे व्यवस्थित हो रहे थे तब द्रविड भारत मे छोटे बडे राज्यो मे विभक्त थे आग्नेयो को पराक्रान्त कर इन्होने मगध और कामरूप मे राज्य जमाये तथा दक्षिण मे कलिंग, केरल, चोल, और पाण्ड्य देशो मे द्रविडो ने बहुत पहले अपने जहाजी बेडे का विकास किया था तथा दक्षिण भारत, लका और हिन्द द्विपपुंजो मे उपनिवेश स्थापित किये थे. डा० कर्न का कहना है कि सुमात्रा को सबसे पहले उपनिवेश बनाने वाले द्रविड ही थे सिन्धु घाटी की खुदाई से जिस सभ्यता के अवशेप मिले हैं, उसके विधाता द्रविड थे—ऐसा विद्वानो का मत है

आर्यो से ठीक पहले की जाति होने से वेदो मे इनकी विविध जातियो का उल्लेख मिलता है सो कह चुके हैं. इनमे ही सीधे सघर्ष होने की घटनाएँ वेद और पश्चात् कालीन साहित्य मे हैं आर्यो ने वेदो मे दस्यु, अनास, मृध्रवाक्, अयज्वन्, अकर्मन, अन्यव्रत आदि घृणा पूर्ण शब्दो से इन्ही अनार्यो का उल्लेख किया है आर्यो ने इनसे पृथक् बने रहने के लिए 'वर्णभेद' बनाया.

वैदिक साहित्य सारे भारत के सास्कृतिक इतिहास का प्रतिनिधित्व नही कर सकता, क्योकि वह एक देशीय अर्थात् विशेपकर पजाब, दिल्ली के आसपास का साहित्य है वह उस याज्ञिक संस्कृति के उपासको की कृति है जो दूसरी सस्कृति के उत्कर्ष के प्रति अति असहिष्णु थे. उन्होने भारत के मध्यभाग और पूर्वभाग मे प्रचलित अहिंसक सस्कृति-श्रमणसस्कृति को धक्का दिया. श्रमण और याज्ञिक सस्कृति के सघर्ष के प्रकीर्णक उल्लेख ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रन्थो मे मिलते है श्रमण-सस्कृति के सूचक अर्हन्, श्रमण, यतयः, मुनयः वातरसनाः व्रात्य, महाव्रात्य आदि शब्द वैदिक साहित्य मे पाये जाते है श्रमणो के प्रतिनिधि ऋषभदेव, अजितनाथ, अरिष्टनेमि का उल्लेख भी वेदो मे मिलता है. अथर्ववेद के १५ वें अध्याय में व्रात्यों का विशेप वर्णन आया है. सामवेद और कुछ श्रौतसूत्रों मे व्रात्यस्तोमविधि द्वारा उन्हें शुद्ध कर वैदिक परम्परा मे सम्मिलित करने का भी वर्णन है व्रात्य लोगो की सस्कृति व्रतमूलक थी ये यज्ञमूलक सस्कृति के परम विरोधी थे मनुस्मृति के दसवे अध्याय मे लिच्छवि, नाथ, मल्ल आदि क्षत्रिय जातियो को व्रात्यो मे गिनाया है. उन का दर्शन समत्व या श्रम-तपस्या, कायक्लेश आदि कर्म-क्षय करने पर आश्रित था

मालूम होता है कि इस श्रमण-संस्कृति के उपासकजन आर्यो के आगमन के पूर्व के द्रविड जाति या उसके पूर्व जाति वशधर लोग रहे होगे, जिनकी पूजा उपासना, दार्शनिक मान्यता, कर्मसिद्धान्त, पुनर्जन्म, आत्मा की पर्याये होना, सभ्यता के अन्य अग श्रमण-संस्कृति के प्राक्तन रूप ही हैं यह सस्कृति चारो तरफ भारत मे फैली थी तामिल भाषा के प्राचीन मे प्राचीन साहित्य इससे प्रभावित थे. अब तक उस सस्कृति की परिचायक पुरातत्त्वादि सामग्री का ठीक-ठीक अनुसधान नही हुआ है. सिन्धु घाटी की खुदाई से जो कुछ प्रकाश पडा है तथा गगाघाटी की खुदाई से जो प्रकाश पडने की सभावना है ये दोनो अवश्य ही आग्नेय, द्रविड आदि द्वारा उपास्य श्रमण-संस्कृति पर प्रकाश डालेंगे.





मुनि श्रीकल्याणविजयजी गणि

जैन श्रमणसंघ की शासनपद्धति

यद्यपि प्रस्तुत लेख मे हमे श्रमणसघ की शासन-पद्धति का ही मुख्यतया वर्णन करना है, तथापि इसके प्रारम्भ मे 'जिनशासनपद्धति' का निर्देश करना भी अनिवार्य है, क्योकि हमारी श्रमण-शासन-पद्धति भी इसी जिन-शासन-पद्धति का विस्तृत रूप है

जैन सूत्रो मे भगवान् महावीर को 'धर्मचक्रवर्ती' कहा है, और वास्तव में वे धर्मचक्रवर्ती ही थे धार्मिक राज्य की व्यवस्था करने मे वे स्वतत्र और सार्वभौम सत्ताधारी पुरुष थे लाखो अनुयायियो पर उनका अखण्ड प्रभुत्व था अनुयायिगण वडी लगन के साथ उनके शासनो का अनुपालन करते थे. उनके शासन भी साप्रदायिक वाडे मे ढकेलने वाले फतवे नही, किन्तु सर्वग्राह्य उपदेशात्मक होते थे

महावीर मनुष्यो के स्वभाव और उनकी परिस्थितियो के पूर्ण ज्ञाता थे, यही कारण है कि उनके उपदेशो मे कठिन से कठिन और सुगम से सुगम सभी तरह के नियमो के पालन का आदेश होता था. इनके मत मे 'निर्ग्रन्थ साधु और मोक्ष मार्ग मे विश्वास मात्र रखने वाला गृहस्थ' दोनो जैन थे. इस विशाल दृष्टि और उदारता का परिणाम यह था कि लाखो मनुष्य अपनी-अपनी श्रद्धा, भक्ति और शक्ति के अनुसार महावीर के धर्ममार्ग मे प्रवृत्ति कर रहे थे

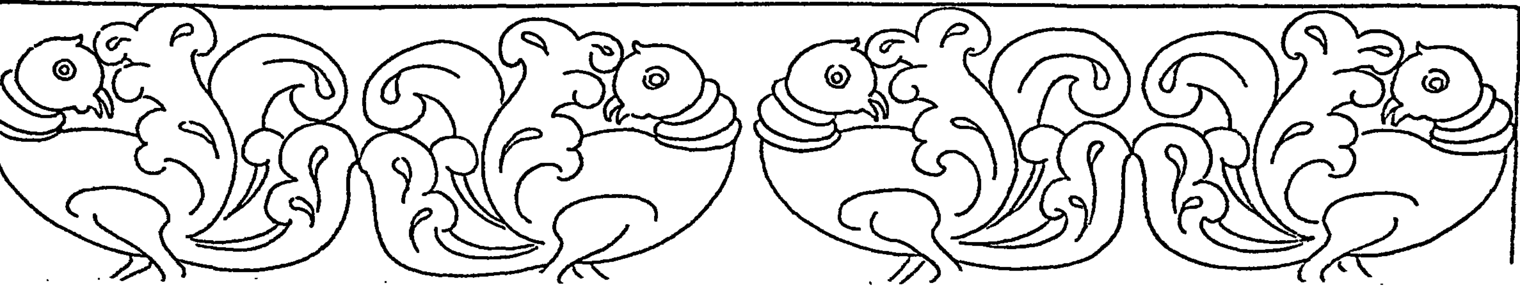
धर्मचक्रवर्ती महावीर के धर्मसाम्राज्य की शासन-पद्धति का इतिहास वहुत वडा है अपने हजारो त्यागी और लाखो गृहस्थ शिष्यो की व्यवस्था के लिये महावीर ने जो नियम वनाये थे, वे आज भी जैन शास्त्रो मे सगृहीत है

एक धर्म-व्यवस्थापक अपने अनुयायियो के लिये कैसी सुन्दर व्यवस्था कर सकता है, इस वात को समझने के लिये महावीरप्रणीत 'सघ-व्यवस्थापद्धति' एक मननीय वस्तु है इस पद्धति का सविस्तार निरूपण करना हमारे इस लेख का विषय नही है यहा पर तो हम इसका दिग्दर्शनमात्र करा के आगे बढेगे

महावीर के श्रमणगण—भगवान् महावीर के तमाम साधु नौ विभागो में वँटे हुए थे. ये विभाग 'गण' अथवा 'श्रमणगण' इस नाम से पहिचाने जाते थे इन गणो के अध्यक्ष महावीर के प्रथम दीक्षित इन्द्रभूति गौतम आदि ग्यारह शिष्य थे जो 'गणधर' कहलाते थे साधु-साध्वियो की कुल-व्यवस्था इन गणधरो के सुपुर्द थी.

महावीर ने अपने जिम्मे धार्मिक उपदेश, अन्य तीर्थिक तथा अपने शिष्यो की शकाओ के समाधान और धार्मिक नियम वताना इत्यादि काम रखे थे शेष सब कार्य प्राय गणधरो के हवाले रहते थे.

पूर्वोक्त नौ विभाग व्यवस्था-पद्धति के अनुसार बने हुए थे. गुण की अपेक्षा से महावीर के साधु सात विभागो मे भी विभक्त थे, जो १—केवली, २ मन पर्यवज्ञानी, ३ अवधिज्ञानी, ४ वैक्रियर्द्धिक, ५ चर्तुदश पूर्वी, ६ वादी और ७ सामान्य साधु कहलाते थे



१ केवली अथवा पूर्णज्ञानी साधुओं की सख्या ७०० की थी और इनका दर्जा सर्वश्रेष्ठ था ये भगवान् महावीर के मुकाबले के ज्ञानी थे. महावीर ने इनकी पूर्ण स्वतत्रता को स्वीकार किया था ये आत्मध्यान करने के उपरान्त धर्मोपदेश भी देते थे

२ दूसरे दर्जे के साधु 'मन पर्यवज्ञानी' याने मनोवैज्ञानिक थे ये चित्तवृत्ति वाले प्राणियो के मानसिक भावो के ज्ञाता होते थे.

३ अवधिज्ञानी—अथवा, मर्यादित ज्ञानी साधु १३०० थे.

४ चतुर्दशपूर्वी सम्पूर्ण अक्षरज्ञान के पारगत होते थे और शिष्यो को शास्त्राध्ययन कराते थे

५ वैक्रियर्द्धिक अथवा योगसिद्धि प्राप्त ७०० साधु थे जो प्राय तपश्चर्या और ध्यान में मग्न रहते थे

६ वादी अथवा तर्क और दार्शनिक सिद्धान्तो की चर्चा करने वाले ४०० साधु थे, जो अन्य तीर्थिको के साथ चर्चा व शास्त्रार्थ मे उतरते और जैनदर्शन के ऊपर होने वाले आक्रमणो का उत्तर देते थे

७ इस विभाग मे शेष तमाम साधु थे, जो विद्याध्ययन, तपस्या, ध्यान और विशिष्ट साधुओ की सेवा-चाकरी करते थे. इस प्रकार महावीर का श्रमणसघ योग्यता की दृष्टि से और व्यवस्था-पद्धति के अनुसार भिन्न-भिन्न विभागो में विभक्त हो जाने से उनकी व्यवस्था-पद्धति बडी सुगम हो गयी थी यही कारण है कि महावीर के जीवनकाल मे १४०० जितना विशाल श्रमणसघ एकाज्ञाधीन था ३० वर्ष के अन्दर सिर्फ दो साधु इस विशाल समुदाय मे से महावीर के सिद्धान्त-विशेष के सम्बन्ध मे विरुद्ध हुए थे जो 'जमाली' और 'तिष्यगुप्त' इन नामो से जैनशास्त्र मे प्रसिद्ध है ये दोनो ही महावीर के श्रमण-सघ से बाहर किये गये थे

भगवान् महावीर करीब ३० वर्ष तक धर्म प्रचार करके ७२ वर्ष की अवस्था मे निर्वाण प्राप्त हुए थे इनके ११ गणधरो मे से ९ गणधर इनसे पहले ही मुक्ति-लाभ कर चुके थे. गणधरो मे सिर्फ 'इन्द्रभूति गौतम' और 'अग्निवैश्यायन सुधर्मा ये दो ही जीवित थे इनमे से इन्द्रभूति गौतम को महावीर का निर्वाण हुआ, उसी रात्रि के अत मे केवल ज्ञान हो जाने से वे निवृत्ति परायण हो गये थे इस कारण महावीर के निर्वाण के बाद सम्पूर्ण श्रमण-सघ के 'प्रमुख' सुधर्मा गणधर बने थे

यद्यपि महावीर के जीवनकाल मे 'जैन शासन' एकच्छत्र राज्य के ढग पर ही चलता था, पर उनके निर्वाण के बाद वह स्थिति नही रही

महावीर के निर्वाण के अनन्तर जैन श्रमणसघ की व्यवस्था के लिए एक 'नवीन शासन-पद्धति' स्थापित हुई थी जिसे 'स्थविरसत्ताक' या 'युगप्रधानसत्ताक' शासन-पद्धति कह सकते है प्रस्तुत लेख मे हम इसी शासनपद्धति का दिग्दर्शन कराएँगे.

परिभाषा—शासन-पद्धति का दिग्दर्शन कराने से पहले हम इसके कतिपय अधिकारियो की और उनके अधिकारो की परिभाषायें समझाएँगे. क्योंकि इस शासन के अधिकारी सघ स्थविर-युगप्रधान, आचार्य, उपाध्याय, गणि, प्रवर्तक, गणावच्छेदक, स्थविर इत्यादि नामो से प्रसिद्ध है, और इनके अधिकार-पद-सघ, गण, कुल आदि भी सुप्रसिद्ध है पर इन सबकी परिभाषा क्या है, यह बहुत कम लोग जानते होंगे और जब तक इनकी परिभाषाये जानी नही गई तब तक इन अधिकारियों से बनी हुई शासन-पद्धति को समझना कठिन है.

१. कुल—एक आचार्य का शिष्य-परिवार श्रमणपरिभाषा मे 'कुल' इस नाम से निर्दिष्ट होता था इन प्राचीन कुल को आधुनिक जैन परिभाषा मे 'सघाडा'[1] कह सकते है.

---

1 'सघाडा' शब्द का अपभ्रंश 'संघाट' है, 'संघाटक' का अर्थ जैन सूत्रों की परिभाषानुसार दो (युग्म) होता है परन्तु आधुनिक जैन संघ में एक आचार्य की शिष्य परम्परा को भी 'सघाडा' कह दिया करते हैं.



२. कुल-स्थविर और उनके अधिकार—उपर्युक्त कुल का प्रमुख आचार्य 'कुलस्थविर' कहलाता था. कुल की व्यवस्था और उस पर शासन करना इस स्थविर के अधिकार में रहता था.

३. गण-समान आचार और क्रियावाले दो से अधिक कुलो की सयुक्त समिति को 'गण' कहते थे

४ गणस्थविर और उनके अधिकार—उक्त गण का प्रमुख आचार्य 'गणस्थविर' कहलाता था

गण के शासनविभाग के उपरान्त गण का न्यायविभाग भी इस स्थविर के हाथ में रहता था. अपने गण सम्बन्धी और कभी-कभी दो भागो के बीच होने वाले झगडो का निपटारा 'गण-स्थिविर' करते थे.

कुल-स्थविरो के कामो पर निगरानी रखना, उनके दिए हुए फैसलो की अपीले सुनना, सघ-स्थविर की सभा मे हाजिर होकर उनमे सलाह देना इत्यादि गणस्थिवर के अधिकार के कार्य होते थे.

५ सघ—उपर्युक्त लक्षण वाले सर्व गणो का सयुक्त मडल 'सघ' इस नाम से पहचाना जाता था.

६. सघ-स्थविर और उसका अधिकार

उक्त सघ का प्रमुख आचार्य 'सघ-स्थविर' कहलाता था.

प्रमुख की योग्यता से सघ की व्यवस्था करना, गण स्थिविरों के दिए हुए फैसलो की अपीले सुनना और गणस्थविरों की सलाह से सघ की उन्नति के लिये उचित मर्यादा-नियमो का निर्माण करना इत्यादि कार्य सघ-स्थविर के अधिकार मे रहते थे

इनमें 'कुल-स्थविर' और 'गण-स्थविर' तो अपने कुलो और गणो की परम्परा के ही होते थे, परन्तु संघ-स्थविर के लिये ऐसा कोई नियम नही था किसी भी कुछ अथवा गण का हो, जो दीक्षापर्याय, शास्त्राभ्यास, स्थितिप्रज्ञता, न्याय-प्रियता माध्यस्थ्य आदि प्रमुखोचित गुणो से सबसे अधिक सम्पन्न होता उसी को सघ अपना प्रमुख वना लेता था

७. युग-प्रधान—जैन-समाज मे 'युग-प्रधान' शब्द जितना प्रसिद्ध है उतना ही इसका वास्तविक अर्थ अप्रसिद्ध है हमारे बहुतेरे भाइयो का खयाल है कि 'युग-प्रधान' कोई लोकोत्तर पुरुष होता था. जहाँ यह विचरता था वहा दुर्भिक्षादि उपद्रव नही होते थे उस भाग्यवान् के कई ऐसे शारीरिक अतिशय होते जो दूसरो मे नही पाये जाते थे पर वास्तव मे ऐसी कोई बात नही है भद्रबाहु, आर्यमहागिरि और वज्रस्वामी जैसे प्रसिद्ध महानुभाव आचार्यो के समय मे ऐसे दुष्कालादि उपद्रव हुए थे जिनका वर्णन करते लेखिनी कापती है फिर भी पूर्वोक्त महापुरुष युगप्रधान थे, यह वात हम सब मानते है

असल बात तो यह है कि जो आचार्य अपने समय के सर्व आगम-सूत्रो का ज्ञाता और अनुयोगधर होने के उपरान्त विविध देशो की भापा और शास्त्रो का ज्ञाता, देश देशान्तरो मे भ्रमण किया हुआ और शान्ति, दाक्षिण्यादि गुण गण-विभूषित होता वही 'युगप्रधान' (अपने समय का श्रेष्ठ पुरुष) इस अन्वर्थक नाम से सबोधित होता था इस प्रकार के 'युगप्रधान' एक समय मे एक से अधिक भी होते थें, उनमे जो दीक्षापर्याय मे वडा होता उसे 'सघस्थविर' बनाया जाता था. जब तक सघस्थविर कार्यक्षम होते हुए अपने अधिकार पर कायम रहता तब तक दूसरे युगप्रधान गणस्थविर अथवा कुलस्थविर के ही पद पर बने रहते थे, और वृद्ध संघस्थविर का स्वर्गवास होने पर उनमे जो पर्यायवृद्ध होता वह सघस्थविर बनाया जात था । इस प्रकार 'युगप्रधान' यह अपने समय के 'सर्वश्रेष्ठ पुरुष' का नाम है.

८. गच्छ—यह 'गच्छ' शब्द पूर्वकाल मे ३-४ आदि से लेकर हजारो साधुओ की टुकडियों के अर्थ मे प्रचलित था. पाच अधिकारियों से बने हुए तथा कालान्तर मे गण-व्यवस्थापकमण्डल के अर्थमे प्रचलित हुआ और फिर धीरे-धीरे यह गण का पर्याय बन गया है. १२ वी शती की सूत्रटीकाओ मे उनके रचियिताओ ने 'गच्छ' का अर्थ 'कुलो का समूह' किया है जो तत्कालीन स्थिति के अनुरोध से ठीक कहा जा सकता है सिद्धान्त के अनुसार नही



९ आचार्य—गच्छराज्य का सर्वोपरि शासक पुरुष 'आचार्य' कहलाता था. यह गच्छ का राजा माना जाता था, गणस्थविर ही आचार्य अथवा गच्छाचार्य कहलाता था.

आचार्य सघस्थविर की व्यवस्थापिका सभा का सभासद् गिना जाता था. अथवा यो कहिये कि विशाल राष्ट्र मे एक देशपति राजा का जैसा दर्जा होता है, वैसा ही दर्जा स्थविर राज्य मे गच्छपति आचार्य का माना जाता था. यह सब होते हुए भी इसकी सत्ता कानूनवद्ध थी. हा, कुछ अनियत्रित सत्ता भी इसे दी जाती थी कि जिसका उपयोग वह विशिष्ट अवसरो व सयोगो मे करता था.

सघ और गच्छ के सामने आचार्य की पूरी जवावदारी रहती थी. वह कुछ अपराध करता तो सामान्य साधु से भी अधिक दण्ड पाता था.

वार-वार कानून भग करना, गच्छ के प्रतिकूल चलना, गच्छ की व्यवस्था करने मे अयोग्य सावित होना इत्यादि कारणो से आचार्यो को अपने पद तक का त्याग करना पडता था

१०. उपाध्याय—'उपाध्याय' वर्तमान आचार्य का उत्तराधिकारी माना जाता था. इसको जैन-शास्त्रो में 'युवराज' की उपमा दी गई है. सचमुच ही यह पदाधिकारी युवराज की योग्यता रखता हुआ गच्छ के अनेक कार्यो मे आचार्य का हाथ वटाता था. गच्छवासी विद्यार्थी साधुओ को सूत्र पढाना, यह उपाध्याय का मुख्य कर्तव्य होता था.

११ गणि—'गणि' शब्द का प्रयोग कही आचार्य के और कही उपाध्याय के अर्थ मे किया गया है और कहा गया है कि आचार्य अथवा उपाध्याय की गैरहाजिरी मे उन दोनो के कार्य 'गणि' चलाता था. यद्यपि गच्छ—व्यवस्थापिका सभा मे इसकी कोई खास वैठक नही थी, फिर भी आचार्य और उपाध्याय के कार्यो का यह वडा सहायक था. इतना ही नही वल्कि उनकी गैरहाजिरी मे यही आचार्य अथवा उपाध्याय माना जाता था इस पदधर को आचार्य उपाध्याय का खानगी मन्त्री कह सकते है

१२. प्रवर्तक—प्रवर्तक-गच्छ के वाह्य और आन्तरिक कार्यो का व्यवस्थापक मन्त्री था. वाल, वृद्ध और वीमार साधुओ की देखभाल रखना, अनजान साधुओ को गच्छ और सघ के सामान्य नियमो से वाकिफ कराना और गच्छ मे वस्त्र-पात्र आदि जरूरी साधनो का प्रवन्ध करना आदि कार्य इस अधिकारी के सुपुर्द रहते थे. इस पदधर को गच्छराज्य का मन्त्री कह सकते है

१३ स्थविर—स्थविर पदधर गच्छ का न्यायाधीश था, गच्छ के भीतरी तमाम झगड़ो के फैसले इसी अधिकारी के द्वारा किये जाते थे. गच्छ के सर्वोच्च शासक आचार्य तक को इसके फैसले मजूर करने पडते थे सघस्थविर की सभा मे भी यही स्थविर गच्छाचार्य का प्रतिनिधि वनकर वहुधा जाया करता था.

जो साधु न्यायशील होने के उपरान्त दण्डविधान (छेद) सूत्रो का अच्छा अभ्यासी होता उसी को यह 'स्थविर' पद दिया जाता था.

१४. गणावच्छेदक—गणावच्छेदक का कार्य गण के भिन्न-भिन्न कुलो और शाखाओ के सम्बन्धो को व्यवस्थित रखना गण के साधुओ को भिन्न-भिन्न टुकडियो मे वाटकर गीतार्थो की देखभाल मे विहार कराना, गीतार्थो और उनके आश्रित साधुओ की वदलिया करना इत्यादि कार्य गणावच्छेदक के अधिकार मे रहते थे. इस पदस्थ को हम गणराज्य का गृह-मन्त्री कह सकते हैं

व्यवस्था-पद्धति—श्रमण सघ की व्यवस्था-पद्धति कैसी होगी, इसका कुछ आभास तो ऊपर दी हुई परिभाषाओ मे भी हो जाता है, फिर भी अधिक स्पष्टता के लिये हम यहा इस व्यवस्था-पद्धति का कुछ विवेचन करेंगे.

जिस प्रकार एक विशाल राष्ट्र मे अनेक 'देश' और देशो मे अनेक 'प्रान्त' होते है उसी प्रकार हमारे जैन-श्रमणसघ मे अनेक गण और गणो मे अनेक 'कुल' होते थे.

जैसे प्रान्त के हाकिम देश के हाकिमो के और देश के हाकिम राष्ट्रपति के मातहत होते है वैसे ही कुलो के स्थविर गणस्थविरो के और गणो के स्थविर सघस्थविर के मातहत होते थे.

कुल—स्थविरो का कार्यप्रदेश सकुचित होता था इसलिए वे अकेले ही अपने कुल की व्यवस्था कर लेते थे, परन्तु गण-स्थविरो का कार्यप्रदेश बहुत विस्तृत था. उन्हे अपने-अपने गणो की व्यवस्था तो करनी पडती ही थी, साथ ही सघ स्थविर की सभा मे हाजिर होकर अथवा प्रतिनिधि भेजकर सघ के कार्य मे भी भाग लेना पडता था इस वास्ते गण-स्थविर अपने गण की व्यवस्था के लिये एक व्यवस्थापिका सभा स्थापित करते थे जो 'गच्छ' कहलाती थी इसके निम्न-लिखित पाँच सभासद होते थे .

१. आचार्य—अथवा प्रमुख.

२ उपाध्याय—अथवा उपप्रमुख.

३ प्रवर्तक—अथवा मत्री.

४ स्थविर-अथवा न्यायाधीश

५ गणावच्छेदक—अथवा गृहमत्री.

गण-सभा अथवा गच्छ के इन पाच अधिकारियो के जिम्मे क्या-क्या कार्य होते थे इसका निर्देश परिभाषा प्रकरण मे कर दिया गया है.

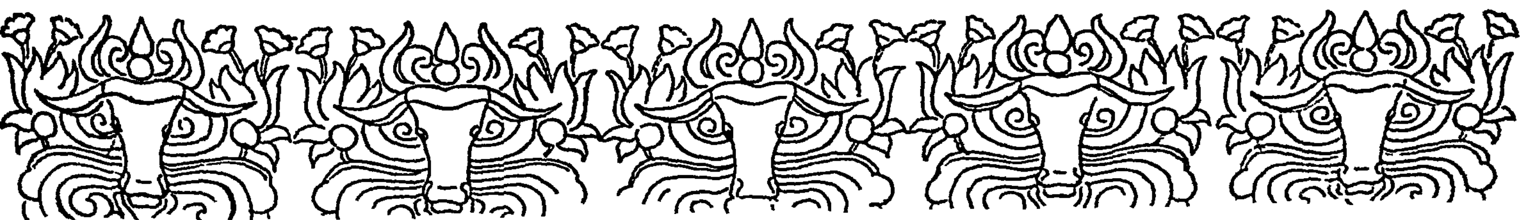
गणों का पारस्परिक सम्बन्ध—सभी गण 'सघ' के 'प्रतिनिधि' होते थे यह बात पहले ही कही जा चुकी है, पर इन गणो का पारस्परिक सम्बन्ध कैसा होता था, इस बात का अभी तक विचार नही किया

जहां तक हम जानते हैं, महावीर के सभी श्रमणगण आपस मे एक दूसरे से सम्बन्धित थे वन्दन, भोजन, अध्ययन, प्रति-क्रमण, प्रतिलेखनादि सभी प्रकार के नित्य-नैमित्तिक-क्रिया-व्यवहार एक दूसरे के साथ होते थे और यह रीति आठवें सघस्थविर स्थूलभद्र तक बराबर चलती रही. पर आर्य स्थूलभद्र के शिष्य आर्यमहागिरि और आर्यसुहस्ती के बीच भिक्षा-विधि के सम्बन्ध में मतभेद होकर एक बार यह आपसी सम्बन्ध टूट गया था, और तब से अन्य गणो मे भी असा-भोगिक रीति का प्रचार हुआ. उस समय के बाद समान आचार विचार और क्रिया सामाचारी वाले गण तो एक दूसरे के साथ भोजनादि सामान्य व्यवहार रखते थे. पर जो गण समाचारी मे अपने से भिन्नता रखते उनके साथ दैनिक सामान्य व्यवहार नही रखते थे इस प्रकार का सभोग-भोजनादि व्यवहार जिन के साथ होता, वे गण कुल अथवा साधु एक दूसरे के 'सभोगिक' कहलाते थे ओर शेष 'असाभोगिक'

साभोगिक गण एकत्र मिलते तब एक परिवार की तरह सब तरह से एक होकर रहते थे अपने से बडो को सब वन्दन करते थे, एक मडल मे बैठकर भोजन करते थे और साथ ही पठन-पाठन तथा प्रतिक्रमणादि क्रियाए करते थे पर असाभोगिक गणो के साथ ऐसा नही होता था. असाभोगिक गणो के एकत्र मिलने पर साधु एक दूसरे के गणस्थविर को वन्दन मात्र करते थे और वह भी अपने-अपने आचार्यो को पूछने के बाद हाँ, अस्वस्थ साधु की सेवा करने के सम्बन्ध मे यह 'असाभोगिता' की बाड किसी को रोक नही सकती थी बल्कि बीमार की सेवा के विषय मे तो यहाँ तक नियम बने हुए थे कि बीमार साधु अपने गण का हो चाहे दूसरे गण का उसकी बीमारी की खबर मिलते ही वैयावृत्य (सेवा) करने वाले साधुओ को उसकी सेवा भक्ति करने को जाना पडता था

गणों के आन्तर नियम—गणो के पारस्परिक सम्बन्ध कैसे होते थे, इसका सक्षिप्त परिचय ऊपर दिया गया है अब हमें यह देखना है कि माण्डलिक-राज्यो की भाँति एक दूसरे से सम्बन्धित इन गण-राज्यो के आन्तर नियम अथवा सधि विधान किस प्रकार के होते थे.

यो तो गणो के बीच अनेक छोटी-मोटी नियम-मर्यादाए पाली जाती थी, पर उन सबका इस लेख मे वर्णन करना शक्य नही है. यहाँ तो हम उन्ही स्थूल नियमो का उल्लेख करेंगे जो प्रत्येक गण को बडी सावधानी से पालने पडते थे ऐसे नियमो मे निम्नलिखित चार नियम मुख्य थे



१. क्षेत्रस्वामित्व-मर्यादा २. सचित्तादि परिहार ३. गणान्तरोपसम्पदा ४. साधर्म्यवैधर्म्य-निर्वाह.

१—क्षेत्रस्वामित्व का तात्पर्य यह है कि जिस क्षेत्र मे जो कुल अथवा गण विचरता, उस क्षेत्र पर उसी कुल अथवा गण का स्वामित्व माना जाता था. उस समय उस क्षेत्र मे क्षेत्र-स्वामी की आज्ञा के विना दूसरा 'कुल' अथवा 'गण' नही रह सकता था.

इस क्षेत्र-स्वामित्व की काल मर्यादा वर्षा काल मे श्रावण से कार्तिक तक चार मास की और शेष काल में एक मास की होती थी. यदि इस काल मे मर्यादा के उपरान्त प्रथम का 'कुल' 'गण' उस क्षेत्र मे रह जाता तो भी उस क्षेत्र पर से उसका स्वामित्व हट जाता था और इस दशा मे वहाँ दूसरा कुल गण आकर रह सकता था. तथा वहा से उत्पन्न होने वाले सचित्त-अचित्त द्रव्य का हकदार बनता था.

अपने-अपने क्षेत्रो से विहार कर श्रमण गण जहाँ जाते, वे क्षेत्र यदि निर्वाह योग्य होते तो वहाँ मास-मास तक ठहरते हुए आगे जाते थे. किसी के क्षेत्र पर अपना हक जमाने के वास्ते अथवा बडा क्षेत्र जानकर वहाँ अपना स्वामित्व स्थापित करने के विचार से योग्य क्षेत्रो को उल्लघन कर आगे जाने का किसी को भी अधिकार नही था.

जिस गाव या नगर मे जो 'कुल' या 'गण' चातुर्मास्य रहना चाहता, वह पहले वहा के मुखियो को अपना विचार कह देता था और फिर जहा कही 'सघसमवसरण' होता वहा भी वह अपना विचार प्रकट कर देता था कि 'हमने अमुक क्षेत्र मे चातुर्मास्य करने का विचार किया है' ऐसा करने से दूसरा कोई भी कुल गण या सघाडा वहाँ चातुर्मास्य करने को नही जाता था यदि किसी को खबर न होने से जाता भी तो वहा के गृहस्थ कह देते थे कि 'यहा पर अमुक गण अथवा कुल चातुर्मास्य करने वाला है.'

जिन प्रतिष्ठा यात्रादि निमित्त, अथवा सघ सम्वन्धी कार्य के निमित्त जिस क्षेत्र मे 'सघ-समवसरण' होता (सघ एकत्र होता) वह क्षेत्र साधारण माना जाता जव तक वहा रहता, तव तक उस क्षेत्र पर किसी भी कुल या गण विशेष का स्वामित्व नही माना जाता था.

२—सचित्तादि परिहार का अर्थ यह है कि जिस क्षेत्र मे सचित्त-दीक्षा लेने वाला मनुष्य और अचित्त-वस्त्र पात्र आदि जो द्रव्य उत्पन्न होते उसका स्वामी क्षेत्र स्वामी होता था अन्य स्वामि के क्षेत्र मे आने वाला कोई भी अन्य साधु वहा उत्पन्न होने वाले सचित्तादि द्रव्यो का अधिकारी नही होता था.

जिसके उपदेश मे जो मनुष्य सम्यक्त्व (जैन दर्शन) प्राप्त करता, वह यदि तीन वर्ष के भीतर साधु होना चाहता तो अपने प्राथमिकोपदेशक गुरु का ही शिष्य हो सकता था. इसी प्रकार कोई साधु उत्प्रव्रजित हो गृहस्थाश्रम में जाकर फिर तीन वर्ष के अन्दर साधु होना चाहता तो अपने पहले गुरु के पास ही दीक्षा ले सकता था, परन्तु तीन वर्ष के वाद उपर्युक्त दोनो प्रकार के पुरुषो के ऊपर से मूल गुरुओ का अधिकार रद्द हो जाता था, और वह अपनी इच्छा के अनुसार चाहे जिसके पास दीक्षा ग्रहण कर सकता था

३—गणान्तरोपसम्पदा—का अर्थ है दूसरे गण का स्वीकार. सामान्यतया एक गण का साधु दूसरे गण मे जा नही सकता था, पर यदि वह ज्ञान, दर्शन, चारित्र की विशेष आराधना के लिये अथवा तपस्या तथा वैयावृत्य करने के निमित्त अन्यगण मे जाना चाहता तो पहले अपने गण के आचार्य की आज्ञा प्राप्त करता और फिर अभिप्रेत गण के आचार्य के पास जाकर अपने को गण मे लेने के लिए उनसे प्रार्थना करता.

आगन्तुक साधु की प्रार्थना सुनने के बाद गण-स्थविर इस बात की जाच करते कि आगन्तुक श्रमण वास्तव में अपने गुरु की आज्ञा प्राप्त करके आया है या नहीं और जिस कारण से वह अपना आगमन बताता है वह कारण भी वास्तविक है या नही ? यदि इन बातो की परीक्षा से गणस्थविर को सतोष मिल जाता तो वे आगन्तुक साधु को उपसंपदा देकर अपने गण मे दाखिल कर लेते थे



पहले के कुल, गणो का सम्बन्ध विच्छेदकरण पूर्वक आगन्तुक साधु इस प्रकार की प्रतिज्ञा करता—'आज से ये कुल-गण मेरे ही कुल गण है और इन कुल गण के आचार्य उपाध्याय ही मेरे आचार्य उपाध्याय है'

उपसपद्यमान साधु की उक्त प्रतिज्ञा को ही 'उपसपदा' कहते थे इस उपसपदा की काल-मर्यादा जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद से क्रमश छह मास बारह वर्ष और जीवन पर्यन्त की होती थी.

जघन्य और मध्यम काल की उपसपदा वाले साधु मियाद पूरी होने पर अपने पहले गुरु के पास चले जाते थे, पर उत्कृष्ट कालीन उपसपदा वाले श्रमण जीवन पर्यन्त उसी कुल गण मे रहते थे

गणान्तरोपसपदा लेने के बाद उस साधु को अपने पहले गुरु और गण की सामाचारी का त्याग और नये गण की सामाचारी का पालन करना पडता था.

उपसपदा के विषय मे कई अपवाद भी रहते थे यदि कोई गण बिल्कुल शिथिलाचार मे फस जाता और आचार्य उसका उद्धार नही करता अथवा आचार्य स्वय ही शिथिलविहारी हो जाता तो उस गण के जो सयमार्थी साधु होते, वे उस गण और गुरु का सम्बन्ध छोडकर दूसरे चारित्रधारी गण मे चले जाते थे और इस प्रकार शिथिलमार्ग को छोडकर आने वाले आत्मार्थी साधुओ को उनके मूल गुरु की आज्ञा के बगैर भी उपसपदा दे दी जाती थी

४—साधर्म्य वैधर्म्य निर्वाह का मतलब साभोगिक और असाभोगिक साधुओ की पारस्परिक रीतियो से है.

अपने क्षेत्र मे साभोगिक गण के साधुओ के आने पर उनके प्रति तीन दिन तक आतिथ्य व्यवहार किया जाता था, आगन्तुक साधुओ के लिये तीन दिन तक भिक्षा वगैरह क्षेत्री (स्थानिक) साधु लाते थे यदि आगन्तुक गण बडा होता और स्थानिक समुदाय छोटा होता अथवा ऐसा कोई कारण होता कि जिससे सर्व कार्य करना स्थानिक साधुओ के लिये कठिन हो जाता तो आगन्तुक गण मे जो युवा और समर्थ साधु होते उनकी भी थोडी मदद ली जाती थी, पर बाल और वृद्ध साधुओ से तो तीन दिन तक कुछ भी मेहनत का काम नही लिया जाता था.

इसी प्रकार असाभोगिक गण के अपने क्षेत्र मे आने पर भिक्षाचर्या मे उनके साथ जाना, उनको स्थापना-कुल वगैरह का परिचय देना, आदि आवश्यक व्यवहार का निर्वाह करना पडता था

साभोगिक गणो मे तो एक सामाचारी होने से सामाचारी-भेद सम्बन्धी प्रश्न उपस्थित ही नही होते थे, पर असाभोगिक गणो की सामाचारी के सम्बन्ध मे कभी-कभी चर्चा चलती भी थी तो उस पर समभाव से विचार किया जाता था और जिस विषय मे जिस गण अथवा कुल का जो मन्तव्य होता उसका उसी रूप मे निर्देश करके शिष्यो को समझाया जाता कि इस विषय मे अमुक कुल अथवा गण वाले ऐसा मानते है' अथवा 'इस सम्बन्ध मे अमुक 'आचार्य का यह मत है'

व्यवहारछेदन—'व्यवहार' का अर्थ है 'मुकद्दमा' और 'छेदन' का तात्पर्य है फैसला'

श्रमणगणो मे दो प्रकार के व्यवहार होते थे—'प्रायश्चित्तव्यवहार' और 'आभवद्व्यवहार'

साधु लोग अपने मानसिक, वाचिक और कायिक अपराधो के बदले जो आचार्य द्वारा सजा (दण्ड) पाते थे उसका नाम 'प्रायश्चित्त-व्यवहार' है इस व्यवहार के महावीर के समय मे—१—आलोचना २—प्रतिक्रमण ३—मिश्र ४—विवेक ५—उत्सर्ग ६—तप ७—छेद ८—मूल ९—अनवस्थाप्य और १०—पाराञ्चित ऐसे दस प्रकार थे, जो आर्य भद्रबाहु पर्यन्त चलते रहे भद्रबाहु के स्वर्गवास के बाद प्रायश्चित्त का ९ वा और १०वा भेद बन्द कर दिया गया और तब से प्राथमिक ८ प्रायश्चित्तो का ही व्यवहार प्रचलित है

'आभवद्व्यवहार' का अर्थ है 'हकदारी का झगडा' इस व्यवहार के भी अनेक प्रकार होते थे जैसे सचित व्यवहार, अचित व्यवहार, मिश्र-व्यवहार, क्षेत्र व्यवहार, इत्यादि

उपर्युक्त दो प्रकारो मे से पहला व्यवहार तो बहुधा अपने-अपने स्थविरो के निकट ही चलता था. कुल के साधु अपने-अपने कुल के स्थविर से प्रायश्चित्त लेकर शुद्धि कर लिया करते थे, पर छेद अथवा मूल जैसे मामलो का फैसला



बहुधा 'गणस्थविर' देते थे. अथवा 'कुलस्थविरो' के इन विषयो मे दिए हुए फैसलो की अपील सुनते थे यदि गणस्थविर को कुलस्थविर के कार्य मे पक्षपात अथवा रागद्वेष नजर आता तो तुरन्त वे उसको रद्द कर देते थे गणस्थविरो के इस व्यवहारविषयक फैसलो की अपील सघस्थविर नही सुनता था, कारण कि प्रायश्चित्त-व्यवहार गणो का भीतरी कार्य माना जाता था सघस्थविर किसी भी गण के किसी भी प्रकार के भीतरी कार्य में तब तक दखल नही देता था, जब तक कि वैसा करने के लिए गण की तरफ से उसे अर्ज नही की जाती 'आभवद्व्यवहार' का कानून इससे कुछ भिन्न था इस व्यवहार के लिये कुल, गण और सघ नामक क्रमश पहले, दूसरे और तीसरे दर्जे के न्यायालय थे.

एक ही कुल के दो सघाडो के बीच यदि हकदारी सम्बन्धी कुछ व्यवहार उपस्थित होता तो कुल स्थविर की तरफ से उसका निपटारा किया जाता था और एक गण की दो शाखा या दो कुलो के बीच कुछ व्यवहार खडा होता तो गणस्थविर उसका फैसला देता था.

इसी प्रकार दो गणो के बीच व्यवहार उपस्थित होने पर किसी तीसरे गणस्थविर के द्वारा उसका निर्णय कराया जाता था, पर मध्यस्थ गणस्थविर यदि मध्यस्थता खोकर किसी एक पक्ष की तरफ झुक जाता तो न्यायार्थी 'सघसमवाय' करने के वास्ते 'सघप्रधान' को अर्ज करता और सघप्रधान सघसमवाय सम्बन्धी उद्घोषणा करता सघसमवाय होने सम्बन्धी उद्घोषणा सुनकर सब सघप्रतिनिधि नियत स्थान और समय पर जाते और सघस्थविर भी वहा जाता और उपस्थित व्यवहार की सुनवाई में लग जाता पहले वह सभा में बैठकर मध्यस्थ गणस्थविर की कार्यवाही सुनता वहाँ मध्यस्थ स्थविर पक्षपात से शास्त्र-विरुद्ध भाषण करता तो वहा उसे अन्योक्ति से टोकता. यदि वह स्थविर अपनी भूल को कबूल कर लेता तब तो उसे माफी दी जाती थी, पर यदि वह अपना आग्रह नही छोडता अथवा वह ऐसा अपराध करता जो क्षमा योग्य नही होता तो उसकी दीक्षा काट दी जाती और उपस्थित व्यवहार का फैसला सघस्थविर देता जो सर्व सघ को मजूर करना पडता था यदि व्यवहारच्छेदन के लिये एकत्र मिले हुए सघसमवाय मे किसी कारणवश प्रतिवादी हाजिर नही होता तो उसे सघ की तरफ से बुलावा भेजा जाता, पहले और दूसरे बुलावे पर यदि वह आ जाता तब तो ठीक, नही तो तीसरी बार गणावच्छेदक उसे बुलाने के लिये जाता.

प्रतिवादी के पास जाने पर यदि गणावच्छेदक समझता कि प्रतिवादी भय का मारा नही आता है तो उसे समझाता—'आर्य' सघ पारिणामिक बुद्धि का धनी है, उसको न किसी का राग है, न द्वेष. झगडे की असलियत समझने के बाद विवादापन्न वस्तु पर किस का हक है सो सघ अपने निर्णय मे बतायेगा

यदि प्रतिवादी औद्धत्य अथवा शठता के कारण सघसम्मेलन मे आने से इन्कार करता तो वह सघ से बाहर कर दिया जाता था, परन्तु प्रतिवादी अगर अपनी भूल अथवा शठता के बदले मे पश्चात्ताप प्रकट करता हुआ सघ से माफी मागता हुआ आजीजी करता तो फिर भी सघ उसको माफ करके सघ मे दाखिल कर लेता और तब वह प्रतिवादी सघ से कहता—'सघ सर्व प्राणियो का विश्वासस्थान है. भय-भीतो के लिये सघ ही आश्वासन देने वाला है. संघ माता-पिता तुल्य होने से किसी पर विपमता नही करता. सघ की सब के ऊपर समदृष्टि है सघ सब के लिने अपना पराया जैसी कोई चीज नही है. सघ किसी का पक्षपात नही करता'

इस प्रकार सघ के न्याय और ताटस्थ्य पर प्रतिवादी के श्रद्धा प्रकट करने पर सघ उस झगडे का फैसला देता था. सघ का फैसला आखिरी होता था. उसकी कही भी अपील नही हो सकती थी.

उपसंहार—श्रमणसघ की शासन-पद्धति का इतिहास बहुत लम्बा है. इसका सम्पूर्ण निरूपण एक लेख मे क्या, एक ग्रन्थ मे भी किया जाना अशक्य है फिर भी इसकी मौलिक बातो का दिग्दर्शन हमने इस लेख मे करा दिया है. पाठक गण देखेंगे कि हमारे प्राचीन श्रमणसघ की शासनव्यवस्था का इतिहास कैसा मनोरजक और अनुकरणीय है

आशा है, हमारा आधुनिक 'श्रमणसघ' अपने पूर्वाचार्यो की इस व्यवस्थित शासन-पद्धति का अनुसरण करके अपनी वर्तमान शासनप्रणाली को व्यवस्थित बनायेगा





साध्वी श्रीउमरावकुंवरजी

जैन-संस्कृति में समाजवाद

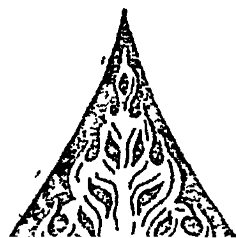
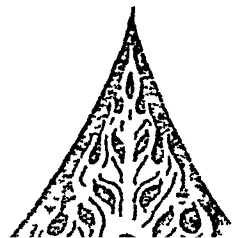
'सस्कृत' शब्द से व्युत्पन्न, 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से निर्मित शब्द 'सस्कृति' का अर्थ है—'सस्कार-परिष्कार' अतः सस्कारो का समुच्चय ही 'सस्कृति' है 'सस्कृति' इस छोटे से शब्द के अर्थ-कलेवर मे किसी जाति अथवा राष्ट्रविशेष की समस्त आध्यात्मिक—आधिभौतिक सिद्धिया एव तद्जन्य आस्था—विश्वास, साधना-भावना, आराधना-कामना समाहित हैं प्रकृतिविजय के निमित्त उठे मानव-जाति के जय-केतु के मध्य मे अकित रहने वाला शब्द 'सस्कृति' ही है, जो किसी राष्ट्र की मूल चेतना, धर्म-दर्शन, तत्त्वचिंतन, एव लौकिक-पारलौकिक एषणाओ को अपनी निजी विशेषताओ-मान्यताओ के साथ उद्घोषित करता है जिससे उसकी अपनी स्वतत्र सत्ता स्थिर होती है

चलते लोग सभ्यता और सस्कृति मे विशेष अन्तर नही करते किंतु दोनो मे वडा अन्तर है— ठीक वैसा ही जैसा कि 'इकाई' और 'समग्रता' मे यदि सभ्यता सचित जल-राशि है तो सस्कृति उस पर तरगायित वीचि-विलास की प्रेरक शक्ति 'लोचन मग रामहिं उर आनी, दीन्हे पलक कपाट सयानी.' इस सिद्ध कवि तुलसी की इस अमृत-वाणी मे माता, है सीता व राम की जिस पुण्य-छवि को मन-मन्दिर मे प्रतिष्ठित कर पलक-कपाट मूद लेती है वह 'सस्कृति' एव 'सभ्यता' है राम का वह दैहिक रूप जो उसकी मुदी पलको के सम्मुख शेष रह जाता है वस्तुत 'सभ्यता' मधु-मक्खी का छता है तो सस्कृति उसमे निहित मधु सभ्यता वृन्ताधारित कटकमय सदल पुष्प है तो सस्कृति केवल सौरभ-सुवास सभ्यता-शरीर है, सस्कृति आत्मा सभ्यता जीने का तरीका-सलीका, आचार-व्यवहार है तो सस्कृति रूहानियत-जिहानियत—'शाश्वत' चिंतन—सच्चिदानन्द समर्पित श्रद्धाजलि. सुसस्कृत व्यक्ति निश्चित ही सुसभ्य होगा किंतु यह नही कहा जा सकता कि सभ्य व्यक्ति सुसस्कृत होगा ही

'सब प्राणी सुख चाहते है, दुख से बचना चाहते है, जीने की अभिलाषा रखते है, कोई कितना ही दु खी एव सन्तप्त क्यो न हो, मरना नही चाहता मृत्यु से हर प्राणी डरता है, दु खी होता है अत किसी भी प्राणी को दु ख नही देना चाहिए, कष्ट नही देना चाहिए, सन्ताप नही देना चाहिए, किसी भी प्राणी को गुलाम नही वनाना चाहिए और न किसी प्राणी का वध करना चाहिए 'जैन-सस्कृति अपने सुख के साथ दूसरे की सुख-शान्ति एव हित के अधिकार को सुरक्षित रखने की वात कहती है उस का यह वज्रघोष रहा है 'सुख से रहो और सुख से रहने दो ' वस्तुत· जैन सस्कृति अपने सुख को, अपने हित को, अपने स्वार्थ को और अपनी आकाक्षाओ को विस्तृत बनाने की, उसे विश्व-सुख, विश्व-शान्ति एव विश्व-हित मे परिणत करने की सस्कृति है यदि सही अर्थ मे देखा जाए तो जैन-सस्कृति, विश्व सस्कृति या मानव-सस्कृति का ही दूसरा नाम है क्योकि, इसमे प्रत्येक मानव का हित एव विकास निहित है

विश्व मे आज समाजवाद, साम्यवाद और सर्वोदयवाद की विशेष चर्चा है क्योकि सामन्तशाही एव पूंजीवादी उत्पीडन



एव शोषण को समाप्त करने के लिये इन का उदय हुआ है. ये सब वाद व्यक्ति के हित की अपेक्षा समाज एव राष्ट्र के हित को प्रमुखता देते हैं अमीर-गरीब, छोटे-बडे, ऊच-नीच, स्वामी-सेवक आदि के भेदो को तथा देश मे चलने वाले शोषण को समूलत. नष्ट करना चाहते हैं. इन का मूल दृष्टिकोण यही है कि देश के सब व्यक्तियो को जीवन-विकास के लिये समान साधन मिले, सब को सुख-शान्ति से रहने का अवसर मिले, खाने के लिये पर्याप्त भोजन और पहनने के लिये वस्त्र मिले. देश मे न कोई भूखा-नगा रहे, न कोई अभावग्रस्त हो. किसी प्रकार की उत्पीड़ा न हो, पीडाकारी न हो. कोइ पीडित न हो देश मे ऐसी स्थिति न रहे कि एक ओर धन के अम्बार लगे हो, सम्पत्ति के पहाड खडे हो और दूसरी ओर अभावो का नगा नाच हो. एक वर्ग का हित और सुख दूसरे वर्ग का विरोधी न हो. वर्गसघर्ष का आधार ध्वस्त हो जाय और मानवजाति पारस्परिक सहयोग से प्रगति की ओर प्रयाण करे.

जैन-सस्कृति के लिये यह स्वर नया नही है यदि हम सुदूर इतिहास की सरणिया न भी दोहराये तो भी जैन-सस्कृति का पच्चीस सौ वर्ष का इतिहास हमारे सामने है. उस का अवलोकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन-सस्कृति मानव-मानव के बीच भेद की दीवार को कतई नही मानती. वह प्रत्येक मानव को, भले ही वह किसी देश, रग, लिंग, प्रान्त, वर्ग, व जाति का क्यो न हो, मानवता के नाते, समान मानती है.[1] वह जातिपूजा में नही, गुणपूजा मे विश्वास करती है और गुणो के आधार पर ही उच्चत्व-नीचत्व को स्वीकार करती है ![2]

उसके अनुसार सब को समान आत्म-विकास करने का अधिकार है अत किसी व्यक्ति का अपमान—तिरस्कार करना, उसे विकास करने का अवसर नही देना, उसका ही नही, बल्कि अपना एव समस्त मानव-जाति का तथा परमात्मा का अपमान करना है

जैन-सस्कृति निःश्रेयस् की प्रेरक है उसकी परिधि मानव तक ही नही, प्राणी मात्र तक विस्तृत है वह प्राणी-मात्र का उदय-हित और कल्याण चाहती है उसकी दृष्टि में विश्व के, सभी प्राणी समान है अत. प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि उन्हे स्वतत्रता-पूर्वक जीने दे, स्वतन्त्रता से अपना विकास करने दे

जैन-संस्कृति और साम्यवाद —साम्यवाद के सिद्धात जैन-सस्कृति से बहुत कुछ मिलते हुए है साम्यवाद समाज मे चल रहे शोषण, उत्पीडन एव वर्ग भेद को समाप्त करके राष्ट्र के सब व्यक्तियो का विकास करना चाहता है. वह मनुष्य-मनुष्य के बीच जातीय भेद की दीवार स्वीकार नही करता आर्थिक वैषम्य को सहन नही करता. जैन-सस्कृति भी इस मन्तव्य को स्वीकार करती है. फिर भी जैन-सस्कृति और साम्यवाद मे मौलिक सैद्धान्तिक एव कार्य पद्धति सबन्धी अन्तर है साम्यवाद भौतिकवाद पर आधारित है वह आत्मा अर्थात् व्यक्ति की सर्वथा उपेक्षा करता है, एकान्तत समाज की सत्ता स्वीकार करता है. वह शस्त्र की ताकत को ही सर्वोपरि मानता है अत तलवार की धार से या बम की विषाक्त मार से समानता लाना चाहता है. वह वर्गभेद को समाप्त करने के लिये पाशविक बल का प्रयोग करने के पक्ष मे है परन्तु जैन-सस्कृति इस का समर्थन नही करती. उसका मूल आधार भौतिकवाद नही, अध्यात्मवाद है. वह व्यक्ति और समाज के अधिकारो मे सामजस्य स्थापित करती है, आत्मिक शक्ति को सर्वोपरि मानती है अत वह स्वेच्छात्याग की उदात्त भावना के द्वारा विभेद की दीवारो को गिराना चाहती है, वह अहिंसा, प्रेम, स्नेह, क्षमा, सहिष्णुता, तप और त्याग द्वारा मानव जीवन मे साम्य की सरस, शीतल एव मधुर सरिता बहाना चाहती है इस प्रकार जैन-सस्कृति हिंसा मे नही, प्रेम मे विश्वास रखती है पशुबल मे नही, आत्मबल मे विश्वास रखती है और प्रेम-स्नेह एव त्याग के द्वारा स्थापित की गई समानता को स्थायी मानती है

जैन-संस्कृति और सर्वोदय :—आधुनिक युग में सर्वप्रथम गाधीजी द्वारा प्रयुक्त सर्वोदय शब्द भारतवर्ष के लिये नूतन नहीं,

---

१. मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा—आचार्य जिनसेन.

२. सक्ख खु दीसइ तवोविसेसो, न दीसइ जाइविसेस कोइ.—उत्तराध्ययन.

चिरपुरातन है जैन परम्परा के युगप्रवर्तक प्रतिभाशाली आचार्य समन्तभद्र ने अब से लगभग पन्द्रह सौ शताब्दी पूर्व इस शब्द का प्रयोग किया था

'सर्वोपदामन्तकर दुरन्त सर्वोदय तीर्थमिद त्वदीयम्'. यहा आचार्य ने जिन-तीर्थ को 'सर्वोदयतीर्थ' कह कर उसे ही समस्त विपत्तियो का अन्त करने वाला बतलाया है किन्तु आधुनिक युग मे सर्वप्रथम गाधीजी ने इस शब्द का प्रयोग किया उन्होने पाश्चात्य विचारक रस्किन की 'एन टू दिस लास्ट' पुस्तक का 'सर्वोदय' नाम से अनुवाद किया

सर्वोदय शब्द 'सर्व' और 'उदय' दो शब्दो के सयोग से बना है इसका अर्थ होता है—सब का उदय आचार्य समन्तभद्र ने और गाधीजी ने भी इसी अर्थ मे इस का प्रयोग किया था और इसका आधार अहिंसा, प्रेम, त्याग एव सहिष्णुता को माना था

आज तो सर्वोदयसमाज का भी निर्माण हो गया है उसका कहना है कि विश्व दो वर्गो मे विभक्त है—उच्च वर्ग और निम्न वर्ग, या अमीर और गरीब आज सुख-साधनो एव सम्पत्ति के सभी स्रोतो पर प्रथम वर्ग का अधिकार है इस से उस के जीवन मे अहकार, निर्दयता, शोषण एव विलासिता आदि मनोविकारो की बाढ-सी आ गई है विकारो के ढेर के नीचे उस की आत्मा दब गई है और उस की मानवता को अमानवीय एव राक्षसी मनोवृत्तियो ने आवृत कर दिया है अतः वह पतन की ओर फिसलता जा रहा है और द्वितीय वर्ग की दयनीय दशा तो सब के सामने स्पष्ट ही है. इस वैषम्य की स्थिति मे सच्ची शान्ति की सस्थापना सभव नही है. इसलिए सर्वोदय समाज चाहता है कि धनिक वर्ग का भी उदय हो और निर्धन वर्ग का भी धन वैभव के गुरुतर बोझ के नीचे दबी हुई पूजीपति की अन्तरात्मा मे मानवीय भावना का उदय हो, वह विकारो से ऊपर उठ कर दूसरे वर्ग के हित को भी सोचे-समझे और मानवजाति के हित को अखड मानकर उस के लिये कार्य करे प्रत्येक मानव विवेक पूर्वक कार्य करे, जिस से सब का हित हो, किसी के स्वार्थ को आघात न लगे कोई किसी का अनिष्ट करने की भावना न रखे और न ऐसा कदम उठाए जिससे दूसरे व्यक्ति के सुख मे बाधा उत्पन्न हो कदाचित् सघर्ष की स्थिति आजाय तो उसे हिंसात्मक रूप न देकर प्रेम-स्नेह एव मैत्री भावना को कायम रखते हुए दूर किया जाए

जैन-सस्कृति भी इस विचार को स्वीकार करती है दोनो की विचारधारा मे बहुत-कुछ समानता होने पर भी कुछ महत्त्वपूर्ण अन्तर है पाश्चात्य विचारक मानते है The greatest good for greatest number

इसके अनुसार अधिक लोगो का अधिकतम लाभ ही उनका आदर्श है सर्वोदय विचारधारा इससे एक डग आगे बढती है और मानती है कि मानव मात्र का उदय हो, मानव मात्र का हित हो, मानव मात्र का उन्नयन हो. मानव मात्र को समान सुख-साधन उपलब्ध हो और सब को समान रूप से विकसित होने का अवसर मिले

परन्तु जैन-सस्कृति का सिद्धान्त इससे भी अनेक कदम आगे है जैन विचारक केवल मानव का ही नही, प्रत्युत प्राणीमात्र का उदय चाहते है जैन-सस्कृति की यह मान्यता है कि विश्व का प्रत्येक प्राणी स्वतन्त्र है और सुख की अभिलाषा रखता है अत किसी भी प्राणी के सुख मे, विकास मे बाधा उपस्थित न की जाए

जैन-सस्कृति की दृष्टि मे मनुष्य ही सब कुछ नही है उसके अतिरिक्त अन्य असख्य प्रकार के जो प्राणी विश्व मे है, वे भी हमारे ही बृहत् परिवार के सदस्य है उनकी उपेक्षा नही की जा सकती उनके अधिकारो को भी स्वीकार किया जाना चाहिए इसके विना सम्पूर्ण न्याय एव बन्धुता की प्रतिष्ठा सभव नही है जब तक मनुष्य, मनुष्येतर प्राणियो के प्रति बन्धुभाव स्थापित नही करेगा और उनका उत्पीडन करता रहेगा तब तक मनुष्य-मनुष्य के बीच भी उत्पीडन चालू रहेगा. वस्तुत भगवान् महावीर का शासन 'सर्वोदय-शासन' है उन के शासन मे किसी एक के उदय का नही, प्रत्युत सब के अभ्युदय का, सब के नि श्रेयस् का पूरा खयाल रखा गया है उसमे नारी-पुरुष, अमीर-गरीब, बालक-वृद्ध, कीडी-कुजर आदि किसी के भी प्रति पक्षपात नही है आत्मविकास की दृष्टि से दुनिया की समस्त आत्माएँ एक समान

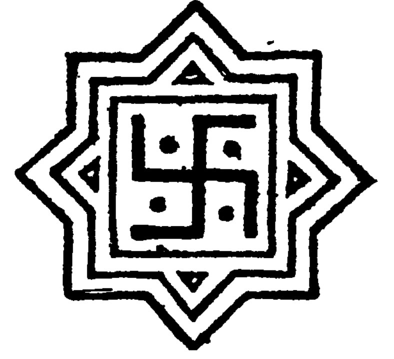


है और सब अपने आप में स्वतन्त्र एव अनन्त शक्ति से सम्पन्न है अतः सब के समान अधिकार है और सब को प्रगति करने का अवसर मिलना चाहिए.

जैन-सस्कृति मे युग-युगान्तर से सर्वोदय का महत्त्व रहा है. सम्पत्ति एव सुखसाधनो के वितरण के लिये भी जैन विचारको ने सग्रह वृद्धि की भावना को पाप कहा है.

भगवान् महावीर का यह वज्रघोष रहा है—'असविभागी न हु तस्स मोक्खो' जो व्यक्ति अपने साधनो का सविभाग नही करता, वह मुक्ति का अधिकारी नही हो सकता. इस का स्पष्ट अर्थ यह है कि जो अपने सुख एव हित के साथ प्राणी-मात्र के हित और सुख का खयाल रखता है और उन्हे आगे बढने मे सहयोग देता है, वही मुक्ति पा सकता है. यत्र-तत्र-सर्वत्र से समेट-समेट कर अपने भडार भरने वाला तथा समस्त सुख-साधनो पर अपना एकाधिपत्य रखने का इच्छुक मुक्ति नही पा सकता. मुक्ति लेने में नही, देने में है. जो अपने सुख को प्राणी-मात्र के सुख मे परिणत कर देता है और अपने 'अहम्' को सारे विश्व मे फैला देता है, वही पूर्ण सुख पा सकता है और उसी को शाश्वत एव अखण्ड शान्ति का लाभ होता है.





डा० हरीन्द्रभूषण जैन
एम० ए०, पी-एच० डी, साहित्याचार्य

प्राचीन भारत की जैन शिक्षण-पद्धति

भारत मे प्राचीन काल से ही ज्ञान की अतिशय प्रतिष्ठा रही है व्यक्तित्व के विकास की दिशा मे ज्ञान को सदैव सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है मानव-जीवन की सफलता, मनुष्य के ज्ञान की मात्रा पर ही अवलम्बित होती है शतपथ ब्राह्मण मे ज्ञान की प्रतिष्ठा को प्रमाणित करते हुए कहा गया है कि 'स्वाध्याय और प्रवचन से मनुष्य का चित्त एकाग्र हो जाता है, वह स्वतन्त्र बन जाता है, उसे नित्य धन प्राप्त होता है, वह सुख से सोता है, उसका इन्द्रियो पर सयम होता है उसकी प्रज्ञा बढ जाती है और उसे यश मिलता है'

जैनागमो मे भी ज्ञान की महिमा स्वीकार की गई है उत्तराध्ययन मे निम्नलिखित सवाद से ज्ञान के महत्त्व पर प्रकाश पडता है शिष्य ने पूछा 'हे पूज्य ! ज्ञानसपन्नता से जीव को क्या लाभ होता है ?' गुरु ने उत्तर दिया 'हे भद्र ! ज्ञानसम्पन्न जीव समस्त पदार्थो का यथार्थभाव जान सकता है. यथार्थभाव जानने वाले जीव को चतुर्गतिमय इस ससार रूपी अटवी मे कभी दु खी नही होना पडता जैसे धागेवाली सूई खोती नही है उसी प्रकार ज्ञानी जीव ससार मे पथभ्रष्ट नही होता और ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप तथा विनय के योग को प्राप्त होता है तथा स्वपरदर्शन को बराबर जानकर असत्यमार्ग मे नही फँसता'

ज्ञान की इस महत्त्वपूर्ण स्थिति के बाद यह आवश्यक था कि ज्ञान सर्वसाधारण को सुलभ हो इसके लिये भारत मे प्राचीन काल से ही शिक्षण-पद्धति पर विशेष ध्यान दिया गया है वैदिक, बौद्ध और जैन-तीनो सस्कृतियो मे शिक्षण की अपनी विशेष परम्पराएँ रही हैं आजकल के विद्वानो ने भी वैदिक और बौद्ध शिक्षण-पद्धतियो के विषय मे पर्याप्त लिखा है.

जैन शिक्षण-पद्धति के विषय मे हमे जैन-आगमो मे यत्र-तत्र अनेक उल्लेख प्राप्त होते है जैन-शिक्षण-पद्धति से सबधित इन उल्लेखो को एकत्रित करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि नि सदेह भारतवर्ष मे प्राचीनकाल मे एक अत्यन्त सुव्यवस्थित जैन शिक्षण-पद्धति थी

जैन तथा बौद्ध शिक्षण-पद्धतियो मे प्राय साम्य है इसका प्रधान कारण यह है कि दोनो धर्मों मे ज्ञान का प्रसार करने का श्रेय उन मुनियो अथवा भिक्षुओ को है जो कि गृहस्थ-आश्रम से दूर रहकर अपना समस्त जीवन ज्ञान के दान और आदान मे ही व्यतीत किया करते थे, बौद्ध तथा जैनधर्म इन दोनो धर्मो के धार्मिक विचारो की निकटता भी दोनो शिक्षण-पद्धतियो की समानता का एक अन्य कारण हो सकती है

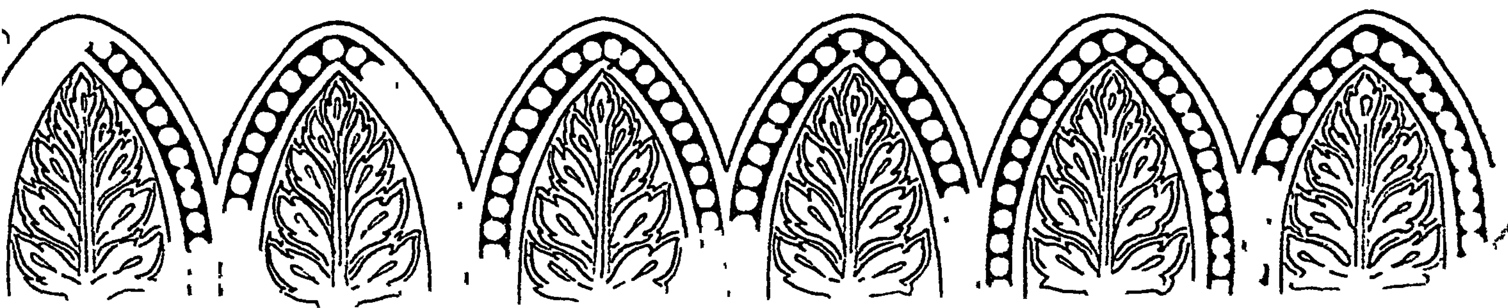
अब हम तुलनात्मक रीति से प्राचीन भारत की जैनशिक्षण-पद्धति पर विचार करते है

शिक्षा का उद्देश्य—प्राचीन भारत में शिक्षा का उद्देश्य सदाचार की वृद्धि, व्यक्तित्व का विकास, प्राचीन सस्कृति की रक्षा तथा सामाजिक एव धार्मिक कर्त्तव्यो की शिक्षा देना था[1]

छात्र जीवन—ब्राह्मण सस्कृति के अनुसार बालक का विद्यार्थी-जीवन, उपनयन-सस्कार से प्रारम्भ होता था. अग-शास्त्र मे भी उपनयन (उवणयण) सस्कार का वर्णन है टीकाकार अभयदेव ने उपनयन का अर्थ 'कलाग्रहण' किया

---

१ Education in Ancient India, by Altekar पृ० ३२६.



है. 'कला' का अर्थ विद्या है विद्या ग्रहण के पूर्व जो उत्सव मनाया जाता था उसे 'उपनयन' कहा गया है[1] उपनयन के वाद माता-पिता अपने पुत्र को कलाचार्य (विद्यागुरु) के साथ भेज देते थे.

प्राय छात्र अपने आचार्यो के घर पर रहकर विद्याध्ययन किया करते थे कुछ धनी लोग नगर मे भी छात्रो को भोजन तथा निवास देकर उनके अध्ययन में सहायक होते थे[2] छात्र तथा आचार्यो के सम्वन्ध कभी-कभी वैवाहिक सबधो के सुन्दर रूप में भी परिणत हो जाते थे[3]

अवकाश के समय आश्रम वन्द हो जाते थे अकाल-मेघो के आ जाने पर, गर्जन, बिजली का चमकना, अत्यधिक वर्षा, कोहरा, धूल के तूफान, चन्द्र-सूर्य-ग्रहण आदि के समय प्राय अवकाश हो जाया करता था दो सेनाओ अथवा दो नगरो मे आपस मे युद्ध द्वारा नगर की शान्ति भग हो जाने पर, मल्लयुद्ध के समय तथा सम्मान्य नेता की मृत्यु हो जाने पर भी अध्ययन वन्द कर दिया जाता था कभी-कभी विल्ली द्वारा चूहे का मारा जाना, रास्ते मे अण्डे का मिल जाना, जिस जगह आश्रम है उस मुहल्ले मे वच्चे का जन्म होना आदि कारणो से भी विद्याध्ययन का कार्य बन्द कर दिया जाता था[4]

अध्ययन-काल—वैदिक युग मे ब्रह्मचर्याश्रम का प्रारम्भ १२ वर्ष की अवस्था मे होता था १२ वर्ष की अवस्था से लेकर जव तक वेदो का अध्ययन चलता रहता था तव तक विद्यार्थी पढते रहते थे बौद्ध सस्कृति में भी कोई गृहस्थ अपने कुटुम्ब का परित्याग करके (किसी भी अवस्था का होने पर भी) बुद्धसघ और बुद्ध की शरण मे जाकर विद्याध्ययन मे लग सकता था

शास्त्र के अनुसार बालक का अध्ययन कुछ अधिक आठ वर्ष से प्रारम्भ होता था और जब तक वह कलाचार्य के निकट सम्पूर्ण ७२ कलाओ का अथवा कुछ कलाओ का अध्ययन नही कर लेता था तब तक अध्ययन करता रहता था[5]

विद्या के अधिकारी—वैदिक काल मे जिन विद्यार्थियो की अभिरुचि अध्ययन के प्रति होती थी, आचार्य प्रायः उन्ही को अपनाते थे जिन विद्यार्थियो की प्रतिभा, ज्ञान प्राप्त करने मे असमर्थ होती थी उन्हे फाल और हल या ताने-बाने के काम मे लगना पडता था[6]

जैनाचार्यो ने विद्यार्थी की योग्यता के लिये उसका आचार्य-कुल मे रहना, उत्साही, विद्याप्रेमी, मधुरभाषी तथा शुभकर्मा होना आवश्यक वतलाया है[7] आज्ञा उल्लघन करने वाले, गुरुजनो के हृदय से दूर रहने वाले, शत्रु की तरह विरोधी तथा विवेकहीन शिष्य को 'अविनीत' कहा गया है[8] इसके विपरीत जो शिष्य गुरु की आज्ञा पालन करने वाला है, गुरु के निकट रहता (अन्तेवासी) है, तथा अपने गुरु के इगित-मनोभाव तथा आकार का जानकार है उसे 'विनीत' कहा गया है.[9]

शिष्य के लिये वाचाल, दुराचारी, क्रोधी, हसी-मजाक करने वाला, कठोर वचन बोलने वाला, विना सोचे उत्तर देने वाला, पूछने पर असत्य उत्तर देने वाला, गुरुजनो से वैर करने वाला नही होना चाहिए[10] उत्तराध्ययन में शिष्य के

---

१ भगवती सूत्र, ११, ११, ४२९ पृ० ९९९—अभयदेव वृत्ति.

२ उत्तराध्ययन टीका. ८, पृ० १२४.

३ वही, १८, पृ० २४३

४ व्यवहारभाष्य, ७. २८१-३१६

५. नायाधम्मकहाओ, १, २०. पृ० २१.

६. छान्दोग्य उपनिषद्, ६. १ २

७. उत्तराध्ययन, ११. १४

८. वही,

९. वही, १. २

१०. वही, १ ४, ६, १३, १४, १७.

लिये निम्नप्रकार विधान बताया गया है—"शिष्य को गुरुजनो की पीठके पास अथवा आगे पीछे नही बैठना चाहिए उसे गुरु के इतने पास भी नही बैठना चाहिए कि जिससे अपने पैरो का उनके पैरो से स्पर्श हो शय्या पर लेटे-लेटे अथवा अपनी जगह पर बैठे-बैठे गुरु को कभी प्रत्युत्तर नही देना चाहिए गुरुजनो के समक्ष पैर पर पैर चढा कर, अथवा घुटने छाती से लगाकर तथा पैर फैलाकर कभी नही बैठना चाहिए यदि आचार्य बुलावे तो शिष्य को कभी भी मौन नही रहना चाहिए, प्रत्युत मुमुक्षु एव गुरु-कृपेच्छु शिष्य को तत्काल ही उनके पास जाकर उपस्थित होना चाहिए गुरु के आसन से जो आसन ऊचा न हो तथा जो शब्द न करता हो, ऐसे स्थिर आसन पर शिष्य को बैठना चाहिए आचार्य का कर्तव्य है कि ऐसे विनयी शिष्य को सूत्र और उनका भावार्थ उसकी योग्यता के अनुसार समझावे [1]

उत्तराध्ययन मे गुरु तथा शिष्य के परस्पर सबध पर भी प्रकाश डाला गया है 'जैसे अच्छा घोडा चलाने मे सारथि को आनन्द आता है वैसे चतुर साधक के लिये विद्यादान करने मे गुरु को आनन्द आता है और जिस तरह अडियल टट्टू को चलाते-चलाते सारथि थक जाता है वैसे ही मूर्ख शिष्य को शिक्षण देते-देते गुरु भी हतोत्साहित हो जाता है पापदृष्टि वाला शिष्य, कल्याणकारी विद्या प्राप्त करते हुए भी गुरु की चपतो तथा भर्त्सनाओ को वध तथा आक्रोश (गाली) मानता है सुशील शिष्य तो यह समझकर कि गुरु मुझको अपना पुत्र, लघुभ्राता अथवा स्वजन के समान मानकर ऐसा कर रहे है यह गुरु की शिक्षा (दण्ड) को अपने लिये कल्याणकारी मानता है पापदृष्टि रखने वाला शिष्य उस दशा मे अपने को दास मानकर दु खी होता है कदाचित् आचार्य क्रुद्ध हो जाएँ तो शिष्य अपने प्रेम से उन्हे प्रसन्न करे, हाथ जोडकर उनकी विनय करे तथा उनको विश्वास दिलावे कि वह भविष्य मे वैसा अपराध कभी नही करेगा [2]

योग्य छात्र वही था जो अपने आचार्य के उपदेशो पर पूर्ण ध्यान दे, प्रश्न करे, अर्थ समझे तथा तदनुसार आचरण करने का भी प्रयत्न करे.[3] योग्य छात्र कभी भी गुरु की आज्ञा का उल्लघन नही करते थे, गुरु से असद्व्यवहार नही करते थे और झूठ नही बोलते थे

अयोग्य विद्यार्थी भी हुआ करते थे वे सदैव गुरु से हस्तताडन अथवा पाद-ताडन (खडुया, चपेडा) प्राप्त किया करते थे कभी वेत्रताडन भी प्राप्त किया करते थे तथा बडे कठोर शब्दो से सबोधित किए जाते थे अयोग्य विद्यार्थियो की तुलना दुष्ट बैलो से की गई है वे गुरु की आज्ञा का पालन नही करते थे कभी-कभी गुरु ऐसे छात्रो से थक कर उन्हे छोड भी देते थे.[4]

छात्रो की तुलना पर्वत, घडा, चालनी, छन्ना, राजहस, भैस, मेढा, मच्छर, जोक, बिल्ली, गाय, ढोल आदि पदार्थो से की गई है जो उनकी योग्यता और अयोग्यता की ओर सकेत करते हैं.[5]

शूद्रों का विद्याधिकार—वैदिक काल मे आर्येतर जातियो द्वारा, आर्यभाषा और आर्य-सस्कृति मे निष्णात होकर वैदिक शिक्षा पर रोक प्रधानत स्मृतिकाल मे लगी उनके लिए सदा से ही पुराणो के अध्ययन की सुविधा थी जातक-काल मे ऐसे अनेक शूद्र और चाण्डाल हो चुके है जो उच्चकोटि के दार्शनिक और विचारक थे [6] सुत्तनिपात के अनुसार मातगनामक चाण्डाल तो इतना बडा आचार्य हो गया कि उसके यहा अध्ययन करने के लिए अनेक उच्चवर्ण के लोग आया करते थे.

जैन-सस्कृति मे, चाण्डालो तक का दार्शनिक शिक्षा पाकर महर्षि बनना सम्भव था उत्तराध्ययन मे हरिकेशबल नामक

---

१ उत्तराध्ययन, १ १८-२३

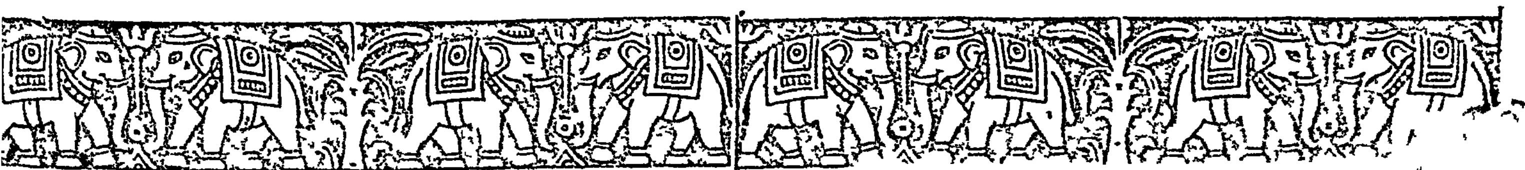
२ वही, १ ३७-४१

३ आवश्यक नियुक्ति (२०)

४. उत्तराध्ययन २७, ८, १३, १६.

५ आवश्यक नियुक्ति, १३९, आवश्यक चूर्णि पृ०१२१-१२५ बृहत्कल्पभाष्य, पृ० ३३४-

६. सतुजातक, ३७७ .



चाण्डाल की चर्चा आती है जो स्वय ऋषि वन गया था और सभी गुणो से अलकृत हुआ.[1] जैनशास्त्रो मे यह बात स्पष्ट रूप से कही गई है कि वर्ण-व्यवस्था जन्मगत नही, कर्मगत है 'कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र होता है'[2]

आचार्य और उनका व्यक्तित्व—ऋग्वैदिक आचार्य, जिसके दिव्य प्रतीक अग्नि और इन्द्र है, तत्कालीन ज्ञान और आध्यात्मिक प्रगति की दृष्टि से समाज मे सर्वोच्च व्यक्ति थे आचार्य विद्यार्थी को ज्ञानमय शरीर देता था वह स्वय ब्रह्मचारी होता था और अपने ब्रह्मचर्य की उत्कृष्टता के वल पर असख्य विद्यार्थियो को आकर्षित कर लेता था[3]

जैन आचार्यो पर महावीर और उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकरो की छाप रही है वे अपना जीवन और शक्ति, मानवता को सत्पथ दिखाने के प्रयत्न मे ही लगा देते थे[4] आचार्य के आदर्श व्यक्तित्व की, जैन-सस्कृति मे, जो रूपरेखा बनी वह इस प्रकार थी 'वह सत्य को नही छिपाता था और न उसका प्रतिवाद करता था. वह अभिमान नही करता था और न वह यश की कामना करता था वह कभी भी अन्यधर्मो के आचार्यो की निन्दा नही करता था. सत्य भी, कठोर होने पर उसके लिये त्याज्य था वह सदैव सद्विचारो का प्रतिपादन करता था शिष्य को डाट-डपट कर या अपशब्द कहकर वह काम नही लेता था वह धर्म के रहस्य को पूर्णरूप से जानता था उसका जीवन तपोमय था. उसकी व्याख्यानशैली शुद्ध थी वह कुशल विद्वान् और सभी धर्मो का पण्डित होता था.[5]

'रायपसेणिय सूत्र' मे तीन प्रकार के आचार्यो का वर्णन है ·

१—कलायरिय—कला के अध्यापक

२—सिप्पायरिय—शिल्प के अध्यापक.

३—धम्मायरिय—धर्म के अध्यापक

यह विधान था कि प्रथम तो आचार्यो के शरीर पर तेल का मर्दन किया जाय, उन्हे पुष्प भेंट किये जाए, उन्हे स्नान कराया जाय, उन्हे सुन्दर वस्त्रो से सुसज्जित किया जाय, उन्हे सुस्वादु भोजन कराया तथा उन्हे योग्य पारिश्रमिक और पारितोषिक दिया जाय मगर धर्माचार्य की वात कुछ और तरह की है. भोजन, पान आदि के द्वारा योग्य सम्मान करके उन्हे विविध प्रकार के उपकरणो से सतुष्ट किया जाता था[6] वह भी बदला चुकाने के लिये नही, केवल भक्तिवश ही.

अध्ययन और उसके विषय—वैदिक शिक्षण के आदिकाल से ऋग्वेद का अध्ययन और अध्यापन सर्वप्रथम रहा है वेद के अतिरिक्त वेदाग, शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, व्याकरण तथा ज्योतिष का महत्त्व भारतीय विद्यालयो मे सदैव रहा है.

'भगवती सूत्र' मे अध्ययन के विषय निम्न प्रकार वतलाए गए है :

६ वेद ६ वेदाग तथा ६ उपाग.

६ वेद इस प्रकार हैं—१ ऋग्वेद, २ यजुर्वेद, ३ सामवेद, ४ अथर्ववेद, ५ इतिहास (पुराण) तथा ६ निघण्टु.

६ वेदाग इस प्रकार है—१ सखाण (गणित), २ सिक्खाकप्प (स्वर-शास्त्र), ३ वागरण (व्याकरण), ४ छद, ५ ५ निरुक्त (शब्दशास्त्र) तथा ६ जोइस (ज्योतिष). ६ उपायो में प्राय. वेदागो मे वर्णित विषयो का और अधिक विस्तार पूर्वक वर्णन था[7]

---

१. उत्तराध्ययन १२ १

२. वही, २५. ३३.

३ अथर्ववेद, ११. ५, १३.

४. आरा १, ६, ५ २-४.

५. सूत्रकृताग १ १४, १९-२७

६. स्थानाग ,३. १३५.

७. स्थानाग , ३. ३ १८५. 'जैन परम्परा के अनुसार वेद दो प्रकार के हैं—१ आर्यवेद और २ अनार्यवेद. आर्यवेदो की रचना भरत तथा

उत्तराध्ययन-टीका मे निम्न प्रकार १४ विद्यास्थान (अध्ययन के विषय) बताए गए है[1]—४ वेद, ६ वेदाग, मीमासा, नाय (न्याय), पुराण तथा धम्मसत्थ (धर्मशास्त्र).

कुछ ऐसे भी विषय थे जिनका पठन-पाठन की दृष्टि से निम्न स्थान था ऐसे विषय ससारत्यागी साधुजनो के लिये पापश्रुत कहे जाते थे स्थानाङ्ग सूत्र मे ऐसे पापश्रुतो का वर्णन है । उनकी सख्या नौ है[2]

१. उप्पाय (अपशकुन-विज्ञान) २ निमित्त (शकुन-विज्ञान) ३ मन्त (मन्त्र विद्या) ४ आइक्खिय (नीच-इन्द्रजालविद्या) ५ तेगिच्छिय (चिकित्सा-विज्ञान) ६ कला (कला-विज्ञान) ७ आवरण (गृह-निर्माण-विज्ञान) ८ अण्णाण (साहित्य-विज्ञान-काव्य-नाटकादि) ९ मिच्छापवयण (असत्य शास्त्र).

अग शास्त्र मे ७२ कलाओ का वर्णन मिलता है[3] यद्यपि सभी छात्र इन समस्त कलाओ मे निपुणता प्राप्त नही करते थे फिर भी अपनी शक्ति के अनुसार इन कलाओ मे दक्षता प्राप्त करना प्रत्येक छात्र का उद्देश्य होता था.

ये कलायें १३ भागो मे विभक्त है

१ **पठनकला**—लेह (लेख) और गणित

२ **काव्यकला**—पोरेकव्व (कविता निर्माण) अज्जा (आर्या छन्द में कविता या निर्माण), पहेलिया (प्रहेलिका का निर्माण), मागधिया (मागधी भाषा मे काव्यनिर्माण), गाथा (गाथाछन्द मे काव्य निर्माण) गीइय (गीतो का नर्माण) तथा सिलोय (श्लोको का निर्माण)

३ **मूर्तिनिर्माण काल**—रूव (रूप)

४. **संगीतविज्ञान**—नट्ट (नृत्य), गीय (सगीत), वाइय (वाद्य), सरगम, पुक्खरगय (ढोल वादन) तथा ताल.

५. **मृत्तिकाविज्ञान**—दगमट्टिय

६ **द्यूतक्रीडा तथा गृह क्रीडा**—जुआ (द्यूत) जणवाय (अन्य प्रकारका जुआ).
पासय (पासो का खेल), अट्ठावय (शतरज) सुत्तखेड कठपुतली का नाच वत्थ (भोरे का खेल) तथा नालिकाखेड (अन्य प्रकार के पासो का खेल).

७ **स्वास्थ्य, शृङ्गार तथा भोजनविज्ञान**—अन्नविहि (भोजन विज्ञान), पाणविहि (पान), वत्थविहि (वस्त्र)' विलेवन (शृगार) सयण (शय्या विज्ञान), हिरण्ण जुति (चादी के आभूषणो का विज्ञान) सुवण्ण (सोने के आभूषणो का विज्ञान), आभरणविहि (आभूषणो का विज्ञान), चुण्णजुति (शृगारचूर्ण विद्या), तरूणी-पडिकम्म (तरुणियो के शरीर को सुन्दर बनाने की विधि), पत्तच्छेज्ज (पत्रो से सुन्दर आभूषण बनाना) तथा कडच्छेत्ता (भाल का सजाना)

८. **चिह्नविज्ञान-लक्षण**—इसमे चिह्नो के द्वारा स्त्री, पुरुष, घोडा, हाथी, गाय, मुर्गा, दासी, तलवार, रत्न तथा छत्र के भेद को जानना सम्मिलित था.

शकुनि-विज्ञान—इसमें पक्षियो की बोलियो का ज्ञान आवश्यक था.

१०. **खगोलविद्या**—चार (ग्रहो के चलन) तथा पडिचार (प्रतिचलन) की विद्या

अन्य आचार्यो ने की. इनमें तीर्थंकरों के यशोगान तथा श्रमण एव उपासकों के कर्त्तव्यों का वर्णन था. बाद में सुलसा, याज्ञवल्क्य आदि ने अनार्यवेदों की रचना की ' आवश्यक चूर्णि, २१५

१. उत्तराध्ययन टीका, ३ पृ० ५६ अ०

२. स्थाना सूत्र, ६, ६७८.

३ नायाम्धमकहाओ, १, २०, पृ० २१,



११. रसायनशास्त्र—इसमे सोना (सुवण्णपाग) चादी (हिरण्ण) को वनाना तथा नकली धातुओ को असली हालत में परिवर्तित करना (सजीव) तथा असली धातु को नकली धातु वनाना (निज्जीव) सम्मिलित था

१२ गृह-विज्ञान—इसमे मकान वनाना (वत्थुविज्जा), नगरो तथा जमीन को नापना (नगरारमण खन्धारणम) सम्मिलित थे

१३ युद्धविज्ञान—इसमे जुद्ध (युद्ध), निजुद्ध (कुश्ती) जुद्धातिजुद्ध (घोरयुद्ध) दिट्ठिजुद्ध (दृष्टि युद्ध), मुट्ठिजुद्ध (मुष्टि युद्ध), वाहुयुद्ध, लयाजुद्ध, मल्ल युद्ध इसत्थ (तीर विज्ञान), चरूप्पवाय (असिविज्ञान), धनुव्वेय (धनुर्विज्ञान), वूह (व्यूहविज्ञान), पडिवूह (प्रतिव्यूह विज्ञान), चक्कवूह (चक्रव्यूह विज्ञान), गरुडवूह (गरुडव्यूह विज्ञान), तथा सगड-वूह (शकटव्यूह विज्ञान) सम्मिलित थे

शिक्षण विधि—वैदिक काल मे प्रारम्भ से ही सूत्रो को कण्ठाग्र करने की रीति थी उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित की अभिव्यक्ति वाणी के साथ ही साथ हाथ की गति से भी की जाती थी वैदिक मन्त्रो को कठस्थ करने के लिये तथा उनके पाठ मे किसी प्रकार की त्रुटि न होने देने के लिये विविध प्रकार के पाठ होते थे जैसे-सहिता-पाठ, पद-पाठ, क्रम-पाठ, घन-पाठ, जटा-पाठ आदि

जैन-शिक्षण-पद्धति का श्रेय महावीर को है. महावीर ने कहा था कि 'जैसे पक्षी अपने शावको को चारा देते है वैसे ही शिष्यो को नित्य प्रति, दिन और रात शिक्षा देनी चाहिए'[1] यदि शिष्य सक्षेप मे कुछ समझ नही पाता था तो आचार्य व्याख्या करके उसे समझाता था. आचार्य, अर्थ का अनर्थ नही करते थे वे अपने आचार्य से प्राप्त विद्या को यथावत् शिष्य को ग्रहण कराने मे अपनी सफलता मानते थे वे व्याख्यान देते समय व्यर्थ की वाते नही करते थे.[2]

परवर्ती युग में शास्त्रो के पाठ करने की रीति का प्रचलन हुआ विद्यार्थी, शास्त्रो का पाठ करते समय शिक्षक से पूछ कर सूत्रो का ठीक-ठीक अर्थ समझ लेता था और इस प्रकार अपना सदेह दूर करता था विद्यार्थी बार-वार आवृत्ति करके अपने पाठ को कठस्थ कर लेता था फिर वह पढे हुए पाठ का मनन और चिन्तन करता था[3] प्रश्न पूछने से पहले विद्यार्थी आचार्य के समक्ष हाथ जोड लेता था[4]

जैन शिक्षण की वैज्ञानिक शैली के पाच अग थे—१ वाचना (पढना), २ पृच्छना (पूछना), ३ अनुप्रेक्षा (पढे हुए विषय का मनन करना), ४ आम्नाय (कण्ठस्थ करना और पाठ करना) तथा ५. धर्मोपदेश.[5]

अनुशासन—वैदिक युग मे आचार्य विद्यार्थी को प्रथम दिन ही आदेश देता था कि 'अपना काम करो, कर्मठता ही शक्ति है, अग्नि मे समिधा डालो, अपने मन को अग्नि के समान ओजस्विता से समद्धि करो, सो ओ मत.'[6]

जैन शिक्षण मे भिक्षुओ के लिये शारीरिक कष्ट का अतिशय महत्त्व वताया गया है व्रतभग के प्रसग साधु को मरना तक श्रेयस्कर वताया गया है जैन शिक्षण मे शरीर की वाह्य शुद्धि को केवल व्यर्थ ही नही अपितु अनर्थ-कार्य वताया गया है. शरीर का सस्कार करने वाले श्रमण 'शरीर वकुश' (चरित्रभ्रष्ट) कहलाते थे.[7]

परवर्ती युग मे विद्यार्थियो के लिये आचार्य की आज्ञा पालन करना, डाट पड़ने पर उसे चुपचाप सह लेना, भिक्षा मे स्वादिष्ट भोजन न लेना आदि नियम वनाये गये विद्यार्थी सूर्योदय के पहले जागकर अपनी वस्तुओ का निरीक्षण करते

---

१ आचाराग, १. ६. ३. ३
२. सूत्रकृताग, १. १४. २४-२७
३ उत्तराध्ययन, २६. १८. तथा १. १३.
४. उत्तराध्ययन १. २२
५ स्थाना. ४६५.
६. शतपथब्राह्मण, ११. ५. ४ ५.
७ स्थाना. ६४५ तथा १५८.

थे और गुरुजनो का अभिवादन करते थे दिन के तीसरे पहर मे वे भिक्षा मागते थे और रात्रि के तीसरे पहर मे सोते थे विद्यार्थी भूल मे किये गये अपराधो का प्रायश्चित्त करते थे[1]

जैन सस्कृति के विद्यार्थी ऊन, रेशम, क्षौम, सन, ताडपत्र आदि के बने हुए वस्त्रो के लिये गृहस्थ से याचना करते थे वे चमडे के वस्त्र या बहुमूल्य रत्न या स्वर्णजटित अलकृत वस्त्रो को ग्रहण नही करते थे हट्टे-कट्टे विद्यार्थी भिक्षु एक, और भिक्षुणिया चार वस्त्र पहिनती थी[2]

समावर्तन—वैदिक काल मे अध्ययन समाप्त हो जाने पर विद्यार्थी आचार्य की अनुमति से घर लौट जाते थे समावर्तन का अर्थ है 'लौटना' आश्रम छोडते समय आचार्य विद्यार्थी को कुछ ऐसे उपदेश देता था जो उसके भावी जीवन की प्रगति मे सहायक होते थे

जैन-सूत्रो मे भी समार्तन सस्कार का वर्णन मिलता है छात्र जब अध्ययन समाप्त कर घर वापस आता था तब अत्यन्त समारोह के साथ उसे ग्रहण किया जाता था रक्षित जब पाटलिपुत्र से अध्ययन समाप्त कर घर वापस आया तो उसका राजकीय सम्मान किया गया. सारा नगर पताकाओ और बन्दनवारो से सुसज्जित किया गया. रक्षित को हाथी पर बिठाया गया तथा लोगो ने उसका सत्कार किया उसकी योग्यता पर प्रसन्न होकर लोगो ने उसे दास, पशु तथा स्वर्ण आदि द्रव्य दिया[3]

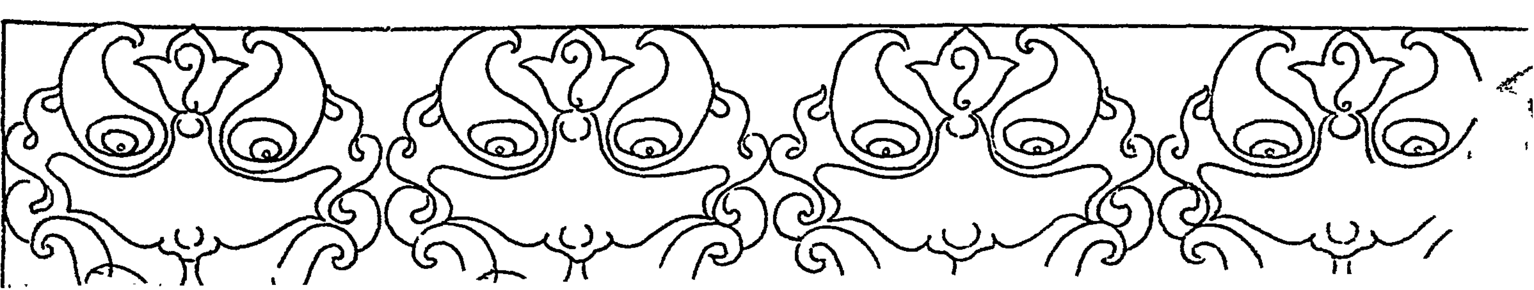
विद्या के केन्द्र—वैदिक काल मे प्राय प्रत्येक विद्वान् गृहस्थ का घर विद्यालय होता था,[4] क्योकि गृहस्थ के पाँच यज्ञो मे ब्रह्म-यज्ञ की पूर्ति के लिये गृहस्थ को अध्यापन कार्य करना आवश्यक था[5] जिन वनो, पर्वतो और उपनद प्रदेशो को लोगो ने स्वास्थ्य-सवर्धन के लिये उपयोगी माना वे स्थान आचार्यो ने अपने आश्रम और विद्यालयो के उपयोग के लिये चुने महाभारत मे कण्व, व्यास, भारद्वाज और परशुराम आदि के आश्रमो के वर्णन मिलते है[6] रामायण-कालीन चित्रकूट मे वाल्मीकि का आश्रम था[7]

जैन-सस्कृति की आचार्य परम्परा तीर्थङ्करो से प्रारम्भ होती है तीर्थङ्कर प्राय अनगार होते थे अतिम तीर्थङ्कर महावीर का दिगम्बर होना प्रसिद्ध है. ऐसे तीर्थङ्करो की शाला का भवनो मे होना सभव नही था उनके शिष्यसघ आचार्यो के साथ ही, देश-देशान्तर मे पर्यटन करते थे. महावीर के जो ग्यारह गणधर (शिष्य) थे वे सब आचार्य थे उनमे इन्द्रभूति, वायुभूति, व्यक्त तथा सुधर्मा के प्रत्येक के ५०० शिष्य थे, मण्डिक तथा मौर्यपुत्र के प्रत्येक के ३५० शिष्य थे और अकम्पित, अचलभ्राता, मेतार्य तथा प्रभास के प्रत्येक के ३०० शिष्य थे ये भ्रमण करते हुए सयोगवश महावीर से मिले तथा उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर अपने शिष्यो सहित उनके सघ मे सम्मिलित हो गये[8]

शनै शनै जैन मुनियो तथा आचार्यो के लिये गुफा-मन्दिर तथा तीर्थक्षेत्र के मन्दिर आदि बनने लगे इसके बाद राजधानियो, तीर्थस्थान, आश्रम तथा मन्दिर शिक्षा के केन्द्र बने राजा तथा जमीदार लोग विद्या के पोषक तथा सरक्षक थे समृद्ध राज्यो की अनेक राजधानियाँ बडे-बड़े विद्या के केन्द्रो के रूप मे परिणत हुई

बनारस विद्या का विशाल केन्द्र था सखपुर का राजकुमार अगडदत, वहा विद्याध्ययन के लिये गया था वह अपने

१. उत्तराध्ययन, २६
२ आचाराग, सूत्र, २ ५ १ १.
३. उत्तराध्ययन टीका, २ पृ० २२ अ०
४ छान्दोग्य उपनिषद्, ८ १५. १ ४ ६ १ तथा २. २३. १.
५. "अध्यापन ब्रह्मय १." मनुस्मृति, ३ ७०.
६ आदिपर्व, ७०
७ रामायण, २ ५६ १६
८. कल्पसूत्र 'लिस्ट आफ स्थविराज' 'श्रमण भगवान् महावीर' पृ० २११-२२०



आचार्य के आश्रम में रहा और अपना अध्ययन समाप्त कर लौटा सावत्थी (श्रावस्ती), एक अन्य विद्या का केन्द्र था. पाटलिपुत्र भी विद्या का केन्द्र था 'रक्खिय' जब अपने नगर दशपुर में अध्ययन न कर सका तो वह उच्च शिक्षा के लिये, पाटलिपुत्र गया 'प्रतिष्ठान' दक्षिण मे विद्या का केन्द्र था. 'वलमी' शिक्षा केन्द्र के रूप मे ख्याति की चरम सीमा पर था यही पर जैन आगमो को सगृहीत करने के लिये नागार्जुनसूरि ने जैन-सन्तो की एक सभा बुलाई थी.

साधुओ के निवास स्थान (वसति) तथा उपाश्रयो मे भी विद्याध्ययन हुआ करता था. ऐसे स्थानो पर वे ही साधु अध्यापन के अधिकारी थे जिन्होने उपाध्याय के समीप रहकर प्राचीन शास्त्रो के अध्यापन की शिक्षा प्राप्त की है.[१]

सत्य तथा ज्ञान के परीक्षण के लिये प्राय वाद-विवाद हुआ करते थे. वाद-विवाद करने के लिये वडे-वडे सघ (वाद-पुरिसा) हुआ करते थे जहा जैन तथा अन्य साधु विशेषकर, बौद्ध साधु आकर सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विषयो पर वादविवाद किया करते थे. यदि कोई व्यक्ति तर्क तथा न्याय मे कमजोर पाया जाता था तो उसको किसी अन्य विद्या-केन्द्र मे जाकर और अधिक अध्ययन के लिये प्रयत्न करना पडता था. वहा से अध्ययन समाप्त कर वह लौटता और अपने विरोधी को पराजित कर धर्म का प्रचार करता था[२]

ऊपर कही गई शिक्षण-पद्धति पर विचार करने के वाद हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि भारतवर्ष मे प्राचीन काल मे वैदिक तथा बौद्ध शिक्षण-पद्धति के समान एक सुव्यवस्थित जैन शिक्षण-पद्धति भी थी. आजकल भारत के बडे-बड़े नगरो मे जैनधर्म और जैनदर्शन के अध्यापन के लिये जो प्रतिष्ठान चल रहे है उन पर पूर्ण रूप से इस प्राचीन जैन शिक्षण-पद्धती का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है



१. 'लाइफ इन एन्श्येन्ट इण्डिया' पृ० १७३-१७४.
२. बृहत्कल्पभाष्य, ८. ५४.७५, ५४.२१.



डा० नथमल टाटिया
निदेशक, प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा-शोधसस्थान, मुजफ्फरपुर, बिहार

'मोक्षमार्गस्यनेतारम्' के कर्ता पूज्यपाद देवनन्दि

पूज्यपाद देवनन्दिकृत सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थवृत्ति के प्रारम्भ मे निम्नाकित श्लोक उपलब्ध होता है ·

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्, ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये.

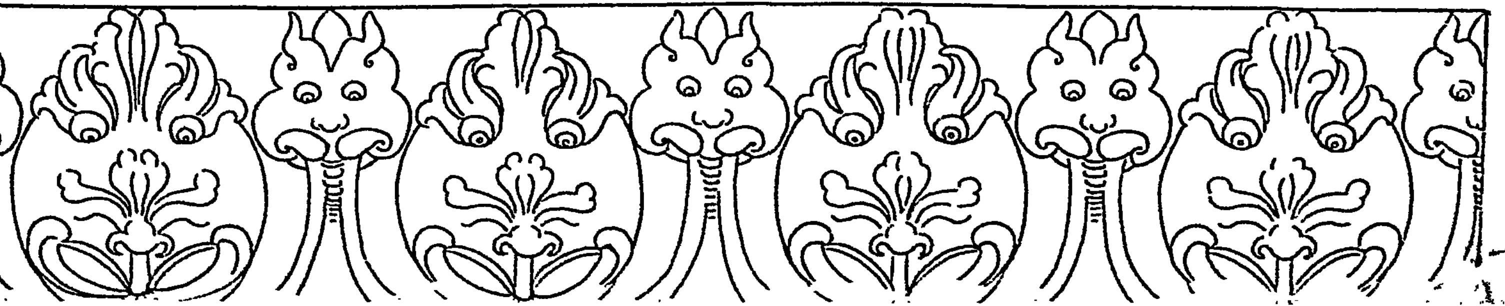
इस श्लोक के कर्तृत्व के बारे मे कुछ वर्ष पहले ऊहापोह चला था और यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई थी कि इसके कर्ता तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वामी है [1] पर वस्तुस्थिति अन्यथा प्रतीत होती है (१) आप्तपरीक्षा मे आचार्य विद्यानन्द ने इस श्लोक के कर्ता के लिए सूत्रकार[2] और शास्त्रकार[3] ये दोनो शब्द प्रयुक्त किये है अतएव सशय होना स्वाभाविक था पर इन्ही विद्यानन्द के तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के प्रारम्भ मे की गई परापरगुरु-प्रवाह विषयक आध्यान की चर्चा से तथा आप्तपरीक्षा गत प्रयोगो से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि सूत्रकार शब्द केवल आचार्य उमास्वामी के लिए ही प्रयुक्त नही होता था, इसका प्रयोग दूसरे आचार्यों के लिए भी किया जाता था. (२) उसी तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के अन्तर्गत तत्त्वार्थसूत्र के प्रथमसूत्र की अनुपपत्ति-उपस्थापन और उसके परिहार की चर्चा से भी यह स्पष्ट फलित होता है कि आचार्य विद्यानन्द के सामने तत्त्वार्थसूत्र के प्रारम्भ मे 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक नही था (३) अष्टसहस्री तथा आप्तपरीक्षान्तर्गत कुछ विशेष उल्लेखो से यह सिद्ध होता है कि आचार्य विद्यानन्द के मतानुसार इसी श्लोक के विषयभूत आप्त की मीमासा स्वामी समन्तभद्र ने अपनी आप्तमीमासा मे की है इन तीनो मुद्दो पर हम क्रमश विचार करेंगे

सूत्रकार-शास्त्रकार

परापरगुरुप्रवाह की चर्चा के प्रसग मे आचार्य विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के प्रारम्भ (पृ० १) मे अपरगुरु की व्याख्या इस प्रकार की है अपरगुरुर्गणधरादि सूत्रकारपर्यन्तः यहा सूत्रकार शब्द से केवल आचार्य उमास्वामी का बोध अभिप्रेत नही हो सकता, पर वे तथा उनके पूर्व तथा पश्चाद्वर्ती अन्य आचार्य भी यहा अभिप्रेत है अन्यथा आचार्य उमास्वामी के बाद के आचार्यो को आध्यान का विषय बनाने की परम्परा असगत प्रमाणित होगी आचार्य विद्यानन्द स्वय अपनी अष्टसहस्री के प्रारम्भ मे स्वामी समन्तभद्र का जो अभिवन्दन करते है वह भी असगत ठहरेगा आचार्य वादिदेवसूरि अपने स्याद्वादरत्नाकर ग्रथ के आदि मे आचार्य विद्यानन्द के—एतेनापरगुरुर्गणधरादि सूत्रकारपर्यन्तो व्याख्यात [4]—इस वचन की प्रतिध्वनि इस प्रकार करते है—एतेनापरगुरुरपि गणधरादिरस्मद्गुरुपर्यन्तो व्याख्यात [5].

---

१ देखो—अनेकान्त, वर्ष ५, (किरण ६-७, ८-६ तथा १०-११)
२ आप्तपरीक्षा, पृ० १२—किं पुनस्तत्परमेष्ठिनो गुणस्तोत्र शास्त्रादौ सूत्रकारा प्राहु.
३ वही, पृ० २—कस्मात्पुन· परमेष्ठिन स्तोत्र शास्त्रादौ शास्त्रकारा प्राहुः.
४. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० १
५. स्याद्वादरत्नाकर, पृ० ५



अतएव उक्त प्रसग में सूत्रकार शब्द से केवल आचार्य उमास्वामी अभिप्रेत न होकर तत्त्वोपदेशक सभी आचार्य अभिप्रेत है—यह नि सन्दिग्ध सिद्ध होता है तत्त्वप्रतिपादक शास्त्र के प्रारम्भ में अखिल तत्त्वज्ञान के प्रभवस्थान परम गुरु तीर्थंकर तथा तत्त्वार्थनिर्णय मे सहायभूत गणधरादि गुरुपरम्परा के प्रति कृतज्ञता निवेदन करना ही आख्यान है और वही शास्त्रसिद्धि का हेतु है हा, अपरगुरुप्रवाह के अन्तर्गत सूत्रकारो मे आचार्य उमास्वामी का स्थान प्रमुख है, जैसा कि आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी प्रमाणमीमासा (पृ० १) में कहा है—प्रेक्षस्व वाचकमुख्यविरचितानि सकलशास्त्र-चूडामणि-भूतानि तत्त्वार्थसूत्राणीति. आप्तपरीक्षागत आचार्य विद्यानन्द की यह उक्ति भी इस स्थल पर मननीय है—न हि परम्परया मोक्षमार्गस्य प्रणेता गुरुपर्वक्रमाविच्छेदादधिगततत्त्वार्थशास्त्रार्थोऽप्यस्मदादिभि साक्षाद्विश्वतत्त्वज्ञताया· समाश्रय साध्यते प्रतीतिविरोधात्, किं तर्हि साक्षान्मोक्षमार्गस्य सकलबाधकप्रमाणरहितस्य य प्रेणता स एव विश्व-तत्त्वज्ञताश्रय तत्त्वार्थसूत्रकारैरुमास्वामिप्रभृतिभिः प्रतिपाद्यते भगवद्भि [1] यहा तत्त्वार्थ शब्द और सूत्रकार शब्द—ये दोनो व्यापक अर्थ मे प्रयुक्त हुए है अन्यथा प्रभृति शब्द निरर्थक होगा, कारण तत्त्वार्थ नामक ग्रथ के सूत्रकार के मूलरूप मे केवल उमास्वामी ही प्रसिद्ध है, अन्य कोई आचार्य नही हा तत्त्वार्थ के वृत्तिकार, वार्तिककार आदि के रूप मे अन्य आचार्य भी प्रसिद्ध है अतएव उक्त स्थल मे अपने व्यापक अर्थ मे ही सूत्रकार शब्द प्रयुक्त हुआ है—यह स्वत सिद्ध है. तत्त्वार्थ शब्द भी यहा सामान्य अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है, न कि ग्रथविशेष के अर्थ मे अतएव सन्मतिप्रकरण आदि के कर्ता आचार्य सिद्धसेन दिवाकर आदि का समावेश भी तत्त्वार्थसूत्रकार शब्द में हो जाता है. सन्मतिप्रकरण सन्मतिसूत्र के नाम से प्रसिद्ध है आप्तपरीक्षा के निम्नोक्त वाक्यो मे भी सूत्रकार शब्द ऐसे ही व्यापक अर्थ मे प्रयुक्त हुए है—गुरुपर्वक्रमात् सूत्रकाराणां परमेष्ठिन प्रसादात् श्रेयोमार्गस्य ससिद्धिरभिधीयते (पृ० ८), परमेष्ठिन प्रसादात्सूत्रकाराणां श्रेयोमार्गस्य ससिद्धेर्युक्त शास्त्रादौ-परमेष्ठिगुणस्तोत्रम् (पृ० ६).

प्रस्तुत प्रसग मे सूत्र और शास्त्र के स्वरूपविषयक आचार्य विद्यानन्द का निम्नोक्त उल्लेख विवेचनीय है—वर्णात्मक हि पद, पदसमुदायविशेप सूत्र, सूत्रसमूह. प्रकरण, प्रकरणसमितिराह्निक, आह्निकसघातोऽध्याय:, अध्यायसमुदाय शास्त्रमिति शास्त्रलक्षणम् [2] दशाध्यायीरूप सम्पूर्ण शास्त्र के कर्ता होने के कारण आचार्य उमास्वामी शास्त्रकार है, और पदसमुदायविशेप रूप सूत्रो के कर्ता होने के कारण वे सूत्रकार भी है इसी तरह दूसरे आचार्यो (उदाहरणार्थ आचार्य हेमचन्द्र, वादिदेवसूरि आदि) को भी पदसमुदायविशेष रूप सूत्रो के कर्ता के रूप मे सूत्रकार और सम्पूर्ण ग्रन्थ के कर्ता रूप से शास्त्रकार कहा जा सकता है इस प्रसग मे सूत्र का निम्नोक्त लक्षण भी ध्यान-योग्य है ·

अल्पाक्षरमसन्दिग्ध सारवद् विश्वतोमुखम्,
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ।[3]

इन सारी बातो को ध्यान मे रख कर ही आचार्य विद्यानन्द 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक के रचयिता को कभी एक अखण्ड अर्थ के वाचक विशिष्ट पदसमुदाय रूप इसी श्लोक के कर्ता के रूप मे सूत्रकार और कभी सम्पूर्ण तत्त्वार्थशास्त्र के रचयिता रूप से शास्त्रकार कहते है मोक्षमार्गस्य नेतारम् श्लोक के रचयिता को तत्त्वार्थशास्त्रकार कहने मे भी कोई बाधा नही, कारण उमास्वामिरचित मूल तत्वार्थसूत्र की तरह उस पर स्वरचित वार्तिक तथा अन्य व्याख्यान ग्रन्थ को भी शास्त्र कहना आचार्य विद्यानन्द को इष्ट है उन्होने स्पष्ट रूप से निम्नोक्त उद्धरण मे यह बात कह भी दी है—तत्त्वार्थविषयत्वाद्धि तत्त्वार्थो ग्रन्थ. प्रसिद्ध. . . प्रसिद्धे च तत्त्वार्थस्य शास्त्रत्वे तद्वार्तिकस्य शास्त्रत्व सिद्धमेव

---

१. आप्तपरीक्षा, पृ० २६०-१ (पादटिप्पण सहित). पण्डित श्रीदरबारीलालजी कोठिया सम्पादित पाठ सगत प्रतीत नहीं होता उनके पाठ में—तत्त्वार्थसूत्रकारैरुमास्वामिप्रभृतिभि —यह अश नही है तथा भगवद्भि के स्थान पर भगवन: है. प्रस्तुत उद्धरण में आये हुए अस्मदादिभि अश की सगति के लिये परित्यक्त अश आवश्यक है. तत्त्वार्थसूत्रकारैः के स्थान पर तत्त्वार्थसूत्रकारादिभि· पाठ भी सभव नहीं,कारण आदि शब्द विवक्षित प्रकर्ष का बाधक होगा. 'भगवद्भि·' पाठ की आवश्यकता भी स्पष्ट है

२. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० २ । देखो न्यायवार्तिक (न्यायदर्शन, पृ० ४)

३. युक्तिदीपिका, पृ० ३.
वाचस्पति मिश्रकृत न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका (न्यायदर्शन, पृ० ७०), में उद्धृत.

तदर्थत्वात् . तदनेन तव्याख्यानस्य शास्त्रत्व निवेदितम्.[1] अतएव प्रस्तुत श्लोक जिस ग्रन्थ के आदि मे पाया जाता है वह भी तत्त्वार्थविषयक होने के कारण तत्त्वार्थशास्त्र है अर्थात् सर्वार्थसिद्धि को तत्त्वार्थशास्त्र तथा उसके रचयिता को तत्वार्थशास्त्रकार कहने मे कोई वाधा नही

'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक मे सूत्र के सभी लक्षण विद्यमान है तभी तो स्वामी समन्तभद्र जैसे श्रेष्ठ चिन्तक और आचार्य विद्यानन्द जैसे गभीर तार्किक इस श्लोक से प्रेरणा लेकर क्रमश आप्तमीमासा और आप्तपरीक्षा की रचना करते है अतएव इसे सूत्र और इसके रचयिता को सूत्रकार कहने मे कोई असगति लक्षित नही होती, चाहे वे आचार्य उमास्वामी हो या पूज्यपाद देवनन्दि ईश्वरकृष्ण प्रणीत साख्यकारिका प्रसिद्ध है इसकी प्राचीन टीका युक्तिदीपिका मे ईश्वरकृष्ण प्रणीत कई कारिकाशो को सूत्रसज्ञा दी गई है[2] आचार्य धर्मकीर्तिरचित प्रमाणवार्तिक दिग्नागकृत प्रमाण-समुच्चय की व्याख्या है[3] पर प्रमाणवार्तिक के टीकाकार कर्णगोमी ने प्रमाणवार्तिक के वाक्य को सूत्र[4] तथा धर्मकीर्ति को सूत्रकार[5] कहा है इस प्रसग मे आचार्य विद्यानन्द उद्धृत—सूत्र हि सत्य सयुक्तिक चोच्यते हेतुमत्तथ्यमिति सूत्रलक्षणवचनात्[6]—यह वचन भी स्मरणीय है

आचार्य उमास्वामी से भिन्न अन्य आचार्यो को तत्त्वार्थसूत्रकार कहा जा सकता है या नही ? हम देख चुके है, आचार्य विद्यानन्द को सूत्रकार शब्द से आचार्य उमास्वामी से अतिरिक्त अन्य तत्त्वोपदेशक आचार्य भी अभिप्रेत है अतएव अन्य आचार्यो को भी तत्त्वार्थसूत्रकार कहना असगत नही इस प्रकार आप्तपरीक्षा की—तत्त्वार्थसूत्रकारैरुमास्वामिप्रभृतिभि[7]— इस उक्ति की भी सगति वैठ जाती है पूज्यपाद देवनन्दि रचित सर्वार्थसिद्धि वृत्ति के महत्त्वपूर्ण सूत्रात्मक लक्षणवाक्यो की व्याख्या आचार्य अकलक ने अपने तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक) मे की है अतएव उसे तत्त्वार्थसूत्र तथा उसके कर्ता को सूत्रकार या तत्त्वार्थसूत्रकार कहने मे कोई वाधा नही होनी चाहिए

अव हम आप्तपरीक्षागत और एक उल्लेख पर विचार करेगे आप्तपरीक्षा की द्वितीय कारिका के अन्वय के प्रसग मे कहा गया है—श्रेयसो मार्ग श्रेयोमार्ग . तस्य ससिद्धि सम्प्राप्ति सम्यग् ज्ञप्तिर्वा, सा हि परमेष्ठिन प्रसादाद्-भवति मुनिपुगवाना यस्मात्तस्मात्ते मुनिपुगवा सूत्रकाराद्य. शास्त्रस्यादौ तस्य परमेष्ठिनो गुणस्तोत्रमाहुरिति सम्बन्ध[8] इस उद्धरण मे सूत्रकाराद्य शब्द के अन्तर्गत आदि शब्द से कौन अभिप्रेत है? अर्थात् सूत्रकार शब्द द्वारा वृत्तिकार, वार्तिक-कार आदि का भी वोध यदि मान लें तव आदि शब्द से किसका ग्रहण इष्ट होगा ? यहाँ आदि शब्द से श्रोता को ले सकते हैं उपदेष्टा सूत्रकार शास्त्ररचना के पूर्व परापर परमेष्ठी की स्तुति करता है तो शिष्य श्रोता भी उपदेश ग्रहण के पूर्व परापरगुरुप्रवाह की गुणस्तुति अवश्य करता है अर्थात् प्रस्तुत प्रसग मे श्रोता और व्याख्याता द्वारा परमेष्ठि-गुणस्तोत्र की परम्परा विवक्षित है आप्तपरीक्षा का निम्नोक्त उद्धरण इस विषय पर प्रकाश डालता है—तस्मान्मोक्ष-मार्गस्य त्तनोर कर्मभूभृता भेत्तार विश्वतत्त्वाना ज्ञातार वन्दे इति शास्त्रकार. शास्त्रप्रारम्भे श्रोता तस्य व्याख्याता वा भगवन्त परमेष्ठिन परमपर वा मोक्षमार्गप्रणतृत्वादिभिर्गुणै सस्तौति, तत्प्रसादाच्छ्रेयोमार्गस्य ससिद्धे समर्थनात्[9] यहाँ स्पष्टरूप से कहा गया है, 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' गुणस्तोत्र का कर्ता शास्त्रकार—श्रोता अथवा उसका व्याख्याता—

१ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० २
२. देखो—युक्तिदीपिका, पृ० १-३
३. देखो—कर्णगोमिकृत प्रमाणवार्तिकटीका, पृ० ४.
४ वही, पृ० १२
५ वही, पृ० ८.
६. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० ६
७. आप्तपरीक्षा, पृ० २६०, पादटिप्पण २
८. आप्तपरीक्षा, पृ० ७-८
९. आप्तपरीक्षा, पृ० १३



शास्त्रप्रारम्भ मे पर-अपर परमेष्ठी की स्तुति मोक्षमार्गप्रणेतृत्वादि गुणो द्वारा करता है उक्त उद्धरणगत श्रोता और व्याख्याता शब्द द्वारा आचार्य विद्यानन्द ने यह स्पष्ट कर दिया है कि श्रोता तथा व्याख्याता दोनो शास्त्रश्रवण और शास्त्रव्याख्यान के पूर्व परापरपरमेष्ठी का गुणस्मरण करते है

उपरोक्त चर्चा का उद्देश्य केवल इतना ही सिद्ध करना है कि सूत्रकार शब्द का अर्थ नियमेन तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वामी तक सीमित नही है, पर प्रसग की सगति के अनुरूप उसका अर्थ करना पडेगा उदाहरणार्थ, आप्तपरीक्षा के निम्नोक्त पाठ मे सूत्रकार शब्द आचार्य उमास्वामी के सिवाय और किसी आचार्य का वोधक नही माना जा सकता—'स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रेभ्यो भवति इति सूत्रकारमतम्'[1] 'पर-तत्वार्थसूत्रकारैरुमास्वामिप्रभृतिभि.'—इस प्रयोग मे सूत्रकार शब्द से केवल आचार्य उमास्वामी का बोध स्वीकार नही किया जा सकता.

यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक है—यदि 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक आचार्य उमास्वामिविरचित तत्वार्थसूत्र के आदि मे नही है तो उस श्लोक का कर्ता कौन है तथा आचार्य उमास्वामी का भगवद्गुणस्तोत्र कहा है ? और आचार्य विद्यानन्द द्वारा अपनी आप्तपरीक्षा मे पुन पुन आवृत्त सूत्रकारो द्वारा कहे गए गुणस्तोत्रविषयक निम्नोक्त कथनो का अभिप्राय क्या है ? उदाहृणार्थ

(क)— तस्मात्ते मुनिपुगवा सूत्रकारादयः शास्त्रस्यादौ तस्य परमेष्ठिनो गुणस्तोत्रमाहु .—(पृ० ८)

(ख)—तत परमेष्ठिन प्रसादात्सूत्रकाराणां श्रेयोमार्गस्य ससिद्धेर्युक्त शास्त्रादौ परमेष्ठिगुणस्तोत्रम् (पृ० ६)

इसका उत्तर यह है कि किसी सूत्रकार-विशेष के गुणस्तोत्र-विशेष की विवक्षा यहा नही है शास्त्र के आदि में भगवद्-गुणसम्तवन के औचित्य मात्र का निर्देश है. यदि किसी सूत्र के आदि मे गुणस्तोत्र उपलब्ध न हो तो समझना होगा कि वह शास्त्र मे निवद्ध नही किया गया है आप्तपरीक्षाकार ने भी कहा है—'न च क्वचित्तत् (भगवद्गुणसस्तवन) न क्रियत इति वाच्य, तस्य शास्त्रे निवद्धस्यानिवद्धस्य मानसस्य वा वाचिकस्य वा विस्तरत सक्षेपतो वा शास्त्रकारैरवश्य-करणात्' अर्थात् आचार्य उमास्वामी या अन्य किसी आचार्य विशेष की विवक्षा न रख कर शास्त्र के आदि में गुणस्तोत्र का सामान्य विधान यहा इष्ट है आप्तपरीक्षा कारिका ३ (मोक्षमार्गस्य नेतारम् श्लोक) के रूप मे वह गुणस्तोत्र-विशेष वताया गया है, जिसे ध्यान में रखकर यह सामान्य विधान किया गया है, और वही आप्तपरीक्षा का आधारभूत सूत्र है. इस श्लोक के प्रवक्ता का निर्देश शास्त्रादौ सूत्रकाराः प्राहु के द्वारा उत्थानिका मे किया गया है पर श्लोकगत वन्दे पद के कर्ता को निर्देश करते हुए आचार्य विद्यानन्द लिखते है

'तस्मान् मोक्षमार्गस्य नेतार कर्मभूभृता भेत्तार विश्वतत्त्वाना ज्ञातार वन्दे इति शास्त्रकार शास्त्रप्रारम्भे श्रोता तस्य व्याख्याता वा भगवन्त परमेष्ठिन परमपर वा मोक्षमार्गप्रणेतृत्वादिभिर्गुणै संस्तौति, तत्प्रसादाच्छ्रेयोमार्गस्य ससिद्धेः समर्थनात्' (पृ० १३).

इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि वन्दे पद के कर्ता के रूप मे आप्तपरीक्षाकार को आचार्य उमास्वामी विवक्षित नही हैं, किन्तु तत्वार्थशास्त्र के श्रोता अथवा व्याख्यातारूप शास्त्रकार इष्ट हैं. ये शास्त्रकार और उक्त प्रवक्ता सूत्रकार यदि अभिन्न है, तो सूत्रकार शब्द से आचार्य उमास्वामी का विवक्षित होना सभव नही

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकगत अनुपपत्ति-उपस्थापन तथा परिहार

उमास्वामिप्रणीत तत्वार्थसूत्र के किसी भी प्राचीन व्याख्याग्रन्थ के आदि मे 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक की व्याख्या उपलब्ध नही है, न पूज्यपाद देवनन्दि स्वय इसकी व्याख्या करते है न आचार्य अकलक अपने तत्त्वार्थवार्तिक मे इसका उल्लेख करते हैं, न आचार्य विद्यानन्द ही अपने श्लोकवार्तिक मे.

---

१ आप्तपरीक्षा, पृ० ६

अपितु आचार्य विद्यानन्द तत्वार्थसूत्र के प्रथमसूत्र की उपपत्ति सिद्ध करने के प्रसग मे, 'वार्तिक हि सूत्रानामनुपपत्तिचोदना तत्परिहारो विशेपाभिधान प्रसिद्धम्'[1]—वार्तिक के इस स्वीकृत लक्षण का अनुसरण करते है और अनुपपत्ति उपस्थापन प्रस्तुत करते हुए उसका उत्तर इस प्रकार देते है

ननु च तत्त्वार्थशास्त्रस्यादिसूत्र तावदनुपपन्न प्रवक्तृविशेषस्याभावेऽपि प्रतिपाद्यविशेषस्य च कस्यचित्प्र तिपित्सायामसत्यामेव प्रवृत्तत्वादित्यनुपपत्तिचोदनायामुत्तरमाह—

प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे साक्षात्प्रक्षीणकल्मषे ।
सिद्धे मुनीन्द्रसंस्तुत्ये मोक्षमार्गस्य नेतरि ।
सत्यां तत्प्रतिपित्सायामुपयोगात्मकात्मनः ।
श्रेयसा योक्ष्यमाणस्य प्रवृत्त सूत्रमादिमम् ।

तेनोपपन्नमेवेति तात्पर्यम्[2]

आचार्य विद्यानन्द के सामने यदि 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक उमास्वामिप्रणीत तत्त्वार्थसूत्र के आदि श्लोक के रूप मे रहता तो इस स्थल मे वे अवश्य उसकी ओर इगित करते और उसी के आधार पर उत्तर देते यहाँ यह वात ध्यानयोग्य है कि आचार्य विद्यानन्द के उक्त प्रश्नोत्तर के आधार पूज्यपाद देवनन्दि विरचित सर्वार्थसिद्धि के आदि मे उपलब्ध 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक उसी सर्वार्थसिद्धि तथा आचार्य अकलक प्रणीत तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक) के प्रारभिक वचन है, जो क्रमश निम्न प्रकार है

(क) कश्चिद् भव्य प्रत्यासन्ननिष्ठ प्रज्ञावान् स्वहितमुपलिप्सु निर्ग्रन्थाचार्यवर्यमुपसद्य सविनय पृच्छति स्म[3]

(ख) उपयोगस्वभावस्यात्मन श्रेयसा योक्ष्यमाणस्य प्रसिद्धौ सत्या तन्मार्गप्रतिपित्सोत्पद्यते[4] यह स्पष्टतया उद्धरण एक की तात्पर्य-व्याख्या है

यदि 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक आचार्य उमास्वामिविरचित होता तो इस प्रसग मे आचार्य विद्यानन्द उस वात का निर्देश आवश्य करते पर उसका मौन भाव सिद्ध करता है, यह श्लोक आचार्य उमास्वामिविरचित नही है

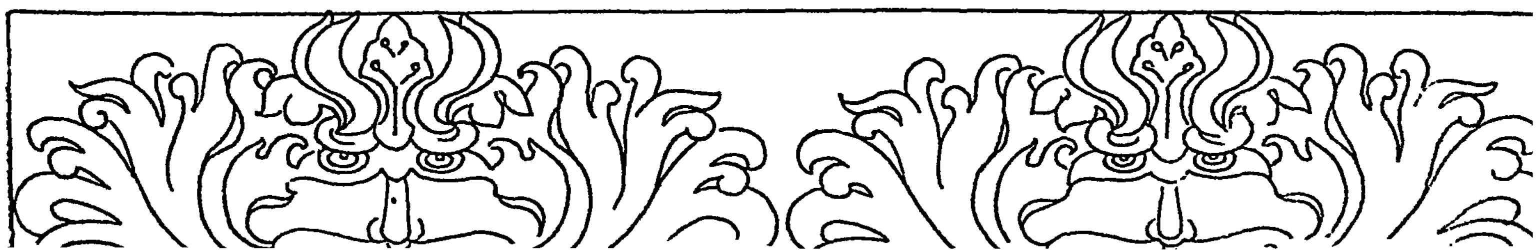
अष्टसहस्री तथा आप्तपरीक्षा के कुछ विशेष उल्लेख एवं आप्तमीमांसा

स्वामी समन्तभद्ररचित आप्तमीमासा पर आचार्य अकलक ने अष्टशती रची तथा अष्टशती पर आचार्य विद्यानन्द ने अष्टसहस्री की रचना की दो कारिकाओ मे मगलाचरण के समानन्तर आचार्य अकलक आप्तमीमासा के प्रथम श्लोक (देवागम-नभोयान) की उत्थानिक मे लिखते है—देवागमेत्यादि—मगलपुरस्सरस्तवविषयपरमाप्तगुणातिशयपरीक्षामुपक्षिपतैव स्वय श्रद्धागुणज्ञतालक्षण प्रयोजनमाक्षिप्त लक्ष्यते तदन्यतरापायेऽर्थस्यानुपपत्ते शास्त्रन्यायानुसारितया तथैवोपन्यासात् (पृ० २) इस वाक्य का विश्लेषण करते हुए आचार्य विद्यानन्द कहते है, यहाँ ग्रथ का प्रयोजन और साध्यसाधनसम्बन्ध वताये गये है ग्रथकारगत श्रद्धागुणज्ञतालक्षण 'प्रयोजन' है, तथा शास्त्रारम्भस्तवविषयाप्तगुणातिशयपरीक्षा 'साधन' है

ऐसा कह कर आचार्य विद्यानन्द अपनी अष्टसहस्री के मगलस्तवान्तर्गत—'शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमासितम्' —इस पद्याश को आचार्य अकलक की उक्ति का अनुवाद-मात्र सिद्ध करते है, अर्थात् आचार्य विद्यानन्द के मत मे आचार्य अकलक भी देवागम-शास्त्र(आप्तमीमासा) को शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्त की मीमासा करने वाला मानते

---

१ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० २.
२ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० ४
३ सर्वार्थसिद्धि, पृ० १
४ तत्त्वार्थवार्तिक, पृ० १



थे अपने इस अभिप्राय का स्पष्टीकरण आचार्य विद्यानन्द इस प्रकार करते है—'शास्त्रावतार-रचितस्तुतिगोचराप्तमीमासितमिद शास्त्र देवागमाभिधानमिति निर्णय' (अष्टशती, पृ० ३) अत्र अकलकोक्त उम मगलपुरस्सर-स्तव तथा स्वोक्त शास्त्रावताररचितस्तुति का समन्वय करते हुए आचार्य विद्यानन्द कहते हैं—'मगलपुरस्सरस्तवो हि शास्त्रावताररचितस्तुतिरुच्यते. मगल पुरस्सरमस्येति मगलपुरस्सर शास्त्रावतारकालस्तत्र रचित स्तवो मगलपुरस्सरस्तव इति व्याख्यानात्' (अष्टसहस्री, पृ० ३) शास्त्रावतार के समय मगलाचरण किया जाता है. अतएव 'मगलपुरस्सर' शब्द का अर्थ हुआ शास्त्रावतारकाल शास्त्रावतारकाल मे रचित स्तव ही मगलपुरस्सरस्तव है अब प्रश्न उठता है, वह कौन शास्त्र है, जिसके अवतारकाल मे वह स्तव किया गया है जिसमे आप्त की स्तुति की गई है ? इसका आनुषगिक उत्तर आचार्य विद्यानन्द के इस वाक्य से मिलता है—'तदेव निश्श्रेयसशास्त्रस्यादौ तन्निबन्धनतया मगलार्थतया च मुनिभि सस्तुतेन निरतिशयगुणेन' भगवताप्तेन—(अष्टशती' पृ० ३) अर्थात् वह निश्श्रेयसशास्त्र है जिसके आदि मे प्रस्तुत स्तव किया गया है. यह निश्श्रेयस-शास्त्र का अर्थ है मोक्षशास्त्र या तत्त्वार्थशास्त्र इसी स्तव के बारे मे आचार्य विद्यानन्द अपनी अष्टशती का उपसहार करते हुए लिखते है—'शास्त्रारम्भेऽभिष्टुतस्याप्तस्य मोक्षमार्गप्रणेतृतया कर्मभूभृद्भेत्तृतया विश्वतत्त्वाना ज्ञातृतया च भगवदर्हत्सर्वज्ञस्यैवान्ययोगव्यवच्छेदेन व्यवस्थापरा परीक्षेय विहिता इति स्वाभिप्रेतार्थनिवेदन-माचार्याणामार्यैर्विचार्य प्रतिपत्तव्यम् (अष्टशती, पृ० २९४).

अब हम आप्तपरीक्षगत उन दो पद्यो पर विचार करेगे जिनमें 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक मे प्रतिपादित आप्त की मीमासा स्वामी समन्तभद्र द्वारा किये जाने का तथा तत्त्वार्थशास्त्र के आदि मे इस स्तव के पाये जाने का उल्लेख है. वे पद्यद्वय इस प्रकार है

श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य ।
प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत् ।
स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामि-मीमांसितं तद् ।
विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै ।
इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ मुनीन्द्र-स्तोत्र-गोचरा ।
प्रणीताप्तपरीक्षेयं विवाद-विनिवृत्तये[1] ।

प्रथम पद्य मे श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्र की तुलना प्रकाशमान रत्नो के उद्भवस्थान समुद्र से की गई है यहाँ श्रीमत् शब्द मननीय है हम देख आये है. तत्त्वार्थशास्त्र एव तत्त्वार्थसूत्र शब्दो का प्रयोग आचार्य विद्यानन्द ने व्यापक अर्थ मे किया है. सभवत उस व्यापक अर्थ के व्यवच्छेद के लिए यहा श्रीमत् विशेषण का प्रयोग किया गया है, जिससे श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्र शब्द द्वारा आचार्य उमास्वामिविरचित तत्त्वार्थसूत्र का बोध हो सके. यहाँ प्रोत्थान शब्द भी विशेष अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है. उत्थान शब्द का अर्थ है पुस्तक[2] अतएव प्रोत्थान शब्द का अर्थ हुआ प्रकृष्ट उत्थान अर्थात् वृत्ति या व्याख्यान[3] अतएव प्रोत्थानारम्भकाले' का अर्थ हुआ 'व्याख्यानारम्भकाले' उक्त पद्यमें 'स्तोत्र तीर्थोपमान प्रथितपृथुपथम्' द्वारा प्रशस्तमोक्षमार्ग को प्रकाशित करने वाले स्तोत्र ('मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक) की तुलना उद्भासित-विस्तीर्ण-सोपानयुक्त तीर्थ से की गई है पद्यगत सलिलनिधि शब्द तथा श्लिष्ट प्रोत्थान शब्द आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के निम्नोक्त स्तोत्रान्तर्गत महार्णव तथा उत्थान शब्द का सस्मरण कराता है:

---

१. आप्तपरीक्षा, पृ० २६५.

२ देखो, आचार्य हेमचन्द्रविरचित अनेकार्थसग्रह, तृतीय काण्ड, ३८७-८

"उत्थान सैन्ये पौरुषे युधि पुस्तके, उद्यमोद्गमहर्षेपु वास्त्वन्तेऽऽगनचैत्ययो. ।
मलोत्सर्गे ··· · ··· ·· · · · देखो—मेदिनी, नान्तवर्ग ४१, विश्वकोश—महेश्वरकृत, ५८·.

३. इस प्रसग में उत्तराध्ययन सूत्र, २०।१६ का पोत्थ शब्द विचारणीय है देखो शिष्यहिता व्याख्या तथा सर्पेन्टियर कृत नोंध

सुनिश्चितं न. परतन्त्रयुक्तिपु स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्तसम्पदः ।
तवैव ता पूर्वमहार्णवोत्थिना जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुष. ।

आप्तपरीक्षा से उद्धृत प्रथम पद्यान्तर्गत 'स्वामि-मीमासितम्' शब्द स्पष्ट रूप से स्वामी समन्तभद्र की आप्तमीमासा का निर्देश करता है.

द्वितीयपद्यान्तर्गत तत्त्वार्थशास्त्र शब्द अविशिष्ट होने के कारण अपने व्यापक अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है अतएव इसका अर्थ आचार्य उमास्वामि द्वारा विरचित तत्त्वार्थसूत्र मानने की कोई आवश्यकता प्रतीत नही होती

उपसहार

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है, आचार्य विद्यानन्द की किसी भी उक्ति से यह सिद्ध नही होता कि 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक के कर्त्ता आचार्य उमास्वामी है अपितु कही तो ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य उमास्वामी से भिन्न ही अन्य कोई आचार्य इसके कर्त्ता के रूप मे आचार्य विद्यानन्द को इष्ट है ऊहापोह से जो दूसरी महत्त्वपूर्ण बात फलित होती है, वह है स्वामी समन्तभद्र द्वारा 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक को आधार बना कर आप्तमीमासा ग्रन्थ की रचना करना. आचार्य विद्यानन्द केवल स्वय इस मत के पोषक नही, पर उनके मत मे आचार्य अकलक की भी यही मान्यता थी इस बात को आचार्य विद्यानन्द ने अष्टसहस्री के प्रारम्भ मे, जैसा कि हम ने ऊपर देखा, स्पष्ट कर दिया है अतएव सर्वार्थसिद्धि के प्रारम्भ मे उपलब्ध 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्, श्लोक को प्राचीन बाधक प्रमाण के अभाव मे पूज्यपाद देवनन्दिकर्तृक ही मानना चाहिए तथा आप्तमीमासा के आधारभूत स्तोत्रविषयक आचार्य विद्यानन्द की मान्यता को ध्यान मे रखकर ही स्वामी समतभद्र के प्रादुर्भाव कालविषयक विचार प्रस्तुत करना उचित होगा



४, द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, प्रथमद्वात्रिंशिका ३०.



विद्याभूषण पं० के० भुजबली शास्त्री
सम्पादक 'गुरुदेव' मूडबिद्री

कर्णाटक के जैन शासक

दक्षिण भारत से जैनधर्म का सम्बन्ध सुप्राचीन काल से है भागवत के कथानुसार भगवन् ऋषभदेव का विहार कर्णाटक के कोक, वेक, कुटकादि प्रदेशो मे भी हुआ था कोक से वर्तमान कोकण और कुटक से कोडगु का सम्बन्ध है इस बात को मे अन्यत्र[1] सप्रमाण सिद्ध कर चुका हूँ. उधर बौद्धो के प्रामाणिक ग्रथ महावंशादि से भी दक्षिण में जैनधर्म का अस्तित्व सुदीर्घ काल से सिद्ध होता है द्वारिका के नाश को पहले ही जानकर, भगवान् नेमिनाथ के पल्लव देश में जाने का उल्लेख, जैनागमो में स्पष्ट अकित है यो तो ई० पूर्व चौथी शताब्दी सम्बन्धी श्रुतकेवली भद्रबाहु की दक्षिणयात्रा की घटना को प्राय सभी इतिहासज्ञ स्वीकार करते है खैर, अब प्रस्तुत विषय पर आए.

तमिलु प्रान्त में, पाड्यो की राजधानी मधुरा जैनो का केन्द्र रहा पाड्य नरेश जैन धर्मानुयायी थे. खारवेल के शिलालेख से विदित होता है कि उनके राज्यभिषेक के शुभावसर पर तत्कालीन पाडय नरेश ने धान्यो से भरे हुए कतिपय जहाजो को भेंट रूप से उन्हे भेजा था. इस पाड्य वश की एक शाखा दक्षिण कन्नड जिलान्तर्गत बारकूर मे भी राज्य करती रही तमिलु ग्रथ नालडियार से ज्ञात होता है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ उत्तर से दक्षिण मे जो एक विशाल मुनिसघ आया था, उस सघ के हजारो विद्वान् मुनि धर्मप्रचारार्थ इसी तमिलु प्रान्त मे आकर रह गये थे आचाय पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दी ने लगभग पाचवी शती मे मधुरा मे एक विशाल जैनसघ को स्थापित किया था. कतिपय विद्वानो की राय से सुप्रसिद्ध कुरल ग्रथ के रचयिता, जैनो के प्रातः स्मरणीय आचार्य कुदकुद ही है. सर वाल्टर इलियट के मत से दक्षिण मे कला-कौशल एव साहित्य पर जैनो का काफी प्रभाव पडा है कालवेन ने भी लिखा है कि—जैनो की उन्नति का युग ही तमिलु साहित्य का महायुग है एक जमाने मे सारे दक्षिण भारत में जैनधर्म का गहरा प्रभाव था श्री शेषगिरिराव के अभिप्राय से वर्तमान विशाखपट्टण, कृष्ण, नेल्लूर आदि प्रदेशो मे जैनधर्म विशेष रूप से फैला था फिर भी कर्णाटक के इतिहास मे जैनधर्म का जो महत्त्वपूर्ण स्थान सुरक्षित है, वह अन्यत्र कही नही है.

कर्णाटक मे ई० पू० से ही जैनधर्म मौजूद था मान्य अन्वेपक विद्वानो की राय से श्रुतकेवली भद्रवाहु के साथ ही कर्णाटक मे जैनधर्म का आगमन हुआ किन्तु कतिपय विद्वानो की यह भी राय है कि भद्रवाहु की यात्रा के पूर्व भी दक्षिण मे जैनधर्म अवश्य रहा होगा. अन्यथा श्रुतकेवलीजी को इतने बडे सघ को इस सुदूर दक्षिण मे लिवा लाने का साहस कभी नही होता. अपने अनुयायी भक्तो से भरोसे पर ही उन्होने इस गुरुतर काम को किया होगा शिलालेखो से पता चलता है कि मौर्य और आध्र वश के पश्चात् कर्णाटक मे राज्य करने वाले कदव और पल्लव वश के शासक भी जैन धर्मावलवी थे खासकर वनवासि के प्राचीन कदव और पल्लवो के वाद तोलव (वर्तमान दक्षिण कन्नड जिला) मे राज्य करने वाले चालुक्य नि सन्देह जैन धर्मानुयायी थे चालुक्यो ने अनेक देवालयो को दान दिया है

१. देखो इससे सबन्धित लेखक का निबन्ध

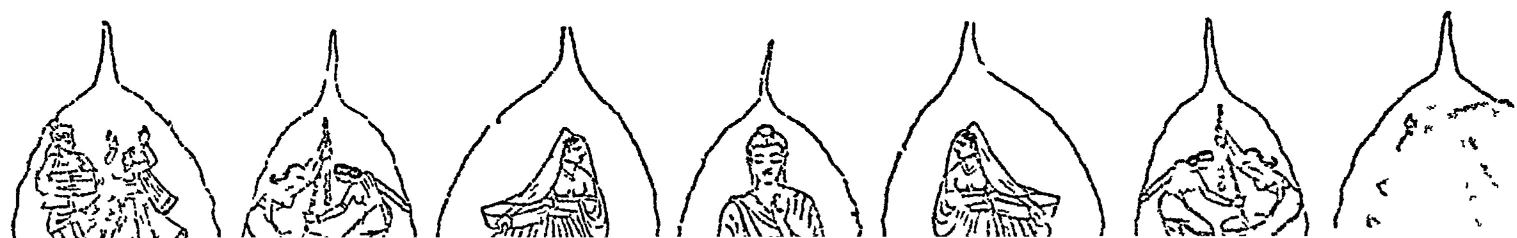
गग शासक जैन धर्मावलबी थे. इस वश के आदिम ऐतिहासिक पुरुष माधव और दडिग दोनो जैनाचार्य सिंहनदी के शिष्य थे. सिंहनदी के ही द्वारा गगवाडि राज्य स्थापित हुआ था इस वश के शासको ने ई० सन् २५० से ९७५ तक राज्य किया था ई० सन् ४७५ मे राज्य करने वाले इस वश के शासक अविनीत के गुरु, जैन पण्डित विजयकीर्ति थे यह अविनीत विद्वान् था. दुर्विनीत इसी का पुत्र था. यह दुर्विनीत प्रसिद्ध जैनाचार्य पूज्यवाद का शिष्य रहा. इस वश के शासको ने पल्लव, चोल और चालुक्यो को जीत कर कर्णाटक का दीर्घ काल तक वैभव पूर्वक शासन किया. दुर्विनीत के पुत्र मुष्कर के नाम से धारवाड जिलातर्गत लक्ष्मेश्वर मे एक सुन्दर जिनमदिर निर्माण कराया गया था इसी वश के प्रतापी राजा मारसिंह ने चेर, चोल और पाण्ड्य राजाओ को पूर्णतः हराया था यह जैनधर्म का पक्का अनुयायी था मारसिंह वैभवपूर्वक राज्य शासन कर अत मे राज्य को त्याग कर, जैनाचार्य गुरु अजितसेन के पादमूल मे जिनदीक्षा लेकर, धारवाड जिलातर्गत वकापुर मे, ई० सन् ९७५ मे, समाधि मरण पूर्वक स्वर्गवासी हुआ था

श्रवण वेल्गोल मे विश्वविख्यात बाहुबली की मूर्ति को स्थापित करने वाला वीरमार्तण्ड चावुडराय इसी मारसिंह का मत्री एव सेनानायक था. इसे त्रिभुवनवीर, सत्ययुधिष्ठिर, वीरमार्तण्ड आदि अनेक उपाधियाँ प्राप्त थी चावडराय सिद्धातचक्रवर्ती नेमिचन्द्रजी का शिष्य था इसके द्वारा गगराज्य और जैनधर्म दोनो की आशातीत उन्नति हुई थी चावुडराय सस्कृत, कन्नड आदि भाषाओ का बड़ा पण्डित था खैर, गगो का अस्तित्व कर्णाटक मे सोलवी शताब्दी तक मौजूद था. इस वश के अवसान के बाद कर्णाटक मे होय्सल शासको ने जैनधर्म को आश्रय दिया

होय्सल वश के मूल पुरुष सल ने जैन-मुनि सुदत्त की सहायता से ही इस वश को स्थापित किया था. बाद मे इस वश के शासक विनयादित्य ने जैनाचार्य शातिदेव के आशीर्वाद से गगवडि का महामण्डलेश्वर हुआ इसने अपने शासनकाल में अनेक जिनमदिर और सरोवरो को निर्माण कराया था विनयादित्य का पुत्र युवराज एरेयग वडा वीर था. इसने अपने श्रद्धेय गुरु आचार्य गोपनदी को, श्रमणवेल्गोलस्थ चद्रगिरि के जिनालयो के जीर्णोद्धार के लिये कतिपय ग्रामो को दान मे दे दिया था ये सब बातें श्रवणबेल्गोल के शिला लेखो में स्पष्ट अकित है. विनयादित्य के उपरात बल्लाल शासक नियुक्त हुआ यह बल्लाल जब एक भयकर रोग से पीडित हुआ, तब श्रवणवेल्गोल के तत्कालीन मठाधीश चारुकीर्तिजी ने ही उसे उस रोग से मुक्त किया था इसके उपलक्ष्य मे बल्लाल ने चारुकीर्तिजी को 'बल्लालजीवरक्षक' उपाधि से अलकृत किया था

बल्लाल के मामा दण्डनायक मरियण्ण ने सुखचद्राचार्य के नेतृत्व मे बेलेगेरे मे एक सुन्दर जिनमन्दिर निर्माणकारा कर वैभव-पूर्वक उसकी प्रतिष्ठा की थी कहा जाता है कि बल्लाल का उत्तराधिकारी विट्टिदेव रामानुजाचार्य के उपदेश से वैष्णव धर्मानुयायी हो गया था परन्तु अत तक उसे जैनधर्म पर वडी श्रद्धा रही इसके लिये एक-दो नही, अनेक उदाहरण दिये जा सकते है विट्टिवर्धन की पटरानी शातला आचार्य श्रीप्रभाचन्द्र कीप क्की शिष्या रही इसने श्रवणवेल्गोल में 'सवतिगधवारणवसदि' नामक एक सुन्दर शिलामय जिनालय निर्माण कराकर, उसमे अपने नामानुकूल भगवान् श्री शातिनाथ की मूर्ति स्थापित की थी अत मे शातला ने सल्लेखना-द्वारा अपना शरीर त्याग किया था होय्सल राज्य मे एक-दो नही, प्रभावशाली अनेक जैन श्रावक उन्नताधिकार मे प्रतिष्ठित थे गगराज विट्टिदेव का प्रधानमन्त्री एव सेना-नायक रहा यह गगराज श्रीशुभचन्द्र का शिष्य था इसने गोविन्दवाडि ग्राम को श्रीगौम्मटेश्वर की सेवा के लिये सादर एव सहर्ष समर्पित किया था गगराज ने चालुक्य नरेश त्रिभुवनमल्ल की प्रवल सेना को वीरता से जीतने के उपलक्ष्य मे विट्टिदेव द्वारा बहुमान में प्राप्त परम ग्राम को मातापोचिकव्वे और पत्नी लक्ष्मी के द्वारा निर्मापित जिन-मन्दिर को समर्पित किया था

गगराज का वडा भाई वम्भ भी होय्सल राज्य का सेनापति था गगराज ने अपनी पूज्य माता की स्मृति में, श्रवण-वेल्गोल मे' कत्तलेवसदि' के नाम से एक सुन्दर जिनालय निर्माण कराया था इसकी पत्नी लक्ष्मी के द्वारा भी श्रवणवेल्गोल मे 'एरडुकट्टेबसदि' के नाम से एक मनोज्ञ जिनमन्दिर निर्माण हुआ था इस गगराज के पुत्र वोप्पण के द्वारा भी श्रवण-



वेलगोल मे एक जिनमन्दिर बनवाया गया था. यह बोप्पण महाराजा विट्टिदेव का चतुर सेनापति था. बोप्पण की पत्नी सेनानायक मरियण्ण एवं भरत की (ब्योटी) छोटी बहन थी मरियण्ण और भरत ये दोनो प्रथम नरसिंह (ई० सन् ११४१-११७३) के सेनानायक रहे इन सहोदरो ने सैकडो मन्दिर बनवाये और श्रवणबेल्गोल मे चन्द्रगिरि पर भरत-बाहुबली की मूर्तियाँ भी स्थापित की गडविमुक्त सिद्धान्तदेव इन सहोदरो के श्रद्धेय गुरु थे इस होय्सल सेना मे पुरुष ही नही, अपने पूज्य पति सेनापति पुनीष के साथ जैन वीरागना जक्कियव्वा भी सेनानायिका रही ये दोनो पति-पत्नी श्रीअजितसेनाचार्य के शिष्य थे उपर्युक्त ये सभी बाते श्रवणबेल्गोल के शिलालेखो मे मौजूद है

जैनधर्म का परम श्रद्धालु हुल्ल होय्सल शासक विट्टिदेव, नरसिंह और वीरबल्लाल इन तीनो के शासन काल मे कोशाधिकारी था हुल्ल को शासन-कार्य एव राज्यघटना के निर्माण मे योगधराय और राजनीति मे बृहस्पति से भी प्रवीण बतलाया है. यह महामण्डलाचार्य देवकीर्ति का शिष्य था. इसने श्रवणबेल्गोल मे शिलामय 'चतुर्विंशतित्तीथकरबसदि' के नाम से एक सुन्दर जिन मन्दिर बनवाया था राजा नरसिंह जब यात्रार्थ श्रमणबेल्गोल गया, तब इस मन्दिर की पूजा के लिये इसने सवणेरु नामक ग्राम को दान मे दे दिया था. हुल्ल की प्रार्थना से इस दान का समर्थन बल्लाल द्वितीय ने भी किया था इस प्रकार गगराज, हुल्ल और बोप्पण आदि श्रद्धालु जैन श्रावको ने होय्सल शासको से जैन धर्म की बडी-बडी सेवाएँ कराई है इन लोगो ने स्वय भी जैनधर्म की अपार सेवा बजाकर, जैन इतिहास मे अपना नाम अमर कर दिया है

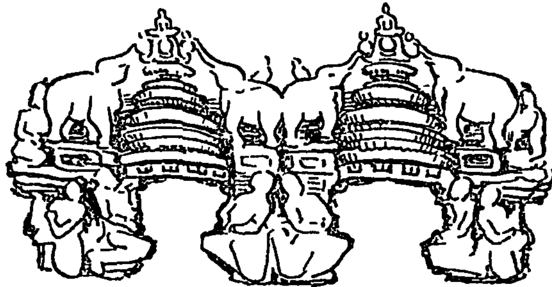
अब राष्ट्रकूट राजवश को लीजिए इस वश के शासनकाल मे भी कर्णाटक में जैनधर्म विशेष उन्नति पर था राष्ट्रकूटवशी अमोघवर्ष प्रथम (ई० सन् ८१५-७७) जैनधर्मानुयायी था. इसकी राजधानी मलखेड या मान्यखेट थी इसके राज्य में कर्णाटक ही नही, महाराष्ट्र का बहुभाग भी शामिल था अमोघवर्ष के गुरु आदि पुराण के रचयिता भगवज्जिनसेन थे. इसे नृप तुग और अतिशयधवल उपाधियाँ थी अमोघवर्ष ने वैभवपूर्णक राज्य शासन कर अत मे जिनदीक्षा ली थी. अमोघवर्ष के शासनकाल मे जैन वाङ्मय विशेष रूप से प्रवर्धमान हुआ धवला, जयधवला, शाकटायनव्याकरण की अमोघवृत्ति और गणितसार आदि बहुमूल्य कृतियाँ इसी के शासनकाल मे रची गईं राष्ट्रकूट शासको में प्राय सभी शासक जैनधर्म के अनुयायी थे कृष्ण द्वितीय के गुरु आचार्य गुणभद्र थे इसी के शासनकाल मे जैन वीरागना जक्किमव्वे नागरखड मे दक्षता से राज्य करती रही राष्ट्रकूट के अतिम शासक इन्द्र ने अन्त मे श्रवणबेल्गोल जाकर ई० सन् ९८४ मे समाधिमरण स्वीकार किया था राष्ट्रकूट शासको के सामत, जैन वीर बकेय, इसका सुयोग्य पुत्रलोकादित्य, नागार्जुन आदि कर्णाटकीय राजनीति की उन्नति एव सस्कृति के उत्थान मे पूर्ण सहयोगी रहे.

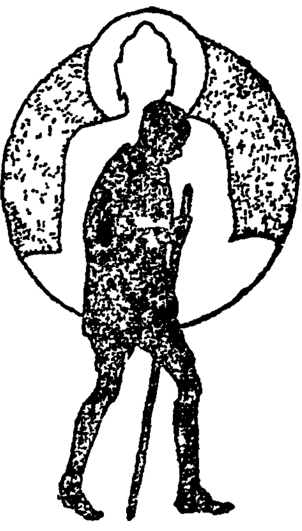
चालुक्यवश जैन धर्मानुयायी नही था फिर भी इस वश के शासक जैनधर्म से विशेष प्रभावित थे इस वश के पुलकेशि द्वितीय के गुरु जैनाचार्य रविकीर्ति थे इसी प्रकार विनियादित्य के धर्मगुरु जैन विद्वान् निर्विव्यदेव रहे विक्रमादित्य का विवाह तो जैन राजवश से ही हुआ था. इसकी रानी तथा इगलिगि प्रात की शासिका जाकलदेवी के द्वारा वहाँ पर दो सुन्दर जिनमन्दिर निर्माण कराये गये थे चालुक्य शासको ने जैन कवियो को भी सहर्ष आश्रम दिया था कन्नड आदिपुराण का कर्त्ता यशस्वी महाकवि पप चालुक्य राज-सभा का भूषण था बद्दिग के द्वारा निर्मापित एक जिनालय के लिये अरिकेसरी ने सोमदेवसूरी को एक गाव दान मे दिया था रामस्वामी अय्यगार के मत से कलचूरि राजवश पक्का जैनधर्मानुयायी था इस बात को उन्होने अपनी कृति मे पुष्ट प्रमाणो से सिद्ध किया है

विजयनगर साम्राज्य के काल में भी जैन वीरो का साहस कुठित नही हुआ था. सेनानायक वैचण्ण, वीर, शात, दडनायक चमूप आदि जैन ही थे इन्ही वीरो की मदद से हरिहर को सिंहासन मिला बुक्कराय के शासनकाल मे भी दण्डनायक, मुण्डप मल्लप्प और वैचप्प का पुत्र इरुगप्प आदि सम्मान पूर्वक अधिकारारूढ रहे इरुगप्प हरिहर द्वितीय का भी मत्री था प्रथम देवराय की पत्नी भीमादेवी जैनधर्मावलबिनी थी इसने 'श्रवणबेल्गोलस्य मगायिबसदि' मे भगवान् पार्श्वनाथ की मूर्तिस्थापित की थी देवराय ने भी विजयनगर मे पार्श्वनाथबसदि को निर्माण कराया था विजयनगर के इन शासको ने जैनधर्म से प्रवाहित हो, अनेक जिनालयो को दान भी दिया है इस वश के प्रतापी सम्राट् बुक्कराय प्रथम

के ई० सन् १३६५ का एक लेख बहुत ही महत्त्वपूर्ण है यह लेख श्रवणबेलगोलस्थ 'भडारिवसदि' मे आज भी मौजूद है इस लेख मे लिखा है कि जैनधर्मावलवियो के द्वारा बुक्कराय से वैष्णवो की ओर से होने वाले अत्याचार की शिकायत की जाने पर बुक्कराय ने जैन और वैष्णव दोनो सम्प्रदायो के प्रभावशाली व्यक्तियो को एकत्रित कर जैन भक्तो का हाथ वैष्णवो के हाथ मे रख कर, दोनो मे मेल कराया साथ ही घोपणा की कि जैन और वैष्णव दोनो मत अभिन्न है दोनो एक ही शरीर के अग है

इसी प्रकार चेगाल्व, कोगाल्व, शातर आदि दक्षिण के कई जैन मामत शासक भी काफी प्रसिद्ध रहे खासकर तोलव [दक्षिण कन्नड] के बेररस, बग, अजिल, मूल, चौट, सेवत, बिण्णाणि, कोन्न आदि कई सामत शासक, पक्के जैन-धर्मावलबी हो वैभवपूर्वक यहाँ पर शासन करते रहे इन सामतो मे से बैररस के द्वारा कारकलस्थ गोम्मट-मूर्ति और निम्मण अजिल के द्वारा वेणूरस्थ गोम्मट-मूर्ति समारोहपूर्वक स्थापित की गई थी इस प्रकार एक जमाने मे कर्णाटक में जैन-धर्म लिये के जैन शासको का बडा बल रहा वह जमाना जैनधर्म के लिये सुवर्ण-युग ही था





मुनि श्रीनथमलजी

उपनिषद्, पुराण और महाभारत में श्रमण संस्कृति का स्वर

श्रमण परम्परा आत्म-विद्या की परम्परा है. वह उतनी ही प्राचीन है, जितनी प्राचीन आत्म-विद्या है भारतीय विद्याओं मे आत्म-विद्या का स्थान सर्वोच्च है जो व्यक्ति आत्मा को नही जानता, वह बहुत कुछ जानकर भी ज्ञानी नही बन पाता. शौनक ने अगरा से पूछा—'भगवन् ! वैसा क्या है ? जिसे जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाय.'[1]

उपनिषदो मे इसका उत्तर है—'आत्मा को जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है' यह श्रमण-सस्कृति का प्रधान स्वर है

आत्म-विद्या क्षत्रिय परम्परा के अधीन रही है पुराणो के अनुसार क्षत्रियो के पूर्वज भगवान् ऋषभ है[2] श्रीमद्भागवत-कार के अभिमत मे भगवान् ऋषभ मोक्षधर्म के प्रवर्तक अवतार है[3] भगवान् ऋषभ के सौ पुत्र थे उनमें नौ पुत्र वातर-शन श्रमण बने वे आत्म-विद्या विशारद थे[4] भगवान् ऋषभ ने जिस आत्म-विद्या और मोक्ष-विद्या का प्रवर्तन किया, वह सुदीर्घ काल तक क्षत्रियो के आधीन रही. वृहदारण्यक और छान्दोग्य उपनिषद् मे हम देख पाते है कि अनेक ब्राह्मण ऋषि क्षत्रिय राजाओ के पास आते है और आत्म-विद्या का बोध लेते है[5]

विन्टरनित्ज के मत मे दार्शनिक चिन्तन (अथवा जागरण) ब्राह्मण युग के पश्चात् नही, पूर्व शुरु हो चुका था स्वयं ऋग्वेद मे ही कुछ ऐसे सूक्त है जिनमे देवताओ मे और पुरोहितो की अद्भुत शक्ति मे जनता के अन्धविश्वास के प्रति-कुछ सन्देह स्पष्ट हो चुके है[6]

---

१ मुण्डकोपनिषद् १।१।३.

२ (क) ब्रह्माण्ड पुराण, पूर्वार्ध अनुषगपाद, अध्याय १४, श्लोक ६०
ऋषभ पार्थिव श्रेष्ठ सर्व-क्षत्रस्य पूर्वजम् ।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीर पुत्र-शताग्रजः ।
(ख) वायुमहापुराण, पूर्वार्ध, अध्याय ३३, श्लोक ५०
नाभिन्त्वजनयत्पुत्र मरुदेव्या महाद्युति. ।
ऋषभ पार्थिव-श्रेष्ठ सर्व-क्षत्रस्य पूर्वजम् ।

३ श्रीमद्भागवत ११।२।१६ (गीताप्रेस गोरखपुर, प्रथम सस्करण)
तमाहुर्वासुदेवाश मोक्षधर्मविवक्षया ।
अवतीर्ण सुतशत तस्यासीद् ब्रह्मपारगम् ।

४ श्रीमद्भागवत ११।२।२०
नवाभवन् महाभागा मुनयो ह्यर्थशसिन ।
श्रमणा वातरशना आत्म-विद्या विशारदाह ।

५ छान्दोग्य उपनिषद् ५।३, ५।११ (३ सस्करण), वृहदारण्यक ६।२, २।१ (२ सस्करण)

६. प्राचीन भारतीय साहित्य, प्रथम भाग, प्रथम खण्ड पृष्ठ १८२ (मोतीलाल बनारसीदास)



'भारत के इन प्रथम दार्शनिको को उस युग के पुरोहितो मे खोजना उचित न होगा, क्योकि पुरोहित तो यज्ञ को एक शास्त्रीय ढाचा देने में दिलोजान मे लगे हुए थे जबकि इन दार्शनिको का ध्येय वेद के अनेकेश्वरवाद को उन्मूलित करना ही था जो ब्राह्मण यज्ञो के आडम्बर द्वारा ही अपनी रोटी कमाते है उन्ही के घर मे ही कोई ऐसा व्यक्ति जन्म ले-ले जो इन्द्र तक की सत्ता मे विश्वास न करे, देवताओ के नाम से आहुतिया देना जिसे व्यर्थ नजर आए—बुद्धि नही मानती सो अधिक सभव नही प्रतीत होता कि यह दार्शनिक चिन्तन उन्ही लोगो का क्षेत्र था जिन्हे वेदो मे पुरोहितो का शत्रु अर्थात् अरि, कजूस, ब्राह्मणो को दक्षिणा देने से जी चुराने वाला—कहा गया है

उपनिषदो मे तो, और कभी-कभी ब्राह्मणो में भी, ऐसे कितने ही स्थल आते है जहाँ दर्शन अनुचिन्तन के उस युग-प्रवाह में क्षत्रियो की भारतीय सस्कृति को देन स्वत सिद्ध हो जाती है .[1]

अपने पुत्र श्वेतकेतु से प्रेरित हो आरुणि पचाल के राजा प्रवाहण के पास गया. तब राजा ने उससे कहा—'मै तुम्हे जो आत्म-विद्या और परलोक-विद्या दे रहा हूँ, उस पर आज तक क्षत्रियो का प्रशासन रहा है. आज पहली बार वह ब्राह्मणो के पास जा रही है[2]

परा और अपरा

माण्डूक्य उपनिषद् मे विद्या के दो प्रकार किए गए है, परा और अपरा[3] उसमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—यह अपरा है जिससे अक्षर-परमात्मा का ज्ञान होता है, वह परा है[4]

महर्षि बृहस्पति ने प्रजापति मनु से कहा—'मैने ऋक्, साम और यजुर्वेद, अथर्ववेद, नक्षत्र-गति, निरुक्त, व्याकरण, कल्प और शिक्षा का भी अध्ययन किया है तो भी मैं आकाश आदि पाचो महाभूतो के उपादान कारण को न जान सका'[5] प्रजापति मनु ने कहा—'मुझे इष्ट की प्राप्ति हो और अनिष्ट का निवारण हो, इसी के लिये कर्मो का अनुष्ठान आरम्भ किया गया है इष्ट और अनिष्ट दोनो ही मुझे प्राप्त न हो, इसके लिये ज्ञानयोग का उपदेश दिया गया है वेद मे जो कर्मो के प्रयोग बताए गए है, वे प्राय सकाम भाव से युक्त है जो इन कामनाओ से मुक्त होता है, वही परमात्मा को पा सकता है नाना प्रकार के कर्म मार्ग मे सुख की इच्छा रखकर प्रवृत्त होने वाला मनुष्य परमात्मा को प्राप्त नही होता[6]

पिता-पुत्र संवाद

ब्राह्मण पुत्र मेधावी मोक्ष-धर्म के अर्थ मे कुशल था वह लोक-तत्त्व का अच्छा ज्ञाता था एक दिन उसने अपने स्वाध्याय परायण पिता से कहा

'पिता ! मनुष्यो की आयु तीव्र गति से बीती जा रही है यह जानते हुए धीर पुरुष को क्या करना चाहिए ? तात !

१. वही पृष्ठ १८३

२ छान्दोग्य उपनिषद् ५।३।७ पृष्ठ ४७९.

यथा मा त्व गौतमावदो यथेय न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान्गच्छति तस्माद् सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति तस्मै होवाच

(ख) बृहदारण्यक ६।२।८ पृष्ठ १२८७

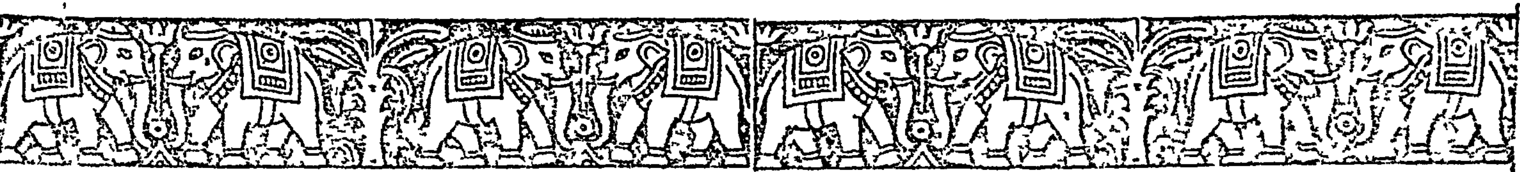
यथेय विद्येत पूर्वं न कस्मिश्चन ब्राह्मण उवास ता त्वह तुभ्य वक्ष्यामि

३. १।१।४

४. १।१।५

५. महाभारत शान्तिपर्व २०१।८ (प्रकाशक—गीताप्रेस गोरखपुर)

६. महाभारत शान्तिपर्व २०१। १०-११



आप मुझे इस यथार्थ उपाय का उपदेश कीजिए, जिसके अनुसार मैं धर्म का आचरण कर सकू ?'

पिता ने कहा—'बेटा ! द्विज को चाहिए कि वह पहले ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हुए सम्पूर्ण वेदो का अध्ययन करे फिर गृहस्थाश्रम मे प्रवेश कर के पितरो की सद्‌गति के लिए पुत्र पैदा करने की इच्छा करे. विधि-पूर्वक त्रिविध अग्नियो की स्थापना करके यज्ञो का अनुष्ठान करे तत्पश्चात् वानप्रस्थ-आश्रम मे प्रवेश करे उसके बाद मौनभाव से रहते हुए सन्यासी होने की इच्छा करे'

पुत्र ने कहा—'पिता ! यह लोक जब इस प्रकार से मृत्यु द्वारा मारा जा रहा है, जरा अवस्था द्वारा चारो ओर से घेर लिया गया है, दिन और रात सफलता पूर्वक आयुक्षय रूप काम कर के बीत रहे है, ऐसी दशा मे भी आप धीर की भाति कैसी बात कर रहे है ?'

पिताने पूछा—'बेटा ! तुम मुझे भयभीत-सा क्यो कर रहे हो ? बताओ तो सही, यह लोक किससे मारा जा रहा है, किसने हमे घेर रखा है और यहा कौन से ऐसे व्यक्ति है जो सफलता पूर्वक अपना काम करके व्यतीत हो रहे है

पुत्र ने कहा—'पिता ! देखिए यह सम्पूर्ण जगत् मृत्यु के द्वारा मारा जा रहा है बुढापे ने इसे चारो ओर से घेर लिया है और ये दिन-रात ही वे व्यक्ति है जो सफलता पूर्वक प्राणियो की आयु का अपहरण स्वरूप अपना काम करके व्यतीत हो रहे हैं, इस बात को आप समझते क्यो नही ?'

'ये अमोघ रात्रिया नित्य आती है और चली जाती है. जब मैं इस बात को जानता हू कि मृत्यु क्षणभर के लिये भी रुक नही सकती और मैं उसके जाल मे फसकर ही विचर रहा हू तब मैं थोडी देर भी प्रतीक्षा कैसे कर सकता हू ?'

'जब एक-एक रात बीतने के साथ ही आयु बहुत कम होती चली जा रही है तब छिछले जल मे रहनेवाली मछली के समान कौन सुख पा सकता है ?'

जिस रात के बीतने पर मनुष्य कोई शुभ कर्म न करे उस दिन को विद्वान् पुरुष 'व्यर्थ ही गया' समझे मनुष्य की कामनाए पूरी भी नही होने पाती कि मौत उसके पास आ पहुचती है.

जैसे घास चरते हुए मेढे के पास अचानक व्याघ्री पहुच जाती है और उसे दबोचकर चल देती है, उसी प्रकार मनुष्य का मन जब दूसरी ओर लगा होता है, उसी समय सहसा मृत्यु आ जाती है और उसे लेकर चल देती है इसलिए जो कल्याणकारी कार्य हो, उसे आज ही कर डालिए, क्योकि जीवन निःसन्देह अनित्य है धर्माचरण करने से इहलोक में मनुष्य की कीर्ति का विस्तार होता है और परलोक मे भी उसे सुख मिलता है

अत अब मै हिंसा से दूर रहकर सत्य की खोज करूगा, काम और क्रोध को हृदय से निकालकर दु ख और सुख मे समान भाव रखुगा तथा सबके लिये कल्याणकारी बनकर देवताओ के समान मृत्यु के भय से मुक्त हो जाऊगा

मैं निवृत्ति परायण होकर शान्तिमय यज्ञ मे तत्पर रहूगा मन और इन्द्रियो को बस मे रखकर ब्रह्म-यज्ञ में लग जाऊगा ओर मुनि-वृत्ति से रहूगा उत्तरायण मार्ग से जाने के लिये मै जप और स्वाध्याय रूप वाग्यज्ञ, ध्यान रूप मनोयज्ञ और अग्निहोत्र एव गुरुसुश्रूपादि रूप कर्म-यज्ञ का अनुष्ठान करूगा

पशुयज्ञैः कथ हिंस्रैर्मादिशो यष्टुमर्हति,
अंतवद्‌भिरिव प्राज्ञ क्षेत्रयज्ञैः पिशाचवत्

मेरे जैसा विद्वान् पुरुष नश्वर फल देनेवाले हिसायुक्त पशुयज्ञ और पिशाचो के समान अपने शरीर के ही रक्त-मास द्वारा किये जाने वाले तामसयज्ञो का अनुष्ठान कैसे कर सकता है ?

जिसकी वाणी और मन दोनो सदा भली भाँति एकाग्र रहते हैं तथा जो त्याग, तपस्या और सत्य से सम्पन्न होता है, वह निश्चय ही सब कुछ प्राप्त कर सकता है

ससार मे विद्या (ज्ञान) के समान कोई नेत्र नही है सत्य के समान कोई तप नही है, राग के समान कोई दु ख नही है और त्याग के समान कोई सुख नही है



आत्मन्येवात्मना जात आत्मनिष्ठोऽप्रजाऽपिपा,
आत्मन्येव भविष्यामि न मां तारयति प्रजा

मै सतान रहित होने पर भी आत्मा मे ही आत्मा द्वारा उत्पन्न हुआ हू और आत्मा मे ही स्थित हू. आगे भी आत्मा मे ही लीन हो जाऊगा सन्तान मुझे पार नही उतारेगी

नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं, यथैकता समता सत्यताच,
शीलस्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं, ततस्ततश्चोपरम क्रियाभ्य

परमात्मा के साथ एकता तथा समता, सत्य-भाषण, सदाचार, ब्रह्मनिष्ठा दण्ड का परित्याग (अहिंसा), सरलता तथा सब प्रकार के सकाम कर्मो से उपरति—इनके समान ब्राह्मण के लिये दूसरा कोई धन नही है

ब्राह्मण देव पिता ! जब आप एक दिन मर ही जायेगे तो आपको इस धन से क्या लेना है अथवा भाई-बन्धुओ से आपका क्या काम है तथा स्त्री आदि से आप का कौन,सा प्रयोजन सिद्ध होने वाला हे आप अपने हृदयरूपी गुफा मे स्थित हुए परमात्मा को खोजिए सोचिए तो सही आपके पिता और पितामह कहा चले गए ?[१]

वैदिक विचार-धारा वह है, जो श्लोक मे पिता ने पुत्र से कही मनुस्मृति से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है वहा लिखा है—'जो ब्राह्मण वेद पढे विना, सन्तान उत्पत्ति किए विना तथा यज्ञो का अनुष्ठान किए (ऋषि, ऋण, पितृऋण और देव-ऋण मे उऋण हुए) विना सन्यास धारण की इच्छा करना है, वह नीच गति को प्राप्त होता है[२] इस मान्यता के विपरीत मेधावी ने अपने पिता से कहा वह अवैदिक विचारधारा है वह श्रमण-विचार धारा का मतव्य है[३]

पौराणिक धर्म कृष्ण के व्यक्तित्व को केन्द्र-बिन्दु मानकर विकसित हुआ है कृष्ण का धर्म वैदिक सिद्धान्तो से भिन्न था

कृष्ण का व्यक्तित्व उत्पत्ति से अवैदिक था[४] ऐसे अभिमत को पूर्वपक्ष के रूप मे उद्धृत करते हुए लक्ष्मण शास्त्री ने लिखा है 'पौराणिक धर्म की एक विशेषता यह है कि उसके मुकाबले मे यज्ञ-सस्था एकदम पिछड गई भागवत-धर्म मे वेदविहित यज्ञो को दोषपूर्ण वतलाया गया है, उनकी निन्दा की गई है इसके आधार पर इतिहास के कई पण्डित यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते है कि पौराणिक-सस्कृति तथा वेदो की सस्कृति मे विरोध है और पौराणिक धर्म वास्तव मे अवैदिको के वेदपूर्व काल से चलते आए धर्म की वह नवीन व्यवस्था है जिसे वैदिको ने वडे समन्वय पूर्वक तैयार किया है उपपत्ति को सिन्ध प्रान्त मे उत्खनन मे पाए गए तीन हजार वर्षो के पूर्ववर्ती सास्कृतिक अवशेषो से पुष्टि मिलती है यह अनुमान किया है कि उस उन्नत सस्कृति के लोगो मे योग-विद्या तथा लिंगरूप शिव की पूजा तो अवश्य विद्यमान थी, परन्तु उनमे वेदो की याज्ञिक याने यज्ञ पर आधारित सस्कृति नही थी इस अनुमान के लिये पर्याप्त सामग्री इस उत्खनन मे पाई गई है ध्यानस्थ शिव की मूर्ति तथा पूजनीय शिश्न-समान लिंग वहा उपलब्ध हुए है[५]

मार्कण्डेय पुराण मे भी पिता और पुत्र का सवाद है पिता नाम भार्गव है और पुत्र का नाम है सुमति भार्गव ने सुमति से कहा—'पुत्र ! पहले वेदो को पढो, गुरु सुश्रूपा मे सलग्न रहो, भिक्षान्न खाओ, फिर गृहस्थ वनो, यज्ञ करो, सन्तान उत्पन्न करो, बनवासी वनो फिर परिव्राजक—इस क्रम से ब्रह्म की प्राप्ति करो'[६]

---

१. महाभारत शान्तिपर्व अध्याय १७५, श्लोक ५-१४, ३६ ३१-३८
२. मनुस्मृति ६-३७
अनधीत्य द्विजो वेदान्, अनुत्पाद्य तथा सुतान् ,
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च, मोक्ष मिच्छन् व्रजत्यध ।
३ उत्तराध्ययन १४
४ जर्नल आफ ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, भाग १? भाग न० ३, पृष्ठ २३२-२३७
५ वैदिक सस्कृति का विकास पृष्ठ १५४-५५ (साहित्य एकादमी दिल्ली की ओर से हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर प्रा० लि० द्वारा प्रकाशित)
६ मार्कण्डेय पुराण, अध्याय १०, श्लोक १०-१३ (श्री वेंकटेश्वर मुद्रणालय, बम्बई)



पिता की वाणी सुन सुमति कुछ नही बोला पिता ने अपनी बात को बार-बार दोहराया, तब सुमति मुस्कान भरते हुए बोला —'पिता, आपने जो उपदेश दिया, उसका मे बहुत बार अभ्यास कर चुका हूं, अनेक शास्त्रो और शिल्पो का भी मैंने अभ्यास किया है मुझे मेरे अनेक पूर्व-जन्मो की स्मृति हो रही है मुझे ज्ञानबोध उत्पन्न हो गया है मुझे वेदो से कोई प्रयोजन नही है मैने अनेक माता-पिता किये है "[1]

ससार परिवर्तन के लम्बे वर्णन के बाद सुमति ने कहा—'पिता ! ससार-चक्र मे भ्रमण करते-करते मुझे अब मोक्ष प्राप्ति कराने वाला ज्ञान मिल गया है उसे जान लेने पर यह सारा ऋग्, यजु और साम सहिता का क्रिया-कलाप मुझे विगुण सा लग रहा है वह मुझे सम्यक् प्रतिभासित नही हो रहा है बोध उत्पन्न हो गया है. त्र गुरु-विज्ञान से तृप्त और निरीह हो गया हू मुखे वेदो से कोई प्रयोजन नही पिता ! मै किंपाक फल के समान इस अधर्माढ्य-त्रयीधर्म (ऋग्, यजु , साम-धर्म) को छोडकर परमपद की प्राप्ति के लिये जाऊगा'[2]

पिता ने पूछा पुत्र ! यह ज्ञान तुझे कैसे सम्भव हुआ ? सुमति ने कहा—'पिता मे पूर्वजन्म में परमात्मलीन ब्राह्मण सन्यासी था आत्म-विद्या मे मुझे परानिष्ठा प्राप्त थी मै आचार्य हुआ. अन्त में मरते समय मुझे प्रमाद हो आया एक वर्ष का होते-होते मुझे पूर्व-जन्म की स्मृति हो आई मुझे जो जाति स्मरण ज्ञान हुआ है, उसे त्रयी-धर्म का आश्रय लेने वाले नही पा सकते '[3]

यज्ञ

सोलह ऋत्विक्, यजमान और उसकी पत्नी—ये अठारह यज्ञ के साधन है ये सब निकृष्ट कर्म के आश्रित और विनाशी है. जो मूढ 'यही श्रेय है' इस प्रकार इनका अभिनन्दन करते है, वे बार-बार जरा-मरण को प्राप्त होते रहते है[4]

यज्ञ सख्या की उपयोगिता के प्रति सन्देह की भावना आरण्यक काल मे भी उत्पन्न हो गई थी. तत्त्वज्ञानी के लिये आध्यात्मिक यज्ञ का विधान होने लगा था तैत्तरीय आरण्यक मे लिखा है · 'ब्रह्म का साक्षात्कार पाने वाले विद्वान् सन्यासी के लिये यज्ञ का यजमान आतमा है अन्त करण की श्रद्धा पत्नी है. शरीर समिधा है हृदय वेदि है. मन्यु-क्रोध पशु है तप अग्नि है और दम दक्षिणा है[5]

ये स्वर इतिहास के उस काल मे प्रबल हुए थे, जब श्रमण विचार-धारा कर्मकाण्ड को आत्म-विद्या से प्रभावित कर रही थी

---

१. वही, श्लोक १४-२६

२. मार्कण्डेय पुराण, अध्याय १०, श्लोक २७-२८,३२
एवं ससारचक्रेस्मिन्भ्रमता तात ! सकटे ।
ज्ञान मेतन्मया प्राप्त, मोक्ष-सम्प्राप्ति कारकम् ।
विज्ञाते यत्र सर्वोय, ऋग् यजुः साम सहिता ।
क्रिया कलापो विगुणो, न सम्यक् प्रतिभातिमे ।
तस्माद् यास्याम्यहं तात· त्यक्तवेमा दुःखसन्ततिम् ।
त्रयी-धर्मं मधर्माढय किंपाकफलसन्निभम् ।

३. मार्कण्डेय पुराण, अध्याय १०, श्लोक ३४-४२.
ज्ञानदान फल ह्येतद्, यज्जाति स्मरण मम ।
नह्येतत् प्राप्यते तात ! त्रयीधर्माश्रितैर्नरैः ।४२।

४. मुण्डकोपनिषद् १।२।७, पृष्ठ ३८.

५. तैत्तरीय आरण्यक प्रपाठक १०, अनुवाक ६४, भाग २ पृष्ठ ७७६.



आचार्य मुनि श्रीजिनविजयजी

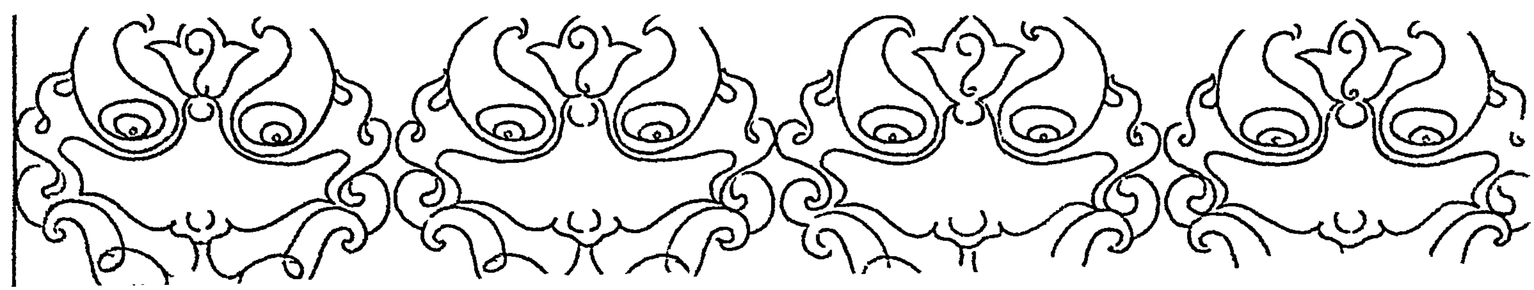
वैशालीनायक चेटक और सिंधुसौवीर का राजा उदायन

[विक्रम सवत् १९७९ मे आचार्य श्री जिनविजयजी ने 'पुरातत्त्व' पु० १ अ० ३ मे 'वैशालीना गणसत्ताक राज्यनो नायक राजा चेटक' नामक लेख लिखवाना प्रारम्भ किया था समग्र लेख एक पुस्तक ही बन जाता और तत्कालीन राजनैतिक इतिहास पर जैन-बौद्ध साहित्यिक सामग्री से नया प्रकाश पडता किन्तु दुर्भाग्य से वह अधूरा ही रह गया फिर भी इसमे चेटक और उदायन के सम्बन्ध मे नया प्रकाश उपलब्ध होता है और आज ४१ वर्ष के बाद भी वह लेख नवीन मालूम होता है अतएव हम उसका हिन्दी अनुवाद यहाँ दे रहे है —सम्पादक]

जैन-साहित्य मे वैशाली के राजा चेटक का नाम कई प्रकारो से प्रसिद्ध है महावीर के धर्म का महान् उपासक होने मात्र से ही यह प्रसिद्ध नही था किन्तु कई अन्य व्यावहारिक प्रसगो से भी इसकी प्रसिद्धि थी इसकी प्रसिद्धि के कई कारणो मे पहला कारण यह था कि इसका महावीर के वश के साथ दो प्रकार का सबध था एक महावीर की माता त्रिशला इसकी बहन होती थी और दूसरा महावीर के ज्येष्ठ भ्राता नदिवर्धन की पत्नी, जिसका नाम ज्येष्ठा था, इसकी पुत्री थी जिस प्रकार महावीर के वश के साथ इसका कौटुम्बिक सबन्ध था उसी प्रकार तत्कालीन भारत के प्रसिद्ध राजाओ के साथ भी इसका गाढ सम्बन्ध था सिन्धुसौवीर के राजा उदायन, अवती के राजा प्रद्योत, कौशाम्बी के राजा शतानीक, चपा के राजा दधिवाहन, और मगध के राजा बिम्बिसार इसके दामाद होते थे जैन-साहित्य मे कुणिक अथवा कोणिक एव बौद्ध साहित्य मे अजातशत्रु के नाम से प्रसिद्ध मगधसम्राट् और जैन, बौद्ध एव हिन्दु कथासाहित्य का ख्यातनाम पात्र वत्सराज उदयन इसके दौहित्र थे साथ ही भारत के तत्कालीन गणतन्त्रात्मक राज्यो मे से एक प्रधान राज्यतत्र का यह विशिष्ट नायक भी था जैन-परम्परा के अनुसार आर्यावर्त्त की सबसे बडी जनसहारक लडाई इसे लडनी पडी थी, जिसमे इसका प्रतिपक्षी इसी का नाती मगधराज अजातशत्रु था

जैन-साहित्य मे इतनी बडी प्रसिद्धि पाने वाले एव उस समय के भारत मे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करने वाले, इस राजा के विषय मे जैन साहित्य के सिवा अन्यत्र कही भी उल्लेख नही मिलता इसी वजह से आज के ऐतिहासिको का ध्यान इस ओर आकर्षित नही हुआ है ब्राह्मण-साहित्य की ओर जब हम दृष्टिपात करते है तब उसमे कही-कही तत्कालीन भारत के मगध, कौसल, कौशाबी और अवती जैसे राज्यतन्त्रात्मक राज्यो का उल्लेख अवश्य मिलता है, किन्तु वैशाली जैसे स्थान का, जिसमे गणतन्त्रात्मक पद्धति चलती थी, कही भी उल्लेख नही मिलता

बौद्ध साहित्य मे वैशाली और उस पर आधिपत्य रखने वाली 'लिच्छवी' नामक क्षत्रिय जाति का बहुत कुछ वर्णन आता है किन्तु इस स्थान और समाज पर सर्वोपरि अधिकार रखने वाले किसी खास व्यक्ति-विशेष का नाम बौद्ध साहित्य मे नही आता.



हिन्दुस्तान के ऐतिहासिक युग के उद्गमकाल के रूप मे गिने जाने वाले इस युग के इतिहास के अभ्यासियो का ध्यान आकृष्ट करने की दृष्टि से प्रस्तुत लेख में, जैनमतानुसार वैशाली के गणतत्रात्मक राज्य के राजा माने जाने वाले चेटक और उससे सबधित राजाओ के विपय मे जैन ग्रथो मे प्राप्त सामग्री का सारात्मक अश यहा प्रस्तुत किया जाता है

तीर्थंकर महावीर के वंश के साथ चेटक का सम्बन्ध

यह पहले ही कहा जा चुका है कि तीर्थंकर श्री महावीर की माता त्रिशला-क्षत्रियाणी चेटक राजा की वहन थी इसका सबसे प्राचीन प्रमाण जैन आगम आवश्यक-चूर्णि मे प्राप्त होता है इस चूर्णि का रचनाकाल अभी तक अनिर्णीत ही है फिर भी वह विक्रम की आठवी सदी मे अधिक अर्वाचीन नही है, यह निश्चित ही है आवश्यक सूत्र के टीकाकार हरिभद्र का समय विक्रम सवत् ८०० के आस-पास मैंने निश्चित किया है (देखो जैन साहित्य सशोधक खण्ड १, अक १, पृष्ठ ५३) आचार्य हरिभद्र ने अपनी सस्कृतटीका मे इस चूर्णिसे सैकडो उद्धरण लिये है, इससे स्वत प्रमाणित होता है कि चूर्णि का रचनाकाल हरिभद्र से पूर्व का है इसी चूर्णि में लिखा है कि महावीर की माता त्रिशला चेटक की वहन थी और त्रिशला के वडे पुत्र 'नन्दिवर्द्धन' की पत्नी—महावीर की भौजाई, चेटक की पुत्री होती थी पाठ यह है—'भगवतो माया चेडगस्स भगिणी, भो (जा) यी चेडगस्स धूया.' भगवान् महावीर की माता, चेटक की भगिनी,[1] भौजाई चेटक की पुत्री" इस उल्लेख को ध्यान मे रखकर बाद के ग्रथकारो ने भी कही-कही चेटक को महावीर के मातुल (मामा) होने का उल्लेख किया है जैन आगमो मे सबसे प्राचीन और प्रथम आगम आचाराग मे महावीर की कुछ जीवनी प्राप्त होती है—उसमे एक स्थान पर महावीर की माता का एक नाम 'विदेहदिन्ना' भी आता है जैसा कि—'समणस्स ण भगवओ महावीरस्स अम्मा वासिट्ठस्स गुत्ता तीसे ण तिन्नि नामधिज्जा एवमाहिज्जति तजहा—तिसला इ वा विदेहदिन्ना इ वा पियकारिणी इ वा" (आचाराग आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित पृ० ४२२) श्रमण महावीर की माता के, जिसका वाशिष्ठ गोत्र था, इसके तीन नाम थे— एक त्रिशला,[2] दूसरा विदेहदिन्ना और तीसरा प्रियकारिणी विदेहदिन्ना के व्युत्पत्त्यर्थ से यह जाना जाता है कि इनका जन्म विदेह के राजकुल मे हुआ था माता के इस कुलसूचक नाम से महावीर का भी एक नाम विदेहदिन्न था जिसका उल्लेख आचाराग सूत्र के उपर्युक्त सूत्र के वाद तुरत ही आया है जैसा कि—"समणे भगव महावीरे नाए नायपुत्ते नायकुलनिव्वत्ते विदेहे विदेहदिन्ने विदेहजच्चे विदेहसूमाले" (पृ० ४२२) ये दोनो अवतरण कल्पसूत्र मे भी है वहाँ टीकाकार विदेहदिन्न की व्याख्या इस प्रकार करते है—'विदेहदिन्ना त्रिशला तस्या अपत्य वैदेहदिन्न.' अव हम देखेगे कि वैशाली विदेह का ही एक भाग था, अतएव चेटक के वश को विदेह-राजकुल कहा जाना स्वाभाविक ही है इस प्रकार महावीर की माता त्रिशला विदेह राजकुल के चेटक की वहन होती थी, यह आवश्यक चूर्णि एव आचाराग सूत्र के उल्लेख से अधिक स्पष्ट हो जाता है

त्रिशला के वडे पुत्र और महावीर के वडे भाई नदिवर्द्धन की पत्नी चेटक की पुत्री थी, यह मैं ऊपर कह आया हू. इसका भी उल्लेख आवश्यकचूर्णि मे आता है कि चेटक की किस लडकी ने किस राजा के साथ विवाह किया है. इसके अनुसार चेटक की सात पुत्रिया थी जिनमे से छह के विवाह हो चुके थे और एक अविवाहित ही रही इन छहो मे ५ वी पुत्री जेष्ठा का विवाह नन्दिवर्द्धन के साथ हुआ था. यह उल्लेख इस प्रकार है—'जेट्ठा कुडग्गामे वद्धमाणसामिणो जेट्ठस्स नन्दिवद्धणस्स दिन्ना' जेष्ठा (नाम की कन्या) को कुण्डगाम मे—वर्द्धमान (महावीर का मूल नाम) स्वामी के जेष्ठ (वन्धु) नन्दिवर्द्धन को दी थी. इसका उल्लेख आचार्य हेमचन्द्र ने अपने महावीरचरित्र मे भी किया है

१. देखो—कल्पसूत्र, धर्मसागर गणि कृत किरणावली टीका पृ० १२४ चेटक महाराजस्य भगवन्मातुलस्य.

२. कल्पकिरणावली धर्मसागर कृत पृ० ५९३, कल्पसुबोधिका विनय विजय कृत पृ० १४४



कुण्डग्रामाधिनाथस्य नन्दिवर्द्धनभूभुजः,
श्रीवीरनाथज्येष्ठस्य, ज्येष्ठा दत्ता यथारुचि. ![1]

श्री महावीर के बडे भ्राता का नाम नन्दिवर्धन था इसका स्पष्ट उल्लेख आचाराग और कल्पसूत्र जैसे मूल सूत्रो मे आया है यथा—'समणस्स भगवओ महावीरस्स जिट्ठे भाया नदिवद्धणे कासवगुत्तेण (आचाराग पृ० ४२२, कल्पसूत्र मे भी यही पाठ है)

(कुछ देशो और जातियो मे मामा की कन्या पर भानजे का प्रथम हक होता हे यह प्रथा बहुत समय पहले की है आज भी महाराष्ट्र की कुछ जातियो मे इस प्रथा का प्रचलन है आवश्यक सूत्र की टीका मे हरिभद्र सूरि ने 'देशकथा' के वर्णन मे एक पुरानी गाथा दी है जिसमे कहा गया है कि—देश--देश के रीति रिवाज अलग-अलग हुआ करते है एक देश मे जो वस्तु गम्य या स्वीकार्य होती है वही वस्तु दूसरे प्रदेश मे अगम्य या अस्वीकार्य हो जाती है जैसे—अग और लाट देश मे लोग मातुलदुहिता—मामा की लडकी को गम्य मानते है किन्तु गोड देश मे उसे बहन मान कर अगम्य समझते हैं वह गाथा यह है

छदो गम्मागम्मं जह माउलदुहियमंगलाडाणं,
अन्नेसिं सा भगिणी, गोलाईणं अगम्मा उ ।

जिस प्रकार महावीर के मामा की पुत्री ने अपनी फूफी के लडके नन्दिवर्द्धन के साथ विवाह किया था उसी प्रकार खुद महावीर की पुत्री प्रियदर्शना ने भी अपनी सगी फूफी सुदर्शना के लडके जमालि नामक क्षत्रियकुमार से विवाह किया था इसका उल्लेख अनेक प्राचीन और अर्वाचीन ग्रन्थो मे है आवश्यक सूत्र के भाष्य टीका और चूर्णि मे भी यही वात मिलती है जैसा कि—'कुडलपुर नगर तत्थ जमाली सामिस्स भाइणिज्जो—तस्स भज्जा सामिस्स दुहिता' (हरिभद्रकृत आवश्यकसूत्र टीका पृ० ३१२)

भारत के दूसरे राजाओं के साथ चेटक का कौटुम्बिक संबंध

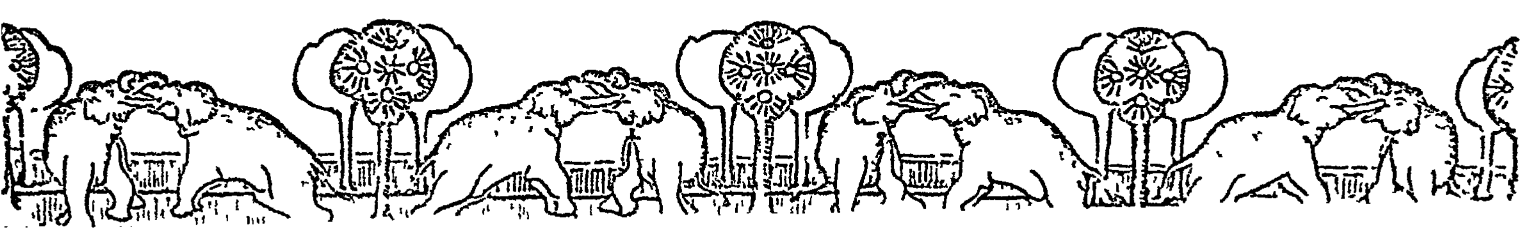
मैं पहले ही कह आया हू कि चेटक की कुल सात पुत्रिया थी जिनमे से एक कुमारिका ही रही और शेष छहो ने अपने समय के ख्यातनाम राजाओ के साथ विवाह किया था, जिसका उल्लेख आवश्यकचूर्णि मे इस प्रकार है

'एतो य वेसालीए नगरीए चेडओ राया हेहयकुलसभूओ. तस्स देवीण अण्णमण्णाण सत्त धूताओ पभावती, पउमावती, मिगावती, सिवा, जेट्ठा, सुजेष्ठा चेल्लण त्ति सो चेडओ सावओ परविवाहकरणस्स पच्चक्खात धूताओ ण देति कस्स त्ति ताओ माति मिस्सगाओ राय आपुच्छित्ता अण्णसिं अच्छितकाण सरिसगान देति पभावती वीतिभए उद्दायणस्स दिण्णा, पउमावती चपाए दधिवाहणस्स, मिगावती कोसवीए सताणियस्स, सिवा उज्जेणीए पज्जोतस्स, जेट्ठा कुडग्गामे वद्धमाणसामिणो जेट्ठस्स णदिवद्धणस्स दिण्णा सुजेट्ठा चेल्लणाय देवकारिओ अच्छति [2]

हैहय कुलोत्पन्न वैशाली के राजा चेटक की अलग-अलग रानियो से सात पुत्रिया हुई—प्रभावती, पद्मावती, मृगावती, शिवा, जेष्ठा सुजेष्ठा तथा चेलना राजा श्रावक था उसे परविवाहकरण का प्रत्याख्यान था इसलिए वह अपनी पुत्रियो का भी विवाह नही करता था तव रानियो ने राजा की अनुमति लेकर अपनी पुत्रियो के सदृश राजाओ के साथ उनका विवाह कर दिया इनमे प्रभावती का विवाह वीतिभय के राजा उदायन के साथ, मृगावती का कोशावी के राजा शतानिक के साथ, शिवा का उज्जयिनी के राजा प्रद्योत के साथ, पद्मावती का चपा के राजा दधिवाहन के साथ और जेष्ठा का कुण्डग्रामवासी महावीर के जेष्ठ भ्राता नन्दिवर्धन के साथ हुआ था सुजेष्ठा और चेलना अभी कुवारी थी. आचार्य हेमचन्द्र के महावीरचरित्र मे भी यही वात है

१ 'त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित्र' दसवा पर्व, पृ० ७७ (प्रकाशक भाव नगर जैनधर्म प्रसारक सभा)

२ आवश्यक चूर्णि, आवश्यक हरिभद्रीय टीका पृ० ६७६–७.



इतश्च वसुधावध्वा मौलिमाणिक्यसन्निभा, वेशालीति श्रीविशाला नगर्यस्ति गरीयसी ।
आखंडल इवाखण्डशासनः पृथिवीपतिः, चेटीकृतारिभूपालस्तत्र चेटक इत्यभूत् ।
पृथग्राज्ञी भवास्तस्य, बभूवु: सप्त कन्यकाः, सप्तानामपि तद्राज्यांगानां सप्तेव देवताः ।
प्रभावती पद्मावती मृगावती शिवापि च, जेष्ठा तथैव सुजेष्ठा चिल्लणा चेति ताः क्रमात् ।
चेटकस्तु श्रावकोऽन्यविवाहनियमं वहन्, ददौ कन्या न कस्मैचिदुदासीन इव स्थितः ।
तन्मातर उदासीनमपि ह्यापुच्छ्य चेटकम्, वराणामनुरूपाणां प्रददुः पंच कन्यकाः ।
प्रभावती वीतभयेश्वरोदायनभूपतेः, पद्मावती तु चंपेश - दधिवाहनभूभुज: ।
कोशाम्बीश - शतानीकनृपस्य तु मृगावती, शिवा तूज्जयिनीशस्य प्रद्योतपृथिवीपते: ।
कुण्डग्रामाधिनाथस्य नन्दिवर्द्धनभूभुज., श्रीवीरनाथज्येष्ठस्य ज्येष्ठा दत्ता यथारुचिः ।
सुज्येष्ठा चिल्लणा चापि कुमार्याविव तस्थतुः, रूपश्रियोपमाभूते ते द्वे एव परस्परम् ।

अन्तिम दो पुत्रिया, जो कुवारी थी, उनमे से एक चिल्लणा का विवाह मगध के सम्राट् श्रेणिक के साथ किस प्रकार हुआ और दूसरी सुजेष्ठा जैन साध्वी कैसे बनी, उस पर आगे विचार किया जायगा ज्येष्ठा किन्तु वय की दृष्टि से कनिष्ठा का जो विवरण ऊपर दिया गया है इससे अधिक जैनग्रथो मे उसके विषय मे जानकारी उपलब्ध नही होती

प्रभावती

यह चेटक की प्रथम पुत्री है. इसने वीतिभय के राजा उदायन के साथ बिवाह किया था उदायन के जीवन की कुछ झाकिया कई जैन-ग्रथो मे मिलती है उनमे सबसे पुराना उल्लेख जैन सूत्र भगवतीसूत्र शतक १३ वे के छठे उद्देश मे इस प्रकार है

तेण कालेण तेण समएण सिंधुसोवीरेसु जणवएसु वीतिभये नाम नगरे होत्था तस्स ण वीतिभयस्स नगरस्स वहिया उत्तर-पुरच्छिमे दिसीभाए एत्थ ण मियवण नाम उज्जाणे होत्था तत्थ ण वीतिभये नगरे उदायणे नाम राया होत्था तस्स . रन्नो पभावती नाम देवी होत्था तस्स ण उदायणस्स रत्नो पुत्ते प्रभावतीदेवीए अत्तए अभीति नाम कुमारे होत्था. तस्स ण उदायणम्स रन्नो नियए भायणेज्जे केसी नाम कुमारे होत्था से ण उदायणे राया सिंधुसोवीरप्पामोक्खाण सोलसण्ह जणवयाण वीतिभयप्पामोक्खाण तिण्ह तेसट्ठीण नगरागरसयाण महासेणप्पामोक्खाण दसण्ह राईण बद्ध-मउडाण विदिन्नछत्तचामरवालवीयणाण अन्नेसिं च वहूण राइसरतलवर जाव सत्थवाहप्पभिईण आहेवच्च जाव कारेमाणे पालेमाणे समणोवासए अभिगयजीवाजीवे जाव विहरइ

उस काल उस समय सिन्धुसौवीर नाम के जनपद मे वीतिभय नाम का नगर था उस नगर के बाहर उत्तर-पूर्व मे मृगवन नाम का एक उद्यान था उस नगर मे उदायन नाम का राजा राज्य करता था उसकी प्रभावती नाम की रानी थी और अभीति नाम का पुत्र था उसका केशीकुमार नाम का भानजा था उस राजा का सिन्धुसौवीर आदि सोलह जनपदो पर, वीतिभय आदि तीन सौ (तिरेसठ) नगरो पर, सैकडो खदानो पर, मुकुटवद्ध दस राजाओ पर एव अनेक रक्षको, दण्डनायको, सेठो, सार्थवाहो पर अधिकार था वह श्रमणोपासक था. जैनशास्त्र प्रतिपादित जीवादि तत्वों का जानकार था इत्यादि

इम सूत्र से यह निश्चित हो जाता है कि प्रभावती का विवाह उदायन से हुआ था आवश्यकचूर्णि का उपरोक्त कथन भी इसी प्राचीन सूत्रपरम्परा पर आधारित है. उपरोक्त सूत्र मे महासेन आदि दस मुकुटवद्ध राजाओ पर उदायन का अधिकार था, यह वाक्य ऐतिहासिक दृष्टि से वहुत महत्त्व रखता है, महासेन के सिवा अन्य नौ आज्ञाकित राजा कौन थे यह किसी भी जैनग्रथ मे नही मिलता. किन्तु महासेन उदायन का आज्ञाकित राजा कैसे वना, इसका कई जैन ग्रथो मे विवरण प्राप्त होता है यह महासेन और कोई नही, इतिहासप्रसिद्ध अवती का राजा चडप्रद्योत ही था इसी का

अपर नाम महासेन है उदायन ने महासेन पर किन कारणो से चढाई की थी, उसे किस प्रकार पराजित कर दसपुर ले आया था और दसपुर की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, उसका सारा वृतान्त आवश्यक चूर्णि मे है जिसका सारात्मक अश यह है

"एक समय कुछ मुसाफिर समुद्र की यात्रा करने थे उस समय मे जोरो का तूफान आया जिसके कारण जहाज डावा-डोल हो गया वह आगे बढता ही नही था इस अवस्था से लोग घवरा गये लोगो की यह स्थिति देखकर एक देव के दिल मे उनके प्रति दया आई उसने जहाज को तूफान से निकाल कर एक सुरक्षित जगह पहुचा दिया देव ने स्वनिर्मित चन्दनकाष्ठ की प्रतिमा, जो काष्ठपेटिका मे बन्द थी, उन्हे दी और कहा—यह भगवान् महावीर की काष्ठ प्रतिमा है यह महाप्रभावशाली है इसके प्रभाव से आप लोग सही-सलामत समुद्रयात्रा पूरी कर सकेगे इतना कह देव चला गया कुछ दिनो के बाद जहाज सिन्धुसौवीर के किनारे पर पहुँचा लोगो ने वह मूर्ति वीतिभय के राजा उदायन को भेट मे दी उदायन और उसकी रानी प्रभावती ने अपने ही महल मे मन्दिर का निर्माण कर उसमे वह मूर्ति स्थापित की और उसकी प्रतिदिन पूजा-भक्ति करने लगी राजा पहले तो तापसधर्मी था, धीरे-धीरे उसकी उस मूर्ति की ओर श्रद्धा बढने लगी एक दिन रानी प्रभावती मूर्ति के सामने नृत्य कर रही थी और उदायन वीणा वजाता था उस समय राजा नृत्य करती हुई रानी प्रभावती के देह को विना मस्तक के देखकर अधीर हो उठा और उसके हाथ से वीणा का गज छूट गया वीणा बजनी वद हो गई सहसा वीणा को वन्द देखकर रानी क्रोध मे आकर बोली—'क्या मैं खराव नृत्य कर रही थी जो आपने वीणा वजाना ही वदकर दिया ? उदायन ने रानी के बार बार आग्रह से सत्य वात कह दी उदायन से यह वात सुन वह सोचने लगी—"अव मेरा आयुष्य अल्प है, अत मुझे अपना श्रेय करना चाहिए" उसने उदायन से दीक्षा लेने की आज्ञा मागी लेकिन रानी के प्रति अधिक अनुराग होने से उसने आज्ञा नही दी किन्तु रानी के उत्कट वैराग्य को देखकर अन्त मे एक शर्त के साथ उसे प्रव्रज्या की आज्ञा देदी वह शर्त यह थी कि 'अगर मेरे पहले ही स्वर्ग चली जाओ तो देव वन कर मुझे प्रतिबोधित करने के लिये अवश्य आना होगा उसने शर्त मान ली प्रभावती दीक्षित हो गई रानी मर कर देव वनी और उसने अपनी पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार राजा को सद्वोध दिया और राजा अधिक धर्मनिष्ठ वना

रानी की मृत्यु के वाद महावीर की मूर्ति की देखभाल और पूजा एक कुब्जा दासी करने लगी इस प्रतिमा की ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी, और लोग दूर-दूर से उसके दर्शन के लिये आते थे.

एक वार गधर्व देश का कोई श्रावक प्रतिमा के दर्शन के लिये आया दासी ने उस श्रावक की सेवा खूब की श्रावक दासी की भक्ति-भाव से एव सेवा शुश्रूषा से अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उससे सतुष्ट होकर उसे मनोवाछित फल देने वाली वहुत सी गोलियाँ दी गोलियो के भक्षण से दासी का कुवडापन मिट गया और उसे अपूर्व सौदर्य मिला शरीर सोने की काति की तरह चमकने लगा सोने जैसा शरीर होने से इसे लोग सुवर्णगुटिका कहने लगे,—सुवर्णगुटिका के दैवी सौदर्य की बात प्रद्योत के कानो तक पहुच गई वह उस पर मुग्ध हो गया

इधर दासी भी प्रद्योत से प्रेम करती थी उसने उज्जैनी के राजा प्रद्योत के पास एक दूत भेजा दूत ने प्रद्योत से जाकर कहा—सुवर्णगुटिका आपसे प्रेम करती है और आपको बुलाती है राजा प्रद्योत अवसर पाकर एक दिन अपने नलगिरि हाथी पर चढकर तुरन्त आया. दोनो एक दूसरे को पाकर बहुत प्रसन्न हुए प्रद्योत सुवर्णगुटिका को और महावीर की प्रतिमा को लेकर रातोरात वापिस लौट गया दासी जाते समय वैसी ही एक दूसरी प्रतिमा तैयार करवाकर उसके स्थान पर रखती गई प्रात काल राजा के सिपाहियो ने देखा कि मार्ग पर नलगिरि हाथी की लीद और मूत्र पडे है जिसकी गध से नगर के हाथी उन्मत्त हो उठे है थोडी दूर चलने पर उन्हे नलगिरि के पदचिह्न दिखाई पडे इतने मे मालूम हुआ कि राजा की दासी लापता है और चन्दन की प्रतिमा के स्थान पर कोई दूसरी प्रतिमा रक्खी हुई है

यह समाचार जव राजा उदायन के पास पहुँचा तो उसे बहुत क्रोध आया उसने प्रद्योत के पास समाचार भेजा कि दासी की मुझे चिन्ता नही, तुम चन्दन की प्रतिमा लौटा दो परन्तु प्रद्योत प्रतिमा देने को तैयार नही हुआ उदायन अपनी



विशाल सेना के साथ उज्जैनी पर चढाई करने के लिये चल पडा उस समय जेठ महीना चल रहा था मार्ग मे पानी नही मिलने से उदायन की सेना को बहुत कष्ट उठाना पडा जब वह पुष्करणा प्रदेश मे आया तब कही जाकर शाति मिली वहाँ कुछ समय तक विश्राम करने के वाद पूरी तैयारी के साथ उज्जैनी पर चढाई कर दी इधर प्रद्योत ने भी अपनी तैयारी कर ली थी दोनो सेनाओ मे घनघोर युद्ध होने लगा कुछ समय बाद दोनो राजाओ को ख्याल आया कि व्यर्थ ही प्रजा का ध्वस करने से क्या लाभ ? क्यो न हम दोनो ही परस्पर युद्ध करे ? दोनो ने एक दूसरे को दूत द्वारा सदेश भेजा दोनो इस वात पर राजी हो गये साथ ही दोनो ने रथ पर बैठ कर युद्ध करने का निश्चय किया. किन्तु युद्ध के मैदान मे प्रद्योत रथ के वजाय अपने प्रसिद्ध नलगिरि हाथी पर वैठ कर लडने आया. उदायन चण्ड-प्रद्योत की धूर्तता को पहचान गया अव दोनो मे काफी समय तक युद्ध होता रहा उदायन ने अपने बाणो से हाथी के पैर को वीध दिया जिसमे वह घायल होकर जमीन पर गिर पडा और प्रद्योत पकडा गया. उदायन के सैनिक प्रद्योत को वन्दी वनाकर अपने शिविर मे ले आये और 'दासीपति प्रद्योत' शब्दो से उसका मस्तक अकित कर दिया. उदायन प्रद्योत को कैद करके वीतिभय लौट चला, मार्ग मे वर्षा ऋतु प्रारम्भ हो गई वर्षा का समय व्यतीत करने के लिये उदायन ने एक अच्छे स्थल पर अपनी छावनी डाल दी सेना को दस विभागो मे विभक्त कर उसकी अलग-अलग छावनियाँ वनाई साथ ही सेना की सुरक्षा के लिये चारो ओर मिट्टी की दीवारे खडी कर दी. उदायन जो भोजन करता था वह प्रद्योत को भी दिया जाता था. पर्यूषण पर्व आया उन दिन रसोइये ने प्रद्योत से पूछा—महा-राज, आज आप क्या खायेगे ? प्रद्योत ने समझा कि आज मुझे भोजन मे जहर दिया जाने वाला है तभी तो मुझे अकेले खाने का निमत्रण दिया जा रहा है उसने रसोईये से कहा—'आज क्यो पूछ रहे हो' उत्तर मिला, 'आज पर्यूपण होने से उदायन राजा को उपवास है इसलिए आज आपके लिये ही भोजन बनेगा' प्रद्योत ने कहा 'तो आज मेरा भी उपवास है जव उदायन ने यह सुना तो वह प्रद्योत की धूर्तता पर बहुत हँसा उसने सोचा, ऐसा पर्यूषण मनाने से क्या लाभ जिसमे हृदय की शुद्धता नही ? उदायन ने उसे अपने पास बुलाया और हृदय से उसे क्षमा दान दिया उसे उसका राज्य पुन लौटाकर मुक्त कर दिया और उसका मस्तक सुवर्णपट्ट से विभूषित कर उसे आदरपूर्वक विदा कर दिया वर्षाकाल के वीतने पर वहाँ मे उदायन चल पडा और अपनी सेना के साथ वापिस अपने नगर लौट आया

उदायन ने जिस स्थल पर अपनी सेनाओ की दस विभागो मे छावनियाँ डाल रक्खी थी, वहाँ पर उन सेनाओ को रसद पहुँचाने के लिये आस पास के व्यापारियो ने भी अपने-अपने पडाव डाल रक्खे थे. सेना के चले जाने के वाद वे व्यापारी-गण वही स्थायी रूप से वस गये और वह स्थल दसपुर के नाम से प्रसिद्ध हुआ[1]

---

१. आवश्यक चूर्णि पृ० २९९-३००

मध्य प्रदेश के 'मदसौर' शहर को दशपुर कहा जाता है मदसौर का नाम पुराने लेखो मे 'दशपुर' लिखा जाता था. 'दशपुर' का नाम मदसौर कैसे पडा, इस विषय मे डा० फ्लीटने Corpus Inescriptionum indiarum नामक ग्रथ के तीसरे भाग मे इस प्रकार लिखा है

"इस गाव को इन्दौर तक के और आस पास के ग्रामीण लोग मन्दसौर के वजाय, 'दशोर' ही कहते है लगभग डेढ सौ वर्ष पूर्व लिखी गई अत्रत्य और फारसी भाषा की सनदो मे भी 'दशोर का ही प्रयोग किया है. जिस प्रकार वेलगाव जिले के 'उगरगोल' और 'सपगाम' को पडित लोग क्रमश 'नखपुर' और 'अहिपुर' लिखते है वैसे ही यहाँ के पडित दशपुर का ही प्रयोग करते है इनका मूल नाम सस्कृत मे था या मूल ग्रामीण नामो को पण्डितो ने सस्कृत मे वना डाला, यह शकास्पद ही है पहले इस स्थल पर पौराणिक राजा 'दशरथ' का नगर था." ऐसा स्थानीय लोग कहते है

अगर यह कथन सत्य है तो इस गाव का नाम 'दशरथोर' होना चाहिए वस्तुत इसका सही अर्थ यह भी हो सकता है जैसे—इस समय इस नगर मे आस पास के खिलचीपुर, जकुपुरा, रामपुरिया, चन्द्रपुरा, वालागज आदि बारह तेरह गावो का समावेश हुआ है, वैसा ही दस गावो (पुर) का समावेश होने से यह दशपुर के नाम से प्रसिद्ध हो गया हो

इस प्रकार महासेन प्रद्योत को वीतभय के उदायन का आज्ञाकित माना जाता है

उदायन का पिछला जीवन

उदायन के राजकीय जीवन सम्बन्धी उल्लिखित सारी घटनाएँ बाद के जैन-ग्रथो मे मिलती है. भगवती जैसे मूल आगम मे उदायन के विषय मे केवल इतना ही वर्णन मिलता है

एक वार भगवान् महावीर वीतिभय पधारे. उदायन राजा उनके दर्शन के लिये गया और उनका उपदेश सुनकर उसने प्रव्रज्या लेने का विचार किया प्रव्रज्या लेने के पूर्व उसके मन मे एक विलक्षण विचार आया उसने सोचा—'प्राय राज्यप्राप्ति होने पर लोग दुर्व्यसनी हो जाते है और दुर्व्यसनी लोग मर कर नरक मे जाते है कही मेरा पुत्र 'अभीति' राज्य पाकर दुर्व्यसनी न बन जाय और मर कर नरकवासी न हो जाय यह सोचकर उसने अपने पुत्र अभीतिकुमार को राज्य न देकर अपने भानजे केशीकुमार को राज्य दिया और प्रव्रज्या ग्रहण की पिता के इस व्यवहार से अभीतिकुमार वहुत क्रुद्ध हुआ और वह अपना सारा सामान लेकर मौसेरे भाई कोणिक के पास 'चपा' चला गया और वही रहने लगा पिता के साथ उसकी वैरवृत्ति आजीवन रही और वह वही मर गया इस विपयक भगवती सूत्र का पाठ यह है

'तए णं से उदायणे राया समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मं सोच्चा निसम्म हट्टतुट्ठे उट्ठाए उट्ठेइ २ त्ता समणं भगव महावीरं तिक्खुत्तो जाव नमसित्ता एवं वयासी—एवमेयं भंते ! तहमेयं भते ! जाव से जहेय तुब्भे वदहत्ति कट्टु जं नवरं देवाणुप्पिया अहं देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवित्ता जाव पव्वयामि तए णं तस्स उदायणस्स रन्नो अयमेयारूवे अब्भत्थिए जाव समुप्पज्जित्था एव खलु अभीई कुमारे मम एगे पुत्ते इट्ठे कंते जाव किमग पुण पासणयाए ? त जति णं अह अभीइ कुमारं रज्जे ठावित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं मुंडे भवित्ता जाव पव्वयामि तो णं अभीई कुमारे रज्जे य रट्ठे य जाव जणवए माणुस्सएसु य कामभोगेसु मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोव-

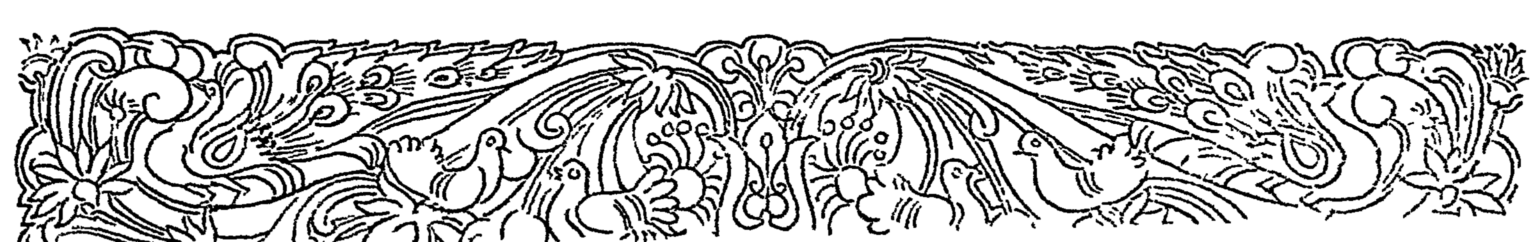
---

किन्तु मदसौर नाम जो इस समय के नक्शो आदि मे प्रसिद्ध है, इसकी असलियत को अभी तक कोई समझ नही सका हा डाक्टर भगवानलाल इन्द्र जी ने एक वार मुझसे कहा था कि—'इसका नाम मद-दसपुर पडा होगा ' 'मद' अर्थात् दुखी वना हुआ मुसलमानो ने इस शहर की और हिन्दू देवालयो की बडी दुर्दशा की थी इसी वजह से आज भी नागर ब्राह्मण यहाँ का पानी नही पीते

'एक वार मैने यहाँ के एक पडित से इस गाव का असली नाम पूछा था तव उसने बताया था कि इस गाव का मन्न-दशौर' भी नाम था इस सम्वन्ध मे मि० एफ० एस० ग्राउक की सूचना भी काफी महत्त्व रखती है वे कहते है कि—मदसौर मे दो गावो का समावेश होता है एक 'मद्' और दूसरा 'दशौर' मद् जिसे आज 'अफझलपुर' कहते है, जो मदसौर से दक्षिण पूर्व मे ग्यारह मील दूरी पर है

ऐसा कहा जाता है कि—'मद्' गाव के हिन्दुदेवालयो को तोड कर उनके पत्थरो से यहाँ का किला वनाया गया था. इसलिए मदसौर यह नाम पडा हो जो भी हो, सही वात का तो 'दशपुरमहात्म्य' नामक पुस्तक से ही पता लग सकता है यह पुस्तक मुझे देखने को नही मिली इस लेख के सिवा उषवदान के नाशिक के एक प्राचीन लेख की तीसरी पक्ति मे 'दशपुर' ऐसा सस्कृत नाम आया है (देखो आर्की० सर्वे० वैस्ट इ० पु० ४ पृ० ५१, ६६ पन्ने ५२, न० ५) तथा मदसोर के भी एक दूसरे लेखमे भी यही नाम देखने मे आता है इसकी तिथि विक्रम सवत् १३२१ (ई०स० १२६४-६५) गुरुवार भाद्रपद शुक्ला पचमी है

यह लेख किले के पूर्व तरफ के प्रवेशद्वार के अन्दर के दरवाजे के वाईं ओर भीत पर चुने हुए एक श्वेत पत्थर पर अकित है तथा वृहद् सहिता १४, ११, १६ (देखो कर्ण का अनुवाद जर्न० रा० ऐ० सो० नॉ० स० पु० ५ पृ० ८३) के अवन्ति के साथ इसी नाम का उल्लेख किया है



वरणे अणादीयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं अणुपरियट्टिस्सइ. त नो खलु मे सेयं अभीईकुमारं रज्जे ठावेत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव पव्वइत्तए, सेयं खलु मे नियगं भाइणेज्जं केसिकुमारं रज्जे ठावेत्ता समणस्स भगवओ जाव पव्वइत्तए, एवं संपेहेइ . तए णं से केसीकुमारे राया जाए महया जाव विहरति. तए ण से उदायणे राया सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं जाव सव्व दुक्खप्पहीणे.

तए णं तस्स अभीइस्स कुमारस्स अन्नदा कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि कुडुम्बजागरियं जागरमाणस्स अयमेयारूवे अब्भत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—एवं खलु अहं उदायणस्स पुत्ते प्रभावती देवीए अत्तए, तए णं से उदायणे राया ममं अवहाय नियगं भाणिज्जं केसिकुमार रज्जे ठावेत्ता समणस्स जाव पव्वइए इमेण एयारूवेण महया अप्पत्तिएणं मणोमाणसिएणं दुक्खेणं अभिभूए समाणे अंतपुर—परियालसंपरिवुडे सभंडमत्तोवगरणमाए वीतीभयाओ नयराओ पडिनिगच्छति—जेणेव चंपा नयरी जेणेव कुणिए राया तेणेव उवागच्छति—कुणियराय उवसंपज्जित्ताण विहरइ तए णं से अभीयी कुमारे समणोवासए यावि होत्था अभिगय जाव विहरइ——' (भगवती सूत्र पृ० ६१८-२०)

उदायन की मृत्यु

आवश्यक चूर्णि, टीका आदि ग्रथो मे उदायन की मृत्युविषयक विवरण इस प्रकार है

उदायन राजा के दीक्षा लेने के बाद रूखे-सूखे आहार से शरीर मे व्याधि उत्पन्न हो गई वैद्यो ने उन्हे दही खाने को कहा इसके लिये वे व्रज मे ही रहने लगे एक समय वे वीतिभय गये वहा उनका भानजा केशीकुमार राज्य करता था. यह राज्य इन्होने उसे दिया था केशीकुमार को उसके दुष्ट मन्त्रियो ने भरमा दिया कि 'यह उदायन भिक्षु-जीवन से ऊबकर अब पुनः राज्य प्राप्त करना चाहता है.' इस पर केशीकुमार ने कहा—अगर ऐसा ही है तो मैं उन्हे राज्य दे दूगा इस पर मन्त्रियो ने कहा—'मिला हुआ राज्य कही इस प्रकार दिया जाता है ?' लम्बे समय तक मन्त्रियो ने उसे खूब समझाया और राज्य न देने के लिये राजी किया केशीकुमार ने मन्त्रियो से पूछा—तो अब क्या उपाय करना चाहिए ? मन्त्रियो ने कहा—जहर देकर इसे मार डालना चाहिए इस प्रकार केशीकुमार ने एक गोपालक के जरिये दही मे जहर डलवा कर उदायन को खिला दिया जिससे उदायन की मृत्यु हो गई

उदायन मुनि की इस प्रकार की मृत्यु से उनके एक मित्र देव को अत्यन्त क्रोध आया और साथ ही केशीकुमार की इस कृतघ्नता पर भी वह अत्यन्त क्रोधित हुआ उसने धूल बरसा कर सारे नगर को नष्ट कर दिया इस नगर-प्रलय मे केवल एक कुम्भकार बचा जिसने राजाज्ञा की उपेक्षा कर उदायन मुनि को आश्रय दिया था देव ने इसे उठाकर सिनवल्ली नामक स्थान मे रख दिया बाद मे इसी स्थल पर इसी के नाम का एक नगर बसा था. वीतभय पत्तन धूलिप्रक्षेप के कारण छिप गया और आज भी वहा धूलि की बडी राशि मौजूद है [1]

---

१ आवश्यक सूत्र टीका पृ० ५३७-७ देखो, प्राकृतकथासग्रहगत उदायन की कथा

आचार्य हेमचन्द्र ने, महावीर के समय की घटित घटनाओ को तत्कालीन ग्रथो एव अनुश्रुतियो से सग्रहीत कर महावीर चरित्र मे व्यवस्थित किया है. उदायन सम्बन्धी उल्लिखित सभी बातें लिखने के साथ-साथ उन्होने एक नई घटना का भी उल्लेख किया है वीतिभय पत्तन का देवकोप से नाश होने के बाद चन्दन की वह मूर्ति वही पर धूल के टेर मे दब गई थी. उस मूर्ति का आचार्य हेमचन्द्र के उपदेश से कुमारपाल राजा ने उद्धार किया और पाटन में लाकर उसकी एक भव्य मन्दिर मे प्रतिष्ठा की इसी घटना से यह निश्चित हो जाता है कि वीतिभय का उद्ध्वस्त स्थान आचार्य हेमचन्द्र से अपरिचित नही था. इस उद्ध्वस्त स्थान मे उन्हे एक मूर्ति मिली थी और उसकी प्रतिष्ठा पाटन मे राजा कुमारपाल से करवाई थी इस घटना पर विश्वास करने से यह ऐतिहासिक तथ्य अवश्य प्रकट होता है. इसी मूर्ति के प्रसग मे आचार्य हेमचन्द्र ने गुजरात की गौरवशाली राजधानी पाटन और कुमारपाल का जो आलकारिक शब्दो मे वर्णन दिया है वह लम्बा होने पर भी अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा इस दृष्टि से यहा दिया जा रहा है—

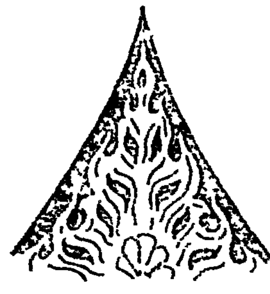
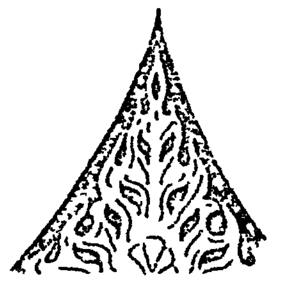


उदायन की मृत्यु की यह परम्परा अति प्राचीन है—ऐसा लगता है क्योकि आवश्यक सूत्र निर्युक्ति मे इस कथा का मूल उपलब्ध होता है इस सूत्र की नियुक्ति की रचना भद्रबाहु ने की है, ऐसा कहा जाता है, और परम्परा उनका

'अभयकुमार भगवान् से प्रश्न करता है—'भगवन् ! आपने कहा था कि यह प्रतिमा पृथ्वी मे दब जायगी तो कब प्रकट होगी ?' भगवान् बोले—'हे अभय ! सौराष्ट्र, लाट, और गुर्जर देश की सीमा पर अनहिलपुर नाम का एक नगर बसेगा वह नगर आर्यभूमि का शिरोमणि, कल्याण का स्थान और आर्हत धर्म का एक छत्र रूप तीर्थ होगा वहा के चैत्यो की रत्नमयी निर्मल प्रतिमाए नदीश्वर आदि स्थानो की प्रतिमाओ की सत्यता को बताने वाली होगी प्रकाशमान सुवर्णकलशो की श्रेणियो से जिनके शिखर अलकृत है ऐसे मानो साक्षात् सूर्य ही आकर विश्राम कर रहा हो ऐसा वह नगर सुशोभित होगा वहा के लोग प्राय श्रावक होगे और अतिथिसविभाग करके ही भोजन करेगे. दूसरो की सपत्ति मे ईर्ष्या रहित, स्वसपत्ति मे सन्तुष्ट और सदा पात्रदान मे रत ऐसी वहा की प्रजा होगी अलकापुरी के यक्षो की तरह वहा के बहुत से श्रावक धनाढ्य होगे वे अर्हद्भक्त बन कर सातो क्षेत्रो मे धन का व्यय करेंगे. सुषमा काल की तरह वहा के लोग पर-धन और परस्त्री से विमुख होगे हे अभयकुमार ! मेरे निर्वाण के बाद सोलह सौ उनसत्तर वर्ष के बीतने पर उस नगर मे चौलुक्य वश मे चन्द्र के समान प्रचण्ड पराक्रमी अखण्ड शासन वाला कुमारपाल नाम का धर्मवीर, युद्धवीर, दानवीर राजा होगा वह महात्मा पिता की तरह प्रजा का पालक होगा और उन्हे समृद्धिशाली बनाएगा सरल होने पर भी अति चतुर, शान्त होने पर भी आज्ञा देने मे इन्द्र के समान, क्षमावान् होने पर भी अधृष्य, ऐसा वह राजा चिरकाल तक इस पृथ्वी पर राज्य करेगा जैसे उपाध्याय अपने शिष्यो को विद्वान् और शिक्षित बनाता है वैसा ही वह अपनी प्रजा को भी विद्वान् सुशिक्षित और धर्मनिष्ठ बनाएगा वह शरणार्थियो को शरण देने वाला होगा परनारियो के लिये वह सहोदर भाई होगा धर्म को प्राण और धन से भी अधिक मानने वाला होगा पराक्रमी, धर्मात्मा, दयालु एव सभी पुरुषगुणो से श्रेष्ठ होगा उत्तर मे तुरुषक—तुर्कस्तान तक, पूर्व मे गगा नदी तक, दक्षिण मे विन्ध्यगिरि तक और पश्चिम मे समुद्र तक की पृथ्वी पर उसका अधिकार होगा

एक समय वह वज्र शाखा और चान्द्रकुल मे उत्पन्न हेमचन्द्र नाम के आचार्य को देखेगा उन्हे देखते ही वह इतना प्रसन्न होगा जैसे गरजते मेघ को देख कर मयूर प्रसन्न होते है वह उनके दर्शन के लिये जाने की शीघ्रता करेगा. जब आचार्य चैत्य मे बैठकर धर्मोपदेश करते होगे, उस समय वह अपने मत्रीमण्डल के साथ उनके दर्शन के लिये आएगा. प्रथम देव को वन्दन कर तत्त्व को नही जानता हुआ भी अत्यन्त शुद्ध सरल हृदय से आचार्य को नमस्कार करेगा प्रीतिपूर्वक आचार्य का उपदेश सुन कर सम्यक्त्वपूर्वक श्रावक के अणुव्रतो को स्वीकार करेगा तत्व का बोध प्राप्त कर वह श्रावक के आचार का पारगामी होगा राजसभा मे बैठा होने पर भी धर्मचर्चा ही करेगा प्राय निरन्तर ब्रह्मचर्य रखने वाला वह राजा अन्न, फल, शाक आदि के विषय मे भी अनेक नियमो को ग्रहण करेगा साधारण स्त्रियो का तो उसे त्याग ही रहेगा किन्तु अपनी रानियो तक को वह ब्रह्मचर्य का उपदेश करेगा जीव अजीव आदि तत्वो का जानकार वह राजा दूसरो को भी तत्व समझाएगा—सम्यक्त्वी बनाएगा अर्हद्धर्मद्वेषी ब्राह्मण भी उसकी आज्ञा से गर्भ-श्रावक बनेगे देवपूजा और गुरुवन्दन करके वह राजा भोजन करेगा अपुत्र मरे हुए का धन वह कभी नही लेगा वस्तुत विवेक का यही सार है विवेकी व्यक्ति सदा तृप्त ही रहते है वह स्वय शिकार नही करेगा और उसकी आज्ञा से दूसरे राजागण भी शिकार छोड देगे उसके राज्य मे मृगया तो दूर रही, मक्खी मच्छर को भी कोई मारने की हिम्मत नही करेगा उसके अहिंसात्मक राज्य मे जगल के प्राणी मृग आदि एक दम निर्भीक होकर इधर उधर घूमा करेगे उसके राज्य मे अमारी घोषणा होगी जो जन्म से मासाहारी होगे वे भी उसकी आज्ञा से दु स्वप्न की तरह मास खाना ही भूल जावेंगे अपने पूर्वजो के रिवाज के अनुसार जिस मद्य का श्रावक भी पूरी तरह से त्याग नही कर सके उसका वह अपने समस्त राज्य मे निषेध करेगा यहा तक कि कुम्भकार भी मद्य पात्र बनाना छोड देगे मद्यपान से जिन लोगो की सपत्ति क्षीण हो गई है, ऐसे लोग भी मद्य-निषेध से उसके राज्य मे पुन. सम्पत्तिमान्



समय महावीर के निर्वाण के वाद की द्वितीय शताब्दी वताती है ऐतिहासिक दृष्ट्या निर्युक्ति के कर्त्ता भद्रवाहु का समय इतना प्राचीन नही लगता हा, टीकाकारो की अपेक्षा उनका समय अधिक प्राचीन है इस कारण टीकाकारो द्वारा लिखित उदायन की इस कथा का प्रचलन वहुत समय पहले था, यह निश्चित है

मूर्तिविषयक वर्णन जो भी हो किन्तु जैन कथा और सूत्रो के आधार से इतना तो अवश्य माना जा सकता है कि महावीर के समय सिन्धुसौवीर नाम के देश मे वीतिभय नामका नगर अवश्य था. और वहाँ उदायन नाम का राजा राज्य करता था उसकी स्त्री का नाम प्रभावती था, जो वैशाली के राजा चेटक की पुत्री होती थी अभीति उसका पुत्र था अभीति के पिता ने किसी कारण से उसे राज्य नही दिया और इसी वजह से वह चम्पा मे कोणिक राजा के आश्रय मे जाकर रहा राजा महासेन के साथ उदायन का युद्ध हुआ होगा और उसमे उदायन विजयी हुआ होगा [1]

होगे जिस द्यूत का नल राजा भी त्याग नही कर सका उसका वह अपने समस्त राज्य में बहिष्कार करेगा. कुक्कुटयुद्ध, कपोतयुद्ध आदि नृशस मनोरजनो को वह अपने समस्त राज्य में बद करा देगा नि सीम वैभववाला वह राजा प्रत्येक ग्राम मे जिनमन्दिर बनवा कर सारे पृथ्वीमण्डल को जिनमन्दिरो से विभूषित करेगा समुद्रपर्यन्त प्रत्येक मार्ग और नगर मे प्रतिमा की रथयात्रा का महोत्सव कराएगा द्रव्य के विपुल दान से वह अपने नाम का सवत्सर चलाएगा

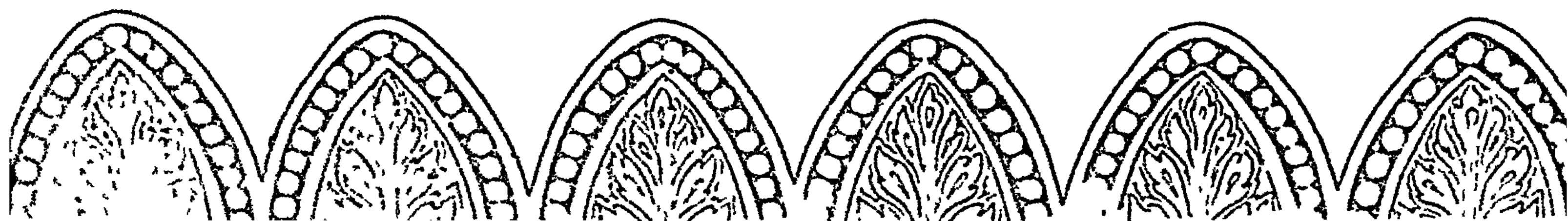
ऐसा वह महान् प्रतापशाली राजा एक दिन गुरुमुख से कपिल मुनि द्वारा प्रतिष्ठित एव पृथ्वी मे दवी हुई उस दिव्य प्रतिमा के विषय मे वात सुनेगा वात सुनते ही विश्वपावनी उस मूर्ति को हस्तगत करने का विचार करेगा मन के उत्साह और शुभ निमित्त से उसे यह विश्वास हो जायगा कि मै उस दिव्य प्रतिमा को प्राप्त कर सकूगा तब वह गुरु की आज्ञा से योग्य पुरुषो को वीतिभय के उद्ध्वस्त स्थल पर भेजेगा वे पुरुष वहा जाकर जमीन खोदेगे. उस समय राजा के सत्व से शासन देव भी वहा उपस्थित रहेगे जमीन को थोडा खोदने पर वह दिव्य प्रतिमा निकलेगी उस प्रतिमा के साथ उदायन का आज्ञालेख भी मिलेगा वे पुरुष वडी भक्ति और श्रद्धा से उसका पूजन करेंगे स्त्रिया रास गाकर वाजे वजाकर भक्ति करेगी उस प्रतिमा के सामने सतत नृत्य सगीत होता रहेगा वे दक्ष पुरुष मूर्ति को रथ पर आसीन करके पाटन की सीमा पर ले आवेंगे प्रतिमा के आगे की खवर सुन कर वह राजा चतुरगी सेना और वडे सघ के साथ उत्सव पूर्वक उसके सामने जायगा वाद मे वह अपने हाथो से प्रतिमा को रथ से निकाल कर हाथी पर आरूढ करेगा और वडे उत्सव के साथ नगरप्रवेश कराएगा उस प्रतिमा के लिये वह एक विशाल स्फटिक पाषाण का मन्दिर बनवाएगा वह मन्दिर अष्टापद पर्वत के मन्दिर की तरह अत्यन्त भव्य होगा उस मे वडे उत्सव के साथ प्रतिमा को प्रतिष्ठित करेगा इस प्रकार से स्थापित की गई प्रतिमा के प्रभाव से उस राजा की कीर्ति, यश, प्रभाव, सपत्ति खूब वढेगी गुरुभक्ति से वह राजा भारतवर्ष में तेरे पिता की तरह ही प्रभावशाली होगा' त्रिषष्ठि० पर्व० दसवा, पृ० २२८-२३१

१. सुवर्णगुलिका के निमित्त चण्डप्रद्योत के साथ हुए युद्ध की किंवदन्ती मे भी प्राचीन प्रमाण है, ऐसा एक सूत्र के सूचन के आधार पर अनुमान होता है भगवती सूत्र जितने ही प्राचीन सूत्र प्रश्नव्याकरण में जिन स्त्रियो के लिये युद्ध हुए थे उनके नाम दिये हैं, उनमे सुवर्णगुलिका का भी एक नाम आता है वह पाठ यह है

'मेहुणमूलं च सुव्वए तत्थ-तत्थ वत्तपुव्वा संगामा जणक्खयकरा-सीयाए, दोवइए कए, रुप्पिणीए पउमावइए, ताराए, कचणाए रत्तसुभद्दाए, अहिन्नियाए, सुवरणगुलियाए, किन्नरीए, सुरूवविज्जुमतीए, रोहिणीए अन्नेसुय एवमाइएसु वहवो महिलाकएसु सुव्वंति अइक्कंतासंगामा.'

अर्थ—मैथुन मूलक सग्राम, जो विभिन्न शास्त्रो मे सुने जाते हैं जो युद्ध नरसहार करने वाले हैं, जैसे सीता और द्रौपदी के लिये, रुक्मिणी, पद्मावती, तारा, कचना, रक्तसुभद्रा, अहल्या, सुवर्णगुलिका, किन्नरी आदि के लिये युद्ध हुए हैं.

मूल सूत्र में आये हुए उपर्युक्त उदाहरणो की व्याख्या टीकाकार ने सक्षेप मे की है इन स्त्रियो के विषय में दूसरे ग्रथो



एक विलक्षण परम्परासाम्य

जिस प्रकार जैन-ग्रथो मे वीतिभय के उदायन और चन्दन काष्ट की मूर्ति विषयक वृतान्त मिलता है, उसी प्रकार बौद्ध ग्रथो मे भी कोशाम्बी के उदायन और बुद्ध मूर्ति विषयक वृतान्त मिलता है बौद्ध श्रमण यवनचक अथवा व्हेतत्सग जब भारत मे आया था, उस समय यह कथा बौद्धो मे भी बहुत प्रचलित थी, उसने अपने प्रवासवृतान्त मे कोशाम्बी का वर्णन करते हुए लिखा है कि—'कोशाम्बी नगर मे एक पुराना महल है उसमे ६०० फीट ऊचा एव विहार है इस विहार मे चन्दनकाष्ठ की बुद्धप्रतिमा है उस बुद्धप्रतिमा पर पाषाण का बना हुआ छत्र है कहा जाता है कि यह कृति उदायन राजा की है, यह मूर्ति बडी प्रभावशालिनी है इसमे दैवी तेज रहा हुआ है और यह समय-समय पर प्रकाश देती रहती है इस मूर्ति को इस स्थान से हटाने के लिये राजाओ ने प्रयत्न किये थे और उठाने के लिये कई आदमी लगाये थे लेकिन उसे कोई हिला भी नही सका तब वे लोग उस मूर्ति की प्रतिकृति बनाकर पूजा करने लगे और उसमे मूल मूर्ति की-सी श्रद्धा रखने लगे '[1]

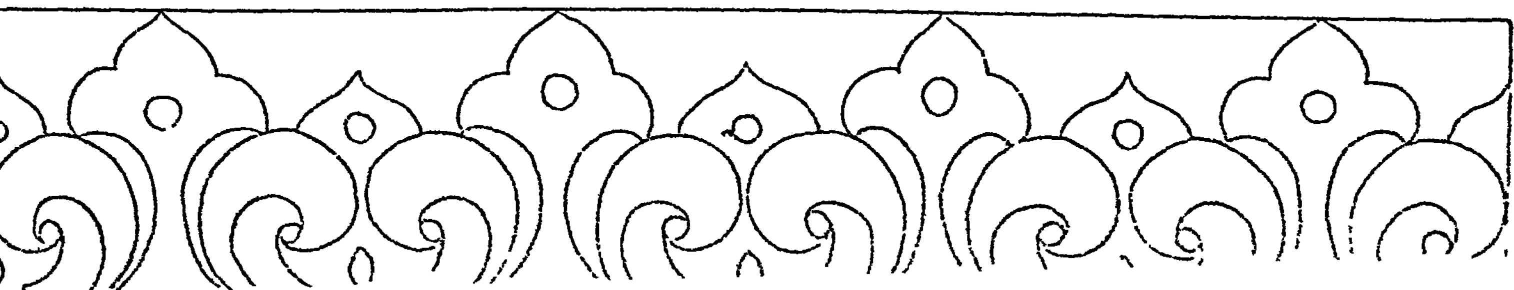
इसी लेखक ने अपने प्रदेश के पिमा शहर मे इसी प्रकार की एक अन्य मूर्ति का भी उल्लेख किया है वह लिखता है—'यहा—पिमा शहर मे भगवान् बुद्ध की खडी आकृति मे बनी हुई चन्दनकाष्ठ की एक विशालमूर्ति है, यह २० फीट ऊची है और बडी चमत्कारिक है इसमे से प्रकाश निकलता रहता है, रुग्ण जन अगर सोने के वरख मे उसकी पूजा करे तो उनका रोग मिट जाता है ऐसी यहा के लोगो की धारणा है जो लोग अन्त.करण पूर्वक इसकी प्रार्थना करते है, उनका मनोवाछित सिद्ध हो जाता है यहा के लोग कहते है कि—जब बुद्ध जीवित थे उस समय कौशाम्बी के राजा उदायन ने इस मूर्ति को बनवाया था जब भगवान् बुद्ध का निर्वाण हो गया तब यह मूर्ति अपने आप आकाश मे उडकर इस राज्य के उत्तर मे आये हुए 'हो-लो लो-किय' नाम के शहर मे आकर रही यहाँ के लोग धनिक और बडे-वैभव-शाली थे और मिथ्यामत मे अनुरक्त थे उनके मनमे किसी भी धर्म के प्रति मान-सम्मान नही था जिस दिन से यह मूर्ति आई उस दिन से देवी चमत्कार होने लगे, लेकिन लोगो का ध्यान इस मूर्ति की ओर नही गया

उसके बाद एक अर्हत् वहाँ आया और वन्दन कर उस मूर्ति की पूजा करने लगा. उस अर्हत् की विचित्र वेष-भूषा देख कर लोग डर गये और उन्होने राजा को जाकर सूचना दी राजा ने आज्ञा दी कि उस पुरुष को धूल और रेती से ढक दो लोगो ने राजाज्ञा के अनुसार उस अर्हत् की बडी दुर्दशा की और उसे धूल और रेती के ढेर मे दवा दिया उसे अन्न जल भी नही दिया किन्तु एक व्यक्ति को, जो उस मूर्ति की पूजा करता था, लोगो पर बडा क्रोध आया, उसने छुप कर उस अर्हत् को भोजन दिया जाते समय अर्हत् उस व्यक्ति से बोला—'आज से सातवे दिन इस नगर पर रेती और धूल की वर्षा होगी जिससे सारा नगर रेती और धूल मे दब जायगा कोई भी व्यक्ति जीवित नही रह सकेगा अगर तुझे प्राण बचाना हो तो तू यहाँ से भाग जा यहाँ के लोगो ने मेरी जो दुर्दशा की है उसी के फलस्वरूप यह नगर भी धूलिवर्षा से नष्ट हो जायगा इतना कह कर अर्हत् अदृश्य हो गया तब वह आदमी शहर मे आकर अपने सगे सबधियो को कहने लगा कि आज से सातवें दिन यह नगर धूलिवर्षा से नष्ट हो जायगा इस बात पर लोग उसकी हँसी उडाने लगे. दूसरे दिन एक बडी आँधी आई और वह नगर की सारी गन्दी धूल उडाकर आकाश मे ले गई बदले मे कीमती पत्थर आकाश से गिरे. इस घटना से तो लोग उसकी और हँसी उडाने लगे

किन्तु उसे अर्हत् के वचन पर विश्वास था उसने गुप्त रूप से नगर से बाहर निकलने के लिये रास्ता बनाया और वह जमीन मे छुपा रहा ठीक सातवें दिन धूल की भयकर वर्षा हुई और सारा नगर धूल मे दब गया वह व्यक्ति सुरग

मे जो भी परिचय मिला है, उसे उन्होने अपनी टीका मे उद्धृत किया है उसमे सुवर्णगुलिका के लिये उदायन का चण्ड-प्रद्योत के साथ हुए युद्ध की परम्परा अति प्राचीन और सत्य पर आधारित है

१. ह्वेनत्सग भी अपने साथ इस मूर्ति की प्रतिकृति बनाके ले गया था देखो Beals Record of Western Countries, Book I, पृ० २३४ और प्रस्तावना पृ० २०



मे नगर के बाहर निकला और उत्तर की ओर चला चलते-चलते वह पिमा शहर पहुँचा और वही रहने लगा बाद मे मूर्ति भी वहाँ से आकाश मार्ग से उडकर इस शहर मे आई वह व्यक्ति उस मूर्ति की पूजा करने लगा पुराने ग्रथो मे लिखा है कि जब शाक्यधर्म का अन्त हो जाएगा तब यह मूर्ति नाग लोक मे चली जाएगी आज भी 'हो लो-लो किअ' शहर की जगह बहुत बड़ा मिट्टी का ढेर पडा हुआ है [१]

यवनचंग और दिव्यावदान

यवनचग के द्वारा लिखी गई उपर्युक्त घटना का मूल क्या है, यह मैं नही जान सका किन्तु 'दिव्यावदान' मे कुछ घटनाएँ देखने को मिली यवनचग और दिव्यावदान इन दोनो की कथा का जैनग्रथो की उदायन कथा के साथ मिलान करने पर दोनो मे जो साम्य मुझे दिखाई दिया वह आश्चर्यजनक है. पाठको की जानकारी के लिये दिव्यावदान के रुद्रायणा-वदान नामक प्रकरण मे आई हुई वह कथा देता हूँ

राजा बिम्बिसार के समय, जब भगवान् बुद्ध राजगृह मे रहते थे तब दो महानगर प्रसिद्ध थे—एक पाडलिपुत्र और दूसरा रोरुक रोरुक नगर मे रुद्रायण नामक राजा राज्य करता था उसकी चन्द्रप्रभा नामक की रानी थी शिखडी नामका पुत्र था और हिरु, भिरु नामक के दो महामत्री थे राजगृह मे बिंबिसार राजा था, उसकी वैदेही नामक की रानी और अजातशत्रु नामका पुत्र था वर्षकार नामक उसका महामत्री था. उस समय राजगृह के कुछ व्यापारी रोरुक नगर गये और वहाँ के राजा रुद्रायण से मिले बिम्बिसार से मैत्री बढाने की दृष्टि से राजा रुद्रायण ने व्यापारियो के साथ अपने राज्य के बहुमूल्य रत्न भेजे. उसके जवाब मे राजा बिम्बिसार ने भी अपने यहाँ बनने वाले बहुमूल्य वस्त्रो की पेटियाँ भेजी एक बार रुद्रायण ने अपने राज्य के कुछ बहुमूल्य रत्न बिम्बिसार को भेजे बदले मे उसने भगवान् बुद्ध का भव्य चित्र तैयार करवा कर रुद्रायण को भेजा साथ ही रुद्रायण को बौद्ध धर्मी बनाने के लिये महाकात्यायण नामक भिक्षुक व शैला नाम की भिक्षुणी को भेजा. भिक्षु और भिक्षुणी रुद्रायण के महल में रहे और उसे बुद्धधर्म का उपदेश करने लगे. राजा धीरे-धीरे बुद्ध का अनुयायी बन गया

राजा रुद्रायण वीणा बजाने में बहुत कुशल था और रानी नृत्य करने मे एक दिन रानी नृत्य कर रही थी और राजा वीणा बजा रहे थे नृत्य करती हुई रानी में मृत्युकाल के कुछ चिह्न राजा को दिखाई पडे. राजा ऐसे चिह्न देख सहसा घबरा उठा और उसके हाथ से वीणा छूट गई. वीणा के एकाएक बन्द हो जाने से रानी चौंक गई और राजा से बोली स्वामी—क्या मेरा नृत्य खराब था जिससे आपने वीणा बजाना ही बन्द कर दिया ? राजा ने कहा—'ऐसी बात नही है, किन्तु तुम्हारी शीघ्र मृत्यु के कुछ चिह्न देख कर मैं घबरा गया और वीणा हाथ से छूट गई आज से सातवें दिन तेरीमृत्यु होगी ' यह सुन रानी बोली—'अगर ऐसा ही है तो मै भिक्षुणी बनना चाहती हूँ ' राजा ने इस शर्त पर भिक्षुणी बनने की आज्ञा दी कि—अगर तुम मर कर देव बनो तो मुझे आकर दर्शन देना रानी ने राजा की यह बात मान ली और वह शैला भिक्षुणी के पास प्रव्रजित हो गई. सातवे दिन वह मरण सज्ञा की भावना करती हुई मरी और चातुर्महा-राजिक देवलोक मे देवकन्या के रूप मे उत्पन्न हुई वह देवकन्या उसी रात्रि में राजा के शयनकक्ष मे प्रकट हुई रानी को देखकर उसे आलिंगन करने के लिये राजा ने अपने दोनों हाथ आगे बढाये और पास आने का आग्रह किया तब देवकन्या बोली—'महाराज ! मै मर कर देवकन्या बनी हूँ अगर आप मुझ मे समागम करना चाहते है तो आप भी प्रव्रज्या ग्रहण करे मृत्यु के बाद जब आप देव बनेंगे तभी मुझ से समागम कर सकेंगे इतना कह कर वह देवकन्या अदृश्य हो गई देवकन्या के अदृश्य होने पर राजा विचार में पड गया. उसने सारी रात सकल्प-विकल्पों मे व्यतीत की. अन्त मे उसने प्रव्रज्या लेने का निश्चय किया. प्रात. भगवान् बुद्ध के समीप प्रव्रज्या के लिये राजगृह की ओर चल पडा. जाते समय उसने अपने पुत्र शिखण्डी को राज्यगद्दी पर बैठा दिया. दोनों मन्त्रियो को राज्य की सारी व्यवस्था करने

---

१ सि-यू-की उपर्युक्त पुस्तक भा० २ पृ० ३२४

को कहा गया राजगृह पहुँच कर उसने भगवान् बुद्ध के समीप प्रव्रज्या ग्रहण कर ली और बुद्ध का शिष्य बन गया

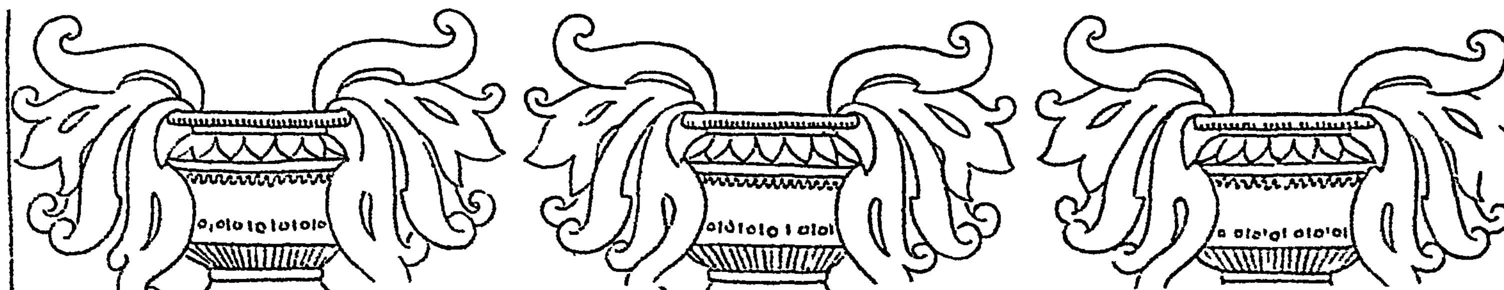
इधर शिखण्डी अपने दो दुष्ट मन्त्रियो की सगति मे अनीति के मार्ग पर चलने लगा और प्रजा को भी सताने लगा उसने दो पुराने अच्छे मन्त्रियो को अलग कर दिया कुछ व्यापारियो से जब इस वृद्ध भिक्षु को अपने पुत्र के अन्याय का पता लगा तो वह उसे समझाने के लिये रोरुक नगर की ओर चल पडा जब दोनो दुष्ट मन्त्रियो को इस बात का पता चला तो उन्होने उसे मार्ग मे ही रोकना अच्छा समझा उन्होने शिखण्डी से कहा—'सुना है कि वृद्ध भिक्षु यहाँ आ रहा है' इस पर शिखण्डी ने कहा—'अब तो वह प्रव्रजित हो गया हैं, भले आये' इस पर मन्त्रियो ने कहा—जिस व्यक्ति ने एक दिन भी राज्यश्री का अनुभव कर लिया हो वह पुन राज्य पाने का लोभ सवरण नही कर सकता इस पर शिखण्डी ने कहा—अगर वे पुन राज्य प्राप्त करना चाहते हैं, तो मैं उन्हे अपना राज्य दे दूँगा मन्त्रियो ने उसे कहा—क्या प्राप्त राज्य को इस प्रकार खो देना बुद्धिमत्ता है इस तरह मन्त्रियो ने कई तरह से समझा-बुझाकर वृद्ध को राज्य मे न आने देने के लिये शिखण्डी को राजी किया यहाँ तक कि दुष्ट मन्त्रियो की बातो मे आकर उसने कुछ घातक पुरुषो को भेज कर अपने पिता का शिरच्छेद करवा दिया

पिता की मृत्यु के बाद वह राजा प्रजा पर खूब अत्याचार करने लगा एक समय शिखण्डी अपनी मण्डली के साथ नगरपरिक्रमा के लिये निकला मार्ग मे उसे भिक्षु कात्यायन मिला कात्यायन भिक्षु को देखकर शिखण्डी अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और उसने उस पर एक-एक मुट्ठी धूल डालने की प्रजाजनो को आज्ञा दी राजाज्ञा से लोगो ने उस भिक्षु पर इतनी अधिक धूल डाली कि वह उसी मे दब गया

पुराने हिरु, भिरु नाम के मन्त्रियो को जब इस बात का पता चला तो वे उस भिक्षु के पास आये और उसे मिट्टी से बाहर निकाला भिक्षु ने मन्त्रियो से कहा—'अब इस नगर के विनाश का समय आ गया है आज से सातवे दिन धूलि-वृष्टि होगी जिससे सारा नगर नष्ट हो जायगा अगर तुम अपना बचाव करना चाहते हो तो अपने घर से नदी के तट तक एक सुरग बनवा लेना और नदी के तीर पर एक नाव भी तैयार रखना जब नगरप्रलय का समय आयगा उस समय तुम नाव पर बैठ कर अन्यत्र चले जाना नगरप्रलय मे प्रथम दिन बडी आधी आएगी वह आँधी नगर की सारी दुर्गन्धित धूलि को आकाश मे उडाकर ले जाएगी दूसरे दिन फूलो की वर्षा होगी तीसरे दिन वस्त्रो की वर्षा होगी चौथे दिन चादी बरसेगी पाँचवें दिन सोने की वर्षा होगी छठे दिन रत्न बरसेंगे और सातवे दिन धूल की वृष्टि होगी जिससे सारा नगर भूमिसात् हो जायगा'

कात्यायन की भविष्यवाणी के अनुसार सातवें दिन एक भयकर आधी आई जिससे सारे नगर की धूल उड गई मन्त्रियो को भिक्षु की भविष्यवाणी पर विश्वास हो गया उन्होने अपने घर से नदी तक सुरग बना ली छठे दिन जब रत्नो की वर्षा हुई तो उन्होने नाव को रत्नो से भर लिया और उसमे बैठकर अन्य देश चले गये वहा हिरु मत्री ने हिरु-कच्छ और भिरु मत्री ने भिरुकच्छ नाम का देश बसाया कात्यायन भिक्षु नगर के नष्ट हो जाने पर लम्बकपाल, श्यमाक वोक्काण आदि देश होता हुआ सिन्धु नदी के किनारे पर आ पहुँचा वहा से मध्यदेश आया और श्रावस्ती नगरी मे, जहा भगवान् बुद्ध अपने सघ के साथ रहते थे, आकर उनके सघ मे मिल गया

जहा तक मुझे स्मरण है, यह कथा दक्षिण के हीनयान सप्रदाय के पाली साहित्य मे कही भी नही मिलती. किन्तु उत्तर के महायान सप्रदाय के सस्कृत एव टिबेटियन साहित्य मे उपलब्ध होती है 'दिव्यावदान' के सिवा क्षेमेन्द्र के 'अवदान-कल्पलता' मे भी यह कथा आती है. अस्तु, यहा इतना ही बताना अभिप्रेत है कि चीनी यात्री ह्वेएन सीग [ह्यूवत्सॉंग] द्वारा वर्णित 'हो-लो लो-किअ' नगर के नाश की और दिव्यावदान के 'रोरुक' नगर के नाश की कथा मे कही अतर दृष्टिगोचर नही होता. इससे यह मालूम होता है कि इन दोनो कथाओ का मूल स्रोत एक ही है. इतना ही नही, 'दिव्यावदान' के 'रोरुक' नगर का ही चीनी उच्चारण 'हो-लो-लो-किअ' हो ऐसा लगता है थोमसवाटर्स इस नाम की व्युत्पत्ति O-Lao-Lo-Ka (Rallaka?) इस प्रकार करते हैं 'बिल' महाशय Ho-Lo-Lo-Kia ऐसा करते हैं 'बिल'



महाशय इसी नामका दूसरा उच्चारण इस प्रकार देते है Ragha or Ragham, or Perhaps ourgha और 'वाटर्स' महाशय उसका सस्कृत उच्चारण 'रल्लक' देते है किन्तु दोनो उच्चारणो की अपेक्षा दिव्यावदान का रोरुक उच्चारण ही भाषाशास्त्र की दृष्टि से अधिक सगत लगता है अत ये दोनो नगर एक ही थे ऐसा उपर्युक्त प्रमाणो से सिद्ध हो जाता है किन्तु यहाँ पर भौगोलिक प्रश्न उपस्थित होता है दीघनिकाये नामक पाली आगम के 'महागोविन्द-सुत्तन्त' मे और 'जातकट्ठकथा' मे रोरुक नगर को 'सौवीर' देश की राजधानी बताया है प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान्—ह्रीस-डेविड्स ने हिन्दुस्तान के नक्शे मे सौवीर देश का स्थान कच्छ की खाडी के पास में बताया है, जब कि हुएनसौग हो-लो-लो-किअ नगर को खोतान प्रदेश [मध्यप्रदेश] मे बताते है. प्रादेशिक दृष्टि से दोनो के स्थल अलग-अलग होने से इन दोनो नगरो को एक मानने मे यह सबसे बडी बाधा उपस्थित होती है. दीघनिकाय मे जिस सौविर देश का उल्लेख आया है उसका अभी तक स्थान निश्चित नही हो पाया है वैदिक पुराणो एव जैनग्रथो मे सौवीर देश का नाम आता है जैन ग्रथो मे प्राय 'सिन्धु-सौवीर' ऐसा जुडा हुआ नाम आता है यह सौवीर बुद्ध का ही सौवीर है तो यह सिन्धु नदी के आस-पास बसा हुआ होना चाहिए किन्तु जैन और बौद्धो का सौवीर एक ही है ऐसा मालूम नही होता. क्योकि जैन सिन्धु सौवीर की राजधानी वीतिभय अथवा वीतभय मानते हैं, जबकि बौद्ध ग्रथो मे सौवीर की राजधानी रोरुक नगर बतलाई गई है बौद्ध ग्रथो में भी अलग-अलग वाचनाओ मे इस शब्द के विषय मे कई पाठान्तर हैं जैसे—जातकट्ठकथा मे 'रोरुवनगर' अथवा 'रोरुवम नगर' ऐसे दो पाठ आते है. 'दीघनिकाय' की सिहली वाचना मे 'रोरुक' और बरमी वाचना मे 'रोरुण' पाट आता है इतना ही नही, देश के नामो मे भी पाठान्तर है जैसे दीघनिकाय मे 'सौवीर' के स्थान पर 'सोचिर' पाठ आता है और जातकट्ठकथा मे 'शिविरठे' पाठ है लिपिको के प्रमाद और अज्ञान से ऐसे अशुद्ध पाठो का लिखा जाना असभव नही है ऐसे पाठभेदो से ऐतिहासिक तथ्य निकालने में कितनी बडी कठिनाई आती है यह तो पुरातत्त्वज्ञ ही जानते है टीबेटियन साधनो से तो 'रोरुक' नगर पालिसाहित्य प्रसिद्ध कोलिय क्षत्रियो का 'राम ग्राम' हो ऐसा 'राकहील' का अनुमान है[१] इससे यह पता लगता है कि सौवीर और रोरुक नगर का स्थान अभी तक निश्चित नही हो पाया है अगर निश्चित हुआ मान भी ले तो भी दिव्यावदान का 'रोरुक' और दीघनिकाय का 'रोरुक' दोनो अलग है, ऐसा मानने मे कोई बाधा भी नही है साथ ही दिव्यावदान वाला रोरुक हिन्दुस्तान के बाहर था ऐसे कई प्रमाण मिलते है. रोरुक नगर का जब नाश हुआ था तब कात्यायन भिक्षु मध्यदेश मे आने के लिये निकला मार्ग मे लम्बाक, स्यामाक, और वाक्कणादि देशो को पार करता हुआ सिन्धु नदी के किनारे पर आया वहा से नदी को पार कर अनेक स्थलो पर घूमता-घामता श्रावस्ती आ पहुँचा था. पूर्वग्रथो मे लम्बाक-स्यामाक और वोक्कणादि प्रदेश हिन्दुस्तान के बाहर अनार्य प्रदेश माने जाते थे इनका सिन्धु नदी के उस पार होना भी उन प्रदेशो के अनार्य होने का सबल प्रमाण है दिव्यावदान की वार्ता के आधार पर से हम यह देखते है कि रोरुक नगर मे रत्नो की पैदाइश अधिक होती थी और वस्त्रो की कम[२] इसके विपरीत भारत मे ऐसा कोई प्रदेश दृष्टिगोचर नही होता जहाँ केवल रत्न ही रत्न पैदा होते हो, वस्त्र नही किन्तु मध्य एशिया मे ऐसे भी प्रदेश थे जहा वस्त्र नही पैदा होते थे[१] इन कारणो से प्रमाणित होता है कि रोरुक नगर हिन्दुस्तान के बाहर था और वह हुएनसौग का वर्णित 'हो-ला-लो-किअ' का ही दूसरा नाम था

बौद्ध और जैन कथा में समानता

हुएनसौग और दिव्यावदान की कथा का साम्य हम ऊपर देख आये है किन्तु बौद्ध और जैन कथा मे जो साम्य मिलता है वह और भी आश्चर्यजनक है हुएनसौग और दिव्यावदान वर्णित कथा मे तो केवल रोरुक नगर के नाश का ही साम्य मिलता है किन्तु दिव्यावदान की कथा के साथ जैन कथा का कई बातो मे साम्य दृष्टिगोचर होता है जिसकी चर्चा अब हम करेंगे

---

१. देखो—Rockhills life of Buddha P 145.

२ 'देवो रत्नाधिपति' स राजा वस्त्राधिपति,. तस्य रत्नानि दुर्लभानि'—दिव्यावदान, पृ० ५४५.

रोरुक नगर के नाश और जैन कथा मे वर्णित वीतिभय के नाश के वर्णन मे हुएनसाँग, अवदान और जैन ग्रथ समान है तीनो ने नगरनाश का कारण धूलि-वर्षा ही बताया है जैन कथा मे 'उदायन' और दिव्यावदान मे 'उद्रायण' अथवा 'रुद्रायन' की मृत्यु का कारण उसका उत्तराधिकारी माना गया है जैन ग्रथकार इसकी मृत्यु विषप्रयोग से और बौद्ध कथाकार शस्त्रप्रयोग से दुष्ट अमात्यो द्वारा होना लिखते हैं जैन कथाकार उद्रायण का उत्तराधिकारी उसके भानजे केशीकुमार को मानते है जबकि बौद्ध कथाकार उसके पुत्र शिखण्डी को उसका उत्तराधिकारी मानते है

साथ ही शिखण्डी और उसके मत्रियो का आपस मे जो रुद्रायण विषयक वार्तालाप हुआ है और हेमचन्द्राचार्य की इसी कथा मे केशीकुमार और उनके मत्रियो के बीच उदायन विषयक हुए वार्तालाप मे जो भावसाम्य दृष्टिगोचर होता है, उसे समझने के लिये दोनो ग्रथो के कुछ उद्धरण दिये जाते है—

देव, श्रूयते वृद्धराजा आगच्छतीति स कथयति—प्रव्रजितोऽसौ किमथ तस्यागमनप्रयोजनमिति ? तौ कथयत. देव, येनैक-दिवसमपि राज्य कारितम्, स विना राज्येनाभिरस्यत इति कुत एतत् ? पुनरप्यसौ राज्यं कारयितुकाम इति शिखण्डी कथयति—यद्यसौ राजा भविष्यति, अहं स एव कुमारः, कोऽनुविरोध इति ? तौ कथयत.—देव, अप्रतिरूपमेतत् कथं नाम कुमारामात्यपौरजनपदैरञ्जलि—सहस्रैर्नमस्यमानेन राज्य कारयित्वा पुनरपि कुमारवासेन वस्तव्यम् ? वरं देशपरित्यागो न तु कुमारवासेन वासम्———स ताभ्यां विप्रलब्धः कथयति—किमत्र युक्तम् ? कथं प्रतिपत्तव्यमिति ? तौ कथयत —देव, प्रघातयितव्योऽसौ यदि न प्रघात्यते, नियतं दुष्टामात्यविग्राहितो देव प्रघातयतीति स कथयति, कथं पितरं प्रघातयामीति ? तौ कथयत —न देवेन श्रुतम् ?

> पिता वा यदि वा भ्राता, पुत्रो वा स्वागनि सुत , प्रत्यनीकेषु वर्तेत कर्तव्या भूमिवर्धना (१)
> (दिव्यावदान पृ० ४७८)

इन्ही भावो को आचार्य हेमचन्द्र ने निम्न शब्दो मे प्रकट किया है :

> ज्ञात्वोदायनमायात केश्यमात्यैर्भणिष्यते, निर्विण्णस्तपसामेष नियतं तव मातुल' ।
> ऋद्ध राज्य ह्यैन्द्रपदं तत्त्वस्यानुशय दधात्, नून राज्यार्थमेवागाद्विश्वसीर्मा स्म सर्वथा ।
> केशी वक्ष्यत्यसौ राज्यं गृह्णात्वद्यापि कोऽस्म्यहम्, गोपालस्य हि कः कोपो धन गृह्णाति चेद्धनी ।
> वक्ष्यन्ति मंत्रिण पुण्यैस्तव राज्यमुपस्थितम्, प्रदत्त न हि केनापि राजधर्मोऽपि नेदृश. ।
> पितुर्भ्रातुर्मातुलाद्वा सुहृदो वापरादपि, प्रसह्याप्याहरे प्राज्यं तदत्त को हि मुञ्चति ।
> तैरेवमुदितोऽत्यर्थं त्यक्त्वा भक्तिमुदायने, केशी प्रदयति किं कार्यं दापयिष्यन्ति ते विषम् ।

महावीरचरित्र पृ० १५८.

बौद्ध ग्रथो मे रुद्रायण की रानी का नाम चन्द्रप्रभा लिखा है जब किजै नो ग्रथो मे प्रभावती नाम आता है दोनो मे भी 'प्रभा'शब्द का प्रयोग हुआ है जो अधिक ध्यान देने योग्य है इससे भी अधिक महत्त्व की बात यह है कि राजा का वीणा बजाना, रानी का नृत्य, नृत्य करती हुई रानी मे मृत्यु के चिह्न दिखाई देना, रानी की प्रव्रज्या, प्रव्रज्या की आज्ञा देने मे मृत्यु के बाद वापिस आने की शर्त राजा के द्वारा रखना, रानी की प्रव्रज्या और उसकी मृत्यु के बाद पुन राजा को उपदेश देने के लिये आना आदि घटनाओ का जो दोनो ग्रथो मे साम्य मिलता है, वह अधिक आश्चर्यजनक है दिव्यावदान और हेमचन्द्र के महावीर चरित्र मे इस विषय का जो वर्णन आया है, वह पाठसाम्य की दृष्टि से पाठको के सामने रखता हूँ

रुद्रायणो राजा वीणाया कृतावी, चन्द्रप्रभा देवी नृत्ये यावदपरेण समयेन रुद्रायणो राजा वीणां वादयति, चन्द्रप्रभा देवी नृत्यति तेन तस्या नृत्यन्त्या विनाशलक्षण दृष्टम् स तामितश्चामुतश्च निरीक्ष्य सलक्षयति-सप्ताहस्यात्ययात्कालं करिष्यति तस्य हस्ताद्वीणा स्रस्ता, भूमो निपतिता चन्द्रप्रभा देवी कथयति—देव मा, मया दुर्नृत्यम् ? देवी, न त्वया दुर्नृत्यम् अपि तु मया तव नृत्यन्त्या विनाशलक्षण दृष्टम्, सप्तमे दिवसे तव कालक्रिया भवतीति. चन्द्रप्रभा देवी पाद-योर्निपत्य कथयति-देव यद्येवम्, कृतोपस्थानाह देवस्य यदि देवो अनुजानीयात्, अह प्रव्रजेयमिति स कथयति चन्द्रप्रभे !



समयतोऽनुजानामि यदि तावत्प्रव्रज्य सर्वक्लेशप्रहाणादर्हत्त्वं साक्षात्करोषि, एषा एव दुःखान्तः. अथ सावशेषसंयोजना कालं कृत्वा देवेषूपपद्यसे, देवभूतया ते ममोपदर्शयितव्यमिति. सा कथयति—देव, एवं भवत्विति. (दिव्यावदान, पृ० ४७०)

यही वर्णन आचार्य हेमचन्द्र के महावीरचरित्र मे इस प्रकार है ·

तामन्यदार्चामर्चित्वा प्रमोदेन प्रभावती, पत्या समेता संगीतमविगीतं प्रचक्रमे ।
तानौघानुगतश्रव्यं व्यक्तव्यंजनधातुकम्, व्यक्तस्वरं व्यक्तरागं राजा वीणामवादयत् ।
व्यक्तगांहारकरणं सर्वांगाभिनयोज्ज्वलम्, ननर्त देव्यपि प्रीता लास्यं ताण्डवपूर्वकम् ।
राजान्यदा प्रभावत्या न ददर्श शिरः क्षणात्, नृत्यन्तं तत्कबन्धं तु ददर्शाजिकबन्धवत् ।
अरिष्टदर्शनेन द्राक् क्षुभितस्य महीपतेः, तदोपसर्पन्निद्रस्येवागलत् कंबिका करात् ।
अकाण्डताण्डवच्छेदकुपिता राज्ञ्यथावदत्, तालच्युतास्मि किमहं वादनाद्विरतोऽसि यत् ।
इत्थं पुनः पुनः पृष्टः कम्बिकापातकारणम्, तत्तथाख्यन्महीपालो बलीयान् स्त्रीग्रहः खलु ।
राज्यूचे दुर्निमित्तेनामुनाल्पायुरहं प्रिय, आजन्माहंद्धर्मवत्या मृत्युरप्यस्तु नास्ति भी ।
प्रत्युतानन्दहेतुर्मे दुर्निमित्तस्य दर्शनम्, तज्ज्ञापनाय भवति यत्सर्वविरतौ मम ।
अनिमित्तद्व्याख्यातालपायुषः समयोचिते, प्रव्रज्याग्रहणे मेऽद्य प्रत्यूहं नाथ मा कृथा ।
एवमुक्त. सनिर्बन्धमभ्य-धाद्वसुधाधवः, अनुतिष्ठ महादेवि यत्तुभ्यमभिरोचते ।
देवत्वमाप्तया देवि बोधनीयस्तयान्वहम्, स्वर्गसौख्यान्तरायेऽपि सोढव्यो मत्कृते क्षणम् ।

उपरोक्त अवतरणो से जैन और वौद्ध लेखो में कितनी वडी अभिन्नता है यह स्पष्ट मालूम होता है मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि दिव्यावदान के उद्रायण नाम के वदले मे जैन नाम उदायन या जैन नाम उदायन के बदले मे वौद्धनाम उद्रायण लिपि या पाठभेद के कारण ही है क्योकि वौद्धो और जैनो के ग्रन्थो में इस नाम के कई पाठभेद मिलते है. दिव्यावदान मे रुदायण ही सर्वत्र प्रयुक्त हुआ है लेकिन कई प्रतियो मे 'रुद्रायण' के स्थान मे 'उद्रायण' का भी प्रयोग हुआ है इसी प्रति मे एक जगह तो 'उद्रायण' ही पाठ आया है—

मुक्तो ग्रन्थैश्च योगैश्च शल्यैर्नीवरणैस्तथा, अद्याप्युद्रायणो भिक्षू राजधर्मैर्न मुच्यते ।—दिव्यावदान पृ० ४८०.

क्षेमेन्द्र के अवदानकल्पलता मे सर्वत्र उद्रायण का ही प्रयोग हुआ है. उदाहरणार्थ

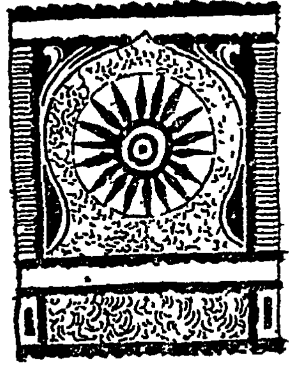
वभूव समये तस्मिन् रौरुकाख्ये पुरे नृपः, श्रीमानुद्रायणो नाम यशश्चन्द्रमहोदधिः ।
कदाचिद्दिव्यरत्नांकं कवचं कांचनोज्ज्वलम्, प्राहिणोद् विम्बिसाराय सारमुद्रायणो नृपः ।
विम्बिसारस्य हस्तांकलेखामुद्रायणो नृपः, उद्रायणस्य नृपतेरार्यः कात्यायनोऽथ सः ।

—अवदानकल्पलता पृ० २५६

इन अवतरणों से यह स्पष्ट मालूम होता है कि वौद्धग्रन्थो मे असली नाम रुद्रायण नही किन्तु 'उद्रायण' ही था. यह नाम जैन ग्रन्थकारो का भी सम्मत है भगवतीसूत्र और आवश्यक चूर्णि में 'उद्दायण' भी पाठ आता है. जिसका सस्कृत रूप 'उद्रायण' होता है जैन सस्कृत टीकाकारो ने इसी शब्द को 'उादयण' के रूप में सस्कृत किया है.

जैन और वौद्ध कथा मे कितना वडा साम्य है, यह हम ऊपर देख आये है. इस विलक्षण साम्य का मूल खोज निकालना कठिन कार्य है. इस कथा को किसने किससे उधार लिया है ? या उस समय उदायन विषयक स्वतंत्र आख्यान को जैन व वौद्धो ने अपने साँचे मे ढालने का प्रयत्न किया है ? जिसका निर्णय करना हमारी शक्ति के वाहर है.





साध्वी श्रीकुसुमवतीजी सिद्धान्ताचार्या

भारतीय संस्कृति में संत का महत्त्व

भारतीय सस्कृति मे सन्त का स्थान प्रमुख है वही भारतीय सस्कृति का निर्माता है चिरकाल से सन्तो का जो अविच्छिन्न प्रवाह चला आ रहा है, सस्कृति उसी की घोर तपश्चर्या का सरस सुफल है सन्तजनो ने जगत् के लुभावने वैभव से विमुख होकर और अरण्यवास करके जो अमृत पाया, उसे जगत् मे वितीर्ण कर दिया. उसी से सस्कृति की सस्थापना हुई, वृद्धि हुई समय-समय पर उस सस्कृति मे भी युगानुरूप सस्कार होते गए, किन्तु उसमे भी सन्तो की साधना का ही प्रमुख हाथ रहा यही कारण है कि भारतीय सस्कृति मे ऐसी प्रचुर विशेताएँ है जो विश्व के अन्य देशो मे दृष्टिगोचर नही होती सन्त का जीवन आत्मलक्षी होने पर भी जन-जन के कल्याणार्थ होता है उनका ज्ञान प्रसुप्त मानवजगत् को जागृत वनाने के लिये ही वे दीपक के समान स्वय भी प्रकाशमान है, और दूसरो को भी प्रकाश देते रहते हैं

सत के जीवन का लक्ष्य यद्यपि आत्मोत्थान होता है किन्तु उसके आत्मोत्थान की प्रक्रिया इस प्रकार की होती है कि उससे दूसरो का कल्याण अनायास ही होता रहता है परोपकार एव परोद्धार उसकी आत्म-साधना का ही एक अग होता है.

सन्त के जीवन का क्षण-क्षण, शरीर का कण-कण और मन का अणु-अणु परहितार्थ ही होता है

> सरवर तरुवर सन्त जन, चौथा वर्षे मेह ,
> परोपकार के कारणे एता धारी देह !

समुद्र अपने पास अथाह जलराशि सचय करके रखता है वह अपने लिये नही, किन्तु जगत् मे व्याप्त सताप को दूर करने और भूतल को शान्त करने के लिये ही वृक्ष मधुर-मधुर फलो एव फूलो से लदे रहते है, सो अपने लिये नही किन्तु दूसरो की क्षुधा को शान्त करने के लिये, दूसरो को सौन्दर्य और सुवास देने के लिये ही इसी तरह सन्तजन भी अपने जीवन को परहित के लिये ही धारण करते है

जिस प्रकार अगरवत्ती दूसरो को सुगन्ध प्रदान करने के लिये अपने आपको समर्पित कर देती है, अपने सम्पूर्ण शरीर को अग्निदेव की भेंट करके भी अन्य को खुशवू लुटाती रहती है, सन्त का जीवन भी ठीक इसी प्रकार का होता है. वे अपने दु खो एव कष्टो की परवाह न करते हुए पर-हितार्थ ही अपना सर्वस्व लुटा देते है

सन्त का हृदय मक्खन के समान कोमल होता है तुलसीदासजी ने कहा है .

> सत हृदय नवनीत समाना, कहा कविन पर कहिय न जाना ,
> निज दुख द्रवहि सदा नवनीता, पर दुख द्रवहिं सन्त पुनीता !

सन्त का हृदय मक्खन के समान कोमल है, यह कहना ठीक है, किन्तु स्वदु खकातर, वेचारा मक्खन परदु खकातर सन्त के हृदय का मुकावला नही कर सकता. अतएव मक्खन की उपमा सन्त के जीवन से सगत नही हो सकती.

सन्त के प्राणो पर कैसा भी विषम सकट क्यो न आ पडे, सहस्रो पीडाए क्यो न उपस्थित हो, अपमान और तिरस्कार



का गरल क्यो न पान करना पडे, वह किसी से भी अपने पर दया करने की प्रार्थना न करेगा, ज्यो-ज्यो दुख अपमान, तिरस्कार और घृणा की लपटें उसे झुलसाने के लिये अग्रसर होगी, त्यो त्यो उसका जीवन वज्र के समान होता जायेगा क्या मजाल कि उसका मन पिघल जाए, सत्त्व विचलित हो जाए वास्तव मे सन्त स्वय के लिए हिमालय की चट्टान के समान अडिग होता है किन्तु दूसरो के प्रति व्यवहार करने में कुसुम के समान कोमल हो जाता है .

'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि'

सन्त का कोमल हृदय दूसरो के दुख के भार को वहन करने मे सर्वथा असमर्थ होता है

सन्तों के प्रभाव के कतिपय उदाहरण

मानव के हृदय में रोग के जन्तु भर जाते हैं, तो उसे डाक्टर के पास जाकर इजेक्शन लेना पडता है सन्त भी एक डाक्टर है अत मानव के विकार एव पाप के जन्तुओ को दूर करने के लिये उनके पास जाना चाहिए, उनके सम्पर्क से विपाक्त मानसिक वातावरण का नाश हो जाता है

१ समर्थ गुरु रामदास और शिवाजी .

रामदास सचमुच समर्थ रामदास ही थे बचपन में उसका विवाह हो रहा था, और वे लग्नमण्डप में बैठे हुए थे, तब उन्होंने जैसे ही 'सावधान' शब्द सुना, वे सावधान हो गये और ऐसे सावधान हुए कि १२ वर्ष तक उनका पता नही लगा फिर वे सन्यासी हो गये, और घर-घर भिक्षा मागने लगे

स्वामी रामदास एक पहुँचे हुए सन्त थे उनका प्रभाव चारो ओर बिजली के समान फैल गया उस प्रभाव से महाराज शिवाजी भी प्रभावित हुए शिवाजी ने उन्हे अपना गुरु माना जब अपने गुरु को भिक्षा मागते हुए देखा तो सोचा—'मेरे गुरु और भिक्षा माँगे, क्या मैं अकेला ही उनकी आवश्यकताएँ पूर्ण नही कर सकता हूँ ?' उन्होने तत्काल पत्र लिखा, और अपने नौकर को देते हुए कहा—'जब स्वामीजी आवें तो उनकी झोली में यह चिट्ठी डाल देना यथा-समय भिक्षार्थ रामदास आये तो नौकर ने वह पत्र उनकी झोली मे डाल दिया उसमे लिखा था—'महाराज, मै अपना सारा राज्य आपको सौपता हूँ. आप भिक्षावृत्ति त्याग दें.'

सन्त रामदास ने उसे पढा और चुपचाप वहाँ से चल दिये दूसरे दिन वे शिवाजी के पास आये और बोले—'बेटा, तुमने अपना सारा राज्य मुझे दे दिया है बोलो, अब तुम क्या करोगे ?'

शिवाजी ने कहा—'गुरुदेव, जो आपकी आज्ञा हो सेवा मे सदा तैयार हूँ !'

रामदास ने कहा—'यह मेरी झोली उठाओ और मेरे साथ भीख मागने चलो.'

शिवाजी बडे विस्मित हुए पर वचनबद्ध थे उन्होंने झोली उठा ली और रामदास के साथ भिक्षा माँगने चल पडे गुरु ने उन्हे सारे गाँव मे अटन कराया और अन्त में नदी के किनारे आकर सबके साथ भोजन कराया. भोजनानन्तर गुरु ने शिवाजी से कहा—'बेटा, तुमने सारा राज्य मुझे दे दिया है, लेकिन अब मैं यह राज्य तुम्हे वापस सौपता हूँ तुम राज-काज मेरा समझकर करना और यह मेरा भगवाँ वस्त्र भी साथ रखना, जिससे तुम्हे इस राज्य के प्रति अनुरक्ति न हो' महाराष्ट्र मे आज भी उस भगवे झण्डे का महत्त्व कायम है शिवाजी ने गुरु के कथनानुसार ही राज्य चलाया, और उसके मालिक नही, ट्रस्टी बनकर काम किया. रामदास का शिवाजी पर ऐसा प्रभाव पडा.

२ श्रेणिक और अनाथी मुनि :

मगधसम्राट् पर अनाथी मुनि का प्रभाव कैसा और किस प्रकार पडा, इसका वर्णन भगवान् महावीर ने उत्तराध्ययन-सूत्र के बीसवें अध्ययन मे किया है. राजा श्रेणिक मण्डिकुक्ष नामक उद्यान में क्रीडार्थ गया वहाँ एक वृक्ष के नीचे ध्यानमुद्रा मे स्थित अनाथी मुनि को देखा



उनको देखकर ही राजा प्रभावित हो जाता है और कहता है—'अहो इन महात्मा की कमनीय कान्ति, अतुल रूप सम्पत्ति, क्षमा, सौम्यभाव तथा निर्लोभता आदि गुण धन्य हैं। इनकी निस्सगवृत्ति प्रशसनीय है '

मुनि ने ध्यान खोल कर राजा श्रेणिक को अनाथ-सनाथ का रहस्य समझाया विशदरूप मे अपना जीवन कह कर उपदेश दिया राजा श्रेणिक अनाथी मुनि का उपदेश सुनकर इतना प्रभावित हुआ कि वह बौद्धधर्म को छोड कर जैन धर्मावलम्बी बन गया

३ अगुलीमाल और महात्मा बुद्ध .

'क्षणमपि सज्जनसंगतिरेका, भवति भवार्णवतरणे नौका'

सज्जन पुरुषो की एक क्षण की भी सगति महान् फलदायिनी होती है, वह ससार रूप समुद्र से पार लगा देती है महात्मा बुद्ध की सगति का प्रभाव अगुलीमाल पर ऐसा पड़ा कि वह घोर हिंसक भी अहिंसक बन गया

श्रावस्ती के जगल मे एक लुटेरा रहता था वह मनुष्यो को लूट कर उनकी अगुलियाँ काट लेता था और उनकी माला बना कर पहनता था अत वह 'अगुलीमाल' के नाम से प्रख्यात हो गया था श्रावस्ती की सारी प्रजा उससे हैरान थी. राजा भी उसको अपने वश मे नही कर सकता था यह बात सुनकर महात्मा बुद्ध उस जगल की ओर गये अगुलीमाल ने दूर से बुद्ध को आते हुए देखा तो सोचा—'इस जगल मे कोई भी अकेला आने की हिम्मत नही करता यह मानव कैसे अकेला आ रहा है ? क्या इसे अपनी जान प्यारी नही है ?' वह बुद्ध के सामने आया और खडा होकर बोला—'ठहरो, आगे मत बढो' तब चलते-चलते ही महात्मा ने कहा—'मैं तो खडा हूँ, लेकिन तुम खडे रहो ' यह सुनकर वह लुटेरा असमजस मे पड गया और सोचने लगा—'यह कैसा मानव है, जो स्वय चल रहा है फिर भी अपने को खडा कह रहा है और मै खडा हूँ फिर भी मुझे कहता है—'खडे रहो '

बुद्ध ने उस दस्यु को उपदेश देते हुए कहा—'भाई, मैं तो प्रेम और मैत्री मे स्थिर हूँ, लेकिन तू अभी अस्थिर है अत स्थिर हो जा ' महात्मा बुद्ध की वाणी का उस लुटेरे पर ऐसा प्रभाव पडता है कि वह उसी क्षण तथागत का शिष्य बन गया

४ हेमचन्द्राचार्य और कुमारपाल .

परमशैव कुमारपाल पर हेमचन्द्राचार्य का ऐसा प्रभाव पडा कि वह परमार्हत बन गया

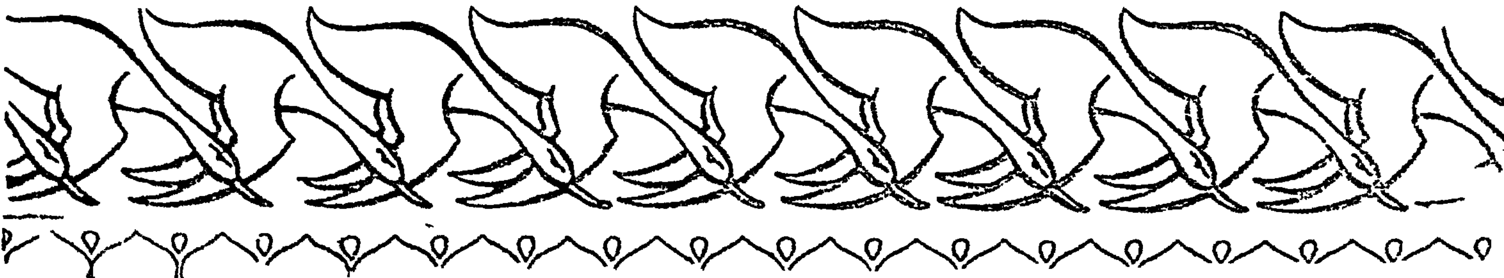
एक दिन हेमचन्द्राचार्य गोचरी (भिक्षा) लेकर आये ही थे कि कुमारपाल आचार्य के दर्शनार्थ आ पहुँचे राजा ने अपने गुरु आचार्य के पात्र में मक्की की घाट (दलिया) देखी कुमारपाल ने कहा—'स्वामिन् ! आप मेरे गुरु होकर यह मक्की की घाट लाते है ? क्या आपको सुन्दर पौष्टिक आहार नही मिलता ?'

आचार्य ने कहा—'इस ससार मे बहुत ऐसे गरीब मानव है जिनको उदरपूर्ति करने को घाट भी प्राप्त नही होती हे उनकी अपेक्षा तो मैं बहुत ही सुखी हूँ '

आचार्य के शरीर पर जीर्ण-शीर्ण वस्त्र देखकर कुमारपाल ने कहा—'आप मेरे जैसे राजा के गुरु होकर फटे हुए और मोटे वस्त्र क्यो धारण करते है ?' आचार्य ने उत्तर दिया—'राजन् ! मुझे ऐसे वस्त्र तो मिलते हैं किन्तु बहुत से गरीब लोगो को तो लज्जानिवारणार्थ फटे वस्त्र भी उपलब्ध नही होते है कलिकालसर्वज्ञ आचार्य से कुमारपाल बहुत ही प्रभावित हुए.

५ हीरविजय सूरीश्वर और सम्राट् अकबर :

अकबर पर सूरीश्वर का ऐसा प्रबल प्रभाव पडा कि आचार्य ने अकबर के जीवन मे अहिंसा की ज्योति जगा दी हीरविजय सूरि अकबर के राजदरबार मे जाकर उपदेश देते थे उससे प्रभावित होकर अकबर ने अपने राज्य मे 'अमारी' की घोषणा करवा दी सच्चे सत का प्रभाव विश्व पर ऐसा पडता है



संत की विशेषता

सत पुरुष के जीवन मे कितनी ही आपत्तियाँ क्यो न आ पडे, उसके चित मे तनिक भी विकृति नही आती है. सत्य यह है कि दु ख काल मे सतपुरुष का जीवन और अधिक निखरता है शख को अग्नि मे डाल दिया जाय तो भी वह अपनी शुभ्रता नही त्यागता

सत पुरुष मारणान्तिक सकट के अवसर पर भी घबराते नही है किन्तु उनके जीवन से तप-सयम का सौरभ निरतर महकता रहता है

कुठार चन्दन के वृक्ष को काटता है, उसका समूल नाश करता है, फिर भी चन्दन तो कुठार के मुख को भी सुवासित करता है काटने वाले को भी सुगन्ध ही प्रदान करता है ऐसे ही साधु जन का चाहे कोई अपकार करे या उपकार, दोनों पर उस की दया-दृष्टि समान रहती है.

साधु के लक्षण—साधु पुरुष वह है जो, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जीवन मे धारण करके अपनी इद्रियो को निगृहीत कर लेते है सन्त पुरुष इन्द्रियो के दास नही होते, किन्तु 'गोस्वामी' होते है वे सदा भिक्षा-जीवी होते है और रसनेद्रियविजयी. सहज रूप से जो भी निर्दोष रूखा-सुखा उपलब्ध हो जाय, उसे ही अपने समभाव के साँचे मे ढालकर अमृत बना लेते है. रसनेन्द्रिय पर विजय प्राप्त करना बहुत ही दुष्कर है, किन्तु सच्चे सत के लिये कोई भी कार्य दुष्कर नही होता

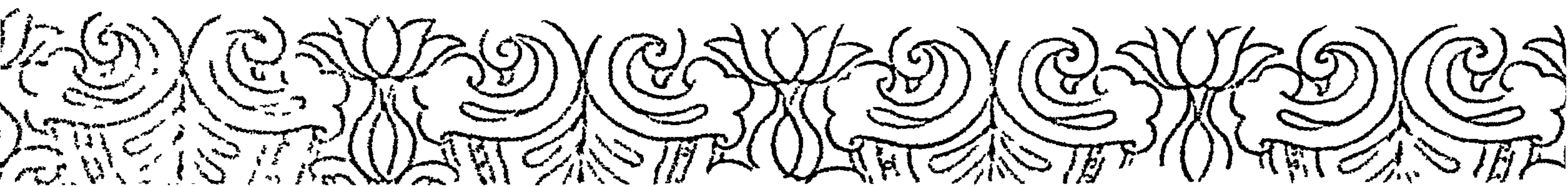
क्रोध की आधी सन्त पुरुष के मन-मानस में किंचित् भी क्षोभ उत्पन्न नही कर सकती. मान रूप सर्प उस पर आक्रमण नही कर सकता. उनका अन्त करण निश्छल एव सरल होता है लोभ रूप अजगर उन्हे ग्रसित नही कर सकता है. उनके जीवन मे कषायो का प्राबल्य नही होता है. वे जानते है कि कषायो का प्रशमन ही सन्तजीवन का सर्वोपरि लक्ष्य है भावसत्य, करणसत्य, योगसत्य, क्षमावान्, वैराग्यवान्, मन समाधारणीय, वच.समाधारणीय, काय समाधारणीय, ज्ञान-सपन्नता, दर्शनसम्पन्नता, चारित्रसम्पन्नता, वेदनाध्यास, मारणान्तिकसमाध्यास आदि इन सताईस गुणो से जो युक्त हो, वे ही साधु पुरुष माने जाते है वे षट्निकाय जीवो की रक्षा करते है, आठो मदो के त्यागी होते है, नववाड़ सहित शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करते है, दस प्रकार के यतिधर्म, बारह प्रकार की तपस्या के और सत्रह प्रकार के सयम के पालन-कर्त्ता होते है उनके जीवन में चाहे कितने ही परिषह उपस्थित हो, कभी घबराते नही है, बल्कि सहर्ष परिषह सहन करते है, क्योकि वे जानते है कि कष्टो के साथ सघर्ष करना ही आत्मिक शक्ति की वृद्धि का रहस्य है.

सत की कष्टसहिष्णुता—सत अपने प्राण बचाने के लिये, दूसरो को कष्ट की भट्टी मे नही झोकते वे समय आने पर अपने प्राणो की बाजी लगाकर भी दूसरो की रक्षा ही करते है. कहा है

> 'विपद्यपि गता सतः पाप कर्म न कुर्वते,
> हंस कुक्कुटवत्कीटं नात्ति किं क्षुधितोऽपि हि.'

हस चाहे कितने ही दिन भूखा रह जाय, कुक्कट के समान कीट भक्षण नही करता. ऐसे ही सतजन के जीवन मे कितने ही घोर सकट क्यो न समुपस्थित हो जाय फिर भी पाप कर्म में उनकी प्रवृत्ति नही होती है.

मेतार्य मुनि भिक्षार्थ नगर मे घूम रहे थे. बीच से एक स्वर्णकार का घर आता है, और मुनि उसके वहा भी भिक्षार्थ पधारते है उस समय स्वर्णकार सोने के यव बना रहा था उनको वही पर छोडकर मुनि को आहारदान देने के लिये वह रसोई घर मे जाता है. अचानक आकर एक कुक्कुट उन स्वर्ण-यवो को चुग जाता है स्वर्णकार मुनि को भिक्षा देकर बाहर आता है तो स्वर्णयव नही दिखाई देते स्वर्णकार को मुनि पर ही आशंका होती है. वह मुनि से पूछता है किन्तु मुनि एकदम मौन रहते है. मुनि को ज्ञात था कि स्वर्णयवो को कुक्कुट चुग गया है, किन्तु उसे प्रकट कर देने से कुक्कुट को प्राणो से हाथ धोना पडेगा स्वर्णकार इस मौन का अर्थ समझता है कि स्वर्णयवों को चुराने वाला यही



मुनि है आग बबूला होकर उसने मुनि के शरीर पर सिर से लगाकर पैर पर्यन्त गीला चमडा गाढ बन्धनो से बाध दिया ज्यो-ज्यो चमडा सुखता है, त्यो-त्यो मुनि के शरीर की नसो के जाल टूटने लगे ऐसे समय मे भी मुनि ने नही प्रकट किया कि कुक्कुट ने यव खायें है अपने प्राणो की आहुति देकर भी उन्होने उसकी जान बचाई

वहाँ काष्ठभारी डालने वाला आता है ज्यो ही वह काष्ठ की भारी को भूमि पर डालता है, जोर का शब्द होता है और उसके भय से कुक्कुट वीट करता है उसमे वे स्वर्णयव निकल आते है उन स्वर्णयवो को देखकर स्वर्णकार को अपनी अविचारित करनी पर महान् पश्चात्ताप होता है वह सोचता है—'हाय, निर्दोष मुनि की हत्या का पाप मैने कर डाला' उसे इतना पश्चात्ताप होता है कि वह घर-बार छोडकर उसी समय मुनि बन जाता है

सत पुरुष के जीवन मे इस प्रकार की कष्टसहिष्णुता और दयालुता होती है

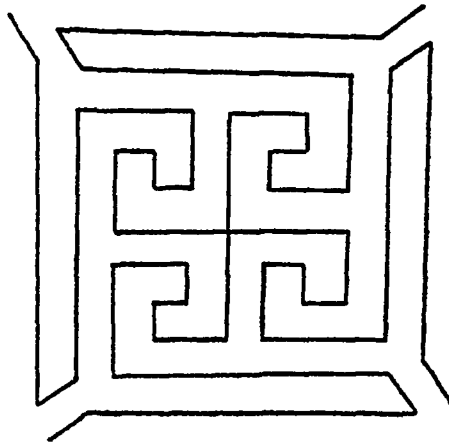
सत का आंतरिक जीवन—भ० महावीर का कथन है कि आतरिक जीवन की पवित्रता के विना कोई भी वाह्य आचार, कोई भी *क्रियाकाण्ड या गम्भीर विद्वत्ता व्यर्थ* है सख्या के विना हजारो विन्दुओ का कोई मूल्य नही है, धन राशि के विना तिजोरी का कोई महत्त्व नही है, उसी प्रकार अन्त शुद्धि के विना आध्यात्मिक दृष्टि से बाह्याचार का कोई मूल्य नही है जो क्रियाकाण्ड केवल काय से किया जाता है, और अन्तरतर से नही किया जाता है, उससे आत्मा पवित्र नही बनती आत्मा को निर्मल और पवित्र बनाने के लिये आत्मस्पर्शी आचार की अनिवार्य आवश्यकता है

सभी सन्त समान तो नही होते किन्तु विश्व मे अनेको ही ऐसी विरल विभूतियाँ भी आपको दिखाई देगी जो अत-शुद्धि पूर्वक बाह्य क्रियाये करती है ऐसे व्यक्ति अभिनन्दनीय है वे नि स्सन्देह परम कल्याण के भागी होते हैं.

सत के जीवन मे प्रथम निश्चय भाव आता है और फिर व्यवहार भाव निश्चय का अभिप्राय है, अपने मन मे किसी आदर्श अथवा लक्ष्य को स्थापित करना जब मनुष्य, जीवन का लक्ष्य निर्धारित कर लेता है तो वह सोचने लगता है कि वह कौन से मार्ग पर आगे बढे, कौनसी प्रेरणा लेकर चले तो लक्ष्य को प्राप्त करले ? ऐसा मानव ही बुराइयो से लडेगा और अच्छाइयो को ग्रहण करेगा इस प्रकार निश्चय भाव पहिले और व्यवहार भाव बाद मे आता है.

सतो का अतर्मानस सदा जागृत रहता है वह आतरिक जीवन मे कभी सोता नही है भले ही वे ऊपर-ऊपर से सोये हुए दिखाई दें किन्तु उनका अन्तार्जीवन निरन्तर जागरूक बना रहता है भगवान् महावीर ने फरमाया है—"सुत्ता अमुणी, मुणिणो सया जागरति" —आचाराग

सत के जीवन मे ज्ञान रूप ज्योति निरन्तर जगमगाती रहती है उनके जीवन से विश्व मे तप-सयम रूप सौरभ निरन्तर महकती रहती है उनके जीवन मे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र का अक्षय कोष भरा रहता है इस प्रकार सन्त का आन्तरिक जीवन तप, जप की ज्योति से जाज्वल्यमान होता हुआ विशुद्धि की ओर बढता चला जाता है.





श्रीकलावती जैन

जैनागम और नारी

आगमसाहित्य मे नारी का महत्त्व—समाजरचना मे नारी और पुरुष दोनो का समान महत्त्व रहा है समाज का अर्थ है स्त्री और पुरुष उसका अर्थ न केवल पुरुष है और न केवल स्त्री. समाज के विकास मे दोनो का पृथक् अस्तित्व, कोई मूल्य नही रखता दोनो विश्वरथ के दो चक्र है. उसमे न कोई छोटा न कोई बडा. दोनो की समानता ही रथ की गति-प्रगति है दोनो ही समाज या विश्व-व्यवस्था के सहज-स्वाभाविक, अनिवार्य एव अभिन्न अग है, दोनो एक-दूसरे के परिपूरक है, सहायक है, सहयोगी हैं. समाज, राष्ट्र एव विश्व के विकास में, विश्व-इतिहास को नई गति देने मे पुरुष के साथ स्त्री का भी महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है इतिहास के पन्नो को पलट कर देखे, आपको स्वर्णाक्षरो मे अकित मिलेगा कि नारी ने हर युग मे विश्व को, मानव जाति को नई ज्योति, नई प्रेरणा एव नई चेतना दी है इतिहास नारी के उज्ज्वल आदर्श एव तप-त्याग-निष्ठ जीवन का साक्षी है

श्रमण-संस्कृति में नारी का महत्त्व—श्रमण-सस्कृति समता और साम्यभाव की सस्कृति है वह आत्मविश्वास एव गुण-विकास को महत्व देती है श्रमण सस्कृति के महान् उन्नायको ने आत्म-साधना के क्षेत्र मे जाति-भेद, वर्ग-भेद, और रग-भेद आदि को कभी स्वीकार नहीं किया श्रमण भगवान् महावीर का यह वज्र आघोष रहा है कि साधना करने का, आत्म-विकास करने का, मुक्ति प्राप्त करने का सबको समान रूप से अधिकार है आत्मस्वरूप की दृष्टि से विश्व की समस्त आत्माएँ एक-सी है जो अनन्त गुण युक्त आत्म-ज्योति पुरुष मे है, वैसी ही आत्म-ज्योति नारी में है. अत साधना के क्षेत्र मे नर-नारी के भेद का कोई मूल्य नही है मूल्य है राग-द्वेष पर, काम-क्रोध पर, कषायो की आग पर विजय पाने का. जो व्यक्ति-भले ही स्त्री हो या पुरुष, राग द्वेष क्षय कर देता है, वही महान् है, विश्व-वद्य है

उस युग मे जब कि वैदिकपरम्परा का जोर था और उसमे स्त्री एव शूद्र को धर्म-साधना करने का, वेद पढने एव सुनने का कोई अधिकार नही था, श्रमण भगवान् महावीर ने नारी को अपने सघ मे पुरुष के समान स्थान एव समान अधिकार दिया और निर्भयता पूर्वक यह घोषित किया कि नारी भी साधना के द्वारा अपने जीवन का विकास कर सकती है. आत्मा के परमलक्ष्य मुक्ति को प्राप्त कर सकती है अनन्त शान्ति का साक्षात्कार कर सकती है. उस युग मे भगवान् महावीर की यह एक महान् क्रान्ति थी, जिसके लिये उन्हे हजारो-हजार गालियाँ दी गई, उनका प्रबल विरोध भी किया गया. परन्तु वह सत्य एव अहिंसा का अधिदेवता इससे डरा नही, विकपित नही हुआ वह अविचल भाव से सत्य का नाद गुँजाता रहा और बिना किसी भेद-भाव के सबको सत्य का, साधना का पथ दिखाता रहा. उसकी सन्निधि मे पुरुष आया तो उसे भी साधना का पथ दिखाया और जब नारी उसकी सेवा में पहुँची तो उसे

भी साधना की उसी ज्योति का दर्शन कराया उसकी साधना का द्वार सब के लिये खुला था. उसने स्त्री का भी स्वागत किया और पुरुष का भी.

तथागत बुद्ध भी भगवान् महावीर के समकालीन महापुरुष थे जाति-भेद की दीवार को तोडने एव हिंसक यज्ञों का विरोध करने मे भगवान् बुद्ध ने साहस का परिचय दिया उनके मन मे भी नारी के प्रति सम्मान और आदर के भाव थे उस युग की गणिकाओ के जीवन को बदलने के लिये उन्होने भी महत्वपूर्ण काम किया परन्तु उनके जीवन मे यह एक महान् कमजोरी थी कि वे नारी को अपने भिक्षुसघ मे स्थान नही दे सके जब कभी उनके प्रमुख शिष्य आनन्द ने उनके सामने नारी को श्रमणदीक्षा देने का प्रश्न रखा, तब उन्होने उसे टालने मे ही अपना हित समझा और वे अन्त तक उसे टालते ही रहे अन्त मे आनन्द एक बहिन को—जो भगवान् बुद्ध की परम शिष्या एव अनन्य भक्ता थी—ले आया और भगवान् बुद्ध से निवेदन किया कि यह बहिन आपके श्रमण-सघ मे प्रविष्ट होने के लिये सब तरह योग्य है और आपके उपदेश को जीवन मे साकार रूप देने के लिये सर्वथा उपयुक्त है, ऐसा मैंने देख लिया है अत इसे आप श्रमण-साधना का, भिक्षुणी बनने का उपदेश दें भगवान् बुद्ध इसके लिये तैयार नही थे परन्तु वे आनन्द के आग्रह को टाल न सके. उन्होने आनन्द से इतना ही कहा 'हे आनन्द ! मै यह कार्य केवल तुम्हारे प्रेम एव आग्रह को रखने के लिये कर रहा हूँ और तुम्हारे स्नेह के कारण ही यह खतरा उठा रहा हूँ मैं इसे भिक्षुणी बना रहा हूँ ' उन्होने आनन्द के आग्रह को रखने के लिये भिक्षुणी-सघ की स्थापना की. परन्तु उनके साथ यह स्पष्ट कर दिया कि—'हे आनन्द ! मेरा यह शासन एक हजार वर्ष चलता, वह अब पाच-सौ वर्ष ही चलेगा '

इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि तथागत बुद्ध के मन मे भय या डर था. उन्हे व्यावहारिक भूमिका छू गई थी परन्तु भगवान् महावीर व्यावहारिक भूमिका से ऊपर उठ चुके थे. उनके मन मे, उनके जीवन के किसी भी कोने मे भय एव डर को कोई स्थान नही था इसलिए साधना के क्षेत्र मे उन्होने स्त्री और पुरुष मे तत्त्वत कोई भेद नही रखा. चतुर्विध-सघ मे श्रमणियो-साध्वियो को श्रमण-साधु के बराबर स्थान दिया और श्राविकाओ को श्रावक के समान उन्होने साधु-साध्वी श्रावक-श्राविका चारो को तीर्थ कहा और चारो को मोक्ष-मार्ग का पथिक बताया

आगमसाहित्य में नारी का स्थान—भगवान् महावीर की अभेद विचारधारा का ही यह प्रतिफल है कि उनके श्रमणसंघ मे श्रमणो की अपेक्षा श्रमणियो की सख्या अधिक रही है और उपासक वर्ग मे भी श्रमणोपासको से श्रमणोपासिकाएँ सख्या मे द्विगुणाधिक थी श्रमण १४००० थे, तो श्रमणियाँ ३६००० थी, और आज भी साधुओ से साध्वियो की और श्रावको से श्राविकाओ की सख्या अधिक है यह सख्या इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है कि भगवान् महावीर के शासन मे नारी का जीवन विकसित एव प्रगतिशील रहा है

आगम-साहित्य का अनुशीलन-परिशीलन करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि अगाम-साहित्य मे नारी के ज्योतिर्मय जीवन की गौरवगाथा स्वर्णाक्षरो मे अकित है भगवतीसूत्र मे कौशाम्बी के शतानीक राजा की बहिन जयन्ती के चिन्तनशील उर्वर मस्तिष्क एव तर्कशक्ति का परिचय मिलता है वह निर्भय एव निर्द्वन्द्व भाव से भगवान् महावीर से प्रश्न पूछती है, और भगवान् महावीर उसके तर्को का समाधान करते है इस विचार-चर्चा मे उसकी सूक्ष्म तर्कशक्ति का परिचय मिलता है और इससे यह परिज्ञात होता है कि इसके पीछे उसका विशाल अध्ययन, गहन चिन्तन एव सतत स्वाध्याय साधना का बल था.

दशवैकालिक-सूत्र मे राजमती और रथनेमि का सवाद मिलता है राजमती जब भगवान् नेमिनाथ के दर्शनार्थ गिरनार पर्वत पर जा रही थी, तब मार्ग मे वर्षा से भीगे हुए वस्त्रो को सुखाने के लिये वह एक गुफा मे प्रविष्ट हुई वहाँ भगवान् नेमिनाथ के लघु भ्राता रहनेमि ध्यान साधना मे सलग्न थे राजमती के सौन्दर्य को देखकर उनका मन विचलित हो उठा और वह साधना एव सयम के बाध को तोड कर भागने लगा रहनेमि ने राजमती के सामने भोग भोगने का प्रस्ताव रखा उस समय सयमनिष्ठा राजमती ने पथ-भ्रष्ट एव वासना की ओर जाते हुए रहनेमि को साधना-पथ पर लगाने का प्रयत्न



किया और इसमे वह पूर्णतया सफल हुई आगम मे उपलब्ध सवाद से उसकी निर्भयता, उसके सयम उसके ज्ञान और उसकी समझाने की अद्‌भुत शक्ति का बोध होता है

वाहुवली के अभिमान को चूर-चूर करने वाली भगवान् ऋषभदेव की दो पुत्रियाँ—ब्राह्मी और सुन्दरी ही थी, जो उनकी वहिनें थी उन साध्वियो द्वारा जगाई गई चेतना, और दिया गया उपदेश एक राजस्थानी कवि के शब्दो में आज भी जन-जन की जिह्वा पर बसा हुआ है और अभिमान एव अहभाव के नशे से मदोन्मत्त बने मानव को निरहकारी बनने की प्रेरणा देता है.

'वीरा म्हारा गज थकी उतरो,
गज चढयां केवल न होसी रे!'

उत्तराध्ययन-सूत्र के चौदहवे अध्ययन मे भृगु पुरोहित का वर्णन आता है. भृगु पुरोहित अपने दो पुत्रो के वैराग्य से प्रभावित होकर अपनी पत्नी के साथ दीक्षा लेने को तैयार हुआ, तो राजा ने उसके धन वैभव को अपने भडार में लाकर जमा करने की आज्ञा दी. जव राजा की पत्नी महारानी कमलावती को इसका सकेत मिला तो उसने राजदरबार मे उपस्थित होकर राजा को उपदेश दिया, उसकी धन-लिप्सा को दूर किया, मोहनिद्रा को भग किया, और उसे प्रतिबोध देकर अपने साधनापथ का पथिक वनाया

अन्तकृत्‌दशाग सूत्र मे मगध के सम्राट् श्रेणिक की महाकाली, सुकाली आदि दस महारानियो का वर्णन है, जिन्होने श्रमण भगवान् महावीर के उपदेश से प्रतिबोध पाकर साधना-पथ स्वीकार किया जो महारानी राजप्रासादो में, रहकर विभिन्न प्रकार के रत्नो के हार एव आभूषणो से अपने शरीर को विभूषित करती थी, वे जब साधना के पथ पर गतिशील हुई तो कनकावली, रत्नावली आदि तपश्चर्या के हारो को धारण करके अपनी आत्म-ज्योति को चमकाने लगी.

इस तरह आगम-साहित्य के अनेक पृष्ठो पर नारी के तप, त्याग एव सयमनिष्ठा आदर्श तथा ज्योतिर्मय जीवन की कहानी स्वर्णाक्षरो मे अकित है. इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रमण-सस्कृति मे, आगमसाहित्य मे नारी का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है नारी का यह महत्त्व उसके तप-त्याग, सहिष्णुता, दया-करुणा, वात्सल्य आदि गुणो के कारण रहा है. भगवान् महावीर ने ही नही, वर्तमान युग में महात्मा गाधी ने भी नारी की महत्ता को स्वीकार किया है. बापू ने अग्रेजी के 'हरिजन' पत्र मे नारी की परिभाषा देते हुए उसे अहिंसा की साकार मूर्ति कहा है.—Woman is incarnation of Ahimsa.

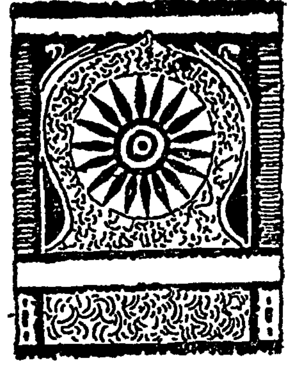
जैनाचार्यो ने भी नारी की गौरवगाथा गाई है आचार्य जिनसेन के साहित्य मे नारी के आदर्श जीवन का उज्ज्वल चित्रण है. एक जगह आचार्य ने लिखा है .

"गुणवती नारी ससार मे सर्व श्रेष्ठ पद को प्राप्त करती है उसका नाम अग्रिम पक्ति में सवसे ऊपर अकित रहता है."

अस्तु, नारी का समाज के विकास मे युग-युगान्तर से सहयोग रहा है. उसकी तेजस्विता, सहिष्णुता, श्रद्धा-निष्ठा एवं तप-साधना सदा अद्‌भुत रही है देश, समाज एव धर्म की रक्षा के लिये वह अपना सर्वस्व न्योछावर करने में कभी पीछे नही रही. अत नारी को नगण्य समझना और उसके महत्त्व को अस्वीकार करना, सत्य को झुठलाना है नारी श्रद्धा-सयम, समता-ममता एव सहिष्णुता की सजीव मूर्ति है, गृहदेवी है और प्रतिपल विश्ववाटिका को अपने वात्सल्य-पीयूष से सिंचित करती रहती है. उसकी स्नेह-धारा युग-युगान्तर से प्रवहमान रही है और-आज भी सतत गति से प्रवहमान है. वह क्या है और उसका क्या कर्तव्य है, इस सम्बन्ध मे महाकवि जयशकरप्रसाद का यह पद्य ही पर्याप्त है .

'नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग-पग तल में,
पीयूष स्रोत-सी वहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में!'





श्रीनथमल दूगड तथा श्रीगजसिंह राठौड

श्री एल०पी० जैन और उनकी संकेतलिपि

गहुआ वर्ण, ठिगना कद, विचारशील मेधावी मस्तक, ब्रह्मचर्य के तेज से देदीप्यमान चौडा ललाट, छोटे पर तेजस्वी हल्के नीले नेत्रो वाले, सात भाषाओ के शॉर्टहैण्ड के प्रसिद्ध आविष्कारक श्री एल० पी० जैन का पूरा नाम 'श्रीलादूराम पूनमचन्द खिंवेसरा' था, जो ब्यावर मे 'मास्टर साहब' के नाम से ज्यादा प्रसिद्ध थे

धर्म मे अविचल श्रद्धा रखने वाली यह त्यागमूर्ति ब्यावर मे अपने जीवन के अन्तिम चालीस वर्षो से शिक्षा के क्षेत्र मे एक लगन से लगी रही एव अपनी निष्काम सेवा तथा त्याग के बल पर सैकडो विद्यार्थियो के हृदयो मे पथ-प्रदर्शक आदरणीय गुरु के रूप मे पूज्य बन गई

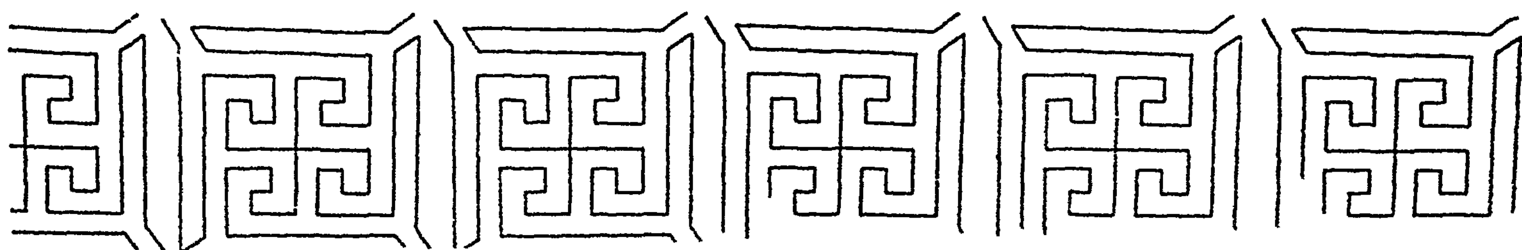
प्रात चार बजे वे उठ जाते थे एक घटा ध्यान एव स्वाध्याय मे लगाते ठीक पाँच बजे प्रार्थना और उसके बाद मील डेढ मील टहलने एव अन्य शारीरिक कार्य से निवृत्ति के पश्चात् मुनिदर्शन का उनका निश्चित कार्यक्रम जीवन भर निर्द्वन्द्व गति से चलता रहा.

सन् १९३९ तक उनका अधिकाश समय धार्मिक शिक्षा एव व्यवस्था मे बीता, पर इसके बाद अधिकाश समय शास्त्र-पठन, स्वाध्याय एव आत्मचिन्तन-मनन मे, एव थोडा जैन सकेतलिपि के विकास एव प्रचार मे लगता था.
वे 'धर्म-शिक्षा,' 'धर्म-शास्त्र' एव 'सकेतलिपि' इन तीन विपयो पर विस्तार से विचारविनियम करना पसन्द करते थे. अन्य किसी प्रश्न का वे उत्तर देना पसन्द नही करते थे शास्त्रस्वाध्याय की ओर उनकी गहरी रुचि थी कई शास्त्र इन्होने कण्ठस्थ कर लिये थे

उनका जन्म बैंगलोर मे हुआ और शिक्षाप्राप्ति के पश्चात् वे पैत्रिक व्यवसाय मे लग गए मगर परिस्थितियो ने उन्हे शीघ्र ही व्यवसाय-विमुख बना दिया ब्यावर मे सन्तसमागम बराबर बना रहते देखकर और शास्त्र-अध्ययन और स्वाध्याय के लिये उपयुक्त स्थान समझ कर सन् १९२१ के प्रारम्भ मे बैंगलोर से अपना समस्त कारोबार समेट कर वे ब्यावर आ गये. बैंगलोर मे रहते समय ही उनकी इच्छा जैन श्रमणदीक्षा लेने की हो गई थी पर विधि का विधान कुछ और ही था

ब्यावर नगर और आसपास के स्थानो मे धार्मिक शिक्षण की कमी उन्होने देखी, साथ ही लोगो की जिज्ञासा भी देखी. इससे उनको कुछ स्फूर्ति मिली आये थे केवल अपना हित करने, पर करने लगे दूसरो के भी ज्ञानलाभ की बात धुन के पक्के थे ही तुरन्त अपना मार्ग निश्चित किया और एक 'जैन-पाठशाला' की स्थापना कर दी प्रौढ लोगो को धार्मिक शिक्षण देने के निमित्त एक रात्रिपाठशाला भी चलाने लगे फिर तो एक छात्रालय भी स्थापित हो गया और शिक्षा की सुन्दर व्यवस्था हो गई

शनै-शनै धार्मिक ज्ञान के लिये और प्रमुख रूप से उच्च धार्मिक ज्ञान के लिये सस्कृत भापा का ज्ञान जरूरी समझा गया और इस हेतु जो छ माह का पाठ्यक्रम रखा गया था, उसे बदला गया और आठ वर्ष का किया गया. इसके सचालन के लिये एक अलग सस्था का भी 'श्री जैन-वीराश्रम' के नाम से निर्माण किया गया इस मे सस्कृत पाली एव अर्द्धमागधी भापा के ग्रन्थो के तथा दर्शन आदि विपयो के अध्यापन का प्रबन्ध किया गया



उनकी अनेक देनो में सवसे महत्त्वपूर्ण देन 'जैन सकेतलिपि' के रूप में अमर रहेगी इस सकेतलिपि के आविष्कार की भूमिका अपने चरित्रनायक के ही शब्दो मे हम नीचे उद्धृत कर रहे है·

'कई वर्षो से मेरे हृदय में यह तरग उठ रही थी कि सर्व देशवासियो का एक ही भापा में वोलना तो असम्भव है किन्तु सम्भव है कि लेखनप्रणाली मे कुछ सफलता मिल जाय इससे प्रेरित होकर मैंने सोचा कि एक ऐसी लिपि का आविष्कार किया जाय कि जिसके सकेत इतने सरल और थोडे हो, जिनको किसी भी भापा मे किसी भी देश का रहनेवाला विद्वान् समझ सके और मात्र तीन या चार महीने के थोडे से परिश्रम से सीख सके.

इस लिपि के सकेत इतने व्यापक हो कि किसी भी देश की किसी भी भाषा का शब्द इसमे सरलता से अकित किया जा सके. लिखने में भी यह इतनी सक्षिप्त हो कि जिसको वक्ता की भाषा का थोडा वहुत भी ज्ञान हो वह वक्ता के मुह से निकले हुए शब्दो को शीघ्रता से इस लिपि में नोट कर सके. किन्तु मेरे हृदय मे इस लिपि के लिये इतनी प्रबल उत्तेजना नही थी कि शीघ्र ही व्यवस्थित कर दी जाय

'इसे शीघ्र व्यवस्थित न करने मे मुख्य आपत्ति यह थी कि इसका प्रत्येक सकेत, चाहे कितने ही सकेतो मे मिल जाने पर भी, अपनी ही शक्ल का द्योतक वना रहे यानि दो सकेतो के मिल जाने पर भी तीसरे सकेत का सन्देह न हो जाय. क्योकि मेरी इच्छा थी कि प्रत्येक शब्द व वाक्य को अकित करने मे जहाँ तक हो कलम कम उठाई जाय.

'इन सकेतो के मिलान की आपत्ति ने ही मुझे विशेष झझट मे डाल दिया. विलम्ब होने का मुख्य कारण यही था. इन्ही आपतियो पर विचार करते हुए जव कि श्रीमान् जैनाचार्य पूज्यवर मुनि श्रीजवाहिरलालजी महाराज के अपूर्व और विलक्षण प्रभावोत्पादक भाषणो को मैने सुना, तो मेरी यह इच्छा हो जाना स्वाभाविक ही थी कि ऐसा यत्न शीघ्र किया जाय जिससे हर एक मनुष्य उनके भावो का जिस समय भी चाहे मनन कर सके.

'जव कि देश के प्रसिद्ध नेता प० मदनमोहनजी मालवीय आदि विद्वानो ने भी उनके भाषणो की मुक्त कण्ठ से प्रशसा की है और यह भी सुनने मे आया है कि इन्ही पूज्य श्री की रचित 'धर्मव्याख्या' नामक पुस्तक की ससारप्रसिद्ध महात्मा गाधीजी ने भी प्रशसा की है और उसका अनुवाद अग्रेजी मे होने की भी आवश्यकता बतलाई है तो फिर भला यदि मेरे हृदय मे उनके अमूल्य उपदेशो को सग्रह करने के भाव जागृत हुए तो इसमे विशेषता ही क्या है ? इसी उद्देश्य से प्रेरित हो, मैं इस उपरोक्त 'सकेतलिपि' की ओर विशेष लक्ष्यपूर्वक परिश्रम करने लगा हर्ष का विषय है कि मैं उपरोक्त सर्व आपत्तियो को निवारण करता हुआ, गुरुकृपा से इस लिपि-आविष्कार के कार्य मे सफल हुआ. इस सफलता के उत्साह ने ही मुझे इस सकेतलिपि (शार्टहैण्ड) मे सर्वप्रथम पुस्तक लिखने के लिये प्रेरित किया है.

'मनुष्य जव कुछ वोलता है तो वह वैज्ञानिक रूप शब्द यानि आवाज करता है उन्ही शब्दो के भिन्न-भिन्न सकेत होते है. उन्ही सकेतो से अनेक शब्द व वाक्य वनते है. वे सकेत वहुत अधिक नही है अर्थात् थोडे से है. और यदि मनुष्य उन सकेतो को पहिचान ले तो फिर किसी भी भापा मे कोई क्यो नही वोला हो, उन शब्दो को लिपिवद्ध कर सकता है.

'मैने इस पुस्तक मे शब्दो की ध्वनि को सकेतवद्ध करने का प्रयत्न किया है और मै समझता हूँ कि एक खास सीमा तक इसमे सफल भी हो सका हूँ पाठको को उपरोक्त वातो से ज्ञात हो जायगा कि यह लिपि ध्वनि को लिपिवद्ध करने का साधन है. और इसीलिए इसके द्वारा किसी भी भाषा की ध्वनि लिखी जा सकेगी लेकिन सिर्फ ध्वनि को लिखने से ही हमारा उद्देश्य सिद्ध नही हो सकता. यो तो सव भापाओ की वर्णमालाएँ ही ध्वनियो को लिखने का साधन है परन्तु आवश्यकता है शार्टहैण्ड में एक विशेषता की, कि वक्ता के वोले हुए शब्दो को शीघ्रता से अकित कर उसके मुह से दूसरा शब्द निकलने के पहले उसको ग्रहण करने के लिये समय पर तैयार हो जाने की इसके लिये वहुत थोडे समय में मनुष्य को वहुत-सा कार्य करना पडता है. इसलिए चिह्नो के सरल होने की अति आवश्यकता है ताकि शीघ्रता पूर्वक लिखे जा सकें. इस लिपि के वद्ध करने मे सरलता और शीघ्रता पूर्वक लिखे जाने वाले सकेतो की तरफ पूर्णतया लक्ष्य रखा गया है आश्चर्य नही कि इस सकेतलिपि मे शीघ्रता से नोट लेने वाले विद्वान् थोडे ही समय मे सैकडो की सख्या मे पैदा हो जाएँ.



"इस लिपि मे शुद्धतापूर्वक लिखा हुआ लेख इसी लिपि का जानने वाला दूसरा विद्वान् भी भली भाँति पढ सकेगा दूसरे शार्टहैण्डो के सकेतो मे प्राय मोटाई और बारीकपन जरा कम ज्यादा हो जाने से मतलब कुछ का कुछ निकल आता है और वे सकेत इतने अधिक और कठिन होते है कि उनका पूर्णतया हर समय याद रखना दुष्कर हो जाता है और यदि चार छ महीने शार्टहैण्ड लिखने का अभ्यास न किया जाय तो उसे फिर कठिन प्रयास करना पडता है तब ही वह अपना कार्य उचित रूप से करने मे सफल हो सकता है इसके अतिरिक्त उन सकेतो के मोटे और पतलेपन के हेतु खास तौर का कीमती फाउन्टेन पैन रखने की आवश्यकता होती है परन्तु मैंने चिह्नो को सरल और थोडे बनाने का पूर्णतया यत्न किया है ताकि इस लिपि का जानने वाला दूसरा व्यक्ति भी इस लिपि के लेखक के लेख का अनुवाद कर सके और यदि कुछ समय तक कारणवश अभ्यास छूट भी जाय तो उन सकेतो को सिर्फ एक ही सप्ताह मे फिर से तैयार कर सके. इसके लिखने मे सिर्फ बढिया नोकदार पैंसिल ही काफी है

'उपरोक्त बातो के पढने से पाठको को यह भी भलीभाति विदित हो ही गया होगा कि इस लिपि को जानने के लिये न तो विशेष पाण्डित्य की ही आवश्यकता है, और न अधिक समय की ही इस लिपि के सकेतो पर एक साधारण पढा-लिखा यानि एक चौथी कक्षा उत्तीर्ण चतुर विद्यार्थी पूर्ण परिश्रम से सिर्फ ३ महीने के प्रयास ही से इस लिपि के सकेत पर अपना आधिपत्य प्राप्त कर सकता है और गति बढाने पर किसी भी हिन्दी वक्ता के शब्दो को शीघ्रतापूर्वक लिपि-बद्ध करने मे समर्थ हो सकता है हमे आशा है कि यह लिपि कचहरी, आफिस वक्ताओ के नोट, अध्यापको के नोट और समाचारपत्रो के सवाददाताओ को, जहाँ भी शीघ्रता की आवश्यकता होगी, उन सबके लिये समय की बचत और सुचारु रूप से कार्य साधन करने मे अति लाभदायक सिद्ध होगी

'अन्त मे मैं उन महात्मा जैनाचार्य पूज्यवर मुनि श्रीजवाहरलालजी महाराज का परम कृतज्ञ हूँ कि जिनके मधुर और विद्वात्तापूर्ण भाषण ही इसके आविष्कार के प्रधान कारण थे और उनके भाषणो को लिपिबद्ध करने की आनन्दमय आशा ही सर्व कठिनाईयो को दूर करने मे मेरा आशामय प्रदीप था जो कि मुझे सफलता तक पहुँचा सका.'

आज उनका यह प्रयास सफलता के शिखर पर पहुच गया है सैकडो की सख्या मे इस जैन सकेतलिपि से निष्णात लेखक देश भर मे फैले हुए है इस सकेत लिपि के लेखक मुख्यतया राजस्थान, मध्यप्रदेश, एव महाराष्ट्र, की विधानसभाओ मे प्रमुख रूप से सरकारी रिपोर्टरो के पद पर कार्य कर रहे है वैसे देश भर के सरकारी एव गैरसरकारी कार्यालयो मे इनके जानकारो की भरमार है यह जैन सकेतलिपि इस देश मे प्रचलित समस्त सकेतलिपियो मे अधिक सरल और शीघ्रग्राह्य गिनी जाती है यही कारण है कि हर वर्ष सैकडो की सख्या मे इस देश के नवयुवक इस लिपि का अध्ययन करके भावी जीवन का निर्माण कर रहे है

सन् १९३१ मे इन्होने जैन सकेतलिपि का निर्माण किया और जैन जगत् मे ही नही, देश मे वे अपनी एक अमर याद-गार छोड गये आज उनकी यह सकेतलिपि हिन्दी, अग्रेजी, गुजराती, बगला, मराठी आदि देश की समस्त भाषाओ मे प्रचलित है समस्त भाषाओ मे इसका साहित्य छपा हुआ है आपने अपने जीवनकाल मे ही इस अविष्कार को सफल होते देख लिया, यह प्रसन्नता की बात है उस महान् कर्मवीर गृहस्थसत के प्रति हम श्रद्धा से नतमस्तक है वास्तव मे उनका समग्र जीवन आदर्श और अत्यन्त स्पृहणीय रहा न केवल जैन समाज ही प्रत्युत समग्र देश चिरकाल तक उनका आभारी रहेगा.





श्री श्रीरंजन सूरिदेव
बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना

दक्षिण भारत में जैनधर्म

[प्रस्तुत निबंध में लेखक ने आ० भद्रबाहु के सम्बंध में मागधीय दुष्काल के कारण दक्षिण गमन का जो उल्लेख किया वह दि० जैन मान्यतानुसार है. जबकि श्वे० परंपरा का अभिमन्तव्य है कि आचार्य श्री द्वादशवर्षीय दुष्कालनिवारणार्थ दक्षिण की ओर प्रस्थान कर नैपाल में आध्यात्मिक साधना करने में तल्लीन रहे —सम्पादक]

आदि तीर्थंकर ऋषभदेव द्वारा जैनधर्म का प्रचार दक्षिण-भारत में हुआ, ऐसा पौराणिक जैन इतिहास के अध्ययन से पता चलता है जैनशाखा के प्रमुख दो भेद सर्वविदित है—श्वेताम्बर और दिगम्बर. तमिल के 'रत्नाकरशतक'[1] आदि प्राचीन काव्यो से स्पष्ट है कि उनके रचना-काल मे, दक्षिण-भारत मे, दिगम्बर जैनधर्म ही प्रचलित था अर्वाचीन जैन आम्नाय का यह मत है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के गुरु श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ ही जैनधर्म का प्रवेश दक्षिण-भारत मे हुआ परन्तु, जैनो की पारम्पर्य मान्यता यह है कि उत्तर-भारत के जैनसघ की तरह दक्षिण-भारतीय जैनसघ भी प्राचीनतम है यही कारण था कि उत्तर मे सुप्रसिद्ध द्वादशवर्षव्यापी घोर अकाल पडने पर धर्मरक्षा के खयाल से भद्रवाहु स्वामी अपने सघ के साथ दक्षिण-भारत गये थे उनका ही सघ ज्ञात रूप मे दक्षिण का पहला दिगम्वर जैनसघ था, ऐसा कहा जाता है

कुछ भारतीयेतर विद्वान् डॉ० हार्नले आदि का कथन है कि अकाल पडने पर शाखाभेदरहित जैनसघ के प्रधान स्थविर भद्रवाहु अपने जिस सघ के साथ मगध से कर्णाटक गये, उसका रूप दिगम्बर ही रह गया और मगध के अवशिष्ट जैन सदस्य, जिसके प्रधान स्थविर स्थूलभद्र थे, श्वेताम्वर कहलाये, श्वेताम्बर श्वेत परिधान के प्रेमी थे और दिगम्वरो के लिये दिशाएँ ही वसन थी मगध मे पुन शान्ति की स्थापना के वाद जैनसघ जव कर्णाटक से मगध लौटा, तब उसने मगध के जैनसघ से सवधविच्छेद कर अपना अलग सिद्धान्त चलाया[2]

अस्तु, दक्षिण का यह दिगम्वर जैनसघ द्राविडो के बीच बहु आदृत था कुछ विद्वान् यह मानते है कि द्राविड लोग प्राय नागजाति के वशज थे. जिस समय नागराजाओ का शासन दक्षिण-भारत मे था, उस समय नाग लोगो के वहुत से रीति-रिवाज और सस्कार द्राविडो मे भी प्रचलित हो गये थे. नागपूजा उनमें वहुत प्रचलित थी. जैनतीर्थंकरो मे दो सुपार्श्वनाथ और पार्श्वनाथ की मूर्त्तियाँ नाग-मूर्त्तियो के सदृश थी जैनो की सहज सरल पूजा-प्रणाली को भी द्राविडो ने आसानी से अपना लिया

इतना तो स्पष्ट है कि दक्षिण-भारत में दिगम्वर जैनधर्म की जनसमुदाय मे विशेष मान्यता थी, परन्तु दिगम्बर-सिद्धान्त की वहुलता के वावजूद दक्षिण-भारत मे श्वेताम्वरो की भी पहुँच हुई थी श्वेताम्वरीय शास्त्रो से प्रकट है कि कालकाचार्य[3] पेठन के राजा के गुरु थे. फलत, स्पष्ट है कि श्वेताम्वर जैन आन्ध्र-देश तक पहुँचे थे. इसके वाद ईसवी-पूर्व दूसरी शती मे श्वेताम्वरो के गुरु पादलिप्ताचार्य मलखेड तक गये थे, परन्तु उन्होने अपने धर्म के प्रचार मे कहाँ-

---

१. 'रत्नाकरशतक' तथा उसके कर्त्ता कवि रत्नाकर के सम्वन्ध में देखिए मेरा लेख ; मासिक 'सतवाणी' (पटना), वर्ष ३, अक ७, सित० १९५८ ई०.

२. इस सबध मे विशेष विवरण के लिए देखिए मेरा लेख, 'उपासक दशासूत्र : एक अध्ययन' त्रैमा० 'साहित्य' (पटना), वर्ष १, अक ३.

३ कालकाचार्य के सबध मे विशेष विवृति के लिए श्रीमेरुतुंगाचार्यकृत 'प्रबन्धचिन्तामणि'.

तक सफलता प्राप्त की, ठीक-ठीक नही कहा जा सकता तत्स्थानीय पाँचवी शती के एक ताम्रलेख मे पहले-पहल श्वेताम्वर जैनसघ का उल्लेख भी प्राप्त होता है

श्रीभद्रवाहु श्रुतकेवली के वहुप्रसिद्ध सघ के उपरान्त शास्त्रो मे दक्षिण-भारत के उस दिगम्वर जैनसघ का पता चलता है, जो श्रीधरसेनाचार्यजी के समय मे महिमानगरी मे सम्मिलित हुआ था यह नगरी वर्त्तमान सतारा जिले का 'महिमानगढ' प्रतीत होता है

जैनसघ के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर वर्द्धमान और गणधर गौतमस्वामी के उपरान्त कुन्दकुन्दाचार्य को स्मरण करने की परिपाटी प्रचलित है. शिलालेखो मे इनका नाम कोण्डकुन्द लिखा मिलता है इस शब्द का मूल उद्गम द्राविड़-भाषा से है, उसीका श्रुतिमधुर सस्कृत रूप कुन्दकुन्द प्रथित हुआ है. कहा जाता है कि इनका यथार्थ नाम पद्मनन्दि था, परन्तु ये कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य और गृध्रपिच्छ नामो से भी प्रसिद्ध थे ये कुण्डकुन्द नामक स्थान के अधिवासी थे, इसीलिए ये कोण्डकुन्दाचार्य नाम से प्रसिद्ध हुए थे इन्होने अनेक ग्रन्थो की प्राकृत मे तथा तमिल मे भी रचना की और जैनधर्म के जागरण का विजय-शख ध्वनित किया

तमिल के अपूर्व नीतिग्रन्थ 'कुरल' के विषय मे भी कहा जाता है कि यह श्रीकुन्दकुन्दाचार्य की रचना है तमिलवासी इस ग्रन्थ को अपना वेद मानते है कुरल मे कुल ८० परिच्छेद है पूरा ग्रन्थ उपदेशो और नीतिवाक्यो के साथ ही तीर्थंकरो की गुणगाथाओ और गौरव-गरिमा से परिपूरित है

कुन्दकुन्दाचार्य के बाद दक्षिणा जैनसघ मे भगवान् उमास्वामी या उमास्वाति (ई० प्रथम शती) के अस्तित्व का पता चलता है कुन्दकुन्दाचार्य की तरह उनकी भी मान्यता श्वेताम्वर और दिगम्वर दोनो मे है दिगम्वर जैनसाहित्य के अनुसार उमास्वाति कुन्दकुन्दाचार्य के वशज थे एव उनका दूसरा नाम गृध्रपिच्छाचार्य था श्वेताम्वरीय प्रसिद्ध ग्रन्थ 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' के भाष्य मे उमास्वाति के विषय में जो प्रशस्ति मिलती है, उससे विदित होता है कि उनका जन्म 'न्यग्रोधिका' नामक स्थान मे हुआ था इनके पिता स्वाति और माता वात्सी थी इनका गोत्र कौभीषणि था इनके दीक्षागुरु श्रमण घोषनन्दि और विद्यागुरु वाचकाचार्य मूल थे इन्होने कुसुमपुर (पटना) नामक स्थान मे अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ तत्त्वार्थाधिगमसूत्र रचा था दोनो ही—श्वेताम्वर-दिगम्वर—सम्प्रदायो मे ये 'वाचक' की पदवी से अभिहित थे श्वेताम्वरो की मान्यता के अनुसार इन्होने पाच सौ ग्रन्थ रचे थे ये सभवत पहली शती के प्रसिद्ध दार्शनिक जैनविद्वान् थे.

उमास्वाति के पश्चात् श्रीसमन्तभद्रस्वामी का नाम जैनधर्म के अग्रदूत के रूप मे लिया जाता है इन्होने दक्षिण-भारत के कदम्ब-वश को सुशोभित किया था इनके पिता फणिमण्डलान्तर्गत उरगपुर के क्षत्रिय राजा थे स्वामी समन्तभद्र का बाल्यकाल जैनधर्म के केन्द्रस्थान—उरगपुर मे व्यतीत हुआ था इन्होंने अपने-आपको धर्मार्थ अर्पण कर दिया था

श्रीसमन्तभद्रस्वामी जैनसिद्धान्त के मर्मज्ञ होने के अलावा तर्क, व्याकरण, छन्द, अलकार, काव्य, कोश आदि ग्रन्थो मे पूर्णत निष्णात थे ये विविध देश-पर्यटक भी थे निम्नलिखित श्लोक से पता चलता है कि ये देश-पर्यटन के सिलसिले मे धर्मप्रचारार्थ एव शास्त्रार्थ के हेतु पाटलिपुत्र [पटना][1] पधारे थे श्लोक इस प्रकार है

पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता,
पश्चान्मालवसिन्धुटक्क[2] विषये कांचीपुरीवैदिशे ।
प्राप्तोऽहं करहाटकं वहुभटं विद्योत्कटं सङ्कटं,
वादार्थी विचराम्यहं नरपते ! शार्दूलविक्रीडितम् ।

---

१ श्री डी० जी० महाजन के मतानुसार यह पाटलिपुत्र मगध का सुप्रसिद्ध पाटनगर (पटना) न होकर दक्षिण भारत का पाटलिपुत्र भी हो सकता है जैसा कि वर्णी अभिनन्दन ग्रथ पृ० ३१९-३२२ से विदित होता है —सम्पादक

२. टक्क (पजाव)



इस प्रकार, शास्त्रार्थ की विजय-दुन्दुभी निनादित करते हुए स्वामी समन्तभद्र ने करहाटक (सतारा) नगर पहुँचकर वहाँ के राजा को शास्त्रार्थ के लिये ललकारा था.

स्वामी समन्तभद के रचे ग्रन्थो मे—आप्तमीमासा, युक्त्यनुशासन, स्वयम्भूस्तोत्र, रत्नकरण्डक उपासकाध्ययन, प्राकृत-व्याकरण, गन्धहस्तिमहाभाष्य आदि प्रमुख है कहना न होगा कि इन वरेण्य आचार्यो ने दक्षिण-भारत मे जैनधर्म का अमर प्रचार किया और जन-जन को, जैनधर्म के माध्यम से, जनधर्म का परिचय देकर उनके जीवन को सफल किया. इसमे कोई सदेह नही कि जैनशास्त्रानुसार उत्तर-भारत की भाँति दक्षिण-भारत के देशो मे भी सर्वप्रथम भगवान् ऋषभदेव द्वारा ही सभ्यता और सस्कृति का प्रचार हुआ. जब ऋषभदेव समूचे देश की धर्म-व्यवस्था करने लगे, तब इन्द्र ने सारे देश को निम्नलिखित ५२ प्रदेशो मे विभक्त किया

सुकोसल, अवन्ती, पुण्ड्र, उण्ड्र, अश्मक, रम्यक, कुरु, काशी, कलिग, अग, बग, सुह्न, समद्रक, कश्मीर, उशीनर आनर्त्त, वत्स, पचाल, मालव, दशार्ण, कच्छ, मगध, विदर्भ, कुरुजागल, करहाट, महाराष्ट्र, सुराष्ट्र, आभीर, कोकण, वनवास, आन्ध्र, कर्णाट, कोसल, चोल, केरल, दारु, अभिसार, सौवीर, शूरसेन, अपरान्त, विदेह, सिन्धु, गान्धार, यवन, चेदि, पल्लव, काम्बोज, आरट्ठ, वाह्लीक, तुरुष्क, शक और केकय.—(आदिपुराण, पर्व १६)

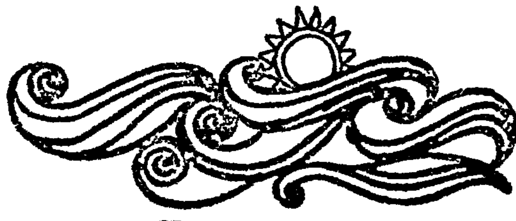
उक्त प्रदेशो मे अश्मक, रम्यक, करहाट, महाराष्ट्र, आभीर, कोकण, वनवास, आन्ध्र. कर्णाट, चोल, केरल आदि देश दक्षिण-भारत मे मिलते है इससे स्पष्ट है कि भगवान् ऋषभदेव द्वारा इन देशो का अस्तित्व-निर्धारण और सस्कृति-परिमार्जन हुआ था कहना न होगा कि दक्षिण-भारत मे जैनधर्म का ऐतिहासिक आरम्भ कर्मभूमि के आदिकाल से ही हुआ, जो काल की दृष्टि से पौराणिक तथा ऐतिहासिक इन दो रूपो मे लिपिबद्ध किया गया.

कुछ विद्वानो की कल्पना है कि भगवान् ऋषभदेव के द्वितीय पुत्र सम्राट् बाहुबली ही दक्षिण-भारत के सर्वाग्रणी धर्म-प्रवर्तक थे. वह भी इस अनुमान पर कि बाहुबली के शासन-क्षेत्र अश्मक, रम्यक तथा पोदनपुर दक्षिण-भारत मे ही अवस्थित थे. हालाँकि, पोदनपुर के सम्बन्ध मे पर्याप्त मतभेद है. पोदनपुर किसी के मत मे तक्षशिला है, और किसी के मत मे दक्षिणपथ-स्थित प्रदेश विशेष.

आधुनिक सुधी शोधको के मतानुसार दक्षिण-भारत में जैनधर्म का प्रवेश अत्यन्त प्राचीनकालीन नही, वरन् मौर्यकालीन है उनका कहना है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के गुरु श्रुतकेवली भद्रबाहु ने जब उत्तर भारत मे भीषण अकाल की सम्भावना देखी, तब वे सघ-सहित दक्षिण भारत चले गये और उन्होने ही वहाँ की जनता को जैनधर्म से परिचित कराया ऐतिहासिक दृष्टि से प्राच्य और पाश्चात्य इतिहासविदो का इस विषय में ऐकमत्य है, होना भी चाहिए; क्योकि परम्परा के आधार पर धर्म का मूल्याकन निर्भ्रम नही हो सकता.

परम्परावादी जैनो के विचार से यह बहुप्रचलित है कि दक्षिण-भारत में, खासकर वहाँ के प्राचीन तमिल (आन्ध्र)—राज्य मे वैदिक और बौद्धधर्म के अतिरिक्त जैनधर्म भी प्राचीनकाल से प्रचलित था सन् १३८ ई० मे वहाँ अलेक्जेण्ड्रिया के 'पेण्टेनस' नाम का एक ईसाई पादरी आया था उसने लिखा है कि वहाँ उसने श्रमण (जैन साधु), ब्राह्मण और बौद्ध गुरुओ को देखा था, जिनको भारतवासी बडी श्रद्धा से पूजते थे, क्योकि उक्त गुरुओ का जीवन बडा ही पवित्र था.

तमिल के 'सगम' ग्रन्थो—'मणिमेखलै', 'शीलप्पधिकारम्' आदि—से पता चलता है कि जैन साधुओ का प्राचीन नाम 'श्रमण' था, किन्तु कालक्रम से बौद्धो ने भी इस शब्द को अपना लिया. किन्तु, दक्षिण-भारत के साहित्य-ग्रन्थो और शिला-लेखो मे सर्वत्र 'श्रमण' शब्द का प्रयोग जैनो के लिए ही हुआ है इससे यह भी अप्रच्छन्न है कि श्रमणोपासको की सख्या वहाँ प्राचीन काल में अत्यधिक थी.





डॉ० राजकुमार जैन
एम० ए०, पी-एच० डी०, साहित्याचार्य,
अध्यक्ष, सस्कृतविभाग आगरा कालेज, आगरा

वृषभदेव तथा शिव-संबंधी प्राच्य मान्यताएँ

वृपभदेव तथा शिव दोनो ही अति प्राचीन काल से भारत के महान् आराध्य देव हैं. वैदिक काल से लेकर मध्य युग तक प्राच्य वाङ्मय मे दोनो का देव देवताओ के विविध रूपो मे अकन हुआ है, वह अध्ययन का वडा मनोरजक विपय है प्रस्तुत लेख मे उन्ही मान्यताओ की विस्तारपूर्वक चर्चा की जा रही है

उपलब्ध भारतीय प्राच्य साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट है कि भगवान् ऋषभदेव की जो मान्यता एव पूज्यता जैन परम्परा में है, हिन्दू परम्परा मे भी वह उसी कोटि की है जिस प्रकार जैन परम्परा मे उन्हे मान्य एव सस्तुत किया गया है, हिन्दू शास्त्र एव पुराण भी उन्हे भगवान् के अवतार के रूप मे मान्य करते हैं

श्रीमद्भागवन[1] मे भगवान् वृषभदेव का वडा ही सुन्दर चरित अकित किया गया है इसमें भगवान् की स्वयभू मनु, प्रियव्रत, आग्नीध्र, नाभि तथा वृपभ—इन पाचो पीढियो की वशपरम्परा का वर्णन करते हुए लिखा है कि आग्नीध्र के पुत्र नाभिराजा के कोई पुत्र नही था अत उन्होने पुत्र की कामना से मरुदेवी के साथ यज्ञ किया भगवान् ने दर्शन दिये. ऋत्विजो ने उनका सस्तवन किया और निवेदन किया कि राजर्षि नाभि का यह यज्ञ भगवान् के समान पुत्रलाभ की इच्छा से सम्पन्न हो रहा है भगवान् ने उत्तर दिया—'मेरे समान तो मैं ही हूँ, अन्य कोई नही तथापि ब्रह्मवाक्य मिथ्या नही होना चाहिए अत मैं स्वय ही अपनी अशकला से आग्नीध्रनन्दन नाभि के यहाँ अवतार लूगा.' इसी वरदान के फलस्वरूप भगवान् ने ऋपभ के रूप मे जन्म लिया.

इसी पुराण मे आगे लिखा है—यज्ञ मे ऋपियो द्वारा प्रसन्न किये जाने पर विष्णुदत परीक्षित्त स्वय श्री भगवान् 'विष्णु' महाराज नाभि का प्रिय करने के लिये उनके अन्त पुर की महारानी मरूदेवी के गर्भ मे आये उन्होने इस पवित्र शरीर का अवतार वातरशना श्रमण ऋषियो के धर्मो को प्रकट करने की इच्छा से ग्रहण किया.'[2]

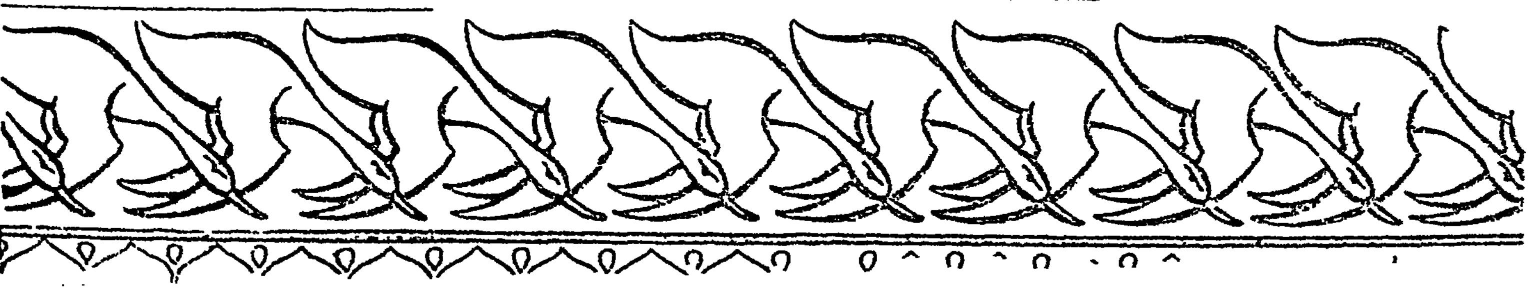
भगवान् ऋपभदेव के ईश्वरावतार होने की मान्यता प्राचीनकाल मे इतनी वद्धमूल हुई कि शिव महापुराण मे भी उन्हे शिव के अट्ठाईस योगावतारो मे गिनाया गया[3] प्राचीनता की दृष्टि से भी यह अवतार रामकृष्ण के अवतारो से भी पूर्ववर्ती मान्य किया गया है. इस अवतार का जो हेतु श्रीमद्भागवत मे दिखलाया गया है वह श्रमण धर्म की परम्परा को असदिग्ध रूप से भारतीय साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद से सयुक्त करा देता है ऋपभावतार का हेतु वातरशना श्रमण ऋषियो के धर्मों को प्रकट करना वतलाया है. श्रीमद्भागवत मे ऋषभावतार का एक अन्य उद्देश्य भी

---

१. श्रीमद्भागवत ५, २-६.

२. 'वर्हिपि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान् परमर्पिभिः 'प्रसादितो नामे· प्रियचिकीर्पया तदवरोधायने मेरुदेव्या धर्मान्दर्शयितुकामो वानरशनाना श्रमणाना ऋपीणाम् ऊर्ध्वमन्थिना शुक्लया तनुवावततार.'—श्रीमद्भागवत पञ्चम स्कन्ध.

३. शिव पुराण. ७, २, ६



इस प्रकार वतलाया गया है :

'अयमवतारो रजसोपप्लुतकैवल्योपशिक्षणार्थम् ।'

अर्थात् भगवान् का यह अवतार रजोगुणी जन को कैवल्य की शिक्षा देने के लिये हुआ था. किन्तु उक्त वाक्य का यह अर्थ भी सभव है कि यह अवतार रज से उपप्लुत अर्थात् रजोधारण 'मल धारण करना' वृत्ति द्वारा कैवल्य की शिक्षा के लिये हुआ था जैन साधुओ के आचार मे अस्नान, अदन्तधावन तथा मलपरीषह आदि के द्वारा रजोधारण वृत्ति को सयम का एक आवश्यक अग माना गया है वुद्ध के समय मे भी रजोजल्लिक श्रमण विद्यमान थे. तथागत ने श्रमणो की आचारप्रणाली में व्यवस्था लाते हुए एक वार कहा था[1]—

'नाह भिक्खवे सघाटिकस्स सघाटिधारणमत्तेन सामञ्ञ वदामि, अचेलकस्स अचेलकमत्तेन रजोजल्लिकस्स रजोजल्लिकमत्तेन जटिलकस्स जटाधारणमत्तेन सामञ्ञ वदामि.'

अर्थात्—हे भिक्षुओ, मैं सघाटिक के सघाटी धारण मात्र से श्रामण्य नही कहता, अचेलक के अचेलकत्व मात्र से, रजोजल्लिक के रजोजल्लिक मात्र से और जटिलक के जटा धारणमात्र से भी श्रामण्य नही कहता
भारत के प्राचीनतम साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट है कि उक्त वातरशना तथा रजोजल्लिक साधुओ की परम्परा वहुत प्राचीन परम्परा है ऋग्वेद में उल्लेख है[2]

'मुनयो वातरशना पिशंगा वसते मला,
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविसत ।
उन्मादिता मौनेयेन वातां आतस्थिमा वयम्,
शरीरे दस्माकं सू यं मर्तासो अभिश्यथ ।'

अतीन्द्रियार्थदर्शी वातरशना मुनि मल धारण करते है जिससे वे पिंगल वर्ण दिखाई देते है. जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते हैं, तव वे अपने तप की महिमा से देदीप्यमान होकर देवता स्वरूप को प्राप्त होजाते हैं

वातरशना मुनि प्रकट करते हैं—समस्त लौकिक व्यवहार को छोडकर हम मौनवृत्ति से उन्मत्तवत् 'परमानन्दसम्पन्न' वायु भाव 'अशरीरी ध्यानवृत्ति' को प्राप्त होते है. तुम साधारण मनुष्य हमारे बाह्य शरीरमात्र को देख पाते हो, हमारे सच्चे आभ्यन्तर स्वरूप को नही

वातरशना मुनियो के वर्णन के प्रारम्भ मे ऋग्वेद मे ही 'केशी' की निम्नाकित स्तुति की गई है, जो इस तथ्य की अभिव्यजिका है कि 'केशी' वातरशना मुनियो के प्रधान थे. केशी की वह स्तुति निम्न प्रकार है .[3]

'केश्यग्नि केशी विषं केशी विभर्ति रोदसी,
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीद ज्योतिरुच्यते ।'

केशी अग्नि, जल, स्वर्ग तथा पृथ्वी को धारण करता है केशी समस्त विश्व के तत्त्वो का दर्शन कराता है और केशी ही प्रकाशमान 'ज्ञान' ज्योति कहलाता है, अर्थात् केवल ज्ञानी कहलाता है.

ऋग्वेद के इन केशी तथा वातरशना मुनियो की साधनाओ की श्रीमद्भागवत में उल्लिखित वातरशना श्रमणऋषि और उनके अधिनायक ऋषभ तथा उनकी साधनाओ की पारस्परिक तुलना भारतीय आध्यात्मिक साधना और उसके प्रवर्त्तक के निगूढ प्राक् ऐतिहासिक अध्याय को वडी सुन्दरता के साथ प्रकाश में लाती है

---

१. मज्झिमनिकाय, ४०.
२. ऋग्वेद, १०, १३६, २-३.
३. ऋग्वेद, १०, १३६, १.

ऊपर के उल्लेखो से स्पष्ट है कि ऋग्वेद के वातरशना मुनि और श्रीमद्भागवत के "वातरशना श्रमण-ऋषि" एक ही परम्परा अथवा सम्प्रदाय के वाचक है. सामान्यत केशी का अर्थ केशधारी होता है, परन्तु सायणाचार्य ने 'केश स्थानीय रश्मियो को धारण करने वाला' किया है और उससे सूर्य का अर्थ निकाला है, परन्तु प्रस्तुत सूक्त मे जिन वातरशना साधुओ की साधनाओ का उल्लेख है, उनसे इस अर्थ की कोई सगति नही बैठती. केशी स्पष्टत वातरशना मुनियो के अधिनायक ही हो सकते है, जिनकी साधना मे मलधारण, मौनवृत्ति और उन्मादभाव (परमानन्द दशा) का विशेष उल्लेख है सूक्त मे आगे उन्हे ही ·

"मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हितः'

देवदेवो के मुनि, उपकारी तथा हितकारी सखा बतलाया गया है वातरशना शब्द मे और मलरूपी वसन धारण करने मे उनकी नाग्न्य वृत्ति का भी सकेत है

श्रीमद्भागवत मे ऋषभ का वर्णन करते हुए लिखा है

"उर्वरित शरीरमात्र-परिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधान प्रकीर्णकेश आत्मन्यारोपिताहवनीयो ब्रह्मावर्तात् प्रवव्राज जडान्ध-मूक-वधिर-पिशाचोन्मादकवत् अवधूतवेपोऽभिभाष्यमाणोऽपि जनाना गृहीतमौन-व्रत तूष्णी वभूव .. परा-गवलम्बमान-कुटिल-जटिल-कपिश केशभूरिभारोऽवधूतमलिननिजशरीरेण ग्रहगृहीत इवादृश्यत"

अर्थात् ऋषभ भगवान् के शरीर मात्र का परिग्रह शेष रह गया था वे उन्मत्त के समान दिगम्वर वेशधारी, विखरे हुए केशो सहित आहवनीय अग्नि को अपने मे धारण करके ब्रह्मावर्त देश से प्रव्रजित हुए वे जड, मूक, अन्ध, वधिर, पिशाचोन्माद युक्त जैसे अवधूत वेष मे लोगो के बुलाने पर भी मौनवृत्ति धारण किये हुए शान्त रहते थे, सब ओर लटकते हुए अपने कुटिल, जटिल, कपिश केशो के भारसहित अवधूत और मलिन शरीर के साथ वे ऐसे दिखलाई देते थे, जैसे उन्हे कोई भूत लगा हो

ऋग्वेद के तथोक्त, केशीसूक्त तथा श्रीमद्भागवत मे वर्णित श्री ऋषभदेव के चरित्र के तुलनात्मक अध्ययन से प्रतीत होता है कि वैदिक केशी सूक्त को ही श्रीमद्भागवत मे पल्लवित भाष्यरूप मे प्रस्तुत कर दिया गया है दोनो मे ही वातरशना अथवा गगन-परिधानवृत्ति, केश-धारण, कपिशवर्ण, मलधारण, मौन और उन्मादभाव समान रूप से वर्णित है

भगवान् ऋषभदेव के कुटिल केशो का अकन जैन मूर्तिकला की एक प्राचीनतम परम्परा है जो आज तक वरावर अक्षुण्ण-रूप से चली आरही है यथार्थत समस्त तीर्थंकरो मे केवल ऋषभदेव की ही मूर्तियो के शिर पर कुटिल केशो का रूप दिखलाया जाता है और वही उनका प्राचीन विशेष लक्षण भी माना जाता है ऋषभनाथ के केसरियानाथ नामान्तर मे भी यही रहस्य निहित मालूम देता है[१] केसर, केश और जटा-तीनो शब्द एक ही अर्थ के वाचक है जिस प्रकार सिंह अपने केशो के कारण केसरी कहलाता है, उसी प्रकार केशी और केसरियानाथ या ऋषभनाथ के वाचक प्रतीत होते है. केसरियानाथ पर जो केशर चढाने की विशेष मान्यता प्रचलित है वह नामसाम्य के कारण उत्पन्न हुई प्रतीत होती है इस प्रकार ऋग्वेद के केशी और वातरशना मुनि एव श्रीमद्भागवत के ऋषभ तथा वातरशना श्रमण-ऋषि एव केसरियानाथ और ऋषभ तीर्थंकर तथा उनका निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय एक ही सिद्ध होते हैं

ऋग्वेद की निम्नाकित ऋचा से केशी और वृषभ अथवा ऋषभ के एकत्व का ही समर्थन होता है ·[२]

'ककर्दवे वृषभो युक्त आसीद्, अवावचीत् सारथिरस्य केशी।
दुधेयुक्तस्य द्रवत सहानस, ऋच्छन्तिष्मा निष्पदो मुद्गलानीम्।

१ राजस्थान के उदयपुर जिले का एक तीर्थ 'केशरिया तीर्थ' के नाम से प्रसिद्ध है, जो दिगम्वर, श्वेताम्बर एव वैष्णव आदि सम्प्रदायों वालों को समान रूप से मान्य एव पूजनीय है तथा जिसमें भ० ऋषभदेव को एक अत्यन्त प्राचीन सातिशय मूर्ति प्रतिष्ठित है.

२ ऋग्वेद, १०, १०२, ६.



जिस सूक्त मे यह ऋचा आई है, उसकी प्रस्तावना मे निरुक्त के जो 'मुद्गलस्य हृप्ता गाव.' आदि श्लोक उद्धृत किये गये है, उनके अनुसार मुद्गल ऋषि की गायो को चोर ले गये थे उन्हे लौटाने के लिये ऋषि ने केशी वृषभ को अपना सारथी बनाया, जिसके वचनमात्र से वे गौएँ आगे को न भागकर पीछे की ओर लौट पड़ी

प्रस्तुत ऋचा का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने पहले तो वृषभ तथा केशी का वाच्यार्थ पृथक् बतलाया है, किन्तु फिर उन्होने प्रकारान्तर से कहा है ·

"अथवा अस्य सारथि सहायभूत केशी प्रकृष्टकेशो वृषभोऽवावचीत् भ्रशमशब्दयत्" इत्यादि

सायण के इस अर्थ को तथा निरुक्त के उक्त कथाप्रसग को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत गाथा का निम्न अर्थ प्रतीत होता है [1]

"मुद्गल ऋषि के सारथी (विद्वान् नेता) केशी वृषभ, जो शत्रुओ का विनाश करने के लिये नियुक्त थे, उनकी वाणी निकली, जिसके फलस्वरूप जो मुद्गल ऋषि की गौएँ (इन्द्रिया) जुते हुए दुर्धर रथ (शरीर) के साथ दौड रही थी, वे निश्चल होकर मौद्गलानी (मुद्गल की स्वात्मवृत्ति) की ओर लौट पडी."

तात्पर्य यह कि ऋषि की जो इन्द्रियाँ पराङ्मुखी थी, वे उनके योगयुक्त ज्ञानी नेता केशी वृषभ के धर्मोपदेश को सुनकर अन्तर्मुखी हो गईं

वृषभदेव और वैदिक अग्निदेव—अग्निदेव की स्तुति मे वैदिक सूत्रो मे जिन विशेषणो का प्रयोग किया गया है, उनके अध्ययन से स्पष्ट है कि यह अग्निदेव भौतिक अग्नि न होकर आदि प्रजापति वृषभदेव ही है—जातवेदस् [जन्मत ज्ञान-सम्पन्न], रत्नधरक्त [दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप रत्नो को धारण करनेवाला] विश्ववेदस् [विश्वतत्त्वो का ज्ञाता] मोक्ष नेता, ऋत्विज् [धर्मस्थापक], होता, हय, यज्ञ, सत्य यशवल इत्यादि [2]† वैदिक व्याख्याकारो ने भी लौकिक भ्रान्तियो का निग्रह करने के लिये स्थल-स्थल पर इस मत का समर्थन करते हुए लिखा है कि अग्निदेव वही है जिसकी उपासना मरुद्गण रुद्र सज्ञा से करते है ‡ रुद्र, शर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महादेव, ईशान, कुमार—रुद्र के ये नौ नाम अग्निदेव के ही विशेपण है.[3] अग्निदेव ही सूर्य है [4] परमविष्णु ही देवो [आर्यगण] की अग्नि है [5] इस मत की सर्वाधिक पुष्टि अथर्ववेद के ऋषभसूक्त से होती है, जिसमें ऋषभ भगवान् की अनेक विशेषणो द्वारा स्तुति करते हुए उन्हे जात-वेदस् [अग्नि] विशेपण से भी विशिष्ट किया गया है.[6]

उपर्युक्त विशेपणो तथा समस्त प्राचीन श्रुतियो के आधार पर स्तुत्य अग्नि शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए ब्राह्मण ऋषियो ने यह व्यक्त किया है कि उपास्य देवो के अग्र मे उत्पन्न होने के कारण वह अग्रि अथवा अग्नि सज्ञा से प्रसिद्ध हुए.[7]

इन लेखो के प्रकाश मे केवल यह तथ्य ही स्पष्ट नही होता कि वृषभदेव का ही अपर नाम अग्निदेव रहा, अपितु यह भी सिद्ध है कि उपास्य देव के अर्थ में प्रयुक्त 'अग्नि' शब्द सस्कृत का न होकर अग्रि का लोकव्यवहृत प्राकृत अथवा

---

१. देखो डा० हीरालाल जैन का "आदि तीर्थंकर की प्राचीनता तथा उनके धर्म की विशेपता" शीर्षक लेख (अहिंसावाणी। वर्ष ७, अंक १-२, १६५७)।

†२. ऋग्वेद, ११, ११२, अथर्व० ६, ४, ३ ऋग्वेद, १, १८६, १.

‡ 'यो वै रुद्र सोऽग्नि '—शतपथब्राह्मण ५, २, ४, १३.

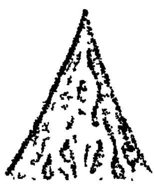
३. (अ) 'तान्येतानि अष्टौ रुद्रः शर्व. पशुपति· उग्र· अशनि· भव महादेव. ईशान· अग्निरूपाणि कुमारो नवम्' वही. ६, १, ३, १८.
(आ) 'एतानि वै तेषामग्नीना नामानि यद्भुवपति भुवनपतिर्भूताना पति' वही, १, ३, ३, १६.

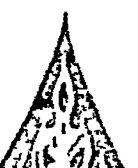
४. अग्निर्वार्ध:. वही, २, ५, १, ४.

५. 'अग्निर्वै देवानाम् भवोको विष्णुपरम्' कौतस्य ब्राह्मण, ७, १.

६. अथर्व, ६, ४, ३,.

७. (अ) सयदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत तस्मादग्रिरग्रिह वै तमग्निरित्याचक्षते परोक्षम्—शतपथ ब्राह्मण, ६, १, १, ११.
(आ) 'यद्वा एनमेतदग्रे देवाना अजनयन् तस्मादग्निराग्रर्तवै नामैतदयदग्निरिति.'—वही २, २, ४, २.



अपभ्रंश रूप है जो आर्यगण के भारत-आगमन से पूर्व ही आदिब्रह्मा वृषभ के लिये प्रयुक्त होता आ रहा था यही कारण है कि ब्राह्मण ऋषियो को वृषभ की अग्नि सज्ञा 'अग्रि' अर्थमूलक करने के लिये तत्सम्बधी श्रुतियो को आधार बनाकर उसकी व्युत्पत्ति 'अग्र' शब्द से करनी पडी अन्यथा सस्कृत भाषा की दृष्टि से अग्रि एव अग्नि शब्द मे अत्यन्त पार्थक्य है

आर्यजन के अग्निदेव और वृषभदेव की एकता

वैदिक अनुश्रुतियो से सिद्ध होता है कि अग्नि सज्ञा से वृषभ की उपासना करने वाले अधिकाश वे क्षत्रियजन थे, जो पञ्चजन के नाम से प्रसिद्ध थे[1] इनमे यदु, तुर्वसा, पुरु, द्रुह्यु, अनु नाम की क्षत्रिय जातिया सम्मिलित थी ये लोग ऋग्वैदिक काल मे कुरुक्षेत्र, पचाल, मत्स्यदेश और सुराष्ट्र देश मे बसे थे जब आर्यगण सप्त सिन्धु देश मे से होते हुए कुरुभूमि मे आबाद हुए और यहा पचजन क्षत्रियो की धार्मिक सस्कृति के सम्पर्क मे आये तो उससे प्रभावित होकर इन्होने भी उनके आराध्य देव वृषभ को 'अग्नि' सज्ञा से अपना आराध्य देव बना लिया यह ऐतिहासिक तथा कश्यपगोत्री मरीचिपुत्र ऋषि ने अग्निदेव की स्तुति करते हुए ऋग्वेद १–६ मे 'देवा अग्नि धारयन् द्रविणोदाम्' शब्दो द्वारा स्वय व्यक्त किया है.

इस सूक्त के नौ मन्त्र हैं इनमे से पहले सात मन्त्रो के अन्त मे ऋषिवर ने उक्त शब्दो को पुन पुन दोहराया है इसका अर्थ है कि—देवा (अपने को देव सज्ञा से अभिवादन करने वाले आर्यगण ने) द्रविणो दा (धनैश्वर्य प्रदान करने वाले) अग्नि (अग्नि प्रजापति को) धारयन् (अपना आराधना-देव धारण कर लिया)

प्रस्तुत सूक्त ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है इसमे प्रथम तो भगवान् वृषभ की स्तुति मे गाये जाने वाले ऋक्, यजु, साम एव अथर्व सहिताओ मे सकलित स्तोत्रो से भी प्राचीन उन निविद अथवा निगद स्तोत्रो का उल्लेख है, जिनसे ध्वनित होता है कि भगवान् वृषभ आर्यगण के आने से पूर्व ही भारत के आराध्य देव थे. इसके अतिरिक्त इस सूक्त मे भगवान् वृषभ द्वारा मनुओ की सन्तानीय प्रजा को अनेक विद्याओ से समृद्ध करने, अपने पुत्र भरत को राज्य-भार सौपने तथा अपने अन्य पुत्र वृषभसेन को, जो जैन मान्यता के अनुसार भगवान् के ज्येष्ठ गणधर अथवा मानसपुत्र थे, ब्रह्मविद्या देने का भी उल्लेख है इस सूक्त के निम्नाकित प्रथम चार मत्रो से उल्लिखित तथ्यो की स्पष्टत सपुष्टि होती है

'अपश्चमित्र (जो ससार का मित्र हे) धिषणा च साधन (जो ध्यान द्वारा साध्य है), प्रत्नथा (जो पुरातन हैं), सहसा जायमान. (जो स्वयभू है) सद्य काव्यानि वडधन्त विश्वा (जो निरन्तर विभिन्न काव्य स्तोत्रो को धारण करता रहता है, अर्थात् जिसकी सभी जन स्तुति करते रहते हैं), देवो अग्नि धारयन् द्रविणोदाम् (देवो ने उस द्रव्य-दाता अग्नि को धारण कर लिया)'[2]

पूर्वया निविदा काव्यतासो (जो प्राचीन निविदो द्वारा स्तुति किया जाता है), यमा. प्रजा अजनयन् मनुनाम् (जिसने मनुओ की सन्तानोय प्रजा की व्यवस्था की) विवस्वता चक्षुषा द्याप पञ्च (जो अपने ज्ञान द्वारा द्यु और पृथ्वी को व्याप्त किये हुए हैं), देवो ने उस द्रव्यदाता को धारण कर लिया)[3]

(इ) खारवेल के शिलालेख (ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी) में भी ऋषभ जिन का उल्लेख अग्र जिन के रूप में हुआ है (नन्दराजनीतान अगजिनस)

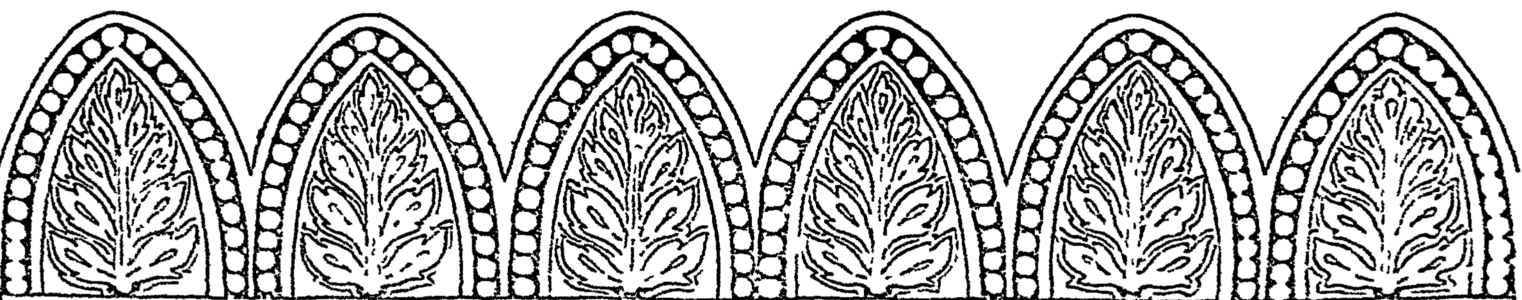
(ई) 'प्रजापति-देवतान सृज्यमान अग्निमेव देवाना प्रथमसृजत्'
तैत्तिरीय ब्राह्मण, २१, ६, ४.

(उ) 'अग्निर्वै सर्वाधम् ।'—ताण्ड्य ब्राह्मण, ५, ६३.

१. 'जना यदग्निमजयन्त पञ्च '—ऋग्वेद १०, ४५, ६.

२. ऋग्वेद, १ ६, १.

३. वही, १, ६, २



तमीडेत महासाध (तुम उसकी स्तुति करो जो सर्वप्रथम मोक्ष का साधक है), अर्हत (सर्वपूज्य है), आरीविश उव्जः भृज्जसानम् (जिसने स्वय शरण मे आनेवाली प्रजा को वल से समृद्ध करके), पुत्र भरत सप्रदानु (अपने पुत्र भरत को सौप दिया), देवो ने उस द्रव्यदाता अग्नि (अग्नि देवता को) धारयन् (धारण कर लिया.)[1]

स मातरिश्वा (वह वायु के समान निर्लेप और स्वतन्त्र है), पुरुवार पुष्टि (अभीष्ट वस्तुओ का पुष्टिकारक साधन है), उसने स्वर्वित (ज्ञान सम्पन्न हो कर), तनयाय (पुत्र के लिये) गात (विद्या), विदद (देदी), वह विशागोपा (प्रजाओं का संरक्षक है), पवितारोदस्यो (अभ्युदय तथा नि श्रेयस का उत्पादक है), देवो ने उस द्रव्यदाता अग्नि (अग्रनेता को) ग्रहण कर लिया.[2]

निर्वाण की पुण्य वेला मे जब आदि प्रजापति वृषभ ने विनश्वर शरीर का त्याग करके सिद्ध लोक को प्रस्थान किया तो उनके परम प्रशान्त रूप को आत्मसात् करने वाली अन्त्येष्टि अग्नि ही तत्कालीन जन के लिये उनके वीतराग रूप की एकमात्र सस्मारक वन कर रह गई. जनता अब अग्नि दर्शन से ही अपने आराध्य के दर्शन पाने लगी उस समय मूर्तिकला का विकास नही हुआ था, अत यह सप्तजिह्वा अग्नि ही उस महामानव का प्रतीक बन गई. उपलब्ध प्राचीन अनुश्रुतियो से ज्ञात होता है कि भगवान् के प्रति जन-जन के हृदयो मे स्वभावत उद्दीप्त होने वाले भक्तिभाव को सतुष्ट एव सतृप्त करने के लिये उनके ज्येष्ठ गणधर (मानस पुत्र) ने इस भौतिक अग्नि द्वारा आदि ब्रह्मा वृषभ के उपासनार्थ इज्या, पूजा एव अर्चना का मार्ग निकाला था. वह याज्ञिक प्रक्रिया के प्रथम विधायक थे[3] उन्होने ही लोकमगल के लिये अभीष्टसिद्धि, अनिष्टपरिहार एव रोग-निवृत्तिकर आदि अनेक उपयोगी मन्त्र-तन्त्र विद्याओ का सर्वप्रथम प्रकाश किया था. वह वैदिक परम्परा में ज्येष्ठ अथर्वन और जैन परम्परा मे ज्येष्ठ गणधर के नाम से प्रसिद्ध है. जैन परम्परा के अनुसार यह भगवान् वृषभदेव के पुत्र वृषभसेन थे. भगवान् ने इन्हे ही समस्त विद्याओ मे प्रधान ब्रह्मविद्या देकर लोक मे अपना उत्तराधिकारी बनाया था[4]

इनके द्वारा तथा अन्य अथर्वनो (गणधरो) द्वारा प्रतिपादित अनेक तान्त्रिक विधानो तथा वृषभ के हिरण्यगर्भ, जातवेदस् जन्य, उग्र तपस्या, सर्वज्ञता देशना, सिद्धलोकप्राप्ति सम्बन्धी अनेक रहस्यपूर्ण वार्ताओ तथा यति व्रात्य श्रमणो की आध्यात्मिक चर्चा का सकलन चौथे वेद मे हुआ है. अत इसकी प्रसिद्धि अथर्ववेद के नाम से हुई.

अथर्वन द्वारा प्रतिपादित प्रक्रिया के अनुसार अग्नि में हव्य द्रव्य की आहुति देकर सर्वप्रथम वृषभ की पूजा उनके ज्येष्ठ पुत्र तथा भारत के आदि चक्रवर्ती भरत महाराज, जो मनु के नाम से भी प्रसिद्ध थे, ने की थी इसके पश्चात् उनका अनुकरण करते हुए समस्त प्रजाजन भगवान् वृषभदेव के प्रतीक रूप में अग्नि की पूजा मे प्रवृत्त हुए[5]

उक्त प्रक्रिया के अनुसार यह पूजा प्रात , मध्याह्न और सायं तीनो काल होती थी. अथर्ववेद अनड्वान सूक्त मे इस पूजा का फल वतलाते हुए कहा है कि जो इस प्रकार प्रतिदिन तीनो समय भगवान् वृषभ की पूजा करते हैं वे उन्ही

---

१. ऋग्वेद १, ६, ३.

२. वही, १, ६, ४.

३. (अ) सत्यव्रात सामश्रमी निरुक्तालोचन वि० स० १९५३ पृ० स० १५५.
   (आ) A C Das—Rigvedic Culture pp. 113—115
   (इ) Dr. Winternitz—History of India Leterature Vol. I, 1927. P. 120.
   (ई) 'अग्निर्जातो अथर्वना '—ऋग्वेद १०, २१, ५

४. (अ) ब्रह्मा देवाना प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता ।
   स ब्रह्मविद्या सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥—मुण्डकोपनिषद् १, १.
   (आ) 'स्वर्विततनयाय गातं विदद.' ऋग्वेद १, ९६, ४.

५. (अ) 'मनुर्दवा अग्रे यत्रेज तदनुकृत्येमा प्रजा यजन्ते.'—शतपथ ब्राह्मण, १५, १, ७.
   (आ) जिनसेनकृत आदिपुराण, पर्व ४७,३२२, ३५१.



के समान अविनाशी अमरपद के अधिकारी हो जाते है[1]

प्राचीन अनुश्रुतियो से ज्ञात होता है कि अथर्वन द्वारा बतलाई गई याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार अज (जौ),[2] अक्षत (चावल), तथा घृत—इनका प्रयोग आहुति के लिये किया जाता था और पूजा के समय भगवान् वृषभ का सान्निध्य बनाये रखने के लिए 'वषट्' शब्द का और उनके अर्थ आहुति देते समय उन द्वारा घोपित स्वात्म-महिमा को ध्यान मे रखने के लिये 'स्वाहा' शब्द का प्रयोग आवश्यक था क्योकि 'वषट्' उच्चारण द्वारा भौतिक अग्नि की स्थापना करते हुए उपासक जन वास्तव मे वृषभ भगवान् की ही स्थापना करते है और 'स्वाहा' शब्द द्वारा भौतिक अग्नि मे आहुति देते हुए भी अपनी आत्म-महिमा को ही जागृत करते है वषट् शब्द का उच्चारण किये बिना अग्नि की उपासना भौतिक अग्नि की ही उपासना है.

जैन पूजाग्रथो तथा उनके दैनिक पूजा-विधानो मे वौषट् (इति आह्वाननम्) ठ ठ (इति स्थापनम्), और वपट् [इति सन्निधीकरणम्]—इन तीन शब्दो द्वारा भगवान् का आह्वान, स्थापन तथा सन्निधीकरण किया जाता है उक्त बीजमत्रो के कोष्ठको मे दिये गये अर्थ जैन परम्परा मे अत्यन्त प्राचीन काल से चले आ रहे है, जो भगवत्पूजा के लक्ष्य के सम्बन्ध मे भी भक्तजन को एक नवीन दृष्टि का दान करते है,

इस प्रकार अग्नि द्वारा पूजा-विधि की परम्परा उतनी ही प्राचीन निश्चित होती है जितना भगवान् वृषभ देव का काल.

वृषभ के विविधरूप और इतिवृत्त

जैन परम्परा के अनुसार भगवान् ऋषभदेव अपने पूर्व जन्म में सर्वार्थसिद्धि विमान मे एक महान् ऋद्धिधारी देव थे आयु के अत मे उन्होने वहा से चय कर अयोध्यानरेश नाभिराय की रानी मरुदेवी के गर्भ मे अवतरण किया इनके गर्भ मे आने के छह माह पूर्व से ही नाभिराय का भवन कुबेर के द्वारा हिरण्य की वृष्टि से भरपूर कर दिया गया अत जन्म लेने के पश्चात् यह हिरण्यगर्भ के नाम से प्रसिद्ध हुए गर्भावतार के समय भगवान् की माता ने स्वप्न मे एक सुन्दर वैल को अपने मुख मे प्रवेश करते हुए देखा था, अत इनका नाम वृषभ रक्खा गया. जन्म से ही यह मति, श्रुत, अवधि इन तीन ज्ञानो से विशिष्ट थे, अत इनकी जातवेदस् नाम से प्रसिद्धि हुई विना किसी गुरु की शिक्षा के ही अनेक विद्याओ के ज्ञाता थे, इन्होने जन्म-मृत्यु से अभिव्याप्त ससार मे स्वय सत्, ऋत, धर्म एव मोक्षमार्ग का साक्षात्कार किया था, अत वह स्वयभू तथा मुक्त नामो से प्रसिद्ध हुए भोगयुग की समाप्ति पर इन्होने ही प्रजा को कृषि, पशुपालन तथा विविध शिल्प-उद्योगो की शिक्षा प्रदान की थी, अत यह विधाता, विश्वकर्मा एव प्रजापति नामो से विख्यात हुए. ये ही अपनी अन्त प्रेरणा से ससार—शरीर तथा भोगो से निर्विण्ण हुए तथा सयम एव स्वाधीनता-पथ के पथिक बनकर प्रव्रजित हुए, अत वशी, यति एव व्रात्य नामो से प्रसिद्ध हुए

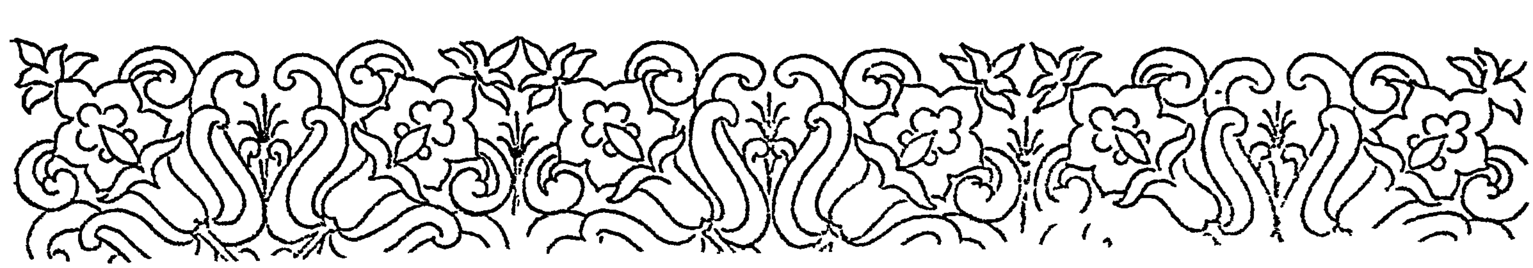
इन्होने अपनी उग्र तपस्या, श्रमसहिष्णुता और समवर्तना द्वारा अपने समस्त दोषो को भस्मसात् किया, अत यह रुद्र, श्रमण आदि सज्ञाओ से विख्यात हुए इन्होने अज्ञानतमस् का विनाश करके अपने अन्तस् मे सम्पूर्ण ज्ञान-सूर्य को उदित किया, भव्य जीवो को धार्मिक प्रतिबोध दिया और अन्त मे देह त्याग कर सिद्ध लोक मे अक्षय पद की प्राप्ति की

जैन परम्परा मे जो वृत्त गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण के नाम से प्रसिद्ध है और जिन्हे लोक-कल्याणी होने से कल्याणक की सज्ञा दी गई है वैदिक परम्परा मे वही [१] हिरण्यगर्भ, [२] जातवेदस्, अग्नि, विश्वकर्मा, प्रजापति, [३] रुद्र, पुरुष, व्रात्य, [४] सूर्य, आदित्य, अर्क, रवि, विवस्वत, ज्येष्ठ, ब्रह्मा, वाक्पति, ब्राह्मणस्पति, बृहस्पति, [५] निगूढपरमपद, परमेष्ठीपद, साध्यपद आदि सज्ञाओ से प्रसिद्ध है

---

१. अथर्ववेद ४, ११, १२

२. "अजैर्यष्टके"—जिनसेनकृत हरिवंशपुराण, १७, ३८, १६४.



मध्य एशिया, लघु एशिया, उत्तर पूर्वीय अफरीका के सुमेर, वैवीलोनिया, सीरिया, यूनान, अरव, ईरान, मिश्र, यूथोपिया आदि ससार के समस्त प्राचीन देशो मे जहाँ भी पणि अथवा फणि और पुरु लोगो के विस्तार के साथ भारत से भगवान् वृषभ की श्रुतिया, सूक्तिया और आख्यान पहुँचे है[1] वहा भगवान् असुर [असुर], ओसोरिस [असुरशि] अहुरमज्द [असुरमहत्], ईस्टर [ईशतर], जहोव [यह्व महान्] गौड [गौर गौड] अल्ला [ईड्य स्तुत्य], I A M [अहमस्मि], सूर्यस् [सूर्य] रवि, मिथ [मित्र] वरुण आदि अनेक लोक-प्रसिद्ध नामो और विशेषणो द्वारा आराध्य देव ग्रहण कर लिये गये. यही कारण है कि इन देशो के प्राचीन आराध्यदेव सम्बन्धी जो रहस्यपूर्ण आख्यान परम्परागत सुरक्षित है, उनमे उपर्युक्त चार वृत्त "1 In Carnation 2. Suffering and Crucification 3 Ressurrection और 4 Ascent to Heaven के नाम से प्रसिद्ध है इस प्रकार उन सूक्तो और मन्त्रो के अतिरिक्त जिनमें स्पष्टत. ऋषभ वृषभ, गौर तथा अनड्वान का उल्लेख है, ऋक्, यजु, साम तीनो ही सहिताओ के प्राय समस्त छन्द, जिनमे उपर्युक्त सज्ञाओ और विशेषणो से स्तुति की गई है, भगवान् वृषभ की ओर ही सकेत करते है.

अथर्ववेद के इस तथ्य को व्यक्त करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार आप (जल), वात (वायु) और औषधि (वनस्पति)—तीनो एक ही भवन (पृथ्वी) के आश्रित है, उसी प्रकार ऋक्, यजु, साम—तीनो प्रकार के छन्दो की कविजन 'पुरुम्य दर्शत विश्व चक्षणन् [वहुरूप दिखलाई देने वाले एक विश्ववेदस् सहस्राक्ष, सर्वज्ञ को लक्ष्य रखकर ही, वियेतिरे [व्याख्या करते हैं][2]

ऋग्वेद के निम्नाकित दो मत्रो मे हम भगवान् वृषभदेव के तथोक्त रूपो एव वृत्तो का वैसा ही इतिहास-क्रमानुसारी वर्णन देख सकते है, जैसा कि जैन परम्परा विधान करती है. वे मन्त्र निम्न प्रकार है .[3]

"दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परि जातवेदाः ।
तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिंधान एव जाते स्वाधीः ॥"

अर्थात् अग्नि प्रजापति पहले देवलोक मे प्रकट हुए. द्वितीय वार हमारे वीच जन्मत ज्ञान-सम्पन्न होकर प्रकट हुए. तीसरा इनका वह स्वाधीन एव आत्मवान् रूप है, जव इन्होने भव-सागर मे रहते हुए निर्मल वृत्ति से समस्त कर्मेन्धन को जला दिया तथा—

"विद्मा ते अग्ने त्रेधा त्रयाणि विद्मा ते धाम विभृता पुरुत्रा ।
विद्मा ते नाम परमं गुहा यद्विद्मा तमुत्सं यत आजगंथ ॥"[4]

अर्थात् हे अग्नेता, हम तेरे इन तीन प्रकार के तीन रूपो को जानते हैं. इनके अतिरिक्त तेरे पूर्व के बहुत प्रकार से धारण किये हुए रूपो को भी हम जानते है. इनके अतिरिक्त तेरा जो निगूढ़ परमधाम है, उसको भी हम जानते है. और उच्च मार्ग को भी हम जानते हैं जिससे तू हमे प्राप्त होता है

उक्त श्रुति से स्पष्टत प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक काल मे भगवान् वृषभ के पूर्व जातक लोक मे पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे

वैदिक रुद्र के विकसित रूप

शतपथ ब्राह्मण[5] मे रुद्र के जो–रुद्र, शर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महादेव, ईशान, कुमार—ये नौ नाम है, वे अग्नि

---

१. Dr. H. R Hall The ancient History of far Ecst 104, 77, 158, 203, 367, 402.

२. अथर्ववेद १८, १, १.

३. ऋग्वेद, १०, ४५, १.

४. वही, १०, ४५, २.

५. तान्येतानि अष्टौ रुद्रःशर्वं पशुपति उग्र. अशनिः भवः ।
महान्देव ईशान अग्निरूपाणि कुमारो नवम् ॥ —शतपथ ब्राह्मण ६, १, ३, १८.

देव के ही विशेषण उल्लिखित किये गये है और 'वृषभदेव तथा वैदिक अग्निदेव' मे उपस्थित किये गये विवरण से स्पष्ट है कि भगवान् वृषभदेव को ही वैदिक काल मे अग्निदेव के नाम से अभिहित किया जाता था फलत रुद्र, महादेव, अग्निदेव, पशुपति आदि वृषभदेव के ही नामान्तर हैं.

वैदिक परम्परा मे वैदिक रुद्र को ही पौराणिक तथा आधुनिक शिव का विकसित रूप माना जाता है, जब कि जैन परम्परा मे भगवान् ऋषभदेव को ही शिव, उनके मोक्ष-मार्ग को शिवमार्ग तथा मोक्ष को शिवगति कहा गया है यहाँ रुद्र के उन समस्त क्रम-विकसित रूपो का एक सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है

ऋग्वेद मे रुद्र मध्यम श्रेणी के देवता है उनकी स्तुति मे तीन पूर्ण सूक्त कहे गये है[1] इसके अतिरिक्त एक अन्य सूक्त मे पहले मन्त्र छह रुद्र की स्तुति मे है और अन्तिम तीन सोम की स्तुति मे [2] एक अन्य सूक्त मे रुद्र और सोम का साथ स्तवन किया गया है [3] अन्य देवताओ की स्तुति मे भी जो सूक्त कहे गये है, उनमे भी प्राय रुद्र का उल्लेख मिलता है, इन सूक्तो मे रुद्र के जिस स्वरूप की वर्णना हुई है, उसके अनेक चित्र है और उनके विभिन्न प्रतीको के सम्बन्ध मे विद्वानो की विभिन्न मान्यताएँ है रुद्र का शाब्दिक अर्थ, मरुतो के साथ उनका सगमन, उनका बभ्रु वर्ण और सामान्यत उनका क्रूर स्वरूप इन सब को दृष्टि मे रखते हुए कुछ विद्वानो की धारणा है कि रुद्र झझावात के प्रतीक है जर्मन विद्वान् वेवर ने रुद्र के नामपर बल देते हुए अनुमानित किया है कि रुद्र झझावात के 'रव' का प्रतीक है [4] डाक्टर मेकडौनल ने रुद्र और अग्नि के साम्य पर दृष्टि रखते हुए कहा कि रुद्र विशुद्ध झझावात का नही, अपितु विनाशकारी विद्युत के रूप मे झझावात के विध्वसक स्वरूप का प्रतीक है [5] श्री भाण्डारकर ने भी रुद्र को प्रकृति की विनाशकारी शक्तियो का ही प्रतीक माना है [6] अग्रेज विद्वान् म्यूर की भी यही मान्यता है [7] विल्सन ने ऋग्वेद की भूमिका मे रुद्र को अग्नि अथवा इन्द्र का ही प्रतीक माना है [8] प्रो० कीथ ने रुद्र को झझावात के विनाशकारी रूप का ही प्रतीक माना है, उसके हितकर रूप का नही [9] इसके अतिरिक्त रुद्र के घातक बाणो का स्मरण करते हुए कुछ विद्वानो ने उन्हे मृत्यु का देवता भी माना है और इसके समर्थन मे उन्होने ऋग्वेद का वह सूक्त प्रस्तुत किया है, जिसमे रुद्र का केशियो के साथ उल्लेख किया गया है

रुद्र की एक उपाधि 'कपर्दिन्' है,[10] जिसका अर्थ है, जटाजूटधारी और एक अन्य उपाधि है 'कल्पलीकिन्',[11] जिसका अर्थ है, दहकनेवाला दोनो की सार्थकता रुद्र के केशी तथा अग्निदेव रूप मे हो जाती है.

अपने सौम्य रूपो मे रुद्र को 'महाभिषक्' बतलाया गया है, जिसकी औषधिया ठडी और व्याधिनाशक होती है रुद्र सूक्त मे रुद्र का सर्वज्ञ वृषभ रूप से उल्लेख किया गया है और कहा गया है.[12] 'हे विशुद्ध दीप्तिमान सर्वज्ञ वृषभ, हमारे ऊपर ऐसी कृपा करो कि हम कभी नष्ट न हो "

---

१ ऋग्वेद . १, ११४, २, ३३, ७, ४६

२ ऋग्देव १, ४३

३. वही ' ६, ७४'

४ वेवर . इण्डीश स्टूडीन, २ १६—२२.

५ मेकडौनल वेदिक मायीथोलोजी, पृष्ठ म० ७८.

६. भाण्टारकर वैष्णविज्म, शैविज्म.

७. म्यूर . ओरिजिनल सस्कृत टेक्स्ट्स.

८ विल्सन ' ऋग्वेद, भूमिका

९. कीथ रिलिजन एण्ड माइथोलोजी आफ दी ऋग्वेद, पृष्ठ स० १४७.

१० ऋग्वेद : १, ११४, १ और ५.

११. वही : १, ११४, ५

१२ एव बभ्रो वृषभ चेकितान यथा देव न हृणीप न हसि. ऋग्वेद : २, ३३, १५.



इसी सूक्त के अन्य मन्त्र में कहा है[१]—'हे मरुतो, तुम्हारी जो निर्मल औषधि है, उस औषधि को हमारे पिता मनु (स्वयं ऋषभनाथ) ने चुना था, वही सुखकर और भयविनाशक औषधि हम चाहते है.'

विशुद्ध आत्म-तत्वज्ञान ही यह औषधि है, जिसे प्राप्त कर रुद्रभक्त ससारजयी और सुखी होने की कामना करता है प्रस्तुत सूक्त के तृतीय मत्र मे उसकी जीवन-साधना देखिए. वह प्रार्थना करता है[२]

'हे वज्रमहनन रुद्र, तुम उत्पन्न हुए समस्त पदार्थों में सर्वाधिक सुशोभित हो, सर्वश्रेष्ठ हो और समस्त बलशालियो मे सर्वोत्तम बलशाली हो. तुम मुझे पापो से मुक्त करो और ऐसी कृपा करो, जिससे मैं क्लेशो तथा आक्रमणो से युद्ध करता हुआ विजयी रहूँ'

एक सूक्त मे रुद्र का सोम के साथ आह्वान किया गया है[3] और अन्यत्र सोम को वृषभ की उपाधि दी गई है[४] रुद्र को अनेक वार अग्नि कहा गया है[५] और एक स्थल पर उन्हे "मेधापति' की उपाधि से भी विभूषित किया गया है[६] एक स्थान पर "द्विवर्हा" के रूप में भी उल्लेख किया गया है, जिसका सायण ने अर्थ किया है—"अर्थात् जो पृथ्वी तथा आकाश में परिवृद्ध है[७]

ऋग्वेद के उत्तर भाग के एक सूक्त मे कहा गया है कि रुद्र ने केशी के साथ विषपान किया इसी सूक्त के प्रथम मत्र मे कहा गया है कि केशी इस विष (जीवनस्रोत-जल) को उसी प्रकार धारण करता है, जिस प्रकार पृथ्वी और आकाश को[८] यद्यपि सायण ने केशी का अर्थ सूर्य किया है, परन्तु केशी का शाब्दिक अर्थ जटाधारी होता है और इस सूक्त के तीसरे तथा बाद के मन्त्रो मे केशी की तुलना उन मुनियो से की गई है जो अपनी प्राणोपासना द्वारा वायु की गति को रोक लेते है और मौनवृत्ति से उन्मत्तवत् (परमानन्द सहित) वायुभाव (अशरीरी वृत्ति) को प्राप्त होते है और सासारिक मर्त्यजनो को जिनका केवल पार्थिव शरीर ही दिखलाई देता है[९]

अथर्ववेद मे भी रुद्र का व्याधि-विनाश के लिये आह्वान किया गया है.[१०] कुछ मन्त्रो मे रुद्र को 'सहस्राक्ष' भी कहा गया है[११] इसी वेद के पन्द्रहवे मण्डल में रुद्र का व्रात्य के साथ उल्लेख किया गया है और सूक्त के प्रारम्भ मे ही कहा गया है कि 'व्रात्य महादेव वन गया, व्रात्य ईशान वन गया है.[१२] तथा यह भी लिखा है कि "व्रात्य ने अपने पर्यटन मे प्रजापति को शिक्षा और प्रेरणा दी.[१३]

सायण ने व्रात्य की व्याख्या करते हुए लिखा है ·

---

१. या वो भेषजः मरुत शुचीनि या शान्तमा वृषणों या मयोभु.
   यानि मनुर्वृणीता पिता नन्ताशच योश्च रुद्रस्य वश्मि.—वही २, ३३, १३.

२. श्रेष्ठो जातस्य रुद्र : श्रियासि तवस्तमस्तवसा वज्रवाहो
   पर्षिण॰ पारमंहसः स्वस्ति विश्वा अभीति रपसो युयोधि.—वही २, ३३, ३.

३. ऋग्वेद · ६ ७४.

४. वही : ६, ७,३.

५. वही : २, १, ६; ३, २, ५.

६. वही : १, ४३, ४.

७ वही : १, ११४, ६.

८. ऋग्वेद : १, १७२, १· १, ६४, ८ तथा ६, ५, ३३, ५; ५, ६१, ४ आदि

९. ऋग्वेद: १०, १३६, २–३

१०. अथर्ववेद : ६, ४४, ३, ६, ५७, १, १९, १०, ६.

११. वही · ११, २, ७

१२. वही : १५, १, ४, ५.

१३. व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत. –अथर्ववेद १५, १.

कंचिद्विद्वत्तमं महाधिकारं पुण्यशीलं विश्वसमान्यं कर्मपरैर्ब्राह्मणैर्विद्विष्टं व्रात्यमनुलक्ष्य वचनमिति मन्तव्यम् अर्थात् वहाँ उस व्रात्य से मन्तव्य है, जो विद्वानो मे उत्तम, महाधिकारी, पुण्यशील और विश्वपूज्य है और जिससे कर्मकाण्डी ब्राह्मण विद्वेष करते है

इस प्रकार व्रतधारी एव सयमी होने के कारण ही इन्हे व्रात्य नही कहा जाता था, अपितु शतपथ ब्राह्मण के एक उल्लेख से प्रतीत होता है कि वृत्र (अर्थात् ज्ञान द्वारा सब ओर से घेर कर रहनेवाला सर्वज्ञ) को अपना इष्टदेव मानने के कारण भी यह जन व्रात्य के नाम से अभिहित किये जाते थे[1]

जर्मन विद्वान डाक्टर हौएर का मत है[2] कि यह व्रात्यो के योग और ध्यान का अभ्यास था जिसने आर्यो को आकर्षित किया, और वैदिक विचारधारा तथा धर्म पर अपना गहरा प्रभाव डाला है दूसरी ओर श्री एन० एन० घोप अपनी नवीन खोज के आधार पर इस निर्णय पर पहुँचे हैं[3] कि प्राचीन वैदिक काल मे व्रात्य जाति पूर्वी भारत मे एक महान् राजनीतिक शक्ति थी उस समय वैदिक आर्य एक नये देश मे अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये लड रहे थे और उनको सैन्यवल की अत्यधिक आवश्यकता थी अत उन्होने वडी प्रसन्नता से व्रात्यो को अपने दल मे मिला लिया. व्रात्यो को भी सभवतः आर्यो के नैतिक और आध्यात्मिक गुणो ने आकृष्ट किया और वे आर्य जाति के अन्तर्गत होने के लिये तैयार हो गये और फिर इस प्रकार आर्यो से मिल जाने पर उनकी सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित किया व्रात्य का निरन्तर पूर्व दिशा के साथ सम्वद्ध किया जाना, उसके अनुचरो मे 'पुश्चली' और "मागध" का उल्लेख होना (ये दोनो ही पूर्व देशवासी तथा आर्येतर जाति के है), आर्यो से पहले भी भारतवर्ष मे अतिविकसित और समृद्ध सभ्यताएँ होने के प्रमाणस्वरूप अधिकाधिक सामग्री का मिलना आदि तथ्य श्री एन० एन० घोप के निर्णय की ही पुष्टि करते है

वैदिक साहित्य के अनुशीलन से तथा लघु एशियाई पुरातत्त्व एव मोहनजोदडो तथा हडप्पा नगरो की खुदाई से प्राप्त सामग्री के आधार पर यह बात सुनिश्चित हो चुकी है कि वैदिक आर्यगण लघु एशिया तथा मध्य एशिया के देशो से होते हुए त्रेता युग के आदि मे लगभग ३००० ई० पूर्व मे इलावत और उत्तर पश्चिम के द्वार से पजाव मे आये थे उस समय पहले से ही द्राविड लोग गान्धार से विदेह तक तथा पाचाल से दक्षिण के मय देश तक अनेक जातियो मे विभक्त होकर विभिन्न जनपदो मे निवास कर रहे थे इनकी सभ्यता पूर्ण विकसित एव समुन्नत थी एव शिल्पकला इनके मुख्य व्यवसाय थे ये जहाजो द्वारा लघु एशिया तथा उत्तरपूर्वीय अफ्रीका के दूरवर्ती देशो के साथ व्यापार करते थे

ये द्राविड लोग सर्प-चिह्न का टोटका अधिक प्रयोग मे लाने के कारण नाग, अहि, सर्प, आदि नामो से विख्यात थे श्याम वर्ण होने के कारण 'कृष्ण' कहलाते थे अपनी अप्रतिम प्रतिभाशीलता तथा उच्च आचार-विचार के कारण ये अपने को दास व दस्यु (कान्तिमान) नामो से पुकारते थे व्रतधारी एव वृत्र का उपासक होने से व्रात्य तथा समस्त विद्याओ के जानकार होने से द्राविड नाम से प्रसिद्ध थे. सस्कृत का विद्याधर शब्द 'द्रविड' शब्द का ही रूपान्तर है ये अपने इष्टदेव को अर्हन्, परमेष्ठी, जिन, शिव एव ईश्वर के नामो से अभिहित करते थे जीवनशुद्धि के लिये ये अहिंसा सयम एव तपोमार्ग के अनुगामी थे इनके साधु दिगम्बर होते थे और बडे-बडे वाल रखते थे अन्य लोग तपस्या एव श्रम के साथ साधना करके मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेते थे[4]

यजुर्वेद मे एक स्थल पर रुद्र का 'किवि'[5] (ध्वसक या हानिकर) के रूप मे उल्लेख किया गया है और अन्यत्र 'द्रौर्न्नात्य'

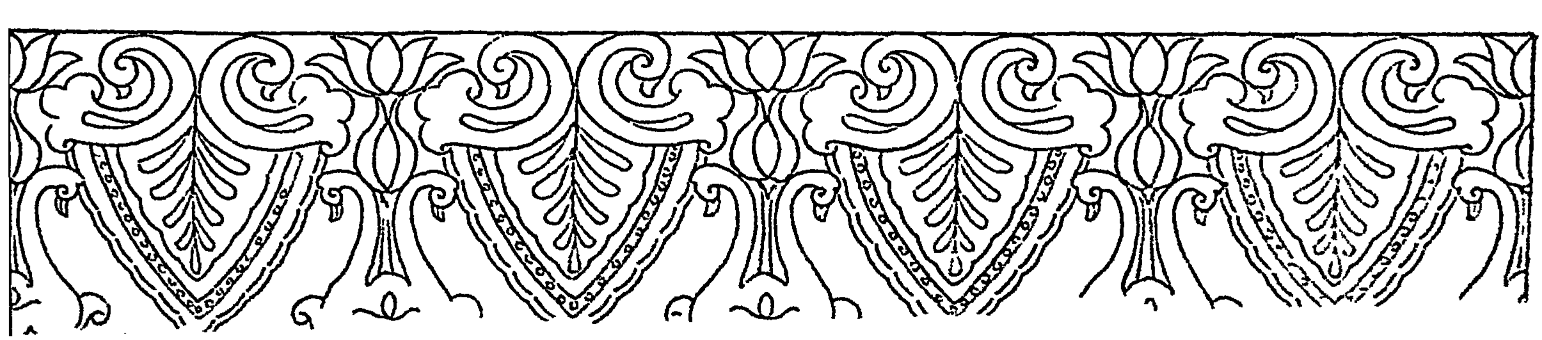
१. वृत्रो हवा इद सर्वं वृत्वा शिश्यो यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवीय यदिद सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद वृत्रो नाम "शपतथ ब्राह्मण ११, ३, ४

२. होएर दर व्रात्य (vratya)

३. एन०एन० घोप इण्डो आर्यन लिटेरेचर एण्ड कल्चर (orgin) १९३४ ई०

४. "ये नातरन्भूतक्नोनिमृत्यु यमन्वविन्दन् तपसा श्रमेण "—अथर्ववेदः ४, ३५.

५ यजुर्वेदः (वाजसनेयी सहिता) १०, २०



शब्द[1] का प्रयोग किया गया है, भाष्यकार महीधर ने जिसका अर्थ—'उच्छृखल आचरण' किया है. इसके अतिरिक्त उनके धनुष तथा तरकस को 'शिव' कहा गया है[2] उनसे प्रार्थना की गई है कि वह अपने भक्तो को मित्र के पथ पर ले चले, न कि भयकर समझे जाने वाले अपने पथ पर.[3] भिषक् रूप मे उनका स्मरण किया है और मनुष्य तथा पशुओ के लिये स्वास्थ्यप्रद भेषज देने के लिये भी उनसे प्रार्थना की गई है[4] यहाँ रुद्र का 'पशुपति' रूप मे भी उल्लेख मिलता है[5]

यजुर्वेद के 'त्र्यम्बक होम'[6] सूक्त मे रुद्र के साथ एक स्त्री देवता 'अम्बिका' का भी उल्लेख किया गया है, जो रुद्र की बहिन बतलाई गई है इन्हे 'कृत्तिवासा' कहा गया है और मृत्यु से मुक्ति तथा अमृतत्व की प्राप्ति के लिये प्रार्थना की गई है. उनके विशेष वाहन मूषक का भी उल्लेख किया गया है तथा उन्हे यज्ञभाग देने के पश्चात् 'मूजवत' पर्वत से पार चले जाने का भी अनुरोध किया गया उपलब्ध होता है मूषक जैसे धरती के नीचे रहनेवाले जन्तु से उनका सम्बन्ध इस बात का द्योतक हो सकता है कि इस देवता को पर्वत-कन्दराओ मे रहनेवाला माना जाता था तथा "मूजवत" पर्वत से परे चले जाने का अनुरोध इस बात का व्यजक हो सकता है कि इस देवता का वास भारतीय पर्वतो में माना जाता था "कृतिवासा" उपाधि से प्रतीत होता है कि उसका अपना चर्म ही उसका वस्त्र था—अर्थात् वह दिगम्बर था.

"शतरुद्रिय स्तोत्र"[7] मे रुद्र की स्तुति में ६६ मत्र है, जो रुद्र के यजुर्वेदकालीन रूप के स्पष्ट परिचायक है रुद्र को यहा पहली बार 'शिव' शिवतर' तथा 'शकर' आदि रूपो मे उल्लिखत किया गया है. 'गिरिशत' 'गिरित्र' 'गिरिशा' 'गिरिचर' गिरिशय'—इन नवीन उपाधियो से भी उन्हे विभूषित किया गया है 'क्षेत्रपति' तथा 'वणिक्' भी निर्दिष्ट किये गये है प्रस्तुत स्तोत्र के वीस से वाईस सख्या तक के मन्त्रो मे रुद्र के लिये कतिपय विचित्र उपाधियो का प्रयोग किया गया है अब तक रुद्र के माहात्म्य का गान करनेवाला स्तोता उन्हे इन उपाधियो से विभूषित करता है—स्तेनाना पति (चोरो का अधिराज), वचक, स्तायूना पति [ठगो का सरदार), तस्कराणा पति, मुष्णता पति, विकृन्ताना पति (गलकटो का सरदार) कुलुचाना पति, आदि. इसके अतिरिक्त इनमे 'सभा' 'सभापति,' 'गण' 'गणपति' आदि के रुद्र के उपासको के उल्लेख के साथ 'व्रात,' 'व्रातपति', तक्षक, रथकार, कुलाल, कर्मकार, निषाद, आदि का भी निर्देश किया गया है.

ब्राह्मण ग्रथो के समय तक रुद्र का पद निश्चित रूप से अन्य देवताओ से ऊँचा हो गया था और वह 'महादेव' कहा जाने लगा था[8] जैमनीय ब्राह्मण मे कहा गया है[9] कि देवताओ ने प्राणीमात्र के कर्मो का अवलोकन करने और धर्म के विरुद्ध आचरण करनेवाले का विनाश करने के उद्देश्य से रुद्र की सृष्टि की. रुद्र का यह नैतिक उत्कर्ष ही था, जिसके कारण उनका पद ऊँचा हुआ और जिनके कारण अन्त मे रुद्र को परम परमेश्वर माना गया.

श्वेताश्वतर उपनिपद् से स्पष्ट है कि व्राह्मण ग्रन्थो के समय से रुद्र के पद मे कितना उत्कर्ष हो चुका था. इसमे उन्हे

---

१. वही : (वाजसनेयी सहिता) ३६, ६, तथा महीधर का भाष्य-दुष्ट स्खलनोच्छलनादि व्रतम्.
२. वही (तैत्तिरीय सहिता) ४, ५, १.
३. वही (तैत्तिरीय सहिता) १, २, ४
४ वही : (तैत्तिरीय सहित) १, ८, ६.
५ वही (वाजसनेयी सहिता) ६, ३, ६, ३, ६, ८. (तैत्तिरीय) १, ८, ६
६. यजुर्वेद : (तैत्तिरीय सहिता) १, ८, ६ (वाजसनेयी) ३, ५७, ६३.
७. वही : (तैत्तिरीय सहिता) ४, ५, १.
८ कौशीतकी · २१, ३.
६ जैमिनीय · ३, २६१, ६३.

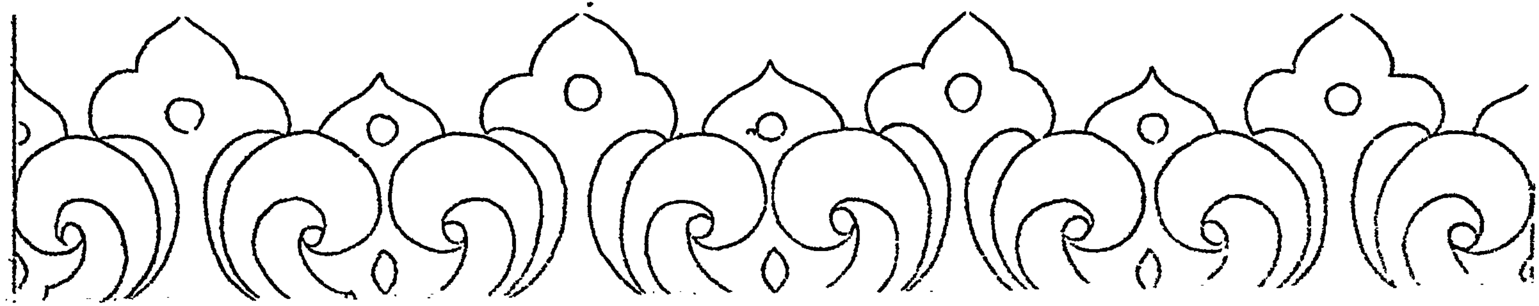
सामान्यत ईश, महेश्वर, शिव और ईशान कहा गया है[१] वह मोक्षाभिलाषी योगियो के ध्यान के विषय है और उनको एक स्रष्टा, ब्रह्म और परमात्मा माना गया है.[२] इस काल मे वह केवल जन सामान्य के ही देवता नही थे अपितु आर्यो के सबसे प्रगतिशील वर्गो के आराध्य देव भी बन चुके थे इस रूप मे उनका सम्बन्ध, दार्शनिक विचारधारा और योगाभ्यास के साथ हो गया था, जिसको उपनिषद् के ऋषियो ने आध्यात्मिक उन्नति का एक मात्र साधन माना था अपर वैदिक काल मे योगी, चिन्तक और शिक्षक के रूप मे जो शिव की कल्पना की गई है, वह भी इसी सम्बन्ध के कारण थी श्वेताश्वतर उपनिषद् मे रुद्र को ईश, शिव और पुरुष कहा गया है लिखा है कि प्रकृति, पुरुष अथवा परब्रह्म की शक्ति है, जिसके द्वारा वह विविध रूप विश्व की सृष्टि करता है[३] पुरुष स्वय स्रष्टा नही, अपितु एक बार प्रकृति को क्रियाशील बनाकर वह अलग हो जाता है और केवल प्रेक्षक के रूप मे काम करता है[४] इससे ज्ञात होता है कि इस समय तक रुद्र उन लोगो के आराध्य देव बन गये थे जो साख्य विचार-धारा का विकास कर रहे थे. प्रश्नोपनिषद् मे रुद्र को परिरक्षिता कहा गया है और प्रजापति से उसका तादात्म्य प्रकट किया गया है[५] मैत्रायणी उपनिषद् मे रुद्र की 'शम्भु' [अर्थात् शान्तिदाता] उपाधि का पहली बार उल्लेख हुआ[६]

श्रौत-सूत्रो मे रुद्र की उपासना का वही स्वरूप उपलब्ध होता है जैसा ब्राह्मण ग्रथो मे यहाँ रुद्र का रूप केवल एक देवता का है और उनके रुद्र, भव, शर्व आदि अनेक नामो का उल्लेख है[७] महादेव, पशुपति, भूतपति आदि उपाधियो से भी विभूषित किया गया है[८] रुद्र से मनुष्यो और पशुओ की रक्षा के लिये प्रार्थना की गई है[९] उन्हे रोगनाशक औषधियो का दाता[१०] और व्याधिनिवारक[११] कहा गया है गृह्य सूत्रो मे रुद्र की समस्त वैदिक उपाधियो का उल्लेख मिलता है,[१२] यद्यपि इनके 'शिव' और शकर ये नवीन नाम अधिक प्रचलित होते जा रहे हैं[१३] यहाँ उन्हे श्मशानो, पुण्यतीर्थो एव चौराहो जैसे स्थलो मे एकान्त विहारी के रूप मे चित्रित किया गया है[१४]

सिन्धु घाटी के निवासियो का वैदिक आर्यो के साथ समिश्रण हो जाने पर रुद्र ने सिन्धु घाटी के पुरुष देवता को आत्मसात् कर लिया इसके फलस्वरूप सिन्धु घाटी की स्त्री देवता का रुद्र की पूर्वसहचरी अम्बिका के साथ तादात्म्य हो गया और उसे रुद्रपत्नी माना जाने लगा इस प्रकार भारतवर्ष मे देवी की उपासना आई और शक्तिमत का सूत्रपात हुआ इसके अतिरिक्त जननेन्द्रिय सम्बन्धी प्रतीको की उपासना, जो सिन्धुघाटी के देवताओ की उपासना का एक अग थी, का भी रुद्र की उपासना मे समावेश हो गया इसके अतिरिक्त 'लिंग' रुद्र का एक विशिष्ट प्रतीक माना जाने लगा और इसी कारण उसकी उपासना भी प्रारम्भ हो गई परन्तु धीरे-धीरे लोग यह भूल गये कि प्रारम्भ मे यह एक जननेन्द्रिय सम्बन्धी प्रतीक था इस प्रकार भारत मे लिंगोपासना का प्रादुर्भाव हुआ, जो शैव-

---

१ श्वेताश्वतर उपनिषद् ३-११-४-१०-४, ११, ५, १६.
२ वही ३, २-४, ३, ७, ४, १०-२४.
३ श्वेताश्वतर उपनिषद् ४, १
४. वही ४, ५
५. प्रश्नोपनिषद् २, ९
६ मैत्रायणी उपनिषद् १५, ८
७ शाखायन श्रौतसूत्र . ४, १६, १.
८ वही ४, २०, १४.
९. वही : ४, २०, १.आश्वलायन. ३, ११, १.
१०. लाणयन श्रौतसूत्र ५, ३, ७
११. शाखायन श्रौतसूत्र ३, ४, ८.
१२. आश्वलायन गृह्यसूत्र ४, १०.
१३ वही: ७, १, २
१४. मानवगृह्यसूत्र २, १३, ९, १४



धर्म का एक अग बन गई दूसरी ओर उपनिषदो से प्रतीत होता है कि रुद्र की उपासना का प्रचार नवीन धार्मिक तथा दार्शनिक विचारधारा के प्रवर्त्तको मे हो रहा था, और ये लोग रुद्र को परब्रह्म मानते थे सूत्रयुग में रुद्र को 'विनायक' की उपाधि दी गई और यही अपर वैदिक काल मे गणेश नाम से प्रसिद्ध हुआ. रुद्र तथा विनायक प्रारम्भ मे एक ही देवता के दो रूप थे, परन्तु कालक्रम से यह स्मृति लुप्त हो गयी और गणेश को रुद्र का पुत्र माना जाने लगा

उपनिषत्कालीन भक्तिवाद ने देश के धार्मिक आचार-विचार मे युगान्तर उपस्थित कर दिया. कर्मकाण्ड का स्थान स्तुति, प्रार्थना तथा पूजा ने ले लिया और मन्दिरो के निर्माण के साथ मानवाकार तथा लिंगाकार मे रुद्र-मूर्तियो की प्रतिष्ठा तथा पूजा आरम्भ हो गई तथा रुद्र का नाम भी अब शिव के रूप में लोकप्रचलित हो गया.

पाणिनि के समय में शिव के विकसित स्वरूप के प्रमाण वे सूत्र है, जिन्हे 'माहेश्वर'[१] बतलाया गया है वैसे पाणिनि की अष्टाध्यायी मे रुद्र, भव और शर्व शब्दो का भी उल्लेख मिलता है.[२]

रामायण मे रुद्र के अत्यधिक विकसित स्वरूप के दर्शन होते है यहाँ उन्हे मुख्यत 'शिव' कहा जाता है. महादेव, महेश्वर, शकर तथा त्र्यम्बक नामो का अधिक उल्लेख मिलता है यहाँ उन्हे देवताओ में सर्वश्रेष्ठ देव-देव कहा गया है.[3] और अमरलोक मे भी उनकी उपासना विहित दिखलाई गई है[४] एक अन्य स्थल पर उन्हे अमर, अक्षर और अव्यय भी माना गया है[५] एक स्थान पर उन्हे हिमालय मे योगाभ्यास करते हुए दिखलाया गया है.[६] रामायण मे शिव के साथ देवी की उपासना भी भक्त जन करते है इन दोनो को लेकर जिस उपासनापद्धति का जन्म हुआ, वेदोत्तर काल मे वही शैवधर्म का सर्वाधिक प्रचलित रूप बना. रामायण मे शिव की 'हर'[७] तथा 'वृषभध्वज'[८] इन दो नवीन उपाधियो का भी उल्लेख मिलता है

महाभारत मे शिव को परब्रह्म, असीम, अचिन्त्य, विश्वस्रष्टा, महाभूतो का एक मात्र उद्गम, नित्य और अव्यक्त आदि कहा गया है एक स्थल पर उन्हे साख्य के नाम से अभिहित किया गया है और अन्यत्र योगियो के परम पुरुष नाम से[६] वह स्वय महायोगी है और आत्मा के योग तथा समस्त तपस्याओ के ज्ञाता है एक स्थल पर लिखा है कि शिव को तप और भक्ति द्वारा ही पाया जा सकता है[१०] अनेक स्थलो पर विष्णु के लिये प्रयुक्त की गई योगेश्वर[११] की उपाधि इस तथ्य की द्योतक है कि विष्णु की उपासना मे भी योगाभ्यास का समावेश हो गया था, और कोई भी मत इसके वर्धमान महत्त्व की उपेक्षा नही कर सकता था.

महाभारत मे शिव के एक अन्य नवीन रूप के दर्शन होते है और वह है उनका 'कापालिक' स्वरूप यह स्वरूप मृत्युदेवता वैदिक रुद्र का विकसित रूप मालूम देता है. यहाँ उनकी आकृति भक्तिवाद के आराध्यदेव शिव की सौम्य

---

१. माहेश्वर सूत्र इस प्रकार हैं—अ इ उ ण्, ऋ लृ क्, ए ओ ङ्, ऐ औ च्, ह य व र ट्, ल ण्, ञ म ङ ण न म्, झ भ ञ्, घ ढ ध ष्, ज ब ग ड द श्, ख फ छ ठ थ च ट त व्, क प य्, श ष स र्, हल्.

२. अष्टाध्यायी : १, ४६, ३, ५३, ४, १००.

३ रामायण, बालकाण्ड ४५, २२–२६, ६६. ११–१२, ६, १, १६, २७.

४ वही, १३, २१.

५. वही, ४ २६

६ वही, ३६, २६.

७. रामायण, बालकाण्डः ४३, ६ उत्तरकाण्डः ४, ३२, १६, २७, ८७, ११.

८ वही, युद्धकाण्ड' ११७, ३ उत्तरकाण्ड. १६, ३५, ८७, १२.

६. महाभारत द्रोण. ७४, ५६, ६१. १६६, २६.

१० वही अनुशासन ६८, ८, २२

११ अनुशासन वही ६८, ७४ आदि



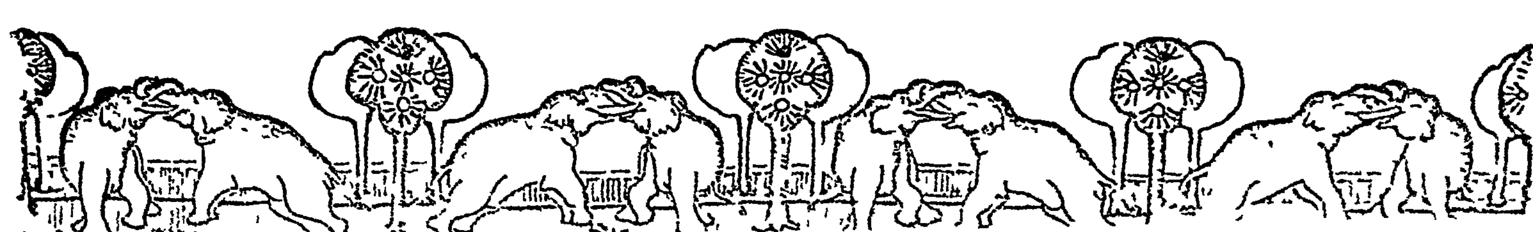
आकृति के सर्वथा विपरीत एव भयावह है वह हाथ मे कपाल लिये है[1] और लोकवर्जित श्मशान प्रदेश उनका प्रिय आवास है, जहा वह राक्षसो, वेतालो, पिशाचो और इसी प्रकार के अन्य जीवो के साथ विहार करते है[2] उनके गण को 'नक्तचर' तथा 'पिशिताशन' कहा गया है[3] एक स्थल पर स्वय शिव को मास भक्षण करते हुए तथा रक्त एव मज्जा का पान करते हुए उल्लिखित किया गया है[4]

अश्वघोष के बुद्धचरित मे शिव का 'वृषध्वज' तथा 'भव' के रूप में उल्लेख हुआ है,[5] भारतीय नाट्यशास्त्र मे शिव को 'परमेश्वर' कहा गया है[6] उनकी 'त्रिनेत्र' 'वृषाक' तथा 'नटराज' उपाधियो की चर्चा है[7] वह नृत्यकला के महान् आचार्य है और उन्होने ही नाट्यकला को 'ताण्डव' दिया वह इस समय तक महान् योगाचार्य के रूप मे ख्यात हो चुके थे तथा इसमे कहा गया है कि उन्होने ही 'भरत-पुत्रो' को सिद्धि सिखाई[8] अन्त मे शिव के त्रिपुर-ध्वस का भी उल्लेख किया गया है और बताया गया है कि ब्रह्मा के आदेश से भरत ने 'त्रिपुरदाह' नामक एक 'डिम' (रूपक का एक प्रकार) भी रचा था और भगवान् शिव के समक्ष उसका अभिनय हुआ था.[9]

पुराणो मे शिव का पद बडा ही महत्त्वपूर्ण हो गया है यहाँ वह दार्शनिको के ब्रह्म है, आत्मा है, असीम है और शाश्वत है[10] वह एक आदि पुरुष है परम सत्य है तथा उपनिषदो एव वेदान्त में उनकी ही महिमा का गान किया गया है[11] बुद्धिमान् और मोक्षाभिलापी इन्ही का ध्यान करते है[12] वह सर्वज्ञ है, विश्वव्यापी है, चराचर के स्वामी हैं तथा समस्त प्राणियो मे आत्मरूप से बसते है[13] वह एक स्वयभू है तथा विश्व का सृजन, पालन एव सहार करने के कारण तीन रूप धारण करते है[14] उन्हे 'महायोगी',[15] तथा योगविद्या का प्रमुख आचार्य माना जाता है.[16] सौर[17] तथा वायु पुराण[18] मे शिव की एक विशेष योगिक उपासना विधि का नाम माहेश्वर योग है इन्हे इस रूप मे 'यती',[19] 'आत्म-सयमी' 'ब्रह्मचारी'[20] तथा 'ऊर्ध्वरेता'[21] भी कहा गया है शिवपुराण मे शिव का आदि तीर्थंकर वृषभदेव के रूप मे अवतार

---

१ वनपर्व वही १८८, ५० आदि
२. वही वनपर्व ८३, ३
३. द्रोण पर्व ५०, ४६
४ वही, अनुशासन पर्व, १५१, ७.
५ बुद्धचरित १०, ३, १, ६३.
६ नाट्यशास्त्र १, १.
७ वही: १, ४५, २४, ५, १०
८. वही. १, ६०, ६५
६ वही ४, ५, १०
१० लिंग पुराण, भाग २, २१, ४६, वायुपुराण. ५५, ३, गरुडपुराण: १६, ६,७.
११. सौरपुराण: ३६, ३१, ब्रह्मपुराण: १२३, १६६
१२ वही. २, ८३, ब्रह्मपुराण: ११०, १००.
१३. वायु पुराण ३०, २८३, ८४
१४ वही' ६६, १०८, लिग पुराण भाग १, ११.
१५ वही २४, १५६ इत्यादि.
१६. ब्रह्मवैवर्तपुराण. भाग १, ३, २०, ६, ४
१७. सौर पुराण' अध्याय १२
१८. वायु पुराण अध्याय १०
१६ मत्स्यपुराण ४७, १३८, वायुपुराण. १७, १६६
२० वही, ४७, १३८, २६, वायुपुराण: २४, १६२.
२१ मत्स्यपुराण १३६, ५, सौरपुराण ७, १७, ३८, १, ३८, १४.



लेने का उल्लेख है.[1] प्रभासपुराण मे भी ऐसा ही उल्लेख उपलब्ध होता है [2]

विमलसूरि के 'पउमचरिउ' के मगलाचरण के प्रसग मे एक 'जिनेन्द्र रुद्राष्टक' का उल्लेख हुआ है यद्यपि इसे अष्टक कहा गया है, परन्तु पद्य सात ही है. इसमें जिनेन्द्र भगवान् का रुद्र के रूप मे स्तवन किया गया है. बताया गया है कि जिनेन्द्र रुद्र पाप रूपी अन्धकासुर के विनाशक है, काम, लोभ एव मोहरूपी त्रिपुर के दाहक है, उनका शरीर तप रूपी भस्म से विभूपित है, सयमरूपी वृषभ पर वह आरूढ है, ससाररूपी करी (हाथी) को विदीर्ण करने वाले है, निर्मल बुद्धिरूपी चन्द्ररेखा से अलकृत है, शुद्धभावरूपी कपाल से सम्पन्न है, व्रतरूपी स्थिर पर्वत (कैलाश) पर निवास करने वाले है, गुण-गण रूपी मानव-मुण्डो के मालाधारी है, दश धर्मरूपी खट्वाग से युक्त है तप कीर्ति रूपी गौरी से मण्डित है सात भय रूपी उद्दाम डमरू को बजानेवाले है, अर्थात् वह सर्वथा भीतिरहित है, मनोगुप्ति रूपी सर्प-परिकर से वेष्टित है, निरन्तर सत्यवाणी रूपी विकट जटा-कलाप से मडित है तथा हुकारमात्र से भय का विनाश करने वाले है [3]

आचार्य वीरसेन स्वामी ने धवला टीका मे अर्हन्तो का पौराणिक शिव के रूप मे उल्लेख किया है और कहा है कि अर्हन्त परमेष्ठी वे है जिन्होने मोह रूपी वृक्ष को जला दिया है, जो विशाल अज्ञान रूपी पारावार से उत्तीर्ण हो चुके है, जिन्होने विघ्नो के समूह को नष्ट कर दिया है, जो सम्पूर्ण वाधाओ से निर्मुक्त है, जो अचल है, जिन्होने कामदेव के प्रभाव को दलित कर दिया है, जिन्होने त्रिपुर अर्थात् मोह, राग द्वेष को अच्छी तरह से भस्म कर दिया है, जो दिगम्बर मुनिव्रती अथवा मुनियो के पति अर्थात् ईश्वर है, जिन्होने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र रूपी त्रिशूल को धारण करके मोह रूपी अधकासुर के कबन्धवृन्द का हरण कर लिया है तथा जिन्होने सम्पूर्ण आत्मरूप को प्राप्त कर लिया है और दुर्नय का अन्त कर दिया है [4]

पउमचरिउ में उल्लिखित 'रुद्राष्टक' इस तथ्य का द्योतक है कि इस रचना के समय तक वैदिककालीन रुद्र ने कापालिक एव पौराणिक युग के लोकप्रचलित स्वरूप को अगीकार कर लिया था, जिसका जैन परम्परानुरूपी समन्वय उक्त 'अष्टक' के रचयिता ने अपनी रचना मे करके अपनी परम्परागत रुद्रभक्ति का परिचय दिया. वीरसेन स्वामी द्वारा अर्हन्तो का पौराणिक शिव के रूप मे किया गया चित्रण भी इसी तथ्य की ओर इगित करता है.

स्वय महाकवि पुष्पदन्त ने भी अपने महापुराण मे एक स्थल पर भगवान् वृषभदेव के लिये रुद्र की ब्रह्मा-विष्णु-महेश रूपी त्रिमूर्ति से सम्वन्धित अनेक विशेषणो का प्रयोग किया है भगवान् का यह एक सस्तवन है, जिसे उनके केवल ज्ञान

---

१ इत्थ प्रभाव ऋपभोऽवतार शकरस्य मे। सता गतिर्दीनबन्धुर्नवम· कथितवस्तव।
ऋपभस्य चरित्र हि परमं पावन महत्। स्वर्ग्यंयशस्यमायुष्य श्रोतव्य च प्रयलत। —शिवपुराण ४, ४७-४८.

२. कैलाशे विमलरम्ये वृपभोऽय जिनेश्वर। चकार स्वावतार च सर्वज्ञः सर्वग शिव·। —प्रभासपुराण, ४६.

३. 'पापान्धकनिर्णाश मकरध्वज-लोभ-मोहपुरदहनम्, तपोभस्म भूषिताग जिनेन्द्ररुद्र सदा वन्दे।१।
सयमवृपभारूढ तप-उग्रमहत तीक्ष्णशूलधरम्, ससारकरिविदार जिनेन्द्ररुद्र सदा वन्दे।२।
विमलमतिचन्द्ररेख विरचितसिलशुद्धभावकपालम्, व्रताचलशैलनिलय जिनेन्द्ररुद्र सदा वन्दे।३।
गुणगणनरशिरमाल दशाध्वजोद्भूतविदितखड्वाङ्गम्, तप कीर्तिगौरिरचित जिनेन्द्ररुद्र सदा वन्दे।४।
सप्तभयडाम डमरूकवाद्य अनवरतप्रकटसदोहम्, मनोवद्धसर्पपरिकर जिनेन्द्ररुद्र सदा वन्दे।५।
अनवरतसत्यवाचा विकटजटामुकुट कृतशोभम्, हुकारभयविनाश जिनेन्द्ररुद्र सदा वन्दे।६।
ईशान शयनरचित जिनेन्द्ररुद्राष्टक ललित मे भावं च, य· पठति भावशुद्धस्तस्य भवेज्जगति ससिद्धिः।७।'

४. 'णिद्दद्धमोहतरुणो विथिण्णणाण-सायरुत्तिण्णा, णिहय-णिय-विग्ध वग्गा वहुवाहविणिग्गया अयला।
दलिय-मयण-पायावा तिकालविसएहि तीहि णयणेहिं, दिट्ठसयलट्ठसारा सुरद्धतिउरा मुणिव्वइणो।
तिरयणतिसूलधारिय मोहधासुर-कवध-विन्दहरा, सिद्धसयलप्परूवा अरहन्ता दुण्णयकयता।
—धवला टीका—१ पृ० स० ४५-४६.

होने के पश्चात् सौधर्म तथा ईशान इन्द्र ने प्रस्तुत किया है. स्तवन मे भगवान् की जय मनाते हुए कहा गया है[1] कि वह दुर्मथ कामदेव का मन्थन करनेवाले हैं, दोप-रोष रूपी मास के लिये अग्नि के समान है, सम्पूर्ण विशुद्ध केवलज्ञान के आवास है, और मिथ्यामार्ग से सन्मार्ग प्राप्ति के विधारक है वह[2] ककाल, त्रिसूल, मनुष्य-कपाल, विषधर तथा स्त्री से रहित है, शान्त है, शिव है, अहिंसक है, राजन्यवर्ग उनके चरणो की पूजा करता है परोपकारी है, भीति दूर करनेवाले हैं, परन्तु अपने अन्तरग रिपुवर्ग के लिये भयकर है, वामाविमुक्त [स्त्री रहित] है, परन्तु स्वय ससार के लिये वाम [प्रतिकूल] है, त्रिपुरहारी [जन्म जरा मृत्यु] अथवा मिथ्यादर्शन, ज्ञान चारित्र रूपी त्रिपुर के विनाशक है, हर है, धैर्यशाली है, निर्मल स्वय वुद्ध रूप से सम्पन्न है, स्वयभू है, सर्वज्ञ है, सुख तथा शान्तिकारी शकर है, चन्द्रधर है, सूर्य है, रुद्र है, उग्र तपस्वियो मे अग्रगामी है, ससार के स्वामी हैं, तथा उसे उपशान्त करने वाले है, महादेव है, महान् गुणगणो से यशस्वी है, महाकाल है, प्रलयकाल के लिये उग्रकाल हैं, गणेश [गणधरो के स्वामी] है, गणपतियो [वृषभसेन आदि गणधरो] के जनक है, ब्रह्म है, ब्रह्मचारी है, वेदागवादी [सिद्धान्तवादी] है, कमलयोनि है, पृथ्वी का उद्धार करने वाले आदिवराह हैं, सुवर्णवृष्टि के साथ गर्भ मे अवतीर्ण हुए है, दुर्भय के निवारक है, हिरण्यगर्भ है, [युगसृष्टा है] परमानन्तचतुष्टय [अनन्त-दर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख तथा अनन्तवीर्य] से सुशोभित है, अज्ञानान्धकारहारी है, दिवसनाथ है, यज्ञपुरुष हैं, पशुयज्ञ के विनाशक है, ऋषि-सम्मत अहिंसाधर्म के प्रकाशक है,[3] माधव (अन्तरगवहिरग लक्ष्मी के स्वामी) है, त्रिभुवन के माधवेश है, मद्यरूपी मधु को दूपित करने वाले मधुसूदन है, लोकदृष्टा परमात्मा है, गोवर्द्धन (ज्ञानवर्धक) है, केशव है और परमहस है इन्द्र कहते है—भगवान् को ससार मे केशव कहा जाता है जो रागी हो [य केशेपु रागवान् स 'केशव'[4] जो केशो मे अनुरागी हो उसे केशव कहते है], परन्तु तुम तो वीतरागी हो, अत तुम्हारे अन्दर वह केशवत्व कैसे आ सकता है ? 'केशव'[5] के अन्य प्रश्नमूलक शाब्दिक तात्पर्य को लेकर इन्द्र कहते है—भगवन्, वास्तव मे वे ही जड है जो तुम्हारा उपहास करते है और ऐसे जन का नरक-वास ही निश्चित है भगवन्, तुम काश्यप हो, जड-आचार से विहीन हो, एकाग्रचिन्तानिरोधपूर्वक ध्यानी हो, आकाश, अग्नि, चन्द्र, सूर्य, यजमान, पृथ्वी, पवन, सलिल—इन आठ शरीरो से युक्त महेश्वर हो, परमौदारिक शरीर से युक्त हो कलिकाल के समस्त पाप-पक से मुक्त[6] हो, सिद्ध हो, बुद्ध हो, शुद्धोदनि हो, सुगत हो, कुमार्गनाशक

---

१ जय दुम्महवम्महणिम्महण दोस-रोस पशु-पाम-सिहि, जय सयलविमलकेवलणिलय हरण-करण-उद्धरणविहि ।

२ जय वकालसूलणरकदलविसहरविलयविरहिया, जय भगवत सत सिव सकिव णिवचियचरण परहिया ।
जय सुकइ कहियणीसेसणाम भीमयण णियरिउवग्गभीम, वामाविमुक्क ससारवाम जय तिउरहारि हरहीरधाम ।
जय पयडियधुससयभुभाव जयजय सयभू परिगणिय भाव, जय सकर सकर विहियसति जय समहर कुवलयदिण्णकति ।
जय रुद्द रउद्दतवग्गगामि जय जय भवमामि भवोवसामि, महण्व महागुणगणजसाल महकाल पलयकालुग्गकाल ।
जय जय गणेस गणवइजणेर जय वभपसाहिय वभचेर, वेयगवाइ जय कमलजोणि आई वराह उद्धरियखोणि ।
सहिरण्णविट्ठि पविवण्णगब्भ जय दुण्णयणिहण हिरण्णगब्भ, जय परमाणेत चउक्कसोह भावधसारहर दिवमणाह ।
जय जण्णपुरिस पसुजण्णणासि रिसिसस अहिंसाधम्मभासि ॥

३ 'जय माहव तिहुवणमाहवेस महुसूयण दूसियमहुविसेस जय लोयणिओइय परमहस गोवद्धण केसव परमहस ।
जगि सो केसउ जो रायवत तुह णीरायहु, कहि केसवत्तु —'महापुराण' १०, ५.

४ देखिये, महापुराण १०, ५ की टिप्पणी

५ के सव ते सव जे पइ हसति जड पावपिंड रउरवि वसति, जय वासव का सवविहि तुमम्मि गेरतरू चिन्ति णिरोहु जम्मि ।
जय गयण हुयासणचद रवि जीवय महि मारुय सलिल, अट्ठगमहेसर जय सयल पक्खालिय कलिमलकलिल ॥—'महापुराण' १०, ५.
तुलना कीजिये
या सृष्टि सृष्टुराद्या वहति विधिहुत या हविर्या च होत्री ये द्वे सन्ध्ये विधत्त श्रुतिविपयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्व ।
यामाहु 'सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिन प्राणवन्त , प्रत्यक्षाभि· 'प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीश·' ।
—अभिज्ञानशाकुन्तल १, १ तथा मालविकाग्निमित्र १, १.

६ जय जय सिद्ध वुद्ध सुद्धोयणि सुगय कुमग्गणासण, जय वइकुंठ विट्ठु दामोयर हयपरवाइवासण ॥—'महापुराण' १०,६.



हो, वैकुण्ठवासी विष्णु हो, दामोदर हो तथा परवादियो की वासना को नष्ट करने वाले हो.

महाकवि पुष्पदन्त के उल्लिखित सस्तवन के अध्ययन से प्रतीत होता है कि भगवान् वृषभदेव के रूप मे ही शिव के त्रिमूर्तिरूप तथा बुद्ध रूप को भी समन्वित कर लिया गया है. यद्यपि समन्वय क्रिया पुष्पदन्त द्वारा जैनदृष्टि को सम्मुख रख कर की गई है, परन्तु प्रतीत होता है कि तत्कालीन लोकप्रचलित शिव के एकेश्वरत्व ने भी अशत उनके मस्तिष्क पर अवश्य प्रभाव डाला है. पुष्पदत का युग जैनधर्म के उत्कर्ष तथा धार्मिक सहिष्णुता का युग था. खजुराहो[1] के १००० ईस्वी के शिलालेख नम्बर पाँच मे शिव का 'एकेश्वर' रूप मे तथा 'विष्णु' 'बुद्ध' और 'जिन' का उन्ही के अवतारो के रूप मे उल्लेख किया जाना इसी तथ्य को पुष्ट करता है यद्यपि इससे पूर्व पौराणिक काल मे धार्मिक सघर्ष ने उग्ररूप धारण किया और चार्वाक, कौल तथा कापालिको के साथ बौद्ध और जैनो को भी विधर्मी माना गया[2]

वृषभ तथा शिव-ऐक्य के अन्य साक्ष्य :

कतिपय अन्य लोकमान्य साक्ष्य भी वृषभ तथा शिव—दोनो के ऐक्य के समर्थक है जो निम्न प्रकार है

शिव रात्रि तथा कैलाश :

वैदिक मान्यता के अनुसार शिव कैलाशवासी है और उनसे सम्बन्धित शिवरात्रि पर्व का वहाँ बडा महत्त्व है.

जैन परम्परा के अनुसार भगवान् ऋषभदेव ने सर्वज्ञ होने के पश्चात् आर्यावर्त्त के समस्त देशो मे विहार किया, भव्य जीवो को धार्मिक देशना दी और आयु के अन्त मे अष्टापद (कैलाश पर्वत) पहुँचे वहाँ पहुँच कर योगनिरोध किया और शेष कर्मो का क्षय करके माघ कृष्णा चतुर्दशी के दिन अक्षय शिवगति (मोक्ष) प्राप्त की[3]

भगवान् ऋषभदेव ने अष्टापद (कैलाश) से जिस दिन शिव-गति प्राप्त की उस दिन समस्त साधु-सघ ने दिन को उपवास तथा रात्रि को जागरण करके शिव-गति प्राप्त भगवान् की आराधना की, जिसके फलस्वरूप यह तिथि-रात्रि 'शिवरात्रि' के नाम से प्रसिद्ध हुई.

उत्तरप्रान्तीय जैनेतर वर्ग मे प्रस्तुत शिवरात्रि पर्व फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी को माना जाता है उत्तर तथा दक्षिण देशीय पचागो मे मौलिक भेद ही इसका मूल कारण है उत्तरप्रान्त मे मास का आरभ कृष्ण-पक्ष से माना जाता है और दक्षिण मे शुक्ल-पक्ष से. प्राचीन मान्यता भी यही है. जैनेतर साहित्य मे चतुर्दशी के दिन ही शिवरात्रि का उल्लेख मिलता है. ईशान[4] सहिता मे लिखा है

माघे कृष्णचतुर्दश्यामादिदेवो महानिशि ।
शिवलिंगतयोद्भूतः कोटिसूर्यसमप्रभः ।
तत्कालव्यापिनी ग्राह्या शिवरात्रिव्रते तिथिः ।

प्रस्तुत उद्धरण मे जहाँ इस तथ्य का सकेत है कि माघकृष्णा चतुर्दशी को ही शिवरात्रि मान्य किया जाना चाहिए, वहाँ उसकी मान्यतामूलक ऐतिहासिक कारण का भी निर्देश है कि उक्त तिथि की महानिशा में कोटि सूर्य प्रभोपम भगवान्

---

१. एपिग्राफिका इण्डिका : भाग १, पृष्ठ स० १४८

२. सौरपुराण : ३८, ५४.

३ 'माघस्स किण्हि चोद्दसि पुव्वण्हे णियय जम्मणक्खत्ते

(क) अट्ठावयम्मि उसहो अजुदेण सम गओज्जोमि ।'—तिलोयपण्णत्ती ।

(ख) .. . . . घणतुहिणकणाउलि माहमासि ।

सूरुग्गमिकसणचउद्दसीहि णिव्वुड तित्थकरि पुरिससीहि ।—महापुराण : ३७, ३

४ ईशान सहिता

आदिदेव [वृषभनाथ] शिवगति प्राप्त हो जाने से 'शिव' इस लिंग [चिह्न] से प्रकट हुए—अर्थात् जो शिव पद प्राप्त होने से पहले 'आदिदेव' कहे जाते थे, वे अब शिवपद प्राप्त हो जाने से 'शिव' कहलाने लगे.

उत्तर तथा दक्षिण प्रान्त की यह विभिन्नता केवल कृष्ण-पक्ष मे ही रहती है, पर शुक्ल-पक्ष के सम्बन्ध मे दोनो ही एक मत है जब उत्तर भारत मे फाल्गुन कृष्णपक्ष चालू होगा तब दक्षिण भारत का वह माघकृष्ण पक्ष कहा जायगा जैन-पुराणो के प्रणेता प्राय दक्षिण भारतीय जैनाचार्य रहे है, अत उनके द्वारा उल्लिखित माघकृष्णा चतुर्दशी उत्तर-भारतीय जन की फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी ही हो जाती है. कालमाधवीय नागर खण्ड मे प्रस्तुत मासवैषम्य का निम्न प्रकार समन्वय किया गया है[1]

'माघ मासस्य शेषे या प्रथमे फाल्गुणस्य च ।
कृष्णा चतुर्दशी सा तु शिवरात्रि. प्रकीर्तिता ।'

अर्थात् दक्षिणात्य जन के माघ मास के शेष अथवा अन्तिम पक्ष की और उत्तरप्रान्तीय जन के फाल्गुन के प्रथम मास की कृष्णा चतुर्दशी 'शिवरात्रि' कही गई है

गंगावतरण

उत्तरवैदिक मान्यता के अनुसार जब गगा आकाश से अवतीर्ण हुई तो दीर्घ काल तक शिवजी के जटा-जूट मे भ्रमण करती रही और उसके पश्चात् वह भूतल पर अवतरित हुई यह एक रूपक है, जिसका वास्तविक रहस्य यह है कि जब शिव अर्थात् भगवान् ऋषभ देव को असर्वज्ञदशा मे जिस स्वसवित्तिरुपी ज्ञान-गगा की प्राप्ति हुई उसकी धारा दीर्घकाल तक उनके मस्तिष्क मे प्रवाहित होती रही और उनके सर्वज्ञ होने के पश्चात् वही धारा उनकी दिव्य वाणी के मार्ग से प्रकट होकर ससार के उद्धार के लिये बाहर आई तथा इस प्रकार समस्त आर्यावर्त को पवित्र एव आप्लावित कर दिया

गगावतरण जैन परपरानुसार एक अन्य घटना का भी स्मारक है वह यह है कि जैन भौगोलिक मान्यता मे गगानदी हिमवान् पर्वत के पद्मनामक सरोवर से निकलती है वहाँ से निकल कर वह कुछ दूर तक तो ऊपर ही पूर्वदिशा की ओर बहती है, फिर दक्षिण की ओर मुड कर जहाँ भूतल पर अवतीर्ण होती है, वहाँ पर नीचे गगाकूट मे एक विस्तृत चबूतरे पर आदि जिनेन्द्र वृषभनाथ की जटाजूट वाली अनेक वज्रमयी प्रतिमाएँ अवस्थित है, जिन पर हिमवान् पर्वत के ऊपर से गगा की धारा गिरती है विक्रम की चतुर्थ शताब्दी के महान् जैन आचार्य यतिवृषभ ने त्रिलोकप्रज्ञप्ति मे[2] प्रस्तुत गगावतरण का इस प्रकार वर्णन किया है :

'आदिजिणप्पडिमाओ ताओ जड-मउड-सेहरिल्लाओ ।
पडिमोवरिम्मि गगा अभिसित्तुमणा व सा पडदि ।'

अर्थात् गगाकूट के ऊपर जटारूप मुकुट से शोभित आदि जिनेन्द्र (वृषभनाथ भगवान्) की प्रतिमाए है प्रतीत होता है कि उन प्रतिमाओ का अभिषेक करने की अभिलाषा से ही गगा उनके ऊपर गिरती है

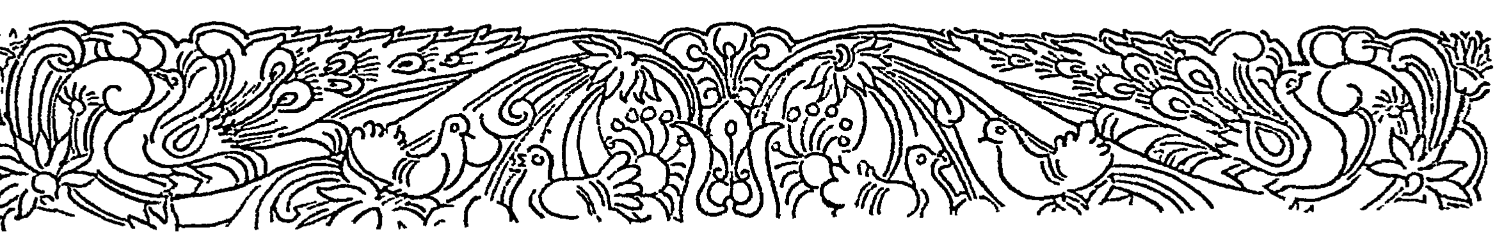
आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने भी प्रस्तुत गगावतरण की घटना का निम्न प्रकार चित्रण किया है[3] ·

सिरिगिहसीसट्ठियंबुजकण्णियसिंहासणं जडामउलं ।
जिणमभिसित्तुमणा वा ओदिण्णा मत्थए गंगा ।'

अर्थात् श्री देवी के गृह के शीर्ष पर स्थित कमल की कर्णिका के ऊपर सिंहासन पर विराजमान जो जटारूप मुकुट

---

१ कालमाधवीय नागर खण्ड
२ त्रिलोकप्रज्ञप्ति ' ४, २३०
३ त्रिलोक सार ५९०, गाथा सख्या.



वाली जिनमूर्ति है, उसका अभिषेक करने के लिये ही मानो गगा उस मूर्ति के मस्तक पर हिमवान् पर्वत से अवतीर्ण हुई है

त्रिशूल

वैदिक परपरा मे शिव को त्रिशूलधारी बतलाया गया है तथा त्रिशूलाकित शिवमूर्तियाँ भी उपलब्ध होती है जैनपरपरा मे भी अर्हन्त की मूर्तियो को रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सयग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र) के प्रतीकात्मक त्रिशूलाकित त्रिशूल से सम्पन्न दिखलाया गया है आचार्य वीरसेन ने एक गाथा त्रिशूलाकित अर्हन्तो को नमस्कार किया है.[१] सिन्धु उपत्यका से प्राप्त मुद्राओ पर भी कुछ ऐसे योगियो की मूर्तियाँ अकित है जो दिगम्बर हैं, जिनके शिर पर त्रिशूल है और कायोत्सर्ग मुद्रा मे ध्यानावस्थित है कुछ मूर्तियाँ वृषभचिह्न से अकित है मूर्तियो के ये दोनो रूप महान् योगी वृषभदेव से सबधित है इस के अतिरिक्त खडगिरि की जैन गुफाओ (ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी) में तथा मथुरा के कुशानकालीन जैन आयागपट्ट आदि मे भी त्रिशूलचिह्न का उल्लेख मिलता है[२] डा० रोठ ने इस त्रिशूल चिह्न तथा मोहनजोदडो की मुद्राओ पर अकित त्रिशूल मे आत्यन्तिक सादृश्य दिखलाया है.

ब्राह्मीलिपि तथा माहेश्वर सूत्र

जैसी कि जैन मान्यता है तथा पहले हमने महापुराण की पाँचवी सन्धि मे देखा कि भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्र भरत आदि को सम्पूर्ण कलाओ में पारगत किया और अपनी पुत्री ब्राह्मी को लिपिविद्या (अक्षर विद्या) तथा सुन्दरी को अकविद्या सिखलाई भारत की प्राचीनतम लिपि ब्राह्मी लिपि है जैनपरम्परा मे तथा उपनिषद् मे भी भगवान् ऋषभदेव को आदि ब्रह्मा कहा गया है,[३] अत ब्रह्मा से आई हुई लिपि ब्राह्मी कहलाई जा सकती है[४] तथा ब्रह्मी से सम्बन्धित लिपि का नाम भी ब्राह्मी हो सकता है

दूसरी ओर पाणिनि ने अइउण् आदि सूत्रो (सूत्रबद्ध वर्णमाला) को 'माहेश्वर' बतलाया है,[५] जिसका अर्थ है महेश्वर से आये हुए वैदिक परपरा मे जहाँ शिव को महेश्वर कहा गया है,[६] वहाँ जैनपरम्परा मे भगवान् ऋषभदेव ही महेश्वर अथवा ब्रह्मा (प्रजापति) है इस प्रकार वृषभदेव द्वारा ब्राह्मी पुत्री को सिखाई गई ब्राह्मीलिपि की अक्षरविद्या तथा माहेश्वर सूत्रबद्ध वर्णमाला दोनो मे जहाँ स्वरूपत. ऐक्य है, वहाँ यह ऐक्य ही दोनो के प्रवर्तक सबधी ऐक्य को इगित करता है

वृषभ [बैल] का योग

वैदिक परम्परा मे शिव का वाहन वृषभ (बैल) बतलाया गया है जैनमान्यतानुसार भगवान् वृषभदेव का चिह्न बैल है गर्भ मे अवतरित होने के समय इनकी माता मरुदेवी ने स्वप्न में एक वरिष्ठ वृषभ को अपने मुख-कमल मे प्रवेश करते हुए देखा था, अत इनका नाम वृषभ रक्खा गया सिन्धु घाटी में प्राप्त वृषभाकित मूर्तियुक्त मुद्राएँ तथा वैदिक

---

१. तिरयण-तिसूलधारिय · ·'धवलाटीका, १, ४५-४६.

२. (a) Kurtshe, list of ancient monuments protected under Act VII of 1904 (Arch Survey of India New imperial series vol 4) Trisula in Anant gumpha P. 273 and in Trisula Gumpha P 280

(b) Smith Jain stupa and other Antiquities of Mathura Ayegapata tablets pls IX,X and XI.

३ ब्रह्मा देवाना प्रथम सबभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता। · मुण्डकोपनिषद् : १, १

४. ब्रह्मण : आगता (ब्रह्मा से आई हुई) इस अर्थ में व्याकरणशास्त्र द्वारा ब्रह्मी शब्द की निष्पति होती है.

५ इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसज्ञार्थानि. —सिद्धातकौमुदी, पृ० स० २.

६. अथर्ववेद. १९, ४२, ४; १९, ४३ सूक्त, यजुर्वेद ४०, ४६ ऋग्वेद ४, ५८

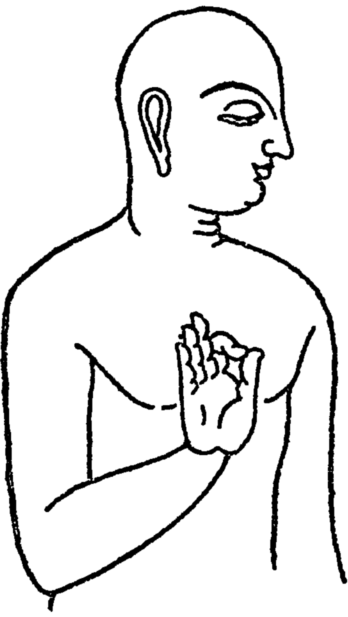
युक्तियाँ भी वृषभांकित वृषभदेव के अस्तित्व की समर्थक है. इस प्रकार वृषभ का योग भी शिव तथा वृषभदेव के ऐक्य को सपुष्ट करता है,

भगवान् वृषभदेव तथा शिव दोनो का जटाजूटयुक्त[1] तथा कपर्दी रूपचित्रण भी इनके ऐक्य का समर्थक है. भगवान् वृषभदेव के दीक्षा लेने के पश्चात् तथा आहार लेने के पूर्व एक वर्ष के साधक जीवन मे उनके केश बहुत बढ गये,[2] फलत उनके इस तपस्वी जीवन की स्मृति मे ही जटाजूटयुक्त मूर्तियो का निर्माण प्रचलित हुआ.



१. वत्तीसुवएस मुणीसरह कुडिला उंचियकेस —महापुराणु ३७, १७ तथा यजुर्वेद, १६,५९

२. सस्कारविरहात् केशा 'जटीभूतास्तदा विभो', नून तेऽपि तम क्लेशमनुमोढु तथा स्थिता ।
मुनेर्मूर्न्धिजटा दूर प्रसस्रु पवनोद्धता', ध्यानाग्निनेव तप्तस्य जीवस्वर्णस्य कालिका । —आदिपुराण- १८, ७५-७६.



डॉ० देवीलाल पालीवाल
एम० ए०, पी-एच० डी०

राजस्थान के प्राचीन इतिहास की शोध

राजस्थान का प्रथम क्रमवद्ध इतिहास सन १८२९ मे अग्रेजी भाषा मे इग्लैण्ड मे प्रकाशित हुआ था ग्रन्थ का नाम था 'एनल्ज़ एन्ड एन्टिक्विटीज आफ राजस्थान' और लेखक थे कर्नल जेम्स टाड उस विश्वविख्यात ग्रन्थ का महत्त्व केवल इतना ही नही है कि उसमे वर्धन साम्राज्य के पतन के बाद से लेकर दिल्ली सल्तनत की स्थापना तक के राजपूत काल के प्रमुख राजवशो का क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है, बल्कि उसका महत्त्व इस बात मे भी है कि उसने पश्चिम के सभ्य देशो को व्यापक रूप से भारतीय ज्ञान एव सभ्यता की उच्चता के सम्बन्ध मे एक झलक दी और पूर्वीय ज्ञान के सम्बन्ध मे शोध करने तथा पश्चिमी एव पूर्वीय ज्ञान के बीच समन्वय की एक नवीन धारा प्रवाहित की

राजस्थान का इतिहास लिखते समय कर्नल टाड की मन स्थिति एक ऐसे गोताखोर की तरह थी, जिसे समुद्र मे गोता लगाते हुए एक अमूल्य रत्न प्राप्त हो गया हो और जो उस रत्न को विश्व के सन्मुख प्रदर्शित करने का हर्ष अनुभव कर रहा हो ग्रन्थ की भूमिका के प्रारम्भ मे टाड ने लिखा था "यूरोप में इस बात पर अत्यन्त निराशा प्रकट की गई है कि भारतवर्ष मे गम्भीर ऐतिहासिक चिन्तन का अभाव है . सामान्य तौर पर लोग इस बात को स्वत सिद्ध मानते हैं कि भारतवर्ष का कोई राष्ट्रीय इतिहास नही है फ्रास के एक प्रसिद्ध प्राच्य विद्या-विशारद ने उपर्युक्त धारणा के विरुद्ध यह सवाल उठाया है कि यदि भारतवर्ष का कोई राष्ट्रीय इतिहास नही था तो अबुलफज्ल को प्राचीन हिन्दू इतिहास की रूपरेखा तैयार करने के लिए सामग्री कहाँ से प्राप्त हुई ? वास्तव मे काश्मीर की इतिहास सम्बन्धी पुस्तक 'राजतरगिणी' का अनुवाद कर विल्सन महोदय ने इस भ्रम को मिटाने मे काफी योग दिया है इससे यह प्रमाणित हो गया है कि नियमित इतिहास लिखने की परिपाटी का भारतवर्ष मे अभाव नही था. तथा ऐसी सामग्री आज से कही अधिक मात्रा मे उपलब्ध थी . यद्यपि फ्रास और जर्मनी के विद्वानो के साथ-साथ कोलबुक विलकिन्स, विल्सन एव हमारे देश के अन्य विद्वानो ने भारतवर्ष के गुप्त विद्याभडार के कुछ विषयो को यूरोपवासियो के सन्मुख प्रकट किया है, किन्तु अब भी इतना ही कहा जा सकता है कि हम अभी केवल भारतीय ज्ञान की ड्योढी तक पहुँचे है'

कर्नल टाड ने ग्रन्थ की भूमिका मे मध्ययुग के दौरान मे हुए भारतीय साहित्य एव कला के विनाश के सम्बन्ध मे लिखते हुए कहा . 'भारतवर्ष के विभिन्न भागो मे अब भी ऐसे बडे-बडे पुस्तकालय विद्यमान है जो इस्लाम धर्म के प्रवर्तको द्वारा विनष्ट होने से बच गये है, उदाहरण के लिए जैसलमेर और पट्टन के प्राचीन साहित्य के सग्रह .... . इस प्रकार के कई अन्य छोटे-छोटे सग्रहालय मध्य एव पश्चिमी भारत के प्रदेशो मे विद्यमान है जिनमे से कुछ तो राजाओ की व्यक्तिगत सम्पत्ति है और कुछ जैनसम्प्रदाय के अधिकार मे हैं.'

कर्नल टाड का ग्रथ, प्रकाश-स्तम्भ बन गया और उसकी रोशनी मे पश्चिमी देशो के पुरातत्त्ववेत्ता एव भारतीय विद्वान्

भारतीय इतिहास की खोज करने लगे समय समय पर कतिपय जर्मन, अग्रेज, इटालियन पुरातत्त्ववेत्ता एव विद्वान् भारत-वर्ष आये और उन्होने राजस्थान के विभिन्न स्थानो मे भ्रमण किया और उस बहुमूल्य सामग्री का सग्रह किया, जिसे सामान्यत भारतीय महत्त्वहीन मानते थे शोध के इन प्रयत्नो से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात जो प्रकाश मे आई, वह यह कि प्राचीन साहित्य सामग्री को सग्रहीत करने तथा समकालीन साहित्य की रचना करने की दृष्टि से जैन-सम्प्रदाय ने लम्बे काल तक इस प्रदेश की भारी सेवा की राजस्थान एव राजस्थान के बाहर मध्ययुग के दौरान मे जो भी पुस्तकालय बनाये गये एव रक्षित किये गये, उनका सर्वाधिक श्रेय जैन विद्वानो को है.

अग्रेजो द्वारा प्रारम्भ मे प्राय राजस्थान को शौर्य, सभ्यता एव ज्ञान की दृष्टि से एक महत्त्वहीन प्रदेश माना जाता रहा मराठो की शक्ति के अभ्युदय ने राजपूतो की शक्ति को क्षीण एव तहस-नहस कर दिया था, इसलिए राजपूतो की शक्ति, शौर्य एव प्रभाव के महत्त्व को समझ नही पाये थे उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे उत्तरी भारत के अपने विजय-प्रयाण के दौरान मे जब वे राजपूतो के सम्पर्क मे आये तो उनका एक नवीन प्रकार की शक्ति से सम्पर्क हुआ टाड ने सहसा कहा 'राजस्थान मे कोई छोटा राज्य भी ऐसा नही है, जिसमे थर्मोपोली जैसी रणभूमि न हो और शायद ही कोई ऐसा नगर मिले जहाँ लियोनिडास जैसा वीर पुरुष उत्पन्न न हुआ हो' विदेशी अग्रेज जाति के लिये यह बात एक बडा रहस्योद्घाटन थी राजस्थान के प्राचीन इतिहास की उत्कट वीरता, त्याग और बलिदान की बातो को सुनकर वे चकाचौंध-से हो गये और आगे वे राजपूत जाति को अपना मित्र एव हमदर्द बनाये रखने की आकाक्षा रखने लगे

पाँचवी शताब्दी से लेकर १२ वी शताब्दी का काल राजस्थान के इतिहास का बहुत महत्त्वपूर्ण युग रहा इसी काल मे बाह्य जातियाँ हूण, गूजर आदि बलूचिस्तान और सिन्ध के मार्ग से उत्तरी और पश्चिमी भारत मे आयी ऐसा माना जाता है कि उनमे से गूजर, सर्वप्रथम, जब कि वे दक्षिणी पजाब से खदेडे गये, राजस्थान मे आये यहाँ आने पर इन लोगो ने कई भागो मे बँटकर दक्षिणी राजस्थान के मारवाड प्रदेश के नागौर व भिन्नमाल तथा मेवाड, अजमेर आदि मे अपने राज्यो की स्थापना की गूजरो के बाद प्रतिहार, चालुक्य, चौहान, परमार, कछवाहा आदि इसी प्रकार अस्तित्व मे आये इन जातियो ने इस प्रदेश मे आबाद होने के बाद धीरे-धीरे अपने क्षेत्रो मे विभिन्न प्रकार की कलाओ एव साहित्य आदि का विकास किया, इस प्रदेश का प्राचीन इतिहास इस बात का साक्षी है कि यह प्रदेश प्राचीन काल मे न राजस्थान कहलाता था, न रायथान, न रजवाडा और न राजपूताना ८ वी से १० वी शताब्दी मे तो राजस्थान का समूचा या यो कहा जाय इसका अधिकाश भाग गूर्जरत्रा कहलाता था, जैसा कि चीनी यात्री ह्वानसाग के वर्णन से प्रतीत होता है वास्तव मे राजस्थान अथवा गुजरात नाम से पुकारे जाने वाले भू-क्षेत्र बाद मे बने, इसके पूर्व के गूर्जरत्रा प्रदेश मे राजस्थान का दक्षिणी भाग, मेवाड, मारवाड, वर्तमान मालवा तथा गुजरात क्षेत्र सम्मिलित थे

यद्यपि राजपूताना अथवा राजस्थान का नाम प्राचीन नही है और वह नाम भारत मे मुसलमानो के प्रवेश के बाद मे ही धीरे-धीरे प्रचलित हुआ, पर यह स्पष्ट है इस प्रदेश मे तब कई ऐसी जातियाँ बसी हुई थी जो बाद मे राजपूत कहलाई, जिनमे प्रतिहार, गुहिलोत, चापोत्कट तथा चाहमाण प्रमुख थी गूर्जरत्रा काल मे इस क्षेत्र मे साहित्य एव कला का जो विकास हुआ उसका भारी ऐतिहासिक महत्त्व हे गूर्जर प्रतिहारो द्वारा मूर्तिकला एव चित्रकला को प्रचुर मात्रा मे प्रोत्साहन दिया गया था. मेवाड के जगत, डूगरपुर के अमझारा तथा गुजरात की शामलाजी की प्रतिमाएँ और हर्षनाथ सीकर व मारवाड के कई क्षेत्रो से प्राप्त मूर्तियाँ गुप्त, पूर्व मध्यकाल तथा मध्यकाल की सुन्दर कला की परिचायिका है इस युग मे ताडपत्र पर चित्रमय ग्रथो की रचना की गई, जिनको ऊपर और नीचे ढँकने के लिए चित्रित लकडी की 'पटलियाँ' लगाई जाती थी इस प्रकार का वि० स० १२१६ का भद्रबाहु स्वामी रचित सचित्र कल्पसूत्र जो ताडपत्र पर 'जैन ग्रथ भण्डार जैसलमेर' की निधि है,भारतवर्ष के पश्चिमी भाग का प्राचीन कलात्मक ग्रथ है इसी ग्रथभडार की वि० स० १२६९ की लिखी सचित्र कालकाचार्य कथा एक दूसरा ताडपत्र ग्रथ है नेमिचन्दसूरिकृत वि० स० १२९५ का प्रवचनसारोद्धार वृत्ति भी तत्कालीन चित्रकला का एक अमूल्य ग्रथ है यही नही, राजस्थान के



चित्रित अतिप्राचीन ताडपत्र के ग्रथ राजस्थान की भूमि से बाहर निकल कर ठेठ अमरीका पहुँचे हैं. इनमें से ताडपत्र पर चित्रित 'सप्तग पडिकमण सुत्त चुन्नी' नामक ग्रन्थ बोस्टन के सग्रहालय की भारतीय कला दीर्घिका मे प्रदर्शित है और मेदपाट (मेवाड) के आघाट या वर्तमान आहाड मे चित्रित है यह १२६० ई० का गुहिल तेजसिंह के शासनकाल मे कमलचन्द्र द्वारा लिखा गया था इसी प्रकार की अन्य कृतियो रास तथा कुमार स्वामी के सयुक्त सग्रह के ग्रथो में १४४७ ई० के कल्पसूत्र व कालकाचार्य कथानक नामक ग्रथ भी शामिल है सन् १४२२-२३ ई० मे रचित महाराणा मोकल के काल का 'सुपासनाह चरित्रम्' नामक ग्रथ मेवाड़ मे मिला है

इस भाँति शौर्य, शक्ति और साहस के साथ राजस्थानी विद्या, ज्ञान, साहित्य, चित्रकला, स्थापत्य एव मूर्तिकला आदि का भी अपना गौरवशाली पक्ष रहा है यही कारण है कि इस प्रदेश मे ऐतिहासिक स्मारको के समान प्राचीन पुस्तकालयो एव कला-सग्रहो की सख्या भी बहुत है, जिनमे से कोई तो इतने बडे रहे है, जिनकी टक्कर के भारत मे अन्यत्र बहुत कम देखे गये है लगभग आठ सौ वर्षो तक जैन-सम्प्रदाय का प्रभाव इस प्रदेश पर रहने के कारण प्राचीन एव मध्ययुगीन राजस्थानी साहित्य एव कला पर उसकी छाप स्पष्ट रूप से प्रकट होती है. उस काल में जैन विद्वानो द्वारा साहित्यिक, कलात्मक एव अन्य विषयो सम्बन्धी कई रचनाये तैयार की गईं. इससे भी बडी सेवा जैन-सम्प्रदाय ने मध्ययुगीन वर्वरता एव विध्वस से प्राचीन साहित्य की रक्षा करने की है राजस्थान के विभिन्न इलाको में जैन विद्वानो द्वारा गुप्त पुस्तकालयो का निर्माण किया गया मरुभूमि मे स्थित जैसलमेर का जैन-ग्रन्थ भडार इस प्रकार के पुस्तकालयो मे सबसे बडा रहा है इन पुस्तकालयो में राजस्थान एव भारत के इतिहास पर प्रकाश डालने वाले हस्तलिखित ग्रन्थ तो है ही, परन्तु साहित्यकाल का कोई अग नही है, जिस पर मूल्यवान् ग्रन्थ प्राप्त नही हो. राजस्थान मे प्राप्त विभिन्न पुस्तकसग्रहो की एक विशेष वात यह है कि मुगल काल मे राजस्थानी शासको का देश के दूरस्थ प्रदेशो से सम्पर्क रहने के कारण, इन सग्रहो मे देश की विभिन्न भाषाओ के हस्तलिखित ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं. उदाहरण के लिए जयपुर मे यदि बगाली भाषा के ग्रन्थ मिलेगे तो बीकानेर मे कन्नड के और उदयपुर मे गुजराती भाषा के ग्रन्थ उपलब्ध हो जायेगे

राजस्थान के विभिन्न पुस्तकालयो में प्राप्त होने वाली ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण निधि के अलावा इस प्रदेश में कुछ ऐसी और साहित्यिक सामग्री रही है, जो इतिहास पर थोडी-बहुत दृष्टि डालने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थी, जिसके महत्त्व को सर्वप्रथम कर्नल टाड ने प्रकट किया उसमे भाटो और चारणो की वशावलियाँ ख्याते और रहानियाँ मुख्य हैं. प्राचीन पुस्तको के नष्ट एव लुप्त हो जाने के कारण भाटो आदि ने मध्यकाल मे ऐसी कई राजस्थानी भाषा मे पद्यमय ख्याते, बाते, डिंगलगीत आदि लिखे, जिनमे उन्होने इस देश पर राज्य करने वाले तत्कालीन राजवशो के पिछले नाम, जो उन्हे मिल सके, दर्ज किये और पुराने नामो मे से जिन-जिन प्रसिद्ध राजाओ के नाम सुनने में आते थे, वे लिखे. उन्होने अपनी पुस्तकों को पुरानी वतलाने के लिये कल्पित नामो एव असत्य सवतो का उपयोग भी किया उनकी ये पद्यमय एव वीररसपूर्ण रचनाएँ एक पीढी से दूसरी पीढी तक आकर अत्यधिक अतिशयोक्तिपूर्ण हो जाती थी कुछ इसी प्रकार के पद्यमय वश-इतिहास-ग्रन्थों की रचनाएँ की गई है जो विभिन्न शोधको द्वारा पिछले वर्षो में प्रकाश मे लाई गईं ऐसी रचनाओ मे पृथ्वीराज रासो, बीसलदेवरासो, हमीरायण, हमीररासो. रतनरासो, विजयविलास, सूर्यप्रकाश, जगतविलास, राजप्रकाश, मुहणोत, नैणसीजी री ख्यात, शिखरवशोत्पत्ति, परमालरासो, केसरीसिंहसमर, सुजानचरित, छत्रप्रकाश, हमीरहठ, हिम्मतवहादुर ग्रथावली, साभरयुद्ध, जाजवयुद्ध, बुद्धिविलास, गुलालचरित, भावदेव सूरिरास, लावारासा, रतनरासा, जसवत उद्योग, कायमरामो, अल्लाखाँ की पैठी, परमारवश दर्पण, राज रसनामृत, छदराउ जैतसी, वचनिका, राठोड रतन सिंहजी की महेसदासोतरी, महाराणा यशप्रकाश, राजविलास, उदयपुर री ख्यात, अचलदास खीची री वात, ख्यातवात सग्रह, जगविलास, भीमविलास, राणारासो, सज्जन प्रकाश, सगतरासो आदि प्रमुख हैं

उपर्युक्त सूचित एव प्रकाशित रचनाओ के अतिरिक्त भी दिनानुदिन इस क्षेत्र मे नव्य शोध एव ऐतिहासिक

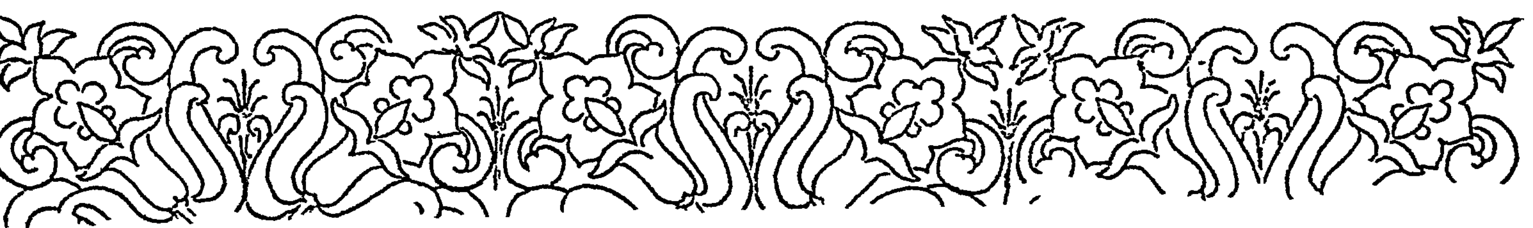
कृतियाँ उपलब्ध होती ही रहती है स्फुट पद्यात्मक वीररसमूलक अनेक चरित्रात्मक कृतियाँ ऐसी है जिनके रचयिता अज्ञात है इसी प्रकार की कतिपय पुस्तको के सम्बन्ध मे, जो टाड ने जैसलमेर से ले जाकर रायल एशियाटिक सोसायटी को दी थी और जिनमे ५ से ८ शताब्दी पूर्व की कुछ जैन पाडुलिपियाँ सम्मिलित थी, उन्होने वताया था कि–'इन पुस्तको मे लिख गई कई बातो से, जिनका अभी तक निरीक्षण नही हुआ है, प्राचीन भारत के इतिहास पर नया प्रकाश पडेगा' राजस्थान मे मध्यकाल मे सागा, प्रताप एव दुर्गादास जैसे शूरवीर योद्धा उत्पन्न हुए तो कुम्भा जैसे वीर किन्तु साहित्य एव कला प्रेमी शासक भी हुए, जिन्होने अपने काल के साहित्य, शिल्प, स्थापत्य, सगीत एव चित्रकला को प्रोत्साहित ही नही किया अपितु उनपर अपनी छाप भी छोडी निस्सदेह समय की ही विध्वस आधी ने उस काल की अधिकाश मूल्यवान् सामग्री नष्ट कर दी, फिर भी उनमे से इतिहास के उपयोग की दृष्टि से यथेष्ट अवशेष वच गये है यही बात विभिन्न स्थानो पर प्राप्त शिलालेखो एव मन्दिरो आदि मे प्राप्त ताम्रपत्रो आदि के सम्बन्ध मे कही जा सकती है कर्नल टाड ने राजस्थानियो के समक्ष इस प्रकार की वस्तुओ का ऐतिहासिक महत्त्व प्रकट किया

वाद मे अग्रेजी काल मे राजस्थान के राजाओ मे प्राचीन इतिहास पर प्रकाश डालने वाली इस प्रकार की पुरातत्त्व सम्बन्धी सामग्री का सग्रह करने और अपने-अपने वश का क्रमवद्ध इतिहास तैयार कराने की प्रवृत्ति पैदा हुई, इस दृष्टि से उन्होने पुरातत्त्व सग्रहालयो एव पुस्तकालयो का निर्माण किया कविराजा श्यामलदास द्वारा रचित 'वीरविनोद, एव महाकवि सूरजमल कृत 'वंशभास्कर' नामक ऐतिहासिक ग्रन्थ उसी प्रवृत्ति के प्रतीक है.

किन्तु राजस्थान के राजपूत शासको के लिये पुरातत्त्व सम्बन्धी सामग्री का सग्रह करने एव ऐतिहासिक शोध करने की प्रवृत्ति नई नही थी मुस्लिम काल एव मराठा काल के निरन्तर विध्वस कार्य ने राजपूत राज्यो पर जो दुष्प्रभाव डाला उसका सर्वाधिक शिकार ज्ञान और शोध की प्रवृत्ति हुई काल ने ज्ञान के साधनो और ज्ञान की प्रवृत्ति दोनो पर दुष्प्रभाव डाला था इतिहास-प्रेम की दृष्टि से इस प्रदेश के मध्यकाल के शासको मे महाराणा कुम्भा का नाम सर्वोपरि आता है महाराणा कुम्भा मेवाड के यशस्वी, विद्वान् एव विद्याप्रेमी शासक थे उन्हे सभी प्रकार की कलाओ एव विद्याओ के प्रति अगाध रुचि थी कुम्भा के समय उनके पूर्वजो की शुद्ध नामावली तथा उनका चरित्र उपलब्ध नही था, जिससे महाराणा ने अपने राज्य मे मिलने वाले अनेक प्राचीन शिलालेखो का सग्रह करवाया और उनके आधार पर अपनी वशावली ठीक की और यथासाध्य उनका वृत्तान्त भी एकत्र किया उन्होने एकलिंग माहात्म्य का 'राजवर्णन' नामक अध्याय अनेक प्राचीन शिलालेखो के आधार पर स्वय सग्रह किया उन्ही के समय की वडी प्रशस्ति की तीसरी शिला के आरम्भ मे जनश्रुति के आधार पर उनके पूर्वजो का वर्णन है, जिसके वाद 'राजवर्णन' प्राचीन प्रशस्तियो के आधार पर लिखा गया शिलावाले 'राजवर्णन' का अधिकाश भाग नष्ट हो गया है, किन्तु उसकी पूर्ति महाराणा के 'एकलिंग माहात्म्य' के 'राजवर्णन' अध्याय से हो जाती है। इस भाँति महाराणा कुम्भा को राजपूताने का सर्वप्रथम प्राचीन शोधक माना जाना चाहिए

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, राजपूताना के प्राचीन इतिहास की शोध एव रचना की दृष्टि से आधुनिक काल मे प्रथम क्रमवद्ध एव व्यवस्थित प्रयत्न अग्रेज अधिकारी कर्नल टाड द्वारा किया गया वे १७ वर्ष की आयु मे सन् १७६६ मे भारत आये थे पदोन्नति होने के कारण वे कुछ ही अर्से मे मराठा सरदार दौलतराव सिन्धिया के दरवार के ब्रिटिश राजदूत और रेज़िडेन्ट मि० ग्रीम मर्सर के साथ रहने वाली सरकारी सेना की टुकडी के अध्यक्ष नियत हुए उस समय सिन्धिया का मुकाम मेवाड मे था इसी काल से टाड का कार्य शुरू होता है प्रारम्भ मे उन्होने मुख्यत पिंडारियो के दमन मे सहायता करने की दृष्टि से अग्रेजी सरकार के लिये पैमाइश करके राजपूताने का भौगोलिक नकशा तैयार किया राजपूताने का सर्वप्रथम नकशा वनाने का श्रेय भी टाड को ही मिला सन् १८१८ में पश्चिमी राजपूताने के राजाओ के साथ ब्रिटिश सरकार की सन्धि होने के साथ कर्नल टाड उदयपुर, जोधपुर, कोटा, वूदी, सिरोही और जैसलमेर राज्यो के पोलिटिकल एजट नियुक्त हुए १८२२ मे वे स्वदेश लौट गये.

टाड को वीर जातियो के इतिहास से वडा प्रेम था। उन्होने राजपूतो के इतिहास की सामग्री का सग्रह करना प्रारम्भ



किया और उदयपुर, जोधपुर, कोटा, बूदी तथा सिरोही राज्यो में भ्रमण कर वहाँ के अनेक शिलालेख, दानपत्र, सिक्को आदि का बडा सग्रह कर लिया. जहा वे न जा सके वहाँ से इतिहास-सम्बन्धित सामग्री प्राप्त की. उनके साथ रहनेवाले एक ब्रिटिश अफसर कप्तान वाघ ने, जो चित्रकला मे बडे निपुण थे, प्राचीन मदिरो, मूर्तियो आदि के चित्र उनके लिये तैयार किये राजस्थान के इतिहास के सम्बन्ध मे विभिन्न प्रकार की सामग्री की प्राप्ति एव सग्रह मे टाड को सर्वाधिक मार्गदर्शन एव प्रेरणा यति ज्ञानचन्द्र से मिली, जो निरन्तर उनके साथ रहे यति ज्ञानचन्द्र को टाड अपना गुरु मानते थे और यति उन्हे पृथ्वीराज रासो आदि भाषाकाव्यो का अर्थ सुनाते एव शिलालेख आदि पढते थे कर्नल टाड राजपूताने से सस्कृत और राजस्थानी भाषा के अनेक ग्रँथ, ख्याते २० हजार प्राचीन सिक्के, कई शिलालेख तथा अन्य सामग्री अपने साथ विलायत ले गये. लदन पहुँचने के बाद सन् १८२९ में जैसी कि आम कहावत हो गई है, उन्होने 'राजपूताने का कीर्ति स्तम्भ' रूप ग्रथ 'एनल्स एण्ड एटिक्विटीज आफ राजथान' प्रकाशित किया, जिसने यूरोप भर में भारतीय सभ्यता की प्राचीनता एव उच्चता, राजपूतो की वीरता शौर्य एव उदारता आदि गुणो के सम्बन्ध में शोहरत फैला दी. उनका दूसरा ग्रथ 'ट्रैवल्स इन वेस्टर्न इण्डिया' उनकी मृत्यु के बाद सन् १८३९ में प्रकाशित हुआ.

जिस काल मे टाड ने राजपूताने की इतिहास सम्बन्धी रूप-रेखा तैयार की, उस काल मे अग्रेज पिंडारियो के विनाश एवं मराठो की पराजय मे सलग्न थे, जिसमे उनको प्राचीन एव वीर राजपूत जाति के पूर्ण सहयोग की आवश्यकता थी. इसके अलावा अग्रेज इस बात के लिये भी सचेष्ट थे कि दिल्ली के मुगल-तख्त पर बैठे मराठो के कठपुतली नामधारी मुगल शाहशाह की बादशाहत का परम्परागत राजनैतिक प्रभाव भारत से उठ जाये, उसके लिए भी मुस्लिम विजेताओ के खिलाफ निरन्तर सघर्ष मे लगे रहे राजपूतो का नैतिक समर्थन जरूरी था ब्रिटिश साम्राज्य की इस उद्देश्य एव प्रयोजन की पूर्ति के प्रयत्न की एक स्पष्ट झलक हमे टाड के ग्रन्थ मे मिलती है यह कहना भी अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि ब्रिटिश साम्राज्य की 'फूट डालो एव शासन करो' की नीति का रग भी ग्रन्थ पर चढ गया है, जो राजपूतो एव मराठो, राजपूतो एव मुगलो आदि के बीच बताये गये सम्बन्धो से प्रकट होता है. किन्तु ध्यान रखने की बात यह है कि टाड एक साम्राज्यवादी शक्ति का सेवक था, जिसके साथ उसकी जिम्मेदारियाँ और कर्त्तव्य जुडे हुए थे. इसके अलावा उन्नीसवी शताब्दी मे ब्रिटेन मे उठ रहे साम्राज्यवादी भावनाओ के ज्वार का वह भी स्वाभाविक शिकार था. फिर भी वह उन कतिपय अग्रेज अफसरो मे था, जो भारतीयो को हेठी निगाह से नही देखते थे. उसकी मनोवृत्ति एव धारणाओ पर सर्वाधिक प्रभाव राजपूतो के सम्पर्क मे आने पर पडा और उदयपुर का सिसोदिया राजवश तो उसके लिए विश्व-इतिहास के महानतम एव आदर्श राजवशो मे से एक हो गया. निस्सदेह ही जिस काल मे, थोडे समय में और सीमित सामग्री के आधार पर, मुख्यत ख्यानो के आधार पर, टाड ने ग्रन्थरचना की, अनेक प्रकार की त्रुटियाँ रहना स्वाभाविक था. उन्होने किम्बदन्तियो एव अविश्वसनीय जनश्रुतियो का भी अत्यधिक मात्रा मे समावेश किया है. फिर भी उनके ग्रथ की एक और महत्त्वपूर्ण एव ऐतिहासिक विशेषता यह है कि उन्होने ग्रथ मे अग्रेजो द्वारा राजपूतो के साथ की गई सन्धियो के विपरीत आचरण करने एव राजपूत राज्यो के आन्तरिक मामलो मे मनमानी दखलदाजी के खिलाफ भी आवाज उठाई और इसके द्वारा होनेवाले राजपूत राज्यो के स्वतत्रता-हरण के दुष्परिणाम की ओर भी स्पष्ट सकेत किया सम्भवत उनकी इसी मनोवृत्ति के कारण उन्हे १८२२ मे यकायक भारत छोडकर जाना पड़ा था.

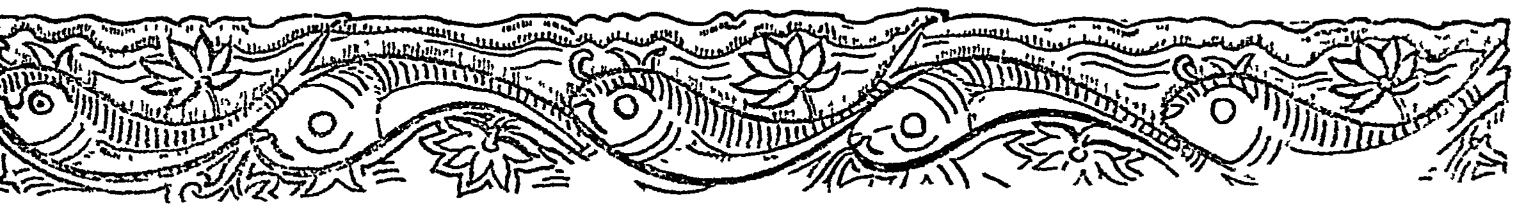
टाड के ग्रथ 'राजस्थान के इतिहास' का भारतीय जन-मानस पर व्यापक प्रभाव पड़ा यह सही है कि इस ग्रथ की कुछ वातो का ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने अपने हितो के लिये दुरुपयोग किया, किन्तु यह भी सही है कि इस ग्रथ ने देश के कई भागो मे मुख्यतः सुदूर बगाल जैसे प्रान्त मे नवजीवन का सचार किया और परोक्ष रूप से राष्ट्रीय जागृति मे बडा योगदान दिया. इस ग्रथ ने विश्व के सन्मुख भारतीय सभ्यता की महानता प्रकट की और मुख्यत: राजस्थान की स्थिति, तथा राजपूतो के शौर्य का यहां के साहित्य, कला एव लोकजीवन के गौरवपूर्ण स्वरूप का दिग्दर्शन कराया.

टाड ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ की भूमिका मे लिखा था, 'मैने इन की (भारत के इतिहास पर प्रकाश डालने वाली सामग्री की) जानकारी यूरोपीय विद्वानो को कराई है, परन्तु मुझे आशा है कि इससे अन्य लोगो को इस दिशा मे और आगे वढने की प्रेरणा मिलेगी' टाड की आशा निष्फल नही गई १८७४ मे प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डा० वूल्हर प्राचीन ग्रन्थो की तलाश मे भारत आये और जैसलमेर भी गये उनके साथ जर्मनी के एक अन्य बडे विद्वान् हरमन याकोवी भी थे, जिन्होने राजस्थान की प्राचीन देशभाषा अपभ्रंश के साहित्य का सर्वप्रथम वैज्ञानिक सशोधन एव प्रकाशन प्रारम्भ किया था वे कदाचित् यहाँ एक सप्ताह से अधिक नही रह सके उन्होने लिखा है, 'मरुधर प्रदेश के इस विकट भाग के इस विकट स्थान मे, जहाँ खराव पानी और नहारू के रोग कीप्रचुरता है, अल्पकाल के लिये भी ठहरना कम कष्टदायक नही है' अतएव वे स्पष्ट ही इस विशाल भण्डार मे वहुत कम काम कर सके फिर भी डा० वूल्हर के इस प्रारम्भिक कार्य का यह महत्व है कि उन्होने राजस्थान के साहित्यसग्रह को सबसे पहले ससार के सन्मुख उपस्थित किया

जैसलमेर भण्डार को पूरी तरह प्रकाश मे लाने का श्रेय श्री श्रीधर रामकृष्ण भण्डारकर को है जो वम्वई सरकार की ओर से १९०५ मे राजस्थान के प्राचीन हस्तलिखित पुस्तक-सग्रहो का निरीक्षण करने भेजे गये थे जैसलमेर पहुँचने पर श्रीभाण्डारकर को ज्ञात हुआ कि यहाँ एक नही दस पुस्तक-सग्रह है आपने इनका विवरण प्रस्तुत किया और हर एक सग्रह की महत्वपूर्ण पुस्तक का भी उल्लेख किया कुछ पुस्तको का साराश भी आपने अपनी विवरणी मे दिया. वहाँ पुस्तको की अवस्था बडी शोचनीय थी, श्रीभण्डारकर ने लिखा है कि 'इधर-उधर विखरे ताडपत्रो के ढेर और फटे हुए कागज-पत्रो के ढेर को देखकर यही कहा जा सकता है कि समय और असावधानता दोनो ने ही वहाँ विनाश का कार्य आरम्भ कर रखा है श्री वूल्हर को वहाँ की सवत् ११६० की पुस्तक प्राचीनतम मिली थी, किन्तु श्री भडारकर को उससे भी प्राचीन ग्रन्थ स० ९२४ का मिला उन्होने कुछ पुस्तको की नकल भी कराई श्रीभण्डारकर के वाद वडौदा सरकार की ओर से १९१५ मे एक सुयोग्य विद्वान् श्री चिमनलाल दलाल ने जैसलमेर आकर वहाँ के मुख्य भण्डार के प्राय सभी ताडपत्रीय ग्रन्थो की सूची वनाई जो वाद मे 'गायकवाड ओरियण्ट सिरीज' मे प्रकाशित की गई

जैसलमेर सग्रह का नियमित एव विशेषरूप से व्यवस्थित निरीक्षण करने का श्रेय आचार्य श्री जिनविजयजी मुनि को प्राप्त है यहाँ आप १९४२ मे १०-१२ सुयोग्य लेखको के साथ लगभग पाँच महीनो तक रहे मुनि श्री जिन-विजय जी की गिनती आज राजस्थान के अग्रगण्य पुरातत्ववेत्ताओ एव इतिहासज्ञो मे है, और आपके निरीक्षण मे राजस्थान के प्राचीन ग्रन्थो की शोध एव सम्पादन कार्य किया जा रहा है आपको जैसलमेर जाने की प्रेरणा जर्मनी मे जर्मन विद्वान् डा० हर्मन याकोवी से हुई प्रत्यक्ष मुलाकात से प्राप्त हुई थी पाँच महीनो मे श्रीमुनिजी ने अथक परिश्रम करके लगभग २०० ग्रन्थो की सम्पूर्ण प्रतिलिपियाँ कराईं, जिनमे सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा प्राचीन देश्यभाषा में ग्रथित न्याय, व्याकरण, आगम, कथा, चरित्र, ज्योतिष, वैद्यक, छन्द, अलकार, काव्य, कोष आदि विविध विषयो की रचनाये अन्तर्भूत है इनके पचासो फोटोप्लेट भी उतरवाये गये है मुनिजी ने वहाँ लोकागच्छीय उपाश्रय के ज्ञान भण्डार का प्रथम वार निरीक्षण किया तब से मुनिजी ग्रन्थो के सम्पादन एव प्रकाशन का कार्य राजस्थान पुरातत्व मदिर एव विद्याभवन वम्वई से कराते रहे है और कई मूल्यवान् एव अप्राप्त ग्रन्थ प्रकाश मे आये हैं प्रख्यात जैन विद्वान् मुनि श्रीपुण्यविजयजी ने भी जैसलमेर के ग्रन्थागारो को व्यवस्थित करने मे दीर्घकाल पर्यन्त घोर परिश्रम किया है। आपने ग्रन्थो की व्यवस्थित सूचियाँ तैयार की, जीर्णशीर्ण प्रतियो के चित्र उतरवाये और भविष्य की सुरक्षा का सुन्दर आयोजन किया।

जैसलमेर के अलावा उदयपुर, वीकानेर, जोधपुर, वूंदी, किशनगढ, नागौर, अलवर, हनुमानगढ, राजगढ आदि विभिन्न स्थानो के राजकीय सग्रह भी ऐतिहासिक एव साहित्य तथा प्राचीन ज्ञान की दृष्टि से महत्वपूर्ण रहे हैं श्रीधर भण्डारकर ने इनमे से अधिकाश सग्रहालयो का निरीक्षण किया था श्रीधर के छोटे भाई श्री देवदत्त ने वाद मे राजस्थानी प्राचीन साहित्य की खोज के लिये उदयपुर, जोधपुर, जयपुर, कोटा, किशनगढ, सिरोही आदि राज्यो के दौरे किये. आपने अपने शोधकार्य का विवरण सरकारी पुस्तको मे प्रकाशित कराया श्रीधर की सूची से कई पुस्तकें



तथा श्री देवदत्त की वताई गई कई मूर्त्तियाँ आज यथास्थान नही मिलती, पता नही कौन कहाँ ले गया भारत के प्रख्यात इतिहासकार सर यदुनाथ सरकार एव मराठा इतिहासकार डा० जी० एस० सर देसाई ने जयपुर सग्रह के सबध मे मत व्यक्त करते हुये कहा था—'यदि सग्रह के कागजातो की परीक्षा की जाय तो ऐसी मूल्यवान् जानकारी मिलने की सभावना है जिसकी कल्पना भी नही की जा सकती प्रसन्नता की बात है कि राज्यसरकार ने राज्य का एक और पुरातत्व का विभाग अलग से खोला है जो प्रारम्भ में राजस्थान के प्रमुख इतिहासकार डाक्टर मथुरालाल शर्मा के निर्देशन मे विकसित हुआ और श्री नाथूराम खडगावत के सचालन मे निरन्तर प्रगति कर रहा है और यह आशा की जा सकती है कि विभिन्न राज्यो के पुराने सग्रहालयो के व्यवस्थित होने पर वह न केवल राजस्थान बल्कि सम्पूर्ण भारतवर्ष के इतिहास के सम्वन्ध मे कई नई वाते प्रकट करेगा और इतिहास के रिक्त स्थानो की पूर्ति करने मे सहायक होगा.

राजस्थान के प्राचीन साहित्य की खोज करने तथा उसको विश्व के सन्मुख उपस्थित करने की दृष्टि से एक अन्य विदेशी विद्वान् ने भी भारी सेवा की है उस विद्वान् ने सेवा ही नही की वल्कि उसने अपनी युवावस्था में ही इस कार्य के हेतु अपने जीवन का बलिदान भी कर दिया वह विद्वान् थे इटली के डा० एल० पी० तैसीतौरी वे अपने देश मे रहते हुये राजस्थान के और उसके साहित्य के प्रेमी हो गये थे कहा जाता है कि उन्होने राजस्थान मे आकर अपना जीवन विताना अपनी साध वना ली थी. वे सन् १९१४ मे भारत आये और बगाल एशियाटिक सोसाइटी मे बार्डिक एण्ड हिस्टोरिकल सर्वे आफ राजपूताना सुपरिन्टेन्डेन्ट के पद पर नियुक्त हुये उसी वर्ष आपने राजस्थान मे कार्य शुरू किया और १९१८ मे ३१ वर्ष की आयु मे बीकानेर मे आपका देहावसान हो गया इस काल मे आप द्वारा किये गये शोध कार्य का विवरण एशियाटिक सोसाइटी ने प्रकाशित किया है जोधपुर और बीकानेर के डिंगल ग्रन्थो की आपके द्वारा तैयार की गई सूचियाँ भी सोसाइटी ने तीन भागो मे प्रकाशित की है राजस्थानी इतिहास एव साहित्य के बारे में बाद के पुस्तकलेखको ने इस सारी सामग्री का तथा शिला लेखो, मुद्राओ, मूर्तियो आदि अन्य सामग्री का जो सकलन आपने बीकानेर मे किया था, उसका पूरी तरह उपयोग किया है. डा० तैसीतोरी का जीवन वृत्तान्त (अप्रेल, १९५० के अक मे) छाप कर "राजस्थान भारती" ने सराहनीय कार्य किया है, क्योकि डा० तैसीतोरी की राजस्थानी साहित्य के प्रति सेवाओ के वावजूद वे वहुत कम प्रकाश मे लाये गये थे

डा० तैसीतोरी मे एक महान् मानवीय गुण था वे पश्चिमी होते हुए भी भारत के प्रति महान् आदरभाव रखते थे, जो उस काल मे एक वडे नैतिक साहस की वात थी उन्होने स्वय एक पत्र में लिखा था, "मै भारत मे इसीलिए आया हूँ क्योकि मुझे भारत के लोगो व उनकी भाषा और साहित्य से प्रेम है. मैं कोई अग्रेज नही हूँ जो उन सव चीजो को हेठी निगाहो से देखते है जो इग्लैड की या कम से कम यूरोप की नही है मेरे मन मे भारतवासियो के प्रति उच्चतम आदर और सराहना के भाव हैं "कर्नल टाड और तैसीतोरी मे एक और बडी समानता थी दोनो को दो जैन विद्वानो से सहायता मिली थी और दोनो इनको अपना गुरु मानते थे. टाड के सहायक, मार्गदर्शक एव गुरु थे जैन यति ज्ञानचन्द और तैसीतोरी के थे आचार्य विजयधर्म सूरि यह स्पष्ट है कि जैन सम्प्रदाय ने जो सेवा राजस्थानी साहित्य की रचना एव सुरक्षा की की है उतनी ही उन्होने बाद के काल मे उसको व्यवस्थित ढग से विश्व के सन्मुख प्रस्तुत कराने मे भी की है यह भी सयोग और आश्चर्य की बात नही है कि आज भी प्राचीन साहित्य एव इतिहास के सपादन, आदि की दृष्टि से सर्वाधिक सेवाएँ मुनि जिनविजय, मुनि कान्तिसागर आदि जैन विद्वान् कर रहे हैं

राजपूताना के साहित्य एव इतिहास के सम्वन्ध मे किये गये उपर्युक्त शोध-कार्य के अलावा, कुछ अन्य अग्रेज अधिकारियो ने भी इस कार्य मे अपना योगदान दिया, जिनमे अलेग्जेंडर किलोक फर्व्स, अलेग्जेंडर कनिंगहम, कार्लाइल एव गैरिक आदि मुख्य है गुजरात के इतिहास 'रासमाला' नामक ग्रन्थ के रचयिता श्री फार्व्स ने आवू के कई शिलालेखो की नकलें की और देलवाडे के दोनो जैन मन्दिरो की कारीगरी का वृत्तान्त लिखा भारत सरकार के आर्कियालाजिकल डिपार्टमेट के तत्कालीन अध्यक्ष श्री कनिंगहम ने राजपूताना के कई स्थानो का दौरा कर वहाँ के शिलालेखो एव शिल्प

आदि पर प्रकाश डाला अशोक के काल का वैराट (जयपुर राज्य) का लेख, महाराणा कुम्भा के चतुरस्र वडे सिक्को एव राजपूताने के कई पुराने सिक्को को प्रकाश मे लाने का श्रेय आपको है श्री कार्लाइल ने भी इस प्रदेश के कई शिलालेखो एव सिक्को का पता लगाया, मुख्यत शिवि जनपद की मध्यमिका (नगरी मेवाड) के सिक्के और मेवाड के प्रथम राजा गुहिल के सिक्के सबसे पहिले उन्ही को मिले थे श्री गैरिक ने भी इस प्रदेश का विस्तृत दौरा किया वे मुख्यत चित्तौड के कीर्तिस्तम्भ की बची हुई दो शिलाओ तथा रावल समरसिंह के समय के वि० स० १३३० के चित्तौड के शिलालेख का चित्र सर्वप्रथम प्रसिद्धि मे लाये

जर्मनी के डा० वूल्हर और इटली के डा० तैसीतोरी के अलावा उसी काल मे कुछ अन्य विदेशी विद्वानो ने भी इस प्रदेश के ऐतिहासिक शोधकार्य में अपना योगदान दिया 'पतजलि के महाभाष्य' का सम्पादन करने वाले जर्मन विद्वान् डा० कीलहार्न (१८४०-१९०८) अग्रेज विद्वान् पीटर पिटर्सन (१८४७-१८९९) डा० वेव जिन्होने १८९३ मे "दी करेन्सीज आफ दी हिन्दू स्टेट्स आफ राजपूताना" नामक पुस्तक लिखी, डा० फ्लीट (१८४७-१९१७) एव सेसिल वेंडाल नामक विद्वानो ने भी राजपूताना के इतिहास की कई वातो को प्रकाश मे लाने का कार्य किया।

अन्य भारतीय शोधकर्त्ताओ मे श्वेताम्वर समुदाय के जैनाचार्य श्री विजयधर्म सूरि (१८६८-१९२२) का नाम उल्लेखनीय है, जो सस्कृत और प्राकृत के प्रकाड पडित, दर्शनशास्त्री तथा जैन इतिहास के शोधक विद्वान् थे अपनी चतुर्मास यात्राओ के दौरान मे वे स्थान-स्थान पर प्राप्त शिलालेखो का संग्रह किया करते थे 'देवकुल पाटक' नामक पुस्तिका मे उन्होने उदयपुर के देलवाडा नामक स्थान तथा प्राचीन नागदा नामक स्थान से प्राप्त हुए जैन लेखो का सग्रह प्रकाशित किया, इसके अतिरिक्त उनके सग्रह किये हुए लगभग ५०० शिलालेखो का एक अलग ग्रन्थ "प्राचीन लेख सग्रह भाग १" के नाम से मुनिराज श्रीविद्याविजयजी ने १९२९ मे प्रकाशित कराया था

एक अन्य विद्वान् एव शोधक श्री मुशी देवीप्रसाद (१८४८-१९२३) ने भी राजपूताने के ऐतिहासिक शोध के कार्य मे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया जोधपुर राज्य की सेवा मे काम करते हुए उन्होने मुगलकाल के अनेक फारसी ग्रथो का हिन्दी मे रूपान्तर किया और उदयपुर, जोधपुर, जयपुर, वीकानेर आदि के कई राजाओ के चरित्र भी हिन्दी और उर्दू मे प्रकाशित कराये. मुशीजी ने स्थान-स्थान पर जाकर शिलालेखो की छापे तैयार कराई तथा प्रतिहार राजा वाउक और कक्कुक के शिलालेख और दधिमति माता के मन्दिर के गुप्त सवत् २८९ (ई० सन् ६०८) के तथा जालौर आदि के शिलालेखो को पुस्तकाकार प्रकाशित किया इसी काल मे कलकत्ते के इडियन म्युजियम के पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्ष श्री राखालदास बनर्जी (१८८२-१९३०) ने, वेस्टर्न सर्कल से राजपूताने का सम्वन्ध होने से अजमेर, उदयपुर, वीकानेर, भरतपुर आदि राज्यो का दौरा कर अनेक स्थानो तथा वहाँ के शिलालेखो आदि का विवरण लिखा, जो राजपूताने के इतिहास के लिये उपयोगी सिद्ध हुआ इसी भाँति वगाल एशियाटिक सोसायटी की ओर से डिंगल भाषा के ग्रन्थो का अनुसधान करने वाले महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री (१८५६-१९३४) ने अपनी रिपोर्ट मे डिंगल साहित्य के अलावा राजस्थान की क्षत्रिय, चारण एव मोतीसर जातियो तथा शेखावाटी के इतिहास पर अच्छा प्रकाश डाला है

कर्नल टाड के वाद राजपूताने के इतिहास की क्रमवद्ध एव व्यवस्थित रचना की दृष्टि से जिस दूसरे व्यक्ति ने कार्य अपने हाथो मे लिया वह एक भारतीय एव राजस्थानी था, दधवाडिया गोत्र के चारण कविराजा श्यामलदास उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह के विश्वासपात्र व्यक्ति थे महाराणा शम्भूसिंह ने अपनी मृत्यु के पूर्व मेवाड के इतिहास पर एक ग्रन्थ रचना कराने का इरादा जाहिर किया था और योजना भी वनवाई थी, जिसको उनके विद्याप्रेमी उत्तराधिकारी महाराणा सज्जनसिंह ने पूरा किया उन्होने इस कार्य के लिये एक लाख रुपया स्वीकृत कर राज्य के वृहद् इतिहास के प्रकाशन का उत्तरदायित्व कविराजा श्यामलदास को दिया इस महान् कार्य को सम्पन्न करने के लिये उदयपुर मे अग्रेजी, फारसी और सस्कृत जानने वाले विद्वानो को आमन्त्रित किया गया राज्य एव राज्य के वाहर के अनेक शिलालेखो की छापे तैयार कर मँगाई गई तथा भाटो एव चारणो आदि से वहुमूल्य सामग्री एकत्रित की गई यह वृहद्ग्रन्थ २७०० पृष्ठो का है और चार भागो मे प्रकाशित किया गया और उसका नाम "वीरविनोद" रखा गया.



इस ग्रन्थ की एक विशेषता यह है कि उसमे कर्नल टाड की कई बातो को स्पष्ट एव सशोधित किया गया है और टाड ग्रन्थ की समाप्ति के काल से आगे महाराणा सज्जनसिंह के शासनकाल अर्थात् १८८४ तक का मेवाड का इतिहास दिया गया है. दूसरी विशेषता यह है कि इसमे अनेक शिलालेखो, दानपत्रो, सिक्को, राजकीय पत्र-व्यवहार, वादशाही फरमान आदि का वहुत अच्छा सग्रह हुआ है तीसरी विशेषता यह है कि इसमे मेवाड के विस्तृत इतिहास के साथ-साथ राजपूताना तथा वाहर के अन्य राज्यो का, जिनका किसी न किसी रूप मे मेवाड के साथ सम्बन्ध रहा, सक्षिप्त इतिहास भी लिखा गया है ग्रन्थ की समाप्ति महाराणा फतहसिंह के काल मे हुई, जिन्होने ग्रन्थ का प्रचलन उचित न मान कर, छप जाने के बाद भी प्रकाश में नही आने दिया. इसका परिणाम यह हुआ कि विद्वान् इस महत्त्वपूर्ण एव उपयोगी ग्रन्थ का लाभ वहुत काल वाद मे उठा सके.

इसी काल में एक अन्य काव्यमय ऐतिहासिक ग्रथ 'वशभास्कर' की रचना की गई इसके लेखक बूदी के कविराजा सूरजमल जो राजस्थानी साहित्य के पूर्व आधुनिक काल के सवसे बडे कवि माने गये है ये स्वभावसिद्ध कवि एव पट् भाषाज्ञानी थे और न्याय, व्याकरण आदि अनेक विषयो मे पारगत थे 'वशभास्कर' डिगल भाषा मे रचा गया काव्य ग्रथ है जिसमे लगभग स्वा लाख पद हैं 'वीरविनोद' की भाँति यह ग्रथ भी बूदी नरेश की सहायता से तैयार किया गया था किन्तु बाद मे कवि ने अपनी स्वतन्त्र प्रकृति के कारण जब बूदी-नरेश रावराजा रामसिंह के गुण-दोषो का वर्णन प्रारम्भ किया तो रावराजा सहमत नही हुए. इस पर कवि ने ग्रन्थ को अपूर्ण छोड दिया. चारण कवि का लिखा हुआ होने पर भी 'वशभास्कर' पर्याप्तरूप से प्रामाणिक माना जाता है

बीसवी शताब्दी के प्रारम्भिक काल मे राजपूताने के इतिहास की शोध, मनन एव रचना की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण प्रयास डा० गौरीशकर हीराचन्द ओझा ने किया ओझाजी अपने काल के उत्कट विद्वान् एव इतिहास के अद्वितीय ज्ञाता हुए है. विद्याध्ययन करने के बाद उनका सम्पूर्ण जीवन इतिहास की खोज मे बीता प्रारम्भ मे उदयपुर मे रहकर आपने 'वीरविनोद' जैसे महान् ग्रन्थ की रचना को पूर्ण करने मे कविराजा श्यामलदास को अपनी सेवाएँ दी वे सन् १९०८ मे राजपूताना म्यूजियम अजमेर के क्यूरेटर बनाये गये, जहाँ लगभग ३० वर्षो तक काम करते रहे श्री ओझा ने अथक खोज के आधार पर राजपूत वशो की वशावलियो मे जो शृखलाएँ टूटती थी, अथवा त्रुटिया थी, उन सवको पूरा एव ठीक किया. आपने कई हस्तलिखित ग्रन्थ, प्राचीन सिक्के, शिलालेख एव ताम्रपत्र आदि एकत्र किये, जिनके आधार पर बाद मे आपने राजपूताना के राज्यो का नवीन इतिहास तैयार किया इस नवीन इतिहास मे आपने कर्नल टाड द्वारा की गई भूलो को सुधारा, अतिशयोक्तिपूर्ण किम्वदतियो एव गाथाओ को ठीक किया और इस प्रदेश के इतिहास को नवीन ढग से वैज्ञानिक आधार पर तैयार किया ओझाजी का राजपूताने का इतिहास अत्यधिक प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप मे स्वीकार किया गया और उसको इस प्रदेश के इतिहास लेखन की दृष्टि मे एक महत्त्वपूर्ण घटना माना गया ओझाजी से लगभग १०० वर्ष पूर्व कर्नल टाड ने राजपूताने के इतिहास के सम्बन्ध मे जो ग्रन्थ तैयार किया उसको 'राजपूताने के इतिहास का कीर्तिस्तम्भ' पुकारा गया था. श्री ओझा के नवीन इतिहास को 'राजपूताने के इतिहास का दूसरा भव्य 'कीर्तिस्तम्भ' कहा गया.

ओझाजी ने टाड कृत राजस्थान का सम्पादन कार्य भी प्रारम्भ किया था, किन्तु वह कार्य अपूर्ण रहा सन् १८९४ मे आपने 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' नामक अपूर्व ग्रन्थ की रचना की जिसके कारण आपको अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हुई उस समय तक ससार की किसी भी भाषा में ऐसा अनूठा ग्रन्थ प्रकाशित नही हुआ था १९१८ मे इस ग्रथ पर आपको 'मगला प्रसाद पारितोषिक' भेट किया गया. १९०७ मे आपने सोलकियो का इतिहास लिखा, जिस पर नागरी प्रचारिणी सभा ने आपको एक पदक देकर सम्मानित किया. १९२८ मे आपने मध्यकालीन भारतीय सस्कृति पर प्रयाग की हिन्दुस्तानी अकादमी मे तीन व्याख्यान दिये जो पुस्तकाकार प्रकाशित किये गये आपके ७० वे जन्मदिवस पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से आपको अभिनन्दन ग्रन्थ भेट किया गया जो 'भारतीय अनुशीलन' के नाम से प्रकाशित हुआ

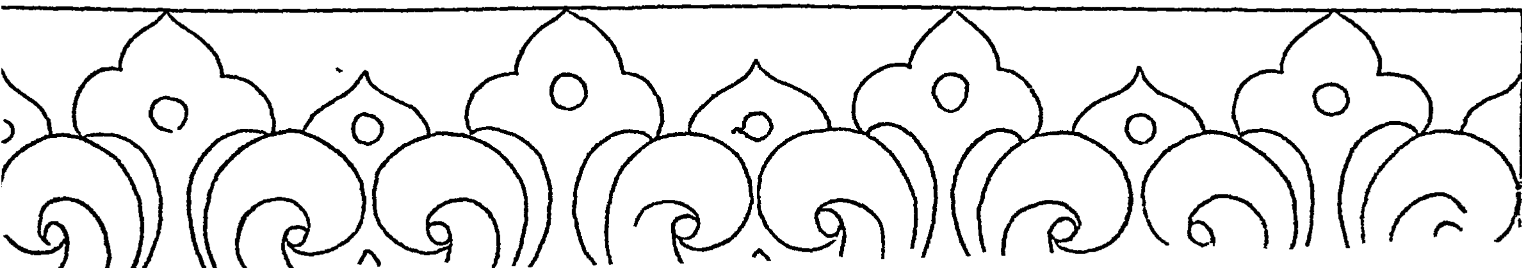
भारत के राष्ट्रीयता आन्दोलन के विकास ने भारतीयो को अपने देश के इतिहास की शोध एव रचना की दृष्टि से भारी प्रेरणा प्रदान की राजस्थान के इतिहास के सम्बन्ध मे भी यही बात कही जा सकती है. स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व के वर्षों और बाद मे राजस्थान के विभिन्न राज्यो के अलग-अलग एव उनके अलग-अलग कालो पर कई शोधपूर्ण ग्रन्थो की रचना की गई है हरविलास शारदा कृत महाराणा कुम्भा एव महाराणा सागा ग्रन्थ, डा० मथुरालाल शर्मा कृत कोटा राज्य का इतिहास, डा० रघुवीरसिंह कृत पूर्व आधुनिक राजस्थान, रतलाम का प्रथम राज्य, मालवा मे युगान्तर अमर ग्रन्थ, पृथ्वीसिंह मेहता कृत 'हमारा राजस्थान', महामहोपाध्याय श्रीविश्वेश्वरनाथ रेउ कृत मारवाड का इतिहास, श्रीहनूमान शर्मा कृत 'जयपुर राज्य का इतिहास', श्री जगदीशसिंह गहलोत कृत 'मारवाडराज्य का इतिहास', राजपूताने का इतिहास भाग २, श्रीरामनारायण दुग्गड कृत राजस्थान रत्नाकर, राणासागा, पृथ्वीराज चरित्र, पडित रामकरण आसोपा द्वारा रचित एव सम्पादित विभिन्न ग्रन्थ आदि प्रमुख है इसके अतिरिक्त पिछले कुछ वर्षो मे मुगल काल, मराठा काल एव आधुनिक काल से सम्बन्धित राजस्थान के इतिहास के कतिपय शोध प्रवन्ध विभिन्न विद्वानो द्वारा तैयार किये गये हैं, जो विभिन्न विश्वविद्यालयो द्वारा स्वीकृत हैं.

एक लम्बे अर्से से राजस्थान मे राजस्थान के प्राचीन इतिहास की शोध की दृष्टि से कई सग्रहालय अत्यधिक महत्त्वपूर्ण एव उपयोगी कार्य कर रहे है. भूतपूर्व रियासतो मे नरेशो द्वारा स्थापित पुरातत्त्व सग्रहालयो एव पुस्तकालयो ने इस दिशा मे भारी प्रयास किया और आज भी उनमे से अधिकाश उपयोगी कार्य कर रहे है. जिनमे विक्टोरिया म्यूजियम एव सरस्वती भडार उदयपुर, शार्दूल रिसर्च इस्टीट्यूट बीकानेर, अलवर्ट म्यूजियम जयपुर, अनूप सस्कृत लाइब्रेरी बीकानेर, अलवर म्यूजियम, जोधपुर म्यूजियम आदि प्रमुख हैं इन सभी सग्रहालयो मे शिलालेखो, सिक्को, ताम्र-पत्रो, शस्त्रास्त्रो एव हस्तलिखित पुस्तको आदि का सग्रह है राजस्थान का आर्केयोलोजिकल विभाग राज्य के विभिन्न भागो मे सर्वे एव खुदाई का कार्य कर रहा है और प्राचीन ऐतिहासिक खोज मे निरन्तर सलग्न है इस समय राजस्थान मे मुख्यत आहड, बीकानेर, भरतपुर, वैराट् आदि कतिपय स्थानो पर खुदाई आदि के काम हो रहे है, जिनसे प्रागैतिहासिक काल तथा बाद के काल की महत्त्वपूर्ण सामग्रियाँ उपलब्ध हुई है

इन सस्थाओ ने पिछले अर्से मे कई बहुमूल्य हस्तलिखित पुस्तको का सग्रह एव प्रकाशन कार्य किया है इनमे से कतिपय सस्थाओ द्वारा शोधपत्रिकाएँ भी प्रकाशित की जाती है, जैसे कि राजस्थान विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित 'शोध पत्रिका' शार्दूल रिसर्च इन्स्टीट्यूट द्वारा प्रकाशित 'राजस्थान भारती', राजस्थानी शोध सस्थान की परम्परा', पिलानी का प्रकाशन 'मरु भारती' विसाऊ की 'वरदा' ये पत्रिकाएँ राजस्थान मे हो रहे इतिहास के शोध कार्य का सही दिग्दर्शन कराती है और प्रेरणा देती है.

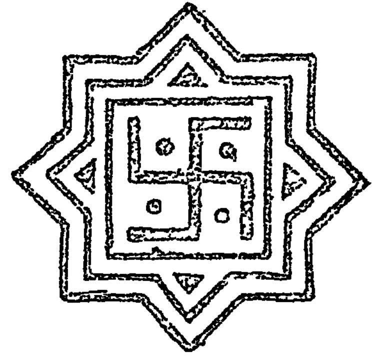
इस समय राजस्थान मे प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थो की खोज, शोध एव प्रकाशन की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य मुनि जिनविजय के मार्गदर्शन मे जोधपुर स्थित एव राज्य सरकार द्वारा सचालित राजस्थान प्राच्य विद्याप्रतिष्ठान जोधपुर कर रहा है. एक तरह से यह प्रतिष्ठान मुनि जिनविजय की ही कृति है और उनके सकल्प एव सयोजन के कारण आज उसने एक बृहद् रूप धारण कर लिया है पिछले काल मे उसने विभिन्न विषयो के कई हस्तलिखित ग्रन्थो के प्रकाशन एव सम्पादन का कार्य किया है मुनि जिनविजय सस्कृत और प्राकृत के बडे विद्वान् है जैन साधनो से उपलब्ध होने वाले प्राचीन इतिहास से उन्हे सदैव से बडा अनुराग रहा है आपने प्राचीन जैन लेखो की दो पुस्तकें प्रकाशित की, जिनमे से एक मे सुप्रसिद्ध जैन राजा खारवेल का लेख है दूसरी बृहत्काय पुस्तक मे गुजरात, काठियावाड, राजपूताना आदि से मिलने वाले ५५७ लेखो का सग्रह है इसके अतिरिक्त आपने शताधिक इतिहास सम्बन्धी ग्रन्थो का सपादन किया है दर्जनो ऐतिहासिक निवन्धो द्वारा पुरातात्त्विक जगत् की अनुकरणीय सेवा की.

राजस्थान का इतिहास जितना लम्बा रहा है, ऐतिहासिक सामग्री भी उतनी ही विपुल रही है राजस्थान के प्राचीन इतिहास के शोध, मनन एव सम्पादन का कार्य जितना विशाल है, उतना ही परिश्रमपूर्ण एव कठिन भी है आज भी इस



क्षेत्र के कई विद्वान् इस जटिल एव श्रमसाध्य कार्य के सम्पादन मे जुटे हुए हैं जिनमे डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, डा० दशरथ शर्मा, डा० सत्यप्रकाश, मुनि श्री कान्तिसागर जी, डा० रघुवीर सिंह, डा० एच० डी० साकलिया, डा० मथुरालाल शर्मा, डा० गोपीनाथ शर्मा, श्रीगोपालनारायण वहुरा, डा० रामचरण राय, श्री देशराज जधीना, श्री अगरचन्द नाहटा, डा० मोतीलाल मेनारिया, श्री विद्याधर शास्त्री, श्री महावीर सिंह गहलोत, श्री कन्हैयालाल सहल, श्री रत्नचन्द अग्रवाल, श्री परमेश्वर सिंह सोलकी, डा० उमाकान्त प्रेमानन्द शाह, श्रीविजयशकर श्रीवास्तव, डा० पृथ्वीसिह मेहता, श्रीनारायण सिंह भाटी जैसे विद्वान् एव परिश्रमी शोधक राजस्थान के इतिहास की शोध के पुनीत कार्य मे सलग्न हैं.



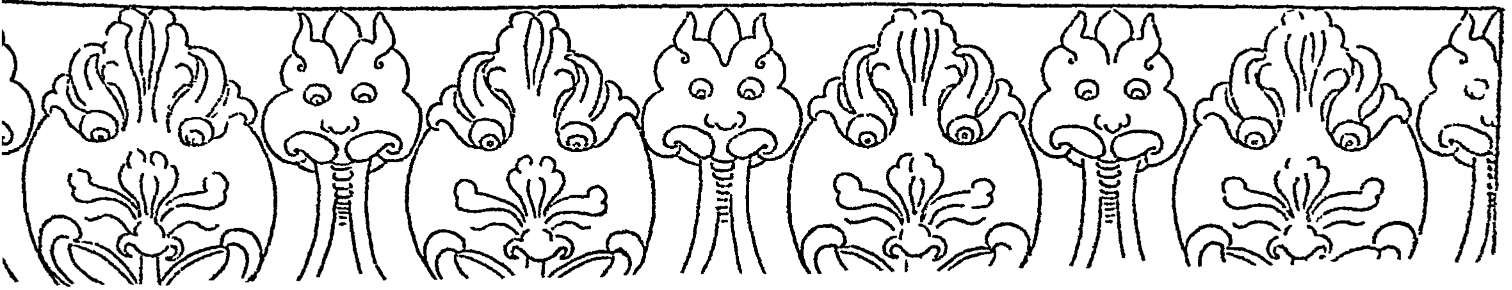


श्रीसूर्यनारायण व्यास
पद्मविभूषण, ज्योतिषाचार्य, डी० लिट्०

कालिदास और विक्रम पर एक विचार

अनेक विद्वानो की मान्यता के अनुरूप भास का काल चाणक्य और चन्द्रगुप्त का था नाट्य-कला के मार्गदर्शक होने के कारण भास की कीर्ति उस समय पर्याप्त रही होगी विदिशा के शुगो के शासन के समय से ही कवियो की वाणी और नाट्य-कला मे पर्याप्त विकास तथा भाषा मे सस्कार हो गया था भासकाल की अपेक्षा पर्याप्त विकास विदित होता है सस्कृत को तव लोकभाषा का सम्मान सुलभ हो गया था पाणिनि के प्रयोग उतने प्रचलित नही हो पाये थे नाट्यकला सुविकसित, नियमबद्ध नही हो पाई थी अभी तक भास के पूर्ववासियो के नाटक प्रकाश मे नही आये है परन्तु भास के नाटक विविध भेदो मे प्रकाश का विषय वन चुके थे. इससे यह विदित हो सकता है कि इस कला मे वह काल कितना प्रगतिशील था

मेकडॉनल्ड, कीथ प्रभृति पडितो की यह मान्यता कि भरत मे ग्रीस की नाट्य-कला का अनुसरण हुआ है क्योकि ई० स० पूर्व तीसरी शती मे भारत का ग्रीस से व्यवहार होता था सेल्यूकस ने अपनी लडकी चन्द्रगुप्त को दी थी टॉलमी का भी आवागमन बना रहता था तथा एक दूसरे के राजदूतो का व्यवहार जारी था आलक्जेण्डर के शासन से भृगु-कच्छ द्वारा-नर्मदा-पथ से स्थलमार्ग द्वारा उज्जैन से सम्बन्ध बना हुआ था विदिशा मे स्वय वहाँ का राजदूत हेलियो डोरस रहता था यही नही, उसने भागवत-धर्म भी स्वीकार कर लिया था, यह विदिशा का गरुड-स्तम्भ साक्षी दे रहा है ग्रीक इतिहास से प्रकट है कि ब्राह्मण लोग ग्रीस के साहित्य मे अनुराग भी रखते थे किन्तु भारत का नाट्य ग्रथ अधिक पुरानन है, भास के नाटको मे विशेष रूप से उनका अनुकरण प्रतीत होता है सम्भव है भास की उन्नति और कीर्ति ने कालिदास को स्पर्धा के लिये वाध्य किया हो और इसी के वश हो कालिदास ने अपने नाटको मे कला का पूर्ण परिपाक वतलाया हो सभवत कालिदास ने भास का इसी कारण नामोल्लेख कर नाट्यजगत् मे अभिनव प्रवेश मालविकाग्निमित्र के रूप मे किया हो अनेक अशो मे राजा, नायिका, उपनायिका, विदूपक चेटी आदि की जो समता भास और कालिदास मे मिलती है और उनका विकास जितनी सुन्दरता से कालिदास-कृति मे मिलता हे, उतना भास मे नही वैसे भी भास—कालिदास के काल मे समता को लक्ष्य मे रखते हुए १००-१२५ वर्ष का ही अन्तर लक्षित होता है. उसने अपने साहित्यिक जीवन का आरम्भ भास की कला को विकसित कर तथा अग्निमित्र जैसे अल्प प्रसिद्ध युवराज का आश्रय लेकर किया होगा और कीर्तिशाली वन गया होगा दिड्नाग, प्रव्रज्या, भिक्षुणी आदि का उल्लेख बुद्धप्रभाव को प्रकट करता है शु ग-काल तक यह प्रभाव मध्य भारत मे रहा है वासवदत्ता के अपहरण के समय प्रच्छन्नवेष मे निर्ग्रन्थ भिक्षुओ का प्रवेश होने लग गया था, अन्यथा, विक्रम की समुन्नति से कालिदास की कला उल्लेखरहित नही रहती अस्तु, यहाँ हमारा अभिप्राय तर्को और उदाहरणो से विस्तार करना नही है कालिदास की तरह ही विक्रम भी विद्वज्जनो की विचार-विश्लेपण की परिधि मे परिभ्रमण कर रहा है विक्रमादित्य के विपय मे भी दो विचारधाराएँ हैं प्रथम धारा विक्रम को ई० सन् पूर्व ५७ वर्ष मे स्वीकार करती है, और दूसरी द्वितीय चन्द्रगुप्त को ही एकाधिकार प्रदान करती है यह आज से नही शताब्दियो पूर्व से है पिछले विद्वानो को इस द्वैत का पूर्ण ज्ञान रहा है, किन्तु जो लोग स्मिथ को मील का पत्थर मानकर अपनी प्रज्ञा के प्रयास की परिधि केन्द्रित कर देते है उनके ज्ञान की परप्रेरितावस्था पर खेद प्रकट करना भी निरर्थक है ये द्वितीय चन्द्रगुप्त को छोडकर अपने ज्ञान की दौड को आगे का श्रम ही स्वीकार नही करते



आज से बहुत पूर्व ११ वी शती मे सोमदेव ने कथासरित्सागर की रचना की है. उस समय सोमदेव को दो विक्रम होने का पूर्ण ज्ञान था यह ग्रथ द्वितीय विक्रम के पश्चात् ही बना है उस समय यदि प्रथम विक्रम की ख्याति न होती तो वह एक ही का उल्लेख कर सकता था उसे काल्पनिक—भ्रमविस्तार की आवश्यकता क्यो होती ? इस कथाग्रथ के रचना-काल मे सोमदेव यह स्पष्ट जानता है कि उज्जैन का विश्रुत नरेश विक्रम है, और पाटलिपुत्र का अन्य विक्रम भी है उक्त कथाग्रथ के १८ वे लम्बक, प्रथम तरग मे स्पष्ट है—

(क) उज्जयिन्यां सुतः शूरो, महेन्द्रादित्यभूपतेः ।
(ख) आक्रमिष्यति सद्वीपां पृथिवीं, विक्रमेण यः ।
म्लेच्छसंघान् हनिष्यति ।
(ग) भविष्यत एवैष विक्रमादित्यसंज्ञक ।

इस तरह विभिन्न स्थानो पर उज्जैन के विक्रम का उत्कृष्ट वर्णन किया है आगे इसी लम्बक के तृतीय तरग में विक्रम की विजययात्रा से वापिस उज्जैन पहुँच जाने पर उनके सेनानी विक्रमशक्ति ने उन अनेक राजाओ का, जो स्वागतार्थ उपस्थित थे, वर्णन किया है. यह वर्णन तत्कालीन स्थिति जानने मे सहायक हो सकता है.

"गौडः शक्ति कुमारोऽयम्, कर्णाटोऽयं जयध्वज ।
लाटो विजयवर्माऽयम् काश्मीरोऽयं सुनन्दन ।
गोपाल' सिन्धुराजोऽयम्, भिल्लो बिन्ध्यबलोप्ययम् ।
निर्मूकः पारसीकोऽयम्, नृप प्रणमति प्रभो ।"

इन विविध देशीय नरेशो के प्रणाम-परिचय के पश्चात्—

सम्राट् सम्मानयामास सामन्तान्सैनिकानपि ।

सम्राट् विक्रम ने सामन्तो और सैनिको का सम्मान किया है इस प्रकार १८ वाँ लम्बक अवतीपति के वर्णन से भरा हुआ है और उक्त ग्रथ मे चौथी तरग, एव सप्तम लम्बक में स्वतत्र रूप से लिखा है कि–'विक्रमादित्य इप्यासीद्राजा पाटलिपुत्रके' यानी पाटलिपुत्र मे राजा विक्रम था यहा 'सम्राट्' शब्द का प्रयोग नही किया गया है तथा–'अस्ति पाटलिपुत्राख्यो भुवोऽलकरणपुरम्, तत्र विक्रमतु गाख्यो राजा' आदि

इस प्रकार विक्रम के दो होने की जानकारी ११वी शती के सोमदेव को अवश्य थी, क्षेमेन्द्र, और गुणाढ्य भी यह जानते थे. ये ग्रथकार चन्द्रगुप्त द्वितीय के बाद है यदि एक मात्र चन्द्रगुप्त द्वितीय ही विक्रम होता तो इन्हे उज्जैन के और पाटिलपुत्र के दो विक्रमो की चर्चा करने की आवश्यकता नही रहती. ये आज से सैकडो साल पहिले उत्पन्न ग्रथकार हैं. स्मिथ की भ्रान्ति इन्हे स्पर्श नही कर सकती है. और इनके उल्लेख को महज कथा कहकर टाला नही जा सकता. ऐसी स्थिति मे स्मिथ, हार्नेल, कीथ आदि आधुनिको की भ्रान्त धारणाओ का कोई मूल्य नही रहता. विक्रमादित्य को केवल विदेशी विद्वानो की कसौटी पर नही लगाया जा सकता, उसके तथ्यान्वेषण के लिये प्राचीन साहित्य का अनुशीलन आवश्यक है.

सस्कृति के कथाग्रथो, काव्यवर्णनो की तरह ही जैन-साहित्य के अनेक ग्रथो में, जिनकी संख्या ५० से अधिक है, स्वतत्र उज्जयिनीपति विक्रम की विभिन्न चर्चाएँ आई है. कालक-कथा आदि को केवल कथा-ग्रथ कहकर हम उपेक्षित नही कर सकते इन सभी पर तथ्यान्वेषक दृष्टि से विचार किया जाना जरूरी है. ये अपना महत्त्व रखते है तथा इतिहास और तथ्य पर आधारित है.





मुनि श्रीनगराजजी
अणुव्रतपरामर्शक

महावीर और बुद्ध—जन्म व प्रव्रज्यायें

भगवान् महावीर की मौलिक जीवन-गाथा आचाराङ्ग सूत्र और कल्प-सूत्र, इन दो आगमो मे मिलती है टीका, चूर्णि, निर्युक्ति और काव्य ग्रथो मे वह पल्लवित होती रही है भगवान् बुद्ध का प्रारम्भिक जीवन-वृत्त मुख्यत "जातकनिदानकथा" मे मिलता है वैसे तो समग्र आगम व त्रिपिटक ही दोनो की जीवन-गाथा के पूरक है, पर 'जीवनचरित की शैली मे उनकी यत्किञ्चित् जीवन-गाथा उक्त स्थलो मे ही उपलब्ध है. दोनो युग-पुरुपो के जन्म व दीक्षा के वर्णन परस्पर समान भी है और असमान भी वे समानताएँ जैन और बौद्ध सस्कृतियो के व्यवधान को समझने मे बहुत महत्त्वपूर्ण है इसके अतिरिक्त उन वर्णनो से तत्कालीन लोक-धारणाओ, सामाजिक-प्रथाओ और धार्मिक परम्पराओ पर भी पर्याप्त प्रकाश पडता है यहाँ आचाराग एव कल्पसूत्र तथा जातकनिदानकथा के आधार से ही दोनो धर्मनायको का जन्म से प्रव्रज्या तक का एक गवेषणात्मक अवलोकन प्रस्तुत किया जा रहा है

महावीर और बुद्ध—दोनो ही अपने प्राग्भव के अन्तिम भाग मे अपने अग्रिम जन्म को सोच लेते हैं दोनो के सोचने मे जो अन्तर है, वह यह कि—महावीर सोचते है 'मेरा जन्म कहाँ होने वाला है' और बुद्ध सोचते है—मुझे कहाँ जन्म लेना चाहिये '

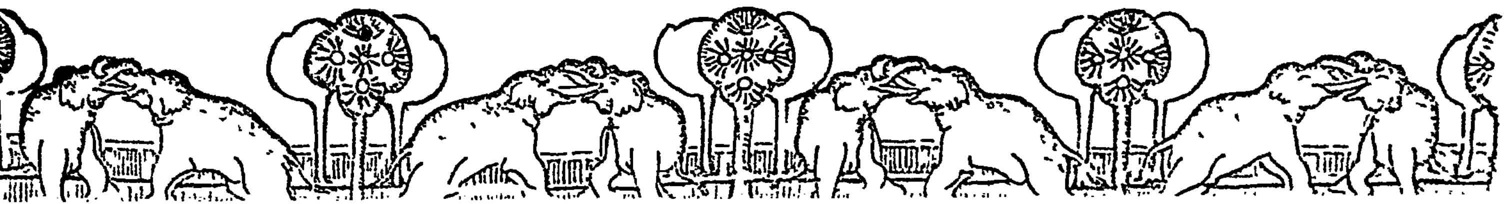
महावीर का जम्बूद्वीप एक लाख योजन का है और बुद्ध का जम्बूद्वीप दस हजार योजन का.

महावीर जम्बू-द्वीप के दक्षिण भारत मे उत्तर-क्षत्रियकुडपुर मे जन्म लेते है, बुद्ध जम्बू-द्वीप के 'मध्य देश' मे कपिलवस्तु नगर मे जन्म लेते है दोनो ही भूभाग बहुत निकट के है केवल अभिधाएँ भिन्न-भिन्न है महावीर ब्राह्मणकुल मे देवानन्दा के गर्भ मे जन्मते है इन्द्र सोचता है—अरिहन्त क्षत्रिय कुल को छोड़ ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र इन कुलो से न कभी उत्पन्न हुये, न होगे. श्रेयस्कर है मुझे देवानन्दा का गर्भ हरण कर, भगवान् को त्रिशला क्षत्रियाणी के उदर मे स्थापित करना. इन्द्र की आज्ञा से हरिणगमेषी देव वैसा कर देते है बुद्ध स्वय सोचते है—बुद्ध, ब्राह्मण और क्षत्रिय कुल मे ही जन्म लेते हैं, वैश्य और शूद्र कुल मे नही अत मुझे क्षत्रिय कुल मे ही जन्म लेना है.

यहाँ इन्द्र ने केवल क्षत्रिय कुल मे ही तीर्थंकर का उत्पन्न होना माना है और बुद्ध ने क्षत्रिय और ब्राह्मण इन दो कुलो मे बुद्ध का उत्पन्न होना माना है

गर्भाधान के समय महावीर की माता सिंह, गज, वृषभ आदि चौदह स्वप्न देखती है, बुद्ध की माता केवल एक स्वप्न देखती है—हाथी का

स्वप्नपाठक प्रात· महावीर के लिये चक्रवर्ती या जिन होने का और बुद्ध के लिये चक्रवर्ती या बुद्ध होने का फलादेश करते है



जन्मप्रसग पर देवो का ससर्ग दोनो ही युगपुरुषो के बताया गया है. आचाराग और कल्पसूत्र का वर्णन अधिक विस्तृत और अधिक अतिशयप्रधान है अपेक्षाकृत जातक-अर्थकथा के. शुद्धोदन सद्य जात शिशु बुद्ध को 'काल-देवल' तपस्वी के चरणो में रखना चाहता है पर इसके पूर्व बुद्ध के चरण तपस्वी की जटाओ मे लग जाते है इसलिये कि बुद्ध जन्म से ही किसी को प्रणाम नही किया करते. महावीर की जीवनचर्या मे ऐसी कोई घटना नही घटती है पर नियम तीर्थकरो का भी यही है कि वे किसी पुरुषविशेष को प्रणाम नही करते

महावीर के अकधाय, मज्जनधाय आदि पाँच धाएँ और बुद्ध का निर्दोष धाएँ लालन-पालन करती है

जातक-अर्थ-कथा ने प्रसगोपात्त वीजारोपण-समारोह का प्रेरक चित्रण किया है वृक्षारोपण समारोह(वनमहोत्सव) अभी-अभी भारतवर्ष मे चला है. प्रधानमत्री, राष्ट्रपति या अन्य वडे लोग एक बार पानी सीचकर वृक्षारोपण करते है. उस चित्रण के अनुसार वीज-रोपण समारोह में एक सहस्र हलवाहको के साथ राजा, मत्री आदि अपने हाथो से हल जोतते है.

महावीर भोगसमर्थ होकर और बुद्ध १६ वर्ष के होकर दाम्पत्य-जीवन प्रारम्भ करते है. जातकअर्थकथाये, शीत, ग्रीष्म, वर्षा इन तीनो ऋतुओ के पृथक्-पृथक् तीन प्रासाद वतलाती है आचाराग व कल्पसूत्र पृथक् पृथक् ऋतुओ के पृथक्-पृथक् प्रासाद कहकर वैभवशीलता व्यक्त करते हैं अन्यान्य प्रकरणो से भी पता चलता है कि श्रीमन्त लोग पृथक्-पृथक् ऋतुओ के लिये पृथक्-पृथक् भवन बनाते है और ऋतु के अनुसार उनमे निवास करते है.

बुद्ध के मनोरजन के लिये ४४ सहस्र नर्तिकाओ की नियुक्ति का वर्णन है

शाला आदि मे जाकर शिल्प व्याकरण आदि का अध्ययन न महावीर करते है और न बुद्ध. महावीर एक दिन के लिये शाला मे जाते है और इन्द्र के व्याकरण सम्बन्धी प्रश्नो का उत्तर देकर अपनी ज्ञानगरिमा का परिचय देते हैं. बुद्ध एक दिन शिल्पविशारदो के बीच अपनी शिल्प-दक्षता का परिचय देते है

प्रतिवोध के समय पर महावीर को लोकान्तिक देव आकर प्रतिबुद्ध करते हैं, बुद्ध को देव आकर वृद्ध, रोगी व मृत के पूर्व शकुनो से प्रतिवुद्ध करते है.

दीक्षा से पूर्व महावीर वर्षीदान करते हैं, बुद्ध के लिये ऐसा उल्लेख नही है

नगर-प्रतोली के वाहर होते ही 'मार' बुद्ध से कहता है—"आज से सातवे दिन तुम्हारे लिये 'चक्ररत्न' उत्पन्न होगा, अत. घर छोडकर मत निकलो." चक्रवर्ती होने वालो के लिये 'चक्ररत्न' की परिकल्पना जैन परम्परा मे भी मान्य है.

महावीर का दीक्षा-समारोह इन्द्र आदि देव व सिद्धार्थ आदि मनुष्य आयोजित प्रकार से मनाते है. वे भगवान् को अलकृत करते है, शिविकारूढ करते है, जुलूस निकालते है, यावत् दीक्षा-ग्रहण-विधि सम्पन्न कराते है. जिस रात को बुद्ध का महाभिनिष्क्रमण होता है, उसी दिन इन्द्र के आदेश से बुद्ध के स्नानोत्तर काल मे देव आते है और अन्य उपस्थितो से अदृष्ट रहकर ही बुद्ध की वेश-सज्जा करते है.

दोनो प्रकरणो को एक साथ देखने से लगता है कि आगमो की दीक्षा-शैली का अनुसरण 'जातक-अर्थ-कथा' मे हुआ है. बुद्ध के घटनात्मक दीक्षा-प्रकरण मे देव-ससर्ग को यथाशक्य ही जोडा जा सकता था, पर यह कमी भी वौद्ध कथाकार ने तब पूरी की जब बुद्ध रात्रि के नीरव वातावरण मे अपने अश्व को वढाये ही चले जा रहे थे वहाँ साठ-साठ हजार देवता चारो ओर हाथो मे मशाल लिये चलते है.

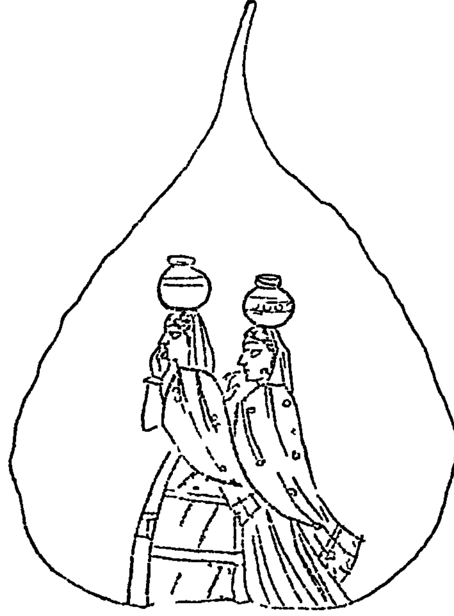
महावीर ने दीक्षा-ग्रहण के समय पञ्चमुष्टिक लोच किया, बुद्ध ने अपना केश-जूट तलवार से काटा महावीर के केशो को इन्द्र ने ग्रहण कर क्षीर-समुद्र मे विसर्जित किया. बुद्ध ने अपने कटे केश-जूट को आकाश मे फेंका योजन भर ऊँचाई पर वह अधर मे टिका, इन्द्र ने उसे वहाँ से रत्नमय करण्ड मे ग्रहण कर त्रायस्त्रिंश लोक में चूड़ामणि-चैत्य का स्वरूप दिया. दीक्षित होने के पश्चात् मुख व मस्तक के केश न महावीर के वढते है, न बुद्ध के. दोनो ही परम्पराओ ने इसे अतिशय माना है



जिस अश्व पर बुद्ध सवार होकर घर से निकलते है, उसका नाम कन्थक था, वह गर्दन से लेकर पूँछ तक अट्ठारह हाथ लम्बा था

एक सहस्र कोटि हाथियो जितना बल बुद्ध मे बतलाया गया है जैन परम्पराओ के अनुसार चालीस लाख अष्टापद का बल एक चक्रवर्ती मे होता है और तीर्थंकर तो अनन्त बली होते है. महावीर ने जन्मजात दशा मे ही मेरु को अगूठे मात्र से ही प्रकपित कर इन्द्रादि देवो को सदेहमुक्त किया बुद्ध के जीवन-चरित मे ऐसी कोई घटना नही मिलती, पर योग-बल से यदा-कदा वे नाना चामत्कारिक स्थितियाँ सम्पन्न करते है

महावीर और बुद्ध के जन्म और प्रव्रज्या प्रकरणो का यह एक अवलोकन मात्र है. इतने मात्र से उनके पूर्ण अध्ययन की अपेक्षा पूरी नही हो जाती. कहना चाहिए, वे प्रकरण शोध-सामग्री के अनूठे भडार है गवेषक अपनी जिज्ञासा के अनुकूल बहुत कुछ पा सकता है.





बद्रीप्रसाद पंचोली
एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत) साहित्यरत्न

महावीर द्वारा प्रचारित आध्यात्मिक गणराज्य और उसकी परम्परा

स्वतन्त्रता, समता और भ्रातृत्व पर आधारित गणतन्त्र को आधुनिक ससार ने सबसे अधिक विकसित तथा जनकल्याण-कारी व्यवस्था घोषित किया है इस प्रकार की व्यवस्था का परीक्षण प्राचीन भारत मे हो चुका है वर्द्धमान महावीर और भगवान् बुद्ध के समय भारत मे अनेक गणराज्य थे जिनके विषय मे जैन और बौद्ध साहित्य से पर्याप्त सूचना मिलती है अवदानशतक मे गणाधीन व राजाधीनराज्यो का उल्लेख मिलता है.[१] आचारागसूत्र मे भी राजारहित गणशासित राज्यो का उल्लेख मिलता है.[२] इसी काल की अन्य रचना पाणिनीय अष्टाध्यायी भी गणशासन के विषय मे महत्त्वपूर्ण सूचना देती है महाभारत मे गणराज्यो को नष्ट करने वाले पारस्परिक फूट आदि दोषो का बड़े विस्तार से वर्णन मिलता है.[३] सारे भारतीय साहित्य मे प्राप्त इसी तरह के उल्लेखो का अध्ययन करने से गणराज्यो की एक सुदृढ व विकसित परम्परा का पता चलता है जिसको महावीर स्वामी व महात्मा बुद्ध की महत्त्वपूर्ण देन है

आर्यजाति के प्राचीनतम वैदिक ग्रन्थो से गणजीवन के विकास के विषय मे महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है ऋग्वेद में गण,[४] गणपति[५] आदि ही नही, जनराज्ञ[६] शब्द भी प्रयुक्त हुआ है सामनस्य सूक्त[७] मे स्वतत्र सहजीवन के विकास की ओर सकेत किया गया है जिसे विश्वव्यवस्था का आधार बनाया जा सकता है. स्वराज्य सूक्त मे[८] प्रजातान्त्रिक व्यवस्था के विषय मे व्यापक जानकारी प्राप्त की जा सकती है. इस सूक्त के ऋषि राहुगण गोतम हैं. ऋषिवाची शब्द सदैव ही वैदिकमत्रो के अर्थज्ञान की कुजी होता है. राहुगण गोतम नाम भी इसी तरह इस सूक्त के अर्थ पर प्रकाश डालता है. रह (त्याग करना) धातु से 'रहु' शब्द निष्पन्न है जिसका अर्थ है त्यागी, दानी आत्मत्यागियो मे श्रेष्ठ गिने जाने वाले व्यक्तियो का गण या समूह (राहुगण) ही स्वराज्य का निर्माण कर सकता है. यही नही, स्वराज्य के निर्माता गौतम-वेदज्ञो मे श्रेष्ठ भी होते हैं.

यजुर्वेद मे न केवल राष्ट्र के जागरूक व आदर्श नागरिक बनने की भावना[९] के ही दर्शन होते है, वरन् प्रजातत्र को शत्रुनाशक भी कहा गया है—

---

१. केचिद्देशा गणाधीनाः केचिद्राजाधीना —अवदानशतक २।१०३.

२. आचारांग सूत्र १।३।१६०

३. महाभारत-शान्ति पर्व- राजधर्मप्रकरण.

४. ऋग्वेद १।८७।४, ३।३५।६, ५।६१।१३, ७।५८।१, २.२३।१ आदि.

५. ऋग्वेद ७।२३।१, १०।११२।६.

६. ऋग्वेद १।५३।६.

७ ऋग्वेद १०।६१.

८. ऋग्वेद १।८०

९. वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः—यजुर्वेद ९।२३.

स्वराडसि सपत्नहा सत्रराडसि अभिमातिहा जनराडसि रक्षोहा सर्वराडसि अमित्रहा[1]

अथर्ववेद मे शासक के वरण व अभिषेक समय की मर्यादाओ का उल्लेख मिलता है ब्रह्मगवी[2] व ब्रह्मजाया[3] के नाम से राज्य की आध्यात्मिक शक्तियो का उल्लेख भी किया गया है, जिन्हे प्रजा की सामूहिक भावनायें राज्य मे निक्षिप्त करती हैं. पृथिवीसूक्त मे सत्य, ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म, यज्ञ और बृहत् राष्ट्र के आधारभूत तत्त्व कहा गया है[4] वैदिक राज्य-व्यवस्था का वर्णन करना यहाँ अभीष्ट नही है, केवल इतना स्वीकार किया जा सकता है कि गणव्यवस्था का आदर्श भी भारतीयो को वेदो से मिला है

ऋग्वेद मे दो प्रकार के गणो का वर्णन मिलता है जिनमे एक है ऋभुओ का गण और दूसरा मरुतो का गण प्रथम सारस्वतगण (Educational Republics) है और दूसरा सैनिक गण मरुत् देवताओ मे वैश्यवर्ण के कहे गये है अत इनका गण सैनिक गण होते हुए भी कृषि व गोपालन की समृद्धि पर निर्भर कहा जा सकता है ये दोनो प्रकार के देवगण भारतीय गणराज्यो के प्रेरणास्रोत कहे जा सकते है

ऋभुगण सुन्धवा के पुत्र[5] ऋभु, विभु और वाज का है इनका विस्तृत विवेचन स्वतत्र निवन्ध का विषय है इस विपय में ज्ञातव्य सक्षेप में इस पकार है—'ऋभु पहले मनुष्य थे बाद को ऋत का आश्रय लेकर उन्होने देवत्व प्राप्त किया[6] ऋत की साधना ऋभुगण का आदर्श है[7] देवत्व सदा से मनुष्यो का लक्ष्य रहा है ऋभुओ ने ऋतसाधना द्वारा देवत्व प्राप्त किया था ऋत की साधना के लिये त्रैत-भावना आवश्यक है साधक, सिद्ध व साध्य का त्रैत प्राचीन ग्रथो मे अनेक प्रकार से उल्लिखित है ऋभुत्रयी मे वाज है साधक, विभु सिद्ध और ऋभुत्व साध्य शिक्षणव्यवस्था मे वाज का सम्वन्ध विद्यार्थी से है विद्यार्जन वाजपेय (वाज को पेय वनाना या पीना) यज्ञ तथा विद्याप्राप्त स्नातक को वाजपेयी कहा जाता है विभु गुरु हे और ऋभुत्व प्राप्त करने वाला ऋभु कहा जाता है विद्यार्जन की प्रक्रिया को नेम (अधूरे ज्ञान वाला) का भार्गव (तेजस्वी, ज्ञानसम्पन्न) हो जाना भी कहा जा सकता है. इस विषय मे नेमभार्गवऋषिदृष्ट ऋग्वेद का सूक्त[8] विचारणीय है सामूहिक दृष्टि से वाज, विभु और ऋभु का एक गण वनता है ऋभुगण द्वारा सर्वदुघा गौ का निर्माण,[9] एक चमस के चार चमस कर देना[10] आदि बातो को यहाँ अप्रासगिक समझ कर छोड दिया जाता है.

ऋभुवो के गण के आदर्श पर ऋत की साधना के केन्द्र शिक्षा-आश्रमो का विकास हुआ था जिन्हे सारस्वतगणराज्य[11] कहा जा सकता है सिकन्दर के समय कठो का गण वार्ताकृषि-उपजीवी सघ था युद्धकाल मे सिकन्दर का सामना करने के लिये यह आयुधजीवीसघ वन गया था। इसका प्रारम्भ सारस्वत गण के रूप मे हुआ था जिसमे यजुर्वेद की काठकसहिता का प्रवचन होता था काठकसहिता व कठोपनिषद् इस गण की चिन्तनपरम्परा के अवशेष है नैमिषारण्य के ऋषिगण की स्मृति धार्मिक कथाओ मे बनी हुई है बादरायण व्यास के विशाल पुराण-साहित्य को सुरक्षित बनाये रखने का श्रेय इसी गण को हैं, जिसके ८८हजार ऋषि आरण्यकजीवन बिताते हुए साहित्य व धर्म की चर्चा मे समय बिताया करते थे प्राप्य प्राचीन

---

१ यजुर्वेद ५।२४.
२. अथर्ववेद ५।१८
३. अथर्ववेद ५।१७.
४ अथर्ववेद १२।१।१
५. ऋग्वेद ४।३५।१
६ ऋग्वेद ३।६०।३, ३।६०।१, ४।३५।८, ४।३३।३, ४।३५।३, १।११०।४
७ ऋतेन भान्ति इति ऋभव.—यास्क, निरुक्त ११।२।३, ऋग्वेद ४।३४।२
८. ऋग्वेद ८।१००
९. ऋग्वेद ४।३३।८, ४।३४।९, ४।३६।४.
१०. ऋग्वेद ४।३५।२,५, ४।३६।४
११. सारस्वत गणराज्यों के लिये द्रष्टव्य लेखक का 'प्राचीन भारत के सारस्वत गणतत्र' नामक निवन्ध 'त्रिपथगा वर्ष ७ अक ११.

भारतीय साहित्य का रक्षण भी ऐसे ही गणो मे हुआ है. दक्षिण मे 'सघमु' परम्परा द्वारा तमिल साहित्य की अभिवृद्धि हुई है. ये भी सारस्वतगण ही कहे जा सकते है राज्य के आवश्यक अग प्रभुसत्ता, सभूयभावना (Civic Sense) और तत्र (व्यवस्था) के दर्शन इन शैक्षणिक सस्थाओ मे होते है. इसीलिए इन्हे गणराज्य कहना उपयुक्त है.

तक्षशिला, नालन्दा आदि प्रसिद्ध विद्या-केन्द्र भी गणतान्त्रिक आदर्श पर सघटित हुए थे भारत के पश्चिमी द्वार की अर्गला खोल कर आक्रान्ता सिकन्दर का स्वागत करने वाला आम्भीक तक्षशिला के विद्रोही आचार्य चाणक्य या चन्द्रगुप्तादि छात्रो को, जो प्रत्यक्ष रूप मे गान्धारनरेश की नीति का विरोध कर रहे थे, पकड नही सकता था. दुष्यन्त वैखानसो से यह सूचना मिलने पर—'आश्रममृगोऽय राजन् ! न हन्तव्यो न हन्तव्य', आखेट से उपरत होकर आश्रम की प्रभुसत्ता के सम्मान मे रथ से उतर गया था राज्यो मे राजा स्वय विद्वत्सभाओ की योजना करते थे जिन्हे प्रभुसत्ता के अभाव के कारण स्वायत्तसस्था ही कहा जा सकता है, गणराज्य नही.

ऋग्वेद मे मरुतो के देवगण का विस्तार से उल्लेख मिलता है मरुतो की सख्या ४९ है यजुर्वेद में इनके नाम भी मिलते है[१] ये सब एक ही पिता रुद्र के पुत्र है[२] गाएँ इनकी प्रभूत समृद्धि की द्योतक हैं. अत इनको 'पृश्निमातर'[३] या गोमातर[४] विशेषण भी दिये गए है ये सब भाई हैं, न इनमे कोई ज्येष्ठ है न कनिष्ठ[५] ये सब समान विचार वाले है[६] और एक ही तरह से इनका पोषण हुआ है[७] इनकी पैतृकपरम्परा [योनि] व नीड भी समान है.[८] वे उत्तम पत्नियो वाले (भद्रजानय)[९] हैं, प्रतिभाशाली हैं स्वयदीप्त है, रथो पर चलते है[१०] अपरिमित शक्ति से सम्पन्न है[११] और बच्चो की तरह क्रीडातु[१२] हे, मरुतो का एक अन्य विशेषण सिन्धुमातर.[१३] है.

मरुतो का कार्य वही है जो देवराज इन्द्र, अग्रणी अग्नि या सम्राट् वरुण का है मरुतो के कार्य इन्द्रिय [इन्द्र के][१४] व इन्द्र के कार्य मरुतो के [मरुत्वती][१५] कहे गए है मरुत् दिव्यगायक हैं[१६] अपने गान द्वारा ही वे पर्वतो का भेदन करते है[१७] और इन्द्र की शत्रुविजय की सामर्थ्य बढा देते है[१८] पुराणो से पता चलता है कि इन्द्र और मरुत् एक दूसरे के विरोधी भी रहे हैं ऋग्वेद के एक मत्र से[१९] इस वैमनस्य की सूचना मिलती है तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार मरुतो

१ यजुर्वेद १७।८०-८५.
२ ऋग्वेद ८। २०।२, ५।५७।१, ५।५२।१६, ५।६०।५.
३ ऋग्वेद ५।५७। २, ३।५९।६, १।८५।२, १।२३।१०, ८९।७, ८।७।३, ९।३४।५
४ ऋग्वेद १।८५।३,
५ ऋग्वेद ५।५९।६, ५।६०।५.
६. ऋग्वेद ८।२०।१
७ ऋग्वेद ७।५८।१
८. ऋग्वेद १।१६५।१, ७।५६।१.
९. ऋग्वेद ५।६१।४
१० ऋग्वेद १।८८।१, ५।५७।१,
११. ऋग्वेद ५।५८।२, १।१६७।९
१२ ऋग्वेद १।१६६।२, ७।५६।१६.
१३ ऋग्वेद १०।७८।६.
१४. ऋग्वेद १।८५।२.
१५. ऋग्वेद १।८०।४.
१६. ऋग्वेद ५।६०।८. ७।३५।९, ५।५७।५
१७ ऋग्वेद १। ८५।१०.
१८. ऋग्वेद ५।३०।६. १।८५।२, ५।२९।२, १।२६५।११, १।१००।१०.
१९. ऋग्वेद १।१७०।२.

ने इन्द्र का साथ छोड दिया था,[1] परन्तु इन्द्र को ऋग्वेद मे प्रधान माना गया है.[2] वह सम्माननीय है और मरुद्गण उसके पुत्र के समान है [3]

मरुतो के देवगण के सक्षिप्त वर्णन से निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते है :

(१) समान कुल-परम्परा, पैतृक सवध आदि के द्वारा गण मे एकता वनी रह सकती है

(२) सवको एक सूत्र मे बाधने वाली वस्तु धन-समृद्धि है द्रव्यादि का समान वितरण, पशुधन के प्रति पूज्यभाव एकता के अन्य कारण हैं

(३) मातृभूमि का प्रेम एकता को जन्म देता है मरुत एक ही सिन्धु-सिंचित भूमि की सन्तान (सिन्धुमातर[4]) कहे गए हैं

(४) गणप्रमुखो तथा गणसदस्यो मे कोई वडा-छोटा नही होता, उनमे विचार वैभिन्य नही होता, सवको सन्तति के विकास के समान साधन उपलब्ध होते है.

(५) गणसदस्यों की पत्नियाँ उत्तम व सहकर्मिणी होती हैं क्रीडा, उत्सव आदि की सम्यक् व्यवस्था भी एकता का कारण है

(६) राजा के होते हुए भी गणो की सत्ता रह सकती है वे अपनी शक्ति व एकता के स्वर से राजा की सामर्थ्य को शतगुणित कर दिया करते है महामात्य चाणक्य ने सघलाभ को राजा के लिये सर्वोत्तम लाभ माना है[5]

(७) गणो से सम्राट् का वैमनस्य भी हो सकता है, परन्तु गण राजा के पुत्र के समान है राजा को उन्हे नष्ट करने का प्रयत्न नही करना चाहिए

भारत मे गणो का विकास इन्ही मान्यताओ को लेकर हुआ था महाभारतयुद्ध के पहले तक भारत मे गणराज्य व राजतत्र साथ-साथ पनप रहे थे उग्रसेन के राज्य मे अन्धक व वृष्णि गणराज्य अपना स्वतत्र अस्तित्व रखते थे भारत मे धर्म को सर्वोपरि माना गया है जिसके प्रति राजा व गण दोनो ही उत्तरदायी है इस प्रकार यहाँ न राजा ही निरकुश थे और न गणतत्र ही राजा धर्म और प्रजा के प्रति इस सीमा तक उत्तरदायी था कि उसे सवसे अधिक पराधीन व्यक्ति कहा जा सकता है इसी तरह गणतत्र इतने स्वतत्र थे कि वह स्वतत्रता ही वन्धन वन कर उन्हे सयत वना दिया करती थी.

महाभारत युद्ध के वाद भारत मे जिस युग का प्रारभ हुआ, उसमे सघशक्ति की प्रधानता (सघे शक्ति. कलौ युगे) स्वीकार की गई है सच तो यह है कि भारत का कलियुग का ५ हजार वर्षो का इतिहास सघशक्ति के उत्थान, पतन व पुनरुत्थान का इतिहास कहा जा सकता है प्रवल व समर्थ राज्यो के विकास के वाद गणजीवन की ओर अभिरुचि का एक कारण महाभारत के भीषण युद्ध मे भारत के प्रतिष्ठित राजपरिवारो का नष्ट हो जाना भी है इसके पहले भी राजतत्र के साथ पनपने वाले गणतत्रो के पास राज्य के पारिभाषिक सभी अधिकार थे, परन्तु महाभारत के वाद ये गणसस्थाएँ राज्य के स्थानापन्न होकर विकसित हुई और उनकी सुव्यवस्था व सामर्थ्य का प्रमाण इस वात से मिलता है कि महाभारतपूर्व भारत पर आक्रमण करने वाले कालयवन के वाद सिकन्दर के समय तक भारत पर आक्रमण करने का दुस्साहस कोई विदेशी आक्रान्ता न कर सका

---

१ तैत्तिरीयब्राह्मण २।७।११।१.
२. ऋग्वेद १।२३।८
३ ऋग्वेद १।१००।५
४ ऋग्वेद १०।७८।६.
५ कौटिलीय अर्थशास्त्र ११।१।१.






जैन और बौद्ध साहित्य में पूर्व के कुछ गणराज्यो के विषय में विस्तृत सूचना मिलती है. शेष सारे भारत में फैले हुए गणराज्यो और उनके कार्यो के प्रति भारतीय साहित्य मौन है. केवल कही-कही उनके नाम मात्र मिल जाते है महा-भाष्य में एक स्थान पर क्षुद्रको की महत्त्वपूर्ण विजय की ओर[1] महर्षि पतजलि ने सकेत किया है सभवत यह विजय क्षुद्रकमालवो की सयुक्त सेना ने सिकन्दर पर प्राप्त की हो जिसका उल्लेख कुछ इतिहासकारो ने[2] किया है

आरट्ट (वाहीक), क्षुद्रक, मालव, वाटधान, आभीर, अपरीती (अफरीदी), चर्मखण्डिक (समरकन्द), कठ, गान्धार, सिन्धु, सौवीर, ब्राह्मण-राज्य, मद्र तुषार, दर्द, पक्थ, हारहूण, शक, केकय, दशमानिक (दशनामी), काम्बोज, दशेरक, उलूत, तोमर, हसमार्ग, शिवि, वसाति, उरसा, अम्वष्ठ, यौधेय, मल्ल, शाक्य, लिच्छिवि आदि उत्तरी भारत के प्राचीन गणराज्यो के नाम हैं. वर्द्धमान महावीर और गौतम बुद्ध के समय इनमे से कई गणराज्य वडे ही प्रबल थे, परन्तु सामान्यतया यह काल गणराज्यो के ह्रास का था. जनपदो मे राजतन्त्र शक्तिमान् हो रहे थे मगध के राज्य से आतकित होकर उसके सीमावर्ती कई गणराज्यो ने मिल कर वज्जिसघ की स्थापना की थी जिसकी राजधानी वैशाली थी इस सघ की प्रवलता का प्रमाण यह है कि तत्कालीन राजा सघ के विभिन्न गणो मे विवाह करके उनकी मित्रता के आकाक्षी थे वत्सराज उदयन वैदेहिपुत्र कहा गया है विम्बसार की रानी वासवी भी विदेहकुमारी थी शाक्य शुद्धोदन की माया और महामाया नामक स्त्रियाँ लिच्छिवि थी. कोशलराज प्रसेनजित की पत्नी शाक्य कन्या थी

महात्मा बुद्ध ने लिच्छिवियो के चरित्रबल, पारस्परिक-सम्मानभाव, भ्रातृत्व, शालीनता, शक्तिमत्ता, धर्मपरिपालन, निर्विलासिता, निरलसता आदि गुणो की प्रभूत प्रशसा की है. परन्तु सारे गण ऐसे नही थे, उनमे गणसदस्यो में मिथ्या-भिमान, जातीयगुरुता की भावना, विलासिता, आलस्य, चरित्रहीनता आदि दुर्गुण समाविष्ट हो रहे थे यही कारण था कि एक एक करके समस्त गणराज्य समाप्त हो रहे थे

महात्मा बुद्ध व महावीर स्वामी ने जिन नैतिक आन्दोलनो का समारम्भ किया, वे मानवमाव के लिये थे अतएव उनके लिये गणजीवन ही उत्तम माना जा सकता था इन दोनो ही महापुरुषो ने एक ओर तो गणो के दुर्गुणो की निन्दा की है और दूसरी ओर अपने सघो की स्थापना करके आध्यात्मिक गणराज्य-परम्परा की नीव डाली है आध्यात्मिक-गणराज्य-परम्परा के प्रवर्तक के रूप मे बुद्ध व महावीर का योगदान मौलिक व युगान्तरकारी रहा है.

वर्द्धमान महावीर कश्यप गोत्रीय ज्ञातृक क्षत्रिय कुल के थे[3] उन्हे 'सर्वोच्चजिन महावीर ज्ञातपुत्र'[4] कहा गया है. ज्ञातृक वज्जिसघ के अष्टकुलो (अट्ठकुल) में प्रमुख गिने जाते थे इनकी माता लिच्छिवि वश की थी. महावीर को सघपरम्परा का ज्ञान अपने परिवार में ही हो गया होगा अत कठोर तपस्या के बाद अर्हत्त्व प्राप्त करके उन्होने अपने अनुयायियो को 'सघ' के रूप से प्रवोधित किया अतएव उनको बुद्ध के समय मे ही सघी, गणी, गणाचार्य आदि नामो से अभिहित किया जाता था.[5] कदाचित् प्रारम्भ मे ऐसे धर्मसघो का विरोध हुआ हो, धम्मपद से इस प्रकार की सूचना मिलती है.

अर्हतां शासनं यस्तु आर्याणां धर्मजीविनाम्,
प्रतिक्रोशति दुर्मेधाः दृष्टिं निश्रित्य पापिकाम् ।[6]

वैदिक समाज की नीव श्रम-यज्ञ पर आधारित है, जिसका रूप आश्रम-व्यवस्था के रूप मे प्रतिष्ठित हुआ श्रम को

१. एकाकिभिः क्षुद्रकैर्जितम् अष्टाध्यायी सूत्र ५।३।५२ पर पातञ्जलमहाभाष्य.
२. डा० राधाकुमुद मुकर्जी—हिन्दूसभ्यता पृ० २८४-८५.
३. प्राचीन पुस्तक माला २२।२६६.
४. सूत्रकृताग सूत्र १।६। १।२७
५. डा० राधाकुमुद मुकर्जी—हिन्दू सभ्यता २३२,
६. धम्मपद १२ ८



देवत्व, अमरत्व तथा इन्द्रपद का साधक माना गया है[1] जिसके बिना देवता भी सहायता नही करते.[2] उसकी गणना ऋत, सत्य तथा तप जैसी आध्यात्मिक विभूतियो और राज्य, धर्म और कर्म जैसी पार्थिव शक्तियो के साथ की गई है[3] आश्रमव्यवस्था का ह्रास होने पर श्रम को जीवन मे पुन प्रतिष्ठित करने के लिये श्रमणवाद का उदय हुआ

व्यावहारिक जीवन मे श्रम मानवतावाद के विकास मे सहायक होता है व्यावहारिक जीवन की इस श्रम-साधना को जैन ग्रन्थो मे तप का मार्ग[4] कहा गया है यही श्रमसाधना सूक्ष्म शरीर मे जागृत होकर मोक्ष साधिका वनती है.

भगवान् महावीर ने अपने सघ के चार वर्ग नियत किये थे—मुनि, आर्यिकागण, श्रावक तथा श्राविकाएँ, इनमे अन्तिम दो मे जैन शासन के अनुयायी ऐसे गृहस्थ स्त्री-पुरुष गिने जाते हैं जो केवल व्यावहारिक जीवन मे श्रम की प्रतिष्ठा के अनुरागी हो प्रथम दो, वे है जो वीतरागजीवन ग्रहण करके श्रम के व्यावहारिक रूप की प्रतिष्ठा 'शम' मे करें महावीर की तरह बुद्ध का ध्येय भी 'श्रम' की प्रतिष्ठा 'शम' मे करना ही रहा है

शमयिता हि पापानां श्रमण इति कथ्यते[5]

श्रम को शम से भिन्न मान कर जीवन-यापन करने वाले लोगो को महावीर ने 'मिथ्यादृष्टि अनार्यश्रमण'[6] कहा है.

श्रम के प्रति बुद्ध और महावीर का यह दृष्टिकोण तत्कालीन परिस्थितियो मे नितान्त दूरदर्शितापूर्ण था उस समय भारतवर्ष मे गणव्यवस्था का पतन हो रहा था और भारत के पडोस मे फारस मे विशाल साम्राज्य जन्म ले रहा था किसी भी क्षण साम्राज्यवादी दृष्टि सम्पूर्ण भारत को आत्मसात् कर सकती थी केन्द्रीय शक्ति के अभाव मे पारस्परिक फूट, विलासिता और आलस्य से जर्जरित गण अपनी रक्षा मे समर्थ नही हो सकते थे. अत समाज के कल्याण को अपनी दायाद्य मानने वाले ब्राह्मण बिखरी हुई शक्तियो को राजतन्त्र द्वारा केन्द्रित करने का प्रयत्न करने लगे और दूसरी ओर श्रमण (श्रमजीवी) श्रम को ही तन्त्र (व्यवस्था) का आधार मान कर गणभक्ति छोड न सके

ब्राह्मण 'सोमोऽस्माक ब्राह्मणाना राजा' का उद्‌घोष करते हुए स्वय स्वतन्त्र रहकर केवल 'विश्' (साधारण प्रजा) के लिये राजा की व्यवस्था देते थे अत नितान्त स्वतन्त्रता के अभिलाषी लोगो को इसमे ब्राह्मणो को स्वार्थसिद्धि दिखाई दी और इस प्रकार दोनो विचारधाराओ के अनुयायियो के बीच भी खाई बढती गई यह श्रमण-ब्राह्मणो का शाश्वत विरोध विदेशी[7] आक्रान्ताओ को निमन्त्रित कर सकता था सचमुच ही एक वार फारसी साम्राज्य की सीमा सिन्धु तक आ पहुँची थी

बुद्ध और महावीर दोनो ने ही इस विरोध को दूर करने का प्रयत्न किया उन्होने श्रमणत्व और ब्राह्मणत्व को अभिन्न माना है महावीर ने कहा है

'जो ऐसे दान्त, मोक्षयोग्य और कायाव्युत्सृष्ट (ममतात्यागी) है, उन्हे ब्राह्मण कह सकते है, श्रमण, भिक्षु या निर्ग्रन्थ भी कह सकते है[8]

इस प्रकार इन दोनो ही युगदर्शी महापुरुषो ने सामाजिक क्षेत्र मे श्रम के प्रति जिस नवीन दृष्टिकोण को उपस्थित किया वह राष्ट्ररक्षा की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण था

---

१ ऋग्वेद ३।६०।२, १।११०।३, ३।६०।३, १।११०।४

२ ऋग्वेद ४।३४।४.

३ अथर्ववेद ११।९।१७, ८।९।६

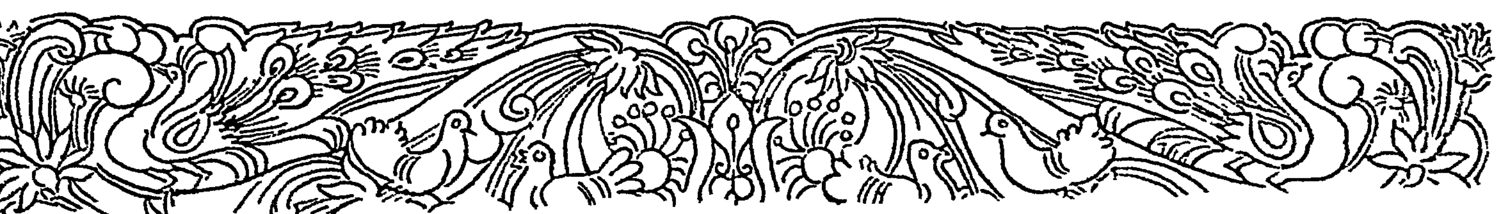
४. उत्तराध्ययनसूत्र—अध्याय १३

५. धम्मपद २०।१०

६ सूत्रकृतागसूत्र १।११।३६

७ येषा विरोध' शाश्वतिकः इत्यस्यावकाश श्रमण ब्राह्मणम् पातजल महाभाष्य २।४।९.

८ सूत्रकृतागसूत्र १।११।३६



वैदिक प्रतीक-यज्ञ इस समय निरर्थक क्रियाकलाप मात्र रह गए थे. उनकी सामाजिक उपयोगिता नगण्यप्राय थी. जिस प्रकार के यज्ञ की जीवनप्रतिष्ठा वाछित थी वह महावीर के शब्दो मे इस प्रकार है

'तप आग है, जीव ज्योतिस्थान (वेदी) है, योग स्रुवा है, शरीर सूखा गोवर है (कारिसग), कर्म ईधन है, सयम की प्रवृत्ति शान्तिपाठ है. ऐसा होम मैं करता हूँ. ऋपियो के लिये यही होम प्रशस्त है.[1]

इस नवीन जीवन-दर्शन और नवीन सामाजिक दृष्टिकोण को लेकर महावीर ने अपने अनुयायियो को सगठित किया. श्रम, चाहे वह किसी भी प्रकार का हो, समान महत्त्व रखता है इसलिए उसके आधार पर समाज में प्रचलित ऊँच-नीच की भावना को उन्होने त्याज्य ठहराया उन्होने कहा—"ण वि देहो वन्दिज्जइ, ण वि य कुलो ण वि य जाइ-सजुत्तो[2]—अर्थात् देह वन्दनीय नही होता, कुल और जाति भी वन्दनीय नही होते"

पारस्परिक साम्य पर आधारित महावीर का सघ गणपरम्परा पर आधारित था. बौद्ध पिटको मे बौद्धसघ की सभा व उसकी कार्यप्रणाली का स्वरूप देखा जा सकता है ठीक उसी तरह ज्ञप्ति, अनुश्रावण और धारणा द्वारा सम्मति-ग्रहण, छन्दग्रहण आदि का निर्वाह जैनसघ की सभाओ मे भी होता था बौद्धसघ मे स्थविर व स्थविराएँ ही भाग ले सकते थे, परन्तु जैन सघ मे मुनि व आर्यिकाओ के अतिरिक्त सद्गृहस्थदम्पती भी भाग ले सकते थे. अत. इसे अधिक उदार-भावना पर संगठित कहा जा सकता है बौद्धसघ के भारत से लुप्त हो जाने पर भी जैनसघ के बने रहने का कारण उसका सार्वजनिक ग्राह्य रूप ही है

इस सघ की स्थापना मे भगवान् महावीर के दो उद्देश्य थे पहला-समकालीन गणतत्रो के समक्ष श्रम की प्रतिष्ठा पर आधारित आध्यात्मिक गणराज्य का स्वरूप उपस्थित करना, तथा दूसरा श्रमण-ब्राह्मण-भेद को दूर कर, श्रम का पर्यवसान 'शम' मे करने की प्रेरणा देकर मानवतावादी दृष्टिकोण का प्रसार करना

सघ को जैन लोगो ने गुणो का क्रीडासदन,[3] परास्फूर्तिप्रदान करने वाला[4] तथा पापहारी[5] कहा है. इससे प्रकट है कि जैनसमाज मे भी सघभावना का महत्त्व बौद्धसमाज से कम नही था प्राचीन भारत के गणतत्रो का विकास क्षेत्रीय सुविधाओ पर आधारित था, परन्तु महावीर स्वामी द्वारा प्रचारित आध्यात्मिक गणराज्य में सम्पूर्ण भारत को ही नही. मानव मात्र को सगठित करने की सभावना विद्यमान थी अत अपने समय मे यह युगान्तरकारी प्रयत्न था.

समकालीन गणराज्यो ने महावीर की आध्यात्मिक गणराज्य सम्बन्धी विचारधारा को अपना लिया. लिच्छवियो का तो यह राजपोपित धर्म[6] वन गया लिच्छवियो मे सबसे अधिक प्रभावशाली चेटक महावीर के मामा थे. चेटक की पुत्री चेल्लना विम्वसार को, प्रभावती सिन्धु सौवीर के राजा उदायण को,[7] पद्मावती चम्पा के राजा दधिवाहन को, मृगावती कौशाम्वी के शतानीक को, शिवा अवन्ती के राजा चण्डप्रद्योत को व्याही गई थी इन सम्वन्धो से जैन-धर्म का व्यापक प्रचार हुआ महावीर के व्यापक प्रभाव की सूचना इस वात से मिलती है कि उनके निर्वाण के समय काशी और कौशल के १८ गणराज्यो, ९ मल्लको और ९ लिच्छवियो ने मिलकर प्रकाशोत्सव किया था[8] महावीर को मल्लराजा हस्तिपाल के प्रासाद मे निर्वाण प्राप्त हुआ इससे मल्लो पर भी उनका प्रभाव लक्षित होता है

---

१ तवो जोई जीवो जोइठाण, जोगा सुया सरीर कारिसग।
कम्मेहा सजमजोग सन्ती, होम हुणामि इसिण पसत्थ । उत्तराध्ययन सूत्र १२।४३.

२. दर्शनपाहुड २७

३. सोमप्रभाचार्य विरचित सूक्तिमुक्तावली, श्लोकसख्या २३.

४. उपर्युक्त श्लोक २२

५ उपर्युक्त श्लोक २३

६ हिन्दूसभ्यता डा० राधाकुमुद मुकर्जी-हिन्दी अनुवाद पृ० २२८

७ भगवती सूत्र ४९.

८ डा० राधाकुमुद मुकर्जी—हिन्दूसभ्यता पृ० २२९

महावीर ने अपने जीवनकाल मे ही जैन-शासन को अधिक लोक प्रिय बनाने के लिए अपने प्रमुख ११ शिष्यो को गणधर नियुक्त किया ये जैन-शासन के सर्वोच्च व्याख्याता थे इन्होने ९ गणो को जैनशासन का उपदेश दिया

इन ११ गणधरो तथा महावीर स्वामी की वाणी का सकलन सिद्धान्त कहलाता है महावीर के निर्वाण के उपरान्त जैनसघ के प्रमुख सुधर्मा बने इनके वाद जम्बू स्वामी गणप्रमुख बने ३ गणप्रमुख और हुए लगभग १५० वर्षो के सुदीर्घ काल मे जैन सघ मे कोई उल्लेखनीय घटना नही हुई अन्तिम नन्दराजा के समय जैनसघ के दो प्रमुख सम्भूतिविजय और भद्रबाहु हुए इन दोनो ने जैन सिद्धान्तो का सकलन किया

जैनसघ की प्रारम्भिक सफलता का कारण समकालीन गणराज्यो मे पनपने वाली गणभावना तो थी ही, साथ ही जैन आचार्यो का उदार व उदात्त व्यक्तित्व भी था नैतिकता पर आश्रित गणव्यवस्था अधिक से अधिकतर रुचिकर होती गई थी. कालान्तर मे जैनसघ का कार्यक्षेत्र तो बढता गया परन्तु सेवाभावी, उदात्तव्यक्तित्व वाले आचार्यो की सख्या कम होती गई सघभेद के कारण विभिन्न सम्प्रदायो मे स्पर्द्धा बढनी गई और प्रचारकार्य कम हो गया गणराज्य समाप्त हो गए मौर्य व गुप्त शासको के युग मे राजतन्त्र की सफलता देख कर गणो पर से लोकविश्वास उठता गया जैनसघ के लोगो मे उद्देश्य गौण हो गया जिस मानवतावादी दृष्टिकोण को लेकर आध्यात्मिकगण की स्थापना महावीर ने की थी, उसी दृष्टिकोण से परिवर्तित रूप मे विकसित होने वाले ब्राह्मणधर्म से सहयोग करने को जैनसघ तैयार न था यद्यपि हेमचन्द्र जैसे उदार विचारक अर्हत्, शिव, बुद्ध, ब्रह्म व विष्णु मे अभेद दर्शन करते थे [1] जिनप्रभसूरि जैसे विद्वान् 'गायत्रीरहस्य' जैसे भाष्य लिखते थे, आदिजिन की पूजा के लिए वैदिकमत्र[2] ग्रहण किये जा रहे थे सरस्वती की श्रुतदेवी के नाम से उपासना की जा रही थी, परन्तु पारस्परिक स्पर्द्धा कटुता मे बदलती जा रही थी पहले श्रावक के रूप मे कोई भी जैनमन्दिर मे जा सकता था, परन्तु अब ब्राह्मण-धर्मावलम्बी 'न गच्छेत् जैनमन्दिरम्' का नारा बुलन्द करने लगे इन सब बातो को जैनसघ की अवनति के कारणो के रूप मे उपस्थित किया जा सकता हे

आधुनिक काल मे भी जैनसघ विभाजित है अब जैन विद्वान् अपने आपको अहिन्दू कहने मे गर्व अनुभव करते हैं पिछली जनगणना मे जैनो को हिन्दुओ से पृथक् लिखा गया है महावीर के तपोमार्ग तथा आर्यमार्ग[3] को किन्ही अनार्यपरम्पराओ का अवशेष सिद्ध किया जा रहा है महावीर आर्यदर्शन से दूर रहने वाले अनार्यो[4] की निन्दा करते थे, श्रमण, ब्राह्मण, भिक्षु या निर्ग्रन्थ मे कोई भेद नही मानते थे [5] उन्होने अपने मार्ग को सत्पुरुष आर्यो द्वारा पूर्व व्याख्यात कहा है [6] किन्तु विद्वान् पारस्परिक कटुता को जन्म देने वाली भेदकारी नीति से कब परिचित होगे कहा नही जा सकता

महावीर द्वारा प्रचारित परम्परा को 'पनपी और अवगति को प्राप्त हुई' इतना ही महत्त्व नही है उससे विगत दो सहस्राब्दियो के भारत के सबसे बडे लोकनायक आचार्य शकर ने प्रेरणा लेकर, सारे भारत की एक इकाई के रूप मे कल्पना करके आध्यात्मिक गणराज्य की भावना को और आगे बढाया उन्होने भारत के चारो कोनो मे चार मठो की स्थापना करके धार्मिक दृष्टि से भारत का सगठन किया. थोथे मतो को उखाड फेका. आचार्य शकर के इन प्रयत्नो का ही फल था कि एक सहस्राब्द के विदेशी शासन मे भी भारत ने सास्कृतिक दृष्टि से किसी न किसी रूप मे अपने गौरव को सुरक्षित बनाए रक्खा दीवारो मे चुन जाने वाले, शिखा के पहले शिर कटा देने वाले वीरो को स्फूर्ति प्रदान करने का श्रेय शकराचार्य की धार्मिक गणपरम्परा को है, और इसीलिए इसका श्रेय अप्रत्यक्ष रूप से महावीर स्वामी को भी प्राप्त है. स्वतन्त्र भारतीय गणराज्य को भी महावीर की आध्यात्मिक गणपरम्परा से प्रेरणा प्राप्त होती रहेगी.

---

१ य शैवा समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो, बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटव कर्तेति नैयायिका ।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरता कर्मेति मीमासका , सोऽय वो विदधातु वाञ्छितफल त्रैलोक्यनाथो हरि. ॥

२. ओ चत्वार शृगा त्रयोऽस्यपादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तास्त्रिधा बद्धो वृषभो रौति महादेवो मर्त्य आवेशय स्वाहा—Jain Konography मे पृ० ६६ पर प्रतिष्ठासारसग्रह से उद्धृत

३. सत्रकृतागसूत्र १।३।४ ४ उपर्युक्त २।५।१८ ५ उपर्युक्त १।१६।१ ६. उपर्युक्त २।५।१३.



प्रो० राजाराम जैन
एम० ए०, एफ० एन० जी० एस०, शास्त्राचार्य, साहित्यरत्न

रइधू-साहित्य की प्रशस्तियों में ऐतिहासिक व सांस्कृतिक सामग्री

भारतीय वाङ्मय के उन्नयन मे जिन वरेण्य साधको ने अनवरत श्रम एव अथक साधना करके अपना उल्लेख्य योगदान किया हे, उनमे महाकवि रइधू[1] अपना प्रमुख स्थान रखते है उन्होने अपने जीवनकाल के सीमित समय मे २३ से भी अधिक विशाल अपभ्रश ग्रथो की रचना करके साहित्य-जगत् को आश्चर्यचकित किया है. रचनाओ का विषय-वैविध्य सस्कृत-प्राकृत, अपभ्रश एव हिन्दी आदि भाषाओ पर असाधारण पाण्डित्य, इतिहास एव सस्कृति का तलस्पर्शी ज्ञान, समाज एव राष्ट्र को साहित्य, सगीत एव कला के प्रति जागरूक कराने की क्षमता जैसी उक्त कवि मे दिखाई पडती है वैसी अन्यत्र शायद ही कही मिलेगी

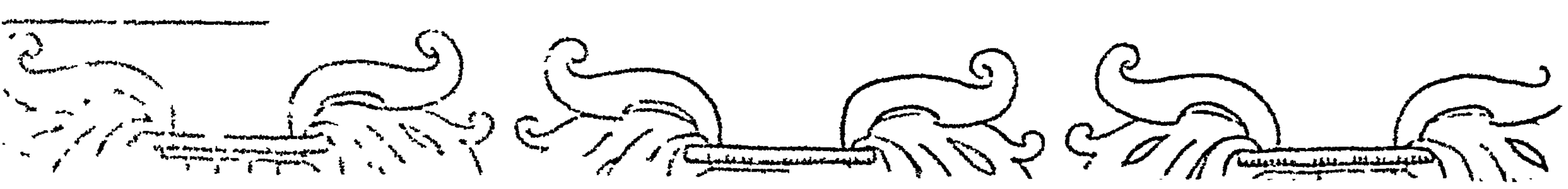
कवि की कवित्वशक्ति उसके वर्ण्य-विषय मे तो स्पष्ट दिखती ही है किन्तु समाज एव राजन्यवर्ग के लोगो को भी उसने साहित्य एव कलाप्रेमी बना दिया था, यह कवि रइधू की अद्वितीय देन है. ऐसी लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि लक्ष्मी एव सरस्वती का सदा से वैरभाव चला आया है कई जगह यह उक्ति सत्य भी सिद्ध हुई लेकिन कवि ने उनका जैसा समन्वय किया-कराया, वही उसकी विशिष्ट एव अद्भुत मौलिकता है, उदाहरणार्थ कवि की प्रशस्तियो में से २-३ अत्यन्त मार्मिक प्रसग उपस्थित किये जाते है, जिनसे कवि-प्रतिभा का चमत्कार स्पष्ट देखने को मिल जाता है.

महाकवि रइधू की साधना-भूमि गोपाचल (ग्वालियर) मे सघवी कमलसिह नामक एक नगरसेठ रहते थे जो अत्यन्त उदारवृत्ति से जीवन-यापन करते थे वे महाकवि के मित्र एव परमभक्त भी थे राज्यपदाधिकारी होने से वे राज्य के कार्यो मे ही व्यस्त रहते थे. एक दिन वे उससे घबराकर महाकवि से भेंट करते है तथा निवेदन करते है.

> सयणासण तवेरम तुरग, धयछत्तचमर भामिणि रहंग ।
> कचणधणकणघरदविणकोस, जाणइ जंपाइ जणिय तोस ।
> तह पुण णयरायरदेसगाम, बंधव णंदण णयणाहिराम ।
> सारयरुअणुपुणुवच्छुभाउ, जं जं दीसइ णाणा सहाउ ।
> तं त जि एछु पाविग्रइ सव्छु, लब्भइ ण कव्व-माणिक्कु भव्वु ।
> एच्छु जि बहु बुह णिवमहिउ किट्ठ, णउ सुकउ कोवि दीसइ मणिट्ठ ।
> भो णिसुणि वियक्खण कहमि तुज्झु, रक्खमि ण किंपि णिय चित्त गुज्झु । —सम्मत्त० १।७।१-७.

> तुहु पुणु कव्वरयण रयणायरु, बालमित्तु अम्हहं णेहाउरु।
> तुहु महु पच्चउ पुण्ण सहायउ, महु मणिच्छ पूरण अणुरायउ । —सम्मत्त० १।१४।८-९.

1. महाकवि रइधू के जीवनवृत्त एव साहित्य-परिचय के लिए 'आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ'में प्रकाशित मेरा निबन्ध देखिए—पृष्ठ १०१-११५.



अर्थात् "हे कविवर, शयनासन, हाथी, घोडे, ध्वजा, छत्र, चमर, सुन्दर रानियाँ, रथ, सेना, सोना, धन-धान्य, भवन, सम्पत्ति, कोष, नगर, देश, ग्राम, बन्धु-बान्धव, सुन्दर सन्तान, पुत्र, भाई आदि सभी मुझे उपलब्ध हैं. सौभाग्य से किसी भी प्रकार की भौतिक सामग्री की मुझे कमी नहीं है किन्तु इतना सब होने पर भी मुझे एक चीज का अभाव सदैव खटकता रहता है और वह यह कि मेरे पास काव्यरूपी एक भी सुन्दर मणि नही है इसके बिना मेरा सारा ऐश्वर्य फीका-फीका लगता है हे काव्यरूपी रत्नो के रत्नाकर, तुम तो मेरे स्नेही बालमित्र हो, तुम्ही हमारे सच्चे पुण्य-सहायक हो. मेरे मन की इच्छा पूर्ण करनेवाले हो इस नगर मे बहुत से विद्वज्जन रहते हैं, किन्तु मुझे आप जैसा कोई भी अन्य सुकवि नही दिखता अत हे कविश्रेष्ठ, मैं अपने हृदय की गाँठ खोलकर सच-सच अपने हृदय की बात आपसे कहता हूँ कि आप एक काव्य की रचना करके मुझ पर अपनी महती कृपा कीजिये

महाकवि रइधू ने कमलसिंह सघवी की उक्त अत्यन्त विनम्र प्रार्थना स्वीकृत कर उत्तर मे कहा

सुसहाउ भव्व तुहु दिंति थिरु, तुहु पुणु कमलायरु होहि थिरु।
लइकरि चिंतियउ पइं, भालहिं पुराहु शियय मइ।
मा चिंत करहि सुपसण मणा, भवि भवि लब्भहिं धण कणयणा।
दुल्लहु जिणधम्मु जि होइ परा, तं तुहु आयरहिं जि विणय परा।—सम्मत्त० १, ८, १३-१६

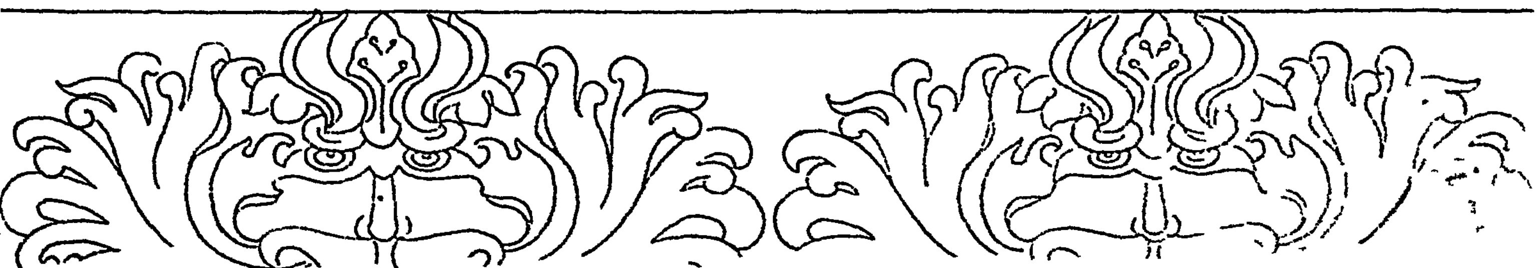
अर्थात् 'हे भाई कमलसिंह, तुम अपनी बुद्धि को स्थिर करो तुमने जो विचार प्रकट किये हैं वे तुम्हारे ही अनुरूप है अब चिंता करने की आवश्यकता नही, प्रसन्नचित्त बनो (मै इच्छानुसार तुम्हे काव्यरचना कर दूँगा) जन्म-जन्मान्तर मे इसी प्रकार स्वर्ण धन-धान्य एव रत्नो से युक्त बने रहो तथा दुर्लभता से प्राप्त इस धर्म एव मानव-जीवन मे हितकारी उच्च कार्यो को सदा करते रहो।'

जब कवि की इस प्रकार की स्वीकारोक्ति सुनी तो कमलसिंह आनन्दविभोर हो उठे उन्होने अपने जीवन को सफल मान लिया तथा तुरन्त ही वे यह समाचार राजा डूँगरसिंह को देने के लिये राज-दरबार मे पहुँचते है तथा शिष्टाचार प्रदर्शन के बाद निवेदन करते है

"हे राजन्, मैने कुछ धर्मकार्य करने का विचार किया है, किन्तु उसे कर नही पा रहा हू, अत प्रतिदिन मैं यही सोचता रहता हूँ कि अब वह आपकी कृपापूर्ण सहायता एव आदेश से सम्पूर्ण करूँगा आपका यश एव कीर्ति अखण्ड एव अनन्त है मैं तो इस पृथ्वी पर एक दरिद्र एव असमर्थ हूँ, इस मनुष्य-पर्याय मे मैं क्या कर सकता[1] हूँ।" कमलसिंह का यह निवेदन सुनकर युवराज कीर्तिसिंह[2] अत्यन्त पुलकित हो उठे राजा डूँगरसिंह ने भी अत्यन्त प्रसन्नता के साथ कहा

वियसिवि जंपिउ डूंगरराएं, कमलसीह वणिवर संवाएं।
पुणु कज्जु जं तुव मणि रुच्चइं, त विरयहि साहु समुच्चइ।
जे पुणु अएण केवि सुसहायण, करहु करहु ते धम्म महायण।
किंपि सक मा किज्जहु चित्तहें, सतुहृइह धम्मणिमित्तहि।
जहि सोरट्ठि वीसल णिवरज्जहिं, धम्मु पविट्ठउ चिरु णिरवज्जहिं।
वच्छ तेयपालक्खवणिंदहिं, पवर तिच्छ णिम्मिय गयदतहिं।
जिह पेरोजसाहि सुपसायं, जोइणिपुरि णिवसत अमाय।
सारग साहु णाम विक्खाय, पविहिय जत्त धम्म अणुराएं।
तिह तुहुं विरयहि एच्छु गुणायरु, लइ लइ पउरु दव्वु धम्मायरु।
न सु जेत्तडउ विरिअछइ, सो सयलु जिवेक्कउ कयणि छइ।

१. दे० सम्मत्त० १।११।१-५.
२ राजा डूगरसिंह का पुत्र, कई स्थानों पर इसका नाम 'करनसिंह' भी उपलब्ध होता है.



अगाइ हउ असेसु पूरेसमि, ज ज मग्गहु त त देसमि ।
पुणु पुणु एम तेण तहिं भणिउ, पुणु तवोलु देवि सम्माणिउ ।
पुणु सुरिताण सीह णिग्रभिच्चहु, सामिय धम्म चिंति मणिच्चहु ।
तहु आएसु णिवेण पुणु दिण्णउ, कज्जहिं धम्म सहाउ अछिण्णउ ।
कमलसीहु ज तुम्ह भासइ, त तहु पविहिज्जहि सुसमासइ ।
मणिवि पमाउ तेण पडिवण्णउ, अज्जु सामि किंकरु हउ धण्णउ ।—सम्मत्त० १।११।६-२०.

अर्थात् 'हे सज्जनोत्तम, जो भी पुण्यकार्य तुम्हे रुचिकर लगे उसे अवश्य ही पूरा करो । हे महाजन, यदि धर्म-सहायक और भी कोई कार्य हो तो उन्हे भी पूरा करो. अपने मन मे किसी भी प्रकार की शका मत करो धर्म के निमित्त आप सतुष्ट रहे जिस प्रकार राजा वीसलदेव के राज्य में सौराष्ट्र (सोरट्ठि) मे धर्म-साधना निर्विघ्न रूप से प्रतिष्ठित थी, वस्तुपाल-तेजपाल नामक व्यापारियो ने हाथीदाँतो (?) से प्रवर तीर्थराज का निर्माण कराया था जिस प्रकार पेरोजसाहि (फीरोजशाह) की महान् कृपा से योगिनीपुर (दिल्ली) मे निवास करते हुए सारग ने अत्यन्त अनुराग पूर्वक धर्मयात्रा करके ख्याति प्राप्त की थी उसी प्रकार हे गुणाकर, धर्मकार्यो के लिये मुझसे, पर्याप्त द्रव्य ले लो जो कार्य करना है उसे निश्चय ही पूरा कर लो. यदि द्रव्य मे कुछ कमी आ जाय तो मैं उसे पूर्ण कर दूँगा जो जो माँगोगे वही-वही (मुँह माँगा) दूँगा राजा ने वार-वार आश्वासन देते हुए कमलसिंह को पान का बीडा देकर सम्मानित किया राजा का आश्वासन एव सम्मान प्राप्त कर कमलसिंह अत्यन्त प्रसन्न हुए तथा राजा से इतना ही कह सके कि हे स्वामिन् आज आपका यह दास धन्य हो गया.'

महाकवि ने कमलसिंह की वात स्वीकार तो करली किन्तु फिरभी उसके मन मे शका होती है कि सम्भवत दुर्जन उसके कार्यो मे विघ्न वाधा उपस्थित करे, तव ? उस स्थिति मे कमलसिंह का उत्साह प्रेरणा एव साहस-भरा आश्वासन देखिये वे कहते है

संवाहिचेण तातहु पउत्तु, भोकइ पहाण णिसुणहि णिरुत्तु ।
दुज्जण सज्जण सलहाव होंति, अवगुण गुणाइ ते सइं जिलिंति ।
जिह उण्हसीय रवि सीस हणम्मि, णिय पयइ ण मेल्लहि पुणु कहम्मि ।
चदहु उज्जोय तसइंसाणु, तांकि सो छुंडइ णियय ठाणु ।
जइ पुणु विउलूवहु दुक्खहेउ, ता रवि सुएवि किं णियय तेउ ।
जइ तक्करु साहुहु णउ सहेइ, ता किं सोजगतउ रहेइ ।
जूवामएण किं कोचिवच्छु, छुंडइ भणु तणु इच्छु जिपसच्छु ।—सम्मत्त० १।१६।१-७

अर्थात् हे कविश्रेष्ठ, मुनिये, दुर्जन-सज्जन तो अपने-अपने स्वभाव से होते हैं । वे अवगुणो एव सद्गुणो के वल पर ही जीवित रहते हैं रवि एव शशि एक ही आकाश मे अपनी उष्णता एव शीतलता का क्या परित्याग कर देते है ? धूलि के कणो से आच्छादित हो जाने पर भी क्या चन्द्रमा अपने प्रकाश को देना छोड देता है राहु के द्वारा ग्रस्त हो जाने पर भी क्या सूर्य अपनी तेजस्विता छोड देता है यदि चोर साहूकार की उपस्थिति न चाहे तो क्या वह ससार मे रहना ही छोड दे यदि जुआरी व्यक्ति किसी वस्तु को दाँव पर लगा दे तो क्या उससे वह वस्तु अप्रशस्त हो जाती है तथा उससे दूसरा कोई अन्य सज्जन व्यक्ति उसकी चाह करना भी छोड दे अत. हे कविवर, आप निश्चिन्त मन होकर अपनी काव्य रचना करे.

महाकवि के एक दूसरे सहयोगी भक्त थे हरिसिंह साहू. उनकी तीव्र इच्छा थी कि उनका नाम चन्द्रविमान मे लिखा जाय अत उन्होंने कवि से सविनय निवेदन किया कि :

मइ सागुराव तहु मित्त जेण, विण्णत्ति मज्झु अवहारि तेज ।
मइ णामु लिहहि चदहो विमाणु, इय वयणु सुइ णिय चित्ति ठाणु ।—वलभद्र० १।४।११-१२



अर्थात् 'हे मित्र, मुझ पर अनुरागी बनकर मेरी विनती सुन लीजिये एव मेरे द्वारा इच्छित बलभद्र पुराण नामक रचना लिखकर मेरा नाम चन्द्रविमान मे अंकित करा दीजिये '

हरिसिंह की उक्त प्रार्थना सुनकर कवि ने कई कारणो से अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए तथा रामचरित की विशालता का अनुभव करते हुए उत्तर दिया ·

घडएण भरइ को उवहि तोउ, को फणि सिरमणि पयडइ त्रिणोउ।
पचाणण मुहि को खिवइ हत्थु, विणु सुत्तें महि को रयइवत्थु।
विणु बुद्धिएतहॅ कब्बह पसारु, विरएप्पिणु गच्छमि केम पारु। —बलभद्र० १।४।१–४

अर्थात् 'हे भाई, रामचरित (अपर नाम बलभद्र-चरित) का लिखना सरल कार्य नही, उसके लिखने के लिये महान् साधना, क्षमता एव शक्ति की आवश्यकता है आप ही बताइये भला घडे मे समस्त समुद्रजल को कौन भर सकता है ? साँप के सिर से मणि को कौन ले सकता है ? प्रज्वालित पञ्चाग्नि मे कौन अपना हाथ डाल सकता है ? बिना धागे से रत्नो की माला को कौन गूँथ सकता है ? बिना बुद्धि के इस विशाल काव्य की रचना करने मे मैं कैसे पार पा सकूँगा ?

उक्त प्रकार से उत्तर देकर कवि ने साहू की बात को सम्भवत टाल देना चाहा, किन्तु साहू साहब बडे ही चतुर थे उन्होने ऐसे अवसर पर वणिकबुद्धि से कार्य किया उन्होने कवि को अपनी पूर्व मैत्री का स्मरण दिलाते हुए कहा कि —

'कविवर, आप तो निर्दोप काव्य-रचना मे धुरन्धर है शास्त्रार्थ आदि मे निपुण है आपके श्रीमुख मे तो सरस्वती का वास है आप काव्य-प्रणयन मे पूर्ण समर्थ है अत इस (रामचरित) ग्रन्थ की रचना अवश्य ही करने की कृपा कीजिये '[1]

बस, कवि की सहृदय भावुकता को उकसाने के लिए इतना कथन मात्र पर्याप्त था अन्तत वह 'रामचरित' लिखने के लिये तैयार हो जाता है

अपनी विद्वत्ता एव सत्कवित्व के कारण कवि का समाज मे बहुत ही उच्च स्थान था सदाचरण, कार्यनिष्ठा, परदुख-कातरता, एव परोपकारवृत्ति के कारण महाकवि रइधू ने क्या राजा और क्या रक, सभी के हृदयो पर एकच्छत्र शासन किया था यही कारण है कि यदि कवि क्वचित् कदाचित् किसी को कोई आदेश देता था तो उसे लोग अपने गौरव की बात मानते थे तथा उसे पूर्ण करने मे लोग अपना अहोभाग्य मानते थे एक समय की घटना है कि महाकवि को 'पासणाह चरिउ' की रचना करने की इच्छा जागृत हुई तथा उसके लिए उन्हे आर्थिक सहयोग की आवश्यकता पड़ी तब उन्होने साहू कुल शिरोमणि श्रीखेमसिह को आदेश दिया कि 'तुम इस ग्रन्थ' (पासणाह चरिउ) 'रचना का भार वहन करो '[2] साहू खेमसिंह ने जब यह सुना तो वे गद्‌गद् हो उठे उनके शरीर मे रोमाच हो आया तथा इस प्रकार के कवि के आदेश से उन्होने अपने को गौरवान्वित समझकर उनका आभार माना[3] उन्होने अत्यन्त प्रसन्नता पूर्वक कवि से कहा

णियगेहि उवण्णउ कप्परुक्खु, तहु फलु को णउ वंछइ ससुक्खु।
पुण्णेण पत्तु जइ कामधेणु, को णिस्सायइ पुणु विणयरेणु।
तह पइ पुणु महु किउ सइं पसाउ, महु जम्मु सयलु भो अज्जजाउ।
तुहुं धण्णु जासु एरिसउ चित्तु, कइयण गुणु दुल्लहु जेण पत्तु। —पासणाह० १।८।१–४

१. देखिये, बलभद्र० १।५।५–६.
२ देखिये, पासणाह० १।७।१०.
३. देखिये, पासणाह० १।७।१३–१४.

अर्थात् "हे कविवर, अपने ही घर में उत्पन्न हुए कल्पवृक्ष के सुखद फल को कौन नही खाना चाहेगा ? पुण्य से प्राप्त हुई कामधेनु को कौन शीघ्र ही नही दुहना चाहेगा ? आपने काव्य-रचना की स्वत· ही स्वीकृति देकर मुझ पर जो महती कृपा की है उससे मेरा समस्त जीवन ही सफल हो गया है आप धन्य हैं जिन्हे कविजनो को दुर्लभ ऐसा सुन्दर एव सरस हृदय प्राप्त हुआ है."

इतना ही नही, जव 'पासणाह चरिउ' की परिसमाप्ति हुई तथा कवि ने साहू खेमसिंह को उक्त रचना समर्पित की तो साहू साहव ने उसे अत्यन्त श्रद्धा-भक्ति के साथ ग्रहण किया तथा अत्यन्त हर्ष विभोर होकर उन्होंने कवि को द्वीप द्वीपान्तरो से मँगवाये हुए वस्त्राभूपणादि उपहार स्वरूप भेंट किये जिसमे कवि को भी वडी ही आत्म सन्तुष्टि हुई[1]

महाकवि रइधू के त्याग, तपस्या एव साहित्य-साधना से उनके समकालीन ग्वालियर नरेश डूँगरसिंह एव उनके पुत्र राजा कीर्त्तिसिंह भी वहुत ही अधिक प्रभावित थे. डूगरसिंह ने तो कवि को राजमहल मे वैठकर ही साहित्य-साधना करने का निवेदन किया था जिसे कवि ने स्वय ही इस प्रकार व्यक्त किया है

गोवग्गिरि दुग्गमि णिवसंतउ बहुसुहेण तहिं ।
पणसंतउ गुरुपाय पायडंतु जिणसुत्तु महिं । —सम्मइ० १।३।६–१०

रइधू-साहित्य का पारायण करने से विदित होता है कि वे आदिनाथ प्रभु के परम भक्त थे, किन्तु उनके मन मे आदिनाथ प्रभु के प्रति जिस प्रकार की कल्पना थी, तदनुरूप कोई भी प्रतिविम्व उनके आसपास न था. तव उनके मन में यह इच्छा जागृत हुई कि ग्वालियर-दुर्ग मे ही उसकी एक विशाल मूर्त्ति का निर्माण हो. यह वात राजा डूगरसिंह तथा वहाँ के अन्य लोगो के कानो मे पहुँची ही थी कि वह कार्य ही प्रारम्भ हो गया फिर वह मूर्त्ति मामूली नही वनी महाराज डूगरसिंह ने दूर-दूर से चतुर कलाकारो को बुलाकर ५७ फीट ऊँची ऐसी भव्य आदिनाथ की प्रतिमा का निर्माण करा दिया जो दक्षिण भारत के गोम्मटेश्वर का स्मरण कराती है उक्त मूर्त्ति के वाद ही मूर्त्तिकला का कार्य समाप्त नहीं हो गया तत्पश्चात् ही योजना का पुनर्विस्तार हुआ तथा राजा डूँगरसिंह के जीवनपर्यन्त तथा उनके वाद उनके पुत्र राजा कीर्त्तिसिंह के राज्य-काल तक कुल लगातार तैंतीस वर्षो तक (वि० स० १४९७-१५३० तक) यह कार्य चलता रहा जिसमे अगणित जैन-मूर्त्तियो का निर्माण हुआ. कवि ने लिखा है .

अगणिय अणपडिम को लक्खइ, सुरगुरु ताह गणण जइ अक्खइ । —सम्मत्त० १।१३।५

उक्त प्रतिमाओ मे से आदिनाथ की मूर्त्ति की प्रतिष्ठा स्वय कवि रइधू ने ही की थी इसी से यह भी विदित होता है कि वे प्रतिष्ठाचार्य भी थे. मूर्त्ति लेख निम्न प्रकार है—

'सवत् १४९७ वर्षे वैशाख ७ शुक्ले पुनर्वसुनक्षत्रे श्री गोपाचल दुर्गे महाराजाधिराज राजा श्री डुग (रसिंह) राज्य सवर्त्तमाने श्री काष्ठासघे माथुरगच्छे पुष्करगणे भ० गुणकीर्त्ति देवा· तत्पट्टे भ० यश कीर्त्तिदेवा प्रतिष्ठाचार्य पण्डित रइधू तेषा आम्नाये अग्रोतवशे गोयल गोत्रे साधु[2]

राजा डूगरसिंह एव कीर्त्तिसिंह के राज्यकाल मे निर्मित उक्त मूर्त्तियो ने इतिहास एव कला के क्षेत्र में जैसा अद्भुत कार्य किया, वह अनूठा है मध्यभारत का १४-१५ वी सदी का जीता-जागता इतिहास इन मूर्त्तियो की आकृतियो मे स्पष्ट झाँकता प्रतीत होता है. तत्कालीन मालव-जनपद की राजनैतिक आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक एव सास्कृतिक इतिहास की स्वर्णमयी रेखाएँ इन मूर्तिलेखो मे विद्यमान है. अपनी विशिष्ट कला के कारण सदियो मे इन मूर्त्तियो ने देशी-विदेशी सभी कलाकारो एवं पर्यटको को आकर्षित किया है सम्राट वावर, फादर माण्ट्सेराट, जनरल-कनिंघम, जेम्स फर्ग्युसन, केमरेन, एवं श्री एम० वी० गर्दे, डा० रायचौधरी, राजेन्द्रलाल मित्रा, हरिहरनिवास द्विवेदी प्रभृति

---

1. देखिये, पासणाह० १।१०।१-८.

2. देखिये—अनेकान्त [illegible] ५५० पृष्ठ सख्या ३१८.

दर्शको एव इतिहास-मर्मज्ञो ने मुक्तकण्ठ से उक्त-मूर्त्तिकला की प्रशसा की है डा० रायचौधरी ने लिखा है [१]

"He (Dungarsen) was a great patron of the Jaina faith and held the Jainas in high esteem During his eventful reign the work of carving Jaina images on the rock of the fort of Gwalior was taken in hand, it was brought to completion during the reign of his successor Raja Karan Singh [२] All around the base of the fort the magnificent statues of the Jaina Pontiff of antiquity gaze from their tall niches like mighty guardians of the great fort and its surrounding landscape Babar was much annoyed by these Rock-sculptures as to issue orders for their destruction in 1557 A D

मुगलसम्राट् बाबर ने अपने 'बाबरनामा' मे इन्ही मूर्त्तियो के विषय मे लिखा था जिसका जनरल कनिंघम ने अग्रेजी अनुवाद[3] इस प्रकार किया है

They have hewn the solid rock of this Adiva and sculptured out of it idols of larger and smaller size On the south part of it is a large size which may be about 40ft in height These figures are perfectly naked, without even a rag to cover the parts of generation Adiva is far from being a mean place, on the contrary, it is extremely pleasent The greatest fault consists in the idol figures all about it "I directed these idols to be destroyed"

इसी प्रकार भारत सरकार के रेलवे विभाग ने ग्वालियर सम्बन्धी अपनी एक पुस्तिका[४] मे 'Rock-Giants" के नाम से उक्त मूर्त्तियो का परिचय निम्न प्रकार दिया है

Round the base of Gwalior Fort are several enormous figures of the Jaina Tirthamkaras or pontiffs which Vie in dignity with the colossal effigies of that greatest of all self advertisers Remses II who plastered Egypt with records of himself and his achievements These Jaina statues were excavated from 1440-1473 A D

इस प्रकार कविकुल दिवाकर रइधू को प्रेरणा से ग्वालियर के "दो नरेशो के राज्य मे जैन-साहित्य, सस्कृति एवं कला को प्रश्रय मिला और उनके द्वारा मूर्त्तिकला का जो विकास हुआ उसकी ये भावमयी प्रतिमाएँ प्रतीक है ३३ वर्षो के थोडे समय मे ही कुरूप एव बेडौल चट्टाने महानता, शान्ति एव तपस्या की भाव-व्यजना से मुखरित हो उठी अब उक्त प्रमाणो से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि महाकवि रइधू ने सचमुच ही अपने महान् व्यक्तित्व एव कृतित्व से मालव जनपद मे एक नवीन सास्कृतिक चेतना जागृत की तथा लक्ष्मी एव सरस्वती के चिरवैर को दूरकर उनमे एक चमत्कार-पूर्ण समन्वय स्थापित किया. अत: समन्वयवादी कवि के रूप मे रइधू भारतीय साहित्य मे सदा ही स्मरणीय रहेंगे

रइधू-साहित्य मे उपलब्ध प्रशस्तियो मे अन्य जो विविध सूचनाएँ मिलती हैं वे भी कई दृष्टियो से अत्यन्त मूल्यवान् है. सामाजिक एव आर्थिक परिस्थितियो का सुन्दर वर्णन, समकालीन राजाओ का परिचय, नगर-वर्णन आदि अपने विशेष ऐतिहासिक महत्त्व रखते हैं

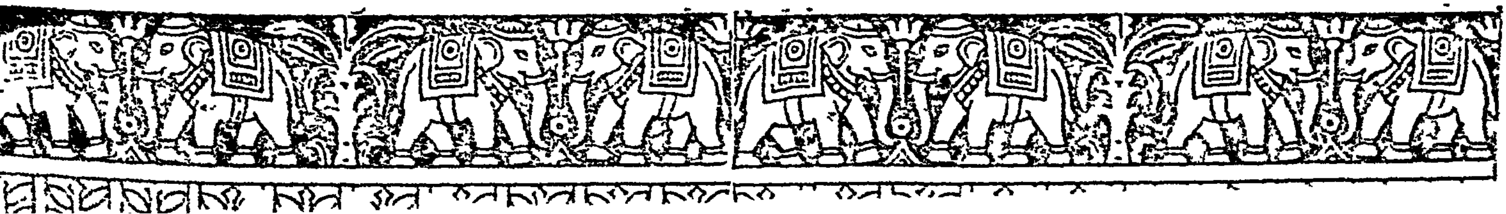
---

१ देखिये—The Romance of the Fort of Gwalior 1931 Page 19-20

२ समग्र रइधू-साहित्य में "कीर्त्तिसिंह" यही नाम मिलता है.

३ See Murry's Northen India Page 381-382

४ See "Gwalior" (Published by the ministry of Railways) Govt of India Delhi



सामाजिक-दृष्टि से कवि ने तत्कालीन कई तथ्यो के साथ ही व्यक्तियो की प्रवृत्तियो पर सुन्दर प्रकाश डाला है. रइधू द्वारा वर्णित व्यक्ति नैतिक-वातावरण मे पला-पुसा मिलता है. वह निरालस्य, उद्योगी, धार्मिक, दानशील, परदुखकातर, स्वाध्याय जिज्ञासु एव साहित्य-रसिक, गुणीजनो के प्रति श्रद्धालु तथा दीर्घायुष्य था निरामिष, सात्त्विक भोजियो का दीर्घायुष्य होना स्वाभाविक भी था कवि के समय मे मनुष्य के सौ वर्षों तक जीवित रहने की धारणा एक साधारण-सी बात थी. रइधू का एक भक्त ससार से निर्विण्ण होकर कवि से कहता है कि "मनुष्य की आयु सौ वर्ष मात्र की है, उसमे से आधा जीवन तो सोने-सोने मे निकल जाता है"[१] भारत सरकार के इम्पीरियल गजैटियर के अनुसार भी मध्यभारत के जैनियो की आयु अपेक्षाकृत लम्बी देखी गई है :

The age statistics show that the Jainas, who are the richest and best mourished community are the longest, while the Animists and Hindus show the gratest fecundity.[२]

तत्कालीन समाज की जिनवाणी-भक्ति एव साहित्य-रसिकता के परिणामस्वरूप ही महाकवि रइधू तथा अन्य कवियो का अमूल्य विशाल साहित्य लिखा जा सका था. उन लोगो के नि स्वार्थ एव निश्छल आश्रय मे रहकर कविगण मा-भारती की अमूल्य सेवाए करते रहे. कवियो ने भी अपने परमभक्त एव श्रद्धालु आश्रयदाताओ की भक्ति से प्रभावित होकर उनका स्वय का तथा उनकी ६-६, ७-७ पीढियो तक की वशावलियाँ एव पारिवारिक इतिहास आदि को अपनी ग्रन्थ-प्रशस्तियो के माध्यम से लिखकर उनके प्रति कृतज्ञता का परिचय देकर एक ओर जहाँ अपनी अमर-कृतियो के साथ उन्हे अमर बना दिया, वही दूसरी ओर भावी परम्पराओ के लिये एक अमूल्य सामाजिक एव सास्कृतिक इतिहास भी तैयार कर दिया. इस प्रकार अग्रवाल, जैसवाल, खण्डेलवाल, पद्मावति-पुरवाल आदि जातियो से सम्बन्ध रखने वाले बहुमूल्य तथ्य इस साहित्य मे उपलब्ध है.

मालव-जनपद की महिला-समाज से तो कवि इतना अधिक प्रभावित था कि उनके गुणो के वर्णन मे कवि की लेखनी अबाधगति से दौडती थी कवि लिखता है कि "वहाँ की नारियाँ दृढशीलव्रत से युक्त थी. विविध प्रकार के दानो से पात्रो का सरक्षण करती थी ऐसा प्रतीत होता है मानो वहाँ नारी के रूप मे साक्षात् लक्ष्मी ने ही अवतार ले लिया है. वहाँ असुन्दर तो कोई दीखता ही न था प्रातःकाल क्रियाओ से निवृत्त होकर सुन्दर-सुन्दर मोती जडे वस्त्राभूषणादि धारणकर पूजा के निमित्त प्रमुदितमन से नारियाँ मन्दिरो की ओर जाती थी तथा देव एव गुरु के चरणो मे माथा झुकाती थी. सम्यग्दर्शन के पालन मे प्रवीण थी पर पुरुषो को अपने भाई के समान मानती थी. मैं वहाँ के स्त्री-पुरुषो के सम्बन्ध मे अधिक क्या कहूँ जहाँ कि बच्चा-बच्चा भी सप्तव्यसनो का त्यागी था."[३] इस प्रकार महाकवि रइधू की नारी परमशीलवती, पतिभक्ता, धार्मिक, गृहकार्यकुशल, उदारचित्त, परदुखकातर, दानशीला, परिवार-पोषक एव आलस्यविहीन है उसे अपने बच्चो के सुसस्कारो का सदा ध्यान रहता है. उसकी देख-रेख मे बच्चो का स्वभाव ऐसा हो जाता है कि वे सप्तव्यसनो तथा अन्य अनैतिक-प्रवृत्तियो से सदा दूर रहकर परम आस्थावान बन जाते है. इसे ही माँ का सच्चा मातृत्व कहा जा सकता है रइधू ने नारी मे माँ के दर्शन करके ही उसे ऐसा चित्रित किया है इसलिए जहाँ उसे नारी-सौन्दर्य के वर्णन करने का अवसर मिला है, वहाँ बस "गइ हसजीव" (हस की गति के समान चलने वाली); "ललिय गिरा" (सुन्दर मधुर वाणी बोलने वाली) जैसे विशेषण तक ही उन्होने अपने को सीमित रखा है. महाकवि केशव, देव, मतिराम या बिहारी अथवा अन्य शृगार-रस के रसिक धुरन्धर कवियो के समान वासना को उभाडने मे वे बहुत ही पीछे पड गये है उनकी इस सीमा को चाहे उनका दोष माना जाय अथवा गुण, यह बहुत कुछ निष्पक्ष समालोचकों के हाथो मे ही है, किन्तु वस्तुस्थिति यही है.

---

१ देखिये सम्मत्त० १,८ १

२. See Imperial Gazetteer Vol IX Page 353.

३. देखिये—सम्मत्त० १-३-१०-१६

दाम्पत्य-जीवन की सार्थकता तभी मानी जाती थी, जब कि सुयोग्य सतति की प्राप्ति हो उसके अभाव मे उत्तराधिकार की एक विकट समस्या उठ खडी होती थी उसके अभाव मे कौन तो चल-अचल सम्पत्ति का सरक्षण करेगा, गृहस्थ-धर्म-नीति का प्रवर्तन कौन करेगा ? आश्रितो के आँसू पोछकर उनका लालन-पोषण कौन करेगा ?"[1] विशेषतया माँ का आधार तो पति की मृत्यु के बाद पुत्र ही है उसीको अपनी आशाओ का केन्द्र मानकर वह घर मे वास करती है.[2]

आर्थिक स्थिति की दृष्टि से कवि ने प्रशगवश बहुत-सी बातो की चर्चा की है वस्तुत अर्थ-व्यवस्था किसी भी समाज या राष्ट्र की रीढ होती है उसकी पृष्ठभूमि में विभिन्न परम्पराएँ निर्मित होती है जन-जीवन का विकास तथा रीतिरिवाज भी उसी के आलोक मे प्रकाशित होते है मालवा का रइधू कालीन समय कई दृष्टियो से समृद्ध था. समाज, सस्कृति एव साहित्य का जो अभूतपूर्व विकास वहाँ हुआ, उसका प्रमुख कारण वहाँ की शान्तिपूर्ण एव स्थिर राजनीति एव अर्थव्यवस्था ही थी कवि के सम्मुख आर्थिक सम्पन्नता का चित्रण करने के लिये इतनी सामग्री थी कि उसे वह अपने साहित्यरूपी विशाल क्षेत्र मे दोनो हाथो से उछाल-उछालकर बिखेरता चला है सामान्य-जन को उसका चुन सकना कठिन है कवि के अनुसार मालव जनपद सभी प्रकार के धन-धान्य से परिपूर्ण था[3] ऐसी कोई भी वस्तु न थी जिसका कि वहाँ अभाव हो[4] वहाँ का व्यापारी वर्ग न्यायपूर्वक सम्पत्ति का अर्जन करता था फिर भी उसका उपयोग भोगैश्वर्य में नही करता था लोग सदैव ही इस प्रकार सोचा करते थे कि 'ऐसी सम्पत्ति के अर्जन एव सचय से क्या लाभ जिससे दीन-दुखी एव आवश्यकता वाले लोगो की आवश्यकताएँ ही पूर्ण न हो'[5] 'पासणाहचरिउ" की रचना-समाप्ति के बाद कवि ने जब उसे अपने आश्रयदाता खेमसिंह साहू को समर्पित किया तो उन्होने कवि को द्वीप-द्वीपान्तरो से लाये गये विविध वस्त्राभूषणादि भेंट-स्वरूप प्रदान किये थे[6] इससे प्रतीत होता है कि साहू खेमसिंह तथा अन्य लोगो का व्यापार विदेशो मे भी चलता था तथा उच्चकोटि के कपडे तथा सोना-चाँदी हीरा-मोतियो आदि सामग्रियो का प्रर्याप्त मात्रा मे आयात-निर्यात किया जाता था

नगर-वर्णन की दृष्टि से महाकवि रइधू ने अपनी प्रशस्तियो मे ग्वालियर का बडा सुन्दर वर्णन किया है उसके समय मे वहाँ का वैभव अपने यौवन पर था वहाँ के कलापूर्ण भवन एव जिन मन्दिर, जन-कोलाहल से परिपूर्ण सुन्दर सडके, सोने-चाँदी एव हीरे मोतियो से भरे हुए बाजार, स्थान-स्थान पर निर्मित दान शालाएँ, चटशालाएँ आदि किसी के भी मन को मोह सकती थी समृद्ध व्यापारी-वर्ग धर्म एव साहित्य की सेवा मे सदैव आग्रगामी रहता था ग्वालियर मे विद्वानो, कवियो का निवास-स्थान था समाज में उन्हे खूब प्रतिष्ठा एव सम्मान प्राप्त होता था नगरवधुएँ जब प्रभाती गीत एव पूजन-भजन के सुन्दर पद्य मधुर स्वर लहरी से गाती हुई निकलती तो नगर मे शान्ति का साम्राज्य छा जाता था इसे देखकर कवि स्वय ही आत्मविभोर हो उठता था सर्व गुण-सम्पन्न होने के कारण कवि को ग्वालियर के लिये 'पण्डित' की उपाधि देनी पडी वह कहता है कि—'पृथ्वी मण्डल मे प्रधान, देवेन्द्रो के मन मे भी आश्चर्य उत्पन्न कर देने वाला, विशाल तोरणो एव शिखरो से युक्त यह गोपाचल नगर ऐसा लगता है मानो पण्डित श्रेष्ठ गोपाचल हो'[7] आगे चलकर कवि ने ग्वालियर-नगर का बडा ही सुन्दर एव विशद वर्णन किया है[8] ग्वालियर को

---

१ देखिये—सुकौशल चरित ३-१८-११
२. देखिये—अ्रसुकौसल० ४।७।६.
३. देखिये—मेहेसर० १।४।८
४. देखिये—मेहेसर० १।४।६
५. देखिये—पउमचरिउ १।३।१०.
६ देखिये—पासणाह० ७।१०।५-६
७ देखिये—पासणाह० १।२।१५-१६.
८ देखिये—पासणाह० १।३।१-१४



पण्डित श्रेष्ठ की सज्ञा देकर भी कवि को जव पूर्ण सन्तोप न हुआ तव उसने पुन. उसे श्रेष्ठतमनगरो का गुरु भी उसे मान लिया.[1]

कवि के उक्त नगर-वैभव के वर्णन की शैली एव परम्परा नगर के ऐतिहासिक तथ्य को व्यक्त करने की दृष्टि से तो अपना विशेष महत्त्व रखती ही है लेकिन इससे भी ज्यादा महत्त्व इस वात मे है कि वह परवर्ती साहित्यकारो के लिये एक प्रेरणा का जनक वन गया. जो सिद्धहस्त कवि थे, वे उससे अनुप्राणित हुए तथा जो नवशिक्षित अथवा नव दीक्षित थे. उसका उन्होने शब्दश अनुकरण किया. महाकवि रइधू के लगभग ४०-५० वर्ष वाद ही एक माणिक्कराज (वि० स० १५७६) नाम के कवि हुए है, जिन्होने अपभ्रस में 'अमरसेन चरिउ' नामक काव्य लिखा था. उसके प्रशस्ति-खण्ड मे उन्होने भी नगर-वर्णन किया है उक्त कवि ने ४-६ शब्द वदल कर महाकवि रइधू का ग्वालियर नगर-वर्णन पूरा का पूरा आत्मसात कर लिया[2]

इसी प्रकार 'पण्डित श्रेष्ठ' गोपाचल की चरणरज लेकर अपने को पवित्र मानने वाली सुवर्णरेखा नदी का चमत्कार भी देखिये कवि ने इस प्रकार वर्णित किया है

सोवण्णरेह ण उवहि जाय णं, तोमरणिव पुण्णेण आय ।
ताइगि सोहिउ गोवायलक्खु, ण भज्ज समाण उ णाहु दक्खु । —पासणाह० १।३।१५-१६
सोवण्णरेख णइ जहिं सहए, सज्जण वयणु व सा जलु वहए । —मेहेसर १।४।४

आजकल वही महाभागा सुवर्णरेखा नदी सूखकर मानो काँटा बन गई है. आज वही एक नदी के नाम पर वैलगाडी के रास्ते मात्र के रूप मे वची है[3]

To the eastside the denseness the houses is interested by the broad bed of the Suvernrekha or golden streak rivulet, which being generally dry, form some of the principal thoroughfares of the city (of Lashkar) and is almost the only one passable by Carts"

एक ओर ग्वालियर नगर जहाँ अर्थ एव कला के वैभव का धनी था, दूसरी ओर वह प्रकृति का प्राङ्गण भी वना हुआ था. वहाँ के नदी, नद, वन, उपवन, विशाल सरोवर, हरे-भरे मैदान, सरोवरो मे कूजने वाले कलहस वापिकाओ में जल-क्रीडा करने वाले नर-नारी सभी के मनो को मोह लेते थे[4] एक जगह तो कवि ने वडी ही सुन्दर कल्पना की है. उसके अनुसार नगर के 'भवन-भवन नही, राजा डूँगरसिंह की सन्तति परम्परा ही[5] थी.' कवि का भाव देखिये कितना गूढ है, एक तीर से दो लक्ष्यो की सिद्धि उसने की है. भवनो की कलात्मक भव्यता का दिग्दर्शन एव दूसरी ओर राजा राजा के वश का स्थिरीकरण

महाकवि रइधू ने अपनी प्रशस्तियों मे अपने समकालीन दो राजाओ का उल्लेख किया है तोमरवशी राजा डूगरसिंह एव उनके पुत्र राजा कीर्ति सिंह ग्वालियर-राज्य के निर्माताओं में इनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है. डूगरसिंह जैसा वीर-पराक्रमी, धैर्यशाली, प्रजावत्सल, धार्मिक, उदार, निष्पक्ष, प्रगतिशील, साहित्य-रसिक एव कलाप्रेमी राजा दूसरा नही हुआ वह राज्य के सुख एव समृद्धि का जनक था वहाँ के रइधू कालीन जैन-साहित्य एव कला के विकास का सारा श्रेय इसीको है. महाकवि रइधू के वर्णन के अनुसार डूगरसिंह का समय 'सुवर्णकाल' ही था यह स्थिति उसे परम्परा से प्राप्त हुई हो ऐसी बात नहीं उसने काँटो से भरा-पूरा ताज अपने सिर पर रखा था मुगलो एव उनके पूर्व के शत्रु

---

१ [illegible]—सम्मत्त० १।३।१७-१८

२. [illegible]—डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल द्वारा सम्पादित "प्रशस्ति-सग्रह (जयपुर १९५०) पृष्ठ ८०-८१.

३. See Murray's Northern India Vol I pages 381-382.

४ [illegible]—[illegible]० १।३।१-५.

५ [illegible]—[illegible]० १।४।५.

राजाओं ने अपने आक्रमणो से ग्वालियर को जर्जर कर दिया था. उसके समय मे चतुर्दिक अनिश्चित परिस्थितियो का वातावरण था ऐसी स्थिति मे राजा डूंगर सिंह को राजगद्दी मिली थी अनेको रात्रियाँ घोडे की पीठ पर ही काटने के वाद उस नरव्याघ्र ने अपने कुशल पराक्रम से शत्रुओ का वल नष्ट कर ग्वालियर के प्रजा-जीवन के इतिहास का एक नवीन अध्याय प्रारम्भ किया था रइधू-साहित्य मे इसके प्रचुर मात्रा मे उल्लेख मिलते है एक स्थान पर कवि ने लिखा है

तहिं तोमर कुलसिरि रायहंसु, गुण गण रयणाहस लद्धसंसु।
अरणाय णाय सासण पवीणु, पंचग मत सत्यह पवीणु।
अरिराय उरत्थलि दिण्ण दाहु, समरगणि पत्तउ विजयलाहु।
खग्गग्गि डहिय जें मिच्छवसु, जस ऊरिय ऊरिय जे दिसंतु।
णिव पट्टालंकिय विउल भालु, अतुलिय वल खलकुल पलयकालु।
सिरि णिवगणेस णदणु पयडु, ण गोरक्खण विहिणउववसंडु।
सत्तग रज्ज भर दिण्ण खंडु, सम्माणदाण तोसिय सबंधु।
करवाल पट्टि विप्फुरिय जीहु, पव्वत णिवइ गयदलण सीहु।[1]

राजा डूगर सिंह का दरबार सभी के लिये समान रूप से खुला रहता था प्रजा का कोई भी धनी या गरीव व्यक्ति उनके सम्मुख जाकर अपने दु ख-मुख की बाते सुना सकता था पिछले एक स्थल पर सघपति कमल सिंह के साथ घटित एक घटना का उल्लेख किया ही जा चुका है उससे यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि वह केवल तलवार का धनी एव लडाकू मात्र ही न था अपितु प्रजा के सुख-दु:ख का सच्चा सहभागी, सात्त्विक एव साहित्य प्रेमी भी था इससे भी वढ कर जो एक नवीन वात ज्ञात होती है वह यह कि—वह इतिहासवेत्ता भी था कल्पना कीजिये ५०० वर्ष पहले के युग की जब कि यातायात के आज जैसे सुविधाजनक एव शीघ्रगामी साधनो की उस समय कल्पना भी न थी फिर भी डूगर सिंह ने सैकडो मील दूर स्थित सोरठ, आबू तथा दिल्ली आदि के इतिहास की जानकारी प्राप्त की थी तथा उन-उन राज्यो के आदर्शो से प्रेरणाएँ लेता रहा यह कह सकना तो कठिन है कि महाकवि रइधू उनके गुरु थे किन्तु इतना तो निश्चित ही है कि वह रइधू का सम्मान करता था तथा उन्हे दुर्ग मे रहने के लिये सर्वसुख-सम्पन्न निवास स्थान दिया था जैसा कि पूर्व मे लिखा ही जा चुका है उनकी सत्सगति मे रहकर ही राजा ने आत्मिक एव बौद्धिक विकास के साथ ही यदि इतिहास की जानकारी भी प्राप्त की हो तो यह असम्भव नही कवि डूगर सिंह से स्वय ही अत्यन्त प्रभावित था उसकी नीतिमत्ता, कलाप्रेम पराक्रम एव एकच्छत्र राज्य की स्थापना का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है[2]

णीइ तंरगिणी णावइ सायरु, सयल कलालउ णवि दोसायरु।
वे पक्खुज्जलु णियपय पालउ, मिलच्छ णरिंद वंस खय कालउ।
एयच्छत्तु रज्जु रज्जु जिजो भुजई, मुणियण विंदह दाणें रंजइ।

डूगर सिंह की पट्टरानी का नाम था चदादे[3] उससे एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम था कीर्तिसिंह वल, पराक्रम एव धार्मिक-कार्यो में वह अपने पिता से कम न था कवि ने उसके सम्बन्ध मे लिखा है

तहु णंदणु णिरुवमु गुण णिहाणु, तेयग्गलु ण पंचक्खु भाणु।
णं णावउ णासंकरु पुहमि जाउ, ज जय सिरीए पयडियउ भाउ।
सिरि कित्तिसिंधु णामें गरिट्ठु, णं चंदु कलायरु जय मणिट्ठु।[4]

---

१. देखिये—पासणाह० १।४।१-१२
२ देखिये—मेहेसर० १।५।१-३
३ देखिये—पासणाह० १।५।१
४. देखिये—मेहेसर० १।५।३-५



तोमर कुल कमल वियास मित्त, दुव्वार वैरि संगर अतित्तु।
डूंगर णिव रज्ज धरा समत्थु, वदीयण समप्पिय भूरिअत्थु।
चउराय विज्ज पालण अतंदु, णिम्मल जसबल्ली भुवण कंदु।
कलि चक्कवट्टी पायड णिहाणु, सिरि कित्तिसिंधु महवइ पहाणु।[1]

श्री डा० हेमचन्द्रराय का इस विषय में कथन द्रष्टव्य है .[2]

Karan Singh[3] was a Vigorous rulai as his father Raja Dungarsingh. He extended the boundaries of his Kingdom by fresh conquest and maintained cordial relations with the King of Delhi In 1465 A D he was attacked by Hussain, the Sharqui King of Jaunpur, but a treaty of mutual friendship was soon concluded between them When Bahlol Lodi, the energetic Afghan King of Delhi took the offensive against Hussain in 1478 Karan Singh rendered valuable assistance to the later The arms of Bahlol Lodi-how ever, triumphed and he annexed the Jaunpur kingdom He was deeply incensed against Karan Singh for having aided Hussain. After the conquest of Jaunpur Bahlol attacked tha chief of Dhaulpur, who purchased his safety by offering a Cash Nazar (नजर या नजराना) Bahlol now bore down on Gwalior with an army of two lacs, well mounted and well armed Karan Singh could not muster a foice of even one half the number of the invadois and was therefore obliged to follow the example of Dhaulpur to escape molestation However he shook off the yoke as soon as Bahlol was known to be busy elsewhere In 1479 A D Karan Singh passed away and was succeeded by Kalyan Singh who ruled for a period of 7 years

भट्टारको की परम्परा मे रइधू ने अपनी रचनाओ की प्रशस्तियो मे विजयसेन गुणकीर्ति (वि० स० १४६८–७३) यश कीर्ति (वि० स० १४८६–९७), क्षेमकीर्ति, हेमकीर्ति (वि० स० १४९९) कुमारसेन (१५०६–३०) कमलकीर्ति (वि० स० १५०६–१०) तथा उनके शिष्य शुभचन्द्र (वि० स० १५०६–३०) का उल्लेख किया है इनमें से भट्टारक यश कीर्ति एव भट्टारक शुभचन्द्र को कवि ने गुरुरूप में स्मरण किया है. भ० शुभचन्द्र का परिचय देने के लिये कवि ने एक बडी ही ऐतिहासिक घटना का उल्लेख किया है, वह यह कि उनके गुरु भ० कमलकीर्ति ने कनकाद्रि (सोनागिर म० प्र०) पर एक भट्टारकीय गद्दी की स्थापना की थी जिसका पट्टधर भ० शुभचन्द्र[4] को ही बनाया गया था. कवि की इस सूचना से यह स्पष्ट है कि सोनागिर उस समय विद्या का बडा भारी केन्द्र बन गया था भ० यश कीर्ति के सम्बन्ध मे कवि ने लिखा है कि 'उन्होने मुझे आशीर्वाद के साथ गुरुमत्र दिया जिसकी कृपा से मैं कवि बन गया.'[5]

पूर्ववर्ती साहित्य एव साहित्यकारो मे कवि ने देवनन्दि एव उनका जैनेन्द्र व्याकरण जिनसेन एव उनका महापुराण रविसेण एव उनकी रामायण, पविशेन (वज्रसेन ?) एव उनका षड्दर्शन, सुरसेन (देवसेन ?) एव उनका मेघेश्वर चरित, दिनकरसेन एव उनके अनग चरित का उल्लेख करते हुए महाकवि स्वयम्भू, चउमुह एव पुष्पदन्त का अत्यन्त सम्मान पूर्वक स्मरण किया है कवि के उक्त उल्लेखो से दो बातो की सूचना स्पष्ट मिलती है प्रथम तो यह

---

१ देखिये—सम्यक्त्व कौमुदी-अन्त्य प्रशस्ति
२. देखिये—The Romance of the fort of Gwalior Page 19-20.
३. कीर्ति सिह का ही दूसरा नाम करन सिह है.
४. देखिये, हरिवंस० १।२।१२–१३.
५ देखिये, मेहेसर० १।३।८.

कि कवि ने अपनी रचना के लेखन काल मे उक्त साहित्य एव साहित्यकारो को अपने सम्मुख एक आदर्श के रूप मे रखा है तथा दूसरा यह कि कवि ने अपनी रचनाओ मे जो कुछ भी लिखा है वह सब उसने परम्परा के अनुसार ही लिखा है आगम विरुद्ध नही

इस प्रकार उक्त सूचनाओ से यह स्पष्ट ही विदित हो जाता है कि १४–१५ वी सदी (वि० स० १४५०–१५३६) के इस महाकवि ने साहित्य-जगत् मे कैसा अद्भुत कार्य किया है. साहित्य के साथ इतिहास का समन्वय कर उसने साहित्य समाज एव राष्ट्र की बहुमुखी अमूल्य सेवा की है मध्य भारत के सम्बन्ध मे उनकी सूचनाएँ अत्यन्त नवीन एव मौलिक है इनके आधार पर वहाँ का एक सागोपाँग, विशद एव प्रामाणिक राजनैतिक, सास्कृतिक, धार्मिक तथा मूर्ति, एव स्थापत्यकला का सुन्दर इतिहास तैयार हो सकता है. विस्तार के भय से प्रस्तुत निबन्ध अत्यन्त सक्षेप मे लिखना पड़ा है इसीलिए इसमे पूर्ण सामग्री भी उपस्थित नही की जा सकी है यद्यपि कुछ विशेष दिक्कतो के कारण रइधू के सभी ज्ञात हस्तलिखित ग्रन्थो मे से कुछ ग्रथ भी मुझे उपलब्ध नही हो सके, किन्तु जो मिल गये उन्ही के आधार पर उक्त लेख एक बानगी के रूप मे सहृदय पाठको की सेवा मे प्रस्तुत किया गया है कवि की सभी रचनाएँ अप्रकाशित है तथा दुर्भाग्य से उनकी सभी प्रतिलिपियाँ एक ही स्थान पर सग्रहीत नही है, देश के विविध शास्त्र-भण्डारो मे इक्के-दुक्के यत्र-तत्र बिखरे पडे है वहाँ से आसानी से उपलब्ध कर उनका पूर्ण उपयोग किया जा सके ऐसी सुविधाएँ भी शोधको के लिए अभी सम्भव नही हो सकी उक्त कवि के साहित्य पर अभी किसी का विशेष ध्यान भी नही गया है अतः प्राय सभी प्रकार के साधनो के अभावो मे भी यहा जो लिखा गया, यह एक साहसी प्रयास ही है. आशा है साहित्य जगत् इससे एक अप्रकाशित महाकवि का मूल्याकन शीघ्र ही करेगा





रत्नचन्द्र अग्रवाल
अध्यक्ष, पुरातत्त्व व सग्रहालय विभाग, उदयपुर

धौलपुर का चाहमान 'चण्डमहासेन' का संवत् ८९८ का शिलालेख

बर्लिन से प्रकाशित ZDMG (अक ४०, पृ० ३८ तथा आगे) नामक जर्मन-पत्रिका में डॉ हुल्श ने Eine Inschiiptedes Chauhan chandamahasena von Dholpur शीर्षक लेख प्रकाशित किया था जिसके अतर्गत वे भरतपुर के समीपवर्ती क्षेत्र 'धौलपुर' से प्राप्त सवत् ८९८ (८४२ ईसवी) का शिलालेख प्रकाश मे लाए थे प्रस्तुत शिलालेख की २६ पक्तियाँ 'सस्कृत' भापा मे उत्कीर्ण है इसमे चौहान कुलोत्पन्न ईसुक के पुत्र महिषराम का उल्लेख कर महिषराम के पुत्र चण्डमहासेन की पर्याप्त स्तुति की है और उसके द्वारा चण्डस्वामी देवभवन की प्रतिष्ठा का समय भी प्रस्तुत किया है ।

प्रथम दो श्लोको में सूर्य-स्तुति की गई है, तदुपरान्त ईसुक (श्लोक ३), उसके पुत्र महिषराम (श्लोक ४-५) का उल्लेख है. महिषराम की स्त्री 'कण्हुल्ला' ने चण्डमहासेन को जन्म दिया था और कालान्तर मे अपने पति के साथ सती हो गई थी (भर्तृसमेता प्रविश्याग्नौ दिवगता-श्लोक ६) चण्डमहासेन उदारहृदय का व्यक्ति था और उसके राज्यकाल मे प्रजा प्रसन्न एव सुखी थी, उसका राज्य न्यायपूर्ण था वह सम्भवत सूर्योपासक था क्योकि शिलालेख के प्रारम्भ में ही सूर्य वन्दना की गई है और उसने 'धवलपुरी' (धौलपुर, पक्ति १८-२०) मे 'चण्डस्वामि' का भवन वनवाया था. इसकी प्रतिष्ठा सवत् ८९८ के वैशाख मास की शुक्लपक्षीय द्वितीया, दिन रविवार को सम्पन्न हुई [पक्ति २१-२२] अर्थात् १६ अप्रैल ८४२ ई० को

प्रस्तुत लेख की १६ वी पक्ति मे 'चम्बल' नदी के किनारे बसे [चर्मण्वती] म्लेच्छो के स्वामी को चण्डमहासेन के अधीन बताकर यह लिखा है कि 'अनिर्ज्जित आदि समीपवर्ती ग्रामाधीश [पल्लीपतयः, पक्ति १७] नीचा सिर किए धौलपुर [धवलपुरी] नगर मे घूमते थे.' खेद है कि अनिर्ज्जित आदि के विषय मे कोई अधिक जानकारी नही है अपर च म्लेच्छ आदि की पहचान भी कठिन प्रतीत होती है इस सम्बन्ध मे डा० एच० सी० रे [डाइनैस्टिक हिस्ट्री आफ नर्दर्न इण्डिया, कलकत्ता, भाग २, १९३६, पृ० १०५८] का यह सुझाव है कि 'म्लेच्छ' शब्द प्रारम्भिक अरबाक्रामको [Early Arabs] का सूचक है. इसके विपरीत डा० दशरथ शर्मा [अर्ली चौहान डाइनैस्टीज, दिल्ली, पृ० १८] का विचार है कि 'म्लेच्छो' से क्षेत्र के भील-जनसमुदाय की पहचान होनी चाहिए क्योकि 'शब्दार्थचिंतामणि, [भाग ३, पृ० ४४१] मे इनकी गणना म्लेच्छो मे की गई है—मल्लभिल्लकिराताश्च सर्वेपि म्लेच्छजातयः डा० शर्मा के अनुसार ये आज भी चम्बल के दोनो किनारो पर बसे हैं सम्भव है कि इस क्षेत्र के उपद्रवी लोग इन म्लेच्छो के ही वशज हो.

प्रस्तुत लेख धौलपुर क्षेत्र के पूर्व मध्ययुगीन इतिहास के लिये अधिक उपयोगी है और उपर्युक्त जर्मन पत्रिका राजस्थान के किसी भी पुस्तकालय मे प्राप्य नही है अतः राजस्थान के प्राचीन इतिहास के प्रेमियो एव विद्यार्थियो के अध्ययन हेतु ZDMG के सौजन्य से उसकी प्रतिलिपि[1] निम्नरूपेण प्रस्तुत की जा रही है :

पक्ति १. ओ ओ नम [।।] श्रीमा त्रैलोक्यदीप प्रणतजममाना वाछितस्योह दाता नित्य लोके पदार्थ प्रकटनपटवो भानवो यस्य दीप्त ।। साध्यन्ते सत्व [·· ··]

१. उक्त प्रतिलिपि मेरे मित्र डा० प्रभात, प्राध्यापक हिन्दी विभाग, वम्बई ने स्थानीय विश्वविद्यालय में सुरक्षित पत्रिका से नकल करके भेजी थी. जिसके लिये में उनका अति आभारी हू

पंक्ति २ प्रतपति भुवने मोक्षधर्मार्थसारा. [।] भास्वान् पद्मालयाद सकलभूमितो मगल व प्रकुर्यात् ।। [१] विप्राः समुनयो देवा सध्याया यमुपासते । स श्री—

३ चण्डमहासेन भास्करो व्याद्वारप्रद ।। [२] आसीदनेकगुणवृन्दनिवासभूमि सौम्यकृपालुरनघो विजितारिवर्ग । मानी शुचि प्रणयी पूरितचिन्ति

४. ताश. श्री ईसुक कृतयुगानुकार स्वभाव [३] तस्यामुद्दानमानानघरणविजयोपर्ज्जिताशेपकीर्ति [१] विद्वंन्मार्ग-प्रवृत्तो निजकुलतिलकः क्षीण—

५ निश्शेषशत्रु [१] धीमान् धीरो धराया प्रथितवहुगुणप्रीणिताशेषदेव [।] पुत्रो रामानुकारी जगति महिपराम स्वभावैर्व्विशालै. ।। [४] तस्यासीद्विम—

६ ला प्रिया सुरुचिरा तन्मी मनोहारिणी [।] दौर्गत्योरुतमोगता जनानुता सौम्यालकारशुभा। सा श्रीका निजवश-शम्भुशिरश्चूडामणित्व गता

७ कण्हुल्ला नवचन्द्रमूर्तिसदृशी लावण्यकान्त्यावृता ।। [५] सा श्रीचण्डमहासेन पुत्र पुत्रार्थसाधक । प्रसूय भर्तृ-समेता प्रविश्याग्नौ दिव गता ।। [६] यस्त्यागास्थिर—

८ तादिभिर्गुणगणतोरकाधिवासकृता [।] य विद्वेषिगण प्रणम्य लभते पूर्वातिरिक्ता द्युतिं । स श्रीचण्डमहीपति-श्चिरमसौ न्यायेन रक्षन् क्षितिं [अ] व्याज्जी—

९ वति जन पैशुन्यशून्य सुख ।। [७] श्यामशवितयुतो विशालनयनो विश्रामभूमि सता [।] सव्य सगतवृद्धिद सुचरितै ख्यातिगत सद्गुण. । [प्र]—

१० ध्वस्तारिगण प्रतापनिकश मार्ग्गसता सस्थित । सादृश्य हरिणा पर स ह गत शीचण नामा नृप [८] आदौ तनुर्व्वितरर खलु मध्यदेशे [।] येनानवर्त्तनगु—

११ ण स्खलितोपि यायी [।] श्री चाहवाण वरभूपति चारुवशो गगाम्बुवाहसदृशो ननु माणतान्त ।। [९] प्रसाधन-विधौ येन विद्विप करपो [तकै] सको [चि] तास्व—

१२ कान्तानामलका इव लीलया ।। [१०] अनवरतलक्षहेमज [धूमाकुल] गगनमध्यपरिवर्त्तिमूह्यति पर स्वमार्गो भास्कर रथसारथी[1] यस्य ।। [११] राहू परो—

१३. धपर्व्वणि गोदशशत विप्रप्रदानेन ।। लक्ष्मी प्रवर्द्धतेऽल विधिना भुक्त इति परितुष्टा ।। [१२] सक्रान्तावयनदौ विप्रेभ्यो यद्ददाति तुष्टमना ।

१४ विस्मितहृदयो विधिरपि तेनास्ते किं पुनर्लोक ।। [१३] व्यत्पद्यन्ते यस्य प्रतिदिनमाभिनवरसा नवाम्याधिका । [अ] नोघविदा सम्य [क् प्रे] —क्षणके

१५ नित्ययुक्ताना ।। [१४] अभियुक्ततर द्विजवेदाध्ययन श्रवणभूरिभयभीत। मूर्खहृदयवत्पाप मढौकतो यस्य गृह-भूमौ ।। [१५] अन [व] र [त] वर तु [रगमवा]—

१६ हनलीला रसाहतोरुगिरि। उर्व्वं गच्छन् जनयति[ ] शका रथ यस्य ।। [१६] चर्मण्वतीतटद्वय-सस्थित-म्लेच्छाधिपा प्रवर शूराः ईप्सितरणा

१७ प्रनता सेवा कुर्व्वन्ति यस्यानु ।। [१७] यस्य प्रतापसिद्धा पल्लीपतयो ह्यनिर्ज्जित प्रमुखा. [।] गुरुभारक्रान्ता इव भ्रमन्ति नगरे विनमिताग़ा [१८]

---

१. अर्थात् 'अरुण' सारथी चण्टमहासेन सूर्योपासक था इस शिलालेख में उसके लिए केवल 'चण्ट' शब्द का भी उपयोग किया गया है प्रथम पंक्ति में त्रैलेक्यदीप तो सूर्य का परिचायक है.



पक्ति १८. श्री चण्डमहासेन प्रचण्डरिपुदर्प्पसातन. स इह। धवलपुरीतो[1] व्रजति (च)आहेटक कौतुकत्वेन ।। (१६) अ [ट] वी दृष्टा चेय खणीया रम्य–

१६. वृक्षगुणयोगात्। विषमतरदुर्ग्गगहना प्रतिदिनमभिगच्छता तेन ।। (२०) सादूलसिंघशूकरवृकहरिणशिवाकुला भीमा। आ—

२०. सन्न-स्थित-सलिला योग्या देवालय—सदा ।। (२१) शाभतर कृत पुण्योदय समार्ज्जिताऽशेषद्रव्यनिचयेन. चण्डस्वामि निवेश [श्च][2]

२१ ण्डेन कृत प्रचण्डेन ।। (२२) वसुनवाष्टौवर्षा ( ) गतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य[3] वैशाखस्य सितायाँ रविवार-युतद्वितीयाया ।। (२३) चन्द्रे रो—

२२. हिणीसयुक्ते लग्ने सिंघस्य शोभने योगे[4] सकलकृतमगलस्य ह्यभूत्प्रतिष्ठास्य भवनस्य ।। (२४) गम्भीर विपुल शुभासयमल.

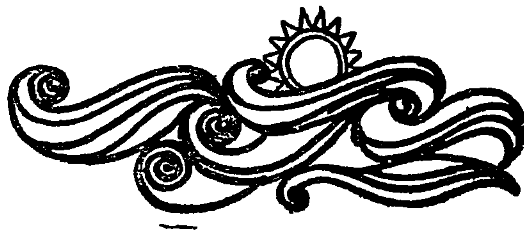
२३. सत्तापहृत्सेवित [।] जतूना मनस प्रसादजनन सेव्य शुभ निर्म्मल ।। कोवेर्यां दिशि सस्थित च सुमहत् श्रेष्ठं तटाक तत चि–

२४. तस्येह सता विभाति सदृश तेनैवे तत्तानितं ।। (२५) यत्कीर्त्या जगति प्रकाशितमल तत्रोरु शुभ्र य स. [।] नानापक्षिगणा रवै श्रुति–

२५ सुखैश्चण्डस्य तद्गीयते. पूर्व्वेणापि शिला च यै. सुघटितैर्वद्धा विशाला दृढा· [।] वाणी तस्य विभाति पुण्य-निचयस्या श्रोनिधि.

२६ साश्वतः ।। (२६) आम्राली निम्वपक्तिर्वरवाकुलयुता चम्पका शिग्रुसज्जा· [।] सज्जाती मल्लिकाना सतत कुसुमिता पक्तय चट्पदस्थ [।][5]

खेद है कि उपर्युक्त शिलालेख की आधुनिक स्थिति का कुछ भी पता नही है वास्तव मे समूचे धौलपुर व भरतपुर क्षेत्र मे प्रर्याप्त शोध-खोज-कार्य होना चाहिए. तब ही उस क्षेत्र के प्रारभिक पुरातत्त्व एव इतिहास का समुचित मूल्याकन हो सकता है राजस्थान का यह प्रदेश अति महत्त्वपूर्ण है और इसके पुरातत्त्वीय स्थलो की खोज नितान्तावश्यक है



१. अर्थात् 'धौलपुर इस नगरी का वृत्त आगे दिया गया है.

२. अर्थात् चण्डमहासेन का इष्टदेव 'चण्डस्वामी' का सूर्य मदिर

३ अर्थात् विक्रम सवत्.

४ काल एव ठीक समय की गणना यहाँ समाप्त होती है २१ वी पंक्ति में सवत् तो अको के स्थान पर अक्षरों में अकित है (अर्थात् विक्रम सवत् ८६८-८४२ ई०). सिंह के स्थान पर सिंघ शब्द का प्रयोग भी महत्त्वपूर्ण है

५. प्रतिलिपि में यत्र तत्र कुछ अशुद्धियां प्रतीत होती हैं इन्हें ठीक करना आवश्यक है.



पं० भगवानदास जैन, शास्त्री

प्राचीन वास्तुशिल्प

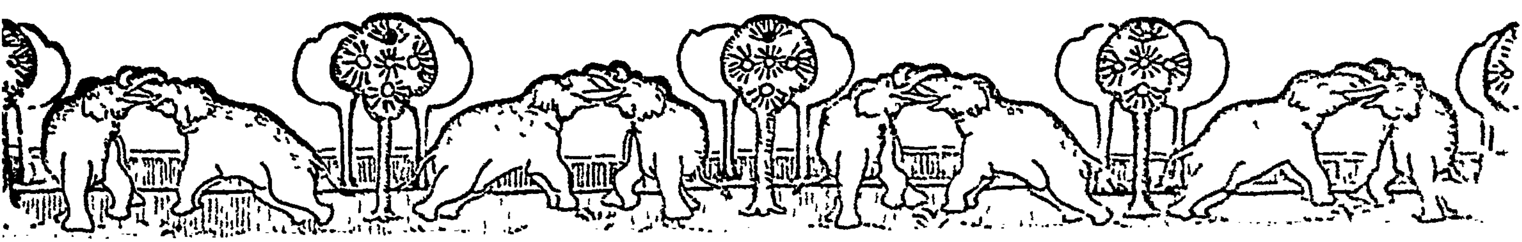
'वास्तुशिल्प' प्राचीन भारतीय सस्कृति का एक प्रधान अग है इस विषय के अनेक ग्रथ विद्यमान होने पर भी उनका अध्ययन न होने से अधिक प्रचार नही हो सका है प्राचीन देवालयो, राजप्रासादो, दुर्गो, नगरो, गावो, कुवो, वावडियो और सरोवर आदि की मनोहर सुन्दर आकृति देखकर के अपना मन प्रफुल्लित हो जाता है यही प्राचीन वास्तुशिल्प है जैनागमो मे भी चक्रवर्तियो और देवो के भवनो का विस्तृत व सुदर वर्णन है इनको बनाने वाले को 'स्थपति' अथवा 'सूत्रधार' कहा जाता है, जो आधुनिक देवालय और मकान आदि के बनाने वाले, लकडी के काम करने वाले बढई और मिट्टी के बर्तन आदि बनाने वाले कुम्हार आदि के रूप मे विद्यमान है जैनागमो मे चक्रवर्ती के चौदह महारत्नो मे एक वार्धिकीरत्न भी होता है यह सूत्रधार है जो चक्रवर्ती की इच्छानुसार उनके मनपसद की इमारत शीघ्र ही तैयार कर देता है इसको 'विश्वकर्मा' भी कहा गया है प्रचलित मे तो देवो के भवन आदि बनाने वालो को विश्वकर्मा कहते है ऐसे इमारती काम करनेवाले शिल्पियो की विश्वकर्मा के नामकी दक्षिण देश मे एक जाति भी विद्यमान है, इसलिए वास्तुशिल्प के काम करनेवाले को विश्वकर्मा के नाम से सबोधन किया जाय तो कोई अतिशयोक्ति नही है

प्राणियो के निवासस्थान को वास्तु कहा गया है. उसकी उत्पत्ति के विषय मे वास्तुशिल्प के प्राचीन 'अपराजित पृच्छा' नामक बृहत् ग्रथ मे लिखा है कि—अधकासुर का विनाश करने के लिये महादेवजी को युद्ध करना पडा इसके परिश्रम से महादेवजी के कपाल से पसीने का एक बिदु भूमि के ऊपर अग्निकुड मे गिरा इससे एक महाकाय भूत उत्पन्न हुआ उसे देवो ने औधा पटक दिया और उसके ऊपर पैतालीस देव चढ बैठे और रहने लगे इन देवो का महाकाय भूत के ऊपर निवास होने से उसको वास्तुपुरुष माना गया इसलिए गृहादि के आरभ मे और समाप्ति मे इन देवो का पूजन प्रचलित हुआ जो वास्तुपूजन के नाम से प्रसिद्ध है

वास्तुशिल्प जानने के लिये अपराजितपृच्छा, समरागणसूत्रधार, प्रासादमडन, शिल्परत्नम्, मयमतम् और परिमाणमजरी आदि अनेक ग्रथ मुद्रित हुए है जैन वास्तुशिल्प के 'वत्थुसारपयरण' और 'जिनसहिता' आदि मुख्य ग्रथ है. वत्थुसार-पयरण मे प्रथम गृहप्रकरण, दूसरा मूर्तिप्रकरण और तीसरा देवालयप्रकरण है जिनसहिता मे देवालय और मूर्तिनिर्माण का वर्णन है इसमे प्रासाद की चौदह जातियो मे से द्राविड जाति के प्रासाद का वर्णन है यह दाक्षिणात्य पद्धति का होने से सर्वदेशीय नही बन सका आचार्य श्री वसुनदी कृत प्रतिष्ठासार मे जो देवालय-निर्माण का वर्णन है, वह नागर जाति का होने से सर्वदेशीय है.

महल, मकान और देवालय-निर्माण के समय प्रथम भूमिपरीक्षण किया जाता है. वत्थुसारपयरण मे लिखा है .

'दिणतिग-बीअप्पसवा चउरंसाऽवम्मिणी अफुट्टा अ ।
असल्ला भू सुहया पुव्वेसाणुत्तरंबुवहा ।
वम्मइणी वाहिकरी ऊसरभूमीइ हवइ रोरकरी ।
अइफुट्टा मिच्चुकरी दुक्खकरी तह अ ससल्ला ।'



जिस भूमि मे वीज वोने से तीन दिन मे अकुर निकल जाय ऐसी समचौरस, दीमक रहित, विना फटी हुई और शल्य रहित, तथा पूर्व, ईशान और उत्तर दिशा की तरफ नीची भूमि मकानादि बनाने के लिये प्रशस्त है. दीमक वाली भूमि व्याधिकारक है ऊसर भूमि उपद्रवकारक है. अधिक फटी हुई भूमि मृत्युकारक और शल्यवाली भूमि दु ख कारक है. किसी भी प्राणी की हड्डी, वाल आदि भूमि मे रह जाना शल्य माना है उसकी शुद्धि के लिये कम से कम तीन फुट भूमि गहरी खोदनी चाहिये शास्त्र मे लिखा है—'मनुष्य की हड्डी का शल्य रह जाय तो मकान मालिक की मृत्यु हो. गधे की हड्डी का शल्य रह जाय तो राजदड भोगना पडे कुत्ते का शल्य रह जाय तो वालक जीवे नही वालक का शल्य रह जाय तो उस मकान मे मालिक का निवास नही हो, गौ का शल्य रह जाय तो धन का विनाश हो, इत्यादि अनेक दोप शास्त्र मे लिखे हे इसकी शुद्धि के लिये समरागणसूत्रधार वास्तुग्रथ मे लिखा है

'जलान्तं प्रस्तरान्तं वा पुरुषान्तमथापि वा ।
क्षेत्रं संशोध्य चोद्धृत्य शल्यं सदनगारभेत् ।'

पानी आ जाय अथवा पाषाण आ जाय वहाँ तक अथवा एक पुरुष प्रमाण भूमि को खोद करके कोई शल्य होवे तो निकाल देना चाहिए तत्पश्चात् उस भूमि के ऊपर गृह बनाना चाहिए

पीछे जैसे लडके-लडकियो के विवाह मे राशि, गण, नाडी आदि का मिलान किया जाता है वैसे भूमि का क्षेत्रफल, आय, व्यय, राशि, गण, नाडी आदि गृहस्वामी के साथ मिलाये जाते है उसी के अनुसार अच्छे शुभ मुहूर्त मे चद्रमा आदि का बल देख करके मकान तैयार किया जाता है. धन, मीन, मिथुन और कन्या इन सूर्य की राशियो में कभी भी गृह का आरभ नही किया जाता

गृहभूमि की लबाई और चौडाई का गुणाकार करने से जो गुणनफल हो उसको क्षेत्रफल कहा जाता है. उसको आठ से भाग देने पर जो शेष बचे वह गृह का 'आय' होता है क्षेत्रफल को फिर आठ से गुणा करके उसमे सत्ताईस मे भाग देने पर जो शेप बचे वह गृह का 'नक्षत्र' होता है. जो नक्षत्र की सख्या आवे उसको आठ से भाग देने से जो शेष बचे वह 'व्यय' माना जाता है आय के अक मे व्यय कर अक कम हो तो वह घर लक्ष्मीप्रद माना है

शाला, अलिद (तिवारा), दीवार, स्तभ, मडप, जाली और गवाक्ष आदि के भेदो से अनेक प्रकार के गृह वनाये जाते है. शास्त्र मे गृहो के सोलह हजार तीन सौ चौरासी भेद बतलाये है.

गृह के चारो दिशाओ के द्वारो के नाम अलग-अलग है—पूर्व दिशा के द्वार का नाम विजयद्वार, दक्षिणदिशा के द्वार का नाम यमद्वार, पश्चिम दिशा के द्वार का नाम मकरद्वार और उत्तर दिशा के द्वार का नाम कुबेर द्वार है इनमे से अपनी इच्छानुसार वना सकते है

गृह का स्थान-विभाग भी बतलाया गया है—गृह का जिस दिशा में द्वार हो उसको पूर्व दिशा मान करके विभाग बनाते है—द्वारवाली पूर्वदिशा मे ज्ञानशाला, अग्निकोने मे भोजन बनाने का स्थान, दक्षिण दिशा मे शयन-गृह, नैर्ऋत्यकोने मे निहार (शौच) स्थान, पश्चिम दिशा मे भोजन करने का स्थान, वायु कोने मे आयुध रखने का स्थान, उत्तर मे धन रखने का स्थान और ईशान कोने मे धर्मस्थान रखा जाता है

गृह के प्रथम मजिल तक की ऊँचाई पाँच से सात हाथ[१] तक रखना लिखा है गृह का विस्तार जितने हाथ का होवे, उस सख्यातुल्य अगुल मे साठ अगुल मिलाने से जितनी सख्या आए उतने अगुल परिमित द्वार की ऊँचाई रखें और ऊँचाई से आधी चौडाई रखे चौडाई कुछ वढाना चाहे तो ऊँचाई का सोलहवाँ भाग चौडाई मे मिला सकते है गृह के सव द्वार, गवाक्ष और जाली आदि का मथाला वराबर रखा जाता है

---

१. प्राचीन समय मे अगुल और हाथ से नापने की प्रणाली थी, अग्रेजी राज्य होने के वाद इच फुट और गज आदि से नापने की प्रणाली हुई. इसलिये आधुनिक गृह बनाने वाले शिल्पी अगुल को एक इच और हाथ को दो फुट मान करके कार्य करते है

गृह मे प्रवेश करने के चार प्रकार वतलाये है

१ गृह का द्वार और प्रथम प्रवेश द्वार, ये दोनो एक ही दिशा मे वरावर सामने हो तो उसको 'उत्सग' नामका प्रवेग माना है यह सौभाग्यकारक, प्रजावृद्धिकारक और धनधान्य का वृद्धिकारक है

२. प्रवेश द्वार से प्रविष्ट होने के वाद वाँयी ओर हो करके मुख्य गृह मे प्रवेश हो तो वह 'हीन वाहु' नाम का प्रवेश माना है यह स्वल्प धन वाला, स्वल्प मित्र वाला और रोगकारक माना है.

३ प्रवेश द्वार से प्रविष्ट होने के वाद दाहिनी ओर होकर के मुख्य गृह मे प्रवेश होना 'पूर्ण वाहु' प्रवेश माना है यह धन-धान्य की और पुत्रपौत्र का वृद्धि कारक है

४. प्रथम गृह के पीछे की दीवार को देख करके पीछे प्रवेश होवे यह 'प्रत्यक्षाय' नाम का प्रवेश माना है, यह सर्वथा निंदनीय है

गृह की ऊँचाई चारो दिशाओ मे वरावर रखना चाहिए यदि आगे के भाग मे गृह ऊँचा हो और तीनो दिशाओ मे नीचा हो तो वह गृह धन का हानिकारक होता है दाहिनी ओर ऊँचा हो तो धन समृद्धि वढाने वाला माना है पीछे के भागमे ऊँचा हो तो समृद्धि वढाने वाला है और वाँयी और ऊँचा हो तो वह गृह शून्य रहता है.
गृह मे मुख्य सात प्रकार के वेध वतलाये है—जैसे

'तलवेह' कोणवेहं तालुयवेहं कवालवेहं च ।
तह थंभ तुलावेहं दुवारवेह च सतमयं ।'

तलवेध, कोणवेध, तालुवेध, कपालवेध, स्तभवेध, तुलावेध और द्वारवेध-ये सात प्रकार के वेध है

१. गृह की भूमि सम विपम ऊँची नीची हो, द्वार के सामने घानी, अरहट, कोल्हू आदि हो और दूसरे के मकान का पानी का परनाला अथवा रास्ता हो तो यह तलवेध माना जाता है

२ मकान के चारो कोने समानान्तर न हो आगे पीछे हो तो वह कोणवेध है

३ मकान के एक ही खड मे ऊपर की छत की पट्टियाँ ऊँची नीची हो तो यह तालुवेध माना है

४ द्वार के ओतरग के मध्य भाग मे पाट आवे तो उसको कपालवेध कहते है.

५. गृह के मध्य भाग मे एक स्तभ हो अथवा अग्नि और पानी का स्थान हो तो यह हृदयशल्य अथवा स्तभ वेध कहा जाता है

६ मकान के नीचे के और ऊपर के मजिल के पटिया न्यूनाधिक हो तो यह तुलावेध माना है

७ मकान के दरवाजे के सामने कोई वृक्ष, कुआँ, स्तभ, कोना और कील आदि हो तो यह द्वारवेध कहा जाता है. पन्रतु मकान की ऊँचाई से दुगुनी भूमि छोड करके उपर्युक्त कोई वेध हो तो दोप नही माना जाता

इन वेधो का फल वास्तुशास्त्र वत्थुसारपयरण मे इस प्रकार लिखा है—

'तलवेहि कुट्ठरोगा हवति उच्चेय कोणवेहम्मि ।
तालुयवेहेण' भयं कुलक्खयं थभवेहेण ।
कापालु तुलावेहे धणनासो हवइ रोरभावो अ ।
इअ वेहफलं नाउ सुद्धं गेह करेअव्व ।'

तलवेध से कुष्ठरोग, कोण वेध से उच्चाटन, तालुवेध से भय, स्तभ के वेध से कुलक्षय, कपाल और तुलावेध से धन का विनाश और दरिद्र भाव होता है

यह भी वतलाया गया है—दूसरे के मकान मे जाने के लिये अपने मकान मे से रास्ता हो तो विनाशकारक है वृक्ष का वेध हो तो सतात की वृद्धि न हो कीचड़ का वेध हो तो शोक हुआ करता है. परनाले का वेध हो धन का विनाश



होता है. कुआँ का वेध हो तो अपस्मार रोग हो शिव, सूर्य आदि किसी देव का वेध हो तो गृहस्वामी का विनाश होता है स्तभ का वेध हो तो स्त्री को कष्टदायक रहे. ब्रह्मा के सामने द्वार हो तो कुल का विनाश हो. गृह के समीप काटेवाले वृक्ष हो तो शत्रु का भय रहता है. दूधवाले वृक्ष हो तो लक्ष्मी का विनाश होता है और फलवाले वृक्ष होने से सतान वृद्धि नही होती यह वृहत्सहिता ग्रथ मे कहा है

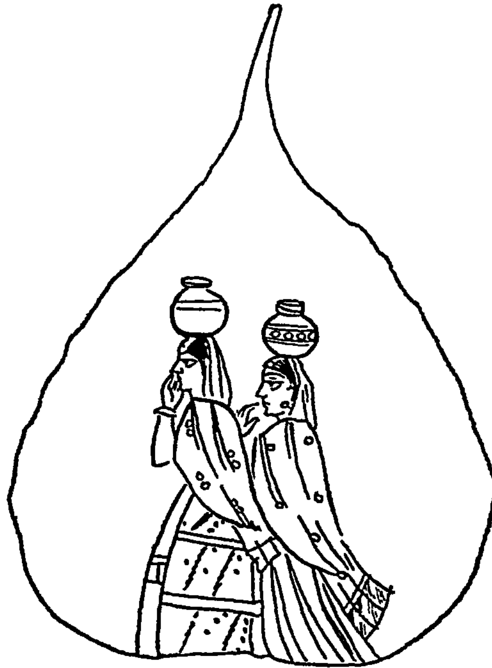
मकान मे विजोरा, केला, दाडिम, नीबू, अमरूद, इमली, बव्वूल बेर, और पीलेफूल वाले वृक्ष इत्यादि वृक्ष नही बोने चाहिए क्योकि ये वृक्ष कुल के लिए हानिकारक माने जाते है

मकान मे योगिनियो के नाट्यारम्भ, महाभारत, रामायण, राजाओं के युद्ध, ऋषियो और देवो के चरित्र सवधी चित्र नही बनाना चाहिए परन्तु फलवाले वृक्षो, पुष्पो की लताओ, सरस्वती देवी, नवनिधान युक्त लक्ष्मीदेवी, कलश, स्वस्तिकादि मागलिक चिह्न और अच्छे स्वप्नो की पक्ति आदि के चित्र बनाना चाहिए

उपर्युक्त जो वेध आदि सवन्धी दोष बतलाते है वे दोनो के बीच मे दीवार अथवा रास्ते का अन्तर होने पर दोष नही रहते.

जिस मकान का द्वार बन्द करने के बाद अपने आप खुल जाय अथवा खोलने के बाद अपने आप वद हो जाय तो वह अशुभ माना गया है

यहाँ वास्तुशिल्प कला के आधार पर गृह सम्बन्धी कुछ गुण दोष बतलाये हैं यह भारतीय प्राचीन सस्कृति है. आधुनिक समय मे शिल्पियो को इसका अभ्यास नही होने से नवीन पद्धति से मकान बनाने लगे है. उनमे दोषो की सभावना होने से वे उन्नतिकारक नही हो सकते, यह प्राचीन शिल्पविधान का अभिमत है.





श्रीअनूपचन्द
न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, जयपुर

१८वीं शताब्दी की क्रान्तिकारी साहित्यकार : महापंडित टोडरमलजी

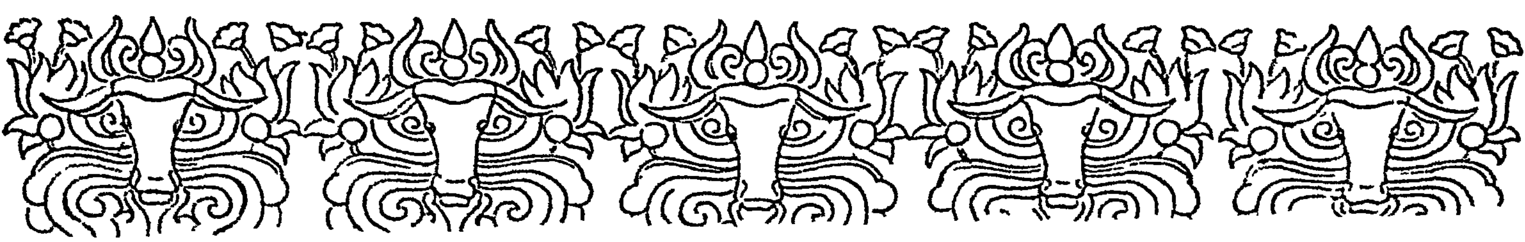
महापडित टोडरमलजी राजस्थान के क्रातिकारी साहित्यसेवी थे ये १८ वी शताब्दी के प्रसिद्ध विद्वान् एव उच्चकोटि के गद्यसाहित्यकार थे अपनी अपूर्व एव असाधारण प्रतिभा के कारण उन्हे 'महापडित' के नाम से पुकारा जाता है. प्राकृत एव सस्कृत भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार था, इसलिए जो कुछ लिखते उसे मानो यत्रवत् लिखते वे केवल २८ वर्ष तक ही जीये किन्तु इतने से अल्प काल मे ही उन्होने इतना अधिक साहित्य रच डाला कि जिसे देखकर बडे-बडे विद्वानो को दाँतोतले अगुली दबानी पडती है इनके समय मे समाज मे कोई प्रभावशाली नेता नही था भट्टारको का भी समाज पर कोई खास प्रभाव नही था वे विद्वत्ता से शून्य होकर शिथिलाचार के पोषक बन गये थे समाज को एक नयी दिशा की आवश्यकता थी वह ग्रथो का स्वाध्याय करना चाहती थी किंतु प्राकृत एव सस्कृत मे होने के कारण वे उनकी स्वाध्यायशक्ति के बाहर हो गये थे समाज मे अन्य कोई जबरदस्त एव प्रतिभाशाली विद्वान् नही था जो उसे नयी दिशा की ओर मोड सके यही नही, विद्वान् होने की परपरा को भी बन्द किया जाने लगा था स्त्री-शिक्षा तो नाम मात्र की भी नही रही थी मदिरो का उपयोग स्वाध्याय भक्ति एव पूजा पाठ करने के साथ-साथ जीमने एव ताश, चौपड आदि खेलने मे भी होने लगा था

जन्म :—ऐसे सक्रामक काल मे पडित टोडरमलजी का जन्म वि० स० १७९७ में जयपुर के प्रसिद्ध ढोलाका वश मे हुआ ये जाति के खडेलवाल एव गोत्र से गोदीका (भावसा या बडजात्या) थे पडित जी के पिता का नाम जोगीदास एव माता का नाम रभाबाई था पडितजी के शब्दो मे ही अपने माता-पिता का नामोल्लेख देखिये—

> 'रंभापति स्तुत-गुन-जनक जाको जोगीदास
> सो ही मेरो प्राण है धारे प्रकट प्रकास ।।'

इनके पिता चाकसू के रहने वाले थे और जयपुर नगर की स्थापना के साथ ही यहाँ आकर रहने लगे थे.

शिक्षाः—प्रारभ से ही बालक टोडरमल की शिक्षा एव बौद्धिक विकास का पूरा ध्यान रखा गया उनके अध्ययन के लिये समुचित प्रबध किया गया किन्तु इन की विलक्षण बुद्धि एव अद्भुत् स्मरण शक्ति के कारण अपने शिक्षक से भी अधिक जान लेते और पढाये हुए पाठ से भी अधिक उन्हे सुना देते १० वर्ष की अवस्था मे ही ये बडे-बडे सिद्धातग्रन्थ समझने लगे कहा जाता है, उन्हे पढाने को काशी से जो विद्वान् आये थे उनसे केवल छह माह मे सारा जैनेन्द्रव्याकरण पढ डाला अपनी अलौकिक प्रतिभा एव विलक्षण बुद्धि के कारण उन्हे एक बार पढने से सब कुछ याद हो जाता था ये एक-एक शब्द के अनेक अर्थ निकालते और अपने शिक्षक को सुनाया करते टोडरमलजी के मुख्य गुरु वशीधरजी थे वे जयपुर के दि० तेरहपथियो के बडे मदिर मे शास्त्र पढा करते थे कहा जाता है कि एक बार उनमे शास्त्रार्थ करने एक बाहर का विद्वान् आया. उस समय वशीधर जी मदिर मे शास्त्र पढ रहे थे और अन्य श्रोताओ के साथ टोडरमलजी



भी शास्त्रश्रवण कर रहे थे. आया हुआ विद्वान् टोडरमलजी के पास बैठा और धीरे से उनसे वक्ता का नाम पूछा. वशीधर नाम बताने पर उसने वक्ता से कहा कि उनका विना बशी के बशीधर नाम कैसा ? यह सुन कर वक्ता द्वारा उत्तर दिये जाने के पूर्व ही टोडरमलजी ने उत्तर देने की आज्ञा माँगी और बशीधर शब्द के १७ अर्थ कर डाले और कहने लगे कि बोलिये आप किस वशीधर को पूछते है ? टोडरमलजी द्वारा दिये गये प्रत्युत्तर को सुनकर वह विद्वान् हक्का-बक्का रह गया और अपने पोथी पन्ने लेकर चलता बना. वह कहने लगा—जहाँ श्रोता ही ऐसे है वहाँ वक्ता कैसा होगा ?

प्राचीन ग्रन्थों का स्वाध्याय —पडितजी ने न्याय, व्याकरण, गणित आदि उपयोगी विषयो को प्रारभ मे पढा था ज्यो ही इनमे उनका प्रवेश होने लगा त्यो ही उन्होने समयसार, पचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार, गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकसार, पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय, आत्मानुशासन आदि सिद्धातग्रथो एव उनकी टीकाओ का अनुशीलन किया श्रावक तथा मुनियो के आचारग्रथो का गंभीर अध्ययन कर उनके रहस्य को समझा

गार्हस्थ्य जीवन :—आपने गृहस्थी मे रहते हुए जितना कार्य किया, सभव है उतना अन्य कोई घर छोडकर सन्यासी बनने पर भी नही कर सका होगा आपने १७ वर्ष की उम्र मे गृहस्थी का भार सभाला और उसी वर्ष विवाह हुआ १८ वे और २१ वें वर्ष मे आपके क्रमशः हरिचन्द्र और गुमानीराम पुत्र हुए. हरिचन्द्र के कोई उल्लेखनीय कार्यो का विवरण नही मिलता. दूसरा पुत्र गुमानीराम प्रभावशाली विद्वान् एव कर्मठ पुरुष था पिता की तरह शिथिलाचार के विरुद्ध जीवनभर लडकर उसने गुमानपथ (शुद्धाम्नाय) स्थापित किया जो उन के नाम पर अब तक प्रचलित है और इसका मुख्य स्थान बधीचन्द जी का मदिर है, जहाँ स्वय प० टोडरमलजी ग्रथरचना किया करते थे और जहाँ आज भी स्वय पडितजी के हाथ से लिखे गये मोक्षमार्गप्रकाश एव आत्मानुशासन की दर्शनीय पाण्डुलिपियाँ है. पडितजी घर मे ही जल से भिन्न कमलवत् रहते हुए अनासक्त या निर्लिप्त रहे और एकाग्रता तथा पूर्ण निष्ठा के साथ अपना कार्य करते रहते

कहा जाता है कि माता रभादेवी ने पुत्र को ग्रथरचना मे तल्लीन देख शाक में नमक डालना बद कर दिया और पुत्र को कुछ पता भी नही लगा छह महीने बाद गोम्मटसार की टीका पूर्ण हो जाने पर पुत्र ने एक दिन कहा—'माता, क्या शाक मे आज नमक नही डाला ?' माता ने बतलाया कि आज ही क्या, छह महीने से नही डाल रही हूँ वास्तव मे कार्य मे तल्लीन होने पर ऐसा ही होता है इससे पडितजी की अलौकिक प्रतिभा, कार्यशीलता एव तल्लीनता का पता चलता है.

साहित्य-निर्माण :—महापडित टोडरमलजी ने साहित्य की जो अपरिमित सेवा की थी वह उनके जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी वे केवल २८ वर्ष तक ही जीवित रहे, लेकिन इतने अल्प समय मे ही उन्होने जो साहित्य लिखा वह वयोवृद्ध साहित्यसेवियो को भी स्वयमेव नतमस्तक करने वाला है टोडरमलजी प्रतिभाशाली साहित्यकार थे इसलिए जो भी उनके सम्पर्क मे आया वह स्वय भी साहित्यकार बन गया उनकी विवेचनाशक्ति अपूर्व थी किसी भी वस्तु या तत्त्व की विवेचना करते समय उनकी गहराई तक पहुँचते और अपने विवेचन से पाठको को स्तभित कर देते १४ वर्ष की अवस्था मे मुलतान के अध्यात्मप्रेमियो के नाम एक रहस्यपूर्ण चिट्ठी लिखी वह इनकी विद्वत्ता की प्रथम परिचायक थी. इसी चिट्ठी को पढकर भाई रायमल्ल अत्यधिक प्रभावित हुए और उनसे प्राकृतभाषा मे निबद्ध गोम्मटसार आदि महान् सैद्धातिक ग्रथो की हिन्दी टीका करने का आग्रह किया और उन्ही की प्रेरणा से गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकसार आदि ग्रथो की ३८००० श्लोक प्रमाण टीका का कार्य तीन ही वर्ष मे समाप्त कर दिया ऐसी महान् साहित्यसेवा केवल उन जैसे प्रतिभासम्पन्न विद्वान् से ही सभव हो सकती थी. वैसे उनका तीन वर्ष मे स्वाध्याय करना भी साधारण पाठक की शक्ति से बाहर है. इसके पश्चात् उन्होने आत्मानुशासन, पुरुपार्थसिद्ध्युपाय, एव मोक्षमार्गप्रकाशक जैसी महत्त्वपूर्ण कृतियो की रचना प्रारभ की लेकिन इनमें से अतिम दो रचनाओ को पूरा भी नही कर पाये थे कि कालकवलित हो गये. देश का एव समाज का यह घोर दुर्भाग्य था यदि वे साधारण आयु (५०-

६० वर्ष) भी पा जाते तो न जाने कितने महत्त्वपूर्ण ग्रथो की रचना और कर जाते और उस समय जैन साहित्य का इतिहास एक दूसरी ही कलम मे लिखा जाता मोक्षमार्गप्रकाशक उनकी स्वतत्र रचना है यह एक सिद्धानग्रथ है. इसमे मोक्ष की प्राप्ति का यथार्थ उपाय वतलाया गया है पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की अधूरी हिन्दी टीका को इनकी मृत्यु के पश्चात् तत्कालीन प्रसिद्ध साहित्यकार प० दौलतराम कासलीवाल ने पूर्ण किया मूल ग्रथ आचार्य अमृतचन्द्र का है जो सस्कृतभाषा मे निवद्ध है और जिसमे चारित्रविपयक अहिंसादि पाँच व्रत, सप्त शील एव सल्लेखना आदि का सुन्दर वर्णन किया गया है ग्रथ मे हिंसा अहिंसा का सूक्ष्म एव विस्तृत विवेचन हुआ है प्रारभ मे आत्मा ही को पुरुष मान कर उस के द्वारा शुद्ध चैतन्य की प्राप्ति को ही कार्यसिद्धि वतलाया है. इसी तरह गोम्मटसार भी उच्चस्तर का सैद्धातिक ग्रथ है जो जीवकाण्ड एव कर्मकाण्ड इन दो खण्डो मे विभक्त है लब्धिसार मे आत्मशुद्धि रूप दश लब्धियो को प्राप्त करने एव क्षपणासार मे कर्मो के क्षय करने की विधि को समझाया गया है त्रिलोकसार मे जैन मान्यतानुसार तीन लोको का विस्तृत वर्णन है.

उक्त सभी ग्रथ यद्यपि सैद्धातिक एव गभीर अध्ययन की अपेक्षा रखने वाले है लेकिन टोडरमलजी ने उन्हे अत्यधिक सरल एव सुवोध भाषा मे समझाया है उनकी भाषा राजस्थानी ढूढारी (गद्य) है जिस पर थोडा व्रज भाषा का भी प्रभाव है इनकी भाषा मे मधुरता एव आकर्षण है उस समय इन ग्रथो की समाज मे इतनी आवश्यकता थी कि जैसे ही टोडरमलजी ग्रथ लिखते उसकी पचासो प्रतियाँ होकर हाथो-हाथ राजस्थान के ही नही किंतु देहली, उत्तरप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, पजाब आदि प्रातो मे पहुँच जाती और जन साधारण उनका वडे उत्साह से स्वाध्याय करते राजस्थान के बहुत से भण्डारो मे आज भी उनके ग्रथो की हस्तलिखित कितनी ही प्रतियाँ मिलती है. इनके ग्रथो की भाषा के तीन उदाहरण देखिये —जिनके पढने से ग्रथ की शैली और भाषा दोनो का अच्छी तरह परिचय मिल सकता है

"जैसे कोउ साचे मोतिनि के गहने विषै झूठे मोती मिलावे परन्तु झलक मिले नाही ताते परीक्षा करि पारखी ठिगावे भी नाही. कोई भोला होय सोही मोती नाम करि ठिगावे है वहुरि ताकी परपरा भी चले नाही, शीघ्र ही कोउ झूठे मोतिनिका निषेध करे है तैसे कोउ सत्यार्थ पदनि के समूह रूप जैन शास्त्रनि विषै असत्यार्थ पद मिलावे परन्तु जिनशास्त्र के पदनि विषै तो कपाय मिटावने का वा लौकिक कार्य घटावने का प्रयोजन है और उस पापी ने जे असत्यार्थ पद मिलाए हैं तिनि विषै कपाय पोषने का वा लौकिक कार्य साधने का प्रयोजन है ऐसे प्रयोजन मिलता नाही तातै परीक्षा करि ज्ञानी ठिगावते भी नाही कोई मूरख होय सोहि जैन शास्त्र नामकरि ठिगावे"

—मो० प्र० पृष्ठ ५८.

"भाई बन्धु तो उनका नाम है जो अपना किछू हित करै सो तू जिनि को भाई वधु मानै है सो इन ने किछू हित किया होय सो वताय जातें तेरा मानना साच होइ बहुरि हम को तो केवल इनिका इतना ही हित करना भासै है जो वैरी का बैरी होय ताको अपना हितू कहिये है सो तेरा वैरी शरीर था सो तेरे मुए पीछे मिलि करि इनू ने शरीर को दग्ध किया तेरे बैर का वदला लिया ऐसे इहा युक्ति करि कुटुम्वते हित होता न जानि राग न करना ऐसी शिक्षा दई है'

—आत्मानुशासन श्लोक २३

जो जीव अर्हंतादिकनि करि उपदेश्या हुआ ऐसा जो प्रवचन कहिये आप्त आगम पदार्थ ये तीन ताहि श्रद्धाति कहिये श्रद्धै है, रोचै है वहुरि तिनि आप्तादिकनि विषै असद्भाव कहिये अतत्व अन्यथा रूप ताको भी अपने विशेष ज्ञान का अभाव करि केवल गुरु ही का नियोगतै जो इस गुरु नै कह्या सोइ अर्हत की आज्ञा है ऐसी प्रतीतितै श्रद्धान करै है तो भी सम्यग्दृष्टि ही है जातै तिस की आज्ञा का उल्लंघन नाही करै है। भावार्थ-जो अपने विशेष ज्ञान न होइ वहुरि जैन गुरु मदमति ते आप्तादिक का स्वरूप अन्यथा है, अर यहू अर्हंत की ऐसी ही आज्ञा है ऐसे मानी जो असत्य श्रद्धान करै तो भी सम्यग्दृष्टि का अभाव न होई जातै इसने तो अर्हंत की आज्ञा जानि प्रतीति करी है"—गोम्मटसार गाथा २५.

शास्त्र-सभा.—आचार्यकल्प प० टोडरमलजी १८ वी शताब्दी के एक क्रातिकारी साहित्यसेवी थे जैसा कि पहले कहा



जा चुका है, उनके समय मे समाज नेतृत्वहीन था एव भट्टारको का भी कोई खास प्रभुत्व नही था. धार्मिक एव सामाजिक क्षेत्र में शिथिलाचार घर कर गया था यह सब कुछ पडितजी की सहनशक्ति के बाहर था असाधारण विद्वत्ता के कारण आपका नाम छोटीसी अवस्था मे ही सर्वत्र फैल गया था. आप जयपुर के १३ पथियो के बडे मदिर में शास्त्र प्रवचन करते थे एव स्थानीय सैंकडो श्रावक शास्त्रश्रवण करने आते थे. आपकी विद्वत्ता एव विवेचन शक्ति की धाक इतनी फैल गई थी कि बाहर के लोग भी तत्वचर्चा सीखने यहाँ आते थे बसवा निवासी पडित देवीदास गोधा भी कुछ दिनो के लिए आपके सान्निध्य में रहे थे भाई रायमल्ल की चिट्ठी से ज्ञात होता है कि इन प्रवचनो का लाभ उठाकर सैंकडो भाई उस समय गोम्मटसारादि सिद्धात ग्रंथो की गूढ़ चर्चाएँ समझने लगे थे. कुछ बाइयाँ भी पढने एव तत्त्वचर्चा करने लगी थीं पडितजी के प्रवचनो से लोग धर्म का असली स्वरूप समझने लगे थे.पडितजी को अज्ञानी भाइयो की धर्मविरुद्ध क्रियाएँ देखकर दु ख हुआ और उनके हृदय मे एक ठेस लगी उन्होने पाखण्ड के विरुद्ध आवाज उठाई. वे निर्भीक लेखक एव वक्ता थे स्वय परम्परागत आम्नाय[1] का मोह छोडा और सत्य को परखा अपने द्वारा रचित मोक्षमार्ग-प्रकाश मे सूक्ष्म और स्पष्टरूप से जैनो के पाखण्ड की आलोचना की भट्टारको एव मुनियो के शिथिलाचार का खुलकर विरोध किया सभव है इन्ही कारणो से समाज के काफी लोग उनसे नाराज थे धार्मिक जगत मे उनकी धाक बैठ गयी थी. उनके वचन आचार्यो की तरह प्रामाणिक माने जाने लगे भूधर मिश्र की चर्चासमाधान की स० १८१५ की प्रति पर, जो बडा मदिर तेरह प थियो के भडार मे है, लिखा है कि इस ग्रथ को जयपुर में प० टोडरमलजी ने पढा है इसके २०-३० प्रश्नो का उत्तर तो आम्नाय के अनुसार है शेष उत्तर आम्नाय से मिलता नही है टोडरमलजी भूधरमलजी से विशेष योग्यता वाले है, उन्होने ६०,००० श्लोक प्रमाण ग्रथो की टीका लिखी है इसलिए उनके वचन प्रमाण है, उन्ही के अनुसार प्रवृत्ति करनी चाहिए. उनके समय में सवत् १८२१ मे जयपुर में एक 'इन्द्रध्वज' पूजा समारोह भी मनाया गया था जिसकी विस्तृत जानकारी भाई रायमल्ल की चिट्ठी मे देखे उससे ज्ञात होगा कि पडितजी की असाधारण विद्वत्ता का कितना मूल्य था राज्य में भी उनकी मान्यता थी

मृत्यु:—यह सब कुछ होने पर भी उनकी मृत्यु एक असाधारण एव अद्वितीय रोमाचकारी घटना थी. सवत् १८२३-२४ मे शैवो ने जयपुर मे षड्यन्त्र रचा. उसमें सभी जैनो को तो कष्ट हुआ ही, किन्तु टोडरमलजी की मृत्यु की दु खद घटना भी हुई. सवत् १८१८ मे श्यामनारायण तिवारी राज-गुरु बना उसने जैनो पर बडे उपद्रव किये तथा सैंकडो मदिर नष्ट किये. यह उपद्रव डेढ वर्ष तक रहा इसके बाद फिर मिति मगसर बदी २ सवत् १८२४ को राज्य की ओर से जैन मदिरो को यथावत् रहने देने का हुक्म[2] जारी हुआ पुन धर्म की प्रभावना हुई विरोधियो के हृदय मे द्वेष की ज्वाला पुन भड़की इसी बीच शास्त्र श्रवण के लिये टोडरमलजी के पास कुछ अजैन भाई भी आने लगे थे इस प्रभाव को खत्म करने के लिये कार्तिक सुदी ५ स० १८२४ को शैवो ने एक शिवपिंड उखाड दिया और उसके लिये जैनो को बदनाम किया इस पर राजकीय कोप बढा और राजाज्ञा से जैनो के कुछ मुखिया कैद कर लिये गये उस घटना का वर्णन सागाको के मदिर के एक गुटके मे निम्न प्रकार है—"मिती काती सुदी ५ न महादेव की पिंडि सहँर माहि कछु अमारगी उपाडि नाखि तिहि परि राजा दोष करि सुरावग धर्म्या परि दड नाख्यौ" लोगो के बहकाने से तत्कालीन जयपुर नरेश (माधव सिंह जी प्रथम) षड्यन्त्र को नही समझ सके और पडितजी को प्राणदड की सजा दी कहा जाता है कि पडित जी को हाथी के पैर से कुचलवा कर उनके शव को रोडी मे गड़वा दिया इस प्रकार २८-२९ वर्ष की अवस्था मे ही महान् साहित्यसेवी प० टोडरमलजी सदा के लिये ससार से चल बसे. इनकी आकस्मिक मृत्यु से पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय एव मोक्षमार्गप्रकाशक अधूरे ही रह गये

पडितजी केवल अध्यात्म ग्रंथो के ही रसिक नही थे किन्तु छद, अलकार, व्याकरण, गणित,सिद्धात दर्शन आदि के भी पूरे जानकार थे आपकी भाषा में सरलता, सरसता एव मधुरता है और पद-पद मे 'सत्य शिव सुन्दर' के दर्शन होते है बोल चाल की भाषा में पाठको से तत्त्वचर्चा करते हुए आगे बढना आपका विशेष गुण था

१. वीरवाणी वर्ष १ अक-१९-२१ पृष्ठ २८४

२. पडित जी मूलत. बीस पन्थी थे किन्तु बाद में वे सुधारक (तेरह पन्थी) शुद्धाम्नाय के बन गये.



जैनाचार्य श्रीविजयेन्द्र सूरीश्वरजी
विद्याभूषण, विद्यावल्लभ, इतिहास तत्त्व-महोदधि

तुम्बवन और आर्य वज्र

जैन-ग्रन्थो मे आर्य वज्र का नाम बडे महत्त्वपूर्ण शब्दो मे लिया गया है 'श्रीदुसमा-काल समणसघ थये' मे दिये प्रथमोदययुगप्रधान यत्र मे वे सुधर्मास्वामी के १८वे युगप्रधान पट्टधर बताये गये है और लिखा है कि उन्होने ८ वर्ष गृहवास किया, ४४ वर्ष व्रतपर्याय पाला, ३६ वर्ष युगप्रधान रहे और इस प्रकार ८८ वर्ष ७ मास ७ दिन की सर्वायु वितायी.[1] भगवान् महावीर से ५४८ वर्ष पश्चात् उनका निधन हुआ[2]

जैन ग्रथो मे सर्वत्र आर्य वज्र का जन्मस्थान तुम्बवन बताया गया है. उनमे से कुछ का प्रमाण हम यहाँ दे रहे है

१ तुंबवणसंनिवेसाओ निग्गयं पिउसगासमल्लीणं, छम्मासियं छसु जयं माऊय समन्नियं वंदे ।७६५।
—आवश्यकनिर्युक्ति (दीपिका, भाग १, पत्र १३९-२).

२ तुम्बवणसण्णिवेसे धणगिरिणाम गाहावती —आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पत्र ३९०.

३. अवती जणवए तुम्बवणसन्निवेसे धणगिरी नाम इब्भपुत्तो
—आवश्यक हारिभद्रीय टीका, प्रथम भाग, पत्र २८९-१.

४. अवतीजणवए तुम्बवणसन्निवेसे धणगिरी नाम इब्भपुत्तो—आवश्यक मलयगिरि टीका, द्वितीय भाग पत्र ३८७-१.

५ तुम्बवनाख्यसंनिवेशान्निर्गत —आवश्यक निर्युक्तिदीपिका, भाग १, पत्र १३९-२

६ तुंबवणसन्निवेसे अवंतीविसयंमि धणगिरि नाम इब्भसुओ असि नियंगचगिमाविजियसुररूवो ॥११०॥
—उवएस माला सटीक, पत्र २०७

७ अस्त्यवन्तीति देशः क्ष्मासरसीसरसीरुहम् ।
यद्गुणग्रामरङ्गेण बद्धसख्ये रमागिरौ ।२७।
तत्र तुंबवनो नाम निवेश. क्लेशवर्जित.
।२८। —प्रभावक चरित्र, पृष्ठ ३

८ अस्यैव जम्बूद्वीपस्य भरतेऽवन्तिनीवृत्ति, आस्ते तुम्बवनमिति सन्निवेशनमद्भुतम् ।
—ऋषिमडलप्रकरण, पत्र १९२-१

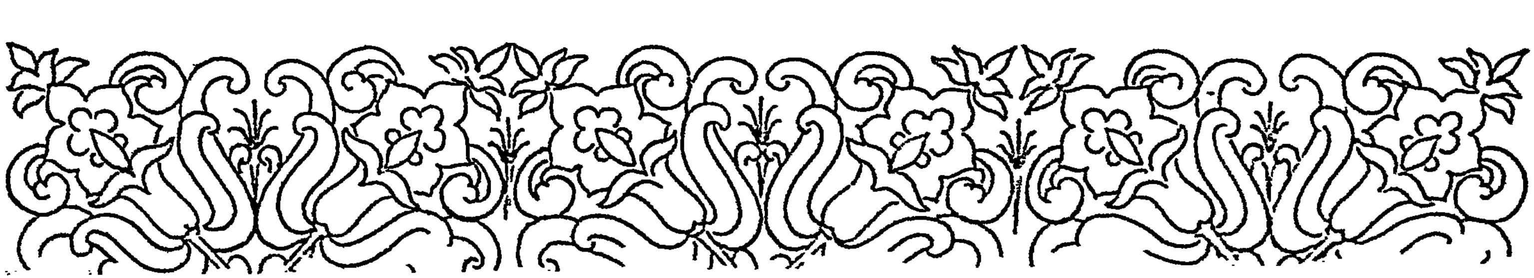
९. अवन्तिरिति देशोऽस्ति स्वर्गदेशीय-ऋद्धिभिः ।२।
तत्र तुम्बवनमिति विद्यते सन्निवेशनम्,
३ —परिशिष्ट पर्व, सर्ग १२, द्वितीय सस्करण पृष्ठ २७०

१०. थेरे अज्जवइरे त्ति तुम्बवनग्राम —कल्पसूत्र किरणावली, पत्र १७०-१.

११ तुम्बवन ग्रामे सुनन्दाभिधानां भार्यां साधानां मुक्त्वा धनगिरिणा दीक्षा गृहीता ।
—कल्पसूत्र सुबोधिका टीका, पत्र ५११.

---

१. पट्टावलीसमुच्चय प्रथम भाग पृष्ठ २३.
२. श्रीवीरादष्टचत्वारिंशदधिक पचशत ५४८ वर्षांते. —श्रीपट्टावलीसारोद्धार पट्टावलीसमुच्चय पृष्ठ १५०.



वज्रस्वामी के पिता धनगिरि इस तुम्बवन के रहनेवाले थे. उपर्युक्त प्रमाणो से यह स्पष्ट है कि यह तुम्बवन अवन्ति देश मे था

हम अवन्ति के सम्बन्ध में और तुम्बवन की स्थिति के सम्बन्ध में बाद मे विचार करेंगे. पहले यह देख ले कि इसका विवरण अन्य साहित्यो मे मिलता है या नही

बौद्ध-ग्रन्थों में तुम्बवन

तुम्बवन और उसकी स्थिति के सम्बन्ध मे बौद्ध-ग्रन्थो मे आये एक यात्राविवरण से अच्छा प्रकाश पडता है सुत्तनिपात मे बावरी के शिष्यो का यात्राक्रम इस प्रकार वर्णित है

बावरिं अभिवादेत्वा कत्वा च न पदक्खिणं, जटाजिनधरा सब्बे पक्कामुं उत्तरामुखा ।३५।
अलकस्स पतिट्ठानं पुरिमं माहिस्सतिं तदा, उज्जेनिं चापि गोनद्धं वेदिसं वनसव्हय ।३६।
कोसम्बिं चापि साकेतं सावत्थिं च पुरुत्तमं, सेतव्यं कपिलवत्थुं कुसिनारं च मंदिरं[1] ।३७।
पाव च भोगनगरं वेसालिं मागधं पुरं, पासाणकं चेतियं च रमणीयं मनोरमं ।३८।

—सुत्तनिपात, पारायण वग्ग, वत्थुगाथा (भिक्खु उत्तम प्रकाशित, पृ १०८)

बावरी के शिष्य अल्लक से प्रतिष्ठान, माहिष्मती, उज्जैनी, गोनद्ध, विदिशा, वनसव्हय,[2] कोसबी, साकेत, सावत्थी, श्वेतव्या, कपिलवस्तु, कुशीनारा, पावा, भोगनगर, वैशाली होकर मगधपुर (राजगृह) गये

इसमे वनसव्हय पर टीका करते हुए ५-वी शताब्दी में हुए थेरा बुद्धघोष[3] ने इसे तुम्बवन अथवा वनसावत्थी लिखा है[4] वनसव्हय का शाब्दिक अर्थ हुआ—'जिसे लोग वन कहते थे'. इसकी टीका बुद्धघोष ने तुम्बव की 'व' का एक अर्थ 'सम्बोधन'[5] भी है अर्थात् जो 'तुम्ब' नाम से सम्बोधित होता था इसका दूसरा नाम बुद्धघोष ने वनसावत्थी लिखा है इससे स्पष्ट हो गया कि तुम्बवन अवन्तिराज्य में विदिशा वर्तमान भेलसा के बाद कोसबी के रास्ते मे था

वैदिक ग्रंथों मे तुम्बवन

वराहमिहिर की वृहत्सहिता मे भी तुम्बवन[6] का उल्लेख आया है

---

१. राहुल साकृत्यायन ने कुशीनारा और मदिर को पृथक् माना है. पर 'मदिर का अर्थ नगर होता है. यह कुशीनारा के लिए ही प्रयुक्त हुआ है इसके लिए हम यहा कुछ प्रमाण दे रहे है :
(अ) मन्दिरो मकरावासे मंदिरे नगरे गृहे. —हेमचन्द्राचार्य कृत अनेकार्थ सग्रह, तृतीय काड श्लोक ६२४, पृ० ६७.
(आ) अगारे नगरे पुर । १८३ । मदिर च'
अमरकोप, तृतीय काड, पृष्ठ २३५ (खेमराज श्रीकृष्णदास)
(इ) नगर मदिर दुर्ग, —भोजकृत समरागण सूत्राधार भाग १, पृष्ठ ८६.
(ई) मदिर-घर, देवालय, नगर, शिविर सयुद्ध-वृहत् हि० को० पृ० ९९२.

२. राहुल साकृत्यायन, आनदकोसल्यायन और जगदीश काश्यप-सम्पादित सुत्तनिपात के नागरी सस्करण में शब्द है 'वनसव्हय'. ऐसा ही पाठ हार्वर्ड ओरियंटल सीरीज, वाल्यूम ३७ में लार्ड चाल्मर्स-प्रकाशित सुत्तनिपात (पृ०२३८) में भी है. पाली इगलिश डिक्शनरी में भी सव्हय शब्द है. उसका अर्थ दिया है 'काल्ड' नेम्ड,' (पृष्ठ १५९) पर राहुल जी ने बुद्धचर्या (पृष्ठ ३५२) पर 'साव्हय' शब्द दिया है. यह पाठ कहीं भी देखने को नहीं मिला

३ द लाइफ ऐंड वर्क आव बुद्धघोष, ला लिखित, पृष्ठ ९

४. बारहुत वेणीमाधव वरुआ-लिखित, भाग १, पृष्ठ २८.

५ आप्टेज सस्कृत इगलिश डिक्शनरी —भाग ३, पृष्ठ १३७७, सस्कृतशब्दार्थकौस्तुभ, पृष्ठ ७२९.

६. वृहत्सहिता, पडितभूपण वी० सुब्रह्मण्य शास्त्री-सम्पादित; अ० १४, श्लोक १५, पृष्ठ १९२. 'वृहत्सहिता अर्थात् वाराहीसहिता दुर्गाप्रसाद द्वारा सम्पादित और अनुवादित, पृष्ठ ९९.

शिलालेखों में तुम्बवन

(१) साची के शिलालेखो मे सात स्थलो पर तुम्बवन का उल्लेख आया है

(अ) तुबवना गहपतिनो पतिठियस भातु ज (ा) याय धनय दानम्[1]
तुम्बवन के गृहपति पतिठिय(प्रतिष्ठित) के भाई की पत्नी धन्या का दान

(आ) तुबवना गहपतिनो पतिठिय (सु ि) न साय वेसमनदताए दानम्[2]
तुम्बवन के गृहपति की पुत्रवधू वैश्रमणदत्ता का दान

(इ) तुबवना गहपतिनो पतिठियस दानम्[3]
तुम्बवन के गृहपति प्रतिष्ठित का दान

(ई) तुबवना गहपतिनो पतिठियस दानम्[4]
तुम्बवन के गृहपति प्रतिष्ठित का दान

(उ) तुबवना गहपतिनो पतिठियस दानम्[5]
तुम्बवन के गृहपति प्रतिष्ठित का दान

(ऊ) नं दूत (र स) तो व (वनिकस्स)[6]
तुम्ब (वन) के निवासी नदुत्तर (नन्दोत्तर) का (दान)

(ए) वी र ए भि खु निया तोबवनिकाय दानम्[7]
तुम्बवन की साध्वी वीरा का दान

(२) तुम्बवन का उल्लेख तुमेन मे मिले एक शिलालेख मे भी है इस शिलालेख मे कुमारगुप्त के शासन-काल मे एक मदिर के बनवाये जाने का उल्लेख है[8] उस शिला लेख मे आता है

समानवृत्ता कृति (भाव धीराः) (कृता) लयास्तुम्बवने व (भू) वुः ।
अकारयंस्ते गिरि (श्रि) ङ्ग तुङ्ग , शशि (प्रभं) देवनि (वासहर्म्यम्) ।[9]

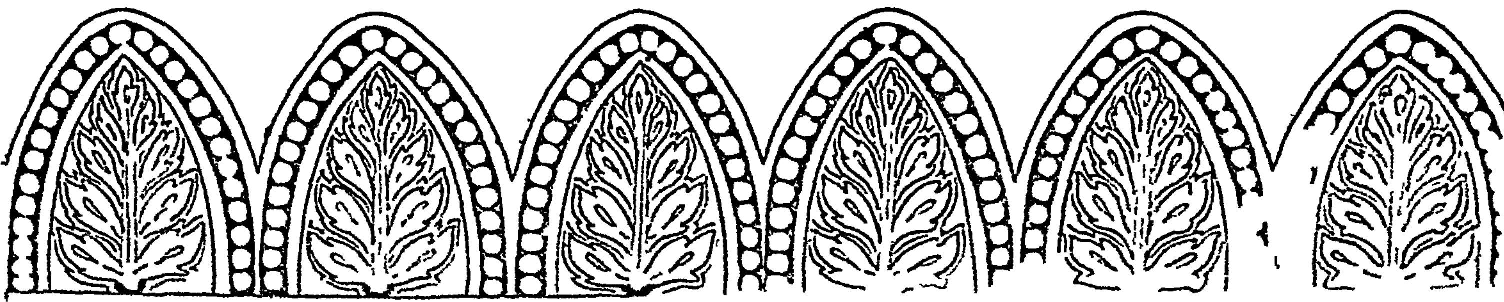
स्थान-निर्णय

जैन-ग्रथो मे स्पष्ट उल्लेख है कि यह तुम्बवन अवति जनपद मे था अवन्ति के सम्बन्ध मे हेमचन्द्राचार्य ने अभिधान-चिन्तामणि मे लिखा है

'मालवा स्युरवन्तयः'[10]

---

१. द मानुमेंट्स आव साची(सर चार्ल्स मार्शल तथा अल्फ्रेड फाउचर लिखित, विथ टेक्स्ट् आव इस्क्रिप्शन एडिटेड बाई एन०जी० मजूमदार एम्० ए०, आलेख-सख्या १६, पृष्ठ ३०१.
२ वही, आलेख-सख्या १७ अ, पृष्ठ ३०१
३ वही, आलेख-सख्या १८, पृष्ठ ३०१
४. वही, आलेख-सख्या २०, पृष्ठ ३०१
५ वही, आलेख-सख्या २१, पृष्ठ ३०२
६. वही, आलेख सख्या ७६४, पृष्ठ ३७८.
७ वही, आलेख-सख्या ३४६, पृष्ठ ३३५.
८. ग्वालियर राज्य के अभिलेख, पृष्ठ ७३
९. सिलेक्ट इस्क्रिप्शंस, खड १, दिनेश सरकार-सम्पादित १९४२, पृष्ठ ४६७.
१० अभिधानचिंतामणि भूमिकाड, श्लोक २२, पृष्ठ ३८१.



ऐसा ही उल्लेख (मालवा स्युरवन्तय)[१] अमरकोष मे भी है वैजयन्ती कोष में आता है :

दशार्णास्स्युर्वेदिपरा मालवास्स्युरवन्तयः[२]

इस मालव का उल्लेख जैन-आगमो में भी मिलता है भगवती सूत्र में जहाँ १६ जनपद गिनाये गये है, उनमें एक 'मालवगाण' का भी उल्लेख है[३] पर जैन-ग्रथो मे जहाँ २५॥, आर्य देशो का उल्लेख है, उनमे दशार्ण भी एक गिना जाता है[४] वहाँ मालव की गणना अनार्य देशो मे की गई है[५] भगवान् महावीर दशार्ण तो गये पर मालव वे कभी नही गये.

और, बौद्ध ग्रन्थो मे बुद्ध ने आर्य देश की सीमा इस प्रकार बतायी है :

"भिक्षुओ ! अवन्ति दक्षिणापथ में बहुत कम भिक्षु है, भिक्षुओ ! सभी प्रत्यन्त जनपदो में विनयधर को लेकर पाँच भिक्षुओ के गण से उपसम्पदा (करने) की अनुज्ञा देता हूँ यहाँ यह प्रत्यन्त जनपद है—पूर्व मे कजगल नामक निगम है, उसके बाद शाल (के जगल) है उसके परे 'इधर से बीच' मे प्रत्यन्त जनपद है पूर्व-दक्षिण दिशा मे सलिलवती नामक नदी है उससे परे इधर से बीच मे प्रत्यन्त जनपद है. दक्षिण दिशा में सेतकणिक नामक निगम है. पश्चिम दिशा मे थूण नामक ब्राह्मण गाम० उत्तर दिशा मे उसीरध्वज नामक पर्वत उससे परे प्रत्यन्त जनपद है."[६]

बुद्ध द्वारा निर्धारित इस सीमा मे मालव नही पडता और बुद्ध वहाँ गये भी नही वहाँ के राजा पज्जोत ने बुद्ध को आमन्त्रित करने के लिए कात्यायन को भेजा. कात्यायन बुद्ध का उपदेश सुनकर साधु हो गया बाद में जब बुद्ध को उसने राजा की ओर से आमन्त्रित किया तो बुद्ध ने कहा कि तुम्ही वहाँ जाकर मेरा प्रतिनिधित्व करो[७] इस प्रसग मे लिखा है—" शास्ता ने उनकी बात सुन बुद्ध (केवल) एक कारण से न जाने योग्य स्थान मे नही जाते, इसलिए स्थविर को कहा—"भिक्षु तू ही जा !"[८]

और अवन्ति के उल्लेख से तो भारतीय साहित्य भरा पडा है

वैदिक साहित्य मे अवन्ति

१. श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण मे जहाँ सीता को खोजने के लिए दूतो के भेजे जाने का उल्लेख है, वहाँ आता है—

---

१. अमरकोष, द्वितीय काड, भूमि वर्ग, श्लोक ६, पृष्ठ २७८

—खेमराज श्रीकृष्णदास बम्बई

२. वैजयन्ती कोष, भूमिकाड देशाध्याय, श्लोक ३७, पृष्ठ ३८

३ तजहा—१ अगाण, २ वगाण, ४ मगहाण, ४ मलयाण, ५ मालवगाणं, ६ अच्छाण, ७ वच्छाण, ८ कोच्छाण, ६ पाढाण, १७ लाढाण, ११ वज्जाण, १२ मोलीण, १३ कासीण १४ कोसलाण, १५ अवाहाण १६ सभुत्तराण.

—भगवती सूत्र, शतक १५, सूत्र ५५४, पृष्ठ २७.

४. वृहत्कल्पसूत्र सटीक विभाग ३, पृष्ठ ६१३ प्रज्ञापना सूत्र मलयगिरि की टीका सहित पत्र,५५-२ सूत्रकृताग सटीक. प्रथम भाग, पत्र १२२ प्रवचनसारोद्धम् सटीक, भाग, २ पत्र ४४-३।१-२.

५ (अ) सग जवण सवर बब्बर काय मुरू डोड्ड गोण पक्कणया । अरवाग होण रोमय पारस खस खासिया चेव ।७३।

दु विलय लउस बोक्कस भिल्लध पुलिद कुंच भमररुआ । कोवाय चीण चचुय मालव दमिला कुलग्घा या ।७४।

केक्कय किराय हयमुह खरमुह गयतुरय मिढयमुहा य । हयकन्ना गयकन्ना अन्नेऽवि अणारिया बहवे ।७५।

पावा य चडकम्मा अणारिया निग्घिणा निरणुतावी । धम्मोत्ति अक्खराइ सुमिणेऽवि न नज्जए जाण ।

—प्रवचन सारोद्धार, उत्तरार्द्ध, पत्र ४४५-२, ४४६-१.

(आ) प्रश्नव्याकरण सटीक पत्र १४-१ पण्णवणा (बाबूवाला) पत्र ५६-१

६. बुद्धचर्या, पृष्ठ ३७१ (१६५२ ई०).

७ डिक्शनरी आव पाली प्रापर नेम्स, भाग १, पृष्ठ १६३

८ बुद्धचर्या पृष्ठ ४५

आवंतीमवंतीश्च सर्वमेवानुपश्यत[1]

२. महाभारत मे इस प्रदेश के दो राजाओ-विंद और अनुविंद-का उल्लेख आया है. इनका सहदेव के साथ समर हुआ है ये कौरवो के पक्ष मे महाभारत मे लडे थे[2] द्रोणपर्व मे आया है कि अर्जुन ने इनको परास्त किया[3]

और उसके सम्बन्ध मे टी० आर० कृष्णाचार्य-सम्पादित महाभारत के उपोद्घात के साथ प्रकाशित वर्णानुक्रमणिका मे लिखा है

सेकापरखे कयोर्नर्मदायाश्च दक्षिणतो विद्यमानो मालवदेशान्तर्गतो देशः।

—वर्णानुक्रमणिका, (महाभारत), पृष्ठ १६

३ इनके अतिरिक्त कितने ही अन्य पुराणो मे अवन्ती नगर का उल्लेख है

(अ) अवन्ती नगरे रम्ये दीक्षितां ऋषिसत्तम., सत्कुलीनः सदाचारः शुभकर्मपरायण.।

—शिवपुराण, ज्ञान स० २५ अ०

(आ) अवन्त्यां तु महाकाल शिवं मध्यमकेश्वरे। —शिवपुराण सनत्कुमार स० ३१ अ०

(इ) अवन्तीनगरी रम्या मुक्तिदा सर्वदेहिनाम्, शिप्रा चैव महापुण्या वर्तते लोकपावनी।

—शिवपुराण, ज्ञान स० ४६ अ०

(ई) अवन्ती नगरी रम्या तत्रादृश्यत वै पुन. —शिवपुराण, ज्ञान स० ४६ अ०

(उ) स्कदपुराण मे तो एक पूरा अवन्ती खड है. उसमे आया है

अवन्तिकाया विहितावतार ।
अवन्ति पुण्यनगरी प्रतिकल्पोद्भवा शुभा।
अस्ति चोज्जयिनी नाम पुरी पुण्यफलप्रदा।
यत्र देवो महाकाल. सर्वदेवगुणैः स्तुत.।

(ऊ) गरुड-पुराण मे इसकी गणना ७ तीर्थस्थानो मे की गई है

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैताः मोक्षदायिकाः।

(ए) आज्ञा चक्रं स्मृता काशी या बाला श्रुतिमूर्धनि।
स्वधिष्ठान स्मृता काञ्ची मणिपूरमवन्तिका।
नाभि देशे महा कालस्तन्नाम्ना तत्र वै हर। —वाराह पुराण

(ऊ) श्रीमद्भागवत मे सन्दीपनि के आश्रम के प्रसग मे आया है

अथो गुरुकुले वासमिच्छन्तावुपजग्मतु, काश्यं सान्दीपनिं नाम ह्यवन्तीपुरवासिन'।

—श्रीमद्भागवत, द्वितीय भाग, दशम स्कध, अ० ४५, श्लोक ३१, पृष्ठ ४०३ (गोरखपुर)

---

१. श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण, किष्किधा काड,

२ विंदानुविन्दावावन्त्यौ सैन्येन महतावृतौ।
जिगाय समरे वीरावाश्विनेय प्रतापवान्॥ —महाभारत, सभापर्व, अध्याय ३१, श्लोक ११, पृष्ठ ५०.
महीपालो, महावीर्यैर्दक्षिणापथवासिभि।
आवन्त्यौ च महीपालौ महाबल-सुसवृतौ।२५. —महाभारत, उद्योग पर्व, अध्याय १६, श्लोक २५, पृष्ठ २५.

३ विन्दानुविन्दावावन्त्या विराट दशभि शिरैः।
आजघ्नतु सुस क्रुद्धौ तव पुत्रहितैषिणौ॥ —महाभारत, द्रोणपर्व, अध्याय ९३, श्लोक ४, पृष्ठ१४०.

४ पुराणो से भी प्राचीन साहित्य मे अवन्ति का उल्लेख है —

(अ) अवन्तीस्थावन्तीस्त्वावन्तु —तैत्तरीय ब्राह्मण ३, ९, ६, १,

(आ) देवीं वाचमजनयन्त यद्वाग्वदन्ति ..
वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गंधर्वा पशवोः मनुष्यः।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता, सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी।
वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य, वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः।
सा नो जुषाणोपयज्ञमागात्, अवन्ती देवी सुहवा मे अस्तु। —तैत्तरीय ब्राह्मण २, ८, ८.

(इ) अवन्तयोंऽगमगधा सुराष्ट्राः दक्षिणापथा, उपावृत्सिन्धुसौवीरा एते सकीर्णयोनयः
—बौद्धायन धर्मसूत्र १, १, २, १८ काशी सस्कृत सीरीज, (१९३४) पृष्ठ १०

(ई) स्त्रियामवन्तिकुन्तिकुरुभ्यश्च —पाणिनि, अष्टाध्यायी, ४, १, १७६

इस प्रकार के अनेक उल्लेख अवन्ति के मिलते हैं.

बौद्ध-ग्रन्थों में अवन्ति

बौद्ध-साहित्य में भी अवन्ति के अनेक उल्लेख हैं

१. बौद्ध-साहित्य मे १६ महाजनपदो के नाम मिलते है. उनमें एक जनपद अवन्ति भी बतायी गयी है और उसकी राजधानी का नाम उज्जैन बताया गया है[1]. परन्तु, अन्य स्थल पर एक उल्लेख से ज्ञात होता है कि कुछ कालतक महिस्सति (महिष्मती) अवन्ति की राजधानी थी.[2]

महावग्ग मे इसे दक्षिणापथ में बताया गया है[3] बुद्ध के समय में यहाँ पज्जोत नाम का राजा राज्य करता था[4] इनके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रसगो मे भी अवन्ति के उल्लेख आये है.

जैन-ग्रंथों मे अवन्ति का स्थाननिर्णय

अवन्ति थी कहाँ, इसका स्पष्टीकरण करते हुए जैन-ग्रथो मे आता है :

१. उज्जयिनी नगरी प्रतिबद्धे जनपदविशेषे[5]

२. अत्थि अवन्ति विसए उज्जेणी पुरवरी जयपसिद्धा।
कुलभूसणो य सिट्ठी तब्भज्जा भूसणा नामा। —सुपासनाहचरियं, पृष्ठ ३९६.

३. (अ) अवती णाम जणवओ।
तत्थ य अमरावइ सरिसलीलाविलंबिया उज्जेणी नाम नयरी। —वसुदेव हिंडी पृष्ठ ३६.

---

१. अगुत्तर निकाय खण्ड १ पृष्ठ २१३, खड ४ पृष्ठ २५२, २५६, २६०.

२. दन्तपुर कलिङ्गान, अस्सकानञ्च पोतने।
माहिस्मति अवन्तीन, सोवीरानञ्च रोरुके।
मिथिला च विदेहानं, चम्पा अगेसु यापिता
वाराणसी च कासीन, एते गोविन्द यापिता ॥ —दीघनिकाय (२) महावग्ग, स० १९५८) पृष्ठ १७५.
—दीघनिकाय राहुल का अनुवाद पृष्ठ १७१

३. अवन्ति दक्खिणापथे—महावग्ग, पृष्ठ २१४ (नालदा).

४. विनयपिटक, महावग्ग (मूल) पृष्ठ २९२ (नालदा)
जैन-ग्रन्थों में उसका नाम चडपज्जोय (चण्डप्रद्योत) आता है.

५. राजेन्द्राभिधान खण्ड१, पृष्ठ ७८७ देखिए 'आवश्यक मलयगिरि' (द्वि०)

(आ) अत्थि अवन्ति नाम जणवओ। तत्थ उज्जेणी नाम नयरी रिद्धित्थिमियसमिद्धा।

—वसुदेव हिंडी पृष्ठ, ४९.

४. चण्डप्रद्योतनाम्नि नरसिंहे अवन्ति जनपदाधिपत्यमनुभवति नव कुत्रिकापण उज्जयिन्यामासीरन्.

—वृहत्कल्पसूत्र सटीक भाग ४, पृष्ठ ११४५

ऐसा ही उल्लेख दिगम्बर ग्रन्थो मे भी आया है —

अवन्तिविषय. सारो विद्यते जनसंकुल.।१।
जिनायतन साणूर सौधापणविराजितः।
तत्रास्ति कृतिसवामा श्रीमदुज्जयिनी पुरी।२।

—हरिषेणाचार्य कृत बृहत्कथाकोष, पृष्ठ ३.

इन प्रमाणो से स्पष्ट है कि अवन्ति देश की राजधानी उज्जयिनी थी और उसे राष्ट्र के नाम पर अवन्ति भी कहते थे[1] और उस अवन्ति देश मे ही, जो दक्षिणापथ मे था, तुम्ववन था, जिसका उल्लेख जैन, वौद्ध और हिन्दू सभी ग्रन्थो मे मिलता है

इसकी स्थिति अब पुरातत्त्व से निश्चित हो गई है प्राचीन काल के तुम्ववन का अर्वाचीन नाम तुमेन है यह स्थान गुना जिले मे है. वीना-कोटा लाइन पर स्थित टकनेरी (जिसे पछार भी कहते है. इसका वर्तमान नाम अशोक नगर है) से ६ मील दूर दक्षिण पूर्व मे तुमेन स्थित है. यह अशोक नगर वीना से ४६ मील और गुना से २८ मील दूर है. इस तुमेन मे एक शिलालेख मिला है, जिसमे तुम्ववन का उल्लेख है. उसका जिक्र हम ऊपर कर आये है वहा एक और शिलालेख मिला है, जिसमे एक सती के दाह का और छत्री बनाये जाने का उल्लेख है[2]

आर्य वज्र

इसी तुम्बवन मे आर्यवज्र का जन्म हुआ था इनका चरित्र परिशिष्ट पर्व (सर्ग १२, पृष्ठ २७०-३५० द्वितीय सस्करण) उपदेशमाला सटीक (२०७-२१४), प्रभावक चरित्र (३-८), ऋषिमडल प्रकरण (१९२-२-१९९-१), कल्पसूत्र-सुबोधिका टीका आदि ग्रथों मे मिलता है

उनके पिता का नाम धनगिरि था उनके लिए इब्भपुत्र[3] लिखा है इब्भ शब्द का अर्थ हेमचन्द्र ने देशीनाममाला[4] मे लिखा है

इब्भो वणिए

इब्भ और वणिया दोनो समानार्थक है उनका गोत्र 'गौतम'[5] लिखा है धनगिरि धर्मपरायण व्यक्ति थे. जब उनके विवाह की बात उठती तो वे कन्या वालो से कह आते कि मैं तो साधु होने वाला हू पर, धनपाल नामक एक श्रेष्ठी ने अपनी पुत्री सुनन्दा का विवाह धनगिरि से कर दिया अपनी पत्नी को गर्भवती छोडकर धनगिरि ने सिंहगिरि से दीक्षा ले ली. कालान्तर मे जब बच्चे का जन्म हुआ तो अपने पिता के दीक्षा लेने की वात सुनकर वालक को जातिस्मरण ज्ञान हुआ

---

१. उज्जयिनी स्याद् विशालावन्ती पुष्पकरण्डिनी —अभिधानचिंतामणि, भूमिकाड श्लोक, ४२, पृष्ठ ३९०.

२ ग्वालियर राज्य के अभिलेख, पृष्ठ ७१

३. उपदेशमाला सटीक, गाथा ११०, पत्र २०७, ऋषिमडल प्रकरण, गाथा २, पत्र १९२-१. परिशिष्ट पर्व, द्वादशसर्ग, श्लोक ४, पृष्ठ २७०.

४ देशीनाममाला प्रथम वर्ग श्लोक ७९. पृष्ठ २८ (कलकत्ता विश्व०) अभिधानचिंतामणि में लिखा है—'इभ्य आढ्यो धनीश्वरः (मर्त्यकाड, श्लोक २१, पृष्ठ १४७) ऐसा ही उल्लेख पाइअ-लच्छीनाममाला में है— अड्ढा इब्भा धणिणो' (पृष्ठ १२)

५. अज्जवइरे गोयम सगुत्ते कल्प सू० सुबो० टी० पत्र ४९३.



माता का मोह कम करने के लिये बालक दिन-रात रोया करता एक दिन धनगिरि और समित भिक्षा के लिये जा रहे थे. उस समय शुभ लक्षण देखकर उनके गुरु ने आदेश दिया कि जो भी भिक्षा मे मिले ले लेना. ये दोनो साधु भिक्षा के लिये चले तो सुनन्दा ने (जो अपने बच्चे से ऊब गयी थी) बच्चे को धनगिरि को दे दिया उस समय बच्चे की उम्र ६ मास की थी. धनगिरि ने बच्चे को झोली में डाल लिया और लाकर गुरु को सौप दिया अति भारी होने के कारण गुरु ने बच्चे का नाम वज्र रख दिया[1] और पालन-पोपण के लिये किसी गृहस्थ को दे दिया. श्राविकाओ और साध्वियो के सम्पर्क में रहने से वचपन मे ही वच्चे को ग्यारह अग कठ हो गये.

बच्चा जब तीन वर्ष का हुआ तो उसकी माता ने राजसभा मे विवाद किया. माता ने बच्चे को बडे प्रलोभन दिखाए पर बालक उधर आकृष्ट नही हुआ और धनगिरि के निकट आ कर उनका रजोहरण उठा लिया

जब वज्र ८ वर्ष के थे तो गुरु ने उन्हे दीक्षा दे दी उसी कम उम्र मे ही देवताओं ने उन्हे वैक्रिय लब्धि और आकाश-गामिनी विद्या दे दी वज्र स्वामी ने उज्जयिनी मे भद्रगुप्त से दस पूर्व की शिक्षा ग्रहण की.

कालान्तर मे आर्य वज्र पाटलिपुत्र गये. वहाँ रुक्मिणी नामक एक श्रेष्ठि-कन्या ने आर्य वज्र से विवाह करना चाहा पर आर्यवज्र ने उसे दीक्षा दे दी. पाटलिपुत्र से आर्यवज्र पुरिका नगरी गये वहाँ के बौद्ध राजा ने जिन मन्दिरो मे पुष्पो का निपेध कर दिया था अत. पर्युपणा में श्रावकों की विनती पर आकाशगामिनी विद्या द्वारा माहेश्वरीपुरी (वाराणसी) जाकर एक माली से पुष्प एकत्र करने को कहा और स्वय हिमवत पर जाकर श्री देवी प्रदत्त हुताशनवन[2] से पुष्पो के विमान द्वारा पुरिका आये और जिन-शासन की प्रभावना की तथा बौद्ध राजा को भी जैन बनाया

एक दिन आर्य वज्र ने कफ के उपशमन के उद्देश्य से कान पर रखी सोठ प्रतिक्रमण के समय भूमि पर गिर गयी इस प्रमाद से अपनी मृत्यु निकट आयी जानकर आर्य वज्र ने अपने शिष्यों को बुलाकर कहा—"अब बारह वर्ष का दुष्काल पडेगा जिस दिन मूल्य वाला भोजन तुम्हे भिक्षा मे मिले उससे अगले दिन सुबह ही सुभिक्ष हो जायेगा' यह कह कर उन्होने शिष्यो को अन्यत्र विहार करा दिया और स्वय रथावर्त पर्वत पर जाकर अनशन करके देवलोक चले गये. यह रथावर्त विदिशा के निकट था. इसी का नाम गजाग्रपद गिरि और इन्दपद भी है[3] इसे राजेन्द्रसूरि ने अपने कल्पसूत्रप्रबोधिनी मे स्पष्ट कर दिया है[4] इससे स्पष्ट है कि रथावर्त विदिशा के ही निकट था 'निशीथचूर्णि मे भी ऐसा ही लिखा है[5]

'जैन-परम्परा नो इतिहास' के लेखक[6] ने अपनी कल्पना भिडा कर इसे मैसूर राज्य मे लिख डाला और वहाँ

---

१. (अ) वज्रादप्यधिक भार शिशोरालोक्य सूरयः ।
जगत्प्रसिद्धा श्रीवज्र इत्याख्या ददुरुन्मुद' ॥ —ऋपिमडल प्रकरण, श्लोक ३४, पृष्ठ १९३-१.

(आ) सो वि य भूमिपत्तो जा जाओ तस्व सूरिणा भणिय ।
अव्वो कि वइरमिम जं भारिय भावमुव्वहइ । ४४ —उपदेशमाला सटीक, पत्र २०८.

(इ) तद्भारभगुरकरो गुरुरूचे सविस्मयः ।
अहो पु रूपभृद्वज्रमिद धनु' शक्यते ॥५७॥ —परिशिष्ट पर्व, सर्ग १२, पृष्ठ २७४.

२. माहेश्वर्यां नगर्यां स्वनामख्याते

३. इन्द्रपदो नाम गजाग्रपदगिरिः—'बृहत्कल्पसूत्र सभाष्य, विभाग ४, पृष्ठ १२९८-१२९९, गाथा ४८४१

४. असौ गिरि प्रायो दक्षिण मालवदेशीया विदिशा (भिलसा) समया किलासीत् आचारागनिर्युक्तौ 'रहावत्तनग' इत्युल्लेखात् आचाराग निर्युक्ति रचयिता श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामीति मन्यते, तर्हि वज्रस्वामिनः स्वर्गगमनात्प्रागपि स गिरिरथावर्त्तनामासीदिति सगच्छेत'.
—कल्पसूत्र प्रबोधिनी' पृष्ठ २८२.

५ निशीथचूर्णि-पृष्ठ ९०

६. पृष्ठ ३३७.

की वडी मूर्ति को वज्र स्वामी की मूर्त्ति वना दी इन शास्त्रीय उल्लेखो के रहते, रथावर्त को दक्षिण मे वताना और वाहु-वलीकी मूर्ति को वज्रस्वामी की मूर्ति वताना दोनो ही वाते पूर्णत भ्रामक है दक्षिण वाली उस मूर्ति के लिये आचार्य जिनप्रभसूरि ने विविधतीर्थकल्प मे लिखा है

दक्षिणापथे गोमट देव श्री बाहुबलि [1]

इसी रथावर्त के निकट वासुदेव-जरासध मे युद्ध हुआ था और इसका उल्लेख महाभारत मे भी मिलता है.[2]

इस वर्णन मे केवल नीचे लिखे नगर आर्य वज्र के जीवन से सम्बद्ध वताये गये है ·

तुम्बवन, उज्जयिनी, पाटलिपुत्र, पुरिका, हिमवत, हुताशनवन, रथावर्त

यहाँ यह ध्यान देने की वात है कि उक्त विहार-क्रम मे कही भी सिद्धाचल का वर्णन नही मिलता

आर्य शब्द का प्रयोग

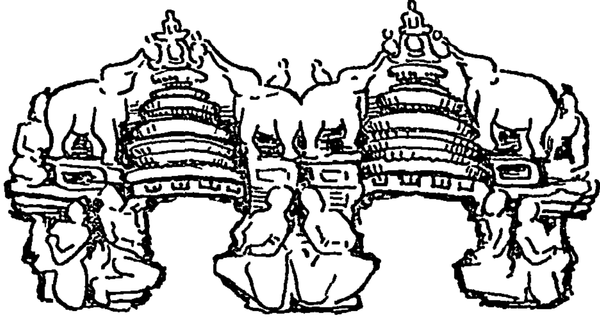
पहिले के युगप्रधान आचार्यो के नामो के पूर्व आर्य शब्द का प्रयोग देखा जाता है यह परम्परा आर्य वज्रसेन तक रही जिनका स्वर्गगमन वीरात् ६२० मे[3] हुआ



१ विविध तीर्थकल्प पृष्ठ ८५

२. आवश्यक चूर्णि, पूर्व भाग, पत्र २३५.

३. जैन गुर्जर कविओ, भाग २, पृष्ठ ७०७



रत्नचन्द अग्रवाल
अध्यक्ष, पुरातत्त्व सग्रहालय-विभाग, उदयपुर

देबारी के राजराजेश्वर मंदिर की अप्रकाशित प्रशस्ति

मेवाडनरेश महाराणा राजसिंह द्वितीय ने केवल सात वर्ष (सवत् १८१२ से १८१७) राज्य किया था उनके राज्यकाल का सवत् १८१२ का लेख उदयपुर के साध्यगिरि मठ के पास शिवालय में लगा है और दूसरा लेख सवत् १८१७ का है जो उदयपुर के जगदीश मदिर के पास एक सुरभि-स्तम्भ पर खुदा है (रिसर्चर-राजस्थान पुरातत्त्व विभाग की पत्रिका, वर्ष-१,अक १, पृ० २६-३२) इसके बाद राजसिंह द्वितीय का ही भाई अरिसिंह द्वितीय शासक बना. उसके राज्यकाल मे राजसिंह द्वितीय की माता बख्तकुँवरी (जो झाला वश की थी) ने अपने पुत्र राजसिंह की मृत्यु हो जाने के कारण उसके सुकृत हेतु उदयपुर नगर से ८ मील दूर देवारी (उदयपुर घाटी का प्रवेश) के द्वार के सामने ही राजराजेश्वर मदिर, वापी तथा पास की धर्मशाला का निर्माण कराया था उसकी प्रतिष्ठा श्रावणादि वि० स० १८१६ (चैत्रादि १८२०) शक सवत् १६८५ वैशाख सुदी ८ गुरुवार (जीव) को होकर प्रशस्ति रची गई थी. ६८ श्लोको की यह बृहत् प्रशस्ति शिला पर अद्यावधि उत्कीर्ण न हो सकी उसकी एक प्रति की प्रतिलिपि मुझे स्वर्गीय प० गो० ला० व्यास जी के सौजन्य से प्राप्त हुई है यह राजसिंह की माता की कृतियो, उसके मातृपक्ष के वश वृक्ष और तत्कालीन इतिहास के लिये परम उपयोगी है माननीय ओझा जी ने इसकी एक प्रतिलिपि श्री विष्णुराम भट्ट मेवाडा के सग्रह मे देख कर उसका साराश भी उदयपुर राज्य के इतिहास' (भाग २, पृ० ६६३) में प्रकाशित किया था प्रस्तुत निबन्ध में श्री व्यास[1] जी द्वारा प्राप्त प्र तिलिपि को तनिक विवेचनादि सहित विद्वद्वर्ग के अध्ययनार्थ सर्वप्रथम प्रकाशित किया जावेगा

इस बृहत् प्रशस्ति के कुल ६८ श्लोक है तथा भाषा सस्कृत है. प्रारभ मे 'गणपति' वन्दना के उपरान्त प्रशस्तिकार 'सोमेश्वर' का उल्लेख है जिसने राजसिंह द्वितीय की माता के आदेशानुसार शिवालय व वापी की यह प्रशस्ति रची थी (श्लोक १) राजसिंहराज्याभिषेक काव्य की रचना भी भट्ट रूप जी के सुपुत्र इसी सोमेश्वर ने की थी (ओझा, उपर्युक्त पृ० ६४४ पाद टिप्पण २) तदनन्तर मेवाड के उदयपुर नगर के सस्थापक (श्लोक ७) महाराणा उदयसिंह प्रथम से लेकर राजसिंह द्वितीय तक का सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है आठवे श्लोक मे उदयपुर को शक्रपुरी कहा है राणा प्रताप ने यवनो (मुसलमानो) को मारा था (श्लोक ११), वीर अमरसिंह प्रथम ने राज्यलक्ष्मी की प्राप्ति की थी (श्लोक १२), उसका पुत्र कर्णसिंह था (श्लोक १३) उसके पुत्र जगतसिंह ने विष्णुमदिर अर्थात् जगदीशमदिर, षोडश महादान सम्पन्न कर मान्धातातीर्थ पर यश प्राप्त किया (श्लोक १४-१५) उसका पुत्र राजसिंह प्रथम था (श्लोक १६) जिसने समुद्र के समान बन्ध (अर्थात् राजसमुद्र बाध बधाया उसके पुत्र जयसिंह प्रथम ने भी तथैव बाध बधाया (अर्थात् जयसमुद्र, श्लोक १७) उसके पुत्र अमरसिंह द्वितीय ने उदयपुर के राजप्रासादो मे वृद्धि की

१. झालावाड सग्रहालय के सस्थापक व अध्यक्ष.

(श्लोक १८-१९) और उसके पुत्र सग्रामसिह द्वितीय की ख्याति तो धर्मावतार के रूप मे ही थी—उसते सोने के तीन तुलादान सम्पन्न किए थे (श्लोक २२, ओझा, उपर्युक्त, पृ० ६२१) और औरगजेब के समय खण्डिताश जगदीश-मदिर का जीर्णोद्धार कराया (श्लोक २३) यहाँ सग्रामसिह द्वितीय की पर्याप्त प्रशसा की गई है (श्लोक २० से २३) उसका पुत्र वीर जगत्सिह द्वितीय (श्लोक २४-२७) था जिसने जगन्निवास नामक राजमहल का निर्माण कराया था (श्लोक २७, ओझा—पृ० ६३९) जिसकी प्रतिष्ठा सवत् १८०२ मे हुई थी उसका पुत्र प्रतापसिह द्वितीय था (श्लोक २८-३१) जो अति प्रतापशाली था यह केवल अतिशयोक्ति नही है. उसका एक मात्र पुत्र था राजसिह द्वितीय (श्लोक ३२) जिसकी माता की यह प्रस्तुत प्रशस्ति है

श्लोक ३२ के उपरान्त राजराजेश्वर मदिर को वनाने वाली राजमाता वखतकुँवरी (झाला कर्ण की पुत्री व प्रतापसिह द्वितीय की राणी) के पिता के वश का परिचय निम्नाकित है —पश्चिम समुद्र तट पर (काठियावाड मे) झालावाड देश मे रणछोडपुरी नाम की नगरी है (श्लोक ३३-३४), वहाँ का राजा झाला मानसिह हुआ (श्लोक ३५) जिसके पीछे क्रमश चन्द्रसिह, अभयराज, विजयराज, सहसमल्ल, गोपालसिह और कर्ण हुए (श्लोक ३५ से ४२) कर्ण की पुत्री वखतकुँवरी थी (श्लोक ४३) जो मेवाड नरेश महाराणा प्रतापसिह की पत्नी थी (श्लोक ४४) उसके पुत्र का नाम था राजसिह द्वितीय (४५ तथा आगे)

माननीय ओझा जी (उपर्युक्त, पृ० ६६३) के अनुसार 'ऊपर लिखे राजाओ मे मानसिह तो ध्रागधरा का स्वामी था. उसके दूसरे पुत्र चन्द्रसिह के चौथे पुत्र अभयसिह (अक्षयराज) को वख्तर की जागीर मिली थी उसके पुत्र विजयराज ने रणछोड जी के भक्त होने के कारण अपनी राजधानी लख्तर का नाम रणछोडपुरी रक्खा—कालीदास देवशकर पडया, गुजरात, राजस्थान, पृ० ४७१-७२'

महाराणा राजसिह द्वितीय ने राज्याभिषेक के समय स्वर्णतुलादान किया था (श्लोक ४७) वह उदारचित्त नरेश था वह प्रतापसिह का पुत्र यशस्वी था (श्लोक ५१) और उसकी (राजसिह की) पटरानी थी गुलावकुमारी (श्लोक ५२), राजसिह की छोटी रानी[1] थी फतेहकुमारी (श्लोक ५३). गुलाव कुमारी का रतलाम से सम्वन्ध था (श्लोक ५५) राजसिह की माता तो हरि-भजन मे व्यस्त रहती थी (श्लोक ५६), वह झाला वश की पुत्री वखतकुँवरी थी (श्लोक ५७), राजमाता ने राजसिह के पुण्यहेतु नगर के प्रवेश द्वार (अर्थात् देवारी द्वार के समक्ष) राजराजेश्वर का मदिर-वापी आदि का निर्माण कराया था (श्लोक ५९-६०) राजराजेश्वर शकर की पूजाहेतु ही वापी को वनवाया था (श्लोक ६१)

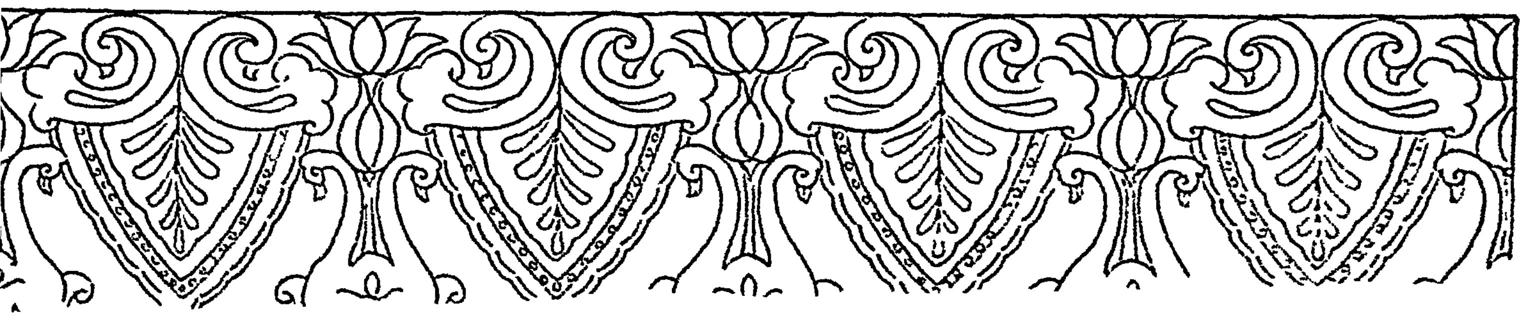
६२ वे श्लोक मे सवत्-मास-दिन-तिथि आदि अको व अक्षरो दोनो मे अकित हैं, यथा—विक्रम सवत् १८१९ शक सवत् १६८५ माधव (वैशाख) मास की शुक्ल (अमलतर) पक्ष की ८ वी तिथि पुण्यनक्षत्र मिथुन लग्न दिन वृहस्पतिवार आदि इस तिथि को मंदिर की प्रतिष्ठा विधिवत् सम्पन्न हुई थी. उस समय प्रतिष्ठा का श्रेय द्विजवर 'नन्दराम' को प्राप्त था 'राजसिहराज्याभिषेक[2]—काव्य' मे भी इस व्यक्ति का नाम अकित है प्रतिष्ठा के समय राजमाता ने ब्राह्मणो को गौ, सोना, हाथी, घोडे, रथ, जेवर, आदि बहुत सी चीजें दान मे दी थी (श्लोक ६५) आगे ६६-६७ श्लोको मे भी उसके दान का उल्लेख है ऐसा करने से तथा वापी-शिवालय निर्माण व विधिवत् प्रतिष्ठा द्वारा राजमाता ने चिरस्थायी पुण्य प्राप्त किया (श्लोक ६८, अन्तिम पक्ति).

स्वर्गीय श्री व्यास के सौजन्य से प्राप्त इस प्रशस्ति का निम्न स्वरूप तथैव प्रस्तुत किया जा सकता है यद्यपि इसमे कही-२ अशुद्धियाँ रह गई है

---

१ द्रष्टव्य ओझा, उपर्युक्त, पृ० ६४७ राजसिंहराज्याभिषेक काव्य में भी राजसिंह द्वितीय द्वारा सम्पन्न स्वर्णतुला का उल्लेख है. ओझा-उपर्युक्त, पृ० ६४४, पादटिप्पण.

२ ओझा, उपर्युक्त, पृ० ६४५



॥ श्री गणेशाय नमः ॥

विघ्नेश्वर सगिरीश गिरिजा समेत, सोमेश्वरो द्विजवरो विबुधाश्च नत्वा ।
श्री राजसिंह जननीकृत शम्भूसद्म वापी प्रशस्ति रचना क्रममातनोति ॥ १

विष्णोर्नाभिसरोरुहान्त, रुदितो वेधाविधायासिल विश्व स्थावरजङ्गमात्मकमसौ तद्रक्षणायासृजत् ।
क्षत्र दुष्टनिवर्हणाय च सता सरक्षणाय स्वय यतेजोवल सयुत भगवतो नैसर्गिक जृम्भते ॥ २

तस्यान्ववायाविह सम्प्रसूतौ मन्वन्तरे सूर्यनिशाकराभ्याम् ।
वशस्तयोर शुभतो विशेषा—द्गुणैर्गिरीयाति हस प्रदिष्टः ॥ ३

यत्रान्वये रघु-भागीरथ यौवनाश्च मान्धातृ-पार्थिववरा शतशोप्यभूवन् ।
सत्यव्रतः सकल गौर गुणाभिरामो रामो विभूषयति वशमशेषमेक ॥ ४

अग्रेऽभवन् राजपदाभिधाना पश्चादभवनदिति प्रसूताः ।
तत पर रावलशब्दवाच्या राणा वभूवुस्तदनन्तर ते ॥ ५

राणास्ते सुचरिता मेदपाटदेशे राज्य तद्वुभुजरिहैकलिङ्गदत्तम् ।
तेषा को विहितपराक्रमानशेषान् दानादीन्दवि भुवि वर्णितु समर्थ ॥ ६

तत्र पूर्वमभवद्विशुद्धधी कीर्त्तिमानुदयसिह भूपति ।
येन भूमिवलयैकभूपणम् भूभृतोदयपुर विनिर्मित ॥ ७

सोय पुरी शक्रपुरीव नार्य समानरूपा सुरसुन्दरीभि ।
गुहा विमानावलि तुल्यरूपा नरासुरा भाति नृप सुरेश. ॥ ८

सुरनरपुर गर्व सर्व तायाम् प्रभवति यत्सुरराजमेविताघ्रि. ।
निवसति भगवानिहैकलिङ्गो जनपद भूपति लोक रक्षणाय ॥ ९

प्रतापसिंहोस्य सुतोऽथ जज्ञे वीरो महीमण्डलमडन य ।
यस्य प्रतापाऽनल दीप्तितप्ता अस्त्रै स्वदेहान् रिपव शिपुयु ॥ १०

अप्येकवीरो यवनानशेषान् जिग्ये जघानारिवल समग्रम् ।
विदारयन् वैरिगज वृज यो मुक्ताफलस्थधि यशोवितेन ॥ ११

तस्मादभूदमरसिंहनरेश्वरोसौ वीरो वली सकलशस्त्रभृता वरिष्ठ ।
क्षोणीभुजा विशदकीर्त्तियुजा सदैव रेमे रमे वहरिणा भुवि राज्यलक्ष्मी. ॥ १२

कर्णसिह इति तस्य भूपते—रात्मज समभवदाधिप ।
अगराज इव योऽपरोर्थिना चिन्तितार्थमखिल व्यपूरयत् ॥ १३

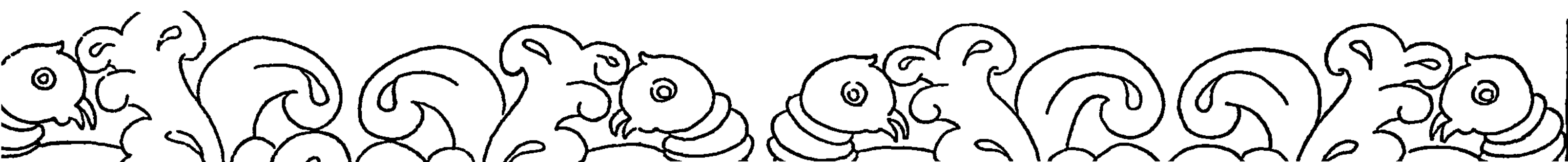
ततो जगत्सिह धराधिपोऽभवद् भाग्याभिपोऽस्त्रै जगतीतलेऽस्मिन् ।
राजागणादग्वतराव विष्णो[१] प्रासादमभ्रानिह . तान् ॥ १४

ससर्ज य षोडशदानपक्ती मान्धातृतीर्थेऽवनिभृतकरीन्द्र ।
तस्थौ स्वय नर्मदा नीर [२] .. पूज . प्रणव महेशम् ॥ १५

---

१ जगनाथ, जगदीश मदिर का निर्माता जगत्सिंह प्रथम ही था

२. १४-१५ श्लोक अशुद्धिपूर्ण है



राजराजास्य सुतो रसाया वीरो विडौजा इव राजसिंह ।
ताटकतुल्यो धरणीगृहिण्याः सर समुद्रोपम भाव वन्ध [1] ।। १६

जयसिंह भरेश्वरस्ततोऽभून्नयनदकर शशीव लोके ।
स्वपितेव समुद्र तुल्य रूप प्रवर सोऽपि सरोवर ववन्ध ।। १७

तस्मादभूदमरसिंह नराधिराजो मूर्धन्यराषपदशेपधराधिपानाम् ।
दूरीचकार विदुषा द्रविणौघदाने भाग्येपु दुर्गतिलिपि विधिनापि सृष्टम् ।। १८

अमरपति समानरूपशीलो मरललना परिगीति शुद्धकीर्ति
अमरनरपतिश्चकार सौधा नमर विलाससमाख्यान् प्रसिद्धान् ।। १६

तदगजन्मा भुवनैकवीरो भूमडल भूषयति स्म राणा ।
सग्रामसिंह श्रुतशास्त्रधर्मा, धर्मवितार प्रथित पृथिव्याम् ।। २०

अशेपशस्त्रास्त्रविधौ समर्प्यो धनुर्धरो धैर्यधरोप्यरिण्याम् ।
विलाड्घितानैव कदापि भूपै सक्रुत्र दत्तापि चिर पदाज्ञा ।। २१

हेम्नस्तुलाना ततयस्य कर्ता सगार्मसिंहो वसुधैकभर्ता ।
वभूव सर्वार्तिहर प्रजाना, त्रिनेत्रसेवारसिकोऽन्वह य ।। २२

निरन्तर त्र्यम्बकपादपद्म, पूजा फला वास समस्तकाम ।
देवालयस्योद्धरणाग्र बुद्धि, चक्रे जगन्नसुरे[2]श्वरस्य ।। २३

ततो जगत्कीर्तितसच्चरित्रो, वीरो जगतसिंह नरेश्वरो भूता ।
यश नया धाम महानुभावो, महीपतीना प्रवरो मनस्वी ।। २४

यश्चन्द्र स्मरऽभौकनिष्ठस्तत्पूजया प्राप्तसमस्तकाम ।
बुभोज भूमि विविधौ विलासै, वोढी नवोढामिव राज्यमानम् ।। २५

वलैरसख्यैर्भुवनानि अकम्पयत् सस्नौ स्वय पुष्करतीर्थराजे ।
दानान्यनेकानि च सुवृत्तानि, चकार भूप परमप्रभाव ।। २६

अन्तस्तडाग जगदीश राणो, जगन्निवास प्रतिमप्रभाव ।
जगन्निवासास्पद तुल्यरूप, जगन्निवासभुवन ससर्ज ।। २७

तस्माद् वभूव—वीर्य प्रतापसिंह, पृथिवीपतिर्य ।
पौरानशेषान् द्रविणौघहारीन् कारागार सजग्नहे समर्थः ।। २८

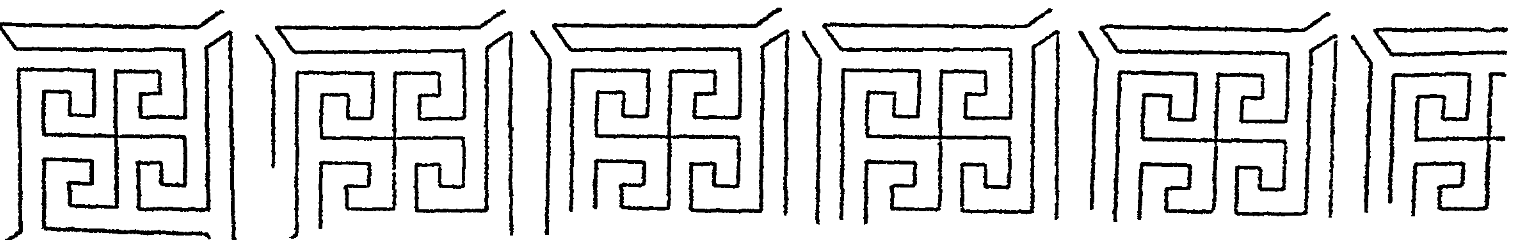
यस्मिन् मही शासति मेदिनीशे, चोराय गेया श्रुतिरेवमासीत् ।
सिंहात् कुरग इव यद् भयार्त्ता, भजुर्दिगन्तान् भुवि तस्कराद्या ।। २९

नासेहिरे यस्य पर प्रताप, प्रतापसिंहस्य सपत्नादया ।
गतीष्म—ध्येऽह्रियस्योष्ण रश्मि स तापयामास वलादरातीन् ।। ३०

येनाराति-वधूविलोचनजलै स्सिञ्चिता मेदिनी, यन्नाम्न्नि स्मृत इव नीरिपुगणानिन्द्रात् भेर्जुनिशि ।
यस्योद्दाम मही ध्रुवुर्क शभुजस्तम्भैर्धराधारिता वीरोऽसौ नृपतिर्वभूव वसुधा चक्रे प्रतापाभिध. ।। ३१

---

१ अर्थात् 'राजसमुद्र' का वन्धा जयसिंह प्रथम ने कालान्तर में 'जयसमुद्र' का निर्माण कराया था.
२. अर्थात् 'जगन्नाथ-जगदीश'



तस्यात्मज सकलगौरगुणैरुदार: श्रीराजसिंह नृपति· सवितेव जातः ।
यस्मिन्नुदारचरिते नृपतौ प्रजानो हृन्नेत्रवक्त्रकमलानि विकासमापु ।। ३२

अस्ति पश्चिम तोयराशि तटभूदेशेषु देश. शिवो[1] झालावाड इति प्रथमविगत सर्वार्थसम्पत्प्रद. ।
चातुर्वर्ण्यमयी प्रजानवरत धर्मं चरन्तीमुदा वेदोक्ते विधिपूर्वके निवसत यस्मिन् सदातिभया ।। ३३

रणछोड पुरीति नामधेया विपये तत्र विभाति शोभना ।
सुरराजपुरी..... ....नरनारीभिरल सुसेविता ।। ३४

शक्रो य. प्रतिपत्तपक्षदलने प्रौढ-प्रतापानल· ज्योति—प्तादिगन्तरा समभवत् तत्राथ पृथ्वीपति ।
शूर· सत्पुरुसः प्रियोशुभक्तताश—शरण्यसुधी कन्दर्पोपम दर्शनो-मृगदृशा श्रीमान्सिंहाभिधः ।। ३५

शूर सुरूप. सुभगोऽभिमानी नेता नराणामरिवर्गजेता ।
बभूव तस्याथ सुतो विनीतो राजा रसज्ञो भुवि रायसिंह. ।। ३६

धी विक्रमै पीडितशत्रुमर्मा सुरक्षित क्षत्रियधर्मवर्मा ।
सुपूर्णराकेश्वर तुल्यधामा तस्यात्मजोभूदथ चन्द्रसिंह ।। ३७

सकलशास्त्रविचारविशारद सकलशस्त्रभृतामपि पूजित ।
सकलदानकरोऽस्य सुतोवना—वभयराज इति—धिता भवत् ।। ३८

अमरराज सम द्युति उज्वल द्विरदराज कराभवृहद्‌भुज: ।
मनुजराज समाजसमाजितो विजयराज नृपोऽस्य सुतोऽभवत् ।। ३९

राजा सहस्वात्त समानकीर्त्ति सहस्र वाहूरिव तुल्यतेज. ।
सहस्रमल्लाधिक वीर्यसार सहस्रमल्लोस्य सुतो बभूव ।। ४०

राजा प्रजापालन लब्धवर्णा भूप स कालो भर लोकपाल· ।
कन्या स्फुरद भव्य विश्मल-लो गोपालसिंहोऽस्य सुतो बभूव ।। ४१

आसीत् तनयो नृपः क्षितिभुजा मान्य मनस्वीरर्ण कर्म कर्म गत सता सुखकरा य कर्ण एवापर. ।
भूविख्यात यशावरोव सुमती कर्मयर्त सोपम कान्त कामदेव प्रतापदहन ज्वालावलीर्दाद्धषतम् ।। ४२

नृप विनय विवेक ज्ञान भक्ति प्रवीण प्रवहदमृतधारा निर्मलागप्रचारा ।
प्रथम पुरुष पुण्यै पार्वतीवाद्रिभर्तु वखतकुवरी भामनी कन्यकास्या विरासीत् ।। ४३

ता भीष्मकस्येव सुता कुमारी कृष्णोऽमरै सेवितपादोपम ।
भूभूमिपालार्चितपादपीठ प्रतापसिंहो विधिनोपेते ।। ४४

तस्मादजायत् राजसिंहो नरेश· सम्यक् वेश. पूजित श्रीमहेश ।
विश्वत्कीर्त्तिर्दानदूरीकृतार्थी विद्यास्फूर्ति मन्मथस्येव मूर्ति ।। ४५

गुणौघरत्नसागर भजादृशा सुधाकर. प्रतापपुजभास्करो वसुधरा धुरधर· ।
विलासिनी मनस्मर. स्मरारि पूजनैरपर यथा सराजसिंहजित् सुरेश्वरो नरेश्वरो ।। ४६

पदाभिषेकोत्सवे एव तेन हेम्नस्तुलादानमुदार बुद्धिः ।
यब्दु—र्द्वैशध कलामुपैति न कस्यचिद् भूमिभुजोपि बुद्धि ।। ४७

---

१ ३३ वें श्लोक से राजसिंह द्वितीय की माता के पद्य का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है अर्थात् प्रशस्ति के पूर्वार्ध में मेवाड नरेशों का तथा उत्तरार्थ में झालावशजों, उनके वश की पुत्री वख्तकुमारी (राजसिंह की माता) आदि का.

शाश्वत सुधाशुरिव नेत्रयुगाभिराम कामो य मौक्तिकेसु सर्वजन. पार्थव्याम् ।
आश्चर्य मग्रहृदय स्वयमत्र चित्र विन्यस्त मूर्तिरिव यस्य ददर्श मूर्तिम् ।। ४८

शौर्यौदार्य-विवेक-धैर्य-गुरुता गाम्भीर्य विधादिभि । प्रौढैर्भूरिगुणोलकृत तन्स्ताराधिराजच्छवि ।
स्वच्छान्त करण स्वधर्मनिरत सत्यप्रतिज्ञोसता । शास्ता सत्पुरुष प्रियोवति पति श्रीराजसिंहोऽभवत् । ४६

गायन्ति यस्य चरितानि मनोहराणि नार्यो नराश्च मुदित क्षितिमण्डलोऽस्मिन् ।
स्मृत्वा सुचार्थ मनसो अश्रुपरीत नेत्रा रोमाञ्च चिह्नित समग्र शरीरभागा ।। ५०

एव गुणो भूषित यो बभूव प्रतापसिंहात्मज राजसिंह ।
दिवि क्षितौ दिक्षु रसातलोपि गायन्ति गौराणि यशासि यस्य ।। ५१

मधुमथनमिवे न्दिरानुरूप तमनुससार नरेश राजसिंहम् ।
प्रणय परवशा स्वपट्टराज्ञी सपदि गुलाबकुमारिका रसज्ञा ।। ५२

पतिव्रता प्राणसमापि यस्य प्रियवदा शंतिपरारसज्ञा ।
चन्द्रप्रभेवाऽनुससाह तन्वी फतेहकुमारी[1] नृप राजसिंहम् ।। ५३

अजनृपतिमिवेन्दुमत्य वाप्राव्यतिलक भुवि राजसिंहदेवम् ।
परिणयन् विधौ स्ववश जाता सपदि गुलाव कुमारिकापरापि ।। ५४

रतलामपुरी[2] वपूर्नवोढा रतिरागेण च रुक्मणी कृष्णम् ।
समवा घर राजराजसिंह दमयन्तीव नल नराधिराजम् ।। ५५

श्री हरेश्चरण पकजार्चन, ध्यान कीर्तन विधूत कल्मषा ।
सत्कथा श्रवण केलमानसा, राजसिंह जननी विराजने ।। ५६

ईज हरि गुरु पूजा सक्त चित्ता नितान्त गुणगण परिपूर्ण पुण्यशीला या श्री ।
जगति विदित झाला शुद्ध वश प्रसूता, बखतकुवरि नाम्नी राजसिंहस्य माता ।। ५७

हिमशिखर नितम्व प्रस्रवज्जह्नुकन्या जलविमलविशुद्धाचार-पुण्यैरुदारा ।
सकलभुवन विश्व व्याप्त सत्कीर्तिपूरा वख्त कुवरि नाम्नी राजते राजमाता ।। ५८

सा राजसिंह जननी नगरप्रवेश द्वारे सुशीतमधुरामल पुण्य नीराम् ।
वापी चकार पथिपान्थजनाभिरामा श्री राजसिंहनृपतेर्व हु पुण्यहेतोः ।। ५६

प्रासादमप्यत्र जनाभिरामम् शिवस्य विश्रन्ति निमित्त शालम् ।
श्रीराजसिंहस्य नृपस्य माता चक्रे स्वसूनो र्बहुपुण्यहेतो ।। ६०

श्री राजराजेश्वरपूजनार्थम् चकार पुण्यामिह पुष्पवाटीम् ।
यदीय पुण्यैश्च फलै सुपूजितो मनीषित यच्छति पूजकेम्य ।। ६१

सवन्नन्दधराष्ट भूपरिमिते (१८१६) ब्दे वाणनागर्तुभूत ।
(१६८५) शाके मासे च माधवेऽ[3] मलतरेपक्षेऽष्टमी जीवयो ।[4]

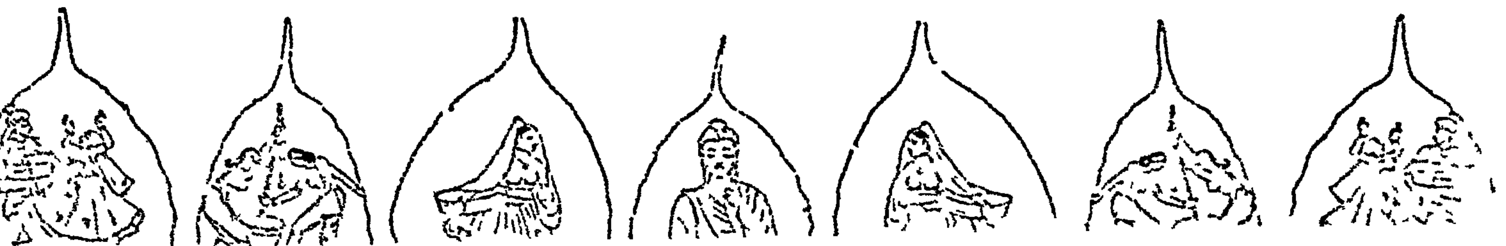
---

१. सम्भवत इसी की ओर ओझा जी ने (उपर्युक्त, भाग २, पृ० ६४७) सकेत किया है-

२ रतलाम, मध्यप्रदेश.

३ अर्थात् 'वैशाख' मास.

४. जीव बृहस्पतिवार



पुण्यनक्षत्रे मिथुनाख्यलग्नसमये पूर्वेथ यामेऽकरोत ।
वप्पा शकर मदिरस्य जननी राज्ञ: प्रतिष्ठा विधिम् ।। ६२

कुड मण्डपवितान तोरणै: दीपिते द्विजवरास्तु मण्डपे ।
वेदपाठमथ होममाशु ते मन्त्रपूत हविषा समासृजत् ।। ६३

तत्रान्वितो द्विजवरो नृपतेः पुरोधा. श्री नन्दराम जिदसौ विधिवच्चकार ।
वापी प्रतिश्रय शिवालय सम्प्रतिष्ठाम् श्री राजसिहनृपते र्बहुपुण्यहेतो ।। ६४

गोभूहिरण्य गजवाजिरथाशुकानि शैय्या सुवर्णमणिमण्डितभूषणानि ।
तस्मिन् महोत्सवविधौ प्रददौ दयालु· श्री राजसिह नृपते र्जननी द्विजेभ्य. ।। ६५

यज्ञोपवीतानि ददौ द्विजाति—बालेभ्य एषा सुतरा दयालु ।
श्री राजसिहस्य नृपस्य माता कन्या विवाहान् शतशश्चकार ।।६६

नित्यदापि खलु पर्व पर्वसु राजसिह जननी मुहुर्मुहु. ।
धेनुधान्य मणिकाञ्चनान्ययो विप्रभोजनमनेकशोप्यदात् ।। ६७

इत्थ तत्र चतुर्मुख सगिरिज सस्थाप्य नाम्ना शिवम्,
प्रासादे हिमशैलश्रृगसदृशे श्रीराजराजेश्वरम् ।
वापी पुण्यजला विधाय विधिवत् कृत्वा प्रतिष्ठा विधि ,
लेभे पुण्यमनतक जननी श्री राजसिहप्रभो· ।। ६८

उपर्युक्त बृहत्प्रशस्ति मे कतिपय शुद्धिया करके इसके विशद विवेचन की परम आवश्यकता है. आशा है तत्कालीन इतिहास के विद्वान् इस कार्य को पूरा कर शीघ्र ही अधिक प्रकाश डालने का कष्ट करेगे प्रस्तुत निबन्ध मे तो उक्त प्रशस्ति का साराश ही प्रस्तुत किया गया है प्रस्तुत प्रशस्ति मे तत्कालीन मेवाड़नरेश अरिसिंह द्वितीय के नाम की अविद्यमानता खटकती ही है.





प्रो० परमानन्द चोयल

राजस्थानी चित्रकला

कला मानव हृदय की मूर्तिमान अभिव्यक्ति है बाह्य जगत् से बिम्बित कला सृष्टि को ही जो महत्व देते है, अन्तर्मुखी कला का रसास्वादन वे नही कर पाते यही कारण है कि यथार्थ चश्मे से देखनेवाले लोग भारतीय कला का आनन्द नही ले सकते जबसे डाक्टर, आनन्द कुमार स्वामी ने भारतीय कला के पक्ष मे लेखनी उठाई, देश-विदेश के कला मर्मज्ञ भारतीय कला को आदर की दृष्टि से देखने लगे है अजनता, एलोरा, पाल गुजराती, बाघ, साइगिरिया सित्रनवासल, तुर्किस्तान, बामिया, कश्मीरी, मुगल, राजस्थानी व पहाडी चित्रकला का अध्ययन आज विद्वानो के लिये रुचि का विषय हो गया है

युगयुगीन भारतीय कला परम्परा मे (इस २००० वर्ष की भारतीय कला मे) राजस्थानी चित्रकला का अपना विशिष्ट स्थान है १७ वी शती के बौद्ध इतिहासकार तारानाथ ने लिखा है कि ७ वी शती मे राजस्थान, कला का मुख्य केन्द्र था जहाँ से भारत मे एक विशेष कला-धारा वही श्रगधर इसका प्रमुख चित्रकार था खेद है कि इस वर्णन के अतिरिक्त उससे पूर्व की राजस्थानी चित्रकला के विषय मे हमे कुछ भी ज्ञात नही है

राजस्थान मे चित्रो के तीन प्रकार दिखाई देते हैं भित्ति-चित्र, इकहरे पृष्ठ पर बने पुस्तक चित्र व वसली पर अकित छिन्न चित्र भित्ति-चित्रण की प्रथा अजन्ता युग से चली आई है, परन्तु अजन्ता की भूमि तैयार करने की विधि एव राजस्थानी विधान मे काफी अन्तर है शुद्ध फ्रेस्को प्रोसेज (भित्ति पर चित्र बनाने की विशेष विधि) राजस्थानी भित्ति-चित्रो मे ही पाया जाता है इस दृष्टिकोण से इटली के डेम्प प्रोसेज (गीली भूमि पर चित्र बनाने की प्रक्रिया) के समीप रक्खा जा सकता है सबसे प्राचीन राजस्थानी भित्ति-चित्र जयपुर के समीप वैराट् नामक स्थान मे पाये गये है राष्ट्रीय ललित कला अकादमी के आग्रह से श्रीकृपालसिंह शेखावत ने कुछ वर्ष पूर्व इनकी कॉपी (अनुकृति) कर इस छिपे खजाने को ससार के सम्मुख लाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया इन चित्रो के विषय वीर रस से ओतप्रोत हैं—इनका वर्ण-विधान समतल व स्थूल रग के इने गिने मदभूत, रेखाए घुमावदार एव गतिपूर्ण है. १७ वी शती से १६ वी शती तक के राजस्थानी भित्ति-चित्रो से आज भी सैंकडो प्राचीन इमारतें, हवेलियाँ व महल भरे पडे है. कोटा की झाला की हवेली मे बने राग-रग व शिकार के चित्र कल्पना व रचना चातुर्य के अनुपम नमूने है. लोक कथाएँ, दरबारी ठाठ बाट, शिकार के दृश्य, एकाकी छवि घोडे पर हुक्कामो के साथ, हुक्के की नली गुडगुडाते जागीरदार, ठाकुर या राजा की ओजपूर्ण आकृति, जनानखानो की रगरेलियाँ, नायक नायिकाओ की प्रेम भरी लीलाए, बारहमासा व रति रहस्य इत्यादि राजस्थानी भित्ति चित्रो के मुख्य विषय रहे है चूनामिट्टी खिर जाने मे ऐसी चित्रित दीवारे अब घटती जा रही है इस तरह राजस्थानी चित्रकला का एक बडा अश शनै शनै लुप्त होता जा रहा है

सबसे पुराने पुस्तक चित्र भोजपत्र व ताल पत्रो पर बने मिलते हैं. १२ वी शती मे कागज निर्माण के बाद जैन सचित्र पुस्तको की रचना आरम्भ हुई जिसका मुख्य केन्द्र गुजरात था सास्कृतिक एव राजनैतिक दृष्टि से गुजरात व दक्षिणी



राजस्थान अधिक घुले-मिले है, अतएव इनकी चित्ररचना मे शैली की एकता रही हो तो कोई आश्चर्य नही. मेवाड़ के १३वी व १५वी शती के दो जैन-ग्रथ मिले है, हो सकता है और भी कही इस प्रकार के ग्रथ रहे हो.

जैसलमेर[१] के जैन पुस्तक भण्डार का होना भी यह सिद्ध करता है कि शायद जैन हस्तलिखित पुस्तके यहाँ पहले से ही मिलती रही होगी इन पुस्तको की जिल्द लकडी की तख्तियो से बधी है इनमे प्रयुक्त शैली विशेष की परम्परा लगभग १६ वी शती के अन्त तक चलती रही. इनके दृष्टिकोण, व सयोजन व विधान मे कोई विशेष अन्तर नही दिखाई देता है बादलों के आलेखन, पेड-पौधो की बनावट व एक आध अन्य उपकरण के चित्रण मे हल्का-सा परशियन प्रभाव (अलकृत शैली का) झलक उठा है यह प्रभाव इतना गौण है कि इसके निजत्व में कोई आघात नही पहुँचता राबर्ट स्केल्टन ने १५वी शती के नियामत नामा की खोज की है जिसकी एक प्रति इस समय लदन की इडिया आफिस लाइब्रेरी मे है शायद, 'माडू' माडवगढ, (मालवा) के सुल्तान गयासुद्दीन खिजली के लिए यह पुस्तक बनाई गई हो. इसमे तथा बनारस कला भवन वाली शाहनामे की प्रति मे परशियन कला का बहुत अधिक प्रभाव है हो सकता है इनका अथवा ऐसी ही परशियन शैली से प्रेरित अन्य पुस्तकचित्रो का तथाकथित जैन, गुजराती अथवा राजस्थानी शैली पर क्षीण-सा प्रभाव पडा हो १५६५ से १५८० शती तक मुगलशैली के सम्पन्न होने के बाद से ही राजस्थानी शैली मे भी परिवर्तन होने लगा है इसके पूर्व की राजस्थानी चित्र कला को शैली के दृष्टिकोण से जैन अथवा गुजराती चित्रकला से पृथक् देखना उचित नही होगा नाटकीय व अलकृत सयोजनशैली की ग्रामीणता व ठेठपन, चटकीले रगो का समतल प्रयोग व आलेखन की तत्परता इस कला के आकर्षक अग हैं सवाचश्म चेहरे, लम्बी नुकीली नाक, चेहरे की सीमात रेखा को पार करती दूसरी आख, छोटी आम की गुठली-सी ठुड्डी, फटे फटे कान तक खिंचे, लम्बे नैन, स्त्रियो का उभरा वक्ष, क्षीण कटि, चोली, लहगा, दुपट्टा, पुरुषो के चकदार (तीन कानो वाले) जामे, अटपटी पगडियाँ, दुपट्टे व पटके इत्यादि के आलेखन ने इस शैली मे एक अनोखापन ला दिया है इसमे परम्परागत कला का अपभ्र श रूप झलकने पर भी ग्रामीणता का आकर्षण व निर्दोषिता दिखाई देती है. गीत गोविंद, दुर्गासप्तशती, कथाकाव्य रतिरहस्य इत्यादि इनके विषय रहे है राजस्थानी शैली का यह रूप धीरे-धीरे सर्वधित हो १६ वी शती के अत तक अपनत्व पाने लगा १५६१ शती के उत्तराध्ययन सूत्र की प्रति मे, जो इस समय बडौदा म्यूजियम मे है, इस शैली का परिवर्तित रूप स्पष्ट लक्षित होता है यहाँ सवाचश्म चेहरे के स्थान पर एक चश्म चेहरे दीखने लगते है—सीमात रेखा को पार करती दूसरी आख लुप्त हो गई, अलकरण व नाटकीय सयोजन शिथिल पड गया, प्रकृतिचित्रण अधिक वास्तविक होने लगा, मुद्राओ की जकडन ढीली हो गई, रंगो मे बहुलता आ गई, सयोजन मे विरलता के स्थान पर घनत्व छाने लगा, एक-सी कोणदार व वेगमयी रेखाए गोलाकार हो भावानुगामी बन, जगह-जगह लोच खाती कही पीन तो कही स्थूल होने लगी. शैली के इस नवनिर्माण को राजस्थानी चित्रकला का उद्भव मानना चाहिए. राजस्थानी चित्रकला के निर्माण मे मुगलकला का कितना हाथ रहा है, यह विवाद का विषय हो सकता है, पर यह निश्चय है इसका यह रूप होने के पूर्व ही १५६५ से १५८० तक मुगलकला समुन्नत हो चुकी थी, फिर अकबर की सुलह पूर्ण नीति ने भी राजस्थान के अधिकाश भाग को सास्कृतिक दृष्टि से एक कर दिया था ऐसी हालत मे राजस्थानी कला पर मुगलकला का प्रभाव न पडा हो यह समझ मे नही आता

मेवाड इस नवीन शैली का प्रमुख केन्द्र था ११ वी शती के अन्त तक इसका मौलिक रूप बन चुका था १७ वी शती

---

१. श्रद्धेय मुनि श्रीपुण्यविजय जी ने जेसलमेर के ज्ञान भडारों से जैन कला के अनुपम नमूने खोजकर राजस्थानी व अजता-एलोरा कला के बीच की कडी जोड दी है लकडी की करीब चौदह सचित्र पटलियाँ आपने ढूढ निकाली जिनमें कमल की वेल वाली पटली अत्यन्त विलक्षण है इसका आलेखन श्री साराभाई नवाब को भरत व बाहुबली वाली पटली की दोहरी वेल का सा है—अलकरण तो और भी अनोखा इन वेलों में एक में जिराफ और दूसरे में गेंडे का अकन किया गया है जो भारतीय कला में शायद पहले पहल यहीं हुआ हो. एक चित्र में मकर के मुख से निकलती कमल वेल बनाई गई है ऐसी वेल साची, अमरावती व मथुरा के अर्ध चित्रों की विशेषता है अतएव जेसलमेर कला की प्राचीनता पर व परम्परागत कला के सान्निध्य पर ये चित्र गहरा प्रकाश डालते है

के विशद राजनैतिक वतावारण मे भी मेवाड की चित्रकला उन्नतोन्मुख रही है श्री गोपीकृष्ण कनोडिया (कलकत्ता) के पास १६०५ शती का मेवाड कलम का बना रागमाला सेट है जो शायद चामुण्ड मे चित्रित किया गया था इसकी रेखाओ के कोणो व रगो की चटकदार वर्णिका मे जैन अथवा गुजराती शैली का क्षीण-सा प्रभाव झलकता है १६०५ मे मेवाड शैली मे ग्रामीणता व स्थूलता दिखाई देती है धीरे-धीरे-धीरे इसमे सुथरापन व परिपक्वता आने लगी पर साथ ही मुगल प्रभाव भी दीखने लगा १७वी शती के मध्य तक इस प्रभाव को मेवाड कलम ने आत्मसात कर अपने निजत्व को उभार लिया उस समय स्वामी वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित वैष्णव धर्म की भक्तिधारा समस्त उत्तरी भारत, गुजरात व राजस्थान को प्लावित कर रही थी अत मेवाड मे भी भागवत् पुराण की कई सचित्र प्रतिया वनी, साहवदी की बनाई १६४२ ईसवी की भागवत् पुराण की प्रति इस समय उदयपुर के सरस्वती भडार मे सुरक्षित है, इसकी एक प्रति सरस्वती भडार कोटा मे भी है भागवत् के कई सचित्र पन्ने राष्ट्रीय सग्रहालय, नई दिल्ली मे है. १६५१ मे चित्तौड मे बनी रामायण की उक्त प्रति सरस्वती भडार, उदयपुर मे है व मनोहर द्वारा चित्रित एक प्रति 'प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम वम्बई' मे हे राष्ट्रीय सग्रहालय की जेम पेलेस रागमाला व वीकानेर सग्रहालयकी रसिकप्रिया (१७वी शति का मध्य) के चित्र मेवाड कलम के श्रेष्ठतम नमूने है गीतगोविन्द पर भी चित्र बनाए गये कवर सग्राम सिंह, नवलगढ के पास गीतगोविंद के कई छिन्न चित्र प्राप्य है लगभग १५६०-५१ के वने सूरसागर के कई चित्र भी गोपीकृष्ण कनोडिया के सग्रह मे है

मेवाडी चित्रो के रग शुद्ध व अत्यन्त चटकीले है पृष्ठभूमि मे रगो का समतल प्रयोग किया गया है स्त्रिया ठिगनी पर सुदर व आकर्षक बनाई गई है प्रकृतिचित्रण मे अलकारण आ गया है कही-कही वाद के चित्रो मे मुगल प्रभाव के कारण हल्का-सा यथार्थ का पुट भी दिखाई देने लगता है पहाडियो व चट्टानो के आलेखन मे यह प्रभाव साफ पह-चाना जा सकता है घुमावदार रेखाओ की आवृत्ति से नदी के बहाव को दर्शाने का प्रयत्न किया है, दृश्या का प्रयोग रूढिमात्र रह गया है विरोधी रगो के बीच घटनामूलक पात्रो को इस तरह की रग-विरगी वेषभूषा मे चित्रित किया गया है कि आँखें अतिरिक्त उभार को देखकर टिकी-सी रह जाती है पशु-पक्षी का चित्रण अक्सर जैन अथवा गुजराती शैली-सा हुआ है—घोडो व हाथी के चित्रण मे मुगल शैली की यथार्थता के दर्शन होते है रात का चित्रण स्याह पृष्ठ-भूमि पर चाद तारे बनाकर किया गया है पुरुष वेषभूषा मे घेरदार जामे पटका (कमरवद) जहागीर अथवा शाहजहानुमा पगडिया व स्त्रियो मे लहगा, चोली, झीनी ओडनी इत्यादि वनाए गए है.

मेवाड कलम के विषय नायक नायिका भेद, रागमाला, भागवत, पुराण व रामायण इत्यादि रहे है राधाकृष्ण को लेकर शृगारिक चित्रो की रचना की गई पर उनके आवरण मे तत्कालीन समाज का सच्चा अक्स प्रतिविम्वित हो पाया है

१७वी शती का अत होते-होते मेवाड शैली का यह उज्ज्वल काल समाप्त हो गया चित्रो की वाढ आ गई, परन्तु शैली मे ढीलापन बढने लगा इस शैली का प्रचार इतना फैला कि छोटे-छोटे ठिकानेदार भी चित्रो के रसिक होगए व्यक्तिचित्र दरवार शिकार व सवारियो के दृश्य जनानखाने व रगरेलियो के दृश्य अव मेवाड कलम के विषय होने लगे. भक्त रत्नावली, पृथ्वीराज रासो, दुर्गामाहात्म्य व पचतत्र इत्यादि पर इस काल मे सैकडो चित्र वने जिनमे कलात्मकता शनै शनै लुप्त होने लगी

मेवाड के वाद कला-क्षेत्र मे बूदी का स्थान आता है। भारत कला भवन की दीपक राग व म्यूनिसिपल म्यूजियम, इलाहावाद की भैरव रागिनी इस कलम की सबसे प्राचीन प्राप्त रचनाएँ है इनमे मेवाड की-सी ग्रामीणता व अल्हडपन के साथ-साथ मुगली सुथरापन व कमनीयता भी दिखाई देती है इनके रग प्रभावोत्पादक तेज व चमकीले हैं पेड पौधो व पशु-पक्षी के चित्रण मे इतना सीधा व सच्चा निरीक्षण इन्हीं चित्रो मे पहले-पहल मिलता है चौडी आँखें, मोटी गढेदार ठुड्डी, पतली नुकीली नाक, भारी चेहरा इत्यादि १७वी शती के मेवाडचित्रो की याद दिला जाते है

शैली-विलक्षणता देखकर मालूम होता है कि भैरवी रागिनी का चित्रण-काल १६२५ ईसवी के लगभग रहा होगा. मेवाड



शैली से ही बूंदी कला की उत्पत्ति मानी जानी चाहिए, हालांकि मुगलशैली की नजाकत का भी इसमे कम प्रभाव नही पडा. पुरुषो की वेषभूषा मे चमकदार (कोनेनुमा) जामे व अटपटी पगड़ियो के पहनावे से इनकी प्राचीनता आकी जा सकती है नेशनल म्यूजियम दिल्ली मे बूंदी कलम के कई प्राचीन रेखा-चित्र प्राप्त है, जिनमे चेहरे के कोण मिटने लगे है रचनाचातुर्य, कलम की कारीगरी, शैली की प्रौढता, रगोका माधुर्य व आलेखन की सच्चाई देखकर भान होता है कि ये चित्र १६३० से १६६० के लगभग वने होगे कर्ल खडेलवाल द्वारा प्रकाशित बूंदी कलम के चित्र काफी प्राचीन है.

इस तरह के चित्रो का समय १६६० से १६९० ईसवी तक था. स्त्री चेहरो की बनावट में इन बूंदी के आरम्भिक चित्रो मे मेवाड शैली का अत्यधिक प्रभाव झलकता है, फिर भी गठन मे यह काफी पुष्ट है. इनमे दृश्य चित्रण भी अधिक यथार्थ वन पडा है. यहा बूंदी की अपनी आकृतियो का निर्माण होते हम सर्व प्रथम देखते है अब चेहरे छोटे व गोल हो गये है गालो की गोलाई दिखाने के लिये आँख के नीचे व नाक के पास छाया का प्रयोग किया जाने लगा जो मेवाड कलम के चित्रो मे कही नही दिखाई देता मेवाड चित्रो मे चेहरे चपटे वनते थे. जिन चेहरो मे मेवाड़ी प्रभाव दिखाई देता है वे भी अत्यन्त कमनीय वनाए गये है. चेहरे का रग लाल व किंचित् भूरापन लिये हुए है. रंग चटकीले होने पर मदभूत व गम्भीर होने लगे है पानी बल खाती रेखाओ की आवृत्ति द्वारा चित्रित किया गया है. पृष्ठभूमिका की हरीतिमा को लाल-पीले फूलो से आच्छादित दिखाया गया है इमारतो का चित्रण भी वडी दक्षता से उसमे जडी हुई एक-एक ईट बनाकर किया गया है

१८वी शती के मध्य के वने बूंदी शैली के चित्र अत्यन्त मधुर व श्रेष्ठ है श्री कनौडिया के सग्रह मे इस शती के बने राग रागनियो के ३६ चित्रो को देखकर इनके सौदर्य का भान किया जा सकता है १८वी शती के अन्त में यह सुथरापन व निरूपण का माधुर्य क्षीण होने लगा लाल रग की जगह चमकदार पीला रग अव चेहरो में भरा जाने लगा गोलाई के लिए अत्यधिक परदाज का प्रयोग कुछ-कुछ कर्कशता पैदा करने लगा. पानी दर्शाने वाली सफेद रेखाएँ भी घनी व मोटी होने लगी मुँह के समीप छाया दिखाकर पृष्ठभूमि से आकृति को उभारने का बेतुका प्रयत्न किया जाने लगा पेड पौधो को घने फूल पत्तो व लताओ से आच्छादित किया जाने लगा. नारियो के वस्त्रो मे जगह-जगह सोने की 'तबक' की छिडकन ने चकाचौध पैदा कर कौतूहल बढा दिया, परन्तु भावाभिव्यक्ति जाती रही और ऐसा लगा कि शैली में यह मुगलिया शान शौकत की मिलावट धीरे-धीरे इसे अवनतोन्मुख करने लगी रगो की गहराई मे भी परिवर्तन हो गया. शांति व कोमल रगो का प्रयोग होने लगा—मीनाकारी व नक्काशी बढ गई पेड अधिक स्वाभाविक वनने लगे परन्तु अब फूल पत्तो व लताओ का रग-बिरगा परिधान लुप्त होने लगा. पेड व पत्तो में छाया व प्रकाश अधिक दर्शाया जाने लगा पानी के लिये चादी का रग प्रयुक्त होने लगा जगह-जगह मॉडलिंग मे[गढन] मुगल प्रभाव झलकने लगा रात्रि के चित्रण मे यह प्रभाव अत्यधिक बढ गया १८वी शती के अन्त के चित्रो मे रगो की कर्कशता व अलकरण की बहुतायत ने चित्रोपम सौदर्य खो दिया कही-कही चित्र अपूर्ण ही छोड दिये गये गये है इनमें नारियो के चेहरे भारी व बेडौल वनाए गए है आँखे घुमावदार व लम्बी, ठुड्डी भारी और ललाट चन्दन से पुता हुआ. शायद बूंदी का दक्षिण से भी राजनैतिक व सास्कृतिक सबध रहा होगा इसी कारण दक्षिणी शैली का भी प्रभाव बूंदी कलम मे दिखाई देता है बूंदी के चित्रो में १८वी शती मे रग चपटे, प्राणहीन व बदरग हो गये और धीरे-धीरे शैली का स्वाभाविक सौदर्य जाता रहा.

राजस्थानी चित्रकला मे किशनगढ कलम की देन बेजोड है राजा मानसिंह [१६५८-१७०६] के समय से ही किशनगढ मे श्रेष्ठ कलाकार पाए जाते है मानसिंह की युवावस्था की एक ओजपूर्ण तस्वीर नेशनल म्यूजियम दिल्ली मे है जिस में वह घोडे पर सवार है व भैसे का शिकार कर रहे है. यह चित्र १६९४ शती का है. इसमे औरगजेब कालीन मुगल कला का प्रभाव झलकता है मानवाकृति मे सुफियानापन किशनगढ कलम मे यही से शुरू हो गया था. १८वी शती के राजा शेपमल के शबीह चित्र मे यह और भी गहरा हो गया राजा के इर्द-गिर्द तहजीब व कायदे कानून से खडे हाकिम हुक्काम, पृष्ठभूमि मे दृष्टिक्रमानुसार अकित झील व किला, प्रकृति का स्वाभाविक चित्रण इन सबमें औरगजेब व फर्रुखसियर काल की कला का काफी प्रभाव दिखाई देता है भवानीदास इस समय का प्रसिद्ध चित्रकार था. राजा

शेपमल का सुदर चित्र इसी कलाकार की रचना है

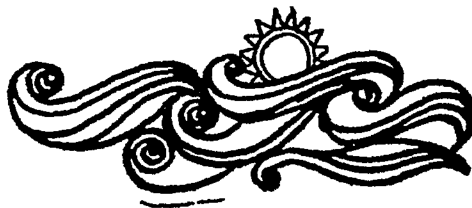
सावतसिंह [कवि नागरीदास] ने काव्यरचना १७२३ शती से ही आरम्भ कर दी थी उसकी राधासौंदर्य की पराकाष्ठा थी उसका रूप अलौकिक था फिर भी अत्यन्त लौकिक किशनगढ कलम के चितेरो के लिये यह रूप आदर्श वन गया और इसी समय से यहा की कला मे एक क्रान्ति-सी उत्पन्न हो गई १७३५ से १७५७ शती तक किशनगढ कला का स्वर्णयुग था जब कि निहालचन्द व उससे प्रभावित कलाकार कवि नागरीदास के काव्य को साकार कर रहे थे राज-सिंह की कलाभिरुचि अन्य राजाओ जैसी ही थी—शवीह लगवाना, दरवार सवारी अथवा शिकार के दृश्य वनवाना इत्यादि इसमे भी सन्देह नही कि राधाकृष्ण की लीलाओ के चित्र राजस्थान मे उस समय तक वनने लगे थे, किन्तु जो भावात्मकता, कल्पना की सूक्ष्मता, लाक्षणिकता, मादकता, मनोवैज्ञानिक निरीक्षण, दृष्टि का पैनापन, व मानवरूप की पराकाष्ठा सावतसिंह के समय मे आई उसने सारे राजस्थान की कला मे ही जागृति की लहर दौडा दी उससे १८वी शती मे वह चित्र वने जो विश्व कला की निधि वन गए कवि नागरीदास की राधा, निहालचन्द द्वारा चित्रित वणी-ठणी ससार प्रसिद्ध [चित्रकार लिनार्डो डीविंची] मोना लिसो के समक्ष आदरपूर्वक रखी जा सकती है.

१७वी शती मे चित्रकला के कई केन्द्र हो गये मेवाड, वूदी अजमेर बीकानेर इत्यादि अनेक स्थानो में श्रेष्ठ चित्र वनने लगे आमेर व जोधपुर मे भी इस समय चित्रो का इतिहास मिलता है परन्तु वह वहुत ही उथला है यहा के चित्र काफी आरम्भिक इस समय दीख पडते है. १७वी शती के अन्त मे बीकानेर मे मुगल शैली से अत्यन्त प्रभावित एक स्थानीय शैली पनपती रही इस पर दक्षिणी शैली का भी प्रभाव पडा यहा की लम्बी आकृतियो व विशेष प्रकार के पेड पौधो व फूल पत्ती इत्यादि के चित्रण से यह वात स्पष्ट हो जाती है

१८वी शती मे चित्रो की वाढ-सी आ गई. एक-एक राज्य यहा तक कि छोटे से छोटे ठिकाने मे भी चित्र शालाएँ खुलने देगी. हजारो की सख्या मे चित्र वनने लगे जयपुर, जोधपुर, उदयपुर, बीकानेर इत्यादि इसके मुख्य केन्द्र वन गए जयपुर के रासमडल के चित्र जो पोथीखाने मे सग्रहित है, अत्यन्त गतिपूर्ण है उष्ण रगो व ओज की अव चित्रो मे कमी दीखने लगो ढेरो चित्र बने जिनमे से अच्छे चित्र उगलियो पर गिने जा सकते है. १९वी शती मे चित्रो की वाढे उन्माद सी वढ गई १८५० शती के बाद के चित्रो मे कलात्मकता के स्थान पर केवल कारीगरी दिखाई देने लगी व धीरे-धीरे इसमे भी शिथिलता आने लगी उनकी कीमत अव वाजार के मोल तोल सी ही रह गई

१९वी शती के उत्तरार्ध व २०वी शती के आरम्भ मे प्राचीन चित्रो की अनुकृति करने वाले घटिया किस्म के यूरोपीय चित्रो व फोटोग्राफी से प्रेरित चितेरे यत्र तत्र वाजारो मे बैठे दिखाई देने लगे. तभी वगाल मे श्री अवनीन्द्रनाथ टैगोर ने कला का पुनर्निर्माण कर समस्त भारत मे जागृति की एक नई लहर दौडा दी राजस्थान ने भी उसमे अपना योग-दान दिया श्री शैलेन्द्रनाथ डे की प्रेरणा से की रामगोपाल विजयवर्गीय ने राजस्थान की मृतप्राय कला मे फिर से चेतना पैदा की इस समय राजस्थान मे चित्रकला के तीन रूप प्रचलित है एक वह जिसके प्रवर्तक परम्परागत कला के पुन-र्निर्माण मे सलग्न है रामगोपाल विजयवर्गीय, गोवर्धन जोशी, रामनिवास वर्मा, देवकीनन्दन शर्मा आदि इस शैली के उल्लेखनीय कलाकार हैं दूसरे यथार्थ शैली मे परीक्षण करने वाले कलाकार है श्रीभूरसिंह शेखावत व श्री भवानीचरण गुई इस श्रेणी के स्मरणीय कलाकार है कला का तीसरा रूप वह है जिसमे आधुनिक कला की विभिन्न प्रवृत्तियो पर प्रयोगात्मक चित्र वनाने वाले कलाकार आते है इन पक्तियो का लेखक, श्री आर वी सखालकार, रणजीत सिंह व ज्योतिर्मान स्वरूप इत्यादि इसके गिने माने कलाकार है.

पुनर्जागरण का अभी राजस्थान मे शैशवकाल ही है १८वी व १९वी शती की राजस्थानी कला ने विश्वकला मे जो स्थान पाया उस पर आसीन होने के लिये राजस्थान को अभी कल की प्रतीक्षा है





श्रीपरमानन्द जैन, शास्त्री

मध्यभारत का जैन पुरातत्त्व

श्रमण सस्कृति का प्रतीक जैनधर्म प्रागैतिहासिक काल से चला आरहा है, वह बौद्ध धर्म से अत्यन्त प्राचीन और स्वतत्र धर्म है. वेदो और भागवत आदि हिन्दू धर्म-ग्रन्थो मे उपलब्ध जैन धर्म सम्बन्धी विवरणो के सम्यक् परिशीलन से विद्वानो ने उक्त कथन का समर्थन किया है प्राचीन काल मे भारत मे दो सस्कृतियो के अस्तित्व का पता चलता है, श्रमणसस्कृति और वैदिक सस्कृति. मोहनजोदारो मे समुपलब्ध ध्यानस्थ योगियो की मूर्तियो की प्राप्ति से जैनधर्म की प्राचीनता निर्विवाद सिद्ध होती है वैदिक युग मे व्रात्यो और श्रमणो की परम्परा का प्रतिनिधित्व जैनधर्म ने ही किया था इस युग मे जैन धर्म के आदिप्रवर्तक आदि ब्रह्मा आदिनाथ थे, जो नाभिपुत्र के नाम से प्रसिद्ध हैं जिनकी स्तुति वेदो मे की गई है. इन्ही आदिनाथ के पुत्र भरत चक्रवर्ती थे जिनके नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष पडा है जैनधर्म के दर्शन, साहित्य, कला, सस्कृति और पुरातत्व आदि का भारतीय इतिहास मे महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है.

इतिहास मे पुरातत्त्व का कितना महत्त्व है, यह पुरातत्त्वज्ञ भलीभाति जानते है भारतीय इतिहास मे मध्य प्रदेश का जैन पुरातत्त्व भी कम महत्त्व का नही है वहाँ पर अवस्थित जैन स्थापत्य, कलात्मक अलकरण, मन्दिर, मूर्तियाँ, शिलालेख, ताम्रपत्र और प्रशस्तियो आदि मे जैनियो की महत्त्वपूर्ण सामग्री का अकन मिलता है. यद्यपि भारत मे हिन्दुओ, बौद्धो और जैनो के पुरातत्त्व की प्रचुरता दृष्टिगोचर होती है और ये सभी अलंकरण अपनी-अपनी धार्मिकता के लिये प्रसिद्ध है परन्तु उन सव मे कुछ ऐसे कलात्मक अलकरण भी उपलब्ध होते है, जो अपने-अपने धर्म की खास मौलिकता को लिये हुए है. जैनो और वौद्धो मे स्तूप और अयागपट भी मिलते है अनेक जैन स्तूप गल्ती से वौद्ध वतला दिये गये है. अयागपट भी अपनी खास विशेषता को लिये हुए मिलते है. जैसे ककालीटीला मथुरा से मिले है. ये सभी अलकरण भारतीय पुरातत्त्व की अमूल्य देन है

मध्यप्रदेश के पुरातत्त्व पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि वहाँ अधिक प्राचीन स्थापत्य तो नही मिलते, परन्तु कलचुरी और चदेलकालीन सौन्दर्याभिव्यजक अलकरण प्रचुर मात्रा मे मिलते है. उससे पूर्व की सामग्री विरल रूप में पाई जाती है, उस काल की सामग्री प्राय. विनष्ट हो चुकी है, और कुछ भूमिसात् हो गई है वौद्धो के साची स्तूप और तद्गत सामग्री पुरानी है विदिशा की उदयगिरि गुफा मे जैनियो के तेवीसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्रतिमा सछत्र अवस्थित थी, परन्तु वहा अव केवल फण ही अवशिष्ट है मूर्ति का कोई पता नही चलता कि कहा गई, परन्तु प्राचीन सामग्री के सकेत अवश्य मिलते है जिनसे जाना जाता है कि वहा मौर्य और गुप्त काल के अवशेष मिलने चाहिए कितनी ही पुरातन सामग्री भूगर्भ मे दवी पडी है और कुछ खण्डहरो मे परिणत हुई सिसकिया ले रही है किन्तु हमारा ध्यान अभी तक उसके समुद्धरण की ओर नही गया

जवलपुर के हनुमानताल के दिगम्वर जैन मन्दिर मे स्थित एक कलात्मक मूर्ति शिल्प की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर और मूल्यवान् है. वैसी मूर्तियाँ महाकौशल मे वहुत ही कम उपलब्ध होगी उसमे कला की सूक्ष्म भावना, उदात्त एव



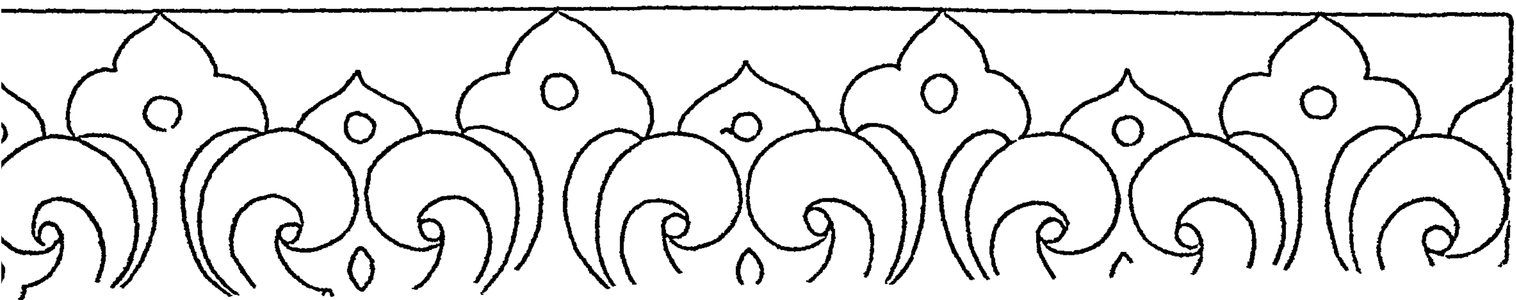
गभीर विचार और वारीक छैनी का आभास उसके प्रत्येक अग से परिलक्षित होता है इसी तरह देवगढ का विष्णु-मन्दिर भी गुप्तकालीन कला का सुन्दर प्रतीक है और भी अनेक कलात्मक अलकरणो का यत्र तत्र सकेत मिलता है, जो तत्कालीन कला की मौलिक देन है इस तरह उक्त तीनो ही सम्प्रदायो की पुरातात्त्विक सामग्री का अस्तित्त्व जरूर रहा है, परन्तु वर्तमान मे वह विरल ही है

मध्यप्रदेश के पुरातात्त्विक स्थान और उनका संक्षिप्त परिचय

मध्यप्रदेश के खजुराहा, महोवा, देवगढ, अहार, मदनपुर, वाणपुर, जतारा, रायपुर, जवलपुर, सतना, नवागढ, ग्वालियर, भिलसा, भोजपुर, मऊ, धारा, वडवानी और उज्जैन आदि पुरातत्त्व की सामग्री के केन्द्रस्थान है इन स्थानो की कलात्मक वस्तुएँ चन्देल और कलचूरी कला का निदर्शन करा रही है यद्यपि मध्यप्रदेश मे जैन शास्त्रभडारो के सकलन की विरलता रही है ५-७ स्थान ही ऐसे मिलते हैं जहाँ अच्छे शास्त्रभडार पाए जाते हैं यद्यपि प्रत्येक मन्दिर मे थोडे वहुत ग्रन्थ अवश्य पाये जाते है पर अच्छा सकलन नही मिलता इसका कारण यह है कि वहा भट्टारकीय परम्परा का प्रभाव अधिक नही हो पाया है जहाँ-जहाँ भट्टारकीय गद्दिया और उनके विहार की सुविधा रही है वहा वहाँ अच्छा सग्रह पाया जाता है प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थो का जैसा सकलन राजस्थान, गुजरात, दक्षिण भारत तथा पजाब के कुछ स्थानो मे पाया जाता है वैसा मध्य प्रदेश मे नही मिलता मध्य प्रदेश के जिन कतिपय स्थानो के नामो का उल्लेख किया गया है उन मे से कुछ स्थानो का यहाँ सक्षिप्त परिचय देना ही इस लेख का विषय है यद्यपि मालव प्रान्त भी किसी समय जैन धर्म का केन्द्रस्थल रहा है, और वहा अनेक साधु-सन्तो और विद्वानो का जमघट रहा है, खासकर विक्रम की १० वी शताब्दी से १३ वी शताब्दी तक वहा दि० जैन साधुओ आदि का अध्ययन, अध्यापन तथा विहार होता रहा है, और वहाँ अनेक ग्रन्थो की रचना की गई है साथ ही अनेक प्राचीन उत्तुग मदिर और मूर्तियो का निर्माण भी हुआ है, परन्तु राज्यविप्लवादि और साम्प्रदायिक व्यामोह आदि से उनका सरक्षण नही हो सका है. अत कितनी ही महत्त्व की ऐतिहासिक और सास्कृतिक सामगी विलुप्त हो गई है जो अवशिष्ट वच पाई है उसका सरक्षण भी दूभर हो गया है और वाद मे उन स्थानो मे वैसा मजवूत सगठन नही वन सका है, जिससे जैन सस्कृति और उसकी महत्वपूर्ण सामग्री का सकलन और सरक्षण किया जा सकता

खजुराहा—यह चन्देलकालीन उत्कृष्ट शिल्पकला का प्रतीक है यहा खजूर का वृक्ष होने के कारण 'खर्जुरपुर' नाम पाया जाता है खजुराहा जाने के दो मार्ग हैं एक मार्ग-झाँसी-मानिकपुर रेलवे लाइन पर हरपालपुर या महोवा से छतरपुर जाना पडता है और दूसरा मार्ग-झाँसी से वीना सागर होते हुए मोटर द्वारा छतरपुर जाया जाता है और छतरपुर से सतना जाने वाली सडक पर से बीस मील दूर वमीठा मे एक पुलिस थाना है, वहा से राजनगर को जो दश मील मार्ग जाता है उसके ७ वे मील पर खजुराहा अवस्थित है मोटर हरपालपुर से तीस मील छतरपुर और वहाँ से खजुराहा होती हुई राजनगर जाती है

यहाँ भारत की उत्कृष्ट सास्कृतिक स्थापत्य और वास्तुकला के क्षेत्र मे चन्देल समय की देदीप्यमान कला अपना स्थिर प्रभाव अकित किये हुए है चन्देल राजाओ की भारत को यह असाधारण देन है इन राजाओ के समय मे हिन्दू सस्कृति को भी फलने-फूलने का पर्याप्त अवसर मिला है उस काल मे सास्कृतिक कला और साहित्य के विकास को प्रश्रय मिला जान पडता है यही कारण है कि उस काल के कला-प्रतीको का यदि सकलन किया जाय, जो यत्र-तत्र विखरा पडा है, उससे न केवल प्राचीन कला की रक्षा होगी वल्कि उस काल की कला के महत्त्व पर भी प्रकाश पडेगा और प्राचीन कला के प्रति जनता का अभिनव आकर्षण भी होगा, क्योकि कला कलाकार के जीवन का सजीव चित्रण है उसकी आत्म-साधना कठोर छैनी और तत्त्वस्वरूप के निखारने का दायित्व ही उसकी कर्तव्यनिष्ठा एव एकाग्रता का प्रतीक है भावो की अभिव्यजना ही कलाकार के जीवन का मौलिक रूप है, उससे ही जीवन मे स्फूर्ति और आकर्षक शक्ति की जागृति होती है. उच्चतम कला के विकास से तत्कालीन इतिहास के निर्माण मे पर्याप्त सहायता मिलती है



बुन्देलखण्ड मे चन्देल और कलचूरी आदि राजाओ के शासनकाल मे जैनधर्म का प्रभाव सर्वत्र व्याप्त रहा है, और उस समय अनेक कलापूर्ण मूर्त्तिया तथा सैकडो मन्दिरो का निर्माण भी हुआ है. खजुराहो की कला तो इतिहास मे अपना विशिष्ट स्थान रखती ही है यद्यपि खजुराहो मे कितनी ही खण्डित मूर्तिया पाई जाती है, जो साम्प्रदायिक विद्वेष का परिणाम जान पडती है.

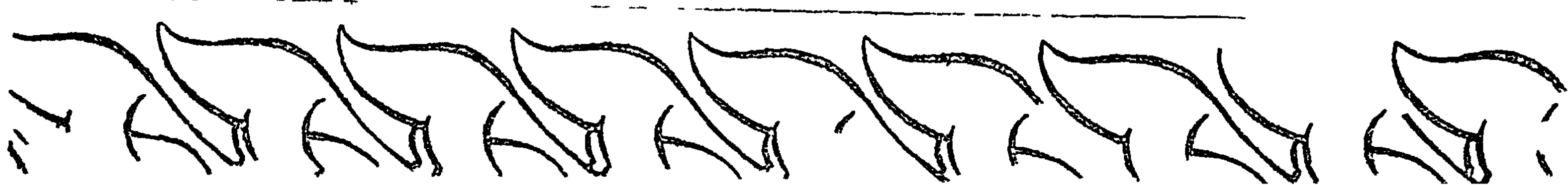
यहाँ मन्दिरो के तीन विभाग है. पश्चिमी समूह शिव-विष्णु-मन्दिरो का है. इनमे महादेव का मन्दिर ही सबसे प्रधान है और उत्तरीय समूह मे भी विष्णु के छोटे वडे मन्दिर हैं दक्षिण-पूर्वीय भाग जैन मन्दिरो के समूह से अलकृत है. यहा महादेवजी की एक विशाल मूर्त्ति ८ फुट ऊची और तीन फुट से अधिक मोटी होगी वराह अवतार भी अतीव सुन्दर है उसकी ऊँचाई सम्भवत ३ हाथ होगी. वगेश्वर मदिर भी सुन्दर और उन्नत है, काली का मन्दिर भी रमणीय है, पर मूर्त्ति मे माँ की ममता का अभाव दृष्टिगत होता है, उसे भयकरता से आच्छादित जो कर दिया है, जिससे उसमे जगदम्बा की कल्पना का वह मातृत्व रूप नही रहा. और न दया क्षमा ही को कोई स्थान प्राप्त है, जो मानव-जीवन के खास अग है वहाँ के हिन्दूमन्दिर पर जो निरावरण देवियो के चित्र उत्कीर्ण देखे जाते है उनसे ज्ञात होता है कि उस समय विलासप्रियता का अत्यधिक प्रवाह बह रहा था. इसी से शिल्पियो की कला में भी उसे यथेष्ट प्रश्रय मिला है खजुराहो की नन्दी मूर्ति दक्षिण के मन्दिरो मे अकित नन्दी मूर्तियो से वहुत कुछ साम्य रखती है. यद्यपि दक्षिण की मूर्त्तिया आकार-प्रकार मे कही उससे वडी हैं.

वर्तमान मे यहा तीन ही हिन्दू मन्दिर और तीन ही जैन मन्दिर है उनमे सवमे प्रथम मदिर घटाई का है यह मन्दिर खजुराहा ग्राम की ओर दक्षिण पूर्व की ओर अवस्थित है, इसके स्तम्भो में घण्टियो की वेल वनी हुई है. इसी से इसे घण्टाई का मन्दिर कहा जाता है. इस मन्दिर की शोभा अपूर्व है

दूसरा मन्दिर आदिनाथ का है यह मन्दिर घण्टाई मन्दिर के हाते मे दक्षिण उतर-पूर्व की ओर अवस्थित है. यह मदिर भी रमणीय और दर्शनीय है इस मन्दिर में पहले जो मूल नायक की मूर्ति स्थापित थी वह कहाँ गई, यह कुछ ज्ञात नही होता तीसरा मन्दिर पार्श्वनाथ का है. यह मन्दिर सव मन्दिरो से विशाल है. इसमे पहले आदिनाथ की मूर्त्ति स्थापित थी, उसके गायब हो जाने पर इसमे पार्श्वनाथ की मूर्त्ति स्थापित की गई है इस मन्दिर की दीवालो के अलकरणो मे वैदिक देवताओ की मूर्तिया भी उत्कीर्ण है यह मन्दिर अत्यन्त दर्शनीय है और सभवत दशवी शताब्दी का बना हुआ है इसके पास ही शातिनाथ का मन्दिर है इन सब मन्दिरो के शिखर नागर शैली के बने हुए है और भी जहा तहा बु देलखण्ड मे मदिरो के शिखर नागर शैली के बने हुए मिलते है. ये मदिर अपनी स्थापत्यकला, नूतनता और विचित्रता के कारण आकर्पक है यहा की मूर्त्तिकला, अलकरण और अतुल रूपराशि मानव-कल्पना को आश्चर्य मे डाल देती है इन अलकरणो एव स्थापत्य कला के नमूनो मे मदिरो का बाह्य और अन्तर्भाव-विभूपित है जहा कल्पना मे सजीवता, भावना में विचित्रता तथा विचारो का चित्रण, इन तीनों का एकत्र सचित समूह ही मूर्तिकला के आदर्शो का नमूना है, जिननाथ मन्दिर के बाह्य द्वार पर सवत् १०११ का शिलालेख अकित है, जिससे ज्ञात होता है कि यह मदिर चन्देल राजा धग के राज्यकाल से पूर्व बना है उस समय मुनि वासवचन्द के समय मे पाहलवश के एक व्यक्ति पाहिल ने, जो धगराजा के द्वारा मान्य था, उसने मदिर को एक वाग भेट किया था जिसमे अनेक वाटिकाएँ वनी हुई थी [1]

शान्तिनाथ का मन्दिर—इस मन्दिर मे एक विशाल मूर्त्ति जैनियो के १६वे तीर्थंकर भगवान् शान्तिनाथ की है, जो १४ फुट ऊँची है. यह मूर्त्ति शान्ति का प्रतीक है, इसकी कला देखते ही बनती हे. मूर्ति सागोपाग अपने दिव्य प्रशान्त रूप मे स्थित है और ऐसी ज्ञात होती है कि शिल्पी ने अभी बनाकर तैयार की हो मूर्ति कितनी चित्ताकर्षक है यह लेखनी से परे की वात है शिल्पी की वारीक छैनी से मूर्ति का निखरा हुआ वह कलात्मक रूप दर्शक को आश्चर्य मे डाल देता

१ ओं (11λ) सवत् १०११ समये ॥ निजकुल धवलोय दि—



है और वह उसे अपनी ओर आकृष्ट करता हुआ उसे देखने की वार वार उत्कण्ठा उत्पन्न कर रहा है मूर्त्ति के अगल वगल मे अनेक सुन्दर मूर्तिया विराजित हैं जिनकी सख्या अनुमानत २५ से कम नही जान पडती यहा सहस्रो मूर्तिया खण्डित है. सहस्रकूट चैत्यालय का निर्माण वहुत वारीकी के साथ किया गया है इस मदिर के दरवाजे पर एक चौंतीसा यत्र है, जिसमे सब तरफ से अकोको जोडने पर उनका योग चौतीस होता है यह यत्र वडा उपयोगी है जव कोई वालक वीमार होता है तव उस यन्त्र को उसके गले मे वाध दिया जाता है ऐसी प्रसिद्धि है भगवान् शान्तिनाथ की इस मूर्त्ति के नीचे निम्न लेख अकित है, जिससे स्पष्ट है कि यह मूर्ति विक्रम की ११ वी शताब्दी के अन्तिम चरण की है
स १०८५ श्रीमान् आचार्यपुत्र श्रीठाकुर देवधर सुत श्री शिविश्रीचन्देयदेवा श्री शान्तिनाथस्य प्रतिमा कारितेति"

खजुराहे की खडित मूर्तियो मे से कुछ लेख निम्न प्रकार है

१—स० ११४२ श्री आदिनाथाय प्रतिष्ठाकारक श्रेष्ठी वीवनशाह भार्या सेठानी पद्मावती

चौथे न० की वेदी मे कृष्ण पाषाण की हथेली और नासिका से खण्डित जैनियो के वीसवे तीर्थकर मुनिसुव्रतनाथ की एक मूर्ति है उसके लेख से मालूम होता है कि यह मूर्ति विक्रम की १३ वी शताब्दी के प्रारम्भ मे प्रतिष्ठित हुई है लेख मे मूलसघ देशीगण के पडित नागनन्दी के शिष्य प० भानुकीर्ति और आर्यिका मेरुश्री द्वारा प्रतिष्ठित कराये जाने का उल्लेख किया गया है वह लेख इस प्रकार है : 'स० १२१५ माघ सुदी ५ रवौ देशीयगणे पडित नाह [ग] नन्दी तच्छिष्य पडित श्री भानुकीर्ति आर्यिका मेरुश्री प्रतिनन्दतु'

इस तरह खजुराहा स्थापत्यकला की दृष्टि से अत्यन्त दर्शनीय है

महोवा—इसका प्राचीन नाम काकपुर,पाटनपुर और महोत्सव या महोत्सवपुर था इस राज्यका सस्थापक चदेलवशी राजा चन्द्रवर्मा था जो सन् ८०० मे हुआ है. इस राज्य के दो राजाओ का नाम खूव प्रसिद्ध रहा है उनका नाम कीर्तिवर्मा और मदनवर्मा था. ईस्वी सन् ९०० के लगभग राजधानी खजुराहा से महोवा मे स्थापित हो गई थी कनिंघम ने अपनी रिपोर्ट मे इसका नाम 'जजाहूति' दिया है चीनी यात्री ह्वेनत्साग ने भी अपने यात्राविवरण मे, 'जैनाभुक्ति' का उल्लेख किया है यहा की झीले प्रसिद्ध हैं यहा नगर मे हिन्दू और मुसलमानो के स्मारक भी मिलते हैं जैन सस्कृति की प्रतीक जैन मूर्तिया भी यत्र-तत्र छितरी हुई मिलती है कुछ समय पहले खुदाई करने पर यहा वहुत-सी जैन मूर्तियाँ मिली थी, जो सभवत स० १२०० के लगभग थी उनमे से एक ललितपुर क्षेत्रपाल मे और शेष वादा मे विराजमान हैं

यहा एक २० फुट ऊचा टीला है वहा से अनेक खण्डित जैन मूर्तिया मिली है महोवा के आस-पास के ग्रामो और नगरो मे भी अनेक ध्वस्त जैनमदिर और मूर्तिया उपलब्ध होती है. उन खण्डित मूर्तियो के आसनो पर जो छोटे-छोटे लेख मिले है, उनमे से कुछ लेखो का सार निम्न प्रकार है

१—'सवत् ११६९ राजा जयवर्मा २—स० १२०३ ३—श्री मदनवर्मा देवराज्ये स० १२११ आषाढ सु० ३ शनौ देव श्रीनेमिनाथ, रूपकार लक्ष्मण ४—सुमतिनाथ स० १२१३ माघ सु० दू० गुरौ. ५—स० १२२० जेठ सुदी ८ रवौ

---

२ व्यमूर्तिस्व (शी) ल स (श) म दमगुणयुक्त सर्वे
३. सत्वानुकपो (।x) स्वजनिततोषो धागराजेन
४ मान्य' प्रणमति जिननाथोय भव्व (व्य) पाहिल (ल्ल)
५. नामा (।।) १।। पाहिलवाटिका १ चन्द्रवाटिका
६ लघुचन्द्रवाटिका ३ स० (श) करवाटिका ४ पचाइ
७ तलुवाटिका ५ आम्रवाटिका ६ ध (घ) गवाडी ७ (।।x)
८. पाहिलवसे (शे) तुक्षये क्षीणे अपरवेशो य कोपि
९ तिष्ठति (।x) तस्य दासस्य दासोय ममदत्तिस्तु पाल—
१०. येत् ।। महाराज गुरु स्त्री (श्री) वासवचन्द्र (।।\)
वेष (शा) प (ख) सुदि ७ सोमदिने.



साधुदेव गण तस्य पुत्र रत्नपाल प्रणमति नित्य ६— तत्पुत्रा साधुश्री रत्नपाल तस्य भार्या साधा पुत्र कीर्तिपाल, अजयपाल, वस्तुपाल तथा त्रिभुवनपाल अजितनाथाय प्रणमति नित्य.[१] एक लेख में जो 'स० १२२४ आषाढ सुदी २ रवौ' के दिन परमर्द्धि देव के राज्यकाल का है, उसमे चदेलवश के राजाओ के नाम दिये हुए है. श्रावको के नाम ऊपर दिये गये है इन सब उल्लेखो से महोवा जैन सस्कृति का कभी केन्द्र रहा था. इसका आभास सहज ही हो जाता है.

देवगढ़ का इतिहास

देवगढ़—दिल्ली से बम्बई जाने वाली रेलवे लाइन पर जाखलौन स्टेशन से ९ मील की दूरी पर है. इस नाम का एक छोटा-सा ऊजड ग्राम भी है इस ग्राम मे आबादी बहुत थोडी सी है. यह वेत्रवती (वेतवा) नदी के मुहाने पर नीची जगह बसा हुआ है वहा से ३०० फुट की ऊँचाई पर करनाली दुर्ग है. जिसके पश्चिम की ओर वेतवा नदी कलकल निनाद करती हुई बह रही है पर्वत की ऊँचाई साधारण और सीधी है पहाड पर जाने के लिये पश्चिम की ओर एक मार्ग वना हुआ है, प्राचीन सरोवर को पार करने के बाद पाषाणनिर्मित एक चौडी सडक मिलती है, जिसके दोनो ओर खदिर (खैर) और साल के सघन छायादार वृक्ष मिलते है इसके वाद एक भग्न तोरण द्वार मिलता है, जिसे कुजद्वार भी कहते है यह पर्वत की परिधि को वेढे हुए कोट का द्वार है यह द्वार प्रवेशद्वार भी कहा जाता है. इसके बाद दो जीर्ण कोटद्वार और भी मिलते है ये दोनो कोट जैनमन्दिरो को घेरे हुए है. इनके अन्दर देवालय होने से इसे देवगढ कहा जाने लगा है, क्योंकि यह देवो का गढ था. परन्तु यह इसका प्राचीन नाम नही है. इसका प्राचीन नाम 'लुच्छगिरि' या 'लच्छगिरि' था, जैसा कि शान्तिनाथ मन्दिर के सामने वाले हाल के एक स्तम्भ पर शक सवत् ७८४ (वि० स० ९१९) मे उत्कीर्ण हुए गुर्जर प्रतिहार वत्सराज आम के प्रपौत्र और नागभट्ट द्वितीय या नागावलोक के पौत्र महाराजाधिराज परमेश्वर राजा भोजदेव के शिलालेख से स्पष्ट है उस समय यह स्थान भोजदेव के शासन मे था इस लेख मे बतलाया है कि शान्तिनाथमन्दिर के समीप श्री कमलदेव नाम के आचार्य के शिष्य श्रीदेव ने इस स्तम्भ को बनवाया था यह वि० स० ९१९ आश्विन सुद १४ वृहस्पतिवार के दिन भाद्रपद नक्षत्र के योग मे बनाया गया था[२]

विक्रम की १२वी शताब्दी के मध्य मे इसका नाम कीर्तिगिरि रक्खा गया था पर्वत के दक्षिण की ओर दो सीढियां है जिनको राजघाटी और नाहर घाटी के नाम से पुकारा जाता है. वर्षा का सब पानी इन्ही मे चला जाता है. ये घाटियाँ चट्टान से खोदी गयी है जिन पर खुदाई की कारीगरी पायी जाती है राजघाटी के किनारे आठ पक्तियो का छोटा सा स० ११५४ का एक लेख उत्कीर्ण है[३] जिसे चदेलवशी राजा कीर्तिवर्मा के प्रधान अमात्य वत्सराज ने खुदवाया था.

---

(१) देखो, कनिंघम सर्वेरिपोर्ट जिल्द २१ पृ० ७३, ७४.

(२) १ (ओं) परम भट्टारक) महाराजाधिराज परमेश्वर श्री भो—
२. ज देव पट्टी वर्द्धमान—कल्याणविजय राज्ये।
३ तत्प्रदत्त—पञ्च महाशब्द—महासामन्त श्री विष्णु।
४ र—म परिभुज्य या (के) लुअच्छगिरे श्री शान्तमत (न)
५ (स) निधे श्री कमल देवाचार्य शिष्येण श्रीदेवेन कारा
६ पित इद स्तम्भ ।। सवत् ९१९ अस्व (श्व) युज० शुक्ल
७ पक्ष चतुर्दश्या वृहस्पिति दिनेन उत्तर भाद्र प
८ द नक्षत्रे इद स्तम्भ समाप्त मिति ।।०।।

(३) चादेल्लवशकुमुदेन्दुविशालकीर्तिः, ख्यातो वभूव नृप सघनतांघ्रिपद्मः।
विद्याधरो नरपतिः कमलानिवासो, जातस्ततो विजयपालनृपो नृपेन्द्रः ।।
तस्माद्धर्मपरश्रीमान् कीर्तिवर्मनृपोऽभवत्। यस्य कीर्तिसुधाशुभ्रे त्रैलोक्य सोधतामगात् ।।
अगद नूनन विष्णुमाविर्भूतमवाप्य यम्। नृपाब्धि तस्समाकृष्टा श्रीरस्थैर्यप्रमार्जयत् ।।



यह वडा विद्वान् और पराक्रमी था इसने अपने शत्रुओ से इस प्रदेश-मण्डल को जीता था और इस दुर्ग का नाम 'कीर्तिगिरि' रक्खा था कीर्तिवर्मा चन्देलवश का प्रतापी शासक था और शत्रुकुल को दलित करने वाला वीर योद्धा था, जैसा कि प्रवोधचन्द्रोदय नाटक के निम्न पद्य से प्रकट है

नीता क्षयं क्षितिभुजो नृपतेर्विपक्षा, रक्षावती क्षितिरभूतप्र थितैरमात्यै ।
साम्राज्यमस्य विहितं क्षितिपालमौलि-मालार्चितं भुवि पयोनिधिमेखलायाम् ॥३॥

दूसरी नाहरघाटी के किनारे भी एक छोटा ७ पक्तियो का अभिलेख अकित है यहा एक गुफा है, जिसे सिद्धगुफा भी कहा जाता है यह भी पहाड मे खुदी हुई है जिसका मार्ग पहाड पर से सीढियो द्वारा नीचे जाता है. इसके तीन द्वार है, दो खभो पर छत भी अवस्थित है इस गुफा के अन्दर भी गुप्त समय का छोटा-सा लेख अकित है, जो सवत् ६०९ सन् ५५२ का वतलाया जाता है इसमे सूर्यवशी स्वामी भट्ट का उल्लेख है. यह लेख गुप्तकालीन है एक दूसरा भी लेख है जिसमे लिखा है कि राजा वीर ने सवत् १३४२ मे तुण को जीता था.

इस सव कथन पर से जाना जाता है कि इसका देवगढ नाम विक्रम की १२वी शताब्दी के अन्त मे या १३वी के प्रारम्भ मे किसी समय हुआ है यह स्थल अनेक राजाओ के राज्यकाल मे अवस्थित रहा है इस प्रान्त मे पहले सहरियो का राज्य था, पश्चात् गौड राजाओ ने अधिकार कर लिया था स्कन्दगुप्त आदि इस वश के कई राजाओ के शिलालेख अव तक देवगढ मे पाये जाते है इनके वाद कन्नौज के भोजवशी राजाओ ने इस प्रान्त को अपने अधिकार मे किया था इसके पश्चात् चदेल वशी राजाओ का इस पर स्वामित्व रहा सन् १२९४ ई० मे यह विशालनगर था उस समय यह वहुत सुन्दर और सूर्य के प्रकाश के समान देदीप्यमान था इसी वश ने दतिया के किले का निर्माण कराया था ललितपुर के आसपास इस वश के अनेक लेख उपलब्ध होते हैं, इस वश की राजधानी महोवा थी इनके समय जैन-धर्म को पल्लवित होने का अच्छा अवसर मिला था इस वश के शासन-समय की अनेक कलाकृतिया, मन्दिर और जैन मूर्तिया महोवा, अहार, टीकमगढ, मदनपुर, नावई और जखौरा आदि स्थानो पर पाई जाती है

महाराजा सिन्धिया की ओर से कर्नल वैपटिस्टि किलोज ने सन् १६२१ मे देवगढ पर चढाई की थी उसने तीन दिन वरावर लडकर उस पर अधिकार कर लिया चदेरी के वदले मे महाराज सिन्धिया ने देवगढ हिन्द-सरकार को दे दिया था हो सकता है कि किले की दीवार चदेलवशी राजाओ ने वनवाई हो, परन्तु यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता उसकी मोटाई १५ फुट की है जो विना सीमेट के केवल पाषाण से वनी हुई है नदी की ओर की हदवदी की दीवाल वनी होगी, तो वह गिर गई होगी, या फिर वह वनवाई ही नही गई परन्तु ऊँचाई कही भी २० फुट से अधिक नही है उत्तरी पश्चिमी कोने से एक दीवार २१ फुट मोटी है, जो ६०० फुट तक पहाडी के किनारे चली गई है सभवत यह दीवार दूसरे किले की हो, जो अव विनष्ट हो चुका है

देवगढ का यह स्थान कितना सुरम्य और चित्ताकर्षक है, इसे वतलाने की आवश्यकता नही. वेत्रवदी नदी के किनारे-किनारे दाहिनी तरफ मैदान अत्यन्त ढालू हो गया है पहाड की विकट घाटी मे उक्त सरिता सहसा पश्चिम की ओर मुड जाती है वहा की प्राकृतिक सुषमा और कलात्मक सौंदर्य दोनो ही अपनी अनुपम छटा प्रदर्शित करते है वहा दर्शको को वैभव की असारता के स्पष्ट दर्शन होते है जो स्पष्ट सूचित कर रहे है कि—हे पामर नर ! तू वैभव के अहकार मे इतना क्यो इठला रहा है ? एक समय था जव हम भी गर्व मे इठला रहे थे उस समय हमे भावी परि-

---

राजोडुमध्यगतचन्द्रनिभस्य यस्य, नून युधिष्ठिर-शिव-रामचन्द्रः ।
एते प्रसन्नगुणरत्ननिधौं निविष्टा, यत्तद् गुणप्रकररत्नमये शरीरे ॥
तदीयामात्यमन्त्री दो रमणीपुरविनिर्गत । वत्सराजेति विख्यात श्रीमान्महीधरात्मज. ॥
ख्यातो वभूव किल मन्त्रपदैकमात्रे, वाचस्पतिस्तदिह मन्त्रगुणैरुभास्याम् ॥
योऽय समस्तमपि मण्डलमाशु शत्रोराच्छिद्य कीर्तिगिरिदुर्गमिद व्यधत्त ॥ सवत् ११५४ चैत्र वदि ७ वुधौ, (देवगढ शिलालेख)



वर्तनो का कोई आभास नही था, किन्तु दुर्दैव के कारण हमारी यह अवनत अवस्था हुई है अत तू अब भी समझ और सावधान हो

विन्ध्य पर्वतमालाकी सघन वनाच्छादित सुरम्य उपस्थली मे यह पुण्यक्षेत्र जीवनदायिनी सलिला वेत्रवती से सटी हुई डेढ-दो मील लम्बी पहाडी के ऊपर एक चौकोर लम्बे मैदान के भाग मे फैला हुआ पग पग पर अनुपम सास्कृतिक जीवन-कला की विभूतियो के मनमोहक दृश्य उपस्थित करता है जिसमे तल्लीन होकर एक बार दर्शक-हर्ष विषाद, सुख-दु ख, मोह-मत्सर काम आदि के सस्कार रूपी बन्धनो से मुक्त होकर प्रकृति की गोद मे विलीन-सा हो जाता है और अपने सारे अहकारमय ऐहिक अस्तित्व को भूल कर अपने आप को न्यूनतम से न्यूनतम रजकण से भी तुच्छ पाता है प्रशान्त मूर्तिया, वेदिका, स्तम्भ, तोरण, दीवारे और अन्य कलात्मक अलकरण, जो यशस्वी शिल्पियो द्वारा चमत्कारपूर्ण सामग्री निर्मित की गई है वह अपनी मूक प्रेरणा द्वारा भिन्न-भिन्न विचार-मुद्राओ मे आध्यात्मिक जीवन की झाकी का सन्देश प्रस्तुत करती है कही चामत्कारिक मूर्ति-निर्माणकला के छिटकते हुए सौंदर्य से देदीप्यमान प्रतीकों, तीर्थंकर पार्श्वनाथ की विशालकाय मूर्तियो और अगणित अर्हन्तो की विचारप्रेरक मुद्राओ वाले प्रतिबिम्ब उस वनस्थली की स्तब्ध शाति के मूक स्वर मे आनन्दविभोर दिखाई देते हैं और कही चक्रेश्वरी, पद्मावती, ज्वालामालिनी, सरस्वती आदि जिनशासनरक्षिका देवियो की मुद्राए, अद्भुत भावप्रेरक अनेक देवियो के अलकृत अवयव अपनी भाव-भगियो से मानो सुषमा ही उडेल रहे हैं

गुप्तकालीन मंदिर—किले के दक्षिण-पश्चिमी कोने पर वराह का प्राचीन मन्दिर खडितावस्था मे मौजूद है उसके निर्माण के सम्बन्ध मे निश्चित कुछ नही कहा जा सकता नीचे के मैदान मे गुप्तकालीन विष्णुमन्दिर बना हुआ है, यह पूर्ण रूप से सुरक्षित है, भारतीय कलाविद् इसके कारण ही देवगढ से परिचित है यह मन्दिर गुप्त काल के बाद किसी समय बना है. कहा जाता है कि गुप्तकाल मे मदिरो के शिखर नही बनाये जाते थे, परन्तु इसमे शिखर होने के चिह्न मौजूद है मालूम होता है कि इसका शिखर खडित हो गया है. यह मदिर जिन पाषाणखण्डो से बना है, वे अत्यन्त कलापूर्ण और सुन्दर है[1] इस मदिर की कला के सम्बन्ध मे प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् स्मिथ साहब कहते है कि—देवगढ मे गुप्तकाल का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और आकर्षक स्थापत्य है वह देवगढ का पत्थर का बना हुआ एक छोटा सा मदिर है यह ईशा छठी अथवा पाचवी शताब्दी का बना है इस मदिर की दीवारो पर जो प्रस्तरफलक लगे है उनमे भारतीय मूर्तिकला के कुछ बहुत ही बढिया नमूने अकित है.[2]

इस मदिर की खुदाई के समय जो मूर्तिया मिली, उनमें से एक मे पचवटी का वह दृश्य अकित है जहा लक्ष्मण ने रावण की बहन सूर्पनखा की नाक काटी थी अन्य एक पाषाण में राम और सुग्रीव के परस्पर मिलन का अपूर्व दृश्य अकित है एक अन्य पत्थर मे राम लक्ष्मण का शबरी के आश्रम मे जाने का दृश्य दिखाया गया है इसी तरह के अन्य दृश्य भी रहे होगे रामायण की कथा के यह दृश्य अन्यत्र मेरे अवलोकन में नही आये यही पर नारायण की मूर्ति है. और एक पत्थर मे गजेन्द्रमोक्ष का दृश्य भी उत्कीर्ण है दक्षिण की ओर दीवार मे शेषशायी विष्णु की मूर्ति है, जो बडे आकार के लाल पत्थर मे खोदी गई है इससे यह मदिर भी अपना विशेष महत्त्व रखता है

जैन मन्दिर और मूर्तिकला:— देवगढ मे इस समय ३१ जैन मन्दिर है जिनकी स्थापत्यकला मध्यभारत की अपूर्व देन है इनमे से न० ४ के मन्दिर मे तीर्थंकर की माता सोती हुई स्वप्नावस्था मे विचार-मग्न मुद्रा मे दिखलाई गई है न०

१ देखो, भारतीय पुरातत्व की रिपोर्ट दयाराम साहनी

२. The most important and interesting stone temple of Gupta age is one of moderate dimensions at Deogarh, which may be assigned to the first half of sixth or perhaps to the fifth Century The panels of the walls contain some of the finest specimens of Indian sculpture



५ का मदिर सहस्रकूट चैत्यालय है जिसकी कलापूर्ण मूर्तियाँ अपूर्व दृश्य दिखलाती है इस मन्दिर के चारो ओर १००८ प्रतिमाए खुदी है बाहर स० ११२० का लेख भी उत्कीर्णित है, जो सम्भवत इस मन्दिर के निर्माणकाल का ही द्योतक है न० ११ के मन्दिर मे दो शिलाओ पर चौवीस तीर्थंकरो की बारह-बारह प्रतिमाए अकित है ये सभी मूर्तिया प्रशान्त मुद्रा को लिये हुए है

इन सब मन्दिरो मे सबसे विशाल मन्दिर न १२ है, जो शातिनाथ मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है. जिसके चारो ओर अनेक कलाकृतिया और चित्र अकित है इसमे शान्तिनाथ भगवान की १२ फुट उत्तुग प्रतिमा विराजमान है, जो दर्शक को अपनी ओर आकृष्ट करती है. और चारो कोनो पर अम्बिका देवी की चार मूर्तिया है, जो मूर्तिकला के गुणो से समन्वित है इस मन्दिर की बाहरी दीवाल पर जो २४ यक्ष यक्षिणियो की सुन्दर कलाकृतियाँ बनी हुई हैं, इनकी आकृतियो से भव्यता टपकती है साथ ही १८ लिपियो वाला लेख भी वरामदे मे उत्कीर्णित है इन सब कारणो से यह मन्दिर अपनी सानी नही रखता

देवगढ के जैन मन्दिरो का निर्माण, उत्तर भारत मे विकसित आर्यनागर शैली मे हुआ है यह दक्षिण की द्रविड शैली से अत्यन्त भिन्न है नागर शैली का विकास गुप्तकाल मे हुआ है देवगढ मे तो उक्त शैली का विकास पाया ही जाता है किन्तु खजुराहो आदि के जैन मन्दिरो मे भी इसी कला का विकास देखा जाता है यह कला पूर्णरूप से भारतीय है और प्राग्मुस्लिमकालीन है इतना ही, नही, किन्तु समस्त मध्य प्रान्त की कला इसी नागर शैली से ओत-प्रोत है इस कला को गुप्त, गुर्जर प्रतिहार और चदेलवशी राजाओ के राज्य काल मे पल्लवित और विकसित होने का अवसर मिला है

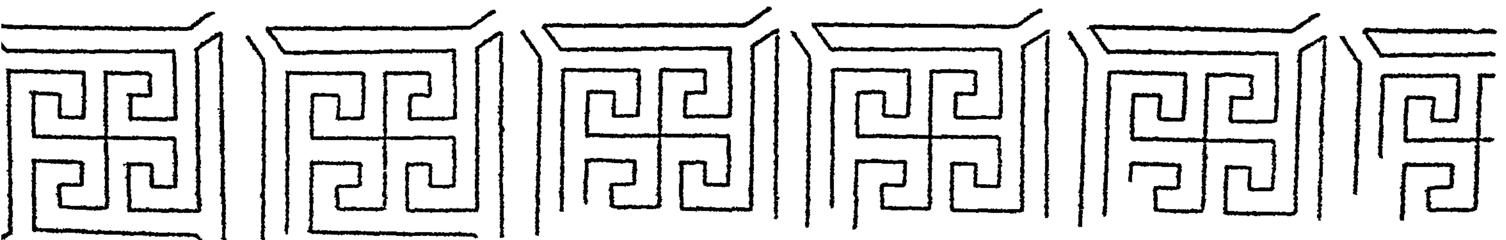
देवगढ की मूर्तियो मे दो प्रकार की कला देखी जाती है प्रथम प्रकार की कला मे कलाकृतिया अपने परिकरो मे अकित देखी जाती है, जैसे चमरधारी यक्ष यक्षणिया सम्पूर्ण प्रस्तराकार कृति मे नीचे तीर्थंकर का विस्तृत आसन और दोनो पार्श्वो मे यक्षादि अभिषेक-कलश लिए हुए दिखलाये गये है किन्तु दूसरे प्रकार की कला मुख्य मूर्ति पर ही अकित है, उसमे अन्य अलकरण और कलाकृतियाँ गौण हो गई है मालूम होता है इस युग मे साम्प्रदायिक विद्वेप नही था, और न धर्मान्धता ही थी, इसीसे इस युग मे भारतीय कला का विकास जैनो, वैष्णवो और शैवो मे निर्विरोध हुआ है प्रस्तुत देवगढ जैन और हिंदू सस्कृति का सन्धिस्थल रहा है तीर्थंकरमूर्तिया, सरस्वती की मूर्ति, पच परमेष्ठियो की मूर्तियाँ, कलापूर्ण मानस्तम्भ, अनेक शिलालेख, और पौराणिक दृश्य अकित है साथ ही वराह का मदिर, गुफा मे शिव-लिंग, सूर्य भगवान् की मुद्रा, गणेश मूर्ति, भारत के पौराणिक दृश्य, गजेन्द्रमोक्ष आदि कलात्मक सामग्री देवगढ की महत्ता की द्योतक है

भारतीय पुरातत्त्वविभाग को देवगढ से २०० शिलालेख मिले है जो जैन मन्दिरो, मूर्तियो और गुफाओ आदि में अकित है इन मे साठ शिलालेख ऐसे है जिनमे समय का उल्लेख दिया हुआ है. ये शिलालेख स० ६०९ से १८७६ तक के उपलब्ध है इनमे स० ६०९ सन् ५५२ का लेख नाहरघाटी से प्राप्त हुआ था, इसमे सूर्यवशी स्वामी भट्ट का उल्लेख है. स० ९१९ का शिलालेख जैन सस्कृति की दृष्टि से प्राचीन है इस लेख मे भोज देव के समय पच महाशब्द प्राप्त महासामन्त विष्णुराम के शासन मे इस लुअच्छगिरि के शान्तिनाथ मदिर के निकट गोष्ठिक वजुआ द्वारा निर्मित मानस्तभ आचार्य कमलदेव के शिष्य आचार्य श्रीदेव द्वारा वि० स० ९१९ आश्विन १४ बृहस्पतिवार के दिन उत्तराभाद्रपद नक्षत्र मे प्रतिष्ठित किया गया था इसी तरह अन्य छोटे छोटे लेख भी जैन सस्कृति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है. इस तरह देवगढ मध्यप्रदेश की अपूर्व देन है

अहार क्षेत्र — बुदेलखण्ड मे खजुराहो की तरह अहार क्षेत्र भी एक ऐतिहासिक स्थान है. देवगढ की तरह यहाँ प्राचीन मूर्तिया और लेख पाये जाते है उपलब्ध मूर्तियो के शिलालेखो से जान पडता है कि विक्रम की ११ वीं से १३ वी शताब्दी तक के लेखो मे अहार की प्राचीन वस्ती का नाम 'मदनेशसागरपुर' था[1] और उसके शासक श्री मदनवर्मा

---

१ स० १२०८ और १२३७ के लेखों में मदनेशसागरपुर का नामाकन हुआ है, देखो, अनेकान्त वर्ष ९ कि० १० पृष्ठ ३८५-८.



थे, जो चदेलवश के यशस्वी नक्षत्र थे इस नगर के पास जो विशाल सरोवर बना हुआ है वह वर्तमान 'मदनसागर' नाम से प्रसिद्ध है इसके किनारे अनेक प्रतिष्ठा-महोत्सव सम्पन्न हुए है. मदनवर्मा का शासन विक्रम की ११ वी शताब्दी मे विद्यमान था उसके बाद ही किसी समय इसका नाम 'अहार' प्रसिद्ध हुआ होगा

यहाँ के उपलब्ध मूर्तिलेखो मे खडेलवाल, जैसवाल, मेडवाल, लमेचू, पौरपाट (परवार) गृहपति, गोलापूर्व, गोलाराड, अवधपुरिया और गर्गराट् आदि अनेक उपजातियो के उल्लेख मिलते है, जो उनकी धार्मिक रुचि के द्योतक है. उनसे यह भी स्पष्ट जाना जाता है कि उस काल मे यह खूब सम्पन्न रहा होगा. क्योकि वहाँ विविध उपजातियो के जैन जन रहते थे और गृहस्थोचित षट्कर्मो का पालन करते थे ऐतिहासिक दृष्टि से यह बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि यह स्थान ७०० वर्षों तक जैन सस्कृति के आचार-विचारो से परिपूर्ण रहा है, क्योकि यहाँ वि० स० ११२३ और ११९९ से लेकर वि० स० १९९८ तक की प्राचीन मूर्तियाँ और लेख उपलब्ध होते है. ये सब लेख ऐतिहासिक तथ्यो से परिपूर्ण हैं और अतीत के गौरव की अपूर्व झाकी प्रस्तुत करते है यदि वहाँ खुदाई कराई जाय तो सभवत· और भी पुरातन जैन सस्कृति के अवशेष प्राप्त हो सकते है इन लेखो में सबसे अधिक लेख जैसवालो और गोलापूर्वो के पाये जाते है. उनसे उन जातियोके धर्म-प्रेम की झलक मिलती है

सवत् १२१३ के एक लेख मे भट्टारक माणिक्यदेव तथा गुण्यदेव का नाम उत्कीर्ण है. और स० १२१६ के लेख मे श्रीसागरसेन सैद्धातिक, आर्यिका जयश्री और चेली रतनश्री का उल्लेख है स० १२१६ के एक दूसरे लेख मे कुटकान्वयी पडित लक्ष्मणदेव शिष्य आर्य देव आर्यिका लक्ष्मश्री चेली चारित्रश्री और भ्राता लिम्बदेव का नाम अकित है स० १२१६ के एक तीसरे लेख मे कुटकान्वय पडित मगलदेव, और उनके शिष्य भ० पद्मदेव का नामाकन है स० १५४८ के लेख मे भट्टारक 'जिनचन्द' और शाह जीवराज पापडीवाल का नामोल्लेख है १५०२ के एक लेख मे भ० गुणकीर्ति के पट्टधर मलयकीर्ति के द्वारा प्रतिष्ठा कराने का भी उल्लेख पाया जाता है[1] इसी तरह अन्य अनेक लेखो में जो विद्वानो भट्टारको या श्रावक श्राविकाओ के नाम का अकन मिलता है, वह इतिहास की दृष्टि मे महत्त्वपूर्ण है

अहार क्षेत्र मे भगवान् शातिनाथ की प्रतिष्ठा कराने वाला गृहपति वश जैनधर्म का अनुयायी था जैनधर्म की परम्परा उसके वश मे पहले से चली आ रही थी, क्योकि इस वश के देवपाल ने बाणपुर के सहस्रकूट चैत्यालय का निर्माण कराया था ऐसा शातिनाथ की मूर्ति के स० १२३७ के लेख के प्रथम पद्य से प्रकट हैं[2] बाणपुर का उक्त जिनालय कब बना यह निश्चित नही है किन्तु स० १२३७ के लेख मे जो उल्लेख है उससे पहले बना है लेख मे प्रयुक्त देवपाल, रत्नपाल, रल्हण गल्हण जाहड और उदयचन्द का नाम आता है गल्हण ने शान्तिनाथ का चैत्यालय बनवाया था और दूसरा चैत्यालय मदनसागरपुर मे निर्माण कराया था और इनके पुत्र जाहड और उदयचन्द्र ने इस मूर्ति का निर्माण कराया है इससे इस कुटुम्ब की धार्मिक परिणति का कितना ही अभास मिल जाता है और यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि इस कुटुम्ब मे मदिर-निर्माण आदि का कार्य परम्परागत था

प्रस्तुत मदनसागरपुर का नाम आहार क्यो और कैसे पडा, यह विचारणीय है अहार के उक्त मूर्ति लेखो मे पाणा साह का कोई उल्लेख नही है फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि मन्दिरादि का निर्माण उनके द्वारा हुआ है. और मुनि को आहार देने से इसका नाम 'अहार' हुआ है.

इस सम्बन्ध में ऐतिहासिक प्रमाणो का अन्वेषण करना जरूरी है जिससे तथ्य प्रकाश में आ सकें. इस तरह मदनेश सागरपुर और अहार जैन सस्कृति के केन्द्र रहे हैं बानपुर आहार क्षेत्र से ३-४ मील की दूरी पर अवस्थित है यह भी एक प्राचीन स्थान है जतारा ग्राम भी १२-१३वी सदी के गौरवसे उद्दीपित है, वहाँ भी जैनधर्म की विशेष प्रतिष्ठा रही है

---

१. देखो अनेकान्त वर्ष ९ किरण १० तथा वर्ष १० किरण १, २, ३, आदि में प्रकाशित अहार के लेख

२ गृहपतिवशसरोरुह-सहस्ररश्मि· सहस्रकूट य. ।
वाणपुरे व्याधितामीत श्रीमानिह देवपाल इति ॥

ग्वालियर के किले का इतिहास—जैन साहित्य मे वर्तमान ग्वालियर का उल्लेख गोपायलु, गोपाद्रि, गोपगिरि, गोपाचल और गोपालगढ आदि नामो से किया गया है. ग्वालियर की इस प्रसिद्धि का कारण जहाँ उसका पुरातन दुर्ग (किला) है. वहाँ भारतीय (हिन्दू, बौद्ध और जैनियो के) पुरातत्त्व की प्राचीन एव विपुल सामग्री की उपलब्धि भी है भारतीय इतिहास मे ग्वालियर का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण हे वहा पर प्राचीन अवशेपो की कमी नही है उसके प्रसिद्ध सूवो और किलो मे इतिहास की महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध होती है ग्वालियर का यह किला पहाड की एक चट्टान पर स्थित है यह पहाड डेढ मील लम्बा और ३०० गज चौडा है इसके ऊपर बलुआ पत्थर की चट्टानें है, उनकी नुकीली चोटियाँ निकली हुई है, जिनसे किले की प्राकृतिक दीवार बन गई है कहा जाता है कि इसे सूरजसेन नाम के राजा ने बनवाया था वहाँ 'ग्वालिय' नाम का एक साधु रहता था, जिसने राजा सूरजसेन के कुष्ट रोग को दूर किया था. अत उसकी स्मृति मे ही ग्वालियर नाम प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ है पर इसमे कोई सन्देह नही कि ग्वालियर के इस किले का अस्तित्व विक्रम की छठी शताब्दी मे था, क्योकि ग्वालियर की पहाडी पर स्थित 'मात्रचेता' द्वारा निर्मापित सूर्यमन्दिर के शिलालेख मे उक्त दुर्ग का उल्लेख पाया जाता है दूसरे, किले मे स्थित चतुर्भुज मन्दिर के वि० स० ९३२-३३ के दो शिलावाक्यो मे भी उक्त दुर्ग का उल्लेख पाया जाता है हाँ, शिलालेखो से इस बात का पता जरूर चलता है कि उत्तर भारत के प्रतिहार राजा मिहिर भोज ने जीत कर इसे अपने राज्य कन्नौज मे शामिल कर लिया था और उसे विक्रम की ११ वी शताब्दी के प्रारम्भ मे कच्छपघट या कछवाहा वश के वज्रदामन् नाम के राजा ने, जिसका राज्य शासन १००७ से १०३७ तक रहा है और जो जैनधर्म का श्रद्धालु था, उसने स० १०३४ मे एक जैन मूर्ति की प्रतिष्ठा भी करवाई थी उस मूर्ति की पीठ पर जो लेख[1] अकित है उससे उसकी जैनधर्म मे आस्था होना प्रमाणित है इस वश के अन्य राजाओ ने जैन धर्मके सरक्षण, प्रचार एव प्रसार करने मे क्या कुछ सहयोग दिया, यह बात अवश्य विचारणीय है और अन्वेषणीय है कन्नौज के प्रतिहार वशी राजा से ग्वालियर को जीत कर उस पर अपना अधिकार कर लिया था इस वश के मगलराज, कीर्तिराज, भुवनपाल, देवपाल, पद्मपाल, सूर्यपाल, महीपाल, भुवनपाल और मधुसूदनादि अन्य राजाओ ने ग्वालियर पर लगभग दो-सौ वर्ष तक अपना शासन किया है, किन्तु बाद मे पुन प्रतिहार वश की द्वितीय शाखा के राजाओ का उस पर अधिकार हो गया था. परन्तु वि० सवत् १२४९ मे दिल्ली के शासक अल्तमस ने ग्वालियर पर घेरा डाल कर दुर्ग का विनाश किया उस समय राजपूतो ने अपने शौर्य का परिचय दिया परन्तु मुट्ठी भर राजपूत उस विशाल सेना से कब तक लोहा लेते ? आखिर राजपूतो ने अपनी आन की रक्षा के हित युद्ध मे मर जाना ही श्रेष्ठ समझा, और राजपूतनियो ने 'जौहर' द्वारा अपने सतीत्व का परिचय दिया वे अग्नि की विशाल ज्वाला मे भस्म हो गई और राजपूत अपनी वीरता का परिचय देते हुए वीरगति को प्राप्त हुए किले पर अल्तमस का अधिकार हो गया

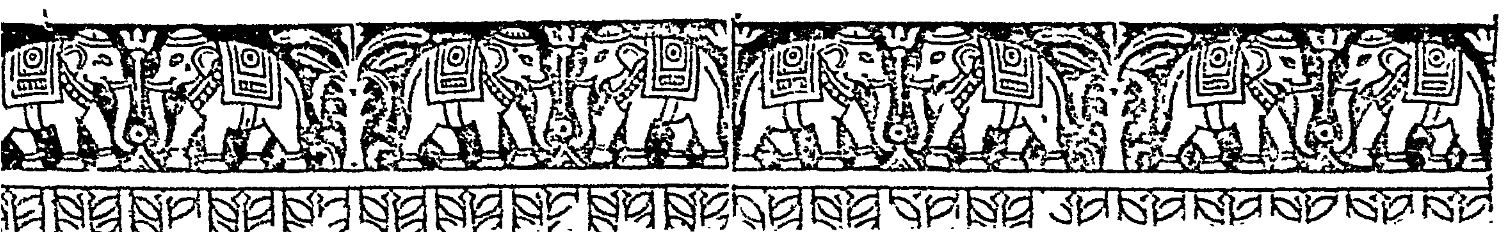
सन् १३९८ (वि० स०१४५५) मे तैमूरलग ने भारत पर जब आक्रमण किया, तब अवसर पाकर तोमरवशी वीरसिंह नाम के एक सरदार ने ग्वालियर पर अधिकार कर लिया और वह उक्त वश के आधीन सन् १५३६ (वि० सवत् १५९३) तक रहा

इस क्षत्रिय वश के अनेक राजाओ ने (सन् १३९८ से १५३६ तक) ग्वालियर पर शासन किया है उनके नाम वीरसिंह उद्धरणदेव, विक्रमदेव (वीरमदेव), गणपतिदेव, डूगरसिंह, कीर्तिसिंह, कल्याणमल मानसिंह, विक्रमशाह, रामसाह, शालिवाहन और इनके दो पुत्र (श्यामसाह और मित्रसेन[2]) है लगभग दो सौ वर्ष के इस राज्यकाल मे जैनधर्म को फलने, फूलनेका अच्छा अवसर मिला है इन सभी राजाओकी सहानुभूति जैनधर्म, जैनसाधुओ और जैनाचार पर रही है

---

१ सवत् १०३४ श्री वजदाम महाराजाधिराज वइखास वदि पाचमि. देखो, जनरल एशियाटिक सोसायटी आफ बगाल पृ० ४१०-४११.

२ यह मित्रसेन शाह जलालुद्दीन के समकालीन थे इनका वि० स० १६८८ का एक शिलालेख बगाल एशियाटिक सोसायटी के जनरल भा० ८ पृ० ६९५ में रोहतास दुर्ग के कोथैटिय फाटक के ऊपर की परिया पर तोमर मित्रसेन का शिलालेख जिसे कृष्णदेव के पुत्र शिवदेव ने सकलित किया था



राजा डूगरसिंह और कीर्तिसिंह की आस्था जैनधर्म पर पूर्ण रूप से रही है. तत्कालीन विद्वान् भट्टारको का प्रभाव इन पर अकित रहा है यद्यपि तोमर वश के पूर्व भी कछवाह और प्रतिहार वश के राजाओ के राज्यकाल में भी ग्वालियर और पार्श्ववर्ती इलाको मे जैन धर्म का सूर्य चमक रहा था. परन्तु तोमर वश के समय धर्म की विशेष अभिवृद्धि हुई. राजा विक्रमसिंह या वीरमदेव के समय जैसवाल वशी सेठ कुशराज उनके मत्री थे, जो जैन धर्म के अनुयायी और श्रावक के व्रतो का अनुष्ठान करते थे इनकी प्रेरणा और भट्टारक गुणकीर्ति के आदेश से पद्मनाभ कायस्थ ने, जो जैन धर्म पर श्रद्धा रखता था, यशोधरचरित की रचना की थी[1]

ग्वालियर और उसके आस-पास के जैन पुरातत्त्व और विद्वान् भट्टारको तथा कवियो की ग्रन्थरचनाओं का अवलोकन करने से स्पष्ट पता चलता है कि वहा जैनधर्म उक्त समय मे खूब पल्लवित रहा ग्वालियर उस समय उसका केन्द्र-स्थल बना हुआ था. वहाँ ३६ जातियो का निवास था पर परम्पर मे विरोध नही था. जैन जनता अपनी धार्मिक परिणति, उदारता, कर्तव्यपरायणता, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति और दानधर्मादि कार्यो मे सोत्साह भाग लेती थी उसी का प्रभाव था कि जैन धर्म और उसकी अनुयायी जनता पर सबका वात्सल्य बना हुआ था उस समय अनेक जैन राजकीय उच्चपदो पर सेवाकार्य करते थे. जो राज्य के सरक्षण पर सदा दृष्टि रखते थे वर्तमान मे भी जैनियो की वहाँ अच्छी सख्या है.

खास कर राजा डूगरसिंह और कीर्तिसिंह के शासनकाल मे (वि० स० १४८१ से स० १५३६ तक) ३३ वर्ष पर्यन्त किले मे जैन मूर्तियो की खुदाई का कार्य चला है पिता और पुत्र दोनो ने ही बडी आस्था से उसमे सहयोग दिया था. अनेक प्रतिष्ठोत्सव सम्पन्न किये थे दोनो के राज्यकाल मे प्रतिष्ठित मूर्तिया ग्वालियर मे अत्यधिक पाई जाती है, जिनमे स० १४९७ से १५२५ तक के लेख भी अकित मिलते है ग्रन्थ रचना भी उस समय अधिक हुई है देवभक्ति के साथ श्रुतिभक्ति का पर्याप्त प्रचार रहा है. वहाँ के एक सेठ पद्मसिंह ने जहाँ अनेक जिनालयो, मूर्तियो का निर्माण एव प्रतिष्ठोत्सव सम्पन्न कराया था, वह जिनभक्ति से प्रेरित होकर एक लक्ष ग्रन्थ लिखवाकर तत्कालीन जैन साधुओ और जैन मन्दिरो के शास्त्रभण्डारो को प्रदान किये थे ऐसा आदिपुराण की स० १५२१ की एक लिपिप्रशस्ति से जाना जाता है इन सब कार्यो से उस समय की धार्मिक जनता के आचार-विचारो का और सामाजिक प्रवृत्तियो का सहज ही परिज्ञान हो जाता है उस समय के कवि रइधू ने अपने पार्श्वपुराण की आद्यन्त प्रशस्ति में उस समय के जैनियो की सामाजिक और धार्मिक परिणति का सुन्दर चित्रण किया है

सन् १५३६ के बाद दुर्ग पर इब्राहीम लोदी का अधिकार हो गया मुसलमानो ने अपने शासनकाल मे उक्त किले को कैदखाना ही बना कर रक्खा पश्चात् दुर्ग पर मुगलो का अधिकार हो गया जब बाबर उस दुर्ग को देखने के लिये गया, तब उसने उरवाही द्वार के दोनो ओर चट्टानो पर उत्कीर्ण की हुई उन नग्न दिगम्बर जैन मूर्तियो के विनाश करने की आज्ञा दे दी[2] यह उसका कार्य कितना नृशस एव घृणापूर्ण था, इसे बतलाने की आवश्यकता नही

सन् १८११ मे दुर्ग पर मराठो का अधिकार हो गया, तब से उन्ही का शासन रहा और अब स्वतत्र भारत मे मध्यप्रदेश का शासन चल रहा है

जैन मन्दिर और मूर्तियाँ :—किले मे कई जगह जैन मूर्तियाँ खुदी हुई है किला कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है इस किले मे से शहर के लिये एक सडक जाती है इस सडक के किनारे दोनो ओर विशाल चट्टानो पर उत्कीर्ण हुई कुछ जैन मूर्तिया अकित हैं ये सब मूर्तियाँ पाषाणो की कर्कश चट्टानो को खोद कर बनाई गई है किले मे हाथी दरवाजा और सास-बहू के मन्दिरो के मध्य मे एक जैन मन्दिर है जिसे मुगलशासनकाल मे एक मस्जिद के रूप में बदल दिया गया था खुदाई करने पर नीचे एक कमरा मिला है जिसमे कई नग्न जैन मूर्तियाँ है और एक लेख भी सन् ११०८

---

१. देखो, यशोधरचरित और पद्मनाभ कायस्थ' नामक लेख-अनेकान्त वर्ष १०

२. देखो, बाबर का आत्मचरित

(वि० स० ११६५) का है ये मूर्तियाँ कायोत्सर्ग तथा पद्मासन दोनो प्रकार की है. उत्तर की वेदी मे सात फण सहित भगवान् श्रीपार्श्वनाथ की सुन्दर पद्मासन मूर्ति है दक्षिण की भीत पर भी पाच वेदियाँ है जिनमे से दो के स्थान रिक्त है. जान पडता है कि उनकी मूर्तियाँ विनष्ट कर दी गई है उत्तर की वेदी मे दो नग्न कायोत्सर्ग मूर्तियाँ अभी भी मौजूद है और मध्य मे ६ फुट ८ इच लम्बा आसन एक जैन मूर्ति का है दक्षिणी वेदी पर भी दो पद्मासन नग्न मूर्तियाँ विराजमान है

दुर्ग की उर्वाही द्वार की मूर्तियो मे भगवान् आदिनाथ की मूर्ति सबसे विशाल है उसके पैरो की लम्बाई नौ फुट है और इस तरह पैरो से तीन चार गुणी ऊची है मूर्ति की कुल ऊचाई ५७ फीट से कम नही है श्वेताम्बरीय विद्वान् मुनि शीलविजय और सौभाग्यविजय ने अपनी-अपनी तीर्थमाला मे इस मूर्ति का प्रमाण बावन गज बतलाया है.[१] जो किसी तरह भी सम्भव नही है और बाबर ने अपने आत्मचरित मे इस मूर्ति को करीब ४० फीट ऊचा बतलाया है, वह भी ठीक नही है. कुछ खण्डित मूर्तियो की बाद मे सरकार की ओर से मरम्मत करा दी गई है, फिर भी उनमे की अधिकाश मूर्तियाँ अखण्डित मौजूद है

बावा बावडी और जैन मूर्तियाँ —ग्वालियर से लश्कर जाते समय बीच मे एक मील के फासले पर 'बावा बावडी' के नाम से प्रसिद्ध एक स्थान है सडक से करीब डेढ फर्लांग चलने और कुछ ऊचाई चढने पर किले के नीचे पहाड की विशाल चट्टानो को काट कर बहुत सी पद्मासन तथा कायोत्सर्ग मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गई है ये मूर्तियाँ स्थापत्य कला की दृष्टि से अनमोल है इतनी बडी पद्मासन मूर्तियाँ मेरे देखने मे अन्यत्र नही आई. बावडी के बगल मे दाहिनी ओर एक विशाल खड्गासन मूर्ति है उसके नीचे एक विशाल शिलालेख भी लगा हुआ है, जिससे मालूम होता है कि इस मूर्ति की प्रतिष्ठा वि० सवत् १५२५ मे तोमर वशीय राजा डूगरसिंह के पुत्र कीर्तिसिंह के राज्यकाल मे हुई है

खेद है कि इन सभी मूर्तियो के मुख प्राय खडित है यह मुस्लिमयुग के धार्मिक विद्वेष का परिणाम जान पडता है इन मूर्तियो की केवल मुखाकृति को ही नही बिगाडा गया किन्तु किसी किसी मूर्ति के हाथ-पैर भी खण्डित कर दिये गये है इतना ही नही किन्तु विद्वेषियो ने कितनी ही मूर्तियो को गारा-मिट्टी से भी चिनवा दिया था और सामने की विशाल मूर्ति को गारा मिट्टी से छाप कर उसे एक कब्र का रूप भी दे दिया था परन्तु सितम्बर सन् १८४७ के दगे के समय उनसे उक्त स्थान की प्राप्ति हुई है

संग्रहालय :—ग्वालियर के किले मे एक अच्छा सग्रहालय है जिसमे हिन्दू, जैन और बौद्धो के प्राचीन अवशेषो, मूर्तियो, शिलालेखो और सिक्को आदि का सग्रह किया गया है इसमे जैनियो की गुप्तकालीन खड्गासन मूर्ति भी रक्खी हुई है, जो कलात्मक है और दर्शक को अपनी ओर आकृष्ट करती है इसी मे स० १३१८ का भीमपुर का महत्त्वपूर्ण शिलालेख भी है

ग्वालियर के आसपास उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री

दूब कुण्ड के शिलालेख :—दूब कुण्ड का दूसरा नाम 'चडोभ' है यह स्थान किसी समय जैन सस्कृति का महत्त्वपूर्ण स्थान था यहाँ कच्छपघट (कछवाहा) वश के शासको के समय मे भी जैन मदिर मौजूद थे, और नूतन मन्दिरो का भी निर्माण हुआ था, साथ ही शिलालेख मे उल्लिखित लाड-बागड गण के देवसेन, कुलभूषण, दुर्लभसेन, अबरसेन और शातिषेण इन पाच दिगम्बर जैनाचार्यो का समुल्लेख पाया जाता है जो उक्त प्रशस्ति के लेखक एव शतिषेण के शिष्य विजयकीर्ति के पूर्ववर्ती है यदि इन पाचो आचार्यो का समय १२५ वर्ष मान लिया जाय, जो अधिक नही है, तो उसे ११४५ मे से घटाने पर देवसेन का समय १०२० के लगभग आ जाता है ये देवसेन अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान् थे, और लाड-बागडगण के उन्नत रोहणाद्रि थे, विशुद्ध रत्नत्रय के धारक थे और समस्त आचार्य इन की आज्ञा को नत-

---

१ बावन गज प्रतिमा दीसती, गढ ग्वालेरि सदा सोभती ॥३॥ —शीलविजय तीर्थमाला पृ० १११
गढ ग्वालेर बावन गज प्रतिमा वदू ऋषभ रगरोली जी ॥ —सोभाग्यविजय तीर्थमाला १४-२-पृ० ६८



मस्तक हो हृदय मे धारण करते थे[1] उक्त दूबकुण्ड में एक जैन स्तूप पर स० ११५२ का एक और शिलालेख अंकित है जिसमे स० ११५२ की वैशाख सुदी ५ को काष्ठासघ के महान् आचार्य देवसेन की पादुका-युगल उत्कीर्ण है[2] यह शिलालेख तीन पक्तियो मे विभक्त है इसी स्तूप के नीचे एक भग्न मूर्ति उत्कीर्ण है जिस पर 'श्रीदेव' लिखा है, जो अधूरा नाम मालूम होता है पूरा नाम श्री देवसेन रहा होगा. ग्वालियर मे भट्टारको की प्राचीन गद्दी रही है और उसमे देवसेन विमलसेन, भावसेन, सहस्रकीर्ति, गुणकीर्ति, यश कीर्ति, मलयकीर्ति और गुणभद्रादि अनेक भट्टारक हुए है इनमे देवसेन, यश कीर्ति, गुणभद्र ने अपभ्रश भापा मे अनेक ग्रथो की रचना की है

दूवकुण्ड का यह शिलालेख[3] बडे महत्त्व का है. कच्छपघट (कछवाहा) वश के राजा विजयपाल के पुत्र विक्रमसिंह के राज्य मे यह लेख लिखा गया है यह विजयपाल वही है जिनका वर्णन बयाना के वि० स० ११०० के शिलालेख मे किया गया है बयाना दूब कुण्ड से ८० मील उत्तर मे है इस लेख मे जैन व्यापारी रिषि और दाहड की वशावली दी है जायसवश मे सूर्य के समान प्रसिद्ध धनिक सेठ जासूक था, जो सम्यग्दृष्टि था, जिनेन्द्रपूजक था, चार प्रकार के पात्रो को श्रद्धापूर्वक दान देता था. उसका पुत्र जयदेव था, वह भी जिनेन्द्रभक्त और निर्मल चरित्र का धारक था. उसकी यशोमती नामक पत्नी से ऋषि और दाहड दो पुत्र हुए थे ये दोनो ही धनोपार्जन मे कुशल थे. इनमे ज्येष्ठ पुत्र ऋषि को राजा विक्रम ने श्रेष्ठी पद प्रदान किया था और दाहड ने उच्च शिखर वाला यह सुन्दर मन्दिर बनवाया था जिस मे कूकेक, सूर्यट, देवधर और महीचन्द आदि विवेकी चतुर श्रावको ने सहयोग दिया था. और राजा विक्रमसिंह ने जिनमदिर के सरक्षण पूजन और जीर्णोद्धार के लिये दान दिया था[4] यह लेख जैसवाल जाति के लिये महत्त्वपूर्ण है.

ग्वालियर स्टेट के ऐसे बहुत से स्थान है जिनमे जैनियो और बौद्धो तथा हिन्दुओ की पुरातन सामग्री पाई जाती है. भेलसा (विदिशा) वेसनगर, उदयगिरि, बडोह, बरो (बडनगर) मदसौर, नरवर, ग्यारसपुर सुहानियाँ, गूडर, भीमपुर, पद्मावती, जोरा, चदेरी, मुरार आदि अनेक स्थान है इनमें से यहाँ उदयगिरि, नरवर और सुहानिया के सम्बन्ध में सक्षिप्त प्रकाश डाला जायगा

उदयगिरि :—भेलसा जिले मे उदयगिरि नामका एक प्राचीन स्थान है. भेलसा से ४ मील दूर पहाडी मे कटे हुए मदिर है पहाडी पौन मील के करीब लम्बी और ३०० फुट की ऊचाई को लिये हुए है यहा गुफाएँ है, जिनमे प्रथम और २० वें नम्बर की गुफा जैनियो की है २० वी गुफा जैनियो के तेवीसवे तीर्थकर श्री पार्श्वनाथ की है उसमें सन् ४२५-४२६ का गुप्तकालीन एक अभिलेख है जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है

"सिद्धो को नमस्कार श्रीसयुक्त गुणसमुद्र गुप्तान्वय के सम्राट् कुमारगुप्त के वर्द्धमानराज्य शासन के १०६ वे वर्ष और कार्तिक महीने की कृष्ण पचमी के दिन गुहाद्वार मे विस्तृत सर्पफण से युक्त शत्रुओ को जीतने वाले जिनश्रेष्ठ पार्श्वनाथ जिन की मूर्ति शम-दमवान शकर ने बनवाई जो आचार्य भद्रान्वय के भूषण और आर्य कुलोत्पन्न आचार्य गोशर्म मुनि के शिष्य तथा दूसरो द्वारा अजेय रिपुघ्न मानी अश्वपति भट सधिल और पद्मावती के पुत्र शकर इस नाम से लोक मे विश्रुत तथा शास्त्रोक्त यतिमार्ग मे स्थित था और वह उत्तर कुरुवो के सदृश उत्तर प्रान्त के श्रेष्ठ देश मे उत्पन्न हुआ था, उसके इम पावन कार्य में जो पुण्य हुआ हो वह सब कर्मरूपी शत्रु-समूह के क्षय के लिये हो" वह मूल लेख इस प्रकार है .

१. नम सिद्धेभ्य (॥) श्रीसयुताना गुणतोयधीना गुप्तान्वयाना नृपसत्तमानाम्

---

१ आसीद्विशुद्धतरवोधचरित्रदृष्टि · नि.शेपसूरिनतमस्तकधारिताज्ञः ।
श्रीलाटवागड गणोन्नतरोहणाद्रि-माणिक्यभूतचरितो गुरुदेवसेनः ॥

२ सं० ११५२ वैशाखसुदि पञ्चम्या श्री काष्ठा सघ महाचार्यवर्य श्री देवसेन पादुकायुगलम् .

३ See Archaeological Survey of India, V L 2, P 102

४. एपिग्राफिका इदिका जिल्द २ पृष्ठ २३७-४०.

२. राज्ये कुलस्याधि विवर्द्धमाने षड्भियुतैवर्पशतेथ मासे (।।) सुकार्तिके बहुल दिनेथ पचमे
३ गुहामुखे स्फटविकटोत्कटामिमा, जितद्विषो जिनवर पार्श्वसज्ञिका, जिनाकृति शम-दमवान
४ चीकरत् (।।) आचार्यभद्रान्वयभूषणस्य शिष्यो ह्यसावार्य्यकुलोद्गतस्य आचार्य गोश
५. र्म्म मुनेस्सुतास्तु पद्मवतावश्वपते र्भटस्य (।।) परैरजेयस्य रिपुघ्न मानिनस्स सघिल
६ स्येतित्यभिविश्रुतो भुवि स्वसज्ञया शकरनामशब्दितो विधानयुक्त यतिमार्गमस्थित (।।)
७ स उत्तराणा मद्दशे कुरूणा उदग्दिशा देशवरे प्रसूत
८ क्षयाय कर्म्मारिगणस्य धीमान् यदत्र पुण्य तदपाससर्ज्ज (।।) —फ्लीट, गुप्त अभिलेख पृ० २५८

इस लेख मे उल्लिखित आचार्य भद्र और उनके अन्वय मे प्रसिद्ध मुनि गोशर्म, कहा के निवासी थे और उनकी गुरु-परम्परा क्या है ? यह कुछ मालूम नही हो सका

नरवर :—एक प्राचीन ऐतिहासिक स्थान है नरवर को 'नलगिरि और नलपुर' भी कहा जाता था[1] इसका इतिवृत्त ग्वालियर दुर्ग के साथ सम्बन्धित रहा है विक्रम की १० वी शताब्दी के अन्त मे दोनो दुर्ग कछवाहा राजपूतो के अधिकार मे चले गए थे विक्रम ११८६ मे उस पर प्रतिहारो का अधिकार हो गया था. लगभग एक शताब्दी शासन करने के बाद सन् १२३२ मे अल्तमश ने ग्वालियर को जीत लिया, तव प्रतिहारो ने नरवर के दुर्ग मे शरण ली विक्रम की १३ वी शताव्दी के अन्त मे दुर्ग को चाहडदेव ने प्रतिहारो से जीत लिया, जो नरवर के राजपूत कहलाते थे भीमपुर के वि० स० १३१८ के अभिलेख मे इस वश के सम्वन्ध मे कुछ सूचनाएँ की है और उसका यज्वपाल नाम सार्थक वतलाया है तथा कचेरी के स० १३३९ के शिलालेख मे जयपाल से उद्भूत होने से इस वश को 'जज्जयेल' लिखा है

नरवर और उसके आस-पास के उपलब्ध शिलालेखो और सिक्को से ज्ञात होता है कि चाहड देव के वश मे चार राजा हुए है चाहडदेव, नरवर्म देव, आसल्लदेव, गोपालदेव और गणपतिदेव चाहडदेव ने नलगिरि और अन्य वडे पुर शत्रुओ से जीत लिये थे नरवर मे इसके जो सिक्के मिले है उनमे स० १३०३ से १३११ तक की तिथि मिलती है चाहड के नाम का एक लेख स० १३०० का उदयेश्वर मन्दिर की पूर्वी महराव पर मिलता है, उसमे उसके दान का उल्लेख है नरवर्म देव भी वडा प्रतापी और राजनीतिज्ञ राजा था, जैसा कि उसके निम्न वाक्य से प्रकट है

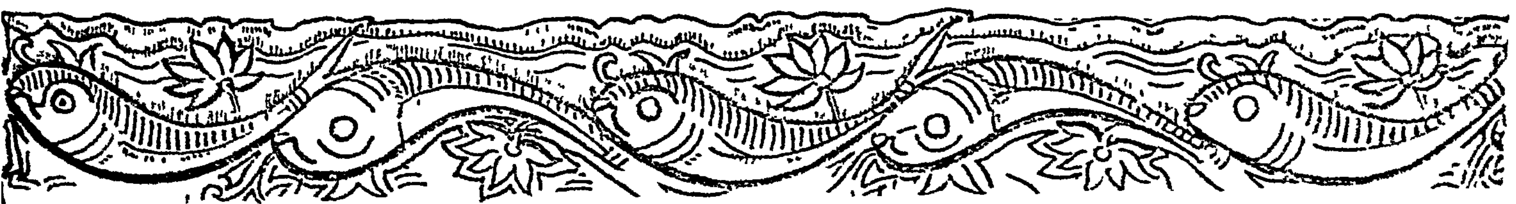
'तस्मादनेकविधविक्रमलब्धकीर्तिः पुण्यश्रुति. समभवन्नरवर्मदेव.'

वि० स० १३३८ के एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि नरवर्म देव ने धार (धारा नगरी) के राजा से चौथ वसूल की थी. यद्यपि इस वश की परमारो से अनेक छेडछाड होती रहती थी, किन्तु उनमे नरवर्मदेव ने सफलता प्राप्त की थी नरवर्म देव के बाद इसका पुत्र आसल्लदेव गद्दी पर वैठा इसके राज्यसमय के दो शिलालेख वि०स० १३१८ और १३२७ के मिलते है आसल्लदेव के समय उसके सामन्त जैत्रसिंह ने भीमपुर मे एक जिनमदिर का निर्माण कराया था इस मदिर की प्रतिष्ठा सवत् १३१८ मे नागदेव द्वारा सम्पन्न हुई थी इसके समय मे भी जैन धर्म को पनपने मे अच्छा सहयोग मिला था जैत्रसिंह जैनधर्म का सपालक और श्रावक के व्रतो का अनुष्ठाता था आसल्लदेवका पुत्र गोपालदेव था इसके राज्य का प्रारम्भ स० १३३६ के वाद माना जाता है इसका चदेल वशी राजा वीरवर्मन के साथ युद्ध हुआ था, जिसमे इसके अनेक वीर योद्धा मारे गये थे.

गणपति देव के राज्य का उल्लेख स० १३५० मे मिलता है. यह स० १३४८ के वाद ही किसी समय राज्याधिकारी

---

१. अस्य प्रतापकलकैरमलैर्यशोभि—र्मुक्ताफलैरखिलभूषणविभ्रमाया ।
पादोनलक्षविषयक्षितिपद्मलाढ्या, मास्ते पुर नलपुर तिलकायमानम् ।। —भीमपुर शिलालेख १४
, नलगिरि 'का उल्लेख कचेरी वाले अभिलेख में मिलता है यथा —
'तत्राभवन्नृपतिरुग्रतरप्रताप श्रीचाहडस्त्रिभुवनप्रथमानकीर्तिः ।
दोर्दण्डचण्डिमभरेण पुर. परेभ्यो येनाहृता नलगिरिप्रमुखा गरिष्ठा ।।' —देखो, कचेरी अभिलेख स० १३३९.



हुआ होगा. स० १३५५ के अभिलेख से ज्ञात होता है कि इसने चन्देरी के दुर्ग पर विजय प्राप्त की थी, क्योकि स० १३५६-५७ के सतीस्तभो मे इसके राज्य का उल्लेख है. जान पडता है कि मुसलमानो की विजयवाहिनी से चाहडदेव का वश समाप्त हो गया

जैनत्व की दृष्टि से नरवर के किले मे अनेक जैन मूर्तियाँ खडित-अखडित अवस्था मे प्राप्त है किले मे इस समय ४ मूर्तियाँ अखडित है जिनपर १२१३ से १३४८ तक के लेख पाये जाते है

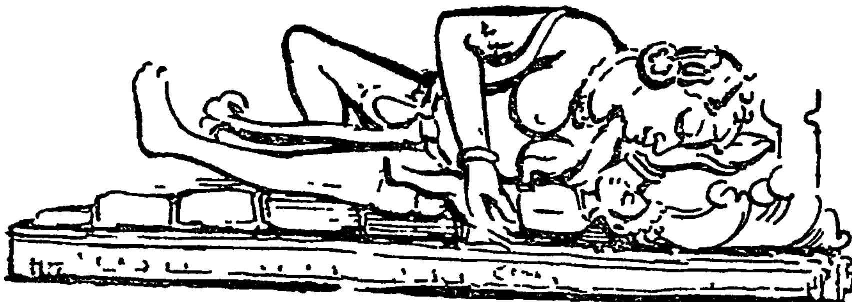
१ 'स० १२१३ अषाढ सुदि ९ २ स० १३१६ ज्येष्ठ वदी ५ सोमे ३ स० १३४० वैशाख वदी ७ सोमे ४. स० १३४८ वैशाखसुदी १५ शनौ'

ये सब मूर्तियाँ सफेद संगमर्मर पाषाण की हैं. खडित मूर्तियो की सख्या अधिक पाई जाती है नगर मे भी अच्छा मन्दिर है और जैनियो की वस्ती भी है नगर के आस-पास के ग्रामो आदि मे भी जैन अवशेष पाये जाते हैं जिससे वहा जैनियो के अतीत गौरव का पता चलता है.

नरवर से ३ मील की दूरी 'भीमपुर' नामका एक ग्राम है जहाँ जज्जयेल वशी राजा आसल्लदेव के एक जैन सामन्त जैत्रसिह रहते थे उन्होने जिनभक्ति से प्रेरित होकर वहाँ एक विशाल जैन मन्दिर बनवाया था और उस पर २३ पक्त्यात्मक करीब ६०-७० श्लोको के परिमाण को लिये हुए विशाल शिलालेख लगवाया था, जो अब ग्वालियर पुरातत्त्व विभाग के सग्रहालय मे मौजूद है इस लेख मे उक्त वश के राजाओ का उल्लेख है, जैत्रसिह की धार्मिक परिणति का भी वर्णन है, और नागदेव द्वारा उसकी प्रतिष्ठा के सम्पन्न होने का उल्लेख है. स० १३१८ का यह शिलालेख अभी तक पूरा प्रकाशित नही हुआ यह लेख जैनियो के लिये महत्त्वपूर्ण है पर ऐसे कार्यो मे जैन समाज का योगदान नगण्य है

सुहानियां—यह स्थान भी पुरातन काल मे जैन सस्कृति का केन्द्र रहा है और वह ग्वालियर से उत्तर की ओर २० मील, तथा कटवर से १४ मील उत्तर-पूर्व मे अहसन नदी के उत्तरीय तट पर स्थित है कहा जाता है कि यह नगर पहले खूब समृद्ध था और बारह कोश जितने विस्तृत मैदान में आवाद था इसके चार फाटक थे,जिनके चिह्न आज भी उपलब्ध होते है सुना जाता है कि इस नगर को राजा सूरसेन के पूर्वजो ने बसाया था कनिंघम साहब को यहाँ वि० स० १०१३, १०३४ और १४६७ के मूर्तिलेख प्राप्त हुए थे

इस लेख मे मध्यभारत के कुछ स्थानो के जैन पुरातत्त्व का दिग्दर्शन मात्र कराया गया है उज्जैनी, धारा नगरी और इनके मध्यवर्ती भूभाग अर्थात् समूचे मालव प्रदेश का जो जैन सस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा है, परिचय देने मे एक वडा ग्रन्थ वन जायगा.



चतुर्थ अध्याय

भाषा और साहित्य



मुनि श्रीपुण्यविजयजी महाराज

जैन आगमधर और प्राकृत वाङ्मय

[प्रस्तुत निबन्ध के रचयिता मुनि श्रीपुण्यविजयजी महाराज जैनागमसाहित्य, इतिहास और पुरातत्त्व के साथ ही सस्कृत, प्राकृत भाषाओं के तलस्पर्शी विद्वान् है, यह महत्त्वपूर्ण जानकारी देने वाला निबन्ध सन् १६६१ में श्रीनगर (कश्मीर) में हुई अखिल भारतीय प्राच्यविद्यापरिषद् के प्राकृत और जैनधर्म विभाग के अध्यक्ष पद से प्रस्तुत किया गया आपका अभिभाषण है जो अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ था. मुनिश्री द्वारा किये गये कतिपय संशोधनो और परिवर्धनो के साथ वह यहां प्रकाशित किया जा रहा है.—सम्पादक]

जैन आगमधर स्थविर और आचार्य

जैनागमो मे वर्त्तमान मे उपलभ्यमान द्वादश अगो की सूत्ररचना कालक्रम से भगवान् गणधर ने की वीर-निर्वाण के वाद प्रारम्भिक शताब्दियो मे इन आगमो का पठन-पाठन पुस्तको के आधार पर नही, अपितु गुरुमुख से होता था ब्राह्मणो के समान पढने-पढाने वालो के बीच पिता-पुत्र के सम्बन्ध की सम्भावना तो थी ही नही वैराग्य से दीक्षित होने वाले व्यक्ति अधिकाशतया ऐसी अवस्था मे होते थे, जिन्हे स्वाध्याय की अपेक्षा वाह्य तपस्या मे अधिक रस मिलता था अतएव गुरु-शिष्यो का अध्ययन-अध्यापनमूलक सम्बन्ध उत्तरोत्तर विरल होना स्वाभाविक था, जैन आचार की मर्यादा भी ऐसी थी कि पुस्तको का परिग्रह भी नही रखा जा सकता था ऐसी दशा मे जैनश्रुत का उत्तरोत्तर विच्छेद होना आश्चर्य की वात नही थी उसकी जो रक्षा हुई वही आश्चर्य की वात है इस आश्चर्यजनक घटना मे जिन श्रुतधर आचार्यो का विशेप योगदान रहा है, जिन्होने न केवल मूल सूत्रपाठो को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया अपितु उन सूत्रो की अर्थवाचना भी दी, जिन्होने निर्युक्ति आदि विविध प्रकार की व्याख्याए भी की, एव आनेवाली सतति के लिए श्रुतनिधिरूप महत्त्वपूर्ण सम्पत्ति विरासत रूप से दे गये, उन अनेक श्रुतधरो का परिचय देने का प्रयत्न करूगा इन श्रुतधरो मे से कुछ तो ऐसे है जिनका नाम भी हमारे समक्ष नही आया है यद्यपि यह प्रयत्नमात्र है—पूर्ण सफलता मिलना कठिन है, तथापि मैं आपको कुछ नई जानकारी करा सका तो अपना प्रयत्न अशत सफल मानूगा

(१) सुधर्मस्वामी (वीर नि० ८ मे दिवंगत.)—आचार आदि जो अग उपलब्ध है वे सुधर्मस्वामी की वाचनानुगत माने जाते है तात्पर्य यह है कि इन्द्रभूति आदि गणधरो की शिष्यपरम्परा अन्ततोगत्वा सुधर्मस्वामी के शिष्यो के साथ मिल गई है उसका मूल सुधर्मस्वामी की वाचना मे माना गया है भगवती जैसे आगमो मे यद्यपि भगवान् महावीर और इन्द्रभूति गौतम के वीच हुए सवाद आते है किन्तु उन सवादो की वाचना सुधर्मा ने अपने शिष्यो को दी जो प्ररम्परा से आज उपलब्ध है—ऐसा मानना चाहिए, क्योकि आगमो के टीकाकारो ने एक स्वर से यही अभिप्राय व्यक्त किया है कि तत्तत् आगम की वाचना सुधर्मा ने जम्बू को दी

यद्यपि सुधर्मा की अगो की वाचना का अविच्छिन्न रूप आज तक सुरक्षित नही रहा है फिर भी जो भी सुरक्षित है उसका सम्बन्ध सुधर्मा से जोडा जाता है, यह निर्विवाद है गणधरो के वर्णनप्रसग मे सुधर्मा की जो प्रशसा आती है उसे स्वय सुधर्मा तो कर नही सकते, यह स्पष्ट है अतएव तत्तत् सूत्रो के प्रारम्भिक भाग की रचना मे आगमो के विद्यमान रूप के सकलनकर्त्ता का हाथ रहा हो तो कोई आश्चर्य नही



(२) शय्यंभव (वीर नि० ८३ में दिवंगत :)—अपने पुत्र मनक के लिए दशवैकालिक की रचना कर इन्होने जैन श्रमणो के आचार का आचाराग के बाद एक नया सीमास्तम्भ डाला है, इसकी रचना के बाद इतना महत्त्व बढा कि जैन श्रमणो को प्रारम्भ मे जो आचारागसूत्र पढाया जाता था उसके स्थान पर यही पढाया जाने लगा (व्यवहारभाष्य० उ० ३, गा० १७६) इतना ही नही, पहले जहाँ आचाराग के शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन के बाद श्रमण उपस्थापना का अधिकारी होता था वहाँ अब दशवैकालिक के चौथे षड्जीवनिकाय नामक अध्ययन के बाद उपस्थापना के योग्य समझा गया (वही गा० १७४) पहले जहाँ आचाराग के द्वितीय अध्ययन के पचम उद्देशगत आमगध सूत्र के अध्ययन के बाद श्रमण पिण्डकल्पी होता था वहाँ अब दशवैकालिक के पचम पिण्डैषणा नामक अध्ययन की वाचना के बाद श्रमण पिण्डकल्पी होने लगा (वही, गा० १७५)

दशवैकालिकसूत्र दिगम्बरो (सर्वार्थसिद्धि १-२०) एव यापनीयो को भी बहुत समय तक समान रूप से मान्य रहा है, यह भी इसकी विशेषता है

(३) प्रादेशिक आचार्य—जिनके नाम का तो पता नही किन्तु जो विभिन्न देशो में आगमों की प्रवर्त्तमान व्याख्याओ के प्रवर्तक रहे उनका परिचय तत्तद्देश-प्रदेश से सम्बद्ध रूप से मिलता है अतएव मैने उन्हे "प्रादेशिक आचार्य" की सज्ञा दी है

सूत्रकृताग की चूर्णिमें (पत्र ९०) 'पूर्वदिग्निवासिनामाचार्याणामर्थ . प्रतीच्या-ऽपरदिग्निवासिनस्त्वेव कथयन्ति' इस प्रकार पौरस्त्य पाश्चात्य एव दाक्षिणात्य आचार्यो का उल्लेख पाया जाता है

व्यवहारसूत्र की चूर्णि मे "एके आचार्या लाटा एव ब्रुवतेण्हा—णविवज्ज वरणेवच्छ कीरति अपरे आचार्या दाक्षिणात्या ब्रुवते—युगल णियसाविज्जति" इस प्रकार दाक्षिणात्य और लाटदेश मे विचरने वाले आचार्यो का उल्लेख मिलता है. कल्पचूर्णि एव निशीथचूर्णि मे (भाग २ पत्र० १३४) भी लाटाचार्य का उल्लेख प्राप्त होता है यहाँ लाटदेश भगवान् महावीर के विहार मे वर्णित लाढदेश नही, किन्तु गुजरात मे महानदी और दमण के बीच के प्रदेश को समझना चाहिए, जिसके प्रमुख नगर भृगुकच्छ (भरुच) और दर्भावती (डभोई) आदि थे. भारतीय विद्याभवन के आचार्य पद्मश्री मुनि-जिनविजयजी सम्पादित पुस्तकप्रशस्ति सग्रह पृष्ठ १०७ प्रशस्तिक्रमाक ६९ आदि मे "श्री वोसरि लाटदेशमण्डले मही-दमुनयोरन्तराले समस्तव्यापारान् परिपन्थयति" इत्यादि उल्लेख भी पाये जाते हैं. जिनागमविषमपदपर्याय मे पंचकल्प के विषमपदपर्याय मे "लाडपरिवाडीए लाडवाचनायामित्यर्थ " ऐसा उल्लेख है. इसी प्रकार इसी ग्रन्थ मे निशीथसूत्र के विषमपदपर्याय में "लाडाचार्याभिप्रायात्. माथुराचार्याभिप्रायेण परओ राईए चिन्ताऽस्माकम्" इस तरह माथुराचार्य का भी उल्लेख पाया जाता है

इसी तरह षट्खण्डागम की धवला टीका मे उत्तरप्रतिपत्ति व दक्खिणप्रतिपत्ति रूप से जो दो प्रकार की प्रतिपत्तियो का उल्लेख है वह भी मूलत. तत्तत्प्रदेश के आचार्यो को विशेष रूप से मान्य होने वाली परम्परा का ही निर्देश है (षट्-खण्डागम भा० १ भूमिका-पृ० ५७ तथा भा० ३ भूमिका पृ० १५). धवलाकार ने इनका जो अर्थ किया है वह इस प्रकार है, "एसा दक्खिणपडिवत्ती । दक्खिण उज्जुव आयरियपरम्परागदमिदि एयट्ठो ।। . .. .. एसा उत्तरपडि-वत्ती. उत्तरमणुज्जुव आयरियपरम्पराए णागदमिदि एयट्ठो ।।"—षट्खण्डागम धवला, भा० ५, पृ० ३२. इससे प्रतीत होता है कि धवलाकार के समक्ष दक्षिणप्रतिपत्ति की मान्यता परम्परागत थी जब कि उत्तरप्रतिपत्ति परम्परागत नही थी.

(४) पांच सौ आदेशों के स्थापक—स्थविर आर्य भद्रबाहुस्वामी ने आवश्यकनिर्युक्ति की १०२३ वी गाथा मे "पच-सयादेसवयण व" इस गाथाश से पाच सौ आदेशो का निर्देश किया है आवश्यकचूर्णिकार श्री जिनदासमहत्तर तथा वृत्तिकार श्री हरिभद्रसूरि ने "पाच सौ आदेश" के विषय में लिखा है, "अरिहप्पवयणे पंच आदेससताणि. ण वि अंगे ण वि उवंगे पाढो अत्थि एव—मरुदेवा अणादि-वणस्सइकाइया अणतर उव्वट्टित्ता सिद्धत्ति १। तहा सयंभूरमण-मच्छाण पउमपत्ताण य सव्वसठाणाणि वलयसठाण मोत्तु २ । करड-उक्करडा य कुणालाए एते जधा तधा भणामि-करड-

उक्करडाण निद्धमणमूले वसही, देवयाणुकपण, रुट्ठेसु पन्नरसदिवसवरिसए कुणालाणगरिविणासो, ततो ततियवरिसे साराए णगरे दोण्ह वि कालकरण, अहेसत्तमपुढविकालणरगगमण, कुणालाणगरिविणासकालाओ तेरसमे वरिसे महावीरस्स केवलनाणुप्पत्ती ३ एय अवद्ध" (आवश्यकचूर्णि भा० १ पृष्ठ ६०१, हरिभद्रवृत्ति पत्र ४६५) अर्थात् जिन हकीकतो का उल्लेख किसी अग या उपाग आदि मे नही मिलता है किन्तु जो स्थविर आचार्यो के मुखोपमुख चली आई है उनका सग्रह "पाच सौ आदेश" कहलाता है इन पाच सौ आदेशो का कोई सग्रह आज उपलब्ध नही है किन्तु आवश्यकचूर्णि, वृत्ति आदि इधर-उधर विप्रकीर्णरूप मे कुछ-कुछ आदेशो का उल्लेख पाया जाता है (पत्र ४६५ तथा बृहत्कल्पसूत्र-वृत्ति भा० १ पत्र ४४ टि०६)

(५) **सैद्धान्तिक, कार्मग्रन्थिकादि**—जैन आगमो की परम्परा को मानने वाले आचार्य सैद्धान्तिक कहलाते है कर्मवाद के शास्त्रो के पारम्पर्य को माननेवाले आचार्य कार्मग्रन्थिक कहे जाते है तर्कशास्त्र की पद्धति से आगमिक पदार्थो का निरूपण करने वाले स्थविर तार्किक माने गये है जैन आगम आदि शास्त्रो मे स्थान-स्थान पर इनका उल्लेख किया गया है

भिन्न-भिन्न कुल, गण आदि की परम्पराओ मे जो-जो व्याख्याभेद एव सामाचारीभेद अर्थात् आचारभेद थे उनका तत्तत् कुल, गण आदि के नाम से "नाइलकुलिच्चयाण आयाराओ आढवेत्ता जाव दमातो ताव णत्थि आयविल, णिव्वी-तिएण पढति" (व्यवहारचूर्णि) इस प्रकार देखा जाता है

(६) **भद्रबाहुस्वामी**—(वीर नि० १७० मे दिवगत)- -अन्तिम श्रुतकेवली के रूप मे प्रसिद्ध ये आचार्य अपनी अन्तिम अवस्था में जब ध्यान करने के लिए नेपालदेश मे गये थे तब वीर सवत् १६० मे श्रुत को व्यवस्थित करने का सर्व-प्रथम प्रयत्न पाटलीपुत्र मे हुआ था, ऐसी परम्परा है ग्यारह अगो के ज्ञाता तो सघ मे विद्यमान थे किन्तु बारहवें अग का ज्ञाता पाटलीपुत्र मे कोई न था अतएव सघ की आज्ञा शिरोधार्य कर आचार्य भद्रबाहु ने कुछ श्रमणो को बारहवे अग की वाचना देना स्वीकार किया, किन्तु सीखने वाले श्रमण श्रीस्थूलभद्र के कुतूहल के कारण बारहवा अग समग्रभाव से सुरक्षित न रह सका उसके चौदह पूर्वो मे से केवल दस पूर्वो की ही परम्परा स्थूलभद्र के शिष्यो को मिली इस प्रकार आचार्य भद्रबाहु के बाद कोई श्रुतकेवली नही हुआ किन्तु दस पूर्वो की परम्परा चली अर्थात् बारह अगो मे से चार पूर्व जितना अश विच्छिन्न हुआ यही से उत्तरोत्तर विच्छेदन की परम्परा बढी अन्ततोगत्वा बारहवा अग ही लुप्त हो गया, एव अगो मे केवल ग्यारह अग ही सुरक्षित रहे ग्यारह अगो मे से भी जो प्रश्नव्याकरणसूत्र अभी उप-लब्ध है वह किसी नई ही वाचना का फल है क्योंकि समवायाग, नन्दी आदि आगमो मे इसका जो परिचय मिलता है उससे यह भिन्न ही रूप में उपलब्ध है

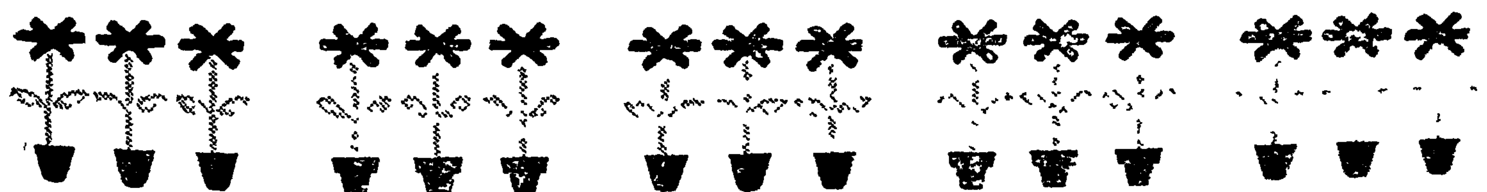
आचार्य भद्रबाहु ने दशा, कल्प और व्यवहार इन तीन ग्रन्थो की रचना की, यह सर्वसम्मत है किन्तु इन्होने निशीथ की भी रचना की ऐसा उल्लेख केवल पचकल्प-चूर्णिकारने ही किया है फिर भी आज निशीथसूत्रकी खभात के श्रीशाति-नाथ ज्ञान-भण्डार की वि० स० १४३० मे लिखी हुई प्रति मे तथा वैसी अन्य प्रतियो मे इसके प्रणेता का नाम विशा-खगणि महत्तर बताया गया है वह उल्लेख इस प्रकार है

दसण-चरित्तजुत्तो गुत्तो गोत्तीसु सज्जणहिएसी ।
णामेण विसाहगणी महतरओ णाणमजूसा ॥१॥

कित्ती-कतिपिणद्धो जसपत्तपडहो (?) तिसागरणिरुद्धो ।
पुणरुत्त भमति महिं ससिव्व गगणगण तस्स ॥२॥

तस्स लिहियं निसीहं धम्मधुराधरणपवरपुज्जस्स ।
आरोगधारणिज्ज सिस्स-पसिस्सोवभोज्ज च ॥३॥

दिगम्बर परम्परा मे धवला के अनुसार १४ अगवाह्य अर्थाधिकार है इनमे कल्प और व्यवहार को एक माना गया है



तथा निशीथ को अलग स्थान दिया गया है इससे यह तो स्पष्ट होता है कि कल्प, व्यवहार और निशीथ की अगबाह्य अर्थाधिकार की परम्परा चली आती थी

भद्रवाहुकृत कल्प-व्यवहार जिस रूप मे आज श्वेताम्वरपरम्परा मे मान्य है उसी रूप मे दिगम्बर परम्परा मे उल्लिखित अगबाह्य कल्पादि मान्य थे या उससे भिन्न-यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है, किन्तु उनका जो विषय बताया गया है वही विषय उपलब्ध भद्रबाहुकृत कल्पादि मे विद्यमान है दोनो परम्पराओ के मत से स्थविरकृत रचानाए अगबाह्य मानी जाती रही हैं भद्रबाहु तक श्वेताम्बर दिगम्बर का मतभेद स्पष्ट नही था इन तथ्यो के आधार पर सभावना की जा सकती है कि कल्प-व्यवहार के जिन अर्थाधिकारो का उल्लेख धवला मे है उन अर्थाधिकारो का सूत्रात्मक व्यवस्थित सकलन सर्वप्रथम आचार्य भद्रबाहु ने किया और वह सघ को मान्य हुआ इस दृष्टि से धवला मे उल्लिखित कल्प-व्यवहार और निशीथ तथा उपलब्ध कल्प-व्यवहार और निशीथ मे भेद मानने का कोई कारण नही है फिर भी दोनो की एकता का निश्चयपूर्वक विधान करना कठिन है

आचार्य भद्रबाहु की जो विशेपता है वह यह है कि इन्होने अपने उक्त ग्रथो मे उत्सर्ग और अपवादो की व्यवस्था की है इतना ही नही किन्तु व्यवहारसूत्र मे तो अपराधो के दण्ड की भी व्यवस्था की गई है ऐसी दण्डव्यवस्था एव आचार्य आदि पदवी की योग्यता आदि के निर्णय सर्वप्रथम इन्ही के ग्रथो मे मिलते है. सघ ने ग्रथो को प्रमाणभूत माना यह आचार्य भद्रवाहु की महत्ता का सूचक है श्रमणो के आचार के विपय मे दशवैकालिक के बाद दशा-कल्प आदि ग्रथ दूसरा सीमास्तम्भ है साथ ही एक बार अपवाद की शुरूआत होने पर अन्य भाष्यकारो व चूर्णिकारो ने भी उत्तरोत्तर अपवादो मे वृद्धि की सभव है कि इसी अपवाद-मार्ग को लेकर सघ मे मतभेद की जड दृढ होती गई और आगे चल कर श्वेताम्वर-दिगम्वर का सम्प्रदाय-भेद भी दृढ हुआ

वृहत्कल्प-भाष्य भा० ६ की प्रस्तावना मे मैने अनेक प्रमाणो के आधार पर यह सिद्ध किया है कि उपलब्ध निर्युक्तियो के कर्त्ता श्रुतकेवली भद्रबाहु नही है किन्तु ज्योतिर्विद् वराहमिहिर के भ्राता द्वितीय भद्रवाहु है जो विक्रम की छठी शताब्दी मे हुए है अपने इस कथन का स्पष्टीकरण करना यहाँ उचित है जब मै यह कहता हू कि उपलब्ध निर्युक्तियाँ द्वितीय भद्रवाहु की है, श्रुतकेवली भद्रबाहु की नही तब इसका तात्पर्य यह नही कि श्रुतकेवली भद्रबाहु ने निर्युक्तियो की रचना की ही नही मेरा तात्पर्य केवल इतना ही है कि जिस अन्तिम सकलन के रूप मे आज हमारे समक्ष निर्युतियाँ उपलब्ध है वे श्रुतकेवली भद्रबाहु की नही है इसका अर्थ यह नही कि द्वितीय भद्रबाहु के पूर्व कोई निर्युक्तियाँ थी ही नही निर्युक्ति के रूप मे आगमव्याख्या की पद्धति बहुत पुरानी है इसका पता हमे अनुयोगद्वार से लगता है वहा स्पप्ट कहा गया कि अनुगम दो प्रकार का होता है सुत्ताणुगम और निज्जुत्तिअणुगम इतना ही नही किन्तु निर्युक्तिरूप से प्रसिद्ध गाथाए भी अनुयोगद्वार मे दी गई है पाक्षिकसूत्र मे भी "सनिज्जुत्तिए" ऐसा पाठ मिलता है द्वितीय भद्रबाहु के पहले भी गोविन्द वाचक की निर्युक्ति का उल्लेख निशीथभाष्य व चूर्णि मे मिलता है. इतना ही नही किन्तु वैदिकवाङ्मय मे भी निरुक्त अति प्राचीन है अतएव यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि जैनागम की व्याख्या का निर्युक्ति नामक प्रकार प्राचीन है यह सभव नही कि विक्रम की छठी शताब्दी तक आगमो की कोई व्याख्या निर्युक्ति के रूप मे हुई ही न हो दिगम्बरमान्य मूलाचार मे भी आवश्यक-निर्युक्तिगत कई गाथाए है इससे भी पता चलता है कि श्वेताम्बर-दिगम्वर सम्प्रदाय का स्पप्ट भेद होने के पूर्व भी निर्युक्ति की परम्परा थी ऐसी स्थिति मे श्रुतकेवली भद्रवाहु ने निर्युक्तियो की रचना की है—इस परम्परा को निर्मूल मानने का कोई कारण नही है अत यही मानना उचित है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु ने भी निर्युक्तियो की रचना की थी और बाद मे गोविन्द वाचक जैसे अन्य आचार्यो ने भी उसी प्रकार क्रमश बढते-बढते निर्युक्तियो का जो अन्तिम रूप हुआ वह द्वितीय भद्रवाहु का है अर्थात् द्वितीय भद्रवाहु ने अपने समय तक की उपलब्ध निर्युक्ति-गाथाओ का अपनी निर्युक्तियो मे सग्रह किया हो, साथ ही अपनी ओर से भी कुछ नई गाथाए वना कर जोड दी यही रूप आज हमारे सामने निर्युक्ति के नाम से उपलब्ध है इस तरह क्रमश निर्युक्ति-गाथाए वढती गई इसका एक प्रवल प्रमाण यह है कि दशवैकालिक की दोनो चूर्णियो

मे प्रथम अध्ययन की केवल ५७ निर्युक्ति गाथाए हैं जब कि हरिभद्र की वृत्ति मे १५७ हैं इससे यह भी सिद्ध होता है कि द्वितीय भद्रबाहु ने निर्युक्तियो का अन्तिम सग्रह किया उसके बाद भी उसमे वृद्धि होती रही है इस स्पष्टीकरण के प्रकाश मे यदि हम श्रुतकेवली भद्रबाहु को भी निर्युक्तिकार माने तो अनुचित न होगा

(७) श्यामाचार्य · (वीर नि० ३७६ मे दिवगत)—इन्होने प्रज्ञापना उपागसूत्र की रचना की है प्रज्ञापनासूत्र के "वायगवरवसाओ तेवीसइमेण धीरपुरिसेण" इस प्रारभिक उल्लेख के अनुसार ये वाचकवश के २३ वे पुरुष थे

(८,९,१०) आर्य सुहस्ति (वी. नि २९१) आर्यसमुद्र : (वी. नि ४७०) और आर्य मगु (वी. नि. ४७०)—इन तीन स्थविरो की कोई खास कृति हमारे सामने नही है, किन्तु जैन आगमो मे, खासकर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि आदि मे नाम-स्थापना आदि निक्षेप द्वारा पदार्थमात्र का जो समग्रभाव से प्रज्ञापन किया जाता है इसमे जो द्रव्य-निक्षेप आता है इस विषय में इन तीन स्थविरो की मान्यता का उल्लेख कल्पचूर्णि में किया गया है —

"किंच आदेसा जहा—अज्जमंगू तिविह सख इच्छति, एगभविय बद्धाउय अभिमुहनाम-गोत्त च अज्जसमुद्दा दुविह, बद्धाउय अभिमुहनाम-गोत्त च अज्जसुहत्थी एग अभिमुहणाम-गोय इच्छति" ये तीन महापुरुष जैन आगमो के श्रेष्ठ ज्ञाता एव माननीय स्थविर थे

(११) पादलिप्ताचार्य : (वीर नि. ४६७ के आसपास)—इन आचार्य ने तरंगवई नामक प्राकृत-देशी भाषामयी अति रसपूर्ण आख्यायिका की रचना की है यह आख्यायिका आज प्राप्त नही है किन्तु हारिजगच्छीय आचार्य यश (?) रचित प्राकृत गाथाबद्ध इसका सक्षेप प्राप्त है डा० अर्न्स्ट लॉयमान ने इस सक्षेप मे समाविष्ट कथाश को पढकर इसका जर्मन मे अनुवाद किया है यही इस आख्यायिका की मधुरता की प्रतीति है दाक्षिण्यक उद्योतनसूरि, महाकवि धनपाल आदि ने इस रचना की मार्मिक स्तुति की है इन्ही आचार्य ने ज्योतिष्करडकशास्त्र की प्राकृत टिप्पनकरूप छोटी सी वृत्ति लिखी है इसका उल्लेख आचार्य मलयगिरि ने अपनी सूर्यप्रज्ञप्तिवृत्ति मे (पत्र ७२ व १००) और ज्योतिष्करडक-वृत्ति मे (पत्र ५२, १२१,२३७) किया है यद्यपि आचार्य मलयगिरि ने ज्योतिष्करडक-वृत्ति को पादलिप्ताचार्यनिर्मित बतलाया है किन्तु आज जैसलमेर और खभात मे पद्रहवी शती मे लिखी गई मूल और वृत्ति सहित मूल की जो हस्तप्रतियाँ प्राप्त है उन्हे देखते हुए आचार्य मलयगिरि के कथन को कहाँ तक माना जाय, यह मैं तज्ज्ञ विद्वानो पर छोड देता हूँ उपर्युक्त मूलग्रन्थ एव मूलग्रन्थसहित वृत्ति के अत मे जो उल्लेख है वे क्रमश इस प्रकार है —

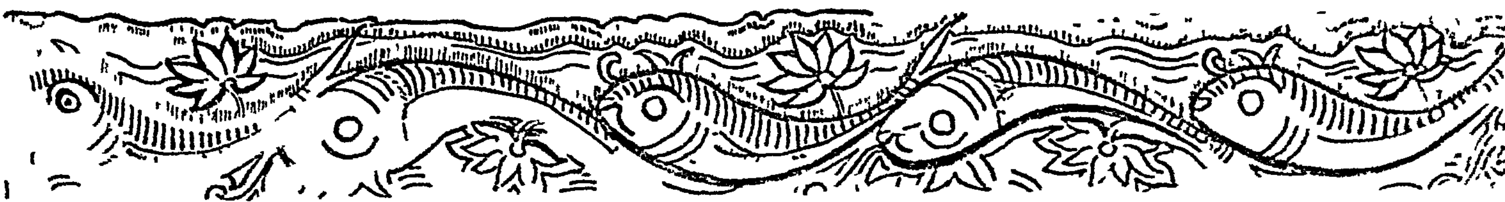
कालण्णाणसमासो पुव्वायरिएहिं वण्णिओ एसो ।
दिणकरपण्णत्तीतो सिस्सजणहिओ सुहोपायो ॥
पुव्वायरियकयाण करणाण जोतिसम्मि समयम्मि ।
पालित्तकेण इणमो रइया गाहाहिं परिवाडी ॥ —ज्योतिष्करण्डक प्रान्त भाग.

कालण्णाणसमासो पुव्वायरिएहिं नीणिओ एसो ।
दिणकरपण्णत्तीतो सिस्सजणहिओ पिओ . ॥
पुव्वायरियकयाय नीतिसमसमएण ।
पालित्तएण इणमो रइया गाहाहिं परिवाडी ॥

॥ णमो अरहताण ॥

कालण्णाणस्सिणमो वित्ती णामेण चद [ ] त्ति ।
सिवनंदिवायगेहिं तु रोयिगा जिणदेवगतिहेतूण (?) ॥ ॥ ग्र० १५८० ॥
—ज्योतिष्करडकवृत्ति प्रान्त भाग

इन दोनो उल्लेखो से तो ऐसा प्रतीत होता है कि—मूल ज्योतिष्करडकप्रकीर्णक के प्रणेता पादलिप्ताचार्य हैं और उनकी वृत्ति, जिसका नाम 'चन्द्र' है, शिवनन्दी वाचक की रचना है आचार्य मलयगिरि ने तो सूर्यप्रज्ञप्तिवृत्ति एव ज्योतिष्करडक-



वृत्ति मे इस वृत्ति के प्रणेता पादलिप्त को कहा है सभव है, आचार्य मलयगिरि के पास कोई अलग कुल की प्रतियाँ आई हो जिनमे मूलसूत्र और वृत्ति का आदि-अन्तिम भाग छूट गया हो जैसलमेर के ताडपत्रीय सग्रह की ज्योतिष्करण्डक मूलसूत्र की प्रति मे इसका आदि और अन्त का भाग नही है आचार्य मलयगिरि को ऐसे ही कुल की कोई खडित प्रति मिली होगी जिस से अनुसन्धान कर के उन्होने अपनी वृत्ति की रचना की होगी इन आचार्य ने 'शत्रुजयकल्प' की भी रचना की है. नागार्जुनयोगी इनका उपासक था. इसने इन्ही आचार्य के नाम से शत्रुजयमहातीर्थ की तलहटी मे पादलिप्तनगर [पालीताणा] वसाया था, ऐसी अनुश्रुति जैनग्रन्थो मे पाई जाती है.

(११) आर्यरक्षित (वीर नि० ५८४ में दिवंगत:)—स्थविर आर्य वज्रस्वामी इनके विद्यागुरु थे. ये जैन आगमो के अनुयोग का पृथक्त्व-भेद करनेवाले, नयो द्वारा होने वाली व्याख्या के आग्रह को शिथिल करनेवाले और अनुयोगद्वारसूत्र के प्रणेता थे प्राचीन व्याख्यान-पद्धति को इन्होने अनुयोगद्वारसूत्र की रचना द्वारा शास्त्रबद्ध कर दिया है ये श्री दुर्वलिका पुष्यमित्र, विन्ध्य आदि के दीक्षागुरु एव शिक्षागुरु थे.

यहाँ पर प्रसगवश अनुयोग का पृथक्त्व क्या है, इसका निर्देश करना उचित होगा

अनुयोगका पृथक्त्व

कहा जाता है कि प्राचीन युग मे जैन गीतार्थ स्थविर जैन आगमो के प्रत्येक छोटे-वडे सूत्रो की वाचना शिष्यो को चार अनुयोगो के मिश्रण से दिया करते थे. उनका इस वाचना या व्याख्या का क्या ढग था, यह कहना कठिन है फिर भी अनुमान होता है कि उस व्याख्या में—(१) चरणकरणानुयोग—जीवन के विशुद्ध आचार, (२) धर्मकथानुयोग—विशुद्ध आचार का पालन करनेवालो की जीवन-कथा, (३) गणितानुयोग—विशुद्ध आचार का पालन करनेवालो के अनेक भूगोल-खगोल के स्थान और (४) द्रव्यानुयोग—विशुद्ध जीवन जीने वालो की तात्त्विक जीवन-चिन्ता क्या व किस प्रकार की हो, इसका निरूपण रहता होगा और वे प्रत्येकसूत्र की नया, प्रमाण व भगजाल से व्याख्या कर उसके हार्दको कई प्रकार से विस्तृत कर वताते होगे समय के प्रभाव से बुद्धिबल व स्मरणशक्ति की हानि होनेपर क्रमश इस प्रकारके व्याख्यान मे न्यूनता आती ही गई जिसका साक्षात्कार स्थविर आर्य कालक द्वारा अपने प्रशिष्य सागरचन्द्र को दिये गये धूलिपुज के उदाहरणसे हो जाता है जैसे धूलिपुज को एक जगह रखा जाय, फिर उसको उठाकर दूसरी जगह रखा जाय, इस प्रकार उसी धूलिपुज को उठा-उठाकर दूसरी-दूसरी जगह पर रखा जाय ऐसा करने पर शुरू का वडा धूलिपुज अन्त मे चुटकी मे भी न आवे, ऐसा हो जाता है इसी प्रकार जैन आगमोका अनुयोग अर्थात् व्याख्यान कम होते-होते परम्परासे वहुत सक्षिप्त रह गया ऐसी दशामे वुद्धिबल एव स्मरणशक्ति की हानि के कारण जब चतुरनुयोग का व्याख्यान दुर्घट प्रतीत हुआ तब स्थविर आर्यरक्षितने चतुरनुयोगके व्याख्यानके आग्रहको शिथिल कर दिया इतना ही नही, उन्होने प्रत्येक सूत्र की जो नयो के आधार से तार्किक विचारणा आवश्यक समझी जाती थी उसे भी वैकल्पिक कर दिया श्रीआर्यरक्षित के शिष्य प्रशिष्यो का समुदाय सख्यामे वडा था उनमें जो विद्वान् शिष्य थे उन सवमें दुर्वलिका पुष्यमित्र अधिक बुद्धिमान् एव स्मृतिशाली थे वे कारणवशात् कुछ दिन तक स्वाध्याय न करनेके कारण ११ अग, पूर्वशास्त्र आदिको और उनकी नयगर्भित चतुरनुयोगात्मक व्याख्या को विस्मृत करने लगे इस निमित्त को पाकर स्थविर आर्यरक्षित ने सोचा कि ऐमा वुद्धिस्मृतिसम्पन्न भी यदि इस अनुयोगको भूल जाता है तो दूसरेकी तो वात ही क्या ? ऐसा सोचकर उन्होने चतुरनुयोग के स्थान पर सूत्रो की व्याख्या मे उनके मूल विषय को ध्यान में रखकर किसी एक अनुयोग को ही प्राधान्य दिया और नयो द्वारा व्याख्या करना भी आवश्यक नही समझा वक्ता व श्रोता की अनुकूलता के अनुसार ही नयो द्वारा व्याख्या की जाय, ऐसी पद्धति का प्रचलन किया तदनुसार विद्यमान आगमो के सूत्रो को उन्होने चार अनुयोगो मे विभक्त कर दिया जिससे तत्-तत् सूत्र की व्याख्या केवल एक ही अनुयोग का आश्रय लेकर हो. जैसे आचार, दशवैकालिक आदि सूत्रो की व्याख्या मे केवल चरणकरणानुयोग का ही आश्रय लिया जाय, शेप का नही इसी प्रकार सूत्रो को कालिक-उत्कालिक विभाग मे भी वाट दिया

गुरूण' इस वाक्य से बडे आदर के साथ किया गया है सम्भव है, चूर्णिकार का इन स्थविरो के साथ अनुयोगविषयक कोई खास घनिष्ठ सम्बन्ध होगा

(२६) गधहस्ती—आचार्य शीलाक के आचारागसूत्र की वृत्ति के प्रारम्भ मे "शस्त्रपरिज्ञाविवरणमतिबहुगहन च गन्धहस्तिकृतम्" इस उल्लेख से गन्धहस्ति आचार्य को आचारागसूत्र के प्रथम अध्ययन शस्त्रपरिज्ञा का विवरणकार बताया है हिमवतस्थविरावलि मे आचार्य गन्धहस्ति के विषय मे इस प्रकार का निर्देश है—

"तेषामार्यसिंहानां स्थविराणा मधुमित्रा-ऽऽर्यस्कन्दिलाचार्यनामानौ द्वौ शिष्यावभूताम् आर्यमधुमित्राणा शिष्या आर्यगन्धहस्तिनोऽतीवविद्वास प्रभावकाश्चाभवन् तैश्च पूर्वस्थविरोत्तसोमास्वातिवाचकविरचिततत्त्वार्थोपरि अशीतिसहस्रश्लोकप्रमाण महाभाष्य रचितम् एकादशाङ्गोपरि चार्यस्कन्दिलस्थविराणामुपरोधतस्तैर्विवरणानि रचितानि यदुक्त तद्रचिताऽऽचाराङ्गविवरणान्ते—

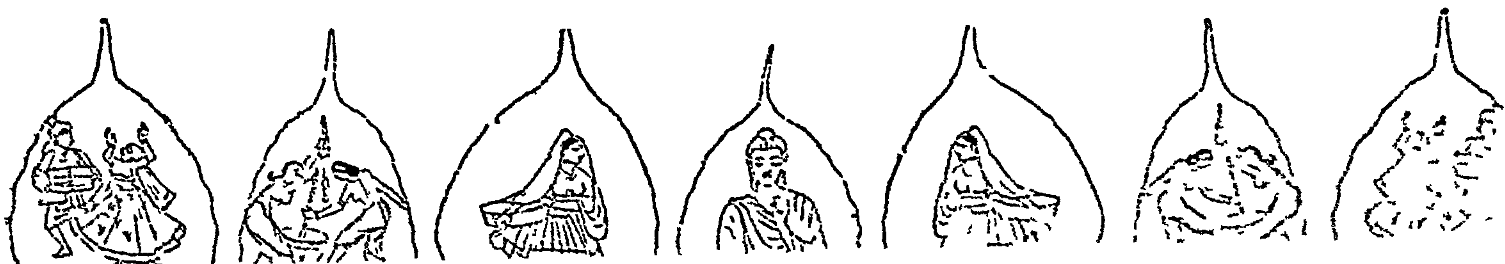
थेरस्स महुमित्तस्स सेहेहि तिपुव्वनाणजुत्तेहि ।
मुणिगणविवदिएहिं ववगयरागाइदोसेहिं ॥
बंभद्दीवियसाहामउडेहिं गन्धहत्थिविबुहेहिं ।
विवरणमेय रइय दोसयवासेसु विक्कमओ ॥"

हिमवतस्थविरावलि के इस अश मे आचार्य गन्धहस्ति को तत्त्वार्थगन्धहस्तिमहाभाष्य के प्रणेता एव ग्यारह जैन अग आगमो के विवरणकार बतलाया है जबकि आचार्य शीलाक ने इन्हे केवल आचाराङ्ग के प्रथम अध्ययन के रचयिता ही कहा है दूसरी बात यह है कि—इनकी ग्यारह अग की वृत्तियो के उद्धरण या नामोल्लेख भाष्य-चूर्णि-वृत्तियो मे कही भी दिखाई नही देते ऐसी स्थिति मे पट्टावलि के इस उल्लेख को कहा तक माना जाय, यह एक प्रश्न है. यहाँ पर गन्धहस्ती, यह विशेषनाम है, विशेषण नही शीलाकाचार्यनिर्दिष्ट गन्धहस्ती हिमवतस्थविरावलिनिर्दिष्ट गन्धहस्ती ही है या अन्य, इसका निर्णय करना कठिन है स्थविरावली मे जो आचारागविवरण की अतिम प्रशस्ति का उद्धरण दिया गया है वह कहाँ तक ठीक है, यह कहना भी जरा कठिन है. इस विशेष नाम के साथ रहे हुए गौरव को देखकर ही बाद मे इस नाम का उपयोग विशेषण के रूप मे होने लगा तत्त्वार्थसूत्रवृत्ति के प्रणेता सिद्धसेनाचार्य 'गन्धहस्ती' कहे जाते थे ये हिमवतस्थविरावलि द्वारा निर्दिष्ट गन्धहस्ती से अन्य ही हैं क्योकि इनका समय विक्रम आठवी के बाद का है, जबकि स्थविरावलिनिर्दिष्ट गन्धहस्ती का समय विक्रम २०० है श्रीयशोविजयजी उपाध्याय ने अपनी गुरुतत्त्वविनिश्चय की स्वोपज्ञवृत्ति मे सन्मतितर्क के प्रणेता सिद्धसेनाचार्य को भी 'गन्धहस्ती' लिखा है

(२७-२८) मित्तवायग-खमासमण व साधुरक्षितगणि क्षमाश्रमण—इन दोनो स्थविरो की मान्यता एव नाम का उल्लेख व्यवहारभाष्य गा० ४६२ की चूर्णि मे चूर्णिकार ने किया है

(२९) धम्मगणि खमासमण—इन क्षमाश्रमण के मतव्य का उल्लेख कल्पविशेषचूर्णि मे "अहवा धम्मगणिखमासमणा देसेण सव्वेसु वि पदेसु इमा सोही—थेराईसु अहवा० गाहाद्वयम्" इस प्रकार है

(३०) अगस्त्यसिंह (भाष्यकारो के पूर्व—ये स्थविर आर्य वज्र की शाखा मे हुए है इन्होने दशवैकालिकसूत्र पर चूर्णि की रचना की है यह चूर्णि दशवैकालिकसूत्र के विविध पाठ भेद एव भाषा की दृष्टि से बहुत महत्त्व की है इस चूर्णि मे भाष्यकार की गाथाओ का उल्लेख न होने से इसकी रचना भाष्यकारो के पूर्व की प्रतीत होती है इसमे कई उल्लेख ऐसे भी है जो चालू साम्प्रदायिक प्रणाली से भिन्न प्रकार के है आचार्य श्री हरिभद्र ने अपनी वृत्ति मे कही भी इस चूर्णि का उल्लेख नही किया है, इसका कारण यही प्रतीत होता है विद्वानो की भी ज्ञातिया होती है इसमे कल्किविषयक जो मान्यता चलती है और जिसका विस्तृत वर्णन तित्थोगालियपइण्णय मे पाया भी जाता है, इस विषय मे "अणागतमट्ठ ण णिद्धारेज्ज-जधा कक्की अमुको वा एव गुणो राया भविस्सइ "ऐसा लिखकर कल्किविषयक मान्यता को आदर नही दिया है इस चूर्णि मे "भणित च वररुचिणा—'अव फलाण मम दालिम पिय' [पृ० १७३] इस प्रकार वररुचि के कोई प्राकृत ग्रथ का उद्धरण मिल सकता है वररुचि का यह प्राकृत उद्धरण प्राकृतव्याकरणप्रणेता वररुचि



के समयनिर्णय के लिए उपयुक्त होने की सम्भावना है इस चूर्णि की प्रति जैसलमेर के जिनभद्रीय ज्ञानभण्डार मे सुरक्षित है इसका प्रकाशन प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी की ओर से मेरे द्वारा सम्पादित हो कर शीघ्र ही प्रकाशित होगा.

(३१) सघदासगणि क्षमाश्रमण (वि० ९वीं शताब्दी—ये आचार्य वसुदेवहिंडी—प्रथम खण्ड के प्रणेता सघदासगणि वाचक से भिन्न है एव इनके बाद के भी है. इन्होने कल्पलघुभाष्य और पचकल्पमहाभाष्य की रचना की है. वे महाभाष्यकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के पूर्ववर्ती है.

(३२) जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (वि० की ६ठी शती)—ये सैद्धान्तिक आचार्य थे इनकी महाभाष्यकार एव भाष्यकार के रूप मे प्रसिद्धि है दार्शनिक-गम्भीरचिन्तनपरिपूर्ण विशेषावश्यक महाभाष्य की रचना ने इन्हे बहुत प्रसिद्ध किया है केवलज्ञान और केवलदर्शन विषयक युगपदुपयोगद्वयवाद एव अभेदवाद को माननेवाले तार्किक आचार्य सिद्धसेन दिवाकर और मल्लवादी के मत का इन्होने उपर्युक्त भाष्य एव विशेषणवती ग्रन्थ मे निरसन किया है जीतकल्पसूत्र, बृहत्सग्रहणी, बृहत्क्षेत्रसमास, अनुयोगद्वारचूर्णिगत अगुलपदचूर्णि और विशेषावश्यक-स्वोपज्ञवृत्ति-षष्ठगणधरवाद व्याख्यान-पर्यन्त—इनके इतने ग्रन्थ आज उपलब्ध हैं.

(३३) कोट्टार्यवादिगणी क्षमाश्रमण (वि० ५४० के बाद)—इन आचार्य ने जिनभद्रगणि की स्वोपज्ञ वृत्ति की अपूर्ण रचना को पूर्ण किया है इन्होने अनुसन्धित अपनी इस वृत्ति मे यह सूचित किया है "निर्माप्य षष्ठगणधर-व्याख्यान किल दिवगता पूज्या·" अर्थात् छठे गणधरवाद का व्याख्यान करके पूज्य जिनभद्रगणी स्वर्गवासी हुए. आगे की वृत्ति का अनुसन्धान इन्होने किया है इस रचना के अतिरिक्त इनकी अन्य कोई रचना नही मिली है. यह स्वोपज्ञ-वृत्ति ला० द० विद्यामन्दिर, अहमदाबाद की ओर से प्रकाशित होगी

(३४) सिद्धसेनगणि क्षमाश्रमण (वि० छठी शती)—इनकी आज कोई स्वतन्त्र रचना प्राप्त नही है इनके रचे हुए कुछ सन्दर्भ, जो निर्युक्ति, भाष्य आदि के व्याख्यानरूप गाथासन्दर्भ है, निशीथचूर्णि व आवश्यकचूर्णि मे मिलते है. निशीथ-चूर्णि मे इनका नाम एव गाथाएँ छ जगह उल्लिखित है, जिनके भद्रबाहुकृत निर्युक्तिगाथाओ तथा पुरातनगाथाओ के व्याख्यानरूप होने का निर्देश है आवश्यकचूर्णि मे (विभाग २, पत्र २३३) इनके नाम के साथ दो व्याख्यान-गाथाएँ दी गई है पचकल्पचूर्णि मे भी "उक्त च सिद्धसेनक्षमाश्रमणगुरुभिः" ऐसा लिख कर इनकी एक गाथा का उद्धरण किया है इन उल्लेखो से पता चलता है कि इनकी आगमिक व्याख्यानगर्भित कोई कृति या कृतियाँ अवश्य होनी चाहिए जो आज उपलब्ध नही है

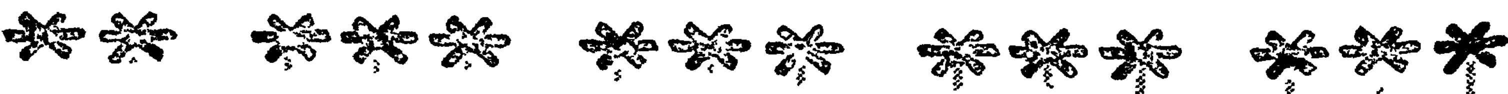
(३५) सिद्धसेनगणि (वि० स० छठी शती)—इनकी एक ही कृति प्राप्त हुई है जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणकृत जीत-कल्प पर रचित चूर्णि उपर्युक्त सिद्धसेनगणी क्षमाश्रमण से ये सिद्धसेन गणि भिन्न है

(३६) जिनदासगणी महत्तर (वि० ७वीं शताब्दी)—निशीथचूर्णि के प्रारम्भिक उल्लेखानुसार इनके विद्यागुरु प्रद्युम्न-गणी क्षमाश्रमण थे. आज जो चूर्णिया उपलब्ध है इनमे से नन्दी, अनुयोगद्वार और निशीथ की चूर्णिया इन्ही की रचनाए है

(३७) गोपालिक महत्तर शिष्य (वि० ७वीं शताब्दी)—उत्तराध्ययनचूर्णि के रचयिता आचार्य ने अपने नाम का निर्देश न कर 'गोपालिकमहत्तरशिष्य' इतना ही उल्लेख किया है इनकी अन्य कोई रचना उपलब्ध नही है.

(३८) जिनभट या जिनभद्र (वि ८वीं शताब्दी)—ये हरिभद्र के विद्यागुरु थे आवश्यक वृत्ति के अन्त मे आचार्य हरिभद्र ने इनका नामोल्लेख किया है एतद्विषयक पुष्पिका इस प्रकार है "कृतिः सिताम्बराचार्य जिनभट निगदानु-सारिणो विद्याधरकुलतिलकाचार्यजिनदत्तशिष्यस्य धर्मतो याकिनीमहत्तरासूनोरल्पमतेराचार्यहरिभद्रस्य." इस उल्लेख में 'जिनभटनिगदानुसारिण' वाक्य विद्यागुरुत्व का सूचक है. प्रत्यन्तरो मे 'जिनभट' के बजाय 'जिनभद्र' नाम भी मिलता है. "गुरुवस्तु व्याचक्षते" ऐसा लिखकर कई जगह हरिभद्रसूरि ने अपनी कृतियो में इनके मन्तव्य का निर्देश किया है

(३९) हरिभद्रसूरि (वि० ८ वीं शताब्दी)—इनका उपनाम 'भवविरह' भी है अपनी कृतियो में इन्होने 'भवविरह'



स्थविर आर्य देवर्द्धिगणि ने वलभी मे सघसमवाय को एकत्रित कर जैन आगमो को व्यवस्थित किया व लिखवाया उस समय लेखन की प्रारम्भिक प्रवृत्ति किस रूप मे हुई इसका स्पष्ट उल्लेख कही भी नही मिलता सामान्यतया मुखोपमुख कहा जाता है कि वलभी मे हजारो की सख्या मे ग्रथ लिखे गये थे, किन्तु हमारे सामने [शीलाकाचार्य, नवागवृत्तिकार अभयदेवसूरि आदि व्याख्याकार आचार्यो के जो विषादपूर्ण उल्लेख विद्यमान है उनसे तो यह माना नही जा सकता कि इतने प्रमाण मे ग्रथलेखन हुआ होगा.

श्रीशीलाकाचार्य ने सूत्रकृताग की अपनी वृत्ति मे इस प्रकार लिखा है

इह च प्राय सूत्रादर्शेषु नानाविधानि सूत्राणि दृश्यन्ते, न च टीकासंवादी एकोऽप्यादर्शः समुपलब्धः, अत एकमादर्श-मङ्गीकृत्यास्माभिर्विवरण क्रियत इति, एतदवगम्य सूत्रविसवाददर्शनाच्चित्तव्यामोहो न विधेय इति'

[मुद्रित पत्र ३३६-१]

अर्थात् चूर्णिसमत मूलसूत्र के साथ तुलना की जाय ऐसी एक भी मूलसूत्र की हस्तप्रति आचार्य शीलाक को नही मिली थी.

श्री अभयदेवाचार्य ने भी स्थानाग, समवायाग व प्रश्नव्याकरण—इन तीनो अग आगमो की वृत्ति के प्रारम्भ एव अन्त मे इसी आशय का उल्लेख किया है जो क्रमश इस प्रकार है

१ वाचनानामनेकत्वात्, पुस्तकानामशुद्धित ।
सूत्राणामतिगाभीर्याद् मतभेदाच्च कुत्रचित् ॥२॥

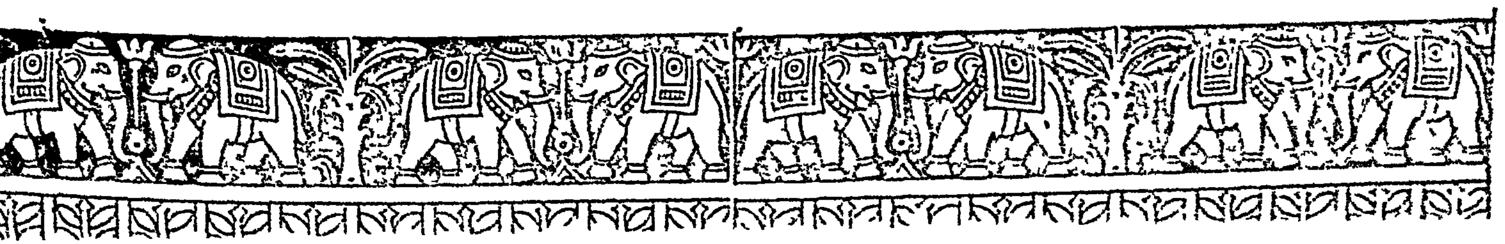
२. यस्य ग्रथवरस्य वाक्यजलधेर्लक्ष सहस्राणि च,
चत्वारिंशदहो ! चतुर्भिरधिका मान पदानामभूत् ।
तस्योच्चैश्चुलुकाकृति विदधत कालादिदोषात् तथा,
दुर्लेखात् खिलता गतस्य कुधिय कुर्वन्तु किं मादृशा ? ॥२॥

३ अज्ञा वय शास्त्रमिद गभीर, प्रायोऽस्य कूटानि च पुस्तकानि ।
सूत्र व्यवस्थाप्यमतो विमृश्य, व्याख्यानकल्पादित एव नैव ॥२॥

ऊपर उदाहरण के रूप मे श्री शीलाकाचार्य व श्री अभयदेवाचार्य के जो उल्लेख दिये है उनसे प्रतीत होता है कि वलभी मे स्थविर आर्य देवर्द्धिगणि, गधर्ववादिवेताल शान्तिसूरि आदि के प्रयत्न से जो जैन आगमो का सकलन एव व्यवस्थापन हुआ और उन्हे पुस्तकारूढ किया गया, यह कार्य जैन स्थविर श्रमणो की जैनआगमादि को ग्रथारूढ करने की अल्परुचि के कारण वहुत सक्षिप्त रूप मे ही हुआ होगा तथा निकट भविष्य में हुए वलभी के भग के साथ ही वह व्यवस्थित किया हुआ आगमो का लिखित छोटा-सा ग्रथ-सग्रह नष्ट हो गया होगा परिणाम यह हुआ कि आखिर जो स्थविर आर्य स्कन्दिल एव स्थविर आर्य नागार्जुन के समय की हस्तप्रतिया होगी, उन्ही की शरण व्याख्याकारो को लेनी पडी होगी. यही कारण है कि प्राचीन चूर्णिया एव व्याख्या-ग्रथो मे सैकडो पाठभेद उल्लिखित पाये जाते हैं जिनका उदाहरण के रूप मे मैं यहा सक्षेप मे उल्लेख करता हूँ

आचारागसूत्र की चूर्णि मे चूर्णिकार ने नागार्जुनीय वाचना के उल्लेख के अलावा 'पढिज्जइ य' ऐसा लिखकर उन्नीस स्थानो पर पाठभेद का उल्लेख किया है आचार्य श्रीशीलाक ने भी अपनी वृत्ति मे उपलब्ध हस्तप्रतियो के अनुसार कितने ही सूत्रपाठभेद दिये है

इसी प्रकार सूत्रकृतागचूर्णि मे भी नागार्जुनीय वाचनाभेद के अलावा 'पठ्यते च, पठ्यते चान्यथा सद्भि, अथवा, अथवा इह तु, मूलपाठस्तु, पाठविशेषस्तु, अन्यथा पाठस्तु, अयमपरकल्प, पाठान्तरम्' आदि वाक्यो का उल्लेख कर केवल प्रथम-श्रुतस्कन्ध की चूर्णि मे ही लगभग सवा सौ जगह जिन्हे वास्तविक पाठभेद माने जाय ऐसे उल्लेखो की गाथा की गाथाए, पूर्वार्ध के पूर्वार्ध व चरण के चरण पाये जाते हैं. द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पाठभेद तो इसमे शामिल ही नही किये गये है.



आचार्य शीलाक ने भी बहुत से पाठभेद दिये है, फिर भी चूर्णिकार की अपेक्षा ये बहुत कम है, यहा पर एक बात खास ध्यान देने योग्य है कि खुद आचार्य शीलाक ने स्वीकार किया है कि 'हमे चूर्णिकारस्वीकृत आदर्श मिला ही नही' यही कारण है कि उनकी टीका मे चूर्णि की अपेक्षा मूल सूत्रपाठ एव व्याख्या मे बहुत अन्तर पड गया है. इसके साथ मेरा यह भी कथन है कि आज हमारे सामने जो प्राचीन सूत्रप्रतिया विद्यमान है उनके पाठभेदो का सग्रह किया जाय तो सीमातीत पाठभेद मिलेगे इनमे अगर भाषाप्रयोग के पाठभेदो को शामिल किया जाय तो मै समझता हू कि पाठभेदो का सग्रह करने वाले का दम निकल जाय फिर भी यह कार्य कम महत्त्व का नही है. प्राकृत टेक्स्टसोसायटी की ओर से जो आगमो का सम्पादन किया जा रहा है उसमे इस प्रकार की महत्त्वपूर्ण सब बातोको समाविष्ट करने का यथासभव पूरा ध्यान रखा जाता है.

दशवैकालिकसूत्र पर स्थविर अगस्त्यसिहकृत चूर्णि, अज्ञातनामकर्तृक दूसरी चूर्णि और आचार्य हरिभद्रकृत शिष्यहिता-वृत्ति—ये तीन व्याख्याग्रथ मौलिक व्याख्यारूप है. इनके अलावा जो अन्य वृत्तिया विद्यमान है उन सबका मूलस्रोत आचार्य हरिभद्र की बृहद्वृत्ति ही है. आचार्य हरिभद्र ने अपनी वृत्ति मे "तत्रापि" 'कत्यह, कदाऽह, कथमह' इत्याद्यदृश्यपाठान्तर-परित्यागेन दृश्य व्याख्यायते" (पत्र ८५-१) ऐसा कह कर पाठभेदो की झझट से छुटकारा ही पा लिया अनामकर्तृक चूर्णि जिसका उल्लेख आचार्य हरिभद्र अपनी वृत्ति मे वृद्ध-विवरण के नाम से करते है, उसमे कही-कही पाठभेदो का उल्लेख होने पर भी उनका कोई खास सग्रह नही है किन्तु स्थविर अगस्त्यसिहविरचित चूर्णि मे सूत्रपाठो का न्यूनाधिक्य, पाठभेद, व्याख्याभेद आदि का सग्रह काफी मात्रा मे किया गया है मूलसूत्र की भाषा का स्वरूप भी वृद्ध-विवरण एव आचार्य हरिभद्र की वृत्ति की अपेक्षा बहुत ही भिन्न है. वृद्धविवरण व आचार्य हरिभद्र की वृत्ति में मूल सूत्र की भाषा का स्वरूप आज की प्राचीन ताडपत्रीय प्रतियो मे जैसा पाया जाता है, करीब-करीब उससे मिलता-जुलता ही है

यहाँ पर प्राचीन चूर्णियो एव उनमे प्राप्त होनेवाले पाठभेदादि का उल्लेख कर आपका जो समय लिया है उसका कारण यह है कि वलभी नगर मे स्थविर आर्य देवर्धिगणि क्षमाश्रमण प्रमुख जैनसघ ने जो जैनआगमो का व्यवस्थापन किया था और इन्हे ग्रथारूढ किया था वह यदि विस्तृत रूप मे होता तो वालभी ग्रथलेखन के निकट भविष्य मे होनेवाले चूर्णिकार, आचार्य हरिभद्र, आचार्य शीलाक, श्री अभयदेवसूरि आदि को विकृतातिविकृत आदर्श न मिलते. जैसे आज हमे चार सौ, पाँच सौ, यावत् हजार वर्ष पुरानी शुद्धप्राय हस्तप्रतिया मिल जाती है उसी प्रकार चूर्णिकार आदि को भी वलभीव्यवस्थापित शुद्ध एव प्रामाणिक पाठ वाले आदर्श अवश्य ही मिलते, किन्तु वैसा नही हुआ इसके लिये उन्होने विषाद ही प्रकट किया है अत मुझे यही लगता है कि देवर्धिगणि क्षमाश्रमण का ग्रथलेखन बहुत सक्षिप्तरूप मे हुआ होगा, जो वलभी के भग के साथ ही नष्ट हो गया.

(२४) भद्दियायरिय—सूत्रकृतागचूर्णि, पत्र ४०५ के "अत्र दूषगणिक्षमाश्रमणशिष्य-भद्दियाचार्या ब्रुवते" इस उल्लेख के अनुसार भद्दियाचार्य स्थविर दूषगणि के शिष्य थे. इनके नाम का उल्लेख एव मत का सग्रह अगस्त्यसिहविरचित दशवै-कालिकचूर्णि पत्र ३ और अनामकर्तृक दशवैकालिकचूर्णि पत्र ४ मे भी पाया जाता है.

(२५) दत्तिलायरिय—इनके नाम का निर्देश एव मत का सग्रह उपर्युक्त दोनो दशवैकालिकचूर्णियो के क्रमश. ३ व ४ पत्र मे है

अज्ञातकर्तृक दशवैकालिकचूर्णि मे भद्दियायरिय एव दत्तिलायरिय—इन दोनो स्थविरो के नामो का उल्लेख व इनके मत का सग्रह सामान्यतया किया गया है, जब कि अगस्त्यसिहविरचित चूर्णि मे "इह कयरेण एक्केण अहिकारो? सव्वण्णु-भासिए का एषकीयमयवियारणा ? तहा वि वक्खाणभेदपदरिसणत्थ कित्तिनिमित्त गुरूण भण्णति—भद्दियायरिओवएसेण भिन्नरूवा एनका दससद्दे ण सगिहीया भवति त्ति सगहेक्ककेण अहिकारो, दत्तिलायरिओवएसेण सुयनाण खओवसमिए भावे वट्टनि त्ति भावेक्ककेण अहिगारो" इस प्रकार है इस तरह इन दोनो स्थविरो के नाम का उल्लेख 'कित्तिनिमित्त



साहाय्य रहा होगा दिगवराचार्य देवसेनकृत दर्शनसारनामक ग्रन्थ मे श्वेताम्वरो की उत्पत्ति के वर्णनप्रसग मे—

छत्तीसे वरिससए विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स ।
सोरट्ठे उप्पण्णो सेवडसघो हु वलहीए ॥५२॥
एक्क पुण सतिणामो सपत्तो वलहिणामणयरीए ।
वहुसीमसपउत्तो विसए सोरट्ठए रम्मे ॥५६॥

इस प्रकार का उल्लेख है यद्यपि इस उल्लेख मे दिया हुआ सवत् मिलता नही है तथापि उपर्युक्त 'वालब्भसघकज्जे' गाथा मे निर्दिष्ट वालभ्यसघकार्य, शातिसूरि, वलभि आदि उल्लेख के साथ तुलना करने के लिये दर्शनसार का यह उल्लेख जरूर उपयुक्त है

देवर्धिगणि जो स्वय माथुरसघ के युगप्रधान थे, उनकी अध्यक्षता में वलभीनगर मे एकत्रित सघसमवाय मे दोनो वाचनाओ के श्रुतधर स्थविरादि विद्यमान थे. इस सघसमवाय मे सर्वसम्मति से माथुरी वाचना को प्रमुख स्थान दिया गया होगा इसका कारण यह हो सकता है कि माथुरी-वाचना के जैनआगमो की व्यवस्थितता एव परिमाणाधिकता थी इसमे ज्योतिष्करडक जैसे ग्रन्थो को भी स्थान दिया गया जो केवल वालभी-वाचना मे ही थे इतना ही नही अपितु माथुरी-वाचना से भिन्न एव अतिरिक्त जो सूत्रपाठ एव व्याख्यान्तर थे उन सबका उल्लेख नागार्जुनाचार्य के नाम से तत्तत् स्थान पर किया भी गया आचाराग आदि की चूर्णिओ मे ऐसे उल्लेख पाये जाते है समझ मे नही आता कि जिस समय जैनआगमो को पुस्तकारूढ किया गया होगा उस समय इन वाचनान्तरो का सग्रह किस ढग से किया होगा ? जैनआगम की कोई ऐसी हस्तप्रति मौजूद नही है जिसमे इन वाचनाभेदो का सग्रह या उल्लेख हो आज हमारे सामने इस वाचनाभेद को जानने का साधन प्राचीन चूर्णिग्रन्थो के अलावा अन्य एक भी ग्रन्थ नही है चूर्णियाँ भी सब आगमो की नही किन्तु केवल आवश्यक, नन्दी, अनुयोगद्वार, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचाराग, सूत्रकृताग, भगवती, जीवाभिगम, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, निशीथ, कल्प, पचकल्प, व्यवहार एव दशाश्रुतस्कन्ध की ही मिलती है

ऊपर जिन आगमो की चूर्णियो के नाम दिये गये है उनमे से नागार्जुनीय-वाचनाभेद का उल्लेख केवल आचाराग, सूत्रकृताग, उत्तराध्ययन व दशवैकालिक की चूर्णियो मे ही मिलता है अन्य आगमो मे नागार्जुनीय वाचना की अपेक्षा न्यूनाधिक्य या व्याख्याभेद क्या था, इसका आज कोई पता नही लगता वहुत सभव है, ये वाचनाभेद चूर्णि-वृत्ति आदि व्याख्याओ के निर्माण के वाद मे सिर्फ पाठभेद के रूप मे परिणत हो गये हो यही कारण है कि चूर्णिकार और वृत्तिकारो की व्याख्या मे पाठो का कभी-कभी वहुत अन्तर दिखाई देता है

(१) दशवैकालिकसूत्र को अनामकर्तृक मुद्रितचूर्णि के पृष्ठ २०४ मे "नागज्जुणिया तु एव पढति—एव तु गुणप्पेही अगुणाऽणविवज्जए" इस प्रकार एक ही नागार्जुनीय वाचना का उल्लेख पाया गया है यह उल्लेख पाठभेदमूलक नही अपितु व्याख्याभेदमूलक है माथुरी वाचना वाले "अगुणाण विवज्जए—अगुणाना विवर्जक " ऐसी सीधी व्याख्या करते हैं, जवकि नागार्जुनीय वाचना वाले "अगुणाऽणविवज्जए—अगुणरिण अकुव्वतो" अर्थात् 'अगुणरूप ऋण नही करते' ऐसी व्याख्या करते है इस चूर्णि मे नागार्जुनीय नाम का यह एक ही उल्लेख देखने मे आया है इसी दशवैकालिकसूत्र की स्थविर अगस्त्यसिंहकृत एव अन्य प्राचीन चूर्णि पाई गई है जो अभी प्राकृत-टेक्स्ट-सोसाइटी की ओर से छप रही है इसमे (पृ० १३६) इस स्थान पर उपर्युक्त वाचनाभेद का उल्लेख किया है किन्तु नागार्जुनीय नाम का उल्लेख नही है इससे भी यही प्रतीत होता है कि नागार्जुनीय पाठभेदादि केवल पाठान्तर व मतान्तर के रूप मे ही रह गये है प्राचीन वृत्तिकार आचार्य हरिभद्र भी अपनी वृत्ति मे कही पर भी नागार्जुनीय वाचना का नामोल्लेख करते नही है

(२) आचारागसूत्र की चूर्णि मे नागार्जुनीयवाचनाभेद का उल्लेख पद्रह जगह पाया जाता है—

१	भदन्त नागार्जुनीयास्तु पढति	पृ०	६२	वृत्तिपत्र	११८
२.	णागज्जुणिया पढति	,,	६४		



३	भदतणागज्जुणिया तु पढति	पृ०	११३			
४	भदतणागज्जुणिया	,,	१२०	वृत्तिपत्र	१६६	पृ० २
५	भदतणागज्जुणिया पढति	,,	१३६	,,	१८३	पृ० २
६.	एत्थ सक्खी भदन्तनागार्जुना.	,,	१५७	,,	१६८	पृ० २
७	नागार्जुनीयास्तु	,,	१६१	,,	२०१	पृ० १
८.	णागज्जुणीया	,,	२०७	,,	२३६	पृ० १
९	भदन्त णागज्जुणा तु	,,	२१६	,,	२४५	पृ० १
१०.	णागज्जुणिया उ	,,	२१६			
११.	णागज्जुणा	,,	२३२	वृत्तिपत्र	२५३	पृ० २
१२.	णागज्जुणा तु	,,	२३७	,,	२५६	पृ० १
१३	णागज्जुणा	,,	२८७			
१४	णागज्जुणा तु पढति	,,	३०२	वृत्तिपत्र	३०३	पृ० १
१५.	भदन्तनागार्जुनीया तु	,,	३१३			

यहा पर आचारागचूर्णि और शीलाकाचार्य रचित वृत्ति के जो पृष्ठ-पत्राक आदि दिये गये है वे आगमोद्धारक पूज्य आचार्य श्री सागरानन्दसूरि सम्पादित आवृत्ति के है

उपर्युक्त पद्रह उल्लेखो मे से पाच उल्लेख शीलाकीय वृत्ति मे नही है. बाकी के दस उल्लेख शीलाकाचार्य ने दिये है. वे सभी उल्लेख आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की चूर्णि-वृत्ति मे ही है. द्वितीय श्रुतस्कन्ध की चूर्णि-वृत्ति में नागार्जुनीय-वाचना का कोई उल्लेख नही है

यहा आचाराग-चूर्णि मे से नागार्जुनीयवाचना के जो पद्रह उल्लेख उद्धृत किये गये है उनमे सात जगह अति पूज्यतासूचक 'भदन्त' विशेषण का प्रयोग किया गया है जो अन्य किसी चूर्णि-वृत्ति आदि में नही है इससे अनुमान होता है कि इस चूर्णि के प्रणेता, जिनके नाम का उल्लेख कही भी नही मिलता, कम-से-कम नागार्जुनीय परपरा के प्रति आदर रखने वाले थे

(३) सूत्रकृताग की चूर्णि में नागार्जुनीय वाचना के जो उल्लेख मिलते है उन सभी स्थानो पर 'नागार्जुनीयास्तु' ऐसा लिखकर ही नागार्जुनीय वाचनाभेद का उल्लेख किया गया है जो प्रथम श्रुतस्कन्ध में चार जगह व दूसरे श्रुतस्कन्ध मे नौ जगह पाया गया है. आचार्य शीलाक ने अपनी वृत्ति में 'नागार्जुनीयास्तु पठन्ति' लिखकर नागार्जुनीय-वाचना का उल्लेख चार जगह किया है सभव है पिछले जमाने मे नागार्जुनीय वाचनाभेद का कोई खास महत्त्व रहा न होगा

प्रसगवशात् एक बात की सूचना करना हम यहा उचित समझते है कि सूत्रकृतागचूर्णिकार 'अणुत्तरणाणी-अणुत्तरदसी अणुत्तरणाणदसणधरो, एतेण एकत्व णाण-दसणाण ख्यापित भवति' [श्रुत १ अध्य० २ उ० २ गा० २२] इस उल्लेख से एकोपयोगवादी आचार्य सिद्धसेन के अनुयायी मालूम होते हैं.

(४) उत्तराध्ययनसूत्र की चूर्णि मे चूर्णिकार आचार्य ने पाँच स्थानो पर नागार्जुनीय वाचनाभेद का उल्लेख किया है. पाइय-टीकाकार वादिवेताल शान्तिसूरिजी ने भी इन पाँच स्थानो पर नागार्जुनीय वाचनाभेद का उल्लेख किया है. किन्तु सिर्फ एक स्थान पर नागार्जुनीय का नाम न लेकर 'पठ्यते च' ऐसा लिखकर नागार्जुनीय वाचनाभेद का उल्लेख किया है [पत्र २६४-१].

कुछ विद्वान् स्थविर आर्य देवर्धिगणि के आगम-व्यवस्थापन व आगम-लेखन को वालभी वाचनारूप से वतलाते है किंतु ऊपर वालभी वाचना के विषय मे जो कुछ कहा गया है उससे उनका यह कथन भ्रान्त सिद्ध होता है वास्तव में वालभी वाचना वही है जो माथुरीवाचना के ही समय मे स्थविर आर्य नागार्जुन ने वलभीनगर मे सघसमवाय एकत्र कर जैन आगमो का सकलन किया था.



(१३) कालिकाचार्य (वीर नि० ६०५ के आसपास)—पचकल्पमहाभाष्य के उल्लेखानुसार ये आचार्य शालिवाहन के समकालीन थे. इन्होने जैनपरम्परागत कथाओ के सग्रहरूप प्रथमानुयोग नामक कथासग्रह का पुनरुद्धार किया था इसके अतिरिक्त गडिकानुयोग और ज्योतिषशास्त्रविषयक लोकानुयोग नामक शास्त्रो का भी निर्माण किया था जैन आगमग्रथो की सग्रहणियो की रचना इन्ही की है जैन आगमो के प्रत्येक छोटे-छोटे विभाग मे जिन-जिन विपयो का समावेश होता था उनका बीजरूप सग्रह इन सग्रहणी-गाथाओ मे किया गया है एक प्रकार से इसे जैन आगमो का विषयानुक्रम ही समझना चाहिए आज यह सग्रह व्यवस्थितरूप मे देखने मे नही आता है, तथापि सभव है कि भगवती, प्रज्ञापना, आवश्यक आदि सूत्रो की टीकाओ मे टीकाकार आचार्यो ने प्रत्येक शतक, अध्ययन, प्रतिपत्ति, पद आदि के प्रारम्भ मे जो सग्रहणी-गाथाएँ दी है वे यही सग्रहणी-गाथाएँ हो

(१४) गुणधर (वीर नि० ६१४-६८३ के बीच)—दिगम्बर आम्नाय मे आगमरूप से मान्य कसायपाहुड के कर्ता गुणधर आचार्य हैं उनके समय का निश्चय यथार्थरूप मे करना कठिन है प० हीरालालजी का अनुमान है कि ये आचार्य धरसेन से भी पहले हुए हैं,

(१५) आचार्य धरसेन, पुष्पदन्त व भूतबलि—(वीर नि० ६१४-६८३ के बीच ?) दिगम्बर आम्नाय मे पट्खडागम के नाम से जो सिद्धान्तग्रन्थ मान्य है उसका श्रेय इन तीनो आचार्यो को है जिस प्रकार भद्रबाहु ने चौदहपूर्व का ज्ञान स्थूलभद्र को दिया उसी प्रकार आचार्य धरसेन ने पुष्पदन्त और भूतबलि को श्रुत का लोप न हो, इस दृष्टि से सिद्धान्त पढाया जिसके आधार पर दोनो ने पट्खण्डागम की रचना की इनका समय वीरनिर्वाण ६१४ व ६८३ के बीच है, ऐसी सभावना की गई है.

(१६, १७) आर्य मंक्षु और नागहत्थि—कषायपाहुड की परम्परा को सुरक्षित रखने का विशेष कार्य इन आचार्यो ने किया और इन्ही के पास अध्ययन करके आचार्य यतिवृषभ ने कसायपाहुड की चूर्णि की रचना की थी इन आचार्यों को नदीसूत्र की पट्टावली मे भी स्थान मिला है

नदीसूत्रकार ने आर्य मगु और नागहस्ति का वर्णन इस प्रकार किया है

> भणग करग झरग पभावग णाण-दसण-गुणाण ।
> वदामि अज्जमंगु सुयसागरपारग धीर ॥२८॥
> णाणम्मि दसणम्मि य तव-विणए णिच्चकालमुज्जुत्त ।
> अज्जाणदिलखमणं सिरसा वदे पसण्णमण ॥२९॥
> वड्ढउ वायगवसो जसवसो अज्जणागहत्थीणं ।
> वागरण-करण-भगिय-कम्मप्पगडीपहाणाणं ॥३०॥

नदीसूत्र के आर्य मगु ही आर्य मक्षु है, ऐसा निर्णय किया गया है इससे विद्वानो का ध्यान इस ओर जाना आवश्यक है कि आज भले ही कुछ ग्रथो को हम केवल श्वेताम्बरो के ही माने और कुछ को केवल दिगम्बरो के किन्तु वस्तुत. एक-काल ऐसा था जब शास्त्रकार और शास्त्र का ऐसा साम्प्रदायिक विभाजन नही हुआ था.

आर्य मक्षु के विपय मे एक खास बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि उनके कुछ विशेप मन्तव्यो के विपय मे जयधवला-कार का कहना है कि ये परम्परा के अनुकूल नही (षट्खडागम भा० ३ भूमिका पृष्ठ १५)

(१८) आचार्य शिवशर्म : (वीर नि० ८२५ से पूर्व)—जैनधर्म की अनेक विशेपताओ मे एक विशेपता है उसके कर्म-सिद्धान्त की जिस प्रकार षट्खण्डागम और कसायपाहुड विशेपत कर्मसिद्धान्त के ही निरूपक हैं उसी प्रकार शिवशर्म की कम्मपयडी और शतक कर्मसिद्धान्त के ही निरूपक प्राचीन ग्रथ हैं इनका समय भाष्य-चूर्णिकाल के पहले का अवश्य है

(१९, २०) स्कन्दिलाचार्य व नागार्जुनाचार्य (वीर नि० ८२७ से ८४०)—ये स्थविर क्रमश माथुरी या स्कान्दिली और



वालभी या नागार्जुनी वाचना के प्रवर्तक थे दोनो ही समकालीन स्थविर आचार्य थे इनके युग मे भयकर दुर्भिक्ष उपस्थित होने के कारण जैन श्रमणो को इधर-उधर विप्रकीर्ण छोटे-छोटे समूहो मे रहना पडा श्रुतधर स्थविरो की विप्रकृष्टता एव भिक्षा की दुर्लभता के कारण जैनश्रमणो का अध्ययन-स्वाध्यायादि भी कम हो गया अनेक श्रुतधर स्थविरो का इस दुर्भिक्ष मे देहावसान हो जाने के कारण जैनआगमो का बहुत अग नष्ट-भ्रष्ट, छिन्न-भिन्न एव अस्त-व्यस्त हो गया दुर्भिक्ष के अन्त मे ये दोनो स्थविर, जो कि मुख्य रूप से श्रुतधर थे, बच रहे थे किन्तु एक-दूसरे से बहुत दूर थे. आर्य स्कन्दिल मथुरा के आस-पास थे और आर्य नागार्जुन सौराष्ट्र मे दुर्भिक्ष के अन्त में इन दोनो स्थविरो ने वी० स० ८२७ से ८४० के बीच किसी वर्ष में क्रमश मथुरा व वलभी मे सघसमवाय एकत्र करके जैनआगमो को जिस रूप मे याद था उस रूप मे ग्रन्थरूप से लिख लिया. दोनो स्थविर वृद्ध होने के कारण परस्पर मिल न सके इसका परिणाम यह हुआ कि दोनो के शिष्य-प्रशिष्यादि अपनी-अपनी परम्परा के आगमो को अपनाते रहे और उनका अध्ययन करते रहे यह स्थिति लगभग डेढ सौ वर्ष तक रही. इस समय तक कोई ऐसा प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति नही हुआ जो आगमो के इस पाठभेद का समन्वय कर पाता इसी कारण आगमो का व्यवस्थित लेखन आदि भी नही हो सका जो कुछ भी हो आज जो जैनागम विद्यमान है वे इन दोनो स्थविरो की देन हैं

(२१) स्थविर आर्य गोविंद (वीर नि० ८२० से पूर्व)—ये पहले बौद्ध आचार्य थे और बाद मे इन्होने जैनधर्म स्वीकार किया था इन्होने गोविन्दनिर्युक्ति की रचना की थी जिसमें पृथ्वी, पानी, अग्नि आदि की सजीवता का निरूपण किया गया है यह निर्युक्ति किस आगम को लक्ष्य करके रची गई, इसका कोई उल्लेख नही मिलता. फिर भी अनुमान होता है कि यह आचारागसूत्र के प्रथम अध्ययन शस्त्रपरिज्ञा अथवा दशवैकालिकसूत्र के चतुर्थ अध्ययन छज्जीवणिया को लक्ष्य करके रची गई होगी आज इस निर्युक्ति का कही पर भी पता नही मिलता है आचार्य गोविंद के नाम का उल्लेख दशवैकालिकसूत्र के चतुर्थ अध्ययन की वृत्ति मे आचार्य हरिभद्र ने भाष्यगाथा के नाम से जो गाथाए उद्धृत कर व्याख्या की है उसमे "गोविंदवायगो विय जह परपक्ख नियत्तेइ" (पत्र० ५३,१ गा० ८२) इस प्रकार उल्लेख आता है आचार्य हरिभद्र 'गोविंदवायग' इस प्राकृत नाम का सस्कृत मे परिवर्तन 'गोपेन्द्र वाचक' नाम से करते है. आचार्य श्री हरिभद्र सूरि ने अपने योगबिन्दु ग्रन्थ मे गोपेन्द्र के नाम से जो अवतरण दिये है, वे सभव है कि इन्ही गोपेन्द्र वाचक के हो जैनआगमो के भाष्य मे इन गोविन्द स्थविर का उल्लेख 'ज्ञानस्तेन' के रूप मे किया गया है इसका कारण यह है कि ये पहले जैनाचार्यो की युक्ति-प्रयुक्तियो को जानकर उनका खण्डन करने की दृष्टि से ही दीक्षित हुए थे, किन्तु बाद मे उनके हृदय को जैनाचार्यो की युक्ति-प्रयुक्तियो ने जीत लिया जिससे वे फिर से दीक्षित हुए और महान् अनुयोगधर हुए. नदीसूत्र की प्रारभिक स्थविरावली में इनका परिचय गाथा के द्वारा इस प्रकार दिया है :—

गोविंदाण पि णमो अणुओगे विउल धारणिदाण ।
निच्च खति-दयाण परूवणादुल्लभिंदाण ।।

(२२,२३) देवर्धिगणि व गन्धर्व वादिवेताल शांतिसूरि (वीर नि० ९९३)—देवर्धिगणि क्षमाश्रमण माथुरी वाचनानुयायी प्रतिभासम्पन्न समर्थ आचार्य थे इन्ही की अध्यक्षता में वलभी मे माथुरी एव नागार्जुनी वाचनाओ के वाचनाभेदो का समन्वय करके जैनआगम व्यवस्थित किये गये और लिखे भी गये गन्धर्व वादिवेताल शान्तिसूरि वालभी वाचनानुयायी मान्य स्थविर थे. इनके विषय मे :—

वालब्भसघकज्जे उज्जमिय जुगपहाणतुल्लेहिं ।
गधव्ववाइवेयालसतिसूरीहिं वलहीए ।।

इस प्रकार का प्राचीन उल्लेख भी पाया जाता है इस गाथा मे 'वलभी में वालभ्यसघ के कार्य के लिए गन्धर्व वादिवेताल शान्तिसूरि ने प्रयत्न किया था' ऐसा जो उल्लेख है वह वालभ्यसघ कार्य वालभी-वाचना को लक्ष्य करके ही अधिक संभवित है. अन्यथा 'वालभ्यसघकज्जे' ऐसा उल्लेख न होकर 'सघकज्जे' इतना ही उल्लेख काफी होता. इस उल्लेख से प्रतीत होता है कि श्रीदेवर्धिगणि क्षमाश्रमण को माथुरी-वालभी वाचनाओ को व्यवस्थापित करने मे इनका प्रमुख

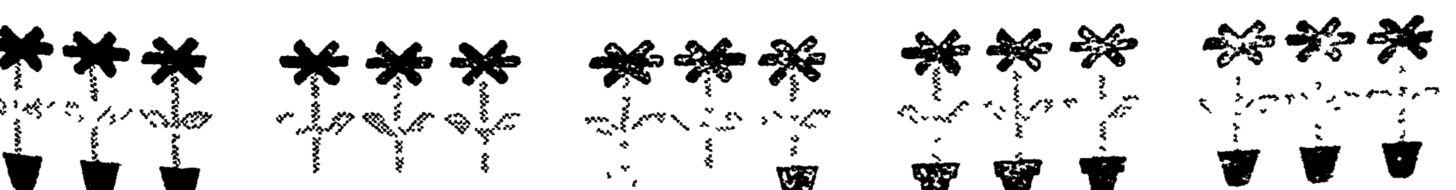
पद का कई जगह प्रयोग किया है कही-कही इनकी कृतियो मे केवल 'विरह' पद का प्रयोग होने के कारण इन्हे विरहाङ्क भी कहते है ये अपने को अनेक ग्रन्थो की अन्तिम पुष्पिका मे 'धर्मतो याकिनीमहत्तरासूनु' के रूप मे भी लिखते है ये जैन आगमो के पारगत आचार्य थे एव दर्शनशास्त्रो के प्रखर ज्ञाता थे इन्होने १४४४ ग्रन्थो की रचना की ऐसा प्रघोष चला आता है इन्होने अपनी कृतियो मे अपनी जिन-जिन रचनाओ के नाम निर्दिष्ट किये है उनमे से भी बहुत से ग्रन्थ आज अप्राप्य है फिर भी प्राचीन ज्ञानभडारो को टटोलने से इनकी नई रचनाएँ प्राप्त होती हैं कुछ वर्ष पहले ही खभात के प्राचीन ताडपत्रीय भडार मे से इनका रचा हुआ योगशतक नामक ग्रन्थ प्राप्त हुआ था अभी हाल ही मे कच्छ-माडवी के खरतरगच्छीय प्राचीन ज्ञानभडार मे से इसी ग्रन्थ की स्वोपज्ञ टीका की वि० स० ११६४ मे लिखी हुई ताडपत्रीय प्रति भी प्राप्त हुई है

इसी प्रकार आज अपने पास जो लाखो की तादाद मे हस्तप्रतिया विद्यमान है जिनकी व्यवस्थित सूचिया अभी तक नही बनी है, उन्हे टटोला जाय तो बहुत सभव है कि अपनी कल्पना मे भी न हो ऐसी प्राचीन-प्राचीनतम अनेक कृतिया प्राप्त हो आचार्य हरिभद्र ने तत्त्वविचार और आचार के निरूपण मे समन्वयशैली को विशिष्टरूप से आदर दिया है, अत इनकी रचनाओ मे प्रचुर गाभीर्य आया है इनके विषय मे विद्वानो ने अनेक दृष्टियो से काफी लिखा है, तथापि प्रसगवश यहा कुछ कहना अनुचित न होगा इन्होने आवश्यक, नन्दी, अनुयोगद्वार, दशवैकालिक, प्रज्ञापना, जीवाभिगम और पिण्डनिर्युक्ति—इन जैन आगमो पर अप्रतिम एव मौलिक वृत्तियो का निर्माण किया है आवश्यकसूत्र पर तो इन्होने दो वृत्तियाँ लिखी थी इनमे से शिष्यहिता नामक २२००० श्लोक परिमित लघुवृत्ति ही प्राप्त है किन्तु दुर्भाग्य है कि दार्शनिक चिन्तनो के महासागर जैसी बृहद्वृत्ति अनुपलब्ध है इस वृत्ति का इन्होने अपनी शिष्यहिता-लघुवृत्ति के प्रारभ मे "यद्यपि मया तथान्यै कृताऽस्य विवृतिस्तथापि सक्षेपात्" इस प्रकार निर्देश किया है इसी बृहद्वृत्ति को लक्ष्य करके इन्होने नन्दीसूत्र की वृत्ति मे भी "साङ्केतिकशब्दार्थसम्बन्धवादिमतमप्यावश्यके विचारयिष्याम" इस प्रकार का उल्लेख किया है. इस उल्लेख से पता लगता है कि इस बृहद्वृत्ति मे इन्होने कितने दार्शनिक वादो की गहरी समीक्षा की होगी इस बृहद्वृत्ति का प्रमाण मलधारी आचार्य हेमचन्द्र ने अपने आवश्यकहारिभद्री वृत्ति के टिप्पन मे (पत्र २-१) "यद्यपि मया वृत्ति. कृता इत्येववादिनि वृत्तिकारे चतुरशीतिसहस्रप्रमाणाऽनेनैवावश्यकवृत्तिरपरा कृताऽऽसीदिति प्रवाद" इस उल्लेख द्वारा ८४००० श्लोक बतलाया है

आचार्य हरिभद्र अनेक विषयो के महान् ज्ञाता थे इनकी ग्रन्थरचनाओ का प्रवाह देखने से अनुमान होता है कि ये पूर्वावस्था मे साख्यमतानुयायी रहे होगे इन्होने उस युग के भारतीय दर्शनशास्त्रो का गहराई से अध्ययन करने मे कोई कमी नही रखी थी यही कारण है कि इन्होने अतिगभीरतापूर्वक समस्त दार्शनिक तत्त्वो का जैनदर्शन के साथ समन्वय करने का प्रयत्न किया है इन्होने धर्मसग्रहणी, पचवस्तुक, उपदेशपद, विंशतिविंशिका, पचाशक, योगशतक, श्रावकधर्मविधितत्र, दिनशुद्धि आदि शास्त्रो का तथा समराइच्चकहा, धूर्ताख्यान आदि कथाओ का प्राकृत भाषा मे निर्माण कर प्राकृतभाषा को समृद्ध किया है इन ग्रन्थो मे दार्शनिक, शास्त्रीय, ज्योतिष, योग, चरित्र आदि अनेक विषयो का सग्रह है इस प्रकार प्राकृतभाषा को इनकी बडी देन है इसी प्रकार सस्कृत मे भी इन्होने अनेकान्तवाद, अनेकान्तजयपताका, न्यायप्रवेश, शास्त्रवार्तासमुच्चय, षड्दर्शनसमुच्चय, अष्टकप्रकरण, षोडशकप्रकरण, धर्मबिन्दु, योगबिन्दु, योगदृष्टिसमुच्चय, लोकतत्त्वनिर्णय आदि ग्रन्थ बनाये है इस प्रकार सस्कृतभाषा को भी इनकी बडी देन है

(४०) कोट्याचार्य—(वि० ६ वी शताब्दी) इन्होने विशेषावश्यकमहाभाष्य पर टीका की है इसके अलावा इनकी अन्य कोई रचना नही मिली है

(४१) वीराचार्ययुगल—(१ वि० ९-१० शताब्दी और २ वि० १३ श०) आचार्य हरिभद्र उपर्युक्त पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति को पूर्ण किये विना ही दिवगत हो गये थे इसकी पूर्ति वीराचार्य ने की थी वीराचार्य दो हुए है एक आचार्य हरिभद्र की अपूर्ण वृत्ति को पूर्ण करनेवाले और दूसरे पिण्डनिर्युक्ति की स्वतन्त्र वृत्ति बनाने वाले इन दूसरे वीराचार्य ने अपनी वृत्ति के प्रारम्भ मे इस प्रकार लिखा है



"पञ्चाशकादिशास्त्रव्यूहप्रविधायका विवृतिमस्याः ।
आरेभिरे विधातु पूर्वं हरिभद्रसूरिवरा. ॥७॥
ते स्थापनाख्यदोष यावद् विवृत्तिं विधाय दिवमगमन् ।
तदुपरितनी तु कैश्चिद् वीराचार्यैं समाप्येपा ॥८॥
तत्रामीभिरमुष्या सुगमा गाथा इमा इति विभाव्य ।
काश्चिन्न व्याख्याता, या विवृतास्ता अपि स्तोकम् ॥९॥
ता सम्प्रति मन्दधिया दुर्बोधा इति मया समस्तानाम् ।
तासा व्यक्तव्याख्याहेतो क्रियते प्रयासोऽयम् ॥१०॥

(४२) शीलांकाचार्य (वि० १० श०)—इन्होने आचाराग व सूत्रकृताग की टीका की है. इन दो टीकाओ मे दार्शनिक पदार्थो की अनेक प्रकार से विचारणा की गई है. आचाराग प्रथम श्रुतस्कधटीका की समाप्ति वि० स० ९०७ मे हुई है और द्वितीय श्रुतस्कन्धटीका की समाप्ति वि० स० ९१९ या ९३३ मे हुई है. चउप्पन्न महापुरिसचरिय के प्रणेता शीलाक से ये शीलाक भिन्न है

(४३) वादिवेताल शान्तिसूरि (वि० ११ वीं शताब्दी)—उत्तराध्ययनसूत्र की पाइयटीका के प्रणेता यही आचार्य है. ये विक्रम की ग्यारहवी शताब्दी मे हुए है गोपालिकमहत्तरशिष्यप्रणीत चूर्णि के बाद अनेक दार्शनिक वादो से पूर्ण समर्थ टीका यही है. इसके बाद जो अनेक टीकाएँ लिखी गई उन सब का मूल स्रोत यही टीका है इसमें प्राकृत अश की अधिकता है अत इसका नाम 'पाइय टीका' प्रचलित हो गया है आचार्य हरिभद्रविरचित और आचार्य मलयगिरि-विरचित आवश्यकसूत्र की टीकाएँ, द्रोणाचार्य की ओघनिर्युक्तिवृत्ति व नेमिचन्द्रसूरि की उत्तराध्ययनसूत्र की सुखबोधा टीका प्राकृतप्रधान ही है

(४४) द्रोणाचार्य (वि० १२ श०)—ये जैन आगमो के अतिरिक्त स्व-परदर्शनशास्त्रो के भी ज्ञाता आचार्य थे. इन्होने अभयदेवाचार्यविरचित जैन अग आगमो की टीकाओ के अतिरिक्त अन्य टीकाग्रन्थो का भी सशोधन आदि किया है इनकी अपनी एक ही कृति है और वह है ओघनिर्युक्तिवृत्ति

(४५) अभयदेवसूरि (वि० १२ वीं श०)—इन्होने स्थानाग आदि नौ अगसूत्रो पर वृत्तिया बनाई है अत ये 'नवाङ्ग-वृत्तिकार' के नाम से पहचाने जाते है इन अग आगमो मे जगह-जगह वर्णक-सदर्भो का निर्देश किया गया है अत· सर्व-प्रथम इन्होने औपपातिक उपागसूत्र की वृत्ति बनाई जिससे बार-बार आनेवाले निर्दिष्ट वर्णकस्थानो मे एकवाक्यता बनी रहे आचार्य अभयदेवसूरि की इन वृत्तियो का सशोधन व परिवर्धन उपर्युक्त चैत्यवासी श्रीद्रोणाचार्य ने किया है, जो उस युग के एक महान् आगमधर आचार्य थे आचार्य अभयदेवसूरि ने अपनी इन वृत्तियो मे काफी दत्तचित्त हो कर अपने युग में प्राप्त अनेकानेक प्राचीन-प्राचीनतम सूत्रप्रतियो को एकत्र कर अगसूत्रो के पाठो को व्यवस्थित करने का महान् कार्य किया है, अत इनकी वृत्तियो में पाठभेद एव वाचनान्तर आदि का काफी सग्रह हुआ है इस कार्य मे इनके अनेक विद्वान् शिष्य-प्रशिष्यो ने इन्हें सहायता दी है, इस प्रकार का उल्लेख इन्होने अपनी ग्रन्थप्रशस्तियो मे किया है.

(४६) मलधारी हेमचन्द्रसूरि (वि० १२ श०)—ये आचार्य जैन आगमो के समर्थ ज्ञाता थे. इन्होने जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणविरचित विशेषावश्यकमहाभाष्य पर २८००० श्लोकपरिमित विस्तृत विवरण की रचना वि० स० ११७५ मे की. अनुयोगद्वारसूत्र पर इन्होने विस्तृत व्याख्या रची है आवश्यकसूत्र की हारिभद्रीवृत्ति पर विस्तृत टिप्पन भी इन्होने लिखा है ये रचनाए इनके प्रखर पाण्डित्य की सूचक है इन विवरणो के अतिरिक्त इन्होने प्राचीन शतककर्मग्रन्थवृत्ति, जीवसमासप्रकरणवृत्ति, पुष्पमालाप्रकरण स्वोपज्ञवृत्तियुक्त, भवभावनाप्रकरण स्वोपज्ञवृत्तियुक्त आदि ग्रन्थ भी बनाये है. विशेषावश्यकमहाभाष्य की टीका के अन्त में आपने अपनी ग्रन्थरचनाओ का क्रम इस प्रकार दिया है—

"ततो मया तस्य परमपुरुषस्योपदेश श्रुत्वा विरचय्य झटिति निवेशितमावश्यकटिप्पनकाभिधान सद्भावनामञ्जूषाया

नूतनफलकम् ततोऽपरमपि शतकविवरणनामकम्, अन्यदप्यनुयोगद्वारवृत्तिसञ्ज्ञितम्, ततोऽपरमप्युपदेशमालासूत्रा-भिधानम्, अपर तु तद्वृत्तिनामकम्, अन्यच्च जीवसमासविवरणनामधेयम्, अन्यत्तु भवभावनासूत्रसञ्ज्ञितम् अपर तु तद्विवरणनामकम्, अन्यच्च झटिति विरचय्य तस्या सद्भावनामञ्जूषाया अङ्गभूत निवेशित नन्दिटिप्पनकनामधेय नूतन फलक एतैश्च नूतनफलकैर्निवेशितैर्वज्रमयीव सञ्जातासौ मञ्जूषा तेषा पापानामगम्या. ततस्तैरतीवच्छलघातितया सञ्चूर्णयितुमारब्ध तद्वार-कपाटसम्पुटम् ततो मया ससम्भ्रमेण निपुण तत्प्रतिविधानोपाय चिन्तयित्वा विरचयितुमारब्ध तद्द्वारपिधान-हेतोर्विशेषावश्यकविवरणाभिधान वज्रमयमिव नूतनकपाटसम्पुटम् ततश्चाभयकुमारगणि-धनदेवगणि-जिनभद्रगणि-लक्ष्मणगणि-विबुधचन्द्रादिमुनिवृन्द-श्रीमहानन्द -श्रीमहत्तरा-वीरमतीगणिन्यादिसाहाय्याद् 'रे रे ! निश्चितमिदानी हता वय यद्येतन्निष्पद्यते, ततो धावत धावत गृह्णीत गृह्णीत लगत लगत' इत्यादि पूत्कुर्वता सर्वात्मशक्त्या प्रहरता हाहारव कुर्वता च मोहादिचरटाना चिरात् कथ कथमपि विरचय्य तद्द्वारे निवेशितमेतदिति" [पत्र १३५६]

इस उल्लेख मे आपने नन्दिटिप्पनक रचना का उल्लेख किया है जो आज प्राप्त नही है साथ मे यह भी एक बात है कि—इन्ही के शिष्य श्री श्रीचन्द्रसूरि ने प्राकृत मुनिसुव्रतस्वामिचरित्र के अन्त मे श्री हेमचन्द्र सूरि का जीवनचरित्र दिया है जिसमे इनकी ग्रन्थरचनाओ का भी उल्लेख किया है किन्तु उसमे नन्दीसूत्रटिप्पनक के नाम का निर्देश नही है, यह आश्चर्य की बात है मुनिसुव्रतस्वामिचरित्र का उल्लेख इस प्रकार है

जे तेण सय रइया गथा ते सपइ कहेमि ॥४१॥
सुत्तमुवएसमाला-भवभावणपगरणाणि काऊण ।
गथसहस्सा चउदस तेरस वित्ती कया जेण ॥४२॥
अणुओगद्दाराण जीवसमासस्स तह य सयगस्स ।
जेण छ सत्त चउरो गथसहस्सा कया वित्ती ॥४३॥
मूलावस्सयवित्तीए उवरि रइय च टिप्पण जेण ।
पच सहस्सपमाण विसमट्ठाणाववोधयर ॥४४॥
जेण विसेसावस्सयसुत्तस्सुवरिं सवित्थरा वित्ती ।
रइया परिप्फुडत्था अडवीस सहस्सपरिमाणा ॥४५॥
वक्खाणगुणपसिद्धि सोऊण जस्स गुज्जरर्नारंदो ।
जयसिंहदेवनामो कयगुणिजणमणचमक्कारो ॥४६॥

इस उल्लेख मे श्रीहेमचन्द्र सूरि रचित सब ग्रन्थो के नाम और उनका ग्रन्थप्रमाण भी उल्लिखित है. सिर्फ इसमे नन्दी-सूत्रटिप्पनक का नाम शामिल नही है. सभावना की जाती है कि इस चरित की प्रारम्भिक नकल करने के समय प्राचीन काल से ही ४४ गाथा के बाद की एक गाथा छूट गई है अस्तु, कुछ भी हो, श्रीहेमचन्द्रसूरि महाराज ने आप ही अपनी विशेषावश्यकवृत्ति के अन्त मे "अन्यच्च झटिति विरचय्य तस्या सद्भावनामञ्जूषाया अङ्गभूत निवेशित नन्दि-टिप्पनकनामधेय फलकम्" ऐसा उल्लेख किया है, इससे यह बात तो निर्विवाद है कि—आपने नन्दिटिप्पनक की रचना अवश्य की थी, जो आज प्राप्त नही है आज जो नन्दिटिप्पनक प्राप्त है वह शीलभद्रसूरि एव धनेश्वरसूरि इन दो गुरु के शिष्य श्रीचन्द्रसूरि का रचित है जो प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी की ओर से छप कर प्रकशित होगा

(४७)आचार्य मलयगिरि (वि० १२-१३ श०)—इनके गुरु, गच्छ आदि के नाम का कोई पता नही लगता ये गूर्जरेश्वर चौलुक्यराज जयसिंहदेव के माननीय और महाराजा कुमारपालदेव के धर्मगुरु श्रीहेमचन्द्राचार्य के विद्या-आराधना के सहचारी थे आचार्य हेमचन्द्र के साथ इनका सम्बन्ध अति गहरे पूज्य भाव का था इसलिए इन्होने अपनी आवश्यक-वृत्ति मे आचार्य हेमचन्द्र की द्वात्रिंशिका का उद्धरण देते हुए "आह च स्तुतिपु गुरव.' इस प्रकार उनके लिए अत्यादर-गर्भित शब्दप्रयोग किया है इन्होने नन्दीसूत्र, भगवती-द्वितीयशतक, राजप्रश्नीय, प्रज्ञापना, जीवाभिगम, सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, व्यवहारसूत्र, वृहत्कल्प, आवश्यक, पिण्डनिर्युक्ति एव ज्योतिष्करण्डक-इन जैन-आगमो पर सपादलक्ष श्लोक-



प्रमाण वृत्तियो की रचना की है इनकी इन वृत्तियो और धर्मसग्रहणी, कर्मप्रकृति, पंचसग्रह आदि की वृत्तिओ के अवगाहन से पता लगता है कि ये केवल जैन आगमो के ही धुरधर ज्ञाता एव पारगत विद्वान् न थे अपितु गणितशास्त्र, दर्शनशास्त्र एव कर्मसिद्धान्त मे भी पारगत थे इन्होने मलयगिरिशब्दानुशासन नामक व्याकरण की भी रचना की थी. अपने वृत्तिग्रथो मे ये इसी व्याकरण के सूत्रो का उल्लेख करते है. इनके जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीका ओघनिर्युक्तिटीका, विशेषावश्यकवृत्ति, तत्त्वार्थसूत्रटीका, धर्मसारप्रकरणटीका, देवेन्द्रनरकेन्द्रप्रकरणटीका आदि कई ग्रन्थ आज प्राप्त नही है. इनकी कोई मौलिक कृति उपलब्ध नही है. देखा जाता है कि ये व्याख्याकार ही रहे है व्याख्याकारो मे इनका स्थान सर्वोत्कृष्ट है

(४८) श्रीचन्द्रसूरि (वि० १२-१३ श०)—श्री श्रीचन्द्रसूरि दो हुए है एक मलधारी श्रीहेमचन्द्रसूरि के शिष्य, जिन्होने सग्रहणीप्रकरण, मुनिसुव्रतस्वामिचरित्र प्राकृत, लघुप्रवचनसारोद्धार आदि की रचना की है. दूसरे चन्द्रकुलीन श्रीशीलभद्रसूरि और धनेश्वरसूरि गुरुयुगल के शिष्य, जिन्होने न्यायप्रवेशपञ्जिका, जयदेव छन्द शास्त्रवृत्ति -टिप्पनक, निशीथचूर्णिटिप्पनक, नन्दिसूत्रहारिभद्री वृत्तिटिप्पनक, जीतकल्पचूर्णिटिप्पनक, पचोपागसूत्रवृत्ति, श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्रवृत्ति, पिण्ड विशुद्धिवृत्ति आदि की रचना की है. यहाँ पर ये दूसरे श्रीचन्द्रसूरि ही अभिप्रेत है इनका आचार्यावस्था के पूर्व मे पार्श्वदेवगणि नाम था—ऐसा आपने ही न्यायप्रवेशपञ्जिका की अन्तिम पुष्पिका मे सूचित किया है

(४९) आचार्य क्षेमकीर्ति (वि० १३३२)—ये तपागच्छ के मान्य गीतार्थ आचार्य थे आचार्य मलयगिरिप्रारब्ध वृहत्कल्पवृत्ति की पूर्ति इन्होने वडी योग्यता के साथ की है आचार्य मलयगिरि ने जो वृत्ति केवल पीठिका की गाथा ६०६ पर्यन्त ही लिखी थी उसकी पूर्ति लगभग सौ वर्ष के बाद मे इन्होने वि० स० १३३२ मे की. इस वृत्ति के अतिरिक्त इनकी अन्य कोई कृति प्राप्त नही हुई है

बृहद्भाष्यकारादि [वि० ८ वीं श०]—यहा पर अनेकानेक प्राचीन स्थविरो का जो महान् आगमधर थे तथा जिनके पास प्राचीन गुरुपरम्पराओ की विरासत थी, सक्षेप मे परिचय दिया गया ऐसे भी अनेक गीतार्थ स्थविर है जिनके नाम का कोई पता नही है. कल्पबृहद्भाष्यकार आदि एव कल्पविशेषचूर्णिकार आदि इसी प्रकार के स्थविर है जिनकी विद्वत्ता की परिचायक कृतिया आज हमारे सामने विद्यमान है

अवचूर्णिकारादि [वि० १२ श० से १८ श०]—ऊपर जैन आगमो के 'धुरधर स्थविरो का परिचय दिया गया है. इनके बाद एक छोटा किन्तु महत्त्व का कार्य करने वाले जो प्रकीर्णककार, अवचूर्णिकार आदि आचार्य हुए है वे भी चिरस्मरणीय है यहा सक्षेप मे इनके नामादि का उल्लेख कर देता हूँ—

१ पार्श्वसाधु [वि० स० ९५६], २. वीरभद्रगणी [वि० स० १०७८ में आराधनापताका, वृहच्चतु शरण आदि के प्रणेता], ३. नमिसाधु [स० ११२३], ४. नेमिचन्द्रसूरि [स० ११२९], ५ मुनिचन्द्रसूरि [वि० १२वी शताब्दी, ललित विस्तरापञ्जिका, उपदेशपदटीका, देवेन्द्रनरकेन्द्र प्रकरणवृत्ति, अनेकसख्यप्रकरण, कुलक आदि के प्रणेता], यशोदेवसूरि [स० ११८०], ७ वि० जयसिंहसूरि [स० ११८३, श्रावकप्रतिक्रमणचूर्णि के प्रणेता], ८ तिलकाचार्य [स० १२९६], ९. सुमतिसाधु [वि० १३वी श०], १०. पृथ्वीचन्द्रसूरि [वि० १३वी श०], ११. जिनप्रभसूरि [स० १३६४], १२ भुवनतुगसूरि [वि० १४ वी श०], १३ ज्ञानसागरसूरि [स० १४४०], १४. गुणरत्नसूरि [वि० १५वी श०], १५ रत्नशेखरसूरि [स० १४९६], १६ कमलसयमोपाध्याय [स० १५४४], १७. विनयहसगणी [स० १५७२], १८. जिनहससूरि [स० १५८२], १९. हर्षकुल [स० १५८३], २०. ब्रह्मर्षि [वि० १६वी श०], २१. विजयविमलगणीवानर्षि [स० १६३४], २२ समयसुन्दरोपाध्याय [वि० १७ वीं श०] २३ धर्मसागरोपाध्याय [स० १६३९], २४ पुण्यसागरोपाध्याय [स० १६४५], २५. शान्तिचन्द्रोपाध्याय [स० १६५०], २६ भावविजयगणि [वि० १७ वी श०] २७ ज्ञानविमलसूरि [वि० १७वी श०], २८. लक्ष्मीवल्लभगणि [वि० १७वी श०], २९-३०. सुमतिकल्लोलगणि व हर्षनन्दनगणि [स० १७०५, स्थानाग सूत्रवृत्तिगतगाथावृत्ति के रचयिता], ३१. नगर्षि [वि० १८ वी श०] इत्यादि. इन विद्वान् आचार्यो ने जैन आगमो पर छोटी-बड़ी महत्त्व की वृत्ति, लघुवृत्ति, पजिका, अवचूरि, अवचूर्णि, दीपिका, दीपक

टिप्पन, विषमपदपर्याय आदि भिन्न भिन्न नामो वाली व्याख्याए लिखी है जो मूलसूत्रो का अर्थ समझने मे बडी सहायक है ये व्याख्याए प्राचीन वृत्तियो के अशो का शब्दश सग्रह रूप होने पर भी कभी-कभी इन व्याख्याओ मे पारिभाषिक सकेतो को समझाने के लिए प्रचलित देशी भाषा का भी उपयोग किया गया है कही-कही प्राचीन वृत्तियो मे 'सुगम' 'स्पष्ट' 'पाठसिद्ध' आदि लिखकर छोड दिये गये स्थानो की व्याख्या भी इनमे पाई जाती है. इस दृष्टि से इन व्याख्याकारो के भी हम बहुत कृतज्ञ हैं

प्राकृत वाङ्मय

भारतीय प्राकृत वाङ्मय अनेक विषयो मे विभक्त है सामान्यत इनका विभाग इस प्रकार किया जा सकता है

जैन आगम, जैन प्रकरण, जैन चरित-कथा, स्तुति-स्तोत्रादि, व्याकरण, कोष, छद शास्त्र, अलकार, काव्य, नाटक, सुभाषित आदि यहा पर इन सबका सक्षेप मे परिचय दिया जायगा

जैन आगम—जिस प्रकार वैदिक और बौद्ध साहित्य मुख्य और अवान्तर अनेक विभागो मे विभक्त है उसी प्रकार जैन आगम भी अनेक विभागो मे विभक्त है. प्राचीन काल मे आगमो के अग आगम और अगबाह्य आगम या कालिक आगम और उत्कालिक आगम इस तरह विभाग किये जाते थे अग आगम वे है जिनका श्रमण भगवान् महावीर के ग्यारह गणधर-पट्टशिष्यो ने निर्माण किया है अगबाह्य आगम वे है जिनकी रचना श्रमण भगवान् महावीर के अन्य गीतार्थ स्थविरो, शिष्यो-प्रशिष्यो एव उनके परम्परागत स्थविरो की थी स्थविरो ने इन्ही आगमो के कालिक और उत्कालिक ऐसे दो विभाग किये है निश्चित किये गये समय मे पढे जाने वाले आगम कालिक हैं और किसी भी समय मे पढे जाने वाले आगम उत्कालिक है आज सैकडो वर्षो से इनके मुख्य विभाग अग, उपाग, छेद, मूल आगम, शेष आगम एव प्रकीर्णक के रूप मे रूढ है. प्राचीन युग मे इन आगमो की सख्या नदीसूत्र और पाक्षिकसूत्र के अनुसार चौरासी थी परन्तु आज पैतालीस है नदीसूत्र मे एव पाक्षिकसूत्र मे जिन आगमो के नाम दिये है उनमे से आज बहुत-से आगम अप्राप्य है जब कि आज माने जाने वाले आगमो की सख्या मे नये नाम भी दाखिल हो गये हैं जो बहुत पीछे के अर्थात् ग्यारहवी शताब्दी के प्रथम चरण के भी है आज माने जानेवाले पैतालीस आगमो मे से बयासीस आगमो के नाम नदीसूत्र और पाक्षिकसूत्र मे पाये जाते है किन्तु आज आगमो का जो क्रम प्रचलित है वह ग्यारह अगो को छोडकर शेष आगमो का नदीसूत्र और पाक्षिकसूत्र मे नही पाया जाता नदीसूत्रकार ने अग आगम को छोडकर शेप सभी आगमो को प्रकीर्णको मे समाविष्ट किया है आगम के अग, उपाग, छेद, प्रकीर्णक आदि विभागो मे से अगो के बारह होने का समर्थन स्वय अग ग्रथ भी करते है. उपाग आज बारह माने जाते है किन्तु स्वय निरयावलिका नामक उपाग मे उपाग के पाच वर्ग होने का उल्लेख है छेद शब्द निर्युक्तियो मे निशीथादि के लिए प्रयुक्त है प्रकीर्णक शब्द भी नदीसूत्र जितना तो पुराना है ही किन्तु उसमे अगेतर सभी आगमो को प्रकीर्णक कहा गया है

अग आगमो को छोडकर दूसरे आगमो का निर्माण अलग-अलग समय मे हुआ है पण्णवणा सूत्र श्यामार्यप्रणीत है दशा, कल्प एव व्यवहार सूत्र के प्रणेता चतुर्दश पूर्वधर स्थविर आर्य भद्रबाहु है निशीथसूत्र के प्रणेता आर्य भद्रबाहु या विशाखगणि महत्तर है अनुयोगद्वारसूत्र के निर्माता स्थविर आर्यरक्षित हैं नदीसूत्र के कर्ता श्री देववाचक है प्रकीर्णको मे गिने जाने वाले चउसरण, आउर पच्चक्खाण, भत्तपरिण्णा और आराधनापताका के रचयिता वीरभद्रगणि है ये आराधनापताका की [प्रशस्ति के 'विक्कमनिवकालाओ अट्ठुत्तरिमे समासहस्सम्मि' और 'अट्ठत्तरिमे समासहस्सामि' पाठभेद के अनुसार विक्रम सवत् १००८ या १०७८ मे हुए है बृहट्टिप्पणिकाकार ने आराधनापताका का रचनाकाल 'आराधनापताका १०७८ वर्षे वीरभद्राचार्यकृता' अर्थात् स० १०७८ कहा है. 'आराधनापताका' मे ग्रथकार ने 'आराहणाविहिं पुण भत्तपरिण्णाइ वण्णिमो पुव्विं' (गाथा ५१) अर्थात् 'आराधनाविधि का वर्णन हमने पहले भक्त-परिज्ञा मे कर दिया है' ऐसा लिखा है. इस निर्देश से यह ग्रथ इन्ही का रचा हुआ सिद्ध होता है आज के चउसरण एव आउरपच्चक्खाणके रचना-क्रम को देखने से ये प्रकीर्णक भी इन्ही के रचे हुए प्रतीत होते हैं वीरभद्र की यह आराधना



पताका यापनीय 'आचार्यप्रणीत आराधना भगवती' का अनुकरण करके रची गई है. नदीसूत्र मे 'आउरपच्चक्खाण' का जो नाम आता है वह आज के 'आउरपच्चक्खाण से अलग है. सामान्यत वीरभद्राचार्य को भगवान् महावीर का शिष्य मानते है परन्तु उपरोक्त प्रमाण को पढने के बाद यह मान्यता भ्रान्त सिद्ध होती है इस प्रकार दूसरे आगम भी अलग-अलग समय में रचे हुए है. हो सकता है कि रायपसेणीय सूत्र भगवान् महावीर के समय ही मे रचा गया हो.

नंदी—पाक्षिक सूत्रो के अनुसार आगमो के चौरासी नामो व आज के प्रचलित आगमो के नामो से विद्वान् परिचित है ही अत उनका उल्लेख न करके मैं मुद्दे की बात कह देता हू कि—आज अगसूत्रो मे जो प्रश्नव्याकरणसूत्र है वह मौलिक नही किन्तु तत्स्थानापन्न कोई नया ही सूत्र है इस बात का पता नदीसूत्र व समवायाग के आगम-परिचय से लगता है आचार्य श्री मुनिचद्रसूरि ने देवेन्द्र-नरकेन्द्र प्रकरण की अपनी वृत्ति मे राजप्रश्नीय सूत्र का नाम 'राजप्रसेनजित्' लिखा है जो नदी-पाक्षिक सूत्र मे दिये हुए 'रायप्पसेणइय' इस प्राकृत नाम से सगति बैठाने के लिए है वैसे राजप्रश्नीय में प्रदेशिराजा का चरित्र है इस आगम को पढते हुए पेतवत्थु नामक बौद्धग्रथ का स्मरण हो आता है

प्रकीर्णक—सामान्यतया प्रकीर्णक दस माने जाते है किन्तु इनकी कोई निश्चित नामावली न होने के कारण ये नाम कई प्रकार से गिनाये जाते है इन सब प्रकारो मे से सग्रह किया जाय तो कुल बाईस नाम प्राप्त होते है जो इस प्रकार है—

१ चउसरण, २ आउरपच्चक्खाण, ३ भत्तपरिण्णा, ४ सथारय, ५ तदुलवेयालिय, ६ चदावेज्झय ७ देविंदत्थय, ८ गणिविज्जा, ९ महापच्चक्खाण, १० वीरत्थय, ११. इसिभासियाइ, १२ अजीवकप्प, १३ गच्छायार, १४. मरण-समाधि, १५ तित्थोगालि, १६ आराहणपडागा, १७ दीवसागरपण्णत्ति, १८ जोइसकरडय, १९. अगविज्जा, २०. सिद्धपाहुड, २१ सारावली, २२ जीवविभत्ति इन प्रकीर्णको के नामो मे से नदी-पाक्षिकसूत्र में उत्कालिक सूत्र-विभाग मे देविंदत्थय, तदुलवेयालिय, चदावेज्झय, गणिविज्जा, मरणविभत्ति-मरणसमाहि, आउरपच्चक्खाण, महापच्चखाण ये सात नाम और कालिक विभाग मे इसिभासियाइ, दीवसागरपण्णत्ति ये दो नाम इस प्रकार ९ नाम पाये जाते है फिर भी चउसरण, आज का आउरपच्चक्खाण, भत्तपरिण्णा, सथारय और आराहणपडागा—इन प्रकीर्णको को छोडकर दूसरे प्रकीर्णक बहुत प्राचीन है, जिनका उल्लेख चूर्णिकारो ने अपनी चूर्णियो में किया है तदुलवेयालिय का उल्लेख अगस्त्यचूर्णि (पत्र ३) मे है

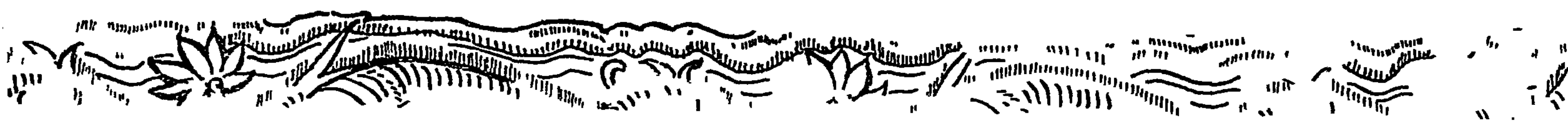
जैसे कर्मप्रकृति शास्त्र का कम्मपगडीसगहणी नाम कहा जाता है, इसी प्रकार दीवसागरपण्णत्ति का दीवसागरपण्णत्ति-सग्रहणी यह नाम सभावित है

श्वेताबर मूर्तिपूजक वर्ग तित्थोगालिपइण्णय को प्रकीर्णको की गिनती में शामिल करता है, किन्तु इस प्रकीर्णक मे ऐसी बहुत-सी बाते है जो श्वेताम्बरो को स्वप्न मे भी मान्य नही है और अनुभव से देखा जाय तो उसमे आगमो के नष्ट होने का जो क्रम दिया है वह सगत भी नही है

अगविज्जापइण्णय एक फलादेश का ९००० श्लोक परिमित महत्त्व का ग्रथ है. इसमे ग्रह-नक्षत्रादि या रेखादि लक्षणो के आधार पर फलादेश का विचार नही किया गया है, किन्तु मानव की अनेकविध चेष्टाओ एव क्रियाओ के आधार पर फलादेश दिया गया है एक तरह माना जाय तो मानसशास्त्र एव अगशास्त्र को लक्ष्य मे रखकर इस ग्रथ की रचना की गई है भारतीय वाङ्मय मे इस विषय का ऐसा एव इतना महाकाय ग्रथ दूसरा कोई भी उपलब्ध नही हुआ है.

आगमों की व्याख्या

ऊपर जिन जैन मूल आगमसूत्रो का सक्षेप मे परिचय दिया गया है उनके ऊपर प्राकृत भाषा मे अनेक प्रकार की व्याख्याएँ लिखी गई हैं इनके नाम क्रमश —निर्युक्ति, सग्रहणी, भाष्य, महाभाष्य; ये गाथाबद्ध-पद्यबद्ध व्याख्याग्रथ है और चूर्णि, विशेष चूर्णि एव प्राचीन वृत्तियाँ गद्यबद्ध व्याख्याग्रथ है.



निर्युक्तियाँ—स्थविर आर्य भद्रबाहु स्वामी ने दस आगमो पर निर्युक्तियाँ रची है, जिनके नाम इन्होने आवश्यक-निर्युक्ति मे इस प्रकार लिखे है—

आवस्सयस्स १ दसकालियस्स २ तह उत्तरज्झ ३ मायारे ४।
सूयगडे णिज्जुत्तिं ५ वोच्छामि तहा दसाण च ६॥
कप्पस्स य णिज्जुत्तिं, ववहारस्सेव परमनिउणस्स ८।
सूरियपण्णत्तीए ९ वोच्छं इसिभासियाण च १०॥

इन गाथाओ मे सूचित किया है तदनुसार इन्होने दस आगमो की निर्युक्तियाँ रची थी आगमो की अस्तव्यस्त दशा, अनुयोग की पृथक्ता आदि कारणो से इन निर्युक्तियो का मूल स्वरूप कायम न रहकर आज इनमे काफी परिवर्तन और हानि-वृद्धि हो चुके है. इन परिवर्तित एव परिवर्द्धित निर्युक्तिओ का मौलिक परिमाण क्या था ? यह समझना आज कठिन है खास करके जिन पर भाष्य-महाभाष्य रचे गये उनका मिश्रण तो ऐसा हो गया है कि—स्वय आचार्य श्री मलयगिरि को बृहत्कल्प की वृत्ति (पत्र १) में यह कहना पडा कि—'सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिर्भाष्य चैको ग्रथो जात' और उन्होने अपनी वृत्ति मे निर्युक्ति-भाष्य को कही भी पृथक् करने का प्रयत्न नही किया है.

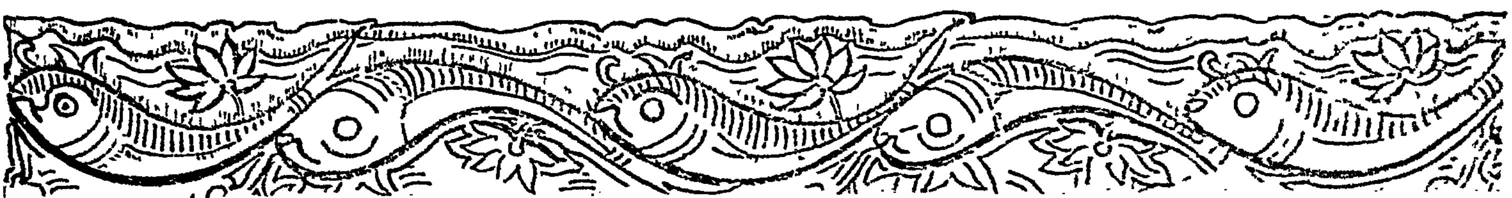
सूर्यप्रज्ञप्ति और ऋपिभाषितसूत्र की निर्युक्तियाँ उपलब्ध नही है उत्तराध्ययन, आचाराग, सूत्रकृताग, दशा इन आगमो की निर्युक्तियो का परिमाण स्पष्टरूप से मालूम हो जाता है आवश्यक, दशकालिक आदि की निर्युक्तियो का परिमाण भाष्यगाथाओ का मिश्रण हो जाने से निश्चित करना कठिन जरूर है, तथापि परिश्रम करने से इसका निश्चय हो सकता है किन्तु कल्प व व्यवहारसूत्र की निर्युक्तियो का परिमाण किसी भी प्रकार निश्चित नही किया जा सकता। हाँ, इतना अवश्य है कि—चूर्णि-विशेष-चूर्णिकारो ने कही-कही 'पुरातनगाथा, निर्युक्तिगाथा' इत्यादि लिखा है, जिससे निर्युक्तिगाथाओ का कुछ ख्याल आ सकता है तो भी सपूर्णतया निर्युक्तिगाथाओ का विवेक या पृथक्करण करना मुश्किल ही है

ऊपर जिन निर्युक्तिओ का उल्लेख किया है इनके अतिरिक्त ओघनिर्युक्ति, पिंडनिर्युक्ति और ससक्तनिर्युक्ति ये तीन निर्युक्तियाँ और मिलती है इनमे मे ओघनिर्युक्ति आवश्यकनिर्युक्ति मे से और पिंडनिर्युक्ति दशवैकालिक निर्युक्ति मे से अलग किये गये अश है ससक्तनिर्युक्ति वहुत वाद की एव विसगत रचना है

स्थविर आर्य भद्रबाहुविरचित निर्युक्तियो के अलावा भाष्य और चूर्णियो मे गोविंदनिज्जुत्ति का भी उल्लेख आता है, जो स्थविर आर्य गोविंद की रची हुई थी आज इस निर्युक्ति का पता नही है यह नष्ट हो गई या किसी निर्युक्ति मे समाविष्ट हो गई ? यह कहा नही जा सकता निशीथचूर्णि मे इस प्रकार का उल्लेख मिलता है—"तेण एगिंदिय-जीवसाहण गोविन्दनिज्जुत्ती कया" इनके अलावा और किसी निर्युक्तिकार का निर्देश नही मिलता है निर्युक्तियो की रचना मूलसूत्रो के अशो के व्याख्यान रूप होती है

संग्रहणियां—सग्रहणियो की रचना पचकल्प महाभाष्य के उल्लेखानुसार स्थविर आर्य कालक की है पाक्षिकसूत्र मे भी "ससुत्ते सअत्थे सगथे सनिज्जुत्तिए ससगहणिए" इस सूत्राश मे सग्रहणी का उल्लेख है इससे भी प्रतीत होता है कि सग्रहणियो की रचना काफी प्राचीन है आज स्पष्टरूप से पता नही चलता है कि—स्थविर आर्य कालक ने कौन से आगमो की सग्रहणियो की रचना की थी ? और उनका परिमाण क्या था ? तो भी अनुमान होता है कि—भगवती-सूत्र, जीवाभिगमोपाग, प्रज्ञापनासूत्र, श्रमणप्रतिक्रमणसूत्र आदि मे जो सग्रणियाँ पाई जाती है वे ही ये हो इसमे अधिक कहना कठिन है

भाष्य-महाभाष्य—जैन सूत्रो के भाष्य-महाभाष्यकार के रूप मे दो क्षमाश्रमणो के नाम पाये जाते है—१ सघदास गणि क्षमाश्रमण और जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण जैन आगमो के महाकाय भाष्य-महाभाष्य निम्नोक्त आठ प्राप्य है—१ विशेषावश्यक महाभाष्य २ कल्पलघुभाष्य ३ कल्पबृहद्भाष्य ४ पचकल्प ५ व्यवहार भाष्य ६ निशीथभाष्य ७ जीतकल्पभाष्य



८ ओघनिर्युक्ति महाभाष्य कल्पलघुभाष्य एव पचकल्पमहाभाष्य के प्रणेता सघदासगणि क्षमाश्रमण है व विशेषावश्यक महाभाष्य के प्रणेता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण है दूसरे भाष्य-महाभाष्यो के कर्त्ता कौन है, इसका पता अभी तक नही लगा है सघदासगणि जिनभद्रगणि से पूर्ववर्ती है श्रीजिनभद्रगणि महाभाष्यकार के नाम से लब्धप्रतिष्ठ है जिन आगमो पर निर्युक्तियो की रचना है उनके भाष्य, मूल सूत्र व निर्युक्ति को लक्ष्य मे रखकर रचे गये हैं जिनकी निर्युक्तियाँ नही है उनके भाष्य सूत्र को ही लक्षित करके रचे गये है उदाहरण रूप में जीतकल्पसूत्र और उसका भाष्य समझना चाहिए महाभाष्य के दो प्रकार है—पहला प्रकार विशेषावश्यक महाभाष्य, ओघनिर्युक्ति महाभाष्य आदि हैं, जिनके लघुभाष्य नही है वे सीधे निर्युक्ति के ऊपर ही स्वतत्र महाभाष्य है दूसरा प्रकार लघुभाष्य को लक्षित करके रचे हुए महाभाष्य हैं इसका उदाहरण कल्पबृहद्‌भाष्य को समझना चाहिए यह महाभाष्य अपूर्ण ही मिलता है निशीथ और व्यवहार के भी महाभाष्य थे, ऐसा प्रघोष चला आता है, किन्तु आज वे प्राप्त नही है निशीथमहाभाष्य के अस्तित्व का उल्लेख बृहट्टिप्पनिकाकार—प्राचीन ग्रथसूचीकार ने अपनी सूची मे भी किया है

ऊपर जिन महाकाय भाष्य—महाभाष्य का परिचय दिया गया है उनके अलावा आवश्यक, ओघनिर्युक्ति, पिंडनिर्युक्ति, दशवैकालिक सूत्र आदि के ऊपर भी लघुभाष्य प्राप्त होते है, किन्तु इनका मिश्रण निर्युक्तियो के साथ ऐसा हो गया है कि कई जगह निर्युक्ति-भाष्यगाथा कौन-सी एव कितनी हैं ? इसका निर्णय करना कठिन हो जाता है इनमे से भी जब मैंने आवश्यकसूत्र की चूर्णि और हारिभद्री वृत्ति को देखा तव तो मैं असमजस मे पड गया चूर्णिकार कही भी 'भाष्यगाथा' नाम का उल्लेख नही करते है, जबकि आचार्य हरिभद्र स्थान-स्थान पर 'भाष्य और मूलभाष्य' के नाम से अवतरण देते है. आचार्य श्री हरिभद्र जिन गाथाओ को मूलभाष्य की गाथाएँ फरमाते है उनमे से बहुत-सी गाथाओ का उल्लेख उनपर चूर्णि-चूर्णिकार ने की ही नही है यद्यपि उनमे से कई गाथाओ की चूर्णि पाई जाती है फिर भी चूर्णिकार ने कही भी उन गाथाओ का 'मूल भाष्य' के रूप में उल्लेख नही किया है. प्रतीत होता है कि—आचार्य श्री हरिभद्र ने दशवैकालिकनिर्युक्ति की तरह इस वृत्ति मे काफी गाथाओ का सग्रह कर लिया है

चूर्णि—विशेष चूर्णि—आचाराग, सूत्रकृताग, भगवती सूत्र, जीवाभिगम, जवूद्वीपप्रज्ञप्ति, प्रज्ञापनासूत्र, दशा, कल्प, व्यवहार, निशीथ, पचकल्प, जीतकल्प, आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, पिंडनिर्युक्ति, नन्दीसूत्र, अनुयोगद्वार-अगुल-पदचूर्णि, श्रावकप्रतिक्रमण ईर्यापथिकी आदि सूत्र—इन आगमो की चूर्णियाँ अभी प्राप्त है निशीथसूत्र की आज विशेप चूर्णि ही प्राप्त है कल्प की चूर्णि-विशेषचूर्णि दोनो ही प्राप्त है दशवैकालिकसूत्र की दो चूर्णियाँ प्राप्त है. एक स्थविर अगस्त्यसिंह की और दूसरी अज्ञातकर्तृक है आचार्य श्री हरिभद्र ने इस चूर्णि का 'वृद्धविवरण' नाम दिया है अनुयोग-द्वार सूत्र मे जो अगुलपद है उस पर आचार्य श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने चूर्णि रची है चूर्णिकार श्री जिनदास गणि महत्तर और आचार्य श्री हरिभद्र ने अपनी अनुयोगद्वारसूत्र की चूर्णि-वृत्ति मे श्री जिनभद्र के नाम से इसी चूर्णि को अक्षरश ले लिया है ईर्यापथिकी सूत्रादि की चूर्णि के प्रणेता यशोदेवसूरि है, इसका रचनाकाल स० ११७४ से ११८० का है श्रावक प्रतिक्रमण चूर्णि श्री विजयसिंह सूरि की रचना है, जो वि० स ११८२ की है

ज्योतिष्करडक प्रकीर्णक पर शिवनदी वाचक विरचित 'प्राकृत वृत्ति' पाई जाती है, जो चूर्णि मे शामिल हो सकती है आम तौर से देखा जाय तो पिछले जमाने मे प्राकृतवृत्तियो को 'चूर्णि' नाम दिया गया है फिर भी ऐसे प्रकरण अपने सामने मौजूद है. जिनसे पता चलता है कि प्राचीन काल मे प्राकृत व्याख्याओ को 'वृत्ति' नाम भी दिया जाता था. दशवैकालिकसूत्र के दोनो चूर्णिकारो ने अपनी चूर्णियो में प्राचीन दशवैकालिकव्याख्या का 'वृत्ति' के नाम से जगह जगह उल्लेख किया है

ऊपर जिन चूर्णियो का उल्लेख किया गया है, उनमे से प्राय बहुत-सी चूर्णियाँ महाकाय है। इन सब चूर्णियो के प्रणेताओ के नाम प्राप्त नही होते है, फिर भी स्थविर अगस्त्यसिह शिवनदि वाचक, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, जिनदास महत्तर, गोपालिकमहत्तरशिष्य—इन चूर्णिकार आचार्यों के नाम मिलते है



चूर्णि निर्युक्तिओ की रचना पिछले जमाने मे बद हो गई, किन्तु सग्रहणी, भाष्य-महाभाष्य, चूर्णि की रचना का प्रचार बाद मे भी चालू रहा है सस्कृतवृत्तियो की रचना के बाद यद्यपि आगमों पर ऐसा कोई प्रयत्न नही हुआ है तो भी आगमो के विषयो को लेकर तथा छोटे-मोटे प्रकरणो पर भाष्य-महाभाष्य-चूर्णि लिखने का प्रयत्न चालू ही रहा है, यह आगे प्रकरणो के प्रसग मे मालूम होगा

यहाँ पर जैन आगम और प्राकृत व्याख्याग्रन्थो का परिचय दिया गया है ये बहुत प्राचीन एव प्राकृत भाषा के सर्वोत्कृष्ट अधिकारियो के रचे हुए है प्राकृतादि भाषाओ की दृष्टि से ये बहुत ही महत्त्व के है

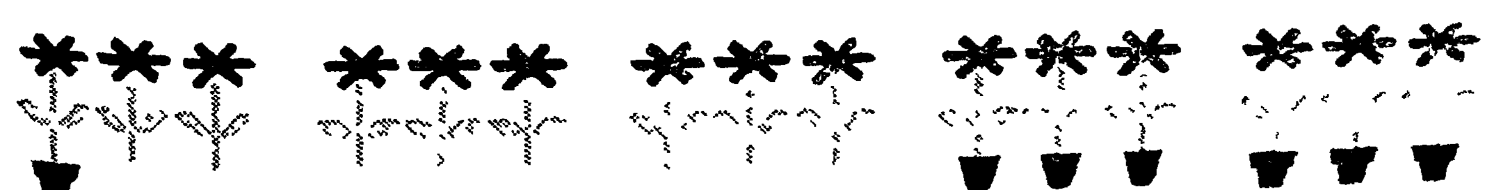
प्रकरण

प्रकरण किसी खास विषय को ध्यान मे रखकर रचे गये है. मेरी दृष्टि मे प्रकरणों को तीन विभागो मे विभक्त किया जा सकता है—तार्किक, आगमिक और औपदेशिक

तार्किक प्रकरण—आचार्य श्रीसिद्धसेन का सन्मतितर्क, आचार्य श्रीहरिभद्र का धर्मसग्रहणी प्रकरण, उपाध्याय श्री यशोविजयकृत श्रीपूज्यलेख, तत्त्वविवेक, धर्मपरीक्षा आदि का इस कोटि के प्रकरणो मे समावेश होना है यद्यपि ऐसे तार्किक प्रकरण बहुत कम है, फिर भी इन प्रकरणो का प्राकृत भाषा के अतिरिक्त तत्त्वज्ञान की दृष्टि से भी बहुत महत्त्व है

आगमिक प्रकरण—आगमिक प्रकरणो का अर्थ जैन आगमो मे जो द्रव्यानुयोग व गणितानुयोग के साथ सबन्ध रखने वाले विविध विषय हे उनमे से किसी एक को पसद करके उसका विस्तृतरूप मे निरूपण करनेवाले या सग्रह करनेवाले ग्रथ प्रकरण है ऐसे प्रकरणो के रचनेवाले शिवशर्म, जिनभद्र क्षमाश्रमण, हरिभद्रसूरि, चन्द्रर्षि महत्तर, गर्गर्षि, मुनिचद्रसूरि, सिद्धसेनसूरि, जिनवल्लभ गणि, अभयदेवसूरि, श्रीचन्द्रसूरि, चक्रेश्वरसूरि, देवेन्द्रसूरि सोमतिलकसूरि, रत्नशेखरसूरि, विजयविमलगणि आदि अनेक आचार्य हुए है इनमे से आचार्य शिवशर्म, चन्द्रर्षि महत्तर, गर्गर्षि, जिनवल्लभगणि, देवेन्द्रसूरि आदि कर्मवादविषयक कर्मप्रकृति, पचसग्रह, प्राचीन कर्मग्रथ और नव्यकर्मग्रथ शास्त्रो के प्रणेता है इनमे भी शिवशर्मप्रणीत कर्मप्रकृति और चन्द्रर्षि प्रणीत पचसग्रह, व इनकी चूर्णि-वृत्तियाँ महाकाय ग्रथ है ये दो शास्त्र आगमकोटि के महामान्य ग्रथ माने जाते है इनके अलावा आचार्य जिनभद्र के सग्रहणी-क्षेत्रसमास-विशेषणवती, हरिभद्रसूरिके पचाशक-विशतिविंशिका पचवस्तुक-उपदेशपद-श्रावकधर्मविधितत्र-योगशतक-सबोधप्रकरण आदि, मुनिचन्द्रसूरि के अगुलसप्तति, वनस्पतिसप्तति, आवश्यकसप्तति तथा सख्या बध कुलक आदि, सिद्धसेनसूरि का १६०६गाथा परिमित प्रवचनसारोद्धारप्रकरण, अभयदेव सूरि के पच निर्ग्रन्थी सग्रहणी, प्रज्ञापना तृतीय पदसग्रहणी, सप्ततिकाभाष्य, पट्स्थानक भाष्य, नवतत्त्व भाष्य, आराधनाप्रकरण श्रीचन्द्रसूरि का सग्रहणीप्रकरण, चक्रेश्वरसूरि के ११२३ गाथा परिमित शतकमहाभाष्य, सिद्धातसारोद्धार, पदार्थस्थापना, सूक्ष्मार्थसप्तति, चरणकरणसप्तति, सभापचक स्वरूप प्रकरण आदि, देवेन्द्रसूरि के देववदनादि भाष्यत्रय, नव्यकर्मग्रथपचक, सिद्धदण्डिका, सिद्धपचाशिका आदि, सोमतिलकसूरि का नव्य बृहत्क्षेत्रसमासप्रकरण, रत्नशेखरसूरि के क्षेत्रसमास, गुरुगुण पट्त्रिंशिका आदि प्रकरण है। यहाँ मुख्य मुख्य प्रकरणकार आचार्यो के नाम और उनके प्रकरणो का सक्षेप मे दिग्दर्शन कराया गया है। अन्यथा प्रकरणकार आचार्य और इनके रचे हुए प्रकरणो की सख्या बहुत बडी है इनमे कितनेक प्रकरणो पर भाष्य, महाभाष्य और चूर्णियाँ भी रची गई है

औपदेशिक प्रकरण— औपदेशिक प्रकरण वे है, जिनमे मानवजीवन की शुद्धि के लिए अनेकविध मार्ग दिखलाये गये है ऐसे प्रकरण भी अनेक रचे गये है आचार्य धर्मदास की उपदेशमाला, प्रद्युम्नाचार्य का मूलशुद्धिप्रकरण, श्री शान्तिसूरि का धर्मरत्नप्रकरण, देवेन्द्रसूरिका श्राद्धविधिप्रकरण, मलधारी हेमचन्द्रसूरि का भवभावना और पुष्पमाला प्रकरण, चन्द्रप्रभमहत्तर का दर्शनशुद्धिप्रकरण, वर्द्धमानसूरि का धर्मोपदेशमालाप्रकरण, यशोदेवसूरि का नवपदप्रकरण, आसड के उपदेशकदली, विवेकमजरी प्रकरण, धर्मघोषसूरि का ऋषिमडल प्रकरण आदि बहुत से औपदेशिक छोटे-छोटे प्रकरण हैं, जिनपर महाकाय टीकाये भी रची गई है, जिनमे प्राकृत-सस्कृत-अपभ्रश भाषा मे अनेक कथाओं का सग्रह किया गया है एक रीति से माना जाय तो ये टीकाए कथा-कोशरूप ही हैं



धर्मकथा साहित्य

जैनाचार्यो ने प्राकृत कथासाहित्य के विषय मे भी अपनी लेखनी का उपयोग काफी किया है. जैनाचार्यो ने काव्यमय कथाए लिखने का प्रयत्न विक्रम सवत् प्रारम्भ के पूर्व ही शुरू किया है आचार्य पादलिप्त की तरगवती, मलयवती, मगधसेना सघदासगणि वाचक विरचित वसुदेवहिंडी, धूर्ताख्यान आदि कथाओ का उल्लेख विक्रम की पाचवी छट्ठी सदी मे रचे गए भाष्यो मे आता है. धूर्ताख्यान तो निशीथचूर्णिकार ने अपनी चूर्णि में [गा० २९६ पत्र १०२-१०५] भाष्य गाथाओ के अनुसार सक्षेप में दिया भी है और आख्यान के अन्त मे उन्होने "सेस धुत्तक्खाणगाणुसारेण णेयमिति" ऐसा उल्लेख भी किया है. इससे पता चलता है कि—प्राचीनकाल में 'धूर्ताख्यान' नामक व्यसक कथाग्रन्थ था, जिसका आधार लेकर आचार्य श्रीहरिभद्र ने प्राकृत धूर्ताख्यान की रचना की है. प्राचीन भाष्य आदि में जिन कथा-ग्रन्थो का उल्लेख पाया जाता है उनमे से आज सिर्फ एक श्रीसघदासगणि का वसुदेवहिंडी ग्रन्थ ही प्राप्त है, जो भी खण्डित है. दाक्षिण्याङ्क आचार्य श्रीउद्योतनसूरि ने अपनी कुवलयमाला कथा की [र० स० शाके ७००] प्रस्तावना मे पादलिप्त, शालवाहन, षट्पर्णक, गुणाढ्य विमलाङ्क, देवगुप्त, रविषेण, भवविरह हरिभद्र आदि के नामो के साथ उनकी जिन रचनाओ का निर्देश किया है उनमें से कुछ रचनाए प्राप्त है, किन्तु पादलिप्त की तरगवती, षट्पर्णक के सुभाषित आदि रचनाए, गुणाढ्य की पिशाच भाषामयी बृहत्कथा, विमलाङ्क का हरिवश, देवगुप्त का त्रिपुरुषचरित्र आदि कृतियाँ आज प्राप्त नही है सघदास की वसुदेवहिंडी, धर्मसेन महत्तर का शौरसेनी भाषामय वसुदेव हिंडी द्वितीय खण्ड, विमलाङ्क का पउमचरिय, हरिभद्रसूरि की समराइच्चकहा, शीलाङ्क विमलमति का चउप्पन्न महापुरिसचरिय, भद्रेश्वर की कहावली आदि प्राचीन कथाएं आज प्राप्त है ये सब रचनाए विक्रम की प्रथम सहस्राब्दी मे हुई है. इनके वाद मे अर्थात् विक्रम की बारहवी शताब्दी मे चौवीस तीर्थंकरो के चरित्र आदि अनेक चरितो की रचना हुई है, जो अनुमानत दो-तीन शताब्दियो में हुई है वर्धमानसूरि—आदिनाथचरित्र और मणोरमा कहा, सोमप्रभाचार्य-सुमतिनाथ चरित और कुमारपालप्रतिबोध, गुणचद्रसूरि अपरनाम देवभद्रसूरि-पार्श्वनाथचरित, महावीरचरिय और कहारयणकोस, लक्ष्मणगणि—सुपासनाहचरिय, बृहद्गच्छीय हरिभद्रसूरि— चन्द्रप्रभचरित्र और नेमिनाहचरिउ अपभ्रंश, देवसूरि—पद्मप्रभचरित, अजितदेवसूरि-श्रेयासचरित, देवचन्द्रसूरि—शान्तिनाथचरित्र और मूलशुद्धिप्रकरणटीका, नेमिचन्द्रसूरि—अनन्तनाथचरित्र और महावीरचरित्र, श्रीचन्द्रसूरि—मुनिसुव्रतस्वामिचरित और कुथुनाथचरित्र, पद्मप्रभसूरि-मुनिसुव्रतचरित्र, मलधारी हेमचन्द्रसूरि—अरिष्टनेमिचरित्र (भवभावनावृत्त्यन्तर्गत), रत्नप्रभसूरि-अरिष्टनेमिचरित, यशोदेवसूरि—चन्द्रप्रभचरित, चन्द्रप्रभोपाध्याय-वासुपूज्य-चरित्र, चन्द्रप्रभसूरि-विजयचन्द्रकेवलिचरित्र, शान्तिसूरि-पृथ्वीचन्द्रचरित्र, विजयसिंहसूरि—भुवनसुन्दरी कहा, धनेश्वर-सुरसुन्दरीकहा आदि प्राकृत कथा-चरितग्रन्थ प्राय महाकाय ग्रन्थ है और विक्रम की ग्यारहवी-बारहवी शताब्दी मे ही रचे गये हैं. इनके अतिरिक्त दूसरी भी दश श्रावक चरित, वर्द्धमानदेशना, शालिभद्रादि चरित, ऋषिदत्ताचरित, जिनदत्ताख्यान, कलावईचरिय, दवदतीकहा, सुसढकहा, मणीवईचरिय, सणकुमारचरिय, तरगवती सक्षेप, सीयाचरिय, सिरिवालकहा, कुम्मापुत्तचरिय, मौन एकादशीकहा, जम्वूसामीचरिय, कालिकाचार्यकथा, सिद्धसेनाचार्यादि प्रवध आदि अनेक छोटी-मोटी प्राकृत रचनाए प्राप्त होती है ये स्वतन्त्र साधुचरित स्त्री-पुरुष के कथाचरित होने पर भी इनमे प्रसग-प्रसग पर अवान्तर कथाए काफी प्रमाण मे आती है इन महाकाय कथा-चरितो की तरह सक्षिप्त कथाचरित के सग्रहरूप महाकाय कथाकोशो की रचना भी बहुत हुई है वे रचनाए भद्रेश्वरसूरि की कहावली, जिनेश्वरसूरि का कथाकोश, नेमिचन्द्र-आम्रदेवसूरि का आख्यानकमणिकोश, धर्मघोष का ऋषिमण्डलप्रकरण, भरतेश्वर-बाहुबलि स्वाध्याय आदि है

अपभ्रंश मे श्वेताम्बर जैन सप्रदाय में महाकवि धनपाल का सत्यपुरमहावीरस्तोत्र, धाहिल का पउमसिरिचरिउ, जिनप्रभसूरि का वइरसामिचरिउ आदि छोटी-छोटी रचनाए बहुत पाई जाती है, किन्तु वडी रचनाए श्री सिद्धसेनसूरि अपरनाम साधारण कविकृत विलासवई कहा [ग्र०३६२० रचना स० ११२३] और हरिभद्रसूरि का नेमिनाहचरिउ [ग्रथाग्र ८०३२ रचना स० १२१६] ये दो ही देखने में आती है. आचार्य श्री हेमचन्द्र ने सिद्धहेमचन्द्र व्याकरण-अष्ट-

माध्यम में प्राकृतादि भाषाओ के साथ अपभ्रंश भाषाओ को शामिल किया है फिर भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे अपभ्रंश भाषा का प्रयोग विशेष नही हुआ है.

सामान्यतया श्वेताम्बर आचार्यो ने अपने ग्रन्थो मे सुभाषित और प्रसगागत कथाओ के लिए इस भाषा का उपयोग किया है मूलशुद्धिप्रकरणवृत्ति, भवभावनाप्रकरणवृत्ति, आख्यानकमणिकोशवृत्ति, उपदेशमाला दोघट्टिवृत्ति, कुमारपालप्रतिबोध आदि में अपभ्रंश कथाए आती है, जो दो सौ—चार सौ श्लोक से अधिक परिमाण वाली नही होती है

दिगम्बर जैन सम्प्रदाय मे इससे विपरीत बात है दिगम्बर आचार्यो ने धर्मकथाओ के लिए प्राकृत-मागध के स्थान मे अपभ्रंश भाषा का ही विशेषरूप से उपयोग किया है दिगम्बरसम्प्रदाय मे शास्त्रीय ग्रन्थो के लिए प्राचीन आचार्यो ने शौरसेनीभाषा का बहुत उपयोग किया है उन्होने अतिमहाकाय माने जाएँ ऐसे धवल, जयधवल, महाधवल शास्त्रो की रचना की है समयसार, पचास्तिकाय आदि सैकडो शास्त्र भी शौरसेनी मे लिखे गये है

जैनस्तुति स्तोत्रादि

जैनाचार्यो ने स्तुति-स्तोत्रादि साहित्य काफी लिखा है. फिर भी प्रमाण की दृष्टि से देखा जाय तो प्राकृत भाषा मे वह बहुत ही कम है. आचार्य पादलिप्त, आचार्य अभयदेव, देवभद्रसूरि, जिनेश्वरसूरि, जिनवल्लभ आदि का समग्र स्तुति-स्तोत्रादि साहित्य एकत्र किया जाय तो मेरा अनुमान है कि वह दो-चार हजार श्लोको से अधिक नही होगा इन स्तोत्रो मे यमक, समसस्कृत प्राकृत, षड्भाषामय स्तोत्रो का समावेश कर लेना चाहिए

व्याकरण व कोश

प्राकृतादि भाषाओ के व्याकरणो एव देशी आदि कोशो का विस्तृत परिचय प्राकृत भाषा के पारगत डॉ० पिशल ने अपने 'कम्पेरेटिव ग्रामर ऑफ दी प्राकृत लेंग्वेजेज' ग्रन्थ मे पर्याप्त मात्रा मे दिया है अत मै विशेष कुछ नही कहता हू इस युग मे महत्त्वपूर्ण चार प्राकृत शब्दकोश जैन विद्वानो ने तैयार किये है.

१ त्रिस्तुतिक आचार्य श्री राजेन्द्रसूरि का अभिधानराजेन्द्र

२ पडित हरगोविंददास का पाइयसद्दमहण्णवो

३. स्थानकवासी मुनिश्री रत्नचन्द्रजी का पाच भागो मे प्रकाशित अर्धमागधी कोश

४ श्री सागरानन्दसूरि का अल्पपरिचित सैद्धान्तिक शब्दकोश

काव्य और सुभाषित

प्राकृत भाषा मे रचित प्रवरसेन के सेतुबध महाकाव्य, वाक्पतिराज के गउडवहो, हेमचन्द्र के प्राकृत द्व्याश्रय महाकाव्य आदि से आप परिचित है ही सेतुबध महाकाव्य का उल्लेख निशीथ सूत्र की चूर्णि मे भी पाया जाता है महाकवि धनपाल ने (वि० ११वी शती) अपनी तिलकमजरी आख्यायिका मे सेतुबध महाकाव्य व वाक्पतिराज के गउडवहो की स्तुति—

जित प्रवरसेनेन रामेणेव महात्मना, तरत्युपरि यत् कीर्तिसेतुर्वाङ्मयवारिधे· ।
दृष्ट्वा वाक्पतिराजस्य शक्ति गौडवधोद्धुराम्, बुद्धि साध्वसरुद्धेव वाच न प्रतिपद्यते ॥३१॥

इन शब्दो मे की है इसी कवि ने अपनी इस आख्यायिका मे—

प्राकृतेषु प्रबन्धेषु रसनि.ष्यन्दिभि पदै. ।
राजन्ते जीवदेवस्य वाच पल्लविता इव ॥२४॥

इस प्रकार आचार्य जीवदेव की प्राकृत कृति का उल्लेख किया है जो आज उपलब्ध नही है.

आचार्य दाक्षिण्याक श्रीउद्योतनकी कुवलयमालाकहा प्राकृत महाकाव्य की सर्वोत्कृष्ट रसपूर्ण रचना है.



हाल कवि की गाथासप्तशती, वज्जालग्ग आदि को सभी जानते है इसी प्रकार लक्ष्मण कवि का गाथाकोश भी उपलब्ध है समयसुन्दर का गाथाकोश भी मुद्रित हो चुका है बृहट्टिप्पनिकाकार ने "सुधाकलशाख्य सुभाषितकोशः प० रामचन्द्र कृत" इस प्रकार श्रीहेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र के सुभाषितकोश का नामोल्लेख किया है जो आज अलभ्य है

ऊपर जिन कथा-चरितादि ग्रथो के नाम दिये है उन सबमे सुभाषितो की भरमार है यदि इन सबका विभागश सग्रह और सकलन किया जाय तो प्राकृत भाषा का अलकार स्वरूप एक बडा भारी सुभाषित भण्डार तैयार हो सकता है.

अलंकारशास्त्र

जैसलमेर के श्री जिनभद्रीय ताडपत्र ज्ञानभडार में प्राकृत भाषा मे रचित अलकारदर्पण नामक एक अलकार ग्रथ है जिसके प्रारभ मे ग्रथकार ने :—

सुदरपयविण्णास विमलालकाररेहिअसरीर ।
सुइदेविअं च कव्व च पणविअ पवरवण्णड्ढ ॥३॥

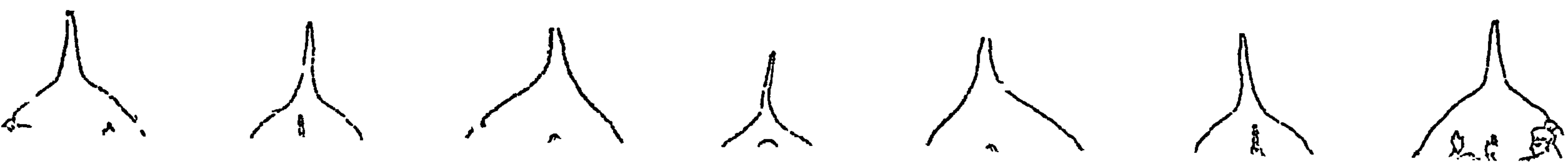
इस आर्या मे 'श्रुतदेवता' को प्रणाम किया है इससे प्रतीत होता है कि—यह किसी जैनाचार्य की कृति है इसका प्रमाण १३४ आर्या है तथा यह हस्तप्रति विक्रम की तेरहवी शताब्दी पूर्वार्ध मे लिखी प्रतीत होती है.

नाटक व नाट्य शास्त्र

राजा आदि उच्च वर्ग के व्यक्तियो को छोड कर नाटको में शेष सभी पात्र प्राकृत भाषा का ही प्रयोग करते है यदि हिसाब लगाया जाय तो पता लगेगा कि— सब मिलाकर नाटको मे सस्कृत की अपेक्षा प्राकृत अधिक नही तो कम भी प्रयुक्त नही हुई है अतएव प्राकृत भाषा के साहित्य की चर्चा मे नाटको को भुलाया नही जा सकता. स्वतत्ररूप से लिखे गये नाटको से तो आप परिचित है ही, किंतु कथाग्रथो के अन्तर्गत जो नाटक आये है उन्ही की विशेष चर्चा यहाँ अभीष्ट है प्रसगवशात् यह भी कह दूं कि—आवश्यकचूर्णि मे प्राचीन जैन नाटको के होने का उल्लेख है शीलाक के चउप्पन्न-महापुरिसचरिय मे (वि० १० वी शती) विबुधानद नामक एकाकी नाटक है देवेन्द्रसूरि ने चन्द्रप्रभचरित मे वज्रायुध नाटक लिखा है आचार्य भद्रेश्वर ने कहावली मे व देवेन्द्रसूरि ने कहारयणकोस मे नाटकाभास नाटक दिये है ये सब कथाचरितान्तर्गत नाटक है.

स्वतत्र नाटको की रचना भी जैनाचार्यो ने काफी मात्रा में की है आचार्य देवचद्र के चद्रलेखाविजयप्रकरण, विलासवती नाटिका और मानमुद्राभजन ये तीन नाटक है मानमुद्राभजन अभी अप्राप्य है यशश्चन्द्र का मुद्रित कुमुदचद्र और राजीमती नाटिका, यश पालका मोहराजपराजय, जयसिंह सूरि का, हम्मीरमदमर्दन, रामभद्र का प्रबुद्धरौहिणेय, मेघप्रभ का धर्माभ्युदय व बालचद्र का करुणावज्रायुध नाटक प्राप्त है रामचद्रसूरि के कौमुदीमित्राणद नलविलास, निर्भयभीमव्यायोग, मल्लिकामकरद, रघुविलास व सत्य हरिश्चन्द्र नाटक उपलब्ध है, राघवाभ्युदय, यादवाभ्युदय, यदुविलास आदि अनुपलब्ध है इन्होने नाटको के अलावा नाट्यविषयक स्वोपज्ञटीकायुक्त नाट्यदर्पण की भी रचना की है इसके प्रणेता रामचद्र व गुणचद्र दो हैं इन दोनो ने मिलकर स्वोपज्ञटीकायुक्त द्रव्यालकार की भी रचना की है. नाट्यदर्पण के अतिरिक्त रामचद्र का नाट्यशास्त्रविषयक 'प्रबधशत' नामक अन्य ग्रथ भी था जो अनुपलब्ध है यद्यपि बहुत से विद्वान् 'प्रबधशत' का अर्थ 'चिकीर्षित सौ ग्रथ' ऐसा करते हैं किन्तु प्राचीन ग्रथसूची मे "रामचद्रकृत प्रबन्धशत द्वादशरूपकनाटकादिस्वरूपज्ञापकम्" ऐसा उल्लेख मिलता है इससे ज्ञात होता है कि 'प्रबधशत' नामकी इनकी कोई नाट्यविषयक रचना थी.

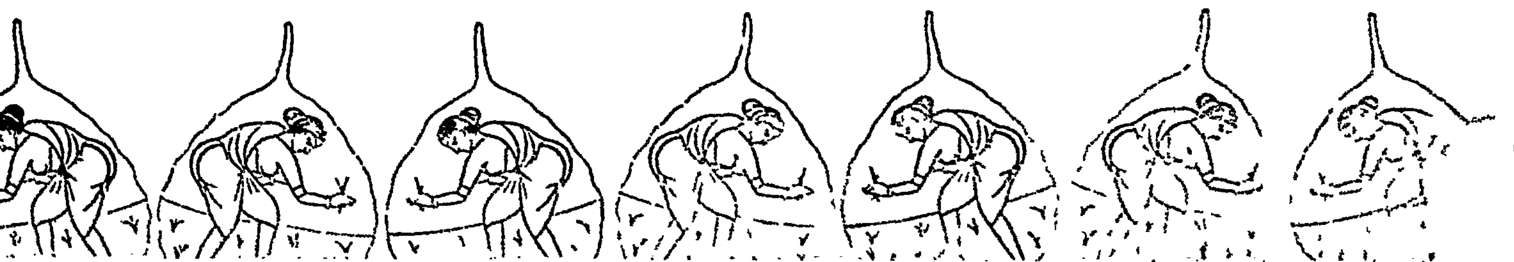
इनके अतिरिक्त ज्योतिष, रत्नपरीक्षा शास्त्र, अगलक्षण, आयुर्वेद आदि विषयक प्राकृत ग्रथ मिलते है आयुर्वेदविषयक एक प्राकृत ग्रथ मेरे सग्रह मे है जिसका नाम 'योगनिधान' है प० अमृतलाल के सग्रह मे प्राकृतभाषा मे रचित कामशास्त्र का 'मयणमउड' नामक ग्रथ भी है



यहाँ पर मैने आगम और उनकी व्याख्या से प्रारभ कर विविध विषयो के महत्त्वपूर्ण प्राकृत वाङ्मय का अतिसक्षिप्त परिचय देने का प्रयत्न किया है इससे आपको पता लगेगा कि—प्राकृत भाषा मे कितना विस्तृत एव विपुल साहित्य है और विद्वानो ने इस भाषा को समृद्ध करने के लिए क्या क्या नही लिखा ? अपने-अपने विषय की दृष्टि से तो इस समग्र साहित्य का मूल्य है ही, किन्तु इस वाङ्मय मे जो सास्कृतिक एव ऐतिहासिक विपुल सामग्री भरी पडी है, उसका पता सटीक बृहत्कल्पसूत्र, निशीथचूर्णि, अगविज्जा, चउपन्न महापुरिसचरिय आदि के परिशिष्टो को देखने से लग सकता है प्राकृत भाषा और उसके सर्वागीण कोश की सामग्री इस वाङ्मय मे से ही पर्याप्तमात्रा मे प्राप्त हो सकती है. पूर्वोक्त प्राकृत कोशो में नही आये हुए हजारो शब्द इस वाङ्मय से प्राप्त हो सकते है इसी तरह आचार्य हेमचद्र की 'देसी नाममाला' मे असग्रहीत सैकडो देशी शब्द इस वाङ्मय मे दिखाई देते हैं इसके लिए विद्वानो को इसी वर्ष प्रकाशित डॉ० ए० एन० उपाध्ये द्वारा सपादित प्राकृत कुवलयमाला एव प० अमृतलाल भोजक द्वारा सपादित 'चउपन्नमहापुरिसचरिय' की प्रस्तावना एव शब्दकोशो का परिशिष्ट देखना चाहिए मेरा मत है कि—भविष्य मे प्राकृत भाषा के सर्वागीण कोश के निर्माताओ को यह समग्र वाङ्मय देखना होगा यही नही अपितु सस्कृत भाषा के कोश के निर्माताओ को भी यह वाङ्मय देखना व शब्दो का सग्रह करना अति आवश्यक है इसका कारण यह है कि—प्राकृत व सस्कृत भाषा को अपनाने वाले विद्वानो का चिरकाल से अति नैकट्य रहा है इतना ही नही अपितु जो प्राकृत वाङ्मय के निर्माता रहे है वे ही सस्कृत वाङ्मय के निर्माता भी रहे हैं अत. दोनो कोशकारो को एक-दूसरा साहित्य देखना आवश्यक है अन्यथा दोनो कोश अपूर्ण ही होगे

इस आगमादि साहित्य से विद्वानो को आन्तरिक व बाह्य अथवा व्यावहारिक व पारमार्थिक जीवन के साथ सबध रखने वाले अनेक विषयो का ज्ञान प्राप्त हो सकता है यद्यपि भारतीय आर्य ऋषि, मुनि एव विद्वानो का मुख्य आकर्षण हमेशा धार्मिक साहित्य की ओर ही रहा है तथापि इनकी कुशलता यही है कि—इन्होने लोकमानस को कभी भी नही ठुकराया. इसीलिए इन्होने प्रत्येक विषय को लेकर साहित्य का निर्माण किया है. साहित्य का कोई अग इन्होने छोडा नही है इतना ही नही अपितु अपनी धर्मकथाओ मे भी समय-समय पर साहित्य के विविध अगो को याद किया है. यही कारण है कि—अपनी प्राचीन धर्मकथाओ मे धार्मिक सामग्री के अतिरिक्त लोकव्यवहार को स्पर्श करने वाले अनेक विषय प्राप्त होते है उदाहरण के तौर पर कथा-साहित्य मे राजनीति, रत्नपरीक्षा, अगलक्षण, स्वप्नशास्त्र, मृत्युज्ञान आदि अनेक विषय आते है पुत्र-पुत्रियो को पठन, विवाह, अधिकारप्रदान, परदेशगमन आदि अनेक प्रसगो पर शिक्षा, राजकुमारो को युद्धगमन, राज्यपदारोहण आदि प्रसगो पर हितशिक्षा, पुत्र-पुत्रियो के जन्मोत्सव, झुलाने, विवाह आदि करने का वर्णन, ऋतुवर्णन, वनविहार, अनगलेख, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, अलकारशास्त्र, साहित्यचर्चा आदि विविध प्रसग, साहूकारो का वाणिज्य-व्यापार, उनकी पद्धति, उनके नियम, भूमि व समुद्र मे वाणिज्य के लिए जाना, भूमि व समुद्र के वाहन, व जहाज के प्रकार तद्विषयक विविध सामग्री, जीवन के सद्गुण-दुर्गुण, नीति-अनीति, सदाचार-दुराचार आदि का वर्णन-इत्यादि सैकडो विषयो का इस साहित्य मे वर्णन है ये सभी सास्कृतिक साधन हैं

वसुदेव हिंडी प्रथम खड (पत्र १४५) मे चारुदत्त के चरित मे चारुदत्त की स्थल सबधी व सामुद्रिक व्यापारिक यात्रा का अतिरसिक वर्णन है जिसमे देश-विदेशो का परिभ्रमण, सूत्रकृताग की मार्गाध्ययन-निर्युक्ति मे (गा० १०२) वर्णित शकुपथ, अजपथ, लतामार्ग आदि का निर्देश किया गया है इसमे यात्रा के साधनो का भी निर्देश है परलोकसिद्धि, प्रकृति-विचार, वनस्पति मे जीवत्व की सिद्धि, मासभक्षण के दोष आदि अनेक दार्शनिक धार्मिक विषय भी पाये जाते हैं इसी वसुदेवहिंडी के साथ जुडी हुई धम्मिल्लहिंडी मे "अत्थसत्थे य भणियं—'विसेसेण मायाए सत्थेण य हतव्वो अप्पणो विवड्ढमाणो सत्तु' त्ति" (पृ० ४५) ऐसा उल्लेख आता है जो बहुत महत्त्व का है इससे सूचित होता है कि—प्राचीन युग मे अपने यहाँ प्राकृत भाषा मे रचित अर्थशास्त्र था श्रीद्रोणाचार्य ने ओघनिर्युक्ति मे "चाणक्कए वि भणियं—'जइ काइय न वोसिरइ तो अदोसो' त्ति" (पत्र १५२-२) ऐसा उल्लेख किया है यह भी प्राकृत अर्थशास्त्र होने की साक्षी देता है, जो आज प्राप्त नही है इसी ग्रथ मे पाकशास्त्र का उल्लेख भी है जिसका नाम पोरागमसत्थ दिया है



आज के युग मे प्रसिद्ध प्रिन्स ऑफ वेल्स, क्विन मेरी, ट्युटानिया आदि जहाजो के समान युद्ध,विनोद, भोग आदि सब प्रकार की सामग्री से सपन्न राजभोग्य एव धनाढ्यो के योग्य समृद्ध जहाजो का वर्णन प्राकृत श्रीपालचरित आदि मे मिलता है. रत्नप्रभसूरिविरचित नेमिनाथचरित में अलकारशास्त्र की विस्तृत चर्चा आती है प्रहेलिकाए, प्रश्नोत्तर, चित्रकाव्य आदि का वर्णन तो अनेक कथाग्रथों में पाया जाता है. श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र की अर्थदीपिका वृत्ति मे (पृ० १२७) मत्रीपुत्रीकथानक मे किसी वादी ने मत्रीपुत्री को ५६ प्रश्नो का उत्तर प्राकृत भापा मे चार अक्षरो मे देने का वादा किया है मत्रीपुत्री ने भी 'परवाया' इन चार अक्षरो में उत्तर दिया है ऐसी क्लिष्टातिक्लिष्ट पहेलियाँ भी इन कथाग्रथो मे पाई जाती है

सक्षेप मे कहना यही है कि—प्राकृत के इस वाङ्मय मे विपुल ऐतिहासिक एव सास्कृतिक सामग्री मिल सकती है. यदि इसका पृथक्करण किया जाय तो बहुत महत्त्व की सामग्री एकत्र हो सकती है

प्राकृतादि भाषाए

जहाँ आज तक पाश्चात्य और एतद्देशीय विद्वानो ने प्राकृत भाषा के विषय मे पर्याप्त विचार किया हो, विशेषत· प्राकृतादि भापा के प्रकाण्ड विद्वान् डॉ० पिशल महाशय ने वर्षो तक इन भाषाओ का अध्ययन करके और चारो दिशाओ के तत्तद्विपयक सैकडो ग्रन्थो का अवलोकन, अध्ययन, परिशीलन, चिन्तन आदि करके प्राकृत आदि भाषाओ का महाकाय व्याकरण तैयार किया हो वहाँ इस विषय में कुछ भी कहना एक दुस्साहस ही है मैं कोई प्राकृतादि भाषाओ का पारप्राप्त विद्वान् नही हूँ, फिर भी प्राकृत आदि भाषा एव साहित्य के अभ्यासी विद्यार्थी की हैसियत से मुझे जो तथ्य प्रतीत हुए हैं उनको मैं आपके सामने रखता हूँ.

प्राकृत आदि भाषाओ के विद्वानो ने १ प्राचीन व्याकरण २ प्राचीन ग्रन्थो मे आने वाले प्राकृत भापा के सक्षिप्त लक्षण और ३ प्राचीन ग्रन्थो में आने वाले प्राकृत भाषाओ के प्रयोगो को ध्यान मे रख कर प्राकृतादि भाषाओ के विषय मे जो विचार और निर्णय किया है वह पर्याप्त नही है. इसके कारण ये हैं—

१ व्याकरणकारो का उद्देश्य भाषा को नियमबद्ध करने का होता है, अत वे अपने युग के प्रचलित सर्वमान्य तत्तद् भाषाप्रयोगो एव तत्सवादी प्राचीन मान्य ग्रन्थो के प्रयोगो की अपनी दृष्टि से तुलना करके व्याकरण का निर्माण करते है. खास कर उनकी दृष्टि अपने युग की ओर ही रहती है. आज के व्याकरणो को देख कर हम इस नतीजे पर पहुँच सकते है अत इन व्याकरणो से प्राचीन युग की भाषा का पूर्ण पता लगाना असभव है

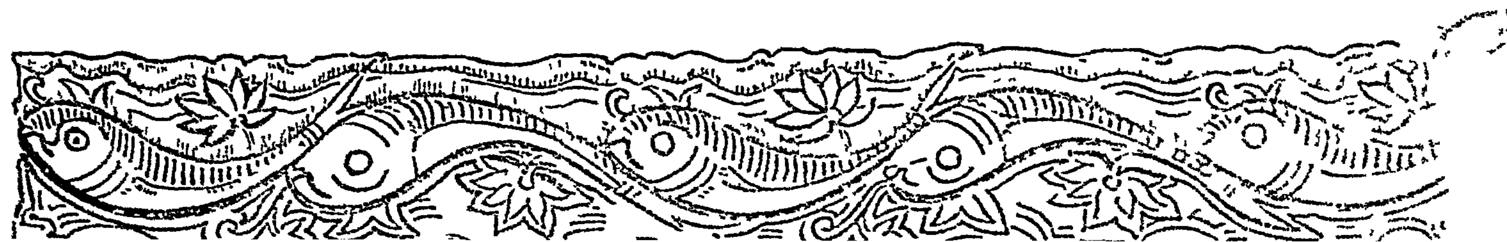
२ प्राचीन व्याख्याग्रन्थ आदि मे अर्धमागधी आदि के जो एक-दो पक्तियो मे लक्षण पाये जाते है उनसे भी प्राकृत भाषाओ के वास्तविक स्वरूप का पता लगाना पर्याप्त नही है. डॉ० पिशल ने अर्धमागधी और मागधी के विषय मे जैन व्याख्याकारो के अनेक उल्लेखो को दे कर प्रमाणपुरस्सर विस्तृत चर्चा की है उसमे मैं इतनी पूर्ति करता हूँ कि—स्वर-व्यञ्जनो के परिवर्तन और विभक्तिप्रयोग आदि के अतिरिक्त तत्कालीन भिन्न-भिन्न प्रान्तीय (जहाँ भगवान् महावीर और उनके निर्ग्रन्थो ने विहार, धर्मोपदेश आदि किया था) शब्दो का स्वीकार या मिश्रण भी अर्धमागधी का लक्षण होने की सम्भावना है. जैन निर्ग्रन्थो को विहार-पादभ्रमण, भिक्षा, धर्मोपदेश, तत्तत्प्रान्तीय शिष्य-प्रशिष्यो के अध्ययन-अध्यापन आदि के निमित्त तत्तद्देशीय जनता के सपर्क में रहना पडता है. अत इनकी भाषा मे सहज ही भिन्न-भिन्न प्रान्तीय भाषाओ के स्वर-व्यञ्जनपरिवर्तन, विभक्ति-कारक आदि के प्रयोगो के साथ प्रान्तीय शब्दप्रयोग भी आ जाते हैं भाषा का इस प्रकार का प्रभाव प्राचीन युग की तरह आज के जैन निर्ग्रन्थों की भाषा मे भी देखा जाता है जैन आगमो के निर्युक्ति-भाष्य-चूर्णि आदि मे अनेक स्थानो पर एकार्थक शब्द दिये जाते है और वहाँ कहा भी जाता है कि—"भिन्न-भिन्न देशो मे रहने वाले शिष्यो को मतिभ्रम न हो इसलिए एकार्थक शब्द दिये हैं" इस उल्लेख से भी यही प्रतोत होता है कि—अर्धमागधी का स्वर-व्यञ्जनादि परिवर्तन आदि के अतिरिक्त 'तत्तत्प्रान्तीय भापाओ के शब्दो का सग्रह' यह भी एक प्रमुख लक्षण है

३. वास्तव मे प्राकृत भाषाओ के प्राचीन ग्रन्थ ही इन भाषाओ के पृथक्करण के लिये अकाट्य साधन है और सचमुच ही उपर्युक्त दो साधनो की अपेक्षा यह साधन ही अतिउपयुक्त साधन है. इसका उपयोग डॉ० पिशल आदि विद्वानो ने अतिसावधानी से किया भी है, तथापि मैं मानता हूँ कि वह अपर्याप्त है. क्योकि डॉ० पिशल आदि ने जिस विशाल साहित्य का उपयोग किया है वह प्राय अर्वाचीन प्रतियो के आधार पर तैयार किया गया साहित्य था जिसमे भाषा के मौलिक स्वरूप आदि का काफी परिवर्तन हो गया है इसी साहित्य की प्राचीन प्रतियो को देखते है तव भाषा और प्रयोगो का महान् वैलक्षण्य नजर आता है खुद डॉ० पिशल महाशय ने भी इस विषय का उल्लेख किया है दूसरी वात यह है कि—डॉ० पिशल आदि विद्वानो ने ऐतिहासिक तथ्य के आधार पर जिनमे प्राकृत भाषाप्रवाहो के मौलिक अश होने की अधिक सभावना है और जो प्राकृत भाषाओ के स्वरूपनिर्णय के लिये अनिवार्य साधन की भूमिकारूप हैं ऐसे प्राचीनतम जैन आगमो का जो प्राचीन प्राकृतव्याख्या साहित्य है उसका उपयोग बिलकुल किया ही नही है ऐसा अति प्राचीन श्वेतावरीय प्राकृत व्याख्यासाहित्य जैन आगमो की निर्युक्ति-भाष्य-महाभाष्य-चूर्णियाँ हैं और इतर साहित्य मे कुवलयमालाकहा, वसुदेवहिंडी, चउप्पन्नमहापुरिसचरिय आदि है तथा दिगवरीय साहित्य मे [धवल, जयधवल, महाधवल, तिलोयपण्णत्ती आदि महाशास्त्र है यद्यपि दिगबर आचार्यो के ग्रन्थ ऐतिहासिक तथ्य के आधार पर श्वेतावर जैन आगमादि ग्रन्थो की अपेक्षा कुछ अर्वाचीन भी है तथापि प्राकृत भाषाओ के निर्णय मे सहायक जरूर है. मुझे तो प्रतीत होता है कि—प्राकृत भाषाओ के विद्वानो को प्राकृत भाषाओ को व्यवस्थित करने के लिये डॉ० पिशल के प्राकृतव्याकरण की भूमिका के आधार पर पुन प्रयत्न करना होगा

यहाँ पर जिस निर्युक्ति-भाष्य-चूर्णि-कथाग्रन्थ आदि श्वेताबर-दिगवर साहित्य का निर्देश किया है वह अतिविस्तृत प्रमाण मे है और इसके प्रणेता स्थविर केवल धर्मतत्त्वो के ही ज्ञाता थे ऐसा नही किन्तु वे प्राकृत भाषाओ के भी उत्कृष्ट ज्ञाता थे प्राचीन प्राकृत भाषाओ की इनके पास मौलिक विरासत भी थी

जैन आगमो की मौलिक भाषा अर्धमागधी कही जाती है उसके स्वरूप का पता लगाना आज शक्य नही है इतना ही नही किन्तु वल्लभी मे आगमो का जो अन्तिम व्यवस्थापन हुआ उस समय भाषा का स्वरूप क्या था, इसका पता लगाना भी आज कठिन है इसका कारण यह है कि—आज हमारे सामने उस समय की या उसके निकट के समय की जैन आगमो की एक भी प्राचीन हस्तप्रति विद्यमान नही है इस दशा मे भी आज हमारे सामने आचाराङ्ग, सूत्रकृताग, दशवैकालिक आदि आगमो की चूर्णियाँ और कुछ जैन आगमो के भाष्य-महाभाष्य ऐसे रह गये है जिनके आधार पर वलभीपुस्तकालेखन के युग की भाषा और उसके पहले के युग की भाषा के स्वरूप के निकट पहुँच सकते हैं क्योकि इन चूर्णियो मे मूलसूत्रपाठ को चूर्णिकारो ने व्याख्या करने के लिये प्राय. अक्षरश प्रतीकरूप से उद्धृत किया है, जो भाषा के विचार और निर्णय के लिये बहुत उपयोगी है कुछ भाष्य महाभाष्य और चूर्णियाँ ऐसी भी आज विद्यमान है जो अपने प्राचीन रूप को धारण किये हुए है. वे भी भाषा के विचार और निर्णय के लिये उपयुक्त हैं इसके अतिरिक्त प्राचीन चूर्णि आदि व्याख्याग्रन्थो मे उद्धरणरूप से उद्धृत जैन आगम और सन्मति, विशेषणवती, सग्रहणी आदि प्रकरणो के पाठ भी भाषा के विचार के लिये साधन हो सकते हैं.

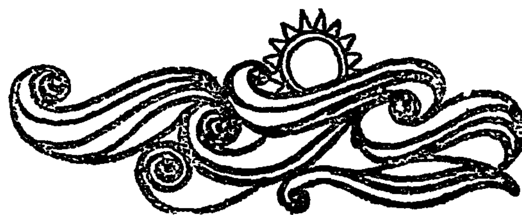
आचार्य श्री हेमचन्द्र ने प्राचीन प्राकृतव्याकरण एव प्राचीन प्राकृत वाङ्मय का अवलोकन करके और देशी धातुप्रयोगो का धात्वादेशो मे सग्रह करके जो अतिविस्तृत सर्वोत्कृष्ट प्राकृत भाषाओ के व्याकरण की रचना की है वह अपने युग के प्राकृत भाषा के व्याकरण और साहित्यिक भाषाप्रवाह को लक्ष्य मे रखकर ही की है यद्यपि उसमे कही-कही जैन आगमादि साहित्य को लक्ष्य मे रखकर कुछ प्रयोगो आदि की चर्चा की है तथापि वह बहुत ही अल्प प्रमाण मे है इस बात का निर्देश मैने साराभाई नवाब-अहमदावाद द्वारा प्रकाशित कल्पसूत्र की प्रस्तावना मे [पृ० १४-१५] किया भी है आचार्य श्रीहेमचन्द्र ने जैन आगम आदि की भाषा और प्रयोगो के विषय मे विशेष कुछ नही किया है तो भी उन्होंने अपने व्याकरण मे जैन आगमो के भाष्य आदि मे आनेवाले कुछ व्यापक प्रयोगो का और युष्मद्-अस्मद् आदि शब्दो एव धातुओ के रूपो का सग्रह जरूर कर लिया है डॉ० पिशल ने कई रूप नही मिलने का अपने व्याकरण मे निर्देश किया



है उनमें से बहुत से रूप और प्रयोग जैन आगमो की भाष्य-चूर्णियो मे नजर आते है इस दृष्टि से प्राकृत भाषाओ के विद्वानो को ये ग्रन्थ देखना अत्यावश्यक है. इन ग्रन्थो मे कई प्रकार के स्वर-व्यञ्जन के विकार वाले प्रयोग, नये-नये शब्द एव धातु, नये-नये शब्द-धातुओ के रूप, आज के व्याकरणो से सिद्ध न होनेवाले आर्ष प्रयोग और नये-नये देशी-शब्द पाये जाते है जिनका उल्लेख पिशल के व्याकरण में नही हुआ है व्याकरण, देशीनाममाला आदि शास्त्र रचने वालो की अमुक निश्चित मर्यादा होती है, इस पर से उनके जमाने मे अमुक शब्द, धातुप्रयोग आदि नही थे या उनके खयाल मे अमुक नही आया था, यह कहना या मान लेना सगत नही डॉ० पिशल ने 'खभ' शब्द का निष्पादन वेद मे आने-वाले 'स्कभ' शब्द से किया है इस विषय मे पिशल के व्याकरण के हिंदी अनुवाद के आमुख मे श्रीयुक्त जोषी जी ने 'प्राकृत वैयाकरणो को इस बात का पता नही लगा' इत्यादि लिखा है, यह उनका पिशल के व्याकरण का हिंदी अनुवाद करने के आनन्द का भावावेश मात्र है. हमेशा युग-युग मे साहित्यनिर्माण का अलग-अलग प्रकार का तरीका होता है उसके अनुसार ही साहित्य की रचना होती है आज का युग ऐतिहासिक परीक्षण को आधारभूत मानता है, प्राचीन युग साम्प्रदायिकता को आधारभूत मानकर चलता था आज के युग के साधन व्यापक एव सुलभ है, प्राचीन युग मे ऐसा नही था इन बातो को ध्यान मे रखा जाय तो वह युग और उस युग के साहित्य के निर्माता लेश भी उपालम्भ या आक्षेप के पात्र नही है अगर देखा जाय तो साधनो की दुर्लभता के युग मे प्राचीन महर्षि और विद्वानो ने कुछ कम कार्य नही किया है पिशल के व्याकरण के हिंदी अनुवादक श्रीयुक्त जोषीजी को पाश्चात्य और एतद्देशीय विद्वानो की विपुल विचारसामग्री मे से प्राकृत भाषाओ के सम्बन्ध मे ज्ञातव्य कोई लेखादि नजर में नही आया, सिर्फ उनकी नजर मे विदुषी श्रीमती डोल्ची नित्ति के ग्रन्थ का आचार्य श्री हेमचन्द्र एव डॉ० पिशल के व्याकरण की अतिकटु टीका जितना अश ही नजर मे आया है जिसका सारा का सारा हिन्दी अनुवाद आमुख मे उन्होने भर दिया है जो पिशल के व्याकरण के साथ असगत है एक ओर जोषीजी स्वय डॉ० पिशल को प्राकृतादि भाषाओ के महर्षि आदि विशेषण देते है और दूसरी ओर डोल्ची नित्ति के लेख का अनुवाद देते है जो प्राकृत भाषा के विद्वानो को समग्रभाव से मान्य नही है, यह बिल-कुल असगत है एक दृष्टि से ऐसा कहा जा सकता है कि—श्रीयुक्त जोशीजी ने ऐसा निकृष्ट कोटि का आमुख, जिसमे आप प्राकृत भाषाओ के विषय मे ज्ञातव्य एक भी बात लिख नही पाये है,—लिख कर अपने पाण्डित्यपूर्ण अनुवाद को एव इस प्रकाशन को दूषित किया है

डॉ० पिशल का 'प्राकृत भाषाओ का व्याकरण' जिसका हिन्दी अनुवाद डॉ० हेमचन्द्र जोषी डी० लिट् ने किया है और जो 'बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्' की ओर से प्रकाशित हुआ है, उसमे अनुवादक और प्रकाशको ने बहुत अशुद्ध छपने के लिये खेद व्यक्त किया है और विस्तृत शुद्धिपत्र देने का अनुग्रह भी किया है तो भी परिषद् के मान्य कुशल नियामको से मेरा अनुरोध है कि ६८ पन्नो का शुद्धिपत्र देने पर भी प्राकृत प्रयोग और पाठो मे अब भी काफी अशु-द्धियाँ विद्यमान है, खास कर जैन आगमो के प्रयोगो और पाठो की तो अनर्गल अशुद्धियाँ रही है इनका किसी जैन आगमज्ञ और प्राकृत भाषाभिज्ञ विद्वान से परिमार्जन बिना कराये इसका दूसरा सस्करण न निकाला जाय. शब्दो की सूची को कुछ विस्तृत रूप दिया जाय एव ग्रन्थ और ग्रन्थकारो के नामो के परिशिष्ट भी साथ में दिये जायँ

अन्त मे अपना वक्तव्य समाप्त करते हुए आप विद्वानो से अभ्यर्थना करता हूँ कि—मेरे वक्तव्य मे अपूर्णता रही हो उसके लिये क्षमा करे साथ ही मेरे वक्तव्य को आप लोगो ने शान्तिपूर्वक सुना है इसके लिये आपको धन्यवाद साथ ही मैं चाहता हू कि हमारी इस विद्यापरिषद् द्वारा समान भावपूर्वक सशोधन का जो प्रयत्न हो रहा है उससे विशुद्ध आर्यधर्म, शास्त्र, साहित्य एव समस्त भारतीय प्रजा की विशद दृष्टि के साथ तात्त्विक अभिवृद्धि-समृद्धि हो





श्रीगोपालनारायण बहुरा

जैनवाङ्मय के योरपीय संशोधक

योरपनिवासी विद्वानो द्वारा जैन-साहित्य मे सशोधन होते प्रायः डेढ सौ वर्षो से भी अधिक समय हो चुका है. बुशनैन (Buchnan) ने मैसूर, कन्नड और मलाबार होते हुए मद्रास मे अपने दौरे का वृत्तान्त १८०७ ई० मे प्रकाशित कराया था, जिसमे उसने जगह-जगह जैनो का उल्लेख किया है उसने १८११-१२ ई० मे पटना और गया जिलो का भी सर्वेक्षण किया और उसके बारे मे भी अपने सस्मरण लिखता रहा व्ही० एच० जैक्सन द्वारा सम्पादित १९२५ ई० में पटना से प्रकाशित उक्त वृतान्त मे लिखा है कि उसने महावीर के निर्वाणस्थल[1] की भी यात्रा की थी इसी प्रकार १८०७ ई० मे ही "एशियाटिक रिसर्चेज" के नवे अक मे "जैन वृत्तान्त" (Account of the Jains) के शीर्षक से तीन विवरण प्रकाशित हुए थे, जिनमे उक्त बुशनैन के अतिरिक्त लेफ्टिनण्ट कर्नल मैकेन्जी द्वारा अपनी १७९७ ई० की दैनन्दिनी के आधार पर सगृहीत वृत्तान्त थे बुशनैन के लेख किसी जैन विद्वान् की टिप्पणियो पर भी आधारित थे और बहुत कुछ कल्पनाधारित एव अशुद्ध भी थे जैसे, उसने लिखा है कि बुदेली, मेवाड, मारवाड, कुण्डेर, लाहौर, बीकानेर, जोधपुर आदि स्थानो के बहुत से राजपूत जैन थे जयपुर के राजा सवाई प्रतापसिंह, सवाई जयसिंह का पुत्र था और उससे पूर्व के सभी राजा जैन थे वास्तव मे, न सवाई प्रतापसिंह सवाई जयसिंह का पुत्र था, न जयपुर का कोई राजा जैन धर्मावलम्बी हुआ यह अवश्य है कि कितने ही राजाओ ने जैनो को प्रश्रय दिया था. इसके बाद ही कोलब्रुक (१७६५-१८३७ ई० सन्) के विविध लेखो मे सगृहीत "जैनमत पर विचार-विमर्श"—परक निबन्ध प्रकट हुए[2] ये निबन्ध केवल विवरणात्मक न होकर पूर्वोक्त सशोधनो एव स्वय कोलब्रुक की सशोधनात्मक आलोचना पर आधारित थे

परन्तु, यह नही मान लेना चाहिए कि वैदेशिको द्वारा उपरिलिखित उल्लेख ही सर्वप्रथम उल्लेख है ईसा की पाँचवी शताब्दी मे हेसिचिओस (Hesychios) नामक ग्रीक कोशकार ने "जेनोई" (Genoi) शब्द का प्रयोग नग्न-दार्शनिको के अर्थ मे किया है बाद के विद्वानो ने इस "जेनोई" शब्द को जैनो से सम्बद्ध माना है

कर्नल मैकेन्जी के सग्रह का विलसन द्वारा सकलित सविवरण सूची-पत्र सर्व-प्रथम १८२८ ई० मे प्रकाशित हुआ था, उसमे श्रावको अथवा जैनो पर डेलामेन (Delamain) और बुशनैन के निबन्धो का सन्दर्भ अवश्य है तथा बाद मे

---

१ पोयपुरी (Pauyapury) के पास पोकोरपुर (Pokorpur) में महावीर का मदिर है मरण के अनन्तर उनके कुछ अवशेष वहीं पर रहे बाद में वहा पर मदिर का निर्माण कराया गया।

२. Journal of Francis Buchnan, Ed V H Jackson, 1925, PP 102-103
Observations on the Sect of Jainas Royal Asiatic Society of Great Britain & Ireland, Vol I



कलिन व कोलब्रुक द्वारा जैन-मदिरो के शिलालेखो पर भी अध्ययनात्मक विवरण प्रकाशित हुए है, परन्तु सबसे पहली पुस्तक जिसके टाइटल पर "जैन" शब्द अंकित हुआ है वह फ्रेंकलिन लिखित "जैन और बौद्धवादो का सशोधन" (Researches on the Tenets of the Jeynes & Boodhists) है जो १८२७ ई० मे सामने आई. विलसन ने अपने सविवरण सूची-पत्र मे बहुत-सी जैन-पाण्डुलिपियो का विवरण दिया है, जिनमे से कुछ उसकी निजी थी और कुछ कलकत्ता सस्कृत कालेज की थी. १८२८ ई० मे प्रकाशित मैकेन्जी सग्रह के कैटलाग में उसने उन ४४ हस्तलिखित ग्रन्थो का भी विवरण दिया है, जो लन्दन मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी मे पहुँच चुके थे.

कोलब्रुक ने आचार्य हेमचन्द्र कृत 'अभिधानचिन्तामणि' और 'कल्पसूत्रादि' विषयक निबन्ध तो लिखे परन्तु इनके सुसम्पादित सस्करण उस समय न निकल सके और बाद मे भी बीस वर्ष तक कोई मूलपाठ का सस्करण प्रकाशित नही हुआ अन्त मे, सैटपीटर्सबर्ग से 'अभिधानचिन्तामणि' का भूतलिंग (Bohtlıngk) और रीउ (Rıcu) कृत जर्मन अनुवाद १८४७ ई० में प्रकाशित हुआ तथा कल्पसूत्र एव नवतत्त्व प्रकरण का अग्रेजी अनुवाद स्टीवेसन द्वारा १८४८ ई० मे प्रकाश मे आया. प्राकृत आगम का अंग्रेजी में अनुवाद करने वाला स्टीवेन्सन ही प्रथम विद्वान् था बाद मे वेबर (Weber) (१८२५-१९०१ ई० सन्) ने धनेश्वर सूरि कृत 'शत्रुञ्जय-माहात्म्य' का सम्पादन करके विस्तृत भूमिका सहित लिपजिग (Leıpzıg) से सन् १८५८ ई० मे प्रकाशित कराया इस विद्वान् का जैन-शास्त्रो के अध्ययन के परिणामस्वरूप यह प्रथम प्रयास था . परन्तु आगे चलकर 'भगवतीसूत्र' पर जो कार्य वेबर ने किया वह चिर-स्मरणीय रहेगा यह ग्रन्थ बर्लिन की विसेन्चाफेन (Wıssenchaften) अकादमी से १८६६-६७ ई० मे निकला था अब तो यह प्राय अप्राप्य हो गया है परन्तु जैन साहित्य के भाषा शास्त्रीय अध्ययन के क्षेत्र मे एक युग-प्रवर्तक ग्रन्थ समझा जाता है. वेबर की 'जैनो का धार्मिक साहित्य' (Sacıed Lıteratuıe of the Jaınas) का अंग्रेजी अनुवाद स्मिथ ने प्रकाशित किया था. विण्डिश (Wındısch) ने अपने इण्डो-आर्यन रिसर्च के विश्वकोश (Encyclopedıa of Indo-Aryan Research) मे इसका सविस्तर विवरण दिया है तदुपरान्त वेबर ने बर्लिन की रायल लाइब्रेरी मे उपलब्ध जैन पाण्डुलिपियो का अध्ययन करके जिन मूलभूत सिद्धान्तो की स्थापना की है[1] वे जैन साहित्य और इतिहास के विवेचन मे कभी भुलाए नही जा सकते. उक्त पुस्तकालय मे बाद में १९४४ ई० तक जो जैन ग्रन्थ खरीदे गए उनका सूचीपत्र वाल्टर शुब्रिङ्ग् (Walther Schubrıng) ने तैयार किया है, जो लिपजिग से प्रकाशित हुआ है इसमे ११२७ ग्रन्थो का विवरण है

बर्लिन मे जो हस्तलिखित जैन ग्रन्थ पहुँचे है और जिनका विवरण वेबर ने अपने कॅटलाग मे किया है उनका मुख्य माध्यम ब्युह्लर को मानना चाहिए उस विद्वान् को बम्बई के शिक्षा-विभाग ने कुछ अन्य विद्वानो के साथ तत्तत् क्षेत्रो में दौरा करके निजी सग्रहो का विवरण तैयार करने तथा उपलब्ध हस्तलिखित ग्रन्थो को खरीदने के लिये तैनात किया था ऐसे ग्रन्थो के विषय मे भण्डारकर, ब्युह्लर (१८३७-९८ ई०), कीलहार्न, पीटर्सन और अन्य विद्वानो की रिपोर्ट समय-समय पर प्रकाशित हुई है तथा निरीक्षित-परीक्षित ग्रन्थो के विवरण एव उनके विषय मे आवश्यक जान-कारी भी उन रिपोर्टो में दी गई है इस प्रकार खरीदे हुए ग्रन्थ 'डेकन कालेज, पूना' मे एकत्र किए गए थे, जो अब भाण्डारकर शोध सस्थान में सुरक्षित है. व्यूह्लर ने सरकारी शिक्षा-विभाग से यह अनुमति प्राप्त कर ली थी कि जिन ग्रन्थो की एकाधिक प्रतियाँ मिले उनको वह विदेशी पुस्तकालयो के लिए भी खरीद सकेगा. और, यही कारण है कि बर्लिन तक अनेक महत्त्वपूर्ण जैन-ग्रन्थ पहुँच सके तथा वहाँ के अध्यवसायी विद्वानो द्वारा सुसम्पादित होकर उनके बहु-प्रशसित अद्वितीय सस्करण निकले, जो उनके भाषाशास्त्रीय अध्ययन के प्रति ससार के अग्रणी विद्वानो को आकर्षित करने मे समर्थ हुए यह भी मान लेने मे सकोच नही करना चाहिए कि इस प्रकार के अध्ययनार्थ एतद्देशीय विद्वानो को मार्गदर्शन करने का श्रेय भी इन्ही पाश्चात्य विद्वानो को है

---

१ Indısche Studıen Vol XVI & XVII, 1888-92

व्यूह्लर और वेवर ने अपनी रिपोर्टो, निबन्धो और स्वतत्र लेखो के द्वारा अनुवर्ती शोधविद्वानो को भी प्रोत्साहित किया जैकोवी सम्पादित 'कल्पसूत्र' के समीक्षात्मक सस्करण मे, जो सन् १८९७ ई० मे प्रकाशित हुआ, व्यूह्लर का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है इसी प्रकार लिउमैन (Leumann १८५९-१९३१ ई० सन्) के 'औपपातिक सूत्र' (१८८३) पर वेवर की स्पष्ट छाप है. ये दोनो ही कृतियाँ प्राचीन भापाशास्त्र की सर्वोत्तम निधियाँ है जैकोवी (१८६०-१९३७ ई०) ने कल्पसूत्र की जो भूमिका लिखी है वह तो प्राय अव तक हुए इस दिशा के अनुसधानो की पृष्ठभूमि ही वन गई है उसने जैन और वौद्धमतो की प्राचीनता के विपय मे सभी सन्देहो को निरस्त कर दिया है और यह निर्णय स्थापित किया है कि जैनमत वौद्धमत से बहुत पुराना है गौतम बुद्ध के समय से बहुत पहले ही जैनमत का प्रादुर्भाव हो चुका था वर्द्धमान महावीर जैनमत के आदि प्रवर्तक नही थे वे तो पार्श्वनाथ के उपदेशो के परिष्कारक मात्र थे उसने यह भी वताया है कि पार्श्वनाथ महावीर से दो सौ पचास वर्प पूर्व हो चुके थे और महावीर का निर्वाणकाल ४७७ ई० पू० था. टोपरा के शिलालेख से विदित होता है कि अशोक महान् जैनो से 'निगण्ठ' नाम से परिचित था

योरप मे जैन सशोधन की प्रगति को देखते हुए पिशेल (Pischel) ने आशा व्यक्त की थी कि जैनशास्त्रो के मूलपाठो के सम्पादन एव प्रकाशन के निमित्त एक जैन-ग्रन्थ पाठ-प्रकाशन समिति की स्थापना हो सकेगी, परन्तु उनका यह स्वप्न पूरा न हो सका इतना अवश्य हुआ कि भारत के जैन-समाज मे चेतना आ गई और आगमोदय समिति आदि अनेक सस्थाओ ने इस दिशा मे कदम आगे बढाया अनेक जैन ग्रन्थो का सटिप्पण, सावचूरि एव निर्युक्ति सहित प्रकाशन हुआ. इससे एक लाभ यह हुआ कि पहले जो मूल ग्रन्थ योरपीय विद्वानो के हाथ लगे थे वे वडी अस्तव्यस्त दशा मे थे और वे उनके पाठ को ठीक-ठीक समझ नही पाते थे विविध प्रतिलिपिकर्त्ताओ ने लम्बी प्रशस्तियाँ अथवा प्रचलित पाठ का सक्षिप्त रूप देकर उन्हे और भी दुर्गम्य वना दिया था ऐसी प्रतियो मे दिये हुए सकेतो को समझना जैन-विद्वानो की सहायता के विना सभव नही था व्यूह्लर ने अपनी रिपोर्ट मे लिखा है कि बहुत-सा जैन साहित्य तलघरो मे प्रच्छन्न अवस्था मे पडा है जिसके विपय मे स्वय जैनो को अथवा उन भण्डारो के सरक्षको तक को ठीक-ठीक पता नही है जैसलमेर के वडे भण्डार को देखने जब वह गये तो वहाँ ग्रन्थो की सख्या के विपय मे कुछ का कुछ वता दिया गया अस्तु—भारतीय जैन विद्वानो के आगे आने से योरपीय सशोधको का भी मार्ग बहुत कुछ सरल हो गया और वे इसमे अधिकाधिक रस लेने लगे इसके फलस्वरूप लिउमैन (Leumann) ने जैन-सिद्धान्तो का अध्ययन करके आवश्यक सूत्रो पर कार्य किया और जैन-कथाओ के विपय मे भी अपने अभिमत प्रकट किए. हर्टेल (Hertel) ने कथाओ को लेकर, विशेषत गुजरात मे प्राप्त साहित्य के आधार पर, बहुत अध्ययन किया उसने इन कथानको के आधार पर भारतीयेतर साहित्य मे भी समानान्तर आधार-कथाओ का अन्वेपण किया[1] हर्टेल का कहना है कि जैन-कथाओ मे सस्कृत भापा का जो रूप प्रयुक्त हुआ है वह साधारण वोलचाल की भाषा थी, जिसमे प्राकृत अथवा प्रातीय वोलियो के बहुत से शव्द स्वत सम्मिलित हो गये है. यदि आज की भाषा मे कहे तो उन पर आचलिक छाप लगी हुई है, जो शास्त्रीय व्याकरण-सम्मत भापा से भिन्न है वैसे भी, प्राकृत शव्दो, सस्कारित प्राकृत लोकभापादि के शव्दो, विविध व्याकरणो से लिए हुए शव्दो और अज्ञातमूलक शव्दो का सभार[2] जैन-सस्कृत की विशिष्टता मानी जाती है

साहित्यिक और ऐतिहासिक अनुसधान मे ग्रन्थ-सूचियाँ बहुत काम की होती है यदि इनको अनुसधान-भित्ति की आधार-शिलाएँ भी कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी इस दिशा मे क्लाट (Klatt) ने पहल की थी उसने जैन-ग्रथकारो और ग्रथो की इतनी वडी अनुक्रमणिका तैयार की थी कि वह प्राय ११००-१२०० पृष्ठो मे मुद्रित होती परन्तु दैवदुर्विपाक से वह विद्वान् किसी गम्भीररोग के चक्कर मे पड गया और कार्य पूरा होने से पूर्व ही चल वसा वेवर और लिउमैन

१ History of Indian Literature by Winternitz, Pt II

२ Bloomfield



ने उस सकलन मे से कोई ५५ पृष्ठ नमूने के रूप मे छपाए है.[1] इसके बाद जैन-ग्रन्थो के सूचीकारो मे ग्युरिनाट (Guerınot) का नाम आता है, जिसने अपना "जैन ग्रन्थ-सूची पर निबन्ध" १९०६ ई० मे प्रकाशित कराया. इसी प्रकार जैन शिलालेखो पर भी अपना निबन्ध दो वर्ष बाद प्रकट किया तदनन्तर ल्युडर्स (Luders) ने भी अपने ब्राह्मी-लेखो की सूची मे जैन-पट्टावलि और परम्परा पर सम्यक् प्रकाश डाला है.[2]

जब जैन-साहित्य-सशोधन का प्रसग आता है तो इस बात को भुलाया नही जा सकता कि जैन साहित्य के प्रति सर्व-प्रथम आकृष्ट करने का श्रेय जार्ज ब्यूह्लर को है. उसने बम्बई प्रेसीडेन्सी की सेवा में रहते हुए भारतीय, विशेषत. जैन साहित्य के उद्धार की दिशा में १७ वर्षो तक बहुत बडा काम किया है. इसके परिणाम-स्वरूप बहुत से ग्रन्थसग्रहो के विवरण, अज्ञात ग्रन्थो के मूलपाठ, चूर्णिकाये आदि और अवचूरियाँ प्रकाश में आई और बहुत से विदेशी विद्वानो ने उन पर काम करके समीक्षात्मक निबन्ध लिखे और लिख रहे है. श्रीमती एस०स्टीवेन्सन नाम की महिला गुजरातमें ईसाई धर्म की प्रचारिका होकर आई थी. उन्होने "The Heart of Jaınısm" नामक निबन्ध १९१५ मे प्रकट किया और उसमे दिगम्बर शाखा की पूर्ण समीक्षा की इससे पूर्व भी श्रीमती स्टीवेन्सन ने "आधुनिक जैन धर्म" पर अपनी टिप्पणी १९१० ई० मे आक्सफॉर्ड से प्रकाशित कराई थी. ग्युरिनॉट ने "जैनो के धर्म" नामक पुस्तक १९२६ मे लिखी और उसमे प्रस्तुत तथ्यो पर विद्वज्जगत् मे खूब चर्चा रही. इससे एक वर्ष पूर्व ग्लेसनॅप (Glasenapp) लिखित "Der Janısmus, Eıne Indısche Erlosungurelıgıon नामक पुस्तक सन् १९२५ ई० मे प्रकाश में आ चुकी थी, जिसमे जैन और अन्य भारतीय धर्मो का तुलनात्मक समीक्षण किया गया है. इसी लेखक ने एक और पुस्तक लिखी है जिसमें जैन-साहित्य की प्रतिनिधि कृतियो पर मन्तव्य प्रकट किए गए है[3]

बहुत समय तक तो भारतीय जैनो को इस बात का पूरा-पूरा पता ही नही चला अथवा बहुत कम पता चला कि उनके साहित्य पर विदेशो मे कितना और क्या अनुसधान हो रहा है अथवा, अधिक से अधिक उन्हे केवल अग्रेजी मे लिखित पुस्तको और निबन्धो का ही किसी अश तक परिचय प्राप्त हो सका. जर्मन और अन्य पाश्चात्य भाषाओ मे जो काम हुआ वह तो उनकी पहुँच के बाहर ही रहा. परिणाम यह हुआ कि पाश्चात्यो द्वारा किए हुए श्रम का विवरण प्राय वही तक सीमित रहा उदाहरणार्थ, जैकाबी द्वारा किए गए काम का केवल वही अश हमारी जानकारी मे आया जो अग्रेजी मे था और बहुत कुछ अपरिचित ही रहा परन्तु, जो कुछ सामग्री भारत मे अवगत हो सकी वही जैकोबी साहब को १९१४ ई० मे "जैनदर्शनदिवाकर" की पदवी प्राप्त कराने मे पर्याप्त सिद्ध हुई प्राकृत साहित्य पर वैज्ञानिक ढग से शोध करने वालो मे प्रो० जैकाबी का नाम सबसे आगे रहेगा.

इसी प्रकार वर्त्तमान मे जैन सशोधन के ख्यातनामा विद्वान् वाल्थर शुब्रिङ् ने भी "डाक्ट्रिन् आफ दी जैन्स" नामक पुस्तक लिखकर इस परम्परा मे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है

इस लेख द्वारा यह बतलाने का प्रयास किया गया है कि भारतीय-सस्कृति के पुनरुद्धार के लिए इन विदेशी विद्वानो ने सबसे प्रथम कदम उठाए और आगे आने वाले सशोधको के लिए आधारभूमि तैयार की. यद्यपि इनके सभी कथन पूरी तरह से प्रमाणित नही है, फिर भी, शोध की जिस प्रणाली का सूत्रपात इन लोगो द्वारा हुआ है वह वैज्ञानिक और सुदृढ माना जा सकता है



१ Indıan Antıquary. P.23, 169
२ एपिग्राफिया एण्डिका भा० १०—परि०
३. Essaı de Bıblıographıe Jaina, Parıs, 1906.



श्रीअगरचन्द नाहटा

रामचरित सम्बन्धी राजस्थानी जैन साहित्य

जैनागमो के अनुसार मर्यादापुरुषोत्तम राम आठवे बलदेव और लक्ष्मण आठवें वासुदेव है रावण को प्रतिवासुदेव माना गया है इन सब की त्रेसठ शलाका महापुरुषो मे गणना होती है. समवायाग सूत्रादि मे राम का नाम 'पउम' मिलता है अत रामचरित सम्वधी प्राचीन ग्रन्थो का नाम 'पउमचरिय' पद्मचरित व पद्मपुराण पाया जाता है विमलसूरि रचित 'पउमचरिय' नामक प्राकृत चरितकाव्य सब से पहला ग्रथ है जिसमे जैनदृष्टिकोण से राम-कथा का निरूपण किया गया है प्राकृत मे मौलिक चरितकाव्यो का प्रारम्भ इसी ग्रथ से होता है प्रस्तुत ग्रथ मे उल्लेखानुसार इस ग्रथ की रचना वीर निर्वाण सवत् ५३० मे हुई थी अपभ्र श भाषा के चरितकाव्य का प्रारम्भ भी रामकथा से ही होना है कवि स्वयभू का 'पउमचरिय' अपभ्रंश का सर्वप्रथम विशिष्ट महाकाव्य है स्वयभू का समय आठवी शताब्दी माना जाता है उपर्युक्त दोनो प्राकृत व अपभ्रश के रामकाव्य हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित हो चुके है प्राकृत पउमचरिय के आधार से आचार्य रविषेण ने सस्कृत पद्मचरित नामक (वि०स० १२०३) काव्य बनाया वह भी प्रकाशित हो चुका है अन्य भी कई रामचरित सम्बन्धी जैन ग्रथ छपे है. अज्ञातकर्तृक 'सीताचरित' नामक प्राकृत काव्य अभी अप्रकाशित है 'चउपन्न महापुरुपचरिय' 'त्रिपष्ठिशलाकापुरुपचरित' और 'महापुराण' मे भी रामकथा गुफित है ये सभी छप चुके है रामकथा के प्रधानतया दो रूपान्तर[1] जैन साहित्य मे प्राप्त होते है 'वसुदेवहिन्डी' नामक पाचवी शताब्दी के कथाग्रथ मे भी रामकथा सक्षेप मे प्राप्त होती है इस प्रकार रामचरित सम्बन्धी जैन साहित्य प्रचुर परिणाम मे प्राप्त है.

प्रस्तुत लेख मे राजस्थानी व हिन्दी की रामचरित सम्बन्धी जैन रचनाओ का ही सक्षिप्त विवरण प्रकाशित किया जा रहा है

राजस्थानी भापा मे रामचरित सम्बन्धी रचनाओ का प्रारम्भ १६ वी शताब्दी से होने लगता है और २० वी के लगभग ४०० वर्प तक उसकी परपरा निरतर चलती रही है उपलब्ध राजस्थानी भापा के रामचरित गद्य और पद्य दोनो मे प्राप्त है इसी प्रकार जैन और जैनेतर भेद से भी इन्हे दो विभागो मे बाँटा जा सकता है इनमे जैन रचनाओ की प्राचीनता व प्रधानता विशेप रूप से उल्लेखनीय है अत प्रस्तुत लेख मे राजस्थानी की रामकथा सम्बन्धी रचनाओ का ही विवरण दिया जाता है.

रामचरित सम्बन्धी राजस्थानी जैन रचनाओ मे से कुछ तो सीता के चरित को प्रधानता देती है, कुछ रामचरित को

---

१ देखो नाथूराम प्रेमी लि० पउमचरिय लेख



कुछ पूर्ण रूप से विस्तार से चरित उपस्थित करती है तो कुछ प्रसग विशेष को सक्षिप्त रूप मे प्राप्त सभी रचनाओ का सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(१) दि० ब्रह्म जिनदास रचित रामचरित काव्य ही राजस्थानी का सबसे पहिला रामकाव्य है इस रामायण की रचना स० १५०८ मे हुई है. इसकी हस्तलिखित प्रति डुगरपुर के दि० जैन मदिर के शास्त्रभण्डार मे है. देखिए—राष्ट्रभारती के दिस० ६३ में प्रकाशित मेरा लेख.

(२) रामसीतारास (भास १२) जिनदास गुणकीर्ति, नैनवा दि० शास्त्रभण्डारस्थ गुटका प्राप्त हुआ है देखो राष्ट्र-भारती फरवरी ६४ में प्रकाशित मेरा लेख

(३) इसके बाद के राजस्थानी रामकाव्य मे 'जैन गुर्जर कविओ' भाग १ के पृष्ठ १६०९ मे उपदेश गच्छीय उपाध्याय विनयसमुद्र रचित पद्मचरित का उल्लेख पाया जाता है यह रामकाव्य स० १६०४ के फाल्गुन में बीकानेर मे रचा गया एव पद्मचरित्र के आधार से बनाया गया है विनयसमुद्र के पद्मचरित की प्रति गौडीजी भण्डार उदयपुर मे भी है. कवि के सम्बन्ध मे राजस्थानभारती मे मेरा लेख द्रष्टव्य है.

(४) पिगलशिरोमणि-सुप्रसिद्ध कवि कुशललाभ ने जैसलमेर के महाराजकुमार हरराज के नाम से यह मारवाडी भाषा का सर्वप्रथम छन्दग्रथ बनाया है. इसमें उदाहरण रूप मे रामकथा वर्णित है राजस्थानी शोध सस्थान, जोधपुर से यह ग्रथ प्रकाशित हो चुका है

(५) सीताचउपई—यह ३२७ पद्यो की छोटी-सी रचना है इसमे सीता के चरित्र की प्रधानता है खरतरगच्छ के जिन-प्रभ सूरि शाखा के सागरतिलक के शिष्य समयध्वज ने इसकी रचना सवत् १६११ मे की श्रीमाल भरदुला गोत्रीय गूजर वशीय गढमूल के पुत्र भीषण और दरगहमल के लिये इसकी रचना हुई है इसकी सवत् १७०२ मे लिखित १६ पत्र की प्रति हसविजय लाइब्रेरी, वडौदा मे है.

(६) सीताप्रवध—यह ३४९ पद्यो मे है १६२८ में रणथभोर के शाह चोखा के कहने से यह रचा गया 'जैनगुर्जर कविओ' भाग ३ पृष्ठ ७३३ मे इसका विवरण मिलता है इसकी प्रति नाहर जी के सग्रह (कलकत्ते) मे भी है.

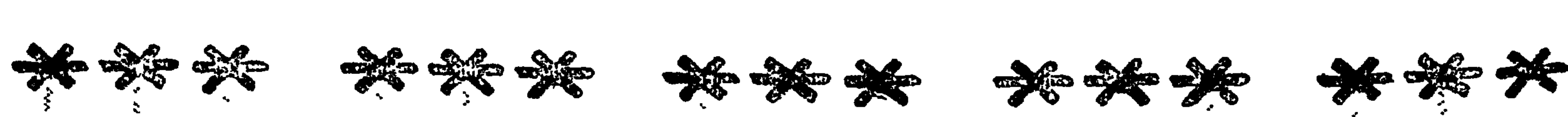
(७) सीताचरित—यह सात सर्गो का काव्य पूर्णिमागच्छीय हेमरतनरचित है महावीर जैन विद्यालय तथा अनन्तनाथ भडार वम्बई एव बडौदा मे इसकी प्रतियाँ है पद्मचरित्र के आधार से इसकी रचना हुई है रचनाकाल का उल्लेख नही किया, पर हेमरत्न सूरि के अन्य ग्रथ सवत् १६३६-४५ मे (मारवाड मे) रचित मिलते है अत सीताचरित की रचना इसी के आसपास होनी चाहिए.

रामसीतारास—तपागच्छीय कुशलवर्द्धन के शिष्य नगर्षि ने इसकी रचना १६४९ मे की हालाभाई भडार, पाटण मे इसकी प्रति है 'जैन गुर्जर कविओ' भाग १ पृष्ठ २९० मे इसकी केवल एक ही पक्ति उद्धृत होने से ग्रथ की पद्यसख्यादि परिमाण का पता नही चल सका

(९) लवकुशरास—पीपलच्छ के राजसागर रचित इस रास मे राम के पुत्र लव-कुश का चरित्र वर्णित है पद्य-सख्या ५०५ (ग्रथाग्र ९००) है सवत् १६७२ के जेठ सुदि बुधवार को थिरपुर मे इसकी रचना हुई है उपर्युक्त हाला-भाई, पाटण भडार मे इसकी १२ पत्रो की प्रति है.

(१०) लवकुश छप्पय गा० ७० भ० महीचन्द्र(डूगरपुर दि० भ०)

(११) सीताविरह लेख—इसमे ६१ पद्यो मे सीता के विरह का वर्णन (पत्रप्रेषण के रूप मे) किया गया है. सवत् १६७१ की द्वितीय आषाढ पूर्णिमा को कवि अमरचन्द ने इसकी रचना की जैन गुर्जर कविओ, भाग १, पृष्ठ ५०८ मे इसका विवरण मिलता है



(१२) सीताराम चौपई—महाकवि समयसुन्दर की यह विशिष्ट कृति है. रचनाकाल व स्थान का निर्देश नही है पर इसके प्रारम्भ मे कवि ने अपनी अन्य रचनाओ का उल्लेख करते हुए नलदमयती रास का उल्लेख किया है जो कि सवत् १६७३ मे मेडते मे श्री राजमल के पुत्र अमीपाल खेतसी, नेतसी तेजसी, और राजसी के आग्रह से रचा गया है अत सीताराम चउपई सवत् १६७३ के वाद ही (इन्ही राजसी आदि के आग्रह से रचित होने के कारण से) रची गई है इसके छठे खड की तीसरी ढाल मे कवि ने अपने जन्मस्थान साचोर मे उस ढाल को वनाने का उल्लेख किया है. कविवर का रचित साचोर का महावीर स्तवन सवत् १६७७ के माघ मे रचा गया है सभव है, कि उसी के आस पास यह ढाल भी रची गई है सीताराम चउपई की सवत् १६८३ मे लिखित प्रति ही मिलती है अत इसका रचनाकाल सवत् १६७३ से १६८३ के बीच का निश्चित है

प्रस्तुत चउपई नवखड का महाकाव्य है नवो रसो का पोषण इसमे किया जाने का उल्लेख कवि ने स्वय किया है प्रसिद्ध लोकगीतो की देशियो (चाल) मे इस ग्रथ की ढाले बनाई गई है, उनका निर्देश करते हुए कवि ने कौनसा लोकगीत कहाँ कहाँ प्रसिद्ध है, इसका उल्लेख भी किया है जैसे—

(१) नोखारा गीत—मारुत्राडि ढूढाडि, माहे प्रसिद्ध छे.

(२) सूमररा गीत—जोधपुर, मेडता, नागौर, नगरे प्रसिद्ध छे

(३) तिल्लीरा गीत—मेडतादिक देशे प्रसिद्ध छे

(४) इसी प्रकार ''जैसलमेर के जादवा' आदि गीतो की चाल मे भी ढाल वनाई गई है

प्रस्तुत ग्रथ अव हमारे द्वारा सपादित रूप मे प्रकाशित होने को है अत. विशेष परिचय ग्रथ को स्वय पढकर प्राप्त करे

(१३) रामयशोरसायन—विजयगच्छ के मुनि केशराज ने सवत् १८८३ के आश्विन त्रयोदशी को अन्तरपुर मे इसकी रचना की ग्रथ चार खण्डो मे विभक्त है ढाले ६२ है इसका स्थानकवासी और तेरहपथी सम्प्रदाय मे वहुत प्रचार रहा है उन्होने अपनी मान्यता के अनुसार इसके पाठ मे रद्दोवदल भी किया है स्थानकवासी समाज की ओर से इसके २-३ सस्करण छप चुके है पर मूल पाठ 'आनन्द काव्य महोदधि' के द्वितीय भाग मे ठीक से छपा है इसका परिमाण समयसुन्दर के सीताराम चौपाई के करीव का है इसकी दो हस्तलिखित प्रतिया हमारे सग्रह मे है

(१४) रामचन्द्र चरित्र—लोकागच्छीय त्रिविक्रम कवि ने सवत् १६९९ सावण सुदी ५ को हिसार पिरोजा डग मे इसकी रचना की त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित्र के आधार से नवखण्डो एव १३५ ढालो मे यह रचा गया है इसकी १३० पत्रो की प्रति प्राप्त है, जिस के प्रारम्भ के २५ पत्र न मिलने से तीन ढालें प्राप्त नही हुई हैं इस शताब्दी के प्राप्त ग्रथो मे यह सब से बडा राजस्थानी रामकाव्य है

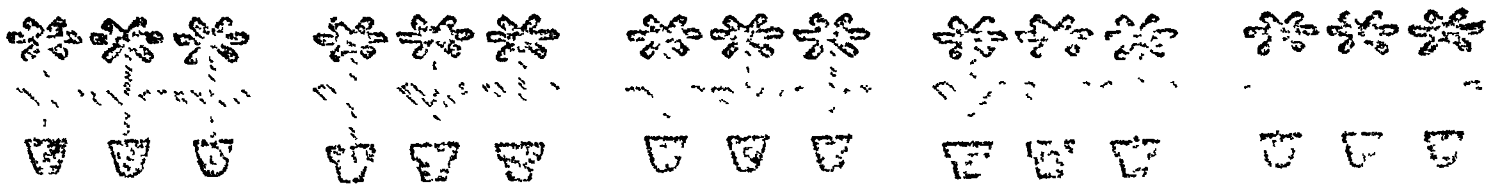
१८ वीं शताब्दी

(१५) रामायण—खरतरगच्छीय चारित्रधर्म और विद्याकुशल ने सवत् १७२१ के विजयादशमी को सवालसदेम के लवणसर मे इसकी रचना की प्राप्त जैन राजस्थानी रचनाओ मे इसकी यह निराली विशेपता है कि कवि ने जैन होने पर भी इसकी रचना जैन रामचरित ग्रथो के अनुसार न करके, वाल्मीकि रामायण आदि के अनुमार की है—

> वाल्मीक वाशिष्टरिसि, कथा कही सुभ जेह।
> तिण अनुसारे रामजस, कहिये घणे सनेह॥

सुप्रसिद्ध वाल्मीकि—रामायण के अनुसार इसमे वालकाण्ड, उत्तरकाण्ड आदि सात काण्ड है. रचना ढालबद्ध है ग्रथ का परिमाण चार हजार श्लोक से भी अधिक का है सिरोही से प्राप्त इसकी एक प्रति हमारे सग्रह मे है

(१६) सीता आलोयणा—लोकागच्छीय कुशल कवि ने ९३ पद्यो मे सीता के वनवास समय मे की गई आत्मविचारणा



का इसमे गुफन किया है कवि की अन्य रचनाए स० १७४६-८६ की प्राप्त होने से इसका रचनाकाल, १८ वी शताब्दी निश्चित है.

(१७) **सीताहरण चौढालिया**—इसमे तपागच्छीय दौलतकीर्ति ने ४६ पद्यो एव ४ ढालो में सीताहरण के प्रसग का वर्णन किया है रचना बीकानेर मे सवत् १७८४ मे बनाई गई है इसकी दो पत्रो की प्रति हमारे सग्रह मे है.

(१८) **रामचन्द्र आख्यान**—इसमे धर्मविजय ने ५५ छप्पय (कवित्तो) में रामकथा सक्षेप मे वर्णन की है इसकी पाच पत्रो की प्रति (१९ वी शताब्दी के प्रारम्भ की लि०) मोतीचन्द्र जी खजाची के सग्रह मे है अतः रचना १८ वी शताब्दी की होनी सभव है

ब्र० जिनदास, गुणकीर्ति महीचन्द्र के रामचरित को छोड कर उपर्युक्त सभी रचनाए श्वेताम्बर विद्वानो की है. अन्य दिगम्बर रचनाओ में सवत् १७१३ मे रचित—

(१९) सीताचरित हिन्दी मे है जो कवि रायचन्द द्वारा रचित है. उसकी १४४ पत्रो की प्रति आमेर भडार में है. गोविंद पुस्तकालय, बीकानेर मे भी इसकी एक प्रति है.

(२०) सीताहरण—दि० जयसागर ने सवत् १७३२ में गधार नगर मे इसकी रचना की भाषा गुजराती मिश्रित राजस्थानी है. उसकी ११३ पत्रो की प्रति उपर्युक्त आमेर भडार मे है

१९ वीं शताब्दी

(२१) **ढालमंजरी-रामरास**—तपागच्छीय सुज्ञानसागर कवि ने सवत् १८२२ मगसिर सुदी १२ रविवार को इसकी उदयपुर मे रचना की भाषा मे हिन्दी का प्रभाव भी है चरित्र काफी विस्तार से वर्णित है ग्रथ ९ खण्डो मे विभक्त है इसकी प्रति लीवडी के ज्ञान भडार मे १८१ पत्रो की है सभवत राजस्थानी जैन रामचरित्र ग्रथो मे यह सब से बडा है ग्रथकार वडे वैरागी एव सयमी थे. इनकी चौबीसी आदि रचनाए भी प्राप्त है.

(२२) **सीता चउपई**—तपागच्छीय चेतनविजय ने सवत् १८५१ के वैसाख सुदि १३ को वगाल के अजीमगज मे इसकी रचना की. इनको अन्य रचनाओ की भाषा हिन्दी प्रधान है. प्रस्तुत चौपाई की १८ पत्रो की प्रति बीकानेर के उ० जयचन्दजी के भडार व कलकत्ते के श्रीपूर्णचन्द नाहर के सग्रह में है परिमाण मध्यम है

(२३) **रामचरित**—स्था० ऋषि चौथमल ने इस विस्तृत ग्रथ की रचना की. श्री मोतीचन्दजी खजाची के सग्रह मे इसकी दो प्रतिया पत्र ९५ व ८४ की हैं जिनमे से एक मे, अन्त के कुछ पत्र नही है और दूसरी मे अन्त का पत्र होने पर भी चिपक जाने से पाठ नष्ट हो गया है इसका रचनाकाल स० १८६२ जोधपुर है इनकी अन्य रचनाऋषिदत्ता चौपाई स० १८६४ देवगढ (मेवाड) मे रचित है प्रारम्भिक कुछ पद्यो को पढने पर ज्ञात हुआ कि समयसुन्दर की सीताराम चौपाई के कुछ पद्य तो इसमे ज्यो के त्यो अपना लिये गये है.

(२४) **रामरासो—लछमण सीता वनवास चौपाई**—ऋषि शिवलाल ने सवत् १८८२ के माघ वदि १ को बीकानेर की नाहटो की बगीची मे इसकी रचना की इसमे कथा सक्षिप्त है. १२ पत्रो की प्रति स्व० यति मुकन जी के सग्रह मे देखी है

२० वीं शताब्दी

(२५) **रामसीताढालीया**—तपागच्छीय ऋषभविजय ने सवत् १९०३ मिगसिर वदि २ बुधवार को सात ढालो मे सक्षिप्त चरित्र वर्णन किया है भाषा गुजराती प्रधान है.

(२६) वीसवी के उत्तरार्द्ध मे अमोलक ऋषि ने सीताचरित्र बनाया है वह मैंने देखा नही है पर उसकी भाषा भी हिन्दी प्रधान होगी

बीसवीं शती में (२७) शुक्ल जैन रामायण स्था० मुनि—शुक्लचन्द जी

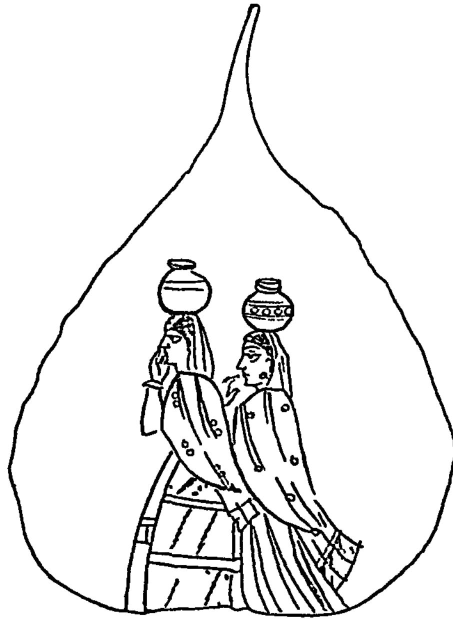
(२८) सरल जैन रामायण—कस्तूरचन्द्रजी

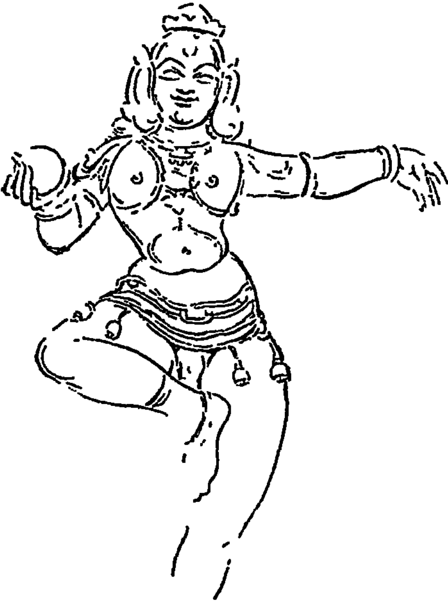
(२९) आदर्श जैन रामायण—चौथमल जी ने निर्माण की है

फुटकर 'सती सीतागीत' आदि तो कई मिलते हैं गद्य मे कई बालावबोध ग्रथो मे 'सीताचरित्र' सक्षेप मे मिलता है. उसका यहा उल्लेख नही किया जा रहा है केवल एक मौलिक सीताचरित की अपूर्ण प्राचीन प्रति हमारे सग्रह मे है उसी का कुछ विवरण दिया जा रहा है—

(३०) सीताचरित्र भाषा—इसकी १८ पत्रो की अपूर्ण प्रति हमारे सग्रह मे है जो १६ वी या १७ वी के आरम्भ की लिखित है अत इसकी रचना १६ वी शताब्दी की होनी सम्भव है इसी तरह का एक अन्य सक्षिप्त सीताचरित्र (गद्य) मुनि जिनविजय जी सग्रह (भारतीय विद्याभवन, बम्बई) मे है

इस प्रकार रामकथा सम्बन्धी यथाज्ञात राजस्थानी—गुजराती व हिन्दी रचनाओ का सक्षिप्त विवरण दिया गया है खोज करने पर और भी मिलने सभव है





श्रीमहावीर कोटिया

जैन कृष्ण-साहित्य

श्रीकृष्ण भारत राष्ट्र की अन्यतम विभूति है. उनका चरित-वर्णन व्यापक रूप से लोकरुचि का विषय रहा है. राष्ट्र की सभी धार्मिक विचारधाराओ व उनसे प्रभावित साहित्य मे उनका (अपनी-अपनी मान्यतानुसार) वर्णन उपलब्ध है वैष्णव-साहित्य मे उनका स्वय भगवान् का रूप (कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्—भा० पुराण १।३।२२) प्रमुख है, पर इसके आवरण मे महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थो मे उनके वीरश्रेष्ठ स्वरूप की ही पूजा हुई है. जैनो के निकट वे शलाका-पुरुष वासुदेव है, जो कि महान् वीर व श्रेष्ठ अर्ध चक्रवर्ती शासक होता है. बौद्ध जातक-कथाओ[१] मे भी उनका एक वीर, शक्तिशाली व विजेता राजपुरुष के रूप मे वर्णन हुआ है. स्पष्ट है कि उक्त धार्मिक विचारधाराओ मे चाहे श्रीकृष्ण सम्बन्धी मान्यता की दृष्टि से बाह्य विभिन्नता रही हो, पर मूलत सभी मे उनके वीरश्रेष्ठ स्वरूप का यशो-गान प्रमुख है

बताया जा चुका है कि जैन परम्परा मे श्रीकृष्ण की पुरुषशलाका वासुदेव के रूप मे मान्यता है. शलाका पुरुष से तात्पर्य है श्रेष्ठ (महापुरुष) । शलाका पुरुष त्रेषठ कहे गये है; तीर्थंकर २४, चक्रवर्ती १२, बलदेव ६, वासुदेव ६ तथा प्रति-वासुदेव ६ जैन पुराण ग्रन्थो व चरित-काव्यो मे इन महापुरुषो का ही जीवन-चरित्र वर्णित हुआ है श्रीकृष्ण नवमे (या अन्तिम) वासुदेव थे[२]

वासुदेव श्रीकृष्ण एक शक्तिशाली वीर व अर्ध चक्रवर्ती शासक थे. वैताढ्य गिरि (विन्ध्याचल) से लेकर सागर पर्यन्त सम्पूर्ण दक्षिण भारत के वे एक मात्र अधिपति बताये गये है.[३] उत्तर भारत की राजनीति मे भी उनका विशिष्ट स्थान था. अपने शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी जरासन्ध व उसके सहायक कौरवो के पराभव के बाद हस्तिनापुर के राज्यसिंहासन पर पाण्डवो को प्रतिष्ठित कर उन्होने उत्तर भारत में भी अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित किया. उत्तर-भारत की अन्य बहुत सी राज-नगरियो के अत्याचारी शासको का दमन कर, उन्होने उनके उत्तराधिकारियो को उनके स्थान पर प्रति-ष्ठित कर अपने प्रभाव व लोकप्रियता में वृद्धि की. इस तरह जैन-साहित्य के अध्ययन से हमे पता चलता है कि श्रीकृष्ण भारत के ऐसे महापुरुष थे, जिन्होने देश में बिखरी हुई राजनीतिक शक्तियो को एकत्रित किया और उसमे सफलता भी प्राप्त की

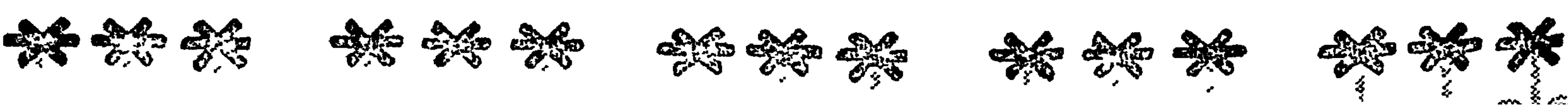
जैन-कृष्ण-साहित्य के अध्ययन से भारतीय इतिहास के कई लुप्त तथ्य भी हमारे सामने उद्घाटित होते है. इनमें से एक

---

१. देखिये 'घतजातक'

२ नवमो वासुदेवोऽयमिति देवा जगुस्तदा—हरिवशपुराण ५५-६०.

· बारवईए नयरोए अद्धभरहस्स य समत्तस्स य आहेवच्च जाव विहरइ—अन्तगडदशासूत्र १ ५



तथ्य है, उस समय के धार्मिक नेता अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) के साथ श्रीकृष्ण के पारिवारिक सम्बन्धो की जानकारी अरिष्टनेमि जैन-परम्परा के २२वें तीर्थंकर के रूप मे प्रतिष्ठित है महावीर स्वामी के अतिरिक्त जैन-परम्परा के अन्य २३ पूर्व तीर्थकरो को अब तक अधिकाश लोग कपोल-कल्पना कहते रहे है, और बहुत से अब भी कहते है पर यह भ्रम विद्यालयो मे पढाये जाने वाले वर्तमान इतिहास का फैलाया हुआ है. जहाँ तक अरिष्टनेमि की ऐतिहासिकता का प्रश्न है, भारत के महान् प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद (अ० ६ मन्त्र २५) यजुर्वेद तथा महाभारत आदि मे उनका उल्लेख उपलब्ध है

जैन-परम्परा से हमे ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण व अरिष्टनेमि चचेरे भाई थे[1] अरिष्ट नेमि के साथ इस सम्बन्ध के कारण जैन-साहित्य मे श्रीकृष्ण का एक विशिष्ट व्यक्तित्व रहा है एक श्रेष्ठ राज-नेता व अति पराक्रमी वीर पुरुष होने के साथ ही श्रीकृष्ण की धर्म के प्रति अभिरुचि भी प्रबल बताई गई है नेमिनाथ की अहिसा-भावना का प्रभाव उनके जीवन मे स्पष्ट देखा जा सकता है उन्होने वैदिक-काल के हिंसापूरित यज्ञ का विरोध किया, तथा उस यज्ञ को उत्तम बताया जिसमे जीवहिंसा नही होती उन्होने यज्ञ की अपेक्षा कर्म को महान् बताया जैन-आगम ग्रन्थो मे[2] श्रीकृष्ण से सम्बन्धित ऐसे बहुत से प्रसग आये है, जब कि अरिष्टनेमि के द्वारिका आगमन पर श्रीकृष्ण सब राज्य-कार्यो को छोड सकुटुम्ब उनके दर्शन व उपदेश श्रवण को जाया करते थे वे दीक्षा-समारोह मे भी भाग लेते रहते थे स्वय उनके कुल के बहुत से सदस्यो ने, जिनमे उनकी अनेक रानियाँ व पुत्र आदि भी थे, अर्हत अरिष्टनेमि से दीक्षा ग्रहण की श्रीकृष्ण के बहुमुखी व्यक्तित्व के इस पहलू ने उन्हे, जैन-साहित्य मे अत्यधिक प्रमुख बना दिया है अरिष्ट-नेमि विषयक जितना भी जैन-साहित्य उपलब्ध है, उस सबमे श्रीकृष्ण का चरित-वर्णन अति महत्त्वपूर्ण रहा है, बहुतसी कृतियो मे तो वे अरिष्टनेमि से भी अधिक प्रमुख बन गये है इसके अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से भी उनके जीवन-चरित के विभिन्न प्रसगो का सविस्तार वर्णन हुआ है तथा पाण्डव-गण, गजसुकुमाल व प्रद्युम्नकुमार आदि से सम्बन्धित कृतियो मे भी उनका वर्णन अति प्रमुख रहा है इससे जैन-साहित्यकारो के श्रीकृष्ण-चरित के प्रति आकर्पण का पता लगता है विभिन्न भारतीय प्राचीन व अर्वाचीन भाषाओ—यथा प्राकृत,सस्कृत, अपभ्र श, हिन्दी, कन्नड, तामिल, तेलुगु तथा गुजराती आदि मे सैकडो की मात्रा मे कृष्ण-सम्बन्धी कृतियाँ उपलब्ध है प्रस्तुत लेख मे प्राकृत, सस्कृत, अपभ्र श तथा हिन्दी भाषा मे उपलब्ध जैन-कृष्ण-साहित्य का अति सक्षिप्त-सा परिचय दिया गया है आशा है यह परिचय जहाँ पाठक को कृष्ण-साहित्य सम्बन्धी नवीन जानकारी देगा, वही उसे जैन-साहित्य की विशालता का अनुमान कराने मे भी सहायक सिद्ध होगा

प्राकृत-जैन-कृष्ण साहित्य—जैनधर्म के मूल ग्रथ आगम कहे गये है इनका प्ररूपण स्वय भगवान् महावीर ने किया था, परन्तु सकलन भगवान् के गणधरो [शिष्यो] ने किया प्राकृत-जैन कृष्ण साहित्य की दृष्टि से प्रथम स्थान आगम-ग्रथो का ही है आगमो का उपलब्ध सकलन ई० सन् की ६ठी शताब्दी का है आगम ग्रथो की सख्या ४६ है—अग १२, उपाग १२, छेदसूत्र ६, मूलसूत्र ४, प्रकीर्णक १०, चूलिका सूत्र २. कृष्णसाहित्य की दृष्टि से निम्न आगमग्रथ महत्त्वपूर्ण है .

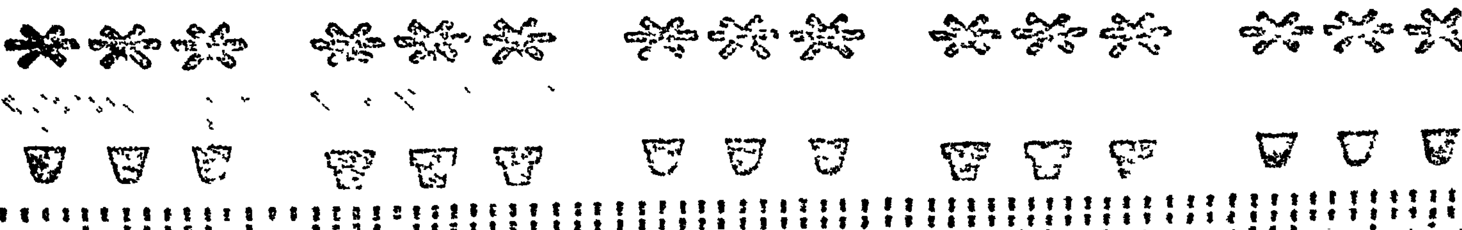
[१] **स्थानांग**—इस सूत्र के आठवे अध्ययन मे श्रीकृष्ण की आठ पटरानियो [पद्मावती, गौरी, गान्धारी, लक्ष्मणा, सुसीमा, जाम्बवती, सत्यभामा, और रुक्मिणी] का वर्णन हुआ है

[२] **समवायांग**—इस सूत्र मे ५४ उत्तम पुरुषो के वर्णन-प्रकरण मे श्रीकृष्ण का वर्णन हुआ है श्रीकृष्ण वासुदेव थे. वासुदेव का प्रतिद्वन्दी प्रतिवासुदेव होता है जो कि दुष्ट, आततायी तथा प्रजा को त्रास देने वाला होता है वासुदेव का पवित्र कर्तव्य उसका हनन कर पृथ्वी को भार-मुक्त करना है श्रीकृष्ण ने अपने प्रतिद्वन्दी प्रतिवासुदेव जरासन्ध का वध किया था

---

१ उत्तराध्ययन २२ २

२. अन्तगडदसा ३. २३, ५. २, ६ ८. (ज्ञातृधर्मकथा) १. ५ निरयावलिका ५ १२



[३] ज्ञातृधर्मकथा—इस अगग्रथ के पहले स्कन्ध के पाँचवे तथा सोलहवे अध्ययन मे श्रीकृष्ण का वर्णन हुआ है. पाँचवें अध्ययन मे अर्हत् अरिष्टनेमि का रैवतक पर्वत पर आगमन, कृष्ण का दलबल सहित उनके दर्शन व उपदेशश्रवण को जाना तथा थावच्चापुत्र की प्रव्रज्या का वर्णन है. सोलहवे अध्ययन मे पाण्डवो का वर्णन है पाण्डवो की मा कुन्ती श्रीकृष्ण की बुआ थी.

[४] अन्तकृद्दशा—इसमे अन्तकृत् केवलियो की कथाएँ है. आठ वर्ग (अध्ययनो के समूह) है इस ग्रथ मे कृष्णकथा के विभिन्न अगो का स्थान-स्थान पर वर्णन हुआ है प्रथम वर्ग के पहले अध्ययन मे श्रीकृष्ण का द्वारिका के राजा के रूप मे उल्लेख हुआ है तीसरे वर्ग के आठवे अध्ययन मे कृष्ण के सहोदर गजसुकुमाल का प्रसिद्ध जैन आख्यान है पाचवें वर्ग के प्रथम अध्ययन में द्वारिकाविनाश व श्रीकृष्ण की मृत्यु का वर्णन है.

[५] प्रश्नव्याकरण—उपलब्ध प्रश्नव्याकरण सूत्र के दो खण्ड है पहले मे पाँच आस्रवद्वारो का और दूसरे मे पाँच सवरद्वारो का वर्णन है. प्रथम खण्ड के चौथे द्वार में श्रीकृष्ण के युद्ध करने और रुक्मिणी तथा पद्मावती को पाने का उल्लेख है.

[६] निरयावलिका—इसके पाँचवें उपाग वृष्णिदशा के १२ अध्ययन हैं, जिनमे प्रथम अध्ययन में द्वारवती नगरी के राजा कृष्ण वासुदेव का वर्णन है अरिष्टनेमि विहार करते हुये रैवतक पर्वत पर पधारे. कृष्ण वासुदेव हाथी पर सवार हो दल-बल सहित उनके दर्शन व उपदेशश्रवण को गये.

[७] उत्तराध्ययन—कहा जाता है, इसमे भगवान् महावीर के अन्तिम चातुर्मास के समय दिये गये उपदेशो का सग्रह है इसमे ३६ अध्ययन है. २२ वे अध्ययन मे जैन-कृष्ण-कथा के एक महत्त्वपूर्ण प्रसग का उल्लेख है यह प्रसग है श्रीकृष्ण द्वारा अरिष्टनेमि के विवाह का प्रबन्ध करना, भोज के लिये इकट्ठे किये गए पशुओ की करुण पुकार सुन अरिष्टनेमि को वैराग्य हो जाना तथा रैवतक पर्वत पर जाकर उनका तपस्या करना. इस अध्ययन से श्रीकृष्ण का जन्म सोरियपुर मे होना प्रतीत होता है

आगमेतर प्राकृत कृष्णसाहित्य—आगमेतर साहित्य मे (आगम-व्याख्या साहित्य के अतिरिक्त) कृष्ण-कथा का वर्णन करने वाला प्रथम ग्रथ 'हरिवसचरिय' कहा जाता है इसके रचयिता विमलसूरि थे, जिन्होंने चरित-साहित्य के प्रसिद्ध ग्रथ 'पउमचरिय' की रचना की है. परन्तु उक्त ग्रथ अभी तक उपलब्ध नही हो सका है विमलसूरि का समय वि० की प्रथम शताब्दी निश्चित किया जाता है.[1]

[१] वसुदेवहिण्डी—यह एक विशाल ग्रथ है इसके पूर्वार्द्धभाग के रचयिता सघदास गणि तथा उत्तर भाग के रचयिता धर्मदास गणि कहे गये है. सघदास गणि का समय ई० सन् की लगभग पाँचवी शताब्दी कहा गया है[2] ग्रथ का मुख्य विषय श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव के भ्रमण (हिंडन) का वर्णन करना है ग्रथ के दूसरे भाग पीठिया (पीठिका) में श्रीकृष्ण की अग्रमहिषियो का परिचय, रुक्मिणी से प्रद्युम्नकुमार का जन्म, उसका अपहरण, पूर्वभव, माता-पिता से पुन मिलना, जाम्बवती से शबुकुमार का जन्म आदि का वर्णन मिलता है हरिवश कुल की उत्पत्ति तथा कस के पूर्वभवो का वर्णन भी मिलता है. कौरव-पाण्डवो का उल्लेख भी मिलता है इस ग्रन्थ के पूर्वभाग मे ११ हजार श्लोक तथा उत्तरभाग मे १७ हजार श्लोक है[3]

[२] चउप्पन महापुरिसचरियः—यह शीलाचार्य (शीलाकसूरि) की रचना है. इस ग्रथ में जैनधर्म के मान्य ५४ शलाका

१. जैन साहित्य और इतिहास—श्री नाथूराम प्रेमी, पृष्ठ ८७.

२. प्राकृत सा० का इतिहास—डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, पृ० ३८१

३. सोमदेवविरचित कथासरित्सागर की भूमिका —डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० १३.

पुरुषो का वर्णन हुआ है ९ प्रतिवासुदेवो को अलग न गिनकर वासुदेवो के साथ ही गिन लिया गया है इस रचना का समय ई० सन् ८६८ बताया जाता है[1]

[३] भव-भावना—इसके कर्त्ता मलधारि हेमचन्द्र सूरि कहे गये हैं. इन्होंने वि० स० ११७० (सन् १२२३) मे उक्त ग्रन्थ की रचना की[2]

कृति मे १२ भावनाओ का वर्णन है कुल ५३१ गाथाएँ है हरिवश कुल का विस्तार से वर्णन हुआ है कस का वृत्तान्त, वसुदेवचरित, देवकी से वसुदेव जी का विवाह, कृष्ण-जन्म, कसवध, नेमिनाथ-चरित आदि का सुन्दर वर्णन हुआ है. यह प्रकाशित रचना है.

इन्ही कवि की एक अन्य कृति 'उपदेशमालाप्रकरण' है इसमे जैन-तत्त्वोपदेश से सम्बन्धित कितनी ही धार्मिक व लौकिक कथाएँ दी हुई है तपद्वार मे वसुदेव-चरित का वर्णन हुआ है यह भी प्रकाशित रचना है

[४] कुमारपाल-पडिबोह—इस कृति के रचयिता सोमप्रभ सूरि, आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य थे इसकी रचना वि० स० १२४१ मे हुई इस कृति मे उन शिक्षाओ का सग्रह है जो समय-समय पर आचार्य ने गुजरात के चालुक्यवशी राजा कुमारपाल को दी दृष्टान्त रूप मे ५४ कथाएँ भी दी गई है इस क्रम मे मद्यपान के दुर्गुण बताते हुये द्वारिकादहन की कथा तथा तप का महत्त्व बतलाते हुये रुक्मिणी की कथा आई है

[५] कण्हचरिय—प्रस्तुत कृति मे जैन-पुराणो मे वर्णित कृष्ण-कथा को ही प्रस्तुत किया गया है रचयिता तपागच्छीय देवेन्द्र सूरि है, जिन्हे जगच्चन्द्रसूरि का शिष्य बताया गया है देवेन्द्रसूरि का स्वर्गवास सन् १२७० मे हुआ[3] कृति के मुख्य विषय इस प्रकार हैं—वसुदेवचरित, कस की जन्मकथा, कृष्ण-बलदेव के पूर्वभव, कृष्ण-जन्म, नेमिनाथ जी के पूर्व भव व उनका जन्म, कसवध, द्वारिका नगरी का निर्माण, कृष्ण की अग्रमहिपियो का वर्णन, प्रद्युम्न-जन्म, पाण्डवो का वर्णन, जरासन्ध से श्रीकृष्ण का युद्ध, श्रीकृष्ण की विजय, नेमिनाथ-राजुल का कथानक, द्रौपदीहरण व श्रीकृष्ण का उसे वापिस लौटा लाना, गजसुकुमारचरित, थावच्चापुत्र का वृत्तान्त, यादवो की दीक्षा, द्वारिका-दहन, बलराम व कृष्ण का द्वारिका से प्रस्थान, श्रीकृष्ण की मृत्यु, बलदेव जी का विलाप व दीक्षा, पाण्डवो की दीक्षा व नेमिनाथ का निर्वाण आदि

प्राकृत की उक्त कृतियो के अतिरिक्त आगमो के व्याख्या-साहित्य तथा कथा-सग्रहो मे, यथा-कथाकोपप्रकरण, कथारत्न-कोष, आख्यानमणिकोष आदि मे भी कृष्ण-कथा के विभिन्न प्रसग यत्र-तत्र वर्णित हुए है

संस्कृत का जैन-कृष्ण-साहित्य .—जैनो का सस्कृत साहित्य विक्रम की प्रथम शताब्दी से ही उपलब्ध है चरितसाहित्य की दृष्टि से सस्कृतभाषा का प्रथम ग्रन्थ रविषेणाचार्यकृत पद्मपुराण है इसकी रचना सन् ६७६ में हुई[4] उसमे राम की कथा वर्णित है. कृष्ण-कथा की दृष्टि से प्रथम कृति हरिवशपुराण है

(१) हरिवशपुराण :—जैन-साहित्य में इस ग्रन्थ का एक विशिष्ट स्थान रहा है यह एक विशाल ग्रन्थ है ६६ सर्गो मे विभक्त १२ हजार श्लोक परिमित है ग्रन्थ का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय तीर्थंकर नेमिनाथ का वश हरिवश है ग्रन्थ के १८ वे सर्ग से लेकर ६३ वे सर्ग तक यादव कुल तथा श्रीकृष्ण का चरित वर्णन किया गया है.

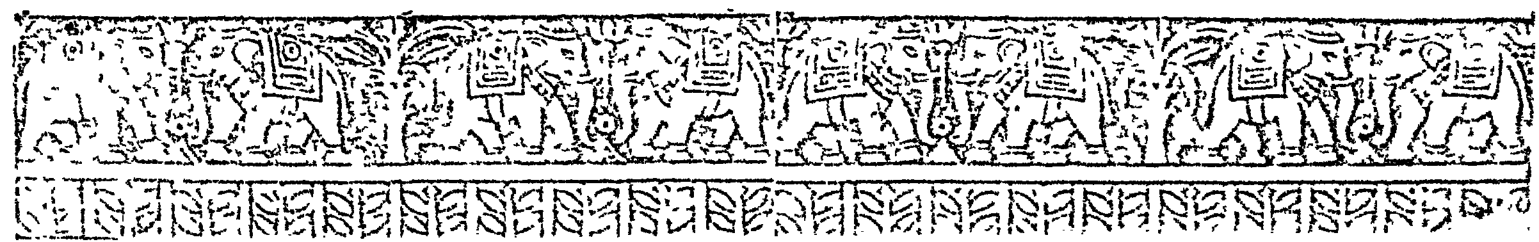
ग्रन्थ का रचनाकाल विक्रम की नवमी शताब्दी का मध्य भाग है यह ग्रन्थ शक सवत् ७०५ (वि० सवत् ८४०) में

१. प्राकृत और उसका साहित्य—डा० हरदेव बाहरी.

२ प्राकृत सा० का इतिहास—डा० जगदीशचन्द्र जैन पृ० ५०७.

३ वही पृ० ५६१

४. जिनसेनकृत हरिवशपुराण की भूमिका—नाथूराम प्रेमी पृ० ३.



पूर्ण हुआ[1] इसके रचयिता पुन्नाटसघीय आचार्य जिनसेन थे.[2]

(२) **महापुराण**:—यह भी जैन-कृष्ण-साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है. इसके दो भाग है—प्रथम आदिपुराण, द्वितीय उत्तर पुराण यह सम्पूर्ण ग्रन्थ ७६ पर्वो मे समाप्त हुआ है. इसकी श्लोकसख्या २० हजार प्रमाण है. इसके प्रथम ४२ पर्व (सर्ग) व ४३ वें पर्व के ३ पद्य आचार्य जिनसेन के लिखे हुए है ये जिनसेन हरिवशपुराण के कर्ता से भिन्न है. ये पचस्तूपान्वय सम्प्रदाय के थे[3] शेष ग्रन्थ आचार्य के प्रकाण्ड पण्डित व सिद्धहस्त कवि शिष्य गुणभद्र ने पूरा किया. उत्तरपुराण के ७१, ७२, व ७३ वे पर्व में कृष्ण-कथा का वर्णन हुआ है उत्तरपुराण की समाप्ति शक सवत् ७७५ (वि० सवत् ९१०) के लगभग बताई जाती है[4]

(३) **द्विसन्धान या राघव-पाण्डवीय महाकाव्य** :—कवि धनजय द्वारा लिखित यह एक अद्‌भुत महाकाव्य है इसके प्रत्येक पद्य से दो अर्थ प्रकट होते है, जिनसे एक अर्थ में राम-कथा तथा द्वितीय मे कृष्ण-कथा का सृजन होता है. इसके १८ सर्ग है श्रीनाथूरामजी प्रेमी इस कवि का समय वि० की आठवी शताब्दी के अन्तिम चरण से नवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक मानते है[5]

(४) **प्रद्युम्नचरित** :—लाट-वर्गट सघ के आचार्य महासेन इस ग्रन्थ के रचयिता है. इसकी रचना का समय वि० स० १०३१ से १०६६ के मध्य बताया जाता है[6] यह एक खण्डकाव्य है इसके नायक श्रीकृष्ण के प्रवल पराक्रमी पुत्र प्रद्युम्नकुमार है, जिन्हे जैनपरम्परा मे २१वा कामदेव माना गया है इसकी कथा का आधार जिनसेनकृत हरिवश पुराण है. यह प्रकाशित रचना है[7]

(५) **त्रिशष्ठिशलाका-पुरुष चरित्र** :—प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता 'कलिकालसर्वज्ञ' विरुद से विभूषित आचार्य हेमचन्द्र है. डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने आचार्य हेमचन्द्र के लिए 'मध्यकालीन साहित्यसस्कृति के चमकते हुये हीरे' का विशेषण प्रयुक्त किया है.[8] इनका समय वि० सवत् ११४५-१२२९ निश्चित है. इनकी प्रस्तुत कृति मे जैन-परम्परा में मान्य ६३ शलाका-पुरुषो का चरित-वर्णन हुआ है.

(६) **महापुराण** :—इसके रचयिता मल्लिषेण सूरि है ये विविध विषयो के पडित तथा उच्चश्रेणी के कवि थे. महापुराण मे कुल दो हजार श्लोक है और इन्ही मे त्रेषठ-शलाका पुरुषो की कथा सक्षेप मे वर्णित हुई है यह वि० सवत् ११०४ की रचना है

(७) **भट्टारक सकलकीर्ति व उसके ग्रन्थ** :—१५ वी शताब्दी मे भट्टारक सकलकीर्ति सस्कृत के अच्छे विद्वान् और कवि हुए जयपुर के विभिन्न ग्रन्थभण्डारो में इनके लिखे कई ग्रन्थो की हस्तलिखित प्रतिया उपलब्ध है. कृष्णसाहित्य की दृष्टि से इनके दो ग्रन्थ 'उत्तरपुराण' व 'प्रद्युम्नचरित' उल्लेखनीय है. ये मूलसघान्वयी थे

(८) **भट्टारक शुभचन्द्रकृत पाण्डवपुराण** :—मूलसघ के ही भट्टारक शुभचन्द्र अद्‌भुत विचारक, विख्यात विद्वान् तथा प्रवल तार्किक थे इनके पाण्डवपुराण ग्रन्थ की प्रशस्ति मे इनके द्वारा रचित २५ ग्रन्थो का उल्लेख हुआ है.

---

१ शाकेष्वव्दशतेपु सप्तसु दिश पञ्चोत्तरेषूतरा.
यातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्ण नृपजे श्री वल्लभ दक्षिणाम् ।।

२. विशेष विवरण के लिये देखिये नाथूराम प्रेमी - जैन साहित्य और इतिहास पृ० ११४.

३ देखिये महापुराण (भारतीय ज्ञान पीठ, काशी से प्रकाशित) का प्रास्ताविक, डा० हीरालाल व ए० एन० उपाध्ये तथा जैन साहित्य और इतिहास—प्रेमी पृ० १२७.

४ जैन सा० और इतिहास—प्रेमी पृ० १४०.

५. वही पृ० १११ (द्वितीय सस्करण).

६. वही पृ० ४१२

७ ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, वम्बई से प्रकाशित.

८ प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ पृ० २१९.

कृष्ण-साहित्य की दृष्टि से इनका पाण्डवपुराण बहुत ही उल्लेखनीय ग्रन्थ है इसी ग्रन्थ से प्रभावित होकर हिन्दी में बुलाकीदास ने पाण्डवपुराण की रचना की यह ग्रन्थ वि० सवत् १६०८ मे समाप्त हुआ[1]

(९) हस्तिमल्ल व उनके नाटक :—दिगम्बर सम्प्रदाय के साहित्यकारो मे इनका अति महत्त्वपूर्ण स्थान है. उपलब्ध जैन सस्कृत साहित्य मे ये ही ऐसे लेखक हैं, जिनके लिखे नाटक उपलब्ध है ये वत्सगोत्री ब्राह्मण थे तथा समन्तभद्र-कृत देवागमस्तोत्र से प्रभावित होकर जैन हो गये थे हस्तिमल्ल इनका असली नाम नही था पर एक मस्त हाथी को वश मे करने के उपलक्ष्य मे इन्हे पाण्डच राजा ने यह नाम दिया था. कृष्णसाहित्य की दृष्टि से इनकी 'विक्रान्तकौरव' तथा 'सुभद्रा' (अर्जुनराज) ये दो कृतिया उल्लेखनीय हैं इनका ई० सन् १२४० (वि० सवत् १३४७) मे होना निश्चित किया जाता है[2]

(१०) अन्य रचनाएँ :—सस्कृत-जैन कृष्णसाहित्य १७ वी शताब्दी तक का उपलब्ध है. कुछ उपलब्ध कृतियो के नाम इस प्रकार है

[अ]	पाण्डवचरित	देवप्रभसूरि	रचना सवत्	१२५७
[आ]	पाण्डवपुराण	भट्टारक श्रीभूषण	"	१६५७
[इ]	हरिवशपुराण	" "	"	१६७५
[ई]	प्रद्युम्नचरित	सोमकीर्ति	"	१५३०
[उ]	प्रद्युम्नचरित	रविसागर	"	१६४५
[ऊ]	" "	रतनचन्द	"	१६७१
[ए]	" "	मल्लिभूषण		१७ वी शताब्दी
[ऐ]	नेमिनिर्वाण काव्य	महाकवि वाग्भट	रचना सवत्	११७९ के लगभग
[ओ]	नेमिनाथपुराण	ब्रह्म नेमिदत्त	"	१५७५
[औ]	नेमिनाथचरित्र	गुणविजय [गद्य ग्रन्थ]	"	१६६८
[अ]	हरिवशपुराण	भट्टा० यशकीर्ति	"	१६७१

अपभ्रंश का जैन-कृष्ण-साहित्य .—अपभ्रश-साहित्य की रचना मे जैनो का सर्वाधिक योग रहा है उपलब्ध अपभ्रश-साहित्य का करीब ८० प्रतिशत भाग जैनाचार्यो द्वारा लिखा गया है यद्यपि अपभ्रश का उल्लेख ई० पू० दूसरी शताब्दी मे [पातञ्जल महाभाष्य मे] मिलता है,[3] परन्तु इसका साहित्य आठवी शताब्दी से ही उपलब्ध होता है उपलब्ध साहित्य के प्रथम कवि स्वयभू है और कृष्ण साहित्य की दृष्टि से भी वही प्रथम कवि है

(१) महाकवि स्वयंभू और उनका रिट्ठणेमिचरिउ[4] :—स्वयभू वि० की आठवी शताब्दी के कवि है ये एक सिद्धहस्त कवि थे इनकी कविता अत्यन्त प्रौढ, पुष्ट व प्राजल है

कृष्ण-साहित्य की दृष्टि से रिट्ठणेमिचरिउ एक उल्लेखनीय कृति है यह महाकाव्य है. इसमे ११२ सधिया तथा १९३७ कडवक हैं यह चार काण्डो मे विभाजित है—यादव, कुरु, युद्ध और उत्तर कृष्णजन्म, बाल-लीला, कृष्ण के विभिन्न विवाह, प्रद्युम्न, साम्ब आदि की कथा, नेमिजन्म आदि यादवकाण्ड मे वर्णित हुए हैं.

(२) तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकार :—यह अपभ्रश के सर्वश्रेष्ठ कवि पुष्पदन्त की रचना है पुष्पदन्त के काव्य के विषय मे प्रेमी जी का यह कथन उद्धृत करना ही पर्याप्त होगा—उनकी रचनाओ मे जो ओज, जो प्रवाह, जो रस और

---

२ देखिये—वाचस्पति गैरोला-सस्कृत सा० का इतिहास पृ० ३६१-६२ तथा प्रेमी-जैन सा० और इतिहास पृ० ३८३-८४.

२ विशेष विवरण के लिये देखिये—जैन सा० और इतिहास पृ० ३६४-३७०

३ अपभ्रश साहित्य—डा० हरिवश कोछड पृ० १.

४ विशेष विवरण के लिये देखिये—वही पृ० ६७ ७२ तथा नाथूराम प्रेमी-जैन सा० और इतिहास—पृ० १९८, १९९.



जो सौन्दर्य है, वह अन्यत्र दुर्लभ है भाषा पर उनका असाधारण अधिकार है उनके शब्दो का भण्डार विशाल है और शब्दालकार व अर्थालकार दोनो से उनकी कविता समृद्ध है" [१]

प्रस्तुत रचना एक महाकाव्य है इसमे १०२ सन्धियाँ है. इसमे जैन-परम्परा मे मान्य त्रेषठ शलाका पुरुषो का चरित-वर्णन हुआ है ८१ से ९२ तक की सन्धियो मे हरिवशपुराण की प्रसिद्ध जैन-कथा को पद्यबद्ध किया गया है इसकी रचना ९५९-९६५ ई० मे हुई [२]

(३) हरिवशपुराण :—जयपुर के बडे तेरापथियो के मन्दिर मे उपलब्ध कवि धवल कृत प्रस्तुत कृति कृष्ण-काव्य की दृष्टि से उल्लेखनीय है इसका कथानक जैन-परम्परागत है और मुख्यत जिनसेन (प्रथम) कृत हरिवशपुराण (सस्कृत) पर आधारित है. इस ग्रन्थ मे १२२ सन्धियाँ है यह १० वी शताब्दी की रचना है

(४) सकलविधिनिधान काव्य :—आमेर (राजस्थान) शास्त्रभण्डार मे इसकी हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है. ग्रन्थ का प्रमुख विपय विधिविधानो एव आराधनाओ का उल्लेख व विवेचन है धार्मिक भावनाओ को व्यक्त करने के लिये प्राचीन कथाओ और उपाख्यानो का आश्रय लिया गया है. ग्रन्थ मे ५८ सन्धियाँ है ३६ वी सन्धि मे महाभारत युद्ध का उल्लेख है इसके रचयिता नयनदी है कृति का रचनाकाल ११०० के लगभग अनुमान किया गया है [३]

(५) पज्जुण्णचरिउ :—प्रस्तुत कृति १५ सन्धियो की खण्डकाव्य कोटि की रचना है इसमे श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न का चरित वर्णन हुआ है इसके रचयिता कवि सिंह (१३ वी शता० वि० प्रारभ) थे कुछ लोगो का अनुमान है कि मूलग्रन्थ सिद्ध नामके किसी कवि की रचना है, क्योकि ग्रन्थ की प्रथम आठ सन्धियो मे कवि का नाम सिद्ध मिलता है, बाद मे सिंह सभव है सिंह कवि ने मूलग्रन्थ का उद्धार किया हो [४]

(६) णेमिणाहचरिउ :—णेमिणाहचरिउ एक खण्डकाव्य है इसमें ४ सन्धिया व ८३ कडवक है ग्रन्थ का मुख्य विपय श्रीकृष्ण के चचेरे भाई तथा जैन-परम्परा के २२ वे तीर्थंकर नेमिनाथ का चरित है इस ग्रन्थ के रचयिता लखमदेव (लक्ष्मणदेव) है ग्रन्थ की रचना १५ वी शताब्दी के उत्तरकाल मे हुई, क्योकि वि० स० १५१० की लिखी एक हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है. कवि ने स्वय रचनाकाल का कोई निर्देश नही किया है.

(७) महाकवि यशकीर्ति व उनके ग्रन्थ —यशकीर्ति १५ वी शताब्दी के उत्तरकाल के कवि हैं. कृष्ण-साहित्य की दृष्टि से उनके दो ग्रन्थ 'पाण्डवपुराण' व 'हरिवशपुराण' उल्लेखनीय है. इनमे पाण्डवपुराण को कवि ने कार्तिक शुक्ला अष्टमी बुधवार वि० सवत् १४९७ मे समाप्त किया हरिवशपुराण की समाप्ति भाद्रपद शुक्ला एकादशी गुरुवार वि० सवत् १५०० मे हुई पाण्डवपुराण मे ३४ सन्धियाँ तथा हरिवशपुराण मे १३ सन्धिया व २६७ कडवक है काव्य-दृष्टि से हरिवशपुराण अच्छी रचना है [५]

(८) श्रुतकीर्ति का हरिवंशपुराण :—कवि श्रुतकीर्तिकृत हरिवशपुराण की हस्तलिखित प्रतिलिपि जयपुर (आमेर) के शास्त्रभण्डार मे उपलब्ध है यह कवि १६ वी शताब्दी के मध्य मे हुए थे इनके दो ग्रन्थ अभी प्रकाश मे आए है. (१) हरिवशपुराण (२) परमेष्ठिप्रकाश हरिवश मे ४४ सन्धियाँ है डॉ० कोछड ने इसे महाकाव्यो मे गिना है.[६]

कृष्ण-चरित का वर्णन करने वाले अपभ्र श के उक्त काव्य ही अभी तक प्रकाश मे आये है अपभ्र श साहित्य की खोज के साथ और भी कुछ ग्रथ प्रकाश मे आवे, ऐसी पूरी सभावना है.

---

१. नाथूराम प्रेमी—जैन सा० और इतिहास पृ० ५२५.
२ विस्तृत विवरण के लिये देखिये—डा० कोछड—अपभ्रश साहित्य पृ० ७२-८५.
३. अपभ्रश साहित्य—डा० हरिवश कोछड पृ० १७५
४ प० परमानन्द जैन का लेख—अनेकान्त ८।१०।११। पृ० ३९१
५ अपभ्रश साहित्य—डा० हरिवश कोछड पृ० ११८-१२२
६ वही पृ० १२९-२८

हिन्दी-जैन-कृष्ण साहित्य .—हिन्दी भाषा मे जैन-साहित्यकारो द्वारा रचित बहुत साहित्य उपलब्ध है और दिन-प्रतिदिन जैसे-जैसे जैन-भण्डारो की खोजबीन की जा रही है, नया-नया साहित्य प्रकाश मे आता जा रहा है पिछले कुछ ही वर्षो मे हिन्दी का जैन-साहित्य (विद्वानो के अथक परिश्रम के फलस्वरूप) बहुत बडे परिमाण मे प्रकाश मे आया है जहाँ तक हिन्दी के आदिकालिक साहित्य का प्रश्न है, इन खोजो के फलस्वरूप बहुत ही मजेदार परिणाम सामने आये है प्राय शुक्ल जी आदि हिन्दी के विद्वानो ने आदिकालिक हिन्दी साहित्य मे जिन कृतियो की गिनती की थी,[1] आधुनिक खोजो के आधार पर उनमे से कुछ को छोडकर सभी कृतिया सदिग्ध सिद्ध हो गई है तथा बहुत काल बाद की रचना बताई जाने लगी है उनके स्थान पर बहुत सी नवीन कृतियाँ आदिकालिक साहित्य में प्रतिष्ठित हो रही है उनमे अधिकाश कृतिया जैन रचनाकारो की है

जहा तक हिन्दी के जैन-कृष्ण-साहित्य का प्रश्न है, यह विपुल मात्रा मे उपलब्ध है इस साहित्य की एक बडी विशेषता यह है कि यह अधिकाश मे प्रबन्धकाव्य की कोटि का है, जब कि जैनेतर हिन्दी-कृष्ण-साहित्य मुख्यत मुक्तक है पुन हिन्दी-जैन-कृष्ण-साहित्य मे कृष्ण के व्यक्तित्व का बडा भव्य चित्रण हुआ है जैनेतर हिन्दी साहित्य के कृष्ण जहाँ गोपीजनवल्लभ, राधाधर-सुधापान-शालि-बनमाली और 'होरी खेलन वाले लला' है, वहाँ हिन्दी जैन-कृष्ण-साहित्य के श्रीकृष्ण महान् पराक्रमी व शक्तिशाली राजा है वे वासुदेव है और अधम तथा आततायी पुरुषो के भार से पृथ्वी को मुक्त करने वाले है वे गोपियो के साथ यमुनातट पर रासलीला करते नही घूमते, वे तो निर्विकार पुरुष है त्रेसठ-शलाका पुरुषो मे उनका अन्यतम स्थान है

पिछले २-३ वर्षो से हिन्दी जैन कृष्ण-साहित्य की खोज के दौरान कोई आधा सैकडा हस्तलिखित पुस्तकें उपलब्ध हुई हैं इनमे कुछ तो काव्य की दृष्टि से अति सुदर है तथा भाषा-शास्त्र की दृष्टि से भी उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है विशेषतया आदिकाल की कालावधि मे रचित पुस्तको का तो अपना ही महत्त्व है

हिन्दी-जैन-कृष्ण साहित्य पर स्वतत्र रूप से बहुत कुछ लिखा जा सकता है इस छोटे से लेख मे उसके विषय मे कुछ थोडा-सा उल्लेख भर दिया जा रहा है इस दृष्टि से कि पाठक को 'जैन-कृष्ण-साहित्य' का एक ही स्थान पर परिचय मिल सके प्रस्तुत लेख का कलेवर भी काफी बढ गया है, इसलिए हिन्दी-जैन-कृष्ण-साहित्य की विभिन्न कृतियो का विशेष रूप से उल्लेख न करते हुए सूची मात्र दे देना पर्याप्त होगा ग्रथ के नाम के साथ लेखक का नाम, रचना सवत् तथा उपलब्धि का स्थान भी दिया जा रहा है

क्रम स०	रचना का नाम	रचयिता	समय	उपलब्धि का स्थान
१.	नेमिनाथरास	सुमतिगणि	वि०स० १२७०	हस्तलिखित प्रति जैसलमेर दुर्ग स्थित भण्डार मे उपलब्ध
२.	गयसुकुमालरास	देल्हण	१३१५-२५	हस्तलिखित प्रति जैसलमेर दुर्ग स्थित बडे भण्डार मे उपलब्ध
३	पचपाण्डवचरितरास	शालिभद्रसूरि	१४१०	गुर्जर रासावली गा०ओ० सीरीज बडौदा, पृ०१-३४ तथा 'आदि काल के अज्ञात हिन्दी रास काव्य' पृ० १२६-५८ पर उपलब्ध
४	प्रद्युम्नचरित	सधारु	१४११	जैन शोध सस्थान, जयपुर से प्रकाशित,
५	बलभद्ररास	यशोधर	वि० स० १५८५	दि० जैन मन्दिर बडा, उदयपुर
६	नेमिजिनेश्वररासो	ब्रह्मरायमल्ल	१६१५	दि० जैन मन्दिर पटौदी
७	प्रद्युम्नरासो	,,	१६२८	दि० जैन मन्दिर लूणकरणजी पाड्या, जयपुर

१ (१) खुमाणरासो (२) बीसलदेवरासो (३) पृथ्वीराजरासो (४) जयचद प्रकाश (५) जयमयकजस चन्द्रिका (६) परमालरासो (७) रणमल छन्द (८) खुसरो की पहेलियाँ (६) विद्यापति की पदावली

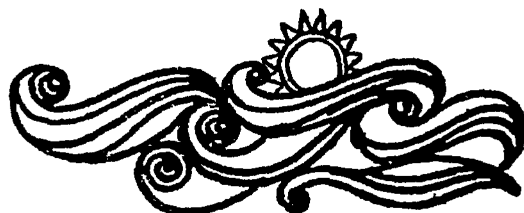


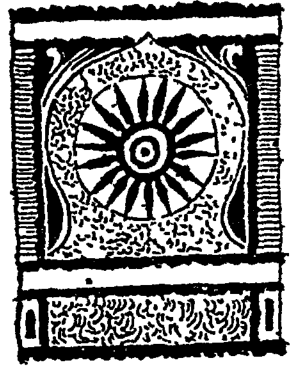
क्रम स०	रचना का नाम	रचयिता	समय	उपलब्धि का स्थान
८.	प्रद्युम्न चौपई	कमलकेशर	१६२६	—
९	नेमिनाथ रासो	रूपचन्द	१६४३ के आस पास	
१०.	शाम्ब प्रद्युम्नरास	समयसुन्दर गणि	१६५९	प्रतिलिपि आमेर शास्त्र भण्डार
११.	हरिवशपुराण	(हि०गद्य)	१६७१	" —
१२.	हरिवशपुराण (पद्य)	शालिवाहन	१६९५	दि० जैन मन्दिर पल्लिवालो का धूलियागज आगरा।
१३.	नेमिश्वर को रास	भाऊ कवि	१६९६	दि० जैन मन्दिर नया बैराठिया का जयपुर
१४	नेमिनाथरास	रत्नकीर्ति	१६९६	"
१५.	शाम्बप्रद्युम्नरास	ज्ञानसागर	१७ वी शताब्दी	
१६.	प्रद्युम्न प्रबन्ध	देवेन्द्रकीर्ति	१७२२	आमेर भण्डार, जयपुर
१७.	रूक्मणि कृष्णजी को रास	तिपरदास	१७३९ (प्र०लि०)	दि० जैन मन्दिर गोधो का, जयपुर
१८.	पाण्डवपुराण	बुलाकीदास	१७५४ वि० स०	आमेर शास्त्र भण्डार
१९.	पाण्डव चरित्र	लाभवर्द्धन	१७६८	दि० जैन मन्दिर सघीजी, जयपुर
२०.	नेमीश्वररास	नेमिचन्द्र	१७६९	आमेर शास्त्र भण्डार
२१.	हरिवशपुराण	खुशालचन्द काला	१७८०	शास्त्रभण्डार लूणकरजी पाड्या मन्दिर, जयपुर
२२	उत्तरपुराण	"	१७९९	सौगाणियो का दि० जैन मन्दिर करौली,
२३.	नेमिनाथचरित्र	अजयराज पाटनी	१७९३	दि० जैन मन्दिर ठोलियो का, जयपुर
२४,	नेमिजी का चरित्र	आनन्द	१८०४	दि० जैन मन्दिर, जोबनेर
२५.	प्रद्युम्नरास	मायाराम	१८१८	—
२६.	हरिवशपुराण (हि०गद्य)	दौलतराम	१८२९	प्रकाशित
२७.	प्रद्युम्नचरित्र	बूलचन्द	१८४३	सेठ के कूचा का दि० जैन मन्दिर, दिल्ली
२८	शाम्बप्रद्युम्नरास	हर्षविजय	१८४५	—
२९.	नेमिचन्द्रिका	मनरगलाल	१८५७	दि० जैन मन्दिर बडा तेरापन्थी, जयपुर
३०	देवकी की ढाल	लूणकरण कासलीवाल	१८८५ (लिपि सवत्)	दि० जैन मन्दिर डबलाना

उल्लिखित ग्रन्थो के अतिरिक्त २०वी शताब्दी के हिन्दी गद्य मे अनुवादित बहुत से ग्रंथ उपलब्ध है. कुछ नाम इस प्रकार है

(३१) नेमिपुराण भाषा—भागचन्द (३२) नेमिपुराणभाषा—वखतावरमल (३) प्रद्युम्नचरित भाषा—ज्वालाप्रसाद, वखतावरसिंह (३४) पाण्डवपुराण—पन्नालाल चौधरी (३५) राघवपाण्डवीय टीका—चरित्रवर्द्धन (३६) नेमिपुराण भाषा—उदयलाल (३७) नेमिनाथ चरित्र—काशीराम (३८) पाण्डवपुराण टीका—घनश्यामदास न्यायतीर्थ (३९) प्रद्युम्नचरित्र—शीतलप्रसाद (४०) प्रद्युम्नकुमार (पद्यमय)—अमोलकऋषिजी महाराज (गद्यसस्करण-शोभाचन्द्र भारिल्लकृत) (४१) उत्तरपुराणवचनिका—पन्नालाल दूनी वाले (४२) प्रद्युम्नचरित—वख्तावरमल-रतनलाल (४३) प्रद्युम्नचरित बचनिका—मन्नालाल वैनाडा.

जैन-कवियो के कृष्ण सम्बन्धी पद भी वहुत बडी सख्या में उपलब्ध है. इन कवियो मे बनारसीदास, द्यानतराय, भैया भगवतीदास, बुधजन, भूधरदास, प० महाचन्द्र प्रभृति कवियो के सुन्दर पद मिलते है



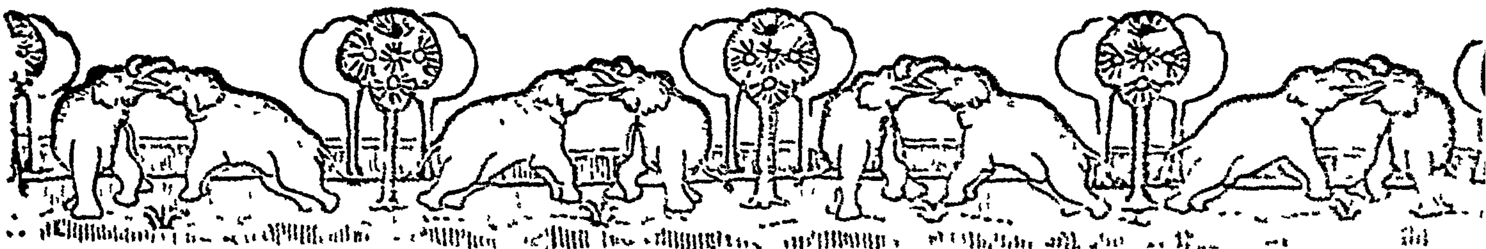


डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल
शास्त्री, एम० ए०, पी-एच० डी०

राजस्थानी जैन संतों की साहित्य-साधना

भारतीय इतिहास मे राजस्थान का महत्त्वपूर्ण स्थान है एक ओर यहाँ की भूमि का कण-कण वीरता एव शौर्य के लिये प्रसिद्ध रहा है तो दूसरी ओर भारतीय साहित्य एव सस्कृति के गौरवस्थल भी यहाँ पर्याप्त सख्या मे मिलते है. यदि राजस्थान के वीर योद्धाओ ने जन्मभूमि की रक्षार्थ हँसते-हँसते प्राणो को न्योछावर किया तो यहाँ होने वाले साधु-सतो, आचार्यों एव विद्वानो ने साहित्य की महती सेवा की और अपनी रचनाओ एव कृतियो द्वारा जनता मे देशभक्ति, कर्तव्यनिष्ठा एव नैतिकता का प्रचार किया यहाँ के रणथम्भौर कुम्भलगढ, चित्तौड, भरतपुर, मांडोर जैसे दुर्ग यदि वीरता देशभक्ति एव त्याग के प्रतीक है तो जैसलमेर, नागौर, बीकानेर. अजमेर, जयपुर, आमेर, डूगरपुर, सागवाडा, टोडारायसिंह आदि कितने ही ग्राम एव नगर राजस्थानी ग्रथकारो, साहित्योपासको एव सन्तो के पवित्र स्थल है इन्होने अनेक सकटो एव झझावातो के मध्य भी साहित्य की अमूल्य धरोहर को सुरक्षित रखा वास्तव मे राजस्थान की भूमि पावन एव महान् है तथा उसका प्रत्येक कण वन्दनीय है

राजस्थान की इस पावन भूमि पर अनेको विद्वान् सत हुए जिन्होने अपनी कृतियो द्वारा भारतीय साहित्य के भण्डार को इतना अधिक भरा कि वह कभी खाली नही हो सकता यहाँ सन्तो की परम्परा चलती ही रही, कभी उसमे व्यवधान नही आया सगुण एव निर्गुण दोनो ही भक्ति की धाराओ के सत यहाँ होते रहे और उन्होने अपने आध्यात्मिक प्रवचनो, गीति-काव्यो एव मुक्तक छन्दो द्वारा जन-जागरण को उठाये रखा इस दृष्टि से मीरा, दादूदयाल, सुन्दरदास आदि के नाम उल्लेखनीय है इधर जैन सन्तो का तो राजस्थान सैकडो वर्षों तक केन्द्र रहा है डूगरपुर, सागवाडा, नागौर, आमेर, अजमेर, बीकानेर, जैसलमेर, चित्तौड आदि इन सन्तो के मुख्य स्थान थे, जहाँ से वे राजस्थान मे ही नही किन्तु भारत के अन्य प्रदेशो मे भी विहार करके अपने ज्ञान एव आत्मसाधना से जन-साधारण का जीवन ऊँचा उठाने का प्रयास करते ये सन्त विविध भाषाओ के ज्ञाता होते थे तथा भाषा-विशेष से कभी मोह नही रखते थे जिस किसी भाषा मे जनता द्वारा कृतियो की माग की जाती उसी भाषा मे वे अपनी लेखनी चलाते तथा उसे अपनी आत्मानुभूति से परिप्लावित कर देते कभी वे रास एव कथा-कहानी के रूप मे तथा कभी फागु, वेलि, शतक एव बारहखडी के रूप मे पाठको को अध्यात्म-रस पान कराया करते सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश, हिन्दी, राजस्थानी एव गुजराती आदि सभी भाषाएँ इनकी अपनी भाषा रही प्रान्तवाद के झगडे मे वे कभी नही पडे, क्योकि इन सन्तो की साहित्य-रचना का उद्देश्य सदैव ही आत्म उन्नति एव जनकल्याण रहा लेखक का अपना विश्वास है कि वेद, स्मृति, उपनिषद् पुराण, रामायण एव महाभारत-काल के ऋषियो एव सन्तो के पश्चात् भारतीय साहित्य की जितनी सेवा एव उसकी सुरक्षा जैन सन्तो ने की है उतनी अधिक सेवा किसी सम्प्रदाय अथवा धर्म के साधुवर्ग द्वारा नही हो सकी है. राजस्थान के इन सन्तो ने स्वय तो विविध भाषाओ मे सैकडो हजारो कृतियो का सर्जन किया ही किन्तु अपने पूर्ववर्ती आचार्यों, साधुओ, कवियो एव लेखको की रचनाओ को भी बडे प्रेम श्रद्धा एव उत्साह से सग्रह किया एक-एक ग्रथ की अनेकानेक प्रतियाँ लिखवा कर विभिन्न ग्रथ-भण्डारो मे विराजमान की और जनता को उन्हे पढने एव स्वाध्याय के लिये प्रोत्साहित किया राजस्थान के आज सैकडो हस्तलिखित ग्रथभण्डार उनकी साहित्य-सेवा के ज्वलत उदाहरण है जैन सन्त साहित्य-सग्रह की दृष्टि से कभी जातिवाद एव सम्प्रदाय के चक्कर मे नही पडे किन्तु जहाँ से भी अच्छा एव



कल्याणकारी साहित्य उपलब्ध हुआ वही से उसका सग्रह करके शास्त्र-भण्डारो में सग्रहीत किया गया साहित्य-सग्रह की दृष्टि से इन्होने स्थान-स्थान पर ग्रथभण्डार स्थापित किये. इन्ही सन्तो की साहित्यिक सेवा के परिणामस्वरूप राजस्थान के जैन ग्रथभण्डारो मे १।।-२ लाख हस्तलिखित ग्रथ अब भी उपलब्ध होते है ग्रथसग्रह के अतिरिक्त इन्होने जैनेतर विद्वानो द्वारा लिखित काव्यो एव अन्य ग्रथो पर टीकाएँ लिखी और उनके पठन-पाठन मे सहायता पहुँचाई.

राजस्थान के जैनग्रथ-भण्डारो मे अकेले जैसलमेर के जैन ग्रथ-सग्रहालय ही ऐसे सग्रहालय है जिनकी तुलना भारत के किसी भी प्राचीन एव बडे से बडे ग्रथ-सग्रहालय से की जा सकती है उनमे अधिकाश ताडपत्र पर लिखी हुई प्रतिया है और वे सभी राष्ट्र की अमूल्य सपत्ति है. ताडपत्र पर लिखी हुई इतनी प्राचीन प्रतिया अन्यत्र मिलना सम्भव नही है. श्री जिनचन्द्र सूरि ने सवत् १४९७ मे बृहद् ज्ञानभण्डार की स्थापना करके साहित्य की सैकडो अमूल्य निधियो को नष्ट होने से बचाया. जैसलमेर के इन भण्डारो को देखकर कर्नल टाड, डा० बूह्लर, डा० जैकोबी जैसे पाश्चात्य विद्वान् एव भाण्डारकर, दलाल, जैसे भारतीय विद्वान् आश्चर्यचकित रह गये. द्रोणाचार्यकृत ओघनिर्युक्ति वृत्ति की इस भण्डार में सबसे प्राचीन प्रति है जिसकी सवत् ११९७ मे पाहिल ने प्रतिलिपि की थी[1] जैनागमो एव ग्रथो की प्रतियो के अतिरिक्त दण्डि कवि के काव्यादर्श की सवत् ११६१ की, मम्मट के काव्य-प्रकाश की सवत् १२१५ की, रुद्रट कवि के काव्यालकार पर नमि साधु की टीका सहित सवत् १२०६, एव कुत्तक के वक्रोक्तिजीवित की १४वी शताब्दी की महत्त्वपूर्ण प्रतियाँ सग्रहीत की हुई है विमल सूरि कृत प्राकृत के महाकाव्य पउमचरिय की सवत् १२०४ की जो प्रति है वह सभवत अब तक उपलब्ध प्रतियो में प्राचीनतम प्रति है इसी तरह उद्योतन सूरिकृत कुवलयमाला की प्रति भी अत्यधिक प्राचीन है जो सवत् १२६१ की लिखी हुई है कालिदास, माघ, भारवि, हर्ष, हलायुध, भट्टी आदि महाकवियो द्वारा रचित काव्यो की प्राचीनतम प्रतियाँ एव उनकी टीकाएँ यहाँ के भण्डारो के अतिरिक्त आमेर, अजमेर, नागौर, बीकानेर के भण्डारो मे भी सग्रहीत है न्यायशास्त्र के ग्रन्थो में साख्यतत्त्वकौमुदी, पातजलयोगदर्शन, न्यायबिन्दु, न्यायकंदली, खडन-खडखाद्य, गोतमीय न्यायसूत्रवृत्ति आदि की कितनी ही प्राचीन एव सुन्दर प्रतिया जैन सतो द्वारा प्रतिलिपि की हुई इन भण्डारो मे सग्रहीत है. नाटक साहित्य मे मुद्राराक्षस, वेणीसहार, अनर्घराघव एव प्रबोधचन्द्रोदय के नाम उल्लेखनीय हैं जैनसतो ने केवल सस्कृत एव प्राकृत साहित्य के सग्रह मे ही रुचि नही ली किन्तु हिंदी एव राजस्थानी रचनाओ के सग्रह मे भी उतना ही प्रशसनीय परिश्रम किया. कबीरदास एव उनके पथ के कवियो द्वारा लिखा हुआ अधिकाश साहित्य आज आमेर शास्त्रभण्डार मे मिलेगा. इसी तरह पृथ्वीराज रासो, वीसलदेव रासो की महत्त्वपूर्ण प्रतिया बीकानेर एव कोटा के शास्त्र-भण्डारो में सग्रहीत है कृष्ण-रुक्मणिबेलि, रसिकप्रिया एव बिहारीसतसई की तो गद्यपद्य टीका सहित कितनी ही प्रतियाँ इन भण्डारो में खोज करने पर प्राप्त हुई है

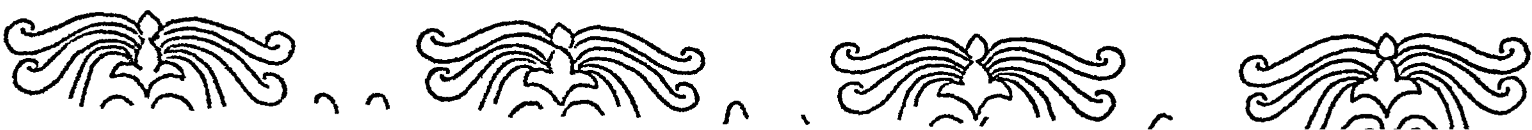
राजस्थान के ये जैन सत साहित्य के सच्चे साधक थे. आत्मचिंतन एव आध्यात्मिक चर्चा के अतिरिक्त इन्हे जो भी समय मिलता, वे उसका पूरा सदुपयोग साहित्यरचना मे करते थे वे स्वय ग्रथ लिखते, दूसरो से लिखवाते एव भक्तो को लिखवाने का उपदेश देते. अपनी रचनाओ के अन्त मे इस तरह के कार्य की अत्यधिक प्रशसा करते इसके दो उदाहरण देखिये—

१. जो पढइ पढावइ एक चित्तु, सइ लिहइ लिहावइ जो णिरुत्तु ।
आयरगइं मरणइं जो पसत्थु, परिभावइ अहिणिसु एउ सत्थु ।।
जिप्पइ ण कसायहि इंदिएहिं, तो लियइ ण सो पासंडिएहि ।
तहो दुक्किय कम्मु असेसु जाइ, सो लहइ मोक्ख सुक्खभावइ ।।—श्रीचन्द्रकृत रत्नकरण्ड

२. मनोहार प्रबन्ध ए गुंथ्यो करि विवेक ।
प्रद्युमन गुण सूत्रिकरी, सब वन कुसुम अनेक ।।१०।।

---

१. संवत् ११९७ मगल महाश्री ।।६।। पाहिलेन लिखितम् मगल महाश्री.



भवीयण गुणि कंठि करो, एह अपूरव हार ।
घरि मंगल लक्ष्मी घणी, पुण्य तणो नहिं पार ॥११॥
भणि भणाति सांभलि, लिखि लिखावइ एह ।
देवेन्द्रकीर्ति गच्छपती कहि, स्वर्ग मुक्ति लहि तेह ।

—भ० देवेन्द्रकीर्ति कृत प्रद्युम्नप्रबन्ध

इसी तरह कवि सधारु ने तो ग्रथ के पढने पढाने लिखने और लिखवाने का जो फल वतलाया है वह और भी आकर्षक है

ऐहु चरितु जो वांचइ कोइ, सो नर स्वर्ग देवता होइ ।
हलुवइ धर्म्म खपइ सो देव, मुकति वरंगणि मागइ एम्व ॥६६७॥
जो फुणि सुणइ मनह धरि भाउ, असुभ कर्म ते दूरि हि जाइ ।
जोर वखाणइ माणुसु कवणु, तहि कहु तूसइ देव परदवणु ॥
अरु लिखि जो लिखियावइ साधु, सो सुर होइ महागुण राधु ।
जोर पढावइ गुण किउ विलउ, सो नर पावइ कंचण भलउ ॥६६८॥
यहु चरितु पुन भंडारू, जो वरु पढइ सु नर मह सारु ।
तहि परदमणु तुही फल, देइ, संपति पुत्रु अवरु जसु होई ॥७००॥

ग्रथो की प्रतिलिपि करने मे वडा परिश्रम करना पडता था शुद्ध प्रतिलिपि करना, सुन्दर एव सुवाच्य अक्षर लिखना एव दिन भर कमर झुकाये ग्रथलेखन का कार्य प्रत्येक के लिये सभव नही था उसे तो सन्त एव सयमी विद्वान् ही सम्पन्न कर सकते थे इसलिये वे ग्रन्थ के अन्त मे कभी-कभी उसकी सुरक्षा के लिये निम्न शब्दो मे पाठको का ध्यान आकर्षित किया करते थे

भग्नपृष्टि कटिर्ग्रीवा, वक्रदष्टिरधो मुखम् ।
कष्टेन लिखितं शास्त्रं, यत्नेन परिपालयेत् ॥

इन सतो के सुरक्षा के विशेष नियमो के कारण राजस्थान मे ग्रथो का एक विशाल सग्रह मिलता है कितने ही ग्रथ-सग्रहालय तो अब भी ऐसे है जिनकी किसी भी विद्वान् द्वारा छानवीन नही की गई है लेखक को राजस्थान के ग्रथ-भण्डारो पर शोध-निबन्ध लिखने के अवसर पर राजस्थान के १०० भी से अधिक भण्डारो को देखने का सौभाग्य प्राप्त हो चुका है

यदि मुस्लिमयुग मे धर्मान्ध शासको द्वारा इन शास्त्रभण्डारो का विनाश नही किया जाता एव हमारी ही लापरवाही से सैकडो हजारो ग्रथ चूहो, दीमक एव शीलन से नष्ट नही होते तो पता नही आज कितनी अधिक सख्या मे इन भण्डारो में ग्रथ उपलब्ध होते ! फिर भी जो कुछ अवशिष्ट है उनका ही यदि विविध दृष्टियो से अध्ययन कर लिया जावे, उनकी सम्यक् रीति से ग्रथसूचिया प्रकाशित कर दी जावें तथा प्रत्येक अध्ययनशील व्यक्ति के लिये वे सुलभ हो सकें तो हमारे आचार्यो, साधुओ एव कवियो द्वारा की हुई साहित्य-साधना का वास्तविक उपयोग हो सकता है जैसलमेर, नागौर, बीकानेर,चुरू, आमेर, जयपुर, अजमेर, भरतपुर, कामा आदि स्थानो के सग्रहीत ग्रथभण्डारो की आधुनिक पद्धति से व्यवस्था होनी चाहिए उन्हे रिसर्च-केद्र वना दिया जाना चाहिये जिससे प्राकृत, अपभ्रंश, सस्कृत, हिन्दी एव राजस्थानीय भाषा पर रिसर्च करने वाले विद्यार्थियो द्वारा उनका सही रूप से उपयोग किया जा सके क्योकि उक्त सभी भाषाओ मे लिखित अधिकाश साहित्य राजस्थान के इन भण्डारो मे उपलब्ध होता है यदि ताडपत्र पर लिखी हुई प्राचीनतम प्रतियां जैसलमेर के ग्रथ भण्डारो मे सग्रहीत हैं तो कागज पर लिखी हुई सवत् १३१९ की सबसे प्राचीन प्रति जयपुर के शास्त्रभण्डार मे सग्रहीत है अभी कुछ वर्ष पूर्व जयपुर के एक भण्डार मे हिन्दी की एक अत्यधिक प्राचीन कृति जिनदत्तचौपई (रचना काल स० १३५४) उपलब्ध हुई है जो हिन्दी भाषा की एक अनुपम कृति है.



प्रसन्नता की बात है कि इधर १०-१५ वर्षो से भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयो में जैन साहित्य पर भी रिसर्च किया जाना प्रारम्भ हुआ है विद्यार्थियो का उधर और भी अधिक झुकाव हो सकता है यदि हम इन भण्डारो को शोधकेन्द्र (Research Centres) के रूप मे परिवर्तित कर दे और उनको अपने शोधप्रबन्ध लिखने मे पूरी सुविधाए प्रदान करे.

अब यहा राजस्थान के कुछ प्रमुख सन्तो की भाषानुसार साहित्यिक सेवाओ पर प्रकाश डाला जा रहा है ·

प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य

जम्बूद्वीपपण्णत्ति के रचयिता आचार्य पद्मनंदि राजस्थानी सन्त थे. इसमे २३८९ प्राकृत गाथाएँ है जिनमे जम्बूद्वीप का वर्णन किया गया है प्रज्ञप्ति की रचना वारा [कोटा] नगर मे हुई थी उन दिनो मेवाड पर राजा शक्ति या सक्ति का शासन था और वारा मेवाड़ के अधीन था ग्रथकार ने अपने आपको वीरनदि का प्रशिष्य एव बलनदि का शिष्य लिखा है हरिभद्र सूरि राजस्थान के दूसरे सन्त थे जो प्राकृत एव सस्कृत भाषा के जबर्दस्त विद्वान् थे इनका सम्बन्ध चित्तौड से था आगमग्रथो पर उनका पूर्ण अधिकार था इन्होने अनुयोगद्वार सूत्र, आवश्यक सूत्र, दशवैकालिक सूत्र, नन्दीसूत्र, प्रज्ञापना सूत्र आदि आगम-ग्रथो पर सस्कृत में विस्तृत टीकाएँ लिखी और उनके स्वाध्याय मे वृद्धि की न्यायशास्त्र के ये प्रकाण्ड विद्वान् थे. इन्होने अनेकान्त-जयपताका, अनेकान्तवादप्रवेश जैसे दार्शनिक ग्रथो की रचना की. समराइच्चकहा प्राकृतभाषा की इनकी सुन्दर कथाकृति है जो गद्य-पद्य दोनो मे ही लिखी हुई है इसमे ९ प्रकरण है जिनमे परस्पर विरोधी दो पुरुषो के साथ-साथ चलने वाले ९ जन्मान्तरो का वर्णन किया गया है इसका प्राकृतिक वर्णन एव भावचित्रण दोनो ही सुन्दर है धूर्ताख्यान भी इनकी अच्छी रचना है हरिभद्र सूरि के योगबिन्दु एव योग-दृष्टिसमुच्चय भी दर्शनशास्त्र की अच्छी रचनाएँ मानी जाती है

महेश्वर सूरि भी राजस्थानी सन्त थे. इनकी प्राकृत भाषा की ज्ञानपञ्चमीकहा तथा अपभ्र श की 'सयममजरीकहा' प्रसिद्ध रचनाए है जैन दृष्टिकोण से लिखी गई, दोनो ही कृतियो मे कितनी ही सुन्दर कथाएँ है ज्ञानपचमीकहा मे जयसेन, नद, भद्रा, वीर, कमल गुणानुराग, विमल, धरण, देवी और भविष्यदत्त की कथाए है कथाए सुन्दर, रोचक एव धाराप्रवाह मे वर्णित है तथा एक बार प्रारम्भ करने के पश्चात् उसे छोडने को मन नही चाहता.

अपभ्र श के प्रसिद्ध कवि हरिषेण भी चित्तौड के निवासी थे. इनके पिता का नाम गोवर्द्धन था. धक्कड उनकी जाति थी तथा श्री उजपुर से उनका निकास हुआ था. इन्होने अपनी कृति 'धम्मपरिक्खा' सवत् १०४४ मे अचलपुर मे समाप्त की थी. धम्मपरिक्खा अपभ्र श की सुन्दर कृति है जिसकी ११ सधियो मे १०० कथाओ का वर्णन किया गया है यह कथा-कृति जैन समाज मे बहुत प्रिय रही. राजस्थान में इसका विशेष प्रचार था इसलिए यहाँ के कितने ही ग्रथभण्डारो मे इस कृति की पाण्डुलिपिया मिलती है.

धम्मपरिक्खा के अतिरिक्त राजस्थान के ग्रथ-सग्रहालयो मे अपभ्र श भाषा की १०० से भी अधिक रचनाएँ मिलती है. स्वयम्भू, पुष्पदन्त, वीर, नयनन्दि, सिंह, लक्ष्मण [लाखू] रइधू आदि कवियो की रचनाए राजस्थान मे विशेष रूप से प्रिय रही है यहाँ के भट्टारको एव यतियो ने अपभ्र श कृतियो की प्रतिलिपियाँ करवा कर भण्डारो मे स्थापित करने मे विशेष रुचि ली और यह परम्परा १५ वी शताब्दी से १७ वी शताब्दी तक अधिक रही अपभ्र श की इन कृतियो के लिये जयपुर, आमेर एव नागौर के भण्डार विशेषत. उल्लेखनीय है अपभ्र श साहित्य का अधिकाश भाग इन्ही भण्डारो मे सग्रहीत है[1]

संस्कृत साहित्य

राजस्थान के अधिकाश सत सस्कृत के भी विद्वान् थे. सस्कृत साहित्य से उन्हे विशेष रुचि थी और इस भाषा मे उन्होने श्रावको के लिये पुराण, काव्य, चरित्र, कथा, स्तोत्र एव पूजा साहित्य का भी सृजन किया था १७ वी शताब्दी

---

१ अपभ्रंश ग्रन्थों के परिचय के लिये देखिये लेखक द्वारा सपादित 'प्रशस्तिसग्रह'



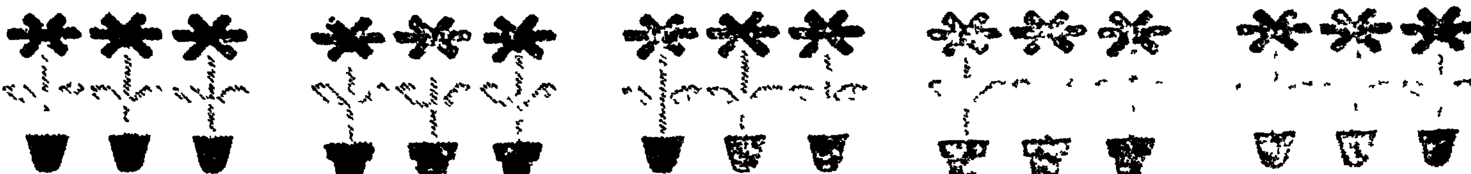
तक सस्कृत रचनाओ को पढने की जनसाधारण मे विशेष रुचि रही, इसीलिए प्राकृत एव अपभ्रंश ग्रथों पर भी सस्कृत मे टीकाएँ एव टिप्पण लिखे जाते रहे किसी विषय पर यदि नवीन रचनाओ का लिखा जाना सभव नही हुआ तो प्राचीन साहित्य की प्रतिलिपियाँ करवा कर भण्डारो मे रखी गयी राजस्थान के सिद्धर्षि सभवतः प्रथम जैन सत थे जिन्होने उपदेशमाला पर सस्कृतटीका लिखी और 'उपमितिभवप्रपच कथा' को सवत् ९६२ मे समाप्त किया. चन्द्रकेवलिचरित इनकी एक और रचना है जिसे इन्होने सवत् ९७४ मे पूर्ण किया था १२ वी शताब्दी मे होने वाले आचार्य हेमचन्द्र से भी राजस्थानी जनता कम उपकृत नही है इनके द्वारा लिखे हुये साहित्य का इस प्रदेश मे विशेष प्रचार रहा यही कारण है उनके द्वारा निबद्ध साहित्य दोनो ही सम्प्रदायो के शास्त्रभण्डारो मे समान रूप से पाया जाता है हेमचन्द्राचार्य सस्कृत के उद्भट विद्वान् थे और उन्होने जो कुछ इस भाषा मे लिखा वह प्रत्येक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है. १५ वी शताब्दी मे राजस्थान मे भट्टारक सकलकीर्ति का उदय विशेष रूप से उल्लेखनीय है. सकलकीर्ति सस्कृत के प्रकाड विद्वान् थे ये पहिले मुनि थे और बाद मे इन्होने अपने आपको भट्टारक घोषित किया था तथा सवत् १४९२ मे गलियाकोट मे एक भट्टारक गादी की स्थापना की इन्होने २८ से भी अधिक सस्कृत रचनायें लिखी जो राजस्थान के विभिन्न ग्रथभण्डारो मे उपलब्ध होती है सकलकीर्ति के पश्चात् उनकी परम्परा मे होने वाले भट्टारक भुवनकीर्ति, ब्रह्म जिनदास, भट्टारक ज्ञानभूषण, विजयकीर्ति शुभचन्द, सकलभूषण, सुमतिकीर्ति, वादिभूषण आदि अनेक शिष्य सस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् थे इन सन्तो ने सस्कृत भाषा के कितने ही ग्रथ लिखे, श्रावको से आग्रह करके ग्रथो की प्रतिलिपियाँ करवाई और शास्त्र-भण्डारो मे विराजमान की. ब्रह्म जिनदास की १२ से अधिक रचनाएँ मिलती है जिनमे रामचरित [पद्मपुराण], हरिवशपुराण एव जम्बूस्वामीचरित के नाम उल्लेखनीय हैं

भट्टारक ज्ञानभूषण की अकेली तत्त्वज्ञानतरगिणी [स० १५६०] उनकी सस्कृत की विद्वत्ता को बतलाने के लिये पर्याप्त है. शुभचन्द्र तो अपने समय के प्रसिद्ध भट्टारक थे इनकी सस्कृत रचनाएँ प्रारम्भ से ही लोकप्रिय रही है. इनकी २४ सस्कृत रचनाएँ तो उपलब्ध हो चुकी है ये षट्भाषाकविचक्रवर्ती कहलाते थे तथा त्रिविध-विद्याधर [शब्दागम, युक्त्यागम तथा परमागम के ज्ञाता] थे इनकी प्रसिद्ध कृतियो मे चन्द्रप्रभचरित्र, करकुण्डचरित्र, कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा टीका, जीवन्धरचरित, पाडवपुराण, श्रेणिकचरित्र, चारित्रशुद्धिविधान आदि के नाम उल्लेखनीय हैं आचार्य सोमकीर्ति १५ वी शताब्दी के उद्भट विद्वान् थे ये काष्ठासघ मे होनेवाले ८७ वें भट्टारक थे तथा भीमसेन के शिष्य थे इन्होने सस्कृत भाषा मे सप्तव्यसनकथा, प्रद्युम्नचरित्र, एव यशोधरचरित्र रचनाएँ की तीनो ही लोकप्रिय रचनाएँ है और शास्त्रभण्डारो मे मिलती हैं हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान् ब्र० रायमल्ल ने भक्तामरस्तोत्र की वृत्ति लिखकर अपनी सस्कृत-विद्वत्ता का परिचय दिया ब्र० कामराज ने सकलकीर्ति के आदिपुराण को देखकर स० १५६० मे जयपुराण की रचना की सेनगण के प्रसिद्ध भट्टारक सोमसेन ने वैराट नगर मे शक सवत् १६५६ मे पद्मपुराण की रचना की आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रथ योगचिन्तामणि के सग्रहकर्त्ता थे नागपुरीय तपोगच्छ के सत हर्षकीर्ति सूरि इस ग्रथ का दूसरा नाम वैद्यकसारसग्रह भी है इस ग्रथ की प्रतियाँ राजस्थान के बहुत से भण्डारो मे उपलब्ध होती हैं

१५ वी शताब्दी मे जिनदत्तसूरि ने जैसलमेर मे वृहद् ज्ञानभण्डार की स्थापना की ये सस्कृत के अच्छे विद्वान् थे. इनके शिष्य कमलसयमोपाध्याय ने सवत् १५४४ में उत्तराध्ययन पर सस्कृत टीका लिखी इनके अतिरिक्त जैसलमेर मे और भी कितने ही सन्त हुये जो सस्कृत के अच्छे विद्वान् थे इधर आमेर, जयपुर, श्रीमहावीरजी, अजमेर एव नागौर भी भट्टारको के केन्द्र रहे ये अधिकाश भट्टारक सस्कृत के विद्वान् होते थे इनके द्वारा लिखवाये बहुत से ग्रथ राजस्थान के कितने ही भण्डारो मे उपलब्ध होते है

हिन्दी व राजस्थानी साहित्य

राजस्थान मे हिन्दी एव राजस्थानी भाषा मे काव्यरचना बहुत पहिले से प्रारम्भ हो गई थी जनसाधारण की इस भाषा की ओर रुचि देखकर जैन सन्तो ने हिन्दी एव राजस्थानी भाषा को अपना लिया और इनमे छोटी रचनाएँ



लिखी जाने लगी. यद्यपि १७-१८ वी शताब्दी तक अपभ्र श में कृतियां लिखी जाती रही एव संस्कृतग्रथों के पठन-पाठन मे जनता की उतनी ही रुचि बनी रही जितनी पहिले थी, किन्तु १३-१४ वी शताब्दी से ही जनसाधारण की रुचि हिन्दी रचनाओ की ओर बढती गयी और उसमें नये-नये ग्रथ लिखे जाते रहे और उन्हे शास्त्र-भण्डारो मे विराजमान किया जाता रहा. राजस्थान मे हिन्दी का प्रथम सन्त कवि कौन था, यह तो अभी खोज का विषय है और इसमे विद्वानो के विभिन्न मत हो सकते है, लेकिन इतना अवश्य है कि यहाँ १३ वी शताब्दी से अपभ्रश रचनाओ के साथ-साथ हिन्दी रचनायें भी लिखी जाने लगी. राजस्थान मे जैन सन्तो ने हिन्दी को उस समय अपनाया था जब इस भाषा मे लिखना विद्वत्ता से परे माना जाता था तथा इसे संस्कृत के विद्वान् देशी भाषा कह कर सम्बोधित किया करते थे. किन्तु जैन सन्तो ने उनकी कुछ भी परवाह नही की और जनसाधारण की इच्छा एव अनुरोध को ध्यान मे रख कर हिन्दी साहित्य का सर्जन करते रहे. पहिले यह कार्य छोटी-छोटी रचनाओ से प्रारम्भ किया गया फिर रास, चरित, वेलि, फागु, पुराण एव काव्य लिखे जाने लगे १४ वी शताब्दी में लिखा हुआ जिनदत्त चौपई हिन्दी का सुन्दर काव्य है जो कुछ ही समय पहिले जयपुर के एक जैन भण्डार मे उपलब्ध हुआ है. पद स्तवन एव स्तोत्र भी खूब लिखे जाने लगे फिर व्याकरण, छद, अलकार, वैद्यक, गणित, ज्योतिष, नीति, ऐतिहासिक औपदेशिक, सवाद आदि विषयो को भी नही छोडा गया और इनमे अच्छा साहित्य लिखा गया. हिन्दी एव राजस्थानी भाषा का यह सारा साहित्य राजस्थान के शास्त्रभण्डारो मे सग्रहीत है हिन्दी एव राजस्थानी में लिखा हुआ इन सन्तो का साहित्य अभी अज्ञात अवस्था मे पडा हुआ है और उस पर बहुत कम प्रकाश डाला जा सका है राजस्थान मे सैकडो जैन सत हुये है जिन्होने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से साहित्य की महती सेवा की है. लेकिन हम प्रमादवश उनकी अमूल्य सेवाओ को भुला बैठे है अब साहित्य को शास्त्र-भण्डारो मे अथवा आलमारियो में बद करके रखने का समय नही है किन्तु उसे विना किसी डर अथवा हिचकिचाहट के विद्वानो एव पाठकों के सामने रखने का है

भरतेश्वर वाहुवलि रास सभवतः प्रथम राजस्थानी कृति है जो जैन सन्त शालिभद्र सूरि द्वारा १३ वी शताब्दी में लिखी गयी इसमे प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र भरत एव बाहुबली के जीवन का सक्षिप्त चित्रण है भरत एव वाहुवली के युद्ध का रोचक वर्णन है. इसके पश्चात् विजयसेन सूरि का रेवतगिरिरास (स० १२८८) सुमतिगणि का नेमिनाथ रास (स० १२७०) विनयप्रभ का गौतमरास (स० १४१२) आदि कितने ही रास लिखे गये

१५ वी शताब्दी से तो हिन्दी एव राजस्थानी साहित्य में रचनाओ की एक बाढ-सी आगयी. भट्टारक सकलकीर्ति ने सस्कृत मे रचनाए निबद्ध करने के साथ-साथ कुछ रचनाए राजस्थानी भाषा मे भी लिखी, जिससे उस समय की साहित्यिक रुचि का पता लगता है सकलकीर्ति की राजस्थानी रचनाओ मे आराधना-प्रतिबोधसार, मुक्तावलिगीत, णमोकारगीत, सारसिखामणिरास आदि के नाम उल्लेखनीय है सकलकीर्ति के एक शिष्य ब्रह्म जिनदास ने ६० से भी अधिक रचनाएँ लिखकर हिन्दी साहित्य में एक नया उदाहरण प्रस्तुत किया इन रचनाओ में कितनी ही रचनाये तो तुलसीदास की रामायण से भी अधिक बडी है इनकी राम-सीता के जीवन पर भी एक से अधिक रचनाए हैं. ब्रह्म जिनदास की अबतक ३३ रासा ग्रथ २ पुराण, ७ गीत एव स्तवन, ६ पूजाए एव ७ स्फुट रचनाए उपलब्ध हो चुकी हैं इन रचनाओ मे रामसीतारास, श्रीपालरास, यशोधररास, भविष्यदत्त रास, परमहसरास, हरिवशपुराण, आदिनाथ पुराण आदि के नाम उल्लेखनीय है. भट्टारक सकलकीर्ति की शिष्य-परम्परा मे होने वाले सभी भट्टारको ने हिन्दी भाषा मे रचनाएँ लिखने में पर्याप्त रुचि ली.

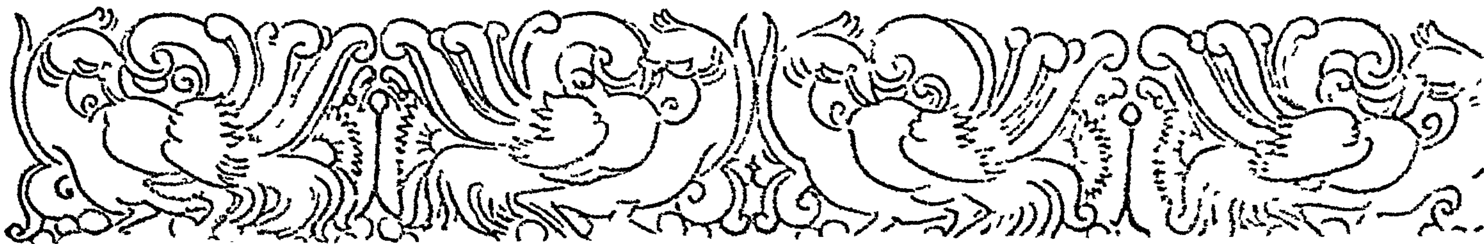
खरतर गच्छ के आचार्य जिनराजसूरि के शिष्य महोपाध्याय जयसागर १५-१६ वी शताब्दी के विद्वान् थे इन्होने राजस्थानी भाषा में ३२ से भी अधिक रचनाये लिखी जिनमें विनती, स्तवन एव स्तोत्र आदि है. ऋषिवर्द्धन सूरि की नलदमयन्तीरास [स० १५१२] प्रमुख रचना है. मतिसागर १६ वी शताब्दी के विद्वान् थे राजस्थानी भाषा में इनकी कितनी ही रचनाए उपलब्ध है जिनमे धन्नारास [स० १५१४] नेमिनाथ वसंत, मयणरेहारास, इलापुत्र चरित्र, नेमिनाथ-गीत आदि के नाम उल्लेखनीय है

ब्रह्म बूचराज १६ वी शताब्दी के प्रसिद्ध कवि थे मयण-जुज्झ इनकी प्रथम रचना थी जो इन्होने सवत् १५८४ मे समाप्त की थी. इनके अन्य ग्रथो मे सन्तोप-तिलक जयमाल, चेतन पुद्गलधमाल आदि उल्लेखनीय रचनाए है ये दोनो ही रूपक रचनाए है जो नाटक साहित्य के अन्तर्गत आती है सन्त विद्याभूपण रामसेन परम्परा के यति थे इन्होंने सोजत नगर मे भविष्यदत्त रास को सवत् १६०० मे समाप्त किया था धर्मसमुद्र गणि खतरगच्छीय विवेकसिंह के शिष्य थे जिन्होने 'सुमित्र कुमाररास' को जालौर मे सवत् १५६७ मे तथा 'प्रभाकर गुणाकर चौपई' को सवत् १५७३ मे मेवाड प्रदेश मे समाप्त किया है शकुतला रास इनकी बहुत छोटी रचना है जो सभवत इस तरह की प्रथम रचना है पार्श्वचद्र सूरि अपने समय के प्रभावशाली सन्त कवि थे इन्होंने ५० से अधिक रचनाए राजस्थानी भापा को समर्पित करके साहित्यसेवा का सुन्दर उदाहरण उपस्थित किया इनका जन्म सवत् १५३८ मे तथा स्वर्गवास सवत् १६१२ मे हुआ था राजस्थान के अन्य सन्त कवियो मे विनयसमुद्र, कुशललाभ, हरिकलश, कनकसोम, हेमरत्नसूरि आदि के नाम उल्लेखनीय है कुशललाभ खरतरगच्छ के सन्त थे इनके द्वारा लिखी हुई 'माधवानल चौपई' [स० १६१६] एव 'ढोला-मारवणरी चौपई' राजस्थानी भापा की अत्यधिक प्रसिद्ध रचनाए है जो लोककथानको पर आधारित है इसी तरह हरिकलश भी इसी खरतरगच्छ के साधु थे जो अपने समय के प्रसिद्ध विद्वानो मे से थे इनका अधिकतर विहार जोधपुर एव बीकानेर प्रदेश मे हुआ और अपने जीवन मे २७-२८ रचनाए लिखी सभी रचनाए राजस्थानी भापा की है

१७ वी शताब्दी के प्रारम्भ मे ब्रह्मरायमल्ल एक अच्छे सत हुये जिनकी हनुमत चौपई, भविष्यदत्तकथा, प्रद्युम्नरास, सुदर्शनरास आदि अत्यधिक प्रसिद्ध एव लोकप्रिय रचनाए है इन्होंने स्थान-स्थान पर घूम कर काव्यरचना की और जनसाधारण का इस ओर ध्यान आकृष्ट किया इन्होने गढहरसौर, गढ रणथम्भौर एव सागानेर आदि स्थानो का अपनी रचनाओ मे अच्छा वर्णन किया है आनन्दघन आध्यात्मिक सन्त थे इनकी आनन्दघन बहोत्तरी एव आनन्दघन चौबीसी उच्चस्तर की रचनाएँ है विद्वानो के मतानुसार इनका जन्म सवत् १६६० एव मृत्यु सवत् १७३० मे हुई थी ब्रह्म कपूरचद ने सवत् १६९७ मे पार्श्वनाथरासो को समाप्त किया था इनके कितने ही पद भी मिलते है इनका जन्म आनन्दपुर मे हुआ था हर्षकीर्ति भी १७ वी शताब्दी के प्रसिद्ध राजस्थानी कवि थे 'चतुर्गति वेलि' इनकी प्रसिद्ध रचना है जिसे इन्होने सवत् १६८३ मे समाप्त किया था इनकी अन्य रचनाओ मे पट्लेश्याकवित्त, पचमगति वेलि, कर्महिंडोलना, सीमधर की जकडी, नेमिनाथ राजमती गीत, मोरडा आदि उल्लेखनीय है इनके कितने ही पद भी मिलते है जो भक्ति एव वैराग्य रस से ओतप्रोत है

समयसुन्दर राजस्थानी भापा के अच्छे विद्वान् थे श्री हजारीप्रसाद जी द्विवेदी के शब्दो मे कवि का ज्ञानपरिसर बहुत ही विस्तृत है वह किसी भी वर्ण्य विषय को बिना आयास के सहज ही सम्भाल लेता है इन्होने सस्कृत मे २५ तथा हिन्दी राजस्थानी भापा मे २३ ग्रथ लिखे इन्होने सात छत्तीसियो की भी रचना की कवि बहुमुखी प्रतिभा एव असाधारण योग्यता वाले विद्वान् थे इन्होंने सिन्ध, पजाब, उत्तरप्रदेश राजस्थान, सौराष्ट्र, गुजरात आदि प्रान्तो मे विहार किया और उनमे विहार करते हुये विभिन्न ग्रथो की रचना भी की राजस्थान मे इन्होंने सबसे अधिक भ्रमण किया और अपने समय मे एक साहित्यिक वातावरण-सा बनाने मे सफल हुये ये सगीत के भी अच्छे जानकार थे और अपनी रचनाओ को कभी-कभी गाकर भी सुनाया करते थे

राजस्थान का वागड प्रदेश गुजरात प्रान्त से लगा हुआ है इसलिए गुजरात मे होनेवाले बहुत से भट्टारक एव सन्त राजस्थान प्रदेश को भी पवित्र करते अपने चरण-कमलो से यहाँ साहित्य रचना करते एव अपने भक्तो को उनका रसास्वादन कराते इन सन्तो मे भ० रत्नकीर्ति, भ० कुमुदचन्द्र, भ० अभयचद्र भ० अभयनदी, भ० शुभचन्द्र, ब्रह्म जयसागर, मुनि कल्याणकीर्ति, श्रीपाल, गणेश आदि सस्कृत हिन्दी एव राजस्थानी भापा के अच्छे विद्वान् थे उनकी कितनी ही रचनाएँ रिखबदेव, डूगरपुर, सागवाडा एवं उदयपुर के शास्त्रभण्डारो मे उपलब्ध हुई है रत्नकीर्ति के नेमिनाथ फाग, नेमिनाथ बारहमासा एव कितने ही पद उल्लेखनीय है उनके पदो मे मिठास एव भक्ति का रसास्वादन



करने को मिलता है. नेमिराजुल के विवाह से सम्बन्धित प्रसग ही इनकी रचनाओं का एव पदो का मुख्य विषय है. एक पद देखिये .

राग-देशाख

सखि को मिलावो नेमि नरिंदा ॥
ता बिन तन मन यौवन रजत है, चारु चंदन अरु चन्दा ॥ सखि० ॥
कानन भुवन मेरे जीया लागत, दुसह मदन को फंदा ।
तात मात अरु सजनी रजनी वे अति दुख को कन्दा ॥ सखि० ॥
तुम तो संकर सुख के दाता, करम काट किये मंदा ।
रतनकीरति प्रभु परम दयालु सेवत अमर नरिंदा ॥ सखि० ॥

कुमुदचन्द्र की साहित्य-साधना अपने गुरु रत्नकीर्ति से भी आगे बढ चुकी थी ये बारडोली के जैन सन्त के नाम से प्रसिद्ध थे इनकी अब तक कितनी ही रचनाये प्राप्त हो चुकी है इनकी बडी रचनाओ में आदिनाथ विवाहलो, नेमीश्वर हमची एव भरतबाहुबलि छन्द हैं. शेष रचनायें पद, गीत एव विनतिओ के रूप मे है. इनके पद सजीव है. उनमे कवि की अन्तरात्मा के दर्शन होने लगते हैं शब्दो का चयन एव अर्थ की सरलता उनमे स्पष्ट नजर आती है एक पद देखिये .

मैं तो नरभव वादि गमायो,
न कियो जप तप व्रत विधि सुन्दर, काम भलो न कमायो ॥ मैं तो० ॥१॥
विकट लोभ तें कपट कूट करी, निपट विषै लपटायो ॥
विटल कुटिल शठ संगति बैठो, साधु निकट विघटायो ॥ मैं तो० ॥२॥
कृपण भयो कछु दान न दीनो, दिन दिन दाम मिलायो ॥
जब जोवन जंजाल पड्यो तब परत्रिया तनु चित लायो ॥ मैं तो० ॥३॥
अंत समय कोउ संग न आवत झूठहिं पाप लगायो ॥
कुमुदचन्द्र कहे चूक परी मोही प्रभु पद जस नहीं गायो ॥ मैं तो० ॥४॥

इन भट्टारको के शिष्य-प्रशिष्य भी साहित्य के परमसाधक थे और उनकी कितनी ही रचनाये उपलब्ध होती है. वास्तव मे वह युग सतसाहित्य का युग था.

इधर आमेर, अजमेर एव नागौर में भी भट्टारको की गादियाँ थी और वहाँ के भट्टारक अपने-अपने क्षेत्रो में साहित्य एव सस्कृति की जागृति के लिये विहार किया करते थे. दिल्ली के भट्टारकपट्ट से आमेर का सीधा सम्बन्ध था और वही से नागौर एव ग्वालियर में भट्टारको के स्वतन्त्र पट्ट स्थापित हुये थे भ० सुरेन्द्रकीर्ति [स० १७२२] भ० जगत्कीर्ति [स० १७३३] एव भ० देवेन्द्रकीर्ति [स० १७७०] का पट्टाभिषेक आमेर मे ही हुआ था. ये सब जैन सन्त थे और साहित्य के सच्चे उपासक थे. आमेर शास्त्रभण्डार, नागौर एव अजमेर के भट्टारकीय शास्त्रभण्डार इन्ही भट्टारको की साहित्य-सेवा का सच्चा स्वरूप है.

सवत् १८०० से आगे इन सन्तो मे विद्वत्ता की कमी आने लगी. वे नवीन रचना करने के स्थान पर प्राचीन रचनाओ की प्रतियों को पुन. लिखवा कर भण्डारो मे सग्रहीत करने मे ही अधिक व्यस्त रहे. यह भी उनकी साहित्योपासना की एक सही दिशा थी जिसके कारण बहुत से ग्रथो की प्रतियाँ हमे आज इन भण्डारो मे सुरक्षित रूप मे मिलती है.

इस प्रकार राजस्थान के इन जैन सन्तो ने भारतीय साहित्य की जो अपूर्व एव महती सेवा की वह इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठो मे लिखने योग्य है. उनकी इस सेवा की जितनी अधिक प्रशसा की जाएगी कम ही रहेगी.





डा० हरिवल्लभ चुन्नीलाल भायाणी
एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक भारतीय विद्याभवन, बम्बई

तीन अर्धमागधी शब्दों की कथा

जैनधर्म और दर्शन के मूल-स्रोत होने के कारण तो जैन आगम-ग्रथ अमूल्य है ही. इसके अतिरिक्त केवल ऐतिहासिक दृष्टि से भी आगमगत सामग्री का अनेक विध महत्त्व सर्व-विदित है. भारतीय आर्यभापाओ के क्रम-विकास के अध्ययन के लिए आगमिक भाषा एक रत्न-भण्डार सी है इस दृष्टि से अर्धमागधी को लेकर वहुत-से विद्वानो ने विवरणात्मक, तुलनात्मक और ऐसिहासिक अनुसन्धान किया है मगर वहुत कुछ कार्य अव भी अनुसधायको की प्रतीक्षा कर रहा है. विशेष करके अनेक आगमिक शब्दो के सूक्ष्म अर्थ-लेश के विपय मे और उनके अर्वाचीन हिन्दी, गुजराती आदि भापाओ के शब्दो से सवन्ध के विपय मे गवेपणा के लिए विस्तृत अवकाश है. इस विषय का महत्त्व जितना अर्वाचीन भाषाओ के इतिहास की दृष्टि से है उतना ही अर्धमागधी को रसिक और परिचित वनाने की दृष्टि से भी है. यहां पर तीन अर्धमागधी शब्दो की इस तौर पर चर्चा करने का इरादा है ये शब्द है—पिट्ठुडी—'आटे की लोई, उत्तुप्पिय—'चुपडा हुआ, 'चिकना' और पयण—'कडाही

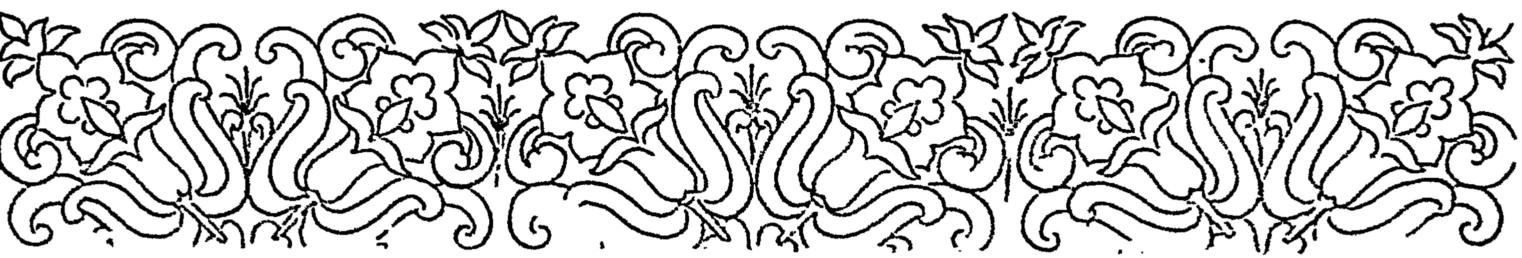
१ पिट्ठुंडी

'नायाधम्मकहा अङ्ग के तीसरे अध्ययन 'अण्डक' मे मोरनी के अडो के वर्णन मे अडो को पुष्ट, निष्पन्न, व्रणरहित, अक्षत और 'पिट्ठुडीपड्डुर' कहा गया है इस विशेषण मे 'पिट्ठुडी' का अर्थ अभयदेवसूरि ने इस प्रकार किया है—'पिष्टस्य-शालिलोट्टस्य-उडी पिण्डी' फलस्वरूप उक्त विशेषण का अर्थ होगा 'चावल के आटे के पिण्ड जैसा श्वेत'

'पिट्ठुडी' शब्द पिट्ठ+उडी से वना है 'पिट्ठ'=स०'पिष्ट' 'पिष्ट' का मूल अर्थ है 'पीसा हुआ,' वाद मे उसका अर्थ हुआ 'चूर्ण' और फिर 'अन्न का चूर्ण'. मराठी 'पीठ' (आटा), हिन्दी 'पीठी', गुजराती 'पीठी' आदि का सम्वन्ध इस 'पिष्ट'—'पिट्ठ' के साथ है 'नाज के चूर्ण' इस अर्थ वाले 'आटा' 'लोट'(गुजराती) और 'पीठ' इन तीनो शब्दो का मूल अर्थ केवल 'चूर्ण' था इनके प्राकृत रूप थे—'अट्ट', 'लोट्ट' और 'पिट्ठ'

शेष 'उडी' का अर्थ है 'पिण्डिका' या 'छोटा पिण्ड' जैसे यहाँ पर 'पिट्ठुड' मे 'उड' का प्रयोग 'पिट्ठ' के साथ हुआ है वैसे ओघनिर्युक्तिभाष्य में 'उड' का विस्तारित रूप 'उडग' 'मस' के साथ (मसउडग) और विपाकश्रुत मे 'हियय' (हृदय) के साथ 'हिययउडय' हुआ है पिण्डनिर्युक्ति में 'मसुडग' रूप मिलता है इसके अतिरिक्त नायाधम्मकहा के पद्रहवें अध्ययन मे 'भिच्छुड' शब्द 'भिखारी' अर्थ मे प्रयुक्त है इस मे 'भिक्षा+उड' ऐसे अवयव हैं और इनसे 'भिक्षा-पिण्ड पर निर्वाह करने वाला' ऐसा अर्थ प्रतीत होता है 'भिच्छुड' के स्थान पर 'भिक्खुड' और 'भिक्खोड' भी मिलते है सस्कृत मे 'उण्डुक' (शरीर का एक अवयव) और 'उण्डेरक' (पिष्टपिण्ड) के प्रयोग मिलते है

अर्वाचीन भापाओ मे मराठी 'उडा' (—लोई) और उडी (—भात का पिण्ड), गुजराती 'ऊडल'(—'गुल्म-रोग') तथा सिंहली 'उण्डिय' (—गेंद) मे एव हिन्दी 'मसूडा' (—स० मासोण्डक, प्रा० मसुडय) मे 'उड' शब्द सुरक्षित है. टर्नर के अनुसार "उड' मूल मे द्राविडी शब्द है तमिल मे 'उण्टै' मलयालम् मे 'उण्डा', और कन्नड़ मे 'उण्डे' ये शब्द 'गेंद' या 'गोल पिण्ड' के अर्थ मे प्रचलित हैं. इन सब से 'पिट्ठुडी' का (चावल के) 'आटे की लोई' यह अर्थ समर्थित होता है



२ उत्तुप्पिय

प्रश्नव्याकरणसूत्र मे तीसरे अधर्मद्वार मे चौरिका के फलवर्णन मे वधस्थान की ओर जाते समय चौरो की भयभीत दशा चित्रित करते कहा गया है

मरण-भउप्पण्ण-सेद-आयत-णेहुत्तुप्पिय-किलिन्न-गत्ता ।

'जिन के गात्र मरण-भय से उत्पन्न स्वेद के सहजात स्नेह से लिप्त और भीगे हुए है.'

यहाँ पर 'उत्तुप्पिय' शब्द 'स्नेह-लिप्त' 'चिकना' इस अर्थ में आया है विपाकश्रुत में भी इसका प्रयोग हुआ है ज्ञातधर्मकथा मे, कल्पसूत्र में, गाथासप्तशती मे 'चुपडा हुआ' 'लिप्त' इस अर्थ मे, ओघनिर्युक्ति-भाष्य मे 'स्निग्ध' इस अर्थ मे तथा 'सेतुवन्ध' आदि मे 'घी' इस अर्थ मे 'तुप्प' शब्द प्रयुक्त है. हेमचन्द्राचार्य ने देशीनाममाला मे 'तुप्प' के 'म्रक्षित' 'स्निग्ध' और 'कुतुप' अर्थ दिए हैं अभिधानराजेन्द्रकोष मे 'तुप्पग्ग' (जिसका अग्रभाग म्रक्षित है) और 'तुप्पोट्ठ' (जिसका ओष्ठ म्रक्षित है) दिए है अपभ्रंश साहित्य मे 'तुप्प' के कई प्रयोग मिलते हैं.

'तुप्प' से नाम धातु 'उत्तुप्प' वना और इसके कर्मणि भूतकृदत 'उत्तुप्पिय' का अर्थ है 'स्निग्ध पदार्थ से लिप्त' ऐसे 'उद्' लगाकर क्रियापद वनाने की प्रक्रिया प्राकृत 'उद्धूलिय' (—उद्धूलित, धूलिलिप्त) उद्धूविय (उद्धूपित) इत्यादि मे है. 'तुप्प' से इसी अर्थ में 'तुप्पलिय' (घृतलिप्त, चिकना) बना है, और 'गाथासप्तशती' मे इसका प्रयोग है. 'तुप्प' से सिद्ध मराठी 'तूप' शब्द 'घी' अर्थ मे अभी प्रचलित है कन्नड मे भी इसी अर्थ में 'तुप्प' शब्द व्यवहृत होता है मूल म्रक्षण वाचक 'तुप्प' चोप्पड' और 'मक्खण' (स० म्रक्षण) शब्द वाद मे 'घी' 'तेल' 'मक्खन' जैसे स्निग्ध पदार्थो के वाचक वन गए हैं

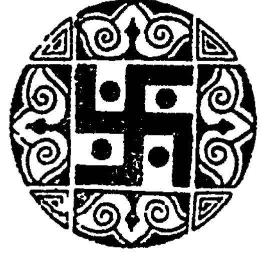
३ पयण

'नायाधम्मकहा' के 'शैलक' अध्ययन मे अशुचि वस्त्र की शुद्धि-क्रिया के वर्णन में कहा गया है कि के वाद वस्त्र को 'पयणं अरुहेई'

वृत्तिकार ने अर्थ किया है 'पाकस्थाने चूल्ल्यादौ वाऽऽरोपयति' यह तो भावार्थ हुआ. क्योकि वस्त्र को पाकस्थान में अथवा चूल्हे पर चढाने से 'पचन' का सामान्य अर्थ समझा जाता है चढाने की क्रिया पर वल देने से लगता है कि यहाँ 'पयण' या पचन शब्द प्रक्रिया के अर्थ मे नही, पर साधन के अर्थ मे लेना उचित है 'पचन' 'पकाने का पात्र'. चूल्हे पर कडाही मे गरम पानी मे मलिन वस्त्र को उबालने से उसकी स्वच्छता सिद्ध होती है. सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति मे तथा जीवाजीवाभिगमसूत्र मे 'पयण' या 'पयणग' का 'पचन-पात्र' के अर्थ मे प्रयोग है ही. अर्वाचीन भाषाओ मे गुजराती 'पेणी' (कडाही), 'पेणो' (कडाहा) एव नैपाली 'पैनी' (—मद्य निथारने का वरतन) मूलत प्राकृत के 'पयण' स० 'पचन' से निष्पन्न हुए है अर्वाचीन प्रयोग के आधार पर किसी ने सस्कृत में भी' 'पचनिका' शब्द वना दिया है

इस तरह आगम-ग्रथो के अनेक शब्दो के इतिहास की शृखला प्रवर्तमान भाषाओ पर्यन्त अविच्छिन्न रूप मे चली आई जान पडती है.





श्रीअम्बालाल प्रेमचन्द शाह

जैनशास्त्र और मंत्रविद्या

प्रत्येक व्यक्ति को ऐश्वर्य प्राप्त करने का आकर्षण बना रहता है उसे प्राप्त करने के लिए वह विविध बौद्धिक और शारीरिक परिश्रम करता रहता है विद्या, मन्त्र और योग की सिद्धियो के चमत्कार ऐसे ही प्रयत्न है.

विद्या और मन्त्र में थोडा फर्क है 'विद्या' कुछ तात्रिक प्रयोग और होम करने से सिद्ध होती है और उसकी अधिष्ठात्री स्त्री देवता होती है, जबकि 'मत्र' सिर्फ पाठ करने से सिद्ध होता है और उसका अधिष्ठाता पुरुष देवता रहता है अथवा गुप्त सभाषण को 'मत्र' कहते है 'योग' अर्थात् किसी जादूई प्रयोग द्वारा आकर्षण, मारण, उच्चाटन, रोगशाति वगैरह या पैरो मे लेप लगाकर ऊँचे उडने की, पानी की सतह पर चलने की चामत्कारिक शक्ति आदि की प्राप्ति

जैनो मे मत्रविद्या का प्रचलन कब से हुआ, यह कहना मुश्किल है जैनो के आगम-साहित्य मे चामत्कारिक प्रयोगो के विषय मे अनेक निर्देश मिलते है ऐसा माना जाता है कि चौदह पूर्वो मे जो दसवाँ 'विद्यानुवाद' पूर्व था, उसमे अनेक मत्र प्रयोगो का वर्णन था, परन्तु वह पूर्व आज उपलब्ध नही है उसमे से कितनेक मत्र और उनके प्रयोग परम्परा से चले आये, वे पिछले ग्रथो मे सग्रहीत देखने मे आते है 'मणि-मन्त्रौपधानामचिन्त्य प्रभाव ' यह उक्ति भी जैनाचार्यो ने प्रामाणिक ठहराई है

आज जो आगमग्रथ मिलते है उनमे से 'वृहत्कल्पसूत्र' मे कोऊअ, भूइ, पासिण, पसिणापसिण, निमित्त जैसे जादूई विद्या के उल्लेख मिलते है

'भगवतीसूत्र' से जाना जाता है कि, गोशाल महानिमित्त के आठ अगो— १ भौम, १ उत्पात, ३ स्वप्न, ४ आतरिक्ष, ५ अग, ६ स्वर, ७ लक्षण और ८ व्यञ्जन मे पारगत था वह लोगो के लाभ-हानि, सुख-दु ख, जीवन-मरण वगैरह की भविष्यवाणी कर सकता था

'स्थानागसूत्र' और 'समवायागसूत्र' मे इस महानिमित्तशास्त्र को पापश्रुत के अन्तर्गत बताया है, तो भी अनेक विद्याओ के निर्देश आगम के भाष्य, चूर्णि और टीका आदि साहित्य मे मिलते है लब्धि और लब्धिधारियो के उल्लेख भी पर्याप्त प्रमाण मे प्राप्त होते है जिसका नाम जानने मे नही आया ऐसे एक जैनाचार्य 'अगविज्जा' नामक विशालकाय (९००० श्लोकप्रमाण) ग्रन्थ की रचना करें, तब इस विद्या और शास्त्र का महत्त्व स्वय सिद्ध हो जाता है एक पट्टावली के उल्लेख से ज्ञात होता है कि राजगच्छीय अभयसिंहसूरि नामक जैनाचार्य दु साध्य 'अगविद्या' शास्त्र को अर्थ सहित जानते थे

लब्धिधारी या मात्रिको मे से कितनेक जैनाचार्यो के नाम सुप्रसिद्ध है ऐसी सिद्धियो के कारण उन्होने प्राभाविक आचार्यो के रूप मे प्रतिष्ठा प्राप्त की है याद रहे कि, जैनो मे जो आठ प्रकार के प्राभाविक कहे गये है उनमे निमित्त-वादी भी एक है आर्य सुरक्षित, सुप्रतिवुद्ध, सिद्ध रोहण, रेवतीमित्र, श्रीगुप्त, कालिकाचार्य, आर्य खपुटाचार्य, पादलिप्त-सूरि, सिद्धसेन दिवाकर वगैरह प्राचीन आचार्यो के नाम मत्रवादी के रूप मे मुख्य रूप से गिनाये जा सकते है

प्राचीन आचार्यो मे अज्ञातकर्तृक 'अगविज्जा' और 'जयपाहुड' इन निमित्त और चूडामणिनिमित्त शास्त्र के ग्रथो के सिवाय किसी ने मत्रशास्त्र की रचना की हो, ऐसा जानने मे नही आता. नवी और दसवी शताब्दी के बाद हुए कितनेक श्वेताम्बर आचार्यो मे बप्पभट्टिसूरि, हेमचन्द्रसूरि, भद्रगुप्तसूरि, जिनदत्तसूरि, सागरचन्द्रसूरि, जिनप्रभसूरि, सिंहतिलकसूरि वगैरह आचार्यो के रचे हुए कितनेक मत्रमय स्तोत्र, कल्प और छोटी रचनायें मिलती है जब कि दिगम्बर जैनाचार्य



मल्लिषेणसूरि ने 'विद्यानुवाद' और 'भैरव पद्मावतीकल्प' जैसे बडे ग्रथ और आयशास्त्र का 'आयसद्भाव' और 'जगत्-सुन्दरी प्रयोगमाला' जैसे तान्त्रिक ग्रथो की रचना की है यह उल्लेखनीय है कहा जाता है कि उनमे निर्दिष्ट मत्र और विद्या 'विद्याप्रवाद' पूर्व में विद्यमान थी.

जैनाचार्यो के रचे हुए कथा आदि अनेक ग्रन्थो में मन्त्रवादियो के प्रचुर वर्णन प्राप्त होते है. 'कुवलयमाला' में जो एक सिद्ध पुरुष का उल्लेख मिलता है उसे अजन, मत्र, तत्र, यक्षिणी, योगिनी आदि देवियाँ सिद्ध थी 'आख्यानकमणिकोश' मे भैरवानन्द का वर्णन, 'पार्श्वनाथचरित' मे भैरव का वर्णन, 'महावीरचरित' मे घोरशिव का वर्णन, 'कथारत्नकोश' मे जोगानन्द और बल वगैरह के वर्णन मिलते है, वे वैसी ही मत्रविद्या के साधक पुरुष थे.

'वृहत्कल्पसूत्र' विधान करता है कि—

"विज्जा-मंत-निमित्ते हेउसत्थट्ठदंसणट्ठाए ।।"

अर्थात्—दर्शनप्रभावना की दृष्टि से विद्या, मन्त्र, निमित्त और हेतुशास्त्र के अध्ययन के लिये कोई भी साधु दूसरे आचार्य या उपाध्याय को गुरु बना सकता है.

'निशीथसूत्र-चूर्णि' मे तो आज्ञा दी है कि—

विज्जगं उभयं सेवे त्ति—उभयं नाम पासत्था गिहत्था, ते विज्जा-मंत-जोगादिणिमित्तं सेवे ।" (१-७०)

अर्थात्—विद्या-मत्र और योग के अध्ययनार्थ पासत्था साधु एव गृहस्थो की भी सेवा करनी चाहिए

स्पष्ट है कि, जैनशासन की रक्षा के लिये मत्र, तत्र, निमित्त जानना जरूरी था परन्तु उसका दुरुपयोग करने का निषेध था

आ० भद्रबाहुस्वामी को आर्य स्थूलिभद्र को पूर्वो का ज्ञान देते हुए उनके द्वारा किये गये विद्या के दुरुपयोग के कारण दडस्वरूप दूसरी विद्याएँ नही देने का निर्णय लेना पडा था यह तथ्य सूचन करता है कि, विद्या को निरर्थक प्रकाश मे रखने मे खूब सावधानी रखी जाती थी और शिष्यो की योग्यता देख कर ये विद्याएँ केवल दर्शनप्रभावना की दृष्टि से ही दी जाती थी

जैनधर्म ने मन्त्रयान अपनाया तो भी उसने अपनी सैद्धान्तिक दृष्टि रखी ही है, यह भूलना नही चाहिए. यह पतनशील परिणामो से विलकुल अछूता रह सका है यह उसकी विशेषता है जैनपरम्परा की दृष्टि से ऐसी कितनीक विशेषताएँ इस प्रकार मालूम पडती हैं

१. मिथ्यात्वी देवो से अधिष्ठित मन्त्रो की साधना नही करना.
२. मन्त्र का उपयोग केवल दर्शनप्रभावना के लिए ही करना उसके सिवाय ऐहिक लाभो के लिये नही करना
३. तान्त्रिकपद्धति को स्वीकार नही करना
४. शास्त्रो मे जो ध्यानयोग अपनाया गया है उस पद्धति से पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत, इन भावनाओ की मर्यादा मे रह कर मन्त्रयोग की साधना करना

दूसरी दृष्टि से देखे तो मन्त्रविद्या एक गहन विद्या है उसकी साधना के लिये अनेक बातो पर ध्यान देना पडता है. सर्वप्रथम मन्त्रसाधक की योग्यता कैसी होनी चाहिये, उसके विषय मे मन्त्रशास्त्र खूब कठोर नियम वताता है.

साधक मे पूरा शारीरिक और मानसिक सामर्थ्य होना चाहिये मन मे प्रविष्ट खराब विचारो को रोकने की और पवित्र भावना मे रमण करने की शक्ति होनी चाहिये प्राणायाम के रोचक, पूरक और कुभक योग द्वारा मन को उन-उन स्थलो मे रोकने का अभ्यास होना जरूरी है. मन्त्रसाधना करते हुये अनेक प्रकार के उपद्रव उपस्थित हो तो उसके सामने जूझने का सामर्थ्य होना चाहिये ऐसी योग्यता प्राप्त न की हो तो वह पागल-सा बन जाता है या मरण के शरण होता है

इसके सिवाय इद्रियो पर कावू प्राप्त करने की शक्ति—ब्रह्मचर्य, मिताहार, मौन, श्रद्धा, दया, दाक्षिण्य आदि गुणो की आवश्यकता पर भार दिया गया है

इसके पीछे मत्रसाधक को साधनासमय मे नीचे वताई हुई प्रक्रिया मे से पार होना चाहिये

१ योग, २ उपदेश, ३ देवता, ४ सकलीकरण, ५ उपचार, ६ जप, ७ होम—उसमे जप करनेवाले को १ दिशा, २ काल, ३ मुद्रा, ४ आसन, ५ पल्लव, ६ मडल, ७ शान्ति आदि कर्मों के प्रकार जानकर जप और होम करना चाहिए

१. योग—मत्र के आदि अक्षर के साथ नक्षत्र, तारा, और राशि की अनुकूलता ज्योति शास्त्र के साथ मिलान करे यदि किसी प्रकार का विरोध न हो तो ही मत्र सिद्ध होता है

इसी प्रकार साध्य आदि भेद को भी चकासने-परखने की आवश्यकता है साध्य और साधक का यदि मेल न वने तो मत्र आदि का आरावन करने, कराने मे अनेक विघ्न उपस्थित होते है और अत मे परिणाम अनिष्टकारक वनना है

साध्य आदि भेद चकासने की अनेक रीतियाँ देखने मे आती है. उनमे से १ भद्रगुप्ताचार्य ने अनुभव सिद्ध मन्त्रद्वात्रिंशिका मे जो रीति बतायी है वह इस प्रकार है—

'अ इ उ ए ओ' इन पाच स्वरो से आरम्भ कर 'ङ ढ ण' वर्णों को छोडकर पाँच सरीखी पक्तियो में सर्व मातृकाक्षर लिखें पीछे साध्य नाम से गिनते हुए साधक का नाम जिस स्थान मे आवे उस स्थान का फल देने वाला मत्र है ऐसा समझना. ये पाँच नाम इस प्रकार हैं—

१ साध्य, २ सिद्धि, ३ सुसिद्ध, ४ शत्रुरूप और ५ मृत्युदायी. इन पाँच प्रकारो मे से आद्य तीन भेद क्रम से श्रेष्ठ, मध्य और स्वल्प फल देने वाले होने से शिष्य की योग्यता के अनुसार दे सकते है, परन्तु अतिम दो भेद शत्रुरूप और मृत्युदायी होने से किसी को भी देने योग्य नही है

उपर्युक्त प्रकारो का 'मातृकाचक्र' इस प्रकार है—

मातृका चक्र

१	२	३	४	५
अ	इ	उ	ए	ओ
आ	ई	ऊ	ऐ	औ
क	ख	ग	घ	ङ
च	छ	ज	झ	ञ
ट	ठ	त	थ	द
ध	न	प	फ	ब
भ	म	य	र	ल
व	श	ष	स	ह

२ उपदेश—मत्र पढ लेने के वाद मात्र जाप करना नही चाहिए परन्तु मत्र और विधि गुरु के पास से जानकर ही, गुरु के मुख से मंत्र पाठ लेकर साधना करनी चाहिए.



३ देवता—चौवीस तीर्थकरो मे मे किसी भी तीर्थंकर का जाप किया जाय तो उनके सेवक यक्ष और यक्षिणी सेवक बन कर साधक की मनोवाछित सिद्धि मे सहायक होते है

२४ यक्ष—

"जक्खा गोमुह महजक्ख तिमुह जक्खेस तुबरु कुसुमो।
मायगो विजयाजिय बभो मणुओ सुरकुमारो अ।
छम्मुह पयाल किन्नर गरुलो गधव्व तह य जक्खिदो।
कुबेर वरुणो भिउडी गोमेहो पासमायगा॥"

अर्थात्—१ गोमुख, २ महायक्ष, ३ त्रिमुख, ४ यक्षेश, ५ तुबरु, ६ कुसुम, ७ मातग, ८ विजय, ९ अजित, १० ब्रह्म, ११ मनुज, १२ सुरकुमार, १३ षण्मुख, १४ पाताल, १५ किन्नर, १६ गरुल, १७ गन्धर्व, १८ यक्षेन्द्र, १९ कुबेर, २० वरुण, २१ भृकुटि, २२ गोमेध, २३ पार्श्व, और २४ मातग.

२४ यक्षिणी—

"देवीओ चक्केसरि अजियादुरियारि कालि महकाली।
अच्चुआ सता जाला सुतारयासोअ सिरिवच्छा॥
चण्डा विजयकुसी पन्नत्ती निव्वाणी अच्छुआ धरणी।
वइरुट्टछुत्त गधारी अब पउमावई सिद्धा॥"

अर्थात्–१ चक्रेश्वरी, २ अजिता, ३ दुरितारि, ४ काली, ५ महाकाली, ६ अच्युता, ७ शाता, ८ ज्वाला, ९ सुतारका, १० अशोका, ११ श्रीवत्सा, १२ चण्डा, १३ विजया, १४ अकुशा, १५ प्रज्ञप्ति, १६ निर्वाणी, १७ अच्छुप्ता, १८ धरणी, वैराट्या, २० अच्छुप्ता २१ गन्धारी, २२ अबा, २३ पद्मावती, और २४ सिद्धा

१६ विद्यादेवी—

"रक्खतु मम रोहिणि-पन्नत्ती वज्जसिखला य सया।
वज्जकुसि चक्केसरि नरदत्ता कालि महकाली॥
"गोरी तह गन्धारी महजाला माणवी अ वइरुट्टा।
अच्छुत्ता माणसिआ महमाणसिआ उ देवीओ॥"

१ रोहिणी, २ प्रज्ञप्ति, ३ वज्रश्रृखला, ४ वज्राकुशी, ५ चक्रेश्वरी, ६ नरदत्ता, ७ काली, ८ महाकाली, ९ गौरी, १० गाधारी, ११ महाज्वाला, १२ मानवी, १३ वैरोट्या, १४ अच्छुप्ता, १५ मानसी और १६ महामानसी

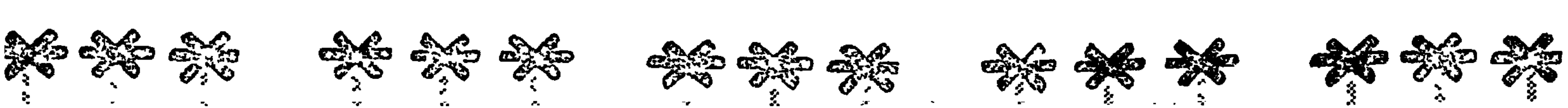
इन रोहिणी वगैरह विद्याओ के प्रभाव से विद्याधर ऐसे मनुष्य देव समान सुख प्राप्त करते है विद्यादेवियो का ध्यान खूब भक्ति से करना चाहिये

४ सकलीकरण—

ध्यान करने के पहिले सकलीकरण अर्थात् आत्मरक्षा करनी चाहिए सकलीकरण से विद्या की साधना में निर्विघ्न कार्य-सिद्धि होती है

प्रथम दिग्बध करना चाहिए फिर जल से अमृत-मत्र बोलकर शरीर पर छिटकना चाहिए फिर मत्रस्नान करके शुद्ध धुले वस्त्र पहनकर एकान्त और निरुपद्रवी स्थान मे (ब्रह्मचर्य आदि श्रावक के पाच व्रतो का पालन करते हुए) भूमि शुद्ध करके आसन पूर्वक वैठना चाहिए

१ ओँ णमो अरहताण ह्राँ शीर्ष रक्ष रक्ष स्वाहा।
२ ओँ णमो सिद्धाण ह्री वदन रक्ष रक्ष स्वाहा।
३ ओँ णमो आयरियाण ह्रूँ हृदय रक्ष रक्ष स्वाहा।



४ ओँ णमो उवज्झायाण ह्रौँ नाभि रक्ष रक्ष स्वाहा ।
५ ओँ णमो लोए सव्वसाहूण ह्र पादौ रक्ष रक्ष स्वाहा ।

इस प्रकार अगन्यास करके पचाग रक्षा करनी चाहिये अथवा 'क्षिप ओ स्वाहा' इन वीजाक्षरो से मस्तक, मुख, हृदय, नाभि और पाँव अगो मे सुलटे-उलटे क्रम से न्यास करने से पचाग रक्षा होती है

५. उपचार—सकली क्रिया करने के बाद पचोपचार पूजा के यन्त्र के अधिष्ठाता देव की पूजा नीचे वताई हुई विधि से करनी चाहिए वे पाच उपचार ये है—१ आह्वान, २ स्थापन, ३ सनिधीकरण, ४ पूजन, ५ विसर्जन मुद्रापूर्वक करना चाहिए. उनके मत्र इस प्रकार है—

१ ओँ ह्री नमोऽस्तु[1] एहि एहि सवौषट् । (आह्वान)
२ ओँ ह्री नमोऽस्तु तिष्ठ तिष्ठ ठ ठ । (स्थापन)
३ ओँ ह्री नमोऽस्तु मम सनिहिता भव भव वपट् । (सनिधीकरण)
४ ओँ ह्री नमोऽस्तु गन्धादीन् गृहाण गृहाण नम । (अष्ट द्रव्यो से पूजन)
५ ओँ ह्रीँ नमोऽस्तु स्वस्थान गच्छ जः ज (विसर्जन)

आह्वान पूरक प्राणायाम से, स्थापन, सनिधीकरण और पूजन ये तीन कु भक प्राणायाम से और विसर्जन रेचक प्राणायाम से करना चाहिये

अत मे इस प्रकार वोलना चाहिये—

आह्वान नैव जानामि न च जानामि पूजनम् ।
विसर्जन न जानामि प्रसीद परमेश्वर ! ।।
"आज्ञाहीन क्रियाहीन मन्त्रहीन च यत् कृतम् ।
क्षमस्व देव ! तत् सर्वं प्रसीद परमेश्वर ! ।।"

६ जप—सामान्य रीति से मत्र के जाप की सख्या १०८ अथवा १००८ मानी गई है जप के भी तीन प्रकार है—(१) मानस जप, (२) उपाशुजप और (३) वाचिकजप सव मन्त्र मानस जप—मन मे जिह्वा से धीरे से शुद्ध वोलना चाहिये

जाप से मत्र अपनी शक्ति प्राप्त करता है और मन्त्र-चैतन्य स्फुरित होता है, और होम व पूजा आदि से मन्त्र का स्वामी तृप्त होता है

७ होम—एक तो स्वय अग्नि और उसमे यदि पवन की सहायता मिले तो वह क्या नही कर सकता इस प्रकार मन्त्र-जाप के पश्चात् होम करने से यथेष्ट फल प्राप्त हो सकता है

जाप के समय मत्र के अन्त मे कर्मानुसार पल्लवो का उपयोग होता है, क्योकि मत्रो का निवास ही पल्लव मे होता है. जाप के समय मत्र के अन्त मे 'नम' पल्लव और होम के समय 'स्वाहा' पल्लव लगाना चाहिए

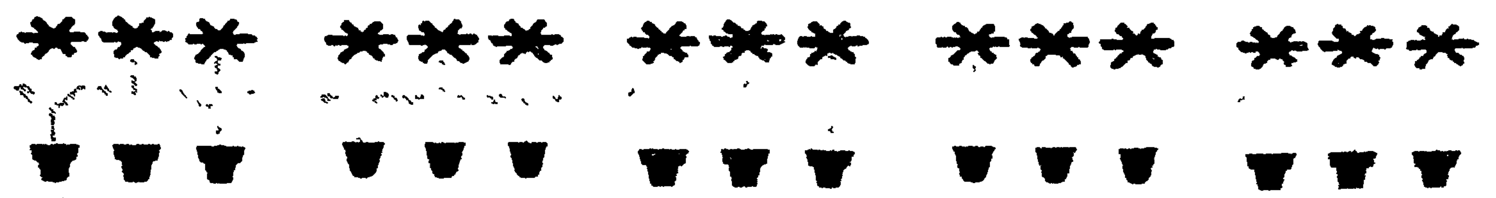
मूल मत्र की जापसख्या से दशवे भाग का जाप होम के समय मे करना चाहिए अर्थात् एक हजार जाप को होम के साथ करे तव १०० सख्या का जाप करना चाहिए. सामान्य जाप पूरा होते ही होम करना चाहिए

होमविधि—होमकुड तीन प्रकार के होते है—१ चतुष्कोण, २. त्रिकोण, ३ गोल

१ चतुष्कोण—शाति, पौष्टिक, स्तभन आदि कर्म मे
२ त्रिकोण—मारण, आकर्पण कर्म मे.

---

१ इस रिक्त जगह में जिन देवता की आराधना करनी हो उन देवता का नाम वोलना चाहिये. जैसे पद्मावती की आराधना करनी हो तो "भगवति पद्मावति देवि !"



३. गोल—विद्वेषण और उच्चाटन कर्म में.

इन तीन प्रकार के कुडो की गहराई और चौडाई एक हाथ प्रमाण होनी चाहिए उनमे तीन पालियाँ बाधी जाती है. उनमे से पहली पाली का विस्तार और ऊचाई पाच अगुल, दूसरी की चार अगुल और तीसरी की तीन अगुल रखनी चाहिए.

होम करने वाले को सकलीकरण से अपने मन को शुद्ध कर, नयी धोती और चद्दर पहन कर पद्मासन से बैठना चाहिए. होम में मुख्यतः पलाश की लकडी होनी चाहिए. यदि पलाश न मिले तो दूधवाले वृक्ष अर्थात् पीपल आदि वृक्षो की लकड़ी (कीड़ा और जीव-जन्तु रहित) होम के लिये लानी चाहिये.

उसके साथ श्वेत चन्दन, लाल चन्दन, शमी वृक्ष की लकड़ी भी होम के लिए लानी चाहिए.

पत्ते पीपल और पलाश के होने चाहिए.

होम में १ सेर दूध, १ सेर घी, और अष्टाग धूप आदि मिलाकर दो सेर वजन की होम सामग्री होनी चाहिए.

लकडी भी उस-उस कृत्यकारित्व के अनुसार ही अमुक नाप की रखनी चाहिए. जैसे—वध, विद्वेषण, उच्चाटन में आठ अगुल लबी, पौष्टिक कर्म मे नव अगुल लबी, शाति, आकर्षण, वशीकरण, स्तभन मे बारह अगुल लबी लानी चाहिए.

शांति, पुष्टि आदि शुभ कार्यो में उत्तम द्रव्यसामग्री से प्रसन्नचित्त से होम करना चाहिए और मारण उच्चाटन आदि अशुभ कार्यो मे अशुभ द्रव्यो से आक्रोशपूर्वक होम करना चाहिए.

जल, चदन आदि अष्ट द्रव्यो से महामत्र का जाप करते हुए अग्नि की पूजा करे. पीछे दूध, घी, गुड और साथ मे एक लकडी को अपने हाथो से होमकुड मे रखे और पीछे अग्नि स्थापन करके सबसे पहले आहुति देते हुए श्लोक बोले.

पीछे लकडी को आहुति के द्रव्यो के साथ मिलाकर जाप्य मत्र का उच्चारण करते हुए आहुति दे

इस प्रकार होम की विधि शास्त्रो मे बतायी गई है।

पाच कलशो की स्थापना करके होमविधि करनी चाहिए, जिससे सपूर्ण मत्र विधि से मत्र भली प्रकार साध्य हो सके.

अब मत्र की जपसाधना मे दिशा, काल, मुद्रा, पल्लव आदि प्रकार और मत्र के कृत्यकारित्व के प्रकार सक्षेप मे इस प्रकार है—[१] शाति, [२] पौष्टिक, [३] वशीकरण, [४] आकर्षण, [५] स्तभन, [६] मारण, [७] विद्वेषण और उच्चाटन.

१. शांति कर्म—पश्चिम दिशा, अर्धरात्रि का समय, ज्ञानमुद्रा, पद्मासन, 'नम' पल्लव, श्वेत वस्त्र, श्वेत पुष्प, पूरकयोग, स्फटिक मणि की माला, दाहिना हस्त, मध्यमा अगुली और जलमडल से करे.

२. पौष्टिक कर्म—नैर्ऋत दिशा, प्रातःकाल, ज्ञानमुद्रा, स्वस्तिक आसन, 'स्वधा' पल्लव, श्वेत वस्त्र, श्वेत पुष्प, पूरक, योग, मोतियो की माला, मध्यमा अंगुली, दाहिना हस्त और जलमडल से करे

३. वशीकरण—उत्तरदिशा, प्रात काल, कमलमुद्रा, पद्मासन, 'वषट्' पल्लव, लालवस्त्र, लाल पुष्प, पूरक योग, प्रवालमणि की माला, बाया हस्त, अनामिका अगुली और अग्निमडल से करे

४. आकर्षण—दक्षिण दिशा, प्रातःकाल, अकुशमुद्रा, दडासन, 'वौषट्' पल्लव, रक्तवस्त्र, रक्तपुष्प, पूरकयोग, प्रवाल की माला, कनिष्ठिका अगुली, बाया हस्त, बाया वायु और अग्निमण्डल से करें

५. स्तम्भन कर्म—पूर्वदिशा, प्रात काल, शखमुद्रा, वज्रासन 'ठ ठ' पल्लव, पीतवस्त्र, पीतपुष्प, कुभक योग, स्वर्ण की माला, कनिष्ठिका अगुली, दाहिना हाथ, दक्षिणवायु और पृथ्वीमडल से करे.

६. मारण कर्म—ईशानदिशा, सध्याकाल, वज्रमुद्रा, भद्रासन, 'घे घे' पल्लव, काला वस्त्र, काले पुष्प, रेचक योग, पुत्र-जीव मणि की माला, तर्जनी अगुली, दाहिना हाथ, और वायुमडल से करें

७ विद्वेषण कर्म—आग्नेयदिशा, मध्याह्नकाल, प्रवालमुद्रा, कुक्कुटासन 'हु' पल्लव, धूम्रवस्त्र, धूम्रपुष्प, रेचकयोग, पुत्रजीव मणि की माला, तर्जनी अगुली, दाहिना हाथ और वायु मडल से करें.

८. उच्चाटन कर्म—वायव्यदिशा, तीसरा प्रहर, प्रवाल मुद्रा, कुक्कुटासन, 'फट्' पल्लव, धूम्रवस्त्र, धूम्रपुष्प, रेचक योग, काले मणिओ की माला, तर्जनी अगुली, दाहिना हाथ और वायु मडल से करे

मंडल—चार प्रकार के यत्र-मडल इस प्रकार है—

१. पृथ्वीमण्डल—पीला, चतुष्कोण, पृथ्वीबीज 'ल' 'क्षि' चार कोनो मे लिखें और बीच मे मत्र स्थापन करें.

२. जलमंडल—श्वेत, कलश समान गोल, जलबीज 'व' 'प' चार कोने मे लिखे, और बीच मे मत्र स्थापन करना चाहिए.

३. अग्निमण्डल—लाल, त्रिकोण, उसके तीन कोनो मे बाहर की ओर स्वस्तिक की आलेखना करें और अन्दर की ओर 'र' 'ओ' बीज लिखें बीज मे मत्र स्थापन करें

४. वायुमण्डल—काला, गोलाकार बनावें, वायुबीज 'य' 'स्वा' भीतर की ओर लिखें और बीच मे मत्र स्थापन करें

प्रत्येक मत्र के अन्त मे 'नमः' पल्लव लगाने से मारण आदि उग्र स्वभावी मत्र भी शात स्वभाव वाले बन जाते है और 'फट्' पल्लव लगाने से क्रूर स्वभाव वाले बन जाते है

दीपन आदि प्रकार—दीपन से शाति कर्म, पल्लव से वशीकरण, रोधन से बधन, ग्रथन से आकर्षण, और विदर्भण से स्तभन कार्य किये जाते है ये छ प्रकार प्रत्येक मत्र मे प्रयुक्त हो सकते हैं उनके सोदाहरण लक्षण नीचे लिखे अनुसार है—

१. मन्त्र के प्रारम्भ मे नाम स्थापन करना वह दीपन
   उदाहरण—देवदत्त ह्रीँ.

२. मत्र के अन्त मे नाम निर्देश करना वह पल्लव.
   उदा०—ह्रीँ देवदत्त

३ मध्य मे नाम बताना वह संपुट
   उदा०—ह्रीँ देवदत्त ह्रीँ.

४ आदि और मध्य मे उल्लेख करना वह रोध
   उदा०—दे ह्रीँ व ह्रीँ द ह्रीँ त्त ह्रीँ

५ एक मत्राक्षर, दूसरा नामाक्षर, तीसरा मत्राक्षर—इस प्रकार सकलन करना ग्रथन.
   उदा०—ह्रीँ दे ह्रीँ व ह्रीँ द ह्रीँ त्त ह्रीँ.

६ मत्र के दो-दो अक्षरो के बीच मे एकेक नामाक्षर उसके क्रम से रखना विदर्भण
   उदा०—ह्रीँ त्त ह्रीँ द ह्रीँ व ह्रीँ दे ह्रीँ

यहा हमने ह्रीँ बीजाक्षर मत्र द्वारा उदाहरण दिये है परन्तु दूसरे बीजाक्षरो से भी दीपन आदि प्रकार उसी प्रकार समझ लेना चाहिए.

इन सब हकीकतो से साधक को मत्र की साधना मे हताश नही होना चाहिए बीज, भूमि, पवन, वातावरण आदि शुद्ध हो तो उसका फल भी शुद्ध ही मिलता है. मत्र और उसकी साधना की शुद्धि के लिए इतनी कसौटी आवश्यक है. सावधानी और भावनाशुद्धि हो तो यह विधि सरल बन जाती है और सिद्धि प्राप्त करने मे कठिनाई नही पडती





श्रीबहादुरचन्द छाबडा

काहल शब्द के अर्थ पर विचार

जैन और बौद्ध साहित्य के सस्कृत ग्रथो मे ऐसे अनेक शब्द मिलते है जिनके अर्थ के विषय में प्राय प्रकाशित कोशो द्वारा उतना प्रकाश नही पडता जितना कि प्रचलित देशी भाषाओ से पडता है ऐसे शब्दो मे एक 'काहल' शब्द भी है. "प्रबन्धचिन्तामणि" सम्बद्ध पुरातन प्रबन्धसग्रह मे एक प्रसग मे इस शब्द का यू प्रयोग मिलता है—'मन्त्रिणा शङ्खस्य कथापितम् यत्त्व बलवानसि, क्षत्रियोऽसि, अह वणिग्मात्रम्. तत आवयोर्द्वन्द्वयुद्धमस्तु. सोऽप्यर्थं बलवान् हृष्ट. सन् काहले मन्त्रिणा सह प्रहर २ अयाचत'—इत्यादि डा० साण्डेसरा तथा श्री० ठाकर इसका उल्लेख करते हुए काहल शब्द का अर्थ करते है—मृदु, डरपोक, ठग (Tender, timid, cunning[1]). साथ ही यह सुझाव देते हैं कि उक्त प्रसग मे अर्थ की दृष्टि से काहले के स्थान पर काहलेन पाठ होना चाहिए

हमारे विचार मे यहा काहले पाठ ठीक ही प्रतीत होता है और इसका अर्थ होना चाहिए 'जल्दी में' 'अधीरता मे' अथवा 'उतावलेपन में' ध्यान रहे कि पजाबी भाषा मे यह शब्द आज भी प्रचलित है और बार-बार प्रयुक्त होता है एक मुहावरा है—काह्ल अग्गे टोए ते कम्म किन्थो होए अर्थात् जल्दीपने के आगे गड्ढे ही गड्ढे होते है तो काम क्योकर सपन्न हो

वास्तव मे काहल शब्द सज्ञापद भी है और विशेषण भी काहलस्य भावः काहलम् पजाबी मे इसीको काह्ल कहते हैं. विशेषण मे पजाबी मे काह्ला (पुलिङ्ग) और काह्ली (स्त्रीलिङ्ग) शब्द 'अधीर' 'उतावला' (ली) 'जल्दबाज' आदि अर्थों मे अतिप्रसिद्ध है

पाइअसद्दमहण्णवो नामक जैन प्राकृत कोश मे भी काहल शब्द पठित है और वहाँ इसके अर्थो में 'अधीर' अर्थ भी दिया हुआ है साण्डेसरा और ठाकर महोदय इस कोश का उल्लेख करते अवश्य है, परन्तु वहाँ दिए काहल शब्द के 'अधीर' अथवा 'अधीरत्व' अर्थ को नही अपनाते.

इधर चीवरवस्तु नामक बौद्ध ग्रथ मे भी काहल शब्द का सारगर्भित प्रयोग मिलता है वैशाली में राजा बिम्बिसार और गणिका आम्रपाली के वार्तालाप में राजा कहता है 'किं निष्पलाये' ? तो गणिका उत्तर में कहती है—देव मा काहलो भव.'[2] यहाँ भी चीवरवस्तु के सम्पादक डा० नलिनाक्षदत्त ने काहल शब्द का अर्थ निराश अथवा 'हताश' (Dejected) किया है, वह सगत नही प्रतीत होता हमारे विचार में उक्त प्रसग मे भी काहल का अर्थ 'उतावला' अथवा 'अधीर' पजाबी काह्ला ही युक्तियुक्त लगता है. राजा कहता है—तो दौड जाऊँ क्या ? गणिका उत्तर देती है—महाराजा, अधीर मत हो ओ ! अर्थात् जल्दी क्या है, उतावले क्यो होते हो, इत्यादि

अन्त मे हम विद्वानो का ध्यान पजाबी की ओर विशेष रूप से आकर्षित करना चाहते है, इसलिए कि ऐसे विवादास्पद शब्दो के अर्थनिर्णय मे जैसे हिंदी, गुजराती, मराठी आदि प्रचलित देशी भाषाएँ सहायक होती है वैसे ही पजाबी भी अत्यन्त उपकारक सिद्ध हो सकती है

---

१ *Lexicographical Studies in Jaina Sanskrit'* by B J Sandesara and J. P. Thaker, oriental Institute, Baroda, १९६२, पृ० १२०.

२ *Gilgit Manuscripts Vol III,* part 2, edited by Dr Nalinakshadutt, Srinagar, kashmir १९४२, पृ० २०



श्रीपुरुषोत्तमलाल मेनारिया
एम० ए०, साहित्यरत्न

राजस्थानी साहित्य में
जैन साहित्यकारों का स्थान

मध्यकालीन भारतीय इतिहास मे राजस्थान को परम गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है राजस्थानी वीर-वीरागनाओ ने अपने धर्म और मान-मर्यादा की रक्षाहेतु असीम त्याग और वलिदान किए है गौरवपूर्ण मृत्यु प्राप्त करना राजस्थानी जीवन का सदियो तक प्रधान उद्देश्य बना रहा और राजस्थानी वीर-वीरागनाओ ने सासारिक सुख-विलासो को तुच्छ समझते हुए मरण को महान् त्यौहार के रूप मे अगीकृत किया मरणत्यौहार के विषय मे कहा गया है—

टह टह धुरे त्रमागला ह्वै सिंधव ललकार।
चित्त कूंकभ चैलां चहे, आज मरण त्युहार ॥

अर्थात्—नक्कारे वज रहे है, सिंधुराग युक्त ललकार हो रही है और चित्त हाथियो से सामना करना चाहता है क्योकि आज मरण-त्यौहार है

आज घरे सासू कहे, हरख अचाणक काय।
बहू बलेवा हूलसै, पूत मरेवा जाय ॥

अर्थात्—आज घर पर सास कहती है कि उसको अचानक हर्ष क्यो हो रहा है ? इसलिए कि उसकी पुत्र-वधू सती होने के लिए उमगित हो रही है और पुत्र युद्धभूमि मे मरने जा रहा है।

सुत मरियो हित देस रे, हरख्यो बंधु समाज।
मां नहं हरखी जनम दे, जतरी हरखी आज ॥

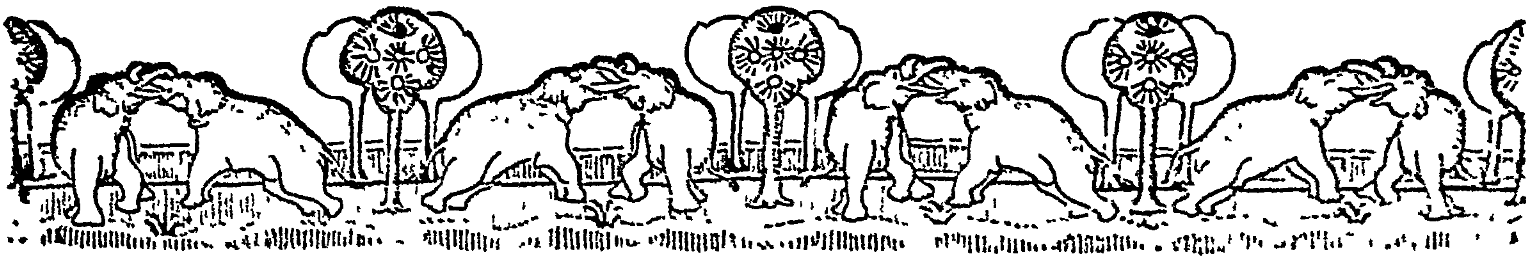
अर्थात्—पुत्र देश-हित मारा गया तो वन्धुसमाज प्रसन्न हुआ मा पुत्र को जन्म देकर जितनी प्रसन्न नही हुई थी उतनी उसके मरने पर हुई है

इस प्रकार राजस्थान भारत देश की वीर-भूमि के रूप मे विख्यात हो गया है, जिसके विषय मे सुप्रसिद्ध इतिहासकार जेम्स टाड ने लिखा है—"राजस्थान मे एक भी छोटी रियासत ऐसी नही है जिसमे थर्मोपोली जैसी युद्ध-भूमि न हो और कदाचित् ही कोई ऐसा नगर हो जिसने लियोनिडास जैसा योद्धा नही उत्पन्न किया हो[1]

राजस्थान को वीर-भूमि वनाने का प्रधान श्रेय जहाँ राजस्थान के रणवाकुरे वीरो को है, वहा उसे वीरभूमि के रूप मे जगत्विख्यात करने का श्रेय साहित्य एव साहित्यकारो को है. राजस्थान के साहित्यकार लेखनी के साथ ही तलवार के भी धनी रहते हुए स्वय युद्ध-भूमि मे वीरो के साथ मरने-मारने के लिए तत्पर रहे है ऐसे वीर-रसावतार कवियो की परम प्रभावशाली वाणी से प्रेरित होते हुए राजस्थान के अगणित वीरो और वीरागनाओ ने अपने प्राण सहर्ष ही

---

१ दी एनल्स एण्ड एन्टिक्विटीज आफ राजस्थान, कुक्स सस्करण, लदन, भूमिका, भाग १, १६२० ई०



उत्सर्ग कर दिए इसलिए जेम्स टाड के उक्त कथन के अतिम भाग को इस प्रकार सशोधित करना सर्वथा उपयुक्त होगा—

'और कदाचित् ही कोई ऐसा नगर हो जिसने लियोनिडास जैसा योद्धा तथा होमर जैसा कवि नही उत्पन्न किया हो."

"राजस्थानी साहित्य' से अनेक तात्पर्य हो सकते है यथा—१ राजस्थानी भाषा में रचित साहित्य, २. राजस्थान मे रचित सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश, व्रज, खडीबोली, उर्दू और फारसी भाषाओ का साहित्य, ३. राजस्थानियो का साहित्य, फिर चाहे वह किसी भी भाषा मे रचित हो, ४. राजस्थान से सम्बन्धित साहित्य, चाहे वह किसी भी विषय अथवा भाषा मे रचित हो. 'राजस्थानी साहित्य' से अभिप्राय उक्त परिभाषाओ मे से प्रथम परिभाषा अर्थात् "राजस्थानी भाषा मे रचित साहित्य" मानना ही उपयुक्त होगा.

राजस्थानी साहित्य का वर्गीकरण :

राजस्थानी साहित्य का वर्गीकरण श्री नरोत्तमदास जी स्वामी और रामनिवास जी हारीत ने निम्नलिखित दो भागो मे किया है —

१. डिंगल साहित्य.

२. साधारण बोलचाल की राजस्थानी का साहित्य [1]

श्री नरोत्तमदास जी स्वामी ने शैलियो की दृष्टि से राजस्थानी साहित्य को तीन भागो मे विभक्त किया है—

१. जैन-शैली २ चारणी-शैली ३. लौकिक-शैली.[2]

डॉ० हीरालाल माहेश्वरी ने राजस्थानी की साहित्य शैलियाँ चार मानी है—

१. जैन-शैली, २ चारण-शैली, ३. सत-शैली, और ४. लौकिक-शैली [3]

श्री सीतारामजी लालस ने राजस्थानी साहित्य को निम्नलिखित चार भागो मे विभक्त किया है—

१. जैन-साहित्य, २. चारण-साहित्य, ३. भक्ति-साहित्य, और ४ लोक-साहित्य [4]

राजस्थानी साहित्य के उक्त सभी वर्गीकरण अपूर्ण है क्योकि इनमें राजस्थानी साहित्य के कतिपय प्रमुख रूपो का समावेश नही हो पाता राजस्थानी साहित्य का वर्गीकरण निम्नलिखित सात भागो मे करना सर्वथा समीचीन होगा—

१ जैन-साहित्य,
२. डिंगल-साहित्य,
३. पिंगल-साहित्य,
४. पौराणिक एव भक्ति-साहित्य,
५. सत-साहित्य,
६ लोक-साहित्य, और
७ आधुनिक-साहित्य

हमारे देश मे कालक्रमानुसार क्रमश वैदिक (छान्दस), सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश नामक प्राचीन भाषाओ का प्रभुत्व रहा. राजस्थानी भारतीय आर्य-भापा परिवार की एक आधुनिक भाषा मानी गई है. राजस्थानी भाषा का

---

१ राजस्थान रा दूहा भाग १,नवयुग साहित्य मन्दिर पो० बा० न० ७८ दिल्ली प्रथम सस्करण १९३५ ई०,प्रस्तावना पृ० ४२.

२. राजस्थानी साहित्य एक परिचय, नवयुग ग्रन्थ कुटीर, बीकानेर. आधुनिक पुस्तक भवन, ३०।३१ कलाकार स्ट्रीट, कलकत्ता, ७.

३ राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० ५. —राजस्थानी शोध-सस्थान, चोपासनी, जोधपुर,

४, राजस्थानी शब्दकोप, प्रस्तावना, पृ० ८४.

उद्भव राजस्थान मे प्रचलित नागर-अपभ्रंश से हुआ है[1]

राजस्थानी भाषा के उद्भव-काल के विषय मे विभिन्न मत प्रकट किये गये हैं महापण्डित राहुल साकृत्यायन ने राजस्थानी और अन्य भारतीय आधुनिक भाषाओ का उद्भव-काल वि० स० ८१७ निर्धारित किया है[2]

राजस्थानी भाषा-साहित्य का आरम्भ-काल वि० स० १०४५ भी लिखा गया है[3]

श्री नरोत्तमदास जी स्वामी ने राजस्थानी भाषा का उद्भव वि० स० ११५० लिखा है[4]

राजस्थानी भाषा-साहित्य की प्राचीनतम रचना के रूप मे 'पूषी' अथवा 'पुष्य कवि' द्वारा वि० स० ७०० मे रचित अलकार-ग्रन्थ का उल्लेख मात्र प्राप्त होता है[5]

यह कृति अद्यावधि अप्राप्य है अतएव इसके विषय मे निश्चितरूपेण मत नही व्यक्त किया जा सकता. इसी प्रकार चित्तौड—नरेश खुमाण द्वितीय [वि० स० ८७०-६००] कृत 'खुमाण-रासो' का उल्लेख भी प्राप्त होता है किन्तु यह ग्रथ भी प्राप्य नही है[6] १८वी सदी मे दौलतविजय अपर नाम दलपतविजय रचित खुमाण-रासो और उक्त खुमाण रासो को एक ही कृति मान लेने के कारण विद्वानो मे एक विवाद अवश्य उठ खडा हुआ है[7] इस प्रकार राजस्थानी भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे उक्त ग्रथो को प्रमाण स्वरूप नही प्रस्तुत किया जा सकता.

उद्योतन सूरि द्वारा वि० स० ८३५ मे लिखे गये 'कुवलयमाला' कथाग्रन्थ से राजस्थानी भाषा के मरुदेशीय रूप का उल्लेख नाम सहित इस प्रकार प्राप्त होता है—

> वंके जडे य जड्डे बहु भोइ कठि(ढि)ण, पीण सू (थू) यंगे ।
> अप्पा तुप्पा भणिरे अह पेच्छइ मारुए तन्तो ।।[8]

उक्त प्रमाण से प्रकट है कि राजस्थानी भाषा का उद्भव वि० स० ८३५ मे हो चुका था और उसके मरुदेशीय रूप की प्रतिष्ठा भी हो चुकी थी इसलिए उद्योतन सूरि ने देश की तत्कालीन अठारह उल्लेखनीय प्रमुख भाषाओ मे मरुदेशीय भाषा की गणना की इस प्रकार राजस्थानी भाषा-साहित्य का उद्भवकाल नवमी शताब्दी विक्रमीय मान लेने में कोई आपत्ति नही होनी चाहिए

नवी शताब्दी से आधुनिक काल तक राजस्थानी भाषा-साहित्य का निर्माण निरन्तर होता रहा है जिससे इस साहित्य की सम्पन्नता स्वत प्रकट होती है राजस्थान मे ब्राह्मण-पण्डितो, राजपूतो, चारणो, मोतीसरो, ब्रह्म भट्टो, ढाढियो, जैनसाधु और साध्वियो, यतियो, निर्गुणी सतो आदि साहित्यानुरागियो द्वारा प्रचुर परिमाण मे राजस्थानी भाषा-साहित्य का निर्माण, सरक्षण, सवर्द्धन, अनुवाद, टीका आदि कार्य सुचारु रूप मे सम्पन्न हुआ राजस्थानी भाषा-साहित्य

---

१ राजस्थानी भाषा की उत्पत्ति और विकास के विषय में विशेष विवरण लेखक की एक पुस्तक "राजस्थानी भाषा की रूपरेखा" प्रकाशक— हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, बनारस में पृ० ७।२३ पर द्रष्टव्य है.

२ हिन्दी काव्यधारा, किताब महल, प्रयाग, प्रस्तावना पृ० १२

३ राजस्थानी भाषा और साहित्य, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग पृ० १०३.

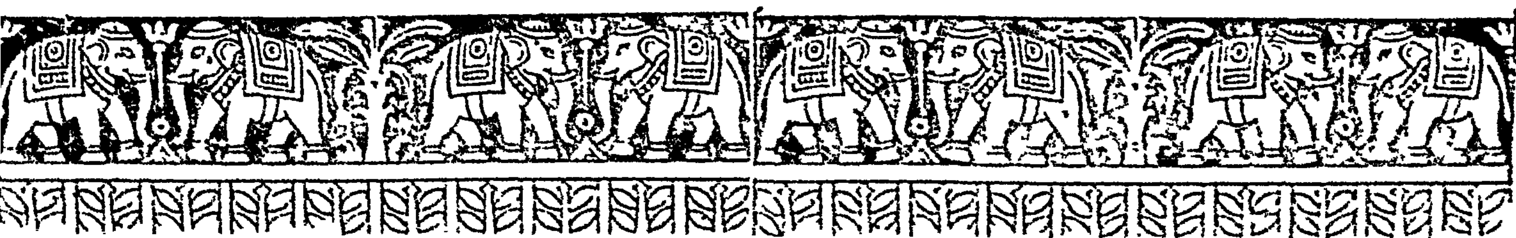
४ राजस्थानी भाषा और साहित्य, नवयुग ग्रन्थ कुटीर बीकानेर, पृ० २७.

५ (क) डा० रामकुमार वर्मा, 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', रामनारायणलाल इलाहाबाद, १९५८ पृ० ४६
(ख) प्रो० उदयसिंह भटनागर, हिन्दी साहित्य भाग २, भारतीय हिन्दी परिषद् प्रयाग, १६५६ पृ० ६२०.

६ शिवसिंह सरोज, सातवा सस्करण, १६२६ पृ० ६.

७ (क) रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', सातवा सस्करण, सं० २००८ पृ० ३३
(ख) डा० रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, रामनारायण लाल, इलाहाबाद, १६३८ पृ० १४४

८. (क) कुवलयमाला कथा, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, पद्मश्री मुनि जिनविजयजी, भारतीय विद्या भवन, बम्बई.
(ख) अपभ्रंश काव्यत्रयी, स० लालचन्द्र भगवानदास गाधी, गायकवाड-ओरियन्टल सीरीज, ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बडोदा पृ० ६२-६३



प्राचीनता, विषयो की विविधता, रचना-शैलियो की अनेकरूपता, पद्य के साथ ही गद्य की प्रचुरता और उत्कृष्टता की दृष्टि से विशेप महत्त्व का माना गया है. यथा—

"भक्ति साहित्य हमें प्रत्येक प्रात मे मिलता है. सभी स्थानो में कवियो ने अपने ढग से राधा और कृष्ण के गीतो का गान किया है किंतु राजस्थान ने अपने रक्त से जिस साहित्य का निर्माण किया है, वह अद्वितीय है और उसका कारण भी है—राजस्थानी कवियो ने जीवन की कठोर वास्तविकताओ का स्वय सामना करते हुए युद्ध के नक्कारे की ध्वनि के साथ स्वभावत अयत्नज काव्य-गान किया उन्होने अपने सामने साक्षात् शिव के ताण्डव की तरह प्रकृति का नृत्य देखा था. क्या आज कोई अपनी कल्पना द्वारा उस कोटि के काव्य की रचना कर सकता है। राजस्थानीय भाषा के प्रत्येक दोहे मे जो वीरत्व की भावना और उमग है वह राजस्थान की मौलिक निधि है और समस्त भारतवर्ष के गौरव का विषय है.[१]

—विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर

"राजस्थानी वीरो की भाषा है राजस्थानी-साहित्य वीर-साहित्य है, ससार के साहित्य मे उसका निराला स्थान है. वर्तमान काल के भारतीय नवयुवको के लिए तो उसका अध्ययन अनिवार्य होना चाहिए. इस प्राण भरे साहित्य और उसकी भाषा के उद्धार का कार्य अत्यन्त आवश्यक है मैं उस दिन की प्रतीक्षा मे हूँ जब हिन्दू विश्वविद्यालय में राजस्थानी का सर्वांगपूर्ण विभाग स्थापित हो जाएगा, जिसमें राजस्थानी भाषा और साहित्य की खोज तथा अध्ययन का पूर्ण प्रवन्ध होगा[२]

—महामना मदनमोहन मालवीय

'साहित्य की दृष्टि से भी चारणी कृतियाँ बडी महत्त्वपूर्ण हैं उनका अपना साहित्यिक मूल्य है और कुल मिल कर वे ऐसी साहित्यिक निधियाँ है जो अधिक प्रकाश मे आने पर आधुनिक भारतीय भाषाओ के साहित्य में अवश्य ही अत्यन्त महत्त्व का स्थान प्राप्त करेगी'

- -श्री आशुतोष मुकर्जी[३]

डिंगल साहित्य

राजस्थानी साहित्य के अन्तर्गत डिंगल एक विशेष शैली है डिंगल को प्राधान्य देते हुए अनेक विद्वानो ने डिंगल को राजस्थानी काव्य का पर्याय मान लिया है कतिपय विद्वानो ने डिंगल को राजस्थानी का साहित्यिक रूप कहा है उक्त दोनो ही मत निराधार है राजस्थानी साहित्य के अन्तर्गत जैन-साहित्य, पौराणिक साहित्य, मौखिक रूप से उपलब्ध होने वाला लोक-साहित्य, पिंगल साहित्य और आधुनिक शैली में लिखे हुए साहित्य का भी समावेश होता है किन्तु इस समस्त साहित्य को डिंगल नही कहा जा सकता इसी प्रकार इन सभी रचनाओ को डिंगल नही मानते हुए असाहित्यिक भी नही कहा जा सकता डिंगल इस प्रकार राजस्थानी साहित्य की एक प्रधान शैली ही है जिसको राजस्थान के समस्त भागो मे अपनाया गया है डिंगल का मूल आधार पश्चिमी राजस्थानी अर्थात् मारवाडी है और डिंगल मे लिखने वाले मुख्यत चारण हैं डिंगल ने राजस्थान और राजस्थानी भाषा को एकरूपता प्रदान की है डिंगल साहित्य मे अनेक प्रवन्धकाव्यो के साथ ही पर्याप्त मात्रा मे मुक्तकगीत, दूहा, झूलणा, कुण्डलिया, नीसाणी और छप्पय आदि प्राप्त होते है डिंगल गीत गाए नही जाते वरन् वैदिक ऋचाओ की भाँति प्रभावशाली शैली मे उच्चरित किये जाते है डिंगल गीतो के प्रकार १२० तक प्रकाश मे आ चुके है.

डिंगल कवि कलम चलाने के साथ ही तलवार के भी धनी होते थे. युद्धक्षेत्र मे स्वय लडते हुए अपनी वीर रसपूर्ण वाणी से योद्धाओं को कर्तव्यपथ मे अग्रसर रहने हेतु प्रोत्साहित करते थे ओजगुण सम्पन्नता, रस—परिपाक, ऐतिहासिकता तथा प्रभावशालिता की दृष्टि से डिंगल काव्यो का हमारे साहित्य मे विशेप स्थान है वीरता के साथ ही भक्ति

---

१. (क) माडर्न रिव्यू, कलकत्ता, सितम्बर १९३८, जिल्द ६४, पृ० ७१०
 (ख) नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वाराणसी भाग ४५, अक ३, कार्तिक स० १९९७ पृ० २२८-३०

२ ठाकुर रामसिंह जी का अध्यक्षीय अभिभाषण, अखिल भारतीय राजस्थानी साहित्य सम्मेलन, दिनाजपुर स० २००१ पृ० ११-१२.

३ वही

और श्रृगार भी डिंगल कवियो के प्रिय विषय रहे है वीरता श्रृगार और भक्ति की त्रिवेणी मे स्नान कर मध्यकालीन राजस्थानी शूरवीर अनुपम वीरता और त्याग-भावना का परिचय दे सके है. डिंगल काव्यो से हमे स्वाधीनता, स्वाभिमान और आत्मरक्षा का अमर सदेश प्राप्त होता है

डिंगल साहित्य की उत्कृष्टता सभी विद्वानो ने स्वीकार की है, किन्तु डिंगल[1] शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध मे प्रकट किए गए मतो मे भिन्नता दृष्टिगोचर होती है इनमे से प्राय सभी मत अनुमानाश्रित है

डिंगल रचनाओ मे शिवदास चारण (१४७० वि० १४१४ ई०) कृत 'अचलदास खीची री वचनिका' दुरसा जी आढा (१५९२-१७१२ वि०. १५३६-१६५६ ई०) की 'विरुद्ध छिहत्तरी' और मुक्तक गीत, ईसरदास जी बारहठ (१५९५ वि० १६७६ वि० स०) कृत 'हाला झाला रा कुडलिया' और हरिरस, महाराज पृथ्वीराज राठौड (वि० स० १६०६-१६५७, १५५० से १६०१ ई०) कृत 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' 'साया जी झूला (१६३२ से १७०३ वि० स०) कृत 'रुकमिणीहरण' व 'नागदमण' कविया करणीदान जी (रचना काल सवत् १८०० लगभग) कृत 'सूरजप्रकाश' कविराजा वाकीदास (स० १८२८ से १८९०) कृत अनेक लघुकाव्य, महाकवि सूरजमल मिश्रण (१८७२ से १९२० वि० स०) कृत 'वीरसतसई, केसरीसिंह बारहठ (१९२९ से १९९८ वि० स०) कृत स्फुट पद्य और नाथूदान महियारिया (वर्तमान) कृत 'वीर सतसई' विशेष उल्लेखनीय है

पिंगल-साहित्य

पिंगल का अर्थ छन्दशास्त्र होता है राजस्थानी पिंगल साहित्य से तात्पर्य अनेक विद्वानो ने व्रजभाषा लिया है किन्तु पिंगल का अर्थ व्रजभाषा किसी भी कोष मे उपलब्ध नही होता राजस्थानी पिंगल साहित्य से तात्पर्य मुख्यत शौरसेनी प्रभावित राजस्थानी काव्यो के उन रूपो से है जिनकी रचनाए परम्परागत छन्दो मे हुई है शौरसेनी अथवा व्रजभाषा का प्रभाव अनेक राजस्थानी काव्यो पर न्यूनाधिक मात्रा मे उपलब्ध होता है राजस्थानी पिंगल-रचनाओ मे महाकवि चन्द कृत 'पृथ्वीराज रासो [इसकी प्राचीनतम प्रति स० १६६४ मे लिखित उपलब्ध हुई है और राजस्थान प्राच्य-विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर के ग्रथागार मे सुरक्षित है], नरहरिदास बारहठ [वि० स० १६४८ से १७३३] कृत अवतारचरित्र, महाराजा बहादुरसिंह, किशनगढ [शा० का० १७४९-१७८२ वि० स०] कृत मुक्तक छन्द, गणेशपुरी [ज० स०१८८३] कृत 'वीर विनोद' [महाभारतगत प्रसग पर आधारित], महाराजा प्रतापसिंह, जयपुर [वि० १८२१-१८६०] महाराणा जवानसिह उदयपुर [वि० १८५७-१८९५] राजकुमारी सुन्दरकुवरी, किशनगढ [वि० स० १७९१-१८५३] की रचनाए और स्वरूपदास कृत 'पाण्डव यशेन्दु चन्द्रिका [२०वी सदी] महत्त्वपूर्ण है

पौराणिक एवं भक्ति साहित्य

राजस्थानी भाषा मे पुराण-ग्रन्थो पर आधारित साहित्य भी विशाल परिमाण मे लिखा गया है इस प्रकार का साहित्य पद्य के साथ ही गद्य मे भी प्राप्त होता है इसलिए विशेष महत्त्वपूर्ण है राजस्थानी पौराणिक साहित्य मे राम, कृष्ण, शिव, दुर्गा आदि के साथ ही, हरिश्चन्द्र, उषा, अनिरुद्ध के चरित्रो का विस्तृत निरूपण हुआ है साथ ही ब्रह्माण्ड-पुराण, पद्मपुराण, श्रीमद्भागवत और सूर्यपुराण के टीका युक्त राजस्थानी अनुवाद भी मिलते है पौराणिक साहित्य मे सोढी नाथी [अमरकोट] कृत बालचरित्र [स० १७३१] और कसलीला [स० १७३१] सम्मन बाई कविया [अलवर] कृत कृष्ण-बाल लीला, भीमकवि कृत हरि लीला [र० का० स०१५४३] तथा श्रीमद्भागवत, हरिवश पुराण और विष्णु-पुराण सम्बन्धी रचनाए उल्लेखनीय हैं

---

१. डा० हीरालाल माहेश्वरी, राजस्थानी भाषा और साहित्य, आधुनिक पुस्तक भवन ३०-३१ कलाकार स्ट्रीट, कलकत्ता ७, पृ० ६-१७



संत-साहित्य

राजस्थान प्राचीनकाल से ही अनेक सन्त-सम्प्रदायो का केन्द्र रहा है. राजस्थानी वीरो के आश्रय मे अनेक सन्त-सम्प्रदायों को प्रोत्साहन मिला. राजस्थान मे दादू, रामस्नेही, निरजनी, विष्णोई आदि सन्त-सम्प्रदायो का जन्म भी हुआ दादू, रज्जब, रामचरणदास, सुन्दरदास, जसनाथ जैसे अनेक सन्तो की वाणी का राजस्थान मे ही नही बाहर भी प्रसार है.

राजस्थानी सत-साहित्य में धार्मिक उदारता का प्रतिपादन हुआ है. इसमे आत्मा और परमात्मा की एकता, बताते हुए सभी वर्गों और जातियो के लिए मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया गया है.[1]

लोक-साहित्य

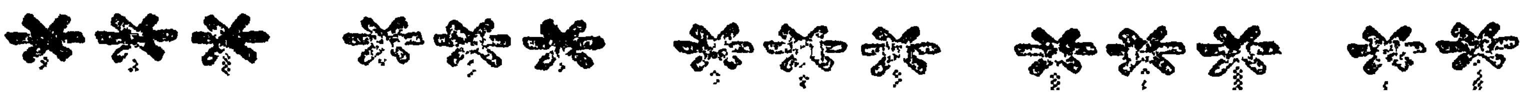
जनता से मौखिक परम्परानुसार प्राप्त होने वाला साहित्य लोकसाहित्य कहा जाता है विद्वानो ने इस साहित्य को ग्राम-साहित्य और लोकवार्ता साहित्य भी कहा है. राजस्थान का प्राकृतिक वातावरण अनेक विविधताओ से पूर्ण है. तदनुसार राजस्थान का लोक-साहित्य भी विविध रूपो मे उपलब्ध होता है. राजस्थान मे प्राचीनकाल से ही मौखिक साहित्य को लिपिबद्ध करने की परिपाटी रही है इसलिए हस्तलिखित ग्रथो मे भी अनेक लोककथाए, लोकगीत, कहावते, पहेलियाँ और लौकिक काव्यादि लिखित रूप मे प्राप्त हो जाते है. राजस्थानी भाषा मे लोक साहित्य के अन्तर्गत हजारो की सख्या मे लोकगीत, लोककथाए, कहावते, मुहावरे, पहेलियाँ, पवाडे और ख्याल (लोक-नाटक) प्रचलित है. धार्मिक सिद्धातो के प्रचार के लिए अनेक जैन साहित्यकारो ने भी लोक साहित्य की विभिन्न शैलियो में अपनी रचानाए लिखी है जिनमें उन्हे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है. राजस्थानी लोक साहित्य मौखिक होने से लुप्त होता जा रहा है इसलिए इसको तुरन्त ही वैज्ञानिक विधियो से लिपिबद्ध करना आवश्यक है. राजस्थानी भाषा में 'पाबू जी रा पवाडा,' 'बगड़ावत' और 'निहालदे' नामक महाकाव्य अभी तक मौखिक रूप में प्रचलित है आकार-प्रकार की दृष्टि से इनका महत्त्व महाभारत से कम नही माना जा सकता.

आधुनिक-साहित्य

भारत में ब्रिटिश-शासन की स्थापना के पश्चात् नवीनता का सूत्रपात हुआ है इसी समय राजस्थानी साहित्य मे भी नवीन विचारो और नवीन विधाओ का समावेश होने लगा राजस्थान मे राजाओ और अग्रेजो के दोहरे शासनकाल में प्रेस एव प्रकाशन कार्यो पर कडे प्रतिबन्ध लगाए गए जिनके परिणाम स्वरूप आधुनिक राजस्थानी साहित्य का प्रकाशन यथेच्छ मात्रा मे नही हो सका. तथापि शिवचन्दजी भरतिया, रामकरणजी आसोपा, गुलाबचन्दजी नागोरी, डा० गौरीशकर जी हीराचन्द ओझा, पुरोहित हरिनारायणजी प्रभृति अनेक समर्थ साहित्यकारो ने अपनी रचनाओ से राजस्थानी साहित्य को समृद्धिशाली बनाया आधुनिक काल मे मुनि जिनविजयजी, अगरचन्दजी नाहटा, नरोत्तमदासजी स्वामी, डा० मोतीलाल, कन्हैयालालजी सहल, मनोहरजी शर्मा, सीतारामजी लालस, डा० तेस्सीतोरी, डा० जार्ज गियर्सन, डा० एलन, डा० सुनीतिकुमार जी, चाटुर्या प्रभृति विद्वानो ने राजस्थानी भाषा साहित्य का विशेष अध्ययन किया और रानी लक्ष्मी कुमारीजी चूडावत जैसे अनेक गद्यलेखक राजस्थानी साहित्य को समृद्ध करने मे सलग्न है राजस्थानी कवियो मे नारायण सिह भाटी और कन्हैयालाल सेठिया की विविध विषयक रचनाए, चन्द्रसिह और नानूनाम की प्रकृति सम्बन्धी रचनाएँ, मेघराज मुकुल और गजानन वर्मा के गीत, रेवतदान चारण की ओजस्वी रचनाए और विमलेश और बुद्धिप्रकाश की हास्यरसात्मक रचनाए विशेष उल्लेखनीय है. वर्तमान मे सैकड़ो ही कवि और लेखक राजस्थानी भापा को सम्पन्न करने मे सचेष्ट है और इनकी रचनाओ का जनता मे विशेष प्रचार-प्रसार है.

---

१. राजस्थानी सन्त-साहित्य के विपय में विस्तृत विवरण, लेखक के अन्य निवन्ध (श्री कनोई अभिनन्दन ग्रन्थ ४० ए०, हनुमान रोड नई दिल्ली में प्रस्तुत किया गया है.



जैन साहित्यकार

आधुनिक भारतीय भाषा के साहित्य मे प्राचीनतम रचनाए जैन साहित्यकारो द्वारा रचित ही उपलब्ध होती है जैन साहित्य का महत्त्व प्राचीनता के साथ ही गद्य की प्रचुरता, काव्यो की विविधरूपता और जीवन को उच्च उद्देश्य की ओर अग्रसर करने की क्षमता के कारण है जैन साहित्यकार सामान्य सासारिक जीव नही है वरन् वे जीवन के विस्तृत अनुभवो से युक्त और साधना के उच्च धरातल पर पहुँचे हुए ज्ञानी-महात्मा है अतएव जैन-साहित्य शुद्ध साहित्यिक तत्त्वो से युक्त होता हुआ भी उपदेश-तत्त्वो से पूर्ण है जैन-साहित्य मे शुद्ध साहित्यिक तत्त्वो के साथ ही उसकी उपयोगिता के तत्त्व भी उपलब्ध होते है

अनेक इतिहासकारों ने धार्मिक तत्त्व होने से जैन-साहित्य का समावेश अपने इतिहास-ग्रथो मे नही किया है वास्तव मे धार्मिक तत्त्वो से हीन साहित्य को साहित्य भी नही कहा जा सकता सूर और तुलसी जैसे अनेक साहित्यकारो का साहित्य पूर्णरूपेण धार्मिक है जिसका समावेश इन ग्रथो मे किया गया है इन इतिहासकारो ने, प्राचीनकाल मे अन्य रचनाए उपलब्ध नही हुई तब अवश्य ही काल-स्थापना के लिए जैन-रचनाओ का उल्लेख किया है

जैन साहित्यकारो ने वास्तव मे केवल धार्मिक विषयो पर ही नही लिखा, वरन् वैद्यक, कोष, नगर-वर्णन, काव्य-शास्त्र, इतिहास, भूगोल, वास्तु-विद्या आदि अनेक विषयो पर अधिकारपूर्वक यथातथ्य निरूपण करते हुए लिखा है

जैन-साहित्यकारो ने अनेक साहित्यिक विधाओ की सृष्टि की पद्य के अन्तर्गत प्रवन्ध, राम, रासो, भास, चउपई, फाग, बारहमासा, चउमासा, दूहा, गीत, धवल, गजल, सवाद, मात्रिका, स्तवन, सज्झाय, और मगल आदि विविध रूप जैन साहित्यकारो द्वारा विकसित हुए इसी प्रकार गद्य के अन्तर्गत वार्ता, कथा, टीका, टब्बा और बालावबोध आदि के रूप लिखे गये

जैन-साहित्यकारो ने प्राचीन साहित्य की रक्षा मे भी अपूर्व योग दिया है जैन-भण्डारो मे जैन और अजैन दोनो ही प्रकार के प्राचीन ग्रथ सुरक्षित रहे हैं जैन साहित्यकार प्राचीन ग्रथो की प्रतिलिपियाँ आज तक करते रहते है और इस प्रकार प्राचीन जीर्ण प्रतियो का पुनरुद्धार होता है. प्राचीन ग्रथ-सुरक्षा की दृष्टि से जैसलमेर ग्रथ भण्डार का उदाहरण हमारे लिये आदर्श बना हुआ है

राजस्थानी जैन साहित्यकारो मे वज्रसेन सूरि का 'भरतेश्वर बाहुबलि घोर' राजस्थानी भाषा की प्राचीनतम रचना मानी जाती है इस रचना मे कवि ने ४६ पद्यो मे भरतेश्वर और बाहुबली का युद्धवर्णन किया है. इस काव्य मे शात रस का भी समावेश है

राजस्थानी साहित्य के वीर-गाथाकाल के प्रधान कवि शालिभद्र सूरि हुए, जिन्होने वि० स० १२४१ मे 'भरतेश्वर बाहुबली रास' काव्य लिख कर रास परम्परा के अतर्गत वीर-रसात्मक काव्यो का श्रीगणेश किया. मुहम्मदगोरी की पृथ्वीराज चौहान के विरुद्ध तराइन युद्ध (वि० स० १२४०, ई० ११७३) की विजय से जनता मे प्रवल प्रतिशोध की भावना उत्पन्न हुई और वीररस का सचार हुआ फलस्वरूप शालिभद्रसूरि जैसे कवि भी अपने आपको सम-सामयिक वीर-भावना से वचित न कर सके

सम-सामयिक वीर-भावना के परिणाम स्वरूप जैन-साहित्य मे भरतेश्वर और बाहुबलिविषयक काव्य-निर्माण की सुदीर्घ परम्परा प्रचलित हुई भरत और बाहुबली के मध्य हुए युद्ध के दृश्य अर्बुदाचल के सुप्रसिद्ध जैन-मदिर विमल-वसही मे सुन्दरतापूर्वक उत्कीर्ण किये है[1] यह रास वीररसपूर्ण होते हुए भी निर्वेदान्त है इसमे उत्साह, दर्प और स्वाभिमान-पूर्ण उक्तियो की काव्यात्मक पक्तियाँ विशेष पठनीय है अनेक स्थल नाटकीय सलापो से अलकृत है, यथा

१. भरतेश्वर—बाहुबलि रास, स० लालचन्द भगवानदास गाधी, प्राच्य विद्या मदिर वडौदा, प्रस्तावना पृ० ५३-७६



मतिसागर भरतेश्वर-सवाद, दूत-बाहुबलिसवाद आदि—दूत-बाहुबलिसवाद का एक उदाहरण निम्न है .

दूत पभणइ, दूत पभणइ बाहुबलि राउ
भरहेसर चक्क धरु कहि न कवणि दूहवण कीजह,
वेगि सुवेगि बोलिह संभलि बाहुबलि ।
विण बंधव सवि सपइ ऊणी, जिम विण लवण रसोई अलूणी ।
तुम बंसणि उत्कठित राउ, नितु नितु बाट जोह भाउ ।।

बाहुवली दूत को वीरतापूर्वक उत्तर देते है

राउ जंपइ, राउ जपइ सुणिन सुणि दूत ।
जं विहि लिहीउं भाल भलि तंजि, लोह इह लोह पामइ ।
अरि रि देव न दानव महिमंडलि मंडलैव मानव
काइ न लंघइ लहिया लहि, लाभहि अधिक न ओछा दहि ।

इस रास मे सेना-वर्णन, दिग्विजय-वर्णन, हाथी घोडो और सैनिको के अनेक वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण है किन्तु भाषा मे सर्वत्र प्रवाह और अनुप्रासो की छटा वर्तमान है वीर-रसात्मक काव्यो मे सेना-यात्रा के प्रसग अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते है. भरतेश्वर बाहुबलि रास मे सेनायात्रा का वर्णन इस प्रकार है—

ठवणि
अहि उग्गमि पूरब दिसिहिं, पहिलउ चालिय चक्क ।
धूजिय धरयल थरहरए, चलिय कुलाचल-चक्क ।।१८।।
पूठि पियाणु तउ दियए, भुयबलि मरह नरिंदु तु ।
पिडि पचायण परदल हैं, हलिचलि अवर सुरिंदु ।।१६।।
वज्जिय समहरि संचरिय, सेनापति सामंत,
मिलिय महाधर मंडलिय, गाढ़िय गुण गज्जंत ।।२०।।

कवि साधारु ने सवत् १४११ वि० (१३५४ ई०) मे 'प्रद्युम्नचरित्र' लिखा इस काव्य मे कृष्ण और रुक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्नकुमार का चरित्र ७०० पद्यो मे वर्णित है.

कवि छीहल का रचनाकाल स० १५७४ [१५१७ ई०] है जिन्होने 'पचसहेली रा दूहा' लिखा. कवि ने अपना परिचय इस प्रकार दिया है .

चउरासी अगलइ सइ, जु पन्द्रह संवच्छर ।
सुकल पक्ष अष्टमी, मास कातिक गुरु वासर ।।
हृदय ऊपनी बुद्धि, नाम श्री गुरु को लीन्हउ ।
नाल्हिग बसिनाथू सुतनु, अगरवाल कुल प्रगट रवि ।।
बावनी सुधा रचि बिस्तरी, कवि कंकण छीहल कवि ।।५३।।

१. आत्मप्रतिवोध जयमाल २. उदरगीत ३. पथीगीत और ४ छीहल बावनी या बावनी छीहल कवि की प्रसिद्ध रचनायें है

विनयसमुद्र वाकानेर के उपकेशगच्छीय वाचक हरसमुद्र के शिष्य थे, जिनका समय स० १५८३ से १६१४ तक है इनकी रचनाये इस प्रकार है

१. हिन्दी काव्यधारा, राहुल साकृत्यायन पृ० ४००

१ विक्रम पचदड चोपाई २. अम्बड चौपाई (१५९९) ३ आराम शोभा चौपाई (१५८३) ४ मृगावती चौपाई (१६०२) ५ चित्रसेन पद्मावती रास (१६०४) ६ पद्म चरित्र (१६०४) ७ शील रास (१६०४) ८ रोहिणेय रास (१६०५) ९ सिंहासन बत्तीसी चौपाई, (१६११), १०. नल दमयती रास (१६१४), ११ सग्राम सूरि चौपाई, १२. चदनबाला रास, १३. नमि राजर्षि सधि (१६३२) १४ साधु वदना (१६३६), १५ ब्रह्मचरि, १६ श्रीमधर स्वामी स्तवन, १७ शत्रुजय गिरि मडण श्री आदिश्वर स्तवन, १८ स्तम्भन पार्श्वनाथ स्तवन, १९ पार्श्वनाथ स्तवन, २० इलापुत्र रास.

इनकी एक रचना का उदाहरण इस प्रकार है

ताहरइ दरसण दुरित पुलाई, नव निधि सवि मंदिर थाई, जाई रोग सवि दूरो ।
समरण संकट सगला नासइ, वाघ संग पुण नावइ पासइ, आपइ आणंद पूरो ।
वामेय वसुहानंद दायक, तेज तिहुयण नायको ।
धरणेन्द्र सेवत चरण अनुदिन, सयल वछिय दायको ।
थंभणाधीश जिणेश प्रभु तू, पास जिणवर सामिया ।
वीनती विनइ पयोध जपइ, सयल पूरवि कामिया ।

सोलहवी सदी के जैन कवियो मे खरतरगच्छीय कुशललाभ का स्थान महत्त्वपूर्ण है इनका जन्म स० १५८० के लगभग माना जाता है इन्होने 'माधवानल चोपाई' 'ढोलामारवणीरी चौपाई' और 'पिंगल शिरोमणि,' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो की रचनाएँ की. इनकी अन्य स्फुट रचनाएँ भी उपलब्ध होती है

हीरकलश, खरतरगच्छीय सागरचन्द्र सूरि-शाखा के कवि हो गये है जिनका जन्म स० १५९५ माना जाता है हीरकलश ज्योतिष के विशेष ज्ञाता थे. इनका रचित साहित्य २८ रचनाओ मे उपलब्ध हो चुका है इनके मोती-कपासिया सवाद का उदाहरण इस प्रकार है :

मोती — देव पूजउ गुरु त गति जिहां, मंगल काजि विवाह ।
आदर दीजइ अम्हां तणी, सवि ज करइ उछाह ॥

कपासिया — संभलि तवइ कपासीउ, मोती म हूय गमार ।
गरव न कीजइ बापडा, भला भली संसार ॥

मोती . — कहि मोती सुण कांकडा, मइ तइ केहो साथ ?
हु साव्हु कंचण सरिस, तइ खल कूकस बाथ ।
मइ सुर नरवर भेटिया, कीधां जीहां सिंगार ।
तइ भेटीया गोधण वलद, जिहां कीधा आहार ॥

कपासिया · — उत्तर दीयइ कपासीयउ, अन्न आहार जोइ ।
गायां गोरस नीपजइ, वलदे करसण होइ ।
गोधण जदि वाटउ न हुइ, तदि वरतइ कंतार ।
धान वडइ तव वेचीयइ, सोवन मोती हार ॥

हेमरत्न सूरि का समय अनुमानत स० १६१६ से १६७३ है इनकी स० १६४५ मे रचित 'गोरा वादल पदमिणी चऊपई' विशेष प्रसिद्ध है इस रचना मे अलाउद्दीन के चित्तौड—आक्रमण और गोरा वादल की वीरता का वर्णन है इस कृति मे कवि ने विभिन्न रसो का समावेश किया है

"वीरा रस सिणगार रस, हासा रस हित हेज ।
साम-धरम रस सांभलउ, जिम होवइ तन तेज ॥"



इनकी रचना का उदाहरण इस प्रकार है

> पांन पदारथ सुघड नर, अणतोलीया विकाई । जिम जिम पर भुइ संचरइ, मोलि मुहंगा थाइ ।
> हंसा नइं सरवर घणां, कुसुम केती भवराह । सापुरिसां नइं सज्जन घणा, 'दूरि विदेस गयांह ।

सत्रहवी सदी के जैन साहित्यकारो मे समयसुन्दर (स० १६२० से १७०२) का स्थान महत्त्वपूर्ण है इनकी रचनायें अनेक हैं जिनका प्रकाशन समयसुन्दर कृत 'कुसुमाजलि' मे श्री अगरचन्द जी नाहटा द्वारा सपादित रूप में हो चुका है. इनके गीतो के विपय मे प्रसिद्ध है

> "समयसुन्दर रा गीतडा, कुभे राणे रा भींतड़ा ।"

अर्थात् जिस प्रकार महाराणा कुभा द्वारा बनवाया हुआ चित्तौड़ का कीर्तिस्तम्भ, कुभश्याम का मन्दिर और कुँभलगढ प्रसिद्ध है उसी प्रकार समयसुन्दर के गीत प्रसिद्ध हैं

कवि उदयराज जोधपुर नरेश उदयसिह जी के समकालीन थे. इनका (ज० स० १६३१-१६७४ ई०) माना जाता है. इनकी रचनाओ मे 'भजनछत्तीसी' और 'गुणबावनी' महत्त्वपूर्ण हैं

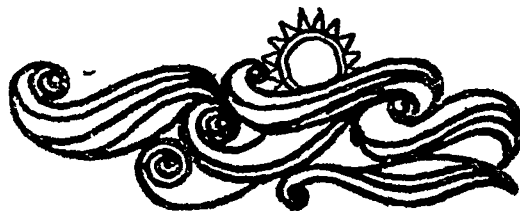
जिनहर्ष का अपर नाम जसराज था इनकी रचनाओं मे जसराज बावनी (स० १७३८ वि० मे रचित) और नन्द बहोत्तरी (स० १७१४ मे रचित) प्रसिद्ध हैं.

१८ वी शताब्दी मे आनन्दघन नामक कवि ने 'चौबीसी' नामक रचना में तीर्थंकरो के स्तवन लिखे. इनका देहान्त मारवाड़ मे स० १७३० वि० मे हुआ. इनका आध्यात्मिक चिंतन उच्चकोटि का था .

> राम कहो रहमान कहो, कोउ कान कहो महादेव री ।
> पारसनाथ कहो कोउ ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री ॥
> भाजन-भेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूप री ।
> तैसे खण्ड कल्पना रोपित, आप अखण्ड सरूप री ॥
> निज पद रमे राम सो कहिए, रहिम करे रहेमान री ।
> कर से करम कान से कहिए, महादेव निर्वाण री ॥
> परसे रूप पारस सो कहिए, ब्रह्म चीन्हें सो ब्रह्म री ।
> इस विध साधो आप आनंदघन, चेतनमय निःकर्म री ॥

उत्तमचन्द और उदयचन्द भडारी जोधपुर के महाराजा मानसिंह के मत्री थे. इनका रचनाकाल स० १८३३ से १८८६ तक है दोनो ही भडारी बन्धुओ ने अनेक रचनाएँ की जिनसे इनके काव्यशास्त्रीय और आध्यात्मिक ज्ञान का परिचय मिलता है

जैन साहित्यकारो की सख्या सैंकडो ही नही हजारो तक पहुचती है प्रत्येक काल मे साहित्यकारो की रचनाएँ विकसित अवस्था मे और विविध रूपो मे प्राप्त होती हैं. जैन साहित्य मुख्यत राजस्थान और गुजरात मे रचा गया क्योंकि प्राचीनकाल मे जैन धर्म का प्रचार भी मुख्यत. इन्ही प्रदेशो मे हुआ. जैन साहित्यकारो ने सदा ही लोक-भाषा, राजस्थानी और गुजराती मे अपनी रचनाएँ लिखी जिससे इनका प्रचार समस्त जनता मे सुदूर देहातो तक मे हुआ सस्कृत और हिन्दी मे रचित जैन साहित्य भी उपलब्ध होता है किंतु अत्यल्प मात्रा मे ही. राजस्थानी भाषा मे रचित जैन साहित्य राजस्थान ही नही देशविदेश के अनेक ग्रथ-भडारो मे मिलता है राजस्थान के अनेक स्थानो मे जैन साहित्य सम्बन्धी हजारो ही हस्तलिखित ग्रन्थ बिखरे हुए धूल-धूसरित और जीर्ण-शीर्ण अवस्था में पडे हुए हैं इन ग्रन्थो के विधिवत् सरक्षण, सूचीकरण, सपादन और प्रकाशन की अब अनिवार्य आवश्यकता है इस प्रकार के कार्यो के पूर्णरूपेण सम्पादित होने पर ज्ञात होगा कि जैन साहित्यकारो का राजस्थानी साहित्य के निर्माण एव विकास में महत्त्वपूर्ण योग रहा है.





पं० बेचरदास जीवराज दोशी

प्राचीन दिगम्बरीय ग्रन्थों में श्वेताम्बरीय आगमों के अवतरण

जैनधर्म के दिगम्बर और श्वेताम्बर भेदो को वहुत-वहुत गभीर विचार करने के वाद भी मैं समझ नही सकता, फिर भी हमारा समाज इन भेदो को मान कर चल रहा है, इसी दृष्टि से यहाँ इन भेदो का उल्लेख किया गया है

जैन आगमो मे तो स्पष्ट कहा गया है कि—'जो वि दुवत्थ-तिवत्थो वहुवत्थ अचेलगो व सथरइ, न हु ते हीलति पर सघे वि अ ते जिणाणाए'
—आचाराग द्वि श्रु० सूत्र २८६

तात्पर्य यह है कि कोई मुनि द्विवस्त्री हो अर्थात् केवल दो वस्त्र रखता हो, कोई तीन वस्त्र धारण करता हो, कोई वहुवस्त्री हो अथवा कोई अचेलक (चेल-वस्त्र से रहित) हो, और अपनी सयमसाधना कर रहा हो तो वे सव प्रकार के मुनि एक दूसरे की अवहेलना नही करते, क्योकि वे सव जिन भगवान् की आज्ञा के अनुसार चल रहे है

और भी कहा गया है—

जं पि वत्थं व पायं वा, कंवल पायपुंछणं ।
तं पि सजमलज्जट्ठा धारेंति परिहरंति य ॥
—दशवैकालिक अ० ६ गाथा १६

वस्त्र पात्र कवल और पादप्रोछनक-रजोहरण-को सयम की साधना के लिये ही मुनि ग्रहण करते हैं और सयम की साधना के लिये त्याग भी देते है इसका अभिप्राय यह है कि वस्त्रादि उपकरणो की अपेक्षा सयम की साधना के लिये ही है

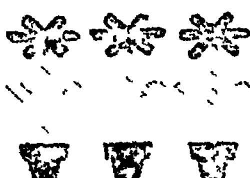
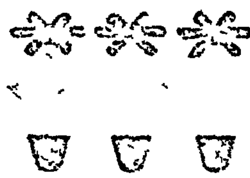
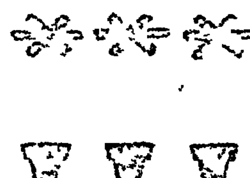
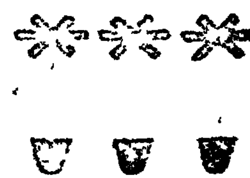
उत्तराध्ययन सूत्र मे जो कहा गया, उसका तात्पर्य यह है कि श्री पार्श्वनाथ के शिष्य वस्त्र रखते थे और महावीर के शिष्य अचेलक भी रहते थे जब दोनो तीर्थंकरो का एक ही लक्ष्य था तो इस भेद का क्या कारण है?[1]

श्री पार्श्वनाथ की परम्परा के तत्कालीन आचार्य केशी के इस प्रश्न का उत्तर भ० महावीर की परम्परा के प्रधान आचार्य गौतम ने इस प्रकार दिया है—

'निर्ग्रथो को लोग अमुक प्रकार से पहचानें और सयम-साधना की यात्रा चलती रहे, इसी हेतु से लिंग का—वाह्य वेशपरिधानादिक का प्रयोजन है और इसी उद्देश्य को लेकर वेशपरिधान विपयक नाना प्रकार की विकल्पना की गई है. हम निर्ग्रन्थ मुनि जनो की प्रमुख प्रतिज्ञा तो जीते जी निर्वाण-साधना के सम्बन्ध मे है और ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र की

---

१. अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो सन्तरुत्तरो ।
देसियो वद्धमाणेण, पासेण य महामुणी ॥
एगकज्जपवन्नाण, विसेसे कि नु कारण ? ।
—उत्तराध्ययन, अ० २३, गाथा० २६-३०

पूर्ण शुद्धि का हम इसी देह मे अनुभव करें, यही हमारा मुख्य ध्येय है.[1]

इन उल्लेखो को लक्ष्य मे रखकर कोई भी बुद्धिमान् तटस्थ विचारक मात्र वेशादि बाह्य भेद के ही कारण एक ही आम्नाय मे भेद की कल्पना कैसे कर सकता है ?

प्राचीन दिगम्बरीय ग्रथो मे वर्त्तमान अगादि आगमो के अवतरण प्रमाण रूप उद्धृत किये हुए मिलते है इस तथ्य को बतलाने के लिए यहाँ कतिपय स्थलो की चर्चा की जाती है.

सर्वजैनसम्मत महर्षि उमास्वाति या उमास्वामी द्वारा प्रणीत तत्त्वार्थसूत्र के विवेचन के लिये दोनो परम्पराओ मे कई वृत्तिया विद्यमान है उनमे श्री भट्ट अकलकदेवकृत राजवार्तिक भी एक विशाल ग्रथ है उसके चतुर्थ अध्याय के छब्बीसवे सूत्र 'विजयादिषु द्विचरमा' के वार्तिक में व्याख्याप्रज्ञप्ति अर्थात् भगवती सूत्र की साक्षी दी गई है. वार्तिक मे लिखा है—'एव हि व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकेपु उक्तम्' ऐसा कह कर वहाँ व्याख्याप्रज्ञप्ति के आलापको का प्रमाण दिया गया है और वहाँ यह भी कहा गया है कि 'गौतमप्रश्ने भगवता उक्तम्' अर्थात् गौतम के प्रश्न करने पर उत्तर के रूप में भगवान् ने ऐसा कहा है

जिस व्याख्याप्रज्ञप्ति में गौतम ने प्रश्न किये है और भगवान् ने उनके उत्तर दिये है, ऐसी व्याख्याप्रज्ञप्ति-भगवती-सूत्र की यहा साक्षी दी गई है किन्तु ऐसी कोई व्याख्याप्रज्ञप्ति दिगम्बर आम्नाय मे तो उपलब्ध नही है श्वेताम्बर आम्नाय में पचम अग के रूप मे व्याख्याप्रज्ञप्ति अभी विद्यमान है और उसमे गौतम ने प्रश्न किये है और भगवान् ने उनके उत्तर दिए है अतएव यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्री अकलक देव ने जिस व्याख्याप्रज्ञप्ति का हवाला दिया है, वह यही व्याख्याप्रज्ञप्ति है जो श्वेताम्बर आम्नाय में प्रसिद्ध है श्री भट्ट अकलकदेव जी ने इस व्याख्याप्रज्ञप्ति को 'आर्ष' विशेषण भी दिया है इससे ज्ञात होता है कि यही व्याख्याप्रज्ञप्ति श्री अकलकदेव के सामने थी, जिसे उन्होने उक्त सूत्र के वार्तिक मे साक्ष्य रूप से स्वीकृत किया. अकलक देव ने जिस दडक का हवाला दिया है वह प्रस्तुत व्याख्याप्रज्ञप्ति के २४ वे शतक के २२ वे उद्देशक के १६-१७ वे सूत्र मे प्रश्नोत्तर रूप से विद्यमान भी है

भगवती आराधना नामक ग्रथ दिगम्बर आम्नाय मे विशेष प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित है उसकी 'विजयोदया' नाम की वृत्ति में आचाराग सूत्र, सूत्रकृताग सूत्र, दशवैकालिकसूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र और निशीथ (निषेध) के अवतरण पाये जाते है वे अवतरण क्रमानुसार इस प्रकार है—

'पूर्वागमेषु वस्त्रपात्रादिग्रहणमुपदिष्टम्' (मूलाराधना, विजयोदया वृत्ति पृ० ६११) अर्थात् पूर्वागमो मे वस्त्र और पात्र का ग्रहण करना बताया गया है जैसे कि—आचारस्यापि द्वितीयाध्यायो लोकविचयो नाम, तस्य पञ्चमे उद्देशे एवमुक्तम्—'पडिलेहणं पादपुछण उग्गह कडासण अण्णदर उवधि पावेज्ज' —मूलाराधना विजयोदया वृत्ति पृ० ६११).

वात यह है कि विजयोदयावृत्तिकार पूर्वपक्ष करते हुए कहते है कि पूर्व आगमो—प्राचीन आगमो में वस्त्र और पात्र आदि को ग्रहण करने का उपदेश दिया गया है, ऐसा कहकर वे क्रमश इस विषय के आगमो के अवतरण दे रहे है. वे कहते है कि आचाराग सूत्र के लोकविचय नाम के द्वितीय अध्ययन के पाचवे उद्देशक मे कहा गया है कि—'पात्र, पादप्रोछनक, वसति, कडासन—बैठने का आसन, ऐसी किसी अन्यतर उपधि को प्राप्त करे.'

वर्तमान मे उपलब्ध आचाराग सूत्र के लोकविचय नामक द्वितीय अध्ययन के पाचवें उद्देशक मे जो पाठ इस सबध में है, वह इस प्रकार है—'वत्थ पडिग्गह कवल पायपुछण च उग्गह च कडासण' (आचाराग द्वि० श्रु० अध्ययन २ उद्देशक ५)

---

१. पच्चयत्थ च लोगस्स, नाणाविहविगप्पण ।
जत्तत्थ गहणत्थ च, लोगे लिगपओयण ॥
अह भवे पइन्ना उ, मोक्खसब्भूयसाहणा ।
नाण च दसण चेव चरित्तं चेव निच्छए । —उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २३, गा० ३२-३३

प्रस्तुत पाठ कुछ खंडित-सा है, फिर भी विजयोदया के पाठ से बहुत कुछ समानता रखता है

विजयोदयावृत्तिकार आचाराग के और भी उद्धरण देते है, जैसे—आचाराग के द्वितीय श्रुतस्कध मे वत्थेसणा (वस्त्रैषणा) प्रकरण आता है उसका निर्देश करते हुए विजयोदयावृत्तिकार लिखते है—'तथा वत्थेसणाए वुत्त' इत्यादि (पृ० ६११) इसी प्रकार 'पाएसणाए कथित' कह कर पात्रैषणा प्रकरण के पाठ का भी निर्देश करते है

आचारागसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कधगत 'भावना' अध्ययन का भी 'भावनाया चोक्तम्' कहकर उल्लेख करते है

फिर 'तथा चोक्तम् आचारागे' कह कर 'सुद मे आउसतो भगवदा एवमक्खाद' इत्यादि का निर्देश करते हुए विजयोदयाकार आचाराग के अवतरण को दिखाते हैं

उसके वाद "कारणमपेक्ष्य वस्त्रग्रहणम् इत्यस्य प्रसाधकम् आचारे विद्यते" ऐसा निर्देश करके अह पुण एव जाणेज्ज उवातिक ते हेमते (हसु) पडिवण्णे से अथ पडिज्जुण्णमुवधि पडिट्ठवेज्जा' इति

यह पाठ कुछ अशुद्ध-सा है ठीक पाठ आचाराग के आठवे विमोह अध्ययन के चौथे उद्देशक मे इस प्रकार है—'अह पुण एव जाणेज्जा उवाइक्कते खलु हेमते, गिम्हे पडिवन्ने, अहापरिजुण्णाइ वत्थाइ परिट्ठवेज्जा '

इस प्रकार विजयोदयावृत्तिकार ने पृ० ६१० से ६१६ तक के मुद्रित पन्नो मे कई जगह आचाराग का निर्देश करके कई अवतरण दिये है इसका अर्थ यह है कि वे आचाराग को प्रमाणरूप प्रतिष्ठित मानते थे इसी से पूर्वपक्ष करके भी इसके अवतरण उन्होने दिए हैं इसी प्रकार उक्त पन्नो मे सूत्रकृताग सूत्र के पुडरीक अध्ययन (द्वि० श्रुत०) तथा उत्तराध्ययन और दशवैकालिक के आचारप्रणिधि-अध्ययन का नाम लेकर अवतरण दिए है इस टीका मे निषेध (निशीथ) तथा कल्प और आवश्यक सूत्र के भी बहुत-से अवतरण विद्यमान हैं

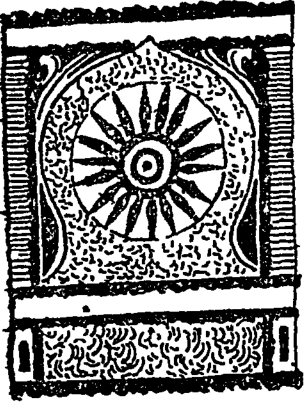
धवला टीका मे (षट्खडागम तीसरा भाग पृ० ३५) 'लोगो वादपदिट्ठिदो त्ति वियाहपण्णत्तिवयणादो' कह कर वियाहपण्णत्ति का प्रामाण्य स्वीकृत किया है. 'लोक वातप्रतिष्ठित है ' ऐसा वियाहपण्णत्ति का वचन है वर्तमान मे प्राप्त वियाहपण्णत्ति मे लोक वातप्रतिष्ठित कहा है यह वर्णन प्रथम शतक के छठे उद्देशक मे २२४ वें प्रश्नोत्तर मे है

इसके अतिरिक्त धवलाटीका में (षट्खडागम प्र० भा० पृ० ५४) 'जस्सतिय' इत्यादि पद्य का अवतरण किया है. वह पद्य दशवैकालिक सूत्र के नववें अध्ययन की वारहवी गाथा है इसी प्रकार विजयोदयावृत्ति मे षड् आवश्यक का विचार, दशकल्पविचार, उपधानविचार आदि अनेक चर्चाएँ सचेलक परम्परा के आगमो के अनुसार मिलती हैं किन्तु सचेलक परम्परा के साथ सम्बन्ध छूट जाने से कही-कही व्याख्या मे अव्यवस्था हो गई है.

अचेलक परम्परानुसारी लघुप्रतिक्रमण की लिखित प्रेसकापी मेरे पास है, जो मेरे मित्र श्री नाथूरामजी प्रेमी ने मुझे करीव तीस-चालीस वर्ष पहले दी थी उसमे 'करेमि भते ' सूत्र, लोगस्स सूत्र, तस्मुत्तरी सूत्र, अन्नत्थ ऊससिएण सूत्र, इरियावही सूत्र आदि कई सूत्र बरावर सचेलक परम्परा के सूत्रो के समान हैं प्रतिक्रमण की यह पद्धति अभी सचेलक परम्परा मे प्रचलित है, यही अचेलक परम्परा मे भी प्रचलित रही होगी इस लघु प्रतिक्रमण के पाठो से इस अनुमान का समर्थन होता है

अचेलक परम्परा के शास्त्रप्रेमियो ने 'प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी' नामक एक पुस्तक प्रकाशित की है उसमे दिया हुआ श्रमणसूत्र का पाठ सचेलक परम्परा के श्रमणसूत्र के पाठ से अत्यधिक साम्य रखता है उसकी वृत्ति के कर्त्ता श्रीप्रभाचन्द्र नामक कोई प्राचीन मनीषी है इस पुस्तक मे प्रतिक्रमण का मूल पाठ नही दिया है वह दिया गया होता तथा सचेलक परम्परा से तुलना करके प्रकाशित किया गया होता तो अधिक उत्तम होता

अधिक अवतरण देकर लेख को लम्बा बनाने की आवश्यकता नही है इस लघुकाय लेख से भी यह तथ्य पूर्णरूप से समर्थित होता है कि आगमो का न विच्छेद हुआ है, न लोप समग्र जैन सघ आगमो को आर्ष तथा प्रमाणरूप स्वीकार करता था, चाहे वह अचेलकसघ हो या सचेलकसघ ! इस तथ्य का दिग्दर्शन कराने का ही यहाँ किंचित् प्रयास किया गया है



श्रीनेमिचन्द्र शास्त्री
पी-एच०, डी० जैन कालेज, आरा

संस्कृत-कोषसाहित्य को
आचार्य हेम की अपूर्व देन

संस्कृत-कोशसाहित्य की परम्परा —सस्कृत भाषा में कोप-ग्रन्थ लिखने की परम्परा वैदिक युग से चली आ रही है. निघण्टव —निघण्टुओ की महत्त्वपूर्ण शब्दावली यास्क के निरुक्त के साथ उपलब्ध है. विलुप्त कोप-ग्रन्थो मे भागुरिकृत कोश का नाम सर्वप्रथम आता है[1] अमरकोष की टीका मे भागुरि के प्राचीन उद्धरण उपलब्ध होते है भानुजि दीक्षित ने अपनी अमरकोशटीका मे आचार्य आपिशल का एक वचन ऊद्धृत किया है.[2] जिससे स्पष्ट है कि उन्होने भी कोई कोषग्रन्थ लिखा है. उणादिसूत्र के वृत्तिकाल उज्ज्वयलदत्त द्वारा उद्धृत एक वचन से भी उक्त तथ्य की पुष्टि होती है. आपिशल वैयाकरण थे, इनका स्थिति काल पाणिनि से पूर्व है.

केशव ने नानार्थार्णव सक्षेप मे शाकटायन के कोशविषयक वचन ऊद्धृत किये है, जिनसे इनके कोशकार होने की सभावना है[3] अभिधान चिन्तामणि आदि कोशग्रन्थो की विभिन्न टीकाओ मे व्याडिकृत किसी विलुप्त कोश के उद्धरण मिलते है[4] कीथ ने अपने सस्कृत साहित्य के इतिहास में नाममाला के कर्त्ता कात्यायन, शब्दार्णव के रचयिता वाचस्पति और ससारावर्त के लेखक विक्रमादित्य का उल्लेख किया है[5]

उपलब्ध कोशग्रन्थो मे सबसे प्राचीन और ख्यातिप्राप्त अमरसिंह का अमरकोश है. डॉ० हार्नले ने इसका रचनाकाल ६२५-६४० ई० के वीच माना है यह समानार्थ शब्दो का सग्रह है और विषय की दृष्टि से इसका विन्यास तीन काण्डो मे किया गया है इसकी अनेक टीकाओ मे ग्यारहवी शताब्दी में लिखी गयी क्षीरस्वामी की टीका बहुत प्रसिद्ध है. इसके परिशिष्ट के रूप मे सकलित पुरुषोत्तमदेव का त्रिकाण्डशेष है, जिसमे उन्होने विरल शब्दो का सकलन किया है. कवि और वैयाकरण के रूप में ख्यातिप्राप्त हलायुध ने अभिधानरत्नमाला नामक कोशग्रन्थ ई० सन् ६५० के लगभग लिखा है. इसमे पर्यायवाची समानार्थक शब्दो का सकलन है. दाक्षिणात्य आचार्य यादव ने वैज्ञानिक पद्धति पर वैजयन्ती कोश लिखा है नवी शती के विद्वान् धनञ्जय ने नाममाला, अनेकार्थनाममाला और अनेकार्थनिघण्टु ये तीन कोशग्रन्थ लिखे है, ये तीनो कोश छात्रोपयोगी, सरल और सुन्दर शैली मे लिखे गये है.

कोश साहित्य की समृद्धि की दृष्टि से बारहवी शताब्दी महत्त्वपूर्ण है इस शती मे केशवस्वामी ने नानार्थार्णवसक्षेप एव शब्दकल्पद्रुम, महेश्वर ने विश्वप्रकाश, अभयपाल ने नानार्थरत्नमाला और भैरव कवि ने अनेकार्थकोष की रचना की है. इसी शताब्दी के महाविद्वान् आचार्य हेमचन्द्र ने अभिधानचिन्तामणि, अनेकार्थसग्रह एव निघण्टुशेष की रचना की है.

---

१ सर्वानन्दविरचित टीकासर्वस्व भाग १ पृ० १९३
२ अमरटीका १।१।६६ पृ० ६८.
३. अभिधानचिन्तामणि—चौखम्बा सस्करण प्रस्तावना पृ० ९
४. अभिधानचिन्तामणि १।५, ३४।२२ और २५
५. कीथ-सस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० ४८९.



चौदहवी शताब्दी मे मेदिनिकर ने अनेकार्थशब्दकोश, हरिहर के मन्त्री इरुपद दण्डाधिनाथ ने नानार्थरत्नमाला और श्रीधरसेन ने विश्वलोचन कोश लिखा है सत्रहवी शती मे केशव दैवज्ञ ने कल्पद्रुम और अप्पय दीक्षित ने नामसग्रहमाला एव वेदागराय ने पारसीप्रकाश कोश की रचना की है इनके अतिरिक्त महिप का अनेकार्थतिलक, श्रीमल्लभट्ट का आख्यातचन्द्रिका, महादेव वेदान्ती का अनादिकोश, सौरभी का एकार्थनाममाला—द्वयक्षरनाममाला कोश, राघव कवि का कोशावतस, भोज का नाममाला कोश, शाहजी का शब्दरत्नसमुच्चय, कर्णपूर का सस्कृत-पारसीकप्रकाश एव शिवदत्त का विश्वकोश उपयोगी सस्कृत कोशग्रथ है

आचार्य हेम का महत्त्व और उनकी ऐतिहासिक सामग्री—हेमचन्द्र के सस्कृतकोशग्रथ साहित्य की अमूल्य निधि है इनके ग्रन्थो में भाषा, विज्ञान, इतिहास, सस्कृति एव साहित्य सम्बन्धी महत्वपूर्ण सामग्री सकलित है अभिधानचिन्तामणि की स्वोपज्ञवृत्ति मे इन्होने अपने पूर्वकर्मी ५६ ग्रथकारो और ३१ ग्रथो का उल्लेख किया है यथा .

अमर [५५-१७ तथा २१][1], अमरादि [२७६-२१,२६६-१४], अलकारकृत् [११२-१३], आगमविद् [७०-१४], उत्पल [७४-१४] कात्य [५६-१०,६२-८] कागन्दकि [५५०।४], कालिदास [४१३-२,'४४०-१६], कौटिल्य [७०-४,२६६-२], कौशिक [१६६- १३,१७०-२८] क्षीरस्वामी [३५०-६,४६१-१७[, गौड [३६-२६,५३-३], चाणक्य [३६४-५] चान्द्र [५२८-२५]दन्तिल[१२१-१२२,५६३-३], दुर्ग[५७-२८, १७४-२७],द्रमिल[१५१-७, २०६-२७], धनपाल[१-५,७६-२१], धन्वन्तरि [१६६-२८,२५६-७], नन्दी [५२-५३], नारद [३५७-१८, नैसक्त[१६४-१८, १८६-६], पदार्थविद्[२०८-२२], पालकाप्य [४६५-२७], पौराणिक [३७३-६] प्राच्य [२८-२६], बुद्धिसागर २४५-२५], वौद्ध [१०१-१७] भट्टतौत [२४-१७], भट्टि [५६३-२३], भरत [११७-६] भागुरि [६६-१४], भाष्कार [६६-२३], भोज [१५७-१७], मनु [६३-११], माघ [६२-१७], मुनि [१७१-१८] याज्ञवल्क्य [३३६-२] याज्ञिक [१०३-६]' लौकिक [३७८-२३], वाग्भट [१६७-१], वाचम्पति [१-६], वासुकि [१-५], विश्वदत्त [४६-८], वैजयन्तीकार [१३१-२३], वैद्य [१६६-२८], व्याडि [१-५] शाब्दिक [४३-७], शाश्वत [६४-७], श्रीहर्ष [११८-७], श्रुतिज्ञ [३३२-२७], सभ्य [१३४-१], स्मार्त [२०६-२१०], हलायुध [१४४-१५] एव हृद्य [४५३-२७]

इन ग्रथकारो के अतिरिक्त अमरकोश [८-५], अमरटीका ४५-१३]. [अमरमाला [४४०-३२], अमरशेष [१५३-२०], अर्थशास्त्र [२६७-२५] धातुपारायण [१-११], भारत [३३८-१३], महाभारत [८१-२३], वामनपुराण [४६-२६], विष्णुपुराण [६६-१६], शाकटायन [२-१], एव स्मृति [३५-२७] आदि ३१ ग्रथो का भी उल्लेख किया है

जहा शब्दो के अर्थ मे मतभेद उपस्थित होता है, वहाँ आचार्य हेम अन्य ग्रथ तथा ग्रथकारो के वचन उद्धृत कर उस मतभेद का स्पष्टीकरण करते हैं फलत प्रसगवश अनेक ग्रथ और ग्रथकारो के सम्बन्ध मे पर्याप्त जानकारी की सामग्री वर्तमान है विलुप्त कोशकार भागुरी और व्याडि के सम्बन्ध मे अभिधान-चिन्तामणि से ही तथ्यो की जानकारी प्राप्त होती है

नवीन शब्दों का सकलन—अभिधानचिन्तामणि मे इस प्रकार के शब्द प्रचुर परिमाण मे आये है, जो अन्य कोशग्रथो मे नही मिलते अमरकोश मे सुन्दर के पर्यायवाची—सुन्दरम्, रुचिरम्, चारु, सुषमम्, साधु, शोभनम्, कान्तम्, मनोरमम्, रुच्यम्, मनोज्ञम्, मजु और मजुलम् ये बारह शब्द आये है हेम ने इसी सुन्दरम् के पर्यायवाची चारुः, हारि रुचिरम्, मनोहरम् वल्गु, कान्तम् अभिरामम्, बन्धुरम्, वामम्, रुच्यम्, शुषमम्, शोभनम्, मजुलम्, मजु, मनोरमम्, साधु, रम्यम्, मनोरमम्, पेशलम्, हृद्यम्, काम्यम्, कमनीयम्, सौम्यम्, मधुरम् और प्रियम् ये २६ शब्द बतलाये है इतना ही नही हेम ने अपनी वृत्ति मे 'लडह' देशी शब्द को भी सौंदर्यवाची ग्रहण किया है अमरकोश के साथ तुलना करते हुए कुछ शब्दो के पर्यायो का निर्देश किया जाता है

---

१ अभिधानचिन्तामणि के भावनगर सस्करण के पृष्ठ और पक्ति निर्दिष्ट है



नाम	अमरकोश की पर्यायसख्या	अभिधानचिन्तामणि की पर्यायसख्या
सूर्य	३७	७२
किरण	११	३६
चन्द्र	२०	३२
शिव	४८	७७
गौरी	१७	३२
ब्रह्मा	२०	४०
विष्णु	३६	७५
अग्नि	३४	५१

पर्यायवाची शब्दो की साख्याधिक्य के अतिरिक्त ऐसे नवीन शब्द भी समाविष्ट है, जो सस्कृति और साहित्य के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण है. इस कोश में जिसके वर्ण या पद लुप्त हो—जिसका पूरा-पूरा उच्चारण नही किया गया हो उस वचन का नाम 'ग्रस्तम्' और थूकसहित वचन का नाम अम्बूकृतम्' आया है शुभवाणी-कल्याणप्रद वचन का नाम 'कल्या', हर्ष-क्रीडा से युक्त वचन के नाम 'चर्चरी' और 'चर्मरी' एव निन्दापूर्वक उपालम्भयुक्त वचन का नाम 'परि-भाषण' आया है. जले हुए भात के लिए मिस्सटा [३-६०] और दग्धिका नाम आये है गेहूं के आटे के लिए समिता [३-६६] और जौ के आटे के लिए चिक्कस [३-६६] नाम आए है. नाक की विभिन्न बनावट वाले व्यक्तियो के विभिन्न नामो का उल्लेख भी इस बात का सूचक है कि आचार्य हेम को मानवशास्त्र की कितनी अधिक जानकारी थी इन्होने चिपटी नाकवाले को नतनासिक, अवनाट, अवटीट और अवभ्रट, नुकीली नाकवाले को खरणास, छोटी नाक-वाले को न क्षुद्र और क्षुद्रनासिक, खुर के समान बडी नाकवाले को खुरणस एव ऊची नाकवाले को उन्नस और उग्र-नासिक कहा है.[1] नृतत्त्वविज्ञान का अध्ययन करनेवाले शरीर के अन्य अगोपागो के साथ नाक एव केशरचना को विशेष महत्त्व देते है यो तो मानवसमूहो के प्रजातीय वर्गीकरण के लिए शरीर के विभिन्न अगो की नापजोख, रक्तसमूह-विश्लेषण, मासपेशियो का गठन, त्वचा, आख और केश के रग एव केश-रचना का उपयोग करते है, पर नाक और आख की बनावट प्रमुख स्थान रखती है. हेम ने इस दृष्टि से मगोलॉयड, काकेसायड, अफ्रीकी नीग्रॉयड, मेलानेशियन और पालीनेशियन प्रजातियो के मानवो का चित्र उपस्थित कर दिया है अगोपागो के विभिन्न नामो के विवेचन से यह सहज मे अवगत किया जा सकता है कि हेम को नृतत्त्वज्ञान की गहरी जानकारी थी

पति-पुत्र से हीन स्त्री के लिए निर्वीरा [३-१९४], जिस स्त्री को दाढ़ी या मूछ के बाल हो, उसको नरमालिनी [३-१९५], बडी शाली के लिए कुली [३-२१८] और छोटी शाली के लिए हाली, यन्त्रणी और केलिकुचिका [३-२१९] नाम आये है छोटी शाली के इन नामो को देखने से अवगत होता है कि उस समय में छोटी शाली के साथ हँसी-मजाक करने की प्रथा थी साथ ही पत्नी की मृत्यु के पश्चात् छोटी शाली से विवाह भी किया जाता था इसी कारण इसे केलि-कुचिका कहा गया हे

दाहिनी और वायी आँखो के लिए पृथक्-पृथक् शब्द इसी कोश मे आये है. दाहिनी आख का नाम मानवीय और बायी आख का नाम सौम्य [३-२४०] कहा गया है. इसी प्रकार जीभ के मैल को कुलुकम् और दात के मैल को पिप्पिका [३-२९६] कहा गया है मृगचर्म के पखे का नाम धवित्रम्, कपडे के पखे का नाम आलावर्तम् एव ताड के पखे का नाम व्यजनम् [३-३५१-५२] आया है नाव के बीचवाले डण्डो का नाम पोलिंदा, ऊपरवाले भाग का नाम मग एव नाव के भीतर जमे हुए पानी को बाहर फेकनेवाले चमडे के पात्र का नाम सेकपात्र या सेचन [३-५४२] बताया है ये शब्द अपने भीतर साँस्कृतिक इतिहास भी समेटे हुए है. छप्पर छाने के लिए लगायी गई लकडी का नाम गोपानसी [४-७५], जिस

१. अभिधानचिन्तामणि ३।११५

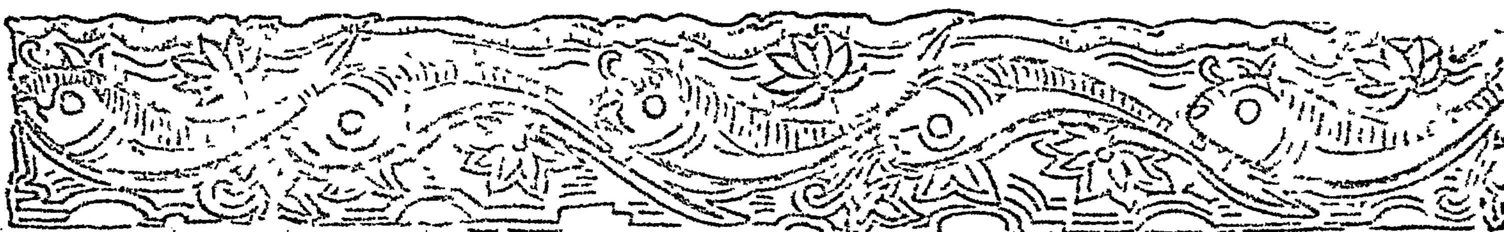
में बाधकर मथानी घुमायी जाती है, उस खम्भे का नाम विष्कम्भ [४-८६], सिक्का आदि रूप मे परिणत सोना-चादी, तावा आदि सब धातुओ का नाम रूप्यम्, मिश्रित सोना-चादी का नाम घनगोलक [४-११२-११३], कूआ के ऊपर रस्सी बाधने के लिए काष्ठ आदि की बनी हुई चरखी का नाम तन्त्रिका [४-१५७], घर के पास वाले बगीचे का नाम निष्कुट, गाव या नगर के बाहरवाले बगीचे का नाम पौरक [४-१७८], क्रीडा के लिए बनाये गए बगीचे का नाम आक्रीड या उद्यान [४-१७८], राजाओ के अन्त पुर के योग्य घिरे हुए बगीचे का नाम प्रमदवन [४-१७९], धनिको के बगीचे का नाम पुष्पवाटी या वृक्षवाटी [४-१७९] एव छोटे बगीचे का नाम क्षुद्राराम या प्रसीदिका [४-०१७९] आया है

प्रसाधनसामग्री सूचक शब्दावलि—अभिधानचिन्तामणि का जहाँ अनेक दृष्टियो मे महत्त्व है, वहा प्राचीन भारत मे प्रयुक्त होने वाली विभिन्न प्रकार की प्रसाधनसामग्री की दृष्टि से भी इस कोश मे शरीर को मस्कृत करने को परिकर्म (३।२९९), उबटन लगाने को उत्सादन (३।२९९), कस्तूरी-कुकम का लेप लगाने को अगराग, चन्दन अगर, कस्तूरी और कुकुम के मिश्रण को चतु.समम्, कर्पूर अगर, ककोल, कस्तूरी और चन्दनद्रव को मिश्रित कर बनाये गये लेपविशेष को यक्षकर्दम एव शरीरसस्कारार्थ लगाये जानेवाले लेप का नाम वर्ति या गात्रानुलेपनी कहा गया है मस्तक पर धारण की जाने वाली फूल की माला का नाम माल्यम्, बालो के बीच मे स्थापित फूल की माला का नाम गर्भ चोटी मे लटकनेवाली फूलो की माला का नाम प्रभ्रष्टकम्, सामने लटकती हुई पुष्पमाला का नाम ललामकम्, छाती पर तिर्छी लटकती हुई पुष्पमाला का नाम वैकक्षम्, कण्ठ से छाती पर सीधे लटकती हुई फूलो की माला का नाम प्रालम्बम्, शिर पर लपेटी हुई माला का नाम आपीड, कान पर लटकती हुई माला का नाम अवतस एव स्त्रियो के जूडे मे लगी हुई माला का नाम बालपाश्या आया है[१]

इसी प्रकार, कान, कण्ठ, गर्दन, हाथ, पैर, कमर आदि विभिन्न अगो मे धारण किये जाने वाले आभूषणो के अनेक नाम आये है[२] इन नामो से अवगत होता है कि शरीर को सजाने की प्रथा किस-किस रूप मे प्रचलित थी प्रसाधनसामग्री मे विभिन्न प्रकार के वस्त्राभूषणो साथ नाना प्रकार के सुगन्धित पदार्थ भी परिगणित थे रेशमी, सूती और ऊनी वस्त्रो के उपयोग करने के विभिन्न तरीके ज्ञात थे वस्त्र त्वक्-तीसी, सन आदि की छाल, फल-कपास, क्रिमि-रेशम के कीडे आदि एव रोम—भेडो की ऊन या ऊटो की ऊन से तैयार किये जाते थे[३] मृग-हरिण के रोम से भी वस्त्र तैयार किये जाते थे इस प्रकार के वस्त्रो को राकवम्[४] कहा है साडी के नीचे स्त्रिया साया—पेटीकोट भी पहनती थी, आचार्य हेम ने इस कोश मे धनिक और उत्तमकुल की महिलाओ के द्वारा साडी के नीचे धारण किये जाने वाले पेटीकोट के चण्डातकम् और चलनक ये दो नाम लिखे है[५] सामान्य परिवार की स्त्रिया जिस पेटीकोट को पहनती थी, उसका नाम चलनी कहा है[६] ब्लाउज भी अनेक प्रकार के उपयोग मे लाये जाते थे तथा इनके सीने के भी अनेक तरीके प्रचलित थे उनके चोल, कञ्चुलिका, कूर्पासक, अगिका एव कञ्चुक[७] नाम वस्त्रो की विविधता के साथ सीने के प्रकारो पर भी प्रकाश डालते है पलगपोश का रिवाज भी समाज मे था, सूती पलगपोश, जो कि गद्दे के ऊपर बिछाया जाता था, निचोल कहलाता (३।३४०) था साधारणत बिछाने के काम मे आनेवाली चादर प्रच्छदपट (३।३४०) कही जाती थी. निचुल (३।३४०) उस पलगपोश का नाम है जो धनिक और सम्पन्न व्यक्तियो के यहाँ उपयोग मे लाया जाता था. यह रेशमी होता था इसके ऊपर कारीगरी भी की जाती थी, साधारण और मध्यमकोटि के व्यक्ति जिस चादर का उपयोग करते थे, उसे उत्तरच्छद (३।३४०) कहा है

---

१ देखें—काण्ड ३ श्लोक ३१४-३२१.
२ देखें—काण्ड ३ श्लोक ३२०-३२१.
३ त्वक्फलकृमिरोमभ्य सम्भवात्त्वतुर्विधम्—३।३३२
४ अभिधान चिन्तामणि ३।३३३
५ वही ३।३३८.
६ वही ३।३३८.   ७. वही ३।३३८



पाजामा, अगरखा या बुर्का का नाम आप्रपदीन (३।३४२) आया है इससे स्पष्ट है कि प्रसाधनसामग्री में पजामा भी आ चुका था जालीदार कपडे भी काम मे लाये जाते थे, इन्हे शाणी और गोणी (३।३४३) कहा है पैरो को मोजा या पैंताबा पहनकर सजाया जाता था अत मौजा का नाम अनुपदीना (३।५७६) आया है. पुष्पो से भी शरीर का प्रसाधन किया जाता था, इस प्रसाधन के भी अनेक नाम आये है. गुलदस्ते भी उपयोग मे लाये जाते थे. हेम के गुच्छो के नामो मे आया हुआ गुलुञ्छ (४।१६२) शब्द गुलदस्ते का ही वाचक है

भाषाविज्ञानसम्बन्धी सामग्री—भाषाविज्ञान की दृष्टि से यह कोश बडा मूल्यवान् है आचार्य हेम ने इसमे जिन शब्दो का सकलन किया है, उन पर प्राकृत, अपभ्रश एव अन्य देशी भाषाओ के शब्दो का पूर्णत: प्रभाव लक्षित होता है. उसके अनेक शब्द तो आधुनिक भारतीय भाषाओ मे दिखलायी पडते है. कुछ ऐसे शब्द है, जो भाषाविज्ञान के समीकरण, विषमीकरण आदि सिद्धान्तो से प्रभावित है यहाँ उदाहरणार्थ कुछ शब्द उद्धृत किये जाते हैं—

[१] पोलिका [३।६२]—गुजराती मे पोणी, ब्रजभाषा मे पोनी, और भोजपुरी मे पिउनी तथा हिन्दी मे पिउनी.

[२] मोदको लड्डुकश्च [शेष ३।६४]—हिन्दी मे लड्डू, गुजराती मे लाडु, और राजस्थानी मे लाडू

[३] चोटी [३।३३६]—हिन्दी मे चोटी, गुजराती मे चोणी, राजस्थानी मे चोड़ी या चुणिका और भोजपुरी मे चुटिया.

[४] समौ कन्दुकगेन्दुकौ [३।३५३]—हिन्दी मे गेद, ब्रजभाषा मे गिन्द या गिंद, और भोजपुरी मे गिंद या गेंद

[५] हेरिको गूढपुरुषः [३।३६७]—ब्रजभाषा मे हेर या हेरना-देखना, गुजराती में हेर.

[६] तरवारि [३।४४६]—ब्रजभाषा मे तरवार, राजस्थानी और पूर्वी बोलियो में तलवार तथा गुजराती में तरवार.

[७] जगलो निर्जल [४।१६]—ब्रजभाषा, हिन्दी और सभी देशी बोलियो मे जगल.

[८] सुरुगा तु सन्धिला स्याद् गूढमार्गो भुवोऽन्तरे [४।५१]—ब्रजभाषा, हिन्दी, गुजराती और सभी पूर्वी बोलियो मे सुरग.

[९] निश्रेणी त्वधिरोहिणी [४।७६]—ब्रजभाषा मे नसेनी, गुजराती मे नीसरणी, भोजपुरी मे सीढी, मगही में निसेनी तथा पाली मे भी निसेनी रूप आया है

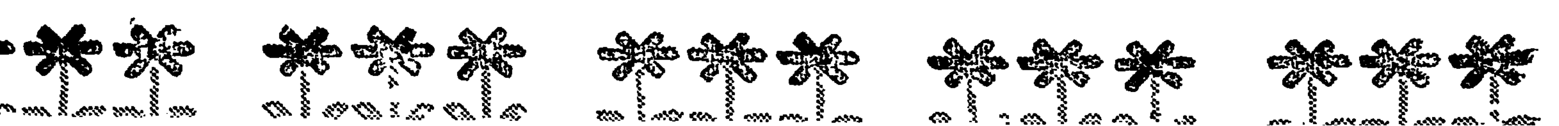
[१०] चालनी तितउ [४।८४] ब्रजभाषा, राजस्थानी और गुजराती मे चालनी, हिन्दी मे चलनी या छननी

[११] पेटा स्यान्मञ्जूषा [४।८१]—राजस्थानी मे पेटी गुजराती में पेटी या पेटो और ब्रजभाषा मे पिटारी, पेटी.

[१२] परिवार परिग्रह [३।३७६]—हिन्दी मे परिवार, पूर्वी बोलियो मे परिवार और राजस्थानी मे पडिवार या परिवाड

व्युत्पत्तिमूलक विशेषताएँ—[१] मंक्यते मण्ड्यते वपुरनेन मुकुरः, आत्मा दृश्यतेऽनेनात्मदर्शः, आदृश्यते रूपमस्मिन्नादर्श , दृप्यन्त्येऽनेन सुवेषा इति दर्पण: [३।३४८]—जिसके द्वारा शरीर को सुशोभित किया जाय अर्थात् जिसमे अपनी प्रतिकृति का अवलोकन कर मण्डन—प्रसाधन किया जाय उसे मुकुर, जिसमे अपना स्वरूप देखा जाय उसे आत्मदर्श, पूर्ण रूप से अच्छी तरह जिसमे अपना रूप देखा जाय उसे आदर्श और जिसमे अपनी प्रतिकृति देखकर अपने वेष को सुसज्जित किया जाय तथा आकर्षक बनाया जाय उसे दर्पण कहते है दर्पण मे अपनी वेष-भूषा देखकर गौरवजन्य आनन्दानुभूति होती है, यह दर्पण शब्द की व्युत्पत्ति से स्पष्ट है. मुकुर, आत्मदर्श, आदर्श और दर्पण ये चारो दर्पण के पर्यायवाची शब्द है, किन्तु व्युत्पत्ति की दृष्टि से इन शब्दो के अर्थ मे मौलिक अन्तर है

(२) नक्षति गच्छति व्योमनीति नक्षत्र , न क्षदति प्रभामिति नक्षत्रम्. तरतीति तारका, तरन्त्यनया ताराः द्योतते ज्योतिः; भाति भं, भा विद्यतेऽस्येति वा, इयर्ति खमिति उडु., गृह्यते इति ग्रहः, धृष्णोति प्रगल्भते निशीति धिष्ण्यम्. अर्जते गच्छति ऋक्षं, ऋक्ष्णोति तम इति वा (२।२१)



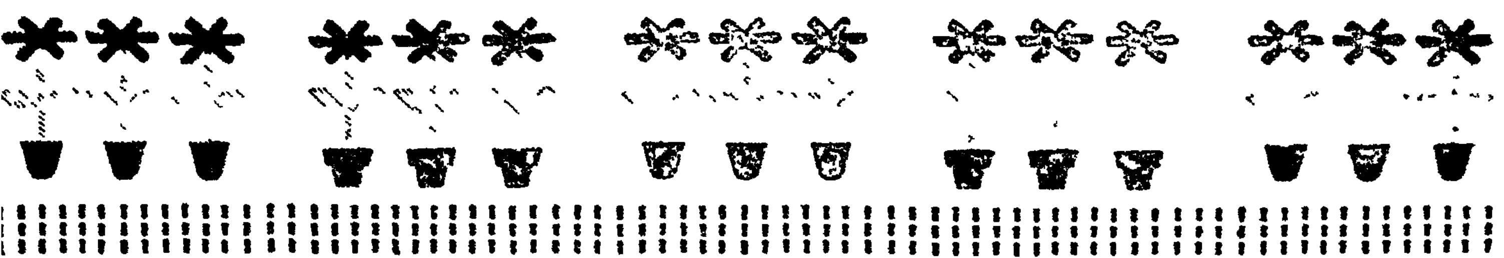
नक्षत्र के नौ नामो का निरूपण करते हुए उनकी व्युत्पत्तियाँ देकर अर्थ सम्बन्धी सूक्ष्मताओ पर बहुत सुन्दर प्रकाश डाला गया है जो आकाश मे गमन करे अथवा जिनकी प्रभा—काति का सवरण कभी न हो वह नक्षत्र है जो आकाश मे तैरता है, वह तारका नक्षत्र है जिसके द्वारा आकाश का अतिक्रमण किया जाता है वह तारा है जिसमे प्रकाश विद्यमान है वह ज्योति, जिसमे काति हो अथवा जो चमकता या टिमटिमाता हो वह भ है आकाश मे उडने के कारण उडु, ग्रहण होने के कारण ग्रह, रात्रि मे प्रकाशित होने के कारण धिष्ण्य और सीधा गमन करने के कारण ऋक्ष अथवा अन्धकार का ध्वस करने से ऋक्ष कहा जाता है नक्षत्र के नामो की व्युत्पत्तियाँ अमरकोप की टीकाओ मे भी आयी है, किंतु आचार्य हेम ने ऋक्ष, नक्षत्र और भ की व्युत्पत्ति मे अपना एक नया दृष्टिकोण उपस्थित किया है

(३) वेवेष्टि व्याप्नोति विश्वं विष्णुः, हरति पाप हरि., हृषीकाणामिन्द्रियाणामीशो वशिता हृषीकेशः, प्रशस्ताः केशाः सन्त्यस्य केशवः, इन्द्रमुपगतोऽनुजत्वाद् उपेन्द्र., विष्वक् सर्वव्यापिनी विषूची वा सेनाऽस्य विष्वक्सेन., नरा आपो भूतानि वा तान्ययते नारायण., नरस्य अपत्य नारायण, अधः कृत्वाऽक्षाणीन्द्रियाणि जातोऽधोक्षज. अधोऽक्षाणां जितेन्द्रियाणां जायते प्रत्यक्षीभवति वा, अक्षजं ज्ञानमधोऽस्येति वा, गां भुव विन्दति गोविन्दः, मुञ्चति पापिनो मुकुन्द., माया लक्ष्म्या धवो भर्ता माधव. मधोरपत्य वा ; विश्वं बिभर्ति विश्वंभर॰, जयति दैत्यान् जिन., त्रयो त्रिशिष्टा. क्रमा. सृष्टिस्थितिप्रलयलक्षणाः शक्तयोऽस्य त्रिविक्रमः, त्रिषु लोकेषु विक्रमः पादविन्यासोऽस्येति वा, जहाति मुञ्चति पादांगुष्ठाद् गंगामिति जह्नुः, वनमालाऽस्त्यस्य वनमाली, पुण्डरीके इव अक्षिणी अस्य पुण्डरीकाक्षः (२।१३२)

आचार्य हेम ने विष्णु के ७५ नाम बतलाये है और स्वोपज्ञवृत्ति मे सभी नामो की व्युत्पत्तिया अकित की गई है उपर्युक्त सन्दर्भ मे कुछ ही नामो की व्युत्पत्तिया दी जा रही है इन व्युत्पत्तियो के अनुसार जो ससार को व्याप्त करता है, वह विष्णु है पाप को नष्ट करने के कारण हरि, इन्द्रियो का विजयी होने के कारण हृषीकेश, प्रशस्त केशवाला होने से केशव, इन्द्र का अनुज होने से उपेन्द्र, विश्व-व्यापिनी सेना रखने के कारण विष्वक्सेन, जल मे रहने से नारायण, नर का पुत्र होने से नारायण, इद्रियज्ञान को तिरस्कृत कर अतीद्रिय, ज्ञान का धारी होने से अधोक्षज, पृथ्वी की रक्षा करने के कारण गोविंद, पाप को छुडाने से मुकुन्द, लक्ष्मी का पति होने से माधव, विश्व-ससार का भरण करनेवाला होने मे विश्वभर, दैत्यो को जीतने के कारण जिन, सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय रूप तीनो शक्तियो से युक्त होने से त्रिविक्रम अथवा तीनो लोको मे पादन्यास करने से त्रिविक्रम, पैर के अगूठे से गगा नदी को प्रवाहित करने के कारण जह्नु, वनमाला गले मे रहने से वनमाली और पुण्डरीक के समान नेत्र होने से पुण्डरीकाक्ष विष्णु को कहा जाता है विष्णु के नामो की इन व्युत्पत्तियो मे इतिहास और सस्कृति की दृष्टि से अनेक नयी बातो का समावेश हुआ है

(४) शिक्ष्यते वर्णविवेकोऽनया शिक्षा कर्मणां सिद्धरूप. प्रयोगः कल्प्यतेऽवगम्यतेऽनेन कल्प॰ व्याक्रियन्तेऽन्वाख्यायन्ते शब्दा अनेन व्याकरणम्. छाद्यतेऽनेन प्रस्ताराद् भूरितिच्छन्द . ज्योतिषां ग्रहाणां गतिज्ञानहेतुर्ग्रन्थो ज्योति. ज्योतिपम्. वर्णागमादिभिर्निर्वचनं निरुक्ति. निरुक्तम् (२।१६४).

षडग की व्युत्पत्तिया प्रस्तुत करते हुए आचार्य हेम ने षडग का स्वरूप कितने स्पष्ट और विस्तृत रूप से उपस्थित किया है, यह सहज मे जाना जा सकता है जिसके द्वारा वर्णविवेक—वर्णोच्चारण, वर्णो का स्थान, प्रयत्न आदि अवगत हो, उसे शिक्षा कहते है कर्मो का सिद्धस्वरूप जिनके द्वारा ज्ञात किया जाय वे कल्प है इससे स्पष्ट है कि कल्पसूत्रो की आधार-शिला कर्मकाण्ड है तथा हिन्दूधर्म के समस्त कर्म, सस्कार, निखिल अनुष्ठान और समस्त सम्कृति एव अशेप क्रियाकाड को समझने के लिए एकमात्र आधार ये कल्पग्रथ ही है प्रकृति और प्रत्यय के विभाग द्वारा शब्दो की व्याख्या करने को व्याकरण कहते है धातु और प्रत्यय के सश्लेषण एव विश्लेषण द्वारा भापा के आन्तरिक गठन के विचार को भी इस व्युत्पत्ति मे समेट लिया गया है. शब्दो की व्युत्पत्ति एव उनकी प्राणवन्त प्रकिया के रहस्य का उद्घाटन भी उक्त व्युत्पत्ति मे शामिल है जिसके प्रस्तार से पृथ्वी को आच्छादित किया जा सके, उसे छन्द कहते है इस व्युत्पत्ति मे पिंगलाचार्य की समस्त भूमण्डल को व्याप्त करनेवाली कथा भी आ गई है. जिस ग्रथ से ग्रहो की गति और स्थिति



का ज्ञान प्राप्त किया जाय, उसे ज्योतिष कहते है. वर्णागम वर्णलोप वर्णविकार आदि के द्वारा जिसका निर्वचन उपस्थित किया जाय उसे निरुक्ति कहते है

५. प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्य पश्चादीक्षणं अन्वीक्षा सा प्रयोजनमस्यामान्वीक्षिकी. पुरापि न नवं पुराणम् (२।१६५-१६६) टीकयति गमयत्यर्थान् टीका सुषमाणां विषमाणां च निरन्तरं व्याख्या यस्यां स तथा. पञ्च्यन्ते व्यक्तीक्रियन्ते पदार्था अनया पञ्चिका, पृषोदरादित्वाद् जत्वे पञ्जिका अर्थात् विषमाण्येव पदानि भनक्ति पदभञ्जिका (२।१७०). निबध्यते विशेषोऽस्मिन् निबन्धः (२।१७१) प्रहेलयति अभिप्रायं सूचयति प्रहेलिका (२।१७३).

प्रत्यक्ष और आगम के द्वारा अवगत कर लेने के पश्चात् तर्क आदि के द्वारा विषय को जानना अन्वीक्षा है और यह अन्वीक्षा जिसका प्रयोजन है उसे आन्वीक्षिकी विद्या कहा जाता है. पुराण सदा ही पुरातन रहते है, जिनका विषय प्राचीन समय मे भी नया न रहे, उसे पुराण कहते हैं. किसी ग्रथ के साधारण या असाधारण प्रत्येक शब्द की निरन्तर व्याख्या को टीका कहते है विषमपदो को स्पष्ट करने वाली व्याख्या का नाम पञ्जिका है. जिसमें विशेष विषय को निबद्ध किया जाय, उसे निबन्ध कहते हैं जिस पद्य का अर्थ पूर्वापर विरुद्ध प्रतीत होता हो, परन्तु विशेष अनुसन्धान करने से अविरुद्ध अर्थ निकले, उसे प्रहेलिका या पहेली कहते हैं

६. बध्नाति स्नेहं बन्धुः (३।२२४) विगृह्यते रोगादिभिरिति विग्रहः (२।२२७) ऊर्ध्वं मिलति धम्मिल्ल (३।२३४). केशानां वेषे रचनायां कूयते कवरी (२।२३४) पलति याति श्वेतत्वं पाकात् पलितं (३।२३५) भाल्यते परिभाष्यते शुभाशुभमत्र भालम् (३।२३७)

स्नेह के कारण जो बन्धन उत्पन्न करे उसे बन्धु कहते हैं बन्धु शब्द का व्युत्पत्तिमूलक यही अर्थ है कि जो स्नेहबन्ध का कारण है, वही बन्धु है जो स्नेह उत्पन्न नही करता है, वह बन्धु नही कहा जा सकता रोग आदि के द्वारा जो विकृत किया जाता है, वह विग्रह अर्थात् शरीर कहलाता है शरीर को रोग आदि नित्य जीर्ण करते रहते है.

७ धम्मिल्ल उस केशरचना का नाम है, जो जटाजूट की तरह ऊपर की ओर मिलती है अर्थात् बालो को ऊपर की ओर एकत्र कर बाधना धम्मिल्ल है यह केशरचना अत्यन्त सावधानी पूर्वक की जाती है केशो को सजाकर वेणी के रूप मे बाधना कवरी है कवरी और धम्मिल्ल ये दोनो ही प्रकार केशरचना के हैं महिलाएँ इन दोनो प्रकार की केश-रचनाएँ करती थी

८. पककर श्वेत हुए बालो को पलित केश कहा गया है जिस प्रकार धान की फसल पककर समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार समय के प्रभाव से केश भी श्वेत हो जाते है

९ भाल-मस्तक-ललाट उसे कहते है, जिसके अध्ययन से शुभाशुभ को कहा जा सके हाथ, पैर और ललाट के अध्ययन से शुभाशुभ के फलप्रतिपादन की प्रणाली प्राचीन काल से भारत में प्रचलित है अत भाल-ललाट की व्युत्पत्ति आचार्य ने यह की है—यो तो 'ललतेऽत्रालंकारो ललाटम्' अर्थात् जहाँ अलकार सुशोभित हो, उसे ललाट कहते हैं

१० ओष्ठ की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है—"उष्यते तीक्ष्णाहारेण ओष्ठः" अर्थात्-तीक्ष्ण आहार से जो अवगत हो और उसकी अनुभूति जिसे निरन्तर होती रहे, उसे ओष्ठ कहते हैं

११ भाष्यते भाषा २।११५—भाषण या कथन को भाषा कहते है. सुष्ठु आ समन्तात् अधीयते स्वाध्यायः २।१६३—अच्छी तरह अध्ययन करने को स्वाध्याय कहते है

१२ अवति विघ्नाद् ओम् अव्ययम् २।१६४—विघ्नो से रक्षा करने वाला 'ओम्' होता है यह ओम् अव्यय है

१३ न श्रियं लाति—अश्लीलम्—न श्रीरस्यास्तीति वा २।१८०—जिसके आचरण से कल्याण उत्पन्न न हो, उसे अश्लील कहते है



१४ नियतं श्रान्तीन्द्रियाणि अस्यां निद्रा २।२२७—जिसमे निश्चित रूप से इन्द्रियो को श्रान्ति—विश्राम मिले, वह निद्रा है

१५. पण्डते जानाति इति पण्डित, पण्डा बुद्धि. सजाता अस्येति ३।५—जो हिताहित को जानता है अथवा जिसमे विवेक-बुद्धि उत्पन्न हो जाती है, वह पण्डित है

१६ छ्यति छिनत्ति मूर्खदुष्टचित्तानि इति छेक. । विशेषेण मूर्खचित्त दहति इति १७ विदग्ध. ३।७—
जो मूर्ख की मूर्खता को दूर करता है, वह छेक है और जो विशेषरूप से मूर्खता को जलाता है, नष्ट करता है, वह विदग्ध है

१८ वाति गच्छति नरं वामा यद्वा विपरीतलक्षणया शृंगारिखेदनाद्वा ३।१६८—जो नर-पुरुष को प्राप्त हो अथवा विपरीत लक्षणा के द्वारा जो शृगार द्वारा खेद को प्राप्त करे अर्थात् जो काम-सभोगादि मे प्रवीण हो, उसे वामा कहते है

१९. विगतो धवो भर्त्ता अस्या विधवा ३।१९४—जिसके पति का स्वर्गवास हो गया है अथवा जिसके सुख-काम-भोग के दिन व्यतीत हो गये हो, वह विधवा है

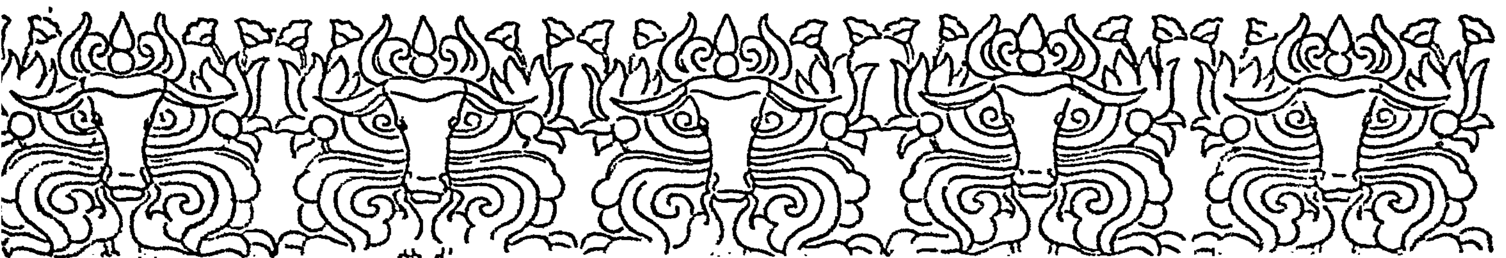
२०. दधते बलिष्ठतां दधि ३।७०—जो वल उत्पन्न करता है अथवा जिस के सेवन से वल प्राप्त होता है, वह दधि है

२१ वेव्यते वेष्ट्यते तृणपर्णादिभिरत्युटजः ४।६०—तिनके और पत्तो से जिसे छाया जाय, वह उटज है

२२ वेश्याऽऽचार्य. पीठमर्द.—वेश्याऽऽचार्यो वेश्यानां नृत्तोभ्याय २।२४४—वेश्या को नृत्त सिखलाने वाला पीठमर्द है नृत्त उस नाच को कहते है, जिसमे नर्तक न गाता है और न वजाता है, केवल मुद्रा-भाव-भगिमाओ के द्वारा नृत्य प्रस्तुत करता है

अनेक पर्यायवाची शब्दो के वनाने का विधान :—आचार्य हेम ने भी धनञ्जय के समान शब्दयोग से अनेक पर्यायवाची शब्दो के वनाने का विधान किया है, किन्तु इस विधान मे उन्ही शब्दो को ग्रहण किया है, जो कविसम्प्रदाय द्वारा प्रचलित और प्रयुक्त हैं जैसे पतिवाचक शब्दो मे कान्ता, प्रियतमा, वधू, प्रणयिनी एव निभा शब्दो को या इनके समान अन्य शब्दो को जोड देने से पत्नी के नाम और कलत्रवाचक शब्दो मे वर, रमण, प्रणयी एव प्रिय शब्दो को या इनके समान अन्य शब्दो को जोड देने से पतिवाचक शब्द वन जाते है गौरी के पर्यायवाची वनाने के लिए शिव शब्द मे उक्त शब्द जोडने पर शिवकान्ता, शिवप्रियतमा, शिववधू एव शिवप्रणयिनी आदि शब्द वनते है. निभा का समानार्थक परिग्रह भी है, किन्तु जिस प्रकार शिवकान्ता शब्द ग्रहण किया जाता है, उस प्रकार शिवपरिग्रह नही यत कविसम्प्रदाय मे यह शब्द ग्रहण नही किया गया है

कलत्रवाची गौरी शब्द मे वर, रमण, प्रभृति शब्द जोडने से गौरीवर, गौरीरमण, गौरीश आदि शिववाचक शब्द वनते हैं जिस प्रकार गौरीवर शब्द शिव का वाचक है, उसी प्रकार गगावर शब्द नही यद्यपि कान्तावाची गगा शब्द मे वर शब्द जोड कर पतिवाची शब्द वन सकता है, तो भी कविसम्प्रदाय मे इस शब्द की प्रसिद्धि न होने से यह शिव के अर्थ मे ग्राह्य नही है आचार्य हेम ने अपनी स्वोपज्ञवृत्ति मे इन समस्त विशेषताओ को वतलाया है अत स्पष्ट है कि "कविरूढ्यासेयोदाहरणावलि" सिद्धान्तवाक्य वहुत ही महत्त्वपूर्ण हे इसके कई सुन्दर निष्कर्ष निकलते है कविसम्प्रदाय को परिगणित करने से अनेक दोषो से रक्षा हो गयी है अतएव शिव के पर्याय कपाली के समानार्थक कपालपाल, कपालधन, कपालभुक् कपालनेता एव कपालपति जैसे अप्रयुक्त और अमान्य शब्दो के ग्रहण से भी रक्षा हो जाती है. यद्यपि व्याकरण द्वारा शब्दो की सिद्धि सर्वथा सभव है, पर कवियो की मान्यता के विपरीत होने से उक्त शब्दो को कपाली के स्थान पर ग्रहण नही किया जा सकता है



जैन संस्कृति और अभिधानचिन्तामणि :—अभिधानचिन्तामणि और धनञ्जनाममाला ऐसे कोष है जिनमे सस्कृति के तत्व वर्तमान है अभिधानचिन्तामणि मे उत्सर्पण और अवसर्पण काल के साथ तीर्थंकरो के वश, माता-पिता के नाम, शासनदेवता, उपासक के नाम एव वर्ण बतलाये गये है. कामदेव के पर्यायवाची, द्वादश चक्रवर्तियो के पर्यायवाची, नौ नारायण और नौ प्रतिनारायणो के पर्यायवाची शब्द सकलित है श्रेणिक और कुमारपाल के पर्यायवाची शब्द भी आये है चालुक्य, राजर्षि, परमार्हत, मृतस्य भोक्ता, धर्मात्मा मारिवारक व्यसनवारक और कुमारपाल ये आठ नाम कुमारपाल के है पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवो के भेद-प्रभेद एव उनके पर्याय सकलित है द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीवो के भेदो और पर्यायो का सकलन जैनागमानुसार किया है रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा धूमप्रभा, तम प्रभा, और महातम प्रभा इन सात नरको मे होने वाली वेदना, एव इन नरको के विलो का वर्णन जैन सिद्धान्तानुसार किया गया है. घनोदधिवातवलय, घनवातवलय एव तनुवातवलय का विवेचन भी इस कोप के नरककाण्ड मे विद्यमान है

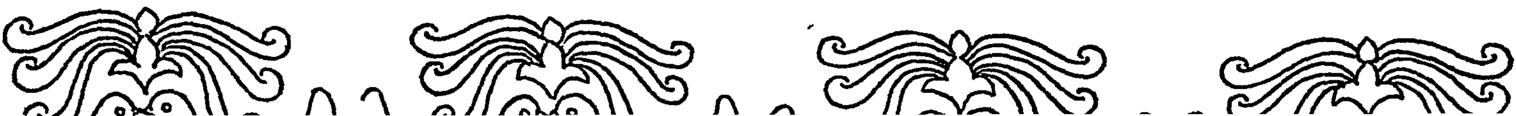
प्रथम देवाधिदेव काण्ड में तीर्थंकरो के विभिन्न अतिशय, आचार्य, उपाध्याय और मुनि के नामो के विवेचन के अनन्तर यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा एव समाधि का विवेचन किया है योग के उक्त अष्टागो की परिभाषाएँ जैनागमानुसार अकित की गयी है

देवकाण्ड में भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी देवो के भेद-प्रभेद और उनके पर्यायवाची शब्द दिये गये हैं. भवनवासी देवो के अन्त मे जुडे हुए कुमार शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है—"**कुमारवदेते कान्तदर्शनाः सुकुमाराः मृदुमधुरललितगतयः शृंगाराभिजातरूपविक्रियाः कुमारवच्चोद्धतवेषभाषाभरणप्रहरणावरणयानवाहना कुमारवच्चोल्वणरागाः क्रीडनपराश्चेत्यतः कुमार इत्युच्यन्ते**". अर्थात्—ये देव कुमार के समान देखने मे सुन्दर, मृदु, मधुर एव ललित गतिवाले, शृगार-सुन्दर रूप एव विकार वाले और कुमार के समान ही उद्धत वेष, भाषा, भूषण, शस्त्र, आभरण, यान तथा वाहन वाले एव क्रीडापरायण होते है अतएव ये कुमार कहे जाते है देवो के निवास का वर्णन करते हुए कहा है—

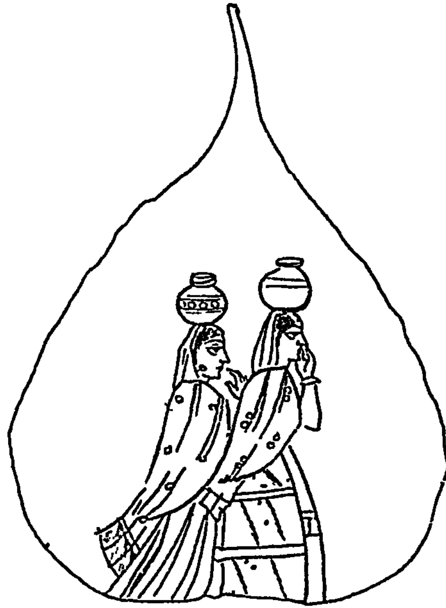
"भवनपतयोऽशीतिसहस्राधिकयोजनलक्षपिंडाया रत्नप्रभायामूर्ध्वमधश्च योजनसहस्रैकैकमपहाय जन्माऽऽसादयति व्यन्तरास्तस्या एवोपरि यत्परित्यक्त योजनसहस्र तस्याध ऊर्ध्वञ्च योजनशतमेकैकमपहाय मध्येऽष्टसु योजनशतेषु जन्म प्रतिलभन्ते ज्योतिष्कास्तु समतलाद् भूभागात् सप्त शतानि नवत्यधिकानि योजनानामारुह्य दशोत्तरयोजनशत-पिण्डे नभोदेशे लोकान्तात् किंचिन्न्यूने जन्म गृह्णन्ति. वैमानिका रज्जुमध्यर्द्धमधिरुह्याऽत सौधर्मादिषु कल्पेपु सर्वार्थसिद्ध-विमानपर्यवसानेषूत्पद्यन्ते".

प्रथम भवनवासी देव एक लाख अस्सी हजार योजन परिमित रत्नप्रभा मे एक-एक हजार योजन छोडकर जन्म ग्रहण करते है व्यन्तरदेव उस रत्नप्रभा के ऊपर छोडे गये एक हजार योजन के ऊपर तथा नीचे एक-एक सौ योजन छोडकर बीचवाले आठसौ योजन मे जन्म ग्रहण करते है ज्योतिष्क देव समतल भूभाग से सात सौ नब्बे योजन पिण्डवाले तथा लोकान्त से कुछ कम आकाश प्रदेश मे जन्म ग्रहण करते हैं और वैमानिक देव डेढ रज्जु चढकर सर्वार्थसिद्धि विमान के अन्त तक सौधर्मादि कल्पो में जन्म ग्रहण करते है अपने-अपने नियत स्थानो मे उत्पन्न भवनवासी आदि देव लवण समुद्र, मन्दिर, पर्वत, वर्षधर एव जगलो मे निवास तो करते है पर उनकी उत्पत्ति पूर्वोक्त नियत स्थानो के अतिरिक्त अन्य स्थानो मे नही होती है. अतएव निकाय शब्द का निवासार्थ या सहार्थ में प्रयोग किया गया है

आचार्य हेम ने जैन आचार-व्यवहार की शब्दावलि को प्रमुखता दी है अणुव्रत, महाव्रत, दशधर्म, ध्यान एव समिति गुप्ति आदि का भी विवेचन किया है इन्होने पानी छानने के छनने के दो नाम लिखे है—नक्तक और कर्पट. स्वोपज्ञ-वृत्ति मे नह्यते शिरसि नक्तक "कीचक" (उणा ३३) इत्यके निपात्यते नक्त भव इति वा, द्रवद्रव्य येन पूयते तत्र रूढोऽय तत्तुल्येऽपि वस्त्रे प्रतीतो वर्तते कल्पते कर्पट. पुक्लीवलिंग. "दिव्यवि" (उणा १४२) इत्यट . अतएव स्पष्ट है कि आचार्य हेम ने जैन सस्कृति की शब्दावलि को बडे सुन्दर और सुव्यवस्थित ढग से इस कोष मे अकित किया है.



उपसंहार :—आचार्य हेमचन्द्र ने अभिधानचिन्तामणि कोष द्वारा सस्कृत कोषसाहित्य को अपूर्व रत्न प्रदान किया है इस कोष का सस्कृति, साहित्य, भाषाविज्ञान एव नवीन शब्दराशि की दृष्टि से अद्वितीय स्थान है सस्कृत के अन्य कोषो मे न तो इतने अधिक शब्द ही मिलते है और न सास्कृतिक शब्दावलि की इतनी स्पष्ट व्याख्याएँ ही की गयी है यह कोष अपार शब्दराशि का प्रयोग करने की दिशा की ओर सकेत करता है हेम ने अपनी अलौकिक प्रतिभा द्वारा इस कोश को इतना सम्पन्न और समृद्ध बनाया है, जिससे अकेले इस कोष को अपने पास रख लेने से शब्द-विषयक सागोपाँग जानकारी प्राप्त की जा सकती है अन्वेषक प्रतिभाओ को इस कोष मे इतनी सामग्री उपलब्ध होगी, जिससे दो-तीन शोध-प्रबन्धो का निर्माण विभिन्न दृष्टियो से सहज मे किया जा सकता है वास्तव मे आचार्य हेम की, सस्कृत कोषसाहित्य को यह अपूर्व देन है आचार्य का गहन तत्त्वस्पर्शी पाण्डित्य एव बहुज्ञता इस कोष के द्वारा सहज मे जानी जा सकती है धन्य है आचार्य हेम और धन्य है उनकी कोषविषयक अपूर्व विद्वत्ता !



आधार मानकर यह चरितकाव्य रचा गया इसके वर्णन, सवाद, दौत्यकर्म, प्रेमोद्रेक, युद्धवर्णन, प्रकृति-चित्रण, रस-सयोजना, अलकार-योजना आदि मे उत्कृष्ट काव्य के तत्त्व विद्यमान है चौदहवी सधि मे चित्रित जलक्रीडा और वसन्त वर्णन काव्य की अनूठी सम्पत्ति है सधि के अत मे लिखा भी है—जल-क्रीडा मे स्वयम्भू को, गोग्रह-कथा मे चतुर्मुख को और मत्स्य-वेधन मे 'भद्र' को आज भी कवि लोग नही पा सकते महाकवि स्वयम्भू के पुत्र त्रिभुवन का यह कथन अक्षरश सत्य प्रतीत होता है समूचा वर्णन पढ कर चित्त खिल जाता है कहा जाता है कि 'पउमचरिउ' की नब्बे सधियो मे से अतिम आठ त्रिभुवन की रचना की है परन्तु पुलिन्दभट्ट की भाति उनकी रचना से काव्य-ग्रथ मे कोई भेद नही लक्षित होता.

रिट्ठणेमिचरिउ—यह भी स्वयम्भू की रचना है इसमें ११२ सधियाँ है इस ग्रथ का प्रमाण १८००० श्लोक कहा जाता है इसमे बाईसवे तीर्थंकर अरिष्टनेमि या नेमिनाथ का चरित तथा जैन-परम्परानुसार कृष्ण और पाण्डवो की कथा वर्णित है. प्रसिद्ध है कि इस काव्य की निन्यानवे सधि के वाद का अश स्वयम्भू के पुत्र त्रिभुवन की रचना है इसी विषय को लेकर गोविन्द, भद्र और चतुर्मुख के अपभ्र श महाकाव्य प्रणयन का उल्लेख मिलता है इन सभी रचनाओ का सवध हरिवशपुराण से है जैन शास्त्रो मे पद्मपुराण और 'हरिवशपुराण' अत्यन्त ख्यातवृत्त है, जिनमे क्रमश. रामायण और महाभारत की मिलती-जुलती कथा प्राप्त होती है हरिवशपुराण का विषय लेकर लिखी जाने वाली रचनाओ मे यश कीर्ति का ३४ सधियो का पौराणिक काव्य पाण्डुपुराण का उल्लेख मिलता है इसका रचना-काल १५२३ ई० कहा गया है[१] हरिवशपुराण के आधार पर रची गई रचनाये अधिक है. धवल कवि का 'हरिवशपुराण' ११२ सन्धियो का काव्य है, जिसका रचना-काल ग्यारहवी सदी के पूर्व माना जाता है रइधू (सिंहसेन) का 'णेमिणाह चरिउ' १६ वी शताब्दी के लगभग की रचना है इसी प्रकार श्रुतकीर्ति का 'हरिवश पुराण' १५५१ ई० का कहा गया है लक्ष्मणदेव का 'णेमिणाह चरिउ' (सवत् १५१० से पूर्व) चार सधियो का है.[२] हरिभद्र के 'णेमिणाह चरिउ' का भी उल्लेख प्राप्त होता है इसी प्रकार अमरकीर्तिगणि के 'णेमिणाह चरिउ' का पता लगा है यश.कीर्ति के हरिवशपुराण का पता लगता है जो १५ वी सदी की रचना है इस परपरा मे अभी अन्य रचनाओ का पता लगाना शेष है क्योकि भारतीय परम्परा मे रामायण और महाभारत की कथायें अत्यन्त लोकप्रिय तथा विविध रूपो मे वर्णित है

'पद्मपुराण' को आधार वनाकर लिखी जाने वाली रचनाओ में केवल रइधू के 'पद्मपुराण' का उल्लेख मिलता है

णायकुमारचरिउ—अपभ्र श के दूसरे महाकवि पुष्पदन्त है उनका णायकुमारचरिउ एक रोमाटिक कथाकाव्य है इसमें नागकुमार के जीवनचरित्र का वर्णन है इसमे वर्णित घटनाये अतिरजित और प्रेमोद्रेकपूर्ण है. कथा का प्रारम्भ स्वाभाविक विधि से हुआ है भाषा सरल तथा प्रवाहपूर्ण है पढते ही रस-धारा बहने लगती है रोमाटिक कथाकाव्य का यह उत्कृष्ट निदर्शन है इसकी रचना सवत् १०२५ के लगभग कही जाती है

जसहरचरिउ—यह रचना भी पुष्पदन्त की है इसे धार्मिक कथाकाव्य कहा जा सकता है वस्तु-सयोजना मे कसावट है. कथानक का विकास नाटकीय ढग से होता है- समूचा कथानक धार्मिक, दार्शनिक उद्देश्यो से भरपूर है आध्यात्मिक सकेत मिलने पर भी—रोमाटिक प्रवृत्ति जागरूक है शैली उत्तम पुरुष मे होने के कारण रचना मे आत्मीय भाव अधिक है प्राय प्रवधकाव्य की सभी साहित्यिक रूढियाँ इस कथाकाव्य मे दृष्टिगोचर होती है कवि ने अपनी रचना को धर्मकथानिवन्ध कहा है कुल मिलाकर यह कथाकाव्य सुन्दर है

महापुराण—महाकवि पुष्पदन्त की यह तीसरी तथा सर्वोत्कृष्ट रचना है इस बृहत्काय ग्रथ मे ६३ महापुरुषो के जीवन-चरित्र का वर्णन है इसका रचनाकाल स० १०१६—१०२२ है इस महापुराण में १०२ सन्धियाँ है इसका प्रमाण

---

१ देखिए—'भारती' पत्रिका अक्टूबर २७, १९५७ में डा० हरिवल्लभ भायाणी का लेख 'स्वयम्भूदेव', पृ० ६२

२ नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५०, अक ३-४, स० २००२, डा० हीरालाल जैन का लेख 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य' पृ० ११९.



६३००० श्लोक कहा जाता है इसकी कुछ सन्धियो मे २९ कडवक है जैन शास्त्रो मे त्रेसठ शलाकापुरुषो का जीवन-चरित्र लिखने की एक परम्परा ही है शीलाचार्य का महापुरुषचरित प्राकृत भाषा मे निबद्ध है इस महापुराण का आधार आचार्य जिनसेन (स० ७८३ के लगभग) कृत आदिपुराण है इसी परम्परा मे आचार्य हेमचन्द्र विरचित त्रिषष्ठिशलाकापुरुष-चरित्र प्राप्त होता है

साहित्यिक दृष्टि से महापुराण का अत्यन्त महत्त्व है इसमे स्थान-स्थान पर कवित्वपूर्ण वर्णन, मधुर सवाद और गीतो की सुकोमल लडिया व्याप्त दिखाई देती है महाकवि ने इन गीतो को 'धवलगीत' की सज्ञा दी है अपभ्रंश साहित्य मे इस कोटि का अन्य कोई ग्रथ नही है. भाषा पूर्ण साहित्यिक है स्वयम्भू की भाषा से पुष्पदन्त की भाषा अधिक परिमार्जित, सुष्ठु और प्रौढ है भाषा-साहित्य की दृष्टि से भी यह अधिक मूल्यवान् है इसके वर्णन इतने सुन्दर है कि पढते ही मुग्ध हो आते है उपमाओ की तो कवि ऐसी झडी लगा देता है कि एक से एक अधिक सुन्दर और सटीक प्रतीत होती है, भाषा की स्वाभाविकता और—निसर्गसिद्ध वर्णन अनुपमेय है कही-कही उच्च कोटि के साहित्यिक गीत भी दृष्टिगत होते है वर्णन अत्यन्त सुन्दर, सजीव और सटीक है

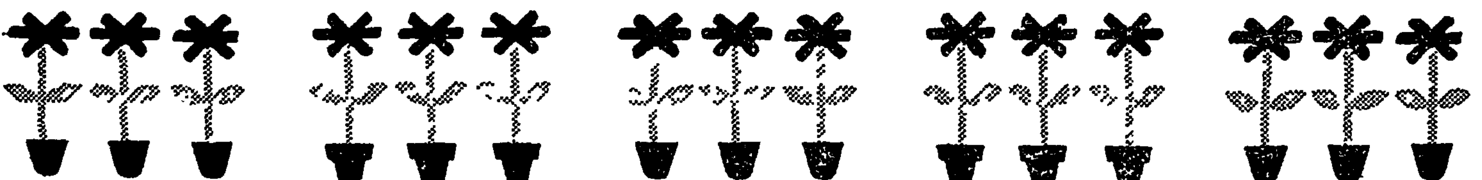
भविसयत्तकहा—प्रसिद्ध कवि धनपाल की यह एक मात्र रचना है इसका समय दसवी शताब्दी कहा जाता है इसके दूसरे नाम भविसयतकहा या सुयपचमीकहा (श्रुतपचमीकथा) है इसमे कार्तिक शुक्ला पचमी (ज्ञानपचमी) के फल-वर्णन स्वरूप भविष्यदत्त की कथा का वर्णन है

आधुनिक युग मे सस्कृत प्राकृत व्याकरण के अध्ययन, मनन तथा अनुसधान के समय डा० पिशेल को (१८८६ के लगभग) पता लगा कि अपभ्रंश भाषा का भी कोई व्याकरण है उन्होने अपभ्रश के व्याकरण का अध्ययन कर 'सिद्ध-हेमशब्दानुशासन' का भी सम्पादन किया परन्तु साहित्य का पता लगाने पर भी जब उन्हे कुछ प्राप्त नही हुआ तब अपभ्रंश के सम्बन्ध मे उनकी यह मान्यता बन गई कि इस भाषा का सम्बन्ध लोक-जीवन से नही रहा, यह रूढ साहित्यिक भाषा मात्र थी परन्तु १९१४ ई० मार्च मे जर्मन विद्वान् प्रो० हरमन जेकोबी (Jacobi of Bonn Germany) ने भारत-यात्रा की और भ्रमणकाल में अहमदाबाद मे किसी वैश्य के पास उक्त रचना प्राप्त कर हर्ष से पुलकित हो उठे स्वदेश लौटकर उन्होने बडे मनोयोग पूर्वक उसका सपादन किया और अपभ्रंश भाषा की महत्ता प्रदर्शित की इसका महत्त्व है कि यह अपभ्रंश का प्रथम प्रकाशित बृहत्काय ग्रथ है इसमे बाईस सन्धिया है डॉ० जेकोबी ने हरिभद्र के नेमिनाथचरित से भविसयतकहा की भाषा की तुलना की है. धनपाल की भाषा मे देशीपन और लचक है कवि ने इस कथा को 'विहि खर्डाहि बावीसहि सन्धिहि' (पृ० १४८) कहकर दो भागो मे विभक्त कही है. परन्तु डा० हर्मन जेकोबी इसे तीन भागो मे मानते है, जो उचित ही है

अपभ्रंश कथा-काव्यो मे भविसयत्तकहा का विशिष्ट स्थान है इसमे वर्णित भविष्यदत्त की कहानी करुण और यथार्थ है. घटनाओ और पात्रो का चित्रण सहृदयता के साथ किया गया है घटनाओ मे कार्य-कारण की सयोजना पूरी तरह से मिलती है. अवान्तर कथा मे भी सतुलन है अवान्तर कथा मुख्यकथा को गतिशील बनाने मे सहायक है इसके साथ ही घटनायें स्वाभाविक और प्रेमानुभूति से अतिरजित है स्थान-स्थान पर उनका सूक्ष्म विश्लेषण प्राप्त होता है समूचे रूप मे कथा स्वाभाविक और सवेदनीय है अनुभूतियो की गहनता पूरी रचना मे व्याप्त है. वह मार्मिक भी है इसीलिए रसात्मकता से ओतप्रोत और स्पृहणीय है

पउमसिरीचरिउ.—दिव्यदृष्टि कवि धाहिल की यह चार सधियो की अकेली रचना उपलब्ध है इस चरितकाव्य का रचनाकाल ११ वी सदी का मध्यभाग कहा जा सकता है इसमे पद्मश्री का जीवन-चरित वर्णित है इसकी कथावस्तु का आधार पारिवारिक घटनाएँ है दो अलौकिक घटनाओ और अवान्तर कथाओ से इसकी वस्तु-योजना बनी है फिर भी कथावस्तु स्वाभाविक है इस पर सामाजिक स्थिति की पूरी छाप है जीवन की व्यावहारिकता मानो इस काव्य मे सजीव हो उठी है रचना का उद्देश्य कथा के माध्यम से धर्म की ओर प्रेरित करना है

करकंडुचरिउ :—मुनि कनकामर की यह प्रसिद्ध रचना है मुख्य रूप से यह रोमाटिक चरितकाव्य है इसमे दस



सन्धियो मे राजा करकडु की कथा है यह जैन साहित्य की प्रसिद्ध कथा कही जाती है इसमे धर्म और प्रेम साथ ही दृष्टिगोचर होता है युद्ध का वर्णन भी है, पर वह नाम मात्र का है वर्णन की अपेक्षा कथाओ की योजना स्वाभाविक है इस काव्य मे इतिवृत्तात्मकता के साथ सग्रहात्मकता भी है परन्तु इतिवृत्तात्मकता का निर्वाह पूर्णरूप से नही हो पाया श्रोता-वक्ता शैली को छोडकर पौराणिक काव्य की शेप रूढियो का पालन हुआ है आगे चलकर मूलकथा की गति मे अवरोध दिखाई देता है इसके सवाद अवश्य उत्तम हैं. इस पर कुछ नाटकीय प्रभाव भी लक्षित होता है

जम्बूस्वामीचरिउ .—वीर कवि की यह कृति वि० स० १०७६ की कही जाती है इस चरितकाव्य मे अतिम केवली जम्बू स्वामी के चरित का वर्णन है इसका उल्लेख डॉ० हरिवंश कोछड ने अपने प्रबन्ध 'अपभ्र श साहित्य' मे किया है. ऐसे अन्य भी अप्रकाशित चरित-काव्य है

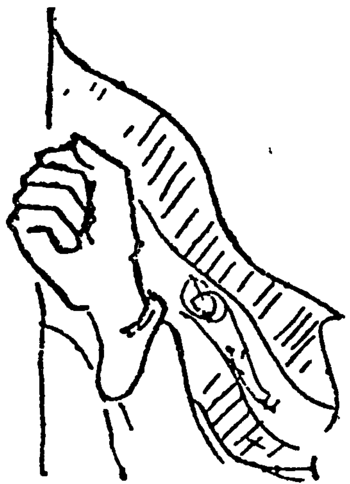
सुदसणचरिउ:—यह नयनन्दी कविकृत चरितकाव्य है इसका रचनाकाल वि० स० ११०० कहा गया है. इसमे सुदर्शन के चरित के माध्यम से पचनमस्कार मत्र का माहात्म्य वर्णित है

पासचरिउ :—यह पद्मकीर्ति की सफल कृति है इसका उल्लेख अन्यत्र भी मिलता है इसमे तेवीसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जीवनचरित कहा गया है काव्यका रचना-काल वि० सवत् ११३४ बताया जाता है बारहवी शताब्दी के अनेक चरित-काव्यो का उल्लेख मिलता है उनमे से कुछ इस प्रकार है—देवसेनगणि का सुलोयणाचरिउ इसमे भरत चक्रवर्ती के प्रधान सेनापति जयकुमार की धर्मपत्नी का जीवन-चरित वर्णित है श्रीधर के पासणाहचरिउ, सुकुमाल चरिउ और भविसयतचरिउ का उल्लेख प्राप्त होता है, जिनमे क्रमश पार्श्वनाथ चरित, सुकुमाल का पूर्व जन्म और श्रुतपचमी का माहात्म्य वर्णित है.

तेरहवी सदी के चरितकाव्यो मे सिंह कवि का पज्जुण्णचरिउ है जिसमे प्रद्युम्न का जीवन-चरित चित्रित है हरिभद्र का सनत्कुमारचरित और रइधू के सुकौशलचरित, मेघेश्वरचरित, श्रीपालचरित, सन्मतिनाथचरित है और हरिदेव का मयणपराजयचरिउ चरितकाव्यो मे गिने जाते हैं इस काल मे रचित काव्यो की एक लम्बी परपरा ही दिखाई देती है आगे चलकर पद्रहवी सदी मे धनपाल के बाहुबलिचरित और लखनदेव के णेमिणाहचरिउ का उल्लेख मिलता है

इस प्रकार अपभ्र श जैन साहित्य मे चरितकाव्यो की विशिष्ट परपरा है पुराणकाव्यो की सख्या भी कम नही है स्थूल रूप से दोनो मे स्वरूप और लक्ष्य की दृष्टि का ही भेद है, मुक्तक काव्य मे भी यही बात है मुक्तक रचनाकारो मे जोइन्दु (योगीन्द्र) का स्थान श्रेष्ठ माना जाता है. इसकी चार रचनायें है—परमात्मप्रकाश, योगसार, दोहाप्राभृत और श्रावक-धर्म-दोहा कवि का समय दसवी शताब्दी माना गया है इसके अतिरिक्त जिनदत्त सूरि की चर्चरी, कालस्वरूप कुलक, और उपदेशरसायन प्रसिद्ध रचनाये है इनका समय बारहवी सदी कहा जाता है. शालिभद्रसूरि का 'भारत बाहुबली रास' तेरहवी सदी के रासक ग्रथो मे सबसे बडी रचना कही गई है इसमे भरत-बाहुबली के युद्ध का विस्तृत वर्णन है रचना अनेक वर्षो मे लिखी गई है परवर्ती रासग्रथो में इसी तरह के 'समरारास' 'कच्छुलीरास' पेथडरास आदि रचनाये लिखी गई फागु ग्रथ भी रचे गये श्री जिनपद्म सूरिका 'सिरि थूलिभद्द फागु' प्रसिद्ध रचना है. इसके वर्णन अत्यन्त मनोहर हैं शब्द-विन्यास बहुत ही उत्तम है दोहो मे आचार्य हेमचन्द्र के 'सिद्ध हेमशब्दानुशासन' मे शृगार, वीर, नीति, अन्योक्ति तथा अन्य प्रकीर्णक दोहे भी उपलब्ध होते है छदो के परिचय के लिए स्वयम्भू का 'स्वयम्भूछद' प्रसिद्ध रचना है

सक्षेप मे—अपभ्रश जैन साहित्य विपुल और विशद है इसमे महाकाव्य, पुराण, चरितकाव्य, कथाकाव्य, गीत, उपदेश, शृगार सभी कुछ प्राप्त होता है गद्य अवश्य नही के बराबर है ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय साहित्य और भाषा के मूल्याकन के लिए यह साहित्य पूरक है इस साहित्य के विना समूचा ऐतिहासिक मूल्याकन अपूर्ण ही रहेगा इस साहित्य मे भारतीय जीवन का पूरा चित्र अपनी स्वाभाविक दशा मे प्रतिबिम्बित हुआ है इसलिए इसका महत्त्व और भी अधिक बढ गया है आशा है कि भविष्य मे अन्य शोध-कार्यो से इस सम्बन्ध मे विस्तृत जानकारी प्राप्त हो सकेगी



मुनि श्रीकन्हैयालालजी 'कमल' न्यायतीर्थ

आगम-साहित्य का पर्यालोचन

आगमसाहित्य का महत्त्व

आगमसाहित्य भारतीय साहित्य का प्राण तो है ही, आध्यात्मिक जीवन की जन्मभूमि एव आर्य सस्कृति का मूल्यवान् कोश भी है.

विश्व के समस्त पंथ, मत या सम्प्रदायो के अपने-अपने आगम है. इनमे जैनागम साहित्य अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है जर्मनी के डा० हर्मन जेकोबी, डा० शुब्रिंग' आदि अनेक प्रसिद्ध विदेशी विद्वानो ने जैनागमो का अध्ययन करके विश्व को यह बता दिया कि अहिंसा, अनेकान्त, अपरिग्रह एव सर्वधर्मसमन्वय के चिंतन-मनन से परिपूर्ण एव आध्यात्मिक जीवन से आलोकित आगम यदि विश्व मे है तो केवल जैनागम है

आगमशब्द की व्याख्या—आ-उपसर्ग और गम् धातु से आगम शब्द की रचना हुई है आ-उपसर्ग का अर्थ 'समन्तात्' अर्थात् पूर्ण है, गम्-धातु का अर्थ गति—प्राप्ति है

आगम शब्द की व्युत्पत्ति—जिससे वस्तुतत्त्व [पदार्थरहस्य] का पूर्ण ज्ञान हो वह आगम है[1] जिससे पदार्थो का यथार्थ ज्ञान हो वह आगम है[2] जिससे पदार्थो का मर्यादित ज्ञान हो वह आगम है[3] आप्तवचन से उत्पन्न अर्थ [पदार्थ] ज्ञान आगम कहा जाता है उपचार से आप्त वचन भी आगम माना जाता है

अंग आगम वीतरागवाणी है

जैनागमो [अगो] मे वीतराग भगवान् की वाणी है वीतरागता का अर्थ है रागरहित आत्मदशा जहा द्वेष वहा राग है जहा राग नही वहा द्वेष भी नही क्योकि राग और द्वेष अविनाभावी हैं किंतु इनकी व्याप्ति अग्नि और धूम की तरह की व्याप्ति है अत जहा राग है वहा द्वेष होता ही है जहा राग हो वहा द्वेष कभी नही भी होता है, इसलिए सर्वत्र 'वीतराग' शब्द का ही प्रयोग हुआ है वीतद्वेष शब्द का नही

सराग दशा रागद्वेष से युक्त आत्मदशा है, मायापूर्वक मृषा भाषण इस दशा मे ही होता है, इसलिए सरागदशा का कथन सर्वथा प्रामाणिक नही होता जैनागमो की प्रामाणिकता का मूलाधार यही है यद्यपि अग आगमो का अधिकाश भाग नष्ट हो गया है और जो है उसमे कतिपय अश पूर्ति रूप हैं, परिवर्धित है, फिर भी उसमे वीतरागवाणी सुरक्षित है. जो पूर्ति रूप है, परिवर्धित है वह भी वीतराग वाणी से विपरीत नही है

---

१ आ-समन्ताद् गम्यते वस्तुतत्त्वमनेनेत्यागम

२ आगम्यन्ते मर्यादयाऽवबुद्ध्यन्तेऽर्था अनेनेत्यागम

३ आ-अभिविधिना सकलश्रुतविषयव्याप्तिरूपेण, मर्यादया वा यथावस्थितप्ररूपणारूपया गम्यन्ते—परिच्छिद्यन्ते अर्था येन स आगमः

४ आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसवेदनमागम उपचारादाप्त वचनं च



आगमों की भाषा

जैनागमो की भाषा अर्धमागधी के सम्बन्ध में दो विकल्प प्रसिद्ध हैं—

अर्धं मागध्याः—अर्थात् जिसका अर्धांश मागधी का हो वह अर्धमागधी कहलाती है, जिस भाषा मे आधे शब्द मगध के और आधे शब्द अठारह देशी भाषाओ के मिश्रित हो

अर्धं मगधस्य—अर्थात्—मगध के आधे प्रदेश की भाषा. वर्तमान मे उपलब्ध सभी आगमो की भाषा अर्धमागधी है, यह श्रमणपरम्परा की परम्परागत धारणा है, किंतु आधुनिक भाषाविज्ञान की दृष्टि से आगमो की भाषा के सम्बन्ध मे अन्वेषण आवश्यक है.

भाषा की दृष्टि से अन्वेषणीय आगमांशः—[१] आचाराग प्रथम श्रुतस्कध और सभी शेष आगमो की भाषा. [२] प्रश्नव्याकरण और ज्ञाताधर्म कथा. [३] रायपसेणिय का सूर्याभवर्णन [४] जीवाभिगम का विजयदेववर्णन [५] उत्तराध्ययन और सूत्रकृताग का पद्यविभाग. [६] आचाराग द्वितीय श्रुतस्कंध और छेदसूत्रो की भाषा.

आगमों की अर्धमागधी भाषा ही आर्यभाषा है

प्रज्ञापना के अनुसार जो अर्धमागधी भाषा बोलता है वह भाषा-आर्य है अर्थात् केवल भाषा की दृष्टि से आर्य है. म्लेच्छ होते हुए भी जो अर्धमागधी बोलता है वह भाषा-आर्य है जिस प्रकार एक भारतीय अग्रेजी खूब अच्छी तरह बोल लेता है वह जन्मजात भारतीय होते हुए भी भाषा—अग्रेज है और जो अग्रेज हिन्दी अच्छी तरह बोल लेता है वह जन्मजात अग्रेज होते हुये भी भाषा-भारतीय है प्रज्ञापना के कथन का यह अभिप्राय हो जाता है कि आर्यो की भाषा अर्धमागधी भाषा ही है

आर्यदेश साडे पच्चीस है उनमे आर्य अधिक हैं. वे यदि अर्धमागधीभाषा बोले अथवा [वर्तमान-अग्रेजी भाषा की तरह] अर्धदेशो में अर्धमागधी भाषा का सर्वत्र व्यापक प्रचार व प्रसार रहा हो और वही राजभाषा रही हो तो प्रज्ञापना के इस कथन की सगति हो सकती है.

क्या सभी तीर्थंकर अर्धमागधी भाषा में ही देशना देते थे ?

भगवान् महावीर मगध के जिस प्रदेश मे पैदा हुये और बडे हुये उस प्रदेश की भाषा[1] [अर्धमागधी] में भगवान् ने उपदेश दिया किंतु शेष तीर्थंकर भारत के विभिन्न भागो के थे, वे सब ही अपने प्रान्त की भाषा मे उपदेश न करके केवल अर्धमागधी भाषा मे ही प्रवचन करते थे, यह मानना कहाँ तक तर्कसगत है, यह विचारणीय है.

भगवान् ऋषभदेव से भगवान् महावीर तक [४२ हजार वर्ष कम कोडाकोडी सागरोपम] की इस लम्बी अवधि मे मगधी भाषा मे कोई परिवर्तन हुआ या नही ? जब कि भगवान् महावीर के निर्वाण के काल के पश्चात् केवल २४०० वर्ष की अवधि में मगध की भाषा में कितना मौलिक परिवर्तन हो गया है ?

आगमों के प्रति अगाध श्रद्धा

आगमसाहित्य ऐसा साहित्य है जिस पर मानव की अटल एव अविचल श्रद्धा चिर काल से रही है, और रहेगी मानव

---

१. सव्वभासाणुगामिणीए सरस्सइए जोयणणीहारिणा सरेणं,अद्धमागहाए भासाए धम्मं परिकहेइ. तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं अगिलाए धम्ममाइक्खइ, साऽवि य णं अद्धमागहा भासा, तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं अप्पणो सभासाए परिणामेणं परिणमइ. —औपपातिक,

सभी भाषाओं में परिणत होने वाली सरस्वती के द्वारा एक योजन तक पहुंचने वाले स्वर से, अर्ध मागधी भाषा में धर्म को पूर्ण रूप से कहा, उन सभी आर्य-अनार्यो को अग्लानि से (तीर्थंकर नामकर्म के उदय से अनायास-विना थकावट के) धर्म कहा. वह अर्धमागधी भाषा भी उन सभी आर्यो-अनार्यो की अपनी अपनी स्वभाषा में परिवर्तित हो जाती थी.



की इस श्रद्धा का केन्द्रबिंदु है आगमो की प्रामाणिकता अतएव जैन और जैनेतर दार्शनिको ने आगम को सर्वोपरि प्रमाण माना है

विभिन्न परम्पराओ में आगम—वैदिक परम्परा वेदो को आगम मानती है वेद शब्द का अर्थ ज्ञान है, ज्ञान स्वय प्रकाशमान है, ज्ञान की सत्ता अखण्ड है, अतएव ज्ञान का निर्माण किसी पुरुषविशेष के द्वारा नही हो सकता ईश्वर भी ज्ञान का कर्त्ता नही हो सकता, क्योकि वह तो स्वय ज्ञानस्वरूप है अभिप्राय यह है कि ज्ञान साधन है, साध्य नही अपितु स्वय सिद्ध है. इसलिए वेद अपौरुषेय है. जैन दार्शनिको ने वेदो की अपौरुषेयता और नित्यता का निषेध किया है वह उसके शाब्दिक रूप को लेकर ही समझना चाहिए शब्दरचना कोई अनादि नही हो सकती है

जैन आगमो के समान वेदो के कुछ प्रमुख विषयविभाग हैं, जिन्हे जैन भापा मे अनुयोग-विभाग कहा जा सकता है, यथा—ऋग्वेद ज्ञानकाण्ड, यजुर्वेद कर्मकाण्ड, सामवेद—उपासनाकाण्ड और अथर्ववेद-विज्ञानकाण्ड है

'अगानि चतुरो वेदा' चारो वेद अग है इनके उपाग शतपथ ब्राह्मण आदि ब्राह्मण ग्रथ,है जैनागमो के समान वैदिक परम्परा मे भी अगोपाग माने गये हैं भगवती शतक २ उद्देशक १ मे स्कदक परिव्राजक के वर्णन मे लिखा है कि 'चउण्हं वेदाण सगोवगाण,' स्कदक परिव्राजक सागोपाग चारो वेदो का ज्ञाता था. अग उपाग में साहित्य को विभाजित करने की पद्धति इतनी पुरानी है कि उसका इतिहास प्रस्तुत नही किया जा सकता

श्रुतपुरुप की तरह वेदपुरुष की कल्पना भी अति प्राचीन है यथा—

छन्दः पादौ तु वेदस्य, हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयन चक्षुः, निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।
शिक्षा घ्राणं च वेदस्य, मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात्सांगमधीत्यैव, ब्रह्मलोके महीयते। —पाणिनीय शिक्षा

बौद्ध परम्परा त्रिपिटको को आगम मानती है. पिटक पेटी को कहते है तीन पिटक अर्थात् तीन पेटिया विनयपिटक [आचारशास्त्र], सुत्तपिटक [बुद्ध के उपदेश] और अभिधम्मपिटक [तत्त्वज्ञान] पिटक साहित्य विशाल साहित्य है बिहार राज्य के पालीप्रकाशनमण्डल ने देवनागरी लिपि मे तीनो पिटको का ४० जिल्दो मे प्रकाशन किया है

अतिम बुद्ध गौतम बुद्ध ने और उनके पूर्ववर्ती अनेक बुद्धो ने जो कहा है उसी का इन पिटको मे सकलन है

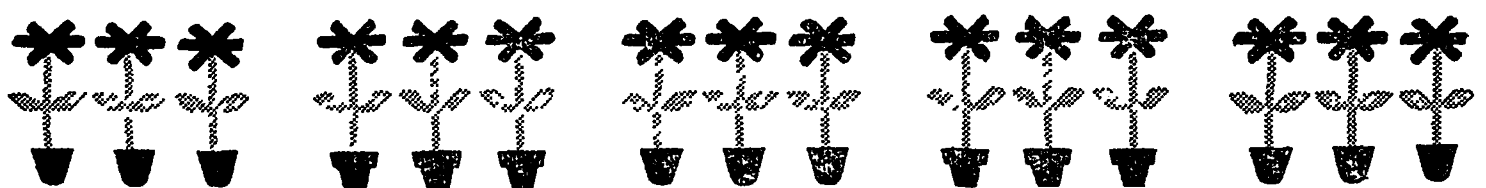
कपिलवस्तु नाम का नगर बुद्ध की जन्मभूमि है उस युग मे वहा की जनभापा पाली रही होगी. उस भाषा मे बुद्ध ने उपदेश दिया और त्रिपिटिको की रचना भी उसी भापा मे हुई है

जैनपरम्परा के आगम द्वादशाग गणिपिटक [आचार्य की ज्ञानमजूषा] है यह गणिपिटक ध्रुव, नित्य एव शाश्वत है इसकी नित्यता शब्दो की अपेक्षा से नही अपितु अर्थ [भाव] की अपेक्षा से है और वह भी महाविदेश क्षेत्र की अपेक्षा से है जो नित्य होता है वह अपौरुषेय है शाश्वत सत्य कभी पौरुपेय नही होता है पुन तीर्थंकर होते है और उस तिरोहित तथ्य को व्यक्त करते हैं यह क्रम अनादि काल से चल रहा है एव अनन्तकाल तक चलता रहेगा

आगमो की अधिकतम संख्या

भगवान् ऋषभदेव के समय मे अगोपागादि के अतिरिक्त चौरासी हजार प्रकीर्णक थे भगवान् अजितनाथ से भगवान् पार्श्वनाथ पर्यन्त प्रत्येक तीर्थंकर के समय मे सख्येय हजार प्रकीर्णक थे भगवान् महावीर के समय मे १४ हजार प्रकीर्णक थे

श्री देवर्धिगणी क्षमाश्रमण के समय मे आगमो की अधिकतर सख्या ८४ रह गई थी, वर्तमान मे केवल ४५ आगम उपलब्ध है, शेष सभी आगम विलुप्त हो गये है नन्दीसूत्र मे ८४ आगमो के नाम इस प्रकार है



द्वादशांगों के नाम

१ आचाराग, २. सूत्रकृताग, ३. स्थानाग, ४ समवायाग, ५. भगवतीसूत्र,[1] ६ ज्ञाताधर्मकथा, ७. उपासकदशा ८ अतकृत्दशा, ९. अणुत्तरोपपातिक दशा, १०. प्रश्नव्याकरण, ११. विपाक श्रुत, १२. दृष्टिवाद[2] (विलुप्त है).

द्वादश उपांगों के नाम

[१] औपपातिक, [२] राजप्रश्नीय, [३] जीवाभिगम, [४] प्रज्ञापना, [५] सूर्य प्रज्ञप्ति, [६] चन्द्र प्रज्ञप्ति, [७] जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, [८] (निरयावलिका) कल्पिका, [९] कल्पावतसिका, [१०] पुष्पिका, [११] पुष्प चूलिका, [१२] वृष्णि दशा.

पाँच मूल सूत्रों के नाम

[१] दशवैकालिक, [२] उत्तराध्ययन, [३] नन्दीसूत्र,[3] [४] अनुयोग द्वार सूत्र, [५] आवश्यक सूत्र

छह छेद सूत्रो के नाम

[१] बृहत्कल्प, [२] व्यवहार, [३] दशाश्रुत स्कध, [४] निशीथ, [५] महानिशीथ,[4] [६] पचकल्प

प्रकीर्णकों के नाम

[१] चतु शरण, [२] आतुर प्रत्याख्यान, [३] भक्त परिज्ञा, [४] सस्तारक, [५] तदुल वैचारिक, [६] चद्रवैध्यक [७] देवेन्द्रस्तव, [८] गणिविद्या, [९] महा प्रत्याख्यान, [१०] वीरस्तव, [११] अजीवकल्प, [१२] गच्छाचार [१३] मरणसमाधि, [१४] सिद्ध प्राभृत, [१५[तीर्थोद्गार, [१६] आराधनापताका, [१७] द्वीपसागर प्रज्ञप्ति, [१८] ज्योतिष करडक, [१९] अगविद्या, [२०] तिथि प्रकीर्णक, [२१] पिंड निर्युक्ति, [२२] सारावली, [२३] पर्यन्ताराधना, [२४] जीवविभक्ति, [२५] कवच, [२६] योनि प्राभृत, [२७] अगचूलिका, [२८] बग चूलिका, [२९[वृद्धचतु शरण, [३०] जम्बूपयन्ना

निर्युक्तियो के नाम

१ आवश्यक, २ दशवैकालिक, ३ उत्तराध्ययन, ४ आचाराग, ५ सूत्रकृताग, ६ बृहत्कल्प, ७ व्यवहार, ८ दशाश्रुतस्कध, ९ कल्पसूत्र, १० पिण्ड, ११ ओघ १२ ससक्त[5]

शेष सूत्रो के नाम

१ कल्पसूत्र, २ यति-जीत कल्प, ३ श्राद्ध-जीत कल्प' ४ पाक्षिक सूत्र, ५ खामणा सूत्र, ६ वदित्तु सूत्र, ७ ऋषिभाषित सूत्र

वर्गीकरण—नन्दीसूत्र मे ८४ आगमो का वर्गीकरण इस प्रकार है

कालिक ३७, उत्कालिक २९, अग १२, दशा ५, आवश्यक १

वर्तमान मे उपलब्ध ४५ आगमो के नाम :

---

१ समवायाग-नन्दी सूत्रमें भगवती सूत्र का 'वियाह' नाम दिया है वियाह का सस्कृत 'व्याख्या' होता है अनेक आगमों में 'जहा पण्णत्तीए' से भगवती सूत्र का 'पन्नत्ति' यह सक्षिप्त नाम सूचित किया है. भगवती सूत्र का वास्तविक नाम 'वियाहपण्णत्ति' है. टीकाकार इसका सस्कृत नाम 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' देते हैं. 'भगवती सूत्र' यह नाम केवल महत्ता (पूज्यता) सूचक है, वास्तविक नहीं, किन्तु जनसाधारण में यही नाम अधिक प्रसिद्ध है

२ वर्तमान में दृष्टिवाद के विलुप्त होने पर उसके स्थान में विशेषावश्यक भाष्य का नाम मिलाकर ८४ सख्या की पूर्ति कर ली गई है

३ नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वार सूत्र को चूलिका सूत्र भी कहते हैं.

४ छठा छेद सूत्र 'पचकल्प' इस समय विलुप्त है

५ सूर्यप्रज्ञप्ति-निर्युक्ति और ऋषिभाषित निर्युक्ति वर्तमान में उपलब्ध नहीं है.



अग ११, उपाग १२, मूल ४, छेद सूत्र ६, प्रकीर्णक १०, चूलिका सूत्र २

दिगम्बर परम्परा के आचार्य वर्तमान मे उक्त ८४ आगमो को विलुप्त मानते है. श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य उपलब्ध ४५ आगमो के अतिरिक्त शेष आगमो को विलुप्त मानते है

स्थानकवासी और तेरहपथी परम्परा के आचार्य केवल ३२ आगमो को ही प्रामाणिक मानते है इनका माना हुआ क्रम इस प्रकार है

११ अग, १२ उपाग, ४ मूल सूत्र, ४ छेदसूत्र १ आवश्यक=योग ३२

द्वादशांगों के पद

सूत्र के जितने अश से अर्थ का वोध होता है उतना अश एक पद होता है[1] यहा द्वादशागो के पदो की सख्या समवायाग और नन्दी सूत्र के अनुसार उद्धृत की गई है

शास्त्र का नाम	पदपरिमाण
१ आचारांग[2]	१८ हजार
२ सूत्रकृताग[3]	३६ हजार
३ स्थानाग	७२ हजार
४ समवायाग	१ लाख ४४ हजार
५ भगवतीसूत्र[4]	२ लाख ८८ हजार
६ ज्ञाताधर्मकथा[5]	५ लाख ७६ हजार
७ उपासकदशा[6]	११ लाख ५२ हजार
८ अन्तकृद्दशा	२३ लाख ४४ हजार
९ अनुत्तरोपपातिक	४६ लाख ८ हजार
१०. प्रश्नव्याकरण	९२ लाख १६ हजार
११. विपाकश्रुत[7]	१ करोडे ८४ लाख ३२ हजार
१२ दृष्टिवाद[8]	——

१. यत्राऽर्थोपलब्धिस्तत्पदम्—नन्दी० टीका

२. समवायाग और नन्दी सूत्र के अनुसार आचाराग के दोनों श्रुतस्कन्धों के १८ हजार पद है किन्तु आचाराग निर्युक्ति में केवल ९ अध्ययनों के ही १८ हजार पद माने हैं पिंडैषणा, सप्तसप्तिका भावना एव निर्युक्ति, इन चार चूलिकाओं के पद मिलाने से पदों की सख्या वहु (अधिक) होती है और निशीथ चूलिका के पद मिलाने से वहुतर (अत्यधिक) सख्या होती है.

३ पूर्व अगों से उत्तर उत्तर अगों में दुगुने पद होते है—'पदपरिमाण च पूर्वस्मात् अगात् उत्तरस्मिन् उत्तरस्मिन् अगे द्विगुणमवसेयम्—नन्दी टीका सूत्रकृतागनिर्युक्ति में भी ऐसा ही उल्लेख है

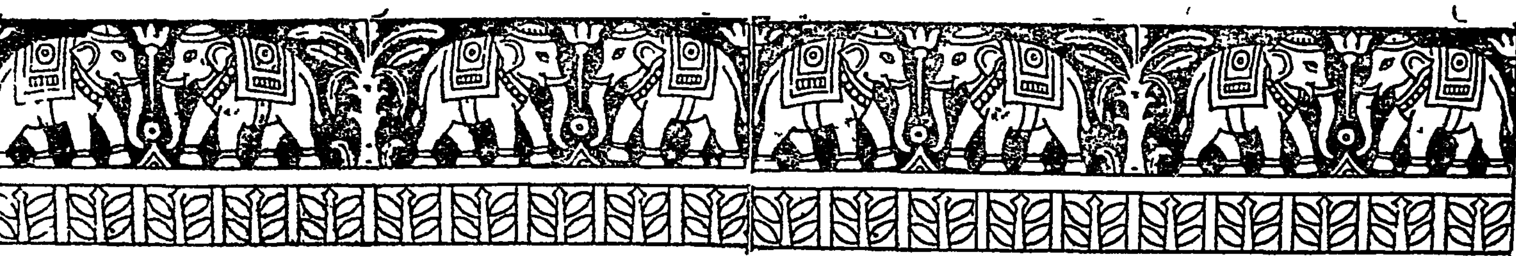
४ समवायाग के अनुसार भगवती सूत्र के केवल १८ हजार पद ही है. भगवती सूत्र में भी इतने ही पद लिखे है यथा—गा० चुलसीय सयसहस्सा, पयाण पवरवरणाणदंसीहिं, भावाभावमणन्ता पन्नत्ता एत्थमगमि सभव है नदी सूत्र में विस्तृत वाचना के पदों की सख्या का उल्लेख हुआ होगा

५ ज्ञाता धर्मकथा के ५ लाख ७६ हजार पद है, किन्तु समवायाग और नन्दी सूत्र में सख्येय हजार पदों का ही उल्लेख है.

६ उपासकदशा के पदों का परिमाण देखते हुए ऐसा अनुमान होता है कि इतना वडा उपासकदशा सूत्र भ० महावीर के पहिले कभी रहा होगा, क्योंकि नन्दी और समवायाग के अनुसार भ० महावीर के दश प्रमुख श्रावकों का वर्णन तो विद्यमान उपासक दशा में है, फिर कौन से अन्य श्रावकों का वर्णन इसमें था—जिनके वर्णन में इतने पदों का यह विशाल आगम भ० महावीर के काल मे रहा ?

७ विपाकश्रुत के १ करोड ८४ लाख ३२ हजार पद है किन्तु समवायाग और नन्दी सूत्र में सख्येय लाख पदों का ही उल्लेख है

८. दृष्टिवाद (१४ पूर्वो) के करोडों पद है किन्तु समवायाग और नन्दी सूत्र में सख्येय हजार पदों का ही उल्लेख है यथा—सखेज्जाइ पयसहस्साइ पयग्गेण—सम—नन्दी० मूल



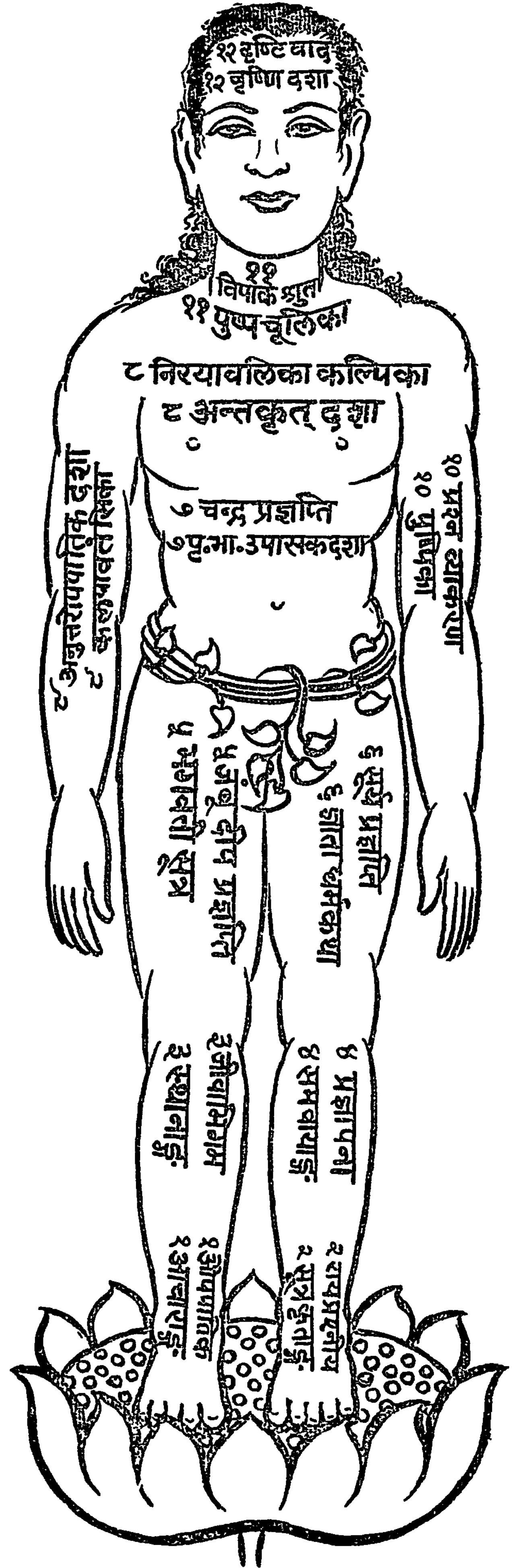
चौदह पूर्वो के नाम	पदपरिमाण
१ उत्पाद पूर्व	१ करोड
२. अग्रणीय ,,	९६ लाख
३ वीर्य ,,	७० लाख
४. अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्व	६० लाख
५ ज्ञानप्रवाद पूर्व	९९ लाख ९९ हजार ९९९
६ सत्यप्रवाद "	१ करोड ६
७. आत्मप्रवाद "	२६ करोड
८ कर्मप्रवाद "	१ करोड ८० हजार
९. प्रत्याख्यानप्रवाद पूर्व	८४ लाख
१० विद्यानुप्रवाद "	१ करोड १० लाख
११. अवध्य "	२६ करोड़
१२ प्राणायु "	१ करोड़ ५६ लाख
१३. क्रियाविशाल "	९ करोड
१४. लोकविन्दुसार "	१२½ करोड

शेप आगमो (उपाग, छेद, मूल, और प्रकीर्णको) के पदो की सख्या का उल्लेख किसी आगम मे नही मिलता.

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के पद[1] ३०५००० थे. चन्द्रप्रज्ञप्ति के पद ५५०००० थे सूर्यप्रज्ञप्ति के पद ३५०००० थे.

नदीसूत्र की चूर्णि मे द्वादशाग श्रुत को पुरुष रूप में चित्रित किया है जिस प्रकार पुरुष के हाथ पैर आदि प्रमुख अग होते है, उसी प्रकार पुरुष के रूप मे श्रुत के अगो की कल्पना पूर्वाचार्यो ने प्रस्तुत की है—

आचाराग और सूत्रकृताग श्रुत-पुरुष के दो पैर
स्थानाग और समवायाग पिंडलियाँ
भगवती सूत्र और ज्ञाताधर्मकथा दो जँघाये है
उपासकदशा पृष्ठ भाग
अतकृद्दशा दशा अग्रभाग (उदर आदि)
अनुत्तरोपपातिक और प्रश्नव्याकरण दो हाथ
विपाकश्रुत ग्रीवा और
दृष्टिवाद मस्तक है (देखिए चित्र)



द्वादश उपागो की रचना के पश्चात् श्रुत-पुरुष के प्रत्येक अग के साथ एक-एक उपागकी कल्पना भी प्रचलित

---

[1] केवल इन तीन उपाङ्गों के पदों का उल्लेख स्व० आचार्य श्रीअमोलक ऋषिजी महाराज ने जैन तत्त्व प्रकाश (सस्करण ८वें मे) में किया है किन्तु चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति के पदों मे इतना अन्तर क्यों है ?

होगई. यहाँ पहले अग का और उसके सामने उसके उपाग का उल्लेख किया जाता है—

१ आचारांग	औपपातिक सूत्र
२ सूत्रकृतांग	राजप्रश्नीय
३ स्थानाग	जीवाभिगम
४ समवयाग	प्रज्ञापना
५ भगवती सूत्र	जवूद्वीप प्रज्ञप्ति
६ ज्ञाताधर्मकथा	सूर्यप्रज्ञप्ति
७ उपासकदशा	चन्द्र प्रज्ञति
८ अतकृद्दशा	निरयावलिका कल्पिका
९ अनुत्तरोपपातिकदशा	कल्पावतसिका
१० प्रश्न व्याकरण	पुष्पिका
११ विपाकश्रुत	पुष्पचूलिका
१२ दृष्टिवाद	वृष्णिदशा

श्रुत-पुरुष की कल्पना एक अति सुन्दर कल्पना है प्राचीन भण्डारो मे श्रुतपुरुष के हस्तलिखित कल्पनाचित्र अनेक उपलब्ध होते है मानव-शरीर के अग-उपागो की सख्या के सम्बन्ध मे आचार्यों के अनेक मत है, किन्तु यहाँ श्रुतपुरुष के वारह अग और वारह उपाग ही माने गये है

स्थानाग और समवायाग आगम पुरुष की दो जाघे (पिण्डलिया) है जीवाभिगम और प्रज्ञापना ये दोनो इनके उपाग है. किन्तु जाँघो के उपाग पुरुष की आकृति मे कौन से है ? इसी प्रकार उरू, उदर, पृष्ठ और ग्रीवा के उपाग कौन से है ? क्योकि शरीर-शास्त्र मे पैरो की अगुलियाँ पैरो के उपाग है इसी प्रकार हाथो के उपाग हाथो की अगुलियाँ, मस्तक के उपाग आँख, कान, नाक, और मुह हैं यदि इनके अतिरिक्त और भी उपाग होते है तो उनका निर्देश करके आगम पुरुष के उपागो के साथ तुलना की जानी चाहिए

अगो मे कहे हुए अर्थो का स्पष्ट वोध कराने वाले उपाग सूत्र[२] है प्राचीन आचार्यो के इस मन्तव्य से कतिपय अगो के उपागो की सगति किस प्रकार हो सकती है ? यथा—ज्ञाताधर्मकथा का उपाग सूर्यप्रज्ञप्ति और उपासकदशा का उपाग चन्द्रप्रज्ञप्ति माना गया है इनमे क्या सगति है ?

"निरयावलियाओ" का शब्दार्थ है—नरकगामी जीवो की आवली अर्थात्—श्रेणी इस अर्थ के अनुसार एक "कप्पिया" नामक उपाग है निरयावलियाओ मे मानना उचित है श्रेणिक राजा के काल सुकाल आदि दश राजकुमारो का वर्णन इस उपाग मे है ये दश राजकुमार युद्ध मे मरकर नरक में गये थे

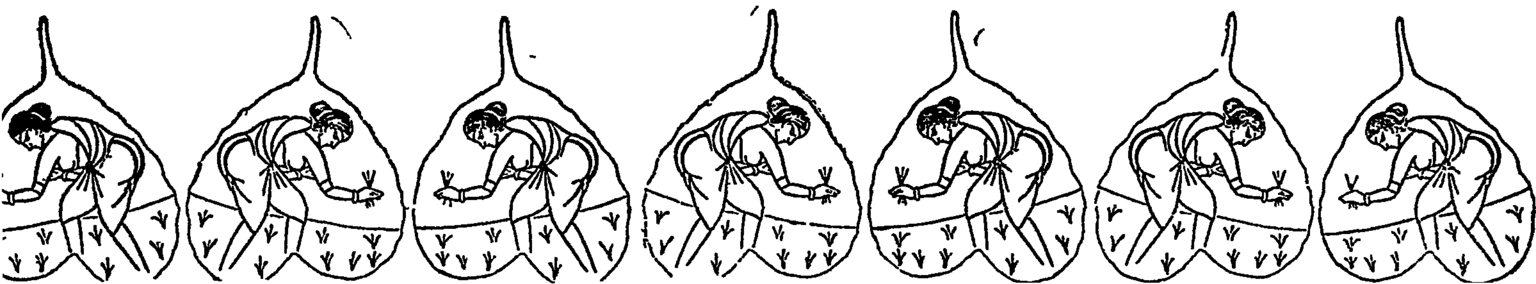
कप्पिया नाम की अर्थसगति इस इकार है—

कल्प अर्थात् आचार-सावद्याचार और निरवद्याचार, ये आचार के प्रमुख दो भेद हैं, इस उपाग मे सावद्याचार के फल का कथन है इसलिए कप्पिया नाम सार्थक है. किन्तु इस प्रकार की गई अर्थसगति को आधुनिक विद्वान् केवल कष्ट-कल्पना ही मानते है वे कहते है-कल्प-अर्थात् देव विमान और कल्पो मे उत्पन्न होने वालो का वर्णन जिसमे है वह उपाग कल्पिका है सम्भव है वह उपाग विलुप्त हो गया है

---

१. भगवती सूत्र का उपाग सूर्यप्रज्ञप्ति और ज्ञाताधर्मकथा का उपाग जवूद्वीप प्रज्ञप्ति है —सुवोधासमाचारी

२. "अगार्थस्पष्टबोधविधायकानि उपागानि" औप० टीका



एकादशाङ्गों का उद्देशन काल[1]

क्रमाक	अगसूत्रो के नाम	उद्देशन काल	क्रमाक	अगसूत्रो के नाम	उद्देशन काल
१	आचाराग	८५ "	७	उपासक दशा	१० "
२	सूत्रकृताङ्ग	३३ "	८	अन्तकृद्दशा	१० "
३	स्थानाग	२१ "	९	अनुत्तरोपपातिकदशा	१० "
४	समवायाग[2]	१ "	१०	प्रश्नव्याकरण[5]	४५ "
५	भगवती[3]	६५ "	११	विपाकश्रुत	२० "
६	ज्ञाताधर्मकथा[4]	२९ "			३२९ दिन

उपाग, छेदसूत्र, मूलसूत्र आदि आगमो के उद्देशनकालो का कही उल्लेख नही मिलता है अत इसका अध्ययन वाचनाचार्य के समीप न करके स्वत करे तो कोई हानि नही है, ऐसी मान्यता परम्परा से प्रचलित है.

बहुश्रुत होने के लिए निर्धारित पाठ्यक्रम

कितने वर्ष के दीक्षापर्याय वाला श्रमण किस आगम के अध्ययन का अधिकारी होता है, इसकी एक नियत मर्यादा बतलाई गई है वह इस प्रकार है—

तीन वर्ष के दीक्षापर्याय वाला आचार प्रकल्प (निशीथ सूत्र) के अध्ययन का अधिकारी माना गया है इसी प्रकार चार वर्ष के दीक्षापर्याय वाला सूत्रकृताग के, पाँच वर्ष वाला दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प एव व्यवहार के, आठ वर्ष वाला स्थानाग और समवायाग के, दस वर्ष वाला भगवती के, ग्यारह वर्षवाला, क्षुल्लिकाविमान आदि पाच आगमो के, बारहवाला अरुणोपपात आदि पाच आगमो के, तेरह वर्ष वाला उत्थान श्रुतादि चार आगमो के, चौदहवर्ष वाला आशिविषभावना के, पन्द्रह वर्षवाला दृष्टिविषभावना, सोलह वर्ष वाला चारणभावना, सत्तरह वर्ष वाला महास्वप्न भावना के, अठारह वर्ष वाला तेजोनिसर्ग के, उन्नीस वर्ष वाला दृष्टिवाद के और बीस वर्ष के दीक्षापर्याय वाला सभी आगमो के अध्ययन के योग्य होता है[6] —व्यवहार, उद्देश्यक १०

उपाध्याय और आचार्य पद की योग्यता प्राप्त करने के लिए आगमों का निर्धारित पाठ्यक्रम

तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला श्रमण यदि पवित्र आचरण वाला, शुद्ध सयमी, अनुशासन मे कुशल, क्षमावान, बहुश्रुत

---

१. समवायाग और नदीसूत्र के अनुसार यहा ग्यारह अंगों के उद्देशन काल लिखे हैं समवायाग में ज्ञाताधर्मकथा के उद्देशन काल २९ लिखे हैं और नदीसूत्र में १९ उद्देशन काल है.

२. समवायाग का एक उद्देशन काल ही क्यों है, यह विचारणीय है उपासकदशा आदि कई आगम समवायाग की अपेक्षा लघुकाय हैं किन्तु उनके उद्देशन काल १० से कम नहीं

३. समवयाग और नन्दीसूत्र मे भगवती सूत्र के उद्देशनकाल नही लिखे—किन्तु भगवतीसूत्र की प्रशस्ति में उद्देशनकालों की एक सूची है उसके अनुसार उद्देशनकाल लिखे हैं

४. प्रारम्भ के ६ अगों के अन्त में उद्देशनकालों का उल्लेख नही है और अतिम ५ अंगों के अन्त में उद्देशनकालों का उल्लेख है

५. प्रश्नव्याकरण के ४५ उद्देशनकाल समवयाग और नदीसूत्र में लिखे गये हैं किन्तु यह विलुप्त हो गया है वर्तमान में उपलब्ध प्रश्नव्याकरण के अन्त मे १० उद्देशन काल लिखे ह

६ बीस वर्ष के इस लम्बे पाठ्यक्रम में आचाराग ज्ञाताधर्मकथा उपासकदशा अतकृद्दशा अनुत्तरोपपातिकदशा प्रश्नव्याकरण विपाकश्रुत तथा सर्व उपाग एव मूलसूत्रों के अध्ययन का उल्लेख नहीं है, किन्तु आचाराग नियुक्ति गाथा १० में नवदीक्षित के लिए सर्वप्रथम आचाराग के अध्ययन करने का उल्लेख है तथा दशवैकालिक उत्तराध्ययन नदि आदि आगमों का अध्ययन भी नवदीक्षिता को कराने की परिपाटी अद्यावधि प्रचलित है. इन विभिन्न मान्यताओं का मूल क्या है ? यह अन्वेषणीय है

हो और कम से कम आचार प्रकल्प (निशीथ) का मर्मज्ञ हो तो वह उपाध्याय पद के योग्य होता है[1]

पाच वर्ष की दीक्षापर्याय वाला श्रमण यदि उक्त आध्यात्मिक योग्यता वाला हो और कम से कम दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहार सूत्र का ज्ञाता हो तो वह आचार्य और उपाध्याय पद के योग्य होता है

आठ वर्ष के दीक्षा पर्यायवाला श्रमण यदि उक्त आध्यात्मिक योग्यता वाला हो और कम से कम[2] स्थानाग समवायाग का ज्ञाता हो तो वह आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक स्थविर गणि और गणावच्छेदक पद के योग्य होता है

निर्धारित पाठ्यक्रम का अध्ययन करने योग्य[3] वय

सामान्यतया जिस श्रमण-श्रमणी के वगल मे बाल पैदा होने लगते हैं, वह (श्रमण, श्रमणी) आगमो के अध्ययन योग्य वय वाला माना गया है

अनुयोगों के अनुसार आगमो का वर्गीकरण

अनुयोगो के अनुसार आगमो का चार विभागो मे विभाजन किया गया है यथा—१ चरणकरणानुयोग, २ धर्मकथानुयोग ३ द्रव्यानुयोग, एव ४. गणितानुयोग यह विभाजन इस प्रकार है—

चरणकरणानुयोग—दशवैकालिक, बृहत्कल्प, व्यवहार, निशीथ, आवश्यक, प्रश्नव्याकरण, चउसरणपयन्ना, आतुर-प्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान भक्तपरिज्ञा, सस्तारक, गच्छाचार, मरणसमाधि, चन्द्रावेध्यक, पर्यताराधना, पिंड विशोधि.

धर्मकथानुयोग—ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, विपाकश्रुत, निरयावलिका [कप्पिया] कप्पवडसिया, पुप्फिया, पुप्फचूलिका, वह्निदशा, ऋषिभाषित, जम्बूस्वामी अध्ययन, सारावली.

द्रव्यानुयोग—प्रज्ञापना, नदीसूत्र

गणितानुयोग—चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, ज्योतिष्करण्डक, द्वीपसागर प्रज्ञप्ति, गणिविद्या, योनि प्राभृत, तिथि प्रकीर्णक[4]

आगम के दो भेद—मूलत आगमो के दो विभाग हैं १ अग प्रविष्ट[5] और २ अगवाह्य[6] जिन आगमो मे गणधरो ने तीर्थंकर भगवान् के उपदेश को ग्रथित किया है, उन आगमो को अगप्रविष्ट कहते है आचाराग आदि बारह अग अगप्रविष्ट है द्वादशागी के अतिरिक्त आगम अग बाह्य है

अङ्गबाह्य के दो भेद—आवश्यक और आवश्यकव्यतिरिक्त आवश्यक के ६ भेद हैं—१ सामायिक, २ चतुर्विंशतिस्तव, ३ वदना, ४ प्रतिक्रमण, ५ कायोत्सर्ग, ६ प्रत्याख्यान

---

१ कोई भी श्रमण उक्त आध्यात्मिक योग्यता के बिना चाहे वह कितने ही आगमों का ज्ञाता हो—उपाध्याय आदि पदों का अधिकारी नहीं हो सकता—व्यव० उद्दे० ३

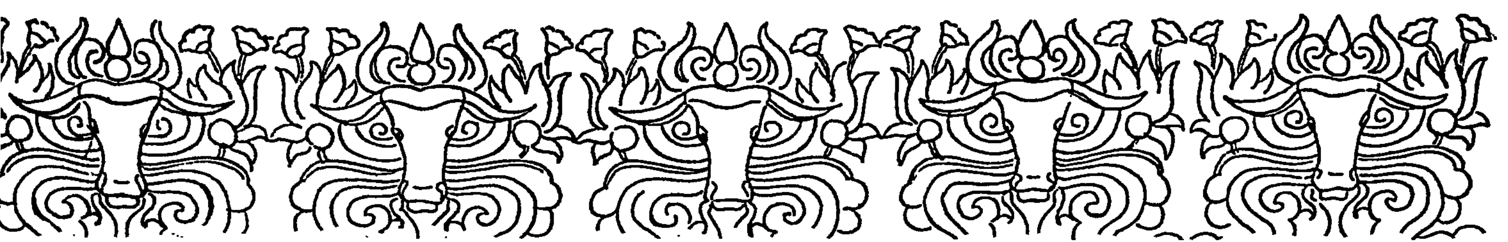
२. उक्त योग्यता से अल्प योग्यता वाला उपाध्याय आचार्य आदि पदों के अयोग्य होता है.

३ उक्त योग्य वय वाले पात्र को निर्धारित पाठ्यक्रम का अध्ययन न कराना भी एक प्रकार का अपराध है. निशी० उद्दे० १९.

४ शेष सभी आगमों में अनुयोगों का मिश्रण है किसी में दो किसी में तीन और किसी में चारों अनुयोगों का मिश्रण है.

५ अग प्रविष्ट—नदीसूत्र 'अग प्रविष्ट' आगमों की सूची है उसमें बारह अगों के नाम हैं किन्तु 'प्रविष्ट' शब्द कुछ विशिष्ट अर्थ रखता है कुछ विद्वानों का यह अभिमत है कि स्थानाग में जिस प्रश्नव्याकरण का उल्लेख है वह विलुप्त हो गया है और उसके स्थान पर वर्तमान प्रश्न व्याकरण जो है वह अग प्रविष्ट है इसी प्रकार विपाक, अन्तकृद्दशा, आचाराग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध और समवायाग का १०० वें समवाय के पीछे का भाग अग प्रविष्ट है

६. उपाग, मूल और सूत्रों के सम्बन्ध में प्राय ऐसे उल्लेख मिलते है कि—अमुक पूर्व में से अमुक आचार्य ने इस आगम को उद्धृत किया है चौदह पूर्व दृष्टिवाद के विभाग हैं और दृष्टिवाद बारहवा अग है किन्तु दृष्टिवाद में से उद्धृत आगमों को अग प्रविष्ट न मानकर अग बाह्य मानना विचारणीय अवश्य है



आवश्यक व्यतिरिक्त के २ भेद हैं—कालिक[1] और उत्कालिक. इनकी सूची इस प्रकार है—

उत्कालिक सूत्र—१ दशवैकालिक, २ कल्पिकाकल्पिक, ३. चुल्ल (लघु) ३ कल्पसूत्र, ४ महाकल्प सूत्र, ५ औपपातिक, ६ राजप्रश्नीय, ७ जीवाभिगम, ८ प्रज्ञापना, ९ महाप्रज्ञापना, १० प्रमादाप्रमादम्, ११ नदीसूत्र, १२ अनुयोगद्वार, १३ देवेन्द्रस्तव, १४ तदुल वैचारिक, १५ चन्द्रावेध्यक, १६ सूर्य प्रज्ञप्ति,[2] १७ पौरुषी मडल, १८ मडल प्रवेश, १९ विद्याचरणविनिश्चय, २० गणिविद्या, २१ ध्यानविभक्ति, २२ मरणविभक्ति, २३ आत्मविशोधि, २४ वीतराग श्रुत २५ सलेखना श्रुत, २६ विहारकल्प, २७ चरणविधि, २८ आतुरप्रत्याख्यान, २९ महाप्रत्याख्यान, इत्यादि

कालिक सूत्र—१ उत्तराध्ययन,[3] २ दशा [दशाश्रुतस्कन्ध], ३ कल्प [बृहत् कल्प], ४ व्यवहार, ५ निशीथ, ६ महानिशीथ, ७ ऋषिभाषित, ८ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, ९ द्वीपसागर प्रज्ञप्ति, १० चन्द्र प्रज्ञप्ति, ११ क्षुद्रिकाविमान प्रविभक्ति, १२ महल्लिका प्रविभक्ति, १३ अग चूलिका, १४ वर्ग चूलिका, १५ विवाह चूलिका, १६ अरुणोपपात, १७ वरुणोपपात, १८ गरुडोपपात, १९ धरणोपपात, २० वैश्रमणोपपात २१ वैलधरोपपात, २२ देवेन्द्रोपपात, २३ उत्थानश्रुत, २४ समुत्थानश्रुत, २५ नागपरिज्ञावर्णिका, ३६ निरयावलिका, २७ कल्पिका, २८ कल्पावतसिका, २९ पुष्पिका, ३० पुष्प-चूलिका, ३१ वृष्णिदशा, ३२ आशिविष भावना, ३३ दृष्टिविष भावना, ३४ स्वप्न भावना, ३५ महास्वप्न भावना, ३६ तेजोग्नि निसर्ग

आगम के दो भेद—लौकिक और लोकोत्तर

अनुयोगद्वार मे केवल आचारागादि द्वादशागो को ही लोकोत्तर आगम माना है. इसी प्रकार लोकोत्तर श्रुत भी आचा-रांग आदि द्वादशाग ही माने गये है

आगम के दो भेद—गमिक और अगमिक, गमिक[4]—दृष्टिवाद, अगमिक[5]—कालिकसूत्र

आगम के तीन भेद—(१) सूत्रागम (२) अर्थागम (३) तदुभयागम

सूत्रागम—मूलरूप आगम को सूत्रागम कहते हैं

अर्थागम—सूत्र-शास्त्र के अर्थरूप आगम को अर्थागम कहते है

तदुभयागम—सूत्र और अर्थ दोनो रूप आगम को तदुभयागम कहते है. —अनुयोगद्वारसूत्र १४३

आगम के और तीन भेद हैं—(१) आत्मागम (२) अनन्तरागम (३) परम्परागम.

आत्मागम—गुरु के उपदेश विना स्वयमेव आगमज्ञान होना आत्मागम है जैसे—तीर्थंकरो के लिए अर्थागम आत्मागम रूप है और गणधरो के लिए सूत्रागम आत्मागमरूप है.

---

१. (क) कालिक और उत्कालिक वर्गीकरण का रहस्य क्या है, यह अव तक दृष्टि पथ में नहीं आया
(ख) यहा उत्कालिक सूत्र २९ के नाम लिखे है किन्तु अन्त में 'इत्यादि' का कथन होने से अन्य नाम का होना भी सम्भव है
(ग) कालिक सूत्रों के अन्त में 'इत्यादि' का उल्लेख नही है अत अन्य सूत्रों का परिगणन करना उचित नही माना जा सकता है.

२ सूर्य प्रज्ञप्ति को उत्कालिक और चन्द्र प्रज्ञप्ति को कालिक मानने का क्या कारण है जवकि दोनों उपाग है और दोनों के मूल पाठों में पूर्ण साम्य है ?

३ उत्तराध्ययन यदि भ० महावीर की अन्तिम अपुट्ठ वागरणा है तो उसे अगवाह्य कैसे कहा जा सकता है, यह विचारणीय है. क्योंकि सर्वज्ञ कथित और गणधरग्रथित आगम अगप्रविष्ट माना जाता है

४. नदीसूत्र में निर्दिष्ट इस वर्गीकरण से एक आशका पैदा होती है—कि उत्कालिक सूत्र गमिक है या अगमिक ? क्योंकि केवल कालिक सूत्र अगमिक हैं नदी सूत्र में कालिक और उत्कालिक ये दो भेद केवल अग वाह्य सूत्रों के है—अतः अगप्रविष्ट अर्थात्—ग्यारह अग कालिक है या उत्कालिक, यह ज्ञात नही होता. ग्यारह अग गमिक है या अगमिक ? यह भी निर्णय नही होता परम्परा से ग्यारह अगों को अगमिक और कालिक मानते है किन्तु इसके लिए आगम प्रमाण का अन्वेषण आवश्यक है.

५. अनुयोगद्वार में कालिक श्रुत को और दृष्टिवाद को भिन्न-भिन्न कहा है अत. दृष्टिवाद कालिक है या उत्कालिक ? यह भी विचारणीय है, क्योंकि नंदी सूत्र में कालिक एव उत्कालिक की सूची में द्वादशागों का निर्देश नहीं है.



आगमों का वर्गीकरण

आगम

अगप्रविष्ट

१ आचार
२ सूत्रकृत
३ स्थान
४ समवाय
५ भगवती
६ ज्ञातृधर्म-कथा
७ उपासकदशा
८ अन्तकृद् दशा
९ अनुत्तरोपपातिक दशा
१० प्रश्नव्याकरण
११ विपाक
१२ दृष्टिवाद

अनगप्रविष्ट

आवश्यक

१ सामायिक
२ चतुर्विंशतिस्तव
३ वन्दना
४ प्रतिक्रमण
५ कायोत्सर्ग
६ प्रत्याख्यान

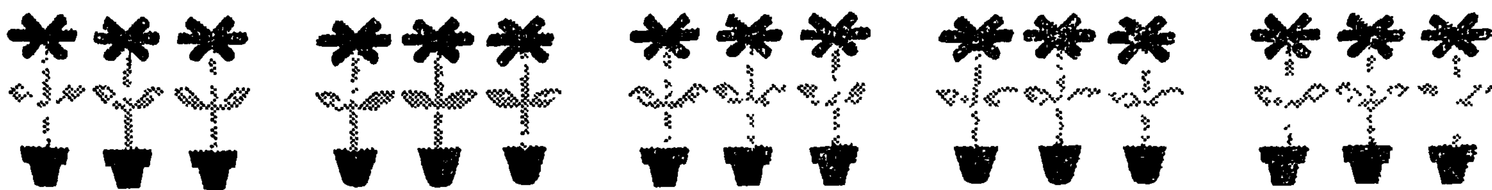
आवश्यकअतिरिक्त

कालिक

१ उत्तराध्ययन
२ दशाश्रुतस्कन्ध
३ कल्प
४ व्यवहार
५ निशीथ
३ महानिशीथ
७ ऋषिभासित
८ जवूद्वीप प्रज्ञप्ति
९ दीपसागर प्रज्ञप्ति
१० चन्द्र प्रज्ञप्ति
११ क्षुल्लिकाविमान-प्रविभन्कि
१२ महल्लिकाविमान-प्रविभक्ति
१३ अग चूलिका
१४ वग्ग चूलिका
१५ विवाह चूलिका
१६ अरुणोपपात
१७ गरुलोपपात
१८ धरणोवपात
१९ वेसमणोपपात
२० वैलधरोपपात
२१ देविन्द्रोपपात
२२ उत्थान श्रुत
२३ समुत्थान श्रुत
२४ नागपरियापनिका
२५ कल्पिका
२६ कल्पावतसिका
२७ पुष्पिका
२८ पुष्प चूलिका
२९ वृष्णिदशा
३० आशीविषभावना
३१ दृष्टिविष भावना
३२ चारण भावना
३३ महास्वप्न भावना
३४ तेजोऽग्निनिसर्ग

उत्कालिक

१ दशवैकालिक
२ कल्पिकाकल्पिक
३ चुल्ल कल्पश्रुत
४ महाकल्पश्रुत
५ औपपातिक
६ राजप्रश्नीय
७ जीवाभिगम
८ प्रज्ञापना
९ महाप्रज्ञापना
१० प्रमादाप्रमाद
११ नन्दी
१२ अनुयोगद्वार
१३ देवेन्द्रस्तव
१४ तदुलवैचारिक
१५ चन्द्रावेध्यक
१६ सूर्यप्रज्ञप्ति
१७ पौरुपीमडल
१८ प्रवेशमडल
१९ विद्याचरणविनिश्चय
२० गणिविद्या
२१ ध्यानविभक्ति
२२ मरणविभक्ति
२३ आत्मविशोधि
२४ वीतरागश्रुत
२५ मलेखनाश्रुत
२६ विहारकल्प
२७ चरणविधि
२८ आतुरप्रत्याख्यान
२९ महाप्रत्याख्यान



अनन्तरागम—सर्वज्ञ से प्राप्त होने वाला आगमज्ञान अनन्तरागम है गणधरो के लिए अर्थागम अनन्तरागम रूप है. तथा जम्बूस्वामी आदि गणधरो के शिष्यो के लिए सूत्रागम अनन्तरागम रूप है.

परम्परागम—साक्षात् सर्वज्ञ से प्राप्त न होकर जो आगमज्ञान उनके शिष्य प्रशिष्यादि की परम्परा से आता है वह परम्परागम है जैसे जम्बूस्वामी आदि गणधर-शिष्यो के लिए अर्थागम परम्परागम रूप है तथा इनके पश्चात् के सभी के लिए सूत्र एव अर्थ दोनो प्रकार के आगम परम्परागम है. —अनुयोगद्वार प्रमाणाधिकारसूत्र १४४

सामायिक आदि ग्यारह अंग :

अग और उपागसूत्रो के अनेक कथानको मे "सामाइयमाइयाइ एक्कारस अगाइ अहिज्जइ" ऐसा पाठ मिलता है किन्तु ग्यारह अगो मे प्रथम अग का नाम आचाराग है और उक्त पाठ मे ग्यारह अगो मे आदि अग का नाम (प्रथम अग) सामायिक अग है ऐसा प्रतीत होता है

आचारागनिर्युक्ति मे आचाराङ्ग के अनेक नाम लिखे है उनमें "सामायिक" नाम नही है. यदि अन्यत्र कही "सामायिक" नाम आचाराङ्ग का उपलब्ध हो तो यह पाठ सगत हो सकता है

यदि उक्तपाठ मे "सामायिक" आवश्यक के प्रथम अध्ययन का नाम अभीष्ट है तो यह एक विचारणीय प्रश्न बन जाता है क्योकि आवश्यक (आगम) अगबाह्य है—और सामायिक आवश्यक का प्रथम अध्ययन ग्यारह अगो मे का आदि अग कैसे माना जा सकता है

कल्प विधान के अनुसार भ० महावीर के शासन मे श्रमणो के लिए "आवश्यक" अनिवार्य मान लिया गया था फलस्वरूप आवश्यक कण्ठस्थ हुए विना उपस्थापना नही हो सकती है ऐसा नियम बन गया था इसलिए सर्वप्रथम सामायिक आदि आवश्यको का अध्ययन ग्यारह अङ्गो के अध्ययन से पहले करने का विधान बना था सम्भव है उक्त पाठ के सम्बन्ध मे यही मान्यता रही हो ऐसी स्थिति मे "सामाइयमाइयाइ एक्कारसअगाइ अहिज्जइ" का यही अर्थ समझना चाहिए कि कोई साधक सामायिक अर्थात् आवश्यक सूत्र के प्रथम अध्ययन से प्रारम्भ करके ग्यारह अङ्गो का अध्ययन करता है.

भ० नेमिनाथ के अनुयायी मुनि "थावच्चापुत्र" के वर्णन मे तथा अन्य कतिपय वर्णनो मे भी ऐसा ही पाठ देखा जाता है, ऐसी स्थिति मे उक्त सम्भावना कहाँ तक उचित है ? आगमविशारदो के सामने यह प्रश्न अन्वेपणीय है.

आगमो की पांच वाचनाएँ

प्रथमा वाचना :—आचार्य भद्रबाहु की अध्यक्षता मे पाटलीपुत्र मे हुई, इस समय समस्त श्रमणो ने मिलकर एकादश अङ्गो को व्यवस्थित किया. दृष्टिवाद इस समय विलुप्त हो चुका था

द्वितीया वाचना :—आर्य स्कन्दिल की अध्यक्षता मे मथुरा मे हुई. एकत्रित श्रमणो की स्मृति मे जितना श्रुत साहित्य था वह व्यवस्थित किया गया

तृतीया वाचना :—आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता मे वलभी मे हुई एकत्रित श्रमणो ने आगमो के मूलपाठो के साथ-साथ आगमो के व्याख्यासाहित्य की सकलना भी की श्री कल्याणविजयजी महाराज का यह मत है, किन्तु कुछ विद्वानो का यह मत है कि आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता मे "आगम" वाचना तो हुई किन्तु किस जगह हुई ? इसलिये कोई ठोस प्रमाण अब तक नही मिला. फिर भी आगमो की टीका में यत्र-तत्र 'नागार्जुनीयास्त्वेव पठन्ति" ऐसा उल्लेख मिलता हे अत आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता मे वाचना अवश्य हुई" यह निश्चित है

चतुर्थी वाचना :—देवर्धि गणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता मे वलभी मे हुई. सम्मिलित श्रमणो की स्मृति मे जितना श्रुत-साहित्य था सारा लिपिवद्ध किया गया.

पञ्चमी वाचना :—आगमो को लिपिवद्ध करने मे सवसे वडी कठिनाई आगमो के गमिक (समान) पाठो की थी



इसलिये समस्त आगमो की सक्षिप्त वाचना का एक सस्करण तय्यार किया गया इस वाचना मे—यत्र तत्र "जहा उववाइए" "जहा पन्नत्तीए" "जहा पन्नवणाए"—आदि लगा कर अनेक गमिक पाठ सक्षिप्त किये गये है अत इस वाचना को सक्षिप्त वाचना माना जाता है, कई विद्वानो की मान्यता है कि देवर्धि गणि क्षमाश्रमण ही इस वाचना के आयोजक थे

उस समय प्रत्येक श्रमण को यह लगन लगी थी कि आगमो की प्रतियाँ अल्प भार वाली बनें जिससे विहार मे हर एक श्रमण आगमो की कुछ प्रतियाँ साथ मे रख सके इसलिये वे समान पाठो को बिन्दिया लगा कर लिखते थे यह भी एक सक्षिप्त वाचना के लिये उपक्रम था, किन्तु इसका परिणाम श्रमणो के लिये अच्छा नही हुआ नवदीक्षित श्रमण बिन्दी वाले पाठो की प्रतियो पर स्वाध्याय नही कर सके क्योकि किस अक्षर से कितना पाठ बोलना यह अभ्यास के विना असभव था

यदि आगमो के आधुनिक विद्वान् विस्तृत और सक्षिप्त वाचनाओ के सस्करण तय्यार करे तो यह बहुत बडी श्रुत-सेवा होगी.

उपलब्ध आगमो मे सक्षिप्त और विस्तृत वाचना के पाठ सम्मिलित है अत एक भी आगम ऐसा नही है जिसे विस्तृत या सक्षिप्त वाचना का स्वतत्र आगम कहा जा सके

अब एक और वाचना की आवश्यकता है

भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् ९८० वर्षो मे ३-४ वाचनाये हुई किन्तु देवर्धि क्षमाश्रमण के पश्चात् इन १५०० वर्षो मे सघ की ओर से सम्मिलित वाचना एक भी नही हुई इस लम्बी अवधि मे जैनसघ—श्वेताम्बर. दिगम्बर, यतिवर्ग, लोकागच्छ, स्थानकवासी, तेरापथी आदि अनेक भागो मे विभक्त हो गया

दश वर्ष पश्चात् भ० महावीर को निर्वाण हुये २५०० वर्ष पूरे हो जायगे अर्थात् सार्ध द्विसहस्राब्दी की स्मृति मे श्वेताम्बर जैनो की समस्त शाखा-प्रशाखाओ की ओर से एक सम्मिलित आगमवाचना अवश्य होनी चाहिए और इसके लिये अभी से सयुक्त प्रयत्न होना चाहिए

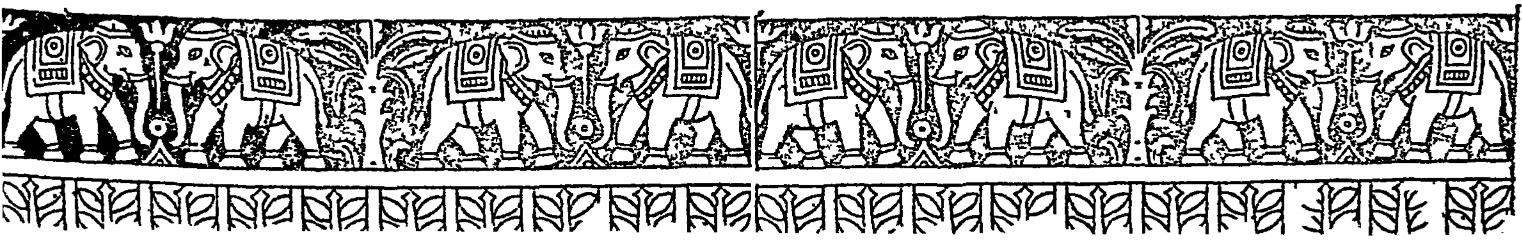
आगमो के विलुप्त होनें का इतिहास

वीर निर्वाण सवत् १७० मे अन्तिम चार पूर्वो का विच्छेद हुआ.
" १००० मे पूर्व ज्ञान का सर्वथा विच्छेद हुआ
" १२५० मे भगवती सूत्र का ह्रास हुआ
" १३०० मे समवायाग का ह्रास हुआ
" १३५० मे स्थानाङ्ग का "
" १४०० मे बृहत्कल्प और व्यवहार का ह्रास हुआ.
, १५०० मे दशाकल्प सूत्र का "
" १९०० में सूत्रकृताङ्ग का "

पश्चात् आचाराग आदि का ह्रास क्रम से होता गया —तीर्थोद्‌गारिक प्रकीर्णक

वीरात् ९८० वर्ष पश्चात् देवर्धिक्षमाश्रमण की अध्यक्षता मे सभी आगम लिख लिये गये थे, यह एक ऐतिहासिक सत्य है किन्तु नदी सूत्र मे आगमो के जितने पद लिखे हैं क्या वे सब लिखे गये थे ? यदि सब लिखे गये थे तो नदी सूत्र मे प्रत्येक अग के जितने अध्ययन, उद्देशक, शतक, प्रतिपत्ति, वर्ग आदि लिखे है उतने ही उस समय थे या उनसे अधिक थे ?

अधिक थे तो लिखे क्यो नही गये ?



उतने ही थे तो—उनके इतने ही पद हो यह कभी सभव नही कहा जा सकता.

नदी सूत्र में आगमो के जितने पद लिखे है उतने पद नही लिखे गये. यदि यह पक्ष मान लिया जाय तो यह प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होता है

देवर्धि क्षमाश्रमण के समय कितने पद थे ? और जितने पद थे उतने पदो का उल्लेख क्यो नही किया गया ? उस समय जितने पद थे यदि उनका उल्लेख किया जाता तो इस समय तक कितने पद कम हुए यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता.

देवर्धि क्षमाश्रमण के समय मे दृष्टिवाद विलुप्त हो गया था और शेष आगमो के भी कतिपय अश विलुप्त हो गये थे, इसलिये यह स्पष्ट है कि—नदी मे प्रत्येक अंग के जितने पद माने है उतने पद तो देवर्धि क्षमाश्रमण के समय मे नही थे

आगमों के कतिपय मूल पाठों की मतैक्यता में कुछ बाधायें

आगमो की जितनी वाचनाएँ हुई उन सब मे प्रमुख वाचनाचार्यो के सामने पाठभेदो और पाठान्तरो की विकट समस्या समुपस्थित हुई थी, विचारविमर्श के पश्चात् भी सम्मिलित सभी श्रुतधर अन्तिम वाचना के अन्त तक एक मत नही हो सके

फलस्वरूप सर्वज्ञ-प्रणीत आगमो के मूल पाठो मे भी कुछ ऐसे पाठो का अस्तित्व रहा, जिनके कारण प्रवल मत-भेद पैदा हो गये और भ० महावीर का सघ अनेक गच्छ-सम्प्रदायो मे विघटित हो गया.

परम योगीराज श्री आनन्दघन ने अनत जिनस्तुति मे सघ की वास्तविक स्थिति का नग्न चित्र इन शब्दो मे उपस्थित किया है.

> गच्छना भेद बहु नयन निहालता, तत्त्व नी बात करता न लाजे,
> उदरभरणादि निज काज करता थका, मोह नड़िया कलिकाल छाजे,

देवर्धि क्षमाश्रमण के समय मे अग आगमो के जितने अध्ययन उद्देशे शतक आदि थे उतने ही वर्तमान मे है केवल प्रश्न-व्याकरण मे आमूल-चूल परिवर्तन हुआ है. भगवती और अतगड के अध्ययन आदि में अवश्य कमी आई है, शेष आगम तो ज्यो के त्यो है. निष्कर्ष यह है कि लिपिवद्ध होने के पश्चात् आगम साहित्य का ह्रास इतना नही हुआ जितना देवर्धि क्षमाश्रमण के पूर्व हुआ. यह सिद्ध करने के लिये यहाँ कतिपय ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत है.

१ भद्रवाहु के युग मे उत्तर भारत मे भयकर दुष्काल पडा. दुर्भिक्ष के कारण जैन सघ इधर-उधर बिखर गया. यह दुष्काल भ० महावीर के निर्वाण के पश्चात् दूसरी शताब्दी मे हुआ था, आचार्य स्थूलिभद्र की अध्यक्षता मे पाटलिपुत्र मे श्रमण-सघ सम्मिलित हुआ. इसमे ग्यारह अगो का सकलन किया गया.

२. पाटलीपुत्र परिषद् के अनन्तर देश में दो बार बारह वर्षों के दुष्काल पडे. इनमे साधु सस्था और साहित्य का सग्रह छिन्न-भिन्न हो गया.

३ विक्रम के ५०० वर्ष वाद भारत मे एक भयकर दुष्काल पडा उसमें फिर जैन धर्म का साहित्य इधर-उधर अस्त-व्यस्त हो गया पाटलीपुत्र और माथुरी वाचना के वाद वल्लभी वाचना का यही समय था, इस दुष्काल मे अनेक श्रुतधर काल-धर्म को प्राप्त हो गये थे, शेप वचे हुए साधुओ को वीर सवत् ९८० मे सघ के आग्रह से देवर्धि क्षमा-श्रमण ने निमन्त्रित किया और वल्लभी मे उनके मुख से—अवशेष रहे हुए खण्डित अथवा अखण्डित आगम-पाठो को सकलित किया

व्याख्या भेद—भ० महावीर के सघ मे कुछ ऐसे प्रमुख आचार्य भी हुए जिन्होने अपनी मान्यतानुसार कतिपय मूल पाठो की व्याख्याएँ की इससे पाक्षिक एव सावत्सरिक पर्व सम्वन्धी मतभेद जैन सघ में इतने दृढ—वद्धमूल हो गये है

जिनका उन्मूलन अनेक मुनि-सम्मेलनो के सगठित प्रयत्नो के पश्चत् भी नही हुआ

तीर्थंकर का वचनातिशय और कतिपय सन्देहजनक शब्द—तीर्थंकरो का एक अतिशय[1] ऐसा है कि जिसके प्रभाव से देव, दानव, मानव और पशु सभी अपनी अपनी भाषा मे जिनवाणी को परिणत कर लेते है जिनवाणी से श्रोताओ की शकाओ का उन्मूलन हो जाता है, किन्तु उपलब्ध अगादि आगमो मे मास, मत्स्य, अस्थिक, कपोत, मार्जार और जिन-पडिमा, चैत्य, सिद्धालय आदि शब्दो के प्रयोग सन्देहजनक है यद्यपि टीकाकारो ने इन भ्रान्तिमूलक शब्दो का समाधान किया है फिर भी इन शब्दो के सम्बन्ध मे यदा-कदा विवाद खडे हो ही जाते है

प्रश्न यह है कि सर्वज्ञकथित एव गणधर ग्रथित आगमो मे इन शब्दो के प्रयोग क्यो हुए ? क्योकि सूत्र[2] सदा असदिग्ध होते हैं

आगमो का लेखनकाल—स्थानकवासी समाज मे आगमो का लेखनकाल विक्रम की १६ वी शताब्दी है स्वाध्याय के लिए और ज्ञानभण्डारो के लिए आगमो की प्रतिलिपिया कराने वालो ने व्यवसायी लेखको को मूल, टीका, टव्वा आदि की जैसी प्रतियाँ दी वैसी ही प्रतिलिपियो का सर्वत्र प्रचार हुआ

इतिहास से यह निश्चित है कि १४ वी शताब्दी तक आगमो की जितनी प्रतिलिपियाँ हुईं वे सब चैत्यवासियो की देख-रेख मे हुई और आगमो के व्याख्या-ग्रन्थ भी इसी परम्परा के लिखे हुये थे आरम्भ मे स्थानकवासी परम्परा को आगमो की जितनी प्रतियाँ मिली वे सब चैत्यवासी विचारधारा से अनुप्राणित थी

लोकाशाह लिखित आगमो की प्रतियां—लोकाशाह लेखक थे और शास्त्रज्ञ भी थे वे प्रतिमा पूजा के विरोधी थे किन्तु उनके लिखे हुए आगमो की या उनकी मान्यता की व्याख्या करने वाले आगमो की प्रतिया किसी भी सग्रहालय मे आज तक उपलब्ध नही हुई है. अत वादविवाद के प्रसगो मे स्थानकवासी मान्यता समर्थक प्राचीन प्रतियो का अभाव अखरता है

स्थानकवासी परम्परा के दीक्षा आदि पावन प्रसगो पर लेखको से जो आगमो की प्रतिया ली जाती है वे सब प्राय श्वेताम्बर मूर्तिपूजक मान्यता की व्याख्या वाली होती है वास्तव मे स्थानकवासी मान्यता की व्याख्या वाली प्रतियो के प्रचार व प्रसार के लिये सगठित प्रयत्न हुआ ही नही.

आगमों की दरियापुरी प्रतियां—गुजरात की दरियापुरी प्रतियाँ प्रायः सभी ज्ञानभण्डारो मे मिलती हैं किन्तु उनमे भी विवादास्पद स्थानो की स्थानकवासी मान्यता की व्याख्या नही मिलती, इसलिये आगामी मुनि-सम्मेलनो मे इस सबध मे विचार-विनिमय होना आवश्यक है

जैनागमों का मुद्रणकाल—स्थानकवासी समाज मे सर्वप्रथम आगमबत्तीसी (हिंदी अनुवाद सहित) का मुद्रण दानवीर सेठ ज्वालाप्रसाद जी ने करवाया

सम्पूर्ण बत्तीसी का हिंदी अनुवाद स्व० पूज्य श्री अमोलख ऋषि जी म० ने किया.

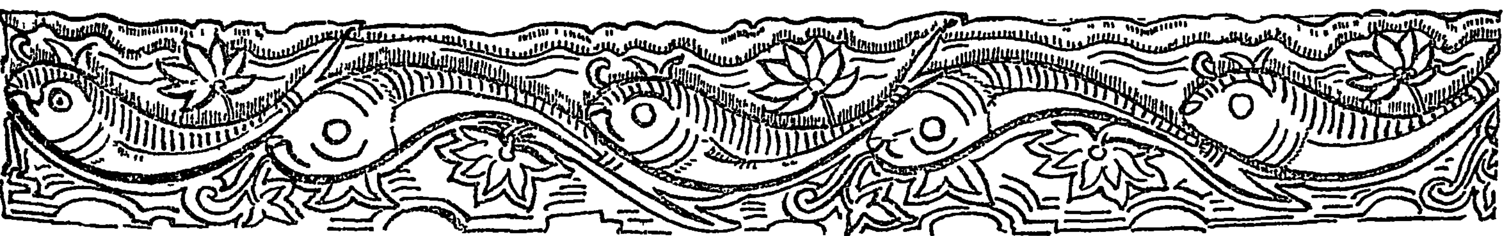
श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाज मे दानवीर सेठ धनपतराय जी ने सर्वप्रथम जैनागमो का मुद्रण करवाया

आचार्य सागरानन्द सूरि ने आगमोदय समिति द्वारा अधिक से अधिक आगमो की टीकाओ का प्रकाशन करवाया

पुप्फ भिक्खु द्वारा सम्पादित सुत्तागमे का प्रकाशन हुआ है किन्तु मास-परक और जिनप्रतिमा सम्बन्धी कई पाठो को निकाल देने से इस प्रकाशन की प्रामाणिकता नही रही है

---

१ तेईसवा अतिशय   २ प्रश्नव्याकरण द्वितीय सवर द्वार, अनुयोगद्वार, व्याख्याप्रज्ञप्ति देखें



कितना श्रम किया था. आश्रित कवि और चित्रकारो को प्रोत्साहित कर जो मूल्यवान् सास्कृतिक ज्योति प्रज्वलित की उसके प्रकाश से आज भी हम प्रकाशित हो रहे है. इस नगर की ख्याति हिन्दी साहित्य मे केवल सतप्रवर नागरी-दासजी-सावतसिंह के कारण ही रही है, पर अन्वेषण से सिद्ध हो गया है कि वहा की साहित्यिक परम्परा इससे भी प्राचीन और अधिक प्रेरक रही है नागरीदासजी के पूर्वजो ने जो साहित्यिक साधना की-करवाई उसका समुचित मूल्याकन आजतक हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहासकारो ने नही किया है, वह सर्वथा निर्दोष नही है जैसा कि 'मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रिया" के छत्रकुँवरवाले प्रसग से प्रमाणित है. नागरीदास का साहित्य 'नागर समुच्चय' में प्रकाशित है, पर शोध करने पर इनकी स्फुट रचना अन्य भी उपलब्ध है किशनगढ के ही एक मुस्लिम विद्वान् श्री फैयाज़अली सा० ने नागरीदास पर विशद अनुसधान कर शोध-प्रबध प्रस्तुत किया है (यद्यपि यह रचना इन पक्तियो के लेखक की दृष्टि मे नही आई.)

जैन इतिहास के साधनो से पता चलता है कि किशनगढ का जैन दृष्टि से भी कम महत्त्व नही है. जब से वह नगर बसा तभी से जैनो का इससे निकट का सबध रहा है राजकीय उच्चपदो पर जैन आरूढ रहे है इससे भी महत्त्व की वात यह है कि किशनगढ का राजकीय सरस्वतीभण्डार जैन साहित्य की दृष्टि से बहुत ही समृद्ध है. उपाध्याय मेघविजयजी, आचार्य श्री जिनरगसूरिजी आदि उद्भट मुनिपुगवो ने वहा निवास कर न केवल साहित्य-साधना ही की, अपितु अपने उच्च विचारो से स्थानीय जन-मानस को भी अनुप्राणित किया, राजकीय परिवार को भी उपकृत किया, यद्यपि वहा का राजपरिवार परम वैष्णव रहा है तथापि वह पर-मतसहिष्णु था जब आचार्यो को विज्ञप्तिपत्र प्रेषित किये जाते थे उनमे राज-परिवार के मुख्य सदस्य के भी हस्ताक्षर अनिवार्य थे.

लोकागच्छीय प्रवृत्तियो का भी किशनगढ केन्द्र रहा है. कई आचार्यो के स्वर्गवास, आचार्य पद और चातुर्मास हुए है जिनका उल्लेख लेखक के 'लोंकाशाह परम्परा और उसका अज्ञात साहित्य' नामक निबध मे अन्यत्र किया जा चुका है आज भी लोकागच्छ के उपाश्रय-स्थानक मे अवशिष्ट ज्ञान भडार है किसी युग मे यहा उनके तीन ज्ञानभडार थे, पर असावधानी से उनका अभिधानात्मक अस्तित्त्व ही शेप रह गया. जिसे जो कृति-प्रति पसन्द आई, वही उठाकर चलना बना, तिजोरियों की चाभी सभालनेवालो की दृष्टि मे ज्ञानमूलक सामग्री का महत्त्व ही क्या हो सकता है ?

अद्यावधि हिन्दी साहित्य के जितने भी इतिहास लिखे गये है वे तब तक पूर्ण नही कहे जा सकते—हो सकते जब तक हिन्दी क्षेत्र से सबद्ध सभी अचलो का वैज्ञानिक दृष्टि से साहित्यिक सर्वेक्षण न कर लिया जाय आज हमारे सम्मुख हिन्दी और ग्रथकारो के विषय मे जो भ्रान्तिया हैं इसका कारण भी इसी आचलिक सर्वेक्षण का अभाव ही है परिणामस्वरूप कई महत्त्वपूर्ण रचनाए और रचनाकार आजतक हमारे हिन्दी साहित्य के इतिहास के निर्माताओ की दृष्टि मे नही आ सके है. परम पूज्य उपाध्याय श्री सुखसागरजी महाराज सा० और साहित्यप्रेमी मुनिवर श्री मगलसागरजी महाराज साहब की छत्रछाया मे जयपुर से अजमेर आते हुए आचलिक साहित्यिक सर्वेक्षण का उथला-सा प्रयास किया तो मुझे कतिपय ऐसे विशिष्ट ग्रथ और ग्रथकार मिल गये जो हिन्दी भाषा और साहित्य की दृष्टि से बडे महत्त्व के प्रमाणित हुए आज तक किसी भी हिन्दी शोधार्थी की निगाह नही गई सूचित अचल के जो दो-चार ग्रथकार—जैसे राजसिंह, ब्रज-दासी, नागरीदास आदि—सामने आये उनकी रचनाए भी उपेक्षित रह गईं और इस प्रकार वे सही मूल्याकन से वञ्चित रह गये. यहा उन ज्ञात रचनाकारो के अज्ञात ग्रथो का तथा सर्वथा अज्ञात रचनाकारो के अज्ञात ग्रथो का विवरण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है ज्ञात कृतिकारो मे आचार्य श्री जिनरगसूरिजी, महाराजा राजसिंह, ब्रजदासी—वाकावती, विजयकीर्त्ति का समावेश होता है और अज्ञात रचनाकार है महाराजा रूपसिंह. महाराजा मानसिंह, महाराजा विडदसिंह, महाराजा कल्याणसिंह, महाराजा पृथ्वीसिंह तत्पुत्र जवानसिंह, महाराजा यज्ञनारायणसिंह, कविवर नानिग, पचायण, जसराज भाट और प्रेम या परमसुख

जो विज्ञप्ति-पत्र किशनगढ से प्रेषित किये जाते रहे है उनका समावेश स्वतत्र कृतिकारो मे नही किया है, केवल उल्लेख मात्र कर दिया है. यहा प्रसगत सूचित कर देना आवश्यक जान पड़ता है कि अजमेर समीपवर्त्ती रूपनगर, मसौदा

भिणाय मे भी कई ग्रथ लिखे गये मिले है जिनका उल्लेख निबध-विस्तारभय से यहा नही कर सका हू, विशिष्ट नवोपलब्ध साहित्य और साहित्कारो का सक्षेप मे परिचय इस प्रकार है

आचार्य श्री जिनरगसूरिजी—यह खरतरगच्छ के प्रभावशाली आचार्य थे इनका जन्म राजलदेसर मे हुआ, पर साहित्यिक दृष्टि से किशनगढ और अजमेर से घनिष्ठ सम्पर्क रहा है, वल्कि कहना चाहिए किशनगढ तो इनकी धार्मिक और सास्कृतिक साधना का केन्द्र ही था। वर्षो वे वहाँ रहे और अपनी चारित्रिक-सौरभ से जन-मानस को प्रभावित करते रहे. आज भी किशनगढ मे इनका उपाश्रय विद्यमान है जिसमे हस्तलिखित प्रतियो का अच्छा सग्रह है, इसकी तालिका बाफणा परिवार मे है वर्षो से ज्ञान-भडार न तो खुला है और न कभी किसी ने—यहाँ तक कि सरक्षक ने भी—देखने का कष्ट किया है नही कहा जा सकता है कि वह आज ग्रथो की दृष्टि से समृद्ध भी है या नही ?

इन आचार्य के समय मे किसी वात को लेकर आपसी वैमनस्य फैल गया था जिसका सतोषकारक समाधान अजमेर मे हुआ और वही पर इनको भट्टारक पद से अभिहित किया गया. इसमे खरतरगच्छीय मुनि रत्नसोम का प्रमुख हाथ रहा यद्यपि समझौता अधिक समय तक स्थायी नही रह सका कहा जाता है कि अजमेर के तात्कालिक शासन ने इन्हे एक आज्ञापत्र प्रदान किया था कि इनकी मान्यता ७ प्रान्तो मे वनी रहे

यह अच्छे कवि और प्रभावसम्पन्न वाग्मी थे इनकी 'रग बहुत्तरी' प्रबोध वावनी (रचनाकाल स० १७३१ मृगशीर्ष शुक्ल २ गुरुवार) नवतत्व बालाववोध एवम् स्तुतिपरक रचनाये उपलब्ध है दो रचनाओ का सम्बन्ध किशनगढ से रहा है सौभाग्य पचमी चौपाई का प्रणयन स० १७३८ मे किशनगढ मे किया गया था जिसका विवरण 'जैनगुर्जर कविओ' मे दिया गया है यहा पर इनकी एक अज्ञात और अन्यत्र अनुल्लिखित कृति का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है जिसका परिगुम्फन स० १७३७ माह शुक्ला ५ गुरुवार को किशनगढ मे हुआ था इस की मूलप्रति मेरे निजी सग्रह मे सुरक्षित है

धर्मदत्त चुतःपदी

आदिभाग—

श्रीजिनाय नम.

श्री आदीसर आदि जिन आदि सकल अवतार।
विघन हरण वाछित करण प्रणमु प्रभु पद सार ॥१॥

अन्त भाग—

श्रीखरतरगच्छ श्रीजिनदत्तजी युगप्रधान पद धार।
पचनदी साधी बाधा घणी कीरति करि विस्तार ॥
श्री जिनकुसलसूरीसर मन धरउ बिरुद धरइ छइ जेह।
अटवी पाणी पावइ आविनइ अतिशय देषिउ एह ॥
पट्टानुक्रम तेहनइ देहनइ श्रीजिनचदसूरिद।
पातिशाह अकबर प्रतिबोधीयो महिमावत मुणिंद ॥
तसु पाटइ वाटइ सुरतरु समउ श्रीजिनसिंहसूरीस।
मनवछित फलदायक वायके सेवीजइ निसदीस ॥
पाट प्रभाकर साकर सारसी मीठी जेहनी वाणि।
श्रीजिनराजसूरीसर जाणीयइ पडित चतुर सुजाण।
तसु सीसई जिनरंगइ रगसु कीधउ चरित मति सार।
सुणता भणता पहुइज्यो सदा श्रीसघनइ जयकार ॥



कीरति तेहनी विजय हुवइ घणउं सहजइ हुवै सौभाग।
साधु तणा गुण गावइ जे सदा मनमई आणी राग ॥
संवत सतरइं सइंतीसैं समइ माह पांचमी गुरुवार।
सुकुलपक्ष श्रीकीशनगढ़ रच्यउ चरित भलउ सुषकार ॥
इति श्री दानाधिकारे श्रीधर्म्मदत्त चतुःपदी समाप्ता ॥

सवत १७३८ वर्षे श्रावणमासे कृष्णपक्षे दशम्यां तिथौ उपाध्याय श्रीप्रीतिविजय गणि तत्शिष्य पडितप्रवर प्रीतिसुदरमुनि सहितेन प्रीतिलाभेनालेखि, श्रीकृष्णगढ मध्ये, लेखक पाठकयोरिति ॥

(अन्य हस्ताक्षरों से)

श्रीवृहत्खरतरगच्छाधिपति भट्टारक श्रीजिनराजसूरिराजपट्टोदयाचल सहस्रकिरणावतार भट्टारक जिनरगसूरि विरचिता श्री धवलचन्द्र भूपाल श्रेष्ठि धर्मदत्ताचुत पदी सपूर्णा जाता सा वाच्यमाना ज्ञानफलदा भवतु। श्रेय सदा भूयात् ॥

—पत्र स० ४६.

किशनगढ़-राज-परिवार की हिन्दी साहित्य सेवा

महाराजा किशनसिंहजी ने स० १६६६ मे किशनगढ बसाया था प्रारम्भ से ही राज-परिवार का सबध वल्लभकुल से रहा है कहा जाता है कि वल्लभाचार्य का मूल चित्र आज भी किशनगढ के दुर्गस्थित मदिर मे श्रद्धा-केन्द्र बना हुआ है. सगीत, साहित्य और कला के उन्नयन मे राज-परिवार का उल्लेखनीय सहयोग रहा है. कृष्णभक्ति का प्राबल्य होने से यहा एक समय उच्चकोटि के कवियो और विद्वानो का खासा जमघट था नरेश स्वय केवल साहित्य और कला के पारखी ही नही, अपितु कवि, विद्वान् और चित्रकार[1] भी थे हिन्दी भाषा के माध्यम से यहाँ के राज-परिवार ने कृष्ण-भक्तिपरक साहित्य प्रचुर परिमाण मे रचा-रचवाया, जिसका समुचित मूल्याकन आजतक नही हो पाया है. सच कहा जाय तो जिस नरेश या महारानी का साहित्य बाहर गया उससे तो तात्कालिक विद्वन्मडली प्रभावित हुई, पर जिनकी कृतिया राज-परिवार तक ही सीमित रही उनका उल्लेख अन्यत्र नही मिलता. अद्यतन प्रकाशित हिन्दी राजस्थानी भाषा और साहित्य के इतिहासो मे जहाँ प्रसगवश किशनगढ राज-परिवार की सास्कृतिक सेवाओ का उल्लेख किया गया है वहा केवल राजसिह, ब्रजदासी, नागरीदास—सावतसिह, बनीठनी, सुदरकुवरी और छत्रकुवरी को ही याद किया गया है अन्य कवि-नरेशो का नाम तक नही है मुझे अपनी गवेषणा के आधार पर कहना चाहिए कि जिन नरेशो की रचनाओ का उल्लेख सूचित कृतियो मे किया गया है वह भी त्रुटिपूर्ण है कारण कि इनकी अन्य रचनाये उपलब्ध है जिनका साहित्यिक दृष्टि से विशिष्ट महत्त्व है अज्ञात रचनाकारो के सबध मे किंचित् भी न लिखे जाने का कारण यही जान पडता है कि ये अन्धकार मे रही नही कहा जा सकता कि ज्ञात से भी अभी और कितनी अज्ञात सामग्री दबी पड़ी होगी !

यहाँ पर किशनगढीय राज-परिवार के उन व्यक्तियो की रचनाओ का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है जो ज्ञात साहित्यिक होते हुए भी जिनकी कृतिया अज्ञात है. अज्ञात कवि-नरेशो की रचनाओ पर विचार अपेक्षित है. ज्ञात रचनाकारो मे महाराजा राजसिह, ब्रजदासी आदि है और अज्ञात कवियो मे रूपसिंहजी, मानसिंहजी, बिडदसिंहजी, कल्याणसिंहजी, पृथ्वीसिंहजी, जवानसिंहजी, मदनसिंहजी और यज्ञनारायणसिंहजी प्रमुख है किशनगढ के आश्रित कवियो मे अभी तक हम केवल वृ द से ही परिचित रहे है, पर अन्वेषण करने पर विदित हुआ कि वहाँ और भी कवि रहा करते थे जिसमे नानिग भी एक थे यदि तत्रस्थित राज्याश्रित कवियो पर विशद अनुशीलन किया जाय तो सरलता-से एक स्वतत्र ग्रथ ही बन सकता है

महाराजा रूपसिंहजी—(राज्यकाल स० १७००-१५)

इन पक्तियो के लेखक के सग्रह मे 'किशनगढ राज्य के महाराजाओ के बनाये हुए पद सग्रह' की एक पाण्डुलिपि

---

१. बहुत कम विज्ञ जानते हैं कि नागरीदासजी-सावतसिंह जी भक्त होने के साथ कुशल चित्रकार भी थे.

सुरक्षित है इसमें कृष्णसिंहजी से लगाकर यज्ञनारायणसिंहजी तक के महाराजाओ के पदो का सुदर सकलन है महाराजा रूपसिंहजी के पूर्ववर्त्तीय नरेशो के नाम के आगे स्थान रिक्त है. इससे ज्ञात होता है कि इनकी रचनाए सग्रहीत नही हो सकी हैं, पर वे कवि अवश्य रहे होगे कम से कम अपने इष्टदेव की स्तुति तो रची ही होगी ! इस सकलन मे महाराजा रूपसिंहजी के कृष्णभक्तिपरक ५ पद सुरक्षित हैं आगे छूटे हुए स्थान से कल्पना करनी पडती है कि और भी पद रहे होगे जिन्हे सग्रहकार न लिख सका था सूचित नरेश के पद भले ही साहित्यिक दृष्टि से विशेष महत्त्व न रखते हो, पर रचना की शृखला की एक कडी तो है ही एक पद उद्धृत किया जा रहा है—

मैं कैसे आऊ दामिनि मोहि डरावत
जब-जब गवन करौ दिशि प्रीतम चमकत चक्र चलावत
वे चातुर आतुर अति सजनी रजनी यो बिरमावत
गावत गवन पवन चलि चचल अचल रहत न पावत
सुनि पिय वचन चतुर चल आये भामिनि सो मन भावत
रूपसिंह प्रभु नगधर नागर मिलि मलार सुर गावत

महाराजा मानसिंह जी [राज्य काल—१७१५-१७६३]—ये स्वाभिमानी वीरपुगव और पूर्वजो के प्रति पूर्ण आस्थावान् थे भगवद्भक्ति के साथ परम व्यवहारकुशल और विद्वज्जनो के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखते थे इन्ही की प्रेरणा से कविवर वृद ने स० १७६२ मे "व च नि का" की रचना की थी इनकी स्वतन्त्र रचना उपलब्ध नही है, पर १०० से अधिक स्फुट पद और ख्याल इन पक्तियो के लेखक के सग्रह मे सुरक्षित है कृष्णभक्तिमूलक गेय पद-साहित्य से पता चलता है, इन्हे साहित्य से गम्भीर अनुराग था, काव्यगत सौदर्य इस वात का परिचायक है लाक्षणिक ग्रथो के अतिरिक्त अपने सम्प्रदाय के सूक्ष्म सिद्धातो से भी अभिज्ञ थे. कही-कही पदो मे सिद्धातो की चर्चा है. यह कहना व्यर्थ है कि ये परम सगीतज्ञ भी थे राजस्थानी और व्रज भाषाओ पर इनका समान अधिकार था राजस्थान मे प्रचलित लोकगीतो की देशियो का पदो मे आकस्मिक रूप से अच्छा सा सग्रह हो गया है

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि इन्हे पूर्वगौरव का वडा ख्याल रहता था पदसग्रह मे भक्तिमूलक पदो का धार्मिक और आध्यात्मिक मूल्य तो है ही, पर सवसे बडा आवश्यक अश है—वल्लभाचार्य और उनके परवर्ती आचार्यों की ऐतिहासिक स्तुतिया इनका किस घराने से सम्बन्ध था, वल्लभाचार्य की भारत मे कहा-कहा कौन-सी शाखाए है और उनकी पट्टपरम्परा क्या रही है आदि बातो का विस्तार इतिहास के साधन की ओर सकेत करता है

यहा प्रसगवश सूचित कर देना आवश्यक जान पडता है कि महाराजा मानसिंह के समय में किशनगढ की सास्कृतिक चेतना प्रबुद्ध व्यक्तियो को आकृष्ट किये हुए थी, वडे-वडे जैन विद्वान् उन दिनो यहाँ पर साहित्यिक रचनाए किया करते थे उपध्याय मेघविजय जी का तो यह सारस्वत साधना-स्थान ही था राजसिंह जी तक वह रहे मानसिंहजी से इनका वैयक्तिक सम्बन्ध था जैसा कि तत्रस्थ राजकीय चित्र से विदित होता है

महाराजा राजसिंह—[राज्य काल १७६३-१८०५] ये महाराजा मानसिंह के पुत्र और सुप्रसिद्ध राजर्षि सावतसिंहजी—नागरीदास जी के पिता थे अभी तक इनकी तीन—बाहुविलास, राजप्रकाश और रसपायनायक रचनाओ का पता लगा है, साहित्यक इतिहासो मे इन्ही का उल्लेख मिलता है खोज करने पर इनकी और भी कृतिया उपलब्ध हुई है

राजसिंह का जन्म स०-१७३० पौष सुदि १२ को हुआ था इनके समय मे किसनगढ सभी दृष्टियो से उन्नत और आकर्षण का केन्द्र था दूर-दूर तक ख्याति थी इनके कविताकाल पर प्रकाश नही पड सका है जिन इतिहासलेखको ने इनकी कृतियो का सकेत दिया है वे भी इन पर मौन ही है पर यह सच है कि इन्हे कविता से गहरी अभिरुचि थी इनकी कृतियो का रचना काल भी ज्ञात नही है, एक कृति मे, जिसका उल्लेख आगे की पक्तियो मे किया गया है, रचनाकाल स० १७८८ है, पर वह तो इनकी प्रौढावस्था का परिचायक है मुझे स० १७६० का एक हस्तलिखित गुटका



मिला है जिसके लेखक है कविवर वृद के सुपुत्र कवीश्वर वल्लभ ढाका मे इसकी प्रतिलिपि की गई थी. सूचित गुटके मे महाराजा राजसिंह की कुमारावस्था मे प्रणीत दोहे लिखे है जिसके उपरि भाग मे इन शब्दो का उल्लेख है "अथ दूहा महाराजि कवर श्री राजसिंह जी रा कहीया छै" प्रतिलिपिकाल से इतना तो स्पष्ट ही है कि सं० १७६० से पूर्व ही इनने कविता लिखना प्रारम्भ कर दिया था इनकी रचनाओ के एक वडे चोपडे मे कुछ कवित्त 'माजि साहिबा रा कहीया छै" मांजी सा० से तात्पर्य इनकी माता से ही होना चाहिए इनकी रचनाओ का विवरण इस प्रकार है

दूहे

श्रीगणेशाय नमः

अथ दूहा महाराजीकवार श्रीराजसिंघजी रा कहीया छै—
काम सुभट वादर कहै विरहनि के उर दाह।
सनाह वारि लै सिंधु तै भए सेत तै स्याह ।।१।।
बूद बाद घनयद कौ चपला कर तरवार।
गाज अरावा साथि लै विरहनिकू सजि मार ।।२।।
जगनू चमकत जामगी धूवाधार सौ रात।
गाज अरावा छुटि सघन, मार-मार के जात ।।३।।
रति मनौज तुम मै कहू पर्‌यौ न अतर ओट।
दुखदाई जानै कहा मेरे जियकी चोट ।।४।।

× × ×

२ व्रज विलास या रसपायनायक ?—रसपायनायक इनकी अन्यत्र उल्लिखित कृति है, मेरे सग्रह मे इसकी जो प्रति है उसमे प्रारम्भ मे तो रसपायनायक नाम आता है पर अन्त भाग मे और मध्यवर्ती भाग में कई स्थानो पर इसका नाम 'व्रजविलास' आया है अत. जब तक रसपायनायक की अन्य प्रति सम्मुख न हो तब तक निश्चित नही कहा जा सकता है कि दोनो कृति एक ही है या भिन्न ? आलोचित कृति तीन भागो मे विभक्त है, प्रथम भाग मे आवश्यक मगलाचरण, कवि-वचन और विवेक-अविवेक के वाद कवि ने रुक्मिणीहरण कथा का विस्तार किया है इसे इतिहास की सज्ञा से अभिहित किया गया है दूसरे भाग मे नायक और नाइका का वर्णन प्रस्तुत है तीसरे भाग मे अन्य प्रासगिक विषयो का स्फुट वर्णन है. ग्रथ मे कवि ने अपनी वात के समर्थन के लिए वृद के पुत्र वल्लभ रचित "वल्लभ विलास" के पद्य उद्धृत किये है वल्लभ राजसिंह के समय मे अपनी जवानी पर थे उन दिनो वह ढाका से लौट आये थे कवि ने इस रचना मे इतिहास शब्द को इतना रूढ बना दिया है कि सामान्य वर्णन को भी इतिहास की सज्ञा दी गई है इस कृति का रचनाकाल इन शब्दो मे लिखकर बाद मे काट दिया है

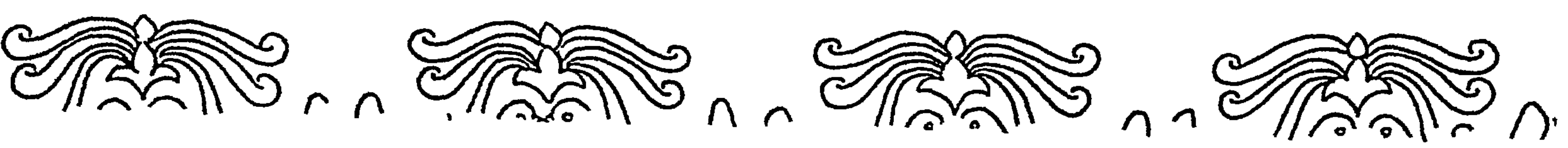
सतरासै अरु ठ्यामियै सुदी दसमी ससिवार।
चैतमास पुरहुतपुर ग्रथ लयौ अवतार ।।

इस कृति का आदि और अन्त भाग इस प्रकार है.

श्रीगणेशाय नमः

दोहा

श्रीगोपाल सहाय हैं महा छैलपति राज।
गुर गनपति सरस्वति सुनौ, देहु विद्या वर आज ।।१।।
जातौ हौ चाहत कह्यौ नायक भेद अनूप।
ग्रथ रीति वरनी कविन यह नायक रस भूप ।।२।।



श्रोता सुनहु सुजान तुम, नायक कहत जताय।
वीर धीर विन छैल ता नायकता नही पाय ॥३॥

अन्त भाग—

चरन कमल नगधरन के रहो सदा मो सीस।
राजसिंघ करि वीनती मागत है ब्रज ईस ॥
ब्रजविलास रन रग कौ दीजै दृग हिय ध्यान।
जुगल सरूप अनूप छवि सुन्दर परम सुजान ॥
सरस रीति गिरिवर पुहमी, तरवर सघन तमाल।
षट्‌रितु छाकै प्रेम रस रसमय जुगल रसाल ॥
गुन वरनन गोपाल कै रसमय वीर सिंगार।
चित चचल निहचल करहु समुभौ यह सुषकार ॥

स्फुट भक्तिमूलक पद—राजसिंह कवित्व-प्रतिभा से मण्डित राजवी थे, एक ओर इनकी जहाँ स्वतन्त्र कृतिया मिलती है, तो दूसरी ओर कृष्णभक्तिमूलक स्फुट पद भी पाये जाते हैं ३१ पद तो एक ही गुटके मे प्रतिलिपित है जन्माष्टमी विजयादशमी, फूलडोल, होली, नृसिंह चतुर्दशी, दीपावली, राधाष्टमी, राम नवमी और गोवर्द्धन आदि प्रसगो को लक्षित कर इन पदो की रचना की गई है इनकी प्रतिभा को देखते हुए पता चलता है कि और पद होने चाहिए. उपलब्ध पद-सग्रह से एक पद उद्धृत किया जा रहा है

चन्द तै इत गोकुल चन्दहि प्रगटत होड परी
उतहि चकोरी इतको गौरी तन मन लखि बिसरी
उतको भोगी इत ऋषि योगी महा मोद मन मानै
उत दै अमृत इत पचामृत लखो प्रगट नहि छानै
उत दुजराज इतै व्रजराजा दोऊ सुर राज सुहाई
पाप कर्म वे धर्म कर्म ये निगम पुरानन गाई
गोपी ग्वाल तहाँ सब वालक दूध दही विस्तारे
राजसिंह प्रभु व्रजकी जीवन भक्ति जगत निस्तारे

जिस गुटके मे महाराजा राजसिंह की कृतिया प्रतिलिपित है उसमे स० १७८७ की लिखी "राजा पचक कथा' भी आलेखित है पर उसमे कर्त्ता का नाम नही है. केवल हाशिये पर "महाराजि राजसिंह कृत कथा" उल्लेख है जवतक इनकी दूसरी नामवाली प्रति नही मिल जाती तवतक इसे राजसिंह कृत मानना युक्ति सगत नही इस कृति मे पाच प्रकार के—धर्मपाल, सिद्ध सुभट, धनसचय, नारी कवच और अधम राजाओ की प्रकृति का वर्णन है, कथाओ का विस्तार औपदेशिक शैली का परिचायक है राजाओ को प्रजा का पालन किस प्रकार करना चाहिए और किन-किन परिस्थितियो मे राजा को क्या-क्या कदम उठाने चाहिये आदि बातो का विस्तार है भक्ति का पुट इतना लगा है जैसे कोई भक्ति—मूलक रचना ही हो विद्वानो से अनुरोध है कि इसकी और प्रति कही उपलब्ध हो तो प्रकाश डालें[1]

---

१ इसका विवरण इस प्रकार है—
आदि भाग—

दोहा

श्रीगुरु गनपति सारदा सदा सहाय गुपाल।
दास भावसी हरि भजै तिनके प्रभु प्रतिपाल ॥१॥



स्फुट कवित्त—इसमे सदेह नही कि महाराजा राजसिंह नैसर्गिक कवि थे. बाल्यकाल से ही कविता मे प्रवृत्ति रही है. अत अनुमान था कि एक ओर जहां इनकी स्वतन्त्र रचनाएँ मिलती है वहा दूसरी ओर इनका स्फुट कवितादि का साहित्य भी मिलना चाहिए, क्योकि कवि हृदय और उर्वर मस्तिष्क सामान्य निमित्त पाकर भी फूट पडता है

वृ द के वशज और अपने युग के किशनगढ के प्रतिभासम्पन्न कवि खुशराम या मगनीराम द्वारा स० १८७८ मे प्रतिलिपित उन्ही के पूर्वज एवम् राजसिंह के समकालीन कवि वल्लभ रचित ''वल्लभविलास" की प्रति सुरक्षित है इसके अतिम भाग मे ३० कवित्त आलेखित है जिनके शीर्ष स्थान पर "श्री महाराजाधिराज श्री राजसिंघ जी रा कह्या कवित्त" यह पक्ति लिखी है पर कवित्त मे कही भी न तो इनका नाम है और न ही इनकी छाप है उदाहरण स्वरूप एक कवित्त उद्धृत करने का लोभ सवरण नही किया जा सकता है—

> करो जिन सोर वह ठाढो चित चोर एरी पेम फेम जोर जोर डरो दिन चोर मैं ।
> फिर चहु ओर यहही पोर गहो करा जोर पायो आज भोर पर्यो सषीन की जोर मै ।।
> मान कह्यो मोर यह नन्द को किशोर जब भुजन सौ जोर राषो घर मार मै ।
> दैहू फोर को तुम्है कहत निहोर सपी कोरक मरोर याकी देषो नैन कोरमे ।।१।।

इसी गुटके मे आगे २१ कवित्त और हैं जिनके आगे टिप्पणी है "श्रीमाजी साहिबा रा कह्या दोहा" सभवत ये पद्य व्रजदासी के हो ?

व्रजदासी–बांकावती—महाराजा राजसिह की धर्मपत्नी और कछवाहा सरदार बाकावत आनन्दसिंह की पुत्री थी इनका जन्म लगभग स० १७६० में हुआ था बाकावत की पुत्री होने के कारण इन्हे बाकावतीजी भी कहते हैं. यो तो इनने अपने आपको स्वरचनाओ मे व्रजदासी के नाम से अभिहित किया है, पर कतिपय पद्यो मे 'बाकी' छाप भी पाई जाती है जैसा कि आगामी पक्तियो से फलित होगा इनका पाणिग्रहण सस्कार वृन्दावन मे महाराजा राजसिंह के साथ स० १७७८ मे हुआ था जैसा कि वह स्वय स्वकृति 'सालव जुद्ध' में इन शब्दो मे स्वीकार करती है

> वृन्दावन के माहि जहा चैनघाट की ठौर ।
> पानिग्रहन तिंहि ठा भयौ बाधि रीति सौ मौर ।।१६२।।
> मुष्य कृपा गुरु जानिये वहुरचौ पुरी प्रभाव ।
> पानिग्रहन सुभ ठौर भी सु भौ सबै सुभाय ।।१६३।।

सालव जुद्ध, स्व-सग्रहस्थ प्रति से उद्धृत

> हरिजन हरिकौ भजत है रसना नाम महेस ।
> श्रवन कथा सतसग मैं निज तन नम्र बिसेस ।।२।।

ग्रन्त भाग—

> कुल मारग जो वेद गति चलिये सोई चाल ।
> झूठि-झूठि तजि जगत की तवै कृपाल गुपाल ।।११७।।
> पच नृपनकी यह कथा सूछिम कही वनाय ।
> श्रीनगधर उर धारिये सो है सीस सहाय ।।११८।।
> ।। इति श्री पचम राजा अधम सपूर्ण ।

सवत १८८७ मागसर सुदि ३ चन्द्रवासरे लिपिकृत स्वेताम्वर नानिग ।। शुभ भवतु ।। श्री ।।
प्रतिलिपिकार नानिग स्वय कवि और सुलेखक थे इनके द्वारा प्रतिलिपित साहित्य किशनगढ के राजकीय सरस्वती भण्डार मे विद्यमान है.



ब्रजदासी किशनगढ की पारम्परिक सास्कृतिक ज्योति की एक किरण थी उन्हे साहित्यिक अध्ययन मे उल्लेखनीय अभिरुचि थी किशनगढ के राजकीय सरस्वती भडार मे शताधिक हस्तलिखित प्रतिया है जिनकी पुष्पिकाओ मे सूचित किया गया है कि ये सब इन्ही के लिये लिखी गई है यद्यपि ऐसी कृतियो मे अधिकाशत धार्मिक है, पर नाइका भेद, चिकित्सा, लक्षण ग्रथ, पिंगल आदि विपयो का भी इनमे अन्तर्भाव हो जाता है भागवत और उज्वलनीलमणि, रामायण और भक्तमाला जैसी कृतियो को सुन्दर चित्रो से सुसज्जित करवाया गया है जो उनकी कलात्मक अभिरुचि का प्रमाण है किशनगढी शैली के चित्रो का, राजस्थानी चित्रो मे अपना स्वतन्त्र स्थान है, बल्कि स्पष्ट कहा जाय तो सर्वाधिक आकर्पणशक्ति इसी शैली के चित्रो मे हैं वल्लभाचार्य और उनकी परम्परा के लगभग सभी आचार्यो, भक्तो और तदनुयायी सतो के प्रामाणिक और नयनाभिराम चित्रो का जैसा सग्रह किशनगढ मे है वैसा अन्यत्र दुर्लभ ही है जो चित्र व्रजदासी के लिए विशेष रूप से कलाकारो ने तैयार किये थे उन पर चित्र-काल और भावसूचक टिप्पणी विद्यमान है

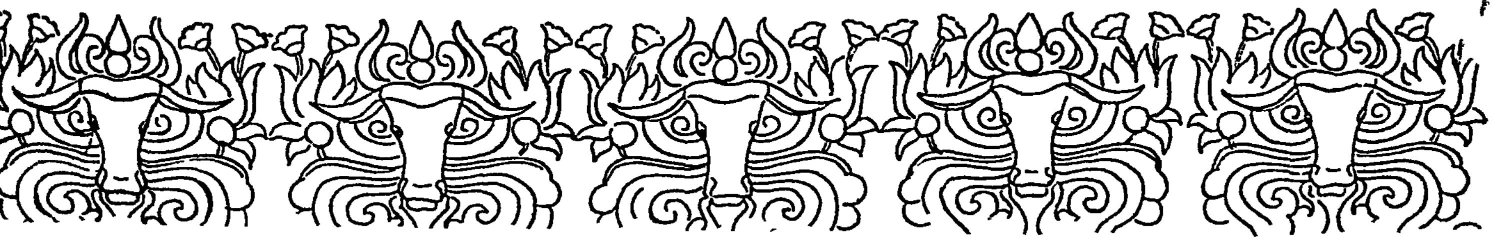
ब्रजदासी की साहित्यिक साधना के परिणाम स्वरूप अभी तक केवल भागवतानुवाद की ही चर्चा रही है मिश्रवधु विनोद, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (ले० डा० सावित्री सिन्हा) और अन्य तथाकथित इतिहासो मे इनकी यही रचना स्थान पाती रही है हिन्दी कवियित्रियो मे यही प्रथम अनुवादिका है जिसने भागवत का अनुवाद गेय परम्परानुसार न कर प्रबन्धात्मक शैली को अपनाया है डा० सावित्री सिन्हा ने अपने शोधग्रथ मे व्रजदासी और भागवतानुवाद पर सक्षेप मे, पर सार गर्भित प्रकाश डाला है मथुरावासी प० जवाहरलालजी चतुर्वेदी ने भी "सम्मेलन पत्रिका" के वर्ष ४६, स० १, पृष्ठ ७५-८१ मे व्रजदासी भागवत पर विचार व्यक्त किये है पर चतुर्वेदीजी ने इस लहजे मे भागवतानुवाद का उल्लेख किया है जैसे सर्वप्रथम ही यह कृति प्रकाश मे आ रही है, पर वात ऐसी नही है इत पूर्व कई स्थानो मे उल्लिखित हो चुकी है सम्मेलनपत्रिका मे भागवत के अनुवादको की जो सूची दी है उसमे नागरीदास का नाम नही है, जब कि होना चाहिए था अस्तु.

नव्य कृतियाँ—यहा व्रजदासी की अज्ञात कृतियो का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है इन पक्तियो के लेखक को अपनी साहित्यिक-शोधयात्रा मे सालव जुद्ध, आशीप सग्रह एवम् स्फुट कवित्त उपलब्ध हुए है सालव जुद्ध मे पौराणिक प्रसग को लेकर इनने अपनी काव्यप्रतिभा का प्रदर्शन किया है रचना भक्तिरस से ओतप्रोत है इससे पता चलता है कि वह न केवल सफल अनुवादिका ही थी अपितु स्वतन्त्र ग्रथकर्त्री भी थी सूचित कृति का विवरण इस प्रकार है—

श्रीगणेशायनम , श्रीराधेकृष्ण जयति, श्रीगुरुभ्यो नमः

अथ सालवजुद्ध लिष्यते

गुरु दयाल कीजै कृपा निज आश्रम मो जानि ।
भई इच्छा जस कहन की जो हरि जसकी षानि ।।१।।
हरि गुन को कहिकै सकै कौन कहन सामर्थ ।
सैस महेस सुरेस हू अजहू लहत न अर्थ ।।२।।
पग चहत परबत चढ्यौ सूर दिव्य द्रग पाय ।
चुहा सिंधु चाहत तिर्यौ हू जु चहत गुन गाय ।।३।।
जिहको जस चाहत कियौ सौ अब हौहू सहाय ।
गुरु मुष तै आज्ञा लहै तव हौं करौ उपाय ।।४।।
गवरी नद आनन्द जुत सिव सुत सिद्धि गनेस ।
जय जय सुरगन नमत हू जय जय सबे रिषेस ।।५।।
श्रीव्रषभानकुमारी तुम नदलाल तुम प्रान ।
यह इच्छा पूरन करौ मो मति मद हि जान ।।६।।



गुन अनन्त गोपाल के कोऊ न पावत पार ।
मैं मति अपनी समझ कछु कहू सभारि बिचार ।।७।।

छप्पय

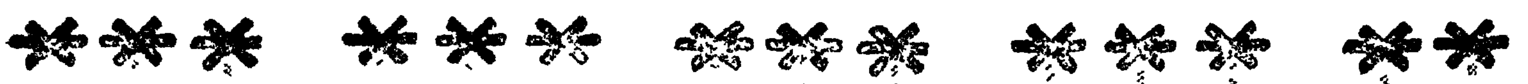
भए सिरी हरिव्यास अवतार प्रगट जग ।
लाल लाडिली प्रेम रग रस हिय मै जगमग ।।
सेवत कुवर गुपाल लाल महा रूप रसाला ।
निस दिन कान्ह सुजान हिये वास्यौ प्रतिपाला ।।
दुर गाहि ताहि दिच्छा दई किते पार करि करि दये ।
व्रजदास दासी तुम सरन है श्रीहरिव्यास जय जय जए ।।८।।
परसराम गुरु महासकल गोपाल लडायौ ।
श्रीसर्वेसुर नाम रहै हिय नित प्रति छायौ ।।
राम-रौम की जात भूलि सुधि प्रेम रग मैं ।
झलकत जुगलकिशोर माधुरी अग अग मैं ।।
निहचै प्रतीति रस रीति सो लषि सरबेसुर रस रसमे ।
व्रषभान लली ब्रज लाडली अरु गुपाल हिय में वसै ।।९।।

दोहा

तिनकै पाट प्रसिद्ध महि जोति जगत हरिवस ।
रग रगे गोपाल के सुरगन करत प्रसस ।।१०।।
श्रीनारायनदेव जग प्रगट रसिक सिर मौर ।
लाल लाडिली रग बिन हिय मै ध्यान न और ।।११।।
महा मदध जग के नृपति तिनके अकुस रिषिराज ।
करे साध परबोध करि यह जग जगी अवाज ।।१२।।
काम क्रोध को दड है तजी लोभ की टेव ।
जय जय जग में सब भई जयत नराइनदेव ।।१३।।

छप्पै

तिनके रिप रिषराज सिरी वृदावन प्रगटे ।
ज्यौ तिनुका धनसार तुही करि मनसु लपटै ।।
तन मन प्राण गुपाल नैन धन रूप रसाल ।
वध्यौ रहत नित नित चरन हरि प्रीत हि जाल ।।
सुभ ज्ञान ध्यान पूजन जुगति भगति भाव मन वच कियौ ।
तिन वैर तीन कलिजुग माहि सरवेसुर परचा दियौ ।।१४।।
वेद स्मृति जे अग वहुरि सासत्र सब गनियै ।
गनीयै सबै पुरान सबै क्रम जुत नित भनियै ।।
सध्या सुमरन मत्र तत्र जो कछु चलि आवै ।
लाल लडैती रग सुजस हित सौ हिय छावै ।।
जग जीव जिते उद्धार कौ श्रीवृदावन अवतरे ।
वाके कृपाल गोपाल हरि प्रगट जगत अपने करे ।।१५।।



अन्तः—

दोहा

यह प्रसग ऐसौ कह्यौ मैं मो मति उपमान ।
कृष्ण सुजस कौ कहि सकै ऐसौ कौन सुजान ॥१६९॥
तामैं मो मति मद है अरु अति चित्त अजान ।१७०॥
यह विचार कीनो सु मैं गुरु कृपा उर आँन ॥
कृपासिंधु तुम जुगल हो कीजै मो हिय बास ।
ब्रजदासी बिनती करत यह धरि हिय मे आस ॥१७१॥
निगमबोद यमुना तटे उत्तर दिसि के ठाहि ।
यह पोथी कीनी लिखी इन्द्रप्रस्थ के माहि ॥१७२॥
सवत सतरा सै समैं बरस तियास्यौ मान ।
मगसर वदि एकादशी मास चैत सुभ जान ॥१७३॥
॥ इति श्री सालवजुद्ध सम्पूर्ण ॥

इसकी रचना स० १७८३ मे दिल्ली मे निगमबोध घाट पर हुई. इस प्रतिलिपि का काल स० १७८७ है

आशीष संग्रह :

यह नाम मैंने दिया है वस्तुत इसका नाम क्या रहा होगा ? नही कहा जा सकता, कारण कि कृति अपूर्ण ही उपलब्ध हुई है इसमे विवाह के प्रसग पर भिन्न-भिन्न जातियो द्वारा दी जानेवाली आशीर्वादमूलक वचनावलियो का सग्रह है, इसीलिए यह नाम रख लिया गया है खण्डित प्रति मे मालनी, चित्रकार, चितेरी, गधी, गधिनी, नायण, दरजण, तबोलण, ढाढी, ढाढण, ग्वालन, भाडण, रगरेजन, कुभारी, मनिहारन और मेहतरानी की आशीषो का सकलन है कतिपय पद्यो मे ब्रजदासी का नाम भी आया है—

ब्रजदासि प्रान किय वारनै,

× × ×

कह जु ब्रजदासियं वसो जु ध्यान वासिय, —मालण की आशीस,

× × ×

भई वारनै कुवरि पद बार-बार ब्रजदासी, —चतेरा की देवा की आशीष,

× × ×

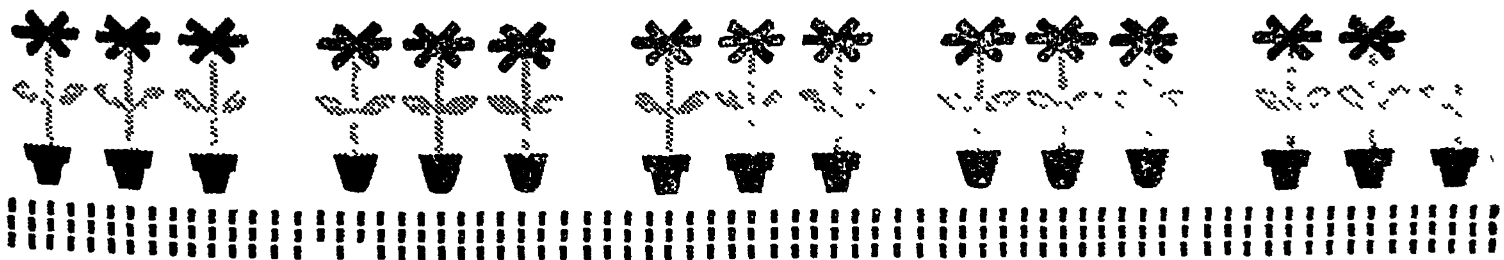
दासी निज सुन्दर मन, —ढाढण के देवा की आशीष,
ब्रजदासी पावै यहै जुगल भगति की चाही —ढाढी के पढवा की वशावली,

पाठको की जानकारी के लिए एक आशीष उद्धृत करना समुचित होगा—

अथ चतेरे की देवाकी आशीष

छंद भुजंगी

नृप भानकै आज उछव अपार भई है कुवार लडैती उदार ।
लजै मेघ ऐसे जवे है निसान तिहु लौक आनन्द छायो अमान ॥
बधाई बधाई वरसान छाई लली होत सोभा रविं वस पाई ।
दए दान ऐसे महाराज भान भए है कगाल नृपाल समान ॥



पढै चारण भाट वाह उभार लहै नेग नेगी विना वार पार ।
सुनी वात येह जवै नदराय सवै गोकलं हर्ष वाढ्यौ अथाह ।।
रणवास जुक्त वरसान आए भयौ चित्त चाह्यौ बजे है वधाए ।
जुथ-जुत्थ गोपी नृप द्वार आवै कर भेट लीनै महा सोभ पावै ।।
चलै धाय धाय सुरजी लगावै चित मोद छाई हसै औ हसावै ।
मिले नद भान भए है षसाल मिल्यो मेल चाह्यौ रगीन रसाल ।।
वरसान मानौ दुध मेह वर्षे धन्य कीर्त्तिकु षेतिहु लोक हर्षे ।
दधि दूध कौ दोम च्यो भान ठाम, रमैंक जमकै करे षेल षाम ।।
वडे भाग नेगी यह द्यौस पायौ लली द्वै कुलको कलस चढायौ ।
भई स्याम तै है लली की सगाई सुनी सासरे पीहर सोभ पाई ।।
अवै ह्वै विवाह लली लाल केरो वृपभानि हो सुकृत जन्म केरो ।

दोहा

अब वह दिन कव होय जब महारग की भीर ।
वैठे दपति सेज पै देषि रचौ तसबीर ।।

स्फुट कविता—स० १७८७ के गुटके मे "बाकी" छाप के कतिपय कवित्त प्रतिलिपित है ये सब बाकावती के ही जान पडते है इनकी सख्या ६ है आगे स्थान छुटा हुआ है सभव है प्रतिलिपि करते समय छूट गये हो, एक कवित्त उद्धृत किया जा रहा है—

नैन पिया के लगै तित ही उतही अबलै मन आप ढरौंगी ।
काजर टीकी करौ तिहकी सषि सौतिन सौ कछु लाजि डरौंगी ।।
'बाकी' रहौ सब ही जगसौ लषि प्रीतम कौ नित चित्त ठरौंगी ।
वाहि रची सुरुची हम हू हौतौ प्यारे की प्यारी सौ प्यार करौगी ।

सुंदरकुंवरी बाई—ये उपर्युक्त बाकावती की पुत्री थी] इनका जन्म स १७९१ कार्तिक शुक्ला ९ को हुआ था यह भी अपने माता पिता के समान कवित्व-प्रतिभा से मडित थी तात्कालिक राजकीय वैषम्य के कारण २१ वर्ष तक अविवाहित रही स० १८१२ में इनका विवाह रूपनगर के खीचीवशीय राजकुमार बलवतसिंह के साथ सम्पन्न हुआ. पर दुर्भाग्य ने इनका साथ नही छोडा पितृगृह तो क्लेश का स्थान था ही पर अव तो स्वसुर-गृह भी अशान्ति का केन्द्र बन गया, कारण कि इनके (पति ?) सिंधिया सरदारो द्वारा वन्दी बना लिए थे बाद में मुक्त करवा दिये गये थे इनकी प्राप्त समस्त रचनाओ का विवरणात्मक परिचय डा० सावित्री सिन्हा ने अपने 'मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ' नामक शोध प्रवन्ध में दिया है वहाँ ग्रन्थ-रचना काल विषयक कतिपय भ्रान्तिया हो गई है जिनका परिमार्जन प्रसगवश कर देना आवश्यक जान पडता है इसके पहिले मैं सूचित कर दू कि सन् १९५४ में जब ग्वालियर मे था तव वहाँ के साहित्यानुरागी श्री भालेरावजी के संग्रह मे एक वडा चौपडा देखने मे आया था जिसमे सुन्दरकुवरि बाई के समस्त ग्रथ प्रतिलिपित थे. मैंने उनका विवरण ले लिया, उसी के आधार पर यहाँ सशोधन प्रस्तुत किया जा रहा है.

उपर्युक्त शोध-प्रवन्ध में भावनाप्रकाश का रचनाकाल स० १८४५ माना गया है जो ठीक नही जान पडता, ग्वालियर वाली प्रति में प्रणयन समय स १८४९ वताया गया है—

सवत यह नव द्ंनसैं गुणंचास उपरत ।
साकै सत्रहसैरु पुनि चउदह लही गनत ।।



माघ मासकैं सुकल पष तिथ पंचमि बुधवार।
सपूरन यह ग्रथ किय सुन्दरकुवरि विचार ।।८३।।

सार सग्रह का रचनाकाल भी सूचित शोध प्रबन्ध मे स० १८४५ वताया गया है जब कि स्व० भालेरावजी की प्रति स० १८४७ सूचित किया है—

सवत सुभ षट त्रगुन सै सैतालीस उपरत।

प्रेम सपुट का निर्माण-काल भी डा० सावित्री सिन्हा ने स० १८४८ माना है जब कि वस्तुत. इसका सृजन समय स० १८४५ है

संवत अठारह सै जु है पैंतालीसा जानू।
साकै सत्रहसै रु दस सिद्धारथ सुप्रमान ।।५४।।
महा मास वैसाष सुद पूर्नवासि तिथ जास।
वार मंगलिय भौममो पूरन ग्रथ प्रकास ।।५५।।

छत्रकुवरि बाई—ये सुप्रसिद्ध सतप्रवर श्री नागरीदासकी पौत्री और सरदारसिंहजी की पुत्री थी. किशनगढ राज-परिवार की कृष्णकीर्त्तिगायिका कन्याओ मे इनका स्थान भी प्रमुख है प्रेमविनोद इनकी सुन्दर काव्य-कृति है डा० सावित्री सिन्हा ने इन पर भी आलोचनात्मक प्रकाश डाला है, परन्तु प्रमादवश सवतो मे ऐसी भ्रान्तियाँ घर कर गई है जिनका सशोधन आवश्यक है, वर्ना भ्रामक परम्परा आगे फैल सकती है. बात यह है कि उक्त शोध प्रबन्ध पृ० १६८ पर इनका परिचय देते हुए सूचित किया है—

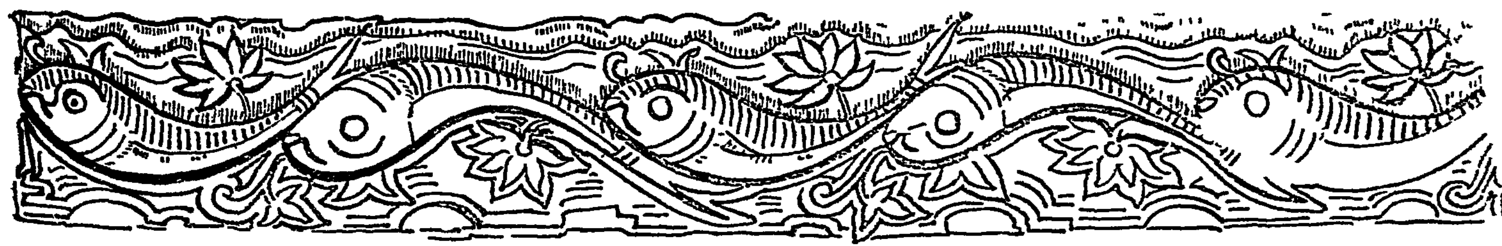
'छत्रकुवरि बाई नागरीदासजी के पुत्र सरदारसिंह की पुत्री थी. इनका विवाह स० १७३१ मे काठडे के गोपालसिंह जी खीची से हुआ था विवाह मे इनकी आयु लगभग सोलह वर्ष की तो अवश्य रही ही होगी, अत इनका जन्म स० १७१५ के लगभग माना जा सकता है' —मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ पृ० १६८

उपर्युक्त पक्तियो मे जो सवत् प्रयुक्त हुए है, सर्वथा असत्य है कारण इनका जन्म स० १७१५ मे कैसे माना जा सकता है उन दिनो तो महाराजा राजसिंह का भी जन्म नही हुआ था जो नागरीदासजी के पिता थे राजसिंह के स० १८०५ मे स्वर्गवासी हो जाने पर तो राजपरिवार मे सत्ता के लिए महान् सघर्ष छिड गया था, सरदारसिंह का राज्यत्वकाल स० १८१२ से स० १८२३ तक का रहा है १७२५ और १७३१ मे राजसिंह के पूर्ववर्त्ती महाराजा मानसिंह का का शासन था. सवतो की यह भूल विदुषी लेखिका से न जाने कैसे हो गई है सच बात तो यह जान पडती है कि १८ के स्थान पर सर्वत्र १७ अक लिख दिया है थोडी सी असावधानी से कितनी बडी भ्रान्ति फैल जाती है इसी भूल के परिणाम स्वरूप ही शोध-प्रबन्ध मे छत्रकुवरि रचित 'प्रेम विनोद' का रचना समय भी १७४५ दे दिया है जब कि होना चाहिए था स० १८४५, जैसा कि कवयित्री स्वय स्वीकार करती है—

सवत है नव द्वंन सै पैंतालीस वढत।
साकै सत्रह सै रु दस सिद्धारथ सु कहत ।।
मास असाढ सुकुल पष तीज बृहस्पतवार।
सपूरन यह वारता कीनी मन अनुसार ।।

इन पक्तियो के ऊपर का भाग शोधप्रबन्ध में उद्धृत किया गया है, यदि लेखिका स्वल्प ध्यान देती तो यह भ्रमपूर्ण बाते लिखने का अवसर न आता.

यहाँ पर एक बात का स्पष्टीकरण आवश्यक जान पडता है कि यो तो किशनगढ का राज-परिवार वल्लभकुलीन रहा है पर महारानियो द्वारा रचित कृतियो में सर्वत्र मगलाचरण मे निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्यो के नाम आते रहे हैं



इससे विदित होता है कि पुरुष वर्ग वल्लभकुलीन था और नारी समुदाय सलेमाबाद स्थित निम्बार्क गद्दी का उपासक था, वैष्णव शाखा मे यह परम्परा रही है कि पुरुष और नारियो का गुरु-घराना एक नही हो सकता

महाराजा विड़दसिंहजी—(राज्य काल स० १८३८-१८४५) इनके स्फुट पद्यो के अतिरिक्त गीतगोविंद की गद्य-पद्यात्मक टीका पाई जाती है. ३०० पत्रो की विशद् हिन्दी टीका के देखने से पता चलता है कि शायद ही कोई इतनी विशद वृत्ति हो इनके निर्माण मे महाराजा ने तत्काल मे वहाँ निवास करनेवाले विहार प्रदेश के सुप्रसिद्ध विज्ञ और विवेचनकार श्री हरिचरणदास से प्रर्याप्त सहायता ली है एक रघुनाथ भट्ट का नाम भी आता है जो सभवत 'गोविंद लीलामृत' के प्रणेता हो ?

विडदसिह के समय मे भी विद्वान् और कवि समादृत होते थे. एक ओर वृन्द के वशजो का सास्कृतिक दृष्टि से किशनगढ मे प्रभुत्व था तो दूसरी ओर वाहिर के विद्वान् भी आकर वहा निवास करने मे अपने को गौरवान्वित समझते थे. चाहे राजनैतिक उत्पात कितने ही आये हो पर साहित्यिक सरिता के प्रवाह मे शैथिल्य नही आया खेद की वात इतनी ही है कि वहाँ के अन्य कविओ पर अन्वेपण नही हो पाया है यदि वहाँ का राजकीय सरस्वती भण्डार विशिष्ट दृष्टि से टटोला जाय तो संभव है वहाँ की सास्कृतिक चेतना के दर्शन हो सकेगे

कल्याणसिंहजी—(राज्य काल स० १८५४-६५) महामहोपाध्याय श्री विश्वेश्वरनाथ जी रेऊ रचित 'मारवाड के इतिहास' मे प्रदत्त इनके काल मे और मुन्शी देवीप्रसादजी कृत मे 'राज रसनामृत' मे सूचित समय मे वैपम्य है, पर उस पर विचार का यह स्थान नही कल्याणसिंहजी के स्फुट पद मिले है एक उद्धृत किया जा रहा है—

राग वसत, ताल धमार

रति पति दे दुख करि रतिपति सौं

तू तो मेरी प्यारी और प्यारे हू की प्यारी उठि चलि गजगति सौ
दूती के वचन सुनि-सुनि मुसक्यानी भूपन वसन सौधौ लियो वहो भाति सौ
कल्याण के प्रभु गिरधरन धरक धाय लई अति उर सौ

महाराजा पृथ्वीसिहजी—(राज्यकाल स० १८९७-१९३६) ये फतहगढ की शाखा से गोद आये थे इनका केवल एक ही पद प्राप्त है जिसमे वल्लभाचार्य की परम्परा का उल्लेख है महाराजा का विशद् वर्णन प्राप्त नही है, पर अन्यान्य ऐतिहासिक सम सामयिक साधनो से सिद्ध है कि उस समय राज-परिवार मे ज्ञान की चेतना उन्नति के शिखर पर थी. महाराज कुमारो को भी साहित्यिक शिक्षा दिलवाने का विशिष्ट प्रबध था, तभी तो वह आगे चलकर स्वतत्र ग्रथकार प्रमाणित हुए महाराजा पृथ्वीसिह का एक पद इस प्रकार है

वशावली

श्रीमहाप्रभु वल्लभ प्रगट तिन सुत विठलनाथ ।
जिनके गिरधरजी प्रगट उनके गोपीनाथ ।
श्रीप्रभुजी जिनके भये विठ्ठलनाथ प्रमान ।
उन सुत वल्लभजी भये फिर श्री विठ्ठलनाथ ।
करि करुणा या करन मही मोकू कियौ सनाथ ।
जिनके सुत रणछोडजी है कुवरन सिरमौर ।
इनको वश वधो वहुत यह आशिप करू कर जोर ।

जवानसिंहजी—यह उपर्युक्त महाराजा पृथ्वीसिंहजी के द्वितीय पुत्र थे इनका कविताकाल स० १९४५-४६ लगभग है ये परम कृष्ण भक्त राजवी थे इनकी तीन रचनाए—'रस तरग' 'नखशिख-शिखनख' और 'जल्वये शहनशाह इश्क'—



मौलिक और एक सग्रहात्मक—'घमार सग्रह' इन पक्तियो के लेखक के सग्रह मे सुरक्षित है. रचनाओ मे कवि ने अपनी छाप 'नगधर' या 'नगधरदास' रखी है.[1]

कविवर जवानसिंहजी का अध्ययन अत्यन्त विशाल और तलस्पर्शी था जयलाल या जयकवि इनके मित्र और साहित्यिक सहयोगी थे यह स्वाभाविक ही है जब दो सहृदय कवि एकत्र होकर सारस्वतोपासना करने लगे तो उत्तम फल प्राप्त होते ही हैं सचमुच उन दिनो किशनगढ का साहित्यिक वातावरण कितना परिष्कृत और प्रेरणादायक रहा होगा ?

रसतरग—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है इस मे कृष्णभक्तिमूलक रस की आध्यात्मिक तरगो का बाहुल्य है कवि हृदय की मार्मिक अनुभूतियो का सुदर और सहज परिपाक सूचित रचना मे हुआ है कवि ने आत्म निवेदन मे जिन भावो की सफल सृष्टि की है, वह अनुपम आनन्द का अनुभव कराती है, ऐसा प्रतीत होता है मानो अनन्त मानवो का स्वर एक कण्ठ से ध्वनित हो रहा हो शान्त, भक्ति और वात्सल्य रसो की धारा पूरे वेग से प्रवाहित हो रही है भक्तिरस है या नही ? इसकी विवेचना यहा अप्रस्तुत है, पर इतना कहना पडेगा कि कृष्णभक्ति के मधुरोपासक कवियो ने इसे रस के रूप मे प्रतिष्ठित अवश्य किया है. कोई भी भाव—चाहे स्थायी हो या व्यभिचारी—प्ररूढ अथवा प्रवृद्ध होने पर रस की कोटि मे आ जाता है भगवान् के गुणो का सततचिन्तन, श्रवण एवम् मनन करते रहने से आत्मा स्वाभाविक रूप से अन्तर्मुखी आनन्द का अनुभव करता है और इसका चारित्र के साथ सबध प्रवृद्ध होने पर तो तदाकार भी हो जाता है. आलोच्य कृतिकार चाहे सत या भक्त कोटि मे न आते हो, पर उनकी अभिव्यक्ति भक्त की पूर्वपीठिका के सर्वथा अनुकूल है प्रेमभक्ति का प्रवाह रसतरग की अपनी निजी विशेषता है ग्रथ के अत परीक्षण से विदित होता है कि कवि ने केवल अपने सहज स्फुरित भावो को ही लिपिबद्ध नही किया, अपितु एतद्विषयक आवश्यक अध्ययन के अनन्तर शास्त्रीय परम्परा को ध्यान मे रखते हुए भावभूमि का सृजन किया है तभी तो वह इष्टदेव के प्रति पूर्ण समर्पण कर सका है.

प्रस्तुत रसतरग को अध्ययन की सुविधा के लिये तीन भागो मे विभाजित करना होगा प्रथम भाग मे बधाइया जिनका सबध कृष्णचरित से है, द्वितीय भाग मे वे बधाइया आती है जो वल्लभाचार्य और उनके वशजो से सम्बद्ध है इसमे वल्लभाचार्य स्वय, विठ्ठलनाथजी, (कोटावाले) गोपीनाथजी दीक्षित, तीसरे गिरधरलालजी आदि आचार्यों का समावेश होता है तीसरे भाग मे कवि ने दीपावली, चीरहरण, होली आदि प्रसगो को लेकर भगवान् कृष्ण की जीवन-

---

१ इस की स्पष्टता कवि ने अन्यत्र कई स्थानों पर की ही है, पर इनकी रचना 'जल्वये शहनशाह इश्क' की टीका में वृन्द के वशज कविवर जयलाल ने भी इस पर इस प्रकार प्रकाश डाला है—

कवि मनभाव वर्णन

नगधर लखि चित अटकि कैं पर्यो गिर्यो मधि फन्द ।
ज्यौं बालक लड बावरो चहत खिलौंना चन्द ॥३६॥

टीका

नगधर इति—यामैं कवि मन भाव वर्नन है, 'नग' जो गिरराज जिनके धारण करनेवाले जो प्रभू जिनकौं लखि देखिकैं मैं बीच फदा के पड गयौ, अर्थात् मेरो चित्त हैं सो पभून मैं आसक्त हुयो सो प्रभू जगदीश अचिन्त्यानद ब्रह्मा शिवादिक कौं ध्यानागम्य ऐसे प्रभू कहा, तहा पर दृष्टात जैसें जो बालक चद्रमा कौं खिलौना करके मागैं, यह कहैं जू यह खिलौंना माकौं लाय दो, वह खिलौंना कैसैं आवैं, कहा तो बालक अरू कहा वह चन्द्रमा ऐसैं जानौं अरु यहा 'नगधर' पद हैं सो कवि को काव्य रचना को नाम भी है दृष्टात अलकार है

भाषा भूषन

जहा बिब प्रतिबिब सौं दुहू वाक्य दृष्टान्त ।

इति, यहा उपमेय वाक्य कवि मन फद में पडनौं प्रतिबिब अरु उपमा वाक्य बालक को चन्द्रमा खिलौंना मागनौं बिब है ॥३६॥

जल्वये शहनशाह इश्क की टीका की निज सग्रहस्थ
प्रति से उद्धृत, पत्र १२-८,



घटनाओ पर प्रकाश डाला है पट् ऋतुओ के साथ भगवान् की तुलना करके कविने जो प्राकृतिक शोभा का वर्णन प्रस्तुत किया है वह तो कवि हृदय की चरम परिणति है. कवि विचारो मे उदार प्रतीत होता है, वह परम कृष्णोपासक होते हुए भी उसने वडी ही श्रद्धा से मर्यादा पुरुपोत्तम राम की भी एक वधाई लिखी है कही-कही स्वमतपोपणार्थ महाराजा नागरीदास, स्वामी हरिदास आदि सत प्रवरो के पद उद्धृत किये है भापाभूपण और किशनगढ प्रवासी कवि हरिचरण-दास कृत सभाप्रकाश का उपयोग किया है. पूरा ग्रथ राग-रागनियो मे ही नही है, कवित्त, सवैया, दोहा आदि भी प्रयुक्त हुए हैं इन रचनाओ मे जहा कही काठिन्य है उन स्थानो की कवि ने टीका भी साथ ही साथ समाविष्ट कर कृति का गौरव द्विगुणित कर दिया है

जैसा कि ऊपर सूचित किया जा चुका है कि जवानसिंह-नगधर का अध्ययन वहुमुखी था, विषय प्रतिपादन मे वह दक्ष है तो अनेकार्थ साहित्य के प्रति भी उदासीन नही एक उदाहरण दिया जाना उपयुक्त जान पडता है—

हरित कदव भूमि हरियारी हरी[१] अमावस हरचो[२] समाज ।
हरी सवारी[३] साज चल्यो है हरी[४] गाज सवहि न मन राज ।।
हरि तनया[५] प्रफुलित[६] हरि गुजत[७] हरि सोभा सुख धाम ।
हरित लतनि मे[८] हरित हिंडौरा हरि सग[९] झूलत हरिमुख[१०] वाम ।।
हरि[११] कुज गहर[१२] हरियारी हरि[१३] सोभा वरनी नही जात ।
हरे रतन[१४] तन वसन हरे रग हरीय पहुपमाला[१५] सरसात ।।
हरी[१६] हरी[१७] पर सोभित अद्भुत, हरि[१८] वरसत हरि लायौ ।
हरी[१९] राग गावत मुरली मे मधुरै मन[२०] हरि[२१] भायौ ।।
हरिवरनी[२२] हरिगमिनी[२३] री तू हरिलोचनि[२४] मदमाती ।
हरिकटि[२५] लचकत सग झूलन मे हरिवैनी[२६] उछराती ।।
हरखि-हरखि[२७] गावत मधुरै सुर भई हरी रग राती ।।
'नगधर[२८] हरि हरख[२९] हरियारै हरी हरी[३०] सवहिन मन भाती ।।

कवि ने रसतरग मे जहा एक ओर व्रज भाषा का उपयोग किया है वहा दूसरी ओर अपनी मातृभाषा ढुँढाडी को विस्मृत नही किया है

रचनाकाल कवि ने नही दिया है, पर प्रतिलिपि काल और कवि की अन्य कृतियो से सिद्ध है कि स० १९४५ के लगभग रसतरग रचा गया है

जल्वये शहनशाहे इश्क—३६ पद्यात्मक यह लघुतम रचना साहित्यिक सौदर्य का भव्य प्रतीक है कवि ने इसमे आत्मस्थ सौदर्य को साकार कर अपनी काव्यकला का उल्लेखनीय परिचय दिया है सम्पूर्ण रचना प्रतीकात्मक है भगवान् कृष्ण को शहनशाह मानकर उसकी सृष्टि का एक राज्य के रूप मे वर्णन किया है शहनशाह, रानी, मत्री, नगर, दुर्ग, सिंहासन, न्यायालय और उसके अध्यक्ष, जल्लाद, छत्र, चवर, धनुष-वाण, ध्वजा नौवत, मुसद्दी, कोतवाल, मेना, विपयक उपकरण, शस्त्रास्त्र कोश, खेमा, नौबत आदि का विशद् परिचय देते हुए भाट का स्थान नागरीदास के

यहा जो टिप्पण दिये गये हैं वे सव कवि के ही हैं—

१. हरियारा अमावस, २ प्रसन्न सपी गनादिक, ३ काम की सवारी, ४. इन्द्र की गाज
५ जमुनाजी, ६. प्रफुल्ल, ७. गुजै है भ्रमर, ८ हरिवल्लरी, ९ श्रीकृष्ण, १० चद्रवदनो, ११ सवज कुज हैं, १२ गहवर हैं, १३ वन, १४. पन्ना, १५. कमल पुष्प की माला, १६ इद्र धनुप, १७. आकाश पर, १८ जल वरसै हैं, १९. पवन चल्यो हैं, २० मन का २१ हरिर्का, २२ कनकवरनी, २३ गजगमनी, २४. मृगनैनी, २५ सिहसो, कटि, २६ सर्पना वैना, २७. प्रसन्न भई, २८ राजा, नगधर कवि कौ नाम, हरी राजा, २९. हरि की प्रीत, ३० हरी-हरी यह पूर्वोक्त जमक शब्द की उक्ति सर्व के मन भावती हुई है ।









के लिये सुरक्षित रख लिया जान पडता है राजस्थान मे भाट का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता रहा है भगवान् के भाट नागरीदासजी—सावतसिह है जिसने उनका यश चतुर्दिक् फैलाया. कवि के ही शब्दो मे पढिए—

भाट वर्णन

भाट नागरीदास नृप इशक शानशा हेत ।
सब जग मय जाहिर किया इश्कचिमन रस केत ।।२२।।

भाट इति—यामैं भाट कौ वर्णन है इश्क जो शहनशाह राजाधिराज है ताके हेत कहियैं, तिह के कारण नागरीदास नृप जो कृष्णगण के महाराज सावतसिहजी द्वितीय हरि सबध नाम नागरीदासजी सो भाट है, सो यह महाराज वडे महानुभाव परम भगवत् भक्त सो इनकी महिमा तो लघु पुस्तक मे लघु बुद्धि सौं कहा तक वर्नन करैं, अरू आपके कवित्व-छदादि तो बहुत है परन्तु तिन मे दोय प्राचीन छप्पय लिखते है—

सुत कौ दै युवराज आप वृदावन आये ।
रूपनगर पतिभक्त वृन्द बहु लाड लडाये ।।
सूर धीर गभीर रसिक रिझवार अमानी ।
सत चरनामृत नेम उदधि लौ गावत वानी ।।
नागरीदास जग विदित सो कृपाठार नागर ढरिस ।
सांवंतसिंह नृप कलि विषै सत त्रैता विधि आचरिय[1] ।।१।।

पुनः—

रग महल की टहल करत निज करन सुघर वर ।
जुगल रूप अवलोक मुदित आनद हियै भर ।।
ललितादिक जिहि समै रहत हाजर सुखरासी ।
तहाँ नागरीदास जुगल की करत खवासी ।।
श्रीलाड लडैती करि कृपा परिकर अपनौ जाँन किय ।
शक्रादि ईशहूकौ अगम सो वृदावन वास दिय ।।२।।

पद

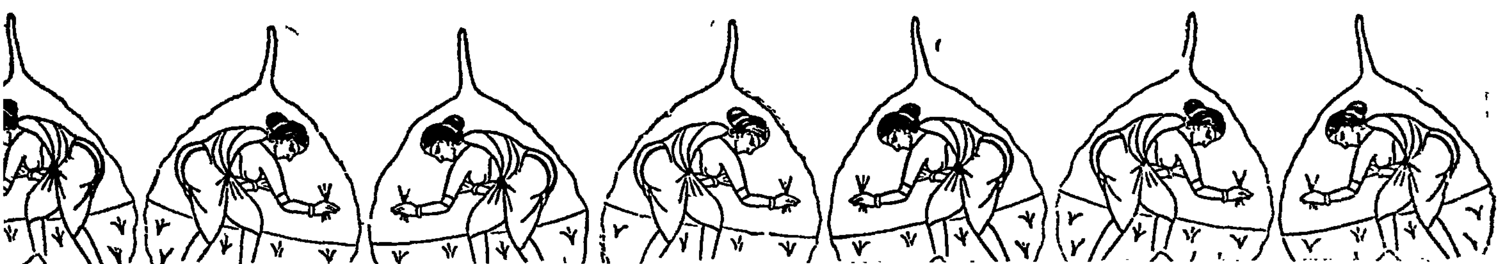
कृष्ण कृपा गुन जात न गायो
मनहु न परस करि सकै सो सुख इन ही दृगनि दिखायो ।
गृह व्योहार भुरट २ को भारो शिर पर तैं उतरायो ।।
नागरिया कौं श्रीबृदावन भक्त तख्त बैठायो ।।

ऐसे महाराज नागरीदासजी इश्क महाराज को सुयश वहुत वनर्न कियो है सोई उत्तरार्द्ध मे कह है सब जगमय कहियै सर्व ससार मैं "इश्कचिमन" नाम ग्रथ "रस केत" कहियै रस की ध्वजा जैसो जाहिर किया कहियै प्रगट कियो है इश्क महाराज को सुयश वर्णन कियो या तैं भाट कहे "भा" नाम सोभा ताके अर्थ "अट" कहियै फिरै ताकौ नाम भाट है अरु भाट सौ जाति की उत्तमता अरु उत्पत्ति की शुद्धता जगत मैं जानी जाय है, तैसें "इश्कचिमन" सौ इश्क की उत्तमता, अरु इश्क को शुद्ध स्वरूप जान्यौ जाय है तातैं भाट कहे

---

१. कहा जाता है कि नागरीदास का जो स्मारक वृदावन में बना है उस पर यह पद्य अंकित है.

२. राजस्थान के रेतीले प्रदेश में "भूरट" नामक काटेवाला खाद्य पदार्थ होता है



प्रस्तुत कृति कवि ने स० १९४५ चैत्र मे तैयार की और उसी वर्ष वृ द के वशज कविवर जयलाल ने विस्तृत टीका—"इश्क प्रकाशिका" रची यहा इतना स्पष्टीकरण कर देना चाहिए कि कतिपय पद्यो की—जैसे अन्न सबधी—टीका स्वयं जवानसिंहजी ने की है एक पद्य की उद्धृत टीका से ही इसकी उपादेयता समझ मे आ सकती है. टीका मे स्वमत-पोषणार्थ—गीतगोविंद, भानुदत्त रचित रसतरगिणी, वात्स्यायन सूत्र की जयमगला टीका, बिहारी सतसई, नागरीदास का समस्त साहित्य, हरिचरणदास का सभाप्रकाश, उज्ज्वल नीलमणि, गोवर्द्धन कृत सप्तशती, सूरसागर, परमानन्द-सागर, भागवत, रसप्रबोध, विद्वन्मडन, अमरकोश, ८४ वैस्णवन की वार्ता, भाषाभूषण, सुबोधिनी और मनुस्मृति आदि अनेक प्रामाणिक ग्रथो से उद्धरण देकर कृति के सौदर्य को निखार दिया है ऐसी मूल्यवान् रचना का प्रकाशन नितान्त वाछनीय है.

इसका विवरण इस प्रकार है :

सोरठा

ब्रज जन जीवन प्रान है इलाहि महबूब नित ।
कृष्ण करैं जिहिं ध्यान है अधीन जिनके सदा ।।१।।
हरि राधा हित रीत मै विप्रयोग रस सार ।
तहा प्रीत सोइ प्रेम है सोइ इश्क निर्धार ।।२।।

अन्त भाग :—

पैंतालीस-उगनीस सैं प्रथम चैत्र कजवार ।
ऋतु वसत पून्यौ सु तिथि, कीनौ ग्रथ उचार ।।३७।।
इति श्रीमहाराज जवानसिंहजी कृत
जलवय शहनशाह इश्क सपूर्ण ।।

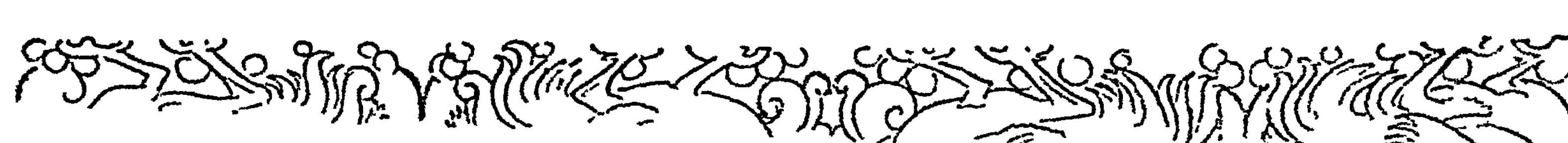
नखशिख-शिखनख—हिन्दी साहित्य मे कई कवियो ने नखशिख का भव्य वर्णन प्रस्तुत किया है जवानसिंह ने भी इस विषय के ग्रथो में अभिवृद्धि की है १०४ पद्यो की कृति मे भगवान् कृष्ण और उनके समीप रहनेवाले उपकरणो का विशद वर्णन भावपूर्ण भाषा मे किया गया है. इस रचना का महत्त्वपूर्ण अश है—हरिभक्त नाम माला—इस मे वैष्णव सम्प्रदाय के सभी कृष्णभक्तो का नामोल्लेख है. अन्वेपको की सुविधा के लिए नामावली प्रस्तुत की जा रही है :

सूरदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, कुभनदास, गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी, नन्ददास, चतुर्भुजदास, गदाधर, हरिदास, हरिवश, विहारिनदास, श्रीभट्ट, माधौदास, वृ दावनदास, गोपालदास, रामराय, रामदास, जनहरि, घनश्याम, राघौदास, किशोरी-दास, विष्णुदास, रघुनाथदास, विठ्ठल, सूरकिशोर, हरिवल्लभ, हृषिकेश, मानचन्द, सूरदास, मदनमोहन, तुलसीदास, कल्यानदास, कृष्णजीवन लच्छीराम, तानसेन, गोविन्ददास, विठ्ठलदास, जनकृष्ण, ठाकुरदास, जन तिलोक, चन्द्रसखी, शिरोमणि, चतुरविहारी, बाल, हरनारायन, स्वामीदास, सगुणदास, व्रजपति, जगनाथ कविराय, दामोदरदास, गरीब-दास, धीरजप्रभु, व्यास, अग्रस्वामी, हरिजस्वन, मुकुद प्रभु, चरनदास. राजाराज, वल्लभदास, सुदरघन, रघुवीर, लघु गोपाल, वल्लभरसिक, आसकरन, ताजखाँन, धौधी, रूपसिंह, (किशनगढ नरेश) ब्रजदासी, (किशनगढ नरेश राजसिंह की रानी) सावर्तसिंह-नागरीदास, आनन्दघन, जगतराय, सुघरराय, जगजोउ, मुरारि, घासीराम, पेंम रसिक, जुगलदास, कवि किशोर, अभिलाषी, हित अनूप, विजयसखी, वरसानिया नागरीदास, दयासखी, नरहरिदास, रसिक सखी, आदि.

नखशिख का विवरण इस प्रकार है :

नृत्यगोपालो जयति

अथ नखशिख-शिखनख महाराजा श्री जवानसिंहजी कृत लिख्यते



दोहा

जय-जय मोहन मुरलिका अधर सुधाकर दान।
नखशिख कौ वनर्न करौ धरिकै तेरो ध्यान ।।

अन्त भाग —

अथ प्रशस्ति वर्णनम्

नगधर कवि बरनन कियो नखशिख-शिखनख लाग।
प्रति भूपन बरनन कियो मानहु उपमा बाग ।।१०३।।
छियालीस उगनीस सै सवत आश्विन मास।
तिथि पून्यौं वनर्न कियो यह श्रृगार सुरास ।।१०४।।

इति श्रीमन्महाराजाधिराज श्रीपृथ्वीसिहजी तद्द्वितीय पुत्र महाराजा श्रीजवानसिंहजी कृत नखशिख-शिखनख वर्णन सपूर्णम्

सवत १९४६ का पोस मासे शुभे शुक्लपक्षे तिथौ ६ भृगुवासरे लिखित ब्राह्मण मथुरादासेन कृष्णगढ मध्ये श्रीरस्तु

धमार संग्रह—प्रस्तुत कृति का सकलन जवानसिंह ने किया है इस मे निम्न कवियो की १०० धमारे सकलित है :

"कृष्णजीवन, गोकुलचन्द, चतुर्भुजदास, गोविन्दस्वामी, माधौदास, जगन्नाथ कविराज, सुमति, गदाधर भट्ट, जनकृष्ण, आसकरन, शिरोमणि परमानन्द, सूरदास, जनतिलोक, गोपालदास, छीतस्वामी, विठ्ठल, मुरारिदास, जन रसिकदास, कृष्णदास, राघौदास, जिस प्रकार जैनाचार्यो की पद्यमय पट्टावलियाँ पाई जाती है ठीक उसी प्रकार इनमे से कतिपय धमारो मे वल्लभ कुल की पट्टावली दी गई है इन मे से कतिपय तो वल्लभ कुल के क्रमिक इतिहास पर प्रकाश डालती है"

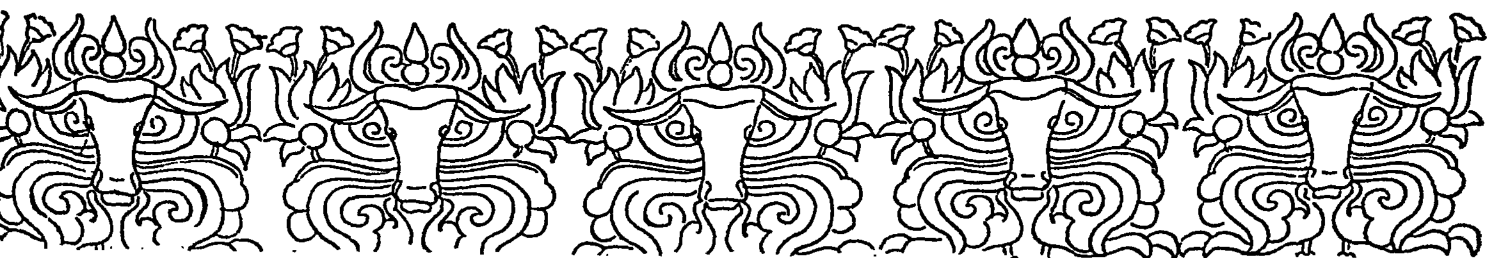
यज्ञनारायणसिंह जी—[राज्य काल स० १९८३-९५]—ये किशनगढ की सास्कृतिक परम्परा के अतिम महाराजा थे. इनके बाद राजवश मे कवित्व प्रतिभा का अन्त सा हो गया ये स्वय बडे अच्छे कवि और प्रतिभावान् व्यक्ति थे इनने कई स्फुट पद, रसिया और सवैया आदि लिखे है इनकी कृतियो मे केवल भक्तिपक्ष प्रधान नही है, साथ ही सैद्धातिक भावभूमि भी बहुत ही पुष्ट रही है वल्लभ वशावली इनकी सुन्दर और ज्ञातव्यपूर्ण कविता है सुना गया इनके समय मे उत्सवादि खूब हुआ करते थे, बाहर से भी कलाप्रेमियो को अपने यहा आमन्त्रित कर उनका समुचित आदर करते थे. सगीत और साहित्य मे इनकी विशेप अभिरुचि रहा करती थी

इनके दो रसिया इस प्रकार है

डफ काहे को बजावै छैला घर नेरो
जब हौ मिलौगी रसिया मोहि लरेगी कलह करेगी बहुतेरो।
सास ननद सुन लख पावेगी छैला भरम धरेगी ।।
यज्ञ पुरुप प्रभु तिहारी मिलन मे बहुत परेगो उरझेरो ।।

नेरो मोहि राख पलगवारे
आव जो पोढो मैं पाव पलोटो विधना ढोरू रतना रे।
अपने हाथन तुमहि जिमाऊ बीच झपट ले नन्दवारे ।।
यज्ञ पुरुष वल्लभ यही सुख दे और लगत फीके सारे।

नागिंग—इनका परिचय प्राप्त नहीं है केवल अनुमान लगाया जा सकता है कि ये किशनगढ के आश्रित या निवासी रहे होगे क्योकि इनने सं० १७८७ मे किशनगढ नरेश राजसिंह कृत [?] "राजा पचानक कथा" की प्रतिलिपि की थी



और उनकी कृति का सम्वन्ध भी अगत किशनगढ से जान पडता है नाम के आगे श्वेताम्बर शब्द का प्रयोग भी इन्हे इसी भूखण्ड का प्रमाणित करता है आगामी पक्तियो मे देखेगे कि परवर्ती कवि पचायण ने भी इस शब्द का उपयोग आत्माभिधान के आगे किया है पर वह जैन धर्मावलवी प्रतीत नही होते जैसा कि ग्रथो की प्रशस्तियो से सिद्ध है

कवि नानिग की अज्ञात रचना है 'मजलिस शिक्षा' सभा-समितियो का व्यावहारिक ज्ञान इस में सचित है किस प्रकार की सभा मे कैसे लोगों का प्रवेश होना चाहिए और जैसी मजलिस हो वैसा अपने को वनाने का प्रयत्न करने की ओर कवि का सकेत है सभाओ के नियमो से अनभिज्ञ एक मोहणोत परिवार का सदस्य देवीदास [जो सम्भवत. किशनगढ का ही निवासी हो] कवि के साथ ढाका की एक महफिल मे सम्मिलित हुआ और वेअदवी से लातो का शिकार हो गया इस प्रसग पर कवि ने अपने वगाल के अनुभवो का रोचक वर्णन किया है वगाल की सामाजिक स्थिति का सुन्दर चित्र उपस्थित किया है वताया गया है वगाल देश के ढाका नाम के नगर मे एक सुन्दर उपवन है जिसके मध्य मे विशाल सरोवर है, आलीशान मकान वने हुए है जिन पर चित्रो का काम राजस्थान के भवनो की चित्रकला का स्मरण कराते है

मजलिस शिक्षा के अन्त परीक्षण से पता चलता है कि सभवत. कवि का वृ द से या उनके पुत्र से अवश्य ही सम्वन्ध रहा होगा, असभव नही उन्ही के साथ ढाका गया हो, कारण कि वृ दने अपनी सतसई वहाँ ही स० १७६० में समाप्त की. उन दिनो इनका पुत्र वल्लभ भी ढाका में ही था जैसा कि मेरे सग्रहस्थ एक उन्ही के हाथ से प्रतिलिपित गुटके से प्रमाणित है मोहोणोत परिवारीय व्यक्ति की चर्चा नानिग ने की है, किशनगढ में उन दिनो यह परिवार उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित था जैसा कि स० १७८६ के जैन विज्ञप्ति पत्र से सिद्ध है. किशनगढ के राजकीय सरस्वती ज्ञान भण्डार मे इनके हाथ से लिखे ग्रथो की सख्या पर्याप्त है

इनकी रचना का विवरण इस प्रकार है ·

गणेशाय नमः

अथ मजलस सिछा लिष्यते

दोहा

जै जै श्रीव्रजराज जै जै जै नन्दकुमार ।
जै जै श्रीराधारवन जै जै मदन मुरार ।।१।।
जै जै श्रीगनपति सदा जै जै सरस्वति बानि ।
जै जै श्रीगुरुदेव मम जै जै कवि जग आनि ।।२।।
सभा सिछा की वारता, हौ कछु कहत जताय ।
बुरौ न मानहिं सुघर नर, समझत भलै वताय ।।३।।
कवि नानिग ऐसे कहै श्रोता सुनहु सुजान ।
बुरौ जु मानौ वात सौ वे मूरप अज्ञान ।।४।।

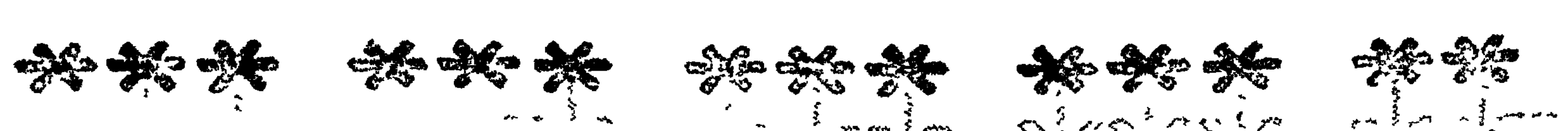
अन्तः भाग—

संवत सतरासै निवै भादव मास पुनीत ।
तिथि चवदसि समिवार कौ, रच्यौ ग्रंथ जुत नीत ।।१६८।।

इति श्रीमजलम सिछा कवि नानिग कृत सपूर्ण ।। शुभ भवतु ।। स० १७६० मे कवि ने कृति समाप्त की.

पंचायण—ये अजमेर के निवासी जान पडते है. इनकी अज्ञात कृति मिली है "मुहूर्त्त कोश" इस लघुतम रचना मे सामान्य मुहूर्त्तो का परिचय दिया गया है. कृति हिन्दी कविता मे निवद्ध है.

प्राचीन कई ऐसी रचनाए मिल जाती है उनका सम्वन्व तो अपने-अपने विपय से रहता है, पर कभी-कभी उनकी अन्त्य प्रशस्तियो मे ऐतिहासिक सकेत वड़े काम के मिल जाते है. मुहूर्त्त कोश यद्यपि ज्योतिप से सवद्ध है, पर इसमे अन्त



भाग मे कवि ने अजमेर के निकटवर्त्ती स्थानो का अच्छा परिचय दे दिया है वहाँ की प्राकृतिक सुषमा और प्रेक्षणीय स्थानो के अतिरिक्त तत्रस्थ पुरातन जल व्यवस्था पर भी सकेत किया है तारागढ के ऊपर जो पानी पहुचाने की व्यवस्था थी, उसका कविताबद्धसजीव और सागोपाग वर्णन इस रचना को छोड अन्य कही भी दृष्टिगोचर नही हुआ अत प्रशस्ति का भाग पूरा उद्धृत कर दिया है

कृति का पूरा विवरण इस प्रकार है

मुहूर्त्त कोश

आदि भाग—

श्रीगणेशाय नम.

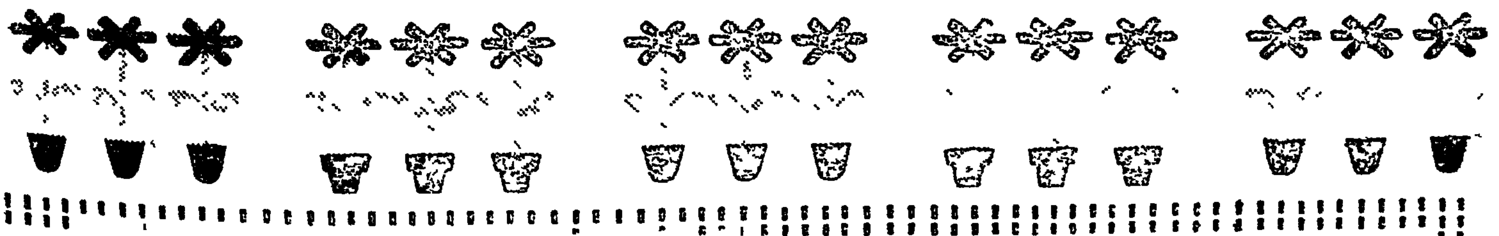
दोहा

विघन विडारन सुषकरन सेवित सकल जिनेस।
रिध सिध वर दे रिधु गवरीय नन्द गणेस ॥१॥
गुरु सारद नारद समर सिध सनकादि सहाय।
सह गण पडित पय प्रणव मो द्यौ उकत उपाय ॥२॥
छद भग दीरघ लघु न धरो मो पर रोस।
कवि इणसु लवुता करै करिहू महूरत कोस ॥३॥
लगन वार ग्रह सात है रिष' है अठावीस।
तिनके नाम जू फेरवु तौ हू म करौ रोस ॥४॥

अन्त—

अथ ग्रन्थ ओपमा कथन सवईया

गिरहू मैं मेर जैसैं ग्रहा पजयर जैसै नागन मैं सै जैसै दनन मैं क्रीता है।
देवन मे इन्द्र जैसै नाषित मैं चन्द्र जैसै जतियन मैं हनु जैसै सतीनमैं सीता है॥
रूप मैं राम जैसै करतामैं व्रह्म जैसे ध्याननमैं ईस जैसे ज्ञाननमे गीता है।
तीरथमैं गग जैसै सासत्तमैं जैसै—— —— —— —— —— —— —— ——त वदीता है ॥६४॥
वाल वुद्धि पिंगल जू लाड रिष तामे रिषनाम हूँ तें देख डरा धरो है।
वसन जू वर्ण च्यार पवन अठार दूनें मे जतना कोय आको पोरस मे भरा है॥
रावत सवाई आन प्रतपें अषड भान सूरन सुभट थाट धनी जिनवरो है॥
कोट गढ नाहि षाई बेरी सब त्रास जाई ऐसौ जू नगर यारौ अवर अरो है॥
चली नगर अजमेर हू तें पतिपे मिलन चली नाल षाल पूत लेकै चली एह लूनी है।
षोहू द्रह नीर वले चालत जू वेग चलै रूष न उवेरे मूल मारे धर धूनी है॥
सागी फुनि सूकरी जू दोहू सोक आय दिली रोस जब धर्यौ ताम भई रेल दूनी है।
नदी के जू एक पार- सिवको सुथान सोहै वैठे जडधार सभू देवल पताल जू।
वडे वन वाडी बाग धुनि होत जा ल्यावत अनेक लोक फूलन की माला जू॥
आठौ गिन आठौ याम सेवित सकल ताम देवन कौ देव एह प्रणमे भूपाल जू।
गोरी पुनि गग सीस चाद पर चढ्यौ ईस मेटत अनद अग टलहे जवाल जू ॥६७॥
नगर सौ पच्छिम नौ वनकौ सघन थान मारन अढार वृच्छ वडी राजधानी है।
वनकै जू मध्य ठौर षल नाल ताल भरै भील नर नारी जू जिहा विमल पानी है।



तिनकें जू तीर परें सोहत सुभग घोरै चढता जू नाहि सोरे टूक असमानी है।
धूरको पहार एहमानों गिरमें रनसौ ताहिकै जू सीस पर धीमज भवानी है ।।१९८।।
अचल मोभ दर्वे अवर जू सत रवें आगम के भेद अवें जे कीरत सरजू जू।
माप जस कीरत जू वावन ही वीर साधै आनत मिठाई वेग टालै दुष दूर जू ।।
कीरत करमचन्द पण्डित जू गोवर्द्धन सीस भए राज मानौ साधु गुन पूर जू।
दोनू सीस दोय पच जू अनोपचन्द राम ही गोपाल भ्रात वाधें नित नूर जू ।।१९९।।
ब्रह्मा के वशमाहि वडे रिप भारद्वाज ताहू के प्रवर तीन माघन की साष है।
पढे है जजूरवेद तिनके जू गोत पुनि राघव से भट भए वेद मुष आप है ।।
तास सुत नरवद जू सिवकी जू बाचहू ते रहे जाय काशीमे पढे गुन लाप है ।।
गोविंद सुत चलो जू जोसी जगरूप सुत हरदत्त हीर वीर जोतष को आष है ।।२००।।
गन वान ससि नाग ससि सवत १८१५ श्रावन जू सेत पप वीज सनीवार है।
मघा वरीयान जोग वालव करन माहि सूरज उदै काल घर ही अठार है ।।
पत्र पल उपर जू ताहि ससे लग्न अली कुर्कट सक्रान्त गत रुद्र पुनि वार है।
पूरन प्रमान कीयौ पडित जू देप दीयौ मौरत कौ कौस एक मौरत अपार है ।।२०१।।

दोहा

सेतावर पचाइणे जोए सगलै जोस ।
वीरचद रै वासतै कीयौ मौरत कोस।। २०२ ।।

—इति श्री भापा मोहरत कोस कवि पचायण कृत समाप्त

विजयकीर्त्ति—इस नाम के दिगम्बर जैन-परम्परा मे अनेक विद्वान् हुए है. उदाहरणार्थ एक तो 'सरस्वती कल्प' के प्रणेता मलयकीर्त्ति के गुरु इनका अनुमित समय १४ वी शताब्दी मे है[1] 'श्रृगारार्णव चन्द्रिका' के रचयिता विजय वर्णी के गुरु जिनका समय सदिग्ध है तीसरे राजस्थान के ही सुप्रसिद्ध कवि कामराज द्वारा 'जयकुमार आख्यान' मे स्मृत इस प्रकार और भी विद्वानो का पता 'जैन सिद्धान्त भवन, आरा (विहार) से प्रकाशित 'प्रशस्ति सग्रह' से चलता है परन्तु यहाँ जिन विजयकीर्त्ति का उल्लेख किया जा रहा है वह सूचित सभी विद्वानो से भिन्न है इनका सवन्ध स्वर्णगिरि[2] की भट्टारक परम्परा से रहा है. भट्टारक मुनीन्द्रभूषण के ये व्रजलाल नामक शिष्य थे स्वर्णगिरि का सवन्ध ग्वालियर की गद्दी से रहा है दीक्षित होने पर व्रजलाल विजयकीर्त्ति नाम से अभिहित किये गये इनके वैयक्तिक जीवनपट को आलोकित करनेवाले प्रमाणभूत साधन अनुपलब्ध है. कवि ने भी अपनी रचनाओ मे स्व-परिचय के प्रति उपेक्षा भाव ही रखा है इनके शिष्य दयाचन्द[3] और गोकल मुनि ने अपने गुरु की प्रशसा मे एक-एक गीत लिखा है जिससे केवल

---

१. प्रशस्ति सग्रह, सपा० भुजवलीजी शास्त्री, प्रकाशक जैन सिद्धान्त भवन, आरा।

२. स्वर्णगिरि विषयक स्पष्टता अपेक्षित है कारण कि राजस्थान में जालोर का नाम भी स्वर्णगिरि रहा है, पर सूचित स्थान मध्यप्रदेश में अवस्थित है. सोनागिरि के नाम से प्रसिद्ध है यह सिद्धक्षेत्र है. नग अनगकुमारों का निर्वाण स्थान यही है. प्राचीन दिगम्बर जैन साहित्य में इस क्षेत्र की महिमा गाई गई है, विजयकीर्ति के शिष्य प० भागीरथ मिश्र ने उस तीर्थ की प्राकृतिक छवि और उसके धार्मिक महत्त्व को प्रकाशित करनेवाली 'सोनागिरि पच्चीसी' का स० १८ में प्रणयन किया था. एक समय यह बुदेलखड का सर्वजनमान्य तीर्थ था. महाराजा छत्रशाल का भी यह श्रद्धाकेन्द्र रहा है

३ गीत इस प्रकार है—

अथ जखडी लिख्यते

श्रीजी सारद मान मनावस्या काई लागुं गणधर पाय सहेली माहारी हो ।
गुण गावुं श्री गुरु तणा विजयकीर्त्ति रिखराय सहेली माहारी हो ।
आजि मेंह सद्गुरु वादस्या ।।१।

इतना ही पता चलता है कि ये मूलत ग्वालियर मडलान्तर्गत स्यौपुर[४] के निवासी छावडा गोत्रीय सा० हेमराज के पुत्र थे इनकी माता का नाम वेणी बाई था गीतकार के कथनानुसार इनने विधिवत् लोचकर मुनि दीक्षा अगीकार की थी पाडे दयाचन्द ने प्रस्तुत स्तुति स० १८२४ मे रची। इस समय मे विजयकीर्त्ति का यश सूर्य मध्याह्न मे था अब तक इनने कई कृतियो का सृजन कर लिया था २०० से अधिक स्फुट पद लिख चुके थे कई शिष्यो के गुरुत्व के सौभाग्य से मण्डित हो गये थे

इनके एक शिष्य देवेन्द्रभूषण भी थे जिनके बनाये स्तवन मिलते है कही-कही गुरुजी का भी स्वल्प उल्लेख कवि ने कर दिया है दो सूचन महत्त्व के मालूम दिये एक तो यह कि विजयकीर्त्तिजी ने स० १८२१ मे बडवाई के निकट बावन-गजाजी की और मुक्तागिरि की यात्रा की थी, उस समय देवेन्द्रभूषण इनके साथ थे दोनो तीर्थो के तात्कालिक वर्णन उस समय की स्थिति का सुन्दर चित्रण समुपस्थित करते हैं

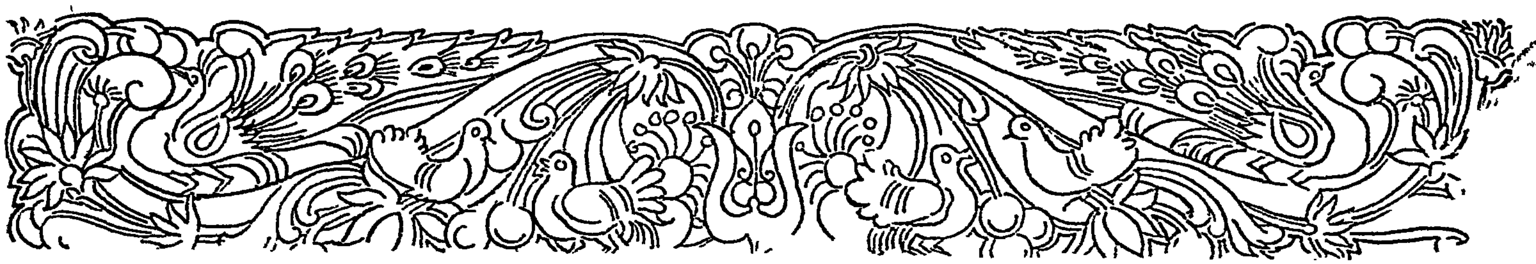
इनके इतने विद्वान् शिष्यो के रहते हुए भी किसी ने सही जानकारी नही दी कि ये भट्टारक और बाद मे मुनि कब बने ? और अजमेर की गद्दी पर कब आरूढ हुए ? इन पक्तियो के लेखक के सग्रह मे वृत्तरत्नाकर की एक हस्तलिखित प्रति है जो स० १८१६ मे विजयकीर्त्ति के शिष्य सदाराम द्वारा किशनगढ के समीप रूपनगर मे प्रतिलिपित है, इसकी लेखनपुष्पिका से इतना तो तय है कि स० १८१६ से पूर्व ग्वालियर मे अजमेर पधार गये थे और इनका धार्मिक शासन अजमेर प्रदेश मे भली प्रकार जम चुका था

विजयकीर्त्ति अजमेर और नागौर से सवद्ध थे ये परम सारस्वतोपासक रहे जान पडता है परिणामस्वरूप जहा कही भी ये स्वय या उनका शिष्य परिवार पहुचता वहा ज्ञान भडार की स्थापना अवश्य ही हो जाती थी कारण कि शिष्य वर्ग भी सुलेखक और परिश्रमी था अजमेर का जो दिगम्बर जैन भण्डार है, असभव नही वह विजयकीर्ति की सारस्वतो-पासना का परिणाम हो, कारण कि अधिकतर प्रतियो का लेखन दयाराम, भागीरथ, सदाराम और गोकल मुनि द्वारा हुआ है जो सभी विजयकीर्ति के ही शिष्य थे प्रशस्तियो मे विजयकीर्ति का भी उल्लेख प्रमुख ज्ञानागारो के सस्थापको के रूप मे किया है रूपनगर, भिणाय, मसूदा और चित्तौड मे ज्ञान-भण्डार स्थापित किये थे

अद्यावधि विजयकीर्त्ति प्रणीत इन कृतियो का पता लगा है—

श्रीजी स्यौपुर शोभतो साह हेमराज सुत सार। सहे०
लोच करायो जुगत सु श्रीजो छावडा वश वषाण सहे० ॥२॥
श्रीजी मडल विध पूजा रची रह्या हेमराज सुत सार। सहे०
कर पहरावणी गुरु तणी फुनि देय भली जमणार सहे० ॥३॥
कर न्वहण भगवती को कई माल लई तिण वार सहे०।
सा साहि मूलसग शोभतो काई पूज्या जिनअवतार सहे० ॥४॥
श्रीजी लाहण दीन्ही भावसु बाई वेणि कर अधकार सहे०।
छावडा कुल मैं ऊपनी काई काला धरवर नारी सहे० ॥५॥
श्रीजी सवत अठारामै चौबीस्में काई जेष्ठ वदि आठै सार। सहे०
पडित दयाचन्द इम बीनवै काई सघ सदा जयकार॥ सहे० ॥६॥ निज सग्रहस्थ गुटके से उद्धृत

४ स्यौपुर एक समय जैन सस्कृति का और विशेषकर दिगम्बर-परम्परा का सुप्रसिद्ध केन्द्र था वहाँ के निवासी रुचिशील जैनों ने जैन साहित्य के निर्माण में उल्लेखनीय योग दिया है यद्यपि वहाँ की साहित्यिक एवम् सास्कृतिक प्रगति का मूल्याकन समुचित रूपेण नही हो पाया है, पर जो भी वहा की रचनाए प्राप्त हुई हैं उनसे हिन्दी जैन साहित्य पर नूतन प्रकाश पड़ा है ग्वालियरी भाषा का साहित्य अधिकतर यहाँ पर ही लिखा गया है स्यौपुर के गोलापूरव राजनद के पुत्र धनराज या धनदास ने स० १६६४ में भक्तामर-स्तोत का पद्यात्मक हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया था और इसका चित्रण स० १६६५ में करवाया गया था जैन स्तोत्र साहित्य में सचित्र कृति यही एक मात्र मानी जाती है इस कृति का जितना धार्मिक दृष्टि से महत्त्व है उससे भी कहीं तात्कालिक लोककला की दृष्टि से अनुपमेय है



१. श्रेणिकचरित्र (रचनाकाल स० १८२७)
२ कर्णामृतपुराण „ „ १८२६)
३ चपकश्रेष्ठि व्रतोद्यापन
४. सरस्वती कल्प
५ नेमिचन्द जीवन

मेरी साहित्य-शोध-यात्रा मे निम्न कृतिया उपलब्ध हुई है जो अद्यावधि अज्ञात थी

भरत बाहुबली संवाद—वस्तुत. यह विजयकीर्त्ति की मौलिक रचना नही है स० १७०४ भादो सुदि १३ भुसावर (राजस्थान) मे विश्वभूपण मुनि द्वारा रचित "भरत बाहुबली रासो"[1]का सुसस्कृत रूप है जैसा कि वह स्वय ही इन शब्दो मे स्वीकार करते है—

> ए सवाद सुधारि लिख्यौ है श्रीमुनिराई ।
> विजयकीर्त्ति भट्टारक नागौर सवाई ।।
> गढ अजमेर सुपाट थाट रचना इह कीनी ।
> श्रीविश्वभूषण उगति जुगति थिरता करि लहि ।।
> भरणे भणाव्ने भवि सुणै श्रीआदीश्वर भाण ।
> भरथ अवर बाहुबली हौ कडखौ सुणत कल्याण ।।४४।।

गजसुकमाल चरित्र—यह विजयकीर्त्तिजी की दूसरी मौलिक रचना है इसमे गजसुकमाल मुनि का आदर्श चरित्र वर्णित है. भले ही यह एक व्यक्ति का चरित्र हो, पर मानवता को कवि ने साक्षात् खडा कर दिया हे. आत्मौपम्य की प्रशस्त ओर औदार्य भावनाओ का जो चित्रण एक सर्वजनकल्याणकामी सत के माध्यम से समुपस्थित किया गया है, वह आज भी अनुकरणीय—अभिनन्दनीय है आध्यात्मिक साधना मे अनुरक्त साधक को कितनी यातनाओ का सामना करना पडता है ? पर अन्तर्मुखी जीवन व्यतीत करनेवालो पर बाह्य उत्पीडन का क्या प्रभाव पड सकता है ? जीवन मे अहिंसा और सत्य की पूर्ण प्रतिष्ठा होने पर ससार की भौतिक शक्ति ऐसी नही जो स्व मार्ग से विचलित करा सके. गजसुकमाल महामुनि इसकी प्रतिमूर्त्ति थे. अहिंसा—उनके जीवन मे साकार थी तभी तो मस्तक पर आग रखे जाने पर भी मुनिवर ने उफ तक न किया, ऐसी थी उनकी आत्मलक्षी तपश्चर्या कविवर विजयकीर्त्तिजी ने आध्यात्मिक और भौतिक द्वन्दो का सामयिक परिस्थितियो के प्रकाश में जो विश्लेषण प्रस्तुत किया है वह एक शब्दशिल्पी की स्मृति दिलाता है कृति का विवरण इस प्रकार है—

---

१ विश्वभूपण मुनि प्रणीत अज्ञात रास का अतिम भाग इस प्रकार है—

> सहर भुसावर मधि राजु जाफरषा सोहै । मोहि काम सौ प्रीति राइ राना मन मोहे ।।
> ता मत्री भगवानदास मदके सुपदाई । न्याइ नीति वर नृपन जैणसामन अधिकाई ।।
> वसैं महाजन लोग जी दान मान मनमान । एक एक ते आगले रापै सबकौ मान ।।३७।।
> मूलसग कुल प्रगट गच्छ सारद मे राजै । जगतभूपण मुनिराज वाद विद्यापति छाजै ।।
> ता पट कहौ सुजान विश्वभूषन मुनिराई । तिन यह रच्यौ प्रवन्ध भवि सुनियो मनु लाई ।।
> सत्रैहसैं रु चिडोत्तरा भादौ सुदि शुभवार । सुकल पच्छ तेरसि भली गायौ मंगलवार ।।
>
> —निज संग्रहस्थ हस्तलिखित गुटके मे उद्धृत ।

विश्वभूपणजी अपने समय के विद्वान् ग्रंथकार थे. इनका विशेप परिचय मैने अपने "राजस्थान का अज्ञात साहित्य वैभव" नामक ग्रथ में दिया है.



नथ गजसुकमाल चरित्र लिष्यते

करसन राज पद भोगवै कानुडा देषि देवकी मात रे गिरधारीलाल,
मो सम पापिण को नही कानुडा बालक नहि नहि मात रे गिर० ।।

अन्त .—

धन-धन नरनारि जिके कानुडा गुण गावय मुनिराय रे।
विजयकीर्त्ति इम उच्चरै भणता नवनिद्धि थाय रे ।।गिर०।।

उपर्युक्त कृति मे कवि ने रचना समय सूचित नही किया है, पर इसका प्रतिलिपि काल स० १८२३ है अत इतः पूर्व की रचना असदिग्ध है

स्फुट पद—दिगम्वर जैन परम्परा मे रात्रि के स्वाध्याय के अनन्तर एक पद गाया जाना आवश्यक है यदि कोई परम स्वाध्यायशील विद्वान् हो तो उनसे अपेक्षा रखी जाती है कि वह नित्य नव्य पद बनाकर स्वाध्याय सभा को अलकृत करे. विजयकीर्त्ति की पदसख्या को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि वह नित्य नवीन पद वनाकर श्रद्धालुओ के सम्यग्दर्शन की पुष्टि मे मगलमय योग देते रहे होगे. कारण कि इनका पद साहित्य लगभग ५०० तक व्यापक है भक्ति, नीति, सयम, सदाचार, तीर्थवदना, गुरुभक्ति आदि अनेक विषयो का इसमे समावेश कर अपनी साधना मे औरो को भी सह-भागी वनाया है आश्चर्य इस वात का है कि इतना विराट् जिनका पद साहित्य हो और वह जैनो की दृष्टि से अभी तक ओझल कैसे रहे ? सिद्धान्त और भक्ति के मूल स्वरूपो का सफल प्रतिनिधित्व करनेवाला इनका पदसाहित्य प्रकाश मे आना चाहिए

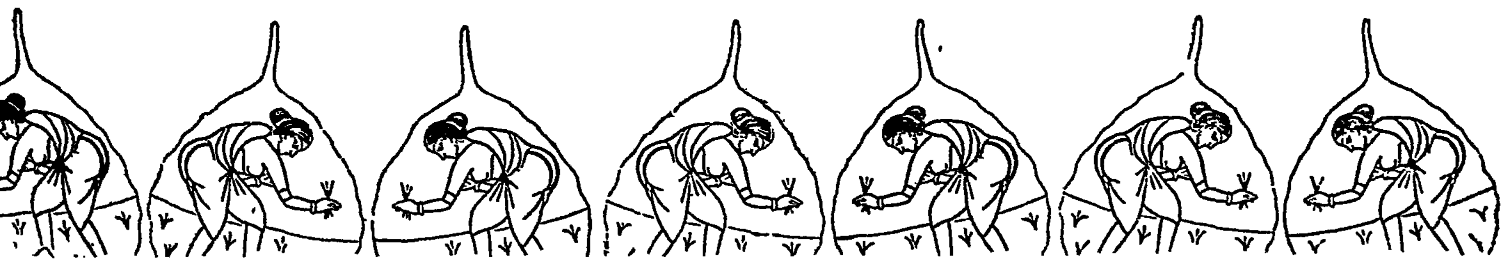
यहा पर मैं एक वात विशेष रूप से कहना चाहता हू. वह यह कि जैसे कविवर, विद्वान्, ग्रथकार और सयमशील वृत्ति के प्रतीक थे वैसे ही भारतीय सगीत के भी परम अनुरागी थे उनका शायद ही कोई पद ऐसा होगा जो शास्त्रीय राग-रागिनियो मे निबद्ध न होगा पदो का सग्रह इनके शिष्य पाडे दयाचद ने स० १८२३ मे जिस गुटके मे किया है वह विजयकीर्त्ति का निजी गुटका जान पडता है इसमे रागमाला एवम् सगीत के प्रसिद्ध २४ तालो का विशद चार्ट भी प्रतिलिपित है जो कविवर के सगीत विषयक अनुराग का परिचायक है कवि ने स्वय भी एक रागमाला का प्रणयन किया है उदाहरणो मे जिनचरित का समावेश किया गया है कवि के सास्कृतिक और आदर्श व्यक्तित्व का आभास इन पदो से मिल जाता है यदि शोध की जाय तो इनके पद और भी मिल सकते है यदि कहा जाय कि दिगम्बर जैन परम्परा मे यही एक ऐसे साहित्यसाधक और रुचिशील व्यक्ति अजमेर मे हुए है जिनका स्थान बाद मे रिक्त ही रहा तो कोई अत्युक्ति न होगी .

जसराज भाट—१८-१९वी शताब्दी मे अजमेर की अपेक्षा किशनगढ अधिक समृद्ध था वहा जैनो का प्राबल्य था सभी सम्प्रदाय आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से सम्पन्न थे यहा के लूणिया परिवार ने पालीताना-सिद्ध क्षेत्र का विशाल सघ निकाला था. जिसमे उपाध्याय क्षमाकल्याण के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदाय के मुनि भी सम्मलित थे राजाराम तिलोक शा सघपति थे जसराज भाट ने सघ का विस्तृत वर्णन अपनी नीसानी मे किया है इसका रचनासमय ज्ञात नही है पर सघ यात्रा कर वापस किशनगढ स० १८६६ मे आ गया था प्रति का लिपिकाल स० १८६६ और १८७८ का मध्य काल है

जसराज भाट के वैयक्तिक जीवन से सम्बद्ध उल्लेख उपलब्ध नही हुए विद्वत्परिचयार्थ नीसानी का विवरण दिया जा रहा है—

---

१ इस गुटके में हर्षकीर्ति सूरि रचित योग चिन्तामणि सटीक (टीकाकार मुनि नरसिंह) प्रतिलिपित है उन दिनों भट्टारक और इनके शिष्यों पर समाज के स्वास्थ्य और शिक्षा का दायित्व रहता था अत आयुर्वेद का ज्ञान उनके लिए नितान्त वाञ्छनीय था.



राजाराम तिलोकसा लूणिया संघ वर्णन

आदि भाग—

प्रथम पत्र विलुप्त है—

चढत प्रणामि सघमैं आये षिमाकल्याण ।
मुख मगल अमृत वचन गीतारथ गुणवत ।।
सूत्रसिद्धात जाणै सकल, भाष्या ज्यु भगवत ।
वाचक तषत विराजिया, श्रावक था सो आया ।
वाणी अमृत स्रवनी जलधर वरसाया ।।

चाल गजलनी

प्ररूप्यो धर्म श्रीजिन भाण विधसै होत है व्याख्यान ।
भरम हर खरतरा भरपूर कीन्है कर्म आठु दूर ।।
सागरचन्द विध मैं सार भव्यकूं करत है उपगार ।
ज्ञानी बहोत है गम्भीर निरमल जैम गगा नीर ।।
पायचन्दगच्छ रो परमाण राखै जेम राजा राण ।
चरच्या कारण में लखधीर जैसे बोलिया महावीर ।।

अन्त—

आया घरो अति नीकौ तपै ओसवश मे टीको ।
फिर किशनगढ आया के गुणीयण बहोत गुण गया ।।
छासठ वरस चइत्तर मास आणद भयौ पूगी आस ।
आयै सघपति घर आय जपता जिनेश्वर को जाप ।।
धरमी धरम का धोरी कै जैसे गुण तणीयोरी के ।
जैपूर कपूरचन्द आया कै परमानद सुख पाया के ।।
सिंघवी आदि दै सव सघ आया घरो उछरग ।
सीधा सबी वछति काज जपै एम कवि जसराज ।।

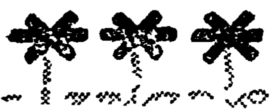
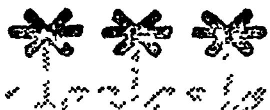
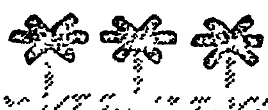
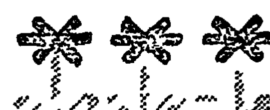
कलश

सकल काज भए सिद्ध रिद्ध वृद्धि घर आया ।
राजाराम तिलोकसी सघपति पद पाया ।।
षर्चें द्रव्य सिद्धषेत्र लाहो जगत मे लिद्धो ।
जगडु भाम तेजपाल जेम दान सुपात्रे दिद्धो ।।
नण वषतमल सरूप तणा केता दान पूरव कीयौ ।
तीर्थंकर पचीसमो रघु नाम अवि अविचल रह्यौ ।।

इति श्री रामराज तिलोक सा लूणिया रा सघरी नीसाणी कृत भाट जसराज की काजीस ।।

सवत १८७८ मगसीर वदि ११ लपतु जसराज अजमेर मध्ये ।।

निज सग्रहस्थ गुटके से उद्धृत

प्रेम-प्रेमसुख-परमसुखराय

एक ही व्यक्ति के विभिन्न नाम है जैसा कि कृति के अन्त परीक्षण से विदित है परमसुखराय तो रचना के प्रारम्भ मे, कृति के अतिम भाग मे प्रेमसुख और मध्य मे प्रेम[1] नाम से कवि ने नामाभिव्यक्ति की है

ये सटोरा[2] निवासी कायस्थ-माथुर-धगरोटिया किसुनचन्द के पुत्र थे कायस्थ होने के नाते इन्हे अरबी और फारसी भाषा का पारस्परिक ज्ञान था, विशिष्ट साहित्यिक रुचि के कारण सूचित भाषाओ के गम्भीर ग्रथो का भी पारायण किया करते थे . राज-कर्म मे प्रवीण होने के कारण अजमेर में रहकर कम्पनी सरकार मे वकालत का पेशा करते थे कवि ने आत्मवृत्त देते हुए यह स्वीकार किया है कि बडे-अडे अग्रेज इनके बौद्धिक-कौशल का लोहा मानते थे तात्कालिक वरिष्ठ मुकदमो मे इनकी उपयोगिता समझी जाती थी अजमेर मे रीयावाले सेठ[3] के किसी गुमाश्ते ने प्रपच रचकर सेठ पर २ लाख रुपयो का दावा दायर किया जिसमे ग्रथकार ने वकालत कर यशोपार्जन किया था

हातमचरित्र की आदिम कुछ पक्तियो मे कवि ने अग्रेज सरकार की—कपनी—राज की बहुत प्रशसा की है और अजमेर मे उन दिनो लौकिक त्यौहारो पर निकलनेवाली शोभायात्राओ को भी खूब सराहा है. अजमेर की मस्जिदें, मदिर, समीपस्थ-पुष्करराज तीर्थ, सरोवर और कूपादि का भव्य-वर्णन प्रस्तुत कर तात्कालिक अजमेर की सामाजिक, धार्मिक एवम् राजनैतिक परिस्थितियो का चित्रण किया है

सूचित "हातमचरित्र" और भागवत—"दशमस्कध" अनुवाद परमसुखराय की दो अज्ञात रचनाए है जिनका परिचय सर्व प्रथम इस प्रबध मे कराया जा रहा है कवि ने हातमचरित्र मे सूचित किया है कि उनके किसी मित्र ने आग्रह

---

१ बूटी विटपादिघनें फल-फूल लगें सबके मन भाए ।
वर्षति मेघ सुगर्ज्ज प्रसन चराचर जीवन के हित आए ।।
पान अनेक सुवस्तु भरें धरनी दधि रत्न सुमुक्ति सुहाए ।
प्रेम कहें मरुरुपनि को धन इसो हुवे सब ही सुप पाए ।।

२. इस नगर की अवस्थिति का ठीक-ठीक पता नहीं चला है, पर १७-१८ वीं शती के हस्तलिखित ग्रन्थों की पुष्पिकाओं में 'स टो रा' का नाम अवश्य आता है स्थानकवासी सम्प्रदाय के मुनियों की अधिकतर रचनाओं का सम्बन्ध इस नगर से रहा है सम्भावना तो यही की जा सकती है उदयपुर और कोटा मडल में ही इसका अस्तित्व हो

३ अच्छा होता यदि कवि ने सेठ का नाम भी अकित किया होता, रीयावाले सेठ का सम्बन्ध स्थानकवासी परम्परा से रहा है मुन्शी देवीप्रसादजी ने अपने 'सवत् १९६८ के दौरे' में रीयावाले सेठों का उल्लेख इस प्रकार किया है 'पीपाड से एक कोस पर खालसे का एक बडा गांव रीया नामक है इसको सेठा की रीया भी बोलते है क्योंकि यहा के सेठ पहले बहुत धनवान् थे कहते है कि एक बार महाराजा मानसिंह जी से किसी अग्रेज ने पूछा था कि मारवाड में कितने घर है तो महाराज ने कहा था कि ढाई घर हैं एक घर तो रीया के सेठों का है, दूसरा मवलाडे के दीवाना का है और आधे घर में सारा मारवाड

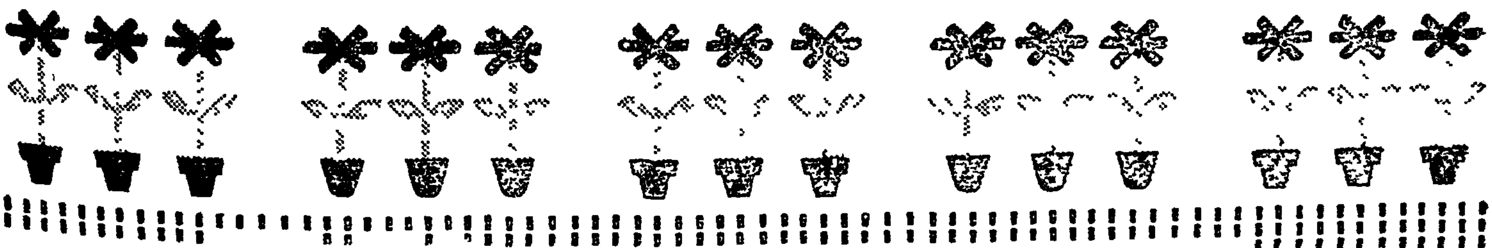
ये सेठ मोहणोत जाति के ओसवाल थे इनमें पहले रेखाजी बडा सेठ था, उसके पीछे जीवनदास हुआ, उसके पास लाखों ही रुपये सैकडों हजारों सिक्के थे महाराजा विजयसिंहजी ने उसको नगरसेठ का खिताब और एक महीने तक किसी आदमी को कैद कर रखने का अधिकार भी दिया था जीवनदास के बेटे हरजीमल हुए, हरजीमल के रामदास, रामदास के हमीरमल और हमीरमल्ल के बेटे सेठ चाँदमल अजमेर में हैं

जीवनदास के दूसरे बेटे गोरधनदास के सोभागमल, सोभागमल के बेटे धनरूपमल कुचामण में थे जिनकी गोद में अब सेठ चादमल का बेटा है

सेठ जीवनदास की छत्री गाव के बाहर पूरब को तरफ पीपाड के रास्ते पर बहुत अच्छी बनी है। यह १६ खम्भों की है शिखर के नीचे चारों तरफ एक लेख खुदा है जिस का साराश यह है—

सेठ जीवनदास मोहणोत के ऊपर छत्री सुत गोरधनदास हरजीमल कराई नीव सवत १८४१ फागुन सुदि १ को दिलाई कलस माह सुदि १५ स० १८४४ गुरुवार को चढाया नागरी प्रचारिणी पत्रिका स० १९७७, पृष्ठ१९७-८

इनके वहाँ पर एक प्रतापजी नामक कवि के रहने का उल्लेख भी किया गया है



किया कि कोई कृति की रचना करो जिससे आपका यश स्थायी हो जाय. इतने में हातिमताई की पुस्तक कवि के हाथ लग गई और "हातमचरित्र" नाम से अनुवाद प्रस्तुत कर डाला कृष्णचरित्र-भागवत के दशमस्कध के अनुवाद के लिये कोई ऐसी वात नही कही, सभव है यह कवि की स्वान्त सुखाय प्रवृत्ति का परिणाम हो

हातमचरित्र के आदि भाग के आठवे पद्य मे परमसुख राय ने बीकानेर के ओसवाल कुलावतस मेहता मूलचदजी के पुत्र हिन्दूमल का न केवल उल्लेख ही किया है, अपितु उनके प्रति हार्दिक सद्भाव भी व्यक्त किया है. इनके पूर्वज राजकीय कार्य मे परम निपुण थे. हिन्दूमलजी स्वय कुशल प्रशासक और प्रतिभाशाली वकील थे. स० १८८४ में बीकानेर राज्य की ओर से वकील के रूप मे दिल्ली मे रहा करते थे इनकी बुद्धिमत्ता से न केवल बीकानेर नरेश ही प्रभावित थे, अपितु आग्ल शासक भी अपने प्रिय और विश्वस्त व्यक्तियो मे इन्हे मानते थे.

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि हातमचरित्र और दशमस्कध के अनुवाद का काल क्या हो सकता है ? कवि पर भी थोडा आश्चर्य होता है कि जब उसने ग्रथानुवाद की पीठिका मे ५० से अधिक छद लिखे है, वर्णन भी विस्तार से किया है तो रचनाकाल पर मौन कैसे धारण कर लिया ? पर प्रति मे प्रतिलिपिकाल विद्यमान है जिससे रचना समयपरक किंचित् अनुमान को अवकाश है. इसका प्रतिलिपिकाल स० १८९३ है

कवि की हिन्दूमल से कब और कहाँ भेट हुई यह तथ्य तिमिरावृत है दोनो समानधर्मा व्यवसायी थे अत. अनुमित है कि अजमेर मे ही परिचय हुआ हो और यह घटना स० १८९३ से पूर्व मे घटित हुई है अन्यान्य ऐतिहासिक साधनो से प्रमाणित है कि उदयपुर के महाराणा ने बीकानेर नरेश रत्नसिहजी (राज्य काल स० १८८५-१९०८) से विशिष्ट कार्यवश हिन्दूमलजी को वि० स० १८९६ मे मागा था, पर परमसुखराय का परिचय इतः पूर्व घनिष्ठ हो चुका था जैसा कि हातमचरित्र से स्पष्ट है हिन्दूमल द्वारा नावासर मे एकलक्ष मुद्रा व्यय कर मदिर और दुर्ग निर्माण करवाने का उल्लेख हातमचरित्र मे ही मिलता है.

कृष्णचरित्र और हातमचरित्र का रचनाकाल स० १८९३ से पूर्व का है आगामी पक्तियो मे दोनो कृतियो का विवरण दिया जा रहा है :

हातमचरित्र

दोहा

श्रीगणपति सिधि करन हे विघ्न हरन सुषदाय ।
तिनके चरन निवाइ सिर कहत **परमसुषराय** ।।१।।
पुन पद सरसिज सारदा वदौ प्रीत समेत ।
कहौ रुचिर पद हित सरस पर उपकारिनि केत ।।२।।

सवैया

लोचन लोलसुज्योत करहि रसना रस स्वाद रचय सवइ ।
पुन ज्ञान दीयें हरि रूप लषे पद-पकज वद अनदमइ ।।
श्रव जीव तवे चुन आदि कियौ कुचि-क्षीर भरे जब पेट भई ।
असिस म्यर्थनाथको नाम लियें मुद मगल होत जिन्हे नितई ।।

चौपाई

मालम यह मुलक सकल सुषरासी, नयर सटोरा के हम वासी ।
कायथ माथुर जात हमारी धगरोटीया अल्ल अति प्यारी ।।



किसुनचंद पितु धर्म धुरधर सदावर्त्त हरि-भजन दयाकर ।
अति सूसील बुधिवत घनेरा हीराचंद भ्रात वड मेरा ॥
अमिल रत्न जिमि अर गुनसागर जगत विदित जस कीर्ति उजागर ।
महमदसाहि नवाव सु लषकर कपू सात सवारा बहादर ॥
पोतदार तो कते भए मारवार ढु ढारहि गए ।
अह मेवाडहु देस विसेसा जानत सकल सेठ भा ऐसा ॥
अति हुसयार सुवुद्ध प्रवीना स्यामलाल सुत भगवती दीन्हौ ।
बीकानेर सुराज सुहायो हिन्दूमल वकील मन भायो ॥
करे नौकरी तिनकी मनसे रषै न और वासता किनसै ।
मन वच कर्म काज कर सोई स्वामि धर्म ऐसा नहि कोई ॥
नांवासेर मदिर करवायो एकलाप मैं किला वणायो ।
दुजा गढ टोक सु तामे सवालाष लग रूपा सुवामे ॥
सांभर मैं तीरथ दै दानी तहाँ मदर द्विजराज भवानी ।
सत्य सिंधु मन कपट न ताके देई न सकै ॥

दोहा

सुषद भ्रात मझले सरस मानकचन्द सुनाम ।
घरकौ कारज ते करे सव सिधि रसप तमाम ॥

चौपाई

मे पढ हिन्दी और फारसी सेर कवित मिली आरसी ।
सव कामिन मैं सजी त्यारी ज्वाव स्वाल मे अति हुस्यारी ॥
वडनामी असि सेठ रीयांके वस अजमेर सुवास ह्याके ।
राज कंपनी सव सुषदारी अजा-सिंघ जल पिय इक ठाई ॥
दोईलाषका दावा तिन पूर कीयौ गुमास्ता जाल वणाकर ।
ता कारण हमको बुलवाये भयो निसाफ सेठ सुष पाये ॥
लाषनिकेर मुकदमा कीना रहे अदालति मैं जस लीना ।
साहिब लोग रहे नित राजी जे इन्साफ मार्ग सुष साजी ॥
हातम की किताब हम पाई लिषी फारसी वात सुहाई ।
करो हिन्दवी यो मन आवा चरित नीर जिमि होइ तलावा ॥

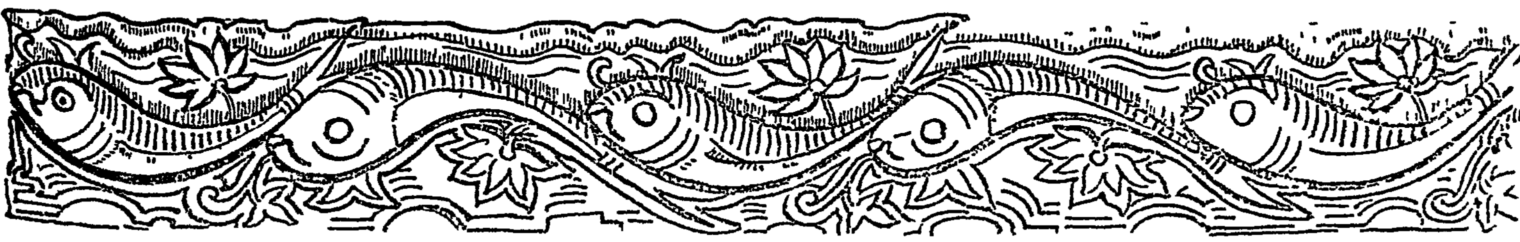
अन्त भाग

पर हित आपन दुष सहै करे और को काज ।
ताको साषी ग्रथ यही कहा वनौ तिहि राज ॥
वरनहु कहा तिहि राजको साषी सु सव यह ग्रथ है ।
जो सुनही पर हित ना करै पाषान ऊर मतिमद है ॥
कह प्रैम जगमैं सार दोईक नाम हरि ऊपगार है ।
इक व जीभ सै इक सक्तिसो जानै न मुसकल भार हैं ॥

सोरठा

लेवे तो लेहु राम नाम सोदा सरस । देत वने तो देहु दान मान उपिगार ॥

इति श्रीहातमचरित्र प्रैमसुषकृते सप्तम सवाल मिति भाद्रवमासे सुक्लपक्षे दोज सोमवासरे सवत १८९३ सम्पूर्ण।



भागवत-दशमस्कंध-कृष्णचरित्र

आदि

छंद

गणपति जु सिद्धिकर रिद्धि सुष नवनिध्य मगलदायक ।
जिहिके सुमिर ह्वै काज सुभ असि देव हेव सव लायक ।।
पद कज वद अनद मनकहू कृष्णचरित्र मनोहर ।
भवसिंधू तारन करन पावन देत सो सदगति पर ।।

दोहा

सरस्वति चरननि नाइ सिर मागो वुद्ध रसु सुद्ध ।
कहौ चरित श्रीकृष्ण के नवरस सरस प्रसिद्ध ।।

सवैया

पर्वत नील मकल कर कज्जल सिंधुनिकी दावात बनावे ।
देव विरक्षनि डारनि लेपिनि भूमि सुपत्र विशालउ जावे ।।
सारद तास लिषे हिनिसिवासर तो पि न ताको पार न आवे ।
नेति कहे ते वेद पुरान सु वस्नचरित्र परमसुष पावे ।।

अन्त भाग

दोहा

देषी महिमा प्रथम जो सुमिर सु वार-वार ।
उठ द्रग षोले देव तब, श्रीमुकुद करतार ।।

सोरठा

पुन-पुन माथ नवाइ हाथ जोड गदगद गिरा ।
प्रेम मगन मन भाइ लागै अस्तुति किरन कौ ।।

इति श्री भागवतेमहापुराने दशमस्कधे परमहस सहिताया वत्साहरणौ नाम त्रयोदसौध्याय

उपसंहार

जैसा कि इस निवध के प्रारम्भिक अश मे कहा जा चुका है कि विज्ञप्ति और आदेश पत्रो को स्वतन्त्र रचना के रूप में स्थान नही दिया है. किशनगढ मसूदा और रूपनगर जैन-सस्कृति के केन्द्र रहे है. जो भी विद्वान् मुनिराज के सूचित स्थानो मे चातुर्मास होते थे वे अपने पूज्य गुरुवर्यो को अपनी ओरसे या श्रीसघ की ओरसे विस्तृत आमत्रण-पत्र भिजवाते थे ये पत्र भारतीय साहित्य की अमूल्य निधि है आज तो पत्र भी साहित्य की व्याख्या मे समाविष्ट है, पर उन दिनो के पत्र तो साहित्य, सस्कृति और कला के अन्यतम प्रतीक समझे जाते थे तात्कालिक महत्त्वपूर्ण राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक वातो का प्रामाणिक उल्लेख ऐसे पत्रो मे मिलता है. कतिपय पत्र तो महाकाव्य की सज्ञा से अभिहित किये जा सकते है. अजमेर समीपवर्ती क्षेत्र से सवद्ध ऐसे दो पत्रो का उल्लेख करना आवश्यक जान पडता है प्रथम पत्र महोपाध्याय श्री मेघविजयजी का है जिनके जीवन का बहुमूल्य भाग किशनगढ मे ही व्यतीत हुआ था इनने कुमार-सभव की पूर्ति स्वरूप एक पाण्डित्यपूर्ण विज्ञप्ति पत्र सस्कृत भाषा मे अपने आचार्य के पास स० १७५६ मे भेजा था,



इसकी एकमात्र प्रति मेरे सग्रह मे सुरक्षित है इसका आजतक कही उल्लेख नही हुआ है पत्र स्वलिखित है, इससे इसका महत्त्व और भी बढ जाता है

दूसरा पत्र है कल्याणमदिर समस्यापूर्ति स्वरूप. यह भी विज्ञप्ति पत्र है जो मसूदा से स० १७७८ मे आचार्य श्री क्षमा-भद्रसूरि की सेवा मे अजबसागर, ईश्वरसागर, अनूपसागर, तथा गोकल, गोदा और वषता की ओर से भेजा गया है उपर्युक्त मुनिवर अधिकतर सथाणा और मसूदा मे रहे हैं इनकी लिखी और रची कृतिया उपलब्ध है सथाणा से भी अजबसागर ने स० १७७७ मे एक सस्कृत भाषा मे रचित वार्षिक पत्र प्रेषित किया था, जो मेरे सग्रह मे है

रूपनगर के बीसो आदेश पत्र तथा उदयपुर के यतियो पर समय-समय पर वहा के रहनेवाले यतियो द्वारा लिखित पत्रो की सख्या कम नही है ये पत्र उस समय की परिस्थिति के अच्छे निदर्शन तो हैं ही, साथ ही भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से भी उपादेय है

उपर्युक्त पक्तियो मे यथाशक्य जो कुछ भी अज्ञात साहित्यकार और उनकी रचनाओ पर प्रकाश डाला गया है, मेरा विश्वास है कि हिन्दी भाषा की व्यापकता को देखते हुए यदि शोध की जाय तो और भी प्रचुर और नव्य साहित्यिक सामग्री मिलने की पूर्ण सभावना है. विज्ञो से निवेदन है कि वे स्वक्षेत्र के उपेक्षित साहित्यिको पर अनुसधान कर नूतन आलोक से सारस्वतो की उज्ज्वल कीर्त्ति को प्रशस्त वनावे

निबंध में उल्लिखित कवि और उनकी रचनाएं

१	जिनरगसूरिजी	धर्मदत्त चतुपदी	रचनाकाल स० १७३७, किशनगढ
२	मेघविजयजी गणि	मेघीयपद्धति	
३	मानसिंहजी	स्फुट-पद	राज्यकाल स० १७००-१७६३
४	राजसिंहजी	व्रजविलास	रचनाकाल स० १७८८
		राजा पचक कथा	रचनाकाल स० १७८७ के पूर्व
		स्फुट-पद, स्फुट कवित्त	
५	व्रजदासी-वाकावती	सालवजुद्ध, आशीष सग्रह	रचनाकाल स० १७८३
		स्फुट कवित्तादि	
६	विडदसिंहजी	गीतिगोविंद टीका	राज्यकाल स० १८३८-१८४५
७	कल्याणसिंहजी	स्फुट-पद	राज्यकाल १८५४-९८
८	पृथ्वीसिंहजी	,,	,, १८९७-१९३६
९	जवानसिंहजी	रसतरग	
		जल्वये शहनशाह इश्क	रचनाकाल स० १९४५
		नखशिख-शिखनख	,, स० १९४६
		धमार शतक (सकलन)	
१०	यज्ञनारायणसिंहजी	स्फुट पद, रसिया	राज्यकाल स० १९८३-९५
११	नानिग	मजलिस शिक्षा	रचनाकाल स० १७९०
१२	पचायण	मुहूर्त्त कोश	रचनाकाल स० १८१५, अजमेर
१५	विजयकीर्त्तिजी	भरत बाहुबली सवाद	रचनाकाल स० १८२३ के पूर्व अजमेर
		गज सुकमाल चरित्र	
१४	जसराज भाट	राजाराम तिलोकसी सघ नीसानी	रचनाकाल स० १८७८ के पूर्व

निबध में प्रयुक्त सभी हस्तलिखित ग्रन्थों की प्रतिया लेखक के निजी सग्रह की है.



वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री
विद्यावाचस्पति व्याख्यान केसरीसमाजरत्न न्यायकाव्यतीर्थ

कर्नाटक साहित्य की प्राचीन परम्परा

कर्नाटक प्रान्त के प्राचीन विद्वानो ने जैनसस्कृति व साहित्य की रक्षा के लिए अपना विशिष्ट योगदान दिया है आज भी जैन पुरातत्त्व, साहित्य, स्थापत्यकला आदि के दर्शन जो इस प्रात मे होते है उनसे विश्व का समस्त भाग आश्चर्य-चकित होता है

भगवान् वाहुवली की विशालकाय मूर्त्ति, वेलूर काल के मन्दिर, मुडविद्री की दर्शनीय नवरत्ननिर्मित अनर्घ्य रत्न-प्रतिमाएँ, आदि आज भी इस प्रात के वैशिष्ट्य को व्यक्त करते है जैन साहित्य के सृजन और सरक्षण का श्रेय भी इस प्रान्त को अधिकतर मिलना चाहिये, क्योकि षट्-खण्डागम सदृश आगम-ग्रथ की सुरक्षा केवल इस प्रात के श्रद्धालु वन्धुओ की कृपा से ही हो सकी, यह एक स्वतन्त्र विषय है इस लेख का विषय केवल कर्नाटकसाहित्य की परम्परा का अवलोकन करना है

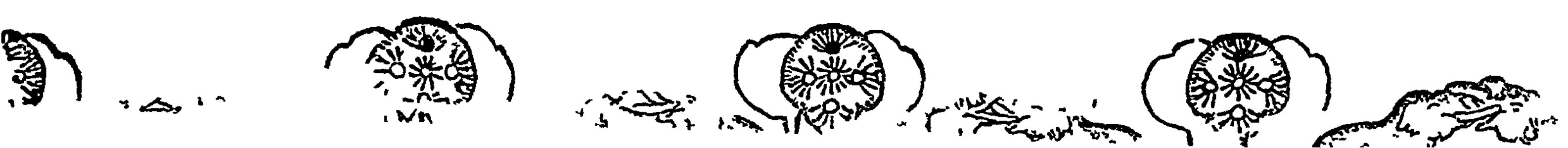
कर्नाटक-साहित्य की परम्परा

वैसे तो कर्नाटक-साहित्य की परम्परा का सम्बन्ध बहुत प्राचीन काल से जोडा जाता है भगवान् आदिनाथ प्रभु की कन्या ब्राह्मी ने कन्नड लिपि का निर्माण किया, इस प्रकार का एक कथन परम्परा से, इतिहासातीत काल से सुनने में आता है, परन्तु आज हमे ऐतिहासिक दृष्टि से इस साहित्य की परम्परा कितनी प्राचीन है, इसका विचार करना है

अनेक ग्रथो के अवलोकन से यह अवगत होता है कि प्राचीन आचार्ययुग मे कर्नाटक ग्रथकर्त्ताओ का भी अस्तित्व था. कर्नाटक-साहित्य-निर्मिति का सर्वप्रथम श्रेय जैन ग्रथकारो को ही मिलना चाहिए इस विषय मे आज के साहित्य-जगत् मे कोई मतभेद नही है केवल प्राचीनता के लिए ही नही, विषय व प्रतिपादन महत्त्व के लिए भी आज कर्नाटक मे जैन साहित्य को ही प्रथम स्थान दिया जा सकता है इसलिए आज अनेक विश्वविद्यालयो के पठन-क्रम मे जैन-साहित्यग्रथ ही नियुक्त हुए हैं. जैनेतर निष्पक्ष विद्वानो ने जैन साहित्य की मुक्तकण्ठ से अनेक बार प्रशसा की है. इस दृष्टि से कर्नाटक जैन साहित्य की परम्परा वहुत प्राचीन और महत्त्वपूर्ण है, यह निर्विवाद सिद्ध होता है.

प्राचीनकाल मे इस साहित्य के निर्माता जैन कवियो को राजाश्रय मिला था अत गग, पल्लव, राष्ट्रकूट आदि राजवशो के राज्यकाल मे इन कवियों को विशेप प्रोत्साहन मिला. इन कवियो से उन राजाओ को अपने राज्यशकट को निर्बाध रूप से चलाने के लिए वल मिला, यह विविध घटनाओ से सिद्ध होता है

राष्ट्रकूट शासक नृपतु ग नौवी शताव्दी मे हुआ है, उसने कविराजमार्ग की रचना की है उसके उल्लेखो से अनुमान किया जा सकता है कि उससे पहले भी कर्नाटक साहित्य की रचना हुई है उससे पहले पुराने कन्नड जिसको 'हवे कन्नड' के नाम से कहा जाता है, उसमे ग्रथो की रचना होती थी कविराजमार्ग मे नृपतु ग ने कुछ हवे कन्नड काव्यो के प्रकार का निर्देश किया है. इसके अलावा कुछ प्राचीन कवियो का उल्लेख भी ग्रथकार ने किया है.



श्रीविजय, कविपरमेश्वर, पडितचन्द्र, लोकपाल आदि कवियो का स्मरण किया है

महाकवि पम्प ने भी समन्तभद्र, कविपरमेष्ठी, पूज्यपाद आदि कवियो का उल्लेख किया है

समन्तभद्र और पूज्यपाद का समय बहुत प्राचीन है. इन आचार्यो की जन्मभूमि और कर्मभूमि कर्नाटक की रही है, इसीलिए अनुमान किया जा सकता है कि इन आचार्यो ने भी कोई कर्नाटक भाषा मे अपनी रचना की हो, परन्तु अभी कोई उपलब्ध नही है. पूज्यपाद के कई ग्रथो पर कर्नाटकटीका उपलब्ध होती है, समन्तभद्र के ग्रथो पर भी पुराने कन्नड मे टीका लिखी गई है. इसलिए यह सहज अनुमान हो सकता है कि इनके काल मे भी कर्नाटक साहित्य की सृष्टि हुई हो

नृ पतु ग के द्वारा उल्लिखित श्रीविजय ने भी कोई कर्नाटकग्रथ की रचना की होगी, यह भी स्पष्ट है, जिसका उल्लेख अनेक स्थलो मे उत्तर ग्रन्थकार करते है

इन कवियो के साथ कवीश्वर या कविपरमेष्ठी का जो उल्लेख आता है वह भी प्राचीन कवि मालूम होता है यह भी निर्विवाद है कि महापुराणकार भगवज्जिनसेन और गुणभद्र से भी पहिले इसकी रचना अस्तित्व मे होगी, और महत्त्व-पूर्ण स्थान को लेकर, क्योकि भगवज्जिनसेन ने भी अपने आदिपुराण मे इसका उल्लेख आदर के साथ किया है—

स पूज्य कविभिर्लोके कवीनां परमेश्वरः
वागर्थ-सग्रह कृत्स्न पुराण य. समग्रहीत् ।[1]

इसी प्रकार उत्तरपुराण मे आचार्य गुणभद्र ने कवि परमेश्वर का उल्लेख किया है

इन उल्लेखो से स्पष्ट है कि त्रिषष्टिशलाका पुरुषो के पुराण का कथन करने वाला ग्रथ आचार्य जिनसेन और गुणभद्र से भी पहले अवश्य कवि परमेष्ठी के द्वारा रचित रहा होगा, वह कर्नाटक भाषा मे था वह भले ही सक्षिप्त हो, परन्तु भगवज्जिनसेनाचार्य ने उसका विस्तार किया

इन सब बातो को लिखने का हमारा अभिप्राय यह है कि कर्नाटक साहित्य की परम्परा बहुत प्राचीन है जिनसेन गुण-भद्रादिक से कई शती पहिले से ही कर्नाटक ग्रथो की रचना होती रही, इस बात के उल्लेख उत्तर कालवर्ती ग्रथो मे पाये जाते हैं तत्पूर्व के अनेक शिलालेख भी पाये जाते है यत्र-तत्र ग्रन्थो मे उन प्राचीन ग्रथो के उद्धरण भी मिलते है फिर भी दुर्दैव है कि समग्र साहित्य उपलब्ध नही होता है इस सम्बन्ध मे यहाँ पर हम दिग्दर्शन मात्र करा देते है विशेष परिचय से स्वतन्त्र ग्रथ बन जायगा जैन कवियो ने कर्नाटक भाषा मे गद्यकाव्य और पद्यकाव्य की रचना की है, आदिकवि पम्प ने चम्पू काव्य से ही अपनी कला का श्रीगणेश किया है

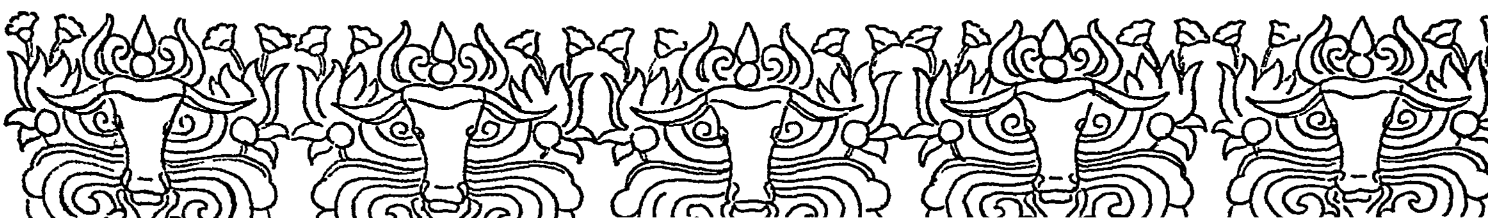
पप महाकवि

महाकवि ने क्रि० श० ९४१ मे आदिपुराण और पम्पचरित की रचना की है, उनकी ये रचनाये चम्पू मे है चम्पू-काव्य का यही जनक प्रतीत होता है इसकी रचना को कर्नाटक साहित्य मे विशेष महत्त्व का स्थान है

पम्प मूलत वैदिक था, अर्थात् इसके पूर्वज वैदिक थे, परन्तु इसके पिता श्री अभिराम ने जैन धर्म की महत्ता से प्रभा-वित होकर उसे अगीकार किया इसलिए पम्प के जीवन मे जैन धर्म का ही सस्कार विशेषत: दृष्टिगोचर होता है

सबसे पहले महाकवि ने आदिपुराण की रचना की है, आदिपुराण की रचना प्राय भगवज्जिनसेन के द्वारा विरचित आदिपुराण के कथा वस्तु को सामने रखकर पम्प ने की है परन्तु शैली उसकी स्वतन्त्र है. जैसे सस्कृत महापुराण मे आचार्य ने केवल कथासाहित्य का ही निर्माण नही किया साथ मे धर्माचरण और तत्त्वबोध की दृष्टि भी रही, इसी प्रकार पम्प ने अपने ग्रन्थ मे साहित्य और धर्मबोध, दोनो उद्देश्यो को साधा है आदिपुराण मे भी भगवान् आदिप्रभु का चरित्र बहुत सरस ढग से चित्रित किया गया है, भोग और योग का सुन्दर सामजस्य करते हुए कवि ने ग्रथ मे

१ आदिपुराण पर्व १ श्लो० ६०



सर्वत्र भोग-विरति का उपदेश दिया है इसकी दूसरी रचना पम्पचरित है इसका विषय भारत है. अपने कालीन राजा आदिकेसरी को अर्जुन के स्थान पर रखकर कवि ने स्थान-स्थान पर उसकी प्रशसा की है. अर्जुन के साथ अपने राजा की तुलना करने की धुन मे कही-कही कथावस्तु मे भी किंचित् अन्तर कवि को करना पडा है, तथापि काव्य के महत्त्व मे कोई न्यूनता नही है. यह कर्नाटक साहित्य मे आद्य कवि माना जाता है जैन जैनेतर सर्वक्षेत्रो मे पम्प के साहित्य के प्रति परमादर का स्थान है, उत्तर ग्रथकारो ने पम्प को बहुत आदर के साथ स्मरण किया है आगे जाकर एक कवि ने अपने को अभिनव पम्प के नाम से उल्लेख किया है, इससे भी आदि पम्प की महत्ता व्यक्त होती है.

कवि पोन्न

पम्प के बाद पोन्न नाम का कवि हुआ. इसका समय ई० ९५० करीब माना जाता है. इसने भी पम्प के समान ही एक धार्मिक और लौकिक तथा दूसरा धार्मिक, इस प्रकार दो काव्यो की रचना की है ,इसकी रचना मे मुख्यत शान्तिनाथ-पुराण का उल्लेख किया जा सकता है दूसरा लौकिक ग्रथ भुवनैकरामाभ्युदय उपलब्ध नही है. इसके अलावा 'जिनाक्षरमाला' नामक स्तोत्र ग्रथ की भी इसने रचना की है इस कवि का भी कर्नाटकसाहित्यक्षेत्र मे उच्च स्थान है इसे कविचक्रवर्ती उभयभाषा-कविचक्रवर्ती आदि उपाधिया थी उत्तर कवियो ने इसका भी सादर स्मरण किया है.

कवि रन्न

पोन्न के बाद रन्न महाकवि का उल्लेख करना चाहिए. वह करीब क्रि० श० ९९३ मे हुआ, यह जैन वैश्य था. सामान्य कासार कुल मे उत्पन्न होने पर भी सस्कृत और कन्नड मे उद्दाम पाडित्य को प्राप्त किया था. अनेक सुन्दर ग्रथो की रचना कर कर्नाटक साहित्य-जगत् का इसने महदुपकार किया है. इसकी रचनाओ में से कुछ उपलब्ध है. अजितनाथ तीर्थंकर पुराण, आदि उपलब्ध है, अन्य उल्लिखित परशुरामचरित चक्रेश्वरचरित अनुपलब्ध है यह भी कर्नाटक साहित्य मे उच्च स्थान मे गणनीय कवि है

पम्प, रन्न और पोन्न ये कन्नड कवि रत्नत्रय कहलाते है इसीसे इनकी महत्ता का अनुमान किया जा सकता है

कवि चामुण्डराय

इसी समय के कवि चामुडराय ने जो क्रि०श० ९६१ से ९८४ तक गगवाडी के राजा मारसिंह, राजमल्ल का मेनापति था, चामुडरायपुराण की रचना की है. यह चतुर्विंशति तीर्थंकरो के चरित्र को वर्णन करनेवाला गद्य-ग्रथ है इस प्रकार शिवकोटी ने वड्डाराध ने नामक गद्यग्रथ की रचना की है

कुछ अन्य कविगण

इसके बाद करीव ग्यारहवे शतमान मे धर्मामृत के रचयिता कवि नमसेन और लीलावती प्रबन्ध के रचयिता नेमिचन्द्र, कधिगर काव्य के रचयिता अडम्म का उल्लेख किया जा सकता है इन्होने धर्मोपदेश देने के निमित्त से विविध प्रमेयो को चुनकर ग्रन्थ निरूपण किया है. कथा-साहित्य के साथ अहिंसादि धर्मो का परिपोषण इन ग्रथों से होता है इसी युग मे कुछ अन्य कवि भी हुए है, जिन्होने चतुर्विंशति तीर्थंकरो के पुराणग्रथो की रचना की है. उनमे उल्लेखनीय कवियो का दिग्दर्शन मात्र कराया जाता है, कविकर्णपार्य ने (१-१४०) नेमिनाथ पुराण, अगतदेवने (११८९) चन्द्रप्रभ-पुराण, कवि आचण्ण (११९५) ने वर्धमान पसणढा, कवि गुणवर्म (१२३५) ने पुष्पदत पुराण, कवि कमलभव ने (१२३५) शान्तीश्वरपुराण, कविमहावल ने (१२५४) नेमिनाथ पसणढा, मधुर कवि ने (१३८५) धर्म नामपुराण की रचना की है इन सवकी रचनाएँ महत्त्वपूर्ण है.

कवि चक्रवर्ती जन्न

क्रि० श० ११७० से १२३५ के बीच मे जन्न महा कवि ने अपनी रचना से कर्नाटक साहित्यजगत् का उपकार किया



है इसने यशोधरचरित्र को लिख कर अपने रचनाकौशल को व्यक्त किया है. इसका प्रमेय यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य का है. कर्नाटकसाहित्य मे जन्न की रचना के लिए भी वही स्थान प्राप्त है जो सस्कृत साहित्य मे यशस्तिलक चम्पू को है. यह कविचक्रवर्ती उपाधि से विभूषित हुआ है

प्राय इसी समय हस्तिमल्ल हुआ, वह उभय भाषा कविचक्रवर्ती था, उसने गद्य मे आदिपुराण की रचना की है. यह करीब १२६० मे हुआ. इसके कुछ सस्कृत ग्रथ है.

अभिनव पम्प नागचन्द्र

१२ वे शतमान मे नागचन्द्र नामक एक विद्वान् कवि हुआ है जिसने रामायण की रचना की है जैन परम्परा के उपदेशानुसार निर्मित पउमचरिउ रविषेणकृति पद्मपुराण आदि के अनुसार ही इसने रामायण की रचना की है इसकी रचना भी सुन्दर हुई है इसने अपने को अभिनव पम्प के नाम से उल्लेख किया है. इसने विजयपुर मे एक मल्लिनाथ के जिनालय का निर्माण कराया, उस की स्मृति मे मल्लिनाथपुराण की रचना की है.

इसके बाद १४ वें शतक मे भास्कर कवि ने जीवधरचरित का निर्माण किया और कवि बोम्मरस ने सनत्कुमारचरित्र और जीवधरचरित्र की रचना की है.

१६ वें शतक के प्रारम्भ मे मगरस कवि ने सम्यक्त्वकौमुदी, जयनृपकाव्य, नेमिजिनेशसगति, श्रीपालचरित्र, प्रभजनचरित और सूपशास्त्र आदि ग्रथो की रचना की है इसी प्रकार साल्वकवि ने भारत और कविदोड्ड ने चन्द्रप्रभचरित्र को इसी समय के लगभग निर्माण किया है

महाकवि रत्नाकर वर्णी

इसके बाद महाकवि रत्नाकर वर्णी का उल्लेख बहुत आदर के साथ साहित्य जगत् मे किया जा सकता है. इसने भरतेश्वरवैभव नामक बहुत बडे आध्यात्मिक सरस ग्रथ की रचना की है इसमे करीब १० हजार सागत्य श्लोक है। कवि का वर्णनाचातुर्य, पदलालित्य, भोग-योग का प्रभावक वर्णन उल्लेखनीय है इस ग्रथ को कवि ने भोगविजय, दिग्विजय, योगविजय, मोक्षविजय और अर्ककीर्तिविजय के नाम से पच कल्याण के रूप मे विभक्त किया है उसका समय क्रि० श० १५५७ का माना जाता है इस महाकाव्य मे कवि ने आदिप्रभु के पुत्र भरतेश्वर को अपना कथानायक चुनकर उसकी दिनचर्या का वृत्त अत्यन्त आकर्षक ढग से वर्णन किया है इस काव्य मे जैसे अध्यात्म का पराकाष्ठा का वर्णन है यह महाकाव्य आध्यात्मिक सरस कथा है. लेखक के द्वारा उसका समग्र हिन्दी अनुवाद हो चुका है और उसकी कई आवृत्तिया प्रकाशित हो चुकी है गुजराती, मराठी और अग्रेजी मे भी यह प्रकाशित होने जा रहा है इसी से इस ग्रथ की महत्ता समझ मे आ सकती है इस महाकाव्य को भारतीय साहित्य अकादमीने भी प्रकाशित करने का विचार किया है. उसने इस ग्रथ के अलावा रत्नाकरशतक, अपरजिनशतक और त्रिलोकशतक नामक शतकत्रय ग्रथ की भी रचना करके आध्यात्मिक जगत् का उपकार किया है

इसके बाद सांगत्य छद मे अनेक कवियोने ग्रथरचना की है—बाहुबलि कवि ने (१५६०) नागकुमार चरिते, पायण्णव्रति ने (१६०६) सम्यक्त्वकौमुदी, पचबाल ने (१६१४) भुजबलचरित्र की रचना की इसी प्रकार चन्द्रभ कवि ने (१६४६) कार्कल के गोम्मटेशचरित्र, धरणीपडित ने (१६५०) विज्जणराम चरित्र, नेमि पडित ने (१६५०) सुविचारचरित, चिदानद ने (१६८०) मुनिवशाभ्युदय, पद्मनाभ ने (१६८०) जिनदत्तरायचरिते, पायण कवि ने (१७५०) रामचन्द्रचरिते, अनत कवि ने (१७८०) श्रवणबेलगोल के गोम्मटेश चरित्र, धरणी पडित ने वरागचरित्र, बहुणाव ने जिनभारत, चन्द्रसागर वर्णी ने (१८१०) रामायण की रचना की है इसी के लगभग चारु पडित ने भव्यजन-चिन्तामणि, और देवचन्द्र ने राजावलीकथा नामक ऐतिहासिक ग्रथ की रचना की है पम्प के युग को हम चम्पूयुग कह सकते है तो रत्नाकर वर्णी के युग को हम सागत्य का युग कह सकते है दो युगपुरुष है



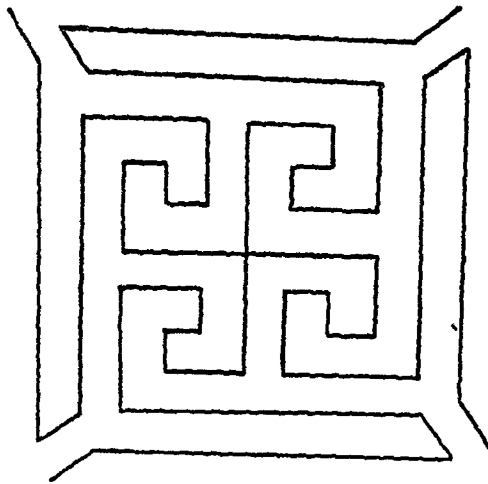
विभिन्न विषय मे कर्नाटक साहित्य

नृपतुग के द्वारा विरचित 'कविराजमार्ग' लक्षणग्रथो मे कवियो के लिए राजमार्ग है, इसी प्रकार नागवर्म का छदोदधि नामक छदग्रथ, दूसरे नागवर्मका कर्नाटक भाषा-भूषण (व्याकरण) काव्यावलोकन (अलकार) वस्तुकोष (कोप) भट्टाकलक का शब्दानुशासन (व्याकरण) केशीराज का (१२६०) मलिदर्पण (?) और साल्व के द्वारा विरचित रस-रत्नाकर (रसविपयक) देवोत्तमका नानार्थरत्नाकर (कोप) शृगार कवि का कर्नाटकसजीवन (कोष) आदि ग्रथ कर्नाटक कवियो की विविध विभाग की सेवाओ को व्यक्त करते हे.

इसी प्रकार वैद्यक, ज्योतिष और सामुद्रिकादि शास्त्रो की रचना कर्नाटक के कवियो ने की है उनमें बहुत से ग्रथ अनुपलब्ध है, कुछ उपलब्ध है. कल्याणकारक (वैद्यक) (सोमनाथ) हस्त्यायुर्वेद (शिवमारदेव) बालग्रहचिकित्सा (देवेन्द्र-मुनि) मदनतिलक (चन्दराज) स्मरतत्र (जन्न) आदि ग्रथ भी उल्लेखनीय है इसके अलावा ध्यानसारसमुच्चय आदि ग्रंथो की भी रचना हुई है

इसी प्रकार ज्योतिपसबधी रचनाओ मे श्रीधराचार्य का जातकतिलक (१०४९) चाउण्डराय का लोकोपकारक (सामुद्रिक) जयवन्धुनन्दन का सूपशास्त्र, राजादित्यका गणितशास्त्र, अर्हद्दास के द्वारा विरचित शकुनशास्त्र आदि ग्रथ भी उल्लेखनीय है

स्पष्ट है कि कर्नाटक प्रातीय कवियो ने बहुत प्राचीन काल से ही साहित्य के विविध अगो की सेवा कर महान् लोकोपकार किया है. बहुत से साहित्य नष्ट-भ्रष्ट हुए, अवशेष साहित्य भी विपुल प्रमाण मे आज उपलब्ध है. कर्नाटक प्रात में जैन साहित्य और जैन साहित्यकारो के नाम हरएक सम्प्रदाय वाले बहुत गौरव के साथ स्मरण करेंगे ऐसी स्थिति का निर्माण इस परम्परा ने किया है जैन समाज के लिए यह अभिमान की चीज है परन्तु यदि हम इस पावन परम्परा की सुक्षा करने मे समर्थ हुए तो ही हमारे लिए भूषण है अन्यथा केवल वपौती का नाम लेकर जीनेवाली पुरुषार्थहीन सन्तति का ही स्थान हमारा है





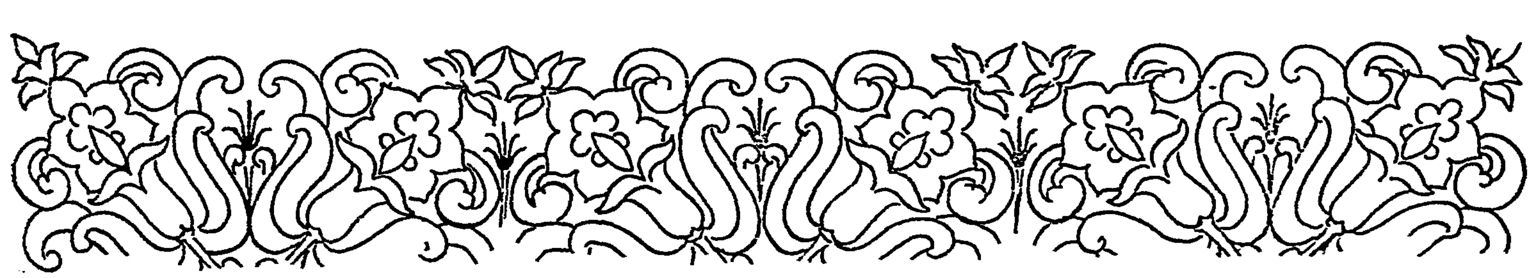
श्रीसुशीलकुमार दिवाकर
एम० ए०, बी० काम०, एल-एल० बी०

काव्य में अध्यात्म

जबकि पश्चिमी सभ्यता ने अपनी उन्नति की नीव और कलश पर जड-वादिता का सस्कार डाला है, तब भारत ने भौतिकता की दृष्टि से पीछे होते हुए भी अध्यात्म की निरन्तर साधना की है इस आध्यात्मिकता मे ही जीवन की महानता और अमूल्यत्व निहित है भारत-मन्दिर मे आध्यात्मिकता का चित्ताकर्षक गीत निरन्तर गाया जा रहा है यह भारतीय अध्यात्म का ही प्रभाव है कि हमने पाश्चात्य विद्वानो के लिए पूर्ण-रूपेण अज्ञात आत्मा के अनत गुणो का पता पाया है आत्मा जो अदृश्य और केवल अनुभवगम्य है, भारतीय महर्षियो द्वारा देखी गई और पहचानी गई जब पाश्चात्य दार्शनिक कार्लाइल सदृश विद्वान् यह कहकर सन्तुष्ट हो गये कि 'मैं क्या हू' इसकी चिंता छोडकर 'मुझे क्या करना है' पर ही विचार करना चाहिये, तब भारतीय महात्माओ और सर्वज्ञो ने आत्मा का पता लगाया उनके इस आत्मदर्शन मे उनका त्याग, ज्ञान, नि स्पृहता, ध्यान, तप, वैराग्य, अपरिग्रह, अहिंसा आदि पारस्परिक पर्यायवाची, सद्-गुणो का अवस्थित रहना अत्यन्त महत्त्व का है

उन महावीर, बुद्ध, प्रभृति महान् व्यक्तियो के समतादायक शुभ मार्ग को सस्कृत, पाली और प्राकृत के आचार्यो ने जनता तक पहुचाने का सफल प्रयत्न किया भारतीय विद्वानो ने अपने विशुद्ध जीवन के आधार पर सफल लेखनी द्वारा लोक-प्रिय भाषा में जनरजन और जनहित के लिए असख्य काव्यो की रचना की न केवल रचना की वरन् उन गीतो को गाकर जन-जन की हृत्तन्त्री पर स्पष्ट प्रभाव अकित कर पवित्रता की ओर उन्मुख कर दिया भारतीय जीवन मे 'सन्तोष धन' की आवाज उन्ही विद्वानो ने बुलन्द की महाराष्ट्र के कवियो ने तानाजी मालसुरे की सेना मे वीर-काव्य गाकर जिस प्रकार ओज ओर जोश भरा, भूषण के रस से प्रभावित छत्रसाल और शिवाजी ने जिस प्रकार उत्साह पाया, उससे कितना ही अधिक तत्कालीन एव चिरस्थायी प्रभाव कवियो का भारतीय जीवन की दार्शनिकता पर पडा लोक-भाषा हिन्दी के कवियो ने भी इस ओर कम प्रयत्न नही किये तुलसी ने जगमोह त्याग, काव्यकला की उपासना कर अध्यात्म की ओर ही अपनी प्रतिभा-शकट को मोडा यह बात तो कथानक के अनुसार ही हो गई कि राम का चरित्र-गान करने के लिए, उन्हे 'मानस' मे यदाकदा श्रृगार का भी आश्रय, 'तिरछे करि नयन दे सैन जिन्हे समझाय चली, मुसकाय चली' आदि के रूप मे लेना पडा कविवर बनारसीदास के बारे मे उनके 'अर्धकथानक' काव्य से पता लगता है कि वे पहले श्रृगारी कवि थे, परन्तु बाद मे वे चेते और जब उन्हे यह आभास हुआ कि श्रृगार-काव्य से न केवल अपना अहित कर रहे है वरन् आगे आने वाली अगण्य पीढियो को स्खलित मार्ग दिखा रहे है, तो उन्होने अपना समस्त श्रृगार-काव्य गोमती नदी मे डुबाकर सन्तोष की सास ली देखिये—

एक दिवस मित्रन्ह के साथ, नौकृत पोथी लीना हाथ,
नीद गोमती के विच आइ, पुल के ऊपरि वैठे जाइ।



वाचे सब पोथी के वोल, तव मन में यह उठी कलोल,
एक झूठ जो वोले कोई, नरक जाइ दुख देख सोइ।
मै तो कल्पित वचन अनेक, कहे झूठ सब साँच न एक,
कैसे बने हमारी बात, भई बुद्धि यह आकसमात।
यह कहि देखन लाग्यो नदी, पोथो डार दइ ज्यो रदी,
तिस दिन सो बानारसी, करै धर्म की चाह।
तजी आसिकी फासिखी, पकरी कुल की राह।।

वैसे ही रत्नावली के सासारिक शृगार मे उलझा और मदमाता तुलसी व्यावहारिक अध्यात्म मे पड गया श्रीकृष्ण के शृगार मे भी उन्होने अध्यात्म-रहस्य खोजा सूफी मत के मुसलमान हिन्दी कवियो के बारे मे तो यह वडी विचित्रता रही है कि प्रगाढ शृगार का वर्णन करते हुए भी वे आध्यात्म खोज रहे है मलिक मोहम्मद जायसी रचित 'पद्मावत' इसका ज्वलत उदाहरण है उसमे पद्मावती रानी-स्त्री नायिका मे उन्होने 'इष्टदेवता' की स्थापना की है अलाउद्दीन आदि 'इष्टदेवता' से दूर करने का प्रयत्न करते है परन्तु 'गोराबादल' सद्गुणो की सहायता से आत्मदेव भीमसिंह इष्ट-प्राप्ति मे समर्थ होते है जायसी का 'माहिका हसेसि कोहरिहि' उनकी अटूट ईश्वर-भक्ति का परम परिचायक है. अपनी स्वाभाविक शैली से गभीर रहस्यो का उद्घाटन करते हुए उन्होने सासारिक प्रेम का दिग्दर्शन कराया है.

एक कवि ने केवल शृगार पर लिख अपनी कलम पर कलक लगाने वाले कवियो को 'कुकवि' कह उनकी खूब निंदा की है 'कला के लिए कला' का इससे बढकर समर्थ विरोध और किस भाषाप्रणाली का हो सकता है ? यथा—

राग उदय जग अध भयो, सहजे सब लोकन लाज गवाई।
सीख विना नर सीख रहे, वनिता-सुख-सेवन की चतुराई।
तापर और रचे रस काव्य, कहा कहिये तिनकी निठुराई।।
अन्ध असूझन की अखिया मह, मेलत है रज राम दुहाई।
कचन कुम्भन की उपमा कहि, देत उरोजन को कवि वारे।
ऊपर श्याम विलोकत कै मणि, नीलम की ढकनी ढक छारै।
यो सत बैन कहै न कुपण्डित, ये युग आमिष पिण्ड उघारे।
साधुन डार दई मुह छार, भए इस हेत किन्धौ कुछ कारे।

इसी प्रसग मे इस कवि श्रेष्ठ ने कविनिर्माता विधाता पर कटुतम कटाक्ष किया है वे लिखते है·

हे विधि ! भूल भई तुमते, समझे न कहा कस्तूरी बनाई।
दीन कुरगन के तन मे, तिन दत धरे करुणा नही आई।
क्यो न करी तिन जीभन जे रस-काव्य करे पर को दुखदाई।
साधु अनुग्रह दुर्जन दड दोऊ सधते, विसरी चतुराई।

ध्वनित रूप से सभी हिन्दी कवियो ने 'अध्यात्म' पुरस्सर सद्भावना से प्रेरित हो अपनी काव्यकला का परिचय दिया है सतसई मे किशोरियो के केश, कटि, वेणी, भौह, नयन, नासिका, अधर, कपोल, वस्त्राभूषण आदि का वर्णन करने वाला महाशृगारी विहारी भी इसे न भूला और (शायद अपनी पूर्वकृत गल्ती को विचार कर ही) उन्होने सतसई के अंतिम भाग मे 'गम्भीर घाव करने वाले' आध्यात्मिक छदो का निर्माण किया, यथा—

को छूटयो इहि जाल परि कत कुरग अकुलात।
ज्यो-ज्यो सुरभि भज्यो चहति, त्यो-त्यो उरझत जात।

बुधि अनुमान प्रमाण सुति, किये नीठि ठहराय।
सुलभ गति परब्रह्म की, अलख लखी नहिं जाय।

बिहारी ने निम्न पद्याश मे तो सासारिक जीवो को परमात्मा की ओर सम्मुख करने मे कितनी सफलतापूर्वक कलम की कला दिखाई है

भजन कह्यो तासो भज्यो, भज्यो न एकी वार।
दूर भजन जाते कह्यो, सो तू भज्यो गवार।

इस प्रकार के गम्भीर पद्यो के आधार पर ही तो बिहारी बडे घमण्ड से यह लिख पाये थे कि—

सत सैया के दोहरा, अरु नाविक के तीर,
देखत मे छोटे लगें, घाव करें गम्भीर।

इस प्रसग पर राष्ट्रकवि कबीर को कौन भूल सकता है ? उनके निम्न लिखित छन्द कामी और प्रगाढ ससारी के भी अतर-चक्षु खोल देते है—

कस्तूरी कुण्डल बसै मृग ढूँढे बन माहि,
ऐसे घट घट राम है दुनिया देखे नाहिं।

पाखडियो आदि को कबीर की फटकार चेतावनी देती है—

मु ड मु डाये हरि मिले, सब कोई लेय मुंडाय, बार-बार के मू डते भेड न वैकुंठ जाय।
नाम भजौ तो अब भजौ बहुरि भजौगे कब, हरिहर हरिहर रुखडे ईंधन हो गये सब।
कहा चुनावै मेढिया लाबी, भीति उसारि, घर तो साढे तीन हथ, घनात पौने चारि।
साधु भया तो क्या भया बोले नही विचार, हतै पराई आतमा बाधि जीभ तरवार।।

जहाँ हम शास्त्रो की बातो पर एकदम अविश्वास कर लेते हैं, वहा राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की तीर्थंकर महावीर के शरीर मे दुग्ध सदृश रक्त पर श्रद्धासूचक काव्य देखिए—

यह तनु तोहै रक्तमासमय, उसमे भरा हुआ है दुग्ध।
बाल्यभाव से ही, जिन, यह जन, आ जाता है हुआ विमुग्ध।।

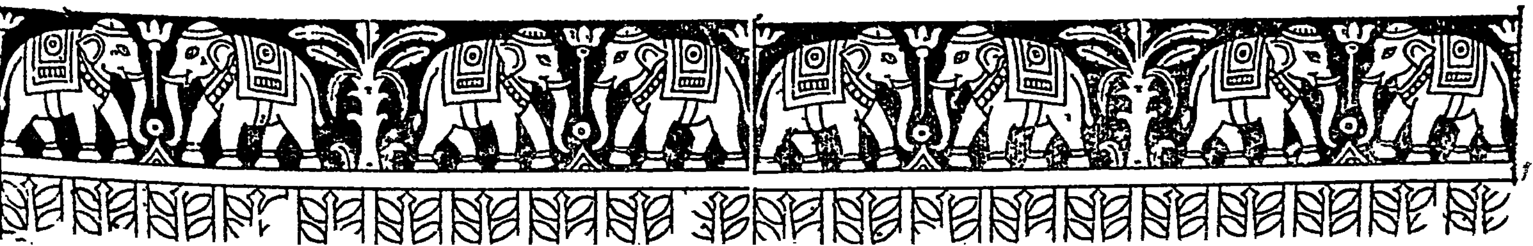
उनकी 'भारतभारती' मे भारतीय आध्यात्मिक पतन और पाश्चात्य भौतिक आगमन पर जो हार्दिक दुःख छिपा है वह एक महान् सन्देश भारतीयो को दे रहा है जयशकरप्रसाद ने तो भारतीय-परम्परा मे धर्म का कितना सुन्दर चित्रण किया है—

धर्म का ले लेकर जो नाम हुआ करती बलि, करदी बन्द।
हमी ने दिया शाति सन्देश, सुखी होते देकर आनन्द।
यवन को दिया दया का दान, चीन को मिली धर्म की दृष्टि।
मिला था स्वर्ण भूमिको रत्न, शील की सिंहल को भी सृष्टि।

इस प्रकार भारत ने अपने अध्यात्म-सदेश को देश-देशान्तर मे प्रसारित करने का सक्रिय प्रयत्न किया था. हिन्दू-मुस्लिम अनैक्य के दिनो मे भी राष्ट्रकवि मैथिलीशरण ने क्या ही तर्कपूर्ण शब्दो मे 'गुरुकुल' मे स्नेह सवर्धन का प्रयत्न किया है

हिन्दू हो या मुसलमान, नीच रहेगा फिर भी नीच।
मनुष्यता सबके भीतर है मान्य मही मण्डल के बीच।

मानवता की पावन कल्पना को काव्य मे उतारकर कवि ने बडा उपकार किया. दौलतराम कवि तो समूचे जीव-तत्त्व



को ही अध्यात्मयोग के भीतर गर्भित करने लगे अहिंसा प्रतिपादन मे उनका निम्न पद्याश महत्त्व रखता है

षटकाय जीव न हनन ते, सब विधि दरब हिंसी टरी ।"

क्योंकि बनारसी के शब्दो मे छोटे बडे जीव सब एक है, यथा

ज्ञान नयन ते देखिए दीन हीन नहिं कोई ।

अत दौलतराम आगे बढते हैं वे ससार के चक्र मे भौतिकता अर्थात् मिथ्याभाव मे उलझे हुए प्राणी को सतोष, सुख अर्थात् निराकुलता का वास्तविक मार्ग इन शब्दो मे दिखा रहे हैं—

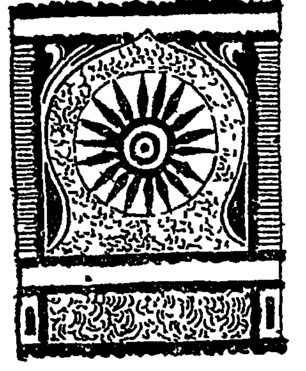
आतम को हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिये ।
आकुलता शिव माहि न ताते शिव मग लाग्यो चहिये ।।

इस शिव-मग मे ही शाश्वत कल्याण होगा न कि पश्चिमी भौतिकता-प्रचुर मिथ्यापूर्ण, असतोषदायक जडता मे. भला कोयला, लोहा और सीमेन्ट आदि जड चीजे चैतन्यपुज आत्मा को क्या दे सकती है ? हा, जडता अवश्य दे सकेगी इसीलिए तो अनन्त निधिधारी मानवात्मा आज जडवादी अथवा जड बनता जा रहा है उसकी बुद्धि पर परदा पड गया है वह जगन्मिथ्यात्व मे भूलकर अपनी अमूल्य मानव पर्याय को यो ही जड़ वस्तुओ की साधना मे नष्ट कर रहा है अत दौलतराम जी अपनी "अनुप्रेक्षाचिंतन" मे उसे जताते हुए लिखते है

"यौवन गृह गोधन नारी, हय गय जन आज्ञाकारी ।
इन्द्रीय भोग छिन-थाई, सुरधनु चपला चपलाई ।
सुर असुर खगाधिप जेते, मृग ज्यो हरि काल दलेते ।
मणि मत्र तत्र बहु होई, मरते न बचावै कोई ।।
चहु गति दुख जीव भरे है, परिवर्तन पच करे है ।
सब विधि ससार असारा, तामे सुख नाहिं लगारा ।
शुभ अशुभ करम फल जेते, भोगे जिय एकहिं तेते ।
सुत दारा होय न सीरी सब स्वारथ के है भीरी ।
जल-पय ज्यो जिय-तन मेला, पै भिन्न-भिन्न नहिं भेला ।
ये तो प्रकट जुदे धन धामा क्यो हो इक मिल सुत-रामा ।
पल रुधिर राध मल थैली, कीकस वसादि तै मैली ।
नव द्वार वहै घिनकारी असि देह करे किम यारी ।

इस प्रकार मिथ्यात्व और आत्यन्तिक जागतिकता से हमे सचेत कर हिन्दी के सुकवियो ने भारतीय जीवन मे सतोष आदि सद्गुणो का अविच्छिन्न साम्राज्य फैलाया है.





डा० ज्योतिप्रसाद जैन
एम० ए०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी०, लखनऊ

जैन कथासाहित्य

विश्व के सम्पूर्ण साहित्य को लें, अथवा किसी भी देश, जाति या भाषा के साहित्य को ले, उनका बहुभाग एव सर्वाधिक जनप्रिय अश किसी न किसी रूप मे रचित उसका कथात्मक साहित्य ही पाया जाता है मात्र लौकिक साहित्य के क्षेत्र मे ही यह स्थिति नही है वरन् तथाकथित धार्मिक साहित्य के सम्बन्ध मे भी यही बात पाई जाती है साहित्य के साथ जैन विशेषण की उपस्थिति यह सूचित करती है कि यहाँ जैन नाम से प्रसिद्ध धार्मिक-परम्परा विशेष का साहित्य अभिप्रेत है यह परम्परा चिरकाल से उस अत्यन्त प्राचीन एव विशुद्ध भारतीय सास्कृतिक धारा का प्रतिनिधित्व करती आई है जो 'श्रमण' नाम से प्रसिद्ध रही है इस निवृत्तिप्रधान परम्परा मे आत्मस्वातन्त्र्य एव श्रमपूर्वक आत्मशोधन पर अत्यधिक बल दिया गया है और अपनी इन्ही विशेषताओ के कारण उसने तथाकथित हिन्दु धर्म की जननी भोग एव प्रवृत्तिप्रधान ब्राह्मण वैदिक सस्कृति से अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रक्खा क्योकि इस जैन श्रमणपरम्परा का मूल उद्देश्य वैयक्तिक जीवन का नैतिक एव आध्यात्मिक उन्नयन था उसकी दृष्टि केवल सामूहिक लोकजीवन अथवा किसी वर्ग या समाज विशेष तक ही सीमित नही रही वरन् उसने प्रत्येक जीवात्मा को व्यक्तिशः स्पर्श करने का प्रयत्न किया यही कारण है कि इस परम्परा द्वारा प्रेरित, सृजित, प्रचारित एव सरक्षित साहित्य भारतवर्ष की प्राय समस्त प्राचीन एव मध्यकालीन भाषाओ मे प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध है प्राकृत, सस्कृत, अपभ्र श, कन्नड, तामिल, राजस्थानी, गुजराती, हिन्दी आदि भाषाओ के विकास एव उनके साहित्यिक भडार की अभिवृद्धि मे जैन साहित्यकारो का महत्त्वपूर्ण योगदान है

विपुल जैन साहित्य केवल तात्त्विक, दार्शनिक या धार्मिक क्रियाकाण्ड से ही सम्बन्धित नही है, वरन् भारतीय ज्ञान-विज्ञान की प्राय प्रत्येक शाखा पर रचित अधिकारपूर्ण रचनाए उसमे समाविष्ट है तत्त्वज्ञान, अध्यात्म, लोकरचना, भूगोल, खगोल, ज्योतिष, मन्त्रशास्त्र सामुद्रिक, शिल्पशास्त्र, न्याय, तर्क, छन्द, व्याकरण, काव्यशास्त्र, अलकार, कोष, आयुर्वेद, पदार्थविज्ञान, पशुपक्षिशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, इतिहास, राजनीति आदि प्राय प्रत्येक तत्कालप्रचलित विषय पर जैन विद्वानो की समर्थ लेखनी चली और उन्होने भारती के भडार को भरा

किन्तु जैनसाहित्य का लोकदृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण, रोचक एव जनप्रिय अश उसका कथा-साहित्य है जैन-कथासाहित्य अत्यन्त विशाल, व्यापक, विभिन्न भाषामय एव विविध है लोककथाएँ, दन्तकथाए, नैतिक आख्यायिकाए, प्रेमाख्यान, साहसिक कहानियाँ, पशु पक्षियो की कहानियाँ, अमानवी-देवी देवताओ सम्बन्धी कहानियाँ, उपन्यास नाटक, काव्य, चम्पू, दूहा, ढाल, रासे, व्यङ्ग, रूपक, प्रतीकात्मक आख्यान, इत्यादि समय-समय एव प्रदेश-प्रदेश अथवा भाषा-भाषा मे प्रचलित विविध शैलियो एव रूपो मे जैन कथासाहित्य उपलब्ध है स्वतन्त्र कथाए भी है और अनेक कथाओ की परस्पर सम्बद्ध शृखलाए भी है कुछ छोटी-छोटी कहानियाँ है तो कुछ पर्याप्त बडी

जैन कथाओ की यह विशेषता है कि वे विशुद्ध भारतीय है और अनेक बार शुद्ध देशज है इसके अतिरिक्त पर्याप्त सख्या मे वे पूर्णतया मौलिक है कभी-कभी महाभारत आदि जैनेतर ग्रन्थो से भी कथास्रोत ग्रहण किये गये है (यथा नल-दमयन्ती की कथा) मौखिक द्वार से प्रचलित लोककथाओ को भी अनेक बार आधार बनाया गया है किन्तु



उन्हे अपने (जैन) रूप मे ढाल कर ही प्रस्तुत किया गया है जैनकथाकार बहुत कुछ स्वतत्र एव उन्मुक्त होता है. बौद्ध-कथाकार की भाँति उसपर कोई प्रतिबध नही होता. प्राय प्रत्येक बौद्धकथा किसी न किसी बोधिसत्त्व को केन्द्रबिन्दु मानकर चलती है किन्तु कोई भी कथानक हो, कोई और कैसे भी पात्र हो अथवा कैसा भी घटनाक्रम या स्थितिचित्रण हो, जैन कथाकार मजे से अपनी कहानी एक रोचक एव वस्तुपरक ढग से कहता चलता है, केवल कहानी के अन्त मे प्रसगवश कुछ दार्शनिकता का प्रदर्शन, अथवा पुण्य के सुफल और पाप के कुफल की ओर सकेत कर दिया जाता है अथवा कोई नैतिक निष्कर्ष निकाल लिया जाता है या यह सूचित कर दिया जाता है कि प्रस्तुत कथा अमुक धार्मिक मान्यता या सिद्धान्त का एक दृष्टान्त है

अपनी इस उन्मुक्त स्वतन्त्रता के कारण जीवन की प्राय प्रत्येक भौतिक, मानसिक, बौद्धिक या भावनात्मक परिस्थिति को जैनकथाकार अपनी कथा मे आत्मसात कर लेता है और फलस्वरूप अनेक जैनकथाए जनजीवन के प्राय प्रत्येक अग को स्पर्श कर लेती है. अतः आबालवृद्ध, स्त्रीपुरुष, जनसाधारण के स्वस्थ मनोरजन का साधन बन जाती हैं और लोकप्रिय हो जाती है मनोरजन के मिस किसी तात्त्विक, दार्शनिक, सैद्धान्तिक या नैतिक तथ्य की छाप श्रोता के मस्तिष्क पर डालने के अपने उद्देश्य में उसके बहुधा सफल हो जाने की सभावना रहती है.

टाने, हर्टल, ब्हूलर, ल्यूमेन तेस्सितोरि, जैकोबी आदि अनेक यूरोपीय प्राच्यविदो ने जैन कथासाहित्य के क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण गवेषणाएँ की है पूर्वमध्यकाल मे ही अनेक जैनकथाएँ भारत के पश्चिमी तट से अरब पहुँची, वहाँ से ईरान और ईरान से यूरोप पहुँची. अनेक जैनकथाओ को तिब्वत, हिन्दएशिया, रूस, यूनान, सिसली और इटली के तथा यहूदियो के साहित्य मे चीन्ह लिया गया एव खोज निकाला गया है जैनकथासाहित्य के अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यह साहित्य अखिल भारतीय सस्कृति से घनिष्ठतया सम्बन्धित है और इसी कारण विभिन्न कालो एव प्रदेशो के जनजीवन का जैसा प्रतिबिम्ब इन जैन कथाओ में मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है

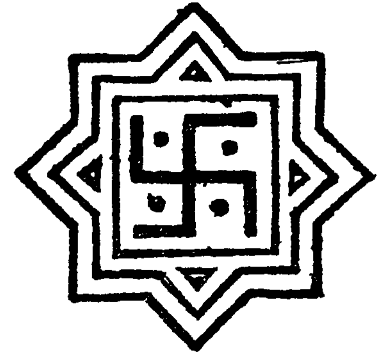
पुराणो, पौराणिक चरित्रो, खडकाव्यो, महाकाव्यो, नाटको आदि को न गिने तो भी सैकडो स्वतन्त्र कथाएँ है और सैकडो ही छोटी-बडी कथाओ के सग्रह है केवल विक्रमविषयक ६० कथाएँ मिलती है और केवल मैना-सुन्दरी एव श्रीपाल के कथानक को लेकर ५० से अधिक पुस्तके लिखी जा चुकी है

अनेक कथासग्रहो मे १०० से २०० तक कथाएँ सग्रहीत है, किसी किसी मे ३६० हैं जिससे कि वक्ता प्रतिदिन एक के हिसाब से पूरे वर्षभर श्रोताओ का नित्य नवीन कथा से मनोरजन करता रहे.

जैन कथा साहित्य के प्रधान मूलस्रोत पइन्नाओ को तथा शिवार्य की 'भगवती-आराधना' को माना जाता है गुणाढ्य की प्रसिद्ध बृहत्कथा का आधार काणाभूति द्वारा भूतभाषा मे रचित जिस ग्रन्थ को माना जाता है वह जैन विद्वान् काणाभिक्षु का ही प्राकृत कथाग्रन्थ रहा प्रतीत होता है श्वे० आगमसूत्र एव दिग० पौराणिक साहित्य भी अनेक जैन कथाओ के उद्गम स्रोत रहे है

प्रसिद्ध एव महत्त्वपूर्ण जैनकथा ग्रन्थो मे हरिषेण का बृहत्कथाकोष, प्रभाचन्द्र, श्रीचन्द्र, नेमिदत्त, आदि के आराधना-कथाकोष, जिनेश्वर सूरि एवं भद्रेश्वरसूरि की कथावलियाँ, रामचन्द्र का पुण्यास्रवकथाकोष इत्यादि उल्लेखनीय है. स्वतन्त्र कथाओ मे तरगवती कहा, समराइच्चकहा, धूर्ताख्यान, कुवलयमाला, उपमितिभवप्रपचकथा, धर्मपरीक्षा, सम्यक्त्वकौमुदी, तिलकमजरी, धर्मामृत, शुकसप्तति, रत्नचूड की कथा आदि विशेष महत्त्वपूर्ण है





पं० कुन्दनलाल जैन
आयुर्वेदाचार्य

आयुर्वेद का उद्देश्य : संयमसाधना

जैन तीर्थंकरो की वाणी—उपदेश—विषयो के विभागो के अनुसार मोटे-मोटे १२ विभागो मे विभक्त की गई है, जिन्हे जैन आगम की परिभाषा मे 'द्वादशाग' कहते है इन १२ अगो मे बारहवाँ अग 'दृष्टिवाद' है दृष्टिवाद के पाच भेद इस भाति है—१ पूर्वगत २ सूत्र ३ प्रथमानुयोग ४ परिकर्म ५ चूलिका पूर्व १४ है उनमे से १२ वे पूर्व का नाम 'प्राणावाय' पूर्व है इस पूर्व मे लोगो के आभ्यन्तर-मानसिक एव आध्यात्मिक-स्वास्थ्य एव वाह्य शारीरिक स्वास्थ्य की यथावत् स्थिति रखने के उपायभूत यम नियम आहार विहार एव उपयोगी रस रसायनादि का विशद विवेचन है तथा जनपदध्वसि, मौसमी, दैविक, भौतिक आधिभौतिक व्याधियो की चिकित्सा तथा उसके नियत्रण के उपायादि का विस्तृत विचार किया गया है [1]

यह प्राणावाय पूर्व ही आयुर्वेद का मूल शास्त्र है यही आयुर्वेद का मूल वेद है इसी के आधार पर हमारे लोकोपकारी प्रात स्मरणीय आचार्यो ने अथक श्रमद्वारा अनेको आयुर्वेदीय ग्रथो की रचना की है जो हमारे सरस्वतीभण्डारो की शोभा वर्तमान काल मे बढा रहे है बहुत थोडे ग्रथरत्न ही प्रकाश मे आये है उन समस्त ग्रथरत्नो को सकलित, परिष्कृत कर आधुनिक समय के योग्य टिप्पण आदि से युक्त कर प्रकाशित करने की महती आवश्यकता है

जैन आगम जीव-आत्मा के इह लौकिक एव पारलौकिक कल्याण एव अभ्युदय के मार्ग को बतलाता है जैन शास्त्रो में जीव की तथा इस विश्व की सत्ता स्वयसिद्ध अनादिनिधन बतलाई है इनका उत्पादक रक्षक एव सहारक किसी व्यक्ति—ईश्वर—आदि को नही माना है ससार की परिवर्तित होने वाली अवस्थाएँ द्रव्यो के स्वय के स्व-परनिमित्तक परिवर्तन का परिणाम है प्रत्येक द्रव्य[2] की सत्ता पृथक्-पृथक् है एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के स्वभाव मे किसी प्रकार का परिवर्तन करने मे समर्थ नही प्रत्येक द्रव्य मे एक स्वाभाविक परिणमन की शक्ति रहती है जीव और पुद्गल की उस स्वाभाविक शक्ति के स्वाभाविक और वैभाविक परिणमनरूप दो विभाग है. और इन दोनो के कारण दोनो द्रव्यो मे स्वभावपरिणमन एव विभावपरिणमन होता रहता है इस परिणमन मे उपादान एव निमित्त नाम के दो कारण-हेतु बतलाये गये है पदार्थ मे स्वय तत्-तत्कार्य रूप होने की योग्यता का नाम उपादान है अन्य द्रव्य की उस कार्य की पैदाइश के समय उपस्थिति का नाम निमित्त है वह सबल एव उदासीन रूप दो प्रकार का होता है. अत जब कोई द्रव्य परिणमन को प्राप्त होता है तब उसकी स्वत की परिणमन कराने वाली (स्वत मे निहित) शक्ति के अनुसार ही परिणमन होगा—उसी को उपादान शक्ति कहते है शक्ति बाह्य सबल निमित्त को पाकर नियत परिणमन—कार्य का उत्पादन—करा देती है

इसी बाह्य निमित्त की सबलता एव उपयोगिता को हृदयगम कर आचार्य ने लोकहित की भावना से प्रेरित होकर "आयुर्वेद" की रचना मे अपना योगदान दिया यह लोक—ससार—जीव का निवासस्थान है इसे ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक

---

१ कायचिकित्साद्यष्टाङ्ग आयुर्वेद भूतिकर्मजागुलिप्रक्रम
प्राणापानविभागोऽपि यत्र विस्तरेण वर्णितस्तत् प्राणावायम् । —तत्त्वार्थराजवार्तिक अ० १ सू० २०

२. जैनागम में १ जीव २ पुद्गल ३ धर्म ४ अधर्म ५ आकाश ६ काल नाम के ६ द्रव्य माने हैं



और अधोलोक इन तीन भागो मे विभक्त किया है लोक में जीव नाना योनियो एव गतियो मे निरतर जन्म-मरण के द्वारा पैदा होते एव मरते रहते है शुभ कार्यो द्वारा उपार्जित महान् पुण्य का भोग करने के लिए यह जीव देवगति मे जाता है. वहाँ रोग शोक जरा रहित होकर यथेष्ट इन्द्रियजनित भोगोपभोगो को भोगता है निकृष्टतम अशुभ कार्यो द्वारा सचित पाप के द्वारा नरको मे भूमिजन्य, असुरजन्य और परस्परजन्य दैहिक एव मानसिक अनेक प्रकार के दुखो को करोडो वर्षो तक भोगता है कुछ मद कषाय एव पाप की अल्पता से पशु-गति के दुखो को भोगता है. पुण्य पाप के मिश्रित उदय मे मनुष्य-गति के सुख-दुखो का अनुभव करता है.

इनमे देव और नारक अनपवर्त्तनीय आयु वाले होते हे. इनकी मृत्यु असमय मे बीमारी, विष, शस्त्र, रक्तक्षय आदि बाह्य कारणो से नही होती आयु पूर्ण होने पर ही ये मरते है जब बीमारी और बुढापा देवो मे है ही नही तब उनके वास्ते चिकित्साशास्त्र की आवश्यकता ही क्या है? नारकियो को इतना तीव्र पाप का उदय होता है कि उन्हे किन्ही बाह्य वस्तुओ से सुखशाति पहुँचाना सभव ही नही भयकर प्रवाह वाली नदी पर, जिसके वेग को बडी से बडी शक्तिवाले यत्रो से भी न रोका जा सके, बाँध बाँधना श्रम और शक्ति का दुरुपयोग है, इसी प्रकार नारकियो के लिए भी चिकित्साशास्त्र अनुपयोगी है.

मनुष्य और तिर्यचो मे भी भोगभूमि मे रहने वाले असख्यात वर्ष की आयुवाले विष कटक शस्त्रघात जरा रोग आदि उपद्रवो से रहित होते हैं उनको न बुढापा आता है, न बीमारी होती है वहा का जीवन इतना सरल, सादा और सात्विक होता है कि वहा परस्पर रागद्वेष ईर्ष्यादि दुर्भाव नही होते इससे कलह या परस्पर शस्त्राघात का उनमे प्रसग नहीं होता. इसलिये उनकी भी अकालमृत्यु नही होती कर्मभूमियो मे भी विशेष पुण्यशाली चरमोत्तमदेहधारी महापुरुषो मे रोगादि नही होते इन सब को चिकित्सा की जरूरत नही शेष बचे हम सरीखे मनुष्यो को इसकी जरूरत है हमारे लिए इस आयुर्विज्ञान शास्त्र-आयुर्वेद के ज्ञान—का परम महत्त्व है

बहुत प्राचीन काल से कइयो की यह धारणा चली आरही है कि किसी की अकालमृत्यु होती ही नहीं है. समय प्राप्त होने पर बीमारी, विष, शस्त्राघात, वृक्ष से गिरना, रेल, मोटर या हवाई दुर्घटना आदि का मात्र निमित्त मिल जाने से होने वाली मृत्यु को अकालमृत्यु कहना गलत है किन्तु जैनदर्शन के समर्थ और गभीर विद्वान् भगवान् भट्टाकलक ने अपने महान् दार्शनिक ग्रथ तत्त्वार्थराजवार्तिक मे इस भ्रान्त धारणा का निरसन करते हुए कहा है—जैसे तीव्र हवा के झोके से दीपक को बचाने के लिए लालटेन का उपयोग न किया जाय या हाथ वगैरह का आवरण न किया जाय तो वह बुझ जाता है. यदि आवरण हो तो बच जाता है, बुझता नही है इसी प्रकार तीव्र सन्निपातादि से ग्रस्त मनुष्य की यदि उपेक्षा की जाय, उचित निदानपूर्वक चिकित्सा न की जाय तो वह मर सकता है इसके विपरीत यदि आयु शेष है तो उचित चिकित्सा उसे बचा लेगी इसी मूलभूत विचार से प्राणावाय पूर्व की रचना की गई है उनका मूलवार्तिक इस भाति है—'आयुर्वेद प्रणयनान्यथानुपपत्ते.' यदि रक्तक्षयादि से अकाल मौत न मानी जाय तो उससे बचाने के लिए भगवान् तीर्थंकर आयुर्वेद—प्राणावाय पूर्व—की रचना नही करते रचना उन्होने की है, इसी से सिद्ध है कि अकालमृत्यु से भी प्राणी का मरण होता है और ऐसे मरण को उचित उपाय द्वारा टाला जा सकता है

जब अकालमृत्यु, बीमारियो की यत्रणा, अकालवार्धक्य आदि मनुष्य के जीवन मे सुख स्वास्थ्य के दुश्मन मौजूद है तब उनसे बच कर रहने के उपाय बताना आवश्यक है और इसी आवश्यकता की पूर्ति आयुर्वेद करता है

ससार मे धर्म अर्थ काम मोक्ष, ये चार पुरुषार्थ है—प्रत्येक मनुष्य के जीवन के लक्ष्य हैं. इनमें मोक्ष और काम पुरुषार्थ साध्य है और धर्म तथा अर्थ पुरुषार्थ उनके साधन है इन पुरुषार्थो की प्राप्ति के लिए शरीर की नीरोगता परम आवश्यक है. कहा है—'धर्मार्थकाममोक्षाणा आरोग्य मूलमुत्तमम्

आयुर्वेद-अवतार की प्रस्तावना करते हुए दिगम्बराचार्य उग्रादित्य ने अपने "कल्याणकारक" नामक ग्रथ मे इसी तथ्य को इस प्रकार प्रकट किया है—"देवाधिदेव भगवान् आदिनाथ के पास, कैलाशपर्वत पर पहुँच कर भरत चक्रेश्वर

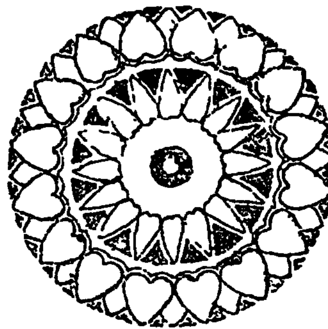
ने निम्नलिखित प्रार्थना की—"हे प्रभो, पहले दूसरे और तीसरे काल मे इस भरत क्षेत्र मे भोगभूमि थी लोग परस्पर एक दूसरे को अत्यन्त स्नेह से देखते थे, उनमे ईर्ष्या द्वेष नही था अपने पुण्य के फल से प्राप्त समस्त इष्ट भोगो को भोग कर नियत समय पर आयु पूर्ण कर स्वर्ग मे देवगति के सुख भोगने को जाते थे भोगभूमि समाप्त होकर कर्मभूमि आई इसमे भी पुण्यात्मा चरमशरीरी उत्तम देहवाले भगवान् तीर्थंकर दीर्घ आयु के धारक होते है परन्तु अधिकतर लोग विष शस्त्रादि से घात योग्य शरीर वाले होते है उनको वात पित्त कफ की हीनाधिकता से महान् बीमारिया उत्पन्न होती है उन्हे ठण्ड, गरमी वर्षा ऋतु की प्रतिकूलता दुखी करती है वे लोग अपथ्य आहार-विहार का सेवन करते है इसलिए हे नाथ। हमे इन दुखो से छूटने का उपाय बतलावे'

तब देवाधिदेव परमदेव आदिप्रभु ने कहा—"हे भरतेश्वर। स्वस्थ के स्वास्थ्य का रक्षण करने और अस्वस्थ के अस्वास्थ्य को मिटाने का उपाय इस प्रकार है—उचित काल मे हित, मित आहार-विहार का सेवन करता हुआ तथा क्रोध काम लोभ मोह मान आदि शाति के शत्रुओ से निरतर बचता हुआ जो व्यक्ति अपना जीवन व्यतीत करता है तथा समय-समय पर सतत स्वास्थ्य की रक्षा के लिए रसायन द्रव्यो को शरीर की शुद्धिपूर्वक उचित समय मे सेवन करता है, वह कभी बीमारियो या असामयिक वार्धक्य आदि के वशीभूत नही होता यह स्वस्थ का स्वास्थ्यरक्षण है

यदि कर्मयोग से, भूल आदि निमित्त के वश रोग आ ही जाएँ तो निदानज्ञ विद्वान् से वात पित्त कफादिक मे, जिसकी हीनाधिकता से रोग उत्पन्न हुआ हो, उसको समझ कर हीन को बढाने वाले शुद्ध द्रव्यो के सेवन द्वारा उचित परिमाण मे बढाना बृंहण कहलाता है तथा यदि दोष बढे हुए हो तो उन्हे कम करने वाले द्रव्यो को उचित मात्रा में सेवन कर बढे हुए दोषो को कम करना कर्षण चिकित्सा कहलाती है इस प्रकार उभयप्रकारी चिकित्सा द्वारा स्वास्थ्य प्राप्त करना चाहिए तभी शरीर सयमसाधना के उपयुक्त होगा और सयम की आराधना द्वारा अतिम पुरुषार्थ मोक्ष की सिद्धि होगी"

आदिनाथ प्रभु की यही दिव्यध्वनि आयुर्वेदप्रणयन का मूल बनी और इसी आधार पर पूज्यपाद, समतभद्र, अकलक आदि प्राचीन जैनाचार्यो ने आयुर्वेद सबधी अनेक रस-ग्रथ लिखे रस और उसमे भी खासकर खल्वी रसायन आयुर्वेद को जैनाचार्यो की महान् देन है श्री हर्षगणि आदि द्वारा लिखित "योगचिन्तामणि" सरीखा महान् ग्रन्थ तो सस्ते आशुरोगापहारी सुलभ योगो का भण्डार है और आज के युग की अर्थहीन मध्यवित्त जनता के लिए चिन्तामणिरत्न का काम देता है

इस प्रकार जैनागम के महान् आचार्यो ने आयुर्वेद की सेवा विशुद्ध लोककल्याण की भावना के साथ स्वस्थ शरीर द्वारा सयमपालन की दृष्टि से की है





श्रीभँवरलाल नाहटा

एक जैनेतर संत कृत जम्बूचरित्र

भारत मे अनेक धर्म-सम्प्रदाय हैं और विचारभेद के कारण ऐसा होना अनिवार्य भी है पर इसका एक दुष्परिणाम हुआ कि हमारी दृष्टि बहुत ही सकुचित हो गई एक दूसरे की अच्छी बातें ग्रहण करना तो दूर की बात पर साप्रदायिक विद्वेष-भावना के कारण दूसरे सप्रदायो के दोष ढूढना और उन्हे प्रचारित करना ही अपने सप्रदाय के महत्त्व बढाने का आवश्यक अग मान लिया गया है. पुराणो आदि मे जैन धर्म सम्बन्धी जो विवरण मिलते है उनसे यह भली-भाति स्पष्ट है कि जैनधर्म हजारो वर्षो से भारत मे प्रचारित होने पर भी और उसके प्रचारक व अनुयायी अनेक विशिष्ट व्यक्ति हुए उन तीर्थकरो, आचार्यो व जैनधर्म के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तो का उल्लेख तक पुराणादि ग्रथो मे नही किया गया. इतना ही नही, महत्त्व के सिद्धान्तो को भी गलत रूप मे बतलाया गया.

मध्यकाल मे अनेक सत और भक्त सम्प्रदायो का उद्भव हुआ और उन्होने भक्ति वैराग्य और अध्यात्म का प्रचार करने के साथ-साथ समाज के अनेक दोषो का निराकरण करने का भी कदम उठाया कबीर आदि ऐसे ही सत थे जिनका प्रभाव परवर्त्ती अनेक धर्म-सप्रदायो पर दिखाई पडता है. वैसे वे काफी उदार रहे है और जैनधर्म के कई अहिंसादि-सिद्धान्तो को अच्छे रूप मे अपनाया भी, पर वे भी साप्रदायिक दृष्टि से ऊपर नही उठ सके अत जैनधर्म के सम्बन्ध मे उनके विचार जो भी थोडे बहुत व्यक्त हुए वे कटाक्ष व हीन भाव के सूचक हैं रज्जब आदि कई सत कवियो ने जैन जजाल आदि रचनाए की हैं, उनमे यह स्पष्ट है.

राजस्थान मे निरजनी, दादूपथी, रामस्नेही, आदि सत सप्रदायो का गत तीन चार सौ वर्षो मे अच्छा प्रभाव रहा है और जैनधर्म का भी इसी समय वहा काफी प्रभाव था. दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनो सम्प्रदाय अच्छे रूप मे प्रचारित रहे कई जैनो का उन मत-सप्रदायो के सतो आदि से परिचय व सम्बन्ध भी रहा है फिर भी जैसा पारस्परिक सद्भाव रहना चाहिए था, नही रहा. इसका प्रमुख कारण साप्रदायिक मनोवृत्ति ही है जैनकथाए कई बहुत प्रसिद्ध रही है और उन्होंने जैनेतर सतो को भी आकर्षित किया है. इनमें से एक कथा जम्बू स्वामी की है शील की महिमा प्रचारित करने के लिए उस कथा को दादूपथी सत "तुरसी" ने 'जम्बूसर प्रसग' के नाम से हिन्दी मे पद्यबद्ध किया है प्रस्तुत काव्य की कई हस्तलिखित प्रतिया मेरे अवलोकन मे आई, उनमे से एक प्रति की प्रतिलिपि तो जयपुर के उदारमना सत मगलदास जी ने अपने हाथ से करके मुझे कुछ वर्ष पूर्व भेजी थी उसके बाद दो और प्रतिया भी जम्बूसर प्रसग की मिली. उन तीनो प्रतियो के आधार से सपादित करके यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है

अतिम केवली जम्बू स्वामी की कथा जैन समाज मे बहुत प्रसिद्ध है उनके सबंध मे सस्कृत, प्राकृत, राजस्थानी, गुजराती मे अनेक गद्य-पद्यमय रचनाए प्राप्त है जहाँ तक मेरी जानकारी है, उनके चरित्र के सम्बन्ध मे सबसे प्राचीन और उपकथाओं के साथ वर्णन वसुदेव हिण्डी के प्रारम्भ मे मिलता है, जो पाचवीं शताब्दी की रचना है तदनन्तर आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि ने परिशिष्ट पर्व मे जम्बू चरित्र विस्तार से लिखा है और उसके बाद तो लगभग २०-२५ रचनाए दिगम्बर, श्वेताम्बर दोनों सप्रदायो मे लिखी गई जिनमें से कुछ प्रकाशित भी हो चुकी है. महापुरुष जम्बू



भगवान् महावीर के पचम गणधर सुधर्मा स्वामी के शिष्य थे, राजगृह नगर के श्रेष्ठी ऋषभदत्त की पत्नी धारिणी की कुक्षि से उनका जन्म हुआ १६ वर्ष तक घर मे रहे, फिर सुधर्मा स्वामी की देशना सुन कर वैराग्यवासित हुए और दीक्षा लेने का विचार किया. एक समृद्धिशाली सेठ के घर मे जन्म लेने से, दीक्षा से पहले ही अन्य धनी सेठो की ८ कन्याओ से उनका वैवाहिक सम्बन्ध निश्चित हो चुका था माता आदि कुटुम्बियो ने विचार किया कि किसी प्रकार उनका विवाह कर दिया जाय तो वे सासारिक विपयो मे मग्न हो जायेगे पर जम्बूकुमार का वैराग्य दृढ था, इसलिए उन्होने कुटुम्बी जनो के अनुरोध से उन आठो कन्याओ से विवाह तो कर लिया पर विवाह से पूर्व उन्होने उन कन्याओ के पिताओ को स्पष्ट सूचित कर दिया कि मैं दीक्षित होने वाला हू विवाह की प्रथम रात्रि मे ही उन्होने अपनी आठो स्त्रियो को प्रतिबोध देकर सहयोगी बना लिया और साथ ही विवाह मे जो ९६ करोड का धन आया था उसे चुराने के लिए ५०० चोरो के साथ आए हुए प्रभव चोर को भी उनके उपदेश ने प्रभावित किया इस तरह माता, पिता, स्त्रियो, सास-ससुरो व प्रभवादि ५०० चोरो के साथ उन्होने सुधर्मा स्वामी से दीक्षा ग्रहण की वही राजपुत्र प्रभव आगे चल कर उनका प्रधान पट्टशिष्य बना २० वर्ष तक जम्बू स्वामी छद्मस्थ अवस्था मे रहे तदनन्तर केवलज्ञान उत्पन्न हुआ और ४४ वर्षो तक केवली अवस्था मे विचरे भगवान् महावीर के निर्वाण के ६४ वर्ष बाद ८० वर्ष की आयु मे वे मोक्ष सिधारे इनके बाद इस भरतक्षेत्र से पचम काल मे कोई मोक्ष नही गया इससे वे अन्तिम केवली कहलाये वास्तव मे वर्तमान जैन आगमो के निर्माण मे जम्बू स्वामी का प्रधान हाथ रहा है भगवान् महावीर ने तीर्थंकर के रूप मे ३० वर्ष तक जो भी उपदेश दिया उसे १२ अगसूत्रो मे ग्रथित करने का काम गणधरो ने किया महावीर निर्वाण के दिन ही गौतम स्वामी को केवल ज्ञान हो गया यद्यपि वे इसके बाद १२ वर्ष तक और रहे पर सघ के सचालन का भार सुधर्मास्वामी ने ही सभाला और उन्होने ही जम्बू स्वामी को सबोधित करते हुए वर्त्तमान आगमो की रचना की फलत उन आगमो के प्रारम्भ मे सुधर्मा स्वामी के मुख से यह कहलाया गया है कि हे जम्बू ! इस आगम की वाणी भगवान् महावीर से जिस रूप मे सुनी, तुमे कहता हूँ ! जम्बू स्वामी का निर्वाण मथुरा मे हुआ और उनके ५०० से अधिक स्तूप सम्राट् अकबर के समय तक मथुरा मे विद्यमान थे उनके जीर्णोद्धार का वर्णन दिगम्बर विद्वान कवि राजमल्ल ने अपने सस्कृत जम्बूचरित्र मे किया है

प्रस्तुत सत कवि तुलसी रचित जम्बूसर प्रसग मे जैनधर्म, सुधर्मा स्वामी, उनसे दीक्षा लेने आदि का उल्लेख नही किया है प्रारम्भिक विवाह के अनन्तर स्त्रियो से वार्त्तालाप और चोर का आगमन, सबको प्रतिबोध तथा ब्रह्मचर्य मे जम्बू स्वामी के दृढ रहने का वर्णन ही कवि ने किया है कई दृष्टान्तो का तो नाम निर्देश मात्र किया है पर अठारह नातो वाला सम्बन्ध कुछ विस्तार से दिया है, जो वसुदेव हिण्डी मे ही सबसे पहले मिलता है सत कवि तुलसी ने किसी मौखिक कथा को सुन कर ही अपने ढग से इस कथा की रचना की है जम्बू के नाम की जगह कवि ने जम्बूसर नाम का प्रयोग किया है हमे सत कवियो की अन्य रचनाओ मे भी जैन सम्बन्धी खोज करनी चाहिए

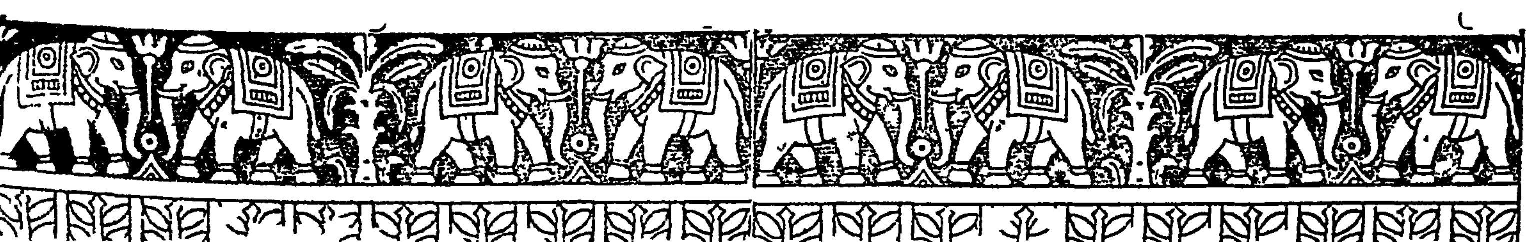
जम्बूसर प्रसंग वर्णन

दूहा

शील व्रत की का कहू, महिमा कही न जाइ ।
ज्यू गजराज के सग ते, अनल न परही आइ ।।१।।
ब्रह्मा विष्णु महेश लौ, करै शील की सेव ।
शील पूज्य तिहु लोक मे, कोई लहै शील का भेव ।।२।।
भेव लहै सो यह[1] लहै, जबूसर ज्यू जानि ।
सिष ताको प्रसग अब, कहू स निहचै मानि ।।३।।

---

१. यू गहै



चौपाई

शील व्रत सब ही को टीको । शील विना सब लागै फीको ।
'तुरसी' जो मुख सुन्दर होइ । नासा विना न सोभै सोइ ।।४।।†

नासा विना न शोभ हो, सुन्दर नर को मुख ।
'तुरसी' शील धर्म विन, सव ही धर्म निरुख ।।५।।

दूहा

एकादशी जू आदि दे, यावतेपु व्रत सार ।
'तुरसी' ता सब हीन मे, शील सुव्रत अधिकार ।।६।।†
'तुरसी' शील सुधर्म की, महिमा वर्ण न जाई ।
ताहि जप तप यज्ञ व्रत, रहे सकल सिर नाइ ।।७।।†

कथा प्रसंग : कवित्त

एक साह[2] धनवत, तास के पुत्र वी जोइ ।
'जम्बूसर' तस[3] नाम, शीलधर जनमत होइ ।।
पिता कियो हठ वहुत[4], परणिवो आरे कीन्हो[5] ।
परण तजू करि नारि, आप उत्तर यू दीन्हो[6] ।।
इक[7] वणिया के धीह आठ, तिन्है सुनि मतो विचारै ।
करै पिता सु अरज, पुरुप, 'जम्बूसर' म्हारै ।।८।।†
मानु कलजुग भयो, सुणत, यह लागी खारी ।
कन्या कही धर्म वात, तात तव जानि विचारी ।
दिया ताहि नालेर, परणिवा चलि कर आयो ।
'जम्बूसर' ताहि परण, हाथ ताकौ छिटकायो ।।
वणिये दियो द्रव्य वहुत, तास[9] कू धरे न आरे ।
विषै डड यू जान, आप निज ज्ञान विचारे ।।९।।
चले वहाँ ते आप, आइ वैठे निज भवना ।
तव त्रिया मतौ विचार, कियो ताके ढिग गवना ।।
जम्बूसर वैठे जहा, सुमरै त्रिभुवन तात ।
आठो ही कर जोर करि, पूछन लागी वात ।।१०।।
जम्बूसर व्रत सील धर, भजै राम निज एक ।
त्रीया तोलै तास मन, भाषै प्रसग विवेक[10] ।।११
सो प्रसग अव कहत हू, प्रथम त्रिया उवाच ।
यामै ससौ नाहि कछु, परगट जानो साच ।।१२।।

प्रथम त्रियावचन—

त्रिया करत यह वीनती, काम अप्रवल जान ।
आगे जाती होइगी, मारू ढोर समान ।।१३।।

---

२ महा ३ तिस ४. वहौत ५ कानौ ६ दीनौ ७ एक ८. धी ९ ताहि १० अनेक
† चिह्नाकित पद्य दूसरी प्रति में नहीं है.

मारूढोर—

सोरठा

थलिया गोहू बाई,[११] मूरख खोयो[१२] अकल विन।
कियौ बाजरौ ब्वार, 'मारूढोर' यू जानिये ॥१४॥

जंबूसर वचन सोरठा—

ताजितखानें[१३] भूलि, दुखी रह्यो दिन तीन लग
छूटा पीछे भूलि, वहुरि[१४] न कबहु जाइ है ॥१५॥

त्रियावचन सोरठा—

न्हाइ नदी की सोइ, मरकट ते माणस हुवौ।
वहुरयो[१५] मरकट, होइ, कियो ज लालच देव पद ॥१६॥

जवूसर के वचन—

कोई सहारा नाइ, जग समदर मे डूवता।
रह्यो गृहे उरझाइ, खोवर[१६] कागज करककौ ॥१७॥

त्रियावचन—

भज्यौ न पूरण राम, गृह कौ सुख सो भी तज्यो।
जा कौ ठौरन राम, वुगली ज्यो लटकता रह्यो ॥१८॥

जंबूसर वचन—

इन्द्रचा का सुख नास, या सगि नासत राम पद।
रेलो चाटत ग्रास, खोयो मूरिख पाहुणै ॥१९॥

त्रियावचन—

नरपति सुत इक जान, चल्यौ ज चन्दन पानकु।
आगें हुई ज हान, डेरौ खोयो गाठ को ॥२०॥

जम्बूसरवचन—

जगत सुख लोह आहि, तहि गहै अज्ञान नर।
मूरख बोझ जनाहि, तजी कुदाली कनक की ॥२१॥
दीन्हो परसन सार,[१७] सब कै मन आनन्द भयौ।
कीन्हो गाढ विचार, 'जंबूसर' सु पुनि कहै ॥२२॥

त्रियावचन—

दूहा

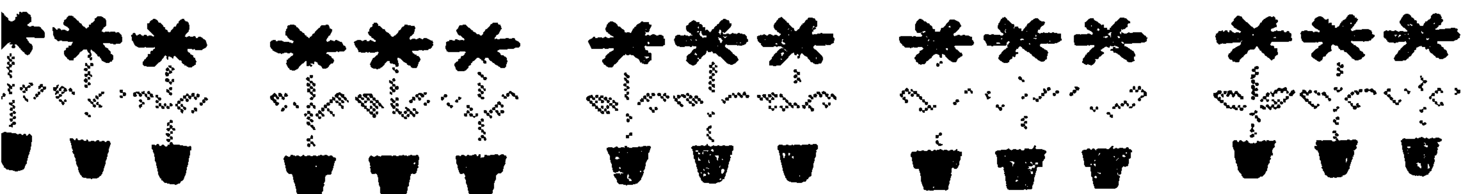
जंवूसर सूं जोरि कर, त्रीया करत प्रणाम।
पुत्र भए सव त्यागिए, सुजस वढै रहै नाम ॥२३॥

जवूसर वचन—

नामहेत सब जग पचै, तामे नही विचार।
भक्ति छाड भ्रम सू लग्या, वूडा कालीधार ॥२४॥

---

११ वाड १२. बोयो १३ तारतखाने १४ तहा १५ वोह्यो सु १६ सो नहि १७ सुनिप्रसग सार



नाव-नाव विन ना रहै, सुणौ सकल तुम जोइ।
एक प्रसग अद्भुत अति, कहू समझाज तोइ ॥२५॥

१८ नाता प्रसंग—

बहन व्याहमाता धरी, माता जायौ जाम।
तीनो तज वन कू गया (तब) रह्यो कोण को नाम ॥२६॥
अष्टादश,[१८] नाता भया, ए तीनो का हेतु।
सो प्रसग अब कहत हू, सुणजो होइ सचेत ॥२७॥

चौपई

एक नगर मे वेश्या ताकै, सुत कन्या सगि जनमें जाकै।
ताकौ तुरत ही नाव कढायो, सुलतां कुमेर नाव सो पायौ ॥२८॥
खोटे नखतर जन्मे भाई, ताहि नदी मे दिये बहाई।
कोई नगर तल निकसे जाई, एक महाजन लीए कढाई ॥२९॥

वाकै पुत्र न होता एका, यो हरि दीनौ लियौ विवेका।
लडकौ ले सग जरौ बाह्यौ, लड़की सहित दरवाजै आयो ॥३०॥
देखि पीजरो ओर ही वणीये, लडकी काढ लई है जनिये।
दोउ बडे भये दोऊ स्याना, ताकौ व्याह भयौ परमाना ॥३१॥

साहूकार कोडीधज दोऊ, जोडो सोधे मिल न कोऊ।
याके लेख लिख्यौ है भाई, ल्यो नालेर र करो सगाई ॥३२॥
ढोल नगारा मगल गाजै, हीरा मोती तन पर साजै।
बणियै जान बणाई भारी, आप ऊतरी बाग मे सारी ॥३३॥

अरध रात समूहरत होई, करता की गति लखै न कोई।
साहूकार मिले है सारा, भवन माहि तव किया उतारा ॥३४॥

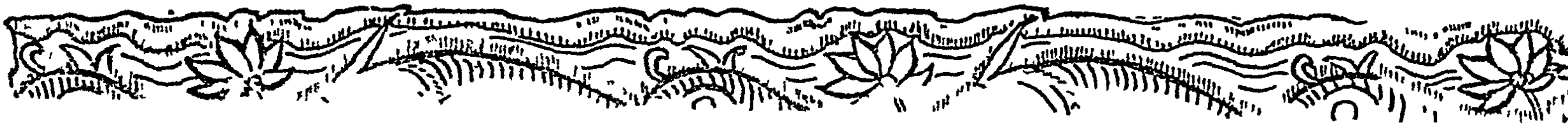
चवरयाँ माहि वैठा जवही, सुलता, देखी मुद्रिका तबही।
तामें अक लिखे कहे हेरि, बहन'र भाई सुलतां कुमेर ॥३५॥
सुलतां अक विचार जु देखा, ताकौ पाछे कियो विवेका।
भाई बहन विहाये आन, सुलतां तज्यो हथलेवो जान ॥३६॥

ह्वै भयभीत कीयो गृहत्याग, वन वन विचरै ले वैराग।
पूरव पाप कौन मे कियो, वीर बहन घर वासो दीयौ ॥३७॥
सत विवेकी बूझत[१९] डोलै, सुनि सुनि वचन सबन का तोलै।
पीछे कुबेर भी कीधो गवना, हेरत आयो वेश्या के भवना ॥३८॥

सो वेश्या ताकी महतारी, वाकै रह्यौ कर घर की नारी।
वाकै पेट कौ इक सुत भयो, सुलता सु साधा यू कह्यौ ॥३९॥
सुलता चली वहाँ से जवही, वेसा के घर आई तबही।
जब वेश्या सु वचन उचारै, अष्टादश नाता विस्तारै ॥४०॥

---

१८. कठा जरौ बुहापो १९ पूछत.



अठारै नातां कौ ब्यौरो

सुलतां वाच—कवित

नगर नाइका[1] आदि, दूसरी माता मेरी।[2]
तुम सुत की मैं नारि, प्रगट तू सासू[3] मेरी ।।
मम खावद घर नारि, सौक[4] तू सदा हमारी।
तुम्है तात की सूता, तोहि दादी[5] मे धारी।
मम भाई की जोय, लगै तू भावज[6] मेरे।
एते लछ तुझ माहि, कन्या ऐसी विध टेरे ।।
षट नाता षट विध भए, मानू धर्म दियौ खोइ।
ज्ञान भगति वैराग ल्यो, जब भ्रम सावतौ होइ ।।४१।।

दूहा

सुलता के यह वचन सुनि, पूछन लागौ कुमेर।
कहौ तें कहियौ कहा, सो अव भाखौ फेर ।।४२।।

सुलतां वाच—कबित्त

वेश्या द्वारे वास, कहु तोहि भडवौ[1] भाई[2]।
वाप[3] कहूँ मै तोहि, तुम्हे घर मेरी माई ।।
खावद[4] प्रगट मोर, पलै मे बधी तेरै।
सासू कौ भरतार, सदा सुसरौ[5] है मेरै ।।
मम दादी कौ खसम, तास विध दादौ[6] कहीए।
ए साचौ अपराध, तज्या विन सुख नहि लहियै ।।
भगति विना भागै नही, ये षट पाप अघोर।
अरक विना क्यूं नास ह्वै, रजनी तम कौ जोर ।।४३।।

सोरठा

इह सुण वचन कुमेर, वज्र मारयो सो ह्वै गयो।
सुलतां भापै फेर, नानडीया कू लाडवै ।। ४४।।

कवित्त

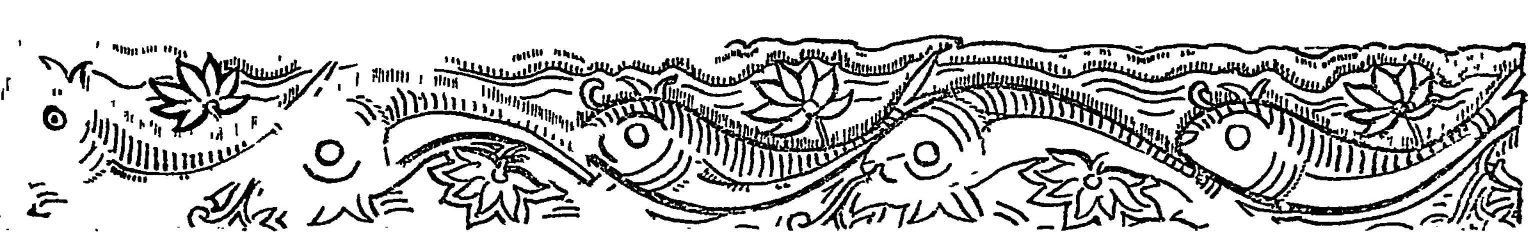
शिशु भाइ[1] समभाई, वीर[2] मम माता जायौ।
फुनि भाई कौ बीज, भतीजौ[3] तासू गायौ।
जानि सौक कौ पूत, सोई साकूत[4] विचारौ।
मम खावद को वीर, सही देवर[5] है म्हारै।
दादी सुत काकौ[6] कहूँ, कैसी विधि तोहि लाडीए।
ऐसो ज्ञान विचार कै, सग तुम्हारो छाडीए ।।४५।।

सोरठा

गणिका अरु कुमेर, कहै हम कैसे निसतरै।
सुलता कहे यू टेर, त्याग करौ रामै भजौ ।।४६।।

दोहा

जंबूसर बुधिवान अति, दीयौ भारज्या ज्ञान।
तिरीया मन आनद बढचौ, गयो सकल अज्ञान ।।४३।।



त्रियावाच—

सोरठा

जंबूसर वडभाग, धनि तेरे माता पिता।
जन्मत ही जग त्याग, छाड लग्यो पर ब्रह्म सु ॥४८॥
द्रव्य लैण कु चोर, बाधी पोटज परीति करि।
ज्ञान भयौ तिहि ठौर, जंबूसर कौ ज्ञान सुणि ॥१९॥
अष्ट नारि इह ज्ञान, सुणत ही सासो सब गयौ।
चोर भयो गलतान, शीलवान का शब्द सुनि ॥५०॥
सुणत त्रास ज्यू नरक की, मन में उपजी एह।
शील न कबहू त्यागिए, भावे जावो देह ॥५१॥

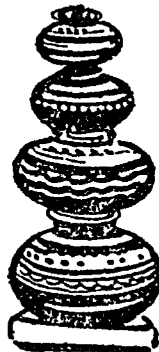
दोहा

भाग विना पावै नही, सील पदारथ सोइ।
जो त्यागे या सीलकु, तो नरक प्रापति होइ ॥५२॥

कुण्डलिया

जो कोई त्यागै सील कु, सो पावै नरक अघोर।
अपकीरति होइ जगत मे, भक्ति माहि नहिं ठौर।
भगत माहि नहिं ठौर, और कहा कहीए भाई।
लहै विपति भरपूर, नूर मुख चढै न कोई।
देवा सदा फिरि तासकु, जम मारै करि जोर ॥
जो कोई त्यागै सीलकु सो पावै नरक अघोर ॥५३॥

॥ इति जवूसर कौ प्रसग सपूर्ण ॥





डॉ० के० ऋषभचन्द्र
एम० ए०, पी-एच० डी०

पउमचरियं के रचनाकाल-सम्बन्धी कतिपय अप्रकाशित तथ्य

जैन-साहित्य मे ही नही अपितु सारे प्राकृत-वाड्मय मे सम्पूर्ण रामकथा सम्बन्धी काव्यात्मक कृति होने का प्रथम श्रेय पउमचरिय को प्राप्त है, जो महाराष्ट्री प्राकृत मे लिखा गया है—जैन परम्परा मे आठवें बलदेव दाशरथी राम का अधिकतर प्रचलित नाम पउम (पद्म) है, अत. उनके चरित को 'पउमचरिय' की सज्ञा दी गई है। उत्तरोत्तर काल के जैन-साहित्य मे विविध भाषाओ मे राम सम्बन्धी जो रचनाएँ उपलब्ध है वे अधिकतर पउमचरिय पर ही आधारित है पउमचरिय के इस महत्त्व को देखते हुए उसके रचना-काल पर कुछ विचार-विमर्श करना उपादेय ही होगा इस ग्रथ के रचयिता विमलसूरि नाइलवशीय विजय के शिष्य और आचार्य राहु के प्रशिष्य थे उन्होने पउमचरिय की प्रशस्ति मे वतलाया है कि इस ग्रथ की रचना महावीर-निर्वाण के ५३०[१] (या ५२०)[२] वर्ष पश्चात् की गई थी ग्रथ के अध्ययन से यह तिथि विल्कुल असगत ठहरती है कितने ही विद्वानो ने इसके रचनाकाल के विषय मे अपने-अपने मन्तव्य प्रकट किये है कुछ लोग प्रशस्ति मे अकित समय को ही उचित मानते है परन्तु अधिकतर विद्वान् इसको तृतीय या चतुर्थ शताब्दी से लेकर सातवी आठवी शताब्दी तक की रचना ठहराते है इन विद्वानो ने जिन-जिन प्रमाणो के आधार पर पउमचरिय का कालनिर्णय किया है उनको यहाँ पर दुहराने की आवश्यकता नही[३] हम पउमचरिय मे ही उपलब्ध कुछ नवीन सामग्री पर विचार कर उसी के आधार पर पूर्वस्थापित विविध मन्तव्यो का ऊहापोह करते हुए इस ग्रथ का काल-निर्णय करने का प्रयत्न करेंगे

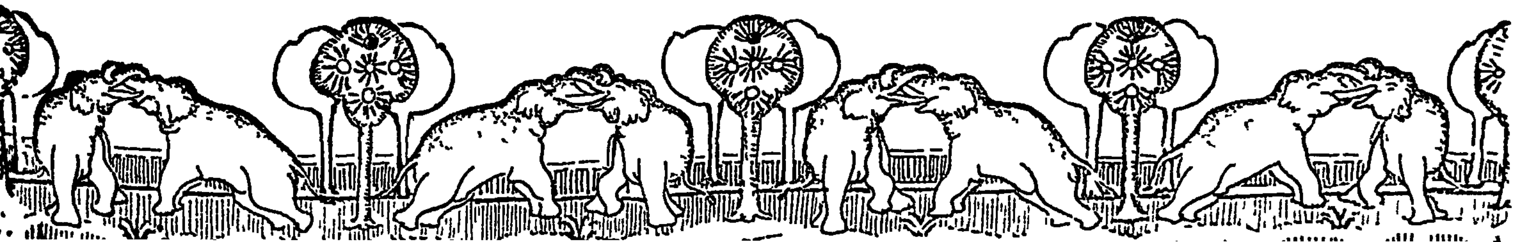
सर्वप्रथम पउमचरिय मे वर्णित उन जनजातियो, राज्यो, व राजनैतिक घटनाओ पर विचार करेंगे जिनका भारतीय इतिहास से सम्वन्ध स्थापित किया जा सकता है. राम ने जब वानरदल के साथ रावण पर आक्रमण किया तब केलीगिलो और श्रीपर्वतियो ने राम की सेना मे सम्मिलित होकर उनकी सहायता की थी (पउम०५५-१७) रविषेण ने अपने पद्मपुराण [५५-२६] मे इन केलीगिलो को कैलीकिल बताया है इन लोगो को ऐतिहासिक किलकिलो से मिलाया जा सकता है[४] उनके राज्य की समाप्ति के तुरन्त वाद वाकाटक विन्ध्यशक्ति ने [२२३ ई०] उनके स्थान पर दक्षिण मे अपना राज्य स्थापित किया था[५] विमलसूरि श्रीपर्वत का वार-वार उल्लेख करते है श्रीपर्वतीयो ने राम की सहायता

१ पउमचरिय ११८ १०३ २ उपमितिभवप्रपचकथा में डा० जेकोवी की प्रस्तावना पृ० १०

३ विण्टरनित्ज-ए हिस्टरि ऑव इण्डियन लिटरेचर, भा० २, पृ० ४७७ पा० टि० ३ हरदेव वाहरी—प्राकृत और उसका इतिहास, पृ० ६० डा० जेकोवी—उपमितिभवप्रपच कथा, प्रस्तावना, पृ० १० और परिशिष्टपर्व, प्रस्तावना पृ० १६
डा० कीथ—ए हिस्टरि आव सस्कृत लिटरेचर, पृ० ३५ पउमचरिय (१९६२) की प्रस्तावना में डा० वी० एम० कुलकर्णी का लेख—दी डेट आव विमलसूरि
जैन युग, पुस्तक १, अक ५, पोप १९८२, पृ० १८० पर श्री के० एच० ध्रुव का लेख

४. वी० वी० कृष्णराव—ए हिस्टरि आव दी अर्ली डाइनेस्टीज ऑव आन्ध्रदेश, पृ० ३६

५ डा० अल्टेकर—दी वाकाटक-गुप्ता एज (१९५४), पृ० ८६



तो की ही थीं साथ-साथ यह भी वतलाया गया है कि हनुमान श्रीपुर के राजा वनाये गये थे जो श्रीपर्वत की उपत्यका मे वसा हुआ था हनुमान का अपर नाम श्रीशैल भी है [पउम० १८, ४६, ५५, १६, ८५, २६] इस प्रकार बार-बार श्रीपर्वत का उल्लेख हमे पुराणो के उन श्रीपर्वतीय आन्ध्रो की याद दिलाता है जो इतिहास मे दक्षिण आन्ध्रदेश के इक्ष्वाकु राजवश के नाम से प्रसिद्ध है इस वश के राजाओ का काल तृतीय ई० शताव्दी माना गया है[1] लवण और अकुश अपनी दिग्विजय मे अनेक राज्यो को अपने अधीन करते है उन राज्यो मे आनन्द लोगो और अनके राज्य का भी उल्लेख है [पउम० ९८, ६६] भारतीय इतिहास स्पष्ट वतलाता है कि आनन्द राजवश का उद्भव ईसा की चतुर्थ शताव्दी मे हुआ था और उनके राज्य का क्षेत्र गुण्टूर प्रदेश था बृहत्फलायन आनन्दो के पूर्ववर्ती शासक थे.[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि विमलसूरि चौथी शताव्दी तक के राजवशो व राज्यो से परिचित थे पउमचरिय मे तीन ऐमी राजनैतिक घटनाएँ है जिनका भारतीय इतिहास से सम्वन्ध स्थापित किया जा सकता है ये संघर्ष बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप में पूर्ण सादृश्य तो नही रखते फिर भी उस काल की राजनैतिक हलचल की झलक पउमचरिय की घटनाओ मे दृष्टिगोचर होती है पउमचरिय के अनुसार नर्मदा के दक्षिण मे विन्ध्याटवी के क्षेत्र पर कागोनन्द जाति का अधिकार था उस जाति के नेता रुद्रभूति ने कूववद्दपुर के शासक वालिखिल्य का अपहरण कर उसको बन्दी बना लिया वह उसके राज्य से धमकी पूर्वक द्रव्य उपार्जित करता था वालिखिल्य के मत्री ने उज्जैनी के राजा सिंहोदर से सहायता मागी परन्तु, उसने बालि-खिल्य को मुक्त करवाने मे अपनी असमर्थता प्रकट की राम-लक्ष्मण कूववद्दपुर आये तव उन्होने अपनी सहायता का वचन दिया. वे वहाँ से आगे बढे विन्ध्याटवी में पहुँच कर उन्होने रुद्रभूति को परास्त किया और वालिखिल्य को उसके पजे से छुडवाया[3] इस सम्बन्ध मे द्वितीयार्ध शताव्दी के भारतीय इतिहास मे प्रसिद्ध उज्जैनी के महक्षत्रप रुद्रसिंह प्रथम, आभीर सेनानायक रुद्रभूति तथा एक अन्य आभीरनेता ईश्वरदत्त से मेल बिठाया जा सकता है रुद्रभूति ने आभीरो की तरफ से जीवदामन को गद्दी से हटाने और रुद्रसिंह को महाक्षत्रप बनाने मे भरपूर सहायता की थी ईश्वरदत्त ने कुछ समय पश्चात् नासिक मे अपना अलग राज्य स्थापित किया और रुद्रसिंह को हटाकर स्वय ही उज्जैनी का महाक्षत्रप बन वैठा. परन्तु दो ही वर्ष के बाद रुद्रसिंह ने अपना पूर्व-अधिकार वापिस प्राप्त कर लिया[4] इन दोनो वृत्तान्तो मे रुद्रभूति समान है पउमचरिय मे सिंहोदर का नाम है व इतिहास मे रुद्रसिंह का यह अन्तर सिर्फ प्रथम दो वर्णो के हेर-फेर का है सिंहोदर ने रुद्रभूति के विरोध मे कदम उठाने मे आनाकानी की थी कारण स्पष्ट है कि रुद्र-भूति ने ही रुद्रसिंह को महाक्षत्रप वनाया था ईश्वरदत्त के नासिक के आभीर राज्य का कागोनन्द जाति के अधीनस्थ नर्मदा से दक्षिण की ओर के क्षेत्र के साथ सम्वन्ध स्थापित किया जा सकता है.

दूसरी घटना इस प्रकार है दशपुर [मण्डसौर] का राजा वज्रकर्ण उज्जैन के राजा सिंहोदर के अधीन था चूकि वह स्वतन्त्र वनना चाहता था, इसलिए उज्जैनी के साथ एक भृत्य की तरह व्यवहार करने मे आपत्ति करता था इस पर सिंहोदर ने वज्रकर्ण पर आक्रमण किया और उसको बन्दी वना लिया राम और लक्ष्मण को दशपुर पहुँचने पर वज्रकर्ण की दयनीय दशा का पता लगा उन्होने सिंहोदर को ललकारा और वज्रकर्ण को उससे मुक्त कराया. साथ ही सिंहोदर का कुछ राज्य भी वज्रकर्ण को दिलवा दिया यह घटना दशपुर की स्वाधीनता की ओर सकेत करती है[5] दशपुर की ऐतिहासिक जानकारी इस प्रकार प्राप्त होती है नासिक के नहपान के शिलालेखो मे दशपुर का एक तीर्थ की तरह उल्लेख है, उसका कोई खास राजनैतिक महत्त्व नही है गुप्तकाल मे ही दशपुर राजनैतिक धरातल पर आता है. जयवर्मा, सिंहवर्मा, और विश्ववर्मा वहाँ के उत्तरोत्तर स्वाधीन राजा थे तत्पश्चात् विश्ववर्मा के पुत्र राजा बन्धुवर्मा ने कुमारगुप्त प्रथम [४१४-४५४ ई०] का

---

१ वही पृ० ५९-६०

२. कृष्णराव—वही पृ० २१५, २३३, ३३६

३. पउमचरिय, ३४. २५-४९

४ डा० अल्टेकर—वही, पृ० ५४

५. पउमचरिय, अ०. ३३.

आधिपत्य स्वीकार कर लिया था कुमारगुप्त के अन्तिम काल मे गुप्त-राज्य की नीव डावाडोल हुई थी[1] डा० राय चौधरी का अभिप्राय है कि इसी कुमारगुप्त का उपनाम व्याघ्रपराक्रम था[2] पउमचरिय के सिंहोदर और व्याघ्रपराक्रम मे काफी समानता है कुछ भी हो, पउमचरिय मे वर्णित घटना तथा ऐतिहासिक परिस्थिति से इतना तो सुस्पष्ट है कि दशपुर ईसा की चौथी और पाचवी शताब्दियो मे ही राजनैतिक हलचल का विषय बनता है

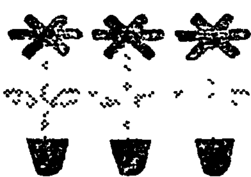
पउमचरिय के अनुसार नद्यावर्तपुर के महाराजा अतिवीर्य ने अयोध्या के राजा भरत को अपने अधीन करना चाहा भरत ने यह आधिपत्य स्वीकार नही किया तब अतिवीर्य ने अनेक अन्य राज्यो से भरत के खिलाफ युद्ध करने के लिए सहायता मागी और विजयपुर के शासक को भी अपना एक दूत भेजा. उस समय राम लक्ष्मण वहाँ पर ठहरे हुए थे यह समाचार पाते ही उन्होने अतिवीर्य की ओर कूच किया और छद्मरूप से उसको बन्दी बना लिया तथा उलटा भरत का आधिपत्य स्वीकार करने के लिए उसको विवश किया[3] इस नद्यावर्त का सबध प्रभावती गुप्ता के पूना के ताम्रपत्र मे आए हुए नदीवर्धन ने बिठाया जा सकता है आजकल यह स्थान रामटेक के पास मे स्थित नगर्धन या नदर्धन के नाम से परिचित है[4] नदीवर्धन वाकाटको की राजधानी रही है प्रवरसेन द्वितीय के पुत्र नरेन्द्रसेन के राज्य पर पाचवी शती के मध्य मे नल राजा भवदत्त वर्मा ने आक्रमण करके उसके राज्य को हथिया लिया था[5] इससे सिर्फ इतना ही स्पष्ट है कि यह क्षेत्र पाचवी शती के मध्य मे राजनैतिक हलचल और सघर्ष का शिकार बना हुआ था

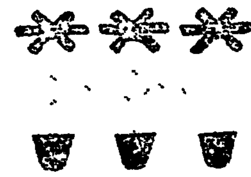
अब हम पउमचरिय मे आयी हुयी अन्य सामग्री का आलोचनात्मक पर्यवेक्षण करेगे. इक्ष्वाकु राजाओ की वशावली मे आदित्ययश से राम का स्थान बासठवा है[6] सख्यात्मक दृष्टि से यह स्थान ब्राह्मण पुराणो के विवरण के अधिक नजदीक है वाल्मीकि रामायण मे जो वशावली आती है उसमे राजा इक्ष्वाकु से राम का स्थान पैंतीसवा है (वा० रा० १ ७० और २ ११०) जबकि पुराणो के अनुसार राम का स्थान अट्ठावनवा है (भागवत पुराण ९ १-१०) विमलसूरि अपने पउमचरिय को पुराण की भी सज्ञा देते है (पउम १ ३२), तथा प्रशस्ति मे स्पष्ट वर्णन है कि इस पुराण मे चारो पुरुषार्थो-काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष का वर्णन समाविष्ट है ब्राह्मण पुराणो की परिभाषा का ऐतिहासिक अध्ययन करने से मालूम होता है कि जैसे-जैसे पुराणो का विकास होता गया वैसे-वैसे उनके आवश्यक अग भी बढते गये ये चारो पुरुषार्थ परवर्ती काल मे ही पुराणो के आवश्यक विषय गिनाये गये है[7] कल्याणविजयजी का मन्तव्य है कि जैन परपरा मे भी ये विषय विक्रम की पाचवी शती के पूर्व प्रचलित नही हुए थे[8]

पउमचरिय मे केवल एक बार श्वेताम्बर मुनि का उल्लेख है इक्ष्वाकु राजा सोदास के सम्बन्ध मे कहा गया है कि अयोध्या से निष्कासित होने पर वे दक्षिण देश की तरफ गये और वहा पर उन्होने एक श्वेताम्बर मुनि के पास श्रावक-व्रत ग्रहण किये (पेच्छइ परिब्भमन्तो दाहिणदेसे सियवर पणओ-पउम० २२ ७८) जैन परपरा की दोनो मान्यताओ के अनुसार उनका सघभेद ईसा की प्रथम शताब्दी में हुआ था फिर भी श्वेताम्बर सघ का स्पष्ट उल्लेख हमे राजा विजय मृगेशवर्मा के देवगिरि के एक शिलालेख मे 'श्वेतपटमहाश्रमण सघ' के रूप मे मिलता है यह शिलालेख पाचवी शताब्दी का है. पउमचरिय मे सलेखना को श्रावको के बारह व्रतो मे स्थान दिया गया है तथा उसे चतुर्थ शिक्षापद के रूप मे गिनाया

---

१. डा० अल्टेकर—वही, पृ० १५९, १६०, १६६, १६७
२ पॉलिटिकल हिस्टरि आव एशियट इण्डिया (चतुर्थ सस्करण), पृ० ४८०.
३ पउमचरिय, अ० ३७
४ बी० सी० ला० हिस्टोरिकल जोग्राफी आव एशिया इण्डिया, पृ० ३२३ और डी० सी० सरकार—सिलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स् भा० १ पृ० ४०७
५ डा० अल्टेकर—वही, पृ० १०५, १०७
६ पउमचरिय, अ० ५, २१ और २२
७ मत्स्यपुराण ५ ३ ६६ और ए० डी० पुसलकर—स्टडीज इन एपिक्स एण्ड पुराणाज् आव इण्डिया, प्रस्तावना पृ० ४६.
८ कल्याणविजयजी—श्रमण भगवान् महावीर पृ० ३०४




गया है (पउम १४ ११५, ६३ ४९) वैसे सलेखना को वारह व्रतो मे सम्मिलित नही किया जाता है यह परम्परा किस समय से प्रचलित हुई यह विचारणीय है आचार्य कुन्दकुन्द ने, जिनका समय पाचवी शती[1] के लगभग का है, अपने चारित्रपाहुड (२५) मे सलेखना को वारह व्रतो मे स्थान दिया है और इसी क्रम से गिनाया है. पउमचरिय मे "रात्रिभोजनत्याग" को श्रावको का छठा अणुव्रत वतलाया है ऐसा केवल एक ही वार उल्लेख है (पउम ६, १२०) ऐसी परम्परा कहाँ, किस समय चली और किसने चलायी, यह भी अध्ययन का विषय है. आगे चलकर चामुण्डराय ने अपने चारित्रसार और वीरनदि ने अपने आचारसार मे इसे श्रावको का छठा अणुव्रत गिनाया है. इतना सुस्पष्ट है कि यह व्रत पूज्यपाद के समय मे प्रचलित था वे अपनी 'सर्वार्थसिद्धि' मे इसका जिक्र करते है पउमचरिय मे करीब बीस प्रकार की भिन्न-भिन्न तपस्याओ का उल्लेख आता है आगम-साहित्य व मूलाचार मे इनमे से बहुतो का उल्लेख नही मिलता डा० देव का अभिप्राय है कि तपश्चर्याओ की बहुलता बाद मे विकसित हुई है[2] पउमचरिय के रचयिता ने अपने आपको 'सूरि' की पदवी से विभूषित किया है 'सूरि' कहलाने की परम्परा प्राचीन नही है कल्पसूत्र स्थविरावली, नन्दीसूत्र पट्टावली और मथुरा के शिलालेखो मे किसी भी आचार्य का 'सूरि' के रूप मे उल्लेख नही है. डा० देव का मत है कि आचार्य के स्थान पर सूरि शब्द का प्रयोग मध्यकाल से ही अधिकाश रूप मे नजर आता है[3]

पउमचरिय मे जिनमन्दिर बनवाने व प्रतिष्ठा करवाने का काफी आग्रह है कई स्थानो पर इस सम्बन्ध मे उपदेश दिये गये है (पउम-८-१६७, ४० ९, ८९ ५१) तीर्थंकरो की मूर्त्तियो की पूजा मे अष्टद्रव्य का प्रचलन हो चुका था. भरत को उपदेश देते हुए एक मुनि वतलाते है कि पुष्प, धूप, चन्दन, सुगन्धितद्रव्य, दीप, दर्पण, अभिषेक, नैवेद्य इत्यादि से भगवान् की पूजा करने पर अत्यन्त पुण्य का उपार्जन होता है और अच्छी गति प्राप्त होती है (पउम०-३२ ७२-८१) भगवान् के अभिषेक करने की बहुत महिमा बतायी गयी है और अभिषेक के कई उदाहरण इस ग्रथ में उपलब्ध है कल्याणविजयजी का मन्तव्य है कि पूर्वकाल मे जल का उपयोग आचमन के रूप मे था, स्नान के रूप मे नही अभिषेक, विलेपन इत्यादि बाद की परम्पराएँ है. पउमचरिय के अनुसार वैसे तो मुनि लोग वन, उपवन, उद्यान, उपत्यका, गुफा और चैत्यो मे ठहरते थे परन्तु जिन-मन्दिरो मे ठहरने की प्रथा भी चल पडी थी (पउम० ८९. १४, १८ २०)[1] इस प्रकार चैत्यवास की झलक पउमचरिय मे मिलती है कल्याणविजयजी का अभिप्राय है कि जीर्णोद्धार, प्रतिष्ठा, साधुओ का जिन-चैत्यो मे ठहरना इत्यादि विषय विक्रम की पाँचवी शती से प्रचलित हुए जान पडते है[4]

पउमचरिय महाराष्ट्री प्राकृत भाषा मे निबद्ध है और वह काफी विकसित रूप मे है साथ ही साथ उस पर उस समय की बोलचाल की भाषा का प्रभाव भी है इस बोलचाल की भाषा की जो विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती है, उनसे विश्लेषण करने पर मालूम होता है कि वे ही आगे चलकर अपभ्रंश की मूल प्रकृतियाँ बन गयी इस क्षेत्र में निम्नलिखित विशेषताएँ ध्यान देने योग्य है

अव्ययो के साथ-साथ नामवाची रूपो तथा क्रियापदो मे लघु और दीर्घ स्वरो का वैकल्पिक प्रयोग व श्रुति के बीसो उदाहरण. क्रिया के पूर्वकालिक रूपो मे 'एवि' प्रत्यय का तीन वार प्रयोग कम से कम दस बार 'किह' और 'कवण' 'कथ' और 'किं' के स्थान पर प्रयोग नाम के प्रथमा व उससे भी अधिक द्वितीया एक वचन विभक्ति के लोप के यत्र-तत्र फैले हुए उदाहरण स्त्रीवाची 'आकारान्त शब्दो मे पच्चीस प्रतिशत और इकारान्त तथा उकारान्त शब्दो मे पचास प्रतिशत के औसत से द्वितीया एक वचन विभक्ति का लोप. अनुस्वार सहित अतिम लघु स्वर के स्थान पर दीर्घ स्वर आने के कुछ उदाहरण उसभ व नाम शब्द के तृतीया विभक्ति के दो उदाहरण 'उसभे' व 'नामे' और उपमा व उत्प्रेक्षा अलकार मे सूचक शब्द 'णज्जइ' का प्रयोग

---

१ डा० हीरालाल जैन, भारतीय संस्कृति मे जैनधर्म का योगदान, पृ० ८३, ९५, ९६. कल्याणविजयजी—वही, पृ० ३४६.

२ डा० एस० बी० देव—हिस्टरि आव जैन मोनासिज्म, पृ० १८७, ५६३.

३. वही। पृ० २३२, २३७, ५५४

४ श्रमण भगवान् महावीर, पृ० ३०४, ३०५



पउमचरिय की भाषा जिस लोकभाषा से प्रभावित हुई है उसको देखते हुए इसका रचना-समय ईसा की प्रथम शताब्दियो मे नही रखा जा सकता इस ग्रथ मे प्रयुक्त गाथा छन्द भी इतने उत्कृष्ट रूप मे है कि वह सूक्ष्म से सूक्ष्म लक्षणो की कसौटी पर कसा जा सकता है इन सभी उपरोक्त तत्त्वो के आधार पर पउमचरिय का रचनाकाल ईशा की प्रथम शताब्दी उचित नही ठहरता जैसा कि प्रशस्ति मे कहा गया है अनेक प्रमाण यह सावित करते है कि इस ग्रन्थ पर विक्रम की पाचवी शताब्दी के आस-पास के वातावरण का प्रभाव है

पउमचरिय की परवर्ती सीमा निश्चित करने के लिए अब हम उद्योतनसूरि और रविषेण का सहारा लेंगे. उद्योतनसूरि अपने ग्रथ कुवलयमाला[1] मे, जिसका रचना काल ७७८ ईस्वी सन् है, विमलसूरि के पउमचरिय का उल्लेख करते है इससे एक तो यह प्रमाणित होता है कि पउपचरिय आठवी शती के पूर्व की रचना है, दूसरा यह कि यदि यह रचना वहुत पुरानी होती तो अन्य स्थान पर किसी पुराने ग्रथ मे इसका उल्लेख अवश्य होना चाहिए था उद्योतनसूरि ने रविषेण को भी स्मरण किया है पद्मचरितम् रविपेण का सस्कृत ग्रथ है पउमचरिय और पद्मचरितम् की तुलना करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि एक ग्रथ किसी दूसरे का रूपान्तर मात्र है प० नाथूराम प्रेमी ने यह सिद्ध किया है कि रविपेण ने अपना पद्मचरितम् पउमचरिय के आधार पर ही रचा.[2] इसी मान्यता को दृढ करने वाले कतिपय नये प्रमाण प्रस्तुत करने योग्य है पउमचरिय मे हनुमान् के जन्मसवन्धी नक्षत्रो और लग्न का जो विवरण है वह ज्योतिषशास्त्र की दृष्टि से गलत है जवकि रविषेण के पद्मचरितम् मे वही वर्णन त्रुटिहीन है यदि विमलसूरि के ग्रथ का आधार पदमचरितम् होता तो उसमे त्रुटि आने की कोई गुजायश नही थी मालूम होता है कि रविषेण ने यह त्रुटि सुधार ली है ऐसा ही एक और उदाहरण है पउमचरिय मे भरत और भुवनालकार हस्ती के पूर्व भवो का वर्णन आता है (पउम० ८२-१७-१२१) आधे कथानक तक तो हस्ती को अपने पूर्वभवो मे मायावी वताया गया है जो कि तिर्यंच योनि मे भव प्राप्त करने के लिए उचित भी है, परन्तु बीच मे त्रुटि रह जाने के कारण बाद मे हस्ती के अन्य पूर्वभवो का सम्बन्ध भरत के पूर्वभवो से जुड गया है पद्म-चरितम् मे ऐसा नही हे उसमे हस्ती के ही सभी पूर्व भवो मे मायावीपन है भरत के पूर्वभवो मे नही स्पष्ट है कि रविषेण ने पउमचरिय की इस असगति को अपने पद्मचरितम् मे सुलझा दिया है(पद्म०८५ २८-१७३) एक अन्य कथानक मे राजा का नाम पद्मचरितम्(पर्व ५)के अनुसार विद्युद्दृष्ट्र है और प्रथम पर्व मे विषय की जो सूची है उसमे भी यही नाम है पउमचरिय मे वही नाम सब जगह विज्जुदाढ है, परन्तु पद्मचरितम् में कथानक के उत्तर भाग मे उसी को विद्युद्दृढ कहा गया है (पद्म० ५, ३०, पउम० ५-२०-४१)

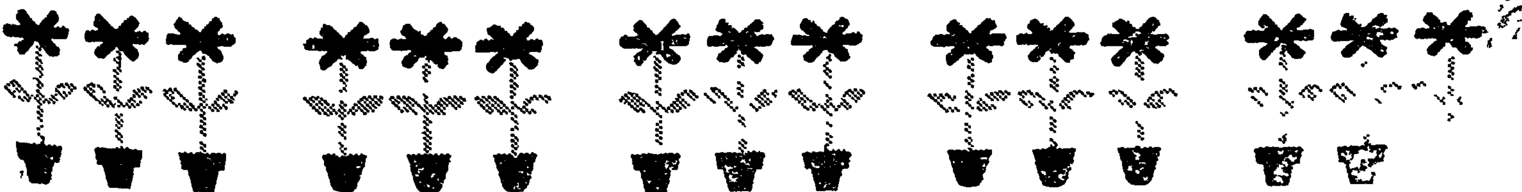
स्पष्ट है कि यह नाम प्राकृत विज्जुदाढ का गलत रूपान्तर है जो कि रविषेण ने पूर्वापर का ध्यान रखे विना पउमचरिय के नाम के आधार पर अपनाया है, अन्यथा एक व्यक्ति के दो भिन्न नाम कैसे ? पउमचरिय मे एक कथा आती है जिसमे दो कास्तकार भाइयो का वर्णन है और उनको 'सहोयरा करिसया' कहा गया है (पउम० ३९,६८) रविषेण ने शायद नही समझने के कारण या भ्रान्त पाठ होने के कारण उन दो भाइयो के नाम 'सुरप' और 'कर्पक' कर दिये है (पद्म० ३९, १३७) कुछ व्यक्तियो के नामो का अध्ययन करने से पता चलता है कि रविषेण ने अपनी कृति मे छन्दो के वर्गो का नियमन करने के लिए पउमचरिय मे आये हुये नामो के लिए पर्यायवाची शब्दो का प्रयोग किया है, क्योकि पद्मचरितम् के नामो को यदि विमलसूरि वैसे के वैसे रखते तो भी उनके मात्रा छन्द मे कोई त्रुटि नही आती थी, परन्तु रविषेण के साथ यह स्थिति नही थी (उदाहरणार्थ-पउम-अरिदमणो जलन-जडी, रिउमहणो-अक्कतेओ-पद्म -अरिध्वसो वह्निजटी, अरिमर्दन , वह्नितेजा) इसके दोनो ग्रथो मे पाचवा अध्याय ध्यान देने योग्य है

रविपेणाचार्य कट्टर दिगम्बर थे यह सुविदित है दिगम्बर परम्परा मे दाशरथी राम यानि आठवें वलदेव राम के नाम से ही परिचित है, नवे वलदेव यानि कृष्ण के भाई का नाम पद्म पाया जाता है यदि पद्मचरितम् मौलिक रचना

---

१ पृ० ३, पक्ति २७, कुवलयमाला—डा० ए० एन० उपाध्ये

२. जैन साहित्य और इतिहास (१९५६), पृ० ९०



होती तो रविषेण, साप्रदायिक भावना को देखते हुए, अपने ग्रन्थ का नाम रामचरितम् ही रखते न कि पद्मचरितम्. जहाँ-जहाँ पर भी त्रेमठ शलाकापुरुषो के सदर्भ आये है वहाँ-वहां पर बलदेवो के व्यक्तिगत नामो के उल्लेख छोड दिये गये है, क्योकि यदि उनके नाम अपनी परम्परा के अनुसार गिनाते तो वह मान्यता उनके ग्रन्थ के नामकरण से विपरीत ही ठहरती इन सब मुद्दो के आधार पर कहने की आवश्यकता नही कि पद्मचरितम् पउमचरिय का सस्कृत रूपान्तर मात्र है पद्मचरितम् का रचनाकाल ईस्वी सन् ६७७ है, अतः पउमचरिय इससे पूर्व की रचना होनी चाहिए

पउमचरिय के अन्त परीक्षण तथा अन्य बाह्य आधारो पर से इतना सुनिश्चित हो जाता है कि यह रचना पाचवी शती के पूर्व की नही और सातवी शती के बाद की नही अब प्रश्न यह उठता है कि प्रशस्ति मे दिये गये महावीर निर्वाण के ५३० वे वर्ष से क्या अर्थ निकालना चाहिए ? मालूम होता है कि यह महावीर-निर्वाण का सवत् नही होकर और कोई दूसरा सवत् होना चाहिए. इस दृष्टि से शकसवत् और कृत या विक्रमसवत् विचारणीय है शक सवत् के अनुसार पउमचरिय का रचनाकाल ६६५ ईस्वी होगा जो रविषेण के पद्मचरितम् से बारह वर्ष पूर्व ठहरता है इस सवत् को मानने मे एक प्रबल आपत्ति आती है आचार्य रविषेण के ग्रन्थ को पढने से मालूम होता है कि वह एक साप्रदायिक ग्रन्थ बन गया है उसमे अनेक स्थानो पर दिगम्बरत्व का प्रदर्शन है दीक्षा को भी दैगम्बरी दीक्षा कहा गया है.

पउमचरिय मे इस विषय सबधी उदारता है किसी सप्रदायविशेष की ओर आग्रह नही है. सिर्फ एक ही स्थान पर श्वेताम्बर साधु का उल्लेख आ जाने से साप्रदायिकता नही आ जाती महत्त्व की बात तो यह है कि वे किसी सप्रदाय का पक्ष लेते है या नही ग्रन्थ मे वर्णित अनेक तत्त्वो का पृथक्करण आज भी प्रचलित परम्पराओ की दृष्टि से किया जाय तो श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय सभी सप्रदायो का उस ग्रन्थ मे समावेश हो जाता है इसीलिए कुछ विद्वान् विमलसूरि को अपने-अपने सप्रदाय का सिद्ध करने के लिए तत्-तत् तत्त्वो का सहारा लेते है वास्तव मे बात यह है कि विमलसूरि के ऊपर साप्रदायिकता का कोई प्रभाव नही है. उन्होने जो कुछ सुना, देखा, पढा और परम्परा से प्राप्त किया उसी का वर्णन किया है यहा तक कि कुछ वस्तुएँ तो दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो परम्पराओ के प्रतिकूल जाती है और कुछ उनके अपने पूर्व कथन के भी विपरीत पडती है. कल्याणविजयजी का अभिप्राय है कि साप्रदायिक पृथक्करण की प्रथा और एक दूसरे को श्वेताम्बर दिगम्बर कहने की परम्परा विक्रम की सातवी शताब्दी से प्रचलित हुयी है[1] इस कट्टरता का पउमचरिय मे अभाव है जबकि पद्मचरितम् इस भेदपरक परम्परा का महत्त्वपूर्ण उदाहरण है और ध्यान देने योग्य है कि इस भेदपरक परम्परा को दृढ बनने मे काफी समय गुजरा होगा, सिर्फ दस या पन्द्रह वर्ष मे इतनी उग्रता नही बढी होगी दोनो सप्रदायो को यह मान्य है कि उनका विभाजन विक्रम की दूसरी शताब्दी मे हो गया था, परन्तु इसका अर्थ यह नही कि उस विभाजन के तत्काल बाद ऐसी उग्रता आगयी होगी. इस कट्टरता का बीजारोपण एक तरफ कुन्दकुन्दाचार्य के समय से हुआ जान पडता है और इसके दृढ होने के प्रमाण दूसरी तरफ जिनभद्र के विशेषावश्यकभाष्य मे प्राप्त होते है इसलिए इन दोनो व्यक्तियो के बाद की तो यह रचना हो ही नही सकती यदि ऐसा होता तो उस समय की परिस्थितियो का प्रभाव अवश्य पउमचरिय मे उपस्थित रहता. कुन्दकुन्दाचार्य के बहुत पहले की यह रचना नही भी हो तो उनके आसपास या कुछ ही समय पूर्व या पश्चात् की होनी चाहिए.

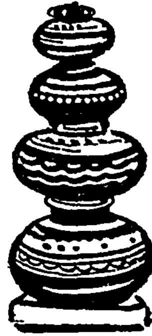
दूसरी दलील यह है कि क्या सिर्फ बारह वर्ष पश्चात् ही रविषेणाचार्य एक उदारचरित कथा को दिगम्बर रूप देने की हिम्मत कर सकते थे ? क्या किसी भी क्षेत्र से आलोचना या विरोध होने का उनको भय नही था और विशेषत. उस अवस्था मे जब कि उन्होने विमलसूरि का प्रत्यक्षत स्मरण भी नही किया था सभव यह प्रतीत होता है कि पउमचरिय समान रूप से दोनो पक्षो को पर्याप्त समय तक मान्य रहा होगा और समय व्यतीत होते-होते जैसे-जैसे साप्रदायिक कट्टरता बढती गयी तब रविषेणाचार्य ने अपने सम्प्रदाय मे रामचरित विषयक ग्रन्थ की आवश्यकता महसूस

---

१. श्रमण भगवान् महावीर पृ० ३०५.

की होगी और उन्होने पद्मचरितम् की रचना से उस अभाव को पूरा किया प्रश्न यह भी हो सकता है कि श्वेताम्बरो ने भी अपना पृथक् साप्रदायिक ग्रथ क्यो नही रचा ? इसका उत्तर स्वय श्वेताम्बरीय परम्परा मे विद्यमान है आगम साहित्य के जो भी पुराने ग्रथ थे उन सबको श्वेताम्बरो ने अपनाये रखा, चाहे भले ही उनमे श्वेताम्बरीय कट्टरता के विरोध की भी बाते हो, परन्तु भेदभाव और कट्टरता बढने पर दिगम्बरो ने उन ग्रन्थो को अप्रामाणिक घोषित करके अपने लिए पूर्व भित्ति पर नये ही साहित्य की रचना की इस दृष्टि से श्वेताम्बरो को यह अभाव खटक ही नही सकता था और उनको अलग कृति रचने की आवश्यकता भी नही पडी होगी इस तरह से ५३० शक सवत् विवादास्पद हो जाता है और उसको मानने मे आपत्तिया आकर खडी हो जाती है. तब फिर यही मान्य हो सकता है कि ये ५३० वर्ष कृत सवत् के यानि विक्रम सवत् के होने चाहिए

उचित यही जान पडता है कि या तो किसी लिपिक ने इच्छापूर्वक या किसी भूल के कारण इसे विक्रम सवत् मे परिवर्तित कर दिया है ऐसी भूल का परम्परागत एक उदाहरण भी उपलब्ध है प्रबन्धकोष मे वल्लभी के पतन का समय महावीर निर्वाण ८४५ दिया गया है जबकि विविधतीर्थकल्प मे विक्रम सवत् ८४५ बतलाया गया है[१] वास्तव मे इसे विक्रम सवत् मानना ही ठीक है विक्रम सवत् के अनुसार पउमचरिय का रचना काल ५३०-५७-४७३ ईस्वी सन् आता है जो सभी दृष्टियो से उचित ठहरता है और यही पउमचरिय की रचना का प्रामाणिक समय माना जाना चाहिए.



२. हरिप्रसाद शास्त्री, मैत्रक कालीन गुजरात, भाग १, पृ० १५७



प्रो० श्रीचन्द्र जैन
एम० ए०, एल-एल० बी०
अध्यक्ष हिन्दी विभाग, गर्व० कालेज, खरगोन

जैन कथा-साहित्य : एक परिचय

भारतीय लोक-कथाओ मे जैन कथाओ का विशिष्ट स्थान है उनकी सख्या भी पर्याप्त है और उनके विपय-विवेचन मे भी विशिष्ट मौलिकता है ससार के समस्त अनुभवो को अपने आँचल मे छिपाए हुए उन कथाओ ने विरक्ति और सदाचार को विशेपत प्रतिफलित किया है

यथार्थवाद के धरातल पर निर्मित इनकी रूप-रेखाओ मे आदर्शवाद का ही रग गहरा है. इन्होने एक बार नही हजार बार बताया है कि मानव का लक्ष्य मोक्षप्राप्ति है और इसमे सफल होने के लिए उसे ससार से विरक्त होना पडेगा. यद्यपि पुण्य सुखकर है और पाप की तुलना मे इसकी उपलब्धि श्रेयस्कर है फिर भी पुण्य की कामना का परित्याग एक विशेप परिस्थिति मे आत्म-शुद्धि के लिए आवश्यक है

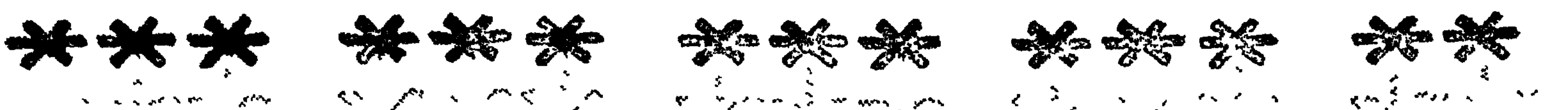
इस परम पुनीत उद्देश्य का स्मरण इन कथाओ के माध्यम से पाठको को बारम्बार कराया गया है.

इन कथाओ से स्पष्ट है कि समस्त प्राणियो की चिन्ता करने वाले जैन-धर्म के सिद्धातो मे 'सर्वंभूतहिताय' की भावना सदैव स्पदित रही है वर्ग-भेद अथवा जाति-भेद की कल्पना के लिए यहाँ स्थान है ही नही पशु-पक्षी, देव-दानव, राजा रक और श्वपच को भी समान रूप से धर्मोपदेश सुनाकर जैनमुनियो ने अपनी उदारता का परिचय दिया है जैन-आचार्यो ने जैन-धर्म के सिद्धातो को समझाने के लिए जिन कथाओ का सहारा लिया है, वे कोरी काल्पनिक नही है वरन उनकी कथावस्तु मे वास्तविकता है तथा आदर्शवाद की परिपुष्टि मे उनका अवसान हुआ है.

कर्मसिद्धात के निरूपण से इन कथाओ मे पाप-पुण्य की विशद व्याख्या भी हुई है प्रत्येक जीव को अपने कर्मो का फल भोगना पडता है. इस अटल सिद्धात की परिधि के बाहर न देवता जा सकते है और न नरपति ऋषि-मुनियो को भी अपने कृत्यो के शुभाशुभ परिणामो का अनुभव करना पडता है जिस प्रकार एक पुण्यवान् मानव पावन कार्य करके स्वर्ग के सुखो को भोगता है उसी प्रकार एक वन-पशु भी सामान्य व्रतो के पालन से देव बन जाता है इसी प्रकार नरपालक अपने पापो के वशीभूत होकर नरकगामी हो जाता है.

जैन-धर्म पुनर्जन्म के सिद्धात मे पूर्ण आस्थावान् है इसीलिए कर्मवाद की अभिव्यक्ति अधिक प्रभावशालिनी बन जाती है किसी कारण विशेप से यदि कोई जीव अपने वर्त्तमान जीवन में अपने कर्मो का फल नही भोग पाता तो उसे दूसरे जन्म मे अवश्य ही भोगना पडता है

जैन लोक-कथा-साहित्य पर लिखते हुए श्रीमती मोहनी शर्मा ने कहा है कि—"जैन कथा-साहित्य मात्रा मे बहुत ही विशाल है. उसमें रोमास, वृत्तान्त, जीवजन्तु लोक, परम्परा प्रचलित मनोरजक, वर्णनात्मक, आदि सभी प्रकार की कथाएँ, प्रचुर मात्रा मे मिलती हैं जनसाधारण में अपने सिद्धातो का प्रचार करने के लिए जैन-साधु कथाओ को सबसे



सुलभ व प्रभावशाली साधन मानते थे और उन्होने इसी दृष्टि से उपरोक्त सभी भाषाओ मे, गद्य-पद्य दोनो मे ही कहानी कला को चरम विकास की सीमा तक पहुचाया उनकी कथाएँ दैनिक जीवन की सरल से सरल भाषा मे होती थी कोई-कोई कथाएँ तो केवल एक ही साधारण कथा हुआ करती थी पर अधिकाशत कथाओ मे बहुत सी गौण कथाएँ इस ढग से मिली रहती थी कि कथा का क्रम नही टूटने पाता था और काफी लम्बे समय तक वही कथा चलती रहती थी (जैसे पचतत्र)

'उनका कथा कहने का ढग अन्यो की अपेक्षा कुछ विशेषता युक्त है कथा के प्रारभ मे जैन साधु कोई प्रसिद्ध धर्मवाक्य या पद्याश कहते है और फिर बाद मे कथा कहना शुरू करते है कथा की लम्बाई या छोटाई पर वे जरा भी ध्यान नही देते उनकी कथाएँ बहुत ही रोमाटिक घटनाओ (अधिकाश घटनाएँ एक दूसरे से गुथी रहती है) से युक्त रहती है कहानी के अन्त मे वे पाठको का परिचय एक केवली-त्रिकालदर्शी जैन-साधु से कराते है जो कथा से सम्बद्ध नगर मे आता है और कथा के पात्रो को सन्मार्ग पर आने का उपदेश देता है केवली का उपदेश सुनकर कथा के पात्र पूछते है कि ससार मे प्राणियो को दु ख क्यो सहने पडते है, दुखो से छूटकारा पाने का उपाय क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर मे केवली जैनधर्म के प्रमुख तत्त्व कर्म का वर्णन करने लग जाता है—प्राणी के पूर्वकृत कर्मो के फलस्वरूप मे ही उसे सुख या दु ख की प्राप्ति होती है अपने इस कथन का सम्बन्ध वह कहानी के पात्रो के जीवन मे घटित घटनाओ से स्पष्ट करता है

भारतीय कथाकला की विशेषताओ के रूप मे हम जैन कथावृत्तान्तो को ले सकते है भारतीय जनता के प्रत्येक वर्ग के आचार-विचारो एव व्यवहारो के विषय मे उनसे यथार्थ एव सविस्तार परिचय मिलता है जैन-कथा-वृत्तान्त विशाल भारतीय साहित्य के एक प्रमुख अग के रूप मे अपना महत्त्व प्रदर्शित करते है वे केवल भारतीय लोककथाओ के क्षेत्र मे ही नही, वरन् भारतीय सभ्यता व सस्कृति के इतिहास के क्षेत्र मे भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखते है

जैनो के कथा कहने के ढग मे बौद्धो के ढग से कई बातो मे काफी अन्तर है जैनो की कथा की मूल वस्तु भूत को वर्त्तमान से सम्बद्ध रखती है वे अपने सिद्धातो का सीधा उपदेश नही देते, उनके कथानको से ही अप्रत्यक्ष रूप से उनका उपदेश प्रकट होता है एक सब से बडा अन्तर जो है, वह यह कि उनकी कथाओ मे 'बोधिसत्व' के समान भविष्य के 'जिनके रूप मे कोई पात्र नही आता" (ब्र० प० चन्दाबाई अभिनन्दन-ग्रथ (पृष्ठ ४२८-४३०)

डा० सत्येन्द्र, एम० ए०, पी-एच० डी० ने भी जैन लोक-कथाओ पर विचार प्रकट किए है वे लिखते है—'जैन साहित्य मे तो बौद्ध-साहित्य से भी अधिक कहानियो का भण्डार मिलता है ये कहानियाँ कुछ तो धर्म के सिद्धात-ग्रथो मे आयी हैं ये बहुधा तीर्थकरो तथा उनके श्रमण अनुयायियो तथा शलाकापुरुषो की जीवन-झाकियो के रूप मे जहाँ-तहाँ मिल जाती है कही-कही इन ग्रथो मे किसी कथा का सकेत-मात्र मिलता है आचाराग और कल्पसूत्र मे महावीर के जीवन पर प्रकाश पडता है नेमिनाथ और पार्श्वनाथ के सम्बन्ध मे भी इनमे वृत्त मिल जाते है 'नायाधम्मकहाओ' मे अनेको दृष्टात स्वरूप रूपक कहानियाँ (पैरेबल) भी है [1]

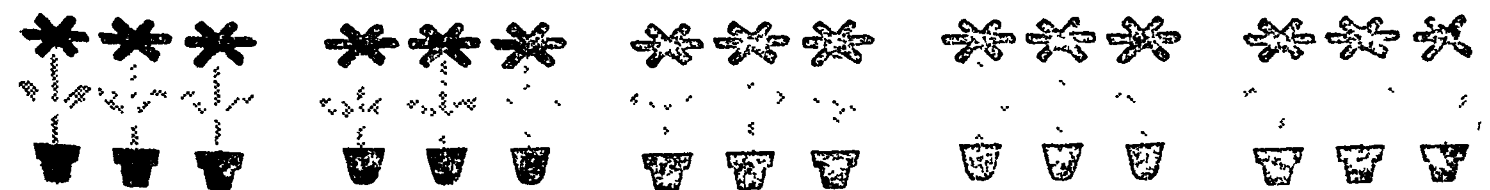
जैन कथाओं का वर्गीकरण

जैन कथाओ का विभाजन करना सुगम नही है, फिर भी पात्रो, एव वर्ण्य विषयो आदि के आधार पर इन्हे विभाजित किया जा सकता है पात्रो पर आधारित विभाजन इस प्रकार हो सकता है

१ महाराजा और महारानी सम्बन्धी कथाएँ
२ महाराजकुमार और महाराजकुमारी सम्बन्धी कथाएँ
३. उच्चवर्णीय मानव सम्बन्धी कथाएँ

---

१. ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन, पृष्ठ ४१६



४ पशु-पक्षी सम्बन्धी कथाएं
५ देव-दानव सम्बन्धी कथाए
६ जैन-साधु सम्बन्धी कथाएँ
७ नीच कुलोत्पन्न मानव सम्बन्धी कथाएँ, आदि आदि.

विषयानुसार कथाओ का वर्गीकरण इस प्रकार हो सकता है—

१ व्रत सम्बन्धी, २ त्याग सम्बन्धी, ३. दान सम्बन्धी, ४ सप्तव्यसन सम्बन्धी, ५. बारह भावना सम्बन्धी, ६. रत्नत्रय सम्बन्धी, ७ दश धर्म सम्बन्धी. ८ तीर्थयात्रा सम्बन्धी, ९ मत्र सबधी, १० स्तोत्र सम्बन्धी, ११ रोग सबधी, १२. परीक्षा विषयक, १३ त्यौहार सम्बन्धी, १४ चमत्कार सम्बन्धी, १५ शास्त्रार्थ सम्बन्धी, १६. भाग्य सम्बन्धी, १७ उपसर्ग सम्बन्धी, १८ स्वप्न सम्बन्धी, १९ यात्रा सम्बन्धी, २०. नीति विषयक, २१ तीन मूढता विषयक. २२. परीषह सबधी, कथाएँ आदि आदि.

किन्तु यह वर्गीकरण पूर्ण नही कहा जा सकता, क्योकि हजारो कथाओ के विषय परस्पर वहुत भिन्न है

जैन कथाओ का प्रारम्भ एवं अन्त

जैन कथाओ का प्रारम्भ कथाकार प्राय मंगलाचरण के साथ किया करते है, जिसमे जिनेन्द्रदेव अथवा सरस्वती की वन्दना करके कथा-नाम का सकेत भी दिया जाता है [१] कथा के प्रारम्भिक भाग मे प्रमुख पात्र अथवा पात्रो के निवास-स्थान का उल्लेख नियमित रूप से होता है साथ ही साथ[२] पुण्यवान शासक [राजा एव रानी] के नाम का भी सम्मान सहित उल्लेख कर दिया जाता है. कुछ शब्दो मे उसकी शासन-व्यवस्था की भी प्रशसा कर दी जाती है कथा की समाप्ति होते होते प्रमुख पात्र पर विशेष आदर्शवाद [विरक्ति, भक्ति, तपस्या, आदि] का प्रभाव प्रकट हो जाता है और वह अपने कुत्सित मार्ग [यदि वह विलासी अथवा पापी होता था] को छोडकर मोक्षमार्ग का पथिक वन जाता है इस प्रकार कथा का अन्त उपदेशात्मक पक्तियो के साथ हुआ करता है

जैन कथाओ की व्यापकता

जैन कथाओ का विस्तार वहुत दूर तक हुआ है कुछ कथाएँ तो ऐसी सुनने को मिली है जिनका उल्लेख पाश्चात्य देशो की कथाओ मे भी हुआ है

सुप्रसिद्ध युरोपीय विद्वान् श्री सी० एच० टाने ने अपने 'ग्रथ' ट्रेजरी आफ स्टोरिज की भूमिका मे स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि जैनो के 'कथाकोष' मे सग्रहीत कथाओ व योरोपीय कथाओ मे अत्यन्त निकट साम्य है

---

१ (क) श्रीवीर जिनमानम्य वस्तुतत्त्वप्रकाशकम्.
वक्ष्ये कथामय ग्रथ पुण्याश्रवाभिधानकम्
(ख) नमो शारदा सार बुध करैं हरैं अघ लेप.
'निशभोजन भु जन' कथा, लिखू सुगम सक्षेप.
(ग) तीनों योग सम्हार कर, वन्दों वीर जिनेश,
'रक्षा वन्धन' को कथा, भाषा करू विशेष.
(घ) पच परम गुरु वन्दिके, 'जम्बुकुमार' पुराण
करू पद्य रचना, भक्ति भाव कर आन.

२ (क) जम्बूद्वीप में, पूर्व विदेह के अन्तर्गत आर्य खण्ड नामक स्थान में अवन्ती देश है, जिसमें सुसीमा नाम की एक नगरी है उस नगर का शासनकर्ता, वरदत्त नामक एक चक्रवर्ती सम्राट् था.
(ख) महाराज श्रेणिक सरदार, धर्मधुरधर परम उदार.
न्याय नीति वरतें तिहु काल, निर्भय प्रजा रहे खुशहाल.
—जबू स्वामी चरित्र, पृ० ६.

उनके विचार से यह अधिक सभव है कि जिन योरोपीय कथाओ मे यह साम्य मिलता है उनमे से अधिकाश भारतीय कथा साहित्य [विशेषत जैन कथा साहित्य] के आश्रित हो प्रोफेसर मैक्समूलर बेन्फे तथा राइस डेविड्स ने अपने ग्रथो मे इस बात के काफी प्रमाण दिये हैं कि भारतीय बौद्ध कथाएँ लोक कठो के माध्यम के परसिया से यूरोप गई

प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि जैन कहानिया इतने दूर-दूर के प्रदेशो मे कैसे पहुँची, जब कि जैनधर्म का विस्तार भारत तक ही सीमित है ? इसके उत्तर मे हम यही कहेगे [और यह सच है] कि ये कहानिया जैनो द्वारा नही, बल्कि बौद्धो द्वारा सुदूर प्रदेशो मे ले जाई गई हैं क्योकि जैन और बौद्ध, दोनो ने ही ज्ञानोन्नति एव प्रचार मे उद्देश्य से पूर्वीय भारत की लोक-कथाओ का समुचित उपयोग किया है [१]

अनेक जैन कथाएँ ऐसी है जो कुछ अन्तर [परिवर्धन एव परिवर्तन] के साथ वेदो और पुराणो मे भी प्राप्त होती हैं आचार्यो ने अपने अपने मतो की पुष्टि अथवा समर्थन के लिए यदि कथाओ मे कुछ परिवर्तन कर दिया हो तो आश्चर्य की बात नही है एक साधारण कथा जब धर्मविशेष की परिधि मे पहुँच जाती है तब वह उस धर्म की भावना से प्रभावित होकर ही बाहर निकलती है भगवान् राम तथा कृष्ण विषयक जैन कथाएँ भी उपलब्ध है, लेकिन उनमे और वैदिक कथाओ मे असाधारण अन्तर आ गया है ऐसी स्थिति मे यह कहना कठिन हो जाता है कि ये कथाएँ जैन साहित्य से अन्य धर्म मे पहुँची है अथवा जैन कथाकारो ने इन्हे अन्यत्र से उपलब्ध किया है

विदेशो की लोक-कथाओ के अनुशीलन से ज्ञात होगा कि अनेको जैन-कथाओ ने सागरो को पार करके वहा की मान्यताओ की वेश-भूषा से अपने को अलकृत कर लिया है, लेकिन उनका मूलभूत स्वरूप प्रकट हो कर ही रहता है

कथाओं में तात्कालिक समाज का चित्रण

यद्यपि इन कथाओ का लक्ष्य सामाजिक अथवा राजनीतिक वातावरण को अकित करना नही है, फिर भी इनमे ऐसे अनेक विवरण सम्मिलित है जिनके माध्यम से पाठक तत्कालीन सामाजिक स्थिति का सहज ही अध्ययन कर लेता है मानव की स्वाभाविक वृत्तियो का न कभी नाश हुआ है और न होगा

वह सौन्दर्य-प्रेमी होता है और इसीलिए मनमोहक सुन्दरता की ओर स्वत आकर्षित हो जाता है अनेक कथाओ मे प्रदर्शित किया गया है कि अमुक राजा या धनिक या सम्पन्न व्यक्ति अमुक किसी सुन्दर स्त्री पर मोहित हो गया और उसकी प्राप्ति के लिए अनेक उपाय भी करने लगा, लेकिन देवी-देवताओ ने सती की पुकार सुनी और वह नराधम अपने कुकर्म के लिए दण्डित किया गया [२] उस समय यातायात के साधन सीमित थे और व्यापारी बैलो, घोडो ऊँटो तथा जहाजो के द्वारा ही अपने व्यवसाय को समुन्नत बनाते थे लेकिन सरक्षण का पूर्ण प्रबन्ध न होने से वनो, पहाडो तथा निर्जन स्थानो मे वे धनिक व्यापारी अक्सर चोरो और डाकुओ द्वारा लूट लिए जाते थे अपराधो की वृद्धि को रोकने के लिए तत्कालीन शासक बडा कठोर दण्ड देते थे चोरी के लिए प्राचीन काल मे शूली की सजा दी जाती थी.

कन्याएँ विविध कलाओ का अध्ययन करके अपनी इच्छानुसार अपने जीवन- साथी का चुनाव करने मे स्वतन्त्र थी वे कठिन परीक्षाओ मे सफल युवको को ही अपना पति बनाना चाहती थी [देखिए जयकुमार-सुलोचना आदि की कथा] समृद्धि और विलासिता के झूलो मे झूलते हुए भी मानवो का मानस एक साधारण घटना से प्रभावित हो जाता था और वे ससार का परित्याग करके आत्मोद्धार मे सलग्न हो जाते थे जलधर को अनन्त आकाश मे विलीन होते देखकर अथवा एक श्वेत केश के दर्शन मात्र से इन्सान का मन विरक्त हो जाया करता था बहुपत्नी-प्रथा का प्रचलन उस पुरा-

---

१ जैन लोक-कथा-साहित्य—श्रीमती मोहिनी शर्मा

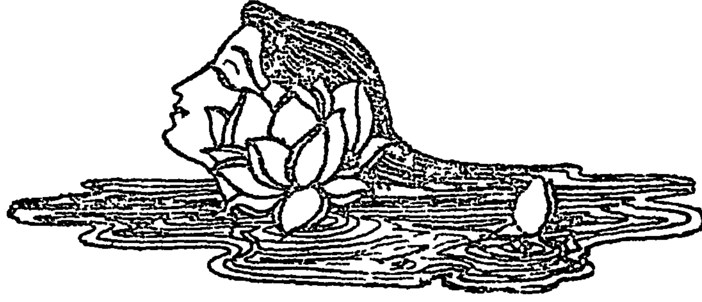
२ श्रीपाल को सागर विषै जब सेठ गिराया,
उसकी रमा से रमने को आया वो बेहया.
उस वक्त के सकट में सती तुमको जो ध्याया,
दुखद्वन्द फन्द मेटके आनन्द बढाया —सकटमोचन विनती



तन काल की विशेषता कही जाय तो अनुचित न होगा नरपति तथा धनिक वर्ग अनेक पत्नियो का पति वन कर अपनी कामवासना की पूर्ति करता था. हरिण्यवर्मा ने एक हजार कुमारियो को अपनी पत्नियो के रूप में रखा था [देखिए-जयकुमार-सुलोचना की कथा] तत्कालीन नरेश अपनी प्रजा का पूर्ण रूपेण सरक्षण करते थे और निष्पक्ष न्याय के कारण वडे लोक-प्रिय थे. सामाजिक जीवन सुखी और समृद्ध था तथा सासारिक सुखो का भोग मानव-समाज सुरुचि से करता रहता था समय आने पर मुक्तकरो से दान भी देता था परोपकार-निरतता उस काल की विशेष देन थी. सुन्दर वेश-भूषा एव सुगधित पदार्थों का वाहुल्य धन सपन्न का प्रतीक था

विविध लोकविश्वासो के साथ-साथ स्वप्नो के प्रति मानवो की प्राचीन काल मे विशेष आस्था थी वे इन स्वप्नो के द्वारा शुभाशुभ का परिज्ञान कर लिया करते थे [देखिए नन्दिमित्र की कथा-राजा चन्द्रगुप्त के १६ स्वप्न] पुरातन कथा-साहित्य के अध्ययन से प्रकट होता है कि जीवन सहरी के चुनाव में जातिगत बन्धन नगण्य थे युवक अपनी इच्छा-नुसार युवती को चुन लेता था देखिए अर्द्धदग्ध महापुरुषो और वकरे की कथा-वसन्तिलका और चारुदत्त की प्रणय-कथा] इन कथाओ के अनुशीलन से भी ज्ञात होता है कि जैनधर्म के पालनार्थ किसी जातिविशेष की परिधि चिह्न नही थी व्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के अतिरिक्त शूद्र और अन्त्यज भी जैन धर्म की आराधना से वचित नही किये जाते थे. [देखिए भील-भीलिनी की कथा एव माली की लडकियो की कथा] पशु भी जैन धर्म के श्रद्धान से परमसुख को प्राप्त हो सकते हैं [देखिए सुग्रीव वैल की कथा एव वन्दर की कथा][1]

इस प्रकार ये कथाएँ प्राचनी जैन सस्कृति का एक सुहावना वहुरगी चित्र उपस्थित करती है



---

१. 'जिन कथाओं का यहाँ सकेत किया गया है वे पुण्यास्रव कथा-कोष में सग्रहीत हैं.'



श्रीशान्तिलाल भारद्वाज 'राकेश'

मेवाड़ में रचित जैन साहित्य

धर्म-दर्शन और साहित्य

लोक-कल्याण और साहित्य—लोक-कल्याण जहा साहित्य की सार्थकता का एक विशिष्ट मानदण्ड है वहा जैन-साहित्य महती प्रतिष्ठा का अधिकारी है जैन-धर्म दया, सत्य, अहिंसा और त्याग जैसी धर्म की शाश्वत मान्यताओ का जितना प्रतिष्ठापक रहा है, लोकजीवन मे स्वस्थ सामाजिक व्यवस्था का भी वह उतना ही महान् मार्गदर्शक रहा जैन सन्तो ने, जो सामाजिक जीवन मे घुलकर भी असपृक्त रहे, एक ओर धर्म को तथा दूसरी ओर साहित्य को जो अपनी देन दी है, भारतीय चेतना को, इतिहास को, उसका ऋणी रहना पडेगा

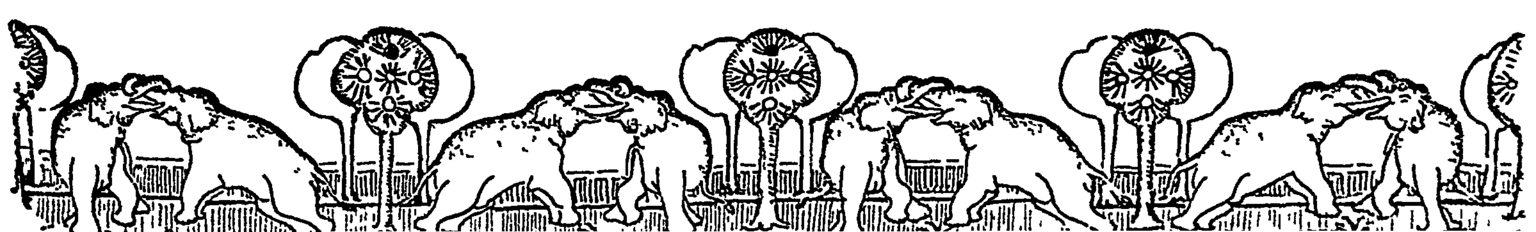
धर्म और काव्य—धर्म, दर्शन, काव्य या साहित्य, समाज, तर्क और मनोविज्ञान—देखा जाय तो मानव की विचार-चेतना के यह विभिन्न पृष्ठ एक दूसरे से इतने असम्बद्ध नही है जितने दिखाई देते है धर्म का जिस क्षण जन्म है—काव्य का जन्म भी उसी क्षण है धर्म का अर्थ जब चोचलेबाजी बन गया तब कथित धार्मिकता ने भी काव्य को विकृत किया लेकिन निष्कर्ष फिर भी यह नही निकल सकता कि धर्म और काव्य मे कोई सामञ्जस्य नही

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी 'काव्य पर धार्मिक प्रभाव' के सम्बन्ध मे इन भयकर परिणामो की चेतावनी दी थी कि धर्म को काव्य से बहिष्कृत करने का अर्थ हिन्दी के लिए तुलसी और सूर जैसे कवियो के उत्तराधिकार से वचित रह जाना होगा और यह सत्य भी है कि हमारा काव्य और हमारा धर्म दोनो का प्रवाह हमे एक ही उद्गम से प्रकट दिखाई देता है

एक—धर्म की व्यवस्था होती है दूसरा—धार्मिक प्रभाव का काव्य होता है. इनमे भेद होता है, अन्यथा भेद होना चाहिये काव्य के क्षेत्र मे धर्म को भी मर्यादित होना पडता है क्योकि काव्य के लिए रसज्ञता का निर्वाह प्रतिक्षण आवश्यक है हाँ—जहाँ धर्म काव्य को अपना आवरण ही मानकर चले वहाँ थोथी उपदेशात्मकता काव्य-धर्म-श्रोता या पाठक—सभी के लिए भारी पडती है काव्यसृजन भी सफल तभी होता है जब वह सृष्टा का धर्म बन जाय

समर्थ परम्परा—जैन-साहित्य एक लम्बी और समर्थ परम्परा का इतिहास सभालते हुए भी साहित्यालोचको के एक विशिष्ट वर्ग की उपेक्षा का पात्र रहा है इसके कई कारण समझ मे आते है

उपेक्षा के कारण—एक तो जैन सन्तो का, भाषा की रूढ मर्यादाओ मे बधे रहकर, जनभाषा के परिवर्तित स्वरूपो को अगीकार करते चले जाना वैष्णव धर्म की परम्परा मे सस्कृत-ग्रथ और जैन-धर्म की परम्परा मे प्राकृत और अपभ्रश—फिर वह युग भी धर्माधीशो के शास्त्रार्थ का—इसलिए सम्भव यह लगता है कि राज्याश्रय भोगने वाले पण्डित चाहे चौरासी आसनो की ही कसरत मे लगे रहे हो, लेकिन उन्होने इतर भाषाओ मे रचित जैन साहित्य को प्रतिष्ठा नही दी होगी दूसरा कारण यह भी कि धीरे-धीरे जैनधर्म भी अपने सकोच-धर्म का पालन करने लगा था.



स्थिति ऐसी भी आई कि जैन मदिर-साहित्य-जैनाचार्य और श्रावक, बस इसी दुनिया मे यह धार्मिक आन्दोलन चलता रहा और धीरे-धीरे जन-जीवन से हटकर जैन-साहित्य एक दिन अनुसन्धान की वस्तु बन गया

चेतना का साहित्य—किस धर्म के सतो की परम्परा साहित्य-सृजन से इतनी बधी रही है ? परलोक होता हो चाहे न होता हो, इहलोक के कल्याण के लिए भी वे निरन्तर साहित्य का अमृत पिलाते रहे और विष के आकर्षण मे न फसने की सदैव चेतावनी देते रहे

भाषा के माध्यम का यह प्रगतिशील दृष्टिकोण धार्मिक सिद्धान्तो की प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से भी सार्थक रहा, उसने युग यथार्थ के इतिहास के साथ भी न्याय किया और सिद्धान्तरूप मे उसने स्वय अपने भीतर विकास की भी प्रबल सम्भावना छोड़ी इसीलिए आज का एक दिन ऐसा भी आया जहा जैन साहित्य अपना सर्वस्व स्थापित कर चुका है.

जायसी और स्वयंभू—आज हिन्दी साहित्य की परम्परा का इतिहास खोजने जाते है तो प्राकृत अपभ्रश के युगो मे जैन साहित्य का गौरव ही हमारा हाथ थामता है और तब यह प्रश्न उठता है कि सूफी जायसी जब हमारे लिए पठनीय हो सकता है तो जैन स्वयभू हमारे लिए पठनीय क्यो नही हो सकता ?

धार्मिक प्रतिस्पर्धा की जडे दिनोदिन सूखती जा रही है और जैन-साहित्य के विशद अनुसधान की प्रवृत्ति आज तो एक आन्दोलन का रूप ले चुकी है.

अध्यात्मलक्षी दर्शन—भारतीय दर्शन अध्यात्मलक्षी है. इसमे पश्चिम के दर्शन की भाँति बुद्धि को प्रधानता नही दी गई है. यहाँ आत्मतत्त्व की शुद्धि प्रधान है, और भारतीय दर्शन का यही मूल सस्कार भारतीय धर्म और समाज की व्यवस्थाओ को प्रतिक्षण प्रभावित करता रहा है.

श्रद्धा-ज्ञान और क्रिया को जैनशास्त्रो मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र के नाम से जाना गया है लेकिन साधना के सोपान अगर पूरे नही तो लगभग समान है. आस्था-विवेक और सक्रियता—इन्हे अपना लेने से जीवन का प्रशस्त पथ खुलता है और जैन साहित्य भी सिद्धि के इन विविध सूत्रो को जोड पाने का सदैव प्रयत्न करता रहा है

जैन दर्शन कहता है कि आत्मा और सच्चिदानन्द सत्य है इसमें अशुद्धि, विकार, दु खरूपता, अज्ञान और मोह के कारण होती है. जैनदर्शन एक ओर विवेकशक्ति को विकसित करने की बात कहता है तो दूसरी ओर वह रागद्वेष के सस्कारो को नष्ट करने को कहता है वहाँ अविवेक और मोह ही ससार है या उसके कारण है[1]

जैन-साहित्य लोकजीवन को उन्नत और चारित्रशील बनाने वाली नैतिक-शिक्षा का वाङ्मय है कहने को वह एक विशिष्ट धर्म है लेकिन किसी भी धर्म या देश के लोग उसका पालन कर सकते है अर्थात् उसकी कई मूल मान्यताएँ ऐसी है जो सभी के लिए आवश्यक है और रहेगी.

जैन-साहित्य विशाल है. प्राकृत-सस्कृत और देशभाषा-साहित्य के नामकरण की तिथि से लेकर आज तक की गत सभी शताब्दियो मे प्रतिष्ठित और लोकमान्य भाषाओ मे साहित्य-रचना का श्रेय जैन साहित्यकारो को है तमिल, तेलगू, कन्नड, हिन्दी, मराठी, गुजराती, बगला और राजस्थानी—विभिन्न भारतीय भाषाओ में जैन साहित्य रचा गया है.

जैन-साहित्य के विकास-पथ में अनेक सत साहित्यकारो और आचार्यो का योग मिला है.

'पउमचरिउ' के रचयिता श्री विमलसूरि, 'हरिवश-पुराण' के आचार्य जिनसेन, 'पाण्डवचरित' के देवप्रभसूरि, 'त्रिषष्ठि-शलाका पुरुष चरित' के जैनाचार्य हेमचन्द्र, 'जम्बूस्वामिचरित' के महाकवि वीर, 'रभामजरी' के नयचन्द्र, 'भविस्सयत्त कहा' के धनपाल, अपभ्रंश के वाल्मीकि महाकवि स्वयभू, 'धूर्ताख्यान' के श्री हरिभद्रसूरि, 'बृहत्कथाकोष' के श्री हरिषेण जैसे अनेक दिग्गज रचनाकारो की सृष्टि का यह विशाल वाङ्मय अपने सुदृढ अस्तित्व को स्वत प्रमाणित कर रहा है.

---

१ जैन दार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन श्रीदलसुख, मालवणिया.



सिद्धसेन दिवाकर तथा अन्य—आचार्य सिद्धसेन दिवाकर जैन परम्परा मे तर्क-विद्या के प्रणेता और जैन परम्परा के प्रथम सस्कृत कवि के रूप मे सम्मानित है नयचन्द्र के सम्बन्ध मे स्वयभू ने कहा है कि उसके काव्य मे अमरचन्द्र का लालित्य और श्रीहर्ष की वक्रिमा—दोनो गुण है महापण्डित राहुल साकृत्यायन ने सस्कृत के भाष्यकारो मे श्री प्रभाकर गुप्त को महती प्रतिष्ठा दी है और दर्शन-व्याकरण और काव्य के आचार्य हेमचन्द्र का 'त्रिशष्ठिशलाकापुरुप चरित्र' विश्व-साहित्य का बेजोड काव्य माना गया है [1]

हरिभद्रसूरि के प्राकृत ग्रथ 'धूर्ताख्यान के सम्बन्ध मे यह मान्यता प्रकट की गई है कि यह ग्रन्थ समुच्चय भारतीय साहित्य मे अपने ढग की मौलिक ग्रथपद्धति का एक उत्तम उदाहरण है [2]

अपभ्र श का गौरव—हिन्दी की जननी अपभ्र श भाषा के साहित्य मे तो सर्वत्र जैन सन्तो का ही साहित्य मिलता है स्वयभू, धनपाल, जोइन्दु, मुनि कनकामर शालिभद्र, विजयचन्द्रसूरि, हरिभद्र सूरि, जिनदत्त सूरि, वर्द्धमान सूरि, शालिभद्र सूरि, देवसूरि, विनयचन्द्रसूरि, उद्योतनसूरि, सोमप्रभसूरि, जिनप्रभसूरि और रत्नप्रभसूरि' जैसे अनेक रचनाकारो ने अपभ्रश भाषा को श्रेष्ठ साहित्य दिया है जैन रचित अपभ्र श साहित्य के विभिन्न स्वरूपो मे हमे हिन्दी और उसकी सहायक भाषाओ तथा अन्य कई भारतीय भाषाओ के जन्म और विकास की कहानी मिलती है हिन्दी आज अपभ्र श की जितनी ऋणी है—जैन साहित्यकारो की भी उतनी ही ऋणी है

साहित्य की लगभग सभी समकालीन विधाओ मे जैन-साहित्य की रचना हुई है वहाँ यशश्चन्द्र, वारिचन्द्र, मेधप्रभाचार्य रामचन्द्र, देवविजय, यशपाल, विजयपाल और हस्तिमल जैसे नाटककार, पादलिप्त, हरिभद्र, उद्योतनसूरि, जिनेश्वर, देवभद्र, राजशेखर और हेमहस जैसे कथाकार, चन्द्रप्रभसूरि, हेमतु ग, राजशेखर और जिनप्रभसूरि जैसे निबन्धकार एव इतिहासकार, ओडयदेव जैसे गद्यकाव्यकार, सोमदेव, हरिश्चन्द्र, अर्हद्दास जैसे चम्पूकार और वीर नन्दि, वादिराज, धनञ्जय, वाग्भट्ट, अभयदेव, और मुनिचन्द्र जैसे महाकाव्यकार बडी सख्या मे एक साथ मिलते है जिन्होने स्तर और परिमाण—दोनो दृष्टियो से सफल रचनाकारो मे अपना स्थान बनाया है

जैन-साहित्य के आकर्षण अनेक हैं लेकिन प्रस्तुत निबन्ध की मर्यादा मे उनकी विस्तृत चर्चा न अपेक्षित है और न समीचीन ही, इसलिए उचित यही होगा कि 'मेवाड मे रचित जैन साहित्य' का यथा उपलब्ध विवरण प्रस्तुत किया जाय

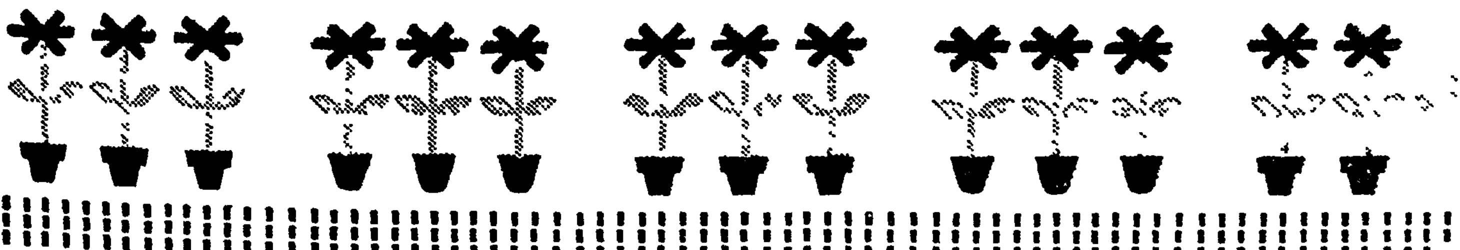
जैनाचार्य और मेवाड़

जैनाचार्य सिद्धसेन दिवाकर पहले आचार्य थे जिन्होने चित्तौड मे प्रवेश किया.[3] जैन-ग्रन्थो के अनुसार वे यशस्वी भारत-सम्राट् विक्रमादित्य के प्रतिबोधक, प्रगाढ पण्डित और महान् दार्शनिक थे

आचार्य हरिभद्र और चैत्यवासी परम्परा—आठवी या नवी शताब्दी के विद्वान आचार्य हरिभद्रसूरि का राजस्थान से, विशेषकर चित्तौड से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है. जैन सतो मे यह एक ऐसे आचार्य थे जिन्होने धर्म को मार्ग भटक जाने से बचाया जैन सन्तो मे उन दिनो चैत्यवासियो का बडा प्रभाव था वे चैत्यो या मठो मे रहते थे और धीरे-धीरे अनेक आसक्तियो से बध गये थे. मठो मे रहना, देवद्रव्य का उपयोग, रग-बिरगे वस्त्र, स्त्रियो के आगे गाना, दो तीन बार भोजन, ताम्बूल व लवग का सेवन तथा ज्यौनारो मे शिष्ट आहार—उनमे मठाधीशो की विकृतियाँ पनपने लगी थी, वे मुहूर्त निकालते थे निमित्त बतलाते थे, शृगार करते थे, इत्र लगाते थे, क्रय-विक्रय करते थे और चेले बनाने के लिये बच्चो तक को खरीदते थे [4]

---

१ जैन साहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
२ कथाकोप प्रकरण की भूमिका—मुनि जिनविजय (सिन्धी जैन ग्रन्थमाला—ग्रन्थाक ११)
३. जैन साहित्य और चित्तौड—अगरचन्द नाहटा
४ जैन साहित्य और इतिहास—नाथूराम प्रेमी



आचार्य हरिभद्र ने इन्हे भ्रष्ट और सत्यपथ का विरोधी घोषित किया और जैनधर्म को नई दिशा देने के इस आन्दोलन को लम्बे समय तक चलाया

प्रभाचन्द्रसूरि रचित 'प्रभावक चरित्र' के अनुसार वे मेवाड के तत्कालीन शासक चितारि के पुरोहित थे वे जैनागमो मे सबसे पहले सस्कृत टीकाकार और जैनेतर ग्रथो के भी सर्वप्रथम टीकाकार माने गये है.

ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न श्री हरिभद्र सूरि ने चित्तौड मे ही जन्म लिया और चित्तौड ही इनका प्रधान कार्यक्षेत्र रहा. प्राप्त जानकारी के अनुसार इन्होने १४४४ ग्रथ बनाये जिनमे से लगभग ८० ग्रथ प्राप्त है.

हरिभद्र का साहित्य—आचार्य हरिभद्र रचित ग्रथो का परिचय इस प्रकार है—

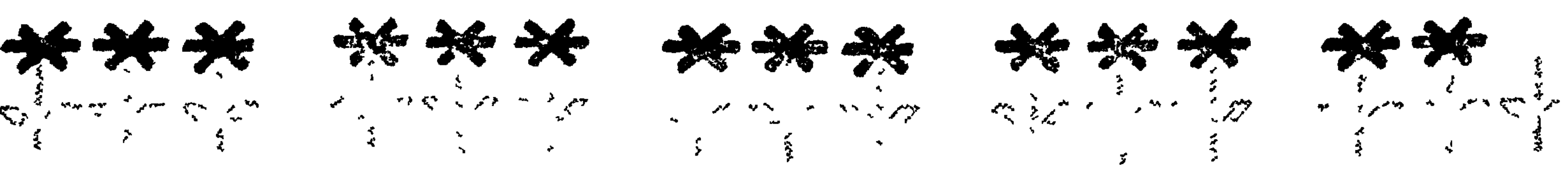
१ शास्त्रवार्त्तासमुच्चय
२ योगदृष्टिसमुच्चय
३ षड्दर्शन समुच्चय
४ योगशतक
५ योगविन्दु
६ धर्मविन्दु
७. अनेकान्तजयपताका
८ अनेकान्तवादप्रकाश
९. वेदवाह्यता निराकरण
१० सबोधप्रकरण
११. सबोधसप्ततिका
१२ उपदेशपद प्रकरण
१३. विंशतिका प्रकरण
१४ आवश्यक सूत्र बृहद्वृत्ति
१५ अनुयोगद्वार सूत्रवृत्ति
१६ दिग्नागकृत न्यायप्रवेश सूत्र वृत्ति
१७ नन्दीसूत्र लघुवृत्ति
१८ दशवैकालिकवृत्ति
१९ प्रज्ञापना सूत्र प्रदेश व्याख्या
२० जम्बूद्वीप सग्रहिणी
२१. पचवस्तुप्रकरण टीका
२२ पचसूत्र प्रकरण टीका
२३ श्रावकधर्म विधि पचाशक
२४ दीक्षाविधि पचाशक
२५ ज्ञानपचक विवरण
२६ लग्नकुण्डलिका
२७ लोकतत्त्वनिर्णय
२८ अष्टक प्रकरण
२९ दर्शन सप्ततिका
३० श्रावकप्रज्ञप्ति
३१ ज्ञान चित्रिका
३२ धर्मसग्रहणी
३३ षोडषक
३४ ललितविस्तरा
३५ कथाकोष
३६ समराइच्च कहा
६७ यशोधर चरित्र
३८ वीरागद कथा
३९ धूर्ताख्यान
४० मुनिपतिचरित्र आदि

हरिभद्रसूरि विरचित ग्रथो की सख्या प्रतिक्रमण अर्थदीपिका के आधार पर १४४४, "चतुर्दशशत प्रकरण प्रोत्तुग प्रासाद-सूत्रणैकसूत्रधारै" इत्यादि पाठ के अनुसार १४०० तथा राजशेखर सूरिकृत चतुर्विंशति प्रवन्ध के आधार पर १४४० मानी जाती है. मुनि जिनविजयजी के कथनानुसार उनके उपलब्ध ग्रथ २८ है जिनमे से २० ग्रथ छप चुके है

सत्य के अन्वेषी—हरिभद्रसूरि के साहित्य मे उनकी उदार धर्मभावना का परिचय मिलता है. वे व्यवस्था या मान्यता के परम्परागत सत्य को पहले अपने विवेक की कसौटी पर कसते थे जो चला आ रहा है वही सत्य है, यह मान्यता आचार्य हरिभद्र की नही थी

'पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

'मुझे भगवान् महावीर के प्रति कोई पक्षपात नही एव कपिल आदि महर्षियो के प्रति कोई द्वेष भी नही, परन्तु जिनका



वचन युक्तियुक्त होता है वही ग्रहण करने योग्य है'[१]

आचार्य हरिभद्र की इन प्रगतिशील मान्यताओ ने जैनधर्म के आन्दोलन का वडा हित किया और यह सिद्ध है कि उन स्वय ने विपुल साहित्य की रचना की

उनका स्वर्गवास वि० स० ५८५ मे लिखा पाया गया है लेकिन मुनि जिनविजय जी ने उनका समय वि० स० ५५७ से ८२७ का माना है और डा० हर्मन याकोबी ने भी इसी मत का समर्थन किया है

'समराइच्च कहा' हरिभद्र की अमर कृति है 'धूर्ताख्यान' को भारतीय साहित्य मे अपने ढग की मौलिक गद्य पद्धति का एक उत्तम उदाहरण माना गया है

जिनवल्लभसूरि—बारहवी शताब्दी मे आचार्य जिनवल्लभसूरि ने चित्तौड मे कई वर्ष रहकर विधिमार्ग का प्रचार किया उनके विधिमार्ग ने चैत्यवासियो को बडी शक्तिशाली चुनौती दी वे छन्द, काव्य, दर्शन और ज्योतिष के विद्वान थे. कवि, साहित्यकार और ग्रन्थकार के रूप मे उनकी बड़ी प्रतिष्ठा है चित्तौड ही जिनवल्लभसूरि के प्रभाव का उद्गम और केन्द्रस्थान बना

संघपट्टक और धर्मशिक्षा—इन दो रचनाओ को श्री जिनवल्लभसूरि ने स्वप्रतिष्ठित महावीर स्वामी के मदिर (चित्तौड) मे स० ११६४ मे शिलालेखो मे अकित करवाया.

जिनवल्लभसूरि स० ११६९ मे आचार्य पद को प्राप्त हुये

चित्तौड का गौरव—इतिहास और पुरातत्त्व की दृष्टि से चित्तौड तथा उसके समीपवर्ती क्षेत्र (माध्यमिका) का वडा महत्त्व है पातञ्जलि-कालीन भारत (डा० प्रभुदयाल अग्निहोत्री) मे जिस माध्यमिका नगरी का उल्लेख मिलता है वह चित्तौड के समीप थी ई० पू० द्वितीय शताब्दी मे मिनाण्डर ने साकेत और माध्यमिका पर आक्रमण किया था डा० भण्डारकर के मतानुसार पुष्यमित्र ने साकेत और माध्यमिका की विजय के बाद ही पहला अश्वमेध यज्ञ किया चन्द्रभाषा और सिन्ध के मध्यवर्ती देश का नाम शैव देश था जिसकी राजधानी शिवपुर या शिविपुर थी शिवियो मे कुछ लोग अपना प्रदेश छोडकर उत्तर पजाब और राजपूताना मे चले आये एक दूसरी शाखा राजपूताना मे चित्तौड के पास जा बसी यहा इनकी राजधानी चेतपुर थी, यह स्थान चित्तौड से ११ मील उत्तर मे है और यही पातजलि की माध्यमिका है

माध्यमिका—माध्यमिका को नगरी नाम से भी जाना जाता है यह नगरी वही है जिसका उल्लेख 'अरुणदयवनोमाध्यमिकाम्' इत्यादि के रूप मे पातञ्जलि के महाभाष्य मे मिलता है यह शिवि जनपद की राजधानी थी इसी माध्यमिका के नाम पर जैन श्वेताम्बर सप्रदाय के एक मुनि-सघ की पुरातनकाल मे एक शाखा प्रसिद्ध हुई जिसका उल्लेख कल्पसूत्र की स्थविरावली मे 'मज्झिमा साहा (माध्यमिका शाखा) के रूप मे मिलता है इसी स्थान पर ऐतिहासिक महत्त्व के अनेक प्राचीन सिक्के मिले है किंवदतियो के अनुसार इस नगरी के भग्नावशेषो की ईंटे महाभारत कालीन बताई जाती है

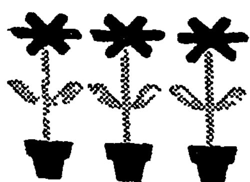
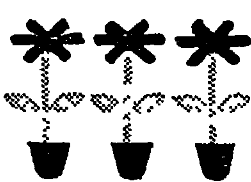
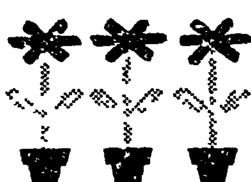
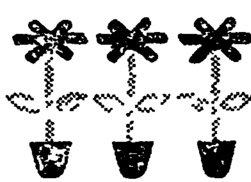
यह नगरी आज से २००० वर्ष से भी पूर्व के बौद्ध व जैनधर्म के प्रादुर्भाव का इतिहास अपने साथ जोडे हुये है शैव, शाक्त और वैष्णव के अतिरिक्त यह स्थान जैनियो और बौद्धो के धर्मप्रचार का भी प्रमुख केन्द्र रहा है
चित्तौड जैनाचार्यो के आचार्यत्व का दीक्षास्थल भी रहा है

जिनदत्तसूरि

आचार्य जिनवल्लभसूरि के उपरात उन्ही के पट्टधर श्री जिनदत्तसूरि का नाम प्रमुख रूप से आता है इनका कार्यक्षेत्र

---

१ हरिभद्रसूरि—ईश्वरलाल जैन (जैन सत्यप्रकाश)



मेवाड, मारवाड, वागड़, सिन्ध, दिल्ली और गुजरात रहा. जिनदत्तसूरि व्याकरण, कोप, छन्द, काव्य, अलकार, नाटक ज्योतिप, वैद्यक और दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित और एक समर्थ साहित्यकार थे

प्राकृत, सस्कृत और अपभ्र श के इस विद्वान लेखक ने अनेक ग्रन्थो की रचना की.

'गणधर सार्धशतक' उनका एक विख्यात ग्रन्थ है जिसमे प्रसिद्ध गणधरो की प्रशस्तियाँ है इस ग्रन्थ मे १५० प्राकृत गाथाएँ है

श्री जिनदत्तसूरि की निम्न रचनाओ का उल्लेख मिलता है—

१ गणधर सार्धशतक (प्राकृत)
२ सदेह दोहावली
३ चैत्यवदन कुलकम्
४ सुगुरुपारतन्त्र्यस्तव (प्राकृत)
५ उपदेश रसायनम् [अपभ्रश]
६. चर्चरी [अपभ्र श]
७ कालस्वरूप कुलकम् [अपभ्र श]
८ सर्वाधिष्ठायि स्तोत्रय (प्राकृत)
९ विघ्नविनाशिस्तोत्र (प्राकृत)
१० विंशिका (सस्कृत)
११. उपदेशकुलकम्
१२ अवस्था कुलकम्
१३. श्रुतस्तव
१४ अध्यात्मगीतानि
१५ उत्सूत्र पदोद्घाटन.[1]

कथित धर्मगुरुओ के विरुद्ध आन्दोलन करके उन्होने नैतिक मूल्यो की प्रतिष्ठा पर बल दिया वे विख्यात साहित्यसमालोचक मम्मट के समकालीन थे. मम्मट काव्य मे रस को प्रधानता देते हैं और जिनदत्तसूरि की रचनाओ मे भी भावपक्ष प्रधान है. उनका सृजन स्तुतिपरक भी रहा और औपदेशिक भी

सोमसुन्दरसूरि—तपागच्छ के प्रभावक और विद्वान आचार्य सोमसुन्दरसूरि का सम्बन्ध मेवाड़ के देलवाडा नामक स्थान से रहा है सन् १४५० से इन्हे उपाध्याय पद प्राप्त हुआ और उन्होने तत्काल ही देवकुलपाटक (देलवाडा) में प्रवेश किया तब राणा लाखा के मत्री रामदेव और चूण्डा ने प्रवेशोत्सव करवाया

आचार्य सोमसुन्दर ने देलवाडा में ही 'सतीकर स्तोत्र' की रचना की जिसका पाठ आज भी जैन समाज मे प्रतिदिन किया जाता है. इनके समय मे देलवाडा मे प्रचुर साहित्यसृजन और प्रतिलेखन हुआ.

चित्रकूट (चित्तौड) और देलवाड़ा के साथ-साथ मेवाड के आघाट [आयड], करहेडा [करेडा], नागदह [नागदा], केशरिया जी, कुभलगढ, माडलगढ़, बिजौलिया, जावर, उदयपुर, काकरौली आदि अनेक क्षेत्रो मे भी विपुल जैन साहित्य की रचना हुई है.

मेवाड़ का सृजन

१. शलाका सत्तरी—जैन आचार्य हेमतिलकसूरि रचित अपभ्र श भाषा की इस रचना में सत्तर महापुरुषो के जीवन-चरीत्र है हेमतिलकसूरि को आचार्य पद स० १३८२ मे प्राप्त हुआ

२. मातृकाक्षर चैत्य परिपाटी—फाल्गुन सु० ६ स० १४७७ में आचार्य हेमहस ने इस कृति की रचना की इसमे अकारादि क्रम से जैन तीर्थों की नामावली प्रस्तुत की गई है उक्त कृति की एक प्रति मुनि कान्तिसागर जी के सग्रह मे देखने को मिली है जिसका लिपिकार भी लेखक स्वय है.

३ गुरुगुणषट्त्रिंशिका—श्री रत्नशेखरसूरि ने स० १४८५ मे जैन गुरुओ पर यह अपभ्र श का स्तुति काव्य लिखा. मुनि कान्तिसागर जी के सग्रह मे जो प्रति मिली उसके लिपिकार भी श्री रत्नशेखरसूरि ही है

---

१ गणधर सार्धशतक और उनकी बृहद् वृत्ति—मुनि कातिसागर



४. चित्रकूट प्रशस्ति—जिनसुन्दरसूरि के शिष्य श्री चारित्ररत्न गणि ने चित्तौड के महावीर-मदिर की यह प्रशस्ति स० १४६५ मे लिखी उक्त प्रशस्ति की स० १५०८ की प्रतिलिपित प्रति भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट पटना मे उपलब्ध है

५ ऐतिहासिक गुरु आवलियां—जैन मुनि हेमसार ने इसमे आचार्यो का चरित्र चित्रण किया है हेमसार स० १४६६ मे देलवाडा मे थे उक्त कवि की निम्न रचनाओ का भी उल्लेख मिलता है :

[अ] ज्ञान पचमी चौपाई
[ब] गुरु आवली

उल्लिखित पुस्तक की भी एक ही प्रति मुनि कातिसागर जी के सग्रह मे देखने को मिली है

६ वस्तुपाल चरित काव्य ७ रत्नशेखर कथा—उपरोक्त दोनो कृतियो की रचना आचार्य जयचन्द्रसूरि के शिष्य जिनहर्षगणि ने स० १४६७ मे चित्तौड मे की.

८. ज्ञान प्रदीप—चित्तौड मे स० १४६७ मे विशालराज नामक मुनि ने इस ग्रन्थ की रचना सम्पन्न की

६ चित्रकूट-चैत्य-परिपाटी—विख्यात जैन गद्यकार श्री पाशुचन्द्रसूरि रचित 'चित्रकूट-चैत्य-परिपाटी' मे जैनमदिरो का सुन्दर वर्णन मिलता है.

पाशुचन्द्रसूरि का जन्म स० १५३७, आचार्यपद स० १५६५ और स्वर्गारोहण स० १६१२ का रहा है इसलिये १६ वी और १७ वी शताब्दी के सधिकाल की मानी जानी चाहिए

१० विक्रम-खापर चरित्र चौपई—स० १५६३ मे राजशील नामक कवि ने चित्तौड मे उक्त कृति की रचना की यह एक लोककथाकाव्य है विक्रमादित्य और खापरिया चोर के प्रसिद्ध लोककथानक पर उक्त काव्य आधारित है

११. गोराबादल पद्मिनी चौपाई—प्रमुख जैनाचार्य श्री हेमरत्नसूरि ने बडी सादडी मे स० १६४५ में उक्त कृति की रचना की हेमरत्नसूरि का समय स० १६१६ से स० १६७३ तक का माना गया है[१] यह पूर्णियागच्छ के वाचक पद्मराज के शिष्य थे

कृति मे जायसी के पद्मावत से मिलती-जुलती कथा है जिसमे इतिहास और कल्पना का सम्मिश्रण है प्रधान रस वीर है लेकिन गौण रुप मे शृगार भी समाविष्ट है

स्वामीधर्म की वडाई और पद्मिनी का शीलवर्णन उक्त काव्य की विशेषताएँ है.

कवि के अनुसार यह 'लिखमी वर्णन' नामक केवल पहला ही खण्ड है तथापि कथा की दृष्टि से यह अपने आप मे पूर्ण काव्य प्रतीत होता है[२]

---

१. राजस्थानी भाषा और साहित्य—डा० हीरालाल महेश्वरी (पृ० २६६)

२ पद्मिनी को यह कथा काव्यरूप में सर्वप्रथम जायसी के पद्मावत में स० १५४० में आई इससे पूर्व भी लोककथा के रूप में यह कथा अत्यधिक प्रचलित रही है
जायसी के वाद फरिश्ता की 'तवारीख' में जायसी के कथानक से ही मिलती-जुलती कथा मिलती है नाहटा जी के सग्रह में भी 'गोराबादलकवित्त' नाम की कृति पाये जाने का उल्लेख मिलता है वि० स० १६४५ में हेमरत्नसूरि की उपरोक्त रचना मिलती है जो कथा की उसी परम्परा से सम्बद्ध है
इसके उपरात भी, स० १७६० में भागविजय नाम के एक जैन कवि ने इसी कथा का परिवर्धन किया स० १६८० में जटमल नाहर को 'गोराबादल चौपई' मिलती है. स० १७०५-६ में लब्धोदय का 'पद्मिनी चरित' मिलता है जिसका उल्लेख इसी लेख में आगे किया गया है.



१९ संयोग बत्तीसी—सुप्रसिद्ध जैनकवि मानमुनि ने उदयपुर मे 'सयोग बत्तीसी' की रचना की इस एक ही कृति को निम्न चार नामो से जाना जाता है ;

१ मानमजरी
२ सयोग द्वात्रिंशिका
३ सयोग बत्तीसी
४ मान बत्तीसी

यह मानकवि वही मानसिंह है जो 'बिहारी सतसई' के टीकाकार और राजविलास के रचयिता है.

मानकवि नाम के एकाधिक कवि राजस्थान मे हुये है इसलिये कुछ विद्वान सतसई के टीकाकार और राजविलास के रचयिता को एक नही मानते मानकवि को अलकारशास्त्र का अच्छा ज्ञान था.

सयोग बत्तीसी नायिका-भेद का एक श्रेष्ठ काव्य है मानमुनि विजयगच्छ के सत थे और विजयगच्छ का उदयपुर मे बडा प्रभाव रहा है.

२० **अञ्जनासुन्दरिका रास**—रास के रचनाकार का नाम भुवनकीर्ति है दिगम्बर और श्वेताम्बर समाज मे भुवनकीर्ति नाम के भी एकाधिक कवि मिलते है परन्तु 'अञ्जनासुन्दरिका रास' के रचयिता भुवनकीर्ति खरतरगच्छीय जिनरग सूरि के आज्ञानुवर्ती थे बीकानेर के मुख्यमत्री कर्मचन्द्र के वशज श्री भागचन्द्र के लिये उदयपुर मे इस ग्रन्थ की रचना की गई ग्रन्थ का रचनाकाल स० १७०६ है. उन दिनो उदयपुर मे महाराणा जगतसिंह का शासन था.

उक्त रास मे रामकथा के प्रमुख पात्र श्री हनुमान की माता अञ्जना की कथा है, जिस चरित्र को जैन पौराणिक मान्यताओ के अनुरूप ढाला गया है.

२१ **पद्मिनी चरित्र**—स० १७०७ मे कवि लब्धोदय ने उदयपुर मे इस कृति की रचना की लब्धोदय की कवित्व शक्ति को जैनसाहित्य मे विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त है. वे लगभग ४०-५० वर्षो तक साहित्यसृजन मे लगे रहे. वे ६ उल्लेखनीय रासो के रचयिता माने गये है उनका विहार मेवाड मे अधिक हुआ. पद्मिनी चरित्र की रचना स० १७०६ मे शुरु हुई और चैत्रीपूनम स० १७०७ को उसकी रचना समाप्त हुई

उदयपुर, गोगूदा और धूलेवा ही लब्धोदय की साहित्य-रचना के प्रमुख केन्द्र रहे है

२२. **धन्ना का रास**—कविखेता ने वैराठ (बदनोर के पास) स० १७३२ मे उक्त रास की रचना की रास मे बिहार के राजगृहनगर के सुप्रसिद्ध श्रेष्ठ धन्ना के चरित्र तथा उसकी समृद्धि का वर्णन है. समृद्ध और सम्पन्न व्यक्ति के लिये आज भी धन्ना सेठ की जो उपमा दी जाती है वह यही धन्ना श्रेष्ठी है.

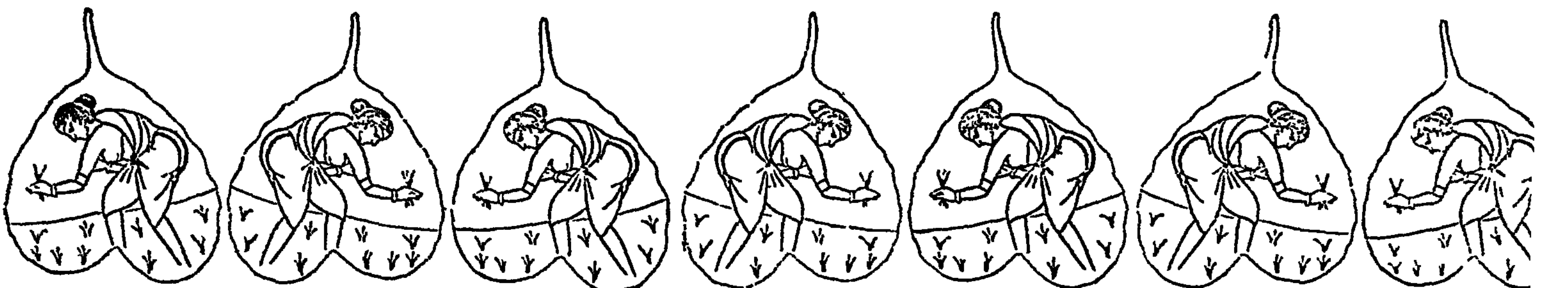
वैराठ वैसे जयपुर मे है लेकिन उक्त रास मे ही एक उल्लेख वैराठ नगर की स्थिति को स्पष्ट कर देता है .

"मेदपाट मे जाणिये रे वाको गढ वैराठ ।"

अर्थात् यह वैराठ मेदपाट (मेवाड) का ही है

२३ **आंतरे का स्तवन**—कवि तेजसिंह ने १७३५ मे नादेस्मा (जिला उदयपुर) मे उक्त स्तवन की रचना की मुनि तेजसिंह लोकागच्छ के १८ वी सदी के प्रमुख आचार्य थे कवि ने कोठारी ठाकुरसी के लिये उक्त स्तवन की रचना की. इनकी अन्य रचनाये भी उपलब्ध है जिनमे 'गुरुगुणमालाभास' एक ऐतिहासिक कृति है

२४. **भीमजी चौपाई**—प्रस्तुत कृति मे भीमजी का ऐतिहासिक वर्णन दिया गया है लेकिन प्रति सम्मुख न होने से भीमजी के सम्बन्ध मे अधिकृत रूप से कुछ नही कहा जा सकता भीमजी नाम का कोई आसपुर का शासक अवश्य हुआ है स० १७४२ मे पुजपुर (डूगरपुर) मे यह कृति रची गई कृति मे उल्लेख मिलता है कि इसका रचनाकार मुनि कीर्तिसागर सूरि का कोई शिष्य था



आचार्य हेमरत्नसूरि की निम्न रचनाओ का भी उल्लेख मिलता है[1]

१. महीपाल चौपाई
२ अमरकुमार चौपाई
३ सीता चौपाई
४. लीलावती

१२ श्री पूज्य रत्नसिंह रास—देवगढ के पास स्थित ताल नामक स्थान मे शूजी कवि ने इस कृति की रचना की. ग्रन्थ का रचनाकाल स० १६४८ है.

यह ४४ पदो की एक लघु कृति है जिसमे रत्नसिंह के व्यक्तित्व का चित्रण किया गया है. आचार्य रत्नसिंह लोकागच्छ के एक प्रमुख आचार्य हुये है

१३ अञ्जना रास—जावरपुर[2] [जावर माइन्स] मे उक्त रास की रचना स० १६५२ मे कवि नरेन्द्रकीर्ति ने की यह एक पौराणिक काव्य है जिसमे रामकथा के प्रमुख पात्र हनुमान की माता अञ्जना की कथा है

१४ शुकन चौपाई—इसका रचनाकाल स० १६६० बताया गया है श्री जयविजय इसके रचनाकार है गिरिपुर [डूगरपुर] मे राजा सहस्रमल के राज्यकाल मे 'शुकन चौपाई' की रचना हुई राजा सहस्रमल का राज्यकाल स० १६३३ से १६६३ तक माना गया है[3]

इसी लेखक ने स० १६६८ मे सग्रहणीमूल नामक भौगोलिक ग्रन्थ की प्रतिलिपि की.

१५ बच्छराज हंसराज रास—कोटडा मे कवि मानचन्द ने स० १६७५ मे इस कृति की रचना की वच्छराज और हसराज नामक दोनो भाई इस कृति की कथा के प्रमुख पात्र है यह मानचन्द या मानमुनि जैनाचार्य जिनराजसूरि के शिष्य थे

१६ शिवजी आचार्य रास—श्री धर्मसिंह ने स० १६९७ मे उदयपुर मे इस रास की रचना की यह एक ऐतिहासिक कृति है मूर्तिपूजा मे विश्वास न रखने वाला भी एक पक्ष जैन समाज मे है जिनके शिवजी नामक आचार्य हुये है मुनि धर्मसिंह ने इन्ही शिवजी आचार्य का वर्णन उक्त रास मे किया है 'शिवजी आचार्य रास' का लोकागच्छ के ऐतिहासिक काव्यो मे महत्त्वपूर्ण स्थान है

१७ जयकुमार आख्यान—सत्रहवी शताब्दी मे भट्टारक परम्परा[4] के नरेन्द्रकीर्ति के शिष्य कामराज ने 'जयकुमार आख्यान' की रचना की सस्कृत का यह ग्रन्थ डूगरपुर मे रचा गया कामराज की एक और रचना 'त्रिशष्ठि शलाका पुरुषचरित' का भी उल्लेख मिलता है

१८. सहस्रफणा पार्श्व जिन स्तवन—स० १७०१ मे शाहपुरा मे कवि विनयशील ने इम स्तवन की रचना की यह ४५ पदो का लघु स्तुतिकाव्य है.

---

१. राजस्थानी भाषा और साहित्य—डा० हीरालाल महेश्वरी

२ आज के प्रमुख खनिजकेन्द्र जावर को गत कई वर्षो पूर्व से काफी प्रसिद्धि प्राप्त है. महाराणा लाखा के समय से ही यहां शीशा निकाला जाता रहा है जावर मे जैन पुरातत्त्व की विपुल सामग्री पाई जाती है. कई प्राचीन शिलालेखों और प्रतिमालेखों में जावर का उल्लेख मिलता है

३. डूगरपुर राज्य का इतिहास—रायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा.

४ दिगम्बर सम्प्रदाय में मुनिपद के बाद भट्टारकों को प्रमुखता थी भट्टारकों की दो शाखाए मुख्य है (१) उत्तर भारतीय (२) पश्चिम भारतीय

पश्चिम भारतीय शाखा के पुरस्कर्त्ता भट्टारक सकलकीर्ति हुये हैं इस परम्परा ने वागड और गुजरात के सीमावर्ती प्रदेश में गद्दियां स्थापित की और भट्टारकों के प्रोत्साहन में विपुल साहित्य की रचना हुई

पुजपुर डूगरपुर के शासक श्री पुँजराज (स० १६६४-१७१३) द्वारा बसाया गया

२५. अनाथी संधि—प्रसिद्ध जैनतीर्थ ऋषदेव से ८ मील दूर कल्याणपुर नामक स्थान पर कवि क्रम ने स० १७४५ मे उक्त कृति की रचना की. यह मुनि हेम लोकागच्छ के मुनि खेतसी के शिष्य थे 'अनाथी-सधि मे अनाथी नाम के एक जैन मुनि पर लिखा गया चरितकाव्य है

कल्याणपुर मेवाड के इतिहास का एक प्रमुख स्थान है जहाँ पुरातत्त्व की विपुल सामग्री मिलती है.

२६ इशुकार सिद्ध चौपाई—इसका रचनाकार भी वही कवि हेम है जिसने अनाथि संधि की रचना की स० १७४७ मे यह कृति उदयपुर मे रची गई यह एक चरितकाव्य है और 'उत्तराध्ययन सूत्र' के आधार पर रचा गया है.

२७ कक्का बत्तीसी—अक्षर बत्तीसी—यह वस्तुत एक ही कृति के दो नाम है जिसकी रचना कवि महेश ने स १७५० मे उदयपुर मे की. किसी-किसी प्रति मे इसके रचयिता का नाम मुनि हिम्मत भी बताया गया है हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थो के १८ वे त्रिवार्षिक विवरण मे भी इसका रचनाकार उदय नामक कवि दिया गया है जो सभवत अन्वेषक की लिपिविषयक भूल ही है यह एक उपदेशात्मक काव्य है

२८. वैरसिंह कुमार चौपाई—देवगढ में मोहन विमल कवि ने स० १७५८ मे इसकी रचना की देवगढ के तत्कालीन शासक कुवर पृथ्वीसिंह के लिये यह पौराणिक काव्य रचा गया.

२९. चन्दन मलयागिरि चौपई—सवत् १७७६ मे लास नामक गाँव मे केसर कवि ने यह कृति रची यह एक लोक-काव्य है इस लोककाव्य की प्रथम कृति भद्रसेन (सत्रहवी सदी) की है—ऐसा उल्लेख भी मिलता है यह एक प्रचलित लोकाख्यान है जिसकी सचित्र कृतियाँ भी मिलती है

३० ऋषिदत्ता चौपाई—देवगढ मे कवि चौथमल ने स० १८६४ मे 'ऋपिदत्ता चौपाई' की रचना की यह एक पौराणिक काव्य है जो उपदेशमाला के आधार पर रचा गया है.

३१. स्थानकवासी तेरापंथी मूर्तिपूजकों की चर्चा—नाथद्वारा मे कविराज दीपविजय ने स० १८७४ मे इस कृति की रचना की इनकी और रचनाये भी मिलती है जिनमे सोहमकुल पट्टावलि रास मुख्य है.

३२ केसरियाजी का रास—इस नाम की और भी स्तवनमूलक रचनाये मिलती है केसरिया जी मे स० १८७७ में श्री तेजविजय ने इस रास की रचना की सीहविजय भी स १८८७ मे केसरिया जी आये और धूलेवा (ऋषभदेव) मे उन्होने भी 'केसरिया जी का रास' की रचना की.

३३ ढालमंजरी और रामरास—यह एक पौराणिक काव्य है धनेश्वरसूरि, हेमचन्द्रसूरि आदि आचार्यो द्वारा रचित प्राचीन कृतियो के आधार पर इस रास की रचना की गई. सुज्ञानसागर ने उदयपुर मे स० १८८२ मे इस कृति की रचना की

सत्रहवी शताब्दी मे विजयगच्छीय मुनि केसराज ने भी 'राम यशोरसायन' नामक कृति मे रामकथा का विस्तार किया है

नगरवर्णनात्मक काव्य

भारत के प्राचीन साहित्य मे नगर-वर्णनात्मक सैकडो उल्लेख मिलते है. कथा-साहित्य मे भी नगर-रचना-विषयक प्रकरण मिलते है भव्य नगर वर्णन काव्य की महाकाव्योचित गरिमा की भी कसौटी माना गया है

नगरो के विभिन्न स्थानो पर सर्वागपूर्ण प्रकाश डालने वाले स्वतत्र ग्रन्थो मे जैनाचार्य श्री जिनप्रभसूरि रचित विविध-तीर्थकल्प का स्थान सर्वोच्च है.[1]

---

१. नगर वर्णात्मक हिन्दी पद्य सग्रह-स० मुनि कान्तिसागर



सत्रहवी शताब्दी मे पुनः जैनो का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ हिन्दी साहित्य मे यह नगर-वर्णन जैन कवियो की मौलिक देन है.

मेवाड मे निम्न नगरवर्णनात्मक काव्य लिखे गये—

३४ उदयपुर की गजल—कवि खेतल ने स० १७५७ मे 'उदयपुर की गजल' नाम से उदयपुर नाम का पद्यवद्ध वर्णन किया ७८ छन्दो की इस गजल में उदयपुर के जलाशयो, महलो, बाजारो, उद्यानो आदि का इतिवृत्तात्मक सुन्दर वर्णन मिलता है

३५. चित्तौड की गजल—इसके रचयिता भी कवि खेतल ही है वि० स० १७४६ मे चित्तौड की गजल की रचना की गई इसमे चित्तौड के किले, जैनमदिरो, प्रतिमाओ, महलो, आदि के भव्य वर्णन मिलते है. यह ५९ छन्दो की कृति है

इन गजलो मे प्रयुक्त प्रमुख छन्द को 'गजल चाल' नाम दिया गया है और सभवत इसीलिए इनका नामकरण गजल किया गया है

३६ उदयपुर को छन्द—तपागच्छीय जैनाचार्य जससागर के शिष्य श्री जसवतसागर ने स० १७७५-९० के आसपास इस काव्य की रचना की[1] स० १७७५ मे, महाराणा राजसिंह के समय उदयपुर मे रहकर जसवतसागर ने कई ग्रन्थो की रचना की आपका अधिकतर निवास उदयपुर मे ही रहा जान पडता है

'उदयपुर को छन्द' कृति मे उदयपुर के किले, नगर, मदिरो आदि की विस्तृत जानकारी प्रस्तुत की गई उदयपुर के अन्य वर्णनो पर भी इस छन्द की छाप है

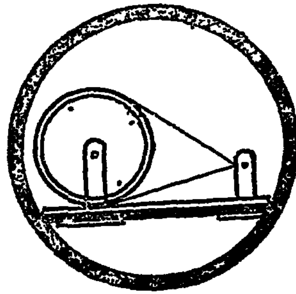
१८ वी से २० वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक उदयपुर पर ६ वर्णनात्मक प्रशस्तियाँ प्राप्त हो चुकी है

३७. मेदपाठ देशाधिप प्रशस्ति वर्णन—कवि हेम रचित यह प्रशस्ति मेवाड की तात्कालिक स्थिति का सुन्दर चित्र प्रस्तुत करती है

यह लगभग १५ मुद्रित पृष्ठो का काव्य है[2]

हेम नाम के एक और भी चारणकवि हुये है यह चारण हेम महाराज गजसिंह के समय मे जोधपुर मे हुये

मात्र इतना ही नही, मेवाड मे विपुल जैन साहित्य की रचना हुई है लेकिन वह सभी अभी प्रकाश मे नही आ पाई है



१ जसवत सागर कृत उदयरपु वर्णन—मुनि कान्तिसागर (मधुमती वर्ष ३-अक ३)

२ बुद्धिप्रकाश (अप्रेल में जून १९४२).



डा० गोवर्धन शर्मा
एम० ए०, पी-एच० डी०
अध्यक्ष हिन्दी विभाग, गुजरात कालेज, अहमदाबाद

अपभ्रंश का विकास

मध्यभारतीय आर्यभाषा के विकास के अन्तिम सोपान को अपभ्र श के नाम से अभिहित किया जाता है अपभ्रश मध्य-भारतीय आर्य भाषाओ और आधुनिक आर्य भाषाओ यथा—हिन्दी, बगला, मराठी, गुजराती आदि के बीच की कडी है प्रत्येक आधुनिक आर्य भाषा को अपभ्र श की स्थिति पार करनी पडी है[1] दूसरे शब्दो मे इसे यो कहा जा सकता है कि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ—यथा गुजराती, मराठी, हिन्दी, वगाली, पजावी, सिन्धी, असमी, उडिया आदि की जननी अपभ्र श ही है[2] किन्तु अपभ्र श शब्द का किसी भाषाविशेष के अर्थ मे सदा प्रयोग नही होता रहा हमे ईसा की दूसरी शती पूर्व से इस शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थो मे किया हुआ मिलता है. हम आगे चल कर इस शब्द के इतिहास पर सक्षेप मे विचार करेंगे क्योकि इस से हम को अपभ्र श भाषा के उद्गम और विकास का सम्यक् वैज्ञानिक अध्ययन करने में पर्याप्त सहायता मिलेगी.

अपभ्रंश शब्द का प्रयोग

'अपभ्र श' शब्द का साधारण अर्थ होता है—भ्रष्ट, च्युत, स्खलित, विकृत अथवा अशुद्ध. भाषा के सामान्य मानदड से जो शब्द-रूप च्युत हो, वे अपभ्र श है[3] ऐसी धारणा से विकसित, एक विशेष भाषा की सज्ञा रूप मे इस शब्द का व्यवहार अपने मे बहुत-सी सभावनाए छिपाये है. अत इसी दृष्टिकोण से हम अपभ्र श शब्द के प्रयोग की विगत श्रृखलाओ को टटोलने की कोशिश कर रहे है

अपभ्र श शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख हमे पतजलि (ईस्वी पूर्व दूसरी शती) से कुछ शताब्दी पूर्व मिलता है[4]. 'वाक्यपदीयम्' के रचयिता भर्तृहरि ने महाभाष्यकार के पूर्ववर्ती सग्रहकार व्याडि नामक आचार्य के मत का उल्लेख करते हुये अपभ्रश शब्द का निर्देश किया है यथा—

शब्दसंस्कारहीना यो गौरिति प्रयुयुक्षिते ।
तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थनिवेशिनम् ।

---

१ डा० उदयनारायण तिवारी-हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास—पृ० १२० ।

२ मुनि जिनविजय-पउमसिरिचरिउ, किंचित् प्रास्ताविक पृ० १

√ भारतवर्षनी आर्यवर्गनी देश्यभाषाओना विकासक्रमनो जेमने थोडो पण परिचय छे, तेओ जाणे छे के अपभ्र श नामे ओलखाती जूनी भाषा, आपणा महान् राष्ट्रमानी वर्तमान गुजराती, मराठी, हिन्दी, पजाबी सिन्धी, बगाली, असमी, उडिया विगेरे भारतना पश्चिम, उत्तर अने पूर्व भागोमा बोलाता प्रसिद्ध देशभाषाओनी सगी जननी छे

३ नामवरसिह, हिन्दी के विकास में अपभ्रश का योग, पृ० २.

४ डा० हरिवश कोछड, अपभ्र श साहित्य, पृ० १.



वार्तिक—शब्दप्रकृतिरपभ्रंश इति संग्रहकारो नाप्रकृतिरपभ्रंशः स्वतंत्रः कश्चिद्विद्यते सर्वस्यैव हि साधुरेवापभ्रंशस्य प्रकृतिः प्रसिद्धेस्तु रूढितामापाद्यमाना स्वातन्त्र्यमेव केचिदपभ्रंशा लभन्ते. तत्र गौरिति प्रयोक्तव्ये अशक्त्या प्रमादिभिर्वा गाव्याद-यस्तत्प्रकृतयोपभ्रंशाः प्रयुज्यन्ते [1]

महाभाष्यकार पतंजलि द्वारा भी 'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग किया गया है उनके अनुसार अपभ्रंश केवल संस्कृत के विकृत शब्द है किसी एक शब्द के अनेक भ्रष्ट रूप हो सकते हैं, यथा—संस्कृत शब्द गौ के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि विविध रूपान्तर [2] ये सभी रूपान्तर शिष्टसम्मत संस्कृत भाषा से विकृत या भ्रष्ट हैं, अतः ऐसे अपाणिनीय असाधु शब्दों के लिये अपभ्रंश संज्ञा का उपयोग किया गया

यह विचारणीय है कि महाभाष्यकार की दृष्टि में अपभ्रंश केवल उन शब्दों को दी जानेवाली संज्ञा है, जो संस्कृत शब्दों के साधु रूपों में विकृत या भ्रष्ट स्वरूप हैं और जिन शब्दों का उन्होंने अपभ्रंश के उदाहरण में उपयोग किया है बाद के प्राकृत वैयाकरणों ने उन्हीं को प्राकृत के अन्तर्गत गिना है, यह चिन्त्य है [3]

ईसा की दूसरी अथवा तीसरी शती के लगभग भरत ने नाट्यशास्त्र में संस्कृत, और देशी भाषा के भेद को स्पष्ट किया है साथ ही उन्होंने प्राकृत के स्वरूप पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है

एतदेव विपर्यस्तं संस्कारगुणवर्जितम् । विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकम् ।
त्रिविधं तच्च विज्ञेयं नाट्ययोगे समासतः । समानशब्दविभ्रष्टं देशीगतमथापि च ॥

—नाट्यशास्त्र १७-२-३

अर्थात् प्राकृत तीन प्रकार की होती है—(१) जिसमें संस्कृत के समान शब्दों का ही प्रयोग हो (२) संस्कृत के विभ्रष्ट शब्दों का ही प्रयोग हो (३) जिसमें देश्य भाषा के शब्दों का प्रयोग हो दूसरे शब्दों में इसी बात को इस प्रकार कहा जा सकता है कि नाट्यरचना में तीन प्रकार के शब्दों का प्रयोग होता है—तत्सम तद्भव, अथवा विभ्रष्ट और देश्य यहाँ ऐसा लगता है कि पतंजलि की अपभ्रंश और भरत की विभ्रष्ट शायद एक ही हो
आगे चलकर भरत ने तत्कालीन सात भाषाओं का निर्देश किया है—

मागध्यवन्तिजा प्राच्या शौरसेन्यर्धमागधी ।
बाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्त भाषाः प्रकीर्तिताः ॥ —नाट्यशास्त्र १७-४९

मागधी, अवन्ति, प्राच्य, शौरसेनी, अर्धमागधी, बाह्लीका और दक्षिणी, ये सात भाषायें हैं और अनेक विभाषाये हैं. यथा—

शबराभीरचांडाल सचर द्रमिलान्ध्रजाः ।
(शबराभीर चांडाल द्रविडोद्राः)
हीना वनेचराणां च विभाषा नाटके स्मृताः ॥ —नाट्यशास्त्र १७-५०

शबरों, आभीरों चाण्डालों, चरों, द्रविडों, ओड्रों और हीन जाति के वनचरों की बोलियाँ भरत के इस उल्लेख में अपभ्रंश का स्पष्ट नाम नहीं आया है, क्योंकि उसने केवल भाषाओं का उल्लेख किया है इससे यह जान पडता है कि भरत के समय तक किसी भी भाषा को अपभ्रंश की संज्ञा नहीं दी गई थी अर्थात् अभी तक अपभ्रंश का विकास उस कोटि तक

---

१ भर्तृहरि, वाक्यपदीयम्—प्रथमकाड कारिका १४८ लाहौर संस्करण ।
२ Ed kielhorn, Vol. I, Page 2.
एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः तद्यथा—गौरित्यस्य गावी, गोणी गोता, गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः ।
३ (अ) चंड—प्राकृतलक्षणम्—२—१६ 'गोर्गावि'
(आ) हेमचन्द्राचार्य प्राकृतव्याकरण—८—२—१७४
''गोणादय गौः, गोणी, गावी, गाव गावीओ''



नही हो पाया था कि उसे भाषा कह कर पुकारा जा सके विभाषाओ के उस समय कोई अलग नाम नही थे, वे बोलने-वाली जातियो अथवा समुदाय के नाम से ही पुकारी जाती थी जैसे—

अगारकार-व्याधानां काष्ठयन्त्रोपजीविनाम् ।
योज्या शबरभाषा तु किंचिद्वानौकसी तथा ।
गवाश्वाजाविकौष्ट्रादिघोषस्थाननिवासिनाम् ।
आभीरोक्तिः शाबरी वा द्राविडी द्रविडादिषु । —नाट्यशास्त्र १७-५४ ५५

अर्थात् शवर और धनौसी जगली भाषाका प्रयोग अगारकारो-कोयला बनाने वालो, शिकारियो और काष्ठयत्रो द्वारा जीविका निर्वाह करने वाले व्यक्तियो द्वारा तथा आभीरोक्ति और शाबरी का उपयोग गौ,अश्व, ऊँट आदि पशुपालक और घोपनिवासी ग्वालो के गाँव मे रहने वाले जनो द्वारा किया जाता है.

इससे यह ज्ञात होता है कि आभीरादि पशुपालक जातियो की भाषा आभीरोक्ति नाम से जानी जाती रही है जैसा कि हम अन्यत्र देखेंगे, यही आभीरोक्ति इतनी विकासमान हो गई कि इसने अपना स्थान प्राकृतादि अन्य साहित्यिक भाषाओ के समकक्ष जमा लिया

सभवतया भरत के समय भाषा के रूप मे अपभ्र श को कोई महत्त्व प्राप्त नही था, किन्तु जान पडता है कि आगे चल-कर इसी आभीरोक्ति को ही अपभ्र श की सज्ञा प्राप्त हो गई भरत ने नाटककार के लिये विभिन्न प्रदेश के निवासी पात्रा द्वारा किस प्रकार की बोली प्रयुक्त की जाय, इस विषय मे खुलासा निर्देश दिये हे. उन्होने लिखा है कि गगा और सागर के मध्य की भाषा एकार—बहुला है. हिमालय, सिन्धु और सौवीर के तटीय प्रदेश की भाषा उकारबहुला है, विध्याचल और सागर के मध्य की भाषा नकारबहुला है, सौराष्ट्र अवन्ति और वेत्रवती के उत्तरीय प्रदेश की भाषा चकारबहुला है और चर्मवती के उस पार तथा अर्बुद के तटीय प्रदेश की भाषा टकारबहुला है[1] भरत ने इस प्रकार की उकारबहुला भाषा के उदाहरण भी दिये है यथा—'मोरल्लउ नच्चन्तउ' इत्यादि दण्डी के इस कथन से कि काव्य मे आभीरादि की भाषा अपभ्र श कही जाती है, यह अनुमान लग जाता है कि भरत की उकारबहुला आभीरोक्ति अपभ्र श रही होगी भरत ने जो उदाहरण इस उकार-बहुला-आभीरोक्ति के दिये है, उनमे 'णेह' 'णिच्च' 'जोण्हउ' आदि शब्द हैं भी ठेठ अपभ्र श के परन्तु भरत के इन उदाहरणो मे प्राकृत-प्रभाव इतना अधिक है कि इनको विशुद्ध अपभ्र श का उदाहरण नही माना जा सकता[2] हा अपभ्र श को जन्म देनेवाली प्रवृत्तियो के बीज यहा अवश्य देखे जा सकते है[3]

लगभग छठी शताब्दी मे पहलेपहल हमे अपभ्र श का एक भाषाविशेष के रूप मे उल्लेख मिलता है. वलभी सौराष्ट्र के राजा धरसेन द्वितीय के एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि उसका पिता गुहसेन 'सस्कृत-प्राकृतापभ्र श भाषात्रयप्रतिबद्ध-प्रबध-रचना-निपुणान्त करण' था[4] जिस गुहसेन का ऊपर उल्लेख किया गया है, उसके शिलालेख ५५९ ई० से ५६९

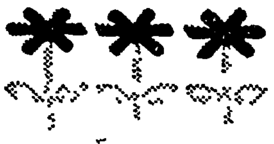
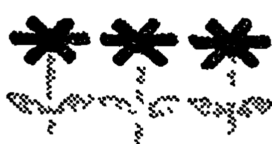
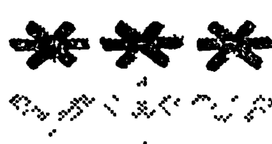
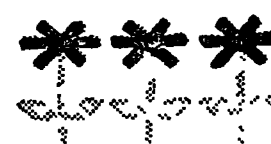
---

१ भरत· नाट्यशास्त्र—
गगासागरमध्ये तु ये देशाः सप्रकीर्तिता , एकारबहुला तेषु भाषा तज्ज्ञ· प्रयोजयेत् ।५८।
विध्यसागरमध्ये तु ये देशा श्रुतमागता , नकारबहुला तेषु भाषा तज्ज्ञ· प्रयोजयेत् ।५९।
सुराष्ट्रावन्तिदेशेषु वेत्रवत्युत्तरेषु च, ये देशास्तेषु कुर्वीत चकारबहुलामिह ।६०।
हिमवत्सिंधुसौवीरान्ये च देशा समाश्रिता , उकारबहुला तज्ज्ञस्तेषु भाषा प्रयोजयेत् ।६१।
चर्मण्वतीनदीपारे ये चार्बुदसमाश्रिता , तकारबहुला नित्य तेषु भाषा प्रयोजयेत् ।६२।

२. केशवलाल ह० ध्रुव पद्यरचना नी ऐतिहासिक आलोचना, पृ० २८३-२८६

३. उदयनारायण तिवारी हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० १२१

४ Indian Antiquery Vol 10 Oct 1881, Page 284

ई० के प्राप्त हुये है [1] बूलर प्रस्तुत शिलालेख को कुछ वर्ष बाद का मानते है [2] फिर भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता हे कि ईसा की छठी शताब्दी मे अपभ्रंश भाषा मे काव्यरचना होने लग गई थी, यद्यपि प्रमाणस्वरूप उस युग की कोई रचना अभी तक हमे प्राप्त नही हो सकी है

इसी शती के अन्तिम चरण मे एक और प्रमाण मिलता है आचार्य भामह ने अपभ्रंश को काव्योपयोगी भाषा और काव्य का एक विशेष रूप माना है यथा—

शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्य च तद् द्विधा ।
सस्कृत प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा ।। —काव्यालकार, १-१६-२८.

भामह का यह उल्लेख हमें केवल यही सूचित करता है कि अपभ्रंश भी तत्कालीन एक काव्य-भाषा थी इस भाषा का प्रयोग कौन करते थे, यह कहा बोली जाती थी, आदि प्रश्नो का उत्तर हमे भामह से नही मिलता

चड ने अपने प्रसिद्ध व्याकरण 'प्राकृतलक्षणम्' मे अपभ्रंश शब्द का प्रयोग 'न लोपोऽपभ्रंशेऽधोरेफस्य' सूत्र मे, विशेप-भाषावाचक रूढ सज्ञा के रूप मे किया है [3]

दडी ने अपथे ग्रथ 'काव्यदर्श' मे काव्य की भाषा के चार भेद बताये है—सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्रित

तदेतद् वाङ्मय भूय. सस्कृतं प्राकृतं तथा ।
अपभ्रंशश्च मिश्रं चेत्याहुरार्यश्चतुर्विधम् ।। —काव्यादर्श १-३२.

आगे चलकर वह अपभ्रंश का व्याकरण—सम्मत रूढ और भाषा के रूप मे होनेवाले प्रयोगो पर प्रकाश डालता हुआ कहता है

आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः ।
शास्त्रेषु सस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम् ।। —काव्यादर्श १-३५

अर्थात् भाषाशास्त्र या व्याकरण मे अपभ्रंश का अर्थ है सस्कृत के विकृत रूप काव्य मे आभीरादि बोलिया अपभ्रंश कहलाती है सस्कृत से इतर भाषाओ को अपभ्रंश कहकर दडी ने पतजलि का समर्थन किया है और साथ ही उसने अपभ्रंश और आभीरो के सबध का भी उल्लेख किया है इससे जान पडता है कि दडी के समय मे अपभ्रंश साहित्यिक भाषा बन चली थी और इसका प्रयोग आभीरो के अतिरिक्त (आभीरादि) अन्य लोग भी करने लग गये थे इस प्रकार भरत के समय मे आभीरी नाम से प्रसिद्ध आभीरोक्ति दडी के समय मे अपभ्रंश मे परिणत होकर बोलचाल तथा साहित्य की भाषा बन गई थी

'कुवलयमाला कथा' के रचयिता जैन लेखक उद्योतनसूरि ने [वि० की नवी शती] अपभ्रंश का प्रयोग एक भाषा विशेष के अर्थ मे किया है वे अपभ्रंश काव्य के बडे प्रशसक हैं, वे उसे प्राजल, प्रवाहमय और मनोहर मानते हैं. [4]

रुद्रट अपने काव्यालकार मे काव्य को गद्य और पद्य मे विभाजित करने के पश्चात् भाषा के आधार पर उसका छह भागो मे विभाजन करता है सस्कृत, प्राकृत, मागधी, सौरसैनी, पिशाचभाषा और अतिम अपभ्रंश, जो स्थान—भेदो से अनेक स्वरूप ग्रहण कर लेती है

भाषाभेदनिमित्त. षोढा भेदोऽस्य संभवति । —काव्यालकार २-११

---

१ Bombay gazette. Vol 1 Part 1, Page 90.

२ Indian Antiquery Vol 10, Oct 1881, Page 277

३ चड प्राकृतलक्षणम्—पृ० २४, सूत्र ३७

४. ला० भा० गाधी · अपभ्रंश काव्यत्रयी-भूमिका पृ० ९७ से उद्धृत—
ता कि अवहस होहिइ ? हू त पि णो जेण त सक्कयपाइय-उभय-सुद्धासुद्धपयसमतरगरगतवग्गिर णव-पाउस-जलयपवाहपूरव्वालियगिरि-णइसरिस समविसम पणयकुवियपियपणइणीसमुल्लावसरिस मणोहर



प्राकृतसंस्कृतमागधपिशाचभाषाश्च शौरसैनी च ।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः ।। —काव्यालकार २-१२

इस प्रकार रुद्रट ने अन्य साहित्यिक प्राकृतो के समान ही अपभ्रंश को महत्वपूर्ण स्थान दिया है, और देशभेद के आधार पर विविधता की स्थापना की है.

पुष्पदन्त ने अपने महापुराण मे बताया है कि तत्कालीन राजकुमारियो को सस्कृत और प्राकृत के साथ ही अपभ्रश का भी ज्ञान कराया जाता था [1] इस का अर्थ यह हुआ कि लगभग दसवी शताब्दी मे 'अपभ्रश' भरत की 'विभ्रष्ट शब्दावली' से विकसित होकर शिष्टसमुदाय की भाषा बन चली थी

राजशेखर ने अपने ग्रथ 'काव्यमीमासा' मे अपने पूर्ववर्ती आचार्यो की भाति ही अपभ्रश का उल्लेख एक काव्यभापा के रूप मे अनेक बार किया है. काव्य-पुरुप की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए उन्होने कहा है [2] शब्दार्थौ ते शरीर, सस्कृत मुख, प्राकृत बाहु, जघनमपभ्रश, पैशाच पादौ, उरो मिश्रम्

अर्थात् शब्द और अर्थ तेरे शरीर है. सस्कृत भाषा मुख है प्राकृत भापाए तेरी भुजाए है. अपभ्रश भाषा जघा है. पिशाच भाषा चरण है और मिश्र भाषाए वक्ष स्थल है.

इसी प्रकार राजशेखर ने काव्यविशेपताओ के अनुसार दरबार मे कवियो के बैठने के स्थान भी निश्चित किये है—उत्तर मे सस्कृत-कवि, पूर्व मे प्राकृत कवि, पश्चिम मे अपभ्रश कवि व दक्षिण मे पैशाच कवि आसन ग्रहण करें [3]

आगे चलकर राजशेखर ने सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश भाषाओ के क्षेत्र का निर्देश करते हुए सकल मरुभू, टक्क और भादानक को अपभ्रश या अपभ्रश-मिश्रित भाषा का प्रयोग करनेवाला क्षेत्र कहा है [4] एक दूसरे स्थान पर उन्होने त्रवण और सुराष्ट्र को अपभ्रश भाषा-भापी कहा है.[5]

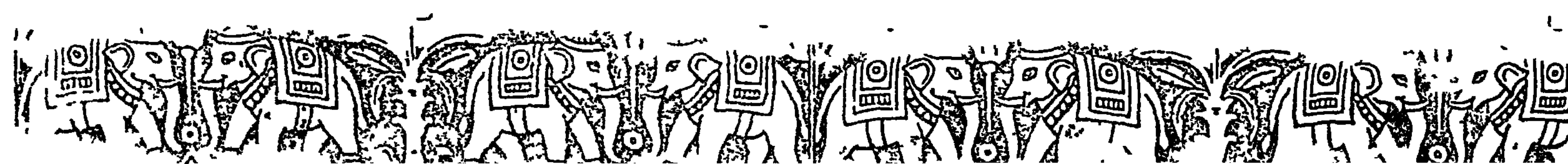
नमि साधु ने रुद्रट के काव्यलकार पर टीका करते हुये अपनी वृत्ति मे लिखा है [6]

तथा प्राकृतमेवापभ्रश स चान्यैरुपनागराभीरग्राम्यावभेदेन त्रिधोक्तस्तन्निरासार्थमुक्त भूरिभेद इति. कुतो देशविशेषात्. तस्य च लक्षण लोकादेव सम्यगवसेयम्"

ये अपभ्रश को एक प्रकार से प्राकृत ही मानते है. अपने पूर्ववर्ती आचार्यो के द्वारा निर्दिष्ट तीन प्रकार की अपभ्रश—उपनागर, आभीर, और ग्राम्या का निर्देश करते हुये स्वीकार करते है कि 'अपभ्रश के इससे भी अधिक भेद है अपभ्रश को जानने का सर्वोत्तम साधन लोक ही है' इससे जान पडता है कि इस समय तक अपभ्रश लोकभाषा के रूप मे प्रतिष्ठित हो चुकी थी भोजराज ने अपने 'सरस्वतीकठाभरण' मे इसे गुर्जर प्रदेश की प्रिय भाषा के रूप मे ग्रहीत किया है [7]

---

१. पुष्पदन्त महापुराण—५-१८-६
सक्कउ पायउ पुण अवहसड वित्तउ उप्पाइउ सपससउ
२. राजशेखर : काव्यमीमासा—वि० रा० भाषा० प्रकाशन, पृ० १४
३. राजशेखर काव्यमीमासा—पृ० १३१-३३
तस्य चोत्तरत सस्कृता कवयो निवेशेरन् पूर्वेण प्राकृता कवय ।—पश्चिमेनापभ्रशशिन कवयः—दक्षिणतो भूतभाषायव' ।
४. राजशेखर. काव्यमीमासा पृ० १२४
सापभ्रशप्रयोगा' सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च
५. राजशेखर. काव्यमीमासा पृ० ८३
सुराष्ट्रत्रवणाद्या ये पठन्त्यर्पितसौष्ठवम् अपभ्रशावदशानि ते सस्कृतवचास्यपि
६ नमिसाधु काव्यालकारवृत्ति—२१०
७ भोजराज. सरस्वतीकठाभरण—२-१३.
अपभ्रशेन तुष्यन्ति स्वेन नान्येन गुर्जरा.



वाग्भट ने भी दडी के अनुकरण मे समस्त वाड्मय को चार भागो मे बाटा है दडी ने काव्य-भाषा के चार भेद माने हैं, यथा सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश और मिश्रित वाग्भट का विभाजन् इससे थोडा भिन्न है वह मिश्र भाषा के स्थान पर भूतभाषा का उल्लेख करता है—अन्य भाषाये वे ही है-सस्कृत, प्राकृत व अपभ्रश

सस्कृतं प्राकृतं तस्य अपभ्रंशो भूतभाषितम् ।
इति भाषाश्चतस्रोपि यान्ति काव्यस्य कायताम् ॥ —वाग्भटालकार २-१

आगे चल कर उसने भी अपभ्रश को देश्य भाषा के रूप मे स्वीकार किया है—

अपभ्रंशस्तु यच्छुद्ध तत्तद्देशेषु भाषितम् । —वाग्भटालकार २-३

इसी प्रकार अन्य विद्वानो यथा मम्मट, पृथ्वीधर, मार्कण्डेय, रससर्वकार, विष्णुधर्मोत्तरकर्त्ता, हेमचन्द्र, नारायण, अमरचद, लक्ष्मीधर, नाट्यदर्पणकार, पिशेल, ग्रियर्सन, सुनीतिकुमार चटर्जी और मुनि जिनविजय आदि ने अपभ्रश पर मौलिक और परपरागत विचार व्यक्त किये है आगे चलकर उन पर यथावसर विचार किया जायेगा

अपभ्रशविषयक इन भिन्न-भिन्न निर्देशो से निम्न परिणाम निकलते है—

(१) आरभ मे अपभ्रश का प्रयोग शिष्टेतर अथवा अपाणिनीय शब्द रूपो के लिये होता था

(२) भरत ने इसी अर्थ मे 'विभ्रष्ट' शब्द का प्रयोग किया है

(३) भरत के समय मे अपभ्रश का विकास इतना नही हुआ था कि वह भाषा कहला सकती किन्तु उस समय मे अपभ्रश बीज रूप से वर्तमान थी और इसका प्रयोग एक बोली मात्र के रूप मे शबर, आभीर आदि अशिक्षित वनवासी ही किया करते थे

(४) छठी शताब्दी मे अपभ्रश शब्द साहित्यिक भाषा का द्योतक बन गया था और तत्कालीन आलकारिको और वैयाकरणो द्वारा मान्यता पा चुका था अपभ्रश मे पर्याप्त साहित्य-सृजन होने लग गया था जो भामह और दडी जैसे आचार्यो का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर चुका था इतना होने पर भी अभी तक अपभ्रश का आभीरादि से निकट सबध माना जाता था

(५) नवी शताब्दी मे अपभ्रश को अपेक्षाकृत अधिक सम्मान से देखा जाने लगा था अब वह केवल शबर, आभीरादि की बोली नही थी अपितु जनसामान्य की भाषा बन चली थी और उसका व्यवहार प्राय समूचे उत्तर भारत मे सौराष्ट्र से लेकर सुदूर पूर्व मे मगध तक होने लगा था स्थान-भेद से इसमे कुछ अन्तर होना स्वाभाविक ही था किन्तु काव्योपयोग मे आभीरी का ही प्रयोग होता था

(६) ग्याहरवी शताब्दी के मध्य तक आलकारिको, वैयाकरणो और साहित्यिको ने मान लिया था कि इस साहित्यिक भाषा के स्थान-भेद से अनेक प्रकार है अपभ्रश का प्रयोग व्यापक रूप से होने लगा था और उसमे विपुल साहित्य रचना होने लगी थी. सिद्धो के 'दोहाकोश' व जैनो के 'चरिउ' अपभ्रश के ही दो भिन्न प्रकारो मे रचे गये इस प्रकार अपभ्रश सौराष्ट्रसे मगध तक फैल चली थी

अपभ्रंश भाषा का विकास

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, मध्यकालीन-भारतीय आर्य भाषाओ की उत्तरकालीन अवस्था को अपभ्रश का नाम दिया गया है अपभ्रश का प्रचार और प्रसार कब से हुआ, इस सबध मे निश्चित तौर पर कुछ भी कहना कठिन है. ढोला-मारू रा दूहा के सपादको के अनुसार[1] अपभ्रश का काल विक्रम की दूसरी शताब्दी से ग्यारहवी शताब्दी तक माना जा सकता है[1] श्यामसुन्दरदास मानते है कि अपभ्रश के बीज ईसा की दूसरी शताब्दी मे प्रचलित प्राकृत मे अवश्य

१. ठाकुर-पारीक-स्वामी · ढोला मारू रा दूहा-भूमिका पृ० ११०



विद्यमान थे[1] और बारहवी शताब्दी का मध्य भाग अपभ्रंश के अस्त और आधुनिक भाषाओ के उदय का काल यथाकथचित् माना जा सकता है [2]

देवेन्द्रकुमार के अनुसार अपभ्रंश का प्रथम परिचय तीसरी सदी ईस्वी से मिलने लगता है किन्तु वह साहित्यारूढ छठी सदी मे हो सकी बारहवी सदी तक उसका समृद्धि-युग रहा [3] महाकवि कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के चतुर्थ अक मे अपभ्रंश के दोहे मिलते हैं इनकी प्रामाणिकता के विषय में विद्वान् एकमत नही है, एस० पी० पडित,[4] ज्यूल ब्लाक[5] तथा हर्मन याकोबी[6] आदि विद्वान् इन्हे प्रक्षिप्त मानते है, परन्तु आ० ने० उपाध्ये एव डा० तगारे[7] इनको प्रामाणिक मानते है सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या इनके प्रक्षिप्त होने पर भी अपभ्रंश का काल ४०० ई० से १००० ई० तक मानते है[8] इस विवाद से बचते हुये डा० धीरेन्द्र वर्मा,[9] डा० उदयनारायण तिवारी,[10] डा० हजारीप्रसाद आदि[11] विद्वान् इसका प्रारभ पाचवी अथवा छठी शती से मानते है गुलेरी प्रारभ के चक्कर में न पड विक्रम की सातवी शताब्दी से ग्यारही शताब्दी तक अपभ्रंश की प्रधानता मानते है [12] राहुलजी छठी शती को ही प्राकृत और अपभ्रंश की सीमारेखा मानने के पक्ष मे है [13]

इन विभिन्न धारणाओ के आधार पर निम्न निष्कर्ष अनुमानित किये जा सकते है—अपभ्रंश का आरम्भ अवश्य ईसा की चौथी शती मे हो गया होगा, पाचवी शती मे उसका प्रयोग एक काव्य-भाषा के रूप मे होना प्रारम्भ हो चुका होगा और छठी शती मे तो इसे समाज मे आदर मिलने लगा होगा वलभी के शासक धरसेन का शिलालेख इस सम्बन्ध मे उचित प्रमाण प्रस्तुत करता है छठी शती से ग्यारहवी शती तक इस भाषा मे पुष्कल परिमाण मे साहित्य का सृजन होता रहा [14] काव्यरचना की यह धारा बारहवी शती तक चलती रही और तेरहवी शती मे देशभाषाओ मे परिणत हो गई [15]

इसका अर्थ कदापि नही कि तेरहवी शती के बाद अपभ्रंश मे कुछ भी रचनाये नही हुई. वास्तविकता तो यह है कि काफी समय तक सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश का रचनाप्रयास साथ-साथ चलता रहा. सभवत यही कारण होगा कि रुद्रट ने सस्कृत और प्राकृत के साथ ही अपभ्रंश को भी साहित्यिक भाषा स्वीकार किया है [16] भाषा-शास्त्रियो ने मध्यभारतीय आर्य-भाषाकाल की मध्यकालीन अवस्था की साहित्यिक प्राकृतो का समय पाच सौ ई० तक और उसके उत्तरकालीन अवस्था की अपभ्रंश का समय पाच सौ ई० से एक हजार ई० तक तक माना है.[17] किन्तु

---

१ श्यामसुन्दरदास : हिन्दी भाषा, पृ० १४
२ श्यामसुन्दरदास : हिन्दी भाषा, पृ० १६.
३ देवेन्द्रकुमार अपभ्रंशप्रकाश—पृ० ७
४. उदयनारायण तिवारी : हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० १२२ से
५. डा० गुणे:भविसयत कहा—भूमिका—पृ० ३७ से उद्धृत
६ डा० याकोबी' भविसयतकहा—भूमिका, पृ० ५८.
७ डा० तगारे हिस्टोरिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश.
८ डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या. भारतीय आर्य भाषा और हिंदी, पृ० १७८.
९. डा० धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी भाषा का इतिहास, पृ० ४८
१०. उदयनारायण तिवारी : हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० १२०.
११. हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ६२
१२ चंद्रधर शर्मा गुलेरी : पुरानी हिन्दी, पृ० ८.
१३. राहुल साकृत्यायन : दोहाकोश—भूमिका, पृ० ६.
१४. नेमिचन्द्र जैन हिन्दी जैन साहित्यपरिशीलन, भाग १ पृ० २७
१५. टेसीटरी : पुरानी राजस्थानी, पृ० ८
१६. रुद्रट काव्यालकार, पृ० २-१२
१७. डा० हरिवंश कौछड अपभ्रंश साहित्य, पृ० १६



प्राकृत का साहित्य पाच सौ ईस्वी के वाद भी लिखा मिलता है. वाक्पतिराज के 'गउडवहो' का समय सातवी, आठवी सदी माना जाता है कौतूहल कृत 'लीलावईकहा' भी नि सदेह उत्तरकालीन रचना है प्राकृत व्याकरण के अध्ययन के फलस्वरूप दक्षिण भारत के अठारहवी शती के एक कवि रामपाणिवाय ने 'कसवहो' व 'उसाणिरुद्ध' नामक दो ग्रथो का भागवत पुराण के आधार पर प्राकृत मे प्रणयन किया अर्थात् प्रथम ईस्वी शताब्दी से लेकर चौदहवी शताब्दी तक सामान्यत और अठारहवी शती के आरम्भ तक विरलत. प्राकृत साहित्य लिखा जाता रहा[1] इसी प्रकार सस्कृत भाषा मे अद्यावधि काव्य-सृजन होता ही है अपभ्रश के सवध मे भी प्राकृत की वात दोहराई जा सकती है डा० उपाध्ये ने योगीन्दु के परमप्पयासु और योगसार का समय छठी शताब्दी के लगभग माना है तव से लेकर तेरहवी शती तक विशेष रूप से और सत्रहवी शती तक अपवाद रूप से अपभ्रश मे काव्यरचना होती रही है भगवतीदास का मृगाकलेखाचरित या चन्द्रलेखा विक्रम सवत् १७०० मे लिखा गया है.[2]

जिस प्रकार सस्कृत और प्राकृत मे रचनाये कुछ काल तक समानान्तर रूप से लिखी जाती रही, उसी प्रकार अपभ्रश का भी प्राकृत के साथ प्रचार रहा उसी प्रकार अपभ्रश का आधुनिक आर्य भापाओ के पूर्व रूपो के साथ भी प्रचलन रहा अपभ्रश यद्यपि १२ वी शती से बोलचाल की भाषा नही थी, केवल साहित्य की भापा थी, फिर भी वह पन्द्रहवी शती तक स्वतत्र रूप से अथवा नव्यतर प्रादेशिक भाषाओ मे घुलमिलकर प्रयोग मे आती रही है इस तथ्य का समर्थन हमे सिद्ध-साहित्य से मिलता है

सिद्धो की रचनाओ के दो रूप उपलब्ध है—[१] दोहाकोष [२] चर्यापद डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने दोहाकोषो और चर्यापदो मे ही दो प्रकार की उपभाषाओ की ओर सकेत किया है, चर्यापदो की भाषा पूर्वी है, जिसे वे पुरानी वगाली कहते है क्यो कि उसमे वहुत से क्रियारूप, शब्दरूप तथा ऐसे मुहावरे है जिनकी परम्परा पुरानी वगाली मे चली आई है दोहाकोषो मे एक ही भापा है पश्चिमी अथवा शौरसेनी अपभ्रश[3] 'डाकार्णव' के सम्पादक डा० नगेन्द्रनारायण चौधरी डाकार्णव की भाषा को शौरसेनी अपभ्रश पर आधारित मानते है किन्तु कही-कही पर उसमे पूर्वी वगाल के शब्दरूपो, उच्चारणो तथा मुहावरो का प्रभाव मानते है[4] इस तथ्य को ध्यान मे रखते हुए डा० धर्मवीर की मान्यता है—दोहा लिखते समय सिद्धो ने पश्चिमी या शौरसेनी अपभ्रश प्रयोग किया क्योकि वह भाषा दोहो मे मज चुकी थी, किन्तु जव उन्होने गेय पद लिखे तो स्थानीय वोली को आधार बनाया किन्तु चूकि वह बोली अभी काव्य मे मजी नही थी अत स्थान-स्थान पर उन्होने अभिव्यक्ति और काव्यपरिष्कार के लिये शौरसेनी का सहारा लिया[5]

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र मे उकारवहुला भाषा का प्रयोग हिमवत्, सिन्धुसौवीर और उनके आश्रित देशो के लोगो के लिये करने का आदेश दिया है[6] इसमे ज्ञात होता है कि अपभ्रश की विशेषतायें भारतवर्ष के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशो मे प्रगट होने लग गई थी इस प्रकार उकार-बहुला अपभ्रश की प्रवृत्ति पर हाल मे शकायें उठाई गई है डा० परशुराम ल० वैद्य ने विद्वानो का ध्यान इस ओर आकर्षित किया है कि अपभ्रश के अतिरिक्त प्राकृत 'धम्मपद' 'ललितविस्तर' और 'सद्धर्मपुण्डरीक' जैसे वौद्ध ग्रथो मे भी उकार की प्रवृत्ति पाई जाती है अत उकार-वहुला भाषा का अर्थ केवल अपभ्रश ही लगाना ठीक नही होगा नामवरसिंह ने विस्तारपूर्वक बताया है कि प्राकृत धम्मपद की रचना पेशावर के

---

१ डा० हरदेव वाहरी · प्राकृत और उसका साहित्य—पृ० १४२

२ डा० हरिवश कोछड अपभ्रश साहित्य—पृ० १७

३ चटर्जी · आरिजिन एड डेवलपमेंट आफ वेंगाली लग्वेज, पृ० ११४

४ डा० नागेन्द्रनारायण चौधरी—डाकार्णव पृ० १९

५ डा० धर्मवीर भारती · सिद्ध साहित्य पृ० २८९.

६ भरत नाट्यशास्त्र १७-६२

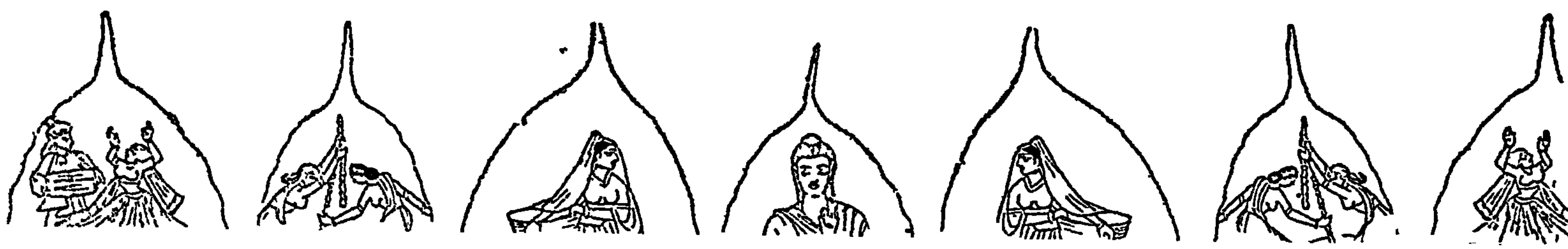
हिमवत्सिन्धु सौवीरान् ये जना म्नुपाश्रिता ।
उकारवहुला तज्ज्ञस्तेषु भाषा प्रयोजयेत् ।।

आसपास खेतान के निकट गोशृग अथवा गोशीर्ष विहार मे प्राप्त हुई थी[1] यह भरत के निर्देशानुसार उकार-बहुला भाषा का क्षेत्र था और इसलिए धम्मपद की प्राकृत पर स्थानीय प्रभाव पडना स्वाभाविक ही था इसी प्रकार ललित-विस्तर मे क्षेपको की भरमार है. इसका रूप लगभग चौथी शती मे स्थिर हुआ था. चूकि चौथी शती मे अपभ्रश का उद्‌भव हो चुका था इसलिये ललितविस्तर मे इस उकार-बहुला भाषा का प्रभाव दीख पडता है राजशेखर ने अपने ग्रथ 'काव्यमीमासा' मे अपभ्रश का विस्तारक्षेत्र सकल मरुभूमि, टक्क और भादानक बताया है[2] इससे प्रतीत होता है कि राजशेखर के समय तक अपभ्रश का प्रसार राजस्थान, पजाब, सौराष्ट्र, गुजरात तथा समस्त पश्चिमोत्तर भारत में हो गया था शनै शनै इसका प्रसार बढता गया और नवी शती मे इसका प्रसार हिमालय की तराई से गोदावरी और सिन्ध से ब्रह्मपुत्र तक था[3] अपभ्रश कविता पर विचार करते हुए राहुल जी ने लिखा है—'जहा सरहपा और शवरपा विहार—बगाल के निवासी थे, वहा अब्दुर्रहमान का जन्म मुल्तान में हुआ था स्वयभू और कनकामर शायद अवधी और बुन्देलीयुक्तप्रान्त के थे, तो हेमचन्द्र और सोमप्रभ गुजरात के और रसिक तथा आश्रयदाता होने के कारण मान्य-खेट [मालखेड-दक्षिण हैदराबाद] का भी इस साहित्य के सृजन मे हाथ रहा है. इस प्रकार हिमालय से गोदावरी और सिन्ध से ब्रह्मपुत्र तक ने इस साहित्य के निर्माण मे हाथ बटाया है[4] इससे जान पडता है कि अपभ्रश के नाम से पह-चानी जाती एक साहित्यिक भाषा होनी चाहिये जो इस विस्तृत भूभाग मे कविता के लिये प्रयुक्त की जाती रही है और जिससे कालान्तर मे विभिन्न अर्वाचीन आर्य-भाषाओ का विकास हुआ. लेकिन वह बिल्कुल सभव नही है कि एक ही प्राकृतोत्तर अपभ्रश से आधुनिक विभिन्न आर्यभाषाए विकसित हुई हो उदाहरणार्थ मागधीप्राकृत से जो अपभ्रश भाषा विकसित हुई, वही आधुनिक बगला, उडिया, आसामी, मागधी, मैथिली और भोजपुरी के रूप मे बदल गई हो, यह सभव नही जान पडता है इन सब की पूर्ववर्ती अपभ्रश भाषाये निश्चय ही अलग-अलग रूपो मे रही होगी[5] इसी मत को ग्रियर्सन[6], पिशेल,[7] हर्नले[8] पडित कामताप्रसाद गुरु[9] डा० धीरेन्द्र वर्मा प्रभृति[10] पण्डित मानते है

आजकल प्रत्येक प्राकृत के अपभ्रश रूप की कल्पना की जाने लगी है, किन्तु व्याकरण के प्राचीन ग्रथो मे इस प्रकार का विभाजन नही दिखाई देता रुद्रट ने अवश्य अपने काव्यालकार में देश-भेद के अनेक भेदो का निर्देश किया है[11] अपभ्रश मे अनेकता की स्थापना बहुत से उत्तरकालीन वैयाकरणो द्वारा भी की गई है. नमि साधु,[12] रामचन्द्र, गुणचद्र[13] पुरुपोत्तम[14] रामतर्कवागीश,[15] क्रमदीश्वर,[16] शारदातनय,[17] आदि ने अपभ्रश में अपने-अपने ढग से अनेकता की स्थापना

---

१. नामवरसिंह हिन्दी के विकास में अपभ्रश का योग पृ० १८.
२. राजशेखर : काव्यमीमासा पृ०, १२४
३. नेमिचन्द्र जैन हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन, पृ० २०
४. राहुल साकृत्यायन हिन्दी काव्यधारा भूमिका पृ० ५-६.
५. हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य पृ० ६.
६. एसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, भाग ३७ पृ० २५१ पर निवध.
७. पिशेल : प्राकृत भाषाओं का व्याकरण पृ० ५८ हिन्दी अनुवाद.
८. हर्नले ए कम्पेरेटिव ग्रामर आफ गौडियन लेग्वेजेज—भूमिका—पृ० ११-१२
९. प० कामताप्रसाद : हिन्दी व्याकरण—पृ० १७
१०. डा० धीरेन्द्र वर्मा ' हिन्दी भाषा का इतिहास : भूमिका—पृ० ४९-५०.
११. रुद्रट काव्यालकार—२-१२—'षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रश '.
१२ नमि साधुः काव्यालकार वृत्ति—२-१२.
१३. रामचन्द्र गुणचन्द्र नाट्यदर्पण—२०६.
१४. पुरुषोत्तम प्राकृतानुशासन—प्राकृतविमर्श पृ० ७० पर उल्लेख
१५ रामतर्कवागीश प्राकृतकल्पतरु—प्राकृतविमर्श पृ० ८ पर उल्लेख.
१६. क्रमदीश्वर ' सक्षिप्त सार—आठवा परिच्छेद.
१७. शारदातनय : भावप्रकाशन—पृ० ३१०



की है, किन्तु सभी का उल्लेख अपूर्ण और अपर्याप्त है शेषकृष्ण की प्राकृतचन्द्रिका मे अपभ्रश के सत्ताईस भेद स्थापित[1] करने की चेष्टा की गई मार्कण्डेय ने अपने 'प्राकृतसर्वस्व' मे प्राकृतचद्रिका से जो लक्षण और उदाहरण उद्धृत किये है, वे इतने अपर्याप्त और अस्पष्ट है कि स्वय मार्कण्डेय ने इनको सूक्ष्म कहकर नगण्य बताया है और इनका पृथक्-पृथक् लक्षण-निर्देश न कर उन सभी को नागर, ब्राचड और उपनागर इन तीन प्रधान भेदो मे ही अन्तर्भुक्त माना है[2] कुवलयमाला मे अठारह देशी बोलियो के नाम गिनाये हैं राहुलजी इनकी गणना अपभ्रश के प्रकारो मे करते है[3]

अपभ्रश का जो भी साहित्य मिलता है, वह बहुत कम भाषागत भेदो को लिए है यह समस्त साहित्य एक ही परिनिष्ठित भाषा का है, यद्यपि उसमे स्थानीय प्रभाव अल्प मात्रा में मिल सकता है ग्यारहवी शती मे नमि साधु ने अपभ्रश के तीन भेद-उपनागर, आभीर और ग्राम्य गिनाये हैं पुरुषोत्तम ने बारहवी शती मे अपभ्रश के नागरक, व्राचड, और उपनागरक भेद माने है तेरहवीं शती मे शारदातनय ने नागरक, उपनागरक और ग्राम्य ये तीन प्रकार माने सत्रहवी शती मे मार्कण्डेय ने नागर उपनागर और व्राचड ये तीन भेद माने, इसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं व्राचड अपेक्षाकृत अपरिष्कृत मानी गई है परिष्कृत अपभ्र श को नागर पुकारा गया है जब यह प्राकृत से मिश्रित होती तो उसे उपनागर कहा जाता था[4] यह विभाजन देशगत न होकर सस्कार की दृष्टि से किया गया है, अत आधुनिक आर्य-भाषाओ की उत्पत्ति और विकास को समझने के लिये उपयुक्त नही है इसी समस्या के निराकरण के लिये प्राकृतो के अनुरूप ही विभिन्न अपभ्र शो की कल्पना की गई है देशगत भेदो को सस्कार के आधार पर किये गये भेदो मे अन्तर्भुक्त मानना अनुचित है क्योकि जिन भाषाओ के उत्पत्तिस्थान भिन्न-भिन्न प्रदेश है और जिनकी प्रकृति भी भिन्न-भिन्न प्रदेश की प्राकृत भाषाये हैं तब वे अपभ्र श भाषाएँ भी भिन्न-भिन्न ही हो सकती है और उन सब का समावेश एक दूसरी में नहीं किया जा सकता[5] वास्तव मे बात यह है कि अपभ्रश के देशगत कई प्रकार थे किन्तु चूँकि वे साहित्य मे गृहीत नही होते थे, अत परवर्ती और उत्तरकालीन वैयाकरण उनके नमूने न पा सके होगे उपयुक्त उदाहरणो के अभाव मे इसके अतिरिक्त ओर हो भी क्या सकता था ? डा० धीरेन्द्र वर्मा भी इसी धारणा को प्रकट करते दिखाई देते है[6] अवश्य ही बोलचाल की अनेक जनपदीय भाषाओ का प्रचलन रहा होगा किन्तु साहित्य मे अपभ्रश का एक परिनिष्ठित रूप ही प्रयुक्त होता होगा

इसी धारणा की पुष्टि हमे 'रविकर' के कथन मे मिलती है रविकर ने अपभ्रश के दो रूप दिये है—एक का विकास साहित्यिक प्राकृत के आधार पर हुआ परन्तु विभक्ति, समास, शब्द—विन्यास आदि की दृष्टि से वह भिन्न है और दूसरा देशी भाषा का रूप है[7] यह देशी स्वरूप साहित्य मे अधिक व्यवहृत नही होने के कारण आज अज्ञेय है किंतु अपभ्रश का एक स्वरूप जो साहित्यिक भाषा के रूप मे मान्य था, उपलब्ध है. अपभ्रश के किन रूपो का प्रयोग साहित्य मे होता था, इसके विषय मे कुछ मतभेद अवश्य हैं किंतु—पश्चिमी वर्ग के वैयाकरणो ने साहित्य मे प्रयुक्त अपभ्रश का आधार शौरसेनी ही माना है[8] और यह अनुमान किया जा सकता है कि शौरसेनी अपभ्रश ही काव्य की भाषा के रूप

---

१. प्राकृतचन्द्रिका के भेद इस प्रकार हैं .

✓ व्राचडो लाटवैदर्भावुपनागरनागरौ, वार्बरावन्त्यपाचालटाक्कमालवकैकया ।
गोडोट्हैषपाश्चात्यपाण्ड्यकौन्तलसंहला , कालिंग्यप्राच्यकार्णटकाव्यद्राविडगौर्जरा. ।
अभीरो मध्यदेशीय· सूक्ष्मभेद व्यवस्थिता , सप्तविंशत्यपभ्रशा वैतालादिप्रभेदत· ।

२ मार्कण्डेय प्राकृत सर्वस्व—पृ० ३ तथा १२२

३ राहुल साकृत्यायन. हिन्दी काव्यधारा—भूमिका पृ० ७.

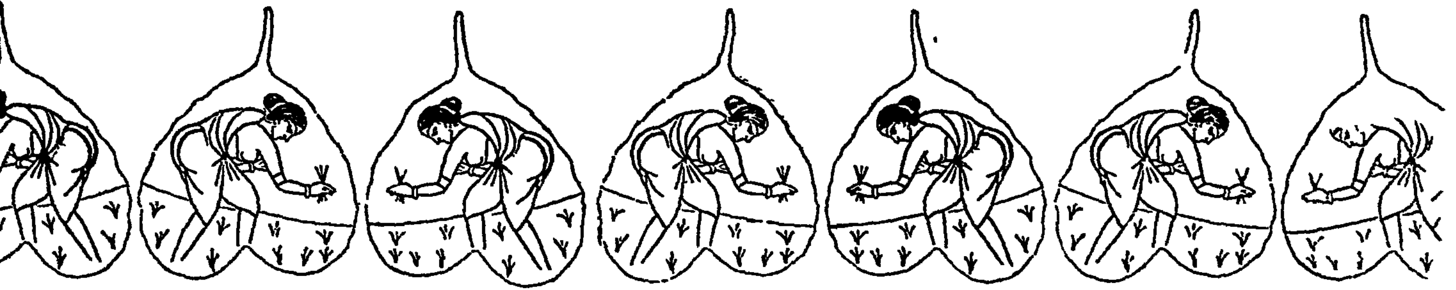
४. कीथ हिस्ट्री आफ सस्कृत लिटरेचर—पृ० ३५

✓५. हरगोविंददास सेठ . पाइयसद्दमहण्णवो—भूमिका पृ० ४५.

✓६. डा० धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी भाषा का इतिहास—भूमिका—पृ० ५० -

७. डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल : प्राकृतविमर्श—पृ० १७

✓८, रामसिंह तोमर : प्राकृत व अपभ्र श साहित्य का इतिहास और हिन्दी पर उसका प्रभाव, पृ० ६७-७२.



मे प्रतिष्ठित थी ? डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का भी यही मत है कि पश्चिमी अथवा शौरसेनी अपभ्रश ही समूचे आर्य—भारत, गुजरात व पश्चिमी पजाब से बगाल तक प्रचलित 'लिंग्वा फ्रैंका' 'बन गई थी, जो मधुर और काव्योपयुक्त भापा मानी जाती थी[1] फिर भी उस समय आधुनिक आर्यभाषाओ का स्वरूप गठित हो रहा था कुछ समय तक तो पुरानो शौरसेनी अपभ्रश ही काव्य की भाषा के रूप मे प्रयुक्त होती रही और विभिन्न प्रदेशो की बोलियाँ कभी-कभी उस प्रदेश मे रचे जाने वाले साहित्य को प्रभावित करती रही बाद मे वे बोलिया भी स्वतन्त्र काव्य-भापा के रूप मे प्रयुक्त होने लगी[2] बाद मे अक्सर ऐसे भी उदाहरण मिलते है कि एक ही कवि नई काव्य-भापा मे भी रचना करता है ओर पुरानी अपभ्रश मे भी अपना काव्य-चमत्कार दिखाने का प्रयत्न करता है, जैसे विद्यापति[3] इस प्रकार की दोनो भाषाओ यथा अपभ्रश और देशी का प्रयोग इस बात का द्योतक है कि उस काल मे ये दोनो भापा-रूप प्रचलित थे और शिक्षितो द्वारा समझे जाते थे[4]

भारतीय आर्यभापा के विकास की जिस अवस्था को आज हम अपभ्रश के नाम से पुकारते है उसके लिये सदा अपभ्रश सज्ञा का व्यवहार नही हुआ है प्राचीन सस्कृत ग्रथो में उसका उल्लेख अपभ्रश और अपभ्रष्ट के रूप में किया गया है अधिकाश सस्कृत विद्वानो ने अपभ्रश शब्द का ही प्रयोग किया है, अपभ्रष्ट शब्द का उल्लेख बहुत कम मिलता है. 'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' जैसे दो एक ग्रन्थो ने ही अपभ्रष्ट सज्ञा का व्यवहार किया है किन्तु अपभ्रश-ग्रथो मे अवव्यस, अवहस अवहत्थ, अवहट्टु, अवहठ, अवहट आदि नाम भी मिलते है परवर्ती कवियो द्वारा इन शब्दो का प्रयोग, अधिकतर किया गया है अवहट्ट का अद्यावधि ज्ञात सबसे पहला प्रयोग ज्योतिरीश्वर ठाकुर के वर्णरत्नाकर—१३२५ ईस्वी मे मिलता है[5] जहाँ राजसभा मे भाट द्वारा पड् भापाओ की गणना की जाती है. विद्यापति ने कीर्तिलता की अपनी भापा की प्रशसा करते हुये उसे 'अवहट्ट' कह कर पुकारा है[6] प्राकृत 'पैंगलम्' के टीकाकार बशीधर की राय मे 'प्राकृत पैंगलम्' की भाषा अवहट्ट ही है[7] सन्देशरासक के रचयिता अब्दुर्रहमान ने अपने काव्य की भाषा को अवहट्ट कहा है[8] कुवलयमालाकहा के रचयिता उद्योतनसूरि ने अवहस शब्द का प्रयोग कियाहै[9] इसी शब्द का प्रयोग कही अवब्भस के रूप मे भी हुआ है[10] पुष्पदन्त सस्कृत और प्राकृत के साथ अवहस की गणना करते है[11] स्वयभू देव अपनी

१ चटर्जी : ओरिजिन एड डेवलमेंट आफ बगाली लैंग्वेज—पृ० १६१.

२ वही पृ० ११३-१४

३ डा० धर्मवीर भारती . सिद्ध साहित्य—पृ० ७८८.

४ डा० भण्डारकर रिपोर्ट आन दी सर्च फार एम० एस० एस०, १८८७-९४, पृ० ७१

५ ज्योतिरीश्वर ठाकुर वर्णरत्नाकर—५५ स०, पृ० ४४
पुनु कइसन भाट, सस्कृत, प्राकृत, अवहट्ट, पेशाची, शौरसेनी, मागधी, छहु भाषा तत्त्वज्ञ.

६. विद्यापति कीर्तिलता—प्रथम पल्लव.
सक्कय वाणी बुहअन भावइ पाउअ रसको मम्म न पायइ ॥२०॥
देसिल वचना सवजनमिट्ठा, त तैसन जम्पओ अवहट्ठा ॥२१॥

७. वशीधर. प्राकृत पैंगलम्, टीका पृ० ३
पढम भासतरडो णाओ सो पिंगलो जयउ गाथा १.
टीका—प्रथमो भाषातरडः प्रथम आद्य भाषा अवहट्ट भाषा.
यया भाषया अय ग्रन्थो रचित स अवहट्ट भाषा

८ अब्दुर्रहमान सदेशरासक—प्रथम प्रक्रम, छ० ६
अवहट्टय सक्कय पाइयमि पेसाइयमि भासाए लक्खणछन्दाहरणे सुकइत्त भूसिय जेहि

९ एस० बी० गाधी. अपभ्रशकाव्यत्रयी—पृ० ९७-९८ पर उद्धृत

१०. अल्फ्रेड मास्टर बी० एस० ओ० जे० एस० भाग १३-२
किं चि अवभमकआ दा

११. पुष्पदन्त—महापुराण-सधि-५ कडवक १८—सक्कय पायउ पुणु अवह सउ



रामायण मे इसे अवहत्थ कह कर पुकारते है[1]

अपभ्रश को दी जाने वाली विभिन्न सज्ञाओ पर विचार करते हुए नामवरसिंह कहते है कि 'अवहत्थ' 'अवहट्ठ' 'अवहस' 'अवहट' आदि रूप अपभ्रश अथवा अपभ्रष्ट के तद्भव रूप है प्राकृत के अपभ्रश के ग्रथो मे जहाँ सस्कृत के लिए 'सक्कय' और प्राकृत के 'पाइय' आदि रूप व्यवहृत हैं, वहा अपभ्रश का 'अवब्भस' और 'अवहस' हो जाना स्वाभाविक है[2] उनकी दृष्टि मे 'अपभ्रश', अपभ्रष्ट, अवहस, अवब्भस अवहट्ट, अवहट आदि सभी शब्द समानार्थी है[3] किन्तु शिव-प्रसाद सिंह इसे नही मानते उनके अनुसार हम इन शब्दो के प्रयोगो के कालचक्र पर विचार करें तो एक महत्त्वपूर्ण तथ्य हमारे सामने आता है.

सस्कृत के आलकारिको ने अपभ्र श भाषा के लिए सर्वत्र अपभ्र श शब्द का प्रयोग किया या यह कि उनके द्वारा रखा गया यह नाम ही इस भाषा के लिए रूढ हो गया है किन्तु प्राकृत के कवियो ने इसे अवहस कहा अपभ्रश के कवियो-पुष्पदन्त आदि ने भी इसे अवहस ही कहा अवहट्ट कहा अब्दुर्रहमान ने, 'प्राकृत पैंगलम्' के टीकाकार वशीधर ने, विद्यापति और ज्योतिरीश्वर ने इस आधार पर विचार करने से लगता है कि 'अवहट्ट' शब्द का प्रयोग केवल परवर्त्ती अपभ्र श कवियो ने किया क्या इस आधार पर यह नही कहा जा सकता कि परवर्त्ती अपभ्रश के इन लेखको ने इस शब्द का प्रयोग जान-बूझ कर किया. अपभ्रश या अवहस या बहुप्रचलित 'देसी' शब्द का प्रयोग भी कर सकते थे, परन्तु उन्होने वैसा नही किया इससे सहज अनुमान किया जा सकता है कि अवहट्ट शब्द पीछे का है और इसका उपयोग परवर्ती अपभ्र श के कवियो ने पूर्ववर्ती अपभ्र श की तुलना मे थोडी परिवर्तित भाषा के लिए किया वशीधर ने तो अपनी टीका सस्कृत मे सर्वत्र अवहट्ट ही लिखा, जब कि सस्कृत मे अपभ्रश या अपभ्रष्ट का प्रयोग ही प्राय होता था[4] अर्थात् इस शब्द के मूल मे परिनिष्ठित अपभ्रश के और भी अधिक विकसित होने की भावना थी इन तर्कों के आधार पर कहा जा सकता है कि अपभ्र श के बाद की स्थिति अवहट्ट है[5] अपभ्रश के व्याकरणिक आधार पर प्रान्तीय शब्दो और रूपो के मेल से जो भाषा विकसित हुई वह अवहट्ट थी इसका काल तेरहवी सदी से पन्द्रहवी सदी तक माना जाता है[6] डा० चाटुर्ज्या विद्यापति की अवहट्ट पर विचार करते हुए इसी मान्यता को स्वीकार करते है[7] दिवेतिया इसे कनिष्ठ अपभ्र श मानते है और इसे बारहवी से पन्द्रहवी शताब्दी तक की विकृत भाषा स्वीकार करते हैं.[8]

हम पहले बता चुके हैं कि परिनिष्ठित भाषा के रूप मे शौरसेनी अपभ्रश का समस्त उत्तर-भारत मे प्रचार था, किन्तु स्थानीय बोलियाँ भी समानान्तर रूप से विकसित हो रही थी स्थानीय जनपदीय बोलियो का विकास कालान्तर मे आधुनिक आर्य—भाषाओ मे हुआ किन्तु परिनिष्ठित साहित्यिक अपभ्र श अपना स्वरूप दरबारी कवियो के सहयोग से टिकाने का यत्न करने लगी भाट-चारणादि कवियो द्वारा व्यवहृत अपभ्रंश भाषा मे भी शनै-शनै परिवर्तन लाना जरूरी हो गया, ताकि उसे दरबारी तथा सामन्तगण समझ सकें इस प्रकार साहित्यिक अपभ्र श का यह विकृत स्वरूप अवहट्ट नाम से पहिचाना जाने लगा[9] डा० चाटुर्ज्या के अनुसार विद्यापति की अवहट्ट भी औपचारिक दरबारी कविता की भाषा तक ही सीमित है[10] इन सब तथ्यो के आधार पर निम्न बाते स्पष्ट हो जाती है—

---

१ स्वयभू—पउमचरिउ, रामायण १-४,
'हिन्दी काव्यधारा' से उद्धृत—'अवहत्थे वि खलु यणु णिरवसेसु'

२. नामवरसिंह—हिन्दी के विकास में अपभ्रश का योग, पृ० १ ३. वही, पृ० २

४ शिवप्रसाद सिंह कीर्तिलता और अवहट्टभाषा—पृ० ६

५. देवेन्द्रकुमार : अपभ्रशप्रकाश पृ० ७

६ वही पृ० २१

७ चटर्जी. आरिजिन एण्ड डेवलपमेंट आफ बेंगाली लेंग्वेज, पृ० ११४

८ देवेतिया गुजराती लेंग्वेज एण्ड लिटरेचर भाग १—पृ० ४०

९ म० नि० मोदी. अपभ्रश पाठावली—पृ० २०

१०. चटर्जी. आरिजिन एण्ड डेवलपमेंट आफ बेंगाली—भूमिका पृ० ११४.



१ अवहट्ट वस्तुत अपभ्र श ही है
२ अवहट्ट नाम से अपभ्र श की विकसित अवस्था अथवा परवर्ती कनिष्ठ अपभ्र श का बोध होता है, जो अपभ्र श के साहित्यिक आधार पर विकसित हुई.
३ इसके विकास मे दरबारी कविता की परम्परा का बडा भारी हाथ रहा है.
४ अवहट्ट मे स्थानीय प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक है

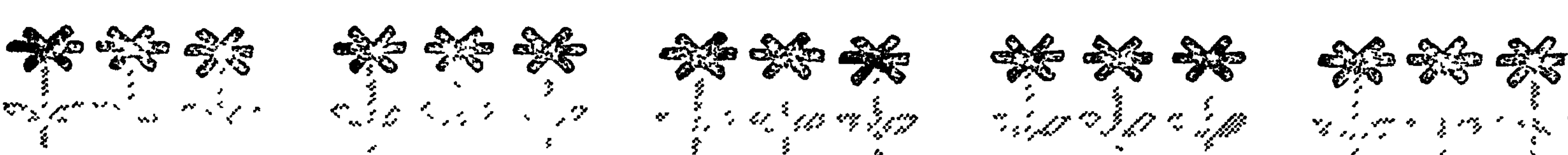
इसलिए प्रस्तुत प्रबध मे अपभ्रश को व्यापक अर्थ मे ग्रहीत किया गया है, जिसमे अवहट्ट भी आ जाती है.
विद्यापति के पूर्वांकित उद्धरण 'देसिल वअना सब जन मिठ्ठा' को लेकर कुछ विद्वानो ने अपभ्रश को देसी या देशी माना है इस दिशा मे विभिन्न विद्वानो ने काफी काम किया है पिशेल ने अपने प्राकृत भाषाओ के व्याकरण मे 'देसी' पर विचार किया है[1] ग्रियर्सन ने अपने एक विस्तृत निबन्ध 'आन दी माडर्न इण्डो-आर्यन वर्नाक्यूलर्स' मे भी इस सम्बन्ध मे प्रकाश डाला है[2] डा० उपाध्ये ने शिप्ले'ज एसाइक्लोपीडिया आफ लिटरेचर मे प्रकाशित अपने निवन्ध 'प्राकृत लिटरेचर' मे इस प्रश्न को उठाया है और डा० तगारे ने तो अपनी पुस्तक 'हिस्टोरिकल ग्रेमर आफ अपभ्रश' मे 'देशी और अपभ्रश' शीर्षक से अलग विस्तृत अध्याय लिख डाला है विद्यापति की उक्त पक्तियो के आधार पर डा० बाबूराम सक्सेना देशी और अवहट्ट को एक ही मानते है[3] डा० हीरालाल जैन स्वयभू, पुष्पदन्त, पद्मदेव, लक्ष्मण आदि अपभ्रश के कवियो के लम्बे उद्धरण देकर सिद्ध करते है कि इनकी भाषा देशी थी[4] किन्तु प्रसिद्ध भाषा-विद् जूलब्लाक अपभ्र श अर्थात् देशी—इस धारणा को सही नही मानते[5] अतः देशी शब्द के प्रयोग का विकास-क्रम जानना ही ऐसी दशा मे एक मात्र मार्ग हो सकता है, जिससे हम सचाई तक पहुँच सके

देशी शब्द का प्रयोग भरत ने अपने नाट्यशास्त्र मे भी किया है, किन्तु वहाँ भाषा देशी नही है, शब्द देशी है. उनकी राय मे जो शब्द सस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दो से भिन्न हो, उन्हे देशी मानना चाहिए भरत के देशी शब्द की यह परिभाषा प्राय वहुत पीछे तक आलकारिको और वैयाकरणो द्वारा मान्य रही है बारहवी शती के प्रसिद्ध वैयाकरण हेमचन्द्राचार्य द्वारा रचित 'देशी' नाममाला ऐसे ही शब्दो को लेकर चली है जिनकी व्युत्पत्ति प्रकृति प्रत्यय के आधार पर सिद्ध न हो सकें उन्होने उन शब्दो को देशी माना है जो 'लक्षण' से सिद्ध नही होते है.[6]देशी शब्द के वारे मे वैयाकरणो और आलकारिको की ऊपर कथित व्युत्पत्ति-प्रणाली को ही लक्ष्य करके पिशेल ने कहा था कि ये वैयाकरण प्राकृत और सस्कृत के प्रत्येक ऐसे शब्द को देशी कह सकते है, जिसकी व्युत्पत्ति सस्कृत से न निकाली जा सके[7] इस प्रकार हमे ज्ञात होता है, कि 'देशी' का प्रयोग शब्द के लिए हुआ है और भरत, रुद्रट, हेमचद्राचार्य व पिशेल आदि वैयाकरण मानकर चलते है कि प्रत्यय-प्रकृति-विचार के घेरे के बाहर के शब्द देशी है

भाषा अथवा बोली के लिए भी 'देशी' विशेपण अथवा सज्ञा का उपयोग किया जाता रहा है 'तरगवई कहा' के प्रणेता पादलिप्त ने अपनी प्राकृत भाषा को 'देसी वयण'[8] कहा है उद्योतन सूरि ने अपनी रचना 'कुवलयमाला' मे महाराष्ट्री

---

१ पिशल प्राकृत भाषाओं का व्याकरण-हिन्दी अनुवाद—पृ० १४-१५
२ ग्रियर्सन. इण्डियन एटिक्वेरी—१९३१-३३
३ बाबूराम सक्सेना कीर्तिलता—भूमिका—पृ० ७
४ ड० हीरालाल जैन पाहुड दोहा—भूमिका भाग
५ वही—पृ० ३३ पर उद्धृत.
As regards the identification of Deshi=Apbhransha, I feel doubts
६. हेमचन्द्राचार्य. देशी नाममाला —जो लक्खणे सिद्धा ण पसिद्ध सक्कयाहिहाणेसु । ण य गउण लक्खणा सति सभवा ते इह णिवद्ध.
७ पिशल प्राकृत भाषाओं का व्याकरण—हिन्दी अनुवाद पृ० १४-१५
८ पादलिप्त—तरगवती कथा
पालित्तएण रइया वित्थरओ तस्स देसी वयणेहि,
नामेण तरगवई कहा विचित्ता-विचित्ता विडलाय —याकोवी द्वारा सनत्कुमार चरित—भूमिका पृ० १७ पर उद्धृत.



प्राकृत को देशी नाम दिया है और उसका प्राकृत-सभवत शौरसेनी से भेद स्थापित किया है[1] कोउहल ने 'लीलावई कहा' मे महाराष्ट्री प्राकृत को ही देशी भाषा कहा है[2] इन उदाहरणो से ज्ञात होता है कि भाषा मे रूप मे देशी शब्द का यहा प्राकृत के लिए प्रयोग हुआ है, किन्तु परवर्ती कवियो ने अपभ्रश को भी देशी कह कर पुकारा है स्वयभू ने अपनी रामायण—पउमचरिउ—को ग्रामीण भाषा मे रचित बताया है[3] अपभ्र श के दूसरे एक महान् कवि पुष्पदन्त ने भी 'महापुराण' मे अपनी काव्यभाषा को देसी के नाम से पुकारा है[4] एक सहस्र ईसवी मे कवि पद्मदेव ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पासणाहचरिउ' की भाषा को 'देसी सद्दत्थगाढ' से युक्त बताया[5] इन सब उल्लेखो से जान पडता है कि परवर्ती काल में अपभ्र श देशी भाषा कहलाने लगी थी

जब अपभ्रश साहित्यिक सिंहासन पर आरूढ होकर रूढिगग्रस्त हो गई तो उसकी तुलना मे अवहट्ट को भी देसी कहा जाने लगा.

इसी प्रकार जनपदीय बोलियाँ भी देसी नाम से पुकारी जाने लगी विद्यापति का,[6] उल्लेख हमारे कथन का समर्थन करता है महाराष्ट्र के सत कवि ज्ञानेश्वर ने भी[7] देसी शब्द का प्रयोग पुरानी मराठी के लिए किया है[8] इन निर्देशो से जान पडता है कि देसी शब्द का प्रयोग प्राकृत, अपभ्र श, अवहट्ट और जनपदीय बोलियो के लिए समय समय पर होता रहा है वस्तुत देशी विशेषण एक सापेक्षित शब्द है प्राकृत से भी पहले पाली के लिए इस सज्ञा का प्रयोग किया जाता था. भगवान् बुद्ध ने अपना उपदेश देश भाषा मे ही किया था और उसी भाषा मे उन्हे सुरक्षित रखने का आदेश भी दिया था[9] तात्पर्य यह है कि प्रत्येक युग मे सहित्यारूढ भाषा के समानान्तर कोई न कोई देशी भाषा रही है—जो जनता के सामान्य समुदाय द्वारा प्रयुक्त होती रही है उसे ही सदा देशी कहा जाता रहा है, अत देशी का अर्थ केवल अपभ्रश मानना अनुचित है.

डाक्टर कीथ ने अपने ग्रथ 'सस्कृत साहित्य का इतिहास' में पहले खड मे भाषाओ का विवेचन किया है उन्होने रुद्रट और दडी का आश्रय लेकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि अपभ्रश किसी रूप मे कभी देशभाषा नही थी वह आभीर, गुर्जर आदि विदेशी आक्रमणकारियो की भाषा थी और उन्ही के साथ-साथ उसका प्रसार व उसकी प्रतिष्ठा हुई. अत उसे मध्यकालीन प्राकृतो और आधुनिक आर्यभाषाओ की बिचली कडी मानना ठीक नही हैं,[10] यहाँ हम डाक्टर कीथ की मान्यता पर विचार करेंगे उनकी यह धारणा कि अपभ्रश मध्यकालीन प्राकृतो और आधुनिक आर्यभाषाओ के बीच की कडी नही है, आज कोई नही मानता भाषाविज्ञान की दृष्टि से यह मान्यता गलत है रुद्रट का उल्लेख

---

१ कोउहल—लीलावई कहा—स० आ० ने० उपाध्ये द्वारा भूमिका में उद्धृत—
पायय भासारइया मरहट्ठय देसीवयणणिवद्धा

२ कोउहल—लीलावई कहा, गाथा १-३०
भणिय च पिययमाए रइय मरहट्ट देसीभासाए

३. (क) स्वयभू—रामायण, हिन्दी काव्यधारा, पृ० २६ से उद्धृत.
छुड्डु होसि सुहासियवयणइ गामेल्लभास परिहरणाइ
(ख) वही 'देमी भासा उभयतडुज्जल'

४ पुष्पदन्त—महापुराण, १-८-१० 'ण विणयामि देसी'.

५. पद्मदेव. पासणाहचरिउ—वायरणु,देखि सद्दत्थगाढ, छदालकार विसाल पौढ.

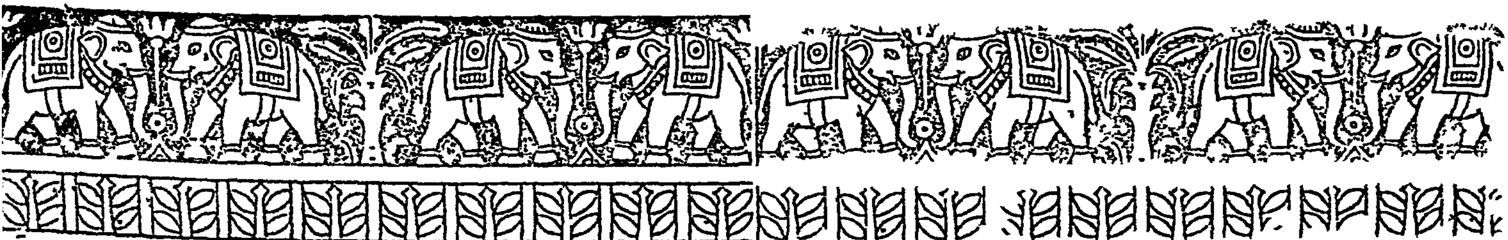
६ देसिल वयना सवजन मिट्ठा

७ ज्ञानेश्वर ज्ञानेश्वरी—अध्याय १८
अम्हो प्राकृते देशीकारे बन्धे गीता

८ डा० कोलते विक्रम स्मृति ग्रन्थ, पृ० ४७६

६ नामवरसिंह हिन्दी के विकास में अपभ्रश का योग—पृ० ८

१०. कीथ' हिस्ट्री आफ सस्कृत लिटरेचर, पृ० ३३.



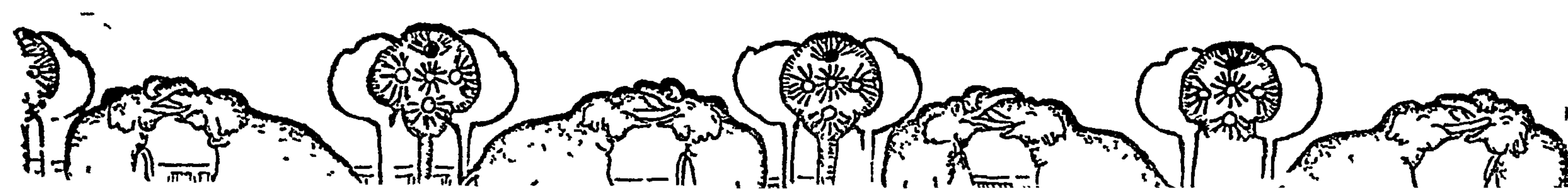
'पष्ठस्तु भूरिभेदो देशविशोषादपभ्र श' और मार्कण्डेयका सत्ताईस प्रकार के विभाजन का आधार हमें अपभ्रश को देशभापा मानने को बाध्य करता है.[१] उनकी यह मान्यता कि अपभ्रश आभीर, गुर्जर आदि विदेशी आक्रामको की भापा थी, पूरा ठीक नही लगता हाँ, अपभ्रश के विकास, विस्तार और प्रतिष्ठा मे अवश्य इस समुदाय का हाथ रहा है, उससे इन्कार नही किया जा सकता.

आरम्भ मे अपभ्रश को आभीरो की भापा माना जाता था "आभीरोक्ति' या 'आभीरादिगिर' का यही अभिप्राय है कि अपभ्रश वह भाषा है जिसका काव्य में उस समय आभीरादि निम्नवर्ग के लोग प्रयोग करते थे इसका यह अभिप्राय नही कि अपभ्रश आभीर लोगो की निजी भाषा थी या आभीरादि जन इस भाषा को अपने साथ कही से लाये वास्तव में आभीर या उनके साथी जहा-जहाँ गये, उन्होने वही की स्थानीय प्राकृत को अपनाया और उसमे निज स्वभावानुकूल स्वर या उच्चारण सम्बन्धी परिवर्तन कर दिये. आभीर-स्वभाव के कारण इसी परिवर्तित एव विकृत अथवा[२] विकसित भाषा को ही अपभ्रश का नाम दिया गया है. इस प्रकार हमने देखा कि अपभ्रश के साथ आभीरो का सबन्ध जुडा हुआ है, अत अपभ्रश के विकास और प्रसार को समझने के लिए इस जाति के इतिहास पर दृष्टिपात करना बहुत सहायक होगा

आभीर जाति का उल्लेख सबसे पहले महाभारत मे मिलता है. नकुल के प्रतीची-विजय-प्रसग मे आभीरो को सिन्धु के किनारे रहने वाला कहा गया है.[३] शल्य-पर्व मे बलदेव की तीर्थ-यात्रा के सदर्भ में आता है कि राजा ने उस स्थान मे प्रवेश किया, जहाँ शूद्र आभीरो के कारण सरस्वती नष्ट हो गई[४] जब अर्जुन यादवियो को लेकर द्वारका से वापिस लौटते है, तो दस्यु, लोभी और पापकर्मी आभीर हमला करके महिलाओ को छीन ले जाते है अर्जुन के साहसपूर्ण जीवन मे यही एक ऐसा प्रसग है जब कि उसके विश्वविजयी गाडीव की कुछ भी न चल सकी[५] अन्यत्र उनको द्रोण के सुपर्णव्यूह में योद्धाओ की पक्ति मे रखा गया है[६] इन्हे शूद्र माना गया है.

पाणिनि के समय मे भी इन्हे 'महाशूद्र' कह कर पुकारा गया है[७] मनुस्मृति मे आभीरो को ब्राह्मण पिता और अम्वस्थ माताओ से उत्पन्न माना है[८] इसी से जयचन्द विद्यालकार इन्हे मारवाड व राजपूताने का मूल निवासी गिनते है[९] किंतु अधिकाश विद्वान् इन्हे भारत मे बाहर से आने वाले वर्ग मे सम्मिलित करते है आचार्य केशवप्रसाद ने आभीरो के दो दलो की कल्पना की है. पहली बार जो आभीर आये, वे आर्यो की वर्णाश्रम व्यवस्था के भीतर ग्रहीत होकर 'शूद्राभीर' कहलाने लगे[१०] दूसरा दल बाद में आया, वह उद्धत और लुटेरा था इसलिये यह भारतीय सस्कृति मे अन्तर्भुक्त नही हुआ. आगे यवन आक्रमण काल मे वे सब इस्लाम धर्म मे दीक्षित हो गये[११] इन्ही आभीरो की बोली स्थानीय भाषा का सम्बन्ध

१ श्यामसुन्दरदास. हिन्दी भाषा, पृ० १८.
२. हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ० २४-२६
३. महाभारत—पर्व ७, अध्याय ३२, श्लोक १०.
४ महाभारत—पर्व ९, अध्याय ३७, प्रथम श्लोक
५. वही पर्व १६, अध्याय ७, श्लोक ४४-४७.
६ वही—पर्व ७, अध्याय २०, श्लोक ६.
७ वासुदेव शरण अग्रवाल इण्डिया एज नोवन टू पाणिनि—पृ० ८०
It may be noted that katyayana knows of a special caste (jāti) called 'Mahsāudra', with its female 'Mahāsudri The kasika explains the term to mean the 'Abhirās', regarded as higher śudras
८. मनुस्मृति, अध्याय १०, श्लोक १५
९. देवेन्द्रकुमारः अपभ्रशप्रकाश—पृष्ठ १७.
१०. डा० गुणे. भविस्सयत्त कहा—भूमिका पृ० ५३
११. देवेन्द्रकुमार : अपभ्रशप्रकाश—पृ० १७



पाकर अपभ्रंश के रूप में विकसित हुई, ऐसा माना जा सकता है इन तथ्यो पर गम्भीरता से विचार करने पर एक प्रश्न उठता है, कि असाधु शब्दो के लिये प्रयुक्त किया जानेवाला 'अपभ्रंश' विशेषण सस्कृत वैयाकरणो—उच्चवशी पडितो द्वारा आभीरी को 'महाशूद्रो' की भाषा मानकर—तिरस्कार व घृणा से 'अपभ्रष्ट' अथवा 'अपभ्रश' सज्ञा के रूप मे कही थोप तो नही दिया गया है, जो कि फिर प्रचलित हो गया जैसे हिन्दी की स्वच्छदवादी—रोमाटिक कविता के लिये दिया गया 'छायावाद' नाम.

कुछ विदेशी इतिहासकारो ने, और उनके आधार पर अनेक भारतीय विद्वानो ने वैदिकऔर बौद्धधर्म अथवा ब्राह्मण-क्षत्रिय के सघर्ष की पृष्ठ-भूमि पर इन आभीर, गुर्जर, हूण आदि नवीन आनेवाली दुर्दान्त और साहसी जातियो को क्षत्रियो के रूप मे सम्मान प्राप्त करने का उल्लेख किया है[1] ब्राह्मण वर्ग ने अपनी प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिये हूण, आभीर गुर्जर, आदि नवागन्तुको को अपनी छाया मे ले लिया था उनको क्षत्रिय स्वीकार कर लिया और इस अर्थ कुछ यज्ञा-नुष्ठानो के विधान किये माउट आबू के अग्निकुलीय क्षत्रियो का अविर्भाव इसी नये विधान का परिणाम था[2] कारण, कुछ भी रहे हो इसमे कोई सन्देह नही कि इस जाति का प्रसार समस्त उत्तरापथ और मध्यभारत मे हो गया और इनके साथ ही अपभ्रंश भाषा को फैलने व विकास पाने का अवसर मिला

ईसा की दूसरी शताब्दी मे आभीरो का प्रसार काठियावाड तक था ऐसा अनुमान रुद्रदमन के एक अभिलेख से लगाया जा सकता है काठियावाड मे 'सुन्द' नामक स्थान पर रुद्रदमन का एक अभिलेख मिला है, जिसमे उसके एक आभीर सेनापति 'रुद्रभूति' के दान का उल्लेख है. विद्वान् उस अभिलेख को १८१ ई० का मानते है[3] एन्थोवेन ने ईसा की तीसरी शताब्दी के अन्त मे काठियावाड मे आभीरो के आधिपत्य की ओर सकेत करते हुये नासिक अभिलेख (३०० ई०) मे निर्देशित आभीर राजा ईश्वरसेन की ओर ध्यान आकर्षित किया है.[4] समुद्रगुप्त के प्रयाग—स्तभ लेख मे (३६० ई०) आभीरो का आधिपत्य गुप्तसाम्राज्य की सीमा पर मालवा, गुजरात, राजस्थान आदि मे बताया गया है[5] पुराणो के अनुसार आध्रभृत्यो के बाद दकन आभीर जाति के ही हाथ आया और छठी शती के बाद हाथ से निकल गया उस समय ताप्ती से लेकर देवगढ तक का प्रदेश इन्ही के नाम पर विख्यात था आठवी शती मे जब काठी जाति ने सौराष्ट्र मे प्रवेश किया तब भी वहाँ आभीरो का अधिकार था[6] पन्द्रहवी शती मे खानदेश तक ये लोग फैले हुये थे आसा अहीर द्वारा आसीर-गढ के किले की स्थापना का उल्लेख फरिश्ते ने किया है[7] कुछ लोग मध्यदेश के मिर्जापुर जिले के आहिरौरा स्थान का सम्बन्ध आभीरो से मानते है[8]

दण्डी के 'आभीरादिगिर' मे 'आदि' के द्वारा किन जातियो की ओर सकेत है ? यह प्रश्न है भोज ने सरस्वतीकठा-भरण मे लिखा है कि गुर्जर अपनी अपभ्रश से ही तुष्ट होते है इस आधार पर आभीरों के साथ गुर्जरो का सबध जोडा जाता है यद्यपि गुर्जरो की बोली गौर्ज्जरी का उल्लेख प्राचीन ग्रथो मे पाया जाता है फिर भी उनके द्वारा अपभ्रंश को सरक्षण और मान्यता मिली, इसे निश्चित तौर पर कहा जा सकता है भण्डारकर और जैक्सन की खोजो से पता चलता है कि छठी शताब्दी ईसवी मे गुर्जरो ने गुजरात और भडोच को जीता उनकी मुख्य शाखा की राजधानी भीनमाल थी और

---

१. डा० भगवतशरण उपाध्याय : भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण—पृ० १०९

२ वही पृ० ३२६

३ डा० भन्डारकर इडियन एटिक्वेरी—१९११ पृ० १६

४ एथोवेन ट्राइब्ज एण्ड कास्ट्स आफ बोम्बे—भाग-१ पृ० २१

५. विसेंट स्मिथ अरली हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ० २८६

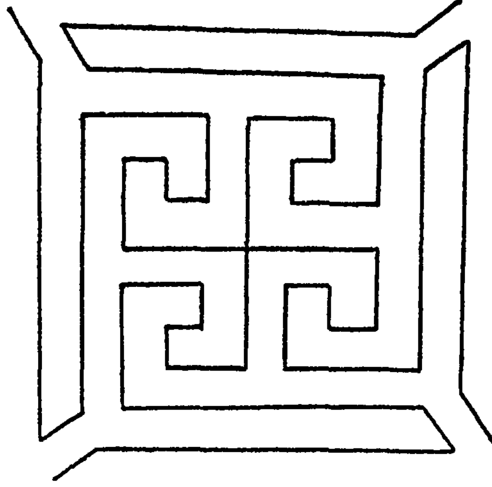
६ एथोवेन ट्राइब्ज एड कास्ट्स आफ बोम्बे—भाग १ पृ० २४.

७ वही—पृ० २४ .

८ हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य की भूमिका—पृ० २४



दसवी शताब्दी के मध्य तक उन्हे चालुक्यो के कारण भीनमाल छोडने को बाध्य होना पडा. परिणाम स्वरूप ९५८ ई० मे १८,००० गुर्जरो ने सामूहिक रूप से एक साथ भीनामाल छोडकर देशान्तर किया [1] इन गुर्जरो के अतिरिक्त अन्य पशु पालक एव यायावर जातियो के द्वारा भी अपभ्रंश को प्रसार-सुविधाये मिली होगी कुछ भी हो, अपभ्रंश अपनी प्रारंभिक अवस्था मे चाहे इनकी बोली रही हो, पर बाद मे वह धीरे-धीरे सारे भारत की भाषा हो उठी. यह भाषा मूलत जनता की बन चली थी और विदेशी नही थी



१ (क) भण्डारकर: आन गुर्जर: J B B. R A S. Vol. 21, Page 412

(ख) जेक्सन. बोम्बे गजेटियर भाग—१, पृ० ४६५-६६, दिवेटिया · गुजराती लेंग्वेज एण्ड लिटरेचर में पृ० ३५ पर उद्धृत.

मुनि श्रीहजारीमल स्मृति-ग्रंथ

अंग्रेजी विभाग

पंचम अध्याय



Prof. N. G. Suru
Ruparel College, Bombay.

JAINISM : A GREAT RELIGION

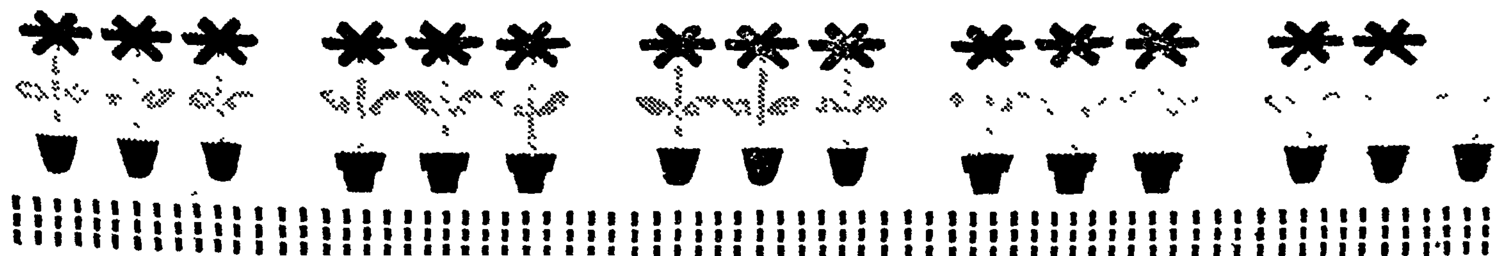
Introductory

Among the systems of Philosophy and Religion evolved in the land of the Aryans, Jainism occupies a high rank on account of its interesting religious and philosophic teaching, its high moral code, its varied literature, sacred and secular, written in the Ardha-māgadhī dialect, and its great prophets like Pārśva and Mahāvīra, who by their noble ascetic life and preaching of the Jain Principles have ennobled and elevated this Religion so as to be on par with Brahmanism, Christianity or Buddhism It is a religion that fully satisfies the vital spiritual cravings of more than fifteen lakhs of the Indian population, and has thus a living interest for us

Jainism—its origin and later development

Jainism is a Religion of Jina i e the Victor or the Conqueror, of the greatest enemies of man, viz , Passions Lord Mahāvīra, by his life of severe restraint and penance controlled and conquered the passions within, destroyed the Kārmic matter, obtained Perfect knowledge and Salvation and thus was able to preach to the masses this Path of Religion, which, after him, received the name of Jainism, formerly called the Religion of the Nigganṭhas or 'the Bondless ones' Its chief principle is the Principle of Ahimsā, common to the religion of Lord Buddha, and it certainly made its appeal to the masses who had come to develop a feeling of abhorrence and non-belief in the elaborate Brahmanical system of sacrifice which later on permitted and indulged in nauseating excesses of slaughter, not only of animals, but of human beings too A wide-spread reaction thus set in among the people, who with their losing faith in the existing religion of sacrifice hailed with enthusiasm this new form of Thought and accorded their full support to it, by gathering round its preachers In this way, were laid the foundations of this new Religion which won its universal appeal by reason of its inculcation of the Principles of Non-violence, Truthfulness, Purity of conduct and Asceticism, as also by its freedom from the barriers of caste in their social and religious life.

Every religion has behind it a great personality who dominates and sways the opinions and beliefs of his contemporary public But for Jaimini, the Mīmāmsā school of thought would not have spread Kap'la founded the system of the Sāmkhya philosophy, while Gautama and Kanāda were responsible for the Nyāya and the Vaiśesika systems The Upaniṣadic thought centres round the famous philosopher Yājnyavalkya, and without Bādarāyana, Gaudapada and Sankarācārya, the Advaita philosophy would never have dominated the philosophic thought of India with such a great driving force as it did in the first millenium after the Christian era And as Mahommedanism is identified with Mahomed, Christianity with Jesus Christ, or Buddhism with Lord Buddha, similarly do we find Jainism inseparably associated with the personal life or Lord Mahāvīra and his predecessor Pārśvanatha Born in the Ksatriya royal



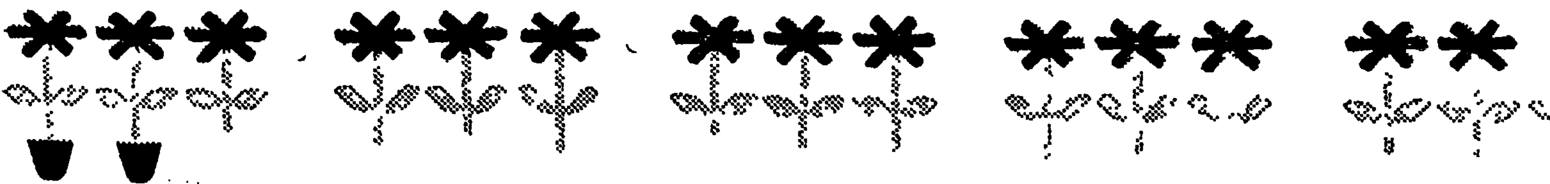
family, both Mahāvīra and Pārśva were imbued with a philosophic outlook on life and therefore in the very early stages of their life, they took to renunciation; and leaving behind the princely life of pleasures took to the forest to practise hard authorities, at the end of which they got Kevalajnāna or Perfect knowledge In the light of this Kevalajnāna they formulated the form of new Religion with its basic principle of Ahiṁsā, which they began to preach, themselves living up to the ordeals of the ascetic life demanded by its doctrines and thus serving as perfect examples of what they taught Like Buddha, the Magadha country was the centre of their religious propaganda, and Mahāvīra wandered from place to place enlightening the people by his sermons delivered in their own language viz Ardha-māgadhī. Severe privations of hunger and thirst, heat and cold, he suffered At times, he was beaten and belaboured by the angry and misguided masses who did not tolerate an attack on their religion He was reviled and ridiculed, spat upon and kicked, but he never raised even his little finger in resistence A perfect incarnation of Non-violence and Passive Resistence indeed ! In his sermons he taught how highly valuable was this human life which should be utilised in securing Emancipation instead of indulging in the transitory baneful pleasures of the sense "Leave off this worldly life, become a monk and observe the Religion of the Five Vows, (1) Do not kill or injure any living Being, (2) Never depart from Truth in your speech and action (3) Do not take anything which is not given to you (4) Observe a strictly pure life of celibacy and (5) Have no possessions except the religious requisites like the broom or the almsbowl. Practise severe penance, curb the Kasāyas or Passions, and destroy the Karmic matter which has thickly accumulated in the Soul and has thus prevented Right Knowledge. Then you will be free from this Saṁsāra or the migratory life and will enjoy perfect bliss and knowledge in the land of the Liberated !"

This was the message of Lord Mahāvīra with which he approached the masses in the halo of his spiritual glory, and converted them to his new Faith He reorganised and established the new order of monks on a sounder basis to which the laity was added later on, and thus it became a chaturvidha Saṁgha or Fourfold Order, in which figured the monks and nuns on the one hand, and the Laymen and the Laywomen on the other Jainism, is, however, essentially a religion for monks, as it promises Emancipation only after the renunciation of life A householder can reach only the first few stages of the spiritual development, after which he must cut off all worldly ties to become a monk and to secure further development of the Soul leading up to Mokṣa The continuity of this Order has been maintained through an endless succession of disciple-monks to this present day and it must be said to the credit of Jainism that it has been able to present to the world even today, a very well-disciplined and pure Order of Sādhus who live the Religion in its austere rigour of all the details that characterise the daily life of a monk. The Jain Order came to be divided later on into two prominent sects, viz the Svetāṁbaras and Digambaras, with a third one of the Sthānakavāsis In spite of these schisms, however, this religion has maintained its compactness and solidarity, and having been able to possess a wealthy community among its adherents, it can hold up its head among the progressive religions of the world

The Jain Philosophy

The philosophy of Jainism may be briefly told as follows —

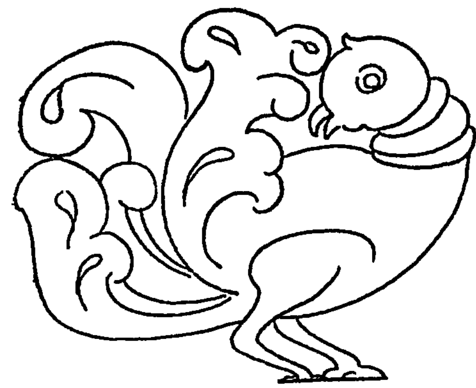
The world is uncreated and exists from the beginning-less Time It consists of Jīva and Ajīva



and Jīva is all that is animate, and includes along with other living beings, the Earth-bodies, Water-bodies, Fire-bodies, Air-bodies, as also the plants and trees The substance of Ajīva is Matter, which in itself is indestructible, although it takes over different modifications which have their production and destruction It is reducible to the state of fine atoms, called the Parmanus or Anus, which combine and develop into the diverse products that we see in the Universe By the Law of Karma, the souls or Jīvas get an embodiment to experience the results of their actions, and are thus born into any one of their fourfold Gatis or existence The ideal of the Jīva is to secure Moksa, which can be obtained only through human life, by the destruction of the Karmic matter which serves as an Āvarana or hindrance to knowledge Right Faith, Right Knowledge and Right Conduct, the three Gems of Jainism, are the essential requirements for Moksa Liberation consists of Freedom from the cycle of Birth and Death and is characterised by Perfect Knowledge and Perfect Bliss, which the Jīva enjoys in the Land of the Liberated

This, in a nutshell, is the Philosophy of Jainism, preserved to us in their sacred Literature called the Āgamas These books are in the ancient Ardha-māgadhī dialect, which is of great interest to a student of Linguistics, as it marks a definite stage in the development of the earlier Vedic language to its Modern Languages like Gujrati, Hindi and Marathi A study of this dialect is carried on in the Universities of India, but it suffers from a great handicap for want of good critical editions of the Jain texts,—a work that should be taken up by Jain Scholars with the financial assistance of the Jain Community Only then will Jainism be presented to the people at large in its true aspects This Religion, as we have seen, has a long tradition and is preserved to us in all its glory in the form of its literature, in the form of the best specimens of architecture, and lastly in the form of its considerable number of followers professing this creed A comparative study of all religions of the world will not, therefore, be complete unless Jainism is given its due share in it





Prof. G. R. Jain
Head of the Deptt of Applied Physics,
Madhav Engineering College, Gwalior, India.

MESSAGE TO HUMANITY

Jainism is one of the three most important religions which originated in India, the other two being the Vedic religion, more popularly known as Hinduism and the Budhism Although there are historical evidences to show that Jainism was prevalent in the third millenium B C during the days of Indus Valley Civilisation but Lord Mahavir, born in 599 B C, was the pioneer of this religion in modern times

Lord Mahavir was born in the province of Bihar in a royal House belonging to a warrior clan at a time when there was a universal desire in the people for the birth of a reformer and a religious leader The bulk of the population of Northern India was greatly dissatisfied with the existing social and religious structure The society was divided into four strata,—one, the Priesthood, called the Brahmins, the warrior class, called the Kshatriyas, the agriculturists and the traders and the fourth for whom it was regarded as their sacred duty to serve the three upper classes. The Church had become all supreme The right of equality and fraternity was denied even to their patrons and associates In the Code of Manu—the first Law—Giver of Mankind—we read in Chapter II verse 135 that a ten year old Brahmin boy should be respected as a father even by a century old Kshatriya In Chapter I, verses 99-101 of the same work we read as follows —

> "A Brahmin is born the master of the world, the lord of all beings Whatever exists on earth belongs to a Brahmin, by his supreme birth he deserves everything Whatever a Brahmin enjoys or gives, is his, the rest of the people enjoy only through the mercy of a Brahmin "

Thus we see that the Charter of Human Rights had been completely shattered to pieces and the people were anxious to throw off the yoke of aristocratic priesthood Not only that, people were gradually losing faith in the efficacy of the steriotyped and cumbrous ceremonials and animal sacrifices and were looking forward for their Saviour who would gently lead them on to the way of final liberation The policy of Caste superiority and racial discrimination was even worse in those days than in Nazi Germany or in the South Africa today Lord Mahavir was the first to proclaim boldly that all Humanity is One, there are no such distinctions between man and man as between a cow and a horse in the animal Kingdom. Even the most servile class has the right of equality with a Brahmin and must be given the same facilities of reading, writing and worshipping the God It must be remembered that Brahmins had denied the right of studying religious text not only to the low caste, called the Sudras, but also to the women Lord Mahavir said Even Sudras and women could study scriptures, become religious saints and attain the status of divinity

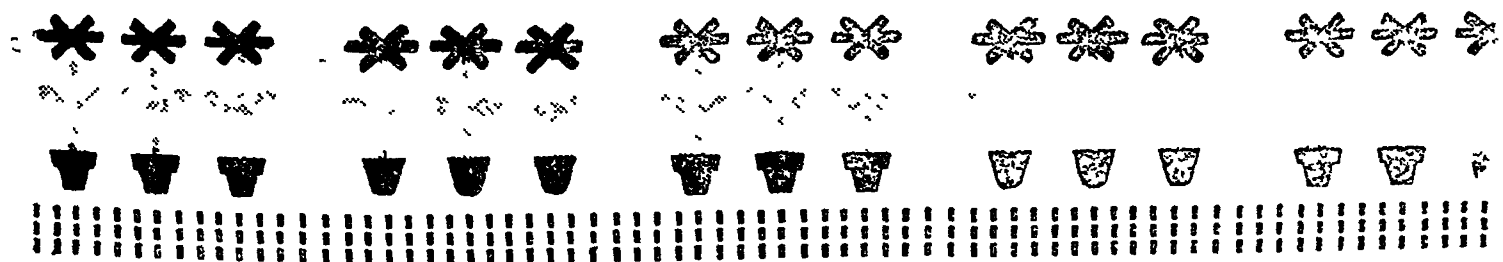


Another important teaching of Lord Mahavir was the Doctrine of Ahimsa,—non-injury and non-violance not only to the mankind but all living beings It is the doctrine of "Live and let live" He raised a strong voice against the Holy Vedas, because all over the country thousands of animals were being ruthlessly killed in the so-called religious sacrifices in the name of the Vedas. The doctrine of Ahimsa was revived by Mahatama Gandhi in the same form in recent years and successfully applied in the field of politics The doctrine of Panch Sheel of Pandit Nehru is the doctrine of Ahimsa which will bring about world peace if all the Nations of the world practise it with a clean heart An observer of this principle is enjoined to speak very cautiously lest any work of his may injure the feelings of others; he is forbidden even to *think* evil of others, he must shun all such actions which are likely to cause bodily injury to others, he is not to kill or eat flesh, 'Do unto others as you would be done by' is his motto, he must do, as best as he can, to make those happy who are in pain But he will not tolerate any injustice done to him or to his country even at the cost of raising up arms against the oppressor

The Theory of Automatic Judgement

'As you think, so you become' and 'As you sow, so you reap' are aphorisms to which all schools of thought subscribe and the general belief is that an accurate record of all our actions is maintained in the annals of the Almighty or His agent, the judgement is pronounced on a particular day and we are doomed accordingly

According to Einstein's Cylinder theory of the Universe our three dimensional space is a curved space and a closed space enclosing a four—dimensional continuum. One startling conclusion of this theory is that both space and time would vanish into nothing if there be no matter We cannot conceive of space and time without matter It is matter in which originate space and time and our universe of perception Under the circumstances it is difficult to think of a time when there was no matter In other words the universe is eternal Thinking along similar lines the Jain teachers came to the conclusion that this universe was not created by anybody at any special period of time Neither the Almighty, whom we regard as All-blissful, takes upon Himself the onerous duty of disbursing justice to the beings of this Globe He has evolved an automatic system of delivering judgement If we put this theory of automatic judgement in the language of modern science, it amounts to staying, that as every action of ours is preceded by a thought and every thought is preceded by a material vibration in the brain, the activities of the mind and the matter constitute a super-radio with the quintillion of living cells sending out their individual waves to be tuned in by the receiving Set in the brain (It has been possible in recent years to make a record of the brain waves, called the encephalogram and the principle of tuning is this if we want to tune in a particular waves from outside we must produce a wave of the same kind in our receiving set by turning the tuning know) According to Jain theory, the infiux of the tuned waves constitutes an influx of foreign matter which produces a subtle coat around the soul We know today that energy is matter and matter is energy This coat of fine matter, the composition of which depends upon the nature of our actions, is responsible for dragging the soul from one physical body to another and it keeps the soul bound to the confines of the universe owing to the gravitational forces of matter on matter on all sides When this coat of subtle matter is shed off the soul by following the Path of Liberation, the latter, being the lightest substance, rises to the top of the Universe like a balloon filled with hydrogen and rests there as Pure Effulgence Divine It cannot travel any further because



there is no medium of motion, viz., luminiferous aether, beyond Thus we see that Lord Mahavir gave a unique Scientific explanation of the transmigration of the soul without invoking the aid of any super-natural agency. The details of the theory are too many to be outlined here

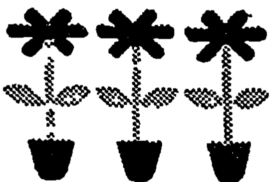
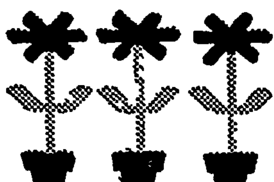
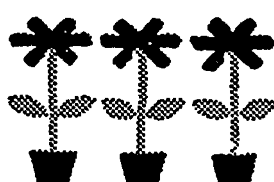
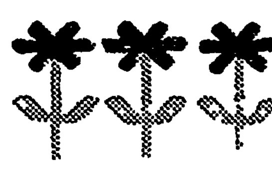
Another special feature of the Jain Philosophy is its theory of *Anekantvad* This theory tries to establish uniformity amongst the diversity of thoughts on a particular problem It inculcates a spirit of tolerance towards other religions of the world, so that they may sink their differences which are *but* apparent, for it is said by the ancients, 'The Path is one for all, the ways that lead thereto must vary with the pilgrim The theory of Anekāntvād aims to co-ordinate, unify, harmonize and synthesise the individual view-points into a practicable whole, in other words, the discordant notes are blended so as to make a perfect harmony It has been compared to the Einstein's theory of Relatively, but is much simpler and less elaborate Relativity is mainly the theory of the physicist whereas the other has a philosophical bearing Still the contributions of both to the ultimate outlook on life and its problems are almost the same According to Anekānt, the existence is a huge complexity, neither can human mind properly understand it nor can the human language adequately express it As such the absolute statements are out of court and *all statements are true from a certain point of view only* According to Relativity all our terms of expression like east and west, right and left, up and down, are relative, they are not the same for all the observers and under all conditions, they are not absolute but merely relative to something Relativity is, therefore, the theory of the Statement of general physical laws in forms common to all observers The theory of Anekānt attempts in a similar way to reconcile the various conflicting schools of philosophy, not by inducing them to abandon their favourite stand-points but by proving to them that the stand-point of all others are alike tenable and represent different aspects of truth.

The Cosmological Theory of the Jains .

According to this theory the universe comprises of six substances (1) the Soul, (2) the matter and energy, (3) Space, (4) Time, (5) Non-material luminiferous aether, which is the medium of motion for soul, matter and energy and (6) the field through which the gravitational and electromagnetic forces operate and maintain the cosmic unity It is the field which keeps the electrons and protons bound down to the atom, the atom to the molecule, the molecules to a crystal and so on It is worthy to note that the Jain School of thought was the first to recognise that atoms were composed of positive and negative electricity, that the atoms were hollow and can give rise to extremely heavy matter called 'nuclear matter' under certain conditions and the principle of equivalence between mass and energy was clearly enunciated centuries before Einstein who gave it a mathemetical form

Now before I conclude this note I must tell you something about the type of daily life that a layman is enjoined to lead The six essential duties are —

1 The worship of God by offering prayers
2. Service to the Teacher, the Guru and listening to his sermons
3 Study of Holy books
4 Observations of vows for control mind


5. Contemplation and meditation in a lonely place morning and evening daily and
6. Charity which implies giving away of food and medicine to the needy, the giving of knowledge to the uneducated and defending the cause of the weak This habit of giving in charity gradually leads to complete renunciation of all wealth and worldly belongings which is so essential for the attainment of perfect bliss For it is said that 'it is easier for a camel to pass through the needle's eye than for a rich man to tread the path of bliss' In fact the teachings of Jainism on this point are based on what we call today the Socialistic pattern of Society

I pray to God O, Lord. Make myself such that I may always have unlimited love for all beings, pleasure in the company of learned men, unstrinted sympathy for those in pain and tolerance towards those perversly inclined

Jai Mahavir, Jai Hind





©

Dr. Nathmal Tatia
Director, Research Institute of Prakrit, Jainology and Ahimsa, Vaishali, Muzaffarpur

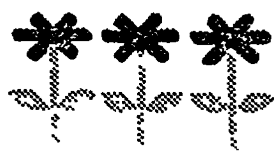
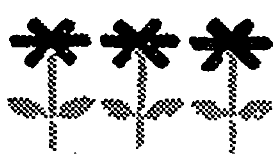
A SURVEY OF JAINA RELIGION AND PHILOSOPHY

So far as tradition preserved in the Jaina Āgamas is concerned, Jainism is to be traced to prehistoric times for its origin To be precise, Jainism as a religious movement and philosophical attitude is undatable In this respect, it is on a par with Vedic religion It has been shown with overwhelming weight of evidence by Shrīmat Anirvānaji in his *Vedamīmāmsā,* recently published, that there were free thinkers contemporaneously with the Ṛṣis of the Samhitās, who did not profess allegiance to the religion of sacrifice Whatever that may be, Jainism, Buddhism and other protestant creeds took distinctive shape and structure several centuries before the Christian era, and this does not admit of dispute Vardhamāna Mahāvīra was the elder contemporary of Gautama Buddha Pārśvanātha, the immediately precedent Tīrthankara, is admitted on all hands to have been a historical figure Mahāvīra's family was attached to the creed of Pārśvanātha There are evidences in the Jaina Āgama that Mahāvīra succeeded in winning over the followers of Pārśvanātha to his reformed church Mahāvīra consolidated the monastic order as well as the lay community on strictly regulated code of religious observances This explains the survival of the Jaina religion, though Buddhism disappeared from the land of its birth after theMuslim conquest in the 13th century This is in a nutshell the historical background of Jaina religion and philosophy

The division of the Jaina church into Svetāmbara and Digambara schools is believed to have taken place at the time of Bhadrabāhu who was a contemporary of Chandragupta Maurya The points of agreement between the schools are overwhelming and those of difference are rather matters of detailed observance There are some credal divergences such as the problem whether a woman is capable of achieving final emancipation *(mokṣa)*, and such other minor issues which may be slurred over by dispassionate students of Jainism as bagatelle In philosophy and ethics, there is enormous unanimity The following are the cardinal doctrines of Jainism

1 *Soul and God*

The Jaina believes in the immortality of the individual soul which does not owe its origin to a Personal Creator or combination of natural forces Jainism is frankly dualistic in so far as it distinguishes spirit from matter Both of them have parallel existence The soul is bound in meshes of matter and its freedom from matter constitutes final emancipation liberty The soul

is consciousness compact, intuition, bliss and power, each infinite in its range The limitation of knowledge, power and happiness is adventitious and accidental, and not historical events In this, Jainism and Vedic religion are perfectly in unison Its difference from Buddhism is fundamental The Buddhist does not believe in unitary soul But the Jainas are emphatic on the real unitary character of the self Perfection is innate to the self which will manifest itself in its true character in the state of emancipation and the self will then realize its infinite knowledge, intuition, bliss and power In one word, the self will become God Godhood is the birthright of every self

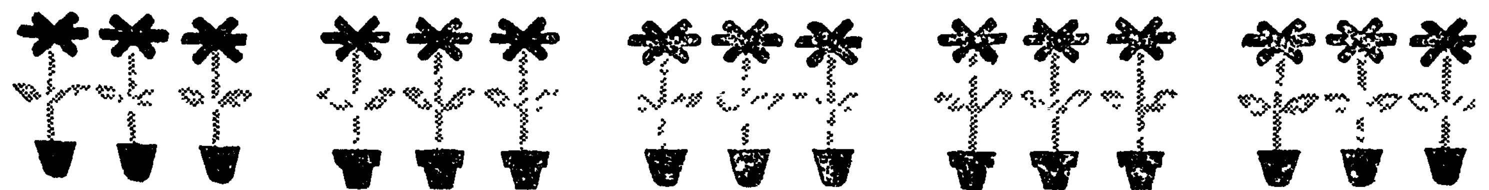
2 *Ethics*

The Jaina is a believer in the five *mahāvratas*—non-injury *(ahimsā)*, truth *(satya)*, non-appropriation of what belongs to others *(asteya)*, continence *(brahmacharya)* and non-possession and non-acquisition of surplus material goods, *(aparigraha)* These ethical disciplines can be practised in excelsis by those who follow the life of homeless wanderers For the householder also these disciplines are compulsory, but can be practised with moderation and limits due to the exigencies of human life and conditions But this is only a concession which can be transcended only in the life of complete renunciation In the code of ethics, the agreement between the Jainas and Brahmanical schools is almost perfect The difference lies in emphasis on practical application and observance

The philosophy of *ahimsā* is liable to be misunderstood *Ahimsā* must proceed from perfectly disciplined mind. All moral weaknesses, *pramāda*, are manifested in the animal impulses of anger, pride, deceit and greed, and unless these mental and moral weaknesses are completely overcome, mere practice of external code such as vegetarian diet and the like will not lead to the spiritual development In one word, a man aspiring for perfection must be spiritually free from animal passions and in external conduct must follow the path of non-resistance to evil. All discomforts, inconveniences and lack of creature comforts must be endured without resistance and with infinite forbearance This is of course the ideal which can be lived and fulfilled only by saints But the householder also has no immunity from the moral obligation Purity of conduct must be the exponent of perfectly pure mind

Truthfulness is also a necessary concomitant of non-injury Lying and deceit are resorted to by those who want to avoid the unpleasant consequences The tyrant must be disarmed not by recourse to physical violence, but by infinite forbearance Not a word of abuse should escape the lips of the saint Pride and greed are the signs of moral weakness They are the concomitants of the fear of loss, or the desire to be feared by the less fortunate creatures This weakness must be transcended by the realization of the truth that infinite greatness in knowledge, power and self-possession are the natural heritage of the individual soul, and until this consummation is reached, one has every reason to feel humble and ashamed of the limitations No pride of possession is legitimate and rational, because material power and wealth have their inevitable limitations Only one who has risen above greed can be really great and noble This is in sum and substance the ethical philosophy of the Jaina

The concept of *ahimsā* is not negative One has no right to take the life of another creature for his self-gratification Life cannot be restored to the victim, and it is nothing short of brutish barbarism to indulge in self-pleasure at the expense of other creatures who have the



same charter of rights to live and work out their ultimate destiny The tyrant is the worst coward, though he poses to be the boldest man The true hero is he who has mastered the animal in him The last Tīrthankara was called Mahāvīra, the great hero, because he conquered the weaknesses of the flesh

3 *Religion*

In religion, the Jaina lays emphasis upon self-exertion One must not depend upon the grace of another for his self-upliftment Of course, the teachers of humanity, the prophets, seers and the path-finders are entitled to the respect and loyalty of all right-thinking persons This is the reason why Mahāvīra is worshipped as God These perfected saints show their mercy only by imparting spiritual strength to the weaker souls who are victims of their own past deeds The very contemplation and meditation of perfect teachers of humanity vouchsafes grace and spiritual strength Grace cannot be acquired by sinners unless they turn away from the evil course of life

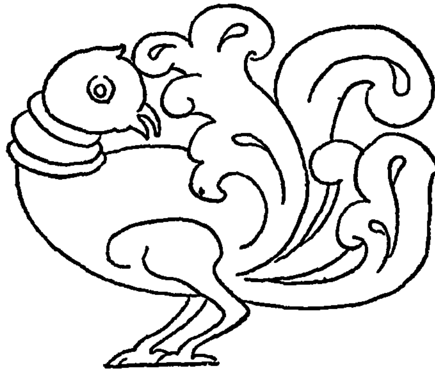
It is nothing but a travesty to think that the Jainis are atheists Worship of a Personal God is not encouraged in Jaina religion, because this has the tendency to encourage sloth and a spirit of helpless dependence. However much one may speak of the infinite grace and mercy of God, one cannot have the benefit of this grace unless one helps himself and prepares himself for the appropriation of the spiritual light The Jaina believes that every man is a potential God and one who does not believe in the Godhood of man is an atheist

4 *Philosophy* ·

In the field of philosophy which, in one word, is the urge to realize the ultimate destiny of the soul, the Jaina thought is based upon a correct appraisal of truth and reality So far as the world of experience is concerned, the doctrine of non-absolutism *(anekānta)* expresses the philosophical outlook of the Jaina thinker The Jaina is not a dogmatist and seeks to shun extremism in thought and action Fanaticism is the virulent expression of extremism One believes in one's doctrine, and in the truth and infallibility of one's mode of worship attached to one's particular faith But truth is multiform and has many facets One therefore should not condemn another for his view, but try to appreciate the intellectual and moral foundation of the belief If he is wrong, he must be enlightened not by physical force or tyranny of wealth and knowledge, but by sympathy and demonstration of the truth in one's own life The seven-fold predication *(saptabhangī-naya)* expounds the metaphysical position of the Jaina The Jaina is a believer in infinite number of *jīvas* and is not willing to dismiss the plurality as false appearance Reality is infinite in its variety and this has to be accommodated in one's philosophical evaluation The Jaina therefore is not a monist He is not a subjectivist idealist who believes in the reality of his own thoughts and ideas alone He is not a nihilist He believes in all these onesided estimates only as facets of one infinite reality They must be integrated into one whole His difference with the Buddhist nihilist and the subjectivist is on the score of onesided, partial and imperfect evaluation A thing is true in its own place and own character, but is untrue and false in another This falsity *qua* another is compatible with its truth in its own sphere and nature The Jaina does not condemn these thinkers as incorrigible and unregenerate souls destined to be condemned without any chance of redemption The Jaina only seeks to draw the notice of the opponents to the other side of the coin One must

not put the telescope on the blind eye, but try to develop the correct vision which is within the reach of all, and can be acquired only if one chooses *Anekāntavāda* in metaphysics and ethics and so also in epistemology is thus an exponent of the broad liberalism of the Jaina thinker who however is never tired of preaching the infinitude of the modes and grades of the ultimate reality

The Jaina does not believe in vicarious emancipation Every man must realize his ultimate freedom and unless he is earnest in the quest of truth, he cannot help himself out of the rut Mahāvīra is merciful because he has shown us the way to truth, and not because he chooses to take the sins of erring souls on his head as their saviour He gives the saving knowledge which must be acquired and appropriated by every individual as his own Mercy is not exploited for giving an unlimited charter of a sinful career to the sluggards Every man has the power *(vīrya)* to achieve his perfection, and for this he has to depend on his own self He must be grateful to the great prophets who have shown the path to be followed for working off his load of accumulated sins The Jainas have produced a wonderful philosophy and a still more wonderful code of ethics and it is incumbent upon all seekers of truth to cultivate a deep acquaintance with this heritage left to humanity





Shri Ramchandra Jain

THE PRE-ARYAN SHRAMANIC SPIRITUALISM

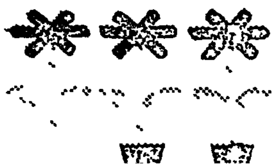
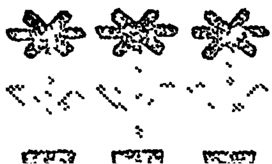
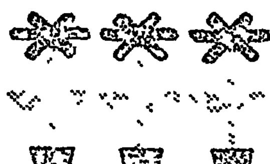
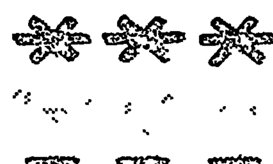
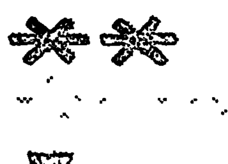
1 *Aryan Migrations* ·

The Āryans of History began their historic migrations Circa 2500 B.C from their original habitat in the South of the Circumpolar region and to the North of the Caspian and Aral Seas covering the northern parts of the mountaneous Eurasian Steppes and the southern part of the thick Siberian forests extending upto the eastern sea-coast This region was known to the post-Āryan ancients as Uttarakuru They reached West Asia circa 2000 B C, Greece circa 1500 B C and Bhārata circa 1200 B C The Āryan hegemony in this region was firmly established by circa 1000 B C and in Egypt by Circa 500 B C It has generally been held by the oriental scholars that the culture and civilization the Āryans annihilated, was definitely far superior, both materially and spiritually, than their own

2 *Spiritual Experiences*

We find a remarkable homegenous culture and civilization, broadly speaking, throughout the vast region stretching from Egypt to Bhārata, stronger at certain points and weaker at others, with necessary variations conditioned by geography and geology, with no other culture opposed to it in any other part of the world till the rise, growth and hegemony of Āryanism Such a significant and deep homogeneity could not be wrought and maintained by mere secular forces. There was something deeper, more serene, fundamentally permanent that governed these forces and gave life, cheerfulness and vivaciousness to the material activities of the people That underlying force of values, principles and standards forged their social ideology that determined the nature of their basic way

Human society, through its long experiences, developed an understanding that in the motley of these ever-changing events, there is something permanent without which the changes would be unmeaningful There is grief, suffering and woe which none cherishes, then why bring grief, suffering and woe to a fellow humanbeing, nay, to any being on earth enjoying life The discovery of the identity of something permanent in the plurality of living beings became the foundation stone of the human society The permanent substance came to be called Ātmā or Soul The discovery of soul was the result of the dialectical historical efforts of the mankind. Human efforts conditioned the nature of society The efforts of individual members of the society reduced the woe and suffering of his fellow beings to the minimum The ideal indivi-



dual efforts began to be directed to the end which would cause the least suffering to the other living beings. The second discovery of the Efficiacy of Effort became the driving force of the Soul These two discoveries combined, led to the third discovery of the Transmigration of Soul If Soul was a permanent substance, it has the capacity to attain its fullest purity This led to the Fourth Discovery of Siddhi or final attainment These four discoveries together constitute the fundamental basis of the Ideology of Spiritualism

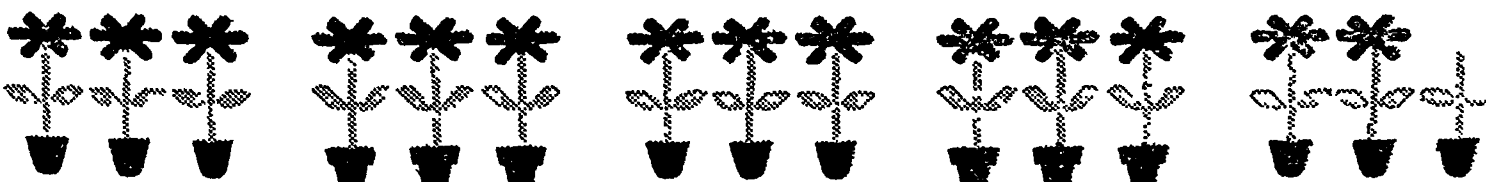
3 *Definition of Shramana*

Ātmic or Inner Effort is the life qua non of the Ideology of the Spirit or Soul The right inner effort leads to Siddhi or Nirvāna Word Shramana stands for the right inner effort Shrama means exercise of the spirit and austerity which are the qualities of the Soul or Spirit The suffix word "N" stands for knowledge Knowledge signifies rightness, Shrama, thus, means "The Spiritual Way" and Sramana, as a follower of this way, is the individual or society pursuing activities in a righteous, spiritual way Soul is inherently free and self-existent and always effortive Shrama or inner effort, thus, allows no fear or compulsion The society founded on the "right inner effort" is a Shramanic society The word Shramana later came to denote an ascetic, a Muni or a Yati following the Jaina or Buddhist way The follower of Shramana came to be called Shramanopasaka But that was not the original meaning of the word Shramana Shramana in its origin, signifies "one who makes effort or exertion with a right inner prospective" The word originally applied to all the stages of life, householder's or ascetic, Shrāvakas or Munis The Shramanic society is one that is founded upon free, fearless and right individual and social effortiveness The pre-Āryan people of the region extending from Egypt to Bhārata had developed the homogenous spiritual way based on right inner effortiveness, hence we may call them the Shramanic people and their region, the Shramanic region The people followed the Shramanic way

4 *Egyptian Shramanism*

The Egyptians believed in Soul, its transmigration to future life and its final attainment When an Egyptian died, he 'went to his ka' This was his material body after death The actual personality of the individual in life consisted of visible body and invisible intelligence The Visible and the Invisible was depicted in one symbol—the human-headed bird with human arms This signified the fact that the material or physical existence of the individual is best typified in the animal while his spiritual existence is his innate intelligence This bird-man is called 'ba' 'Ba' has commonly been translated as Soul This symbolism of bird-man is of great far-reaching significance Egyptians held the animal sacred The immigrant Asiatic people engrafted a more elevated form of belief They believed that animals had certain attributes of divinity They had 'Souls' just like men This symbolism definitely establishes the unity and oneness of spirit in animal and man It is quite certain that the Egyptians believed in body and intelligence, Matter and Spirit [1]

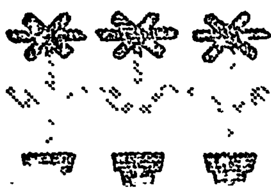
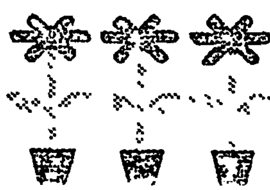
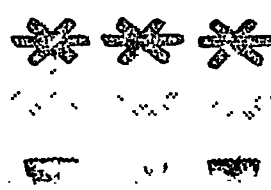
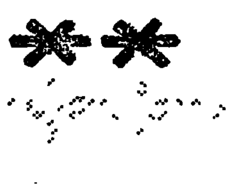
These spiritual beliefs of the Egyptians are contained in the book "The Manifestation of Light" miscalled "Book of the Dead" The essential parts of this book originated in the most ancient times This book claims to be a revelation from Thoth The oldest monumental evidence of the existence of Thoth is available in the oldest existing Egyptian temple belonging to the reign of Chefren (Shafra), the builder of the second pyramid He belonged to the Fourth



Dynasty and lived circa 2800 B C Thoth is the same as Tet Tet was son of Menes (Narmer of Petrie and Breasted) who flourished Circa 3350 B C This Thoth was later regarded as essentially the God of learning, he was the master of the words of God i e the heiroglyphs; he was the scribe and messanger of the Gods, he was the measurer of time and the Mathematician Hesepti or Hesep is mentioned in several copies of the Book as the author of the two of its most important chapters Thoth or Tet and Hesepti or Hesep, the plebians, certainly do belong to the First Dynasty and lived also during the times of Menes The first peaceful coloniscrs of Egypt under the leadership of Menes, as elsewhere shown, came from Bhārata Hence it may safely be alluded that the Bhāratīyan immigrants brought the truths contained in the Book with them in the middle of the fourth millenium B C [2]

The most ancient original chapters of the Book contained the fundamental conceptions of the continuance of Soul after death The thought of the future life occupied a very large space in the Egyptian thought It was felt so real and so substantial that no subsequent thought about future life could match it This process of birth and re-birth re-iterated until a mystic cycle of years became complete, when finally the good and the blessed attained the crowning joy of union with God God, a later interpolation, in this context, is a pure spirit, perfect in every respect-all-wise, almighty, supremely good God is not abstract and 'he doth not manifest his forms' He was neither the 'God' of the Christians nor the 'Personal Brahma' of the Brahmāryans. He was the purest spirit of the individual, good and blessed, attained due to continuous spiritual efforts after the numerous mystic cycle of years Then he became 'Single among the Gods' and 'Lord of the Gods', 'God' meaningless purer spirit than the purest but higher than the average individual. The earliest Egyptians attempted to attain this true and full perfection of his being The purest Soul was the self-existent deity [3] Thus we find that the final aim of the Egyptian was the attainment of full, perfect, purest and everlasting personality till the later part of third millenium B C

The full and final purest attainment was achieved by the self-propelled individual effort What were the guiding principles of this individual effort ? The ideal life of an ancient Egyptian is best given in 125th Chapter of the Book This chapter 'Hall of Truth' is very significant Temples, Priests and Gods were a later growth The individual at his death appears before Osiris in the 'Hall of Truth' The earliest monumental evidence of Osiris (Asura) occurs along with that of Thoth as alluded to earlier Osiris also came to Egypt with the earliest immigrants under the leadership of Menes Animals were sacred to Osiris The original reading of the word Osiris is 'Us-yri'[4] in the sense of the 'Occupier of the Highest Seat' The word 'Us-yri' very intimately resembles the word 'Asura' of Bhārata The word 'Asura' signified a pre-Āryan Bhāratīya institution The Irānāryans borrowed this epithet for their leaders Agni, Indra, Varuna and others[5] in the beginning but after the separation, the Brahmāryans later abondoned its use for the illustrious, powerful, shining and great leaders of their Dāsa and Dasyu adversaries The Brahmāryans were accustomed to the arbitrary kind of word—analysis They created the word 'Sura' in an unjustified manner by isolating the initial 'a' from 'Asura' [6] They, then, applied the word 'Sura' for their Ganapatis and word 'Asura' for the Rājās of their adversaries The Asuras were self-sacrificing people The legend of Osiris is centred round the self-sacrifice of Osiris himself and his regeneration Osiris was regarded as the highest spiritual personage in Egypt and Pharaoh was his sub-



ordinate When the spiritual culture of Egypt began to decline, the later Pharaohs began to call themselves the son of Osiris or living Osiris [7] Osiris was the highest spiritual saint of Egypt and after his death, another such personage occupied his seat The cult of Osiris was the most important cult in Egypt because it belonged to all the classes from the highest to the lowest

5 *Egyptian Shramanic Tenets*

Osiris, by practice and precept, taught the people of Egypt certain basic truths When the individual at his death went before Osiris, he claimed a better future life because he had lived according to the way taught by him That basic way contains fundamental truths which I classify as follows [8]—

I. Tenets of Non-Violence

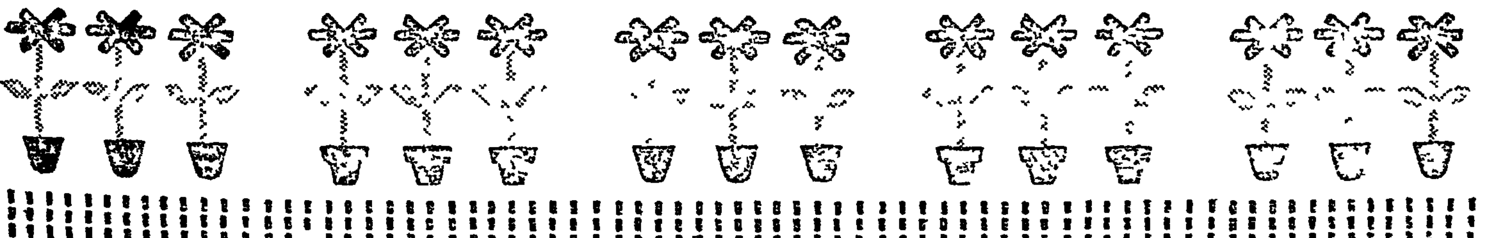
1 I have not slain
2 I have not given orders to slay
3 I have not ill-treated animals
4 I have not driven cattle from their pastures
5 I have not hunted the birds
6 I have not caught fish in the marshes
7 I did not take away food
8 I have not made any one weep
9 I have not done violence to the poor
10 I have not made anyone sick
11 I have not made anyone suffer
12 I did not stir up strife
13 My voice was not very loud
14 I was not an eaves-dropper
15 I have not held up the water in the season
16 I have not dammed running water
17 I have not put out a fire that should have stayed a light

II. Tenets of Truth

18 I did not speak lies
19 I did not make falsehood in the place of truth
20 I was not deaf to truthful words
21 I did not multiply words in speaking
22 My mouth did not wag
23 I did the truth (or righteousness) in the land of Egypt

III. Tenets of Non-Stealing

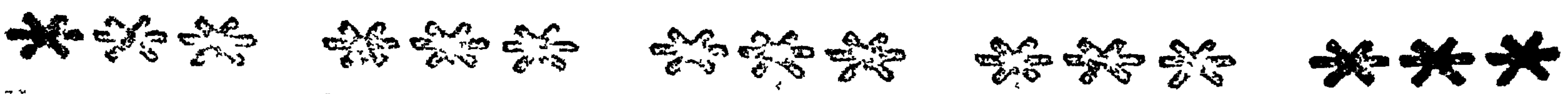
24. I did not steal
25 I did not steal temple endowment and property
26 I have not stolen the cattle of Gods
27 I did not diminish food in the temple



Dynasty and lived circa 2800 B C Thoth is the same as Tet Tet was son of Menes (Narmer of Petrie and Breasted) who flourished Circa 3350 B C This Thoth was later regarded as essentially the God of learning, he was the master of the words of God i.e the heiroglyphs, he was the scribe and messanger of the Gods, he was the measurer of time and the Mathematician Hesepti or Hesep is mentioned in several copies of the Book as the author of the two of its most important chapters Thoth or Tet and Hesepti or Hesep, the plebians, certainly do belong to the First Dynasty and lived also during the times of Menes The first peaceful colonisers of Egypt under the leadership of Menes, as elsewhere shown, came from Bhārata Hence it may safely be alluded that the Bhāratīyan immigrants brought the truths contained in the Book with them in the middle of the fourth millenium B C[2]

The most ancient original chapters of the Book contained the fundamental conceptions of the continuance of Soul after death The thought of the future life occupied a very large space in the Egyptian thought It was felt so real and so substantial that no subsequent thought about future life could match it This process of birth and re-birth re-iterated until a mystic cycle of years became complete, when finally the good and the blessed attained the crowning joy of union with God God, a later interpolation, in this context, is a pure spirit, perfect in every respect-all-wise, almighty, supremely good God is not abstract and 'he doth not manifest his forms'. He was neither the 'God' of the Christians nor the 'Personal Brahma' of the Brahmāryans He was the purest spirit of the individual, good and blessed, attained due to continuous spiritual efforts after the numerous mystic cycle of years Then he became 'Single among the Gods' and 'Lord of the Gods', 'God' meaningless purer spirit than the purest but higher than the average individual. The earliest Egyptians attempted to attain this true and full perfection of his being The purest Soul was the self-existent deity[3] Thus we find that the final aim of the Egyptian was the attainment of full, perfect, purest and everlasting personality till the later part of third millenium B C

The full and final purest attainment was achieved by the self-propelled individual effort What were the guiding principles of this individual effort ? The ideal life of an ancient Egyptian is best given in 125th Chapter of the Book This chapter 'Hall of Truth' is very significant Temples, Priests and Gods were a later growth The individual at his death appears before Osiris in the 'Hall of Truth'. The earliest monumental evidence of Osiris (Asura) occurs along with that of Thoth as alluded to earlier Osiris also came to Egypt with the earliest immigrants under the leadership of Menes Animals were sacred to Osiris The original reading of the word Osiris is 'Us-yri'[4] in the sense of the 'Occupier of the Highest Seat' The word 'Us-yri' very intimately resembles the word 'Asura' of Bhārata The word 'Asura' signified a pre-Āryan Bhāratīya institution The Irānāryans borrowed this epithet for their leaders Agni, Indra, Varuna and others[5] in the beginning but after the separation, the Brahmāryans later abondoned its use for the illustrious, powerful, shining and great leaders of their Dāsa and Dasyu adversaries. The Brahmāryans were accustomed to the arbitrary kind of word—analysis They created the word 'Sura' in an unjustified manner by isolating the initial 'a' from 'Asura'.[6] They, then, applied the word 'Sura' for their Ganapatis and word 'Asura' for the Rājās of their adversaries The Asuras were self-sacrificing people The legend of Osiris is centred round the self-sacrifice of Osiris himself and his regeneration Osiris was regarded as the highest spiritual personage in Egypt and Pharaoh was his sub-





ordinate When the spiritual culture of Egypt began to decline, the later Pharaohs began to call themselves the son of Osiris or living Osiris.[7] Osiris was the highest spiritual saint of Egypt and after his death, another such personage occupied his seat The cult of Osiris was the most important cult in Egypt because it belonged to all the classes from the highest to the lowest

5 *Egyptian Shramanic Tenets*

Osiris, by practice and precept, taught the people of Egypt certain basic truths When the individual at his death went before Osiris, he claimed a better future life because he had lived according to the way taught by him That basic way contains fundamental truths which I classify as follows [8]—

I Tenets of Non-Violence

1 I have not slain
2 I have not given orders to slay
3 I have not ill-treated animals
4 I have not driven cattle from their pastures
5 I have not hunted the birds
6 I have not caught fish in the marshes
7 I did not take away food
8 I have not made any one weep
9 I have not done violence to the poor
10 I have not made anyone sick
11 I have not made anyone suffer
12 I did not stir up strife
13 My voice was not very loud
14 I was not an eaves-dropper
15 I have not held up the water in the season
16 I have not dammed running water
17 I have not put out a fire that should have stayed a light

II. Tenets of Truth

18 I did not speak lies
19 I did not make falsehood in the place of truth
20. I was not deaf to truthful words
21 I did not multiply words in speaking
22 My mouth did not wag
23 I did the truth (or righteousness) in the land of Egypt

III. Tenets of Non-Stealing

24 I did not steal
25 I did not steal temple endowment and property
26 I have not stolen the cattle of Gods
27 I did not diminish food in the temple



28 I have not harmed the food of the Gods
29 I have not falsified the measure of the grain
30 I have not added weight to the scales
31 I have not taken the milk from the mouth of Children.

IV. Tenets of Continance

32 I did not commit adultery with women
33 I did not commit sex-pollution

V. Tenets of Non-Possessiveness

34 I did not rob
35 I did not rob one crying for his possessions
36 My fortune was not great but by my (own) property.
37 I was not avaricious
38 My heart devoured not (coveted not)

Ancillary Tenets

39 I did not stir up fear
40 I did not wax hot (in temper)
41. I did not revile
42 I was not puffed up
43 I did not blaspheme the God
44 I did not do any abomination of God
45 I have satisfied the God with that which he desires
46 I have bread to the hungry, water to the thirsty, clothing to the naked and a ferry to him who was without a boat
47 I make divine offerings for the Gods
48 I am one of pure mouth and pure hands

Right Knowledge

49 I have not known what is not.

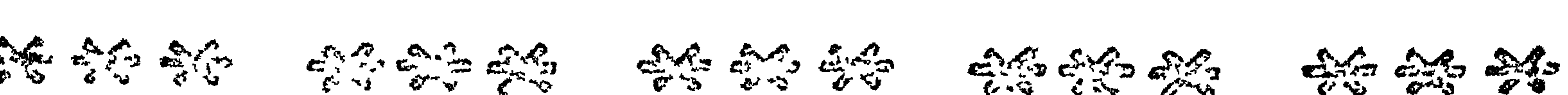
Right Conduct

50 I live on righteousness (samyaktva), I feed on the righteousness of my heart

Final Aim

51. I am blameless.

These injunctions are self-speaking Their human values are obvious Life is sacred as Soul resides in all living beings The recognition of Soul in animal kingdom is significant It is for this reason that animals were sacred to Osiris The religious calendar of the Egyptians contained a number of fasts, some of which lasted from seven to forty-two days Throughout the whole duration of every such period, the priests (or anybody undergoing such fasts) were required to abstain entirely from animal food, from herbs and vegetables and from wine Their diet on these occasions can have been little more than bread and water.[9] Some of the tenets of non-violence are very subtle and go very deep Non-eating of vegetables, abstinance from violence to water and fire indicate that the Egyptians considered Vegetable Kingdom, Water-bodies and Fire-bodies to possess life Greed, expropriation and exploitation are denounced.



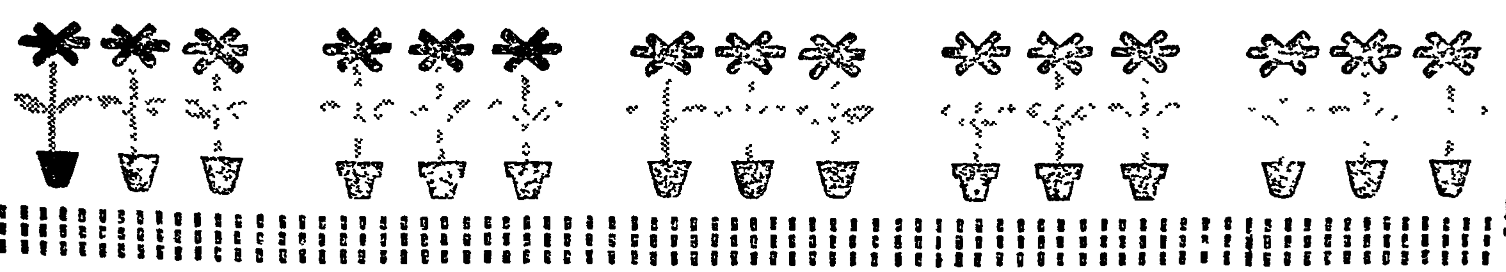
They believed in freedom from fear, balance of tempers, futility of blasphemy and reviling of others, harms of flattery and ill-speaking, help of fellow citizens and purity of speech and conduct He acquired right knowledge and was sincerely effortive to practically implement it in life He made supreme efforts to achieve his final attainment

6 *Sumerian Shramanism*

The Sumerians believed in Soul and its life after death Purer Souls went to the Island of the blest after death The Island of the blest may be compared to heaven The darker Souls went to the Nether Worlds, a dark, gloomy and damp place meant merely to trouble the living[10] The Sumerians believed in the plurality of Souls They had firm belief in the immortality of the Souls[11] Immortality was the permanent and ever-happy existence of the Soul

The Sumerians are described as pessimistic people unlike the optimistic Egyptians I do not think the Sumerians to be a pessimistic people In spite of the lamentation rituals and penitential hymns, they believed in the immortality of Soul through self-suffering The righteous man bore sufferings with joy Whatever suffering may come and however unjust it may seem, the righteous man confesses his sins and awaits his liberation from suffering When liberation is achieved, the suffering is turned into joy The suffering of the Sumerian originated from his convictions in self-control, conscious effacement, fellow-feeling and in the living belief in immortality The Sumerians did not enjoy life because they did not want to usurp to themselves alone the material benefits, thus depriving their fellow beings of them They believed that self-suffering would make their Souls purer accompanied with the firm assurance that the fruits of their suffering would ripen in a better future life They extended the quality of their suffering to this extent that they accepted voluntary death in the assurance of a life to come[12] The famous excavator of Ur Sir Leonard Woolley had dug many graves, which he calls Royal Cemetery, wherein many dead bodies are found in straight and happy postures Some bodies of women are wearing ornaments of gold, lapis lazule, silver and other precious metals No single grave has any figure of a God The graves contain many dead bodies indicating voluntary group deaths So many people could not be forced to accept death on the expiry of a single person, royal or otherwise, to accompany him in the future life Woolley also concedes that all this paraphernalia indicates that the dead persons had belief in future life[13] Compulsory death at the order of some one else does not bring a happy future life It is only voluntary suffering that assures a better future life This phenomenon goes very deep and nearer to the Jain belief in Samlekhanā Samthārā (Voluntary Spiritual Death)

Gilgamesh was the fifth ruler of the first post-diluvian dynasty of Uruk He was ordained to enjoy kingship but not the permanent immortality which he cherished most He took to journey through the forest along with his friend Enkidu whom he lost in the middle of the journey Gilgamesh repented his friend's death very much and set out in the search for ever-lasting life He reached the shores, with the help of a ferry man, of the land of Dilmun He went to Utnapishtim who alone possessed the ever-lasting life Utnapishtim imparted Gilgamesh these immortal words of wisdom, "There is no permanence All men are to die Despise worldly Gods Save your Soul alive Abhore sins and transgressions" This was the mystery, the secret revealed by Utnapishtim to Gilgamesh[14] The land of Dilmun, to which



Gilgamesh went, was a country pure, clean, bright, where even utters no cries, the lion kills not, the wolf snatches not the lamb, unknown is the kid-devouring wild dog, unknown is the grain-devouring, (unknown) is the widow, without the sick-eyed, the sick-headed, without old man and woman, having no wailing priests and singers. The city of Dilmun was situated on the mouth of the rivers and possessed furrowed fields and farms Dilmun was situated to the East where the sun rises Uruk was at a distance of forty-five days journey to the West by sea from Dilmun There one day was equal to one month Grain was cultivated abundantly there The orchards of Dilmun were full of cucumbers, apples, grapes and various other plants [15] Sumerologist Dr. Kramer identifies Dilmun with the land of Indus Valley civilization [16] Bhārta was the land of non-violence, peace, abundance and immortality referred to in these Sumerian accounts in the beginning of the third millenium B C. Ancient Sumer looked to Bhārta for spiritual guidance

7. *Sumerian Shramanic Tenets*

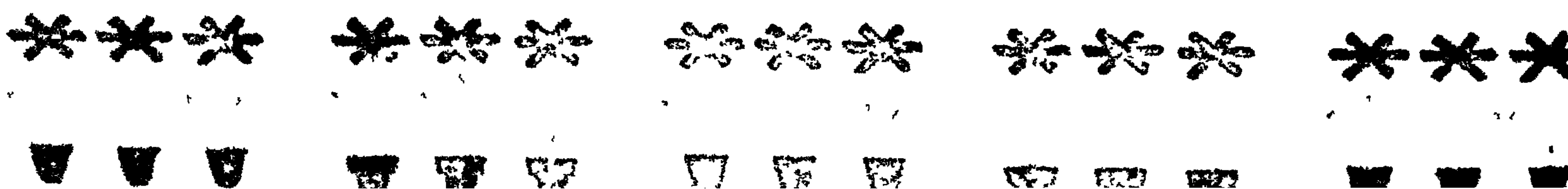
A pure and clean life was attained by an individual soul through his or her personal efforts He had to follow an ethical code of conduct. He had to adhere to strict moral standards. Misfortunes came as rerults of moral transgressions—such as lying, stealing, defrauding, maliciousness, adultery, coveting the possessions of others, unworthy ambitions, injurious teachings and other misdemeanours [17] The Sumerian spiritual tenets are, like the Egyptian, not available at one place. They have been collected from various places and have been re-arranged in order here [18].

I. Tenets of Non-Violence

1 Shedding of blood is sin
2 Bringing of estrangement between father and son, son and father, mother and daughter, daughter and mother, mother-in-law and daughter-in-law, daughter-in-law and mother-in-law, brother and brother, friend and friend, companion and companion is a sin
3. Keeping a person bound as a captive and a prisoner is a sin
4. The avoidance of light to a prisoner and torture to him is a sin
5. The neglect of father and mother and insult of elder sister is a sin
6. Causing separation of a united family is a sin
7. Over stepping the just bounds is a sin
8. The following of the path of evil is a sin
9. Be helpful, be kind to the servant
10 Not releasing a freed man out of the family is a sin
11 Setting himself up against a superior is a sin.
12. Tyranny, cruelty and oppression are sins
13. Protect the maid of the house

II. Tenets of Truth

1. Speaking 'no' for 'yes' and 'yes' for 'no' is a sin.
2. Frank mouth with a false heart is a sin
3 The teaching of impure and instructing of improper is a sin
4 Drawing a false boundary, not drawing the right boundary is a sin.



5 Slander is a sin
6 Speaking of evil is a sin
7 Boasting and speaking in anger is a sin
8 Speaking of low and unkind words is a sin
9 Seeking of right and avoiding of wrong is a human virtue
10 Speaking of 'yes' with mouth and 'no' with heart is a sin

III. Tenets of Non-Stealing

1 Using of false weights is a sin
2 The removing of limit, mark or boundary is a sin
3 To possess the neighbour's house is a sin
4 Stealing of a neighbour's garment is a sin
5 Taking of wrong sumand not taking the correct amount is a sin
6 Cheating and defrauding are sins

IV. Tenet of Continence

1 Polygamy is a sin

V. Tenets of Non-Possessiveness

1 Giving too little and refusing a larger amount is a sin
2 Not giving the promised is a sin

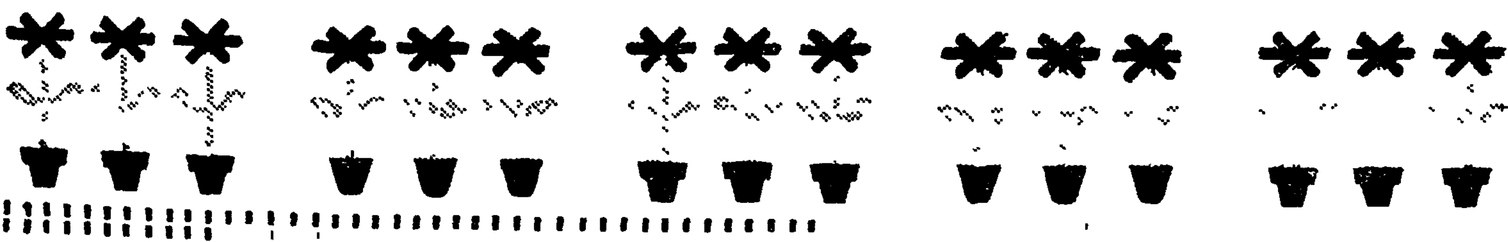
The spiritual tenets followed by the ancient Sumerians clearly reveal their basic spiritual character The Sumerians achieved Immortality through personal efforts, not by the grace of God or Brahma They moulded their earthly institutions in consonance with their basic beliefs

8 *Bhāratīya Shramanism*

Bhārata is the birth place of the ideology of Spiritualism We do not possess extent literature of the Pre-Āryan Bhārata The Harappa script, even if rightly deciphered, may only help a little

The present Bhāratīya spiritual thought may be divided into three currents, the Brāhmanic, the Buddhist and the Jainist The later two thoughts are well-known as Shramana ideologies distinguished from the Brāhmana ideology The Jain and Buddhistic tenets are essentially similar. Both believe in the spiritual tenets of Non-violence, Truthfulness, Non-stealing and Perfect Continance Buddha replaces non-possessiveness or non-attachment by Liberality The other spiritual tenets of both are strikingly similar [19] The Jain thought is pre-Buddhistic Twenty-third Tīrthaṁkara Pārsva preceded Buddha Pārsva is now accepted as a historical personage [20] Buddha fully accepted the Chuajjāma of Pārsva Buddha developed his religion on the foundation of the Chaujjāma of Pārsva [21] The Chaujjāma of Pārsva was developed into Pancha-Mahavrata of Mahāvīra Of these two Shramanic thoughts, we may safely rely upon Jaina Sūtras to represent the pre-Buddhistic spiritual thought

Upanisadas represent the Brāhmanical spiritual thought As shown elsewhere, the Brāhmanas did not accept spiritualism truthfully They borrowed spiritual thoughts from their pre-Āryan adversaries, now friends, in a perverted manner They never honestly accepted the Doctrine of Non-Violence. The word Ahiṁsa occurs only once in the Pre-Mahāvīra Upaniṣad, the



Chhāndogya Upaniṣad. Non-Violence and Truthful-Speech, here, are enumerated amongst the gifts of the priests Chhāndogya recommends only the truthful speech, not the truth in entirety. The gift of non-violence is done away with by another reference in the same Upaniṣad where violence is permitted at holy places[22] The pre-Upaniṣadic Vedic thought is purely materialistic Hence we cannot look to Upaniṣads for comparing the Bhāratīya spiritual thoughts with those of Egypt and Sumer

When the Brahmāryans penetrated the frontiers of Western Bhārata, we find asecetics and Yogīs surviving from pre-Vedic and pre-Āryan times They are called 'Mun s' in Vedic literature and Shramanas in the age of Buddha and Mahāvīra Muni was to the Rigvedic culture an alian figure Asceticism is directly opposed to the entire Weltanschauung of the Rigveda-Saṁhita. The Shramana sects held towards the world an attitude of ascetic pessimism, disbelieved in a personal cause or creator of the universe, accepted plurality of souls and an ultimate distinction between Soul and Matter, regarded the world of common sense as real as due to one or more real factors at least partly independant of the soul, and consequently regarded as indispensable for salvation some form of strenuous practical discipline aiming at affecting a real alteration in the situation of Things The Shramanic culture was ascetic, atheistic, pluralistic and 'realistic' in content This comes out clearest from a consideration of the earliest faith of the Jainas—one of the oldest living surviving sects of the Munis The pre-Upaniṣadic materialistic (Pravrtti-Dharmic) Vedic thought later evolved psuedo-spiritual thought (Nivrtti-Dharmic) mainly through the influences of the Muni Shramana culture, in pre-Buddhistic times, within its fold[23]

The Āchārāṅga is the most ancient extant Jaina Sūtra going probably to fourth century B C. The pre-Āryan spiritual ideology of the Muni-Shramana culture of Bhārata, in its pristine glory, has been preserved in this Sūtra Mahāvīra's followers moulded in the past and mould in the present their conducts according to the precepts ordained in this Sūtra We learn from Uttarādhyāyana Sūtra that Pārsva and his follower saints followed the same code of conduct which was later followed by Mahāvīra and his follower saints The Āchāra of both the Tirhaṁrkaas was of the same quality The integrity of the precepts enjoined upon saints in the Āchārāñga Sūtra, thus goes back to the Ninth Century B C Vṛṣabha has been unanimously accepted as the First Tīrthaṁkara Rigveda knows Vṛṣabha who differentiated between Spirit and Matter.[24] Āchārāñga differentiates between Spirit and Matter. Āchārāuga, therefore, is entitled to more weight and authority from the scholars than it has hitherto been given

The pre-Brahmāryan Bhārtīyan, firstly, believed in Soul[25] They divided the world in six substances · Dharma (Motion-Medium), Adharma (Rest-Medium), Space, Time, Matter and Souls The characteristic of soul is knowledge, faith, conduct, austerities, energy and realisation The characteristic of Matter is sound, darkness, lustre, light, shade, sunshine, colour, taste, smell and touch Dharma, Adharma and Space are each one substance only, but time, matter and soul are an infinite number of substances.[26] In the final analysis, the first four substances are included in the category of Matter The world, thus, remains constituted of Soul and Matter or Spirit and Matter Secondly, they believed in the doctrine of the transmigration of soul A soul that does not comprehend and renounce the causes of sin takes manifold births[27] All living beings owe their present form of existence to their own Karma (Resultant-Effortiveness) Imperfect men whirl in the cycle of births, old age and death[28]



The Bhāratīyan divided the Saṁsāra (World), where the souls whirled, in Lower Regions, Central (Earthly) Regions and Upper Regions The Egyptians divided the world into Hades, Earth and Heaven and the Sumerians in to Nether World, Earth and Heaven or the Land of the Blest Thirdly, Bhāratīyans believed in the doctrine of Final Attainment The awakened persons having Right-View (Samyaktva)[29] shall, one day or the other, have Final Attainment Salvation and Liberation are imperfect words which do not carry the full significance of the concept of Siddhi The nature of the State of Siddhi is inexpressible in words The path of births is quitted [30] Soul completely detaches itself from Matter It is the state of spiritual perfection and consummation of knowledge Siddhi is known to the Egyptians as Blamelessness and to the Sumerians as Immortality, though the contexts make them only a diluted Siddhi The Bhāratīyans, fourthly, believed in the doctrine of Karma (Resultant-Effortiveness) The soul is inherently free It is free to do good or evil Matter is bondage and bondage is Samsāra (World) The freedom of soul rules out any interference by one soul in the freedom of the other soul All the living beings are like one's own self [31] No exterior force bestows upon man, Siddhi A man has to earn it by his own incessant and persistant right personal efforts The Right Knowledge in Truth and Existence is the first requisite The second requisite is Right Faith The third requisite is Right Conduct The path of Right Conduct, with Right Faith in the final aim and the path leading to it, armed with Right Knowledge leads to Final Attainment The Right Effort, thus, is of supreme importance in life

9 *Bhāratīya Shramanic Tenets*

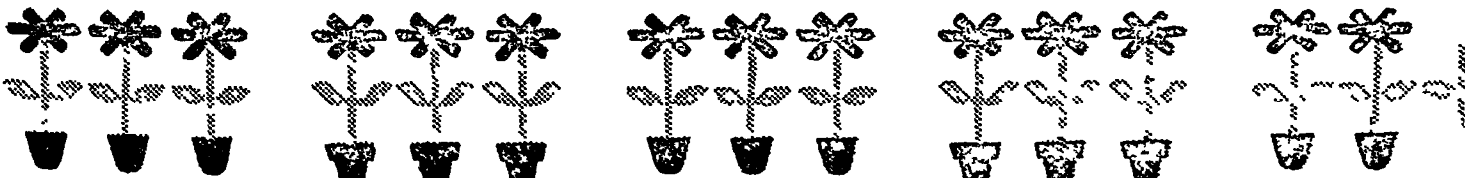
Āchārānga Sūtras is the embodiment of the doctrines of Right Effort Āchāra means Right Effort The causes of sins and transgressions have to be removed by following the spiritual way This ideal right way is prescribed for a Muni (Saint) He follows these spiritual tenets in totality A householder follows these spiritual tenets only partially There is only the difference of degree, not of the content The path is one and the same for both Bhāratīya Spiritual Tenets are thus prescribed in Āchārānga Sūtra

I. Tenets of Non-Violence[33]

1 Do not injure earth-bodies
2 Do not injure water-bodies
3 Do not injure fire bodies
4 Do not injure plants
5 Do not injure animals
6 Do not injure wind-bodies
7 The learned kills not, nor causes other to kill, nor consents to the killing of others
8 Walk carefully to avoid injury to others
9 Purify mind to control blamable actions
10 Speak carefully not to hurt others
11 Lay down carefully to avoid injury to others

II. Tenets of Truth[34]

1 Nirgrantha practises Truth constantly
2 Nirgrantha accepts Truth in totality



3 Speak with deliberation to avoid falsehood
4 Be not angry. Anger brings falsehood
5 Be not greedy
6 Fear not
7 Renounce mirth

III. Tenets of Non-Stealing[35]

1 Taking the life of others is thievery
2. A Nirgrantha does not accept anything without being given
3 A Nirgrantha begs after deliberation for a limited ground
4 A Nirgrantha consumes his food and drink with permission.
5 A Nirgrantha should take ground only for a limited period
6 The grant should be constantly renewed

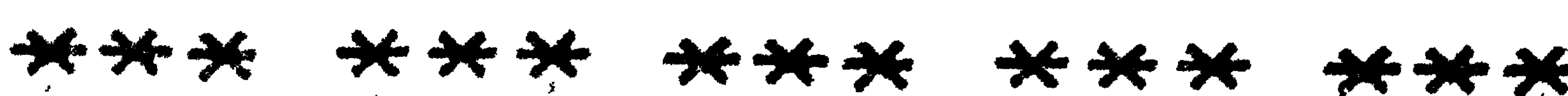
IV. Tenets of Continance[36]

1 A Nirgrantha renounces all sexual pleasures
2 There should be no discussion of topics relating to women
3 The lovely forms of women should not be contemplated
4 Former sexual pleasures and amusements should not be recalled
5 Eating and drinking too much, eating of highly-seasoned dishes and drinking of liquors is forbidden to a Nirgrantha
6 A bed affected by women, animals or eunuchs should not be occupied

V. Tenets of Non-Possessiveness[37]

1 The Nirgrantha renounces all possessions, all attachments
2 There should be no attachment to pleasant and unpleasant sounds
3 There should be no attachment to agreeable and disagreeable forms
4. There should be no attachment to agreeable and disagreeable smells
5 There should be no attachment to agreeable and disagreeable tastes
6 There should be no attachment to agreeable and disagreeable touches
7 A Nirgrantha should not accept food more in quantity then required

These five tenets or Pancha-Mahāvratas are ordained for a Nirgrantha, a Muni, a Saint He shall follow the precepts of non-violence, truth, non-stealing, continance and non-attachment in totality without any exception in any condition at any time or place whatsoever But every member of the society cannot become a Saint Ordinary householders cannot completely follow this path They may tread a part of it but the path is the same A householder follows these tenets in diluted forms. We have seen many more tenets being followed by the Egyptians and the Sumerians Non-cruelty to cattle, birds and fish, bringing not tear and suffering to others, falsification of avarice and covetousnes, reviling, puffing and blaspheming, and many more such other tenets, followed by Egyptians and the Sumerians, are only lower forms of one or the other of the above five Supreme Tenets or Great Vows The spiritual precepts were practised in totality without exception in Bhārata The ordinary citizens followed Smaller Vows or Anuvratas[38] just like the Egyptians and the Sumerians



9 *Pre-Hellenic Ægean Shramanic*

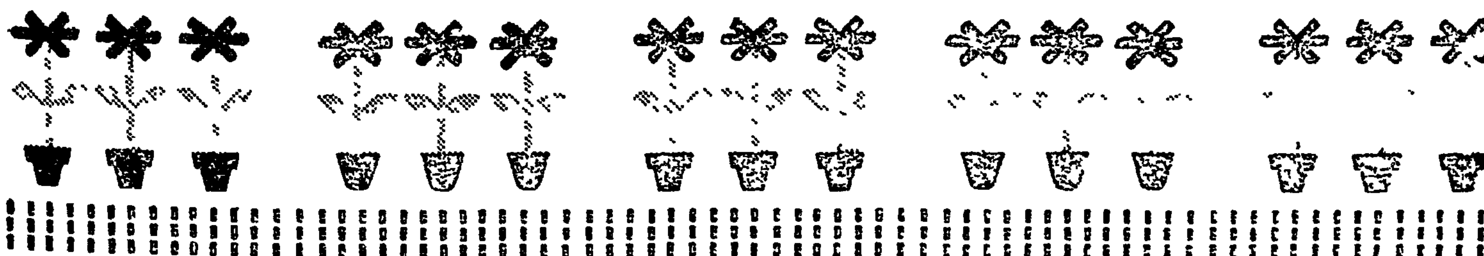
The archaeological excavation in Greece, Crete and other Ægean islands have unearthed the Pre-Āryan Minoan culture in the Ægean but the Minoan script has not so far been satisfactorily deciphered and we gather the contents of the pre-Hellenic picture of Greek culture and civilization mainly through the material relics brought to light by the grace of archaeologists A bronze statue of 'Reshef' belonging to the 12th century B C discovered at Alasia near Enkomi in Cyprus has been discovered The statue has two significant horns This Reshef of Western Asia has been identified with Riṣabha of Bhārata who was the common inherited God of the Pheonicians, Amrorites and the Arameans He was a deified personage of history belonging to a hoary past beyond any historical date but he was a very popular God in Egypt, Western Asia and the Mediterranean Circa 3000 B C [39] Reshef or Riṣabha was the spiritual leader of the pre-Āryan neolithic Cretans He may safely by identified with the pre-Āryan Bhāratīya Riṣabha of the most ancient Hoary past, the founder of the Bhāratīya Shramanic Way The Greekāryans firmly rooted their final supremacy in Greece and the Ægean Circa 1000 B C The spiritual Risabha traditions still lingered on even after this event After the establishment of the Greekāryan authority, the synthetic forces acted and reacted upon each other and the foreign Āryan rulers borrowed much from the defeated erstwhile masters of the lands Thereafter a great Greek, Dionysus, son of Zeus and Persephone, developed a religion which was savage and repulsive in original form He was the God of primitive tribal Greek agriculturists following the ways of Ganapati Indra in tribal drinking of wine Dionysus was a great success in Greece, but under the new set of circumstances, that could not continue for long and another great Greek, Orpheus of Crete, influenced by the spiritual way of life gave the Greek religion an ascetic content. Orpheus believed in soul and its transmigration The Orphics believed that Man is partly of earth and partly of heaven, meaning thereby that Man is the union of Spirit and Matter They believed that by a pure life, the heavenly part is increased and earthly part decreased The soul in the next world acheived salvation The Orphics abstained from animal food. It is certain that Orphic doctrines contain much that seems to have its first source in Egypt and it was cheifly through Crete that Egypt influenced Greece Orpheus was torn to picence[40] for reforms in the Olympian religion Orphism was the Greek spiritual revivalism as Buddhism was the Bhāratīya spiritual revivalism

The belief of Orphism in Soul, Effortivism, Transmigration and final Attainment are not only peculiarly Egyptian but significantly enough, strikingly similar to the Bhāratīyan beliefs, and also with the Sumerian beliefs If these beliefs went to Crete via Egypt, they must have gone during the period of old Republic in the beginning of the third millenium B C.

11. *Pre-Aztec American Shramanism*

The earliest immigrants, in point of time, to America were the Quatzalcoatl people who reached there Circa 2000 B C Quatzalcoatls mean "feathered serpants" or "bird-serpants". They came from the East and departed eastward Quatzalcoatl was the leader of these first immigrants, the earliest inhabitants of the land

What was the ethnic stock that they belonged to ? Votan was, like Quatzalcoatl, the first historian of his people, and wrote a book on the origin of the race, in which be declares himself



a snake, a descendant of Imos, of the line of Chan, of the race of Chivim 'Chan' signifies snake Chivim refers to Tripoli, and that is same as Hivim or Givim, the Pheonician word for snake, which again refers to Hivites, the descendants of Heth, son of Canean Votan expression means "I am a Hiviti from Tripoli", Votan peoples were the Sea-faring people and expert international traders [41]

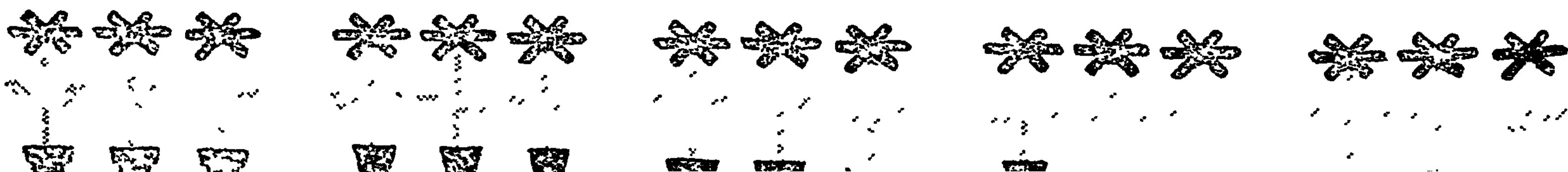
Mackenzie rejects the theory that Semities or Celts or Norsemen or any other people first discovered America Scholars, Mackenzie including, hold the view that the Pheonimicans were the first immigrants to America. The question remained debatable for pretty long time whether Pheonicians reached America via Atlantic Ocean or via Pacific Ocean The latest view is that the Pheonician navigators reached America through Poloynesia via Pacific Ocean Phoenicians were the original Panis[42] of Bhārata who belonged to the Ahi or Nāga race of Bhārata [43] The inseparable association of the Quatzalcoatl people with snakes clearly identifies them with the Panis of the Ahi race of pre-Āryan Bhārata

The Quatzalcoatl people believed in peace, penance, chaste life and ordered progress They introduced agriculture, industry, and art of Government They were opposed to war and human sacrifice Their leader Quatzalcoatl lived a chaste life, practised penance. He abstained from intoxicating drinks and was a celibate He hated war and violence and instead of offering up in sacrifice animals or human beings. he offered bread, roses, other flowers, perfumes and incense The culture-hero Quatzalcoatl is represented in art sitting in a meditative mood in Padmāsana posture with eyes closed having two hooded horns [44] The horn emblem was taken to America by the Panis who took the same to Sumer, Egypt and Crete They were the group of people who first arrived on the continent, later to be known as America, driven by that mighty current that set out from India towards the East [45] The figure of the representative Pani depicts a robust trader, standing erect, with folded hands having Rajasthani features and whose head is adorned with a Marwari Pugaree (Head-dress) [46] May be, Panis of Rajasthan, having their seat of power at Arbuda (Modern Mount Abu) sailed off to America from some Indus port

12 *Epilogue*

We thus, find that the basic spiritual way of the people inhabiting the region extending from East to West in the Southern hemisphere was founded upon the basic doctrines of non-violence, truth, non-stealing, continance and non possessiveness This basic way increased the ever-progressive free spirit of the person The man is inherently free and fullest freedom is his final goal The free man completely depended upon his free personal efforts, unaffected by any external agency, to attain his goal His liberation or salvation did lie with him alone and nowhere else The central driving force of the ancient Bhāratīyans, Sumerians, Egyptians and the rest was Right Personal Effort Their society may be called Effortive Society, their culture, Effortive Culture and their civilization, Effortive Civilization Theirs' was the Effortive Way. We may, therefore, rightly call the pre-Āryan society of the region, the Shramanic (Effortive) Society and its way, the Shramanic (Effortive) Way Their way of life, in essence, was founded upon the ideology of Shramanic spiritualism

The Shramanic Way of the pre-Āryan ancients of this vast region of the Southern Hemisphere also reflected itself in the economic, social, political and administrative institutions of the



people but that is a different subject of vast magnitude It has been properly dealt with in my unpublished book "The Most Ancient Āryan Society"

REFERENCES

1 *J H Breasted* Development of Religion and Thought in Ancient Egypt, 1959, Pages 52, 55, 56, 418

2 (a) *G Rawlinson* History of Ancient Egypt, 1881, Vol I, Page 136, Vol II, Pages 38, 31, 28

(b) *M A Murray* The Splendour that was Egypt, 1959, Pages 330, 161

3. *G Rawlinson* Op Cit, Vol II, Page 39, 40, Vol I, Pages 314, 314 Note No 3, 319

4 *M A Murry* Op Cit, Page 165

5 *Rigveda* 1 6 2 14, 1 21 12 4, 1 23 10 1, 2 3 5 10, 5 2 1 1, 5 2 13 1, 5 4 7 11, 5 6 11 6, 7 2 13 3, 7 4 1 24, 8 5 12 1, 9 4 6 1

6 *J Prayluski and Others* The Pre-Aryan and Pre-Dravidian in India, 1925, Page 132, Note I

7 *M A Murray* Op Cit, Pages 165-167

8. *James B Pritchard* Ancient Near Eastern Texts, Relating to the Old Testament, 1955, Pages 34, 36 The re-organisation of the Tenets is mire

9 *G Rawlinson* Op Cit Page 439

10 *Morris Jastrow* Aspect of Religious Beliefs and Practice in Babylonia and Assyria; 1911, Pages 149, 351, 353, 355

11. *H F Talbot* Babylonian and Assryrian Literature, Pages 117, 198

12 *S Moscati* The Face of the Ancient Orient, 1960, Pages 31, 45

13 *L Woolley* Excavations at Ur, 1955, Pages 55, 58 and Chapter III, "The Royal Cemetery"

14 *N K Sanders* The Epic of Gilgamesh, 1960, Pages 15, 104, 109

15 *James B Pritchard* Op Cit, Pages 38, 40, Enki and Ninhursag, A Paradise Myth

16 *Dr Kramer* Hindustan Times Dated 15-1-1962, Page 3

17 *M Jastrow* Op Cit, Page 377

18 *M Jastrow* Op Cit, Pages 307-309, 389-390

19 *H Jacobi* Jaina Sūtras, (S B E Series) Vol XXII, Pages 22-24.

20 *H Jacobi* Jaina Sūtras, (S B E Series) Vol VI, Page 21

21. *Dharmanand Kaushambi* Parsvanātha Kā Chāturayāma Dharma (Hindi), 1957; Pages 30-31.

22 *Chhāndogya Upanishad* 3 17 4, 8 15 1.

23 *G C Pande* Studies in the Origins of Buddhism, 1957, Pages 257-261

24 *Rigveda* 7 6 12 6

25 *Achārānga Sūtra* 1 1 1 5

26 *Uttarādhyayana Sūtra* 28 6 12

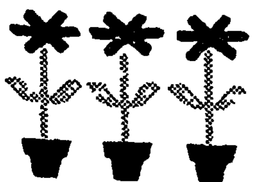
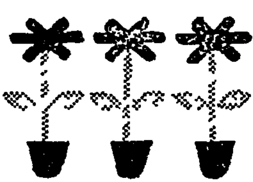
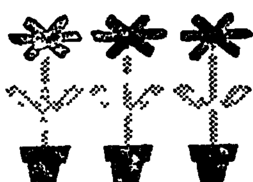
27 *Achārānga Sūtra* 1 1 1 6

28 *Sūtrakritānga Sūtra* 1 2 2 2, 1 2 3 18

29 *Achārānga Sūtra* 1 4 4 3-4

30 *Achārānga Sūtra* 1 5 6 4, Book II Lecture 16

31 *Achārānga Sūtra* 1 3 3 1

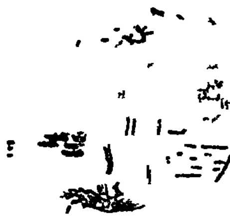


32 *Uttarādhyayana Sūtra* 28 2.28.30.
33. *Achārānga Sūtra* 1.1.2 6, 1 1.3 7, 1.1 1.7, 1.1.5.7, 1.1 6 6, 1.1.7.5; 1 3 2.4; 2.15.1.1-5.
34. *Achārānga Sūtra* · 1 3 2 1, 1 3 3 3; 2.15 2 1-5.
35 *Achārānga Sūtra* 1.1 3.7; 2 15 3. 1-5
36. *Achārānga Sūtra* 1 5.4 4, 2 15 41-5.
37 *Achārānga Sūtra* 1.2 5 3, 2 15 5 1-5.
38 *R C Jain* Ancient Egypt and Anuvrata (Hindi); Achārya Shri Tulsi Abhinandana Grantha, 1962, Pages 103-112. The Egyptian and Bhāratīyan Spiritual Tenets have been comparatively studied in this paper
39. *R C Harshe* The Historic Importance of the Bronze Statue of Reshef Discovered in Cypress; Bulletin of Deccan College Research Institute, Vol XIV, Pages 230-236. The Figure of Reshef has also been given in the beginning
40. *Bertrand Russell* History of Western Philosophy, 1954; Pages 32-35.
41. *D A Machenzie* Myths of Pre-Columbian America, Pages 265-266.
42 (a) *A C Dass* Rigvedic India, 1927, Page 192 ff
(b) *A C Dass* Rigvedic Culture, 1925, Page 88
43 *Rigveda* 1.7 2 11, 5 3 2 6-7, 7 1 6 3.
44 *D A Mackenzie* Op Cit, Pages 257-258, Figure 3 on Plate Facing; Page 256.
45 *History of Mexico* (Mexican Government Publication); Page 3; Quoted on Page 16 of Chamanlal's 'Hindu America', 1956
46 *D A Machenzie* Op Cit, Figure Faces; Page 28



Dr. Bool Chand

AHIMSA, THE BASIC SOCIAL ETHIC



All thoughtful people in the world today are thinking more and more in terms of Ahimsa (Non-violence) as the only real solvent of world conflicts Occasionally they do so without actually employing the term 'Ahimsa'. The great English philosopher Bertrand Russell has, for instance, in his book entitled 'New Hopes for a Changing World' spoken about the perplexities which torment mankind at present and tried to build up courage by pointing out that the rebuilding of 'all the impulses that are creative and expansive' would save men from moral perplexity and from remorse and the condemantion of others This is the new ethic which Russell offers to the world as a remedy of its difficulties , and it is nothing other than Ahimsa as preached by the leaders of religion in the East from quite immemorial times

This new ethic, says Bertrand Russell in his book, 'depends upon harmony with other men'. With its help 'it will be easy to live in a way that brings happiness equally to ourselves and to others' If man, says Russell could feel in the way indicated by this new ethic, not only his personal problems but also all the problems of world politics, even the most abstruse and difficult, will melt away Suddenly, as when the mist dissolves from a mountain top, will the landscape be visible and the way be clear

Bertrand Russell has acquired great reputation as a clear-headed philosopher His reasoning is at once penetrating and satisfying It is therefore a matter for some surprise that he should have failed to clearly mention that the new ethic described by him is only Ahimsa, which had been preached in India by the great savants Mahavira and the Buddha These religious teachers had made Ahimsa the basic idea of their thouhgt structure

That the acceptance of this ethic by the people will help man to solve his many conflicts, Bertrand Russell is quite clear and even rather dogmatic about In his book he has made anelaborate argument that it is in the nature of man to be in conflict with something and that there are three kinds of conflict in particular which pursue mankind, (1) the conflict of man and nature, (2) the conflict of man and man and (3) the conflict of man and himself, and in a statement which is full of learning and historical details he has reasoned out his optimistic conclusion that in our society which would be recreated consequent upon the acceptance of this new ethic not only shall we secure 'the happy man' but we shall also be in sight of 'the happy world' The happy man, according to Russell, would be a man without fear, and the happy world would be the world in which the three conflicts spoken of above have been effectually conquered, the conflict of man and nature by the establishment of an international authority controlling the production and distribution of food and raw materials and also tackling the population problem by the enforcement of a universal system of family planning, the conflict of man and man by



the concentration of all really serious weapons of war in the hands of the international authority so created, and the conflict of man with himself by organising a world-wide system of public education which would provide for the protection of the individual against at once the hostility of the herd and his own fears

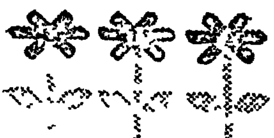
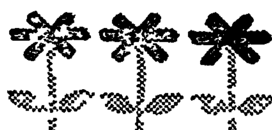
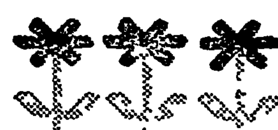
Not only does Beftrand Russell give no name to this new ethic, he even feels that it can scarcely be called an ethic at all, as it primarily depends upon harmony between man and man To this basic social ethic, of which the characteristic feature is harmony betwcen man and man, the name that was given by the teachers of religion in the East was Ahimsa

It is important to know that when some representatives of the major religions of the world met in Delhi in 1957 in a World conference of Religions and when they felt that it was high time for religions to give up their mutual bickerings and to strive to create an atmosphere of mutual respect and harmony in the world, they could not think of a better way of doing it other than by establishing an institute of research in the potentiality of Ahimsa Their reasoned faith was that as knowledge is power, the mere bringing out the power of Ahimsa by an objective study of humanities and the great spiritual movements of the world through succeeding ages would act as an impelling force to foster love and brotherhood among men, races and the nations

Ahimsa is in reality the basic social ethic It takes its birth in sociality in human nature, and it builds its whole edifice on that principle It emphasises all those qualities which would inexorably lead to the fortification of the social life of mankind by the ending of all conflicts based upon differences of race, religion or creeds These conflicts, so say the psychologists, are born of human narrowness, selfishness, greed, suspicion, hatred and self-assertiveness Ahimsa therefore aims at the eradication of all these proclivities of men. It forswears prejudice, ignorance and short-sightedness Only by the preaching and practice of Ahimsa has the sway of civilisation shown itself in the history of human social evolution Of all the forces which have functioned in human history as solvents of conflict, Ahimsa has naturally been by far the strongest and the most powerful Ahimsa alone has stood for integration and emotional understanding as distinguished from the superimposition of one specific belief or habit of life upon another

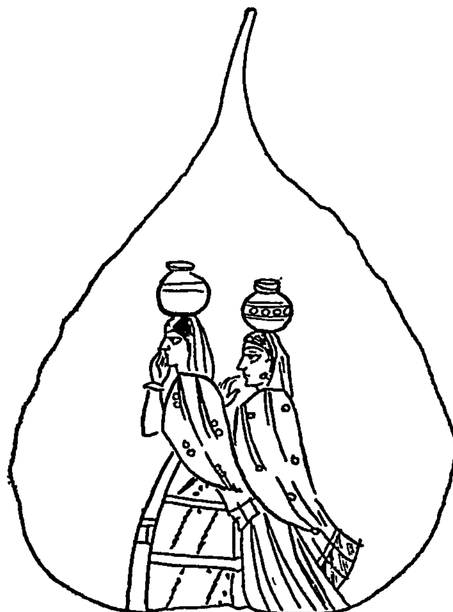
Conflicts of one kind or another have tormented the world only when the force of Ahimsa as a dominant factor in total human affairs has been allowed to grow weak. Bertrand Russell in his book has pointed his accusing finger to the fact that man's gregariousness is a limited instinct and that beyond a certain degree it is a product rather of self-interest than of instinct His argument runs as follows . Ants and bees instinctively serve the purposes of their group, they have no need for morals and decalogues and apparently never feel any impulse to sin Gregarious mammals are not so completely dominated by the herd instinct as ants and bees are, but have less tendency to individualism than human beings have In human beings there is a constant conflict between the individual and the herd instinct, a conflict which as a rule is subjective and waged in the mind of the individual but occasionally it breaks out into open disagreement Russell further says that the forms taken by this disagreement depend upon the size and character of the herd

That naturally leads Bertrand Russell to the tracing of the evolution of social grouping from the family to the tribe and thence to the national group There, however, he stops, we think

quite improperly and unjustifiably. Even his view of the psychological make up of man is not quite adequate, as he has related it to the prevailing social system today Human evolution has no doubt followed the line of social grouping from the family to the tribe and thence to the national group, but it does not end with the national group Trends are already noticeable, especially in America and Africa, towards the extension of the social ethos to a continental level The United Nations represents an international ethos which, even if it is not very strong today, is clearly indicative of the further line of development in the evolution of social grouping In consequence of man's space flights and inter-planentary travels, the horizons of the social units existing in the world at present would be further widened

Quite apart from any inadequacies in Bertrand Russell's argument as developed in this book, however, it is clearly evident that a world view of Ahimsa is fast developing Thinking people on all the continents are devoting their attention to this basic social ethos, and masses of people are anxiously waiting for its propagation In India, consequent upon the decision of the World Conference of Religions held in 1957, a research institute on Ahimsa, designated Ahimsa Shodh-Peeth, has been set up in Delhi, and the world is looking forward to a proper and successful flowering of its work It is a happy augury that this Institute has taken steps to seek the co-operation of thinkers and workers of all countries by enlisting them as Corresponding Members of the Ahimsa Shodh-Peeth Research on this basic social ethic may therefore be expected to be conducted with international co-operation from the very beginning





K. B. Jindal
M A, LL B, I R S Calcutta

THE DOCTRINES OF JAINISM

The doctrines of Jainism can broadly be divided into three categories Metaphysics, Philosophy and Ethics, which are being concisely dealt with in this chapter

A

METAPHYSICS

The Nine Cardinal Principles (Navatattwas)

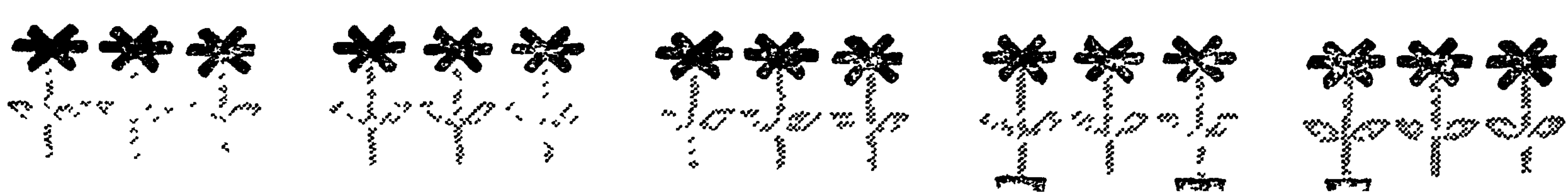
The principal aim of Jainism is the attainment of the freedom of the soul by its perfect evolution But it is not possible to achieve the evolution of the soul unless one knows what the soul is, what its intrinsic attributes are, how it has been compelled to bear the agonies of existence in its wheeling from birth to birth, and by what means it can be freed from this wheeling And in order to know all this, one has also to acquire knowledge of the constituent elements of this world, their mutual relations, the why and the how of the soul's bondage, and the means of its release. All this knowledge is classified as nine Tattwas or cardinal principles in Jainism They are (1) Jiva or conscious Soul, (2) Ajiva or inconscient Matter, (3) Āsrava or the influx of Karma, (4) Bandha or bondage, (5) Punya or virtue, (6) Pāpa or sin, (7) Samvara or arrest of the influx of Karma, (8) Nirjarā or exhaustion of Karma, and (9) Moksha or liberation The two principles of Jiva and Ajiva comprise all the objects of the world The other seven principles explain how the Jiva or conscious soul is bound by Ajiva or inconscient Matter, what is the nature of the bonds, and by what means they can be got rid of

The Conscious Soul (Jiva)

The first principle is Jiva The essential attribute of the Jiva is consciousness, in other words, that which possesses consciousness is Jiva Infinite Knowledge, vision, power, bliss etc are also the attributes of Jiva Each Jiva has an independent existence, and the number of the Jivas is infinite The Jivas are of two kinds Samsāri or mundane and Mukta or liberated. Those that have attained to Nirvāna by exhausting all Karmas are called Mukta (free) or Siddha (perfect) They are also called liberated souls They are endowed with infinite knowledge, infinite vision, infinite power and infinite bliss, and they never come back to this mortal world The supreme and ultimate goal of every terrestial being is to attain liberation The Jiva is also termed Jivāstikāya

The Mundane Souls (Samsāri Jivas)

Samsāri Jivas are those that have been passing through birth and death and have not yet attained liberation They are born as Devas (Gods), Mānavas (men), Nārakas (beings of hell) and Tiryakas (birds, beasts, insects, vegetation etc), and when the sands of their lives run out,



they die and are born again So long as they do not attain salvation, they have to bear the agonies of birth, decay and death The Samsāri or mundane Jivas have been divided into five categories according to the number of the senses they possess, such as Edendriyas, Dwindriyas, Trindriyas, Chaturindriyas and Panchendriyas

Sthavara Jiva

Creatures that have only one sense, the sense of touch, and no other, are called Edendriyas They are also called Sthāvaras, because they are devoid of the power of locomotion The Sthāvara Jivas are again divided into five classes · Prithwikāyas i e clay, stone, metal etc , Apkāyas i e water, dew, snow etc , Agnikāyas i e fire, burning coal etc , Vāyukāyas i e air, storm, whirlwind etc , and Vanaspatikāyas i e trees, creepers, herbs etc Earth, stones etc , all kinds of water, all kinds of fire, all kinds of air, and all kinds of trees etc in their natural states, are Jivas embodied in earth, water, fire, air and vegetation

Trasa Jiva

The other four kinds of Jivas from Dwindriyas to Panchendriyas are called Trasa, because they are endowed with the power of locomotion

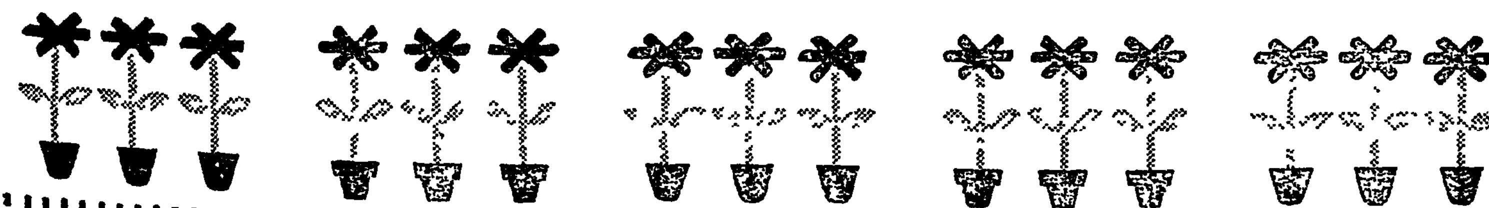
The Dwindriya Jivas, such as worms, leeches etc , have two senses the sense of touch and the sense of taste The Trindriya Jivas, such as ants, lice etc , have the sense of smell along with the above-mentioned two senses Chaturindriya Jivas, such as bees, drones etc have the sense of sight along with the above-mentioned three Panchendriya Jivas, such as men, beasts, birds, Gods and the beings of hell, have the sense of hearing in addition to the other four According to the Jaina scriptures there are seven hells Those who commit gross sins enter into hell after their death and have to undergo unimaginable sufferings There are many kinds of Gods living in different heavens or Swargas Some of them possess more strength, happiness, influence and lustre than the others, particularly the Gods of the Anuttar Vimāna excel all others in these attributes The Gods live so long that they are usually considered as immortal, though in point of fact, no Gods are really immortal The Jivas comprising the first four categories have no mind, so they are called Amanaska Gods, beings of hell, men, beasts, birds etc possess the mind, and are, therefore, called Samanaska Jivas, though their mental development is not of the same order

Matter (Ajiva)

The second cardinal principle is Ajiva or Matter The Ajiva possesses characteristics which are contrary to those of the Jivas, that is to say, it is devoid of consciousness. Ajiva is of five kinds (1) Dharmāstikāya, (2) Adharmāstikāya, (3) Akāshāstikāya, (4) Pudgalāstikāya, and (5) Kāla or Time All these five substances are eternal

Dharmāstikāya is a substance which contributes to the movements of the Jivas and Pudgalas (Matter) But for it, neither the Jivas nor the material objects could have been mobile That is why it is known as the indispensable aid to motion or mobility It is formless, inconscient and pervasive of the entire Loka or Universe

Adharmāstikāya is a substance which helps the Jivas and Matter to stop their motion, if they are so inclined That is why it is known as an aid to stability or stoppage of motion It is also formless, inconscient and pervasive of the whole Loka Akāshāstikāya furnishes subsisting



space to Jivas, Pudgalas (Matter) and all things It pervades all Loka and Aloka, and is formless and inconscient

All objects, big and small, made of atoms, are called Pudgalāstikāya The smallest, indivisible particle of Matter is called an atom The whole material world is made up of atoms and objects composed of atoms The material objects are infinite in number Form, taste, smell, touch, sound, are the characteristics of the material substance Though the atoms are not apprehended by our senses, yet they too have form, taste, smell and touch

The word Astikāya used in connection with Jivāstikāya, Dharmāstikāya, Adharmāstikāya, Akāshāstikāya and Pudgalāstikāya, has a special significance The word Asti means that which always exists, and Kāya means a substance having many Pradeshas i e spatial points A Pradesha is the minutest, indivisible section of a thing A combination or aggregate of such indivisible sections forms Kāya Astikāya means a substance which always exists and have many indivisible pradeshas or sections Because the Jivas, Dharma, Adharma, Akāsha and Pudgalas are made of the combinations of the smallest indivisible pradeshas, and are permanent substances, so each of them is called an Astikāya

Kāla or Time is an imaginary thing—it has no real existence It is deduced from the movements of the sun, moon, stars etc The smallest indivisible fraction of the present time is called Samaya In Jaina metaphysics the word Samaya has this special connotation The past is dead and gone, the future does not yet exist, that is why it is the present time alone that is called Samaya Kāla is limited to only one Samaya, that is to say, it has only one pradesha (fraction) and not a combination or Pradeshas, and is not, therefore, included in the Astikāyas. The imaginary combinations of such infinitesimal Samayas are variously classified as Avalikā, moment, day, night, fortnight, month, year etc According to another view, it is held that Kāla or Time too has a real existence, it is not something imaginary It has the size of an atom, and is called Kālānu Because each Kālānu exists separately in a distinct pradesha or fraction of space (Akāsha), it is not called Astikāya It is instrumental in the metamorphoses of Jiva and Pudgala (Matter) It too is formless and inconscient

So far I have described the Jiva and the Ajiva, the two essential principles which constitute the whole universe. What follows will give an idea of how the Jiva gets enmeshed in Karma and wanders in the worlds, and how it can be liberated It will thus be an exposition of the remaining seven principles

Asrava (The Influx of Karma)

The third principle is Asrava The causes which lead to the influx of good and evil Karma for the bondage of the soul are called Asrava. To put it briefly, Asrava is an attraction in the Jiva towards sense-objects Mithyāttwa (perverted belief or ignorance), Avirati (want of self-restraint), Pramāda (inadvertance), Kashāyas (passions like anger, vanity, deceitfulness and avarice), and Yoga (activities of mind, speech and body)—these are the five causes of the influx of good and evil Karmas, and so they are known as Asrava Himsā or violence, Asatya or untruth, Chaurya or stealing, Maithuna or sex indulgence and Parigraha or attachment to sense-objects etc also cause the bondage of the soul by Karma and, therefore, they too are Asrava

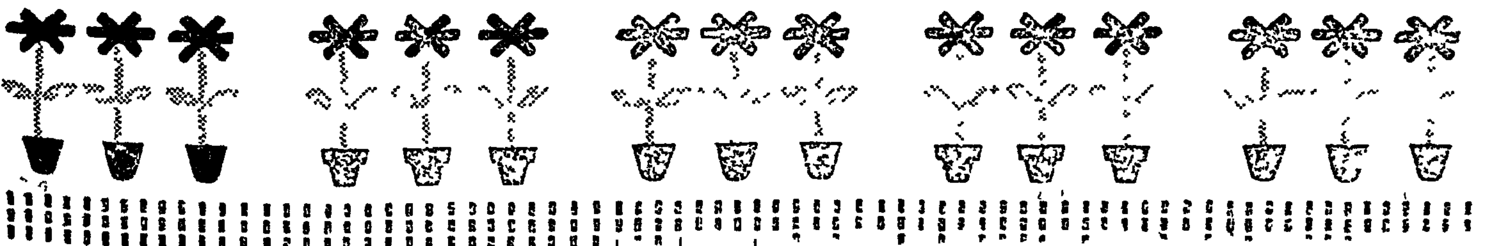
Vandha (Bondage)

The fourth principle is Vandha It is the envelopment of the soul by the Skandhas or aggregates composed of innumerable particles of certain categories of Karma There is a particular type of particles which, being attracted by the ignorance of the Jiva, the action of its mind, speech and body, and its reactions of attraction and repulsion, attach themselves to the soul and shroud it These particles are called particles of Karma Varganā In its essential nature the soul being pure, transparent, conscious and incorporeal, logically it cannot be bound by corporeal and unconscious particles, but from times immemorial it has undergone this bondage by forms kārmic matter It is a bondage mysterious and timeless This kārmic envelope is called in Jaina parlance Kārmana-sharira In some Indian philosophies it is called Linga-sharira The Jiva is encased in the Kārmana-sharira from times immemorial, and, in consequence, subject to the impulses and reactions, caused by Karma Attracted by these impulses and reactions, new kārmic atoms of Matter are constantly following in and attaching themselves to the kārmic envelope of the Jiva, and it is as a result of this instreaming and accumulating Karma that the Jiva has to whirl on the wheel of Samsāra and pass through the alternating experiences of pleasure and pain

Kārmic Matter attaching itself to the soul assumes four forms (1) Prakriti-vandha (2) Sthiti-vandha, (3) Anubhāva-vandha, and (4) Pradesha-vandha When kārmic Matter attaches itself to the soul, its development is determined by the then action of the Jiva's mind, speech and body, that is to say, by the goodness or badness, intensity or dullness of that action, and it assumes a nature having the capacity to cover up certain specific attributes of the soul This form of bondage is called Prakriti-vandha It develops infinite variants in itself according to the differing energies of the mind, speech and body of the Jiva But roughly they can be subsumed under eight heads (1) Jnānāvarniya, (2) Darshanāvarniya, (3) Vedaniya, (4) Mohaniya, (5) Āyu, (6) Nāma, (7) Gotra, and (8) Antarāya

Jnānāvarniya Karma covers up the soul's power of knowledge Darshanāvarniya clouds its power of perception Vedaniya Karma overcasts its intrinsic, infinite and unhorizoned bliss and makes the Jiva feel the evanescent pleasures and pains of the world That which generates delusion in the Jiva in regard to its own true nature and makes it identify itself with or be attached to a not-self, is called Mohaniya Karma The Karma which engulfs the soul's eternal poise in its unconditioned self-being and compels the Jiva to assume a body for a fixed period of time in each successive birth, is called Āyu Karma That which eclipses the soul's formlessness and constrains it to put on forms, and under whose influence the Jiva comes to have perfect or deformed limbs, fame or obloquy, and various other representations of itself, is called Nāma Karma That which covers up the soul's superiority to the worldly distinctions of high and low, and forces it to be born in superior or inferior strata of human society, is called Gotra Karma And that which envelops the soul's inherent force and obstructs the Jiva's free enjoyment of the riches of the world or its generosity in charity, is called Antarāya Karma There are many subdivisions of these eight principal categories of Prakriti Vandha, but it would be beyond our present scope to dwell upon them

The Kārmic matter which adheres to the soul for a long or short space of time according to



the intensity or dullness of the Jiva's passions like Rāga (attraction) or Dwesha (repulsion) etc., is called Sthiti-vandha

What fruits, good or bad, acute or dull, the kārmic matter will produce is determined at the time of the Vandha by the varying degrees of the reactions of the passions (Rāga, Dwesha etc) of the Jiva The vandha that is pregnant with the power of producing such fruits is called Anubhāva-vandha or Rasa-vandha

The number of the kārmic particles that are drawn towards the Jiva for attaching themselves to it is determined by the nature of the Jiva's mind, speech and body, that is to say, if the action is on a large scale or intense, the number of the kārmic particles is large, if it is on a small scale or lacking in intensity, the number is small This particular kind of vandha of a varying magnitude is called Pradesha-vandha

Punya (Virtue)

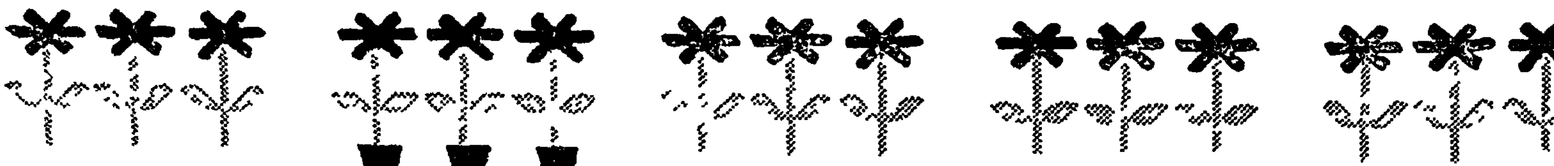
The fifth principle is Punya or virtue The Kārmic-vandha which is brought about by the good or righteous action of the Jiva's mind, speech and body, and is pregnant with the potentiality of bearing happy fruits, is called Punya Auspicious Karma attaches itself to the Jiva as a result of the letter's works of charity, such as the gift of food, drinking water, accommodation, bedding, clothes etc to the monks, its pious resolutions, and homage to the Tirthankaras, the religious gurus etc As fruits of one's righteous Karma, one comes to possess physical and mental happiness, health and beauty of the body, property, fame etc

Papa (Sin)

The sixth principle is sin, which is the very contrary of Punya or virtue Sin is the bondage of Karma which is brought about by the evil actions and reactions of the mind, speech and body of the Jiva, and contains in itself the power to produce evil or unhappy results Violence, telling of lies, stealing, sexual incontinence, attachment to the objects of enjoyment, anger, self-conceit, deceitfulness, avarice etc are the evil propensities which entail the Jiva's bondage to the Karma of sin, and the painful consequence of this kārmic bondage is suffering from various physical ailments, deformed or ugly body, birth in the animal life, as beast, bird, insect etc , birth in hell, or poverty and privation. The soul, shrouded in sinful Karma, cannot progress in self-evolution, but gets more and more entangled in kārmic matter and drifts like a waif in the endless flux of Time These two principles of virtue and sin are, in a sense, two different aspects of the Vandha principle, so, some exponents of Jaina philosophy include them in the Vandha principle, thus reckoning the principles as seven, and not nine

Samvara (Arrest of the Influx of Karma)

The seventh principle is Samvara The methods by which the Asrava or influx of Karma is arrested are called Samvara It is a principle contrary to Asrava It is achieved by an undeviating practice of the discipline of mind, speech and body, religious meditation, suppression of desire, forgiveness, tenderness, purity of thought, truthfulness, austerities, renunciation, detachment, chastity, abstention from evil action and avarice, and by thinking that the world is impermanent and the body full of filth, and that one has to suffer alone the sweet-bitter fruits of one's own Karma



Nirjarā (Elimination of Karma)

The eighth principle is Nirjarā It means the sloughing off or elimination of the coating of Karma from the soul It has been said above that the Karma which has once attached itself to the soul becomes active when it is time for it to bear fruit, and is subsequently exhausted, but if one fails to throw it out just before it starts bearing fruit, it becomes difficult to attain liberation, for, new Karma flows in by the actions and re-actions of the old Karma while it begins bearing fruit Therefore, it is necessary for those who aspire for liberation to exhaust all Karma by the prescribed means of meditation, contemplation etc This process of exhaustion or elimination of Karma is called Nirjarā Nirjarā is effected by regorous austerities, which are of two kinds external and internal Fasting, abstemiousness, suppression of desire, renunciation of the Rasa or pleasure of the palate, physical mortification and sitting, tucked up, in a solitary place—these are the six kinds of external austerities Penance, humility, nursing the sick and ailing monks, study of the scriptures, giving up of all attachment to the body, and contemplation—these are the six kinds of internal austerities

Moksha or Liberation

The ninth or final principle is Moksha or liberation The soul's recovery of its own eternal self by the complete exhaustion or elimination of all Karma is Moksha or Mukti When the soul breaks out of the kārmic envelope, it realises its innate attributes of infinite knowledge, infinite perception, infinite power, infinite bliss, and infinite light, and ascending to the crest of the "Loka", remains there immersed in the termless beatitude of its unconditioned existence—it never returns again into the wheel of material existence made up of birth, decay and death Ascent is the natural movement of the soul Stripped of the covering of Karma, the pure soul wings straight upwards and settles upon the highest region of the Loka, that is to say upon the farthest frontiers of Dharmāstikāya and Adharmāstikāya. This state of the soul is the liberated or perfected state—this is Nirvāna As a lamp lit in a house irradiates the whole house with its light, and if other lamps are lit, their lights too mingle with each other and remain there, so the liberated souls, which are each an effulgence, mingle with each other and remain on the crest of the Loka for ever For them there is no return to the agony of mortal existence

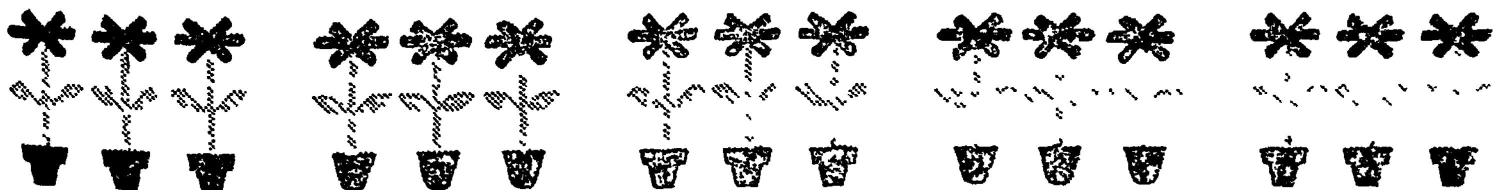
What is Karma, how it adheres to the soul, how, developing and fructifying, it determines the movements—the coming and staying and passing—of the Jiva, and its happiness and suffering etc , and how the soul becomes free by Nirjarā or the shuffling off of all Karma—these things have been minutely analysed and exhaustively described in the sacred books of Jainism What is given here is just a brief outline, and nothing more

Triratna or the Three Gems

I have dwelt in brief upon the nine essential principles including the last principle of liberation Now I propose to give an idea as to how liberation is attained A simultaneous practice of Samyak Darshana or right faith, Samyak Jnāna or right knowledge, and Samyak Chāritra or right character and conduct leads to liberation These are three gems of Jainism

Samyak Darshana or Right Faith

Samyak Darshana is also called Samyaktwa It is a faith in the nine essential principles



(Nava-Tattwa) and an attitude of unbiased approach to the real nature of things It can also be called Veveka-drishti or discriminating perception Deluded by ignorance, the Jiva ordinarily takes falsehood for truth and truth for falsehood The faith-directed attitude of consciousness that can perceive truth as truth and falsehood as falsehood is Samyak Darshana or Samyaktwa The spiritual life of the Jiva begins only when Samyaktwa emerges out of the darkness of its ignorance The Jiva, then, develops an aspiration to know the Truth in its essential principles, to renounce what is unwholesome and impure, and to accept all that is high and noble and conducive to its spiritual progress. This is the state of Samyak Darshana

Samyak Jnāna or Right Knowledge

There is some form of knowledge in every Jiva, but so long as Samyak Darshana has not evolved in it, that knowledge can only be a wrong or false knowledge, which is only a form of ignorance It is only after the emergence of the Samyak Darshana that knowledge can become true knowledge, for, in the absence of Samyak Darshana, the Jiva lacks the power of knowing the real nature of things, and hence what knowledge it has already acquired cannot be called true knowledge It is only after Samyak Darshana has evolved that the knowledge of the Jiva can be called Samyak Jnāna or right knowledge

Knowledge is of five kinds Mati-jnāna, Shruta-jnāna, Avadhi-jnāna, Manahparyāya-jnāna and Kevala-jnāna The knowledge which is acquired by means of the sense organs and the power of the mind is called Mati-jnāna That which is acquired by the study of words and their meanings is called Shruta-jnāna Like Mati-jnāna, Shruta-jnāna is also acquired by means of the senses and the mental powers, and the Shruta-jnāna of a thing cannot be had unless there has already been Mati-jnāna of it But the scope and nature of Shruta-jnāna is wider and more distinct than those of Mati-jnāna, for Shruta-jnāna comprehends a study of words and their meanings The knowledge which is acquired by study of books and scriptures and by listening to men of wisdom, is also called Shruta-jnāna The knowledge by which one can know all embodied objects within certain limits of Space, and without the help of the mind and the senses, is called Avadhi-jnāna It is a kind of spiritual knowledge When this knowledge develops, one can see, even with one's eyes closed, all things which are not formless, within certain boundaries of Space The knowledge by which, even without the help of the mind and the senses, one can know the psychological movements of the creatures within certain fixed limits, is called Manah-paryāya-jnāna This too is a kind of spiritual knowledge The knowledge by which, without any aid whatever of the mind and the senses, one can know all things contained in the Loka and the Aloka, all things past, present and future, possessing form and without form, and in all their attributes and categories, is called Kevala-jnāna This is spiritual knowledge par excellence When the four kinds of Karma—Jnānavaraniya, Darshanāvaraniya, Mohaniya and Antarāya—are completely exhausted, the intrinsic knowledge of the soul, the Kevala-jnāna, reveals itself This state of knowledge of the soul is called the Jivan-mukta state Once this state is realised, the Jiva is sure to attain Mukti or Nirvāna (liberation) when the remaining span of its life comes to an end The Tirthankaras were, in this sense, Jivanmuktas, and endowed with Kevala-jnāna—all-knowing and all-seeing

Samyak Charitra (Right Character and Conduct)

Self-discipline, renunciation, repression of the senses and unblemished conduct are called







Chāritra The self-discipline, renunciation etc, practised after the development of Samyak Chāritra The five major Vratas practised by the monks, the tenfold religious observance of the Yatis, the seventeen forms of self-discipline, the twelve Vratas enjoined upon the lay disciples—all these are included in Samyak Chāritra Chāritra is of two kinds one is based upon a total and absolute, and the other on a partial renunciation As I have said before, a total and unreserved renunciation is precognised for the monks, and a partial renunciation for the householders.

The seventeen constituents of Samyak Chāritra are renunciation of each of the five kinds of Āsrava-violence, untruth, stealing, sexual indulgence and craving for the possession of things, detachment from each of the five sense-objects—sounds, touch, form, taste and smell, quelling of each of the four principal passions—anger, self-conceit, deceitfulness and avarice, and the threefold discipline of subduing the evil propensities of mind, speech and body A perfect and synthetic practice of Samyak Darshana, Samyak Jnāna and Samyak Chāritra inevitably leads to liberation These are the three priceless gems of Jainism

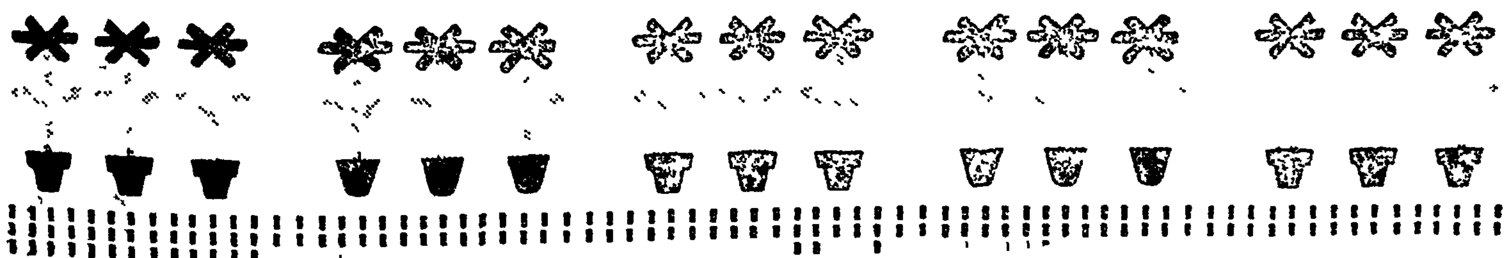
Samyak Darshana, Samyak Jnāna and Samyak Chāritra are inter-related, and depend upon each other for their perfection, that is to say, if the faith (Darshana) is not purified, there is no possibility of the development of pure knowledge, and if the faith and knowledge have not become pure, conduct cannot be pure and flawless Any one or even any two of these three gems cannot lead to liberation Even perfectly pure faith and knowledge, unaccompanied by pure conduct, fail to lead to liberation It is, therefore, by a simultaneous perfection of right faith, right knowledge and right conduct that one can attain to liberation, and not otherwise. It is extremely difficult to realise anything like perfection in conduct and character on account of the perpetual seduction of the sense-objects, that is why, the religious books of the Jainas lay so much stress on the purity of conduct Unless one practices to perfection the five major vows (Mahāvratas)—non-violence, truthfulness, non-stealing, chastity and non-possession—one can never attain to a perfect purity of character and conduct The Jaina ideal of monkhood is an unimpeachable perfection in living, that is to say, in character and conduct, and it is non-violence that is the bed-rock of perfect conduct

Creation—Eternal and Infinite

Jainism regards the world as beginningless and eternal It cannot conceive of a time when the world first sprang out of a Supreme Being, and when it will return to it According to it, everything in the world is undergoing constant change, but nothing ever perishes and disappears out of existence All objects in the world are created and destroyed as a result of the modifications of the two cardinal principles of Jiva and Ajiva (conscious soul and unconscious matter), but the essential substance remains as it si—it never vanishes out of existence

The Birth and Wanderings of the Jiva

All embodied beings are compounded of the conscious soul and unconscious matter, and so long as a total separation does not take place between the two, the beings have to wander in the worlds The principal theme of Jainism is to propound the means by which this rupture can be effected, and the conscious soul can be liberated from the thraldom of Matter Ahimsā (non-violence), Samyama (self-control) and Tapasyā (austerities) are the means by which every human being can advance towards his spiritual freedom



The Supreme Fulfilment of Man

As, in Jainism, there is no conception of a Supreme Being, Creator of the universe, there is no room in it for any theory of Avatārahood or God-appointed prophethood. The great men who have attained spiritual freedom were nothing but men like us They had developed their souls by a steady practice of self-discipline through many lives, and any man, if he has the will, can do like-wise Human birth is the only condition of perfect spiritual development, even the gods are incapable of this perfection

B

PHILOSOPHY

The Jaina Philosophy is commonly known as Syādvāda Syādvāda or Anekāntavada views things from many angles and reveals their true nature by embracing their different aspects and attributes Syāt in the word Syādvāda means "may be", or it may be taken to mean "somehow" or "relatively to" The real sense of the compound word, Syādvāda or Anekāntavada can, therefore, be said to be objective realism—viewing things under their diverse aspects by a multiple or many-sided vision. Every real object or Dravya is subject to the triple operation of birth, persistence and dissolution This triple operation goes on at all times in an uninterrupted simultaneity in every object The part of a thing which is stable or persistent is its very substance, and the part which is mobile and changing is its modification A thing in the form of a substance, is permanent, but as a modification of that substance, it is impermanent Substance and its modifications are neither completely different nor completely indentical, which implies that every object possesses many attributes Syādvāda is nothing but admitting all these contrary aspects and āttributes objects from different points of view, By the absolute or categoric predication of a particular attribute one cannot arrive at the truth of a thing, for all existent things are complex and composite in their qualities, Syādvāda or Anekāntavāda is that method of dialectic which reveals all the aspects of a thing by admitting from diverse standpoints its conflicting or self-contradictory attributes

By means of Syādvāda one can acquire the knowledge of the true nature of every object viewed in different perspectives The same man may be variously known as a father, a son, an uncle, a nephew etc In relation to his son, he is a father, but in relation to his own father, he is a son, in relation to his nephew he is an uncle, but in relation to his uncle, he is a nephew. He is immortal in relation to his soul, mortal relation to his body. An earthen pot is at once permanent and transitory The object called pot is transitory, but the substance of which it is made is eternal, for the particles composing clay or earth will always endure in some form or other—they can never perish A gold necklace is transitory, but the metallic substance called gold is permanent, for the necklace can be broken and moulded into another form, and yet its substance called gold will abide unaltered in its essence Thus all objects of the world come into existance and perish, but in their essential substance they remain unchanged, they are, therefore, at once permanent and impermanent The essential substance is stable and permanent, but its modifications are impermanent—they are subject to constant mutation

An absolute or exclusive predication of a particular quality, or aspect of a thing cannot bring out the truth of its composite nature A certain person is only a father and not a son—such an exclusive predication cannot be true, for besides fatherhood the person possesses other attri-



butes also, such as sonhood etc If a blind man, touching only a leg of an elephant, tries to prove that the elephant has the form of a pillar, he cannot be right Therefore, it can be safely asserted that the real nature of a thing can be revealed only by Anekāntavāda or many-sided and comprehensive predication, and not by Ekāntavāda or an exclusive and unilateral predication

The septuple formulation of Syādvāda is called Saptabhangi Each form is headed by the word, "syāt". If an attribute of an object has to be predicated, it must be done in such a way as not to nullify the possibility of affirming a contrary attribute If the imperishability of a thing is to be predicated, it must be formulated in such a way that it does not do away with the possibility of predicating the contrary attribute or perishability or transcience It is for this reason that the word "syāt" (somehow or may be) has to be used in the predication of every object For example, "may be the pot is imperishable"—this undogmatic predication leaves room for a contrary predication of the perishability of the pot

The septuple formulation is follows —

(1) syāt asti (may be it is)
(2) syāt nāsti (may be it is not)
(3) syāt asti nāsti (may be it is and is not
(4) syāt avaktavya (may be it is unpredictable)
(5) syāt asti avaktavya (may be it is and is unpredictable)
(6) syāt nasti avaktavya (may be it is not and is unpredictable)
(7) syāt asti nāsti avaktavya (may be it is, is not, and is unpredictable)

This is called Saptabhangi

C
ETHICS

The Sadhūs and their Mahavratas

It has been already mentioned that, while preaching Jainism, the Tirthankaras founded a fourfold community of monks (Sādhus) nuns (Sādhwis), lay brothers (Shrāvakas) and lay sisters (Shrāvikas) In this fourfold community the Sādhus or monks are the highest in rank Those who renounce the world and lead the life of contemplative mendicancy are called Sādhus, and such females are Sādhwis The Sādhus and Sādhwis or monks and nuns observe fully, in thought, word and deed, and all through their lives, the five major vows or Mahāvratas non-violence (Ahimsā), truthfulness (Satya), non-stealing (Achaurya), chastity (Brahmacharya), and freedom from all craving for worldly possessions (Aparigraha).

The Sādhus maintain an attitude of compassion and equality towards all creatures Himsā or violence means killing a creature, torturing it, or forcing it to do something etc To desist from doing violence is Ahimsa or non-violence

The Sadhus themselves do not commit any violence by thought, word or deed, nor do make others commit it, nor do they approve of any violence committed by others, This is the first Mahāvrata or great vow This is called Ahimsa or Prānātipāta Viramana-vrata

The Second major vow is a total abstention from falsehood It is called truthfulness or Mrishāvāda Viramant-vrata The Sādhus always speak the truth They have to refrain from



speaking the truth which is likely to lead to some kind of Himsā or violence, in such a case they had better hold their peace If a man is subject to anger, greed, fear or the habit of poking fun or cracking jokes, there is every chance of his having to tell a lie, that is why it is enjoined upon the Sādhus to renounce anger, greed etc They do not indulge in falsehood or hypocrisy either in thought, word or deed, nor do they make others indulge in it, nor approve of others' indulging in it

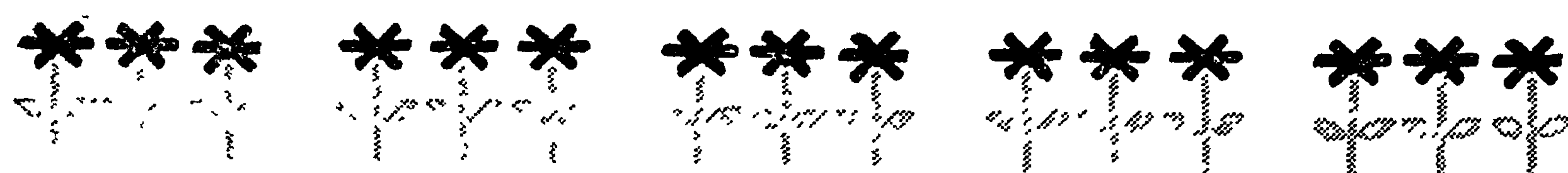
The third major vow is non-stealing It is also called Adattādāna Viramana Vrata The Sādhus do not commit any form of stealing They do not take anything not given them by its owner They do not make others take such a thing, nor do they approve of others' taking it While taking alms, they are particular about the quantity they accept, so that it may not be more than what is just required Acceptance of more than the required amount renders them guilty of stealing

The fourth major vow is Brahmacharyya or chastity It is called Maithuna Viramana Vrata. The Sādhus give up all forms of sexual enjoyment in thought, word and deed They do not themselves indulge in sexual pleasures, do not make others indulge in them nor do they approve of others indulging in them They strictly eschew all thought of the sexual pleasures they may have had as householders They do not sit or lie down on a seat for bed used by a woman They do not eat palatable food or any food that is likely to excite carnal desires. These are some of the severe rules the Sādhus or monks follow in their practice of the fourth great vow

The fifth major vow is non-possession or Aparigraha It is called Parigraha Viramana Vrata. The Sādhus renounce all possessions, such as all kinds of wealth, grains, land and other immovable properties, house etc They do not themselves possess these things, do not ask others to possess them, nor do they approve of others possessing them They practise the fifth great vow by giving up all attachment in thought, word and deed to all objects of sound, sight, smell, taste and touch

The Jaina Sādhus practise also ten virtues or Yatis, which are called Yati-Dharma or the virtues of a self-controlled Sādhu forgiveness, (Kshamā), humility (Mārdava), candour (Ārjava), non-covetousness (Nirlobhatā), poverty (Akinchanatā), truthfulness (Satya), self-restraint (Samyama), austerities (Tapasyā), inner and outer purity (Shaucha), and chastity (Brahmacharya)

They have to subdue the wild impulses of their minds, speech, and bodies. They have to be always alert and vigilant in the observance of three Guptis or rules of self-discipline The first is Manogupti, which means inhibition or elimination of evil and impure thoughts, and the initiation of a train of good thoughts The second, Vachanagupti, means a restraint over one's speech, or, if necessary, the observance of total silence The third, Kāyagupti, is a regulation of all the movements of one's body Again, the Sādhus have to observe five Samities Iryyā Samity, Bhāshā Samity, Eshanā Samity, Ādāna Nikshepa Samity, and Utsarga Samity They have to walk with care, so that they may not tread upon any creature—this is Iryyā Samity To be restrained in speech and speak only what is true and beneficial, is Bhāshā Samity To procure with care and caution only the food which is pure, harmless and necessary for the maintenance of the body, is Eshnā Samity To take and keep things with care is Ādāna



Nikshepa Samity And to be careful in the disposal of excrements, urine, cough, rags etc. so that they may not fall upon or injure any sentient being, is Utsarga Samity

They observe equality towards all, friends, foes etc They do not take any food after nightfall, do not use any kind of conveyance, live by begging, do not accept money, and do not collect and hoard anything for themselves These are some of the hard rules of self-control they strive to practise

To inhibit the train of evil thoughts and engage the mind in good thoughts the Sādhus have to practise twelve kinds of meditation

1 Life, youth, wealth and property, everything is impermanent, therefore, one should not be attached to them-this thought-current is called Anityabhāvanā or meditation on the impermanence of all worldly things

2 As none can save a deer from the jaws of a lion, so none can save a man from the clutches of disease and calamity This kind of thought is called Asharana Bhāvanā or meditation on the forlorn helplessness of man

3 In this world there is none who is really my kindred, friend or enemy In the unnumbered succession of my lives, I may have had various relations with every creature This is the strange, peculiar nature of the world This kind of thought is called Samsāra Bhāvanā or meditation on the transitoriness of human relations

4 Alone was I born and alone must I die It is I alone and none else who have to suffer the consequences of my deeds This kind of reflection is called Ekattwa Bhāvanā or meditation on the solitariness of individual existence

5 The body and the soul are distinct and separate from each other The body is unconscious and the soul conscious This is Anitya Bhāvanā or meditation on the separateness of the soul from the body

6 The body is made up of impure substances such as blood, flesh etc and full of faeces, urine etc One should never be attached to such a body This is Ashuchi Bhāvanā or meditation on the intrinsic impurity of the body

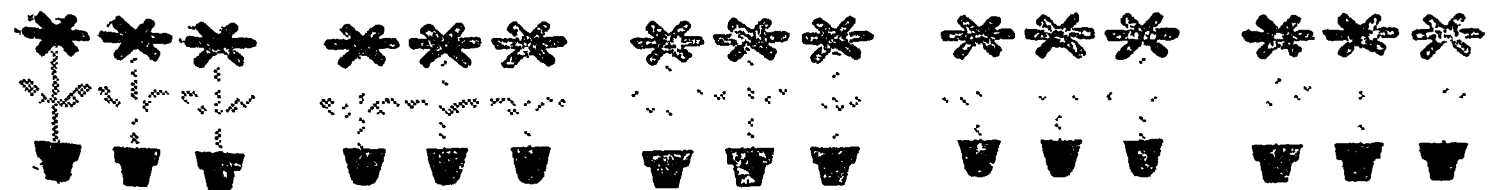
7 Attached to the senses, if I remain engrossed in the enjoyment of worldly objects, it will entail my bondage to Karma and produce harmful consequences. This is Āshrava Bhāvanā or meditation on the influx of Karma into the soul

8 To resort to good thoughts in order to rid oneself of evil propensities is Samvara Bhāvanā or meditation on the cessation of the influx of Karma

9 To reflect upon the various evil consequences of Karma and think of exhausting all accumulated Karma by contemplation and austerities is called Nirjarā Bhāvanā or meditation on the elimination of all Karma

10 To reflect upon the real nature of the universe and its fleeting appearances is called Loka Bhāvanā or meditation on the impermanence of the world

11. In this phenomenal world attainment of right faith and an immaculate character is a rare achievement This kind of thought is called Bodhidurlabha Bhāvanā or meditation on the difficult nature of the knowledge and perfection to be attained



12. Religion is the only refuge in this world of the triple agony of birth, decrepitude and death This is Dharma Bhāvanā or meditation on the sustaining and saving power of religion

By these meditations the monks have to turn their minds from evil thoughts The nuns or Sadhwis also observe the same strict vows and rules of conduct as the monks It is these monks and nuns who practise self-control and have given up all desires and earthly possessions that deserve to be ranked as Gurus or spiritual teachers.

Lay Brothers (Shrāvakas) and Lay Sisters (Shrāvikās)

Male householders following Jainism are called Shrāvakas and female householders Shrāvikās They do not adopt the life of a recluse by renouncing the world, but live in it, earning their livelihood by honest means and performing the householders' religious duties. They are expected to possess seriousness, a limpid serenity of nature, modesty, straightforwardness, kindness, impartiality, an admiring openness to the good qualities of others, humility, gratitude, benevolence etc There are the twelve Vratas or vows prescribed for them

1 Sthula Prānātipāta Viramana Vrata, which means not to kill, injure or give trouble deliberately to any innocent Trasa creature

2 Sthula Mrishāvāda Viramana Vrata means not to speak such lies as may cause harm to others This vow also demands that one must abstain from the gross forms of lying like denying a pledge or a trust, bearing false witness in a law court, representing somebody's property as one's own or as belonging to a third person, hiding other's defects and drawbacks, sing false praises of a bride or a bridegroom etc

3 Sthula Adattādāna Viramana Vrata is abstention from stealing The theft of somebody's things or the evasion of due taxes, or such stealing as entails censure at the hands of one's society or punishment by the ruling power, must be eschewed

4 Sthula Maithuna Viramana Vrata interdicts all kinds of sexual intercourse except with one's duly married wife; and it imposes strict bounds within which enjoyment even with one's wife has to be kept

5 Parigrahaparimāna Vrata is to impose certain limits upon the possession of wealth, grains, animals and other forms of property, and restrict one's enjoyment of them within those limits It forbids all infringement of the limits

6 Dik-parimāna Vrata is to keep within certain fixed limits one's journeys in different directions for trade and other purposes.

7 Bhogopabhoga Parimāna Vrata is to restrict within certain bounds the enjoyment of the necessary material objects of daily use, such as food, clothes, house etc. The objects that can be enjoyed once only are called Bhogya, such as food, and those that are of constant or frequent use are called Upabhogya, such as clothes, house, furniture etc

8 Anarthadanda Viramana Vrata—The sins that are committed thoughtlessly, without any reference to one's personal need or the benefit of one's family, are called Anarthadanada Abstention from such sins is called Anarthadanda Viramana Vrata. It is undertaken as a safeguard against doing many unnecessary wrong things, such as giving of arms, poison etc to others, instigating birds and beasts to fight among themselves, counselling others









to do vicious acts, engaging in evil thoughts or immoral activities etc

9 Sāmājika Vrata—By this vow the layman undertakes to sit quietly for 48 minutes at one place and give up all sinfull activities and calmly meditate on the soul or chant hymns, quelling all evil propensities of one's mind, speech and body, and observing equality towards friends, foes and all creatures

10. Deshāvakāshika Vrata—This vow requires one to restrict further the scope allowed by the previous Dikparimāna Vrata, and the restriction varies according to the daily needs of one's life

11 Paushadha Vratra—According to this vrata the Shrāvaka has to live the life somewhat like that of an ascetic for a whole day or for a whole day and night or for whole night only by fasting, givining up all worldly pre-occupations and engaging in religious contemplation Because this vrata promotes and nourishes one's religious life, it is called Paushdha or nourishing

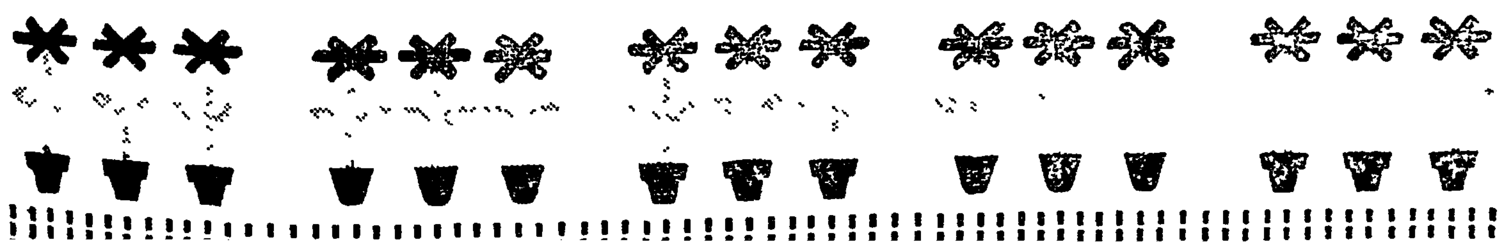
12 Atithi Samvibhāga Vrata—It means giving food, clothes etc to Sādhus and Sādhwis

Of these twelve Vratas, the first five are called Anuvratas or minor vows, because they are less difficult and rigorous than the Mahāvratas or major vows of the monks, the next three (from the sixth to the eighth) are called Gunavratas, as they forster the growth of the qualities engendered by the first five Anuvratas, and the last four vratas (from the ninth to the twelfth) are called Shikshā-vratas, as they constitute the preliminary training for the adoption of the ascetic life of the monks The houeholders have to lead the religious life and advance towards perfection by the practice of these twelve vratas

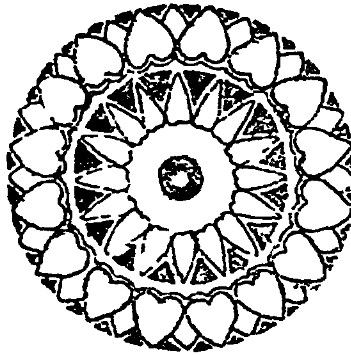
Ahimsa (Non-Violence)

Ahimsā or non-violence can be said to be the fulcrum of the whole institution of Jaina monkhood But as it is not possible to practise non-violence perfectly without a simultaneous practice of truthfulness, non stealing, chastity and non-possession, the above mentioned five major Vratas have been enjoined upon the monks Again, without a discipline of the mind and the senses, non-violence cannot be practised fully, and without austerities, discipline is out of the question It is for this reason that non-violence, self-discipline and austerities taken together, have been called Dharma in the Jaina scriptures The Sādhus (monks) have to be vigilant at every moment and in every movement of their lives, so that they may not be guilty of any violence whatsoever, may not injure or kill even a very minute sentient being It is impossible to desist from this kind of violence except by a perfect practice of the five major vows The monks endure with calm courage and equanimity all cruel persecution or oppression, and even deadly suffering—they do not cherish the slight feeling of hatred or anger against their persecutors Instances like the one in which a Jaina sādhu endured inhuman torture and laid down his life for saving the life of a little bird, are not rare

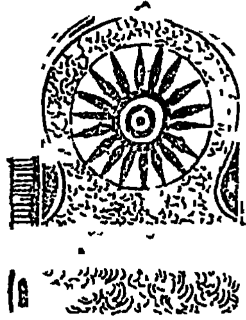
I have dwelt above on the vratas or religious vows of the Shrāvakas or Jaina householders. The rules regulating their lives have been so framed as to enable them to lead an honest and pious existence by a gradual control of their cravings and desires They have been so framed that in earning their livelihood and saving their wealth and property and even when called upon to bear arms for the protection of their person, their families and their country from the oppressive hands of their enemies, the Shrāvakas may be able to observe self-restraint, and may not



cause harm to themselves, their societies, their country, and the larger interests of human society by their wild and unrestrained behaviour, but rather advance, step by step, towards the ideal of monkhood, renouncing all craving for possession by the practice of a progressive self-discipline If we carefully study the rules and vows which a householder is expected to observe, we shall easily see that a ceiling has been imposed upon the possession of wealth, property and objects of enjoyment, and that there is no possibility of an unceasing and excessive accumulation of wealth etc at any single place, for, when earnings exceed the fixed ceiling, instead of amassing the surplus, one is obliged to spend it away, and such expenditure by householders, who have been observing religious vows and practising self-discipline, cannot but flow in the direction of social welfare. Besides, a ceiling, imposed upon accumulation, curbs the avaricious desire to earn money by unrighteous means Thus, if desire is controlled, there is no further possibility of an enormous accumulation of wealth at a single place, creating serious inequalities and causing upheavals in society If a similar rule, which is so beneficial to an individual, is applied to a collectivity or a nation, it may put an end to all kinds of world-wide misery, murder and destruction



Dr. Kamal Chand Sagani
M A B Sc, Ph D
Lecturer in Philosophy R R College, Alwar (Rajasthan)

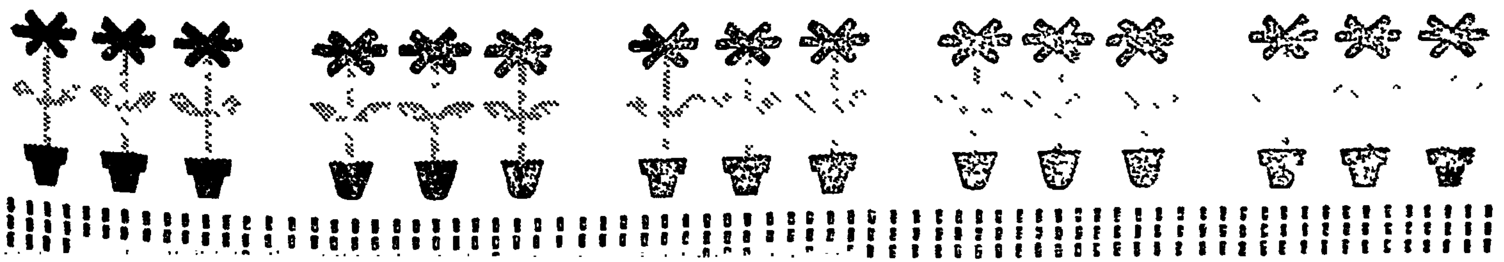


THE CONCEPTS OF PARISAHA AND TAPA IN JAINISM

The householder and the saint are the two wheels on which the cart of Jaina ethical discipline moves on quite smoothly It is to the credit of Jaina Ācāryas that they have always kept in mind these two orders while prescribing any discipline to be observed They never confounded the obligations of the one with the other In consequence, Jainism could develop the Ācāra of the householder with as much clarity and precison as it developed the Ācāra of the Muni We shall, first, dwell upon the basic distinctions of these two disciplines before dealing with the concepts of Parisaha and Tapa in Jainism, inasmuch as the exposition of the distinctions will make us clear why the conquest of Pariṣaha and practice of Tapa have direct reference to the life of the saint or the Muni

First, the upshot of the householder's discipline is to alleviate Himsā to a partial extent, but the aim of the ascetic discipline is to adhere and conform to the standard of negating Himsā to the last degree In other words, the partial character of the householder's vows is disrupted by the potent life of the Muni, hence the Muni observes complete vows (Mahāvratas) in contrast to the householder's observance of partial vows (Anuvratas) Secondly, the life of complete renunciation adopted by the saint makes possible the extirpation of inauspicious Bhāvas, which remains unrealised in the householder's life of partial renunciation The consequence of this is that vice totally vanishes from the life of the Muni In a different way, the inauspicious Āsrava which occurs on account of the presence of the intense passions is stopped, and the Muni for the first time experiences complete cessation (Samvara) of inauspicious Karman Thirdly, the life of asceticism aptly illustrates the existence and operation of Shubha Yoga, Shubha Dhyāna, and Shubha Leśyā, which, in the life of the householder, are never found unmixed with their contraries We may mention in passing that the life of asceticism is not to recoil from the world of action, but from the world of Himsā which fact lies in consonance with the general tenor of the Jaina religion As a matter of fact, action as such is not abandoned, but the supramundane character of action displaces its mundane form which inevitably entails Himsā Even the high discipline of asceticism associated with auspicious Bhāvas along with Samyagdarśana prevents the complete realisation of Ahimsā on account of the presence of spiritual enemies in the form of mild passions The ascetic life, no doubt, affords full ground for its realisation, but its perfect realisation is possible only in the plenitude of mystical experience

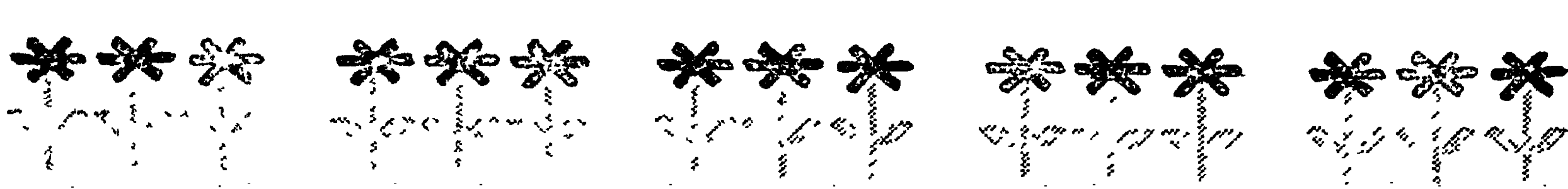
Thus the saint's life is an example of dedication of his integral energies to the cessation and shedding of Karmas In consequence, he regards the subjugation of Parisahas (afflictions) and practice of Tapas (austerities) as falling within the compass of his obligations The saint



allows no compromise with anything entangling him in the mire of Saṁsāra. His career is indicative of his complete detachment from mundane life and living Anything incompatible with, and discordant to, his second birth in a holy world, anything which drags him down to breathe in the suffocating air of the profane world must needs be subdued, strangled and overthrown If the Parisahas are not met with the adequate attitude and disposition of mind, they would tend to mar the saintly life, on the contrary, if they are encountered with the inner conviction of truth, and invaded with the non-violent army of fortitude, meditation, and devotion, they would confer jubilation, and yield the joy of victory And if the austerities are spiritedly practised they would bring about the inner rejection of desire, which would let the aspirant experience unalloyed happiness far beyond the joys of this world or of any heaven. The overcoming of the Parisahas results in stopping the influx of Karmas,[1] whereas the observance of austerities serves two-fold purpose of holding up, in the first instance, the inflow of fresh Karmas and wiping off, on the other, the accumulated filth of Karmas [2] We first Proceed to the question of getting over the Parisahas.

Parishas Their Enumeration and Exposition

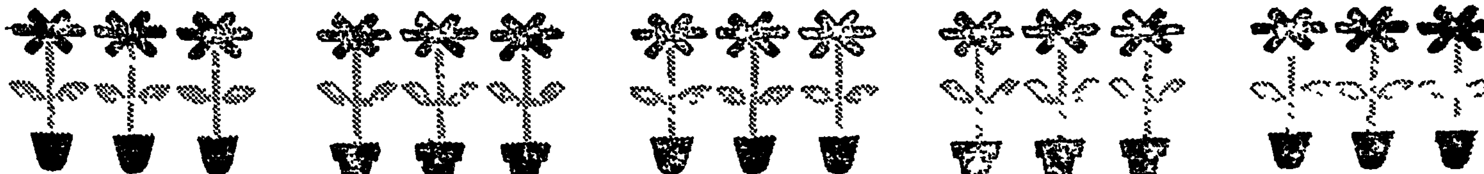
Those afflictions that are to be endured for the purpose of not swerving from the path of stopping and dissociating Karmas are termed as Parisahas [3] The Uttarādhyayana tells us that "a monk must learn and know, bear and conquer, in order not to be vanquished by them (Parisahas) when he lives the life of a wandering mendicant" [4] The Parisahas are of twenty-two kinds[5], namely, (1) hunger (Ksudhā), (2) thirst (Trsā), (3) cold (Shīta), (4) heat (Usna), (5) insect-bite (Daṅśa-maśaka), (6) nudity (Nagnatā), (7) ennui (Arati), (8) woman (Strī), (9) walking (Caryā), (10) sitting (Niṣadyā), (11) sleeping-place (Shayyā), (12) abuse (Ākrośa), (13) attack (Vadha), (14) begging (Yācanā), (15) non-obtainment (Alābha), (16) disease (Roga), (17) pricking of grass (Trnasparśa), (18) dirt (Mala), (19) respect (Satkāra-Purasakāra), (20) conceit of knowledge (Prajñā), (21) lack of knowledge (Ajñāna) and (22) slack belief (Adarśana). We now discuss the attitude of the saint towards these Parisahas [6] This will also make clear the meaning implied in them (1-2) The saint accepts faultless food and water It is just possible that he may not get faultless food and water Then he, (a) who does not get perturbed by the distress caused by hunger and thirst, (b) who is not inclined to receive food and water in improper country and in improper times, (c) who does not bear even an iota of blemish in the observance of six essentials, (d) who remains occupied with self-study and meditation, (e) who prefers non-obtainment of food and water to their obtainment, is deemed to have swam over the affliction originating from hunger and thirst Not to dwell upon pangs of hunger and pains of thirst amounts to the surmounting of hunger and thirst Parisahas (3-4) It is evident that the saint has renounced resorting to external protections against cold and heat, and he remains undecided regarding his habitation like a bird, and if, by his sojourn in the forests or at the peak of mountains, he is troubled by cold breeze, or by frozen ice, or by blasting hot wind, even then if he does not apply his mind to eschew them, but remains steadfast in his spiritual pursuit, he is called the conqueror of cold and heat Parisahas (5) In spite of the embarrasments caused by insects (flies, mosquitoes, scorpians, snakes, bugbears and the like) the saint who does not entertain the idea of their removal, but who keeps in mind the fixed determination of spiritual advancement, is said to have got over insect-bite Parisaha (6) The saint who is stark-naked like a newly born child, whose heart has transcended the lustful



thoughts, and who observes unchallangeable chastity conquers nudity Parisaha[7] Or "my clothes being torn, I shall go naked or I shall get a new suit, such thoughts should not be entertained by a monk At one time he will have no clothes at another he will have some, knowing this to be a salutary rule a wise monk should not complain about it"[8] (7) The saint who subjugates the feeling of ennui, which may be caused by the control of senses, by certain ills and maladies, by the behaviour of vicious persons, and by other formidable difficulties of ascetic life, is understood to subdue ennui Parisaha (8) If the saint is not seduced by the beautiful forms, the smile, charming talks, amorous glances and laughter of women, he is called the conqueror of woman Parisaha (9) In leaving one place for another according to the prescribed rules of ascetic discipline, if the saint bears hardships owing to sharp pointed pebbles and thorns lying on the path, he is said to have got over walking Parisaha (10) The saint who sits down in a burial-ground, or in a deserted house or in a cave, and there who is not frightened even by a roar of lion, and who is accustomed to difficult postures, is believed to have over-come sitting Parisaha (11) After getting tired from constant self-study and meditation, the saint resorts to sleep at a place which may be rough If his mind, inspite of this, is unruffled and is occupied with auspicious Bhavas, he is said to have conquered sleeping-place Parisaha (12) The saint who keeps an attitude of indifference towards reviles and remonstrations, and remains mentally undisturbed by them, overcomes abuse Parisaha (13) If the saint does not lose his serene disposition even if his body is being butchered, he is believed to have overcome attack Parisaha (14) The saint who does not meanly ask for food, place of stay, medicine etc, even if his Prānas part with him, has conquered begging Parisaha (15) The subjugation of non-obtainment Parisaha signifies the presence of mental placidity and composure when the saint does not obtain his food from the householder (16) In spite of being invaded by a number of diseases, the saint who conquers disease Parisaha endures them with fortitude without the neglect of his daily duties (17) The saint who remains undisturbed even if his body gets trouble by the pointed pieces of pebbles, thorns etc. whose mind is always engaged in non-injuring living beings in walking, sleeping and sitting, is affirmed to have conquered pricking of grass Parisaha (18) If the accumulation of dirt and dust over the body does not cause the slightest mental disturbance to the saint who is engaged in cleansing the soul from the mire of Karmic impurities by the pure water of right knowledge and conduct, he has got over dirt Parisaha (19) If the saint is not disturbed or attracted by the disrespectful or respectful attitude of the persons around him, he has overcome respect Parisaha (20) By not allowing himself to be puffed up with pride of knowledge, the saint attains the designation of the conqueror of the conceit of knowledge Parisaha (21) The conquest of lack of knowledge Parisaha points out that the saint does not sucumb to despondency, even if he fails to acquire knowledge or inner illumination inspite of his severe austerities [22) If the saint is not shaken in faith in the doctrine of truth even if years of austerities prove to be of no avail in benefiting him with certain saintly acquisitions, he has overcome slack-belief Parisaha

Distinction between Parisahas and Austerities

After dealing with the kinds and characteristic nature of Parisahas and the attitude of the saint towards them, we now proceed to the exposition of the nature of austerities and their distinction with the Parisahas The difference between Parisahas and austerities consists in the fact that the former occur against the will of the saint, who endures them or rather turns them to



good account by contemplating them to be the means for spiritual conquest, while the latter are in concordance with the will of the saint to have the spiritual triumph Secondly, most of the Parişahas may be the creations of vicious man, cruel nature and jealous gods, viewed from the common man's point of view, but austerities are the enunciations and resolutions of the aspirant's soul Again, if Parişahas have enduring value, austerities have pursuing value, Thirdly, Parişahas which are obstacles to spiritual life, represent themselves as the passing phase in the career of the aspirant, where as the austerities form the indispensable part and parcel of the discipline which is enjoined in order to escape from this distressed and sorrowful worldy life Lastly, we māy say that the performance of austerities subscribes to the endurance of Parisahas with equanimity and unruffled state of mind

Nature and Kind of Tapa (Austrity)

Austerity (Tapa) implies the renunciaton and rejection of desire, as the real enemy of the soul. The Satkhaṇḍāgamā pronounces that the extirpation of desire in order to actualize the triple jewels of right belief, right knowledge and right conduct is affirmed to be Tapa.[9] Thus, in the Jaina view of Tapa, the idea of expelling all desires, the whole root of evil and suffering in favour of attaining to the freedom of the soul, tranquillity and equality of mind, is not only prominent but paramount It is at the basis as well as at the summit of Jaina preachings Despite the supremacy of this inward reference, Jainas do not ignore the outer physical austerities In keeping with this trend of exposition, Tapas are announced to be of two kinds,[10] namely, the external and the internal The former is so called because of the preponderance of the physical and perceptible abandonment, while the latter is so called on account of the inner curbing of mind [11] Besides, the designation 'external' which is applied to a section of Tapas may be justified on the ground that they are capable of being pursued even by those who are not spiritually converted [12] We shall first dwell upon the austerities in their external forms

External austerities

The external austerities are enumerated as six in kind, namely, (1) Anaśana, (2) Avamāudarya, (3) Vrttipatisankhyāna, (4) Rasaparityāga, (5) Viviktasavyyāśāna, and (6) Kāyaklesa [13] The uttarādhyayana[14] enumerates the six forms of external austerities thus Anaśana, Unodarī, Bhiksācarī Rasaparityāga, Kāyakleśa, Sanlīnatā , i e instead of Bhiksāearī and Sanlinatā there Vrttiparisankhyāna and Viviktasayyāaśan respectively However, these do not differ in meaning. (1) Anasana implies fasting or abstinence from food either for a limited period of time, or till the separation of the soul from the body [15] It s performed for purpose of practising self-control, exterminating attachment, annihilating Karmas, performing meditation and acquiring scriptural knowledge, and not for the purpose of any mundane achievement whatsoever [16] It may be noted here that Anasana has been recognized as the simultaneous renunciation of food and the attachment to it Mere maceration of the body is not fasting [17] (2) Avamaudarya means not to take full meals , i e out of the normal quantity of thirty-two morsel[18] for man, and twenty-eight for woman, the reduction of even one morsel will come within the range of this Tapa [19] The observance of this austerity has been calculated to offer control over the senses and sleep, to assist in the practising of Dharmas successfully, to help in the performance of the six essentials, the self study, and the like [20] (3) Vṛttiparisankhyāna[21] means the pre-determination of the saint regarding the number of houses to be visited, the particular manner

of taken food, the specific type of food, the giver of specific qualification, when he sets out to beg for food[22] In other words, the saint adheres to his predecided things, if the things conform literally to his predecision he would accept the food, otherwise he would go without it for that day This is to uproot the desire for food[23] (4) Rasaparityāga indicates the abstinence from the one or more of the following six articles of food, namely, milk, curd, ghee, oil, sugar, salt, and from one or more of the following kinds of tastes, namely pacrid, bitter, astringent, sour and sweet[24] This is performed for the emasculation of the senses, subduing sleep, and the unobstructed pursuance of self-study[25] (5) Viviktasayyāśana[26] implies the choice of secluded place which is not frequented by women, eunuchs, she-animals, depraved householders etc and which may serve the real purpose of meditation, self-study and chastity and is not the cause of attachment and aversion[27] (6) Kāyakleśa mean the putting of the body to certain discomforts by employing certain uneasy and stern postures and by practising certain other bodily austerities of severe nature, for instance of remaining in the sun in the summer, and the like[28] The object of Kāyakleśa is to endure bodily discomfort, to alleviate attachment to pleasurs[29]

We have so far explained the nature of external austerities, and have seen that the performance of these austerities does not merely aim at the physical renunciation, but also at the overthrow of the thraldom of the body and senses In other words, the external asceticism is capable of being justified only when it contributes towards the inner advancement of man, otherwise in the absence of which it amounts to labour which is wholly lost The Mūlācāra says that the external austerity should not engender mental disquietude, abate the zeal for the performance of disciplinary practices of ethical and spiritual nature, but it should enhance spiritual convictions[30] This exposition brings to light the inward tendency of outward asceticism, or physical renunciation, and decries the mere flagellation of the body The enunciation of Samantabhadra that the external austerity serves for the pursuance of spiritual austerity also clearly shows the emphasis laid by Jainism on the internal aspect of Tapa[31] After vindicating the claims of the outward ascetic discipline in the ethical set up of Jaina preaching, we set out to discuss the nature of internal austerities

Internal austerities

The internal austerities are also enumerated as six in kind, namely, Prāyascitta (2) Vinaya, (3) Vaiyāvrtta (4) Svādhyāya, (5) Vyutsarga and (6) Dhyāna[32] (1) The process by virtue of which a saint may seek freedom from the committed transgressions may be termed as Prāyascitta[33] According to Kārtikeya, that is the real Prāyscitta wherein the commission of some fault is not repeated even if the body may be cut to hundred pieces[34] It is of ten kinds (a) Ālccanā, (b) Pratikramana, (c) Ubhaya, (d) Viveka, (e) Vyutsarga (f) Tapa, (g) Cheda, (h) Mūla, (i) Parihāra, (j) Sradhāna[35] The Tattvārthasūtra[36] enumerates only nine kinds, eliminating Sradhāna, and probably substituting the name Upasthāpana for Mūla To dwell upon them in succession (a) Ālocanā implies the expression and confession of transgression before the Guru after avoiding ten kinds of defects[37]* (b) Pratikramana is self-condemnation for the transgression[38] (c) To perform both Ālccanā and Pratikramana for certain major faults like bad dreams etc. is Ubhaya[39] (d) To renounce a thing which has been wrongly used is Viveka, or when the Guru prescribes the renunciation of a certain place, time and object, that is also Viveka[40] (e) To engage oneself in Kayotsagra is called Vyutsarga[41] (f) To engage oneself in external



austerities or fasts is called Tapa [42] (g) When the Guru cuts short the life of sainthood, it is called Cheda [43] (h) To re-establish one in saintly life is Mūla [44] (i) To expell a saint from the order of monks is called Parihāra [45] (j) To redevelop belief in the true order is Sradhāna [46]

(2) Vinaya implies either the control of senses and the eradication of passions, or the holding of humbleness for the triple-jewelled personalities [47] All scriptural study in the absence of Vinaya gose to the wall The outcome of the former should be the latter which in turn entails progress and prosperity.[48] The outward and mundane consequences of Vinaya are wide recognition, friendship, respect, grace of Guru, obedience to the command of Jina, and destruction of ill-will, while the inward and suprermundane fruits of Vinaya are easiness in Self-restraint and penances, the acquisition of knowledge, purification of self, the emergence of the feeling of gratitude, simplicity and commendation of other man's qualities, the destruction of conceitedness, and lastly the attainment of emancipation [49] Fivefold classification of Vinaya-(a) Darśana, (b) Jñāna, (c) Cāritra, (d) Tapa and (e) Upacāra has been recognised [50] The Tattvārthasūtra speaks of the first four and probably includes Tapa Vinaya into Cāritra Vinaya [51] In the Jaina writings we also find a mention of the five type of Ācār-Darśenācāra, Jñānācāra, Cāritrācāra, Tapācāra, and Viryācāra The first four seem to be the quite same as the first four Vinayas. Really speaking, Vinaya is a disposition, while Ācāra is an activity The two are related as the inward and the outward, only theoretically distinguishable (a) The disposition of observance of the eigth constituents of Samyagdarsana, of the devotion to the adorable five souls has been designated as Darśana Vinaya [52] It is also regarded as belief in Dravyas and Paryāyas [53] (b) He who reflects, preaches and utilises knowledge for higher progress is regarded as having Jñāna Vinaya [54] (c) To control the senses and passions, to observe Gupti and Samiti are included in Cāritra Vinaya [55] (d) To be elated in presence of saints performing excellent penances, and not to depreciate others are called Tapa Vinaya [56] (a) Upacāra Vinaya is worldly modesty It is the expression of modesty through body, mind and speech To stand up out of respect for the saint, to bow down, to offer him a seat, to give him send off by following him a little distance—all these are included in bodily modesty [57] To speak beneficial, balanced, sweet, respectful, purposeful words is vocal modesty [58] The controlling of mind from vices and the pursuing of virtues are regarded as mental modesty [59] The expression of Upacāra Vinaya should not only be limited to Guru, but householders, nuns and other monks are also required to be shown this sort of Vinaya [60]

(3) The rendering of service to saints by means of medicine, preaching etc. when they are overwhelmed by disease, Parisahas and perversities is called Vaiyāvrttya [61] This austerity is performed for uprooting the feeling of abhorrence of dirt, disease etc, for spiritual realisation, and for revealing affection for the spiritual path [62]

(4) Scriptural study or Svadhyaya, in the first place, comprises the fact of faultlessly making intelligible either the words or meaning or both to the person curious to learn without the expectance of any return;[63] secondly, the asking of questions with a view to clear away doubts or to confirm ones conviction regarding words and meanings, or both,[64] thirdly, the constant dwelling upon the assimilated meaning to the extent that the mind may dive deep and submerge itself into the meaning so as to attain the same form like a hot iron ball,[65] fourthly, the fact of memorising the scriptures and their repeated revision with unerring pronunciation,[66] fifthly, the moral preachings illustrated with the life of great men without the desire to earn

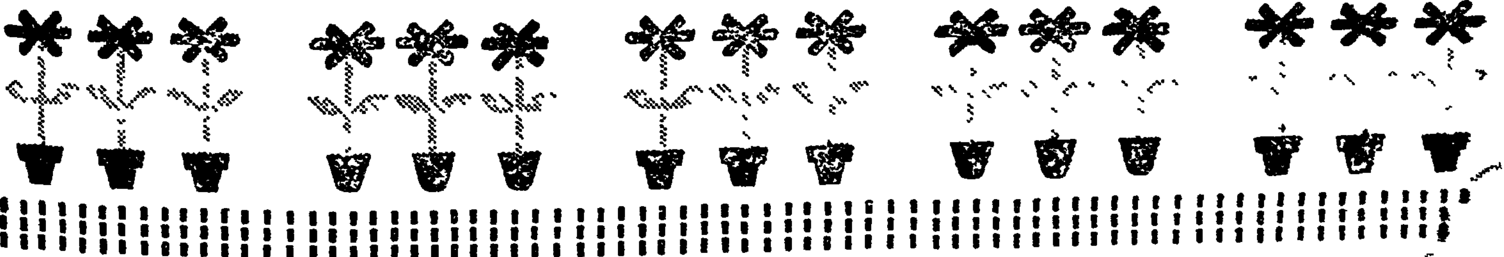
worldly benefits and prestige, but with the desire to eradicate the unworthy path, to remove doubts, and to illumine the essential aspects of life [67]

According to the Jaina, that is right knowledge which can enlighten the essence of life, foster self-control, direct the mind from the "abyss of sensuality to the plane of the spirit",[68] instill the spirit of detachment, inspire the pursuance of noble path, and develop fraternal feelings with all beings,[69] Scriptural study may very well be equated with type of knowledge Besides, it confers upon the aspirant the benediction that senses are restrained, three Guptis are observed, mental concentration is obtained, and humbleness pours in [70] The man with the knowledge of Sutras saves himself from being led astray, just as the needle with thread is not lost [71] Kundakunda emphasizes the importance of scriptural study by pronouncing that it serves to exhaust the heap of delusion [72] Pūjyapāda points out that the purpose of Svādhyāya is to enrich intellect, to refine moral and spiritual efforts, to infuse detachment and fear from the mundane miseries, to effect an advancement in the practice of austerities, and to purify defects that may occur when one pursues the divine path [73] In addition to these objectives fulfilled by Svādhyāya, Akalanka recognises that it also serves to perpetuate the religion preached by the omniscient Tīrthankara, to uproot one's own doubts and those of the co-religionists, and lastly, to defend the basic doctrines against the onslaughts of antagonistic philosophers [74] For those who are fickle-minded, intellectually unsteady, nothing is so potent to terminate such a state of mind as the pursuance of Svādhyāya or the scriptural study, just as darkness can only be nullified by the light of the sun [75] It brings about mental integration and concentration, inasmuch as the aspirant overcomes the hindrances by ascertaining the nature of things through the study of the scriptures [76] Without the acquisition of scriptural knowledge, there always abides a danger of being led astray from the virtuous path, just as the tree full of flowers and leaves cannot escape its deadening fate for want of the root [77] Thus, the significance of Svādhyāya is so great that of the twelve kinds of austerities already discussed, Svādhyāya is unsurpassable [78] If scriptural study offers an incentive to the householder to lead the life of a saint by consecrating himself completely to meditation and devotion, it serves as a temporary help for the sojourn of the saint when he experiences meditational fatigue It imparts meditational inspiration and intellectual fund and satisfaction It is at once a "tonic to the brain and sauce to the heart [79] It bestows upon us philosophical satisfaction about the truths of mystical religion and creates an insatiable desire to have an actual experience of these truths. "It brings home to the mystic's mind the sense of weakness, finitude and helplessness and awakens the Sadhaka to the need of making more efforts, of cultivating the moral virtues and of enhancing his meditations and devotions "[80]

(5) Vyutasarga signifies the relinquishment of external and internal Parigraha [81] The former comprises living and non-living Parigraha, and the latter, the fourteen kinds of passions [82]

General nature and types of Dhyāna

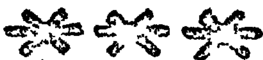
Having discussed the nature of five kinds of internal Tapas, we now proceed to dwell upon the nature of Dhyānas It well not be amiss to point out that all the disciplinary practices form an essential background for the performance of Dhāyana Just as the storage of water which is meant for irrigating the corn-field, may also be utilised for drinking and other purposes, so the disciplinary practices like Gupti, Samiti etc which are meant for the cessation of the inflow of the fresh Karman may also be esteemed as forming the background for Dhyāna.[83]



In other words, all the disciplinary observances find their culmination in Dhyāna Thus Dhyāna is the indispensable, intergral constituent of right conduct, and consequently, it is directly related to the actualisation of the divine potentialities It is the clear, and single road by which the aspirant can move straight to the supreme good To define Dhyāna, it represents the concentration of mind on a particular object, which concentration is possible only for an Antarmuhūrta (time below forty-eight minutes) to the maximum and that too in case of such souls as are possessing the bodies of the best order [84] The stability of thoughts on one object is recognised as Dhyāna and the passing of mind from one object to another is deemed as either Bhāvanā, or Anupreksā or cintā [85] Now, the object of concentration may be profane and holy in character [86] The mind may concentrate either on the debasing and degrading object, or on the object which is uplifting and elevating The former which causes the inflow of inauspicious Karman is designated as inauspicious concentration (Apraśasta), while the latter which is associated with the potency of Karmic annulment is called auspicious concentration (Praśasta) [87] To be brief, Dhyāna is capable of endowing us with resplendent jewel, or with the pieces of glass When both things can be had which of these will a man of discrimination choose ?[88] Śubhacandra distinguishes three categories of Dhyāna, good, evil, and pure in coformity with the three types of purposes, viz, auspicious, inauspicious and transcendental, which may be owned by a self [89] At another place he categories Dhyāna as Praśasta and Apraśasta [90] These two modes of classification are not incompatible, but evince difference of perspectives, the former represents the psychical or psychological view, the latter, the practical or ethical view In a different way, the Praśasta type of Dhyāna may be considered to include good and pure types of Dhyāna within it, and this will again give us the two types of Dhyāna, namely, Praśasta and Apraśasta The former category is divided into two types, namely, Dharma-Dhyāna and Śukla-Dhyāna, and the latter, also into two types, namely, Ārata-Dhyāna and Raudra-Dhyāna [91] The Praśasta category of Dhyāna has been deemed to be potent enough to make the aspirant realise the emancipated status [92] On the contrary, the Apraśasta one forces the mundane being to experience worldly sufferings [93] Thus those who yearn for liberation should abjure Ārta and Raudra Dhyānas and embrace Dharma and Śukla ones [94] In dealing with Dhyāna as Tapa, we are completely concerned with the Praśasta types of Dhyāna, since they are singularly relevant to the auspicious and transcendental living But we propose, in the first instance, to discuss the nature of Apraśasta types of Dhyāna, since its exposition would help us to understand clearly the sharp distinction between the two categories of Dhyāna To speak in a different way, if Praśasta Dhyāna is the positive aspect of Tapa, Aprasasta one reprents the negative one

Apraśasta Dhyāna

(a) *Arta-Dhyāna* The word 'Ārta' implies anguish and affliction, and the dwelling of the mind on the thoughts resulting from such a distressed state of mind is to be regarded as Ārta-Dhyāna [95] In this world of storm and stress, though there are illimitable things which may occasion pain and suffering to the empirical soul, yet all of them cannot be expressed by the limited human understanding The four kinds of Ārta-Dhyāna[96] have been recognised The first concerns itself with the fact of one's being constantly occupied with the anxiety of overthrowing the associated undesirable objects of varied nature [97] In a different way, when the discomposure of mind results on account of the baneful association of disagreeable objects which are

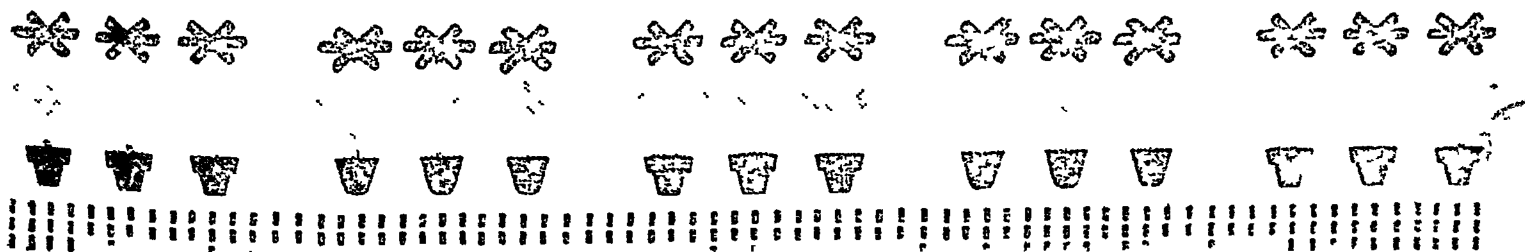






either heard or perceived or which occur in mind owing to previous impressions, we have the first type of Ārta-Dhyāna, namely, Anista-samyogaja [98] The parting with of agreeable objects may also occasion discomposure of mind To be overwhelmed by anxiety for restoring the loss is called the second type of Ārta-dhyāna, namely, Iṣṭa-viyogaja [99] The constant occupation of mind to remove the distressing state of mind resulting from the diseased condition of the body is called the third type of Ārta-dhyāna, namely, Vedanā-Janita [100] To yearn for agreeable pleasures and to contrive to defeat and slander the enemy constitute what is called as the fourth type of Ārta-dhyāna, namely, Nidāna-Janita [101] In other words, to make up one's mind for and to constantly dwell upon the acquisition of the objects of sensual pleasures is termed as the fourth type of Ārta-dhyāna, namely, Nidāna-Janita [102] It may be noted here that the Ārta-dhyāna in general is natural to the empirical souls on account of the evil dispositions existing from an infinite past [103] It discovers itself owing to the presence of inauspicious leśyās like Krsna, Nīla, and Kāpota in the texture of the worldly self, and brings about sub-human birth where innumerable pain-provoking things inevitably arise [104] The Ārta-dhyāna with its four-fold classification may occur in the perverted, as also in the spiritually converted, and partially disciplined personalities Even the saint associated with Pramāda gets sometimes influenced by the above types except the fourth [105] It will not be amiss to point out that just as the householder cannot escape the Hiṁsā of one-sensed Jīvas, even so he cannot avoid Ārta-dhyāna No doubt, he can reduce it to an irreducible extent, but cannot remove it altogether unlike the saint of a high order

(b) *Raudra-dyāna*

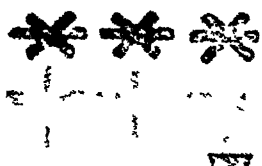
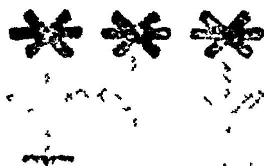
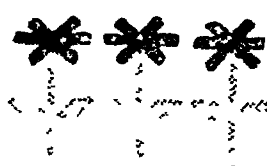
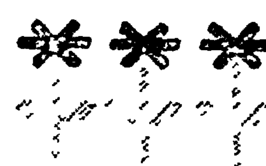
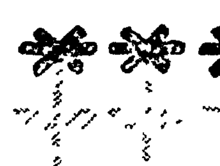
We now proceed to explain the Raudra-dhyāna which has also been enumerated as of four kinds To take delight in killing living beings, to be felicitous in hearing, seeing and reviving the oppression caused to sentient beings, to seek ill of others, to be envious of other man's prosperity and merits, to collect the implements of Himsā, to show kindness to cruel persons, to be revengeful, to wish defeat and victory in war-all these come within the purview of the first kind of Raudra-dhyāna, namely, Himsānandi Raudra-dhyāna [106] The individual whose mind is permeated by falsehood, who designs to entangle the world in troubles by dint of propagating vicious doctrines, and writing unhealthy literature for the sake of his own pleasure, who amasses wealth by taking recourse to deceit and trickery, who contrives to show faults fraudulently in faultless persons in order that the king may punish them, who takes pride and pleasure in cheating the simple and ignorant persons through the fraudulent language, may be considered to be indulging in the second type of Raudra-dhyāna, namely, Mrsānandi Raudra-dhyāna [107] Dexterity in theft, zeal in the act of thieving, and the education for theft should be regarded as the third type of Raudra-dhyāna, namely, Cauryānandi Raudra-dhyāna [108] The endeavour a man does to guard paraphernalia and pleasures of the senses is called the fourth type of Raudra-dhyāna, namely Visāyanandi Raudra-dhyāna [109] It deserves our notice that the undisciplined and partially disciplined persons are the subjects of Raudra-dhyāna [110] Though the partially disciplined persons are the victims of this Dhyāna on account of their observing partial conduct, i e partial Ahiṁsā, partial truth, partial non-stealing, partial non-acquisition and partial chastity, yet Raudra-dhyāna of such an unmitigable character along with Samyagdarśana is incapable of leadidg one to experience miseries of hellish beings [111] The life of the saint is exclusive of this Dhyāna, since in its presence conduct



degenerates [112] This Dhyāna, also occurs in the self without any education and is the result of the intensest passion, or the Kṛsna, Nīla and Kāpota Leśyās [113]

Pre-requisites of Praśasta Dhyāna

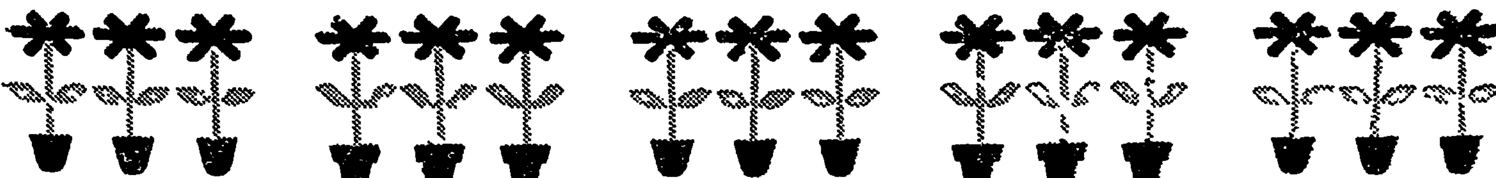
Next in order comes the Praśasta type of Dhyāna which may be called Dhyāna proper. This type of Dhyāna is contributive to Moksa or final release Before we directly embark upon the study of the types of Prasasta Dhyāna, it is of primary and radical importance to delineate their pre-requisites which will enforce banishment of all the inimical elements robbing the soul of the legitimate disposition and proper conduct for spiritual advancement In consequence the self will gain strength to dive deep into the ordinarily unfathomable depths of the mysterious self Indubiously, in the intital stages the purity of empirical and psychical background is the indispensable condition of Dhyāna The necessary pre-requistes, of Dhyāna, in general, may be enumerated by saying that the subject must have the ardent desire for final liberation, be non-attached to worldly objects, possess unruffled and tranquil mind, be self-controlled, stable, sense-controlled, patient and enduring [114] Besides, one should steer clear of (1) the worldly, (3) the philosophico-ethical, and (3) the mental distractions, and look towards the suitability of (4) time, (5) place, and (6) posture, and (7) towards the attainment of mental equilibrium, before one aspires for Dhyāna conducive to liberation We now deal with them in succession (1) The life of the householder is fraught with numberless disturbances which impede the development of his meditational disposition. Subhacandra holds and antagonistic attitude towards the successful performance of Dhyāna in the life of the householder He expresses his view in very emphatic words that we may hope the occurrence of the flower of the sky, and horn of the donkey at some time and place, but the adornment of the householder's life with the Dhyāna is never possible [115] All this must not imply that the householder is outright incapable of performing Dhyāna, but it should mean that he cannot perform Dhyāna of the best order which is possible only in the life of the saint (2) If the aspirant, despite his saintly garb suffers from the philosophical and ethical delusions he will like wise lose the opportunity of performing Dhyāna In other words, right belief and right conduct cannot be dispensed with, if Dhyāna is to be performed (3) The control of mind which in turn leads to the control of passions and senses is also the essential condition of Dhyāna. Mental distraction like mental perversion hinders meditational progress, and to achieve liberation without mental purity is to drink water from there where it is not, i.e. from the river of mirage [116] That is Dhyāna, that is supreme knowledge, that is the object of Dhyāna by virtue of which the mind after transcending ignorance submerges in the self's own nature [117] A man who talks of Dhyāna without the conquset of mind is ignorant of the nature of Dhyāna [118] On the reflective plane, the recognition of the potential divinity of the empirical self and the consciousness of the difference between the empirical self and the transcendental self will unequivocally function as the mental pre-requisite condition of Dhyāna [119] The practice of the fourfold virtues of Maitrī (friendship with all creatures), Pramoda (appreciation of the merits of others), Karunā (compassion and sympathy) and Mādhyastha (indifference to the unruly) has also been prescribed as the mental pre-requisite conditions of Dhyāna These quadruple virtues, when practised in an earnest spirit, cause to disapper the slumber of perversion, and to set in eternal tranquillity [120] (4-5) The selection of proper place, posture and time is no less importance for the performance of Dhyāna. The aspirant should avoid those

places which are inhabited by the vicious, hypocrites, and the acutely perverted persons, and by gamblers, drunkards, harlots etc and should also avoid those place which may be otherwise disturbing.[121] He should choose those places which are associated with the names of holdy Tirthankaras and saints [122] A bank of a river, a summit of a mountain, an Island, and a cave and other places of seclusion and inspiration, should be chosen for practising spiritual concentration [123] As regards the posture for Dhyāna, for the people of this age who are generally deficient in energy, Paryanka or Padma and Kayotsarga postures are especially recommended [121] For him, every porture, every place and every time is fit for meditation, whose mind is immaculate, stable, enduring, controlled and detached [125] A place may be secluded or crowded, the saint may be properly or improperly seated, the stability of saints' mind is the proper time for meditation [123] Śubhacandra very beautifully protrays the mental and the physical picture of a saint preparing for meditation The mind of the saint should be purified by the waves of the ocean of discriminatory enlightenment, be destitute of passions, be like an unfathomable occean, be undeviating like a mountain, and should be without all sorts of doubts and delusions Besides, the posture of the saint should be such as to arouse suspicion in the mind of a wise man regarding his being a stone-status or apainted figure [127] The Yogi who attains sturdiness and steadfastness in posture does not get perturbed by being confronted with the extremes of cold and heat and by being harassed by furious animals [123] (7) The saint who has controlled his mind and purged it of perversion and passions may be said to have attained initial mental enquipoise by virtue of which he is not seduced by the sentient and non-sentient, the pleasant and unpleasant objects [123] The consequence of this is that his desires vanish, ignorance disappears, and his mind is calmed And above all he can sweep away the filth of Karman within a twinkle of an eye [130] The great Ācārya Subhacandra is so much overwhelmed by the importance of this sort of mental poise that he pronounces this as the Dhyāna of the best order [131] Thus mental enqanimity precedes Dhyāna

Process of Dhyāna

After dealing with the pre-requisites of Dhyāna, we now propose to discuss the process of Dhyāna For the control of the mind, and for the successful performance of Dhyāna the process of breath-control (Pranāyāma) may be necessary, but it being painful engenders Ārta-dhyāna which consequently deflects the saint from his desired path [132] Besides, the process of breath-control develops diverse supernormal powers which serve as hinderances to the healthiest developments of the spirit [133] Hence the better method is to withdraw the senses from the sensual objects and the mind from the senses, and to concentrate the mind on the forehead (Lalāta) [134] This proces is called Pratyāhāra The ten places in the body have been enumerated for mental concentration, namely the two eyes, the two ears, the foremost point of the nose, the forehead, the mouth, the navel, the head, the heart, the palate, the place between the two eye-brows [135] The Yogī should contemplate his original underived potency of the self, and compare his present state with the non-manifested nature of the self He should regard ignorance and Sensual indulgence as the causes of the fall Then, he should be determined to end the obstructions to the manifestation of the transcendental self by dint of the sword of meditation He should express his resolution by affirming that he is neither a hellish being, nor an animal, nor a man, and nor a celestial being, but a transcendental being devoid of these mundane transformations which result from the Karmic association [136] And again, being



possessed of infinite power, knowlede, intuition and bliss, he must not go away from his original nature.[137] Having determined in this manner, the patient, enduring, steadfast, and crystal pure Yogī should meditate upon the material and non-material objects as possessing the triple nature of origination, destruction and continuance, as also upon the omniscient embodied and disembodied souls [138] Having meditated upon the six kinds of Dravyas in their true nature, the Yogī should either acquire the spirit of non-attachment or enrapture his mind in the occean of compassion [139] Afterwards he should begin to meditate upon the nature of Paramātman who is associated with the number of original and unique characteristics [140] The Yogī gets engrossed with these characteristics, and endeavours, to enlighten his own self with spiritual illumination He gets immersed in the nature of Paramātman to such an extent that the consciousness of the distinctions of subject, object, and the process vanishes [141] This is the state of equality (Samarasībhāva) and indentification (Ekīkarana) where the self submerges in the transcendental self, and becomes non-different from it [142] This sort of meditation is called Savīrya-dhyāna [143]

There is another way of speaking about the process of Dhyāna Of the three states of self, namely, external, internal and transcendental, the Yogī should renounce the external self, and meditate upon the transcendental self by means of the internal self [144] In other words, after abandoning the spirit of false selfhood and after attaining spiritual conversion, the Yogī should ascend higher through the ladder of the latter with the legs of meditation The ignorant is occupied with the renunciation and possession of external objects, while the wise is occupied with the renunciation and possession of internal ones, but the superwise transcends the thoughts of the external and internal [145] Hence, in order to attain this last state, the Yogī after isolating the self from speech and body should fix his mind on his own self, and perform other actions by means of speech and body without mental inclination [146] The constant meditation upon the fact, 'I am that', 'I am that' results in the steadfastness of Ātmanic experience [147]

The author of the Jñānārnava, in addition, elaborately expounds the process of Dhyāna by classifying Dhyāna into (1) Pindastha, (2) Padastha, (3) Rupastha and (4) Rupātīta [148] Though the credit of their lucid exposition devolves upon Śubhacandra, yet the credit of suggestion and enumeration in the history of Jaina literature goes to Yogīndu who is believed to have lived in the 6th century A D much earlier then Śubhacandra [149] We shall now dwell upon this fourfold classification (1) Pindastha-dhyāna comprises the five forms of contemplation[150] (Dhāranās) which are explained in the following way (a) The Yogī should imagine a motionless, noiseless and ice-white ocean in Madhyaloka In the centre of the ocean he should imagine a finely—constructed, resplendent and enchanting lotus of thousand petals as extensive a Jambūdvīpa The centre of the lotus should then be imagined as having a pericarp which emanates yellowish radiance in all the ten directions In the pericarp the Yogī should imagine a raised throne resembling the resplendence of the moon And therein he should imagine himself seated in a serence frame of mind He should then firmly believe that his self is potent enough to sweep away all the filth of passions and to demolish all the Karmas. This type of contemplation is called Pārthivī-dhāranā [151] (b) Afterwards the Yogī is required to imagine a beautiful, well-shaped lotus of sixteen petals in the region of his own naval He should then imagine that each petal is inscribed with one of the sixteen vowels, अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः, and that the pericarp of this lotus is inscribed with a holy

syllable, ह्रैं Afterwards he should imagine that the smoke is slowly coming out of the upper stroke of the holy syllable ह्रैं, and that after some-time the smoke turns itself into a flame of fire which burns the lotus of eight petals situated in the region of the heart After this lotus, which represents the eight kinds of Karmas, has been reduced to ashes, the Yogī should imagine a fire sorrounding the body After the body is reduced to ashes, the fire, in the absence of anything to burn, is automatically extinguished This type of contemplation is called Āgneyī-dhāranā [152] (c) The Yogī should then imagine the powerful winds which are capable of blowing away the ashes of the body. After the ashes are imagined to be blown away, he should imagine the steadiness and calmness of the wind This type of contemplation is called Śvasanā dhāranā [153] (d) The Yogī should then imagine heavily clouded sky along with lightening, thundering and rain bow. Such imagination should culminate in the constant downpour of big and bright rain drops like pearls These rain drops are required to be imagined as serving the holy function of washing away the remnants of the ashes of the body. This type of contemplation is called Vāruni-dhāranā [154] (e) Afterwards the Yogī should meditate his own soul as great as an omniscient, as bereft of seven constituent elements of the body, as possessed of radiance which is as immaculate as the full-orbed moon He should, then, contemplate his soul as associated with supernormal features, as seated on the throne, as adored and worshipped by Devas, Devils and the men After this he should meditate his soul as free from all kinds of Karmas, as possessed of all the divine attributes and qualities This is called Tattvarūpavatī-dhāranā [155] With this finishes the practising of the Pindastha-dhyāna which leads to the blissful life enduring and everlasting [156]

(2-4) The Padastha-dhyāna means contemplation by means of certain Matric syllables, such as 'Om', 'Arahanta' etc [157] Śubhacandra draws attention of the number of such syllables which need not be dealt with here The Rupastha-dhyāna consists in meditating on the divine qualities and the extraordinary powers of the Arahantas [158] The Yogī by virtue of meditating on the divine qualities imagines his own self as the transcendental self and believes that "I am that omniscient soul and not anything else [159] "The Rupātīta-dhyāna implies the meditation on the attributes of Sidhātman In other words, the Rupātīta-dhyāna is that wherein the Yogī meditates upon the self as blissful consciousness, pure, and formless [160]

We have thus dwelt upon the various processes of Dhyāna These different processes which may be brought under Prasasta-dhyāna are capable of leading us to the supreme state of transcendental existence All this was a digression from the traditional enumeration which recognises four kinds of Dharma-dhyāna and four kinds of Śukla-dhyāna We shall now deal with these kinds of Dhyāna

Dharma-dhyāna

The word 'Dharma' implies the veriable nature of things, the ten kinds of Dharma, the triple jewels and the protection of living beings [161] The four types of Dharma-dhyāna have been recognised, namely, (1) Ajña-vicaya, (2) Apāya-vicaya, (3) Vipāka-Vicaya, and Lastly (4) Sansthāna-vicaya [162] (1) When the aspirant finds no one to preach, lacks subtle wit, is obstructed by the rise of Karmas, is encountered with the subtleness of objects and experiences the deficiency of evidence and illustration in upholding and vindicating any doctrine, he adheres to the exposition of the Arahanta after believing that the Arahanta does not misrepresent things The aspirant may thus be said to have performed Ajñā-vicaya Dharma-dhyāna [163]



Or he who has understood the nature of objects and who therefore makes use of Naya and Pramāna for justfying certain doctrines may be believed to have performed Ajña-vicaya Dharma-dhyāna [164] We may here say that the purpose of this Dhyāna is to maintain intellectual clarity regarding the metaphysical nature of objects propounded by the Arahanta. (2) To ponder over the adeuqate ways and means of emancipating the souls from the wordly suffering caused by the perverted belief, knowledge and conduct,[165] and to meditate on the means of ascending the ladder of spiritual welfare,[166] are designated as Apāya-vicaya Dharma-dhyāna. Besides, the aspirant should give himself to serious contemplation 'who am I ?' Why there are inflow and bondage of Karmas ? How Karmas can be overthrown? What is liberation ? and what is the manifested nature of soul on being liberated ?[167] If Ajñā-vicaya establishes oneself in truth, Apāya-vicaya lays stress on the means of realising the essential nature of truth (3) Vipāka-vicaya Dharma-dhyāna implies the reflection on the effects which Karmas produce on the diverse empirical souls [168] (4) The reflection on the nature and form of this universe constitutes what is called as Saṁsthāna-vicaya Dharma-dhyāna [169] This kind of Dhyāna impresses upon the mind the vastness of the universe and the diversity of its constituents By this Dhyāna the aspirant realises his own position in the universe These four types of Dhyāna serve twofold purpose namely, that of suspicious reflection and self-meditation, i e they supply the material for the intellect and offer inspiration to the self for meditation Though they do not seem to suggest any process of meditation, their subject-matter is such as to evoke active interest for nothing but self-realisation through self-meditation Thus Dharma-dhyāna is meditation as well as reflection, the latter may pass into the former and the former may lapse into the latter. In other words, the four kinds of Dhyāna are reflective when intellectual thinking is witnessed, and they are meditative when the mind attains stability in respect of them The best kind of Dharma-dhyāna is to meditate upon the self by fixing one's mind in it after renouncing all other thoughts [170]

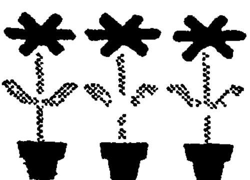
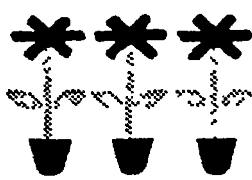
Śukla-dhyāna

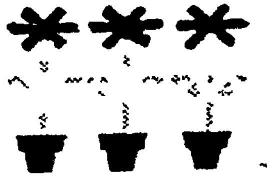
Dharma-dhyāna which has so far been expounded prepares a suitable ground and atmosphere for ascending the loftiest spiritual heights. It claims to have swept away every iota of inauspicious dispositions from the mind of the aspirant The Yogī has achieved self-mastery to the full, and has developed a unique taste for the accomplishment of that something which is unique The Yogī, having brushed aside the unsteadiness of his mind now resorts to Śukla Dhyāna (Pure Dhyāna) which is so called because of its origination after the destruction or subsidence of the filth of passions [171] Not all Yogīs are capable of performing this type of Dhyāna Only those who are possessing bodies of the best order can have all the four types of Śukla-dhyāna [172] Of the four types[173] of Śukla-dhyāna, namely, Pṛthaktva-vitarka-vicāra, Ekatva-vitarka-avicāra, Sūksmakriyāpratipātin, and Vyuparatakriyānivartin, the first two occur up to the twelfth Gunasthana with the help of conceptual thinking based on scriptural knowledge, and the last two crown the omniscient where conceptual activity of the mind abates to the last [174] To dwell upon these types, the first type (Prthaktva-vitarka-vicāra) is associated with Pṛthaktva, Vitarka and Vicāra, i e. with manyness, scriptural knowledge, and transition from one aspect of entity to another, for example, substance to modifications and vice versa, from one verbal symbol to another, and from one kind of Yoga (activity) to another [175] In the second type (Ekatva-vitarka-avicāra) Vicāra is absent, consequently oneness displaces manyness The mind

shortens its field of concentration to the effect that the Yogī meditates upon one substance, an atom, or a modification of substance with the assistance of only one kind of Yoga [176] Hence the second type of Dhyāna is associated with Vitarka and Ekatva, i e with scriptural knowledge and oneness With the performance of this second type of Dhyāna the Yogī reduces to ashes the four types of obscuring (Ghātin) Karmas In consequence, the Yogī experiences infinite intuition, knowledge, bliss, and energy [177] Thus the state of Jīvanmukti is attained The omniscient occupies himself with the third type of Śukla-dhyāna (Sūksamakriyāpratipātin) when an Antarmuhūrta remains in final emanciparion [178] After establishing himself in gross bodily activity, he makes the activities of mind and speech subtle [179] Then after renouncing the bodily activity, he fixes himself in the activities of mind and speech, and makes the gross bodily activity subtle [180] Afterwards mental and vocal activities are stopped[181] and only subtle activity of body is left. In the last type of Śukla-dhyāna (Vyuparatakriyānivartin) even the subtle activity of body is stopped The soul now becomes devoid of mental, vocal and physical vibrations, and immediately after the time taken to pronounce five syllables it attains disembodied liberation [182]

LIST OF ABBREVIATIONS AND WORKS

Amita Śrāva	Amitagati-Śrāvakācāra (Anantakīrti Digambara Jaina, Granthamālā, Bombay)
Anagā Dharmā	Anagāradharmāmṛta of Āśādhara (Khusālacanda Gāndhi, Solapur)
Bhaga Ārā	Bhagavati-Arādhanā (Sakhārāma Nemacanda Digambara Jaina Granthamālā, Solapur)
Istopa	Istopadeśa of Pūjyapāda (Rāyacandra Jaina Sastramālā, Bombay)
Jnānā	Jnānārnava of Śubhācandra (Rāyacandra Jaina Śāstramālā, Bombay)
Kārti	Kārtikeyānupreksā (Rāyacandrā Jaina Śāstramālā, Bombay)
Mūlā	Mūlācāra of Vaṭṭakera (Aanantakirti Digambara Jaina Granthamālā, Bombay)
Prava .	Parvacanasāra of Kuṇḍakuṇḍa (Rāyacandra Jaina Śāstramālā, Bombay)
Rājavā	Rājavārtika of Aklanka (Bhāratiya Jnāna Pitha, Kāsī)
Sat Vol VIII & XIII	Satkhaṇḍāgama of Puspadanta and Bhūtabati (Jaina Sahitya Uddharaka fund Karyālaya, Amraot)
Sarvārtha	Sarvārthāsiddhi of Pūjyapāda (Bhāratiya Jnāna Pitha, Kāsī)
Svayāmabhū .	Svayamabhustotra of Samantabhadra (Viraseva Mandira, Sarasāvā)
T. Sū	Tattvārthasūtra of Umāsvati under the title Sarvārthasiddhi (Bhartiya Jnānā Pitha, Kāsī)
Uttarā	Uttarādhyayana (Sacred Books of the east Vol XLV).
.	Yoga of the saints by Dr V H Date (Popular Book Depot, Bombay-7)
	Yogasāra of yogīndu (Rāyacandra Jaina Sastramālā, Bombay, along with Paramatmapreksina)
	History of Jaina Monachism by S. B Deo. (Deeran College, Poona)

86 Kārtı. 468
87 Sarvārtha IX-28
88 Istopa. 20
89 Jnānā III 27, 28
90 Ibıd XXV. 17
91. Kārtı 469, T. Sū. IX-28
92 T Sū IX-29
93 Sarvārtha. IX-29
94. Tattvānuśāsana 34, 220
95 Sarvārtha IX. 28
96 Jnānā. XXV 37 T. Sū, IX. 30 to 33.
97. T Sū IX. 30, Kārtı 471; Jnānā. XXV-28
98. Jnānā XXV 27, Kārtı. 471
99, T. Sū IX 31, Jnānā. XXV. 31, Kārti 472
100. T Sū IX 32, Jnānā XXV. 32
101 Jnānā. XXV-36.
102 Sarvāratha IX-33.
103. Jnānā XXV-41
104 Jnānā. XXV-40, 42, Rājavā IX-33
105 Jnānā XXV-39, T Sū IX-34.
106 Jnānā XXV-4, 9, 10, 11, 13, 15, Kārtı. 473
107 Jnānā XXVI-16, 17, 18, 20, 22, Kārtı 473
108 Jnānā XXVI-24, Kārtı 474.
109 Jnānā. XXVI-29, Kārti. 474
110 T Sū IX-36
111 Sarvārtha IX-36
112 Ibıd
113 Kārtı 469, Jnānā XXVI-43; Rājavā. IX-35/4
114 Jnānā IV-6 XXVII-3.
115 Jnānā. IV-17.
116 Jnānā XXII-19
117. Jnānā XXII-20
118 Jnānā XXII-24
119. Jnānā. XXVII-4
120 Jnāna XXVII-18
121 Jnānā. XXVII-23 to 33.
122 Jnānā XXVIII-1
123 Jnānā XXVIII-2 to 7
124. Jnānā XXVIII-12
125. Jnānā XXVIII-21.
126. Jnānā XXVIII-22
127. Jnānā. XXVIII-38 to 40.
128 Jnānā. XXVIII-32.
129. Jnānā XXIV-2.
130. Jnānā. XXIV-11, 12.
131. Jnānā. XXIV-13.
132. Jnānā. XXX-9.
133. Jnānā XXX-6 134. Jnānā. XXX-3.
135. Jnānā XXX-13
136. Jnānā XXXI-12.
137. Jnānā XXXI-13, 14.
138. Jnānā. XXXI-17.
139. Jnānā XXXI-18, 19
140 Jnānā. XXXI-20 to 24
141. Jnānā XXXI-37
142 Jnānā. XXXI-38.
143 Jnānā XXXI-42. 144. Jnānā. XXXII-10.
145. Jnānā. XXXII-60 146. Jnānā. XXXII-61.
147. Jnānā. XXXII-42. 148. Jnānā. XXXVII-1.
149. Yogasāra. 98 150 Jnānā. XXXVII-2.
151. Jnānā XXXVII-4 to 9
152. Jnānā. XXXVII. 10 to 19.
153. Jnānā XXXVII 20 to 23.
154 Jnānā XXXVII. 24 to 27
155. Jnānā. XXXVII. 28 to 30
156 Jnānā. XXXVII-31.
157. Jnānā XXXVIII-1.
158. Jnānā. XXXVIX- 1 to 8.
159. Jnānā. XXXIX-42, 43.
160. Jnānā. XL-16.
161 Kārti. 476. 162. T. Sū IX-36.
163 Sarvārtha. IX-36. 164. Sarvārtha. IX-36.
165. Sarvārtha IX-36 166 Mūlā. 400.
167 Mūlā. 11.
168 Sarvārtha IX-36, Mūlā 401.
169 Sarvārtha IX-36. 170 Kārtı. 480.
171 Jnānā XLII-3, 6. 172. Jnānā XLII-5.
173 T. Sū IX-39. 174. Jnānā. XLII-7, 8.
175. Jnānā XLII-13, 15 to 17.
176 Jnānā XLII-27
177 Jnānā. XLII-29. 178 Jnānā. XLII-41.
179. Ibıd. 48. 180. Idld 49
181. Ibıd. 50 182. Ibid. 58, 59.



T.G. Kalghatgi
M A , Ph D Reader in Philosophy, Karnatak University, Dharwar

NATURE OF DIVINITY IN JAINA PHILOSOPHY

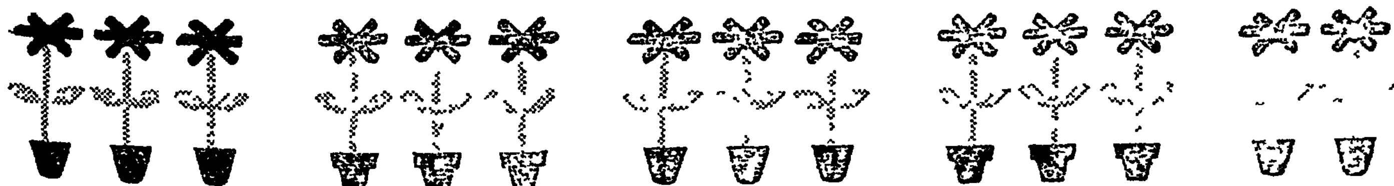
I *Introduction*

Religion, as a way of life and not merely as an institution, has been natural to man It is man's reaction to the totality of things as he apprehends it It implies an interpretation of nature and the meaning of the universe It seeks to go beyond the veil of visible things and finds an inexhaustible fund of spiritual power to help him in life's struggle And the 'presence' of God gave strength for man in his struggle in life The ways of God to man and man to God have been rich and varied It may be, as Prof Leuba pointed out, that fear was the first of the emotions to become organised in human life, and out of this fear God was born Perhaps love and gratitude are just as natural, as much integral parts of the constitution of man, as fear, and Gods were friendly beings. It is still possible that men have looked at Gods with a living sense of kinship and not with the vague fear of the unknown powers [1] We do not know But one thing is certain that in higher religions fear is sublimated by love into an adoring reverence [2] From the fear of the Lord in *The Old Testament* to the worship of God 'with Godly fear and awe' is not a far cry

In the Vedic period, we find a movement of thought from polytheism to monotheism and then to monism The poetic souls contemplated the beauties of nature and the Indo-Iranian Gods, like Deus, Varuna, Uśas and Mitra were products of this age Other Gods like Indra were created to meet the needs of the social and political adjustments Many Gods were created, many Gods were worshipped Then a weariness towards the many Gods began to be felt as they did dot know to what God they should offer oblations [3] Then a theistic conception of God as a creator of the universe was developed out of this struggle for the search for a divine being In ancient Greece, Xenophanes was against the polytheism of his time Socrates had to drink hemelock as he was charged of denying the national Gods He distinguished between many Gods and the one God who is the creator of the universe

II *The Jaina arguments against God*

But the Jainas were against Gods in general and even the God as creator They presented several arguments against the theistic conception of God They deny the existence of a



Creator God and refute the theistic arguments of the Naiyayikas The Naiyayika argument that the world is of the nature of an effect created by an intelligent agent who is God (Īśvara) cannot be accepted because

1 I is difficult to understand the nature of the world as an effect as

(a) if effect is to mean that which is made of parts (Sāvayava) then even space is to be regarded as effect,

(b) if it means coherence of a cause of a thing which was previously non-existent, in that case one cannot speak of the world as effect as atoms are eternal

(c) if it means that which is liable to change, then God would also be liable to change and he would need a creator to create him and another and so on ad infinitum This leads to infinite regress [4]

2 Even supposing that the world as a whole is an effect and needs a cause, the cause need not be an intelligent one as God because

(a) if he is intelligent as the human being is, then he would be full of imperfections, as human intelligence is not perfect,

(b) if his intelligence is not of the type of human intelligence but similar to it, then it would not guarantee inference of the existence of God on similarity, as we cannot infer the existence of fire on the ground of seeing steam which is similar to smoke,

(c) we are led to vicious circle of argument if we can say that the world is such that we have a sense that some one made it, as we have to infer the sense from the fact of being created by God

3 If an agent had created the world, he must have a body For, we have never seen an intelligent agent without a body If a God is to produce intelligence and will, this is also not possible without an embodied intelligence [5]

4 Even supposing a non-embodied being were to create the world by his intelligence, will and activity, there must be some motivation

(a) if the motive is just a personal whim, then there would be no natural law or order in the world,

(b) if it is according to the moral actions of men, then he is goverened by moral order and is not independent,

(c) if it through mercy, there should have been a perfect world full of happiness,

(b) if men are to suffer by the effects of past actions (adṛsta) then the 'adṛsta' would take the place of God

But, if God were to create the world without any motive but only for sport it would be a 'motiveless malignity' [6]

5 God's omnipresence and omniscience cannot also be accepted, because

(a) if he is everywhere, he absorbs into himself everything into his own self, leaving nothing to exist outside him,

(b) his omniscience would make him experience hell, as he would know everything and his knowledge would be direct experience [7]

6. It is not possible to accept the Naiyyayika contention that without the supposition of God, the variety of the world would be inexplicable, because we can very well posit other alternatives like (i) the existence of the natural order and (ii) a society of Gods to explain the universe

But if a society of Gods were to quarrel and fall out as it is sometimes contended, then the nature of Gods would be quite so unreliable, if not vicious, that we cannot expect elementary co-operation that we find in ants and bees

The best way, therefore, is to dispense with God altogether [8]

We find similar objections against the acceptance of a theistic God, in Buddhism also The Buddha was opposed to the conception of Īśvara as a creator of the universe [9] If world were to be thus created, there should be no change nor destruction, nor sorrow nor calamity.

If Īśvara were to act with a purpose, he would not be perfect and that would limit his perfection But if he were to act without a purpose his actions would be meaningless like a child's play

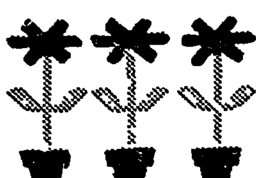
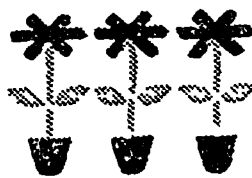
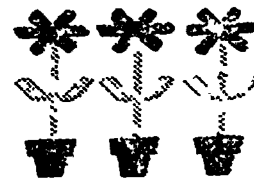
There is nothing superior to the law of karma The sufferings of the world are intelligible only on the basis of the law of karma Though the Buddha admits the existence of the Gods like Indra and Varuna, they are also involved in the wheel of Samsāra [10]

We have, so far, seen that the Jainas, so also the Buddhists, were against the theistic conception of God. God as a creator is not necessary to explain the universe. We have not to seek God there in the world outside, nor is God to be found in the 'dark lonely corner of a temple with doors all shut' He is there within us He is there with the tiller tilling the ground and the 'pathmaker breaking stones', in the sense that each individual soul is to be considered as God, as he is essentially divine in nature. Each soul when it is perfect is God

III *The Jaina Conception of Soul*

The Jainas sought the divine in man and established the essential divinity of man This conception has been developed in specific directions in Jaina philosophy

The existence of the soul is persupposition in the Jaina philosophy Proofs are not necessary. If there are any proofs we can say that all the pramānas can establish the existence of the soul It is described from the phenomenal and the noumenal points of view From the phenomenal point of view, it possesses prānas, is the lord (prabhu), doer (kartā), enjoyer (bhoktā), limited to his body (dehamātra), still incorporeal and is ordinarily found with karma [11] From the noumenal point of view, soul is described in its sure form. It is pure and perfect It is pure consciousness It is unbound, untouched and no other than itself. We may also say that from this point of view it is characterised by upayoga which is a hormic force The joys and sorrows that the soul experiences are due to the fruits of karma which it accumulates due to the incessent activity that it is having This entanglement is beginningless, but it has an end The deliverance of the soul from the wheel of samsara is possible by voluntary means By the moral and spiritual efforts involving saṁvara and nirjarā, karma accumulated in the soul is removed When all karma is removed, the soul becomes pure and perfect, free from the wheel of saṁsāra Being free, with its upward motion it attains liberation or moksa Pure and perfect souls live in eternal bliss in the Siddhaśila in the 'alokākāśa'.


They are the perfect beings There is nothing other which is as perfect There is no other God. The freed souls are divine in nature, as they are perfect and omniscient

For the Jaina it is not necessary to surrender to any higher being nor to ask for any divine favour for the individual to reach the highest goal of perfection There is no place for divine grace, nor is one to depend on the capricious whims of a superior deity for the sake of attaining the highest ideal There is emphasis on individual efforts in the moral and spiritual struggle for self-realization. One has to go through the fourteen stages of spiritual struggle before one reaches the final goal in the ayoga kevali stage. These stages are the gunasthānas.

IV However, the struggle for perfection is long and ardous Few reached perfection; and perhaps, as tradition would say, none would become perfect in this age Among those who have reached omniscience and perfection are the tīrthankaras, the prophets, who have been the beacon lights of Jaina religion and culture They have preached the truth and have helped men to cross the ocean of this worldly existence They led men, like kindly light, to the path of spiritual progress.

Therefore, they need to be worshipped. The Jainas worship the tīrthankaras not because they are Gods, nor because they are powerful in any other way, but because they are human, and yet divine, as every one is divine in his essential nature The worship of the tīrthankaras is to remind us that they are to be kept as odeals before us in our journey to self-realization. No favours are to be sought by means of worship; nor are they compentent to bestow favours on the devotees. The main motive of worship of the tīrthankaras, therefore, is to emulate the example of the perfect beings, if possible, atleast to remind us that the way to perfection lies in the way they have shown us. Even this worship of tīrthankaras arose out of the exigencies of social and religious existence and survival and possibly as a psychological necessity We find a few temples of Gandhiji today, perhaps, there would be many more The Buddha has been deified.

Apart from the worship of tīrthankaras, we find a pantheon of Gods who are worshipped and from whom favours are sought. The cult of the 'yakṣini' worship and of other attendant Gods may be cited as examples This type of worship is often attended by the occult practices and the tantric and mantric ceremonialism Dr P.B. Desai shows that in Tamilnad Yaksini was allotted an independent status and raised to a superior position which was almost equal to that of the Jaina In some instances, the worship of Yaksini appears to have superseded even that of Jina [12] Padmāvati, Yakṣini of Pārśvanāth, has been elevated to the status of a superior deity with all the ceremonial worship in Pombuccapura in Mysore area These forms of worship must have arisen out of the contact with other competing faiths and with the purpose of popularising the Jaina faith in the context of the social and religious competition. The cult of Jwālāmālini with its tantric accompanishments may be mentioned as another example of this motivation. The promulgator of this cult was, perhaps, Helācārya of Ponnur According to the prevailing belief at that time, mastery over spells and mantravidyā was considered as a qualification for superiority The Jaina ācāryas claimed to be master mantravādins.[13] Jainism had to compete with the other Hindu creeds. Yaksi form of worship must have been introduced in order to attract the common men towards Jainism, by appealing to the popular forms of worship

However, such forms of worship are foreign to the Jaina religion They do not form an organic and constituent features of the Jaina worship The course of religion had to encounter many conflicting tendencies Some of the tendencies have been absorbed and assimilated in the struggle for existence and survival We may, here, refer to the inconceivable changes the Buddhist forms of worship have undergone in the various countries of the world, like the tantric forms of worship in Tibetan Lamaism

We have still some Gods in Jaina cosmogony They are the 'devas' the Gods living in heavens like the 'bhavanavāsi', 'vyantaravāsi', 'jyotiśvāsi', and 'kalpavāsi'. But they are not really Gods in the sense of superior divine beings They are just more fortunate beings than men because of their accumulated good karma They enjoy better empirical existence than men But we, humans, can pride ourselves in that the 'Gods' in these worlds cannot reach mokṣa unless they are reborn as human beings [14] They are not objects of worship

V Struggle for perfection is a necessary factor in life Sorrow and imperfection are a flavour to the sauce They are necessary for onward journey in the spiritual struggle The efforts of self-realization will have meaning only when this world becomes a vale of soul making and the life a real fight in which something is eternally gained [15] Life is to be considered as a struggle towards perfection, and not merely an amusing pantomime of infallible marrionettes We should realise that 'man is not complete, he is yet to be' In what he is, he is small He is hungering for something which is more than what he can get In this struggle for perfection man need not depend on God or any superior being for favours, for he 'rolls as impotently as you or I' Man has to depend on his own self-effort The Jaina attitude is melioristic. Tagore writes, "In the midst of our home and our work, the prayer rises 'Lead me across' For here rolls the sea, and even here lies the other shore waiting to be reached."[16]

REFERENCES

1 Smith (U R) *Religion of the Semites*, pp 55
2 D Miall Edwards *The Philosophy of Religion*, pp 61
3 'Kasmai devāya havisam vidyema'
4 Gunaratna *Tarka-rahasya-dīpikā*
5. *Syādvādamanjari* of Mallisena with Hemacandra's *Anyayoga-Vyavaccheda-Dvatrimvisika* Edt Dhruva A B. Introduction
6 Ibid. 6
7 Gunaratna *Tarka-rahasya-dīpikā*
8 Gunaratna *Saddarsana-samuccaya*, pp 114.
9. Aśvaghosa's *Buddhacarita* gives a detailed description of the topic Dialogues of Buddha Also refer to *Syādvada Mañjari* for similar view
10 Ibid
11. *Pancāstikāyasāra*, pp 27 and *Samayasāra* pp 124
12 Desai (P B) *Jainism in South India*, (1957), pp 72
13 Ibid pp. 74
14. *Tiloya Pannati* gives a detailed description of the three worlds
15. William James *The will to believe* (1889), pp. 61
16. Tagore (R) *Sadhana* The Realization of the Infinite



Miss Ruth M. Weil
University of Wisconsin, U.S A

THE NON-VIOLENCE OF MAHATMA GANDHI & GITA

The life of Mahatma Gandhi (1870-1948), the great architect of the contemporary social and political India, the saint, philosopher, politician and religious reformer, truly can be viewed as an expression of India's cultural heritage Unlike many contemporary western philosophers, who are sidetracked by the concept of "historical relativism", Gandhi sought the eternal truths, a search which seems to have occupied Indian seers and philosophers throughout recorded history. Gandhi said · "I do not claim to have originated any new principle or doctrine I have simply tried in my own way to apply the eternal truths to our daily life and problems".[1]

Of all the written sources which attempt to reflect these truths, Gandhi held the Bible, the Koran and the Bhagavadgita in highest esteem. Although he recited quotations from all three of these at his evening prayers, he was probably most deeply influenced by the Gita. There is no doubt that Gandhi interpreted the teachings of the Gita in his own way, trying to prove that its philosophy of life supported his creed of non-violence. But that the Gita served as his guide at hundreds of moments of doubt and difficulty is evidenced by such words as ·

> "I am a devotee of the Gita and a firm believer in the inexorable law of karma. Even the least little tripping or stumbling is not without its cause and I have wondered why one who has tried to follow the Gita in thought, word and deed should have any ailment.. The fact that any event or incident should disturb my mental equilibrium, in spite of my serious efforts, means not that the Gita ideal is defective but that my devotion to it is defective The Gita ideal is true for all time "[2]

It is evident that Gandhi made earnest efforts to follow the ideal of a sthitaprajna, as expressed in the Bhagavadgita. He was undisturbed in the midst of disturbed conditions, maintaining his balance of mind when others had lost it. When India was torn with communal riots and the hatred between Hindu and Muslim was causing the merciless massacre of hundreds of thousands of innocent people, Gandhi preached love and brotherhood, and underwent a fast unto death until peace was restored in the capital of India. Even when his assasin appeared at his evening prayers, Gandhi maintained the calm and composure of a sthitaprajna. Instead of attempting to escape or to retaliate, he folded his hands, uttered the name of God three times and smilingly embraced death.

The Gita says of the sthitaprajna :

> "He whose mind is untroubled in the midst of sorrows and is free from eager desire amid pleasure, he from whom passion, fear and rage have passed away—he is called a sage of settled intelligence." (2 . 56)



"This is the divine state, O Partha, having attained thereto, one is not again bewildered, fixed in that state at the hour of death one can attain to the bliss of God" (2 72)

Gandhi had an unshakable belief in God, a belief he held throughout his life If we analyze his utterances about his theistic ideas, we reach the conclusion that his notion of, and faith in, God was partly borrowed from the Bhagavadgita, though his ethics based on this kind of metaphysics was his own interpretation While defining God, Gandhi wrote

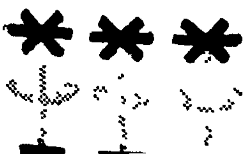
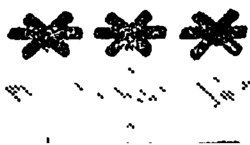
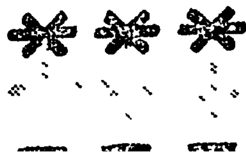
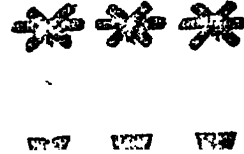
"To me God is Truth and Love; God is ethics and morality, God is fearlessness God is the source of Light and Life and yet He is above and beyond all these God is conscience He is even the atheism of the atheist. For in His boundless love God permits the atheist to live He is the searcher of hearts He transcends speech and reason He is a personal God to those who need His personal presence He is embodied to those who need His touch He is the purest essence He simply is to those who have faith He is all things to all men He is in us and yet above and beyond us" [3]

In the Gita Truth and fearlessness are inseparable—the very purpose of the Gita was to shatter Arjuna's illusions about the nature of reality and thus enable him to act righteously, without doubt or fear God in the Gita is clearly the source of life (3 10, 10 20) and yet transcends life as we know it—the realm of Prakriti, in which multiplicity and tension among the gunas prevail. Of God 'the searcher of hearts' and 'the source of Light', Krishna, speaking as the Cosmic Person, says "I, O Arjuna, am the self seated in the hearts of all creatures of the lights (I am) the radiant sun, of the stars I am the moon" (10 20-21)

As the disagreement among scholars testifies, the God of the Gita can be all things to all men The Gita ultimately accords no essential difference, or superiority in status, between the indescribable, eternal, unitive Brahman, and the Lord who takes a human form to guide all that exists in the realm of differentiation From a purely scholastic point of view, the concept of a personal God is incompatible with the second sophisticated metaphysics Similarly, the scholar cannot reconcile the role alloted to the ritualistic and liturgical Vedas (though indeed it is a small role), or the presence of three "separate" paths to God in the Gita But the iconoclastic spirit is foreign to Hinduism, for the sage knows that if the God search is sincere, no expression of this search is without some value and no guideposts without some function In addition, the reality of the Divine does not lend itself to direct verbal communication For these reasons Krishna says "Let no one who knows the whole unsettle the minds of the ignorant who know only a part" (3 29)[4]

Though the metaphysics of the Gita is not pure Monism, it certainly holds the unchanging, unitive Self to be the source of all existence. It is noteworthy that Gandhi made an attempt to define God in his own way by adhering to a more pluralistic view of reality, saying "I talk of God as I believe Him to be, creative as well as non-creative This is the result of my acceptance of the doctrine of the manyness of reality He is one and yet many"[5] Of the immanence of God he would say

"There is an indefinable mysterious Power that pervades everything I feel it, though I do not see it It is this unseen Power which makes itself felt and yet defies all proof, because it is so unlike all that I perceive through my senses It transcends the senses I dimly perceive that while everything around me is ever changing, ever dying, there is

underlying all that change a living power that is changeless, that holds all together, that creates, dissolves and recreates. That informing power or spirit is God".[6]

But Gandhi was never willing to define the whole in terms of its parts. The transcendence of God was just as clear as His immanence to Gandhi, as we shall see when wed iscuss the relation of Gandhi's ethics to the Bhagavadgita

The final point to note regarding the relationship between the Gita and Gandhi's theistic views is that he accepted the theory of *avatara*, or the periodic self-incarnation of God, as expressed in the Gita (15 7), and used the Gita's words, "Whenever there is a decline of righteousness and a rise of unrighteousness I create myself incarnate" (4 7), to support his optimistic view about the vindication of truth.[7]

In the ultimate analysis of Gandhi's theistic views, we find an optimism born of intuition and firm conviction, an optimism which prompted him to say of the 'informing power or spirit' which is God ·

"I see it is purely benevolent. For I can see that in the midst of death life persists, in the midst of untruth truth persists, in the midst of darkness light persists. Hence I gather that God is Life, Truth, Light He is Love He is the Supreme Good"[8]

Gandhi's philosophy of life rested greatly upon the Bhagavadgita, which he interpreted allegorically .

"The Gita is not a historical discourse. A physical illustration is often needed to drive home a spiritual truth. It is the description not of war between cousins but between the two natures in us—the Good and the Evil. I regard Duryodhana and his party as the baser impulses in man, and Arjuna and his party as the higher impulses. The field of battle is our own body. An eternal bettle is going on between the two camps, and the Poet-seer vivdly describes it Krishna is the Dweller within, every whispering to a pure heart."[9]

Being a fighter for the independence of his country and in the midst of the social and political life of India, Gandhi was bound to be influenced by the efficacy of the Karma Yoga, which enjoins every individual to act without desire for the fruit of the action performed But Gandhi wisely added · "The renunciation of fruit in no way means indifference to the result. In regard to every action one must know the result that is expected to follow, and the means thereto, and the capacity for it. He, who being thus equipped is without desire for the result and yet wholly engrossed in the due fulfillment of the task before him is said to have renounced the fruits of his action.' [10]

It sounds self contradictory to say that a man may be without desire for the result, and may yet be wholly engrossed in the due fulfillment of the task before him Gandhi tries to explain it only theoretically, although he said that his own life was a practical experiment with truth He was intensely concerned with the justification of the means to the end, and thus speaks of the 'renunciation of fruit' in this manner :

"He who is ever brooding over result often loses nerve in the performance of his duty. He becomes impatient and gives vent to anger and begins to do unworthy things, he jumps from action to action never remaining faithful to any. He who broods over results is like a man given to objects of senses, he is ever distracted, he says good bye to all

scruples, everything is right in his estimation and he therefore resorts to means fair and foul to attain his end "[11]

Gandhi was convinced that this path of unselfish, dedicated action commanded by the Gita teaches us to follow truth and *ahimsa* (non-violence) His entire ethic of non-violence, as the force of love, on which he based his political philosophy of *satyagraha*, or the protest of truth, was based on his understanding of the Gita, as well as on his optimistic view of the nature of God and the world He freely admits that the Gita was not written to establish *ahimsa* but implies that the omission of the emphasis on *ahimsa* was due to the fact that *ahimsa* was "an accepted and primary duty even before the Gita age "[12] In Gandhi's words

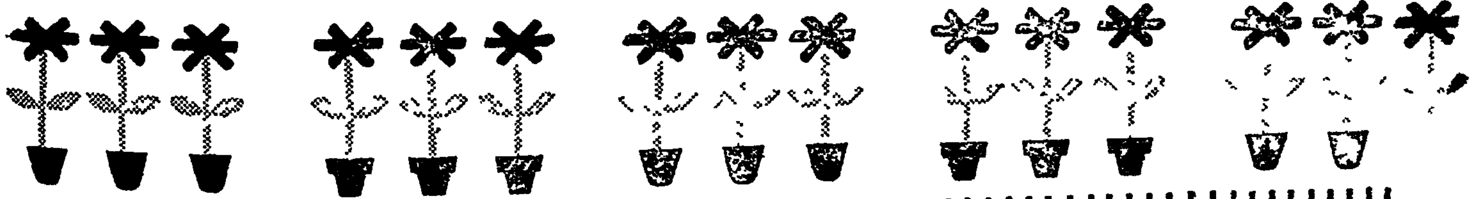
> "The message of the Gita is to be found in the second chapter of the Gita where Krishna speaks of the balanced state of mind, of mental equipoise In 19 verses at the close of the 2nd chapter of the Gita, Krishna explains how this state can be achieved It can be achieved, he tells us, after killing all your passions It is not possible to kill your brother after having killed all your passions. I should like to see that man dealing death—who has no passions, who is indifferent to pleasure and pain, who is undisturbed by the storms that trouble mortal man "[13]

Though often convincing and eloquent, Gandhi's defence of *ahimsa* in the Gita, nevertheless, met formidable criticism and opposition Thus he qualified his defence of *ahimsa* in the Gita in this manner

> "When the Gita was written, although people believed in *ahimsa*, wars were not only not taboo, but nobody observed the contradiction between them and *ahimsa* Let it be granted, that according to the letter of the Gita it is possible to say that warfare is consistent with renunciation of fruit But after forty year's unremitting endeavour fully to enforce the teaching of the Gita in my own life, I have, in all humility, felt that perfect renunciation is impossible without perfect observance of *ahimsa* in every shape and form "

When Gandhi defends his ethics of non-voilence, the emphatic difference in his mind between the transcendent, omnipotent God, or even the *avatar*, the human Divinity, and the mortal man, becomes clearer Speaking of Krishna, he says "My Krishna is the Lord of the Universe, the creator, preserver and destroyer of us all *He* may destroy, because *He* creates."[14] Of the *avatar*, Gandhi comments "According to the verse [4 8 of the Gita] it is God the All-knowing who descends to the earth to punish the wicked I may be pardoned if I refuse to regard every revolutionary as an all-knowing God or an *avatara* "[15] Commenting on the verse in the Gita which says: "He who is free from all sense of ' I ', whose motive is untainted, slays not nor is bound, even though he slays all these worlds," Gandhi emphatically states "If we believe in Krishna to be God, we must impute to Him omniscience and omnipotence Such an one can surely destroy But we are puny mortals evei erring and ever revising our views and opinions We may not without coming to grief, ape Krishna, the inspirer of the Gita "[16] And again he says , "Truth excludes the use of violence, because man is not capable of knowing the Absolute Truth and therefore not competent to punish. God alone is competent "[17]

Wherever it is possible, Gandhi draws upon the Gita in support of his ethic While speaking



of the law of karma, or its equivalent—this verse, for example. "In whatever way men resort to Me, even so do I render to them." (4:11)—he said

> "If it be true that God metes out the same measure to us that we mete out to others, it follows that, if we would escape condign punishment, we may not return anger for anger but gentleness against anger."[18]

The *varnashrama dharma*, as found in the Gita, was an integral part of Gandhi's socio-individual ethic. Though his insistence on the necessary role of varna was misinterpreted and misused by the social reactionary, it is true that his understanding of *varna* is the weakest spot of his whole philosophy

Gandhi's life and words[19] are proof that he believed implicity that all men were born equal. His acceptance of the classical fourfold division of *varna* was based on a functional division for service and, in his eyes, unrelated to status The basis of *varna* in the Gita, *gunas* and works, Gandhi interprets not solely as the character and ability *with* which one is born, but makes one's varna synonymous with the varna *into* which one is born "The law of varna is nothing, if not by birth"[20] Thus Gandhi interpreted varna as "the following on the part of us all of the hereditary and traditional calling of our forefathers, in so far as the traditional calling is not inconsistent with fundamental ethics, and this only for the purpose of earning one's livelihood."[21]

Gandhi explained the importance of *varna* on the grounds that the humble acceptance of one's father's profession easily ensured one's livelihood, and by thus minimizing the energies used to create material wealth *varna* maximized one's energies for "spiritual pursuits".[22] Though admitting that qualities attached to *varna* can be acquired, he said "We need not, ought not, to seek new avenues for gaining wealth. We should be satisfied with those we have inherited from our forefathers so long as they are pure"[23]

Gandhi's interpretation of *varna*, in my humble opinion, does not correspond to that of the Gita, but rather reflects an unseemly obeisance to the bequest of the past. *Varna* in the Gita is not a tribal, but an occupational division, and one's *varna* does not necessarily correspond to the *varna* into which one is born[24]

Gandhi's emphasis on self-denial and the minimization of one's material needs was undoubtedly partially generated by his mission to minimize the suffering of the people. The role Gandhi chose to play was a difficult one, the distinction between religious and political motives is not always clear

Any other criticisms of Gandhi's understanding of the Gita must center around his allegorical interpretation of the Gita In my opinion the peculiar setting of the Gita defies mere allegorical interpretation Unlike the Upanishads which are dialogues between a forest dweller and an aspirant, the Bhagavadgita's message is occasioned by a moral, spiritual, intellectual, emotional and conative crisis in the life of a warrior, a man of action. The setting and resolution of the problem emphasizes the intersection of the timeless with time, and marks a distinct shift from Upanishadic speculative philosophy to practical religion. If the Kauravas are not solely the lower impulses in man, and the battlefield not merely man's body, then we must conclude that the Gita accepts warfare, if the battle is a necessary one and demanded by a

clear violation of the laws of justice,[25] and that the duty of a soldier is to be considered divine, even though that duty involves killing

Gandhi's arguments in support of his ethic, based on his understanding of the Gita, are very convincing His life is a testament to the sincerity of this understanding of the Gita The Gita's message is still a moot question, and the ethics of the Gita has been understood differently by different commentators The diversity of interpretation is possible because the philosophy of the Gita is not a system, but rather there is "a wide, undulating, encircling movement of ideas which is the manifestation of a vast synthetic mind and a rich synthetic experience "[26]

Though Gandhi's understanding of the Gita is simply another interpretation, it can be considered a legitimate one There is no doubt that it is an appealing one

BIBLIOGRAPHY

"Bhagavadgita," *A Source Book in Indian Philosophy,* edited by Radhakrishnan, Sarvepalli, and Moore, Charles A , Princeton University Press, New Jersey, 1957

Bhave, Vinoba, *Talks on the Gita,* Macmillan Company, New York, 1960

Desai, Mahadev, *The Gita According to Gandhi,* Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1946

Fischer, Louis, *Gandhi, His, Life and Message for the World,* New York American Library (Signet Key Book), 1954.

Gandhi, Mohandas Karamchand, *Hiudu Dharma,* Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1950

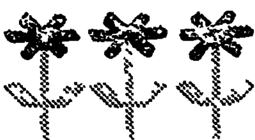
Jones, Marc Edmund, *Gandhi Lives,* David McKay Company, Philadelphia, 1948

Radhakrishnan, Sarvepalli, *The Hindu View of Life,* Macmillan Company, New York, 1962

Sarma, D S , *The Gandhi Sutras The Basic Teachings of Mahatma Gandhi,* Devin-Adair Company, New York, 1949

REFERENCES

1 M K Gandhi, *Hindu Dharma,* p 3
2 *Ibid*, p 171
3 "Young India," 5-3-'25, quoted in M K Gandhi, *Hindu Dharma,* p 61
4 Radhakrishnan says so beautifully "Those who have seen the radiant vision of the Divine protest against the exaggerated importance attached to outward forms They speak a language which unites all worshippers as surely as the dogmas of the doctors divide The true seer is gifted with a universality of outlook, and a certain sensitiveness to the impulses and emotions which dominate the rich and varied human nature He whose consciousness is anchored in God cannot deny any expression of life as utterly erroneous He is convinced of the inexhaustibility of the nature of God and the infinite number of its possible manifestations " *The Hindu View of Life,* p 27
5 M K Gandhi, *Hindu Dharma,* p 63
6. *Ibid*, p 64

7. Cf the Commentary by Gandhi on this verse, in *The Gita According to Gandhi*, by Mahadev Desai, p 196.
8. M. K Gandhi, *Hindu Dharma*, p 65.
9. Mahadev Desai, *The Gita According to Gandhi*, p. 136
10. *Ibid*, p 131.
11. Mahadev Desai, *The Gita According to Gandhi*, p. 132
12. *Ibid*, p. 132
13. M K. Gandhi, *Hindu Dharma*, p 179.
14. Mahadev Desai, *The Gita According to Gandhi*, p 196.
15. *Ibid.*, p. 197
16. *Ibid*, p. 369.
17. *Ibid*, p 369
18. *Ibid*, p 198.
19. Cf M K. Gandhi, *Hindu Dharma*, p 360.
20. M K Gandhi, *Hindu Dharma*, p. 370.
21. *Ibid*, p 362.
22. *Ibid*, p 368.
23. *Ibid.*, p 369 At this same site, the following conversation is recorded :

    Q Do you not find a man exhibiting qualities opposed to his family character ?

    A That is a difficult question. We do not know all our antecedents. But you and I do not need to go deeper into this question for understanding the law of varna as I have endeavoured to explain to you If my father is a trader and I exhibit the qualities of a soldier, I may without reward serve my country as a soldier but must be content to earn my bread by trading.
24. Due to lack of space the conclusion I have reached after examining this question is stated without elaboration. However, this conclusion has been reached after an honest consideration of *varna* in the Gita, and could be substantiated if time permitted.
25. The historical circumstances, explained in the *Mahabharata*, leading to the battle clearly meet these qualifications.
26. Sri Aurobindo, *Essays on the Gita*, (first series), p 9.



Dr. J C. Sikdar
M A , Ph.D , Research Officer, L D Institute of Indology, Ahmedabad



SOME ASPECTS OF JAIN PSYCHOLOGY AS REVEALED IN THE BHAGAVATI SUTRA

Psychology is one of the necessary aspects of Philosophy, as it is the scientific study of soul—the central theme of knowledge It is the whole scheme of experience which helps one understand the problem of being and matter It throws light upon the nature of life, the truth of which is pursued by the modern Psychologists The problem is very subtle to be explained, for there is a self-distinct bodily structure which is the basis of Psychology as revealed in the incidental evidences furnished by the Bhagavatī Sūtra

In the evolution of life and the Universe as reflected in this canonical work there are found two traditions, viz atom tradition (Paramānu) and self-tradition (ātmā), i e materialistic and spiritualistic Matter and soul are eternal substances[1] and they exist mutually bound together in the Universe

"Athi naṁ bhamte jīvā ya poggalā ya annamannabaddhā annamannaputthā annamannaghadattāe citthai".[2]

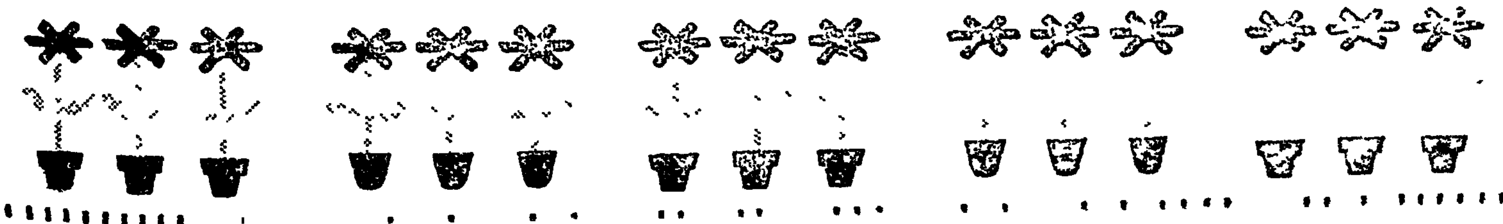
It is explained that Upayoga (consciousness or application) is the attribute of the soul which is the most fundamental characteristic of it "Gunao uvayogagune"[3] "Uvayoge lakkhane naṁ jīve"[4] There are stated to be two kinds of Upayoga (consciousness), viz Sākāropayoga (determinate consciousness) and anākāropayoga (indeterminate consciousness) "Sāgārovaoge ya anāgāroaoge"[5] Sākāropayoga (determinate consciousness) is Jñāna (knowledge) and anākaropayoga (indeterminate consciousness) is Darśana (self-awareness) "Sāgāre senāne bhavai anāgare se damsane bhavai".[6]

Darsāna is self—awareness, while Jñāna is the comprehension of external objects of the nature of the universal-cum-particulars, as the application of the psychic process comes in the forms Darśana and Jnāna It is revealed in the light of life and nature that the soul exhibits itself the state of being (i e manifests itself) by its own self

"Jive āyabhāvenaṁ uvadaṁseti"[7]

The same view on the principle of Upayoga (consciousness) is explained in the Dhavalā Tīkā[8] thus that the consciousness of the soul is called 'Cit' which is revealed in the forms of bahirmukha-cit (external consciousness) and antarmukha-cit (internal consciousness), i e. knowledge and self-awareness

It is the principle of psycho-physical activities that all reactions of the soul are conditioned by the body, as it is the dual form, i e psycho-physical structure, according to the theory as



embodied in the Bhagavatī Sūtra which takes into consideration the noumenal and phenomenal aspects of beings, viz prānas (eternal force or beings), indriyas (sense-organs), bala (strength), vīrya (energy, i e) mind—thought—force, speech (vāk) and body (kāya—vocal and bodily activities), āyus (span of life) and ānaprāna (breathing or life-expanding)

According to the principles as laid down in this canonical work there are two aspects of the psycho-physical activity, viz natural (visrasā) or pure and applied (prayoga). The latter is the delusion—deviation from its normal position, when all activities are not in pure form, i e it is delusive transformation Thus there are two kinds of transformation of the psychic process, viz Rāga (attachment or feeling of attachment) and Devsa (dislike or aversion)

"Siddhimajjhe nihanāhi ya rāgadosamalle tavena "[9]

These are the two fundamental tendencies in Jain Psychology as revealed in the Bhagavatī Sūtra

The soul wants to maintain "I", whatever is conducive to its preservation (or identity) is liked by it and what is not helpful to it is disliked by it Rāga and Dvesa are divided into four Kasāyas (decoction), i.e passions, viz. krodha (anger), māna (pride), māyā (deceitfulness) and lobha (greed) [10]

These four Kasāyas have been discussed in the Kasāya Pāhuḍaṁ (Pejjadosavihatti) from the points of view of different kinds of Nayas (logic) It is explained that Pejja and Dosa are called Kaṣāyas because the characteristics of these two are to destroy the state of soul (Jīvabhāva), i e. cāritradharma. "Pejjadosa (sa) be vi—jīvabhāvavinasanalakkhanattedo Kaṣāya nāma "[11] Rāga (attachment) originates from Pejja and Dvesa from dosa [12]

According to the Naigama and Saṁgraha Nayas krodha (anger) and māna (pride) are dosa, and māyā (deceitfulness) and lobha (greed) are pejja

"Negamasaṁgahanam koho doso, māno doso, māyā pejja, loho pejja" [13]

Krodha (anger) and māna (pride) are dosa because they are accompanied by pain, and a man loses his conscience when he is under their control as a result of which evil consequences follow. Māyā is pejja because its support is the dear object of living, after the attainment of which pleasure arises in one's mind. Thus lobha (greed) also is pejja, because it is the cause of satisfaction and pleasure after the attainment of his dear objects [14]

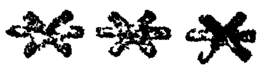
From the points of view of Vavahāra Naya krodha (anger), māna (pride), and māyā (deceitfulness) are dosa and lobha (greed) is pejja (dear)

"Vavahāranayassa koho doso, māno doso, māyā doso, loha pejjaṁ" [15]

Here it is explained that there lie the causes of disbelief and the public censure in the act of deceitfulness done by one The act which becomes censured cannot be dear to one, because pain is always born out of the public censure Lobha (greed) is pejja (dear), because life can happily be passed with enjoyable things saved by lobha (greed), i.e. out of greediness

According to the Rju Sūtra Naya Krodha is dosa, māna is no-dosa and no-pejja and lobha is pejja.

"Ujusudassa koho doso, māno no-doso, no-pejjam, māyā no-doso no-pejjam, loho pejjam".[16]

It is further explained that māna (pride) and māyā (deceitfulness) are no-doso, because these two kasāyas are not the causes of bodily pain, etc, but they originate directly from krodha (anger) born out of māna (pride) and from lobha (greed) arising from māyā (deceitfulness) respectively Similarly māna (pride) and māyā (deceitfulness) are also no-pejja, because pleasure is not found to be caused by them

From the point of view of Sabda Naya Krodha (anger), māna (pride), māyā (deceitfulness) and lobha (greed) are dosa, the first three are no-pejja, but lobha (greed) is somewhat pejja

"Saddassa koho doso, māno doso, māyā doso, loho doso/Koho māno māyā no-pejja, loho siya pejjam"[17]

The four kaśāyas—krodha (anger), māna (pride) māyā (deceitfulness) and lobha (greed) are dosa, because they are the causes of the influx of eight karmas, viz jñānāvaranīya (knowledge—obscuring karma) upto antarāya karma (energy hindering karma) and those of dosa in this world and the next

"Koho-māna-māyā-loha cattāri vi doso,

atthakammasavattado, ihaparaloya-visesadosa karanattado "[18]

One destroys love by krodha (anger), kills modesty by māna (pride), loses faith by Śāthya (deceitfulness) and lobha destroys all his qualities

"Krodhāt prītivināśaṁ mānādvinayopa-ghātamāpnoti
Śāthyāt pratyayahāniṁ sarvaguna—vināśako lobhah" [19]

The first three kasāyas—krodha (anger), māna (pride), and māyā (deceitfulness) are no—pejja, because one does not get satisfaction and great pleasure from them [20]

Lobha (greed) is somewhat pejja, because the attainment of heaven and liberation is found as a result of lobha (temptation or greed) regarding the achievement of the three jems, viz Samyagdarsana (right attitude of mind), Samyag—Jñāna (right knowledge) and samyag—cāritra (right conduct)

"Loho siya pejja, tirayanasahanavisaya lohado saggapavagganamuppattidaṁsanado "[21]

The psychological development is quantitative, if one goes inward, there is the natural psychology, if he goes outward, he reaches the natural manifestation, i e instinct This instinct needs stimulus from the outside world (i e psycho-physical), as it is revealed in the psycho-physical phenomena according to the conditions of the soul (leśyās)

Soul is studied and classified from eight points of view, viz substance (dravya), passion (kasāya), activity (yoga), consciousness (upayoga), knowledge (jñāna), self-awareness (darśana), conduct (cāritra) and enesgy (vīrya) Accordingly there are stated to be eight kinds of soul, viz dravyātmā (soul existing in matter), kasāyātmā (soul having passion), yogātmā (soul endowed with activity), upayogātmā (soul endowed with consciousness), jñānātmā (soul endowed with knowledge), darśanātmā (soul endowed with self-awareness), cāritrātmā (soul in conduct) and vīryātmā (soul endowed with energy),[22] as they are the different forms of manifestation of the soul There exists psychologically a mutual relation, among these eight kinds of soul, for they are inter-related as the different aspects of one substance, namely, the soul. For example, he who has dravyātmā has in some respect kasāyātmā and he does not have it in other respect. But he who is endowed with kasāyātmā, has invariably dravyātmā [23]



The study of these outlines of psychology reveals that the soul endowed with its inherent attribute—consciousness (upayoga) is the central theme of Jaina Psychology as embodied in the Bhagavatī Sūtra

Physical Basis of Mental Life

Psychology of a being, particularly human being, originates with the birth of a child in the mother's womb in the process of transformation of its psycho-physical matters Thus it is explained in this canonical work that a being may be born in its mother's womb with five sense-organs (saimdie) and mind (animdie) at the same time, because with regard to the configuration and constituting matters of the physical sense-organs (dravyendriyāni) a psychic—sensed being (animdriya—a being having a physical mind) is born, while with regard to the faculty of cognition, i e psychical mind (bhāvendriya), a sensed—being (saindriya), i e a being possessed of physical sense organs, is born A dualism between mind and body is revealed here.

> 'Siya saimdie vakkamai, siya animdie vakkamai davvaimdiyāim paḍucca animdie vakkamai bhāvimdiyāim paḍucca saimdie vakkamai "[24]

While being born in the womb, (gabbhaṁ vakkamamāne) a jīva (soul) is corporeal from the point of view of fiery (taijasa) and karmic bodies, it is incorporeal from that of the gross physical—, transformation—, and translocation—bodies, while from that of fiery (luminous) and karmic bodies, a bodied being is born

> "Orāliya-veuvviya-āhārayāiṁ paḍucca asarīri vā
> Teyakamma o pa o sasao vakka o".[25]

It is further explained that when the mother sleeps, wakes up and becomes happy or unhappy, the child, born in her womb, also does and feels the same things

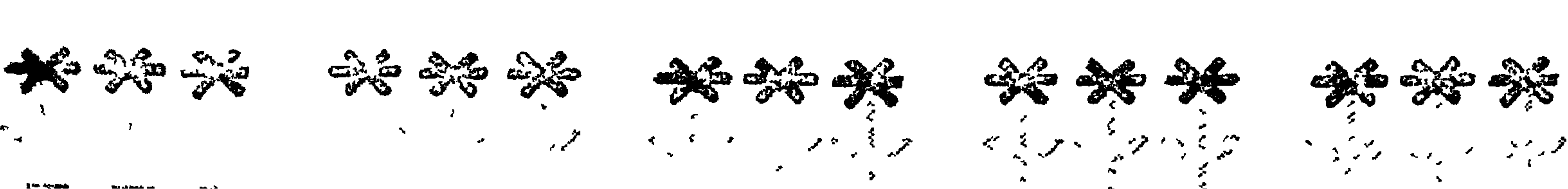
> "Jīve gabbhagae samāne māue suyamānie suvai jāgaramānie jāgarai suhiyāe suhie bhavai duhiyāe duhie bhavai "[26]

According to the Bhagavatī Sūtra there are stated to be five kinds of bodies, viz gross-physical body (audārika-śarīra), transformation-body (vaikriyika-śarīra), transformation-body (āhāraka-śarīra), fiery-body (taijasa-śarīra), and karmic body (karmana-śarīra), five sense—organs, viz ear, nose, eye, tongue and skin, and three kinds of activity, viz mental, vocal and bodily activities.[27]

This canonical work[28] throws some light upon the outer and inner structures of the five sense organs and sensation created by the outside stimulus received through them

Thus it is explained that the shape of the ear is like that of a kalaṁba-puspa (kadambo-flower), those of the eye, nose, tongue and skin are like those masura caṁda (lentil), atimuttaga caṁda (a kind of shrub), khurupa (khurpa—the weeding and mulching agricultural implement) and nāna (the skin of nāna—a kind of bulbous plant) respectively

All these five sense—organs are individually an innumerableth part of on anglula by thickness (bahalla), while the ear is an innumerableth part by width (pohatta), thus upto that of the eye and nose, the tongue is one angula (finger) by width (pohatta); and the skin is equal to the extent of the body These five sense-organs, are endowed with infinite points (anantapradeśikas) and innumerable extensions (asaṁkhyeya pradeśāvagāḍha) The least of all these is the eye



The description of the shapes and structures of these five sense-organs as given here agrees with that of their actual anatomical shapes and structures, studied and exhibited by the modern medical science, e g the ear is constituted of three parts, external ear (or auricle), the middle ear or tympanum and the internal ear or labyrinth The middle ear with its drum covered with fine vibrating hairs, resembles the kadamba flower

Sensation and Modes of Sense organs

Sensation in the human brain is caused by the stimulus of the five sense-objects (indriya visaya),[29] received from outside, when the sense-organs come into contact with them This process involves the factors of discrimination, assimilation, association and localization of the sense-objects and leads to preceptual knowledge Thus it is explained that the ear hears the touched and entered sounds into it, the eye sees the touched and entered objects (i e the images of objects reflected on the retina of the eye), the nose smells the touched and entered smells, the tongue tastes the touched and entered objects, and the skin experiences the touches of the touched and entered objects

"Putthāiṁ saddāim suneti pavitthāiṁ saddāim suneti tahā pavitthānīvi "[30]

The power of the ear to hear a sound is in the minimum an innumerableth part of an angula (finger) and in the maximum it can hear sound from a distance of twelve yojanas, that of the eye is in the minimum an immunerableth part of an angula and in the miximum it can see an object lying at a distance of seven thousand yojanas, that of the nose is in the minimum an innumerableth part of an angula and in the maximum it can smell matter from a distance of nine yojanas Thus the accounts of the minimum and maximum powers of the tongue and the skin should be known

The principles of the theory of sensation as embodied herein agree with those of the modern psychology to a great extent For example, it is explained therein that the sensation of sound is created in the brain, when sound waves, being converged by the outer ear, strike upon, the outer membrance of the ear-drum and make it vibrate and the vibrations are transmitted to the auditory nerve through the chain of bones, the inner membrance and the—contents of the labyrinth Next, the disturbance of vibration is carried by the auditory nerve to the brain, causing finally the sensation of sounds

Sense-Perception

It is explained in the Bhagavatī Sūtra that when senses are applied to the sense—objects, the following psychological facts are involved in this process of perceptual knowledge (abhinibodhika jñāna)[31] or sense-perception, viz avagraha (perceptual judgement of generality of object), i.e there is something (objectivity), īhā (desire to know or speculation), avāya (determination) and dhāranā (retention or memorv) [32]

According to the modern psychology sensations caused by the stimulus of the five sense-objects lead to perceptual knowledge or sense-perception which is the result of the process of interpreting a sensation by differentiating it form the unlike sensation and absorbing it into the like by recalling to mind other connecting sensations and finally objectifying and localizing the whole aggregate of real and revived sensations backed by a belief in the real existence of the object



Memory and Imagination

Memory and imagination involve the process of īhā (speculation or mental desire to know), apoha (exclusion), maggana and gavesanā (searching and fathoming) by thought, transformation of thought, conditions of soul and annihilation-cum-subsidence of knowledge—obscuring karma [33]

In the process of memory the images of the past sensible experiences accompanied by a belief are revived and recognized by an individual, i e having familiarity of characteristics of images, as it is evidenced in the case of Devānandā,[34] the Brāhmanī that she recognized in Lord Mahāvīra her former son.

Thought (Cintā or mental activity)

The process of mental activity (manayoga) is thought which is inter-connected with memory and imagination of the past events, objects, etc and the imagination of the present and future acivities of life, as the mind acts and reacts to new objects of thought at every moment Mind is matter (manadravya) and it is associated with the spiritual beings [35] Its activities are the passing phases of matter. Mind, when operating is mind (mane manijjamāne mane) and it breaks forth, while operating (monijjamne mane bhijjati),[36] Mind is studied and classified into four kinds according to the relative objects of activity, viz satya (true), mithyā (false), satayamrsā (true-cum-false), asatya-mrsā (untrue-cum-false), i.e mind is related to true object, false object, true-cum-false object and untrue-cum-false object. Thus mind is the organ of apprehension of all sense-objects and knowledge (sarvārtha-grahanaṁ manah) [37] while thought which implies comprehension is abstract representative mental activity involving snalysis in the form of obstraction and synthesis in that of comparison and expressing itself through speech or language

Dream

The Bhagavatī Sūtra throws a welcome light upon the principles of dream by explaining five kinds of dream-visions, viz yathātathya, pratāna, cintāsvapna, tadviparīta and avyaktadarśana.

"Ahātacce payāne ciṁtāsuvine tavvivarīe avvatta-daṁsane" [38]

The first one is the dream-vision in accordance with truth or reality, the second one is ramified dream-vision (i e diffused) the third one is the dream-vision according to the thought in the waking state, the fourth one is the dream-vision opposite to realities, i.e actualities, and the fifth one is the indistinct inexpressible dream-vision

It is further explained that sleeping-cum-waking man experiences a dream-vision, but a sleeping or waking man does not behold it The self-controlled, not-self-controlled and the self-controlled-cum not-self-controlled men also experience dream-vision in that state of sleeping-cum-waking There are seventy-two kinds of dream of which thirty are great dream, while fourty-two are ordinary ones [39]

These broad principles of dream as embodied in the Bhagavatī Sūtra touch upon all the combined theories on dream propounded by Dr Freud, Jung, Adler and other scholars. According to Dr Freud[40] dream is the fulfilment of the repressed desire which does not peaceably leave the organism but sinks to a level of unconscious state in which it is still active and apt to appear in the disguised and symbolic ways Abnormal worry, queer idea hunting a nervous

person, 'hysterical' paralysis, or blindness, etc, sometimes are the effects of this disguise In the case of a normal man a dream is the main venue of repressed desires which do not present themselves even in dreams in their true shape and colour but come up in the garb of an innocent appearing symbolism So all dreams whether adult or child are the fulfilments of repressed desires [41]

Adler[42] holds the view that a dream is not the revival and reappearance of the suppressed will of the distant past but a rehearsal for some impending action of an individual man to perform, and it reveals his characteristic mode of dealing with his new problems Jung[12] thinks that a dream is associated with the present difficulties of an individual and shows his unconscious attitude of mind towards the proplem of his life

According to the theory of dream as explained in the Bhagavatī Sūtra, the yathātathya and Cintā-svapnas (dreams) agree with those of the theories propounded by Adler and Jung, as they are the results of the process of the thoughts to deal with the future and present problems of life The pratāna, tadviparīta and avyaktadaśana svapna (dreams) touch upon the theory of Dr Freud, as they are associated with some desires repressed by thought and they appear in some garbs of symbolism

From this analysis it may be defined that "dream whether awake or asleep is a free, passive, incoherent and constructive imagination often due to recent experience But it is an imagination confound with perception' [44]

Belief or Attitude of Mind (Drsti)[45]

Attitude of mind or belief is the central theme of the process of thought for the whole intellectual operation is based on it and reasoning Epistemology and metaphysies and the doctrine of religion rotate round the 'attitude of mind on the view of which stands the whole philosophical approach to the problem of life and nature
Attitude (drsti) is characherized by truth (samyktva) or falsehood (mithyātva in regard to the objects of thought Thus it is endowed with the union of the intellectual, emotional and conational elements and is interrelated with knowledge (Ditthidamsana-nānamana-sannā)

Vedanā (feeling in genaral)[46]

Vedanā (feeling) is relatively subjective and passive state of consiousness manifesting itself into the form of pleasure, or pain, or pleasure-cum-pain (Sāta or asāta or sātāsāta vendanā),[47] happiness, or suffering, or happiness-cum-suffering (sukha, or duhkha, or sukha-duhkha). Happiness, unhappiness and happiness-cum-unhappiness are eternal [48]

Sense-feeling

As a result of sensation accompanied by simple fealing of pleasure or pain there takes the sense-feeling which is congnitive and affective In can be divided into two kinds, viz organic feeling and special sense-feeling

This canonical work mentions ten kinds of feeling (vedanā), viz cold, warm, hunger, thirst, itching (kandu), servility (parajjhaṁ) fever (jvara), burning sensation (dāha), fear (bhaya) and sorrow (sogam).[49] The feeling of hunger, thirst, burning sensation (dāha), fever, itching, fear



person, 'hysterical' paralysis, or blindness, etc, sometimes are the effects of this disguise In the case of a normal man a dream is the main venue of repressed desires which do not present themselves even in dreams in their true shape and colour but come up in the garb of an innocent appearing symbolism So all dreams whether adult or child are the fulfilments of repressed desires [41]

Adler[42] holds the view that a dream is not the revival and reappearance of the suppressed will of the distant past but a rehearsal for some impending action of an individual man to perform, and it reveals his characteristic mode of dealing with his new problems Jung[43] thinks that a dream is associated with the present difficulties of an individual and shows his unconscious attitude of mind towards the proplem of his life

According to the theory of dream as explained in the Bhagavatī Sūtra, the yathātathya and Cintā-svapnas (dreams) agree with those of the theories propounded by Adler and Jung, as they are the results of the process of the thoughts to deal with the future and present problems of life The pratāna, tadviparīta and avyaktadasana svapna (dreams) touch upon the theory of Dr Freud, as they are associated with some desires repressed by thought and they appear in some garbs of symbolism

From this analysis it may be defined that "dream whether awake or asleep is a free, passive, incoherent and constructive imagination often due to recent experience But it is an imagination confound with perception' [44]

Belief or Attitude of Mind (Drsti)[45]

Attitude of mind or belief is the central theme of the process of thought for the whole intellectual operation is based on it and reasoning Epistemology and metaphysies and the doctrine of religion rotate round the attitude of mind on the view of which stands the whole philosophical approach to the problem of life and nature
Attitude (drsti) is characherized by truth (samyktva) or falsehood (mithyātva in regard to the objects of thought Thus it is endowed with the union of the intellectual, emotional and conational elements and is interrelated with knowledge (Ditthidaṁsana-nānamana-sannā)

Vedanā (feeling in genaral)[46]

Vedanā (feeling) is relatively subjective and passive state of consiousness manifesting itself into the form of pleasure, or pain, or pleasure-cum-pain (Sāta or asāta or sātāsāta vendanā),[47] happiness, or suffering, or happiness-cum-suffering (sukha, or duhkha, or sukha-duhkha) Happiness, unhappiness and happiness-cum-unhappiness are eternal [48]

Sense-feeling

As a result of sensation accompanied by simple fealing of pleasure or pain there takes the sense-feeling which is congnitive and affective In can be divided into two kinds, viz organic feeling and special sense-feeling

This canonical work mentions ten kinds of feeling (vedanā), viz cold, warm, hunger, thirst, itching (kandu), servility (parajjhaṁ) fever (jvara), burning sensation (dāha), fear (bhaya) and sorrow (sogam) [49] The feeling of hunger, thirst, burning sensation (dāha), fever, itching, fear



Memory and Imagination

Memory and imagination involve the process of īhā (speculation or mental desire to know), apoha (exclusion), maggana and gavesanā (searching and fathoming) by thought, transformation of thought, conditions of soul and annihilation-cum-subsidence of knowledge—obscuring karma [33]

In the process of memory the images of the past sensible experiences accompanied by a belief are revived and recognized by an individual, i e having familiarity of characteristics of images, as it is evidenced in the case of Devānandā,[34] the Brāhmanī that she recognized in Lord Mahāvīra her former son.

Thought (Cintā or mental activity)

The process of mental activity (manayoga) is thought which is inter-connected with memory and imagination of the past events, objects, etc and the imagination of the present and future acivities of life, as the mind acts and reacts to new objects of thought at every moment Mind is matter (manadravya) and it is associated with the spiritual beings [35] Its activities are the passing phases of matter Mind, when operating is mind (mane manijjamāne mane) and it breaks forth, while operating (monijjamne mane bhijjati),[36] Mind is studied and classified into four kinds according to the relative objects of activity, viz satya (true), mithyā (false), satayamrṣā (true-cum-false), asatya-mrsā (untrue-cum-false), i.e mind is related to true object, false object, true-cum-false object and untrue-cum-false object Thus mind is the organ of apprehension of all sense-objects and knowledge (sarvārtha-grahanam manah) [37] while thought which implies comprehension is abstract representative mental activity involving snalysis in the form of obstraction and synthesis in that of comparison and expressing itself through speech or language

Dream

The Bhagavatī Sūtra throws a welcome light upon the principles of dream by explaining five kinds of dream-visions, viz yathātathya, pratāna, cintāsvapna, tadviparīta and avyaktadarśana.

"Ahātacce payāne cimtāsuvine tavvivarīe avvatta-damsane" [38]

The first one is the dream-vision in accordance with truth or reality, the second one is ramified dream-vision (i e diffused) the third one is the dream-vision according to the thought in the waking state, the fourth one is the dream-vision opposite to realities, i e actualities, and the fifth one is the indistinct inexpressible dream-vision.

It is further explained that sleeping-cum-waking man experiences a dream-vision, but a sleeping or waking man does not behold it The self-controlled, not-self-controlled and the self-controlled-cum not-self-controlled men also experience dream-vision in that state of sleeping-cum-waking There are seventy-two kinds of dream of which thirty are great dream, while fourty-two are ordinary ones [39]

These broad principles of dream as embodied in the Bhagavatī Sūtra touch upon all the combined theories on dream propounded by Dr Freud, Jung, Adler and other scholars According to Dr Freud[40] dream is the fulfilment of the repressed desire which does not peaceably leave the organism but sinks to a level of unconscious state in which it is still active and apt to appear in the disguised and symbolic ways Abnormal worry, queer idea hunting a nervous

person, 'hysterical' paralysis, or blindness, etc , sometimes are the effects of this disguise In the case of a normal man a dream is the main venue of repressed desires which do not present themselves even in dreams in their true shape and colour but come up in the garb of an innocent appearing symbolism So all dreams whether adult or child are the fulfilments of repressed desires [41]

Adler[42] holds the view that a dream is not the revival and reappearance of the suppressed will of the distant past but a rehearsal for some impending action of an individual man to perform, and it reveals his characteristic mode of dealing with his new problems Jung[42] thinks that a dream is associated with the present difficulties of an individual and shows his unconscious attitude of mind towards the proplem of his life.

According to the theory of dream as explained in the Bhagavatī Sūtra, the yathātathya and Cintā-svapnas (dreams) agree with those of the theories propounded by Adler and Jung, as they are the results of the process of the thoughts to deal with the future and present problems of life The pratāna, tadviparīta and avyaktadaśana svapna (dreams) touch upon the theory of Dr Freud, as they are associated with some desires repressed by thought and they appear in some garbs of symbolism

From this analysis it may be defined that "dream whether awake or asleep is a free, passive, incoherent and constructive imagination often due to recent experience But it is an imagination confound with perception' [11]

Belief or Attitude of Mind (Dṛsti)[45]

Attitude of mind or belief is the central theme of the process of thought for the whole intellectual operation is based on it and reasoning Epistemology and metaphysies and the doctrine of religion rotate round the 'attitude of mind on the view of which stands the whole philosophical approach to the problem of life and nature
Attitude (drsti) is characherized by truth (samyktva) or falsehood (mithyātva in regard to the objects of thought Thus it is endowed with the union of the intellectual, emotional and conational elements and is interrelated with knowledge (Ditthidamsana-nānamana-sannā)

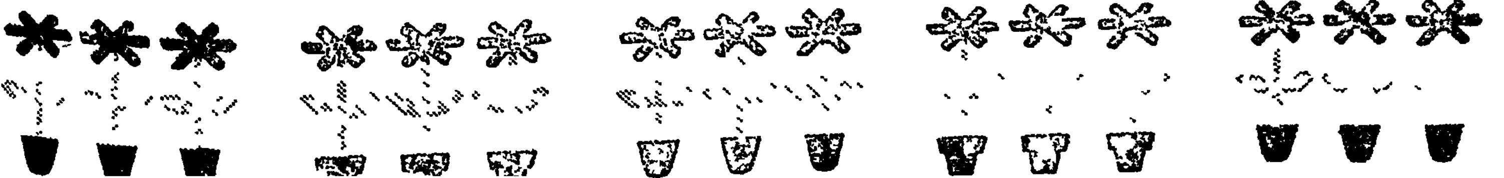
Vedanā (feeling in genaral)[46]

Vedanā (feeling) is relatively subjective and passive state of consiousness manifesting itself into the form of pleasure, or pain, or pleasure-cum-pain (Sāta or asāta or sātāsāta vendanā),[17] happiness, or suffering, or happiness-cum-suffering (sukha, or duhkha, or sukha-duhkha). Happiness, unhappiness and happiness-cum-unhappiness are eternal [48]

Sense-feeling

As a result of sensation accompanied by simple fealing of pleasure or pain there takes the sense-feeling which is congnitive and affective In can be divided into two kinds, viz organic feeling and special sense-feeling

This canonical work mentions ten kinds of feeling (vedanā), viz cold, warm, hunger, thirst, itching (kaṇḍu), servility (parajjhaṁ) *fever (jvara), burning* sensation (dāha), fear (bhaya) and sorrow (sogam) [49] The feeling of hunger, thirst, burning sensation (dāha), fever, itching, fear



and sorrow come under the category of the organic feeling, as they are connected with the discordant working of internal organs, while the feeling of cold and warmth belong to the special sense-feeling, for they are related to touch

Besides these, thered are state to be other sense-feelings of hearing, smell, taste and touch,[50] because even the jiva (Soul or being), born in the mother's womb, transforms five colours, five tastes, two smells and eight touches [51]

Desire and Gratification of Desire (Kāmabhoga)[52]

The Bhagavatī Sūtra throws a welcome light upon the psycho-physical aspects of desire (Kāmā) and gratification of desire (bhoga) Kāmās, (desires) and bhogas (gratification of desire) are explained on the principal of the psycho-physical phenomena thus that they are corporeal (rūpī) and endowed with both consciousness, and unconciousness because they are of the beings (sacittāvi kāma acittāvi kāmā, acittāvi bhoga).[53]

They are stated to be two kinds of kāmā (desire), viz. sound (śabda) and object of beauty (rūpa), while bhoga (gratification of desire) is of three kinds viz smell, taste and touch (gandha, rasa and sparśa) as they involve the mental and physical enjoyments respectively.

Emotion

An emotion is a complex feeling of mental agitation, usually tinged with pleasure or pain, that is aroused by ideas or perceptions and attended with its characteristic bodily expression, and also reinforced by the organic sensations arising from it "It is the experience of behaving in a certain way"[54]

As already explained in the beginning there are two transformations of the psychic process, viz Rāga (feeling of attachment and Dosa (Dveṣa dislike or aversion) Rāga and Dvese are divided into four Kaṣāyas,[55] i e passions, viz krodha (anger) māna (pride), māyā (deceitfulness) and lobha (greed). This analysis shows the emergence of emotions in the form of passions and quasi-passions, appearing in different degrees due to the rise of karma

Passion is correlated to colour which is associated with feeling, because there is the material colour of the karmic matter of the body, e.g the karma-pudgalas (karmic matters) of these four kinds of passions are endowed with five colours, five tastes, two smells and four touches.

> "Aha bhaṁte khoe . . . . Goyamā. Paṁcavaṇṇe paṁcarase dugaṁdhe cauphāse pannatte . . māne. ... . māyā . . lobhe . .. jaheva kohe" [56]
> "Pejje does.. .. .. jaheva kohe taheva cauphāse "[57]

Four Passions

Krodha (Anger)

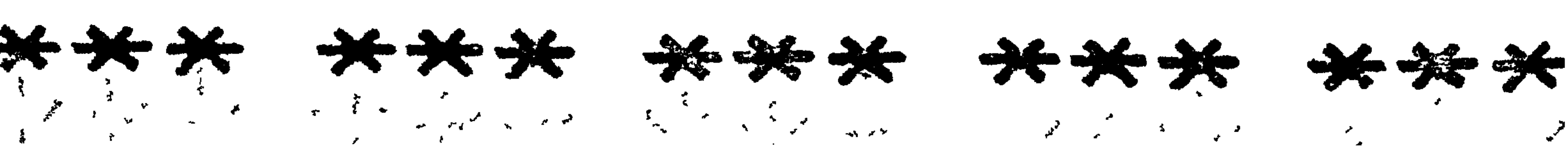
Krodha is the self-expression aggravating the mind, the first repulsive reation of it is resistance and resentment to any attempt from outside to flout it

Māna

Māna is the consciousness of self-respect to measure the self to maintain dignity, and to show itself distinct from others, i e. self-maintenance

Māyā

Māyā is the expression of the inner self, self-display, self-expression, and self-exhibition, and



it attracts something to have. The self wants to express its nature and magnitude, but it is obstructed, so it takes the course of deceitfulness

Lobha

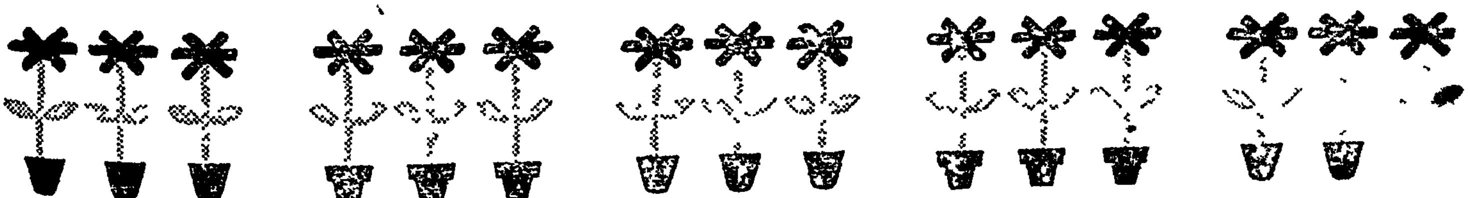
Lobha tries to appropriate everything

The divisions of these four kinds of passions into different stages according to their degrees of intensity throw light upon their respective characteristics with the psycho-physical phenomena Thus it is explained that there are stated to be different types of krodha (anger), manifesting themeselves into the following forms, viz anger, krodh), morbidness or irritation or wrath (kopa), fury (rosa), hatred (dvesa), unforgiveness (aksamā), flaming up with the fire of anger (samjvalana), quarrel (kalaha), violence bearing the appearance of Rudra of wroth (candikā), fighting with sticks (bhāndana), dispute (or contest) vivāda or revilling each other with abusive words Māna is of twelve kinds, viz pride (māna), hilarity (mada), haughtiness (or conceit) (darpa) arrogance (thambhe ananmratā), pretension (garva), superiority complex (atyutkarsa), reviling others (paraparivāda), boasting (utkarsa), self-conceit or infamy (apakarsa), self-ego (unnāma) due to abhimana and unbending property or attitude of mind (dunnāma) due to abhimana Māyā (deceitfnlness) manifests itself into the following forms, viz deceitfulness (māyā), fraud (upadhi), dishonesty (nikrtih), cunningness or artfulness (valayam), imperviousness (hard to be understood) (gahana), basest work for deceiving others (nūma) hypocrisy (kalkam), ugly form of deceitfulness (kurupa), crookedness (jimha), guilt (kilvisa) act of showing regard for deceiving others (ādaranatā), secrecy (gūdhanatā), cheating or deception (vañcanatā), refutation of the said word with simplicity (pratikuñcanatā), and mixing up of inferior thing (sātiyoga)

There stated to be the following kinds of lobha (greed), manifesting themselves into the forms of greed (lobha), desire (icchā), infatution (mūrchā), longing (kāmksā), attachment to the acquired wealth (grddhi), thirst for wealth (trsnā), firm contemplation on wealth (bhijjhā-bhidhyā), unsteady (or unfirm) contemplation on wealth (abhijjhā-abhidhyā), hope (āsāsanayā), begging for wealth to other (prārthanatā), solicitieg again and again (talappanatā), hope for obtaining sweet sound and object of beauty (sabda rūpa prāptisambhāvanā, i e psychical gratification of desire), hope for obtaining smell, taste and touch (bhogāsā) (gandhādiprāpti sambhāvanā, i e physical gratification of desire), hope for living (or life) (jīvitāśā), hope for attaining death (maranāśā), and attachment to own property or joy in it after its attainment (nandirāga)

Leaśyā (condition of soul)[58]

As already pointed out in the beginning the psychological phenomena mainfest themselves in to six conditions of soul in different degrees, viz krsna (black), nīla (blue), kāpota (grey), teja (red), padma (lotus) and sukla (white) They are the names to represent the conditions of the soul as if six persons want to enjoy the fruits of a tree (i e nature of feeling) The black are those who are cruel-hearted and kill living beings by voilating the vow of non-injury (ahimsā), the first of the five great vows of religion The blue are those who are engrossed in their passion or sex-intinct or greed and transgreess the fourth and fifth vows, i e continence and non-possession The grey are those who are deceitful and stealing other' things, violating the third vow of non-stealing (adinnadāna) The red (teja) are those who try to control themselves to observe the religion, i e the lay worshippers The lotus (or yellow) ones are firm in controlling them,



i.e the professional mendicants, while the white (śukla) are those who have attained absolute self-control, Jinakalpa like Lord Mahavira himself[59]

The division of mankind into six classes on the basis of possession of these six leśyās (conditions of soul) is found in both the Bhagavatī Sūtra and the Uttarādhyayana Sūtra[60] The system of spiritual colour of Jainism as revealed in the Bhagavatī Sūtra is the division of the psychic development of man and his virtue[61]

The six kinds of leśyās have been studied from different aspects, such as, colour, smell, taste touch, transformation, etc e g kṛṣṇa lesyā is stated to be of cloud colour, of bitter taste like that Nimba,[62] etc

Instinct (Saṁjñā)

Instinct is the natural manifestation of a being which is caused by the stimulus received from the outside world of sensation according to conditions of soul. It involves an interlinked chain of actions directed to some definite and remote end conducive to self-preservation, etc.

According to the Bhagavatī Sūtra[63] there are stated to be ten kinds of instinct (saṁjñā), viz āhārasaṁjñā) (instinct of eating), bhayasaṁjñā (fear instincl), maithuna (sex-instinct), parigraha-saṁjña (possessing-instinct or appropriating instinct), krodha-saṁjñā (instinct of anger), māna-saṁjñā (pride-instinct) māya-saṁjñā (instinct of deceitfulness), lodha-saṁjñā (instinct of greed), (self-loka-saṁjñā (consciousness of knowledge of particular objects) and ogha-saṁjñā awareness of general objects), i e the lobha-saṁjñā arises from the social behaviourism and the ogha-saṁjñā emerges from the stream (ogha-pravāha) of innate disposition (past saṁskāra)

"Loka saṁjñā tu jñānopayoga-ogha saṁjñā darśanopayoga"[65]

Here Darśana) (self-awareness) is the precondition to knowledge, as it is the awareness of the mind ready with all attention to a positive object revealing the general condition of the self.

It appears from the study of these ten instincts that there were formerly four kinds of instinct[66] and six more were added to the list of the original four with the subsequent development of Psychology. These ten instincts are closely related to emotions, as it is evidenced in the case of fear, anger, pride, deceitfulness, and greed.

This classification of instinct into ten categories agrees with that of the modern psychology as advocated by the scholar like Mc Dougall[67] who has defined "an instinct as an innate disposition which determines the organism to perceive (or to pay attention to) any object of certain class and to experince in its presence a certain emotional excitement and an impulse to action which find expression in a specific mode of behaviour in relation to that object"[68] Thus he has made the analysis of instinct into three division—receptive, emotional and executive, i e thinking, feeling and willing respectively.

According to his theory there are fourteen kinds of instinct including laughter which belongs to human beings viz (1) Parental or protective Instinct (as that of a mother ape), (2) Instinict of combat (the mother will fight in defence of her young), (3) Instinct of curiosity, (4) Food-seeking Instinct, (5) Instinct of Repulsion or (disgust), (6) Instinct of escape from danger), (7) Gregarian Instinct, (8) Instinct of self-assertion, (9) Instinct of submission, (10) Mating

instinct, (11) Acquisitive Instinct, (12) Constructive Instinct, (13) Instinct of Appeal and (14) Instinct of laughter

The first four instincts of the Bhagavatī Sūtra, viz āhāra (food), bhaya (fear), maithuna (sexual inter-course) and parigraha (possession), and lobha (greed) are the same as the food-seeking instinct, the escaping instinct, the mating instinct and the acquistitive instinct respectively while krodha samjñā (anger) and māna-samjñā (pride)and maya-samjña (deceitfulness) correspond to the instinct of combat and the instinct of repulsion, the instinct of self-assertion, the instinct of submission and the protective instinct respectively

The remaining instincts defined by Mc Dougall come under the category of Loka-samjñā and Ogha-samjñā

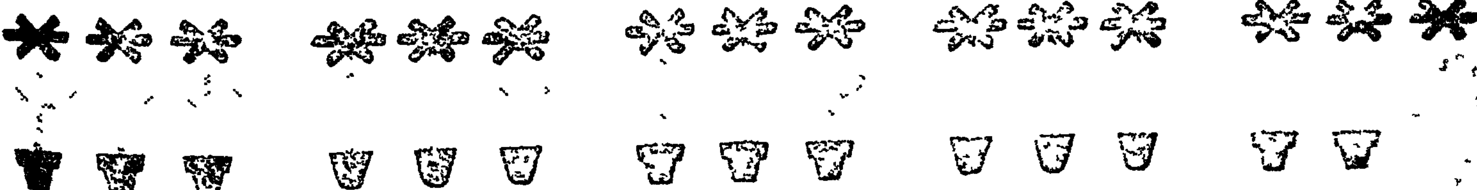
The scheme of instinct as laid down in the Bhagavatī Sūtra appears to be more sound than that of Mc Dougall, because some instincts, such as, instinct of repulsion, parental instinct, instinct of submission and instinct of appeal are not found among all beings (or animals).

Conation

The process of thought and feeling leads to will or action owing to the presence of Karma-matter in the corporate body They manifest themselves into the form of mental, vocal and physical activities of various kinds Thus the activity of soul is three-fold consisting of thoughts, words and deeds produced by the process of the mind, the organ of speech and body respectively So there are stated to be three kinds of activities (yogas) of soul, viz mana-yoga (mental activity), vāk-yoga (vocal activity), physical activity[69] (kāyayoga), for all reactions of the soul are conditioned by the psycho-physical structure

Three kinds of activities have been divided into fifteen groups[70] according to the nature of realities, viz satya-manayoga (mental activitv relating to true thing), (2) mrsāman-yoga (mental activity relating to false or, (untrue or unreal thing), (3) satya-mrsāmana-yoga (mental activity-relating to partly real (true) and partly untrue (unreal) thing, (4) asatya-mrsā-māna-yoga (mental activity relating to untrue (unreal-cum-false thing i e neiher true nor untrue thing) which is outside the sphere of true and untrue, (5) satya-vāk-yoga (vocal activity relating to true i e real object), (6) mrśā-vāk-yoga (vocal activity relating to worng or false or unreal or untrue object), (7) satya-mrsā-vāk-yoga (vocal activity relating to true (real) and false (wrong object), (8) asatya-mrśā-vāk-yoga (vocal activity relating to untrue and false (wrong) object, (9) audārila-śarīra-kāya-yoga (activity of gross-physical body, (10) audārika-misra śarīra-kāya-yoga (activity of the physical body mixed with the activity of the kārmana-body, (11) vaikriya-sarira-kāya-yoga (activity of the transformation-body), (12) vaikriya-miśra-kāya-yoga (activity of transformation-body mixed with that of the kāmana-body or that of the audārika-body) (13) āhāraka-śarira-kāya-yoga (activity of the translocation-body, (14) āhāraka-miśra-śarira-kāya-yoga (activity of the translocations body mixed with that of the physical body), and (15) kārmana-sarira-kāya-yoga (activity of kārmana-body)

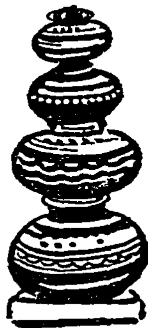
The study of these principles of the psycho-physical activities brings to light the noumenal and phenomenal aspects of beings, which form the basis of Jaina Phychology as revealed in the Bhagavatī Sūtra



REFERENCES

1 Bhagavatī Sūtra, 2-10-118, 14-4-510, 18-10-647
2 Ibid , 1-6-55
3 Ibid., 2-10-118
4. Ibid , 2-10-120.
5. Ibid , 16-7-583.
6 Ibid., 18-8-642
7. Bhagavatī Sūtra, 2-10-120.
8. Dhavalā Tīkā, p 145, Ist Khanda
9 Bhagavatī Sūtra, 9-33-985
10. Ibid., 18-4-625, see Kasāya Pāhuḍaṁ, Bhāga—1 (Pejjadoso vihatti), Gunadharācārya, edited by Pandit Phulchandra Siddhanta Shastri, p 257 (No 207), p 258 (No. 208), pp 364-5, 366-7-8-9 for the detailed treatment of Rāga-pejja and Dosa (dvesa)
11. Kasāya Pāhuḍaṁ (Pejjadoso vihatti), No. 207, p 257.
12 Ibid., No. 208, p. 258.
13. Ibid., p 365
14 Kasāya Pāhuḍaṁ (Pejjadoso vihatti), p. 366.
15. Ibid., p 367
16. Ibid , p. 368
17 Kasāya Pāhuḍaṁ, (Pejjadoso vihatti), p. 369
18 Ibid , No 341
19 Ibid , 146.
20 Ibid , 342
21 Kasāya Pāhuḍaṁ (Pejjadosa vihatti), No. 342, p 369.
22 Bhagavatī Sūtra, 12-10-467.
23 Bhagavatī Sūtra, 12-10-467
24 Ibid , 1-7-61
25. Bhagavatī Sūtra, 1-7-61.
26. Ibid., 1-7-62
27 Ibid , 16-1-566.
28. Ibid , 2-4-99, see Prajñāpanā Sūtra. 191, Pañcadaśa Indriyapada, Prathama Uddeśaka.
29. Bhagavatī Sūtra, 3-9-170, Jīvābhigama Sūtra, Joyisiya Uddeśaka
30 Bhagavatī Sūtra, 2-4-99, Prajñāpanā Sūtra (Pañcadaśa Indriyapada), 194
31 Bhagavatī Sūtra, 2-4-99, Prajñāpanā Sūtra, 195.
32 Bhagavatī Sūtra, 8-2-318
33. Ibid., 11-11-432
34. Ibid , 9-32-382
35 Bhagavatī Sūtra, 13-7-494.
36 Ibid , 13-7-494
37 Pramānamīmāmsā, 1-2-24
38 Bhagavatī Sūtra, 16-6-578-81.
39 Bhagavatī Sūtra, 16-6-578-91.
40 The Interpretation of Dreams, Dr Freud.

41 Ibid, see pp. 344, 388, Psy by Robert S Woodworth, p 567.
42 Vide Psychology by Robert S. Woodworth, p. 568
43 Ibid,
44. Psychology, Suresh Chandra Datta, p 165.
45 Bhagavatī Sūtra, 1-9-73.
46. Bhagavatī Sūtra, 5-5-202, 6-10-255, 14-4-511
47 Ibid., 7-6-286
48 Ibid, 14-4-511
49 Ibid, 7-8-296
50. Bhagavatī Sūtra, 12-5-450
51 Ibid, 12-5-452
52 Bhagavatī Sūtra, 7-7-290.
53 Psychology, S C Dutta, p 239
54 Psychology, Robert S Woodworth, p 429.
55. Bhagavatī Sūtra, 18-4-625.
56 Bhagavatı Sūtra, 12-5-449
57 Ibid
58 Bhagavatī Sūtra, 1-2-22, 12-5-450.
59 See Jaina Sūtra, II—II (199-200)
60 Uttarādhyayana Sūtra, XXXIV.
61 E R E I, 262, (Encyclopaedia of Religion and Ethics)
62 Bhagavatī Sutra, 1-7-22, 12-5-450, see Prajñāpanā Leśyāpada
63 Bhagavatī Sutra, 7-8-296.
64 Ibid, 7-8-296.
65 Bhagavatı Sutra, (Comm.), 7-8-296
66. Ibid, 12-5-450
67. Outline of Psychology, Mc Dougall, p 110
68 Ibid, p 110
69 Bhagavatī Sutra, 17-1-593
70 Ibid, 25-1-719





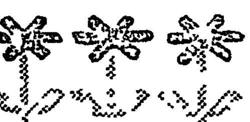
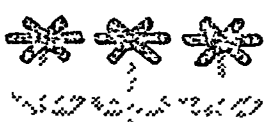
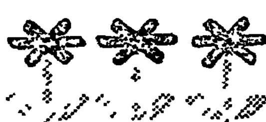
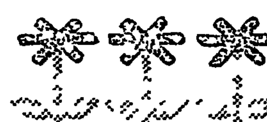
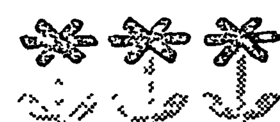
H. Bhattacharyya
M A, B L, Ph D,
Kailas Basu Lane, Ram Krishnapura, Howrah

THE VRATA'S OTHER THAN AHIMSA–AS PROPOUNDED IN JAINISM

Ahımsā or non-violence is the fundamental Vrata, according to the Jainas

The next Vrata which is essential to a moral life is the vow of truthfulness or Satya Its opposite i e, speaking falsely is the Anrta, which is defined as telling something which is not factual. It should be noted that the Pramatta-yoga or wicked intention, which lies at the root of violence and which gives it the character of violence, forms the basis of Anrta or lying also Nothing is a falsehood unless it is a deliberate lie and nothing is true, if an improper motive prompts its utterance It is accordingly said that even if a statement is true but made with the deliberate intention of hurting the hearer's feeling, the statement is deprived of its character of truth On the contrary, a false statement made for the purpose of doing some good to the hearer, cannot be condemned as a downright lie

The character of a phenomena is determined with reference to its nature (Dravya), time (Kāla), place (Ksītra) and modality (Bhāva) A particular cup, for instance, exists only as a thing made of (say) silver, during (say) winter, at a particular place (say) Calcutta and as (say) a round article, and you cannot think of it as constituted of 'an absolute substance', persisting through all 'eternity', existing simultaneously at 'all places' and possessed of 'a universal shape' A true statement presents a thing or phenomenon, as it is in respect of its own 'nature', 'time', 'place', and 'modality' So, when a thing actually exists with reference to its own particular nature, modification, time and location and one says that it does not exist,—this is one form of lying, to say that a thing exists, whereas as a matter of fact it does not exist, is the second manner of lying; to speak about a thing as something which is really different from it, is the third kind of falsehood, the fourth form of lying includes the three following manners of stating a fact, viz ,—(1) The Garthita or the condemnable. A true statement may be so made with scornful laughter as to give pain to the hearer, it may be clothed in harsh and angry words, its tone may be incivil and its words, unconnected witn each other, it may be so delievered as to give rise to mistaken ideas in the hearer, the words used may be ambiguous or meaningless or they may suggest something which contradicts the eternal verieties as disclosed by the competent masters All such statements, though embodying true facts, are nevertheless Garhita or condemned (2) The Sāvadya or faulty Statements, e g. about cutting the limbs of an animal, about piercing it, about beating it, about tilling lands, about trading (especially, trafficking in living animals), about stealing etc etc ,—all bad to or are connected with injury to animals Such statements may not contain any falsehoods, they may even be connected with truths but are nevertheless faulty and as such, are to be avoided. (3) The Apriya or pain-giving Words which create unpleasant feelings, envy and grief and exhaust one's patience, which give rise to fear, feelings of enmity, sorrow and quarrelsome-ness, are akin to falsehood, even though they may contain a truth in them In connection with the

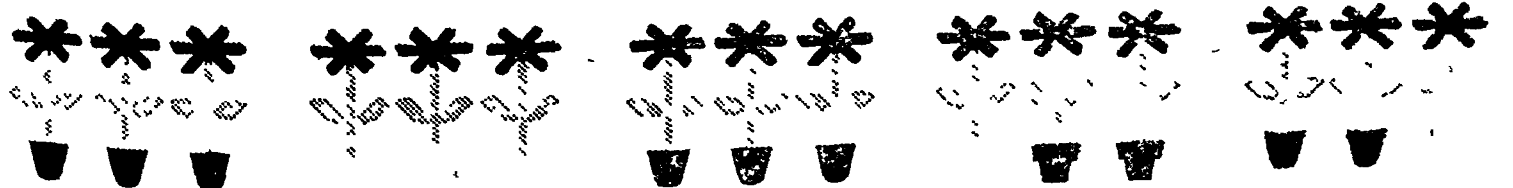


three forms of the fourth mode of lying, it is, however, to be noted that although harsh and cruel statements are here generally condemned, a teacher or a well-disposed man, when using unpleasant expressions to one whom he wants to reform, is not to be considered as a liar It is the Pramatta-yoga or the evil passions which make one's expressions false,—so that a teacher or a well-intending person, speaking harshly just to mind the manners of the person talked to and having the good of the person in his heart, cannot be accused of telling a lie in any of its forms

The Jaina teachers fully recognise the fact that a house-holder or an ordinary man of the world has to support himself, earn his livelihood any how and cannot do without collecting some articles to meet his necessities and that consequently, it is impossible for him to avoid lying absolutely Accordingly they lay down that a man should try to limit his false statements as much as possible The form of lying which has been described above as the Sāvadya may be unavoidable for him, but there is no reason why he should not give up the other kinds of false-speaking and why, in the case of the Sāvadya, he should go beyond what is barely necessary for his living

As in the case of the Ahimsā, the Jaina teachers prescribe five Bhāvanā's or meditations for stabilising and strengthening the vow of Satya These consist in the Pratyākhyana or giving up of Krodha or anger, Lobha or avarice, Bhīrutā or cowardice, Hāsya or frivolity and in the Anuvicī-bhāṣana or talking in accordance with the scriptural injunctions The negative aspects of the vow of truthfulness are the avoidance of its transgressions in the forms of Mithyopadeśa or teaching false doctrines, the Rahovoākhyāna or giving publicity to secret actions of persons, the Kūta-likha-kriyā or forgery, the Nyāsāpahāra or breach of trust by taking advantage of one's forgetfulness,—[This is illustrated as follows A deposits Rs 500/- with B Subsequently, A forgetting the amount of his deposit asks for the return of Rs 400/- only, B takes advantage of A's forgetfulness and gives him the amount, demanded, thereby B misappropriates Rs 100/-], the Sākāra-mantra-Chīda, or the divulgence of what one supposes to be a fact, from his observation of the manners of some persons who hold consultations in private

Astīya or non-stealing is the third great Vrata or vow laid down in the Jaina religious books. Stealing has been defined as "appropriating what was not given" All appropriations, however, are not theft, misappropriations which are deliberate or wilful i e, actuated by the Pramatta-yoga are cares of theft A question may be raised whether a righteous man inviting the Karma-pudgala within him, can be accused of theft The Jaina moralists answer the question in the negative In the first place, a Muni introducing in himself the Karma is not actuated by any Pramatta-yoga or intention to have it Secondly, it is pointed out that Karma is a subtle form of matter which belongs to no body, so that its inflow in a Muni does not mean any appropriation of 'a thing which is not given', in legal phraseology, the inflow of Karma does not involve any 'wrongful gain' or 'wrongful loss' to any body Another point that is raised is whether such acts of a person as taking water from another man's well amount to stealing on his part, in as much as the water was not given to him by the owner of the well. The Jainas affairm that all appropriations of things which have not been expressly given are essentially cases of thefts and in the case under consideration i e, in the case of water being taken without the express permission of the owner of the well, the taking of water is technically, a case of stealing They, however, point out that such technical stealing is unavoidable by



ordinary people of the world and recommend that all misappropriations which are not unavoidable in this way, should be given up.

The five Bhāvanā's or meditations, rather acts,—which fix or stabilise one's practice of non-stealing are —Śūnyāgāra or living in a solitary place, Vimocitāvās or living in a place, deserted by all people, Paroparodhākarana or living in a place where one is not likely to be obstructed by others nor where one is likely to obstruct others; Bhaiksya-śuddhi or looking to the purity of what is given to one as alms, and Saddharmāvisamvāda or not entering into disputations with one's brothers in faith, in respect of one another's belongings

The vow of non-stealing is transgressed, even when one instead of himself stealing, abets it (Cītana-prayoga); or receives stolen property (Tādāhrtādāna); or sells things at iniquitous prices i e, practises black-marketing (Viruddha-rājyāti Krama); or uses false weights and measures (Hīnādhika-mānonmāna), or adulterates things (Prati-rūpaka-vyavahāra)

The Vrata of Brahma or sex-abstinence is opposed to Abrahma, which consists in the act of Maithuna or sexual contact. The Pramatta-yoga or deliberate inclination i e, sex-hunger is the primal source of all sex-activities. It is needless to point out that sex-urge arouses the intensest of feelings in a person and as such, it is responsible for his bad and undesirable states, both here and hereafter Complete sex-purity is possible only in homeless saints and sages, a house-holder cannot act upto that ideal of sex-abstinence and he feels the need of a companion for the satisfaction of his sex-hunger, this explains the validity of the custom of marriage in human society The Jaina moralists maintain that sex-indulgence is always bad from a moral point of view; even a person who has his sex-satisfaction exclusively through his wife cannot be looked upon as high-placed in the scale of moral progress Such a person is called the Kuśīla-Tyāgī Although such a person stands lower in moral rank than the Muni, he is certainly better than a person wallowing in uncontrolled sex-endulgences At any rate the Jaina moralists recognise that living without a wife may be impracticable in most cases of ordinary run but they emphatically urge that there is no reason why one should go after a woman who is not his legally married wife

As regards the Aticāra's or indirect transgressions of the vow of Brahma-caryā, they are indicated as,—the Para-vivāha-karana or causing marriage between persons who belong to mutually prohibited families, the Itvabikā-parigrahītāgamana or co-habitation with a married woman of immoral disposition, the Itvabikā-aparīgrahitāgamana or co-habitation with an unmarried woman of immoral disposition, the Anangi-kriḍā or unnatural intercourse, the KāmaT-ībrābhinivīviśa or surrender to strong sexual urge.

The following five Bhāvanā's, on the other hand stabilise one's vow against sexual unchastity viz ,—the Tyāga or refraining from hearing all talks which excite passions for women (the Sṭrī-rāga-Kattā-Śravana), from looking at the attractive limbs of a woman,—the Tanmanoharānga-nirīksana, from drinking liquids which excite sexual urge,—(the Vrsyīeta-rasa), and from making one's own body clean and attractive, (the Sva-śarīra-saṁskāra)

The last but not the least of the Vrata's is the Aparigraha or non-attachment to worldly affairs It is opposed to Parigraha which consists in Mūrcchā or taking interest in the living or the non-living objects of the world, through Pramatta-yoga or passionate inclination It is clear that if there is in any one's mind, even a trace of having or the apprehension of the sort 'this

is mine', he has Parigraha or attachment, even though he may live in a forest, naked and destitute of all gross things On the other hand, if one's mind is devoid of all feelings of 'mine-ness', he has Aparigraha, even though he is surrounded by and lives in the midst of a number of possessions, moveable and immoveable

The absolute non-attachment to worldly things is obviously impossible for a house-holder and the Jaina thinkers recommend accordingly that the range of worldliness should be progressively shortened The five Bhāvanā's strengthening the practice of the vow of non-attachment consist in withdrawing one's liking to the pleasant objects of the five senses and his dislike for the unpleasant objects of these five senses The Aparigraha-vrata is transgressed even when a person confining his possessions within a certain number, changes their proportions without actually changing their number Thus suppose, a person takes the vow to be content with four pieces of cloth and four utensils, his vow would be transgressed if he takes to the possession of three pieces of cloth and five utensils The transgressions of the vow of non-attachment in this manner of interchanging are likely to be committed in respect of the following five pairs of possession viz ,—lands and houses, silver and gold, cattle and corn, male servants and female servants, and things for putting on and utensils

The above with Ahimsā are the five Vrata's or cardinal virtues for practice, according to the Jainas Besides these primary vows, the Jaina moralists speak of Śīla's, which are sub-vows, supplementing the practice of the Vrata's The Śīla's are seven in number, divided into two broad classes of the Guna-vrata's and the Śiksā-vrata's The former enhance the value of the Vrata's and are three in number There are four forms of the Śiksā-vrata's The Śiksa-vrata's are so called, because they make the practice of the vows, perfectly disciplined

The first of the three Guna-vrata's is the Dig-vrata It consists in one's taking a vow to limit his activities throughout his life within fixed bounds in all the ten directions This sub-vow of the Dig-vrata may be transgressed in five different ways viz ,—(1) When negligently or deliberately one rises higher than his limit in the upward direction (hīrdha-vyatikrama), (2) When in the same manner he goes lower than his downward limit (Adhah-vyatikrama), (3) When in the same manner, he crosses his limits in the eight other directions (Tiryak-vyatikrama, (4) When in a fit of passion or negligence, he increases his limit in one direction, even though decreasing it in another direction (Ksītra-vrddhi), (5) When he forgets the limits, even though he does not cross them (Smrtyantarādhāna)

The Diśa-vrata is the second mode of the Guna-vrata and consists in one's taking a vow to still more limit his activities, already limited by the Dig-vrata vow, for a period of time The Diśa-vrata is violated,—1 if the vower sends for something from beyond the limited limit (Ānayana), 2 if he sends a person beyond the limited limit (Prīsya-prayoga), 3 if he sends his voice (e g by telephone) beyond the limited limit (Śabdānupata), 4 if he communicates with persons beyond the limited limit by making signs to them (Rūpānupāta), 5. if he throws material things beyond the limited limit (Pudgala-ksīpa)

The third mode of the Guna-vrata is the Anartha-danda-vrata which means a vow not to commit any aimless sin There are five forms of the Anartha-danda-vrata which consist in avoiding respectively the Apadhyāna or thinking ill of others, the Papāpadīśa or preaching sinful matter to others, the Pramāda-cāritra or thoughtless mischievous acts, such as breaking the



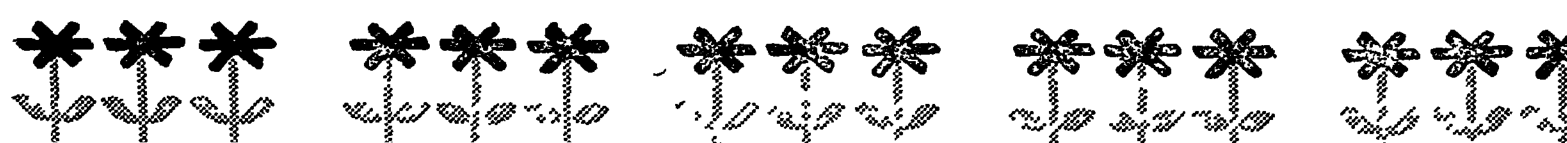
branches of trees aimlessly, the Himsūdāna or distribution of offensive weapons among people, and the Duhśruti or reading or hearing the reading of the bad books The Anartha-danda-vrata is transgressed even when the vower makes fun of or with other (Kandarpa), when he throws mischievous and practical jokes at others (Kaut-kucca), when he becomes garrulous (Mankharya), when he overdues a thing (Asamīksyādhikarana), when he keeps himself supplied with enjoyable things which are more than what are necessary for him (Upabhoga-paribhogānarthakya)

The disciplinary or the Śikṣa-vrata's have, as said before, four forms The first is the Sāmāyika which consists in self-contemplation at stated times e g sunrise, noon or sun-set everyday for a stated period every time The Sāmāyika is transgressed by misdirection of mind (Mano-duspranidhānam), by misdirection of body (Kāya-duspranidhānam), by misdirection of speech (Vāk-duspranidhānam), by decreasing the interest in the Sāmāyika (Anādara), by forgetting the formalities connected with the Sāmāyika (Smrtyanupasthānam).

The Posadhopavāsa is the second Śiksa-vrata and means a vow to fast on four days in a month viz. on the two eighth and the two fourteenth days in the two lunar fortnights in every month, by abstaining from food and drink and by making religious study etc. in those days of fasting The vow of fasting is violated by excerating in a place without inspecting and sweeping it before hand (Apratyavīkṣitāpramārjitotsara), by taking up a thing from or laying it down in a place, without first inspecting and sweeping it (Apratyavīksitāpramārjitadāna), by arranging for sitting in a place within first inspecting and sweeping it (Apratyavīkṣitāpramārjita—Samstaropakramana), by giving up interest in fasting (Anādara) and by forgetting the prescribed formalities for fasting (Smrtyanupasthānam).

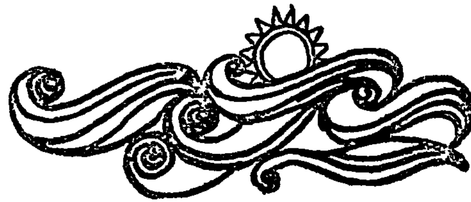
The Bhogopabhoga-parimāna is a vow, limiting one's enjoyment of both exhaustible (Upabhoga) and un-exhaustible (bhoga) things It is the third of the disciplinary sub-vows and is transgressed when the vower takes to eating living things even such as green vegetables (Sacittāhāra), when he uses for his own purpose, a thing which is connected with a living thing e g when he uses a green leaf as a plate (Sacitta-Sambandhāhāratā), when he consumes a mixture of living and non-living things e g hot and cold water together (Sacitta-Sammiśrāhāra), when he eats exciting or particularly invigorating food (Abhisavāhāra), or, when takes an ill-cooked food (Duhpakvahāra)

The fourth sub-vow under the Śikṣa-vrata is the Atithi-samvibhāga, which means taking a vow to take one's meals only after giving a part of them to deserving guest,—preferable, a man living the austere moral life of an ascetic, having right faith and right conduct, or, failing him, a house-holder having right conduct only, or, failing him, a person with right faith but without any observance of the vows These are called the Supātra's or worthy donees Not so good a donee would be one whose outward conduct is good but who is devoid of right faith, he is a Kupātra A person, however, whose conduct is not good but who is not possessed of right faith is an Apātra or unworthy donee The Jaina's lay down principles which determine the nature of the things to be given, (e g. the things given should be helpful to study etc), the manners in which they are to be given (e g by welcoming the guest etc etc), and the attitude, both of the giver and of the taker, at the time when the gifts are made (e g in all humility etc.) The Jaina's, however, assert that the matter of Karunā-dāna or charities, no distinction is to be made as regards the persons who are to receive the gifts, so that food



medicine, knowledge and removal of fears should be freely extended to all needy persons, Jaina or non-Jaina, human or sub-human This vow of 'giving to guests' is violated if one places food on a living thing e g on a green leaf (Sacittaniksipa), if one covers food with a living thing (Sacitapidhāna), if one delegates his duties as a host, to another (Para-vyapadisa), if his charitable conduct is vitiated by disrespectfulness or by envious competition with another donor (Mātsarya), or, if his charity is not made at the proper time (Kālātikrama)

This finishes our survey of the Vrata's or the vows essential to moral progress The five Vrata's are vows of non-violence, sexual purity, non-attachment, non-stealing and truthfulness The The homeless saints practise the vows in their perfection, the practice of those vows by the house-holders must necessarily be imperfect, and hence, the Vrata's as performed by the house-holders have been called the Anu-vrata's,—the difference between the Vrata's and the Anu-vrata's being not one of kind but one of degree in successful observance The seven Śīla's including the three Guna-vrata's and the four Śiksā-vrata's supplement the observance of the Anu-vrata's and are generally meant for the house-holders The observance of the Śīla's paves the way of the house-holder for the five cardinal virtues and makes his conduct well-controlled The Jaina's further maintain that the well ordered life which is the effect of the Śīla-practice should be crowned with a well-ordered death Such a death is called the Sallīkhanā by them and consists in a perfectly unattached and dispassionate attitude towards the world, during last moments of life This Sallīkhanā or contemplative death is marked by total abstinence from food, drink, medicine and all things worldly and unperturbed fixation of the dying man upon his self It is recommended for practice, not merely to a man observing the Śīla's (Na Śrāvakasyaiva dig-viratyādi-Śīlavatah) but also to one who has brought himself under self-control (Samyatasyāpi) The Sallīkhanā is not a form of suicide It is recommended only where the body is completely disabled by extreme old age or by endurable diseases or when it is rendered hopelessly helpless by the distruction or enfeeblement of the senses and such other causes and the man becomes conscious of the impending unavoidable death and of the necessity of concentrating himself upon his pure self Akalanka nicely illustrates the practice of Sallīkhanā by pointing out firstly how the traders in valuable articles never want the distruction of their store-house, that when causes arise to distroy the house, they try to remove these causes to the best of their ability and resources, that when they find that those distructive causes are irremovable, they do no longer care the house and concentrate their efforts upon the preservation of the valuable articles of the store-house, that it is in the same manner that a good man never wants to put an end to his body, that he tries to save his body when disease and other ailments threaten to distroy it, but that when all attempts to save the body prove to be finally unavailing, he dissociates himself from it and establishes himself exclusively upon his essential self This is Sallīkhanā or peaceful contemplative death, which is essentially different from any form of suicide It is clear that the calm and faultless character of the Sallīkhanā is distroyed and its practice becomes condemnable, if there is in the dying man Jīvitāśamsā or a desire to live, Maranāsmsā or a desire to hasten death, Mitrānurāga or attachment for his friends, Sukhānubandha or a lingering fond remembrance of the occasions of fast enjoyments, or, Nidāna or an expectant desire for enjoyments in the next world





Prof. N. V. Vaidya
Ferguson College, Poona

SHRAMADANA OR VOLUNTARY MANUAL LABOUR–THE OLD WAY

The Jain canonical as well as Non-canonical literature is a veritable mine of didactic tones, parables and illustrations They reflect mostly the life of the common man and are narrated with a simplicity and facility which would appeal even to the Pundits and men of letters

It is proposed top oint out here only a minor incident narrated in the Antagadadagsao(अंतगडदसाओ)* the eighth Anga of the Jain canon (III Varga · Page 56 section 59ff)

" Now as Krsna Vasudeva was going out of the city of Dwarawati he saw a man, worn out, his body shattered by age, and weary, and who was picking up one brick at a time from among a huge pile of bricks, and was carrying it into the house Then Krsna Vasudeva, out of compassion for the old man got down from the back of the excellent elephant he was riding took a brick from that huge pile of bricks, and carried it inside the house Now, when Krsna took one brick, hundreds of other people did the same and that huge pile of bricks was shifted inside the house in no time"

Krsna Vasudeva thus gave a helping hand to that old man purely out of compassion and as a matter of duty In the good old days people were taught that doing one's duty was a must for every body, like the Nityakarma (नित्यकर्म) If you do it there is no special merit but if you fail to do it, there is sin We find a strange spectacle to-day If some one has done his duty there are grand ceremonies held in his honour There is a lot of fan-fare and publicity when a very important person or a minister is attending or rather presiding over a Shramdāna (श्रमदान) or similar function But the manner in which Krsna a royal prince of the ancient past-has helped a poor old labourer is very touching and it leaves an indelible impression on the minds of the readers It is untrumpeted, genuine and spontaneous Shramdāna (श्रमदान) giving help and succor where it is really needed

One can multiply similar other situations and incidents The so called courtesy weeks, Vana Mahotsava, children's Day and lots of other functions and ceremonies which seem to have been invented merely to satisfy the vanity and the insatiable craving for publicity of those in power or the upper strata of society does not impress the public. genuine Shramdan is always done spontaneously, is always untrumpeted and unadvertised and is done to give help and succor to the needy and its effect is ever lasting

---

* Edited by prof N V Vaidya, Ferguson College, Poona-4 with Introduction, Notes, English Translation and Appendics 1937

परिशिष्ट

लेखक-परिचय



श्री अगरचन्द नाहटा—जन्मस्थान—बीकानेर (राजस्थान)। नाहटा जी ने जितने विपुल साहित्य का सर्जन किया है, उतना कोई विरले ही कर पाते है। अढाई सौ पत्र-पत्रिकाओ मे दो सहस्र से अधिक निबध लिख चुके है। राजस्थानी एव जैनसाहित्य के गिने-चुने साहित्य-सेवियो मे अन्यतम है। दर्जनो ग्रन्थो का सम्पादन कर चुके है। अपने ज्येष्ठ भ्राता श्री अभयराज नाहटा के नाम पर अभय जैन ग्रथालय की सस्थापना की है, जिसमे बीस हजार दुर्लभ महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित और इतने ही मुद्रित ग्रथो का सग्रह है।

जैनसघ की ओर से 'साहित्य एव इतिहासरत्न' की उपाधि दिया जाना आप की योग्यता के अनुरूप ही है। आप भारत की पचासो साहित्यिक सस्थाओ के अध्यक्ष, डाइरेक्टर, ट्रस्टी या सदस्य है। व्यवसाय के हाथ महान् साहित्यसेवा का आदर्श कोई नाहटा जी से सीखे।



श्री अनूपचन्द न्यायतीर्थ—आप जयपुर-निवासी हैं। जैनसाहित्य, पुरातत्त्व और कविता की ओर विशिष्ट रुचि। गीताञ्जलि के बहुसख्यक गीतो के अनुवादक। आपकी अनेक अनूदित रचनाएँ प्रकाशित है। सुप्रसिद्ध विद्वान् प० चैनसुखदासजी के प्रमुख शिष्य है।



प० अम्बालालजी—जन्मस्थान दहेगाम (अहमदाबाद)। इस समय आप अहमदाबाद के ला० द० भारतीय सस्कृति विद्यामन्दिर मे कार्य कर रहे है। सस्कृत, प्राकृत, हिन्दी और अग्रेजी भाषाओ तथा व्याकरण, साहित्य, इतिहास-पुरातत्त्व और मत्रसाहित्य मे आपकी गहरी दिलचस्पी है। दिग्विजय-महाकाव्य, कालकाचार्यकथासग्रह, सूरिमत्रकल्पसन्दोह, मत्रराजरहस्य, अनुभूतसिद्धद्वात्रिंशिका आदि-आदि ग्रथो का सम्पादन किया है। अभी-अभी आपका Catalouge of Sanskrit and Prakrit MSS, part I नामक ग्रथ प्रकाशित हुआ है।



डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित—जन्मस्थान मेरठ (उ० प्र०)। सन् १९४८ से आप अध्यापन कार्य कर रहे है। वर्त्तमान मे राजस्थान विश्वविद्यालय मे रीडर है। आपका रससिद्धान्त उत्तरप्रदेश की सरकार द्वारा पुरस्कृत हुआ है। सौन्दर्यतत्त्व, वेलि क्रिसन रुकमणी री, तुलसीदास—वस्तु और शिल्प आदि अनेक गभीर रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी है। मराठी, गुजराती, बगला और उर्दू भाषाओ के भी ज्ञाता है। शोध-छात्रो के सुयोग्य निर्देशक है।



श्री आलमशाह खान—जन्मस्थान उदयपुर (राज०) अ-हिन्दीभाषा-भाषी परिवार मे जन्म लेकर भी आप हिन्दी मे एम० ए० करके हिन्दी साहित्य की अभिनन्दनीय सेवा कर रहे है। आपकी अनेक रचनाये प्रान्तीय और भारतीय स्तर पर पुरस्कृत एव सम्मानित हुई है। 'राजस्थानी वचनिकायें' नामक आपका ग्रथ राजस्थान साहित्य अकादमी से प्रकाशित हुआ है। आप कहानी पुरस्कार विजेता है।



डा० ईश्वरचन्द्र शर्मा—डॉ० शर्मा दर्शनशास्त्र के तलस्पर्शी विद्वान् है, जिन्होने अमेरिका जैसे विदेशो मे भी अपनी योग्यता की छाप डाली है। इस समय आप उदयपुर वि० वि० मे अध्यापक है।



श्री एन० वी० वैद्य—वैद्य महोदय सस्कृत और अर्द्धमागधी भाषा के विश्रुत विद्वान् है। सन् १९६२ से पूना के प्रसिद्ध फर्ग्युसन कॉलेज मे अर्द्धमागधी विभाग के प्रधान और सागली के विलिंगडन कॉलेज के प्रिंसिपल रह चुके है। अनवरत साहित्यसेवा मे निरत है। अतगडदसाओ और अणुत्तरोववाइयदसाओ, अगडदत्त-वम्भदत्त, पउमचरिय, नलकहा—वरुणकहा, नायाधम्मकहाओ, उसाणिरुद्द, रायपसेणियसुत्त आदि अर्धमागधी और प्राकृत के आगमग्रथो का विद्वत्तापूर्ण सम्पादन आपने किया है विस्तृत प्रस्तावनाएँ और नोट्स लिखे है



डा० के० ऋषभचन्द्र जैन—जन्मस्थान पालडी (सिरोही-राजस्थान) आप उदीयमान विद्वान् है। नागपुर वि० वि० से पाली एव प्राकृत साहित्य मे एम० ए० किया। वैशाली प्राकृत-जैनशास्त्र सस्थान मुजफ्फरपुर से पी-एच० डी० की उपाधि ग्रहण की। इस समय ला० द० भारतीय सस्कृति विद्यामदिर मे 'रिसर्च आफिसर' पद पर कार्य कर रहे है।



डा० कन्हैयालाल सहल—जन्मस्थान नवलगढ (राजस्थान)। हिन्दी और सस्कृत मे प्रथम श्रेणी मे एम० ए० किया। 'राजस्थानी कहावते—एक अध्ययन' नामक शोधप्रबन्ध पर पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। इस समय डी० लिट्० के हेतु शोधप्रबन्ध लिख रहे है। अनेक छात्र आपके निर्देशन मे पी-एच० डी० कर चुके है। 'मरुभारती' (त्रैमासिक) के प्रधान सम्पादक। राजस्थान साहित्य अकादमी के गवर्निंग बोर्ड के, केन्द्रीय हिन्दी पाठ्यपुस्तक समिति नई दिल्ली के तथा भारतीय हिन्दी परिषद् प्रयाग आदि के सदस्य। राजस्थान के विशिष्ट अग्रगण्य विद्वानो मे अन्यतम, आपकी लगभग तीस रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी है।



श्री कन्हैयालाल लोढा—जन्मस्थान धनोप (भीलवाडा-राजस्थान)। साधारण स्वास्थ्य और सादे रहन-सहन मे वैचारिक वैभव, विशाल अनुभव और प्रतिभा आप मे विद्यमान है। आप की मेधाशक्ति वडी तीव्र है। अनेक विषयों का तुलनात्मक अध्ययन रेखागणित मे प्रयोज्यमान निगमनप्रणाली से अध्यात्म जैसे निगूढ सिद्धान्त का सहज वर्णन कर देना आप की विशिष्ट प्रतिभा का परिचायक है।



श्री कमला जैन 'जीजी'—आप प० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल की ज्येष्ठ पुत्री हैं। गद्य और पद्य दोनो पर आपका अच्छा अधिकार है। आपके द्वारा सम्पादित 'नारीजीवन' पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है। अनेक कवितासग्रहो मे आपकी कविताएँ प्रकाशित हुई हैं। वर्त्तमान मे राणावास (राज०) के महावीर जैन वालिका-विद्यालय की प्रधानाध्यापिका हैं।



श्री कलावती जैन—वहिन कलावती जम्मू की निवासिनी, अतीव विनम्र, धर्मप्रिय और उत्साहमूर्त्ति महिला हैं। महासती श्री उमरावकु वरजी की काश्मीरयात्रा के समय आपने उनकी सराहनीय सेवा की। जम्मू मे वालिकाओ के धर्मशिक्षण की सूत्रधार हैं। स्वय स्वाध्यायशीला हैं।



डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल—डा० कासलीवाल सस्कृत, हिन्दी एव राजस्थानी भाषा के माने हुये विद्वान् हैं। आपने राजस्थान के ७०-८० जैन ग्रथ भण्डारो का शोधन करके उनकी विस्तृत सूचिया तैयार की है। 'राजस्थान के जैन ग्रथभण्डार' पर ही आपने अग्रेजी मे शोधप्रवन्ध लिखा है जिस पर राजस्थान विश्वविद्यालय ने सन् १९६१ मे पी-एच० डी० की उपाधि से सम्मानित किया। आप की इस खोज के फलस्वरूप अपभ्र श-हिन्दी-राजस्थानी की सैंकड़ो अज्ञात रचनाये प्रकाश मे आ गयी हैं। अव तक निम्न पुस्तकें प्रकाशिक हो चुकी है—

१. राजस्थान के जैन शास्त्रभण्डारो की ग्रथसूची भाग प्रथम, द्वितीय, तृतीय एव चतुर्थ भाग। २ प्रशस्तिसग्रह। ३ प्रद्युम्नचरित। ४ वनारसी-विलास।

८० से भी अधिक खोज पूर्ण लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित हो चुके है



मुनि श्री कान्तिसागरजी—मुनिजी इतिहास और पुरातत्त्व के दिग्गज विद्वान्, भारतविख्यात लेखक और अन्वेषक है। 'खडहरो का वैभव' आदि अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाए आपकी प्रकाशित है। पत्रिकाओ मे भी आपके शोधपूर्ण निवध जब-तब प्रकाशित होते रहते है।



श्री के० बी० जिन्दल—आप जैनधर्म-मर्मज्ञ स्वर्गीय पण्डित अजित-प्रसाद जी के कनिष्ठ पुत्र है. आप का जन्म लखनऊ मे हुआ १९३८ मे आपने लखनऊ विश्वविद्यालय से एम० ए०, एल-एल० बी० की उपाधि प्राप्त की. एम० ए० मे सर्वप्रथम उत्तीर्ण होने के नाते विश्वविद्यालय से आपको स्वर्ण-पदक प्राप्त हुआ. आज कल आप कलकत्ते मे आयकर-अधिकारी के पद पर नियुक्त है

साहित्य, सिद्धान्त, कानून—तीनो विपयो का आपने अच्छा अध्ययन किया है प्राय इन सभी विपयो पर आप की रचनाये प्रकाशित हो चुकी है आप की मुख्य कृतियाँ है—

A History of Hindi Literature, The Prefaces, Lordships, Income-tax, Past and Present



श्री गजसिंह—श्री गि० अ० जैन पाठशाला ब्यावर से व्याकरण-न्यायतीर्थ परीक्षायें उत्तीर्ण करने केसाथ वही आपने 'जैन सकेतलिपि' का शिक्षण प्राप्त किया. वर्त्तमान मे राजस्थान विधानसभा मे रिपोर्टर है सकेत-लिपि-लेखन में अत्यन्त सिद्धहस्त है



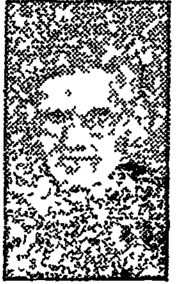
श्रीगुलाबचन्द्र चौधरी—आप उदीयमान साहित्यकार है। आपकी अनेक गभीर शोधपूर्ण रचनाएँ प्रकाशित हुई है। भविष्य मे आपसे बडी-बडी आशाएँ है।



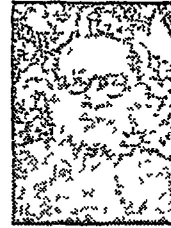
श्री गोपीलाल अमर—जन्मस्थान पडवार (सागर-म० प्र०) अमरजी प्राचीन हृदय और नवीन मस्तिष्क के सगम तथा दर्शन और विज्ञान के समन्वय स्थल हैं सागर मे रह कर आपने शास्त्री, काव्यतीर्थ, साहित्यरत्न और एम० ए० परीक्षाये उत्तीर्ण की है सस्कृत, हिन्दी और अग्रेजी के लेखक है दर्शनशास्त्र मे विशेष रुचि रखते है प्रमेयरत्नमाला, प्रमेयरत्नालकार और अष्टसहस्री का सम्पादन कर चुके और कर रहे है अनेक अ० भारतीय स्तर की सस्थाओ के पदाधिकारी हैं



श्री गोवर्धन शर्मा—जन्मस्थान कटालिया (मारवाड) इस समय आप गुजरात कॉलेज अहमदाबाद मे हिन्दीविभाग के अध्यक्ष है सन् १९४२ से ही आप हिन्दी में विभिन्न विषयो पर लिख रहे है कहानी, कविता, एकाकी शिक्षा, शोधपरक निबध, सभी मे समान दिलचस्पी है, एम० ए० (हिन्दी) मे प्रथम स्थान और स्वर्णपदक प्राप्त किया 'प्राकृत और अपभ्र श का डिंगल-साहित्य पर प्रभाव' विषय पर राजस्थान वि० वि० से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की आप की अनेक रचनायें प्रकाशित हो चुकी है



पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ—जन्मस्थान भादवा (जयपुर) बचपन मे ही लकवे की बीमारी से पैर अपग हो गए स्याद्वादमहाविद्यालय काशी मे रह कर दर्शन और साहित्य की उच्च शिक्षा प्राप्त की वर्षो से जैन कालेज जयपुर के अध्यक्ष पद पर आसीन है कुशल लेखक, सफल समालोचक, निर्भीक वक्ता और पारगत विद्वान् है जैन बन्धु और जैनदर्शन पत्रो के सम्पादक रहे 'वीरवाणी' के सम्पादक हैं भावनाविवेक, अर्हत्प्रवचन, जैनदर्शनसार और सर्वार्थसिद्धिसार आप की प्रकाशित रचनाये हैं प्राचीन शोध मे आप की गहरी रुचि है सस्कृतसाहित्य के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् हैं



डा० जगदीशचन्द्र जैन—जन्मस्थान वसेडा (मुजफ्फरनगर) दर्शन-शास्त्र मे एम० ए० और समाजशास्त्र मे पी-एच० डी० किया सन् १९४२ के स्वातन्त्र्य सग्राम मे कारावास का अनुभव लिया पैंकिंग विश्वविद्यालय मे हिन्दी के प्राध्यापक रहे वैशाली विद्यापीठ मे प्राकृत के प्राध्यापक रहे वर्त्तमान मे फिल्म सैंसर की बम्बई ऐडवाइजरी पेनल के सदस्य है लगभग ४० पुस्तको के लेखक आपका 'प्राकृतसाहित्य का इतिहास' ग्रथ उत्तरप्रदेश शासन की ओर से पुरस्कृत हुआ है



श्री जयभगवान वकील—आपका ज्ञान सर्वतोमुखी था। साम्प्रदायिकता के समीप नही फटकते थे। समन्वयात्मक दृष्टि रहती थी। रूढिवादी नही थे किन्तु रूढिवादियो का विरोध भी नही करते थे। नगर मे तथा भारतीय दि० जैन समाज मे बडी प्रतिष्ठा थी। सफल साहित्यकार और अन्वेषक थे। खेद है आप अचानक ही हमारे बीच से उठ गए।



आचार्य श्री जिनविजयजी—जन्मस्थान-रूपाहेली (मेवाड) । सामान्य वातावरण मे से भी अध्यवसायी और प्रतिभाशाली पुरुष किस प्रकार अभ्युदय का मार्ग निकाल लेते है, इसका उदाहरण आपका जीवन है । मुनि जी ने जैन एव राजस्थानी साहित्य की अनुपम सेवा की है । इतिहास-पुरातत्त्व के महान् विद्वान् है । सिंघी जैन ग्रथमाला के सपादक है । राजस्थान प्राच्य-विद्याप्रतिष्ठान जोधपुर आपके ही अध्यवसाय का फल है ।



डा० जे०सी० सिकदर—सिकदर महाशय का जन्म पूर्ववग मे हुआ आपने पुरातन इतिहास और सस्कृति विषय मे एम०ए० कलकत्ता वि०वि० मे किया. तत्पश्चात् शान्ति-निकेतन मे शोधछात्र रहे डा० हीरालाल जैन की देखरेख मे भगवतीसूत्र के सबन्ध मे शोधकार्य किया है आजकल आप जबलपुर वि०वि० मे सीनियर रिसर्च फैलो है

डा० ज्योतिप्रसाद जैन—जन्मस्थान—मेरठ (उ० प्र०) निवासस्थान लखनऊ वर्तमान मे उत्तर प्रदेश राज्य के डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स के उपसम्पादक पद पर नियुक्त जैन सिद्धान्त-भास्कर एव जैन एन्टीक्वरी तथा जैन सन्देश-शोधाङ्क के अवैतनिक सम्पादक, वायस आफ अहिंसा के भी सम्पादक मण्डल मे सम्मिलित

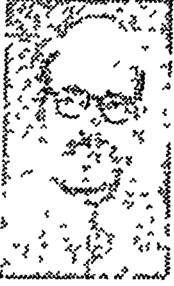
Jaina Sources after History of Ancient India,
Jainism the oldest living Religion.



भारतीय इतिहास-एक दृष्टि, प्रकाशित जैनसाहित्य, हस्तिनापुर, आदि पुस्तको के प्रणेता ।

लगभग तीस वर्ष से जैन इतिहास, पुरातत्त्व, साहित्य एव सस्कृति पर शोध खोज एव अन्वेषण कार्य चालू है. कई सौ लेख निबन्धादि अवतक विभिन्न जैनाजैन पत्र-पत्रिकाओ मे हिन्दी एव अग्रेजी मे प्रकाशित हो चुके है.

श्रीज्ञान भारिल्ल—जन्मस्थान—खैराना (सागर-म०प्र०) राजस्थान के प्रथम श्रेणी के कवि, प्रतिभाशाली लेखक और उपन्यासकार है. आपकी कविताओ के कई सग्रह प्रकाशित हो चुके है, जिनमे से 'आकाशकुसुम' अजमेर सरकार द्वारा प्रथम पुरस्कृत हुआ है, 'प्यासे स्वर्णहिरण' उपन्यास भी आपकी ही रचना है कुछ समय से आपका झुकाव प्राचीन जैन कथाओ को आधुनिक शैली मे प्रस्तुत करने की ओर हुआ है अब तक 'तरगवती' और 'भटकते-भटकते' (कुवलयमाला का रूपान्तर) प्रकाश में आए है. जैन साहित्य ऐसे क्षमताशाली सुलेखको की प्रतीक्षा कर रहा है.



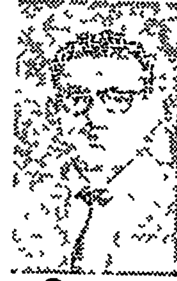
श्री दरबारीलाल कोठिया—शास्त्राचार्य, न्यायाचार्य, न्यायतीर्थ, सिद्धातशास्त्री है. आप्तपरीक्षा, स्याद्वादसिद्धि, न्यायदीपिका प्रमाणप्रमेयकलिका आदि अनेक जैनदार्शनिक ग्रथो का सम्पादन तथा अनुवाद किया है आपकी प्रस्तावनाएँ शोधपूर्ण तथा महत्त्व की हैं आप समाज के यशस्वी लेखक, सम्पादक, वक्ता और अध्यापक है काशी हिन्दू विश्व विद्यालय मे जैनदर्शन के प्राध्यापक हैं जैनदर्शन एव जैनन्याय के इने-गिने विद्वानो मे से एक है



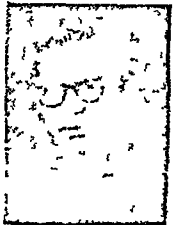
श्री दलसुख मालवणिया—जन्मस्थान सायला (सौराष्ट्र) मालवणिया जी जैन समाज के चोटी के विद्वानो मे प्रमुख है। दर्शन, इतिहास आदि विविध विपयो मे आपकी अवाध गति है। हिन्दू वि० वि० बनारस मे जैनदर्शन के अध्यापक रहे। वर्त्तमान मे लाल भाई दलपत भाई भारतीय सस्कृति विद्या-मदिर के निदेशक हैं। आपकी साहित्यसाधना से विद्वज्जगत् सुपरिचित है।



श्री देवीलाल पालीवाल—जन्मस्थान—कांकरोली (उदयपुर-राजस्थान) एम० ए० (इतिहास) और पी०एच०डी० राजस्थान विश्वविद्यालय से किया पी०एच०डी० का विपय था "उदयपुर और अँग्रेज-१८५७-१९१९" इस समय टाडकृत राजस्थान का नवीन अनुवाद एव सम्पादन कार्य कर रहे हैं प्रथम भाग प्रकाशित हो चुका है वाल्य-काल से राजनैतिक आन्दोलन मे भाग लेना प्रारम्भ किया १९४६ तक मेवाड प्रजामडल की जनरल कौंसिल के सदस्य रहे १९५०-५२ तक राजस्थान विद्यार्थी फेडरेशन के और १९४९ से १९५२ तक उदयपुर कम्युनिस्ट पार्टी के मत्री रहे है



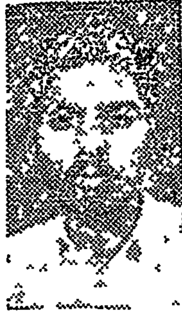
डा० देवेन्द्रकुमार जैन—चिरगाव (झासी) के निवासी है उच्चकोटि के लेखक, सम्पादक, समालोचक और अध्यापक है सरस्वती, नागरी प्र० पत्रिका, सम्मेलनपत्रिका आदि प्रथम श्रेणी की पत्रिकाओ मे आपके शोधपूर्ण निबन्ध प्रकाशित होते रहते है विश्वप्रकाश, प्राकृतछन्दकोश, शब्दभेदप्रकाश, भविष्यदत्तकथा, आदि का सम्पादन और राष्ट्रभाषा मे अनुवाद कर चुके हे सस्कृत-साहित्य सबन्धी बहुसख्यक उपाधियो से विभूषित सुयोग्य विद्वान् हैं



डा० नरेन्द्रकुमार भानावत—जन्मस्थान—कानोड (राज०) श्रीभानावत उदीयमान विशिष्ट मेधावी विद्वान् हैं मेट्रिक से लेकर एम०ए० तक की सभी परीक्षाओ मे आपने प्रथम श्रेणी प्राप्त की साहित्यरत्न भी प्रथम श्रेणी मे ही हुए. वेलिसाहित्य-राजस्थानी पर पी-एच०डी० की उपाधि ग्रहण की. 'कविता, कहानी, एकाकी, निवन्ध, गद्यकाव्य आदि लिखने मे सिद्धहस्त हैं. अनेक अ०, भारतीय निवन्धप्रतियोगिताओ मे स्वर्णपदक पुरस्कार प्राप्त कर चुके है. आपकी अनेक ग्रथ-रचनाएँ अभी तक अप्रकाशित है, यह हिन्दीसाहित्य का दुर्भाग्य ही समझा जा सकता है वर्तमान मे आप राजस्थान वि०वि० मे हिन्दी विभाग मे अध्यापक पद पर आसीन हैं



श्रीपरमानन्द जैथल—हिन्दीसाहित्य में एम०ए० परीक्षा उत्तीर्ण की, किन्तु चित्रकला की ओर आपका विशेष आकर्षण रहा. जयपुर हाई स्कूल, सर जे०जे० स्कूल ऑफ आर्टस तथा लन्दन युनिवर्सिटी से विशेष डिप्लोमा प्राप्त किये, चित्रकला मे राजस्थान अकादमी से पुरस्कार प्राप्त किये टैगोर चित्र प्रतियोगिता मे भी आप पुरस्कृत हुए आप राजस्थान के वरिष्ठ चित्रकलाकार है।



श्री पारसमल प्रसून—प्रसून लघुकथाए लिखने मे अत्यन्त कुशल है. हिन्दी मे एम०ए० और साहित्यरत्न है। धार्मिक स्वाध्याय और शिक्षण मे विशेष रुचिसम्पन्न है. स्वाध्यायसघ जयपुर के सदस्य होने के नाते पर्युपण पर्व के प्रसग पर यत्र-तत्र प्रवचन करने जाया करते है। 'जिनवाणी' (जयपुर) के सहसम्पादक है।



श्री परमानन्द शास्त्री—शास्त्रीजी ने गणेश जैन विद्यालय सागर मे अध्ययन करके साहित्य के क्षेत्र मे प्रवेश किया. आप साहित्यिक एव ऐतिहासिक अनुसधान मे विशेष अभिरुचि रखते है लगभग १५० निबन्ध लिख चुके है समाधितन्त्र, इष्टोपदेश आदि ग्रथो का अनुवाद किया है 'अनेकात' के सम्पादक है और हिन्दी जैन कवियो का इतिहास तैयार कर रहे है.



मुनि श्रीपुण्यविजयजी—मुनि श्री की कठोर साहित्यसाधना से विद्वद्-वर्ग भलीभाति परिचित है। दर्शन, इतिहास, पुरातत्त्व एव सस्कृत-प्राकृत आदि भाषाओ के तलस्पर्शी पण्डित हैं। जैसलमेर-शास्त्रभडार के आप उद्धारक है। निन्तर साहित्यसेवा मे निमग्न रहने वाले और वृद्धावस्था मे भी चैन न लेने वाले इस तपस्वी की जितनी सराहना की जाय, थोडी ही रहेगी।



श्रीपुरुषोत्तमलाल मेनारिया—जन्मस्थान उदयपुर (राज०) हिन्दी मे एम० ए० और साहित्यरत्न करने के पश्चात् आप गहरी लगन के साथ साहित्य विशेपत राजस्थानी साहित्य की सेवा मे निरत है राजस्थान विद्यापीठ-शोधसस्थान के सचालक, शोधपत्रिका के सस्थापक-सम्पादक, राजस्थान विद्यापीठ कालेज के प्रिंसिपल आदि पदो पर सफलतापूर्वक कार्य कर चुके है इस समय राजस्थान सरकार के राजस्थान प्राच्य विद्याप्रतिष्ठान जोधपुर मे प्रवर शोधसहायक है राजस्थान की रसधारा, राजस्थानी भाषा की रूपरेखा और मान्यता का प्रश्न, राजस्थान की लोककथाये, राजस्थानी वार्ता, राजस्थानी लोकगीत, राजस्थानी लोककथायें आदि-आदि अनेक रचनायें प्रकाशित हो चुकी हैं राजस्थानी साहित्यजगत् मे आप की सेवायें प्रशस्य है.

पं० के० भुजबली शास्त्री—श्री भुजवलीजी कन्नड भापाभापी है. जन्म दक्षिण भारत के कर्णाटक प्रान्त मे हुआ परन्तु कर्मक्षेत्र विहार रहा है आप सस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, कन्नड एव अग्रेजी भापाओ के विज्ञ है. पूर्वोक्त सभी भापाओं मे शताधिक शोधपूर्ण निवन्ध लिखे है आपने सस्कृत के सुप्रसिद्ध मुनिसुव्रतमहाकाव्य, भुजवलीचरितम्, चित्रसेन-पद्मावतीचरितम् एव भव्यानन्द जैसी पाण्डुलिपियो का सशोधन, सपादन और हिन्दी अनुवाद किया है.

कन्नड प्रान्तीय ताडपत्रीय ग्रथसूचि एव प्रशस्तिसग्रह आप की अनुसन्धानपूर्ण शोध-कृतियाँ है आदर्श जैन महिलेयरू, आदर्श जैन वीररू, आदर्श साहितिशन्नु, जैन वाड्मय, जैनर दैनिक पट्कर्म, जैनदर्शन, निबन्धसग्रह, महावीरवाणी, समवसरण, आदि कन्नड भापा सम्बन्धी आप की कई रचनायें प्रकाशित हुई है. आप की सृजनशील, मौलिक प्रतिभा द्वारा हिन्दी मे 'जैन प्राकृत वाड्मय' जैसे शोधपूर्ण गम्भीर निवन्ध भी प्रस्तुत किये गये है

शरणसाहित्य [कन्नड मासिक], वीरवाणी [कन्नड मासिक], विवेकाभ्युदय [कन्नड मासिक], जैनसिद्धान्त-भास्कर [हिन्दी त्रैमासिक] तथा जैन एन्टिक्वेरी [अग्रेजी त्रैमासिक] इन पत्रो के सम्पादकमण्डल मे रहकर, इनका सम्पादनकार्य भी सुचारु रूप से किया है इस समय भी 'गुरुदेव' [कन्नड मासिक] का सम्पादन कर रहे हैं

आप की 'जैन वाड्मय' नामक रचना को मैसूर सरकार ने बहुमानित किया है आप के 'वीर वकेय' नामक प्रवन्ध को मैसूर सरकार ने एव 'मूडविद्री' नामक निबन्ध को केरल सरकार ने अपने पाठच-ग्रथो मे स्थान दिया है दक्षिण भारत के जैन आचार्य, जैन राजकुमार और जैन राजवशों का इतिहास आप के द्वारा प्रामाणिक रूप मे प्रस्तुत किया गया है



श्रीभुवनेश्वरनाथ 'माधव'—बिहार मे आप का जन्म हुआ, हिन्दू वि० वि० काशी से अग्रेजी तथा हिन्दी मे एम० ए० किया और बिहार वि० वि० से पी-एच० डी०. सन्त साहित्य, मीरा की प्रेमसाधना, धूपदीप, पूजा के फूल, हँसता जीवन, मेरे जनम-मरण के साथी, रामभक्ति मे मधुर उपासना, श्रीअरविन्दचरितामृत आदि रचनायें प्रकाशित हो चुकी है भविष्य, चाँद, सनातनधर्म, कल्याण एव कल्याणकल्पतरु के सम्पादक रह चुके है इस समय विहार राष्ट्रभापापरिपद् (विहार सरकार) के निदेशक है



श्रीभँवरलाल नाहटा—जन्मस्थान वीकानेर [राज०] व्यवसायी परिवार मे जन्म लेकर भी आप राजस्थानी और जैनसाहित्य की प्रशसनीय सेवा कर रहे है सती मृगावती, राजगृह, युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि आदि आप के द्वारा लिखित अनेक ग्रथ प्रकाशित हो चुके है ऐतिहासिक जैन काव्यसग्रह, ठक्कुर फेरू ग्रथावली, हमीरायण, कृति कुसुमाजलि, रासपचक आदि आपके सम्पादन है आप सुप्रसिद्ध साहित्यसेवी श्रीअगरचन्द नाहटा के भ्रातृज एव सहयोगी है.



श्रीमहावीर कोटिया—जन्मस्थान हरसाना (अलवर-राजस्थान). पढना और लिखना दोनो ही आपके व्यसन है आपका 'टूटी वीणा' नामक कवितासग्रह प्रकाशित हो चुका है. कविता और कहानी के क्षेत्र से निकल कर इधर आप सारगर्भित, शोधपरक और ज्ञानवर्द्धक लेख लिखने की ओर झुके है 'जैनसाहित्य मे कृष्णवार्त्ता' विपय पर शोध-ग्रथ लिख रहे हैं जयपुर से प्रकाशित होने वाली 'जैन सगम' पत्रिका के सम्पादक है.



श्री मिलापचन्द्र कटारिया—आप केकडी (राज.) के निवासी है। व्याकरण, छन्द, काव्य तथा जैन-सिद्धान्त ग्रथो के तलस्पर्शी पण्डित होते हुए भी स्वतत्र व्यवसाय करते है। अच्छे चिन्तक, वक्ता और लेखक है। 'जैनधर्म श्रेष्ठ क्यो है ?' नामक पुस्तक के तथा अनेकानेक प्रकीर्णक निवधो के लेखक है। केकड़ी मे अपने तत्त्वचर्चा एव गोष्ठी के अत्यन्त स्पृहणीय वातावरण का सर्जन किया है।

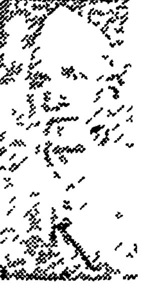


डा० श्री मोहनलाल मेहता—जन्मस्थान-कानोड (राज०)। जैन गुरुकुल व्यावर मे माध्यमिक शिक्षा प्राप्त कर पार्श्वनाथ विद्याश्रम बनारस मे रहे। एम०ए० पी०-एच० डी० तथा शास्त्राचार्य उपाधियाँ प्राप्त की। 'जैनदर्शन हिन्दी मे तथा Outlines of Jain Philosophy' Jain Psychology एव Outlines of karma in Jainism नामक ग्रथ अगरेजी भाषा मे प्रकाशित हो चुके है। इस विद्वान् साहित्यकार से भविष्य मे वडी-वडी आशाएँ हैं।



डा० मंगलदेव शास्त्री—वैदिक-साहित्य और प्राचीन भारतीय सस्कृति के विशेपज्ञ के रूप में विख्यात है। आप भारत के उन गिने-चुने लब्ध-प्रतिष्ठित विद्वानो मे है जिन्होने प्राच्य और पाश्चात्य दोनो पद्धतियो से ज्ञान और समाज का अध्ययन किया है। वैदिक साहित्य, भाषाविज्ञान, भारतीय सस्कृति आदि विपयो पर आपने अनेक अनुसधानात्मक तथा विचारात्मक ग्रथ लिखे हैं। "रश्मिमाला", "अमृतमथन, "प्रवधप्रकाश" जैसी आप की गद्यपद्यात्मक मौलिक रचनाएँ सस्कृत-जगत मे काफी प्रसिद्ध है।

प्रारम्भ मे सस्कृत और भारतीय दर्शन का अध्ययन करने के पश्चात् १९२२ मे आपने आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से डी० फिल० की उपाधि अर्जित की। विदेश से लौटने पर १९२३-२४ में एक वर्ष तक काशी विद्यापीठ, बनारस मे दर्शन का अध्ययन किया, १९२४ मे गवर्नमेंट सस्कृत कालिज वनारस मे सरस्वती भवन के अध्यक्ष पद पर नियुक्त हुए और १९३३ मे उत्तरप्रदेशीय राजकीय सस्कृत परीक्षाओ के रजिस्ट्रार बनाये गये। १९३७ मे आप गवर्नमेंट सस्कृत कालिज के-बनारस के प्रिसिपल पद पर आसीन हुए और सस्कृत पाठ्यक्रम मे आधुनिक विपयो का समावेश कराने मे सफल हुए। वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय की योजना भी आपने ही १९४९-५० मे तैयार की थी। १९६० मे आप केन्द्रीय सस्कृत वोर्ड के सदस्य और १९६१ मे वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय के अन्तरिम कुलपति नियुक्त हुए।



श्री रतनलाल सघवी—सघवी जी छोटी सादडी (राज०) के निवासी है। सोलह वर्ष की उम्र से ही अध्यापन कार्य मे निरत है। जैनपत्र-पत्रिकाओ मे समीक्षात्मक तथा मीमासात्मक शैली पर जैन दर्शन तथा अन्य विपयो पर लिखते रहते है। 'जैनागम सूक्ति सुधा' तथा प्राकृत व्याकरण की हिन्दी में बृहद् व्याख्या आपकी उल्लेखनीय रचनाएँ है। 'अनेकान्त' मे आपकी साहित्यिक एव ऐतिहासिक लेखमाला प्रकाशित हो चुकी है।



श्री रमेश उपाध्याय—राजस्थान के उदीयमान साहित्यकार है। आपकी भाषा प्राजल और भावो की अभिव्यक्ति प्रभावपूर्ण होती है।



श्री राजाराम जैन—आप जबलपुर के निवासी नवोदित साहित्यकार है। अभी-अभी आपने डाक्टरेट किया है। आरा-कालेज मे अध्यापक है। अपभ्र श भापा के विशेपज्ञ विद्वान् है।



कुमारी रूथ एम० वेल—कुमारी वैल का विशेप परिचय उपलब्ध नही है। इस ग्रन्थ मे प्रकाशित निबन्ध से ही जाना जा सकता है कि आप पाश्चात्य होकर भी भारतीय साहित्य और सस्कृति मे गहरी रुचि रखती है। आप डा० ईश्वरचन्द्र शर्मा की शिष्या है।



श्री रूपेन्द्रकुमार पगारिया—जन्मस्थान-खरवडी (महाराष्ट्र)। आप इस समय ला० द० भारतीय सस्कृति विद्यामन्दिर अहमदावाद में महायक सशोधक है। सस्कृत, प्राकृत, पाली आदि भापाओ के तथा दर्शनशास्त्र के अभ्यासी है।



श्री रंजन सूरिदेव— देवजी साहित्याचार्य, पुराणाचार्य, व्याकरणतीर्थ जैनदर्शनशास्त्री, साहित्यरत्न, साहित्यालकार और बी० ए० उपाधियो से विभूषित है। बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन पटना के सचालक और साहित्य-मत्री है। बिहार राष्ट्रभाषापरिषद् की त्रैमासिक 'परिषद् पत्रिका के सम्पादक तथा 'साहित्य' के स० सम्पादक है। आपकी बहुतसी रचनाए प्रकाश मे आ चुकी है।



श्री बद्रीप्रसाद पंचोली—जन्मस्थान-खानपुर (झालावाड़-राज०) हिन्दी और सस्कृत मे एम० ए० तथा साहित्यरत्न। वर्त्तमान मे किसनगढ़ के शासकीय कालेज मे प्रोफेसर है। 'स्वदेश' (कोटा) सम्पादक रह चुके है। शोधप्रधान निवधो की ओर विशेष रुचि है, यो कविता, नाटक आदि भी लिखते है।



श्री वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री—श्रीवर्धमान शास्त्री के पिताश्री का नाम पार्श्वनाथ शास्त्री है जैन-समाज के अग्रगण्य विद्वान है उच्च कोटि के लेखक और वक्ता है जैन बोधक एव जैनदर्शन नामक हिन्दी मासिको के तथा कर्णाटक भाषा के 'विश्वबन्धु' के सम्पादक है. धार्मिक परीक्षा-बोर्ड, आचार्य कुन्थुसागर ग्रथमाला तथा आचार्य जम्बूसागर ग्रथमाला के अवैतनिक मत्री और अनेक सस्थाओ के ट्रस्टी है. अहिन्दी भाषा-भाषी होकर भी आप हिन्दी भाषा तथा समाज की बहुमूल्य सेवा कर रहे है.



श्री विजयेन्द्र सूरिजी—सूरिजी पुरानी पीढी के इतिहास एव पुरातत्त्व आदि अनेक विषयो और भाषाओ के प्रकाण्ड पंडित है। भगवान् महावीर के जीवन पर आपने जो लिखा है, उसी से आपके पाण्डित्य का पता चल सकता है। आपकी अनेकानेक विद्वत्तापूर्ण कृतियाँ प्रकाश मे आ चुकी है। सूरिजी इस समय अत्यन्त वृद्ध, नेत्रहीन और अस्वस्थ अवस्था में अंधेरी (बम्बई) मे है।



श्री शांतिलाल भारद्वाज 'राकेश'—जन्मस्थान—जलवाड़ा (कोटा) राकेशजी राजस्थान के साहित्यकारो मे अग्रगण्य है। आपके अनेक ग्रथ प्रकाशित और पुरस्कृत हो चुके है। वर्तमान मे राजस्थान साहित्य अकादमी के कार्य-निदेशक है।



श्री शिखरचन्द्र कोचर—जन्मस्थान बीकानेर (राज०) बीकानेर हाई कोर्ट मे कुछ काल तक वकालत करने के पश्चात् आप राजस्थान शासन के न्यायविभाग मे विभिन्न पदो पर कार्य कर चुके है इस समय सीकर मे सिविल और ऐडिशनल सेशन्स जज है अनेक सामाजिक सस्थाओ के अवैतनिक मत्री आदि पदो पर कार्य किया है आपकी गद्य-पद्य-रचनाए अनेक पत्रो मे प्रकाशित होती रहती है



श्री श्रीचन्द्र जैन—जन्मस्थान अमरा (झासी). एम. ए, एल एल बी परीक्षाएँ उत्तीर्ण करने के पश्चात् समथर राज्य मे जिलाधीश के रूप मे कार्य किया, मगर आन्तरिक रुचि आपको शिक्षा-साहित्य के क्षेत्र मे खीच लाई इस समय आप गवर्नमेंट कालेज खरगौन मे हिन्दी विभाग के अध्यक्ष है अनेक निबध-रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी है. जिसमें से कई भारत सरकार, उत्तरप्रदेश सरकार और विन्ध्यशासन द्वारा पुरस्कृत हुई है



श्री सत्यकाम वर्मा—डाक्टर वर्मा, कागडी गुरुकुल के स्नातक है हिन्दी और सस्कृत मे एम. ए की तथा 'भर्तृहरि के वाक्यपदी' का भाषा तात्त्विक अध्ययन' विषय पर पी एच. डी. की उपाधि प्राप्त की. इटली के रोम विश्व-विद्यालय मे सस्कृत के अध्यापक रहे. वहाँ की सबसे बडी प्राच्य विद्यासस्था मे सम्पादन-कार्य किया आप हिन्दी मे अनेक आलोचनात्मक ग्रथो एव निबधो के लेखक है.



श्री सुन्दरलाल जैन—जन्मस्थान खैराना (सागर म० प्र०). आप वैद्य भूषण, वैद्यरत्न, आयुर्वेदालकार आदि अनेक उपाधियो से विभूषित कुशल चिकित्सक है इटारसी की तिलक फार्मेसी के सस्थापक है अनेक जैन सस्थाओ के मत्री, उपाध्यक्ष और अध्यक्ष है अनेक स्वर्णपदक प्राप्त कर चुके है आयुर्वेदिक पत्रो मे आपकी रचनाएँ समय-समय पर प्रकाशित होती रहती है. आप प्रगतिशील विचारो के सदेशवाहक है श्री महेन्द्र राजा आपके ही सुपुत्र है.



श्री सौभाग्यमल जैन—जन्मस्थान शुजालपुर (मध्यप्रदेश). जैन-समाज और म० प्र० के राजनीतिक क्षेत्रो मे बहुविख्यात, उच्च आदर्शो पर जीवन की प्रतिष्ठा करने वाले भावनाशील विद्वान् है सन् १९३० से राजनीति मे सक्रिय है अनेक राजनीतिक सस्थाओ मे अनेक उत्तरदायित्वपूर्ण पदो पर प्रतिष्ठित रहे है. मध्यभारत-विधान सभा के उपाध्यक्ष, अध्यक्ष, वित्तमत्री और राजस्वमत्री रह चुके है.



श्री हरीन्द्रभूषण जैन—सागर (म० प्र०) के निवासी. सागर वि. वि से पी० एच० डी० की उपाधि प्राप्त की. इस समय विक्रम वि० वि० उज्जैन मे प्राध्यापक है आपने कालिदास पर अनेक शोधपत्र लिखे है डी० लिट्० के लिए 'आचार्य हेमचन्द्र' पर अनुसन्धान कर रहे है. स्वाधीनता-सग्राम मे सक्रिय भाग लेने के पुरस्कार स्वरूप चार मास का कारागार और चार वर्ष का गुप्त जीवन व्यतीत कर चुके है जैनदर्शन और सस्कृतसाहित्य के तलस्पर्शी विद्वान् है.

डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री—जन्मस्थान डबवाली मडी. प्रारभिक अध्ययन सेठिया विद्यालय बीकानेर मे करके आप बनारस गए. वहाँ सस्कृत, अँगरेजी आदि भाषाओ का तथा दर्शन-शास्त्र का उच्चकोटि का अध्ययन किया. न केवल जैन समाज के वरन् समस्त भारत के प्रमुख विद्वानो मे आपकी गणना है वेदान्त और जैन-दर्शन के पारगत पण्डित और प्रथम श्रेणी के लेखक है. दु ख है कि आप बहिर्नेत्रो से विहीन हो गए है, फिर भी आपकी साहित्य-साधना अविराम गति से चल रही है. अँगरेजी और हिन्दी भापा मे आपके अनेक ग्रथ प्रकाशित हो चुके है

महासती श्रीउमरावकुवरजी—जन्मस्थान दाधिया (किसनगढ) दोराई (अजमेर) के श्री चम्पालालजी हीगड के साथ पाणिग्रहण हुआ अल्पकाल मे ही पतिवियोग होने पर आपने मृत्युजय महामार्ग का अवलम्बन लिया. कुछ समय पश्चात् आपके पिता श्रीजगन्नाथसिहजी ने भी, जो मुनि मागीलालजी के नाम से प्रसिद्ध हुए, आपके पथ का अनुसरण किया.

महासतीजी ने जैन-सिद्धाताचार्या उपाधि प्राप्त की है अँगरेजी और सस्कृत-प्राकृत भाषा की विदुषी है प्रवचन शैली मधुर और प्रभावक है. राजस्थान तो आपका विहार क्षेत्र है ही, युक्तप्रान्त, हिमाचल प्रदेश और काश्मीर तक आपने पद-भ्रमण करके अद्‌भुत साहस का परिचय दिया है.

साध्वी श्रीकुसुमवतीजी—आपकी जन्मभूमि मेवाड है आप साध्वीसघ मे अग्रगण्य विदुषी है. सस्कृत, प्राकृत, हिन्दी आदि भाषाओ में निपुण, जैन-सिद्धाताचार्य, परीक्षा, कुन्दन जैन सिद्धातशाला ब्यावर से उत्तीर्ण की है. प्रवचनशैली प्रभावक है सुलेखिका है विभिन्न पत्रो में आपकी रचनाएँ प्रकाशित होती रहती है. आपकी मुख्य विहारभूमि राजस्थान है. भविष्य मे आपसे बहुत आशाएँ है

श्री जैनेन्द्रकुमार—दो चार पक्तियो मे परिचय देना जैनेन्द्रजी के महत्त्व को कम करना है. आप अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के विचारक और साहित्यकार है.

आचार्य श्रीतुलसी—आचार्य श्री तुलसी का परिचय देने की आवश्यकता नही. 'तुलसी-अभिनन्दन ग्रथ, आपके महान् व्यक्तित्व का परिचायक है. आपके आचार्यत्व-काल मे तेरापथी समाज ने ज्ञान की सभी दिशाओ मे स्पृहणीय एव सराहनीय प्रगति की है. युग को परखने वाले धर्माध्यक्षो मे आपका स्थान बहुत ऊँचा है.

श्री मधुकरमुनिजी—आप स्वामी श्रीहजारीमलजी म० के छोटे गुरु-भ्राता और एक प्रकार से इस ग्रथ के जन्मदाता है प्रथम श्रेणी के विद्वान्, वक्ता और लेखक है—आत्मप्रकाशन से बचने वाले आपका जन्म तिवरी (मारवाड) में हुआ. दस वर्ष की वय मे ससार से उपराम हो गया. सस्कृत, प्राकृत भाषाओ एव धर्म और दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् है. आपकी अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाए प्रकाशित हो चुकी है

श्री नथमल दूगड—दूगडजी को सेठ-पण्डित कहना चाहिए गिरधारीलाल अन्नराज जैन पाठशाला से व्याकरण-न्यायतीर्थ, धर्मशास्त्री उपाधियाँ प्राप्त कर आप पैत्रिक व्यवसाय करते है विल्लूपुरम् (मद्रास) मे निवास करते है. उत्साही सामाजिक कार्यकर्त्ता धर्मप्रेमी और सरल, सयत एव विनम्र हैं.

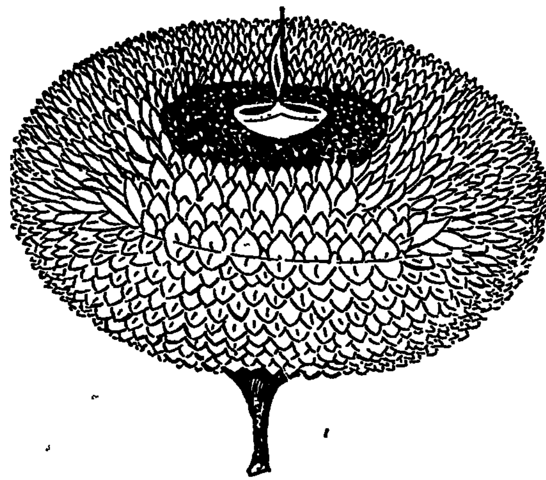
श्रीमहेन्द्र 'राजा'—'राजा' हिन्दीजगत् मे सुपरिचित है अनेक कृतियाँ आपकी प्रकाश मे आ चुकी है एम. ए. करने के पश्चात् आप लाइब्रेरी-साइस के विशेष अध्ययन के लिए लदन गए कई वर्ष वहाँ रहे और आपकी हिन्दी-साहित्य सेवा चालू रही इस समय आप दारेस्लाम (पूर्वी अफ्रीका) के वि वि कालेज-लाइब्रेरी मे कार्य कर रहे है आपके पिता प० सुन्दरलालजी वैद्य इटारसी मे रहते है आप भारिल्ल-परिवार मे है.

श्री राजकुमार जैन—आप इटारसी (म० प्र०) के निवासी श्रीमहेन्द्र राजा के अनुज है आयुर्वेदाचार्य होकर आपने अपने पिताजी के पथ का अनुसरण किया है. होनहार विद्वान्, व्यवहारकुशल एव सुलेखक है. आयुर्वेद का आपका अध्ययन उच्चकोटि का है

श्री श्रीमलजी महाराज—महाराष्ट्र मे आपका जन्म हुआ बाल्यकाल मे ही सयमपथ के पथिक बन गए. युग-प्रवर्त्तक आचार्य श्री जवाहरलाल जी म० के सुशिष्य है विविध भाषाओ और विषयो के विद्वान् और सुलेखक हैं, प्रभावशाली वक्ता भी आपकी अनेक रचनाएँ प्रकाश मे आ चुकी है विद्वानो से प्रेम रखने वाले, रूढ विचारो की परिधि मे घिरे न रहने वाले, मौलिक विचारो के धनी है.

श्रीसुशीलकुमार दिवाकर—जन्मस्थान सिवनी (मध्यप्रदेश) इस समय आप राष्ट्रीय प्रवृत्ति को प्रोत्साहन प्रदान करने वाले गोविन्दराम सेक्सरिया अर्थ-वाणिज्य महाविद्यालय जबलपुर मे प्राध्यापक है अर्थशास्त्र और कानून आदि विषयो पर अनेक पुस्तको के लेखक है सिवनी के प्रतिष्ठित दिवाकर-परिवार की सस्कृति के अनुरूप आप भी जैन धर्म और जैन-सस्कृति के प्रेमी और सेवक है

पं० हीरालाल शास्त्री—जन्मस्थान साढूमल (झासी) आप जैनसमाज के अग्रगण्य मनीषी विद्वानो मे है जैनसिद्धान्त और दर्शनशास्त्र आपके प्रिय विषय है अनेक गभीर ग्रथो का अनुवाद, सशोधन, सम्पादन कर चुके है षट्खण्डागम जैसे ग्रथराज के सम्पादन-सशोधन में आप सहयोगी रहे हैं वर्त्तमान मे सरस्वती भवन ब्यावर के व्यवस्थापक है.



सहस्र पांखुरी कमल